

# गीता प्रवचन गीता व्याख्यान माला (प्रथम भाग)



व्याख्याता  
राष्ट्रपति सम्मानित  
महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी  
M.M. Pt. GIRIDHAR SHARMA CHATURVEDI

संपादक  
राष्ट्रपति सम्मानित  
डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी  
Dr. SHIVADUTT SHARMA CHATURVEDI

द्वितीय संस्करण  
2006

## Hindi Book- Gita-Pravachan-1,2,3 By Shri Giridhar Sharma.pdf

	Name Of Book	Page No
1.	Gita-Pravachan-1	1-703
2.	Gita-Pravachan-2	704-1044
3.	Gita-Pravachan-3	1045-1608





### डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

सम्पादक

जन्मतिथि - 16 अप्रैल, 1934

पिता : - म. म. पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

माता : - श्रीमती गुलाब देवी चतुर्वेदी

प्रारम्भिक शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा जयपुर, लाहौर, हरिद्वार, अल्वर तथा वाराणसी में। उच्च शिक्षा वाराणसी में। "वाल्मीकीय रामायण में राजनीति" विषय पर शोध-निबन्ध। अध्यापन संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ तथा संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में। वहाँ के साहित्य विभागाध्यक्ष पद से सन् 1994 में सेवानिवृत्त। संस्कृत और हिन्दी में 30 पुस्तकें लिखित सम्पादित व प्रकाशित। हिन्दी और संस्कृत की पत्रिकाओं में शताधिक शोध लेख, ललित निबन्ध तथा काव्य रचनाएँ तथा कहानियाँ। सम्प्रति धर्मगम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक।

संस्कृत वाग्विवर्धिनी परिषद, कविभारती, आन्वीक्षिकी, श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी संस्थान वाराणसी संस्कृत संसद आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना और मंत्रित्व तथा अध्यक्षता। 15 अगस्त 1999 को राष्ट्रपति डॉ० के०आर० नारायणन् द्वारा राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित। संपत्ति अपने पुत्रों डॉ० प्रयास चतुर्वेदी (रीडर, प्रेच विभाग, का हि वि वि) तथा डॉ० सजय चतुर्वेदी (विद्युत्तन्त्रासायनिक) के वाहचर्य में धर्मपत्नी श्रीमती सरोज चतुर्वेदी सहित वाराणसी में निवास करते हुए साहित्यानुशीलन तथा अध्यात्म चिन्तना।



### महामहोपाध्याय पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

प्रवचनकर्ता

जन्मतिथि - पौ. शु. दशमी वि०स० 1938

निधनतिथि - 10 जून 1966

पिता : - श्रीमान् गोकुलचन्द्र चतुर्वेदी

माता : - श्रीमती लवङ्गी देवी चतुर्वेदी

राजस्थान की वर्तमान राजधानी जयपुर नगर में उत्पन्न, वहीं के संस्कृत कॉलेज में प्रारम्भ से सर्वोच्च शिक्षा तक प्राप्त। सर्वोच्च परीक्षा में विश्वविख्यात म. म. शिवकुमार शास्त्री की कलम से सौ में से सौ अंक प्राप्त। अध्यापन व्यवसाय का प्रारम्भ सहारनपुर के जैन महाविद्यालय से। अध्ययन काल में ही संस्कृत मासिक पत्र का संपादन एवं प्रकाशन। हरिद्वार के ऋषिकुल के प्रिंसिपल रहते हुए गुरुकुल के शास्त्रार्थ में भारत भर में विख्यात। लाहौर में 15 वर्ष निवासकाल में महामना पंडित मदनमोहनमालवीय, पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि का निकट सम्पर्क। पंजाब सिन्धु क्वेटा, विलोचिस्तान आदि में धर्मव्याख्यानार्थ अनेक बार यात्राएँ। देश के विभिन्न प्रमुख नगरों में अनेक बार यात्राओं में धर्माचार्यों, शंकराचार्यों, संस्कृत विद्वानों, हिन्दी कोविदों का निकट सम्पर्क सहयोग। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन आदि अनेक संस्थाओं के संस्थापक संचालक। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की सर्वोच्च संस्कृत उपाधि महामहोपाध्याय से, तथा स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद द्वारा 15 अगस्त 1958 को संस्कृत सम्मान में प्रथम स्थान। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे दिग्गज सहाध्यायी। संस्कृत हिन्दी में 50 से अधिक ग्रन्थों के निर्माता। केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त। अपनी मातृसंस्था जयपुर संस्कृत कॉलेज के 20 वर्ष प्रिंसिपल रहकर सेवा निवृत्त। पुनः लाहौर और अलवर में प्रिंसिपल। देश विभाजन के उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सम्मानित शोध संचालक। 86 वर्ष तक निरन्तर लेखन भाषण अध्यापनरत रहते हुए 1966 में काशी में शिवसायुज्य।

# गीता प्रवचन गीता व्याख्यान माला

( प्रथम भाग )

व्याख्याता :

राष्ट्रपति सम्मानित

महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

**M.M. Pt. GIRIDHAR SHARMA CHATURVEDI**

संपादक :

राष्ट्रपति सम्मानित

डा. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

**Dr. SHIVADUTT SHARMA CHATURVEDI**



**ISBNo. 81-85305-18-8**

**गीता प्रवचन**

**गीता व्याख्यान माला**

(प्रथम भाग)

Published with full financial assistance under the  
scheme of publication of the Banaras Hindu University,  
Varanasi-5

**प्रकाशन वर्ष : सन् 2006**

© काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मूल्य : 360/- रूपया

प्रकाशक : डॉ. विश्वनाथ पाण्डेय,  
विशेष कार्याधिकारी (प्रकाशन),  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,  
वाराणसी-5

मुद्रक : डॉ. डी.के. गुप्त  
प्रभारी, बी.एच.यू. प्रेस  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5

**प्राप्तिस्थान :**

The O.S.D. (Publication Cell)  
Banaras Hindu University, Varanasi-5 (India)  
Phone : 91-542-230-7216  
Fax : 91-542-2368598 / 2368174  
e-mail : vnp@bhu.ac.in

## पुरोवाक्

प्रायः एक दशक से भी अधिककाल से अनुपलब्ध गीता व्याख्यानमाला (गीता प्रवचन) नामक इस महत्वपूर्ण तीन भागों में पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रकाशन समिति द्वारा द्वितीय संस्करण, पूर्ववत् तीन भागों में प्रकाशित किया जा रहा है, यह अभिनन्दनीय अवसर है। इसके लिए गीता तथा अध्यात्म रुचि के विद्वानों और पाठक समुदाय के साधुवाद के और धन्यवाद के अधिकारी हैं, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति महोदय तथा उन्हें एतदर्थ प्रेरित करने वाले डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय, सदस्य सचिव, प्रकाशन समिति एवं विशेष कार्याधिकारी (प्रकाशन) तथा जनसंपर्क अधिकारी महोदय, जिन्होंने इस कमी को देखकर इसके शीघ्र प्रकाशन का निर्णय लिया। मैंने पहिले के कुलपति महानुभावों को पत्र लिखकर इसके पुनर्मुद्रण के लिए ध्यान दिलाया था, परन्तु कालक्रम अनुकूल नहीं हो पाया और वह अब आ सका।

महामना पुण्यश्लोक ब्रह्मर्षि पण्डित मदनमोहन मालवीय जी महाराज ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रविवार को प्रातः १ घण्टे के काल में गीता-प्रवचन नाम से जो प्रवर्तन किया था वह प्रवचन के स्थानों के परिवर्तित होते रहने पर भी अब स्थायी रूप से मालवीय भवन में निरन्तर परिचालित है। गीता प्रवचन के ज्ञान प्रवाह क्रम के निरन्तर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रचलित रहते आने का कारण है श्री सेठ बिड़ला जी द्वारा धन प्रदान (फण्ड निर्माण) पूर्वक गीता समिति नाम की विश्वविद्यालय के अन्तर्गत एक अवान्तर संस्था का गठन, और तदर्थ एक भवन बनवा कर उसके किराये के द्रव्य से गीता समिति के कार्यों का संचालन होता रहे यह आन्तरिक व्यवस्था श्री बिड़ला जी ने महामना की इच्छानुसार की थी, उसी भवन में वर्तमान में विश्वविद्यालय प्रेस है। जिस प्रकल्प के साथ इस प्रकार का स्थायी आर्थिक संयोजन विश्वविद्यालय जैसे ज्ञान संभाग में हो वह अवश्य गतिमान रहता है, इसीलिए गीता प्रवचन का यह महान् ज्ञान सत्रानुष्ठान निरन्तर चल रहा है।

इस गीता प्रवचन का स्वरूप या प्रवचनकर्ता का निर्धारण प्रत्येक रविवार को अलग-अलग गीता समिति के विनियोजित संचालक के द्वारा ही होता आ रहा है।

सन् १९५२-५३ से मैं इस कार्यक्रम में प्रायः उपस्थित होता आ रहा हूँ। उस काल में यह गीता प्रवचन रविवार को प्रातः ८ बजे से ९ बजे तक वर्तमान संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय जो उस काल में संस्कृत महाविद्यालय कहलाता था, उसके सभा भवन और लम्बे बरामदे में होता था। सुना था स्वयं मालवीय जी महाराज



कला संकाय के सभा भवन में गीता प्रवचन करते थे, सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन आदि के भी अनेक बार प्रवचन हुए थे।

मैंने दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर भीखनलाल आत्रेय जी महोदय के गीता समिति के मन्त्रित्वकाल में आयोजित होने वाले गीता प्रवचनों से सुनना प्रारंभ किया था। कालान्तर में श्री मालवीय भवन को जब पूर्णतया नवीन रूप में सुसज्जित कर दिया गया तब रविवासरीय गीता प्रवचन का क्रम भी वहीं श्री मालवीय भवन में प्रारंभ हो गया। वर्तमान में श्री मालवीय भवन में ही रविवार को प्रातः १० बजे से ११ बजे तक गीत प्रवचन का कार्यक्रम चलाया जा रहा है। वर्तमान में वेद विभाग के अध्यक्ष डॉ० श्री हृदयरंजन ज्योतिषी महाशय गीता समिति के मन्त्रि पद पर हैं।

जो व्याख्यान माला इस पुस्तक में द्वितीय संस्करण के रूप में आपके समक्ष आ रही है, उसकी एक रोचक कहानी यह है कि इन प्रवचनों के प्रवचनकर्ता मेरे पुण्य श्लोक पिता जी को स्वर्गीय श्रीमान् जुगल किशोर बिड़ला महोदय ने काशी में सुविधा पूर्वक निवास के लिए मासिक आर्थिक सहयोग दिया था और जब पिता जी के द्वारा उन्हें यह ज्ञात हुआ कि बिना किसी कार्य को सम्पन्न किये कोई द्रव्य न लेने का उनका नेयम है तब उन्होंने गीता समिति के मन्त्री महोदय को यह निर्देश दिया कि वे पिता जी के द्वारा ही गीता प्रवचन कराया करें जो कि प्रत्येक श्लोक क्रम पर आधारित हो और यही क्रम तब से जो चला तो वह ९ वर्षों तक प्रत्येक रविवार को पिता जी के द्वारा प्रत्येक श्लोक पर प्रवचन करते हुए चलता रहा। गीता की इस क्रम से संपूर्ति होने पर गीता पुस्तक पूजन आदि संस्कृत संकाय में ही श्रीमान् स्वर्गीय नटवर लाल हीरालाल भगवती, तत्कालीन कुलपति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, के द्वारा सम्पन्न किया गया।

उसके उपरान्त गीता सभी उपनिषदों का सार है यह देखते हुए पिताजी से जब इसी 'रविवासरीय गीता प्रवचन' के अन्तर्गत उपनिषदों पर क्रमशः प्रवचन करने का आग्रह पूर्ण निवेदन किया गया तब उन्होंने सात उपनिषदों पर क्रमशः प्रवचन किये। इसी काल में श्रीमालवीय भवन इस कार्य के लिए निर्धारित हुआ और अनेक उपनिषदों पर प्रवचन पिता जी ने मालवीय भवन में ही संपन्न किये। इसी काल में एक अवसर में प्रवचन का ऐसा दिन आया कि प्रचण्ड शीतकाल में अपने अभ्यास के अनुसार प्रवचनार्थ प्रस्थान की तैयारी में निवृत्त होकर जैसे ही उन्होंने स्नान किया कि उनकी आवाज पर पक्षाघात का आक्रमण हो गया। उन्हें लेने के लिए पहुँची विश्वविद्यालय से आई कार को वापस करना पड़ा और तब से आगे के तीन वर्ष के उनके जीवनकाल में फिर वह वाणी बहुत उपचार होने पर भी वापस नहीं आ सकी।

गीता के श्लोकों पर प्रवचनकाल में ही स्व० डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल महानुभाव के सत्यप्रयत्नों से तथा विश्वविद्यालय के उच्चाधिकारियों के तत्परता पूर्ण संरम्भ से इन गीता प्रवचनों का पुस्तक रूप में प्रकाशन भी नेपाल प्रकाशन समिति से निर्धारित हुआ, और पिताजी के द्वारा प्रवचनकाल में ही उनका लेखन स्वतन्त्र रूप से एक लेखक की सहायता द्वारा किये जाने पर गीता व्याख्यान माला तीन भागों में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से मुद्रित होकर प्रकाशित हुई।

प्रायः डेढ़ हजार पृष्ठों के इन तीनों भागों में गीता के प्रत्येक श्लोक का तात्पर्य अबतक उपलब्ध पुरातन और अर्वाचीन सभी व्याख्याकारों के मतों के शब्दतः सरल भाषा में उल्लेख होने के कारण तथा स्वतन्त्र तथा वैज्ञानिक दृष्टि से नवीन विवेचनाओं के कारण इन व्याख्यानों का महत्त्व आज आंशिक मत भेद होने पर भी, सर्वसमादरित है, इसीलिए इन पुस्तकों के अनुपलब्ध हो जाने पर इनके पुनर्मुद्रण के प्रयत्नों के लिए अनेक पत्र मिलते रहे। बाहर के प्रकाशकों का भी आग्रह रहा कि यदि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा नियमों की बाधा या फण्ड आदि अड़चन के कारण उदासीनता इसके पुनः संस्करण के लिए दिखाई जा रही हो तो अन्य प्रकाशक इसे प्रकाशित कर सकेंगे। परन्तु ऐसा करना श्रेयस्कर न मानकर जब यह ज्ञात हुआ कि श्रीमान् डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय महोदय जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के सूचना और जनसंपर्क अधिकारी के पद पर प्रतिष्ठित हैं वे गीता प्रवचन के मुद्रण के लिए कुलपति महोदय से स्वीकृति ले चुके हैं, वह भी विश्वविद्यालय की प्रकाशन समिति की मीटिंग में, तब हृदय में बड़ा उल्लास और आनन्द हुआ जब कि इससे पूर्व के पत्राचार के मेरे प्रयत्न स्व० डॉ० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, (प्रोवाइस चान्सलर के रूप में) तथा डॉ० कमलेश दत्त जी त्रिपाठी (कार्य कारिणी समिति के सदस्य के रूप में) सर्वथा असफल हो चुके थे। इस समय यह प्रयत्न अनायास ही श्रीकृष्ण कृपा से पूर्ण हो रहा है और डॉ० श्री विश्वनाथ पाण्डेय के हृदय में यह प्रेरणा स्वतः संभूत हुई तब हम जैसे लोगों का हर्ष से गद्गद होकर श्री विश्वनाथ पाण्डेय जी और कुलपति महोदय आदि के प्रति साभार होना नितान्त प्राकृतिक है।

प्रथम संस्करण में बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई थीं। पहिले तो मुझे प्रथम भाग की प्रति उपलब्ध करने में ही बहुत समय और श्रम करना पड़ा, बाद में मूल को आद्योपान्त पढ़ कर अशुद्धियों को ठीक करके प्रेस में देने के लिए धैर्यपूर्वक कई मास तीनों भागों को आद्योपान्त पढ़कर शुद्ध करना पड़ा फिर विश्वविद्यालय प्रेस के पञ्चाङ्ग मुद्रण आदि में व्यस्त रहने के कारण श्रीमान् माननीय कुलपति महोदय को पत्र लिखकर



उनसे बाहर से कम्प्यूटर से कम्पोजिंग की व्यवस्था करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए पर्याप्त समय लगा। इस कार्य में गीता समिति के पूर्व संचालक एवं मन्त्री श्रीमान् डॉ० कृष्णकान्त महोदय ने भी गीता समिति के द्वारा प्रयत्न में सहयोग प्रदान किया। उनका भी आभार व्यक्त करना कर्तव्य प्राप्त है।

डॉ० श्री विश्वनाथ पाण्डेय ने जब कठिनाई आई उसका तत्परता से समाधान स्वयं सम्पन्न किया परन्तु व्यवस्था एक चक्र है जो निरन्तर घूमा करता है, उसकी परिधि में आने की प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त और कोई उपाय दिखाई नहीं देता है। गीता के उपदेश की कृपा से ही सभी संकट समाप्त होते हैं। वैसा ही होता देख उन्हीं श्रीकृष्ण के श्री चरणों में इस नूतन संस्करण की सर्वाङ्ग संपूर्णता के लिए बार-बार प्रणाम करते हुए पुनः अधिकारी वर्ग तथा काशी में कृष्ण कृपा भी विश्वनाथ के माध्यम से ही होती है अतः जनसम्पर्क अधिकारी श्री विश्वनाथ पाण्डेय जी को धन्यवाद के साथ यह पुरोवाक् पूर्ण किया जाता है।

इस द्वितीय संस्करण के मुद्रण में प्रमाण आदि के शुद्धीकरण आदि अनेक कार्यों में मेरे पुत्र डॉ० संजय चतुर्वेदी ने सहयोग दिया तथा मेरे तृतीय पुत्र डॉ० प्रयास चतुर्वेदी, प्राध्यापक, फ्रेंच भाषा विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने भी अनेक सहयोग दिये। विश्वविद्यालय प्रेस के प्रभारी, डॉ० एस०एन० सिंह महोदय का भी मैं धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने तत्परता से यह कार्य संपन्न किया है।

निवेदक—

श्री गणेश चतुर्थी

२००५

डॉ० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

संपादक - द्वितीय संस्करण

पूर्व अध्यक्ष साहित्य विभाग

संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

## आरम्भिक - वक्तव्य

इस प्रवचन के प्रारम्भिक कई पुष्प ग्रन्थ की भूमिका रूप हैं और श्रीमान् डाक्टर वासुदेव शरण जी अग्रवाल महोदय ने भी भूमिका के रूप में अपना वक्तव्य बहुत कुछ लिख दिया है। इसलिये अब मैं यहाँ अपनी ही कुछ बातें आरम्भिक-वक्तव्य में लिख देना पर्याप्त समझता हूँ।

मुझे भगवद्गीता पर अध्ययनावस्था में ही बहुत श्रद्धा हो गई थी। आगे जब हरिद्वार ऋषिकुल में मुख्याध्यापक पद पर मेरा कुछ काल रहना हुआ तब वहाँ छात्रों को भी श्री शांकर-भाष्य सहित भगवद्गीता पढ़ाता रहा, उसी अवसर में लोकमान्य तिलक का “गीता रहस्य” हिन्दी अनुवाद रूप में प्रकाशित हुआ। उसे मैंने बड़े ध्यानपूर्वक पढ़ा और प्रधान राजनीति के नेता होते हुए भी श्रीतिलक का इतना गम्भीर शास्त्र-पाण्डित्य देखकर मैं बड़ा चकित हुआ। लोकमान्य महोदय ने अपने “गीता रहस्य” में स्पष्ट रूप से बताया है कि जहाँ तक तत्त्व-ज्ञान का सम्बन्ध है वहाँ वे श्री शंकराचार्य के ही सिद्धान्तों को मानते हैं। केवल इसी बात में उनकी विप्रतिपत्ति है कि जहाँ श्री शंकराचार्य गीता का मुख्य प्रतिपाद्य संन्यास धर्म मानते हैं वहाँ लोकमान्य ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कहते हैं। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि “गीता रहस्य” में लोकमान्य ने शास्त्रों का गम्भीर विवेचन किया है। अस्तु, इसके अतिरिक्त जब सनातन-धर्म के उपदेशार्थ मेरा भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में भ्रमण हुआ था, उस समय अपनी वक्तृताओं में भी मैं बहुत स्थलों में भगवद्गीता को ही आधार बनाता रहा। अनन्तर जयपुर में जब आया तब भी गीता का श्रीशांकरभाष्य छात्रों को पढ़ाने का अवसर मिला और वहाँ अपने आराध्य गुरु विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा जो भगवद्गीता पर “विज्ञानभाष्य” लिख रहे थे, उसका भी मनन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। श्री विद्यावाचस्पतिजी ने जिस प्रकार अपने वेद-विषयक ग्रन्थों में वेद-मन्त्रों की व्याख्या नहीं की अपितु वेद की परिभाषाओं को ही स्पष्ट किया है। इसी प्रकार भगवद्गीता की भी व्याख्या उन्होंने नहीं लिखी इसके विषयों का विवेचन प्रथम काण्ड में किया द्वितीय काण्ड में गीता के पद्यों पर अपने मतानुसार शीर्षक लगाये, गीता के प्रकरणों का विभाग भी प्राचीन व्याख्याकारों से कुछ विलक्षण रूप से किया और तृतीय काण्ड में गीता के आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार का विस्तृत विवेचन किया। चतुर्थ काण्ड में भगवद्गीता के एक सौ साठ उपदेशों पर पृथक् पृथक् एक-एक निबन्ध लिख देने का उनका उनका विचार था, किन्तु प्रायः १५, २० उपदेशों पर ही वे विवेचना लिख पाये। अनन्तर अदृष्ट ने उनके उस विवेचन से जनता को वंचित कर दिया। तीन काण्ड जो उनके “विज्ञानभाष्य” के प्रकाशित हो चुके हैं,



उनके प्रूफ संशोधन का कार्य उन्होंने कृपा कर मुझे ही सौंपा था। इससे भी गीता के विषयों का मनन करने का सुअवसर मुझे मिला और अपनी उत्तर-आयु में जब से मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आया तब से उस समय के उपकुलपति स्वर्गीय श्री गोविन्द मालवीय ने साप्ताहिक गीताप्रवचन का भार प्रायः मुझ पर ही दिया। पूर्व भी समय-समय पर जब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भिन्न-भिन्न समितियों के सदस्य से आता रहता था तब स्वनाम-धन्य श्री मालवीय जी भी कई बार मुझसे साप्ताहिक प्रवचन कराते रहते थे। इतने महान् काल के गीता सम्बन्धी मनन के फलस्वरूप यह प्रवचनमाला ग्रन्थ आज विज्ञ पाठकों की सेवा में अर्पित है। इसमें से ग्राह्य अंशों का ग्रहण करना और जो उचित न प्रतीत हो उन अंशों को मेरा प्रमाद समझ कर छोड़ देना यह विज्ञ पाठकों पर ही निर्भर है।

इस प्रवचनमाला में मैंने मुद्रित प्रायः सभी व्याख्याओं का सार संग्रह करने का प्रयत्न किया है। कई विशेष पद्यों पर भिन्न-भिन्न व्याख्याताओं के भिन्न-भिन्न मत भी स्पष्ट रूप से दिये हैं और अपनी बुद्धि के अनुसार उनकी आलोचना भी कहीं-कहीं कर दी है।

इसके अतिरिक्त सनातन धर्म के जो व्याख्यान मैं धर्म सभाओं में किया करता था उनका भी समावेश प्रसंग आने पर इस प्रवचन माला में कर दिया है। इससे यदि विद्वान् पाठकों को कुछ संतोष हुआ और साधारण जनता को कुछ लाभ हुआ तो मैं अपना प्रयास सफल समझूँगा।

इस पुस्तक के सम्पादन कार्य में मेरे पुत्र श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी, व्याकरण-साहित्याचार्य, एम० ए० और शिष्य श्री रामाधीन शास्त्री व्याकरण-साहित्याचार्य, व्याकरण चक्रवर्ती, श्री केशवपुरी जी वेदान्तचार्य तथा पौत्र- चि० ईश्वर प्रसाद एम० ए० से बहुत सहायता मिली है। इसलिए इन सभी लोगों को हार्दिक आशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

गीता-जयन्ती

मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी

२०१९ विक्रमाब्द

७ दिसम्बर १९६२ ख्रिष्टाब्द

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

## प्रथम संस्करण की भूमिका

महामहोपाध्याय श्री पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी प्रत्येक रविवार को प्रातःकाल ८ बजे से ९ बजे तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के श्रोताओं के लिए गीता का प्रवचन करते रहे। उन्होंने सात वर्षों में गीता के अठारह अध्यायों का प्रवचन समाप्त किया। गीता के अनन्तर आजकल वे उपनिषदों का प्रवचन कर रहे हैं। गीता के इन प्रवचनों ने विश्वविद्यालय के श्रोताओं को पर्याप्त प्रेरणा दी और जिस समय ये प्रवचन हो रहे थे, उसी समय कई बार यह विचार प्रकट किया गया कि वे इसे लिपिबद्ध कर देने की कृपा करें। पण्डित जी ने इसे स्वीकार किया और आयु और स्वास्थ्य की मर्यादा होते हुए भी कठिन परिश्रम करके 'गीता-प्रवचन' नामक पहले छह अध्यायों की व्याख्या समाप्त करके विश्वविद्यालय को दे दी। ईश्वर की असीम अनुकम्पा से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। हमारी भगवान् से प्रार्थना है कि पण्डित जी शतायु हों और अवशिष्ट बारह अध्यायों पर भी वे अपना गीता प्रवचन भाष्य समाप्त कर सकें। हर्ष का विषय है कि गीता के छह अध्यायों का यह प्रथम भाग गीता-जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित हो रहा है। शेष १२ अध्यायों को इसी प्रकार दो भागों में प्रकाशित करने का विचार है।

गीता पर पूर्व आचार्यों और पण्डितों द्वारा विरचित अनेक भाष्य और टीकाएं हैं, किन्तु गीता विश्व का अमर शास्त्र है। उस पर नई-नई दृष्टियों से सदा विचार संभव होता रहेगा। श्री महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने अपने गीता प्रवचनों में जहाँ एक ओर प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है, वहीं गीता शास्त्र के विषय में नवीन दृष्टि भी सामने रखी है। एक प्रकार से उनकी नवीनता भी प्राचीनता को लिए हुए है। गीता के माहात्म्य में एक श्लोक में कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

यहाँ पाँच बातें कही हैं। गीता अमृत की भांति आत्मा को पोषण देने वाला दूध है। दूध के लिए गाय चाहिए, दुहने वाला चाहिए, गाय का बछड़ा चाहिए और जब दुह लिया जाय तो उसका पीने वाला चाहिए। ये सब बातें गीता पर घटित होती हैं। गीता का दूध किन गायों से दुहा गया? उपनिषद् ही वे गायें हैं। यहाँ उपनिषदों से तात्पर्य उस प्राचीन परम्परा से था जिसे त्रयीविद्या या वेदों की परम्परा कहते थे। उसके लिए कई शब्द हमारे साहित्य में मिलते हैं। महिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्त ने उसे 'त्रयी' कहा है (त्रयी साख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति)। उसे ही कालिदास ने 'वेदान्त' शब्द

से अभिहित किया था (वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी)। उनके समय में शांकरवेदान्त अस्तित्व में नहीं आया था। किन्तु वेदान्त से उपनिषदों की अध्यात्मविद्या का ही बोध होता था। उसे ही पुराणों में 'वेदारण्यक' भी कहा गया है। इस प्रकार प्राचीन वेदविद्या की धारा ही उपनिषद् विद्या थी। अतः जब उपनिषदों को गीता का स्रोत कहा गया तो उसका आशय यही था कि वैदिक परम्परा की प्राचीन अध्यात्मविद्या का प्रतिपादन गीता शास्त्र में किया गया है। गीता रूपी दूध के दुहने वाले गोपालनन्दन कृष्ण हैं। गीता के करन्यास में श्रीकृष्ण परमात्मा को ही इस शास्त्र का देवता कहा गया है (ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान्वेदव्यास ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीकृष्णः परमात्मा देवता)। अद्वैत परमात्म ब्रह्मतत्त्व ही भगवान् कृष्ण हैं। वही गीता ज्ञान का अधिगम्य लक्ष्य है। वेदरूपी गायों के दुग्ध की आवश्यकता मानव को है, भगवान् तो उसे दुह कर देने वाले हैं। मानव भगवान् की सृष्टि का सबसे प्रधान अंग है। जन्म, कर्म और मोक्ष के संबंध में मानव यदि भगवान् से ही उपदेश की प्रार्थना करे तो वही भगवान् का किया हुआ उपदेश गीता है अर्थात् इसका अर्थ यही है कि गीता इतना पूर्ण शास्त्र है कि यदि यह ईश्वर प्रोक्त ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। अर्जुन की उपमा उस बछड़े से दी गई है जिसके लिए गऊ माता दुग्ध देती है। वस्तुतः वेद भगवान् का ही ज्ञानमय तप है। इस दृष्टि से समस्त वेद और उपनिषद् भगवान् कृष्ण के भीतर वर्तमान थे। वे ही अर्जुन के लिए गीता के दुग्ध रूप में प्रकट हुए। अर्जुन नारायण का सहयोगी सखा नर है।

भागवतों की यही मान्यता थी—

नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये

(भाग० ११।७।१८)

नरायणो नरश्चैव तत्त्वमेकं द्विधा कृतम्

(महाभारत-उद्योग पर्व)।

अर्जुन उसी प्रकार नरतत्त्व का प्रतिनिधि है जिस प्रकार कृष्ण नारायण तत्त्व के। नरनारायण ऋषि सृष्टि के आरम्भ से हिमालय पर तपश्चर्या कर रहे हैं। वे एक दूसरे के सखा हैं। किन्तु गाय जो दुग्ध देती है वह यद्यपि मातृ हृदय के वात्सल्य से बछड़े के लिए उमड़ता है, तो भी उसका वत्सावशिष्ट अमृत अंश लोक को मिलता है। वैसे ही यहाँ कहा है कि गीतारूपी अमृत दुग्ध के भोक्ता सुधी लोग हैं अर्थात् वे सब व्यक्ति दुग्ध के अधिकारी हैं जिनके हृदय में यह दूध पीने की अभिलाषा हो और जिनमें इसके लिए बुद्धि हो वे मानव मात्र गीता ज्ञान के पात्र हैं। यह अमृत विश्व भर के मानवों

के लिए है। उस दिन एक अमरीकी मित्र ने अपनी प्रेरणा से मुझ से एक अच्छी बात कही। उन्होंने बताया कि गीता समस्त मानव जाति के लिए है और इसी दृष्टि से उन्होंने गीता का ऐसा अनुवाद किया है कि जिसमें विश्वमानव की दृष्टि से ठेठ भारतीय परिभाषाओं की व्याख्या करके गीता का अनुवाद या सार दिया गया है।

गीता को अमृत दुग्ध कहने का भी एक कारण है। विशुद्ध अध्यात्म विद्या केवल अमृत है। और केवल कर्म जल है। दोनों ही मनुष्य के लिए अपर्याप्त हैं। मनुष्य को अमृत भी चाहिए और मर्त्यभाव भी। केवल अमृत से सृष्टि नहीं होती और न केवल मृत्यु से ही वह स्थित रहती है। अमृत और मृत्यु का समन्वय जीवन है। यही अमृतरूपी नारायण तत्त्व का नरभाव में अवतार है। स्वर्ग का अमृत और पृथ्वी का जल जब ये दोनों मिलते हैं तब दूध बनता है। केवल जल पीकर कोई जीवित नहीं रह सकता। किन्तु दूध पीकर जीवित रहना संभव है। क्योंकि दूध रूपी पानी में अमृत का भी अंश मिला है। ऐसे ही गीता में भी ज्ञानरूपी अमृत और कर्मरूपी जल दोनों का मेल कराया गया है। यही गीता की विशेषता है और इसीलिए गीता के ज्ञान को दुग्ध कहा गया है। ज्ञान और कर्म के समन्वय का जैसा दृष्टिकोण और आग्रह गीता में पाया जाता है वैसा अन्य किसी शास्त्र में प्राप्त नहीं होता। इस दृष्टि से गीता सब शास्त्रों में अपूर्व है। प्रवृत्ति और निवृत्ति, अमृत ब्रह्मविद्या और व्यावहारिक संसार का कर्ममार्ग इन दोनों का मेल करने की युक्ति जैसी गीता में बताई है, वैसी अन्यत्र है ही नहीं।

इस संबंध में गीता के अध्यायों की पुष्पिका की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है।

ॐ तत्सदिति ॥१॥

श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु

ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥

एक प्रकार से इस पुष्पिका में गीता का तत्त्व बता दिया गया है। इसमें पाँच बातें कही गई हैं। ॐ तत्सत्— यह पहला वाक्य ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। ईश्वर या ब्रह्मतत्त्व या सत् तत्त्व ही भारतीय संस्कृति का मस्तिष्क है। उसी से विश्व और मानव दोनों का विकास हुआ है। वेद, उपनिषद् और गीता इनका जो कुछ भी रस है वह ईश्वर तत्त्व की स्वीकृति के कारण ही है। पुष्पिका के दूसरे अंश में जिस स्रोत से गीता का जन्म हुआ है अथवा जिस परम्परा से गीता का ज्ञान संबंधित है उसका स्पष्ट उल्लेख है। भगवत्तत्त्व द्वारा उपदिष्ट जो वेद विद्या या उपनिषद् विद्या है,



उसी का सारांश गीता में आया है। यह महती सारगर्भित उक्ति है। वेदों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का समन्वय है। जैसा मनु ने कहा है—

**प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।**

वे दोनों धाराएँ गीता में मिली हैं और इनका सर्वोत्तम रूप मानव जीवन को भूषित करने के लिए गीता में बताया गया है। पुष्पिका के तीसरे अंश में इन दो धाराओं का नामोल्लेखपूर्वक कथन है। एक की ब्रह्मविद्या है और दूसरे का योगशास्त्र। योगशास्त्र का अर्थ गीता के लिए मुख्यतः कर्मयोग ही है। ब्रह्मविद्या का विषय ज्ञान है और कर्मयोग का विषय संसार का व्यवहार है उसने ही संबंधित जीवन का संघर्ष है। कोई व्यक्ति कर्म छोड़ बैठे तो उससे जीवन का ही निराकरण हो जाता है। यह न उचित है और न पूरी तरह संभव और न आवश्यक ही। क्योंकि उच्च जीवन का एक ऐसा भी प्रकार है जिसमें समझदारी के साथ कर्म का निर्वाह किया जाय तो मनुष्य को जो भी उच्चतर जीवन चाहिए वह सब संसार में रहते हुए ही प्राप्त किया जा सकता है। यह उच्चतर ज्ञान ब्रह्मविद्या है जिसका संबंध आत्मा और मोक्ष से है। मनुष्य को चाहिए कि वह जीवन में इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाए कि न तो कर्म से भागे और न कर्म का बोझ ही अपने मन पर आने दे। ऐसी सुन्दर कलात्मक युक्ति बताने वाला यदि कोई शास्त्र हो तो मानव मात्र को उसमें रुचि होगी। कर्म की समस्या प्रत्येक के सामने है। वह कर्म बाँधने वाला न हो, मुक्त करने वाला हो। इस प्रकार का साहस पूर्ण वाक्य गीताकार ही कह सके हैं। संसार के अन्य शास्त्रों में इस प्रकार का विवेचन नहीं दिखाई देता और न यह गूँज ही सुनाई देती है। गीताकार ने ब्रह्मविद्या को पूरा सम्मान दिया है। यह कहना ठीक नहीं कि गीताकार को ब्रह्मविद्या में रुचि नहीं अथवा वे केवल कर्म पर ही बल देते हैं। गीताकार का लक्ष्य तो वहाँ है जहाँ ज्ञान और कर्म को समन्वित करने की युक्ति है। ज्ञान को छोड़कर कर्म करने वाले तो अनेक हैं। उनसे संसार का व्यवहार भले ही चलता रहे किन्तु मानव को जो सर्वोत्कृष्ट बुद्धि मिली है उसका उच्चतम संस्कृत रूप ऐसे कर्म करने वालों में दिखाई नहीं देता। मानव तो जैसा पूर्व काल में था वैसा आज भी प्रज्ञाशील प्राणी है। प्रज्ञा या बुद्धि ही मानव की सबसे बड़ी विशेषता है। ज्ञान और कर्म करने का समन्वय करने का बुद्धि या प्रज्ञा के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। अतः गीता का सबसे अधिक आग्रह इसी बुद्धि योग पर है, जिसे प्रतिष्ठित प्रज्ञा भी कहा गया है। ऐसी प्रज्ञा रखने वाला मनुष्य ही सच्चा पंडित है। प्रज्ञा से ही पञ्जा, पण्णा और पण्डा रूप होते हैं। गीताकार की दृष्टि में बुद्धियोग वह है जिसमें ब्रह्मविद्या या ब्राह्मी स्थिति एवं कर्म इन दोनों का संतुलन प्राप्त किया जाता है। गीता में योग की दो परिभाषाएँ कही गई हैं। समत्वं योग उच्यते—

यह समत्वभाव या ब्राह्मी स्थिति को दृष्टि में रख कर है। उसी के आगे “योगः कर्मसु कौशलम्” द्वारा कर्म करने की कुशलता को योग कहा गया है। कर्म की कुशलता वही है जिसमें कर्म का बोझ या बंधन मानव के मन पर न पड़े। इन लक्षणों की समन्वय बुद्धि योग में होता है। वही गीता को इष्ट है।

मनुष्य को ज्ञान और कर्म सम्बन्धी जो दो प्रकार की शक्तियाँ मिली हैं उन दोनों को समझदारी के साथ काम में लाना यही प्रज्ञा दर्शन या बुद्धि योग का ध्येय था। कृष्ण प्रज्ञावादी दर्शन के आचार्य थे। प्रज्ञावादी दर्शन की एक झलक विदुर नीति में सुरक्षित रह गई है। किन्तु उसका परिपूर्ण दार्शनिक रूप गीता में ही उपलब्ध है। प्रज्ञावादी कृष्ण का वेद के विषय में दृष्टिकोण स्पष्टता से समझ लेना आवश्यक है। एक ओर उनकी स्पष्ट युक्ति है— सर्वैश्ववेदैरहमेव वेद्यः, अर्थात् सब वेद ब्रह्म का ही ज्ञान कराते हैं। वेदों में मैं सामवेद हूँ, सामवेद मेरा ही रूप है अथवा सब वेद जिस पद या परम तत्त्व का बखान करते हैं वही संक्षेप में ‘ओम्’ या ‘प्रणव’ है जो ईश्वर का वाचक है। एक ओर गीताकार ने वेदों के उच्च लक्ष्य को सुनिश्चित रूप से कहा है, दूसरी ओर इस प्रकार कथन भी पाया जाता है— हे अर्जुन, वेद त्रैगुण्य विषयक हैं, तुम त्रैगुण्य से रहित बनो। यह उक्ति पूर्व पक्ष के स्थान में है। वेद के विषय में दो दृष्टिकोण विकसित हुए— एक यज्ञ विषयक कर्मों का जो स्रोत सूत्रों में हैं और दूसरा ब्रह्म विज्ञान या आत्मज्ञान विषयक, जो उपनिषदों में है। गीताकार ने पहले दृष्टिकोण को वेद सम्बन्धी पुष्पिता वाक् कहा है, जिसमें यज्ञों की क्रियाएँ और उनसे मिलने वाले भोग ऐश्वर्य का वर्णन भरा हुआ है। वेदों का यदि वही प्रयोजन लिया जाय तो बार-बार जन्म लेने और कर्म करने का फल पाना होगा। कृष्ण इसे वेदों का सच्चा अर्थ नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वेदों का लक्ष्य ही है— “सर्वैश्व वेदैरहमेव वेद्यः” अर्थात् ब्रह्मविज्ञान है। वस्तुतः वेद के भी दो अर्थ हैं— एक शब्द राशिमय वेद और दूसरा तत्त्व ज्ञानमय वेद। शब्द राशि या मंत्रात्मक वेद कूप जल के समान है, अर्थात् सीमित और परिमित है। किन्तु तत्त्व ज्ञानात्मक वेद तो ब्रह्म रूप ही है। ब्रह्म का ज्ञानमय तप वेद है। वह ब्रह्म विज्ञान उस बहिया के समान है जिसमें जल के प्रवाह चारों ओर से उमड़ते हुए आते हैं, और उस अनंत जल राशि के मध्य में खड़े हुए व्यक्ति को सीमित कूपजल की आवश्यकता नहीं रहती—

“यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥”

गीताकार ने शब्दात्मक वेद और तत्त्व ज्ञानमय वेद के तारतम्य के विषय में जो कहा है उससे कहीं अधिक स्वयं ऋग्वेद के मंत्र द्रष्टा ऋषि ने कह दिया है—

“ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥”

(ऋक्- १।१६४।३९)

जिसे अक्षर ब्रह्म कहते हैं, जिसका अधिष्ठान परम व्योम है, उसी में वेदों की ऋचाएँ और विश्व के देवों का निवास है। जो उस ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानता उसके लिए शब्दात्मिका ऋचाएँ निष्प्रयोजन हैं। जो उस अक्षर ब्रह्म को जानते हैं वही ब्रह्म सम्बन्धी चर्चाओं में स्थान पाने योग्य हैं। अर्थज्ञ और शब्दज्ञ इन दोनों के भेद को यहाँ स्पष्ट कहा गया है। अर्थज्ञ योगी होता है और शब्दज्ञ केवल पंडित।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्माति वर्तते (६।४४),

योग का सच्चा जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्म के विद्वान् से बढ़कर है। यही वेद के विषय में गीता की स्थिति है। गीताकार के लिए वेद सर्वस्व है। वे किसी भी प्रकार वेद की उपेक्षा या अवहेलना नहीं करते। हाँ, उन अविपश्चित् या अल्पज्ञों का तिरस्कार अवश्य करते हैं जो वेदों के ब्रह्मज्ञान की उपेक्षा करके केवल यज्ञ आदि में लिप्त थे। वेदों की उपेक्षा तो दूर गीता ज्ञान के उपजीव्य वेद और उपनिषद् ही हैं। जो वेदों में है वही उपनिषदों में है और जो उपनिषदों में है वही गीता में है। स्वयं उपनिषद् अनेक प्रकार से वेदार्थ को पल्लवित करते हैं। गीता भी प्राचीन मान्यता के अनुसार उपनिषदों का ही सार है।

वेदों की ब्रह्मवृक्ष विद्या जिसे सहस्रवल्शवनस्पति विद्या भी कहते हैं। कठोपनिषद् की अश्वत्थविद्या है (ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शास्त्र एषोऽश्वत्थः सनातनः)। ऊर्ध्व तत्त्व ब्रह्म तत्त्व है। विश्व अधः है। संसार वृक्ष ही अव्यय अश्वत्थ है। इसी प्रकार वेदों की अहोरात्र विद्या (८।१७), सदसद् विद्या (९।१९), ज्ञानकर्म विद्या, प्राणविद्या (४।२९), योगविद्या, प्रणव विद्या (८।११), पंचात्म विद्या (३।४२), विराट विद्या (एकादश अध्याय), देव विद्या (३।११, ९।२५), यज्ञविद्या (३।१०), चक्र विद्या (३।१६), अमृतमृत विद्या (९।१९), शुक्र विद्या (१४।४), ब्रह्म विद्या (८।१-३), शाश्वतधर्म विद्या (१४।२७), अव्यय विद्या (२।२१), परावर विद्या (७।४-५), त्रैगुण्य विद्या (चतुर्दश अध्याय), पितृ विद्या (१।४२), मातृपितृ विद्या (१४।४), महद्योनि विद्या (१४।३), अन्न-अन्नाद विद्या (३।१४), सृष्टिबीज विद्या (१४।४), व्यक्ताव्यक्त विद्या (२।२८), क्षराक्षर विद्या (८।४, १५।१६), वैश्वानर विद्या (१५।१४), क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विद्या (१३।१-२ इत्यादि), अध्यात्म विद्या (८।१-३), अधियज्ञ विद्या (८।४), अधिभूत विद्या (८।४), अधिदैत विद्या (८।४), अजअव्यय विद्या (२।२०, ४।६), आदि अनेक वैदिक विद्याओं और तत्त्वों का निरूपण,

नामोल्लेख और संकेत गीता में पाया जाता है। गीता के निर्माण में वेदों और उपनिषदों की अनेक विद्याओं का भरपूर उपयोग किया गया है। विशेषतः क्षर और अक्षर विद्या का तो जैसा विवेचन गीता में है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता—

“द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षरः एव च ।  
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥”

(१५।१६)

यहाँ यह स्पष्ट कहा है कि अधिभूतों की संज्ञा क्षर है। पंचभूतों के कूट या ढेर के आश्रय से प्रकट होने वाला कूटस्थ जीवात्मा अक्षर कहा जाता है। क्षर और अक्षर इन दोनों से विलक्षण जो ईश्वर या परमात्मा तत्त्व है वही गीता का अव्यय पुरुष या पुरुषोत्तम है। क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और अव्यय पुरुष गीता के दार्शनिक विवेचन का आधार है, और यही त्रिपुरुष विद्या वैदिक तत्त्व दर्शन का भी मूल है। इसे ही वैश्वानर अग्नि भी कहते हैं, जिसमें विश्वनर या तीनों पुरुष समवेत रूप से अग्नि का प्रकट रूप हैं। गीता में कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

(१५।१४)

“अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते” (श० ब्रा० १४।८।१०।१)। अर्थात् जो अन्न खाया जाता है इसे पचाने वाली जो प्राण अपान युक्त शक्ति है वही अग्नि वैश्वानर है जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान है। वैश्वानर विद्या ऋग्वेद की महत्वपूर्ण विद्याओं में से है। वैश्वानर को सब भुवनों का राजा कहा गया है। एक ओर मनुष्य शरीर में आई हुई प्राण शक्ति वैश्वानर है दूसरी ओर विश्व की विराट् प्राण शक्ति सूर्य है। प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ वैश्वानर और सूर्य इन दोनों में निरन्तर स्पर्धा रहती है। वैश्वानर पंचभूतों से बने हुए इसी पार्थिव शरीर में उत्पन्न होता है और आयुपर्यन्त यहीं उसकी सब चेष्टाएँ होती रहती हैं। सूर्य अमृत का प्रतीक है। उसी की शक्ति शरीरस्थ मर्त्य वैश्वानर को प्राप्त होती है। जैसा कहा है—

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम, राजा हि कम् भुवनानामभि श्रीः ।

इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥

(ऋग्वेद १।९८।१)

जिस वैश्वानर विद्या का गीता में और शतपथ ब्राह्मण में इतना स्पष्ट उल्लेख है

और जिसकी पहचान प्राणियों के शरीर में स्थित प्राणापान युक्त अग्नि से की गई है, वह वेदों की अत्यंत प्राचीन विद्या थी। इस प्रकार गीता के अर्थों पर यदि नए सिरों से विचार किया जाय तो यही परिणाम निकलता है कि गीताकार ने अनेक वैदिक विद्याओं को अपने शास्त्र में स्थान दिया है। उनका विवेचन और विवरण सप्रमाण किया जाना चाहिए। तभी गीताशास्त्र जैसा उसकी पुष्पिका में कहा है, सनातन काल से प्राप्त ब्रह्मविद्या के साथ समन्वित हो सकेगा। तभी यह कहना भी ठीक होगा कि उपनिषद् रूपी गायों का अमृत दूध गीता में है। महामहोपाध्याय गिरिधर जी के गीता प्रवचन की यही विशेषता रही है। एक ओर गीता में वैदिक सामग्री का वे अपने गुरु पं० मधुसूदन जी की प्रदर्शित शैली से बहुत अच्छा विवेचन करते हैं। दूसरी ओर शंकर, रामानुजाचार्य यदि आचार्यों ने अपने-अपने गीता भाष्यों में जो मूल्यवान् सामग्री दी है उसका भी वे स्पष्ट उल्लेख करते हैं। आचार्यों के मतों में जो कहीं-कहीं विरोध है उसका भी परिहार और संगति वे दिखाते हैं। यह नया भाष्य कथा प्रवचन के रूप में विश्वविद्यालय के श्रोताओं के सामने सुनाया गया था। इसकी विशदता इसका गुण है। इसके रूप में गीता विषयक साहित्य में एक नई वस्तु सामने आ रही है। ईश्वर से प्रार्थना है कि इसके अवशिष्ट दो भागों को पूर्ण करने की शक्ति पंडितजी को प्रदान करने कृपा करें।

गीता-जयन्ती

मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी

२०१९ विक्रमाब्द

७ दिसम्बर १९६२ खृष्टाब्द

वासुदेवशरण अग्रवाल



# “गीताप्रवचन” ( गीता व्याख्यानमाला )

## विषय-सूची

### प्रथमाध्याय

पुष्प-संख्या	पृष्ठ-संख्या
<b>१-प्रथम-पुष्प</b>	... १
(१) मङ्गल-पद्य	
(२) गीता के विषय, अधिकारी, प्रयोजन	
(३) आर्य जाति के संस्कार	
<b>२-द्वितीय-पुष्प- गीतोक्त धर्म-निर्णय का आधार</b>	... १७
(१) तिलक के “गीतारहस्य” के अनुसार धर्म के आधार और उनकी आलोचना	
(२) पाश्चात्य-विद्वानों द्वारा माने हुए धर्म के आधार और उनकी आलोचना	
<b>३-तृतीय-पुष्प</b>	... ३५
(१) गीता का सर्व-सम्मत महत्त्व	
(२) गीता शब्द स्त्री लिङ्ग क्यों?	
(३) भागवत-धर्म का मुख्य आधार गीता	
<b>४-चतुर्थ-पुष्प-भगवद्गीता श्रुति है या स्मृति?</b>	... ४५
(१) श्रुति और स्मृति का अन्तर	
(२) वेदाध्ययन का अधिकार द्विजाति-मात्र को ही क्यों?	
(३) गीता में कर्म, उपासना और ज्ञान का समन्वय	
(४) सब दर्शनों में सामान्य-परिचय	
<b>५-पंचम-पुष्प-गीता के भाष्यकार और उसका विषय-विभाग</b>	... ६३
(१) साम्प्रदायिक-आचार्यों के मतों का दिग्दर्शन	
(२) विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा के मतानुसार विषय-विभाग	

६-षष्ठ-पुष्प-गीता का समय (काल-निर्णय)	...	७५
(१) महाभारत-युद्ध का काल-निरूपण		
(२) महाभारत-ग्रन्थ का काल-निरूपण		
७-सप्तम-पुष्प	...	८४
(१) उपोद्घात प्रकरण में आर्य-संस्कृति की ज्ञातव्य बातों सन्निवेश।		
(२) जीव सदा अनेक क्लेशों से आक्रान्त रहता है और ईश्वर सदा आनन्दमय		
(३) जिज्ञासु को ही उपदेश देने का विधान		
(४) अर्जुन के प्रमुख योद्धा होने पर भी भीम की रक्षा विशेष रूप से करने पर शंका एवं उसका समाधान		
८-अष्टम-पुष्प	...	९४
(१) प्रथमाध्याय के १४ से ३९ तक के पद्यों का अर्थ		
९-नवम-पुष्प ( पतिव्रत धर्म और वर्ण संकरता के दोष )	...	१०१
(१) कुल-क्षय होने पर अधर्म की वृद्धि क्यों?		
(२) वर्ण संकरता के दोष और पतिव्रत धर्मों का शास्त्रों में विवरण		
(३) विवाह संस्कारों की क्रियाओं की वैज्ञानिकता (विवाह संस्कार पर व्याख्यान)		
(४) प्राचीन काल की स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था वैज्ञानिक थी (इस पर विस्तृत व्याख्यान)		
(५) अर्जुन की सब शंकाओं का समाधान भगवान् ने क्यों नहीं किया? उसका उत्तर		

## द्वितीयाध्याय

१०-दशम-पुष्प	...	११४
(१) ब्राह्मण का धर्म भिक्षा नहीं है- (इसका प्रतिपादन दो उदाहरणों द्वारा)		

११-एकादश-पुष्प-उपदेश-त्रैविध्य	... १२१
(१) उपदेशों की तीन प्रणालियाँ	
(२) भगवद्गीता सुहृत्सम्मित उपदेश है	
(३) गीता में आत्मा-परमात्मा के विस्तृत निरूपण का कारण	
१२-द्वादश-पुष्प (अ० २। श्लोक० १२)	... १२६
(१) आत्मा की अनादिता और अनन्तता की सिद्धि	
(२) कर्मवाद की स्थापना	
(३) कर्म का फल सुख दुःख हो तो चेतावनी क्यों नहीं मिलती इसका उत्तर	
(४) इस पद्य से भेदवाद सिद्ध नहीं होता; इसका निरूपण	
१३-त्रयोदश-पुष्प (अ० २। श्लो० १३-१५)	... १३१
(१) शरीर के अवस्था भेदों से आत्मा की सिद्धि	
(२) इन्द्रिय जन्य सुख दुःखों की क्षणिकता	
१४-चतुर्दश-पुष्प (अ० २। श्लो० १६)	... १३६
(१) 'नासतो विद्यते भावः' इस पद्य की सांख्यदर्शन के अनुसार व्याख्या	
१५-पंचदश-पुष्प (अ० २। श्लो० १६)	... १४१
(१) 'नासतो विद्यते भावः' इस पद्य की वेदान्तदर्शन के अनुसार व्याख्या	
१६-षोडश-पुष्प (अ० २। श्लो० १७, १८)	... १४५
(१) 'अव्यय' पद गीता में रूढ़ है इसका उपपादन	
(२) मूलतत्त्व की अविनाशिता का उपपादन	
(३) ज्ञान की नित्यता	
(४) इस पद्य से अद्वैतवाद की स्पष्टता	
१७-सप्तदश-पुष्प (अ० २। श्लो० १९, २०)	... १५१
(१) उपनिषद् के पाठ परिवर्तन के कारण	
(२) आत्मा में क्रिया के असंभव का उपपादन	
(३) शुद्ध आत्मा में प्रेरकता का भी अभाव	

- (४) जीवात्मा के अणुत्व विभुत्व का विस्तृत विवेचन  
तथा विभुत्व की स्थापना
- १८-अष्टादश-पुष्प (अ० २, श्लो० २०) ... १५७
- (१) निरुक्त में कहे गये ६ विकारों का आत्मा में अभाव
- (२) आत्मा के अमर होने पर भी हिंसा के धर्मशास्त्रों में निषेध का तात्पर्य
- (३) वैष्णवाचार्यों के मतानुसार व्याख्या
- १९-उत्तीसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० २१) ... १६४
- (१) श्री शङ्कराचार्य इस पद्य के द्वारा कर्म संन्यास सिद्ध करते हैं, अन्य व्याख्याकारों का उनसे मतभेद प्रदर्शन
- २०-बीसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० २२-२५) ... १७०
- (१) भागवत पद्य से प्रकृत पद्य की शङ्का कर उसका समाधान और श्री शङ्कराचार्य के शारीरिक भाष्य के अनुसार तात्पर्य विवरण
- (२) वैष्णवाचार्यों के मतानुसार 'सर्वगतत्व' का व्याख्यान
- २१-इक्कीसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० २६, २७, २८) ... १८१
- (१) 'अभ्युपगमवाद' शब्द का अर्थ प्रदर्शन
- (२) मृत्यु के अनन्तर जन्म की आवश्यकता बताने पर शङ्का और उसका व्याख्याकारों के अनुसार समाधान
- (३) 'अव्यक्त' शब्द के अर्थ में भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों के मत
- २२-बाईसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० २९, ३०) ... १८८
- दो पद्यों की विस्तृत व्याख्या
- धर्म की व्याख्या के चार पुष्प
- २३-तेईसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० ३१) ... १९४
- (१) प्रसङ्गागत धर्म का विस्तृत व्याख्यान और स्वधर्म परधर्म आदि का भेद प्रदर्शन
- (२) धर्म शब्द का अर्थ काम्य कर्मों में कैसे समन्वित होगा, इसका विचार
- (३) धर्म के भिन्न-भिन्न लक्षणों की एकवाक्यता

- २४--चौबीसवाँ-पुष्प (धर्म का ही विवेचन) ... २०४
- (१) तीन शरीर और पञ्चकोष का विवेचन
  - (२) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार व्यावहारिक आत्माओं के अद्वारह भेद
  - (३) 'हंसात्मा' का विशेष रूप से विवरण
  - (४) 'धर्म' शब्दार्थ में न्याय और मीमांसा का मतभेद
  - (५) देशकाल के अनुसार धर्म व्यवस्थित है
- २५--पच्चीसवाँ-पुष्प (धर्म विचार ही अनुवृत्त) ... २१५
- (१) प्रकार या नीति में भेद होता है, धर्म एक ही रहता है
  - (२) संघर्ष में धर्म की जटिलता, उसमें निर्णय का उपाय, तथा महाभारत की एक कथा का दृष्टान्त
  - (३) कहीं-कहीं धर्म की अपेक्षा नीति की प्रधानता, इस पर भी महाभारत का दृष्टान्त
  - (४) अन्न दोष से बुद्धि विकृत हो जाती है, इसका दृष्टान्त
- २६--छब्बीसवाँ-पुष्प (धर्म की व्याख्या अनुवृत्त) ... २२४
- (१) धर्म का वैज्ञानिक विवेचन
- २७--सत्ताईसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० ३२) ... २३१
- (१) युद्ध क्षत्रिय का धर्म है
  - (२) युद्ध में अन्तःकरण की स्थिरता का निरूपण
  - (३) युद्ध-मरण से उत्तम गति की प्राप्ति
- २८--अट्ठाईसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० ३३-३७) ... २३७
- (१) युद्ध क्षत्रिय का नैमित्तिक धर्म भी है
  - (२) अभाव से भावोत्पत्ति का समर्थन
- २९--उन्तीसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० ३८) ... २४२
- (१) सुख-दुःख तथा जय-पराजय में समानता का निरूपण
  - (२) श्री शंकराचार्य से पूर्व भी ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद की सत्ता
- ३०--तीसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० ३९) ... २४८
- (१) सांख्य और योग शब्द का अर्थ-विभिन्न साम्प्रदायिक व्याख्याकारों के मतानुसार



(२) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार योग शब्द का अर्थ निरूपण तथा पञ्चक्लेशों का विस्तृत विवेचन	
३१-इक्तीसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० ४०-४१)	... २५७
(१) कर्मयोग की प्रशंसा	
(२) कर्मयोग का मूल- व्यवसायात्मक-बुद्धि	
(३) विभिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार व्यवसायात्मक-बुद्धि का स्वरूप निरूपण	
३२-बत्तीसवाँ-पुष्प (अ० २, श्लो० ४२-४४)	... २६३
(१) व्यवसायात्मक-बुद्धि की प्राप्ति में कठिनता	
(२) गीता में वेदों की निन्दा नहीं की गई है	
३३-तैतीसवाँ-पुष्प (२, ४५)	... २६९
(१) त्रिगुणात्मक जगत्	
(२) वैदिक-सनातन-धर्म की विवेचना	
३४-चौतीसवाँ-पुष्प (२, ४६)	... २७६
(१) प्रथम प्रकार की व्याख्या	
(२) पद्य की दूसरे प्रकार की व्याख्या	
३५-पैंतीसवाँ-पुष्प (२, ४७)	... २८४
(१) कर्मयोग सिद्धान्त का स्वरूप विवेचन	
३६-छत्तीसवाँ-पुष्प (२, ४८-५०)	... २९०
(१) कर्मयोग की विस्तृत व्याख्या	
(२) सुकृत और दुष्कृत के त्याग का तात्पर्य	
३७-सैंतीसवाँ-पुष्प (२, ५१-५३)	... २९७
(१) कर्मजनितफल के त्याग से परम पद की प्राप्ति का प्रतिपादन	
३८-अड़तीसवाँ-पुष्प (२, ५४-५५)	... ३०६
(१) स्थितप्रज्ञ पुरुष का आभ्यन्तर स्वरूप निरूपण	
(२) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार स्थितप्रज्ञ की वैज्ञानिक व्याख्या	

३९-उनतालीसवाँ-पुष्प (२, ५६-५८)	...	३१२
(१) स्थितप्रज्ञ पुरुष का बाह्य स्वरूप निरूपण		
४०-चालीसवाँ-पुष्प	...	३१७
(१) परतत्त्व के दर्शन से ही भावनाओं की निवृत्ति का प्रतिपादन		
(२) उपवास के द्वारा मन की स्थिरता में उपनिषद् का दृष्टान्त		
४१-इकतालीसवाँ-पुष्प (२, ६०-६१)	...	३२३
(१) 'मत्परः' शब्द के द्वारा भक्तिमार्ग का संकेत		
(२) वेद में निराकार और साकार ब्रह्म का निरूपण		
४२-बयालीसवाँ-पुष्प (२, ६२-६५)	...	३२९
(१) सांसारिक मनुष्यों की स्थिति का दिग्दर्शन		
(२) 'आनन्द' के विषय में भी विद्यावाचस्पति जी की व्याख्या		
४३-तैंतालीसवाँ-पुष्प (२, ६६-६९)	...	३३६
(१) 'भावना' शब्द के विभिन्न अर्थ तथा उसके दृष्टान्त		
४४-चवालीसवाँ-पुष्प (२, ७०-७२)	...	३४१
(१) कामनाओं से शान्ति नहीं, शान्त्यानन्द में ही शान्ति		

### तृतीयाध्याय

४५-पैंतालीसवाँ-पुष्प (३, १-३)	...	३४६
(१) कर्म और बुद्धि में कौन श्रेष्ठ है? अर्जुन का प्रश्न		
(२) अधिकारी भेद से ज्ञानयोग और कर्मयोग का विवेचन पुष्टिमार्ग आदि की समीक्षा		
४६-छियालीसवाँ-पुष्प (३, ४-८)	...	३५२
(१) कर्मारम्भ के बिना नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता		
(२) नैष्कर्म्य शब्द का विवेचन		
(३) कोई भी प्राणी किसी भी समय बिना कर्म किये नहीं रहता		
(४) 'नियतकर्म' की विस्तृत व्याख्या		
४७-सैंतालीसवाँ-पुष्प (३, ९-१३)	...	३५९
(१) यज्ञ के निमित्त किये कर्म बन्धक नहीं होते विभिन्न मत		

- (२) यज्ञ का तात्त्विक विवेचन
- (३) यज्ञ से प्रजा कैसे उत्पन्न हुई इसका विवरण  
(श्लोक १० का व्याख्यान)
- (४) देवताओं के तीन प्रकार
- (५) दैनिक पाँच यज्ञों का निरूपण
- ४८-अड़तालीसवाँ-पुष्प (३, १४-१६) ... ३६६
- (१) जगत् चक्र रूप यज्ञ का भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार विवेचन
- (२) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार वैज्ञानिक व्याख्या
- ४९-उनचासवाँ-पुष्प (३, १७-१९) ... ३७३
- (१) ज्ञानयोग निष्ठा के अधिकारी का वर्णन
- (२) आत्मरति का तात्पर्य, उसमें श्री शङ्कराचार्य, तिलक के मत
- (३) ज्ञान हो जाने पर भी शरीर की स्थिति तथा उसमें चक्र-भ्रमी
- ५०-पचासवाँ-पुष्प (३, २०-२१) ... ३७९
- (१) कर्म से सिद्धि प्राप्ति के जनक आदि के दृष्टान्त का निरूपण
- (२) 'लोकसंग्रह' शब्द के अर्थ पर भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों के मत
- ५१-इक्यावनवाँ-पुष्प (३, २२-२६) ... ३८३
- (१) ईश्वर की प्रेरणा से मनुष्यों की कर्म में प्रवृत्ति तथा अवतार रूप में भी स्वयं कर्म करने की आवश्यकता का प्रतिपादन
- (२) कर्म में आसक्ति से ही बन्धन (जड़-भरत का दृष्टान्त)
- ५२-बावनवाँ-पुष्प (३, २७-२९) ... ३९०
- (१) प्रकृति और माया का निरूपण
- ५३-तिरपनवाँ-पुष्प (३, ३०-३२) ... ३९७
- (१) अध्यात्मिक-दृष्टि से कर्म में प्रवृत्ति का रहस्योद्घाटन
- ५४-चौवनवाँ-पुष्प (३, ३३-३५) ... ४०३
- (१) प्रकृति के अनुसार प्राणियों में प्रवृत्ति का प्रतिपादन

- (२) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार प्रकृति के प्रथम परिणाम के भेद

५५-पचपनवाँ-पुष्प (३, ३६-३९)

... ४०८

- (१) मनुष्य की पाप में प्रवृत्ति क्यों? अर्जुन का प्रश्न और भगवान् का उत्तर  
(२) विभिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार काम की ३ अवस्थाओं का निरूपण

५६-छप्पनवाँ-पुष्प (३, ४०-४३)

... ४१४

- (१) काम ही, ज्ञान-विज्ञान का नाशक  
(२) 'इन्द्रियाणि पराण्याहुः'... इस पद्य पर विभिन्न व्याख्याकारों के मत

### चतुर्थ-अध्याय

५७-सत्तावनवाँ-पुष्प (४, १-३)

... ४२१

- (१) कर्मयोग अविनाशी है, उसकी प्राचीनता का वर्णन  
(२) प्राचीनता में पाश्चात्यों का मतभेद  
(३) विकासवाद और हासवाद का निरूपण  
(४) पूर्वोक्त कर्मयोग वैवस्वत मन्वन्तर-कालीन है  
(५) कर्मयोग के सम्बन्ध में श्री नीलकण्ठ और श्री शङ्कराचार्य तथा श्री रामानुजाचार्य के मत

५८-अष्टावनवाँ-पुष्प (४, ४-८)

... ४२६

- (१) भगवान् की प्राचीनता में अर्जुन को सन्देह  
(२) श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन की शङ्का का समाधान  
(३) अवतारवाद का उपक्रम, श्री शङ्कराचार्य का मायावाद  
(४) 'प्रकृति' शब्द की व्याख्या में श्री रामानुजाचार्य का सिद्धान्त  
(५) श्री वल्लभाचार्य तथा श्री नीलकण्ठ के मतानुसार प्रकृति की व्याख्या तथा ऐन्द्रजालिक का दृष्टान्त  
(६) प्रकृति-अवतार के विषय में मधुसूदन, शङ्करानन्द तथा विद्यावाचस्पति जी का दृष्टिकोण तथा उनका समन्वय  
(७) 'यदा यदा हि धर्मस्य'... श्लोक में 'धर्म' शब्द का तात्पर्य

## ५९-उनसठवाँ-पुष्प

... ४३४

(यहाँ से दो पुष्पों में अवतारवाद पर विस्तृत व्याख्यान)

- (१) ईश्वर आँख आदि इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता, इसके सम्बन्ध में श्रुति-प्रमाण एवं युक्तियों का विवेचन
- (२) ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में उद्दालक और श्वेतकेतु का आख्यान, जल में मिले हुए लवण का दृष्टान्त
- (३) गायत्री के पाँच मुखों का विवरण
- (४) अवतार-वाद के आधार पर ही उपासना चल सकती है (भ्रमर का दृष्टान्त)
- (५) ईश्वर के स्वयं भक्त-रक्षार्थ आने में अकबर और बीरबल के संवाद दृष्टान्त
- (६) ईश्वर को जगत् बनाने का क्या प्रयोजन है? इस पर विभिन्न दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत और उनकी समालोचना
- (७) श्री भागवत के गर्भ-स्तुति के श्लोक का श्री वल्लभाचार्य कृत व्याख्यान में अवतार लेने का मुख्य प्रायोजन
- (८) वेद का उपदेश भी करुणा के कारण है

## ६०-साठवाँ-पुष्प

... ४४३

- (१) ईश्वर के प्रकट होने में विद्युत का दृष्टान्त
- (२) कलावतार का तात्पर्य शक्तियों की प्रकटता से है
- (३) भगवान् कृष्ण में दोनों प्रकार के आनन्द हैं
- (४) ईश्वर के जगत् में प्रकट होने में कारागार का दृष्टान्त
- (५) अवतारवाद के सम्बन्ध में वेद-मन्त्रों के प्रमाणों का विवेचन
- (६) केनोपनिषद् की आख्यायिका और उसका तात्पर्य विवेचन

## ६१-इकसठवाँ-पुष्प (४, ९-१२)

... ४५०

## ( श्रीकृष्ण-चरित पर व्याख्यान )

- (१) अवतार रूप में भगवान् श्रीकृष्ण के कर्मों पर किए गए आक्षेप एवं उनका समाधान
- (२) भावना के अनुसार श्री भगवान् की उपलब्धि का प्रतिपादन
- (३) देवताओं की आराधना से कर्मसिद्धि में शीघ्रता



६२-बासठवाँ-पुष्प (४, १३) ... ४६१

(यहाँ से लेकर तीन पुष्प तक वर्ण-व्यवस्था पर विस्तृत-व्याख्यान)

- (१) वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर है या गुण-कर्म के आधार पर-इसका विवेचन
- (२) वर्ण-व्यवस्था भारतवर्ष में ही क्यों? इसका श्रुति और स्मृतियों द्वारा समाधान

६३-तिरसठवाँ-पुष्प ... ४७२

- (१) शरीर की समानता से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन
- (२) शरीर की चार गुहाओं का निरूपण
- (३) सामाजिक-विज्ञान की दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन
- (४) आध्यात्मिक-शक्ति की श्रेष्ठता के समर्थन में एक दृष्टान्त
- (५) भौतिक-विज्ञान की दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन
- (६) ऐतिहासिक दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता

६४-चौसठवाँ-पुष्प ... ४८४

- (१) वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध पौराणिक प्रमाणों की आलोचना
- (२) महाभारत में आए हुए वर्ण भेद के विरोध में समालोचना
- (३) शूद्रों में संस्कार द्वारा द्विजत्व नहीं

६५-पैंसठवाँ-पुष्प (४, १४-१५) ... ४९६

- (१) ईश्वर का कर्म राग-द्वेष से रहित
- (२) धर्मशास्त्रों में वर्णित धर्म के चार लक्षणों का विवेचन

६६-छियासठवाँ-पुष्प (४, १६-१८) ... ५०१

- (१) कर्म, अकर्म और विकर्म इन कर्मों का विभिन्न प्राचीन व्याख्याकारों द्वारा विवेचन
- (२) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार वैज्ञानिक दृष्टि से कर्मों का विवेचन

६७-सड़सठवाँ-पुष्प (४, १९-२२) ... ५०९

- (१) अनासक्ति से किया हुआ कर्म-अकर्म ही है - इसका व्याख्याकारों द्वारा विवेचन

६८-अङ्सठवाँ-पुष्प (४, २३-२५)	... ५१४
(१) सर्वज्ञ ब्रह्मभाव से किए गए कर्म फलोत्पादक नहीं	
(२) विभिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार यज्ञ के भेदों का वर्णन	
६९-उनहत्तरवाँ-पुष्प (४, २६-३१)	... ५१९
(१) योग-मार्ग के अनुसार यज्ञों का निरूपण	
(२) 'द्रव्य यज्ञाः' इस पद्य पर अपना मत	
७०-सत्तरवाँ-पुष्प (४, ३२-३७)	... ५२६
(१) ज्ञान-यज्ञ की श्रेष्ठता का निरूपण	
(२) भगवान् ने स्वयं ही अर्जुन को ज्ञानोपदेश न देकर आचार्य के द्वारा प्राप्त करने को क्यों कहा? इसका समाधान	
७१-इकहत्तरवाँ-पुष्प (४, ३८-४२)	... ५३१
(१) पूर्व पद्य में आचार्य से ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश और यहाँ ज्ञान, समय पर स्वयं लब्ध हो जाता है, इस पूर्वापर विरोध का स्वमतानुसार समाधान	
(२) ज्ञान प्राप्ति के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधन तथा श्रद्धा शब्द का अर्थ निरूपण	

### पंचम अध्याय

७२-बहत्तरवाँ-पुष्प (५, १-२)	... ५३७
(१) कर्मयोग की विशेषता पर विभिन्न व्याख्याकारों के मत	
७३-तिहत्तरवाँ-पुष्प (५, ३-५)	... ५४३
(१) समानफलोपलब्धि के कारण साँख्य और योग की एकता का प्रतिपादन	
(२) इन पद्यों पर विभिन्न व्याख्याकारों के मतों का दिग्दर्शन	
७४-चौहत्तरवाँ-पुष्प (५, ६-१३)	... ५४९
(१) सन्यास-मार्ग की प्राप्ति में कठिनता का प्रतिपादन	
(२) कर्मयोग की पूर्णता के लिए आवश्यक सामग्री का विवेचन	

(३) फल प्राप्ति के बिना कर्म में प्रवृत्ति ही क्यों?

इसका समाधान

(४) आत्मा कर्ता नहीं है, इसका प्रतिपादन

७५-पचहत्तरवाँ-पुष्प (५, १४-१७) ... ५६२

(१) आत्मा और जीव के सम्बन्ध में इन पद्यों पर विभिन्न  
व्याख्याकारों के मतों का दिग्दर्शन

७६-छिहत्तरवाँ-पुष्प (५, १८-२१) ... ५७०

(१) कर्मयोगी के लिए समत्व बुद्धि की आवश्यकता का निरूपण

(२) आधुनिक विद्वानों द्वारा किए गए आक्षेपों का खंडन

(३) स्मृतियों में किए गए समदर्शिता के निषेध का तात्पर्य

७७-सतहत्तरवाँ-पुष्प (५, २२-२९) ... ५७५

(१) विषय सुख से समाधि सुख की विशेषता का प्रतिपादन

(२) काम, क्रोधादि से उत्पन्न वेग को सहन करने पर ही  
कर्मयोग की सिद्धि

(३) विवेकी-पुरुषों का महात्म्य-वर्णन

(४) योगमार्ग का निरूपण

(५) चंचल मन को रोकने के उपाय

(६) योग का फल भगवान् अव्यय पुरुष का ज्ञान है

### षष्ठ-अध्याय

७८-अठहत्तरवाँ-पुष्प (६, १-४) ... ५८३

(१) कर्मयोग की प्रशंसा

(२) फल की आशा छोड़कर केवल कर्तव्य-बुद्धि से ही  
कर्म का विधान, महाभारत कथानक

(३) सन्यास कर्मयोग ही है

(४) 'आरुरुक्षो' इस पद्य की विभिन्न व्याख्याकारों द्वारा विभिन्न  
प्रकार से व्याख्या एवं उनकी समालोचना

(५) 'योगारूढ' शब्द का अर्थ विवेचन

७९-उन्यासीवाँ-पुष्प (६, ५-९) ... ५९२

- (१) विभिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार इन श्लोकों की व्याख्या
- (२) ज्ञान और विज्ञान में अन्तर
- (३) कर्मयोगी जड़ और चेतन प्राणियों में साम्य-बुद्धि रखे

८०-अस्सीवाँ-पुष्प (६, १०-१७) ... ६०४

- (१) सभी योगों में उपयुक्त सामान्य प्रक्रियाओं का संक्षेप से निरूपण
- (२) पातंजल-सूत्रों के अनुसार संक्षेप से योग का निरूपण
- (३) आसन लगाने की विधि एवं उसका वैज्ञानिक महत्व
- (४) प्राणायाम करने की विधि
- (५) अन्तःकरण सब प्रकार से शान्त हो
- (६) योग-साधना के समय संसार-व्यवहार की स्थिति कैसी होनी चाहिए?

८१-इक्कीसीवाँ-पुष्प (६, १८-१५) ... ६१२

- (१) योग के अङ्गों का विस्तार से दृष्टान्तों के आधार पर निरूपण
- (२) सविकल्पक तथा निर्विकल्पक समाधि
- (३) 'युक्त' किसे कहते हैं?
- (४) 'लययोग' की अवस्था का वर्णन
- (५) योगाभ्यास में परम-सुख का अनुभव होता है
- (६) समाधि स्थिति से स्वतः विचलन क्यों नहीं होता?
- (७) 'योग' शब्द का अर्थ निरूपण
- (८) योग साधना की विधि

८२-बयासीवाँ-पुष्प (६, २६-३२) ... ६२०

- (१) चित्त को विषयासक्ति से रोकने के उपाय
- (२) योग का फल
- (३) जीव और ब्रह्म की एकता
- (४) 'अद्वैत-भाव से भक्ति नहीं बन सकती' इसका निराकरण
- (५) धर्मभाव में साम्य बुद्धि का उपयोग

८३-तिरासीवाँ-पुष्प (६, ३३-३६)

... ६२७

- (१) मन की चंचलता के विषय में अर्जुन का प्रश्न और भगवान् कृष्ण का उत्तर
- (२) अर्जुन के मनः संयम की दृढ़ता के दो उदाहरण
- (३) अभ्यास और वैराग्य-भावना से मन को रोकना
- (४) कठिन और दुःसाध्य होने पर भी मन को रोकना आवश्यक

८४-चौरासीवाँ-पुष्प (६, ३७-४५)

... ६३४

- (१) पूर्ण मनः संयम न कर सकने के कारण योग सिद्धि प्राप्त न कर सकने वाले पुरुष की गति के सम्बन्ध में अर्जुन का प्रश्न और भगवान का उत्तर

८५-पच्चासीवाँ-पुष्प (६, ४६-४७)

... ६३९

- (१) अन्य सभी साधनों से योग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन और विभिन्न व्याख्याकारों के मतों का निरूपण
- (२) गीता में प्रतिपादित योग के सम्बन्ध में विभिन्न व्याख्याकारों के मतों का निरूपण

परिशिष्ट – गीता व्याख्यान के तीनों भागों में आये गीता के श्लोकों की भाग संख्या के उल्लेख सहित अकारादिक्रम से सूची



# गीता प्रवचन

## गीताव्याख्यान माला

### प्रथमाध्याय

#### व्याख्याता

महामहोपाध्याय पंडित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

#### प्रथम-पुष्प

(श्री भगवद्गीता के विषय अधिकारी आदि)

तद्विव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे ।

यत्प्रसादात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसः छटाः ॥

श्री भगवद्गीता वैदिक हिन्दू जाति का सर्वस्व है। जब से इसका प्रादुर्भाव हुआ है तब से आज तक इसका महत्त्व क्रम से बढ़ता ही गया। इसके उपक्रम में मंगलपाठ के जो पद्य सुप्रसिद्ध हैं उनमें प्रादुर्भाव-क्रम दिखाया गया है जो इस प्रकार है—

पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं  
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।  
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-  
मम्ब त्वामनुसंदधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥  
नमोस्तु ते व्यास विशालबुद्धे फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र।  
येन त्वया भारततैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥  
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।  
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥  
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।  
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

इनका तात्पर्य है कि युद्ध के समय अर्जुन के प्रति साक्षात् भगवान के पूर्णावतार भगवान् कृष्ण ने जिसका उपदेश किया और पुराणमुनि भगवान् व्यास ने महाभारत में जिसका निबन्धन किया, अद्वैतरूप अमृत की वर्षा करने वाली, अठारह अध्यायों से समन्वित, आवागमन रूप भवचक्र को समूलोन्मूलित करने वाली भगवद्गीतारूपिणी माता का मैं बार-बार अनुसन्धानात्मक स्मरण करता हूँ।

दूसरे पद्य में भगवान व्यास को प्रणाम किया गया है कि अनन्त बुद्धि के अथाह सागर, प्रफुल्लित कमल के समान नेत्र वाले उन भगवान व्यास को बार-बार



प्रणाम है, जिन्होंने महाभारत रूप तैल से परिपूर्ण पात्र में इस ज्ञानमय गीतारूप दीपक को प्रज्वलित कर दिया। इसके मुख्य उपदेशा भगवान् कृष्ण का स्मरण तीसरे पद्य में है कि जो शरणागतों के लिए कल्पवृक्ष स्वरूप हैं, अर्जुन के सारथी बने हुए जिनके एक हाथ में घोड़ों के चलाने के लिए बेंत है और दूसरे हाथ में उपदेश के समय की ज्ञानमुद्रा है, इस प्रकार के रूप से जो गीतारूप अमृत के उपदेश का मूल उपनिषद् है, वह चौथे पद्य में बतलाया गया है। भारतीय सभ्यता में वेदमूलक उपदेश की ही प्रतिष्ठा है। वेद अनादि है। भगवान् भी उनका पहिले ब्रह्मा के हृदय में और फिर महर्षियों के हृदय में प्रकाशन मात्र करते हैं। उन वेदों के दो भाग हैं मन्त्र और ब्राह्मण। ब्राह्मण के भी अवान्तर तीन भाग हैं जिनमें क्रम से कर्म, उपासना और ज्ञान का प्रतिपादन किया जाता है। कर्म का प्रतिपादक भाग ब्राह्मण नाम से ही प्रसिद्ध है। उपासना का प्रतिपादक भाग आरण्यक कहा जाता है और ज्ञान का प्रतिपादक भाग उपनिषद् नाम से प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण वेद का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषदों को वेदान्त कहते हैं। दूसरा इसका यह भी कारण है कि वहाँ जाकर वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त हो जाता है, अर्थात् उसके आगे अन्य ज्ञातव्य विषय अवशिष्ट नहीं रह जाता, इसलिए भी इसे वेदान्त कहते हैं। इसी बात को एक रूपक में उक्त चतुर्थ पद्य में कहा गया है कि सब उपनिषद् गौ रूप हैं, उनसे सारभूत दुग्ध का दोहन करने वाले स्वयं गोपाल हैं। गोपाल ही तो दुग्ध को दोहन करना जानता है। चतुर गोपाल के आगे गौ अपना दुग्ध छिपा नहीं सकती। वह सम्पूर्ण सार खींच लेता है किन्तु दोहन के समय गौ को पौसाने के लिए एक वत्स की भी आवश्यकता रहती है। उस वत्स का स्थान यहाँ अर्जुन ने लिया है। अर्जुन के प्रश्नों के आधार पर ही नये नये सार प्रदुग्ध हुए हैं। यह गीतारूप अमृतमय दुग्ध है। इसका उपयोग करने वाले सम्पूर्ण बुद्धिमान पुरुष हैं जो इससे लाभ उठाते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवान् के उपदेश का अर्जुन तो एक निमित्तमात्र था, उपदेश तो भगवान् ने मनुष्यमात्र को अपने कल्याण साधन के लिये दिया है।

संस्कृत ग्रंथों की यह प्रणाली है कि उनके आरंभ में अनुबन्ध चतुष्टय बताया जाता है। १ : विषय, २ : अधिकारी, ३ : प्रयोजन और ४ : परस्पर सम्बन्ध ये चारों अनुबन्ध चतुष्टय कहे जाते हैं। मूल भगवद्गीता में भी इन चारों का संकेत है किन्तु भगवद्गीता की पुष्पिकारूप मंगल पाठ के उक्त पद्यों में इनको स्पष्ट कर दिया गया है कि १ : उपनिषदों में कहा हुआ जीव, ब्रह्म का अद्वैत अर्थात् अभेद इसका विषय है। २ : आवागमन संसारचक्र से निवृत्त हो जाना इसका मुख्य परम प्रयोजन है। ३ : मुक्ति चाहने वाले चतुर पुरुष इसके अधिकारी हैं और ४ : विषय का और ग्रन्थ का परस्पर प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, अधिकारी और ग्रन्थ का बोध्य बोधक भाव आदि सम्बन्ध हैं।

आर्य संस्कृति में मानव जीवन का मुख्य लक्ष्य मोक्ष ही माना जाता है। इस विचार से गीता का भी मुख्य प्रयोजन भवनिवृत्ति और मुमुक्षु को उसका अधिकारी कहा गया है। किन्तु गीता का प्रसंग देखने पर निर्दोषरूप से सम्यक् व्यवहार चलाना गीता का प्रयोजन स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योंकि उस अवसर में अर्जुन मुमुक्षु नहीं था, किन्तु व्यवहार के संकट में पड़ा हुआ था। शास्त्र एक ओर कहता है कि गुरु, पिता आदि के विरुद्ध कभी त्वंकार का भी उच्चारण विशेषरूप से पाप जनक है और दूसरी ओर कहता है कि अपने वध के लिए उद्यत आततायी को अवश्य मार देना चाहिये चाहे वह गुरु ही क्यों न हो। ऐसी विरुद्ध परिस्थिति में जब गुरु, पितामह, भ्राता आदि आततायी होकर युद्ध के लिए समक्ष उपस्थित हैं तब यह युद्ध धर्म है या पाप यही सन्देह अर्जुन को हुआ था। इसी के निवारण के लिए गीता की प्रवृत्ति है। ऐसे संकट अपने जीवनकाल में सब को ही अनेक बार प्राप्त होते हैं जिसे लोक में कहा जाता है कि “इधर कुआँ और उधर खाई”। यह कार्य धर्म है या अधर्म ऐसे सन्देह जीवन काल में विचारकों को अनेकधा उपस्थित होते हैं। उस अवसर में निर्णय करने की क्या पद्धति है यही भगवान ने समझाया है। यद्यपि गीता में ज्ञान और भक्ति का भी विस्तृत विवेचन है किन्तु उसका कारण यही है कि आर्य संस्कृति का धर्मनिर्णय अध्यात्मवाद पर ही अवलम्बित है, इसलिये बिना अध्यात्मवाद में प्रवेश किये निर्णय संभव नहीं है और सामान्य उपदेश से अर्जुन मानने वाला न था। वह आरंभ में कह रहा है कि त्रिलोकी का राज्य या इन्द्रासन प्राप्त हो जाने पर भी मेरा यह मनस्ताप मिट नहीं सकता। इसलिये धर्मनिर्णय की मूलभूत कसौटी ही उसके सामने रख देना अत्यावश्यक था। इसी उद्देश्य से भगवान को ज्ञान भक्ति आदि सबका प्रसंगात् संकेत करना पड़ा। मुख्य लक्ष्य व्यवहार निर्णय ही था। इस विषय को महा विद्वान लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता-रहस्य में खूब प्रस्फुट किया है। अन्यान्य व्याख्याकार प्रायः यही कहते हैं कि शरीरात्मवादरूप मोह अर्जुन को उस समय हो गया था। तभी उसे यह शंका हुई थी कि गुरु, पिता, भ्राता आदि को कैसे मारा जाय। इसलिये अध्यात्मवाद के द्वारा आत्मा का अजर अमर होना अवश्य सिद्ध करना था। इसीलिये गीता में आत्मा परमात्मा का निरूपण आवश्यक हुआ इतना ही नहीं अर्जुन के मोह में ‘स्व’ और ‘पर’ बुद्धि भी प्रधान कारण है। आजतक उसने बहुत से युद्ध किये थे बहुतों को मारा भी था। वहाँ धर्म विरुद्धता का विचार कभी न उठा, किन्तु आज यह विचार इसलिये उठा कि अपने बान्धवों को मारना है। आरम्भ में ही उसने कह भी दिया कि युद्धस्थल में स्वजनों को देखकर मुझे बड़ा शोक हो रहा है। इसलिये इस मूलभूत स्व-पर बुद्धि को हटाने के लिये भगवान को अद्वैतवाद भी बताना पड़ा। उन्होंने कहा कि सब में आत्मा तो एक है यह स्व बुद्धि और पर बुद्धि तुम्हारी केवल भ्रान्ति है। इसीलिये पूर्वोक्त पद्य में गीता को अद्वैतामृतवर्षिणी कहा है।

अस्तु कुछ भी हो यह तो सिद्ध ही है कि उस समय प्रसंग कार्याकार्य निर्णय का ही था। इसलिये कार्याकार्य निर्णय गीता का आरम्भिक प्रयोजन मानना ही होगा।

कार्य और अकार्य का नाम ही धर्म और अधर्म है । इसलिये धर्म अधर्म का निर्णय ही गीता का प्राथमिक प्रयोजन सिद्ध होता है । किन्तु धर्म का भी अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही है । इस विचार से उक्त मंगल पाठ के पद्यों में भवद्वेषिणी गीता को कह कर मोक्ष को ही इसका मुख्य प्रयोजन बतलाया गया ।

आर्य संस्कृति में ४ पुरुषार्थ माने जाते हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है मनुष्य जन्म का प्रयोजन। अथवा पुरुषैरर्थ्यते इस व्युत्पत्ति के अनुसार मनुष्य जिनकी इच्छा करे वे पुरुषार्थ कहे जाते हैं। यों तो मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं, किन्तु वर्गीकरण सिद्धान्त के अनुसार उन्हें ४ श्रेणियों में ही बाँटा जा सकता है। यद्यपि यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा अर्थ और काम की ओर ही झुकती है । मनुष्य स्वभावतः या तो अपनी उन्नति चाहता है जो अर्थ के अन्तर्गत होगी और उससे भी बढ़कर या उसका भी लक्ष्य सुख भोग इच्छा का विषय होता है जो काम कहा जायेगा । इस विचार से अर्थ और काम ही मुख्य पुरुषार्थ सिद्ध होंगे । धर्म और मोक्ष की तो किसी को स्वाभाविक इच्छा नहीं होती; यदि होती है तो शास्त्र पढ़ने पर होती है । इसलिए ये मुख्य पुरुषार्थ नहीं कहे जा सकेंगे । किन्तु यह शंका तभी तक होती है जब तक कि इनका स्वरूप न समझा जाय । धर्म शब्द का मुख्य अर्थ है स्वरूप रक्षा, तथा मोक्ष शब्द का अर्थ है बन्धन से छुटकारा पाना । यह अर्थ जान लेने पर प्रत्येक बुद्धिमान मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ कहेगा, क्योंकि प्राणिमात्र में बन्धन से छूटने की प्रबल इच्छा रहती है । प्रतिष्ठित परिवारों में भी जो शुकसारिका आदि पाले जाते हैं, जिन्हें सभी प्रकार के सुखोप-भोग उपलब्ध होते हैं वे भी पिंजड़े की खिड़की जरा खुलते ही उड़ कर आकाश में चले जाते हैं । इससे सिद्ध हो जाता है कि बन्धन से छूटने की इच्छा प्राणिमात्र की स्वाभाविक है । मनुष्य भी विवश होकर ही किसी दूसरे के बन्धन में रहता है, अवसर मिलते ही वह स्वतन्त्र होना ही उपयुक्त मानेगा । इसके अतिरिक्त त्रिवर्ग में भी अर्थ और काम की अपेक्षा स्वरूप रक्षा को प्रत्येक विचारक महत्व देगा । उन्नति और सुखभोग वहीं तक इष्ट है जहाँ तक वे हमारे स्वरूप के विघातक न हों । यह दूसरी बात है कि स्वरूप ज्ञान में भी सबकी समानता नहीं होती । शिक्षा के अनुसार ज्ञान वृद्धि से स्वरूप ज्ञान में भी तारतम्य होता रहता है । जो मनुष्य जितना अपना स्वरूप समझता है उसकी रक्षा का प्रयत्न वह करता रहता है । सामान्य अशिक्षित मनुष्य जिन्हें शास्त्रीय भाषा में यथाजात कहा जाता है, अर्थात् जैसे वह उत्पन्न हुआ वैसा ही वह अन्त तक बना रहा, कोई विशेषता उसने प्राप्त न की, वह स्थूल शरीर मात्र को ही अपना स्वरूप समझता है । इसलिए उसकी रक्षा के प्रयत्न

में वह भी अवश्य लगा रहता है। शरीर को विघातक खान-पान व्यवहार आदि से बचाना, इतने में ही उसके धर्म की व्याख्या समाप्त हो जाती है। किन्तु प्रपञ्च में पड़ने पर जब वह कुटुम्बी बन जाता है और पुत्रादि को भी अपने स्वरूप के अन्तर्गत ही समझने लगता है, तब जिनता अपनी रक्षा का ध्यान उसे होता है उतना ही अपने स्त्री पुत्रादि की रक्षा का ध्यान भी हो जाता है। इसलिये स्त्री पुत्रादि कुटुम्बियों की रक्षा भी उसके धर्म में आ जाती है । जब शिक्षित होकर मनुष्य यह समझ जाता है कि मैं एक सामाजिक प्राणी हूँ, इसलिये समाज भी मेरा एक स्वरूप है और अपने शरीर की रक्षा के समान समाज के सुख की रक्षा भी मेरे लिये आवश्यक है, तब उसके धर्म में समाज के उपयुक्त सत्य, अहिंसा, दया, परोपकार आदि का भी समावेश हो जाता है और उसके धर्म शब्द की व्याख्या बहुत बढ़ जाती है । साथ ही वह शिक्षित विचारक मनुष्य यह भी समझ लेता है कि समाज में निन्दित होकर रहना अपनी स्वरूप हानि है और यशस्वी होकर रहना अपना मुख्य स्वरूप है । इस प्रकार जब यश को भी अपने स्वरूप के अन्तर्गत मान लिया जाता है तो यश की रक्षा के लिए शरीर छोड़ना तक भी उचित प्रतीत होने लगता है । रघुवंश महाकाव्य में यह प्रसंग है कि सम्राट् दिलीप जब गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से गौ सेवा में नियुक्त थे और गौ पर अचानक सिंह का आक्रमण हो गया था एवं अपने प्रहार के लिए समुद्धृत दक्षिण हस्त के स्तब्ध हो जाने से वे शस्त्र भी नहीं चला सकते थे और सिंह के कथन से उन्हें यह प्रतीत हो गया कि यह भगवान् शंकर का गण है, तब उन्होंने सिंह से यही प्रार्थना की हे सिंह ! तुम कृपा कर मेरे शरीर से अपनी क्षुधा की निवृत्ति कर लो और मेरे गुरु ऋषि वसिष्ठ की इस गौ को छोड़ दो । तब सिंह ने सम्राट् का उपहास करते हुए जीवन रक्षा के अनेक प्रयोजनों का विवरण किया और यह समझाया कि ऐसी मूर्खता मत करो, शरीर की रक्षा करो । गुरुदेव को इसके स्थान में सहस्रों या करोड़ों गौएँ देकर संतुष्ट कर लेना । तब राजर्षि दिलीप ने उत्तर में यही कहा था—

किमप्यहिंस्यस्तवचेन्मतोऽहं यशः शरीरे भव से दयालुः ।

एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥

इसका तात्पर्य यही था कि हे सिंह ! यदि तुम मुझ पर दया करना चाहते हो तो मेरे यश रूपी शरीर पर दया करो । यह पाँच भूतों का बना हुआ अस्थिमांसमय शरीर तो अवश्य ही एक दिन नष्ट होगा । इसलिये मुझ जैसे पुरुषों की यशः शरीर के समक्ष इस पर कोई आदर बुद्धि नहीं होती । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऐसे पुरुष यश को अपना मुख्य स्वरूप मान लेते हैं और उसकी रक्षा के लिए शरीर का भी बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। इसी प्रकार महर्षि दधीचि के समीप जब इन्द्र ने जाकर कहा कि वृत्रासुर के कारण सम्पूर्ण लोक समाज त्रस्त है और यह

विदित हुआ है कि वृत्र का वध आपकी अस्थियों से बनाये हुए शस्त्र से ही हो सकता है, यही निवेदन करने को मैं आया हूँ । तब महर्षि दधीचि ने स्पष्ट कहा कि यदि मेरी हड्डियों के द्वारा शस्त्र बनाकर वृत्र का वध होने से लोक समाज का कष्ट दूर हो सकता है तो मैं सहर्ष अपनी अस्थि देने को तैयार हूँ । यह कह कर उन्होंने अपना शरीर अर्पण कर दिया और इन्द्र ने उनकी अस्थि से वज्र बना कर वृत्र का नाश किया जिससे संसार का उपद्रव दूर हुआ । कारण यही था कि महर्षि दधीचि जैसे विद्वान् पुरुष सम्पूर्ण समाज को अपना स्वरूप ही समझते हैं । जैसा कहा गया है—

**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।**

फिर जैसे सम्पूर्ण शरीर के लाभ के लिये सम्पूर्ण शरीर में विष संक्रान्त न हो जाय उसे बचाने के लिये मनुष्य अपनी उँगली कटाने को प्रस्तुत रहता है इसी प्रकार सम्पूर्ण समाज की रक्षा निमित्त अपने एक शरीर को नष्ट कर देने के लिए वे दधीचि जैसे उदार सज्जन प्रस्तुत रहते हैं । उन्हें प्रतिक्षण सम्पूर्ण समाज की स्वरूप रक्षा का ध्यान रहता है । सम्पूर्ण समाज ही क्या ब्रह्माण्ड को ही वे अपना स्वरूप मान लेते हैं । इसलिये उनकी धर्म व्याख्या बहुत विस्तृत हो जाती है । इस प्रकार स्वरूप ज्ञान के विस्तार के साथ धर्म का स्वरूप भी विस्तृत होता जाता है ।

यह हुआ आधिभौतिक दृष्टि का स्वरूप विस्तार । इसी प्रकार जिन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा की ओर अपना लक्ष्य निश्चित किया हो वे स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर और इनमें अनुस्यूत व्यावहारिक आत्मा और सबके मूल भूत मुख्य आत्मा तक का ज्ञान प्राप्त कर वहीं अपने स्वरूप की स्थिति निश्चित करते हैं । उनके विचार में स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर और उसकी अपेक्षा कारण शरीर और इन सभी की अपेक्षा मुख्य आत्मा की स्वरूप रक्षा आवश्यक होती है । और इस आध्यात्मिक शिक्षा के साथ आधिदैविक शिक्षा का भी योग कर देने पर सर्वात्म-भाव अर्थात् सब में एक ही आत्मा के दर्शन का परम सौभाग्य उन्हें प्राप्त हो जाता है । तब उनका स्व-पर भेद ही मिट जाता है। छोटे से छोटे कीड़े मकोड़े से लेकर ब्रह्म पर्यन्त में एक ही आत्मा का दर्शन करते हैं। तब उनकी धर्म व्याख्या कुछ निराली ही होती है । जैसा कि पौराणिक आख्यान है कि शिव महाराज के समीप एक कबूतर आकर गिरा और उसने यह दिखाया कि मैं शरणागत हूँ। एक श्येन 'बाज' मुझे खाये जाता है, मेरी रक्षा कीजिए। शिव महाराज ने झट कहा कि "अभयं शरणागताय", शरणागत को मैं अभय दान देता हूँ । इतने में श्येन भी पीछे झपटता हुआ आया और उसने यह अभिप्राय प्रकट किया कि कपोत को तो अपने शरण में रखकर अभयदान दे दिया, किन्तु यह मेरा आहार था। बिना आहार के क्षुधा से मेरी

जीवन यात्रा समाप्त हो जायेगी इसका भी उपाय आपको करना चाहिए। शिवि महाराज ने सोचा बात तो ठीक है, एक की रक्षा कर दूसरे का हनन कर देना यह तो कोई धर्म की मर्यादा नहीं। उन्होंने झट से अपने मन में निश्चय कर कहा कि इस कपोत शावक के समान तोलकर मैं अपने शरीर का मांस श्येन को दे देता हूँ, जिसे खाकर वह भी अपनी प्राण की रक्षा कर लेगा। वस्तुतः वे कपोत और श्येन सच्चे कपोत और श्येन नहीं थे। वह एक शिवि महाराज की देवताओं द्वारा धर्म परीक्षा थी। इसलिए कितना ही मांस काट कर चढ़ा देने पर भी तराजू में कपोत के वजन की बराबरी न हो पाई। अन्ततः शिवि महाराज ने अपना पूरा शरीर ही काट कर तराजू पर चढ़ा दिया। तब आकाश से पुष्प वृष्टि हुई और इस प्रकार वे धार्मिक परीक्षा में पूर्ण उत्तीर्ण माने गए। यह सब सर्वात्मभाव दृढ़ हो जाने पर ही संभव हो सकता है। इसीसे धर्म में बहुत भेद हो जाते हैं। क्योंकि जिस व्यक्ति या, समाज ने जितना अपना स्वरूप समझा उसकी रक्षा के प्रयत्नों को ही वह धर्म मानता गया। भारतीय आर्य जाति ने अनादि काल से ही सबसे पूर्व स्वरूप ज्ञान वा आत्म ज्ञान प्राप्त किया था। इसलिए इनकी धर्म व्याख्या बहुत विस्तृत हुई। अस्तु यह ज्ञान और अज्ञान के कारण धर्म भेद का प्रपञ्च बताया गया। इसके अतिरिक्त बाह्य और आन्तर स्वरूप में वास्तविक भेद भी बहुत हैं। न सबकी सामाजिक वा कौटुम्बिक परिस्थिति एक सी होती है, न सबके स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीर एक से होते हैं इसलिए वास्तविक स्वरूप प्रभेद के कारण उन स्वरूपों की रक्षा के उपायों में भी बहुत भेद होगा। इससे भी देश, काल, पात्र के भेद से धर्मभेद बहुत हो जाता है जिसका निरूपण, गीता व्याख्यानों में यथावसर करेंगे। इस प्रकार स्वरूप का बाह्य विस्तार और आन्तरिक विस्तार समझ लेने पर सबकी रक्षा के उपाय और उनका तारतम्य समझ लेना साधारण मनुष्य की शक्ति से बाहर है। किस क्रिया से हमारे तीनों शरीरों पर कहाँ अच्छा या बुरा परिणाम होगा वा सम्पूर्ण लोक पर हमारे किसी कार्य का क्या प्रभाव होगा यह बिना आध्यात्मिक शक्ति की पूर्णता प्राप्त किए कोई नहीं समझ सकता। इसलिए पूर्ण आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न परमात्मा की कृपा से वैसी शक्ति से सम्पन्न महर्षियों के वाक्यों पर ही धर्म का निर्णय भारतीयों ने माना है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिन वेद शास्त्रों के द्वारा धर्म निर्णय हो सकता है उनके अध्ययन का अधिकार भी तो आर्य संस्कृत में सबको नहीं दिया जाता; तब सर्वसाधारण धर्म को समझ ही कैसे सकेंगे, और फिर वे इसे पुरुषार्थ भी कैसे मान सकेंगे। इसका भी उत्तर है कि यह वेद पढ़ने का निषेध भी उनकी हित दृष्टि से है न कि उन्हें वंचित कर उन पर किसी प्रकार का अत्याचार किया गया है। वेद जैसे गंभीर विज्ञान संस्कृत बुद्धि में ही आकर फलप्रद हो सकते हैं। इसलिए जिनके विधिपूर्वक संस्कार हो चुके हों उनका ही अधिकार गंभीर विद्याओं में माना

गया है। संस्कार तीन प्रकार के होते हैं, दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनांगपूर्ति। संसार में दो प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं, प्राकृत और संस्कृत। जिन्हें प्रकृति ने उत्पन्न किया है वे प्राकृत कहे जा सकते हैं और मनुष्य उन्हें अपने उपयोग में लाने के लिए जो संस्कार उनमें करता है, वे संस्कार-सम्पन्न पदार्थ संस्कृत कहे जाते हैं। जिन अन्न, वस्त्र, गृह, पात्र आदि का हम उपयोग करते हैं उन्हें उस रूप में प्रकृति ने उत्पन्न नहीं किए। उदाहरण के लिए पहिले अन्न को ही ले लीजिए। प्रकृति खेतों में जिस दशा में अन्न पैदा करती है वह उसी दशा में हमारे काम में नहीं आ सकता। हम उसे खाने लेंगे तो हमारे दांत ही छिन्न-भिन्न हो जायँ और उदर की जठराग्नि भी उसे न पचा सके। रुचि की तो बात ही क्या शरीर पोषण भी उससे संभव नहीं। इसलिए पहिले उसका दोषमार्जन संस्कार करना होता है। अनुपयुक्त वस्तु जो उसमें भूसी तुष आदि हैं उन्हें निकाल कर बाहर कर दिया जाता है। आगे उस दोष रहित अन्न में कुटाई पिसाई और अग्निपाक के द्वारा काम में आने योग्य विशेषताएँ उत्पन्न की जाती हैं इसी को अतिशयाधान कहा जाता है। फिर भी रुचि के लिए मधुर लवण शाक आदि का सम्बंध भी उन अन्नों से जोड़ दिया जाता है यह हीनांगपूर्ति हुई। तीनों संस्कारों से संस्कृत वह अन्न हमारे शरीर को पोषण देता है। इसी प्रकार वस्त्र को देखिए। जो वस्त्र हम पहिनते हैं उन्हें उसी प्रकार प्रकृति पैदा नहीं करती। प्रकृति ने पैदा की है कपास जो अपने स्वरूप में हमारे उपयोग में कभी नहीं आ सकती। अपने उत्पत्ति स्थान से कुछ मिट्टी आदि का जो सम्बंध उसमें हो गया वा जिस बीज से पौधा बनकर वह पैदा हुआ वह बीज भी इसके स्वरूप में सम्मिलित है: ये वस्तुएँ हमारे स्वरूप में बाधा देनेवाली हैं। इसलिए पहिले दोषमार्जन संस्कार द्वारा उन्हें निकाल बाहर किया जाता है। फिर जो स्वच्छ रूई है, उसका सूत बनाना, कपड़ा बुनना और कोट आदि के रूप में शरीर पर धारण करने की योग्यता उसमें ला देना यह सब अतिशयाधान है। बाहरी वस्तु बटन आदि लगा देना हीनांगपूर्ति है। इन तीनों प्रकार के संस्कारों से संस्कृत कर वस्त्रों को हम धारण करते हैं।

सभी वस्तुओं की यही दशा है। लोहा जिस स्वरूप में खान से निकलता है उसे देखकर कोई यह आशा भी नहीं कर सकता कि यह वस्तु हमारे बड़े काम की होगी, किंतु बड़े-बड़े कारखानों द्वारा पहिले इसका दोषमार्जन होता है। उत्पत्ति स्थान की मलिनता आदि को उससे पहिले निकाला जाता है। फिर लोहार द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में गढ़ाकर वा तेजी के लिए धार दिलाकर अतिशयाधान अर्थात् विशेषता उत्पन्न करते हैं। फिर भी उपयोग में लेने के लिए चाकू में बेंट तलवार में मूँठ आदि लगाकर हीनांगपूर्ति भी जब कर ली जाती है, तब वह सुसंस्कृत लोहा हमारे सब प्रकार के काम में आता है। इन जड़ वस्तुओं के संस्कारों का प्रसार आजकल संसार में बहुत है और दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। सच पूछिये तो यही कला कौशल है। भिन्न-भिन्न जातियों और समाजों को अभिमान होता है कि हम जैसा चाहे वैसा

उत्तम से उत्तम वस्त्र बना सकते हैं। हमारे कारखानों में लोह की अपूर्व वस्तुएँ तैयार हो सकती हैं, इत्यादि। किन्तु भारतीयों को यह भी अभिमान था कि हम मनुष्य को जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं, इसी उद्देश्य से इनमें मनुष्यों के संस्कारों की भी योजना थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक इसी विषय का प्रकरण है कि यदि कोई अपने पुत्र को मेधावी पंडित बनाना चाहे तो इस प्रकार का संस्कार करे, यदि वीर वा धनी बनाना चाहे तो इसे इस प्रकार का, इत्यादि। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य में उपयुक्त गुण लाकर उसे समाज के लिए पूर्ण उपयोगी बना देना ही संस्कारों का उद्देश्य रहा है।

मनुष्य के संस्कार भी इन तीन प्रकारों में बाँटे जाते हैं, दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनांगपूर्ति। जिस प्रकार अन्न, कपास, लोहा आदि अपने उत्पत्ति स्थानों के दोष अपने साथ लाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी उत्पादक सामग्री वा उत्पत्ति स्थान के दोषों से अत्यन्त दूषित रहता है। उन दोषों को हटाना पहले आवश्यक है। उसी के लिए जन्म क्या गर्भ में आते ही उन संस्कारों का आरंभ हो जाता है। स्मृतिकारों ने स्पष्ट लिखा है कि इन संस्कारों के द्वारा बीज और गर्भ के दोष दूर किये जाते हैं—

“बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते” (मनु)

“एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्” (याज्ञवल्क्य)

संस्कारों के संकल्प में भी बोला जाता है कि ‘बीजगर्भसमुद्भवैर्नोनिवर्हणद्वारा परमेश्वरप्रीत्यर्थमित्यादि।’ एनः शब्द पाप या दोष का वाचक है।

यों तो संस्कारों की बहुत बड़ी संख्या भी धर्म शास्त्रों में मिलती है। गौतम धर्मसूत्र में ४८ संस्कार लिखे गए हैं, सुमंतु ने पचीस संस्कार लिखे हैं परन्तु इस युग के उपयोगी तो भगवान् व्यास ने अपनी स्मृति में सोलह संस्कार लिखे हैं। वे भी सब के सब ते आज समाज में बहुत कम अंश में प्रचलित हैं परन्तु कुछ संस्कार सभी द्विजों में चलते हैं।

इन संस्कारों की शास्त्रीय पद्धति पर ध्यान दिया जाय तो विचार से स्पष्ट भासित होगा कि ये विधियाँ वैज्ञानिक हैं। इनमें अधिकांश का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। भौतिक विज्ञान के आधार से भी बहुत से कार्य उनमें होते हैं। बालक को सामने बैठाकर माता पिता वेद मंत्रों की सहायता से मन में यह भाव रक्खें कि हम इसका दोष मार्जन व अतिशयाधान कर रहे हैं, तो उस मनोवृत्ति का प्रभाव शिशु के कोमल अन्तःकरण पर अवश्य पड़ता है। इसके अतिरिक्त पुंसवन और सीमन्तोन्नयन नामक गर्भावस्था के संस्कारों में गर्भिणी के समक्ष वीणावादन और सुललित गायन का विधान सूत्रों में देखा जाता है। उससे भी गर्भिणी के हृदय में एक प्रकार का प्रमोद वा हर्ष होना स्वाभाविक है। उसका प्रभाव गर्भस्थित बालक पर पड़ना मनोविज्ञान



की बात है। बालक के उत्पन्न होने पर सबसे पहले जातकर्म संस्कार में सुवर्ण का अंश घृत और मधु से चाटने की विधि है। भौतिक विज्ञान द्वारा सिद्ध है कि ये तीनों ही पदार्थ शोधक हैं, ये दोषों को दूर कर एक प्रकार की शुद्धता वा पवित्रता प्रदान करते हैं। जातमात्र बालक के उदर में पहले ही इन पदार्थों को प्रविष्ट कराना जहाँ शोधन की योजना करेगा, वहाँ उसके कोमल अवयवों को पुष्ट और सुदृढ़ बनाने में भी सहायता करेगा। आगे नामकरण संस्कार में किसका कैसा नाम रक्खा जाय इसकी व्यवस्था होती है। शास्त्रों ने विधान किया है कि सामाजिक व्यवस्था भी वर्ग विभाग के अनुसार है। जिससे जैसा काम लेने की आगे व्यवस्था होगी तदनुकूल ही पहले से ही उसका नाम रखना चाहिए। जैसा कि ब्राह्मण के नाम में मंगल और विद्या का सम्बन्ध हो, क्षत्रिय के नाम में वीरोचित प्रभाव प्रतीत होता हो, वैश्य के नाम में धन और समृद्धि की बात आती हो। जब ऐसे नामों से वह अपने जीवन में बार-बार सम्बोधित होगा तो उन शब्दों द्वारा उन गुणों पर उसका चित्त निरन्तर आकृष्ट होता रहेगा और उसका प्रभाव बार-बार चित्त पर पड़ने से उन गुणों की समृद्धि वा उज्ज्वलता उसमें होती रहेगा। स्त्रियों के नामों में कोमलता होनी चाहिए।

अन्नप्राशन में उसका स्वभाव जैसा बनाना है तदनुकूल अन्न के प्रयोग का विधान स्पष्ट ही मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है। चूडाकरण संस्कार में दोषरूप केशों का मार्जन और औषधि आदि मलने से अतिशयाधान का भी समावेश है। अब बड़े संस्कार यज्ञोपवीत का अवसर आता है। यज्ञोपवीत; अतिशयाधान और दोषमार्जन दोनों करता है। इसका भी सम्बन्ध मनोविज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनों से है। प्राचीन भारतीय प्रथा के अनुसार ८ वर्ष का ब्राह्मण बालक, ११ वर्ष का क्षत्रिय बालक और १२ वर्ष का वैश्य बालक अपने घर नहीं रह पाते थे। उन्हें आचार्य के घर भेज दिया जाता था। आचार्यों के बड़े-बड़े कुल बने रहते थे। जिनमें शतशः छात्र शिक्षा प्राप्त करने के लिए एकत्र हो जाते थे। इसी कारण इस संस्कार का नाम उपनयन रखा गया है। उप अर्थात् समीप में नयन अर्थात् ले जाना। आचार्य द्विज बालकों को अपने घर ले जाते थे। यही उपनयन शब्द का अर्थ है। इस संस्कार में पलाश के दंड, मूँज की वा सन की मेखला, मृगचर्म और यज्ञोपवीत नाम के एक बने हुये सूत्र का धारण आवश्यक माना गया है। नियत समय तक कम से कम बारह वर्ष वीर्य रक्षापूर्वक आचार्य के घर रह कर ये सब बटु वेद शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त करते थे। मूँज सन आदि वीर्य रक्षा में उपयोगी हैं, यह भौतिक विज्ञान का सम्बन्ध इस संस्कार में प्राप्त होता है। पलाश वीर्य रक्षा में और बुद्धि बढ़ाने में भी सहायता देता है। इसलिए संस्कार में पलाश का बहुत उपयोग किया जाता है। पलास का दंड नित्य हाथ में रखना और पलाश और पलाश वृक्ष को जल से सींचते रहना, ब्रह्मचारियों के लिये आवश्यक माना गया है। ब्रह्म नाम है वेद का, उसका चरण

अर्थात् ग्रहण करने वाले ब्राह्मण अथवा वेद पढ़ने के लिए शास्त्र विहित कर्मों का आचरण करने वाले ब्रह्मचारी कहे जाते हैं और उनके इतने काल तक रहने का यह समय ब्रह्मचर्य आश्रम नाम से प्रसिद्ध है। हमारी मनुष्य आदि प्राणियों की बुद्धि का सम्बन्ध सूर्य से है, यह वैदिक विज्ञान बताता है। इसी कारण सूर्य का उपस्थान सूर्य के प्रधान मन्त्र गायत्री का जप आदि इस आश्रम में प्रधान रूप से कर्तव्य माने गये हैं। जिनसे बुद्धि स्वच्छ, परिमार्जित और प्रवृद्ध होकर वैदिक विज्ञान समझने की योग्यता प्राप्त कर सके। पृथ्वी मंडल में स्थित अग्नि भी सूर्य का ही एक रूप है। तीनों लोकों के अग्नि, वायु, सूर्य ये तीनों देवता परस्पर सम्बद्ध माने जाते हैं, इसलिए अग्नि में नित्य पलाश की समिधा का होम करना भी इस आश्रम में आवश्यक माना गया है। पलाश के धूम और अग्नि इन दोनों के सम्बन्ध से भी बुद्धि की वृद्धि होती है और उसमें स्वच्छता आती है। यज्ञोपवीत धारण करने के लिए जो यज्ञ-सूत्र बनाया जाता है, वह एक प्रकार से उसका नक्शा है, जिस विद्या का अध्ययन करने लगा है। जैसा आज कल भूगोल आदि की विद्याएँ नक्शे के आधार से पढ़ना ही उत्तम पढ़ाई मानी जाती है वैसे ही जो वेदविद्या ब्रह्मचारी को पढ़ना है उसका एक नक्शा पहले ही उसके गले में डाल देते हैं। एक ब्रह्म तत्त्व से सम्पूर्ण प्रपंच बना और प्रपंच को उत्पन्न कर ब्रह्म उसमें स्वयं विराजमान हुआ, यही वेद विद्या में पढ़ना है। उपनिषदों में वर्णन है कि ब्रह्म पहले तीन तत्त्व उत्पन्न करता है, तेज, अप और अन्न। अप अर्थात् जल और अन्न का अर्थ है पृथ्वी। इन तीनों तत्त्वों से सम्पूर्ण जगत् का निर्माण होता है। किन्तु ये तीनों पृथक्-पृथक् जब तक रहें, तब तक जगत् का निर्माण नहीं कर सकते। इसलिए एक-एक में अन्य दोनों के अंश मिलाकर तीनों के सम्मिलित तीन रूप बनाये जाते हैं। बस यही प्रक्रिया यज्ञोपवीत निर्माण में होती है। पहले छानबे अंगुल का एक सूत्र बनाया जाता है, जो पुरुष का एक प्रति रूपक है। पुरुष का मध्यम मान छानबे अंगुल का ही होता है। छोटे से छोटा पुरुष अपने अंगुल से ८४ अंगुल का एवं बड़े से बड़ा १०८ अंगुल का हुआ करता है। मध्यममान ९६ है। ऐसे ९६, ९६ अंगुल के तीन सूत्र बनाकर उसको बँटकर एक किया जाता है और उसकी फिर तीन-तीन की एक लड़ बनाकर उसमें एक ब्रह्मग्रन्थि दी जाती है, जो सबमें ब्रह्म के प्रवेश की सूचक है। इस प्रकार यह जगत् की उत्पत्ति का एक नक्शा हो गया। यह नक्शा गले में डालकर निरन्तर इस पर ध्यान रखने से ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध का भान होने लगता है। दूसरे प्रकार से भी इसका आशय समझा जा सकता है कि परब्रह्म का मुख्य अधिष्ठान सूर्यमंडल है। हम लोग सूर्य के आधार से ही ब्रह्म की उपासना कर सकते हैं। अति सूक्ष्म होने के कारण बिना किसी आधार कल्पना से ब्रह्म तत्त्व हमारे मन और वाणी में नहीं आ सकता। इसीलिये सूर्य की उपासना ही वेद में विशेषता से आई है। सूर्य के चलने का मार्ग वा पृथ्वी भ्रमण पक्ष में सूर्य जहाँ जहाँ हमें दिखाई देता है, उतना दक्षिण और उत्तर

का प्रदेश ४८ अंश का है। अर्थात् मध्य की विषुवत नाम से कही जाने वाली रेखा से २४ अंश तक दक्षिण और २४ अंश तक उत्तर हम सूर्य को देखा करते हैं। इसका सन्निवेश विषुवत् रेखा पर तिरछे रूप में होता है, इसलिये तिरछे ही रूप में यज्ञ सूत्र धारण कराया जाता है और उन ४८ अंशों में ९ भाग वीथी नाम से किये गये हैं, जिनके अजवीथी, नागवीथी आदि नाम शास्त्रों में वर्णित हैं। इसी आधार पर यज्ञोपवीत में ९ सूत्र बनाये गये हैं और उनमें तीन-तीन को मिलाकर एक-एक सूत्र बनाया जाता है। तीनों पर विराजमान ग्रन्थि सूर्य का संकेत करती है अर्थात् ९ वीथियों में सूर्य विचरण करते हैं। इस प्रकार बड़े-बड़े गम्भीर विषयों का प्रतिरूप यह सूत्र निरन्तर गले में पड़ा रहने से और आचार्य के सिखाये क्रम से इस पर ध्यान बना रहने से वेद की यह गम्भीर विद्या बुद्धिगम्य हो जाती है। इन बातों के अतिरिक्त यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर नियतकाल तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर जो वीर्य रक्षा की जाती है और उसके ही सब साधन इस आश्रम में प्रस्तुत रहते हैं, ये सब शरीर और बुद्धि दोनों के पूर्ण पोषक हैं। इस बात को सभी वैज्ञानिक मानते हैं। आजकल जो बातें समाज के लिए हितकर मानी जाती हैं और जिनका प्रचार बड़े प्रयत्न से किया जाता है, वे बाल्य-विवाह निषेध आदि उस समय सामान्य प्रथारूप में प्रचलित थे। ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पूर्व कोई विवाह कर ही नहीं सकता था और ब्रह्मचर्य की अवधि छत्तीस वर्ष, २४ वर्ष वा अन्ततः १२ वर्ष अवश्य मानी जाती थी। आठ, ग्यारह या बारह वर्ष का बालक वर्ण क्रमानुसार जब उपनयन संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचर्य में प्रविष्ट हो और १२ वर्ष ब्रह्मचर्य साधन करे, तब कम से कम २१ वर्ष की अवस्था तो उसकी हो ही जायगी, इससे पूर्व तो विवाह की प्रथा ही नहीं थी और भिक्षाचर्या द्वारा प्रत्येक स्त्री को माता कहने का उसे अभ्यास कराया जाता था। इस प्रकार के वीर्यरक्षापूर्वक ब्रह्मचर्य से ही वेद विज्ञान समझने की योग्यता प्राप्त होती थी। उस आश्रम के आहार व्यवहार आदि भी ऐसे ही नियत किये गये हैं जो वीर्य रक्षा में पूर्ण सहायक हों। नित्य की अग्निपरिचर्या सन्ध्योपासनादि कर्म भी बुद्धि के परिमार्जक और शरीर के लिये पुष्टिप्रद हैं। सबसे बड़ी बात इस संस्कार में है आचार्य की दीक्षा। आचार्य अपने आत्मबल का उस बटु में सन्निवेश करता है, इसी का नाम दीक्षा है। संस्कार में मन्त्र भी ऐसे ही बोले जाते हैं जिनसे शिष्य के मन, प्राण, वाक् आचार्य के अनुगामी बने। आचार्य वे ही होते थे, जिन्होंने बड़े परिश्रम से आत्मबल संपादित कर लिया है, उनके अपने आत्मबल के समर्पण से ब्रह्मचारी की बुद्धि चमक उठती थी और वह गम्भीर वेद समझने के योग्य हो जाता था। आचार्य की परिचर्या भी इस आश्रम में अत्यावश्यक कर्तव्य माना गया है। उससे उनके साथ निकट सम्बन्ध स्थापित होने के कारण प्रतिदिन बुद्धि की वृद्धि होती रहती थी और परिचर्या से प्रसन्न होकर वे जो आशीर्वाद देते थे उससे इस बटु का आत्मबल अधिक बढ़ता जाता था। इन सब कारणों से यज्ञोपवीत संस्कार एक

बड़े महत्व का संस्कार है और बिना इस संस्कार के वेदादिशास्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं दिया जाता; जो उन पुरुषों की विद्या थी और जगत् के हित की दृष्टि से ही नियमित है । अस्तु, यह सिद्ध किया गया कि इस प्रकार संस्कृत बुद्धि में ही वैदिक गम्भीर विज्ञान सम्यक् रूप में प्रविष्ट हो सकता है । असंस्कृत बुद्धि उसका ग्रहण नहीं कर सकेगी, अथवा उलटे विपरीत भाव ग्रहण करेगी । इसीलिए संस्कृत द्विजातियों का वेद में अधिकार माना गया है । संस्कार भी सबके नहीं किये जा सकते, क्योंकि अतिशय उत्पन्न करने के लिए आधार (medium) भी उपयुक्त चाहिए । अन्यथा अतिशय के स्थान में उलटी हानि हो जाती है । इसलिए द्विजातियों में कुल परम्परागत संस्कार किया जाता है और उन्हें ही वेद आदि उच्च तथा गम्भीर शास्त्रों के अध्ययन का अधिकार दिया जाता है । तब सर्वसाधारण को धर्मज्ञान हो, इसका उपाय यही है कि वे उन विद्वानों से शिक्षा प्राप्त करें ।

वे उन्हें उनके अधिकार के अनुरूप सरल मार्ग से उनका धर्म बतला देंगे । व्यवहार में भी ऐसा होता ही है । सब मनुष्य अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए पूरा ज्ञान नहीं रख सकते । जब रोग हो जाय तब चिकित्सा के लिए डाक्टर के पास जाना ही पड़ता है । कोर्ट का काम पड़ जाय तो वकील की शरण में जाना पड़ता है, इसी प्रकार धर्मज्ञान के लिए अज्ञपुरुषों को धर्म गुरुओं के पास जाना पड़े तो इसमें नई बात क्या है । अस्तु, प्रसंगागत विषय के विस्तार में हम बहुत दूर चले आये । प्रकृत विषय यही था कि त्रिवर्ग में धर्म मुख्य है । यह धर्म शब्द का विचार करने पर सबकी दृष्टि में सिद्ध हो जाता है । क्योंकि स्वरूप रक्षा के लिये अर्ण और काम सबसे प्रथम आवश्यक है । और उसका मुख्य साध्य भी मोक्ष ही है । श्रीमद्भागवत में आरंभ में ही चारों पुरुषार्थों के प्रयोजन दिखाते हुए स्पष्ट बतलाया है कि धर्म का प्रयोजन अर्थ को मानना अर्थात् लौकिक उन्नति के लिए धर्माचरण करना बड़ी भूल है, धर्म का अपमान है । इसका प्रयोजन मोक्ष ही मानना चाहिए। इसी प्रकार अर्थ अर्थात् धनोपार्जनादि का प्रयोजन भी धर्म में उसका उपयोग करना मानना चाहिए, न कि काम सुख भोग में । काम का प्रयोजन भी इन्द्रिय तृप्ति न मानकर केवल जीवन रक्षा मानना चाहिए अर्थात् आहार-विहार आदि जीवन रक्षार्थ हैं, न कि इन्द्रिय तृप्ति के लिए । और जीवन तत्त्व ज्ञान के लिए होना चाहिए, न कि साधारण कर्मों के लिए ।

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते

नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

( भागवत १ स्कन्ध, २ अध्याय ९-१० श्लोक )

अतः भारतीय संस्कृति की दृष्टि में सबका चरम लक्ष्य मोक्ष होने के कारण गीता का भी मुख्य प्रयोजन मोक्ष ही माना गया है। किन्तु अवान्तर प्रयोजन धर्म निर्णय वा कर्तव्य का ज्ञान है यह अवश्य सिद्ध होता है। इस विचार से अपने जीवन क्रम का सफलता से निर्वाह करने वाले मनुष्य मात्र ही गीता के अधिकारी हो जाते हैं और कर्तव्य निर्णय इसका विषय माना जा सकता है। कर्तव्य निर्णय शास्त्र के आधार पर ही अवलम्बित है यह सिद्ध कर चुके हैं और शास्त्रज्ञान के लिए गुरु की आवश्यकता है। अतः अर्जुन ने भगवान को ही उस समय अपना गुरु बनाया।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि अर्जुन भी तो विद्वान् था, शास्त्र जानता था। वह स्वयं भी धर्माधर्म का निर्णय क्यों न कर सका। इसका उत्तर है कि शास्त्र के वचनों में जहाँ अपनी दृष्टि से विरोध प्रतीत होता हो वहाँ निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है और अकस्मात् घबड़ाहट में पड़ा हुआ मनुष्य विद्वान् होने पर भी निर्णय में असमर्थ हो जाता है।

शास्त्र में यह भी निर्णय मिलता है कि—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

जो विष प्रदान, अग्निदाह, शस्त्र प्रहार आदि के द्वारा अपना वध वा अपकार करने को उद्यत हो उसे मार ही देना चाहिए चाहे वह गुरु हो, बालक हो, वृद्ध हो वा वेदान्त का वेत्ता ब्राह्मण ही क्यों न हो। किन्तु ऐसे भी कथन बहुत हैं कि 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' अर्थात् ब्राह्मण को कभी न मारना। गुरु का सदा हित ही करना, प्राणिमात्र की हिंसा न करना इत्यादि। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य स्मृति में एक निर्देश आता है कि—

अर्थशास्त्रात्तुबलवद् धर्मशास्त्रमितिस्थितिः

अर्थ प्रधान नीति-शास्त्र की अपेक्षा धर्म-शास्त्र बलवान् होता है। अर्थात् विरोध होने पर नीतिशास्त्र को न मान कर धर्मशास्त्र की ही आज्ञा माननी चाहिए। अर्थात् गुरु ब्राह्मण आदि अपने को मारने के लिए भी उद्यत हों तो भी उन्हें नहीं मारना चाहिए। मिताक्षराकार ने तो यहाँ तक भी कहा है कि वह नीतिशास्त्र का वचन भी केवल कैमुतिकन्याय है। गुरु ब्राह्मण आदि के मार देने में उसका भी तात्पर्य नहीं। किसी विशेष बात पर जोर देने के लिए जहाँ अधिक अत्युक्ति कर दी जाय, उसको कैमुतिकन्याय कहते हैं। जैसे किसी के घर पर भोजन करने का निषेध करता हुआ कोई गुरुजन अपने शिष्य आदि को ऐसा उपदेश दे कि चाहे विष खालो, किन्तु इसके घर मत खाओ। यहाँ कहने वाले का तात्पर्य विष खाने में नहीं होता किन्तु इसके घर पर भोजन करना विष खाने से भी बुरा है, यही तात्पर्य होता है। ऐसे

अवसर में ही कैमुतिकन्याय कहा जाता है। नीतिशास्त्र के वचन में भी यही आशय रक्खा गया है कि चाहे गुरु या ब्राह्मण भी क्यों न हो आततायी को मार ही देना चाहिए। इसका तात्पर्य आततायी को मारने में जोर देना ही है। गुरु ब्राह्मण आदि के मार देने में उनका तात्पर्य ही नहीं है। ऐसे तात्पर्य की अभिव्यक्ति अपि और वा आदि शब्दों से की जाती है।

उक्त श्लोक में भी 'वा' शब्द आया है। इसका समानार्थक पद्य जो दूसरी जगह मिलता है उसमें गुरुं वा ब्राह्मणं 'वापि' ऐसा 'अपि' शब्द भी प्राप्त है। अस्तु आशय यही है कि अर्जुन के सामने जो जटिल समस्या थी उसका शास्त्र वचनों से भी निर्णय हो जाना सहज नहीं था। इसीलिए वह भगवान् कृष्ण को गुरु बनाकर उनकी शरण में गया।

अब एक प्रश्न और होता है कि अर्जुन के सामने अकस्मात्-तो यह समस्या नहीं आयी थी इन्हीं गुरु, वान्धवादि को मारने की वह वर्षों से तैयारी कर रहा था। भीष्म, द्रोण आदि को जीतने के लिए ही व्यास देव ने मन्त्र का उपदेश देकर उसे तपस्या के लिए भेजा था। वहाँ बड़ा कठिन तप कर उसने इसी विजय के लिए शस्त्र अस्त्र प्राप्त किए थे। आगे भी सन्धि का प्रस्ताव लेकर गये हुए संजय की बहुत कटु शब्दों में अर्जुन ने ही भर्त्सना की थी, फिर इतने काल से तैयारी करके युद्ध में सम्मुख आकर अचानक यह व्यामोह क्यों। यह बात समझ में नहीं आती इसलिए यह गीता की घटना केवल काल्पनिक जान पड़ती है, किन्तु ऐसा प्रश्न वे ही सज्जन उठा सकते हैं— जिनने सांसारिक परिस्थिति का कभी अनुभव न किया हो। संसार में ऐसे अवसर बहुतों को प्राप्त होते हैं कि पहले बहुत कुछ तैयारी करके भी कार्य के ठीक अवसर पर मन हिचक जाता है। विशेषकर जीव हत्या के प्रसंग में तो ऐसी अवस्था प्रत्येक सहृदय पुरुष की होती है। शस्त्र उठा कर भी प्रहार करने में वह बार-बार रुकता है। प्राचीन और नवीन इतिहासों में भी इसके दृष्टान्त बहुत हैं। किसी को कार्य काल में क्षोभ होता है और किसी में कार्य कर डालने के अनन्तर पश्चाताप रूप क्षोभ आता है। यही महाभारत में अर्जुन को युद्धारम्भ में क्षोभ हुआ और युधिष्ठिर को विजय प्राप्ति के अनन्तर पश्चाताप हुआ। वे राज्याभिषेक कराने को प्रस्तुत न होते थे। भगवान् कृष्ण ने ही बहुत कुछ समझा कर उनका भी क्षोभ दूर किया था। इसी प्रकार बहुत बड़ी तैयारी से और बहुत कष्ट उठाकर लंका विजय प्राप्त करके भी भगवान् रामचन्द्र ने सीता का ग्रहण करने को अनुचित मान लिया था। जिस पर सीता को अग्नि परीक्षा देनी पड़ी। आधुनिक इतिहास में भी अशोक युद्धों में बहुत सी हिंसा करके अन्त में विरक्त हो गया था और आगे सर्वथा युद्ध करना छोड़ चुका था। इसलिए उसका नाम चंडाशोक से धर्माशोक हो गया। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि पहिले युद्ध उसने अविचारित ही किए थे। किन्तु बात यही है कि किसी

समय किसी कार्य का चित्तवृत्ति पर विशेष प्रभाव पड़ता है यह स्वाभाविक है। भोजप्रबन्ध कर्ता ने मुञ्ज का जो इतिहास लिखा है उसमें भी यही बात है कि मुञ्ज अपने भतीजे भोज के मारने की आज्ञा देकर आगे पश्चात्ताप में पड़ा था। महाराष्ट्र वीर शिवाजी की विजय के लिए उसके नगर में पहुँच कर भी जोधपुर नरेश यशवन्त सिंह जी उनके समझाने से विचार में आकर शिवाजी के पक्ष में हो गये थे। महाराणा प्रताप का दृष्टान्त तो बहुत कुछ इस प्रसंग से मिलता जुलता है। बादशाही सेना से घिरकर जब वे विपद्ग्रस्त होने को ही थे और उनके सरदार राणा झाला ने जब छत्र-चँवर अपने सिर पर लेकर उनको बचाने के लिए भगा दिया उस समय इस घटना को उनका सौतेला भाई पृथ्वी सिंह जान गया और उसने जहाँ भी मिले मार डालने के लिए उनका पीछा किया। क्योंकि वह इनसे विरुद्ध होकर सम्राट अकबर से मिल चुका था और उसकी सेना के साथ ही युद्ध में आया था, किन्तु जब बहुत बड़ी नदी पार कर जाने के कारण महाराणा प्रताप के घोड़े चेतक का दम टूट गया और महाराणा असहाय रह गये। उस समय पृथ्वी सिंह ने उन्हें जा पकड़ा और उसी समय उसकी चित्तवृत्ति बदल गयी। वह हाथ से खड्ग फेंक कर महाराणा प्रताप के गले लिपट गया एवं दोनों भ्राताओं ने अश्रुधारा में बैर को बहा दिया। विदेशी इतिहास में भी प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर ने कोरियोलेन्स का चरित्र ऐसा ही लिखा है कि रोमन देशवासियों के द्वारा निष्कासित होकर वह रोमन शत्रुओं से मिल गया था और साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा कर उन्हें रोम देश पर चढ़ा लाया था, किन्तु समय पर उसमें मातृ भूमि का प्रेम उदित हुआ और अपनी प्रतिज्ञा तोड़ कर वह देश की रक्षा में अग्रसर हो गया। अस्तु ऐसे दृष्टान्त संसार में बहुत हैं कि बड़ी तैयारी करके भी समय पर मनुष्य का मन फिर जाता है। इसलिए अर्जुन का मोह अस्वाभाविक नहीं और इसलिए गीता का उपदेश भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। यों गीता के विषय अधिकारी आदि का स्पष्टीकरण इस प्रवचन में किया गया।



## द्वितीय-पुष्प

### गीतोक्त धर्म निर्णय का आधार

प्रथम प्रवचन में कह आये हैं कि लोकमान्य तिलक ने अपने गीता-रहस्य में भारतीय संस्कृति में धर्म की पूर्णता के लिये उसका आत्मा से सम्बन्ध समझना आवश्यक माना है। वस्तुतः भारतीय वैदिक सनातन धर्म की यह एक सबसे बड़ी विशेषता है कि जहां संसार के अन्य धर्मावलम्बी दार्शनिकों ने धर्म का सम्बन्ध केवल शरीर से अथवा एक मात्र मन से माना है, वहां सनातन-धर्मानुयायी महर्षियों ने अपनी अध्यात्म दृष्टि से देख लिया कि केवल शरीर या केवल मन के साथ धर्म का सम्बन्ध मानने से धर्म सर्वथा अधूरा रहता है, न उसकी स्थिरता होती है, न पूर्णता। इसलिए उन्होंने पञ्चमहाभूतात्मक स्थूल-शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन आदि से संवलित-आत्मा के साथ धर्म का सम्बन्ध माना है। अन्य देशीय विद्वानों के मत पर थोड़ा बहुत दृष्टिपात किए बिना महर्षियों के इस सिद्धान्त का महत्त्व समझ में आना कठिन है, और बिना धर्म का आत्मा से सम्बन्ध समझे भगवद्गीता के अध्यात्म निरूपण का कारण भी ठीक नहीं समझा जा सकता, यह संदेह ही बना रहता है कि गीता में यह इतना अध्यात्म प्रपंच क्यों किया गया। इसी से बहुतों को शंका रहती है कि गीता वस्तुतः महाभारत का अंश हैं या पीछे से किसी ने जोड़ दी है। इस कारण हम केवल शरीर अथवा केवल मन के साथ सम्बन्ध मानने वालों के मत का यहां दिग्दर्शन कराते हैं। इस विषय का विवेचन लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक ने 'गीतारहस्य' में बहुत विस्तृत रूप से किया है, उसी का कुछ सार यहाँ अपनी भाषा में उद्धृत किया जाता है।

एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध केवल स्थूल शरीर को ही आत्मा मानने वाले चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन के आचार्यों ने मन, बुद्धि, आत्मा और परलोक का निषेध करके यह स्थिर किया है कि स्थूल शरीर से भोगने योग्य विषय सुख ही परम सुख है, और इन सुखों को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है। इनके सिद्धान्त से समाज सेवा देश सेवा और परोपकार आदि महान् गुण तो एक ओर रहे, अपनी ही स्त्री-पुत्र आदि का पालन-पोषण भी यदि अपने शरीर के लिए कष्टदायक हो तो अधर्म कहलाएगा। परलोक-गत माता पिता आदि के उद्देश्य से अन्न दान करना तो दूर की बात है, इस जन्म के अपने लिए हुए ऋण से उऋण होने में शरीर को कष्ट हो, तो वह उऋण होना भी अधर्म सिद्ध होगा। इनका तो भेरीनाद है कि—

“यावज्जीवेत सुखं जीवेदऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥” इत्यादि,



अर्थात् जब तक जीओ सुख से जीओ, ऋण लेकर भी घी-दूध पीओ, मरने के बाद देह की भस्म बने पीछे यहाँ कैसे और कहाँ से कोई आएगा।

इस सिद्धान्त का जन्म अध्यात्म विद्या की एक मात्र आश्रय भूमि भारतवर्ष में ही हुआ था। किन्तु अब इस धर्म के अनुयायी न तो भारत में हैं और न विदेशों में ही कहीं यह मत प्रचलित है। यद्यपि आजकल युरोप में मान्य मार्क्सवाद के जीव की उत्पत्ति के सिद्धान्त इसी दर्शन से मिलते जुलते हैं तथापि उनपर युरोप के विद्वानों का भी अभिनिवेश नहीं। मार्क्सवाद का आदर सामाजिक स्थिति के लिए ही वहाँ वर्तमान में है। उनके आध्यात्मिक विचारों को तो गौण ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त गीता में आध्यात्मविषय का बहुत विस्तार आवेगा, वहीं प्रसंगागत शरीरात्मवाद की आलोचना होती जायेगी। इसलिये इस पर यहाँ विशेष लिखना व्यर्थ है। इस मत का संकेत मात्र करना ही यहाँ पर्याप्त है। हाँ, इतना समझ लेना आवश्यक है कि केवल स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध रखने से और केवल स्थूल शरीर के सुखमात्र को लक्ष्य में रखने से उक्त सिद्धान्त को “भौतिक” वाद कहते हैं। यद्यपि इस भौतिकवाद का जन्म भारतवर्ष में ही हुआ, किन्तु अध्यात्म-तत्त्व-वेत्ता भारतीय महर्षियों के सामने भारतवर्ष में भौतिकवाद चिरस्थायी न हो सका। भारत से बाहर के बहुत से देशों में अब भी भौतिकवाद का ही विशेष महत्त्व है, किन्तु उक्त भौतिक वाद की अपेक्षा आज का भौतिकवाद बहुत अंशों में विकसित और परिष्कृत है। परिष्कृत भौतिकवाद के आचार्यों का कहना है कि सुख की इच्छा यद्यपि शरीर के लिए ही उत्पन्न होती है, किन्तु वह केवल अपने शरीर तक ही सीमाबद्ध नहीं रहती। अपने ही सुख के समान दूसरों के सुख का भी ध्यान रखने से मनुष्य को अव्याहत सुख मिल सकता है, अन्यथा, अपने सुख के लिए किए गए प्रयत्नों से यदि दूसरों को दुःख होगा तो दूसरे लोग उसके में बाधक बनेंगे, इससे अभीप्सित सुख की सिद्धि नहीं होगी। इसलिए अपने सुख के साथ ही सबके सुख का ध्यान रखना आवश्यक है। इस प्रकार के उदार विचार आते ही इस मत में भी अहिंसा, दान, परोपकार, दया, उदारता, कृतज्ञता, नम्रता और मित्रता आदि शुभ गुणों का प्रादुर्भाव और इनके विपरीत हिंसा आदि दोषों का मार्जन, स्वभावतः हो जाता है। अर्थात् मनुष्य में, अपने शत्रु को मारने की इच्छा के साथ ही; यह भय भी उत्पन्न होता है कि इसकी हिंसा का बदला, कोई इसका निकट सम्बन्धी, मेरी प्रतिहिंसा से लेगा, तब वह हिंसा को बुरा और अहिंसा को अच्छा समझकर, हिंसा का त्याग और अहिंसा का आश्रयण करता है। दया दान आदि के समय भी मनुष्य के हृदय में यही दूर दृष्टि काम करती है कि यदि दूसरों की दीन हीन दशा पर दया करके मैं दान आदि से उसकी सहायता करूँगा तो भविष्य में ऐसी दशा होने पर धनी लोग मेरी भी सहायता करेंगे। इस प्रकार सारे सद्गुणों का, अपना निज का, स्वार्थ ही मूल कारण है। इस मत में परोपकार भी एक दूरदर्शिता

का स्वार्थ ही है । यह मत यूरोप के प्राचीन हाब्स (अंग्रेज) और (हैल्वेशियस) (फ्रेंच) आदि विद्वानों का है। इस ही बात को प्रकारान्तर से यों समझिये कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह जंगल के सिंह, व्याघ्र आदि की तरह अकेला रहकर संतुष्ट नहीं होता । दूसरों के साथ मिलकर रहने की इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है । इसीलिये अपने अपने शरीर के सुख दुःख के समान अपने समाज के दूसरे साथियों के सुख दुःख का विचार भी इसे आवश्यक है । यदि वह ऐसा न करे, तो दूसरे भी इसका विचार न करते हुए इसके सुख में बाधक होंगे । तब बहुत के संघर्ष (मुकाबिले) में यह अकेला कैसे पार पा सकेगा । इसलिये परोपकार, क्षमा, दाक्षिण्य, सत्य, अहिंसा आदि की शिक्षा इसे लेनी ही चाहिए ।

जो कुछ भी हो, भौतिकवाद के इस विकास में धर्म अधर्म का कुछ स्वरूप बन जाता है । इस धर्म अधर्म की परिभाषा को हमारे शास्त्रों की धर्म विवेचन की पद्धति में भी स्थान दिया गया है—

“श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।  
 आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥  
 यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।  
 न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥”

अष्टादश पुराण और महाभारत आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री व्यास जी कहते हैं— “मैं धर्म का सर्वस्व सार बतलाता हूँ, इसे ध्यान से सुनो और कभी न भूलो (व्यवहार में लाओ)— कि-जो कर्म अपने आप को दुःखदायी हों, उन्हें दूसरों के लिए भी (कभी) न करो । आत्मा के प्रियाप्रिय जानने वाले पुरुष को चाहिये कि दूसरों के द्वारा किया जो काम उसे अच्छा न लगे, उसे दूसरों के लिये कभी न करे। इन पद्यों में उक्त आधिभौतिक मत का भाव अति स्पष्ट है । इनका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि कोई हमें मारता, पीटता, या गाली देता है, अथवा झूठ बोलकर हमें धोखा देता है— तो हमें बहुत बुरा लगता है । इसलिये हम भी ऐसे काम दूसरों के साथ न करें। साथ ही कोई हम पर सहानुभूति वा दया दिखलाता है तो हमें अच्छा लगता है, इसलिये हम भी दूसरों के साथ ऐसे व्यवहार करें । इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि आधिभौतिकवादियों के ये सिद्धान्त कहीं से नये नहीं उतरे, वे आर्य महर्षियों के विचारों के प्रतिबिम्ब मात्र हैं । किन्तु आर्य महर्षि इतने ही पर अवलम्बित नहीं होते । वे इसे ही धर्म अधर्म की एकमात्र कसौटी नहीं मानते । इसमें धर्म का उच्च आदर्श नहीं, यह तो धर्म की व्याख्या का ककहरा मात्र है। आरम्भिक परिभाषा होने के कारण ही उक्त पद्यों में इन विचारों को इतना महत्त्व दिया गया है । कह चुके हैं कि इस मत का परोपकार स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर है । इसलिये जहाँ स्वार्थ और परोपकार का विरोध होगा वहाँ इस मत का अनुयायी स्वार्थ का ही पक्षपाती बनेगा । इतना ही

क्यों, इस मत में ढोंग को भी पूरा स्थान मिलता है । हम दूसरों को इसलिए नहीं सताते हैं कि दूसरे भी हमें न सतावें । किन्तु हम अपना बाह्य ढोंग दूसरों की भलाई का रक्खें, उन्हें यह दिखाते रहें कि हम उनका भला करने में ही कटिबद्ध हैं, और भीतर ही भीतर उनकी खूब जड़ काटते रहें— अपने चातुर्य से अपनी पोल खुलने न दें— तब क्या दोष ? एक आदमी इसलिये सत्य बोलता है कि लोग उस पर विश्वास करें, जिससे उसका व्यापार या रोजगार बढ़ता रहे, किन्तु एक बार अपने सत्य की प्रतिष्ठा जमाकर बड़ी चतुरता से अब वह झूठ से भी स्वार्थ साधन करता जाय, केवल अपने सत्य की कलाई चतुरता से खुलने न दे, तो उसके धर्म में तो कोई बाधा नहीं। तब सत्य की रक्षा के लिये हरिश्चन्द्र का राजपाट व स्त्री-पुत्र आदि को त्याग देना तथा एक कपोत की रक्षा के लिए शिवि महाराज का अपने शरीर का मांस काटकर तराजू पर चढ़ा देना—वा लोक-कल्याण के लिये महर्षि दधीचि का अपनी अस्थि दे देना—इत्यादि उच्च आदर्शों की तो इस मत में कल्पना भी नहीं हो सकती। इसलिए व्यवहार निर्वाहक नीति इसे भले ही कह लीजिए, “धर्म” कहलाने की योग्यता इस मत में नहीं मानी जा सकती ।

इससे भी कुछ आगे बढ़कर पाश्चात्य विद्वान बटलर ने इस मत का खण्डन करके यह स्थिर किया है कि “स्वार्थ के समान परोपकार भी प्राणी का स्वाभाविक धर्म है । यदि ऐसा न होता तो महाहिंसक सिंह व्याघ्र आदि क्रूर स्वभाव वाले पशु भी अपने बच्चों का पालन करते न देखे जाते । पक्षियों का दूर से चुगा लाकर अपने बच्चों को पालना इस प्रवृत्ति का अति स्पष्ट उदाहरण है । इसलिये परार्थ को दूर दृष्टि का स्वार्थ न कहकर उसे भी स्वतंत्र रूप से धर्म मानना ही युक्ति-युक्त है । स्वार्थ के समान, परोपकार को भी प्रधानता देकर ही नैतिक कार्य-अकार्य अथवा धार्मिक कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करना चाहिये । किन्तु इनके मत के अनुसार भी स्वार्थ और परार्थ दोनों ही जगह “अर्थ” पद से सांसारिक सुख ही गृहीत हुआ है । सांसारिक सुख से परे यहाँ कुछ भी नहीं है । इसलिये इन सबको आधिभौतिकवाद में ही गिना जाता है । इनसे भी कुछ आगे बढ़े हुए या इस मत को चरम सीमा तक पहुँचाने वाले बैन्थावे और मिल आदि विद्वानों का कहना है कि एक मनुष्य के भौतिक सुख को नहीं, सब मनुष्यों के सुख के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर नैतिक कर्तव्याकर्तव्य स्थिर करना चाहिये ।

इस प्रकार कार्य-अकार्य अथवा धर्माधर्म की यह परिभाषा बनती है कि— जिस कार्य को करने से सबको सुख हो वह कार्य धर्म और जिससे सबको दुःख हो वह कार्य अधर्म है । अब यहाँ विचारने की बात यही है कि यदि सुख शब्द से शारीरिक सुख ही लेते हैं, तो ऐसा संसार में एक भी कार्य दृष्टि में न आयेगा जिससे सबको अर्थात् प्राणिमात्र को अथवा मनुष्य मात्र को सुख हो । यदि हम चोरी के लिए दण्ड-

विधान बनाते हैं तो चोरी की आदत वालों को तो उससे सुख के स्थान में कष्ट ही होता है। द्यूत, व्यभिचार, मद्यपान आदि की रोक से उनके व्यसनी हजारों व्यक्तियों को कष्ट पहुँचता ही है। यदि कहें कि मक्खी के लिए घृत विष है, तथापि अन्य प्राणियों के लिए अमृत होने के कारण जैसे घृत अमृत ही कहलाता है, उसी प्रकार कुछ को अनिष्टकर होने पर भी जो कार्य अधिक मनुष्यों को सुखकर हो, वह धर्म कहलायेगा और इसके विपरीत अधिक जनों को दुःख पहुँचाने वाला कार्य अधर्म। किन्तु यह बात भी विचार के सामने ठहरने योग्य नहीं है। क्योंकि एक तो सुख दुःख का निर्णय इतना सरल नहीं कि इसे संख्या की न्यूनाधिकता पर छोड़ा जा सके। सोचिये कि किन व्यक्तियों की गणना पर आप यह निर्णय छोड़ेंगे ? यदि जिनके कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार किया जा रहा है उन्हीं पर छोड़ा जाय, तो महान अनर्थ यह होगा कि लड़कों का पढ़ना पढ़ाना बन्द हो जायगा । क्योंकि बालकों में अधिक संख्या ऐसों की ही होती है, जो पढ़ने को दुःखदाई समझते हैं । तब अधिकों के सुख का विचार कर बच्चों को पढ़ाना अधर्म सिद्ध होगा । यदि कहा जाय कि बच्चों की बात नहीं करते, समझदार मनुष्यों के अधिक भाग के सुख का विचार करना है, तो भी किंचित् सोचने पर यह बात बुद्धि में आ जायगी कि कोई भी नियन्त्रण का नियम बनाने पर समझदारों के हृदय में भी थोड़ा बहुत कष्ट होता ही है । प्लेग विशूचिका आदि संक्रामक रोगों के फैलने के समय रक्षा के उद्देश्य से ही क्वारण्टाइन बनाई जाती है, या उन देशों में अन्य पुरुषों का यातायात बन्द करने के लिये उन स्थानों का टिकट रोका जाता है किन्तु अधिकांश लोग अपने यातायात में विघ्न होने के कारण उसे कोसते ही हैं । परस्पर कलह के समय सुख के लिये ही कर्फ्यू आर्डर चलाया जाता है, किन्तु अधिकांश जनता को वह अखरता ही है । बहुधा सुख-मधुर और परिणाम-कटु विषयों में सुख-दुःख को पहिचान लेना सबका काम नहीं है । ऐसे स्थलों में अधिक मनुष्यों को सुख का हेतु होना धर्माधर्म का निर्दुष्टलक्षण नहीं कहा जा सकता । इस दोष को हटाने के लिये यदि सुख शब्द के साथ अधिकांश शब्द और जोड़ा जाय, अर्थात् थोड़ा तात्कालिक कष्ट भले ही हो, तो भी अधिक लोगों को अधिकांश सुख जिसमें हो- वह धर्म है- यह परिभाषा बनाई जाय, तो भी निर्वाह नहीं होता । क्योंकि संसार में कितनी ही बार कौरव पाण्डवों के से झगड़े सामने आते दिखाई देते हैं, जिनमें न्याय पक्ष में कम और अन्याय पक्ष में मनुष्यों की संख्या अधिक होती है । दुर्योधन के पक्ष में मनुष्यों की संख्या अधिक थी, इससे अधिक मनुष्यों को अधिकांश सुख दुर्योधन की जीत से ही होता, तो भी दुर्योधन की जीत को धार्मिक पक्ष की जीत कभी नहीं कहा जा सकता था । यही क्यों ? आज संसार भर मान रहता है कि— हजरत ईसा के अपना मत प्रचार करने से बहुत बड़ा लाभ हुआ, किन्तु उस समय के अधिकांश मनुष्यों ने उसे अधिकांश हानिकर समझ हजरत

ईसा को कितने कष्ट पहुंचाये ? तब क्या वह प्रचार उस समय अधर्म था, और आज धर्म बन गया ? यदि उस समय अधर्म समझ उसे छोड़ दिया जाता तो आज उसका प्रचार होता कहाँ से ? इससे सिद्ध है कि इस मत में धर्म अधर्म की कोई स्थिर भित्ति नहीं । इसीलिये समझदार लोग कहा करते हैं कि अधिकतर मनुष्यों के झूठ बोलने वाले हो जाने पर भी सत्य की प्रतिष्ठा कम नहीं हो सकती । अधिक लोग कहीं रोगी हो जायं, तो भी स्वास्थ्य का मूल्य कम नहीं हो सकता सुतराम्, “वोट के” आधार पर धर्म, अधर्म का निर्णय हो नहीं सकता । दूसरी बात यह है कि कई स्थल ऐसे सामने आते हैं जिनमें अधिक लोगों का अधिकांश सुख होते हुए भी उन सुखकर कामों को अधर्म ही कहना पड़ता है, इसका एक उत्तम उदाहरण लोकमान्य तिलक ने अपने “गीता रहस्य” में यह दिया है कि— अमेरिका देश के एक बड़े शहर में ट्रामवे की बड़ी भारी आवश्यकता थी, इसके बिना वहाँ के लोगों को बहुत कष्ट था। ट्रामवे कम्पनी भी वहाँ ट्राम्वे चालू करना चाहती थी । किन्तु बिना राजकीय आज्ञा के यह असम्भव था । अस्तु राजकीय आज्ञा प्राप्त करने के लिए कम्पनी ने अधिकारियों से प्रार्थना की । आज्ञा मिलने में त्रिलम्ब होता देखकर कम्पनी के स्वामियों ने राजकीय अधिकारियों को उत्कोच (रिश्वत) देकर ट्राम्वे जारी करने की आज्ञा शीघ्र प्राप्त कर ली । कुछ दिन पीछे यह भेद खुल गया और कम्पनी के स्वामियों के विरुद्ध अभियोग चलाकर उन्हें इस पर दण्ड दिया गया ।

यदि अधिकांश लोगों के अधिक सुख को ही धर्म कहें तो उक्त रिश्वत को धर्म कहना होगा, क्योंकि उससे अधिकांश लोगों को अधिक सुख हुआ, इसमें किसी को कुछ भी सन्देह नहीं है । किन्तु वह कार्य धर्म न कहलाकर पाप माना गया । और अन्य पापियों की तरह उसके कर्ता को राजदण्ड भोगना पड़ा ।

क्रिया के केवल बाह्य परिणाम (अधिक लोगों के अधिकांश सुख) मात्र पर दृष्टि देकर नैतिक कार्य अकार्य का निर्णय करने के पक्ष में और भी कितने ही बड़े बड़े दोष हैं । कितने ही स्थलों में हम देखते हैं कि क्रिया के बाह्य परिणाम (अधिकांश लोगों के अधिक सुख) में कोई अन्तर न होने पर भी उन क्रियाओं की योग्यता में महान् भेद रहता है । जैसे— किसी मनुष्य ने गर्मियों के दिनों में ठण्डे पानी की प्याऊ लगाई, उस पर भीड़भाड़ देखकर एक दुकानदार ने अपनी नई दुकान की बिक्री बढ़ाने के उद्देश्य से अपनी दुकान के पास एक खास कुएँ के पानी की— जो बहुत दूर से लाना पड़ता था किन्तु स्वाद और गुणों में सब कुवों के पानी से अच्छा प्रसिद्ध था— प्याऊ बैठाई । अधिकांश लोगों के अधिक सुख की दृष्टि से तो दूसरी प्याऊ को उत्तम कहना होगा, किन्तु धर्माधर्म के सूक्ष्म तत्वों पर दृष्टि देने से पहली प्याऊ ही दूसरी से उत्कृष्ट सिद्ध होगी, क्योंकि वह निःस्वार्थ सेवा है और दूसरी स्वार्थ-साधन का उपाय मात्र । इसलिये कर्ता की “मनोवृत्ति” को देखना भी धर्म, अधर्म के निर्णय

के लिए आवश्यक है । एक धनी मनुष्य का लाखों रुपये का दान कभी-कभी एक गरीब व्यक्ति के एक सेर सत्तू के दान की बराबरी नहीं करता । इस प्रकार के और भी कितने ही दोष इस आधिभौतिकवाद में श्री लोकमान्य तिलक ने “गीता रहस्य” में दिखाये हैं । विस्तार भय से उन सबका उल्लेख हम यहाँ नहीं करते हैं । जितना कुछ विवेचन हुआ है— उससे सिद्ध हो गया कि धर्म, अधर्म की परिभाषा में आधिभौतिकवाद अधूरा ठहरता है । हमारे शास्त्रों की धर्माधर्म विवेचना से यह आधिभौतिक सुखवादियों का उच्च सिद्धान्त भी छूटा नहीं है ।

“परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्”

“सत्यं हि तद् भूतहितं यदेव”

“यद्भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा”

“को धर्मो ?— भूतदया”

इत्यादि शतशः प्राचीन धर्म ग्रन्थों के वचन इस सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। किन्तु यह स्मरण रहे कि हमारे यहाँ सर्व भूतों के सुखों को धर्म निर्णय का अंग न मानकर “सर्व भूतों के हित” को अंग माना जाता है । “सर्वभूतहिते रतः” ही हमारे शास्त्रों में उच्च आदर्श है । सुख और हित में बड़ा भेद है। सुख केवल आपातरमणीय (तात्कालीक चकाचौंध में इन्द्रियों को फंसा लेने वाला) है। और हित स्थायी उन्नति के मार्ग में लगाने का नाम है । सुख का सम्बन्ध शरीर और इन्द्रियों से ही है, किन्तु हित मन बुद्धि और आत्मा से सम्बन्ध रखता है । इसलिये हित की पहिचान आध्यत्मिक मार्ग में आये बिना हो ही नहीं सकती । आधिभौतिकवाद के विद्वानों ने यह सिद्धान्त मान तो लिया कि समाज के सुख को अपने सुख की अपेक्षा प्रधान मानना, किन्तु क्यों मानना ? इसकी उपपत्ति (मूल कारण की विवेचना) उनके पास कुछ भी नहीं। यदि उनसे यह प्रश्न किया जाय कि समाज की भलाई के लिये हम अपने सुख का बलिदान क्यों करें— तो इसका ठीक-ठीक उत्तर उनसे नहीं बन सकता । “समाज के सुख में तुम्हें भी सुख होगा” यह कोई उत्तर नहीं । भविष्यकाल के अनिश्चित और अल्प मात्रा के सुख के लिये वर्तमान निश्चित और बड़ी मात्रा के सुख को कौन छोड़े। मान लीजिये कि एक लक्षाधीश अपना सब द्रव्य लगाकर एक विद्यालय बनाता है। उसका समाजहित द्वारा भौतिक दृष्टि से इतना ही परिणाम तो उस पर होगा कि उसके भी लड़के उस विद्यालय में शिक्षा पावेंगे, वह भी अनिश्चित है । किन्तु इसके बदले यदि वह दस पाँच हजार रुपये खर्च कर स्वतन्त्र रूप से अपने लड़कों के पढ़ने का प्रबन्ध कर देता और शेष धन पुत्रों के उपभोग के लिये छोड़ता तो उसका कितना अधिक स्वार्थ सिद्ध होता ? इस वाद के आचार्यों ने जो युक्ति दी है कि “प्राणी मात्र की परोपकार में स्वाभाविक प्रवृत्ति है,” वह भी पूरी नहीं उतरी । पहली बात तो यह कि यह प्रवृत्ति यदि है तो मन की है । केवल शरीर से इसका सम्बन्ध

नहीं । पाठकों को ध्यान होगा कि यह वाद केवल शरीरवादियों का है । यदि वे मन की प्रवृत्ति को अपने वाद का आधार मान लेते हैं तो यह आधिभौतिकवाद (केवल शरीर वाद) अपने स्वरूप से गिर जाता है । फिर यह वाद भी आधिदैविकवाद ही बन जाता है कि— “मन में कोई देवता बैठा है, जो हमें परोपकार में लगा रहा है।” जिसकी कि विवेचना आगे की जायगी । दूसरी बात यह कि जिन प्राणियों या जिन मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति परोपकार में नहीं, उनको किस आधार पर आप इस उच्च आदर्श का उपदेश दे सकते हैं ? आधार कोई नहीं बताया गया । तीसरे स्वाभाविक-प्रवृत्ति कहने से भी प्रश्न का मुख्य समाधान नहीं हुआ कि आखिर यह प्रवृत्ति है क्यों? इसका मूल क्या है ? असल बात तो यह है कि यह सब “अन्धेरे की टटोल” है । इसके मुख्य कारण का पता तो भारतीय “आध्यात्मवाद” की शरण में आने से ही लग सकता है । “हम समाज हित वा परोपकार क्यों करें” इसका उत्तर हमारे दर्शन शास्त्रों में स्पष्ट है कि “सब में आत्मा एक है, इसलिये स्वार्थ और परोपकार में कोई भेद ही नहीं है।” कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय चेतन-सत्ता के आधार पर करना है, और चेतन सत्ता में भेद है ही नहीं । वह सब ब्रह्माण्डों तक व्यापक सत्ता है । बस, उसी सत्ता को लक्ष्य में रखकर हम काम करेंगे— तो हमारा कोई काम किसी का विरोधी हो ही नहीं सकता । सब कार्य सब जगत् के हितकर ही होंगे यह “एकात्मवाद” शुद्ध भारतीय है, और इसी के आधार से पूर्वोक्त समाज हितवाद भी युक्तियुक्त बनता है । “प्राणिमात्र की स्वाभाविक परोपकार प्रवृत्ति” का भी यही मूल है । वह प्रवृत्ति भी इस एकात्मवाद का एक अकाट्य प्रमाण है । यदि सबमें व्यापक एक चैतन्य-सत्ता न होती तो दूसरों के उपकार में किसी भी प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति बन ही नहीं सकती थी । इस उच्चतम “व्यापक सत्ता” के सिद्धान्त तक जिसकी बुद्धि न पहुँच सके, उसे समझाने में, अध्यात्मवादी भारतीयों का “परलोकवाद” भी बहुत काम दे सकता है । परलोक के अनन्त सुख को ध्येय में रखकर भी मनुष्य कष्ट सहने तथा परोपकार आदि में प्रवृत्त हो सकता है । किन्तु यह परलोकवाद भी आत्म विचार को साथ लेने पर ही बन सकता है ।

हमारे देश के जो बहुत से शिक्षित सज्जन यह समझे बैठे हैं कि समाज हितवाद हमने पाश्चात्य देशों से सीखा है, उन्हें अपनी दृष्टि को फैला कर यह विचारना चाहिये कि इस समाज हितवाद की मूल तत्त्वविचार (फिलासफी) जिनके पास है उन भारतीयों का यह वाद कहला सकता है, या इसकी उपपत्ति न जानने वाले पाश्चात्यों का ? विचारने पर स्पष्ट हो जायगा कि जिनके पास जिस वाद की उपपत्ति नहीं है, उनसे तो वह दूसरों से ही सीखा है । मुख्यतः इसके प्रवर्तक तो भारतीय ही कहे जायेंगे— जिनके पास इसके मूल कारण की खोज मौजूद है । अस्तु, इस विचार में पड़कर हम दूर चले आये । हमारा वक्तव्य यही था कि केवल शरीर को आधार

मानकर कितनी भी दूर जाने पर भी धर्म अधर्म की व्याख्या अधूरी ही रहती है । फिर किस प्रक्रिया से समाज का हित-साधन किया जाय ? यह विचारणीय है । अनेकों हित-साधकों के परस्पर संघर्ष “बाबा जी की टांग”<sup>१</sup> वाला हाल न हो जाय— हित के स्थान में अहित न हो पड़े । यह समस्या भी “वर्णाश्रम व्यवस्था” के बिना हल नहीं हो सकती । यों इस आधिभौतिकवाद की प्रक्रिया में अनेक दोष हैं । अब मनको धर्म का मुख्य आधार मानने वाले आधिदैविक वादियों के मन्तव्य पर भी थोड़ा विचार कर लीजिये ।

पाश्चात्य देशों में धर्म अधर्म का निर्णय करने वालों का एक दल— “आधिदैविक वादी” भी है । इनकी भी विवेचना लोकमान्य तिलक ने अपने “गीता-रहस्य” में की है । इनका कहना है कि— दूर दृष्टि के स्वार्थ की भावना हो, परोपकार की स्वाभाविक प्रवृत्ति के बल से हो, मनुष्यत्व की रक्षा के उद्देश्य से हो, अथवा इसी प्रकार के और किसी कारण से मनुष्य की परोपकार आदि सद्गुणों में प्रवृत्ति यदि मान भी लें, तो भी आधिभौतिकवाद में इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि अवसर चूकने पर मनुष्य को बार-बार धिक्कार देने वाला तथा कितने ही संकीर्ण स्थलों में गन्तव्य मार्ग का निर्देश करने वाला कौन है ? आधिभौतिक वादियों ने जिनको आधार माना है, वे दूर दृष्टि, स्वाभाविक वृत्ति अथवा मनुष्यत्व कुछ भी सही, आखिर सब है मनोवृत्तियाँ (मन के भाव) ही । मन शरीर के ही अन्तर्गत एक इन्द्रिय है । और उसकी वृत्ति, चाहे वह कितनी ही उत्तम क्यों न हो, होगा शरीर का ही धर्म । फिर मनोवृत्ति को यह अधिकार दिया किसने कि, वह शरीर से परे के भावों को जान सके ? इस दुर्निवार आपत्ति को हटाने के लिये अधिदैवत पक्ष वालों का कहना है कि भला-बुरा, कार्य-अकार्य, न्याय अन्याय, धर्म-अधर्म, आदि का निर्णय करना मन का काम नहीं है । यह काम मन में बैठा हुआ एक स्वतंत्र देवता किया करता है । जिसे आधिदैवत पक्ष के लोग Intuitionist School कहते हैं । अँग्रेजी में साधारणतया इसे ‘कान्शन्स’ कहते हैं । अपनी भाषा में हम इसे मनोदेवता कह सकते हैं । बुरे कामों से बचाना और श्रेष्ठ कामों में प्रवृत्त करना इस मनोदेवता का ही कार्य है । अहिंसा, मैत्री, दया, दान और परोपकार आदि मन की ही निसर्ग सिद्ध वृत्तियाँ हैं । इसके विपरीत हिंसा, शत्रुता, नृशंसता और कृपणता आदि भी मन के स्वभाव सिद्ध धर्म हैं । जब कभी इन परस्पर विपरीत धर्मों में संग्राम उपस्थित होता है, तो मनोदेवता सदा अहिंसा आदि

१. एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि एक बाबाजी के दो शिष्य थे, दोनों गुरु के पूर्ण भक्त थे— किन्तु परस्पर ईर्ष्या रखते थे । दोनों ने सेवा के लिए बाबाजी की एक-एक टांग बांट रखी थी । एक दिन एक शिष्य की परिगृहीत टांग में दूसरे के द्वारा भूल से कुछ आघात लग गया, तो दूसरे दिन उस पहले ने उस दूसरे शिष्य की परिगृहीत टांग को पत्थर मार कर तोड़ दिया । दोनों की ईर्ष्या सफल हुई— दुर्गति हुई बेचारे बाबाजी की ।



सद्गुणों का ही पक्ष ग्रहण किया करता है। बहुधा देखा जाता है कि जब कोई मनुष्य किसी बुराई में पहले पहल प्रवृत्त होने लगता है तो वह बार बार झिझकता है, हटता है, मानों कोई उसे बलात् पकड़कर उस काम से बचा रहा है। अच्छे कुल का कोई व्यक्ति शराब की दुकान में वेश्या के घर में, या द्यूतालय (जुवाखाने) में प्रथम बार जाने लगेगा, तो वह बार बार रुकेगा। उसके पैर काँपने लगेंगे। और यदि वह हठात् कोई कुकर्म कर भी आया, तो देर तक उसे अन्तरात्मा की ओर से फटकार मिलती रहती है। वह पछताता रहता है कि “मैंने ऐसा क्यों किया।” यही इस “वाद” की मूल भित्ति या जड़ है। कहा जाता है कि वह मना करने वाला मनोदेवता ही है। इसके अतिरिक्त बुरे काम करने वाले मनुष्य भी खुले तौर पर उन कामों का समर्थन करते नहीं देखे जाते, प्रत्युत अपने कामों को छिपाने की प्रवृत्ति ही उनमें देखी जाती है। यदि उनका मनोदेवता उन कामों में साक्षी देता, तो उन्हें अपने कामों को छिपाने की आवश्यकता न होती। वे सबके सामने अपने कामों की उचितता सिद्ध कर सकते। इससे अनुभव द्वारा मनोदेवता की सत्ता सिद्ध होती है।

बहुतों ने तो एक मनोदेवता के स्थान में अहिंसा, मैत्री, दया परोपकार, आदि को पृथक् पृथक् देवता माना है। न्याय करते समय न्यायाधीश का झुकाव जो बहुधा सत्यपक्ष की ही ओर रहता है, यह न्यायाधीश के मन में बैठे हुये न्याय देवता की ही प्रेरणा का फल है। माता की अपने बच्चों को दूध पिलाने की जो प्रवृत्ति होती है, यह भी मनोदेवता की ही प्रेरणा का परिणाम है। एक ही समय में दो आवश्यक कार्यों की कर्तव्यता उपस्थित होने पर मनोदेवता ही उनका बलाबल देखकर एक के छोड़ने और दूसरे के ग्रहण करने में मनुष्य का शासक बनता है। प्राणी की उत्तम मार्ग में प्रवृत्ति का हेतु ये लोग मन के उस देवता को बतलाते हैं, इसलिये इस मत को आधिदैविक मत कहा है। बस, इस मत का सिद्धान्त यही है कि मनोदेवता की आज्ञा जिसमें झिझके, वही अधर्म समझना चाहिये। इस सिद्धान्त का प्रचार यूरोप में ईसाई धर्म के उपदेशकों ने किया है और धर्माधर्म के निर्णय में इसी को सर्वश्रेष्ठ मार्ग माना है। इस सब प्रकरण को ध्यान पूर्वक देखने से यह सिद्ध होता है कि आधिदैवत पक्ष वाले जिसे मनोदेवता कहते हैं, उसे हमारे शास्त्रों में वर्णित “व्यवसायात्मक बुद्धि” या “विवेक बुद्धि” का ही नामान्तर समझिये। भेद केवल इतना ही है कि हमारे यहाँ व्यवसायात्मक बुद्धि एक ही प्रकार की मानी गयी है, और पाश्चात्यों ने इसके अनेक भेद मान लिये हैं। भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न निर्णायक की कल्पना व्यर्थ समझ आर्य महर्षियों ने व्यापक दृष्टि से एक “व्यवसायात्मक बुद्धि” को ही सब जगह निर्णायक माना था, किन्तु उस व्यापक दृष्टि पर न पहुँचकर इन पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न भिन्न देवताओं की कल्पना कर डाली। जो हो, कहने का तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य विद्वानों की मनोदेवता की कल्पना कोई नई नहीं है, वह हमारे शास्त्रों

की विवेचना का ही आंशिक परिवर्तित या विकृत रूप है । हमारे धार्मिक ग्रन्थों में ऐसे अनेक विचार पाये जाते हैं— महाराज धृतराष्ट्र के ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन यही कहा करते थे कि— मैं स्वयं कभी कुछ नहीं करता, जो कुछ करता हूँ मनोदेवता की प्रेरणा के अनुसार ही करता हूँ—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात् मैं शास्त्रोक्त धर्म और अधर्म को खूब जानता हूँ । यह भी समझता हूँ कि धर्माचरण से सुख और अधर्म करने से दुःख होता है । यह भी मुझे मालूम है कि धर्मात्मा से संसार प्रेम और अधर्मात्मा से द्वेष करता है । किन्तु यह जानने के कारण मैं शास्त्रोक्त धर्म करने में प्रवृत्त अथवा अधर्म करने से निवृत्त होता हूँ सो बात नहीं है । (वस्तुतः बात कुछ और ही है और वह यह है कि) कोई देवता (कान्शन्सु या मनोदेवता) मेरे हृदय में बैठा हुआ है । कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के समय मैं उसी से पूछता हूँ और वह जैसी आज्ञा देता है, मैं वैसा ही करता हूँ। धर्माधर्म के निर्णय में मैं मनोदेवता के अतिरिक्त और किसी को महत्व नहीं देता।

महाराज दुष्यन्त ने जब प्रथम बार शकुन्तला को देखा और उन्हें यह विचार हुआ कि यह संभवतः ब्राह्मण कण्व ऋषि की पुत्री होगी, इसलिये मेरा इसका वैवाहिक सम्बन्ध नहीं हो सकता । उस अवसर में महाकवि कालिदास ने उनके मुख से कहलाया है कि—

“असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा, यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरणस्य वृत्तयः ॥

यह कन्या अवश्य क्षत्रिय के विवाह योग्य है, क्योंकि सदा शुभ विचार रखने वाला मेरा मन इस पर गया है। सत्पुरुषों के लिये जहाँ कर्तव्य अकर्तव्य का सन्देह उपस्थित हो, वहाँ अपने अन्तःकरण की वृत्ति ही प्रमाण होती है। इस—“सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु” इत्यादि वाक्य को धार्मिक शिरोमणि मीमांसा के परमाचार्य श्री कुमारिल भट्टपाद ने भी अपने “तन्त्रवार्तिक” में उद्धृत किया है। इसमें “अन्तःकरण” पद है, अन्तःकरण में मन, बुद्धि और अहंकार तीनों का ही समावेश है, इसलिये विवेक बुद्धि इसमें संगृहीत हो गई है। मन और बुद्धि इन पदों का व्यवहार संकीर्ण (मिलाजुला) ही ग्रन्थों में रहता है। मन के लिये बुद्धि शब्द का और बुद्धि के लिये मन शब्द का प्रयोग बहुधा हो ही जाता है, उचित देखकर अर्थ वहाँ ले लेना चाहिये। अस्तु ।

धर्मशास्त्रकारों ने भी कई जगह इस बात का उल्लेख किया है । मनुसंहिता के आरम्भ में ही धर्म का विशेषण “हृदयेनाभ्यनुज्ञातः” दिया गया है । अर्थात् बुद्धि की

साक्षी जिसमें हो वही धर्म है । आगे चौथे अध्याय में यह बात स्पष्ट रूप से लिखी है—

“यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः ।

तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥” (मनु०४।१६१)

जिस कार्य को करने से कर्ता की अन्तरात्मा विवेक बुद्धि (कान्शन्स या मनोदेवता) प्रसन्न हों, वह कार्य प्रयत्न से करना चाहिये और जो कार्य इसके विपरीत हों उसे छोड़ देना चाहिये ।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

अर्थात् वेद, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा को प्रिय मालूम होना, ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण कहे हैं । यहाँ “स्वस्य च प्रियमात्मनः” का अर्थ यही है कि अपने मन या बुद्धि को जो सन्तोष जनक हो। मनु भगवान् यहाँ “प्राहुः” पद देते हैं, अर्थात् धर्म के ये चार लक्षण-ज्ञापक, धर्मज्ञ लोग कहते आये हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ये श्रुत्युक्त लक्षण हैं । स्मृतिकार तो मनु से प्राचीन कोई है ही नहीं । अस्तु मनु भगवान् ने और भी कई जगह इस बात पर जोर दिया है, जैसे “मनः पूतं समाचरेत्” (६।४६) काम वही करना चाहिये जो मन को (मनोदेवता को) शुद्ध मालूम हो इत्यादि । इससे यह सिद्ध होता है कि कार्याकार्य के निर्णय में मन की गवाही लेना आर्य ऋषियों को भी अभिमत था । किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि आधिदैवत पक्ष वालों के समान कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय जैसे गम्भीर कार्य को महर्षियों ने एकमात्र मनोदेवता या कान्शन्स के ही सर्वथा अधीन कर दिया था । उनको यह भली भाँति विदित था कि मनोदेवता या सदसद् विवेक बुद्धि आखिर है तो एक सांसारिक ही वस्तु । उसे आदर देने के लिये चाहे उसे देवता या इससे भी कोई बड़ी पदवी दे दी गई हो किन्तु अन्ततः उसका ज्ञान है परिच्छिन्न ही । ऐसा न समझकर सदसद् विवेक बुद्धि की जगह स्वतन्त्र मनोदेवता मानने में प्रश्न यह होता है कि क्या वह देवता सब प्राणियों या सब मनुष्यों में समान रूप से रहता है, या किसी किसी में ही रहता है । यदि किसी किसी में ही उसका रहना माना जाय, तब तो धर्म अधर्म के निर्णय का अधिकार उन कुछ लोगों के ही हाथ में जा पड़ेगा, जिनमें कि मनोदेवता रहता है । फिर सब लोग धर्म अधर्म के निर्णय के अधिकारी न होंगे । और देवता का नाम लेकर धर्म निर्णेता बनने वा नया धर्म चलाने का ढोंग खूब चलेगा । और यदि सब श्रेणी के मनुष्यों में उस देवता की स्थिति समान रूप से मान ली जाय, तो चोर और अचोर में जो महान् बुद्धि भेद है, उसकी ठीक ठीक उपपत्ति नहीं होगी । सबमें यदि देवता है तो क्यों एक मनुष्य अत्यन्त नृशंस हिंसक और एक परम दयाशील

देखा जाता है । यदि कहो कि वह देवता की आज्ञा न मानकर हिंसक बन गया, तो फिर देवता का कोई महत्त्व नहीं रहता । यदि बुरे काम से रोक देने की उसमें शक्ति नहीं, तो वह देवता काहे का रहा ? यह माना जाय कि देवता का काम केवल सुझाव देना है, मानने न मानने में हम स्वतंत्र हैं, तो भी निस्तार नहीं । देखा जाता है कि जिनकी आदत बुरे कामों की पड़ गई, उन्हें फिर अन्तरात्मा निषेध भी नहीं करता । उनकी वह झिझक जाती रहती है । और वे खुशी खुशी शराब पीने, वेश्या के यहाँ जाने वा जुआ खेलने में प्रवृत्त होते हैं । अब कभी उन्हें अपने किये पर पश्चात्ताप भी नहीं होता । वहाँ यही कहना पड़ेगा कि देवता ने अब सुझाव देने का अपना काम भी छोड़ दिया या देवता अब उन में से चला गया । तब फिर प्रश्न हो जायगा कि किसके पास मनोदेवता है, किसके पास नहीं है । या, कहाँ काम छोड़ चुका, और कहाँ काम कर रहा है— इसका निश्चय कैसे हो ? जिनकी आदत है जिन्हें बुरे कामों में झिझक नहीं है, उनमें मनोदेवता का न रहना मान लो— इसका भी कुछ अर्थ नहीं रहता । प्रश्न तो यह है कि किस की आदत बुरी है और किसकी अच्छी, इसका निर्णय कैसे हो ? जब एक काम में कुछ आदमियों की प्रवृत्ति है, कुछ की नहीं है, तब यह काम बुरा है या अच्छा, इसका निर्णय किस आधार पर किया जाय । “जो काम समाज से छिपकर किया जाता है, वह बुरा है यह कसौटी भी पूरी नहीं उतरती। जब वैसा काम करने वाले बहुत मिल जाते हैं तो छिपाने की प्रवृत्ति भी हट जाती है। अभी कुछ वर्षों पहले कोई भी वर्णाश्रमी भारतीय यदि अपने भोजन नियमों को छोड़कर होटल आदि में खाता तो वह झिझकता, और अपने काम को छिपाता था । किन्तु आज वैसा समुदाय बन जाने से न वह झिझक है, और न वह छिपाने की प्रवृत्ति। प्रत्युत् ऐसे दल में फँस जाने वाला इनसे बचा हुआ धार्मिक पुरुष वर्णाश्रमी अपने आपको संकोच में पड़ा हुआ पाता है । वही झिझकता है और अपनी प्रवृत्तियों में लज्जित होता है । कहावत प्रसिद्ध है “सौ नकटों में एक नाक वाला नक्कू” कहाता है । वही मनुष्य जो पहले एक काम को करने में झिझकता था आज वह उसे बेधड़क करता दिखाई देता है । तब फिर मनोदेवता का पहले का निर्णय ठीक था, या आज का निर्णय ठीक है, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता । इसलिये यह देवता की कल्पना निरी कल्पना ही है । वस्तुतः ये सब काम सदसद् विवेक बुद्धि के ही हैं। और वह बुद्धि भी त्रिगुणात्मक होने से परिणामशील (बदलने वाली) है— इसलिये आज बुद्धि जिसे बुरा समझती है संभव है कि कल उसे अच्छा समझे । शिक्षा, संगति, परिस्थिति, आदि सब बातों का प्रभाव उस पर बराबर पड़ता है और इस ही प्रभाव से उसमें परिवर्तन होता रहता है । यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है ।

यह सदसद् विवेक बुद्धि कोई नई चीज भी नहीं है । छोटे-बड़े, सुन्दर-विरूप, काले-गोरे, नये-पुराने आदि का तारतम्य जो बुद्धि निश्चित करती है, वही मनुष्यों को

कर्तव्य या अकर्तव्य भी सुझाया करती है । कर्तव्य अकर्तव्य की निर्णायक बुद्धि को पृथक् मानने में पाश्चात्य विद्वानों ने जो युक्तियाँ दी हैं, वे कोई भी दृढ़ नहीं हैं । हमारे शास्त्रों का बुद्धि-निरूपण देख लेने पर वे पाश्चात्यों के तर्क ठहर नहीं सकते । इस विषय का विस्तार यहाँ उपयुक्त न होगा । कहना केवल यही है कि आधिदैविकपक्ष वाले पाश्चात्यों का सब कुछ निरूपण बुद्धि पर ही निर्भर करता है । और बुद्धिवाद उसी प्रकार अपूर्ण है, जिस प्रकार आधिभौतिकवादियों का “शरीर सुखवाद” अपूर्ण था ।

आजकल के पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीय समाज के विचार भी प्रायः इस आधिदैविकवाद से मिलते जुलते ही पाये जाते हैं । उनका भी कहना यही है कि कर्तव्य अकर्तव्य वा धर्म अधर्म के निर्णय में शास्त्र आदि की कोई आवश्यकता नहीं। हमारी कामन् सैन्स् (व्यावहारिक-बुद्धि) इसका निर्णय अच्छी तरह कर सकती है। कामन् सैन्स् भलाई बुराई का निर्णय करने में समर्थ है— इत्यादि । मन में बैठा हुआ कोई देवता प्रेरणा करता है— यह बात चाहे बीसवीं शताब्दी में अन्धकार के युग की समझी जाय, किन्तु फलतः दोनों मत एक रूप ही हो जाते हैं । मन या बुद्धि के आधार से ही कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय करना दोनों में समान ही है । आधिदैविकवादी देवता पर निर्णय छोड़कर किसी प्रकार आपत्ति से बचते भी हैं, किन्तु आधुनिकों को अत्यन्त परिच्छिन्न (एक हृदय में बँधी हुई) स्वार्थ संस्कारों से लिप्त परस्पर में भी न्यूनाधिक-भाव रखने वाली (कामन सैन्स्) बुद्धि को निर्णय का साक्षात् आश्रय मान लेना तो बहुत ही नीची श्रेणी की बात है। व्यवहारिक बुद्धि या कामन सैन्स् एक प्रकार की अशिक्षित ग्रामीणों में भी होती है । कुछ अवस्था बढ़ते ही कुमारावस्था के बालकों में भी उत्पन्न हो जाती है । तब क्या वे भी अपनी भलाई-बुराई का आप ही निर्णय करने वाले मान लिये जाँय ? तब तो फिर शिक्षा की आवश्यकता ही क्या रह गई ? बालकों को भी अपनी कामन सैन्स् पर छोड़ दिया जायगा, तो शिक्षा अपने आप ही बन्द हो जायगी । क्योंकि अपनी बुद्धि से दस प्रतिशत बालक भी बिना नियन्त्रण स्वतः शिक्षा में प्रवृत्त न होंगे और शासन वा “कानून” भी क्यों बनाये जाँय? यदि शिक्षितों की ही कामन् सैन्स् निर्णय में प्रमाणित है, तो शिक्षा के भेद से वह सर्वथा भिन्न भिन्न प्रकार की होती है । कानून पढ़ने वाले की व्यावहारिक बुद्धि डाक्टरी में और डाक्टर पढ़ने वाले की इंजिनियरी में काम देती हुई नहीं देखी जाती। यदि कहो कि डाक्टरी इंजिनियरी आदि विशेष बातें हैं— वे विशेष शिक्षा से मिलती हैं— किन्तु भलाई-बुराई के निर्णय की बुद्धि तो “कामन” है । वह सब ही शिक्षितों में एक सी है । तो यह भी कहना ही मात्र है । सब शिक्षितों की एक मति किसी भी सामाजिक, धार्मिक वा राजनैतिक विषय में देखी नहीं जाती । एक प्रवृत्ति को कुछ लोग भला कहते हैं, तो कुछ बुरा बतलाते हैं । अभी कुछ दिन पूर्व हिन्दू कोड

कौन्सिल में उपस्थित था— तब बहुत से उच्च शिक्षित उसके विरुद्ध और बहुत से अनुकूल थे । सब ही अपनी-अपनी विवेक बुद्धि से काम लेते थे— तब किसकी विवेक बुद्धि को प्रमाण माना जाय । यदि ऐसा मतभेद न होता तो आजकल के सभ्य समाज में वोटिंग (अधिक संमति) पर निर्णय करने की प्रथा जन्म ही क्यों लेती । यदि वोटिंग को ही मुख्य मान लिया जाय, तो फिर यह मत आधिभौतिकवाद में जा मिलता है । तब उस मत में जो दोष बतलाये गये हैं— वे सब इस मत पर भी आ पड़ते हैं । अस्तु ! यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि “कामन् सैन्स” का बनना शिक्षा और संगति आदि पर अधिकतर अवलम्बित है । जो जैसी शिक्षा पाता है और जैसी संगति में रहता है, उसकी व्यावहारिक बुद्धि वैसी ही बनती है । प्रत्यक्ष है कि पुरानी सभ्यता में पले हुए और अपनी संस्कृति की शिक्षा पाये हुए विद्वानों के विचार पाश्चात्य सभ्यता में शिक्षित दीक्षितों से मेल खाते ही नहीं । तब किसकी कामन्-सैन्स से धर्म अधर्म या कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय हो ? “सैन्स” तो एक सी ही होती है, किन्तु आग्रह वश मनुष्य एक तरफ झुके रहते हैं— यह कहना बिलकुल निराधार है किसी की नियत पर आक्रमण करना है । इसमें कोई प्रमाण नहीं कि अमुक पक्ष का ही आग्रह है । सब अपनी-अपनी बुद्धि के ही अनुसार चलते हैं । तब क्या “पन्थ वही जा कंह जो भावा” कहकर जिस कलियुगी लीला का गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने उपहास किया है, उसे ही मुख्य सिद्धान्त समझ लिया जाय ? इस प्रकार समाज व्यवस्था कैसे होगी । कानून किस आधार पर बनेंगे ? क्या भिन्न भिन्न पुरुषों के लिये भिन्न भिन्न कर्तव्य के नियम या कानून होंगे ? यदि नहीं, तो कामनसैन्स का आदर कहाँ हुआ ? यही क्यों, एक मनुष्य की भी तो “कामन् सैन्स” सदा एक रूप नहीं होती । आज एक आदमी अपनी व्यावहारिक बुद्धि से जिसे भलाई समझ रहा है, थोड़े दिन बाद उसे बुराई मानने लगता है, और पछताता है कि—मैंने धोखा खाया । तब कर्तव्य निर्णय का इतना कच्चा आधार मानकर आज कुछ और कल कुछ करते करते पछताने में ही अमूल्य मनुष्य जीवन को खो बैठना कौनसी बुद्धिमत्ता होगी ? इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षितों की बुद्धि को ही प्रमाण मान लेने पर एक प्रकार से शास्त्रवाद ही आ गया । क्योंकि उच्च शिक्षितों की बुद्धि शास्त्र के आधार पर ही संगठित होती है । उनकी बुद्धि में विशेषता इसी के आधार पर ही आती है—वे शास्त्र के आधार पर ही प्रायः अपना मत स्थिर करते हैं । शास्त्र चाहें किसी भाषा का हो है तो शास्त्र ही । प्राचीन आदर्श तो उसमें प्राप्त ही होंगे । अस्तु इन सब बातों पर खूब विचार कर विद्यापारंगत हमारे पूर्वजों ने “बुद्धिवाद” पर कभी पूरा विश्वास नहीं किया । और धर्म अधर्म के निर्णय का यह कच्चा आधार समझ इसे उपेक्षा कोटि में ही रक्खा । जिनकी बुद्धि स्वच्छ है, रजोगुण, तमोगुण का आधिपत्य जहाँ नहीं है—ऐसी शुद्ध सात्त्विक बुद्धि का सहारा किसी हद तक लेना धर्म मर्यादा में गृहीत हुआ है इसलिये “सतांहि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणस्य वृत्तयः,” कहा गया— अर्थात् सत्पुरुषों

की अन्तःकरण की वृत्ति धर्म के निर्णय में प्रमाणभूत होती है, हर किसी की नहीं । ऐसे ही लोगों के लिये “मनः पूतं समाचरेत्” की आज्ञा है। किन्तु प्रश्न यह आ पड़ता है कि अपने आपको सबही सत्पुरुष समझते हैं, कौन “असत्पुरुष” बनना स्वीकार करेगा ? अपनी बुद्धि को मलिन कौन मानेगा ? कहा जा चुका है कि “शिक्षा, संगति, परिस्थिति” आदि का बुद्धि पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है । पूर्व संस्कारानुसार रजोगुण तमोगुण— आदि की प्रबलता भी भिन्न भिन्न पुरुषों में या समय भेद से एक ही पुरुष में होना अनिवार्य है । बस, जैसे जिसके संस्कार बन गये, उनके अनुसार भलाई, बुराई के निर्णय में भी भेद होना अनिवार्य है ।

साथ ही यह भी सोचने की बात है कि अपने आपको “सत्पुरुष” मानना अपनी बुद्धि को निर्मूल या कलुषित मानना— यह निर्णय भी तो बुद्धि के आधार से ही होगा तब वह बुद्धि जैसी भी है— अपने आपको बुरा क्यों समझने लगी ? वह तो अपने आपको उत्तम ही प्रमाणित करेगी । और दूसरों के कहने से बुद्धिवादी अपनी गलती मानने क्यों लगा ? फिर दूसरे भी तो स्वार्थी, विद्वेषी, और भले-बुरे सब ही प्रकार के कार्यों को अनुमोदन करने वाल मिल जाते हैं—इसलिये उनके कहने से भी सच्चा निर्णय कहाँ से होगा ? उत्तम पुरुष वा अपने सच्चे हितैषी की पहचान ही उस समय कहाँ होती है, यह पहचान भी तो बुद्धि को ही करनी है । इसलिये वह अपनी वृत्ति के अनुकूल कहने वालों को ही हितैषी बताती है । इन सब झंझटों से निस्तार न देख हमारे शास्त्रकारों ने इस बुद्धिवाद को चौथा दरजा दिया है— “श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रिय मात्मनः” अर्थात् धर्म के निर्णय में पहला दरजा श्रुति का, दूसरा स्मृति का, तीसरा सदाचार का और चौथा अपनी प्रियता— अर्थात् अपनी बुद्धि की अनुकूलता का । इनमें पूर्व को प्रबल माना गया है । इसलिये श्रुति, स्मृति, या सदाचार से विरुद्ध यदि बुद्धि की अनुकूलता हो, तो वह कदापि माननीय नहीं हो सकती । तीनों से अविरुद्ध यदि है, तो उसे मान लेने में कोई हानि नहीं । यहाँ यह प्रबल तर्क उठता है कि बुद्धिवाद को छोड़कर धर्म अधर्म का निर्णय हो नहीं सकता । श्रुति, स्मृति, आदि का समझना भी तो बुद्धि पर ही अवलम्बित है । बुद्धि जैसा श्रुति, स्मृति का आशय समझेगी, वैसा ही तो मार्ग निश्चय करेगी । इसीलिये श्रुति स्मृति मानने वालों के भी तो सैकड़ों अवान्तर भेद बन गये, क्योंकि किसी की बुद्धि ने श्रुति स्मृति का आशय कुछ समझा— दूसरे ने उससे विपरीत ही समझा । तब यदि अन्त में जाकर भी बुद्धि पर ही ठहरना पड़ता है— तो पहिले से ही सीधा बुद्धिवाद ही क्यों न मान लिया जाय ? किन्तु विचार करने पर यह तर्क निरी धोखेबाजी ही मालूम होगा । श्रुति स्मृति का आशय बुद्धि से समझकर उसके आधार पर धर्माधर्म का निर्णय करना और बात है, और केवल उच्छृङ्खल बुद्धि को ही निर्णय का आधार मान लेना और बात है । यों तो मूर्ख, बालक, पशु आदि जो कोई भी कुछ करता है उसमें

बुद्धि का आधार तो रहता ही है । बिना बुद्धि की प्रेरणा के कोई क्रिया हो ही नहीं सकती । दार्शनिकों का सिद्धान्त है कि—

“ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत् ।

कृतिजन्यं भवेत्कर्म ।”

अर्थात् पहिले किसी वस्तु का ज्ञान होता है, फिर ज्ञान से इच्छा पैदा होती है, इच्छा से आत्मा में प्रयत्न होता है, फिर प्रयत्न से शरीरादि में क्रिया होती है । ज्ञानबुद्धि की वृत्ति का ही नाम है, या ज्ञान ही बुद्धि है । तब बिना बुद्धि के किसी से भी कोई काम नहीं हो सकता। किन्तु जड़, बालक, पशु आदि बुद्धिवाद पर स्थिर है— ऐसा कोई नहीं कह सकता। क्योंकि उनकी वह बुद्धि स्वयं पैदा नहीं होती, दूसरे के द्वारा उत्पन्न कराई जाती है। ठीक इसी तरह शास्त्र द्वारा जो बुद्धि उत्पन्न कराई जायगी— वह भी इस बुद्धिवाद की सीमा में नहीं आ सकती । रहा शास्त्र का आशय भिन्न भिन्न समझने की बात— सो हमारे शास्त्र में किस शब्द का क्या आशय समझना— इसके नियम भी बहुत स्पष्ट और विस्तृत रूप में बने हुए हैं। इन नियमों का शास्त्र—“मीमांसा शास्त्र” कहलाता है । उसका आधार ले लेने पर बुद्धि की उच्छृङ्खलता बिलकुल रुक जाती है । अब कोई उन नियमों को न मानकर अपनी धींगा धींगी करता रहे, तो यह तो बात ही दूसरी है । अस्तु— यह विचार बहुत विस्तृत हो गया । अन्त में पाठकों को अपना ध्यान इस निष्कर्ष पर देना चाहिये कि केवल शरीर, मन या बुद्धि को धर्म का आधार (धर्मी) मान लेने पर धर्म की व्याख्या पूर्ण नहीं होती । इसलिये शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को साथ लिये हुए व्यावहारिक आत्मा को ही मुख्य धर्मी (धर्म का आधार) मानने से धर्म परिपूर्ण होता है । पूर्व कह चुके हैं कि आत्मा शब्द का मुख्य अर्थ तो चैतन्य शक्ति है जो कि सर्व व्यापक है, जिसमें भेदभाव है ही नहीं, किन्तु उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता । क्योंकि व्यापक होने के कारण वह क्रिया रहित है, और धर्म क्रियात्मक है । इसलिये इस प्रकरण में आत्मा शब्द से व्यावहारिक आत्मा अर्थात् अव्यक्तात्मा शान्तात्मा महान् आत्मा विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा प्राणात्मा और भूतात्मा लिये जाते हैं— इनके विस्तार में मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण-शरीर आदि सबका समावेश हो जाता है । इस आत्मा के अवान्तर विस्तार का विवरण हम “स्वधर्ममपि चावेक्ष्य” इस गीता के द्वितीयाध्याय के ३१ श्लोक के प्रकरण में करेंगे । इतना ही नहीं, शरीर मन आदि से जिनका संबंध है, वे स्त्री, पुत्र, बान्धव, समाज, धन आदि भी आत्मा की व्याप्ति के अन्तर्गत रहते हैं । बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रथमाध्याय के पंक्ति यज्ञ प्रकरण में जाया (स्त्री) पुत्र वित्त आदि को आत्मा की व्याप्ति के भीतर ही माना गया है । सुतरां यह सिद्ध हो गया कि अध्यात्मवादियों का धर्म अधूरा नहीं है, वह घरबार धन दौलत देश समाज स्त्री पुत्र आदि बाह्य पदार्थों



से लेकर मन बुद्धि अहंकार और सबमें अन्तःप्रवृष्ट चेतना शक्ति तक को लक्ष्य में रखकर स्थिर किया जाता है। यही कारण है कि अपने काम में आने वाले अन्न वस्त्र बरतन द्रव्य आदि की शुद्धि भी हमारे धर्म के अन्तर्गत है । स्त्री पुत्रादि संबंध बनाने की विवाहादि क्रियाएँ भी धर्म में ही आती हैं । समाज व्यवस्था को स्थिर रखने वाला वर्ण धर्म सनातन धर्म का मूल आधार माना जाता है । दन्तधावन, स्नान आदि शरीर क्रियाएँ भी धर्म से बाहर नहीं । इन्द्रिय मन प्राण आदि की उन्नति का मुख्य साधन प्राणायामादि योगाभ्यास और ईश्वरोपासना धर्म के मुख्य अंग हैं । आत्मा को उन्नत बनाने वाली आश्रम व्यवस्था में धर्म ओतप्रोत है । जहाँ इस लोक की उन्नति के लिए प्रत्येक प्राणी की वृत्ति व्यवस्था (जीविका) का विचार धर्म में है, वहाँ केवल परलोक से सम्बन्ध रखने वाले यज्ञादि भी प्रधान धर्म कहे जाते हैं । कहाँ तक कहें, श्वास लेने और शयन करने तक का कोई काम हमारे धर्म-बन्धन से बाहर नहीं है, क्योंकि बिना आत्मा की प्रेरणा के कुछ भी नहीं हो सकता, इसलिये प्रत्येक क्रिया का आत्मा पर ही प्रभाव माना जाता है । प्रत्येक श्वास हमारे आगम शास्त्र में एक अजपाजप माना जाता है । अहोरात्रि में २१६०० श्वास स्वस्थ पुरुष के चलते हैं, ऐसा श्रुति में कहा गया है । उनमें रात्रि तो प्रायः शयन में जाती है— दिन के आधे श्वास १०८०० हुए। इसी आधार पर सनातन धर्म में १०८ मनकों की माला बनाई जाती है कि १०० माला की आवृत्ति हो जाने पर प्रत्येक श्वास में मन्त्र जप हो जाय । अस्तु, इस प्रकार वैदिक सनातन धर्म एक परिपूर्ण धर्म है— और वही भगवद्गीता का प्रतिपाद्य है । इसलिये भगवद्गीता में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सब ही उच्च विचारों को स्थान दिया गया है । धर्म का मूल तत्त्व भगवान् ने अर्जुन को समझाया है ।



## तृतीय-पुष्प

गीता का महत्त्व सबने माना है ।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

इसका तात्पर्य है कि बहुत से शास्त्रों के विस्तार में न पड़कर केवल गीता का ही अच्छे प्रकार से अध्ययन कर लेना चाहिए । जो कि गीता स्वयं भगवान् के मुख पद्म से निकली है । इससे गीता में सब शास्त्रों का निष्कर्ष आ जाना सिद्ध हो जाता है । वास्तव में बात ऐसी ही है । गीता में पारमार्थिक और व्यावहारिक सब शास्त्रों का विस्तार या संक्षिप्त रूप से निदर्शन या संकेत हो गया है । यही कारण है कि जब से गीता का आविर्भाव हुआ है तभी से इसका इतना महत्त्व माना गया कि इसके आधार पर सैकड़ों ग्रन्थों की रचना हुई, सैकड़ों भाष्य और व्याख्याएँ इस पर लिखी गई और प्रायः सभी महत्त्वशाली आचार्य और उपदेष्टाओं ने अपने उपदेशों में कहीं अर्थतः और कहीं शब्दतः भी गीता की छाया का ग्रहण किया ।

गीता यह स्त्री लिंग शब्द भी इस गीता के आधार पर ही प्रचलित हुआ है। वैसे गीत शब्द संस्कृत में प्रायः नपुंसक लिंग ही में प्रयुक्त है । “गीतम्” यही निर्देश सामान्यतः प्राप्त होता है । फिर यह गीता शब्द स्त्रीलिंग में क्यों आया ? इसका कारण है कि इसका पूरा नाम “भगवद्गीतोपनिषद्” है । पूर्व प्रवचन में हम कह आये हैं कि गीता सब उपनिषदों का सार है । सार होने के कारण इसका भी उपनिषद् नाम से ही व्यवहार प्रवृत्त हुआ। उपनिषद् शब्द स्त्रीलिंग है। उसका विशेषण होने से गीत शब्द भी स्त्रीलिंग बना और गान कर्ता भगवान् का नाम साथ जोड़कर भगवद्गीतोपनिषद् यह पूरा नाम हुआ। भगवद्गीता की पुस्तकों में अध्यायसमाप्ति में ऐसा ही लेख देखने में आता है—“इति भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म विद्यायां योग शास्त्रे”—इत्यादि ! बहुत सी उपनिषदों का सार भगवान् ने लिया था इसलिये “भगवद्गीतासु उपनिषत्सु” यह बहुवचन निर्देश प्रचलित हुआ। किन्तु व्यवहार में धीरे-धीरे “वे विशेषण विशेष्य” निकल गये और “भगवद्गीता” या “गीता” ये संक्षिप्त शब्द ही प्रचलित रह गये । यही कारण यहां स्त्रीलिंग “गीता” शब्द के व्यवहार का था ! किन्तु आगे इस बात पर ध्यान न रखकर उपदेशों में स्त्रीलिंग गीता शब्द का ही प्रवाह चल पड़ा । स्वयं महाभारत में और अन्य पुराणों में भी यह स्त्रीलिंग गीता शब्द भिन्न-भिन्न उपदेशों में प्रयुक्त हुआ है । पिंगल गीता, शंपाक गीता, विचख्यु गीता, हारीत गीता, वृत्र गीता, अवधूत गीता, गणेश गीता, पाण्डव गीता, शिव गीता, देवी गीता, आदि-आदि बहुत सी गीताएँ महाभारत और पुराणों में प्राप्त होती हैं । उनमें गीता शब्द के स्त्रीलिंग निर्देश का कोई कारण नहीं है, किन्तु इसी भगवद्गीता के नाम

के आधार पर वहाँ स्त्रीलिंग गीता शब्द प्रयुक्त हुआ है और इसी के किसी एक अंश के आधार उनके उपदेश अवलम्बित हैं। इसका पूरा अनुकरण किसी में भी न हो सका। यही क्यों महाभारत के अश्वमेध पर्व में वह प्रसंग आता है कि युद्ध समाप्ति और राज्याभिषेक के अनन्तर द्वारका से पुनः हस्तिनापुर आए हुए भगवान् कृष्ण से एकान्त में एक दिन अर्जुन ने कहा कि “युद्ध के आरम्भ में जो आपने उपदेश दिया था वह आगे युद्ध की हड़बड़ी में मुझे विस्मृत हो गया। अब कृपा कर वह उपदेश मुझे फिर सुना दीजिए” इस पर भगवान् ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि तुमने बड़ी असावधानी की जो उस उपदेश को भुला दिया। उस समय योग युक्त होकर वह उपदेश मैंने दिया था। अब वैसा उपदेश नहीं हो सकता। फिर भी तुम्हारे आग्रह से कुछ-कुछ विषय सुनाऊँगा। ऐसा कहकर भगवान् ने जो उपदेश दिया उसका नाम “अनुगीता” है और वास्तव में इस भगवद्गीता जैसा शृङ्खलाबद्ध महत्व उसमें नहीं है। इस आख्यान से इस भगवद्गीता का कितना महत्व सिद्ध होता है यह विचारक सज्जन ही विचारें। वस्तुतः भगवान् कृष्ण तो पूर्ण ज्ञान स्वरूप ईश्वर ही हैं। उनके लिए वैसा उपदेश किसी काल में भी कठिन नहीं। किन्तु इस उपदेश का महत्व प्रतिष्ठापित करने के लिए ही उन्होंने ऐसी आज्ञा की। और उसका निर्वाह भी किया कि वैसा शृङ्खलाबद्ध उपदेश अनुगीता में नहीं दिया। महाभारत में अन्यत्र भी इस गीता का प्रसंग आया है। शान्तिपर्व के अन्त में नारायणीय नाम का एक महत्व का प्रकरण है। उस प्रकरण का आधार इसी भगवद्गीता को बताते हुए वहाँ स्पष्ट कहा गया है—

“एवमेष महान्धर्मः स ते पूर्व नृपोत्तम ।

कथितो हरिगीतासु समास विधिकल्पितः॥”(शान्तिपर्व ३४६ अ०१०)

इतने पर भी किसी को सन्देह रह जाय तो आगे के अध्याय में और भी स्पष्ट किया गया है—

“समुपोदेष्वनीकेषु कुरुपाण्डयोर्मृधे।

अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥”(शा०प०३४८ अ०८श्लो०)

इसमें स्पष्ट कहा है कि जब कौरव और पाण्डवों की सेनाएँ संग्राम में एकत्रित हुई और अर्जुन उदास हो गया उस समय भगवान् ने स्वयं यह उपदेश दिया। इससे अधिक गीता का और क्या पता दिया जा सकता है। इतने पर भी जो आजकल के कल्पना वीर सज्जन यह कहने का भी साहस करते हैं कि भगवद्गीता मूल महाभारत का अंग नहीं, यह पीछे से मिलाई हुई है, और भगवद्गीता को निकाल देने पर भी महाभारत के प्रकरणों की कोई संगति नहीं बिगड़ती, उनकी बुद्धि पर क्या कहा जाय। महाभारत में बार बार गीता का प्रसंग आने पर भी उसे पीछे से मिलाई हुई मानना केवल साहस मात्र है। अस्तु, महाभारत के अतिरिक्त भगवान् वेदव्यास के ही रचे हुए अन्य पुराणों में भी गीता की खूब चर्चा है। इसी के आधार पर पुराणों में भी

अनेक गीताएँ लिखी गयीं हैं यह तो पूर्व कह ही चुके हैं, इसके अतिरिक्त पद्मपुराण में भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय को पढ़ने सुनने का माहात्म्य विस्तार से वर्णित है, वाराह पुराण में भी भगवद्गीता का माहात्म्य कहा गया है । और श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के कुछ प्रकरण भगवद्गीता के भाष्य ही कहे जा सकते हैं । सुप्रसिद्ध ग्रन्थ “योगवासिष्ठ” के अन्तिम निर्वाण प्रकरण में भी अर्जुन का उपाख्यान और भगवद्गीता के उपदेशों का सारांश दिया गया है । भागवत धर्म जिसे भक्ति मार्ग के नाम से भी कह सकते हैं, उसके स्पष्ट विवरण का तो आदिम ग्रन्थ भगवद्गीता ही कहा जा सकता है । भागवत धर्म के प्रतिपादक मुख्य प्राचीन ग्रन्थ भगवद्गीता के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत नारदपांचरात्र, महाभारत, शान्तिपर्व का नारायणीय प्रकरण, एवं शाण्डिल्य और नारद के भक्तिसूत्र— ये ही माने जाते हैं । उनमें श्रीमद्भागवत के आरम्भ में जहाँ भगवान् व्यास सरस्वती के तट पर बैठे विचार कर रहे हैं वहाँ उनके विचारों में स्पष्ट ही लिखा है कि—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः ।

दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥

( भा० प्र० स्कन्ध ४-२९ )

अर्थात् मैंने चारों वेदों का विभाग भी कर दिया और भारत के नाम से स्त्री शूद्रादि के लिये भी वेद का अर्थ प्रकाशित कर दिया फिर भी मेरी आत्मा सन्तुष्ट क्यों नहीं हो रही है इत्यादि । इससे सिद्ध हो जाता है कि महाभारत का संगठन श्रीमद्भागवत के पहिले हो चुका था तब महाभारतान्तर्गत भगवद्गीता की भागवत से प्राचीनता सुस्पष्ट है । यद्यपि उस प्रकरण में व्यास जी का यह भी विचार लिखा है कि सम्भवतः मेरे अपरितोष का कारण यही हो कि मैंने परमहंसों के अत्यन्त प्रिय भागवत धर्मों का प्रायः निरूपण नहीं किया और आगे श्री नारद जी के उपदेश में भी यही कथन है कि “भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्” अर्थात् आपने भगवान् के निर्मल यश का वर्णन नहीं किया, इससे ही आत्मा में परितोष नहीं है । इन कथनों का तात्पर्य यही हो सकता है कि श्रीमद्भागवत ही भागवत धर्म का प्रथम ग्रन्थ है । किन्तु जब महाभारत की रचना श्रीभागवत के कथन से ही भागवत की अपेक्षा प्राचीन सिद्ध हो जाती है और महाभारत में “भगवद्गीता” नारायणीय आदि में भागवत धर्म का स्पष्ट विवरण मिलता है तब इसका आशय इतना ही मानना पड़ेगा कि भगवद्गीता और नारायणीय में जो भागवत् धर्म का सूत्र रूप से वर्णन था उसे अनेक कथा, दृष्टान्त आदि के द्वारा श्री भागवत में विस्तृत किया गया । अथवा यह भी आशय हो सकता है कि महाभारत ग्रन्थ प्रधान रूप से इतिहास ग्रन्थ है । उसमें भागवत धर्म अथवा भगवान् कृष्ण के चरित्र का निरूपण अप्रधान रूप से हुआ । इसलिए नारद भगवान् ने व्यास जी को यह उपदेश दिया कि प्रधान रूप से भागवत धर्म और भगवान् कृष्ण

के चरित्र का वर्णन करो। इसीलिये भगवान् नारद की उक्ति में “अनुदितप्रायम्” कहा है। अर्थात् तुमने भगवान् कृष्ण के चरित्र का प्रायः वर्णन नहीं किया। अर्थात् प्रधान रूप से विस्तृत वर्णन नहीं किया। यद्यपि महाभारत के “हितविवंश” में कृष्ण चरित्र का विस्तृत वर्णन है। किन्तु वहाँ भी भक्ति मार्ग की जीवातुभूत अति मधुर ब्रज लीलाओं का विस्तृत वर्णन नहीं है। इसलिये भागवत ग्रन्थ की रचना आवश्यक थी। श्रीभागवत में भक्ति मार्ग को ही सर्वोत्कृष्ट माना है। इतना ही नहीं भक्ति रहित ज्ञान, वैराग्य धर्म आदि की तीव्र निन्दा भी की है, जो महाभारत के प्रकरणों में नहीं है। अस्तु यह तो निश्चित है कि श्री भागवत से भगवद्गीता प्राचीन है। श्री भागवत का एकादश स्कन्ध भगवद्गीता के प्रकरणों का विस्तृत वर्णन करता हुआ एक प्रकार से गीता का भाष्य ही समझा जा सकता है। इससे भी गीता की प्राचीनता दृढ़ होती है। इसी प्रकार नारदपांचरात्र में भी भागवत, विष्णुपुराण, भगवद्गीता, आदि के नाम भी प्राप्त होते हैं। तब भगवद्गीता की उससे प्राचीनता में सन्देह का कोई स्थान ही नहीं रहता। नारायणीय में भी भगवद्गीता का स्मरण हुआ है। यह पूर्व दिखा ही चुके हैं। शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में तो भक्ति की मीमांसा करते हुए भगवद्गीता के वचनों को ही मीमांसा का आधार बनाया है। जिस प्रकार पूर्व मीमांसा ब्राह्मण वचनों की मीमांसा है, इसी प्रकार शाण्डिल्य सूत्र भगवद्गीता के वचनों की मीमांसा है यह कहा जा सकता है। नारद सूत्र भी ब्रज गोपिकाओं को भक्ति में प्रधान मानता है। इसलिये भगवद्गीता से और भागवत से परवर्ती है। इसलिए भागवत धर्म का सर्वप्रथम प्रतिपादक ग्रन्थ भगवद्गीता ही सिद्ध होता है। लोकमान्य तिलक ने गीता की बहिरंग परीक्षा के प्रकरण में पूर्ण विवेचन से यही सिद्ध किया है कि भागवत धर्म के उपलभ्यमान ग्रन्थों में भगवद्गीता ही सबसे प्राचीन सिद्ध होती है। इससे प्राचीन भागवत धर्म के प्रतिपादक कोई ग्रन्थ रहें हो, किन्तु आज वे प्राप्त नहीं।

लोकमान्य तिलक भारतीय शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका मनन बहुत विशाल था इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उनकी शिक्षा अधिकतर अंग्रेजी में हुई थी इसलिये यूरोपियन विद्वानों के सिद्धान्तों के संस्कार उनमें अवश्य थे। भारतीय संस्कृति की प्राचीनता और प्रधानता के साधन में उन्होंने प्रयास बहुत किया। किन्तु यूरोपियन पद्धति से वे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते थे। इसलिये उनसे भारतीय संस्कृति की परम्परा मानी है कि सर्वप्रथम यहाँ यज्ञ यागादि कर्म-कलाप का ही प्रचार था। आगे एक प्रकार उससे ऊब कर निवृत्ति प्रधान ज्ञान काण्ड का उदय हुआ, वही उपनिषद् काल है। इस निवृत्ति प्रधान ज्ञान काण्ड का भी अनुसरण चिरकाल तक समाज नहीं कर सका इसलिए ज्ञान मूलक भक्तिप्रधान प्रवृत्ति मार्ग का उदय हुआ। इसी का उपदेश भगवद्गीता में है, इत्यादि। किन्तु भारतीय प्राचीन परम्परा के विद्वान् ऐसा नहीं मानते। प्राचीन भारत की दृष्टि में वेद सब विद्याओं के मूल हैं। उनमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रवृत्ति, निवृत्ति सबही के सूत्र प्राप्त होते हैं। इसलिये सबही मार्ग अनादि है। अधिकारी के भेद के

अनुसार सब का प्रसार सदा ही रहता आया है, हाँ, इतना अवश्य है कि जिस समय में काल की गति के अनुसार जिस मार्ग के अधिकारी अधिक मात्रा में रहे उस समय उसी मार्ग का प्रसार अधिक हो गया। भिन्न भिन्न मार्गों के प्रतिपादक ग्रन्थों का, सबका मूल आधार वेद ही है। वेद में भक्ति मार्ग के सूत्र भी उपलब्ध हैं और कर्म मार्ग के प्रसार के साथ ही ज्ञान मार्ग के उपदेश भी चलते हैं। ब्राह्मण उपनिषदों की बात छोड़ दीजिए, मन्त्रों में ही सब मार्गों के सूत्र मिल जाते हैं। हमने अपने संस्कृत भाषा निबद्ध “पुराण पारिजात” ग्रन्थ में प्रत्येक उपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय के मूलभूत वेद मन्त्र उपस्थित कर सिद्ध कर दिया है कि कर्मकाण्ड से खिन्न होकर क्षत्रियों ने ज्ञान काण्ड की उद्भावना की—यह यूरोपियन विद्वानों की कल्पना सर्वथा निर्मूल है। अप्रस्तुत होने के कारण इस विषय का हम यहाँ विस्तार नहीं करेंगे। यहाँ इतना ही कहना है कि वेद के अनन्तर भागवत धर्म या भक्ति मार्ग का प्रतिपादक सबसे प्राचीन ग्रन्थ श्रीभगवद्गीता ही है। इसमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और कर्म का बड़े रोचक और अद्भुत रूप में समन्वय प्रतिपादित है। कर्मयोग शास्त्र का तो यह प्रधान ग्रन्थ है। यह बात इसके अध्यायों के अन्त में उपलब्ध पुष्पिका से ही सिद्ध हो जाती है। वेद के अतिरिक्त कर्मयोग शास्त्र का ऐसा और कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। लोकमान्य तिलक ने तो ज्ञान भक्ति मिश्रित कर्म (प्रवृत्ति) मार्ग को ही भागवत धर्म माना है। और इसमें यह प्रमाण उनका मुख्य है कि भगवद्गीता में चतुर्थाध्याय के आरम्भ में कर्मयोग की जो परम्परा बताई गयी है कि “मैंने पहले इसका उपदेश विवस्वान् को किया था, विवस्वान् ने मनु को उपदेश दिया और मनु ने इक्ष्वाकु को।” इस प्रकार राजर्षियों में यह परम्परा चली। यही परम्परा शान्तिपर्व के अन्तिम नारायणीय में भी बताई गई है। नारायणीय में इस मार्ग का “भागवतधर्म” नाम से ही वर्णन है। इसलिये भागवत धर्म और कर्मयोग की एकता ही प्रतीत होती है। मध्यकाल में इस सिद्धान्त में भी कर्मयोग गौण हो गया और पहिले उपनिषद् काल में जैसे ज्ञान प्रधान निवृत्ति मार्ग चला था वैसे इधर आचार्यों के काल में भक्ति प्रधान निवृत्ति मार्ग चल पड़ा। भक्ति मार्ग के आचार्यों ने भी भक्ति को ही सर्वस्व कहकर कर्म की अवहेलना की इसलिए पूर्वोक्त भागवत धर्म से भक्ति मार्ग एक पृथक् सा हो गया ऐसा लोकमान्य तिलक का मत है। अस्तु, भगवद्गीता में ऐसा नहीं है। यहाँ तो भक्ति के साथ ही वर्णाश्रम धर्म पालन भी आवश्यक माना गया है—“मामनुस्मर युध्य च” (मेरा स्मरण करते रहो और युद्ध भी करो)। ऐसे सब मार्गों के सामंजस्य के कारण ही लोकमान्य तिलक ने दृढ़ता के साथ कहा है कि “ऐसा ग्रन्थ विश्व की किसी भाषा में नहीं है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि न केवल भारत की सब भाषाओं में, किन्तु लैटिन, ग्रीक, इंग्लिश, जर्मन आदि भाषाओं में भगवद्गीता के अनुवाद हुए हैं।

वेदान्त सूत्रों में स्मृति पद जहाँ जहाँ आया है वहाँ भाष्यकारों ने प्रायः गीता के ही प्रमाण उद्धृत किये हैं। इतना ही नहीं वेदान्त में मुख्य प्रमाणभूत प्रस्थान-त्रयी

में भगवद्गीता का स्थान है। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, और भगवद्गीता इन तीन का समुदाय ही प्रस्थान त्रयी नाम से कहा जाता है। सबसे पहले भगवान् शंकराचार्य के ग्रन्थों से सिद्ध होता है कि उनसे पूर्व भी प्रस्थान त्रयी पर भाष्य थे जिनके मत की स्थान स्थान पर उन्होंने आलोचना की है। किन्तु आज उनसे पुराना कोई भाष्य प्रस्थान त्रयी पर प्राप्त नहीं। भारत की अनन्त ग्रन्थ रत्नराशि मध्यकाल के अत्याचारों से नष्ट हुई। उनमें ही प्राचीन भाष्य या व्याख्याएँ भी गयीं। गीता पर भी सबसे पुरानी व्याख्या श्रीशांकरभाष्य ही आज उपलब्ध है। उसके अनन्तर भिन्न भिन्न संप्रदाय जो प्रचलित हुए उन सबके ही आचार्यों ने प्रस्थान त्रयी पर भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्तों को पुष्ट किया। जो आचार्य स्वयं प्रस्थान त्रयी पर भाष्य नहीं लिख सके उनके अनुयायी अन्य आचार्यों या विद्वानों ने इस न्यूनता की पूर्ति की। वर्तमान में भगवद्गीता पर श्री रामानुजाचार्य और श्री माध्वाचार्य के भाष्य उपलब्ध हैं। श्रीनिम्बर्काचार्य के सम्प्रदाय के अनुगामी श्रीकेशवाचार्य ने तत्त्वप्रकाशिका व्याख्या लिखी है। श्री वल्लभाचार्य के सम्प्रदायानुगामी श्रीवल्लभाचार्य नाम से ही प्रसिद्ध एक आचार्य जी की भी व्याख्या है और श्रीवल्लभसम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार महाविद्वान् श्री पुरुषोत्तम जी के नाम से भी एक व्याख्या मुद्रित हुई है। किन्तु इस सम्प्रदाय के कई प्रसिद्ध विद्वान उसे प्रसिद्ध श्री पुरुषोत्तम जी की लिखी व्याख्या नहीं मानते। पुरुषोत्तम जी नाम के अन्य आचार्य या विद्वान ने यह व्याख्या लिखी होगी ऐसा कहते हैं। अस्तु आचार्यों के भाष्यों पर भी अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी हैं और श्रीशांकर संप्रदाय के उद्भट विद्वान श्री मधुसूदन सरस्वती, श्री शंकरानन्द स्वामी, सम्पूर्ण महाभारत के टीकाकार श्री नीलकण्ठाचार्य, गौड़माध्वसंप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य श्री श्रीधर जी आदि महाविद्वानों की बहुत सी व्याख्याएँ गीता पर उपलब्ध हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं में जो गद्य और पद्यों में गीता के अनुवाद और व्याख्याएँ लिखी गई हैं उनकी संख्या तो सैकड़ों ही हैं। संस्कृत में भी पद्यबद्ध व्याख्या भी है। भगवद्गीता के उपलभ्यमान साहित्य का ही एक बड़ा पुस्तकालय कुरुक्षेत्र में अभी थोड़े काल से स्थापित हुआ है।

वर्तमान युग में लोकमान्य तिलक ने गीता पर एक सुन्दर व्याख्या और आलोचनात्मक विस्तृत ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। जहाँ प्राचीन व्याख्याएँ ज्ञानमार्ग वा भक्तिमार्ग के प्रधान रूप से प्रतिपादक थीं वहाँ लोकमान्य की व्याख्या भगवद्गीता में कर्मयोग को प्रधान बताने वाली है। लोकमान्य की विचार पद्धति शास्त्रीय है और शास्त्रीय विचार पद्धति से कर्मयोग सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन करने वाली भगवद्गीता की वह एक ही व्याख्या है ऐसा कहा जा सकता है। श्रीअरविन्द घोष और श्री विनोबाभावे ने भी श्रीभगवद्गीता पर उत्तम व्याख्यान और विवेचन लिखे हैं।

वेद विज्ञान के एक मात्र आविष्कारक शताधिक संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता मेरे आराध्य गुरु जयपुर के विद्या वाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा ने भी वर्तमान युग

में गीता पर एक नवीन विज्ञान भाष्य लिखा है । आपने गीता के प्रति श्लोक की व्याख्या नहीं की किन्तु गीता के आधार पर स्वतंत्र विवेचन किया है । आपका गीता का विषय विभाग भी पूर्वाचार्यों की अपेक्षा भिन्न प्रकार का है जो हम आगे के “गीता का विषय” विभाग शीर्षक प्रवचन में बतावेंगे । आप गीता में एक सौ साठ उपदेश मानते थे और प्रत्येक पर स्वतंत्र लेख लिखने का आपका विचार था। किन्तु अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण केवल १०-१५ विषयों पर ही उपदेश लिख पाये । और आगे स्वर्गवास हो जाने से अपना मनोरथ पूर्ण न कर सके । आपने गीता को उच्चश्रेणी का वैज्ञानिक ग्रन्थ माना है और आपका कथन है कि “अव्यय पुरुष” और “बुद्धियोग” ये दो गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं । जिनका वेद में तो सूत्र रूप से संकेत है ही किन्तु स्पष्ट रूप से प्रतिपादन भगवद्गीता में ही हुआ है । इसका स्पष्टीकरण भी “विषय विभाग” शीर्षक प्रवचन में होगा और आपके सिद्धान्त के अनुसार गीता के श्लोकों की व्याख्या हम स्थान स्थान पर करते रहेंगे ।

वेदान्त के अतिरिक्त साँख्य में भी सत्कार्यवाद का आधार गीता को ही माना गया है । दर्शनों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में भी गीता से प्रमाण लिए गए हैं। बौधायन धर्मसूत्र, जो विद्वानों द्वारा यीशुख्रिष्ट से पूर्व पांचवी शताब्दी का माना गया है उसमें यह वाक्य है “देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुत्रचिन्मनसा वाचयेदिति तदाह भगवान्—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहितमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ पूजा के उपयुक्त देश न हो, अपने पास पूजा द्रव्य भी न हो वहाँ मन और वाक् से भी पूजा बन सकती है जैसा कि भगवान् ने स्वयं कहा है । जो पुरुष पत्र पुष्प फल आदि कुछ भी भक्तिपूर्वक मुझे अर्पण करता है उसके भक्तिपूर्वक दिए हुए पत्र पुष्प आदि का मैं भोजन कर लेता हूँ । अर्थात् जो कुछ भी भक्ति पूर्वक दिया जाय उसको स्वीकार करता हूँ ।

वैदिक धर्म के अनुयायी ग्रन्थों में ही केवल नहीं, अपितु वेद से विरुद्ध रहने वाले जैन बौद्धादि के ग्रन्थों में भी गीता के उपदेशों की छाया स्पष्ट मिलती है। अश्वघोष रचित “बुद्धचरित” महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के उपदेशों में कई जगह पुराणों और गीता आदि के प्रसंग उद्धृत हुए हैं । इनके अतिरिक्त प्राकृत ग्रन्थ जो अश्वघोष से भी प्राचीन माने जाते हैं उनमें भी भगवान् बुद्ध के उपदेशों में गीता के उपदेशों की छाया, गीता रहस्य में लोकमान्य तिलक ने और बौद्धधर्मदर्शन में आचार्य नरेन्द्र देव ने अनेक जगह बतायी है । धम्मपद (श्लोक ३६०, ४२३) और सुत्तनिपात के मुनिसुत्त तथा धम्मिक सुत्त में पूर्णविस्था को पहुँचे हुए बौद्ध भिक्षुओं के जो लक्षण दिये हैं वे गीता के द्वितीयाध्याय में बताए हुए स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की, चतुर्थाध्याय में श्लोक १९-२४ में बताये हुए कर्मयोगी के लक्षणों की और द्वादश अध्याय में आये हुए



भक्तों के लक्षणों की छाया ही हैं । धम्मपद (श्लोक ४०, ४१, ९१) और सुत्त निपात मुनिसुत्त (१.७) दूयतानुपस्सनसुत्त (२१, २३) एवं विनयपिटक चल्लवगा (४-४७) में कहा गया है कि “ज्ञानी पुरुषों के लिए जो वस्तु प्रकाशमान है वह अज्ञानी को अन्धकार के सदृश है” यह स्पष्ट ही गीता के (२, ६९) श्लोक की छाया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

एवं मुनिसुत्त के दसवें श्लोक का यह वर्णन है कि ऐसा पुरुष न तो स्वयं कष्ट पाता है न दूसरों को कष्ट देता है । यह भी गीता के इस भक्त लक्षण की छाया है—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

सल्ल सुत्त १ और ९ के ये विचार कि “जो जन्म लेता है वह मरता है तथा प्राणियों का आदि अन्त अव्यक्त है” इत्यादि गीता के द्वितीयाध्याय के श्लोकों से बिल्कुल मिलते हैं । और गीता के दसवें अध्याय में विभूतियों का वर्णन करते हुए “ज्योतिष्मान् पदार्थों में सूर्य नक्षत्रों में चन्द्रमा वेद के छन्दों में गायत्री मेरा रूप है” यह जो कहा गया है वह इनकी श्रेष्ठता बताते हुए सेल सुत्त के २१ वें और २२ वें श्लोकों में तथा महाभारत (छ० ३५, ८) में ज्यों का त्यों पाया जाता है। धम्मपद में बुद्धदेव का यह वचन उद्धृत है कि “अत्ताहि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनोगति” यह भी— “आत्मैवह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः” “बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः” इन उपदेशों की छाया ही है । इसी प्रकार “अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्” इस गीता के वचन के आधार पर भी बौद्ध ग्रन्थों में यह उपदेश मिलता है कि स्रोत आपन्न फल का अधिगम करने वाला योगी— जिसकी विमुक्ति निश्चित हो जाती और आशु होती है वह अधिक से अधिक सात या चौदह जन्मों में निर्वाण का लाभ करेगा ।” गीता के दूसरे अध्याय में जिसे ब्राह्मी स्थिति कहा गया उसके लक्षण बौद्ध सिद्धान्त में जैसे “सम्यक् सम्बोधि” अनुत्तरा बोधि “प्रज्ञापारमिता” आदि में मिलते हैं, इसी प्रकार “ब्राह्मविहार” नाम भी मिलता है । चौथी शताब्दी के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान असंग ने इस परिस्थिति का वर्णन करते हुए “ब्राह्मैर्विहारैर्विहरत्युदारैः” लिखा है। सोचने की बात है कि जब बौद्ध दर्शन में ब्रह्म नाम का कोई तत्त्व ही स्वीकृत नहीं है तब इस स्थिति को “ब्राह्मविहार” पद क्यों मिला। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वहाँ न केवल परिस्थिति का रूप ही गीता से लिया गया है प्रत्युत ब्राह्मी स्थिति यह नाम भी विहार में परिवर्तित कर लिया गया है। यही स्थिति “ब्रह्मनिर्वाण” शब्द की भी है । गीता में मोक्ष के लिए “ब्रह्मनिर्वाण” शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है ब्रह्म में लीन होना । किन्तु बौद्ध-सिद्धान्त में ब्रह्म नहीं माना जाता । इसलिए उन्होंने ब्रह्म शब्द हटाकर निर्वाण शब्द रख लिया, जिसका अर्थ होता है बुझ जाना।

इससे सिद्ध है कि यह शब्द गीता से बौद्ध मत में गया है, न कि वहाँ से गीता में आया है। क्योंकि निर्वाण शब्द का लीन होना अर्थ ही व्याकरण की रीति से स्वारसिक है। बुझ जाना अर्थ लक्षणा द्वारा कल्पित है। इसलिए ब्रह्मनिर्वाण शब्द ही पहिले मोक्ष के लिए व्यवहृत हुआ। बौद्ध दर्शन में वह केवल निर्वाण रह गया। बौद्ध धर्म के अनुयायी विद्वान् शान्तिरक्षित के 'तत्त्वसंग्रह' ग्रन्थ में गीता का यह पदार्थ उद्धृत किया है कि— "शुनि चैव श्वपाके च पाण्डिताः समदर्शिनः"। वहाँ यह सन्देह भी नहीं हो सकता है कि गीता में ही यह वहाँ से लिया गया है, क्योंकि स्वयं शान्तिरक्षित ने "साधु गीतमिदं ततः" कहकर यह श्लोक लिखा है। इससे सिद्ध है कि उन्होंने ही दूसरी जगह से उद्धरण के रूप में यह श्लोक लिया है। इसके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक ने स्पष्ट सिद्ध किया है और आचार्य नरेन्द्र देव आदि ने भी माना है कि बौद्धों का महायान संप्रदाय गीता के आधार पर ही बना है। बुद्ध भगवान् की शिक्षा निवृत्ति मार्ग को ही प्रधान मानने की थी। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को एकान्ततः कर्म का परित्याग ही सिखाया था। किन्तु महायान संप्रदाय के द्वारा बौद्ध भिक्षुओं को भी प्रचार कार्य की शिक्षा दी गई और उसका फल भी हुआ कि बौद्ध भिक्षुओं ने सम्पूर्ण भूमण्डल में बौद्ध मत का सन्देश पहुँचाया। यह प्रवृत्ति प्रधानता निवृत्ति प्रधान बौद्ध धर्म में कहाँ से आयी इस बात पर वर्तमान युग में अनेक विद्वानों ने विचार किया है। सभी प्रायः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि निवृत्ति और प्रवृत्ति का सम्मिश्रण गीता के आधार पर ही हुआ है। गीता और उसमें प्रतिपादित भागवतधर्म ही यह शिक्षा देता है कि राग द्वेष विमुक्त ज्ञान प्रधान होकर भी व्यक्ति को लोक संग्रहार्थ कर्म करते रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को अपने मत के प्रचार के लिए बौद्धों के महायान मार्ग ने अपनाया। स्वयं बौद्ध धर्मानुयायी प्राचीन ग्रन्थकार तारानाथ ने माना है कि महायान मार्ग की प्रतिष्ठा गीता के उपदेश के आधार पर ही हुई है।

इसी प्रकार जैनाचार्यों के ग्रन्थों में भी उद्धरणों द्वारा गीता का सम्मान प्रकट होता है। जैनाचार्य सिंहसेनगणी ने अपनी तत्त्वार्थ टीका में जो कि यीशुख्रीष्ट की छठी शताब्दी के अन्त में बनी है, उसमें गीता के श्लोकों का उल्लेख किया है। और जैनाचार्य हरिभद्र ने भी गीता के श्लोक उद्धृत किये हैं। पांचवी शताब्दी के संघदासगणी रचित वसुदेव हिन्दी नामक जैन कथा ग्रन्थ में भागवत धर्म और भगवद्गीता का नाम स्पष्ट रूप से मिलता है। और तो क्या लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य के बहिरंग परीक्षा प्रकरण के "गीता और ईसाइयों की बाइबल" शीर्षक लेख में दिखाया है कि "बाईबिल" में यीशूख्रीष्ट के उपदेशों में भी गीता के उपदेशों की छाया मिलती है। गीता में ज्ञान के प्रकरण में आया है कि—

“येनभूतान्यशेषेण द्रक्षस्यात्मन्यथो मयि”

इसी की छाया के रूप में बाईबिल के जान० १४-२१ में मिलता है कि “उस दिन तुम जानोगे कि मैं अपने पिता में तुम मुझमें और मैं तुम में हूँ” इसी प्रकार जान० १४, २१ में यह भी मिलता है कि “जो मुझ पर प्रेम करता है उसी पर मैं प्रेम करता हूँ” यह गीता के—

“प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः” ।

“ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्” ॥

इत्यादि वाक्यों की स्पष्ट छाया है । गीता के जर्मन अनुवादक डा० लारिनसर ने ऐसे प्रसंग बहुत दिखलाये थे जिनमें गीता और बाईबिल के उपदेशों में समानता प्रतीत होती है । इनका उद्देश्य यह सिद्ध करने का था कि गीता बाईबिल के बाद बनी है और बाईबिल के आधार पर ही गीता के वाक्य रचे गये हैं । बाईबिल ही संसार में भक्तिमार्ग प्रसारित करने का पहिला ग्रन्थ है । किन्तु जब प्रमाणों की गवेषणा करते हुए यूरोप के ऐतिहासिक विद्वानों ने भी गीता का यीशूख्रिष्ट के अनन्तर होना स्वीकार नहीं किया, अपितु यही माना कि यीशूख्रिष्ट ने ही गीता के उपदेशों की छाया ली है तब यूरोप के विद्वानों ने यह छाया मानने का अपना स्वर बदल दिया । अब ऐसी समानताओं को “आकस्मिक” (इत्तफाकिया) मानने लगे। कई यूरोप के विद्वानों ने हजरत यीशूख्रिष्ट की बौद्ध धर्म की जानकारी भी अनेक प्रमाणों से की है । और बौद्ध धर्म का गीता से सम्बन्ध तो हम पूर्व बता ही चुके हैं । अस्तु इस प्रवचन में हमने अधिकतर लोकमान्य तिलक की बहिरंग परीक्षा के आधार पर ही गीता का महत्व सिद्ध किया है । कुछ बातें अन्यत्र से भी ली हैं। इन सबसे सिद्ध यही होता है कि भगवद्गीता का जब से आविर्भाव हुआ तब से ही इसका महत्व न केवल भारत में किन्तु अन्य देशों में भी क्रम से प्रतिष्ठित होता गया और आज तक भी उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही जा रही है । ऐसे ग्रन्थ का भारतवर्ष में प्रादुर्भाव हुआ यह इस देश का परम सौभाग्य मानना चाहिए । और संसार में महत्व पाये हुए अपने सर्वस्वभूत इस ग्रन्थ का भारतवासियों को गर्व, समादर और अध्ययन अवश्य करना चाहिए ।



## चतुर्थ-पुष्प

### भगवद्गीता श्रुति है या स्मृति

पूर्व प्रचवन में कहा गया है कि भगवद्गीता यह स्त्रीलिंग शब्द उपनिषत् के साथ विशेषण रूप से जोड़ा जाने के कारण मूलतः व्यवहार में आया है । और भगवद्गीता में अनेक ऐसे सिद्धान्त भी प्रस्फुट हुए हैं जो इससे पूर्व गूढ़ रूप में ही थे । स्पष्टीकरण में नहीं आये थे । अब प्रश्न यह होता है कि उपनिषत् तो श्रुति नाम से प्रसिद्ध है । जब भगवद्गीता भी उपनिषत् है तो फिर इसे श्रुति ही कहना चाहिए । फिर श्री शंकराचार्य आदि आचार्यों ने ब्रह्मसूत्र के भाष्यों में स्मृति नाम से इसके वचनों को क्यों उद्धृत किया ? इसके लिए श्रुति और स्मृति का कुछ दिग्दर्शन यहां कराना आवश्यक है । श्रुति अर्थात् वेद को आर्य संस्कृति में अनादि और अपौरुषेय माना जाता है । नये-नये कल्प के आरम्भ में अर्थात् प्रलय के अनन्तर जब पुनः सृष्टि होती है तब ईश्वर के निःश्वास रूप से वेदों का प्रादुर्भाव होता है, ऐसा उपनिषदों में कहा गया है—

“एवं वा अरे, अस्य महतो भूतस्य निश्वासितमेतद् यद्  
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः” इत्यादि ।

इसका तात्पर्य यही है कि शरीरों में दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं । एक इच्छा ज्ञान पूर्वक की जाती है; जैसे वाणी हाथ पैर आदि की क्रियाएँ । दूसरी वे हैं जो बिना ज्ञान इच्छा के ही स्वतः होती रहती हैं । श्वास-प्रश्वास दूसरे प्रकार की क्रियाओं में हैं । मनुष्य स्वतन्त्रता से अपनी इच्छा पूर्वक श्वास-प्रश्वास चलाने में समर्थ नहीं है। वे स्वतः ही निरन्तर चलते रहते हैं । इसी प्रकार वेदों को ईश्वर ने इच्छापूर्वक श्रम से नहीं बनाया; किन्तु अनादि वेद स्वतः ईश्वर से लीला रूप से हो जाते हैं । दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि जैसे जीवित मनुष्य का ज्ञान श्वास प्रश्वास के द्वारा ही होता है, वैसे ही ईश्वर का ज्ञान भी वेदों के द्वारा ही हो सकता है । वेदप्रादुर्भाव का विस्तार से वर्णन यहाँ अनावश्यक है । यहां केवल इतना ही कहना है कि श्रुति वा वेद आनादि और पुरुष प्रयत्न से साध्य नहीं है । वेदोक्त अर्थों को मनुष्य किसी दूसरे प्रमाण से नहीं जान सकता । ईश्वर की कृपा और प्रेरणा से ही वे ऋषियों के अन्तःकरण में प्रादुर्भूत होते हैं और ज्ञानरूप वेद नित्य हैं; इसलिए उन्हें ईश्वर-निर्मित भी नहीं कहा जा सकता । ईश्वर से वा ब्रह्मा से उन नित्य वेदों का प्रादुर्भाव ऋषियों के अन्तःकरण में होता है । ऋषियों द्वारा वे शब्द रूप में प्रकट किए जाते हैं । फिर वेदों के आधार पर जो ऋषिमुनि आदि के उपदेश होते हैं वे स्मृति नाम से कहे जाते हैं । श्रुति शब्द का अर्थ है सुनना वा साक्षात् सुना हुआ विषय । और स्मृति शब्द का अर्थ है पूर्व सुने हुए का स्मरण करना वा स्मरण किया हुआ विषय । तपस्या करते हुए ऋषियों के अन्तःकरण में जो ध्वनि स्वतः प्रादुर्भाव हुई है, जिसे उन्होंने

स्वयं सुना, किसी के कहने वा बताने से जो विषय ज्ञात नहीं हुए उनके प्रतिपादक वाक्य श्रुति कहे जाते हैं । और अपने बड़ों से उपदेश प्राप्त कर उसका जो समय समय पर स्मरण किया जाता है वा स्मरण कर औरों को उपदेश दिया जाता है वे उपदेश स्मृति कहे जाते हैं ।

दूसरी विशेषता श्रुति और स्मृति में यह भी है कि श्रुति में नियत शब्दों का ही आग्रह रहता है । शब्दों में यदि कुछ भी परिवर्तन कर दिया जाय तो अर्थ चाहे एक सा ही रहे किन्तु वह श्रुति नहीं रहती । और स्मृति में केवल अर्थ पर ही दृष्टि रहती है । उसी उपदेश को बताने वाले शब्द भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं । शब्दों की प्रधानता होने के कारण ही श्रुति के उपदेश में अधिकारी और देशकाल का सब विचार करना पड़ता है । किसी भी मनुष्य को किसी भी दशा में श्रुति का उपदेश नहीं दिया जा सकता । उसके लिए अधिकारी चाहिए और देश काल की पवित्रता भी होनी चाहिए। इन दोनों दृष्टियों से विचार करने पर पहली दृष्टि से तो गीता श्रुति ही हो सकती है क्योंकि इसके उपदेशा भगवान् कृष्ण परब्रह्म के ही रूप हैं । वे नित्यज्ञान स्वरूप हैं। उनका ज्ञान नित्य और स्वतः प्रकाश है । किसी दूसरे से प्राप्त वह नहीं कहा जा सकता । इसलिए उनका उपदेश श्रुति ही कहा जा सकता है । किन्तु दूसरी बात यहाँ घटित नहीं होती । शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य महाराज ने अपने अणुभाष्य में यह प्रश्न उठाया है कि भगवान् से निःश्वास रूप से प्रकट होने वाले मन्त्रब्राह्मणात्मक वाक्य तो श्रुति कहे जाएँ और साक्षात् नित्यज्ञान भगवान् के मुख से निःसृत भगवद्गीता स्मृति कही जाय, इसका क्या कारण हो सकता है । इसका उत्तर उन्होंने यही दिया है कि श्रुति रूप उपदेश का देशकाल वहाँ उपस्थित नहीं था । वह युद्ध का समय था सबके मन चंचल थे। शस्त्रास्त्र बाँधे सब खड़े थे । वाहनों पर बैठे थे । ऐसी स्थिति में देशकाल की पवित्रता का होना संभव कहाँ ? गुरुशिष्य की स्थिति भी विचित्र है । उपदेशा गुरु सारथी बनकर घोड़ों की लगाम पकड़े बैठे हैं शिष्य उन्हें आज्ञा दे रहा है कि कृष्ण! मेरे रथ को दोनो सेनाओं के बीच में खड़ा करो। गुरु को शिष्य की आज्ञा माननी पड़ती है । ऐसी स्थिति में साक्षात् श्रुतिरूप उपदेश कैसे हो सकता है । यद्यपि आवश्यकता देखकर उपदेश भगवान् को देना पड़ा और जैसा कि हम आगे प्रथमाध्याय के विवरण में दिखावेंगे, कालानुरूप मर्यादा का पालन भी उनने किया। बिना प्रश्न और शरणागति के उपदेश का आरम्भ नहीं किया। किन्तु फिर भी साक्षात् श्रुति रूप उपदेश का देशकाल तो उपयुक्त न समझा । दूसरी बात यह भी थी कि विश्वरूपदर्शन से पूर्व अर्जुन उन्हें एक महापुरुष ही मानता था। साक्षात् परब्रह्म रूप में मानने में उसका दृढ़ विश्वास नहीं था । यह भगवद्गीता के ही एकादश अध्याय से सिद्ध हो जाता है । तब यदि भगवान् अपने विचार ही उसे बतलाते तो उसकी पूर्ण आस्था होने में सन्देह रहता । इसलिए भगवान् ने पूर्व प्रकट

की हुई श्रुतियों के आधार पर ही उपदेश देना उचित समझा । यही बात हमने प्रथम प्रवचन के गीता के मंगल रूप में पढ़े जाने वाले श्लोकों के विवरण में कही है कि गोपाल ने उपनिषद् रूप गौओं को दोह कर यह गीतामृत निकाला। इससे उपनिषदों के आधार पर यह उपदेश था; नया ज्ञान नहीं दिया गया था । फिर यह श्रुति कैसे हो सकती है । यह दूसरी बात है कि उन्होंने श्रुतियों के उपदेश को ऐसा सजा दिया कि श्रुतियों के गूढ़ रहस्य भी प्रकट हो गये जो इससे पूर्व मुनियों और आचार्यों के ध्यान में भी न आते थे । इसीलिए तृतीय प्रवचन में हमने भगवत् धर्म, कर्मयोग, अव्यय पुरुष आदि का भगवद्गीता में ही प्रथम प्रस्फुट होना कहा है । वस्तुतः हैं वे सब श्रुति मूलक ही; इसलिए भगवद्गीता स्मृति ही कही जा सकती है । साक्षात् श्रुति नहीं । उपनिषदों का गूढ़ तत्त्वभूत सार होने के कारण आदर के लिए उसे उपनिषद् शब्द से पूर्वोक्त पुष्पिकाओं में कहा गया है । विद्यावाचस्पति गुरुवर श्री मधुसूदन ओझ जी ने उपनिषद् पद प्रयोग के दो कारण अपने गीता भाष्य के शास्त्र रहस्य प्रकरण में बताए हैं । एक यह कि इसे भगवद्गीतोपनिषत् कहा गया है । गीत शब्द बार-बार एक वाक्य को दुहराने में ही प्रयुक्त होता है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यह साक्षात् उपनिषद् नहीं; दोहराई हुई उपनिषद् है । और यह बात ठीक ही है। क्योंकि उपनिषदों के अर्थ ही इसमें दुहराए हुए हैं । इसलिए गीतोपनिषत् शब्द विरुद्ध नहीं पड़ता । दूसरी बात यह है कि उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ किसी विशेष बात का रहस्य बताना है । अंग्रेजी के Principle शब्द का जो तात्पर्य है, वही संस्कृत के उपनिषद् शब्द का भी है । छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि ब्राह्मणों के नाम उपनिषद् शब्द से इसीलिए कहे गए हैं कि उनमें कर्मकाण्ड की विधियों का और जगदुत्पत्ति आदि का रहस्य रूप मूल तत्त्व सिद्धान्त वर्णित है । ऐसा वर्णन यदि किसी स्मृति में भी आवे तो वह भी उपनिषद् शब्द से अवश्य कही जा सकती है । भगवद्गीता में जैसा कि हम प्रथम या द्वितीय प्रवचन में स्पष्ट कर आए हैं धर्म का रहस्य रूप मूल तत्त्व बताया गया है और अव्यय पुरुष या बुद्धियोग आदि का विस्पष्ट निरूपण इस रूप से इसीलिए हुआ है कि जिससे सबकी समझ में आ सके । श्रुति में यह विषय गूढ़ थे । इसीलिए रहस्यों का स्पष्ट विवरण करने के कारण गीता स्मृति होने पर भी उपनिषद् शब्द से कही जाती है । किन्तु उपनिषत् का आधार ले लेने के कारण वह स्मृति ही है । इसीलिए भगवान् ने स्थान-स्थान पर “ऋषिभिर्बहुधा गीतम्” (ऋषियों ने यह विषय अनेक प्रकार से कहा है) इत्यादि रूप से अन्य ऋषि आदि के कथन को प्रमाण रूप से उपस्थित किया है । इससे भगवान् ने ही इसकी स्मृति रूपता स्थापित कर दी ।

एक और भी विशेष बात है । प्रथम प्रवचन में कह आये हैं कि भगवान् ने उपदेश दिया और श्री वेदव्यास जी ने इसका ग्रन्थ रूप में ग्रन्थन किया । भगवान्

वेदव्यास इसके उपदेशों का लाभ सबको पहुँचाना चाहते थे । श्रुति का अधिकार सबको नहीं होता । जिनका उपनयन संस्कार हो गया हो ऐसे द्विजाति ही श्रुति के अधिकारी होते हैं । इसलिए यदि व्यासदेव भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में ही श्रुति रूप से इसे प्रकट करते तो उपनीत द्विजों से अतिरिक्त सर्वसाधारण इसका लाभ न उठा सकते । कोई भी इस उपदेश के लाभ से वंचित न हो, इसलिए उन्होंने अपने शब्दों में स्मृति रूप में ही उसे प्रकट किया । इतना ही नहीं, जहाँ-जहाँ गीता में उपनिषदों के वाक्य ही उद्धृत हुए हैं, उनमें भी थोड़ा शब्दों का परिवर्तन कर दिया है जिससे वे श्रुति रूप न रहें और सर्वसाधारण उनसे लाभ उठा सके । भगवान् व्यास जी ने जैसे वेदों का विभाग महाभारत व पुराणों का निर्माण आदि महत्वपूर्ण कार्य साहित्य क्षेत्र में किये इसी प्रकार सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी उनके कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् व्यास, साहित्यिक क्षेत्र की भाँति, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी एक प्रमुख नेता थे और इन दिशाओं में भी उनकी कृति बहुमूल्य है ।

उस युग में वेदाध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन नामों से प्रसिद्ध द्विज-मात्र को था । शूद्र और स्त्री वर्ग वेदाध्ययन में अधिकृत नहीं थे । ब्राह्मण आदि तीन वर्गों में भी जिनका नियत समय पर या विधिपूर्वक उपनयन संस्कार न हुआ हो, वे वेदाध्ययन के अधिकार से बहिष्कृत कर दिए जाते थे । यह सामाजिक नियम समाज और व्यक्तियों के हित के लिए ही था, द्वेषमूलकता इस नियम में नहीं थी, जैसा कि आजकल समझा जाता है । गम्भीर विद्या यदि अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनता के हाथ में दी जाए तो वह उससे कोई लाभ नहीं उठा सकती । उसके समय की हानि तो होगी ही, बुद्धि पर अनुचित और अधिक दबाव पड़ने से बुद्धि के और अधिक बिगड़ जाने का भी भय रहता है, वैसे ही जैसे मंदग्नि वाला पुरुष अधिक दुर्जर अन्न नहीं पचा सकता, और ऐसा अन्न खा लेने पर लाभ के स्थान में अधिक हानि ही उठाता है, अथवा जैसे दुर्बल पुरुष यदि अधिक व्यायाम करने लगे तो उसके शरीर की पुष्टि न होकर उलटी क्षीणता आने लगती है । इस प्रकार अल्प बुद्धि वालों को गम्भीर विषयों के चिन्तन से बचाना भी उन्हीं के हित में है । द्वेष का इसमें लेश मात्र भी नहीं । इसके अतिरिक्त अयोग्य मनुष्यों के हाथ में जाने से विद्या की भी हानि होती है । वह छिछली हो जाती है । भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के योग्य विद्वानों के (एनिविसेन्ट आदि के) भी ऐसे सिद्धान्त प्रकाशित हुए हैं कि अति गम्भीर विद्या अनधिकारियों के हाथ में नहीं जानी चाहिए । ऐसा होने पर दोनों की हानि होती है, इत्यादि । अस्तु, इसीलिए पहिले बुद्धि का संस्कार कर फिर उसमें गम्भीर ज्ञान का आधार भारतीय संस्कृति में चला है । संस्कार का महत्व हम प्रथम प्रवचन में बतला आये हैं । इससे हितदृष्टि से ही यह नियम बना था । वर्तमान

में भी पाश्चात्य विद्वानों में भी सुविख्यात विदुषी एनीवेसेण्ट ने कई जगह अपने उपदेशों में कहा था कि अनधिकारी के हाथ में जाने से विद्या विकृत हो जाती है । और आधुनिक कई एक मनोविज्ञान के विश्लेषणों से भी यह सिद्धान्त प्रकट किया जाता है कि मन्द बुद्धि मनुष्यों को यदि उच्च शिक्षा दी जाय तो उनमें पापाचार बढ़ेगा और वे समाज के लिए अहितकर सिद्ध होंगे । ऐसे ही कारणों से स्त्री शूद्रादि को वेद जैसे गम्भीर विज्ञान को पढ़ाने का निषेध था ।

फिर भी इस नियम का यह परिणाम तो हुआ ही कि जनता का एक बहुत बड़ा समुदाय ज्ञान से वंचित रह गया । यह बात भगवान् व्यास के अन्तःकरण में बहुत खटकती थी । गम्भीर ज्ञान को भी सरल रूप देकर समस्त वर्गों में उसका अधिकाधिक प्रचार वह निरन्तर चाहते थे । इसी उद्देश्य से महाभारत और पुराणों की रचना में स्पष्ट लिखा है—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।

इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥

अर्थात् स्त्री, शूद्र और यथाविधि उपनयन संस्कार से रहित द्विज लोग वेद को पढ़-सुन नहीं सकते, इसलिए व्यास मुनि ने कृपा कर महाभारत की रचना की है।

महाभारत और पुराण भी उन्होंने ऐसे ही एक व्यक्ति को पढ़ाए, जो वेद का अधिकार नहीं रखता था । इससे भी उनका उद्देश्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वह वेद के अधिकार से शून्य जातियों में भी ज्ञान का प्रसार चाहते थे और किसी न किसी तरह उन जातियों के योग्य व्यक्तियों को भी उचित सम्मान दिलाना चाहते थे। उसका प्रतिफल भी खूब प्रकट हुआ । सूत जाति के रोमहर्षण और उग्रश्रवा ने वह सम्मान पाया, जो बड़े-बड़े ब्राह्मणों को भी दुर्लभ था ।

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है कि उस समय धार्मिक असहिष्णुता समाज में बढ़ रही थी । भिन्न-भिन्न दर्शनों के भिन्न-भिन्न मतों का प्रचार हो जाने से उनके अनुयायी अलग-अलग समुदायों में बह रहे थे तथा कर्म, उपासना और ज्ञान भी जुदे-जुदे पन्थ बनकर समाज में भेदभाव फैला रहे थे । ज्ञानी उपासकों की निन्दा करते, उपासक कर्मकाण्डियों को छोटा समझते तथा कर्मकाण्डी और उपासक ज्ञानियों को ढोंगी कहते थे । अति होने पर वह विभिन्नता भी समाज के लिए घातक सिद्ध होती । यह खतरा भगवान् वेदव्यास की गम्भीर दृष्टि से बचा नहीं था । इस खतरे को मिटाने का उन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता में खूब प्रयत्न किया है ।

महाभारत युद्ध में भगवान् कृष्ण का अर्जुन के प्रति जो गीतोपदेश था, उसे व्यासदेव ने ऐसा सजाकर महाभारत में रखा है कि सम्पूर्ण वाङ्मय उससे देदीप्यमान हो गया । कर्म, उपासना और ज्ञान की ऐसी एक लड़ी बांधी गई है कि उनके परस्पर विरोध का कोई स्थान ही नहीं रहता । सब एक सूत्र में बंध गए हैं ।



इसी प्रकार ब्रह्म सूत्र में अपना अलग-अलग राग अलापने वालों को ऐसी फटकार दी गई है कि भिन्नता लेकर वे खड़े ही नहीं हो सकते। व्यास जी का उद्देश्य यही था कि सब मार्ग एक सूत्र में बंधे रहें, परस्पर विरोधी रूप से कोई खड़ा न हो।

उनका कथन है कि उपनिषदों का जो तत्त्व निरूपण है, वही परमार्थ है। केवल शुष्क तर्क से अटकल लगाने वाले दर्शन तत्त्व तक नहीं पहुँच सकते।

व्यास भगवान् ने धर्म के ऐसे ही अंगों पर विशेष जोर दिया है, जिनमें वर्णजाति का भेद रुकावट न डाले, मनुष्य मात्र का समान रूप से जिन पर अधिकार रहे। भगवद्भक्ति, नाम संकीर्तन, तीर्थ, व्रतोपवास आदि का ही विस्तृत संग्रह उन्होंने पुराणों में किया। इन धर्मों में कोई भी वर्णजाति का भेद-भाव नहीं रहता। श्रद्धालु मनुष्यमात्र उनका आचरण कर लाभ उठा सकते हैं। सच पूछिए तो आज की हिन्दूजाति का संगठन इन्हीं पर निर्भर है।

तीर्थों, मन्दिरों, और व्रतोत्सवों में ही समाज का प्रत्यक्ष रूप दृष्टि में आता है—और इन्हीं के आधार पर आज भी हिन्दू संस्कृति टिकी हुई है। यह भगवान् वेदव्यास जी की ही कृपा है। इन बातों का सूक्ष्म विचार करने से स्पष्ट अनुमान होता है कि वे कितने बड़े सामाजिक नेता थे। समाज संगठन का कैसा बीजवपन उन्होंने किया। वह बीज आज भी पुष्पित-फलित दशा में दृष्टिगोचर होता है।

साहित्य क्षेत्र का इतना भार उठाते हुए भी उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक कार्यों के लिए सुदूर देशों का भ्रमण किया, जिसका वृत्तान्त पुराणों में पाया जाता है। यह भी पुराणों से सिद्ध होता है कि उनका एक मण्डल था, जहाँ कहीं धर्म एवं संस्कृत पर आघात सुनते, वे मण्डल सहित वहाँ पहुँच जाया करते थे और यथासम्भव धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए प्रयत्न करते। ईरान आदि अन्यान्य देशों के इतिहासों से भी यह पता चला है कि व्यासजी समय-समय पर वहाँ भी पहुँचते थे, तथा पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त वहाँ के लोगों को समझाते थे।

भारत में तो संभवतः ऐसा कोई पर्व-उत्सव हुआ हो जहाँ व्यासदेव उपस्थित न रहे हों। समाज के नेता को भिन्न-भिन्न देशों का भ्रमण करना ही चाहिए। तभी वह समाज संगठन में सफल हो सकता है।

राजनीति के क्षेत्र में भी उनके कार्य अल्प नहीं हैं। उस युग में हस्तिनापुर का पुरुवंशियों का राज्य सबसे प्रतिष्ठित माना जाता था। इस राज्य की जब सन्तान के अभाव से दुर्दशा उपस्थित हुई तब व्यासदेव ने ही अपने प्रभाव से उसे पुनः प्रतिष्ठित किया। जरासंध आदि दुष्ट राजाओं को भी जो औरों को उत्पीडित करते या संस्कृति का अधःपात करते थे, हस्तिनापुर राज्य द्वारा दण्ड दिलाने का व्यासजी का ही आयोजन था। इसी के लिए उन्होंने राजसूय यज्ञ करने के लिए युधिष्ठिर को प्रोत्साहित किया

था, जिससे कि दिग्विजय द्वारा दुष्ट राजा दबा दिए जाएँ। आगे चलकर जब इस राज्य में ही धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों में कलह छिड़ गया, तब उसे शान्त करने का व्यासदेव ने बहुत प्रयत्न किया। उनका बार-बार धृतराष्ट्र के पास जाना और उन्हें बहुत तरह समझाना महाभारत में खूब मिलता है। किन्तु, जब उन्होंने इस कार्य में सफलता न देखी और यह समझ लिया कि दुर्योधन हठी है और धृतराष्ट्र पुत्र के वश में हैं, तब उन्होंने पाण्डवों को सहायता देकर उन्हें बलवान् बनाना और उनके द्वारा दुर्योधनादि को दण्ड दिलाना उचित समझा। इसी उद्देश्य से वनवास काल में पाण्डवों के पास जाकर उन्होंने अर्जुन को मंत्रोपदेश दिया; तपस्या की विधि बताई और उसे हिमालय में तप करने के लिए भेजा, जिससे अर्जुन को अतुल शक्ति प्राप्त हुई और वह महाभारत का संग्राम जीत सका। कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में भी उनका बार-बार आना जाना मिलता है। वे अभिमन्यु के वध से अत्यन्त संतप्त युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान के लिए गये थे। द्रोणाचार्य के वध के अनन्तर भी उनका सेना में जाना और अर्जुन को शतरुद्रीय का उपदेश देना पाया जाता है।

इतने भयंकर युद्धस्थल में आवागमन किसी उग्र तपस्वी और राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले का ही हो सकता है। पाण्डवों के बाद भी परीक्षित और जनमेजय के काल तक व्यासदेव जाते-आते और उपदेश देते रहते थे। जनमेजय एक प्रसंग में अड़ गये थे कि आप जैसे विज्ञ नेता के उपस्थित रहते भी महाभारत युद्ध में इतना जनसंहार क्यों हुआ, आपको तो उसे अवश्य रोकना चाहिए था। व्यास जी ने उत्तर दिया कि भाई हमने बहुत प्रयत्न किया, किन्तु अवश्यंभावी वस्तु को काई टाल नहीं सकता उस समय ऐसा होना ही था, वह होकर ही रहा।

जब जनमेजय ने बहुत हठ किया कि आप जैसे नेता तो हर तरह बुराई टाल सकते हैं, भावी कोई वस्तु नहीं, यत्न से सब कुछ हो सकता है, तब व्यासजी ने बड़े आवेश से कहा था कि वह तो जो होना था सो हो गया, अब मैं तुम्हें आगे का भविष्य बतलाता हूँ। तुम्हीं पूरा बल लगा कर उसे टालने का यत्न करो।

उस समय जो भविष्य व्यासदेव ने बताया उसे बहुत यत्न करके भी जनमेजय टाल न सके। अस्तु, प्रकृत में इतना ही कहना था कि भगवान् कृष्ण के उपदेशों का ग्रन्थ ग्रन्थ रूप में व्यासजी ने किया है और उन्होंने समाज के सब प्रकार के व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने के लिए इसे स्मृति का ही रूप दिया है। व्यासजी के ग्रथित करने के कारण ही यह स्वतः स्मृति हो गई। स्वयं द्रष्टा का वाक्य नहीं रहा; अन्य के वाक्य का स्मरण कर अन्य ने ग्रन्थ किया, यह स्मृति का लक्षण इसमें आगया।

अब प्रश्न यह होता है कि जब व्यासजी ने ही भगवद्गीता का ग्रन्थ किया था तो उन्होंने अपने ब्रह्म सूत्रों में स्मृति नाम से उसे प्रमाण रूप में उपस्थित क्यों किया।

अपने ही वाक्य को तो कोई भी अपनी उक्ति में प्रमाण रूप से उपस्थित नहीं कर सकता। इसका उत्तर यही है कि भगवान् कृष्ण की उक्ति मानकर ही उन्होंने इसे प्रमाण रूप से उपस्थित किया है। भगवद्गीता में जो विषय है वह तो कृष्ण का ही कहा हुआ है इसलिए उसके द्वारा व्यासजी अपनी उक्ति को प्रमाणित करें तो इसमें कोई भी अनौचित्य नहीं हो सकता। हम पूर्व ही श्रुति और स्मृति के विवेचन में कह आए हैं कि श्रुति में शब्दों पर ही आग्रह रहता है। शब्दों का परिवर्तन हो जाने पर ही श्रुतित्व जाता रहता है। वहाँ शब्द भी खास द्रष्टा के ही होने चाहिए। किन्तु स्मृति में विषय की रक्षा ही आवश्यक है। शब्दों का आग्रह नहीं। इसलिए शब्द व्यासजी के होने पर भी उपदेश का विषय भगवान् कृष्ण का कहा हुआ है अतः गीता भगवान् कृष्ण की ही उक्ति मानी जाती है और उसे व्यासजी अपने सूत्रों में प्रमाण रूप से उपस्थित करें तो इसमें कोई विरोध नहीं होता। आजकल कई विद्वान महाभारत आदि का प्रणेता कृष्णद्वैपायन व्यास को और ब्रह्म सूत्रों का प्रणेता बादरायण व्यास को बताकर इन दोनों को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं वह उनका कथन भारतीय परम्परा के विरुद्ध है। भारतीय परम्परा में एक ही व्यास के अनेक नाम माने जाते हैं। व्यक्ति भेद उनमें नहीं माना जाता। कृष्ण उनका व्यक्तिगत नाम है और सब नाम भिन्न-भिन्न कारणों से प्रसिद्ध हुए हैं। वेदों का व्यसन अर्थात् विभाग करने के कारण व्यास नाम से प्रसिद्धि हुई। द्वीप में उत्पन्न होने के कारण वे ही द्वैपायन कहलाये और बदरीवन में तपस्या करने के कारण उनकी ही बादरायण नाम से प्रसिद्धि हुई। इन नामों के भेद मात्र से व्यक्ति भेद की कल्पना केवल कल्पना मात्र है। इसके अतिरिक्त महाभारत और गीता के मंगल रूप से पढ़े जाने वाले पद्यों में तो बादरायण नाम है भी नहीं। वहाँ द्वैपायन व्यास आदि ही नाम मिलते हैं। जैसा कि गीता के मंगल पद्यों में हम कह आए हैं। गीता के तेरहवें अध्याय में ब्रह्मसूत्र का नाम आता है। इससे ब्रह्मसूत्रों की गीता से प्राचीनता सिद्ध होती है फिर ब्रह्मसूत्रों में स्मृति पद से गीता के वाक्यों का ग्रहण कैसे? इस शंका का समाधान तेरहवें अध्याय के उस श्लोक के व्याख्या में ही किया जायगा। यहाँ केवल इस प्रवचन का सारांश यही है कि भगवद्गीता के उपदेश साक्ष्य भगवान् कृष्ण हैं और ग्रन्थ रूप ग्रथन कर महाभारत में सम्मिलित करने वाले भगवान् व्यास हैं। सर्वसाधारण को लाभ पहुँचाने के लिए इसे स्मृति रूप ही रखा गया है।

इस प्रवचन में हमने कहा है कि भिन्न-भिन्न दर्शनों के कारण उनके अनुयायी पुरुषों में परस्पर संघर्ष होने से समाज के विद्वानों में विरोध-सा बढ़ रहा था। उसे भी व्यास भगवान् ने अपने वेदान्त सूत्रों द्वारा दूरकर एक उपनिषत् प्रतिपाद्य दर्शन को ही मुख्य ठहराया और भगवद्गीता के प्रवचनों में भी स्थान-स्थान पर भिन्न दर्शनों की चर्चा आवेगी, इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ सब दर्शनों का भी अति संक्षिप्त सामान्य परिचय करा दिया जाय।

जिनमें आत्मा परमात्मा आदि का निरूपण है, जगत् के मूलतत्त्व की खोज की गई है, जगत् की उत्पत्ति एवं अपने मन्तव्य के आधारभूत प्रमाणों का निरूपण भी जिनमें है, उन शास्त्रों को दर्शन शास्त्र नाम से कहा जाता है । श्रुति में आदेश है कि “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः”, अर्थात् आत्मा का ही दर्शन करो यह विधान किया गया । इसके उपाय भी श्रुति ही बताती है कि श्रवण करो मनन करो और निरन्तर ध्यान करो, तब दर्शन होगा । इसका अनुवाद स्मृति में किया गया कि—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।

मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥

अर्थात् श्रुति वाक्यों से आत्मा का श्रवण करो, श्रुति वाक्यों का किस प्रकार के आत्मा के प्रतिपादन में तात्पर्य है इस प्रकार श्रुति वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय कर लेना तक श्रवण की सीमा में आ जाता है । श्रुति का तात्पर्य समझकर उस पर उपपत्ति अर्थात् युक्तियों से विचार करना मनन कहा जाता है । जब युक्तियों से भी निश्चय हो गया, तब उसका निरन्तर ध्यान करना—अर्थात् चित्तवृत्ति को उसी में स्थापित करना “निदिध्यासन” कहलाता है । इनसे आत्म दर्शन हो जाता है । दर्शन शब्द का अर्थ आँख से देखना भी है, और ज्ञान सामान्य में भी दर्शन का प्रयोग होता है, एवं विस्पष्ट ज्ञान भी दर्शन शब्द का वाच्य है । आत्मा रूपादि रहित है इसलिये उसका चाक्षुष ज्ञान तो हो ही नहीं सकता, सामान्य ज्ञान, अर्थात् सुनी-सुनाई बात से कोई लाभ नहीं, इसलिये तीसरा अर्थ विस्पष्ट ज्ञान ही यहाँ अभिप्रेत है । उक्त तीनों कारणों से आत्मा का विस्पष्ट ज्ञान हो जाता है, जैसे आँख से देखी हुई वस्तु में फिर कोई भ्रम सन्देह आदि का प्रसंग नहीं रहता इसी प्रकार का भ्रम सन्देह आदि से रहित आत्मा का ज्ञान हो जाना ही आत्म दर्शन है । यहीं से दर्शन शब्द की प्रवृत्ति हुई । विस्पष्ट ज्ञान के साधन उक्त तीनों श्रवण मनन आदि भी दर्शन कहलाये, उनमें भी निदिध्यासन तो केवल मन बुद्धि का व्यापार है, उसका शब्द से सम्बन्ध नहीं और श्रवण केवल परोक्ष ज्ञान का उत्पादक है, इसलिए मनन ही दर्शन के कारणों में प्रधान समझा गया, और युक्ति पूर्वक सपरिकर आत्मा का निरूपण करने वाले शास्त्र ही दर्शन नाम से कहलाने लगे ।

दर्शन शास्त्र छः हैं, ऐसी बहुत पुरानी प्रसिद्धि चली आ रही है । बहुत ग्रन्थकारों ने उन छः की गणना इस प्रकार की है— न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त । ये छहों दर्शन वेद को मुख्य प्रमाण मानते हैं, किन्तु विशेष विचार के पश्चात् यह गणना उपयुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योंकि न्याय और वैशेषिक पृथक्-पृथक् दर्शन नहीं कहे जा सकते । उन दोनों में आत्मा परमात्मा का स्वरूप एक सा ही माना गया है । पदार्थों की गणना में और प्रमाणों की गणना में

कुछ भेद बताया जाता है किन्तु वह भी नाम मात्र का भेद है । वस्तुतः बात ऐसी है कि न्याय कोई स्वतन्त्र दर्शन नहीं, उसमें तो विचार करने के नियम बताये गये हैं । वादी-प्रतिवादी रूप से जो विचार अर्थात् विवाद किया जाय, उसके आवश्यक नियमों का निरूपण “गौतम” के न्याय में किया गया है, और उसी विचार में जिन-जिन बातों की आवश्यकता है उनकी गणना आरम्भ में की गई है । अब विचार की पद्धति बिना उदाहरण के समझाई नहीं जा सकती इसलिये उदाहरण रूप में उन्होंने “कणाद” के वैशेषिक दर्शन के तत्त्वों को ले लिया, उनको ही अपनी युक्तियों से दृढ़ किया । इसलिए न्याय को सब दर्शनों का पूर्वांग कहा जा सकता है । उसे दर्शनों की गणना में पृथक् रूप से लेना उचित नहीं । यदि लेना ही हो तो यह कह कर ले सकते हैं कि न्याय और वैशेषिक मिलाकर एक दर्शन है । यदि उनमें कुछ अंशों में भेद भी माना जाय तो भी इससे भी एक दर्शन की दो शाखा ही सिद्ध होगी, पृथक्-पृथक् दो दर्शन उन्हें किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता । ऐसी ही स्थिति सांख्य और योग की भी है । सांख्य के आचार्य “कपिल” और योग के “पतंजलि” माने जाते हैं । इन दोनों के तत्त्व निरूपण भी समान हैं । इसलिए इनको भी पृथक्-पृथक् दर्शन नहीं कहा जा सकता । जैसे न्याय को सब दर्शनों का पूर्वांग कह सकते हैं, इसी प्रकार योग को सब दर्शनों का उत्तरांग कहना उचित होगा । क्योंकि उसमें निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करने की विधि बताई गई है । ध्यान के आधार के लिए योग में ईश्वर भी माना गया । तत्त्व निरूपण दोनों शास्त्रों का समान ही हैं । इसलिये ये दोनों भी मिलाकर एक दर्शन ही कहे जा सकते हैं, या अधिक करें तो इन दोनों को भी एक दर्शन की दो शाखा कह लीजिये । एक बात यहाँ और समझ लेने की है कि भगवद्गीता में सांख्य और योग शब्दों का प्रयोग और ही भाव से हुआ है । उसका निरूपण जिन पद्यों में ये शब्द आवेंगे उनके प्रवचन में ही स्पष्ट किया जायेगा ।

पूर्व मीमांसा तो कर्मकाण्ड की विधियों का वाक्यार्थ बताने के लिए ही प्रस्तुत हुई, उसे दर्शनों की श्रेणी में गिनना तो एक साहस जैसा दिखाई देता है । यद्यपि मीमांसा के भाष्य और उसकी व्याख्या आदि में दर्शनोक्त आत्मादि तत्त्वों का भी निरूपण कहीं कहीं प्राप्त होता है किन्तु वह केवल प्रसंगागत है । सूत्रकार ने दार्शनिक तत्त्वों के सम्बन्ध में सूत्र रचना नहीं की, व्याख्याता विद्वानों ने कहीं कहीं दार्शनिक तत्त्वों के सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त कर दिये हैं, वे कहीं अन्य दर्शनों की छाया मात्र हैं, कहीं स्वतन्त्र भी हैं, जो उन विद्वानों के ही मत माने जा सकते हैं । इससे पूर्व मीमांसा का दर्शनत्व सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सूत्रकारों का कथन ही मुख्य माना जाता है । मीमांसा के सूत्रकार जैमिनि की प्रवृत्ति आत्मादि तत्त्व निरूपण के लिए नहीं देखी जाती है । वे केवल कर्मकाण्ड की विधियों के सन्देह निवारण के लिए ही प्रवृत्त हैं । यद्यपि उत्तर मीमांसा का भी विषय उपनिषद् वाक्यों का विचार

ही मुख्य है, किन्तु वहाँ सूत्रकार भगवान् व्यास ने ही युक्ति पूर्वक आत्मादि तत्त्व ज्ञान को स्थान दे दिया है, और अन्यान्य दर्शनों का खण्डन भी बड़े विस्तार से किया है । इसलिये उसे दर्शनों की श्रेणी में गिनना अवश्य प्राप्त हो गया, अस्तु ! इस प्रकार वेद के अनुयायी दर्शन तीन ही सिद्ध होते हैं— वैशेषिक, सांख्य और उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त । तब छः संख्या की पूर्ति यदि अभीष्ट हो तो उन तीन दर्शनों को भी स्थान देना पड़ेगा जो कि वेद को प्रमाण नहीं मानते । वे हैं— चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त । इनकी अवान्तर शाखाओं की गणना बहुत हो जाती है, उतने विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है । यहाँ इन छः के ही मोटे मोटे सिद्धान्त संक्षिप्त रूप में बता दिये जाते हैं ।

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में इन दर्शनों का क्रमिक विकास, विचार करने से स्पष्ट हो जाता है । देखिये—सबसे पहिला चार्वाक दर्शन स्थूल शरीर को ही “आत्मा” कहता है । इसके मत में केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है । इन्द्रियों से जानने योग्य वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी वस्तु की सत्ता यहाँ नहीं मानी जाती। आंख से दीखने वाला स्थूल शरीर ही आत्मा है, और जिनका ऐश्वर्य प्रत्यक्ष देखा जाता है वह राजा ही ईश्वर या परमात्मा है । अशिक्षित मनुष्यों के प्रारम्भिक विचार प्रायः इसी प्रकार के होते हैं । इसीलिये इसे लोकायत दर्शन भी कहा जाता है । लोक में आयत अर्थात् फैला हुआ । संसार में सुख से रहना खूब भोग विलास करना यही जीवन का लक्ष्य इस मत में माना जाता है । इनका एक श्लोक प्रसिद्ध है कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।  
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थात् मनुष्य जब तक जीवे तबतक सुखपूर्वक जीता रहे, कदाचित् सुख भोगने के लिए अपने पास पैसा न हो तो ऋण लेकर भी घी पीता रहे । हम यदि किसी का ऋण लेकर मर जायेंगे तो अग्रिम जन्म में हमें देना पड़ेगा ऐसी कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि जो शरीर हमारे सामने ही जलकर भस्म हो गया वह फिर से ऋण चुकाने कहाँ से आयेगा । इसलिये जो खा पी लेंगे वह अपना है । लोकमान्य तिलक ने अपने “गीतारहस्य” में इस मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि “चार्वाक चाहे कितना ही नास्तिक था किन्तु था आखिर भारतीय, इसलिये उसके मुख से ऋण लेकर घी पीवो ऐसा ही निकला, यदि कोई यूरोपियन गोरा सैनिक लिखता तो “ऋणं कृत्वा सुरां पिबेत्” लिखता” अर्थात् ऋण लेकर मद्य पिया करो । ऐसी ही प्रवृत्ति उन लोगों में देखी जाती है । अस्तु, इस मत की चर्चा गीता के सोलहवें अध्याय में आसुरी संपत्ति के निरूपण में आई है । इन्द्रियों से प्रत्यक्ष गृहीत होने वाले पृथिवी, जल, तेज, वायु नाम के चार तत्त्व ही इस मत में माने जाते हैं ! इन्हीं के परस्पर संयोग से चेतना शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे कि वृक्ष की बकल और गुड़ आदि

के संयोग से मद शक्ति का आ जाना प्रत्यक्ष देखा जाता है । अथवा सड़े हुए अन्न में कृमिरूप चेतन जीवों का उत्पन्न हो जाना भी प्रत्यक्ष है । इसी प्रकार रज और वीर्य के कालवश सड़ जाने पर चेतन शक्ति का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है । गीता के द्वितीयाध्याय में “अथचैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्” इस पूर्वपक्ष पद्य में भी इस मत का संकेत प्राप्त होता है । इस दर्शन ने इतना ही किया कि प्राकृत जन जो पुत्र कलत्र, धन संपत्ति, गृह आदि में भी आत्म बुद्धि रखते थे उसे संकुचित कर शरीर मात्र पर आत्म बुद्धि को स्थापित कर दिया ।

बौद्ध दर्शन इससे कुछ आगे बढ़ाता है । वह कहता है कि शरीर तो घट पटादि के समान पृथिव्यादि भूतों का बना हुआ है, इसे आत्मा कहने पर तो जड़ और चेतन का भेद ही विलुप्त हो जायगा, इसलिये चेतना में जो विशेषता है उसे ही आत्मा कहना चाहिये, वह विशेषता है बुद्धि—अर्थात् ज्ञानचेतनों में होता है अचेतनों में नहीं, अतः बुद्धि को ही आत्मा कहना उचित है, बुद्धि को आत्मा कहने के कारण ये “बौद्ध” कहे जाते हैं । बुद्धि क्षणिक है—अर्थात् क्षण-क्षण में बदलती रहती है । अभी हमें घट का ज्ञान है, दूसरे क्षण में मनुष्य का हो सकता है, तीसरे क्षण में वृक्ष का ज्ञान आ जायगा । ज्ञान ही बुद्धि है अतः बुद्धि क्षण-क्षण में बदलने वाली सिद्ध हुई । बुद्धि से अतिरिक्त और कोई आत्मा मानने में प्रमाण नहीं, इसलिये आत्मा भी क्षणिक ही सिद्ध होता है । उस क्षणिक आत्मा का एक प्रवाह है, उसी प्रवाह के कारण प्राणी अपने आपको एक रूप ही माना करता है, या यों कहो कि “मैं नहीं हूँ” यह ज्ञान एक भ्रान्ति है, और उस भ्रान्ति का मूल क्षणिक विज्ञानों का प्रवाह है । जैसे हम सायंकाल एक दीपक जलावें और वह प्रातःकाल तक जलता रहे, तो सामान्य मनुष्य यही कह डालते हैं कि एक ही दीपक सायंकाल से प्रातःकाल तक जला, किन्तु विवेकशील मनुष्य किंचित् विचारते ही समझ जायगा कि दीपका एक नहीं था, प्रतिक्षण तैल दीपक शिखा रूप से परिणत होता रहा और पुरानी पुरानी दीप शिखा नष्ट होती रही, इसी प्रकार सायंकाल से प्रातःकाल तक वर्षा होती रही तो सामान्य मनुष्य यही समझते हैं कि एक ही बादल सब रात वर्षता रहा, किन्तु विचारक कभी ऐसा न कहेगा, क्योंकि बादल कोई पात्र नहीं है जिसमें जल भरा हुआ है और बूंद बूंद टपकता है, किन्तु बादल जल का समूह ही है, एक स्तर जब जल रूप होकर गिर जाता है तो दूसरे क्षण में दूसरा स्तर उसके स्थान में आ जाता है उसके अनन्तर तीसरा चौथा इत्यादि । इस प्रकार यह जलधर पटल भी क्षणिक ही सिद्ध होता है । जैसे नदी के किनारे बैठा हुआ पुरुष जितनी देर बैठा रहेगा उतनी देर तक अपने सामने जल को बराबर देखता रहेगा, किन्तु जो प्रथम क्षण में देखा था वह दूसरे क्षण में नहीं है, यह सबको ही मानना पड़ेगा। इन्हीं उक्त दृष्टान्तों के अनुसार संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं। वे प्रतिक्षण बदलते हैं, किन्तु प्रवाह होने के कारण उनमें एकता की प्रतीति हुआ

करती है जो कि भ्रान्ति ही मानी जा सकती है । प्रतिक्षण परिवर्तन होने के कारण ही सब पदार्थ पुराने पड़ जाते हैं, पुरानापन किसी एक वर्ष, दिन, घड़ी में नहीं आता, किन्तु प्रतिक्षण का परिवर्तन ही अधिक रूप में आ जाने पर प्रकट हो जाता है, ऐसी भ्रान्ति आत्मा के सम्बन्ध में भी हो रही है । क्षणिक विज्ञानों के प्रवाह को एक आत्मा की संज्ञा दे दी गई है । यों शरीरात्मवाद से उठ कर “बुद्धिवाद”, या “क्षणिकविज्ञानवाद” पर यह दर्शन पहुंचा । इसकी चार मोटी मोटी शाखाएं हैं, जिनके माध्यमिक, योगाचार आदि नाम हैं । किन्तु उतने विस्तार में पड़ने की यहां आवश्यकता नहीं, यहां तो संक्षिप्त परिचय मात्र देना है। उन्हीं अवान्तर में किसी ने पांच स्कन्धों को आत्मा कहा है । उन स्कन्धों के नाम हैं- रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार । विषय सहित इन्द्रियों को रूप स्कन्ध कहते हैं। उनका ज्ञान, विज्ञान कहलाता है। सुख दुःख को वेदना कहा जाता है। शब्द सहित ज्ञान को संज्ञा स्कन्ध कहते हैं, इनके द्वारा उत्पन्न होने वाले मदमानादि संस्कार स्कन्ध में आते हैं । इन पांचों का समुदाय ही आत्मा कहा जाता है। इनके अतिरिक्त आत्मा कोई नहीं । इस दर्शन में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान भी प्रमाण माना जाता है । एक जगह प्रवाह विच्छेद होकर दूसरी जगह प्रवाह प्रवृत्त हो जाना ही पुनर्जन्म है और दीपक बुझ जाने की तरह प्रवाह का बन्द हो जाना ही इनके यहां मोक्ष कहा जाता है । इसीलिये इनके दर्शन में मोक्ष का नाम “निर्वाण” भी है । निर्वाण शब्द का अर्थ बुझ जाना ही है । इस मत की चर्चा भगवद्गीता में आसुरी सम्पत्ति के प्रकरण में हुई है और द्वितीयाध्याय के पूर्व पक्ष रूप से आये हुए— “अथ चैनं नित्यजातं नित्यं या मन्यसे मृतम्” इत्यादि पद्य में भी इसका संकेत है, जो कि उन स्थानों के प्रवचनों में ही स्पष्ट किया जायगा।

बौद्ध दर्शन में जब बुद्धि को ही आत्मा कहा गया तो उस बुद्धि का परम उत्कर्ष जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, वे “बुद्ध नाम के तीर्थंकर ही यहां ईश्वर माने जाते हैं । ऐसे बुद्ध बहुत हुए हैं, यह इस मत में माना जाता है । अन्तिम बुद्ध गौतम बुद्ध थे जिनका पूर्णनाम “शाक्यसिंह” था । सांख्य दर्शन में बुद्धि के चार सात्विक रूप-धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य नाम से बताये गये हैं, और इनके विपरीत चार तामस रूप हैं जो क्लेश नाम से कहे जाते हैं । इनका विवरण हम आगे गीता के विषय विभाग के प्रवचन में करेंगे । सात्विक चारों रूप ईश्वर में भी रहते हैं, और उनका लोकातिग उत्कर्ष जिनमें हो वे ईश्वर की विभूति वा ईश्वरावतार माने जाते हैं । इनमें से वैराग्य भावना का गौतम बुद्ध शाक्यसिंह में अत्यन्त उत्कर्ष था, इसीलिये पुराणों में उन्हें अवतार कहा गया है । बुद्धदेव के उपदेशों में गीता के उपदेशों की छाया बहुत मिलती है, जैसा कि द्वितीय प्रवचन में विस्तार से कहा जा चुका है ।

अब तीसरा “जैन दर्शन” और आगे बढ़ता है । इस दर्शन के आचार्य कहते हैं कि बुद्धि कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं, वह तो एक गुण है, और उसके परिवर्तन, पर्याय



कहे जा सकते हैं । गुण निराश्रय नहीं रह सकता, गुण शब्द कहते ही यह जिज्ञासा हो जाती है कि किसका गुण । इसलिए गुण का आश्रय या गुणी कोई अवश्य मानना पड़ेगा । उस गुणी को ही आत्मा कहना चाहिए । बुद्धि सुख, दुःख आदि सब उस आत्मा के पर्याय अर्थात् अवस्था विशेष हैं । ये पर्याय अपने आश्रित आत्मा से भिन्न हैं या अभिन्न इस पर वे कहते हैं कि इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, यही कहा जा सकता है कि भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं, और भिन्नाभिन्न भी हैं । इन भेद-अभेद आदि का विस्तार करके ही वे इसके सात रूप बना लेते हैं, जिन्हें “सप्तभंगी” कहा जाता है । सभी बातों में उनका यह “सप्तभंगी” का क्रम चलता है, जिसे वे अपनी परिभाषा में “सप्तभंगीनय” कहते हैं । भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सातों तरंग उपपन्न हो जाते हैं । इन दृष्टियों का ही नाम उनकी परिभाषा में “नय” रखा जाता है । जैसा उनसे कोई पूछे कि पृथिवी जल आदि द्रव्य है या नहीं तो वे कहेंगे कि स्वक्षेत्र, स्वरूप आदिके अपेक्षा से है, परक्षेत्र पररूप की अपेक्षा से नहीं है अर्थात् पृथिवी रूप से पृथिवी है, जलरूप से वह नहीं है । दोनों रूपों को क्रम से बोलना चाहें तो है और नहीं दोनों बातें कही जा सकती हैं और दोनों रूपों को साथ साथ देखना चाहें तो कहा जायगा कि अनिर्वचनीय है । इस अनिर्वचनीयता को ‘है’, ‘नहीं’, इत्यादि पूर्वोक्त तीनों भंगों के साथ जोड़ा जाय तो सात भंग सिद्ध हो जायेंगे । इसी प्रकार कोई पूछे कि आत्मा नित्य है या अनित्य, तो उनका यही उत्तर होगा कि नित्य भी है, अनित्य भी है, नित्यानित्य भी है और अनिर्वचनीय भी है । इसी कारण इस दर्शन को “स्याद्वाद” या “अनेकान्तवाद” कहा जाता है । इस मत में प्रत्यक्ष और परोक्ष नाम के दो प्रमाण माने जाते हैं । आगे परोक्ष के कई अवान्तर भेद मानकर सब प्रमाणों का उनमें अन्तर्भाव कर लेते हैं । जगत् का कर्त्ता ईश्वर नहीं है, इस बात पर इस दर्शन का बहुत अभिनिवेश है । कर्त्ता खण्डन इस दर्शन के ग्रन्थों में अवश्य रहता है । अपने तीर्थकरों को ही ये सर्वज्ञ और ईश्वर कहते हैं । दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य अर्थात् कर्म में उत्तम हो तो तीनों मिलकर मुक्ति के साधन होते हैं । इन तीनों को ही यहां तीनरत्न कहा जाता है । यहां दर्शन नाम “श्रद्धान” का है । जैसा जिसका श्रद्धान हो वैसा ही उसे ज्ञान होता है, और वैसे ही फिर कर्म होते हैं । तत्त्व इस दर्शन में सात माने जाते हैं— जीव, अजीव, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा, और मोक्ष । जीव प्रसिद्ध ही है, अजीव नाम से पृथिवी जल आदि जड़ तत्त्व ले लिये जाते हैं । राग द्वेष आदि जिन कषायों के कारण कर्मों का जीव के साथ बन्धन हो जाता है वे “आस्रव” कहे जाते हैं । बिना आस्रव के बन्ध नहीं हो सकता । बन्ध को रोक देने वाले अहिंसा आदि “संवर” कहलाते हैं । जीव का बँधना बन्ध तो प्रसिद्ध ही है । जीव जब अपने कर्मों को अपने स्वरूप से बाहर झाड़ देता है तो वह झाड़ना निर्जरा कहलाती है, और निर्जरा के अनन्तर “मोक्ष” हो जाता है । मुक्त जीव एक स्थान विशेष पर पहुँच जाता

है, उसे “सिद्ध-शिला” कहते हैं । वहाँ पहुँचा हुआ जीव फिर लौटकर नहीं आता । इसप्रकार पारिभाषिक शब्दों की इस दर्शन में बहुत भरमार है । बिना इनके पारिभाषिक शब्द समझे इस दर्शन का तत्व समझना असंभव है । इनके “अनेकान्तवाद” या “स्याद्वाद” की तो गीता में कहीं चर्चा नहीं हुई, किन्तु राग-द्वेष रहने से ही कर्म बन्ध होता है, बिना राग-द्वेष के कर्म बन्धक नहीं होते, यह सिद्धान्त गीता में खूब ओत-प्रोत है। पूर्ण ज्ञान होने पर भी कर्म करना चाहिये यह भी गीता में माना गया है, और श्रद्धा के अनुसार ही ज्ञान कर्म आदि का संघटन होता है, यह क्रम भी गीता में देखा जाता है । इस प्रकार यहाँ वेद बाह्य दर्शनों ने शरीरातिरिक्त आत्मा का एक रूप बांध कर खड़ा किया । अब आगे वेदानुयायी दर्शनों की पारी आती है। उनमें सबसे प्रथम “वैशेषिक दर्शन” शरीर इन्द्रिय आदि से भिन्न आत्मा को प्रबल युक्तियों से सिद्ध करता है । उसका ही अनुसरण कर गौतम ने भी “न्यायसूत्र” में युक्तियों से आत्मा सिद्ध करने का प्रकरण विस्तार से लिखा है । इन दोनों सूत्रों में आत्मा को नित्य भी सिद्ध किया गया है । गुण और द्रव्य को ये पृथक्-पृथक् मानते हैं, इसलिये “स्याद्वाद दर्शन” में जो कहा गया था कि आत्मा, आत्मारूप से नित्य है और बुद्धि सुख दुःख पर्याय रूप से अनित्य है वह बात यहां नहीं रहती । ये कहते हैं कि बुद्धि, सुख दुःख आदि आत्मा के गुण हैं वे अनित्य हैं किन्तु आत्मा नित्य है। गुण जब सर्वथा भिन्न है, तो उनकी अनित्यता का प्रभाव उनके आश्रय द्रव्य पर कुछ नहीं पड़ सकता। जैसे शब्द अनित्य है, किन्तु उसका आश्रय आकाश नित्य है । यही क्यों, एक ही आम्रफल में रूप रस गन्ध आदि परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु आम्रफल वही रहता है । इस प्रकार इस दर्शन ने आत्मा का नित्यत्व भी प्रतिष्ठापित कर दिया । इस दर्शन में आत्मा का प्रत्यक्ष भी माना जाता है । इच्छा, सुख, दुःख आदि गुणों से विशिष्ट आत्मा का मन से प्रत्यक्ष होता है । वैसे प्रत्यक्ष से विशिष्ट आत्मा द्रष्टा और इच्छादि विशिष्ट आत्मा दृश्य हैं इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य के भेद का निर्वाह कर लेते हैं । इसके अतिरिक्त परमात्मा अर्थात् ईश्वर को भी यह दर्शन अनुमान से सिद्ध करता है । उसके गुणों को भी नित्य कहता है। ईश्वर या परमात्मा एक है, किन्तु जीवात्मा अनन्त हैं । इस दर्शन में नव द्रव्य, चौबीस गुण, पांच कर्म आदि माने जाते हैं । जाति को भी ये द्रव्य से पृथक् और नित्य मानते हैं । इस सिद्धान्त में परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानी जाती है । परमाणु भी नित्य है, क्योंकि द्रव्य का नाश अवयव विभाग से होता है। परमाणु में अवयव ही नहीं तब उनका विभाग और उस विभाग के द्वारा द्रव्य के नाश की संभावना ही कहाँ रही । इस दर्शन का बहुत विस्तार हुआ है । सैकड़ों ग्रन्थ इसके प्राप्त हैं और आगे चलकर इसमें भी शब्दों की परिभाषा ऐसी जटिल बनी है कि उसके समझने में ही विद्यार्थियों को बहुत वर्ष लग जाते हैं । प्रमाण इन्होंने चार माने हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द । शब्द प्रमाण में मुख्यतया वेद का ही ग्रहण किया जाता है । किन्तु आप्तोक्त लौकिक शब्द भी स्वतन्त्र

प्रमाण माना जाता है। सबसे उत्कृष्ट प्रमाण प्रत्यक्ष ही है। इसके “परमाणुवाद” आदि का तो गीता में कोई स्पर्श नहीं किन्तु आत्मा की नित्यता और बुद्धि सुख दुःख आदि का उसका गुण होना गीता में ग्राह्य हुआ है, किन्तु प्रक्रिया इससे भिन्न है।

सांख्य दर्शन ने आत्मा को और विशुद्ध किया। वे कहते हैं कि गुणों के अनित्य होने पर भी एक प्रकार से आत्मा पर अनित्यता का आभास आ जाता है, क्योंकि गुणों को द्रव्य से सर्वथा पृथक् नहीं कह सकते। गुण विशिष्ट एक ही रूप द्रव्य का रहता है, इस कारण आत्मा की विशुद्ध नित्यता प्रतिष्ठापित करने के लिए सांख्य ने बुद्धि, इच्छा, सुख-दुःख आदि को आत्मा का गुण नहीं माना। वे प्रकृति के विकास हैं। प्रकृति आत्मा से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व है, वही जगत् बनाती है। जगत् के निर्माण में आत्मा या ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं। जगत् केवल प्रकृति का परिणाम है, और भिन्न-भिन्न परिणाम होना प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है। प्रकृति के गुणों का आत्मा पर प्रतिबिम्ब मात्र होता है, किन्तु आत्मा, जिसका नाम इस दर्शन में पुरुष है वह प्रकृति से अपना भेद नहीं समझता, इसलिये प्रकृति के धर्म सुख दुःख आदि का अभिमान भी उसमें प्रतिबिम्बित होता है। इसी कारण संसार में बँधा रहता है। जो पुरुष प्रकृति का और अपना विवेक अर्थात् पृथक् भाव समझ जाता है वह मुक्त हो जाता है। भेद समझना भी प्रकृति का ही परिणाम है, पुरुष में उसका भी प्रतिबिम्ब मात्र ही है। इसीलिए कहा जाता है कि बन्धन या मुक्ति कराने वाली प्रकृति ही है। इस सिद्धान्त में भी वैशेषिक के समान पुरुष अनन्त हैं। परमात्मा या ईश्वर इस दर्शन में नहीं माना जाता। मुक्त पुरुषों की ही ईश्वर नाम से प्रशंसा कर दी जाती। योगदर्शन में यद्यपि ईश्वर माना गया है किन्तु योग साधना के लिए चित्त स्थिर करने में ही उसका उपयोग माना, जगत् की उत्पत्ति में ईश्वर का कोई सम्बन्ध योग सूत्र में भी नहीं माना गया। इस दर्शन में प्रमाण तीन ही माने जाते हैं। उपमान का वे शब्द वा अनुमान में अन्तर्भाव कर लेते हैं। इस दर्शन का गीता से बहुत सम्बन्ध है। प्रकृति के गुणों का और उनके प्रभाव का गीता में विस्तार से वर्णन मिलता है। प्रकृति के कर्मों को ही आत्मा अपना कर्म समझता है यह भी स्पष्ट कहा गया है, किन्तु प्रकृति की स्वतन्त्रता गीता में नहीं मानी गई। भगवान् ने यही कहा है— कि प्रकृति मेरी है, मेरी अध्यक्षता से ही जगत् की रचना करती है और प्रकृति के बन्धन से छुटकारा भी मेरी कृपा से ही हो सकता है। भगवद्गीता के समान ही पुराणों में भी प्रकृति की स्वतन्त्रता नहीं मानी गई है। ईश्वर की प्रेरणा से ही प्रकृति जगत् रचना करती है यही पौराणिक सिद्धान्त है। पूर्व कह आये हैं कि गीता में कई जगह सांख्ययोग पद आये हैं किन्तु उनका अर्थ व्याख्याकारों ने अन्य ही किया है, यह उन पद्यों के प्रवचन में ही स्पष्ट किया जायगा।

सबके अन्त में वेदान्त दर्शन है, उसका नाम ही वेदान्त है अर्थात् वेद नाम ज्ञान का है, उसका वहाँ अन्त हो जाता है। यह दर्शन शुद्ध रूप से उपनिषदों को ही

अपना आधार मानता है। शब्द प्रमाण ही इसमें मुख्य है, वहाँ भी अपौरुषेय शब्द अर्थात् वेद ही प्रमाण है। वेद के भी कर्म, उपासना, और ज्ञान के प्रतिपादक तीनों काण्डों में ज्ञान प्रतिपादक उपनिषदों को ही यह मुख्य प्रमाण मानता है। वेद ग्रन्थ के मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं। पहला मन्त्र और दूसरा ब्राह्मण। ब्राह्मण के कर्म, उपासना, ज्ञान के प्रतिपादक तीन भाग हैं— ब्राह्मण, आरण्यक, और उपनिषद्। इसी प्रकार वेद ग्रन्थ का सबसे अन्त का भाग उपनिषद् हुआ, वह वेदान्त कहलाया, इसीलिये उसके आधार पर प्रतिष्ठित दर्शन को भी वेदान्त नाम दिया गया। सांख्य में जो प्रतिबिम्ब रूप से सुख दुःख आदि को पुरुष नामक आत्मा में माना गया है, और पुरुष से भिन्न प्रकृति को स्वतन्त्र रूप से जगत् का उत्पादक माना गया है, एवं पुरुषों को अनन्त माना गया है, इन तीनों बातों को वेदान्त स्वीकार नहीं करता। संपूर्ण जगत् प्रकृति का प्रपंच है सही, किन्तु प्रकृति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, वह आत्मा की सत्ता से ही सत् कहलाती है। जैसे शुक्ति को कोई रजत समझ ले या रज्जु को सर्प समझ ले तो वहाँ रजत या सर्प की स्वयं सत्ता नहीं है किन्तु शुक्ति या रज्जु की सत्ता को ही रजत या सर्प ने ले लिया है। इसी प्रकार विचार करने पर कार्य की सत्ता भी कारण से पृथक् सिद्ध नहीं होती, कारण की सत्ता लेकर ही कार्य सत् कहलाता है, घट या पट, मृत्तिका या तन्तु की सत्ता से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते, यदि पृथक् सत्ता रखते होते तो मृत्तिका या तन्तु से पृथक् भी प्राप्त होते, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। इसलिये विचार करने पर घट या पट की मृत्तिका या तन्तु से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होता। इसी क्रम में चलते जाइये तो जो जिससे बना, उसकी सत्ता अपने कारण से पृथक् नहीं, तब मृत्तिका या पृथिवी की सत्ता जल से, जल की तेज से, तेज की वायु से, वायु की आकाश से, और आकाश की अहंतत्त्व से, उसकी आगे महत्तत्त्व और प्रकृति से, पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती, और प्रकृति का भी केवल आत्मा में आभास है, वह उसकी शक्ति मात्र है, आत्मा से पृथक् होकर कभी प्रतीत नहीं हो सकती। शक्ति शक्तिमान से पृथक् कभी नहीं मिलेगी, इसलिये प्रकृति या शक्ति की भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। आत्मा ही एक सत् है उसी की सत्ता को लेकर सब प्रपंच सत्तावान् बना है, अन्य की सत्ता से सत्तावान् पूर्वोक्त “शुक्ति रजत”, या “रज्जु भुजंग” को जैसे मिथ्या कहा जाता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच को भी मिथ्या ही समझना चाहिए। मिथ्या शब्द का भी मुख्य अर्थ यही है कि जो दूसरे के आधार पर ही स्थिर हो, अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखता हो। क्योंकि मिथ्या शब्द मिथ् धातु से बना है और उसका अर्थ— “दूसरे से संगत” यही माना जाता है। इस प्रकार इस दर्शन में एक आत्मा ही वास्तविक रूप में है और सब कल्पित हैं। इसीलिये इसे “अद्वैत दर्शन” कहा जाता है—अर्थात् यह एक ही तत्त्व को स्वीकार करता है, जब कोई दूसरी बात है ही नहीं जो आत्मा को कलुषित करे तब आत्मा की पूर्ण शुद्धता और देश काल

आदि सम्बन्ध का उसमें अभाव इस दर्शन में विस्पष्ट हो जाता है, इसलिए आत्मा सदा है और सब जगह है, यह आत्मा का परम उत्कर्ष इस दर्शन में जाकर प्रतिष्ठित हो जाता है । ऐसा तत्त्व एक ही हो सकता है क्योंकि दो होते ही उनका देश काल सम्बन्ध आ पड़ता है, इसलिये यहाँ आत्मा एक ही है । परमात्मा जीवात्मा आदि नाम उसके उपाधि कल्पित हैं ।

इस दर्शन के अवान्तर भेदों का निरूपण हम विषय विभाग के प्रवचन में करेंगे । भगवद्गीता इसी दर्शन का प्रधान ग्रन्थ है । अन्यान्य दर्शनों का तो उसमें प्रसंगागत संकेत मात्र आ गया है ।

इस प्रकार क्रम-क्रम से ऊपर बढ़ाते हुए भिन्न-भिन्न दर्शन आत्मा को ही सब जगत् का मूल और सर्वथा विशुद्ध स्थापित कर देते हैं । इस विचार से भारतीय दर्शन परस्पर विरुद्ध नहीं है, किन्तु एक उच्च प्रासाद पर चढ़ाने वाली क्रमिक सीढ़ियाँ हैं। एक सीढ़ी पर पूरी तरह पाँव जमाये बिना आगे झट पट चढ़ जाने पर गिरने की संभावना रहती है इसलिये पूरा पैर जमाने को एक एक दर्शन ने दूसरों का खण्डन कर अपने सिद्धान्त को खूब प्रतिष्ठापित किया है । विचारशील मनुष्य एक एक सीढ़ी पर पूरी तरह पैर जमाता हुआ अर्थात् एक एक के सिद्धान्त खूब समझता हुआ क्रम से आगे बढ़ता जाय तो परम तत्त्व पर पहुँच सकता है, और परस्पर की उलझन में ही रह जाय या नीचे की सीढ़ी को ही गन्तव्य स्थान मान बैठे तो उसका दुर्भाग्य ।

सब क्रमिक सिद्धान्तों के संकेत अनादि सिद्ध वेद में ही प्राप्त हो जाते हैं। उनमें से एक एक संकेत का ग्रहण कर आचार्यों ने उन पर सूत्र भाष्य आदि ग्रन्थों की रचना कर उन्हें विस्तृत रूप से समझा दिया है। नई बात मूलतः किसी आचार्य ने नहीं कही। इसलिये किसी दर्शन का संकेत कहीं प्राप्त कर उस ग्रन्थ को उस दर्शन से पीछे बना हुआ मान लेगा यह पाश्चात्य दृष्टि भी भारतीय परिभाषा के अनुसार सत्य दृष्टि नहीं कही जा सकती । विचार कोई नये नहीं पैदा होते, वे अनादि हैं अर्वाचीन विचारों में प्राचीनों की झलक आना जैसे स्वाभाविक है वैसे यह भी अवश्य संभव है कि आज जो विचार प्रादुर्भूत हुए हैं वे प्राचीन मस्तिष्कों में भी आये हों, इसलिए विचार साम्य देखने मात्र से प्राचीनता या अर्वाचीनता की कल्पना और उसके आधार पर इतिहास गढ़ना कई जगह सत्य से दूर चला जाता है । इस प्रवचन का स्मरण रखने से आगे के गीता प्रवचनों में बहुत कुछ सहायता प्राप्त होगी।

## पंचम-पुष्प

### “गीता के भाष्यकार और उसका विषय-विभाग”

तृतीय प्रवचन में कह आये हैं कि भिन्न-भिन्न सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने भगवद्गीता पर टीकाएं लिखी हैं । उन टीकाकारों ने गीता के विषय विभाग में भी अपने अपने सिद्धान्तानुसार कुछ विलक्षणता की है । गीता के प्रवचनों को ठीक समझने के लिए उन टीकाकारों के सिद्धान्तों का कुछ परिचय भी प्राप्त करना आवश्यक है। इसलिए पहिले उसका संकेत मात्र से अति संक्षिप्त स्वरूप दिखाकर तदनुकूल उनके विषय विभाग का भी संक्षिप्त निदर्शन करेंगे ।

जो टीकाएं प्राप्त हैं उनमें सबसे प्राचीन और प्रमुख गीता के भाष्यकार श्री शंकराचार्य हैं यह— पूर्व कहा जा चुका है । उनके सिद्धान्त का अति संक्षिप्त सार यह है कि सम्पूर्ण प्रपंच का मूल कारण एक ब्रह्म ही है । वह ब्रह्म निर्गुण निराकार और सर्वव्यापक है तथा सजातीय विजातीय स्वगत तीनों भेद से शून्य है, देश काल से उसका परिच्छेद नहीं हो सकता, उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और न उसके कोई अवयव हैं, ऐसे ब्रह्म से सृष्टि बनी कैसे, इसका उत्तर उनके संप्रदाय में यह है कि सृष्टि बनती ही नहीं ब्रह्म की मायाशक्ति सृष्टि का बिना सत्ता ही भान करा दिया करती है। अर्थात् वह ब्रह्म प्रपंच रूप से परिणत नहीं होता किन्तु द्रष्टा जीव के ब्रह्म का तत्त्व न समझने के कारण उसमें प्रपंच की भ्रान्ति होती है । द्रष्टा जीव भी ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं किन्तु ब्रह्म की मायाशक्ति के कारण उसका ज्ञान आच्छादित रहता है और माया उसे ब्रह्म में ही कल्पित प्रपंच दिखा देती है । जब तक माया जनित भ्रान्ति बनी रहे तब तक जीव प्रपंच को सत्य मानकर इसमें बद्ध रहता है और भ्रान्ति के निवृत्त हो जाने पर वह अपनी ब्रह्मरूपता प्राप्त कर लेता है । इसी का नाम मुक्ति है । इस मुक्ति को प्रकट करने वाला केवल ज्ञान है । कर्म से मुक्ति कभी नहीं हो सकती । कर्म तो केवल चित्त शुद्ध करने में उपयोगी होता है । शुद्ध चित्त में आवरण हट कर ज्ञान का उदय हो जाता है। श्री शंकराचार्य से प्राचीन टीकाकार ज्ञान और कर्म दोनों के योग से मुक्ति मानते थे । उनका सिद्धान्त ज्ञान कर्म समुच्चयवाद कहा जाता था। जिसका स्थान-स्थान पर श्री शंकराचार्य ने खण्डन किया है कि ज्ञान और कर्म का समुच्चय हो ही नहीं सकता । कर्म तो अज्ञान दशा में ही होता है । ज्ञान के साथ वह नहीं रह सकता । भगवद्गीता मुक्ति का उपदेश देती है । इसलिए उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक ज्ञान ही है । ज्ञान की प्राप्ति जब तक न हो तब तक ही स्वधर्माचरण उसमें बताया गया है । अर्जुन भी पूर्ण ज्ञानी नहीं था इसीलिए उसे कर्म में प्रवृत्त किया गया इत्यादि । इस प्रकार इस सिद्धान्त में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म संन्यास और ज्ञान योग है । इसी सिद्धान्त के अनुसार श्री शंकराचार्य

ने गीता के प्रकरणों की संगति लगाई है। इनके अनुयायी श्री मधुसूदन सरस्वती, पैशाच भाष्य कर्ता हनुमान, आनन्दगिरि, महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ, पद्यबद्ध भाव-प्रकाशिका टीका के लेखक आदि बहुत हैं। गीता के अधिकतर प्राचीन टीकाकार इसी पक्ष के पोषक हैं— यह कहने में कोई संकोच नहीं होता।

श्री रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि हैं। प्रकृति और जीव ईश्वर के शरीर हैं, ईश्वर उनका आत्मा है। जीव और प्रकृति जब सूक्ष्म दशा में रहते हैं तब प्रलय अवस्था कही जाती है। और जब स्थूल अवस्था में आ जाते हैं तब प्रपञ्च दशा होती है। किन्तु उनकी सूक्ष्म दशा व स्थूल दशा में ईश्वर में कोई भेद नहीं पड़ता। ईश्वर ही ब्रह्म है वह स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीरों में एक सा रहता है इसी का नाम अद्वैत है। जीव अणु रूप है मुक्ति में भी वह ईश्वर से पृथक् ही रहता है। केवल क्लेश आदि बन्धनों से छूट जाता है। मुक्ति का कारण ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर होते हैं गीता का प्रतिपादन भी ज्ञान कर्म समुच्चय है। तथापि भक्ति मुख्य है और उसमें भी शरणागति या प्रपत्ति ही मुक्ति का मुख्य कारण है। इसी शरणागति का निरूपण गीता के अन्तिम श्लोक “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज” इत्यादि में हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुकूल ही अपने भाष्य में गीता की संगति उन्होंने लगाई है। इस सिद्धान्त के अनुयायी भी दो एक टीकाकार हैं।

श्री माध्वाचार्य द्वैतवादी हैं। वे ईश्वर और जगत् को सर्वथा भिन्न मानते हैं। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं, अर्थात् वह प्रकृति से प्रपञ्च बना देता है स्वयं प्रपञ्च रूप से परिणत नहीं होता। जीव भी ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। बन्ध और मोक्ष दोनों उसकी अवस्थायें हैं। मुक्ति का कारण श्री रामानुजाचार्य के समान यह भी ज्ञानकर्मसमुच्चय को ही मानते हैं। इनकी गीता पर टीका अति संक्षिप्त है। ब्रह्मसूत्रों और उपनिषदों पर भी इनके भाष्य बहुत संक्षिप्त ही हैं। इनके अनुयायी विद्वान् प्रायः नैयायिक हैं उन्होंने इनके ग्रन्थों पर न्यायगर्भित टीकाएं लिखकर उन ग्रन्थों को सजाया है। इनके गीता भाष्य पर भी एक विस्तृत व्याख्या है जो इनका आशय स्पष्ट करती है। मुक्ति का कारण ज्ञानकर्मसमुच्चय ही है। और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की प्रधानता भी श्रीरामानुजाचार्य के समान ही ये भी मानते हैं।

श्री वल्लभाचार्य का संप्रदाय शुद्धाद्वैत कहलाता है। ब्रह्म ही सब जगत् का मूल है किन्तु श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के समान ये जगत् को केवल कल्पना रूप या मिथ्या नहीं कहते। परब्रह्म अपनी स्वतंत्रता पूर्ण इच्छा से अपने भीतर से ही जगत् को प्रकट करता है और समय पर अपने भीतर लीन कर लेता है। माया प्रकृति आदि परब्रह्म की भिन्न-भिन्न शक्ति हैं जो कि परब्रह्म से ही प्रकट होती हैं जीव भी परब्रह्म से प्रकट होते हैं और अणु रूप हैं। उनकी मुक्ति का कारण केवल भगवान् का अनुग्रह है। जीव का मुख्य कर्तव्य भगवान् की भक्ति है, वह दो प्रकार की है।

साधन रूपा और फल रूपा । साधन रूपा भक्ति नाम संकीर्तन और स्मरण आदि है और फल रूपा भक्ति प्रेम स्वरूप है । भक्ति स्वयं फल रूप है उससे आगे और कुछ प्राप्त करने की वस्तु शेष नहीं रहती, इसी भक्ति तत्त्व का गीता में मुख्यतया प्रतिपादन है । यही इस सिद्धान्त का सार है । श्री वल्लभाचार्य के नाम से गीता की एक टीका मुद्रित है किन्तु वल्लभ संप्रदाय के विद्वान्, उसे स्वयं आचार्य महाप्रभु की लिखी नहीं मानते उनके कुल में बहुत से वल्लभाचार्य नाम के विद्वान् हुए हैं, उनमें से ही किसी ने यह टीका लिखी होगी । इस संप्रदाय के प्रमुख विद्वान् श्री पुरुषोत्तम जी गोस्वामी हुए हैं, उन्होंने बहुत ग्रन्थों की रचना की हैं उनके नाम से भी गीता पर एक टीका मुद्रित है । किन्तु वल्लभ संप्रदाय के वर्तमान विद्वान् उसे भी उनकी कृति नहीं कहते। इससे इस सिद्धान्त के अनुसार गीता की संगति लगाने वाला कोई आचार्य प्रणीत मुख्य ग्रन्थ नहीं है यह सिद्ध होता है । किन्तु श्री वल्लभाचार्य ने भागवत पर बहुत कुछ लिखा है उसी से गीता के विषय में भी उनका अभिप्राय व्यक्त हो जाता है । यह तो सिद्ध ही है कि वे गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति को ही मानते हैं ।

श्री निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत वाद है । उनका मन्तव्य है कि सृष्टि से पूर्व तो ब्रह्म एक ही रहता है उस समय दूसरा कोई नहीं किन्तु सृष्टि के अनन्तर द्वैत हो जाता है, अर्थात् परस्पर भिन्न बहुत पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं वे पदार्थ पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि परस्पर भी भिन्न हैं और ब्रह्म से भी भिन्न हैं । क्योंकि उनका उत्पत्ति विनाश है ब्रह्म का उत्पत्ति विनाश कभी नहीं । मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञान कर्म का समुच्चय और भक्ति की प्रधानता प्रायः सभी वैष्णवाचार्यों के मत में एक सी ही है। श्री निम्बार्काचार्य की भी अपनी व्याख्या गीता पर कोई प्राप्त नहीं किन्तु इनके संप्रदाय के अनुयायी एक विद्वान् ने “तत्त्व प्रकाशिका” नाम की व्याख्या लिखी है जो कि मुद्रित है। श्री निम्बार्काचार्य के सिद्धान्तों से मिलता जुलता ही एक श्री भास्कराचार्य का सिद्धान्त है, इनमें थोड़ा ही अवान्तर भेद है, किन्तु श्री भास्कराचार्य के सिद्धान्तानुसार गीता पर लिखी गई कोई व्याख्या दृष्टिगत नहीं हुई। एक श्री चैतन्य महाप्रभु का अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त का प्रतिपादक चैतन्य संप्रदाय बंगाल में प्रसिद्ध है किन्तु इस संप्रदाय की कोई व्याख्या दृष्टिगत नहीं हुई।

इन वैष्णव संप्रदायों के अतिरिक्त शैव और शाक्तों के भी अनेक संप्रदाय हैं, किन्तु शैव संप्रदाय वालों की भी कोई व्याख्या गीता पर उपलब्ध नहीं है, इसलिए उनका विवरण भी यहां अनावश्यक है । शाक्त संप्रदाय के एक प्रमुख आचार्य श्री अभिनवगुप्तवाद की एक संक्षिप्त व्याख्या गीता पर अवश्य मिलती है । इनका सिद्धान्त आगम (तन्त्र) शास्त्रों के आधार पर प्रतिष्ठित है, और इनका दर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन नाम से प्रसिद्ध है, इन्होंने परशिव को ही मुख्य तत्त्व माना है, इसलिये इसे शैव दर्शन भी कहा जा सकता है, और आगम के आधार पर होने से “शाक्त दर्शन” भी इसे कह



सकते हैं । आगम के आधार पर अवस्थित दर्शनों में भी द्वैत, अद्वैत आदि अनेक भेद हैं, किन्तु आचार्य अभिनवगुप्त का मुख्यतया अद्वैत सिद्धान्त ही है । श्री शंकराचार्य के अद्वैत से इनका यही भेद है कि ये जगत् को मिथ्याकृत या कल्पित नहीं कहते। मूल तत्त्व परम शिव में एक नित्य स्वातन्त्र्य शक्ति मानते हैं, जिसके कारण वह अपने आप जगद् रूप में परिणत हो जाया करता है। वह स्वयं ही अपने आपको आणवमल से वेष्टित कर अनन्त जीवों के रूप में प्रकट होता है, और मायामल, एवं प्राकृतमलों से वेष्टित होकर संसारी भी बनता है। ये मल भी उसकी इच्छा से ही प्रकट होते हैं। अपनी इच्छा से ही मलों से मुक्त होकर स्वस्वरूप में आ जाता है, इसलिए “मुक्ति” यहां भी साधन साध्य नहीं, केवल परमशिव के प्रसाद से प्राप्त होती है । जब जीव को यह प्रत्यभिज्ञा हो जाय कि मैं शिव ही हूं तभी वह मुक्त होता है, इसी प्रत्यभिज्ञा में कर्म, भक्ति, ज्ञान आदि सबका उपयोग है । किन्तु इसे प्राप्त कराने वाला मुख्यतया “प्रसाद” ही है । इस सिद्धान्त का बहुत कुछ अंश श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त से मिलता है, केवल मोटा भेद यही है कि परतत्त्व को श्री वल्लभाचार्य कृष्ण नाम देते हैं और अभिनवगुप्तपादाचार्य परमशिव नाम देते हैं। वस्तुतः यह भेद नाम मात्र का है क्योंकि वास्तव में तो “परमतत्त्व” नामरूपातीत है, उसका कोई भी नाम नहीं हो सकता, आगे संसार में प्रकट धर्मों के अनुसार कल्याणकारक होने के कारण उसे शिव भी कह सकते हैं और सबका आकर्षक होने के कारण कृष्ण भी । इसलिये बुद्धिमानों की दृष्टि में यह नामभेद कोई भेद नहीं । और भी अवान्तर कई छोटे छोटे भेद हैं, किन्तु सबका विवरण करने की यहां आवश्यकता नहीं ।

गत पूर्व प्रवचनों में हम लोकमान्य तिलक की व्याख्या का कुछ विवरण कर चुके हैं । ये दार्शनिक विषयों में तो श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त को ही मुख्य मानते हैं, किन्तु गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्म संन्यास नहीं कर्मयोग ही है, इस अंश में ये श्री शंकराचार्य से बिल्कुल विरुद्ध हैं । इनके मतानुसार सम्पूर्ण गीता में कर्मयोग ही ओतप्रोत है, कर्म संन्यास का गीता में कोई स्थान नहीं । ज्ञान और भक्ति का प्रतिपादन इनके अनुसार कर्मयोग की सफलता के लिए ही है । इन्होंने स्पष्ट अक्षरों में गीता का प्रतिपाद्य ज्ञान मूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग को बताया है ।

सभी व्याख्यकारों ने अपने-अपने सिद्धान्त गीता के पद्यों से निकालने की चेष्टा की है जिनके मत हम आवश्यकतानुसार विशेष पद्यों की व्याख्या में प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे । इनके अतिरिक्त भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में भी गीता की व्याख्या या अनुवाद प्राप्त होते हैं । जो कि उन प्रान्तों में प्रसिद्ध हैं । मराठी भाषा की एक ज्ञानेश्वरी टीका बहुत प्रसिद्ध है । इन व्याख्याओं के सिद्धान्त प्रायः शांकरभाष्य के ही अनुकूल हैं । कोई व्याख्याएँ वैष्णव सम्प्रदायों के भी अनुकूल होंगी । इनका विशेष परिचय हमें नहीं है । गीता के अध्यायों का विषय विभाग प्रायः सभी संप्रदाय

के व्याख्याकारों ने किया है । श्री शंकराचार्य के संप्रदाय के अनुसार गीता के प्रकरण विभाग के सम्बन्ध में दो प्रधान मत मिलते हैं । मनुष्य के कल्याण के लिए तीन उपाय शास्त्रों में बताए गए हैं कर्म, उपासना वा भक्ति, और ज्ञान। वे ही गीता के भी प्रतिपाद्य हैं। पूर्व षट्क अर्थात् पहिले छः अध्यायों में कर्म का प्रधान रूप से विवेचन है, उसी में कर्मयोग सिद्धान्त भी वर्णित है। मध्य षट्क अर्थात् सातवें अध्याय से आरम्भकर बारहवें तक छः अध्यायों में उपासना तत्त्व है उसी में उपास्य ईश्वर का विशेष वर्णन और उपासना के प्रकार आदि बताए गये हैं। अन्तिम षट्क अर्थात् तेरहवें अध्याय से आरम्भकर अठारहवें पर्यन्त ज्ञान प्रधान उपदेश है। उसी में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, जीव ईश्वर का सम्बन्ध, जीव की बन्धक प्रकृति का विशेष विवरण आदि विषय प्राप्त होते हैं। इसीलिए यह उत्तर षट्क अवश्य ही ज्ञान प्रधान है। दूसरे प्रकार का विभाग श्री मधुसूदन सरस्वती ने यह दिखाया है कि गीता उपनिषदों का सार है और उपनिषदों में जीव, ब्रह्म की एकता का प्रतिपादक “तत्त्वमसि” यह महावाक्य प्रधान माना जाता है । इसमें तीन पद हैं, “तत्” “त्वम्” “असि” । उनमें “तत्” का अर्थ परमब्रह्म है “त्वम्” शब्द का अर्थ संबोध्य जीवात्मा और “असि” पद दोनों की एकता का प्रतिपादक है । इन्ही तीनों पदों के अर्थों का निवरण गीता के छः, छः, अध्यायों के तीन खण्डों में किया है । पहिले छः अध्यायों में त्वम् शब्द के वाच्यार्थ जीवात्मा का निरूपण है । जीव की नित्यता उसके कर्म करने की प्रक्रिया और उसी के कल्याण के लिए योग साधन आदि उसमें बताये हैं । चतुर्थाध्याय में ईश्वरावतार का निरूपण प्रासंगिक है । सात से बारह तक के छः अध्यायों में “तत्” शब्दार्थ ईश्वर तत्त्व का निरूपण है । ईश्वर विभूति, विश्व-रूपदर्शन आदि ईश्वर तत्त्व प्रतिपादक विषय उसी में आते हैं । ईश्वर भक्ति भी ईश्वर से ही सम्बन्ध रखती है इसीलिए उसका निरूपण भी बारहवें अध्याय में किया गया । यद्यपि महावाक्य के क्रम के अनुसार पहिले तत् शब्दार्थ परब्रह्म का निरूपण उचित था किन्तु जीव अपना स्वरूप समझे बिना परब्रह्म या परमेश्वर को नहीं जान सकता इसलिए महावाक्यों के पदों का क्रम तोड़कर भी त्वम् शब्दार्थ जीव का निरूपण पहिले करना पड़ा । अन्त के छः अध्याय दोनों की एकता का मुख्य रूप से प्रतिपादन करते हैं । वहां आरम्भ में ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की एकता बताते हुए क्षेत्रज्ञ जीव परमात्मा का ही रूप है यह स्पष्ट किया गया है । और आगे भी “जीव मेरा ही अंश है” इत्यादि उपदेश के द्वारा एकता को दृढ़ किया है । दोनों के मध्य में विभाग कराने वाली प्रकृति के गुणों का भी निरूपण प्रकृति सम्बन्ध छोड़कर एकता प्राप्ति कराने के उद्देश्य से ही हुआ है । यों जीव ब्रह्म की एकता उत्तर षट्क का अर्थ है और यही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य है । इसी प्रकार कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों का प्रतिपादन क्रम से गीता में हुआ है— श्री मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि कर्म और ज्ञान अत्यन्त विरुद्ध है, वे साथ रह नहीं सकते,

इसका विवरण शांकर वेदान्त के ग्रन्थों में विस्तार से आया है, इसीलिये यहां उन दोनों को अव्यवहित न रखकर मध्य में भक्ति का निवेश कर दिया गया है। वह दोनों को मिला देती है। श्री मधुसूदन सरस्वती यद्यपि श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के ही अनुयायी हैं तथापि इन्होंने अपने भक्तिरसायन ग्रन्थ में भक्ति को फल रूप और अन्तिम साध्य माना है। भगवद्भक्ति प्राप्त हो जाने पर फिर और किसी वस्तु की प्राप्ति इष्ट नहीं रहती यह सिद्धान्त भक्ति रसायन में अभिव्यक्त किया है। किन्तु गीता की व्याख्या में जीव ब्रह्म की एकता को ही प्रधान माना है।

श्री रामानुजाचार्य के परम गुरु श्री यामुनाचार्य का एक “गीतार्थ संग्रह” प्रकाशित हुआ है। उसमें गीता का विषय विभाग इस प्रकार है कि ज्ञान और कर्म दोनों को मिलाकर भगवद्भक्ति प्राप्त की जा सकती है। इनका सिद्धान्त श्री शंकराचार्य के विरुद्ध “ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद” ही है। अर्थात् केवल ज्ञान या केवल कर्म जीव का कल्याण नहीं कर सकते। दोनों के मिलने से ही कल्याण होता है। किन्तु दोनों के मिला देने मात्र से ही कल्याण नहीं हो सकता, वे दोनों मिलकर भगवत् स्वरूप का ज्ञान कराते हुए भगवत् प्रपत्ति प्राप्त कराते हैं, और भगवत् प्रपत्ति साक्षात् मनुष्य की कल्याण कारक है। इसी के प्रतिपादन के लिये गीता के पूर्व षट्क में साधन रूप ज्ञान कर्म समुच्चय का प्रतिपादन हुआ है, वहां आत्मा की नित्यता का विस्तार पूर्वक निरूपण करने में ज्ञान को स्थान दिया गया है, चतुर्थाध्याय में संक्षेप रूप में भगवान् का स्वरूप ज्ञान भी प्रतिपादित है, और ज्ञान के साथ-साथ कर्म की भी आवश्यकता आदि से अन्त तक बताई गई है। इसलिये प्रथम षट्क ज्ञान कर्म समुच्चय का प्रतिपादक है, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। अब आगे मध्यम षट्क में इन दोनों से प्राप्त होने वाली भक्ति का विस्तृत निरूपण है। वहाँ भगवान् के स्वरूप का और उनकी उपासना का विस्तार गीता को पढ़ने वाले स्वयं ही देख सकते हैं। आगे तीसरा षट्क प्रकीर्णक रूप है उसमें दोनों षट्कों में जो अंश संक्षिप्त होने के कारण पूर्ण स्पष्ट नहीं हुए थे, इससे कुछ न्यूनता सी प्रतीत होती थी, उसकी पूर्ति की गई है। ज्ञानकर्मसमुच्चय में कर्म के मूलभूत प्रकृति के गुणों का पूर्व षट्क में निरूपण नहीं हुआ था उस न्यूनता को पूर्ण किया गया है और अश्वत्थ निरूपण एवं तीन पुरुषों के निरूपण से भगवत् स्वरूप ज्ञान की भी पूर्ति की गई है इसी कारण अन्तिम षट्क में तीन-तीन अध्यायों के वे दो विभाग मानते हैं। पूर्व के तीन अध्यायों में भगवत् स्वरूप के निरूपण की न्यूनता को पूर्ण किया गया है, और उत्तर के तीन अध्यायों में कर्म निरूपण की न्यूनता को पूर्ण किया गया है। अन्त में उपसंहार “मन्मनाभव भद्रक्तो” इत्यादि पद्य के द्वारा भक्ति पर ही किया गया है। तथापि सबके अन्तिम श्लोक “सर्व धर्मान् परित्यज्य” में “शरणागति” को मुख्य स्थान दिया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भगवद् भक्ति और तत्रापि “शरणागति” ही है। शरणागति का उपेदश सुनकर ही अर्जुन को शान्ति मिली और वह आज्ञा पालन के लिए तत्पर

हुआ । यही परम गुरु का सिद्धान्त श्री रामानुजाचार्य को मान्य है । सार यह है कि भगवद् गीता प्रधान रूप से भक्ति या शरणागति की प्रतिपादक है, विषय उसमें अंगरूप से आये हैं । यह श्री रामानुजाचार्य का सिद्धान्त हुआ ।

श्री वल्लभाचार्य के मत में जीव तीन प्रकार के होते हैं- प्रवाही, मर्यादामार्गीय, और पुष्टिमार्गीय । यथेच्छ धर्माधर्म आदि सब कार्य करने वाले “प्रवाही जीव” कहे जाते हैं । शास्त्रानुसार चलने वाले “मर्यादामार्गीय” हैं, और भगवदनुग्रह से जो केवल भगवन्निष्ठ हो गये, भगवत्सेवा ही जिनका एकमात्र कर्तव्य हो गया, और धर्माधर्म से जिन्हें कोई प्रयोजन नहीं वे “पुष्टिमार्गीय” हैं । इन सबके विचारों में परस्पर मेल नहीं होता । अर्जुन में पहिले मर्यादा और पुष्टि का मिश्रण था । भगवान् के द्वारा अनुगृहीत होने के कारण वह पुष्टि मार्गों में भी प्रवेश पा चुका था, किन्तु मर्यादामार्ग भी अभी उसका छूटा नहीं था । पहिले वह क्षत्रिय धर्म समझ कर ही युद्ध में प्रवृत्त होने लगा था किन्तु भगवान् उसे पूर्ण “पुष्टिमार्गीय” बनाना चाहते थे इसलिए उन्होंने ही आन्तरिक प्रेरणा से उसमें युद्ध से विरत होने का विराग उत्पन्न किया । जब उपदेश देने लगे तो प्रथम षट्क में सांख्य और योग का मिश्रित उपदेश दिया । जिस पुरुष में दो मार्गों का मिश्रण है उसे मिश्रित ही उपदेश देना उचित था, इस प्रकार प्रथम षट्क मर्यादामार्ग के उपयुक्त है, द्वितीय और तृतीय षट्क शुद्ध भगवत्स्वरूप और शुद्ध भक्ति के प्रतिपादक हैं । उन दोनों में अपने स्वरूप का प्रतिपादन भी किया और विभूति निरूपण या विश्वरूप प्रदर्शन के द्वारा उसे पुष्टिमार्ग में दृढ़ किया । अन्त में पुष्टि मार्ग का मुख्य सूत्र “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज” इत्यादि पद्य से उसके हृदय में खचित कर दिया । उसमें स्पष्ट कह दिया कि अब तुम्हें धर्म-अधर्म के विवेक की कोई आवश्यकता नहीं। तुम केवल हमारी शरण में आ जाओ अर्थात् अपने आप को हम पर छोड़ दो, हम स्वयं तुम्हारा उद्धार कर देंगे । अब अर्जुन पूर्ण “पुष्टि मार्गीय” बन गया । इसीलिये उसने अन्त में कहा कि मेरा मोह नष्ट हो गया, स्मृति प्राप्त हो गई अर्थात् पहिले नर अवस्था में भी मैं पुष्टिमार्गीय ही था उसका अब स्मरण आगया, आपकी पूर्ण कृपा हो गई और अब मुझे कोई सन्देह नहीं है । मैं आप की आज्ञा का पालन करूंगा । इस अर्जुन के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अब अर्जुन क्षत्रिय धर्म समझ कर युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो रहा है किन्तु भगवन्निष्ठ होकर भगवान् की आज्ञा पालन के लिये ही युद्ध में प्रवृत्त होता है । इस अन्तिम प्रकरण से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् की पराभक्ति प्राप्त कराना ही भगवद् गीता के उपदेश का उद्देश्य है और भगवद् भक्त का आज्ञा पालन ही मुख्य कर्तव्य रह जाता है । सांख्य योगादि उसमें केवल उस मार्ग की ओर प्रवृत्ति कराने के लिये आये हैं । युक्ति पूर्वक अर्जुन की बातों के युक्ति पूर्वक उत्तर से ही समाधान हो सकता था, इसलिए युक्ति पूर्वक उपदेश दिये गये हैं ।

कई विद्वानों ने यह भी कहा है कि प्रथम षट्क सूत्र रूप है, मध्य का षट्क वृत्तिरूप और अन्तिम षट्क भाष्यरूप है, अर्थात् अन्तिम षट्क में पूर्व की न्यूनताओं को पूर्ण कर स्पष्ट रूप से भक्ति की स्थापना कर दी गई है। इस प्रकार इनके मत में भी गीता का मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति ही है। इसका समर्थन कई विद्वान् इस प्रकार भी करते हैं कि यदि भगवद्गीता के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो विभाग किये जाय, तो नौ-नौ अध्याय के होंगे। उनमें पूर्वार्द्ध के अन्त में “मन्मनाभव मदभक्तः” इत्यादि भक्ति प्रतिपादक पद्य ही आता है और उत्तरार्द्ध के अन्त में भी एक पाद के परिवर्तन के साथ यही पद्य दुहराया गया है। उस परिवर्तित पाद में सत्य प्रतिज्ञा भी भगवान् ने की है। इस प्रकार भक्ति की प्रधानता स्फुट हो जाती है।

श्री आनन्दतीर्थ नामक श्री मध्वाचार्य ने विस्पष्ट रूप से भगवद्गीता का प्रकरण विभाग नहीं लिखा, किन्तु स्थान-स्थान पर उनकी व्याख्या से यही स्पष्ट होता है कि श्री यामुनाचार्य का किया हुआ प्रकरण विभाग ही उनको भी अभिप्रेत है।

श्री निम्बर्काचार्य के अनुयायी श्री केशव काश्मीरीभट्टाचार्य की बनाई हुई “तत्त्वप्रकाशिका” टीका में भी विशेष रूप से गीता का प्रकरण विभाग प्राप्त नहीं होता। किन्तु उपदेशारम्भ, सप्तमाध्याय का आरम्भ, और त्रयोदशाध्याय के आरम्भ को देखने से प्रतीत होता है कि तीन षट्क का विभाग इनको भी अभिप्रेत है और प्रथम षट्क में त्वं पदार्थभूत जीव का निरूपण, और द्वितीय षट्क में तत्पदार्थरूप परमात्मा का निरूपण भी शांकर सम्प्रदायानुसार इन्होंने भी माना है, किन्तु तृतीय षट्क को श्री यामुन मुनि के अनुसार ये भी परिशिष्ट रूप मानते हैं, अर्थात् पूर्व दो षट्कों में जो न्यूनता रह गई थी उसकी पूर्ति तृतीय षट्क में की गई है। कर्म के द्वारा चित्त शुद्धि होकर भक्ति-निष्ठा और ज्ञान-निष्ठा प्राप्त होती है, यह भी इनने स्थान-स्थान पर माना है, किन्तु प्रधानता इनके मत में भक्ति को ही दी गई है। जीव के कल्याण का मुख्य साधन भक्ति ही है। अस्तु द्वितीयाध्याय सूत्ररूप है, उसमें संक्षेप से सभी विषयों का समावेश हो गया है, उसका विवरण ही आगे के अध्यायों में है यह प्रायः सबने स्वीकार किया है।

लोकमान्य श्री तिलक के मत का संकेत पहिले हम कर चुके हैं। वे संपूर्ण भगवद्गीता को कर्मयोग का प्रतिपादक ही मानते हैं। तीन षट्कों का प्रकरण विभाग उनको अभिमत नहीं क्योंकि उनके मत में कर्म भक्ति और ज्ञान का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन भगवद्गीता में नहीं है। जिसके लिए अन्य व्याख्याकारों ने तीन षट्कों का विभाग माना था। वे मानते हैं कि कर्म, भक्ति, और ज्ञान तीनों की एक शृंखला भगवद्गीता में बनाई गई, अर्थात् ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग गीता का प्रतिपाद्य है। प्रकरण विभाग न करके भी अध्यायों की संगति उनने लिखी है। आरम्भ में अर्जुन के मोह हटाने के लिए आत्मा के नित्यत्व का भगवान् ने प्रतिपादन किया, उसके अनन्तर द्वितीयाध्याय में ही कर्मयोग का आरम्भ कर दिया। पंचमाध्याय पर्यन्त

कर्मयोग का ही कई प्रकार से प्रतिपादन चलता रहा मध्य में कर्मयोग की आचार्य परम्परा बताने के लिए अवतार वाद का प्रसंग आया। यह कर्मयोग की परम्परा शान्तिपर्व के नारायणीय में प्रतिपादित भागवत धर्म की परम्परा से बिल्कुल मिलती है। इससे यही सिद्ध होता है कि भागवत धर्म और कर्मयोग एकरूप में ही आरम्भ में प्रवृत्त हुए थे। ईश्वर-भक्ति पूर्वक कर्म करते रहना ही दोनों का लक्ष्य था। आगे चल कर जैसे ज्ञान मार्ग वालों ने कर्म का तिरस्कार किया था, उसीप्रकार भक्ति-मार्ग वालों ने भी कर्म का तिरस्कार कर दिया, और तब भक्ति मार्ग एक पृथक् बन गया। वस्तुतः भक्ति शब्द का अर्थ भाग है। ज्ञान और कर्म दोनों भाग इसमें संमिश्रित हैं, इसीलिए इसका नाम भक्ति है, और भक्ति का सम्बन्ध भगवान् से ही होता है, भगवत् शब्द का अर्थ है छः प्रकार के गुण और ऐश्वर्य से संपन्न। गुण ऐश्वर्य वाले की ही उपासना की जा सकती है, बिना गुणों के उपासना नहीं बनती। ऐश्वर्य ज्ञान के बिना भी प्रेम नहीं होता। इसलिए उपासना या भक्ति का सम्बन्ध भगवान् से ही हो सकता है, निर्गुण ब्रह्म से नहीं। यही कारण है कि इसका नाम भागवत धर्म अर्थात् भगवान् का धर्म हुआ। बिना ज्ञान के उपासना या प्रेम नहीं हो सकता इसलिए ज्ञान भी इसमें अवश्य मिश्रित रहता है, किन्तु आगे चलकर ज्ञान, भक्ति और कर्म स्वतन्त्र मार्ग बन गये, एवं ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गों में कर्म की उपेक्षा हो गयी, अस्तु, गीता में स्पष्ट किया गया कि कर्म योग के लिए पहले व्यवसायात्मक बुद्धि आवश्यक है, वह व्यवसायात्मक बुद्धि इन्द्रिय निग्रह के बिना प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिये गीता के छठे अध्याय में योग मार्ग का निरूपण इन्द्रिय निग्रह की सहायता के लिए ही किया गया है। वर्तमान में इन्द्रिय निग्रह हो भी जाय तो भी पूर्व की वासना यदि दूषित है तो वह इन्द्रिय निग्रह स्थायी नहीं हो सकता। अतः वासना शुद्धि भी कर्मयोग में आवश्यक है। वासना शुद्धि और व्यवसायात्मक बुद्धि उत्पन्न हो जाने पर भी उसकी स्थिरता ईश्वराराधन के बिना नहीं हो सकती, और यदि वासना विकृत हो गई एवं व्यवसायात्मक बुद्धि भी चलित हो गई तो कर्मयोग बिगड़ जायगा अतः कर्मयोग की पूर्ति और स्थिरता के लिए ही सप्तमादि अध्यायों में ईश्वर स्वरूप निरूपण हुआ है और ईश्वराराधन के प्रकार बताये गये हैं। व्यवसायात्मक बुद्धि जिसे साम्य बुद्धि भी कह सकते हैं वह तबतक भी उत्पन्न और स्थिर नहीं हो सकती जबतक कि एक ही ब्रह्म सबका आत्मा है, यह ज्ञान न हो जाय। इसलिए त्रयोदशादि अध्यायों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विवेक में एक ही ब्रह्म के आत्मा रूप से सब में व्यापक रहने का भी उपदेश हुआ है और कर्म मार्ग की शुद्धि के लिए ही तीनों गुणों के पृथक्-पृथक् स्वरूप का या तीनों के अनुसार पृथक् आचार व्यवहार का भी विस्तार से निरूपण है। इसे समझकर अधिकारी रज और तम के सम्बन्ध से बचता रहे, एवं आचार व्यवहार द्वारा सत्त्व गुण को ही बढ़ाता रहे जिससे कि व्यवसायात्मक बुद्धि स्थिर रहे, इस प्रकार ज्ञान भक्ति और कर्म की एक शृंखला भगवद्गीता में बांधी गई है, तीनों

का स्वतन्त्र रूप से विभाग गीता को कभी इष्ट नहीं है । यदि ज्ञान या भक्ति को स्वतंत्र ही रहना होता तो अर्जुन जब विरक्त होकर संग्राम छोड़ रहा था तब भगवान् उसी का अनुमोदन कर देते कि हां भाई ठीक है, चलो संन्यासी बनकर ज्ञान प्राप्त करो वा भगवद् भक्त बन जाओ । इतना लम्बा उपदेश करने की कोई आवश्यकता ही न होती । न महाभारत होता और न व्यास जी को इतना बड़ा ग्रन्थ लिखना पड़ता । इन सब बातों पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि कर्मयोग ही भगवान् को इष्ट था, अर्जुन को फलाकांक्षारहित कर्ममार्ग में ही प्रवृत्त करना था, उसी की सिद्धि के लिये भक्ति और ज्ञान का उपदेश आवश्यकतानुसार दिया गया । कर्मत्याग कहीं नहीं कहा । अन्त में जो “सर्वधर्मान् परित्यज्य” आया है, वहां भी फल त्याग का ही आशय है, यह उस पद्य की व्याख्या में स्पष्ट करेंगे । तात्पर्य यह है कि कर्मयोग ही भगवद् गीता का प्रतिपाद्य है । यह लोकमान्य तिलक का सिद्धान्त हुआ ।

इस प्रकार गीता के प्रधान प्रतिपाद्य के विषय में व्याख्याकारों का बहुत बड़ा मतभेद है । कोई ज्ञान और संन्यास को गीता का प्रधान प्रतिपाद्य मानते हैं, कोई भक्ति और कोई कर्मयोग को ।

हमारे गुरु विद्या वाचस्पति श्री मधुसूदन जी ओझा ने समन्वय करते हुए नये प्रकार से विषय विभाग किया है । उनके सिद्धान्त में गीता के तीन नहीं चार विभाग हैं । सांख्य शास्त्र में बुद्धि के चार सात्त्विक रूप और चार तामस रूप बताये गये हैं । उनमें सात्त्विक चार रूपों के द्वारा ही अव्यय पुरुष भगवान् की प्राप्ति होती है । क्योंकि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार भग कहलाते हैं । जैसा कि कहा गया है—

**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।**

**ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षष्ठां भग इतीरणा ॥**

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य इन छह का नाम भग है । ये जिसमें रहें वही भगवान् है । यहां धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन चार बुद्धि के सात्त्विक रूपों के साथ यश और लक्ष्मी को और जोड़ा गया है जो कि धर्म और ऐश्वर्य के ही फलभूत हैं । पृथक् नहीं । अस्तु इनके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये चार तामस रूप हैं । इनमें अवैराग्य को राग और द्वेष दोनों नामों से कहकर पांच क्लेश योग शास्त्र में बताये गये हैं । पांच क्लेशों के नाम वहां आते हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश । इनमें अविद्या, अज्ञान का ही नाम है । अस्मिता अनैश्वर्य का नामान्तर है । अवैराग्य राग और द्वेष दो शब्दों से कहा गया है और अधर्म ही अभिनिवेश है । इन चारों तामस रूपों अथवा नामान्तर से पंच क्लेशों का ईश्वर में स्पर्श भी नहीं जीवों में ये सब रहते हैं । इसीलिये वे ईश्वर से पृथक् हो रहे हैं । अब यदि जीव ईश्वर को प्राप्त करना चाहे तो उसका यही कर्तव्य

होगा कि सात्त्विक रूप जो ईश्वर में भी हैं उन्हें प्रबल कर तामस रूपों को दबा दिया जाय। उन चारों रूपों की प्रबलता के लिए ही गीता में चार योग अथवा चार विद्याएं बतलाई गयी हैं। आदि के छः अध्यायों में वैराग्ययोग का निरूपण है। इसे ही भगवान् ने राजर्षिविद्या भी कहा है। चौथे अध्याय में बताया है कि मेरे उपदेश से यह विद्या राजर्षियों में फैली हुई थी किन्तु कालक्रम से नष्ट हो गई इसलिए आज मैंने तुम्हें (अर्जुन को) इसका फिर उपदेश दिया है। राजर्षियों में प्रसार होने के कारण यह राजर्षिविद्या है। इसमें विरक्त रहकर अर्थात् फलांश में आसक्त न होते हुए कर्म करने की विधि कही गई है, इसलिए वैराग्य योग भी इसे कह सकते हैं। इसके आगे सातवें और आठवें इन दो अध्यायों में ज्ञानयोग कहा गया है जो कि सिद्धों में प्रचलित होने के कारण सिद्धविद्या नाम से कहा जाता है। गीता में स्वयं कहा है कि—

“यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः” (७।३।)

इससे आत्म ज्ञान के प्रयत्न करने वाले सिद्ध कहे जाते हैं यह व्यंजित हो जाता है। इसको यहां छोटे रूप से रखा है। नवम से आरम्भ कर बारहवें तक चार अध्यायों में ऐश्वर्ययोग है। जिसका राजविद्या नाम भगवान् ने अपने मुख से ही लिया है। सब विद्याओं की राजा होने के कारण यह राजविद्या है। इसे ही भक्तिमार्ग कहा जाता है। भक्ति का सम्बन्ध ऐश्वर्य या ईश्वर भाव से ही है। इसलिए यह ऐश्वर्ययोग है। अन्त के छः अध्यायों में धर्मयोग का निरूपण है। ऋषियों के द्वारा कथित होने के कारण यह आर्षविद्या कही जाती है। इसी बात को ध्वनित करते हुए तेरहवें अध्याय में भगवान् ने “ऋषिभिर्बहुधा गीतम्” कहा है। अर्थात् इसविद्या का ऋषि लोग बहुधा गान करते रहे हैं। यद्यपि अन्त के छः अध्यायों में आत्मा का निरूपण ही प्रधान सा दीख पड़ता है। परंतु वह धर्म निरूपण का अंग है। आर्य संस्कृति में आत्मज्ञान के बिना धर्म निरूपण नहीं हो सकता जैसा कि हम प्रथम और द्वितीय प्रवचन में कह आये हैं कि इस संस्कृति में अध्यात्म तत्त्व के आधार पर ही धर्म अधर्म की व्यवस्था होती है। इसलिए धर्म योग में आत्म-निरूपण आवश्यक अंग रूप से आ जाता है। तीनों गुण वाले जीवों के सम्बन्ध से आहार-विहार आदि की पृथक्-पृथक् व्यवस्था अन्त के अध्यायों में विस्तार से बताई है, यही धर्म का निरूपण है। इसलिये यह धर्मयोग या आर्षविद्या कहलाती है। इस प्रकार बुद्धि के चारों रूपों का विकास कर ईश्वर में मिल जाने का क्रम गीता में बतलाया गया है। इसलिए कहा जा सकता है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मुख्यतया बुद्धियोग है। बुद्धि के चारों रूपों को उत्कृष्ट कर ईश्वर के साथ मिला देना या मिल जाना ही बुद्धियोग का शब्दार्थ है। बुद्धियोग का नाम भगवान् ने गीता में कई जगह लिया है। व्याख्याकार उसका अर्थ प्रायः ज्ञानयोग ही कर देते हैं। किन्तु यह अर्थ संकुचित है। बुद्धि पद से बुद्धि के चारों ही रूप लिए जाने चाहिए जिसमें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि सबका समावेश हो जाता है। अपने-अपने अधिकार के अनुसार प्रत्येक मनुष्य किसी एक रूप की उन्नति



को अपना प्रधान लक्ष्य बना ले और सहकारी रूप से अन्य बुद्धि के रूपों की उन्नति भी करता जाय यही भगवत् प्राप्ति का उपाय भगवद्गीता में मुख्य रूप से निरूपित हुआ है। यह सिद्धान्त मान लेने पर फिर परस्पर में कोई विवाद नहीं रहता, क्योंकि सभी इस प्रधान क्षेत्र के अन्तर्गत हो जाते हैं। इस प्रकार गीता में चारों विद्याएं हैं। वे चार योगों के नाम से भी कही गयी हैं। इनके अवान्तर चौबीस उपनिषदों का विभाग श्री विद्यावाचस्पति जी ने किया है और उनमें अवान्तर रूप से कुल मिलाकर एक सौ आठ उपदेश गीता में बताए हैं। उन सब पर एक-एक निबन्ध लिखना उन्होंने आरम्भ किया था किन्तु हम लोगों के दुर्दैववश उनका बहुत अल्प अंश लिखा जा सका। केवल दस बारह उपदेशों पर ही वे निबन्ध लिख पाये, आगे उनकी जीवन लीला समाप्त हो गयी। कहा जा चुका है कि गीता के प्रत्येक श्लोक पर व्याख्या उन्होंने नहीं लिखी है, स्वतंत्र व्याख्यान लिखे हैं। जिनमें पहिले खण्ड में किन-किन शास्त्रों के किन-किन सिद्धान्तों के आधार पर गीता के उपदेश प्रतिष्ठित है यह दिखाया गया है। दूसरे खण्ड में गीता के श्लोकों पर अपने किये विभाग के अनुसार शीर्षक लगाये हैं और तीसरे आचार्य काण्ड में भगवान् कृष्ण के महात्म्य का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। उसमें अति विस्तार से ईश्वर तत्त्व निरूपण है। इतना विस्पष्ट ईश्वर निरूपण किसी एक ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं। अवतार का क्या आशय है और भगवान् कृष्ण में पूर्णावतार रूपता कैसे समन्वित होती है इसका अति विस्तृत निरूपण है। इसी निरूपण में महाभारत के खिल हरिवंश से भगवान् कृष्ण के अनेक चरित्र संगृहीत हुए हैं और वेद मन्त्रों से भी उन चरित्रों का समन्वय दिखाया गया है। अव्यय पुरुष का निरूपण इस काण्ड में प्रधान है और जैसा कि भगवान् ने गीता के पन्द्रहवें अध्याय में कहा है, “मैं पुरुषोत्तम या अव्यय पुरुष रूप हूँ”— यह युक्तियों से सिद्ध किया है। गीता में प्रयुक्त “अहं” शब्द का क्या तात्पर्य है, इसका विस्तार से निरूपण है। इसके आगे चतुर्थ काण्ड में उपदेशों का सार संग्रह आरम्भ हुआ था किन्तु वह अधूरा ही रहा यह कह चुके हैं। श्री विद्यावाचस्पति जी की इन कृतियों से हम अपने प्रवचनों में बहुत कुछ सहायता लेंगे। इसलिए इनके ग्रन्थों का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा दिया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मतों से गीता का विषय विभाग और प्रधान प्रतिपाद्य जान लेने से उसके अर्थ ज्ञान में और आगे के प्रवचन समझने में बहुत सहायता मिलेगी इसलिए इनका स्पष्टीकरण इस प्रवचन में कर दिया गया है। आशा है जिज्ञासु लोग इसे ध्यान में रखकर लाभ उठावेंगे।

## षष्ठ-पुष्प

### गीता का समय

आधुनिक दृष्टि के अनुसार इस बात का भी विचार आवश्यक है कि गीता के आविर्भाव का समय कौन सा है । द्वितीय प्रवचन में हम कह आये हैं कि आधुनिक कई एक विद्वान जो अपने आपको सुधारक और अन्वेषक कहकर प्रसिद्ध करते हैं वे गीता को बहुत ही अर्वाचीन सिद्ध करने की चेष्टा में लगे हैं । उनका कथन है कि जगद्गुरु श्री शंकराचार्य से पूर्व आर्य संस्कृति के ग्रन्थों में या वैदिक संस्कृति के विरोधी जैन, बौद्ध आदि के ग्रन्थों में कहीं भी गीता का नाम या उसके महत्व का प्रतिपादन नहीं मिलता । इसका यह परिणाम निकालने का भी कई महाशयों ने साहस किया है कि भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ श्री शंकराचार्य के समय में ही उनके ही एक गुट ने बना डाले हैं और अपने मन-गढ़न्त सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए उनके ही गुट ने इन ग्रन्थों को प्रतिष्ठित और प्रचलित किया है । उनके पीछे बनने वाले ग्रन्थों में ही गीता की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई है । किन्तु इस मत के विरुद्ध बहुत से प्रमाण हम तृतीय प्रवचन में प्रस्तुत कर चुके हैं और सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि जबसे भगवद्गीता का प्रादुर्भाव हुआ तबसे ही उसका महत्व जगद्विख्यात रहा । आर्य वैदिक संस्कृति के और वैदिक संस्कृति के विरुद्ध जैन, बौद्ध आदि के ग्रन्थों में भी गीता के उपदेशों की छाया व उसके श्लोक या श्लोकांश भी प्राप्त हैं यह भी वहां विस्तार से बताया जा चुका है । श्री शंकराचार्य या उनके अनुयायी विद्वानों ने ही गीता बना डाली यह एक उपाहासास्पद कल्पना है । जो कई एक वैष्णव संप्रदाय श्री शंकराचार्य के विरोध में खड़े हुए जिन्होंने न केवल श्री शंकराचार्य के सिद्धान्तों का खण्डन, किन्तु उनके प्रति अनुचित शब्दों का प्रयोग भी किया है और उनकी किसी बात को नहीं माना है उन सबने भी गीता को सब प्रमाणों में उत्कृष्ट और परम संमानित माना है । गीता पर व्याख्यायें भी लिखी हैं । जिनका विस्तृत वर्णन पूर्व प्रवचन में हो चुका है । यदि गीता शंकराचार्य व उनके गुट की ही करतूत होती तो उनके विरुद्ध चलने वाले आचार्य उसका आदर क्यों करते । इतना ही नहीं श्री शंकराचार्य को भगवद्गीता में से अपने मन्तव्यों का प्रमाण निकालने के लिए कई जगह क्लिष्ट कल्पनाएं भी करनी पड़ीं हैं । यदि इनकी ही बनायी गीता होती तो ऐसा प्रसंग ही क्यों आता । अस्तु, ऐसी निस्सार बातों के विचार में समय खोना व्यर्थ है । भारतीय संस्कृति के अनुयायी शिष्ट विद्वान् तो महाभारत युद्ध के प्रारम्भ के दिन को ही भगवद्गीता के आविर्भाव का दिन मानते हैं । युद्धारम्भ में ही इस उपदेश का होना भगवद्गीता से ही सिद्ध है । इसलिए इस पर और कुछ कल्पनायें निरर्थक और निस्सार हैं ।

महाभारत युद्ध कलियुग के आरम्भ में ही हुआ यह महाभारत से ही सिद्ध होता है। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एम०ए० के ग्रन्थ के अनुवाद रूप 'महाभारतमीमांसा' ग्रन्थ में इसपर बहुत विस्तृत विचार किया है और सिद्ध किया है कि ईसवी सन् से ३१०१ वर्ष पूर्व महाभारत युद्ध हुआ था। ज्योतिर्विद विद्वान कलियुगारम्भ का भी यही समय निकालते हैं। महाभारत ग्रन्थ कब बना, इस पर भी उक्त वैद्य महोदय ने और लोकमान्य तिलक ने बहुत विचार किया है किन्तु खेद है कि यह विचार पद्धति उन दोनों महानुभावों की भारतीय विचार पद्धति से दूर चली गई और योरोपियन विद्वानों के प्रभाव से वे अपने आपको न बचा सकें क्योंकि शिक्षा उन महानुभावों की आंग्ल भाषा में ही हुई थी और वे ही संस्कार उनमें ओतप्रोत थे। लोकमान्य तिलक ने अनेक दृढ़ प्रमाणों से महाभारत ग्रन्थ का बुद्ध भगवान् से पूर्व रचा जाना सिद्ध करके भी एक "एडक" शब्द महाभारत के वन पर्व के भविष्य प्रकरण में देखकर उसी के आधार पर बौद्ध मत के प्रचार के अनन्तर महाभारत ग्रन्थ का निर्माण मान लिया क्योंकि "एडक" उनके मत में बौद्धों के "डागोवा" का नाम है जो कि किसी महान् पुरुष की मृत्यु के अनन्तर उसकी अस्थि दीवार में चुनकर उसके स्मारक रूप में एक स्थान बनाया जाता है। उक्त दोनों महानुभावों ने माना है कि यह प्रथा बौद्धों ने ही प्रचलित की थी इसलिए उसका उल्लेख होने से महाभारत ग्रन्थ बौद्ध मत के प्रचार के अनन्तर का ही सिद्ध होता है। महाभारत में दो एक स्थानों में नक्षत्रों की गणना श्रवण से मानी गई है इसपर भी इन विद्वानों की कल्पना है कि उस समय श्रवण पर उत्तरायण का आरम्भ होता होगा। इसका ज्योतिष के आधार पर समय निकाल कर महाभारत निर्माण का समय इन्होंने ईसवी सन् के लगभग दो तीन सौ वर्ष पूर्व ही सिद्ध किया है। किन्तु हमने अपने "पुराणपारिजात" नामक ग्रन्थ के उपोद्घात में इस मत का विस्तृत रूप में खण्डन कर दिया है। उसका सारांश यही है कि अस्थिकणों को दीवार में चुन कर मकान बना देने की प्रथा आज भी राजस्थान में विस्तृत रूप से है। ऐसे स्थानों को वहां "छत्तरी" कहा जाता है और ऐसे मकान बनाने का मूल संकेत आश्वलायनगृह्यसूत्र और और शतपथब्राह्मण तक में प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में (१३ का० ८।१।५) में देवता और असुरों के श्मशान का भिन्न प्रकार का होना बताया गया है। देवताओं के चौकोने और असुरों के गोल श्मशान का वर्णन वहां प्राप्त होता है। ये चौकोर अथवा गोल भित्ति वेष्टित स्थान ही हो सकते हैं। इस विचार से श्मशानों में स्थान बनाने की प्रथा अति पुरातन काल से सिद्ध हो जाती है। आश्वलायन गृह्य सूत्र के चतुर्थाध्याय के पंचम खण्ड में अस्थिसंचयन के प्रकरण में विधान है कि अस्थियों का संचय करके उन्हें ऐसे स्थान में गढ़ा खोदकर रखना चाहिये कि जहां वर्षा काल से अतिरिक्त समय में जल बहकर न आवे, फिर उस गढ़े को मिट्टी से भर देना चाहिये और उसके ऊपर खपरा पत्थर आदि रख देना चाहिए, यह विधान मिलता है। इसी का विकास दीवार चुनने के रूप में होकर आगे क्रमशः मकान बनाने की प्रथा चल पड़ी यह स्पष्ट अनुमान होता है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र बौद्ध मत प्रचार से प्राचीन है, इसे सबने माना है । इसलिये “एडक” की प्रथा बौद्धों से ली गई हो यह सिद्ध नहीं होता । बौद्धों में इसी भित्ति की “डागोवा” नाम से प्रसिद्धि है। “डागोवा” शब्द का “एडक” शब्द से भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । इसके अतिरिक्त महाभारत में यह शब्द भविष्य कथन में आया है, भविष्य कथन के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हो सकते हैं। कई विद्वानों का विचार है कि ऋषियों ने त्रिकाल दृष्टि से भविष्य की बातों का ज्ञान प्राप्त कर उन बातों को पहिले ही कह दिया। भारतीय आस्तिक जनता में यही विचार विशेष रूप से प्रचलित है, जो आधुनिक विद्वान् ऋषियों की ऐसी शक्ति में विश्वास नहीं रखते, उनका विचार है कि भविष्य कथन पुराणों और महाभारत में भी पीछे से मिलाया गया है, जिस समय कुछ धर्म की गिरावट की बातें आरम्भ हो चुकी थी उसी समय अधिक गिरावट का अनुमान कर वैसे कथन जोड़े गये हैं, किन्तु जो बातें भविष्य कथन में कही गई हैं, उनके अनन्तर ही वे पुराण वा महाभारत बने हों, ऐसा तो न युक्ति से सिद्ध हो सकता है, और न आस्तिक जनता ऐसी बात मानने को ही तैयार है । जिस प्रकरण से “एडक” शब्द उठाया गया है, उसी प्रकरण में यह भी लिखा है कि आगे कलियुग में छ वर्ष की बालिकाएं सन्तान उत्पन्न करने लगेंगी, किन्तु ऐसी घटना जो आज तक भी नहीं हुई, तो क्या यह माना जायगा कि अभी महाभारत बना ही नहीं, अथवा दैवात् ऐसी घटना कभी होने लगे तो उस समय के मनुष्य यही कल्पना करने लगेंगे कि महाभारत अभी बना है, अस्तु कहने का तात्पर्य यही है कि भविष्य कथन के आधार पर महाभारत पुराण आदि का समय निर्धारण करना एक बहुत बड़ी भूल है । इसलिए केवल “एडक” शब्द को देखकर महाभारत को बौद्ध मत प्रचार के अनन्तर मान लेना यह बड़ों की बड़ी भूल ही कही जा सकती है ।

स्वयं महाभारत के लेख के अनुसार महाभारत ग्रन्थ का निर्माण काल भी युद्ध के पचास वर्ष के बाद ही है । क्योंकि आदि पर्व में लिखा गया है कि जब युद्ध समाप्त हो चुका और धृतराष्ट्र भी स्वर्ग चले गये, उसके अनन्तर भगवान् व्यास ने अपना महाभारत ग्रन्थ प्रकट किया, इससे यही तात्पर्य सिद्ध होता है कि दुर्योधन की अन्यायपरता और हठवादिता पहले ही महाभारत द्वारा व्यास भगवान् प्रकट कर देते तो धृतराष्ट्र को इससे मार्मिक पीड़ा होती । भगवान् व्यास नहीं चाहते थे कि इस दुःखी को और पीड़ा पहुंचाई जाय, इसलिये उन्होंने धृतराष्ट्र के मरणानन्तर ही अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया, धृतराष्ट्र का मरण महाभारत के युद्धकाल से पचीस तीस वर्ष बाद ही सिद्ध होता है, इससे यह अनुमान करना सुसंगत है कि महाभारत युद्ध के प्रायः पचास वर्ष के अनन्तर व्यास रचित महाभारत प्रकट हुआ होगा।

आधुनिक बहुत से ऐतिहासिक विद्वान् महाभारत के तीन स्तर मानते हैं । सबसे पूर्व भगवान् व्यास ने एक जय ग्रंथ बनाया था, जो कि केवल आठ या नौ हजार

श्लोकों का था, उसके अनन्तर चौबीस हजार श्लोक का “भारत” ग्रन्थ बना जिसके निर्माता, आधुनिक विद्वान, वैशम्पायन को बताते हैं, और लक्ष श्लोकों का “महाभारत” तो बहुत पीछे बना है। यह सूत पुत्र उग्रश्रवा द्वारा निर्मित है ऐसा कहा जाता है। किन्तु भारतीय शिष्ट विद्वानों में यह मत भी ग्राह्य नहीं, क्योंकि महाभारत के आदि पर्व (अ० ६२।५२) और स्वर्गरोहण पर्व (अ० ५। श्लोक ४९) में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ने तीन वर्षों में महाभारत की रचना की, और इतने बड़े ग्रन्थ का लेखक कौन होगा, इसलिये भगवान् गणेश से प्रार्थना कर उन्हें लेखक बनाया। अब विचारने की बात है कि क्या आठ हजार श्लोक का ग्रन्थ बनाने में ही भगवान् व्यास को तीन वर्ष लग जाते, और आठ हजार श्लोक लिखने वाला भी क्या उन्हें कोई अपना शिष्य नहीं मिल सकता था कि जिसके लिये वे गणेश से प्रार्थना करने जाते। इसके अतिरिक्त “जय” नाम महाभारत का ही है यह भी “जयाख्यं भारतं महत्” इस स्वर्गरोहण (५।४९) के वचन से सिद्ध हो जाता है। तब आठ हजार श्लोक का जय ग्रन्थ सबसे पूर्व बनने में तो कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। यह महाभारत में अवश्य लिखा है कि आठ हजार आठ श्लोक ऐसे हैं जिनके विषय में भगवान् व्यास ने कहा है कि इनको मैं जानता हूँ शुकदेव जानता है और संजय जानता है या नहीं इसमें सन्देह है (संजयो वेत्तिवानवा) कई विद्वान उक्त पद्य का यह अर्थ कहते हैं कि संजय जानता है और चतुर पुरुष भी जान सकते हैं “वानवा” शब्द का अर्थ ‘चतुर’ प्राचीन कोष में लिखा है- “वानवा चतुरः पुमान्”। यह श्लोक संख्या कूट श्लोकों की है जब गणेश भगवान् लिखने बैठे और उन्होंने कहा कि मेरी लेखनी रुकनी नहीं चाहिये तो व्यास जी ने निवेदन किया कि आप अर्थ समझ कर श्लोक लिखते जाना तब लेखनी नहीं रुकेगी, इसलिये बीच-बीच में उन्होंने अति कठिन श्लोक बना दिये जिनका अर्थ समझने में गणेश जी को भी कुछ देर तक विचार करना पड़ता था, और इतने काल में वे और बहुत से श्लोक बना लेते थे। वे ही अति कठिन श्लोक “कूट” नाम से प्रसिद्ध हैं। इन श्लोकों का पृथक्करण आज तक किसी ने नहीं किया। चौबीस हजार श्लोक की बात आदि पर्व में अवश्य मिलती है कि बिना आख्यान उपाख्यानों के चौबीस हजार श्लोक की भारत नाम की संहिता बनाई गई। और उपाख्यान सहित एक लक्ष की संहिता है जो कि महाभारत है। इससे दो संहिताओं का बनना सिद्ध होता है, और वैशम्पायन, जनमेजय के परस्पर प्रश्नोत्तर रूप के श्लोक और सूत शौनक के परस्पर प्रश्नोत्तर संवाद के श्लोक जोड़कर व्यास शिष्य उग्रश्रवा ने महाभारत को वर्तमान रूप दिया यह भी माना जा सकता है। इनके भारत और महाभारत नाम भी प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं किन्तु उग्रश्रवा भी तो व्यास जी के शिष्य लोमहर्षण जी का पुत्र था, उसका समय बहुत पीछे कैसे सिद्ध हो सकता है। इसलिये यदि दो रूप बने तो वे भी उसी समय बन गये दूसरा रूप बहुत पीछे बना यह नहीं सिद्ध होता। आश्वलायनगृह्यसूत्र के तर्पण

प्रकरण में भारत और महाभारत दोनों के आचार्यों का तर्पण लिखा है, आश्वलायन गृह्य का समय ई० पू० ५०० माना जाता है, और भगवान् पाणिनि ने भी स्वर प्रकरण में भारत शब्द परे रहते मह शब्द को स्वर विशेष का विधान किया है इससे महाभारत का भी परिचय भगवान् पाणिनि को था यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है । शिलालेखों में भी महाभारत के लिए “शतसाहस्री संहिता” शब्द लिखा है और वैदेशिक यात्री डियोन्क्रायस्टोस्टोन ने भी महाभारत में एक लाख श्लोकों का इतिहास है ऐसा लिखा है । इन बातों से लक्ष श्लोकात्मक महाभारत भी बहुत पीछे का सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

इसके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य के बहिरंग परीक्षा प्रकरण में प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि भगवद्गीता तो महाभारत के प्रथम स्तर में ही संमिलित थी । अतः महाभारत के तीन स्तर मानने पर भी गीता का प्रादुर्भाव पाँच हजार वर्ष पूर्व ही मानने में कोई बाधा नहीं आती । क्योंकि युद्धारम्भ के समय भगवान् कृष्ण ने जो उपदेश किया वही भगवान् व्यास ने संगृहीत किया है ।

पुराणों में गीता का माहात्म्य विस्तार से है इससे भी गीता की प्राचीनता प्रसिद्ध है । अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि गीता प्रादुर्भाव का मास कौनसा और तिथि कौनसी है । इस देश में पुराने समय से मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को गीता जयन्ती मानने की प्रथा प्रचलित है । जैसे भगवान् कृष्ण, भगवान् राम आदि अवतारों के प्रादुर्भाव का दिन प्रचलित प्रथा के आधार पर ही माना जाता है उसी प्रकार गीता के प्रादुर्भाव का दिन भी प्रचलित प्रथा के अनुसार ही मानना उचित है । किन्तु इतना ही नहीं युक्ति से भी वह मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी का दिन ही गीता का प्रादुर्भाव दिन सिद्ध होता है । महाभारत का युद्ध मार्गशीर्ष मास में हुआ था यह कई प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है । भगवान् कृष्ण सन्धि का सन्देश लेकर कार्तिक में दीपावली के आसपास कौरव सभा में गये थे और उनके लौटने पर तैयारी होकर युद्धारम्भ हुआ । इससे मार्गशीर्ष मास ही आता है । इसके अतिरिक्त जब भीष्म का पतन हुआ तब दक्षिणायन था और उत्तरायण में प्राण छोड़ने वाला ही मुक्ति मार्ग में जाता है ऐसे शास्त्रों के वचन हैं । भगवद्गीता में भी अष्टम अध्याय में ऐसा प्रसंग आया है जिसका निरूपण अष्टमाध्याय की व्याख्या में ही होगा । इसी कारण भीष्म उत्तरायण की प्रतिक्षा में शर शैय्या पर पड़े रहे और अनन्तर राज्याभिषेक कराकर जब युधिष्ठिर उनसे उपदेश सुनने गये और उसके अनन्तर अपने राज्य में कुछ दिन निवास कर फिर उनकी मृत्यु का समय जान दाह संस्कार की सब वस्तुएं लेकर उनके पास आए तब भीष्म ने कहा था कि मुझे शरशैय्या में पड़े अठ्ठावन दिन हो गये हैं और अब माघमास का शुक्ल पक्ष आगया है—

अष्टपंचाशतं रात्र्य शयानस्याद्य मे गताः ।

शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा ॥

माघोयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर ।

त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ॥

अनुशासन० अ० १६७

इससे भी मार्गशीर्ष में ही युद्धारम्भ का समय सिद्ध होता है क्योंकि माघ शुक्ल में जब अठावन दिन हुए तो आरम्भ मार्गशीर्ष में ही मानना पड़ेगा अब तिथि का विचार देखिए ।

युद्धारम्भ के अनन्तर दस दिन सेनापति रूप से भीष्म ने युद्ध किया । उनके पतन के अनन्तर द्रोणाचार्य सेनापति बने । द्रोणाचार्य के सेनापतित्व में तीसरे दिन अभिमन्यु का वध हुआ और उसपर कुपित होकर उसके दूसरे दिन अर्थात् चतुर्थ दिन अर्जुन ने प्रतिज्ञा पूर्वक जयद्रथ का वध किया । उसी दिन द्रोणाचार्य ने रात्रि युद्ध किया अर्थात् युद्धारम्भ के चौदहवें दिन रात्रि युद्ध हुआ । रात्रि युद्ध में वर्णन है कि अन्धकार से स्व पर का भेद न जानते देखकर मशालें जलायीं गईं और बहुत रात्रि हो जाने पर जब निद्रा से झूम-झूम कर योद्धा गिरने लगे और आपस में कुचले जाकर मरने लगे तब अर्जुन ने घोषणा की कि व्यर्थ दोनों ओर की सेना का नाश क्यों कर रहे हो, थोड़ी देर शान्त होकर शयन करलो, चन्द्रमा का उदय हो जाने पर फिर युद्ध आरम्भ कर देना। सबने अर्जुन का कथन मान लिया, ऐसा ही किया गया। इससे सिद्ध होता है कि उस दिन अर्थात् युद्धारम्भ के चौदहवें दिन चन्द्रमा का उदय मध्यरात्रि के बाद प्रहर या डेढ़ प्रहर रात्रि बाकी रहते हुआ था । यह घटना मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को युद्धारम्भ मानने पर ठीक घटती है क्योंकि शुक्ल एकादशी को युद्धारम्भ होने पर कृष्ण नवमी को चौदहवां दिन होना चाहिए । महाभारत से यह भी विदित होता है कि युद्ध के समय एक पक्ष तेरह दिन का हुआ था । इस प्रकार एक या दो तिथियों का क्षय मान लेने पर दशमी या एकादशी चौदहवां दिन आ जाता है । उस दिन चन्द्रोदय डेढ़ प्रहर अवशिष्ट रहते ही होता है । श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने शुक्ल त्रयोदशी को युद्धारम्भ का अनुमान लगाया है । किन्तु ऐसा मानने पर चौदहवां दिन कृष्ण द्वादशी या त्रयोदशी को आ पड़ता है । उस दिन चन्द्रमा का कोई महत्व नहीं रहता । उसका प्रकाश अत्यल्प हो जाता है और महाभारत में उस दिन चन्द्रमा का प्रकाश फैलने का अच्छा वर्णन मिलता है और मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी गीता जयन्ती के रूप में प्रसिद्ध भी है । जब उपपत्ति बनती है तो प्रसिद्धि को क्यों छोड़ा जाय । इसलिए मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को ही युद्धारम्भ का और गीतोपदेश का दिन मानना युक्ति संगत है ।

गीता के दशवें अध्याय में विभूति प्रकरण में भगवान ने मार्गशीर्ष मास को अपना रूप बताया है । इसकी उपपत्ति समझ में नहीं आती कि मार्गशीर्ष को ही अपना रूप क्यों कहा । उत्तरायण या वसन्त सम्पात में मानना उपपत्ति से सिद्ध नहीं

होता इसलिए कुछ विद्वान् इसका यही आशय निकालते हैं कि भगवान् कृष्ण का अवतार भूमि का भार उतारने के लिए हुआ था और वह भार उतारने का कार्य महाभारत युद्ध में विशेष रूप से सम्पादित हुआ इसलिए अपने अवतार का मुख्य प्रयोजन मार्गशीर्ष में सिद्ध होने के कारण मार्गशीर्ष को उनने अपना रूप बताया । अस्तु इस युक्ति पर भी विद्वान् लोग विचार कर लें ।

भीष्म ने माघ शुक्ल के तृतीयांश शेष रहने पर अपने आपको शरशैय्या में पड़े अठ्ठावन दिन बताये हैं। जैसा कि पूर्व में श्लोक दिखाया जा चुका है। इसमें उक्त प्रक्रिया से कुछ बाधा आती है, क्योंकि मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को युद्धारम्भ मानने पर भीष्म का पतन आगे के मास की कृष्ण पक्ष की पंचमी वा षष्ठी को मानना पड़ेगा। तब माघ शुक्ल अष्टमी वा दशमी को अठ्ठावन दिन नहीं होते । केवल सैतालीस वा अड़तालीस दिन होते हैं। इन सब बातों की उपपत्ति बैठाना कठिन है तथापि यही कहा जा सकता है कि युद्धारम्भ के दिन से ही गिनकर अठ्ठावन दिन की पूर्ति भीष्म ने की है। उनके कथन का जो श्लोक पूर्व लिखा गया है उसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मुझे निद्रा लिए (शयन किए) आज अठ्ठावन दिन हो गये। इससे यह भी आशय निकल सकता है कि पहिले युद्ध के दस दिनों में सेना संचालन की चिन्ता के कारण नये-नये व्यूह बनाने आदि के विचारों में निद्रा का अवसर नहीं मिला और पतन के अनन्तर बाणों की वेदना से निद्रा नहीं आती है इसलिए निद्रा लिए अठ्ठावन दिन हो गये यह बात बन जाती है। ये अठ्ठावन दिन कल्प के समान बीते हैं इत्यादि अग्रिम पद्यों का कथन भी सुसंगत हो जाता है। इससे अच्छी और सब बातों की उपपत्ति बैठाना, कठिन बात है। कोई न कोई दोष सब प्रक्रियाओं में रह ही जायगा।

व्याख्याकारों ने ऐसा भी आशय निकालने का प्रयत्न किया है, कि “अष्टपंच अशतम्” अर्थात् सौ में अठ्ठावन घटाने पर जो संख्या बचती है— अर्थात् बयालिस उतनी रात्रि मुझे शरशय्या पर पड़े हो गये । किन्तु इससे भी संगति नहीं बैठती, क्योंकि वे व्याख्याकार माघ शुक्ल अष्टमी को भीष्म का स्वर्गरोहण मानते हैं । उससे बयालिस दिन पूर्व अमान्त मास के विचार से मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी, एकादशी, या द्वादशी आ सकती है। उस दिन भीष्म का पतन माना जाय तो द्रोणाचार्य के अभिषेक का चौथा दिन चतुर्दशी अमावस्या वा पौष शुक्ल प्रतिपद् अमान्त मास के अनुसार से आ सकेगी, यही जयद्रथ वध का दिन मानना होगा, और उस रात्रि को यदि अमा या प्रतिपद् मानें तो चन्द्रोदय होगा ही नहीं चतुर्दशी मानें तो भी चन्द्रमा का कोई प्रकाश ऐसा न होगा जिसकी प्रतीक्षा युद्धारम्भ के लिये की जा सके, और जिस प्रकाश का वर्णन महाभारत में बहुत अच्छा मिलता है—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना  
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्रीदिगलंकृता ।



हरवृषोत्तम गात्र समद्युतिः

स्मरशरासनपूर्णसमप्रमः

नववधूस्मितचारुमनोहरः,

प्रविसृतः कुमदाकरबान्धवः

(महाद्रोण १८४।४८)

प्रति प्रकाशिते लोके दिवाभूत निशाकरे ।

विचेरुर्न विचेरुश्च राजन् नक्तंचरास्ततः । ५३

अर्धरात्रि के पश्चात् योद्धाओं के शयन के अनन्तर कामिनियों के कपोल के समान पाण्डुवर्ण नेत्रों को आनन्द देनेवाले चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अलंकृत किया ।

महादेव के वाहन वृषभ के समान श्वेत कान्ति वाले, कामदेव के धनुष के समान पूर्ण कान्ति फैलाने वाले युवती स्त्रियों के स्मित के समान सुन्दर और मनोहर कुमुद बान्धव चन्द्रमा फैलने लगा ।

जब चन्द्रमा के प्रकाश से लोक प्रकाशित हो गये और दिन जैसा प्रतीत होने लगा, तब रात्रि के विचरनेवाले जन्तु जिनको प्रकाश प्रिय है वे विचरने लगे और प्रकाश से डरने वाले जन्तुओं ने विचरना बन्द कर दिया ।

इस प्रकार का वर्णन नवमी दशमी के चन्द्रमा का हो सकता है कृष्ण चतुर्दशी के चन्द्रमा में तो ऐसी कान्ति ही नहीं होती, इसलिये यह बयालिस की कठिन कल्पना ठीक नहीं उतरती।

अब प्रश्न यह होता है कि महाभारत के अनुशासन पर्व में यह भी कहा गया है कि महाराज युधिष्ठिर भीष्म से उपदेश सुनकर उनकी आज्ञा से अपने नगर में चले गये और वहाँ पचास दिन निवास कर सूर्य के उत्तरायण का समय जानकर उनके दर्शन करने को दाह सामग्री साथ लेकर पुनः आये । उसी समय भीष्म ने उक्त वाक्य कहा था कि मुझे अठ्ठावन रात्रियाँ शरशय्या पर पड़े हो गयीं, अब विचारने की बात है कि यदि पूर्वोक्त रीति से युद्धारम्भ से ही अठ्ठावन रात्रियों की गणना की जाय तो अठारह दिन तो युद्ध में ही चले गये, तदनन्तर युधिष्ठिर का राज्याभिषेक होकर भगवान् कृष्ण की प्रेरणा से उपदेश सुनने आये । इतने लम्बे उपदेश में ४-५ दिन अवश्य ही लगे होंगे । तब फिर पचास दिन नगर में रहने से तो तिहत्तर-चौहत्तर दिन हो जाएँगे। फिर अठ्ठावन दिन की संगति कैसे होगी ? और पचास दिन युधिष्ठिर का नगर में न रहना मानने पर—

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे ।

समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभ ॥ अनु० १६७।५

(नगर में पचास रात्रि निवास कर युधिष्ठिर ने भीष्म के देहत्याग के समय के आ जाने का स्मरण किया, इत्यादि) । इसका उत्तर यही होगा कि यहाँ सब वचनों की संगति तो बैठती ही नहीं; क्योंकि जिस समय युधिष्ठिर उपदेश सुनने आए, उस समय भगवान् कृष्ण का भीष्म के प्रति यह वचन महाभारत में प्राप्त होता है-

पंचाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तवजीवितस्य ।  
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं समध्यसे भीष्म विमुच्य देहम् ॥

शा० ५१।१४

अर्थात् हे भीष्म ! तुम्हारे जीवन के अब छप्पन दिन शेष हैं । इसके आगे छः दिन भीष्म का उपदेश हुआ । और पचास दिन वहाँ से लौट कर युधिष्ठिर हस्तिनापुर में रहे; यह संगति तो मिल जाती है । किन्तु भीष्म के पतन के अनन्तर आठ दिन तो युद्ध चला और अभिषेकादि में एक-दो दिन लगे ही होंगे; और उसके अनन्तर पूर्वोक्त क्रम से छप्पन दिन और होने पर पैंसठ या छियासठ दिन हो जाते हैं । फिर भीष्म का अन्त अठ्ठावनवें दिन बताना किसी प्रकार संगत नहीं होता । इसलिए जैसा कि महाभारत मीमांसाकार ने लिखा है कि ये संख्याएं किसी गुप्त परिभाषा से दी गई हैं । यह संख्याओं के निर्देशक श्लोक महाभारत के कूट श्लोकों में से हैं, कि जिनका अर्थ अभी तक किसी की समझ में ठीक-ठीक नहीं आया है । अथवा लेखकों के प्रमाद से संख्याओं के निर्देश से अशुद्धियाँ हो गई हैं । ऐसा ही मानना पड़ेगा ।

तब विस्पष्ट युद्धकालिक चन्द्रोदय के वर्णन और लोक में गीता जयन्ती की प्रसिद्धि के अनुसार यही मानना उचित है कि गीता का प्रादुर्भाव ईसवी सन् के तीन हजार एक सौ एक वर्ष पूर्व मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी को हुआ था, उसी दिन संसार को यह उपदेशरत्न मिला और वह दिन भारतवर्ष के लिए चमकते हुए सौभाग्य का चिरस्मरणीय दिन है ।



## सप्तम-पुष्प

भगवद्गीता का प्रथमाध्याय केवल ऐतिहासिक उपोद्घात मात्र है यह सभी मानते हैं । सन्यास मार्ग को गीता का मुख्य लक्ष्य मानने वाले भगवान् शंकराचार्य और उनके अनुयायी प्रथम अध्याय की संगति इस प्रकार लगाते हैं कि शोक, मोह, दुःख आदि से आक्रान्त पुरुष ही ज्ञान, वैराग्य का अधिकारी होता है । इसलिए अधिकार-सम्पत्ति बतलाने के लिए प्रथमाध्याय में अर्जुन के शोक मोहादि का विवरण किया गया है। कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मानने वाले लोकमान्य तिलक आदि की संगति स्पष्ट ही है कि कार्य अकार्य की उलझन बताने के लिए प्रथमाध्याय का उपयोग है। इसलिए भक्ति मार्ग के अनुयायी भी संसार परिताप के विवरण के लिए इस अध्याय की आवश्यकता मान लेते हैं । इस प्रकार प्रथमाध्याय उपोद्घात रूप ही है । उपदेश का आरम्भ द्वितीयाध्याय के ग्यारहवें श्लोक से है । किन्तु इस उपोद्घात प्रकरण में भी आर्य-संस्कृति की अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश है । गीता के उपदेष्टा जगन्निन्यन्ता जगदीश्वर स्वयं भगवान् कृष्ण हैं और उपदेश्य है सब जीवों का प्रतिनिधिभूत अर्जुन। अर्जुन को लक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण जीवों को भगवान् ने उपदेश दिया है यह प्रथम प्रवचन में कहा जा चुका है । पुराणों में अर्जुन और कृष्ण को नर और नारायण का अवतार माना जाता है, इस विचार से भी अर्जुन का सब जीवों का प्रतिनिधि होना सिद्ध है । जीव और ईश्वर में यही भेद है कि जीव सदा अनेक क्लेशों से आक्रान्त रहता है और ईश्वर सदा आनन्दमय । यही गीता के आरम्भ में अभिव्यंजित किया गया है । अर्जुन को यहां क्लेशमय रूप में चित्रित किया गया है जैसा कि आगे स्पष्ट होगा । वह एक प्रकार से जीव की अवस्था का चित्रण है । जीव प्रायः सदा ही शोक, भय, मोह से आक्रान्त होकर ऐसी ही दशा में रहा करता है । अब उपदेष्टा श्रीकृष्णचन्द्र की ओर देखिए, जिनके पक्ष में अग्रसर होकर वे आये हैं, जो भरी कौरवों की सभा में धृतराष्ट्र के प्रति स्पष्ट घोषणा कर चुके हैं कि—

“यस्तान्द्वेष्टि स मां देष्टि यस्ताननु स मामनु  
एकत्वं मां गतं विद्धि पाण्डवैर्धर्मचारिभिः”

अर्थात् पाण्डवों के साथ द्वेष रखने वाला मेरा भी द्वेषी है और उनका अनुकरण करने वाला मेरा भी अनुगामी है, मैं धर्माचरण निरत रहने वाले पाण्डवों के साथ एक रूप हो चुका हूँ। इतना ही नहीं, युद्ध के आरम्भ का बिगुल भी भगवान् कृष्ण ने ही पहिले बजाया। इस प्रकार जिस दल की प्रमुखता वे बार-बार घोषित कर चुके हैं, उसी दल का मुख्य योद्धा जो विजय पराजय का मुख्य आधार कहा जा सकता है वही धनुष फेंक कर वन में जाने को तैयार है। इस घटना का क्या भगवान् कृष्ण पर भी कोई प्रभाव पड़ा? उनके चित्त में भी इससे कोई क्षोभ हुआ? नहीं। गीता कहती है—

“तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।  
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥”

अ० २-श्लोक १०

अर्थात् दोनों सेनाओं के बीच में दुःखाक्रान्त होकर गिरते हुए अर्जुन को हँसते हुए भगवान् ने उपदेश देना प्रारम्भ किया । इस हास्य के द्वारा उनकी आनन्दमयता अभिव्यंजित होती है । ईश्वर नित्य आनन्दमय है, उसमें शोक, मोह का स्पर्शमात्र भी नहीं हो सकता ।

इसी कारण आर्य संस्कृति में उपदेश ईश्वर को ही माना जाता है । जीव जो स्वयं अज्ञान और शोक, मोह से आक्रान्त है वह दूसरे को क्या उपदेश देगा । यह तो वही कहावत होगी कि कोई नेत्र का रोगी वैद्य के पास गया और उनसे बोला कि नेत्र दुर्बल है, इनको शक्ति देने की कोई औषधि दीजिए। वैद्य जी ने पूछा—कितनी दूर तक देख सकते हो । नेत्र रोगी ने कहा—सामने जो वृक्ष है वहां तक मुझे दिखाई देता है, आगे नहीं । तब वैद्य जी आंख फाड़कर कहने लगे क्या यहां कोई वृक्ष भी है ? रोगी ने अपना सिर ठोका कि अच्छे वैद्य के पास आया । इन्हें तो वृक्ष भी दिखाई नहीं देता । तात्पर्य यही है कि स्वयं रोगाक्रान्त जीव दूसरे का उद्धार का मार्ग दिखलाने में समर्थ नहीं । इसलिए आर्य संस्कृति में ईश्वर द्वारा ब्रह्मा और महर्षियों के हृदय में प्रेरित वेदों को ही धर्माधर्म निर्णय का मुख्य आधार माना जाता है । उसी के अनुसार गीता में भी उपदेश भगवान् और उपदेश्य जीव प्रतिनिधि रूप अर्जुन को रक्खा गया है ।

नापृष्ठः कस्यचिद् ब्रूयात्-न चान्यायेन पृच्छतः

जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत् (मनुस्मृति)

अर्थात् बिना पूछे किसी को शास्त्र की बात नहीं कहना चाहिए और जो जिज्ञासा भाव से न पूछ कर किसी दुरभिसन्धि से पूछता हो— उसे भी नहीं कहना चाहिए । सब कुछ जानते हुए भी विद्वान् संसार में जड़ की तरह रहे, अनधिकारी को उपदेश न दे । इसका भी निर्वाह भगवद्गीता में पूर्ण रूप से हुआ है । जब तक अर्जुन अपने को विशेषज्ञ मानते हुए अपना ही शास्त्र ज्ञान प्रकट करते रहे, तब तक भगवान् ने उपदेश का आरम्भ नहीं किया । विशेष खिन्न होकर रथ के पीछे के भाग में गिरकर आंसू बहाते हुए अर्जुन को देखकर केवल चेतावनी दे दी । बस चेतावनी के अतिरिक्त और कोई उपदेश की बात भगवान् ने नहीं कही । वे आर्य मर्यादा के रक्षक थे, आर्य मर्यादा के विपरीत कैसे आचरण करते। बात भी यही है कि जब तक मनुष्य अपने हठ पर दृढ़ रहे तब तक उससे कुछ भी कहना व्यर्थ है। जिज्ञासा रूप मुख के बिना उपदेश रूप अमृत कैसे भीतर प्रवेश करेगा । इसलिए जब जिज्ञासा हो, हृदय उपदेश

ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो तभी उपदेश देना चाहिए । बिना जिज्ञासा के केवल चेतावनी पर्याप्त होती है । अनन्तर जब शरणागत होकर अर्जुन ने प्रश्न किया, अपनी शिष्यता प्रकट की, तभी भगवान् ने उपदेश का प्रारम्भ किया । इस प्रकार उपदेश की आर्य संस्कृति सिद्ध मर्यादा भी प्रथमाध्याय में चित्रित की गयी है । इसके अतिरिक्त अर्जुन के कथन में भी आर्य संस्कृति के बहुत तत्त्व हैं । इसलिए उस प्रथमाध्याय का भी विवरण आवश्यक समझकर प्रस्तुत किया जाता है ।

### प्रथमाध्याय की व्याख्या

प्रथमाध्याय पर श्री शंकराचार्य ने भाष्य नहीं लिखा है । उनका भाष्य द्वितीयाध्याय के ग्यारहवें श्लोक से ही विस्तृत रूप से आरम्भ होता है, जहां से कि दार्शनिक उपदेश का प्रारम्भ है । अन्य आचार्यों ने भी प्रायः प्रथमाध्याय की व्याख्या अति संक्षिप्त की है । श्री मधुसूदनसरस्वती ने प्रथमाध्याय पर भी व्याख्या लिखी है, और उसमें भिन्न भिन्न पदों का भी स्वारस्य बताया है । प्राचीन व्याख्याओं के अतिरिक्त वर्तमान में हमारे मित्र देहली के प्रभुदत्त शास्त्री जी ने एक “व्यंग्यमन्दाकिनी” नाम की हिन्दी भाषा में टीका लिखी है । उन्होंने प्रथमाध्याय के पदों का विशेष विवरण किया है । अस्तु, इन दोनों व्याख्याओं के कुछ अंशों का संग्रह कर हम प्रथमाध्याय का संक्षिप्त विवरण यहां देते हैं—

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः

भामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

महाभारत में पहले यह प्रसंग आ चुका है कि जब दोनों दल युद्ध के लिये कुरुक्षेत्र की विस्तृत भूमि में आ चुके थे, उस समय एक दिन श्री वेदव्यास जी धृतराष्ट्र के पास आये, तब धृतराष्ट्र ने कहा कि ऐसे महावीरों का युद्ध देखना भी सौभाग्य से प्राप्त होता है। मुझे तो नेत्र विहीन होने के कारण यह सौभाग्य भी प्राप्त नहीं है। तब श्री व्यासदेव ने कहा कि तुम देखना चाहो तो मैं अपने तपोबल से तुम्हें नेत्र दे सकता हूँ। इस पर धृतराष्ट्र ने फिर कहा कि “जन्म भर तो अन्ध रहा अब अपने और भाई के पुत्रों और उनके सहचारी अन्यान्य वीरों का नाश देखने के लिए ही नेत्र प्राप्त करूं यह तो उचित नहीं प्रतीत होता।” हाँ, यदि कोई युद्ध का वर्णन सुना दिया करे तो सुन लेना चाहता हूँ। तब भगवान् व्यास ने वहाँ उपस्थित संजय को (जो कि धृतराष्ट्र का एक पुराना सहचारी और हितोपदेश था) अपने तपः प्रभाव से दिव्यदृष्टि देकर इस कार्य में नियुक्त किया, और उससे कहा कि तुम हस्तिनापुर में बैठे हुए भी युद्ध की सब घटना देख सकोगे और युद्ध स्थल में जाओगे तब भी वहाँ अदृश्य रूप में रहोगे, किसी शस्त्र आदि का प्रभाव तुम पर न होगा, और वहाँ की सूक्ष्म बात भी

दिव्य दृष्टि से जान सकोगे । तुम राजा को सब वृत्तान्त सुनाया करो । उस भगवान् व्यास के आदेश के अनुसार एकबार युद्ध भूमि में जाकर जब संजय लौटा, और उसने भीष्म के पतन की घटना संक्षेप में धृतराष्ट्र को सुना दी उसके अनन्तर विशेष विवरण की जिज्ञासा से धृतराष्ट्र का प्रश्न प्रारंभ होता है । इससे पूर्व अर्जुन की दुर्गास्तुति आ चुकी है । धृतराष्ट्र का प्रश्न है— कि “कहो संजय धर्म के क्षेत्र रूप कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से उपस्थित मेरे पुत्र और पाण्डवों ने क्या किया ? अर्थात् किस प्रकार युद्ध का आरंभ हुआ।” इस पद्य में कुरुक्षेत्र को धर्म का क्षेत्र बताया है । इसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार खेत में बीज डालने से वह हजारों गुना होकर प्रकट होता है उसी प्रकार कुरुक्षेत्र तीर्थ में किया हुआ बीजरूप संक्षिप्त धर्म भी अनन्त फल देता है। अथवा उस क्षेत्र में धर्म की ही खेती होती है— जैसा कि श्रुतियों में भी उसे देवताओं का यजन स्थान बतलाया गया है। अथवा इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जैसे खेत में समय पर धान लहलहाते रहते हैं और वहाँ जाने वाले पुरुष का मन उसे देखकर ही प्रसन्न हो जाता है, वैसी ही कुरुक्षेत्र में धर्म मानों चारों ओर लहलहा रहा है । इससे धृतराष्ट्र का यह भी आशय अभिव्यक्त होता है कि यद्यपि मेरे पुत्र और पाण्डव वहाँ युद्ध की इच्छा से गये हैं, परन्तु संभव है कि उस क्षेत्र के धर्म भाव का प्रभाव पड़ा हो, और वे युद्ध की बात छोड़कर परस्पर सहयोग की बात करने लगे हों । इसीलिये “किमकुर्वत” (क्या करने लगे) यह सामान्य रूप प्रश्न है—अर्थात् युद्ध ही करने लगे या मन में धर्म भाव जागरित हो जाने से युद्ध से विरत हो गये। इससे अर्जुन के हृदय में धर्म भाव जागरित हो जाने का जो प्रसंग आगे अनुपद ही आने वाला है उसकी ध्वनि निकल आती है । “मामकाः” और “पाण्डवाः” पृथक्-पृथक् कहने से धृतराष्ट्र का आन्तर भाव भी प्रकट हो जाता है कि उसे पाण्डवों पर किंचित् भी ममत्व नहीं है । वह उनको अपनेपन से पृथक् ही मानता है । “संजय” इस नाम ग्रहण पूर्वक संबोधन से यह आशय प्रकट होता है कि तुमने अपने मन इन्द्रियों पर सम्यक्— अच्छे प्रकार से विजय प्राप्त किया है । तुम सत्य बात ही मुझे बताओगे । मिथ्या भाषण की संभावना तुमसे नहीं है । आदि में धर्म शब्द का उच्चारण करने से भगवद्गीता शास्त्र का मंगल भी संपन्न हो गया । यद्यपि गीता महाभारत के अन्तर्गत है इसलिए महाभारत के मंगल से ही संपूर्ण ग्रन्थ का मंगल हो गया था किन्तु फिर भी गीता एक स्वतंत्र शास्त्ररूप है इसलिए उसका भी मंगल संपन्न हो जाना एक उत्तम बात है । अस्तु ।

संजय उवाच—

यह प्रश्न सुनकर संजय वहाँ का वृत्तान्त कहने लगा—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा

आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

“पाण्डवों की व्यूह रचना की हुई सेना को देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के समीप जाकर नीचे लिखे वचन बोला”— यहां “तु” शब्द से यह सूचित किया जाता है कि पाण्डवों को तुम्हारी सेना देखकर कोई भय वा क्षोभ नहीं हुआ, किन्तु पाण्डवों की सेना व्यूह में रचित सुसज्जित देखकर दुर्योधन के मन में भय का उदय हुआ । इसीलिये राजा होने पर भी उसने द्रोणाचार्य को अपने पास नहीं बुलाया किन्तु राजनीति कुशलता से आदर दिखाने को स्वयं द्रोणाचार्य के समीप गया । द्रोणाचार्य के ही समीप जाने का यह कारण है कि दुर्योधन को द्रोणाचार्य से शंका थी कि इनका अर्जुन पर विशेष स्नेह है । उस स्नेह के कारण ये कहीं धोखा न दे बैठें, इसलिए जहां तक हो पूर्ण आदर से इन्हें सुरक्षित रखना चाहिये । यही उसकी राजनीति कुशलता थी । राजा पद से यह भी सूचित किया जाता है कि आप परस्पर मेलजोल कर पाण्डवों को कुछ राज्य का अंश दे देने की शंका न कीजिए । दुर्योधन में राजापन का अभिमान कुरुक्षेत्र भूमि में जाकर भी बना हुआ है । वह अपने राजत्व का कुछ भी अंश छोड़ने को तैयार नहीं है “द्रोणाचार्य के समीप जाकर बोला” इतना कहने से ही बात स्पष्ट हो जाती है, फिर वचन बोला यह “वचन” शब्द तो निरर्थक ही प्रतीत होता है, किन्तु यहां व्याख्याकार वचन शब्द से यह तात्पर्य निकालते हैं कि कहने योग्य कोई खास बात नहीं थी, केवल कुछ कहना चाहिये इसीलिये अस्त व्यस्त वचन रूप से कुछ कहने लगा । दुर्योधन ने क्या कहा सो आगे के श्लोक में बताते हैं—

**पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य ! महतीं चमूम् ।**

**व्यूढां द्रुपद-पुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥**

हे आचार्य पाण्डु पुत्रों की इस बड़ी सेना को देखिये, जिसकी व्यूह रचना आपके शिष्य द्रुपद के पुत्र बुद्धिमान् “धृष्टद्युम्न” ने की है”

इससे यह सूचित किया कि वनवासी पाण्डव भी इतनी बड़ी सेना इकट्ठी कर लेंगे यह आशा नहीं थी। किन्तु उनकी सेना भी बहुत बड़ी दिखाई देती है, इससे दुर्योधन के चित्त का भय स्पष्ट हो जाता है। धृष्टद्युम्न का नाम न लेकर द्रुपद पुत्र कहने का अभिप्राय यह है कि द्रुपद के साथ द्रोणाचार्य का जो पुराना वैर था, द्रुपद ने राज्य प्राप्त कर इनकी अवज्ञा की थी और उसका बदला लेने के लिए अर्जुन को भेजकर द्रोणाचार्य ने द्रुपद को बँधवाकर मंगाया था, उस सबका स्मरण करा दिया जाय और यह सूचित किया जाय कि आपका मुख्य शत्रु ही उनकी सेना में प्रधान है, आप उनसे मिलने का कभी विचार न कीजियेगा। द्रुपद ने अवज्ञा से खिन्न होकर तपस्या द्वारा वरदान प्राप्त कर धृष्टद्युम्न को द्रोणाचार्य के वध के लिये ही उत्पन्न किया था, उसका नाम लेने से द्रोणाचार्य को भय न हो जाय कि यह तो मेरा मारने वाला है इसलिये भी उसका नाम लेना उचित न समझा, आपका शिष्य और बुद्धिमान इन विशेषणों से यह भी सूचित कर दिया सेना कोई बड़ी नहीं है, किन्तु बुद्धिमत्ता से व्यूह रचना कर बड़ी दिखा दी गयी है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।  
 युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥  
 धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।  
 पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरयुगवः ॥५॥  
 युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।  
 सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस सेना में युद्ध करने में भीम और अर्जुन के सदृश बड़े-बड़े धनुष वाले अनेक वीर हैं । उनके नाम आगे गिनाये गये हैं—युयुधान, (सात्यकि) विराट, महारथ द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमशाली युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सभी महारथी हैं ।

सबके विशेषण “शूरा महेष्वासा महारथा” आदि देकर भी एक-एक के पृथक् विशेषण मध्य में दिये हैं वे उनका और उत्कर्ष दिखाने के लिए ही हैं । इससे यह सूचित किया कि सेना चाहे हमसे अल्प भी हो किन्तु वीर इनमें बहुत हैं । “भीमार्जुनसमाः” यह एक बोलने का मुहावरा है । भीम अर्जुन जैसे वीर इस सेना में उपस्थित हैं । इससे भीम अर्जुन का महावीर होना और प्रमुख योद्धा होना ही सूचित होता है ।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम ।  
 नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥  
 भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।  
 अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥  
 अन्येच बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।  
 नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

इससे द्रोणाचार्य यह न समझ लें कि दुर्योधन डर ही गया, इसलिये राजनीति की रक्षा के लिये वह आगे कहता है कि “हमारी सेना में भी बहुत से विशिष्ट वीर हैं जो कि मेरी सेना के नेता हैं, आपके ही शिष्य प्रशिष्य सब हैं तथापि संकेत रूप से स्मरण कराने को कुछ नाम कह देता हूँ । “सबसे पहले आप, भीष्म, कर्ण, युद्ध विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ इत्यादि हैं । यहाँ अपने पितामह सर्वमान्य और सेनापति भीष्म की अपेक्षा भी द्रोणाचार्य को पहिले गिनाकर उनका अत्यन्त संमान अभिव्यक्त किया है और कर्ण के अनन्तर कृपाचार्य का नाम लेने से कृपाचार्य को कुछ वैमनस्य न हो इसलिये उनका विशेषण “समितिंजय” देकर उनका भी अधिक सम्मान प्रकट किया गया । श्लोक के पूर्वार्द्ध में विशिष्ट चार महावीरों का नाम है, और उत्तरार्द्ध में सेना के नेता युवकों की गणना की गयी है,



ऐसा भी कई व्याख्याकारों ने लिखा है । पाण्डवों की अपेक्षा अपने पक्ष के वीर कम गिनाये गये इसका यह तात्पर्य न समझा जाय कि हमारे यहाँ वीर कम हैं । इसलिये आगे अपना अभिमान अभिव्यक्त करता है कि “और भी बहुत से वीर हैं जिनने मेरे लिये अपने प्राणों को निछावर कर दिया है और जो बहुत से शस्त्रों से युद्ध करते हैं। और सभी युद्ध विद्या में पूर्ण निपुण हैं ।” यहाँ इसके मुख से सरस्वती ने “त्यक्तजीविताः” कहलाकर सबका नाश सूचित कर दिया है ।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

इस श्लोक के अर्थ में व्याख्याकारों के बड़े मतभेद हैं । ‘पर्याप्त’ और ‘अपर्याप्त’ शब्दों का प्रयोग प्रायः समर्थ और असमर्थ अर्थों में देखा जाता है । उसके अनुसार इसका अर्थ होगा कि हमारी सेना भीष्म से अभिरक्षित होकर भी असमर्थ है, और पाण्डवों की सेना भीम से रक्षित है और समर्थ है । किन्तु यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता । दुर्योधन जैसा अभिमानी पुरुष अपनी न्यूनता बतावे यह संभव नहीं और राजनीति मार्ग से भी यह अर्थ विरुद्ध होता है । इससे तो दुर्योधन का भय बिलकुल अभिव्यक्त हो जाता है जो कि एक पूर्ण राजनीतिज्ञ पुरुष के लिये सर्वथा अनुचित बात है । कई विद्वान् इससे यह अभिप्राय निकालते हैं कि बड़ी सेना होने पर भी भीष्म के द्वारा रक्षित होने के कारण असमर्थ है और पाण्डवों की सेना छोटी होने पर भी भीम के द्वारा रक्षित है इसलिए समर्थ है । इससे यह सूचित किया कि भीष्म पाण्डवों पर भी कृपा करते हैं । वे दोनों पक्ष के पात्रों को समान समझते हैं, इसलिये रक्षक का एक पक्ष का दृढ़ न होने के कारण हमारे पक्ष की दुर्बलता या असमर्थता है । इसी बात को सिद्ध करने के लिए कुछ व्याकरण के अनुसार भी कल्पना की गयी है कि भीम और भीष्म दोनों शब्द एक ही धातु और एक ही प्रत्यय से बनते हैं। किन्तु एक “षुक” का आगम हो जाने से भीष्म शब्द के आकार में भेद हो गया है। व्याकरण शिक्षा में प्रारम्भिक प्रवृत्ति करने वाले छात्र इस प्रकार बोला करते हैं कि “मित्रवदागमः, शत्रुवदादेशः” अर्थात् आगम मित्र के समान होता है, क्योंकि शब्द स्वरूप की वृद्धि करता है, और आदेश शत्रु के समान होता है, क्योंकि जिसके स्थान में आदेश होता है उसके स्वरूप को नष्ट कर देता है । यहाँ आगम सहित नाम निर्देश करने से सूचित किया कि भीष्म की दोनों तरफ मैत्री है । यह कल्पना यद्यपि चमत्कृति पैदा करती है फिर भी प्रकृत में उपयुक्त नहीं जँचती, क्योंकि आगे के ही पद्य में कहा जाता है कि आप लोग भीष्म की ही रक्षा कीजिए । यदि भीष्म पर ही कटाक्ष करना होता तो उनकी रक्षा पर ही इतना बल क्यों दिया जाता । इसके अतिरिक्त आगे के पद्यों से यही सिद्ध होता है कि दुर्योधन के इन उद्गारों को भीष्म भी सुन रहे थे। फिर भीष्म के सुनते हुए उनके सेना के सेनापति रहते हुए कोई सामान्य पुरुष भी ऐसी

आक्षेप की बात व्यंग्य से भी नहीं कह सकता । महाभारत के युद्ध प्रकरण से भी सिद्ध है कि दुर्योधन भीष्म से डरता था उनके सामने कोई कटाक्ष की बात नहीं कह सकता था, उनका प्रताप ही ऐसा था । अस्तु, इसलिये प्रकृत श्लोक में “पर्याप्त” और “अपर्याप्त” शब्दों का प्रकरणानुसार परिमित और अपरिमित अर्थ करना चाहिए। ऐसा ही अधिकतर व्याख्याकारों ने किया है, और व्याकरण के अनुसार भी यह अर्थ घटित होता है । “परिआप्त” अर्थात् अपरिच्छिन्न । तब इस पद्य का स्पष्ट अर्थ है कि हमारी सेना अपरिमित है अर्थात् बहुत बड़ी है, और उसके रक्षक भी महाप्रतापी भीष्म है, और पाण्डवों की सेना परिमित है अर्थात् हमसे बहुत छोटी है, और उसका रक्षक भी भीम जैसा चंचल बुद्धि, विवेकहीन पुरुष है, इससे हमारी जीत निश्चित है । श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि व्याख्याकारों ने कुछ शब्दों को तोड़ मरोड़ कर भी इसका अर्थ लगाया है । उन्होंने “अस्माकम्” और “एतेषाम्” इन दोनों षष्ठी विभक्तियों को चतुर्थी के अर्थ में मानकर दूसरा अर्थ निकाला है । जैसा कि विभक्ति विपरिणाम आर्ष वचनों में हो जाया करता है । “भीष्माभिरक्षितम्” और “भीमाभिरक्षितम्” इन दोनों पदों में इस अर्थ में बहुव्रीहि समास माना गया है । तदनुसार यह अर्थ निकलता है कि “तत्” अर्थात् वह पाण्डवों की सेना हमारे लिए असमर्थ है क्योंकि हमने उनको दबाने के लिये भीष्म की रक्षा मान रखी है । और “इदम्” अर्थात् यह हमारी सेना पाण्डवों के लिये अर्थात् उनका विजय करने के लिये पर्याप्त अर्थात् समर्थ है उनने हमारे पराभव के लिए भीम को रक्षक मान रखा है जो कि विवेकहीन और चंचल बुद्धि का है । ऐसा अर्थ करने से यह दोष भी हट जाता है कि अपनी सेना को “तत्” शब्द से और पाण्डवों की सेना को “इदम्” शब्द से क्यों कहा, क्योंकि शब्दों के नियमानुसार सन्निहित में “इदम्” शब्द का, और दूरस्थ वा परोक्ष में “तत्” शब्द का प्रयोग होता है । इस नियम के अनुसार अपनी सेना के लिए “इदम्” शब्द का और दूरस्थ पाण्डव सेना के लिए “तत्” शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त है, यह बात इस नवीन अर्थ में घट जाती है । किन्तु इसमें क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है । यही मानना उचित है कि “तत्” शब्द को विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय मानकर “तस्मात्” के अर्थ में लगाया जाय, अर्थात् मेरे पक्ष में बहुत वीर हैं इसलिए मेरी सेना समर्थ है, और सामने दीखती हुई पाण्डव सेना के लिये “इदम्” शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं होता । इसीलिये अपने वचन के आरम्भ में “एताम् महतीं चमूम्” ऐसा “एतत्” शब्द का प्रयोग भी पाण्डवों की सेना के लिये किया गया है, जो कि अत्यन्त समीपवर्ती के लिये किया जाता है, और भी कई एक कल्पनाएँ इस श्लोक पर व्याख्याकारों की हैं, जिनका विवरण विशेष उपयोगी न होने से तथा विस्तार भय से छोड़ दिया जाता है । उचित है कि यह श्लोक महाभारत के कूट श्लोकों की गणना में माना जाय।

एक यह भी शंका है कि पाण्डवों की ओर का प्रमुख योद्धा तो अर्जुन था यह बात सुप्रसिद्ध है, फिर यहां भीम की रक्षा उस दल पर विशेष रूप से क्यों बताई गयी। और पहिले भी “भीमार्जुनसमा युधि” इस पद्य में भीम का नाम अर्जुन से पहिले क्यों लिया गया ? इसका उत्तर यही है कि युद्ध के लिये उत्सुकता भीम में ही सबसे अधिक थी, और दुर्योधन को भीम से ही अधिक भय था, क्योंकि उसने ही इन सब भाइयों को मारने की प्रतिज्ञा कर रखी थी । इसलिये भीम का ही नाम उसके मुख से बार बार निकलता था । भीम और भीष्म दोनों शब्दों में समानता होने कारण साहित्य दृष्टि से भी यहां भीम का नाम उपयुक्त है । और उच्चारण में भीष्म शब्द के आगे भीम शब्द हलका पड़ता है इसलिये पाण्डवों का हलकापन दिखाने के लिए भी यहां भीम शब्द उपयुक्त है । आगे दुर्योधन कहता है—

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ।११।

सब बातों का उपसंहार यह है कि आप लोग सभी मिलकर युद्ध के भिन्न भिन्न मोरचों पर उचित रूप से विभाग कर खड़े हो जाइये, और मुख्य रूप से सेनापति भीष्म की ही रक्षा कीजिये” यहां अन्त में “हि” शब्द अपनी बात पर बल देने के लिये प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् “आप समझें” आप लोगों को ऐसा ही करना चाहिए । इससे यही ध्वनित किया कि भीष्म के आधार पर ही हमारा जय निर्भर है । इसलिये भीष्म की रक्षा सबसे आवश्यक है ।

दुर्योधन का कथन समाप्त कर आगे संजय कहता है कि—

तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

यह सब सुनकर दुर्योधन के हृदय में हर्ष पैदा करने के लिये कौरवों में वृद्ध सबके पितामह महाप्रतापी भीष्म ने सिंहनाद की तरह गर्जना करके बड़े जोर से अपना शंख बजाया” । दुर्योधन की बातों से सूक्ष्मदर्शी महा विद्वान् भीष्म ने समझ लिया कि इसके हृदय में भय का संचार हो गया, और हृदय का हर्ष जाता रहा है । यह बुरा लक्षण है, इसलिये शीघ्र ही युद्ध का आरम्भकर इसका भय मिटाना चाहिए । और वीरता जगाकर हर्ष उत्पन्न करना चाहिए, इसलिए उन्होंने सेनापति के रूप में युद्ध का बिगुल बजा दिया । उस युग में शंख ध्वनि ही “बिगुल” समझी जाती थी । यद्यपि आक्रमण करने वाले पाण्डव थे, उनको ही पहिले बिगुल बजाना चाहिए था, किन्तु वे शान्तिप्रिय थे । अब भी सोचते थे कि किसी तरह समझौता हो जाय तो उत्तम है। इसप्रकार उनको ढीलाढाला देखकर और दुर्योधन का भय देखकर भीष्म ने ही युद्ध

अभियान की घोषणा कर दी । भीष्म यद्यपि बहुत वृद्ध थे तथापि क्षत्रियत्व का अभिमान उनमें बहुत अधिक था, इसलिये युद्ध की उत्सुकता भी उनमें पूर्ण थी और अपने रक्षित राज्य पर आक्रमण होना वे सह नहीं सकते थे, इसलिये युद्धारम्भ का बिगुल सबसे पहले बजाना उपयुक्त ही था । दूसरी यह भी बात थी कि दुर्योधन के इतना कहने पर भी द्रोणाचार्य ने कुछ उत्तर नहीं दिया । इस उपेक्षा को देखकर दुर्योधन का हृदय और भी टूट जायगा, वह इन्हें सह्य नहीं था । क्योंकि ये सबके पितामह थे । बच्चों का हृदय टूटना नहीं सह सकते थे, इसलिये झटपट युद्धारम्भ ही उचित समझा । “सिंहनादं विनद्य” में “नद्” धातु की पुनरुक्ति नहीं है किन्तु “नादम्” में णमुल् प्रत्यय होकर व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार उसी धातु का अनुप्रयोग है ।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः

सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

“सेनापति भीष्म के शंख बजाते ही सब सेना में शंख भेरी बड़े (नगारे) पणव (ढोल) आनक (नगारे) और गोमुख (रनसिंह) सहसा बज उठे, इससे बहुत बड़ा शब्द हुआ” । यहां बजाये गये न कहकर बज उठे कहने से शीघ्रता सूचित की जाती है, और बिना बजाये ही बाजे बज उठने से अमंगल भी सूचित होता है ऐसा व्याख्याकारों ने लिखा है । “बहुत बड़ा शब्द हुआ” यह तो कहा, किन्तु पाण्डवों पर इसका कोई प्रभाव पड़ा ऐसा नहीं कहा गया, जैसा कि आगे पाण्डवों की शंख ध्वनि से धार्तराष्ट्रों का हृदय विदीर्ण होना कहा गया है । यह कौरवों की ओर से युद्धारम्भ की सूचना दी गयी ।



## अष्टम-पुष्प

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।  
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥  
पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।  
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥  
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।  
नकुलः सहदेवश्च सुधोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

अब तक तो कुछ शान्ति के सन्देश की प्रतीक्षा थी, किन्तु जब विपक्ष की ओर से रणभेरी बज उठी तब पाण्डवों ने भी युद्ध का निश्चय दृढ़ कर लिया और विपक्ष से संग्राम में बिगुल बज जाने के अनन्तर श्वेत घोड़ों वाले बड़े रथ में विराजमान कृष्ण और अर्जुन ने अपने दिव्य शंख बजाये। हृषीकेश भगवान् कृष्ण ने अपना पांचजन्य शंख, अर्जुन ने अपना देवदत्त शंख, और भयंकर कर्म करने वाले भेड़िये के समान उदर वाले भीमसेन ने अपना पौण्ड्र नाम का महाशंख बजाया। दोनों भाई रण बिगुल बजा चुके तो कुन्तीपुत्र महाराज युधिष्ठिर ने भी अपना अनन्त विजय नाम का शंख बजाया। नकुल और सहदेव ने सुधोष और मणिपुष्पक नाम के अपने शंख बजाये। जिन जिन योद्धाओं के नाम यहाँ लिये गये हैं वे सभी रथों में बैठे हुए थे, किन्तु अर्जुन के ही रथ का विशेष वर्णन करने से उस रथ का कुछ विलक्षण महत्व बताया गया है। अतएव आगे युद्ध में सभी के घोड़े मरते थे, रथ टूटते थे किन्तु अर्जुन का यह रथ अक्षय था। न कभी रथ टूटा न घोड़े मरे यही महत्व सूचित करने के लिए यहाँ “महति स्यन्दने” कहा गया है। भगवान् कृष्ण यद्यपि युद्ध न करने की प्रतिज्ञा करके युद्धभूमि में आये थे, किन्तु युद्ध का बिगुल पाण्डवों की ओर से सबसे पहिले इन्होंने ही बजाया। इससे विपक्ष को सूचित कर दिया कि शस्त्र न उठाता हुआ भी युद्ध का नेता मैं ही हूँ। उनके लिये यहाँ ‘माधव’ पद दिया गया है, इससे यह सूचित किया कि लक्ष्मी के स्वामी जहाँ युद्ध के नेता हैं, वहाँ उनका छोड़कर विजयलक्ष्मी कहाँ जा सकती है। दूसरे श्लोक में उनके लिये हृषीकेश और उनके शंख के लिये “पांचजन्य” पद का प्रयोग किया गया है। हृषीकेश शब्द का अर्थ इन्द्रियों को वश में रखने वाला और पांचजन्य का अर्थ है— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और वर्णसंकरों का प्रतिनिधि निषाद इन पाँचों प्रकार के मनुष्यों का हित करने वाला अथवा देवता, पितृ, ऋषि, गन्धर्व और असुर इन पाँचों प्रकार की देवयोनियों का हित करने वाला है। जो इन्द्रियों को वश में रखता है वही हित कर सकता है। प्रकृत में पाँचों पाण्डवों का हित करने वाला यह अर्थ भी बहुत उपयुक्त होता है। अर्जुन के लिये धनंजय शब्द और उनके शंख के लिये देवदत्त (खाण्डवदाह के समय अग्नि के द्वारा प्राप्त)

शब्द भी विजय के सूचक हैं । यद्यपि संग्राम के लिए भीम सबसे अधिक उत्सुक था, किन्तु अर्जुन कहीं कृपावश पश्चात् पद न हो जाय इसलिये उसके द्वारा ही पहिले बिगुल बजवाना भीम ने उचित समझा, महाराज युधिष्ठिर यद्यपि सबसे बड़े थे, किन्तु शांतिप्रिय होने के कारण संग्राम की इच्छा उनमें बहुत ही कम थी । इसलिये वे चुप ही थे किन्तु दोनों भाइयों के बिगुल बजा देने पर उन्हें भी अपनी सुमति देनी ही पड़ी। उनका राजा विशेषण देने से और उनके शंख का “अनन्तविजय” नाम बताने से विजय अन्त में इनका ही वरण करेगी यह सूचित कर दिया गया। इधर भीष्म आदि के शंखों का कोई विशेष नाम नहीं है, किन्तु पाण्डवों के सबके शंखों के प्रभावशाली नाम हैं इससे भी उनका महत्व सूचित किया ।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक्-पृथक् ॥१८॥

हे पृथिवीपति धृतराष्ट्र ! बड़े धनुष वाले काशिराज, महारथ शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट् और कभी न हारने वाला सात्यकि तथा द्रुपद, द्रौपदी के पाँचों पुत्र एवं महावीर सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु इन सबने भी अपने अपने शंख बजाये ।

शिखण्डी कोई बड़ा वीर नहीं था, किन्तु भीष्म का पतन उसी के द्वारा होने वाला है, इसलिए यहाँ उसके लिये “महारथ” दिया है । यहाँ संजय का धृतराष्ट्र को पृथिवीपति नाम से संबोधित करना एक प्रकार का कटाक्ष है कि अब यह पृथिवीपतित्व रहने वाला नहीं है । इसे हटाने के लिये रणभेरी बज चुकी ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।

नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

आकाश और पृथिवी को शब्द से प्रतिध्वनित करने वाले इस महान् शब्द ने धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधनादि के हृदयों को विदीर्ण कर दिया ।

धृतराष्ट्र से ही धृतराष्ट्र के पुत्रों का हृदय विदीर्ण हुआ यह कहना अनुचित प्रतीत होता है, इसलिये कई विद्वान् यहाँ यही व्याख्या करते हैं कि पृथिवी और आकाश के दोनों के शब्दों से व्याप्त हो जाने के कारण आकाश में उड़ने वाले हंसों के भी हृदय विदीर्ण हो गये । धार्तराष्ट्र नाम हंसों का भी है। और सर्पों का भी नाम धार्तराष्ट्र है । पृथिवी के कांप उठने से सर्पों के भी हृदय विदीर्ण हो गये, यह अर्थ भी किया जा सकता है ।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धर्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषिकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।  
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे राजन् भयंकर शब्द सुनने के बाद भी दुर्योधन आदि को युद्ध करने के लिये सुसज्जित देखकर कपिध्वज अर्जुन ने शस्त्र प्रहार प्रारम्भ होने के समय अपना धनुष उठाकर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से कहा कि हे अच्युत, इन दोनों सेनाओं के बीच मेरा रथ खड़ा कीजिये ।

यहाँ 'प्रवृत्त' शब्द में 'आदिकर्मणि निष्ठा' इस वचन से 'क्त' प्रत्यय हुआ है। इससे अर्थ निकलता है कि शस्त्र संपात का आरम्भ होने को ही था । अभी शस्त्र चलने नहीं लगे थे । 'अच्युत' पद से यह सूचित किया कि आप अडिग हैं । दोनों सेनाओं के बीच में खड़े होने पर भी आपको कोई भय नहीं है ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।  
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥  
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।  
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

क्योंकि— 'युद्ध करने के लिये खड़े हुए लोगों को देख तो लूँ कि इस रणभूमि में किन-किन के साथ मुझे लड़ना है'। आगे अर्जुन कहता है—'दुष्ट बुद्धि दुर्योधन का हित चाहने वाले जो इस युद्ध में आये हैं मैं देख रहा हूँ कि वे सब अवश्य युद्ध करेंगे ही ।'

इन दोनों पद्यों में पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है । किन्तु वह पुनरुक्ति अपने चित्त का आवेग प्रदर्शित करने के लिये है । पहले पद्य में यह बताया कि मैं इस अभिप्राय से देखना चाहता हूँ कि मुझे किन-किन के साथ लड़ना है, इस बात को सतोल लूँ, और वैसी ही तैयारी कर लूँ । दूसरे में यह बताया है कि अब परस्पर सन्धि की कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि दुर्योधन के पक्ष में बहुत से योद्धा आये हैं और निश्चय है कि वे लड़ेंगे ।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।  
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥  
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।  
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरुनिति ॥२५॥

हे भारत (अर्थात् भरत वंश में उत्पन्न होने वाले) इस प्रकार गुडाकेश (अर्जुन) के कहने पर हृषीकेश-भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस उत्तम रथ को भीष्म, द्रोण और सभी राजाओं के सामने खड़ा कर कहा कि हे पार्थ (पृथा के

पुत्र) इकट्ठे हुए इन सब कुरुओं को देख लो । 'गुडाकेश' और 'हृषीकेश' पदों में यहाँ कुछ विशेष ध्वनि है । अर्जुन 'गुडाकेश' है अर्थात् निद्रा आलस्य के वश में नहीं है इसलिये उसकी बात माननी ही चाहिये । भगवान् सब के नियन्ता होकर भी अर्जुन की आज्ञा मान रहे हैं इसका कारण है कि वे हृषीकेश हैं अपनी इन्द्रियों के स्वामी हैं, इसलिये अभिमानादि से शून्य हैं । भक्तों की आज्ञा मानने पर भी उन्हें कोई आपत्ति नहीं । अर्जुन इन सबको देखो यह कहने में भगवान् का एक प्रकार का संकेत है कि देखते ही तुम्हारी दशा और हो जायेगी ।

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितृनथ पितामहान् ।

आचार्यान् मातुलान् भ्रातृन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥२६॥

श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा मिलने पर पृथा पुत्र अर्जुन ने दोनों सेनाओं को देखा, तो और ही बात दीख पड़ी । देखता था इसलिये कि किन-किन के साथ मुझे लड़ना है किन्तु वहाँ सब अपने ही बान्धव दीख पड़े । कोई पिता कहने योग्य पिता के तुल्य हैं, जैसे काका के समान कुरु वंश के भूरिश्रवा आदि । स्वयं पितामह भीष्म और पितामह तुल्य सोमदत्त आदि । आचार्य द्रोण, कृप, आदि, मातुल-शल्य शकुनि आदि, भाई—दुर्योधन आदि, पुत्र—अर्थात् दुर्योधन के पुत्र लक्ष्मण आदि (और अपनी सेना में अपने पुत्र अभिमन्यु आदि) पौत्र अर्थात् कौरव के पुत्रों के पुत्र आदि, मित्र अर्थात् कृतवर्मा, अश्वत्थामा आदि, श्वसुर—अपनी सेना में द्रुपद आदि, सुहृद—अर्थात् जिनके साथ अपना परस्पर उपकार सम्बन्ध हो चुका है ऐसे अनेक राजा ये सब दोनों सेनाओं में दीख पड़े । इन अपने बान्धवों को दोनों में युद्धार्थ खड़े देखकर, अत्यन्त कृपा के वशीभूत होकर अर्जुन खिन्न हो गया और और कृष्ण से कहने लगा ।

दोनों सेनाओं के बान्धवों को गिनाने का अभिप्राय यह है कि चाहे इधर हो चाहे उधर, युद्ध में जो खड़े हैं उनका मरना तो एक प्रकार से निश्चित ही है, तब अपनी ओर वाले को भी वियोग तो होगा ही । पहले कृपा का आवेश और उसके आगे विषाद बताया गया, अर्थात् अर्जुन के मन में पहिले बान्धवों के कष्ट की भावना हुई जो कि कृपा शब्द से कहने योग्य है और इसके अनन्तर उनके भावी वियोग का दुःख उपस्थित हुआ, वह विषाद शब्द से कहा गया । यद्यपि अपने सब बान्धव इधर या उधर युद्ध में उपस्थित हैं यह बात अर्जुन को अविदित न थी, किन्तु तात्कालिक दर्शन से एक विशेष प्रकार का भाव मनुष्य के हृदय में आना स्वाभाविक है इसका विवरण हम प्रथम प्रवचन में कर चुके हैं ।



अब आगे अर्जुन के मन के विचार प्रस्तुत किये जाते हैं । पूर्व प्रवचन में कहा जा चुका है कि अर्जुन के विचार यहां सामान्य मनुष्य के जैसे अथवा घबराहट के नहीं, किन्तु अत्यन्त उदात्ततापूर्ण और धर्मभाव से ओतप्रोत हैं । इनमें आर्य संस्कृति स्पष्ट झलक रही है उनका आरम्भ इस प्रकार है—

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते ।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।

“हे कृष्ण, इन स्वजन अर्थात् अपने बान्धवों को युद्ध की इच्छा से खड़े देखकर मेरे शरीर के अवयव टूटे से जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है, सब शरीर कांपने लगा है, शरीर के सब रोम खड़े हो गये हैं । गांडीव धनुष हाथ से छूटा पड़ता है, सब शरीर की त्वचा मानों जल रही है । अजी महाराज ! मैं तो खड़ा भी नहीं रह सकता । मेरा मन चक्कर खा रहा है । मुझे चारों ओर बुरे-बुरे शकुन दिखाई दे रहे हैं ।”

आयुर्वेद के विद्वानों का कथन है कि भय और शोक के लक्षणों का यह पूर्ण चित्रण है । वे कहते हैं कि गीता आयुर्वेद की भी शिक्षा देती है । इन सबका मूल आरम्भ में बताया गया है कि “स्वजन” अर्थात् अपने बान्धवों को युद्ध में खड़ा देखकर यह दशा उपस्थित हुई है । वैसे अर्जुन ने अपने जीवन में बहुत संग्राम किये हैं । बहुतों का वध किया है । हिंसा से यह घबराहट नहीं है, इसके मूल में स्व और पर का विभाग है । दूसरों को हमने मार दिया किन्तु अपने लोगों को कैसे मारें । इससे सिद्ध हुआ कि स्व और पर के भेद का ध्यान ही अर्जुन के मोह का मुख्य कारण है । इसी को हटाने के लिये आगे भगवान् को अद्वैतवाद कहना पड़ा कि आत्मा तो सबमें एक है। तू स्व और पर का भेद लेकर क्यों बैठा है । यह भेद तो अज्ञान जनित काल्पनिक है । पंचदशीकार ने द्वैत विवेक प्रकरण में दिखाया है कि द्वैत अर्थात् भेदभाव दो प्रकार का है—एक ईश्वर का बनाया हुआ और दूसरा जीव का बनाया हुआ । एक स्त्री ईश्वर ने बनायी, किन्तु उसमें माता, भगिनी, पुत्री, पत्नी, सखी, सपत्नी, आदि के शतशः भिन्न भाव जीव ने बना लिये, यह जीव का अपना बनाया हुआ द्वैत ही हटाने योग्य है । श्री वल्लभाचार्य के दर्शन में इन्हीं दोनों को प्रपंच और संसार के नाम से कहा जाता है, ईश्वर का बनाया हुआ प्रपंच है, किन्तु जीव का अपना बनाया हुआ है संसार। अस्तु, इससे सिद्ध यही होता है कि स्व पर भेद जीव कल्पित है। यही मोह है, इसी को हटाने के लिये गीता का सम्पूर्ण उपदेश है।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥  
 न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।  
 किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥  
 येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।  
 त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥  
 आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।  
 मातुलाः श्वशुराः पौत्राः स्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥३४॥  
 एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।  
 अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥  
 निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।

“युद्ध में अपने लोगों को मारकर कोई कल्याण नहीं देखता । हे कृष्ण ! मैं विजय नहीं चाहता । और न राज्य तथा उससे होने वाले सुख की ही मुझे कामना है ।”

“हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या प्रयोजन ! विषय भोग और जीवन से भी कोई प्रयोजन नहीं ! क्योंकि जिनके लिए राज्य, भोग, तथा सुख की हमें चाह थी, वे ही ये अपने प्राण और धन त्यागकर युद्ध में लड़ने के लिये खड़े हैं । इनमें मेरे आचार्य, पिता, पुत्र और पितामह, तथा मामा, श्वसुर, पौत्र, साले संबंधी आदि हैं । हे मधुसूदन ! (मधु नामक राक्षस को मारने वाले) ये लोग भले ही मुझे मारें पर मैं तो इनको मारने की इच्छा भी नहीं करता हूँ । चाहे मुझे इनके मारने से त्रैलोक्य का राज्य ही क्यों न मिल जाय । पृथिवी के राज्य की तो बात ही क्या ! हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र सम्बन्धी लोगों को मारकर हमें कौन-सी प्रसन्नता होगी ।”

भारत में सम्मिलितकुटुम्ब प्रथा अनादि काल से प्रचलित है । इस सभ्यता में मनुष्य केवल अपने सुखभोग के लिए संपत्ति या राज्य नहीं चाहता, किन्तु आप्त बान्धव, कुटुम्बी सबको सुख पहुंचाने के लिये संपत्ति की इच्छा रहती है । यही अर्जुन ने कहा कि जब सुख भोगने वाले कुटुम्बी ही न रहेंगे तो राज्य या सम्पत्ति से क्या लाभ होगा ।

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥  
 तस्मान्नर्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।  
 स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥  
 यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।  
 कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥  
 कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।  
 कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्विज्जनार्दन ॥३९॥

“इन आतताइयों को मारने में हमें पाप ही लगेगा । इसलिये अपने बन्धु दुर्योधन आदि को हम मारना नहीं चाहते । क्योंकि अपने लोगों को मारकर हे माधव ! हम कैसे सुखी हो सकते हैं” ।

यद्यपि शास्त्र में आततायी कैसा भी हो उसे मार देने की ही आज्ञा है किन्तु अपने बान्धव तो आततायी भी हों तो भी उन्हें मारना उचित नहीं, यह भाव अर्जुन ने प्रकट किया । आततायी को मारने में धर्माशास्त्रानुसार पाप है या नहीं इसका विवेचन हम प्रथम प्रवचन में कर चुके हैं ।

प्रश्न होता है कि जिन बान्धवों के लिये तुम विकल हो रहे हो उन तुम्हारे बान्धव दुर्योधन आदि को भी तो यह सब सोचना चाहिये था, वे यह सब सोचकर तुम्हें राज्य का भाग देते तो यह युद्ध क्यों छिड़ता, फिर जब वे नहीं सोचते तो तुम्हीं क्यों इसके लिये विकल हो रहे हो । इस प्रश्न की संभावना कर अर्जुन स्वयं ही उत्तर देता है— “हे जनार्दन ! लोभ से दुर्योधन आदि का चित्त आक्रान्त है इसलिये उन्हें कुलक्षय के दोष, और मित्रद्रोह का पाप दिखाई ही नहीं देता । वे इन बातों पर ध्यान ही नहीं दे सकते उन्हें तो केवल राज्य का लोभ सता रहा है । किन्तु वे ध्यान नहीं देते इसलिये हम भी पाप में क्यों पड़ें, हमें तो पाप से बचना चाहिये, हमारी दृष्टि में तो कुलक्षय का दोष स्पष्ट आ रहा है तब ऐसे दोष से हमें तो बचना चाहिए ।”

“जनार्दन” शब्द से एक प्रकार का कटाक्ष किया कि आप भी भूमि का भार उतारने के लिये अवतार लेकर आये हो, इसलिये जनता का अर्दन अर्थात् विनाश ही अपना लक्ष्य मानकर आप भी इधर ध्यान नहीं दे रहे हो । किन्तु मेरा तो उधर ध्यान चला गया है इसलिये मुझे तो पाप से बचना चाहिए ।

कितने उदात्त विचार हैं, और कैसा उच्चआदर्श है । यदि विपक्षी धर्म से विच्युत भी हो जाय तो भी विचारक को तो अपने धर्म पर दृढ़ रहना चाहिए । धर्मशास्त्रों का यही आदर्श है कि तुम अपना धर्म न छोड़ो । दूसरा अधर्म करेगा तो वह उसका फल पावेगा । तुम उसका अनुकरण कर क्यों पाप भागी बनते हो, पाप का तो अनुकरण भी बुरा है, यही आदर्श धर्म अर्जुन ने उपस्थित किया । इसी आधार पर हमने कहा कि अर्जुन की उक्तियां आदर्श धर्म से ओतप्रोत हैं ।

कुलक्षय में तुम्हें क्या क्या दोष दिखाई दे रहें हैं इनका विवरण आगे अर्जुन ने प्रस्तुत किया है, इसकी व्याख्या अगले प्रवचन में की जायगी ।

## नवम-पुष्प

‘पतिव्रत धर्म और वर्णसंकरता के दोष’

अर्जुन का युक्तिपूर्वक स्पष्टीकरण

आगे अर्जुन अपने मत का युक्ति और शास्त्र प्रमाणों से समर्थन करता हुआ कुलक्षय के दोषों का विशेष विवरण करता है—

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल का नाश होने पर सदा से चले आते हुए कुल के धर्म नष्ट हो जाते हैं । ठीक ही है, जब धर्माचरण करने वाले ही न रहेंगे तो धर्म कैसे बचेंगे । धर्म तो अनुष्ठानापेक्ष है । जब उनका अनुष्ठान करने वाले ही न रहेंगे तब धर्मों की स्थिति कहाँ। धर्मों का नाश होने पर सब कुल को अधर्म दबा लेता है । धर्म और अधर्म दोनों विरोधी शब्द हैं । धर्म न रहेगा तो अधर्म का प्रभुत्व बढ़े ही गा । यदि यह शंका हो कि धर्म का आचरण करने वाले न रहे तब यदि धर्म नहीं रह सकता तो कुलक्षय हो जाने पर अधर्म का आचरण करने वाले भी तो नहीं रहे, फिर अधर्म क्यों बढ़ेगा। तो इसका उत्तर है कि उचित धर्मों का पालन न होना भी तो एक अधर्म है, वह तो बढ़ता ही जायगा । स्मृतिकारों ने बताया है कि—

विहितस्यानुष्ठानान् निन्दितस्य च सेवनात्

अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति

अर्थात् जिन धर्मों का आचरण शास्त्रों में आवश्यक माना गया है, जो सन्ध्योपासन अग्निहोत्रादि नित्य धर्म माने जाते हैं उनका आचरण न होने से भी पातक अर्थात् अधर्म हो जाता है । जिन कर्मों का निषेध है उनके आचरण से भी अधर्म होगा, इन्द्रियों को वश में न रखने से भी पातक अर्थात् अधर्म होता है । इससे कुल में उचित धर्मों का आचरण न होने पर भी अधर्म का आक्रमण सिद्ध है । दूसरी बात यह भी यह है कि अधर्म स्वभाव से प्राप्त है और धर्म शिक्षा से प्राप्त होता है । कामचार (यथेच्छ कार्य करना) कामवाद (इच्छानुसार भाषण) और कामभक्ष (जो इच्छा हो सो खा लेना) की शिक्षा कोई नहीं देता । बाल्यावस्था से ही इनमें स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है । किन्तु इनको रोकने के लिए शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है । किन्तु शिक्षा गुरु के उपदेश और पूर्वजों का आचरण देखकर प्राप्त होती है । अधिकांश कुल का क्षय हो जाने पर जिनका अनुकरण किया जाय वे न रहेंगे और शिक्षा प्राप्त करना भी कठिन हो जायगा, तब जो बचेंगे उनकी स्वभाविक प्रवृत्ति अधर्म की ओर ही होगी । इससे भी अधर्म का आक्रमण बढ़ता जायगा ।

शास्त्र शिक्षा या सदाचार शिक्षा से ही धर्म ज्ञान और कर्तव्यानुष्ठान सम्भव हो सकते हैं । कुलक्षय हो जाने पर दोनों के अभाव में अधर्म का आक्रमण और सम्पूर्ण कुल का अधर्म से दब जाना युक्ति सिद्ध है । आगे क्या होगा सो कहते हैं—

**अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।**

**स्त्रीषु दुष्टासु वाष्ण्य जायते वर्णसंकरः ॥४१॥**

कुल में अधर्म बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं । और स्त्रियों के दुष्ट हो जाने पर वर्णसंकरों की उत्पत्ति होने लगती है । स्त्रियाँ दूषित होकर व्यभिचार करेंगी, और व्यभिचारी से वर्णसंकरों की उत्पत्ति अनिवार्य है । इस पद्य में दो बार दो शब्दों से 'कृष्ण' और वाष्ण्य कहकर कृष्ण का सम्बोधन किया है— इसका तात्पर्य उनका विशेष ध्यान आकृष्ट करना है कि देखिये कैसे कैसे दोष इसमें हैं । आर्य जाति ने रक्त शुद्धि पर सदा से ही विशेष ध्यान रक्खा है । यह हमारे धर्मशास्त्र और इतिहास दोनों से सिद्ध होता है । रक्त-मिश्रण अर्थात् वर्णसंकरता को धर्मशास्त्रों ने देश और समाज का घातक ठहराया है । मनुस्मृति में कहा गया है कि—

**यस्मिन्नेते हरिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः**

**राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति**

वर्णों को दूषित करने वाले ये वर्ण-संकर जिस देश में अधिक बढ़ जाते हैं वह सम्पूर्ण देश, देशवासियों सहित शीघ्र नष्ट हो जाता है।

इतिहास में भी वर्णसांकर्य से बचने के यत्न सर्वत्र उपलब्ध होते हैं । महाभारत में ही देखिए— कर्ण युद्ध कला में किसी से कम नहीं था, दान शक्ति भी उसकी अद्भुत रूप में वर्णित है, दिग्विजय यात्रा भी उसने की है, किन्तु संकर जाति में उत्पन्न होने के कारण ही वह समाज में पूर्ण प्रतिष्ठा न पा सका । द्रौपदी स्वयम्बर में लक्ष्यवेध के लिए जब वह खड़ा होने लगा तो द्रौपदी ने स्वयं कह दिया कि संकर जाति के पुरुष का मैं वरण नहीं करूँगी । इसलिए उसे लज्जित होकर बैठ जाना पड़ा। परम पुरुषार्थी और ओजस्वी होने पर भी एकलव्य भिल्ल को गुरु द्रोणाचार्य ने धनुर्वेद की शिक्षा नहीं दी । इन सब बातों का लक्ष्य केवल समाज की रक्त शुद्धि रखना ही था, इन बातों में केवल रागद्वेष के बीज देखना एकान्ततः दोषदर्शियों का ही कार्य है, विचारकों का नहीं । संकर जाति के पुरुष भी यदि समाज में समान प्रतिष्ठा प्राप्त करने लगे तो वर्णसंकरता बढ़ जायगी और सम्पूर्ण देश की पवित्रता नष्ट हो जायगी । इसी उद्देश्य से महापुरुषों द्वारा भी ये घटनाएँ सम्पादित होती थीं । इस वर्णसंकरता को बचाने के लिए ही आर्य संस्कृति में 'पतिव्रत' धर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है । पतिव्रत धर्म की रक्षा स्त्रियों के चित्त शुद्ध और धर्मानुकूल रहने पर ही निर्भर है । अन्य किसी संस्कृति में पतिव्रत धर्म का यह गौरव दिखाई नहीं

देता। इसकी रक्षा पूर्ण रूप से कर्म-प्रधान देश में ही सम्भव है। पतिव्रत धर्म के महत्व से हमारे श्रुति, स्मृति, आदि समस्त शास्त्र भरे पड़े हैं। श्रुति में एक मन्त्र है कि—

हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते, सुन्वन्त एके सवनेषु सोमान्  
शचीर्मदन्त उतदक्षिणाभिर्नेज्जिह्वायन्त्यो नरकं पताम।

यह मन्त्र निरुक्त में उद्धृत हुआ है, और निरुक्त के भाष्यकार श्री दुर्गाचार्य ने इसका यही प्रसंग बताया है कि असुरों की स्त्रियाँ नारद के द्वारा प्रलोभित किये जाने पर यह कहती हैं कि कुछ विद्वान् 'हविर्याग' 'दर्शपौर्णमास' आदि करते हुए स्वर्ग लोक में जाने का उद्योग कर रहे हैं, और कुछ सवनों में सोमलता को कूटते हुए अर्थात् सोमयाग करते हुए स्वर्ग पहुँचते हैं, कोई वाणी से स्तुति द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हुए और कोई दक्षिणाओं के द्वारा ही स्वर्ग प्राप्त करते हैं, किन्तु हमारा आधार तो केवल यही पतिव्रत धर्म है। यदि हम कुटिलता करेंगी अर्थात् पतिव्रत धर्म छोड़ देंगी तो हमें नरक में जा गिरने का भय है। इसलिए हमें तो अपने इसी धर्म पर दृढ़ रहना चाहिए। जो महान् शक्तियाँ बड़े-बड़े यज्ञ करने से या योगाभ्यास से और महादानों से प्राप्त होती थीं उनसे भी बहुत अधिक प्रबल शक्तियाँ पतिव्रत धर्म से प्राप्त होने का हमारे इतिहासों में पूर्ण विवेचन है। भगवान् वाल्मीकि ने रामायण के सुन्दरकाण्ड में लिखा है कि हनुमान की पूँछ में जब रावण की आज्ञा से अग्नि लगाई गई थी तब सीता ने ही अपने पतिव्रत धर्म की शक्ति से उस अग्नि को शीतल कर दिया था। हनुमान उस समय विचार करते हैं कि—

‘दृश्यते च महाज्वालः करोति च न मे रुजम्  
शिशिरस्येव संपातो लांगूलाग्रे प्रतिष्ठितः’

(सुन्दरकाण्ड ५३ सर्ग)

अर्थात् अग्नि की ज्वाला तो बड़ी प्रबल दिखाई देती है किन्तु मुझे उत्ताप जरा भी नहीं हो रहा है, ऐसा प्रतीत होता है कि पूँछ के ऊपर किसी ने बहुत बड़ा बरफ का ढेला बाँध दिया है। आगे उन्होंने अपनी बुद्धि से यही निश्चय किया कि यह सीता देवी के पतिव्रत्य का प्रभाव है। इस प्रकार की अलौकिक शक्तियाँ पतिव्रताओं की पुराणेतिहासों में शतशः स्थानों पर वर्णित हैं। सावित्री ने मृत्यु देव यमराज से अपने पति को छुड़वा लिया था। एक पतिव्रता को जब एक ऋषि ने शाप दिया कि सूर्योदय होते ही तेरा पति मर जायगा तब उसने यहाँ तक प्रतिज्ञा की थी कि मैं सूर्योदय ही न होने दूँगी। अस्तु, ऐतिहासिक काल में भी ऐसी घटनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं कि पद्मिनी आदि ने अपना सुकुमार शरीर जीवित दशा में ही अग्नि में जला दिया किन्तु पर पुरुष का स्पर्श न होने दिया। राजस्थान की भाषा में इसे जौहर व्रत कहा

गया है और राजस्थान के इतिहास में इसके अनेक दृष्टान्त हैं । वर्तमान युग में भी अभी प्रत्यक्ष देखा गया कि पंजाब प्रान्त की शतशः स्त्रियों ने देश विभाजन के समय कुओं में गिरकर मृत शरीरों से कुएँ भर दिए किन्तु अपने पर परपुरुषों का आक्रमण होने का अवसर नहीं दिया । इसी प्रकार काश्मीर की शतशः स्त्रियों ने परपुरुषों से घेरे जाने पर झेलम नदी में गिर कर प्राण त्याग किया । ये सब आज भी जौहर व्रत की पुनरावृत्तियाँ हुई हैं । इसी प्रकार पंजाब और सिन्ध प्रान्त के सहस्रों मनुष्यों ने अपना धन, जन सम्पत्ति छोड़कर देशान्तरों में दीन क्षीण वृत्ति से निर्वाह करना स्वीकार किया किन्तु धर्म परिवर्तन द्वारा अपनी रक्त शुद्धि को न बिगड़ने दिया । ये सब भारत की धर्म प्रधानता के ज्वलन्त दृष्टान्त आज भी उपस्थित हैं जो अन्य देशों में दुर्लभ हैं, और भारत का मस्तक ऊँचा कर रहे हैं । इन सब बातों को प्रत्यक्ष देखकर भी जिन ऐतिहासिक विद्वानों ने आर्यों में रक्त मिश्रण की कल्पनाएँ की हैं वे उनकी मनगढ़न्त, निष्प्रमाण कल्पनाएँ हैं । भारतीय इतिहास उनका साथ नहीं देता । धर्मशास्त्र तो पतिव्रत धर्म के उपदेशों और वर्णसंकरता के दोष प्रदर्शनों से भरे पड़े हैं ।

रक्त शुद्धि और पतिव्रत धर्म रक्षा के लिए ही आर्य जाति में विवाह एक संस्कार माना गया है । संस्कार हमारे धर्म के प्रधान अंग हैं । संस्कार शब्द के अर्थ का और अन्यान्य संस्कारों का विवरण हम प्रथम प्रवचन में ही कर चुके हैं । यहाँ विवाह संस्कार पर भी कुछ कहना प्रसंग संगति के अनुकूल होगा । विवाह संस्कार भी अतिशयाधान रूप संस्कार है । यह स्त्री का संस्कार है । वर संस्कार करने वाला होता है । उस संस्कार का फल धर्मशास्त्रों में यह बतलाया गया है कि स्वभावतः प्राणी का अपने उत्पादक कुल के साथ सूत्र सम्बन्ध बँधा रहता है । जिनके अंशभूत रजवीर्य से शरीर की उत्पत्ति हो उस शरीर का उन माता पिताओं से सूत्र सम्बन्ध रहना प्रकृति नियम से सिद्ध है । अंश का अपने अंशी से सम्बन्ध रहता ही है । इसी प्रकार माता पिताओं का भी शरीर जिन पितामह पितामही नाना आदि के अंश से बना था, उनके साथ भी परम्परा सम्बन्ध पौत्र आदि का रहता है । यह सम्बन्ध की परम्परा सप्तम पुरुष तक जाती है, ऐसी अध्यात्म दृष्टि से देखकर धर्म शास्त्रकारों ने व्यवस्था की है । सप्तम पुरुष से आगे यह सूत्र सम्बन्ध नहीं रहता, बहुत अल्प लेप सम्बन्ध रहता है, जो कि नगण्य है । अस्तु, स्त्री का भी इसी प्रकार का अपने मातृ पितृ कुल में जो सूत्र सम्बन्ध बँधा हुआ है उसका वहाँ से विच्छेद कर पतिकुल में उसका सम्बन्ध सूत्र जोड़ देना यही विवाह संस्कार का उद्देश्य है । धर्मशास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि विवाह की सप्तपदी के सप्तम पद में स्त्री अपने कुल गोत्र से विच्छिन्न हो जाती है और पति के शरीर, मन, वाक्, प्राण, के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ जाता है । सम्बन्ध विच्छेद का मुख्य कारण प्रदान है, दा धातु का अर्थ ही दाता के स्वत्व की निवृत्ति और प्रतिग्रहीता के स्वत्व का उत्पादन है । पिता दान करता हुआ अपने स्वत्व

को उससे हटा लेने की भावना करता है । अन्य वैज्ञानिक क्रियाओं के साथ पिता की इस भावना से उस कुल से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है । यह अद्भुत शक्ति वेदमन्त्रों और विवाह की वैज्ञानिक क्रियाओं की है कि वे एक जगह से सम्बन्ध सूत्र विच्छिन्न कर दूसरी जगह जोड़ देते हैं । विवाह में जिन मन्त्रों का प्रयोग होता है, उनका अर्थ भी यही है । वेद<sup>१</sup> कहता है कि मैं अपने प्राणों से तेरे प्राणों का सम्बन्ध जोड़ता हूँ, मन से मन का, वाक् से वाक् का, इन्द्रियों से इन्द्रियों का इत्यादि । वेद वाक्यों की अलौलिक शक्ति और मन की तदनुकूल भावना से यह सब संगठित हो जाता है ऐसा आर्य जाति का विश्वास है । अग्नि<sup>२</sup> में लाजा होम करते समये भिन्न-भिन्न देवताओं से यही प्रार्थना है कि वे देवता इस कुल से इसका विच्छेद कर दें और वर के नये कुल में ऐसा दृढ़ सम्बन्ध स्थापित कर दें कि जिसका कभी विच्छेद न हो । देवता सूक्ष्म जगत् के तत्त्व और स्थूल जगत् के परिचालक हैं । वे जैसा चाहे वैसा स्थूल जगत् को घुमा सकते हैं । इन देवताओं का विवरण जहाँ-जहाँ प्रसंग आवेगा वहाँ गीता के प्रवचनों में होता रहेगा । इसलिए स्मृतियों में कहा गया है कि पति अपनी इच्छा से भार्या को प्राप्त नहीं करता किन्तु देवताओं की दी हुई प्राप्त करता है ।

‘देवदत्तां द्विजो भार्या विन्दते नेच्छयात्मनः’

विवाह में जो वैज्ञानिक क्रियाएँ होती हैं उनका भी लक्ष्य पति के प्राणादि के साथ स्त्री के प्राणादि का जोड़ना ही है, जैसा कि प्रथमतः पाणिग्रहण में दोनों के हाथों का परस्पर सम्बन्ध कर उन पर जलधारा दी जाता है। हाथ मिलने से परस्पर प्रेम से विद्युत का संक्रमण होता है यह मानी हुई बात है। इसलिए जिनमें परस्पर प्रेम हो उनके हाथ मिलाने की प्रथा भी प्रचलित हुई है। यों हस्त मेलन से परस्पर की प्राण शक्ति रूप विद्युत का सम्बन्ध जोड़कर जल और अग्नि के द्वारा उस सम्बन्ध को दृढ़ कर दिया जाता है। इसलिये विवाह संस्कार में जलधारा और अग्नि का बार-बार उपयोग होता है। हवन के द्रव्य लाजा आदि भी ऐसे ही उपयोग में लाये जाते हैं, जो परस्पर सूक्ष्म शरीरों का सम्बन्ध जोड़ने में सहायक हों। वर-वधू का मिलकर अग्नि प्रदक्षिणा करना, जहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से सम्बन्ध की दृढ़ता संपादित करने में सहायक है, वहाँ शिला पर वधू का आरोहण कराते हुए ‘अश्मेवत्वं स्थिरा भव’ तू पत्थर की तरह स्थिर हो जा, इत्यादि कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थिरता को दृढ़ करने वाला है। कम से कम सात कदमों तक भूमि में साथ-साथ चलना भी शास्त्रों में मित्रता का कारण माना गया है । ‘प्राहुः साप्तपदं सख्यम्’— ‘सात कदमों तक साथ-साथ चलने से मित्रता हो जाती है’ ऐसा कई वचनों में कहा गया है । भगवान् पाणिनि

१. प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि इत्यादि

२. स इमां देवो अर्यमा प्रेतो मुंचातु मामुत इत्यादि



ने भी व्याकरण सूत्रों में 'साप्तपदीनं सख्यम्' कहा है। अर्थात् मित्रता का नाम 'साप्तपदीन' है। 'सप्तभिः पदैरवाप्यते इति साप्तपदीनम्' (सात कदमों तक साथ चलने से प्राप्त होती है इसीलिये मित्रता को 'साप्तपदीन' कहा जाता है) एक साथ शरीर के अवयव हाथ पैरों का परस्पर सम्बन्ध कर सात कदम तक चलने से परस्पर की विद्युत शक्ति का संक्रमण होता है और वही परस्पर स्नेह रूप मित्रता का वैज्ञानिक दृष्टि से उत्पादक है। यह क्रिया भी विवाह में प्रधान रूप से मानी गई है, जिसे 'सप्तपदी' नाम से कहा जाता है, और भी परस्पर के अनेक कार्य दृढ़ सम्बन्ध के सम्पादक विवाह में किये जाते हैं। एवं सब इष्ट सम्बन्धियों का एकत्र होकर वधूवर दोनों के मन पर परस्पर सम्बद्ध होने का प्रभाव डालना मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्व का है। इन्हीं सब कारणों से आर्य जाति का यह दृढ़ विश्वास है कि वधू, वर के साथ ऐसी दृढ़ता से सम्बद्ध हो जाती है कि वह सम्बन्ध कई जन्मों तक नहीं टूटता। अन्य जातियों में केवल स्थूल शरीर का सम्बन्ध होता है और वह भी अस्थिर, किन्तु आर्य जाति में दोनों के सूक्ष्म शरीरों का भी परस्पर सम्बन्ध बनाया जाता है। इसलिए आर्य जाति का विवाह संस्कार अन्य जातियों की अपेक्षा एक विलक्षण प्रभाव रखता है।

सभ्यता की दृष्टि से भी विचार करने पर आर्य जाति की सभ्यता इस सम्बन्ध में बहुत उच्च प्रमाणित होती है। सन्तान उत्पन्न करने के लिए स्त्री पुरुष का परस्पर संबंध तो प्राणिमात्र में स्वतः सिद्ध होता है, किन्तु मनुष्य से अवरकक्षा के प्राणी पशु केवल संतानोत्पादन की क्रिया तक ही सम्बद्ध रहते हैं, न आगे कोई सम्बन्ध रहता है न कोई परस्पर की पहचान। पक्षियों में जोड़े मिलकर कुछ काल तक साथ रहने की प्रथा देखी जाती है, किन्तु एक स्थान से बिछुड़ने पर सम्बन्ध टूट जाता है, और अन्य से सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसी प्रकार मनुष्यों की भी अशिक्षित असभ्यप्राय जातियों में बहुत जगह अल्प काल का स्त्री पुरुषों का संबंध रहने की प्रथा आज भी देखी जाती है। जिन जातियों में जैसे-जैसे सभ्यता की उन्नति होती गई, उनमें उतना ही यह सम्बन्ध स्थिरता पकड़ता गया। इस प्रकार दोनों के जीवन काल तक कोई विशेष बाधक न होने पर सम्बद्ध रहने की प्रथा सभ्य जातियों ने अपनायी। किन्तु दोनों में से एक की मृत्यु हो जाने पर भी सम्बन्ध विच्छेद न हो, अर्थात् जन्मान्तर तक भी वा अन्य लोक तक भी सम्बन्ध की स्थिरता केवल आर्य जाति ने ही मानी। इतने उच्च स्तर की सभ्यता कोई अन्य जाति न अपना सकी, न किसी अन्य जाति ने इस स्त्री पुरुषों के सम्बन्ध को धर्म रूप से ग्रहण किया। केवल आर्य जाति ने ही इस सम्बन्ध को धर्म रूप से माना, इसलिये इस जाति में इस सम्बन्ध की दृढ़ता स्थापित हुई, और उसके बड़े-बड़े फल प्राप्त हुए, यह हम पूर्व दिखा चुके हैं। दृढ़ सम्बन्ध स्थापन के लिये भी पहिले से कुल गोत्र आदि का विचार और जन्मपत्रों का मेलापक आदि आर्य जाति में प्रचलित है। जिन-जिन से सम्बन्ध जुड़ जाने की

योग्यता देखी जाती है उनका ही विवाह सम्बन्ध किया जाता है । जन्मपत्र से यही विदित होता है कि किसका भविष्य क्या है और उसकी प्रकृति कैसी है । सूर्य और चन्द्रमा का प्रभाव मनुष्य आदि प्राणियों पर पड़ता है, इस बात को तो आजकल का भौतिक विज्ञान भी मानने लगा है । अभी तक भौतिक विज्ञान स्थूल प्रभावों को ही पकड़ सका है । किन्तु आर्य जाति बहुत काल पूर्व से ही सूक्ष्म प्रभाव का भी पता लगा चुकी थी । इसने सात ग्रह और दो तमो ग्रहों का भी प्रभाव मनुष्य के स्थूल सूक्ष्म शरीरों पर पड़ना निश्चित रूप से जान लिया था । अन्य काल में ग्रहों की जैसी स्थिति हो, उसका प्रभाव जानकर मनुष्य की भविष्य शरीर स्थिति, आर्थिक स्थिति, मानस प्रकृति आदि का ज्ञान जन्मपत्रों से होता है । इस अप्रकृत विषय का विस्तार हम यहां नहीं करेंगे, यहां कहना केवल इतना ही है कि जन्मपत्रों द्वारा जिसमें प्रकृति आदि का सम्बन्ध जुड़ने की योग्यता प्रतीत हो, उन्हीं का विवाह सम्बन्ध आर्य जाति में किया जाता है ।

इसी प्रकार जाति गोत्र आदि का विचार भी विवाह सम्बन्ध में होता है । जो स्त्री पुरुष अत्यन्त सन्निकट अर्थात् एक गोत्र वा एक कुल के हैं उनका पूर्व सिद्ध वह सूत्र सम्बन्ध सन्तति के लिये लाभदायक नहीं होता । इसलिये दूरतक का कुटुम्ब सम्बन्ध बचाने की आर्य जाति में प्रथा है । साक्षात् भाई बहन का परस्पर विवाह सम्बन्ध तो अन्य सभ्य जातियों में भी अनुचित माना जाता है, किन्तु आर्य जाति में पितृकुल में सात और मातृकुल में पांच पुरुषों तक जिनका सम्बन्ध सूत्र मिलता हो उनका भी विवाह सम्बन्ध नहीं किया जाता । गोत्र भी जिनका एक है उसमें एक ऋषि से उत्पन्न होने का अभिमान है इसलिये उनका भी सम्बन्ध छोड़ देते हैं । इसी प्रकार जो स्त्री पुरुष अत्यन्त दूर के अर्थात् भिन्न-भिन्न वर्ण जाति के हैं, उनका भी सम्बन्ध जुड़ नहीं सकता । अत्यन्त भिन्नता रखने वाली वस्तुओं को कोई भी वैज्ञानिक क्रिया नहीं मिला सकती, इसलिये ऐसे विवाह सम्बन्ध भी आर्य जाति में स्वीकृति नहीं । जो न अत्यन्त सन्निकट हैं, न अत्यन्त दूर हैं उन मध्यम श्रेणी के वर वधू को ही विवाह सम्बन्ध के द्वारा जोड़ा जाता है ।

आर्य जाति की यह प्रथा कितनी उपयुक्त है, इसकी परीक्षा भिन्न-भिन्न देशों के वैज्ञानिकों के द्वारा भी हुई है । वि० सं० १९९३ के संस्कृत रत्नाकर नाम के संस्कृत मासिक पत्र के वेदांक नाम से प्रसिद्ध विशेषांक में गोवर्धन पीठ के जगद्गुरु श्री शंकराचार्य पद पर आसीन महाविद्वान् श्री भारती तीर्थ स्वामी जी का वैदिक वर्ण व्यवस्था आदि के समर्थन में एक विस्तृत लेख है । उसमें उनने बताया कि यूरोप, अमेरिका आदि के लान्डस मेनन्, हेस्, चिकागो के डाक्टर अर्नेस्ट अलबर्ट, एब्राम्स, डाक्टर एलेग्जेंड्रे वीरेर, (बूलेस्न न्यूयार्क) डॉ० आसिलोमिटर आदि अनेक प्रसिद्ध वैज्ञानिकों ने वर्ण व्यवस्था की वैज्ञानिक रीति से परीक्षा की है । और ओसिलोग्राफ.

ओसलोफोन आदि यन्त्रों का निर्माण किया है । जो यन्त्र उन देशों में अदालतों में भी काम देते हैं । इन यन्त्रों से परीक्षा कर उन विद्वानों ने सिद्ध किया है कि प्राणिमात्र के रक्त में चार प्रकार के विभाग पाये जाते हैं । जिनके नाम उनने ओ०ए०बी० और एवबी कल्पित किये हैं । इन रक्तों की परीक्षा से मनुष्य वा अन्य प्राणियों की प्रकृति, रुचि, व्यवहार आदि का पता लगाया जा सकता है, और यह भी निश्चय किया जा सकता है कि यह किसकी सन्तान है। जिस माता-पिता के पुत्ररूप से वह अपने को प्रकट करता है, वास्तव में यह उनकी सन्तान है कि नहीं, इस बात का ठीक पता वे यन्त्र दे देते हैं । इसीलिये उन देशों की अदालतों में इनका उपयोग होता है । उन यन्त्रों के द्वारा उन विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न लेखों में (जिन लेखों और पत्रों की संख्या पृष्ठ आदि का पूरा पता भी श्री शंकराचार्य ने अपने उक्त लेख में दिया है) यह भी निष्कर्ष निकलता है कि भिन्न-भिन्न रक्तों के संमिश्रण से जो एक शरीर पैदा होगा, या भारतीय संस्कृति के शब्दों में यों कहिए कि जो वर्णसंकर होगा उसमें माता और पिता दोनों के दोष ही प्रचुर मात्रा में आवेंगे गुण किसी का भी न आवेगा । वह सन्तति उन्मत्त, विक्षिप्त वा नीच प्रकृति की ही प्रायः होगी । हमारे यहां भगवान् मनु ने भी बहुत पूर्व काल में यही लिखा था—

पित्र्यं वा भजते शीलं मात्र्यं वोभयमेव वा

न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति ।

अर्थात् वर्णसंकर में पिता या माता का या दोनों के दुष्ट स्वभाव की अनुवृत्ति होती है । वह दुष्ट योनि वाला वर्णसंकर अपनी आदत को नियम में नहीं ला सकता। इससे चमत्कृत रूप में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे धर्मशास्त्रों की बातें कितनी वैज्ञानिक कसौटी पर कसी हुई हैं । अस्तु, उन विद्वानों ने यही भी सिद्ध किया है कि रुधिर के इन चार भेदों के उपभेद भी बहुत हैं, और देश के अनुसार भी इन रुधिरों के प्रभाव में बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है । उन एक ही उपभेद वाले रक्तों का परस्पर सम्बन्ध होने से सन्तति या तो होगी ही नहीं या चलकर शीघ्र विच्छिन्न हो जायगी, और यदि सन्तति आगे चलेगी भी तो विकृत मस्तिष्क के ही पुरुष उसमें उत्पन्न होंगे इत्यादि । इससे आर्य जाति की विवाह व्यवस्था पूर्ण वैज्ञानिक है यह सिद्ध हो जाता है । अस्तु, उक्त प्रकार के विवाह सम्बन्ध से जिस स्त्री की मन प्राण आदि एकता संपादित कर ली गई है, उसमें उत्पन्न की गई हुई सन्तान ही गुणवती होती है, यह हमारे धर्मशास्त्रों में निश्चय किया गया है ।

आर्य जाति की स्पृश्यास्पृश्यता (छुआछूत) की भी वर्णसंकर से बचाने के लिए ही व्यवस्थित की गई है । स्मरण रहे कि हम वर्तमान राजनीति क्षेत्र में नहीं जा रहे हैं । वर्तमान विधान का विरोध भी हमारा यहां लक्ष्य नहीं है । यह भी हम मानते हैं कि समय के दोष से स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था का कई देशों में कई अंशों में दुरुपयोग

भी हुआ था। किन्तु यहां हमें यही संक्षेप में दिखाना है कि शास्त्रों में इस व्यवस्था के मूल में जातियों का परस्पर द्वेष नहीं था, केवल पवित्रता की रक्षा ही इसका उद्देश्य था। आजकल के कई सज्जन जो यह कल्पना करते हैं कि “अन्य देशों से आये हुए आर्यों ने द्वेष वश यहां की पुरानी जातियों को अस्पृश्य बना दिया” यह केवल यूरोपियन विद्वानों की कल्पना थी, और इसके मूल में राजनीति थी कि हमारा इस देश पर ममत्व दृढ़ न रहे, और परस्पर हम लड़ते रहे, विदेशियों का राज्य स्थिर रहे। आर्यों का (हमारे पूर्वजों का) विदेशों से आना किसी ऐतिहासिक प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इस विचार के खण्डन में अनेक विद्वानों ने (एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के प्रमुख सदस्य अन्वेषक विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी) वेद रहस्य के उद्घाटक गुरुवर श्री मधुसूदन जी ओझा विद्यावाचस्पति, उत्तर प्रदेश के वर्तमान मुख्यमंत्री साहित्य क्षेत्र में भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त श्री सम्पूर्णानन्द जी आदि ने अपनी लेखनी उठाई है और इस विचार को निःसार सिद्ध कर दिया है। स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था भी द्वेषमूलक किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती है। जिन धर्मशास्त्रों में इस व्यवस्था पर दृढ़ बल दिया है, उनमें ही आपत्काल में अस्पृश्यों की सब प्रकार की सहायता का भी विधान मिलता है। वैद्य रोगी को देखते समय अस्पृश्यता का विचार न करे, दुर्भिक्ष वा राष्ट्र विप्लव में अस्पृश्यता न मानी जाय, अति अस्पृश्य के घर में अग्नि लगने पर उसकी रक्षा के लिये उत्तम वर्ण के सब लोग जाँय—ऐसे वचन धर्मग्रन्थों में स्पष्ट मिलते हैं। तब इसमें द्वेष का स्थान ही कहाँ रहा। शास्त्रों से तो यही स्पष्ट होता है कि निकृष्ट वर्णसंकर जातियों को ही अस्पृश्य माना गया है। जिसमें पिता उच्च वर्ण का और माता छोटे वर्ण की होती है—वे “अनुलोमसंकर” कहे जाते हैं। उन्हें अधिक दूषित नहीं माना जाता, क्योंकि बीज की प्रधानता देखी जाती है। भूमि में दोष होने पर भी उत्तम बीज से उत्तम ही अन्न होगा, कुछ न्यूनता उसमें भले ही हो। किन्तु जहां माता उच्च वर्ण की और पिता छोटे वर्ण का है—वे प्रतिलोम संकर माने जाते हैं—उसमें से ही कुछ निकृष्ट जातियां—जिनकी उत्पत्ति में बीज बहुत ही छोटे वर्ण का है—उन्हें अस्पृश्य माना गया है। निकृष्ट बीज भूमि को भी सदा के लिए दूषित कर देता है—और ऐसी सन्तति में दोष ही विशेष आते हैं, गुण माता या पिता किसी के भी नहीं आते—इससे संसर्ग से भी हानि समझकर उच्च वर्णों को इनके संसर्ग से बचाया गया है। संसर्ग से दोषों संक्रमण आधुनिक विज्ञान भी मानता है—इसीलिये संक्रामक रोग वाले का स्वस्थ पुरुष से सम्बन्ध बचाने की जिज्ञा डाक्टर भी सदा सलाह देते हैं। एक साथ एक शय्या या आसन पर बैठना, एक साथ भोजन करना, एकपात्र से भोजन, पान आदि जैसे रोगी के साथ संसर्गों का डाक्टर लोग निषेध करते हैं—वैसे ही संसर्गों का अस्पृश्य के साथ धर्मशास्त्रों में भी निषेध किया गया है। इससे यही स्पष्ट सिद्ध होता है कि आधुनिक विज्ञान केवल शरीर के स्थूल दोषों को ही संक्रमण समझ पाया है—इसलिये शरीर

दोष वालों के संसर्ग का ही उसने निषेध किया, किन्तु अध्यात्मवेत्ता ऋषि अन्तःकरण की भी पूर्ण परीक्षा जानते थे—और अन्तःकरण के दोषों का भी संक्रमण जिनकी दृष्टि में प्रत्यक्ष था, वे दूषित अन्तःकरण वालों के संसर्ग से भी पवित्र अन्तःकरण वालों को बचाते थे। संसर्ग के दोषों का संक्रमण सब ही मानते हैं, जो जितने दोष समझता है उतने ही दोष वालों के संसर्ग का वह निषेध करता है। रोगी के साथ स्वस्थ पुरुष यदि संसर्ग करे तो इससे रोगी का कोई लाभ नहीं होगा। क्योंकि रोग का अभाव कोई वस्तु नहीं है, जिसका स्वस्थों से उसमें संक्रमण हो जाय, किन्तु स्वस्थों की हानि अवश्य होगी, क्योंकि रोग एक दूषित प्रभाव है, वह उसमें संक्रान्त हो जायेगा। इस प्रकार उच्च वर्ण के पुरुष यदि दूषित जातियों से संसर्ग करें तो इससे उन जातियों का कोई लाभ नहीं। उच्च जातियों की हानि है, उसमें अन्तःकरण के तामस भाव आ जायेंगे। इसलिये केवल हानिकारक समझकर संकर जातियों का संसर्ग रोका गया है। यहां यह भी प्रश्न होता है कि वर्तमान अस्पृश्य जातियों के पूर्वजों को वर्णसंकर मान भी लिया जाय, तो वर्तमान में जो अस्पृश्य माने जाते हैं इनमें तो कोई संकरता का दोष नहीं है, न इनका कोई अपराध है, फिर बिना दोष और किसी अपराध के इन्हें क्यों दण्ड दिया जाय। तो इसका भी उत्तर स्पष्ट है कि पूर्वजों के दोष का फल उसकी सन्तान भी भोगती है, यह प्रकृति सिद्ध नियम है। आयुर्वेद के विद्वान स्पष्ट बताते हैं कि जिनके पिता कुकर्म के कारण बुरे रोगों से अक्रान्त हुए, उनकी संतति में भी उन रोगों का अनुवर्तन रहता है और कुल क्रमागत रोग प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जब स्थूल रोगों का ही संक्रमण प्रत्यक्ष सिद्ध है, तो सूक्ष्म रजोगुण, तमोगुण का तो संक्रमण बराबर चलेगा इसमें आश्चर्य ही क्या है? इससे कर्म सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। जो करता है, वही पाता है यह कर्म सिद्धान्त ठीक है, किन्तु जन्म भी तो कर्मानुसार ही मिलता है। जिनके पूर्व कर्म जघन्य हैं वे ही ऐसी जातियों में वैसे माता पिताओं से जन्म लेते हैं, अच्छे कर्म वाले का उन जातियों में जन्म ही क्यों होने लगा। इस अप्रकृत विषय का यहां विस्तार अनुपयुक्त है। यहां यही कहना था कि संकर जातियों को अस्पृश्य मानना भी समाज की रक्त शुद्धि रखने के आशय से ही नियत किया गया था। “समाज में इस प्रकार कुल परम्परागत दण्ड मिलेगा”, इस भय से अपना समाज वर्ण संकरता के दुर्व्यवहारों से बचा रहे— और ऐसी सृष्टि बढ़ने ही न पाय। यह रक्त शुद्धि ही इसका उद्देश्य रहा है। आत्मसंयम द्वारा अपने आपको अपवित्रता से बचाना और समाज में रक्तमिश्रण न होने देने के लिए ही आर्य जाति के ये सब गम्भीर उपाय प्रवृत्त हुए थे। स्त्रियों के अपवित्र हो जाने पर इन सब भारत के गौरव पूर्ण धर्मों का नाश हो जायगा— यही अर्जुन ने उक्त श्लोक ४० में बताया है। आगे और इसी का विवरण है कि—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।  
 पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥  
 दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः  
 उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥  
 उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।  
 नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

वर्ण संकर अपने कुल का नाश करने वाले को नरक में पहुँचाता है । क्यों? इसका कारण उत्तरार्द्ध में बताया गया है कि वर्ण संकर का दिया हुआ पिण्ड या जल पितरों को प्राप्त नहीं होता, इसलिये पिण्डोदक का लोप होने पर वे स्वर्ग से पतित होकर नरक में चले जाते हैं । और जिन्होंने कुल का नाश किया है वे भी यदि इसी कुल के हैं तो उनका भी पिण्डोदक लुप्त होने से नरक वास होगा ही, यदि भिन्न कुल के भी हों तो कुलनाश के पातक से नरक में चले जायेंगे । पिण्डोदक के अभाव में नरक क्यों होता है यह श्राद्ध विज्ञान का विषय है । इसका विवरण हम गीता के अष्टम अध्याय में ऊर्ध्वगति के प्रकरण में करेंगे ।

आगे कहा जाता है कि इस प्रकार वर्णसंकरता फैलाने वाले उन दोषों से वर्णसंकरों की प्रचुरता होने पर कुलधर्म और जातिधर्म मूलतः उखाड़ दिये जाते हैं। अथच कुल धर्मों का नाश होने पर वर्णसंकरता उत्पन्न करने वालों को अनन्त काल तक नरक में रहना पड़ता है । ऐसा शास्त्रों में हमने सुना है ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि अर्जुन की ये शंकाएँ आगे चलकर बिल्कुल सत्य सिद्ध हुई । महाभारत के प्रचंड युद्ध में देश के अधिकांश वीरों का नाश हो जाने पर क्रम से वर्णसंकरता बढ़ती गई और वर्ण व्यवस्था बिगड़ती गई । जिसका कि परिणाम आगे चलकर देश की परतन्त्रता के रूप में प्रकट हुआ । इन दोषों का विवरण करता हुआ अर्जुन एकान्ततः काँप उठा कि—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयं ।

यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

बड़े अनर्थ और खेद की बात है कि हम इतना बड़ा पाप करने को तैयार हो गए, केवल राज्य से थोड़ा सुख प्राप्त करने के लोभ से अपने बान्धवों को मारने को हम प्रस्तुत हैं । अन्तिम निश्चय अर्जुन ने अपना यही प्रकट किया कि—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।

धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

मैं तो नहीं लड़ूँगा, शस्त्र भी नहीं उठाऊँगा, अपने ऊपर प्रहार करने वालों को

कोई उत्तर भी न दूंगा । ऐसी स्थिति में यदि शत्रु लोग शस्त्र उठाकर मुझे मार देंगे तो भी मेरे लिए बड़े कल्याण की बात होगी क्योंकि इस चिन्ता के झंझट से छूट जाऊँगा। हमने पिछले प्रवचन में प्रसंग यही उठाया था कि प्रथमाध्याय के अर्जुन के पूर्व पक्ष में भी आर्य संस्कृति के तत्त्व झलक रहे हैं ।

अब प्रश्न यह होता है कि जब अर्जुन के विचार इतने उदात्त, स्वार्थत्याग पूर्ण, और आर्य संस्कृति और धर्म से ओतप्रोत थे तो भगवान् कृष्ण ने उनका निराकरण क्यों किया ? कई सज्जन यह भी शंका करते हैं कि अर्जुन के इन पूर्वपक्षों का उत्तर भी आगे भगवान् की ओर से कुछ भी नहीं दिया गया । इससे यह उपदेश अधूरा प्रतीत होता है । क्योंकि पूर्वपक्ष का निराकरण पूर्णरूप से अवश्य होना चाहिए यह भारतीय ग्रन्थों की शैली है । इसका उत्तर यही है कि उपदेश के आरम्भ में ही—

**‘अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे’**

इस छोटे से वाक्य में ही सब बातों का उत्तर दे दिया है । उसका गंभीर आशय यही है कि “तुम बुद्धिमानों की सी बातें करते हुए भी जिन बातों पर विचार नहीं करना चाहिए उनका विचार करते हो ।” अर्थात् मनुष्य को अपना कर्तव्य सोचना चाहिए । दूसरे लोग क्या करेंगे और इससे जाति या देश पर क्या परिणाम होगा यह सब सोचना अपनी कल्पना शक्ति को व्यर्थ परिश्रम देना है । यद्यपि शास्त्रों में परिणाम दर्शिता को बहुत महत्व दिया है, किन्तु अपने कर्तव्य की ही परिणाम दर्शिता होनी चाहिए । कर्तव्य पालन को मुख्य रखना चाहिए । इसी प्रकार सब मनुष्य अपने-अपने कर्तव्य पालन में दृढ़ हो जाँय तो जाति या देश में कभी कोई आपत्ति न उठे। दूसरों की त्रुटि देखने से कोई लाभ होना सम्भव नहीं क्योंकि यह हमारी शक्ति के बाहर की बात है कि हम दूसरों की त्रुटियों को सुधार दें । हमें अपनी त्रुटि सुधार कर आदर्श रूप बनना चाहिए जिससे कि हमारे दृष्टान्त से अन्य लोग भी अपनी त्रुटि सुधार सकें । भगवान् के उपदेश का यही सार है कि तुम अपने कर्तव्य की ओर देखो। अन्य बातों को न सोचो । वर्ण-व्यवस्था के अनुसार अन्याय के विरुद्ध शस्त्र उठाना क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य है । उससे तुम विच्युत हो रहे हो । धर्मसंकट में प्रत्येक मनुष्य का यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपना कर्तव्य सोचे ।

जिस प्रकार अर्जुन ने बान्धवों के वध के दोषों की एक शृंखला उपस्थित की उसी प्रकार दूसरी ओर भी कहा जा सकता है कि यदि अन्याय मार्ग में प्रवृत्त होने वाले को उचित दण्ड न दिया जायगा तो अन्यायी पुरुषों का अभ्युदय देखकर जनता अन्याय को अपना आदर्श मानने लगेगी और अन्याय या अधर्म की वृद्धि होने पर देश और राष्ट्र का नाश अवश्यंभावी है और उस दशा में भी वे सारे दोष बहुत बड़ी मात्रा में उपस्थित होंगे जिनका विवरण अर्जुन ने किया है। इस प्रकार दोनों ओर

आपत्ति उपस्थित होना ही धर्म संकट है। इस प्रकार के धर्म संकट में अपना कर्तव्य पालन ही मुख्य रूप से सोचना चाहिए। दूसरे प्रतिपक्षी लोग धर्म से विच्युत भी हों तो भी हमे अपने धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए यह अर्जुन का कथन व्यक्तिगत रूप से आदर्श अवश्य है । किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से समाज विप्लव उपस्थित हो जाना इसमें अवश्य सम्भव है । इसलिए भगवान् कृष्ण का अन्यत्र भी ऐसा लक्ष्य देखा जा सकता है कि अधार्मिकों के प्रति धर्म परायण होकर रहना उन्हें बढ़ावा देना है और वह अनुचित व समाज विप्लव कारक है, इस सबसे भगवान् कृष्ण का अभिमत यही प्रतीत होता है कि जहाँ प्रतिपक्ष से धर्म विरोध होता हो वहाँ नीति मार्ग से चलना ही समाज के लिए लाभदायक है । आदर्श धर्म का पालन आदर्श धार्मिकों के बीच में ही होना चाहिए समाज नीति यही है । व्यक्तिगत कार्यों में हम आदर्श धर्म का पालन करते हैं किन्तु सामाजिक कार्यों में उचित स्थान पर नीति को भी प्रश्रय देना ही चाहिए । भगवान् कृष्ण के इस उपदेश का आगे चलकर भारत ने स्मरण नहीं रक्खा इसीलिए अधार्मिकों के साथ भी आदर्श धर्म का व्यवहार करने से देश की बहुत कुछ दुर्गति हुई जिसका इतिहास साक्षी है । इसके अनन्तर का वृत्तान्त संजय धृतराष्ट्र से कहता है कि—

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।

विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

यह कहकर अर्जुन ने संग्राम में अपना धनुष बाण छोड़ दिया और अत्यन्त शोक से घबराया सा होकर रथ के पीछे के भाग में बैठ गया । युद्ध के रथ इस प्रकार के होते थे कि योद्धा सारथी के पास आगे खड़ा रहता था, उसके चारों ओर शस्त्र अस्त्र रखे रहते थे और पीछे का भाग विश्राम के लिए खाली रहता था, वही 'रथोपस्थ' कहलाता था । अभीतक अर्जुन धनुष लिये खड़ा था किन्तु अब धनुष छोड़कर विश्राम स्थान में जा बैठा । इस प्रकार इतिहास की घटना बताता हुआ भूमिका रूप गीता का प्रथमाध्याय समाप्त हुआ ।





## दशम-पुष्प

( द्वितीयाध्याय का आरम्भ )

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

प्रथमाध्याय के आरम्भ के श्लोक में धृतराष्ट्र का आशय हमने प्रकट किया था कि कुरुक्षेत्र धर्म का क्षेत्र है । इसलिए कदाचित् उस स्थान में पहुँच कर पाण्डवों को भी धर्म बुद्धि आई हो और उन्होंने युद्ध बन्द करने की बात सोची हो । जब संजय के मुख से अर्जुन का इस प्रकार धनुष बाण फेंक देना सुना तो धृतराष्ट्र को हर्ष हुआ कि वास्तव में कुरुक्षेत्र का फल हुआ । अर्जुन ने धनुष छोड़ा इस आशय से हर्ष में मग्न धृतराष्ट्र का वह हर्ष मिटाता हुआ संजय आगे कहने लगा कि इस प्रकार करुणा से आविष्ट अश्रुजल से जिसके नेत्र व्याकुलता को स्पष्ट प्रकट कर रहे हैं और अत्यन्त दुःख में पड़ा हुआ है, ऐसे अर्जुन को भगवान् मधुसूदन नीचे लिखे वाक्य कहने लगे ।

यहाँ “कृपया आविष्टम्” इन पदों में कृपा को कर्ता बताया गया है और अर्जुन को उससे आविष्ट कहकर कर्म बताया गया । अर्थात् वह कृपा को बुलाने नहीं गया कृपा ने स्वयं उस पर आवेश किया है । इससे यह सूचित होता है कि अर्जुन में कृपा आगन्तुक नहीं है । स्वभाव सिद्ध है । महापुरुषों में कृपा स्वभाव सिद्ध होती है । वही कृपा यहाँ बान्धवों के दुःख का अनुमान कर प्रकट हो गई है और “विषीदन्तम्” इस पद से अर्जुन को ही विषाद का कर्ता बताया गया है । इससे विषाद की आगन्तुकता सिद्ध होती है । यद्यपि अर्जुन ने बहुत कुछ कहा किन्तु अपने युक्तिवाद पर ही वह दृढ़ रहा । भगवान् से अपने कर्तव्य के विषय में कुछ पूछा नहीं । इसलिए धर्म मर्यादा के अनुसार अभी उपदेश देना भगवान् ने उचित न समझा । धर्म मर्यादा के रक्षक भगवान् धर्म मर्यादा का अतिक्रमण कैसे करते ? धर्म की मर्यादा है कि “नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्” अर्थात् बिना पूछे किसी को उपदेश न देना । आरम्भ के प्रवचन में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि जब तक सुनने वाले को जिज्ञासा न हो तब तक उपदेश देना व्यर्थ है किन्तु अपने आप्त मित्र को शोक ग्रस्त देखकर चुप रहना भी बड़ी अनुचित बात होगी; कहा भी है कि “अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयात् यस्य नेच्छेत्-पराभवम्।” अर्थात् जिसका जगत् में तिरस्कार होना इष्ट न हो उससे बिना पूछे भी कहना चाहिए। इसलिए भगवान् उपदेश तो नहीं किन्तु चेतावनी देने लगे । यही बात “वाक्यमुवाच” इन पदों से अभिव्यंजित की गयी है । अर्थात् उपदेश न देकर केवल कुछ वाक्य कहने लगे ।

श्री भगवान् उवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन । ॥२॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतात्त्वय्युपपद्यते ।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्तवोत्तिष्ठ परंतप ॥३॥

गीता में सर्वत्र वक्ता कृष्ण को भगवान् शब्द से ही कहा गया है । इस कारण से ही इस ग्रन्थ का नाम ही भगवद्गीता हुआ है । भगवान् शब्द का अर्थ पूर्व लिख चुके हैं कि जिसमें ऐश्वर्य, वैराग्य, ज्ञान आदि ५ गुण हों वह भगवान् कहा जाता है। इससे यह सूचित होता है कि वे अपने पूर्ण ज्ञान से सबके मन की बात जानकर तदनुकूल उपदेश देकर उसका हठ छुड़ा सकते हैं । अपने ऐश्वर्य के कारण भी मनुष्य की चित्त-वृत्ति को बदल सकते हैं और रागद्वेष न होने के कारण किसी के उपालम्भ पात्र भी नहीं बन सकते । ऐसे भगवान् जब कहने लगे तो अवश्य ही अर्जुन की चित्त-वृत्ति बदलेगी । यह सूचित करता हुआ संजय आगे भगवान् के कथन का अनुवाद करता है— हे अर्जुन ! अत्यन्त अनुपयुक्त समय में यह मोह तुममें कहाँ से आ गया ? यह तो आर्य पुरुषों के द्वारा सेवित नहीं है अर्थात् सदाचार सिद्ध नहीं है। स्वर्ग का विरोधी है । और संसार में अकीर्ति करने वाला है । हे पार्थ ? तुम क्लीबता (मन की दुर्बलता रूप नपुंसकता में) मत जाओ, यह दुर्बलता तुम्हारे उपयुक्त नहीं है। जो कुछ तुम कर रहे हो वह हृदय की दुर्बलता मात्र है । और यह दुर्बलता आगन्तुक होने के कारण बहुत छोटी वस्तु है । इसे झट-पट छोड़ दो और खड़े हो जाओ । तुम सदा से परन्तप अर्थात् शत्रुओं को क्लेश देने वाले रहे हो । अपने प्रताप का स्मरण करो जब पराक्रम का मुख्य अवसर आया तब ऐसी कातरता क्यों दिखाते हो ?

यह एक चेतावनी है । विशेषणों से यहाँ यह प्रकट किया कि तुम जो संग्राम छोड़ने की इच्छा कर रहे हो वह शिष्टाचार समझ कर कर रहे हो या धर्म समझ कर या संसार में बान्धवों को न मारने का सुयश प्राप्त करने की इच्छा से ? तीनों ही बातें नहीं हैं । क्षत्रिय का युद्ध छोड़ देना स्मृति शास्त्र विरुद्ध है इसलिए शिष्टाचार भी नहीं हो सकता । आज तक किसी शिष्ट ने ऐसा किया भी नहीं कि संग्राम में खड़ा होकर समय पर भाग जाय और स्मृति शास्त्र विरुद्ध होने से धर्म तो यह है ही नहीं । फिर इससे स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा ही व्यर्थ है । सुयश भी तुम्हारा इससे नहीं होगा प्रत्युत संसार में भीरु कहला कर अपयश के ही पात्र बनोगे । इसलिए यह तुम्हारा उपक्रम विचार पूर्ण नहीं कहा जा सकता । केवल हृदय की दुर्बलता मात्र है । साधारण मनुष्यों को भय आदि के कारण ऐसी दुर्बलताएं आ जाया करती हैं । किन्तु तुम जैसे वीर को यह शोभा नहीं देती ।

जब इस प्रकार की चेतावनी भगवान् ने दी तो अर्जुन अपना आशय प्रकट करने लगा कि महाराज! यह मेरे हृदय की दुर्बलता नहीं है । मेरे मन में धार्मिक विचार हैं—

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

मैं भीष्म और द्रोण के साथ युद्ध में बाणों से कैसे संघर्ष करूँगा । एक मेरे पितामह हैं और दूसरे शिक्षा देने वाले आचार्य हैं । इसलिए दोनों पूजा के योग्य हैं। इनके साथ तो केवल वाणी से सामना कर लेना भी अनुचित है । धर्मशास्त्रों में गुरु के संमुख 'हूं' कार या 'त्वम्' शब्द का उच्चारण भी पाप बताया गया है । फिर संमुख संग्राम में खड़े होकर उन पर बाण चलाना कैसे हो सकता है ? मान लो कि उन पर बाण न चलाऊँ औरों से ही लड़ता रहूँ किन्तु वे प्रतिपक्ष सेना के प्रमुख हैं इसलिए मुझ पर वे बाणों का प्रहार करेंगे तो उसका प्रत्युत्तर रूप प्रति युद्ध तो करना ही होगा । उनके प्रहार का निवारण करने के लिए तो शस्त्र चलाना ही होगा वह भी अत्यन्त अनुचित है । क्योंकि गुरु पितामह आदि की तो पूजा करनी चाहिए । उन पर प्रहार या उन प्रहारों का निवारण कैसे उचित हो सकता है । यहाँ मधुसूदन और अरिसूदन ये दोनों संबोधन प्रायः एक सा ही अर्थ रखते हैं । इसलिए श्लोक में पुनरुक्ति प्रतीत होती है । किन्तु श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यह पुनरुक्ति अर्जुन की विकलता की सूचक है । इसलिए दोषाधायक नहीं । विकलता में मनुष्य अवधान न रहने से एक ही बात को कई बार कह जाता है । इससे उसकी विकलता प्रकट होती है । व्यंग्य मन्दाकिनी में यह भी अभिप्राय निकाला गया है कि आपने मधुदैत्य को मारा है और शत्रुओं का भी नाश किया है किन्तु ये भीष्म द्रोण तो दैत्य नहीं हैं बड़े शिष्ट संसार में पूजित हैं और न ये शत्रु कहे जा सकते हैं । पितामह या गुरु को शत्रु कैसे कहा जाय ?

महाभारत युद्ध में प्रसंग आता है कि जब अर्जुन ने सूर्यास्त से पहिले जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा की थी तब द्रोणाचार्य ने जयद्रथ की रक्षा के लिये एक बड़ा लम्बा व्यूह बनाया था और उसके द्वार पर स्वयं खड़े थे । जब अर्जुन व्यूह में प्रविष्ट होने लगा तो पहिले द्रोणाचार्य ही रोकने को खड़े हुए और उनसे युद्ध आरम्भ हुआ। द्रोणाचार्य को परास्त कर देना तो कोई हंसी खेल की बात नहीं थी उनके साथ युद्ध में ही दिन पूरा हो जायगा तो जयद्रथ कैसे मरेगा इस विचार से भगवान् कृष्ण ने कहा कि इनके साथ क्यों उलझता है । इनको तो प्रणाम कर आगे बढ़ नहीं तो इतने दूर पहुँच कर जयद्रथ मारा न जा सकेगा । अर्जुन अपने रथ से उनके रथ की प्रदक्षिणा

द्वारा पूजा कर जब आगे बढ़ने लगा तो द्रोणाचार्य ने जोर से कहा कि तुझे लज्जा नहीं आती शत्रु को बिना जीते आगे भाग रहा है तब भी अर्जुन ने यही उत्तर दिया था कि शत्रु को बिना जीते छोड़ना लज्जा कारक है आप तो मेरे गुरु हैं शत्रु नहीं । शिष्य और पुत्र तो समान ही होता है उन दोनों को तो पिता को छोड़ कर आगे बढ़ जाने का भी अधिकार है । इससे सिद्ध है कि अर्जुन का भीष्म और द्रोण में शत्रुभाव नहीं था ।

आगे अर्जुन कहता है कि यदि यह प्रश्न हो कि भीष्म द्रोण जब प्रतिपक्ष सेना के नेता होकर खड़े हैं । तब उनसे युद्ध न करोगे तो आखिर करोगे क्या ? राज्य तो बिना युद्ध के मिलेगा नहीं और बिना भूमि सम्पत्ति के भोजन भी कैसे चलेगा । मानलो कि विलास सामग्री तुम्हें नहीं चाहिए किन्तु भोजन सामग्री तो जीवन के लिये सबको ही अपेक्षित है वह भी कहाँ से मिलेगी ? तुम कहते हो कि शस्त्र छोड़े हुए मुझे दुर्योधनादि मार देंगे तो मेरा कल्याण हो जायगा किन्तु मान लो कि निःशस्त्र पर प्रहार करना अनुचित समझ उन्होंने तुम्हें न मारा तब क्या होगा ? आत्महत्या तो तुम करोगे नहीं क्योंकि वह महापाप है तब भोजन कहाँ से लाओगे ? अपने मन में इस प्रश्न की उद्भावना कर अर्जुन उत्तर देता है—

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्छ्रेयो भोक्तुं भैक्षमपीह लोके ।

हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान ॥५॥

महान् प्रभाव वाले प्रतिष्ठित गुरुओं को यदि न मारना पड़े तो संसार में भिक्षा करके खा लेना भी कल्याण कारक है और धन की तृष्णावश प्रतिपक्षियों से फँसे हुए भी गुरुओं को मार कर भोजन करना तो ऐसा होगा मानों उनके रुधिर से लिपटे हुए अन्न को हम खा रहे हैं । यह कैसे उचित होगा सो आप ही बतलाइय । इसका तात्पर्य यही है कि चाहे भिक्षा करके जीवन निर्वाह कर लेना पड़े किन्तु गुरुओं को मार कर अच्छे भोजन करना तो इतना ही अनुचित है जितना कि गुरुओं के रुधिरों से सान कर भोजन करना । अतः कुछ भी न मिलेगा तो मैं भिक्षा करके ही खा लूँगा । यहाँ कई व्याख्याकार अर्जुन पर यह दोष लगाते हैं कि वह मोह वश अपना क्षत्रियोचित धर्म छोड़कर ब्राह्मणोचित भिक्षा करना चाहता था । क्योंकि भिक्षा ब्राह्मणों का ही धर्म है । इससे वर्ण परिवर्तन का दोषी समझ कर ही भगवान् ने उसके विचारों का निराकरण कर उसे अपने धर्म पर दृढ़ किया । किन्तु यह व्याख्याकारों का कथन उचित नहीं जान पड़ता । क्योंकि गृहस्थ ब्राह्मणों का धर्म भिक्षा करना कहीं नहीं बताया गया है । प्रतिग्रह अवश्य ब्राह्मणों के धर्म में आता है किन्तु प्रतिग्रह और भिक्षा में बहुत बड़ा भेद है । प्रतिग्रह सम्मान पूर्वक शास्त्रीयविधि से प्राप्त होता है और भिक्षा सम्मान खोकर याचना कर ली जाती है । भिक्षा का विधान तो शास्त्र में ब्रह्मचारी और संन्यासी

के लिए है। सो तीनों वर्णों के लिए है। ब्राह्मणों को भिक्षा लेने वाला बताना तो अर्वाचीन युग में ब्राह्मणों की अवज्ञा के कारण प्रचलित हुआ है। प्राचीन युग में तो ब्राह्मणों को भिक्षुक बताने वाले को कड़े दण्ड मिले हैं । दानवराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी को भिक्षुक की पुत्री कह दिया था इससे रुष्ट होकर शुक्राचार्य जी ने असुरों का पौरोहित्य छोड़ दिया और उनको मनाने के लिये दैत्यराज वृषपर्वा को अपनी पुत्री शर्मिष्ठा को दासी बना कर देवयानी के साथ उसके पति ययाति राजा के यहाँ भेजना पड़ा । यह परिणाम भिक्षु कहने का हुआ । इसी प्रकार द्रुपद राजा ने द्रोणाचार्य को भिक्षुक कह दिया था उसके परिणाम स्वरूप उसे बाँधकर अर्जुन ने द्रोणाचार्य के चरणों में उपस्थित किया । ऐसे परिणाम भिक्षु कहने के हुए हैं । किन्तु आज तो ब्राह्मण निर्बल हैं उन्हें कोई कुछ भी कह ले उनमें से बहुतेरे स्वयं ही अपने हाथ में भिक्षा का कटोरा लेते हुए गौरव का अनुभव करते हैं । अस्तु, हमारा तात्पर्य यही है कि भिक्षा की इच्छा द्वारा अर्जुन ने ब्राह्मणोचित व्यवहार करने की इच्छा प्रकट की यह शास्त्र सिद्ध नहीं । अर्जुन का अभिप्राय यही कहा जा सकता है कि मैं संन्यास ले लूँगा और भिक्षा करके खा लूँगा । इस कथन में दोष यही है कि बिना उत्कट वैराग्य के संन्यास का शास्त्र में विधान नहीं है । इसलिये भगवान् ने उसे आगे चलकर समझाया है कि तुम्हारा अधिकार कर्म में ही है । यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गुरु लोग जब अर्थ के दास होकर अन्यायी दुर्योधन के साथ लगे हुए हैं तब उनमें गुरुत्व कहाँ रहा । शास्त्र में कहा है कि दुष्ट गुरु से तो गुरुत्व निवृत्त हो जाता है । इसका उत्तर अर्जुन ने दिया कि यद्यपि वे अर्थ काम में हैं अर्थात् धन चाहते हुए अन्यायी के साथ बद्ध हैं किन्तु वे मेरे लिए तो गुरु ही हैं । मुझे तो उनकी अवज्ञा करना उचित नहीं । इसके अतिरिक्त वे महानुभाव हैं । लोक में प्रतिष्ठित हैं। अथवा “हिमहानुभाव” हैं अर्थात् हिमाहा सूर्य के समान प्रभाव रखते हैं । इसलिए ऐसे तेजस्वी पुरुषों को अर्थ लिप्सा का सामान्य दोष गिरा नहीं सकता । भागवत में श्री शुकदेवजी ने यही बताया है कि—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।

तेजीयसां न दोषाय वन्देः सर्वभुजो यथा ॥

अर्थात् समर्थ तेजस्वी लोग साहस से धर्म का कहीं अतिक्रमण भी कर लेते हैं तो उन्हें दोष नहीं लगता जैसे कि अग्नि अपवित्र पदार्थ को खाकर भी दूषित नहीं होता इत्यादि ।

नचैतद्विदमः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदिवा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

आगे अर्जुन कहता है कि राज्य प्राप्ति की आशा से ही तो युद्ध किया जा रहा है किन्तु यह भी तो निश्चय नहीं कि दोनों पक्षों में प्रबल कौन सा पक्ष है ? हम जीतेंगे या प्रतिपक्षी हमें जीत लेंगे । यदि प्रतिपक्षियों ने हमें ही जीत लिया तो हमने पाप भी किया और राज्य भी न मिला फिर भी तो अन्त में भिक्षाटन की ही शरण लेनी पड़ेगी। तब बिना पाप किये पहिले ही भिक्षाटन की ओर क्यों न झुक जायें ? मान भी लिया जाय कि हम ही जीतेंगे तो भी दुर्योधन आदि को मार कर ही तो विजय मिलेगी। बान्धवों को मार कर तो हम जीने की भी इच्छा नहीं करते और वे बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्र ही सामने खड़े हैं तब युद्ध कैसे उचित हो सकता है ?

अन्ततः अर्जुन के मन में विचार आया कि कृष्ण मुझे मोह ग्रस्त क्यों बता रहे हैं और इसे मेरे हृदय की दुर्बलता क्यों कह रहे हैं। इसलिये उसके मन में यह भाव हुआ कि क्या वास्तव में मैं गलती पर हूँ। तब जिज्ञासा हुई कि कृष्ण बड़े बुद्धिमान हैं । इन्हें बड़े लोग ईश्वरावतार भी मानते हैं । इसलिए इनसे ही निर्णय क्यों न पूछूँ । इस जिज्ञासा से प्रेरित होकर वह कहता है कि—

**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।**

**यच्छ्रेयःस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥**

आप कहते हैं कि तेरे हृदय की दुर्बलता है किन्तु मुझे स्पष्ट धर्म संकट दिखाई दे रहा है । अच्छा मैं मान लेता हूँ कि मेरा स्वभाव अर्थात् बुद्धि वृत्ति रूप विचार इस समय कार्पण्य अर्थात् दीनता के दोष से दब गया है । इसलिये मेरा चित्त धर्म-अधर्म का निर्णय करने में असमर्थ है। तब आप से ही पूछता हूँ कि आप जो मेरे लिए निश्चित कल्याण मार्ग हो वह बता दीजिये । मैं आप का शिष्य हूँ और शरणागत हूँ इसलिए आप मुझे शिक्षा प्रदान कीजिए ।

शिष्य के हृदय में जैसी जिज्ञासा होनी चाहिए वैसी ही यहाँ अर्जुन ने प्रकट कर दी । मैं विचार करने में असमर्थ हो रहा हूँ । मेरी बुद्धि ठिकाने नहीं है यह भी स्पष्ट कह दिया । इससे उपदेश की योग्यता अपने में स्पष्ट प्रकट कर दी और बिना शिष्यत्व के उपदेश नहीं मिल सकता । इसलिए शिष्यत्व को भी स्वीकार कर लिया । यहाँ अर्जुन ने 'आपका शिष्य' कहकर सिद्ध रूप से अपना शिष्यत्व प्रकट किया । यह नहीं कहा कि शिष्य बन रहा हूँ किन्तु कहा कि शिष्य हूँ । इससे पूर्व जन्म में नर-नारायण रूप से जो नर को नारायण की शिष्यता प्राप्त थी उसका भी स्मरण करा दिया और शरणागति भी स्वीकार कर ली । यहाँ अर्जुन ने केवल इस समय कर्तव्य ही नहीं पूछा किन्तु सामान्य रूप से पूछा कि 'जो निश्चित रूप से मेरे लिए कल्याण मार्ग हो उसका उपदेश दीजिए'। यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है । कल्याण का मार्ग पूछा जा रहा है। इसीलिए भगवान् को सब शास्त्रों का सिद्धान्त भगवत् स्वरूप, भक्तिमार्ग

एवं भागवत धर्म का उपदेश देना पड़ा । क्योंकि इनके बिना कल्याण सम्भव नहीं । शिष्ट संप्रदाय में प्रसिद्ध है कि कोई मनुष्य कार्य-अकार्य की उलझन के समय इस श्लोक का जप करता हुआ सो जाय तो उसे स्वप्न में भगवान् का उपदेश मिल जाता है ।

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्-  
अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

आप यह विचार मत करना कि राज्य मिलने पर ये सब दुःख अपने आप विलीन हो जायेंगे क्योंकि मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ कि यदि मुझे सम्पूर्ण भूमि का ऐसा राज्य मिल जाय कि जिसमें कोई शत्रु न रह जाय और जो पूर्ण समृद्धशाली हो अथवा इतना ही क्यों देवताओं का स्वामित्व रूप इन्द्र पद भी मुझे प्राप्त हो जाय तो भी इन्द्रियों को सुखा देने वाला यह शोक मेरा दूर न होगा ।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतपः ।  
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥९॥

अर्जुन कृष्ण से इतना कहकर 'नहीं लड़ूँगा' यह कहता हुआ चुप हो गया । पहिले तो प्रश्न, फिर न लड़ने की प्रतिज्ञा कैसी इसका आशय यही है कि जब तक आप समझा न देंगे तब तक नहीं लड़ूँगा—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।  
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

इस प्रकार दोनों सेनाओं के मध्य में विषाद प्राप्त अर्जुन को हँसते हुए भगवान् कृष्ण के नीचे लिखे वचन कहना प्रारम्भ किया । यहाँ से आगे उपदेश का आरम्भ है । भगवान् ने हँसते हुए उपदेश दिया इसका तत्त्व पूर्व प्रवचन में बता चुके हैं ।



## एकादश-पुष्प

उपक्रम का प्रकरण पूर्व प्रवचनों कह चुके हैं। अब द्वितीयाध्याय के ग्यारहवें श्लोक से उपदेश का प्रारम्भ होता है। भारतीय संस्कृति में ईश्वर की प्रेरणा से उपदेश प्राप्त कर जीव अपना कर्तव्य निर्धारण कर सकता है यह पूर्व प्रवचनों में स्पष्ट कर दिया गया है। हमारी संस्कृति के मूलभूत वेद भी इसी प्रकार के उपदेश हैं। जो ईश्वर प्रेरणा से ऋषि-महर्षियों को प्राप्त हुए हैं और उनके द्वारा वे जनसाधारण में प्रसृत हुए हैं। वेदों को ही आधार बनाकर मुनियों ने स्मृति, सूत्र आदि के उपदेश किये हैं। आज भी भारतीय संस्कृति उपदेशों के आधार पर ही चल रही है। यहाँ तो श्रुति की स्पष्ट घोषणा है कि—

“नैषा तर्केण मतिरपनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ”:(कठ उपनिषद्)

अर्थात् तर्क से शास्त्र जनित बुद्धि का निराकरण नहीं करना चाहिए, गुरु के उपदेश से ही सम्यक् ज्ञान होता है।

### “उपदेश त्रैविध्य”

अलंकार शास्त्र में उपदेशों के तीन भेद किये हैं, प्रभुसंमित-उपदेश, सुहृत्संमित-उपदेश, और कान्तासंमित-उपदेश। स्वामी अपने भृत्यों को केवल आज्ञा देता है कि अमुक कार्य करो। कहीं उसकी इच्छा हो तो उसका फल या उद्देश्य भी बतला देता है किन्तु सर्वत्र वह बताना आवश्यक नहीं। भृत्यों को वैसा पूछने का अधिकार भी नहीं कि हम यह कार्य क्यों करें? केवल प्रभु की आज्ञा है इसलिए काम करना पड़ता है। इसी प्रकार के उपदेश को प्रभु संमित उपदेश कहते हैं। वेदों का उपदेश इसी श्रेणी का माना जाता है। वहाँ केवल आज्ञा होती है कि प्रतिदिन संध्या करो। सायं प्रातः अग्निहोत्र करो और उस आज्ञा को ही शिरोधार्य कर आर्य संस्कृति के अनुयायी उन कार्यों का करना आवश्यक मानते हैं। यद्यपि परम कृपालु वेद ने उन बहुत से कर्मों की उपपत्ति अर्थात् उनका उद्देश्य और फल भी समझाया है इस विचार से आर्य संस्कृति में केवल प्रभु संमित उपदेश कोई नहीं है। इसी आशय से भगवान् मनु ने कहा भी है कि—

“आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः” ॥ ॥मनुस्मृति॥

अर्थात् वेदोक्त और धर्मशास्त्रोक्त उपदेश को जो वेद-शास्त्र के अविरोधी तर्क से ठीक-ठीक समझने का प्रयत्न करता है वही धर्म का मर्म समझ सकता है, अन्य कोई नहीं समझ सकता है। तथापि वेद को प्रभु संमित उपदेश बताने का आशय यह है कि एक तो सब आज्ञाओं में इस प्रकार की उपपत्ति नहीं बतलाई गई। बहुत से कर्म



केवल आज्ञा पर ही अवलम्बित रखे गए हैं। दूसरी बात यह है कि जिनकी उपपत्तियाँ बतलाई भी है उन उपपत्तियों को मीमांसकों ने गौण रूप देकर “अर्थवाद” की श्रेणी में डाल दिया है। विधि वाक्यों को ही उन्होंने प्रधानता दी है। मीमांसा को ही वेदार्थ का मुख्य निर्णायक माना गया, इसलिए भी ऐसी प्रसिद्धि हो गई कि वेद आज्ञा प्रधान ही है। तीसरी बात यह भी है कि वेदोक्त आज्ञा को तर्क की अपेक्षा प्रधानता दी गई है। मनुष्य बुद्धि की अल्पता के कारण यदि हम किसी कर्म का उद्देश्य या फल स्पष्ट न भी समझ सकें तो न समझना अपनी बुद्धि का ही दोष मानकर वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान कभी न छोड़ना आर्य संस्कृति है। इसीलिए भगवान् मनु ने भी वेद शास्त्र के अविरोधी तर्क को ही स्थान दिया है। तर्क के द्वारा वेद शास्त्र का विरोध करने की आज्ञा नहीं दी। इन कारणों से वेद को प्रभुसंमित उपदेश कहना ही उचित है। मनुष्य अपनी अल्प बुद्धि द्वारा ईश्वर के द्वारा प्रदत्त ज्ञान की अवहेलना कर श्रेय मार्ग से वंचित न हो जाय यही इसका उद्देश्य है।

दूसरा उपदेश का प्रकार यह है जैसे एक मित्र दूसरे मित्र को उपदेश देता है उसमें आज्ञा की प्रधानता नहीं होती। कार्य-कारणभाव प्रदर्शित कर कर्तव्य मार्ग के गुण-दोष बतला दिये जाते हैं। इससे श्रोता अपने कर्तव्य का निश्चय स्वयं कर लेता है। पुराणेतिहास इसी प्रकार का उपदेश दिया करते हैं। वे एक प्राचीन घटना को उपस्थित कर समझा देते हैं कि इस कार्य का परिणाम अच्छा है और इसका बुरा। जैसे कि संपूर्ण रामायण का तात्पर्य यह निकाला जाता है कि—

“यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।

अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुंचति” ॥

अर्थात् न्याय मार्ग में चलने वाले के सहायक मनुष्य ही क्या तिर्यक् योनि के जन्तु भी हो जाते हैं, जैसे कि वानर, रीछ आदि ने भी भगवान् राम की सहायता की और अन्याय मार्ग से चलने वाले को अपना सगा भाई भी छोड़ देता है, जैसा कि रावण को विभीषण ने भी छोड़ दिया। इससे न्याय मार्ग पर चलने का उपदेश मिल जाता है। यह उपदेश का मार्ग पूर्व की अपेक्षा अधिक व्यापक और प्रशस्त है। जो उद्दण्ड प्रकृति वाले आज्ञा मानना नहीं चाहते, वे भी घटना चक्र से कार्य-कारणभाव समझ कर रास्ते पर आ सकते हैं। इससे भी व्यापक और सुकुमार एक तीसरा उपदेश का प्रकार माना गया है जिसे “कान्तासंमित उपदेश” कहते हैं। अपनी अत्यन्त प्रेयसी सती साध्वी स्त्री भी अपने पति को कर्तव्य-अकर्तव्य का संकेत देती है। किन्तु उसका प्रकार बहुत सुकुमार होता है। वह प्रेम बन्धन में बाँधकर सरसता से कर्तव्य अकर्तव्य का संकेत देती है। इस प्रकार के उपदेश काव्य और नाटकों द्वारा दिये जाते हैं। हमारे यहाँ के काव्य-नाटकादि भी उपदेश के अभिप्राय से ही लिखे गए हैं। यदि

कोई भी शास्त्र या ग्रन्थ कर्तव्य मार्ग में हमें कुछ भी शिक्षा न दें तो वह व्यर्थ माना जाता है और ऐसा ग्रन्थ लिखने में आर्य संस्कृति के अनुयायी ग्रन्थ-कर्ता की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती। किन्तु काव्य नाटकादि का प्रकार यह रक्खा गया है कि उपदेश के नाम से भी चिढ़ने वाले मनोविनोद और आनन्द प्राप्ति के लिए उनमें प्रवृत्त हो जाते हैं और वे काव्य नाटकादि विनोद के साथ ही उनके चित्त में उपदेश का बीज भी डाल देते हैं। जैसा कि काव्य नाटकों का अध्ययन करने वाले स्पष्ट अनुभव कर सकते हैं। अस्तु, भगवद्गीता पुराणेतिहास के अन्तर्गत लिखी गई है, इसलिए इसे द्वितीय कोटि का उपदेश ही कहना चाहिए। इसमें केवल आज्ञा नहीं दी गई। प्रत्येक स्थान में युक्ति पूर्वक कार्य-कारणभाव समझाया गया है और श्रोता के सन्देहों का पूर्ण रूप से निराकरण किया गया है कि जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।

अच्छा तो अब देखिए, उपदेश का पहिला श्लोक है—

“अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः” ॥-११:

श्लोक का वाक्यार्थ तो इतना ही है कि अर्जुन! तुम शोक करने के अयोग्य भीष्मादि का शोक अपने मन में स्थापित कर बुद्धिमानी से भरे तर्क-पुष्ट वाक्यों से उसे प्रकट कर रहे हो। “अशोचः” यह भूतकाल की क्रिया है, और “भाषसे” वर्तमान काल की, इसी कारण व्याख्याकारों ने यह आशय निकाला है कि पहिले तुमने मन में अनुशोचन किया और फिर बुद्धिमानों के योग्य तर्क युक्त वचनों से उस अनुशोचन को प्रकाशित कर रहे हो, यह परस्पर विरुद्ध बात है। वचन तो बुद्धि-गर्भित बोलना, और काम बुद्धि-विरुद्ध करना यह असमंजसता तुमने प्रकट की है। “प्रज्ञावादान्” का अर्थ कई व्याख्याकार ऐसा भी करते हैं कि तुम्हारा कथन केवल अपना बुद्धिवाद है। अर्थात् अपने कपोल कल्पित तर्क तुमने उपस्थित किये हैं। ये शास्त्र सम्मत तर्क नहीं हैं। क्योंकि शास्त्र तो वर्णाश्रम मर्यादानुसार अपने कर्तव्य पालन को ही मुख्य मानता है। तदनुसार तुम जैसे वीर क्षत्रिय को युद्ध में ही प्रवृत्त होना चाहिए, युद्ध से उपरत नहीं होना चाहिए। इसलिए जैसा शोक के अयोग्य पुरुषों का अनुशोचन बुद्धिमत्ता के प्रतिकूल है इसी प्रकार अपने तर्कों से ही कर्तव्य का निर्णय करना भी बुद्धिमत्ता के प्रतिकूल ही है। वस्तुतः यह एक प्रकार का उपालम्भ है कि बातें तो बुद्धिमानों की सी करना और न सोचने योग्य पुरुषों का अनुशोचन करना। इसलिए ऐसा करना तुम्हारे लिए अनुचित है। भीष्म, द्रोण आदि क्यों अशोच्य हैं? उसका कारण श्लोक के उत्तरार्ध में इस प्रकार बताया गया है कि पण्डित लोग गतप्राण या अगतप्राण अर्थात् मरे हुए और जीवितों का अनुशोचन नहीं किया करते।

यहाँ यह शंका उपस्थित होती है कि “अगतासु” अर्थात् जीवितों का अनुशोचन तो अर्जुन ने नहीं किया था और जीवितों का अनुशोचन कोई भी नहीं करता है, फिर “गतासु” और अगतासु” दोनों को एक श्रेणी में लेकर उनके शोकाभाव का प्रतिपादन भगवान् ने क्यों किया। केवल यही कहना चाहिए था कि मृत पुरुषों का अनुशोचन विद्वान् लोग नहीं करते। इसका समाधान व्याख्याकार अनेक प्रकार से करते हैं। एक यह प्रकार है कि भीष्मादि जैसे जीवित अवस्था में अशोच्य हैं, वैसे ही मृत अशोच्य होंगे। जीवित अवस्था में शोच्य वही होता है जो अनाचारी हो या संसार के लिए अहितकारक हो। भीष्मादि ऐसे नहीं। इसलिए वे जीवित अवस्था में भी अशोच्य ही हैं और मृत्यु के अनन्तर भी वे उत्तम लोक या मोक्ष गति को प्राप्त करेंगे। इसलिए उस अवस्था में भी वे शोच्य नहीं होंगे। यह भीष्मादि का सम्बन्ध जोड़ कर समाधान हुआ। यदि इस कथन को सामान्य रूप से सब प्राणियों पर लगाया जाय तो यह आशय निकालना होगा कि जैसे जीवित पुरुषों का अनुशोचन कोई नहीं करता इसी प्रकार मृत पुरुषों का भी अनुशोचन पंडित लोग नहीं करते। जीवित पुरुषों के सम्बन्ध में दूसरे के कर्तव्य का अनुशोचन दूसरे के लिए व्यर्थ है। सबको अपने-अपने कर्तव्य का विचार करना चाहिए। वस्तुतः यह एक कथन की शैली (मुहावरा) मात्र है कि मरे और जीवितों का अनुशोचन समझदार लोग नहीं किया करते। इसलिए ‘अगतासु’ अर्थात् जीवितों के शोक करने की शंका उठाना ही व्यर्थ है। प्रमुख व्याख्याकारों ने दार्शनिक प्रक्रिया के अनुसार इसका यह भी तात्पर्य लगाया है कि जिसमें असु अर्थात् प्राणों का आगमन-निर्गमन होता है, वे शरीर “गतासु” शब्द से कहे गए और जो सदा एक रस रहता है, जिसमें प्राणों के आवागमन का कोई सम्बन्ध नहीं, वह आत्मा “अगतासु” शब्द से कहा गया। इससे यह तात्पर्य निकाला जाता है कि आत्मा पर दृष्टि रखकर भी शोक अनुचित है और शरीर पर दृष्टि रखकर भी। इस सूत्र रूप कथन का आगे के श्लोकों में स्पष्टीकरण है कि आत्मा तो नित्य है इसलिए अशोच्य है और शरीर का विनाश अवश्यभावी है, इसलिए उसका अनुशोचन भी व्यर्थ है।

पूर्व प्रवचन में कहा जा चुका है कि प्रथम भूमिकाध्याय में अर्जुन ने जिन उद्गारों को प्रकट किया है उनमें कई बातें मुख्यतया प्रकट होती हैं। एक यह कि आप्त बान्धवों के भावी वियोग का शोक अर्जुन को सता रहा है कि जिनके साथ हिलमिल कर हमें रहना चाहिए उनसे वियुक्त होकर हम कैसे सुख से जीवन बिता सकेंगे। यह एक प्रकार का मोह है। जो सभी प्राणियों को होता है कि अपने प्रिय बान्धवों का हमसे कभी वियोग न हो। दूसरी बात यह लक्षित होती है कि पूज्य गुरुजनों और आप्त बान्धवों के मारने में बड़ा पाप लगेगा। जिसका फल हमें परलोक में बहुत बुरा भोगना पड़ेगा। दोनों ही बातों का समाधान भगवान् को करना है। उनमें प्रथमोपस्थित शोक-मोह का समाधान आत्मतत्त्व ज्ञान से ही हो सकता है। इसलिए

उपदेश में सबसे पहले भगवान् ने आत्मतत्त्व ज्ञान का ही विषय उठाया है और अन्त तक भिन्न-भिन्न प्रकारों से बार-बार उसे दंहराया है। अज्ञान जनित शोक-मोह सहसा नहीं हटाये जा सकते। उनके हटाने के लिए अनेक प्रकार से मनन और निदिध्यासन आवश्यक होता है। आत्मा का निरूपण भी सबके मूलभूत परमात्मा के निरूपण के बिना परिपूर्ण नहीं होता। इसलिए आगे चलकर परमात्मा का स्वरूप और परमात्मा का जीवात्मा के साथ सम्बन्ध, यह सब जटिल विषय भी कहना पड़ा है। इसी कारण गीता का उपदेश इतना विस्तृत हो गया। उसी आत्मतत्त्व निरूपण का आरम्भ इस प्रथम श्लोक में ही हो गया है, आत्मज्ञान के बिना अशोच्यता नहीं बन सकती। इसलिए सबको अशोच्य बताते हुए भगवान् ने आत्मतत्त्वज्ञान का सूत्रपात कर दिया। उसका ही विस्तार आगे के युक्ति और प्रमाणों से होता जायगा। इस श्लोक का विस्तृत आशय हम प्रथमाध्याय के नवम प्रवचन में कह चुके हैं कि जितने विचार अर्जुन ने अभिव्यक्त किये थे उन सबका उत्तर भगवान् ने बातों को “अविचार्य” कह कर एक ही श्लोक खण्ड में दे दिया। वे सारे विषय अविचार्य क्यों हैं, इसका विवरण भी पूर्व प्रवचन में किया जा चुका है। सब विषयों का सूत्र रूप होने के कारण यह आरम्भ का श्लोक बहुत महत्व का है।



## द्वादश-पुष्प

“न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥” अ० २ श्लो० १२

पूर्व प्रवचन में उपदेश आरम्भ के श्लोक द्वारा भीष्मादि की अशोच्यता कही गई। वह अशोच्यता क्यों है? इसका विवरण यहाँ से आरम्भ किया जाता है। प्रथमतः यह सोचना चाहिए कि आप्त बान्धवों के नाश का जो अनुशोचन है वह आत्मा पर दृष्टि रखते हुए है या शरीर को लक्ष्य करके। आत्मा पर दृष्टि रखकर यदि अनुशोचन किया जाय तो वह बिल्कुल व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा नित्य है। उसकी उत्पत्ति या विनाश होता ही नहीं, फिर अनुशोचन किस बात का। नित्यता का लक्षण शास्त्रों में यही किया जाता है कि जिसकी भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों काल में सत्ता हो अर्थात् उत्पत्ति से पहले रहने वाला प्रागभाव भी जिसका न हो और विनाश के उपरान्त होने वाला प्रध्वंसाभाव भी जिसका न हो वही नित्य कहलाता है। इनमें वर्तमान की सत्ता तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है, उस पर किसी का विवाद नहीं, इसलिए भूत और भविष्यत् की सत्ता भगवान् ने श्लोक में प्रदर्शित की है। व्यवहार में तीन भेद रहते हैं, वक्ता, बोध्य और तटस्थ। वक्ता को “अहं” शब्द से, बोध्य अर्थात् जिसके प्रति कहा जाय उसे “त्वं” शब्द से और अन्य सारे तटस्थ व्यक्तियों को “इदम्” शब्द से संस्कृत में कहा जाता है। इन्हीं का नाम संस्कृत व्याकरण की परिभाषा में उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और प्रथम पुरुष होता है। भाषान्तरों में यह तीनों प्रकार का व्यवहार इसी तरह चलता है। इसी व्यवहार के अनुरोध से गीता के वचन में भी तीनों को पृथक्-पृथक् गिनाकर तीनों की नित्यता स्थापित की गई है। मैं कभी नहीं था, ऐसा नहीं था, अर्थात् सर्वदा ही था। तुम कभी नहीं थे, यह भी नहीं, अर्थात् सदा ही थे, ये सारे राजा भी कभी नहीं थे, ऐसा नहीं, यह भी थे और हम सब आगे कभी न होंगे यह भी नहीं कहा जा सकता अर्थात् सदा ही रहेंगे। जैसे वर्तमान में हैं, ऐसे ही पहले भी थे और आगे भी रहेंगे। इसलिए त्रिकाल सत्तावाली नित्यता सिद्ध हो जाती है। इस अंश में कई प्रकार की युक्तियाँ भी इस वचन में सूचित कर दी गई हैं। पहली युक्ति यही है कि हम सब यदि पहले न होते तो आज भी न होते। बिना बीज और प्रयोजन के किसी की उत्पत्ति नहीं होती, यह संसार का स्थिर नियम है। पूर्वकृत कर्म ही हम सबकी उत्पत्ति का बीज है। साथ ही पूर्वकृत कर्मों का फल भोग ही इस जन्म का प्रयोजन है। यदि पूर्वकृत कर्म न होता तो यह जीवन न मिलता, इससे पूर्व जन्म सिद्ध हुआ। उस पूर्व जन्म से भी पहिले यदि शरीर न होता तो वह जीवन भी न मिलता, इसी क्रम से जन्म परंपराओं पर दृष्टिपात करते करते कहीं अन्त न होने पर अनादिता सिद्ध हो जाती है। साथ ही जैसे पूर्वकृत कर्मों के अनुसार उनका फल भोग

करने को यह जन्म मिला इसी प्रकार इस जन्म के कर्मों का बीज उनके फल भोग के लिए आगे का और उसके कर्मों का बीज बनाकर उससे आगे का, इस प्रकार भविष्य जन्मों की भी परंपरा सिद्ध होकर अनन्तता भी निश्चित हो जाती है।

दूसरी युक्ति यह है कि यहाँ उपदेष्टा भगवान् हैं। वे अपने ही दृष्टान्त से जीवों की नित्यता स्थापित कर रहे हैं कि जैसे मैं सर्व नियन्ता सर्वेश्वर कभी नहीं था ऐसा नहीं हो सकता। सभी ईश्वरवादी मानते हैं कि ईश्वर नित्य है, सदा ही रहता है। यदि ईश्वर भी किसी समय में नहीं था और फिर उत्पन्न हुआ तो उसको उत्पन्न करने वाला दूसरा ईश्वर सिद्ध होगा तब वही मुख्य ईश्वर माना जा सकेगा। प्रथम ईश्वर में से ईश्वरता जाती रहेगी। इसी प्रकार यदि उस पूर्व के ईश्वर को भी किसी पहले ईश्वर ने पैदा किया तो वह तृतीय ईश्वर ही ईश्वर रह जायेगा। यों कहीं विश्राम न होने से “अनवस्था” दोष आ जायगा। जिस विचार में कहीं स्थिरता न हो उसे अनवस्था कहते हैं। इसलिए ईश्वर को नित्य मानना तो सभी ईश्वरवादियों को आवश्यक होता है। उसी दृष्टान्त से भगवान् कहते हैं कि जैसे मैं नित्य हूँ, इसी प्रकार तुम सब भी नित्य हो। आगे चलकर गीता में बताना है कि जीव ईश्वर का ही एक अंश है। ऐसी स्थिति में अंशी के नित्य रहने पर अंश न रहे ऐसा नहीं हो सकता। जो लोग अंशांशभाव न समझें या न मानें उन्हें भी यह तो मानना होगा कि ईशान अर्थात् नियन्त्रण करने वाला ईश्वर कहलाता है। जिनका नियन्त्रण करे वे यदि न हों तो नियन्त्रण किसका करेगा और बिना नियन्त्रण के ईश्वर शब्द की उपपत्ति भी उसमें कैसे होगी। इसलिए यदि ईश्वर है नित्य तो उसके नियन्त्रणीय जीव भी नित्य ही हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि कर्मभोग परंपरा या ईश्वर द्वारा विश्व की रचना पहले मान ली जाय तो ये युक्तियाँ काम की होती हैं। किन्तु यदि इन दोनों सिद्धान्तों को ही न माना जाय और यही माना जाय कि अकस्मात् किसी व्यक्ति का कहीं भी जन्म हो जाता है। उसमें पूर्व कर्म या ईश्वर का अङ्ग लगा देने की कोई आवश्यकता नहीं। तब आत्मा की नित्यता कैसे सिद्ध की जा सकेगी। इस पर वक्तव्य यह है कि जैसे इस समय अकस्मात् जन्म हो गया ऐसे पूर्व काल में भी क्यों न हुआ, अथवा उससे भी पहले क्यों न हुआ और आगे भी ऐसे ही अकस्मात् क्यों न होगा। इसी क्रम से पीछे और आगे की ओर चलने से भी अनादिता और अनन्तता आ जायगी। दूसरी बात यह है कि यदि बिना कारण अकस्मात् ही सब प्राणियों का जन्म होता है तो कोई रोगी, और कोई पूर्ण स्वस्थ, कोई बुद्धिमान और कोई निर्बुद्धि, कोई बलिष्ठ और कोई निर्बल, जन्म काल से ही ऐसी विषमताएँ क्यों होती हैं। ये भी अकस्मात् होती हैं ऐसा कहना अपनी अनभिज्ञता का ही प्रकाशन करना है। जो अशिक्षित लोग जिस मशीनरी आदि का तत्त्व नहीं जानते वे मशीनों को, मोटर को, या ट्रेन को, अपने आप चलने वाली कहकर आत्मा का सन्तोष या वंचना कर लिया करते हैं। शिक्षित मनुष्य तो

शिक्षा द्वारा समझ जाते हैं कि संसार में जो कुछ होता है उसका कार्य-कारणभाव नियत है। अकस्मात् कोई बात कहीं नहीं होती। जैसे आज शुद्ध व्यवहार, गुरु के उपदेश या अपने परिश्रम से बुद्धि परिमार्जित होती है उसी प्रकार जन्मकाल में जिनकी बुद्धि परिमार्जित या अपरिमार्जित है उसके भी पूर्वोक्त ही कारण हैं। ऐसा विचार करने पर पूर्व जन्म परंपरा और उत्तर जन्म परंपरा मान ही लेनी पड़ती है। बिना कर्म किये किसी को फल नहीं मिलता और किये हुए कर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है यह संसार दशा में ही प्रत्यक्ष अनुभव में आ जायगा। तदनुसार ही पूर्व जन्म और अग्रिम जन्म की कल्पना भी कर ही लेनी होगी और यों आत्मा की नित्यता सिद्ध हो जायगी।

जो धर्म या सम्प्रदाय पुनर्जन्म नहीं मानते उनकी ओर से इस व्यवस्था पर कई शंकाएँ उठाई जाती हैं। उनमें एक यह है कि जब कोई शासक राजा या कोई अदालत हमें किसी अपराध का दण्ड देते हैं तो यह स्पष्ट घोषित कर देते हैं कि तुमने अमुक अपराध किया था उसका यह दण्ड तुम्हें दिया जा रहा है। किन्तु जिन हमारे सुख दुःखों को पूर्वजन्मकृत पुण्य पाप का फल माना जाता है और ईश्वर को फल प्रदाता कहा जाता है ईश्वर की ओर से कभी कोई ऐसी चेतावनी हमें नहीं मिलती कि तुम्हारे अमुक कर्म का यह फल दिया जा रहा है। तब बिना स्पष्ट ज्ञान के इन सुख दुःखों को पूर्व कृत कर्मों का फल कैसे माना जाय। इसका उत्तर होगा कि कर्म के फल दोनों प्रकार से मिलते हैं। एक शरीरधारी व्यवस्थापक के द्वारा दूसरे को फल मिलना यह भी एक प्रकार है। उसमें चेतावनी दे दी जाती है। किन्तु प्रकृति के द्वारा या ईश्वरीय नियमों द्वारा जो फल मिलता है उसमें चेतावनी नहीं होती किन्तु केवल चेतावनी न होने से ही उसे कर्मफल न माना जाय यह नहीं हो सकता। पूर्व जन्म की बात जाने दीजिए इसी जन्म में अनेक आचरण या व्यवहार ऐसे हैं जिनका फल बहुत शीघ्र मिल जाता है और मनुष्य को अनुसन्धान भी हो जाता है कि मेरे अमुक कर्म का यह फल है। जैसे पहले दिन भोजन के मात्रा से अधिक कर लेने पर तथा उसके दूसरे दिन खट्टी डकार या विरेचन आने पर वहाँ चेतावनी तो कोई नहीं देगा कि पहले दिन अधिक भोजन का यह फल है किन्तु प्रकृति द्वारा फल अवश्य ही मिलेगा। हाँ, यहाँ मनुष्य के अनुभव में यह कार्य-कारण भाव आ जाता है कि पहले दिन के अधिक भोजन का यह फल है किन्तु उत्कट कर्म न होने के कारण जहाँ शीघ्र फल नहीं मिलता, किन्तु धीरे-धीरे रसांश बढ़ता जाता है और आगे कई दिन या कई महीनों के बाद जब उससे आमातिसार आदि रोग हो जाते हैं तब न कोई चेतावनी देता है न मनुष्य को अनुभव होता है कि किस-किस दिन के अपथ्य का यह फल है किन्तु वैद्य या डाक्टर बता देते हैं कि अमुक समय में जो इस प्रकार का अपथ्य हुआ उसका यह फल मिल रहा है। यहाँ तक कि बाल्यावस्था में किसी को किसी अंग में

कोई चोट लग गई उसके प्रतिफल रूप में युवावस्था या वृद्धावस्था में दर्द होता है, इसे भी वैद्य या डाक्टर ही जान सकता है। इसलिए यह कोई आवश्यक बात नहीं कि चेतावनी होकर ही फल मिले। प्राकृतिक नियमों द्वारा फल मिलने में चेतावनी कहीं नहीं होती, किन्तु कार्य-कारण भाव तो माना ही जाता है। इसी प्रकार जन्मान्तर के कर्मों का फल भी प्राकृतिक नियमानुसार मिलता है और वहाँ जैसे वैद्य या डाक्टर समझ लेते हैं उस प्रकार यहाँ भी कर्मविपाक शास्त्र के वेत्ता जान लेते हैं कि अमुक अमुक कर्म का फल है। इसलिए यह कोई युक्ति नहीं कि बिना चेतावनी के कर्मफल ही न माना जाय। एक शंका यह भी की जाती है कि कुछ कीट जन्तु ऐसे होते हैं जिन्हें बीच में से काट देने पर उनके दो जन्तु बन जाते हैं। तब उन दोनों देहों में एक कर्म के द्वारा सुख दुःख कैसे होगा। किन्तु यह शंका भी उन्हीं के प्रति हो सकती है जो जीव को अणु या परिच्छिन्न मानते हों। व्यापक जीववाद में यह शंका उठ ही नहीं सकती क्योंकि कर्म का फल जीव के साथ सम्बद्ध रहता है। वह किसी भी शरीर में उसे प्राप्त हो सकता है। जीव व्यापक है। वह अनेक शरीरों में भी फल भोग सकता है। जैसे योग दर्शन में यह भी माना जाता है कि योगी अपने बहुत काल के भोग्य कर्मों को शीघ्र समाप्त कर देने के लिए अपने अनेक शरीर बना लेता है और उनके द्वारा शीघ्र सारे कर्मों का भोग समाप्त कर मुक्ति में चला जाता है। इस कारण कर्म फल भोग के इस दृढ़ सिद्धान्त में इन तुच्छ शंकाओं का कोई मूल्य नहीं। इस श्लोक में “अहं” “त्वं” और “इमे जनाधिपाः” यह भेद निर्देश देखकर द्वैतवादी टीकाकार इससे अद्वैतवाद का विरोध प्रदर्शित किया करते हैं कि भगवान् ने उपदेश के आरम्भ में ही जब ईश्वर और जीव का और जीवों का भी परस्पर भेद निर्देश किया तब गीता में अद्वैतवाद को कैसे मुख्य माना जा सकता है। किन्तु यह शंका भी व्यर्थ है क्योंकि जिसको उपदेश दिया जाता है वह तो अभी व्यवहार मार्ग में ही है, अद्वैत का निश्चय उसे कहाँ हुआ। अद्वैत का निश्चय हो जाने पर तो उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहती। फिर शोक मोहादि समूल नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जब तक शोक मोह है तब तक तो उपदेश्य जीव व्यावहारिक द्वैतवाद में ही स्थित है, यह मानना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में उसकी दृष्टि से ही गुरु को भी उपदेश देना पड़ेगा। तभी वह समझेगा। धीरे-धीरे समझा कर उसे अद्वैत मार्ग में लिया जायगा। इसलिए इस पथ में जो ईश्वर जीव का या परस्पर जीवों का भेद भासित होता है वह व्यावहारिक दृष्टि का अनुवाद मात्र है। गीता के उपदेश का विधेय नहीं। विधेयांश तो इस पद्य का यही है कि जीव नित्य है। उसकी उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। इसलिए जीवात्मा की दृष्टि से मृतों और जीवितों का अनुशोचन अनुचित है।

द्वैतवादी व्याख्याकार यह भी शंका करते हैं कि यदि अद्वैत ही गीता को इष्ट हो तो उपदेश ही कैसे बने। क्योंकि उपदेश भी तो उपदेष्टा और उपदेश्य का भेद समझकर



ही दिया जाता है। अपने आपको तो कोई उपदेश नहीं देता। यदि कहा जाय कि जिसे उपदेश देते हैं वह द्वैतमार्ग में है इसलिए उपदेश दिया जाता है तो यह बात भी नहीं बनती। क्योंकि उपदेश भगवान् तो सर्वज्ञ हैं। उनमें तो अविद्या का स्पर्श भी नहीं। फिर वे क्यों द्वैत मानने लगे और क्यों उपदेश देने लगे। इसलिए ईश्वर और जीव का या परस्पर में जीवों का अद्वैत गीता को इष्ट नहीं। यही मानना पड़ेगा। किन्तु यह कथन भी एक आग्रह मात्र है। यह तो संसार में सर्वत्र देखा जाता है कि जो जिस विषय का पारंगत विद्वान् है वह उस विषय के अनभिज्ञ को शिक्षा देकर अपने समान अभिज्ञ बनाना चाहता है। जो स्वयं तैरने का पंडित है वह तैरना न जानने वाले को सिखाता है। इसलिए भगवान् की दृष्टि में अद्वैत है किन्तु अर्जुन की दृष्टि में अभी अद्वैत नहीं। अतः अर्जुन को शिक्षा देकर अद्वैत में लेना है इसमें अनौचित्य क्या हुआ? भगवान् सर्वज्ञ हैं तो वे यह भी तो जानते हैं कि ये जीव अभी अद्वैत से अनभिज्ञ हैं। जीवों की अनभिज्ञता यदि भगवान् न जानेंगे तो फिर वे सर्वज्ञ क्या हुए। यदि कहो कि अपने को सर्वज्ञ और जीवों को अनभिज्ञ मान लेने पर भी तो द्वैत हो गया। एक में दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते। यदि एक में सर्वज्ञता और एक में अनभिज्ञता है तो अवश्य ही वे दो हैं, किन्तु विचार करने पर इस शंका का भी कोई स्थान नहीं। मायाकृत द्वैत तो सभी संप्रदाय मानते हैं। इसलिए माया में जो निबद्ध है उनकी दृष्टि में मायाकृत द्वैत है। वास्तविक ज्ञान अभी उन्हें प्राप्त ही नहीं। माया द्वैत फैलाती है इस बात को भगवान् जानते हैं। जानते क्या हैं, उन्हीं की आज्ञा से तो प्रपंच चलाने के लिए माया ने द्वैत विस्तार किया है। तब अनुग्रहवश माया के बन्धन से निकाल कर शोक मोह से विमुक्त करने के लिए यदि जीवों को अद्वैत मार्ग का उपदेश भगवान् देते हैं और उसमें उनकी दृष्टि के अनुसार ही पहले द्वैत का अनुवाद यदि कर देते हैं तो इसमें कोई विरोध नहीं होता, न इससे यही सिद्ध हो सकता है कि भगवद्गीता अद्वैत की विरोधिनी है। तात्पर्य यह कि यह आरम्भ का पद्य न अद्वैत का प्रतिपादक है न उसका विरोधी है। यह तो केवल शोक मोह निवारणार्थ जीव की नित्यता बताता है। आगे क्रम से अद्वैत में प्रवेश कराया जायगा।



## त्रयोदश-पुष्प

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ अ० २ श्लो० १३

पूर्व प्रवचन में कहा गया कि आत्मा के नित्य होने कारण अपने बान्धवों को मारने का अनुशोचन व्यर्थ है। अब यदि यह प्रश्न हो कि आत्मा नित्य सही, किन्तु शरीर से तो वियोग होता ही है। इसी के लिए अनुशोचन किया जाता है। मनुष्य लोक में हम लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध तो शरीर के साथ ही हैं। आत्मा जब शरीरान्तर ग्रहण करेगा तो उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। कदाचित् कहा जाय कि मृत शरीर के साथ भी तो सम्बन्ध नहीं रहता तो मानना होगा कि आत्म-विशिष्ट शरीर के साथ सम्बन्ध है। जब शरीर जाता रहा तो विशिष्ट का भी अभाव हो ही गया है। इसलिए अपना सम्बन्ध विच्छिन्न होने से अनुशोचन व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। इसका उत्तर इस श्लोक से देते हैं। श्लोक का आशय है कि शरीर तो सदा ही परिवर्तनशील है। उसका विनाश और उत्पत्ति तो एक ही जीवन में भी होते रहते हैं। बाल्यावस्था का शरीर युवावस्था में नहीं रहता। युवावस्था का वृद्धावस्था में नहीं रहता। कदाचित् कहो कि बढ़ना-घटना मात्र होता है, शरीर तो एक ही है तो यह कहना युक्ति सिद्ध नहीं। उत्पन्न होने के समय का एक वितस्ति मात्र का शरीर और युवावस्था का साढ़े तीन का हाथ का शरीर एक कैसे हो सकते हैं। एक अवस्था के कोई भी अवयव दूसरी अवस्था में पहिचाने नहीं जा सकते। शरीर-शास्त्र के विद्वान् वैद्य, डाक्टर आदि भी परीक्षा द्वारा निश्चित कर सकते हैं कि शरीर के सारे अवयव रस रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा आदि पहिले-पहिले तो विनष्ट होते रहते हैं और नवीन, अन्न पानादि से उत्पन्न होते रहते हैं। तब किस आधार पर शरीर को एक कहा जायगा। ऐसी स्थिति में भी पूर्व शरीर का नाश और नए शरीर की उत्पत्ति होते रहने पर भी बालक से युवा होता देखकर या युवा से वृद्ध होता देखकर कोई अनुशोचन नहीं करता, प्रत्युत आनन्द मनाते हैं कि अब हमारा बन्धु इतनी अवस्था का हो गया। तब फिर मृत्यु में ही अनुशोचन क्यों? जैसे जीवित दशा में पहले-पहले शरीरों का नाश और उत्तरोत्तर शरीरों को उत्पत्ति होती रही थी वैसा ही तो मृत्यु में भी होता है। यहां भी एक शरीर हट जाता है और दूसरा मिल जाता है। तब यदि अवस्था परिवर्तन में अनुशोचन नहीं है तो शरीर परिवर्तन में भी वह कैसे उचित माना जायगा। यदि कहा जाय कि बाल्य यौवन आदि में तो “यह वही शरीर है” ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती रहती है, अतः उसे एक कहा जा सकता है। किन्तु मृत्यु के अनन्तर शरीरान्तर ग्रहण होने पर वैसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती, अतः वहाँ नाश माना जाता है। तो उत्तर होगा कि यह तो अपना ही दोष है। प्रत्यभिज्ञा तो एक प्रकार के ज्ञान का नाम है। बुद्धि की निर्मलता में प्रत्यभिज्ञा

होती है, मलिनता में नहीं होती। जिसकी बुद्धि अधिक मलिन हो जाती है वह बाल, युवा, वृद्ध आदि में भी पहले की स्मृति नहीं कर सकता और उसे प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। जिसने उत्तम आचरण तथा योग और उपासना आदि के द्वारा बुद्धि को अति निर्मल कर लिया उसे शरीरान्तर ग्रहण होने पर भी प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। इसी से बहुत से व्यक्ति पूर्व जन्म का स्मरण कर लेते हैं। उन्हें संस्कृत में “जाति स्मर” कहा जाता है। वस्तुतः शरीर के परिवर्तनशील होने पर भी जो प्रत्यभिज्ञा होती है उसका कारण आत्मा की एकता ही है। एक आत्मा से परिगृहीत होने के कारण शरीर भेद होने पर भी प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। वह एक आत्मा का परिग्रह शरीरान्तर होने पर भी बना रहता है, इसलिए वहाँ प्रत्यभिज्ञा न होना अपना ही बुद्धि मालिन्य रूप दोष है। अतः इस प्रकार का अनुशोचन स्व-बुद्धि मालिन्य के ही कारण होगा, वह वास्तविक नहीं कहा जा सकता। यही बात श्लोक के “देहिनः” पद से कही गई है। “देही” का अर्थ है आत्मा। उस आत्मा की एकता के कारण जैसे बाल्य यौवन, वार्द्धक्यादि अवस्थाओं में एकता का प्रतिभास है वैसा जिन धीर तथा विद्वान् पुरुषों को देहान्तर प्राप्ति में बुद्धि स्वच्छता के कारण एकरूपता का प्रतिभास रहे वे इस मोह रूप अनुशोचन में नहीं पड़ सकते।

जो इस बात के आग्रही हों कि जब तक एक शरीर है तब तक तो एकता का प्रतिभास उचित ही है। देहान्तर में विनाश और उत्पत्ति के सर्वजनानुभव में प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण वहाँ एकता नहीं बन सकती, उनके लिए यह युक्ति भी संस्कृत के ग्रन्थकार उपस्थित करते हैं कि स्वप्न में अनेक बार मनुष्य अपने आपको रीछ या वानर के रूप में देखा करता है और जागृत होने पर उस शरीर का अनुभव नहीं रहता, तब भी स्वप्न में देखे हुए अपने शरीर के नष्ट होने का कोई अनुशोचन उसे नहीं रहता। फिर देहान्तरप्राप्ति में जो अनुशोचन है वह अज्ञान-जनित ही कहा जायगा।

इसी बात से शरीर के अतिरिक्त आत्मा मानना भी युक्ति पूर्वक सिद्ध हो जाता है। क्योंकि बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य में जब पूर्वोक्त युक्तियों से शरीरभेद सिद्ध हो गया तब यदि शरीर ही आत्मा होता तो बाल्यदशा के अनुभव का स्मरण यौवन और वार्द्धक्य में नहीं हो सकता था। क्योंकि जो अनुभव करता है उसे ही स्मरण हो सकता है। दूसरे के अनुभव का स्मरण दूसरे को कभी नहीं होता। स्मरण सबको होना अनुभव सिद्ध है। “मैं बाल्यावस्था में पिता, माता, बाबा आदि की गोद में खेलता था, आज पुत्र, पौत्रों को अपनी गोद में खिलाता हूँ” इस प्रकार का अनुसन्धान सभी किया करते हैं। शरीर ही यदि ज्ञान का आश्रय माना जाय तो यह स्मरण कैसे हो सकता है। जो क्षणिक विज्ञान को ही जो आत्मा मान लेते हैं, उन बौद्धों के सामने भी सबसे बड़ी आपत्ति यही उपस्थित होती है कि देखने वाला विज्ञान दूसरा था और स्मरण

करने वाला दूसरा है, तब स्मृति कैसे होगी। इसके समाधान के लिए विज्ञान की एक धारा अर्थात् उसका प्रवाह माना जाता है। किन्तु वहाँ भी पूछा जाता है कि धारा या प्रवाह इन क्षणिक विज्ञानों से अलग कोई वस्तु है या एतद् रूप ही है। यदि अलग कहा जाय तो दूसरों शब्दों में आत्मा को ही स्वीकार कर लिया गया, विज्ञान प्रवाह या आत्मा यह नाम मात्र का भेद रहा जो अकिञ्चित्कर है। नाम रखना तो स्वेच्छाधीन है। वस्तु तो पृथक् सिद्ध हो गई। यदि प्रवाह को भी विज्ञान रूप या क्षणिक ही कहा जाय तो वही दोष यहाँ भी आ गया कि दूसरे के देखे हुए दृश्य का स्मरण अन्य को क्यों होगा? अतः यह अवस्थान्तर में होने वाली स्मृति शरीर से अतिरिक्त आत्मा को अवश्य सिद्ध कर देती है, और वह अतिरिक्त आत्मा नित्य ही सिद्ध होता है। तभी पूर्वावस्था का स्मरण उपपन्न होता है। यदि यह शंका हो कि फिर जन्मान्तर में भी आत्मा की एकता के कारण सबको स्मृति क्यों नहीं हो जाती तो वही पूर्वोक्त उत्तर होगा कि बुद्धि की मलिनता के कारण संस्कार नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए स्मृति नहीं होती। जो बुद्धि को स्वच्छ बना लेते हैं उन्हें स्मृति हो ही जाती है। इस प्रकार यह उपदेश वाक्य दोनों काम करता है, शरीर से अतिरिक्त आत्मा को बतला देता है उसकी नित्यता के कारण अनुशोचन को व्यर्थ बता देता है और शरीर मात्र पर निर्भर रहने पर भी प्रतिक्षण उसका उत्पाद तथा विनाश होते रहने के कारण दुःख करना व्यर्थ है, यह स्पष्ट कर देता है।

यहाँ “देहिनः” इस एक वचन से समस्त देहों में एक ही आत्मा है यह ध्वनि अनेक अद्वैतवादी व्याख्याकारों ने निकाली है। किन्तु वह दुर्बल ही प्रतीत होती है, क्योंकि आगे “अस्मिन् देहे” यहाँ भी एक वचन ही प्रयुक्त हुआ है। एक देह में एक आत्मा का होना तो सभी मानते हैं। समस्त देहों में एक ही आत्मा है ऐसा इस श्लोक से स्पष्ट सिद्ध नहीं होता। वह तो आगे के वचनान्तरों से ही सिद्ध करना होगा। अब आगे पुनः नई जिज्ञासा का उदय होता है कि युक्तियों से आत्मा को नित्य मान लिया जाय और शरीर को प्रतिक्षण विनाशी मान लिया जाय यह सब कुछ सही, किन्तु बन्धुओं के वियोग में दुःख तो सबको होता है। वह दुःख तो भीष्म दुर्योधनादि के निधन में होगा ही। ऐसी स्थिति में यह नित्यता या देह की क्षणिकता का उपदेश वहाँ क्या कर सकेगा। इसका उत्तर भगवान् अग्रिम पद्य से देते हैं कि—

“मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥” अ० २ श्लोक १४

इसका आशय है कि ऐसे दुःख तो शरीर रहते तुम्हें सदा ही होते रहेंगे। उनका तो सहन कर लेना ही एकमात्र उपाय है। हाँ, तत्त्वज्ञान एक ऐसी वस्तु है कि जिसके प्राप्त हो जाने पर यह दुःख नहीं हो सकते। ये ही क्या, संसार के भिन्न-भिन्न प्रकारों

के कोई भी दुःख तत्त्व ज्ञानी के पास नहीं आ सकते। उस तत्त्व ज्ञान का ही प्रकार इस पद्य में भगवान् बतलाते हैं कि पहले इन सुख तथा दुःखों की उत्पत्ति का कारण सोचना चाहिए। यहाँ “मात्रा” शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने इन्द्रिय ही किया है। इन्द्रियों का विषयों के साथ स्पर्श अर्थात् सम्बन्ध होने पर शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि की उत्पत्ति होती है। इसलिए संयोगज होने के कारण इन्हें वास्तविक नहीं कहा जा सकता। जो वस्तु दो के सम्बन्ध से बनती है वह नित्य नहीं हो सकती। संयोगज वस्तु के नित्य होने का कोई दृष्टान्त नहीं है। जो वस्तु दो के संयोग होने पर पैदा होगी वह उन दोनों का वियोग होने पर नष्ट भी हो जायगी। ऐसी आने और जाने वाली वस्तुओं की कोई सत्ता ही नहीं और क्षणिक अनुभव मात्र के विचार से यदि उनकी सत्ता मान ली जाय तो उनका कोई प्रतीकार नहीं। इसलिए सहन कर लेना ही एक मात्र उपाय हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि जब तक तुम्हारे शरीर इन्द्रिय आदि हैं तब तक इनका विषयों के साथ सम्बन्ध भी अवश्य होता ही रहेगा। अथच उस सम्बन्ध की अनुकूलता में सुख और प्रतिकूलता में दुःख भी होता ही रहेगा। यह सुख दुःख की धारा शरीर और इन्द्रियों के रहते दूर नहीं की जा सकती। किसी के वियोग का दुःख न भी हो तो भी शीत उष्ण आदि का सुख दुःख तो अनिवार्य ही है। उसका क्या प्रतीकार किया जा सकता है। सहनशीलता ही उसका एकमात्र उपाय है। ऐसा देखा भी जाता है कि सहन कर लेने से ही वे दुःखादि निवृत्त हो जाते हैं। शीतोष्ण या बन्धु वियोग आदि का दुःख जो आरम्भ में उत्कट रूप से प्रतीत होता है वह उसकी उत्कटता आगे चलकर नहीं रहती। धीरे-धीरे वह दुःख शिथिल होता जाता है। इसी प्रकार सुख जनित उल्लास भी जो आरम्भ के क्षण में होता है वह आगे वैसा नहीं रहता। इससे सिद्ध है कि सुख-दुःख दोनों ही सहन करने से शिथिल होते हुए अन्त में विलीन हो जाते हैं। तब सहनशीलता ही इनका एकमात्र उपाय है, यह सिद्ध हो जाता है। सहनशीलता के साथ तत्त्व विचार करते-करते वह अवस्था भी आ जाती है कि फिर इन शीतोष्ण, बन्धु-वियोग, आदि के कारण सुख-दुःख उत्पन्न ही नहीं होते। वही अवस्था प्राप्त करना अपना ध्येय रखना चाहिए तथा उसके उपाय के लिए प्रथमतः “तितिक्षा” अर्थात् सहनशीलता का अभ्यास करना चाहिए। जिस प्रकार शीत उष्ण आदि का सहनशीलता ही एकमात्र उपाय है, उसी प्रकार बन्धु वियोगादि का भी सहनशीलता ही उपाय है। क्योंकि बान्धवादि का संयोग तथा वियोग भी अनिवार्य है। किसी के साथ सदा समागम रह नहीं सकता। तब अवश्यंभावी अर्थ में अनुशोचन व्यर्थ ही है।

इस पद्य में एक यह भी विज्ञान प्रकट किया गया है कि शीत उष्ण आदि भी किसी वस्तु के धर्म नहीं, अपितु संयोगज हैं। किसी वस्तु का हमारी त्वगिन्द्रिय के साथ संयोग होने पर चर्म में व्याप्त त्वगिन्द्रिय में यदि संकोचन हो तो उसे हम शीत

कहा करते हैं और यदि किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध होने पर चर्म का विकास या फैलाव होने लगे तो उसे उष्मा कहा जाता है। इसी प्रकार रूप रस आदि की भी स्थिति समझना चाहिए। भिन्न-भिन्न वस्तुओं में रहने वाली प्राणशक्ति प्रकाश किरणों के साथ मिलकर जब हमारी चक्षु का स्पर्श करती है तब हमें रूप की अभिव्यक्ति हो जाया करती है। उस प्राण शक्ति की विभिन्नता से ही भिन्न-भिन्न रूप अभिव्यक्त होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक जो यह मानते हैं कि प्रकाश किरणों में सातों रूप हैं उनमें से और सबको खाकर जो वस्तु जिस रूप को उगलती है वही रूप हमें प्रतीत होता है। इस कल्पना में भी कौन वस्तु किन रूपों को खा जाती है और किस रूप को उगलती है इस के लिए वस्तु शक्ति अवश्य ही माननी पड़ेगी। तब वह वस्तुशक्ति ही प्रकाश किरणों में मिलकर रूप की अभिव्यक्ति करा देती है ऐसा मानना ही विशेष युक्तियुक्त होगा। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं का रसनेन्द्रिय के साथ संयोग होने पर जो अभिव्यक्ति होती है उसे रस कह दिया जाता है। इस प्रकार यह रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द सब संयोग जन्य हैं। किसी वस्तु के धर्म नहीं। यह इस पद्य में उपदेश दिया गया है। यहां मात्रा शब्द का अर्थ यदि सांख्य दर्शनोक्त शब्द स्पर्शादि पाँच तन्मात्राओं से किया जाय तब भी पद्य का तात्पर्य यही होगा कि वे तन्मात्राएँ शीत उष्ण रूप रसादि की अभिव्यक्ति करने वाली नहीं। अभिव्यक्ति तो उनका इन्द्रियों के साथ संयोग होने पर ही होती है। सांख्योक्त पाँच तन्मात्राएँ शक्ति विशेष रूप हैं। उनका इन्द्रियों से सम्बन्ध ही रूप रस गन्ध आदि की अभिव्यक्ति कराता है। इसलिए शीत उष्ण या उनके द्वारा उपलक्षित रूप रस आदि को संयोगज और आने जाने वाली इस श्लोक में बताया गया है। संयोगज पदार्थों की अनित्यता और अवास्तविकता का अनुसन्धान करते हुए सहनशीलता से इनकी व्यथा निवृत्त हो जाती है। उस व्यथा निवृत्ति का फल आगे के श्लोक में बताया गया है कि—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ अ० २ श्लोक १५

अर्थात् सब प्रकार के शीत उष्ण सुख दुःख आदि की सहनशीलता और तत्त्व ज्ञान से जब मन में व्यथा अर्थात् पीड़ा न हो और सुख और दुःख में मन एकसा बना रहे, इतनी धीरता हो जाने पर यह सहनशीलता मोक्ष का रूप बन जाती है। इसलिए तितिक्षा या सहनशीलता बहुत उच्च कोटि की वस्तु है। उसी का अभ्यास करना चाहिए। अनुशोचन करना व्यर्थ है।

## चतुर्दश-पुष्प

संयोगज होने के कारण शीत उष्ण सुख दुःखादि अनित्य हैं, उनकी वास्तविक सत्ता भी नहीं, अतः उनका अनुशोचन व्यर्थ है यह पूर्व पद्यों के प्रवचन में कहा गया। यहाँ यह प्रश्न होता है कि संयोगज होने के कारण अनित्यता मान लेना तो ठीक हो सकता है, किन्तु वास्तविक सत्ता इनकी क्यों नहीं, यह समझ में नहीं आता। संसार में बहुत से पदार्थ संयोगजन्य हैं और वे अपनी वास्तविक सत्ता रखते हैं। बहुत से कार्य उनसे चलते हैं और उनका अनुशोचन भी बुद्धिमान् और मन्दमति सभी करते हैं। पहले शरीर को ही लीजिए, यह रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न होता है, इस बात को सभी जानते हैं और उसकी वास्तविक सत्ता का अनुभव भी सभी करते हैं। अनुशोचन भी जगत् में उसी का सम्बन्ध लेकर होता है। कोयला और शोरा मिलाकर बारूद तैयार होती है। वह संयोगज है और बड़े-बड़े पहाड़ भी उससे उड़ा दिये जाते हैं, तब उसकी वास्तविक सत्ता न मानना तो एक उपहासास्पद बात होगी। दूध की मलाई वायु और दुग्ध के संयोग से उत्पन्न है। ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त हैं जिनकी वास्तविक सत्ता न होना कोई भी बुद्धिमान स्वीकार न करेगा और वास्तविक सत्ता उनकी यदि है तो सर्वथा अशोच्यता कैसे सिद्ध होगी। इस सन्देह के निराकरण के लिए भगवान् दर्शनों के सार को एक पद्य में कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ (अ० २ श्लो० १६)

यह पद्य दर्शनों का सर्वस्व है। अपनी-अपनी प्रक्रिया के भेद से सांख्य और वेदान्त दोनों ही इसे अपना आधार बनाते हैं। इसका अर्थ है कि “जो असत् वस्तु है उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती और जो सत् वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता। तत्त्व द्रष्टा लोग इन दोनों बातों का अन्त तक विचार कर सिद्धान्त पर पहुँच चुके हैं।” तात्पर्य यह हुआ कि जिसकी सत्ता है उसकी भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में ही सत्ता रहेगी और किसी एक काल में जिसकी सत्ता न रही, उसकी किसी काल में भी न समझो। इससे त्रैकालिक सत्य ही वास्तविक सत्य पदार्थ है। कभी-कभी भासित होने वाले पदार्थ वास्तविक सत्ता नहीं रखते।

सांख्य दर्शन में इसी आधार पर सत्कार्यवाद माना जाता है। उनका कहना है कि नया कार्य कोई भी उत्पन्न नहीं होता। जो पहिले से है उसकी ही अभिव्यक्ति मात्र होती रहती है। तिलों में तैल पहले से है, उसे ही यंत्र में धर्षित कर अभिव्यक्त कर दिया जाता है। दही में मक्खन व्याप्त है, उसे ही मथ कर प्रकट कर दिया जाता है। जब आप किसी शिल्पी से एक राम या कृष्ण की या शेर, हिरण आदि की प्रतिमा बनाने को कहते हैं तो वह एक बड़ा पत्थर लेता है और अपने औजारों से पत्थर के

अंशों को टांच कर आपकी पसन्द की प्रतिमा को उसी पत्थर में से प्रकट कर देता है। बाहर से कुछ नहीं लाता। इससे यही सिद्ध होता है कि तैल, घृत, प्रतिमा आदि पहले से ही उन पदार्थों में विद्यमान थे, उन पर अन्य अवयवों का एक आवरण पड़ा हुआ था। उस आवरण को हटाकर उन्हें प्रकट कर दिया गया। नई वस्तु कोई नहीं बनाई गई। इन्हीं दृष्टान्तों से सर्वत्र सत्कार्यवाद समझ लेना चाहिए। मृत्तिका से घड़ा या सुराई बनाने में भी नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती अपितु मृत्तिका की चूर्ण, पिण्ड, घट, शराव आदि अनेक अवस्थाएँ हैं, एक अवस्था जब तक रहे, वह दूसरी अवस्थाओं को दबाये रहती है अर्थात् उनको ढाँके रखती है, बनाने वाले एक अवस्था को हटाकर दूसरी अवस्था को प्रकट कर देते हैं। इसी प्रकार तन्तु से पट बनाना, स्वर्ण-पिण्ड से कटक कुण्डल, हार आदि का निर्माण करना भी एक अवस्था को दबाकर दूसरी अवस्था प्रकट कर देना मात्र ही है। असत् वस्तु का उत्पादन कहीं नहीं है। संयोगज पदार्थों के जो दृष्टान्त दिये गए हैं उनमें भी अंशतः जो तत्त्व या शक्ति कई जगह बिखरी हुई थी उनको एक जगह एकत्रित कर प्रकट कर दिया जाता है। नई वस्तु नहीं बनाई जाती। रज और शुक्र में अंशतः रहने वाले शरीर के अवयवों को एकत्रित कर दिया है, बारूद में भी कोयले और शोरे में अंशतः रहने वाली ध्वंसक शक्ति को एकत्रित कर अभिव्यक्त कर दिया जाता है। मलाई में भी प्रखरता वायु का अंश है और द्रवता दुग्ध का अंश अब भी बना हुआ है। दोनों का सम्मिश्रण मात्र हुआ है, नई वस्तु कोई उत्पन्न नहीं हुई। इसी प्रकार विनाश जिसे कहते हैं वहाँ भी वस्तु का अभाव नहीं होता; अवस्था परिवर्तन मात्र हो जाता है। जैसा कि शीतकाल में सरोवर में जो जल भरा हुआ था वह ग्रीष्म में सूख गया, इससे उसका अभाव नहीं समझा जा सकता; किन्तु वह द्रवावस्था से वाष्प (भाप) की अवस्था में चला गया; फिर वर्षा में घनीभूत होकर द्रवावस्था में आ जायगा। यही अवस्थाओं का चक्र चलता रहता है। सत् का अभाव या असत् की उत्पत्ति नहीं होती।

न्याय दर्शन में जो घटपटादि नये अवयवी अवयवों से उत्पन्न माने जाते हैं वह प्रारंभिक दशा में सिखाने की प्रक्रिया मात्र है। उनकी जो युक्ति है कि नाम, रूप और क्रिया तीनों नये बन जाते हैं, इसलिए नये पदार्थ की उत्पत्ति मान लेना चाहिए। घट का जैसा रूप अर्थात् आकार घटावस्था में बना वैसा पहले नहीं था। आगे घड़ा फूट जाने पर भी न रहेगा। “घट” यह नाम भी न पहले था न उसके नष्ट होने पर ही रहेगा। जल भर कर लाना यह कार्य भी घट से ही होता है, पूर्व सिद्ध मृत्तिका से नहीं। शरीर को ढक कर शीत निवारण करना वस्त्र का ही काम है सूत का नहीं। इसलिए घट पट आदि नई वस्तु बनी यही मानना उचित है। “नासतो विद्यते भावो ना- भावो विद्यते सतः” वाला सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता ! इसका अर्थ यदि किया जाय तो इतना ही हो सकता है कि भाव और अभाव दोनों अलग-अलग



वस्तु हैं। वे एक दूसरे के रूप में परिणत नहीं हो सकतीं। अर्थात् भाव कभी अभाव के रूप में नहीं जा सकता और अभाव भाव के रूप में नहीं आ सकता। किन्तु नये-नये भाव तो उत्पन्न होते ही रहते हैं और उनका अभाव अर्थात् विनाश भी होता ही रहता है। इसका उत्तर सांख्य सिद्धान्त में यह दिया जाता है कि एक-एक मनुष्य में सेना शब्द का व्यवहार नहीं होता, किन्तु उनका समुदाय होने पर वह सेना शब्द से कहा जाता है। एक मनुष्य उतना स्थान नहीं घेर सकता किन्तु सेना बहुत बड़ा स्थान घेर लेती है। इससे रूप अर्थात् सन्निवेश का भेद भी सिद्ध है और एक मनुष्य किसी बड़े पत्थर या छप्पर को नहीं उठा सकता परन्तु समुदाय मिलकर यह कार्य कर लेता है। इस प्रकार नाम, रूप, कर्म तीनों नये होने पर भी सेना या समुदाय मनुष्यों से भिन्न कोई अलग वस्तु है— यह कोई बुद्धिमान व्यक्ति शायद स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार वृक्ष वन को भी समझा जा सकता है। नैयायिक भी सेना और वन को मनुष्यों या वृक्षों से पृथक् नहीं मानते। बस, यही बात घट-पट आदि पदार्थों में भी है। वहाँ भी सन्निवेश रूप अवस्था से नये नाम रूपों का व्यवहार हो जाता है। एक मृत्तिका का कण भी जल का कुछ अंश धारण कर ही लेता है, समुदाय हो जाने पर अधिक जल का आहरण उसके द्वारा हो जाता है। एक तन्तु भी शरीर के कुछ हिस्से को ढाँक सकता था, समुदाय हो जाने पर संपूर्ण शरीर का ढाँकना उनके द्वारा संभव हो जाता है। इससे मृत्तिका या तन्तु की अपेक्षा घट और वस्त्र का उसी प्रकार भेद सिद्ध नहीं होता जिस प्रकार मनुष्य और सेना का या वृक्ष और वन का।

इस पर नैयायिक फिर एक प्रबल युक्ति देते हैं कि छोटे से बड़ा बनना प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार कार्य-कारण धारा का अन्वेषण करने पर अन्त में एक ऐसा पदार्थ मानना पड़ता है कि जिससे छोटा कोई हो ही न सके। अर्थात् जिसके अवयव न हों, उसकी परमाणु संज्ञा है। वह अतिसूक्ष्म होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता इसलिए उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है। आगे उनके मिलने से क्रमशः जो बड़े-बड़े पदार्थ बनते हैं वे अवयवी कहलाते हैं। अब यदि नवीन पदार्थ की उत्पत्ति न मानी जायगी तो घट, पट, वृक्ष, पर्वत आदि सभी को परमाणुओं का एक-एक पुंज कहना होगा और परमाणु के अतीन्द्रिय होने के कारण उनके समूह भी अतीन्द्रिय होंगे। तब किसी वस्तु का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। किन्तु प्रत्यक्ष तो सभी पदार्थों का होता है, इसलिए परमाणुओं से दृश्य पदार्थ अतिरिक्त बने यह मानना ही पड़ेगा। दूसरी प्रबल युक्ति वे यह देते हैं कि यह एक घट है, एक पट है, इत्यादि रूप से जो एकत्व की प्रतीति होती है उसका फिर आधार क्या होगा? क्योंकि अवयव तो एक हैं नहीं, वे तो बहुत हैं। तब यही मानना होगा कि बहुतों से मिलकर कोई एक वस्तु बनी है जिसमें एकत्व की हमें प्रतीति हो रही है। किन्तु इन सारी युक्तियों को भी सांख्य और वेदान्त के विद्वान् नहीं मानते। वे कहते हैं कि आरम्भवाद अर्थात्

छोटे से बड़ा बनना यह सार्वत्रिक नियम नहीं है। परिणाम के द्वारा भी वस्तु से दूसरी वस्तु की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसा कि दूध से दही का निर्माण। यहाँ भी यह कल्पना करना कि दूध के परमाणु अलग-अलग होकर दूध का विनाश हो गया और फिर उनमें उष्णता के संयोग से नये रूप रसादि उत्पन्न होकर दही के परमाणु प्रकट हुए, तब दही उत्पन्न हुआ, इस प्रकार की कल्पनाएँ बिलकुल निस्सार और प्रत्यक्ष विरुद्ध है। एक व्यक्ति निरन्तर अपनी दृष्टि जमाकर उस दूध को देखता रहे तो ऐसा कोई अवसर उसकी दृष्टि के सामने नहीं जायेगा जब दूध परमाणु रूप होकर अतीन्द्रिय हो गया हो। वह देखेगा कि दूध ही धीरे-धीरे दधि रूप में परिणत हो रहा है। इसलिए यह मूलभित्तिरूप परमाणुवाद ही युक्ति सिद्ध नहीं ठहरता और परमाणुओं को अतीन्द्रिय मान लेना भी एक अपनी परिभाषा मात्र है। सूक्ष्मता के कारण एक परमाणु का प्रत्यक्ष न भी हो सके तो भी समूह होने पर उनका प्रत्यक्ष हो सकेगा। जैसे हमें दूर से एक केश या एक चींटी दिखाई नहीं देती, किन्तु समूह होने पर वे दिखाई दे जाती हैं। इसी प्रकार परमाणु पुंज रूप घट वृक्ष पर्वत आदि का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष में महत्व (बड़ापन) कारण है। इस महत्व का आधार क्या मानेंगे? क्योंकि परमाणुओं के अतिरिक्त कोई द्रव्य आप स्वीकार नहीं करते और परमाणुओं में महत्व है नहीं तो यह शंका भी निराधार है। क्योंकि अणुत्व या महत्व कोई खास गुण नहीं। वे तो प्रदेशावगाह के एक नाम विशेष हैं। जो अधिक प्रदेश में फैले उसे महान् कह दिया जाता है और अल्प प्रदेश में रहे उसे अणु कह दिया करते हैं। समूह जब अधिक प्रदेश में फैलेगा तब वही महान् कहला जायगा और प्रत्यक्ष की योग्यता भी उसमें हो जायगी। इसी प्रकार समूह के एक होने के कारण एकत्व बुद्धि भी बन जाती है। एक सेना है, एक वन है, यह भी तो प्रतीति होता ही है, वहाँ तो कोई एक नई वस्तु नहीं बनी। समूह के एक बुद्धि में गृहीत घट-पट आदि समूहों में भी एकत्व बुद्धि बन जायगी। इस पर नैयायिक कहते हैं कि तुम्हारे मत से यह एकत्व प्रतीति काल्पनिक हुई और कल्पना उसी वस्तु की हो सकती है जो कहीं अपने असली रूप में विद्यमान भी हो। जैसा कि सिंह एक प्राणी संसार में है। उसके आधार पर हम एक वीर पुरुष को भी सिंह कह देते हैं। किन्तु वास्तविक सिंह यदि संसार में होता ही नहीं तो किसी मनुष्य को सिंह कहने का भी अवसर हमें नहीं मिलता। आपके मतानुसार एकत्व की प्रतीति कहीं भी वास्तविक नहीं है क्योंकि परमाणु का तो प्रत्यक्ष नहीं इसलिए उसमें एकत्व प्रतीति नहीं हो सकती। उसके अतिरिक्त नवीन वस्तु की उत्पत्ति आप मानते नहीं, तब मुख्य एकत्व का ज्ञान कहीं भी नहीं होगा और मुख्य के बिना काल्पनिक ज्ञान भी युक्तियुक्त न हो सकेगा। इस शंका का भी सांख्य और वेदान्त दर्शन यह समाधान कर देते हैं कि मुख्य प्रतीति होने पर ही

काल्पनिक प्रतीति हो, ऐसा कोई नियम नहीं। कल्पनाओं की परम्परा से भी काम चल जाता है। उत्तरोत्तर कल्पनाओं में पूर्व की काल्पनिक प्रतीति कारण बनती जाती है। जैसा कि बीज गणित आदि में कोई अंक वास्तव में “अ” “ब” रूप नहीं होता किन्तु उनमें “अ” “ब” आदि की कल्पना से ही बहुत बड़ा शास्त्र बना लिया गया। इसलिए न्याय दर्शन की युक्तियाँ केवल प्रारंभिक शिक्षा के लिए उपयुक्त हैं, आगे गम्भीर विचार में वे सब युक्तियाँ नहीं ठहरतीं और “असत् की उत्पत्ति नहीं होती व सत् का विनाश नहीं होता” यह सिद्धान्त सुस्थिर बन जाता है। संयोगज पदार्थ भी अतिरिक्त नहीं ठहरते और उत्पत्ति तथा विनाश के अभाव में उनके आधार पर होने वाला अनुशोचन व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।



## पंचदश-पुष्प

“नासतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः ।”

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार उक्त पद्य के आशय का वर्णन विगत प्रवचन में हुआ। वेदान्त दर्शन के आचार्य इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं होते। वे आगे विचार करते हैं कि उक्त सिद्धान्त में अवस्थाओं का परिवर्तन माना गया है। तब यह विचार भी उपस्थित होगा कि अवस्थाएँ अवस्थावान् द्रव्य से पृथक् हैं या तद्रूप। यदि पृथक् हैं तो नई-नई अवस्थाओं की उत्पत्ति मानने से असत् का प्रादुर्भाव और पूर्वावस्था की निवृत्ति मानने से सत् का विनाश सिद्ध हो गया। ऐसी स्थिति में उक्त सिद्धान्त की दृढ़ता कहाँ रही और अवस्थावान् द्रव्य के साथ उनकी एकता मान ली जाय तब फिर नये घट-पटादि द्रव्यों की उत्पादना के लिए कारण व्यापार व्यर्थ हो जाता है। तैलावस्था भी यदि तिल से अभिन्न है तो तिलों के निष्पीड़न का प्रयोजन क्या? सांख्य वाले इसका समाधान भेदाभेद मानकर करते हैं कि अवस्था भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। किन्तु वेदान्त सिद्धान्त यही कहता है कि भेद और अभेद एक साथ रह नहीं सकते। इसलिए वे मानते हैं कि अवस्थाओं को अनिर्वचनीय कहना चाहिए। भेद या अभेद निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जैसे भिन्न या अभिन्न रूप से वे अनिर्वचनीय हैं उसी तरह सत्त्व या असत्त्व रूप से भी अनिर्वचनीय ही हैं। अवस्थाओं को न सत् ही कहा जा सकता है, न सर्वथा असत् ही। सत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अवस्थावान् द्रव्य को छोड़ कर स्वतन्त्र उपलब्धि उनकी कभी नहीं होती, और द्रव्य के एक होने पर भी अवस्थाओं के द्वारा भेदावभास होता है इसलिए असत् भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी परतन्त्र अनिर्वचनीय वस्तु की वास्तविक सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसलिए वास्तविक सत् तो एक ही मूलतत्त्व है, वह कभी असत् नहीं हो सकता और अनिर्वचनीय रूप वास्तविक सत्ता न रखने वाली अवस्थाएँ जो सत् से पृथक् होने के कारण असत् ही कही जा सकती हैं वे वास्तविक सत् नहीं हो सकतीं यही गीता के उक्त पद्य का मुख्य तात्पर्य है। व्यवहार में भी अवस्थाओं की वास्तविक सत्ता नहीं मानी जाती। इसका एक बहुत अच्छा दृष्टान्त लोकमान्य तिलक ने गीत रहस्य में दिया है कि किसी धनिक ने स्वर्ण का एक बहुत सुन्दर आभूषण बनवाया सौन्दर्य के लिए उसको गढ़ाई और जड़ाई में सुवर्ण के मूल्य से भी अधिक धन लग दिया। दैवात् वह धनिक निर्धन हुआ और उस आभूषण को विक्रय के लिए सर्राफ के पास ले गया। उसे आभूषण का व्यय बताया तो सर्राफ ने यही कहा कि महाशय गढ़ाई जड़ाई के व्यय की बात तो जाने दीजिए, सोने का असली दाम ले लीजिए इससे स्पष्ट होता है कि व्यवहार में भी असली वस्तु सुवर्ण आदि द्रव्यों को ही माना जाता है। कटक कुंडल आदि उसकी बनावटी अवस्थाएँ वास्तविक सत्य नहीं मान जातीं। वे काल्पनिक मात्र हैं। यहाँ सुवर्ण की वास्तविक सत्ता मानी गई किन्तु जैसे

कटक कुंडल आदि सुवर्ण की कल्पनाएँ हैं ऐसे ही सुवर्ण पर भी यदि विचार किया जाय तो वह तेज और पृथ्वी के अंशों से मिलकर बना है। वह भी वास्तविक नहीं, तेज और पृथ्वी के अंश ही वास्तविक सिद्ध होंगे। इस प्रकार क्रम से देखते चलिए जब कार्य अपने कारण से पृथक् सत्ता नहीं रखता तो पृथ्वी जल से जल तेज से तेज वायु से और वायु आकाश से पृथक् सिद्ध न होंगे। मूलतत्त्वान्वेषण में आगे बढ़ते-बढ़ते आकाश अहंकारतत्त्व से अहंकार महत्तत्त्व से वह प्रकृति से और प्रकृति भी अपने मूल तत्त्व से पृथक् सिद्ध नहीं होगी। अतः अन्त में एक ही मूलतत्त्व सत् सिद्ध हो जाता है।

वर्तमान विज्ञान भी पहले पृथक्त्व की परीक्षा करता हुआ तत्त्वों का विस्तार करता गया। भारतीय पंचभूतवाद को उसने अवास्तविक ठहराया। क्योंकि इन पाँच तत्त्वों में जिन अग्नि, जल, पृथ्वी आदि की गणना है वे परीक्षण करने पर मौलिक तत्त्व सिद्ध नहीं होते। जल आक्सीजन और हाईड्रोजन के मिश्रण से बना है। पृथ्वी तो बहुत से तत्त्वों के सम्मिश्रण से बनती है, अग्नि वायु भी संयोगज हैं इसलिए उसने मूलतत्त्व आक्सीजन हाईड्रोजन आदि को माना। इनकी संख्या बढ़ती गई और पचास नब्बे तथा धीरे-धीरे सौ से भी ऊपर पहुँच गई। किन्तु विचार करते-करते आज सिद्ध हो गया कि ये सब भी मूलतत्त्व नहीं, संयोगज या अवस्था विशेष ही हैं। इनमें भी परस्पर परिवर्तन होता है। मूलतत्त्व तो केवल दो हैं— इलैक्ट्रॉन और प्रोट्रॉन। ये भी दोनों एक ही मूलतत्त्व से निकले हैं यह भी अब मान लिया गया। भारतीय श्रुति शास्त्र तो “सदैव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्” : प्रपंच विस्तार से पूर्व एक ही “सत्” था जो सजातीय विजातीय और स्वगत, इन तीनों प्रकार के भेदों से रहित था: ऐसी घोषणा अनादिकाल से कर रहे हैं। आज घूमता-घूमता पाश्चात्य विज्ञान भी वहीं पहुँचा। यह भारतीय सिद्धान्त का ही गांभीर्य है। किन्तु आर्ष विज्ञान जिसे एक मूलतत्त्व कहता है, वह अभी पाश्चात्य साइन्स की दृष्टि से बहुत दूर है। इलैक्ट्रॉन और प्रोट्रॉन के जो लक्षण बताये जाते हैं उनके अनुसार तो ये शतपथ ब्राह्मण में कहे हुए ‘यत्’ और ‘जूः’ नामक तत्त्व सिद्ध होता है। जिन्हें उक्त ब्राह्मण श्रुति ने यज्जुः नाम का वेद, एक प्रकार का प्राण बताया है, और उन्हें वायु और आकाश की पूर्वावस्था रूप कहा है। वैदिक विज्ञान में ये सब क्षर पुरुष के रूप हैं। ये अक्षर से बनते हैं, अक्षर अव्यय से बनता है और अव्यय उस एक मूल तत्त्व का माया विशिष्ट रूप है। इसलिए भारतीय विज्ञान की बहुत श्रेणियाँ अभी बाकी है जिनका आभास अभी तक आधुनिक विज्ञान को नहीं मिला और आध्यात्मिक तथा आधिदैविक विज्ञानों को साथ लिए बिना केवल भौतिक विज्ञान से मिल भी नहीं सकता। अस्तु, प्रकृत में वक्तव्य यही है कि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार वही एक मूल तत्त्व जो कि वाक् और मन से परे है वही वास्तविक सत्ता रखता है जगत् या प्रपंच की सत्ता उसी के आधार पर काल्पनिक है। हमारी

वाणी उस तत्त्व को नहीं कह सकती और मन भी उसे नहीं पहिचान सकता क्यों कि ये किसी गुण धर्म वाले पदार्थ को ही पहिचानते और कहते हैं, उस मूल तत्त्व में कोई गुण धर्म नहीं। गुण धर्म तो सब अवस्था विशेष रूप हैं। जो आगे पैदा होते हैं। इसमें शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी ने कर्पास सूत्र का दृष्टान्त दिया है। जैसे कपास में सूत नहीं, किन्तु सूत उसी से निकलते हैं। इसी प्रकार मूल तत्त्व में कोई गुण धर्म नहीं, किन्तु वे गुण धर्म कहीं बाहर से आते भी नहीं उसी में से प्रकट होते हैं। इसीलिए उनकी वास्तविक सत्ता नहीं कही जा सकती।

अब प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि संसार में हमें जिन-जिन पदार्थों की प्रतीति होती है उनका तो विनाश होने पर अभाव भी प्रतीत हो जाता है। इसलिए उक्त न्याय से उन्हें तो असत् कह दिया जायगा और जो एक मूल तत्त्व सत् कह कर माना गया उसकी प्रतीति होती नहीं तब किसी की भी सत्ता सिद्ध न होने से “शून्यवाद” का प्रसंग आ जायगा। किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर इस प्रश्न का समाधान हो जाता है और शून्यवाद का प्रसंग नहीं आता। यद्यपि सत् पदार्थ की प्रतीति हमें पृथक् रूप से नहीं होती क्योंकि गुण धर्म न होने के कारण इन्द्रिय मन आदि की गति वहाँ नहीं है किन्तु जो पदार्थ प्रतीत होते हैं उन सब में अनुगतरूप से सत् की प्रतीति अवश्य हो रही है। “अस्ति घटः”, “अस्ति पटः,” – घट की सत्ता है, पट की सत्ता है— इस प्रकार “अस्ति” अर्थात् सत्ता सब में अनुगत प्रतीत होती है। इनमें घटपट आदि बुद्धियों का परिवर्तन होता है, किन्तु सत्ताबुद्धि का कभी परिवर्तन नहीं होता। यदि घड़ा फूट गया तो उसके खंड-खंड हैं, इस प्रकार अस्तिबुद्धि खंडों के साथ लग जाती है और उन्हें भी चूर-चूर कर दिया जाय तो मृत्तिका है, इस प्रकार मृत्तिका के साथ अस्ति-बुद्धि लग जाती है। मृत्तिका को भी पानी में गला दिया जाय तो कीचड़ है यह अस्ति बुद्धि कीचड़ के साथ लग जाती है। अन्ततः कुछ भी प्रतीति नहीं तो भी “नहीं है” यहाँ अभाव के साथ भी अस्तिबुद्धि लग जाती है। इसलिए अस्ति बुद्धि अर्थात् सत्ता का कभी अभाव नहीं होता और वह सत्ता ज्ञान से सिद्ध होती है, जब हम जानते हैं तब “है” यह कह सकते हैं। इसलिए ज्ञान का भी अभाव सिद्ध नहीं होता एवं सत्ता और ज्ञान दोनों हमें प्रिय हैं क्योंकि प्रत्येक प्राणी पदार्थों के संग्रह की भी सदा इच्छा रखता है और प्रत्येक वस्तु को जानने की भी उत्कण्ठा रखता है। इसलिए सत्ता, ज्ञान और आनन्द ये तीनों मूल तत्त्व अर्थात् ब्रह्म के रूप सर्वत्र व्याप्त हैं और सदा अपरिवर्तनीय हैं। उन्हें ही “सत्” कहा जा सकता है। उनके साथ जो घट पटादि की दूसरी बुद्धि लगती है वे परिवर्तनशील होने के कारण मुख्य सत्ता नहीं रखतीं। उनकी सत्ता काल्पनिक है। सर्वाधार सत् पर ही वे सब कल्पित हुए हैं। ये तीनों एक के ही रूप हैं, पृथक्-पृथक् नहीं क्योंकि इनमें परस्पर भिन्नता प्रतीत नहीं होती। जो “है” वही जाना जाता है और जो जाना जाता है वही “है,” कहलाता है। जो जाना जाता है या है वही प्रिय

भी है, इसलिए तीनों की एकता ही सिद्ध होती है। इस प्रकार एक मूल तत्त्व सिद्ध हो जाने पर शून्यवाद का कोई प्रसंग नहीं आता।

सब का विचार करने पर तात्पर्य यह निकाला कि जो किसी देश में है किसी में नहीं, या किसी काल में है किसी काल में नहीं, उस पदार्थ की मुख्य सत्ता नहीं माननी चाहिए। उसकी मुख्य सत्ता मानने पर सत् का अभाव मान लेना पड़ेगा। और जो किसी काल में नहीं था उसकी उत्पत्ति मान लेने पर असत् भी सत् होता है ऐसा मानना पड़ेगा। ये दोनों बातों सिद्धान्त विरुद्ध हैं, इसलिए मुख्य सत्ता उसी की है जिसका किसी देश या किसी काल में अभाव न हो। अर्थात् जो व्यापक और नित्य हो तथा जो देश काल परिच्छेद रखते हैं अर्थात् कहीं हैं कहीं नहीं या कभी हैं कभी नहीं उनकी काल्पनिक सत्ता है मुख्य सत्ता नहीं। फिर प्रश्न होगा कि जिसे आप आत्मा ब्रह्म या सत् कहते हैं उसकी भी तो सुषुप्ति दशा में प्रतीति नहीं होती। तब त्रिकाल सत्ता तो उसकी भी सिद्ध नहीं हुई और अन्ततः शून्यवाद ही आ गया। इसका उत्तर शास्त्रों में दिया जाता है कि सुषुप्तिकाल में भी प्रतीति का सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि जाग जाने पर ऐसा स्मरण होता है कि “मैं खूब आनन्द से सोया, उस समय मुझे कुछ भी नहीं प्रतीत हुआ।” यह आनन्द और विज्ञान का स्मरण है। यदि प्रतीति न होती तो स्मरण कैसे होता। इसलिए यही मानना होगा कि इन्द्रिय मन आदि के प्रलीन हो जाने के कारण सुषुप्ति में वृत्त्यात्मक ज्ञान अर्थात् प्रतिभास नहीं रहता, किन्तु आत्म स्वरूप मुख्य ज्ञान तो सदा ही रहता है। इसलिए असत् की उत्पत्ति या सत् का अभाव सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार दार्शनिक सिद्धान्तों में इस पद्य की व्याख्या बहुत विस्तृत हो जाती है। किन्तु अधिक सूक्ष्म विषय की सब पाठकों को रुचि न होगी इसलिए अधिक विस्तार करने से विराम लेते हैं।

यह तो सिद्ध हो ही गया कि उक्त पद्य से मुख्यतया अद्वैतवाद ही सिद्ध होता है। अर्थात् एक ही तत्त्व है, सारा जगत् उसी पर कल्पित है। अब जो ऐसा अद्वैत नहीं मानते, वे इस श्लोक में सत् और असत् शब्द का अर्थ केवल नित्य या अनित्य कर देते हैं। अर्थात् जो नित्य है वह अनित्य नहीं हो सकता और जो अनित्य है वह नित्य नहीं हो सकता। किन्तु इतने मात्र से शीत उष्ण सुख-दुःख आदि की सहिष्णुता का पूरा कारण प्राप्त नहीं होता और आरम्भ में जो अशोच्य बताकर उसका उपपादन करने लगे थे वह भी पूरा नहीं उतरता इसलिए अधिकतर व्याख्याकारों की सम्मति में अद्वैतवाद ही इस पद्य का मुख्य प्रतिपाद्य माना जाता है।

## षोडश-पुष्प

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥ अ० २, १७

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥ अ० २, १८

पूर्व पद्य में जो कहा गया कि सत् का विनाश नहीं हो सकता और असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती उसी का स्पष्टीकरण इन दो पद्यों में हैं। वह सत् कौन है जिसका अभाव नहीं हो सकता? यहाँ के प्रथम पद्य में स्पष्ट किया है कि अविनाशी, कभी विनष्ट न होने वाला एक ही तत्त्व है जिसने इस संपूर्ण प्रपंच को फैला रक्खा है, अर्थात् जो इस सम्पूर्ण प्रपंच का मूल तत्त्व है। वही वास्तविक सत्ता रूप है। उस अव्यय का विनाश कोई नहीं कर सकता। यहाँ “अव्यय” शब्द का अर्थ “अविनाशी” ही प्रायः सब व्याख्याकार करते हैं, अर्थात् इसे विशेषण पद मानते हैं। परन्तु भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में जो तीन पुरुषों का निरूपण किया गया है उसी का सूत्रपात यहाँ मानना उपयुक्त होगा। श्री मधुसूदन सरस्वती आदि व्याख्याकारों ने यह तो स्पष्ट माना है कि द्वितीय अध्याय सूत्र रूप है। वक्तव्य अर्थ संक्षेप से इसमें कह दिये गए हैं। आगे के अध्यायों में उनका ही विस्तार है। इसलिए भगवद्गीता के मुख्य प्रतिपाद्य अव्यय पुरुष का यहाँ संकेत कर दिया गया और पन्द्रहवें अध्याय में इसका स्पष्ट विवरण हुआ यह मानना ग्रन्थ शैली के अनुसार बहुत उपयुक्त होगा। अव्यय पद को विशेषण वाचक मानने पर अविनाशी पद से पुनरुक्ति भी होती है, क्योंकि “अव्यय” और “अविनाशी” शब्दों का अर्थ एक ही है। तब यहाँ व्याख्याकारों को अव्यय पद का सर्वविकार शून्य या अव्यक्त आदि अर्थ करने की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसंग आया है वहाँ भगवद्गीता में अव्यय पद को कहीं भी नहीं छोड़ा गया।

“अजोऽपि सन्नव्ययात्मा” अ० ४, श्लोक ६

“परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्” अ० ७, श्लोक २४

“मूढोऽयं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्” अ० ७, श्लोक २५

“यो लोकत्रयमाविष्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः” अ० १५, श्लोक १७

इत्यादि बहुतर प्रसंगों में ईश्वर वा मूलतत्त्व के लिए अव्यय शब्द का उपादान नियत रूप से हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि मूल तत्त्व के लिए अव्यय पद गीता में रूढ़ है और वक्ता भगवान् कृष्ण ने सर्वत्र अपने को अव्यय रूप ही कहा है। क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीनों पुरुषों में अव्यय सबसे उत्कृष्ट वा सर्व प्रथम है। इसलिए उसके लिए पुरुषोत्तम शब्द भी गीता में आया है। यदि उत्तम शब्द का अर्थ



अन्तिम माना जाय जैसा कि प्रायः संस्कृत भाषा में होता है, तो भी क्षति नहीं क्योंकि संसार की ओर से मूलतत्त्व की ओर चलने पर प्रथम क्षरपुरुष, उसके उपरान्त उसमें अनुस्यूत अक्षर, और उससे भी आगे सब के अन्त में अव्यय का प्रसंग आवेगा। इसलिए उसे सबसे अन्तिम भी कह सकते हैं। क्षरपुरुष जगत् का उपादान कारण अक्षरपुरुष निमित्त कारण और अव्यय साक्षी रूप से रहने वाला सबका आधार तटस्थ रूप है। इन तीनों पुरुषों का स्पष्ट रूप से स्वरूप निरूपण पन्द्रहवें अध्याय में ही किया जायेगा, जहाँ कि भगवद्गीता में इनका स्पष्टीकरण है। यहाँ इतना ही कहना था कि भगवद्गीता में अव्यय पद को केवल यौगिक न मानकर सर्व पुरुषों के आदि भूत उत्तम पुरुष के लिए निरूढ़ मानना ही उचित है। इसकी विस्तृत व्याख्या विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन जी के विज्ञान भाष्य में की गई है। अस्तु, तब इस पद्य का आशय होगा कि सबका मूलभूत अव्यय पुरुष ही वास्तविक सत् है। अक्षर और क्षर उससे प्रादुर्भूत होकर उसी में लीन होते हैं। किन्तु जिसका नाम ही “अव्यय” है, उसका विनाश कोई नहीं कर सकता। “कोई नहीं कर सकता” इस दृढ़ कथन से भगवान् यह सूचित करते हैं कि विनाश की योग्यता ही उसमें नहीं है। न्याय दर्शन के मत से विनाश अवयवों के विभाग अथवा उनके नाश के द्वारा हुआ करता है। अवयवों के संयोग से जो वस्तु बनी है उसके अवयवों को यदि अलग कर दिया जाय तो वह वस्तु नष्ट हो जायेगी। जैसा कि तन्तुओं के संयोग से बना हुआ वस्त्र, तन्तुओं के अलग-अलग कर देने पर नष्ट हो जायगा। अथवा यदि तन्तुओं को जला दिया जाय तो भी नष्ट हो जायगा। किन्तु ये बात मूल तत्त्व में घटित नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें अवयव ही नहीं हैं जिनका कि विभाग या नाश हो सके। अव्यय की कला जो आनन्द, विज्ञान और सत्ता मानी जाती है वे भी पृथक्-पृथक् नहीं, एक रूप ही हैं। व्याप्ति समझने के लिए उन्हें पृथक्-पृथक् रूप में गिना जाता है यह पूर्व पद्य की व्याख्या में आ चुका है। इन तीनों की सर्वत्र व्याप्ति भी पूर्व प्रवचन में ही स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए न्याय सिद्धान्तानुसार विनाश की योग्यता वहाँ सिद्ध नहीं होती। सांख्य सिद्धान्तानुसार परिणाम अर्थात् अवस्था का परिवर्तन ही विनाश कहा जाता है। व्याकरण के आचार्य भगवान् पाणिनि ने भी जनन और नाश शब्दों के मूल धातुओं का अर्थ यही किया है कि “जनी प्रादुर्भावे” और “णश अदर्शने”, अर्थात् आवरण रूप पूर्वावस्था को हटाकर नई अवस्था का प्रकट हो जाना ही जनन या उत्पत्ति है और दूसरी अवस्था से आवृत होकर दिखाई न देना ही नाश है। इन धातुओं के अर्थ निर्देश से ही सांख्य दर्शन का सत्कार्य वाद सिद्धान्त प्रस्फुट हो जाता है। यही संस्कृत भाषा का महत्व है कि उसके छोटे-छोटे शब्द ही गम्भीर दार्शनिक विज्ञान बतला देते हैं। अस्तु, कहना यह है कि सांख्य सिद्धान्त में परिणाम का ही नाम विनाश है। गुण धर्मों का परिवर्तन ही परिणाम कहलाता है, जैसे दुग्ध का द्रवत्व मधुरता आदि तिरोहित हो गए और नवीन गुण कुछ अम्लता

घनता आदि प्रकट हो गए। इसीसे दुग्ध का परिणाम दधि कहलाया। इस प्रकार के परिणाम की योग्यता भी उस मूल तत्व में नहीं क्योंकि वहाँ गुण धर्म हैं ही नहीं। गुण धर्मों की उत्पत्ति तो संसार निर्माण दशा में बाद में होती है। इसलिए परिणाम रूप विनाश भी मूल तत्व का संभव नहीं।

वेदान्त दर्शन की प्रक्रिया में अज्ञान से आवृत हो जाने का नाम ही विनाश है। वह भी मूल तत्व में संभव नहीं क्योंकि वह सदा ज्ञान रूप है अज्ञान उस पर अपना प्रभाव कभी नहीं डाल सकता अनेक सिद्धान्तों में विकास और संकोच को ही उत्पत्ति और विनाश कहा जाता है। वह भी वहाँ नहीं हो सकते क्योंकि वह मूल तत्व सदा अविकृत रहता है। संसार रूप विकास दशा में भी सत्ता, ज्ञान, और आनन्द रूपों में कोई परिवर्तन नहीं होता यह पूर्व प्रवचन में कह चुके हैं। इसलिए विनाश की कोई भी योग्यता अव्यय पुरुष नामक मूल तत्व में नहीं हो सकती। इसीलिए यहाँ पूर्ण बल देकर कहा गया है कि “उस अव्यय का विनाश कोई नहीं कर सकता” “कोई नहीं कर सकता” इस कथन से भगवान् यह भी सूचित करते हैं कि वह मूल तत्व एक ही है। दूसरा कोई है ही नहीं जो इसका विनाश करे और वह स्वयं का विनाश करे हीगा क्यों। इसलिए वह अव्यय ही रहता है। अव्यय पुरुष की कलाएँ जो सत्ता, ज्ञान और आनन्द रूप मानी जाती हैं उनमें भी विनाश की योग्यता सिद्ध नहीं होती। सद् बुद्धि भाव और अभाव दोनों के साथ लगी रहती है अर्थात् दोनों में अनुस्यूत रहती है। अभाव में भी “न अस्ति” “नहीं है” यह “न” के साथ अस्ति-बुद्धि लगी रहती है, यह कह चुके हैं। इसलिए अभाव में सत्ता अनुस्यूत है, सत्ता का अभाव नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि सत्ता का यदि अभाव हो तो उस अभाव का ग्रहण कौन करेगा, क्योंकि ग्रहण करने वाला स्वयं कोई सद्रूप होगा तभी तो ग्रहण कर सकेगा और ग्रहण करने वाला सत् जब उपस्थित रहा तो फिर सत्ता का अभाव कहाँ रहा। यही स्थिति ज्ञान की भी है! ज्ञान सामान्य का यदि विनाश मान लिया जाय तो उस विनाश को जाना किसने। असाक्षिकता तो नहीं बन सकती और जो साक्षी रहेगा वह ज्ञान रूप ही रहेगा। आनन्द भी इन दोनों से अलग नहीं है, ये दोनों ही आनन्द रूप हैं, यह भी पूर्व प्रवचन में कह चुके हैं।

### “ज्ञान की नित्यता”

वर्तमान युग में सत्ता की नित्यता को स्वीकार कर लेने पर भी बहुत से विद्वान् ज्ञान की नित्यता मानने को तैयार नहीं हैं। प्राचीन भारत के चार्वाक और बौद्ध दर्शन भी ज्ञान की नित्यता में विप्रतिपन्न थे। इन लोगों का कहना है कि ज्ञान या आत्मा कोई नित्य वस्तु नहीं। गुड़ और बबूलकी छाल आदि मिलकर जैसे मादकता शक्ति को उत्पन्न

कर देते हैं उसी प्रकार पंच भूतों के विलक्षण प्रकार के संयोग से एक चैतन्य शक्ति प्रकट हो जाया करती है। लोकान्तर से किसी आत्मा का आना जाना इत्यादि कल्पना व्यर्थ है व रूढ़ि मात्र है। प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि फल या अन्न को चिरकाल रखकर सड़ा देने से उसमें कीट ही कीट हो जाते हैं। इसी प्रकार शुक्र शोणित के सड़ जाने से कीटाणु उत्पन्न होकर उनके एक दूसरे के भक्षण से एक बड़ा कीड़ा बन जाता है, वही आगे अन्न पानादि से बढ़कर मनुष्य पशु आदि के रूप में आ जाता है। इस पर भारतीय दर्शनों का कहना है कि शरीर की उत्पत्ति का प्रकार जो आप बतलाते हैं वह ठीक हो सकता है, किन्तु चैतन्य या नित्य ज्ञान उसमें उत्पन्न नहीं होता। वह आविर्भूत अर्थात् प्रकट होता है। यदि पूर्वोक्त प्रकार से उत्पन्न हुए शरीर में चैतन्य या ज्ञान की भी उत्पत्ति मानी जाय तो प्रश्न होगा कि मद् शक्ति जैसे मद्य के प्रत्येक अवयव में उत्पन्न होती है। उसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव में पृथक् पृथक् ज्ञान शक्ति उत्पन्न होती है या सारे शरीर में व्याप्त एक ही ज्ञान शक्ति उत्पन्न होती है। यदि प्रत्येक अवयव में पृथक् पृथक् ज्ञान शक्ति की उत्पत्ति मानी जायगी तो एक अवयव के कार्य का दूसरे को प्रतिसन्धान नहीं होगा। “मैंने ही इस वस्तु को दूर से देखा, और मैं ही अब इसका स्पर्श कर रहा हूँ,” यह दोनों का संबंध करने वाली कौन सी शक्ति होगी। यदि सारे शरीर में एक ही ज्ञान शक्ति का उत्पन्न होना मान लिया जाय तो आँख से रूप का ही ज्ञान होता है, और त्वचा से स्पर्श का ही, रसना से रस का ही, यह व्यवस्था कैसे हो सकेगी। एवं पूर्व की घटनाओं से वर्तमान घटना का संबंध जोड़ने वाला कौन होगा। क्योंकि शरीर के प्रत्येक अवयव सदा परिवर्तित होते रहते हैं, यह पहिले के प्रवचनों में सिद्ध कर चुके हैं। तब अनुभव दूसरे ने किया था और स्मरण दूसरा कर रहा है यह घटना संभव नहीं है। पाश्चात्य वैज्ञानिक जो यह कहते हैं कि मस्तिष्क में हजारों लाखों अणु हैं। उनमें एक-एक के प्रज्वलन का ही नाम एक-एक ज्ञान है। उसमें भी यही आपत्ति उपस्थित होती है कि एक प्रज्वलन दूसरे प्रज्वलन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जान सकता। तब भिन्न-भिन्न ज्ञानों का समन्वय कैसे होगा। कदाचित् यह कहा जाय कि समन्वय भी एक ज्ञान ही है और वह भी एक अणु का प्रज्वलन है, तब भी प्रश्न यही होगा कि वह प्रज्वलन किस कारण से हुआ। इन्द्रियों से जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उनमें तो आपका कहना युक्ति संगत हो सकेगा कि रूप स्पर्शादि जो इन्द्रिय द्वार से आये उन्होंने किसी अणु विशेष का प्रज्वलन कर दिया। किन्तु उनका समन्वय करने वाला प्रज्वलन किसने किया। जो ज्ञान या अणु प्रज्वलन जिस समय हुआ वह उसी समय नष्ट हो गया। कालान्तर के ज्ञान या प्रज्वलन के साथ उसका समन्वय होने की कोई आशा नहीं। भारतीय दर्शन तो भिन्न-भिन्न वृत्ति रूप ज्ञानों का एक-एक संस्कार मानते हैं और वह संस्कार एक स्थिर आत्मा में रहता है, उसी के आधार पर पूर्वापर प्रतिसन्धान हो जाता है। यदि ऐसा ही आप भी मान

लें कि प्रत्येक ज्ञान का संस्कार होता है तो वह संस्कार कहाँ रहता है इसका कोई आधार मानना पड़ेगा और स्मरण या अनुसन्धान बाल्यावस्था तक होते रहते हैं। इसलिए उस संस्कार के आधार को स्थिर भी मानना पड़ेगा। शरीर के अवयवों के परिवर्तित हो जाने पर भी उसका परिवर्तन नहीं होता यह भी स्वीकार करना होगा। तब तो नाम मात्र का विवाद रह गया। आत्मा का नाम ज्ञानधारा या ज्ञानसन्तान रख दिया गया। स्थिर तत्त्व मान ही लिया, और यदि वह भी क्षणिक है तो फिर पूर्वापर काल का प्रतिसन्धान नहीं बनेगा। अतः आत्मा एक है और सदा स्थिर अर्थात् नित्य है। मन इन्द्रिय आदि उसके जानने के द्वार हैं। वही भिन्न-भिन्न ज्ञानों का अनुसन्धान या परस्पर समन्वय करता रहता है। इस अनुभव सिद्ध सिद्धान्त का स्वीकार ही एकमात्र मार्ग है, अन्य कल्पना इस पर नहीं ठहर सकती। न्याय दर्शन में उस नित्य स्थिर तत्त्व को आत्मा और क्रमिक उत्पन्न होने वाले ज्ञान आदि को उसके गुण कह दिया जाता है। सांख्य तथा वेदान्त दर्शन में एक स्थिर नित्य ज्ञान और अन्तःकरण की वृत्तियों में उसके प्रतिबिम्बन से अनन्त क्षणिक ज्ञान मान लिये जाते हैं। यह भी नाम मात्र का विवाद है। सांख्य तथा वेदान्त आत्मा को निर्गुण कहते हैं, इसलिए वृत्तियों को अन्तःकरण का धर्म मान लेते हैं और न्याय दर्शन उन वृत्तियों को आत्मा का गुण कहकर आत्मा को सगुण मान लेता है। यह कथन मात्र का भेद है, बात एक ही है उसी नित्य ज्ञान को भगवान् ने यहाँ अव्यय नाम से अविनाशी और मूल तत्त्व बतलाया है।

अब असत् कौन है, जिनकी वास्तविक सत्ता नहीं हो सकती? उसका स्पष्टीकरण दूसरे पद्य में किया जाता है कि “उस अविनाशी, अप्रमेय व्यापक नित्य आत्मा के जो भिन्न-भिन्न देह हैं वे अनन्तवान् हैं, अर्थात् उनका विनाश प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसलिए वे उत्पत्ति से पहले और विनाश के अनन्तर असत् सिद्ध हुए। इसलिए प्रतीति काल में भी उनकी वास्तविक सत्ता नहीं। यही उक्त सिद्धान्त के अनुसार मानना होगा। क्योंकि यदि वे सत् होते तो उनका उत्पत्ति और विनाश नहीं हो सकता था। उत्पत्ति और विनाश यदि होते हैं तो प्रतीति काल में भी उनकी वास्तविकता सत्ता नहीं, काल्पनिक सत्ता मात्र है। इस पद्य में वह बात पूर्ण रूप से घटती है कि यहाँ शरीरी आत्मा को नित्य कहा है और उसके लिए एक वचन का प्रयोग किया है। देहों में बहुवचन का प्रयोग है, इसलिए यह तत्त्व यहाँ स्पष्ट होता है कि अनन्त देहों में व्याप्त रहने वाला आत्मा एक ही है। जैसे एक ही सूर्य का सहस्रों जलाशयों में पृथक्-पृथक् प्रतिबिम्ब चमकता है और जल के अनुसार उसमें मलिनता, स्वच्छता, छोटा बड़ापन या प्रकम्पन भी प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार देह और अन्तःकरण के धर्म एक मुख्य आत्मा के भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्बों में प्रतीत हो जाया करते हैं। बिंब रूप आत्मा सूर्य की तरह एक ही है।

यह दार्शनिक मुख्य तत्त्व समझाकर भगवान् उपसंहार करते हैं कि जब मुख्य

आत्मा का नाश कोई कर नहीं सकता और शरीरों की कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है तो फिर तुम शोक, मोह किसके लिए कर रहे हो। न आत्मा की दृष्टि से शोक मोहादि युक्तियुक्त है, न शरीर की दृष्टि से। इसलिए शोक मोह जो तुम्हें अकस्मात् प्रादुर्भूत हो गया है उसे अवास्तविक समझकर छोड़ दो और जिस काम के लिए आए हो उस युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ—

“तस्माद् युध्यस्व भारत ।”

यह भी इस पद्य में स्पष्ट हो गया कि मुख्य आत्मा अव्यय पुरुष ही है। क्षर-अक्षर उसकी प्रकृति है। इन सूत्र कथनों का स्पष्टीकरण पन्द्रहवें अध्याय में विस्पष्ट होगा। यह भी विशेष कर ध्यान देने की बात है कि यहाँ पूर्वार्ध में मूल तत्त्व का उपक्रम है। क्योंकि वहाँ “येन सर्वमिदं ततम्” कहा गया है अर्थात् वह सब का उत्पादक है। और उसका “तत्” शब्द से निर्देश किया गया है क्योंकि वह मूल तत्त्व परोक्ष ही रहता है, उसका सर्वकारणत्व रूप से प्रत्यक्ष जीव नहीं कर सकता। इसलिए परोक्ष वाचक “तत्” शब्द का ही निर्देश वहाँ उपपन्न है। आगे उत्तरार्ध में उसे ही “इदम्” शब्द से कहकर उसकी प्रत्यक्ष रूपता दिखा दी गई है और आगे के पद्य में उसे ही शरीरी कहकर अनित्य देह सम्बन्ध उसी का बताया है। इससे परब्रह्म और जीव का एकत्व रूप अद्वैत इस पद्य में स्पष्ट हो गया है। जो वैष्णव आचार्य नहीं मानते वे क्लिष्ट कल्पना रूप से इस पद्य की व्याख्या करते हैं। श्री रामानुजाचार्य ने “ततम्” का अर्थ केवल व्याप्ति मात्र किया है उत्पादन नहीं, अर्थात् जो तत्त्व सर्वत्र व्यापक है। किन्तु जीवात्मा की व्यापकता भी वे नहीं मानते इसलिए व्यापकता का अर्थ भी सूक्ष्मत्व मात्र करते हैं और श्लोक का तात्पर्य केवल नित्यता में ही पर्यवसित मानते हैं।



## सप्तदश-पुष्प

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ अ० २, श्लो० १९

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

पूर्व पद्यों के प्रवचन में कहा गया कि आत्मा अमर है, उसका नाश नहीं हो सकता और शरीरों की वास्तविक सत्ता ही नहीं है। इसलिए जो स्वभावतः असत् है उनका विनाश कहना या मानना भी कोई अर्थ नहीं रखता। इस पर यह शंका हो सकती है कि फिर अमुक व्यक्ति ने अमुक व्यक्ति को मारा यह व्यवहार किस आधार पर होता है। इसका उत्तर— “य एनं वेत्ति” इत्यादि पद्य से देते हैं। इसका अर्थ है कि “आत्मा को जो मारने वाला कहता है और जो मारा गया कहता है, वे दोनों ही नहीं जानते। क्योंकि न यह मारने वाला है, न मारा जाने वाला है। इससे तात्पर्य यह हुआ कि मारने व मरने का व्यवहार अज्ञान की अवस्था में है, वास्तविक ज्ञान होने पर ऐसा व्यवहार नहीं रहता। दूसरा इस पद्य के कथन का यह भी आशय हो सकता है कि भगवद्गीता एक स्मृति है, और स्मृतियों को श्रुति के आधार पर ही आर्य संस्कृति में प्रमाण माना गया है। इसलिए आत्मा की अमरता का जो उपदेश दिया गया, उसे श्रुति से प्रमाणित करने के लिए कठोपनिषद् के दो मन्त्रों को किञ्चित् पाठ भेद से यहाँ कहा गया है। उपनिषद् का पाठ इस प्रकार है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(कठोप० ३-१८)

यहाँ इन मन्त्रों का क्रम भी बदल दिया गया है। श्रुति में जो मन्त्र आगे था उसे पहले पढ़ दिया गया और जो पहले था उसे अनन्तर कहा गया। पूर्वार्ध में कुछ पाठ भेद भी कर दिया गया। इससे यह सूचित किया जाता है कि श्रुति में तो शब्द और क्रम दोनों नियत हैं, उनका परिवर्तन नहीं किया जा सकता। किन्तु स्मृति में अर्थ नियत रहना चाहिए, शब्द और क्रम बदले भी जा सकते हैं। इसलिए श्रुति का स्मृति में उद्धरण करते समय अर्थ की एकरूपता पर ही ध्यान रखा गया। शब्दों को परिवर्तित कर कुछ सुगमता कर दी गई। ऐसा करने का यह आशय भी विद्वान् बतलाते हैं कि श्रुति को पढ़ने का उपनयन संस्कार के अनन्तर केवल द्विजों को ही अधिकार होता है। किन्तु भगवद्गीता का पाठ अनुपनीत, कुमार, स्त्री या द्विजों के अतिरिक्त व्यक्ति भी कर सकें, उन्हें कोई दोष न हो, इसलिए पाठ को किञ्चित् परिवर्तित कर दिया गया। जिससे उसमें श्रुतित्व न रहा। अन्यत्र भी गीता में कई उपनिषदों के मन्त्र उद्धृत हुए

हैं, वे किंचित् पाठ भेद से ही उद्धृत हैं। जैसा का तैसा मन्त्रों का उद्धरण नहीं हुआ है। अस्तु, श्रुति के मन्त्र का भी अभिप्राय वही है कि मारने वाला यदि आत्मा में हनन क्रिया मानता है और मरने वाला अपने को हनन क्रिया का कर्म मानता है, वे दोनों ही अनभिज्ञ हैं। वास्तविकता यही है कि आत्मा न मारता है न मरता है। हनन का निषेध करने से आत्मा को क्रिया रहित भी सिद्ध किया जाता है। आत्मा जब विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक है, तो व्यापक में क्रिया नहीं बन सकती। देश के त्याग और स्थानान्तर गमन ही क्रिया शब्द के बोध्य होते हैं। व्यापक तत्त्व कैसे देश त्याग करेगा। तेज, वायु आदि एक आकाश प्रदेश को छोड़कर आकाश के दूसरे प्रदेश में चले जाते हैं, यही उनकी क्रिया है, इसीलिए वे क्रियाश्रय तत्त्व हैं। परन्तु जो आकाश व्यापक है वह अपना स्थान छोड़कर कहाँ हटेगा। वह कहाँ नहीं है जहाँ जायगा और प्रदेश छोड़ देने पर उसकी व्यापकता समाप्त हो जाती है। किसी प्रदेश में अभाव न होना ही व्यापकत्व या विभुत्व होता है। यदि एक प्रदेश छोड़ेगा तो वहाँ उसका अभाव होगा, ऐसी स्थिति में विभुत्व कहाँ रहा। इसलिए सिद्धान्त यही है कि विभु में क्रिया नहीं होती। हनन क्रिया में यद्यपि देश त्याग स्पष्ट प्रतीत नहीं होता तथापि शस्त्रादि उठाने, फेंकने में अवयवों का देश त्याग तो स्पष्ट ही है। क्रिया मात्र में ही किसी न किसी रूप में देश त्याग आ ही आ जाता है। अतः यहाँ हनन क्रिया के निषेध से समस्त क्रियाओं का आत्मा में निषेध श्रुति और गीता में बता दिया।

न्याय दर्शन में भी आत्मा में क्रिया तो नहीं मानी जाती किन्तु ज्ञान, इच्छा आदि गुणों को वहाँ आत्मा में मान लिया गया है। अन्य सांख्य, वेदांत आदि दर्शन कहते हैं कि गुण भी क्रिया के रूप हैं। क्रिया जब धारावाहिक होकर स्थिर सी प्रतीत होने लग जाती है तो उसे ही “गुण” की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। जैसे धर्म और अधर्म विहित और निषिद्ध क्रियाओं का नाम है। किन्तु उन क्रियाओं का प्रभाव जब आत्मा में धारावाहिक हो जाता है तब उसे संस्कार नाम देकर आत्मा का गुण मान लेते हैं। इसी प्रकार चक्षु की धारावाहिक क्रिया ही रूप नाम से, और त्वचा की धारावाहिक क्रिया स्पर्श नाम से व्यवहार में आ जाती है। यह “मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय” इत्यादि श्लोकों के व्याख्यान में कह चुके हैं। ज्ञान, इच्छा आदि यदि पहले आत्मा में नहीं थे और फिर उत्पन्न हुए तो यह भी एक प्रकार की हलचल ही हुई। विषय का सम्बन्ध आत्मा के साथ हुआ, तब ज्ञान उत्पन्न हुआ, उसे क्रिया कैसे न कहा जायगा। पहले आत्मा किसी विषय को नहीं पकड़ता था, अब उसका ग्रहण करने लगा, इसी को तो ज्ञान कहा जाता है। तब ग्रहण और अग्रहण ये क्रिया कैसे न हुई। न्याय दर्शन की प्रक्रिया में यह बताया जाता है कि विषयों को आत्मा नहीं पकड़ता, इन्द्रियाँ या मन उनका ग्रहण करती हैं। इसलिए इन्द्रियों या मन में क्रिया है, आत्मा में नहीं। किन्तु इस पर फिर तर्क होगा कि यदि आत्मा क्रिया शून्य तटस्थ है, तो ज्ञान, इच्छा आदि

गुण आत्मा में क्यों पैदा हुए। जहाँ क्रिया है उन मन आदि का गुण ही ज्ञान, इच्छा आदि को मानना चाहिए। आत्मा का गुण उन्हें क्यों कहा जाय? यदि कहो कि मन आदि को आत्मा ही प्रेरित करता है तो प्रेरणा भी एक क्रिया हो गई, फिर आत्मा निष्क्रिय कहाँ रहा। लोक में तो ऐसा ही देखा गया है कि वाणी, हाथ आदि का व्यापार करके ही एक दूसरे को प्रेरणा किया करता है। तब बिना क्रिया की प्रेरणा आत्मा में किस आधार पर मानी जायगी। जैसा देखने या सुनने में आता है उसी के अनुसार तो अदृष्ट में भी कल्पना होती है। जब बिना क्रिया या व्यापार के प्रेरणा देखी नहीं जाती तो आत्मा में निष्क्रिय प्रेरणा की निराधार कल्पना नहीं की जा सकती। कई सज्जन इस पर यह कल्पना प्रस्तुत करते हैं कि जैसे किसी बाह्य पत्थर कपड़े आदि को उठाने में हाथ की आवश्यकता है, किन्तु हाथ को उठाने में किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं। वह आत्मा की प्रेरणा से ही उठ जाता है। ऐसे मन आदि की प्रेरणा बिना क्रिया के ही सिद्ध हो जायगी। सारांश यह है कि निष्क्रिय प्रेरक भी नहीं हो सकता। उसमें गुणों की उत्पत्ति भी नहीं बनती। इसलिए आत्मा जैसे निष्क्रिय है वैसे निर्गुण भी है। न्याय दर्शन में गुणों का प्रतिपादन केवल पूर्वभूमिका में शिक्षा देने के लिए ही हैं। सूक्ष्म तत्व को क्रम-क्रम से ही दर्शनों ने समझाया है। न्याय ने पहले निष्क्रिय कहा। आगे सांख्य वेदान्त ने निर्गुण भी बता दिया। किन्तु उनका यह तर्क भी निरी स्थूल बुद्धि का है। हाथ को उठाने में भी प्राण आदि की क्रिया अपेक्षित है जो स्थूल बुद्धियों में नहीं आती। यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि मन प्राण आदि का प्रेरक तो आत्मा को— “केनेषितं पतति प्रेषितं मनः” इत्यादि श्रुतियों में भी माना है, फिर प्रेरणा का निषेध करना श्रुति विरुद्ध होगा। इसका उत्तर है कि श्रुतियों में शुद्ध आत्मा और व्यावहारिक आत्मा दोनों का ही निरूपण भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलता है। “केनेषितं पतति प्रेषितं मनः” इत्यादि श्रुतियों ने इच्छा शक्ति सहित व्यावहारिक आत्मा का ही प्रतिपादन किया है। शुद्ध आत्मा तो निर्गुण और निष्क्रिय है, यही वेदान्त का सिद्धान्त है और यही श्रुति-प्रमाण से यहाँ गीता में द्योतित किया गया है।

पुनः प्रश्न होगा कि आत्मा में गुण-क्रिया नहीं है तो उसका लोकान्तर में गमन या आगमन श्रुति शास्त्रों में कैसे बताया गया। इसका उत्तर यही है कि गमन या आगमन आत्मा का नहीं सूक्ष्म शरीर का होता है। जिस प्रकार एक घट को एक स्थान से उठाकर हम दूसरे स्थान में ले जाँय तो उस घट के भीतर के आकाश पर भी चलने का व्यवहार हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के आने-जाने से उसमें व्यापक रूप से स्थित आत्मा का भी क्रियामय व्यवहार शास्त्र या लोक में प्रसिद्ध हो गया है। आत्मा में क्रिया नहीं हो सकती।

पुनः प्रश्न होता है कि आत्मा न मारता है, न मरता है तो हिंसा करने पर पाप धर्मशास्त्रों में क्यों बताया गया। इसका उत्तर वेदान्त के विद्वान् यही देते हैं कि धर्मशास्त्रों



के नियम व्यवहार दशा के लिए ही हैं, और अज्ञान दशा का ही एक प्रतिष्ठित नाम “व्यवहार दशा” है। इसलिए जैसा सर्वसाधारण लोगों का ज्ञान है उस व्यवहार दशा के आधार पर ही धर्मशास्त्रों के विधि-निषेध चलते हैं। वास्तविक आत्मा का ज्ञान हो जाने पर तो विधि-निषेध, पाप-पुण्य सभी समाप्त हो जाते हैं। जब तक हमने आत्मा के शरीर अन्तःकरण आदि से पृथक् होने का दृढ़ अनुभव प्राप्त नहीं किया तब तक धर्मशास्त्र के विधि-निषेध हमको मानने पड़ेंगे। तथा उन विधि और निषेधों का पालन वास्तविक आत्मा के ज्ञान में सहायक होता है। जैसे “क” “ख” आदि वर्णों का लिपि में बनाया जाने वाला आकार कल्पित है, यह सभी मानते हैं किन्तु उस कल्पित आकार के आधार पर ही हमें सब सत्य विद्याएँ प्राप्त हो जाती हैं। अथवा जो मनुष्य काशी जाना चाहता है, उसका उद्देश्य काशी है, मार्ग के स्थान उसके उद्देश्य नहीं। उनमें जाना उसका लक्ष्य नहीं। किन्तु बिना उनमें गए काशी प्राप्त नहीं हो सकती। इसी तरह मुख्य लक्ष्य आत्मज्ञान, मार्ग रूप विधि और निषेधों से बोधित आचरणों के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए विधि निषेधों के द्वारा बोधित आचारों का पालन और अनाचारों का परित्याग आवश्यक है। आत्मज्ञान हो जाने पर तो मरना और मारना कोई वस्तु ही नहीं रहती; यह आगे

“कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्”

इत्यादि उपदेश में भगवान् ने ही स्पष्ट कर दिया है। अस्तु— इस पद्य का संक्षिप्त तात्पर्य यही है कि मरना और मारना आदि कल्पनाएँ व्यवहार दशा या अज्ञान दशा की है। आत्मा का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर ये कल्पनाएँ स्वतः निवृत्त हो जाती हैं। इनके आधार पर अनुशोचन व्यर्थ है। इसलिए अनुशोचन के कारण युद्ध से निवृत्ति तुम्हारी उचित नहीं, यही अर्जुन को समझाया गया।

व्याकरण में क्रिया के दो रूप माने जाते हैं— फल और व्यापार। व्यापार के आश्रय को कर्त्ता और फल के आश्रय को कर्म कहा जाता है। यहाँ “नायं हन्ति न हन्यते” कहकर दोनों का ही आत्मा में निषेध किया गया है। हनन व्यापार भी उसमें नहीं होता और हनन रूप फल का आश्रय भी वह नहीं बनता। इससे क्रिया का किसी भी प्रकार का सम्पर्क आत्मा के साथ नहीं है यह बताया गया।

इस प्रकार आत्मा के विभु होने के कारण क्रिया और गुणों का वहाँ अभाव बताया गया। किन्तु प्रश्न यह हो सकता है कि आत्मा को विभु मानने में ही क्या प्रमाण। इसलिए विभुत्व का विचार भी यहाँ कर लेना उचित है। आत्मा के सम्बन्ध में दर्शन शास्त्रों में तीन मत पाये जाते हैं। वैष्णव दर्शनों में आत्मा को अणु, अतिसूक्ष्म माना जाता है। जैन दर्शन उसे शरीर परिमाण का कहता है और न्याय सांख्य और वेदांत आत्मा को विभु अर्थात् सर्व व्यापक कहते हैं। अणु मानने में आपत्ति यह आती है कि सर्वशरीर व्यापी चेतना का ग्रहण कैसे हो सकेगा? गंगा के सुशीतल जल में

डुबकी लगाने वाला मनुष्य सर्वांग व्यापी शैत्य का अनुभव करता है। किन्तु शरीर के छोटे प्रदेश में बैठा हुआ अणु सारे शरीर में शैत्य के आह्लाद का अनुभव नहीं कर सकता। इसका उत्तर कुछ दार्शनिक विद्वान् यह देते हैं कि उसमें अतिशीघ्र गति है। इसलिए शीघ्रता से घूमता हुआ सारे शरीर के शैत्य का अनुभव वह कर लेता है। किन्तु बात ठीक नहीं बैठती। शरीर के एक-एक अवयव पर एक-एक बिन्दु डालें, उस समय के आह्लाद में और सहसा डुबकी लगाने के आह्लाद में बड़ा भारी भेद अनुभव सिद्ध है। घूमता हुआ प्रत्येक अवयव शैत्य का अनुभव अति सूक्ष्म क्षण भेद से भी करे तो भी उक्त दोनों प्रकारों में कोई भेद नहीं होना चाहिए। कुछ दार्शनिक उसका यह भी उत्तर देते हैं कि आत्मा तो अति सूक्ष्म एक प्रदेश में ही स्थित रहता है। किन्तु उसकी ज्योति सारे शरीर में व्याप्त रहती है। जैसे घर के एक प्रदेश में जलते हुए दीपक की ज्योति सम्पूर्ण घर में व्याप्त रहती है। किन्तु यह उत्तर तो दार्शनिक प्रक्रिया से बिल्कुल ही दूर है। दीपक की लौ में प्रकाश के घनीभूत अवयव हैं और फैले हुए प्रकाश में वे अवयव विरल हो गए हैं। यह घटना सावयव द्रव्य में ही संभव है। नित्य आत्मा को निरयव कहा जाय तो उक्त घटना वहाँ संभव नहीं। क्योंकि फैलने वाले अवयव कहाँ से आयेंगे? यदि सावयव मान लें तो दीपक की तरह ही उसकी नित्यता स्थापित नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त विभुत्ववादी यह भी आपत्ति देते हैं कि शरीर के एक प्रदेश में बैठा हुआ अणु आत्मा बाह्य पदार्थों का स्पर्श कथमपि नहीं कर सकता और बिना आत्मा के सम्बन्ध के उन बाह्य पदार्थों का प्रकाश नहीं हो सकता। आधुनिक विज्ञानवेत्ता यह कहते हैं कि बाह्य पदार्थों को छूकर प्रकाश की रश्मियाँ मस्तिष्क के भीतर पहुँचती हैं, इसी से उनका प्रकाश होता है। किन्तु यह बात भी अनुभव के विरुद्ध है। हम उन वस्तुओं का अनुभव अपने शरीर से दूर पर करते हैं न कि शरीर के भीतर। वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा आदि की दूरी का अनुभव तो आधुनिक वैज्ञानिकों की प्रक्रिया में बनता ही नहीं। रंगों की विभिन्नता से वे दूरी का अनुमान मात्र कहते हैं। किन्तु उनके कथन का साक्ष्य अनुभव नहीं देता। इसलिए अणुत्ववाद निरापद नहीं। जैन दर्शन में जो शरीर परिमाण का आत्मा माना गया है उसमें तो प्रत्यक्ष ही दोष है कि पुनर्जन्म वे भी मानते हैं। तब एक युवा या वृद्ध का आत्मा जब शरीर से निकला था तब कई हाथ लम्बा चौड़ा था। अब उत्पन्न होते समय बालक के वितस्तिमात्र शरीर में वह कैसे समावेगा और उस बालक का शरीर जब बड़ा हो जायेगा तब आत्मा के नये अवयव कहाँ से आ जायेंगे जिनसे कि वह सारे शरीर में व्याप्त हो सके। अवयवों का टूटना और बढ़ना मानने पर वे अवयव कहाँ गए और कहाँ से आये इसकी कोई उपपत्ति वे नहीं बता सकते। इसके उत्तर में वे आत्मा को संकोच-विकास वाला मानते हैं। किन्तु यह कल्पना भी दार्शनिकता से दूर चली जाती है क्योंकि संकोच-विकास सावयव वस्तु के ही होते हैं और संकोच-विकास वाली सावयव वस्तु नित्य नहीं हो सकती। जिस मनुष्य का हाथ कट गया और उस हाथ के साथ उसमें रहने

वाले आत्मा के अवयव भी पृथक् हो गए या संकुचित होकर शेष अवयवों में लीन हो गए तो उस हाथ के किए हुए कार्यों का स्मरण फिर नहीं होना चाहिए। किन्तु स्मरण बराबर होता है। इसी प्रकार पुनर्जन्मवाद में मान लीजिए कि एक हाथी को कर्मवश चींटी का शरीर मिला तो हाथी का आत्मा उसमें कैसे समावेगा। छोटे कीड़े मकोड़ों ने यदि हाथी-घोड़े का जन्म प्राप्त किया तो उनका आत्मा उस बड़े शरीर में कैसे व्याप्त हो सकेगा। इसलिए शरीर परिमाणवाद भी युक्ति से पूरा नहीं उतरता। सुतरां आत्मा का विभुत्ववाद ही उपयुक्त बैठता है। विभुत्ववाद में भी यह दोष आता है कि आत्मा यदि सर्व व्यापक है तो अनुभूति में शरीर की आवश्यकता क्यों रहती है और जिन वस्तुओं का हम अनुभव करते हैं उन्हें अपने से बाहर क्यों समझते हैं? क्योंकि विभुत्ववाद में तो वे जगत् की सारी वस्तुएँ आत्मा के भीतर ही रहीं। इसका उत्तर विभुत्ववादियों की ओर से यह दिया जाता है कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर आत्मा के भोग साधन हैं। उनकी सहायता के बिना इसे अनुभूति नहीं हो सकती। जितना बड़ा-छोटा और जैसा शरीर मिलता है उसी के द्वारा यह अनुभव किया करता है और उस शरीर से बाहर रहने के कारण ही वस्तुओं को बाह्य समझता है। वृत्ति-लाभ इस शरीर में ही होता है। किन्तु है यह सर्वव्यापक। कदाचित् कहो कि अणुत्ववाद वाला दोष तो यहाँ भी आ जायगा। इतने दूर वृक्ष, पर्वत, चन्द्रमा आदि की अनुभूति बिना शरीर के कैसे हुई, क्योंकि शरीर से तो उन वस्तुओं का संबंध हो नहीं सकता और बिना शरीर के आत्मा अनुभूति नहीं कर सकता। इसके लिए सांख्य और वेदान्त इन्द्रिय, मन आदि को अहंकार द्रव्य से जन्य मानते हैं। वह द्रव्य भी अति शीघ्रगामी और अति विस्तृत है। उसके संबंध से आत्मा बाह्य वस्तुओं की अनुभूति कर लेता है। अस्तु, विषय बहुत गंभीर और विस्तृत है। भगवान् के उपदेश के इस पद्य के द्वारा आत्मा का विभुत्व ही ध्वनित होता है, इतना ही यहाँ कहना उचित होगा। अणु या मध्यम परिमाण का मान लेने पर आत्मा में क्रिया के अभाव का उपपत्ति बहुत क्लिष्ट कल्पना से करना पड़ेगा। अतः विभुत्व ही गीता को अभिप्रेत प्रतीत होता है। दूसरे पद्य का व्याख्यान अग्रिम प्रवचन में होगा और आत्मा को अणु मानने वाले या निष्क्रिय न मानने वाले वैष्णव आचार्य या उनके अनुयायी व्याख्याकार इस पद्य का क्या आशय लगाते हैं, यह भी अग्रिम प्रवचन में ही स्पष्ट किया जा सकेगा।



## अष्टादश-पुष्प

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २।२२

यह पद्य पूर्व प्रवचन के शीर्षक पर भी दिया जा चुका है। इसका शब्दार्थ है कि “आत्मा कदाचित् अर्थात् कभी भी उत्पन्न नहीं होता और कभी भी मरता नहीं। उत्पन्न होकर फिर अभावग्रस्त होना इसका धर्म ही नहीं है। यह तो अजन्मा है, नित्य अर्थात् विनाश रहित है, शाश्वत अर्थात् सदा एक रूप रहने वाला है— कभी क्षीण न होने वाला है, और सबसे पुराना होने पर भी एक ही रूप है अर्थात् शरीर की तरह इसकी वृद्धि भी नहीं होती। अतः शरीर का हनन होने पर भी इसका हनन नहीं होता।”

यहाँ श्री शंकराचार्य “भूत्वा अभविता” ऐसा आकार सहित पदच्छेद मानते हैं। अनित्य पदार्थ “भूत्वा” अर्थात् पैदा होकर “अभविता” अर्थात् अभावग्रस्त हो जाया करते हैं। किन्तु यह ऐसा नहीं। यह पूर्वोक्त जनन-मरण क्रिया के निषेध का ही अनुवाद हुआ। “न जायते” के “न” का “म्रियते” के साथ भी सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध “वा” शब्द ने स्पष्ट किया है। “वा” शब्द यहाँ “च” के अर्थ, समुच्चयार्थक ही मानना होगा। विकल्प अर्थ यहाँ किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता। अस्तु, “न जायते”, “न म्रियते” इन पदों से वर्तमान काल में जनन-मरण क्रियाओं का निषेध किया गया और “भूत्वा अभविता” के द्वारा आत्मा में सदा रहने वाला धर्म बतलाया जाता है कि उत्पन्न होकर अभावग्रस्त होना इसका धर्म ही नहीं है। इसलिए भूत भविष्यत् कालों में भी इसके उत्पत्ति विनाश की शंका नहीं हो सकती। “भविता वा” इस पद में आए हुए दूसरे “वा” शब्द से और “नायं भूत्वा” के “न” शब्द को भूत्वा के साथ जोड़ देने से तथा “अभविता” ऐसा पदच्छेद न कर केवल “भविता” ही रखने से यह अर्थ भी आ जाता है कि “अयं न भूत्वा भविता न” अर्थात् यह पहले न होकर पीछे होने वाला भी नहीं है। इससे सिद्ध हो गया कि जन्म होना भी इसका धर्म नहीं है। अतएव यह आत्मा शास्त्रों में “अज” और “नित्य” कहा गया है। इस प्रकार तीन बार कहने में पुनरुक्ति का समाधान हो जाता है। अथवा “न जायते न म्रियते” यह प्रतिज्ञा वाक्य हुआ। “नायं भूत्वा भविता” यह स्वभाव प्रदर्शन द्वारा हेतु बतलाया गया और “तस्मात् अजः नित्यः” यह निगमन रूप से उपसंहार किया। इस प्रकार न्याय की पंचावयव वाक्य प्रक्रिया से भी पुनरुक्ति का समाधान हो जाता है—अस्तु।

जगत् के पदार्थों में निरुक्तकार यास्क ने ६ प्रकार के विकार बतलाये हैं— “जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।” अर्थात् प्रत्येक दृश्यमान पदार्थ पहले उत्पन्न होता है, अर्थात् सत्ता ग्रहण करता है या प्रकट होता है। फिर “है”

शब्द से कहा जाता है अर्थात् सत्ता धारण करता है, फिर बढ़ता है, आगे परिवर्तित होता है अर्थात् हास की ओर जाने लगता है, तब क्षीण होता है और अन्त में नष्ट हो जाता है। इन छः क्रियाओं में सब क्रियाओं का अन्तर्भाव निरुक्तकार ने माना है। यद्यपि आरम्भ की जनन क्रिया और अन्त की विनाश क्रिया का निषेध होने पर अन्य क्रियाओं का निषेध भी अर्थतः सिद्ध हो जाता है। क्योंकि ये सारे विकार उत्पन्न होने वाले पदार्थों में ही होते हैं। नित्य आकाश आदि में इन विकारों की संभावना नहीं। तथापि शंका निवृत्ति के लिए स्पष्ट रूप से सब विकारों का निषेध भी यहाँ भिन्न-भिन्न विशेषणों द्वारा कर दिया जाता है। “शाश्वतः” शब्द से “अपक्षय” रूप विकार का निषेध किया। शाश्वतः का अर्थ है सदा रहने वाला। यदि अपक्षय हो जायगा तो सदा रहने वाला कहाँ हुआ? कदाचित् यह शंका हो कि “शाश्वतः” शब्द से स्वरूप नाश का ही निषेध होता है। क्षीण होकर स्वरूप बना रहे, इस अपक्षय का निषेध तो इससे नहीं होता तो इसका उत्तर है कि अपक्षय अवयव विनाश या गुण विनाश का ही नाम है। इसलिए किसी प्रकार भी विनाश हो गया तो वह शाश्वत नहीं कहा जा सकता। इसलिए एकरूप रहने वाले को ही शाश्वत कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त आत्मा जब निरवयव है और निर्गुण है तब अवयव विनाश की वहाँ संभावना ही नहीं। इसलिए “शाश्वत” शब्द से “अपक्षय” रूप विकास का अभाव मानना युक्तियुक्त है। आगे “पुराण” शब्द से “वृद्धि” रूप विकास का भी निषेध किया गया है। “पुराण” शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्तकार ने की है कि— “पुरा नवीनं भवति”— अर्थात् जो प्राचीनकाल में भी नया ही था। इससे सिद्ध हो जाता है कि जैसा इस समय है वैसा ही प्राचीनकाल में भी था। तब वृद्धि का निषेध स्पष्ट हो जायगा। “न हन्यते” यहाँ “हन्” धातु का अर्थ परिणाम ही मानना चाहिए। क्योंकि नाश का निषेध तो “न म्रियते” इस वाक्य से ही किया जा चुका है। तब “हन्” धातु से यहाँ ताड़न या अभिभव ही अर्थ विवक्षित मानना युक्तियुक्त है। ताड़न या अभिभव न होने पर परिणाम रूप विकास का निषेध सिद्ध हो गया। इस प्रकार पाँच विकारों का निषेध कर देने पर जो “अस्ति” बचता है, वह विकार रूप नहीं रहता किन्तु स्वरूप सत्ता का ही बोधक रह जाता है। विकारों के मध्य में “अस्ति” कहा जाने पर वह भी एक अवस्था विशेष का बोधक होता है। जैसा कि पहले कह चुके हैं कि “जायते” से सत्ता ग्रहण और अस्ति से सत्ता धारण बतलाया गया। ऐसी स्थिति में प्रवाह पतित होने से वह सत्ता धारण भी एक अवस्था रूप ही रहा। किन्तु जब अन्य विकारों के प्रवाह में अस्ति को न डाला जाय तब केवल अस्ति सत्ता मात्र का ही बोधक रह जाता है जो कि नित्य पदार्थों का स्वरूप ही है, सत्ता धारण रूप क्रिया वहाँ बोधित नहीं होती। इसलिए “अस्ति” का निषेध नहीं किया गया, अस्तित्व तो इष्ट ही है। अथवा विकार पतित अस्तित्व का निषेध शाश्वत पद से हो जाता है। आत्मा ने नया सत्ता धारण नहीं किया किन्तु यह सदा ही अस्तित्व रखता है। इसलिए विकार रूप

छहों क्रियाओं का निषेध इस पद्य के द्वारा बतलाकर आत्मा को निर्विकार सिद्ध किया गया।

अब यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि आत्मा का हनन है ही नहीं तो श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों में “न हन्तव्यः” किसी को मारना नहीं चाहिए यह निषेध क्यों किया जाता है। जो संभव हो उसी का तो निषेध उपयुक्त हो सकता है। संभव ही नहीं उसका निषेध करने का तो कोई प्रयोजन नहीं— “सोने के पंख मत लगाओ” ऐसा निषेध तो मनुष्य को कोई नहीं करता क्योंकि सोने के पंख लगाना संभव ही नहीं है। इसी प्रकार जब हनन संभव ही नहीं तब निषेध क्यों? और न केवल निषेध ही, किन्तु हिंसा करने पर प्रायश्चित्त भी न करने पर नरकपात भी शास्त्रों में वर्णित है। जब हिंसा असंभव हो गई तो प्रायश्चित्त किस बात का और नरक पतन किस कारण से, इन बातों का उत्तर देने के लिए कहा जाता है कि “न हन्यते हन्यमाने शरीरे” अर्थात् शरीर का हनन करने पर भी आत्मा का हनन नहीं होता। इससे यह अभिव्यंजित किया गया कि शरीर का हनन होता है और शास्त्रों में उसी का निषेध और प्रायश्चित्त आदि बताया गया है। पुनः प्रश्न होगा कि शरीर तो जड़ है और अवश्य विनाशशील है, एवं प्रतिक्षण परिवर्तनशील भी है। शरीर का बढ़ना घटना प्रत्यक्ष देखा जाता है। वह वृद्धि या क्षय किसी एक खास वर्ष, मास, दिन या क्षण में नहीं होता किन्तु प्रतिक्षण ही होता रहता है। यह बात विचारशीलों को माननी ही पड़ेगी। तब जो स्वयं विनाशशील है उसके नाश करने का निषेध भी व्यर्थ है और उसका प्रायश्चित्त ही क्या। मार्ग में चलते समय हमारे पैर की ठोकर से कोई मिट्टी का ढेला टूट जाय तो इसका तो प्रायश्चित्त कोई भी शास्त्र नहीं बतलाता। तब मिट्टी का ढेला तोड़ देने में और एक शरीर का हाथ, मस्तक आदि काट देने में क्या भेद हुआ कि जिसका निषेध और प्रायश्चित्त शास्त्र पुकार-पुकार कर कह रहे हैं। तो उसका उत्तर होगा कि शरीर यद्यपि जड़ है किन्तु आत्मा के सम्बन्ध के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब हो गया है। इसी कारण शरीर में अपनेपन का और चेतनता का अभिमान भी सबको है। शरीर या शरीर के अवयवों का हनन करने पर आत्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब वहाँ से हट जाता है। इसे ही आत्मा शरीर वियोग या मरण शब्द से लोक में कहा जाता है। इसी का निषेध और प्रायश्चित्त शास्त्रों में वर्णित है। तात्पर्य यह कि आत्मा का हनन नहीं होता किन्तु शरीर के हनन से आत्मा और शरीर के स्वत्व संबंध का विच्छेद हो जाता है। आत्मा को अणु मानने वालों के मतानुसार यह भी कहा जा सकता है कि शरीर और आत्मा का संयोग विच्छेद हो जाता है। अर्थात् अणु आत्मा उस शरीर को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। इसीका नाम मृत्यु है और ऐसा ही करने का शास्त्रों में निषेध और प्रायश्चित्त या नरक-पतन आदि दण्ड वर्णित है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारना चाहिए कि मिट्टी का ढेला यदि हमारी ठोकर से टूट जाता है तो इससे उस ढेले को किसी प्रकार का कष्ट होना प्रमाणित नहीं

होता। क्योंकि उसमें चैतन्य नहीं है या चैतन्य को व्यापक मानने वालों के मतानुसार चैतन्य आवृत अर्थात् ढका हुआ है, प्रस्फुट नहीं। इसलिए वह ढेला कष्ट का अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु शरीर में इन्द्रियों का विकास होने के कारण चैतन्य प्रस्फुट है और हमें सब प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव होता है। यही शरीर और मिट्टी के ढेले आदि में विलक्षणता है, किसी को कष्ट का अनुभव कराना ही पाप है। उसी का निषेध प्रायश्चित्त और नरक पतन आदि शास्त्रों में वर्णित है। यह तो पूर्व पद्य की व्याख्या में ही कहा जा चुका है कि यह सब विधि-निषेध अविद्या अवस्था में ही लागू होते हैं जो अविद्या अवस्था में पड़े हुए हैं वे शरीर में आत्मभाव भी मानते हैं, कष्ट का अनुभव भी करते हैं और हमने अमुक व्यक्ति को मारा या उसे कष्ट दिया यह अनुभव भी उन्हें बना रहता है। बस इसी अभिमान की अवस्था में दूसरे को कष्टानुभव कराने का निषेध प्रायश्चित्त आदि सब कुछ है। इसलिए आत्मा के इस स्वरूप-ज्ञान से शास्त्रों के विधि-निषेधों का कोई परस्पर विरोध नहीं होता। सभी दार्शनिकों को हिंसा-निषेध की तो इसी प्रकार संगति माननी पड़ेगी। क्योंकि वेदानुयायी दर्शनों में आत्मा का नाश तो कोई भी नहीं मानता। इसलिए आत्मा के हनन का निषेध धर्मशास्त्रादि में किसी भी दार्शनिक के मत से उपपन्न नहीं हो सकता। सभी को यही तात्पर्य मानना पड़ेगा कि आत्मा और शरीर का विच्छेद करना ही हनन है। उसी का निषेध शास्त्रों में किया गया है। विच्छेद शब्द से भी संयोग का अभाव न्याय और सांख्य मत में भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन सिद्धान्तों में भी आत्मा को व्यापक माना गया है। व्यापक के संयोग का अभाव कहीं हो ही नहीं सकता। इसलिए विच्छेद का भी अर्थ स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध का हटना ही उन मतों में भी कहना होगा। अर्थात् स्व कर्मवश जिस शरीर के साथ आत्मा का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अब तक रहा है, वह सम्बन्ध आगे टूट जायगा, इसी का नाम मृत्यु है और इसी का निषेध या प्रायश्चित्त शास्त्रों में कहा गया है। वेद बाह्य दर्शनों में भी जैन दर्शन शरीर के साथ आत्मा का नाश नहीं मानता। हिंसा का निषेध वहाँ भी प्रबल रूप से है। जैनी भी हिंसा का अर्थ शरीर से आत्मा का वियोग ही लगा सकते हैं। अथवा उस वियोग के कारण जो दुःख आत्मा को होता है उसे ही हिंसा शब्द का अर्थ मानकर उसका निषेध माना जा सकता है। हाँ, आत्मा के भी भिन्न-भिन्न पर्याय उस सिद्धान्त में माने जाते हैं। एक जन्म एक पर्याय रूप माना जाय तो उस पर्याय का अभाव कर देना भी हिंसा शब्द का अर्थ उनके मत में हो सकता है, क्योंकि पर्याय उनके मत में विनाशी या अनित्य ही है। बौद्ध दर्शन में सभी पदार्थ प्रतिक्षण विनाशी माने जाते हैं। वहाँ आत्मा भी प्रतिक्षण विनाशी है और वह प्रतिक्षण विनाश सबका स्वभाव सिद्ध है, उसमें किसी विनाश करने वाले की आवश्यकता नहीं। जन्म, मृत्यु शब्द का अर्थ उनके मत में यही होता है कि क्षणिक पदार्थों का प्रवाह सनातन चलता रहता है, उसी के कारण यह वही वस्तु है इत्यादि प्रत्यभिज्ञा भ्रम से

हो जाती है। तब एक जगह उस प्रवाह सनातन का विच्छेद हो जाना ही इस मत में मृत्यु शब्द से कहा जायगा और दूसरी जगह प्रवाह सनातन का प्रवृत्त हो जाना जन्म कहा जायेगा। इस प्रकार का प्रवाह विच्छेद कर देना हिंसा है। इस प्रकार से ही हिंसा निषेध का उपपादन इस मत में भी करना होता है। यद्यपि सब पदार्थ क्षणिक हैं और उनका विनाश स्वतः सिद्ध है किन्तु उसमें अपने को निमित्त बना लेना ही पाप का कारण कहा जा सकता है। स्वसिद्धान्त में भी पूर्वोक्त इस शंका का कि शरीर जब स्वयं विनाशशील है तब उसका नाश करने में पाप का क्या सम्बन्ध हुआ इसका उत्तर यही है कि वे चाहे विनाशशील रहे किन्तु उनके विनाश में अपना सम्बन्ध जोड़ना यही पाप है। मृत्यु तो सबकी अवश्यंभावी है। किन्तु उस मृत्यु का कारण जो अपने आपको बनावे वह पाप का भागी होता है। स्वभावतः जो होता है, वह होता रहे, हम उसमें निमित्त क्यों बनें। अपने निमित्त बनने के कारण अपने चित्त में विनाश करने का अभिमान होता है और वह अभिमान ही पाप और पुण्य का कारण है, यही भगवद्गीता में स्पष्ट किया गया है। अस्तु, केवल चार्वाक दर्शन में ही आत्मा का विनाश कहा जा सकता है, क्योंकि उनके मत में शरीर ही आत्मा है। शरीर का नाश ही आत्मा का विनाश हुआ। किन्तु उस मत में पुण्य पाप की कोई व्यवस्था ही नहीं, क्योंकि कर्म फल भोगने वाला आगे कोई नहीं रहता, अतः अदृष्टवादी सभी शास्त्र उनके मतानुसार मान्य हो नहीं सकते। तब जो शास्त्र मानते हैं उनके मत में हिंसा का पूर्वोक्त ही अर्थ करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कोई गति नहीं।

कहा जा चुका है कि वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्त में जीवात्मा को व्यापक नहीं माना जाता, अणु माना जाता है। तब पूर्वोक्त प्रकार से सब क्रियाओं का अभाव उनके मत में नहीं बन सकता। क्योंकि अणु में क्रिया हो सकती है, इसलिए शरीर की क्रियाओं का प्रेरक स्वयं क्रियाशील होकर आत्मा होता है ऐसा मानने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं। इसलिए “नायं हन्ति न हन्यते” इस पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में वे हनन क्रिया को सब क्रियाओं का उपलक्षण नहीं मानते। केवल इस श्लोक का इतना ही अर्थ लगाते हैं कि आत्मा की नित्यता के कारण उसका हनन नहीं हो सकता। जब हनन ही नहीं हो सकता तो हनन का कर्ता भी कोई कैसे सिद्ध होगा। हनन हो तभी तो हनन का कर्ता बने इस लिए जो आत्मा का हन्ता किसी को मानता है वह भ्रम में है। यही पूर्व श्लोक का आशय उनके मतों में होता है। श्रीरामानुजाचार्य ने “य एनं वेत्ति हन्तारम्” में “एनम्” के आगे “प्रति” का अध्याहार कर आत्मा के प्रति जो किसी को हन्ता अर्थात् मारने वाला मानता है वह अज्ञानी है यही अर्थ लगाया है और हनन का अर्थ भी शरीर और आत्मा का वियोग ही किया है। मध्वाचार्य कहते हैं कि जीवात्मा तो परमात्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रतिबिम्ब में कोई क्रिया नहीं होती। बिम्ब की क्रिया ही प्रतिबिम्ब में भासित हो जाया करती है। इसलिए जीवात्मा में हनन का व्यवहार



भ्रान्ति से ही चला है। जीव की प्रतिबिम्बरूपता का तात्पर्य उनके मत में यही है कि जीव सर्वथा स्वतंत्र नहीं है। ईश्वर प्रेरणा से ही उसके सब कार्य होते हैं। जैसे प्रतिबिम्ब स्वतः कुछ नहीं कर सकता। उसमें जो क्रिया प्रतीत होती है वह बिंब की ही क्रिया होगी अथवा जिस पर प्रतिबिम्ब हुआ उन दर्पण जल आदि की क्रिया भी उसमें प्रतीत हो सकती है। किन्तु स्वतः प्रतिबिम्ब में कोई क्रिया होना संभव नहीं। अतः जीव को हनन आदि क्रियाओं का कर्ता मानना अज्ञान ही भगवान् ने बतलाया। इनके मत में सभी क्रियाओं का निषेध जीवात्मा में पूर्वोक्त प्रकार से उपपन्न हो जाता है। इस श्लोक के भाष्य में मध्वाचार्य ने यह प्रतिबिंबवाद स्पष्ट लिखा है। पाणिनि मुनि ने कर्ता का लक्षण “स्वतंत्रः कर्ता” ही किया है। जीव में जब स्वातन्त्र्य नहीं तब कर्तृत्व भी कैसे कहा जायगा। इसी आशय से भगवान् ने कर्तृत्व माननेवालों को अज्ञानी बतलाया है। इस मत में यद्यपि हिंसा के निषेध वाक्यों का तात्पर्य लगाना कठिन है। क्योंकि जीव जब सर्वथा परतन्त्र है, किसी क्रिया का कर्तृत्व जब उसमें हो ही नहीं सकता तब उस क्रिया के द्वारा होने वाले पाप-पुण्य का दायित्व उस पर कैसे लादा जाय और वह पाप-पुण्य का भागी कैसे हो। तथापि यही उत्तर दिया जा सकता है कि कौषीतकी उपनिषत् में—

“एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते-  
एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तम्, यमधो निनीषति- ”

कौषीतकी ३,९

ऐसा कहा है। अर्थात् ईश्वर जिसे उन्नत करना चाहता है उससे उत्तम कार्य करवाता है और जिसे अधोगति में ले जाना चाहता है उससे अनुचित कर्म करवाता है। इस पर वेदान्त दर्शन में प्रश्न उठाया गया है कि तब तो ईश्वर में विषमता आ गई। क्योंकि वह किसी को उन्नत तथा किसी को अवनत करना चाहता है। इसी का नाम विषमता है। इसका उत्तर वेदान्त सूत्र अध्याय २, पाद ३, सूत्र ४२ में यह दिया गया है कि पूर्व कर्मों को लक्ष्य में रखकर ही ईश्वर अग्रिम कर्मों में प्रेरणा करता है। इसलिए उसमें विषमता नहीं आ सकती और संसार चक्र अनादि है, इसलिए सबसे प्रथम प्रेरणा किस आधार पर हुई यह प्रश्न भी नहीं उठ सकता। क्योंकि इस चक्र का आदि कहीं है ही नहीं। अतः पूर्व-पूर्व कर्मानुसार उत्तरोत्तर कर्म में प्रेरणा होती रहती है। इससे ईश्वर में विषमता नहीं आती। उक्त सूत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने कहा है कि ईश्वर मेघ वर्षा के समान सामान्य कारण है। जैसे मेघ वृष्टि सर्वत्र होती है, उसमें कोई विषमता नहीं। किन्तु जिस क्षेत्र में धान बोया गया है, वहाँ चावल ही पैदा होगा, और जहाँ बाजरा आदि सामान्य अन्य बोया गया है वहाँ वही पैदा होगा। इसमें मेघ की कोई विषमता नहीं कही जा सकती। इसी प्रकार ईश्वर की प्रेरणा मेघ वृष्टि के समान है उस प्रेरणा से जिसके अन्तःकरण में पूर्व कर्मानुसार जैसे संस्कार हैं तदनुकूल ही

उसकी प्रवृत्ति हो जाती है, इसमें ईश्वर पर कोई विषमता नहीं आती। पुनरपि प्रश्न होगा कि ईश्वर में विषमता न सही किन्तु विधि प्रतिषेधशास्त्र तो फिर भी व्यर्थ ही होंगे। क्योंकि पूर्व संस्कारानुसार ईश्वर प्रेरणा से जीव कर्म करता जायगा। विधि-निषेध शास्त्र उसमें क्या कर सकते हैं, इसका भी उत्तर उक्त वेदान्त सूत्र में यही दिया गया है कि सामान्य रूप से प्रेरणा कर्ता ईश्वर भले ही रहे, किन्तु कर्तृत्व तो जीव का ही है। प्रयोजक कर्ता और स्वतंत्र कर्ता इन दोनों को व्याकरण शास्त्र में भिन्न-भिन्न ही माना जाता है। जब जीव में कर्तृत्व रहा तो उसके प्रति विधि-निषेध शास्त्रों की सफलता भी सिद्ध ही है। जैसे पूर्व संस्कारों का प्रभाव है, वैसे ही विधि-निषेध शास्त्रों का भी प्रभाव होता ही है। उन्हें व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। यही समाधान प्रकृत में श्रीमध्वाचार्य के मत में भी हो सकेगा। इस कर्तृत्व का विवेचन भगवद्गीता के १८वें अध्याय के “अधिष्ठानं तथा कर्ता” इत्यादि श्लोक १४, १५ में होगा। वहीं इस विषय का अधिक स्पष्ट विवरण करेंगे। अस्तु।

श्रीनिम्बार्काचार्य के सिद्धान्त की अनुगामिनी तत्त्व प्रकाशिका टीका ने भी प्रायः श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार ही व्याख्या की है। श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्तानुसार की गई व्याख्या में भी इसी प्रकार जीव की नित्यता के कारण मरने-मरने की बुद्धि को अज्ञान जनित कहा गया है, और सब कुछ भगवदिच्छानुसार ही होता है, इसलिए विधि-निषेध शास्त्र भी उनकी क्रीड़ा मात्र ही है। हनन का अर्थ भी देह और जीव का वियोग ही है, इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से ही व्याख्या की गई है।

इनके सिद्धान्त में जीव की परमात्मा से उत्पत्ति मानी जाती है। इसलिए “न जायते” कहना भी विरुद्ध सा प्रतीत होता है। किन्तु इसका भी समाधान उनके अनुयायी यही करते हैं कि भगवदिच्छा से उसे जीव भाव प्राप्त हो गया। वास्तव में तो वह भगवान् का अंश ही है। इसलिए भगवदंशरूपता से “न जायते” कहना उपपन्न हो जाता है। भगवान् ने अपनी इच्छा से चाहे जीव को पृथक् कर दिया। किन्तु वास्तव में तो वह जन्ममरणशून्य भगवद्रूप ही है। इसलिए वैसे ही विशेषणों से उसका विवरण यहाँ गीता में किया गया है। “नायं भूत्वा भविता वा न भूयः” इसका यह भी एक आशय है कि आकाशादि कई तत्व या सनत्कुमारादि भगवत्पार्षद कई जगह ऐसे माने गए हैं कि जो सृष्टि के आदि में एक बार उत्पन्न हो जाते हैं। फिर यावत्कल्प बने रहते हैं। उन्हें बार-बार जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। इसलिए वे “भूत्वा भूयः न भविता” हैं— अर्थात् उत्पन्न होकर फिर बार-बार उत्पन्न होने वाले नहीं हैं। किन्तु यह आत्म वैसा भी नहीं। उनसे भी विलक्षण है। अर्थात् उसके उत्पत्ति विनाश कर्म भी नहीं होते।

## उन्नीसवां-पुष्प

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ अ० २।२१

पूर्व के दो पद्यों से आत्मा में विकार की संभावना न होना बतलाया गया है। उसी विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि “जो इस प्रकार आत्मा को नित्य, अविनाशी (नष्ट न होने वाला) अज, (जन्म न लेने वाला) और अव्यय अर्थात् न्यूनाधिक भाव से न रहने वाला— इस रूप में जान लेता है वह पुरुष किसको मार सकता है और किसके प्रति अन्य पुरुष को मारने की प्रेरणा कर सकता है।”

यहाँ “अविनाशी” “नित्य” “अज” और “अव्यय” इन शब्दों में पुनरुक्ति सी प्रतीत होती है। उसका समाधान व्याख्याकार इस प्रकार करते हैं कि पूर्व पद्य में जो छहों भाव विकारों का अभाव आत्मा में बताया गया उसी की आवृत्ति उपसंहार में की गई है। “अज” शब्द से उत्पत्ति-रूप विकार का, “अव्यय” शब्द से वृद्धि और अपक्षय का, “अविनाशी” शब्द से विनाश रूप अन्तिम विकार का और “नित्य” शब्द से परिणाम रूप विकार का निषेध किया गया है। इस प्रकार पाँचों विकारों का निषेध हो जाने पर केवल सत्ता ही रह जाती है जो कि विकार रूप नहीं है, स्वरूप ही है। अथवा “नित्य” शब्द से स्वाभाविक नाश का निषेध किया गया और “अविनाशी” शब्द से नैमित्तिक विनाश का निषेध किया गया। बौद्ध दर्शन में सब वस्तुओं का स्वभावतः विनाश माना जाता है और न्याय दर्शन में उत्पत्ति और विनाश दोनों किसी निमित्त से होते हैं। दोनों ही प्रकार का प्रसंग यहाँ नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक विनाश मानने वाले स्वाभाविक ही उत्पत्ति भी मानते हैं। जब यह “अज” अर्थात् उत्पत्ति से रहित है तो विनाश का प्रसंग भी नहीं आ सकता। और “अव्यय” अर्थात् अविकारी होने के कारण किसी निमित्त से भी विनाश का प्रसंग नहीं। किसी पुरुष के दुष्ट हो जाने पर भी “यह नष्ट होगया” ऐसा लोक में व्यवहार होता है। वैसा विनाश भी आत्मा का संभव नहीं, क्योंकि अविकारी होने के कारण दोष की यहाँ कोई संभावना नहीं। इसलिए यह सर्वरूप से नित्य ही है इत्यादि रूप से भिन्न-भिन्न विशेषणों का पृथक्-पृथक् अभिप्राय होने के कारण विशेषणों में पुनरुक्ति नहीं है। अर्जुन को दोनों प्रकार की शंका थी कि मैं गुरुजनों को मारूँगा इसलिए भी मुझे पाप होगा और सेना का नायक, परिचालन होने के कारण औरों के द्वारा भी बहुतों को नाश करवाऊँगा इसलिए प्रेरणा का भी पाप मुझे होगा। अथवा अर्जुन को यह भी शंका हो सकती है कि भगवान् कृष्ण मुझे भीष्म द्रोणादि के मारने की प्रेरणा कर रहे हैं तो पाप की प्रेरणा का पाप इनको भी होगा। इन दोनों शंकाओं का निवारण करने के लिए “कं घातयति,” और “कं हन्ति”, दोनों पदों से हनन क्रिया और प्रेरणा क्रिया, दोनों का ही निषेध भगवान् ने किया है। संस्कृत

भाषा में “किम्” शब्द का प्रयोग प्रश्न अर्थ में भी होता है और आक्षेप अर्थ में भी। यहाँ भगवान् स्वयं उपदेश दे रहे हैं, प्रश्न का कोई प्रसंग नहीं है, इसलिए आक्षेप ही “किम्” शब्द का अर्थ है। अर्थात् हनन या प्रेरणा आत्मा में संभव नहीं हो सकती। कदाचित् प्रश्न हो कि हनन, प्रेरणा आदि सब क्रियाओं का व्यवहार तो आत्मा में स्पष्ट देखा जाता है। अमुक पुरुष ने अमुक को मार दिया या अमुक पुरुष को किसी के द्वारा मरवा दिया ऐसा अन्य लोग भी व्यवहार करते हैं, और स्वयं भी मनुष्य के हृदय में ऐसा अनुभव होता है कि मैं इसे मार रहा हूँ, मैं मारने की प्रेरणा कर रहा हूँ, इत्यादि। इसका उत्तर होगा कि आत्मा के स्वरूप को जो नहीं जानते वे ही ऐसा व्यवहार करते हैं। जो आत्मा के स्वरूप को जान गए कि आत्मा सर्व विकार रहित और व्यापक तत्त्व है वे ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते क्योंकि व्यापक तत्त्व में क्रिया हो ही नहीं सकती इसका विशेष विवरण “य एनं वेत्ति हन्तारम्” इत्यादि पूर्व श्लोक में कर चुके हैं। कदाचित् प्रश्न हो कि यह उपदेश सुनकर आत्मा के नित्यत्व और व्यापकत्व का ज्ञान तो हमें हो गया किन्तु हनन आदि सब क्रियाओं का अपने में या दूसरे में भान तो अब भी होता ही है तो इसका उत्तर है कि शब्द सुनकर जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है। वह अनादि काल से चली आ रही कर्तृत्व आदि भ्रम की वासना को निवृत्त नहीं कर सकता। अनादि काल का भ्रम बद्धमूल है, अपनी जड़ जमाए बैठा है, उसे एकबार सुनने से जो अल्पकालिक ज्ञान होगा वह कैसे हटा सकेगा। लोक में एक कहावत प्रसिद्ध है कि किसी हिन्दू जाति के मनुष्य ने अपनी चालीस वर्ष की अवस्था में धर्म परिवर्तन कर मुस्लिम धर्म को ग्रहण कर लिया और एक मौलवी साहब की देखरेख में रहने लगा। दूसरे दिन प्रातःकाल जब उठा तो अपने पूर्व संस्कार के अनुसार “हरे कृष्ण गोविन्द दामोदर” इत्यादि स्मरण करने लगा। जब मौलवी साहब ने उसे डाँटा कि यह क्या करता है, तुझे “अल्ला; खुदा”, का नाम लेना चाहिए, तब उसने उत्तर दिया कि मौलवी साहब! आपका अल्ला और खुदा मेरे हृदय में अभी एक दिन हुए तब आया है, वह चालीस वर्ष से हृदय में बैठे हुए “कृष्ण-गोविन्द” को इतना जल्दी कैसे हटा सकेगा। वही बात यहाँ भी है। अनादि काल का भ्रम वासना एक बार के शब्द जन्य परोक्ष ज्ञान से दूर नहीं हो सकती। जब चिरकाल तक इस उपदेश का मनन और निदिध्यासन होकर आत्मा के व्यापकत्व, अकर्तृत्व आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होगा तब ही वह भ्रम वासना निवृत्त होगी और ऐसा प्रत्यक्षानुभव करने वाला पुरुष ही विद्वान् या आत्मवित् कहलाने का अधिकारी हो सकता है। उस के लिए भगवान् ने यहाँ कहा है कि वह किसको मारता है और किसको मारने की प्रेरणा कर सकता है। प्रत्युत् इस पद्य में यह भी भाव निकल सकता है। कि “स कथं पुरुषः”, अर्थात् वह जीवन्मुक्त पुरुष पद से भी क्यों कहा जाय। क्योंकि “पुरुष” शब्द का अर्थ भी तो वही है कि जो शरीर आदि पुर में शयन करे वह पुरुष कहलाता है

ईश्वर के लिए जो पुरुष पद का व्यवहार श्रुतियों में हुआ है वह भी मायारूप पुर में शयन करने के कारण ही है। शुद्ध निष्कल ब्रह्म को पुरुष नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जब स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों में बद्ध रहने की भावना रहे तब ही जीव भी पुरुष कहलाता है। जिसने आत्मा को तीनों शरीरों से पृथक् या यह कहो कि उनसे कोई सम्बन्ध न रखने वाला, समझ लिया वह पुरुष भी किस आधार से कहा जाय। इसलिए जीवन्मुक्त को पुरुष भी भूतपूर्व गति से ही कह सकते हैं। वस्तुतः वह पुरुष नहीं है।

श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार इस पद्य से “कर्मसंन्यास” का प्रभाव प्रकट होना कहते हैं। यहाँ यद्यपि हनन क्रिया और हनन क्रिया के फल का ही निषेध किया गया है। किन्तु वह एक उपलक्षण मात्र है। आत्मा में कोई क्रिया नहीं हो सकती और न उसका कोई फल आत्मा पर संभव हो सकता है। क्योंकि आत्मा व्यापक और निर्विकार है। व्यापक में क्रिया और निर्विकार में क्रिया के फल का होना संभव नहीं यह बात पूर्व के दो पद्यों के व्याख्यानों में स्पष्ट की जा चुकी है। जब आत्मा में क्रिया का फल होना संभव ही नहीं तो फिर सब क्रियाएँ जल ताड़न के समान निष्फल ही कही जायेंगी। इसलिए आत्मज्ञ विद्वान् कोई क्रिया नहीं करता। वह समस्त कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग कर देता है, यही इस पद्य का आशय स्पष्ट होता है। इससे कर्म संन्यास का विधान यहाँ सिद्ध होता है। इस पर प्रश्न यह होता है कि यदि किसी क्रिया का फल आत्मा पर नहीं माना जाय तो शास्त्रों में जो विधि और निषेध है वे सब व्यर्थ हो जायेंगे। विधि वाक्यों का तात्पर्य यही है कि यज्ञादि कर्म करने से अभ्युदय होता है और प्रतिषेध वाक्यों का तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि कर्म करने से आत्मिक पतन होता है। जब आत्मा के अभ्युदय और पतन हो ही नहीं सकते तो वे विधि और निषेध सर्वथा व्यर्थ होंगे। इसका उत्तर संन्यास मार्ग के अनुयायी यह देते हैं कि विधि-निषेध आदि सारे शास्त्र अविद्वान् के लिए हैं। जब तक पूर्वोक्त रूप से आत्मा का साक्षात्कार अर्थात् विस्पष्ट अनुभव नहीं हुआ तब तक वह अविद्वान् पुरुष व्यवहार दशा में अपना ही अभ्युदय और पतन समझता रहता है, और उसकी प्राप्ति या उससे बचने के उपाय भी आवश्यक समझ कर करता रहता है। उसी के लिए उपाय रूप से विधि और निषेध शास्त्रों में बताये गए हैं। आत्मज्ञ विद्वान् के लिए न कोई विधि है न कोई निषेध। वह विधि-निषेध से अलग हो गया है। उसका तो केवल आत्मज्ञान में अधिकार है। इसीलिए विद्वानों की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि—

“निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः”

अर्थात् गुणत्रय के मार्ग से जो पृथक् हो गया उसके लिए विधि और निषेध कुछ भी नहीं। यह सब पूर्व प्रवचन में भी स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ उसे प्रसंगागत पुनः कहा गया। तब पुनः शंका होती है कि ज्ञान का विधान भी तो अविद्वान् के लिए ही है। जिसे ज्ञान प्राप्त हो चुका उसे ज्ञान में प्रवृत्त कराने की क्या आवश्यकता? उत्तर है कि ठीक है, जब तक ज्ञान परिपक्व न हो तभी तक ज्ञान के उपाय श्रवण, मनन आदि भी कर्तव्य रहते हैं। ज्ञान का परिपाक हो जाने पर तो इनकी भी कोई आवश्यकता नहीं। इसीलिए वहाँ सर्व कर्म संन्यास कहा जाता है। फिर प्रश्न होता है कि यदि अविद्या की दशा में अविद्वान् के लिए ही सारे शास्त्रों का उपयोग होता है तो वे भी एक प्रकार से अविद्या के ही अन्तर्गत हुए। फिर उनमें प्रामाण्य शिष्ट लोग क्यों मानते हैं? इसका भी उत्तर इस मार्ग के अनुयायी यही देते हैं कि जब सब व्यवहार अविद्या के ही अन्तर्गत चलते हैं तो उनके प्रतिपादक शास्त्र भी अविद्या से बहिर्भूत कैसे हो सकेंगे। अविद्या की दशा में अर्थात् व्यवहार दशा में ही उनका प्रामाण्य है। शारीरिक भाष्य की अवतरणिका में श्रीशंकराचार्य ने संपूर्ण प्रमाण प्रमेय व्यवहार को अविद्यावान् के लिए ही उपयोगी सिद्ध किया है। आत्मज्ञ विद्वान् के लिए तो स्पष्ट कहा गया है कि—

“नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्”

अर्थात् बहुत से शब्दों के विचार में नहीं पड़ना चाहिए, वह प्रमाणभूत शब्दों का अभ्यास भी वाणी को ग्लानि में डालता है। अन्यत्र कहा गया है—

“अन्या वाचो विमुञ्चथ”

अर्थात् आत्मानुचिन्तन के अतिरिक्त अन्य वाणी मात्र को छोड़ दो। इसी आधार पर उपनिषदों में परा और अपरा नाम से विद्याओं के दो भेद प्रस्तुत कर वेद-वेदांग आदि सब को अपरा विद्या की कोटि में ही गिनाया गया है। केवल आत्म प्रतिपादक शास्त्र ही परा विद्या माने गए हैं। उनका भी मनन ज्ञान के परिपाक होने तक ही आवश्यक है। परिपाक हो जाने पर उनका भी प्रयोजन न रहने से त्याग ही करना होगा। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने इष्ट स्थान में पहुँचने के लिए किसी सवारी का उपयोग करता है और नियत स्थान पर पहुँच जाने के अनन्तर उसका त्याग ही करना आवश्यक होता है। यदि उपयोगी समझ कर फिर भी सवारी को न छोड़े, तो उस पर सदा बैठा इधर-उधर चक्कर काटता रहेगा, अपना इष्ट स्थान उसे कभी प्राप्त न होगा। इसी प्रकार शास्त्र या उनके प्रतिपादित कर्म विस्पष्ट आत्मज्ञान तक पहुँचा देने में ही उपयोगी हैं। आत्मज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर भी उनका यदि त्याग न किया जाय तो आवागमन के चक्र में ही पड़ा रहना होगा। मुक्ति कभी न मिलेगी। इसलिए मुक्ति तो सर्वकर्मसंन्यास से ही साध्य है।

इस पर बहुत बड़ी शंका यह उपस्थित होती है कि प्रथम अध्याय के आलोचन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अर्जुन कर्म छोड़कर भिक्षान्न भोजन रूप संन्यास धर्म में ही प्रवृत्त होना चाहता था। उसे कर्म संन्यास से हटाकर कर्म में प्रवृत्त करने के लिए ही तो गीता के उपदेश का समारंभ है। तब इस उपदेश में भी यदि कर्म संन्यास की मुख्यता बता दी जाय तो अर्जुन जो कुछ करने लगा था वही ठीक था। फिर उपदेश की आवश्यकता ही क्या थी? इसका भी उत्तर इस मार्ग के अनुयायी यही देते हैं कि अर्जुन अभी परिपक्व ज्ञान संपन्न नहीं था। वह यदि कर्म छोड़ देता तो “इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः” हो जाता। जैसे मार्ग के मध्य में ही यदि कोई सवारी छोड़ दे तो वह इधर या उधर कहीं का नहीं रहता। इसीलिए भगवान् को यह उपदेश देना पड़ा कि तुम्हारा अधिकार अभी कर्म में ही है। तुम कर्म छोड़ देने से मार्ग भ्रष्ट हो जाओगे। किन्तु अज्ञान रूप मोह दूर करने के लिए आत्मा का स्वरूप भी बतलाना आवश्यक था। उसके संबंध से कर्म संन्यास की बात भी प्रसंग में आ ही जाती है और इसलिए भी भगवान् उसे प्रकट कर देते हैं कि मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य वही है। इसलिए यहाँ भी कर्म-संन्यास का प्रतिपादन हो जाना अनुपयुक्त नहीं है।

अन्यान्य वैष्णव आदि संप्रदायों के अनुयायी व्याख्याकार यहाँ कर्म संन्यास का प्रतिपादन नहीं मानते। उनका आशय यही है कि यहाँ तो आत्मा की नित्यता का ही प्रकरण चल रहा है। इसलिए “न हन्यते” कहने का ही भगवान् का तात्पर्य है। जब हनन होता ही नहीं तो आत्मज्ञ विद्वान् हनन करना या कराना भी कैसे मानेगा। इस प्रकार हनन क्रिया और उसके फल के निषेध में ही यहाँ तात्पर्य है। हनन को समस्त क्रियाओं का उपलक्षण समझ लेना प्रकरण और युक्ति दोनों के विरुद्ध है। वैष्णव संप्रदायों के आचार्य आत्मा को अणु मानते हैं। अणु का विभाग नहीं हो सकता, इसलिए उसमें नित्यता युक्तियुक्त है। किन्तु अणु में क्रिया भी न हो सके इसकी कोई युक्ति नहीं। इसलिए सर्वक्रियानिषेध युक्ति सिद्ध नहीं होता। इसीलिए शास्त्रोक्त विधि-निषेध भी उपपन्न हो जाते हैं, और कर्म करना व उसका फल भोगना दोनों ही बातें जीव में उपपन्न हो जाती हैं। फल भोक्ता होने पर भी स्वरूप नाश नहीं होता यही इस मत में निर्विकारता का तात्पर्य है। जैसा कि न्यायशास्त्र के सिद्धान्त में बुद्धि सुख-दुःख आदि गुणों के आत्मा में उत्पन्न विनष्ट होते रहने पर भी स्वरूप नाश न होने के कारण आत्मा की नित्यता बनी रहती है उसी प्रकार वैष्णव सिद्धान्तों में भी आत्मा की नित्यता जान लेनी चाहिए।

लोकमान्य तिलक यद्यपि दार्शनिक विषयों में श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के अनुयायी हैं तथापि वे गीता का प्रतिपाद्य कर्म संन्यास नहीं मानते। उनका मत है कि यद्यपि आत्मा निर्विकार है उसमें क्रिया या क्रिया का फल संभव नहीं। किन्तु उसकी

प्रेरणा से मन, वाक् शरीर आदि में तो कर्म होते ही हैं। वे जैसे संसारी पुरुष के होते हैं वैसे ही ज्ञानी पुरुष के भी होते रहेंगे और फल भोग की इच्छा तो होनी ही न चाहिए। यही गीता का सिद्धान्त है कि फल भोग की इच्छा न रहने पर भी कर्तव्य बुद्धि से या लोकसंग्रहार्थ कर्म करना उचित है। यह आगे कर्म योग के प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जायगा। यहाँ मतभेद का प्रदर्शन मात्र कर दिया गया है। यहाँ श्रीविद्यावाचस्पति जी के पूर्वोक्त सिद्धान्त का भी स्मरण कर लेना चाहिए कि अव्यय शब्द केवल विशेषण रूप नहीं किन्तु परमात्मा और उसके अंश भूत निर्विकार आत्मा के लिए निरूढ़ है। अतएव जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसंग आता है वहाँ अव्यय शब्द गीता में अवश्य प्रयुक्त हुआ है। यह सब विषय पूर्व- “अविनाशि तु तद्विद्धि” इत्यादि श्लोक के प्रवचन में स्पष्ट कर चुके हैं! यहाँ भी उसका स्मरण करा देना आवश्यक था।





## बीसवां-पुष्प

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥अ० २।२१

अब प्रश्न होता है कि यदि जन्म-मृत्यु आत्मा के हैं ही नहीं तो संसार में “बालक का जन्म हुआ”, “अमुक व्यक्ति मर गया” आदि व्यवहार किस आधार पर प्रचलित होते हैं। इसका उत्तर इस पद्य से दिया जाता है कि जिस प्रकार कोई भी मनुष्य फटे वस्त्रों को छोड़कर, नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार देही आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों में चला जाया करता है। यह नये शरीरों का परिग्रह ही जन्म नाम से व्यवहृत होता है और जीर्ण शरीर के परित्याग को ही मृत्यु कहते हैं।

यहाँ जीर्णता से अभिप्राय केवल वृद्धावस्था के कारण अशक्त हो जाने का ही नहीं है किन्तु जिन कर्मों के कारण यह शरीर मिला है उन प्रारब्ध कर्मों का समाप्त हो जाना ही जीर्णता है। इसलिए युवावस्था में या बाल्यावस्था में भी मृत्यु होना उपपन्न हो जाता है। जितने कर्मों के फल भोग के लिए यह शरीर प्राप्त हुआ उतने कर्मों का फल भोग समाप्त हो जाने पर वह शरीर आगे कार्य करने में अशक्त हो जायगा क्योंकि पूर्व कर्म ही आगे के कर्म कराने में सहायक होते हैं यह गीता के अन्तिम अध्यायों में स्पष्ट हो जायगा। जब पूर्व कर्म का संस्कार नहीं रहा तो आगे कर्म करने में अशक्ति होगी। यही अशक्ति यहाँ जीर्णता पद से कही गई है। इसका अभिप्राय यही हुआ कि जैसे शरीर के लिए शोभाकारक या शीतादि निवारक वस्त्र हैं इसी प्रकार जीवात्मा के लिए कर्म साधन वस्त्र स्थानीय शरीर हैं। जैसे वस्त्र बदल देने पर भी शरीर के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता वैसे ही शरीर बदल लेने पर भी आत्मा के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। यहाँ प्रश्न उपस्थित होगा कि आत्मा को जब विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक माना जाता है तब एक शरीर छोड़ना और दूसरा ग्रहण करना यह क्रिया आत्मा में कैसे संभव हो सकेगी। क्योंकि जो तत्त्व सर्वत्र व्यापक है उसमें तो देश त्याग रूप क्रिया संभव ही नहीं हो सकती। आकाश अपना स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर कैसे जा सकता है। इसी प्रकार व्यापक आत्मा एक स्थान से दूसरे स्थान में कैसे चला जायगा। इसका उत्तर है कि हमारे दर्शन शास्त्रों में शरीर तीन प्रकार के माने गए हैं, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, और कारण शरीर। इनमें एक स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर दूसरे स्थूल शरीर में चला जाता है। इसी का नाम मृत्यु या जन्म है। जैसे एक घड़े को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में रख देने पर घड़े के चलने के कारण घटाकाश का ही चलना मान लिया जाता है, तभी तो उस घट के आकाश में भरा हुआ अन्न, घृत, जल आदि भी अब दूसरे स्थान में मिलने लगता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर

के चलने के कारण उसमें परिच्छिन्न आत्मा का भी चलना मान लिया जाता है। इसी अभिप्राय से यहाँ “देही” शब्द का अर्थात् आत्मा का जाना कहा गया। अथवा यहाँ “देही” शब्द का अर्थ सूक्ष्म शरीर ही कर लेना चाहिए। हमारे इस स्थूल शरीर का स्वामी होने के कारण सूक्ष्म शरीर को ही “देही” कहना युक्तियुक्त है। इस सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर के साथ नाश नहीं होता किन्तु वह संपूर्ण सृष्टि के प्रलय पर्यन्त बना रहता है और भिन्न-भिन्न देहों में जाता रहता है। प्रलय दशा में इसका भी नाश हो जाता है, तब भी वासनाओं का आधार अविद्या रूप “कारण शरीर” बना रहता है। इसलिए प्रलय का अवसान होने पर पुनः सृष्टि में फिर वे ही जीव शरीर ग्रहण करने लगते हैं। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन प्रतिदिन की तीन अवस्थाओं में भी जागृत में स्थूल शरीर का भी क्रियाकलाप चलता है, स्वप्न में केवल सूक्ष्मशरीर का और सुषुप्ति में दोनों का लय हो जाने पर केवल कारण शरीर रहता है। इसलिए जागते ही हमें पूर्व की सब बातों का स्मरण हो आता है और अपने अधूरे कामों को पूरा करने में हम लग जाया करते हैं। इस सूक्ष्मशरीर में कितने तत्व सम्मिलित हैं और देहान्तर में जाने के लिए उसकी गति किस प्रकार होती है इन सब बातों का निरूपण भगवद्गीता के अष्टम अध्याय के व्याख्यान में होगा।

इस पद्य से यह आशय प्रकट होता है कि पहले पुराना शरीर छोड़ दिया जाता है और उसके अनन्तर दूसरा शरीर प्राप्त किया जाता है। किन्तु श्रीमद्भागवत् में एक दूसरा दृष्टान्त आया है—

“व्रजंस्तिष्ठन्पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।

यथातृणजलूकैवं देही कर्म गतिं गतः” ॥ (स्कन्ध १० अ० १ श्लोक ४०)

अर्थात् जलूका (जोंक) किसी तिनके पर चलती हुई एक चरण से तिनके को पकड़े रहती है और दूसरे अग्रभाग रूप चरण से दूसरे तृण को पकड़ लेती है तो पहले तृण को छोड़ती है। यही स्थिति कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों में जाने वाले जीव की है। इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि पहले दूसरे देह को पकड़कर तब जीवात्मा या सूक्ष्म शरीर पहले देह को छोड़ता है। इन दोनों बातों में कुछ विरोध प्रतीत होता है। एक वस्त्र को उतार कर अनन्तर दूसरा वस्त्र धारण करने की तरह पहले एक शरीर को छोड़कर तब दूसरा शरीर लिया जाता है या जलूका के दृष्टान्त के अनुसार पहले दूसरा शरीर ग्रहण कर तब पहले शरीर का त्याग किया जाता है। इसका ठीक समाधान नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक यह भी प्रबल शंका उठती है कि ऐसे हजारों लाखों शरीरों के खजाने कहाँ भरे हुए हैं जिन्हें सूक्ष्म शरीर पकड़ता जाता है। वस्त्र तो सिले सिलाए धुले-धुलाए हमारे बक्सों में रखे रहते हैं इसलिए पुराना जीर्ण वस्त्र छोड़कर हम नया पहन लेते हैं। जलूका के सामने भी अन्य तिनका उपस्थित है जिसे पकड़

कर वह पहले तिनके को छोड़ देती है किन्तु भिन्न-भिन्न योनियों के ऐसे लक्षावधि शरीर कहाँ भरे हुए हैं जिन्हें प्रत्येक सूक्ष्म शरीर पकड़ता जाय या पहनता जाय। शरीर तो इसके गर्भ में प्रवेश करने पर पीछे तैयार होता है। तब उक्त दोनों ही दृष्टान्तों की संगति कैसे बैठाई जाय या शरीरान्तर प्राप्ति का क्रम कैसे समझा जाय? शारीरिक दर्शन के तृतीयाध्याय के प्रथम सूत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने इस पर विचार किया है और अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि शरीरान्तर परिग्रह न देह त्याग से पहले होता है और न कपड़े की तरह तत्काल ही हो जाता है किन्तु वह उपनिषदों में चर्चित पंचाग्नि क्रम से होता है। भागवत में कहे गए जलूका के दृष्टान्त का आशय तो इतना ही है कि कर्म के अनुसार जो देह आगे प्राप्त करना है उसकी भावना शरीर त्याग से पहले ही सूक्ष्म शरीर में उपस्थित हो जाती है और वह भावना तब तक बनी रहती है जब तक कि वह शरीर स्थूल रूप में बनकर प्राप्त न हो जाय। श्रीशंकराचार्य के भाष्य की यह पंक्ति है कि— “कर्मोपस्थापितप्रतिपत्तव्यदेहविषयकभावनादीर्घाभावमात्रं जलूकयाउपमीयते”। अर्थात् प्रयाण के समय आगे का जन्म दिलाने के लिए जो प्रधान कर्म अग्रसर होता है वह आगे के प्राप्तव्य शरीर की भावना को उसी समय उपस्थित कर देता है। यह भावना दीर्घाभाव अर्थात् दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त होने तब बना रहना ही जलूका की उपमा से बताया गया है। पहले ही दूसरा शरीर पकड़ लिया, इसका आशय यही है कि उस शरीर की भावना पहला शरीर छोड़ने से पहले ही उपस्थित हो गई। अर्थात् साँचा बनकर तैयार हो गया अब उसमें ढलकर मूर्ति क्रम से तैयार होती रहेगी। भगवद्गीता के इस वस्त्र के दृष्टान्त का आशय भी इतना ही है कि शरीर छोड़कर दूसरा शरीर आत्मा लेता रहता है। तत्काल ही लेता है ऐसा बताने में इस पद्य का आशय नहीं। अष्टमाध्याय में यही बतलाया गया कि जिस भाव का स्मरण करता हुआ प्राणी शरीर छोड़ता है उसी भाव के शरीर को आगे प्राप्त करता है और तब तक उस भाव से भावित रहता है। इसलिए शास्त्रों में परस्पर विरोध कुछ नहीं, भावना रूप से आगे के शरीर का साँचा पहले ही तैयार हो गया। इसे ही दूसरे शरीर का पकड़ना मान कर श्रीभागवत में जलूका का दृष्टान्त दे दिया गया और स्थूल रूप से शरीरान्तर प्राप्ति पूर्व शरीर छोड़ने के अनन्तर ही होती है इस आशय से वस्त्र का दृष्टान्त यहाँ गीता में दिया गया है। भावुक सज्जन विचार पूर्वक दोनों का अविरुद्ध आशय समझ लिया करते हैं। पंचाग्नि क्रम से शरीर प्राप्ति किस प्रकार उपनिषदों में बतलायी गई है और वह किस प्रकार वैज्ञानिक है यह सब विवेचन अष्टम अध्याय के व्याख्यान में किया जायगा। इससे यह भी सूचित किया कि जीर्ण शरीर को छोड़कर नया शरीर लेना एक प्रकार से हर्ष का कारण होता है। पुरानी वस्तु को छोड़कर नई लेने में सबको अग्नन्द ही देखा जाता है फिर देहान्तर प्राप्ति में शोक करना तो अज्ञान ही कहा जायगा।

उक्त आत्मा की नित्यता का ही उपसंहार रूप वर्णन स्पष्टता के लिए आगे के तीन पद्यों में किया जाता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २-२३

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २-२४

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २-२५

“इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता, जल इसे गलित नहीं कर सकता, वायु इसे सुखाता नहीं।” कदाचित् शंका हो कि इस समय चाहे न काटते जलाते हों किन्तु कालान्तर में तो ऐसा होना संभव है। इसका भी निषेध करते हैं कि— “आत्मा काटने के योग्य ही नहीं है, जलाने गलाने-सुखाने के भी योग्य नहीं है क्योंकि यह तो नित्य है, सर्वत्र व्याप्त है, सदा स्थिर है, अचल है अर्थात् कभी अपना स्थान भी नहीं छोड़ता और सनातन अर्थात् सदा रहने वाला है।” “अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं है, अचिन्त्य अर्थात् मन के विचारों में भी नहीं आ सकता, यह तो सर्वथा विकार रहित कहा जाता है, इस प्रकार आत्मा को समझकर शोक करना तुम्हें सर्वथा उचित नहीं।”

यद्यपि यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि जब अविनाशी और नित्य कह दिया तो कटने-जलने आदि सब बातों का निषेध सिद्ध हो ही गया। फिर बार-बार इन बातों को दुहराना तो पिष्टपेषण मात्र है और व्यर्थ ग्रन्थ का कलेवर बढ़ाना है। किन्तु जो बात लोक सिद्ध न हो और जैसा हम आज तक समझते आए हैं उससे सर्वथा विपरीत हो उसे बुद्धि में बैठाने के लिए अनेक प्रकार से बार-बार कहना ही पड़ता है। सूक्ष्म तत्त्व या नई बात को हृदय में बैठाने के लिए यह आवश्यक है। इसलिए सूक्ष्म तत्त्व के प्रतिपादन में पुनरुक्तिदोष शिष्ट परम्परा में नहीं माना जाता। आत्मा की नित्यता बता देने पर भी यह शंका उठ सकती है कि आत्मा चाहे नित्य हो किन्तु रहता तो वह शरीर रूप गृह में ही है। तब घर जलने पर जैसे घर के भीतर की सब वस्तुएँ जल जाती हैं उसी प्रकार शरीर के छेदन दाह आदि से आत्मा के भी छेदन दाह आदि का प्रसंग क्यों न होगा? यदि कहो कि घर जलने पर भी घर के भीतर का आकाश तो नहीं जलता। इसी प्रकार आत्मा का दाह आदि न होगा तो इस पर भी प्रश्न होगा कि आकाश में भी घर के जलने पर उष्णता तो व्याप्त हो ही जाती है तब आकाश भी निर्विकार तो नहीं रहा। इसी शंका के निराकरण के लिए आगन्तुक विनाश का अभाव भी भगवान् बतलाते हैं। आगन्तुक विनाश भूतों के द्वारा ही संभव हो सकता है। उनमें

भी आकाश तो निस्तब्ध है, उदासीन है। वह तो विनाश का साधन बन ही नहीं सकता। तब ४ भूत रहे, उन चारों के द्वारा विनाश या विकार का अभाव इन पद्यों में बतलाया गया। शस्त्र नहीं काट सकते इससे पृथिवी द्वारा विनाश का अभाव बतलाया गया है। उसका कारण अच्छेद्यता को बतलाया। आशय यह है कि पार्थिव शस्त्र बाण खड्ग आदि सावयव वस्तु का छेदन कर सकते हैं। अवयवों का विभाग कर देने का नाम ही छेदन है, तब निरवयव आत्मा पर इनका क्या प्रभाव हो। जल नहीं गला सकता इससे जल के द्वारा विनाश का अभाव बतलाया गया। क्योंकि जल के द्वारा गलाना स्पर्श वाले द्रव्य का ही हो सकता है। आत्मा जब स्पर्शवान् नहीं तो जल इसे कैसे विकृत कर सकता है। इसी प्रकार अग्नि और वायु के द्वारा भी विकार का अभाव “अदाह्यः” और “अशोष्यः” पदों के द्वारा बतलाया गया। इन सब बातों का अर्थात् स्वतः विनाश न होने का और आगन्तुक दोषों से भी विनाश का प्रसंग न होने का मुख्य कारण चौबीसवें श्लोक के उत्तरार्ध और पचीसवें श्लोक के पूर्वार्ध में बताया गया है। इन में आत्मा के इतने विशेषण हैं— नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य। इन विशेषणों में भी कई पुनरुक्ति प्रतीत होती हैं, उनका परिहार व्याख्याकारों ने अनेक प्रकार से किया है। एक प्रकार यह है कि क्रिया का प्रभाव चार प्रकार से भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर हुआ करता है जिस पर क्रिया का प्रभाव हो उसे व्याकरण शास्त्र में कर्मकारक कहते हैं। चार प्रकार का प्रभाव होने के कारण कर्म के चार भेद व्याकरण में आते हैं— उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और प्राप्य। “कुम्भकार घट का निर्माण करता है” इत्यादि वाक्यों में “घट” उत्पाद्य कर्म है। क्योंकि घड़ा पहले नहीं था, वह उत्पन्न किया जाता है। “रंगरेज कपड़ा रंगता है” इत्यादि वाक्यों में कपड़ा “विकार्य” कर्म है। कपड़ा पहले भी है और पीछे भी है, उसका उत्पादन नहीं किया जाता किन्तु उसका रूप परिवर्तन कर पूर्वावस्था से भिन्न अवस्था लाई जाती है। इसलिए यह विकार्य कर्म कहलाता है। “पाचक चावल पकाता है” यहाँ चावल “संस्कार्य” कर्म है, क्योंकि उसकी कठोरता हटाकर कोमलता लाई जाती है। यह एक प्रकार का संस्कार है। विकार में किसी एक गुण या विशेषता का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है किन्तु संस्कार में गुण का स्वरूप परिवर्तन मात्र किया जाता है। जैसा कि चावल के स्पर्श को कठोर से कोमल कर दिया गया इस अल्प भेद से ही विकार्य और संस्कार्य में भेद मान लिया जाता है। वस्तुतः संस्कार्य का उदाहरण शास्त्रीय रूप में प्राप्त होता है जैसा बालक को उपनीत किया जाता है, यहाँ बालक के बाह्य स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु उसकी बुद्धि में एक प्रकार का अतिशय डाल दिया गया। वह संस्कार्य कर्म है। संस्कारों का विवरण हम प्रथमाध्याय के प्रथम प्रचवन में ही कर चुके हैं— वहाँ इसके लौकिक उदाहरण भी दिये गये हैं। अस्तु! ये संस्कार जिसके हों वह संस्कार्य कर्म कहलाता है। विकार्य में वस्तु के

स्वरूप में परिवर्तन किया जाता है किन्तु संस्कार्य में आगन्तुक दोषों को हटाया जाता है या नए गुणों का आधान होता है। वस्तु के स्वरूप में विकार नहीं होता यही उनमें भेद है। “मनुष्य ग्राम जाता है” यहाँ ग्राम प्राप्य कर्म है। ग्राम पहले उसे अप्राप्त है उसकी प्राप्ति कर ली जाती है। यहाँ कर्म के स्वरूप में कोई विलक्षणता प्रतीत नहीं होती। मनुष्य को उसकी प्राप्ति हो जाती है। यही मनुष्य की क्रिया का फल है। अस्तु इन चारों ही प्रकार के क्रिया फल का आत्मा में अभाव चार विशेषणों से बतलाया गया है। “नित्य” शब्द से आत्मा उत्पाद्य कर्म नहीं है, यह कहा गया। “सर्वगत” शब्द से वह सर्वत्र व्याप्त है, किसी को अप्राप्त नहीं, जिसकी प्राप्ति की जाय, इस विशेषण से प्राप्त कर्मता का अभाव बतलाया। “स्थाणु” अर्थात् सर्वदा एकरूप से स्थिर है इस विशेषण से विकार्य कर्मता का अभाव बतलाते हैं और “अचल” विशेषण से संस्कार्य कर्मता का अभाव बतलाते हैं। कोई वस्तु स्वयं स्थिर रहने पर भी अन्य के संबंध से विचलित हो जाया करती है। जैसे स्थाणु स्वयं चलित नहीं होता किन्तु किसी शकटी आदि पर लाद कर उसे ले जाया जा सकता है। यह आगन्तुक क्रिया हुई। “अचल” पद से आगन्तुक क्रिया का भी अभाव बताया जाता है। इसलिए न तो आत्मा में कोई आगन्तुक दोष है जिनका मार्जन किया जाय और न आगन्तुक गुणों का आधान उस पर किया जा सकता है, न किसी अंग की उसमें हीनता है। इसलिए वह संस्कार्य भी नहीं हो सकता। इस प्रकार इन चार विशेषणों से चारों प्रकार के क्रिया सम्बन्धों का अभाव बतलाया गया।

इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि जहाँ क्रिया का कोई सम्बन्ध नहीं उसकी तो सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। क्योंकि कई दर्शनकारों ने सत्ता का लक्षण अर्थक्रियाकारिता ही किया है। अर्थात् जो किसी वस्तु का उत्पादन करता हो या कोई क्रिया करता हो वही सत् कहा जा सकता है। जो कुछ न करे उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सनातन पद दिया गया है। अर्थात् वह आत्मा तो सदा रहने वाली वस्तु है। उस पर सत्ता या असत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। वह स्वप्रकाश है। कभी किसी मनुष्य को यहाँ तक कि विक्षिप्त को भी यह भ्रम नहीं होता कि “मैं नहीं हूँ”। अथवा “मैं हूँ या नहीं हूँ” ऐसा संशय भी किसी को कभी नहीं होता। इसलिए आत्मा के विषय में जब संशय, विपर्यय अर्थात् भ्रम कभी होता ही नहीं तब यह तो सनातन नित्य सिद्ध हुआ। इसमें सत्ता असत्ता का प्रसंग ही क्या रहा? पुनः प्रश्न हो सकता है कि अच्छा फिर आत्मा ‘अहं’ ज्ञान इसका विषय तो हुआ। विषयता भी एक प्रकार का पांचवां कर्म है। मैं अमुक वस्तु को जानता हूँ यहाँ वस्तु में कर्मकारक रूपता व्यवहृत होती है। किन्तु वह पूर्वोक्त कर्म कारक के चारों प्रकारों में से कहीं भी नहीं आती। इसलिए इसे पांचवें प्रकार का कर्म कहना पड़ेगा। ज्ञान इच्छा आदि मनोवृत्ति भी मन की क्रियाएँ ही मानी जाती है। उन क्रियाओं का

सम्बन्ध तो ज्ञान का विषय होने के कारण आत्मा के साथ हो ही गया इसका भी निराकरण “अव्यक्तोऽयम्” इत्यादि विशेषणों से किया जाता है। “अव्यक्त” पद का आशय है कि वह इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है और “अचिन्त्यः” शब्द से यह कहा गया कि अनुमान के द्वारा भी वह ग्राह्य नहीं है। चिन्तन पदार्थ में अनुमान भी अन्तर्भूत हो जाता है। इसलिए “अचिन्त्य” पद से अनुमान की भी आत्मा के विषय में प्रवृत्ति न होना स्पष्ट सिद्ध है। अब रहा शब्द प्रमाण वह भी अविकार्यता आदि निषेधात्मक धर्मों के द्वारा ही आत्मा का परिचय कराता है। निर्धर्मक होने के कारण साक्षात् आत्मा को वह नहीं कह सकता। अनुमान का भी विषय वही हो सकता है जिसका व्याप्तिग्रह हेतु के साथ हुआ हो। जब आत्मा का प्रत्यक्ष ही नहीं तो उसका व्याप्तिग्रह भी किसी के साथ कैसे संभव है? सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी किसी सामान्य धर्म के द्वारा व्याप्तिग्रह पर ही अनुमान होता है किन्तु आत्मा में कोई सामान्य विशेष धर्म नहीं। इसलिए सामान्यतोदृष्ट अनुमान का भी वहाँ प्रसंग नहीं। शब्द भी बिना धर्म के किसी पदार्थ का अभिधान नहीं कर सकता। आत्मा को जो वेदैकवेद्य कहा जाता है उसका आशय इतना ही है कि धर्मों के निषेध द्वारा वेद उसे उपलक्षित कर देता है। अभिधान आत्मा का वह भी नहीं कर सकता। सुतरां जब किसी प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती तब ज्ञेयता के कारण भी क्रिया सम्बन्ध वहाँ नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो स्वतः प्रकाश है। वह किसी प्रमाण या ज्ञान का विषय नहीं। ज्ञान की विषयता माया शबलित आत्मा में ही होती है। शुद्ध आत्मा तो स्वतः प्रकाश ही है, ज्ञेय नहीं। इसीलिए बृहदारण्यक श्रुति में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को उपदेश दिया है कि

“विज्ञातारं या अरे केन विजानीयात्”

अर्थात् जो सबका ज्ञाता है उसको जानने वाला अन्य और कौन होगा। अस्तु, यह इन विशेषणों में पुनरुक्ति के परिहार की एक प्रक्रिया हुई।

दूसरी प्रक्रिया यह है कि नित्य पद से अविनाशिता बताने पर भी यह सन्देह हो सकता है कि नित्य तो नैयायिक मत में परमाणु भी हैं। वैसा ही आत्मा भी होगा। इसलिए सर्वगत विशेषण से व्यापकता बतलाई गई। परमाणु व्यापक नहीं होता, अतः परमाणु से आत्मा का भेद सिद्ध कर दिया गया। इस पर पुनः सन्देह होगा कि काल नित्य भी है तथा वह व्यापक भी है। वही संभवतः आत्मा का स्थान ग्रहण करले, अतः स्थाणु विशेषण देकर काल से भी भिन्नता बतलाई जाती है। क्योंकि काल में व्यवहार के लिए घटी, दिन मास आदि का भेद आरोपित होता है और वे दिन मास घटी आदि स्थिर नहीं हैं। जो दिन आज है वह कल न रहेगा। इसलिए स्थाणु पद से काल की अपेक्षा भी भिन्नता सिद्ध की गई। फिर सन्देह होगा कि सांख्य दर्शन के द्वारा स्वीकृत प्रकृति तत्त्व या प्रधान तो नित्य भी है सर्वगत भी है और स्थिर भी है। उससे

भेद तो आत्मा का सिद्ध नहीं हुआ। इसलिए एक और “अचल” विशेषण दिया गया। प्रकृति में देश त्याग न होने से स्थिरता कही जा सकती है, किन्तु परिणामरूप क्रिया तो उसमें होती ही है। तभी तो महत् अहंकार आदि के द्वारा जगत् बनता है। इसलिए उसे क्रिया शून्य या अचल नहीं कहा जा सकता। इस विशेषण से आत्मा की प्रकृति से भी भिन्नता सिद्ध कर दी गई। पुनः सन्देह होगा कि आकाश तो इन सब विशेषणों से युक्त है, उसमें तो स्वतः या परतः कोई क्रिया नहीं देखी गई। वह व्यापक भी है और नित्य भी। इसलिए “सनातन” विशेषण और दिया गया। अर्थात् आकाश में व्यवहारिक नित्यता मानी जाती है किन्तु वह सदा रहने वाला नहीं। श्रुति ने उसकी भी उत्पत्ति बतलाई है। इस प्रकार सबसे विलक्षणता आत्मा की बतलाने के लिए सब विशेषणों की चरितार्थता हो जाती है। इस प्रकार का आत्मा लोक व्यवहार में तो प्रसिद्ध नहीं फिर यह नई बात कैसे कही जा रही है? अतः अव्यक्त आदि विशेषण दिये गए हैं कि लौकिक प्रमाणों के द्वारा ज्ञेय न होने से जन साधारण आत्मा का तत्त्व नहीं समझ पाते। किन्तु वस्तुतः आत्मा का स्वरूप सबसे विलक्षण ही है और इसीलिए श्रुति ने भेद द्वारा ही आत्मा का उपपादन किया है, इत्यादि।

तीसरा प्रकार पुनरुक्ति निवारण का यह है कि आत्मा का आवरण करने वाले तीन शरीर हैं जिन्हें स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर कहा जाता है। साधारण लोग भ्रम में पड़कर इन शरीरों को ही आत्मा मान बैठते हैं। इसलिए आत्मा का तत्त्व बताने के लिए इन तीनों से भेद बतलाना आवश्यक है। अच्छेद्य है, अदाह्य है इत्यादि विशेषणों से स्थूल शरीर से भेद बता दिया गया। इनका अभिप्राय पहले कहा जा चुका है कि चारों भूत तत्त्वों का प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है, आत्मा पर नहीं। आगे नित्य, सर्वगत और स्थाणु इन विशेषणों से सूक्ष्म शरीर से भेद बता दिया गया। न्याय आदि शास्त्रों में मन को नित्य मान लिया गया है। इसलिए उससे पार्थक्य बतलाने के लिए “सर्वगत” विशेषण दिया गया। मन एक देश में रहता है, वह सर्वगत नहीं हो सकता। इसी प्रकार बुद्धि को भी कोई दार्शनिक नित्य और सर्वगत मान ले तो इसके लिए स्थाणु विशेषण भी दे दिया। बुद्धि की चलता प्रसिद्ध है अतः अचल पद से उससे आत्मा का भेद स्पष्ट हो जाता है। आगे कारण शरीर से भी भेद बतलाने के लिए अचल शब्द का उपादान किया। कारण शरीर वासनामय है और वासनाओं का परिवर्तन और विनाश स्पष्ट ही प्रतीत होता है। सुख या दुःख का भोग कराकर कर्म जनित संस्कार रूप वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं ऐसा सभी शास्त्र मानते हैं और ज्ञान जनित वासनाओं में भी परिवर्तन देखा जाता है। वृद्धावस्था में स्मृति शक्ति परिक्षीण हो जाती है, इससे वासनाओं की दुर्बलता का अनुमान होगा अस्तु, संपूर्ण कारण शरीर का विनाश न होने के कारण उसे भले ही नित्य कहा जा सके और समष्टि रूप से व्यापक होने के कारण सर्वगत भी कहना उपपन्न हो, प्रलय में भी रहने के कारण स्थाणु भी उसे कहा जाय,



किन्तु आवान्तर परिवर्तन होने रहने से अचल नहीं कह सकते। इसलिए अचल शब्द से कारण शरीर का भी आत्मा से भेद स्पष्ट हो जाता है। आगे सनातन शब्द का अर्थ है सदा एकरूप रहने वाला। इससे भेद की व्यावृत्ति करते हैं अर्थात् सजातीय विजातीय और स्वगत तीनों प्रकार के भेद उसमें नहीं हैं। जैसा कि एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से जो भेद है वह सजातीय भेद है, वृक्ष से पत्थर आदि का भेद विजातीय भेद है और वृक्ष की शाखाओं का परस्पर भेद स्वगत भेद है। तीनों ही प्रकार के भेद आत्मा में नहीं हैं। न तो आत्मा अनेक है और न आत्मा से सर्वथा भिन्न कोई वस्तु है और न आत्मा सावयव है। इसलिए तीनों ही प्रकार के भेदों का अभाव यहाँ बतलाया गया। यह व्याख्या शांकर सिद्धान्त के अनुसार है। उसी अद्वैत सिद्धान्त में आत्मा का स्वरूप इस प्रकार का माना जाता है। अन्य मतों में सनातन शब्द का पूर्वोक्त ही आशय है कि वह सदा से सबका अनुभव गोचर होने के कारण स्वतः सिद्ध है। आगे के विशेषणों का आशय यह है कि आगे पन्द्रहवें अध्याय में जिन क्षर, अक्षर आदि आत्माओं का विवेचन होगा वे सब जगत् के कारण हैं, किन्तु यह व्यष्टि रूप जीवात्मा उन समष्टिरूप पुरुषों से भी पृथक् होकर अपना तन्त्र चला रहा है। अव्यक्त पद से क्षर की व्यावृत्ति कर देते हैं, अचिन्त्य पद से अक्षर से भेद बतलाया गया क्योंकि अक्षर पुरुष किसी प्रकार अनुमानगम्य हो सकता है। जीवात्मा शुद्ध निर्विशेष होने से अनुमानादि का भी विषय नहीं हो सकता और प्रकृति से विरहित होने पर किसी प्रकार का विकार इसमें नहीं। इसलिए उपसंहार में अविकार्यता स्पष्ट कर दी गई। इस प्रकार विशेषणों की पुनरुक्तता का परिहार भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में प्राप्त होता है। किन्तु यह तो मानना ही होगा कि आत्मा की नित्यता को ही बुद्धि में पूर्ण रूप से जमा देने के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में यह वर्णन हुआ है। इन सबका अभिप्राय आत्मा को नित्य बताने का ही है। इसीलिए उपसंहार में कह दिया गया है कि आत्मा को इस प्रकार का जान कर तुम्हें किसी आप्त बान्धव की मृत्यु का अनुशोचन नहीं करना चाहिए।

इस पद्य में एक विचार और है कि यहाँ आत्मा को सर्वगत अर्थात् व्यापक कहा गया है। यह जीवात्मा का ही प्रकरण है यह तो सिद्ध ही है। किन्तु वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्य जीवात्मा को व्यापक नहीं मानते। उनके सिद्धान्तों में जीवात्मा अणु कहा गया है। इसलिए सर्वगत पद का आशय उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाना पड़ा है। श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि सर्वगत पद से यह सूचित किया है कि आत्मा अतिसूक्ष्म होने के कारण जगत् के सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट होने की योग्यता रखता है किन्तु अन्य स्थूल तत्व उसमें प्रविष्ट होने की योग्यता नहीं रखते। इसीलिए शस्त्र, अग्नि, वायु आदि का प्रभाव इस पर नहीं हो सकता। अतिसूक्ष्मता के कारण वे स्थूल

तत्त्व इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। अस्तु! अच्छेद्यता, अभेद्यता का समर्थन ही सूक्ष्मता से बतला कर इस विशेषण से किया गया है। व्यापकता में इसका तात्पर्य नहीं। श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्त में जीवात्मा परब्रह्म से उत्पन्न और अणु रूप है। किन्तु भगवदनुग्रह से इसमें भगवान् के धर्मों की प्रकटता हो जाया करती है। उस दशा में इसमें भगवान् के समान व्यापकता आ जाती है। इसी की सूचना सर्वगत शब्द से दी गई है। श्रीमध्वाचार्य ने भी चेतन स्वरूप और भगवान् के अति सन्निहित होने के कारण भगवान् का प्रतिबिम्ब जीव पर होना इस पद्य की व्याख्या में स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है—

“युक्ताश्च बिम्बधर्मा प्रतिबिम्बे अविरोधे, तत्ताच”

“रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव”,

“आभास एव च”,

“इत्यादि श्रुति स्मृति सिद्धा ॥”

अर्थात् जीव में भगवत्प्रतिबिम्ब होना श्रुति-स्मृति से सिद्ध है और प्रतिबिम्ब में अविरुद्ध बिम्ब के धर्म मान लिये जाते हैं। अतः प्रतिबिम्ब रूप से सर्वगतत्व आदि ईश्वरीय धर्मों का यहाँ जीव में कथन किया गया। श्रीनिम्बर्काचार्य के सिद्धान्त में भेदाभेद होने के कारण अभेदांश से सर्वगतत्व की उपपत्ति हो सकती है, अथवा उनके अनुयायी व्याख्याता भी श्री रामानुजाचार्य के समान सूक्ष्मता का अभिव्यंजन ही इस विशेषण से मानते हैं। अन्य विशेषण तो सब मतों में उपपन्न हो ही जाते हैं। श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्त में उत्पत्ति होने पर भी नित्यत्व किस प्रकार है इसका विवरण पूर्व पद्य में “अजो नित्यः” इत्यादि विशेषणों की व्याख्या में कर चुके हैं। अवश्य जन्म, अवश्य मरण या नियम से जन्म मरण मानते हो तो शोक नहीं करना चाहिए। यहाँ भगवान् का यह भी आशय है कि यदि उपनिषत् के अनुसार निर्विकारी आत्मा नहीं मानते हो तो अन्ततः तुम आत्मा कैसा मान रहे हो। कोई स्वरूप तो आत्मा का तुम्हें मानना ही पड़ेगा। आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के जो भिन्न-भिन्न मत हैं उनमें से कोई भी मान लो। किसी प्रकार भी शोक करना उपयुक्त नहीं हो सकता। यहाँ उन सब दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मतों की ओर संकेत किया गया है। चार्वाक देह को ही आत्मा कहता है। उस मत में देह की उत्पत्ति ही आत्मा की उत्पत्ति है और देह का विनाश ही आत्मा का विनाश है। बौद्ध मत में देह, आत्मा आदि सभी क्षणिक माने जाते हैं, अर्थात् उनकी प्रतिक्षण उत्पत्ति और प्रतिक्षण विनाश होता रहता है। इस मत के अनुसार नित्य शब्द का अर्थ ठीक-ठीक घटित हो जाता है, नित्य ही अर्थात् सर्वदा ही उत्पन्न विनष्ट होने वाले आत्मा को यदि तुम मानते हो। जैन दर्शन में यद्यपि आत्मा को शरीर से पृथक् माना जाता है किन्तु वह शरीर के आकार का ही होता है। इससे शरीराकार आत्मा शरीर के साथ ही उत्पन्न हुआ और शरीर के साथ ही नष्ट हो गया।

आगे दूसरे आकार में चला जायगा यही फलित हुआ। नित्यत्व भी जैन मत में निश्चित नहीं। वह द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य भी है। इसलिए पर्यायरूप से उसे जन्म मरणशील इस मत में कहा जायगा। किसी सिद्धान्त में ऐसा भी माना जाता है कि सृष्टि के आदि में आकाश आदि के समान आत्मा उत्पन्न होता है और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलयावस्था में नष्ट हो जाता है। मध्यकाल में भिन्न-भिन्न देहों में घूमता रहता है। इस मत में श्लोक का अर्थ यह होगा कि इस प्रकार से आत्मा “नित्यजात” है, अर्थात् नित्य परमात्मा से उत्पन्न है और प्रलय तक ठहरने के कारण एक प्रकार से आकाशादिवत् नित्य होने पर भी तुम आत्मा का जन्म मरण पूर्वोक्त प्रकार से मानते हो। न्याय मत में नवीन देह इन्द्रिय मन आदि के साथ स्व स्वामिभाव संबंध होना ही जन्म है और एक प्रकार के सन्निवेश युक्त देहेन्द्रियादि के साथ सम्बन्ध विच्छेद ही मरण है। आत्मा स्वस्वरूप से नित्य है।



## इक्कीसवां-पुष्प

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ (२।२६)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ (२।२७)

“यदि तुम आत्मा को नित्य पैदा होने वाला और नित्य मरने वाला मानते हो तो भी हे महाबाहो! तुम्हें इसके सम्बन्ध में शोक नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और जो मृत हुआ है उसका पुनर्जन्म अवश्य होगा। इसलिए जब यह क्रम अपरिहार्य है अर्थात् हटाया नहीं जा सकता तब उस पर शोक करना उचित नहीं।”

शास्त्र में परस्पर विचार के समय “अभ्युपगमवाद” होता है। उसका तात्पर्य है कि एक पक्ष का वक्ता अपनी शक्ति का उत्कर्ष दिखाने के लिए दूसरे पक्ष की किसी बात को बिना परीक्षा के ही मान लेता है और ऐसा मान लेने पर भी तुम्हारा मुख्य पक्ष सिद्ध नहीं होता यह कह कर प्रतिवादी के मुख्य पक्ष का खण्डन कर देता है, यही अभ्युपगमवाद है। अभ्युपगम का अर्थ है स्वीकार। ऐसे ही प्रसंग पर लोक में ही कहा जाता है कि “अच्छा हम तुम्हारी इस बात को मान लेते हैं।” इसी अभ्युपगमवाद से यहाँ भगवान् काम लेते हैं कि यदि उपनिषद् के अनुसार जो हमने तत्त्व बतलाया वह यदि तुम्हारी समझ में नहीं आता और तुम आत्मा को देह के साथ पैदा होने वाला और देह के साथ ही नष्ट हो जाने वाला मानते हो तो भी तुम्हारा शोक करना उपयुक्त नहीं होगा। यहाँ नित्य शब्द का प्रयोग कथन की एक शैली के अनुसार है। अर्थात् जल्दी-जल्दी देह के साथ पैदा होना और मरना माना गया तो एक प्रकार से नित्य ही जन्म लेना और मरना ठहरा। नित्य शब्द आवश्यकता या नियतता का भी बोधक है। इसके अनुसार पद्य का अर्थ होगा कि नित्य होने पर भी आत्मा को उत्पन्न या विनष्ट माना जाय अथवा सांख्य आदि के अनुसार यह पक्ष हो कि आत्मा स्वयं तो नित्य है परन्तु प्रकृति रूप उपाधि के कारण उसका औपाधिक जन्म-मरण होता है। इन सभी पक्षों का यहाँ संकेत किया गया कि किसी भी पक्ष में तुम्हारा शोक करना युक्तियुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि सब ही पक्षों के अनुसार देह त्याग रूप मरण निश्चित है और मृत का नवीन देह ग्रहण रूप जन्म भी निश्चित है। तब जो बात हटायी नहीं जा सकती उसके लिए शोक करना निरर्थक ही है। वह शोक युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता।

यहाँ यह एक बड़ी शंका उपस्थित होती है कि जन्म लेने वाले की मृत्यु आवश्यक है यह तो ठीक है, किन्तु मरने वाले का पुनर्जन्म भी “ध्रुव” अर्थात् अत्यावश्यक है,

यह भगवान् ने कैसे कहा? क्योंकि मुक्त हो जाने वाले पुरुष का तो पुनर्जन्म कोई भी नहीं मानता? तब मृत का जन्म आवश्यक कैसे हुआ। मुक्त पुरुष में अवश्य होने का नियम बाधित हो गया। यदि यह कहा जाय कि आत्मा को अनित्य मान लेने के अभ्युपगमवाद में मोक्ष का प्रसंग ही क्या, मोक्ष तो पूर्वोक्त उपनिषद् के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के नित्यत्व पक्ष में ही उपपन्न होता है। जो आत्मा को अनित्य मानते हैं, ऐसे पूर्वोक्त अनेक पक्षों में मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, तब यह प्रश्न होगा कि आत्मा को सर्वथा अनित्य मानने वाले उन पक्षों में पुनर्जन्मवाद भी कहाँ रहा? तब मृत का पुनर्जन्म आवश्यक कहना कथमपि संगत नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यहाँ तो भीष्मादि का अनुशोचन व्यर्थ है यह बतलाने के लिए केवल उत्पन्न होने वाले की मृत्यु अवश्यंभावी है, यही बतलाना पर्याप्त था, मृत के पुनर्जन्म की आवश्यकता बताना यहाँ निष्प्रयोजन भी है।

इस शंका का उत्तर श्रीरामानुजाचार्य अपने भाष्य में इस प्रकार देते हैं कि यदि शरीरात्मवाद ही मानोगे तो भी यह तुम्हें मानना पड़ेगा कि शरीर एक भूतों की अवस्था विशेष है और द्रव्य में अवस्था परिवर्तन अवश्य होता रहता है। सत्कार्यवाद के सिद्धान्तानुसार एक ही, सुवर्णादि द्रव्य नाना अवस्थाओं में परिवर्तित होता रहता है, यह अटल नियम है। इस जड़ चेतन सर्वसाधारण में परिव्याप्त नियम के अनुसार शरीर की इस जीवितावस्था का मरणावस्था में परिवर्तन अवश्यंभावी है। और वह मरणावस्था भी स्थायी नहीं हो सकती, इसलिए पुनरपि दूसरी अवस्था अर्थात् अन्यत्र कहीं जन्म ग्रहण की अवस्था अवश्य प्राप्त होगी। इसलिए निरात्मवादी को भी शरीर का पुनः-पुनः संघटन रूप बार-बार जन्म और बार-बार मरण मानना दार्शनिक नियम के अनुसार आवश्यक होगा। इसी सिद्धान्त को सूचित करने के लिए यहाँ मृत के पुनर्जन्म की आवश्यकता का भी उल्लेख भगवान् ने कर दिया और इस अवस्था का परिवर्तन अपरिहार्य है, कोई भी द्रव्य एक अवस्था में रहता हुआ देखा नहीं जाता, इसलिए इसका अनुशोचन व्यर्थ है यह सूचित कर दिया। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने इसका समाधान किया है कि यहाँ जन्म-मरण के प्रवाह में पतित कर्म का अनुशय रखने वाले संसार के जीवों का ही प्रसंग है। मुक्त आत्मा के विचार का यहाँ प्रसंग ही नहीं। इसलिए संसार गत पुरुषों के विषय में यह आवश्यक नियम भगवान् ने बतला दिया कि उनका जन्म-मरण प्रवाह अपरिहार्य है। जिसने जन्म-ग्रहण किया है उसकी मृत्यु अवश्य होगी और मृत्यु के अनन्तर पुनर्जन्म होगा। इसलिए अनुशोचन करना व्यर्थ है। अन्य व्याख्याकार ऐसा भी कहते हैं कि जो अनेक मत पूर्व पद्य की व्याख्या में हमने दिखाये हैं उनमें किसी-किसी मत में मृत्यु के अनन्तर जन्म भी आवश्यक हो जाता है। उसी मत के अभिप्राय से भगवान् ने यहाँ मृत्यु के अनन्तर जन्म की भी अवश्यंभाविता कह दी। जैसा कि सृष्टि के प्रारम्भ में आकाशादि की

तरह जीव भी उत्पन्न हुआ और कल्पान्त में प्रलय होने पर यह भी लीन होगा, यह जो एक मत बतलाया गया है उसमें सृष्टि के आदि में और प्रलय होने पर जन्म मरण प्रवाह अवश्यंभावी है। अथवा जैन दर्शन का सिद्धान्त जो लिखा गया है कि आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है किन्तु पर्याय रूप से अनित्य। इस मत में भी एक पर्याय के अनन्तर दूसरा पर्याय ग्रहण आवश्यक हो जाता है, क्योंकि बिना पर्याय के द्रव्य कभी रह नहीं सकता। इसलिए इस मत में भी जन्म के अनन्तर मृत्यु और मृत्यु के अनन्तर जन्म ये दोनों आवश्यक ही होते हैं। यद्यपि जैन दर्शन में भी मुक्ति मानी गई है किन्तु मुक्ति का स्वरूप वहाँ सिद्ध शिला में जाकर स्थिर हो जाना ही माना जाता है। इसलिए एक शरीर रूप पर्याय के त्याग के अनन्तर सिद्ध शिला में जाने योग्य पर्याय का ग्रहण आवश्यक होता है। इसलिए मुक्ति में जाने वाले जीव का पर्यायान्तर ग्रहण रूप जन्म आवश्यक हो गया। अथवा आगे “स्वधर्ममपि चावेक्ष्य” की व्याख्या में जिन अठारह प्रकार के व्यावहारिक आत्माओं का निरूपण किया जायगा उनमें से कई व्यावहारिक आत्माओं को मान लेना युक्ति सिद्ध होने के कारण निरात्मवादी को भी आवश्यक है। मुक्ति हो जाने पर भी उन आत्माओं का एकसूत्रबद्धता रूप सम्बन्ध हट जाता है किन्तु किसी न किसी रूप में तो वे व्यावहारिक आत्मा बने ही रहते हैं, किसी अन्य आत्मा से सम्बद्ध हो जाते हैं इस आशय से मृत का पुनर्जन्म भी आवश्यक बतलाया गया।

कई विद्वान् यह भी समाधान करते हैं कि मृत्यु शब्द का अर्थ प्राणों का उत्क्रमण है। किन्तु विदेहकैवल्य प्राप्त करने वाले के प्राणों का उत्क्रमण ही नहीं होता। जैसा कि उपनिषत् में कहा है कि—“न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, “इहैव समवलीयन्ते” अर्थात् उसके प्राण यहीं सब में लीन हो जाते हैं, उत्क्रान्त नहीं होते। उससे वह मृत की परिभाषा में ही नहीं आता। जब मृत ही नहीं तो पुनर्जन्म कैसा। “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः” में मृत्यु का आशय शरीर में स्वत्व छोड़ देने से ही है इसलिए उसका भी विरोध नहीं होता। इसप्रकार अनेक प्रकार से इसके समाधान किये जाते हैं। वस्तुतः यही यहाँ युक्त प्रतीत होता है कि जन्म मरण प्रवाह पतित जीवात्मा के सम्बन्ध में ही ये सामान्य नियम बतलाए गए हैं। मुक्ति एक विशेष अपवाद स्थल है, वहाँ सामान्य नियम लागू नहीं होता। इसी प्रकार रसेश्वरदर्शन या आगमशास्त्र के सिद्धान्त में पिण्ड का स्थैर्य भी प्राप्त होना माना जाता है और उसके निदर्शन भी पुराणों में बतलाए जाते हैं। वह “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः” का भी अपवाद स्थल है। अपवाद स्थल में सामान्य नियम की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार इसका समाधान करना चाहिए। अब रही बात कि मृत का पुनर्जन्म बतलाने की यहाँ आवश्यकता क्या थी, यहाँ तो अनुशोचन मिटाने के लिए उत्पन्न होने वाले की मृत्यु अवश्यंभावी है इतना ही कहना पर्याप्त था। फिर मृत का भी पुनर्जन्म होता ही है इस पचड़े को भगवान् ने उठाया ही क्यों?

इसका भी उत्तर हो सकता है कि नित्य आत्मा यदि नहीं माना जाय, जैसा कि अभ्युपगमवाद में कहा गया है कि तब शरीर ही आत्मा ठहरा। उसका नाश ही भीष्मादि का नाश है। तो अनुशोचन उचित हो जाता है। माना कि यह अर्थ अवश्यंभावी है। किन्तु अवश्यंभावी होने पर भी नष्ट का अनुशोचन तो होती ही है। मान लो कि किसी मनुष्य के पास किसी दूसरे की धरोहर रखी है। उसका लौटाया जाना आवश्यक है, यह सभी जानते हैं। किन्तु अपने पास से उसे लौटाने के समय कष्ट का अनुभव तो होती ही है। इसलिए इसका भी समाधान भगवान् ने कर दिया कि शरीर के नष्ट होने का शोक भी व्यर्थ है क्योंकि यह तो फिर उत्पन्न हो जायगा। जैसे उत्पन्न की मृत्यु आवश्यक है, इसी प्रकार मृत का पुनर्जन्म भी आवश्यक है। इसलिए यह तो अवस्था परिवर्तन मात्र है। नष्ट कोई वस्तु नहीं होती। इसलिए अनुशोचन व्यर्थ है।

यहाँ पूर्व पद्य में जो महाबाहो, सम्बोधन दिया है उसका भी आशय है कि तुम महाबाहु अर्थात् वीर पुरुष हो। साधारण अज्ञानी मनुष्य परिहार्य विषय में भी यदि शोक करते हैं तो यह उनका अज्ञान है। किन्तु तुम जैसे वीर पुरुष को तो ऐसे अपरिहार्य विषय में शोक करना सर्वथा उचित नहीं हो सकता। शोक या चिन्ता तो ऐसे विषय की करना चाहिए जिसका हम प्रतीकार कर सकें। जो अवश्यंभावी है, जिसका प्रतीकार ही कुछ नहीं हो सकता उस विषय में चिन्ता या शोक करने से लाभ ही क्या? ऐसे निरर्थक शोक में बुद्धिमान् लोग नहीं गिरा करते। अब यदि पुनर्जन्म-परम्परा पर भी विश्वास न किया जाय, यह शरीर जितने समय तक है उतने समय तक ही उस व्यक्ति की सत्ता है, ऐसा यदि मान लिया जाय, तब तो भीष्म आदि की सत्ता के नाश का शोक उपयुक्त ही होगा। तब भी भगवान् कहते हैं कि ऐसा मानने पर भी शोक निरर्थक है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (२, २८)

“प्राणियों के भूतात्मक शरीर उत्पत्ति से पहले भी अव्यक्त थे, अर्थात् ये कहां थे, कहां से आये, इसका कोई पता किसी को नहीं। केवल मध्यकाल में अर्थात् जन्म से मरण पर्यन्त वे प्रकट दिखाई देते हैं। अन्त में निधन होने के अनन्तर भी अव्यक्त हो जाते हैं अर्थात् कहां चले गए इसका कोई पता किसी को नहीं रहता। जब कहां से आया इसका भी पता नहीं तो जहाँ से आया वहाँ ही गया ऐसा समझ लो, फिर उसमें परिदेवना अर्थात् विलाप शोक आदि का कोई कारण नहीं।

जिस वस्तु का उद्भव स्थान भी तुम नहीं जानते उसके जाने पर शोक क्यों करते हो? जैसे आया वैसे ही गया यह आवागमन का चक्र तो पुनर्जन्म न मानने वालों को भी मानना ही पड़ेगा। फिर उसके जाने में आश्चर्य और शोक ही क्या? कदाचित् प्रश्न उठे कि उत्पत्ति का स्थान अव्यक्त क्यों हैं? प्रत्येक प्राणी माता के गर्भ से उत्पन्न होता है। तब उत्पत्ति का स्थान तो स्पष्ट ही है। इस प्रश्न पर कहना होगा

कि माता के गर्भ में कहाँ से आया, यह तो अव्यक्त ही है। इसलिए अव्यक्त से उत्पन्न होना कहने में कोई शंका उत्पन्न नहीं हो सकती। माता के गर्भ में पिता के द्वारा निषिक्त हुआ ऐसा यदि कहा जाय तो भी युक्तियुक्त नहीं होगा क्योंकि जिस प्रकार का प्राणियों का आकार देखते हैं वैसा आकार पिता के द्वारा निषिक्त नहीं होता। इसलिए उस आकार का शरीर तो पूर्वावस्था में अव्यक्त अर्थात् अप्रकट ही था, यही कहना होगा। यदि कथंचित् मान भी लिया जाय कि सूक्ष्म रूप से पिता के शुक्र में भी वह शरीर विद्यमान है तो भी वहाँ वह कहाँ से आया, इसका उत्तर तो केवल दृष्ट प्रमाणवादी कुछ भी नहीं दे सकते। चन्द्र मण्डल से उतर कर मेघजल के द्वारा अन्नादि में प्रविष्ट होकर, अन्न, रस, रूप से शुक्र में प्रविष्ट हुआ है ऐसा मान लेने पर तो पञ्चाग्निप्रक्रिया रूप शास्त्र का प्रामाण्य मान लेना पड़ा क्योंकि उक्त क्रम प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता। वह तो केवल शास्त्रगम्य ही है। शास्त्र मान लेने पर पुनर्जन्म और आत्मा की नित्यता आदि सभी सिद्ध हो जाते हैं। तब फिर पूर्वोक्त रीति से ही शोक का समाधान हो जायगा। केवल दृष्टवादी तो शरीर कहाँ से कैसे उत्पन्न हो गया इसका कोई उत्तर नहीं दे सकता। तब जिस वस्तु का उद्भव ही हमें प्रतीत नहीं वह हमारी है यह हम कैसे कह सकते हैं। शोक-मोह जो कुछ होता है वह “यह हमारा है” यह जानकर ही होता है। अपरिचित मनुष्यों या प्राणियों की मृत्यु में कोई हर्ष शोक किसी को नहीं होता। इसलिए जिनमें स्वीयत्व अर्थात् अपनेपन का भाव है उन्हीं के जन्म मरण में हर्ष शोक देखे जाते हैं। किन्तु वह स्वीयत्व का भाव सर्वथा निर्मूल है। क्योंकि अकस्मात् प्रादुर्भूत देह में स्वीयत्व कहाँ से आ गया। यह केवल कल्पना मात्र है। इसलिए काल्पनिक वस्तु में बुद्धिमान् पुरुष को कोई हर्ष या शोक नहीं हो सकता। इसी बात को स्पष्ट रूप से महाभारत में अन्यत्र कहा गया है कि—

“अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।

नासौ तव न तस्य त्वं, वृथा का परिदेवना ॥ (महाभा० ११, २, १३)

अर्थात् कहाँ से आ गया यह भी अविदित था। पूर्व का स्थान अज्ञात है और फिर अदर्शन में अर्थात् अज्ञात स्थान में ही चला गया तब वह तुम्हारा कैसे हुआ और तुम उसके कैसे हुए? फिर यदि तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही नहीं तो शोक और विलाप का कोई कारण नहीं। तात्पर्य यह कि इस पद्य से मनुष्यों का परस्पर सम्बन्ध केवल कल्पना मूलक सिद्ध होता है, यह दिखाया गया। क्योंकि प्रत्येक प्राणी का शरीर कहाँ से आया यह भी हम नहीं जानते और कहाँ चला गया यह भी नहीं जानते तब दर्शनमात्र के समय उसे अपना मान लेना यह केवल कल्पना ही कही जा सकती है। और केवल कल्पना के आधार पर हर्ष शोक मानना बुद्धिमत्ता का कार्य नहीं।



शांकर दर्शन के अनुयायी कई व्याख्याकार इससे जगत् के मिथ्यात्व का आशय भी निकालते हैं। उनका कथन है कि भगवान् ने यही न्याय प्रदर्शित किया कि—

“आदावन्ते च यत्रास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा”

अर्थात् जो न पहले है, न पीछे है उसे मध्य में अर्थात् वर्तमान काल में भी असत् ही मानना चाहिए। तब जो शरीर उत्पत्ति से पूर्व भी नहीं था और नाश के अनन्तर भी नहीं है वह मध्य में भी सिद्ध नहीं होता केवल कल्पना मात्र ही माना जा सकता है। क्योंकि पूर्व “नासतो विद्यते भावः” इत्यादि श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है कि असत् की सत्ता और सत् का अभाव कभी नहीं होता। शरीरादि जगत् के समस्त पदार्थ यदि पहले अदृष्ट अर्थात् असत् थे तो उसनकी सत्ता मध्यकाल में नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि अव्यक्त शब्द से भगवान् ने पहले और पश्चात् अदर्शन ही कहा है, असत्ता तो नहीं बतलाई, तो विचार करना होगा कि अव्यक्त अर्थात् अप्रकट की सत्ता मानने में प्रमाण क्या? अव्यक्त भी किसी सूक्ष्म रूप से अपने कारण में स्थित रहता है ऐसा मान लेने पर तो फिर वही सत्कार्यवाद आदि की शास्त्रीय प्रक्रिया आ जाती है और उस प्रक्रिया में अद्वैत ही सिद्ध होता है यह पहले उक्त श्लोक की व्याख्या में विस्तार से कहा जा चुका है। इसलिए विकारभूत जगत् की वस्तुओं की अपने रूप में सत्ता तो केवल मध्यकाल में ही गृहीत होती है। आदि या अन्त में उनका अभाव ही लौकिक प्रतीति में माना जाता है। इसलिए जो पहले असत् हैं वे विकारभूत पदार्थ मध्य में भी सत् नहीं कहे जा सकते और यदि वे मध्य में सत् मान लिये जाय तो फिर उनका अन्त में भी असत्त्व अर्थात् अभाव नहीं बन सकता। क्योंकि सत् का अभाव नहीं होता है यह सिद्ध किया जा चुका है। अतः आदि और अन्त में अव्यक्तता बतलाकर भगवान् ने शरीर के निदर्शन से जगत् के विकारभूत समस्त पदार्थों की असत्ता ही बतलाई और आदि अन्त में असत्ता होने पर मध्य में भी वास्तविक सत्ता नहीं कही जा सकती। इसलिए जगत् के शरीरादि सभी पदार्थों की केवल काल्पनिक अर्थात् प्रातिभासिक सत्ता है, वास्तविक सत्ता नहीं, यही भगवान् का अभिप्राय इस पद्य से प्रकट होता है : इसी कारण शोक विलाप आदि की निरर्थकता भी स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं ऐसी स्वप्न या इन्द्रजाल आदि की वस्तुओं का तो कोई भी शोक नहीं करता। फिर शरीर आदि का ही शोक करना केवल अविवेक ही कहा जा सकता है।

अन्य अनेक व्याख्याकार अव्यक्त का अर्थ प्रकृति मानते हैं। उनके मतानुसार यह अर्थ है कि शरीर आदि सारे पदार्थ प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति से पहले वे अव्यक्त रूप से प्रकृति में लीन रहते हैं। मध्य में व्यक्त होते हैं और अन्त में फिर

प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं। तब अपने कारण में लीन होना सब पदार्थों का स्वाभाविक है और कारण रूप में जाकर तो इन्हें महत्त्व ही प्राप्त होता है। वहाँ शोक या विलाप का प्रसंग ही क्या।

श्रीवल्लभाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार लिखी गई व्याख्या में यहाँ दोनों भाव प्रदर्शित किये गए हैं। यदि भूत पद से शरीर आदि भौतिक पदार्थ लिये जाँय तो “अव्यक्त” पद का अर्थ प्रकृति ही होना उचित है क्योंकि ये पदार्थ प्रकृति से ही प्रादुर्भूत होते हैं और अन्त में उसी में लीन होते हैं। यदि भूत शब्द से प्राणी अर्थात् जीव लिया जाय तब अव्यक्त शब्द का अर्थ अक्षर पुरुष होता है।

“अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः”

इत्यादि श्लोक में अक्षर पुरुष का भी अव्यक्त पद से निर्देश किया है। तब यह अर्थ होगा कि प्राणी अर्थात् प्राण धारण करने वाले जीवात्मा अक्षर पुरुष से ईश्वरेच्छानुसार प्रादुर्भूत होते हैं और ईश्वरेच्छानुसार ही नियत काल तक व्यक्त अर्थात् प्रकट दशा में रहते हैं। पुनः समय पर अव्यक्त में ही लीन हो जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर स्वरूप अव्यक्त पुरुष में लीन होना तो एक अत्यन्त हर्ष का अवसर है। इसमें विलाप और शोक का प्रसंग ही क्या। शरीर पक्ष में भी ईश्वरेच्छानुसार उनकी अव्यक्त से प्रकटता और अव्यक्त में लीनता है। तब ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में शोक-मोह सर्वथा व्यर्थ है।



## बाईसवां-पुष्प

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्ब्रूति तथैव चान्यः।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ (२,२९)

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ (२,३०)

“कोई पुरुष इस आत्मा को आश्चर्य के समान देखता है, अन्य पुरुष आश्चर्य के समान ही कहता है और कोई आश्चर्य के समान सुनता है तथा अन्य तो सुनकर भी इसको नहीं जान पाता।”

अर्जुन के मन में यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि पूर्वोक्त पद्यों में निर्दिष्ट इतने भेद आत्मा के सम्बन्ध में क्यों हो गए? “सौ सौ सयाने एक मत” इस लोकोक्ति के अनुसार विचारक दार्शनिकों के सिद्धान्त तो एक रूप ही होने चाहिए। उनमें अनेकों भेद क्यों? ऐसे सन्देह की संभावना समझ कर भगवान् इस पद्य के द्वारा यह उपदेश करते हैं कि आत्मा का स्वरूप ही दुर्बोध है। इसका जानना तथा कहना, सुनना और सुनकर समझ लेना सभी बातें कठिन हैं। ऐसे दुर्बोध गंभीर तत्त्व के सम्बन्ध में मत भेद हो जाना अनिवार्य है।

अथवा यह विचार अर्जुन के मन में उठना ही स्वाभाविक है कि भगवान् बार-बार शोक-मोह को निरर्थक कह रहे हैं किन्तु संसार में तो प्रायः विवेकी पर्यन्त सभी पुरुष शोक-मोह ग्रस्त देखे जाते हैं। तब मेरा भी यह शोक-मोह मनुष्य साधारण होने से स्वाभाविक ही है। यह अभिप्राय समझकर भगवान् कहते हैं कि भाई ठीक है, तुम पर ही इसका कोई विशेष उपालम्भ नहीं। आत्म तत्त्व ही ऐसा है कि इसका जानना, कहना, सुनना और सुनकर समझना सभी बातें बहुत कठिन हैं। इसलिए सबको शोक-मोह होता है किन्तु विवेक पूर्वक हटाना चाहिए।

इस पद्य में निम्नलिखित श्रुति का आशय प्रकट किया गया है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यत्र विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्यो ज्ञाता, कुशलानुशिष्टः॥

(कठोपनिषद् १ अ० २ वल्ली, ७ मन्त्र)

अर्थात् आत्मा सुनने को भी बहुतों को नहीं मिलता और सुनते हुए भी बहुत से नहीं समझ सकते। इसका कहने वाला भी आश्चर्य रूप है अर्थात् जैसे कोई अद्भुत बात कभी-कभी ही दिखाई देती है, इस प्रकार आत्म-तत्त्व का उपदेष्टा भी कहीं-कहीं कभी प्राप्त होता है, और प्राप्त करने वाला तो उनमें भी कोई ही चतुर निकलता है।

अतिचतुर मनुष्य के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने पर भी पूरा जानने वाला भी आश्चर्य रूप ही है अर्थात् कहीं कदाचित् उपलब्ध हो सकता है।

इस श्रुति के साथ समान भाव रखने को कुछ व्याख्याकारों ने इस पद्य के “आश्चर्यवत्” पद में “वत्” प्रत्यय को स्वार्थ प्रत्यय माना है। किन्तु स्वार्थ में “वत्” प्रत्यय व्याकरण में विहित नहीं है। इसलिए “आश्चर्य के समान है” ऐसा कहने में भी कोई हानि नहीं। यहाँ “वत्” के द्वारा श्रुति का अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि जिस प्रकार अद्भुत वस्तु कहीं-कहीं प्राप्त होती है, वैसा ही आत्म तत्त्व का द्रष्टा और वक्ता आदि भी है, इसलिए आश्चर्य के समान है। यहाँ “आश्चर्यवत्” को “कश्चित्” का विशेषण मानकर वक्ता, द्रष्टा, और श्रोता को आश्चर्य के सदृश कहा गया ऐसा भी अर्थ हो सकता है और आत्मानं का विशेषण मानकर कोई पुरुष आत्मा को आश्चर्य की तरह देखते हैं अर्थात् जैसे किसी अद्भुत वस्तु को देखकर उसका तत्त्व न समझते हुए मनुष्य अप्रतिबुद्ध सा हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा की बात सुनकर और जानकर भी बहुत से साधारण विद्वान् आश्चर्य में डूब जाते हैं, यह अर्थ भी प्रकट होता है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि ने तो “आश्चर्यवत्” शब्द को तीनों में विशेषण माना है। उनके अनुसार “एनम्” “आत्मानम्” के साथ भी इसका सम्बन्ध हो सकता है, कश्चित् के साथ भी और क्रिया विशेषण बन कर यह पश्यति, वदति, शृणोति के साथ भी सम्बद्ध हो सकता है। आत्मा का विशेषण होने पर “आश्चर्यवत्पश्यति” का यह अर्थ होगा कि जैसे अद्भुत वस्तु को देखकर उसका तत्त्व न समझते हुए मनुष्य उस पर नाना विरुद्ध धर्मों की कल्पना किया करते हैं, इसी प्रकार आत्मा यद्यपि सर्व रूप से सत्य है, तो भी इसे कई दार्शनिक और साधारण लोग असत् मान बैठे हैं। यह चैतन्य रूप होने से स्वप्रकाश है। किन्तु नैयायिक आदि ने इसे स्वतः जड़ मान लिया है। मन के सम्बन्ध से आत्मा में ज्ञान पैदा होता है ऐसा मान लेने पर स्व स्वरूप से आत्मा को जड़ ही माना गया। इसी प्रकार यह आनन्दधन है तो भी बौद्ध आदि ने दुःख रूप इसे मान लिया है। निर्विकार को भी साधारण लोग सविकार मानते हैं। नित्य को भी अनित्य अर्थात् जन्म मरणशील मानते हैं। ब्रह्मरूप होने पर भी ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं। नित्य मुक्त होने पर भी बन्धन में पड़ा हुआ समझते हैं, इत्यादि। “कश्चित्” का विशेषण होने पर इसका अर्थ यह होगा कि जैसे अद्भुत वस्तु किसी-किसी को ही दिखाई देती है इसी प्रकार शास्त्र और आचार्यों के उपदेश प्राप्त कर अविद्या जनित द्वैत को हटाता हुआ वेदान्त के महावाक्यों से उत्पादित शुद्ध परमात्मा स्वरूप अन्तःकरण की वृत्ति में— जो कि वृत्ति अनेक जन्मार्जित पुण्यों का फल कही जा सकती है— उसमें प्रतिफलित आत्मा को समाधि का परिपाक होने पर कोई विरल व्यक्ति ही देख सकता है। क्रिया विशेषण मानने पर इसका अर्थ होगा कि इसका

देखना भी आश्चर्यरूप ही है। क्योंकि उक्त प्रकार की जिस अन्तःकरण वृत्ति में आत्मा का भान होता है वह स्वयं अन्तःकरण का विकार होने के कारण मिथ्या है। किन्तु स्वयं मिथ्या होती हुई भी सत्य आत्मा को अभिव्यञ्जित कर देती है। जैसे मिथ्या भूत स्वप्न किसी सत्य भावी अर्थ को सूचित कर देता है, जैसा कि वेदान्त सूत्र और शकुन ग्रन्थ तथा आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्र आदि में माना गया है। इसी प्रकार “आश्चर्यवद्वदति” इस वाक्य में भी तीनों प्रकार के अर्थ प्राप्त होते हैं। कर्ता का विशेषण मानने पर इसका अर्थ होगा कि आत्मा का वक्ता आश्चर्य रूप हैं। क्योंकि जो जिस विषय को जानता है वही तो उस विषय को कह सकेगा। अज्ञ पुरुष उस विषय का वक्ता कैसे हो सकता है। कदाचित् कोई अज्ञ भी प्रपंच रच कर बहुत लोगों को अपना अनुयायी भक्त बनाने के लिए कहने लगे तो उसके लिए पद्य में विशेषण दिया गया है कि— “अन्यः तथैव वदति स आश्चर्यवत्” अर्थात् जो पुरुष जैसा जानता है वैसा ही कहे यह बात आत्मा के विषय में आश्चर्यरूप ही है। वंचक रूप से कहने वाले अनेकों प्राप्त हो जायेंगे किन्तु यथार्थ जानकर जैसा का तैसा कहने वाला आश्चर्य रूप है। क्योंकि जो आत्मा को पहचान जायगा वह स्वयं समाधि में मग्न हो जायगा। अपने आनन्द के अनुभव में डूबा रहेगा। तब उसे दूसरे के प्रति उपदेश देने का अवसर ही कहाँ प्राप्त होगा। प्रसिद्धि, पूजा आदि की इच्छा न रहने के कारण उपदेश में उसकी प्रवृत्ति होनी भी कठिन है। वह तो केवल प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति पर्यन्त अनिच्छा से शरीर धारण करता है। उसे संसार के किसी व्यवहार से कोई प्रयोजन नहीं रहता। तब केवल अन्य मनुष्यों का भी कल्याण हो, इस अभिप्राय से परोपकार की दृष्टि से अपने आनन्दानुभव को छोड़कर भी कोई उपदेश में प्रवृत्त हो वह आश्चर्यरूप विरल ही होगा।

दूसरे वाक्यों में भी आश्चर्यवत् पद को आत्मा का विशेषण बनाने पर आत्मा की आश्चर्यरूपता ही कही जायगी। जो कि पूर्व वाक्य में विस्तार से कही जा चुकी है। क्रिया विशेषण बनाने पर इसका तात्पर्य होगा कि आत्मा का कहना भी आश्चर्य रूप ही है। क्योंकि जब श्रुति स्वयं कहती है कि आत्मा, मन और वाक् का विषय नहीं—

“यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह”

मन के साथ वाणी आत्मा को बिना प्राप्त किये ही लौट आती है तब उसका किसी पुरुष के द्वारा कथन कैसे संभव हो सकता है? इसके अतिरिक्त शब्द मर्यादा से भी यदि विचार करें तो भी आत्मा का कथन बन नहीं सकता। क्योंकि शब्द किसी धर्म को आगे रखकर ही किसी पदार्थ का प्रतिपादन करता है। वह निर्धर्मक आत्मा को कैसे बतला सकता है? जब आत्मा का सर्व साधारण को ज्ञान ही नहीं तो उसके साथ शब्द का शक्तिग्रह भी कैसे हो सकता? लक्षणा भी बिना किसी धर्म के ज्ञान के

प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसलिए अखण्डरूप से अखण्ड अर्थ को केवल तात्पर्य के अभिव्यञ्जक के द्वारा बतला देना एक आश्चर्य की ही घटना है। शब्दात्मक श्रुति बिना शक्ति लक्षणा के आत्मा को कैसे बतलाती है इस सम्बन्ध में कई वेदान्तचार्यों का मत है कि भाग त्यागलक्षणा से और बिना लक्ष्यातावच्छेदक के ही कल्पित सम्बन्ध से किसी प्रकार श्रुति उसे संकेतित कर देती है। प्रायः श्रुति अभाव रूप से ही उपलक्षित कर “नेति नेति”, “इदं न इदं न”, “ऐसा नहीं, ऐसा नहीं” इत्यादि रूप से ही आत्मा या ब्रह्म को संकेतित किया करती है। किन्तु “तत्त्वमसि” इत्यादि महावाक्यों में अभावरूपता का प्रसंग नहीं। इसलिए वहाँ ऐसी कल्पना आचार्यों को माननी पड़ती है। इस पद्य की व्याख्या में श्रीमधुसूदनसरस्वती ने वार्तिककार के मतानुसार एक नया प्रकार बतलाया है कि जैसे गहरी नींद में सोते हुए किसी पुरुष को उसके नाम से आह्वान कर कोई दूसरा पुरुष जगाता है, वहाँ शब्दशक्तिग्रह पूर्वक वह सोता हुआ पुरुष उठा यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उठने से पहले सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रिय, मन आदि सब प्रलीन हैं। तब शब्द श्रवण और उसका शक्ति स्मरण हो ही कैसे सकता है। इसलिए वहाँ यही मानना पड़ता है कि शब्द की शक्ति अचिन्त्य है, वह शक्ति लक्षणादि के बिना भी कुछ अद्भुत व्यापार रखती है। उसी के अनुसार सुप्त पुरुष जाग्रत हो जाता है। इसी प्रकार का श्रुति के शब्दों का भी अचिन्त्य व्यापार मानना चाहिए। जिसके द्वारा वे आत्मतत्त्व बोध करा देती है। किन्तु वह भी सबको नहीं। कर्मोपासनादि के द्वारा अन्तःकरण का मल जिन्होंने दूर कर दिया है उन निर्दोष पुरुषों को ही श्रुति द्वारा शुद्ध आत्मा का भान होता है। अस्तु, यहाँ इतना ही कहना था कि ऐसा भान होना भी एक आश्चर्य रूप है।

तृतीय वाक्य में भी “आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति”, यहाँ “आश्चर्यवत्” का अन्वय पूर्वोक्त रीति के अनुसार आत्मा में, श्रोता पुरुष में और श्रवण क्रिया में तीनों जगह किया जा सकता है। आत्मा की आश्चर्यमयता तो पूर्व वाक्य के अनुसार ही सिद्ध है। कर्ता के अन्वय होने पर यह तात्पर्य होगा कि अनेक जन्मों से जिसने शुद्ध पुण्य कर्म उपासनादि के द्वारा अन्तःकरण के मल को दूर कर दिया है वही श्रवण में प्रवृत्त होता है। इसलिए श्रोता भी आश्चर्य के समान दुर्लभ ही है। यह बात आगे भगवद्गीता में ही कही जायगी कि हजारों मनुष्यों में कोई एक आत्मा के दर्शन के लिए प्रयत्न करने में लगता है और यत्न करने वाले भी हजारों में कोई एक जान सकता है। इसलिए श्रवण कर्ता का आश्चर्य के समान होना सिद्ध है। क्रिया-विशेषण होने पर यह तात्पर्य होगा कि यह आत्मा का श्रवण भी एक आश्चर्यरूप ही है। क्योंकि जिसके मन में मुमुक्षा अर्थात् मोक्ष की इच्छा प्रादुर्भूत हुई है वह उपयुक्त ब्रह्मवेत्ता गुरु का पहले अन्वेषण करेगा, फिर विधिपूर्वक शरणागत होकर उसके समीप श्रद्धापूर्वक जायगा। जैसा कि भगवान् आगे प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा को श्रवण का अंग

बताने वाले हैं। उस प्रकार उपसन्न होकर सुनेगा और वह श्रवण भी सामान्य वाक्यों की तरह नहीं किन्तु अभी बतलाये गए शब्द के अचिन्त्य शक्तिरूप व्यापार से होगा। यह सब अति दुर्लभ अतएव आश्चर्य के समान है। आगे “श्रुत्वाप्येनं वेद” इस वाक्य को भी श्रीमधुसूदन सरस्वती ने पृथक् किया है। और उसके साथ भी आश्चर्यवत् का सम्बन्ध जोड़ा है। इस प्रकार चौथे वाक्य का अर्थ होगा कि श्रवण पूर्वक, मनन, निदिध्यासन परिपाक पूर्वक आत्मा का साक्षात्कार रूप ज्ञान भी आश्चर्यरूप है। इसकी आश्चर्यरूपता पूर्व वाक्य के समान ही जान लेना चाहिए। इस प्रकार के ज्ञान सम्पन्न पुरुष की आश्चर्य रूपता भगवान् ने भी आगे बतलाई है कि “हजारों मनुष्यों में कोई एक तो सिद्धि के लिए यत्न करता है और यत्न करने वालों में भी हजारों में से कोई एक ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त करता है। “श्रुति ने भी ऐसी आश्चर्यमयता प्रकट की है कि—

“शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः”

अर्थात् श्रवण करके भी बहुत से लोग आत्मा को जानने में असमर्थ रहते हैं। इसके आगे पाँचवा वाक्य यह जोड़ना होगा कि “न चैव कश्चित्” अर्थात् कोई तो सुनकर भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं करते। इससे पूर्वोक्त वाक्य में कही गई जानने वाले की आश्चर्यमयता प्रकट हो जाती है। इस प्रकार वाक्य तोड़ने का आशय वे यह बतलाते हैं कि यदि ऐसा अर्थ किया जायगा कि सुनकर के भी आत्मा को कोई नहीं जानता तो “कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः” अर्थात् कोई कोई मेरा तत्त्व ज्ञान प्राप्त करते हैं, इस गीता के वचन से ही विरोध हो जायगा और “आश्चर्यो ज्ञाता”, अर्थात् जानने वाला भी आश्चर्य रूप है, इस श्रुति से भी विरोध होगा और कोई भी यदि न जान सके तो ज्ञान के लिए किया गया प्रयत्न और श्रुति में आत्मतत्त्व का प्रतिपादन भी व्यर्थ हो जायगा। इसलिए ऐसा वाक्य भेद करना उन्होंने आवश्यक माना है। किन्तु अन्य व्याख्याकार “कोई भी नहीं जान सकता” ऐसा अर्थ नहीं करते। केवल यही अर्थ करते हैं कि सुनकर भी कोई नहीं जान सकता। इसलिए वाक्य भेद की उनके मत में आवश्यकता नहीं होती। चार वाक्यों से ही निर्वाह हो जाता है।

इस प्रकार आत्मा का श्रवण ज्ञान आदि अति दुर्लभ होने से इसके संबंध में अनेक मतभेद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं और हे अर्जुन! तुम्हें भी दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि यह विषय ही अत्यन्त कठिन है, इसलिए तुम्हें मोह हो गया। किन्तु मध्य में “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः” इत्यादि आत्मा का भी जन्म-मरण प्रवाह मतान्तर से बता देने के कारण अर्जुन को यह सन्देह न हो जाय कि भगवान् भी इस विषय में मुझे निश्चित उपदेश नहीं दे सकते, अथवा इन्हें भी इस विषय में सन्देह ही है। ऐसी शंका को सर्वथा मिटा देने के लिए उपसंहार में भगवान् फिर निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन अग्रिम श्लोक में कर देते हैं कि—

“हे भारत ! सब प्राणियों के देह में रहने वाला इसका स्वामी आत्मा सदा ही अवध्य है अर्थात् वह नित्य रूप से ही रहता है, उसका वध कोई नहीं कर सकता। इसलिए आत्मा के नित्यत्व को ही तुम सिद्धान्त रूप से समझो और उसके जन्म-मरण प्रवाह को केवल शरीर का संयोग वियोग रूप मानकर काल्पनिक समझो, इसलिए शोक करना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि मुख्य तो आत्मा ही है। उसका नाश होता नहीं और शरीर आदि तो केवल कल्पित हैं। उनके अवश्यंभावी नाश का शोक करना भी किसी कारण उचित नहीं।”

यहाँ आत्मा के नित्यत्व प्रकरण का उपसंहार कर उसे समाप्त कर दिया। श्री शंकराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याताओं के मतानुसार सांख्य दर्शन के ज्ञान का प्रकरण यहीं पूर्ण हो जाता है, जिसका कि विवरण तृतीयाध्याय के आरम्भ में किया जायगा। अर्जुन की दो शंकाएँ उपस्थित हुई थीं। भीष्म आदि स्वजनों के वियोग से दुःख होगा यह एक शंका थी। दूसरी यह कि मुझे इनके मारने से पाप होगा। इनमें से प्रथम शंका का समाधान यहाँ तक किया गया कि शोक करना अनुचित है। किन्तु यह प्रश्न तो फिर भी यथावत् बना ही रहेगा कि मान लिया आत्मा नित्य है और शरीर अवश्यंभावी विनाशी है। किन्तु फिर सारे धर्म शास्त्रों में हिंसा को घोर पाप और उसके द्वारा नरक गति प्राप्ति आदि जो बताए गए हैं उनकी क्या गति होगी? क्या यही मान लिया जाय कि आत्मा नित्य है इसलिए हिंसा में कोई पाप नहीं? यदि ऐसा ही हो तो शास्त्रों में सब जगह हिंसा का इतना निषेध क्यों किया गया है? पूर्व (२।१९) पद्य के व्याख्यान में यह कहा गया है कि शास्त्रों के विधि-निषेध व्यवहार दशा में ही हैं। पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर वे विधि-निषेध लागू नहीं होते—

“निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः”

अर्थात् प्रकृति के गुणों से मुक्त होकर जो ऊपर चला गया उसके लिए क्या विधि और क्या निषेध? इस पर भी अर्जुन के मन में यह शंका हो सकती है कि मैं तो अभी व्यवहार दशा में ही हूँ। मैं शोक मोहादि से आक्रान्त हूँ। तब अभी मुझे निस्त्रैगुण्य प्राप्ति कहाँ हुई। इसलिए मुझ पर तो वे विधि-निषेध अवश्य लागू होंगे। तब इस प्रबल हिंसा के पाप से मैं कैसे बच सकूँगा। इस शंका के निवारण के लिए आगे का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। जो कि अग्रिम प्रवचन में स्पष्ट किया जायगा।



## तेईसवां-पुष्प

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ (२, ३१)

“पूर्वोक्त के अतिरिक्त अपने धर्म का विचार करके भी तुमको विकम्पित अर्थात् अपने इस समय के कर्तव्य से विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि धर्मानुसार युद्ध के अतिरिक्त क्षत्रिय के लिए कल्याण का मार्ग इस प्रकार का और कोई नहीं है।”

यहाँ धर्म का प्रसंग आया है, और स्वधर्म, परधर्म की भी बात उठाई गई है। धर्म आर्य जाति का प्राण है और बिना धर्म स्वरूप के स्पष्ट निरूपण के स्व-धर्म तथा पर धर्म का ज्ञान भी नहीं हो सकता। इसलिए धर्म के महत्व और उसके स्वरूप का विवेचन करना यहाँ आवश्यक है।

यों तो सभी लोग धर्म की प्रशंसा और अधर्म की निन्दा करते हैं किन्तु धर्म-प्राण आर्य जाति का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि धर्म ही संसार का आधार है। मनुष्य के द्वारा विरचित सृष्टि में जिस प्रकार विशाल राजभवन भित्तियों और खम्भों के सहारे पर खड़ा रहता है, इसी प्रकार ईश्वर की रचना में उस प्रभु का बनाया हुआ अतिविशाल चतुर्दश भुवनात्मक यह ब्रह्माण्ड धर्म के ही आधार पर खड़ा है। यह सिद्धान्त आर्य जाति के बच्चे और बूढ़े, राजा और रंक सबके हृदयों में कभी न मिटनेवाली रेखाओं से अंकित है। इस जाति का यह सुदृढ़ विश्वास है कि धर्म की स्थिति से वस्तु के स्वरूप की स्थिति है और धर्म के नष्ट होते ही वस्तु अपने स्वरूप से गिर जाती है। इसी कारण आर्य जाति के बच्चे और बूढ़े, राजा और रंक सभी ने धर्म संकट में प्राणों की बाजी लगाकर अपने-अपने धर्म की रक्षा की है। उसी का सुमधुर फल आज भी हमारी आँखों के सामने है कि शत्रुओं के प्रचण्ड आक्रमणों को सहन करने में असमर्थ होने के कारण अनेक बड़ी-बड़ी जातियों ने विजेता जातियों को आत्मसमर्पण कर जहाँ अल्पकाल में ही अपना अस्तित्व संसार से मिटा दिया, वहाँ सृष्टि के आरम्भ से गंगा-यमुना की धारा के समान अविच्छिन्न प्रवाह से चली हुई आर्य जाति अनेक शताब्दियों से परतन्त्र रहकर भी आज भी संसार की सभ्य जातियों में गिनी जाती है। आधुनिक शिक्षा की चकाचौंध में आए हुए जो भारतीय सज्जन अन्य देशों के ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित कर धर्म को उन्नति के मार्ग का एक काँटा सिद्ध करने की चेष्टा किया करते हैं, उन्हें एकबार इतिहास की इस विलक्षणता पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। वे बतावें कि क्या आर्य-जाति के समान प्राचीन-सभ्यता का अभिमान करने वाली कोई दूसरी जाति भी आज संसार में है? क्या संसार में अन्य कोई दृष्टान्त ऐसा है कि इतने काल तक पराधीन रहकर कोई जाति अपनी सभ्यता अथवा सत्ता को अक्षुण्ण रख सकी हो? रोमन और रेड-इन्डियन जैसी विशाल साम्राज्य भोगने वाली जातियाँ जहाँ

विजित होते ही अल्पकाल में अपनी सत्ता विलीन कर केवल इतिहास के पन्नों में अपना नाम छोड़ गई, वहाँ आर्य जाति का अब तक जीवित जाति रहना और अपनी सभ्यता को सुरक्षित रखना क्या आश्चर्य और गौरव की बात नहीं है? और यदि है तो इसका एकमात्र श्रेय धर्म को ही है या अन्य किसी को? यह विचारने की बात है। इसीलिए भगवती श्रुति स्पष्ट घोषणा करती है कि—

“धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।”

अर्थात् धर्म ही सम्पूर्ण संसार को अपने स्वरूप में स्थिर रखने वाला है।

मोटी बुद्धि धर्म के महत्त्व को समझने में असमर्थ है, इस कारण मोटी-बुद्धि के मनुष्य अर्थ और काम के प्रलोभनों से आकृष्ट होकर शरीरिक और मानसिक शक्ति का हास करने वाले विषय सुख में फँस जाते हैं। विषय भोग के क्षणिक आनन्द के बदले अपना सारा शक्ति-धन लुटा कर अनेक महारोगों से आक्रान्त होकर, जीने की इच्छा रखते हुए भी, जल्लादों के हाथ में पड़े हुए खूनी कैदी के समान अतिदीन होकर वे महाकष्ट से मृत्यु के मुख में प्रवेश करते हैं। किन्तु सूक्ष्म बुद्धि वाले मनुष्य सुख के असल कारण (धर्म) को अपनी पारगामी-बुद्धि से पहचान कर विषय-सुख की अन्तिम दशा (दुःख) को पहले ही जान लेते हैं। इससे वे अर्थ और काम की प्रचण्ड-आँधी में भी धर्म के एक अंग के सहारे, हिमालय और विन्ध्याचल के समान अविचल रहकर धर्म का पालन करते हैं। इसी कारण जीवन भर सब प्रकार के रोग और शोक से अछूते, शरीर से स्वस्थ और मन से प्रफुल्ल रहते हैं। वे असमय में आयी हुई सभी अपमृत्युओं का तिरस्कार करके समय पर उपस्थित हुई मृत्यु के सिर पर पाँव रखकर भरद्वाजादि ब्रह्मर्षि एवं भीष्म पितामह आदि राजर्षियों के समान हँसते-हँसते परलोक यात्रा करते हैं। ऐसे सूक्ष्म बुद्धि वाले धार्मिक मनुष्य न इस लोक के दुःख भोगते हैं और न परलोक की कठिन यातनाएँ सहते हैं। ये सदा आनन्द ही आनन्द में रहते हैं। यह धर्म का ही महत्त्व है।

पिता की आज्ञा को धर्म और उसका पालन करना अपना परम कर्तव्य समझकर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र राजपाट छोड़कर चौदह वर्ष तक यदि वन में न रहे होते, तो रामराज्य आदर्श राज्य न कहलाता और अयोध्या में कुरुक्षेत्र के समान रक्त की नदियाँ बही होतीं। राजा प्रजा को इस प्रकार के प्रलयकारी रक्तपात से बचा कर संसार को शान्त और सुव्यस्थित रखने में एकमात्र धर्म ही सफल हुआ है। धार्मिक जगत् अब भी इस बात को गर्व के साथ कहता है कि यदि संसार धर्म पर कटिबद्ध रहे तो आज ही रक्त की नदियों के स्थान पर दूध और दही की नदियाँ बहने लगे। शत्रुता का नाम निशान मिट जाय, और मित्रता का सर्वत्र साम्राज्य छा जाय। भय और अत्याचार आदि दुर्गुणों का नाश होकर उनके स्थान पर अभय और सदाचार आदि

सद्गुण विराजमान हो जाय। रूस और अमेरिका आदि देश कौरव पाण्डवों के समान न रहकर भगवान् रामचन्द्र और श्रीभरत की तरह सम्मान और सौहार्द्रपूर्वक रहने लगे। असम्भव दिखने वाली से सब घटनाएँ यदि सम्भव हो सकती हैं, तो केवल धर्मबल के आधार पर। धर्म के सिवाय संसार में कोई शक्ति नहीं है, जो इन अनहोनी घटनाओं को होनहार सिद्ध कर सके।

धर्म एक वह बल है, जो संसार में अचूक विजय दिलाने वाला है। अन्य बल यदि धर्म के अनुयायी रहें तो विषय के साधन होते हैं अन्यथा सर्वथा निष्फल या बिलकुल फेल होते हैं। दुशासन जैसे प्रबल शरीर बल वाले व्यक्ति के सामने असहाय और अबला द्रौपदी को किसने विजय दिलाई? त्रिलोकी को हुंकार मात्र से कम्पित करने वाले हिरण्यकशिपु जैसे महान् अत्याचारी सम्राट के आगे प्रह्लाद जैसे बालक की विजय का कारण कौन बना? सुवर्णमयी लंका के स्वामी रावण पर कन्दमूल फल खाते हुए अकिंचन भगवान् रामचन्द्र ने विजय प्राप्त कर संसार को क्या शिक्षा दी? चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित महाराज विश्वामित्र को वनवासी अकेले महर्षि वशिष्ठ ने किस बल से जीता? ग्यारह अक्षौहिणी-सेना के स्वामी दुर्योधन केवल सात अक्षौहिणी-सेना के अधिपति युधिष्ठिर के आगे क्यों परास्त हुआ? इन सब बातों का उत्तर एकमात्र धर्मबल ही है। धर्मबल इस संसार में भी विजय दिलाता है, और परलोक का तो वही एकमात्र सहारा है।

धर्म के महत्व को पूर्णतया समझकर ही यवनों के प्रबल-आक्रमणों के समय, धर्म की रक्षा के लिए, क्षत्रिय-वंशावतंस हिन्दू-सूर्य महाराणा प्रताप और वीर शिवाजी आदि महाप्रतापी राजाओं के साथ अनेक क्षत्रिय-शूरवीरों ने अपने प्रिय-प्राणों की संग्राम की पवित्र वेदी पर आहुति दी थी। महारानी पद्मिनी आदि अगणित क्षत्राणियों ने अपने सतीत्व-धर्म की रक्षा के लिए धधकती हुई अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं में तृण के समान अपने विनश्वर शरीर को भस्म कर अपने आपको अमर कर लिया था। यहीं नहीं, हकीकत राय आदि दुधमुँहे बच्चों ने भी धर्म की रक्षा के निमित्त प्राण-परित्याग कर—

“न जातु कामात्र भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।”

का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया था। हम आज के विज्ञ समाज से पूछते हैं कि क्या पूर्वोक्त धर्म-धुरन्धर व्यक्ति आदर्श नहीं हैं? क्या आज भी संसार इनकी चरण-रज पर अपने सर्वस्व को निछावर कर देने के लिए तैयार नहीं है? क्या उनका वह त्याग संसार की अमूल्य सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती? यदि उनका महत्व है, तो किस आधार पर? बस, कहना होगा कि एकमात्र धर्म ही इस महत्व का आधार है। संसार में अनन्त प्राणी जन्म लेते हैं, और मरते हैं। किन्तु इनमें अमर वे ही होते हैं जो धर्म के नाम पर मरना जानते हैं। इस धर्म को कर्तव्य-पालन शब्द से कह

लीजिए, समाज-सेवा शब्द से व्यवहार कीजिए, त्याग या ड्यूटी नाम दीजिए, चाहे नैतिक बल कहिए अथवा और कुछ कह लीजिए, नाम पर विवाद करने की कोई आवश्यकता नहीं। बात एक ही है कि केवल धर्म ही लोक और परलोक की उन्नति का एकमात्र साधन है। इसीलिए भगवान् मनु का उपदेश है कि—

**धर्म शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिका ।**

**परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ४।२३८।**

परलोक यात्रा के समय मार्ग के संकटों का निवारण करने में तथा नरक आदि दुःखदायी स्थानों से बचाकर चन्द्रलोक और सूर्यलोक आदि सुखदायक लोकों की प्राप्ति कराने में धर्म हमारी सहायता करे— इस इच्छा से धर्म का शनैः-शनैः इस प्रकार संचय करे कि किसी प्राणी को उसकी धर्म-क्रिया से कष्ट न पहुँचे। जैसे दीमक एक-एक मिट्टी इकट्ठी करके कुछ ही दिनों में बहुत बड़ी बांबी (दीमक का इकट्ठा किया हुआ मिट्टी का ढेर) बना लेती है, इसी प्रकार शनैः-शनैः धर्म संचय करता हुआ धर्म की राशि को बढ़ावे। यह सदा ध्यान रखें कि अपने आचरण से किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचे।

**नामुत्र हि साहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।**

**न पुत्र-दारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ ४।२३९।**

पिता, माता, पुत्र, स्त्री और बन्धु-बान्धव इनमें से निश्चय ही एक भी परलोक में सहायता के लिए पास नहीं फटकता, वहाँ तो केवल एकमात्र धर्म ही सहायता करने के लिए साथ रहता है।

**मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।**

**विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ ४।२४१।**

मरे हुए शरीर को निकम्मे काठ या मिट्टी के ढेले के समान पृथ्वी पर फेंक कर बान्धव लोग वापस आ जाते हैं। उस समय केवल एक धर्म ही उसके साथ परलोक तक जाता है।

**तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।**

**धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ ४।२४२।**

इसलिए परलोक में सहायता के हेतु नित्यप्रति जितना बन सके उस प्रकार (जिससे किसी तरह की तकलीफ न पहुँचे) धर्म का संचय करता रहे। धर्म ज्योति की सहायता से मनुष्य उस अन्धकार को पार कर लेता है जो सूर्य आदि के प्रकाश से भी पार नहीं किया जा सकता।

**धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।**

**परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥ ४।२४४।**

जिस मनुष्य का जीवन सदा धर्म प्रधान रहा है और तपस्याओं से जिसने अपने अगले पिछले पापों का नाश कर दिया है, उस धर्मात्मा पुरुष को धर्म और कहीं न ले जाकर सीधा सूर्य लोक में (जहाँ गया हुआ फिर यहाँ के दुःख भोगने को वापस नहीं आता) ले जाता है।

इस प्रकार जहाँ धर्म-प्रवक्ताओं के परमाचार्य भगवान् मनु परलोक का एकमात्र सहायक कह कर धर्म का महत्व दिखा रहे हैं, वहाँ आयुर्वेद के परमाचार्य चरक भगवान् सब उन्नतियों के मूल स्वास्थ्य के लिए धर्म की परमावश्यकता बता रहे हैं। चरक संहिता में भगवान् आत्रेय ने स्वास्थ्य के लिए दो खास बातें बतलाई हैं— एक तो उत्पन्न हुए रोग की औषधादि के द्वारा निवृत्ति करना, दूसरी स्वस्थावस्था में अपनी दिनचर्या ही ऐसी रखना जिससे रोग उत्पन्न होने ही न पावे। इनके मत से रोग उत्पन्न होने का विप्रकृष्ट निदान (मुख्य मूल कारण) अधर्म है। जनपदोरध्वंसनीय (महामारी) अध्याय में अपने प्रिय शिष्य अग्निवेश के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं—

सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते-

तस्य मूलमधर्मः। तन्मूलञ्चासत्कर्म (चर० विमानस्थान ३ आ०)

हे अग्निवेश! इस शरीर के और सब जगत् के मूल तत्व वात पित्त आदि में जो विकार-रोगोत्पादक दोष उत्पन्न होते हैं, इसका मूल कारण अधर्म है। धर्मात्मा भी रोगी होते देखे जाते हैं, इसका कारण पूर्वजन्म के पाप कर्म हैं। इतना ही नहीं जिससे मनुष्यों का तथा अन्य प्राणियों का संहार होता है ऐसे प्रसंगों का या शस्त्र प्रयोगों का कारण भी अधर्म ही को बतलाते हैं—

“तथा शस्त्रप्रभवस्यापि अधर्म एव हेतुर्भवति।”

अर्थात् शस्त्र प्रयोग से जो महान् जनक्षय होता है, उसका कारण भी अधर्म ही है। और ऐसे भयंकर रोगों का उपाय भी चरक भगवान् क्या बता रहे हैं? देखिए—

“सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्

संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम् ।

धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसंमतैः ॥”

सूत्र स्थान ८ अध्याय में अपना भला चाहने वाले मनुष्य को क्या करना चाहिए, यह सलाह देते हुए भगवान् आत्रेय कहते हैं—

“स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्, तद्ध्यनुष्ठानं युगपत्सं-

पादयत्यर्थद्वयम्-आरोग्यमिन्द्रियविजयं च”

अर्थात् अपना हित चाहने वाले सभी लोगों को सदा सारा “सद्वृत्त” बिना भूल व्यवहार में लाना चाहिए। ऐसा करने से एक ही समय में दो लाभ हो जाते हैं—

आरोग्य और इन्द्रियों की विजय। तात्पर्य यह है कि शरीर का स्वास्थ्य और इन्द्रियों पर विजय किये बिना मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों के कार्य सिद्ध नहीं कर सकता। रोगों से आक्रान्त मनुष्य न सांसारिक-सुख प्राप्त करने के लिये कुछ कर सकता है, और न पारलौकिक सुख पाने के लिए। इसी प्रकार जो शरीर से स्वस्थ होकर भी इन्द्रियों के वशीभूत है, वह भी इस लोक और परलोक का कोई काम नहीं कर सकता। काम करने के लिए नीरोग और जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। परन्तु नीरोग और जितेन्द्रिय वही हो सकता है, जो “सद्वृत्त” के अनुसार व्यवहार करता है। आगे “सद्वृत्त” का स्वरूप है जिसे चरक ने बड़ी विस्तार के साथ लिखा है।

इस प्रकार शरीर स्वास्थ्य, आत्मोन्नति और समाज रक्षा आदि सब धर्म के ही फल सिद्ध होते हैं। हम आरम्भिक प्रथम प्रवचन में ही त्रिवर्ग धर्म को प्रधान बतलाते हुए कह आए हैं कि स्वरूप रक्षा ही धर्म का लक्ष्य है। यही बात—

“धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा”

इस उक्त श्रुति से भी सिद्ध होती है और सभी शास्त्रकार सब प्रकार के स्वरूप की रक्षा के लिए धर्म की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

धर्म शब्द का अर्थ ही यह है कि जो “धारण करने वाला हो।” इस शब्द की दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति शास्त्रों में संकेतित है, “धरतीति धर्मः” और “ध्रियते इति धर्मः”। दोनों को मिलाकर इसका तात्पर्य यह स्फुट होता है कि “ध्रियमाणः सन् धरति इति धर्मः” अर्थात् धर्मी में रहकर जो धर्मी के स्वरूप की रक्षा करता रहे वही धर्म है। विवेचक विद्वानों का एक मत से कथन है कि धर्म शब्द का समानार्थक दूसरा कोई शब्द किसी भाषा में प्राप्त नहीं होता। जितना गम्भीर अभिप्राय इस शब्द के अन्तर्गत है उतना अभिप्राय देने वाला कोई दूसरा शब्द संसार में है ही नहीं। इसीलिए इस शब्द का ठीक अनुवाद भी किसी भाषा में नहीं हो सकता। रिलीजन आदि इंग्लिश शब्दों से और मजहब आदि शब्दों से जो इसका अनुवाद किया जाता है वह अपनी बुद्धि को समझाने के लिए कल्पित संकेत मात्र है। “रिलीजन” शब्द का असली अर्थ होता है, “रि” अर्थात् पुनः “लीज” अर्थात् बन्धन। इससे शब्दार्थ यह सिद्ध होता है कि जो पुनः बन्धन करने वाला हो। किन्तु हमारे यहाँ धर्म का अभिप्राय इससे बिल्कुल विपरीत है। यहाँ माना जाता है कि जो बन्धन से छुड़ाने वाला हो वही धर्म है। आंग्ल भाषा के विद्वान् प्रायः यह समझकर “रिलीजन” शब्द का प्रयोग धर्म के लिए करते हैं कि धर्म के द्वारा एक बन्धन होता है, अर्थात् यथेच्छाचरण को इसके द्वारा रोका जाता है। किन्तु यह भी पूरा नहीं उतरता क्योंकि केवल दुराचार से रोकने का नाम ही धर्म नहीं है, सत्कार्य प्रवृत्ति उसमें मुख्य है। जो कि उक्त आंग्ल शब्द के अर्थ में नहीं आती। इसी प्रकार मजहब आदि शब्द भी “मत” आदि अर्थों

के बोधक हैं, धर्म शब्द का गंभीर अर्थ उनसे लेशतः भी प्रकाशित नहीं होता। कई विद्वान् “कर्तव्य या ड्यूटी” आदि शब्दों से इसका अभिप्राय निकालना चाहते हैं किन्तु वह भी अनुवाद पूरा नहीं उतरता। धर्म शब्द का प्रयोग हम “अग्नि का धर्म”, “जल का धर्म” इत्यादि स्थानों में भी अप्रतिहत रूप से कर सकते हैं किन्तु “अग्नि की ड्यूटी” इत्यादि प्रयोग कभी सुसंगत नहीं होते। कदाचित् इसमें यह शंका हो कि असाधारण गुण का बोधक धर्म शब्द दूसरा है जो कि “अग्नि का धर्म”, “जल का धर्म” आदि में प्रयुक्त होता है और मनुष्य के सम्बन्ध में जो धर्म शब्द का प्रयोग है वह शब्द ही दूसरा है। किन्तु ऐसा मानना एक प्रकार का भ्रम है। स्वरूप रक्षा रूप अर्थ सबमें अनुगत हो जाता है। जैसा कि दहन को अग्नि का धर्म कहा जाता है। जब तक अग्नि में दाहकत्व रहे तभी तक अग्नि कहला सकता है। दाहकत्व हट जाने पर उसे अग्नि कोई नहीं कहता। इसी प्रकार “आप्यायन” जल का धर्म है। आप्यायन अर्थात् तृप्ति करने की शक्ति जब जल में न रहे तब उसे जल कहने को कोई भी तैयार नहीं होगा। इससे वहाँ भी स्वरूप साधन से ही धर्म शब्द का स्पष्ट अर्थ सिद्ध होता है और मनुष्य के पक्ष में भी यही बात है। मनुष्यत्व की रक्षा जिन कार्यों के द्वारा हो वे ही मनुष्य के पक्ष में भी धर्म कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि धर्म शब्द का विरुद्ध शब्द संस्कृत भाषा में पातक कहा जाता है। पातक अर्थात् पतन कराने वाला। इससे सिद्ध हुआ कि जिसके द्वारा स्वरूप से पतन हो वह पातक है और इसके विरुद्ध जिसके द्वारा स्वरूप रक्षा हो, पतन न हो सके वह धर्म है। लोक व्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि जो दुराचारी प्रसिद्ध हो जाय उसके लिए कहा जाता है कि वह तो मनुष्यता से गिर गया। इन सब व्यवहारों के द्वारा स्वरूप रक्षा से ही मनुष्य के पक्ष में भी धर्म शब्द का अर्थ सिद्ध होता है जो कि जड़ चेतन सबमें समान है। अग्नि का धर्म, जल का धर्म, इत्यादि में भी उसी अभिप्राय से इस शब्द का प्रयोग है और मनुष्य के पक्ष में भी यही अभिप्राय है। इससे शब्द दो नहीं कहे जा सकते।

संस्कृत के विद्वान् इस पर यह शंका करेंगे कि कर्म के तीन भेद शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं— नित्य, नैमित्तिक, और काम्य। संध्यावन्दनादि प्रतिदिन के आवश्यक कर्म नित्य कहे जाते हैं, हों तो आवश्यक किन्तु किसी निमित्त के आ पड़ने पर होते हों, सदा नहीं, उन्हें नैमित्तिक कहते हैं, जैसे ग्रहण, स्नान, अशौच कर्म आदि। इन दोनों में तो उक्त धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संगत हो सकती है। क्योंकि इनके द्वारा किसी नवीन अतिशय की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। पातक या पाप का निवारण ही इनका लक्ष्य है। किन्तु “काम्य” धर्मों में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसा वेदोक्त यज्ञ आदि जो मुख्य धर्म हैं वे तो स्वर्गादि अभ्युदयों के लिए किये जाते हैं। उनका लक्ष्य स्वरूप की उन्नति है न कि स्वरूप रक्षा मात्र। फिर उन्हें धर्म कैसे कहा जायगा और शास्त्रों में उनको ही मुख्य धर्म माना गया है। तब धर्म शब्द का उक्त अर्थ ठीक नहीं उतरता। इसका समाधान इस प्रकार है कि अग्रिम प्रवचन में जो हम स्वरूप की आन्तर व्याख्या

करने वाले हैं उसे समझ लेने पर यह शंका नहीं रहेगी। श्रुति कहती है कि “स्वर्ग-कामो यजेत” अर्थात् स्वर्ग की जिसे इच्छा हो उसके लिए यज्ञ करना धर्म है। वह स्वर्ग की इच्छा अन्तःकरण की एक वृत्ति है और जिसे स्वर्ग की इच्छा हो गई उसके स्वरूप में वह इच्छा भी प्रविष्ट हो गई। तब उस इच्छा की रक्षा भी धर्म शब्द के अर्थ में आ गई और इच्छा की रक्षा का अर्थ इच्छा के उपयुक्त पदार्थ प्राप्त करना ही होगा न कि इच्छा का दमन। अतः स्वर्ग आदि इष्ट पदार्थों की प्राप्ति भी स्वर्ग कामना वाले पुरुषों के धर्म रूप हो जाती है।

इस पर यह प्रश्न होगा कि फिर किसी पुरुष की चोरी व्यभिचार आदि दुराचारों की इच्छा भी उसके स्वरूप के अन्तर्गत हो गई। तब उसके साधनों को भी धर्म कहना पड़ेगा। इसका उत्तर यही है कि आत्मा के मुख्य शुद्ध स्वरूप के विरुद्ध जो अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं वे स्वरूप का आवरण करने वाली होने के कारण स्वरूप में प्रविष्ट नहीं कही जा सकती। वे केवल माया की वृत्तियाँ हैं, आत्मा की वृत्तियाँ नहीं। इसी अभिप्राय से धर्म शास्त्र प्रवक्ताओं ने धर्म की ये भी एक पहचान बतलाई है कि—

“यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः”

अर्थात् जिस काम के करने से अन्तरात्मा को प्रसन्नता होती हो, वही धर्म समझना चाहिए। भगवान् मनु ने आरम्भ में ही धर्म का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

विद्वद्धिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥ (मनु २-१)

अर्थात् रागद्वेष रहित विद्वान् जिसका सेवन करते हों और हृदय से अर्थात् अन्तःकरण से जिसकी अनुमति मिलती हो उसी धर्म का हम निरूपण करते हैं। सभी विवेचक विद्वानों ने यह माना है और अनुभव सिद्ध भी है कि कोई मनुष्य जब द्यूत, मद्यपान, चोरी आदि अनाचारों में प्रथम ही प्रवृत्त होने लगता है तब उसका अन्तरात्मा उसे रोकता है, उसके पैर काँपने लगते हैं, और बार-बार उस कार्य से हटने की प्रेरणा मिलती है। इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने मनोदेवता की आज्ञा को धर्म माना था। जैसा कि इस विषय का विस्तृत विवेचन हम प्रथमाध्याय के द्वितीय प्रवचन में ही कर आए हैं। यह दूसरी बात है कि बुरे कार्यों का अभ्यास हो जाने पर आत्मा का स्वरूप आवृत हो जाता है और फिर अनुचित कार्यों की रोक भी भीतर से नहीं होती। इसीलिए अन्तःकरण की आज्ञा को ही हमारी संस्कृति में धर्म का मुख्य आधार नहीं माना गया। अग्रिम प्रवचन में भी स्वरूप निरूपण में इस विषय को अधिक स्पष्ट किया जायगा। यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि अनुचित वृत्तियाँ स्वरूप में प्रविष्ट नहीं मानी जाती। इसलिए उनकी रक्षा को धर्म भी नहीं माना जाता। इससे भी उच्च श्रेणी



के आत्मज्ञानी पुरुषों के लिए तो इच्छा मात्र ही स्वरूप से बहिर्भूत है। इसलिए वे काम्यकर्ममात्र को धर्म नहीं मानते। यही गीता का भी सिद्धान्त है। रागद्वेषपरित्याग पूर्वक निष्काम कर्म करना ही गीता का मुख्य लक्ष्य है, यह अनुपद ही कर्मयोग के प्रवचनों में स्पष्ट हो जायगा।

धर्म का “स्वरूप रक्षा” अर्थ, काम्य कर्मों में समन्वित नहीं होता इस शंका का दूसरा समाधान यह है कि परिवर्तनशील जगत् में कोई न कोई परिवर्तन तो सदा सबका होता ही रहता है। वे परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं उच्च गति या अधोगति। अधोगति का ही नाम पतन है। जब धर्म के द्वारा पतन या अधोगति रोक दी गई तो उच्च गति की ओर अग्रसर होना प्राकृतिक है। इसलिए ऊर्ध्वगति या उन्नति अभ्युदय आदि का समावेश भी धर्म में हो जाता। इसी बात को दार्शनिक भाषा में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीव सर्वशक्तिमान, पूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्म का एक अंश है। जैसा कि गीता के १५वें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है। तब अपने अंशी सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्द घन की ओर बढ़ते रहना इसका स्वरूप ही है। क्योंकि अंश का अंशी की ओर अग्रसर होना प्रकृति के नियम से सिद्ध है। इसलिए उन्नति या अभ्युदय भी आत्मा के स्वरूप में ही आ जाता है और स्वरूप रक्षा रूप धर्म के अर्थ में वह अन्तर्गत हो जाता है। इसी प्रक्रिया को लक्ष्य में रखकर भगवान् कणाद ने वैशेषिक सूत्र में धर्म के लक्षण में अभ्युदय को भी स्थान दिया है—

“यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः”

(वैशेषिक सूत्र १ अध्याय १ सूत्र)

यह भगवान् कणाद का लक्षण मनुष्य धर्म को ही लक्ष्य मानकर प्रवृत्त है क्योंकि अभ्युदय या निःश्रेयस शब्दों का प्रयोग अचेतनों के लिए व्यवहार में नहीं किया जाता। महाभारत में जो धर्म का निर्वचन किया है वह जड़-चेतन साधारण है—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।

यत्स्याद्धारण संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

इसका आशय स्पष्ट किया जा चुका है कि जो धारण किया जाकर धर्मों का धारण करे अर्थात् धर्मों की स्वरूप रक्षा करे वही धर्म है। स्वरूप ज्ञान के तारतम्य और प्रकृति विशिष्ट आत्मा के अनन्त स्वरूप भेद होने के कारण धर्मों में बहुत भेद हो जाते हैं यह प्रथमाध्याय के प्रथम वचन में ही स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आशय से धर्म शब्द एक सम्बन्धि शब्द बना अर्थात् जो क्रियाएँ जिसकी रक्षा में उपयुक्त होंगी वे उसका धर्म कही जायेंगी और जिसके स्वरूप के विपरीत होंगी उसके पक्ष में वे अधर्म कही जायेंगी। आन्तर स्वरूप और बाह्य स्वरूप का विस्तार बतलाते हुए यह भी प्रथम प्रवचन में स्पष्ट किया जा चुका है कि देशकाल सामाजिक परिस्थिति

आदि भी स्वरूप के अन्तर्गत हैं। इसलिए देशकाल पात्र आदि के अनुसार ही धर्म की व्यवस्था होती है और उसमें स्वधर्म परधर्म आदि के भेद अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि इस प्रकार का स्वरूप ज्ञान सामान्य मनुष्यों को नहीं हो सकता और न वे स्थिर स्वरूप रक्षा के उपायों को ही जान सकते हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति में धर्म अधर्म का निर्णय शास्त्र पर ही छोड़ा गया है। यह भी कह आए हैं कि मुख्य धर्मोपदेष्टा पूर्ण ज्ञान सम्पन्न परमात्मा ही हो सकता है। उस परमात्मा की आज्ञा रूप वेद ही धर्म अधर्म के मुख्य निर्णायक भारतीय संस्कृति में माने जाते हैं और परमात्मा की कृपा से जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया उन ऋषि मुनियों के वचनों को भी धर्म का आधार माना जाता है। इस आशय को लेकर जैमिनि मुनि ने धर्म का मीमांसा दर्शन में यह लक्षण किया है— “चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः” इसका तात्पर्य विवरण मीमांसा के ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं कि “वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः” अर्थात् वेद के विधि शब्दों द्वारा जो बतलाया गया हो और स्वर्गादि प्रयोजनों का साधक हो वह धर्म है। इस लक्षण के विशेषणों पर बहुत विचार किया गया है जो यहाँ अप्रकृत होने के कारण नहीं कहा जाता। यहाँ धर्म शब्द की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए उसके अनेक लक्षणों का और शब्दार्थ का परस्पर समन्वय कहा गया है और धर्मभेद के कारण बतलाए गए हैं। अब स्वधर्म परधर्म का विशेष विवरण अग्रिम प्रवचन में किया जाएगा।



## चौबीसवां-पुष्प

पहले के प्रवचन में कह चुके हैं कि “धर्म” शब्द एक सम्बन्धी शब्द है, अर्थात् जिस प्रकार माता, पिता, पुत्र और गुरु आदि शब्द कहने पर यह स्वभावतः आकांक्षा होती है कि किसकी माता?, किसका पिता?, किसका पुत्र? इत्यादि, इसी प्रकार “धर्म” शब्द उच्चारण करते ही यह आकांक्षा स्वभावतः होती है कि किसका धर्म? इसके उत्तर के लिए किसी वस्तु का नाम साथ में लेना पड़ता है कि अग्नि का धर्म, जल का धर्म, पशु का धर्म या मनुष्य का धर्म आदि। जिसका वह धर्म है वही धर्म कहलता है। ऐसी स्थिति में धर्म का विचार करने से पूर्व यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि किस धर्म के धर्म का यहाँ विचार किया जा रहा है? यदि कहा जाय कि मनुष्य के धर्म का विचार करना है, तो इतने मात्र से जिज्ञासा शान्त नहीं होती, वहाँ फिर प्रश्न उठ जाता है कि वह मनुष्य क्या वस्तु है? जिसके धर्म का हम विचार करने चले हैं। क्या आत्मा धर्म है? या शरीर धर्म है?। केवल आत्मा को भी धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि साङ्ख्य वेदान्त आदि दर्शनों के विचार से शुद्ध आत्मा निर्धर्मक है, उसमें कोई धर्म नहीं रह सकता। न्याय आदि जिन दर्शनों के विचार से आत्मा में धर्म रहते भी हैं, तो भी मनुष्यत्व पशुत्व आदि आत्मा में नहीं रह सकते। क्योंकि वही आत्मा कभी मनुष्य और कभी पशु आदि हो सकता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का धर्म शुद्ध आत्मा का धर्म कैसे कहा जायगा? केवल शरीर को ही धर्म मानकर उसके धर्म का ही विचार किया जाय, तो धर्म का परलोक से कुछ सम्बन्ध ही नहीं रह जाता, क्योंकि शरीर यहीं नष्ट हो जाता है, फिर उसका धर्म परलोक में फल कहाँ से देगा? धर्म के नष्ट हो जाने पर धर्म की स्थिति रह नहीं जाती। इसलिए यह एक विचारणीय प्रश्न है कि किसके धर्म का विचार प्रस्तुत है? या इस प्रकार से कहें कि जिस धर्म का विचार करने चले हैं, उसका धर्म कौन है?

यह एक गम्भीर विषय है, संक्षेप से उसका निरूपण इस प्रकार है कि व्यवहार में शरीर विशिष्ट आत्मा को धर्म मानकर धर्म का विवेचन होता है। हमारे शास्त्रों में शरीर तीन माने जाते हैं— स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। स्थूल शरीर पाँचों भूतों का बना हुआ पुतला है। सूक्ष्म शरीर अट्टारह पदार्थों का समूह है, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय पाँच प्राण और मन, बुद्धि, अहंकार सम्मिलित हैं। यह सूक्ष्म शरीर ही लोक-परलोक में जाने वाला, भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने वाला व्यवहारिक जीव है। यह स्थूल शरीर के साथ नष्ट नहीं होता, किन्तु मृत्यु के समय एक स्थूल शरीर को छोड़कर कर्मों के अनुसार दूसरे स्थूल शरीर में चला जाता है। इससे भी आगे एक कारण शरीर है, जो केवल वासनात्मक है और उसका प्रलय में नाश नहीं होता। आत्मा इन तीनों शरीरों से पृथक् किन्तु अविद्यावश तीनों शरीर पर

अहन्ताभिमान रखता है दूसरे शब्दों में तीनों शरीरों को अपना स्वरूप ही समझता है, साधारणतया इन तीनों से अपने को पृथक् नहीं मानता। वही शरीराभिमानी आत्मा धर्मी अर्थात् धर्म का आश्रय है। उसी को लक्ष्य करके सब प्रकार के धर्म और अधर्म का विवेचन किया जाता है।

वेदान्त-दर्शन में सूक्ष्म शरीर के अवान्तर तीन भेद किए जाते हैं, इस प्रकार वहाँ तीन शरीरों के स्थान में पंचकोष-कल्पना प्रसिद्ध है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोष कहा जाता है। सूक्ष्म शरीर में से पाँचों प्राण और कर्मेन्द्रिय को प्राणमय कोष कहा गया है। ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमय कोष कहते हैं। ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोष और कारण शरीर को आनन्दमय कोष कहते हैं। इन कोषों में अनुस्यूत, इनका अभिमान रखने वाली चेतना शक्ति को भी अन्तर्गत कर लिया जाय तो इन सब कोषों का नाम चेतन शक्ति की प्रधानता के कारण “आत्मा” ही हो जाता है। उसमें व्यवहार की सुविधा के लिए भिन्न-भिन्न विशेषण लगाकर आत्मा पद का प्रयोग करते हैं। जैसा कि स्थूल शरीर या अन्नमय कोष का अभिमानी चेतन “भूतात्मा” कहा जाता है। प्राणमय कोष का अभिमानी “प्राणात्मा” या “इन्द्रियात्मा”, मनोमय कोष का अभिमानी “प्रज्ञानात्मा”, विज्ञानमय कोष का अभिमानी “विज्ञानात्मा”, और शरीर या आनन्दमय कोष का अभिमानी “अव्यक्तात्मा” और महानात्मा” शब्द से श्रुतियों में व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य केवल यही है कि दर्शनों में जिस विशुद्ध आत्मा का निरूपण हुआ है उसके शरीर संवलित भिन्न-भिन्न रूप हैं, जिन्हें हम व्यावहारिक आत्मा, विशिष्ट आत्मा या समुदायरूप आत्मा कह सकते हैं। इन्हीं आत्माओं को प्रस्तुत धर्म का “धर्मी” समझना चाहिए अर्थात् इनके धर्मों का निरूपण करना ही हमारे धर्म शास्त्रों का लक्ष्य है।

इसी के कारण नाना जन्मों में क्षेत्रज्ञ को सुख और दुःख का ज्ञान होता है। इन आत्माओं का विस्तृत विवेचन गुरुवर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने ग्रन्थों में किया है और व्यावहारिक आत्माओं के १० भेद उन्होंने लिखे हैं, प्रथमतः तीन भेद “परिस्थिति” नाम से निरूपित हैं। १-ब्रह्म परिस्थिति, २-देवपरिस्थिति और ३-भूतपरिस्थिति। ब्रह्म परिस्थिति मुख्य आत्मा है जिनका कि निरूपण गीता के १५वें अध्याय में अव्यय, अक्षर, क्षर नामों से है उनका विवरण वहीं करना उचित होगा। देव परिस्थिति में पूर्वोक्त ५ आत्मा हैं। इन्हें देव परिस्थिति नाम से कहा जाता है और इनके अंश जो जीवात्मा के आयतन बनते हैं उनके नाम हैं- शान्तात्मा, महान् आत्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा और प्राणात्मा। ये पाँचों जीव के तन्त्र का परिचालन करते हैं। इन्द्रियों को शक्ति देकर उनका परिचालन करने वाला प्राण है। उस प्राण से परिछिन्न चैतन्य को प्राणात्मा कहते हैं। इसी प्रकार मन से परिच्छिन्न चैतन्य या मन सहित चैतन्य को प्रज्ञानात्मा, बुद्धिगर्भित या बुद्धि सहित चैतन्य को विज्ञानात्मा, उससे भी पर उसके

नियामक महत्त्व से परिच्छिन्न चैतन्य को महान् आत्मा और इन सबमें अनुप्रविष्ट होकर इनको एकसूत्र में बाँधने वाले चैतन्य को शान्तात्मा कहा जाता है। इनका क्रम से निरूपण कठोपनिषद् में स्पष्ट है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥

इन्द्रियाँ पर अर्थात् उत्कृष्ट हैं। उनसे भी पर मन है, मन से पर बुद्धि, बुद्धि से पर महानात्मा, महानात्मा से पर अव्यक्त आत्मा और अव्यक्त आत्मा से पर पुरुष कहा जाता है। पुरुष से पर और कोई दूसरा नहीं है। वहाँ प्रकर्ष की समाप्ति हो जाती है। वही परम गति है।

यहाँ इन्द्रियों को शरीरात्मा की अपेक्षा पर कहा गया है कि जिसका निरूपण आगे किया जायगा, शान्तात्मा को अव्यक्त नाम से कहा गया है। इनमें इन्द्रिय, मन और बुद्धि तो प्रसिद्ध ही हैं। महान् आत्मा का वर्तमान दर्शन शास्त्र में यद्यपि विवरण नहीं हुआ है किन्तु भगवद्गीता के चतुर्दश अध्याय ने उसे स्पष्ट किया है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥

इन पद्यों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणी के शरीर का जो आकार बनता है, उस आकार का सम्पादक महान् आत्मा है। महान् आत्मा में बीज रूप से अनुप्रविष्ट होने वाला रस तो अव्यय पुरुष है ही, इस आकार बनाने वाली चैतन्य सत्ता को “आकृति महान्” कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की जो एक प्रकृति अर्थात् स्वभाव बनता है उसका सम्पादक भी यही महान् आत्मा है जो “प्रकृतिमहान्” शब्द से व्यवहृत हुआ है। सब आयतनों में अहंकार का प्रसार करने वाला “अहंकृतिमहान्” कहलाता है। आगे का “अव्यक्तात्मा” अथवा “शान्तात्मा” सूत्र रूप है जो आत्मा के सब आयतनों को ग्रथित करता है। उसे “सूत्रात्मा” भी कहते हैं। ये पाँच प्रकार के आत्मा या पुरुषपदवाच्य आत्मा के आयतन देव परिस्थिति के अन्तर्गत हैं।

भूतों से उत्पन्न होने वाला आत्मा “भूतात्मा” या “शरीरात्मा” कहलाता है। यद्यपि शरीर पंच महाभूतों के अंशों से बनता है यह सभी जानते हैं, किन्तु महाभूतों के अंशों से बनने वाले घट, पट, ईंट, पत्थर आदि की अपेक्षा शरीर में कुछ विलक्षणता अवश्य देखी जाती है। इसके अवयवों का एक उचित सन्निवेश और घटना-बढ़ना

इसकी विलक्षणता को प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार खाये हुए अन्न का रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र के रूप में क्रम से परिवर्तन होते रहना भी इस शरीर की विलक्षणता ही है। इसलिए मानना पड़ता है कि शरीराकार से परिणत होने वाले भूतों में भी चैतन्य शक्ति अनुस्यूत रहने पर काम करती रहती है। उसे भूतात्मा या शरीरात्मा के नाम से कहना उचित होगा। यही शरीरात्मा शुभ या अशुभ कर्म करता है और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाएँ इसी की होती हैं। संक्षेप से मनु स्मृति के १२वें अध्याय में इन आत्माओं का निर्देश किया गया है।

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।  
 यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः॥  
 जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।  
 येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥  
 तावुभौ भूतसंपृक्तो महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।  
 उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः॥

जो शरीर से काम कराने वाला है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। इसी का नाम हमने पूर्व में विज्ञानात्मा दिया है। जो काम करने वाला है वह भूतात्मा कहा जाता है। इन दोनों का अन्तरात्मा जीवात्मा है जिससे सुख और दुःख का ज्ञान हुआ करता है। महान् और क्षेत्रज्ञ ये दोनों भूतात्मा से सदा मिले रहते हैं। चाहे किसी भौतिक शरीर में अर्थात् किसी भी योनि में आत्मा रहे, ये उसके साथ ही व्याप्त होकर रहा करते हैं।

यहाँ भूतात्मा और विज्ञानात्मा इन दो का उल्लेख प्रथम श्लोक में हैं और महानात्मा भी अन्तिम श्लोक में कहा गया है। सब में चैतन्य देने वाला जीवात्मा बतलाया है। प्रज्ञान और प्राण को पृथक् न कहकर भूतात्मा में ही समाविष्ट कर दिया है और शान्तात्मा को भी महानात्मा से पृथक् नहीं कहा है। यही संक्षिप्त प्रक्रिया है। कर्म करने वाला भूतात्मा और भोक्ता विज्ञानात्मा या जीवात्मा है, यह मनुस्मृति के वचनों से सिद्ध हो जाता है। व्याकरण महाभाष्य में भी ऐसा प्रसंग आया है कि भूतात्मा के किये हुए कर्मों का फल जीवात्मा को भोगना पड़ता है। अन्य के लिए कर्मों का फल अन्य कैसे भोग सकता है, यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भूतात्मा में भी चैतन्य सुख जीवात्मा से ही प्राप्त है। इसलिए कर्तृत्व जीवात्मा पर भी चला ही जाता है। भूतों का परिणाम रूप जिस प्रकार शरीर बना है इसी प्रकार भूतों में अनुस्यूत प्राण शक्ति रूप अग्नि का एक अंश यह भूतात्मा है। इसके पुनः अवान्तर तीन भेद हो जाते हैं— वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। इनमें वैश्वानर का कार्य है शरीर के अवयवों का यथास्थान संघटन और उनका रक्षण। यह वैश्वानर आत्मा जड़ चेतन सब प्रकार के पदार्थों में व्याप्त है। अतएव अवयवों का संगठन सर्वत्र ही लोष्ठ प्रस्तरादि में भी साधारण रूप

से दिखाई देता है। दूसरे तैजस आत्मा का कार्य है शरीर को क्रम से बढ़ाना। यह वृक्ष पर्यन्त प्राणियों में रहता है। जहाँ-जहाँ क्रमिक वृद्धि दिखाई दे, वहाँ इसकी सत्ता का अनुमान हो जाता है। तीसरा प्राज्ञ आत्मा वह है जो ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि का आश्रय बतलाया है। ये तीनों क्रम से अग्नि, वायु और सूर्य के अंश हैं। प्राज्ञात्मा कार्य भेद से पुनः तीन प्रकार का माना जाता है— कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। शुभ या अशुभ कर्मों में शरीर को प्रवृत्त कराने वाला चैतन्यांश कर्मात्मा कहा जाता है। कर्मजनित संस्कार भी इसी कर्मात्मा में रहते हैं, जिन्हें मीमांसा में अपूर्व पद से कहा गया है, न्याय में धर्म-अधर्म पद से और लौकिक भाषा में पुण्य-पाप शब्द से यही कहे जाते हैं। कर्मात्मा भूतात्मा की ही एक अवस्था है और भूतात्मा भूतों में अनुस्यूत अग्नि का परिणाम है। तब ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होगा कि इसमें चैतन्य कहाँ से आया। क्योंकि इसके उत्पादक भूत या भूतों से अनुस्यूत अग्नि तो जड़ है, उनका परिणाम चेतन किस प्रकार से हो सकता है? इसका उत्तर वेदानुगामी दर्शन शास्त्र यह देते हैं कि अत्यन्त स्वच्छता के कारण इसमें चिदात्मा का चैतन्य प्रतिबिंबित हो जाता है। जिसके कारण यह भी उसी प्रकार चेतन जैसे कर्म करने लगता है। जिस प्रकार सूर्य प्रतिबिंब से आक्रान्त सरोवर आदि का जल अपनी चमक दूर तक फेंकने लगता है वैसे चिदात्मा के प्रतिबिंब को चिदाभास नाम से वेदान्त आदि दर्शनों ने बतलाया है और व्यवहारिक जीव इसीको माना है क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में चैतन्य का संचार यह चिदाभास करता है। इस चिदाभास का मुख्य उत्पादक बिंब जो चिदात्मा नाम से प्रसिद्ध है वह ईश्वर का अंश है, यह पहले कहा जा चुका है। इसे दर्शनो में प्रत्यगात्मा कहा है और “ईश्वर सब भूतों के हृदय में विराजमान है, यन्त्रारूढ़ प्राणियों की तरह अपनी माया से सबको घुमाता है” इस भगवद्गीता की उक्ति में भी यही चिदात्मा विवक्षित है। उपनिषदों में अन्तर्यामी रूप से सब में व्याप्त रहकर सबका नियमन करने वाला इसे ही बतलाया गया है। स्मरण रहे कि इस चिदात्मा में जगत्तत्त्व के परिचालक तीनों अंश हैं पुरुष, प्रकृति और शुक्र। इन तीनों का विशेष विवरण आगे यथास्थान किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना है कि शुक्र जो वीर्य नाम से भी कहलाता है वह तीन प्रकार का होता है। उन प्रकारों को ब्रह्मवीर्य, क्षत्रवीर्य और विड्वीर्य नाम से शास्त्रों में कहा गया है। इनमें ब्रह्मवीर्य विभूति नाम से, क्षत्रवीर्य ऊर्जनाम से और विड्वीर्य श्रीनाम से भी व्यहृत होते हैं। इस प्रकार समझना चाहिए कि चिदात्मा भी तीन रूपों से मनुष्य आदि प्राणियों से व्यवस्थित है जो रूप विभूति, श्री और ऊर्ज के नाम से कहे जाते हैं। ईश्वर द्वारा उत्पादित और प्राणियों में व्याप्त तीन प्रकार के बल हैं—ब्रह्मबल, क्षत्रबल और विड्वबल।

ब्रह्मबल का नाम विभूति, क्षत्रबल का ऊर्ज और विद्बल का श्री है। इन्हीं के आधार पर भारतीय वर्ण व्यवस्था अवलम्बित है। इन बलों की विशेष अधिकता जिसमें देखी जाय वही पुराणादि में ईश्वरावतार माना जाता है—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।  
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसंभवम् ॥

इस भगवद्गीता के पद्य में उक्त तीन बलों के ही कारण ईश्वरांश या ईश्वरावतार मानना बतलाया गया है। उक्त प्रकरण का सारांश यह है कि शरीरात्मा, वैश्वानर, तैजस, कर्मात्मा, चिदाभास, विभूति, ऊर्ज और श्री नाम से भूतात्मा के आठ भेदों का निरूपण मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदों में स्थान-स्थान पर मिलता है। इनके अतिरिक्त भूतात्मा का सहचारी एक “हंसात्मा” श्रुतियों में और बतलाया गया है—

स्वप्नेन शारीरमभिप्रहृत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति ।  
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्यमयः पौरुषः एक हंसः ॥  
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादभितश्चरित्वा ।  
स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्यमयः पौरुषः एकहंसः ॥

तात्पर्य यह है कि पंचीकृत वायु के आधार पर सूर्य मण्डल से प्राप्त ज्योति के द्वारा विज्ञान सम्पन्न और चन्द्र ज्योति के द्वारा प्रज्ञान सम्पन्न होकर यह हंसात्मा भूतात्मा के साथ शरीर में रहता है। किन्तु शरीर के अवयव मांस, रुधिर, अस्थि, मज्जा आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं और कर्मजनित संस्कार भी इस पर नहीं जाते। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये अवस्थाएँ इसकी नहीं होती। जब भूतात्मा सुषुप्ति दशा में रहता है तब भी यह जागता रहता है और सुप्त पुरुषों के शरीर की चौकसी करता है। देखा जाता है कि कोई घातक सर्प, बिच्छू आदि जन्तु आक्रमण करने लगे तो सोया हुआ मनुष्य एक दम जाग पड़ता है अथवा उठने के समय का अवधान करके यदि कोई मनुष्य सोवे तो नियत समय के आसपास वह अवश्य जाग जाता है। ये सब कार्य इसी हंसात्मा के हैं। सूर्य के प्रकाश से चैतन्य लेने के कारण उक्त श्रुतियों में इसे हिरण्यमय कहा गया है। यह शरीर से बाहर निकलकर चन्द्र मण्डल पर्यन्त भ्रमण की शक्ति रखता है। यही बात उक्त श्रुतियों में बतलाई गई है कि यह अपने कुलाय अर्थात् शरीर से बाहर विचरण कर फिर अपने कुलाय में आ जाता है और उसकी रक्षा करता है। बाहर विचरता हुआ भी अपने इष्ट कर्तव्यों का पालन करता है। अन्य श्रुति में कहा है कि शुक्र का ग्रहण करके यह फिर अपने स्थान में आ जाता है। अपना कार्य सम्पादन ही शुक्र ग्रहण है।

बहुत लोगों का विचार है कि आजकल टेबुल आदि में जो आत्माओं के आवाहन की प्रक्रिया भारत तथा अन्य देशों में भी चल रही है, उसमें यह हंसात्मा ही आता



हैं और अपने स्मरण के अनुसार सन्देश देता है। शरीर के नष्ट हो जाने के अनन्तर भी यह वायु रूप शरीर में विचरता रहता है तथा रूप ग्रहण का सामर्थ्य भी इसमें है। इसके कई निदर्शन पुराणादि में प्राप्त हैं।

पूर्वोक्त भूतात्मा के आठ भेदों के साथ इसकी भी गणना करने पर भूत परिस्थिति के नौ भेद हो जाते हैं। पाँच देव परिस्थिति के पहले कहे जा चुके हैं। ब्रह्म परिस्थिति के पूर्वोक्त परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर इन चारों भेदों को जो सर्वत्र व्याप्त हैं इनके साथ जोड़ लेने पर जीवात्मा के अठारह आयतन बन जाते हैं। इस प्रकार आयतन भेद से ईश्वर और जीव दोनों के अठारह-अठारह भेदों का श्रुतियों में भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख प्राप्त होता है। उन्हें श्रुतियों का सावधानी से मनन करने वाले विद्वान् ठीक तरह से समझ सकते हैं। इस प्रकार व्यवहार दशा में आत्मा का आन्तर विस्तार बतलाया गया। कुटुम्ब, प्रतिवेशी, समाज आदि के रूप में बाह्य विस्तार सबसे आरम्भ के प्रथम प्रवचन में बताया जा चुका है। इन सबको लक्ष्य में रखकर भारतीय संस्कृति में धर्म का निरूपण होता है।

धर्म नाम किसका है इसमें भी कुछ मतभेद हैं। मीमांसा दर्शन में क्रिया को ही धर्म कहा जाता है। अर्थात् पूर्वोक्त क्षेत्रज्ञ आत्मा की प्रेरणा से भूतात्मा जो शुभ या अशुभ कर्म करता है उन्हीं का नाम धर्म और अधर्म है। किन्तु न्याय दर्शन में इन क्रियाओं के द्वारा जो संस्कार विशेष आत्मा में उत्पन्न होते हैं उनका नाम धर्म और अधर्म कहा गया है। ये अतिशय या संस्कार मानने तो सबको पड़ते हैं, क्योंकि क्रिया अर्थात् मन, इन्द्रिय, प्राण आदि का व्यापार तो उसी समय नष्ट हो जाता है। फिर कालान्तर में इस लोक या परलोक में जीव को फल देने वाला कौन होगा? धर्म से लोक परलोक में सुख और अधर्म से दुःख होता है यह सभी शास्त्र मानते हैं। वे सुख-दुःख बहुत काल के अनन्तर यथा समय प्राप्त होंगे। उस समय उन सुख-दुःखों का उत्पादक कौन होगा? अतः यह तो सभी को मानना पड़ता है कि शुभ या अशुभ क्रियाएँ अपना एक संस्कार आत्मा में छोड़ जाती हैं, वही संस्कार आगे इस लोक या परलोक में फल दिलाने वाला होता है। इस संस्कार को मीमांसकों ने “अपूर्व” शब्द से कहा है और न्याय में इसे ही धर्म और अधर्म शब्द का वाच्य माना जाता है। यह शब्द प्रयोग की प्रक्रिया मात्र का भेद है। क्रिया और संस्कार दोनों ही मतों में स्वीकार किये ही जाते हैं। संसार में भी ऐसा देखते हैं कि कृषि में जिस समय बीज वपन, कर्षण आदि की क्रिया की जाती है उसी समय उसका फल नहीं मिलता। किन्तु भूमि में जिस समय बीज डाला गया उसी समय कर्षक की क्रिया के आधार पर उस बीज में कुछ अतिशय का प्रारम्भ हो जाता है और वह क्रम से अंकुर पौधा आदि के रूप में होता हुआ आगे अन्न-फल आदि उत्पन्न कर देता है। इसलिए क्रिया का एक सिलसिला चलता रहना लोक में भी सिद्ध है। भेद इतना ही है कि बीज के वे क्रिया जनित

भिन्न भिन्न रूप में हमारी आँख के सामने रहते हैं किन्तु आत्मा में जो अतिशय या अपूर्व का क्रम चलता है वह दृष्टिगत नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा स्वयं ही दृष्टिगत नहीं है तब उसके अतिशय दृष्टिगत कहाँ से होंगे। इसलिए उन संस्कारों को अदृष्ट नाम से भी कहा जाता है। यहाँ हम मीमांसकों के मत के अनुसार क्रिया को ही धर्म मानकर उस पर कुछ विशेष कहेंगे। क्योंकि मनुष्य के अधिकार में क्रिया रूप धर्म ही है। अदृष्ट को तो यह जानता भी नहीं। इसलिए मनुष्य क्रिया का ही विवेचन कर सकता है। पूर्व प्रवचन में जो हमने धर्म शब्द का व्यापक अर्थ बतलाया है उस पर विचार करने से स्वरूप ही धर्म सिद्ध होता है। अग्नि का धर्म, जल का धर्म इत्यादि व्यवहारों से स्वरूप ही धर्म शब्द का वाच्यार्थ है। प्रत्येक पदार्थ में कोई विशेषता रहती है जिसके कारण वह अन्य पदार्थों से भिन्न समझा जाता है। वही विशेषता उसका लक्षण या मुख्य धर्म नाम से कही जाती है। बौद्ध दर्शन में इसे ही “अन्यापोह” नाम से कहा गया है और इसे ही शब्द का मुख्य वाच्यार्थ माना है। वही प्रत्येक पदार्थ की विलक्षणता मुख्य धर्म नाम से कही जाती है। आगे क्रम से उसकी रक्षा का भी नाम धर्म हुआ और उसकी रक्षा के लिए उपाय रूप से जो क्रियाएँ की जाँय वे भी धर्म शब्दार्थ के अन्तर्गत हो गईं। फिर उन क्रियाओं के द्वारा जो प्रभाव होता है वही अतिशय का अदृष्ट भी धर्म नाम से कहा जाने लगा। वह अतिशय भी आगन्तुक रूप से स्वरूप में ही प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए उसमें भी धर्म शब्द का उक्त अर्थ समन्वित हो जाता है।

यह समस्त संसार क्रियाओं का ही एक विजृम्भण या खेल है। प्रत्येक पदार्थ में कोई न कोई क्रिया होती है और उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न अन्य पदार्थों पर भी पड़ता रहता है। इस दृष्टि से हमारी क्रियाओं का प्रभाव हमारे उक्त प्रकार के आन्तर स्वरूप और बाह्य स्वरूप पर भी पड़ता है एवं अन्य पदार्थों के विस्तृत स्वरूप पर भी हमारी क्रियाओं का प्रभाव पड़ता है। उनके द्वारा परावर्तित होकर फिर उसका प्रभाव हमारे ऊपर आ जाता है। जैसे यदि कोई मनुष्य शिला पर अपने हाथ से प्रहार करे तो वह शिला उलटे उसके हाथ को ही आघात पहुँचा देती है। इसी दृष्टान्त से समझा जा सकता है कि अन्य पदार्थ के स्वरूप पर की हुई हमारी क्रिया भी हम पर परावर्तित होकर हमारे स्वरूप में उन्नति या हानि का कारण बनती है। इसलिए धर्म के विचार में अन्य प्राणी या अप्राणी के साथ किस प्रकार का व्यवहार हो वह सब अन्तर्गत हो जाता है। कहीं अपनी ओर से कोई क्रिया न होने पर भी अन्य क्रियाशील के संसर्ग द्वारा भी हम पर उसका प्रभाव आ जाता है। जैसे किसी मलिन स्थान में निवास करने पर मनुष्य रोगी हो जाता है या उत्तम जलवायु के सेवन से स्वास्थ्य में बड़ा लाभ पहुँचता है इसलिए कैसे पदार्थों का संग्रह करना और कैसे से बचना या किस प्रकार के प्राणियों से संपर्क उचित है, किस प्रकार के प्राणियों से या पदार्थों से

बचना आवश्यक है, ये सब बातें भी धर्म की मर्यादा के अन्तर्गत हैं। इसका विस्तृत विवेचन लघु भूत एक दो प्रवचनों में नहीं हो सकता। बहुत बड़े-बड़े ग्रन्थ इन विवेचनों के बने हुए हैं। प्रत्युत इस तरह समझिए कि सब शास्त्रों का मुख्य लक्ष्य कर्तव्य अकर्तव्य समझाना ही है। जैमिनि मुनि ने स्पष्ट कह दिया है कि—

“आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्”

इसका मुख्य तात्पर्य यही है कि ज्ञान सदा क्रिया के लिए होता है। जिस ज्ञान ने क्रिया में अर्थात् कर्तव्य अकर्तव्य में कोई सहायता नहीं पहुँचाई वह ज्ञान या उसका प्रतिपादक शास्त्र बिलकुल व्यर्थ है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि सबके स्वरूप में कई अंशों में समानता भी रहती है और बहुत अंशों में परस्पर भेद भी रहता है। इसी लक्ष्य से धर्म के भी दो भेद हैं सामान्य धर्म और विशेष धर्म। सामान्य स्वरूप की रक्षा के उद्देश्य से जो कार्य किये जाँय वे सामान्य धर्म कहे जाते हैं और वे सब के ही कर्तव्य होते हैं। उनकी गणना शास्त्रों में संक्षेप और विस्तार से कई जगह की गई है। याज्ञवल्क्य स्मृति में संक्षेपतः नीचे लिखे सामान्य धर्म बतलाए हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥

अहिंसा (किसी को न सताना), सत्य (मन और वाणी तथा क्रिया की एकता रखना), अस्तेय (दूसरे के पदार्थ पर अपना अधिकार न जमाना), शौच (पवित्र रहना), इन्द्रियों को वश में रखना (उन्हें अनुचित रूप से व्यवहार न करने देना), दान, दम (मन को काबू में रखना), प्राणिमात्र पर दया करना (दूसरे के अपराधों को भी यथावसर सह लेना), ये सब के धर्म हैं। अर्थात् इनका प्रभाव सबके ही आन्तर और बाह्य स्वरूप समाज आदि रक्षा करना ही होता है। इसलिए इनके पालन की ओर सबको ध्यान रखना चाहिए। इन्हें ही आजकल की भाषा में “नैतिक धर्म” कहा जाता है और वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, गुण धर्म, निमित्त धर्म आदि को विशेष धर्म कहा जाता है क्योंकि ये भिन्न भिन्न व्यक्ति या भिन्न-भिन्न समुदायों के भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। हम आगे “चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्” इस गीता पद्य के प्रवचन में स्पष्ट करेंगे कि वर्णों का मूल भी मुख्य स्वरूप में प्रविष्ट है। इसलिए वर्ण-आश्रम की रक्षा भी मुख्य धर्म है इसी प्रकार किसी अधिकार प्राप्त पुरुष का अपने अधिकारानुरूप कार्य करना भी धर्म हो जाता है। उसे गुण धर्म कहते हैं और विशेष प्रकार की परिस्थिति आ जाने पर उसके अनुकूल कार्य करने पड़ते हैं, वे निमित्त धर्म कहे जाते हैं। जैसा कि जन्माशौच, मृताशौच आदि के समय का कर्तव्य। इन विशेष धर्मों में स्वधर्म और परधर्म का व्यवहार होता है अर्थात् ये सबके एक से नहीं होते। एक के लिये जो धर्म है वह दूसरे के लिए अधर्म बन जाता है। इसलिए इनमें “स्वधर्मो अनुष्ठातव्यः” यह व्यवस्था है अर्थात् अपने ही धर्म का पालन करना चाहिए।

सामान्य धर्मों को यद्यपि सबके लिए आवश्यक माना गया है किन्तु देश, काल, पात्र के अनुसार उनमें भी व्यवस्था करनी होती है कि कहाँ उनका कितनी मात्रा में पालन किया जाय। देशकाल का स्वरूप के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और उनके अनुसार कर्तव्य अकर्तव्य की व्यवस्था में भी परिवर्तन करना पड़ता है। जैसे शीत प्रधान देश के उपयोगी आचार व्यवहार उष्णता प्रधान देशों में स्वरूप के लिए हानिकर हो जाते हैं और उष्ण देश के आचार व्यवहार शीत देशों में, इसी प्रकार शीतकाल, उष्णकाल आदि का व्यवहार भेद भी सुप्रसिद्ध है। इसलिए कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में देश, काल, पात्र आदि का पूर्ण विचार करना आवश्यक होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रथम प्रकरण में ही कहा गया है कि—

देशे काले उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितं ।

पात्रे प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्मलक्षणम् ॥

यहाँ प्रदीयते यह क्रिया उपलक्षण मात्र है। सब ही क्रियाओं में देश, काल, उपाय, द्रव्य, श्रद्धा, और पात्र का विवेचन आवश्यक है। किस देश में किस काल में किस पात्र के साथ किस उपाय से, कैसी श्रद्धा अर्थात् अन्तःकरण वृत्ति से कैसे द्रव्य का उपयोग हो रहा है इस विचार के बिना धर्म भी अधर्म हो जाता है। इन सबका विवेचन सामान्य धर्मों में भी आवश्यक है। जैसा कि दान को ही ले लीजिए। अपने पास जो वस्तु अधिक है और दूसरा उसके बिना कष्ट पाता है, उसका कष्ट मिटाने के लिए अपनी वस्तु उसके अधिकार में कर देना यही दान है और बाह्य स्वरूप ग्राम समाज आदि की रक्षा में या उस रक्षा से अपने अन्तःकरण में जो एक प्रकार की प्रसन्नता होती है, उस आन्तर स्वरूप रक्षा के लिए यह दान आवश्यक है। किन्तु कई जगह दान का फल विपरीत होता है। किसी मद्य, द्यूत आदि के व्यसनी को यदि दान किया जायगा तो उससे उसके व्यसन बढ़ेंगे और वे समाज में हानिकारक व अपने चित्त को भी कष्टदायक होंगे। इसलिए वैसा दान धर्म नहीं अधर्म कहलावेगा। धर्म शास्त्रों में कहा है—

यतये कांचनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे ।

तस्करेभ्योऽभयं दत्वा दातुस्तु नरकं ध्रुवम् ॥

अर्थात् यदि कोई मनुष्य सन्यासी को स्वर्णदान कर उसे अपने वैराग्य से विच्युत करता है या ब्रह्मचारी को ताम्बूल देकर उसका व्रत बिगाड़ता है, एवं चोरों को अभयदान कर उनकी चौर्य की प्रकृति बढ़ाने में सहायक होता है, ऐसे दाता को निश्चित रूप से नरक में जाना होगा। अर्थात् यह दान धर्म नहीं अधर्म है और उसका फल पतन है क्योंकि उसने, जिनको दान किया गया उनकी स्वरूप हानि की है और स्वरूप हानि का प्रभाव समाज पर व अपने अन्तःकरण पर भी विचार करने पर बुरा पड़ेगा। वस्तुतः

इस दान में मर्यादा का ध्यान न रखने के कारण ही आज समाज में जैसी अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो गई हैं वे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। उन पर यहाँ विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। उपाय और द्रव्य का विवेचन भी इसलिए दान में आवश्यक माना गया है कि कोई मनुष्य दान के द्वारा अपनी ख्याति प्राप्त करने के लिए अनुचित उपायों से द्रव्य संग्रह कर उसका दान करता रहे तो इससे भी समाज को क्षति पहुँचेगी और उसके अन्तःकरण की मालिन वृत्तियाँ भी बढ़ती जायँगी। इसलिए उचित उपायों से प्राप्त उत्तम द्रव्य का श्रद्धापूर्वक अर्थात् प्रख्याति आदि की वासना छोड़कर जब दान किया जाय तो वही दान उत्तम धर्म है। अन्यथा उसमें अधर्म का सम्मिश्रण हो जाता है। इसी प्रकार दया, क्षमा इत्यादि के उपयोग में भी देश, काल, पात्र देखना आवश्यक है। सर्प आदि दुष्ट प्राणियों पर या उद्दण्ड मनुष्य पर हमने दया दिखाई या उसके अपराधों को क्षमा किया तो इसका परिणाम समाज और अपने कुल पर भी हानिकारक होगा। तब ऐसी दया या क्षमा, धर्म न होकर अधर्म ही कहलावेगी। इन सब सामान्य धर्मों पर तो अपवाद मान लेना सबको ही स्वीकृत है। किन्तु अहिंसा और सत्य का अपवाद मानने को बहुत से विद्वान् प्रस्तुत नहीं होते। किन्तु हमारे शास्त्रों में इनका भी अपवाद माना गया है और भगवान् कृष्ण ने इस अपवाद की अनेक स्थानों पर विशद रूप से व्याख्या की है। प्रकृत में इसी का मुख्य सम्बन्ध है। क्योंकि अहिंसा धर्म की विरोधिनी हिंसा को पाप समझकर ही अर्जुन युद्ध से उपरत हो रहा है। इसी का अपवाद यहाँ भगवान् को बतलाना है। इसलिए इसकी विवेचना अग्रिम प्रवचन में विशेष रूप से की जायगी।



## पच्चीसवां-पुष्प

पूर्व के दो प्रवचनों में धर्म का स्वरूप विस्तार से बतलाया जा चुका है। देशकाल, पात्र के भेद से धर्म में तारतम्य हो जाता है यह भी कहा जा चुका है। यद्यपि स्वरूप धर्म अपरिवर्तनीय है। उसका परिवर्तन हो जाने पर वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती। वस्तु ही दूसरी बन जाती है। किन्तु उसकी रक्षा के उपाय और उनके उपयोग में देश कालानुसार परिवर्तन होता रहता है। जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में एक मूलतत्त्व परमात्मा अनुस्यूत है वही सबका मुख्य स्वरूप है। इसलिए धर्म को ईश्वर रूप भी शास्त्रों में कहा है। किन्तु माया संवलित जगद्रूप में अनन्त स्वरूप बन जाते हैं, इसलिए धर्म के भी बहुत भेद हैं और उनकी रक्षा के उपायों का उपयोग नीति शब्द से कहा जाता है। उस नीति में देश कालानुसार बहुत परिवर्तन होते हैं जिनका ज्ञान बिना शास्त्र की सहायता के संभव नहीं। जैसे अग्नि का स्वरूप उष्णता एक है, किन्तु अग्नि को प्रकट करने के प्रकार उसके व्यवहार की नीति अनेक हैं और उनमें देश कालानुसार परिवर्तन भी बहुत हैं। भारतवर्ष में ही किसी समय काष्ठ मन्थन से अग्नि को प्रकट करने का प्रकार था जो कि आज भी “अराणि मन्थन” नाम से यज्ञ आदि में सुरक्षित है। आगे प्रस्तरों की परस्पर रगड़ से भी अग्नि को प्रकट करने का प्रकार चला। आज दियासलाई से सहज में अग्नि प्रकट कर ली जाती है और पुराने प्रकारों पर आज के लोग हँसते हैं कि उस समय इतना कष्ट अग्नि निकालने में ही करना पड़ता था। संभव है आगे इससे भी और परिष्कृत प्रकार कोई निकल आवे और भविष्य के लोग हमारी भी हँसी किया करें कि उन्हें दियासलाई का उपयोग करना पड़ता था। इस रीति से नीति या प्रकार परिवर्तनशील हैं किन्तु अग्नि का धर्म उष्णता कभी परिवर्तित नहीं होता। मनुष्य के अनुष्ठान योग्य धर्मों को जो अपरिवर्तनीय कहा जाता है उसका यही आशय है कि जिस देश काल परिस्थिति में जिस मनुष्य का जो कर्तव्य धर्म है उस देश काल परिस्थिति में उस मनुष्य के लिए वही नियत है। इस प्रकार की देश काल परिस्थितियों का भी विवेचन बहुधा हमारे शास्त्रों में प्राप्त होता है। इसलिए शास्त्र का आधार मानने वालों को धर्म निर्णय में बहुधा असुविधा नहीं होती।

किन्तु जहाँ धर्मों का परस्पर संघर्ष हो जाता है अर्थात् जो स्वरूप का बाह्य और आन्तर विस्तार हमने पूर्व प्रवचनों में दिखाया है उसमें किसी क्रिया से एक अंश की रक्षा और अन्य अंशों पर आघात होता हो एवं दूसरी क्रिया से उन अंशों की रक्षा और एक अंश पर आघात होता है वहाँ धर्म निर्णय की समस्या बहुत जटिल हो जाती है। किस स्वरूप की रक्षा की जाय और किसका आघात सह्य किया जाय इस निर्णय में बड़े-बड़े विद्वान् भी धोखा खा जाते हैं। जैसा कि गीता में आगे कहा जायगा—

“किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः”

अर्थात् सामयिक कर्तव्य ज्ञान में महाविद्वानों को भी मोह हो जाता है। पूर्वोक्त सामान्य धर्म और किसी विशेष धर्म का जहाँ संघर्ष आ पड़े वहाँ प्रायः सामान्य धर्म का परिपालन कई जगह शास्त्रों में आवश्यक माना गया है। किन्तु देशकाल की परिस्थिति के अनुसार उन सामान्य धर्मों का भी अपवाद माना जाता है। पूर्व प्रवचन के अन्त में हम कह आए हैं कि अहिंसा, सत्य और अस्तेय जैसे सामान्य धर्मों का अपवाद मानने में विदेशीय विद्वान् और भारतीय विद्वान् भी प्रायः सहमत नहीं होते। किन्तु आर्य शास्त्रों में इनका भी अपवाद माना जाता है। पुराण में एक श्लोक है—

एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टकारिणी ।  
बहूनां भवति क्षेमस्तस्य पुण्यप्रदो वधः ॥

अर्थात् किसी दुष्ट हिंस्त्र जन्तु वा अतिदुष्ट घातक पुरुष के मारने से समाज के बहुत मनुष्यों की आपत्ति दूर होती हो तो उसकी हिंसा पुण्यप्रद होती है। विशेषतः जो अधिकारी पुरुष राजकार्य में नियुक्त हैं अथवा वर्ण व्यवस्थानुसार जो क्षत्रिय स्वभावतः समाज रक्षा में नियुक्त हैं वे यदि सामान्य रूप से इस अहिंसा धर्म का पालन करने लगे और दुष्टों के दण्ड या वध की उपेक्षा करने लगे तो संसार में बड़ा अनर्थ फैल जाय और समाज में विप्लव हो जाय।

महाभारत में एक प्रसंग है। कर्ण पर्व में जब कि महारथी कर्ण दुर्योधन की ओर से सेनापति था तब एक समय अर्जुन अश्वत्थामा के साथ युद्ध में संलग्न था और कर्ण पाण्डवी सेना के नाश में लगा हुआ था। उस अवसर में महाराज युधिष्ठिर कर्ण के सामने चले गए। कर्ण ने इन्हें इतना घायल कर दिया कि सारथी को रथ भगाकर शिविर में ले जाना पड़ा। अर्जुन जब अश्वत्थामा को परास्त कर कर्ण की ओर आया तो उसे विदित हुआ कि महाराज युधिष्ठिर बहुत घायल और त्रस्त होकर शिविर में गए हैं। तब यह रह न सका और युद्ध भूमि छोड़ कर महाराज की खबर लेने भगवान् कृष्ण के साथ शिविर में गया। महाराज युधिष्ठिर पहले तो यह समझकर उत्साहित हुए कि अर्जुन कर्ण को मारकर मुझे बधाई देने आया है। किन्तु जब उन्हें अर्जुन के कथन से विदित हुआ कि अर्जुन कर्ण से संग्राम न कर मेरी खबर लेने आया है तब वे बहुत क्षुब्ध हुए, पीड़ित तो थे ही झुंझलाहट में आ गए। सेना की और लड़ने वाले भीम आदि की क्या दशा होगी इस विचार से उन्हें उद्वेग हुआ और बहुत निन्दा करते हुए अर्जुन को फटकारने लगे कि तुम मुझसे मिलने के बहाने संग्राम भूमि छोड़कर विश्राम के लिए चले आए हो। आवेश में उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि धिक्कार है तुम्हें और धिक्कार है तुम्हारे गाण्डीव धनुष को जो समय पर काम नहीं आता। यह गाण्डीव धनुष किसी दूसरे को दे दो तो संभवतः यह अच्छा काम दे। अर्जुन पहले तो चुपचाप

सुनता था किन्तु भगवान् कृष्ण ने देखा कि वह अचानक खड्ग निकाल रहा है। पास में जाकर कान में भगवान् ने पूछा कि यह तो संग्राम भूमि नहीं, यहाँ कोई शत्रु भी सामने नहीं फिर खड्ग पर हाथ क्यों? अर्जुन ने उत्तर दिया कि मेरी प्रतिज्ञा है कि जो कोई गाण्डीव धनुष की निन्दा करे और गाण्डीव धनुष को दूसरे को दे देने की बात कहे उसका शिरच्छेद अवश्य करूँगा। उस सत्य प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए महाराज युधिष्ठिर का शिरच्छेद मुझे करना पड़ेगा। भगवान् कृष्ण ने उसे बहुत फटकारा और कहा कि—

“न वृद्धाः सेवितास्त्वया”

अर्थात् तुमने वृद्ध पुरुषों की सेवा नहीं की। इससे धर्म निर्णय में बार बार भूल करते हो। भगवान् ने वहाँ दो दृष्टान्त उपस्थित किये। एक में हिंस्र पशु मार देने के कारण एक वीर की स्वर्ग प्राप्ति का वर्णन था, जो कि अहिंसा का अपवाद रूप था और दूसरा सत्य का अपवाद बतलाया कि एक सत्यव्रत नाम के मुनि वन में कुटिया बना कर रहते थे। सदा सत्य बोलना ही उनका नियम था। एक बार समीप के ग्राम में डाका पड़ा और डाकुओं के भय से ग्राम के लोग अपनी गोवत्स आदि सारी सम्पत्ति को लेकर सत्यव्रत के आश्रम के पास होते हुए वन में छिपने चले गए। पीछे से डाकू दौड़ते हुए आये और उन्होंने सत्यव्रत से पूछा कि महाराज आप तो सत्य ही बोलते हैं, बतलाइये ग्राम के लोग किधर गए हैं। सत्यव्रत ने सत्य के आवेश में उनके जाने का मार्ग बतला दिया। डाकुओं ने उन्हें जा घेरा और परस्पर संघर्ष में बहुत से गोवत्स, स्त्री, बालक आदि मारे गए। उस पाप से सत्यव्रत को नरक जाना पड़ा। यहाँ अहिंसा के आगे सत्य की दुर्बलता रही। इसलिए सब जगह अहिंसा या सत्य के आग्रह से काम नहीं चलता। परिस्थिति देखनी पड़ती है। अर्जुन ने पूछा कि तो क्या मैं सत्य प्रतिज्ञा छोड़ दूँ। भगवान् ने कहा नहीं, अनुकल्प से निर्वाह करो। शास्त्र में माना है कि अपने से बड़े का निरादर कर देना या उसे “तू” शब्द से सम्बोधन कर देना उसके वध के समान है। उसी अनुकल्प का आश्रयण कर तुम युधिष्ठिर को निरादर पूर्वक त्वं शब्द से सम्बोधित कर दो। अर्जुन ने वैसा ही किया। भगवान् ने देखा कि फिर वह खड्ग निकाल रहा है। पुनः पूछा कि अब खड्ग पर हाथ क्यों? तो अर्जुन ने उत्तर दिया कि जिनको जन्म से पिता के समान मानता रहा, कभी उनके सामने नहीं देखा उनका आज निरादर किया है इस आत्म ग्लानि से प्रायश्चित्त के लिए अपना शिरच्छेद करना चाहता हूँ। फिर भगवान् ने भर्त्सना की कि बार बार धोखा खाते हो। यहाँ भी अनुकल्प का आश्रयण करो। अपने मुख से अपनी प्रशंसा को शास्त्रों में आत्मवध के समान माना गया है। अतः थोड़ी अपनी प्रशंसा कर दो। वही आत्मवध हो जायगा। अर्जुन ने वैसा ही किया। युधिष्ठिर महाराज जो कुछ दूर पर लेटे हुए थे इन घटनाओं को देखकर आश्चर्य में थे कि आज अर्जुन को क्या हो गया है। मेरा अपमान और अपनी प्रशंसा कर रहा है, जो इसने कभी नहीं किया था। भगवान् कृष्ण



ने उन्हें भी समझा दिया कि उन सब बातों का रहस्य पीछे बतलाऊँगा। अभी विलम्ब हो रहा है। अर्जुन को संग्राम में जाने की आज्ञा दीजिए। अर्जुन ने प्रणाम किया, महाराज ने आशीर्वाद देकर संग्राम में जाने की आज्ञा दी। अर्जुन जाकर कर्ण से लड़ने लगे। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने धर्मों के संघर्ष में मार्ग निकालने का प्रकार कई जगह बतलाया है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सभी धर्मों के अपवाद हैं। देशकाल आदि की परिस्थिति के अनुसार कहाँ किस धर्म को विशेषता दी जाय इसका निर्णय बड़ी सावधानी से शास्त्र और युक्ति दोनों से करना पड़ता है। सत्यव्रत के दृष्टान्त में सत्य की अपेक्षा अहिंसा को प्रतिष्ठित समझाया गया। धर्म शास्त्रों में भी विशेष परिस्थिति में सत्य की अपेक्षा अहिंसा को उच्च स्थान दिया जाता है। साक्षी का मिथ्या भाषण बहुत ही पाप जनक माना गया है। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट आज्ञा दी है—

‘वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्’ (याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहाराध्या)

अर्थात् जहाँ साक्षी के सत्य बोलने पर उत्तम वर्ण वाले पुरुषों के वध का प्रसंग हो वहाँ साक्षी को मिथ्या ही बोलना चाहिए। इस प्रकार कई जगह सत्य की अपेक्षा अहिंसा को महत्त्व दिया जाता है। किन्तु कई परिस्थितियों में अहिंसा की अपेक्षा सत्य का महत्त्व रहता है। जैसे उक्त प्रसंग में युधिष्ठिर के स्थान में यदि कोई अन्य सामान्य पुरुष होता तो भगवान् अर्जुन को सत्य प्रतिज्ञा की रक्षा का ही उपदेश देते। वर्णाश्रम धर्म पालन में भी कई जगह अहिंसा की उपेक्षा करनी पड़ती है। कृषि जिन वैश्यों का धर्म है उस कृषि में बहुत प्राणियों का वध होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, किन्तु कृषि के बिना अन्न उत्पन्न न हो तो सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों का कितना अपकार हो, इस दृष्टि से वह कृषि में होने वाली हिंसा उपेक्षणीय हो जाती है। किसी के मन में ग्लानि हो तो ऐसे हिंसा मिथ्याभाषण आदि का सामान्य प्रायश्चित्त भी धर्मशास्त्रों में बतलाया गया है। इसी प्रकार ब्राह्मण क्षत्रियादि के यज्ञों में भी पशु हिंसा है, किन्तु उन यज्ञों का फल जो संपूर्ण जगत् के लिए और अपने आत्मा के लिए भी अत्यन्त हितकर होता है और यज्ञ में निहत पशु का भी कल्याण श्रुति बतलाती है, इस विचार से वहाँ अहिंसा धर्म को प्रधानता नहीं दी जाती, इस यज्ञ प्रकरण का यहाँ हम विस्तार नहीं करेंगे। तृतीय अध्याय में जहाँ यज्ञ का प्रकरण आवेगा वहाँ इस पर कुछ विशेष कहा जायगा। यहाँ कहना इतना ही था कि अहिंसा और सत्य जैसे मुख्य धर्म भी निरपवाद नहीं हैं। उनका भी अपवाद देशकाल की परिस्थिति से होता है। जहाँ किसी बधिक (कसाई) के घर हिंसा के लिए गौ बँधी हो और द्रव्य आदि के द्वारा उसे छुड़ाना संभव न हो तो वहाँ चोरी के द्वारा भी उसे हटा लेने को धर्म ही कहा जायगा। इस प्रकार अस्तेय का भी अपवाद अवसर पर हो जाता है। तात्पर्य यही है कि कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जो सदा धर्म ही हो या अधर्म ही हो। देश, काल, पात्र भेद से सभी अनुचित प्रतीत होने वाली क्रियाएँ भी धर्म हो सकती हैं और अत्यन्त उचित

क्रियाएँ भी अधर्म हो सकती हैं। अत्यावश्यक सन्ध्यावन्दनादि कर्म भी अशौच आदि की दशा में या शरीर की अपवित्रता की दशा में अधर्म माने जाते हैं।

धर्म और नीति के संघर्ष में धर्म की ही प्रधानता शास्त्रों ने मानी है, यह हम आरम्भ के प्रवचनों में कह चुके हैं। किन्तु परिस्थिति विशेष में नीति को भी प्रधानता दी जाती है। जैसे के साथ तैसा व्यवहार करना यह नीति है और कोई कैसा भी हो अपने आप धर्म से न डिगना यह धर्म है। किन्तु महाभारत के कर्णपर्व में ही जब कर्ण और अर्जुन का अन्तिम संग्राम हो रहा था और कर्ण के रथ का पहिया भूमि में धँस गया उस समय अर्जुन को लगातार बाण प्रहार करता देख कर्ण ने हाथ उठाकर कहा कि “क्षत्रधर्ममवेक्षस्व” अर्थात् अर्जुन! क्षत्रिय धर्म की ओर देखो। आपत्ति में पड़े हुए पुरुष पर प्रहार करना क्षत्रिय का धर्म नहीं है। अर्जुन तो कुछ झिझका किन्तु सारथी रूप में बैठे हुए भगवान् कृष्ण ने एक लम्बा व्याख्यान दिया जिसमें बार बार यही कहा गया कि “क्व ते धर्मस्तदा गतः”। उस संपूर्ण व्याख्यान का सारांश यही था कि आश्चर्य है, आज कर्ण को भी धर्म याद आया। जब तुम्हारे ही परामर्श से विष मोदक, जतु गृह दाह, द्रौपदी का केशकर्षण, छल से द्यूत में जीत कर पाण्डवों को निकाल देना इत्यादि कुकर्म होते रहे, युद्ध में भी अनेक महारथियों का मिलकर एक बालक अभिमन्यु को मारना इत्यादि कुकर्म हुए उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? तब तो धर्म की दुहाई तुमने नहीं दी। आज अपने बचाव के लिए दूसरे को धर्म सिखाते हो। तात्पर्य यही था कि जो मनुष्य स्वयं धर्माचरण न करता हो उसे दूसरे से धर्म का व्यवहार पाने की आशा किस आधार पर हो सकती है? अर्जुन को भी यह आदेश दिया कि चुप रहने की आवश्यकता नहीं, यह जैसी भी स्थिति में है, इसे मार देना ही तुम्हारा कर्तव्य है। इस प्रकार यहाँ नीति को ही प्रधानता दी गई। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य में रखकर यहाँ भगवान् उपदेश देते हैं कि—

“स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि”

अर्थात् तुम अहिंसा, गुरु के साथ द्रोह न करना इत्यादि सामान्य धर्मों के विचार से कम्पित हो रहे हो और कह रहे हो कि मेरा शरीर काँपता है, धनुष भी हाथ से गिर जाता है, इत्यादि। किन्तु विशेष धर्म का विचार नहीं करते। “अन्याय पूर्वक राज्य से निकाले हुए और अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए संग्राम में शत्रुओं के संमुख उपस्थित एक क्षत्रिया का क्या धर्म है?” इस “स्व धर्म” का विचार करो। तब तुम्हारा कम्प दूर हो जायगा। “अपि” शब्द से यह सूचित करते हैं कि परमार्थ दृष्टि से तो युद्ध में कोई दोष नहीं, यह तुम्हें समझाया जा चुका है। किन्तु व्यवहार दृष्टि से भी अपने विशेष धर्म का विचार करने पर युद्ध की अनुचितता नहीं प्रत्युत परम उचितता ही सिद्ध होती है। प्रथमाध्याय के अन्तिम प्रवचन में कहा जा चुका है कि जिस प्रकार

के दोष अर्जुन ने कुल क्षय के पक्ष में दिखाए थे वैसे तथा उससे भी बढ़कर बहुत से दोष युद्ध न करने के पक्ष में भी विस्तार से कहे जा सकते हैं। अर्जुन यदि युद्ध न करता तो पाण्डवों की पराजय अवश्यंभावी थी क्योंकि भीष्म और द्रोण से लोहा लेने वाला इस दल में दूसरा कोई नहीं था। अर्जुन ने ही तपस्या कर वह शक्ति प्राप्त की थी कि इन सबको भी जीत सके। तब पाण्डवों की पराजय से पाण्डवों की दुर्गति हो ही जायगी और इनको क्या-क्या कष्ट भोगने पड़ेंगे इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती किन्तु समाज में भी यह प्रसिद्धि हो जायगी कि अन्यायी पक्ष विजयी हुआ। इससे धर्म ही विजय दिलाने वाला है, यह संस्कार लोगों के चित्त से हट जायगा। युद्ध के आरम्भ में ही जब भगवान् व्यास ने युधिष्ठिर से आकर पूछा था कि तुमने युद्ध की तैयारी तो करली है किन्तु जैसे योद्धा दुर्योधन के पक्ष में हैं वैसे योद्धाओं का संग्रह तुमने कर लिया है कि नहीं? युद्ध में तो प्रकर्ष ही जय दिलाने वाला है— “प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः” युद्ध में विजय लक्ष्मी प्रकर्ष अर्थात् सेना और वीरों की अधिकता पर ही प्राप्त होती है तब इसका उत्तर युधिष्ठिर महाराज ने यही दिया था कि—

नहीदृशाः सन्त्यपरे पृथिव्यां ये योधका धार्तराष्ट्रेण लब्धाः।

धर्मस्तु नित्यो मम धर्म एव परं बलं शत्रुनिबर्हणाय ॥

अर्थात् जैसे योद्धा धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने प्राप्त कर लिये हैं वैसे पृथ्वी में अन्य उपलब्ध ही नहीं हैं। वह स्वयं इस समय राज्याधिकारी है, राजा लोग राजा की ही सहायता किया करते हैं, उसके सम्बन्धी भी बहुत से राजा हैं, इस लिए सिन्धु, त्रिगर्त, प्रागज्योतिष आदि भारत की सीमा तक के राजा उसके पक्ष में आ चुके हैं। अब मैं ऐसे और कहाँ से लाऊँ? तब फिर युद्ध का साहस किस आधार पर? इसका उत्तर यही है कि मेरा विश्वास है कि धर्म अटल रूप से सदा ही विजय दिलाने वाला है और वह नित्य अर्थात् अव्यभिचारी, कभी व्यर्थ न होने वाला है, वह मेरे पक्ष में है। इसलिए शत्रुओं को परास्त करने के लिए मेरे पास वही बड़ा बल है। इस प्रकार पाण्डवों का विश्वास था कि धर्म हमारे पक्ष में है और संसार में भी यह बात प्रसिद्ध थी कि द्यूत में जीतकर राज्य से बहिष्कृत कर देना यह पाण्डवों के साथ अन्याय हुआ है और अन्याय को सहन करते हुए भी पाण्डवों ने अपनी बारह वर्ष वन में और एक वर्ष अज्ञातवास में रहने की प्रतिज्ञा का पालन किया। एवं सभा में द्रौपदी का केशाकर्षण होता देखकर भी इसी विचार से कि हम इसे द्यूत में हार चुके हैं, अब न्यायानुसार यह दुर्योधन के अधिकार में है, वह इसे जिस तरह चाहे, रख सकता है पाण्डव कुछ भी न बोले। यद्यपि वहाँ महाभारत का सन्दर्भ है कि द्रौपदी ने एक प्रश्न उठाया था। जब द्रौपदी को केशाकर्षण पूर्वक सभा में लाया गया तब उसने पूछा कि मुझ पर यह अत्याचार क्यों किया जाता है? दुर्योधन की ओर से उत्तर मिला कि द्यूत

निर्जिता दासी हो, इसलिए हमारा तुम पर पूर्ण अधिकार है। जैसे चाहें तैसे रक्खे। इस पर द्रौपदी ने पूछा कि महाराज युधिष्ठिर ने पहले अपने आपको द्यूत के दाव पर लगाया था अथवा पहले मुझे लगाया था? उत्तर मिला कि पहले वे अपने आपको हार चुके थे अपने भ्राताओं को भी हार चुके थे तब तुम्हें दाव पर लगाया था। तब द्रौपदी ने कहा कि इस सभा में भीष्म जैसे धर्म मर्मज्ञ महानुभाव उपस्थित हैं। मैं भीष्म पितामह से ही यह पूछती हूँ कि जब महाराज युधिष्ठिर अपने आपको हार चुके तब मुझे दाव पर लगाने का उन्हें अधिकार था या नहीं? इस पर भीष्म पितामह ने उत्तर दिया कि विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, अपने आप पराधीन हो जाने पर भी अपनी स्त्री पर अधिकार रहता है या नहीं इसका निर्णय इस समय मेरी बुद्धि में नहीं आता। इसलिए मैं कुछ नहीं कह सकता। आगे शिष्ट संप्रदाय में यह बात भी प्रसिद्ध है कि शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म पितामह जब युधिष्ठिर को धर्म सुना रहे थे और किसी सूक्ष्मतम धर्म की विवेचना हो रही थी, तब वहाँ बैठी हुई द्रौपदी अचानक हँस पड़ी। सानुरोध असमय हास्य का कारण पूछने पर उसने यही कहा कि एक वह दिन था जब आपने मेरे प्रश्न को यह कहकर टाल दिया था कि विषय सूक्ष्म है, मेरी बुद्धि में नहीं आता, किन्तु आज तो सूक्ष्मतम विषयों की भी आप व्याख्या कर रहे हैं। इसी बात के स्मरण से मुझे हँसी आ गई कि समय का भेद कितना बलवान होता है। इस पर गद्गद होकर भीष्म पितामह ने कहा कि “पुत्री उस समय मैं दुष्ट दुर्योधन का अन्न खाता था, इसलिए अन्न के प्रभाव से मेरी बुद्धि विकृत हो रही थी, यही कारण था कि सूक्ष्म विषय बुद्धि में प्रतिभासित नहीं होते थे। आज जब वह दुष्ट रुधिर मांस आदि उस दुष्ट अन्न का बना हुआ, निकल चुका है, तब मन भी स्वच्छ है और भगवान् कृष्ण की कृपा से मन में नई शक्ति का संचार भी हो गया है। तब सूक्ष्मतम विषयों की भी व्याख्या कर सकता हूँ। प्रकृत में कहना यही था कि स्वयं द्रौपदी ने ऐसा प्रश्नोत्तर किया किन्तु पाण्डवों की ओर से कोई भी हस्तक्षेप अपनी स्त्री की दुर्दशा देखकर भी नहीं हुआ। भीम को कुछ स्वाभाविक उत्तेजना हुई थी, किन्तु अर्जुन ने उसका निवारण कर दिया। इस प्रकार पाण्डव सदा ही अपने धर्म पर दृढ़ रहे यह बात भी लोक प्रसिद्ध थी। किरातार्जुनीय महाकाव्य में भी भगवान् व्यास की ओर युधिष्ठिर के प्रति कहलाया गया है कि—

“पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां, धर्म्या दधानेन धुरं चिराय ।

त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु ॥

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं, शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन ।

प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषन्ते ॥

( किरातार्जुनीय ३-१५, १६ )

अर्थात् शत्रुओं का समूह यद्यपि सन्मार्ग से गिर गया था, तो भी तुमने धर्म की धुरा को न छोड़ा और सिद्ध कर दिया कि विपत्तिकाल में भी तुम्हारा धार्मिक गुणों से प्रेम विपन्न या विच्युत नहीं होता। इस प्रकार यद्यपि शत्रुओं ने तुम्हारा बहुत अपकार किया और वह उनके लिए हितकर नहीं होगा यह निश्चय है, किन्तु यह कहा जा सकता है कि तुम्हारी बुद्धि का और शील का मुख्य तत्त्व उनके इस दुराक्रमण से संसार में प्रकाशित हुआ। यदि इस प्रकार की विपत्ति न आती तो विपत्ति में भी तुम शान्ति प्रिय हो यह तत्त्व संसार में कैसे प्रकट होता। इसलिए शत्रुओं ने एक प्रकार से तुम्हारा उपकार ही किया। इस प्रकार की लोक प्रसिद्धि रहने पर भी यदि दुर्योधन की विजय और पाण्डवों की पराजय होती तो फिर धर्म ही विजय दिलाने वाला है, इस सिद्धान्त को लोक में कौन मानता? लोक की धर्म पर से श्रद्धा हट जाती और अन्याय मार्ग संसार में फैल जाता। इस प्रकार संपूर्ण देश का विप्लव संभव था। इसीलिए भगवान् इस बात का संकेत कर रहे हैं कि इस देश काल और परिस्थिति में क्षत्रिय होते हुए तुम्हारा क्या धर्म है? इस स्वधर्म का विचार करो। इस अवसर में विशेष वर्ण धर्म को उत्कर्ष देना और अहिंसा या गुरुभक्ति रूप सामान्य धर्मों की उपेक्षा करना ही उचित है।

उत्तरार्ध में स्वधर्म का विवरण किया है कि धर्मानुकूल युद्ध के अतिरिक्त और कोई क्षत्रिय का कल्याण सम्पादक कार्य नहीं है। इस श्लोक की व्याख्या में श्री वेंकटनाथ ने धर्मशास्त्र के श्लोकों की विस्तृत विवेचना की है और दिखाया है कि धर्मशास्त्र के वाक्यों से भी इस समय युद्ध करना ही स्वधर्मानुकूल सिद्ध होता है। किन्तु उस प्रकार वचनों के बलावल की व्यवस्था यहाँ हिन्दी भाषा के प्रवचन में उपयुक्त नहीं जान पड़ती। वैसी विवेचना संस्कृत में ही शोभा देती है। इसलिए यहाँ उसका संकेत मात्र कर दिया गया है। धर्म शब्द का अभिप्राय भी व्याख्याकार दोनों प्रकार का लगाते हैं कि अर्जुन! तुम धर्म के पक्ष में हो इसलिए युद्ध करना धर्मानुकूल है। अथवा युद्ध में क्षत्रिय धर्म की मर्यादा का पालन हो वह धर्म युद्ध कहा जाता है। वैसा युद्ध ही क्षत्रिय के लिए कल्याण कारक है। मीमांसा में एक न्याय है कि किसी धर्म का उत्कर्ष बताने के लिए उसकी तुलना में अन्य धर्मों को उससे न्यून बतला दिया जाता है। वहाँ दूसरे धर्मों की निन्दा में तात्पर्य नहीं रहता, प्रकृत धर्म की विशेष प्रशंसा में ही तात्पर्य होता है

“नहि निन्दा निन्दान् निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु स्तुत्यान् स्तोतुम्”

अर्थात् निन्दा का तात्पर्य किसी की वस्तुतः निन्दा में नहीं होता, किन्तु जिसकी हमें स्तुति करनी है, उसकी स्तुति में ही तात्पर्य रहता है। यहाँ भी ऐसा ही प्रसंग है। भगवान् कहते हैं कि युद्ध के अतिरिक्त क्षत्रिय का कल्याण साधन ऐसा कोई दूसरा

नहीं। इसका तात्पर्य मुख्य धर्म होता है। उसी के लिए तो युद्ध की भी आवश्यकता होती है। प्रजा की विपत्ति हटाने के लिए जो युद्ध हो वही धर्मयुद्ध कहा जाता है। इसी प्रकार राजसूय अश्वमेधादि यज्ञ एवं दान दया आदि भी क्षत्रिय के अनेक कल्याण-साधन हैं। किन्तु यहाँ युद्ध का उत्कर्ष दिखाने के लिए यह कहा गया है कि युद्ध के अतिरिक्त ऐसा कल्याण साधन क्षत्रिय के लिए है ही नहीं। एक स्थान में गौ और अश्व की प्रशंसा के लिए श्रुति में वाक्य है कि “अपशवो वा अन्ये गवाश्चेभ्यः” अर्थात् गौ और अश्व से अतिरिक्त पशुओं को अपशु ही मानना चाहिए, ये ही पशु हैं। यद्यपि संसार में इनके अतिरिक्त पशु बहुत हैं, किन्तु गो अश्व की प्रशंसा करने में ही यहाँ श्रुति का तात्पर्य है। उसी न्याय से यहाँ भी युद्ध की प्रशंसा में तात्पर्य समझ लेना चाहिए। अथवा यह भी आशय कहा जा सकता है कि अन्यान्य कल्याण साधन बहुत काल साध्य और द्रव्य व्यय आदि के द्वारा साध्य हैं। किन्तु युद्ध तत्काल ही कल्याण साधक हो जाता है। युद्ध तत्काल स्वर्गप्रद कैसे होता है इसका विवेचन अग्रिम पद्य के प्रवचन में किया जायगा।



## छब्बीसवां-पुष्प

गत तीन प्रवचनों में धर्म का स्वरूप उसके लक्षण और परस्पर संघर्ष में सूक्ष्म विचार से व्यवस्था करने का प्रकार बताया जा चुका है। विषय अत्यन्त गहन है और गीता के उपदेश का यही मुख्य लक्ष्य भी है। भगवान् अर्जुन को यही समझाने को प्रवृत्त हैं कि तुम जिस कार्य को धर्म समझ रहे हो इस परिस्थिति में वह धर्म नहीं है। यहाँ युद्ध करना ही धर्म है। इन कारणों से इस विषय की विस्तृत विवेचना यहाँ आवश्यक समझी गई है। इसी कारण से पूर्व कथित विषयों का वैज्ञानिक प्रक्रिया से और भी स्पष्टीकरण हम आवश्यक समझते हैं। अतः एक प्रवचन इसी विषय पर और होगा।

गुरुवर विद्यावाचस्पतिजी श्रीमधुसूदनझाजी ने अपने “वेदधर्मव्याख्यान” नामक लघु निबन्ध में वेद और धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या की है। यह वक्तृता उनकी इंग्लैण्ड में योरोपिय विद्वानों के समक्ष भारतीय धर्म का उत्कर्ष बताने के लिए हुई थी और इंग्लैण्ड के प्रतिष्ठित विद्वानों ने इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की थी। उस विस्तृत वक्तृता को पूर्ण उद्धृत करने का तो यहाँ स्थान और समय नहीं है किन्तु उसके आधार से धर्म का संक्षिप्त वैज्ञानिक विवेचन यहाँ करना है।

आर्य संस्कृति में यह माना जाता है कि “यद्यदण्डे तत्तपिण्डे” अर्थात् जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वही सब पिण्डरूप हमारे शरीर में भी स्थित है। ब्रह्माण्ड एक समष्टि है और शरीर उसका अंशरूप एक व्यष्टि है। इसलिए ब्रह्माण्ड के ज्ञान के लिए पहले शरीर की ही परीक्षा करनी चाहिए! हमारे शरीर में दो प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं एक ज्ञानशक्ति और दूसरी क्रियाशक्ति। ज्ञानशक्ति ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अभिव्यंजित होती है और क्रियाशक्ति कर्मेन्द्रियों द्वारा। कुछ विचारक ऐसा समझते हैं कि ज्ञान भी मन की एक क्रिया ही है। मन के स्फुरण के अतिरिक्त ज्ञान का कोई स्वरूप नहीं बताया जा सकता। इसलिए एक क्रिया शक्ति ही मुख्य माननी चाहिए। उसी में ज्ञान का भी अन्तर्भाव हो जायगा। किन्तु वेदान्त सूत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने ज्ञान की एक विलक्षणता यह बताई है कि क्रिया मनुष्य के आधीन है। अपना हाथ उठावें, न उठावें व किधर भी घुमावें, यह सब मनुष्य के अधिकार में हैं। किन्तु ज्ञान जैसा चाहे तैसा बनावे यह उसके अधिकार से बाहर है। इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होने पर ज्ञान अवश्य हो ही जायगा। मनुष्य उसे रोक नहीं सकता और जैसी वस्तु इन्द्रियों के सामने आवेगी, वैसा ही ज्ञान होगा। उसका दूसरा रूप भी मनुष्य नहीं बना सकता। दूसरा रूप यदि भासित होगा तो वह अज्ञान व भ्रम कहलावेगा। ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसलिए मनुष्य के अधिकार में होना और न होना यह क्रिया और ज्ञान की बहुत बड़ी विलक्षणता है। अन्य वेदान्त ग्रन्थों ने तो इसका और भी सूक्ष्म विवेचन किया है कि

हम जिसे ज्ञान कहते हैं और जिसका आकार “यह मनुष्य है”, “यह पशु है”, “यह श्वेत है, कृष्ण है” इत्यादि शब्दों से बताया करते हैं, उसमें दो अंश हैं—एक विषय और दूसरा उसका प्रकाश। इन दोनों में विषय बदलते हैं किन्तु प्रकाश रूप अंश सर्वत्र एक सा ही रहता है। मनुष्य सामने होगा तो मनुष्य का प्रकाश हो जायगा, पशु सामने होगा तो पशु का प्रकाश हो जायगा। मनुष्य और पशु में अवश्य भेद है किन्तु उन दोनों के प्रकाश में कोई भेद नहीं सिद्ध किया जा सकता। इन दोनों को वेदान्त दर्शन में वृत्त्यात्मक ज्ञान और मुख्य ज्ञान शब्दों से कहा जाता है। विषय का आकार अन्तःकरण की वृत्ति है किन्तु उसमें प्रतिबिम्बित होने वाला प्रकाश एक नित्य और अपरिवर्तनीय है। वह न कभी उत्पन्न होता है न विनष्ट। वृत्ति सामने आवे तो उसमें प्रतिबिम्बित हो जाता है। वृत्ति सामने न रहने पर स्वतन्त्र रूप से बना रहता है। जैसे कोई जलाशय या दर्पण सूर्य के सम्मुख हो तो उसमें सूर्य प्रतिबिम्बित हो जायगा। यदि कोई वस्तु सम्मुख नहीं है तो प्रतिबिम्बित न होगा। किन्तु बिम्ब रूप सूर्य में प्रतिबिम्ब होने न होने से कोई विकार नहीं आता। वह अपने रूप में सदा ही चमकता रहता है। इसी प्रकार नित्य और व्यापक प्रकाश रूप ज्ञान सदा एक रस है। उसमें कोई विकृति नहीं होती। यदि वृत्ति सामने हो तो उसमें प्रतिबिम्ब हो जाता है। न होने से भी उस नित्य व्यापक ज्ञान में कोई विकार नहीं आता। वह ज्ञान सदा नित्य और एक रस है। इस ज्ञान की नित्यता का विशेष रूप से उपपादन हम सोलहवें प्रवचन में कर चुके हैं। यहाँ उसका संकेत मात्र किया है। वह नित्य और व्यापक प्रकाश रूप ज्ञान ही वेदान्त में ब्रह्म नाम से कहा गया है और वृत्तियों को मायाजनित माना गया है। यही ब्रह्म और माया सम्पूर्ण जगत् के मूल तत्त्व हैं। यह ज्ञान जड़चेतन सबमें व्यापक है। जहाँ इन्द्रियाँ हैं वहाँ उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। इन्द्रियों के अभाव में अभिव्यक्ति नहीं होती, यह भी कहा जा चुका है। ज्ञान एक आधार है। उसी आधार पर अनन्त क्रियाएँ उत्पन्न और विनष्ट होती रहती हैं। इसीका नाम जगत् है। इस प्रकार समझ में आ गया होगा कि अपने शरीर में जो ज्ञान और क्रिया नाम के दो तत्त्व हमारे अनुभव में आते हैं वे ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व ब्रह्म और माया के ही अंश हैं। शरीर में अनुभूत ज्ञान और क्रिया से ब्रह्माण्ड के मूलतत्त्व ब्रह्म और माया का कोई भेद नहीं। समष्टि भाव और व्यष्टिभाव व्यवहार के लिए काल्पनिक बना रखा है। यह भी स्मरण रहे कि इस प्रकाश रूप ज्ञान को ही नित्य और अपौरुषेय वेद कहा जाता है। और उस पर उत्पन्न होने वाली क्रियाओं को ही धर्म या अधर्म नाम से कहा जाता है। क्रिया का स्वरूप यद्यपि क्षणिक है, वह एक क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जाती है। वैशेषिक शास्त्र में उसका नाश तृतीय क्षण में माना जाता है। एक उत्पत्तिक्षण, दूसरा स्थितिक्षण और तृतीय विनाशक्षण। इस प्रकार की कल्पना वहाँ की गई है। किन्तु वह स्थिति उसकी स्वाभाविक नहीं। स्थिरता क्रिया का स्वभाव ही नहीं है।



स्थिरता जो प्रतीत होती है वह तो आधार की स्थिरता के कारण ही प्रतीत हो जाया करती है। तात्पर्य यह है कि क्रिया स्वयं क्षणिक है, किन्तु उसका आधार जो नित्य और व्यापक बताया है, वह सदा स्थिर है। उसकी स्थिरता से ही क्रिया भी कुछ काल स्थिर-सी दिखाई देती है। उसे शास्त्र में धारावाहिक क्रिया नाम से कहा जाता है। जैसे जल में उठने वाली तरंगें स्वयं यद्यपि क्षणिक हैं किन्तु जल के आधार से उनकी एक धारा सी बन जाती है और वह धारा कुछ काल स्थिर-सी प्रतीत होने लगती है। इस विषय का अधिक विस्तार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। यहाँ तो हमें केवल इतना ही बतलाना है कि क्रिया का आधार ज्ञान नाम से कहा जाता है। इसीलिए धर्म का आधार भी वेद को ही माना जाता है “वेदप्रणीतो धर्मः”। क्षणिक होती हुई भी क्रिया जैसे आधार की स्थिरता के कारण स्थिर सी प्रतीत होती है, इसी प्रकार धर्म भी संस्कार रूप में धारावाहिक होकर फलप्रदान तक स्थिर रहता है। इस अंश में बीज आदि के दृष्टान्त गत प्रवचन में दिए जा चुके हैं। संसार सब क्रियाओं का ही एक विजृम्भण या विस्तार है। इसलिए कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मूल धर्म ही है।

अब क्रियाओं की परस्पर विशेषता या उनके भेद बताए जाते हैं कि जिससे धर्म और अधर्म का भेद स्पष्ट हो सके। क्रिया प्रथमतः दो प्रकार की होती है—एक सांसिद्धिकी और दूसरी नैमित्तिकी। जो क्रिया जिस वस्तु के स्वरूप में सदा रहती है वह उसकी सांसिद्धिक क्रिया कहलाती है। यदि वह क्रिया कभी प्रतीत न भी हो तो यही मानना पड़ेगा कि किसी नैमित्तिक क्रिया के सम्बन्ध से उसकी प्रतीति रोक दी गई है। उसका अभाव नहीं है। जैसे कि प्रकाश और उष्णता सूर्य के स्वाभाविक धर्म हैं, किन्तु मध्य में बादल आदि का संबंध आ जाने पर उनकी प्रतीति नहीं होती। बादल हट जाने पर फिर प्रतीति होने लगती है। प्रतीति न होने की दशा में भी वे उष्णता और प्रकाश नहीं थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि नहीं रहते तो बादल हटते ही कहाँ से आ जाते? इसलिए यही कहना होगा कि यह उष्णता और प्रकाश तो सदा ही रहते हैं। कभी-कभी इनकी प्रतीति विपरीत निमित्त के कारण रुक जाती है। इस सांसिद्धिक क्रिया का ही गुण नाम से भी व्यवहार होता है। गुण सब क्रियाओं की ही स्थिरता रूप अवस्थाएँ हैं, यह हम “मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय” इत्यादि पद्य के प्रवचन में स्पष्ट कर आए हैं।

जो क्रिया जिस वस्तु में स्वभाव सिद्ध न हो, किन्तु दूसरे के सम्बन्ध से आ गई हो, वह नैमित्तिकी क्रिया कहलाती है। जैसे जल में स्वभावतः उष्णता नहीं है किन्तु अग्नि के सम्बन्ध से उसमें उष्णता प्रतीत हो जाती है। अग्नि का सम्बन्ध हटा देने पर उष्णता भी हट जाती है और जल फिर अपने शीतलता स्वरूप में प्रतीत होने लगता है। यहाँ शीतलता जल की सांसिद्धिकी क्रिया है और उष्णता नैमित्तिकी। इसी

प्रकार पृथ्वी और जल के अणुभूत अंशों में स्थिरता स्वाभाविक है और उनका चलना अर्थात् स्थान त्याग किसी निमित्त से होता है। इसके विपरीत तेज के अणु अंशों में चलन स्वाभाविक या सांसिद्धिक है और स्थिरता निमित्त से आती है। कुछ विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि सभी जड़ पदार्थों में स्वभावतः स्थिरता ही होती है। उनका चलन व स्थान त्याग किसी निमित्त से ही होता है। किन्तु यह विचार ठीक नहीं जयता। यदि सब ही स्थिर हो जाँय तो चलाने वाला कौन हो और नैमित्तिक चलन भी कहाँ से आवे। चेतन तो केवल आत्मा है। वह तो व्यापक है। उसमें क्रिया हो ही नहीं सकती। संसार दशा में परस्पर के आघात-प्रत्याघात से ही सब जगह क्रिया व चलन मान लिया जाय तो भी सृष्टि के आरम्भ में कहीं स्वाभाविक चलन मानना ही पड़ेगा। क्योंकि उस अवस्था में बिना किसी का स्वाभाविक चलन माने आघात-प्रत्याघात का होना सम्भव ही नहीं। इसलिए आर्य दर्शनों में तेज में स्वाभाविक गति मानी गई है और जल और पृथ्वी में स्वाभाविक स्थिति। जल और पृथ्वी के पदार्थों का चलन निमित्त से होता है। एवं तैजस पदार्थों की स्थिरता किसी निमित्त से होती है।

इस प्रकार सांसिद्धिक और नैमित्तिक क्रियाओं के परस्पर संघर्ष के कारण सांसिद्धिक क्रिया के पाँच भेद हो जाते हैं—१-प्रकट, २-प्रतिबद्ध होने पर भी संस्कार विशेष से प्रकट की हुई, ३-पहले प्रतीत न होती हुई भी विषय-सम्बन्ध होने पर प्रतीत हो जाने वाली। ४- किसी प्रतिबन्धक के कारण लीन हुई और ५- प्रतिबन्धक नैमित्तिक क्रिया से छिपाई हुई।

इनका उदाहरणों से स्पष्टीकरण हो जायगा। बिना किसी आवरण के सूर्य भगवान् जब उष्णता और प्रकाश चारों ओर फैलाते रहते हैं, अथवा घर में रखा हुआ एक दीपक बिना किसी प्रतिबन्ध के अपना प्रकाश चारों ओर फैलाता रहता है वह सूर्य या दीपक की प्रकट क्रिया है। जल को अग्नि पर चढ़ा देने पर उसमें उष्णता आ गई, अपना स्वाभाविक धर्मशीतलता लीन हो गई, किन्तु अग्नि से हटा देने पर स्वभावतः गतिशील होने के कारण अग्नि के अंश जब उसमें से निकल गए, तो जल की स्वाभाविक शीतता फिर प्रतीत होने लगी। यह शीतता दूसरे प्रकार की संस्कार विशेष से प्रकट की हुई क्रिया कहलावेगी। अग्नि का सम्बन्ध हटाना दोष मार्जन रूप संस्कार है। उस संस्कार के द्वारा यह शीतता प्रकट की गई। अग्नि में जलाने की शक्ति स्वभाव सिद्ध है। किन्तु जलाने की कोई वस्तु ईधन आदि उसके समीप न रहे तो वह जलाने की क्रिया प्रतीत नहीं होती। जब जलाने की कोई वस्तु सामने आ जाय तब प्रतीत होने लगती है। यह तीसरे प्रकार की सांसिद्धिक क्रिया का उदाहरण हुआ। अग्नि के संबंध से गर्म हो जाने पर जल में रहती हुई भी शीतलता प्रतीत नहीं होती। सर्वथा प्रलीन हो जाती है। अथवा दिन में रहता हुआ भी चन्द्रमा-तारादि का प्रकाश सूर्य के तेज

से दबा दिया जाने के कारण प्रतीत नहीं होता, यह लीन कहलाने वाली चौथे प्रकार की सांसिद्धिक क्रिया हुई। वस्तु में रहती हुई भी दबाए जाने के कारण प्रतीत नहीं होती। जल पूर्ण रूप से उष्ण नहीं हुआ किन्तु कुछ अग्नि का सम्बन्ध हो जाने के कारण उसकी स्वाभाविक शीतलता प्रतीत नहीं होती, यह छिपी हुई पाँचवें प्रकार की क्रिया हुई। इसी प्रकार दूध में बहुत सा जल मिला देने पर दूध की श्वेतता और मधुरता छिप जाती है। यह भी पाँचवें प्रकार की क्रिया का उदाहरण समझना चाहिए। चौथे और पाँचवें प्रकार में इतना ही भेद है कि चौथे प्रकार में वह क्रिया या धर्म सर्वथा लीन हो जाता है और पाँचवें प्रकार में कुछ थोड़ा दबता है। इसी प्रकार नैमित्तिक क्रिया भी तीन प्रकार की कही जा सकती है। दूसरे के सम्बन्ध में जहाँ क्रिया दब गई वहाँ उस वस्तु के दोष को हटाकर उसके सांसिद्धिक गुण को प्रकट कर देने वाली क्रिया नैमित्तिक क्रिया का पहला रूप है। वस्तु के स्वरूप में कुछ अतिशय उत्पन्न कर स्वरूप को उत्कृष्ट कर देने वाली अतिशयाधान रूप दूसरी नैमित्तिक क्रिया है। जहाँ जो क्रिया न हो वहाँ भी उसे उत्पन्न कर देने वाली सांसर्गिक क्रिया तीसरी नैमित्तिक क्रिया है। इनका भी उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण यों है कि जल में संसर्ग पतित मल को हटाकर उसे स्वच्छ कर देने वाली कतकप्रक्षेपादि क्रिया पहली नैमित्तिक क्रिया का उदाहरण है। किसी अनधिकारी पुरुष को एक विशेष अधिकार प्राप्त हो जाना या यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा ब्राह्मणादि में कुछ अतिशय उत्पन्न कर देना दूसरे प्रकार की नैमित्तिक क्रिया है। वायु स्वतः न उष्ण है और न शीत, इसीलिए इसका विशेष गुण वैशेषिक दर्शन में अनुष्णाशीतस्पर्श माना गया है। किन्तु वही वायु जल के अंशों के सम्पर्क से अतिशीत और प्रखर सूर्य किरणों के संसर्ग से अत्युष्ण हो जाता है। यह वायु में प्राप्त शीतता या उष्णता वायु की नैमित्तिक क्रिया है। इसी प्रकार जहाँ मनुष्य, पशु आदि के पैरों में चलने की क्रिया न हो, किन्तु किसी सवारी पर बैठकर वे चल रहे हों, वहाँ वह मनुष्य, पशु आदि की चलन क्रिया नैमित्तिक क्रिया का तीसरा भेद समझना चाहिए। इन नैमित्तिक क्रियाओं में परस्पर संघर्ष होता है और प्रबल क्रिया से निर्बल क्रिया दबा दी जाती है। अथवा समान बल वाली दोनों क्रियाएँ परस्पर संघर्ष से निवृत्त हो जाती हैं। यह देखा जाता है, जैसा कि किसी रस्सी या वस्त्र को एक बालक या निर्बल पुरुष पूर्व की ओर खींचता हो और कोई दृढ़ युवा पुरुष पश्चिम की ओर, तो उस स्थान में निर्बल या बालक की क्रिया दब जायगी और दृढ़ पुरुष के द्वारा संपादित नैमित्तिक क्रिया प्रबल हो जायगी। वस्त्र या रस्सी पश्चिम की ओर ही चले जाएँगे। किन्तु समान बल वाले दो पुरुष जहाँ एक ही रस्सी को एक पूर्व की ओर एवं दूसरा पश्चिम की ओर खींच रहा हो, वहाँ वह रस्सी किसी ओर न जायगी। दोनों पुरुषों द्वारा डाली हुई नैमित्तिक क्रियाएँ परस्पर संघर्ष से दबकर अपना कार्य करने में असमर्थ हो जाएँगी।

इस प्रकार क्रियाओं के बहुत भेद हो सकते हैं। इनमें से प्रकट या प्रकट की गई सांसिद्धिक क्रिया मुख्य धर्म कहलाती है। क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट

है। और स्वरूप रक्षा ही धर्म शब्द का अर्थ है, यह हम प्रवचन माला के प्रथम पुष्प में ही स्पष्ट कर चुके हैं। उन सांसिद्धिक क्रियाओं का प्रतिबन्धक हटाकर प्रकट कर देने वाली नैमित्तिक क्रियाएँ भी स्वरूप रक्षा का कारण होने से धर्म कहलाती हैं। इसी प्रकार अतिशय उत्पन्न करने वाली दूसरे प्रकार की नैमित्तिक क्रिया भी धर्म पक्ष में ही गिनी जाती है। क्योंकि उसका दिया हुआ अतिशय स्वरूप में ही प्रविष्ट हो जाता है। जैसे कि किसी पुरुष को कोई शासन का या न्याय का अधिकार यदि प्राप्त हो गया और उस पुरुष ने उस अधिकार को स्वीकार कर लिया, तो उस दशा में उस अधिकार का पालन भी उसका आवश्यक धर्म माना जायगा। यदि अधिकार पर रहता हुआ भी अपने अधिकार के अनुकूल कार्य न करे तो वह अधार्मिक होने के कारण अवश्य दण्डनीय होगा। अतः नैमित्तिक क्रिया के द्वारा दिया अतिशय स्वरूप में ही प्रविष्ट मान लिया जाता है। किन्तु यदि वह अतिशय मुख्य सांसिद्धिक क्रिया या धर्मों के विरुद्ध हो तो उस दशा में उस अतिशयाधान को धर्म न कहकर अधर्म ही कहना होगा। जैसे कि अग्नि जल में उष्णता रूप अतिशय डालती है किन्तु वह जल के स्वाभाविक धर्म शीतलता के विरुद्ध है, इसलिए वह जल का धर्म न कहला कर अधर्म ही कहावेगा। इसी प्रकार चेतन प्राणी का आनन्द या सुख आत्मधर्म है। इसके विरुद्ध कोई अतिशय किसी नैमित्तिक क्रिया के द्वारा उत्पन्न किया जाय तो वह अधर्म ही होगा। तीसरे प्रकार की नैमित्तिक क्रियाओं में गिनी हुई सांसर्गिक क्रिया भी यदि स्वाभाविक क्रिया के विरुद्ध है, तो वह अधर्म कही जायगी और यदि अनुकूल है तो उसे धर्म कहेंगे। इस विपरीत सांसर्गिक क्रिया के सम्बन्ध से बचाने के लिए ही आर्य संस्कृति में भक्ष्याभक्ष्य विवेक और स्पर्शाऽस्पर्श्य विवेक धर्म के अंग माने गए हैं। और स्वाभाविक धर्मों के अनुकूल अतिशय उत्पन्न करने वाले षोडश संस्कारों को एक मुख्य धर्म कहा गया है।

इस प्रकार धर्माधर्म की वैज्ञानिक व्याख्या को दृष्टि में रखकर अब प्रकृत विषय में विचार करना है। जैसा कि हम आगे “चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागवशः” इस चतुर्थाध्याय के प्रवचन में स्पष्ट करेंगे, वर्णों के ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि धर्म उनके स्वरूप में ही प्रविष्ट हैं। पुरुष, प्रकृति और शुक्र के सम्बन्ध से जगत् की उत्पत्ति होती है, और शुक्र में ही यह ब्रह्मवीर्य, क्षत्रवीर्य, आदि धर्म प्रविष्ट हैं। इसलिए यह सांसिद्धिक धर्म ही कहे जाएँगे। और इनके अनुकूल क्रियाएँ स्वाभाविक क्रिया होने के कारण धर्म कही जाएँगी। उन सांसिद्धिक धर्म या स्वाभाविक क्रियाओं के विरुद्ध कोई भी क्रिया अधर्म ही मानी जायगी। चाहे वह अन्य प्रकार से कितनी उत्कृष्ट क्रिया क्यों न हो। इन ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व आदि सांसिद्धिक धर्मों को प्रकट और विशेष रूप से कार्यक्षम बना देने वाली दोषामार्जन अतिशयाधान करने वाली पहले और दूसरे प्रकार की नैमित्तिक क्रियाएँ भी संस्कार रूप विशेष धर्म मानी जाती हैं। इस

लिए उनके विरुद्ध भी जो क्रियाएँ होंगी, वे अधर्म ही मानी जाएँगी। हम पूर्व प्रवचनों में स्पष्ट कर चुके हैं कि राज्य व्यवस्थानुसार नियत किया हुआ कोई अधिकारी पुरुष किसी चोर आदि पापी को इसलिए दण्ड न दे कि दण्ड देने से अहिंसा और दया का विरोध हो जायगा, तो वह उस अधिकारी का कार्य कभी धर्म नहीं कहा जा सकता। प्रत्युत उसे अधर्म ही कहना पड़ेगा। अतएव राज्य-व्यवस्था में भी वह दण्ड का ही भागी होगा किसी पारितोषिक का नहीं। इसी दृष्टि से वर्ण व्यवस्थानुसार क्षत्रिय को जो युद्ध करना प्राप्त है उसे हम सांसीद्धिक धर्म भी कह सकते हैं और अतिशयाधान रूप नैमित्तिक संस्कार क्रिया से प्रकट किया हुआ आधिकारिक धर्म भी। ऐसी स्थिति में उसके प्रतिकूल कार्य करने को अर्जुन जो प्रस्तुत हुआ है, वह उसका कार्य सांसीद्धिक धर्म और आधिकारिक धर्म से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा अधर्म है, यही भगवान् यहाँ बता रहे हैं कि “तुम अपने धर्म को देखो।” अहिंसा, क्षमा, दया आदि अवश्य बड़े धर्म हैं किन्तु इनको धर्म सामाजिक दृष्टि से कहा जा सकता है। जैसा कि हमने प्रथमाध्याय के भूमिका रूप प्रवचनों में स्पष्ट किया है। समाजादि की अपेक्षा अपना आध्यात्मिक स्वरूप आन्तर है। पहले अपना स्वरूप धारण कर, तब मनुष्य सामाजिक बनता है। इसलिए सामाजिक धर्म समाज सम्बन्ध से पीछे आने वाला बाह्य धर्म कहा जायगा। और स्वरूप में अनुप्रविष्ट वर्णधर्म इसकी अपेक्षा आन्तर धर्म होगा। ऐसी स्थिति में बाह्य अहिंसा, क्षमा, दया आदि धर्मों का जहाँ आन्तर वर्णधर्म के साथ विरोध आ पड़े, वहाँ आन्तर धर्म की रक्षा ही प्रथमतः आवश्यक होगी। इस प्रकार के धर्मों के बलाबल को समझकर ही मनुष्य को अपना कर्तव्य निर्धारण करना चाहिए। अज्ञान वश अधर्म को धर्म मान लेना और धर्म को अधर्म मान लेना पतित होने का कारण बनेगा। जैसे कोई अधिकारी पुरुष अत्यन्त दया वश होकर किसी अपराधी को दण्ड देना कथमपि न चाहे तो उसे उचित होगा कि पहले अपना अधिकार छोड़ दे। तब वह अधिकार जनित अतिशय अपने स्वरूप में से निकल जायगा और उसके विरुद्ध दया आदि का प्रदर्शन धर्म के प्रतिकूल न रहेगा। इसी प्रकार अर्जुन यदि क्षत्रिय धर्म से विमुख होना चाहता है तो पहले उसे क्षत्रियत्व का अभिमान छोड़ देना चाहिए था वह तो उसने अभी छोड़ा नहीं है। तब क्षत्रिय रहता हुआ भी यदि क्षत्रिय धर्म युद्ध से विमुख होना चाहता है तो जिन अहिंसा दया आदि को वह अपना रहा है वे इसके स्वरूप विरोधी होने के कारण धर्म न होकर अधर्म ही होंगे और धर्म बुद्धि से अधर्म ग्रहण करना सर्वथा पतन का हेतु बनेगा और लोक और परलोक में कष्ट का कारण होगा। यही इस उपदेश का स्फुट भाव है।

## सत्ताइसवां-पुष्प

यददृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतं ।

सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ २-३२

हे पार्थ! ऐसा युद्ध मानों अपने आप, बिना प्रयत्न के खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है। ऐसा युद्ध जिन क्षत्रियों को प्राप्त हो उनको बड़ा सुखी या बड़ा भाग्यवान् मानना चाहिए।

युद्ध क्षत्रिय का धर्म है इस पूर्वोक्त पद्य का ही विवरण किया जाता है। शास्त्र का वचन है कि—

“द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।

परित्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥”

इसका तात्पर्य है कि सब घर-बार छोड़कर जो संन्यासी हो जाता है और योग क्रिया में पूर्ण कुशल होकर प्राणत्याग करता है वह एक और दूसरा संग्राम में सम्मुख लड़ता हुआ जो मारा जाता है, ये दोनों प्रकार के पुरुष सूर्य मण्डल को भेद कर ऊपर जाते हैं। अर्थात् क्रम मुक्ति प्राप्त करते हैं, लौटकर फिर संसार में नहीं आते। इसी सिद्धान्त की ओर प्रस्तुत श्लोक में भगवान् ने संकेत किया है कि ऐसे युद्ध को तो अपने आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार समझना चाहिए और ऐसे युद्ध का अवसर प्राप्त होना क्षत्रिय को अपना सौभाग्य मानना चाहिए। इसे छोड़ कर जाना तो मानो स्वर्ग प्रवेश का द्वार छोड़ देना है। ऐसी गलती क्यों कर रहे हो?

कुछ लोगों का विश्वास है कि क्षत्रिय लोग युद्ध छोड़कर विमुख न हों इसलिए उन्हें प्रोत्साहित करने को यह स्वर्ग का प्रलोभन दिया गया है। यदि युद्ध छोड़ने की प्रवृत्ति बढ़ जाय तो देश में कायरपन फैल जायगा और आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करना असंभव हो जायगा। इसलिए देश रक्षा के उद्देश्य से ही ऐसे उपदेश दिए गए हैं जिससे कि लोग स्वर्ग के लोभ से युद्ध में उत्साहित रहें और कायरता न बढ़ने पावे। वीरता का प्रसार रहे और आक्रमणकारियों से देश सुरक्षित रहे। किन्तु गम्भीर विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि स्वर्ग प्राप्ति का केवल प्रलोभन मात्र ही नहीं है। वस्तुतः उत्साहपूर्वक पीठ न दिखाकर जो युद्ध में मरता है उसे अवश्य ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। लोकान्तर गति का प्रसंग भगवद्गीता के अष्टमाध्याय में आवेगा वहीं इस लोकान्तर गति का विस्तृत विवरण किया जायगा। किन्तु यहाँ भी प्रसंगागत इतना विवरण कर देना आवश्यक है कि स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर का वियोग हो जाने का ही नाम मृत्यु है। सूक्ष्म शरीर ही उस मृत स्थूल शरीर को छोड़कर जन्मान्त या लोकान्तर में जाया करता है। सूक्ष्म शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, प्राण

मन और बुद्धि ये तत्त्व रहते हैं जिसका कि विवेचन “स्वधर्ममपि चावेक्ष्य” के व्याख्यानों में कर चुके हैं। ये सब सूक्ष्म शरीर के तत्त्व दूसरे लोकों के अंश रूप से मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होते हैं और जिस लोक के ये अंश हैं उस अपने घन से इनका सम्बन्ध बराबर बना रहता है। स्थूल शरीर का वियोग होने पर ये सूक्ष्म शरीर के तत्त्व अपने घन की ओर ही प्रकृति के नियमानुसार चलते हैं। इन सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों में जो प्रधान हो वही अपने घन की ओर जाता हुआ अन्य सहचारियों को भी अपने साथ ले जाया करता है। यही लोकान्तर गति का वैज्ञानिक रहस्य है। मनुष्यों में सामान्य रूप से मन की प्रधानता रहती है और मन चन्द्रमा का अंश है। इसलिए श्रुति में कहा गया है कि मरने वाले प्रायः चन्द्रमण्डल में ही जाया करते हैं। मन यदि प्रधान रहेगा तो अपने घन रूप चन्द्रमा की ओर ही सूक्ष्म शरीर के सब तत्त्वों को खींचकर ले जायगा। इसलिए चन्द्रमण्डल की ओर जाने का सामान्य नियम वैज्ञानिक युक्ति सिद्ध है। किन्तु जो अपने प्रयत्न से बुद्धि की शक्ति बढ़ा लेते हैं और मन को दबाकर बुद्धि को प्रबल कर लेते हैं उनकी गति चन्द्रमा की ओर न होकर सूर्य की ओर हो जाती है क्योंकि बुद्धि सूर्य का अंश है। बुद्धि जब प्रबल हो जाती है तो अपने घन सूर्य की ओर सबको खींच कर ले जाना स्वभाव सिद्ध हो जाता है। योग मार्ग के द्वारा बुद्धि की शक्ति को ही प्रबल किया जाता है।

बुद्धि के सांख्य दर्शन में आठ रूप बतलाये हैं, चार सात्विक और चार तामस। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार सात्विक रूप हैं इनके विरोधी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये चारों बुद्धि के तामस रूप हैं। इनमें अवैराग्य को राग और द्वेष दो नामों से गिनकर इन्हें ही पंच क्लेश कहा जाता है—

#### अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशाः।

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। यहाँ ज्ञान के विरोधी अज्ञान को अविद्या पद से कहा गया है, ऐश्वर्य के विरोधी अनैश्वर्य को अस्मिता शब्द दिया गया है, अस्मिता अहंकार का नाम है। अपने स्थूल सूक्ष्म आदि शरीरों में अहं भाव होना ही अस्मिता या अहंकार है। वस्तुतः आत्मा अपरिच्छिन्न है यही उसका ऐश्वर्य है। शरीर में अहंभाव से उसे परिच्छिन्न बनाया जाता है। एक छोटी से सीमा में बद्ध कर दिया जाता है। इसलिए यह अस्मिता ऐश्वर्य की विरोधिनी है। अवैराग्य को राग और द्वेष दो नाम दिये गए हैं तथा धर्म के विरोधी रूप में अभिनिवेश शब्द गिना गया है। इस शब्द का अर्थ आग्रह है। धर्म के नियन्त्रण को छोड़कर किसी भी क्रिया पर आग्रह कर लेना अभिनिवेश के अन्तर्गत हो सकता है किन्तु शास्त्रों में अभिनिवेश का लक्षण यह बतलाया गया है कि मैं सदा ही बना रहूँ इस प्रकार की जो प्राणिमात्र में एक स्वाभाविक वृत्ति देखी जाती है इसी का नाम अभिनिवेश है। यह प्राणिमात्र में व्यापक है इसलिए इसका ही नाम शास्त्रों ने लिया

है। यह भी धर्म विरोधी है, जन्म लेने वाले का मरण अवश्यंभावी है यह नियम एक धर्म हुआ, उसके विरुद्ध पूर्वोक्त वृत्ति अधर्मरूपा ही है। बुद्धि के सात्त्विक चार रूप ईश्वर में भी होते हैं अतएव वह भगवान् कहलाता है। उक्त चारों रूपों के साथ यश और श्री को जोड़कर इन छहों का पारिभाषिक नाम “भग” रखा गया है। वे पूर्ण मात्रा में ईश्वर में रहते हैं इसलिए ईश्वर सबसे बड़ा भगवान् है। तमोगुण के रूप जो पाँच क्लेश बतलाये गए उनका ईश्वर में स्पर्श भी नहीं है। सात्त्विक रूपों को बढ़ा कर तामस रूपों को दबाना यही बुद्धि की शक्ति को प्रबल करना है। संन्यास और योग मार्ग में ज्ञान और वैराग्य को विशेष रूप से उन्नत किया जाता है और इसी से धर्म तथा ऐश्वर्य भी बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार बुद्धि की उन्नति करने वाले जीव की गति सूर्यमण्डल में होती है। बुद्धि की विशेष उन्नति जिन्होंने कर ली वे सूर्यमण्डल के भी केन्द्र की ओर जाते हैं और वहाँ भी न ठहरकर उसमें से निकल कर ऊपर के अन्य लोकों में चले जाते हैं। क्योंकि भगवद्धर्मों का अपने आत्मा में इन्होंने समावेश कर लिया है अतः वे परम उन्नतिशील बन गए हैं। क्रमशः सब लोकों का अतिक्रमण कर भगवान् में लीन हो जाना ही उनके लक्ष्य की पूर्ति है।

युद्ध में उत्साह से जो वीर प्रवृत्त होता है उसके भी अस्मिता और अभिनिवेश दब जाते हैं। शरीरात्मभाव शिथिल किए बिना युद्ध का उत्साह हो ही नहीं सकता और उसमें सदा बना रहूँ इस अभिनिवेश का तो उसे स्पष्ट रूप से त्याग कर ही देना पड़ता है। इसलिए बुद्धि के सात्त्विक रूप ऐश्वर्य और धर्म उसमें पूर्ण रूप से जागरित हो जाते हैं। युद्ध का उत्साह जो बढ़ता है वह वीर रस के रूप में परिणत होता हुआ अन्तःकरण के अज्ञानरूप आवरण का भंग कर देता है जिसका कि विवेचन आगे होगा। ऐसी स्थिति में उसकी बुद्धि की परम उन्नति स्पष्ट सिद्ध हो जाती है और इस कारण उसकी गति सूर्य मण्डल के केन्द्र की ओर होना विज्ञान सिद्ध हो जाता है। युद्ध का उत्साह बुद्धि की शक्ति को बहुत बढ़ा देता है और उत्साह की विच्युति यदि अंशतः भी न हो तो बुद्धि पर सूर्य का आकर्षण अवश्य ही न्याय प्राप्त होगा। इस वैज्ञानिक नियम के अनुसार सूर्यमण्डल भेद रूप स्वर्ग गति वीर योद्धा की अवश्य सिद्ध है।

दूसरे प्रकार से भी इसका समर्थन होता है कि प्राणिमात्र की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाएँ होती हैं। मनुष्य में इन तीनों का अनुभव स्पष्ट सिद्ध है। किन्तु इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था भी शास्त्र में मानी जाती है जिसे तुरीयावस्था शास्त्रों में कहा गया है, तुरीय अर्थात् चतुर्थ अवस्था। जब किसी विषय में चित्त की सर्वथा एकग्रता हो जाती है, अन्य विषयों का भान नहीं रहता, वही तुरीयावस्था कही जाती है। अन्य विषयों का भान न रहने से उसे जाग्रत् भी नहीं कह सकते और एक विषय का स्पष्ट भान रहने से स्वप्न या सुषुप्ति भी वह नहीं कही



जा सकती। इसलिए उसे चौथी अथवा तुरीय अवस्था ही कहना पड़ता है। सांसारिक दशा में भी कभी कभी इसका अनुभव होता है। यदि कोई मनुष्य पूरा निद्रित तो नहीं हुआ है किन्तु निद्रा से पूर्ण रूप में आक्रान्त है, उस समय उसके हाथ में यदि कोई द्रव्य राशि रखे तो उसे भी वह फेंक देगा, उस ओर बिल्कुल ध्यान न देगा। कोई बहुत बड़े नाच रंग सामने हो रहे हों तो उनकी ओर भी उसकी लेशमात्र भी प्रवृत्ति नहीं होती। जिनको प्राण से भी अधिक प्यार करता है उन स्त्री पुत्रादि को भी उस समय देखना भी नहीं चाहता। केवल निद्रा को ही सर्वस्व मानता है। वह अवस्था तुरीय ही कही जा सकती है। पूर्वोक्त रूप से अत्यन्त इष्ट संपत्ति आदि की ओर प्रवृत्ति न होने से उसे जाग्रत् भी नहीं कह सकते और बाह्य पदार्थों का कुछ अनुभव है इसलिए स्वप्न या सुषुप्ति भी नहीं कहा जा सकता। वह एक प्रकार की तुरीय अवस्था ही है। इसी अवस्था को सदा प्राप्त करने का योगी लोग प्रयत्न किया करते हैं और यह तुरीय अवस्था पूर्ण सात्विक कही जाती है। इस अवस्था में प्राणों का उत्क्रमण होने पर अवश्य देवलोक गति होती है यह माना जाता है। भगवद्गीता में ही गुणत्रय विभाग में आगे कहा जायगा कि सत्त्व गुण की वृद्धि में जिनका प्राणोत्क्रमण हो वे ऊर्ध्वलोकों में जाते हैं। तुरीयावस्था भी सत्त्व गुण की वृद्धि का परिणाम है अतः इस अवस्था में प्राणोत्क्रमण अवश्य ही ऊर्ध्व गति का साधक है।

युद्धकाल में योद्धा की उत्साहवश ऐसी ही तुरीयावस्था रहती है। उसे और किसी बात का उस समय अनुसन्धान नहीं रहता केवल अपना प्रतिपक्षी ही एकमात्र लक्ष्य रहता है। महाभारत में जयद्रथ वध के दिन जब अर्जुन जयद्रथ के समीप पहुँच चुका था और एकमात्र जयद्रथ के सिर को ही उसने अपनी दृष्टि का लक्ष्य बना रखा था उस समय अर्जुन के शिष्य सात्यकि को, जो अर्जुन का समाचार जानने युधिष्ठिर की आज्ञा से आया था, उसे भूरिश्रवा ने दबा लिया। भूमि में पटक कर उसका शिरश्छेद खड्ग से करने लगा। उस समय भगवान् कृष्ण ने बहुत जोर से शब्द करते हुए अर्जुन को प्रेरणा दी कि तेरा शिष्य तेरे ही लिए मर रहा है; उसकी रक्षा करना तेरा आवश्यक कर्तव्य है। तब अर्जुन ने यही कहा कि जयद्रथ की ग्रीवा पर से तो मैं अपना लक्ष्य नहीं हटा सकता, आपकी आज्ञा पालन के लिए शब्दवेधी बाण से भूरिश्रवा का खड्ग सहित हाथ काट देता हूँ। वैसा ही किया भी। इस प्रसंग से यही सिद्ध होता है कि युद्ध काल में वीर अपने प्रतिपक्षी को ही एकमात्र लक्ष्य रखते हैं, उससे अपनी बुद्धि को डिगने नहीं देते। यह उनकी तुरीयावस्था ही कही जा सकती है। उस अवस्था में ही दैवात् शत्रु के प्रहार से उनका प्राणोत्क्रमण हो जाय तो पूर्वोक्त नियमानुसार उनकी सद्गति अवश्यभावी है। इसी प्रकार देश हित की उत्कट भावना में निमग्न रहकर जिन्होंने अपना प्राणोत्सर्ग किया वे भी तुरीयावस्था में निधन होने के कारण अवश्य ही ऊर्ध्वगति के भागी हुए होंगे यह तुल्य न्याय से कहा जा सकता है। यहाँ हमारा अभिप्राय इतना ही है कि युद्ध मरण से उत्तम गति बताना केवल प्रलोभन मात्र ही नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि साहित्य ग्रन्थों में रस की अभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया दिखाई गई है कि काव्य या नाटक में वर्णित विभाव अनुभाव आदि का शाब्दज्ञान होने पर व्यंजना वृत्ति से स्थायी भाव का ज्ञान हो जाता है फिर सहृदय की भावना से वे विभावादि अपना परिच्छिन्न स्वरूप छोड़कर साधारण नायकत्व नायिकात्व आदि रूप से उपस्थित होते हैं। उसी रूप से विभावादि संवलित स्थायिभाव की भावना से अन्तःकरण का सत्त्वगुण जागरित हो जाता है और आत्मा का सतत जो एक अज्ञान रूप आवरण रहता है वह सत्त्व गुण के जागरण के कारण दूर हो जाता है। तब आत्मानन्द प्रकाशित हो उठता है। उस आत्मानन्द के साथ रति उत्साह आदि स्थायी भाव का और उसके अभिव्यंजक विभाव अनुभाव आदि का जो संमिश्रित ज्ञान होता है उसी का नाम रस है। इसमें समाधि की अपेक्षा यही विशेषता है कि स्थायी और विभावादि का भी ज्ञान आत्मानन्द के साथ आस्वाद का विषय होता रहता है। समाधि में केवल आत्मानन्द ही भासित होता है विषयावभास नहीं रहता। यह साहित्य ग्रंथों की प्रक्रिया से काव्य नाटकादि के रस का ही विवेचन है। इसी कारण वहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि काव्य या नाटक में जिन शृंगारी या वीर पुरुषों का वर्णन है उनके सम्बन्ध के ही विभाव अनुभाव आदि वहाँ वर्णित हैं। फिर काव्य सुनने वालों या नाटक देखने वालों को रस का उद्बोध कैसे होगा, क्योंकि उनसे सम्बन्ध रखने वाले विभावादि तो वहाँ हैं नहीं। इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए साधारणीकरण आदि की प्रक्रिया वहाँ काम में ली जाती है। किन्तु लौकिक अवसरों में जहाँ अपने ही सम्बन्ध के विभावादि उपस्थित हों वहाँ साधारण रूप से उनके उपस्थित कराने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि स्वसम्बन्धी कारण कार्य आदि से अपने अन्तःकरण का रति उत्साह आदि स्थायी भाव स्वतः जागरित हो जाता है। यद्यपि लौकिक रसादि का निरूपण अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों में नहीं किया गया है, किन्तु विचार करने पर कारण कार्य आदि से अन्तःकरण में स्थायीरूप से अवस्थित उत्साह आदि का जागरित होना और उस विषय की निरन्तर चित्तवृत्ति रहने से भावना द्वारा सत्त्वगुण का बढ़ना और उससे आत्मा के अज्ञानरूप आवरण का भंग होना यहां भी तुल्य न्याय से युक्ति सिद्ध है। स्थायिभाव उत्साह आदि अभिव्यक्त होने पर उनकी अन्तःकरण में बार बार भावना से जैसे काव्य नाटकदि में सत्त्वगुण बढ़कर आत्मा के आवरण को दूरकर देता है और आत्मानन्द का अनुभव करा देता है। इस प्रकार लोक में भी उत्साह आदि की अभिव्यक्ति होने पर उनकी भावना से सत्त्वगुण की वृद्धि और आवरण भंग क्यों न होगा? शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों में स्वनिष्ठ और परनिष्ठ नाम के दो विभाग रस तरंगिणी आदि ग्रन्थों में माने गए हैं। शृंगार में स्व-सम्बन्धी विभाव अनुभाव आदि में लोक लज्जा आदि का प्रसंग विशेष होने से शृंगार में स्वनिष्ठ परनिष्ठ भेद नहीं माने जाते और शृंगार को ही मुख्य मान कर रस का निरूपण करने वाले आलंकारिक उन भेदों की ओर ध्यान भी नहीं देते।

किन्तु जिन्होंने स्वनिष्ठ परनिष्ठ भेद माने हैं उनके मतानुसार लौकिक अवसरों में भी स्वनिष्ठ भेदों की प्रक्रिया सुसंगत हो जाती है। प्रस्तुत में इस विषय को उठाने का हमारा अभिप्राय यही है कि यदि उक्त प्रक्रिया के अनुसार निरन्तर भावना से योद्धाओं में आत्मानन्द का आवरण भंग भान लिया जाय तो फिर उस अवस्था में मृत्यु होने पर उत्तम गति प्राप्त होने में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। अतः शास्त्रों में युद्ध मृत का सूर्य मण्डल भेद जो दिखाया गया है वह वास्तविक उपपत्ति सिद्ध है।

इस पद्य में “यदृच्छया चोपपन्नम्” और “युद्धमीदृशम्” ये दोनों विशेषण इस प्रस्तुत युद्ध की विशेषता बताने के लिए प्रयुक्त हैं। प्रथम विशेषण का अभिप्राय है कि वीर क्षत्रिय अपने विशेष उद्योग से ऐसे युद्धों की योजना किया करते हैं। किन्तु तुम्हें तो यह अवसर अपने आप ही मिल गया है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि तुम लोगों की आन्तरिक इच्छा युद्ध के आयोजन की नहीं थी। तुम तो अन्त तक संधि के प्रयत्न में लगे रहे। फिर भी दुर्योधन की कुटिल नीति के कारण कहो या विधि का विधान ऐसा ही था यह मानो तुम्हारे लिए यह युद्ध प्रसंग अपने आप ही आया हुआ कहा जायगा। तब जैसा प्रसंग अन्य वीर योद्धा प्रयत्न से लाया करते हैं वैसा प्रसंग अपने आप ही आ पड़े और फिर भी उसे छोड़ा जाय; यह तो बहुत ही बड़ा अनुचित कार्य कहा जायगा। “ईदृशम्” इस विशेषण से भगवान् ने यह अभिव्यंजित किया कि यह युद्ध कोई साधारण युद्ध नहीं है। किसी एक राजा का दूसरे प्रतिपक्षी राजा से सीमा आदि के सम्बन्ध में झगड़ा होकर युद्ध हो जाना एक सामान्य युद्ध होता है। किन्तु यह युद्ध वैसा सामान्य युद्ध नहीं। इसमें सम्पूर्ण देश के, प्राग्ज्यौतिष, त्रिगर्त, और गान्धार देश तक के वीर राजा उत्साह से सम्मिलित हुए हैं। अतः यह एक भारतव्यापी महायुद्ध है। उत्साही अन्य वीरों का प्रभाव प्रत्येक वीर के हृदय पर पड़ता है और लोगों को उत्साहशील देखकर प्रत्येक वीर की उत्साह वृद्धि विशेष रूप से होती है। इसीलिए कहा जा सकता है कि ऐसा युद्ध जिन्हें स्वतः प्राप्त हो जाय उनको तो बड़ा भाग्यवान् समझना चाहिए। यहाँ “सुखिनः” शब्द का अर्थ अनेक व्याख्याकारों ने भाग्यवान् ही किया है। अथवा आगे होने वाले स्वर्ग सुख को लक्ष्य में रख कर सुखी शब्द का प्रयोग है, यह भी कहा जा सकता है। अर्थात् ऐसा युद्ध जिनको प्राप्त हो गया वे आगे बहुत बड़े सुखी होंगे स्वर्ग सुख का आनन्द भोगेंगे। तब ऐसे विलक्षण प्रकार के युद्ध में जहाँ देश के प्रत्येक भाग के योद्धाओं को उत्साहशील देखकर तुम जैसे वीर को अत्यन्त उत्साहशील होना चाहिए था; वहाँ तुम उल्टा अपना उत्साह खोकर, युद्ध से विरत होना चाहते थे; यह कैसी बात है। उसे अपने अन्तःकरण से अच्छी तरह विचारो।

## अट्टाडसवां-पुष्प

अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।  
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ २-३२  
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।  
संभावितस्य चाऽकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ २।३४  
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।  
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ २।३५  
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।  
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ २।३६  
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।  
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ २।३७

“यदि तुम यह धर्म युक्त संग्राम नहीं करोगे तो अपना धर्म और यश दोनों खोकर पाप के भागी बनोगे।” यहाँ धर्म्य शब्द से दोनों अभिप्राय हैं, तुम्हारा पक्ष धर्मानुकूल है इसलिए तुम्हारी ओर संग्राम करना “धर्म्य” अर्थात् धर्म युक्त है। दूसरा अभिप्राय यह भी है कि यहाँ बहुत बड़ा क्षत्रियों का समूह है इसलिए यहाँ जो युद्ध होगा वह युद्ध के धर्मों के अनुकूल ही होगा। ऐसे युद्ध के छोड़ने से न केवल धर्म परित्याग के कारण परलोक की हानि है, किन्तु इस लोक में भी यश की हानि है। युद्ध से पलायन करने पर एक वीर क्षत्रिय का बहुत बड़ा अपयश होता है और उसकी संपूर्ण जन्म की संचित कीर्ति नष्ट हो जाती है यह इस लोक का भी बहुत बड़ा अपकार तुम्हारा है। शास्त्र में यह भी कहा गया है कि जो कर्म जिसके लिए विहित है उसके न करने से भी पाप होता है। इसलिए धर्म के न करने का पाप भी तुम्हें लगेगा। इससे यह भी सूचित किया कि युद्ध क्षत्रिय का नैमित्तिक धर्म है, केवल काम्य नहीं। नित्य और नैमित्तिक के न करने से भी पाप होता है। यहाँ यह एक शंका उठती है कि न करना तो अभाव रूप हुआ, उससे पाप कैसे होगा। पाप तो एक प्रकार का अतिशय है जो कि अन्तःकरण का धर्म है, वह भाव रूप है, तब अभाव से भाव की कैसे उत्पत्ति होगी। इसका उत्तर धर्म निबन्धों में कई प्रकार से दिया गया है। एक प्रकार यह है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म यद्यपि कोई नया फल उत्पन्न नहीं करते तथापि कुछ अवश्यंभावी दोषों का परिहार करते रहते हैं। सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म और ग्रहण स्नानादि नैमित्तिक कर्म करने से किसी विशेष फल की उत्पत्ति अन्तःकरण में नहीं होती; किन्तु अहोरात्र में जो अविज्ञात अनेक पाप मनुष्य सुलभ प्रमाद से बन जाते हैं उनका क्षय सन्ध्यावन्दनादि से होता रहता है। इसी प्रकार ग्रहण स्नान करने

से सूर्य और चन्द्रमा की रश्मियों के अवरुद्ध हो जाने से जो मलिनता दोष हम लोगों के शरीर आदि में आ गया उसका निवारण हो जाता है। अब यदि नित्य नैमित्तिक कर्म न किये जायेंगे तो वे दोष जो इनके द्वारा निवारित होते, इकट्ठे होते रहेंगे और इकट्ठे होने पर बुरे अदृष्ट के रूप में आकर पाप बनते रहेंगे। यही धर्म न करने से पाप की उत्पत्ति का आशय है। जैसे कि कोई वैद्य किसी रोगी को स्वास्थ्य के लिए उपवास करवाता है तो वहाँ भी यह प्रश्न होगा कि उपवास तो भोजन का अभाव रूप है, फिर उस अभाव से स्वास्थ्य रूप भाव की उत्पत्ति कैसे हुई। इसका यही उत्तर वैद्य देगा कि उपवास न होने पर जो अन्न उदर में जाकर नये-नये विकार उत्पन्न कर रोग की वृद्धि में सहायक होता वह बात उपवास से रुक जायगी। जाठराग्नि को जब कोई नया अन्न पचाने को नहीं मिलेगा तो वह प्रबल होकर पुराने संचित अन्न के परिपाक में ही लग जायगी। इसलिए स्वास्थ्य लाभ में अभाव में भावोत्पत्ति का प्रसंग नहीं आता। यही बात यहाँ भी समझ लेना चाहिए कि नित्य नैमित्तिक कर्म न करने से जो आगन्तुक दोष आ जाते हैं उनका परिहार नित्य नैमित्तिक कर्मों से होता रहता है। यदि वे न किये जाँय तो आगन्तुक दोष इकट्ठे मलिनता रूप पाप को उत्पन्न कर देंगे और मान लो कि वे कोई दोष नहीं भी आये तो भी नित्य नैमित्तिक कर्म पुराने ऐसे अज्ञात सूक्ष्म दोषों के निवारण में सहायक होते रहेंगे। न करने से वे दोष भी कुछ मलिनता अवश्य उत्पन्न करेंगे। इसलिए नित्य नैमित्तिक कर्मों का न करना भी दोषाधायक है।

दूसरा एक प्रकार अभाव से भावोत्पत्ति के समाधान का यह कई निबन्धकारों ने बतलाया है कि शास्त्र में हेतु दो प्रकार के कहे गए हैं, एक कारक हेतु होता है और दूसरा होता है ज्ञापक हेतु। जो किसी अतिशय विशेष को उत्पन्न करे, वह कारक हेतु कहलाता है और जो विद्यमान किसी अतिशय विशेष का ज्ञान करा दे वह ज्ञापक हेतु कहलाता है। विहित कर्मों का न करना पाप का ज्ञापक हेतु है अर्थात् शास्त्र विहित कर्मों में प्रवृत्ति न होने से यह अनुमान हो जाता है कि कोई पूर्व जन्म का बुरा अदृष्ट है जो शास्त्र विहित कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होने देता। उसी ज्ञापित कर्म का प्रायश्चित्त आदि शास्त्रों में बतलाया गया है। तीसरा कई जगह ऐसा भी समाधान का प्रकार मिलता है कि जो कर्म जिस समय में शास्त्र में विहित है उसे यदि उस समय न किया जायगा तो उस समय में अन्य कोई कार्य करना पड़ेगा क्योंकि गीता में ही कहा गया है कि—

“नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्”

अर्थात् कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी बिना किसी कर्म के तो रह नहीं सकता। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आदि कुछ न कुछ सदा करते ही रहते हैं। तब शास्त्र विहित के समय में जो दूसरा कर्म किया जायगा वही पाप का उत्पादक हो जाता है, जैसे कि

सन्ध्योपासन अग्निहोत्र आदि के समय में उन कर्मों को न कर यदि कोई सोता रह गया या अन्य विलासादि कार्यों में लग गया तो वे शयन विलास आदि कर्म ही पाप के उत्पादक हो जाते हैं। इस प्रकार परंपरा सम्बन्ध से शास्त्र विहित कर्म न करना पाप का उत्पादक है। पाप की साक्षात् उत्पत्ति अन्य कर्म रूप भाव से ही होती है अभाव से नहीं। यों कई प्रकार से अभाव से भावोत्पत्ति के समाधान प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं।

यहाँ प्रयोजन इतना ही था कि शास्त्र विहित कर्म का न करना भी पाप का उत्पादक है यह सभी स्मृतिकारों ने माना है। इसलिए यहाँ भी भगवान् ने अर्जुन को यह कहा कि यदि युद्ध छोड़ दोगे तो न केवल धर्म से विमुख होओगे किन्तु पाप के भी भागी बनोगे। तुम जो यह सोचते हो कि युद्ध में आप्त गुरुजनों को मारने से पाप होगा, वह उल्टी बात है। युद्ध छोड़ने से ही उलटा पाप का प्रसंग तुम पर आवेगा। इसके अतिरिक्त लौकिक दोष भी इस पद्य में यह बतलाया गया कि संसार में आज तक की उपार्जित तुम्हारी कीर्ति का भी नाश होगा। प्रथमाऽध्याय के प्रथम प्रवचन में धर्म स्वरूप रक्षा का साधन है, यह उस प्रकरण में हम कह आए हैं कि दिलीप आदि राजर्षियों ने यश को ही अपना मुख्य स्वरूप माना था, और यश का विनाश न हो इसलिए शरीर की भी आहुति देने को तैयार हो गए थे। इसलिए आप्त पुरुषों की दृष्टि से यश की रक्षा भी एक मुख्य धर्म है। अभी गत पूर्व प्रवचन में जो अठारह प्रकार के व्यावहारिक आत्मा बतलाए हैं उनमें विभूति रूप आत्मा में यश का भी समावेश है। इसीलिए धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य रूप चारों सात्त्विक बुद्धि धर्मों के साथ यश और श्री को भी गिनकर छः प्रकार के भग शास्त्रों में निरूपित हैं जो कि जगदीश्वर भगवान् में सदा रहते हैं। इससे यश का भगवद्धर्म होना स्पष्ट शास्त्र सिद्ध है। उस भगवद्धर्म के विरुद्ध चलना ही पाप कहा जाता है, इसलिए संसार में अपयश प्राप्त करना भी एक बहुत बड़ा पाप है। इससे लोक-परलोक दोनों नष्ट होते हैं। अपकीर्ति जिसकी हो गई उसका इस लोक में भी कोई आदर नहीं रहता। वह शिष्ट समाज में सदा दुत्कारा जाता है और पूर्वोक्त प्रकार से पाप भागी होने से परलोक भी उसका बिगड़ता है। शास्त्रों में यहाँ तक कहा गया है कि—

“कीर्तिर्यस्य सजीवति”

अर्थात् मर जाने पर भी संसार में जिसकी कीर्ति फैली हुई है उसे जीवित ही समझना चाहिए। तात्पर्य यही कि शिष्ट लोग सदा से कीर्ति रक्षा में भी तत्पर रहे हैं यह भारतीय संस्कृति है। महापुरुषों ने चाहे कितना की कष्ट सहन किया किन्तु अपने नाम पर कलंक नहीं लगने दिया। इसी का विस्तार आगे के तीन चार श्लोकों में भगवान् ने किया है और यह समझाया कि तुम पाप से डरकर संग्राम छोड़ते हो; किन्तु संग्राम छोड़ने में भी अपकीर्ति रूप बड़ा पाप तुम्हारे सिर पर आवेगा, इसका विचार नहीं कर रहे हो।

“संसार में युद्ध छोड़ देने पर तुम्हारी लोग इतनी अपकीर्ति करेंगे कि जो अव्यय अर्थात् सदा के लिए स्थायी हो जायगी, कितना भी प्रयत्न करने पर उस अपकीर्ति का निवारण न हो सकेगा। सदा ही इतिहास में लोग इसका स्मरण करते रहेंगे कि अर्जुन इतनी डींग मारता था किन्तु समय पर युद्ध से भाग गया। जो मनुष्य संसार में संभावित अर्थात् आदर के पात्र हैं उनकी अपकीर्ति होना मरने से भी अधिक कष्टप्रद माना जाता है। अर्जुन ने जो अपने कथन में यह सन्देह प्रकट किया था कि यह भी तो विदित नहीं है कि हम जीतेंगे या हारेंगे। उस पर भगवान् का यह कथन है कि मान लो तुम हार ही गए तो इतना ही होगा न कि तुम्हारी मृत्यु हो जायगी। किन्तु युद्ध छोड़ने से जो अपकीर्ति होगी वह तो मृत्यु से भी बुरी है। कीर्ति रखकर मर जाना अच्छा है किन्तु अपकीर्ति लेकर जीवित रहना भी अच्छा नहीं।”

इस पर कदाचित् अर्जुन के मन में यह भाव हो कि मैं, डरकर संग्राम छोड़ूँ तब अपकीर्ति हो सकती है, मैं तो डरकर नहीं छोड़ रहा हूँ; किन्तु गुरुजनों के विरुद्ध शस्त्र उठाना पाप है, यह समझकर छोड़ रहा हूँ। तब तो विज्ञान मेरी प्रशंसा ही करेंगे; अपकीर्ति क्यों होगी? ऐसे मनोभाव की संभावना कर उसका भी उत्तर भगवान् दे देते हैं कि तुम चाहे गुरुजनों के वध को पाप मानकर ही संग्राम छोड़ो किन्तु बड़े-बड़े वीर यही मानेंगे कि तुमने डर से ही संग्राम छोड़ा है। इतना बड़ा सैन्य समारोह और महावीरों को संमुख देखकर तुम डर गए और संग्राम से विरत हो गए यही अधिकतर ख्याति होगी। यही संभव भी है। लोग कहेंगे कि गुरुजनों के विरुद्ध शस्त्र उठाना बुरा समझता था; तब तो संग्राम में आया ही क्यों था? तब बात यही हुई कि सामने महावीरों को खड़ा देखकर डर गया और संग्राम से हट गया। इसका फल यह होगा कि आजतक जो संपूर्ण जगत् के वीर तुम्हारी वीरता के कारण बहुत सम्मान करते आये हैं, उनकी दृष्टि में आज तुम बहुत छोटे हो जाओगे। इसका तात्पर्य यह है कि चाहे किसी पुरुष का कार्य उचित भी हो किन्तु लोक में वह अनुचित रूप से प्रसिद्ध हो जाय तो वह भी बुरी बात है। ऐसे प्रसंग से भी यथासंभव मनुष्य अपने आपको बचाता रहे, यह उचित है। किसी कवि ने इस पर बहुत अच्छी कल्पना की है—

“परीवादस्तथ्यो भवति वितथो वाऽपि महता-  
मतथ्यस्तथ्यो वा हरति महिमानं जनरवः  
तुलोत्तीर्णस्यापि प्रकटनिहताशेष तमसो  
रवेस्तादृक्तेजो नहि भवति कन्यां गतवतः॥”

इसका तात्पर्य है कि— “महापुरुषों की अकीर्ति सत्य भी होती है और कभी मिथ्या भी हो जाती है, किन्तु, सत्य हो या मिथ्या, मनुष्यों में अकीर्ति का उद्घोष महत्त्व को कम कर ही देता है। इसमें कविजनोचित एक कल्पना की गई है कि आश्विन मास में सूर्य कन्या राशि में चला जाता है, तबसे सूर्य का तेज क्षीण होने

लग जाता है, उसके कारण की उत्प्रेक्षा की जाती है कि कन्या में गमन करना एक प्रकार का बहुत बड़ा कलंक है। वह कलंक सूर्य पर लगा; उस कलंक को मिटाने के लिए सूर्य ने दिव्य परीक्षा दी। धर्मशास्त्रों में दिव्य परीक्षाएँ कई प्रकार की लिखी हैं। उनमें एक तुला परीक्षा भी है। उसका प्रकार यह है कि एक बार मनुष्य को ठीक-ठीक तोल कर तुला से उतार दिया जाय और फिर तुला में देवता आदि का आवाहन करके वह मनुष्य उस तुला से प्रार्थना करे कि हे तुला! तू सत्य निर्णय करने वाली है, मेरे विषय में भी सत्य सत्य निर्णय कर दे यदि मैं निर्दोष हूँ तो मुझे ऊँचा उठा दे और दोषी हूँ तो नीचा गिरा दे। ऐसी प्रार्थना कर फिर वह उसी तुला पर चढ़े। यदि कुछ हल्का होकर ऊपर उठ जाय तो उसे शुद्ध माना जाय और भारी होकर कुछ नीचा हो जाय तो दोषी मान लिया जाय। सूर्य कन्या राशि के अनन्तर तुला राशि पर जाता है। इसी पर उत्प्रेक्षा की गई है कि वह दिव्य परीक्षा देने के लिए तुला पर चढ़ा और वह भारीपन अर्थात् तमोगुण रूप अंधकार को प्रत्यक्ष दूर करता रहता है, यह उसकी परीक्षा में सफलता भी है, किन्तु इतना होने पर भी कन्या राशि पर जाने से पूर्व जितना तेज उसका था वह तो सूर्य को प्राप्त नहीं ही होता। प्रत्युत, महत्व रूप तेज घटता ही जाता है। यह कविजनोचित कल्पना है। सारांश यही निकलता है कि अपना मिथ्या अपवाद फैलाने से भी मनुष्य को सावधान रहना चाहिए। वही भगवान् ने वहाँ बतलाया है कि तुम्हारा उद्देश्य चाहे अच्छा ही हो, किन्तु परिस्थितिबश वह बुरे रूप में समझा जायगा। इसलिए भी, तुम्हें युद्ध नहीं छोड़ना चाहिए। इससे यही उपदेश मिलता है कि मनुष्य पूर्ण सावधान रहे कि जनता में उसकी झूठी अपकीर्ति भी न फैलाने पावे।

इसी का विवरण अग्रिम श्लोक में भी किया जाता है कि— “तुम्हें डरा हुआ समझकर तुम्हारे शत्रु लोग तुम पर अवाच्य शब्दों की भी बौछार करेंगे, बिल्कुल कायर है; झूठा ढोंग बनाये बैठा था; युद्ध के मैदान में आते ही डर गया; संभवतः यह क्षत्रिय की संतान ही नहीं है इत्यादि बुरी गालियाँ देंगे और तुम्हारे सामर्थ्य का पूर्ण निन्दा करेंगे। आज तक जो विजय तुमने प्राप्त किये हैं, उनमें भी तुम्हारी धूर्तता सिद्ध करेंगे। इससे बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है?

आगे भगवान् कहते हैं कि तुमने जो शंका की है कि हम जीतेंगे या हारेंगे यह भी निश्चय नहीं; सो भाई! इस निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ तो दोनों हाथों में मोदक है। यदि मारे जाआगे तो पूर्व प्रवचनोक्त प्रकार से स्वर्ग प्राप्त कर वह दिव्य भोग प्राप्त करोगे और यदि जीत गए तो इसी लोक में पृथ्वी के भोगों का अर्थात् राज्य-सुखों का उपभोग करोगे। इसलिए दोनों ही पक्षों में उन्नति समझ कर युद्ध करने का निश्चय कर खड़े हो जाओ।



## उन्तीसवां-पुष्प

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ २-३२

पूर्वोक्त उपदेश सुनकर अर्जुन के या किसी भी श्रोता के मन में प्रथम तो यह शंका हो सकती है कि जब युद्ध के दोनों पक्षों में स्वर्ग प्राप्ति या राज्य लाभ दिखाया जाता है तब क्षत्रिय के लिए युद्ध का विधान एक काम्य कर्म सिद्ध हुआ। स्वर्गादि फल प्राप्ति के उद्देश्य से जो यज्ञादि कर्म किये जाते हैं वे काम्य कर्म ही कहे जाते हैं। नित्य या नैमित्तिक कर्म तो वे ही होते हैं जिनका कोई विशेष फल प्राप्त न हो, जैसा कि संध्यावन्दनादि नित्य कर्म और ग्रहण स्नानादि नैमित्तिक कर्म, यह कहा जा चुका है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के न करने से ही पाप होता है। काम्य कर्म न करने से कोई पाप नहीं होता। केवल उसका फल प्राप्त न होना यही हानि होती है। तब यहाँ भगवान् युद्ध को काम्य कर्म बतलाते हुए भी उसके न करने से पाप कैसे बतला रहे हैं। दूसरी अति प्रबल शंका यह होती है कि शुभ क्रिया का नाम धर्म और अशुभ क्रिया का नाम पाप कहा गया। तब जो क्रिया स्वयं अशुभ है वह तो सबके लिए अशुभ ही रहेगी, किसी के लिए वह शुभ कैसे बन जायगी। युद्ध करने में जो गुरु आदि आप्त पुरुषों का या अन्य योद्धाओं का वध करना एक स्वयं अशुभ कार्य है तो वह क्षत्रिय के लिए शुभ कैसे बन जायगा। स्वरूपतः जो अशुभ है वह तो अशुभ ही रहेगा। तब युद्ध करना और उसमें सब योद्धाओं को विशेषकर गुरु आदि आप्त जनों को मारना तो अशुभ होने के कारण पाप ही है। उसे क्षत्रिय आदि किसी के भी पक्ष में धर्म कैसे कहा जा सकता है। यद्यपि “स्वर्धमपि चावेक्ष्य” इत्यादि पद्य के प्रवचनों में यह विस्तार से कहा गया है कि देश, काल, पात्र के भेद से कहीं धर्म भी अधर्म और कहीं अधर्म भी धर्म बन जाता है। किन्तु इसका कोई मूल तत्त्व अभी तक नहीं बतलाया गया कि अशुभ क्रिया शुभ कैसे बन जायगी, या शुभ अशुभ कैसे बन जायगी। इसलिए यह शंका बनी ही रहती है।

इन दोनों शंकाओं का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“सुख और दुःख, लाभ और हानि, विजय और पराजय— इन दोनों पक्षों को समान समझते हुए युद्ध में प्रवृत्त हो जाओ, तब पाप नहीं लगेगा।” युद्ध का साक्षात् फल है जय या पराजय, इन दोनों को समान समझ लिया जाय अर्थात् विजय में हर्ष और पराजय में दुःख न माना जाय, यह इनकी समता हुई। इस विजय या पराजय से आगे फल होगा लाभ व हानि, अर्थात् विजय प्राप्त होने पर राज्य का लाभ होगा और पराजय होने पर वह संभावित राज्य फल नहीं मिलेगा; यह हानि होगी। इन दोनों परंपरा प्राप्त फलों को भी समान ही माना जाय, अर्थात् राज्य प्राप्ति का लोभ और

न मिलने का विषाद न किया जाय। यह परंपरा प्राप्त फलों में समानता हुई। इन हानि लाभों से भी आगे मुख्य फल प्राप्त होंगे सुख और दुःख। अर्थात् राज्य मिल जाने पर अपनी समृद्धि बढ़ने से चित्त की प्रफुल्लितारूप सुख मिलेगा और न मिलने पर विषाद रूप चित्त का संकोच होगा, ये ही सुख, दुःख कहलाते हैं। व्यावहारिक आत्माओं का जो निरूपण धर्मों के प्रवचन में विस्तार से किया गया है उनमें कोई भी नई समृद्धि प्राप्त होने पर उसे अपने स्वरूप में सम्मिलित करने के लिए क्षर आत्मा का विकास होता है अर्थात् वह नई वस्तु को अपने स्वरूप में लेने के हेतु फैलता है। उसके कारण बुद्धि परिच्छिन्न विज्ञानात्मा भी विकास प्राप्त करता है। इसी को हर्ष या आनन्द कहते हैं और जहाँ अपनी प्राप्त या संभावित वस्तु हाथ से निकल जाय वहाँ क्षर पुरुष या विज्ञानात्मा का उतने में से हट जाने के कारण संकोच होता है वही विषाद कहलाता है। विकास या सुख के लिए सब प्राणी सदा प्रयत्न करते हैं, विषाद का संकोच से सदा दूर रहना चाहते हैं। ये ही सब क्रियाओं के अन्तिम फल हैं। इन्हीं को लक्ष्य कर सुख की प्राप्ति और दुःख रूप विषाद के परिहार के लिए सदा सब प्राणी क्रियाओं में प्रवृत्त या निवृत्त होते हैं। भगवान् कहते हैं कि इन दोनों परमफल रूप सुख-दुःखों को भी समान माना जाय अर्थात् सुख में विज्ञानात्मा रूप बुद्धि का विकास और दुःख में संकोच रूप विषाद न होने दिया जाय, यही इन दोनों की समता होगी। इस प्रकार की समता से कार्य करने पर पुण्य या पाप रूप फल प्राप्त नहीं होते। इससे प्रथम शंका का यह समाधान किया गया कि राज्य प्राप्ति या स्वर्ग सुख रूप फल तुम्हें समझाने को बतला दिये गए हैं उनको लक्ष्य रखकर युद्ध रूप कार्य नहीं करना चाहिए। युद्ध तो स्वधर्म अर्थात् अपना कर्तव्य समझ कर करो। दोनों पक्षों में वे दोनों फल तो आनुषंगिक रूप से प्राप्त हो ही जायेंगे। उनको लक्ष्य मत बनाओ। एक मुख्य उद्देश्य से कोई कार्य करने पर उसके साथ ही जो अवश्यंभावी फल प्राप्त हो जाता है उसे संस्कृत भाषा में आनुषंगिक कहा जाता है। जैसे तृप्ति के लिए कोई मनुष्य भोजन करने लगा, उसमें साथ ही भिन्न-भिन्न पदार्थों से जिह्वा का आस्वाद भी सिद्ध हो गया। अथवा स्वास्थ्य लाभ के लिए किसी उपवन में भ्रमण करते हुए वहाँ के पुष्प आदि का गन्ध भी प्राप्त हो गया। इसी प्रकार क्षत्रिय को धर्म बुद्धि से युद्ध करना चाहिए, विजय या स्वर्ग तो आनुषंगिक रूप से ही प्राप्त हो जायेंगे। इससे भगवान् का आशय यह है कि यदि विजय या राज्य प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर युद्ध करोगे तो पुण्य पाप अवश्य होगा। किन्तु केवल धर्म या कर्तव्य बुद्धि से फल निरपेक्ष होकर कार्य करने से पुण्य पाप नहीं लगते। इसी से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी शंका का समाधान भी इस पद्य में सूचित किया है कि कोई भी क्रिया चाहे वह शुभ मानी जाय चाहे अशुभ अपने स्वरूप से आत्मा को बन्धन में नहीं डाल सकती। अर्थात् पुण्य या पाप उत्पन्न नहीं कर सकती जब तक कि आत्मा में रागद्वेष न हों। आत्मा

स्वरूपतः असंग है। उस पर क्रिया के द्वारा कोई विशेष पुण्य पाप रूप उत्पन्न नहीं किये जा सकते। जब प्रकृति के तमोगुण द्वारा राग या द्वेष आत्मा को अपने रूप में बद्ध कर लेते हैं तब आत्मा में वह राग द्वेष रूप मुख बन जाता है। उसी मुख के द्वारा क्रिया जनित पुण्य या पाप उसमें प्रवेश पाते हैं। बिना राग द्वेष के असंग आत्मा में कोई क्रिया अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। आत्माओं के विवरण में मनोगत चैतन्य रूप जो प्रज्ञानात्मा बतलाया गया है उसको राग और द्वेष एक ओर खींच कर तदनुगामी बना देते हैं। यही कर्म बन्ध के लिए आत्मा का मुख हो जाता है। ये राग-द्वेष अज्ञान जनित हैं, इसलिए वेदान्त दर्शन में कर्मबन्ध को अज्ञान जनित ही कहा गया है और ज्ञान रूप अग्नि को सब कर्मों का भस्म कर देने वाला भगवद्गीता ने ही बतलाया है। सबका तात्पर्य यही होता है कि अज्ञान जनित राग-द्वेष के बिना आत्मा में कर्मबन्ध नहीं हो सकता। जैन दर्शन में भी इस विषय का विस्पष्ट वर्णन मिलता है। वहाँ जड़ कर्मरूप पुद्गलों को चेतन आत्मा से सम्बन्ध आस्रव द्वारा बताया है, और आस्रव के स्वरूप में राग-द्वेष आदि को ही अपनी परिभाषा के रूप में लिया जाता है। इसका विरोधी एक “संवर” नाम का तत्त्व वहाँ माना जाता है जो आत्मा पर कर्म पुद्गलों को नहीं आने देता और निर्जरा नाम से एक ऐसा तत्त्व माना जाता है जो आत्मा में बँधे हुए कर्मों को भी उससे पृथक् कर गिरा देता है। यह सब केवल शब्दों का परिभाषा भेद मात्र है। तात्पर्य जैन व बौद्ध दर्शनों का भी यही है कि बिना राग-द्वेष के आत्मा के साथ कर्मबन्ध नहीं हो सकता। इसी का विवरण भगवद्गीता में आगे के अध्यायों में कई बार विस्तार से होगा। उसी का यहाँ संकेत किया गया है कि यदि सम बुद्धि से कर्म करोगे अर्थात् अनुकूल वस्तु में राग और प्रतिकूल वस्तु में द्वेष न करोगे; ज्ञान द्वारा समभाव आत्मा में रक्खोगे तो पुण्य-पाप का बन्धन न होगा।

यही कर्म योग का मुख्य सिद्धान्त है कि राग-द्वेष के बिना समत्व बुद्धि से कर्म करते रहना। कई व्याख्याकारों के मत से इस श्लोक से कर्मयोग का प्रारंभ हो जाता है। यद्यपि कर्मयोग के प्रारंभ की प्रतिज्ञा अग्रिम पद्य में है। किन्तु संक्षेप में उसका सूत्रपात इसी पद्य में कर आगे उसका विवरण करने की प्रतिज्ञा की है, ऐसी संगति कई व्याख्याकार लगाते हैं। वस्तुतः यह मध्य का पद्य है, इसे दोनों ही ओर लगाया जा सकता है। यहाँ द्वितीयाध्याय के आत्म निरूपण का प्रकरण समाप्त कर आगे कर्मयोग के प्रकरण का प्रारम्भ होता है। गीता का द्वितीयाध्याय सूत्ररूप है। सब उपदेशों का संकेत इसमें कर दिया गया है। आगे के अध्यायों में एक-एक विषय का विशेष विवरण होता रहेगा। आत्म-ज्ञान का प्रकरण तीसवें श्लोक पर ही समाप्त हो चुका है। आगे आत्मा को निर्लिप्त समझ कर भी कर्म किस प्रकार किया जाय, इसका संकेत आठ श्लोकों में किया है। इन सबका तात्पर्य शांकर सिद्धान्त के अनुयायी व्याख्याकार यही लगाते हैं कि निर्विकार, निर्गुण आत्मा का जब तक पूर्ण ज्ञान न हो,

उसकी अवगति अर्थात् साक्षात्कार, प्रत्यक्ष के समान अविचलित ज्ञान जब तक न हो जाय तब तक स्वधर्मानुकूल कर्म करते रहना चाहिए और उसी का इस पद्य में उपसंहार है कि वह स्वधर्मानुकूल कर्म समत्व बुद्धि से करना चाहिए। यदि स्वधर्म भी रागद्वेष पूर्वक किया जायगा तो रागद्वेष के कारण वह बन्धक अवश्य होगा और बन्धक होने पर आत्मज्ञान में उससे सहायता नहीं मिलेगी प्रत्युत बुद्धि में विकृति होकर आत्मज्ञान में अधिकाधिक विघ्न उपस्थित होते जायेंगे। इसलिए समत्व बुद्धि से ही कर्म करने का अभ्यास आत्मज्ञान के पथिक को करना चाहिए। इसप्रकार पूर्व के आत्मज्ञान के प्रकरण के साथ भी इस पद्य की संगति लग सकती है। इसी प्रकार के कर्म करने का विवरण आगे कर्मयोग नाम से विस्तार से किया गया है। अर्थात् संक्षिप्त सूत्र आत्मज्ञान प्रकरण में कह दिया और विस्तार आगे कर्मयोग प्रकरण में किया, इसलिए कर्मयोग के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा आगे विस्तार के लिए आरंभ में करना असंगत नहीं है।

व्याख्याकारों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराते हुए हम प्रथमाध्याय के “गीता के व्याख्याकार” शीर्षक प्रवचन में कह चुके हैं कि शांकर सिद्धान्त में मुक्ति में केवल ज्ञान का उपयोग है। सब कर्मों का वहाँ संन्यास हो जाता है। इसलिए जितने भी कर्म हैं चाहे वे स्वधर्म हों या उसके विपरीत हों सब ज्ञान की पूर्व दशा में ही किये जाते हैं। स्वधर्माचरण भी साधन दशा में ही उपयोगी होता है। इस सिद्धान्त में कर्मयोग का प्रतिपादन भी अधिकार सिद्धि के लिए ही है। अवगति पर्यन्त ज्ञान प्राप्त करा देना ही कर्मयोग का अन्तिम लक्ष्य है। इसके अनन्तर ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सब कर्मों का संन्यास ही हो जाता है कि—

“कं घातयति हन्ति कम्”

इत्यादि के व्याख्यान में लिख चुके हैं। इसके विपरीत श्रीरामानुजाचार्य आदि के सिद्धान्त में ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय अर्थात् दोनों मिलकर मुक्ति के कारण बनते हैं। इस सिद्धान्त में ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी कर्मों का संन्यास नहीं होता; किन्तु मुक्ति के उपयोगी स्वधर्माचरण और भगवद्भजन आदि कर्म चलते रहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के प्रकरण के अनन्तर कर्मयोग का प्रकरण आना युक्तियुक्त ही है। क्योंकि ज्ञान प्राप्त कर समत्व बुद्धि से कर्म करते रहने पर ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, जैसा कि जैन दर्शन के आरंभिक सूत्र में ही कहा गया है—

“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः”

अर्थात् सम्यक् ज्ञान के अनुकूल चित्तवृत्ति बनाना, वैसा ज्ञान प्राप्त करना और फिर उसके अनुकूल आचरण करते रहना ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं। केवल ज्ञान मात्र व केवल कर्ममात्र से मुक्ति नहीं मिलती। यही ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद कहा जाता है जिसका गीता के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने स्थान-स्थान पर खंडन किया है।

इससे अनुमान होता है कि श्रीशंकराचार्य के पूर्व के व्याख्याता भी गीता में ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद मानते थे। श्रीशंकराचार्य और उनके अनुयायी अधिकतर व्याख्याकारों ने इस सिद्धान्त को नहीं माना किन्तु श्रीरामानुजाचार्य आदि ने उसी सिद्धान्त को फिर प्रतिष्ठापित किया। श्रीशंकराचार्य के पूर्व की कोई व्याख्या प्राप्त न होने से यह तो नहीं कहा जा सकता कि पूर्व व्याख्याताओं के ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद और श्री रामानुजाचार्य के ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद में कितना भेद है किन्तु श्रीशंकराचार्य के लेखों से केवल इतना ही अनुमान होता है कि इनसे पूर्व भी ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद किसी न किसी रूप में था।

लोकमान्य तिलक मुक्ति में तो कर्म का उपयोग नहीं मानते, किन्तु पूर्ण ज्ञानी को भी सर्वकर्म संन्यास न कर, लोक संग्रहार्थ कर्म करते रहना चाहिए इस प्रकार का कर्मयोग गीता का प्रतिपाद्य मानते हैं जिसकी व्याख्या आगे के कर्मयोग सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पद्यों में आती रहेगी। श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने विज्ञान भाष्य के प्रथम प्रकरण में कर्म ही दो प्रकार के बतलाए हैं, एक आवरक कर्म हैं जो कि बुद्धि के सात्त्विक रूप ज्ञान आदि के विरोधी हैं और दूसरे अनावरक कर्म, जो आत्मा के स्वभावसिद्ध हैं। बुद्धि के सात्त्विक रूपों का आवरण नहीं करते। इन्हें ही गीता में सहज कर्म नाम से कहा गया है। इस सिद्धान्त का विशेष विवरण भी “सहजं कर्म कौन्तेय” इत्यादि पद्य की व्याख्या में विस्पष्ट रूप से करेंगे। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि यहाँ से आगे गीता में दूसरे प्रकरण में कर्मयोग सिद्धान्त का आरम्भ होता है, और इनका विशद विवेचन तृतीयाध्याय के आरम्भिक पद्यों में स्फुट रूप से किया जायगा। इस प्रकार यह मध्य का पद्य दोनों ओर ही लग सकता है। इस से पूर्व सांख्य प्रकरण का उपसंहार कह लीजिए अथवा आगे के कर्मयोग का यहीं से आरम्भ कह लीजिए। दोनों ही प्रकार संगति बैठती है और दोनों ही प्रकार की व्याख्याएँ भी मिलती हैं।

हमारे विचार से इसे पूर्व सांख्यप्रकरण के साथ ही रखना चाहिए। क्योंकि कर्मयोग कहने की प्रतिज्ञा अग्रिम पद्य में है। इसका पहले आरम्भ मानना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। प्रतिज्ञा से पूर्व ही आरम्भ कहीं नहीं किया जाता। वेदान्त ग्रन्थ पञ्चदशी में कहा गया है कि मुमुक्षु के लिए ज्ञान, वैराग्य और उपरति तीनों अपेक्षित हैं। किन्तु प्रारब्ध कर्मवश कहीं एक ही और कहीं दो होते हैं। एक या दो का अभाव रह जाता है। यदि ज्ञान हो गया, किन्तु वैराग्य व उपरति न हुई और तो शरीर त्याग के अनन्तर मुक्ति तो अवश्य प्राप्त हो जायगी क्योंकि मुक्ति के लिए ज्ञान ही परमावश्यक है—

“ऋते ज्ञानात्र मुक्तिः”

उपरति और वैराग्य के बिना इतना ही होगा कि जीवन मुक्ति का भोग इस शरीर से न हो सकेगा और उपरति वैराग्य हो गए किन्तु तत्त्वज्ञान पूर्ण न हुआ तो मुक्ति नहीं हो सकती, उत्तम लोकों की प्राप्ति होगी और फिर आगे ज्ञान के लिए

प्रयत्न चलता रहेगा। इससे प्रकृत में यही कहना है कि ज्ञानी पुरुष भी प्रारब्धवश उपरति प्राप्त न होने पर कर्म करता रहता है, ऐसा प्राचीन वेदान्ती भी मानते हैं और लोकमान्यतिलक ने तो जनकादि के दृष्टान्त से ज्ञानी का भी कर्म करना दृढ़ता से सिद्ध किया है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी भी यदि कर्म करे तो साम्यबुद्धि से ही करे जिससे कि उसके तत्त्वज्ञान के मार्ग में कोई बाधा न पड़े यही उपदेश इस पद्य के द्वारा दिया गया। इससे इसका पूर्व के सांख्य प्रकरण के साथ सम्बन्ध भली-भाँति हो जाता है। यह दूसरी बात है कि यह समत्व बुद्धि दोनों ही मार्गों में न केवल उपकारक किन्तु उनकी जीवातुभूत है। इस पद्य का पूर्व से सम्बन्ध मान लेने पर—

“सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा”

यह उपदेश पुनरुक्त भी नहीं होता; जैसा कि उस पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा। जब फल ही अपेक्षित नहीं है; फल में साम्यबुद्धि है; तो फिर कर्म होगा ही क्यों? यदि ईश्वराराधन या लोक संग्रह के लिए कर्म करना माना जाय तो वही फल हो गया। फिर सर्वथा फलत्याग तो नहीं बना। इन दोनों शंकाओं का समाधान भी उसी पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा। तात्पर्य यही है कि कर्म कुछ फल तो अवश्य देगा; किन्तु किसी भी फल पर चाहे वेदोक्त स्वर्गादि या चित्तशुद्धि, लोकसंग्रह ईश्वराराधनादि, इनमें से किसी पर दृष्टि रखकर कर्म नहीं करना चाहिए। कर्म केवल अपना कर्तव्य समझकर करना चाहिए। इस प्रकार किया कर्म बन्धक नहीं हो सकता। अर्थात् उससे आत्मा में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता। यही प्रकृत पद्य में उपदेश है।



## तीसवां-पुष्प

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ (२-३९)

“हे पार्थ! यह तुझे सांख्य के विषय का ज्ञान कहा गया है। अब योग विषय में जानने योग्य विषय सुनो। इस बुद्धि से युक्त होकर कर्म करते हुए तुम कर्म बन्धन से छूट जाओगे।”

पूर्वोक्त उपदेश सुनकर पुनः यह शंका हो सकती है कि भगवान् ने आत्मतत्त्व का उपदेश किया और आत्मा को सर्वथा निर्लिप्त, अविनाशी और अकर्ता बताया। जब वह अकर्ता ही है तो फिर युद्ध का आदेश क्यों दिया जाता है। भगवान् यह भी कहते जाते हैं कि विनाशी शरीर पर दृष्टि मत करो, आत्मा पर दृष्टि रखो। साथ ही आत्मा को अकर्ता भी कहते जाते हैं और फिर युद्ध का विधान भी करते हैं कि युद्ध अवश्य करो; यह कैसी पहेली है। जब आत्मा अकर्ता ही है तो वह युद्ध कैसे करे। शंका के निवारणार्थ यहाँ विषय विभाग करते हुए यह सूचित करते हैं कि अब दूसरे प्रकार की बात बताई जाती है। इस विषय विभाग का आगे तृतीयध्याय में विशेष उपयोग होगा।

### सांख्य और योग शब्द का अर्थ

प्रसिद्धि में सांख्य और योग नाम के दो दर्शन इन शब्दों से कहे जाते हैं। कपिल ऋषि का प्रणीत शास्त्र सांख्य नाम से और पतंजलि का प्रणीत शास्त्र योग नाम से समझा जाता है। किन्तु भगवद्गीता में ये दोनों शब्द इन अर्थों के वाचक हैं ऐसा किसी भी गीता के व्याख्याकार ने नहीं माना। कारण यह है कि प्रसिद्ध सांख्य दर्शन में ईश्वर को या पुरुष को कर्ता नहीं माना जाता। ईश्वर नाम के किसी विशेष तत्त्व का वहाँ निरूपण ही नहीं है और प्रकृति से भिन्न पुरुष यद्यपि माना गया है किन्तु वह कर्ता नहीं है। भगवद्गीता में तो संपूर्ण कर्तृत्व भगवान् ने अपने ऊपर लिया है जैसा कि “अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्”, में कह चुके हैं कि अविनाशी एक वही तत्त्व है जो संपूर्ण प्रपंच का बनाने वाला है और वही सत्य है। तब इतना बड़ा सिद्धान्त-भेद होने के कारण कपिल का सांख्य दर्शन यहाँ अभिप्रेत नहीं हो सकता। भागवत धर्म के विस्तार से निरूपण करने वाले श्रीमद्भागवत में जो भगवदवतार कपिल का अपनी माता को उपदेश है जो कि सांख्य दर्शन का मूल कहा जा सकता है— वह भी भगवद् भक्ति प्रधान है। इसलिए निरीश्वरवादी प्रसिद्ध सांख्यदर्शन के साथ उसका भी समन्वय कथमपि नहीं हो सकता इसलिए पुराणोक्त सांख्य प्रक्रिया ही दूसरी है यह मानना पड़ेगा। गीता में तो प्रकृति की स्वतन्त्रता भी सर्वथा नहीं मानी गई जैसा कि आगे स्थान-स्थान पर स्पष्ट होगा। इसलिए यहाँ का सांख्य पद प्रसिद्ध

सांख्य दर्शन का वाचक नहीं माना जा सकता। पतंजलि के योग में भी यम, नियम आदि अष्टांग योग का केवल उपदेश है किन्तु गीता में योग शब्द को कर्म मात्र के व्यापक अर्थ में लिया गया है। यहाँ योग के उपदेश की प्रतिज्ञा कर जो उपदेश दिया गया है वह भी समाधि-प्रधान अष्टांग योग से सम्बन्ध नहीं रखता। यद्यपि छठें अध्याय में समाधि रूप योग का निरूपण भी गीता में आयेगा किन्तु केवल वही योग यहाँ योग शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। ऐसा मानने पर यहाँ से आरम्भ कर पंचमाध्याय पर्यन्त जो बार-बार योग शब्द आया है उसकी संगति नहीं लग सकती। इसलिए यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि गीता में जो सांख्य और योग शब्द आए हैं उनका अर्थ क्या है?

प्रायः सभी व्याख्याकार सांख्य शब्द का अर्थ परतत्त्व ज्ञान ही करते हैं। “सम्” उपसर्ग रखकर ‘ख्या’ धातु से ‘संख्या’ शब्द बनाया जाता है जिसका अर्थ सम्यक् ज्ञान अथवा तत्त्व ज्ञान ही होता है। उस संख्या शब्द से स्वार्थ में “अण्” प्रत्यय करने पर, सांख्य शब्द सम्यक् ज्ञान का ही वाचक सिद्ध होता है। अथवा “संख्यया प्रवर्तन्ते इति सांख्याः”, ऐसी व्युत्पत्ति कर “अण्” प्रत्यय करने से संख्या के अनुसारी तत्त्वज्ञानी पुरुषों का बोध भी ‘सांख्य’ पद से हो सकता है। आगे कई स्थानों में सांख्य शब्द का इस प्रकार का अर्थ भी सुसंगत होगा। किन्तु उस श्लोक में “सांख्ये बुद्धिः” (सांख्य विषयक ज्ञान) ऐसा कहा गया है। इसलिए उक्त दोनों अर्थ यहाँ संगत नहीं होते। ज्ञान-विषयक ज्ञान यह अर्थ भी संगत नहीं होता और ज्ञानी पुरुषों के विषय में भी यहाँ कुछ कहा नहीं गया है। इसलिए इस पद्य में सांख्य शब्द के अर्थ की भिन्न भिन्न कल्पना व्याख्याकारों ने की हैं। श्रीशंकराचार्य “सम्यक् ख्यायते इति संख्या, तदेव सांख्यम्” ऐसी व्युत्पत्ति मानकर वस्तु विवेक ही सांख्य शब्द का अर्थ मानते हैं। इससे अपरमार्थ और परमार्थ दोनों का विवेक करने वाला ज्ञान अभी तुझे बताया गया है ऐसा अर्थ संगत हो जाता है। कोई व्याख्याकार सांख्य शब्द का अर्थ ज्ञान ही मानते हैं। किन्तु बुद्धि पद की “बुध्यतेऽनया” ऐसी व्याख्या कर उसका वाक् अर्थ करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य आदि ज्ञानवाचक सांख्य शब्द की बुद्धिगम्य आत्मतत्त्व में लक्षणा मानकर आत्म विषयक अब तक कही गई, यह अर्थ लगाते हैं। अन्य अनेक व्याख्याकारों ने सम्यक् ज्ञान के बोधक उपनिषद् शास्त्र को सांख्य पद का वाच्य मानकर उस उपनिषत् में प्रतिपादित आत्मतत्त्व को यहाँ सांख्य पद का लाक्षणिक अर्थ मान लिया। इस प्रकार आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान अब तक कहा गया यह अर्थ निकल आया। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्युत्पत्ति की भिन्न भिन्न व्याख्याओं में होने पर भी अर्थ एक ही निकलता है कि अब तक आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान बतलाया गया है। अब आगे योग का ज्ञान बताया जाता है। लोकमान्य तिलक सर्वत्र शब्द का अर्थ “ज्ञानपूर्वककर्मसंन्यास” करते हैं। उनका अर्थ यद्यपि आगे कई जगह सुसंगत होगा, किन्तु इस पद्य में ऐसा अर्थ करने पर “ज्ञानपूर्वककर्मसंन्यास” की बुद्धि अब तक



कही गई यह अर्थ प्राप्त होगा। इसमें कठिनता यह आती है कि अभी तक कर्म संन्यास की बात गीता में आई नहीं है। फिर कर्म संन्यास विषय की बात अब तक कही यह कैसे सुसंगत होगा? यद्यपि हम अपने प्रवचन में कह चुके हैं कि—

“कं घातयति हन्ति कम्”

इस पूर्वोक्त पद्य भाग से श्रीशंकराचार्य ने कर्म संन्यास की ध्वनि निकाली है। किन्तु लोकमान्यतिलक ने उस पद्य का वैसा अर्थ नहीं माना। अर्थात् वहाँ नित्य होने के कारण हनन क्रिया का ही निषेध माना है। हनन क्रिया को उपलक्षण मानकर कर्म मात्र का निषेध आत्मा में बोधित करने की व्याख्या उन्होंने नहीं की। तब “ज्ञानपूर्वककर्मसंन्यास” की बात कही गई है यह कथन सुसंगत नहीं होता।

योग शब्द का अर्थ भी प्रायः कर्मयोग ही व्याख्याकारों ने माना है। किन्तु कर्मयोग का क्या उपयोग है इस विषय में भिन्न विचारकों का बहुत मतभेद है। श्री शंकराचार्य ईश्वराराधन पूर्वक अनासक्ति से किये गये कर्म और और पातंजल योग में बताई गयी चित्त की एकाग्रता रूप समाधि इन दोनों को ही इस पद्य के योग शब्द का अर्थ मानते हैं। अर्थात् ये दोनों ही बातें आगे कही जायेंगी। कह चुके हैं कि छोटे अध्याय में समाधिरूप योग का भी निरूपण होगा। ये दोनों ही कर्मयोग और समाधि योग ज्ञान प्राप्ति के उपाय हैं। उन उपायों का कथन यहाँ से आरंभ किया जाता है। उनके अनुयायी व्याख्याकार इसका यही आशय निकालते हैं कि अब तक तुम्हारा शोक और मोह हटाने के लिए आत्मतत्त्व ज्ञान का उपदेश तुम्हें दिया गया। किन्तु यह उपदेश यदि तुम्हारी बुद्धि में अभी नहीं बैठता तो बुद्धि को निर्मल बनाने के लिए पहले तुम कर्मयोग और यम नियम आदि अष्टांग योग का अभ्यास करो। इससे बुद्धि स्वच्छ होने पर फिर आत्मतत्त्व ज्ञान तुम्हें प्राप्त हो जायगा। यद्यपि आत्मज्ञान प्राप्ति के मुख्य उपाय श्रवण, मनन और निदिध्यासन श्रुति में बतलाए गए हैं। किन्तु मलिन अन्तःकरण वाले की श्रवण आदि में भी प्रवृत्ति नहीं होती। उसका अन्तःकरण सांसारिक विषयों की ओर ही झुकता है। वह जगद्विलक्षण आत्मतत्त्व के जानने के लिए श्रवण आदि उपाय करना भी नहीं चाहता। इसलिए उन अन्तरंग साधनों से भी पहले कर्मयोग करना चाहिए जिससे कि बुद्धि निर्मल हो और आत्मज्ञान की ओर झुकाव हो सके। अर्जुन अभी तक इसी कर्मयोग का अधिकारी माना गया है। वह न साक्षात् ज्ञान का अभी अधिकारी है और न अन्तरंग साधन श्रवण आदि का ही अधिकार उसे प्राप्त है। इसलिए यद्यपि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ज्ञानयोग ही है किन्तु उसमें अधिकार प्राप्त कराने के लिए उपाय रूप से कर्मयोग का भी उपदेश भगवान् को करना पड़ा। कर्मयोग के अनुष्ठान से जब बुद्धि निर्मल हो जायगी तब ज्ञान प्राप्तकर मुक्ति पा सकेंगे यही भगवान् का अभिप्राय है। कर्मयोग का कथन बहिरंग उपायरूप से ही किया जाता है यह आशय श्रीशांकर सिद्धान्त के अनुयायी व्याख्याकारों का है। यह भी इस सिद्धान्त

के व्याख्याकारों ने कहा है कि यहां “योगे तु इमां शृणु” इस तु शब्दसे दोनों के अधिकारी भिन्न-भिन्न ही सिद्ध होते हैं। जो कि आगे तृतीयाध्याय के आरंभ में स्पष्ट किया जायगा। इससे दोनों के समुच्चयवाद की कल्पना ही नहीं हो सकती।

श्रीरामानुजाचार्य ज्ञानकर्मसमुच्चय से मोक्ष मानते हैं यह पूर्वपद्य की व्याख्या में कहा जा चुका है। तदनुसार उनके मत में यह संगति स्पष्ट है कि ज्ञान और कर्म दोनों के मिलने पर मुक्ति प्राप्त होगी। ज्ञान का उपदेश तुम्हें किया जा चुका, अब कर्म किस प्रकार करना, इसका उपदेश सुनो दोनों को मिलाने से मुक्ति प्राप्त कर सकोगे। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मयोग का निरूपण उपाय रूप से नहीं किन्तु ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी उसका अनुष्ठान करना ही चाहिए इस प्रकार अनुष्ठेय रूप से ही कर्मयोग का उपदेश आरम्भ किया जाता है। श्रीआनन्दतीर्थ आचार्य ने भी कर्मयोग को उपायरूप से ही माना है। पूर्व पद्य के प्रवचन में कहा जा चुका है कि लोकमान्यतिलक मुक्ति में तो कर्म का उपयोग नहीं मानते। मोक्ष केवल ज्ञान से ही होता है इस अंश में वे श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त के ही अनुयायी हैं। किन्तु गीता का प्रतिपाद्य मुख्य कर्मयोग ही है यह उनका सिद्धान्त श्रीशंकराचार्य से विलक्षण है। कर्मयोग ज्ञान का केवल उपायभूत नहीं। ज्ञान सिद्धि के लिए भी कर्मयोग अपेक्षित है और ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी कर्मयोग करते ही रहना चाहिए यह गीता का सिद्धान्त उनके मत में है। जब मोक्ष में उसका उपयोग नहीं तो कर्म क्यों किया जाय इसका समाधान आगे—

“लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि”

इत्यादि पद्य की व्याख्या में विशेष रूप से किया जायगा। यद्यपि लौकिक पुरुषों की कर्म करने की प्रक्रिया दूसरी है जिसका अनुवाद न्याय दर्शन में हुआ है—

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्  
कृतिजन्यं भवेत् कर्म—

अर्थात् पहले मनुष्य को “यह वस्तु मेरे लिए उपयोगी है” ऐसा ज्ञान होता है। उसके अनन्तर उसके प्राप्त करने की इच्छा होती है। वह इच्छा दो प्रकार की है— एक फल की इच्छा और दूसरी उपाय करने की इच्छा। फल की इच्छा उपाय की इच्छा में कारण होती है। अर्थात् फल प्राप्ति की इच्छा से ही उपाय करने की भी इच्छा होती है। उस उपायेच्छा से आत्मा में प्रेरणारूप एक प्रयत्न उठता है और उससे शरीर की चेष्टारूप कर्म होता है। यही लौकिकों की प्रक्रिया है। किन्तु कर्मयोग में बिना फलेच्छा के भी प्रयत्न आदि होते हैं, वे किस उद्देश्य से होते हैं यह लोकसंग्रह में स्पष्ट किया जाएगा। यहाँ इतना ही कहना है कि लोकमान्यतिलक गीता में कर्मयोग को ही प्रधान मानते हैं और उनके मतानुसार यहां से प्रधान प्रकरण का आरम्भ है। कर्मयोग किसी का अंग नहीं, वह प्रधान है, प्रत्युत ज्ञान ही उसका अंग है, क्योंकि लोकमान्य तिलक ने “ज्ञानमूलकभक्तिप्रधानकर्मयोग” को गीता का प्रतिपाद्य माना है।

इसलिए कर्मयोग के मूल में ज्ञान अवश्य होना चाहिए। बिना ज्ञान के अनासक्ति भी नहीं हो सकती। इनके मतानुसार गीता में बिना किसी उपपद के प्रयुक्त योग शब्द का अर्थ कर्मयोग ही है और ज्ञानयोग तथा कर्मयोग दोनों स्वतन्त्र मार्ग हैं जिनका कि विवरण तृतीयाध्याय के आरम्भ में मूल गीता में ही होगा।

विज्ञान भाष्य के प्रणेता श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार गीता में बिना उपपद के आए हुए योग शब्द का अर्थ सर्वत्र बुद्धि योग है—

“ददामि बुद्धियोगं तम्”

“बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते”

इत्यादि अनेक स्थानों में बुद्धियोग पद का प्रयोग भगवान् ने किया है। अन्य व्याख्याकार बुद्धियोग का अर्थ ज्ञानयोग ही कर देते हैं। किन्तु विद्यावाचस्पतिजी जो बुद्धियोग का व्यापक अर्थ लेते हैं “गीता के व्याख्याकार” शीर्षक प्रवचन में संक्षेप से इनका सिद्धान्त बतलाया जा चुका है कि बुद्धि के आठ भेद होते हैं— चार सात्त्विक और चार तामस। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार सात्त्विक रूप होते हैं। जो कि ईश्वर में भी हैं और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य ये चार तामस रूप हैं जिनका ईश्वर में स्पर्श भी नहीं। ये जीव की ही सम्पत्ति हैं। इन्हीं तामस रूपों को योग दर्शन में पंचक्लेश नाम से कहा गया है। वैराग्य के प्रतिद्वन्द्वी राग और द्वेष दो मान लिए गए। राग ही अन्य किसी से प्रतिहत होने पर द्वेषरूप हो जाता है और इन दोनों रागद्वेषों की अतिमात्रा मोह के रूप में परिणत हो जाती है। इसलिए कहीं-कहीं राग, द्वेष, मोह तीनों को हेय गणना में गिना गया है। किन्तु पंचक्लेशों में मोह का पृथक् समावेश नहीं किया जाता। उसे राग या द्वेष की अतिमात्रा समझकर दोनों के अन्तर्गत ही मान लिया। जिस पदार्थ के सम्बन्ध से बुद्धि का उल्लास हुआ हो उसमें आसक्ति होकर उसकी ओर बार-बार आकर्षण होना राग कहलाता है। राग से उस पदार्थ को प्राप्त करने की बार-बार इच्छा हुआ करती है और जिन कण्टकादि पदार्थों के सम्बन्ध से बुद्धि में संकोच नामक घृणा उत्पन्न हुई उनसे निवृत्त होने की, बचने की, जो इच्छा होती है वही द्वेष कहलाता है। हम राग से जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहें उसमें प्रतिबन्धक यदि कोई अन्य प्राणी बन जाय तो उस प्राणी के प्रति जो हमारी असद् भावना हो उसे भी द्वेष कहते हैं। तात्पर्य यह कि अनुकूल भावना राग और प्रतिकूल भावना द्वेष है। इन दोनों की निवृत्ति के लिए वैराग्य नाम के बुद्धि के सात्त्विक भाव को दृढ़ और उन्नत बनाना आवश्यक है। वैराग्य भावना के दृढ़ होने पर रागद्वेष निवृत्त हो जाते हैं। तीसरा क्लेश अविद्या या अज्ञान नाम से कहा जाता है। ये क्लेशों में गिने हुए अविद्या या अज्ञान अभावरूप नहीं है। किन्तु यहाँ का नञ् विरोध का प्रतिपादक है। इसलिए तत्त्वज्ञान का आवरण करने वाली वृत्ति को अविद्या या अज्ञान कहते हैं। जिस वस्तु का कुछ अंश ज्ञात हो और कुछ अंश अज्ञात वह अज्ञान से आवृत ज्ञान

अविद्या की ही श्रेणी में आता है। जैसा कि कोई मनुष्य हमारी ओर आ रहा है यह तो हमने जान लिया, किन्तु यह हमारे अनुकूल है या प्रतिकूल यह ज्ञान न हुआ तो वह अज्ञान से आवृत ज्ञान कहलाता है। इसी कारण भय दुःखादि हुआ करते हैं। अन्य वस्तु को अन्य रूप से जान लेना यह भ्रम और निश्चित रूप से किसी वस्तु को न जानना यह संशय कहलाता है। ये सब भी अविद्या के ही अन्तर्गत हैं। यह अविद्या ही सब क्लेशों की मूल है। बिना अविद्या के कोई अन्य क्लेश उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इसकी निवृत्ति बुद्धि के सात्विक रूप ज्ञान से होती है। वह ज्ञान तत्त्वज्ञान रूप है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर अज्ञान का आवरण निश्चित रूप से हट जाता है।

चौथा क्लेश अस्मिता है। जीव ईश्वर से अभिन्न होने के कारण व्यापक और सर्वशक्तिमान् है। किन्तु तमोगुण की जो शक्ति हमें परिच्छिन्न अतिलघु या अति अल्प शक्तिवाला बता देती है वही बुद्धि का धर्म अस्मिता है। बुद्धि ही व्यापक आत्मा को परिच्छिन्न और सर्वशक्तिमान् को अति अल्प शक्तिवाला बनाती व बतलाती है। आगे उस परिच्छिन्न जीव में भी और तारतम्य होते हैं। बालक की प्रज्ञा, प्राण आदि बहुत अल्प हैं। युवावस्था में उनका कुछ विकास और वृद्धावस्था में पुनः संकोच हो जाता है। अशिक्षितों की शक्ति अत्यल्प रहती है, शिक्षा से उसका कुछ विकास होता है, विस्मृति में पुनः संकोच होता है। व्यायाम से शरीर शक्ति का विकास और आलस्य से संकोच हो जाता है। ये सब संकोच भी अस्मिता क्लेश के अन्तर्गत ही समझे जाते हैं। प्राणी को जितना अपनी शक्ति की अल्पता का ज्ञान हो उतना ही वह दुःखी रहता है। शक्ति विकास का अनुभव होने पर सुखी हो जाया करता है। इसीलिए संकोचरूप अस्मिता को क्लेशों में गिना गया है। इसका बुद्धि के सात्विक रूप ऐश्वर्य से समूल उन्मूलन हो जाता है। ऐश्वर्य नाम अधिक शक्ति का है। सर्वाधिक शक्तिमान् को ही ईश्वर कहा करते हैं। बस ज्यों-ज्यों बुद्धि में सात्विक रूप का उदय होने पर अपनी अल्पता या अल्प शक्ति का अभाव ज्ञात होता जायगा अर्थात् मैं बहुत बड़ा और बहुत शक्तिशाली हूँ ऐसी बुद्धि जितनी मात्रा में होगी उतनी ही मात्रा में अस्मिता क्लेश निवृत्त होता जाएगा। अस्मिता की अत्यन्त निवृत्ति होने पर जीव ईश्वर रूप ही हो जायगा। इसलिए अस्मिता का निवर्तक ऐश्वर्य है।

पांचवां क्लेश अभिनिवेश है। यब सबसे अधिक दुष्ट है। अपने बन्धन में लेकर यह प्राणी को अत्यन्त पराधीन कर देता है, जो कुछ हम जानते हैं उस ज्ञान का भी एक संस्कार व्यावहारिक आत्मा में रहता है विज्ञान स्वयं तो निवृत्त हो जाता है किन्तु अपना एक संस्कार छोड़ जाता है। उसे ही शास्त्र में भावना कहा जाता है। जिससे जानी हुई वस्तु का बार-बार स्मरण हुआ करता है। इसी प्रकार जो कुछ हम अच्छा या बुरा कर्म करते हैं वह कर्म भी स्वयं तो निवृत्त हो जाता है किन्तु अपना एक संस्कार शरीर बुद्धि और व्यावहारिक आत्मा पर छोड़ जाता है। शरीर पर छोड़े हुए

कर्मजनित संस्कार का श्रम रूप से स्पष्ट अनुभव होता है। किन्तु त्रिगुणात्मक बुद्धि या व्यावहारिक आत्मा पर जो परिवर्तन इन शुभ-अशुभ कर्मों द्वारा होते हैं वे अतिसूक्ष्म होने के कारण अनुभव में नहीं आते। इसीलिए शास्त्रों में उन्हें अदृष्ट नाम से कहा जाता है। इन्हीं संस्कारों की शास्त्रीय संज्ञा वासना है। क्योंकि ये जब तक अपना फल न दे दें तब तक आत्मा में बसते रहते हैं और अपने रूप से आत्मा को वासित करते हैं जैसे कि कोई रंग श्वेत वस्त्र को वासित कर देता है अथवा पुष्पों का गन्ध वायु को वासित कर देता है। इसी अर्थ में वासना शब्द का प्रयोग है। मीमांसा दर्शन में इसी वासना को अपूर्व नाम से और न्याय आदि में अतिशय या अदृष्ट नाम से कहा जाता है। इन्हीं दोनों भावना और वासनाओं का हृदय में ग्रन्थि बन्धन हो जाना अभिनिवेश कहलाता है। वह अभिनिवेश बुद्धि के सात्त्विक रूपों को सर्वथा तिरोहित कर देता है। कई ग्रन्थकारों ने अभिनिवेश का अर्थ इतना ही किया है कि “मैं सदा बना रहूँ” इस प्रकार का जो एक स्वभाव सिद्ध आग्रह प्रत्येक प्राणी में होता है वही अभिनिवेश है। किन्तु यह एक उदाहरण मात्र है। अभिनिवेश शब्द का अर्थ है आग्रह। भावना और वासना के कारण रंगे हुए आत्मा में किसी भी प्रकार का जो एक आग्रह होता है अर्थात् यह कार्य अवश्य ही होना चाहिए इस प्रकार की एक उत्कट वृत्ति होती है, वही अभिनिवेश है। यह भावना और वासना के बन्धन से उत्पन्न है, इसलिए उनके क्षय से ही इसका क्षय हो सकता है। भावना और वासना का क्षय तीन प्रकार से होता है। कर्मजनित संस्कार अपना फल भोग कराकर निवृत्त हो जाते हैं और ज्ञान जनित संस्कार कालवश मलिन होकर या जन्मान्तर में बुद्धि में वैसी विशेषता उत्पन्न कर निवृत्त हो जाते हैं यह सर्वसाधारण नियम है। दूसरा इसका निवृत्ति का उपाय यह है कि यह महान् क्लेश तमोगुण से उत्पन्न है इसलिए सत्त्वगुण को बढ़ाया जाय, गुणों का यह स्वभाव है कि एक जब बढ़ता है तो दूसरों को दबा देता है। इस प्रकार सत्त्व बुद्धि से जब तमोगुण अत्यन्त क्षीण हो जायगा तब उसके द्वारा उत्पादित क्लेशों में अतिदुष्ट क्लेश यह अभिनिवेश भी निवृत्त हो जायगा। तीसरा प्रकार यही है कि विद्या प्रबल होकर जब अविद्या को सर्वथा निवृत्त कर देती है तब मल का नाश होने से सभी क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। यह सत्त्वगुण की वृद्धि या विद्या ज्योति को अनावृत रूप से फैलने देना ही धर्म नाम से कहा जाता है। यद्यपि धर्म शब्द आचार के अर्थ में लोक और शास्त्र में प्रयुक्त होता है किन्तु बुद्धि का रूप जो धर्म यहाँ बताया जा रहा है वह उस सदाचार की प्रवृत्ति का कारण है। बुद्धि में जब धर्म रूप होता है तभी सदाचार हुआ करता है। आरम्भ के प्रवचन में प्रथमाध्याय में ही हम धर्म शब्द का अर्थ विस्तार से कर आए हैं कि स्वरूपरक्षा का साधन ही धर्म शब्द से कहा जाता है। बुद्धि के इस रूप से ही मुख्यतः आत्मस्वरूप की रक्षा होती है इसलिए इस बुद्धि रूप में धर्मशब्द की प्रवृत्ति सर्वथा मिश्रित है। तात्पर्य यह है कि यह बुद्धि का सात्त्विकरूप धर्म ही अभिनिवेश रूप क्लेश का विरोधी है। बुद्धि में धर्म का उदय होने पर ही

अभिनिवेश निवृत्त हो जाता है। इन चारों सात्त्विक रूपों की बुद्धि में वृद्धि कर पंचक्लेश अर्थात् बुद्धि के तामस रूपों को निवृत्त कर देना ही मुख्य पुरुषार्थ है। यही भगवद्गीता ने बतलाया है। इस प्रकार की सात्त्विक बुद्धि होने पर जीवात्मा का परमात्मा से पूर्ण सम्बन्ध हो जाता है। सम्बन्ध के विच्छेदक आवरण निवृत्त हो जाते हैं। यही बुद्धियोग है। यद्यपि चारों ही सात्त्विक रूपों को विकसित करना आवश्यक है किन्तु अपने अपने अधिकारानुसार कोई किसी रूप को विकसित करने में मुख्यतया लगता है, उस एक रूप के विकास से सत्त्व बुद्धि होने पर फिर चारों ही रूप विकसित हो जाते हैं। इसलिए अधिकारानुसार प्रत्येक प्राणी को अपना अपना ध्येय चुन लेने के लिए भगवद्गीता में चारों ही प्रकार के बुद्धियोग निर्दिष्ट हुए हैं। कर्मयोग आदि सब ही उस बुद्धियोग में आ जाते हैं। वैराग्य योग ही कर्मयोग है क्योंकि अनासक्ति ही कर्मयोग में प्रधान है। अनासक्ति पूर्वक आचरण करते रहना कर्मयोग कहा जाता है। उसमें कर्म करते रहना तो जीवों को स्वभावतः प्राप्त है। अनासक्ति का विशेष विधान करना है। इसलिए वैराग्ययोग ही कर्मयोग सिद्ध होता है। ज्ञानयोग तो अपने नाम से ही प्रसिद्ध है। ऐश्वर्ययोग भक्तियोग के नाम से प्रसिद्ध है। इसके ज्ञान और कर्म दोनों भाग हैं, इसलिए इसे भक्ति कहते हैं और ईश्वराराधन होने के कारण उपासनायोग भी कहा जाता है।

चौथा धर्मयोग गुण विभाग के नाम से गीता के अन्तिम प्रकरण में प्रसिद्ध है। आरम्भ में षष्ठाध्याय पर्यन्त वैराग्ययोग कहा गया है। सप्तम और अष्टम दो अध्यायों में ज्ञानयोग, नवम से द्वादश पर्यन्त ऐश्वर्ययोग और त्रयोदश से अन्ततक धर्मयोग है। इनके ही दूसरे नाम राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या और आर्षविद्या भी क्रमशः हैं जो भगवद्गीता में ही सूचित किए गए हैं। यही योग शब्द का विस्तृत अर्थ श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार कहा गया।

गीता में भी योग शब्द का अर्थ अनेक स्थलों पर किया गया है।

योगः कर्मसु कौशलम्

समत्वं योग उच्यते

तं विद्याददुःख-संयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्

इत्यादि उन सबका समन्वय उक्त अर्थों में हो जाता है, इसका स्पष्ट विवरण उन पद्यों की व्याख्या में कर दिया जायगा। उक्त भिन्न भिन्न व्याख्याओं के अनुसार ही उत्तरार्ध का भी विवरण पृथक् पृथक् होता है कि इस बुद्धि से प्रवृत्त होता हुआ तू कर्मबन्ध से विमुक्त हो जायगा। श्रीशंकराचार्य के सिद्धान्तानुसार यह कर्मबन्ध से विनिर्मुक्ति कर्मयोग का परंपरा से प्राप्त होने वाला चरम फल है। अर्थात् कर्मयोग से ज्ञानसिद्धि होती है और उससे कर्मबन्ध मुक्ति होती है। कई विद्वान् ऐसा भी तात्पर्य लगाते हैं कि कर्म का बन्ध कर्म से ही हट सकता है। कांटे से कांटा निकाला जा सकता है। अतः

निवृत्ति कर्म ही कर्म के बन्धन को छुड़ाने वाला है। जैसा कि उपनिषद् में कहा गया है कि—

“अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते”

अर्थात् अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमृत प्राप्ति होती है। यहाँ अविद्या और मृत्यु दोनों शब्दों का अर्थ कर्म या कर्मबन्ध ही है। कर्म से ही कर्म बंधन को हटाकर ज्ञान से ईश्वर पुरुष में लीन होना मुक्ति कही जाती है। इसलिए योग से कर्मबन्धन से छूटोगे, यह कार्य कारण भाव साक्षात् ही बन जाता है। ज्ञानकर्मसमुच्चय से मुक्ति मानने वालों के सिद्धान्त में तो कर्म से कर्म बन्ध विमोक्ष स्पष्ट ही है और कर्मयोग को प्रधान मानने वाले श्री तिलक आदि के मत में भी कर्म से ही कर्मबन्ध का त्याग होना उपपन्न ही है। श्रीवल्लभाचार्य के मत के अनुसार जो भगवान् की आज्ञा से जो कर्म किया जाय, उसी का नाम कर्मयोग है। जीव अपने आप को सर्वथा भगवान् पर छोड़ दे। किसी फल की आशा से नहीं, भगवान् की जो आज्ञा या प्रेरणा हो, तदनुसार ही कर्म करता रहे। यही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य उनके मत में है। ये भगवदाज्ञा से किये हुये कर्म कभी बन्धन में डालने वाले नहीं होते किन्तु कर्मबन्ध के खोलने वाले ही होते हैं। जैसा कि श्रीभागवत् में भगवान् की आज्ञा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।

भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते।।

अर्थात् जिन्होंने अपनी बुद्धि को मुझमें लगा दिया है उनके हृदय में कोई इच्छा या इच्छाजनित कर्म भी हो तो वह आगे इच्छा या कर्मों का बढ़ाने वाला नहीं होता, वहीं शान्त हो जाता है, जैसा कि भूँज डालने पर या पका लेने पर धान बीज रूप होकर नये-नये धान उत्पन्न नहीं करता। इसी न्याय से सिद्ध है कि भगवान् की आज्ञा या प्रेरणा से किये गये कर्म स्वयं बन्धक न होकर पूर्व के कर्मबन्धों को खोलने वाले होते हैं। इस प्रकार साक्षात् व परंपरा से उत्तरार्ध की व्याख्या सभी सिद्धान्तों में समन्वित हो जाती है।

यद्यपि ये विषय प्रथमाध्याय के “गीता का विषय विभाग” शीर्षक में भी संक्षेप में कहे जा चुके हैं किन्तु इन आवश्यक विषयों पर ध्यान दिलाना बहुत उचित समझ यहाँ भी इनका पुनः विशद विवेचन किया गया है जिसमें कई नई बातें सम्मिलित हैं। आशा है कि पाठक उचित मनन कर इस पुनरुक्ति को क्षमा करेंगे।

## इकतीसवां-पुष्प

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ (२+४०)

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ (२+४१)

आगे कहे जाने वाले कर्मयोग की, उसमें प्ररोचना कराने के लिए पहले ही स्तुति की जाती है कि “इस कर्मयोग में उपक्रम का नाश नहीं है और विगुणता होने पर प्रत्यवाय अर्थात् पाप या प्रायश्चित्त भी नहीं होता। इस धर्म का थोड़ा अंश भी बहुत बड़े भय से रक्षा कर देता है।

यहाँ अर्जुन को कर्मयोग में ही प्रवृत्त करना है इसलिए अवधान से वह सुने इस अभिप्राय से पहले ही कर्मयोग की प्रशंसा की जाती है। लौकिक और कामनापूर्वक किये जाने वाले कर्मों का आरम्भ कर यदि समाप्ति से पूर्व ही उन्हें छोड़ दिया जाय तो वह कर्म फल नहीं देता, बिना फल दिये ही नष्ट हो जाता है। जैसे कि कृषि रूप लौकिक कर्म किसी ने आरम्भ तो कर दिया किन्तु अन्न पकने तक जल सेकादि के द्वारा उसकी पूर्ति नहीं की तो उसका कोई फल नहीं होगा अर्थात् अन्नोत्पादन नहीं होगा। रसोई पकाने का कार्य आरम्भ कर बीच में ही छोड़ दिया जाय तो वहाँ भी भोजन योग्य रसोई न बन सकेगी। इसी प्रकार वैदिक कर्मों का आरम्भ कर विधान के अनुसार समाप्ति पर्यन्त उन्हें न किया जा सके, मध्य में ही कोई विघ्न उपस्थित हो जाय तो उस कर्म का भी कोई फल नहीं होगा। विधिपूर्वक समाप्ति पर्यन्त अनुष्ठान करने से ही वैदिक कर्म के द्वारा अतिशय की उत्पत्ति होती है। मध्य में छोड़ देने से अतिशय उत्पन्न नहीं होता और बिना अतिशय के स्वर्गादि फल भी नहीं प्राप्त हो सकता। यही उपक्रम का नाश समझना चाहिए। किन्तु बिना कामना के किये जाने वाले कर्मयोग सम्बन्धी कर्मों में ऐसा नहीं है। ये कर्म तो आरम्भ कर जितने भी कर लिए गए उतने अंश में उनका फल अवश्य ही मिल जायगा। नित्य और नैमित्तिक कर्म तो बिना कामना के ही किये जाते हैं उनसे चित्त शुद्धि ही होती है। काम्य कर्म यज्ञ आदि भी यदि कामना छोड़कर किये जाँय तो चित्त शुद्धि के ही कारण बन जाते हैं, ऐसा पूर्व मीमांसकों ने भी निर्णय किया है। इसे वहाँ “संयोगपृथक्त्वन्याय” कहा जाता है। इस प्रकार के कर्म यदि किसी विघ्न के आ जाने से समाप्ति पर्यन्त न भी हो सकें तो भी जितने किए गए उतने अंश में चित्त शुद्धि कर ही देते हैं। ईश्वराराधन आदि कर्मों की भी ऐसी ही स्थिति है। जितना भी ईश्वराराधन कर लिया जाय उतना फल उससे अवश्य प्राप्त हो जाता है। छोड़े हुए कर्मों को फिर आगे समयानुसार जब किया जाय तो पूर्व कर्म का उतना फल तो रहता ही है, आगे और



अधिक चित्त शुद्धि होती जाती है। इसलिए कहा जा सकता है कि कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं है अर्थात् मध्य में छोड़ देने पर भी उनका फल उतना ही मिल जाता है। इसलिए इस बात की चिन्ता नहीं है कि मध्य में विघ्न हो जाने से कर्म नष्ट हो जाएगा तो श्रम वृथा ही जायगा। ऐसे ही वैदिक काम्य कर्मों में कुछ भी विगुणता हो जाने पर उलटा पाप हो जाता है और विपरीत फल मिलने की संभावना हो जाती है। विगुणता को हटाने के लिए प्रायश्चित्त का भी शास्त्रों में विधान है। इसके अनेक उदाहरण शास्त्रों में और लोक में प्रसिद्ध हैं। शास्त्र में उदाहरण है कि त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के लिए पुत्र पैदा करने की इच्छा से यज्ञ किया था। किन्तु यज्ञ में “इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व” इस कल्पित मन्त्र में स्वर का व्यत्यास हो गया, इसलिए यह विपरीत फल हुआ कि उत्पन्न हुआ पुत्र वृत्र ही इन्द्र के द्वारा मारा गया। लोक में भी किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि पूर्व काल में एक मुकुन्द ब्रह्मचारी थे। उन्होंने राज्य प्राप्ति के लिए काम्य अनुष्ठान किया था। किन्तु व्रत रूप से दुग्ध पान करते हुए उसमें एक गौ का रोम आ गया। इसलिए उन्हें राज्य तो मिला किन्तु विधर्मियों में जन्म हुआ, अर्थात् वे अकबर बादशाह बने। इस प्रकार विगुणता हो जाने से फल प्राप्ति होने पर भी कोई प्रबल विपरीतता आ जाती है। कर्मयोग में ऐसा भी नहीं है। यहाँ विगुणता हो जाने पर भी कोई पाप या प्रायश्चित्त नहीं होता। पूर्व प्रवचनों में कहा जा चुका है कि मन में रागद्वेष रहने पर ही पाप आदि का सम्बन्ध होता है। इसलिए कामना छोड़ देने पर पाप का कोई सम्बन्ध नहीं। जो कुछ भी करोगे उसका चित्त शुद्धि फल यथासंभव मिलता ही जायगा। काम्य कर्मों में कर्मफल का तारतम्य भी रहता है, अर्थात् किसी ने इष्टिमात्र की, तो उसे स्वर्ग में सामान्य सुख मिलेगा और वह भी अल्पकाल के लिए और यदि सोमयाग या उनमें भी अश्वमेध आदि बड़ी संस्थाओं का अनुष्ठान किया तो बहुत काल पर्यन्त बहुत बड़े सुख की प्राप्ति स्वर्ग में होगी। इसप्रकार कर्म की अल्पाधिकता से फल की अल्पाधिकता भी होती रहती है। किन्तु कर्मयोग में थोड़ा भी अनुष्ठान कर लिया जाय तो वह बहुत बड़े भय से छुड़ा देता है। अर्थात् अल्प अनुष्ठान से भी बड़ा फल मिल जाता है। इसलिए कर्मयोग विशेष श्रेष्ठ है। यहाँ विघ्न बाधा आदि का व कर्म निष्फल होने का कोई भय नहीं।

इस प्रकार कर्मयोग की स्तुति कर अब उसका स्वरूप बतलाना है। कर्मयोग का मूल है व्यवसायात्मक बुद्धि। उसी की पहले अवतारणा की जाती है कि “हे कुरुनन्दन! व्यवसायात्मक बुद्धि एक है, अर्थात् एक ही प्रकार की होती है। उसमें विषमता या उच्चावचभाव नहीं रहता। किन्तु जो अव्यवसायी हैं अर्थात् व्यवसायात्मक बुद्धि जिन्हें प्राप्त नहीं हुई उनकी बुद्धि भिन्न-भिन्न शाखावाली और एक एक शाखा में भी अनन्त है। अर्थात् उनका पार आता ही नहीं।

सांख्य आदि दर्शनों में अन्तःकरण के तीन या चार भेद बताये गये हैं। मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन भेद सांख्य दर्शन में माने जाते हैं। वेदान्त आदि में चित्त

नाम का चौथा भेद भी लिखा है। इनकी पृथक्-पृथक् वृत्तियों की दर्शनों में व्याख्या है। बाह्य इन्द्रियां हमें केवल वस्तुओं का आकार और उनके रूप, रस, स्पर्श आदि गुण बतला देती हैं। जब यह वस्तु किस जाति की है और इसका क्या नाम है, इत्यादि कल्पना पूर्व स्मरण के आश्रय से मन किया करता है, इस कल्पना को ही संकल्प नाम से कहा जाता है। संकल्प अर्थात् सम्यक् कल्पना। इस मन के कार्य के अनन्तर मेरे साथ इस वस्तु का अनुकूल या प्रतिकूल कैसा सम्बन्ध है इस बात को बताने वाली वृत्ति जिसकी है वह अहंकार नाम का अन्तःकरण कहा जाता है। इसके अनन्तर यह निश्चय होता है कि मुझे इस वस्तु को लेना चाहिए, इससे दूर बचना चाहिए या उपेक्षा करनी चाहिए, अर्थात् जहाँ जैसी है तैसी बनी रहे, मुझे इसके लेने या इससे दूर भागने की कोई आवश्यकता नहीं, यह उपेक्षा है। ये व्यापार बुद्धि के होते हैं। इस बुद्धि की वृत्ति को ही अध्यवसाय या निश्चय कहा करते हैं। बुद्धि इस प्रकार निश्चय कर फिर तदनुकूल कार्य करने के लिए मन को प्रेरित करती है और तब मन “इदमहं करिष्यामि”, मैं ऐसा करूँगा। इस प्रकार का संकल्प कर कर्मेन्द्रियों को प्रेरित करता है। इस प्रकार मन के दोनों काम हैं। पहले निश्चय के लिए बुद्धि के सामने पदार्थ को उपस्थित करना और फिर बुद्धि की आज्ञा का इन्द्रियों द्वारा पालन करवाना। इसलिए कई जगह दो मन माने जाते हैं किन्तु आर्य दर्शनों में अधिकतर एक ही मन के दोनों कार्य मान लिए जाते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियों से बाह्य रूप रस आदि का ज्ञान होता है इस प्रकार भीतर के धर्म सुख, दुःख आदि का ज्ञान मन से ही होता है। इसलिए मन स्वयं इन्द्रिय रूप भी है और अन्य इन्द्रियों का सहायक भी है। क्योंकि मन यदि किसी खास विचार में संलग्न हो तो आँख, कान आदि कुछ भी देख सुन नहीं सकते। इस प्रकार के इन्द्रिय रूप मन और इन्द्रिय सहायक मन को भी कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न माना गया है। किन्तु आर्य दर्शनों में अधिकतर यही सिद्धान्त पाया जाता है कि मन एक ही है। वही शीघ्र गमनशील होने के कारण सब काम कर देता है।

चौथे चित्त के संबंध में कुछ विचार भेद हैं। कई जगह स्मृति नाम की वृत्ति चित्त की मानी गई है और अन्यत्र कहीं इन सब वृत्तियों का आत्मा में प्रतिफलन भी चित्त शब्द से कहा गया है। आगमशास्त्र में ऐसा भी निरूपण है कि चित् का स्थूल रूप पहले चित्त ही होता है, उससे आगे फिर बुद्धि, अहंकार आदि अन्य स्थूल रूप बनते हैं। यहाँ इस चित्त के विचार से कोई विशेष प्रयोजन नहीं, यहाँ तो हमें केवल बुद्धि की ही बात कहना है। पूर्वोक्त प्रकार से सदसद्विवेक पूर्वक निश्चय कर मन आदि को प्रेरित करना बुद्धि का ही काम माना गया है। अतः भगवान् भी यहाँ यही कहते हैं कि पहले बुद्धि को ठीक करना चाहिए। तब ही उत्तम कर्तव्य पालन हो सकता है। बुद्धि का सामान्य कार्य अध्यवसाय माना गया है। किन्तु यहाँ उसके दो प्रकार के भेद किये जाते हैं— व्यवसाय और अव्यवसाय। श्रीशंकराचार्य ने सम्यक् प्रमाणों से सदसद्विवेक जिस बुद्धि में हुआ हो वह व्यवसायात्मक बुद्धि और प्रमाणाभासों से

जहाँ भ्रमरूप विवेक हुआ हो उसे अव्यवसायात्मक बुद्धि कहा है। श्रीरामानुजाचार्य मुमुक्षु पुरुषों की बुद्धि को व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं और कामनापरक बुद्धियों को अव्यवसायात्मक। भक्तिमार्ग के आचार्य भगवदाज्ञानुसार कर्तव्य निश्चय को ही व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं। कई व्याख्याकारों ने सांख्य ज्ञान को ही व्यवसायात्मक बुद्धि कहा है और योग की बुद्धि अव्यवसायात्मक बतलायी है। किन्तु कर्मयोग का प्रकरण आरम्भ हो चुका है इसलिए सांख्य-ज्ञानपूर्वक कर्म-प्रवृत्ति जिससे हो, वही व्यवसायात्मक बुद्धि है यह उन्हें भी कहना ही पड़ेगा। श्रीतिलक ने गीता-रहस्य के प्रकरण में बुद्धि के मुख्य कार्य अध्यवसाय को ही व्यवसाय कहा है। किन्तु फिर बहुत अनन्त शाखाओं वाली बुद्धि क्या रही? प्रकृत श्लोक की व्याख्या में उन्होंने यह लिखा है कि “बुद्धि शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। गीता में ही कहीं ज्ञान के अर्थ में और कहीं वासनाओं के अर्थ में बुद्धि शब्द का प्रयोग है। इस प्रकार अनेक अर्थ होने पर भ्रम न हो जाय, इसलिए पूर्वार्ध में “व्यवसायात्मिका” यह विशेषण बुद्धि के साथ लगा दिया। अतः यहाँ कार्य-अकार्य का निश्चय करने वाली सांख्योक्त अन्तःकरण रूप बुद्धि ही बुद्धि शब्द से विवक्षित है, यह स्पष्ट कर दिया गया और एक पद एकाग्रता का बोधक है। इससे जिनकी एकाग्र बुद्धि कार्य-अकार्य का निश्चय कर लेती है, वे ही कर्मयोग के अधिकारी हैं यह सूचित किया। उत्तरार्ध में व्यवसायात्मिका विशेषण नहीं है, और बुद्धि को बहुशाखा और अनन्ता कहा है इसलिए वहाँ बुद्धिपद से वासनाएं ही विवक्षित हैं, जिनकी निश्चयात्मक एकाग्र बुद्धि नहीं होती उनकी वासनात्मक बुद्धि अनेक शाखावाली और अनन्त होती है।” यह उनका श्लोकार्थ हुआ।

प्रकृत श्लोक की टिप्पणी में उन्होंने लिखा है कि— संकल्प, काम, आसक्ति आदि दोषों से अदूषित, मन पर अनुग्रह करने वाली बुद्धि व्यवसायात्मिका कहलाती है और कामादि दोषों से दूषित मन के साथ चलने वाली बुद्धि अव्यवसायात्मक है। तात्पर्य यह हुआ कि जो बुद्धि कामादि दोष से दूषित मन की अनुगामिनी हो जाती है वह अव्यवसाय रूपा है और जो मन से खींची नहीं जाती, स्वतन्त्र रूप से आत्मा की ओर झुकी रहती है, वह व्यवसायात्मिका है। अव्यवसाय रूप बुद्धि से आत्मा कभी नहीं पहचाना जाता किन्तु व्यवसायात्मक बुद्धि आत्मा की ओर झुक कर उसका किसी न किसी रूप में ग्रहण कर लेती है अर्थात् उसका प्रतिबिम्ब ले लेती है। इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं कि बुद्धि शब्द का प्रयोग कई जगह बुद्धि की वृत्ति ज्ञान अथवा मन आदि के लिए भी हो जाता है। तीन प्रकार के अन्तःकरण जो हमने अभी बताए हैं, उनमें परस्पर शब्दों का सांकर्य कई स्थानों में मिलता है। अर्थात् कई जगह मन शब्द से तीनों को कह दिया जाता है। कई जगह बुद्धि शब्द से ही ऐसी प्रयोगों की भ्रान्ति न आ जाए इसलिए यहाँ बुद्धि का व्यवसायात्मिका विशेषण दे दिया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयात्मक मुख्य बुद्धि ही यहाँ बुद्धि शब्द से ली जानी चाहिए। श्लोक के उत्तरार्ध में ऐसा कोई विशेषण नहीं है और वहाँ “बुद्धयः” बहुवचन

मिलता है। इसलिए मन के द्वारा उत्पादित भिन्न-भिन्न कामनाओं का अनुसरण करने वाली बुद्धि वहाँ बुद्धि शब्द से विवक्षित है। तात्पर्य यही हुआ कि मन की इच्छाओं से संबंध न रहने वाली स्वतन्त्र निश्चय रूपा बुद्धि व्यवसायात्मिका है और आगे बुद्धि के निश्चयानुसार काम करने को उद्यत मन जब भिन्न-भिन्न इच्छाएं पैदा करता है तब उनके साथ संमिश्रित हो जाने वाली बुद्धि अव्यवसायरूपा होती है। कर्मयोग मार्ग में चलने वाले के लिए अपनी बुद्धि को विशुद्ध अथवा स्थिर रखना आवश्यक है। बिन बुद्धि की विशुद्धता या स्थिरता के कर्मयोग नहीं बन सकता। यही इस पद्य का आशय हुआ अर्थात् मन की बाह्य प्रवृत्तिरूप वासनाओं का प्रतिबिम्ब बुद्धि में नहीं आने देना चाहिए। तभी बुद्धि स्वतन्त्र और स्थिर रह सकेगी।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी सात्त्विक बुद्धि को व्यवसायात्मक बुद्धि कहते हैं, जिसके कि चार रूपों का विस्तृत विवेचन पूर्व प्रवचन में किया जा चुका है। उसके विपरीत बुद्धि के तामस रूप अव्यवसायात्मक कहलाते हैं। प्रस्तुत पद्य की टिप्पणी में उन्होंने भी अपना आशय यही प्रकट किया है कि संकल्प कामना आदि से दूषित मन के साथ चलने वाली बुद्धि अव्यवसायरूपा है और कामनादि दोषों से जो दूषित नहीं ऐसे मन को साथ रखने वाली बुद्धि व्यवसायात्मक कहलाती है। आगे इसका भी तात्पर्य उन्होंने यही बतलाया है कि जहाँ कामासक्त मन के साथ लग जाय और मन जहाँ इन्द्रियों के साथ लग जाय, उस समुदाय में पड़ी हुई बुद्धि भी अव्यवसायात्मक हो जाती है अर्थात् स्थिर नहीं रहती और मन इन्द्रियादि के दोषों में न पड़कर स्वतन्त्र रहने वाली बुद्धि व्यवसायात्मक होती है। शब्द भेद से सबका अभिप्राय एक ही रूप में पर्यवसित होता है। प्रकृत में इस पद का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि विवेकपूर्वक अपना कर्तव्य पालन करने की या दूसरे शब्दों में कर्तव्य समझ कर कर्म करने की प्रवृत्ति जिससे हो वह व्यवसायात्मक बुद्धि है। आगे अर्जुन के प्रश्न में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रश्न आयेगा। इसलिए स्थिर बुद्धि ही व्यवसायात्मक बुद्धि है यह तो स्पष्ट हो जाता है। इसी कारण यहाँ कहा गया है कि व्यवसायात्मक बुद्धि एक ही होती है। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि वह स्थिर है। उसमें चंचलता नहीं, केवल कर्तव्य परायणता मुख्य रहती है। कामनावश कर्तव्य निश्चय नहीं किया जाता। किन्तु वह स्थिर बुद्धि जिसने प्राप्त नहीं की उसकी कामनाओं में चंचलता रहती है और कामनाओं की शाखाएं बहुत हैं और उनमें एक-एक शाखा का भी अन्त नहीं आता। मुख्य रूप से शास्त्रों ने वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा नाम से इच्छाओं का तीन रूप में वर्गीकरण किया है। वित्तैषणा अर्थात् धन संपत्ति की इच्छा, पुत्रैषणा अर्थात् सन्तति की इच्छा और लोकैषणा अर्थात् संसार में यश प्राप्त करने की इच्छा। इनमें एक वित्तैषणा का ही विस्तार महात्मा भर्तृहरि ने लिखा है—

निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो  
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रे शतां वाञ्छति

चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्राह्मं पदं याचते  
ब्रह्मा विष्णुः पदं हरिः शिवपदं तृष्णावधिं को गतः

अर्थात् जिसके पास कुछ नहीं है वह पहले यही इच्छा करता है कि न्यूनतः सौ रुपये तो मेरे पास भी हों। यदि सौ रुपये हो गए तो इच्छा बढ़ जाती है कि एक सहस्र होने चाहिए, भाग्यवश सहस्र प्राप्त हो जाने पर लक्ष की इच्छा हो जाती है, यदि सौभाग्य से लक्षाधिप भी बन गया तो उसी वित्तैषणा में से दूसरी शाखा निकल पड़ती है कि अपना शासन भी हो, अतः राज्य की इच्छा करता है। राजा भी हो गया तो राज्य बढ़ाकर चक्रवर्ती बनने की इच्छा हो जाती है। चक्रवर्ती भी बन गया तो और शाखा निकल पड़ती है कि त्रिलोकी का स्वामी इन्द्र बनूं, दैवात् इन्द्र भी बन गया तो और शाखा निकलती है कि मेरा भी बनाने वाला ब्रह्मा है, वह ब्रह्म पद ही मुझे प्राप्त होना चाहिए। ब्रह्मा को भी विष्णु पद और विष्णु को शिव पद अर्थात् निष्कल तुरीय पद प्राप्ति की इच्छा रहती है, अतः तृष्णा का अन्त बिना मोक्ष पद प्राप्त किये किसी को नहीं मिल सकता। इसी प्रकार पुत्रैषणा और लोकैषणा की भी अनेक अनन्त शाखाएं निकलती रहती हैं जिनका अनुभव प्रत्येक मनुष्य विचार से अपने ही भीतर कर सकता है। इसीलिए संक्षेप में भगवान् ने कहा है कि अव्यवसाय अर्थात् कामना निरत पुरुषों की बुद्धि-वृत्तियाँ अनेक शाखावाली और प्रत्येक शाखा में अनन्त होती हैं। इन्हीं की पूर्ति के झंझट में सब आयु पूरी हो जाती है और भगवदुपासना या ज्ञान प्राप्ति का किसी को अवसर ही नहीं मिलता।

एक उपहास की किंवदन्ती है कि कोई पुरुष अपने किसी मित्र के यहाँ अधिक भोजन कर आया था। उसकी अस्वस्थता देख कर किसी ने वैद्य को बुलाया, वैद्य ने विरेचन के लिए दो गोली उसे निकालकर दी कि ये खालो, विरेचन होकर स्वस्थ हो जाओगे। इसपर उस रोगी ने कुपित होकर कहा कि मूर्ख यदि इन गोलियों के लायक स्थान पेट में होता तो मैं एक लड्डू ही और क्यों न खाता? वही बात यहाँ है कि यदि समय शेष हो तो उसमें और अधिक अर्थ काम का सेवन क्यों न करें? भगवदुपासना या ज्ञान साधन में जितने समय का व्यय करें उतने समय में इन्द्रिय तृप्ति का ही और कुछ आयोजन क्यों न किया जाय? इसलिए इन कामनासक्त बुद्धिवालों को ईश्वराराधन या कर्मयोग का समय ही मिलना अति दुष्कर है। इसी कारण कर्मयोग में प्रवृत्त होने वाले को पहले व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए तभी कर्मयोग सिद्ध हो सकेगा। आगे स्पष्ट होगा कि बिना ईश्वराराधन के कर्मयोग नहीं बनता। कर्मयोग भक्ति प्रधान ही है। ईश्वरनिष्ठता से बुद्धि वासनाओं की सहायता से मन की ओर अवश्य खिंच जाती हैं और कामनाओं में ही लग जाती है। अतः ईश्वरनिष्ठ एकाग्र बुद्धि सम्पादित करना कर्मयोग के लिए अत्यावश्यक है।

## बत्तीसवां-पुष्प

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ॥ २-४२

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ २-४३

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ २-४४

यहाँ श्रोता के मन में यह शंका हो सकती है कि व्यवसायात्मक बुद्धि जब इतनी श्रेष्ठ है और इस प्रकार अचूक फल देने वाली है तो सभी उसका आश्रयण क्यों नहीं करते? यदि कहा जाय कि बिना शास्त्र ज्ञान के वह बुद्धि प्राप्त नहीं होती तो विचार होगा कि शास्त्रज्ञ भी तो बहुत हैं। वे सब इस प्रकार की बुद्धि में स्वयं निरत क्यों नहीं हो जाते और अपने उपदेश से औरों को भी इस बुद्धि की प्राप्ति में क्यों नहीं लगा देते? ऐसी शंका का निराकरण करने के लिए भगवान् बतलाते हैं कि शास्त्र का भी मुख्य तत्त्व बहुत से शास्त्र पढ़ने वाले भी नहीं जान पाते। वे शब्द मात्र सुनकर आपाततः जितना समझ पाते हैं, उसमें ही स्वयं भी लग जाते हैं और अन्य पुरुषों को भी अपने उपदेश से उसी मार्ग में लगा देते हैं। हमारा मुख्य शास्त्र वेद है। किन्तु उस वेद का मुख्य तात्पर्य सबकी समझ में नहीं आ सकता। वह इतना दुरूह है कि बहुत परिश्रम करने वाले बड़े-बड़े विद्वान् भी उसमें मुग्ध हो जाते हैं। आगे गीता में ही कहा जायगा कि “वेदविदेव चाहं” अर्थात् वेद का मुख्य तत्त्वज्ञ मैं ही हूँ। मेरा ही वह उपदेश है और मैं ही उसका मुख्य तत्त्व समझता हूँ। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भी स्पष्ट कहा गया है कि “वेद के विधान अभिधान आदि का पूरा तत्त्व मुझसे अतिरिक्त कोई नहीं समझता।” इसका तात्पर्य है कि मेरी कृपा से ही कोई-कोई समझ पाते हैं। बहुत पुरुष तो उसके आपात प्रतीत अर्थ में ही संलग्न हो जाते हैं। वेद में अधिकतर कर्मों की विधि है और उन कर्मों का स्वर्ग आदि फल भी विधि प्रतिपादक वाक्यों में ही है और आगे विधि के स्तावक अर्थवाद वाक्यों में भी उसका अधिकतर वर्णन किया गया है। इन वैदिक वर्णनों से शास्त्र पढ़ते हुए भी पूर्ण विवेचन न करने वाले पुरुषों की बुद्धि उन्हीं फलों में फँस जाती है। वे स्वर्गादि फलों को ही सबसे ऊँचा ध्येय मान लेते हैं। इससे आगे कुछ नहीं है यह उनका भाव बन जाता है। इसलिए उक्त प्रकार की व्यवसायात्मक बुद्धि उन्हें प्राप्त नहीं होती। जब वे स्वयं ही व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त नहीं कर सकते, तो औरों को उसे प्राप्त करने का उपदेश क्या करेंगे। यही बात इन श्लोकों में वर्णित है। श्लोकों का अर्थ है—

“हे पार्थ! अविपश्चित् अर्थात् अज्ञ पुरुष जो कि पूर्णज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते वे वेद के वाद अर्थात् फलवाद या अर्थवाद आदि में निरत होकर इस स्वर्गादि फल से आगे और कुछ नहीं है, यही मनुष्य जीवन का मुख्य ध्येय है इत्यादि कहते हुए पुष्पों के समान दूर से शोभा युक्त प्रतीत होने वाली, ऐसा भी किया है। वाद अर्थात् शब्द सुनते ही आपाततः प्रतीत होने वाला अर्थ। वेद के ऐसे ऊपर से प्रतीत होने वाले अर्थ में ही वे लोग निरत हो जाते हैं। इसीलिए आगे “पुष्पितां वाचम्” का विशेषण “इमाम्” दिया गया है। “इदम्” शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि ऐसा अर्थ लोक प्रसिद्धि से प्राप्त होता है। “पुष्पिता” पद से यह सूचित किया कि जैसे पुष्प दूर से ही मनोहर दिखाई देते हैं, फलरूप सार उनमें नहीं मिलता, इसी प्रकार यह वाणी भी सुनने मात्र से ही चित्ताकर्षक होती है। मुख्य सार उसमें प्राप्त नहीं होता। वृक्ष से फल प्राप्त करना विचारक पुरुषों का मुख्य ध्येय होना चाहिए। पुष्पों की चमक-दमक में ही फँस जाना अविचारक पुरुषों का काम है। जो वृक्ष या लता केवल पुष्प मात्र देती हैं, फल जिनमें नहीं लगता वे उत्तम नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार मुख्य फल तक न ले जाने वाली यह वाणी सार रहित और मध्यम श्रेणी की ही है।”

दूसरा श्लोक पहले के साथ ही अन्वित है। इसमें दो विशेषण “अविपश्चितः” के हैं और तीन विशेषण “पुष्पितां वाचम्” के हैं। ये विशेष्य पद पूर्व पद्य में ही आए हैं। उनके आशय को ही यहाँ विशेषणों द्वारा और स्पष्ट किया है। उक्त प्रकार की वाणी कहने वाले अविद्वान् लोग कामात्मा होते हैं। अर्थात् उनके अन्तःकरण में कामनाएं ही व्याप्त रहती हैं। वे कामनाएं ही मानों उनकी आत्म रूप बन गई हैं। अथवा कामनामय अन्तःकरण का निरन्तर प्रतिबिम्ब पड़ने से उनका व्यवहारिक आत्मा भी काममय हो गया है और उनकी दृष्टि में स्वर्ग ही परम पुरुषार्थ है। इससे ऊपर भी मनुष्य जीवन का कोई फल है इस तरफ उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। स्वर्ग प्राप्त कर लेना ही वे मनुष्य जीवन का अन्तिम फल मानते हैं। उनकी वाणी में कर्मों का ही विस्तार बहुत अधिक रहता है। यज्ञादि कर्मों के ही अनेक प्रकार के विस्तारों का वे वेदोक्त वितरण किया करते हैं। जैसा कि इष्टि, सोम, चयन नाम से तीन प्रकार के यज्ञ हैं, इनमें इष्टि की सात संस्थाएं हैं, सोम की भी सात संस्थाएं हैं। चयन भी अनेक प्रकार है और सौ दिन में साध्य, या हजार दिन में साध्य भी सत्र नाम के यज्ञ होते हैं जिनमें बहुत से यजमान एक साथ मिलकर ही कर्म करते हैं और इसी क्रम के अनुसार ऋत्विक् भी उनमें बहुत होते हैं, इत्यादि रूप से कर्मों का बहुत बड़ा प्रपंच उनकी वाणी में रहता है। जन्म भर क्रिया करते रहना ही वे सिखाया करते हैं। उन सब कर्मों का फल बार-बार संसार में जन्म लेना ही होता है। इसी कर्मफल रूप जन्म को उनकी क्रियाएं उन्हें दिया करती हैं अथवा बार-बार जन्म लेकर प्रत्येक जन्म में फिर उसी कर्म चक्र में पड़े रहना यही फल उनके विस्तृत कर्मों से मिलता है। जन्म-मरण प्रवाह से या

कर्मबन्धन से छुटकारा पा जाने का कभी ध्यान ही उन्हें नहीं होता। उनकी वाणी का अन्तिम लक्ष्य भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति ही है। स्वर्ग में या इसी संसार में पुनः-पुनः जन्म लेकर बहुत बड़े भोग और ऐश्वर्य अर्थात् राजा आदि का जन्म लेकर अपनी आज्ञा का प्रचार यही प्राप्त कर लेना उनका उद्देश्य बनता है। ये भोग और ऐश्वर्य थोड़े काल के हैं। इनके अनन्तर फिर अनेक प्रकार के दुःख ही सहना है, ऐसा वे कभी नहीं सोचते।

इस प्रकार भोग और ऐश्वर्य में ही निरन्तर चित्त लगाने वाले और उनकी प्रशंसा के वाक्यों में जिनका मन फँस गया है ऐसे पुरुषों को व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती। क्योंकि व्यवसायात्मक बुद्धि समाधि दशा में मिलती है। समाधि नाम मन की एकाग्रता का है, भोग और ऐश्वर्य की इच्छाएं मन को एकाग्र होने ही नहीं देती। उनकी बुद्धि भी मन की चंचलता के वश में हो जाती है। तब एकाग्ररूप व्यवसायात्मक बुद्धि उन्हें प्राप्त हो इसकी संभावना ही क्या हो सकती है?

इन श्लोकों से कई विद्वान् ऐसा समझते और आक्षेप करते हैं कि भगवद्गीता में वेदों की निंदा की गई है। इससे स्पष्ट है कि गीता वेद विरोधिनी है। किन्तु यह उनका भ्रम है। जिस गीता के विभूति पाद में सामवेद को, वेदवक्ता महर्षि को, वेदों का विभाग करने वाले भगवान् व्यास को, वेदों के मुख्य छन्द गायत्री को और वेद प्रतिपाद्य देवता वसु को भगवान् ने अपना रूप बतलाया है और विश्वरूपदर्शनप्रसंग में वेद के ऋषियों को अपने शरीर में अर्जुन को दिखलाया है। पन्द्रहवें अध्याय में—

“वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्”

अर्थात् सब वेदों से जानने योग्य मैं ही हूँ और वेदों का वेत्ता भी मैं ही हूँ यह स्पष्ट कहा है। तेरहवें अध्याय के आरम्भ में अपने वाक्य को प्रमाणित करने के लिए—

“ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्”

इस वाक्य के द्वारा ऋषियों के गाए हुए छन्दों अर्थात् वेद मन्त्रों को उपस्थित किया है और सोलहवें अध्याय के अन्त में स्पष्ट ही कहा है कि जो शास्त्र का विधान छोड़कर इच्छानुसार कार्य करता है वह सिद्धि सुख या परमगति को प्राप्त नहीं कर सकता इसलिए अर्जुन तुम अपने कर्तव्य निश्चय में शास्त्र को ही प्रमाण मानो और शास्त्रविधि के अनुसार ही कर्म करो, यहाँ शास्त्र पद से वेद ही लिया जा सकता है क्योंकि और कोई शास्त्र गीता से अधिक प्रमाणभूत या इससे प्राचीन हो ऐसा स्पष्ट सिद्ध नहीं होता तब इस प्रकार पद पद में वेद का संकेत प्रमाण रूप से करने वाली गीता वेद की विरोधिनी कैसे हो सकती है, यह विद्वानों को विचार करना चाहिए। यथार्थ बात यह है कि वेद में ही दो पृथक्-पृथक् काण्ड हैं एक कर्मकाण्ड और



दूसरा ज्ञानकाण्ड दोनों का ही संक्षेप या विस्तार से विवरण मन्त्र संहिताओं में भी प्राप्त है और ब्राह्मण के तो ब्राह्मण और उपनिषद् नाम से दो विभाग ही प्रसिद्ध हो गए हैं। इनमें कर्मकाण्ड के प्रतिपादक ब्राह्मण विस्तार से यज्ञों का प्रतिपादन करते हैं और उपनिषद् मोक्ष प्राप्ति के लिए परब्रह्म की उपासना और उसका ज्ञान बतलाते हैं। इनमें उपनिषद् भाग कहीं-कहीं कर्मकाण्ड पर आक्षेप भी करते हैं कि इनका फल क्षीण होने वाला है, वह जीव को बन्धन से छुड़ाने वाला नहीं। इस प्रकार के केवल कर्मकाण्ड निरत पुरुषों पर या कर्म विधियों पर आक्षेप वेद में भी कई जगह प्राप्त होते हैं। मन्त्र भाग में ही स्पष्ट कहा गया है—

“ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः  
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।”

ऋचाओं का मुख्य प्रतिपाद्य परम व्योम नाम का अक्षर पुरुष है। उसी के आधार पर सब देवता स्थित हैं, जो उसे नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या करेगा अर्थात् क्या लाभ उठायेगा, जो उसको जान लेते हैं वे ही अमृत रूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा है—

“प्लवाह्योते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म  
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति (१-७)  
इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः  
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेऽमं लोकं हीनतरं चाविशन्ति”(१-१०)

अर्थात् ये यज्ञरूप नावें कच्ची डोंगियाँ हैं जिनमें कि अठारह व्यक्तियों से संपादन करने योग्य कर्म बतलाए हैं। बड़े सोम आदि यज्ञों में सोलह ऋत्विज एक यजमान और एक यजमान पत्नी इस प्रकार पुरुष यज्ञ के अंग होते हैं। ऐसे यज्ञादि को ही जो लोग श्रेय अर्थात् परम पुरुषार्थ मानते हैं वे मूढ़ हैं और जन्म मृत्यु के प्रवाह में वे सदा पड़े रहते हैं। अन्यत्र भी कहा है जो अतिमूर्ख लोग यज्ञ और वापी, कूप, धर्मशाला आदि निर्माण को ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं, इससे आगे जन्म मरण प्रवाह को विच्छिन्न करने वाले ज्ञान, उपासना आदि को जो जानते ही नहीं, वे कुछ काल स्वर्ग में अपने पुण्य का फल भोग फिर इसी लोक में आ जाते हैं और संभव है आगे पापकर्म में निरत हो जायँ तो इससे भी अति निकृष्ट नरकादि का भी भोग करें।

इस प्रकार स्वयं वेदभाग में ही वेदोक्त कर्मों का अस्थायी फल बतलाते हुए उनकी निन्दा की गई है। भगवद्गीता उपनिषदों का सार है, इसलिए इन उपनिषद् वाक्यों का भी तात्पर्य इसमें कह दिया गया। जो लोग सांसारिक बन्धनों में बंधे हुए हैं, ज्ञान का उदय जिनके हृदय में हो ही नहीं सकता, इतना मलिन जिनका अन्तःकरण है, उनको चित्त शुद्धि के लिए कर्मकाण्ड में यज्ञ आदि बतलाये गये और जब चित्त

शुद्ध होने पर ज्ञान उदय होने की योग्यता उनमें आ जाय तब उस कर्मकाण्ड से हटाकर आगे बढ़ाने के लिए उसके फल को अनित्य बताते हुए कर्मकाण्ड पर आक्षेप कर दिया जाता है। यह सब अधिकार भेद पर व्यवस्थित है। इसका विशेष विवरण अग्रिम पद्य के प्रवचन में करेंगे। तात्पर्य यह कि वेद के ही एक भाग उपनिषद् में जैसा कि कर्मकाण्ड पर आक्षेप किया गया है वैसा ही भगवद्गीता में भी है। इससे भगवद्गीता वेद विरोधिनी है ऐसी कल्पना सर्वथा निस्सार है।

इसके अतिरिक्त इस पद्य में वेदवादों में निरत पुरुषों पर ही न्यून फल में फँस जाने का आक्षेप किया गया है। वाद शब्द का अर्थ फलवाद या अर्थवाद है यह पद्य के अर्थ में स्पष्ट कर चुके हैं। यदि पूर्व मीमांसा की ही प्रक्रिया देखी जाय तो भी वेद के मुख्य प्रतिपाद्य अंश पर इससे कोई आक्षेप नहीं आता। अर्थवादों का स्वार्थ में तात्पर्य पूर्व मीमांसक भी नहीं मानते। वे तो केवल विधि में प्ररोचना और निषेध्य में प्रद्वेष बताने के लिए स्तुति निन्दा रूप में कहे गए हैं। उनमें स्तुति पुरुषों की विधि प्रतिपाद्य कर्म में प्रवृत्ति के लिए होती है और निन्दा सुनकर निषिद्ध कर्म से निवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति या निवृत्ति कराना ही अर्थवाद वाक्यों का उद्देश्य है। स्वार्थ प्रतिपादन में उनका कोई तात्पर्य नहीं। इस प्रकार पूर्व मीमांसकों ने भी अर्थवादों को उपेक्षित ठहराया है। इसलिए उन पर आक्षेप वेद पर आक्षेप नहीं कहा जा सकता। फलवाद में भी विधि का तात्पर्य नहीं होता। क्योंकि फल विधेय नहीं है। “स्वर्ग कामो यजेत” इत्यादि वाक्यों में “स्वर्ग की इच्छा करो” ऐसा विधान सिद्ध नहीं होता किन्तु यदि स्वर्ग की इच्छा हो गई हो तो उपाय रूप से यज्ञ करना चाहिए। यह उस वाक्य का अर्थ होता है। इसलिए स्वर्ग कामना तो वहाँ उद्देश्य का विशेषण होकर ही रहती है। विधेय तो यहाँ यज्ञ कर्म ही है और विधेय में ही वाक्य का मुख्य तात्पर्य रहता है यह पूर्व मीमांसकों का निर्णय है। भगवान् ने गीता में सर्वत्र कामना को ही निन्दित ठहराया है। कर्मों की कहीं निन्दा नहीं की। प्रत्युत सर्वत्र यही प्रतिपादित किया है कि फलांश को छोड़कर कर्म तो करते ही रहना चाहिए। इसलिए वेदों के मुख्य प्रतिपाद्य कर्म भाग पर तो कहीं भी कोई आक्षेप गीता में मिलता नहीं। जो कुछ आक्षेप है वह फलांश पर ही है। फलांश वेद वाक्यों का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं। इसलिए फलांश पर किया गया आक्षेप वेद का विरोध करना नहीं कहा जा सकता। फल की इच्छा तो अन्तःकरण में स्वतः उत्पन्न होती है। वह विधान साध्य नहीं। जो लोग विधि वाक्यों को नहीं सुनते, नहीं जानते या उन पर श्रद्धा नहीं करते वे भी फल भोग की इच्छा तो सदा किया ही करते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि फल की इच्छा किसी शास्त्र से नहीं उत्पन्न की जाती। वह तो मायाजनित राग के द्वारा अन्तःकरण में उदित होती है। इसीलिए शास्त्रों में फलांश को “रागतः प्राप्त” कहा जाता है। शास्त्र तो उस इच्छा की पूर्ति के लिए उपाय मात्र बता देता है। जैसे भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लौकिक

भिन्न-भिन्न प्रकार के उपाय हैं वैसे ही वेद ने भी स्वर्ग सुख भोग की प्राप्ति के उपाय बतला दिए हैं। लौकिक उपायों की अपेक्षा वैदिक उपायों में विशेषता यही है कि लौकिक उपाय अल्पसुख उत्पन्न करते हैं और वह सुख अतिशीघ्र नष्ट होने वाला होता है। वैदिक यज्ञ आदि उपायों से जो स्वर्ग सुख मिलता है वह लौकिक सुखों की अपेक्षा बहुत उच्च श्रेणी का है और इनकी अपेक्षा बहुत कुछ चिरस्थायी भी है। इसीलिए अधिक और चिरस्थायी सुख प्राप्त करने के लिए आस्तिक पुरुषों की प्रवृत्ति वैदिक कर्मों में हुआ करती है। किन्तु वैदिक कर्मों से प्राप्त होने वाले अधिक सुखों में भी तारतम्य है। स्वर्ग में जाकर भी कोई सामान्य कोटि का देवता बनता है। उत्कृष्ट कर्म करने वाले वहाँ अधिकारी बन जाते हैं। शतयज्ञ पूरे कर लेने वाले इन्द्र पद प्राप्त कर लेते हैं। यह भी पुराण आदि में वर्णित है। अब जिन्हें सामान्य देव भाव मिला वे अपने से उत्कृष्ट अधिकारियों को देखकर चित्त में अवश्य संकुचित होंगे कि हमें भी इतना अधिकार मिलता तो बहुत अधिक सुख होता और लौकिक सुखों की अपेक्षा कितना ही चिरस्थायी हो किन्तु अन्ततः है वह भी विनश्वर। उसका भी क्षय होना ही है। क्षय हो जाने पर पूर्व सुखानुभवों का स्मरण कर अन्तःकरण में घोर दुःख होगा, जैसे लोक में कोई पुरुष बड़ा अधिकार प्राप्त कर फिर नीचे कर दिया जाय, तब उसकी अपेक्षा बहुत अधिक दुःख होता है। पुरुष जितना भोग भोगता है उतना ही उनमें अधिक राग बढ़ जाता है और उन भोगों के नष्ट होने पर बहुत अधिक क्लेश होता है। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य में रखकर वेद के ज्ञानकाण्ड और दर्शन शास्त्रों में यज्ञादि जन्य सुख को लौकिक सुख के समान ही बतलाया है और परम पुरुषार्थ के आगे उन्हें सर्वथा हेय माना है। यही बात गीता में भी है। इसलिए यह अंश भी वेदोक्त का ही अनुवाद है वेद विरोध का यहाँ कोई प्रसंग नहीं।



## तैत्तिरीयसं-पुष्प

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ (२।४५)

हे अर्जुन! सत्त्व, रज, और तम नाम के तीन गुणों से उत्पन्न संसार वेदों का प्रकाशनीय है। किन्तु तुम तो इन तीनों गुणों से ऊपर जाकर-उठकर निस्त्रैगुण्य बन जाओ। शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों के वश में मत रहो। सदा ही सत्त्व अर्थात् धैर्य में स्थित रहो। योग और क्षेम की भी चिन्ता छोड़ दो। केवल आत्मनिष्ठ हो जाओ।

पूर्व पद्य में कहा गया है कि वेदोक्त स्वर्गादि फलों की वासना रखने वालों को व्यवसायात्मक बुद्धि प्राप्त नहीं होती। इसपर प्रश्न होता है कि वेद तो जगत् के कल्याण के लिए भगवान् ने प्रकट किए हैं। फिर उनमें ऐसे कल्याणकारक व्यवसायात्मक बुद्धि प्रतिबन्धक विषय क्यों कहे गये? इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि संसार त्रिगुणात्मक है। आगे कहना है कि जगत् की रचना भगवान् की प्रेरणा से प्रकृति करती है और प्रकृति सत्त्व रज तम तीनों गुणों का एक समष्टि नाम है। इन गुणों में कोई एक प्रधान रहता है और शेष दो उसके अंग बन जाते हैं, व उससे दब जाते हैं। इसलिए संसार में तीनों प्रकार के प्राणी दिखाई देते हैं। किसी में सत्त्वगुण प्रधान होता है, किसी में रजोगुण और किसी में तमोगुण। इन तीनों गुणों का विस्तार आगे सत्रहवें और अट्ठारहवें अध्याय में भगवान् बतायेंगे कि सत्त्वगुण प्रधान मनुष्यों की प्रवृत्ति सदा शान्तिमय और निष्काम रहती है, रजोगुण प्रधान पुरुष कामनाओं से व्यग्र रहते हैं और तमोगुण प्रधान दूसरों के अहित में ही तत्पर रहते हैं।

इसप्रकार भिन्न भिन्न प्राणी और विशेषकर मनुष्य भी तीनों प्रकार के पाए जाते हैं। वेदों को तो सबको ही हितोपदेश करना है और सबका ही हित साधन करना है। इसलिए सबके ही उपयोगी उपदेश उनमें प्राप्त होते हैं। रजोगुण वाले कामना प्रधान पुरुष संसार में बहुत हैं, इसलिए उनकी कामनाओं की पूर्ति के उपाय रूप विविध कर्म वेद में विस्तार से बताए गए हैं। जिनसे स्वर्गादि फल की प्राप्ति होती है और जो मनुष्य पूर्वकृत कर्मानुष्ठान द्वारा शुद्धान्तकरण हो चुके हैं, जिनकी कामनाएं दब चुकी हैं, उनके लिए आरण्यक और उपनिषदों में उपासना और तत्त्वज्ञान का उपदेश भी वेदों में ही दिया गया है। यदि वेद केवल निष्काम पुरुषों को ही उपदेश देते तो रजोगुण प्रधान सकाम पुरुष वेदों के उपदेश रूप लाभ से वंचित रह जाते। तब सब जगत् का उपकार वेदों के द्वारा कैसे होता? वेदों को प्रकट करने वाले परमात्मा पर भी यह कलंक आता है कि उसने कुछ थोड़े से सत्त्वगुण प्रधान प्राणियों को ही उपदेश दिया। अधिकतर मनुष्यों के कल्याण का उपाय नहीं किया। इसलिए सब प्रकार

के प्राणियों के उद्धार के लिए ही वेदों को प्रयत्न करना पड़ा है। यहाँ “त्रैगुण्यविषयाः” इस शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने अनेक रूप से किया है। व्याकरण की रीति से “तीनों गुणों का समुदाय या उससे उत्पन्न” इतना ही इस शब्द का अर्थ होता है। इसलिए कई व्याख्याकारों ने तीनों गुण ही वेदों के उपदेश के विषय हैं, यही अर्थ माना है। तीनों गुणों से तीनों गुणों वाले मनुष्य आदि प्राणी ले लिए जाएंगे, अथवा तीनों गुणों से उत्पन्न संसार या सांसारिक प्राणी शब्द के अर्थ में ही प्रविष्ट कर लिए जाएं, ऐसा भी कई व्याख्याकारों का मत है। तीनों गुणों का समुदाय वेदों का विषय अर्थात् प्रतिपाद्य है— तीनों गुणों का वर्णन वेद करते हैं, यह भी अर्थ हो सकता है। किसी भी प्रकार का अर्थ किया जाय तात्पर्य एक ही होगा कि वेद तीनों गुण वाले मनुष्यों के उपकार के लिए हैं। वेद सभी को अपने अधिकार के अनुसार उपदेश देता है। कर्मकाण्ड के अधिकारियों को कर्मकाण्ड द्वारा उनकी अभिलाषा की पूर्ति के साधन बतलाता है; उपासना के अधिकारियों को उपासना का उपदेश देकर आगे बढ़ाता है और ज्ञान के अधिकारियों को तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर सीधा मोक्ष मार्ग में प्रविष्ट कराता है। अपने-अपने अधिकार के अनुसार प्रत्येक मनुष्य उसमें से अपना कर्तव्य चुन ले या गुरु उसको अपने अधिकार के अनुकूल मार्ग में लगा दें, जिससे उसका हित हो।

वैदिक सनातन धर्म की यही विशेषता है कि वह अधिकारभेद स्थापित कर प्रत्येक मनुष्य को हितकर मार्ग बता देता है। अन्य धर्म जहाँ केवल एक ही मार्ग बतलाते हैं। उस मार्ग में जो चल सकें, वे अपना कल्याण साधन करें। जो न चल सकें, उनके लिए कोई उपाय नहीं अर्थात् एक मार्ग में न चल सकने वालों के लिए उन धर्मों का दरवाजा बन्द रहता है। जैसे कि हमारे देश भारत में ही उद्भूत जैन और बौद्ध धर्म हैं। वे वेद को नहीं मानते। अतएव अपने यहाँ अधिकार-भेद भी नहीं रखते। उनके धर्म केवल निवृत्तिमार्ग को प्रधान रखते हैं। किन्तु प्रश्न यही है कि निवृत्ति-मार्ग में कितने मनुष्य जा सकते हैं? प्राणियों के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति-मार्ग ही है। आज जो जैन या बौद्ध संसार में दिखाई देते हैं, उनमें से कितने निवृत्ति मार्ग के अनुयायी हैं, इसकी परीक्षा की जाय तो प्रतिशत बहुत ही अल्प अंश में निवृत्ति प्रधान पुरुषों का प्राप्त होगा। तब शेष पुरुष तो नाममात्र के ही जैन-बौद्ध हैं। उस मार्ग से वे अपना कल्याण-साधन नहीं कर सकता यही सिद्ध होता है, और तो क्या आज संसार में जो बहुत बड़ा व्यापक धर्म फैला हुआ है, जिसके प्रचारक भी हजारों-लाखों की संख्या में सम्पूर्ण भूमण्डल में घूमते रहते हैं, उस ईसाई धर्म के उद्भावक हजरत ईसा का एक उपदेश प्रसिद्ध है कि “जो कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। बदला लेने का कभी प्रयत्न न करो।” इसमें सन्देह नहीं कि उपदेश अत्यन्त शान्ति-प्रधान और कल्याण-कारक एवं उच्च श्रेणी

का है। परन्तु देखना यही चाहिए कि इसका पालन कितने मनुष्य कर सकते हैं। यदि कहो कि इसे आदर्श मानना चाहिए और इसके पालन के लिए यत्न करना चाहिए, तो कहना होगा कि बात ठीक है, किन्तु यत्न करके भी इतनी शान्ति प्राप्त कर लेने में कितने मनुष्य सफल होंगे? हम कह चुके हैं कि आज संसार में यह एक व्यापक धर्म बन रहा है। किन्तु नाम के लिए इस धर्म के अनुयायी बनने वालों में नित्य लड़ाई-झगड़े, नित्य भिन्न-भिन्न प्रकारों से अन्य के नाश करने की प्रवृत्ति और सदा ही बदला लेने की भावना देखी जा रही है। उस शान्ति का लेशमात्र भी प्रतिशत-प्रतिसहस्र या प्रतिलक्ष एक में भी नहीं दिखाई देता। तब उस उपदेश का लाभ जनता ने क्या उठाया या उस उपदेश की श्रेणी तक पहुँचने के लिए आरम्भिक उपाय क्या है? यह उस धर्म में नहीं बताया जाता। इसलिए कहना होगा कि बहुतों के लिए ऐसे शान्ति प्रधान या निवृत्ति प्रधान धर्मों का द्वार ही बन्द है। किन्तु वैदिक सनातन धर्म में ऐसी बात नहीं। उसके बताए हुए वर्णधर्म और आश्रम धर्म में क्रम से उन्नत होने के उपाय निर्दिष्ट हैं। मनुष्यों के अधिकारानुसार भिन्न-भिन्न मार्ग इस धर्म में बताए हुए हैं। वर्तमान में बात उल्टी समझी जा रही है। अधिकार भेद पर चिढ़कर बहुत लोग वैदिक सनातन धर्म पर उल्टा आक्षेप करते हैं कि यहाँ तो बहुत से अधिकार ब्राह्मणादि जाति विशेषों को ही दिए जाते हैं अन्यो के लिए द्वार बन्द हैं। उन्हें अनधिकारी बतला दिया जाता है। यह बात बिल्कुल उल्टी है। एक दृष्टान्त देखिए, मान लीजिए कि किसी नगर में दो नए वैद्य आए। उनमें एक वैद्य के पास केवल एक योग (नुस्खा) था। चाहे कोई सिरदर्द वाला आये या कोई पेट के अजीर्ण वाला वही योग सबको वह वैद्य बतला देता था। जिन रोगों पर वह योग उपयोगी होता, उस रोग के रोगी उससे लाभ उठाते, किन्तु दूसरे यदि कहते कि हमें तो इससे लाभ नहीं हुआ तो यही उत्तर मिलता कि भाई! यहाँ तो यही औषधि है, लेते जाओ। कभी कुछ हो ही जायगा। न लाभ होगा तो हानि ही उठाना। यह तो वही कहावत हुई जैसा कि किसी कवि ने किसी वैद्य का उपहास करते हुए कहा है कि—

“यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केनापि प्रेषितम् ।

यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति।।”

अर्थात् किसी भी वृक्ष की जड़ ले लो। उसे किसी भी पदार्थ के साथ पीस डालो। वह चूर्ण किसी को दे दो। कुछ तो हो ही जायगा।

इसके विपरीत दूसरा वैद्य जो इसी नगर में आया था, वह प्रत्येक प्राणी के भिन्न भिन्न रोगों की परीक्षा करता, उस प्राणी की परिस्थिति, उसकी अग्नि का बल आदि देखता और तब सब बातों का विचार कर एक एक रोग में भी अनेक प्रकार की औषधियों का प्रयोग बतलाता। अब कहिए कि इन दोनों वैद्यों में से अधिक लोकोपकार किसके द्वारा होगा? निस्सन्देह आप यही कहेंगे कि अधिक उपकारक तो वह दूसरा वैद्य ही है जो भिन्न भिन्न रोगों पर और भिन्न भिन्न परिस्थितियों के अनुसार भिन्न भिन्न

औषधों का प्रयोग करता है। एक प्रकार की औषधि का प्रयोग करने वाले से तो बहुत कम लोग लाभ उठा सकेंगे। बस यही न्याय यहाँ भी समझिए। जैसे वैद्य स्थूल शरीर का चिकित्सक होता है, वैसे ही धर्माचार्य सूक्ष्म शरीर के अन्तःकरण, व्यावहारिक आत्मा आदि के चिकित्सक हैं। उनमें भी जो भिन्न भिन्न अधिकार के अनुसार भिन्न भिन्न प्रयोग बतलाता है, वही सबका उपकारक हो सकता है। एक योग बतला देने वाले वैद्य की तरह एक ही प्रकार का धर्म बतलाने वालों से बहुत अल्प जनता लाभ उठा सकती है। इसी उद्देश्य से सनातन धर्म में अधिकार भेद मुख्य माना गया है। कर्मकाण्ड का अधिकारी कर्म ही करे, उनमें भी वैदिक उच्च यज्ञादि कर्म के अधिकारी उनमें लगाए जाय, उनसे नीची श्रेणी के अधिकारी स्मार्त यज्ञ ही करें, उसके भी जो अधिकारी न हों, वे यज्ञ दर्शन, उनमें दान या जप आदि ही कर लिया करें, इससे वे भी क्रम से उन्नति करते जाएंगे।

इस प्रकार उपासना में भी अनेक भेद हैं। निर्गुणनिराकार परब्रह्म की उपासना जो नहीं करते, उनके लिए सगुण नाना रूपों की या उन रूपों की मूर्ति आदि की उपासना बतलाई गई हैं। इस प्रकार ज्ञानकाण्ड में भी भिन्न भिन्न मार्ग पर चलते हैं। क्रमिक उन्नति करता हुआ मनुष्य अन्तिम सर्वात्मक ज्ञान पर पहुँच जाता है। सनातन धर्म का यही विश्वास है कि अधिकारानुसार क्रमिक उन्नति का मार्ग सबको बतलाना चाहिए। एक ही मार्ग का हठ करने से सबको लाभ नहीं हो सकता और तो क्या जो अत्यन्त तमोगुणी मनुष्य अपने शत्रु आदि के उच्छेदन को ही अपना परम-पुरुषार्थ मानते हैं उनके लिए भी उपाय वेद ने बतलाए हैं। वेद में एक श्येन याग का भी विधान मिलता है, जिसका फल है शत्रुओं का उच्छेदन। पूर्वमीमांसा में विचार हुआ है कि ऐसे कर्म को धर्म तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह कोई पुरुषार्थ रूप नहीं है, किन्तु ऐसे उपाय बतलाने का भी वेद का लक्ष्य यही है कि जो तमोगुणी मनुष्य धर्म की ओर झुकना ही नहीं चाहते उन्हें उनकी रुचि के अनुसार तामस कार्य भी बतलाए जाएं तो उन उपायों के सफल होने पर उनकी वेद शास्त्रों पर श्रद्धा हो जायेगी। उस श्रद्धा के कारण वे वेद शास्त्रों के अन्यान्य उपदेशों पर भी ध्यान देने लगेंगे। इस प्रकार जो सर्वथा शास्त्र-विमुख थे, उन्हें शास्त्र की ओर खींचकर शास्त्र के उपदेश क्रमशः उनके अन्तःकरण में जमाए जायेंगे तो सम्भव है कि वे भी एक दिन धार्मिक बन जाएं। उनके सर्वथा उपेक्षा कर देने से तो वे यथेच्छाचारी बनकर अधिकाधिक पतित ही होते जाएंगे, इसलिए परम कारुणिक वेद उनकी रुचि के अनुसार उपदेश देकर उन्हें भी शास्त्र मर्यादा के भीतर पकड़ना चाहता है जिससे कि वे भी सर्वथा बहिर्मुख व वंचित न रहें।

मीमांसा के अनुसार वेदशास्त्रों में एक परिसंख्या नाम की विधि भी होती है। उसका उद्देश्य है कि व्यसनासक्त पुरुष को धीरे धीरे हटाना। जो मनुष्य मांस भक्षणादि के इतने व्यसनशील है कि उससे उनका बचाना असम्भव ही प्रतीत होता है उन्हें

पहले इतनी स्वतन्त्रता दी जाती है कि देव पितृ कार्य में अर्थात् यज्ञ श्रद्धादि में तुम मांस भक्षण कर सकते हो। स्वतंत्र रूप से बिना देव पितृ अर्चन के मांस मत खाया करो। इससे थोड़ी आजादी देकर बहुत कुछ उन्हें बचा लिया गया। लोक में भी ऐसा होता है कि जो बालक दिन रात खेलने के अभ्यासी हैं, उन्हें एक या दो घंटे खेलने के लिए दे दिए जाते हैं। उस समय की प्रत्याशा में वे शेष समय में अध्ययन करते रहते हैं। धीरे धीरे व्यसन से छुड़ा लेने का यह नियम मानव प्रकृति के अनुकूल है। इसी परिसंख्या रूप में मांसादि की अनुज्ञा भी वेद में मिलती है। उसका उद्देश्य यही है कि धीरे-धीरे इन्हें बचा लिया जाय। जिनको द्यूत का व्यसन है उन्हें भी कहा जाता है कि दीपावली के आसपास द्यूत खेल लिया करो। सदा मत खेला करो। इन सबका उद्देश्य शनैःशनैः व्यसनों से बचाना है। जब वर्ष भर द्यूत खेलना एक आदमी छोड़ देगा और केवल दीपावली पर ही खेलने का अभ्यासी रहेगा तो फिर इतने से अंश से उसे बचा देना कौनसा कठिन है।

इस प्रकार सब पर कृपा करते हुए, सबको मर्यादा में बांधते हुए वेदशास्त्रों में सबके उपकार के लिए सभी प्रकार के विधान किए हैं। किन्तु मनुष्य का कर्तव्य है कि वह जितना ऊँचा उठ जाय, वहाँ से ऊपर ही जाने की चेष्टा करता रहे, फिर नीचे न गिरे। इसी आशय से भगवान् ने कहा कि वेद तो तीनों गुणों वाले पुरुषों के लिए हैं किन्तु तुम बहुत बुद्धिमान् हो, इसलिए सोच-विचार कर इस त्रिगुण समुदाय से ऊपर उठो। त्रिगुण प्रकृति का धर्म है, आत्मा इसके बन्धन में नहीं है, इसलिए आत्मज्ञान की ओर झुकते हुए त्रिगुणमय प्रपञ्च से ऊपर आ जाओगे। जब त्रिगुण प्रपञ्च से ऊपर आओगे अर्थात् निस्त्रैगुण्य बनोगे तब निर्द्वन्द्व हो जाओगे। द्वन्द्व शब्द का अर्थ है जोड़ा। संसार में परस्पर विरुद्ध अन्तःकरण वृत्तियों के जोड़े प्रसिद्ध हैं। जैसे सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान आदि। बहुत से परस्पर सम्बन्धी वृत्तियों के भी जोड़े हैं, जिनसे एक के साथ दूसरा भी आ जाता है। जैसे अहन्ता-ममता; लोभ-मोह, काम-क्रोध, मद-मात्सर्य आदि। यह सब जोड़े प्रकृति के ही गुणों के प्रपञ्च हैं। त्रिगुणात्मक प्रकृति से ऊपर उठने पर इनका आक्रमण अन्तःकरण पर नहीं रहता। वही मनुष्य निर्द्वन्द्व कहलाता है। आगे कहा गया कि नित्य सत्त्व में स्थित हो जाओ। यहाँ शंका होगी कि सत्त्व भी तो प्रकृति का ही एक गुण है। जब भगवान् तीनों गुणों से ऊपर उठने का उपदेश दे रहे हैं, तब तो सत्त्व से भी ऊपर उठना चाहिए। फिर सत्त्व में स्थिति क्यों बताई गई? इसका समाधान अधिक व्याख्याकार यही करते हैं कि तीनों गुणों के सम्मिश्रण से ऊपर उठो। अर्थात् रज और तम का सम्मिश्रण दबा कर शुद्ध सत्त्व में रहो। शुद्ध सत्त्व से ही व्यवसायात्मक बुद्धि बनेगी और तभी कर्मयोग हो सकेगा। रज और तम का मिश्रण रहते व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं बन सकती। जब तक पुरुष संसार में है तब तक तीनों गुणों का त्याग तो नहीं हो सकता। तीनों गुणों का त्याग मुक्त होने पर ही होगा। साधन दशा में तो यही कर्तव्य है कि रज और तम



को दबाकर शुद्ध सत्त्व बढ़ाया जाय और सत्त्व शुद्ध होने पर बुद्धि स्थिर होगी तथा कर्मयोगादि में लगेगी। कई व्याख्याकारों ने यहाँ सत्त्व शब्द का अर्थ धैर्य किया है। पूर्वोक्त द्वन्द्वों की सहनशीलता बिना धैर्य के नहीं हो सकती, इसलिए धैर्य में स्थित होकर द्वन्द्वों की सहनशीलता प्राप्त करो। धैर्य भी सत्त्वगुण का ही कार्य है। इसलिए दोनों प्रकार की व्याख्याओं का तात्पर्य एक ही होता है। एक यह भी मार्ग है कि आगम शास्त्र में तीन गुण तो प्रकृति के माने गए हैं और इनसे ऊपर भी एक नित्य सत्त्व है। वह शिव या ईश्वर का स्वगत धर्म है उसके अनुसार ईश्वर सृष्टि करता है। यहाँ सत्त्व शब्द से भगवान् का अभिप्राय यही है कि तीनों गुणों से ऊपर उठकर उस भगवत् तत्त्व के अन्तर्गत सत्त्व में चले जाओ। संसार दशा में तीनों गुणों से ऊपर उठना यद्यपि सम्भव नहीं है तथापि भगवान् के उपदेश का आशय यही है कि अपना लक्ष्य त्रैगुण्य से बाहर हो जाना रक्खो और तदनुकूल ही प्रयत्न करते रहो, जिससे कि संसार से पृथक् हो सकोगे। कदाचित् यह शंका हो कि गुणों का सम्बन्ध छोड़ देने पर योगक्षेम कैसे चलेगा? जो चीज हमें प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त कर लेने का नाम योग है और जो प्राप्त है उसकी रक्षा करने का नाम क्षेम है। संसारी पुरुषों को अन्ततः भोजनादि व्यापार के लिए तो योगक्षेम करना ही पड़ता है इसीलिए व्यवहार में निर्वाह करने का नाम ही योगक्षेम पड़ गया है। वह सब संसार का निर्वाह भी तो तीनों गुणों के ही अन्तर्गत है। जब गुणों से पृथक् होने का प्रयत्न करेंगे तो संसार के कार्य भोजनादि का निर्वाह भी कैसे हो सकेगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् कहते हैं कि निर्योगक्षेम बनो, अर्थात् योगक्षेम की भी चिन्ता छोड़ दो। जो कुछ स्वतः प्राप्त हो जाय उसी से अपना निर्वाह करते रहो। योग का या क्षेम का कोई प्रयत्न मत करो। इसे ही दूसरे शब्दों में— “यदृच्छा-लाभसंतुष्टः” कहते हैं। अर्थात् बिना प्रयत्न जो कुछ स्वतः ही प्राप्त हो गया उसी से निर्वाह कर लेना चाहिए। शास्त्रों में ऐसे ही उपदेश विरक्त लोगों को दिए जाते हैं कि भगवान् स्वयं ही सबके योगक्षेम का प्रबन्ध अपने आप करते हैं। अतः बालक का जन्म होते ही माता के स्तनों से दुग्ध निकलने लगता है। यही कहा गया है कि—

वृत्यर्थं नातिचेष्टेथा सा हि तत्रैव निर्मिता ।

गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुःप्रस्रवतः स्तनौ ॥

अर्थात् अपने जीवन निर्वाह के लिए कोई चिन्ता व चेष्टा नहीं करनी चाहिए। जीविका तो विधाता ने पहले स्वयं बना दी है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि बालक के उत्पन्न होते ही माता के स्तनों से दूध निकलने लगता है। इसी उपदेश को महात्मा लोग इस प्रकार भी कहते हैं कि कोई सामान्य राजा भी किसी को कारावास का दंड देता है, तो उसके भोजन का प्रबन्ध अवश्य ही कर देता है। फिर महाराजाओं के भी महाराज परमात्मा ने कर्मवश जीव को संसाररूप कारावास में भेजा तो वह उसके

भोजन का प्रबन्ध कैसे न करेगा। महाराष्ट्र वीर शिवाजी के जीवन चरित्र में भी यह आता है कि जब वे कई किले बनवा रहे थे और उस कार्य में सैकड़ों मनुष्य लगे हुए थे तब एक दिन निरीक्षण करते हुए उनके चित्त में ऐसा अभिमान आ गया कि इतने मनुष्यों का पालन मैं ही कर रहा हूँ। उसी समय देखा कि उनके गुरु श्रीसमर्थरामदासस्वामी जो कि सुप्रसिद्ध सिद्धि प्राप्त थे, सामने से आ रहे हैं। शिवाजी ने प्रणाम किया। गुरु ने एक शिला की ओर संकेत कर कहा कि इसे तुड़वा दो। मजदूरों को आज्ञा हुई। वह शिलाखण्ड तोड़ा गया। उसके भीतर लोगों ने आश्चर्य से देखा कि थोड़ी सी मिट्टी है, उसमें एक छोटी सी मेढ़की बैठी है और उसके पास एक चुल्लु जल भी वहीं मौजूद है। स्वामी जी ने शिवा जी को सम्बोधित करके कहा कि “बता शिव! इस मेढ़की को यह जल किसने पहुँचाया”? शिवाजी समझ गए कि मेरे चित्त का अभिमान गुरु जी ने जान लिया है और उसे चूर्ण करने के लिए यह रचना मुझे दिखाई है। तुरन्त चरण पकड़ लिए और गिड़गिड़ा कर प्रार्थना करने लगे कि महाराज! अब तो ऐसी कृपा कीजिए कि इस प्रकार की दुर्भावनाएं चित्त में उठा ही न करें। आगे भी भगवान् का यह उपदेश आयेगा कि “योगक्षेमं वहाम्यहम्।” अर्थात् जो एकान्ततः विश्वासपूर्वक मेरे आश्रित हो जाते हैं, उनके योगक्षेम का निर्वाह मैं स्वयं करता हूँ। यहाँ भी यही उपदेश दिया है कि योगक्षेम की चिन्ता छोड़ दो। आगे आत्मवान् शब्द है। उसके भी दोनों प्रकार के अर्थ व्याख्याओं में मिलते हैं कि त्रिगुणमय संसार को छोड़कर केवल आत्मा की ही ओर ध्यान रखो। आत्मावाले तो सभी हैं फिर आत्मवान् शब्द के प्रयोग का यही आशय हो सकता है कि आत्मा की ही ओर सतत ध्यान रहना चाहिए। “अप्रमत्त रहो” यह अर्थ भी इस शब्द का व्याख्याओं में किया गया है।

इस श्लोक में भी कई सज्जन वेद-विरोध व वेद-निन्दा की शंका उठाया करते हैं। वेद तो गुणत्रय के भीतर की बात करते हैं। तुम उससे ऊपर उठो, इस कथन से वेद का छोटापन दिखाया गया। किन्तु यह शंका व्यर्थ है। हम कह चुके हैं कि तीनों गुणों में स्थित पुरुषों के उद्धार का प्रयत्न वेद करता है। सत्त्वगुण वालों के लिए त्रैगुण्य प्रपञ्च से बचने का उपदेश भी वेद के उपनिषद् भाग में दिया गया है। उसी उपनिषदों के उपदेश को भगवान् ने भी यहाँ अर्जुन के प्रति प्रकट किया। फिर विरोध या निन्दा का यहाँ प्रसंग ही कहाँ है? भगवद्गीता तो वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों का ही अनुवाद है।

## चौतीसवाँ-पुष्प

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ (२।४६)

इस पद्य की दो प्रकार से व्याख्या भाष्यकार और व्याख्याकारों ने की है। दोनों ही व्याख्याएं प्रसंग संगत और युक्तियुक्त हैं। इसलिए दोनों का ही हम यहाँ विवरण कर देते हैं।

### प्रथम प्रकार की व्याख्या

पूर्वोक्त उपदेश में सांसारिक मनुष्यों को यह शंका हो सकती है कि यदि हम वेदोक्त कर्मकाण्ड को छोड़ देंगे तो उस कर्मकाण्ड द्वारा होने वाले स्वर्गादि लाभ से तो हमें वंचित ही होना पड़ेगा। तब यदि एक लाभ छोड़ा कर दूसरे लाभ में भगवान् प्रवृत्त कर रहे हैं तो यह कौन सी महत्त्व की बात हुई? एक लाभ हुआ तो दूसरा तो छूट ही गया। इस शंका के निवारणार्थ भगवान् का यह उपदेश है। श्लोक का अर्थ है कि किसी उदपान अर्थात् कूपवापी आदि में मनुष्य का स्नान, जलपान आदि बिना प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, यदि चारों ओर भरा हुआ जल मिल जाय तो उसमें वह सब प्रयोजन तो सिद्ध हो ही जायगा और अधिक भी हो सकेगा। इसी प्रकार सब वेदों के कर्मकाण्डों से जितना प्रयोजन सिद्ध होता है उतना सब तो ज्ञानवान् ब्राह्मण को भी सिद्ध हो ही जाता है। उससे बहुत अधिक भी प्रयोजन सिद्ध होता है। यह भी तात्पर्य समझना चाहिए। इससे यही सिद्ध किया जाता है कि हानि कुछ नहीं होगी, अधिक लाभ ही होगा।

ज्ञानसहित कर्मयोग के फल में कर्मकाण्ड का फल भी अन्तर्गत हो जायगा। इसका तात्पर्य भी दो प्रकार से लगाया जा सकता है। एक यह कि सब क्रियाओं का अन्तिम फल सुख प्राप्ति ही है। लौकिक क्रियाएं जो कुछ भी हम करते हैं उनका भी अन्तिम लक्ष्य सुख प्राप्ति ही रहता है। कोई कुमार अध्ययन में प्रवृत्त होता है तो इसीलिए कि अध्ययन द्वारा ज्ञान होगा और उस ज्ञान से आत्मा में एक विशेष प्रकार का आनन्द होगा। किसी वस्तु का कार्य कारण भाव जाने बिना अज्ञानी पुरुषों के हृदय में एक खुटक रहती है। वे जिज्ञासा से व्याकुल रहते हैं कि इस तत्त्व को कैसे समझें? वही व्याकुलता निवृत्त होने से ज्ञानी को आनन्द हो जाता है। अथवा जिनका क्षुद्र लक्ष्य है, वे अध्ययन में इसीलिए प्रवृत्त होते हैं कि विद्या के द्वारा धनोपार्जन कर सकेंगे और उसका कई प्रकार से उपयोग कर सुख प्राप्त कर सकेंगे। व्यापारी मनुष्य व्यापार में या श्रमिक पुरुष श्रम में प्रवृत्त होता है तो वह भी इसीलिए कि व्यापार या परिश्रम से धनोपार्जन होगा और उससे उपभोग साधन होकर सुख होगा। इसप्रकार विस्तृत दृष्टि फैलाने से सब क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य सुख ही सिद्ध होता है। लौकिक

क्रियाओं के समान वैदिक कर्मकाण्डों का अन्तिम लक्ष्य भी सुख ही है। यज्ञादि से स्वर्ग प्राप्त कर वहाँ अद्भुत प्रकार के सुख प्राप्त कर सकेंगे। इसी उद्देश्य से काम्य-कर्मों में प्रवृत्ति होती है। शास्त्रों ने स्वर्ग का स्वरूप यही बतलाया है कि—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

अर्थात् जो सुख दुःख से मिश्रित न हो और आगे होने वाले दुःख से मिश्रित भी न होता हो, एवं इच्छा मात्र करने से ही जो प्राप्त हो जाय, उस सुख को ही स्वर्ग नाम से कहा जाता है। यज्ञ आदि के द्वारा ऊपर के लोकों में जाकर ऐसा ही सुख प्राप्त किया जाता है। यद्यपि उस सुख का भी क्षय होने पर आगे दुःख से त्रास होता है और सुखकाल में भी कुछ दुःख का सम्मिश्रण विरोधी असुरों के भयादि से पुराणों में सुना जाता है। किन्तु हम लौकिकों की अपेक्षा वह दुःख का मिश्रण बहुत अल्प है और क्षय भी उस सुख का बहुत काल में होता है। इसलिए अपेक्षाकृत उसे अमिश्रित और अक्षय ही समझा जाता है। यहाँ हमारा वक्तव्य इतना ही है कि लौकिक या वैदिक कर्मों का जो किसी कामना से किए जाते हैं, उन सबका अन्तिम प्रयोजन सुख प्राप्ति ही है। सुख प्राप्ति का लक्ष्य न रहने पर कोई भी कार्य नहीं किया जाता। यहाँ भगवान् का वक्तव्य यही है कि वे सब कर्म करके जो सुख प्राप्ति तुम्हें होती है उससे कहीं अधिक सुख प्राप्ति कामनाओं के त्याग से हो जाती है। पूर्व कह चुके हैं कि शान्ति और समृद्धि दो प्रकार के आनन्द हैं उनमें शान्तिरूप आनन्द ही मुख्य है। समृद्धि का आनन्द भी अन्त में शान्तिरूप में ही परिणत हो जाता है और समृद्धि का आनन्द भोगता हुआ भी पुरुष शान्ति आनन्द रूप निद्रा की इच्छा विवश होकर करता ही है। किसी वस्तु के बिना प्राप्त किए जो चित्त में व्यग्रता या चंचलता रहती है वही व्यग्रता या चंचलता दुःख है और वस्तु प्राप्त हो जाने पर वह चंचलता निवृत्त हो जाती है। वही सुख या आनन्द कहलाता है। यही उपदेश निवृत्तिमार्ग के अनुयायी महात्माओं ने विविध प्रकार से दिया है—

यच्च कामसुखं लोके यच्चदिव्यं महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः शोडशीं कलाम् ॥

कामना की पूर्ति से जो लौकिक सुख होता है और यज्ञादि से जो देवलोक का सुख प्राप्त होता है, यह सब सुख उस सुख के सोलहवें भाग भी नहीं हैं जो सुख तृष्णा क्षय से प्राप्त होता है। महात्मा भर्तृहरि ने भी सब सुख केवल रोग निवृत्त करने के ही समान है, इसका उपपादन किया है—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि

क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान् ।

प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं  
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

इसका अर्थ है कि जब मनुष्य को तृषारूप रोग सताता है तब वह मिष्ट और सुरभित जल का पान कर उस रोग को दूर कर देता है किन्तु उसी से वह मानता है कि सुन्दरमिष्ट जल पीने से मुझे बड़ा आनन्द आया। इसी प्रकार क्षुधा भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति के लिए शाकादि पदार्थों से मिश्रित चावल आदि का उपयोग कर उस रोग को दूर किया जाता है। इसे भी मनुष्य यही मानते हैं कि भोजन में बड़ा आनन्द आया। इस प्रकार काम प्रदीप्त होना भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति के लिए स्त्री से सम्बन्ध करता है। उसे भी मनुष्य बड़ा आनन्द मान लेता है। इस प्रकार वास्तव में सब क्रियाएं रोगों के उपाय ही हैं। किन्तु मनुष्यों को इनमें सुख की भ्रान्ति हो रही है। इन सबका तात्पर्य यही है कि शान्तिरूप आनन्द ही मुख्य है। उसी की प्राप्ति के लिए समृद्धि की भी अभिलाषा की जाती है। समृद्धि प्राप्त होने के क्षण में जो आनन्द आता है वह अन्तःकरण का उल्लासरूप आनन्द उसी क्षण में रहता है। वह उल्लास आगे नहीं रहता। इसका भी कारण है कि क्षणिक समृद्धि का आनन्द आगे शान्ति-आनन्दरूप में परिणत हो जाता है। अब आगे वह समृद्धि छिन जाए तो दुःख होता है। अर्थात् वह समृद्धि अपने स्वरूप में प्रविष्ट हो गई थी, उसके छिनने से स्वरूप में क्षति होगी। शान्ति बिगड़ेगी और उस अशान्ति से ही दुःख होगा। रोग उत्पन्न होकर उसकी चिकित्सा से रोग दूर करना इसकी अपेक्षा यदि इस रोग को उत्पन्न ही न होने दिया जाए तो वह शान्ति बहुत ही अधिक मूल्यवान् है। उसी के लिए मनुष्य सदा प्रयत्नशील रहता है कि मेरा ऐसा स्वास्थ्य रहे जिसमें रोग कभी उत्पन्न ही न हो। रोग उत्पन्न होकर उनका चिकित्सा से निवृत्त होना सदा स्वस्थ रहने के सुख के अन्तर्गत हो जाता है। यह कोई अभिलाषा नहीं करता कि मुझे भिन्न भिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होवें और उनकी चिकित्सा द्वारा मैं उन्हें मिटाता रहूं। प्रत्युत यही अभिलाषा रहती है कि रोग कभी उत्पन्न ही न हो। इसी प्रकार मन के रोग काम क्रोधादि उत्पन्न होकर शान्त किए जाएं, इसकी अपेक्षा वे उत्पन्न ही न हों, ऐसा उपाय करने में बहुत अधिक सुख है। भिन्न भिन्न प्रकार की कामनाएं उत्पन्न होकर भिन्न भिन्न उपायों से उनके तृप्त करने पर जो सुख प्राप्त होगा वह कामना उत्पन्न न होने के सुख के अन्तर्गत है अथवा कामना उत्पन्न न होने का सुख उससे कहीं अधिक है। इसी आधार पर तैत्तिरीयोपनिषद् की आनन्दवल्ली में जो आनन्द का तारतम्य बताया है कि एक स्वस्थ समृद्धिशाली विद्वान्, युवा पुरुष को जो आनन्द है वह मनुष्य आनन्द की एक सीमा है। उससे शतगुणित आनन्द गन्धर्वों का है। उससे भी शतगुणित देवगन्धर्वों का, उससे शतगुणित पितरों का, उससे भी शतगुणित देवताओं का इत्यादि रूप से क्रमिक आनन्द वृद्धि देवयोनियों की वहाँ बतलाई है। किन्तु सबके साथ “श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य”

यह वाक्य भी लगाया है। उसका अर्थ यही होता है कि गन्धर्व-पितृ-देवता इन सबको जितना आनन्द प्राप्त है, उतना ही आनन्द उस वेदवेत्ता श्रोत्रिय को प्राप्त है जो कि कामना से उपहत न हुआ हो। इसका यही आशय स्पष्ट है कि कामनाओं का जो परित्याग कर देता है उसको गन्धर्व-पितृ-देव इत्यादि सबका आनन्द प्राप्त हो जाता है। यहाँ “ब्राह्मणस्य विजानतः” इसमें ब्राह्मण शब्द का “ब्रह्म को जानने वाला” ही अर्थ है। अर्थात् जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया, ऐसे ब्रह्मवेत्ता के आनन्द में कर्मकाण्ड से देवलोकादि प्राप्त करने वालों के सब आनन्द अन्तर्गत हो जाते हैं। प्रत्युत इसका आनन्द उन सबसे उच्च श्रेणी का रहता है। क्योंकि यज्ञादि कर्मों द्वारा जिसने उच्च लोक प्राप्त किए हों उन्हें कभी न कभी अपनी इच्छा की पूर्ति न होने पर कष्ट भी होगा। किन्तु जिसे कामना ही नहीं है उसे कष्ट होना कभी सम्भव ही नहीं। इसलिए वैदिक यज्ञादि कर्म करने का जितना सुखरूप फल था, वह तो इस ज्ञानपूर्वक कर्मयोग के प्रकार में आ ही गया, उससे बहुत अधिक भी यहाँ प्राप्त हुआ। कर्मों के फल ज्ञान के अन्तर्गत हो जाते हैं। उसका दूसरा प्रकार यह भी है कि मुक्ति दो प्रकार की शास्त्रों में बतलाई गई है—

१. विदेह मुक्ति

२. क्रम मुक्ति

जिस पुरुष को यहीं पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो गई, उसके प्राण उत्क्रान्त होकर कहीं जाते नहीं। यहीं सबमें लीन हो जाते हैं। अर्थात् शरीर छोड़ते ही उसे सर्वात्मभाव प्राप्त हो जाता है। वह सबमें आत्मरूप से ब्रह्म के समान प्रविष्ट हो जाता है। यह विदेह मुक्ति है। जैसा कि श्रीशुकदेवजी के सम्बन्ध में श्रीभागवत् में कहा गया है कि वे शरीर छोड़कर आत्मा रूप में सबमें प्रविष्ट हो गए। जब भगवान् व्यास उन्हें पुत्र पुत्र कहकर पुकारने लगे तब उस सम्बोधन का उत्तर उन्हें वृक्षों से मिला। जिस पुरुष को इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान नहीं सिद्ध हुआ, वह यहाँ से सूर्यमण्डलभेद कर और ऊपर के लोकों में जाता है। इन लोकों में बहुत काल तक विचरण करता हुआ ब्रह्म के सत्य लोक में जाकर ब्रह्मा की आयुपर्यन्त वहाँ रहता है और वहीं पूर्णज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मा के साथ मुक्त हो जाता है। यह क्रम मुक्ति कही जाती है। इन दोनों का विशेष विवरण हम अष्टमाध्याय के गति प्रकरण में करेंगे। इस क्रम मुक्ति प्राप्त करने वाले के सम्बन्ध में उपनिषदों में कहा गया है कि—

“सर्वेषु लोकेषु अस्य कामचारो भवति।”

अर्थात् सिद्धि प्राप्त होने पर इस पुरुष को वह शक्ति प्राप्त हो जाती है कि इच्छानुसार सब लोकों में जा सके। यदि इसके चित्त में पितृलोक की इच्छा हो, तो इसके संकल्पमात्र से पितृलोक के रहने वाले इसका उपस्थान करने लगते हैं अर्थात् उसे सादर अपने लोक में ले जाकर भ्रमण कराते हैं। इसी प्रकार देवलोकादि की

इच्छा होने पर यह उन लोकों में भी जा सकता है और वहाँ जाने पर वहाँ के सुख भोग इसे स्वयं प्राप्त हो ही जाते हैं। इस विषय में कहना ही क्या है? यद्यपि साधन दशा में कामना छोड़ देने पर ही यह स्थिति प्राप्त होती है, किन्तु पूर्णरूप से अभी अन्तःकरण निवृत्त नहीं हुआ है, इसलिए पूर्व संस्कारवश कभी इच्छा हो भी जाय तो इतनी शक्ति उसे मिल जाती है कि वह अपनी इच्छा की पूर्ति संकल्पमात्र से ही कर सके। कर्मयोग में रहने वाले प्रायः यह क्रम-मुक्ति ही प्राप्त करते हैं। इसलिए सब लोकों के सुखभोग इनकी शक्ति के अन्तर्गत हो जाते हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के वैदिक यज्ञ करनेवाला यज्ञ के फल से किसी एक लोक में ही जाकर वहाँ के सुख भोगेगा, किन्तु इस ज्ञानमार्ग के अनुयायी को सब लोकों के सुख प्राप्त करने का अवसर रहेगा। इसलिए यह दृष्टान्त यहाँ पूर्णरूप से घट जाता है। कूपवापी आदि के जल में जितना प्रयोजन सिद्ध होता है, चारों ओर भरा हुआ जल यदि मिल जाय तो वह सब तो सिद्ध हो ही जाता है, उससे बहुत अधिक भी सिद्ध होता है। एक एक यज्ञादि कर्म करने वालों को कूपवापी आदि एक एक जलाशय प्राप्त हुआ और कर्मयोग सिद्ध करने वाले को मानों चारों ओर भरा हुआ जल मिल गया अर्थात् सब लोकों में जाने की और वहाँ के सुखभोग करने की शक्ति प्राप्त हो गई। इसलिए कर्मकाण्ड के फल से यह वंचित नहीं रहे। यही पद्य का आशय इस व्याख्या में बतलाया जाता है। यद्यपि साधन दशा में ही निष्काम हो जाने के कारण लोकों की इच्छा फिर उन्हें न भी हो तो भी कामना वालों को इस मार्ग का महत्त्व दिखाकर उन्हें इधर प्रवृत्त करने के लिए उपदेश रूप से भी सिद्धि प्राप्त जीव ऐसा किया करते हैं, यह भी शास्त्रों में मिलता है। ऐसे भी सौभरि आदि के दृष्टान्त पुराणों में मिलते हैं कि साधन दशा में कुछ सिद्धि प्राप्त होने पर ही उनको पूर्व संस्कारवश औरों को देखकर ऐसी इच्छा जागृत हो गई कि लौकिक सुखभोग करें। तब अपनी प्राप्त सिद्धि के अनुसार वे उसे प्राप्त कर सके। सौभरि ऋषि का व्याख्यान इसी प्रकार का विष्णुपुराण में मिलता है कि वे जल स्तम्भन विद्या से किसी जलाशय के भीतर के स्तर पर बैठकर साधना कर रहे थे। वहीं मत्स्यों को अपने कुटुम्बी स्त्री-बालकादि के साथ क्रीड़ा करते देखकर इनकी ऐसी इच्छा हो गई कि हम भी ऐसे कुटुम्बियों के सुख भोगें। तब वे एक राजा के पास विवाह के लिए गए। राजा के बहुत कन्याएँ थीं। किन्तु वह अकिंचन और विरूप ऋषि को देकर किसी कन्या का जीवन नष्ट करना नहीं चाहता था और निषेध कर देने पर भी कहीं तपस्वी शाप न दे दें, यह उसे भय था। इसलिए उसने यही युक्ति निकाली कि भगवन् “यदि आपको मेरी कोई लड़की वर ले तो मैं देने को तैयार हूँ।” तपस्वी उसके मन की बात समझ गए और अपने तपोबल से ऐसा दिव्य-सुन्दर समृद्धि युक्त रूप बनाकर राजा की पुत्रियों के सामने गए कि उन्हें देखते ही कामातुर होकर सभी लड़कियों ने उन्हें वर लिया। तब राजा ने सभी लड़कियाँ इनको दे दीं और ये चिरकाल तक उनके साथ सुखभोग करते रहे। फिर भोग छोड़कर तपस्या

में लग गए। इसी प्रकार परम तपस्वी च्यवन ऋषि की भी, अश्विनी कुमारों की कृपा से यौवन प्राप्त कर, सुखभोग की कथा मिलती है और परमसिद्ध कपिलमुनि ने अपनी स्त्री की इच्छापूर्ति के लिए ही तपोबल से सभी प्रकार के राज्योचित उपभोग सम्पादित कर परेच्छा से ही भोग में प्रवृत्ति की, यह कथा भी श्रीभागवत में विस्तार से वर्णित है। इन कथाओं से हमें यही सिद्ध करना है कि तपोमार्ग में लगे हुए पुरुष विशेषों को भी ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त हो जाती हैं और उस स्थिति में वे अपनी प्राप्त शक्तियों के अनुसार उच्च श्रेणी के भोग भी कर सकते हैं, यह भी संकेत इस पद्य में प्राप्त होता है। एक यह भी विचारणीय विषय है कि कर्मयोग भक्ति प्रधान होता है; भागवत धर्म और कर्मयोग एक ही हैं, यह हम “गीता का महत्त्व” नाम के प्रथमाध्याय के आरम्भिक प्रवचन में ही बता चुके हैं। विशेष कर गीता का प्रतिपाद्य कर्मयोग तो भक्ति प्रधान ही है यह अनेक गीता वचनों से सिद्ध होता है। तदनुसार भक्तिमार्ग में भगवान् के चरण ध्यान से जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके आगे सभी आनन्द अतितुच्छ हो जाते हैं और भगवद्भक्तपुरुष भगवदिच्छानुसार सभी लोकों में जा सकता है और वहाँ के सभी सुखों को भोग सकता है। इस प्रकार से इस पद्य की संगति सुस्पष्ट लगती है कि सामान्य जलाशयों का काम तो सब ओर भरे जल में हो जाता है; इससे अधिक भी बहुत कुछ होता है।

#### पद्य की व्याख्या का दूसरा प्रकार :

कई व्याख्याकारों ने उक्त पद्य की इस प्रकार व्याख्या की है कि पूर्व कथन में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वेद को सभी आर्य जाति के प्रमुख विद्वान् एकमात्र परम कल्याण का साधन और परमाराध्य मानते हैं। किन्तु यहाँ भगवान् उसकी इतनी उपेक्षा का उपदेश दे रहे हैं कि वेद तो त्रिगुण संसार के लिए है। तुम त्रिगुण संसार से ऊपर उठो। इसका आशय यही हुआ कि वैदिक कर्मकाण्डों को छोड़ दो। तब यह तो स्पष्ट ही वेद की अवज्ञा हुई। इसका समाधान उस पद्य की व्याख्या के अन्त में हमने संक्षेप से लिखा है। किन्तु इस पद्य के द्वारा भगवान् स्वयं स्पष्ट समाधान करते हैं। पद्य का अर्थ यह है कि उदपान अर्थात् कूपवापी सरोवर आदि में जल चारों ओर विस्तृत रूप से भरा हुआ रहता है। किन्तु मनुष्य उन जलाशयों में से उतना ही जल लेता है कि जितने से उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाय। जलाशयों के सम्पूर्ण जल का कोई एक मनुष्य उपयोग नहीं कर सकता। किन्तु किसी एक पुरुष के उपयोग में न आ सकने के कारण उस सम्पूर्ण जल की व्यर्थता भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि इस एक मनुष्य की तरह और भी सैकड़ों मनुष्य उन जलाशयों से अपना उपयोग सिद्ध करने वाले हैं। वे भी अपना प्रयोजन जितने जल से सिद्ध हो जाय उतने ही जल का उपयोग करते रहते हैं और इस प्रकार सभी प्रयोजन सिद्ध कर देने के कारण उन जलाशयों की परम प्रतिष्ठा बनी रहती है। सभी उनका आदर और स्तुति किया करते हैं। इस



प्रकार यहाँ भी समझना कि वेद एक विस्तृत जलाशय रूप है। उन सबका उपयोग कोई एक मनुष्य नहीं कर सकता। जितना प्रयोजन जिसे सिद्ध करना हो उतना अंश उसमें से ले लेता है और इसीसे अपने को कृतकृत्य बना लेता है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि ज्ञानयुक्त ब्राह्मण अपने ज्ञान के अंश को ही उसमें से ग्रहण कर ले। कर्मकाण्ड के पचड़े में वह क्यों पड़े? कर्मकाण्ड को मुख्य मानने वाले मीमांसक भी यह तो नहीं कह सकते कि वेदोक्त यज्ञ एक ही मनुष्य कर ले। अधिकारानुसार व्यवस्था उनको भी करनी पड़ती है। जो जिस यज्ञ का अधिकारी है वह उसी यज्ञ को करेगा। प्रथमाधिकारी पहले इष्टि ही करेगा। इष्टियाँ जो कर चुका है वह आगे सोमयाग में प्रवृत्त होगा। सोम की अनेक संस्थाओं से भी अपनी शक्ति और अधिकार के अनुसार किसी किसी संस्था में ही प्रवृत्त होगा। तात्पर्य यह है कि वेदोक्त सब कर्मों का उपयोग तो कोई भी नहीं कर सकता। अपने अपने अधिकारानुसार वेद के अंश चुन लेते हैं। तब जो ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त ब्राह्मण हैं, वे अपने अधिकारानुसार ज्ञानमार्ग के प्रतिपादक अंश को ही चुनें, इसमें वेद की अवज्ञा क्या हुई? सब प्राणियों के हित के लिए वेद है। सभी अपने अपने अधिकारानुसार अंशों का उपजीवन करते हैं जैसे कि जलाशय में से अपने अपने उपयोग के अनुसार ही जल सब लेते हैं। ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त मनुष्यों को स्वयं वेद ने ही उपदेश दिया है कि—

“तमेव एकं जानीथ, अन्या वाचो विमुञ्चथ।”

अर्थात् उस एक मूल तत्त्व को ही पहिचानो अन्य बातें छोड़ दो। तदनुसार स्मृतियों ने भी ज्ञानमार्ग के पथिक के लिए कहा है कि—

“नानुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।”

अर्थात् बहुत शब्दों का विचार भी मत करो, बहुत शब्दों को लेना अपनी वाणी को ग्लानियुक्त बनाना है। यम-नचिकेता सम्वाद आदि वैदिक आख्यानों से भी यही सिद्ध होता है। यम ने कामनाओं का प्रलोभन बहुत कुछ बतलाकर नचिकेता को कर्ममार्ग में प्रवृत्त रखना चाहा, किन्तु नचिकेता अपने निश्चय से न डिगा और मुझे आत्मज्ञान ही दो, इसी बात पर डटा रहा। तब यम ने भी अन्त में उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।

श्रेयो धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।”

इनका अर्थ है कि “श्रेय और प्रेय दोनों भिन्न भिन्न हैं। जो आरम्भ में कटु प्रतीत हो किन्तु आगे स्थिर और सबसे उत्तम फल देने वाला हो उसे श्रेय कहते हैं और जो आरम्भ में मन को बहुत प्रिय लगे किन्तु परिणाम जिसका विपरीत हो, उसे

प्रेय कहते हैं। इन श्रेय और प्रेय का प्रयोजन भी भिन्न भिन्न है और मार्ग भी भिन्न भिन्न हैं। दोनों ही मनुष्य को अपनी अपनी ओर आकर्षित करते हैं। उनमें से श्रेय मार्ग का ग्रहण करने वाले को बहुत उत्तम फल मिलता है और प्रेयमार्ग में जाने वाला उत्तम प्रयोजन से वंचित हो जाता है। इसी बात को दूसरे मन्त्र में और स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य के सामने श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं। धैर्यपूर्वक विचार करने वाला मनुष्य उन दोनों का और उनके परिणामों का पृथक् पृथक् विचार कर लेता है। विद्वान् पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का ग्रहण करता है और मन्द अर्थात् अल्प प्रज्ञा वाला मनुष्य अपने योगक्षेम को मुख्य समझ कर प्रेय का ही वरण करता है और कहा गया है कि नचिकेता ! तुम बड़े बुद्धिमान् हो कि तुम प्रलोभन की शृंखला में नहीं बंधे और उसे छोड़कर श्रेय मार्ग की ओर प्रवृत्त रहे। आगे यम ने उसे आत्मज्ञान का उपदेश दिया। यह आख्यायिका वैदिक कठोपनिषद् में ही आई है। इससे वेद का भी मुख्य तात्पर्य ज्ञानकाण्ड की ओर जाने में ही है। इसी आशय से भगवान् ने भगवद्गीता में तथा अन्यत्र भी कहा है—

**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**

अर्थात् सभी वेद मेरा ही ज्ञान प्राप्त कराते हैं। इन सब बातों से वेद में भी ज्ञान की ही प्रधानता सिद्ध की है, जो ज्ञानमार्ग में नहीं चल सकते, उनके लिए विस्तार से कर्मयोग का प्रतिपादन किया है। इस मार्ग का विस्तार से प्रतिपादन इसीलिए है कि उसके अधिकारी संसार में बहुत हैं। ज्ञानमार्ग के अधिकारी तो कोई विरले ही होते हैं। जो उसके अधिकारी हों, उन्हें तो वही मार्ग चुनना चाहिए। यह इस पद्य का अभिप्राय हुआ।

इस व्याख्या के अनुसार “सर्वतः सम्प्लुतोदके” यह पद ‘उदपाने’ का ही विशेषण है। पहिली व्याख्या में वह स्वतन्त्र पृथक् पद है और इस दूसरी व्याख्या में “यावानर्थः” का तात्पर्य इतना लेना पड़ता है कि जितना प्रयोजन हो, उतना ही लिया जाता है और पूर्वार्ध व उत्तरार्ध का साम्य आगे के “तावान्” शब्द से लगाना होता है और पहिली व्याख्या में “तावान्” शब्द को पूर्वार्ध के साथ जोड़ना पड़ता है और विस्तृत जलाशय और वेद प्रतिपाद्य ज्ञान का सादृश्य ऊपर से लगाना पड़ता है। दोनों ही व्याख्याएं प्रकरण से सम्बद्ध और युक्तियुक्त हैं। जैसा कि हमने उपपादन कर दिया है। द्वितीय व्याख्या में भगवद्गीता के वेद विरोधी होने की शंका मूल वाक्य के द्वारा ही सर्वथा उच्छिन्न कर दी जाती है। विद्वान् लोग अपनी रुचि के अनुसार किसी भी व्याख्या को ग्रहण करें। दोनों ही उत्कृष्ट विद्वान् व्याख्याताओं द्वारा प्रतिपादित हैं।

## पैतीसवाँ-पुष्प

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ (२।४६)

यह पद्य कर्मयोग सिद्धान्त का मुख्य प्रतिपादक है। लोकमान्यतिलक ने कहा है कि जिस प्रकार ज्ञानकाण्ड अनुयायी उपनिषदों में चार महावाक्य मानते हैं उसी प्रकार इस पद्य के चारों पाद कर्मयोग सिद्धान्त की चतुःसूत्री या चार महावाक्य कहलाने के अधिकारी हैं। ज्ञानियों के चारों महावाक्य परस्पर सम्बन्ध नहीं रखते। वे भिन्न भिन्न प्रकरणों के हैं। किन्तु यह चारों वाक्य एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, इतना ही विशेष है। पद्य का सामान्य रूप से शब्दार्थ है कि “तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है। फलों में तुम्हारा किसी अवस्था में भी अधिकार नहीं। तुम्हें कर्मफल की इच्छा से कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और कर्म के परित्याग का भी कभी विचार नहीं करना चाहिए। अर्थात् कामना छोड़कर कर्म सदा ही करते रहना चाहिए।”

जिन आचार्यों का यह सिद्धान्त है कि गीता में कर्म संन्यास का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन है, वे प्रथम पाद के “ते” शब्द को अर्जुन का ही वाचक मानते हैं, क्योंकि वही सम्बोध्य रूप से भगवान् के सम्मुख उपस्थित है। इसलिए प्रथम पाद का तात्पर्य उनके सिद्धान्त में यह है कि जो ज्ञाननिष्ठ हो चुके अर्थात् जिनको परिपक्व ज्ञान प्राप्त हो चुका, वे ही संन्यास के अधिकारी होते हैं। तुम अभी अपरिपक्व हो, इसलिए तुम्हारा अधिकार कर्म में है। एवकार से ज्ञाननिष्ठा व कर्म संन्यास का निषेध किया जाता है कि पूर्ण रूप से ज्ञाननिष्ठ हो जाने व कर्म का संन्यास कर देने में अभी तुम्हारा अधिकार नहीं। कर्मयोग के द्वारा जब अन्तःकरण की शुद्धि हो जायगी तभी कर्म संन्यास का अधिकार प्राप्त कर सकोगे। बिना अधिकार के संन्यास लेने पर दोनों ओर से गिर जाओगे। न ज्ञाननिष्ठा मिलेगी, न कर्मयोग रहेगा। इसलिए अपने अधिकारानुसार तुम्हें कर्मयोग करना चाहिए। बिना अधिकार सिद्धि के किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने पर हानि होती है। इसका निरूपण धर्म के प्रसंग में बहुधा कर चुके हैं। जो लोकमान्यतिलक आदि व्याख्याकार यह मानते हैं कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग है उनके सिद्धान्त में प्रथम पाद का “ते” शब्द जीवमात्र को लक्ष्य में रखकर कहा गया है कि तुम सब जीवों का अधिकार कर्म में है। “एव” पद से अकर्म अर्थात् कर्म छोड़ने का अथवा फलाशा रखने का निषेध किया गया है जो कि द्वितीय और चतुर्थ पाद में स्पष्ट किया गया। फल प्राप्ति में तुम्हारा अधिकार नहीं, यह स्पष्टीकरण द्वितीय पाद में है कि फलों में किसी अवस्था में भी तुम्हारा जीवों का अधिकार नहीं है। अर्थात् कर्म का फल देना तो ईश्वर के अधिकार में है। फल स्वयं तुम नहीं ले सकते। जैसा कि कृषि आदि लौकिक कर्मों में भी स्पष्ट देखा जाता है कि

कृषि कर देना मनुष्यों के अधिकार में है। फल मिलेगा या नहीं मिलेगा अथवा कितना मिलेगा, यह सब ईश्वराधीन है। परलोक में जिनका फल प्राप्त होना है, उन कर्मों के सम्बन्ध में तो स्पष्ट ही ईश्वराधीनता है। यज्ञादि का फल स्वर्गादि ले लेने में जीवों की कोई शक्ति नहीं। फल प्रदाता तो ईश्वर है। यही बात न्याय दर्शन में गौतम प्रणीत सूत्रों में भी कही गई है—

**ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मासिद्धेः''**

अर्थात् कर्म का फल देने में ईश्वर ही कारण है। क्योंकि पुरुष का कर्म कई बार निष्फल देखा जाता है। महिम्नस्तोत्र में भी यह स्पष्ट किया गया है कि—

**कृतौ सुप्ते जाग्रत त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां**

**क्व कर्मप्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।**

**अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं**

**श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥**

परमात्मा शिव की स्तुति है कि जब क्रतु या यज्ञ सो जाता है, अर्थात् समाप्त हो जाता है; तब यज्ञ करने वालों के साथ फल का सम्बन्ध कराने में आप जागते रहते हैं। कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि कर्म ही अपना फल दे देगा, वहाँ ईश्वर की क्या आवश्यकता है? इसलिए उनका मुख बन्द करने को द्वितीय पाद कहा गया कि कर्म तो उसी समय नष्ट हो जाता है। वह फल देने को कहाँ से आयेगा? कर्म नाम क्रिया का है और क्रिया क्षणस्थायिनी होती है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। क्रिया उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती है और फल मिलता है बहुत समय के बाद, इसलिए यही मानना होगा कि अपने यज्ञादि कर्मों के द्वारा हम ईश्वर को प्रसन्न करते हैं और ईश्वर हमें फल देता है। बिना ईश्वराराधना के फल नहीं मिल सकता। अतः हे भगवन्! फल प्रदान के प्रतिभू अर्थात् जिम्मेदार आप को देखकर मनुष्यों को श्रुति में श्रद्धा होती है और वे कर्म करने में अपनी कमर कसते हैं। यही बात प्रकृत श्लोक के द्वितीय पाद में भी कही गई है कि फल प्राप्ति में तुम जीवों का अधिकार नहीं है। तब जिसमें तुम्हारा अधिकार ही नहीं, उसकी चिन्ता क्यों करते हो? ईश्वर का अधिकार उस पर छोड़ो। अपने अधिकार में जो कर्म करना है, उसे ही तुम करते जाओ। चित्त शुद्धि के लिए जो कर्मानुष्ठान मानते हैं, उन ज्ञानमार्गियों की दृष्टि में भी द्वितीय पाद का यही तात्पर्य है कि फल कामनापूर्वक किए हुए कर्म चित्त शुद्धि के लिए नहीं होते वे तो स्वर्गादि फल ही दिलाते हैं। तुम यदि मुमुक्षु हो अर्थात् मोक्ष मार्ग में आना चाहते हो तो तुम्हें फल की आशा छोड़कर कर्म करना चाहिए। फल की आशा व्यवसायात्मक बुद्धि की बाधक है; यह पूर्व प्रवचन में कह आए हैं। इसीलिए चित्त शुद्धि के लिए किए जाने वाले कर्मयोग में फल की आशा छोड़ देना सर्वथा आवश्यक है। तभी चित्त शुद्धि होकर ज्ञान प्राप्ति होगी।

पद्य के दोनों पादों अर्थात् पूर्वार्द्ध से यह भी आशय स्पष्ट होता है कि श्रुति में भी कर्म करने का अधिकारी ही तुम जीवों को माना है। फलांश का विधान श्रुति भी नहीं करती। “स्वर्गकामो यजेत” इत्यादि वाक्यों का पूर्व मीमांसा की दृष्टि से भी यही अर्थ होता है कि यदि तुम्हें स्वर्ग की इच्छा है तो यज्ञ करो। यहाँ स्वर्ग की इच्छा करो ऐसा फल की इच्छा का विधान श्रुति नहीं करती क्योंकि ‘स्वर्ग कामः’ यह उद्देश्यभूत पुरुष का विशेषण है और उद्देश्य पूर्व सिद्ध ही रहता है। वह वाक्य का विधेय नहीं होता। इस शब्द मर्यादा के अनुसार यही सिद्ध होता है कि श्रुति में यागमात्र ही विधेय है। स्वर्ग कामना विधेय नहीं। तब स्पष्ट हो गया कि श्रुति भी तुम जीवों को कर्म का अधिकारी मानकर तुम्हें कर्म का उपदेश नहीं देती। हाँ, साधारण सांसारिक जीवों के लिए फल की इच्छा रहने पर श्रुति में कर्म का विधान है। किन्तु मुमुक्षु पुरुषों को फल की इच्छा छोड़कर कर्म करना चाहिए। तभी चित्त शुद्धि होती है। यह भी “संयोगपृथक्त्वन्याय” से पूर्वमीमांसा में माना गया है।

अब प्रश्न होता है कि हम इच्छा करें चाहे न करें कर्म तो अपना फल दे ही देगा। जैसा कि विद्वानों का वचन है कि—

“यदृच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः”

अर्थात् बिना जलने की इच्छा के भी कोई अग्नि का स्पर्श कर ले तो अग्नि तो उसका हाथ जला ही देगी। तब कर्म का फल सुख दुःख तो हमें इच्छा न रहने पर भी भोगना पड़ेगा। तब कर्म से बन्धन तो हो गया। फिर मुक्ति की आशा कहाँ? इसका उत्तर पद्य के तीसरे चरण से दिया जाता है कि तुम कर्मफल प्राप्त करने के कारण मत बनो। “सुखदुःखेसमे कृत्वा” इत्यादि पूर्व पद्य की व्याख्या में हम कह चुके हैं कि कर्म स्वयं बन्धक नहीं होता। न वह स्वयं सुख दुःख देने वाला होता है। राग और द्वेष चित्त में रहने पर ही कर्म का फल व कर्म से बन्धन हुआ करता है। इसलिए तुम कर्मफल प्राप्त करने के कारण मत बनो। इसका आशय है कि राग द्वेष चित्त में मत रक्खो। फल की आशा ही राग द्वेष रूप होती है, इसलिए फलांश न रखने पर तुम्हें कोई कर्मफल प्राप्त न होगा। सभी कर्मों का चित्त शुद्धि में ही विनियोग होता जायगा। यहाँ “कर्मफलस्य हेतुः” ऐसा समास मानकर यह व्याख्या की गई है। यदि “कर्मफलं हेतुर्यस्य” ऐसा बहुब्रीहि समास माना जाय तब इस पद का स्पष्ट यह अर्थ होता है कि फल प्राप्ति के कारण बनकर कर्म करने वाले न बनो। सांसारिक पुरुषों की कर्म करने की प्रक्रिया यह होती है कि पहले उनके हृदय में फल की इच्छा होती है, तब फल की इच्छा से उसकी प्राप्ति के उपायों की इच्छा होती है, जैसा कि किसी मनुष्य के हृदय में पहले भोजन की इच्छा हुई, तो उसे भोजन के उपाय भूत रसोई बनाने की इच्छा होती है। उस इच्छा से आत्मा में प्रयत्न उत्पन्न होकर शरीर चेष्टा रूप कर्म हुआ करते हैं। किन्तु मुमुक्षु पुरुष की यह प्रक्रिया नहीं होनी चाहिए।

वह फल को कारण बनाकर कर्म में प्रवृत्त न हो, किन्तु लोकसंग्रह व चित्त शुद्धि को उद्देश्य मान कर्म करे। लोकसंग्रह की व्याख्या आगे यथावसर की जायगी।

यहाँ ऐसी भी व्याख्या की जाती है कि कर्म और फल दोनों के कारण तुम मत बनो। अर्थात् मैं कर्म का कर्ता हूँ, इस प्रकार कर्तृत्व का अभिमान भी अपने पर मत लो और मैं फल का भोग करूँगा, इस प्रकार का फलभोक्तृत्व का अभिमान भी अपने पर मत लो। कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान से ही बन्धन होता है। इस अभिमान को ही गीता में अहंकार शब्द से कहा गया है। इस विषय को अठारहवें अध्याय में विशेष रूप से भगवान् ने स्पष्ट किया है। वही कर्म पांच कारणों के मिलन से होता है, यहां भी बतलाया जायगा, इसलिए केवल अपने आपको कर्ता मानने का अभिमान सद्बुद्धि नहीं, दुष्ट बुद्धि है, यह भी स्पष्ट किया गया है और यह भी स्पष्ट कहा है कि जिसके भाव में कर्तृत्वाभिमान नहीं है, वह सम्पूर्ण लोकों का वध कर देने पर भी किसी पाप से लिप्त नहीं होता। इन सबकी स्पष्ट व्याख्या उसी प्रकरण में की जायगी। यहाँ इतना ही कहना था कि सूत्ररूप द्वितीय अध्याय में भी उस आगे कहे जाने वाले विषय का संकेत कर दिया गया है। सांख्य दर्शन में भी अहंकार का लक्षण “अभिमानोऽहंकारः” यही मिलता है। वहाँ इसका अर्थ व्याख्याकार ऐसा लगाया करते हैं कि “अभि” अर्थात् आत्मा के सम्मुख जो ज्ञान, वही अभिमान या अहंकार कहलाता है। उसका अर्थ वे लोग ऐसा लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु का हमारे साथ अनुकूल या प्रतिकूल कैसा संबंध है, इसको बताने वाले अन्तःकरण को अहंकार नाम सांख्य दर्शन में दिया गया है। किन्तु गीता में उस अहंकार शब्द को और भी व्यापक रूप में लिया जाता है कि किसी कार्य का कर्तृत्व अपने ऊपर लेना भी अहंकार की ही सीमा में आता है। कर्म प्रकृति के द्वारा हो रहा है, मैं केवल उसका द्रष्टा हूँ, इस प्रकार कर्तृत्व का अभिमान अपने ऊपर जो नहीं लेता, उसपर कर्म अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। अर्थात् न उसे कर्मजनित सुख-दुःख होते हैं और न उन कर्मों से उसका बन्धन होता है। ऐसा उपदेश भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर आयेगा और यही कर्मयोग का मूल है। इसका दिग्दर्शन भी इस पद्य में करा दिया गया।

वैष्णवाचार्य इस अकर्तृत्व का भाव इस प्रकार लेते हैं कि जीव स्वतंत्र नहीं। वह जो कुछ करता है, वह ईश्वर की प्रेरणा से ही करता है। जैसा कि कहा गया है कि—

“अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥”

अर्थात् जीव तो अज्ञान से बद्ध है। वह अपने आप सुख या दुःख प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। ईश्वर की प्रेरणा से ही वह स्वर्ग या नरक में जाता है। भगवद्गीता में भी “ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशोऽर्जुन तिष्ठति”, इत्यादि पद्य में यही आशय आगे

बतलाया गया है। यहाँ यह प्रबल प्रश्न सबके अन्तःकरण में अवश्य उठता है कि जीव यदि ईश्वर की प्रेरणा से ही काम करता है तो यह कठपुतली के समान हुआ, काठ की पुतली को जैसा कोई पुरुष घुमा दे, वैसा ही वह घूमने लगती है। ऐसे ही जीव की स्थिति है, तो फिर उसे भले या बुरे कर्मों का फल क्यों मिले? पराधीनता से नाचने वाला तो भले बुरे का अधिकारी नहीं कहा जा सकता और जीव को ही उपदेश देने के लिए जितने शास्त्र बने हैं, वे भी सभी प्रकार से व्यर्थ ही होते हैं। क्योंकि जो कर्म करने में स्वतन्त्र ही नहीं, उसे उपदेश देने से क्या लाभ, उपदेश पाकर भी वह क्या करेगा? उसे तो जैसे ईश्वर चलायेगा, वैसे ही चलना पड़ेगा। इस प्रश्न का उत्तर भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने अपने सिद्धान्तानुसार दिया है, जिसका विवरण जहाँ यह प्रकरण प्रधान रूप से आयेगा, वहीं किया जायगा। यहाँ इसका विस्तार करना अप्रकृत होगा।

यह सुनकर पुनः एकबार हृदय में यह भाव उठता है कि जब हमें कर्म का फल नहीं लेना है तब व्यर्थ कर्म क्यों करें? जलताड़नादि व्यर्थ कर्मों की तो शास्त्र में भी निन्दा है और लोक में भी। ऐसे कर्म करने वाला विक्षिप्त ही कहलाता है। इससे फल की इच्छा जब नहीं करना है तब कर्म भी छोड़ ही देना अच्छा। इस भाव को सर्वथा उन्मूलित कर देने के लिए पुनः चौथा चरण भगवान् ने कहा है कि अकर्म में अर्थात् कर्म का त्याग कर देने में तुम्हारा संग अर्थात् तुम्हारी प्रवृत्ति कभी नहीं होनी चाहिए। कर्म अवश्य करो किन्तु फल की आशा छोड़ कर ही करो। फलाशा रखने पर बन्धन में अधिकाधिक पड़ते जाओगे और कर्म छोड़ देने पर जहाँ हो तहाँ ही बने रहोगे। आगे बढ़ने का कोई द्वार न रहेगा। आगे बढ़ाने वाला तो कर्म ही है। किसी वस्तु में गांठ भी क्रिया के द्वारा ही लगाई जाती है और उस गांठ को खोलना हो तो भी क्रिया ही करनी पड़ती है। बिना क्रिया के गांठ खुल भी नहीं सकती। इसी तरह हम जीवों का संसार बन्धन कर्म से हुआ है, तो उस बन्धन को खोलने के लिए भी कर्म की ही आवश्यकता है। गांठ लगाने वाले कर्म प्रवृत्ति कर्म कहलाते हैं और खोलने वाले निवृत्ति कर्म हैं। दोनों कर्म ही हैं। बिना कर्म किए तो जैसे बन्धन में हो, वैसे ही बन्धन में बने रहोगे। बन्धन खुलने की भी कोई आशा नहीं। इसलिए भगवान् दृढ़ता से जोर देकर कहते हैं कि अकर्म में कभी संग मत करना। कर्म छोड़ देने का कभी विचार भी मत करना।

फलाशा छोड़कर कर्म करने से ज्ञानमार्गियों के सिद्धान्त में चित्त शुद्धि होती है। उपासक सम्प्रदायों के सिद्धान्तानुसार भगवदाज्ञा का पालन होता है, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर बन्धन से मुक्त कर देते हैं और कर्मयोगियों के सिद्धान्तानुसार लोक संग्रह होता है, जिसका कि आगे विवरण करने की हम प्रतिज्ञा कर चुके हैं। यहाँ यदि यह प्रश्न हो कि यह सभी तो कर्म के फल ही हुए। इनकी प्राप्ति के लिए कर्म किया

गया, तो भी फलाशा का परित्याग कहाँ हुआ? इसका उत्तर है कि व्यक्तिगत सुख दुःख के उद्देश्य से कर्म करने का यहाँ निषेध है व्यक्तिगत सुख-दुःख की आश छोड़ देने का ही नाम फलाशा परित्याग है। वैसे तो जो भी क्रिया होगी, वह अपना कोई न कोई फल अवश्य उत्पन्न करेगी। किन्तु चित्त शुद्धि, भगवदाज्ञा पालन आदि की इच्छा नहीं करनी पड़ती। वे तो कर्मों के द्वारा स्वतः सम्पन्न हो जाते हैं। इसलिए ऐसे कर्म फलाशा परित्याग पूर्वक कर्म ही कहे जाते हैं। इस प्रकार पद्य के चारों पादों का परस्पर सम्बन्ध दिखाकर कर्मयोग का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया।





## छत्तीसवाँ-पुष्प

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ २-४६-५०

पूर्व पद्य में जो संक्षेप से कर्मयोग का लक्षण बताया गया, उसी की स्पष्ट व्याख्या आगे के पद्यों में की जाती है। “हे धनञ्जय तुम योग में स्थित होकर शास्त्रोक्त कर्म करते जाओ। केवल कर्म में संग अर्थात् आसक्ति छोड़ दो और कर्मसिद्ध हो या असिद्ध हो अर्थात् उसका फल मिले या न मिले, इन दोनों अवस्थाओं में अपनी चित्तवृत्ति को समान रखो। अर्थात् सिद्ध होने पर हर्ष और असिद्ध होने पर विषाद अपने चित्त में मत आने दो। यह सिद्धि और असिद्धि में सम वृत्ति रखना ही योग कहा जाता है।

इस पद्य के आरम्भ में जो “योग” शब्द आया है, वह कर्मयोग का बोधक है। क्योंकि प्रकरण कर्मयोग का ही चल रहा है। जिस प्रकरण में पूरा शब्द न देकर शब्द का एक अंश दे देने पर भी सम्पूर्ण शब्द का बोध हो जाया करता है, ऐसी संस्कृत ग्रन्थों की शैली है। जैसा कि सत्यभामा के बोध के लिए केवल “सत्या” अथवा केवल “भामा” शब्द ही कह दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ कर्मयोग का बोध कराने के लिए केवल योग शब्द का प्रयोग कर दिया गया। आरम्भ में ही जो प्रतिज्ञा की गई थी कि अब तक सांख्य की बुद्धि कही गई, अब योग की बुद्धि सुनो। वहाँ योग शब्द कर्मयोग का ही बोधक है। यहाँ योग शब्द से कर्मयोग का ही ग्रहण प्रायः सभी व्याख्याकारों ने किया है। कई व्याख्याकार ऐसा कहते हैं कि पद्य के चौथे चरण में स्वयं ही योग का लक्षण बताया गया है कि सिद्धि और असिद्धि दोनों में चित्त वृत्ति की समानता रहना ही योग है। उसी योग का पद्य के आरम्भ में निर्देश है। अर्थात् पद्य के आरम्भ में जो योग शब्द कहा है उसका अर्थ चतुर्थ पाद में स्वयं भगवान् ने खोल दिया है कि सिद्धि और असिद्धि में समान रहने का नाम ही योग है। ऐसे योग में स्थिर रहकर ही कर्म करना चाहिए। इस व्याख्या में भी कोई भेद नहीं पड़ता, क्योंकि कर्मयोग का भी यही लक्षण है कि सिद्धि-असिद्धि में समान रहना। इसलिए योग शब्द का अर्थ कर्मयोग ही फलित होता है। कई व्याख्याकारों ने योग शब्द का अर्थ परमात्मा से सम्बन्ध रखना माना है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि परमात्मा से संबंध रखते हुए कर्म करो। अर्थात् जो कुछ करो वह परमात्मा को प्रसन्न करने के ही उद्देश्य से करो और अपने कर्मों को परमात्मा को ही अर्पण कर दिया करो। यह

व्याख्या भी कर्मयोग के ही अन्तर्गत आ जाती है। क्योंकि ज्ञानमूलक, भक्ति-प्रधान कर्म ही कर्मयोग है।

एक शंका यहाँ यह भी की जाती है कि सिद्धि-असिद्धि में समानता रखना तो “सुखःदुःखेसमे कृत्वा” (२-३८) इत्यादि पद्य में पहले भी कहा जा चुका है। फिर यह उपदेश पुनरुक्ति मात्र हुआ। इसका समाधान एक तो यह है कि वह उपदेश सांख्य मार्ग वालों के लिए था। कर्मयोग का प्रकरण उसके आगे के पद्य से आरम्भ हुआ है। वहाँ यह कहा गया था कि सांख्य मार्ग वाले भी यदि कर्म में प्रवृत्त हों तो सुख-दुःख आदि में चित्त की एकरूपता रखते हुए प्रवृत्त हों, इससे उन्हें पाप नहीं लगेगा अर्थात् वे अपने मार्ग से विचलित न होंगे और यहाँ कर्ममार्ग वालों को समान भाव का उपदेश दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि समान भाव दोनों ही मार्गों में आवश्यक है। पृथक्-पृथक् मार्ग में उपदेश होने के कारण पुनरुक्ति नहीं कही जा सकती। दूसरा उत्तर यह है कि वहाँ केवल युद्ध के फलों में समान दृष्टि रखना बताया गया था और यहाँ कर्ममात्र के फल में सिद्धि-असिद्धि की दशा में समान दृष्टि का उपदेश किया जाता है। इसलिए सामान्य-विशेष्य भाव के कारण भी पुनरुक्ति नहीं होती।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि फल की आशा का परित्याग तो पहले पद्य में ही बताया जा चुका, फिर सिद्धि और असिद्धि की कल्पना ही क्या? फल की प्राप्ति या अप्राप्ति ही सिद्धि या असिद्धि शब्द से कही जाती है। जब फल की इच्छा मात्र ही छोड़ दी तो सिद्धि और असिद्धि का प्रश्न ही कहाँ रहा? जिनमें समानता का उपदेश दिया जाता है। इसका उत्तर है कि प्रत्येक कर्म के जो स्वर्गादि फल शास्त्र में बताए गए हैं, उन्हें छोड़कर कर्म करने का उपदेश पूर्व पद्य में दिया गया। किन्तु प्रातिस्विक फल की आशा छोड़कर कर्म करने से जो चित्त शुद्धि या भगवत्प्रसाद आदि फल प्राप्त होते हैं, उनकी सिद्धि-असिद्धि में भी समान भाव रखना चाहिए, यह यहाँ कहा जाता है। अर्थात् यह भी विचार मत करो कि इतने दिन मुझे कर्मयोग में लगे हो गये, अभी तक मेरी चित्त-शुद्धि कुछ नहीं हुई या भगवत्प्रसाद के अभी मुझे कुछ लक्षण दिखाई नहीं दिए। तुम तो केवल कर्तव्य समझ कर कर्म करते जाओ, इस कर्म का फल क्या हो रहा है, इस ओर कोई दृष्टि ही न दो। इसी का नाम योग या कर्मयोग है।

दूसरे पद्य का अर्थ है— “हे धनञ्जय! कर्म बुद्धियोग की अपेक्षा बहुत ही छोटी श्रेणी का है। तुम तो बुद्धि को ही अपना रक्षक बनाओ। फल की इच्छा को कारण मानकर कर्म करने वाले तो बहुत दीन होते हैं।” यहाँ कर्म शब्द से फलाशा पूर्वक किया जाने वाला कर्म ही लेना चाहिए, क्योंकि चतुर्थ पाद में “फल हेतवः”

अर्थात् फल को लक्ष्य मानकर कर्म करने वालों को ही कृपण कहा गया है। इससे फलाशा पूर्वक कर्म को ही बुद्धियोग से दूर तक अवर कक्षा का अर्थात् बहुत छोटा बताना सिद्ध होता है। यहाँ “बुद्धियोग” शब्द का व्याख्यान भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्याकारों ने किया है। अधिकांश व्याख्याकर्ता यही कहते हैं कि पूर्व पद्य में जो सिद्धि और असिद्धि में समता बुद्धिरूप योग बताया गया उसी बुद्धिरूप योग से फलाशा पूर्वक किया जाने वाला कर्म बहुत छोटा है। यह समता बुद्धि की ही प्रशंसा है और उसी समताबुद्धि की शरण में जाने का अर्जुन को उपदेश है। अर्थात् पूर्व पद्योक्त समताबुद्धि की प्रशंसा मात्र इस पद्य में की गई है। कोई नई बात इसमें नहीं है। प्रशंसा प्ररोचना के लिए शास्त्र में सर्वत्र ही की जाती है। कई व्याख्याकारों ने बुद्धियोग शब्द का अर्थ सिद्धि-असिद्धि में समान भाव रखते हुए ईश्वर के साथ सम्बन्ध रखना बताया है। इसकी अपेक्षा कर्म को नीची श्रेणी का बताना ही इस पद्य का उद्देश्य है। इससे तात्पर्य यह निकला कि ईश्वरोपासना रूप ईश्वर का योग, कर्म से बहुत श्रेष्ठ है। कई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि समता बुद्धि प्राप्त करने के लिए ईश्वर योग अर्थात् ईश्वरोपासना श्रेष्ठ है। कर्म उसकी अपेक्षा बहुत नीचा है। इस व्याख्या के लिए “बुद्ध्यर्थ योगः” ऐसा समास मानना होगा और आगे तृतीय पाद में “बुद्धौ” यह सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ में मानी जाती है। अर्थात् समता बुद्धि के प्राप्ति की निमित्त ईश्वर की शरण में जाओ। किसी व्याख्याकार ने “बुद्धियोग” शब्द से ज्ञानयोग ही लिया है। तब यदि यह प्रश्न हो कि इस कर्मयोग के प्रकरण में बीच में ही ज्ञानयोग की बात क्यों उठाई गई? इसका वे उत्तर देते हैं कि अर्जुन को कर्मयोग का ही अधिकारी समझ भगवान् कर्मयोग का उपदेश दे रहे हैं। किन्तु वहाँ भी मुख्य सिद्धान्त का संकेत कर दिया है कि यह इस समय प्रशंसित कर्मयोग भी वास्तव में ज्ञानयोग की अपेक्षा बहुत छोटी श्रेणी का है। इसलिए तुम बुद्धि अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति के लिए ईश्वर की शरण में जाओ। ईश्वर कृपा से ज्ञानयोग के अधिकारी बन सकोगे और ज्ञानयोग प्राप्त कर सकोगे। अन्यान्य देवताओं से फल प्राप्ति की आशा रखना तो केवल दीनता ही है।

लोकमान्यतिलक बुद्धियोग का ज्ञानयोग अर्थ करने वालों की आलोचना तो ठीक करते हैं, किन्तु यहाँ बुद्धियोग शब्द का स्पष्ट अर्थ क्या है, इस विषय में वे भी कोई स्पष्टीकरण नहीं कर सके। उन्होंने लिखा है कि यहाँ बुद्धि का कोई विशेषण नहीं दिया गया इसलिए बुद्धि शब्द से यहाँ वासनात्मक बुद्धि ही ली जानी चाहिए और उसे व्यवसायात्मक बुद्धि के द्वारा शुद्ध कर तदनुसार कर्म करना चाहिए। समत्वरूप योग में ही बुद्धि रखनी चाहिए, इत्यादि। इस सम्बन्ध में विद्यावाचस्पतिश्रीमधुसूदनजी का सिद्धान्त हम पहले दो जगह दिखा आए हैं कि वे बुद्धियोग शब्द का व्यापक अर्थ मानते हैं। जीवों में बुद्धि के चार सात्त्विक रूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य नाम के हैं। यह सांख्य शास्त्र से स्पष्ट किया गया है। किन्तु वे तामस रूपों अर्थात् अधर्म,

अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य से दबे हुए रहते हैं। ईश्वर में केवल चार सात्विक रूप ही हैं, तामस रूपों का वहाँ स्पर्श भी नहीं होता। अब यदि जीव ईश्वर से मिलना चाहता है, अर्थात् अपनी मुक्ति चाहता है तो उसका कर्तव्य है कि तामस रूपों को दबाकर सात्विक रूपों को जगावे और उनके द्वारा ही ईश्वर के साथ योग अर्थात् सम्बन्ध करे। यही बुद्धियोग शब्द का उनके सिद्धान्त में प्रकृत अर्थ है। यहाँ वैराग्य योग का प्रकरण है अर्थात् कामासक्ति छोड़कर कर्म करने की बात चल रही है, इसलिए यहाँ बुद्धि पद से बुद्धि का सात्विक रूप वैराग्य ही लिया जाना चाहिए। उस वैराग्य के द्वारा ईश्वर से योग किया जाय, इसकी अपेक्षा फलाशा से कर्म करना बहुत छोटी श्रेणी का है। क्योंकि फलाशा रखने वाले तो सब देवताओं के सामने कृपण अर्थात् दीन रहा करते हैं। वैराग्य बुद्धि प्राप्त कर लेने वाले की दृष्टि में कोई छोटा-बड़ा रहता ही नहीं। जैसा कि कहा गया है कि—

“तृष्णाञ्चेह परित्यज्य को दरिद्रः कः ईश्वरः ।  
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यं तु शिरसि स्थितम् ॥”

अर्थात् जिस पुरुष ने तृष्णा का परित्याग कर दिया, उसकी दृष्टि में दरिद्र और बहुत बड़ा ऐश्वर्य रखने वाला दोनों एक से ही हो जाते हैं। उसे जब किसी से कुछ लेना नहीं, तब उसकी दृष्टि में दरिद्र और समर्थ में भेद ही क्या रहेगा? यदि तृष्णा को कुछ भी मन में स्थान दिया जाय तो दासभाव सिर पर आ लदता है। अर्थात् तृष्णा वाला पुरुष सबके ही आगे दासभाव दिखाने लगता है। इस प्रकार विद्यावाचस्पतिजी की व्याख्या के अनुसार ही यह श्लोक ठीक लगता है।

तृतीय श्लोक का अर्थ है कि “बुद्धियोग जिसे प्राप्त हो गया वह सुकृत और दुष्कृत अर्थात् पुण्य और पाप दोनों को छोड़ देता है। इसलिए हे अर्जुन! तुम योग प्राप्त करने की प्रार्थना करो। कर्म की कुशलता ही योग कहलाती है।”

यहाँ प्रकरण के अनुसार सुकृत और दुष्कृत छोड़ने का तात्पर्य कर्म छोड़ देने में नहीं है, किन्तु उनका फल छोड़ देने में ही है। क्योंकि इसके पूर्व और आगे भी कर्म का फल छोड़ने का ही प्रसंग चल रहा है। स्वरूपतः कर्म छोड़ने का यहाँ कोई प्रसंग नहीं। इसलिए सुकृत और दुष्कृत शब्दों का शोभन फल देने वाला और बुरा फल देने वाले ये अर्थ विवक्षित हैं। सुकृत और शोभन फल देने वाला मानकर छोड़ देना अर्थात् वैसा भावना से नहीं करना और इसी प्रकार दुष्कृत को बुरा फल देने की शंका रखकर न करना। यही सुकृत-दुष्कृत त्याग का अर्थ यहाँ उचित होगा। अब यहाँ यह भी प्रश्न उठता है कि दुष्कृत को छोड़ना तो ठीक किन्तु सुकृत तो लाभदायक है। उसे क्यों छोड़ा जाय? अपनी उन्नति को भी छोड़ने का कौन विचार करेगा। इसका उत्तर यही है कि लौकिक दृष्टि में सुकृत और दुष्कृत का विधान है किन्तु पारमार्थिक

दृष्टि में जहाँ कि मुक्ति को ही मुख्य पुरुषार्थ माना जाय वहाँ यह दोनों ही त्याज्य की कोटि में आते हैं। जैसा कि पूर्व पद्य में कह चुके हैं कि कर्म का फल बुद्धियोग से बहुत नीची कक्षा का है। कर्म में सुकृत-दुष्कृत दोनों ही आ गए। सुकृत के फल स्वर्गादि को भी लौकिक सुखों के समान हेय कोटि में ही सांख्य दर्शन ने गिना है। सांख्य की कारिका है—

“दृष्टवदानुश्रविकः सहाविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥”

अर्थात् वैदिक कर्म भी लौकिक कर्मों के समान ही हैं। क्योंकि उनमें भी अविशुद्धि, क्षय और अतिशय रहते हैं। अविशुद्धि का अर्थ है— धर्म और अधर्म की संकीर्णता। इसको सांख्य दर्शन वालों ने इस प्रकार दर्शाया है कि यज्ञ में जहाँ देवताओं को प्रसन्न करना आदि धर्म हैं, वहाँ पशु हिंसादि अपधर्म भी हैं। इसलिए वैदिक यज्ञादि कर्म भी संकीर्ण हैं। पूर्व मीमांसक लोग यज्ञ के पशुवध में पाप नहीं मानते। उनका मत है कि हिंसा का निषेध एक सामान्य वचन है और यज्ञ में पशुवध का विधान करने वाला वचन विशेष वचन है। विशेष से सामान्य का बाध हो जाता है। अर्थात् विशेष वचन के विषय को छोड़कर ही सामान्य वचन की प्रवृत्ति हुआ करती है। ऐसी स्थिति में हिंसा का निषेध वचन यज्ञ सम्बन्धी पशुवध को छोड़कर ही प्रवृत्त होगा। जब यज्ञ के पशुवध का वह निषेध वाक्य ही प्रवृत्त न हुआ, तब उसमें अधर्मता भी सिद्ध नहीं होगी। क्योंकि धर्म या अधर्म तो केवल शास्त्रगम्य हैं। शास्त्र में जिनका विधान है वे धर्म कहलाते हैं और जिनका निषेध है वे अधर्म कहे जाते हैं। जब निषेध वाक्य यज्ञ सम्बन्धी पशुवध से प्रवृत्त न हुआ तब उसे अधर्म कहने में भी कोई प्रमाण नहीं रहा। यह पूर्व मीमांसा का मत है। किन्तु सांख्य दर्शन ऐसा नहीं मानता। वे कहते हैं कि जिन वचनों में परस्पर विरोध हो उनमें ही एक दूसरे का बाधक हुआ करता है। यहाँ हिंसा निषेध के सामान्य वचन में और यज्ञ में पशुवध विधान करने वाले विशेष वचन में विरोध ही नहीं है। क्योंकि हिंसा का निषेध हिंसा से मनुष्य को पापी होना बतलाता है और यज्ञ में पशुवध विधान करने वाला वचन उस पशुवध से यज्ञ की सिद्धि बताता है। पुरुष को पाप होगा या न होगा यह बात पशुवध के वचन में नहीं कही जाती। ये दोनों ही बातें एक जगह सम्भव हो सकती हैं कि यज्ञ का पशुवध यज्ञ को सिद्ध कर दे, किन्तु पुरुष में उसके द्वारा बुरा अतिशय रूप पाप भी पैदा हो जाय, जैसा कि एक मनुष्य रसोई पकाने के लिए अग्नि जलाता है, वह अग्नि रसोई तो पका देती है, किन्तु पुरुष की आंखों में धुआं लगना व शरीर में ताप आना, यह अनिष्ट भी पैदा करती है। इसी प्रकार कुआं खोदने वाला जो गड्ढा बनाता है, उससे कुआं तो बन जाता है, किन्तु पुरुष को श्रम और मिट्टी-कीचड़ आदि में शरीर के मैले हो जाने का क्लेश भी होता है। इन लौकिक कामों में क्लेश की अपेक्षा फल अधिक मानकर सब

लोग प्रवृत्त हो जाया करते हैं। ठीक इसी प्रकार यज्ञ का पशुवध भी यज्ञ को तो सिद्ध कर देगा, किन्तु पुरुष में बुरा अतिशय रूप अधर्म भी पैदा करेगा। उस अधर्म के फल की अपेक्षा यज्ञ का फल बहुत उत्कृष्ट है। इसलिए यज्ञादि में शिष्ट-पुरुषों की प्रवृत्ति बन जाती है। यह तो सिद्ध हुआ कि यज्ञ का उत्तम फल स्वर्गादि प्राप्त करने वाले भी समय-समय पर अधर्म के मिश्रण के कारण क्लेश भी पाते रहेंगे। जैसा कि पुराणों में वर्णन मिलता ही है कि स्वर्ग के देवता भी समय-समय पर असुरों आदि के द्वारा सताए जाते हैं और उससे दुःख भी पाते हैं। तब मिश्रित फल होना लौकिक कर्म और वैदिक कर्मों में समान रहा। इसके अतिरिक्त जैसे लौकिक उन्नति क्षययुक्त है, अर्थात् अस्थायी है, सदा नहीं रहती, वैसे ही वैदिक यज्ञों से प्राप्त होने वाले स्वर्गादि भी अस्थायी हैं। जो सुख या दुःख पैदा होगा उसका नाश भी अवश्य होगा, यह दर्शन शास्त्रों का सिद्धान्त है। सुख का नाश हो जाने पर बहुत बड़ा दुःख होता है। यह अनुभव सिद्ध है। ऐसे ही स्वर्ग प्राप्त करने वालों में भी छोटे-बड़ेपन का भेद रहता है। कोई सामान्य देवता बनता है, कोई अधिकारी और कोई राजा। अपने से बड़ा दूसरे को देखकर ईर्ष्या का दुःख प्राणी के हृदय में अवश्य उत्पन्न होता है। इस विवरण से सिद्ध हो गया कि धर्म से प्राप्त होने वाले सुख भी दुःख से मिले हुए रहते हैं। इसलिए उन्हें वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता। वास्तविक सुख तो वही है जहाँ दुःख का लेशमात्र भी स्पर्श न हो और वह बुद्धियोग या तत्त्वज्ञान से ही मिल सकता है।

यही लक्ष्य में रखकर भगवान् ने उपदेश दिया कि बुद्धियोग प्राप्त करने वाला मनुष्य सुकृत और दुष्कृत दोनों का ही फल छोड़ देता है। उसे न धर्म के फल रूप स्वर्गादि की भी इच्छा रहती है और पाप फल रूप नरकादि की इच्छा तो किसी को होने ही क्यों लगी? बुद्धियोग वाला पुरुष तो केवल परमात्मा से सम्बन्ध रखता है और संसार बन्धन से छुटकारा पा लेना ही उसका लक्ष्य रहता है। वही अपने मनुष्य जन्म को पूरा सफल बना सकता है। इसीलिए उत्तरार्ध में अपने प्रिय अर्जुन को भगवान् का उपदेश है कि तुम योग प्राप्त करने की ही योजना करो। सांसारिक फलों में मत फंसे और कर्मों के फल से डरो मत। कर्म करने की ऐसी चतुरता को ही योग कहते हैं कि मनुष्य कर्म करता भी जाय और उसके बन्धन में भी न फंसे। काजल की कोठरी में जाकर भी बिना कलौँछ लगाए निकल आना बड़ी भारी चतुरता है। ऐसी ही कुशलता योग से प्राप्त होती है कि कर्म करता भी जाय और उसका फल भी अपने पर न आने दे। कई सज्जन ऐसी शंका किया करते हैं कि भगवान् ने योग के अनेक भिन्न भिन्न लक्षण बतला दिए। इससे योग का स्वरूप समझना सामान्य जिज्ञासु के लिए कठिन हो गया। अभी पहले पद्य में “सिद्धि और असिद्धि” की समानता को योग कहा। इस पद्य में कर्म की कुशलता अर्थात् चतुरता को योग कह दिया और

आगे दुःख संयोग के वियोग को ही योग कहा है। किन्तु विचार करने पर यह शंका सर्वथा ही निर्मूल सिद्ध होती है। भगवान् ने योग के अनेक लक्षण नहीं बतलाए। किन्तु एक ही लक्षण को अनेक प्रकार से समझाया है। वास्तव में फल की आशा छोड़कर कर्तव्यबुद्धि से कर्म करते रहने का ही नाम कर्मयोग है। उस फल की आशा को छोड़ने के भिन्न-भिन्न विवरण हैं। फल की आशा छोड़ देने पर सिद्धि और असिद्धि में समानता हो जायगी। फल की आशा से ही कर्म सिद्ध होने पर सुख और न सिद्ध होने पर दुःख हुआ करता है। फलाशा न रहने पर न सुख होगा न दुःख। तब सिद्धि-असिद्धि में समानता हो गई। इसलिए पूर्व पद्य का लक्षण ठीक बना और इस प्रकार की समानता रखकर कर्म करते जाने से आत्मा पर कर्म का कोई प्रभाव नहीं आता। इसलिए यही एक बड़ा कौशल या चतुरता भी हुई। यहाँ उसी फलाशा के त्याग को कौशल शब्द से प्रकट कर दिया और फलाशा से ही उसका व्याघात होने पर दुःख हुआ करता है। फलाशा छोड़ देने पर दुःख का भी कोई प्रसंग न रहेगा। इसलिए आगे कहे जाने वाले 'दुःख संयोग वियोग' रूप लक्षण में भी वही बात प्रकारान्तर से कही जायगी। परस्पर विरोध इन लक्षणों में कहीं भी नहीं है। एक ही विषय को भिन्न-भिन्न शब्दों से भिन्न-भिन्न रूपों में समझाया गया है। योग शब्द का कर्मयोग अर्थ मान लेने पर सब लक्षणों की संगति उक्त प्रकार से हो जाती है और बुद्धियोग अर्थ मानने पर भी सभी संगति स्पष्ट ही है। क्योंकि वैराग्य बुद्धि का भगवान् के साथ सम्बन्ध कर देने पर सिद्धि और असिद्धि में समानता स्वतः हो जायगी। राग न रहेगा। तब सिद्धि और असिद्धि में विषमता कहाँ? और इस प्रकार वैराग्य भावना से कर्म करना ही बड़ी भारी चतुरता है। यह भी पूर्वोक्त प्रकार से समझ में आ जायगा। दुःख सम्बन्ध भी बुद्धि के रूपों का भगवान् के साथ योग कर देने पर कोई नहीं रहता। इस प्रकार सब लक्षण बुद्धियोग के भी समन्वित हो जाते हैं। बुद्धि के चार रूपों में वैराग्य भी एकरूप है। इसलिए बुद्धियोग और कर्मयोग का परस्पर सामान्य विशेष भाव रहने के कारण कौन सा लिया जाय, कौन सा न लिया जाय, यह शंका भी नहीं उठ सकती। सामान्य के ग्रहण में विशेष का ग्रहण हो ही जाता है।



## सैतीसवाँ-पुष्प

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।  
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥  
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।  
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥  
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।  
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (२-५०-५२)

“जिनको बुद्धियोग प्राप्त हो गया है, वे मनीषी पुरुष कर्मजनित फल की इच्छा का त्याग कर जन्मरूप बन्धन से मुक्त होते हुए निर्भय पद को प्राप्त कर लेते हैं।”

पूर्व पद्य में सुकृत और दुष्कृत दोनों के फलों का त्याग बतलाया गया था। सुकृत फल स्वर्गादि का त्याग तभी हो सकता है जब कि उस त्याग के द्वारा उससे और भी उच्चश्रेणी के फल की सम्भावना हो। वही फल बतलाते हुए इस पद्य के द्वारा पूर्व पद्योक्त उपदेश को ही दृढ़ किया जाता है। हम पूर्व कह चुके हैं कि वे सुकृत-दुष्कृत के स्वर्ग नरकादि फल अस्थायी हैं। किन्तु उस प्रातिस्विक फल त्याग के अनन्तर जो फल प्राप्त होगा, वह स्थायी है। प्रश्न होगा कि जब जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी अवश्यंभावी है, यह दार्शनिक सिद्धान्त निश्चितरूप से मान लिया गया। तब यह फल भी स्थायी कैसे हो सकेगा। इस प्रश्न का उत्तर यहाँ “जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः” और “अनामयं” इन दोनों पदों से दिया गया है। पहले पद्य का तात्पर्य है कि इस फलत्याग रूप कर्मयोग से कोई नया फल उत्पन्न नहीं होता जिसके कि नाश होने की सम्भावना हो। किन्तु शुद्ध आत्मा को जन्मरूप बन्धन जो लगा हुआ है, उसका छुटकारा मात्र हो जाता है। बन्धन छूटना कोई नया उत्पन्न होने वाला कार्य नहीं जिसका कि विनाश सम्भावित हो, किन्तु बन्धन जो ऊपर से आ पड़ा, उसको केवल हटा देना है। इसलिए यह उच्छेद अर्थात् अभाव रूप हुआ। जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी होता है यह नियम भावरूप कार्य के लिए है। अभाव का अभाव नहीं हुआ करता। फिर यदि यह विचार उत्पन्न हो कि जन्म होने पर अनेक प्रकार के सुख भी तो मिलते हैं। फिर उसको बन्धन ही क्यों कहा जाय? इसका उत्तर आगे के “अनामयं पदम्” इस विशेषण से दिय गया है। अर्थात् संसार में सुख तो केवल आभास मात्र है। आमय अर्थात् पीड़ा ही यहाँ अधिक है। उक्त कर्मयोग या बुद्धियोग से जो पद प्राप्त होगा, वह सर्वथा रोग, पीड़ा दुःखादि से रहित है। लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि जहाँ अच्छा और बुरा दोनों मिश्रित हो, उसका त्याग ही किया जाता है, जैसा कि जिस अन्न में मिठाई भी है और विष भी मिला हुआ है उसको कोई भी काम में न लेगा, अपितु उसका त्याग ही सब सांसारिक पुरुष भी उचित मानते हैं। नास्तिक ग्रन्थों में



जीवन की उपयुक्तता सिद्ध करने के लिए यह दृष्टान्त दिया जाता है कि धान में चावल और तुष दोनों मिले हुए होते हैं, फिर भी धान का परित्याग कोई बुद्धिमान् पुरुष नहीं करता। किन्तु तण्डुल के लाभ के लिए तुष को भी ले ही लेता है। इसी तरह विषयजनित सुख के साथ कुछ दुःख की मात्रा भी हो तो भी उसका परित्याग करना बुद्धिमत्ता नहीं। किन्तु यह उनका दृष्टान्त विचार की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। संसार की वस्तु तीन प्रकार की होती है—

१. लाभदायक
२. हानिकारक और
३. लाभ-हानि दोनों ही न करने वाली।

इनको ही ग्राह्य, द्वेष्य और उपेक्ष्य कहते हैं। लाभकारक वस्तु ग्राह्य होती है। हानिकारक द्वेष्य और लाभ-हानि दोनों न करने वाली उपेक्ष्य। इनमें से ग्राह्य के साथ उपेक्ष्य वस्तु ले ली जा सकती है, किन्तु द्वेष्य का ग्रहण कभी नहीं किया जाता। द्वेष्य का सम्बन्ध होने पर ग्राह्य भी छोड़ दिया जाता है। नास्तिकों के दृष्टान्त में तुष द्वेष्य नहीं, किन्तु उपेक्ष्य है। अर्थात् वे हमारा हानि-लाभ कुछ नहीं करते। इसलिए चावलों के साथ उनको भी ले लेते हैं और आगे काम के समय निकाल देते हैं। किन्तु अन्न में मिठाई और विष दोनों मिले रहने का जो पूर्व दृष्टान्त दिया गया है उसमें मिठाई ग्राह्य और विष द्वेष्य है। ऐसी स्थिति में द्वेष्य का मिश्रण होने के कारण ग्राह्य मिठाई को भी छोड़ ही दिया जाता है। इस दृष्टान्त के अनुसार विषय सुख जो दुःख मिश्रित है, उसका छोड़ देना ही उचित सिद्ध होता है। क्योंकि दुःख द्वेष्य है। दुःख को कोई नहीं चाहता। इसमें भी विशेष रूप से तारतम्य की भी परीक्षा होती है। यदि सुख की मात्रा अधिक हो और दुःख की अल्प, तो उसे ले लिया करते हैं। किन्तु यदि सुख की मात्रा अल्प और दुःख की बहुत अधिक हो तो बुद्धिमान् लोग उसका सर्वथा परित्याग ही करेंगे। जन्म लेने पर जो संसार में सुख और दुःख प्राप्त होते हैं उनमें दुःख की मात्रा ही बहुत अधिक होती है, यह अनुभव सिद्ध है। और योग दर्शन में तो कहा गया है कि जिसे सांसारिक मनुष्य अविद्यावश सुख समझे बैठे हैं वह भी विवेकशील पुरुषों की दृष्टि से दुःख ही है—

“परिणामतापसंस्कारदुःखै, गुणवृत्तिं विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः”

इस सूत्र में उसके दुःख रूप होने की युक्तियाँ बतलाई गई हैं। प्रत्येक सुख के अन्त में जब वह सुख हमसे हटता है तो दुःख पैदा हुआ करता है। धन जन पुत्र कलत्रादि जो सुख रूप भासित होते हैं, वे ही अपने से वियुक्त होने पर दुःखप्रद हो जाते हैं। इससे सुख का परिणाम दुःखरूप है यह सिद्ध हुआ। किसी का परिणाम विरुद्ध हो नहीं सकता, इसलिए परिणाम दुःखरूप देखकर सुख की भी दुःखरूपता ही सिद्ध होती है।

दूसरी युक्ति यह है कि सुख के अनुभव काल में भी तापदुःख रहता है अर्थात् अपने से अधिक सुखी किसी को देखकर मनुष्य अपना सुख तो भूल जाता है और ईर्ष्याजनित दुःख का अनुभव करने लगता है कि मुझे भी ऐसा सुख क्यों नहीं प्राप्त हुआ? एक उपहास का कल्पित दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि किसी पुरुष ने धनगृहादि सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए बहुत काल तक समुद्र की उपासना की। चिरकाल की उपासना से प्रसन्न होकर समुद्र ने उसे एक शंख दिया और बताया कि पवित्र स्थान में रखकर इसकी पूजा कर इससे धन जन संपत्ति जो कुछ मांगोगे वह सब तुम्हें मिल जायगी। उपासक मनुष्य बहुत प्रसन्न हुआ और बड़े आदर से शंख को लेकर जब चलने लगा तब समुद्र ने कहा कि और सुनते जाओ। इस शंख में यह भी गुण है कि जो कुछ भला या बुरा तुम्हें प्राप्त होगा, उससे द्विगुण तुम्हारे पड़ोसी को मिल जायगा। सुनते ही वह पुरुष बहुत खिन्न हो गया। मन में सोचने लगा कि भला मैंने तो इतना तप कर यह सम्पत्ति प्राप्ति की, किन्तु पड़ोसी को बिना किसी परिश्रम के ही मुझसे द्विगुण मिल जाय, यह कैसे सह्य हो सकता है। घर आकर उसने उस शंख को एक ओर डाल दिया। उससे कुछ नहीं चाहा, जैसे कठिनता से अपना निर्वाह पहले करता था, वैसे ही टूटी झोंपड़ी में रहता हुआ भिक्षा कर निर्वाह करने लगा। अपनी स्त्री के पूछने पर कि यह क्या वस्तु लाए हो उसने सब वृत्तान्त उसे बता दिया, यह भी कह दिया कि पड़ोसी को बिना परिश्रम द्विगुण मिलना मुझे सह्य नहीं है। इसलिए मैं इस शंख से कुछ नहीं मांगूंगा। इसे कूड़े-करकट में पड़ा रहने दो। एक दिन जब वह बाहर गया था, तो स्त्री ने अपनी दशा से अत्यन्त खिन्न होकर अपने पति की बतलाई विधि के अनुसार शुद्ध स्थान में रखकर शंख की पूजादि कर उससे प्रार्थना की कि हमारे यहाँ रहने योग्य एक उत्तम स्थान बन जाय और उसमें भोजनादि की सब सामग्री आ जाय। दैवी शक्ति से बहुत शीघ्र उसकी अभिलाषा पूर्ण हो गई। किन्तु उसके पड़ोसी के वैसे दो भवन बन गए और इसकी अपेक्षा द्विगुण सम्पत्ति भी उसको प्राप्त हो गई। जब वह पुरुष अपने घर आया, तो यह सब घटना देखकर बहुत कुपित हुआ और शंख की पूजा कर उसके आगे प्रार्थना की कि हमारे द्वार के आगे एक कुआँ बन जाय और हमारे गृहजनों की एक-एक आँख फूट जाय। दैवी शक्ति से वैसा ही हो गया। पड़ोसियों के गृहद्वार के आगे दोनों ओर दो कुएँ बन गए और उनके गृहजनों के दोनों नेत्र फूट गये। वे अन्धे इधर-उधर चलते कुओं में गिरने लगे। तब इसे बड़ा आनन्द मिला। अवश्य ही यह एक मिथ्या कल्पित दृष्टान्त है। किन्तु विचारशील मनुष्य मन में सोच सकते हैं कि ऐसी ईर्ष्या अन्तःकरण की वृत्ति रूप से अवश्य उठा करती है। यही ताप दुःख है। जो सुख भोगकाल में भी शान्ति नहीं लेने देता। प्रत्युत मैं सबसे उच्च श्रेणी का रहूँ, इस भावना से वह अधिकाधिक श्रम करता रहता है और उसके द्वारा अधिकाधिक क्लेश पाता रहता है।

तीसरी युक्ति सूत्र में यह बताई गई है कि सुखभोग से जो संस्कार मन में उत्पन्न होते हैं वे अधिकाधिक सुख चाहते हैं और वैसा न होने पर दुःख ही होता रहता है। इसके अतिरिक्त इनके मूलकारण पर भी विचार किया जाय कि सुख या दुःख मन में क्यों होता है, तो शास्त्र विचार से यह सिद्ध होगा कि हमारा मन भी सब संसार की तरह त्रिगुणात्मक है। उन तीनों गुणों में सत्त्व गुण का परिणाम सुख है, रजोगुण का दुःख और तमोगुण का मोह। गुणों का यह स्वभाव है कि वे क्रम से एक दूसरे को दबाते रहते हैं। आज यदि सत्त्वगुण की प्रबलता से हमें सुख प्राप्त है तो कल रजोगुण की प्रबलता से दुःख भी अवश्यंभावी है यही बात गुणवृत्तिविरोध शब्द से सूत्र में कही गई है और भी कई महात्माओं के वचनों में सांसारिक सुखों की दुःखरूपता का उपपादन मिलता है। जैसा सामान्यतः सब मनुष्य धन से सुख मानते हैं। किन्तु किसी विवेचक महात्मा विद्वान् ने लिखा है कि—

“जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु  
मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः”

अर्थात् धन से पहले, पीछे और मध्य में भी जब दुःख ही है तो तीनों ओर से दुःख से घिरे हुए धन को सुख रूप कैसे कहा जाय? आरम्भ में धनोपार्जन में परिश्रम रूप दुःख है। यदि धन हाथ से निकल गया तो घोर सन्ताप रूप दुःख है और उसका उपभोग करते समय चित्त में एक प्रकार का मदरूप मोह उत्पन्न होता है। उससे अन्यो से शत्रुता बढ़ती है। वह भी कलहरूप दुःख का उत्पादक है। यही सब संकेत गीता के इस पद्य में किया गया है कि कर्म से उत्पन्न होने वाले फल आमय अर्थात् रोग-दुःख-भयादि से सम्मिश्रित हैं और पूर्वोक्त साम्यबुद्धि से जन्मरूप बन्धन का अभाव हो जाने पर यह सब आमय न रहेंगे। अनामय पद प्राप्त हो जायगा। इसलिए यह बुद्धियोग वैदिक कर्मों से बहुत ऊँची श्रेणी का है। इस अनामय पद का कभी नाश भी नहीं होता।

न्यायशास्त्र में कहा गया है कि उत्पन्न होने वाले भावों का प्रध्वंसाभाव अर्थात् नाश होता है। किन्तु अभाव रूप प्रध्वंस का कभी प्रध्वंस नहीं होता। घटपटादि का नाश है किन्तु उनके नाश का फिर नाश नहीं है। नाश का नाश तो तभी होता है जब कि वह नष्ट होने वाली वस्तु फिर उसी रूप में सामने आ जाय। किन्तु ऐसा कभी भी होता नहीं। फिर यदि वही वस्तु बनेगी तो दूसरी ही होगी। जैसा कि भीत को तोड़कर हम फिर भीत बनाएंगे तो वह भीत दूसरी ही होगी। जो भीत नष्ट हो गई, वह कभी प्रादुर्भूत नहीं हो सकती। इसलिए प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होकर भी नित्य ही माना गया है। इसी युक्ति से सब दुःखों की ध्वंसरूप मुक्ति की नित्यता ही सिद्ध होती है और वेदान्त दर्शन तो कहता है कि वह दुःखध्वंस भी नया उत्पन्न नहीं किया जाता। वह तो आत्मा का स्वरूप ही है। आत्मा स्वयं शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है। वह कभी बन्धन में आत

ही नहीं। मायावश बन्धन में आने की हमें भ्रान्ति मात्र होती है। इस भ्रान्ति अर्थात् अज्ञान को ज्ञान से हटा देना ही मुक्ति है। कोई पुरुष रस्सी को सर्प समझकर भयभीत हो गया, उसका शरीर भी काँपने लगा। मन भी घबड़ गया। किन्तु जब भली-भाँति देखकर उसे ज्ञान हो गया कि अरे यह तो रस्सी है, यहाँ सर्प कोई नहीं तब वे भय कम्प आदि स्वयं निवृत्त हो जाते हैं। अपनी पूर्वावस्था प्राप्त हो जाती है। यह मुक्ति का स्वरूप है। अज्ञानजनित बन्ध का अभावमात्र समझ लेना है। अज्ञान जब निवृत्त हो गया, तब फिर वह हमें दबा नहीं सकता। क्योंकि बुद्धि स्वभावतः सत्यपक्षपातिनी है। मिथ्यांश कभी उत्पन्न हुआ भी तो वह आगे समूल निवृत्त हो जाता है। इसलिए बन्ध-निवृत्त रूप मुक्ति के स्थायी अथवा विनाशी होने का कोई प्रसंग ही नहीं आता। मुक्ति तो आत्मा का स्वरूप है और आत्मा नित्य है। इसलिए मुक्ति भी नित्य ही सिद्ध होती है और अनित्य सुखों की अपेक्षा उसका महत्त्व स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

‘पद’ शब्द का अर्थ श्रीशंकराचार्य के सम्प्रदाय में यहाँ आत्मा का स्वरूप ही है। “पद्यते इति पदम्” अर्थात् अन्त में जो प्राप्त किया जाय, वही पद कहलाता है। अन्त में आत्मस्वरूप ही प्राप्त करना है। इसलिए वही पद है और किसी गन्तव्य स्थान का यहाँ प्रसंग नहीं आ सकता। वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्त में यहाँ पद शब्द से भगवान् के पद को अर्थात् व्यापक वैकुण्ठ लोक को प्राप्त कर लेते हैं और उस वैकुण्ठ पद में फिर किसी प्रकार का आमय अर्थात् क्लेश या दुःख नहीं रहता। यहाँ यह भी विचारने की बात है कि फलाशा छोड़ते ही अनामय पद अर्थात् निर्भयरूप मुक्ति बतला दी गई है। किन्तु शांकरसंप्रदाय में तो क्रम ऐसा माना जाता है कि फलाशा त्याग रूप कर्मयोग से ज्ञान प्राप्ति होती है और ज्ञान से फिर मुक्ति सिद्ध होती है। इस क्रम का यहाँ विरोध हो गया। इसका समाधान श्रीशंकराचार्य एक तो यह करते हैं कि कर्मयोग से ज्ञान सिद्ध होते ही जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है। इससे आगे के जन्म रूप बन्ध का मोचन और सब प्रकार के दुःखों का अभाव जीवित दशा में ही प्राप्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्तावस्था यहाँ कर्मयोग के फल रूप से बतलाई गई है। दूसरा समाधान वे यह भी करते हैं कि यहाँ कर्मयोग का प्रकरण रहते हुए भी मध्य परमफल बुद्धियोग का प्रसंग मुख्यतः बतलाने के लिए भगवान् ने उठा दिया है जैसा कि हम “दूरेण ह्यवरं कर्म” इत्यादि पूर्व पद्य की व्याख्या में मतान्तर रूप से कह चुके हैं। इन तीनों-चारों पद्यों में उस बुद्धियोग का ही प्रसंग चला। इसलिए उसका साक्षात् फल मुक्ति ही यहाँ बता दिया गया। अन्य उनके अनुयायी व्याख्याकार यह भी कहते हैं कि आगे परम्परा से प्राप्त होने वाला फल भी परम्परा सम्बन्ध से कर्मयोग का फल माना जा सकता है। उसी परम्परा से प्राप्त होने वाले अन्तिम लक्ष्य रूप फल का यहाँ निर्देश है। वैष्णव व्याख्याकार भी यही मानते हैं कि फलाशा परित्याग रूप कर्मयोग से भगवद्भक्ति दृढ़ होगी और उससे विष्णु पद प्राप्त होगा। यह परम्परा का फल ही यहाँ बतलाया गया। (१)

यहाँ भगवान् ने अर्जुन की चेष्टा से उसके हृदय की कुछ ऐसी जिज्ञासा का अनुमान किया कि इस प्रकार बन्धन विमुक्ति होकर अभयपद प्राप्ति कितने काल में हो सकेगी। ऐसी जिज्ञासा का अनुमान कर उसका उत्तर द्वितीय या तृतीय पद्य से देते हैं कि इसमें काल का कोई नियम नहीं है— “जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूप घने कीचड़ से पार हो जायगी तब तुमने जो कुछ सुना है और जो कुछ सुनना चाहते हो, उन सबसे निर्वेद अर्थात् विरक्ति हो जायगी। अर्थात् उन सबसे जो ऊब जायगा और विविध श्रुतियों के द्वारा सन्देह में पड़ी हुई वह बुद्धि जब एकाग्र होकर निश्चल भाव से सुप्रतिष्ठित हो जायगी, तब तुम योग प्राप्त कर लोगे।

व्यवहार में मनुष्य आत्मा और अनात्मा का भेद नहीं विचारता। शरीर के सम्बन्धियों को ही वह अपना मानता है और शरीर सम्बन्ध न रखने वालों को पराया समझा करता है। इस अपने और पराये के भेद के अनुसार ही अपने कर्तव्य का निश्चय किया जाता है। जिस-जिस काम से अपने शरीर को या अपने कुटुम्ब को सुख मिले उसी को कर्तव्य और शरीर के या कुटुम्ब के लिए हानिकर कार्यों को छोड़ने योग्य मानता है एवं जो कुछ भी करे वह फल की आशा से ही करता है। यह सब मोह है। इसी मोहरूप कीचड़ में सामान्य मनुष्यों की बुद्धि फँसी रहती है। जो साम्य बुद्धि पहले बतलाई गई उसके अभ्यास से जब बुद्धि उक्त प्रकार के कीचड़ से निकल जायगी और पूर्वोक्त समानता में प्रतिष्ठित हो जायगी, तब आजतक जो कुछ सुनते थे और जो सुनना चाहते थे, उन सबसे विरक्ति होगी। “श्रोतव्य और श्रुत” शब्दों के दोनों अभिप्राय हैं। संसार दशा में सब लोग सदा आशा की ही बातें सुना करते हैं और उन्हें ही आगे भी सुनना चाहते हैं। फलाशा छूट जाने पर उन सबसे विरक्ति होगी और उनमें मन नहीं लगेगा। इसी प्रकार श्रुतियों में जो निरन्तर आशा रखने वाले सांसारिक पुरुषों को धर्म मार्ग की ओर आकर्षित करने के लिए विभिन्न कामों के भिन्न-भिन्न फल बतलाए हैं और उनकी खूब स्तुति की है, उनसे भी निर्वेद हो जायगा। अर्थात् उन श्रुतियों से कहे गए फलों से भी मन ऊब जायगा। यह भी श्रोतव्य और श्रुत का अर्थ हो सकता है। उस निर्वेद की स्थिति का किसी कवि ने बहुत अच्छा चित्र खींचा है। उस अवसर में मन में ऐसे भाव उठते हैं कि—

क्षोणीपर्यटनं श्रमाय विहितं वादाय विद्याऽर्जिता,  
मानध्वंसनहेतवे परिचितास्तेते धराधीश्वराः ।  
विश्लेषाय सरोजसुन्दरदृशामास्ये कृता दृष्टयः ।  
कुज्ञानेन मया प्रयागनगरे नाराधि नारायणः ॥

अर्थात् मैंने पृथ्वीमण्डल के भिन्न-भिन्न देशों में जो भ्रमण किया वह केवल परिश्रम के लिए किया। विद्या जो पढ़ी वह भी दूसरों से विवाद करने के लिए पढ़ी। राजाओं से जो परिचय प्राप्त किया वह भी अपना सम्मान घटाने के लिए किया।

सुन्दर युवतियों के मुख पर जो दृष्टिपात किया वह भी वियोग दुःख के लिए ही हुआ। ऐसे खेदकर कार्यों में ही अपना जीवन बिताया। यह बड़ा भारी अज्ञान था। प्रयागादि दिव्य तीर्थों में बैठकर भगवान् का स्मरण नहीं किया जो कि कर्तव्य था।”

इस प्रकार के निर्वेद के भाव संसार का मोह छूट जाने पर ही होते हैं। तभी सांसारिक भोग और फल तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार इस संसार के भावों से विरक्ति होते-होते विचारों की परिपक्व दशा में वेदोक्त स्वर्गादि फलों से भी विरक्ति हो जाती है। यही भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग का अभ्यास करते-करते जब तुम्हें इस लोक और वेदोक्त परलोक दोनों के सुखों से वैराग्य हो जायगा, तभी योग प्राप्ति होगी। इसमें कितना भी समय लगे, समय का कोई नियम नहीं है। योगदर्शन में भी यही कहा गया है कि जिनके मन में सम्वेग प्रबल होता है, अर्थात् संसार चक्र से घबड़ाए से होकर जो तीव्र प्रयत्न करते हैं उन्हें बहुत शीघ्र अर्थात् थोड़े ही काल में समाधि लाभ हो जाता है तथा जिनका वैराग्य या प्रयत्न शिथिल-सा रहता है, उन्हें अधिक समय लगाना पड़ता है। यह तो अपने मन की गति और प्रयत्नों पर निर्भर है। समय का कोई नियम नहीं बाँधा जा सकता। श्रोतव्य और श्रुत शब्द से वेदोक्त फल श्रुतियों पर भी जो वैराग्य का उपदेश दिया है वह “त्रैगुण्यविषया वेदाः” इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का ही पुनः स्मरण कराया है। कई वैष्णवाचार्यों ने यहाँ निर्वेद का अर्थ “उत्तम लाभ” किया है। लाभार्थक विद धातु से वेद शब्द बनाकर उसका लाभ अर्थ किया, और निःउपसर्ग को उत्कर्ष बोधक मानकर उत्कृष्ट लाभ अर्थ निकाला। उनके मतानुसार द्वितीय पद्य का अर्थ है कि जब मोहरूप कलिल-कीचड़ से तुम्हारी बुद्धि पार निकल जायगी तब श्रुत और श्रोतव्य अर्थात् वेद वाक्यों का जो परम लाभ भगवद्भक्ति है उसे तुम प्राप्त कर सकोगे।

तीसरे पद्य में “श्रुतिविप्रतिपन्ना” शब्द के भी दोनों प्रकार के अर्थ किए जाते हैं। एक यह कि अभी तुम्हारी बुद्धि फल श्रुतियों के कारण फलाशा में लगी हुई विप्रतिपन्ना अर्थात् इधर-उधर भटकने वाली अस्थिर हो रही है। यह जब योगसाधन द्वारा समाधि प्राप्त करेगी अर्थात् एकाग्र हो जायगी और चंचलता इसमें न रहेगी, तब तुम योग प्राप्त कर सकोगे। दूसरा अर्थ यह किया जाता है कि जब तुम्हारी बुद्धि श्रुति अर्थात् वेद के अर्थवादों में वर्णित फल श्रुतियों से विप्रतिपन्ना होगी अर्थात् उन फल श्रुतियों में बतलाए गए स्वर्गादि फलों को उत्तम फल न समझेगी, तब बुद्धि के समाधिनिष्ठ और निश्चल होने पर योग प्राप्त कर सकोगे।

पहली व्याख्या में “श्रुतिविप्रतिपन्ना” यह बुद्धि का सिद्धरूप विशेषण है और दूसरी व्याख्या में वही विधेय-विशेषण है। इस पद्य में बुद्धि के निश्चला और अचला दो विशेषण आए हैं। यह एक ही अर्थ के बोधक होने के कारण पुनरुक्त प्रतीत हो रहे हैं। इनका समाधान भी व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलता है। एक यह कि

समाधि में असम्भावना और विपरीत भावना का बुद्धि में न रहना यह निश्चल शब्द का अर्थ हुआ। बुद्धि समाधि विषय में निश्चल हो जायगी। यह सन्देह न रहेगा कि न जाने हमें समाधि प्राप्त हो सकेगी या नहीं? अथवा समाधि अर्थात् एकाग्रता की प्राप्ति होने पर भी योग प्राप्ति या दुःख निवृत्ति होगी या नहीं। ऐसे सन्देह असम्भावना और विपरीतभावना नाम से कहे जाते हैं। ऐसे सन्देह जब तक बने रहें तब तक समाधिरूप एकाग्रता के लिए प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। तब योग प्राप्ति की कथा ही क्या? इसलिए समाधि विषय में पहले बुद्धि की निश्चलता होनी चाहिए। अर्थात् समाधिरूप एकाग्रता से अवश्य ही दुःख-निवृत्ति और योग प्राप्ति होती है, ऐसा दृढ़ निश्चय होना चाहिए। यह “निश्चला” विशेषण का तात्पर्य हुआ। दूसरा “अचला” विशेषण यह बतलाता है कि समाधि काल में अन्य प्रकार की वृत्तियों से चंचलता न आनी चाहिए। योगदर्शन में ऐसा कहा गया है कि पूर्व के संचित कुसंस्कारों से समाधि प्राप्त करते-करते भी विक्षेप हो जाता है। अर्थात् चंचलता आकर समाधि में विघ्न हो जाता है। वह भी न होना चाहिए यह “अचला” इस विशेषण से कहा गया। दूसरा समाधान यह है कि मन में संकल्प-विकल्प न रहना, उनमें बुद्धि का फँसना निश्चलता है। एवं बुद्धि में ही तमोगुण के कारण अज्ञान-अवैराग्य आदि दोषों का न आना अचलता है। लोकमान्य तिलक ऐसा कहते हैं कि फलाशाओं में न फँसना निश्चलता है और निर्वात स्थान में दीपशिखा की भाँति एकरूप रहना, कुछ भी इधर-उधर न डिगना अचलता है। ये दोनों ही बातें सिद्ध होनी चाहिए। द्वितीय पद्य के निर्वेद का भी उन्होंने यह तात्पर्य लगाया है कि जो फलश्रुतियों में वर्णित हैं वे तुम्हें पहले ही प्राप्त हो चुके होंगे, जैसा कि “यावानर्थ उदपाने” इस पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। फिर उन फलों में अभिलाषा होगी ही क्यों?

योग शब्द का अर्थ भी भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। श्रीशंकराचार्य का आशय है कि जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त करना ही योग शब्द से विवक्षित है जो कि साम्यबुद्धि रूप योग का मुख्य फल है। कई वैष्णवाचार्यों ने भगवान् का सांनिध्य प्राप्त करना ही योग शब्द का अर्थ माना है। श्रीरामानुजाचार्य ने आत्मदर्शन को योग कहा है। वे ऐसा क्रम बतलाते हैं कि ज्ञानपूर्वक कर्मयोग से ज्ञाननिष्ठा अर्थात् ज्ञान में स्थिरता प्राप्त हो जाती है और उससे योग अर्थात् आत्मदर्शन प्राप्त हो जाता है। यह परम्परा से होने वाला फल ही यहाँ योग शब्द से कहा गया है। लोकमान्यतिलक कर्मयोग के जीवनभूत साम्य बुद्धिरूप योग को ही यहाँ भी योग शब्द से लेते हैं। अर्थात् बुद्धि निश्चल होने पर ही वह साम्यबुद्धिरूप योग तुम्हें मिलेगा और वही कर्मयोग है। श्रीविद्यावाचस्पति जी योग शब्द का अर्थ बुद्धियोग ही मानते हैं। उनकी व्याख्या है कि ज्ञान जो कि बुद्धि के सत्त्वगुण का रूप है, उसके तमोगुण जनित रूप अज्ञान से आवृत या मिश्रित रहना ही मोह है। जैसा कि ‘अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्’ इस आगे

के पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा। उस मोह को पार करना अर्थात् तमोगुण का सम्बन्ध न रहने देकर शुद्ध सात्विक ज्ञान बुद्धि का रूप बनाना ही योग है। इस योग की प्राप्ति निर्वेदपूर्वक एकाग्रता से ही होगी और वह बुद्धियोग ही अव्यय पुरुष के साथ जीव का सम्बन्ध करा सकेगा। इनके सिद्धान्त में बुद्धियोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है, जिसमें कि ज्ञानयोग, कर्मयोगादि सब अन्तर्गत हो जाते हैं। सबका तात्पर्य एक ही निकलता है कि साम्यबुद्धि फलाशा छोड़ने पर होगी और साम्यबुद्धि की स्थिरता होने पर ही भगवद्भक्ति या आत्मज्ञान अपने-अपने अधिकारानुसार प्राप्त हो सकेगा।





## अङ्गीसर्वा-पुष्प

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् ब्रजेत् किम् ॥ २।५४

भगवान् उवाच—

प्रजाहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ २।५५

अर्जुन पूछता है कि “हे केशव! जिस पुरुष की प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि स्थिर हो गई है और जो समाधि में स्थित हो गया है उसकी भाषा क्या है, अर्थात् उसके लक्षण कैसे होते हैं? वह किस प्रकार बोलता है; किस प्रकार बैठता है और किस प्रकार चलता है।”

भाषा शब्द का अर्थ वाणी या बोली है। वाणी या बोली से ही हम किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किसी भी वस्तु का पूरा ज्ञान प्राप्त कराने के लिए उसके लक्षण बतलाना आवश्यक होता है। इस प्रकार लक्षण ही किसी वस्तु के ज्ञान के साधन होने से वे भी भाषा शब्द के द्वारा कहे जा सकते हैं। इस आशय से यहाँ भाषा शब्द का अर्थ लक्षण ही अधिकतर व्याख्याओं में माना गया है। प्रश्नकर्ता का अभिप्राय यही है कि किस भाषा अर्थात् किन लक्षणों से हम स्थितप्रज्ञ को पहचान सकते हैं। किसी पदार्थ को सरलता से समझा देना भी उसकी भाषा करना कहा जाता है। इससे भी यही तात्पर्य निकलेगा कि स्थितप्रज्ञ को सरलता से समझाइए कि हम उसे पहचान सकें। इस प्रश्न के दोनों अभिप्राय हो सकते हैं। हमारी बुद्धि स्थिर हो गई है या नहीं, इस अपनी स्थितप्रज्ञता को हम कैसे पहचानें। दूसरे को पहचानना भी आवश्यक है, क्योंकि अपनी त्रुटि दूर करने के लिए ऐसे स्थितप्रज्ञ से ही तो हमें शिक्षा लेनी है। इन दोनों प्रकार के प्रश्नों से स्थितप्रज्ञ के आभ्यन्तर लक्षण क्या होते हैं और बाह्य लक्षण क्या होते हैं, यह दोनों प्रश्न फलित हो जाते हैं। क्योंकि अपनी स्थितप्रज्ञता तो अपने आभ्यन्तर लक्षणों से ही विदित होगी और दूसरे के आभ्यन्तर लक्षणों को तो हम जान नहीं सकते, इसलिए अन्य पुरुष की स्थितप्रज्ञता का ज्ञान बाह्य लक्षणों से ही हो सकेगा। कई व्याख्याकारों ने इस प्रकार की व्याख्या की है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष जब समाधिस्थ हो, अर्थात् एकान्ततः ध्यान में निमग्न हो, तब उसके क्या लक्षण होते हैं, और जब समाधि छोड़कर व्युत्थित अर्थात् समाधि रहित दशा में व्यवहार की ओर झुका हुआ होता है, तब क्या लक्षण होते हैं? व्यवहार की ओर झुके हुए के लक्षण पूछने के लिए ही यह विवरण किया कि वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, और कैसे चलता है? इन तीनों क्रियाओं को उपलक्षण मानकर यह आशय निकल आता है कि

उसकी बाह्य क्रियाएं कैसी होती हैं। इस व्याख्या के अनुसार भी आभ्यन्तर लक्षण और बाह्य लक्षण दोनों का ही प्रश्न फलित हो जाता है। क्योंकि समाधिस्थ पुरुष तो अपने आप को आभ्यन्तर लक्षणों से ही जान सकेगा। कुछ व्याख्याकार भाषा का यह भी अर्थ लगाते हैं कि उसके प्रति दूसरों का सम्भाषण कैसा होना चाहिए? किन्तु इसका भी आशय यही लगाना होगा कि उसे समाधिस्थ समझ कर दूसरे पुरुष उससे कैसे बात करें? इसका भी तात्पर्य अन्ततः लक्षण जानने में ही है। किसी-किसी व्याख्याकार ने उत्तरार्ध के “किं” शब्द को आक्षेपार्थक भी माना है और इससे यह आशय निकाला है कि वह भाषण स्थिति या चलन किस प्रकार कर सकता है। जब बुद्धि ही निश्चल हो गई और वह मन की प्रेरणा भी नहीं करेगी तब मन की प्रेरणा बिना इन्द्रियाँ भी अपना काम कैसे करेंगी? तब तो वह स्थितप्रज्ञ पुरुष जड़ उन्मत्त व मूक की तरह हो जायगा। फिर वह अन्य किसी को शिक्षा भी क्या दे सकेगा और किसी का उपकार भी क्या कर सकेगा। किन्तु इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर आगे के भगवद् वाक्यों में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। उक्त आक्षेपों का उत्तर ऊह से ही निकलना होगा।

जैसा कि कहा जा चुका है कि सांख्य और योग दोनों मार्गों में ही स्थिर बुद्धि को भगवान् ने सर्वोपयुक्त माना है। व्यवसायात्मक बुद्धि भी स्थिर बुद्धि का ही नामान्तर है। इसलिए इसी के सम्बन्ध में अर्जुन को जिज्ञासा हुई कि पहले स्थिर बुद्धि वाले के ही लक्षण बतलाइए। जिससे कि उसकी पहचान हो सके और तदनुकूल अपने आप को बनाने का भी प्रयत्न किया जा सके। उपदेशारम्भ होने के अनन्तर यह पहला ही अर्जुन का महत्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर में भगवान् ने स्थिर बुद्धिवाले के आभ्यन्तर और बाह्य लक्षणों की विशद व्याख्या की है। पहले आभ्यन्तर लक्षण बतलाए जाते हैं—

“हे पार्थ! जब पुरुष अपनी मनोगत सब कामनाओं को सर्वथा छोड़ देता है और अपने आप से अपने अन्तरात्मा में ही सन्तुष्ट व प्रसन्न रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। अर्थात् उसकी बुद्धि स्थिर हो गई, यह जान लेना चाहिए।”

अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ की भाषा पूछी थी, अर्थात् किन लक्षणों से जानकर पुरुष को स्थितप्रज्ञ कहना चाहिए। इसीलिए भगवान् भी इसी प्रकार का उत्तर देते हैं कि “उस दशा में पुरुष स्थितप्रज्ञ कहा जाता है” ये आभ्यन्तर लक्षण हैं। इनका ज्ञान अपने आप को ही हो सकता है। दूसरा पुरुष नहीं जान सकता कि इसकी सब कामनाएं हट गई हैं या नहीं। इसलिए यह सब संवेद्य आभ्यन्तर लक्षण कहा जायगा। प्रश्न की दूसरे प्रकार की व्याख्या के अनुसार यह समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि वाले का लक्षण है। अर्थात् जब वह समाधि में या सर्वथा एकाग्रता में स्थिर रहता है तब उसके मन में किसी भी कामना का उदय नहीं होता, इच्छामात्र का उसके मन में अभाव हो

जाता है। किसी-किसी व्याख्या में काम शब्द का अर्थ मनोवृत्ति ही किया गया है। और “सर्वान्” इस विशेषण से योगदर्शन में जो पांच प्रकार की वृत्तियाँ बतलाई गई हैं—

१. प्रमाण,
२. विपर्यय,
३. विकल्प,
४. निद्रा,
५. स्मृति

उन सबका अभाव जब हो जाय तब उसे स्थितप्रज्ञ माना है। इससे निर्विकल्पक मन और बुद्धि के भिन्न-भिन्न कार्यों की व्याख्या विशद रूप से हम व्यवसायात्मक बुद्धि के प्रकरण में कर चुके हैं कि इन्द्रियों के द्वारा लाए हुए बाह्य विषयों को मन, बुद्धि के समक्ष उपस्थित किया करता है और बुद्धि की आज्ञा के अनुसार फिर उन विषयों के ग्रहण या त्याग की आज्ञा इन्द्रियों को पहुँचाता है। ऐसी स्थिति में मन में यदि भिन्न-भिन्न इच्छाओं का प्रवाह चलता रहेगा और मन उन इच्छाओं को बुद्धि के समक्ष सदा रखता रहेगा तो बुद्धि भी स्थिर नहीं रह सकती। मन के लाए हुए इच्छा के विषयीभूत अर्थों पर उसे भी कुछ विचारपूर्वक निश्चय करना ही पड़ेगा। इसलिए स्थिर बुद्धि होने के लिए भगवान् पहले मन की शुद्धि ही आवश्यक बतलाते हैं कि पहले मन को सब कामनाओं अर्थात् इच्छाओं से रहित बनाया जाय। जब मन बुद्धि के सामने कोई विषय या उनकी इच्छाओं को रक्खेगा ही नहीं तब बुद्धि के स्थिर होने में विलम्ब नहीं लगेगा। क्योंकि बुद्धि मन के द्वारा ही विषयों का ग्रहण करती है। स्वयं वह विषयों पर नहीं जाती। किसी-किसी व्याख्या में काम शब्द का अर्थ विषय ही किया गया है।

“काम्यन्ते इति कामाः”

जिनकी इच्छा की जाय, वे भी काम हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषय भी काम शब्द के वाच्य हो सकते हैं। इसके अनुसार पद्य का अर्थ होगा कि “जब मन में आए हुए सब विषयों को पुरुष छोड़ दे।” तात्पर्य दोनों का एक ही है। क्योंकि इच्छा से सम्बन्ध होकर ही विषय मन में प्रवेश किया करते हैं। मन अपनी इच्छा वृत्ति से ही विषयों से सम्बन्ध जोड़ा करता है, तब इच्छा का त्याग और मनोगत विषयों का त्याग एक ही वस्तु सिद्ध होगी। इस पक्ष में “कामान्” का विशेषण जो “सर्वान्” है, उसका अभिप्राय यह लगाया जाता है कि सम्प्रज्ञात समाधि में जो विषय भासित हुआ करते हैं, अथवा उपनिषदुक्त विद्या रूप उपासनाओं में साधन दशा में जहाँ-जहाँ मन को स्थिर किया गया था, उन सब मनोगत विषयों का भी जब सर्वथा परित्याग हो जाय। इस पक्ष में निर्विकल्पक समाधि ही फलित हो जाती है। अर्थात् जब पुरुष मन की वासनाओं का सर्वथा परित्याग करदे तब वह स्थितप्रज्ञ होता है।

इस व्याख्या का तात्पर्य भी कोई दूर नहीं जाता। क्योंकि मन में जो इच्छाएं होती हैं, वे सूक्ष्मरूप से जब मन में रह जाती हैं, उन्हें ही वासना भी कहा जाता है। जब तक इच्छाएं होती रहेंगी, तब तक सूक्ष्मांश रूप से उनकी वासनाएं भी मन को अपना घर बनाया करेंगी। जब इच्छाएं ही न होंगी, तब वासनाएं कहाँ से आवेंगी। इसलिए सब ही व्याख्याओं का पर्यवसान इच्छा के त्याग में ही होता है।

अब प्रश्न होगा कि इच्छाओं का त्याग हो किस प्रकार? क्योंकि मन का तो स्वभाव है इच्छाएँ करना। अपने स्वभाव से किसी का पीछा छूट नहीं सकता। तब मन से ही मन का स्वभाव कैसे छूट सकेगा। वह तो बराबर इच्छाएं करता ही रहेगा। तब स्थितप्रज्ञता कहाँ से प्राप्त होगी। इसका उत्तर “आत्मन्येवात्मना तुष्टः” इस उत्तरार्ध के वाक्य से दिया गया है। इसका तात्पर्य है कि तुष्टि अर्थात् प्रसन्नता प्राप्त हो जाने पर इच्छाओं की निवृत्ति हो जाती है। जब पुरुष कोई इच्छा करता है उसके अनन्तर इन्द्रियों के व्यापार के द्वारा जब इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेता है, जब वह इच्छा निवृत्त हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि तुष्टि अर्थात् प्रसन्नता या संतोष इच्छा के निवर्तक हैं। जब समाधिस्थ पुरुष प्रसन्नता या संतोष प्राप्त कर लेगा तो उसे इच्छा क्यों होगी? हाँ, सांसारिक पुरुषों की प्रसन्नता और इस स्थितप्रज्ञ की प्रसन्नता में भेद है। सांसारिक पुरुषों की तुष्टि या प्रसन्नता का आधार भी अपने स्वरूप से पृथक् होता है और उस प्रसन्नता के लिए व्यापार करने वाला करण भी अपने से भिन्न ही होता है। इस प्रकार भिन्न अधिकरण में भिन्न करण द्वारा तुष्टि सांसारिक मनुष्यों को प्राप्त हुआ करती है। जैसा कि किसी पुरुष को अपनी स्त्री, अपने पुत्र या अपनी गृहादि सम्पत्ति पर तुष्टि हुई तो उस तुष्टि का आधार वे स्त्री-पुत्र या गृहादि होंगे और उनकी प्राप्ति या उनके हाव-भाव वचनादि इन्द्रियों द्वारा मन में आकर उस तुष्टि के कारण बनेंगे। इन्द्रिय मन आदि को भी करण कहा जा सकता है। किन्तु स्थितप्रज्ञ मनुष्य की तुष्टि का आधार भी वह अपने आप ही है और करण भी अपने आप ही। उसकी तुष्टि के लिए किसी भी बाह्य अधिकरण या करण की आवश्यकता नहीं होती। अखण्ड आत्मा की आनन्दरूपता जानकर ही वह पूर्णरूप से प्रसन्न या तुष्ट हो जाता है। अधिकरण व करण किसी भी रूप में बाह्य साधन की उसे आवश्यकता नहीं होती। आनन्द अपना ही स्वरूप है, वह बाहर से लाना नहीं पड़ता और उसकी अभिव्यक्ति भी पहले चाहे मानस हो, किन्तु अन्त में तो अखण्ड रूप वृत्ति में ही होती है। वह अखण्ड वृत्ति भी अपने स्वरूप में लीन हो जाती है। इसलिए बिना किसी बाह्य आवश्यकता के ही स्थितप्रज्ञ अपने आप सन्तुष्ट या प्रसन्न रहता है। तब फिर उसे इच्छाओं का उदय ही क्यों होने लगा? आगे छठे अध्याय के पातंजलयोग प्रकरण में भी भगवान् स्पष्ट करेंगे कि इस लाभ के अतिरिक्त इससे बड़ा और कोई लाभ साधक को दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में इच्छाओं का उदय हो ही नहीं सकता। सदा अधिक लाभ की ही इच्छा हुआ करती है। अधिक प्राप्त हो जाने पर फिर अल्प वस्तु की इच्छा किसी को

नहीं होती। कहीं कहीं आत्मना पद का “मन से” यह अर्थ भी किया गया है। मन के लिए भी आत्म शब्द का प्रयोग व्यावहारिक भाषा में कई जगह देखा जाता है। ऐसा शब्दार्थ करने पर फिर यह तात्पर्य निकलेगा कि जो पुरुष अपने मन से आत्मानन्द का अनुभव करता हुआ उसी से परितुष्ट हो जाता है, वह स्थितप्रज्ञ है। हम पहिले कह चुके हैं कि पूर्वावस्था में आत्मानन्द का भान मनोवृत्ति में ही हुआ करता है और उसी से अज्ञान निवृत्ति भी हुआ करती है किन्तु आगे चलकर एक अखण्ड वृत्ति बन जाती है, और वह अन्त में आत्मा में ही लीन हो जाती है। तदनुसार पहिली व्याख्या में उस अन्तिम अवस्था का वर्णन था जिसमें कि स्वरूपानन्द का भान भी, स्वरूपभूत वृत्ति से ही होता है। इस व्याख्या में पूर्व की अवस्था का वर्णन है, जब कि मनोवृत्तियों में स्वरूपानन्द का भान हुआ करता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण में दोनों ही अवस्थाओं को ले सकते हैं। सविकल्पक समाधि को भी स्थितप्रज्ञता में लिया जाय तो इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती। वैष्णव सम्प्रदायों के व्याख्याकार प्रायः उत्तरार्ध के आत्मनि शब्द का अर्थ परमात्मा करते हैं। जो कि उनके सिद्धान्तानुसार आत्मा का भी आत्मा है। उस परमात्मा का मन से ध्यान करता हुआ जो मनुष्य अन्य सब कामनाओं को या विषयों को छोड़ देता है, वह स्थितप्रज्ञ है। ऐसा अर्थ उनकी व्याख्या के अनुसार निकलता है। परमात्मा के ध्यान में भक्त लोगों को जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह आनन्द तो सबसे उच्च श्रेणी का है, उसे प्राप्त कर लेने पर फिर विषयजनित आनन्द की अभिलाषा होने ही क्यों लगी? अतः इस पक्ष में भी श्लोकार्थ की पूरी संगति हो जाती है। श्रीवल्लभाचार्य की मतानुयायिनी टीका में ऐसा अर्थ किया गया है कि “आत्मना” अर्थात् अपने “जीवस्वरूप से आत्मनि” अर्थात् “परमात्मा” में स्फूर्ति होने पर जो परम प्रसन्न व सन्तुष्ट हो जाता है, वह स्थितप्रज्ञ है। इस प्रकार ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दोनों में इस लक्षण का उत्तम रूप से समन्वय होता है।

गुरुप्रवर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इस प्रकरण की वैज्ञानिक व्याख्या अपनी टिप्पणी में लिखी है। उसका भी रसास्वादन पाठकों को करा देना आवश्यक और उचित है। उनका सिद्धान्त यह पूर्व प्रकट किया जा चुका है कि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चार सात्त्विक बुद्धि के रूपों के द्वारा अव्यय पुरुष के साथ जीव का अपना सम्बन्ध जोड़ देना ही बुद्धियोग कहा जाता है। वही मनुष्य जन्म की कृतकृत्यता है और वही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। अव्यय पुरुष का विस्तृत विवेचन पन्द्रहवें अध्याय में होगा। जहाँ कि भगवान् ने स्वयं तीनों पुरुषों का स्वरूप बतलाया है। यहाँ अभी इतना ही कहना है कि अव्यय पुरुष ज्ञानकर्ममय है। उनमें ज्ञान को विद्या और कर्म को अविद्या नाम से शास्त्रों में कहा गया है। यह दोनों विद्या और अविद्या यदि जीव में समान रूप में रहें अर्थात् एक दूसरे को न दबायें, तब आत्मा में बल रहता है। उस बल से ही प्रिय-अप्रिय, सुख दुःख, शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों की सहनशीलता होती है और उस समता से किये जाने वाले कार्यों को ही कुशलता बतलाया है जो कि पूर्व

पद्यों में वर्णित हो चुका है। इस समता से मन में दृढ़ता आती है और क्षोभ निवृत्त होता है। ऐसा अक्षोभ होना ही इस प्रकरण में स्थितप्रज्ञता नाम से कहा गया है। वह स्थितप्रज्ञता छः प्रकार से ही सकती है। वे इस प्रकार हैं—

१. तुष्टि प्राप्त करना
२. प्रेम अर्थात् मन को प्रिय लगनेवाली वस्तुओं में आसक्त न होना,
३. हितकर कार्यों में भी आसक्त न होना,
४. तृप्त रहना
५. अनशन रूप तप का अनुष्ठान
६. इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न

पहिले कहे गए चार प्रकार युक्त योगों के लिए उपयुक्त हैं जो कि योग में सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं और अन्त के दो प्रकार युञ्जान योगी के लिए हैं जो कि योग प्राप्ति का अभी प्रयत्न कर रहे हैं। इन छहों प्रकारों का ही एक एक पद्य के द्वारा यहाँ उपदेश है। इस प्रथम पद्य में तुष्टि मूलक स्थितप्रज्ञता बतलाई गई है। तुष्टि शब्द सन्तोष का बोधक है और सन्तोष का लक्षण यह है कि इन्द्रियों द्वारा विषयोपभोग करते करते जहाँ आधी तृप्ति प्राप्त हुई हो, वहाँ उतने ही पर विश्राम कर आगे के लिए विषय ग्रहण का मार्ग छोड़ देना। फिर विषय ग्रहण के लिए कोई प्रयत्न न करना। पद्य में कहा गया है कि मनोगत कामनाओं को सर्वथा छोड़ दिया जाय इसी से सिद्ध हो जाता है कि मन में अभी कामनाओं की सत्ता है। किन्तु उन कामनाओं को अपूर्ण ही छोड़ दिया जाता है, विषय द्वारा उनकी पूर्ति का आगे कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। इस अधूरी तृप्ति को आत्मानन्द से ही पूर्ण कर लिया जाता है। प्रयत्न करने में पाँच प्रकार के कारण होते हैं। यह अट्ठारहवें अध्याय में बतलाया जाएगा। तदनुसार पहिले मन में जो प्रवृत्ति आरम्भ हो उससे मन में क्षोभ उत्पन्न होगा और वह स्थितप्रज्ञता का विरोधी है। इसलिए उसका परित्याग आवश्यक है। वह परित्याग आत्मानन्द की ओर चित्त को प्रवृत्त करने से ही हो सकता है, जैसा कि पूर्व बतलाया जा चुका है। आगे के पद्यों में जहाँ जहाँ जिस उपाय का विवरण होगा, उसे वहीं स्पष्ट करते जाएँगे। यह युक्तयोगी की प्रथम प्रकार की तुष्टि मूलक स्थितप्रज्ञता का विवरण हुआ।



## उन्तालीसवाँ-पुष्प

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गनीव सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२।५६-५७-५८)

प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार पूर्व का पद्य स्थितप्रज्ञ पुरुष के आभ्यन्तर लक्षणों का बोधक था। इन लक्षणों को देखकर दूसरा पुरुष भी किसी को स्थितप्रज्ञ मान सकता है। प्रथम पद्य का अर्थ है कि “जो कई प्रकार के दुःख पड़ने पर भी उद्विग्न अर्थात् घबड़ाया हुआ न देख पड़े और भिन्न भिन्न प्रकार के विषय सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति के लिए जिसकी इच्छापूर्वक प्रवृत्ति न दिखाई दे एवं जिसके अनुराग, भय और क्रोध निवृत्त हो चुके हों अर्थात् अनुराग, भय या क्रोध के लक्षण जिसमें न दिखाई दें उसे स्थित बुद्धि वाला मुनि कहा जाता है।”

यद्यपि सुख, दुःख, भय, राग, क्रोध आदि भी मन के ही वृत्तिविशेष हैं। इनका भी ज्ञान दूसरे पुरुष को होना सम्भव नहीं। तथापि ऐसी वृत्तियाँ मन में उत्पन्न होने पर उसके बाह्य लक्षण भी अवश्य प्रकट हो जाया करते हैं। जिनसे कि दूसरे मनुष्य भी उसकी स्थितप्रज्ञता का अनुमान कर सकें। यही पूर्व पद्य की अपेक्षा इस पद्य में विशेष है कि किस मनुष्य की कामनाएँ हट गई हैं और किस की नहीं हटीं, यह जानना बहुत कठिन बात है। ऐसे अनुमानों में बहुधा दोष भी आ जाते हैं किन्तु सुख दुःखादि के लक्षण जो प्रकट होते हैं उनसे सुख दुःखादि का अनुमान करने में विशेष बाधा नहीं पड़ती। दुःख से उद्विग्न अर्थात् घबड़ाया हुआ जो मनुष्य होगा, वह “अरे यह क्या आपत्ति मुझ पर आ पड़ी” “मैं इससे बचने के लिए किसे पुकारूँ” इत्यादि मुख से बोलेगा। इसी प्रकार सुख की अत्यन्त इच्छा रखने वाला भी “कैसे मुझे यह वस्तु मिले”, कहता हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार भय, क्रोध आदि के भी लक्षण, उसके बोलने, चेष्टा करने आदि से प्रतीत हो जाते हैं। यह बाह्य लक्षण जिसमें सर्वथा प्रकट न हों उसे स्थित बुद्धि समझना चाहिए, यह भगवान् का अभिप्राय है।

अब यहाँ भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि जिस उच्च अवस्था का भगवान् चित्र दिखा रहे हैं उस अवस्था में सुख दुःख पैदा ही क्यों होंगे? और फिर इनमें उद्वेग और स्पृहा का अवसर ही क्यों आयेगा? किन्तु यह प्रश्न नहीं उठाना चाहिए, क्योंकि साधन दशा में प्रारब्ध कर्मवश सुख दुःखादि आ जाया करते हैं। वैसे सुख दुःखों के आ जाने पर भी उद्वेग या स्पृहा जिसमें दिखाई न दे, वह स्थितप्रज्ञ

माना जाना चाहिए। कई व्याख्याकार इस प्रकार की व्याख्या करते हैं कि अर्जुन ने अपने प्रश्न में जो पूछा था कि स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है? किस तरह रहता है या कैसे चलता है? उन प्रश्नों के ये उत्तर हैं। अर्थात् सांसारिक पुरुष दुःख सुख में जैसे पराधीन से होकर पूर्वोक्त प्रकार से बोलने लगते हैं, वैसे स्थितप्रज्ञ पुरुष नहीं बोलता। अपितु सुख दुःखों का सहन भीतर ही भीतर करता रहता है और राग, भय, क्रोध आदि वृत्तियाँ तो उसकी सर्वथा क्षीण हो जाती हैं। पद्य के पूर्वार्ध में जिसे स्पृहा कहा गया है, वही राग समझना चाहिए। स्पृहा अर्थात् इच्छा ही जब धारावाहिक रूप धारण कर ले अर्थात् इच्छा का प्रवाह चल पड़े, तब वही राग कहलाने लगता है। राग को ही प्रेम भी कहते हैं। यद्यपि प्रेम के कारण इच्छा होती है, ऐसा भी व्यवहार देखा जाता है। किन्तु वह भी स्थायी और अस्थायी रूपों के भेद से ही बन जाता है। इच्छा को स्थायी रूप प्राप्त हो जाना ही प्रेम कहा जायगा। उस प्रेम के कारण फिर जो पुनः पुनः इच्छा होती रहेगी, वह इच्छा शब्द से कही जायगी। वास्तव में तो प्रियता या प्रेम आत्मा का रूप है, ऐसा वेदान्त में माना जाता है। सत्ता चेतना आनन्द इनके ही नामान्तर अस्ति, भाति, प्रिय कहे जाते हैं। किन्तु प्रेम जो कि अन्तःकरण का धर्म है, वह इच्छा की ही धारावाहिक अवस्था समझनी चाहिए। इसी प्रकार अकस्मात् कोई नया रूप या नई घटना सामने आ जाने पर जो चित्त विचलित हो उठता है उसे भय नाम की वृत्ति कहा जाता है। भय का शब्दार्थ “चलन” ही है। चित्त का एकदम डाँवाडोल हो पड़ना ही उसका चलन है। जिस प्रकार की वस्तुओं को देखने का कभी अभ्यास नहीं है, वैसी वस्तु एकाएक सामने आ जाने पर चित्त का चंचल हो पड़ना अवश्यंभावी है। बहुत जगह ऐसा भी माना जाता है कि बिना भय के दुःख नहीं होता। पहिले चित्त में चलन होता है, तब वह चलित चित्त दबाया जाता है। उसका दबाया जाना ही दुःख है। यद्यपि कई जगह सहसा कोई अप्रिय संवाद सुनने पर दुःख ही होगा, पूर्व भय की प्रतीति न हुई, ऐसा होता है। किन्तु वहाँ भी चित्त वृत्तियों के अतिसूक्ष्म होने और झटपट परिवर्तन के कारण ही वैसी प्रतीति हो गई, ऐसा समझना चाहिए। वस्तुतः दुःख से पहले भय अवश्य ही होता है। इसी प्रकार भय के सम्बन्ध में यह भी एक विवाद चलता है कि भय ज्ञान से है या अज्ञान से? जो मनुष्य किसी विशिष्ट संसद आदि स्थान का नियम न जानता हो, उसे वहाँ जाने में भय प्रतीय हुआ करता है। किन्तु जो उस स्थान के नियमों से पूर्ण अभिज्ञ है, वह बराबर वहाँ जाकर काम करता रहता है। उसे कोई भय नहीं होता। इससे तो भय का अज्ञानजनित होना ही प्रमाणित हुआ। किन्तु इसके विपरीत भी दृष्टान्त हैं। मान लो कि जो पुरुष बिल्कुल यथाजात है, अर्थात् जैसा माता के गर्भ से निकला, वैसा ही आज भी मौजूद है। जिसमें कोई बुद्धि का अतिशय पैदा नहीं हुआ, वह पुरुष कहीं भी बेरोकटोक चला जायगा, उसे कोई भय नहीं होगा। किन्तु जो भिन्न भिन्न



स्थानों के महत्त्व को जानता है, उसे ही भय हुआ करता है। इससे भय ज्ञानजनित है, यही बात सिद्ध होती है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए इसका यही उत्तर देना होगा कि न भय केवल ज्ञान से है, न अज्ञान से, किन्तु अज्ञानावृत ज्ञान से भयादि सब वृत्तियाँ हुआ करती हैं। कुछ ज्ञान और कुछ उसमें मिला हुआ अज्ञान जहाँ रहेगा, वहीं भय होगा। जैसा कि पूर्वोक्त उदाहरण में, जो पूर्णरूप से अभिज्ञ है, उसे भी भय नहीं होता और पूर्णरूप से अज्ञ है, उसे भी भय नहीं होता। किन्तु जहाँ कुछ तो ज्ञान रहे, अर्थात् स्थान महत्त्व तो जानता रहे, किन्तु वहाँ जाने की विधि आदि न जानता हो, उस अज्ञानावृत ज्ञान से ही सदा भय होता है। उसी से आगे दुःखादि भी होते हैं। जब ज्ञान प्रबल होकर अज्ञान को नष्ट कर देगा, तो ऐसी बुद्धियाँ स्वतः निवृत्त हो जाएँगी। इसी प्रकार अपना अपकार कहीं होता देखकर प्रदीप्त रूप जो चित्तवृत्ति हो जाती है, उसे क्रोध कहते हैं। यह क्रोध तो बहुत ही बुरी वृत्ति होती है। जिसका वर्णन आगे तृतीयाध्याय में विशेष रूप से होगा। यह तीनों वृत्तियाँ भय, राग और क्रोध जिसकी निवृत्ति हो चुकी हों, अर्थात् इनके बाह्य लक्षण भी जिसमें कोई प्रकट न होते हों, उसे स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए। यह प्रथम पद्य का अर्थ हुआ।

विद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार यह प्रेम में अनासक्ति मूलक स्थितप्रज्ञता दिखाई गई। क्योंकि सुख और दुःख प्रिय या अप्रिय के ही नामान्तर हैं। उनमें जो आसक्त होगा, वह दुःख में घबड़ायेगा और सुख के लिए सदा इच्छा प्रकट करता रहेगा। राग, भय क्रोधादि भी उसे समय समय पर होते रहेंगे। किन्तु जो पुरुष अज्ञान को जीत कर ज्ञानमय हो चुका है, उसे न तो सुख दुःख में आसक्ति होती है, न भय, राग, क्रोध आदि का जन्म उसमें कभी होता है। इस प्रकार यह अपने प्रिय पदार्थ में अनासक्ति होने की प्रक्रिया बतलाई गई। आगे के पद्य में श्रेय अर्थात् हितकर पदार्थों में अनासक्ति बतलाई जायगी, क्योंकि शुभाशुभ, हित और अहित से सम्बन्ध रखते हैं।

दूसरे पद्य में भगवान् कहते हैं कि “जो पुरुष शुभ या अशुभ अर्थात् हितकर या अहितकर पदार्थों को प्राप्त करता हुआ भी उनमें कोई स्नेह नहीं रखता, न शुभ का अभिनन्दन करता है न अशुभ के साथ द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई, ऐसा समझ लेना चाहिए।”

स्नेह शब्द का असली अर्थ चेप है। जो पदार्थ हमें हितकर प्रतीत होता है, उसके साथ हमारे अन्तःकरण का एक प्रकार चेप हो जाता है। इसी प्रकार जो पदार्थ अहितकर प्रतीत हो, उसके साथ द्वेष हो जाया करता है। हितकर पदार्थ का हम सदा अभिनन्दन किया करते हैं, अर्थात् “यह खूब मिला”, इत्यादि रूप से उसकी श्लाघा करते हैं। अहितकर पदार्थ को सदा घृणा की दृष्टि से देखा करते हैं। यह हमारी, सांसारिकों की प्रवृत्ति है। किन्तु जिस पुरुष की प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गई हों, उसकी ऐसी प्रवृत्ति नहीं रहती। वह प्रिय-अप्रिय की तरह हित और अहित रूप शुभ या अशुभ को

भी समान दृष्टि से ही देखता है। न हितकर कार्य का अनुमोदन करता है और न अहितकर कार्य से द्वेष दिखाता है। इससे अनुमान होता है कि अन्तःकरण का द्वेष किसी के साथ नहीं है। यह भी बाह्य लक्षण ही बतलाए गए। इनमें अभिनन्दन और द्वेष का जो निषेध किया गया है वह स्पष्ट रूप से बाह्य लक्षण प्रतीत होता है। क्योंकि अभिनन्दन या द्वेष बाह्य प्रशंसा या निन्दा से ही जाने जाते हैं। विद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार यह श्रेय में अनासक्ति मूलक स्थितप्रज्ञता हुई।

अब तीसरे पद्य में स्थितप्रज्ञता का और लक्षण बतलाते हैं कि जैसे “कूर्म अर्थात् कच्छप किसी प्रकार का भय प्रतीत होने पर अपने अंगों को भीतर समेट लेता है, इसी प्रकार जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के अर्थों से अर्थात् शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से समेट लेता है, उसकी प्रज्ञा को प्रतिष्ठित मानना चाहिए।”

सांसारिक पुरुष, जब इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषय प्राप्त हों तो बड़े उल्लास से उनमें प्रवृत्त होते हैं, जहां कोई अच्छा गायन हो रहा हो, वहाँ हमलोग सुनने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं, और उस गायन को बार बार सुनते हुए भी उससे तृप्ति प्राप्त न होने की अवस्था दिखलाया करते हैं। इसी प्रकार स्पर्श, रूप, रस या गन्ध का भी वृत्तान्त है। किन्तु जिस स्थितप्रज्ञ का यहाँ वर्णन किया जा रहा है, वह पुरुष ऐसे अवसरों पर अपनी इन्द्रियों को उन विषयों में जाने न देगा, किन्तु उनको वैसे विषयों से अवश्य हटायेगा। क्योंकि जैसा कि आगे कहेंगे तदनुसार इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति होने पर मन भी इन्द्रियों के साथ लग जायगा और फिर बुद्धि की स्थिरता नष्ट होकर चंचलता के रूप में परिवर्तित हो जायगी। इसलिए इन्द्रियों को विषयों से हटा लेना ही युक्तियुक्त है। यह अभ्यास दशा का वर्णन है, ऐसा कई व्याख्याकारों ने माना है। क्योंकि सिद्ध दशा में जब कोई प्रतिष्ठित हो जाय तब उसके लिए तो शुभ और अशुभ सब बराबर रहते हैं। उस पर किसी का प्रभाव ही नहीं पड़ता। तब इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाने की क्यों आवश्यकता होगी। हाँ, जबतक साधन-दशा रहे, तबतक इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाना आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति को उस समय घातक समझा जाता है। इसलिए यहाँ से ही अभ्यास दशा का वर्णन आरम्भ हो गया। ऐसा एक मत है। किन्तु श्रीविद्यावाचस्पतिजी कहते हैं कि यह पूर्ण तृप्त जो हो चुका, उसी का वर्णन है। यह इसके दृष्टान्त से प्रतीत हो जाता है। दृष्टान्त में कहा गया है कि कूर्म जैसे अपने अंगों को समेट ले वैसे जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को अपने विषयों से समेटता है यह घटना पूर्ण तृप्ति प्राप्त होने पर ही हो सकती है। तभी अलम्बुद्धि से इन्द्रियों का विषयों से पराङ्मुख होना सिद्ध होगा। इसलिए उनके सिद्धान्त के अनुसार यह वर्णन पूर्ण तृप्त का है। यह दूसरी बात है

कि यह पूर्ण तृप्ति विषयों के भोग से ही प्राप्त हुई हो, अथवा ज्ञान से प्राप्त हुई हो। ज्ञान से भी ऐसी तृप्ति होना सम्भव है कि सर्वथा अलम्बुद्धि हो जाय। सिद्धि असिद्धि में समता रूप जो योग पूर्व कहा जा चुका है, उसका भी तात्पर्य यही है कि इन्द्रियों का विषयोपभोग न करने पर समता ठीक रह सकती है। इसलिए विद्यावाचस्पतिजी के सिद्धान्तानुसार यह वर्णन तृप्त का ही है। साधन दशा का वर्णन आगे के दो श्लोकों में किया जायगा।



## चालीसवाँ-पुष्प

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ (२।५९)

“यदि मनुष्य निराहार रहे अर्थात् कोई भोजन न करे तो उसके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उन विषयों का अनुराग निवृत्त नहीं होता। अर्थात् “यह प्राप्त होने पर मैं इस प्रकार आनन्द उड़ाऊँगा” इत्यादि भावनाएँ निवृत्त नहीं होती ये भावनाएँ परतत्त्व को देखकर ही निवृत्त होती है। इसलिए परतत्त्व के विचार में ही मन लगाना चाहिए।”

इससे पूर्व जो जो स्थितप्रज्ञता के लक्षण भगवान् ने बतलाए, उन्हें सुनकर यह शंका होगी कि यह सब तो हठयोग से भी हो सकता है। यहाँ निराहार शब्द का ऐसा ही अर्थ प्रायः सभी व्याख्याकार करते हैं कि “इन्द्रियों से विषयों का आहार रूप अर्थात् ग्रहण करना जिसने छोड़ दिया हो। इसका यही तात्पर्य निकाला जा सकेगा कि इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाना चाहती हैं, किन्तु उन्हें बलात् रोककर जाने नहीं दिया जाता। यही हठयोग है। चार प्रकार के योग आर्य संस्कृति में वर्णित हैं—

१. मन्त्रयोग,
२. हठयोग,
३. राजयोग और
४. लययोग

किसी का अपने इष्टदेव का विशेष मन्त्र जपते हुए उसमें ध्यान लगाने का अभ्यास मन्त्रयोग है। इन्द्रियों को बलपूर्वक अपने विषयों में जाने से रोकना हठयोग है। भावना ही ऐसी करना कि जिससे इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति ही न रहे, वह राजयोग है। इन योगों की पराकाष्ठा में जब मन प्रायः लीन हो जाता है, तब सभी के अन्त में लययोग सिद्ध होता है। इस प्रकार हठयोग करने पर भी इन्द्रियों की विषयाभिमुख प्रवृत्ति हट जायगी उस दशा में उस पुरुष के ऐसे भी लक्षण प्रकट हो सकते हैं कि दुःख में न घबड़ावें, सुख की स्पृहा न करे। राग, भय, क्रोध इत्यादि के लक्षण भी प्रकट न होने दें, कूर्म की तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों से समेट ले। तब फिर हठयोग से ही काम चल गया, तो इस कर्मयोग को जो कि अनेक जन्माभ्यास से सिद्ध होगा, उसके अनुष्ठित करने की आवश्यकता क्या? ऐसी शंका अर्जुन के हृदय में जानकर भगवान् उसका उत्तर देने लगे हैं कि अवश्य ही हठयोग से भी विषय निवृत्ति तो हो जाती है किन्तु मन में विषयों का राग बना रहता है। अर्थात् यदि विषय प्राप्त होते तो मैं इस प्रकार आनन्द उड़ाता, यह अनुराग हठयोग में नहीं छूट सकता। यह राग तो तभी छूटेगा जब कि इन विषयों से भी बड़ा कोई आनन्द इसके सामने

रक्खा जाय। वह आनन्द ब्रह्मानन्द ही हो सकता है कि जिसके प्राप्त हो जाने पर विषयानन्द अति तुच्छ हो जाते हैं। इसलिए उस मुख्य आनन्द को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिए। मध्य में यह उपन्यास करने का अभिप्राय यह हो सकता है कि अभ्यास दशा में कोई मनुष्य यदि इन्द्रियों को विषयों से हटाने में असमर्थ हो तो भले ही वह हठयोग से भी काम ले लें, किन्तु अन्त में तो इसे कर्मयोग का आश्रय लेना पड़ेगा जिसके कि द्वारा परमतत्त्व का दर्शन होकर सब जगत् का जञ्जाल मिट सके। विषयों में अनुराग इस स्थितप्रज्ञता से ही निवृत्त होगा और अनुराग मिटना ही मुख्य ध्येय हो सकता है। रस शब्द यहाँ अनुराग का बोधक है।

यद्यपि यहाँ प्रायः टीकाकारों ने निराहार शब्द का अर्थ सभी विषयों को आहरण न करना ही क्रिया है। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ग्रहण न करना ही निराहार हुआ। इसी तरह स्पर्शेन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण न करना निराहार हुआ, इत्यादि। किन्तु निराहार शब्द का मुख्यार्थ तो भोजन न करना है, वह भी यहाँ लिया जा सकता है। अर्थात् मनुष्य जब भोजन नहीं करे तब उसकी सभी इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं। किसी इन्द्रिय में विषय ग्रहण का सामर्थ्य नहीं रहता। किन्तु अपने विषय में इन्द्रियों का अनुराग बना रहता है। वह अनुराग परतत्त्व का दर्शन होने पर ही निवृत्त होगा। यह अर्थ भी इस श्लोक से प्रस्फुटित होता है और उपवास करने की जो प्रथाएँ चली हैं उन सबका मूल यही अर्थ है। आर्य संस्कृति में उपवास दो प्रकार के होते हैं—

१. वह कि जहाँ किसी नियत समय पर हमें पूजा आदि करना हो, वहाँ उससे पहले भोजन न करना जैसे कि जन्माष्टमी, शिवरात्रि को मध्य रात्रि में कृष्ण का या शिव का पूजन आवश्यक है। इसलिए उस पूजन के समय से पूर्व अन्न ग्रहण न करना भी आवश्यक समझा गया।
२. दूसरा जैसे कि एकादशी आदि का उपवास है

वहाँ वह उपवास ही प्रधान रहता है। कोई अन्य पूजन प्रधान रूप से नहीं होता। इन दोनों ही स्थानों में भोजन न करने का अभिप्राय यही है कि भोजन दे देने से मन में एक प्रकार की स्फूर्ति आ जायगी और वह नाना विषयों में उछलकूद करने लगेगा। इसलिए पहिले अन्न खाना छोड़ देते हैं। तो मन में वैसी स्फूर्ति भी बिना आहार के नहीं आती। मन अन्न से ही बनता है। अन्न से ही उसमें स्फूर्ति आती है। जिस प्रकार हाथी पकड़ने वाले, एक गढ़े में गिराकर उसे कई दिन का उपवास कराते हुए शिथिल कर देते हैं तब वह अनायास पकड़ लिया जाता है। इसी प्रकार मन को भी अन्न न देकर उसे शिथिल बनाया जाता है। तब वह पकड़ में आ सकता है। इसी आधार पर उपवासों की प्रवृत्ति चली है।

छान्दोग्य उपनिषद् में इसकी एक रोचक आख्यायिका है। उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु को शिक्षा दे रहे हैं। वे जब सिखाते हैं कि—

“अन्नमयं हि सोम्य मनः”, “आपोमयो हि प्राणः तेजोमयी वाक्”

अर्थात् हे सोम्य! मन अन्नमय है, अन्न से ही बनता है। प्राण तत्त्व आपोमय है, अर्थात् जल से बनता है। वाक् तेजोमयी है, इत्यादि। इस पर जब श्वेतकेतु को सन्देह होता है कि मन तो अत्यन्त सूक्ष्म है वह स्थूल अन्न से कैसे बनेगा? तब उद्दालक ऋषि उसे शिक्षा देते हैं कि “अन्नमशिते त्रेधा विधीयते” अर्थात् जो अन्न हम खाते हैं वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है। जो स्थविष्ठ अर्थात् स्थूल मात्र है, वह मलरूप होकर उसके थोड़ी देर बाद ही बाहर निकल जाता है। दूसरा भाग जो कि इसकी अपेक्षा सूक्ष्म है वह शरीर के बनाने में लगता है। जिसका कि वर्णन आयुर्वेद में विशेष रूप से किया गया है। अन्न से पहिले रस बनता है। रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा (मांसा का चिक्कण भाग), मेदा से अस्थि, उससे मज्जा (बहुत ही कठोर भाग) और उससे आगे शुक्र बनता है जो कि सन्तान उत्पादन के काम में लिया जाता है। अब तीसरा भाग जो अन्न का शेष रहा, वह मनको तृप्त करता है अर्थात् उसे बढ़ाता है। इतना जानकर भी श्वेतकेतु के मन में सन्देह ही रहा कि स्थूल अन्न का अति सूक्ष्म मन से कैसे सम्बन्ध होगा? उद्दालक ने अपनी बात उसके हृदय में जमा देने को उससे पूछा कि अभी भोजन तो नहीं किया है? श्वेतकेतु ने कहा नहीं, अभी तो अध्ययन चल रहा है! इसके बाद भोजन की व्यवस्था होगी। तब उद्दालक ऋषि ने आज्ञा दी कि अच्छा, आज भोजन मत करना। आज्ञा तो आज्ञा थी, श्वेतकेतु को इस पर “क्यों” कहने का कोई अधिकार न था। इसलिए वैसा ही किया गया। दूसरे दिन जब नियत समय पर श्वेतकेतु आए तब उद्दालक ऋषि ने कह दिया कि आज भी उपवास। इस प्रकार क्रम से सोलह दिन उपवास करवाया। जब सोलहवें दिन फिर श्वेतकेतु आया तो उद्दालक ऋषि ने कहा कि “कहो बेटा। कोई ऋग्वेद की ऋचा या सामवेद का गान सुनाओगे।” इस पर श्वेतकेतु बोले— “पिताजी, कुछ भी स्मरण नहीं है। आंख के आगे केवल अन्धेरा दिखाई देता है।” उद्दालक ऋषि ने हँसकर कहा कि जाओ, कुछ दुग्धादि लेकर फिर आना। जब श्वेतकेतु दुग्धादि पान कर फिर आए तो उद्दालक ने फिर पूछा कि कहो कुछ ऋचा या साम सुनाओगे, श्वेतकेतु बोला— “पिताजी सब उपस्थित है। जहाँ से कहें वहीं से बोलना आरम्भ करूँ। तब उद्दालक ने फिर समझाया कि देखो। स्मृति तो मन का धर्म है। अन्न न खाने से तुम्हारा शरीर दुर्बल होता, मन पर इतना प्रभाव क्यों पड़ा कि कुछ भी याद न रहा, इसी से मान लो कि मन अन्नमय होता है। अन्न न खाने से उसकी भी स्मृति आदि वृत्तियाँ शिथिल या नष्ट हो जाती हैं। तब श्वेतकेतु समझ गया। इस आख्यायिका के द्वारा मन की अन्नमयता स्पष्ट कर दी गई है। तब इसके अनुसार मन को शिथिल करने का यही उपाय सोचा गया कि उसे खाने को न दिया जाय। जब खाने को न मिलेगा तब मनकी वृत्तियाँ शिथिल होंगी और उसे अपने इष्टतम विषय में लगा सकेंगे। एकादशी आदि के दिन मन को पूर्वोक्त रीति से शिथिल कर इसके द्वारा अधिष्ठित दसों

इन्द्रियों को भगवान् के ध्यान में लगाया जाता है। इसीलिए एकादशी व्रत की इतनी महिमा मानते हैं कि एकादश इन्द्रियों का विषयों से उपराम कर सब को भगवान् की ओर लगा देना। उपवास शब्द का अर्थ भी शास्त्र में यही किया है कि—

“उपावृत्तस्य पापेभ्यो वासो यस्तु गुणैः सह  
उपवासः स विज्ञेयः”

अर्थात् पापों से हटाकर मन का गुणों के साथ सम्बन्ध जोड़ना इसी को उपवास कहते हैं। न कि आजकल की तरह के उपवास शास्त्रानुमोदित हो सकते हैं कि, चलो जी आज तो उपवास है, खाना पीना, तो कुछ है नहीं, आज घर का विशेष काम ही कर डालें। ऐसा कहकर लोग मकान की सफाई करने या छप्पर आदि बांधने में या चलो उपवास है, खाना पीना तो है नहीं, और दो बाजी ताश ही खेल लें ऐसा कहकर लगे पत्ते खेलने, इत्यादि। ऐसे उपवासों से किसी प्रकार के फलों की आशा करना व्यर्थ है।

श्रुतियों में भी उपवास का विषय आता है। वहाँ यह बतलाया गया है कि दर्शपौर्णमास नाम के यज्ञ करने को जब मनुष्य तत्पर होता है तभी देवता लोग इसके समीप आ जाते हैं। क्योंकि वे मनुष्य का मन जानते रहते हैं। अब मनुष्य के लिए यह कठिनता आ पड़ती है कि यदि कोई अपने से प्रतिष्ठित दूसरा मनुष्य भी अपने घर आ जाय तो उसे छोड़ कर स्वयं खा लेना एक बड़ी असभ्यता होती है। देवता आदि जो आए हुए हैं, उन्हें भोजन प्रतिपदा को देना विहित है। आज अमा या पूर्णिमा को उन्हें भोजन दिया नहीं जा सकता क्योंकि वह अवैध होगा, जब मनुष्य के लिए यही उपाय है कि वह स्वयं भी न खाए। अथवा न खाने में वहाँ एक दूसरी अनुपपत्ति दिखाई है। तब ऐसी चीज खा लें कि जो देवता न खाते हों। अपने घर पर जो प्रतिष्ठित पुरुष आया हो वह जो वस्तु न खाता हो उसे उसकी आज्ञा लेकर खा लेने में कोई बाधा नहीं है, इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के आरम्भ में ही कहा गया है। इसलिए आरण्यक आदि पदार्थ जो देवताओं के खाद्य नहीं होते, उनको खाने का ही उस दिन यजमान के लिए विधान माना है। देवता लोग सोम जिनमें प्रचुर मात्रा में हो, उन्हें ही खाया करते हैं। सोम की मात्रा किन किन पदार्थों में प्रचुरता से रहती है, इस बात को सोम की स्तुति के रूप में श्रुति ने ही बतलाया है—

“त्वमिमा ओषधीः सोम सर्वाः त्वमपोऽजनयस्त्वंगाः ।  
त्वमाततोरुर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ ॥

अर्थात् “हे सोम! तुमने अन्तरिक्ष को बहुत विस्तृत फैलाया है और तुम ही प्रकाश से अन्धकार को दूर करते हो।” इसके अनुसार औषधियों में, जल में, या गौ के दुग्धादि में सोम की मात्रा बहुत अधिक सिद्ध होती है। क्योंकि यह उसी के पैदा किए हुए हैं। औषधि संस्कृत भाषा में उनको ही कहते हैं कि जिनका फल परिपक्व

होते ही पौधा नष्ट हो जाय— “औषध्यः फलपाकान्ताः।” इस विचार से चावल, गेहूं आदि अन्न ही औषधि शब्द के वाच्य हैं। इनमें ही सोम प्रचुर मात्रा में रहता है। जो चीज बिना बोई हुई अरण्य में अपने आप हो जाती है— श्यामाक, नीवारादि में तथा फलों आदि में सोम अधिक मात्रा में नहीं रहता। इसलिए यह देवताओं के भक्ष्य नहीं होते। इन्हीं का विधान अमा पूर्णिमा को यजमान के लिए माना गया है।

इसी आधार पर आज भी व्रतोपवास के दिन यही आरण्यक वस्तुएँ या फलादि खाए जाते हैं। यह फलहारादि की प्रक्रिया उस श्रुति के आधार पर ही चली है। यह मानना होगा। कृष्ण जन्माष्टमी, शिवरात्रि आदि को हम लोग मध्यरात्रि में जब कृष्ण शिवादि का पूजन करते हैं, उसका संकल्प भी प्रातःकाल ही होता है। अतः प्रातःकाल से ही शतपथ ब्राह्मण में कहे गए न्याय के अनुसार वे देवता हमारे पास रहते हैं, अतः उनको छोड़कर बिना उनको अन्न ग्रहण कराए अपना भोजन करना अनुचित है। इसलिए विशेष पूजादि के दिन भी जबतक वह पूजा न कर ली जाय, तबतक उपवास रहता है और जो उपवास करने में अशक्त हैं, ऐसे बालवृद्ध आतुरादि के लिए उसी प्रक्रिया से फलाहारादि का विधान चलता है। यह सब उपवास की प्रक्रिया वेदमूलक ही है। व्रत शब्द तो साधारणतया नियम का वाचक है। कोई भी विशेष करना व्रत में आ ही जाता है। हमारा प्रयोजन इतना ही था कि यह व्रतोपवास की प्रक्रिया भी शास्त्रोक्त है। यहाँ भी भगवान् ने इसका यह प्रयोजन बतलाया है कि निराहार रहने वाले पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं। अनुराग निवृत्त नहीं होता। उसके लिए यह यत्न करता रहे। किन्तु कुछ काल तक विषयों से पीछा छुड़ाने के लिए तो व्रतोपवास की विधि उपयुक्त हो सकती है। इस प्रकार इसकी उपयोगिता बतलाने के लिए ही यहाँ इस स्थितप्रज्ञता के प्रकरण में इसका उपन्यास किया गया। इसका प्रयोजन यही है कि साधन दशा में मनुष्य उपवासादि के द्वारा भी विषयों की निवृत्ति कर ले। आगे अनुराग की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता रहे। इस प्रकार यह साधन दशा की स्थितप्रज्ञता बतलाई गई।

यद्यपि यह ठीक है कि छोटे अध्याय में पातंजल योग का निरूपण करते समय भगवान् यह कहते हैं कि अधिक खाने वाले को भी योग सिद्ध नहीं होता और एकान्ततः भोजन छोड़ देने वाले को भी योगसिद्धि नहीं होती है। इसलिए योगसिद्धि चाहने वाले को अपने आहार-विहार युक्त रूप में देखने चाहिए। ऐसे ही शयन जागरण भी युक्तरूप का होना चाहिए। इससे उपवासादि योग के उपयोगी नहीं है, यह बात सिद्ध होती है। किन्तु वह सदा के लिए एक सामान्य नियम बतलाया गया है कि योग साधन करने वाले को आहार विहार नियमित रखना, शयन और जागरण भी नियमित रखना चाहिए। किन्तु कभी एकादशी आदि के उपवास में या शिवरात्रि के जागरण में वह सामान्य नियम बाधा नहीं डाल सकता। प्रत्येक सामान्य नियम में कोई अपवाद



रहता ही है। इसलिए यह विशेष दिन का व्रतोपवासादि अपवादभूत है। ऐसा मान लेने पर कोई विरोध नहीं रहेगा। अथवा जो योग साधन में सर्वथा अशक्त है, उनके लिए यह व्रतोपवास की प्रणाली उपयुक्त है, यह मानने पर कोई बाधा नहीं रहेगी। सब प्रकार के अधिकारियों को कोई न कोई मार्ग बतलाते रहना सर्वथा उन्हें निराश न करना यह आर्य वैदिक धर्म की विशेषता है। जो योग साधन नहीं कर सकते, उन्हें भी कल्याण का कोई मार्ग तो बतलाना उचित ही होगा। उनके लिए यह उपवासादि का विधान है और इससे पूर्वोक्त प्रकार से स्थितप्रज्ञता के सम्पादन में भी सहायता ली जा सकती है। यह यहाँ मध्य में इस उपदेश को कहने का तात्पर्य हुआ।



## इकतालीसवाँ-पुष्प

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसन्नं मनः ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२।६०-६१)

इन्द्रिय संयम की आवश्यकता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि— “हे कौन्तेय, यत्न करते हुए भी और विद्वान् पुरुष के भी मन को इन्द्रियाँ प्रमथन करके बलात्कार से हरण कर लेती हैं। अर्थात् विषय की ओर ले जाती हैं। जैसे एकान्त वन में किसी व्यापारी को घेर कर उसका प्रमथन करते हुए अर्थात् मारपीट करते हुए डाकू धन लूट लेते हैं। इसी प्रकार इन्द्रिय रूप डाकू भी यत्न करते हुए पुरुष के भी सर्वस्व रूप मन को लूट लेते हैं। मन का स्वभाव है कि वह इन्द्रियों के साथ चला जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों के विषयाभिमुख होने पर मन उनकी ओर खिंच जायगा और फिर बुद्धि को भी इनके साथ लगना पड़ेगा। तब स्थितप्रज्ञता दुर्लभ हो जायगी। (१)

इसलिए सबसे पहले आवश्यक है कि “मनुष्य इन्द्रियों को अपने वश में करे और वश में करके योगयुक्त होता हुआ मेरी ओर ध्यान लगाकर मुझे ही परतत्त्व मानता हुआ, अपने कार्य को सम्पादित करता रहे। जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में हो जायँगी, उसकी प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि प्रतिष्ठित हो जायगी। यह भी पूर्व पद्य जैसा था, वैसा ही साधन दशा का वर्णन करने वाला पद्य है। साधन दशा में पहले मनुष्य को इन्द्रियों पर ही अपना अधिकार करना चाहिए। इन्द्रियाँ जब वश में हो जाएँगी, तब मन पर फिर भी अधिकार जमाना सहज होगा और इधर से जब आकर्षण न चलेगा तो बुद्धि भी स्थिर हो सकेगी।

द्वितीय अध्याय सूत्ररूप है। अपना वक्तव्य सब इस अध्याय में भगवान् ने बतला दिया है। आगे फिर प्रश्नोत्तर द्वारा इसी का विस्तार होता रहेगा। जब द्वितीयाध्याय सबका सूत्ररूप है, तब भक्ति विषय जो गीता में विशेष रूप से प्रतिपाद्य है, वह इसमें न आये, यह कैसे हो सकता है। इसलिए “मत्परः” शब्द से यहाँ भक्ति का भी सूत्ररूप से उपन्यास कर दिया गया। यद्यपि “आत्मन्येवात्मना तुष्टः” इत्यादि में भी आत्मा का परमात्मा अर्थ कर उन पद्यों की भी भक्तिपरक व्याख्या की गई है किन्तु वह किसी-किसी ही व्याख्याकार का मत है। सबके मत में वैसा अर्थ नहीं। इसलिए सर्वसम्मत भक्ति प्रकरण का सूत्ररूप से यहाँ कथन आवश्यक था। आगे द्वितीय षट्क में उसका विस्तार होता रहेगा। यहाँ “मत्परः” शब्द का आशय है कि मुझे अर्थात् वासुदेव भगवान् को अपना “पर” अर्थात्

“प्राप्तव्यस्थान” बना लो। इससे इन्द्रियों को वश में करने में भी सहायता मिलेगी। इसलिए योगयुक्त होना तुम्हारा बन सकेगा।

इन्द्रियों का स्वभाव है कि जितना आनन्द इन्हें अपने विषयों में प्राप्त होता है, उससे अधिक आनन्द यदि कहीं प्राप्त हो तो सामान्य आनन्द को छोड़कर उस विशेष आनन्द की ओर झुक जाती हैं। ऐसी स्थिति में जब परब्रह्म में ध्यान लगाया जायगा और ध्यानयोग रूप भक्तिमार्ग में अथाह आनन्द प्राप्त होगा तब इन्द्रियाँ अपने आप सब विषयों को छोड़कर उसी भक्तिमार्ग में लीन हो जाएंगी। इससे इन्द्रियजय में उतनी कठिनाई न पड़ेगी, जितनी कि सम्भावित है। भगवद्भक्ति का आनन्द एक अद्भुत आनन्द है। उसमें विषयानन्द की अपेक्षा सैकड़ों गुना आनन्द प्राप्त हो जाता है। अथवा द्वादशाध्याय में जो कहा जायगा कि—

“अभ्यासेष्यसमर्थोसि मत्कर्म परमो भव”

अर्थात् अभ्यास करने में यदि तुम असमर्थ हो तो मुझे उद्देश्य बनाकर कर्म किया करो इससे भी तुम्हें सिद्धि प्राप्त हो जायगी। वही बात यहाँ “मत्परः” शब्द से कही गई है। अर्थात् मुझे परमात्मा को परायण मानकर मेरे लिए कर्म किया करो। तुम्हारी इन्द्रियाँ यदि सुगन्धि की ओर लालायित होती हैं तो मेरे उद्देश्य से ही चन्दन बनाकर अथवा पुष्प माला मुझ चढ़ाकर, उन इन्द्रियों को अपना विषय ग्रहण करने का अवसर दो। भगवत्प्रसाद रूप से जब इन्द्रियों को इन्द्रियों से सुगन्ध द्रव्यों का ग्रहण कराया जायगा, तो संसार की ओर न झुककर भगवान् की ओर ही झुकेगी। यही बात श्रीमद्भागवत में भी कही गई है कि—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।

भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥

अर्थात् मुझ परमात्मा में जिसने अपनी बुद्धि का आवेश कर दिया है, उनकी कामनाएँ आगे नई नई कामना उत्पन्न करने में नहीं लगती। जैसे कि धान का स्वभाव बीज रूप से नया वृक्ष उत्पन्न करना है। किन्तु यदि उसे भूँज दिया जाय या गर्म जल में क्वाथ बना लिया जाय तो फिर नया पौधा उत्पन्न करने की शक्ति उसमें नहीं रहती। इसी प्रकार भगवद्भाव से भूँज डालने पर कामनाओं में नई नई कामनाएँ उत्पन्न करने की शक्ति रुक जाती हैं। सद् वैद्य वही कहलाता है जो घातक वस्तु को भी प्राणप्रद बना दे। संखिया आदि विष मनुष्य के घातक हैं किन्तु सद्वैद्य इन्हें ही शोधित कर इनसे बहुत कठिन रोगग्रस्त मनुष्यों को भी जीवनदान दे दिया करते हैं। इसी प्रकार भक्तिमार्ग एक ऐसा मार्ग है कि जो मनुष्य के घातक विषयों को भी भक्ति के पुट से शोधित कर मनुष्य का उद्धारक बना देता है। इसमें इन्द्रियों का जय करने में कोई विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। केवल दृष्टिभेद मात्र कर दिया जाता है। हम अपने

लिए नाना सुगन्धित पुष्पमालादि सज्जित न करें, किन्तु भगवान् के चढ़ाने के लिए वे ही पुष्पमाला तैयार करें और भगवत् प्रसाद रूप से इन्द्रियों को उनका उपभोग करने दें। सुन्दर दिव्य पदार्थ खाने की इच्छा हमें हो तो वे पदार्थ अपने लिए न बनाए जाएँ, किन्तु नाना उत्सवों पर भगवदर्पण के लिए वे ही पदार्थ बनाए जाएँ और भगवान् के प्रसाद रूप में इन्द्रियों को भी उनका रस चखने दिया जाय। इससे इन्द्रियों को अपना विषय प्राप्त होता रहने पर, प्रत्युत उससे भी कहीं अधिक विषय प्राप्ति देखकर उसमें लगी रहेंगी। अन्य सब बातों में भगवद्भाव का पुट देने से निरन्तर भगवान् की ओर ध्यान लगता रहेगा। इससे भगवद्भावरूप भक्ति भी सिद्ध होती रहेगी। इस प्रकार का वशीकार सहज में हो जाएगा। बड़ी कठिनाई से योग साधन द्वारा जो बात नहीं हो पाती थी वह भगवद्भाव के पुट से ही सिद्ध होती जायगी। यह मूर्ति पूजा की ही महिमा है कि जिससे मनुष्य निरन्तर भगवद्भाव में प्रवेश पाता हुआ आगे आगे क्रमशः संयम की ओर बढ़ता रहता है।

यहाँ बहुत से लोग, विशेषकर आजकल के विवेचक यह शंका उठाते हैं कि भगवान् तो अमूर्त हैं। उनकी मूर्ति कल्पना करना तो उनके साथ अन्याय करना है। जिनका वर्णन श्रुति ने

“स पर्यगाच्छुक्रमकायममव्रणम्”

“यतो वाचो निर्वन्तेअप्राप्य मनसा सह”

वह साधक मनुष्य अकाय अर्थात् बिना शरीर के और अव्रणम् “बिना व्रण वाले परमात्मा को प्राप्त करे, मन और वाणी जिस परमात्मा को प्राप्त न कर बीच में से ही लौट आती है, इत्यादि रूप से किया है। उनकी चर्म चक्षुओं से ग्रहण होने योग्य मूर्ति बना लेना उनके साथ घोर अन्याय नहीं तो क्या है? किन्तु इस प्रकार की शंका करने वाले यह ध्यान नहीं देते कि भगवान् की उपासना भी तो श्रुति ही बतलाती है। फिर जब मन और वाणी में जो विषय आयेगा ही नहीं उसकी उपासना ही कैसे होगी। उपासना नाम तो चित्त को एक जगह स्थिर करने का है। जब चित्त उसे पा ही नहीं सकता तो उसमें स्थिर कैसे होगा और उपासना पद्धति कैसे बनेगी। इसीलिए भक्तों पर अनुग्रह करने को, उनकी उपासना सिद्ध करने को भगवान् नाना रूप धारण किया करते हैं। जिनका कि वर्णन अवतारवाद के प्रसंग में चतुर्थाध्याय में होगा। यहाँ इतना ही कहना है कि उन अवतारों के रूपों को ही हम अपना उपास्य बनाते हैं। इसी उद्देश्य से आज दिन सीताराम, राम कृष्ण आदि के मन्दिर ही विशेष रूप से दिखाई देते हैं। फिर यह भी तो विचारने की बात है कि निराकार के आकार की कल्पना क्या श्रुति में होती ही नहीं? ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। श्रुति में बहुधा निराकार की आकार कल्पना का प्रसंग है। देखिए एकमन्त्र श्रुति में से उद्धृत किया जाता है—

चत्वारि शृंगाः त्रयो अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासौ अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आ विवेश ॥ ४-५८

इसका अर्थ है कि “चार जिसके सींग हैं, तीन पैर, दो मस्तक हैं और सात हाथ हैं। तीन स्थानों में बँधा हुआ वह वृषभ खूब शब्द करता है। वह महान् देव मर्त्यों में आकर प्रविष्ट हुआ।” अब जो सज्जन इस बात का आग्रह करें कि वेद में मूर्ति कल्पना नहीं है वे चार सींग, तीन पैर, दो मस्तक का और सात हाथ का कोई बेल दिखावें। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो मानना पड़ेगा कि वेद मन्त्रों में आकार कल्पना होती है। इसी मन्त्र को महाभाष्यकार ने शब्दपरक लगाया है और निरुक्तकार ने इसमें यज्ञ का वर्णन बतलाया है। दोनों ने अपने अपने मतानुसार सिर हाथ आदि की कल्पना की है। तब यह सिद्ध हो जाता है कि वेद मन्त्रों में भी निराकार की आकार कल्पना है। तब फिर निराकार परब्रह्म की आकार कल्पना की जाय तो वह वेद विरुद्ध नहीं होगी, किन्तु वेदानुकूल ही होगी। इसी प्रकार लोक व्यवहार में भी निराकार की आकार कल्पना बहुधा की जाती है। पहिले शब्द को ही देखिए। शब्द एक ध्वनि या उससे अभिव्यञ्जित होने वाला एक स्फोट पदार्थ है। उसका इन आकारों से कोई सम्बन्ध नहीं जिन्हें कि हम पत्रों पुस्तकों आदि में बनाते हैं। मुद्रित करते हैं और उसी के आधार पर सब कुछ हमारी शिक्षादि चलती है। यह निराकार की आकार कल्पना यदि न की जाय तो संसार में शिक्षा पद्धति ही बन्द हो जाय। इसी प्रकार गणित शास्त्र में रेखागणित जो पढ़ाते हैं उन्हें पहिले यह सिखाया जाता है कि बिन्दु या रेखा इन दोनों को पहिले सीखो। बिन्दु का लक्षण यह बताया जाता है कि जिसमें लम्बाई चौड़ाई कुछ नहीं है, वह बिन्दु कहलाता है, अब मास्टर जब अपने शिष्यों को शिक्षा देने के लिए खड़ा होता है तो ब्लैक बोर्ड पर खड़िया से एक आकार बना देता है कि यह बिन्दु है। अब कोई शिष्य उसके सामने विवाद करने खड़ा हो कि मास्टर साहब आपने जो बिन्दु बनाया उसमें तो लम्बाई चौड़ाई दोनों है। फिर आप का लक्षण इसमें कैसे घटेगा। मान लो कि वह उसे बिगाड़ कर छोटी से छोटी बिन्दु बनाये तो भी उसमें एक जौ भर लम्बाई चौड़ाई अवश्य रहेगी। इसी प्रकार रेखा का लक्षण यह बतलाया जाता है कि जिसमें केवल लम्बाई हो चौड़ाई बिल्कुल न हो। किन्तु उसकी शिक्षा के लिए जो रेखा कृष्णपट्टिका पर बनाई जायगी, उसमें तो एक तन्दुल मात्र चौड़ाई तो अवश्य रहेगी। इन बातों को लेकर विवाद करने वाले शिष्यों से अन्ततः मास्टर यही कहेगा कि भाई! मैं ऐसा बिन्दु या रेखा बना नहीं सकता जिसमें लम्बाई चौड़ाई कुछ न हो। या केवल लम्बाई हो, चौड़ाई सर्वथा न हो। किन्तु तुम्हें शिक्षा के लिए इस बिन्दु पर ध्यान रखते हुए मन में यह विचार करना चाहिए कि इसमें लम्बाई चौड़ाई कुछ नहीं है और रेखा में केवल लम्बाई है, चौड़ाई नहीं है। यह केवल मनोभावगम्य विषय है। वैसा आकार बनाया नहीं जा सकता। यदि विवाद करोगे, तो इस विद्या के सीखने से वंचित रह जाओगे। उचित यही है कि मेरी बनाई बिन्दु और रेखा को लक्ष्य बना कर उस पर ध्यान यह करो कि यह लम्बाई चौड़ाई से शून्य है। इसी प्रकार निराकार परब्रह्म के लिए एक मूर्ति हम अपने सामने रखते हैं। किन्तु हमारा ध्यान उस मूर्ति

पर नहीं रहता। यह तो केवल अपने मन को एक जगह स्थिर करने के लिए होती है। उसको लक्ष्य बना कर ध्यान हम यही करते हैं कि—

न भूमिर्न चापो न वह्निर्न वायुः,  
न चाकाशमास्ते न तन्द्रा न निद्रा ।  
न चोष्णो न शीतं न देशो न वेशो,  
न चास्यास्ति मूर्तिस्त्रिमूर्तिं तमीडे ॥

अर्थात् भूमि, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों महाभूतों का जिसमें कोई सम्बन्ध नहीं है, न जहाँ उष्णता है, न शीतलता है, न जिसका कोई देश है, न वेश है, न मूर्ति है, उसी त्रिमूर्ति शंकर को हम प्रणाम करते हैं। यहाँ एक ही वाक्य में उसकी मूर्ति का निषेध भी करते हैं और फिर उसे त्रिमूर्ति अर्थात् तीन मूर्ति वाला भी कहते जाते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वे तीनों मूर्तियाँ (ब्रह्मा, विष्णु, शंकर) अपना ध्यान लगाने के लिए हमें आचार्यों ने बतलाई हैं, वस्तुतः उसकी कोई मूर्ति नहीं है। जैसे बिन्दु या रेखा को प्रत्यक्ष देखते हुए भी रेखागणित का छात्र अपने ध्यान में उस चीज को लेता है जिसमें लम्बाई चौड़ाई न हो। वैसे ही मन के आलम्बनार्थ एक मूर्ति सामने रखते हुए भी हम अपना भाव उसी जगह ले जाते हैं जिसकी कोई मूर्ति नहीं है। तात्पर्य यही सिद्ध हुआ कि अमूर्त को भी व्यवहार के लिए मूर्त बनाना पड़ता है। अन्यथा व्यवहार चल ही नहीं सकता और तो क्या जो कुछ भी नहीं है, उसकी भी मूर्ति शून्य नाम से एक गोल गोल अण्डा सा लिखकर बना दी जाती है। उसी से गणित शास्त्र का काम चलाया जाता है। जब कुछ नहीं की भी मूर्ति हो सकती है, तो जो सब कुछ है, सब में व्याप्त है, जिसके बिना कोई स्थान नहीं उसकी मूर्ति बनाने में विवाद का स्थान क्यों? अच्छा, श्रुति में भी निराकार ब्रह्म के सम्बन्ध में देखिए शिव, विष्णु, इन्द्र आदि को तो हमारे प्रश्नकर्ता ईश्वर का ही नाम मानते हैं। उनके ही आकार श्रुतियों में बताए गए हैं— “त्र्यम्बकं यजामहे” यह शिव का प्रसिद्ध मन्त्र है। उसमें शिव को त्र्यम्बक अर्थात् तीन नेत्रवाला कहा गया है। इसी प्रकार “ऋस्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू” इस मन्त्र में इन्द्र की भी द्विबाहु कल्पना स्पष्ट है। “नमस्ते रुद्र मन्यवे- उतोत इषवे नमः । बाहुभ्यामुत ते नमः ।” इस मन्त्र में रुद्र के बाहु और बाण स्पष्ट कहे गए हैं।

“इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे ।”

इस मंत्र में विष्णु की पादकल्पना स्पष्ट है। कहां तक कहा जाय, सैकड़ों मन्त्र ऐसे हैं जिनमें देवताओं के अंगों का और आयुधादि का वर्णन है। सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में भी “मुखं किमस्यासीत्। किंबाहू का ऊरु पादा उच्येते।” इस प्रकार प्रश्न कर आगे विस्तार से—

“ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ऊरु  
तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत्।”

“चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत्।”

“मुखदिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद्वायुरजायत्।”

इत्यादि रूप से पुरुष के प्रत्येक अंग का और उससे देवताओं की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन है। अब इसमें या तो यह मान लीजिए कि वेद ने इनकी आकार कल्पना की और या उनके वास्तविक अंग हैं तो ईश्वर साकार सिद्ध हो गया। फिर आकार से उपासना क्यों न हो और यदि कल्पित अंग माने गए हैं तो वेद में भी ईश्वर के अंगों की कल्पना है। तब फिर यदि हम भी अंग कल्पना कर उस प्रकार से उपासना करते हैं तो इसमें हमारा अपराध क्या हुआ? वस्तुतः बात यह है कि परब्रह्म तो निराकार ही है, किन्तु निराकार को हमारा चित्त पकड़ नहीं सकता, और किसी प्रकार निराकार की उपासना का प्रयत्न भी किया जाय तो उसमें जीवधारियों को बहुत अधिक क्लेश होता है। यह भगवद्गीता में ही आगे द्वादशाध्याय में कहा जायगा कि “अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्विरावाप्यते।” “क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।” इसलिए उपासकों की उपासनासिद्धि के लिए ब्रह्म की रूप कल्पना आवश्यक होती है। जैसा कि पूर्वाचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि—

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।

उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

इसका अर्थ है कि वस्तुतः ब्रह्म तो अचिन्त्य, अप्रमेय, निर्गुण और शरीर रहित है। किन्तु, उपासकों की सिद्धि के लिए उसकी रूप कल्पना होती है। रूप कल्पना के यहाँ दोनों अर्थ हैं। एक जगह “ब्रह्मणः” इसका कर्तृ पद मानकर व्याख्या की जाय तो यह तात्पर्य निकलता है कि उपासकों की सिद्धि के लिए ब्रह्म ही अपने कल्पित रूप प्रकट करता है। इससे अवतारवाद आ जाता है। अर्थात् ब्रह्म ने उपासकों की सिद्धि के लिए ही अवतार धारण किए। जैसा कि हम चतुर्थाध्याय में स्पष्ट करेंगे और “ब्रह्मणः” इसको कर्म अर्थ में षष्ठी मानने पर यह अर्थ हो जाता है कि उपासकों की सिद्धि के लिए ब्रह्म के कल्पित रूप बनाने होते हैं। इससे निराकार शिव विष्णु, उनकी शक्ति आदि के भी नाना रूप कल्पित हुए हैं। उन कल्पित रूपों में भी ब्रह्म के प्रत्येक कार्य की भी अंगरूप से कल्पना है। जैसा कि विष्णु पुराणादि में स्पष्ट बतलाया गया है और अभी जो एक प्रतीक विद्या नाम की पुस्तक विहार राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित हुई है, उसमें भी इस रूप कल्पना का रहस्य बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। यहाँ हम उसका अधिक विस्तार नहीं करना चाहते। द्वादशाध्याय में जहाँ इसका प्रसंग आयेगा, वहाँ इस विषय पर और अधिक विस्तार से लिखा जायगा। यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि युक्त आसीत् मत्परः यहाँ “मत्परः” शब्द लेकर भगवान् ने भक्तिमार्ग को भी द्वितीयाध्याया में सूत्र रूप से कह दिया।

## बयालिसवाँ-पुष्प

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।  
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥  
क्रोधाद्भवति सम्मोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।  
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥  
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।  
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥  
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।  
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ (२।६२-६५)

प्रत्येक मनुष्य स्थितप्रज्ञता क्यों नहीं प्राप्त कर सकता? या इस प्रकार कहो कि स्थितप्रज्ञता प्राप्त करना इतना कठिन क्यों समझा जाता है? इसका कारण बतलाते हुए भगवान् सांसारिक मनुष्यों की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हैं—

“विषयों का ध्यान करने से मनुष्य के मन का उन विषयों के साथ संग अर्थात् आसक्ति हो जाती है। संग से आगे काम उत्पन्न हो जाता है, और वह काम ही किसी व्यक्ति के द्वारा प्रतिहत हो जाय तो क्रोध का रूप धारण कर लेता है। क्रोध से आगे संमोह हो जाता है। अर्थात् कार्याकार्य का विवेक ज्ञान नहीं रहता और संमोह से फिर स्मृति में विभ्रम हो जाता है। स्मृति का विभ्रमात्मक ध्वंस होने पर बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नाश से मनुष्य नष्ट हो जाता है। अर्थात् फिर अपना श्रेय सम्पादन करने की शक्ति ही उसमें नहीं रहती। यह आठ का चक्र घूमता हुआ सांसारिक मनुष्यों को अपने कर्तव्य मार्ग से विच्युत कर देता है। इसी कारण सांसारिक मनुष्य स्थितप्रज्ञता प्राप्त नहीं कर सकते।”

मन का धर्म है कि वह जिस विषय को पकड़ता है उसका कुछ संस्कार अपने भीतर ले लेता है। ऐसे संस्कार शतशः मन में आया करते हैं और साथ ही नष्ट भी होते हैं। किन्तु जब किसी विषय का मन पर विशेष प्रभाव पड़ता है तो उसका संस्कार चिरस्थायी हो जाता है। फिर उस संस्कार के कारण मनुष्य उसका बार बार अनुचिन्तन किया करता है। यह अनुचिन्तना ही ध्यान है। जैसे कि किसी मनुष्य ने किसी समय कोई उत्तम गान सुना उस गान का उस पर विशेष प्रभाव पड़ा, तो वह उसे बार बार स्मरण करता रहेगा। इसी प्रकार अन्य विषय भी समझ लेना चाहिए। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनमें से कोई भी किसी समय मन पर विशेष प्रभाव डाल देता है तो उसका बार बार स्मरण होता रहता है। वह मन की वासना स्थिर हो जाने पर मन का



उस विषय के साथ बन्धन हो जाता है। उसी बन्धन को आसक्ति कहते हैं। मन और बुद्धि का स्वरूप पहिले बतलाया जा चुका है कि मन क्षण क्षण में बदलने वाला है और बुद्धि स्थिर रहने वाली है। क्षण क्षण में बदलने वाला मन में यह बार बार स्मरण कराने वाला चिरस्थायी संस्कार तब तक नहीं बन सकता जबतक कि बुद्धि का उसके साथ सहयोग न हो। इसलिए कहना होगा कि चिरस्थायी संस्कार रहने में बुद्धि का भी अवश्य सहयोग है। मन के द्वारा समर्थित किसी विषय पर बुद्धि जम जाती है और उस विषय में मन को बार बार प्रेरणा करती रहती है, तभी मन उस विषय का ध्यान अर्थात् अनुचिन्तन करता रहता है। बुद्धि भी दो प्रकार की होती है— एक उपेक्षा बुद्धि और अपेक्षा बुद्धि। मन के साथ ही साथ बुद्धि भी यदि बदलती रही तो उसे उपेक्षा बुद्धि कहते हैं। जैसे कि राजमार्ग में जाते हुए हम लोग सैकड़ों पदार्थों को देखते हैं। किन्तु घर आते ही उनमें से किसी का स्मरण नहीं रहता। यहाँ बुद्धि मन के साथ ही थी। वह भी बदलती गई। इसलिए स्थायी संस्कार किसी पदार्थ का नहीं हो पाया। यही उपेक्षा बुद्धि है। किन्तु जब कोई विशेष प्रकार का पदार्थ दृष्टि में आ जाता है, वह अपना चिर परिचित कोई व्यक्ति विशेष रूप से मिल जाता है, तो वह बुद्धि उसे पकड़ लेती है और उसका स्मरण हुआ करता है। इसे अपेक्षा बुद्धि कहते हैं। यहाँ मन बुद्धि का अनुगामी बन जाता है और बुद्धि की प्रेरणा से उसका बार बार स्मरण किया करता है।

याद रहे कि स्मरण काम मन का है और संस्कार आ आधान बुद्धि में होता है। किन्तु बुद्धि में जब कोई विषय जम गया तो उस विषय में मन को स्मरण करने की वह बार बार प्रेरणा करती रहती है। यही मन का बन्धन या आसक्ति हुई। यह भी पूर्व कहा जा चुका है कि बुद्धि के सात्त्विक रूप धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, विद्या बुद्धि कहलाते हैं और तामस रूप अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, अविद्या बुद्धि कहे जाते हैं। मन के साथ होकर जब बुद्धि विषयों के अनुध्यान में मन को प्रेरित करेगी तो वह तामस रूप वाली अविद्या बुद्धि ही बन जायगी। वही मन की आसक्ति कराती है। इस प्रकार आसक्ति होने पर उस वस्तु को अपने अधीन करने की अर्थात् ले लेने की इच्छा होती है इसे ही काम कहते हैं। काम अर्थात् अभिलाषा, तब मनुष्य उस विषय के लेने के प्रयत्न में लग जाता है। प्रयत्न कई जगह सफल होता है और कई जगह निष्फल भी हो जाता है। अर्थात् जिस वस्तु को हम लेना चाहते हैं वह मिली या न मिली। मिल गई, तब तो ठीक ही है। यदि न मिली तो उसके न मिलने में यदि किसी दूसरे व्यक्ति का हाथ है, तो वह काम क्रोध के रूप में परिणत हो जायगा। अर्थात् उस विघ्न करने वाले व्यक्ति पर क्रोध हो जायगा। इस प्रकार काम ही क्रोध के रूप में प्रायः परिणत हुआ करता है। यद्यपि काम और क्रोध ये दोनों मन की परस्पर विरुद्ध वृत्तियाँ हैं। काम वस्तु की ओर आकृष्ट करता है और क्रोध जिस पर हो, उससे हमें अत्यन्त दूर कर

देता है। काम में एक प्रकार का चेप है। जिस वस्तु की कामना हो, उसके साथ मन का चेप हो जाता है। किन्तु क्रोध प्रदीप्त रूप चित्तवृत्ति है। इस प्रकार दोनों वृत्तियाँ परस्पर विरुद्ध रहने पर भी इनमें कार्य-कारण भाव अवश्य अनुभव सिद्ध है। काम ही प्रतिहत होने पर उलट जाता है और वह क्रोध के रूप में चला जाया करता है। इसका अनुभव सांसारिक मनुष्यों को समय समय पर हुआ करता है। वृत्तियों के इस प्रकार आघात प्रतिघात से बुद्धि में जो कार्याकार्य निर्णय करने की शक्ति है, उस पर प्रभाव पड़ता है और क्रोध उत्कट हो जाने पर वह शक्ति अपना काम नहीं करती। उसे ही संमोह कहा जाता है। इसका वर्णन बहुत से कवियों ने अनेक प्रकार से किया है। भगवान् वाल्मीकि तो यहाँ तक लिखते हैं कि—

वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित् ।

नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् ॥

अर्थात् क्रोधयुक्त पुरुष को वाच्यावाच्य का ज्ञान ही नहीं रहता। वह अपने गुरुओं से भी न कहने योग्य शब्द कहने लगता है। क्रोधी पुरुष के लिए अकार्य कुछ नहीं है। अर्थात् वह सब कुछ कर सकता है और न उसके लिए कुछ अवाच्य है। वह न बोलने योग्य शब्द भी बोला करता है। एक कवि ने बहुत अच्छा समझाया है—

अपकारिणि चेत्क्रोधः क्रोधः क्रोधे कथं न ते ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ॥

अर्थात् यदि कोई मनुष्य कहे कि जो हमारा अपकार करता है, उस पर तो क्रोध आयेगा ही, तो उससे कहा जाता है कि अपकार करने वाले पर यदि क्रोध करते हो तो क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करते? यह तो बहुत बड़ा अपकारक है। धर्मार्थ काम मोक्ष चारों का नाशक है। क्रोध से इस प्रकार का संमोह होने पर वह स्मृति का नाश कर देता है। सब संसार के व्यवहार स्मृति के आधार पर ही चलते हैं। क्या काम करते हुए हमने उसे अधूरा छोड़ दिया है, इसकी स्मृति होने पर ही मनुष्य अपने कामों को पूरा करने में लगा रहता है। पूर्वोपकार की स्मृति होने पर ही किसी से प्रेम होता है और अपकार की स्मृति होने पर द्वेष। स्मृति होने पर ही हम भिन्न भिन्न कार्यों के लिए भिन्न भिन्न स्थानों पर जाया करते हैं। इस प्रकार सभी व्यवहार स्मृति के आधार पर ही चलते हैं। जब क्रोध या उससे उत्पन्न संमोह उत्कट हो जायगा, अर्थात् बहुत बढ़ जायगा तो मन की स्मृति शक्ति जाती रहेगी। जैसा कि हम कह चुके हैं कि स्मृति के आधार पर ही मनुष्य अपने कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय बुद्धि से किया करता है। जब स्मृति ही न रही तो बुद्धि एक प्रकार से अपना काम छोड़ देगी। यही

बुद्धि का नाश हुआ। और बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य नष्ट हो जायगा। अर्थात् अपने कल्याण का साधन कभी न कर सकेगा।

समय समय पर इस भगवान् के बतलाए हुए विनाश चक्र का आवेश कुछ काल के लिए सांसारिक मनुष्यों पर अवश्य होता है। आगे वह वृत्तियों का क्रम शान्त हो जाता है तो फिर मनुष्य अपनी खोई हुई बुद्धि आदि को प्राप्त कर लेते हैं। यदि कुछ तामसी पुरुष अत्यन्त क्रोधी हो जाते हैं तो उन पर यह चक्र पूरी तरह चरितार्थ होता है। अर्थात् उनका कर्तव्य ज्ञान सर्वथा नष्ट हो जाता है, और वे सदा के लिए कर्तव्य ज्ञान से वंचित हो जाते हैं। इसलिए पहिले ही सचेत होकर ऐसे मार्ग पर चलना कि यह चक्र इस प्रकार उठने ही न पावे। पूर्वोक्त क्रम में यह बात सिद्ध हो चुकी कि यह चक्र चलाने में विषयों का ध्यान और तज्जनित आसक्ति ही मुख्य कारण है। इसलिए उस विषयानुध्यान को ही छोड़ना चाहिए। उससे ही आसक्ति बनती है। वह रागरूप में परिणत हो जाया करती है। काम-क्रोध कहो या रागद्वेष कहो, बात एक ही है। काम ही जब स्थिर रूप धारण कर लेता है तो उसे राग कहा जाता है और क्रोध यदि स्थिर रूप धारण कर ले तो वही द्वेष हो जाता है। स्थिरता और अस्थिरता के भेद के कारण ही काम-क्रोध को मन की वृत्ति कहते हैं, और रागद्वेष को बुद्धि का तमोगुणी रूप मानते हैं जो कि पंचक्लेशों में गिने गए हैं।

यह राग द्वेष ही मनुष्य के बन्धक हैं। मनुष्य को बन्धन में डालने वाले हैं। इन्हें यदि छोड़ दिया जाय तो कर्म स्वतः बन्धक नहीं रहता। यही बात आगे के पद्यों से कही जाती है। (६२-६३)

रागद्वेष के कारण जब इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, तब उन इन्द्रियों के किए हुए कर्म बन्धन में डालते हैं। मन और बुद्धि में रागद्वेष न रहे तो रागद्वेष रहित मन बुद्धि की प्रेरणा से इन्द्रियों के द्वारा जो कर्म होंगे वे बन्धक न होंगे। यद्यपि इन्द्रियाँ जब कभी प्रवृत्त होंगी तो अपने विषयों में ही प्रवृत्त होंगी। जैसा कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ज्ञान ही प्राप्त करेंगे और कर्मेन्द्रियों के द्वारा बोलना, उठना, चलना आदि कार्य ही होंगे। इनके अतिरिक्त और इन्द्रियों में शक्ति ही क्या है? किन्तु उनके प्रेरक मन और बुद्धि में जब राग द्वेष नहीं है, तो इन्द्रियाँ आत्मवश्य रहेंगी। अर्थात् अपनी इच्छानुसार जहाँ हम उन्हें लगायें वहीं वे बिना ननुनच के प्रवृत्त होती रहेंगी। उस समय हमारा आत्मा अर्थात् मन भी हमारा विधेय होगा। अर्थात् जहाँ से उसे ले जाना चाहें, वहाँ जायगा। अब प्रश्न यह होता है कि ऐसी स्थिति में मन और इन्द्रियाँ जाएंगी कहाँ? क्योंकि इन्द्रियों की गति तो अपने विषयों की ओर अभिलाषा से ही होती है। यदि अभिलाषा न रही तो फिर इन्द्रियाँ प्रवृत्त ही क्यों होंगी? इसका

उत्तर भिन्न भिन्न सम्प्रदायानुसार दो प्रकार से दिया जाता है। कर्मयोगमार्गीय इसका यह उत्तर देते हैं कि बिना रागद्वेष के भी इन्द्रियों की प्रवृत्ति लोक संग्रहार्थ होती है। लोकसंग्रह शब्द का अर्थ आगे किया जायगा। तात्पर्य यही है कि उन्हीं विषयों का सेवन भले ही इन्द्रियों द्वारा होता रहे, किन्तु उसमें रागद्वेष यदि नहीं हैं तो वह बन्धक नहीं होता, न आगे वैसे विषयों का क्रम उत्पन्न करता है। दूसरे वैष्णव सम्प्रदाय के व्याख्याकार इसका यही उत्तर देते हैं कि रागद्वेषवियुक्त, अपने वश में जब इन्द्रियाँ होंगी, तो उनकी प्रवृत्ति भगवान् की ओर ही होगी। जैसा कि हम “मत्परः” की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं कि उन्हीं विषयों का सेवन यदि भगवान् में मन लगाकर किया जाय तो वह बन्धन कारक नहीं होता। इस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा कार्य करने से प्रसाद प्राप्त होता है। प्रसाद एक प्रकार की मन की स्थिति का नाम है जो कि क्षोभ न रहने पर उत्पन्न होती है। मन जब तक चंचल रहे तब तक वह प्रसाद नहीं मिलता और रागद्वेष ही मन को चंचल करने वाले हैं। जब चंचल करने वाले रागद्वेष को हटा दिया गया तो वह प्रसाद प्राप्त हो जायगा। श्रीविद्यावाचस्पतिजी की व्याख्या यहाँ इस प्रकार है—  
आनन्द दो प्रकार का होता है—

१. शान्त्यानन्द

२. समृद्ध्यानन्द

आत्मा में कर्म का प्रवेश होने पर जो आनन्द प्राप्त होता है, उसे समृद्ध्यानन्द कहते हैं। जैसे किसी पुरुष को कोई नई सम्पत्ति कोई मकानादि या प्रचुर द्रव्य मिला तो उसके व्यावहारिक आत्मा में एक अधिक कर्म का अनुप्रवेश हुआ। स्मरण रहे कि व्यावहारिक आत्मा ज्ञानकर्म दोनों से बना हुआ है। उसमें ज्ञानांश तो स्थिर है, इसमें न्यूनाधिक्य नहीं होता। किन्तु कर्मांश घटने-बढ़ने वाला है। जब नए कर्म का प्रवेश हाता है तो उसे स्वायत्त करने को ज्ञानकर्मात्मक आत्मा की व्याप्ति बढ़ती है, अर्थात् वह प्रफुल्लित व विकसित होता है। उसी आत्मा के विकास को समृद्ध्यानन्द कहते हैं। वह आत्मा का विकास सुख रूप से इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होता है, अर्थात् उसका हमें सुख रूप से अनुभव हुआ करता है। किन्तु जिस अवसर में हमने किसी सम्पत्ति या पद की प्राप्ति का संवाद सुना, उसी अवसर में वह आत्मा की व्याप्ति बढ़ेगी। कुछ देर के बाद या दो चार दिन के बाद वह आनन्द का अनुभव नहीं रहता जो कि पहले सुनते ही हुआ था। जब वह मिली हुई वस्तु हमारे पास ही है, तो वह आनन्द आगे भी क्यों न रहा? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि अब वह आनन्द शान्त्यानन्द के रूप में चला गया। शान्त्यानन्द आत्मा स्वरूप है। जो नई वस्तु मिली थी, वह अब हमारी अपनी हो गई। अर्थात् आत्मा के स्वरूप में आ गई। वित्तपर्यन्त व्यावहारिक आत्मा स्वस्वरूप है। इसलिए वित्त रूप से वह आत्मा के स्वरूप में सम्मिलित हो गई। इसलिए जो आनन्द का अनुभव सुनने के क्षण में हुआ था, वह अब नहीं रहा।

इसलिए यह समृद्ध्यानन्द क्षणिक होता है। समृद्ध्यानन्द को ही सुख कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा आनन्द जो शान्त्यानन्द नाम से पूर्व बतलाया गया है, वह आत्मा का स्वरूप है। उसका अनुभव इन्द्रियों से नहीं होता। किन्तु वह आत्मा के स्वरूप से स्थित रहता है। इसका विशेष वर्णन भगवद्गीता के छठें अध्याय में आयेगा। वहीं भगवान् ने इस आनन्द को अतीन्द्रिय और केवल बुद्धि ग्राह्य बतलाया है। इसी आनन्द की दृष्टि से वेदान्त दर्शन में आत्मा को आनन्दमय कहा जाता है। क्षोभ इसका विघातक है। जब मन में किसी प्रकार की तरंगें उठें तब यह आनन्द छिप जाता है। अर्थात् वे तरंगें इसे छिपा लेती हैं जब तरंगें शान्त हों अथवा दूसरे शब्दों में दुःख का अभाव हो, तब इस आनन्द का अनुभव होता है। एक मनुष्य किसी कार्य में व्यग्र होकर या कोई बोझा सिर पर लादे हुए धूप में दौड़ रहा था। एक वृक्ष की छाया में उसने थोड़ा विश्राम किया, या अपने सिर का बोझ उतारा। उस समय वह इस आनन्द का अनुभव करता है कि मुझे बहुत सुख मिला। वह सुख कोई नया नहीं मिला, क्षणमात्र मन का क्षोभ दूर हो जाने से शान्त्यानन्द की ही एक झलक पड़ी। आगे फिर वही व्यग्रता, वही क्षोभ और वही दुःख आ जाते हैं। हम पूर्व बतला चुके हैं कि भर्तृहरि आदि महात्माओं ने तो संसार के सब सुखों को इसी प्रकार दुःख का प्रतीकार हो जाने पर एक शान्त्यानन्द की झलक ही बतलाया है। यही शान्त्यानन्द यहाँ प्रसाद शब्द से कहा गया है। “प्रसादस्तु प्रसन्नता” यह आत्मा की नित्य प्रसन्नता ही प्रसाद का रूप है। जो कि रागद्वेष विमुक्त होकर केवल इन्द्रियों से कर्म करने वाले को प्राप्त होती है। “विधेयात्मा” शब्द का अर्थ भी वे इसी प्रकार का करते हैं कि सांसारिक मनुष्य जो निरन्तर कर्म में लीन हैं और वासनाओं से घिरे हुए हैं वे अकृतात्मा कहलाते हैं। जो योग सिद्ध कर चुके, वे कृतात्मा हो जाते हैं। किन्तु जो अभी योग मार्ग में आरोहण कर रहा है, पूर्ण योग सिद्धि प्राप्त नहीं कर सका, किन्तु उसके यत्न में है, वह विधेयात्मा कहलाता है। इस स्थिति का वर्णन उपनिषदों में भी बहुधा आया है। उसी प्रसाद प्राप्ति का उपाय यहाँ भगवान् ने बतलाया। रागद्वेष रहित होकर, इन्द्रियों को अपने वश में रखकर चलाते रहने से यह प्रसाद की स्थिति प्राप्त होती है। आगे के पद्य में उसी प्रसाद का स्वरूप निर्देश करते हैं— प्रसाद प्राप्त होते ही सब दुःखों की हानि हो जाती है। ठीक ही है, चित्त के क्षोभ ही तो दुःख हैं। जब वे हटा दिए गए तो दुःख क्यों होगा? और प्रसन्नचित्त वाले की बुद्धि भी स्थिर हो जाती है। इससे प्रकरण के साथ संगति मिला दी गई। अर्थात् स्थितप्रज्ञता का प्रकरण चल रहा था। मध्य के दो पद्यों से स्थितप्रज्ञता के विघ्न बतलाए, और इन दो पद्यों में पुनः स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने का उपाय बतला दिया गया।

यहाँ “प्रसन्नचेतसः” यह पद्य देकर यह भी ध्वनित किया है कि यह प्रसाद, मन, बुद्धि, अहंकार से परे जो चित्त नाम का चौथ अन्तःकरण वेदान्तादि में माना जाता है, उससे गृहीत होता है। चित्त के विषय में पूर्व में हमने कहा था कि चित्त का क्या कार्य है? इस विषय में शास्त्रों में कई प्रकार के वाद हैं। यह सूचित किया कि चित्त की स्थिति मन अहंकार, बुद्धि इन तीनों से ऊँची है। वह आत्मा के प्रसाद का अर्थात् क्षोभ के बिना जो शान्ति होती है, उसका ग्रहण करता है। आगम शास्त्र में भी चित्त को चित् अर्थात् ज्ञानरूप आत्मा का अतिसन्निहित बतलाया गया है। वह आत्मा के स्वरूप को पहचानता है। वही इस प्रसाद को भी समझता है।



## तैतालिसवाँ-पुष्प

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।  
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥  
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।  
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भासि ॥  
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।  
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥  
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।  
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(गीता २।६६-६९)

“पूर्वोक्त कर्मयोग के साधन के बिना पर्यवस्थित बुद्धि प्राप्त नहीं होती और बिना योग साधन के भावना भी नहीं हो सकती। बिना भावना के शान्ति नहीं मिलती। शान्ति के बिना सुख-प्राप्ति कहाँ? अर्थात् सुख प्राप्ति असम्भव ही है।”

“अपने विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के साथ जब मन का सहयोग हो जाता है, अर्थात् मन इन्द्रियों के साथ लग जाता है, तब वह मनुष्य की बुद्धि को भी अति चंचल बना देता है। जैसे कि वायु नौका को जल के प्रवाह में बहाती रहती है। इसी प्रकार चंचल मन बुद्धि को विधुब्ध कर देता है।”

“इसलिए हे महाबाहु अर्जुन! जिसकी इन्द्रियाँ अपने विषयों से सब प्रकार रोकी हुई हैं, उसी की बुद्धि सुस्थिर हो सकती है। अर्थात् वही स्थितप्रज्ञ बन सकता है।”

“जो सब प्राणियों के लिए रात्रि अर्थात् अन्धकार का समय है, उसमें संयमी अर्थात् योगयुक्त पुरुष जागता रहता है और जहाँ सब प्राणी जागते हैं, संयमी अर्थात् ज्ञानयुक्त मुनि पुरुष के लिए अन्धकारमय रात्रि है।”

पूर्वोक्त पद्यों का ही वैपरीत्य में निषेध रूप से विवरण इस पद्य में किया गया है। बिना कर्मयोग साधन के व्यवसायात्मक बुद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है। साथ ही कहते हैं कि बिना योग के भावना भी नहीं होती। भावना शब्द के अनेक अर्थ देखे जाते हैं। न्यायशास्त्र में भावना नाम का एक संस्कार आत्मा के गुणों में गिनाया गया है, जिसका काम है— स्मृति उत्पन्न करना। प्रकृत श्लोक में भी व्याख्याकारों ने भावना शब्द के अनेक अर्थ लिखे हैं। श्रीशंकराचार्य आत्मा के अभिनिवेश को भावना कहते हैं। कई व्याख्याकारों ने निदिध्यासन जो कि श्रवण मनन के अनन्तर एकाग्रचित्तता के लिए किया जाता है, उसे भावना लिखा है। कोई ब्रह्मत्मैक्यचिन्तन को ही भावना कहते हैं कोई तत्त्वपरिशीलात्मक मनोवृत्ति को भावना बतलाते हैं। सबका तात्पर्य एक

रूप में यह निकलता है कि स्थिर बुद्धि से जो बार बार एक तत्त्व का अनुसन्धान किया जाय, या एक रूप में ध्यान लगाया जाय, वही भावना है। वह भावना भी योग से ही प्राप्त होती है। क्योंकि मन में जब तक चांचल्य रहेगा तब तक भावना भी नहीं बन सकती और बिना भावना के शान्ति नहीं होती। यहाँ भगवान् ने शान्ति रूप आनन्द को ही मुख्य माना है। वह शान्ति भावना से ही प्राप्त होती है। बिना मुख्य तत्त्व का बार बार अनुसंधान किए शान्ति कैसे मिलेगी? और बिना शान्ति के वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। समृद्ध्यानन्द जो पहले पद्यों की व्याख्या में कहा है, वह तो क्षणस्थायी है। उसे वास्तविक आनन्द नहीं कहा जा सकता। वास्तविक आनन्द तो क्षोभ का अभाव रूप ही है, जो शान्ति से ही प्राप्त होगा। इसलिए कर्मयोगसाधन वास्तविक सुख प्राप्ति की इच्छा वाले के लिए आवश्यक है, यह प्रथम पद्य का सारांश हुआ।

अभी तक जो कहा गया उससे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि मन बुद्धि को वश में करना आवश्यक है। मन बुद्धि जब वश में हो जाएं तब इन्द्रियाँ चाहे विषयों में विचरती रहें, तो भी उनसे कोई दोष नहीं उत्पन्न होता। किन्तु वास्तव में ऐसा अभिप्राय कोई न समझ ले, इसलिए इन्द्रिय निग्रह की भी आवश्यकता बतलाने को भगवान् ने दूसरे पद्य के द्वारा आदेश दिया है। उसका सारांश यह है कि यदि इन्द्रियों को स्वच्छन्द रूप से विषयों में विचरण करने दिया जायगा तो वे मन को भी अपने साथ खींच लेंगी क्योंकि बिना मन की सहायता के इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। इसलिए मन को साथ लगाना उनके लिए आवश्यक होगा। इस प्रकार इन्द्रिय और मन जब विषयों की ओर खिंच गए तो बुद्धि को भी वे अपने साथ लगा लेंगे। इन्द्रियों के द्वारा विषयों का पहिले सामान्य ज्ञान होता है, और मन उसे ठीक जमा कर बुद्धि के आगे रखता है, यह विवरण पूर्व कर चुके हैं। जब बार बार इन्द्रिय प्रेरित मन के द्वारा विषयों की भावना बुद्धि के सामने रक्खी जायगी तब बुद्धि भी उस ओर झुकेगी। इसमें दृष्टान्त बतलाया कि जैसे वायु नौका को जल में एक तरफ खींच लेता है। इसी प्रकार मन भी बुद्धि को अपनी ओर खींच लेगा। इसलिए यदि इन्द्रियों की उपेक्षा की गई तो चलती हुई भी स्थितप्रज्ञता या व्यावसायात्मक बुद्धि हाथ से निकल जायगी। इसलिए तृतीय श्लोक में इस पर फिर जोर दिया गया है कि इन्द्रियों को जिसने पहिले ही वश में कर लिया है वही स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर सकता है। इसलिए अब इधर से उलटा समझो कि पहिले इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। इन्द्रियों को ऐसी आदत डालनी चाहिए कि वे यथेच्छ विषयों में न जाया करें। अपितु साधक पुरुष की इच्छानुसार ही भिन्न भिन्न विषयों का सेवन करें। इन्द्रियों के उच्छृङ्खल होने के दोष एक कवि ने बहुत अच्छे प्रकार समझाए हैं कि—

कुरंगमातंगपतंगमीनभृङ्गा हताः पंचभिरेव पंच ।

एष प्रमादी नु कथं हन्यते यः सेवते पंचभिरेव पञ्च ॥



अर्थात् संसार के प्राणियों में बड़े बड़े महत्त्वशाली प्राणी भी केवल एक इन्द्रिय के बिगड़ जाने से मारे जाते हैं। जैसे कि हरिण एक इस प्रकार का प्राणी है कि जिसकी गमन शक्ति को कोई नहीं पा सकता। वह जब चौकड़ी भरता हुआ भागेगा तो उसे पकड़ने की शक्ति किसी की न होगी। किन्तु एक इन्द्रिय क्षोभ उसको विवश कर देती है। जहाँ मीठी राग हो रही हो, उसे सुनने को वह चौकड़ी भूल कर खड़ा हो जाया करता है। बस, जब किसी को हरिण पकड़ना हो तो उसका यही साधन है कि सुन्दर गान का आयोजन किया जाय। वहाँ जब हरिण उसकी मीठी तान से इकट्ठे हो जाएँगे तो उनमें से यथेच्छ किसी को या सबको पकड़ लेना बहुत सहज हो जायगा।

इसी प्रकार दूसरा वन जन्तु जो हाथी है, जिसे मातंग भी कहते हैं, उसे शरीर सम्पत्ति भगवान् ने इतनी बड़ी दी है कि वह किसी के वश में नहीं आ सकता। एक पैर रख दे तो उससे कई आदमी कुचल जायें। किन्तु उसकी भी एक इन्द्रिय अर्थात् स्पर्श नाम की इन्द्रिय बिगड़ी हुई है। कोमल स्पर्श पाते ही वह विवश हो जाता है। हाथी पकड़ने वाले यही उपाय करते हैं कि एक काष्ठ की हथिनी बना कर उसे साबुन से खूब अनुलिप्त कर जहाँ जंगली हाथियों का बाहुल्य हो, वहाँ खड़ा कर देते हैं। उसके पास एक बहुत बड़ा गड्ढा खोद देते हैं हाथी जब आकर उससे अपनी सूँड़ मिलाता है तो साबुन के कोमल गिलगिले स्पर्श से वह विवश होकर वहीं रुक जाता है और बार उससे सूँड़ मिलाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। तब झटपट वह गड्ढे में गिर जाता है। वहाँ उसे तीन चार दिन बिना भोजन के रखकर दुर्बल बना कर पकड़ने वाले धीरे धीरे अपने हाथ में कर लेते हैं। फिर नगर या ग्राम में लाकर लोहे की जंजीरों से बाँधकर उसे विवश कर देते हैं। इस प्रकार एक स्पर्शेन्द्रिय के बिगड़ने से इतना बड़ा जन्तु हाथी भी मनुष्य के वश में हो जाता है।

तीसरा प्राणी पतंग है। वह इधर उधर उड़ता फिरता है। तब उसे कोई नहीं सता पाता। किन्तु चक्षुरिन्द्रिय उसको विवश किए हुए हैं। इसके कारण वह दीपक की प्रभा को सर्वस्व मानता हुआ, उस पर स्वयं पड़कर अपने प्राण खो देता है।

चौथा प्राणी मीन है। वह भी अपने जलदुर्ग में जब तक रहे, तब तक उसे पकड़ने की किसी की शक्ति नहीं। किन्तु एक रसनेन्द्रिय उसे भी पकड़वा देती है। सुन्दर रस चखने का उसे बहुत बड़ा अभ्यास है। इसलिए मछली पकड़ने वाले काँटे में गुड़ आदि मधुर पदार्थ लगाकर जब जल में डालते हैं तो उस रस के लोभ से वह आकर काँटों को चाटने लगता है और काँटों से विधकर अपने आप को खो बैठता है।

‘पांचवाँ भृंग भी स्वच्छन्दचारी है। इतनी चंचलता से उड़ता है कि किसी के काबू में नहीं आ सकता। यदि कभी वश में आ भी गया और एक काष्ठ के डट्टे में किसी ने उसे बन्द कर लिया तो धीरे धीरे वह काष्ठ को कुतर कर उसमें से उड़ जाता

है। किन्तु घ्राणेन्द्रिय उसकी बिगड़ी हुई है। सुन्दर गन्ध मिलने पर वह विवश हो जाता है। सूर्यास्त के समय कभी कमल पर जा बैठा और गन्ध का आस्वाद लेता रहा। इतने में सूर्यास्त हो गया। कमल मुद्रित हो गया तो भँवरे राम उसमें कैद हो गये। किसी भाषा कवि ने कहा है—

प्रीतिरीतिविधिना भ्रमर अद्भुतरची बनाय ।

काष्ठ भेद समरत्थ है कमल भेद नहीं जाय ॥

जो अपने दाँतों से काष्ठ को काट डालता था, वही कमल की कोमल पंखुड़ियों को नहीं काट सकता। यह प्रेम की महिमा है। बस, इस प्रकार कमल में कैद होकर वह मन में सोचता रहता है कि जब रात्रि व्यतीत होगी, फिर सूर्योदय होगा, कमल खिलेगा, तब मैं भी इससे बाहर हो जाऊँगा। इतने ही में क्या हो पड़ता है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं

भास्वानुदेष्यति हंसिष्यति पंकजश्रीः ।

इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे

हा! हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

भ्रमर ऊपर लिखे हुए सब विचार मन में कर ही रहा था कि इतने में एक हाथी आया। उसने अपने सूँड़ से उस कमल को उखाड़ लिया। अब भ्रमरराम उसी में पड़े पड़े अपने प्राण दे दें, इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। कवि कहता है कि पाँचों इन्द्रियों में एक एक के वश में पड़कर ये पाँचों जन्तु इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, तब मनुष्य की तो क्या दशा होगी जिसकी पाँचों ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषय की ओर जाने को लालायित रहती हैं। यही बात यहाँ भगवान् ने कही है कि इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ देने से वे मन और बुद्धि को भी बिगाड़ देंगी। तो स्थितप्रज्ञता रूप कल्याण का जो साधन है, वह प्राप्त नहीं हो सकेगा। इसलिए पहिले इन्द्रियों को वश में करना चाहिए। तब मन अपने आप दुर्बल हो जायगा। केवल विषयों का ध्यान करता रहेगा। किन्तु बिना इन्द्रियों की सहायता के वह विषयों को पकड़ नहीं सकता। धीरे धीरे अभ्यास से उसका ध्यान भी विषयों से हट जायगा और तब बुद्धि भी स्थिर होकर स्थितप्रज्ञता बन जायगी।

अब चौथे पद्य में संयमी पुरुष की स्थिति बतलाते हैं कि जिसने संयम सिद्ध कर लिया है, योगसिद्ध हो चुका है। उसकी स्थिति संसार से विलक्षण हो जाती है। सब लोगों के लिए जो अन्धकारमय रात्रि है, वह उसके लिए दिन है, अर्थात् सांसारिक पुरुष योगमार्ग में नहीं जा सकते। उनके लिए वह मार्ग अंधेरे का है। उसमें वे नहीं विचरण कर सकते। किन्तु संयमी पुरुष उस मार्ग में अप्रतिहत चलता है। उसमें वह जागता रहता है। वह उसके लिए दिन है और सांसारिक पुरुष जहाँ जाते हैं, अर्थात् विषय सेवन मार्ग में या व्यावहारिक मार्ग में वे बड़े कुशल होते हैं। हर एक काम

को बड़ी सावधानी से करते हैं। कभी ठोकर नहीं खाते। वह व्यवहार मार्ग संयमी के लिए अन्धकारमय रात्रि है। अर्थात् वह इसमें सर्वथा अप्रवीण हो जाता है। चल नहीं सकता। इस प्रकार व्यवहार मार्ग से अलग होकर संयमी बनने की आवश्यकता है, यह भगवान् ने इस श्लोक से सूचित किया।

यहाँ श्रीशंकराचार्य तथा उनके अनुयायी टीकाकार इस पद्य को संन्यास मार्ग में ही लगाते हैं। जहाँ सब भूत जागते हैं, वहाँ संयमी पुरुष सोता है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि संयमी पुरुष सर्व व्यवहार से विरत हो जाता है। उसे उस मार्ग में कुछ नहीं सूझता। इससे संन्यास मार्ग की ही स्थिति यहाँ स्पष्ट बतलाई गई है। किन्तु कर्मयोग के अनुसार इसे कर्मयोग में भी लगाते हैं कि यद्यपि कर्मयोगी पुरुष लोकसंग्रहार्थ या ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करता है किन्तु उसका उस कर्म पर अभिनिवेश नहीं रहता। जिस प्रवीणता के साथ सांसारिक मनुष्य सांसारिक व्यवहारों में जुटे रहते हैं इस प्रकार का अभिनिवेश संयमी पुरुष का नहीं होता। क्योंकि स्थितप्रज्ञता दोनों ही मार्गों में पहिले प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है और जब स्थितप्रज्ञता हो गई तब उसके व्यवहार केवल बाह्य वृत्ति से होंगे, अभिनिवेश पूर्वक नहीं होंगे। इसलिए संयमी पुरुष के लिए व्यवहार मार्ग रात्रि जैसा ही रहेगा। वह कर्म करता हुआ भी अपने अन्तःकरण में उससे बेलाग ही रहेगा। इसलिए दोनों ही मार्गों में यह यहाँ लगता है और योगे त्विमांशृणु यहाँ से लेकर अभी कर्मयोग का ही प्रसंग है। इसलिए कर्मयोग पर ही इसे लगाना उचित है।



## चौवालिसवाँ-पुष्प

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।  
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।  
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः ।  
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।  
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।  
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।

(गी० २।७०-७२)

“जिस प्रकार चारों ओर जल से भरा जाता है हुआ भी समुद्र अचल प्रतिष्ठित रहता है। अर्थात् जल के आने से न कुछ उसमें वृद्धि होती है, न ज्यादा जल निकल जाने से हास होता है। वह एक ही रूप दिखाई दिया करता है। उस समुद्र में जैसे सब प्रकार के जल एकत्रित होते हुए भी उसे विकृत नहीं बनाते, इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार की सब कामनाएं जिस पुरुष में प्रविष्ट होकर भी जिसे विकृत नहीं करतीं, वही शान्ति को प्राप्त करता है। कामनाओं के पीछे बहने वाला कामकामी पुरुष कभी शान्ति नहीं पा सकता। (७०)

“जो पुरुष सब कामनाएं छोड़कर अहंता और ममता दोनों का परित्याग कर निःस्पृह अर्थात् बिना इच्छा वाला बनकर विचरता रहता है, वही शान्ति को प्राप्त करता है। (७१)

“हे पार्थ! यह जो मैंने बतलाई वह ब्राह्मी स्थिति है। अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त करने का साधन यही स्थिति है। इस स्थिति को जो प्राप्त कर लेता है, उस पुरुष को फिर इस प्रकार का मोह नहीं होता, जैसा कि तुम्हें इस समय हो रहा है और अन्तकाल में भी यदि यह स्थिति रह जाय तो वह अवश्य ब्रह्म में लीनता प्राप्त करेगा। (७२)

समुद्र में गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी आदि नदियाँ सब प्रवेश करती हैं और समुद्र में प्रवेश करते ही उनका नाम रूप सब हट जाता है। फिर एक ही जल के रूप में वे दिखाई देने लगती हैं। इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार की कामनाएं जिस पुरुष में जाकर लीन हो जाएं, अर्थात् उन कामनाओं का प्रभाव उसपर कुछ न पड़े। यदि धन लिप्सा है, तो वह भी जहाँ जाकर लीन हो गई, ऐसे ही पुत्रैषणा और लोकैषणा भी जिस पुरुष के अन्तःकरण में जाकर लीन हो जाती है, वही शान्ति को प्राप्त कर सकता है। समुद्र में प्रविष्ट होने से पहले जैसे भिन्न भिन्न नदियों का जल भिन्न भिन्न रूप में रहता है, इसी प्रकार कामनाएं भी मनुष्य से भिन्न हैं। वे मनुष्य के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हैं। इसलिए उन सब कामनाओं को मनुष्य के स्वरूप से पृथक् ही जानना

चाहिए। इसीलिए उनकी पूर्ति होना भी कोई आवश्यक बात नहीं। सब कामनाओं की पूर्ति किसी की हो भी नहीं सकती। केवल एक वित्तैषणा भी जब तक अन्तिम शिव पद न प्राप्त करले तब तक पूर्ण नहीं हो सकती। इसी प्रकार पुत्रैषणा लोकैषणा भी अनन्य हैं। इनकी पूर्ति कर इन्हें शान्त करना असम्भव है इसलिए कामनाओं से छुटकारा प्राप्त करने का यही उपाय भगवान् ने बतलाया कि जिस पुरुष में कामनाएं जाकर कोई क्षोभ ही पैदा न करें अर्थात् उन कामनाओं के पीछे अन्तःकरण विचलित न हो। इससे यह सूचित किया कि कामनाएं तो पैदा होंगी, किन्तु उन कामनाओं के पीछे अन्तःकरण को लगा देने का निरोध अभ्यास द्वारा होना चाहिए। जैसे कि समुद्र में जल तो आते रहेंगे, किन्तु उन जलों से उस समुद्र की अचल प्रतिष्ठा कभी भग्न नहीं होती। वह सदा एक रूप ही दिखाई दिया करता है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार की कामनाएं आने पर भी जिसका अन्तःकरण विकृत न हो किन्तु उन कामनाओं को ही निरा निकम्मा बना कर अपने अन्तःकरण में तो स्थान दे ले, उनके पीछे अपना अन्तःकरण न चलावे, वही सच्ची शान्ति प्राप्त किया करता है। कामनाओं के पीछे चलने वाले को वह शान्ति स्वप्न में भी नहीं मिलती। शान्ति शब्द का अर्थ कई व्याख्याकारों ने मोक्ष ही किया है।

कई लोग कहते हैं कि जीवन्मुक्ति ही शान्ति है। यही दूसरा मत प्रायः ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि इस पद्य में तो ऐसी स्थिति बतलाई गई कि कामना उत्पन्न होकर मन में जाकर लीन हो जाया करें। किन्तु इसकी आगे की स्थिति वह होगी कि जहाँ कामना उत्पन्न ही न हों। वहीं जाकर मनुष्य मुक्ति का पूर्ण अधिकारी बनेगा। इसलिए इस स्थिति में जीवन्मुक्ति के समीप पहुँच जाता है। मुक्ति में जो आनन्द है वह शान्त्यानन्द ही है, यह पहले कह चुके हैं। उसका अनुभव नहीं होता, इसलिए न्यायादि दर्शनों में मुक्ति को आनन्द रूप नहीं माना जाता। उसे सुख दुःख दोनों से विनिर्मुक्त एक तीसरी अवस्था मानते हैं। किन्तु वास्तविक विचार करने पर वह शान्त्यानन्द ही आत्मा का स्वस्वरूपानन्द है यह भी पूर्व कहा जा चुका है। मुक्ति में जो आनन्द नहीं कहते, उनका अभिप्राय यही है कि समृद्ध्यानन्द जो इन्द्रिय ग्राह्य है, वह वहाँ नहीं होता। व्यावहारिक आत्मा का विकास वहाँ नहीं है। व्यावहारिक आत्मा ही जब मुक्ति-अवस्था में समाप्त हो जायगा तो उसका विकास कहाँ से होगा? इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिए कि मुक्ति दशा में सर्वात्मभाव प्राप्त हो जाता है। जब सब कुछ अपने भीतर आ गया तब विकास का स्थान ही कहाँ रहा, जिससे कि विकास रूप हो। विकासरूप आनन्द को ही मुख्य मानते हुए जो सज्जन यह प्रश्न किया करते हैं कि जिसमें सुख दुःख दोनों नहीं, उस मुक्ति को प्राप्त करने से लाभ ही क्या? किन्तु उन्हें अपने चित्त समाधान के लिए यह सोचना चाहिए जो पुरुष ईश्वर कृपा से धनधान्य सम्पन्न और स्वस्थ हैं, नित्य ही समृद्ध्यानन्द का उपभोग करते रहते हैं वे भी अपना सब आनन्द छोड़कर शयन की इच्छा क्यों किया करते हैं?

शयन अर्थात् सुषुप्ति में तो शान्त्यानन्द ही रहता है। वहाँ तो समृद्ध्यानन्द की कोई सम्भावना ही नहीं, फिर भी मनुष्य सभी प्रकार के सुख दुःख छोड़कर सुषुप्ति में जाने की इच्छा क्यों करते हैं? इच्छा ही क्या विवश कर सुषुप्ति में ले जाया जाता है। इससे ही सिद्ध है कि शान्त्यानन्द ही मुख्य है। वही आत्मा का स्वरूप है। उपनिषदों में यही कहा गया है कि सुषुप्ति में मनुष्य अपने स्वरूपानन्द का अनुभव कर लेता है। फिर वह आनन्द ही शाश्वत बन जाय तो उसे ही मुक्ति कहते हैं। साधारणतः मनुष्य माया के द्वारा सुषुप्ति से फिर जागृत अवस्था में घसीट लिए जाते हैं और फिर प्रपंच में पड़ जाते हैं। इस अवस्था को ही जो उत्तम मानते हैं, वे मुक्ति के अधिकारी नहीं। एक रस शान्त अवस्था को ही प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मुक्ति के अधिकारी होते हैं। विभिन्नावस्थाओं को सर्वस्व समझने वाले स्वर्गादि लोकों के लिए प्रयास करें तो उनके लिए वही उत्तम है। उसका वैदिक कर्मकाण्डों में वर्णन किया है। भगवद्गीता जिस आनन्द को प्राप्त कराना चाहती है, वह तो सभी प्रकार के क्षोभ से रहित शान्त्यानन्द ही है। उसी का उपाय इसमें बतलाया गया है। (७०)

आगे के पद्य में इससे उत्तर की अवस्था बतलाई जाती है जो पुरुष सब कामनाओं को सर्वथा छोड़ चुका है और अहंता ममता से भी रहित होकर निस्पृह अर्थात् कोई इच्छा बिना किए लोक में विचरता है, वही शान्ति का भागी है। अपनी देह पर सबको अहंता रहती है। देह के दुःखी होने पर मैं ही दुःखी हूँ, ऐसा आभास हुआ करता है और देह के सुख को सब अपना सुख मानते हैं। यह अहंता है और पुत्र कलत्रादि पर जो मोह होता है वह ममत्व है। अर्थात् ये मेरे हैं, इस प्रकार का भाव उन पर होता है। वस्तुतः विचार करने पर ममता के भीतर भी अहंता व्याप्त है। पुत्र कलत्रादि को भी अपना ही रूप मनुष्य मानता है। तभी उनमें ममता भी होती है। जहाँ अहंता के स्थान बहुत बन जाएं, वहाँ 'यह मेरा है' ऐसा हो जाता है। देह के भी प्रत्येक अंग में "मेरा हाथ" "मेरा पैर" इत्यादि रूप से ममता ही होती है। किन्तु सम्पूर्ण देह पर अहंता होने के कारण उसके प्रत्येक अंग में ममता आ जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार पुत्र कलत्रादि पर या सम्पत्ति पर भी अहंभाव ही होता है, उसी का परिणाम समृद्धि को अहंभाव मानकर प्रत्येक व्यक्ति पर ममत्व होता है। तात्पर्य यही हुआ कि अहंता ही ममता रूप से परिणत हुआ करती है। इसीलिए मनुष्य कभी कभी कह उठता है कि पुत्र कलत्रादि रूप से मैं ही तो हूँ और क्षर पुरुष आध्यात्मिक कलाओं में प्रजा और वित्त का भी समावेश माना जाता है। जिसका विवरण हम क्षराक्षर पुरुष के विवेक में विशद रूप से करेंगे। इसी आशय से पहिले भगवान् ने निर्मम कहा है और फिर निरहंकार कहा है। अभिप्राय यही है कि पहिले जिन्हें मम कहते हो, उनसे आत्मा की व्याप्ति हटाओ और फिर अहं मम वाच्य शरीर से भी आत्मा की व्याप्ति हटाओ। इन सबको आत्मा से पृथक् समझो। तभी शुद्ध आत्मा का आभास मिलेगा और

तभी सब कामनाओं का क्षय होगा। क्योंकि कामनाएं सब देह के सम्बन्ध से व पुत्र कलत्रादि के सम्बन्ध से ही होती हैं। इनसे पृथक् कर शुद्ध आत्मा को जब समझ लिया जाय तो उसके सम्बन्ध से तो कोई कामना है ही नहीं। कामनाएं देह और इन्द्रियों तक ही सीमित हैं। इसलिए अहंता ममता शून्य होने पर निस्पृहता और कामनाओं का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। ऐसे पुरुष को शान्ति मिलना स्वाभाविक ही है। (७२)

आगे भगवान् कहते हैं कि यह जो अभी तुम्हें बतलाई गई, यही ब्राह्मी स्थिति है। अर्थात् यही पहुँच कर ब्रह्म में लीनता हो सकती है। इस स्थिति को प्राप्त कर लेने वालों को फिर इस प्रकार का मोह नहीं होता जैसा कि मोह तुम्हें इस समय हो रहा है। यदि यह स्थिति अन्तकाल में हो जाय तो उसे ब्रह्म निर्वान मिल जाता है। इसके दोनों प्रकार के आशय लगाए जाते हैं कि यदि अन्तकाल में भी यह स्थिति प्राप्त हो गई तो मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी और दूसरा आशय यह भी बतलाया जाता है कि यदि अन्तकाल में भी ऐसी स्थिति हो जाय तो ब्रह्म निर्वाण मिल जाता है। फिर जिसको पूर्वावस्था में ही पूर्वसंस्कारवश ऐसी स्थिति प्राप्त हो गई अर्थात् अहंता ममता जिसकी छूट गई, उसका तो कहना ही क्या? यह कैमुतिक न्याय इससे निकाला जाता है। यहाँ “पार्थ” इस सम्बोधन का आशय भी कई व्याख्याकारों ने यह निकाला है कि “पातीति” अर्थात् सबका रक्षक ईश्वर ही “पा” है पां अर्थयते, इति पार्थः, उसको चाहने वाला ही पार्थ कहलाता है। तुम पार्थ हो, इसलिए तुम्हें यह उपदेश उपयुक्त है। इन पद्यों को संन्यास मार्ग वाले व्याख्याकार संन्यास मार्ग परक ही लगाते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसी परिस्थिति सर्व कर्म संन्यास पर हो सकती है। उनके मतानुसार “स्थितप्रज्ञस्य का भाषा” इस प्रश्न के अनन्तर फिर संन्यास का ही प्रकरण चल गया। भक्ति मार्ग के व्याख्याकार भक्ति मार्ग पर ही इन पद्यों को लगाते हैं। क्योंकि उनके मतानुसार यह सब स्थिति बिना भगवद्भक्ति के प्राप्त नहीं होती। किन्तु ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य मानने वाले लोकमान्यतिलक आदि यही कहते हैं कि अहंता ममता छोड़ना और सब कामनाओं का परित्याग तो कर्मयोग में भी आवश्यक है। कर्मयोग का ही यह प्रकरण है। कर्मयोग के आरम्भ में ही भगवान् ने यह कहा था कि व्यवसायात्मक बुद्धि उत्पन्न करना पहिले आवश्यक है। उसी का विवरण अन्त तक आया है और यह मार्ग भी स्वतन्त्र है। इसलिए यह सब पद्य कर्मयोग के ही प्रतिपादक हैं। जो भी हो सूत्र रूप द्वितीयाध्याय के अन्त में मोक्ष प्राप्त कर लेना भगवान् ने स्पष्ट कर दिया। यह तो स्पष्ट ही है। अब इसी सूत्र का द्वितीयाध्याय का विवरण आगे तक चलेगा। इसमें ब्रह्म निर्वाण शब्द का ऐतिहासिक विषय का उपस्थापक है। बौद्ध मत में भी मोक्ष के अर्थ में निर्वाण शब्द लिया जाता है अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह ब्रह्म निर्वाण शब्द बौद्धों से यहाँ लिया गया या

बौद्धों ने ही ब्रह्म शब्द काटकर केवल निर्वाण पद ले लिया। सूक्ष्म विचार करने पर दूसरी बात ही ठीक जान पड़ती है। क्योंकि बौद्धों के मतानुसार निर्वाण शब्द का अर्थ “बुझ जाना” मानना होगा और ब्रह्म निर्वाण कहने पर इसका अर्थ “ब्रह्म में लीन होना” माना जायगा। व्याकरण रीति से वा धातु का अर्थ गति ही है। “वा गतिबन्धनयोः” ऐसा धातु पाठ में महर्षि ने कहा है। तदनुसार निर्वाण पद का अर्थ लीन होना ही उचित प्रतीत होता है। “बुझ जाना” या “समाप्त हो जाना” स्वारसिक अर्थ नहीं। इसलिए ब्रह्म में लीन होने के अर्थ में ब्रह्म निर्वाण शब्द ही पहले चला। गीता में और स्थानों में भी यह शब्द आया है। आगे बौद्धों के यहाँ ब्रह्म नाम का कोई तत्त्व नहीं माना जाता। इसलिए उन्होंने ब्रह्म शब्द हटाकर केवल निर्वाण शब्द रख लिया और उसका अर्थ “बुझ जाना” मान लिया। इससे भगवद्गीता बौद्ध मत प्रचार की अपेक्षा प्राचीन सिद्ध होती है।





# पैतालिसवाँ-पुष्प

## प्रथमाध्याय

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (१)

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसी मे ।

तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ (२)

श्री भगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ (३) <sup>१-३</sup>

इस द्वितीयाध्याय में भगवान् ने बुद्धि को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया। सांख्य मार्ग में तो ज्ञानयोग की प्रधानता है ही, वह तो बुद्धि साध्य ही है, किन्तु कर्मयोग मार्ग भी बिना व्यवसायात्मक बुद्धि के नहीं बनता, व्यवसायात्मक बुद्धि से ही निष्काम कर्म किया जा सकता है। इस प्रकार दोनों ही मार्ग में बुद्धि की प्रधानता भगवान् के उपदेश से सिद्ध हुई और अकाम जो मोक्ष का मुख्य कारण भगवान् ने बतलाया है वह भी बुद्धि रूप ही है। इस प्रकार की सर्वात्मना प्रधानता सुनकर शंकाकुलित होकर अर्जुन प्रश्न कर बैठा कि—

‘हे जनार्दन केशव! यदि आपको कर्म की अपेक्षा बुद्धि की ही प्रधानता अभिमत है, और बुद्धि को ही आप सर्वथा बड़ा मानते हैं तो फिर मुझे इस गुरु और बान्धवों के वध रूप घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं? एक ओर तो आप सत्त्वादि तीनों गुणों से ऊपर उठाकर बुद्धि को शुद्ध बनाने का उपदेश करते हैं और दूसरी ओर यह भी कहते जाते हैं कि “तस्माद् युद्धस्व” युद्ध अवश्य करो। इस प्रकार आपका उपदेश इधर उधर दोनों ओर मिला हुआ सा सुनकर मेरी बुद्धि में मोह होने लगा है। ऐसा प्रतीत होता है कि आप उपदेश क्या देते हैं— मेरी बुद्धि को उल्टी मोह में डाल रहे हैं। मुझे ऐसा भी प्रतीत होने लगा है कि आपने भी विचारपूर्वक एकमार्ग का निश्चय नहीं किया है। इसलिए कृपाकर स्वयं एकमार्ग का निश्चय करके कहिए कि मुझे क्या करना चाहिए और किस मार्ग से मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँगा?

इस प्रकार का प्रश्न सुनकर भगवान् उत्तर देने लगे कि हे निष्ठाप अर्जुन! मैंने पूर्व दो प्रकार की निष्ठा अर्थात् स्थिति लोक में है यह तुम्हें कहा है। सांख्य मार्ग वाले ज्ञानयोग से ही अपनी स्थिति करते हैं और योगमार्ग वाले कर्मयोग से।

द्वितीयाध्याय के “एषातेऽभिहिता सांख्ये ( ३९ )” इत्यादि श्लोक की व्याख्या में हम विवरण दे चुके हैं कि यहाँ के सांख्य योग पर प्रसिद्ध सांख्य योग दर्शनों के वाचक नहीं है। अपितु ज्ञानमार्ग को ही यहाँ सांख्य और कर्मयोग को योग पद से कहा गया है। अन्यत्र भी महाभारत में इन पदों का स्पष्ट अर्थ यही बतलाया गया है। जैसा कि—

**प्रवृत्तिलक्षणो योगः ज्ञानं संन्यास लक्षणम् (महाभा० अश्व० ४३-२५)**

यहाँ प्रवृत्ति कर्म को ही योग शब्द का अर्थ कहा है। अन्यत्र भी महाभारत में कई जगह सांख्य योग शब्द आये हैं और उनके अर्थ इसी प्रकार के बतलाए गए हैं। इस विषय को लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य में बहुत विस्तार से लिखा है। न्याय भाष्य में भी प्रतितन्त्र सिद्धान्त के विषय में वैशेषिक मत दिखाकर “इति योगाः” लिखा है। इससे वैशेषिक दर्शन भी कभी योग शब्द से कहा जाता था, ऐसा सिद्ध होता है। वैशेषिक दर्शन में प्रवृत्ति धर्म का ही निरूपण है। इससे भी प्रवृत्ति धर्म योग शब्द का अर्थसिद्ध होता है। यही यहाँ भी सांख्य और योग पद का अर्थ है। तात्पर्य यही है कि ये दोनों स्वतंत्र मार्ग हैं अपने अपने अधिकारानुसार कोई विद्वान् किसी मार्ग का अनुसरण करते हैं और अन्य विद्वान् दूसरे मार्ग का। पूर्व मार्ग के अनुयायी श्रीशुकदेवजी आदि प्रसिद्ध हैं। जिन्होंने ज्ञान निष्ठा को ही समझा और कर्म का सर्वथा परित्याग कर उसी निष्ठा से मोक्ष रूप सिद्धि प्राप्त की। दूसरे कर्मयोग मार्ग के अनुयायी आचार्य राजर्षि जनक आदि प्रसिद्ध हैं जो ज्ञान प्राप्त करके भी कर्म करते रहे और उस कर्मयोग से सिद्धि प्राप्त कर गए। यहाँ “पुरा प्रोक्ता” पद से दोनों अभिप्राय निकलते हैं। एक यह कि मैं पहले ही “एषा तेऽभिहिता सांख्ये” इत्यादि के द्वारा तुझे दो मार्गों का संकेत कर चुका हूँ। तुमने उस पर ध्यान न रखकर प्रश्न किया है, यह अर्जुन को भगवान् की ओर से उपालम्भ है। दूसरा यह भी अभिप्राय है कि “पुरा” पूर्वकाल में— अर्थात् वेदादि शास्त्रों में ईश्वर रूप से मैंने ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग की दोनों निष्ठाएँ स्पष्ट बतलाई हैं। दूसरी व्याख्या में “लोकेऽस्मिन्” पद का स्वारस्य ठीक लगता है। इस दूसरी व्याख्या को मुख्य मानते हुए ही वल्लभसंप्रदाय के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी ने यहाँ यह अभिप्राय प्रकट किया है कि पूर्व वेदादि शास्त्रों में ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग का जो विधान मैंने बतलाया था उसी का अनुवाद द्वितीयाध्याय में तुम्हें सुनाया। उसका अभिप्राय था कि सांख्य अर्थात् ज्ञाननिष्ठ पुरुष जो कि सबको भगवद्रूप जान चुके हैं उनके लिए ज्ञानयोगरूप ब्रह्म निष्ठा का उपदेश है, और जो पूर्ण रूप से सब जगह भगवद्रूपता न समझ सके उनके लिए भगवदुपासना रूप कर्मयोग है। इन दोनों मार्गों का अनुवाद मात्र मैंने तुम्हें सुनाया था, ये दोनों ही मार्ग तुम्हारे लिए नहीं हैं, तुम को तो मैं अपने अनुग्रह रूप पुष्टि मार्ग में लेना चाहता हूँ। इन दोनों मार्गों को तुम अपने लिए समझ बैठे यही तुम्हारा बुद्धि दोष है। पुष्टि मार्ग में भगवान् की आज्ञा

का पालन की मुख्य माना जाता है। उस मार्ग के अनुसार मैं अभी कर्म करने की ही तुम्हें आज्ञा देता हूँ। जैसी कि अग्रिम श्लोकों में स्पष्ट रूप से आज्ञा दी गई है। इसीलिये भगवद्गीता के अन्त में अर्जुन ने “करिष्ये वचनं तव” यही कहा है। इससे यही सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवदाज्ञा से ही युद्ध में प्रवृत्त हुआ था। पहली व्याख्या में लोक के उपयुक्त दोनों मार्ग हैं यही कहना होगा।

इस प्रश्नोत्तर से गीता के पूर्व व्याख्याता ज्ञानकर्म समुच्चयवाद निकालते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान और कर्म दोनों के योग से ही सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। इनका खण्डन भी श्री शंकराचार्य ने यहाँ भी पूर्ण विस्तार से किया है। वे अपने भाष्य में लिखते हैं कि यदि ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही इष्ट होता तो निश्चय पूर्वक एक ही मार्ग बतलाइए, यह अर्जुन का प्रश्न ही नहीं बन सकता था। भगवान् यदि दोनों मार्गों के समुच्चय अर्थात् मेल का उपदेश देते तो फिर एक ही मार्ग कहिए यह प्रश्न ही कैसे उठता?

यदि कहा जाय कि भगवान् ने तो समुच्चय ही कहा था, किन्तु अर्जुन न समझ सकने के कारण भ्रान्ति वश एक ही निर्धारित करो, ऐसा पूछ बैठा, तो यह भी ठीक नहीं, यदि ऐसा होता तो भगवान् यही उत्तर देते कि मैंने समुच्चय कहा है तब तुम एक क्यों पूछते हो? किन्तु भगवान् ने ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत यह कहा कि मैंने दो प्रकार की निष्ठा तुम्हें बतलाई है, इससे यही सिद्ध होता है कि दोनों मार्ग पृथक् पृथक् हैं, समुच्चय नहीं सिद्ध होता। समुच्चयवाद अर्थात् ज्ञानकर्म दोनों के मेल का भी शङ्कराचार्य के और उनके सिद्धान्तानुयायी विद्वानों ने सर्वत्र बहुत खण्डन किया है। जैसा कि ‘स्वराज्य सिद्धि के आरम्भ में ही कहा है कि—

अर्थी दक्षो द्विजोऽहं बुध इति मतिमान् कर्मसूक्तोऽधिकारी  
शान्तो दान्तः परिव्राडुपरमपरमो ब्रह्मविद्याधिकारी  
इत्थं भेदे विवक्षन् समुदितमुभयं भुक्तिहेतु सुशीतम्  
नीरं वैश्वानरञ्चोभयमहहतृषोच्छेदकामः पिबेत् सः

इसका तात्पर्य है कि कर्मकाण्ड के अधिकार के लिए मैं धनवान हूँ अथवा मुझे स्वर्गादि प्राप्ति की अभिलाषा है और “मैं कर्म करने में चतुर हूँ” “मैं द्विजाति वर्ग का हूँ” “मैं ज्ञानवान हूँ” इत्यादि बुद्धि आवश्यक है। जैसा कि “जातपुत्रः कृष्णाकेशो अग्नीनादधीत” “वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत” “स्वर्गकामो यजेत” इत्यादि श्रुतियों में और “त्रयीवर्षिकाधिकान्नो यः स हि सोमं पिबेद् द्विजः” इत्यादि स्मृति वाक्यों में स्पष्ट कहा गया है। इसके विरुद्ध ब्रह्म विद्या के अधिकार के लिए शम, दम, उपरति, (सब कर्मों का त्याग) और परिव्रज्या (संन्यास) चाहिए, जहाँ अर्थ के स्वामित्व, इसलोक या परलोक में इच्छा की माँग आदि सब कर्मों की निवृत्ति आवश्यक है। जब

आत्मा में सब कामनाओं और सब कर्मों की निवृत्ति हो गयी तो फिर अर्थित्व, दक्षत्व, द्विजत्व आदि का अभिमान रहेगा ही कहाँ? इस प्रकार परस्पर विरुद्धता होने पर भी जो विद्वान् ज्ञान और कर्म दोनों को मिलाकर मुक्ति का साधन मानते हैं वे तो मानों तृषा मिटाने के लिए सुशीतल जल और अग्नि दोनों को मिलाकर पीना चाहते हैं। अन्तिम चरण में समुच्चयात्मक उपहास है, इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों का मेल बन भी नहीं सकता और न गीता में भगवान् के उपदेश से ही मेल प्रमाणित होता है।

इससे दोनों मार्ग पृथक् पृथक् हैं यही भगवान् का तात्पर्य समझना चाहिए। वहाँ भी इतनी विशेषता है कि कर्मयोग से चित्त शुद्ध होकर ज्ञानयोग प्राप्त होता है। मोक्ष ज्ञानयोग से ही मिलता है। यह श्रीशंकराचार्य का सिद्धान्त है। अपने मत की पुष्टि में वे यह भी कहते हैं कि अर्जुन ने जो कहा था कि “यदि आप बुद्धि को ही श्रेष्ठ मानते हैं” इसका खण्डन भगवान् ने नहीं किया, इससे बुद्धि की श्रेष्ठता तो भगवान् को अभिमत है, यह सिद्ध हो जाता है। केवल अर्जुन को अधिकारानुसार अभी कर्मयोग में ही रहना चाहिए यही मानों कहा गया है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ भी भगवद्वाक्य में निष्ठा इस एक वचन से और उसके “द्विविधा” इस विशेषण से यह अभिप्राय निकालते हैं कि निष्ठा अर्थात् अन्तिम स्थिति एक ही है; उसके दो प्रकार होते हैं सांख्य और योग। योग अर्थात् कर्मयोग मार्ग भी चित्त शुद्धि के द्वारा अन्त में ज्ञान रूप में ही परिणत हो जाता है। वे प्रकृत श्लोक की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि सांख्य अर्थात् ज्ञानयोग वालों का मार्ग यह है कि पूर्व जन्म में जिन्होंने शुभ कर्मों के अनुष्ठान से चित्त शुद्धि सम्पादन कर ली है वे इस जन्म में केवल श्रवण और मनन से ही कृतकृत्य हो जाते हैं उन्हें निदिध्यासन की आवश्यकता नहीं होती यही सांख्यों का ज्ञानमार्ग है। किन्तु जिनके पूर्व जन्म के ऐसे संस्कार नहीं हैं और जिनका चित्त अभी चञ्चल है उनके लिए कर्मयोग है। कर्मयोग शब्द से यहाँ सन्ध्योपासनादि से आरम्भ कर समाधि प्राप्ति पर्यन्त के सब कर्मकलाप लिए जाते हैं। यदि वे फल की आकांक्षा और आसक्ति के बिना किये गये हों।

इस प्रकार योगानुष्ठान से चित्त को शुद्ध बनाना उन पुरुषों के लिए आवश्यक होता है, यही निदिध्यासन है। इसके अनन्तर वे भी ज्ञान निष्ठा में ही आ जाते हैं। इस प्रकार भी नीलकण्ठजी ने यहाँ “योगिनाम्” पद से पातञ्जल योग को ही ग्रहण किया, और कर्मयोग को ज्ञान प्राप्ति का उपाय रूप ही माना, उपाय रूप से ही भगवद्गीता के छठे अध्याय में पातञ्जल योग का भी विषय कहा है। वैष्णवाचार्य व्याख्याताओं ने भी कर्मयोग को अङ्गभूत ही माना है। वे कर्म और ज्ञान दोनों के अनन्तर परम पुरुषार्थ रूप भक्ति को ही सबका प्राप्य कहते हैं। किन्तु लोकमान्यतिलक यह नहीं मानते कि कर्मयोग से आगे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध होती है। वे अन्त तक दोनों मार्गों को स्वतन्त्र ही सिद्ध करते हैं। महाभारत शान्ति पर्व २४० अध्याय में भी प्रवृत्ति मार्ग और

निवृत्ति मार्ग दोनों को स्वतन्त्र ही कहा है और प्रवृत्ति मार्ग के आचार्य वशिष्ठ आदि को तथा निवृत्ति मार्ग के आचार्य सनक आदि को बतलाया है। यद्यपि यह शंका उनके मत में होगी कि “ऋते ज्ञानात्प्रमुक्तिः” ज्ञान के बिना मोक्ष हो ही नहीं सकता इस श्रुति के अनुसार अन्त में ज्ञान प्राप्त होना तो अवश्य ही मानना चाहिए, अन्यथा श्रुति विरोध होगा। किन्तु यह शंका व्यर्थ है, क्योंकि कर्मयोग में भी व्यवसायात्मक बुद्धि कहकर ज्ञान की सत्ता सिद्ध कर दी गई है। बिना ज्ञान के कर्म योग बन ही नहीं सकता, अतएव ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य लोकमान्यतिलक ने कहा है। इसलिए ज्ञान तो दोनों ही मार्गों में आवश्यक रूप से आ ही जाता है। भेद केवल इतना रहता है कि सांख्य मार्ग वाले कर्म की आवश्यकता न समझ कर उसका परित्याग कर देते हैं और कर्मयोग के अनुयायी लोक संग्रहार्थ या यज्ञार्थ ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी जनक आदि की तरह कर्म करते रहते हैं। इस प्रकार का कर्मयोग ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है यह लोकमान्यतिलक ने सिद्ध किया है।

वैष्णव भाष्यकारों के मतानुसार भगवदाज्ञा सिद्धकर्म आवश्यक है, इसी से भक्ति दृढ़ होती है, यह विशेष कहा गया है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार बुद्धियोग का ही गीता में मुख्य रूप से प्रतिपादन है। वे आत्मा का स्वरूप ही ज्ञानकर्ममय मानते हैं। जैसा कि पन्द्रहवें अध्याय में क्षर अक्षर और अव्यय के निरूपण में स्पष्ट किया जायेगा। उनके मतानुसार प्रश्न का आशय यह है कि जब आप बुद्धि अर्थात् बुद्धि योग को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त करते हैं? उत्तर का आशय यह है कि बुद्धियोग दोनों तरह से बनता है। ज्ञान के द्वारा भी और धर्म के द्वारा भी। उसमें पूर्वावस्था में बिना धर्माचरण के ज्ञान या बुद्धियोग प्राप्त नहीं हो सकता, सर्वकर्म संन्यास गीता का प्रतिपाद्य उनके मत में भी नहीं है। इस प्रकरण में भी उन्होंने यही संकेत किया है कि आगे के श्लोकों में सात कारणों से सर्वथा कर्म छोड़ने का निषेध किया गया है। वे सात कारण इस प्रकार हैं—

१. नैष्कर्म्य प्राप्ति का उपाय कर्म करना ही है, यह चौथे श्लोक में है,
२. केवल कर्म छोड़ने से ही मोक्ष नहीं मिलता यही चतुर्थ श्लोक में कहा गया है।
३. सर्वथा कर्म का परित्याग हो ही नहीं सकता,
४. कर्म करना प्रकृति सिद्ध है, ये दोनों पञ्चम श्लोक में कहे गये हैं,
५. कर्मारम्भ और कर्म संन्यास में कर्मारम्भ ही श्रेष्ठ है,
६. अनासक्त कर्मयोग बन्धक नहीं, सातवें श्लोक में कहा गया है,
७. जीवन के लिए कर्म करना आवश्यक है,

आठवें में कहा गया है, ये सब इन श्लोकों व्याख्या में स्पष्ट होंगे।

इस प्रकार भगवान् ने यहाँ ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों को विभक्त रूप से अधिकारानुसार सिद्ध किया है। अर्जुन के प्रश्न का उत्तर यही हुआ कि अधिकार भेद से दोनों ही भिन्न भिन्न मार्ग उत्तम हैं। इनमें किसी एक का ही निर्धारण नहीं किया जा सकता किन्तु तुम्हारा अधिकार अभी कर्मयोग में ही है। यह आगे के श्लोकों से स्पष्ट किया जायगा।

भिन्न भिन्न मतानुसार दोनों निष्ठाओं के उपयोग, व्याख्या में विस्तर से कहे जा चुके हैं। इस श्लोक में जनार्दन और केशव दो संबोधनों से ध्वनित किया है कि जनार्दन शब्द का अर्थ जनों को अर्दित अर्थात् नष्ट करने वाला है। जनों का आत्यन्तिक नाश अविद्या के नाश से ही होगा और अविद्या का नाश बुद्धि के द्वारा होगा, इसलिए बुद्धि को सर्वश्रेष्ठ बतलाना आप का उपयुक्त ही है, यह अभिप्राय जनार्दन शब्द से प्रकट किया गया।

दूसरे केशव सम्बोधन का अर्थ केशी नामक दैत्य को मारने वाला है। इससे यह अभिप्राय ध्वनित होता है कि आपने जो केशी आदि दुष्ट दैत्यों का वध किया वह तो उपयुक्त था किन्तु मुझे गुरु बान्धव आदि के हनन रूप घोर कर्म में क्यों लगाते हैं? अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि आपने केशी आदि दैत्यों का भी वध कर उन्हें भी मोक्ष दे दिया, इसी प्रकार घोर दुष्ट कर्म मेरे हाथ से करवाकर भी मुझे मोक्ष देना चाहते हैं, तो जैसी आपकी इच्छा होगी तदनुसार ही मुझे करना पड़ेगा। इस प्रकार विशेष अभिप्रायों के अभिव्यञ्जन के लिए दोनों संबोधन दिए गए। इससे पुनरुक्ति का अवसर नहीं है।

“व्यामिश्रेणेव” और “मोहयसीव” इन “इव” शब्दों का अभिप्राय यही है कि आपने तो दो अर्थ मिले हुए व्यामिश्र वाक्य नहीं कह होंगे किन्तु मुझे उनका ऐसा ही अर्थ प्रतीत हुआ एवं आप तो मेरी बुद्धि को भ्रम में डालना नहीं चाहोगे। किन्तु मुझे ऐसा ही प्रतीत होता है कि आप मेरी बुद्धि को भ्रम में डाल रहे हैं, इसलिए कृपा कर ऐसे वाक्य कहिये कि जिससे मैं अपने कल्याण का मार्ग ठीक समझ सकूँ।



## छियालीसवाँ-पुष्प

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।  
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥४॥  
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।  
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥५॥  
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।  
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मित्याचारः स उच्यते॥६॥  
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।  
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥७॥  
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।  
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥ ३-४-८

पूर्व श्लोक में ज्ञान निष्ठा और कर्म निष्ठा पृथक्-पृथक् मार्ग हैं, यह कहा गया। अब यह कहा जाता है कि आरम्भ में तो कर्म करना सबको आवश्यक है। श्लोक का अर्थ है कि बिना कर्मरम्भ के नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं होता और केवल कर्म का संन्यास कर देने से ही सिद्धि नहीं मिलती। तात्पर्य यह है कि चाहे इस जन्म का हो, चाहे पूर्व जन्म का संस्कार हो, कर्म करने से ही ज्ञान निष्ठा प्राप्त होती है। बिना कर्म के अन्तःकरण शुद्धि हुए बिना ज्ञाननिष्ठा हो ही नहीं सकती, इसलिए जिस पुरुष को पूर्व जन्म का ऐसा संस्कार नहीं है उसको यहाँ ही पहले कर्म करके अन्तःकरण शुद्ध करना चाहिए। यहाँ नैष्कर्म्य शब्द का अर्थ, प्राचीन समस्त टीकाकार ज्ञाननिष्ठा ही करते हैं। नैष्कर्म्य शब्द का अर्थ व्याकरण की रीति से कर्म छोड़कर रहना अर्थात् कर्म संन्यास ही होता है। कर्म संन्यास के साथ ही ज्ञान भी प्राप्त होता है। इसलिए साहचर्य से ज्ञान निष्ठा ही नैष्कर्म्य का अर्थ प्राचीन टीकाकारों ने माना है। कर्म करने से कर्म राहित्य सिद्ध होना परस्पर विरुद्ध पड़ता है। इसलिए साहचर्य से ज्ञान निष्ठा अर्थ लक्षणा से लिया गया। इससे कर्मयोग का ज्ञान के प्रति अंगभाव सिद्ध हो जाता है, यह श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं। इसी से यह सिद्ध हो गया कि पूर्व पद्य में बतलाए गए दोनों मार्ग स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु कर्मयोग आगे चलकर ज्ञाननिष्ठा का अंग बन जाता है। अर्थात् कर्मयोग से अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान प्राप्त करता है। मोक्ष ज्ञान से ही मिलता है, वहाँ कर्म का कोई उपयोग नहीं! वैष्णव व्याख्याकार नैष्कर्म्य से भक्ति को लेते हैं। भक्ति में भी कर्म का त्याग अन्त में हो जाता है। इसलिए साहचर्य से भक्ति भी नैष्कर्म्य से ली जा सकती है। यहाँ “अनारम्भात्” पद से यह भी सूचित किया जाता है कि कर्म करने में प्रवृत्ति हो गई फिर कर्म समाप्त नहीं हुआ तब भी कोई हानि

नहीं, जैसा कि द्वितीयाध्याय में कर्मयोग के आरम्भ में ही बतलाया है कि यहाँ अभिक्रम का नाश नहीं है और प्रत्यवाय भी नहीं है।

लोकमान्यतिलक नैष्कर्म्य का ज्ञाननिष्ठा अर्थ नहीं मानते, वे नैष्कर्म्य का अर्थ करते हैं बन्धन करने वाले कर्म का अभाव। कर्मयोग की सिद्धि होने पर भी कर्म को बन्धकता नहीं रहती, इसलिए कर्म योग की उस दशा को भी नैष्कर्म्य कह सकते हैं। यद्यपि नैष्कर्म्य शब्द से कर्म का अभाव भी प्राप्त होता है परन्तु गीता में बार-बार यह कहा गया है कि कर्म बुरा नहीं किन्तु उसके कारण बन्धन ही बुरे हैं। इसलिए कर्म शब्द से बन्धन करने वाला कर्म ले लेने में कोई आपत्ति नहीं। इससे कर्मयोग का ज्ञाननिष्ठा के प्रति अंगभाव सिद्ध नहीं होता किन्तु कर्मयोग में भी जो नैष्कर्म्य होगा वह भी पूर्वावस्था के शुद्ध कर्म करने से ही होगा यही सिद्ध होता है। इसलिए ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों स्वतन्त्र मार्ग हैं, कोई किसी का अंग नहीं। वैसे तो ज्ञान भी कर्मयोग में अंग होता है, क्योंकि बिना व्यवसायात्मक बुद्धि के कर्मयोग नहीं बन सकता। इसी प्रकार प्रारम्भ के शुभ कर्म भी ज्ञान के उत्पादन में अंग हो सकते हैं किन्तु आगे चल कर अर्थात् ज्ञान हो जाने पर भी कर्म करते रहना अथवा कर्म छोड़ देना ये दोनों ज्ञान योग और कर्म योग नाम से स्वतन्त्र ही मार्ग हैं। इनमें किसी एक के द्वारा दूसरे को प्राप्त करना गीता को अभिप्रेत नहीं, यही तिलक का मत है।

शुभ-कर्म करने से ज्ञानोत्पत्ति में सहायता मिलती है यह “तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन तपसानशनेन” इत्यादि श्रुति से ही सिद्ध हो जाता है। यहाँ वेदानुवचन, यज्ञ, तप, अनशन आदि सभी का विविदिषा के प्रति अंगभाव बतलाया गया है। विविदिषा अर्थात् ज्ञान की इच्छा, इससे तात्पर्य यही हुआ कि यज्ञ, तप, दान आदि करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और तब ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा होती है। सांसारिक मनुष्यों की तो मलिन अन्तःकरण से ज्ञान में प्रवृत्ति ही नहीं होती, इसलिए यज्ञ, तपादि करके मैले अन्तःकरण का मल हटाया जायगा तब ही ज्ञान की इच्छा होगी। उक्त श्रुति से ऐसा भी अर्थ निकालते हैं कि तप यज्ञादि वेद अर्थात् ज्ञान के ही साक्षात् अंग हैं, विविदिषा के नहीं। यद्यपि शब्द मर्यादा से विविदिषा प्रधान प्रतीत होती है किन्तु अर्थ विचार में विविदिषा अर्थात् ज्ञान की इच्छा भी ज्ञान का ही अंग है। ज्ञान ही प्रधान है। इससे तप, यज्ञादि ज्ञान सम्पादन के ही अंग हैं। किन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान तो प्रमाण से होता है। उसमें तप, यज्ञ आदि साक्षात् कारण नहीं बन सकते क्योंकि यज्ञ, तप आदि प्रमाण नहीं माने जाते। वे भी प्रमेय हैं। अर्थात् उनका भी ज्ञान श्रुति आदि प्रमाणों से होता है फिर वे साक्षात् ज्ञान के उत्पादक कैसे बन सकते हैं। अतः यही कहना उचित होगा कि यज्ञ, तप आदि से ज्ञान की इच्छा



होती है और इच्छा होने पर श्रुति आदि प्रमाणों से आत्मज्ञान होता है। यद्यपि “विविदिषन्ति” पद में अर्थतः ज्ञान ही प्रमाण है किन्तु यहाँ सामर्थ्य के अनुसार शब्द मर्यादा को ही लेना उचित होता है और विविदिषा को ही प्रधान मानकर उसी में यज्ञ, तप आदि का अंगभाव सबने माना है। यहाँ पर शङ्का होगी कि शिष्ट लोग संन्यास मार्ग का भी तो आचरण करते ही हैं और शुकदेव आदि ने संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त की है तो फिर बिना कर्म के ज्ञाननिष्ठा हो ही नहीं सकती, ऐसा क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर पद्य के उत्तरार्ध से दिया जाता है कि शुकदेव आदि को जो सिद्धि प्राप्त हुई, वह केवल कर्म संन्यास से ही नहीं थी अपितु कर्म संन्यास के साथ जो उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था उसके कारण मोक्ष रूप सिद्धि उन्होंने प्राप्त की, उनका अन्तःकरण पूर्व जन्म कृत शुभ कर्मों से ही शुद्ध हो चुका था। इसलिए उन्हें यहाँ कर्म करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, केवल कर्म संन्यास से कोई भी सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। यदि कर्म छोड़ देने मात्र से ही मोक्ष प्राप्त हो जाय तो काष्ठपाषाणादि जड़ पदार्थ तो कोई कर्म नहीं करते उन्हें भी अनायास ही मोक्ष प्राप्त हो जाना चाहिए। इससे यही समझो कि संन्यास मार्ग से जो सिद्धि है वह भी ज्ञान का ही फल है। न कि केवल कर्म संन्यास का। इसलिए तुम्हें अभी अन्तःकरण का मल दूर करने को अपने वर्णाश्रम विहित युद्धादि कर्म अवश्य करने चाहिए। कई व्याख्याकार उत्तरार्ध का यह भी अर्थ करते हैं कि केवल संन्यास से अर्थात् वैराग्य के बिना जो केवल लाल कपड़े आदि कर लेते हैं उससे कोई सिद्धि नहीं प्राप्त होती। इसलिए ज्ञान ही मुख्य है, संन्यास केवल अंग मात्र है।

इस प्रकार पूर्व पद्य में कर्म करने की आवश्यकता के दो कारण कहे गए, अब तीसरा हेतु दूसरे श्लोक में कहते हैं कि कोई भी प्राणी किसी भी समय बिना कर्म किये नहीं रह सकता। अर्थात् शरीर, वाणी या मन का कोई कर्म अवश्य होता ही रहता है। प्रकृतिजनित गुणों से विवशता पूर्वक कर्म कराया ही जाता है। इसलिए सर्वथा कर्म छोड़ना अशक्य है। जब सर्वथा कर्म संन्यास बन ही नहीं सकता तो ज्ञान पूर्वक कर्म करना भी आवश्यक ही समझना चाहिए। प्रकृति जनित गुण सत्त्व, रज और तम तीन हैं इनमें रज क्रिया रूप ही है और तीनों परस्पर सम्मिलित ही रहते हैं। केवल एक विशुद्ध भाव से पृथक् कभी नहीं मिलता, इसलिए सत्त्व और तम भी रज के संयोग के कारण क्रिया रूप ही हो जाते हैं। स्त्री गुणात्मक प्रकृति का आत्मा के साथ नित्य सम्बन्ध है, इसलिए आत्मा भी नित्य कर्मवान् ही रहता है, वह कर्म रहित किसी भी क्षण में नहीं हो सकता। जब हम समझते हैं कि हम चुपचाप बैठे हैं कोई काम नहीं कर रहे हैं, उस समय भी मन के संकल्प आदि कर्म बहुत से चलते रहते हैं। जागरित और स्वप्न दशा में इस प्रकार कर्मों का ताँता लगा ही रहता है। सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर कर्म रहित रहते हैं किन्तु अविद्या रूप

कारण शरीर की वृत्ति उस समय भी होती रहती है। अविद्या अज्ञान रूप है, उसकी वृत्ति रहने के कारण ही उठने पर स्मरण होता है कि मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। यह अज्ञान का ही स्मरण है। इसलिए अज्ञान की वृत्ति उस समय भी माननी पड़ती है। जब सत्त्वादि गुणों का स्वभाव ही चलन रूप है तो जबतक प्रकृति सम्बन्ध है तबतक कर्मों का सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। सत्त्वादि गुण यद्यपि प्रकृति के रूप ही हैं। तीनों गुणों की समष्टि का नाम ही प्रकृति है फिर उन्हें प्रकृति से जनित क्यों कहा गया? यह शंका हो सकती है। इसके समाधान कई प्रकार से किये जाते हैं। एक यह कि जब तक समष्टि रहे तब तक उसका नाम प्रकृति है, जब प्रत्येक गुण भिन्न-भिन्न हो जायँ तब भिन्नता रूप परिवर्तन हो गया इसलिए उसे प्रकृति से उत्पन्न हुआ व्यवहार के लिए कह दिया जाता है। यद्यपि कहा जा चुका है कि सर्वथा भिन्न कोई एक गुण कभी नहीं रहता, तीनों परस्पर ओत-प्रोत ही रहते हैं। तथापि एक गुण की प्रधानता से उसका ही व्यवहार किया जाता है। गुणों का स्वभाव जैसे परस्पर ओत-प्रोत रहने का है उसी प्रकार यह भी स्वभाव है कि एक बढ़कर दूसरों को दबा देता है। जो बढ़ा हुआ होगा उसी नामसे उस समय व्यवहार किया जायगा। यह व्यवहार होना ही उनकी भिन्नता है जो कि प्रकृति से जनित यहाँ कही गई। दूसरा समाधान यह भी किया जाता है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न जो रागद्वेष आदि गुण हैं उनके कारण मनुष्य कुछ न कुछ करता ही रहता है। वे राग-द्वेष आदि ही इसे कर्म करने के लिए विवश करते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पति जी के मतानुसार यहाँ यह भी व्याख्या हो सकती है कि अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीन पुरुषों में अव्यय को ही मुख्य पुरुष माना है। अक्षर और क्षर को उसकी प्रकृति कहा है जैसा कि सप्तम अध्याय में स्पष्ट होगा। तब उस प्रकृति अर्थात् अक्षर और क्षर से जो गुण अर्थात् परिणाम उत्पन्न होते हैं उनके द्वारा प्रतिक्षण ही क्रिया-शीलता रहती है। इसका तात्पर्य यह होता है कि आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान कर्ममय है, उसे ज्ञान व कर्म से कभी छुड़ाया नहीं जा सकता। क्षर और अक्षर पुरुष अपने परिणामों द्वारा प्रतिक्षण कर्म कराते रहते हैं, तीनों का मिल कर ही आत्मा नाम होता है, इसलिए आत्मा कभी कर्मशून्य नहीं रह सकता। इस वैज्ञानिक अर्थ का स्पष्टीकरण तीनों आत्माओं के स्वरूप निरूपण में ही किया जायेगा, यहाँ संकेत मात्र कर दिया है।

श्रीशङ्कराचार्य और उनके मतानुयायी अन्य व्याख्याकार इन पद्यों को उसी पुरुष के लिए मानते हैं जिसे पूर्ण ज्ञान न हुआ हो। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि प्रकृति जनित गुणों के द्वारा प्रतिक्षण कर्म कराया जाना यहाँ कहा गया है। और ज्ञानी

पुरुष के लक्षणों में “गुणैर्यो न विचाल्यते” ऐसा पद आता है। अर्थात् ज्ञानी पुरुष प्रकृति के गुणों के द्वारा चालित नहीं होता वह प्रकृति को आत्मा से पृथक् जान चुका है, इसलिए प्रकृति के चलन का प्रतिबिम्ब भी उस पर नहीं होता। सुतरां यह सिद्ध हो गया कि प्रकृति विवश कर कर्म कराती है, यह निरूपण अज्ञानी के लिए ही है, ज्ञानी पुरुष निर्विकल्पक समाधि में कर्म शून्य रह सकता है, इसलिए पूर्वोक्त द्विविध निष्ठा में ज्ञानी के लिए सांख्य निष्ठा अर्थात् कर्म संन्यास ही उपयुक्त है। किन्तु लोकमान्य तिलक कहते हैं कि निर्विकल्पक समाधि में चाहे कर्म शून्यता रहे किन्तु ज्ञानी पुरुष को भी सदा निर्विकल्पक समाधि तो नहीं रहती। कभी व्युत्थान अर्थात् समाधि से जागने की अवस्था भी होती ही है, उस दशा में तो आवश्यक कर्म आ ही जाते हैं। इसलिए कर्म शून्य कोई प्राणी नहीं रह सकता, यह कथन केवल अज्ञानी के लिए ही नहीं अपितु ज्ञानी अज्ञानी का साधारण ही है। इसका विवेचन आगे पञ्चम अध्याय में और अष्टम, दशम अध्याय में भी होगा। गीता का तात्पर्य आसक्ति छोड़ने में ही है बिना फल की आकांक्षा के आसक्ति छोड़कर कर्म तो सब ही दशा में विहित है।

कदाचित् किसी के मन में यह शङ्का हो कि कर्म नाम तो शरीर की चेष्टाओं का ही है उससे रहित तो मनुष्य कई बार रह सकता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस शंका का निराकरण करते हुए भगवान् आगे कहते हैं कि जो पुरुष हठ से अपने कर्मेन्द्रिय अर्थात् हाथ पैर आदि को रोक देता है किन्तु मन से इन्द्रियों के विषय अर्थात् रूप रसादि का स्मरण करता रहता है वह मिथ्याचार अर्थात् केवल ढोंगी है, उसे मूढ़ ही समझना चाहिए। किसी प्रकार की सिद्धि उसे प्राप्त नहीं हो सकती, अर्थात् मन का कर्म ही मुख्य कर्म है, वह यदि बन्द न हुआ तो केवल कर्मेन्द्रियों के कर्मों को रोक देने से कोई लाभ नहीं।

इसके विपरीत जो पुरुष मन से ज्ञानेन्द्रियों को रोककर केवल कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग के अनुसार अर्थात् फल और आसक्ति छोड़कर कर्म करता रहता है वह उत्तम कहा जा सकता है। अर्थात् उसे सिद्धि प्राप्त होती है।

इसलिए हे अर्जुन! तुम नियत कर्म करते रहो। क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त कर्म करने की आवश्यकता का अन्तिम हेतु भी भगवान् बतलाते हैं कि बिना नियत कर्म किए तुम्हारे शरीर की यात्रा भी नहीं सिद्ध होगी अर्थात् नहीं चल सकेगी। और ज्ञानी को निदिध्यासन पूर्वक ज्ञान सिद्ध होने तक शरीर यात्रा चलाने की आवश्यकता है। एवं भक्त को भी भक्ति मार्ग की सिद्धि अर्थात् अपने इष्टदेव की प्रसन्नता प्राप्त करने तक शरीर यात्रा की आवश्यकता होती ही है। साधारण मनुष्य तो शरीर यात्रा का चलाना अति आवश्यक ही मानते हैं। इसलिए शरीर यात्रा का चलाना सब के लिए ही आवश्यक

है और वह भी खाना, पीना, शयन करना इत्यादि कर्मों के बिना नहीं चल सकती, इसलिए कर्म करना सब को ही आवश्यक हो जाता है। सब कर्मों का परित्याग कोई भी नहीं कर सकता, संन्यास मार्गी भी शरीर के आवश्यक कर्मों को तो नहीं छोड़ते, केवल शास्त्रोक्त काम्य कर्मों का परित्याग करते हैं। यही बात अठारहवें अध्याय में संन्यास का लक्षण करते हुए भगवान् ने कही है कि काम्य कर्मों को छोड़ने का नाम ही संन्यास है।

यहाँ नियत शब्द का अर्थ यद्यपि उत्तरार्ध के अनुसार शरीर-यात्रा चलाने के लिए भोजन, शयन आदि कर्म ही प्राप्त होता है। किन्तु भगवान् का मुख्य उद्देश्य तो अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना है, केवल शरीर यात्रा के नियत कर्मों को लेने से ही उपदेश का मुख्य लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। इसलिए व्याख्याकारों ने अधिकतर नियत शब्द का अर्थ अपने अधिकार सिद्ध कर्म ही किया है। अर्थात् जो जिसके लिए वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित कर्म हैं वे सब ही नियत कर्म की सीमा में ले लिए जाते हैं। वर्ण और आश्रम के अनुसार जैसी प्रकृति जिस मनुष्य की बनाई गई है उसके अनुसार वर्णाश्रम विहित कर्म भी नियत ही मानना उचित होता है। वस्तुतः यहाँ नियत शब्द से उन्हीं कर्मों को लेना चाहिए जिनके लिए बुद्धि की स्वतः प्रेरणा होती है। ऐसे ही कर्मों के लिए सहज कर्म शब्द भी गीता में प्रयुक्त हुआ है। आगे वर्ण-धर्म के व्याख्यान में “चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्” इस पद्य की व्याख्या में हम स्पष्ट करेंगे कि— वर्णाश्रमोचित विहित कर्मों की बुद्धि की स्वयं प्रवृत्ति होती है। वे किसी फलाशा से मन में प्रेरणा होकर नहीं किये जाते, फलाशा से एक प्रकार की विशेष इच्छा पूर्वक जिन कर्मों में प्रवृत्ति होती है वे कर्म नियत नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ समझिए कि भोजन करने में बुद्धि की प्रेरणा से सब प्राणी अवश्य प्रवृत्त होते हैं। इसलिए भोजन करना नियत कर्म कहा जा सकता है। किन्तु उस भोजन में भिन्न-भिन्न प्रकार के सुस्वादु पदार्थ आने चाहिए यह प्रेरणा विशेष इच्छा वश मन से होती है। इस लिए भिन्न प्रकार के खट्टे-मीठे आदि पदार्थों का सेवन नियत कर्म नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार की मन की प्रेरणा से जो कर्म होते हैं वे अवश्य की बन्धन करने वाले होंगे। अर्थात् उनसे मन की वासना बढ़ती जायगी और मन की वासना बढ़कर उसके अनुसार ही आत्मा का चलना ही बन्धन कहलाता है। इसी प्रकार विजय आदि की फल की आशा से बद्ध होकर यदि युद्ध आदि स्ववर्णोचित कर्मों में प्रवृत्ति हो तो वे कर्म भी नियत कर्म न होंगे और बन्धक कोटि में आ जायेंगे। किन्तु द्वितीयाध्याय में “सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ” इत्यादि श्लोक की व्याख्या में जैसा कहा गया है तदनुसार केवल अपना धर्म समझकर युद्ध आदि स्ववर्णोचित कर्म करना बन्धक नहीं है। क्योंकि उसमें मन की उत्थापित फलाशा नहीं रहती। बुद्धि की प्रधानता से ही वे कर्म होते हैं

इसलिए वे बन्धक नहीं और ऐसे कर्म ही अकर्म अर्थात् संन्यास की अपेक्षा श्रेष्ठ माने गए हैं।

यहाँ कर्मविधान अज्ञानियों के लिए मानने वाले व्याख्याकारों की यह भी व्याख्या है कि “कुरु” इस मध्यम पुरुष से ही तुम करो, ऐसा अर्थ सिद्ध था फिर यहाँ जो “त्वं” पद कहा गया है, वह लाक्षणिक है। लक्षणा से उसका अर्थ होता है पूर्ण ज्ञान रहित, अतएव कर्म के ही अधिकारी “तुम” हो। ऐसे ही स्थल में कर्म की अवश्य कर्तव्यता व्यञ्जित होकर अर्थान्तर संक्रमित वाच्य रूप ध्वनि अलङ्कार शास्त्रों में मानी गई है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अर्जुन को ही कर्माधिकारी मानकर नियत कर्म करने का भगवान् का उपदेश है। न कि पूर्ण ज्ञानी संन्यास के अधिकारियों के लिए भी यह लागू हो सकता है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में “ते” पद आया है उसका भी यही आशय है कि तुम्हारी लोक यात्रा बिना कर्म के नहीं चल सकती और यह भी आशय इससे व्याख्याकारों ने निकाला है कि जो पूर्ण ज्ञानी नहीं किन्तु जिज्ञासु है, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति की इच्छा रखता है उसे शास्त्रोक्त कर्म करना अनिवार्य है और शास्त्र में पञ्च महायज्ञ से बचे हुए अन्न का भोजन ही धर्मार्थ माना गया है। इसलिए भोजनादि लोकयात्रा चलाने के लिए पञ्च महायज्ञ आदि शास्त्रोक्त कर्म करना भी नियत व अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार इस प्रकरण को श्रीशंकराचार्य के अनुयायी जिज्ञासु के लिए ही मानते हैं किन्तु तिलक के मतानुसार यह सब क्लिष्ट कल्पना व अपने मत का आग्रह मात्र है। उनके मतानुसार यह उपदेश सभी के लिए ही है और सांख्य मार्ग की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता ही यहाँ से प्रतिपादित की गई है। जिसका कि पंचमाध्याय के आरम्भ में प्रश्नोत्तर द्वारा पुनः स्पष्टीकरण होगा।



## सैतालीसवाँ-पुष्प

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।  
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (९)  
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।  
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (१०)  
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।  
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ (११)  
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।  
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ (१२)  
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।  
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारमात्॥ (१३)

पूर्व पद्यों से सात कारणों द्वारा कर्म की अवश्य कर्तव्यता दिखलाई गई, किन्तु इस शङ्का का स्पष्ट समाधान नहीं हुआ कि कर्म करने से कर्म जनित संस्कार के द्वारा आत्मा का बन्धन तो होता ही जायगा। फिर मोक्षप्राप्ति कर्मयोग में किस प्रकार होगी। यद्यपि द्वितीयाध्याय में कहा जा चुका है कि कर्मबन्धन करने वाले नहीं होते उनकी फलाशा ही बन्धक होती है। तथापि उसी का स्पष्टीकरण यहाँ दूसरी युक्ति से किया जाता है कि— यज्ञार्थ कर्म से अन्य कर्म ही बन्धन करने वाले होते हैं, उनसे ही लोक बन्धन में आया करते हैं। अर्थात् यज्ञार्थ जो कर्म किये जायँ वे बन्धक नहीं होते, इसलिए हे कुन्ती पुत्र! मुक्त संग होकर अर्थात् कर्म की आसक्ति छोड़कर यज्ञ के लिए तुम सदा कर्म करते रहो। इससे बन्धन होने की शंका मत करो।

यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ बहुत व्याख्याकारों ने “यज्ञो हि विष्णुः” इस श्रुति के अनुसार विष्णु अर्थात् परमात्मा किया है। अर्थात् ईश्वर के लिए जो कर्म किये जायँ वे बन्धक नहीं होते। मनुष्य अपने लिए कर्म फल प्राप्ति की आशा छोड़कर जो कर्म करे उसे ईश्वरार्पण करदे तब बन्धन नहीं होता। किन्तु इस व्याख्यान से आगे के पद्यों में जो यज्ञ का प्रकरण आया है उसकी संगति नहीं लगती। यह पद्य उस यज्ञ प्रकरण से पृथक् ही मानना पड़ेगा। इसलिए प्रकरण संगति के अनुसार यज्ञ का यहाँ प्रसिद्ध यज्ञ ही अर्थ मानना चाहिए। “यज्ञो वै विष्णुः” इस श्रुति से ईश्वर अर्थ की कल्पना ठीक नहीं बैठती। मनुष्य के द्वारा संपादित होने वाले अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास आदि यज्ञ भी यहाँ यज्ञ शब्द के वाच्य मानने से उचित न होगा। क्योंकि अर्जुन इस समय कोई अग्निहोत्रादि करने के लिए प्रस्तुत नहीं है जिसे “यज्ञार्थ कर्म करो” कहकर उस कर्म में प्रवृत्त किया जाय। तब यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग ही यहाँ मानना

उचित है। श्रुतियों में जो यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ माना है कि यज्ञ से ही संसार उत्पन्न होता है और यज्ञ से ही उसकी स्थिति रहती है वही जगत्चक्र का परिचालन रूप यज्ञ यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ है। जो कि आगे के पद्यों में अगले पुष्प में स्पष्ट हो जायगा।

लोक मान्य तिलक ने यद्यपि यज्ञ शब्द के व्यापक अर्थ पर दृष्टि पात किया है किन्तु श्रुतियों का अधिक परिशीलन न होने से वे भी उसका स्पष्टीकरण नहीं कर सके। किन्तु चतुर्थाध्याय में पद्यों के अनुसार धर्मशास्त्र के बताए भिन्न-भिन्न धर्मरूप यज्ञों को ही यज्ञ शब्द का अर्थ मानकर सन्तुष्ट हो गए।

वस्तुतः यहाँ श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार ही इन पद्यों की व्याख्या उचित होगी। वे श्रुतियों के अनुसार यज्ञ को ही जगत् का उत्पादक और पालक मानते हैं। जैसा कि यहाँ भी अग्रिम पद्यों से स्पष्ट हो जायेगा। इसलिए इस पद्य का भी अभिप्राय यही कहना उचित होगा कि जगत्चक्र का परिचालन करने के लिए फलाशा और आसक्ति छोड़कर जो कर्म किये जाँय वे बन्धक नहीं होते। ऐसे ही कर्म तुम करो। यह अर्जुन के प्रति उपदेश है। इस युद्ध रूप कर्म से जगत्चक्र परिचालन में सहायता किस प्रकार मिलेगी। यह हम प्रथमाध्याय में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अर्जुन यदि युद्ध से विरत हो जायगा तो पाण्डव पक्ष की पराजय निश्चित है और धर्म की पराजय व अधार्मिक पक्ष का विजय देखकर लोक में धर्मनिष्ठा का अभाव हो जायगा। लोग धर्माचरण व्यर्थ समझेंगे। अधर्म की ओर ही जनता की प्रवृत्ति बढ़ेगी। इससे जगच्चक्र परिचालन में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी। इसी उद्देश्य से धर्मरक्षार्थ युद्ध करना चाहिए यही भगवान् के उपदेश का यहाँ तात्पर्य है। लोकमान्य तिलक ने इस यज्ञार्थ पद की मीमांसा से भी कुछ सम्बन्ध जोड़ा है।

पूर्व मीमांसा में कर्म दो प्रकार के माने जाते हैं। प्रथम तो पुरुषार्थ और दूसरा यज्ञार्थ। जिस यज्ञ विधि का जहाँ से प्रारम्भ हो वह आदि की विधि पुरुषार्थ होती है। अर्थात् उसके अनुष्ठान से यजमान पुरुष में अदृष्ट रूप फल उत्पन्न होता है जिससे उसे स्वर्गादि फल मिलते हैं। किन्तु आगे उस प्रधान विधि की पूर्णता के लिए जो अवान्तर विधि होती हैं वे यज्ञार्थ विधि कहलाती हैं। उनका फल केवल यज्ञ की पूर्णता ही है। पुरुष में उनके द्वारा कोई अदृष्ट रूप फल उत्पन्न नहीं होता। जैसा कि “दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्” यह कर्म के आरम्भ में जो प्रधान विधि आयी वह पुरुषार्थ है। उसके अनुष्ठान से पुरुष में एक अदृष्ट विशेष उत्पन्न होगा जो उसे स्वर्ग ले जायगा। किन्तु इसके आगे इस प्रकरण में जो प्रयाज, अनुयाज आदि अवान्तर विधियाँ हैं उनका कोई स्वतन्त्र फल पुरुष में उत्पन्न नहीं होता। उनके अनुष्ठान का यही फल है कि उनसे दर्श-पूर्णमास रूप यज्ञ पूरा हो जाता है। यदि उनका अनुष्ठान न किया जाय तो यज्ञ पूरा नहीं होगा, पुरुष को उससे कोई अदृष्ट प्राप्त नहीं होगा। इस मीमांसा के विचार से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यज्ञार्थ कर्मबन्धन अर्थात् अच्छे या बुरे अदृष्ट के

उत्पादक नहीं हैं। यही संकेत इस पद्य में भगवान् ने किया कि यज्ञार्थ कर्मों से अतिरिक्त अर्थात् पुरुषार्थ कर्म बन्धक होते हैं। तुम सब कर्मों को यज्ञार्थ समझकर ही करते जाओगे, इस प्रकार यज्ञार्थ कर्म करने से तुम्हें शास्त्रानुसार कोई बन्धन नहीं होगा।

अब व्यापक अर्थ में ही यज्ञ शब्द का प्रयोग मानकर आगे यज्ञ का ही स्वरूप बतलाया जाता है कि प्रजापति ने यज्ञ के साथ ही प्रजाओं को उत्पन्न किया। अथवा उन्होंने प्रथम यज्ञ को उत्पन्न किया और उससे ही प्रजाओं को उत्पन्न किया। साथ ही प्रजाओं को यह उपदेश भी दिया कि इस यज्ञ के द्वारा ही तुम नये-नये पदार्थों की उत्पत्ति करते हुए प्रजा को बढ़ाते जाओ। यह यज्ञ ही तुम्हारी सभी इष्ट कामनाओं को पूर्ण करने वाला होगा।

हम प्राणी वर्ग जो नये-नये पदार्थ उत्पन्न करते हैं वे यज्ञ के द्वारा ही उत्पन्न करते हैं। अग्नि में सोम की आहुति होना ही यज्ञ कहलाता है। इसी के द्वारा सब पदार्थ उत्पन्न किये जाते हैं। पहिले अन्न आदि को ही लीजिए, पृथ्वी में एक प्रकार की अग्नि व्याप्त है, उसके ऊपर थोड़ा पृथ्वी का स्तर आया रहता है। भीतर अग्नि ही व्याप्त रहती है। कृषि करने वाले पहिले उस ऊपर के स्तर को अपने हलकर्षण के द्वारा हटाकर उस अग्नि को प्रकट कर देते हैं, और उस पर बीज और जल की आहुति दे देते हैं। बीज में भी सोम व्याप्त है और जल तो सोम की ही स्थूल अवस्था है। जैसा कि श्रुति में सोम की स्तुति करते हुए कहा गया है कि—

“त्वमिमा ओषधीः सोम सर्वाः।

त्वमपो अजनयस्त्वंगाः॥

त्वमाततन्थोरुर्वन्तरिक्षं—

त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ॥”

इसका अर्थ है कि हे सोम! तुमने इन सब औषधियों को उत्पन्न किया है। जिनका पौधा-फल पकाकर स्वयं नष्ट हो जाता है ऐसे चावल, गेहूँ, जौ आदि औषधि कहलाते हैं। “ओषधयः फलपाकान्ताः” और जिनका वृक्ष तो स्थायी रहे किन्तु फल जल्दी नष्ट हो जायँ उन्हें वनस्पति कहते हैं। औषधियों में सोम की मात्रा अधिक होती है। आगे कहा है कि हे सोम! तुमने ही जल को उत्पन्न किया है और तुमने गौओं को भी उत्पन्न किया है। तुमने अन्तरिक्ष को बहुत विस्तृत कर रखा है और तुम ही ज्योति के द्वारा अन्धकार को दूर करते हो। सब अन्तरिक्ष में सोम ही व्याप्त है। सूर्य की किरणों के संघर्ष से वह सोम जल उठता है, इसीसे यह प्रकाश हम सब लोगों को मिलता है। तेल आदि में भी जो सोम की मात्रा व्याप्त है वही अग्नि के संयोग से जलकर हमें दीप आदि का प्रकाश देती है। इससे औषधि रूप बीज में, और जल में सोम का व्याप्त रहना सिद्ध है। उसी सोम की पार्थिव अग्नि पर आहुति होकर अंकुर पैदा होते हैं।



जो आगे सूर्य के आकर्षण रूप यज्ञ से बढ़ते रहते हैं और अन्त में हमें अन्न देते हैं। अंकुर में जो सोम की मात्रा है उसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा ऊपर को खींचता है। इससे पौधा बढ़ता जाता है, सोम ही सूर्य किरण स्थित अग्नि का अन्न है। वे किरणें उस सोम को अपने में लीन करती जाती हैं और ऊपर का आवरण छोड़ देती हैं। इससे वह बढ़ता जाता है। इस प्रकार अन्न आदि की उत्पत्ति यज्ञ से ही होती है, और उन अन्नों से ही प्राणियों की सब इष्ट कामनाएँ पूर्ण होती हैं। अर्थात् इन्हें भोजन-वस्त्रादि मिलते हैं। जो कि इनके परम इष्ट हैं। इसी प्रकार सब प्राणी सन्तान उत्पन्न कर जो प्रजा की वृद्धि करते रहते हैं वह भी यज्ञ ही है। स्त्री के गर्भाशय में जो अग्नि है उसमें पुरुष के रेत में स्थित सोम की आहुति होती है और उसी से गर्भ रूप में बालक उत्पन्न होता है। आगे गर्भाशय में उसका बढ़ना आदि भी यज्ञ क्रिया से ही सम्पन्न होता है। यह अन्न प्राण आदि का दृष्टान्त हमने संक्षेप से बतलाया। जड़ पदार्थ भी जो एक दूसरे के रूप में परिवर्तित होते रहते हैं, वह सब भी यज्ञ क्रिया का ही फल है। मिट्टी में स्थित सोम की मात्रा को अग्नि खाता रहता है, उससे मिट्टी में कठोरता आकर धीरे-धीरे वह पत्थर के रूप में परिणत हो जाती है। आगे भी बराबर यज्ञ क्रिया चलते रहने से लोहा धातु आदि की उत्पत्ति होती रहती है। सब संसार अग्नि और सोम का ही रूप है, इन्हीं दोनों के संयोग से संसार के सब पदार्थ बनते रहते हैं। यह यज्ञ का एक सामान्य रूप हमने बतलाया। वस्तुतः यज्ञ शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। अग्नि और सोम आदि की उत्पत्ति भी यज्ञ से ही हुई है। वह सब वैदिक परिभाषा का विषय पाठकों को समझने में कठिन होगा। इसलिए उसका अधिक विस्तार यहाँ नहीं किया जाता। इसी आशय से कहा गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं को यज्ञ से ही वृद्धि करने का उपदेश दिया, और प्रजाओं को जो कुछ इच्छा हो उसकी पूर्ति यज्ञ ही से करने का मार्ग उन्हें बतलाया।

प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार तो इस पद्य का यही तात्पर्य है कि प्रजापति ने मनुष्य प्रजा को यह उपदेश दिया कि यज्ञ करने से देवताओं का प्रसाद प्राप्त कर तुम्हारे सन्तान आदि की वृद्धि होगी, और तुम्हारी इष्ट कामनाएँ भी यज्ञ से पूर्ण होंगी। यह मनुष्य कृत यज्ञ का ही वर्णन इस पद्य में माने जाने पर पद्य का अर्थ होगा।

इस प्रकार नये-नये पदार्थ उत्पन्न कर प्रजा को बढ़ाते रहना— यज्ञ का एक प्रयोजन बतलाया। दूसरा प्रयोजन आगे के पद्य में कहते हैं कि प्रजाओं को प्रजापति ने यह भी उपदेश दिया कि इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं का आदर करते रहो, या उन्हें सन्तुष्ट करते रहो और वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करते रहेंगे। इस प्रकार परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते हुए तुम सब प्रजाओं को परम कल्याण प्राप्त होगा।

यज्ञ शब्द का मनुष्य कृत अग्निहोत्रादि ही अर्थ माना जाय तो इसका आशय स्पष्ट ही है कि वे अग्नि आदि कर्म अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही किये जाते हैं। उन अग्निहोत्रादि से प्रसन्न होकर अग्नि, इन्द्र आदि देवता मनुष्यों को

वाञ्छित फल देते हैं। किन्तु यज्ञ शब्द का पूर्वोक्त व्यापक अर्थ मानने पर भी इसका तात्पर्य यह होगा कि ब्रह्मा ने दो प्रकार का जगत् बनाया है। एक सूक्ष्म जगत् और दूसरा स्थूल जगत्। जैसे स्थूल जगत् के प्राणी हम लोग हैं इसी प्रकार देवता, पितृ, गन्धर्व आदि सूक्ष्म जगत् के प्राणी हैं। दोनों ही जगत् यज्ञ के द्वारा ही चलते हैं। हम स्थूल जगत् के प्राणी जो यज्ञ करते हैं उसका फल सूक्ष्म जगत् के प्राणी देवता आदि का प्रसाद होता है और उनके प्रसाद का फल हमें मिलता है। जैसा कि पूर्व पद्य के व्याख्यान में अग्नि में सोम की आहुति— यह यज्ञ शब्द का अर्थ हमने किया है। सूक्ष्म जगत् के देवता आदि प्राणी सब अग्नि प्रधान हैं, अग्नि में डाला हुआ सोम, अग्नि रूप में ही परिणत होकर उन देवताओं की तृप्ति करता है। उन देवताओं की तृप्ति से हमें अन्न आदि फल प्राप्त होते हैं। जैसा कि पूर्व पद्य के व्याख्यान में लिखा जा चुका है कि सूर्य किरणें अङ्कुर आदि में से सोम का भाग लेकर आग्नेय देवताओं को तुष्ट करती हैं और उन अग्नि आदि देवताओं के कारण की अन्न परिपक्व होकर हमें प्राप्त होता है। इस प्रकार सूक्ष्म जगत् और स्थूल जगत् का परस्पर सम्बन्ध यज्ञ के द्वारा ही चल रहा है और इसी से सम्पूर्ण जगत् की स्थिति है। इस स्थूल और सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध का विवरण आगे के चक्र रूप निरूपण में “अन्नाद् भवन्ति भूतानि” इत्यादि श्लोकों में और स्पष्ट किया जायगा।

आर्य संस्कृति में देव तीन प्रकार के माने जाते हैं। एक प्राण रूप देव हैं, जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य के और ऋषियों के शास्त्रार्थ में वर्णन किया गया है कि प्राण रूप एक देवता ही, रयि और प्राण मिलाकर डेढ़ हो जाता है, उन्हीं के तीन भेद अग्नि, वायु और आदित्य नाम से होते हैं! और फिर उन्हीं के विस्तार में तैंतीस देव हो जाते हैं।

दूसरे भिन्न-भिन्न तारा मण्डल रूप लोकों में रहने वाले प्राणी विशेष देव कहे जाते हैं। जैसा कि सांख्य दर्शन में चौदह प्रकार के प्राणी माने गए हैं। उनमें मनुष्य से ऊपर की श्रेणी के आठ देवताओं के विभाग, मध्य में मनुष्य और पशु, मृग, सरीसृप, पक्षी और स्थावर ये पाँच तिर्यग् योनि ये चौदह प्रकार के प्राणियों का विवरण किया गया है।

तीसरे प्रकार के देव, पितृ, गन्धर्व आदि इसी भूलोक के हिमालय से उत्तर देशों में निवास करने वाले प्राणी पूर्व काल में थे। उन्हें भी देव श्रेणी में गिना जाता था। जिनका असुरों के साथ युद्ध होने पर उनकी सहायता के लिए दशरथ आदि का जाना, और अर्जुन का उत्तर दिशा में जाकर इन्द्र के पास शस्त्र विद्या पढ़ना, महाभारत पुराण आदि में वर्णित है। यज्ञ विद्या का सम्बन्ध सूक्ष्म जगत् के प्राणरूप देवताओं के साथ ही हमने पूर्व में बतलाया है, किन्तु यज्ञ से प्राणों के आप्यायित होने पर उन प्राणों की प्रधानता जिनमें है वे लोकान्तरस्थित प्राणी देवता भी तृप्त होते हैं और विशेष प्रकार के महान् यज्ञों में

भूमण्डल स्थित उत्तर दिशा के मनुष्य विशेष रूप देव भी आमन्त्रित कर बुलाए जाते थे ऐसा भी पुराणों में वर्णन मिलता है। इसलिए कहा जा सकता है कि तीनों ही प्रकार के देव यज्ञ से सम्मानित होते थे और वे तीनों ही अपनी शक्ति के अनुसार मनुष्यों को भी उनके इष्ट पदार्थ देकर संतुष्ट करते थे। यज्ञ शब्द के व्यापक अर्थ में तो उस यज्ञ से प्राण और प्राणी सबका आप्यायित व प्रसन्न होना सिद्ध ही है।

इसी का विवरण अग्रिम पद्य में पूर्वार्ध के किया जाता है कि यज्ञ से भावित अर्थात् सम्मानित या परितुष्ट किये गए देव तुम्हें अर्थात् स्थूल जगत् की प्रजा को अपनी अपनी इच्छानुसार अन्न-वस्त्रादि भोग के पदार्थ देंगे। उत्तरार्ध में मनुष्य प्राणियों को भी इस जगद्व्यापी यज्ञ में सम्मिलित होने का उपदेश दिया जाता है कि देवताओं के दिये हुए अन्न आदि पदार्थों को उन्हें अर्पित न कर जो स्वयं ही उनका भोग कर लेते हैं उन्हें एक प्रकार से चोर कहना चाहिए।

पुराने समय में राजा लोग जिन अपने आश्रित भृत्य वा विद्वान् आदि को सहायतार्थ कोई भूमि का खण्ड दे देते थे, उनका यह कर्तव्य होता था कि उस अपने भूमि खण्ड से प्राप्त द्रव्य में से कुछ भाग भेंट के रूप में राजा को अर्पित करें। आजकल की भाषा में इसे नजर करना कहा जाता था। ऐसी नजर न करने वाले हीन दृष्टि से देखे जाते थे और राजा के भी कोपभाजन बनते थे। इसी का संकेत इस पद्य में किया गया है कि देवताओं के प्रसाद से तुम्हें जो अन्नादि प्राप्त हुआ है उसका कुछ अंश देवताओं को अर्पित कर फिर अपने भोग में उसे लो। ऐसा न करोगे तो तुम देवताओं की दृष्टि में चोर समझे जाओगे। इससे मनुष्य प्रजा को यह उपदेश है कि अपने प्राप्त अन्न, द्रव्य आदि में से यज्ञ द्वारा कुछ अंश देवताओं को अवश्य अर्पित कर दिया करें। पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक माना गया है। होम करना देव यज्ञ है, तर्पण आदि पितृयज्ञ, अपने अधीत विषय का कुछ पारायण नित्य करना या और नये विषय का अध्ययन ऋषि यज्ञ, पकाये हुए अन्न में से कुछ भाग कीड़े-मकोड़े आदि के लिए भूमि में डाल देना भूत यज्ञ और जो कोई भोजन के समय अपने घर आ गया उसे सत्कार पूर्वक भोजन करा देना मनुष्य यज्ञ कहा जाता है। ये पाँच यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए शास्त्र में आवश्यक माने गए हैं। इनके द्वारा देवता, पितर आदि को सन्तुष्ट करके ही भोजन करने का अधिकार गृहस्थ को मिलता है। शूद्र वर्ण जो वेदाध्ययन नहीं कर पाते वे भी नमस्कार रूपी मंत्र से ही पाँच महायज्ञ अवश्य कर लिया करें ऐसा धर्म शास्त्रों में विधान मिलता है। नित्य करना आवश्यक होने के कारण इन्हें महायज्ञ कहा जाता है। जिन्होंने श्रौत वा स्मार्त अग्नि का आधान किया है उनके लिए तो विशेष प्रकार के यज्ञ शास्त्रों में विहित किए गए हैं। उन सब की अवश्य कर्तव्यता इस पद्य में बतलाई गई है।

इसी का विवरण अग्रिम पद्य में भी है या अग्रिम पद्य के द्वारा इस बात पर और जोर दिया जाता है कि यज्ञ से बचे हुए अन्न को जो खाते हैं वे सब पापों से छूट जाते हैं और जो लोग अपने लिए ही भोजन बनाते हैं अर्थात् भोजन बनाकर स्वयं ही खा लेते हैं, उस अन्न में से पंच महायज्ञ द्वारा देवता-पितर आदि को अर्पण नहीं करते वे उस अन्न के रूप में पाप का भोजन करते हैं। अर्थात् उस अन्न से उनका पाप बढ़ता जाता है।

मनुष्य को यह उपदेश है कि वह पञ्च महायज्ञ द्वारा देवता-पितर आदि की पूजा के लिए ही रसोई बनाया करे। देवता-पितर आदि को अर्पण कर उससे जो अन्न बचा रहे उसका अपने आप भी भोजन कर लिया करे। केवल अपने ही उद्देश्य से अर्थात् 'मैं खाऊँगा' इसी विचार से जो भोजन बनाते हैं उनको उस भोजन के द्वारा पाप होता है। यह सभी धर्मशास्त्रों में वर्णित है। अपने लिए ही मानकर भोजन बनाने से उस अन्न आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध दृढ़ होता है और अहंकार की भी वृद्धि होती है। यही सब पाप के मूल हैं। यद्यपि स्वयं खाने से अन्न का सम्बन्ध तो होगा ही, किन्तु मन का भाव सम्बन्ध को दृढ़ करने वाला होता है। मन में यदि यह भाव रहेगा कि स्वयं भोक्ता नहीं हूँ देवता-पितर आदि के लिए यह अन्न पकाया जाता है, तो उस भाव के द्वारा अन्न के साथ आत्म का सम्बन्ध भी शिथिल रहेगा और अहंकार की वृद्धि भी न होगी। इससे उस पाप से ऐसा भाव रखने वाला मनुष्य बच जायगा।

इस समय भारत वर्ष में पंच महायज्ञ की प्रथा प्रायः लुप्त सी हो गई है तब भी शिष्ट लोगों में यह प्रथा आजकल भी प्रचलित है कि उपासना के लिए अपने-अपने इष्ट देव विष्णु, शिव व भगवती आदि की मूर्ति अपने घर में रखते हैं और उनको भोग लगाने के उद्देश्य से ही रसोई बनाई जाती है। शिष्ट लोग आज भी प्रायः ऐसा व्यवहार नहीं करते कि हमारे लिए रसोई बनती है किन्तु भगवान् के भोग के लिए रसोई बनाकर उनको नैवेद्य देकर ही प्रसाद रूप से घर के लोग उसका भोजन करते हैं। इससे वह अहंभाव का दोष आजकल भी नहीं रहता। शास्त्र की प्रथा तो यही है कि भगवान् को भोग लगाकर भी पंच महायज्ञानुष्ठान करना ही चाहिए और उस यज्ञ से जो शेष बचे उसी का घर के लोगों को उपयोग करना चाहिए। घर के लोगों के उपयोग में भी धर्म शास्त्रों में यह उपदेश है कि बालक, अपनी विवाहिता पुत्रियाँ, जो अपने घर आई हों वे सुवासिनी, वृद्ध, गर्भवती स्त्री और रोगी व जो अपने ही घर भोजन पाते हों ऐसे भृत्यों तक को भी भोजन कराकर घर के स्वामी स्त्री, पुरुष, सब के अनन्तर भोजन करें। यह भी यज्ञ से शेष का भोजन कहा जायगा, और इससे गृहस्थ पाप भागी न होगा।

## अड़तालीसवाँ-पुष्प

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ (१४)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ (१५)

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ (१६)

इस प्रकार प्रसंगागत मनुष्यों को यज्ञ की आवश्यकता का उपदेश देकर आगे उसी जगत् में व्यापक रूप यज्ञ की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए चक्र रूप से भगवान् यज्ञ का निरूपण करते हैं—

इन पद्यों के अर्थ में व्याख्याकारों के अनेक मतभेद हैं। उन सब का ही संक्षेप में विवरण यहाँ किया जायगा—

सबसे पुराने भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य और उनके अनुयायी अन्य टीकाकार इन पद्यों का यह अर्थ करते हैं कि सब भूत अर्थात् सब प्राणी अन्न से पैदा होते हैं। अन्न से रस, रुधिर, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा आदि क्रम से सातवें स्थान में शुक्र पैदा होता है। उसी शुक्र से प्राणियों के सन्तान उत्पन्न होते हैं। इसलिए भूत अर्थात् प्राणियों का अन्न से उत्पन्न होना आयुर्वेद से सिद्ध है। वह अन्न पर्जन्य अर्थात् मेघ से उत्पन्न होता है। मेघ की वृष्टि से ही सब अन्नादि उत्पन्न होते हैं। यह सब के लिए प्रत्यक्ष सिद्ध है। वह पर्जन्य अर्थात् मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है। यह धर्मशास्त्र आदि के प्रमाणों से सिद्ध है। मनुस्मृति में यही लिखा है कि यज्ञ में जो आहुति दी जाती है उससे तृप्त होकर सूर्य वृष्टि करते हैं। इससे मेघ का यज्ञ से उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। वह यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। यद्यपि यज्ञ भी एक कर्म है उसका कर्म से उत्पन्न होना कैसे बनेगा? यह शंका हो सकती है। इसके समाधान के लिए यज्ञ शब्द का अर्थ यज्ञ से आत्मा में उत्पन्न होने वाला अतिशय लिया जाना चाहिए। जिसे पूर्व मीमांसा में अपूर्व शब्द से कहा गया है और कर्म शब्द से यज्ञ रूप क्रिया लेनी चाहिए। इससे अर्थ की संगति हो जायगी कि यज्ञ रूप कर्म से यजमान के आत्मा में एक प्रकार का अतिशय या अपूर्व उत्पन्न हो जाता है। अथवा यज्ञ शब्द से दर्शपौर्णमास आदि नामों से प्रसिद्ध एक कर्म समुदाय लिया जाय। उसका उद्भव अर्थात् उत्पत्ति ऋत्विक् यजमान आदि के पृथक् पृथक् कर्म मिलकर यज्ञ को पूर्ण करते हैं, और वह पूर्ण यज्ञ यजमान के आत्मा में अतिशय उत्पन्न करता है। इसलिए ऋत्विग् आदि के पृथक् पृथक् कर्मों से यज्ञरूप समष्टि कर्म उत्पन्न हुआ यह कहने में कोई दोष नहीं रहता। वे सब ऋत्विग् आदि के कर्म ब्रह्म अर्थात् वेद से उद्भूत होते हैं, अर्थात् जाने

जाते हैं। यज्ञ में जो ऋत्विग् आदि के कर्म हैं उनका ज्ञान वेद के अतिरिक्त और किसी से नहीं हो सकता। अतः उन कर्तव्यों को वेद से उत्पन्न कहना सुसंगत हो जाता है। वह वेद अक्षर पुरुष अर्थात् परमात्मा से प्रादुर्भूत है। जैसा कि शास्त्रों वर्णित है कि परमात्मा से ही निश्वास प्रश्वास आदि के रूप में वेद प्रकट होते हैं। इस प्रकार सर्वगत अर्थात् सब को ज्ञान देने वाला नित्य अर्थात् कभी विनष्ट न होने वाला— प्रलय काल में भी बीज रूप से रहने वाला वेद यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। अर्थात् वेद प्रधानरूप से यज्ञ की ही शिक्षा देता है। इस प्रकार का यह कार्य कारण का चक्र परमात्मा ने ही प्रवृत्त किया है इसका जो अनुवर्तन नहीं करता, अर्थात् स्वयं भी यज्ञ कर इस जगत् चक्र के चलने में सहायता नहीं देता वह पाप रूप आयु को व्यतीत कर रहा है। कहना चाहिए कि वह केवल अपनी इन्द्रियों के विषयों में ही आसक्त है।

धर्म कर्म की उपेक्षा कर वह केवल इन्द्रियाराम अर्थात् इन्द्रियों को तृप्त करने में ही सुख मानने वाला बना हुआ है। हे पार्थ! उसका जीवन ही मोघ अर्थात् झूठा व्यर्थ प्राय है। जिस प्रकार झूठे पदार्थ से जगत् को कोई लाभ नहीं, इसी प्रकार उसके जीवन से भी जगत् का कोई लाभ नहीं है। इसलिए उसके जीवन को भी झूठा ही कहना उचित है।

श्रीशाङ्करसम्प्रदाय के अनुयायी श्रीमधुसूदनजी व नीलकण्ठ आदि ने चक्र का निरूपण इस प्रकार किया है कि द्विजादि मनुष्य प्रजा पहले वेद पढ़ती है, फिर वेदोक्त कर्म का अनुष्ठान करती है। इससे देवताओं की तृप्ति होती है। उससे वृष्टि होती है, वृष्टि से फिर अन्न और अन्न से प्राणी, इस प्रकार यह चक्र निरन्तर चलता (घूमता) रहता है। इसका अनुवर्तन अर्थात् इसमें सहयोग देने के लिए अधिकारी पुरुषों को यज्ञ निरन्तर करते रहना चाहिए। इस प्रकार कर्म की आवश्यकता यहाँ भी प्रदर्शित की गई।

श्रीरामानुजाचार्य और उनके अनुयायी अन्य व्याख्यादाताओं के मत में इन पद्यों की व्याख्या इस प्रकार है। अन्न से भूत अर्थात् प्राणी उत्पन्न होते हैं। अन्न वृष्टि से होता है, और वृष्टि यज्ञ से होती है। यह अंश तो समान ही है। आगे यज्ञ कर्म से होता है। इस वाक्य में कर्म शब्द से द्रव्योपार्जन आदि कर्म लेने चाहिए। क्योंकि बिना द्रव्य के यज्ञ नहीं बन सकता। वह सब कर्म ब्रह्म से उत्पन्न है। यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ वे प्रकृति करते हैं।

भगवद्गीता में ही आगे चौदहवें अध्याय में “मम योनिर्महद् ब्रह्म” इस श्लोक में प्रकृति के लिए ही ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है और “तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते” इत्यादि श्रुतियों में भी अमृत शब्द से पुरुष और ब्रह्म शब्द से प्रकृति ली गई है। इसलिए यहाँ भी ब्रह्म शब्द प्रकृति का ही बोधक मानने से अर्थ

सङ्गति ठीक बैठती है। इसलिए ब्रह्म शब्द का अर्थ प्रकृति मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उस प्रकृति का भी परिणाम रूप यह शरीर ही यहाँ ब्रह्म शब्द से लिया जाता है। क्योंकि कर्म शरीर से उत्पन्न है। यह अर्थ सुसंगत हो जाता है। अथवा श्रीतिलक के मतानुसार प्रकृति से ही कर्म होते हैं, प्रकृति के गुण रज का परिणाम ही कर्म है। इसलिए कर्म को प्रकृति से उत्पन्न कहना भी सुसङ्गत हो सकता है। गीता में अन्यत्र भी कहा है कि “प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः”। अर्थात् प्रकृति के गुणों से ही समस्त कार्य (कर्म) होते हैं। पुरुष तो विमूढ़ भाव से अपने को कर्त्ता मान लेता है। वह ब्रह्म अर्थात् प्रकृति जन्य शरीर अक्षर से उद्भूत है। यहाँ अक्षर शब्द का अर्थ इस व्याख्या में जीवात्मा किया जाता है। भगवद्गीता में “कूटस्थोऽक्षर उच्यते” ऐसा कहा है। समुद्भव का अर्थ यहाँ अधिष्ठान करना चाहिए। इससे अर्थ होगा कि जीवात्मा से अधिष्ठित शरीर के द्वारा कर्म होते हैं।

वह सब प्राणियों में व्याप्त प्रवृत्ति यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है अर्थात् यज्ञमूलक है। यज्ञ ही इसका मूल है, या यज्ञ रूप कर्म का यह मूल है। दोनों ही प्रकार से कहा जा सकता है। इस प्रकार यज्ञ की अवश्य कर्तव्यता सिद्ध की गई और वह जीवात्माधिष्ठित कर्म का साधनभूत शरीर अन्न से ही पैदा होता है। फिर अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से इत्यादि चक्र ठीक बन जाता है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो उनके किसी अनुयायी द्वारा श्रीवल्लभाचार्य की टीका मुद्रित है उसमें ब्रह्म का अर्थ प्रजापति भी किया गया है, क्योंकि प्रजापति को भी ब्रह्म शब्द से श्रुतियों में कई जगह कहा जाता है। इससे अर्थ होगा कि कर्म प्रजापति से उत्पन्न होते हैं। प्रजापति ही अपनी प्रेरणा द्वारा मनुष्य आदि प्रजाओं से कर्म करवाता है। वह प्रजापति अक्षर अर्थात् कूटस्थ या अक्षर पुरुष में उत्पन्न होता है। जिस अक्षर पुरुष का वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में करने की हम कई बार प्रतिज्ञा कर चुके हैं वही आगे सर्वगत ब्रह्म शब्द से लिया गया। वह सर्वगत ब्रह्म यज्ञ में प्रतिष्ठित है। इसका तात्पर्य है कि सृष्टि के आरम्भ में पुरुष के अवयवों से ही ब्रह्मा ने यज्ञ किया था, यह भागवत आदि, पुराणों में वर्णन मिलता है। वल्लभसम्प्रदाय के ही प्रधान विद्वान् श्रीपुरुषोत्तमजी ‘गोस्वामी’ के नाम से जो व्याख्या मुद्रित हुई है उसमें “कर्म ब्रह्मोद्भव” इसका अर्थ किया गया है कि भगवदर्थ भगवान् के लिए कर्म करने से ब्रह्म अर्थात् भगवान् का समुद्भव अर्थात् प्रकटता हो जाती है। अथवा कर्मरूप यह संसार ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। “ब्रह्म अक्षर समुद्भवम्” इसका अर्थ बहुब्रीहि समास से ऐसा करना चाहिए कि अक्षर का समुद्भव ब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् से हुआ है। वह पुरुषोत्तम भगवान् नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अर्थात् यज्ञ भी पुरुषोत्तम भगवान् का ही एक रूप है। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्याएं इन पद्यों की प्राचीन टीकाओं में प्राप्त होती है। लोकमान्यतिलक के मत में भी पद्यों की व्याख्या प्रायः

श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार ही प्राप्त होती है। ब्रह्म शब्द से यहाँ प्रकृति का ही ग्रहण करना चाहिए, इस बात को उन्होंने अनेक प्रमाणों और युक्तियों से भी सिद्ध किया है। महाभारत में अन्यत्र भी ऐसे वर्णन आते हैं। वे ही प्रमाण रूप से उन्होंने उपस्थित किये हैं और युक्ति यह ही है कि ब्रह्म शब्द का वेद अर्थ करने से “सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्” यह आगे की उक्ति ठीक नहीं लगती। प्रकृति अर्थ करने से प्रकृति जन्य सम्पूर्ण जगत् यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है अर्थात् यज्ञ से ही उत्पन्न होता है तथा यज्ञ से ही पालित होता है। इस प्रकार यज्ञ शब्द से पूर्वोक्त व्यापक अर्थ का उन्होंने संकेत किया है। किन्तु वेदोक्त सम्पूर्ण यज्ञ प्रक्रिया का पूर्ण रूप से अर्थ समन्वय वे नहीं कर सके। श्रीरामानुजाचार्य ने ब्रह्म का अर्थ प्रकृति कर प्रकृति जन्य शरीर का जो यहाँ ग्रहण किया था वैसा तिलक ने नहीं किया। प्रकृति ही सब कर्मों का उद्भव स्थान है यही अर्थ वे मानते हैं और वह ब्रह्म अर्थात् प्रकृति, अक्षर पुरुष अर्थात् परब्रह्म से उत्पन्न है, ऐसा कहकर इस कार्य कारण परम्परा का परब्रह्म पर ही विश्राम उन्होंने मान लिया है। आगे पुनरावृत्ति रूप चक्र का वर्णन उन्होंने नहीं किया, उनके मत में कार्य कारण परम्परा बताना ही चक्र है। यह उनके व्याख्यान से सिद्ध होता है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार जो इन पद्यों की वैज्ञानिक रूप में व्याख्या होती है उसका भी दिग्दर्शन करा देना यहाँ उचित होगा। उनके मत का संक्षिप्त वर्णन हम प्रथमाध्याय में कर आये हैं कि वे अव्यय, अक्षर और क्षर नाम के तीन पुरुष मानते हैं। पुरुष में ज्ञान और कर्म दोनों भाग रहते हैं। उनमें कर्म भाग ही यज्ञ शब्द वाच्यार्थ है। अव्यय पुरुष से यज्ञ द्वारा ही अक्षर पुरुष और उससे यज्ञ द्वारा ही क्षर पुरुष का प्रादुर्भाव होता है। आगे भी सब सृष्टि यज्ञ से ही चलती रहती है जिसका कि संक्षिप्त वर्णन हम “सह यज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा” इत्यादि पद्य की व्याख्या में कर आये हैं और विशेष स्पष्टीकरण पन्द्रहवें अध्याय में तीनों पुरुषों के निरूपण में होगा। यहाँ उनके मतानुसार इस प्रकार व्याख्या है कि अन्न से भूत, पर्जन्य से अन्न इत्यादि जो कार्य कारण की परम्परा कही गई है वह सब कारण से कार्य की उत्पत्ति भी यज्ञ द्वारा ही समझना चाहिए। भूत शब्द का भी व्यापक अर्थ है। जड़चेतनात्मक सब दृश्य ही भूत शब्द के अर्थ में अनुप्रविष्ट है। ये सब भूत अन्न से होते हैं। इस का स्पष्टीकरण होगा कि जड़चेतनात्मक सब पदार्थों में से कुछ भाग प्राणरूप से बाहर जाता रहता है और उसकी पूर्ति के लिए कुछ भाग अन्य जगह से प्रत्येक पदार्थ को मिलता रहता है। यही गति और आगति अर्थात् अपने अंश का बाहर जाना और आये हुए पदार्थ से उसकी पूर्ति होना यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ है। इसी के कारण प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, और वह परिवर्तन जब प्रकट रूप में आ जाता है तब हम उस पदार्थ को ‘पुराना हो गया’ शब्द से कह देते हैं। वह बाहर से आया हुआ अंश ही प्रत्येक पदार्थ का अन्न है। उसी से वह पदार्थ स्थिर रहता है और नये नये



पदार्थों को उत्पन्न करता रहता है। यह नये पदार्थ की उत्पत्ति भी सर्वत्र होती रहती है। जैसा कि लोहा से किट्ट बन जाता है, काष्ठ से घुन बन जाता है। इस तरह सब भूतों की उत्पत्ति अन्न से ही होती है। वह अन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है। यहाँ पर्जन्य पद को उदाहरण मात्र समझना चाहिए। जिस प्रकार मेघ में वर्षा होकर पृथ्वी में नये नये पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार भिन्न भिन्न स्थानों को चन्द्रमा, सूर्य आदि से अन्न मिलकर नये नये भूतों की उत्पत्ति होती रहती है। अन्न से भूत अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति जो प्राचीन व्याख्याकारों ने लिखी है वह भी यज्ञ द्वारा ही समझनी चाहिए। हमारे जठर में स्थित वैश्वानर अग्नि में हम जो अन्न की आहुति नित्य देते हैं, उस अग्नि से उस सोमरूप अन्न में परिवर्तन होकर जो रस-रुधिर, माँस आदि बनते जाते हैं वह भी सब यज्ञ का ही प्रभाव है। अग्नि अपने से आहुत सोम में परिवर्तन कर उसे नये नये रूप देता है, यही यज्ञ है। वर्षा होकर उससे अन्न की उत्पत्ति होना भी यज्ञ प्रक्रिया के आधार पर ही है। क्योंकि पृथ्वी में स्थित अग्नि पर वर्षा के जल की आहुति होकर ही सब तृण औषधि आदि की उत्पत्ति होती है। यह सब यज्ञ प्रक्रिया प्रकृति ही चलाती रहती है। इसलिए इन सब को प्राकृत यज्ञ कहा जा सकता है। वह पर्जन्य अर्थात् मेघ भी प्रधान भूत, यज्ञ से ही उत्पन्न होता है। सूर्य किरणों के आकर्षण द्वारा समुद्र आदि जलाशयों का जल रूप सोम जो खींच कर ऊपर छाता है वही घनीभूत होकर मेघ रूप में परिणत हुआ करता है। जब तक वह सूक्ष्म रूप में किरणों में व्याप्त रहता है तब तक उसे सूर्य किरणों का गर्भधारण कहा जाता है। वही जब घनीभूत हो जाता है तो वायु द्वारा विश्लेषण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है। मनुस्मृति आदि में “आहुत्याप्यायते सूर्यः” इस आहुति का भी यह अभिप्राय है। यदि मनुष्य कृत यज्ञ में जो आहुति होती है उसी से अभिप्राय होता तो वर्तमान युग में जब अग्निहोत्र व दर्शपूर्णमास यज्ञादि अति विरल हो गए हैं तब वृष्टि अत्यल्प होनी चाहिए थी। किन्तु प्रकृति द्वारा यज्ञ तो बराबर होता ही रहता है, इसलिए वृष्टि आदि कार्य भी यथावत् चलते रहते हैं। हाँ यह अवश्य है कि इस प्राकृत यज्ञ की सहायता करने के लिए या उस प्राकृत यज्ञ को यदि किसी देशकाल में वह अपने या अपने देश के विपरीत होता हो तो उसमें परिवर्तन कर उसे अपने अनुकूल बना लेने के लिए मनुष्यों में द्विजातियों को भी जो कि उस विद्या को जानते हैं उन्हें भी यज्ञ करने की शास्त्र ने विशेष रूप से आज्ञा दी है। जैसा कि किसी देश में किसी समय प्राकृत यज्ञ द्वारा अवृष्टि होने का अवसर हो तो कार्यवृष्टि के द्वारा वहाँ वृष्टि करा दी जाय। इसी प्रकार की अतिवृष्टि का प्रसंग हो तो अपने यज्ञ द्वारा वहाँ समभाव से ही वृष्टि को सम्भव कर दिया जाय। मनुष्य कृत यज्ञ की प्रथा आजकल विलुप्त या अत्यल्प रह जाने के कारण कहीं अतिवृष्टि और कहीं अवृष्टि का भय अधिक मात्रा में देखा जाता है। प्रकृत में भगवान् ने उस प्राकृत यज्ञ का ही संकेत किया है। वह यज्ञ कर्म से होता है। यहाँ

कर्मपद से अभिप्राय उस मूल तत्त्व रूप कर्म से है जो जगत् का आदि कारण है। रस और बल नाम के मूल दो तत्त्व जगत् के उत्पादक माने गए हैं, उनमें बल का परिणाम ही कर्म है और वही यज्ञ रूप में परिणत होकर जगत् चक्र का उत्पादन व पालन करता है। वह कर्म ब्रह्ममय ही उद्भूत होता है। अर्थात् सदा ब्रह्मावर्त्त ही रहता है। कभी स्वापदशा में और कभी प्रकट दशा में। उसका अभाव नहीं होता वह भी ब्रह्म की तरह शाश्वत ही है। यहाँ ब्रह्म पद का अभिप्राय क्षर पुरुष से है। क्योंकि अक्षर को आगे उसका भी कारण बतलाया है। क्षर पुरुष कर्म प्रधान ही है, और उसी में पूर्वोक्त बल क्रिया रूप में प्रकट होता है। इस अभिप्राय से कर्म को ब्रह्म समुद्भव अर्थात् क्षर पुरुष में प्रकट होने वाला कहा गया। वह क्षर पुरुष अक्षर पुरुष से प्रादुर्भूत होता है। इस प्रकार इस कार्य कारण की परम्परा का विश्राम आदि भूत अक्षर पुरुष पर ही जाकर होता है। अक्षर से क्षर, उससे कर्म, उससे यज्ञ, उससे पर्जन्य, उससे अन्न और अन्न द्वारा भूतों की उत्पत्ति, पूर्वोक्त रूप में यह चक्र सदा चलता रहता है या अक्षर पुरुष ही स्वयं क्षरित अर्थात् नाशवान् न होता हुआ भी जिस प्रकार क्षर पुरुष द्वारा सब भूतों को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार कर्म को प्रादुर्भूत करता हुआ उसकी परम्परा रूप यज्ञ को भी चलाता है। कार्य कारण की परम्परा रूप चक्र जो यहाँ बतलाया गया वह अक्षर पुरुष से ही चलता है। अक्षर पुरुष ज्ञान कर्ममय है। उसके कर्मयोग से ही प्रपञ्च की सृष्टि होती है। उसका प्रादुर्भाव जिस अव्यय पुरुष से होता है वह तो कार्य कारण परम्परा से उदासीन रहता हुआ केवल आलम्बन मात्र है। किन्तु आलम्बन व आधार होने से उसी को सब का कर्त्ता धर्त्ता माना जाता है। जैसा कि सप्तमाध्याय से आगे भगवान् अपने स्वरूप व्याख्यान में स्पष्ट करेंगे। इन पुरुषों का स्फुट रूप से व्याख्यान पन्द्रहवें अध्याय में किया जायगा। इसी कारण सर्वत्र उस अक्षर पुरुष को यहाँ यज्ञ में ही प्रतिष्ठित बतलाया गया है। यज्ञ द्वारा ही संसार उत्पन्न और पालित होता है एवं संसार में ही प्रतिष्ठित हम उस अक्षर पुरुष को जान सकते हैं। इस प्रकार इस चक्र को जानकर जो उसका अनुवर्त्तन नहीं करता अर्थात् स्वयं भी शास्त्रोक्त कर्म करता हुआ उस यज्ञ के परिचालन में सहयोग नहीं देता उसका जीवन व्यर्थ है। वह पापी योनियों में ही चक्कर काटता हुआ सदा इस चक्र में ही घूमता रहता है। इस चक्र से उद्धार नहीं पा सकता। अर्थात् मुक्ति का भी भागी वह नहीं होता। इसलिए कर्म की आवश्यकता का उपदेश यही भगवान् ने “यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र” से आरम्भ कर यहाँ तक दिया कि जगत् चक्र रूप यज्ञ के निर्वाह के लिए प्रत्येक पुरुष को कर्म अवश्य करना चाहिए और वह केवल अपनी बुद्धि से विचार कर नहीं, किन्तु शास्त्रोक्त मार्ग से ही करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि अस्थिर होती है, वह कभी विपरीत ज्ञान भी करा देती है। विपरीत ज्ञान से यदि कर्म किया जायगा तो वह विपरीत ही फल उत्पन्न

करेगा। इसलिए शास्त्रानुसार और कर्म के साथ सङ्ग अर्थात् आसक्ति न रखते हुए केवल संसार चक्र परिचालन रूप यज्ञ के लिए जो कर्म किया जायगा वह कभी बन्धन में डालने वाला नहीं होगा। अपितु बुद्धि को स्वच्छ करता हुआ मुक्ति का कारण बनेगा। इसलिए तुम्हें कर्म संन्यास की ओर ध्यान न देकर कर्ममार्ग में ही प्रवृत्त रहना चाहिए और तुम्हारे लिए जो शास्त्र विहित कर्म युद्ध है वह अवश्य करना चाहिए। युद्ध न करने से जगत् चक्र परिचालन में जिस प्रकार बाधा उपस्थित होगी उसका विवरण हम “यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र” श्लोक की व्याख्या में कर आये हैं। (१६)



## उनचासवाँ-पुष्प

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।

आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (१७)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ (१८)

तस्मादसक्त सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ (१९)

अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने कहा था कि मैंने दो प्रकार की निष्ठा बतलाई है। सांख्य मार्ग वालों की ज्ञानयोग से, और कर्मयोग वालों की कर्मयोग से। इस प्रकार दो विभाग बतलाकर कर्मयोग की निष्ठा का ही वर्णन आरम्भ कर दिया और यहाँ तक कर्मयोग की उचितता पर ही पूरा बल दिया। अब प्रश्न यह होता है कि सब दशाओं में कर्म करना ही आप आवश्यक समझते हैं तो फिर सांख्य मार्ग या ज्ञानयोग निष्ठा आपने किनके लिए बतलाई। इस प्रश्न का उत्तर देने को भगवान् सांख्य मार्ग या ज्ञानयोग निष्ठा के अधिकारी का निरूपण संक्षेप में करते हैं कि जो पुरुष केवल आत्मरत हो गया, अर्थात् आत्मानन्द का ही सदा अनुभव करता है, उसी से रमण अर्थात् आनन्द भोग करता रहता है और आत्मा में ही तृप्त रहता है, अर्थात् अपनी तृप्ति के लिए बाह्य विषयों की उसे कोई आवश्यकता नहीं रहती, वह अपने आप ही तृप्त रहता है। जब आवश्यकता न हो तो स्वयं ही तृप्ति का अनुभव होता रहता है। आवश्यकता ही विषयों की ओर प्रवृत्ति कराती है। आवश्यकता जिसे नहीं है वह तो स्वयं ही तृप्त है। इसके अतिरिक्त उसे अपने सन्तोष के लिए भी किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। वह आत्मा में अर्थात् अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है। ऐसे पुरुष के लिए कोई कर्तव्य नहीं है। अर्थात् जगच्चक्र रूप यज्ञ जो पूर्व श्लोकों में बतलाया है वह चले या न चले, इससे उसे कोई प्रयोजन नहीं। इसलिए यज्ञार्थ कर्म करना भी उसे आवश्यक नहीं है। (१७)

ऐसे पुरुष को कर्म करने से कोई लाभ नहीं, और बिना किए उसे कोई हानि नहीं। इससे यह सूचित करते हैं कि नित्य-नैमित्तिक कर्म न करने से जो संसारी पुरुषों को दोष लगता है, जिसे शास्त्र में अकरणजन्य प्रत्यवाय कहा गया है वह उसे नहीं लगता। कर्म का अधिकारी यदि कर्म करे तो उसे प्रत्यवाय अर्थात् पाप होता है। किन्तु वह ज्ञानी पुरुष तो कर्म के अधिकार से ही बाहर हो चुका इसलिए उसे कोई प्रत्यवाय नहीं लगता। कदाचित् कहो कि पूर्व जो भूतोत्पत्ति आदि का चक्र बतलाया गया है उसके लिए तो उसे भी कर्म करना आवश्यक ही होगा तो इसके लिए उत्तरार्ध में कहते हैं कि उसे ब्रह्मा से लेकर तृण-पर्यन्त प्राणियों से अथवा आकाश पृथ्वी से

भी कोई प्रयोजन लेना देना नहीं। वह किसी का व्यापाश्रय अर्थात् आधार नहीं रखता। उसके लिए सब बराबर हैं। उसे किसी से कुछ लेना देना नहीं, इसलिए चक्र भी चले या न चले इसकी भी उसे चिन्ता नहीं है, कहीं व्याख्या में कृत अकृत शब्दों को मित्र अमित्र शब्दों की तरह परस्पर विरुद्ध अर्थ के वाचक मानकर यह अर्थ भी माना है कि उसे पाप या पुण्य कुछ नहीं होता। वह कृतकृत्य हो चुका, अब उसे और कुछ भी संसार से लेना देना नहीं है। (१८)

इन दो श्लोकों से पूर्वोक्त सांख्य मार्ग के अधिकारी का निरूपण किया गया। ऐसा ही पुरुष सांख्यमार्ग का अर्थात् केवल ज्ञानयोग का अधिकारी होता है। यही बात “यस्तु” इस “तु” पद से सूचित की गई है। तु पद वहीं प्रयुक्त होता है जहाँ पूर्व प्रकरण से कोई नई बात कहनी हो। अब तक कर्मयोग का ही प्रतिपादन चौथे श्लोक से यहाँ तक किया गया है। अब आगे ज्ञानयोग का अधिकारी कहना था इसलिए यहाँ “तु” पद देकर पूर्वप्रकरण से विच्छेद का संकेत कर दिया गया। अर्थात् “जो तो ऐसा ज्ञानी है” उसे कर्म की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार प्राचीन व्याख्याकार इन दो श्लोकों से सांख्यमार्ग के अधिकारी का ही निरूपण मानते हैं। उसे किसी कर्म से प्रयोजन नहीं है, इसलिए उसे भगवान् संन्यास मार्ग का ही अधिकारी कहते हैं। भक्तिमार्ग के व्याख्याता भी इन श्लोकों से यह तात्पर्य निकालते हैं कि वह सब कर्म छोड़कर केवल भगवत् प्रेम में लीन हो जाय।

किन्तु लोकमान्यतिलक ऐसा नहीं मानते। उनकी युक्ति है कि आगे के श्लोक में जो “तस्मात्” पद आया है, जिसका तात्पर्य है कि इसलिए तुमको भी असक्ति होकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए, उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं जुड़ता। पूर्व श्लोकों में यदि कर्मसंन्यास बतला दिया जाता तो इसलिए तुम्हें कर्म करना चाहिए इसका सम्बन्ध कैसे हो सकता था। श्रीशंकराचार्य आदि व्याख्याकारों ने यह तात्पर्य लगाया है कि ऐसे आत्मरत ज्ञानी पुरुष को ही संन्यास मार्ग का अधिकार है। तुम अभी वैसे नहीं हो इसलिए तुम्हें कर्मयोग के द्वारा पहले अपनी चित्त शुद्धि ही करनी चाहिए। किन्तु तिलक का मत है कि ऐसा अर्थ करने में ‘तस्मात्’ पद को लगाने के लिए “तुम ऐसे नहीं हो” इस अर्थ का या इसके वाचक पद का अध्याहार करना पड़ेगा। इसलिए वह अर्थ स्वारसिक नहीं रहता। स्वारसिक अर्थ वही होता है जो बिना किसी अध्याहार के सीधा ही पदों से प्रकाशित होता हो। इसके अतिरिक्त आगे के पद्यों में जो भगवान् ने जनक आदि का दृष्टान्त दिया है वह भी उपपन्न नहीं होगा। क्योंकि राजर्षि जनक तो परम ज्ञानी थे यह सब पुराण आदि में प्रसिद्धि है। उनका किसी से कुछ लेना देना नहीं था। उनका यह वाक्य प्रसिद्ध है कि—

“मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते।”

अर्थात् सम्पूर्ण मिथिला भी यदि जल जाय तो मेरा क्या जला? अर्थात् मैं ममत्व रहित हूँ। मेरा कुछ है ही नहीं। तब सब मिथिला के जल जाने पर भी मेरी क्या हानि होगी? इस प्रकार के परम ज्ञानी जनक भी कर्म करते थे यह दृष्टान्त आगे के पद्य में भगवान् ने दिया है। यही क्यों, आगे चलकर वे अपना भी दृष्टान्त देते हैं कि मुझे तो कर्म करके कुछ भी लेना नहीं है। फिर भी मैं कर्म करता ही रहता हूँ। यदि प्रयोजन होने से इन श्लोकों में कर्म संन्यास का ही प्रतिपादन मान लिया जाय तो इन दृष्टान्तों की कोई संगति नहीं बैठती। इसके अतिरिक्त लोकमान्य तिलक ने इसके समान ही योगवासिष्ठ और गणेशगीता के भी श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें यह स्पष्ट किया गया है कि ऐसे ज्ञानी पुरुष को न कर्म करने से कोई लाभ है, और न करने से कोई हानि ही है। अर्थात् कर्म करना न करना सब उसके लिए समान ही है तो फिर कर्म करने का ही हठ क्यों किया जाय? यही क्यों न माना जाय कि उसके लिए कर्म करना न करना समान है। तो भी यह शास्त्र मर्यादा पालन के लिए शास्त्रोक्त कर्म करता ही रहे। योगवासिष्ठ का वह पद्य जो श्रीतिलक ने यहाँ उद्धृत किया है वह इस प्रकार है—

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैः नार्थः कर्मसमाश्रयैः ।

तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ ॥

इसका अर्थ है कि ऐसे ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ देने से भी कोई लाभ या हानि नहीं और कर्म करने से भी कोई लाभ या हानि नहीं, तब वह अपना पूर्वाभ्यास सिद्ध कर्म जैसा करता था वैसा ही करता रहे। अर्थात् प्रारब्ध कर्म की समाप्ति तक शरीर धारण तो उसे करना ही पड़ेगा। यह वेदान्त दर्शन में स्पष्ट माना गया है कि पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी जिन प्रारब्ध कर्मों से यह शरीर बना है वे कर्म जब तक समाप्त न हों तब तक यह शरीर बना ही रहेगा। प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर शरीर छूट कर उसे विदेह कैवल्य प्राप्त होगा। इसमें चक्रभ्रमी का दृष्टान्त भी वहाँ दिया जाता है कि जैसे कुम्भकार ने अपना चक्र चलाते समय जितना बल लगा दिया उसके चक्र रोक देने पर भी वह बल जब तक समाप्त न हो तब तक चाक घूमता ही रहेगा। आजकल तो इसका दृष्टान्त और स्पष्ट रूप से हमें प्राप्त होता है कि बिजली के करेन्ट से जो पंखा घूमता है करेन्ट बन्द कर देने पर भी जितना करेन्ट पंखे में प्रविष्ट हो चुका उतने क्षण तक पंखा घूमता ही रहेगा। इस प्रकार जब प्रारब्ध कर्म की समाप्ति तक शरीर धारण करना ज्ञानी के लिए भी आवश्यक ही है और जब तक शरीर धारण करेगा तब तक उसके उपयोगी भोजन, पान, शयन आदि कर्म भी उसे करते ही रहना होगा, तब फिर अन्य शास्त्रोक्त नित्य नैमित्तिक कर्मों के छोड़ देने का ही आग्रह क्यों? वह भी कर्म करता रहे, इससे इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य में लगी रहेंगी। गणेश गीता का भी यह श्लोक श्रीतिलक ने उद्धृत किया है—

किञ्चिदस्य न साध्यं स्यात् सर्वजन्तुषु सर्वदा ।

अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः ॥

इसका भी अर्थ यही है कि किसी प्राणी से ज्ञानी पुरुष को कुछ भी साधन नहीं करना, इसलिए वह बिना आसक्ति के कर्म करता ही रहे। स्पष्ट है कि अठारहवें पद्य से इसका आशय सर्वदा मिलता है। वहाँ लाभ, हानि न होने पर कर्म करना ही जब स्पष्ट कहा है तब इन सब वचनों के साथ एकवाक्यता करने के लिए गीता का भी यही आशय लगाना चाहिए कि यद्यपि उसे कर्म करने, या न करने से कोई लाभ या हानि नहीं है, तथापि पूर्वाभ्यास के अनुसार वह कर्म करता रहे यही उचित है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने भी इन पद्यों का “शीर्षककाण्ड” में यही शीर्षक दिया है कि—

उपेक्षाबुद्धिसहकृतकर्मणामनासक्तिकृतत्वादबन्धनत्वाददुष्टत्वम्! आत्मा-  
रामस्यात्मपरायणस्य विषयानासक्तस्य बहिर्लोकयात्रायामुपेक्षाबुद्धौ, अपेक्षा  
बुद्धिमूलकसंस्कारोदयासंभवाद् बन्धनस्यात्मज्ञानौपयिकस्य कर्मणः  
परित्यागानौचित्यम् ।

इसका भी तात्पर्य यही है कि उपेक्षा बुद्धि से जो कर्म किये जायँ उनमें आसक्ति नहीं होती। क्योंकि आसक्ति का कारण अपेक्षा बुद्धि ही है। अनासक्ति अर्थात् बिना लगन के किए हुए कर्मबन्धक नहीं होते। इसलिए उन कर्मों को दूषित नहीं कहा जा सकता। जो पुरुष आत्मा में ही रमण करता है अर्थात् आत्मज्ञान का ही परम आनन्द जिसे प्राप्त हो चुका है उसकी बाहर की लोक यात्रा में उपेक्षा बुद्धि ही रहती है। इसलिए उसे कोई कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते। क्योंकि कर्म के बन्धन में अपेक्षा बुद्धि ही कारण है। जब कि उसे किया हुआ कर्म भी बन्धन में नहीं डालेगा तब कर्म छोड़ने का ही आग्रह क्यों करे? शरीर यात्रार्थ कर्म जिस प्रकार करता है उसी प्रकार शास्त्रोक्त नित्य नैमित्तिक आदि कर्म भी करता रहे। परित्याग करना अनुचित ही है। इस प्रकार विद्यावाचस्पतिजी भी कर्मसंन्यास इन पद्यों का प्रतिपाद्य नहीं मानते यही सिद्ध होता है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह होगा कि यदि गीता में सिद्धावस्था में भी कर्म संन्यास का कहीं प्रतिपादन नहीं किया तो पञ्चमाध्याय के आरम्भ में यह अर्जुन का प्रश्न कैसे बनेगा कि आप कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों कहते हैं। एक बात ही निश्चय करके कहिए जिससे मेरा कल्याण हो। इस प्रश्न से यही स्पष्ट होता है कि तीसरे और चौथे अध्याय में भी भगवान् ने कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों का ही अधिकार भेद से प्रतिपादन किया है। इसलिए यही मानना उचित होगा कि पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी अपनी रुचि के अनुसार मेरे दोनों ही मार्ग नियत हैं। कोई जनक आदि की तरह उस

अवस्था में भी कर्म करते रहते हैं। कोई श्रीशुकदेवजी आदि की तरह सर्वथा कर्म छोड़ देते हैं। लोकयात्रार्थ कर्मों का तो संन्यासमार्ग वाले भी निषेध नहीं करते। इसलिए इन पद्यों को यदि कर्मसंन्यास में भी प्राचीन व्याख्याताओं की तरह आश्रय मान लिया जाय तो भी कोई क्षति नहीं है। अर्जुन को भगवान् ने कर्मयोग का ही उपेदश दिया यह तो सभी व्याख्याकार मानते ही हैं। क्योंकि अर्जुन अभी तक सिद्धावस्था प्राप्त नहीं कर सका था। इस प्रकार श्लोक का प्राचीन व्याख्याताओं के अनुसार यह अर्थ है कि संन्यास मार्ग या ज्ञानयोग उनके लिए है जो कि केवल आत्मा में ही तृप्त और सन्तुष्ट होकर संसार से सर्वथा उपेक्षा कर चुके हैं तुम अभी वैसी अवस्था में नहीं पहुँचे हो। इसलिए तुम अनासक्त होकर अपने कर्तव्य वर्णाश्रमोचित कर्मों को करते रहो। अनासक्ति पूर्वक कर्म करते रहने से मनुष्य परमप्राप्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। उसे मोक्ष प्राप्ति में अनासक्त कर्मों के कारण कोई बाधा नहीं होती। श्रीतिलक के अनुसार इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी कि पूर्व पद्यों के कथनानुसार ज्ञानी पुरुष को अनासक्त होने के कारण कर्मबन्धन में नहीं डालते इसलिए तुम भी अनासक्त होकर अपने कर्तव्य कर्म करते रहो। अनासक्त कर्म करने से पुरुष परमप्राप्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी भी ऐसा ही अर्थ मानते हैं। मोक्ष प्राप्ति प्राचीन व्याख्याताओं के मतानुसार चित्तशुद्धि होकर ज्ञानप्राप्ति पूर्वक संन्यास से होगी, और लोकमान्यतिलक के मतानुसार इस कर्मयोग से ही व्यवसायात्मक बुद्धि पूर्ण पुष्ट हो जाने पर मोक्ष प्राप्ति हो जायगी। मध्य में कर्मसंन्यास की आवश्यकता न होगी। आगे के—

**“कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः”**

इस अर्थ श्लोक को भी श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इसी के साथ जोड़ा है। इसका अर्थ यही होगा कि जनक आदि राजर्षियों ने कर्म से ही सिद्धि प्राप्त की थी। इस प्रकार जनकादि का दृष्टान्त देकर यह यज्ञार्थ कर्म करने का प्रकरण पूर्ण कर दिया गया। अब आगे लोकसंग्रह के लिए कर्म करने का प्रकरण आरम्भ होता है। तात्पर्य यही है कि जब फल की कोई इच्छा ही न हो तो कोई भी पुरुष कर्म क्यों करेगा? क्योंकि लोक में तो यही देखा जाता है कि फल की इच्छा से ही कर्म करने की भी इच्छा होती है, न्याय शास्त्र में भी फलेच्छा को उपायेच्छा के प्रति कारण माना जाता है अर्थात् जैसे कोई मनुष्य पहिले भोजन की इच्छा करता है तब उस इच्छा के द्वारा ही उसे रसोई बनाने की भी इच्छा होती है। उस इच्छा से आत्मा में प्रयत्न आरम्भ होकर शरीर, वाणी आदि की चेष्टा होने लगती है। जब पहले फल की इच्छा ही नहीं होगी तो उपाय की इच्छा भी क्यों होगी? और आत्मा में प्रयत्न भी उत्पन्न न होगा तो शरीर आदि की चेष्टा



ही क्यों होगी, और कोई भी काम कैसे किया जायगा? इस प्रश्न का उत्तर गीता में दो प्रकार से दिया गया है, एक तो यज्ञ अर्थात् संसार चक्र के परिचालन के उद्देश्य से कर्म करना चाहिए, स्वार्थ बुद्धि से नहीं। और दूसरा उत्तर यही दिया जायगा कि लोकसंग्रह के लिए बिना स्वार्थ बुद्धि के भी कर्म करना चाहिए। लोक संग्रह की व्याख्या अग्रिम पद्यों में की जाएगी।



## पचासवाँ-पुष्प

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥ २०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ २१॥

प्रथम श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ प्रसङ्गतः पूर्व श्लोक की व्याख्या में लिखा जा चुका है कि जनक आदि राजर्षियों ने कर्म से ही सिद्धि प्राप्त की थी। अर्थात् उन्होंने सिद्धि प्राप्त करने के लिए भी कर्म त्याग नहीं किया, और सिद्धि अर्थात् पूर्ण ज्ञान निष्ठा प्राप्त हो जाने पर भी वे अनासक्त रूप से कर्म करते ही रहे। यहाँ क्षत्रिय जनक का दृष्टान्त देने के कई व्याख्याकार ऐसा भी प्रसंग उठाते हैं कि क्षत्रिय वैश्य को संन्यास का अधिकार नहीं है। श्रुति में भी संन्यास के विधान में ब्राह्मण पद आया है और कई स्मृतियों में भी ऐसा स्पष्ट कहा गया है कि ब्राह्मण के लिए चारों आश्रम हैं। क्षत्रिय के लिए वानप्रस्थान्त तीन, वैश्य को दो, और शूद्र के लिए एकमात्र गृहस्थाश्रम ही है! उन व्याख्याकारों के अनुसार इस पूर्वार्ध का व्याख्यान इस प्रकार होगा कि पूर्व श्लोकों में जब यह अभिप्राय भगवान् ने व्यक्त किया कि पूर्ण ज्ञानी हो जाने पर ही कर्म संन्यास होता है, तुम अभी वैसी स्थिति में नहीं हो इसलिए कर्म मत छोड़ो। इस पर अर्जुन के मन में यह शंका हुई कि मैं पूर्ण ज्ञानी अभी न हुआ सही किन्तु जिज्ञासु तो हूँ। अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा तो है। उस इच्छा में भी कर्म प्रतिबन्धक होंगे। इसलिए मुझे भी कर्म छोड़ ही देने चाहिए। इस अभिप्राय को समझ कर भगवान् पूर्व के राजर्षियों का दृष्टान्त दिखाते हैं कि जनक आदि राजर्षियों ने ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी कर्म नहीं छोड़े। तथा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी कर्म त्याग नहीं किया। तुम भी क्षत्रिय हो, इसलिए तुम्हें भी उनका ही अनुकरण करना चाहिए। अर्थात् वर्णाश्रमोचित कर्म करते हुए ही ज्ञान प्राप्ति का यत्न करो। कर्म छोड़ने का विचार मत करो। कुछ व्याख्याकारों ने ऐसा भी प्रसङ्ग उठाया है कि संन्यास के चिह्न दण्ड, कषाय आदि धारण करना ही क्षत्रिय के लिए निषिद्ध है। वैराग्य हो जाने पर कर्म त्याग तो जड़ भरत आदि क्षत्रिय भी करते ही आये हैं और वार्तिककार ने स्पष्ट लिखा है कि क्षत्रिय आदि भी संन्यास ले सकते हैं। कई व्याख्याकार वार्तिककार की उस उक्ति को प्रौढ़वाद मात्र कहते हैं। यह सब प्रसङ्ग यहाँ अप्रस्तुत सा है। हम पूर्व कह आये हैं कि दोनों ही मार्गों में शिष्टों के (शिष्ट पुरुषों के) दृष्टान्त हैं। श्रीशुकदेव जी आदि ने विरक्त हो जाने पर कर्म परित्याग किया। और जनकादि पूर्ण ज्ञानी होने पर भी कर्म करते ही रहे। भगवान् अर्जुन को कर्मयोग में ही प्रवृत्त करना चाहते हैं इसलिए उस मार्ग के जनक आदि का दृष्टान्त उपस्थित किया, यही यहाँ सीधा व्याख्या मार्ग है। क्षत्रिय के अधिकार-

अनाधिकार की बात उठाना यहाँ प्रस्तुत प्रतीत नहीं होता। सिद्धि शब्द के अर्थ में भी व्याख्याकारों का मतभेद है। कई व्याख्याकार ज्ञान निष्ठा प्राप्त कर लेना ही सिद्धि शब्द का अर्थ मानते हैं। अर्थात् जनक आदि ने कर्मयोग के द्वारा ही ज्ञान-निष्ठा प्राप्त की और कई व्याख्याकार सिद्धि शब्द का अर्थ मोक्ष ही मानते हैं और “कर्मणा” इस तृतीया विभक्ति को सहार्थ में मानते हैं। अर्थात् जनक आदि ने कर्म के साथ ही मोक्ष प्राप्त किया। अर्थात् मोक्ष पर्यन्त कर्म नहीं छोड़े। लोकमान्य-तिलक दूसरे पक्ष में ही हैं। उनका सिद्धान्त यही है कि पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी कर्म नहीं छोड़ना यही भगवान् का उपदेश है।

उत्तरार्द्ध से दूसरा प्रकरण आरम्भ होता है। कर्म करने में एक कारण कह चुके कि जगत् की रक्षा के लिए यज्ञ चक्र चलाना आवश्यक है। इसलिए कर्म करना ही चाहिए। यज्ञार्थ किया हुआ कर्म बन्धन में डालने वाला नहीं होता। अब कर्म करने का दूसरा कारण बतलाना आरम्भ करते हैं कि लोक संग्रह पर दृष्टि-पात करते हुए भी कर्म करते रहना आवश्यक है। उत्तरार्द्ध में जो “अपि” शब्द आया है वही प्रकरण विभाग को सूचित करता है। अर्थात् लोक संग्रह को देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए। यहाँ लोक-संग्रह शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि लोकों की कुमार्ग में प्रवृत्ति का रोकना ही लोकसंग्रह है। श्रीरामानुजाचार्य ने लोकसंग्रह का अर्थ लोक-रक्षा किया है। महाभारत के टीकाकर श्रीनीलकण्ठजी सब लोगों को स्वधर्म में प्रवृत्त करना ही लोकसंग्रह मानते हैं। श्रीविद्यावाचस्पतिजी कहते हैं कि विद्वान् से लेकर अपठित तक सब प्रकार के लोगों की स्थिति का निर्वाह ही लोक-संग्रह है। अभिप्राय सबका एक ही है, भिन्न-भिन्न शब्दों में उसे व्यक्त किया गया है।

संग्रह शब्द का अर्थ है इकट्ठा करना। इसका प्रकृत में अभिप्राय होगा कि सब लोगों को इकट्ठा करना, अर्थात् अपने साथ चलाना। ज्ञानी पुरुष का यह भी कर्तव्य है कि वह अन्य लोगों को भी अपने आचरण द्वारा शिक्षा देकर अपने साथ चलावे। केवल अपने आप ही सिद्धि प्राप्त कर गया औरों की कोई परवाह नहीं, ऐसा स्वार्थ विचार उसे नहीं करना चाहिए। अपितु सब लोग ही अपने अपने अधिकारानुसार चलते हुए सिद्धि प्राप्त करें ऐसी सर्वहित में प्रवृत्ति रखना ही ज्ञानी का मुख्य कर्तव्य है। वह जैसे अपने आप सुधरा इसी प्रकार औरों को भी सुधारे। यही सच्चा ज्ञानीपन है। औरों का सुधारना केवल वाणी से उपदेश देकर ही पूरा नहीं होता अपितु अपने आचरण द्वारा सबको शिक्षा देना ही सच्चा सुधार करना है। यही अभिप्राय आगे के पद्य में स्पष्ट किया गया है कि जो जाति कुल वा विद्या में श्रेष्ठ अर्थात् सबसे उच्च श्रेणी का माना जाता है, वह जैसा आचरण करता है उसी के अनुसार इतर जन अर्थात् साधारण पुरुष भी आचरण किया करते हैं। धर्म के लक्षणों में स्मृतिकारों ने श्रुति-स्मृति के समान सदाचार को भी प्रमाण माना है। श्रुति-स्मृति का भी जैसा अभिप्राय श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष ने समझा वैसा ही उसके

कथनानुसार सर्वसाधारण जनता समझती है। यही बात द्वितीय श्लोक के उत्तरार्द्ध में कही गई है कि श्रेष्ठ पुरुष जिसको प्रमाण मानता है सब लोग उसी का अनुवर्तन करते हैं। अर्थात् उसी के साथ चलते हैं। इससे सर्वसाधारण के लिए श्रेष्ठ पुरुष का विचार अर्थात् सदाचार ही धर्म निर्णय का मुख्य साधन है। यह सूचित किया। श्रुति और स्मृति का क्या अभिप्राय है यह विषय भी सर्वसाधारण के लिए गूढ़ है। सब लोग श्रुति-स्मृति शास्त्रों का अभिप्राय नहीं समझ सकते।

उनके लिए धर्म-निर्णय का मुख्य द्वार यही रहता है कि जो जाति कुल या विद्या में श्रेष्ठ माने जाते हैं उनके कथन और आचरण से शिक्षा प्राप्त करें।

इस कथन से भगवान् का अभिप्राय यही है— कि तुम उत्तम कुल के और विद्वान् होने के कारण श्रेष्ठ माने जाते हो। यदि तुम इस प्रकार धर्माचरण के अवसर पर भी अपना धर्म छोड़ दोगे तो तुम्हारा अनुकरण कर और अन्य साधारण लोग भी समय पर अपने धर्म का आचरण छोड़ने लगेंगे। और इससे समाज में एक प्रकार का विप्लव हो जायगा। मान लो कि सर्वसाधारण लोग यही समझ लें कि युद्ध करना बुरा है इसमें अपने पराये का ध्यान न रखकर मार-काट करनी पड़ती है और इससे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। इसलिए युद्ध नहीं करना चाहिए। तो इसका परिणाम क्या होगा? यही कि दुष्ट-उदण्ड लोगों को भय न रहेगा और वे यथेच्छाचार कर समाज को सताने लगेंगे। शिष्ट लोग उन्हें दण्ड देंगे नहीं। तब समाज में कितना विप्लव फैल जायगा और समाज एक प्रकार से उच्छृङ्खल होकर पतन की ओर आगे बढ़ने लगेगा। तुम अपने धार्मिक उच्च विचारों के कारण युद्ध छोड़ रहे हो यह बात सबकी समझ में न आयेगी, वे सामान्यतः युद्ध को बुरा समझने लगेंगे और समाज में अव्यवस्था हो जायगी। इसलिए ज्ञानी पुरुष का भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि सर्वसाधारण को सन्मार्ग की शिक्षा देने के लिए अपने आप अपने धर्म से विमुख न हो स्वधर्माचरण अवश्य ही करता रहे।

इस प्रकार आसक्ति छोड़कर केवल लोकसंग्रह की दृष्टि से किया हुआ कर्म बन्धन में नहीं डालता। बन्धन में डालनेवाली आसक्ति होती है। अनासक्ति अर्थात् उपेक्षा बुद्धि से किया हुआ कर्म बन्धन में नहीं डालता।

लोकमान्यतिलक इस प्रकार की प्राचीन व्याख्या में यह दोष देते हैं कि इससे तो सिद्ध होगा कि भगवान् ढोंग सिखाते हैं। मन में कुछ और हो और आचरण और प्रकार का किया जाय यह तो ढोंग हुआ। इसलिए लोकसंग्रह का अर्थ वे और ही प्रकार का करते हैं। लोक शब्द केवल मनुष्य का ही वाचक नहीं, यह व्यापक शब्द है। इसमें देवता, पितृ आदि मनुष्य योनि से ऊपर के प्राणी और पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि मनुष्य योनि से नीचे के प्राणी भी समाविष्ट हो जाते हैं। इन सबका संग्रह अर्थात् रक्षा करना ज्ञानी पुरुष का आवश्यक कर्तव्य है। क्योंकि ज्ञान से वह एकात्मभाव पर पहुँच चुका है। जब सब जगत् में एक आत्मा ही व्यापक है तब जिस प्रकार हम अपने शरीर

की रक्षा का प्रयत्न करते हैं इसी प्रकार एकात्मभाव जानने वाले को सब जगत् के प्राणियों की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है। इसी बुद्धि से अर्थात् सब जगत् के प्राणियों के पालन-पोषण आदि के लिए ज्ञानी को भी कर्म करते रहना चाहिए। उसका अपना स्वार्थ चाहे कुछ भी न हो किन्तु सम्पूर्ण जगत् ही जब उसके स्वशब्दार्थ के भीतर आ गया तो उन सबका रक्षण भी उसका स्वार्थ ही है। इसलिए जगद् रक्षार्थ (जगत् की रक्षा हेतु) उसे कर्म करते रहना चाहिए। किन्तु इस व्याख्या में तो पुनरुक्ति हो जायगी। पहले यज्ञार्थ कर्म करने का उपदेश विस्तार से हो चुका है और यज्ञ शब्द के अर्थ में सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों की रक्षा का समावेश हो चुका है। तब लोक-संग्रह शब्द से भी यदि वही सब जगत् की रक्षा कही जाय तो यह तो पूर्व की बात को दुहराना ही हुआ और लोकमान्यतिलक भी इस बात को मान चुके हैं कि यहाँ अपि शब्द से प्रकरण भेद हो गया है। तब यहाँ लोक शब्द के अर्थ में केवल मनुष्यों का ही ग्रहण करना उपयुक्त होगा। आगे के पद्यों में जो विवरण किया जाता है कि श्रेष्ठ पुरुष जो काम करता है उसी का अनुकरण सब लोग करते हैं इत्यादि वह भी मनुष्यों पर ही घट सकता है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि मनुष्य का अनुकरण नहीं करते। इससे पूर्वोक्त व्याख्या ही उचित प्रतीत होती है। गीतारहस्य के ग्यारहवें प्रकरण में जो एक दूसरी व्याख्या उन्होंने ध्वनित की है वह उपयुक्त हो सकती है। उसका सारांश यह है कि सामान्य मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए ज्ञानी पुरुष को भी कर्म करना चाहिए। ज्ञानी यदि सर्वथा कर्म छोड़ दे तो सामान्य मनुष्य किसका अनुकरण करेंगे। सामान्य मनुष्यों में अनुकरण की तो प्रवृत्ति होती ही है जैसा कि आगे के पद्य में स्पष्ट कहा जा चुका है और यदि अज्ञानी पुरुष का ही अनुकरण सर्व-साधारण जनता करेगी तो इससे उलटा अनर्थ या अन्याय बढ़ेगा। क्योंकि अज्ञानी पुरुष तो स्वयं कई जगह अज्ञानवश धोखा खायगा तब उसका अनुकरण करनेवाले भी धोखे में ही पड़ेंगे। इसलिए अज्ञानी पुरुष का अनुकरण तो अनुचित होगा और ज्ञानी कर्म करेगा नहीं, तब अनुकरण किसका किया जाय? इसलिए ज्ञानी पुरुष को भी यही उचित है कि अपना स्वार्थ जिसे क्षुद्र स्वार्थ कहा जा सकता है वह न रहने पर भी लोक शिक्षार्थ शास्त्रोक्त कर्म करता रहे। ऐसे कर्म को उपेक्षा जनित होने के कारण बन्धकता नहीं होती यह कह चुके हैं। इस प्रकार की व्याख्या में पूर्वापर सब संगति लग जाती है और कोई पुनरुक्ति भी नहीं होती। लोक-संग्रह शब्द का व्याख्याकारों का अर्थ लोक-रक्षा रूप भी समन्वित हो जाता है।



## इक्यावनवाँ-पुष्प

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।  
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (२२)  
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।  
मम वर्तमानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ (२३)  
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।  
संकरस्य च कर्ता स्यामुहन्त्यामिमाः प्रजाः॥ (२४)  
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।  
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ (२५)  
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।  
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ (२६)

ज्ञानी पुरुष भी क्षुद्र स्वार्थ न रहने पर भी कर्म करता रहे, इस अंश में भगवान् अपना उदाहरण देते हैं कि हे पार्थ! मेरा तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है। क्योंकि किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने के लिए ही मनुष्यों का कर्तव्य हुआ करता है सो मुझे कुछ भी अप्राप्त नहीं है। जिसे कि प्राप्त करने के लिए कुछ कर्तव्य हो। फिर भी मैं कर्म में प्रवृत्त ही रहता हूँ॥ (२२)

भगवान् कृष्ण अपनी ईश्वरावतारता प्रकट करते हुए ही यह कहते हैं। इसका समन्वय दोनों ही रूपों में समझना चाहिए। ईश्वर रूप सर्वत्र व्यापक है। सभी जगत् के पदार्थ ईश्वर के रूप के अन्तर्गत हो जाते हैं जैसा कि आगे सप्तमाध्याय में स्पष्ट किया जायगा। तब ईश्वर को कुछ भी जगत् का पदार्थ अप्राप्त नहीं कहा जा सकता और अवतार रूप में भगवान् कृष्ण को भी सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त है, इसलिए यहाँ भी कोई वस्तु प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं। इसके अतिरिक्त अवतार रूप में भी भगवान् कृष्ण पूर्ण ज्ञानी हैं। इसीलिए इन्हें पूर्णावतार कहा जाता है। पूर्ण ज्ञानी को कोई वस्तु प्राप्त करने की अभिलाषा होती ही नहीं, क्यों कि राग-द्वेष उसमें नहीं रहते। फिर भी वे लोक शिक्षार्थ कर्म करते ही रहते हैं। कर्म में प्रवृत्त रहने का अन्वय भी दोनों रूपों में समझना चाहिए। ईश्वर भी जगत् को उत्पन्न करना, उसका पालन करना और समय पर संहार करना, ये कर्म करता ही रहता है और अवतार दशा में भगवान् दशा में भगवान् कृष्ण तो सब प्रकार के कर्म करते थे। यह सब पुराणों में स्पष्ट ही है। यदि बिना किसी प्रयोजन के कर्म न किया जाय अर्थात् जैसा कि पूर्व कह आये हैं कि पहले फल की इच्छा होती है, उससे फिर उपाय की इच्छा होती है, तब उस इच्छा से प्रयत्न आरम्भ होकर शरीर का कर्म होता है, यही नियम सर्वत्र

लगाया जाय तो ईश्वर के कर्म बन ही नहीं सकते। क्योंकि वहाँ फल की इच्छा सर्वथा असम्भव है। ईश्वरावतारों के भी कर्म नहीं बन सकते, क्योंकि पूर्ण ज्ञानी होने के कारण उन्हें भी फलेच्छा (फल की इच्छा) नहीं हो सकती। तब यही कहना पड़ेगा कि पूर्वोक्त नियम ईश्वर व ईश्वरावतारों पर लागू नहीं होता। भगवान् कृष्ण यह उपदेश करते हैं कि यहाँ व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिए। अर्थात् ईश्वर या ईश्वरावतारों पर यह नियम लागू नहीं, यही मात्र न कहकर ज्ञानी आत्माओं पर यह नियम लागू नहीं, ऐसा ही समझना चाहिए। इसलिए ज्ञानी को भी यज्ञार्थ व लोकसंग्रहार्थ कर्म करते ही रहना चाहिए। भले ही इसमें उसका अप्राप्तप्राप्ति रूप अपना स्वार्थ न हो।

आगे के दो पद्यों में भगवान् अपने कर्म में प्रवृत्त न होने पर दोष दिखाते हैं कि यदि मैं आलस्य छोड़कर कभी कर्म में प्रवृत्त न होऊँ अर्थात् कर्म छोड़ बैठूँ तो सब मनुष्य सब प्रकार मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं इसलिए वे भी कर्म छोड़ बैठेंगे। इसलिए मेरे कर्म न करने पर जगत् के सब लोग कर्म छोड़ देने के कारण नष्ट हो जायेंगे। स्त्रियों की रक्षा रूप कर्म न करने के कारण उनमें वर्ण संकरता फैल जायगी और उस संकरता का फैलाने वाला मैं ही कहलाऊँगा। इस प्रकार सब प्रजा का उपहनन अर्थात् अकाल में नाश मेरे ही द्वारा होगा। एक प्रकार से मैं ही सबका हनन करने वाला बनूँगा।। (२३-२४)

इन पद्यों को भी ईश्वर और ईश्वरावतार दोनों पर ही समझना चाहिए। शास्त्रों में माना गया है कि जीव जो कुछ मानस, वाचिक या शारीरिक कर्म करता है, वह ईश्वर की ही प्रेरणा से करता है। ईश्वर ही पूर्व कर्मानुसार किसी को शुभ कार्य में और किसी को अशुभ कार्यों में लगाया करता है। तब यह प्रेरणा रूप कर्म भी ईश्वर का ही हुआ। यदि ईश्वर प्रेरणा रूप कर्म न करे तो मनुष्य आदि सब प्राणियों के कर्म भी बन्द हो जायँ और भोजनपान आदि कर्म न करने से उनका विनाश अवश्यंभावी है।

इस पक्ष में 'ममवर्त्मानुवर्तन्ते' का यही अर्थ समझना होगा कि मेरे प्रेरणा रूपी व्यापार का अनुसरण सब लोग करते हैं? अर्थात् मेरी प्रेरणा से ही सब लोग काम करते हैं। वह प्रेरणा रूप कर्म यदि मैं न करूँ तो सबका नाश हो जाय और यदि ईश्वर प्रेरणा न देकर सब प्राणियों को स्वतंत्र रूप से कर्म करने के लिए छोड़ दे तो अज्ञानवश मनुष्यादि बुरे कर्मों को ही अधिक रूप में करने लगे। इससे वर्णसंकरता आदि दोष समाज में बढ़ जायँ और प्रजाओं का हनन हो जाय। अन्तर्यामी रूप से ईश्वर नियंत्रण करता रहता है इसीलिए दुराचार में प्रवृत्ति प्रायः नहीं होती। अवतार पक्ष में तो इसकी व्याख्या स्पष्ट ही है कि ईश्वरावतार में मुझको सब ही लोग श्रेष्ठ—आदर्श मानकर मेरा अनुकरण करते हैं यदि मैं कर्म न करूँगा तो मुझे आदर्श मानकर और लोग भी कर्म छोड़ देंगे। तब भोजन-पान आदि कर्म छोड़ देने से सबका नाश अवश्यंभावी होगा।

यदि भोजन-पान आदि स्वाभाविक कर्म न छोड़कर केवल शास्त्रोक्त धर्माधर्म आदि कर्मों का ही परित्याग करें तो भी धर्म छोड़ देने के कारण पाप बढ़ कर वे नाश की ओर अवश्य चले जायेंगे और स्त्रियों की रक्षा पर ध्यान न देने के कारण वर्णसंकरता भी अवश्य फैल जायगी। इस प्रकार प्रजाओं का उपहनन होगा और ईश्वरावतार रूप में मैं ही प्रजा के हनन का कर्त्ता माना जाऊँगा। इसलिए ईश्वर रूप में वा ईश्वरावतार रूप में मेरा कर्म करना आवश्यक है। यही समझ कर मैं कर्म करता रहता हूँ। मेरे समान ही— मुझे आदर्श मानकर ज्ञानी पुरुषों को भी कर्म करते ही रहना चाहिए। यहाँ यह शंका होगी कि क्या लोकशिक्षा के लिए ज्ञानी पुरुष भी अपने आप को अज्ञान में फँसादे यह उचित होगा? चाहे शिक्षा के लिए ही सही कर्म में लगने पर तो कर्म उसे अज्ञान में घसीट ही लेगा, जैसा कि जड़-भरत की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है कि भरत महाराज राजपाट छोड़कर गंगा तट पर आश्रम बनाकर रहते थे और तत्त्व चिन्तन में ही अपना समय लगाते थे। अकस्मात् एक दिन एक गर्भवती हरिणी गंगातट के उपरिभाग से पैर फिसल जाने के कारण नीचे गिरी और ऊपर से गिरने के कारण उसके गर्भ का बच्चा तो बाहर निकल आया और उस हरिणी की मृत्यु हो गई। इस प्रकार उस बच्चे को निराश्रय देखकर दयावश भरत महाराज उसे उठा लाये और दुग्ध आदि पिलाकर उसका पालन-पोषण करने लगे। धीरे-धीरे उस हरिण के बच्चे में इनका प्रेम हो गया कि निरंतर उसकी चिन्ता रहने लगी कि बच्चा कहाँ गया? उसे कोई भेड़िया आदि मार न डाले। निरंतर चिन्त का बन्धन उसके साथ होता गया। उन्हीं दिनों में इनकी मृत्यु का समय आ गया। मृत्यु के समय वह हरिण शिशु आँखों में आँसू भरता हुआ इनकी तरफ देख रहा था और ये भी प्रेमवश उसकी तरफ ही टक-टकी लगाये हुए थे। मृत्यु के समय जिस ओर चित्त लग जाय उसी में प्राणी को जाना पड़ता है यह भगवद् गीता के अष्टम अध्याय में कहा जायगा। उस प्रकृत नियम के अनुसार भरत को हरिण का जन्म मिल गया। किन्तु साधना कर रहे थे इस कारण हरिण के जन्म में भी पूर्व जन्म की स्मृति बनी रही। आगे फिर उत्तम ब्राह्मण कुल में जन्म प्राप्त कर ये जन्म से ही विरक्त रहे। सर्व रूप से कर्म परित्याग कर इन्होंने मुक्ति पाई, कर्म त्यागकर जड़, उन्मत्त आदि की तरह विचरते थे। इसीलिए जड़-भरत कहलाये। इनकी कथा विस्तार से पुराणों में वर्णित है। इससे यही सिद्ध होता है कि चाहे दया-वश या उपकार, लोक शिक्षा आदि के वश में होकर भी कर्म करता रहे तो माया अपनी ओर घसीट ही लेती है। तब ज्ञानी पुरुष भी अज्ञान में पड़कर फिर बन्धन में आ जायगा। इस शंका के निवारणार्थ ज्ञानी और अज्ञानी की प्रवृत्ति का भेद भगवान् अग्रिम पद्य में बताते हैं कि हे भरत! अविद्वान् अर्थात् अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म में आसक्ति रखकर पूर्ण मनोयोग से कर्म करते हैं विद्वान् अर्थात् ज्ञानी पुरुष अनासक्त होकर



लोगसंग्रह करने की इच्छा से उसी प्रकार कर्म करता रहे। तात्पर्य यह है कि बाहर से कार्य करने का स्वरूप ज्ञानी और अज्ञानी दोनों का एक सा ही दिखाई दे। किन्तु बुद्धि में इतना भेद है कि अज्ञानी पुरुष आसक्त होकर कर्म करते हैं उन्हें फल की आशा रहती है और उसी आशा के प्रभाव से उनका मन भी उस कर्म के साथ बँधा रहता है कि कहीं इसमें त्रुटि न हो जाय कि जिससे हमें फल से वंचित होना पड़े।

किन्तु ज्ञानी पुरुष अनासक्त होकर कर्म करे। उसके मन का इस कर्म के साथ कोई बन्धन न हो, फल की आशा तो इसे छोड़ ही देना चाहिए। इसीलिए कर्म में त्रुटि होने का भी कोई भय ज्ञानी को नहीं रहता। द्वितीयाध्याय के “नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति” इत्यादि पद्य में कहा जा चुका है कि कर्मयोगी की कर्म की त्रुटि आदि से कोई हानि नहीं होती? यही बात योग-वासिष्ठ में वसिष्ठ महर्षि ने राम को उपदेश देते हुए भी कही है कि—

**बहिःकृत्रिमसंरम्भोऽप्यन्तःसंरम्भवर्जितः।**

**कर्त्ताबहिरकर्त्तान्तर्लोके विहर राघव॥**

अर्थात् हे राघव! इस प्रकार कर्म करो कि बाहर से तो लोक (लोग) ऐसा समझें कि इनका कर्म में बड़ा आवेश है किन्तु भीतर मन में बिल्कुल आवेश न हो। इस प्रकार बाह्य लोगों की दृष्टि में तो तुम कर्त्ता समझे जाओ किन्तु भीतर मन, बुद्धि से अकर्त्ता ही बने रहो। इस प्रकार लोक में रहते हुए विहार अर्थात् सब प्रकार के कर्माचरण करते रहो।

लोकमान्यतिलक ने जो यह दोष इस व्याख्या पर लगाया है कि यह तो एक प्रकार का ढोंग हो गया। भगवान् तो अर्जुन को ढोंग नहीं सिखाते थे सो यह दोष यहाँ नहीं समझना चाहिए। ढोंग उसी का नाम है कि अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए अपने छोटे से कार्य को बहुत बड़ा करके दिखाया जाय। इसे ही संस्कृत में व्याज कहते हैं और शास्त्रों में निर्व्याज धर्माचरण का उपदेश दिया जाता है। इस ढोंग का व्याज का यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि फल व प्रतिष्ठा की इच्छा ज्ञानी पुरुष को रहती ही नहीं, वह तो भीतर से अनासक्त रहता हुआ भी लोकशिक्षार्थ लोगों को अपनी आसक्ति दिखाता है, मन में उत्तम भाव रहते हुए भी बाहर उनका प्रकाश न करना ढोंग या व्याज के बिल्कुल विपरीत है। ढोंग या व्याज में तो मन में उत्तम भाव न रहने पर भी बाहर उनका प्रकाश करने की चेष्टा की जाती है और यहाँ मन बुद्धि में उत्तम भाव रहने पर भी उनका प्रकाश नहीं किया जाता यह ढोंग या व्याज से बिल्कुल विपरीत कार्य है। इसीलिए भगवान् ने लोक संग्रह का उपदेश दिया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि ने इन पद्यों की व्याख्या का एक यह भी मार्ग बतलाया है कि लोकसंग्रह का उपदेश तो पूर्व के सार्ध श्लोक में ही पूर्ण हो चुका। आगे भगवान् ने यह बतलाया है कि शिष्टाचार को धर्म में प्रमाण सब स्मृतिकारों ने माना है। तदनुसार शिष्टाचार देखते हुए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए और शिष्ट रूप से ही अपना दृष्टान्त उपस्थित किया है कि मैं लोक में शिष्ट रूप से स्वीकृत हूँ और मैं कर्म में लगा हुआ हूँ, इसलिए अनुसरण करते हुए तुम्हें भी कर्म करते रहना चाहिए। किन्तु इस पद्य के अन्त में “चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्” शब्द आये हैं इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है यहाँ तक लोक संग्रह का ही प्रकरण चल रहा है। इसलिए प्रकरण भेद की व्याख्या यहाँ संगत प्रतीत नहीं होती। (२५)

यहाँ यह प्रश्न होगा कि ज्ञानी पुरुष को लोक दिखावे के लिए कर्म करने की क्या आवश्यकता है? जो ज्ञानी नहीं है उनको यही क्यों न समझा दिया जाय कि जो ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त हैं वा ज्ञानी हो चुके हैं उन्हें कर्म नहीं करना चाहिए। किन्तु तुम लोग अभी वैसे नहीं हो इसलिए तुम कर्म-मार्ग में ही रहो। तुम्हें अभी कर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं, इस उपदेश से ही काम चल जायगा फिर लोक-शिक्षार्थ ज्ञानी पुरुष भी कर्म बन्धन में पड़े, इसकी क्या आवश्यकता है? इस शंका के निवारणार्थ भगवान् कहते हैं कि जो अज्ञान वश आसक्ति पूर्वक कर्म कर रहे हैं उनमें बुद्धि भेद पैदा नहीं करना चाहिए, अपितु मुक्त होकर अर्थात् कर्म योग मार्ग से कर्म करते हुए विद्वान् उन्हें कर्म मार्ग में ही प्रवृत्त रहने दे और उनसे कर्म ही कराते रहें यही उचित मार्ग है। “जोषयेत्” का यह भी अर्थ हो सकता है कि कर्म में ही उनकी प्रीति उत्पन्न करता रहे।

इसका तात्पर्य यह है कि सर्वसाधारण लोक जो आसक्ति पूर्वक शास्त्रोक्त कर्म मार्ग में लगे हुए हैं, “स्वर्गकामो यजेत्” इत्यादि श्रुति वचनों के अनुसार फलाशा से ही कर्म करते हैं ‘यह मेरा कर्तव्य है’ इसका फल यह मैं भोगूँगा इत्यादि, उनकी बुद्धि में भेद पैदा न करावे। अर्थात् जैसी उनकी बुद्धि है वैसी ही रहने दे, उसे अन्यथा न करे। यदि उनसे यह कहा जायगा कि तुमने जो मार्ग लिया है वह अशुद्ध है इससे जो फल मिलेगा वह अल्पकाल में ही नष्ट होने वाला होगा। उत्तम तो यह है कि तुम आत्म-ज्ञान के लिए प्रयत्न करो और कर्म छोड़ो तो उनकी श्रद्धा विचलित हो जायगी और वे शास्त्रोक्त कर्म भी छोड़ बैठेंगे। अशुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान व जिज्ञासा का उदय होगा नहीं, तब वे न इधर के रहे न उधर के, दोनों तरफ से गिर कर यथेच्छाचारी बन जायेंगे और उनका पूर्ण पतन हो जायगा। इसलिए सर्व साधारण का हित इसी में है कि वे जो शास्त्रोक्त कर्म करते हैं उसी में उनकी प्रीति बढ़ाई जाय और शनैः शनैः उनसे कर्म का नहीं अपितु फलाशा का त्याग कराया जाय। इस प्रकार जब

उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा तब वे आत्मज्ञान के अधिकारी बन जायेंगे और क्रमशः जिज्ञासु या ज्ञानी बन सकेंगे। यह हित-साधन तभी हो सकता है कि ज्ञानी पुरुष भी उनके समान ही कर्म करता रहे। इसे देखकर उनकी भी कर्म में अधिक-अधिक प्रीति बढ़ती रहे। ब्रह्मज्ञान के वाचिक उपदेश से तो उलटा फल होगा। अशुद्ध अन्तःकरण में ऐसे भाव आ जायेंगे कि सब में ही ब्रह्म व्यापक है तब दूसरे का जो धन है उसमें और हमारे धन में कोई भेद नहीं। हम दूसरे का धन व वस्तु ले लें तो उसमें दोष क्या? इस प्रकार चोरी की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन होगा या जैसे किसी कवि ने लिखा है कि—

ब्रह्मैव सर्वमिति वेविदो वदन्ति तस्मान्न में सखि परापरभेदबुद्धिः।

जारे तथा गृहपतौ सदृशोऽनुरागो व्यर्थकिमर्थसतीति कदर्थयन्ति॥

अर्थात् कोई दुराचारिणी स्त्री अपनी सखी से कहती है कि वेदवेत्ता लोग सबको ब्रह्म ही बताते हैं इसलिए मैं भी स्व और पर का भेद नहीं समझती, अपने जार और घर के पति में समान ही प्रेम रखती हूँ। इस प्रकार वेद की आज्ञा के अनुकूल आचरण करने पर भी लोग मुझे असती व दुराचारिणी क्यों कहते हैं? इस प्रकार की उलटी समझ से उन व्यक्तियों का या व्यक्ति समूह रूप समाज का पतन ही होगा। इसलिए ऐसा बुद्धि भेद का वाचिक उपदेश न कर अपने आचरण द्वारा ही ज्ञानी को और लोगों की कर्म में प्रवृत्ति या प्रीति कराने के लिए स्वयं कर्म करते रहना चाहिए। श्रीरामानुजाचार्य बुद्धि भेद का यह अर्थ करते हैं कि कर्मयोग से अतिरिक्त भी कोई ब्रह्म ज्ञान का साधन है ऐसी बुद्धि ही कर्मासक्त पुरुषों में उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

वैदिक सनातन मार्ग में अधिकार भेद मुख्य माना गया है। जो जिस कर्म का अधिकारी है उसे उसी कर्म का उपदेश देना गुरु का कर्तव्य है। अन्य प्रकार के अधिकारी को अन्य प्रकार का उपदेश देने का परिणाम बुरा ही होता है। यही अधिकार भेद इस पद्य में भी स्पष्ट किया गया है कि कर्म के अधिकारी अशुद्ध अन्तःकरण मनुष्यों को एकाएक डिगाना उचित नहीं है किन्तु उनमें शनैः शनैः सुधार करना उनकी फलाशा छुड़ाना यही ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है और यही लोक-संग्रह है। इस लिए उनके उपदेशार्थ ज्ञानी को भी कर्म करना ही चाहिए। यही सब प्राचीन व्याख्याताओं का मार्ग है।

लोकमान्य तिलक प्राचीनों के इस व्याख्या मार्ग पर यह दोष देते हैं कि इसका तात्पर्य तो यह निकला कि अज्ञानियों को अज्ञानी ही रहने दिया जाय, यह बात गीता को अभीष्ट हो, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिए बुद्धि भेद का यही अर्थ करना

चाहिए कि अपने कर्म-त्याग द्वारा लोगों को निरुद्यमी या आलसी न बनाया जाय। अपितु ज्ञानी स्वयं कर्म करता हुआ उन्हें भी कर्म की शिक्षा देता रहे। अन्तिम अभिप्राय तो एक ही हुआ किन्तु बुद्धि भेद शब्द का अर्थ लोकमान्य की व्याख्या में ठीक नहीं बैठा। बाह्य क्रियाओं का भेद ही उन्होंने बुद्धि भेद माना और आगे के २९वें श्लोक में भी जो विचलित न करने का उपदेश है वह भी प्राचीनों की व्याख्या में ही सुसंगत होता है। इस पर आप विचार करलें।



## बावनवाँ-पुष्प

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।  
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ ( २७ )  
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।  
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सञ्जते॥ ( २८ )  
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सञ्जन्ते गुणकर्मसु।  
तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ ( २९ )

इस प्रकार यज्ञार्थ या लोकसंग्रहार्थ कर्म करने से कर्मबन्धन नहीं होता यह उपदेश भगवान् ने दिया। इस पर अर्जुन के मन में यह शंका होना स्वाभाविक है कि कर्म जब बन्धन में डालने वाला है तो उद्देश्य दूसरा होने पर भी उसकी बन्धकता कैसे नष्ट हो जायगी और बन्धन में डालकर वह आत्मा का पतन कैसे नहीं करेगा? यह शंका समझ कर भगवान् इसका तात्त्विक उत्तर इन पद्यों के द्वारा देते हैं कि यथार्थ में आत्मा में कर्तृत्व है ही नहीं, जब आत्मा में कर्तृत्व ही नहीं, आत्मा का कर्म से यथार्थ सम्बन्ध ही नहीं तब कर्म आत्मा के बन्धक क्यों होंगे? यही कहा जाता है। श्लोकार्थ यह है कि—

प्रकृति के गुणों से सब प्रकार के कर्म किये जाते हैं। अहंकार से विमूढ़ आत्मा वाला पुरुष अपने आपको कर्ता मान लेता है!

### प्रकृति और माया—

गीता में यहाँ प्रकृति शब्द पहली बार ही आया है। इसलिए इस शब्द का अर्थ यहाँ विचारना उपयुक्त होगा। सातवें अध्याय में भगवान् ने पाँचों महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की अपरा प्रकृति और जीवरूप परा प्रकृति बतलाई है। इनमें से महाभूतों को तो यहाँ लिया नहीं जा सकता क्योंकि महाभूतों के गुण तो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध हैं। ये तो कर्मों के विषय होते हैं। अर्थात् इन पर कर्म किए जाते हैं, ये कर्म के कर्ता नहीं और जीव को जो परा प्रकृति कहा है वह भी नहीं लिया जा सकता क्योंकि इस पद्य में यही तो प्रतिपादन करना है कि जीव में वास्तविक कर्तृत्व नहीं, बुद्धि हीन लोग उस पर आरोपित करते हैं। फिर यदि पूर्वार्ध में प्रकृति पद से जीव ही ले लिया जाय तो जीव पर ही मुख्य कर्तृत्व आ जायगा तब पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में परस्पर विरोध हो जायगा। अहंकार को आगे इस विमूढ़ता का कारण बतलाया है इसलिए कर्मों का कर्तृत्व उस पर भी नहीं माना जा सकता। तब मन और बुद्धि शेष रहते हैं। वे ही प्रकृति शब्द से लिये जायँ, यह प्राप्त होता है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति ही स्वतंत्र रूप से जगत् का उत्पादन करती है। सब प्रकार के कर्मों का कर्तृत्व उसी पर है। पुरुष तो कमल के पत्ते की तरह निर्लेप रहता है। प्रकृति वहाँ सत्त्व, रज, तम तीन गुणों का ही नाम है उनके द्वारा ही कर्म होते हैं। अर्थात् उन गुणों पर ही वास्तविक कर्तृत्व है। यहाँ भी प्रकृति के गुणों को ही मुख्यकर्ता बतलाया गया है इसलिए सांख्योक्त प्रकृति का ग्रहण भी यहाँ के प्रकृति पद से प्राप्त होता है। किन्तु प्रकृति गुण- इन शब्दों से प्रकृति और गुणों से भेद बतलाया गया। वह सांख्य प्रक्रिया में नहीं घटता क्योंकि वहाँ तीनों गुणों का नाम ही प्रकृति है। उनमें जब तक साम्य रहे तब तक वे प्रकृति नाम से कहे जाते हैं। इसलिए सांख्योक्त प्रकृति का यहाँ ग्रहण करने पर भी 'प्रकृति के गुण' इस षष्ठी विभक्ति का स्वारस्य नहीं रहता यह अड़चन है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति को स्वतंत्र रूप से गीता में नहीं स्वीकार किया गया। आगे सप्तमादि अध्यायों में वर्णन आवेगा कि मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। इससे यही सिद्ध होता है कि सांख्य की प्रक्रिया गीता को मान्य नहीं है। इसलिए भी प्रकृति शब्द का सांख्योक्त प्रकृति अर्थ करना उपयुक्त न होगा।

उपनिषदों में माया को ही प्रकृति कहा जाता है—

“मायान्तुप्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्” (श्वेता०)

भगवद्गीता में भी माया और प्रकृति दोनों शब्द आये हैं। वहाँ जगत् की कर्ता रूप से प्रायः प्रकृति का निर्देश है और मोहकता रूप में प्रायः माया का निर्देश है। कहीं-कहीं एक ही पद्य में माया और प्रकृति दोनों शब्द आये हैं। इन सबका विशेष विचार उन पद्यों की व्याख्या में ही होगा। माया को भी गीता में गुणमयी कहा गया है और अन्तिम अध्यायों में इन गुणों का विशेष रूप से विवरण है। यह सब विचार वहाँ पुनः किया जायेगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि भिन्न-भिन्न व्याख्याकार यहाँ प्रकृति शब्द से कोई पूर्वोक्त मन, बुद्धि आदि को, और कोई माया को लेते हैं।

आगम-शास्त्र में प्रकृति, माया और महामाया तीनों भिन्न-भिन्न प्रकार की मानी गई हैं। महामाया से माया की और माया से प्रकृति की वहाँ उत्पत्ति मानी जाती है। महामाया महेश्वर की प्रधानशक्ति है। सत्त्व, रज आदि तीनों गुणों का विकास प्रकृति में ही आ कर होता है। उसी से आगे जगत् बनता है और उन गुणों पर ही कर्तृत्व माना जाता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यहाँ प्रकृति शब्द से उस परमेश्वर की शक्ति को ही लिया है और पद्य का ऐसा अर्थ किया है कि प्रकृति अर्थात् परमेश्वर की शक्ति के गुण अर्थात् विकार जो मन, इन्द्रिय आदि हैं उनके द्वारा सब कर्म होते हैं।

हमारे विचारानुसार गीता में जो प्रकृति शब्द का अर्थ स्वयं लिखा है वही गीता में लिया जाना उचित होगा। इसलिए प्रकृति अर्थात् मन और बुद्धि के गुण अर्थात्

अप्रधान रूप— उनकी प्रेरणा से ही चलने वाले शरीर के अवयवों से सब कर्म होते हैं। यह पूर्वार्ध की व्याख्या उचित होगी। मन, बुद्धि आदि सब ही मूल प्रकृति के कार्य होने से त्रिगुणात्मक हैं इसलिए उनके गुण सत्त्वादि को कहना विरुद्ध नहीं होता। सांख्योक्त प्रकृति पर भी गीता ने कर्तृत्व माना ही है यद्यपि उसकी स्वतंत्रता से गीता सहमत नहीं है तथापि कर्तृत्व प्रकृति पर है इसमें गीता की भी विप्रतिपत्ति नहीं और आगे सत्त्वादि गुणों को प्रकृति सम्भव अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि जब तक तीनों गुण समान अवस्था में रहें तब तक उसका नाम प्रकृति है और उससे सृष्टि नहीं होती। जब एक एक गुण बढ़कर दूसरों को दबाता हुआ विषमता में आता है तब ही सृष्टि का आरम्भ होता है अर्थात् उसे साम्यावस्था से उत्पन्न भी कहा जा सकता है। इसी अभिप्राय को लेकर यहाँ भी प्रकृति का गुण भेद-निर्देश किया गया। सृष्टि का अर्थ जन्यता ही मान लिया जाय। इस प्रकार सांख्य शास्त्रोक्त प्रकृति का ग्रहण करने वाले व्याख्याकारों के मतानुसार भी संगति हो सकती है और त्रिगुणात्मक होने के कारण माया और प्रकृति एक ही हैं अथवा अभियुक्त विद्वान् इनमें इतना भेद बतलाते हैं कि 'गुणत्रयवती-माया-गुणत्रयं तु प्रकृतिः' अर्थात् माया तीनों गुण वाली है और प्रकृति तीनों गुणों का ही नाम है। इस विवरण के अनुसार प्रकृति शब्द का माया अर्थ करने से षष्ठी विभक्ति सुसंगत हो जाती है इसलिए माया अर्थ करना भी असंगत नहीं। सब व्याख्याओं के अनुसार तात्पर्य एक ही निकलता है कि आत्मा पर मुख्य कर्तृत्व नहीं है। क्योंकि आत्मा को असंग और विभु माना जाता है, उस पर क्रिया हो नहीं सकती। उस पर क्रिया को लादने वाला अहंकार ही है यहाँ उत्तरार्ध में कहा गया है।

यहाँ अहंकार शब्द की भी दोनों प्रकार की व्याख्या मिलती है। सांख्य शास्त्र में प्रकृति से महत् और उससे अहंकार की उत्पत्ति मानी जाती है। मन, बुद्धि और अहंकार तीनों का सम्मिलित नाम अन्तःकरण है। इनकी अलग-अलग वृत्तियों में अहंकार की वृत्ति यही बतलाई गई है कि बाह्य किसी पदार्थ का अपने साथ कैसा सम्बन्ध है इसे बतलाने वाला ही अहंकार होता है।

उसी अहंकार का यहाँ निर्देश है यह कई व्याख्याकार मानते हैं। उनके मतानुसार इसका अर्थ होगा कि बाह्य मन, बुद्धि आदि का भी अहंकार आत्मा के साथ तादात्म्य बतला देता है। इससे द्रष्टा आत्मा की बुद्धि में मोह आ जाता है और वह मन बुद्धि आदि के किए हुए कर्मों में अपना कर्तृत्व मान लेता है। अर्थात् मन बुद्धि आदि भी उसे आत्म स्वरूप ही प्रतीत होते हैं तब मन बुद्धि आदि के कर्मों का अपने ऊपर लादना सुतरां संगत हो गया। जो व्याख्याकार सांख्य की प्रक्रिया का गीता में स्पर्श भी नहीं मानते उनके मतानुसार 'अहंकारणम् अहंकारः' के अनुसार मन बुद्धि शरीरादि में जो अज्ञानवश अहं बुद्धि हो रही है वही अहंकार शब्द का अर्थ है। उसीसे मन बुद्धि

आदि के किए हुए कर्मों को मोहवश आत्मा अपने किए मान लेता है। फलतः तात्पर्य तो दोनों का एक ही है। सांख्योक्त प्रक्रिया को लेना या न लेना यही मात्र भेद है। इस प्रकार इस पद्य से भगवान् ने यह बतलाया कि कर्मों का आत्म से वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं, वे तो अज्ञान वश आत्मा पर आरोपित हैं। तब उनसे आत्मा का बन्धन ही कैसे होगा। आरोपित धर्म से तो उसके धर्म वस्तुतः नहीं आते। जैसे मुख को कोई चन्द्रमा कहने लगे तो चन्द्रमा का प्रकाश और शीतलता मुख में नहीं आ सकती, इसलिए कर्म वस्तुतः आत्मा के बन्धक नहीं हैं यही तत्त्व यहाँ समझाया गया।

न्याय शास्त्र में आत्मा को ही मुख्य रूप से कर्त्ता और भोक्ता माना जाता है। उनके मत में ज्ञान, इच्छा इत्यादि आत्मा के गुण हैं किन्तु गुण और द्रव्य उनकी परिभाषा में भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए उनके बदलते रहने पर भी आत्मा विकारी नहीं होता। इस न्याय की परिभाषा के अनुसार यह भगवान् का उपदेश ठीक नहीं बैठता। क्योंकि यहाँ आत्मा में वास्तविक कर्त्तृत्व नहीं माना गया। भगवान् का उपदेश तो सबको ही माननीय होना चाहिए, फिर न्याय-शास्त्र जो कि आस्तिक दर्शन है इस भगवान् के उपदेश के विरुद्ध क्यों जाय? इसलिए न्याय-मुक्तावलीकार इस पद्य का यह अर्थ लगाते हैं कि धर्म-अधर्म नाम से प्रसिद्ध अदृष्ट ही प्रकृति है। उसके द्वारा उत्पादित जो गुण इच्छा, प्रयत्न आदि हैं उनसे ही कर्म किए जाते हैं। इसलिए कर्मों में केवल आत्मा का कर्त्तृत्व नहीं, अपितु ज्ञान, इच्छा आदि धर्मों से विशिष्ट आत्मा का कर्त्तृत्व है। यह अभिप्राय भगवान् ने अठारहवें अध्याय में स्पष्ट किया है वहाँ छः वस्तुओं के मिलने पर कर्म होता है ऐसा कहा गया है। इसलिए केवल आत्मा का कर्त्तृत्व मानना भ्रान्ति है किन्तु यह न्यायमुक्तावलीकार का साहस मात्र है क्योंकि इसी पद्य में जब आत्मा को कर्त्ता मानने वालों को विमूढ़ शब्द से कहा गया है तब आत्मा पर वास्तविक कर्त्तृत्व मानने वालों की उक्ति कैसे उसके अनुकूल हो सकती है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नादि जब आत्मा के ही विशेष गुण माने जाते हैं तब और गुणों में उनकी परिभाषा के अनुसार क्रिया हो नहीं सकती। वे क्रिया के कर्त्ता नहीं कहे जा सकते तब वास्तविक कर्त्तृत्व तो आत्मा रूप द्रव्य पर ही आया। तब आत्मा पर आरोपित कर्त्तृत्व बतलाने वाली भगवान् की यह उक्ति कैसे उनके मत में संगत हो सकती है। अठारहवें अध्याय की संगति लगाने चले किन्तु इसी पद्य में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की संगति उनके मतानुसार नहीं बैठती इस पर कोई ध्यान नहीं दिया इसीलिए हमने ऐसी व्याख्या करने को साहस मात्र कहा है। वस्तुतः न्यायशास्त्र की कोई परिभाषा श्रुति वा गीता में नहीं मानी गई। वह तो दर्शन के प्रथम अधिकारियों को दर्शन में प्रवेश कराने का एक द्वार मात्र है। आगे के दर्शनों में उस द्वारा से आगे बढ़ने वालों के लिये उसके सिद्धान्त काट दिये जाते हैं। यहाँ श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने “सर्वशः कर्माणि” इसकी



व्याख्या करने के लिए कर्मों के छः भेद बतलाए हैं किन्तु प्रकृत में विशेष उपयोग न होने से और विस्तार भय से यहाँ हमने उनका विवरण नहीं किया।। (२७)

इस प्रकार पूर्व पद्य में मूढ़तावश आत्मा पर कर्मों का आरोप बतलाया गया। आगे जो तत्त्ववेत्ता विद्वान् है उन्हें ऐसी भ्रान्ति नहीं होती, वे प्रकृति के कर्मों को आत्मा पर नहीं लादते, यह कहा जाता है कि हे महाबाहु अर्जुन! जो प्रकृति के गुणों का विभाग और उन गुणों के किए कर्मों के विभाग का तत्त्व जानते हैं कि गुणजनित इन्द्रियां गुण जनित विषयों में प्रवृत्त हो रहीं हैं।

ऐसा गुणों का परस्पर खेल समझ कर अपने आप अर्थात् आत्मा को इन गुणों से भिन्न मानते हुए कर्मों में आसक्त नहीं होते। जब कर्म आत्मा की अपनी वस्तु नहीं है वे प्रकृति के गुणों के द्वारा ही उत्पन्न हैं तब उनमें आसक्ति अर्थात् आत्मा का संग होने का प्रसंग ही क्या है? इसलिए कर्म आत्मा के धर्म नहीं और कर्मों से बन्धन भी आत्मा का वास्तविक नहीं, यह सब प्रकृति के गुणों का ही खेल है— यह समझने पर ही आत्मा की आसक्ति दूर होती है और तब ही कर्म योग सिद्ध होता है। इसलिए कर्मयोग के मूल में भी पहले तत्त्व ज्ञान चाहिए यह भी सूचित किया।

श्रीमधुसूदनसरस्वती इस व्याख्या पर यह दोष देते हैं कि ऐसा ही कथन इष्ट था तो— “गुणकर्मणोः तत्त्ववित्” इतना ही कहने से काम चल जाता। इस कथन में विभाग शब्द व्यर्थप्राय है। विभाग तो हैं भी नहीं। गुण और कर्म का विभाग तो एक ही है फिर विभागयोः यह द्विवचन भी असंगत होता है। इसलिए वे इस पद्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि गुण और कर्म इनका पहले द्वन्द्व समास करना और उसे समाहार द्वन्द्व मानकर गुण कर्म यह एक वचनान्त पद बनाना। आगे विभाग शब्द का अर्थ “विभज्जते इति विभागः” इस व्युत्पत्ति के अनुसार इन गुण और कर्मों से पृथक् रहने वाला आत्मा ही विभाग शब्द का अर्थ है फिर उस विभाग शब्द के पूर्वोक्त गुण कर्म शब्द का दूसरा द्वन्द्व समास है।

**गुणाश्च कर्माणि च तेषां समाहारो गुणकर्म।**

**गुणकर्म च विभागश्चेति गुणकर्मविभागौ तयोः गुणकर्मविभागयोः।।**

इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ होगा कि गुण और कर्म ये आत्मा से विभक्त हैं इसका जो विद्वान् तत्त्व समझता है वह गुण कर्म में आसक्त नहीं होता।

अन्य व्याख्याकार श्रीवेंकटमाधव आदि इस अर्थ को बिना दो द्वन्द्व समासों के ही निकालते हैं कि विभाग दो का ही होता है इसलिए गुण विभाग शब्द का अर्थ होगा गुणों से आत्मा का विभाग, अर्थात् गुण और आत्मा की एकता न समझना और कर्म विभाग शब्द का अर्थ होगा कर्मों से आत्मा का विभाग, अर्थात् कर्मों को आत्मा

के लिये न समझना। इस प्रकार के दोनों विभागों का जो तत्त्व जान लेता है वह गुणों का खेल समझ कर आसक्त नहीं होता। इस प्रकार विभाग दो हो जाते हैं। एक आत्मा का तादात्म्य न मानना और दूसरा इच्छा कर्म आदि में अपना सम्बन्ध मानना। एक अहन्ता का विभाग और दूसरा ममता का विभाग और विभाग शब्द की व्यर्थता भी नहीं है क्योंकि गुणों से आत्मा को पृथक् समझना और इच्छा आदि कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध न मानना इसीसे आसक्ति दूर होती है। यदि संक्षेप में ही कहा जाय तब तो तत्त्व-वित् कहने से ही काम चल जाता किन्तु स्पष्ट रूप से खोलकर कहने में तो सच ही शब्द आवश्यक होते हैं। महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी अन्य प्रकार से भी पद्य की व्याख्या करते हैं कि गुण अर्थात् इन्द्रिय आदि; गुणों में अर्थात् विषयों में प्रवृत्त हो रहे हैं। इस तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष गुण अर्थात् सत्त्वादि के विभाग अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार आदि में अहं भाव से आसक्त नहीं होता और उनके किए हुए कर्मों में ममता रूप से, ये मेरे कर्म हैं इस प्रकार आसक्त नहीं होता, यह व्याख्याकारों की भिन्न-भिन्न शैली से अपना पाण्डित्य प्रदर्शन है। तात्पर्य दोनों पद्यों का यही है कि कर्म प्रकृति के गुण मन बुद्धि आदि से होते हैं आत्मा पर कर्त्तापन मानना भूल है।

यहाँ यह शंका होगी कि क्या भगवान् मन, बुद्धि आदि को स्वतंत्र मानते हैं? ऐसा मानने पर तो सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति की स्वतंत्रता ही आ गई जो कि गीता को इष्ट नहीं है। जैसा कि आगे के प्रवचनों में सिद्ध होगा और मन, बुद्धि आदि जड़ हैं उनमें बिना चेतन की प्रेरणा के कर्म हो भी नहीं सकता। यदि आत्मा को प्रेरणा देनेवाला मान लिया जाय तब आत्मा की प्रेरणा से मन बुद्धि आदि ने जो कर्म किये उनका कर्तृत्व आत्मा पर आ ही जाता है क्योंकि उसी की प्रेरणा से कर्म हुए। स्वामी की प्रेरणा से यदि कोई भृत्य कर्म करे तो उसका कर्तृत्व तो प्रेरणा करने वाले स्वामी पर भी माना ही जाता है फिर आत्मा पर कर्तृत्व मानने वालों को भगवान् ने मूढ़ शब्द से क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि आत्मा का जैसा विशुद्ध स्वरूप गीता के दूसरे अध्याय में स्पष्ट किया गया है, उस सर्व विकार रहित आत्मा में प्रेरणा रूप कर्म भी नहीं हो सकता। यह ठीक है कि मनबुद्धि आदि जड़ है किन्तु आत्मा निर्विकार रहता हुआ भी अपने सन्निधान मात्र से इन्में चैतन्य दे देता है। इससे चैतन्य प्राप्त कर वे कर्म करने में समर्थ हो जाते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से सरोवर का जल भी चमक उठता है इसमें सूर्य की कोई क्रिया विशेष नहीं। सूर्य के सम्मुख होना ही इस क्रिया का कारण है। इसी कारण मन, बुद्धि आदि के चेतनता प्राप्त कर कर्म में संप्रथ होने में भी आत्मा की प्रेरणा नहीं अपितु आत्मा के समीप रहने से ही उनमें चेतनता आ जाती है। अनादि काल से जो मन, बुद्धि आदि को आत्मा ने अपना स्वरूप ही समझ रखा है उसी भ्रान्ति युक्त मन, बुद्धि आदि से सम्मिलित आत्मा के द्वारा प्रेरणा भी होती है। विशुद्ध आत्मा प्रेरणा आदि कोई कर्म नहीं करता अथवा मन, बुद्धि आदि

को स्वरूप के अन्तर्गत मान कर ही विशुद्ध आत्मा जीव-भाव को प्राप्त होता है और जीव को भी सप्तमाध्याय में भगवान् ने अपनी परा-प्रकृति ही बतलाया है। इसलिए जीव की प्रेरणा से यदि मन, बुद्धि आदि में क्रिया हुई तो उसका कर्तृत्व भी प्रकृति रूप जीव पर ही आया। तत्त्व ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में तो यह जीव भाव भी कल्पित है इसलिए उनकी कर्म में आसक्ति न होना सिद्ध ही है इसमें कोई विरोध नहीं रहता। (२८)

गूढ़ तत्त्व को बुद्धि-गत करने के लिए बार-बार कहना आवश्यक होता है इसमें पुनरुक्ति-दोष नहीं माना जाता। इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्वोक्त विषयों का ही उपसंहार में पुनः कथन किया जाता है कि प्रकृति के गुणों से अर्थात् उनमें तादात्म्य मानकर जो पुरुष मूढ़ हो रहे हैं अर्थात् अज्ञान में फँस रहे हैं वे गुणों के किये हुए कर्मों में आसक्त रहते हैं। अर्थात् उन्हें अपना ही किया मानते हैं और उनके फल की आशा रखते हैं। वे अकृत्स्नवित् हैं। अर्थात् उन्हें अज्ञानी तो नहीं कहा जा सकता क्योंकि कर्म करने और उनका फल प्राप्त करने के लिए आशान्वित होना तो उनका है। किन्तु पूरा नहीं समझ पाये हैं कि कर्म प्रकृति के किये हुए हैं हमारे नहीं।

इसलिए उनका ज्ञान अधूरा कहा जा सकता है। ऐसे अकृत्स्नवित् अर्थात् अधूरे ज्ञान वाले पुरुषों को कृत्स्नवित् अर्थात् पूरे ज्ञान वाला पुरुष विचलित न करे। यह पूर्वोक्त श्लोक का ही अनुवाद है। यदि ज्ञानी पुरुष कर्म छोड़ देगा तो उन कर्म करने वालों की बुद्धि भी इससे विचलित हो जायगी। उनके मन में यह भाव आने लगेगा कि कर्म करना अच्छा नहीं तभी तो उस श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष ने कर्म करना छोड़ा है। इस प्रकार बुद्धि विचलित होने पर वे भी कर्म छोड़ने को तैयार होंगे और जब तक उनका अन्तःकरण अशुद्ध है तब तक ज्ञान प्राप्त होगा नहीं, तो वे इधर के व उधर के कहीं के न रहेंगे। इसी अभिप्राय से निषेध किया जाता है कि कर्म में आसक्त पुरुषों की बुद्धि को एकदम विचलित मत करो अपितु उसी मार्ग में उन्हें चलने दो। शनैः शनैः उनकी फलाशा छुड़ाते जाओ, अन्तःकरण शुद्ध होने पर वे स्वयं ज्ञानी बन जायँगे और अधिकारानुसार कर्मयोग व ज्ञानयोग में प्रवृत्त हो जायँगे।

लोकमान्यतिलक ने भी बुद्धि विचलित न करने का ऐसा ही अर्थ यहाँ माना है। फिर “न बुद्धि भेदं जनयेत्” इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक में प्राचीन व्याख्याओं पर यह दोष देना उनका कहाँ तक संगत है कि इससे तो ‘यह सिद्ध’ होगा कि अज्ञानियों को अज्ञानी ही रहने दिया जाय। इस पर विज्ञ पाठक विचार करें। हमारी दृष्टि में तो इसका जो अभिप्राय है और इससे अज्ञानी को अज्ञानी ही रहने देने का प्रसंग नहीं आता। इसी प्रकार की व्याख्या हम कर चुके हैं। (२९)

## तिरपनवाँ-पुष्प

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।  
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ (३०)  
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।  
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ (३१)  
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।  
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ (३२)

## रहस्योद्घाटन

गीता के आरम्भिक भूमिका रूप प्रथम पुष्प में लोकमान्यतिलक के गीतारहस्योक्त विवरणानुसार हम आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों का संक्षिप्त विवेचन कर चुके हैं और उनके मतानुसार ही यह भी बतला चुके हैं कि भारतीय धर्म आध्यात्मिक दृष्टि प्रधान होने के कारण सर्वोत्कृष्ट धर्म है। वास्तव में तो ऋषि प्रोक्त भारतीय धर्म में तीनों ही दृष्टियों से विचार किया जाता है और तीनों ही दृष्टियों से जिसकी उपयोगिता सिद्ध हो उसे ही निश्चित धर्म माना जाता है। इसी विचार से कर्म करते ही रहना, इस सिद्धान्त पर, इस अध्याय में भगवान् ने तीनों दृष्टियों से विचार किया है। अपने तुच्छ फल की आशा छोड़कर यज्ञार्थ समष्टि जगत् के हित के लिए कर्म करना यह आधिदैविक दृष्टि का विचार पहिले उपस्थित किया। समष्टि जगत् के परिचालक देवता ऋषि आदि हैं, उनके साथ यज्ञ से सम्पर्क स्थापित किया जाता है। इस विवरण के अनुसार इसे आधिदैविक दृष्टि समझना उचित होगा और लोक संग्रहार्थ कर्म करना यह दूसरा प्रकरण आधिभौतिक दृष्टि का हुआ। क्योंकि भूत रूप मनुष्यों पर प्रभाव की दृष्टि से इस पर विचार किया गया। आगे “प्रकृतेः क्रियमाणानि” इत्यादि पद्यों द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से विचार किया गया। शरीर, मन, बुद्धि आदि में कर्म किस प्रकार होता है यह विचार करने के कारण इसे आध्यात्मिक दृष्टि समझना उपयुक्त है। इस प्रकार तीनों दृष्टियों से कर्म करते रहने का उपपादन यहाँ किया गया। अब इनमें आध्यात्मिक दृष्टि के विचार में अर्जुन को सन्तोष न हुआ। वह सोच सकता है कि मुझे भगवान् अभी तक पूर्ण ज्ञानियों की श्रेणी में न समझ कर ही कर्म करने का ही उपदेश दे रहे हैं, तब मेरी दृष्टि में तो मन, बुद्धि आदि से जो कर्म होते हैं उनको प्रेरणा देने वाला मैं ही हूँ। मेरा अहंकार अभी निवृत्त नहीं हुआ है। इसलिए मेरी दृष्टि में तो जो मैं कर्म करूँगा वे मेरे अर्थात् आत्मा के ही कर्म समझे जायेंगे। तब फिर उन कर्मों का बन्धन मुझे क्यों न होगा? यह अर्जुन का भाव समझ कर आध्यात्मिक दृष्टि का दूसरा प्रकरण भगवान् उसके सामने रखते हैं कि प्रेरक होने के

कारण ही तुम कर्मों को अपने पर लादते हो तो आर्यशास्त्रों की दृष्टि से सबका प्रेरक तो मैं अर्थात् परमात्मा हूँ।

“यः आत्मनि तिष्ठत् आत्मानमन्तरो यमयति यस्यात्मा शरीरम्”

जो आत्मा अर्थात् जीवात्मा में बैठा हुआ उसका नियमन कर रहा है अर्थात् उसे चला रहा है, जिसका आत्मा शरीर है इत्यादि अन्तर्यामी ब्राह्मण की श्रुति में और “यमेवैष उन्निनीषति तं साधुकर्म कारयति” जिसको यह परमात्मा उन्नत बनाना चाहता है उससे अच्छे कर्म कराता है और जिसे नीचा गिराना है उससे बुरे कर्म कराता है इत्यादि श्रुतियों से, एवं “प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि” इत्यादि स्मृतियों से तथा “पराभिध्यानात् तुरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ, (वे०सू० ३।२।५) से यह सिद्ध है कि जीव जो कर्म करता है वह परमात्मा की प्रेरणा से ही करता है। इस अध्यात्म दृष्टि के अनुसार भी कर्मों का कर्तृत्व तुम पर नहीं आता। अपितु सबके प्रेरक मुझ परमात्मा पर ही सब कर्मों का दायित्व पहुँचता है। इस विचार से तुम्हें अपने आप का कर्मों का फल भोक्ता न समझकर मुझ पर ही सब कर्मों का संन्यास अर्थात् परित्याग या अर्पण कर देना चाहिए। यही उपदेश आगे भी विस्तार से दिया जायगा कि जो कुछ तुम करते हो वह मुझे अर्पण कर दिया करो। इससे तुम्हें कर्मों का बन्धन नहीं होगा। इस पर यह शंका होगी कि फिर तो कोई दुराचारी मनुष्य भी अपनी चोरी व्यभिचारी आदि कर्मों को खूब किया करे और प्रेरक होने के कारण भगवान् को ही अपने दुराचारों का फल अर्पण कर दो। इस प्रकार तो समाज विशृङ्खल हो जायगा। इस शंका के उत्तर के लिए उत्तरार्ध में कहा जाता है कि कर्मफल की कोई भी आशा न रखकर और उन कर्मों में अपना ममत्व न समझकर ही सब कर्मों को मुझे अर्पण किया जा सकता है।

जब तक जीव आशाओं व ममता में बँधा हुआ है तब तक उसका चित्त मुझे कर्मों का अर्पण करने में राजी ही कैसे होगा? “नारायणायेति समर्पयेत्” इत्यादि वाणी से कह लेना सहज है किन्तु मन में से कर्मफल की आशा को निकाल डालना बहुत कठिन कार्य है। जब मन में आशा और ममता न रही तब कोई भी मनुष्य दुराचार करेगी ही क्यों? दुराचार तो इन्द्रियों की तृप्ति के लिए होते हैं और जब इन्द्रियों में अहंता या ममता हो तब ही तक उनकी तृप्ति के लिए मनुष्य व्यापार करेगा और उस व्यापार के फल रूप में इन्द्रियतृप्ति की आशा भी अवश्य रखेगा। जिसने सब फलों की आशा छोड़ दी और शरीर, इन्द्रिय, मन आदि में जिसकी ममता भी न रही उससे दुराचार होने का प्रसंग ही कैसे आ सकता है? यहाँ पुनः शंका होगी कि आशा ममता छोड़ने पर जैसे दुराचार का प्रसंग नहीं आता उसी प्रकार सदाचार

का भी तो प्रसंग नहीं आयेगा। इसका उत्तर है कि आशा ममता न रहने पर भी शास्त्रों में विधान रहने के कारण शास्त्र की आज्ञा से सदाचार करना तो सम्भव हो सकता है किन्तु दुराचार की कोई शास्त्र आज्ञा नहीं देता इसलिए दुराचार का प्रसंग नहीं आता। बस, इस पद्य में यही उपदेश दिया जाता है कि तुम ऐसा अभ्यास करो कि आशा और ममता तुम्हारी दूर हो जाय फिर निराशी और निर्भय होकर अपने सब कर्मों को पूर्वोक्त अध्यात्म दृष्टि से मेरी प्रेरणा से हुए मानकर मुझे ही अर्पण कर दिया करो। अर्थात् अपने आप उनका फल भोगने की कोई इच्छा व संभावना न किया करो। इस बुद्धि से यह जो तुम्हें सन्ताप हो रहा है कि युद्ध में गुरु आदि की हिंसा करने से मुझे बड़ा पाप होगा और उसका अत्यन्त बुरा फल मुझे भोगना पड़ेगा। इस ज्वर अर्थात् सन्ताप को छोड़कर युद्ध रूप शास्त्रोक्त कर्म में प्रवृत्त हो जाओ। (३०)

इस अपने उपदेश किए हुए कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य मेरे इस मत के अनुसार कार्य करते रहते हैं, मेरे कथन में श्रद्धा रखते हैं, और असूया नहीं करते वे भी पापों से छूट जाते हैं। मनुष्य में दोष दर्शन की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, जिन गुरु आदि में उस वृत्ति के रोकने की प्रवृत्ति हो जाय, अर्थात् जिनके विषय में दोष देखने का कभी अवसर ही न आने दे, उस मन की वृत्ति को श्रद्धा कहते हैं। संस्कृत भाषा में शृत् यह अव्यय चिपकने के अर्थ में आया करता है, जिन गुरु ईश्वर आदि में मन को चिपकने दिया जाय उनके विषय में फिर दोष दर्शन का प्रसंग ही नहीं रहता। शृत् पूर्वक मन का आधान ही श्रद्धा है। असूया इसके विपरीत होती है। जहाँ किसी के गुणों में भी खोद खोदकर दोष ही निकालने की वृत्ति हो उसे असूया कहते हैं। यही भगवान् ने कहा है कि मेरे उपदेश में जो श्रद्धा रखें और असूया का भाव बिल्कुल न आने दें, उनके भी पापों का क्षय हो जाता है।

भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने 'अहं' इस अस्मद् शब्द का प्रयोग अव्यय पुरुष के लिए ही प्रायः किया है। चतुर्थाध्याय के आरम्भ में स्पष्ट होगा कि भगवान् कृष्ण अपने को अव्यय पुरुष का अवतार ही कहते हैं और "मया ततमिदं सर्वम्" मैंने ही सब जगत् को उत्पन्न किया है। "मत्स्थानि सर्वभूतानि" मेरे आधार पर ही सब भूत रहते हैं इत्यादि उपदेशों की संगति भी अस्मद् शब्द का अव्यय पुरुष अर्थ मानने पर ही हो सकती है। क्योंकि अवतार रूप कृष्ण में सब भूत स्थित भी नहीं है। किन्तु इस पद्य में "मेरे इस मत के अनुसार जो आचरण करते हैं" यहाँ अस्मद् शब्द से अवतार रूप कृष्ण का ग्रहण करने से ही संगति हो सकती है। कहीं कहीं अस्मद् शब्द का अर्थ अवतार रूप भी माना जाता है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने विज्ञान

भाष्य में इसकी एक तालिका दी है कि कहाँ कहाँ गीता में अस्मद् शब्द का अव्यय पुरुष अर्थ है और कहाँ कहाँ अवतार रूप कृष्ण अर्थ है। यहाँ अवतार रूप कृष्ण ही अर्थ उन्होंने बतलाया है— 'मेरा यह मत है' ऐसा कहना व्यक्ति रूप में ही संगत हो सकता है। अथवा यदि यहाँ भी अव्यय पुरुष ही अर्थ लेना हो तो 'मेरे मत' में इन शब्दों का अर्थ होगा कि सब पुरुषों में आत्मा रूप से अनुप्रविष्ट अव्यय पुरुष का यह मत अर्थात् आदेश है। आरम्भ के प्रवचनों में स्पष्ट किया जा चुका है कि आत्मा का आदेश उत्तम कार्यों में ही मिलता है। जब कोई पुरुष किसी दुराचार में प्रथम प्रवृत्त हो तो वह बार बार झिझकता है कि मैं ऐसा क्यों कर रहा हूँ? मानों आत्मा उसे रोकता है कि ऐसा मत कर। इसलिए आत्मा का भीतरी निर्देश जिस काम में हो उसे धर्म ही समझना चाहिए। भगवान् का उपदेश यही है कि निष्काम भाव से कर्म करने में आत्मा की सम्मति है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों का उपयोग करना आत्मा चाहता है। इसलिए ज्ञान की तरह कर्म में भी आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। किन्तु फल की इच्छा बुद्धि व मन का धर्म है। वह विशुद्ध आत्मा का निर्देश नहीं। बुद्धि व मन का धर्म जब प्रबल हो जाता है तब वे आत्मा के अन्तर्निर्देश की परवाह नहीं करते। इसीलिए अभ्यास हो जाने पर दुराचारों में भी फिर रोक नहीं होती। इस प्रकार मेरा मत शब्द अन्तर्यामी पुरुष के निर्देश पर भी लगाया जा सकता है।

यहाँ 'अपि' शब्द आने से श्रीरामानुजाचार्य यह भाव भी इस पद्य का बतलाते हैं कि जो किसी कारण मेरे उपदेश के अनुसार कार्य करने में असमर्थ हों किन्तु मेरे उपदेश में श्रद्धा रखें और असूया अर्थात् दोष देखने की प्रवृत्ति न करें उनका भी श्रद्धा के कारण पाप क्षय हो जाता है। (३१)

इसके विपरीत जो मनुष्य मेरे इस कथन में असूया करते हैं अर्थात् बिना फल की इच्छा के कर्म होगा ही कैसे? इत्यादि दोष ढूँढने की प्रवृत्ति रखते हैं और मेरे उपदेशानुसार उक्त कर्मयोग का आचरण नहीं करते अथवा पूर्व पद्य के दूसरे अर्थ के अनुसार अपने भीतर बैठे हुए अन्तर्यामी पुरुष की आवाज भी जो आग्रह वश नहीं सुनते उन्हें ऐसा समझो कि ये सब प्रकार के ज्ञान में मूढ़ हैं। उन्हें किसी युक्ति से समझाकर सीधे मार्ग पर नहीं लिया जा सकता। वे अचेता अर्थात् विचार शून्य हो गये हैं और ये नष्ट ही होंगे अर्थात् संसार में रहते हुए जन्म मरण के प्रवाह में पड़े रहेंगे। ऐसा समझ कर उनकी उपेक्षा ही करना उचित होगा। उन्हें समझाना भी व्यर्थ है क्योंकि वे समझ ही नहीं सकते। यही बात श्रीभर्तृहरि ने भी नीति शतक में विस्तार से कही है कि 'चाहे कोई बालू मिट्टी से तेल निकाल ले, मृग तृष्णा के जल से पान कर अपनी तृप्ति करले, इधर उधर घूम कर शशशृंग भी प्राप्त करले। ऐसी असम्भव बातें हो सकती हैं किन्तु आग्रह रखने वाले मूर्ख का चित्त कभी नहीं सुधारा जा सकता।' वह पद्य इस प्रकार है—

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,  
 पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः ।  
 कदाचिदपि पर्यटन् शशविषाणमासादयोत्,  
 न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥

इस पद्य में साहित्यशास्त्र की दृष्टि से 'मिथ्याध्यवसिती' अलंकार है। जहाँ किसी बात को अत्यन्त मिथ्या अर्थात् असम्भव सिद्ध करने के लिए अन्यान्य बातों की कल्पना की जाय वहाँ 'मिथ्याध्यवसिती' अलंकार होता है। यहाँ श्रीभर्तृहरि ने आग्रही मूर्ख पुरुष का चित्त बदलना अत्यन्त असम्भव है। इसी बात को सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त पद्य के तीन चरण कहे हैं कि चाहे ऐसी असम्भव बातें बन भी जाये तो भी आग्रही मूर्ख का चित्त नहीं बदला जा सकता। यहाँ पूर्वोक्त सिकता से तेल निकालने, मृग तृष्णा का जल पीने या शश विषाण अर्थात् शशक का सींग प्राप्त करने में सफलता होगी, ऐसा आशय नहीं है। किन्तु इन बातों से भी अधिक असम्भव आग्रही मूर्ख का चित्त बदलना है। यह उसकी अत्यन्त असम्भवता में ही तात्पर्य है। इसी आशय से भगवान् ने कहा है कि उन्हें नष्ट ही समझो। उन्हें समझाने का कोई प्रयत्न न करो। (३२)

“गीता का विषय विभाग” शीर्षक व्याख्यान में हम लिख आये हैं कि श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने प्रकरण विभाग अन्य प्रकार से ही किया है। उनके मतानुसार गीता में चार विद्या, चौबीस उपनिषद् और एक सौ आठ उपदेश हैं। यह क्रम द्वितीयाध्याय से प्रारम्भ होता है। इनमें पहली यह राजर्षि विद्या अथवा वैराग्य योग विद्या षष्ठाध्याय की समाप्ति पर्यन्त है। उसमें आठ उपनिषद् हैं। उनमें से आत्मा नित्य और ज्ञान स्वरूप है। यह सांख्य निष्ठा और फलासक्ति छोड़कर कर्म करना, यह कर्मयोग निष्ठा जिनमें प्रतिपादित है, वे दो उपनिषद् द्वितीयाध्याय में कही गईं। जिनका विभाग प्राचीन व्याख्याकार भी उसी प्रकार मानते हैं। अब तृतीयाध्याय में बुद्धियोग साधन करने वाले को कर्म परित्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि आत्मा ज्ञानकर्ममय है। उसका एक अंश छोड़ना किसी प्रकार उचित नहीं होता। यह आत्माश्रितसाम्ययोग नाम की तीसरी उपनिषद् यहाँ पूर्ण होती है। अर्थात् उनके मतानुसार यहाँ एक प्रकरण समाप्त है। जिसमें कि कई प्रकार से कर्म परित्याग की अनुचितता दिखाई गई है और फलाशा और आसक्ति छोड़कर कर्म निरन्तर करने का आदेश है। इससे ज्ञान कर्ममयआत्मा का पूर्ण विकास होगा। यह दूसरी बात है कि अपने अधिकारानुसार कोई व्यक्ति ज्ञाननिष्ठा को ही प्रधानता दे और कोई कर्मनिष्ठा को ही प्रधान मानकर उसका अनुसरण करे। किन्तु सर्वथा किसी एक का परित्याग नहीं होना चाहिए। ज्ञान की उपेक्षा कर केवल



कर्म में आसक्त रहने वाले जिस प्रकार निन्दनीय हैं उसी प्रकार केवल ज्ञान में निरत होकर कर्म संन्यास करने वाले भी उचित मार्ग पर नहीं कहे जा सकते। यही बात यहाँ तक के प्रकरण में कही गई है। इसलिए उन्होंने इस प्रकरण का नाम 'आत्माश्रितसाम्ययोग' रक्खा है। इसके आगे तृतीयाध्याय की समाप्ति तक बुद्धियोग के प्रतिबन्धक जो दोष हैं उनके परित्याग का प्रतिपादन होगा। वह चौथी उपनिषद् होगी। इनमें उपदेशों का विभाग पृथक् पृथक् बतलाना यहाँ अशक्य है। क्योंकि इससे ग्रन्थ बहुत बढ़ जाने का भय है। जिनको यह सब पूर्ण रूप से जानाना हो वे उनके विज्ञान भाष्य का ही पर्यालोचन करें।



## चौवनवाँ-पुष्प

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।  
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ (३३)  
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।  
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ (३४)  
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।  
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ (३५)

इस पद्य की अवतरणिका प्रायः प्राचीन टीकाकारों ने यही मानी है कि जब आप सब लोगों के हितैषी होकर उत्तम उपदेश देते हैं तो फिर लोग क्यों नहीं चलते? अथवा यह भी अवतरणिका हो सकती है कि पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार ऐसा आग्रह मनुष्यों को क्यों हो जाता है कि अपने हित के उपदेश में भी ध्यान नहीं देते अथवा अपने अन्तर्यामी पुरुष की ध्वनि भी आग्रह वश नहीं सुनते। ऐसा आग्रह ही क्यों हो जाता है? इन बातों का कारण भगवान् बतलाते हैं कि ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा अर्थात् शरीर का व्यापार करता है। सब प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं। मेरी आज्ञा अथवा अन्तर्यामी का निर्देश रूप निग्रह इसमें क्या करेगा? निग्रह का अर्थ रोक होता है अर्थात् प्रकृति के अनुसार चलने में उन्हें किसी के उपदेश से रोक नहीं हो सकती।

यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है। जिसे लौकिक भाषा में आदत कहा जाता है। पूर्वजन्म के कर्मानुसार जिसकी जैसी आदत बन जाती है उसी के अनुसार वह सब काम किया करता है। आदत के अनुसार काम करने उसे शास्त्र व उपदेश रोक नहीं सकते। यहाँ प्रश्न होगा कि जब ऐसा ही है कि पूर्व कर्म के अनुसार आदत बनती है और उसके अनुसार ही मनुष्य नये नये काम भी करता है तब फिर शास्त्रों में मनुष्यों को कर्तव्य का उपदेश ही क्यों दिया गया? जब शास्त्र के उपदेश से कोई रोक नहीं हो सकती तो फिर व्यर्थ इतने शास्त्रों का आडम्बर क्यों रचा गया? इसका उत्तर कई विद्वान् कई प्रकार से देते हैं। आयुर्वेद के आविष्कर्ता चरक महर्षि ने लिखा है कि—

‘हन्यते दुर्बलं दैवं पौरुषेण विपश्चिता’

अर्थात् दैव और पुरुषार्थ का एक प्रकार का संघर्ष होता है। जो दुर्बल है वह परास्त हो जाता है। इसका तात्पर्य यह निकला कि शास्त्रों के उपदेश से जो हम करना चाहेंगे वह पुरुषार्थ होगा और पूर्व कर्मानुसार हमारा स्वभाव हमें जिधर लगाता है वह दैव है। यदि दैव प्रबल है अर्थात् पूर्व जन्म के कर्म प्रबल हैं और उनसे हमारी

प्रकृति व आदत भी दृढ़ बनी है तो शास्त्र जनित पुरुषार्थ हार जायगा अर्थात् दृढ़ स्वभाव वाला मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करेगा, उसके लिए शास्त्र की आज्ञा व्यर्थ ही होगी। किन्तु यदि पूर्व कर्म जनित प्रकृति (स्वभाव) शिथिल है और शास्त्र व गुरु का उपदेश प्रबल है तो वह उस दैव को परास्त कर देगा और शास्त्रानुसार ही मनुष्य की प्रवृत्ति होगी। ऐसे शिथिल स्वभाव वाले पुरुषों के कल्याण के लिए ही शास्त्र बनाए गए हैं और उन पर ही गुरुओं का उपदेश भी काम करता है। यह स्वभाव की दृढ़ता व शिथिलता फल देखकर ही प्रतीत हो सकती है। इसलिए उपदेश सबको ही दिये जाते हैं कहीं वे निष्फल भी हो जाते हैं तो कहीं सफल भी होते हैं।

लोकमान्यतिलक ने गीतारहस्य में भी इस रहस्य पर विस्तृत विचार किया है। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि स्वभाव पूर्व कर्मानुसार कैसा भी बना हो किन्तु वह आत्मा की स्वतंत्रता को सर्वथा छिपा नहीं सकता। समय समय पर आत्मा की स्वतंत्रता उभड़ती ही है। उस स्वतंत्रता को उभाड़ने या सहायता देने के लिए ही शास्त्रों और गुरुओं के उपदेश होते हैं। किसी समय वे उपदेश काम कर जाते हैं और स्वभाव बदल कर भी मनुष्य काम कर बैठता है, इसलिए शास्त्रों या गुरुओं के उपदेश व्यर्थ नहीं कहे जा सकते। इसीलिए इस पद्य में भगवान् निग्रह को व्यर्थ बतलाते हैं और इसके अगले श्लोक में ही फिर रागद्वेष के छोड़ने का उपदेश देते हैं। इसको विचारने पर यही तात्पर्य निकाला जा सकता है कि रागद्वेष रूप प्रकृति पूर्व कर्मानुसार बनी हुई है। मनुष्य अपने आत्मा की स्वतंत्रता से उसे दबाये और रागद्वेष के वश में न हो।

प्रकृत श्लोक में लोकमान्यतिलक ने यह आशय प्रकट किया है कि प्रकृति को बलपूर्वक इकदम नहीं रोका जा सकता। इससे वे इस पद्य का आशय भी संन्यास मार्ग की अनुपयुक्तता में ही लगाते हैं। संन्यास मार्ग में विषयों में जाती हुई इन्द्रियों को बलात् रोकना पड़ता है। इसका परिणाम यही होगा कि स्वभाव सिद्ध इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति रुकेगी नहीं इन्द्रियों के रोक देने पर भी मन में विषयों का ध्यान बना रहेगा इससे पूर्वोक्त कथन के अनुसार यह मनुष्य मिथ्याचार या ढोंगी बन जायगा। इसलिए उत्तर श्लोक में कहा गया है कि धीरे धीरे अभ्यास के द्वारा रागद्वेष का शमन किया जाय तब इन्द्रियाँ अपने आप रुकेंगी, यही कर्मयोग का मार्ग है। इससे इन पद्यों में भी संन्यास की अनुपयुक्तता और कर्मयोग की उपयोगिता ही उनके मतानुसार बतलाई गई है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने प्रकृति का प्रथम परिणाम जो महान् है उसके कार्यभेद से तीन भेद अपने ग्रन्थों में माने हैं

१. आकृति महान्
२. प्रकृति महान्
३. अहंकृति महान्

वही महान् पुरुषों की भिन्न भिन्न प्रकार की आकृति या स्वरूप बनाया करता है। जैसा कि भगवद् गीता के चौदहवें अध्याय में स्पष्ट किया जायगा और दूसरा कार्य वह प्रकृति अर्थात् आदत बनाने का कारण है। प्रकृति या स्वभाव भी महान् के अनुसार ही बनता है और सब व्यावहारिक आत्माओं में अहंभाव भी वही उत्पन्न करता है जिसे अहंकार या अहंकृति कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार इस पद्य में प्रकृति शब्द का त्रिगुणात्मक ही अर्थ किया जाय तो भी कोई क्षति नहीं। प्रकृति के परिणाम रूप अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार आचरण करना भी प्रकृति का ही अनुगमन है। इस अर्थ के अनुसार पूर्वोक्त पद्यों से ही इस पद्य का भी सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है कि प्रकृति अर्थात् प्रकृति का परिणाम—महान् ही सब कुछ करता है। उसका अभिमानी चेतन पुरुष तो अज्ञान वश उसके कार्यों को अपने ऊपर लाद लेता है इसी अंश में अन्वय व्यतिरेकरूप प्रमाण इस पद्य से उपस्थित किया कि बुद्धिमानों को भी हम प्रकृति के अनुसार कार्य करता हुआ पाते हैं। इससे “प्रकृति के अनुसार कार्य होते हैं, प्रकृति विरुद्ध नहीं होते” इस अन्वय व्यतिरेक के अनुसार प्रकृति का ही कर्तृत्व सिद्ध होता है। प्रेरणा के कारण जो आत्मा पर कर्तृत्व की शंका हो सकती थी उसका निराकरण मध्य के पद्य में दिखाकर आगे फिर प्रकृति के कर्तृत्व का प्रमाण दे दिया। इस प्रकार पद्यों की संगति भी नहीं बिगड़ती। इनके मतानुसार भी शास्त्रोपदेश की सार्थकता इसी प्रकार है कि महान् ने जो प्रकृति बनाई है शास्त्र व गुरु के उपदेशों से उसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। एकदम परिवर्तन चाहे दुष्कर प्रतीत हो किन्तु अभ्यास से परिवर्तन हो सकता है इसमें आत्मा की स्वतंत्रता ही कारण है।

वेदान्त शास्त्र के पंचदशी नामक निबन्ध के प्रणेता श्रीविद्यारण्यस्वामी पंचकोषों में से विज्ञानमय कोष को व्यावहारिक जीव और आनन्दमय कोष को उसका प्रेरक अन्तर्यामी परमात्मा कहते हैं। आनन्दमय कोष अविद्या रूप है, कर्म और ज्ञान की वासनाएं उसी में रहती है। वह वासना वश ही जीव को कर्मों में प्रेरित करता रहता है। “ईश्वर की प्रेरणा से जीव कर्म करता है” इस प्रकार के श्रुति स्मृति वाक्यों में परमात्मा पद से यही आनन्द मय कोष विचक्षित है, ऐसा उन्होंने माना है। उस मत से भी शास्त्र गुरु आदि के उपदेशों से शनैः शनैः वासनाओं में परिवर्तन किया जा सकता है इसी से शास्त्र और गुरु उपदेश की चरितार्थता होती है।

अपनी प्रकृति के अनुसार ही मनुष्य कर्म किया करता है, इसी विषय का स्पष्टीकरण दूसरे पद्य में किया जाता है कि इन्द्रियों के अपने अपने विषयों में राग और द्वेष निश्चित रूप से होते हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। इनके विषय हैं क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। ये यदि इन्द्रियों के अनुकूल हों तो उनमें इन्द्रियों का अनुराग अर्थात् प्रेम हो जाता है। उन अनुकूल विषयों की ओर

इन्द्रियाँ बार बार जाना चाहती हैं। इसी प्रकार वाणी, हाथ, पैर और मल मूत्र त्याग की दोनों नीचे की इन्द्रियाँ, ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं अर्थात् इनसे काम किया जाता है। इनकी प्रवृत्ति भी अनुकूल अर्थों में ही होती है। वाणी से बोलने का कार्य किया जाता है। बोलने का स्वर भी अपने अनुकूल ही रक्खा जाता है। प्रतिकूल कठोर व कर्कश भाषण में वाणी की प्रवृत्ति नहीं होती। हाथ का काम किसी वस्तु को ही उठाना है। प्रतिकूल सर्प, बिच्छु आदि के उठाने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। पैर का काम है चलना, वह भी अनुकूल मार्ग पर ही चलता है। नीचे की इन्द्रियों का कार्य माना गया है विसर्ग अर्थात् छोड़ना पायु का और आनन्द लेना उपस्थ का। इनकी भी अपने अनुकूल विषयों में प्रवृत्ति स्पष्ट है। जिन मल आदि के परित्याग में सुख प्रतीत हो उनका ही त्याग पायु अर्थात् गुदा से किया जाता है। यह अपने अपने विषयों में अनुकूलता व प्रतिकूलता प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार ही होती है। जैसा कि अन्त के अध्याय में स्पष्ट किया जायगा कि रजोगुण वाले पुरुष को चटपटे, खट्टे आदि पदार्थ ही अनुकूल होते हैं और सत्व गुण वाले को स्निग्ध, मधुर आदि पदार्थ खाने में प्रिय होते हैं। इसी प्रकार सब इन्द्रियों में समझ लेना चाहिए। इससे सिद्ध हुआ कि प्रकृति के गुणों के अनुसार ही इन्द्रियों के राग और द्वेष नियत हैं। उत्तरार्ध में आत्मा की स्वतंत्रता दिखाई जाती है कि इन प्रकृति जन्य रागद्वेषों के चक्कर में आत्मा को नहीं पड़ना चाहिए। कर्म करे किन्तु रागद्वेष के वश में होकर नहीं। अपना कर्तव्य समझ कर कर्म करता रहे। फल की आशा में पड़कर कर्म किया जाय तो वह रागद्वेष मूलक होगा। ये राग और द्वेष आत्मा के परिपन्थी अर्थात् शत्रु हैं। इन्हीं रागद्वेषों के कारण आत्मा को संसार में भटकना पड़ता है। इसलिए रागद्वेष का निग्रह कर आत्मा को स्वतंत्र बनाना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। यह निग्रह का उपदेश किस प्रकार चरितार्थ होगा इसका विवरण पूर्व पद्य के व्याख्यान में विस्तार से किया जा चुका है। (३४)

अब प्रश्न यह होता है कि यह तो आपने सिद्ध किया कि कर्म करना चाहिए किन्तु युद्ध जैसा घोर कर्म, जिसमें असंख्य प्राणियों की हिंसा होगी, ऐसा कर्म तो किस प्रकार कर्तव्य मार्ग में आ सकता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए द्वितीयाध्याय में कहे हुए स्वधर्मानुष्ठान का यह पुनः अनुवाद करते हैं कि वर्णाश्रमाचार के अनुसार जो धर्म जिस वर्ण व आश्रम के लिए शास्त्रों में नियत किया गया है वह ही उस वर्ण व आश्रम का धर्म देखने में अच्छा प्रतीत हो, या उसका अनुष्ठान अच्छे प्रकार से उस व्यक्ति के द्वारा किया जाना सम्भव हो, तो भी पर धर्म की अपेक्षा स्वधर्म ही कल्याण देने वाला है यह समझना चाहिए। अन्यत्र कहा गया है कि दोष तो सभी कर्मों में निकाले जा सकते हैं जैसे बिना धूम के अग्नि प्रगट नहीं की जा सकती। इसी प्रकार बिना दोष का कोई कर्म भी नहीं होता। किन्तु शास्त्रानुसार अपने वर्णाश्रमानुकूल जो धर्म नियत है उसमें दोष नहीं देखना चाहिए। अपने धर्म का आचरण करते हुए यदि

मृत्यु भी हो जाय तो वह कल्याणकारक है। अपने वर्णाश्रम के प्रतिकूल दूसरे के धर्म का आचरण करना तो सदा ही भय देने वाला है। यह उस बात का उत्तर है जो अर्जुन ने द्वितीयध्याय में कहा था कि यह भी तो विदित नहीं है कि हम जीतेंगे या हारेँगे। इसका उत्तर पहले द्वितीयाध्याय में भी दिया जा चुका है कि यदि मारे गए तो स्वर्ग जाओगे और जीत गए तो यहाँ राज्यभोग करोगे, इस प्रकार दोनों हाथ लड्डू हैं। उसका विवरण हम वहीं कर चुके हैं। यहाँ वही विषय प्रसंगागत दुहराया गया है। इस प्रकार दूसरे के धर्म को दूसरा लेने लगेगा तो वर्णाश्रम व्यवस्था बिगड़ जायगी, पर बिगाड़ने का पाप उस व्यक्ति पर आयेगा इसीलिए उसे भयावह कहा गया। लोकमान्यतिलक यहाँ पर भी विवरण करते हैं कि भारत के अतिरिक्त जिन देशों में वर्ण व्यवस्था नहीं है वहाँ भी जिसने रुचिकर समझ कर जिस कार्य को अपना लिया उसी में जीवन यापन करना उसके लिए श्रेयस्कर होगा। जन्म भर सैनिक रूप से रहने वाला मनुष्य यदि बहुत आयु के बाद व्यापार के मार्ग में जाने लगे तो उस मार्ग में अपनी प्रकृति के न होने के कारण उसे सफलता न मिलेगी यही भयावहता यहाँ बतलाई है। जिस कार्य के अनुष्ठान में जो मनुष्य लग जाता है वही कार्य उसका स्वभाव सिद्ध हो जाता है। उसके प्रतिकूल चलने में स्वभाव विरोध होता है और वह अच्छा नहीं।

वस्तुतः यह उपदेश भारतीय अर्जुन के प्रति दिया गया है और भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था अनादि काल से प्रचलित है। इसलिए यहाँ स्वधर्म पद से वर्णाश्रमोचित धर्म का ग्रहण ही उचित है। उसके विरुद्ध आचरण करने से समाज व्यवस्था भग्न हो जायगी। यही बड़ा भारी भय है। (३५)



## पचपनवाँ-पुष्प

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाष्ण्य बलादिव नियोजितः ॥ (३६)

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ (३७)

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।

यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ (३८)

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।

कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ (३९)

इस प्रकार धर्म की प्रशंसा सुनकर अर्जुन को जिज्ञासा हुई कि जब धर्म सब प्रकार के श्रेय का उपाय है तो फिर सभी मनुष्य धर्म का आचरण क्यों नहीं करते? फल की इच्छा ही तो उपाय की इच्छा में कारण होती है, जब फलरूप सुख व श्रेय की इच्छा सबको है उसके उपायरूप धर्म में भी सब की प्रवृत्ति होनी चाहिए। किन्तु बात उल्टी देखते हैं कि जनता की प्रवृत्ति प्रायः धर्म के विरुद्ध पापकर्मों में होती है। यह क्यों होता है? इस जिज्ञासा को प्रकट करने के लिए वह प्रश्न करता है कि— हे वाष्ण्य! अर्थात् वृष्णि-यादवों के कुल में उत्पन्न कृष्ण, पुरुष पाप का आचरण किस की प्रेरणा से करता है। आपके कहने से प्रतीत होता है कि— अन्तर्यामी परमात्मा तो धर्म कार्य में ही मनुष्य को प्रेरित करता है। फिर परमात्मा से भी बड़ा कौन है जो पुरुष को पापाचरण में लगा देता है। किसी किसी समय हम ऐसा अनुभव करते हैं कि हम किसी पापकर्म को करना नहीं चाहते तो भी कोई ऐसी शक्ति है जो मानों बलपूर्वक खींचकर हमें पापकर्म नियुक्त कर देती है। जैसे कोई राजा का भृत्य पकड़ कर किसी पुरुष को बेगार के काम में बलपूर्वक लगा देता है, इसी प्रकार बिना इच्छा के भी कोई शक्ति पापकर्म में पुरुष को प्रवृत्त कर देती है। वह कौन सी शक्ति है?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! यह शक्ति का काम है। 'एष' इस एतत् पद से वह काम सबको प्रत्यक्ष है सबके अति-समीपवर्ती मन का धर्म है यह सूचित करते हैं। अथवा अभी जो मैं तुम्हें बतला आया हूँ कि इन्द्रियों के अपने विषयों में राग और द्वेष नियत रूप से होते हैं, यह राग ही काम शब्द से कहा जाता है। यही बलपूर्वक पापाचरण में मनुष्य को लगा देता है। यही क्रोध के रूप में परिणत हो जाता है। जैसा कि द्वितीयाध्याय में "कामात् क्रोधः प्रजायते" यह कह चुके हैं। अर्थात् किसी विषय की कामना हुई

और किसी के विघ्न करने से वह कामना पूर्ण न हो सकी तो उस विघ्न करने वाले व्यक्ति पर क्रोध हो जाता है। वही क्रोध चिरस्थायी होने पर द्वेष कहलाने लगता है। ये काम और क्रोध त्रिगुणात्मक अन्तःकरण की रजोगुण से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ हैं। व्याख्याकारों ने ऐसा भी अर्थ किया है कि रजोगुण प्रवृत्ति रूप है। उस व्यक्ति का उद्भव काम व क्रोध से ही होता है इसलिए यह काम व क्रोध रज अर्थात् प्रवृत्ति का उद्भव अर्थात् उत्पत्ति का कारण है। यह महाशन है अर्थात् इसका भोजन बहुत है। इसलिए भोजन देकर इसकी तृप्ति कर दी जायगी, यह विचार मत करना। जितना भोजन देते जाओगे उतनी ही अभिलाषा अर्थात् उतना ही काम और बढ़ता जायगा और 'बहुत पापी अर्थात् बड़ा दुष्ट है' समझाने से भी यह मानने वाला नहीं उसे अपना पूरा बैरी समझो।

व्याख्याकार ऐसा कहते हैं कि अग्रिम पद्यों में भगवान् इस काम और क्रोध का वध करने को कहेंगे। वहाँ पर शंका होती है कि साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार उपाय शत्रु पर प्रयुक्त किये जाते हैं। उनमें दण्ड तो अन्तिम उपाय है। पहले तीन से ही काम चल जाय तो उस चौथे तक क्यों दौड़ना। इसलिए उन उपायों की यहाँ गति नहीं, यही इन तीन विशेषणों से बतलाया। महापाप्मा अर्थात् बड़ा दुष्ट है, इसलिए साम से मानने वाला नहीं और महाशन अर्थात् बहुत भोजन वाला है, इससे दान का भी अनुपयोग बतलाया। अर्थात् जितना इसे देते जाओगे उतना ही बढ़ता जायगा। इसका स्पष्टीकरण 'निःस्वो वद्विषतं' इत्यादि भर्तृहरि श्लोक की व्याख्या में हम पूर्वपुष्पों में कर चुके हैं। यह रजोगुण से उत्पन्न होता है और प्रकृति के गुण नित्य हैं उन्हें कोई हटा नहीं सकता। इसलिए भेद की भी सम्भावना नहीं रहती। तब अन्तिम उपाय दण्ड ही यहाँ उपयुक्त हो गया। इसीलिए इसे मार डालने का ही उपदेश भगवान् देते हैं।

जैसा कि शंका में पूर्व कहा गया है कि क्या यह कामरूपा शक्ति परमात्मा से भी बड़ी है? परमात्मा तो शुभ कार्य में प्रवृत्त करता है और यह पापाचरण में लगा देती है। इसका उत्तर देने को आगे भगवान् कहते हैं कि प्रकृति के गुण परमात्मा से बड़े तो नहीं किन्तु अन्तःकरण में प्रकाश रूप से भासित होने वाले परमात्मा का आवरण कर लेते हैं। इनसे ढँका जाने पर परमात्मा की आज्ञा का वह प्रकाश होने ही नहीं पाता। वेदान्त ग्रन्थों में इसका यह दृष्टान्त दिया जाता है कि जैसे अत्यन्त छोटा भी मेघ खण्ड सूर्य का आवरण कर लेता है। वस्तुतः सूर्य का आवरण वह नहीं कर सकता। इतने बड़े सूर्य को वह छोटा सा मेघ खंड क्या ढँक सकता है? किन्तु हमारी दृष्टि जो सूर्य पर जाती है उसके बीच में पड़कर उस दृष्टि का आवरण कर लेता है।



इसी प्रकार हमारे अन्तःकरण में जो परमात्मा का ज्ञान रूप प्रकाश आता है उसका ही आवरण काम व क्रोध के द्वारा हो जाता है। उस आवरण के ही तीन दृष्टान्त आगे के पद्य में दिए गए हैं जैसे धूम से अग्नि ढँक दिया जाता है, व मैल से दर्पण अर्थात् काँच ढँक दिया जाता है, व जैसे उल्व अर्थात् जरायु से गर्भस्थ बालक आवृत वेष्टित ढँका हुआ रहता है उसी प्रकार काम व तदुत्पन्न क्रोध से यह अन्तःकरण का प्रकाश ढँका हुआ है।

इन तीनों दृष्टान्तों से यह बतलाया कि ये ढकने वाले पदार्थ जिससे उत्पन्न होते हैं उसी को ढँक लेते हैं। धूम अग्नि से ही पैदा होता है और फिर अग्नि को ही ढँक लेता है। मैल भी किसी बाह्य पदार्थ के (वस्तु के) संयोग से दर्पण में ही उत्पन्न होता है और आगे उसे ही ढँक लेता है। इसी प्रकार जरायु भी गर्भ का ही एक अंश है और वह गर्भ को ही ढँका हुआ रखता है।

कई व्याख्याकार इसका निरूपण इस प्रकार करते हैं कि काम की तीन अवस्था होती है। सूक्ष्म, स्थूल और अतिस्थूल। किसी अप्राप्त वस्तु की जो देख सुनकर इच्छा होती है वह काम की सूक्ष्म अवस्था है। एकबार किसी वस्तु का उपभोग कर लेने पर पुनः जो उसकी इच्छा होती है वह काम की स्थूल अवस्था है। और बार बार उपभोग करने पर जो निरन्तर इच्छा बनी रहती है अर्थात् जो इच्छा तृष्णा के रूप में चली जाती है वह काम की अतिस्थूल अवस्था है। इन तीन अवस्थाओं को ही तीन दृष्टान्तों से भगवान् ने उपस्थित किया है। जैसे धूम अग्नि के प्रकाश का आवरण करता है, उसकी दाह करने वाली शक्ति को नहीं छिपा सकता, इसी प्रकार सूक्ष्मावस्था वाला काम भी अन्तःकरण में विवेक भावना को छिपा लेगा किन्तु विषय प्रकाश को नहीं छिपा सकता। विषयों का भान अन्तःकरण में होता ही रहता है। मैल काँच की प्रतिबिम्ब दिखाने वाली शक्ति को ही छिपा देता है। इसी प्रकार काम की स्थूल दशा अन्तःकरण में दूसरी वस्तु का भान ही नहीं होने देती। एक ही काम्य वस्तु पर ध्यान लग जाता है। अन्तःकरण की सब वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली शक्ति ही ढँक जाती है। किन्तु जैसे मलावृत दर्पण का स्वरूप दिखाई देता रहता है इसी प्रकार यहाँ भी काम्य वस्तु पर गए हुए अन्तःकरण का स्वरूप दिखाई देता रहता है। किन्तु जरायु गर्भ को इस प्रकार वेष्टित व आवृत कर लेती है कि गर्भस्थित बालक के हाथ पैर भी नहीं फैलने देती और जब तक जरायु को अलग न किया जाय तब तक बालक का स्वरूप ही उससे ढँका रहता है। इसी प्रकार तृष्णा रूप में गई हुई काम की अतिस्थूलावस्था अन्तःकरण को ही सर्वथा ढँक देती है। अत्यन्त बड़ी हुई काम व क्रोध की अवस्था में अन्तःकरण में अन्धकार हो जाता है। प्रकाश करना उसका स्वभाव ही मानो ढँक जाता है। “तेनेदमावृतम्” इस वाक्य में इदं शब्द जो आया है उसका विवरण भगवान् ने आगे के पद्य में ज्ञान शब्द से किया है ऐसा अनेक व्याख्याकार मानते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य ने इदम् शब्द से जीव सामान्य का ग्रहण किया है। हमारे विचार से यहाँ इदम् शब्द से प्रत्यक्ष अन्तःकरण ही लिया जाना उचित होगा। काम व क्रोध से अन्तःकरण का ही पूर्वोक्त रूप में आवरण होता है।

इस पद्य के विषय को ही दृढ़ करने के लिए अग्रिम पद्य में भगवान् कहते हैं कि इस कामरूप ज्ञानी के नित्य वैरी ने ज्ञान को ढँक रक्खा है। काम के पूर्वोक्त विशेषणों को पुनः दुहराते हुए कहते हैं कि यह दुष्पूर है। इसकी पूर्ति होती ही नहीं। इसीलिए यह अनल है। अनल शब्द के दोनों अर्थ हैं एक

“न अलं पूर्णता यस्य”

इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका अर्थ व्याख्याकारों ने यह किया है कि इसकी पूर्णता होती ही नहीं। किन्तु इस अर्थ में दुष्पूर और अनल दोनों शब्द पुनरुक्त हो जायँगे। इस विचार से रूपकालंकार मानकर यह अर्थ किया जाता है कि यह काम अनल अर्थात् अग्नि रूप है। जैसे अग्नि में जितना ईंधन डालो उतना ही वह बढ़ता है। ईंधन से कभी अग्नि की तृप्ति नहीं होती। इसी प्रकार विषयों के उपभोग से काम की तृप्ति नहीं होती। इस सादृश्य से इसे अनल रूप कहा गया।

अन्तःकरण का आवरण हो जाने के कारण उसकी ज्ञानरूप वृत्ति भी आवृत रूप में ही उदित हो पाती है। अर्थात् काम से आक्रान्त पुरुष की जो मनोवृत्ति होगी उसमें ज्ञान का अंश ढँका रहता है काम ही प्रबल रहता है। ज्ञान का कार्य है वस्तु का यथार्थ स्वरूप दिखा देना। किन्तु काम का उदय होने पर वस्तु का यथार्थ ज्ञान ढँक जाता है। काम उसे प्रकाशित होने का अवसर ही नहीं देता। जैसा लोक में प्रत्यक्ष है कि मीठे, खट्टे, चटपटे पदार्थ खाने की इच्छा मनुष्यों को होती है। किन्तु उन पदार्थों का यदि पूरा विवेचन ज्ञान कर दे तो वह इच्छा स्वतः विलीन हो जाय। मीठे पदार्थ सब इक्षु के विकार रूप होते हैं और वह इक्षु मृत्तिका का ही रसायनिक प्रक्रिया से एक विकार विशेष है। मृत्तिका का स्वाद लेने की कोई मनुष्य कभी इच्छा नहीं करता। प्रत्युत मृत्तिका का मुख व हाथ में भी स्पर्श हो जाने पर उसे यत्न से प्रक्षालन करने की प्रवृत्ति होती है। जब मृत्तिका का इतना निरादर है तो उसी के विकारभूत मिठाई पर इच्छा क्यों? इसी प्रकार खट्टे, चटपटे आदि पदार्थ भी इमली, नीबू, मिर्च इत्यादि से बनते हैं और ये सब पदार्थ भिन्न भिन्न वृक्षों से उत्पन्न होने के कारण मृत्तिका के ही परिणाम कहे जा सकते हैं। मृत्तिका और जल ही सूर्य किरणों के आकर्षण से ऊपर बढ़कर वृक्ष रूप में आते हैं। उन्हीं का कोई अंश इमली, नीबू, मिर्च आदि के रूप में परिणत होता है, फिर मृत्तिका के स्वाद की यदि इच्छा नहीं होती तो उसके विकारों के स्वाद लेने का इतना आग्रह क्यों? इस प्रकार का वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान यदि

उदित हो जाय तो काम विलीन हो जायगा। इसी प्रकार स्त्री सम्पर्क भी काम की प्रधान वृत्ति है। उसके विषय में भर्तृहरि ने अपने वैराग्य शतक में लिखा है कि—

कुचौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ ।  
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम् ॥  
स्त्रवनमूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघन्  
महो निन्द्यं रूपं कविवरविशेषैर्गुरुकृतम् ॥

अर्थात् मांस बढ़कर शिराओं के योग से जो एक प्रकार की ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं वे कुच कहलाते हैं। इन्हें कवि लोग सुवर्ण कलश की उपमा देकर बड़ा महत्त्व दे देते हैं। मुख जिसमें कफ, थूक आदि अपवित्र पदार्थ भरे रहते हैं, उस मुख को चन्द्रमा की उपमा दे दी जाती है और तो क्या जो क्षरित होते हुए मूत्र से सदा गीला होता रहता है उस जघनस्थल अर्थात् जंघा को भी हाथी की सूँड़ से उपमा देकर बहुत बढ़ा दिया जाता है। इस प्रकार स्त्री का रूप जो अत्यन्त निन्दनीय है उसको कवियों ने अपने वर्णनों से बहुत स्पृहणीय रूप से दिखा दिया है। यह है वस्तु विचार। इस वस्तु विचार को काम का विरोधी माना गया है। अर्थ के लोभी पुरुष जिन सुवर्ण, चाँदी, रत्न आदि की अत्यन्त लोलुपता से अभिलाषा करते हैं वे भी सूर्य किरणों के पृथ्वी के विशेष अंशों से प्रतिफलित होने वाले रूप हैं। इन सब का वास्तविक विचार यदि किया जाय तो इनकी अभिलाषा व तृष्णा स्वतः निवृत्त हो जायगी। किन्तु काम का जब उदय होता है तो वस्तु विचार पर पर्दा पड़ जाता है। काम्य वस्तु का तत्त्व ज्ञान उदित ही नहीं हो पाता, केवल कामना उसकी रहती है और कामना का प्रतिघात होने पर क्रोध हो जाता है। ये ही काम और क्रोध संसार दशा में प्रधान रहते हैं। इस काम को भगवान् ने ज्ञानी का नित्य वैरी बतलाया है। इसका आशय यह है कि सांसारिक अज्ञानी पुरुष तो उपभोग दशा में इसे अपना हितकर समझते हैं। अनन्तर ही कुछ ज्ञान का आभास होने पर इसे अपकारक व शत्रु समझने लगते हैं। जैसा कि उपभोग करते करते जब इन्द्रियों में शिथिलता आ जाती है तब संसारी पुरुष भी इन वृत्तियों को अपना शत्रु मानने लगते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष यदि प्रारब्ध वश उपभोग में प्रवृत्त भी हो तो उस दशा में भी काम, क्रोध वृत्तियों को अपना शत्रु समझता रहता है। इसलिए ज्ञानी का इस काम और क्रोध को नित्य वैरी बतलाया गया। यद्यपि नीति शास्त्र में छः शत्रु माने गए हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। इन्हें अरि षड्वर्ग कहा जाता है और इनके जीतने का मनुष्यों को उपदेश दिया जाता है। किन्तु इन सब में काम ही प्रधान है और सब काम के ही दशा विशेष हैं। इसलिए भगवान् ने यहाँ काम को ही मुख्य शत्रु बतलाया। कहा जा चुका है कि काम ही किसी के द्वारा प्रतिहत होने पर अर्थात् रोका जाने पर क्रोध रूप में परिणत हो जाता है। काम अर्थात् इच्छा

की किसी विषय में निरन्तर प्रवृत्ति को ही लोभ कहा जाता है और यही काम जब ज्ञान को ढँक लेता है तो उसे मोह कहते हैं। जैसा कि आगे के पद्यों में बतलाया जायगा। काम की पूर्ति होने पर जो एक प्रकार की आत्मा में गर्व की भावना हो जाती है कि मैंने इस काम को प्राप्त कर लिया मैं ही संसार में सब कुछ हूँ, सबसे बड़ा हूँ, यह वृत्ति ही मद नाम से कही जाती है और दूसरे पुरुष का छिद्रान्वेषण करते रहना मात्सर्य है जो कि काम जनित क्रोध का ही एक रूप है। इस प्रकार का काम ही षड्वर्ग रूप में परिणत होता है। इसीलिए भगवान् ने यहाँ काम को ही मुख्य वैरी बतलाया। अर्जुन के प्रश्न का यह उत्तर हुआ कि यह काम ही मनुष्य को बलपूर्वक पापकर्म में प्रवृत्त किया करता है। काम से ही प्रेरित होकर मनुष्य सब प्रकार के पापों में प्रवृत्त होता है। काम में आसक्त होने पर वही मनुष्य की प्रकृति अर्थात् आदत बन जाती है जिसका विवरण पूर्व श्लोक की व्याख्या में किया जा चुका है। यद्यपि भगवान् मनु ने धर्म और अधर्म दोनों ही प्रवृत्तियों का कारण काम को ही बतलाया है। उन्होंने कहा है कि वेद पढ़ना और वेदोक्त कर्म करना यह सब भी काम के कारण ही होते रहते हैं। बिना काम के कोई भी क्रिया नहीं होती। तथापि यहाँ अर्जुन का प्रश्न 'पाप कौन करता है'? इसलिए पाप के प्रयोजक रूप से ही भगवान् ने काम को बतलाया। अथवा इस प्रकार कहें कि कर्मयोग जो भगवान् बतला रहे हैं उसके आगे कामनापूर्वक किए जाने वाले वैदिक कर्म भी उसके विरोधी होने से पाप रूप में ही गिनने योग्य हैं। कर्मयोगी को तो सब कामों का परित्याग करना चाहिए। तभी मुख्य धर्म कर्मयोग सिद्ध होगा। इसी अभिप्राय से आगे के पद्यों में भगवान् काम के नाश कर देने का ही उपदेश करते हैं।



## छप्पनवाँ-पुष्प

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।  
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ (४०)  
तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।  
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ (४१)  
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।  
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ (४२)  
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।  
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ (४३)  
इतिभगवद्गीतायां कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

जब शत्रु को मारना हो तो पहले उसके स्थान का पता लगाना आवश्यक होता है। प्राचीन काल की रीति यही थी कि राजा लोग एक दुर्ग (गढ़ व किला) बनाकर उसमें अपने आपको सुरक्षित रखवा करते थे। उनके मारने वाले शत्रु पहिले उनका किला ही तोड़ते थे। तब ही वे सुगमता से मारे जाते थे। इसी के अनुसार भगवान् पहिले काम रूप शत्रु के स्थान व किले बतलाते हैं कि इन्द्रियाँ मन और बुद्धि इस काम के अधिष्ठान अर्थात् स्थान व किले हैं। इनमें ही प्रतिष्ठित होकर इनके द्वारा यह काम ज्ञान का आवरण कर देही अर्थात् देहाभिमान आत्मा को विशेष रूप से मोहित करता है। यह पूर्वोक्त तत्त्व ज्ञान अर्थात् वस्तु विचार का आवरण ही मोह शब्द से कहा जाता है। यह पूर्व पद्य में कह चुके हैं। 'देही' शब्द से यहाँ यह सूचित करते हैं कि जिसे देहाभिमान हो, उसे ही काम मोहित किया करता है। देहाभिमान छोड़ देने पर काम स्वतः ही मर जायगा अथवा कुछ रहा भी तो मोह उत्पन्न न कर सकेगा।

काम की प्रवृत्ति पहिले इन्द्रियों में ही होती है। इन्द्रियाँ ही अपने अपने विषय की ओर काम वश झुकती हैं। विषयों का ग्रहण करना इन्द्रियों का कर्तव्य है। फिर इन्द्रियों के लाये हुए शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों की यथावत् कल्पना करना अर्थात् यह विषय इस प्रकार का है, इसका पूर्व भी अनुकूल रूप से या प्रतिकूल रूप से हमने अनुभव किया है, यह समझना मन का कर्तव्य है। अब भी यह विषय हमारे अनुकूल होगा व प्रतिकूल, इस रूप में वर्तमान में अपने साथ उसका सम्बन्ध समझना, यह अहंकार रूप अन्तःकरण की वृत्ति मध्य में होती है। यह भी सांख्यदर्शन आदि में माना गया है और अन्त में यह विषय मेरा ग्राह्य है या परित्याज्य व उपेक्ष्य यह निश्चय कर देना बुद्धि का कर्तव्य है। इन्द्रियों ने जब काम प्रेरित होकर अपने विषय को उपस्थित किया तो मन में भी काम का व्यापार होकर मन भी उस तरफ झुक

जाता है और फिर बुद्धि भी उसे ग्राह्य समझ लेती है। इस प्रकार काम इन्द्रिय, मन और बुद्धि तीनों में रहता है। यद्यपि काम इच्छा का ही नाम है। इच्छा कहो या काम दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है, और इच्छा पहिले मन में ही होती है। इसलिए मन को ही पहला मुख्य अधिष्ठान कहना उचित था। परन्तु मन की प्रेरणा से प्रथम प्रवृत्ति काम्य विषयों की ओर इन्द्रियों की ही होती है। इस अभिप्राय से भगवान् ने पहिले इन्द्रियों का ही नाम लिया और इसी अभिप्राय से आगे के पद्य में भी पहिले इन्द्रिय जय को ही मुख्यता देते हैं। (४०)

पहिले विषयों की ओर प्रवृत्ति इन्द्रियों की ही होती है फिर मन और बुद्धि इन्द्रियों से खिंचकर विषयों पर जाते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् उपदेश देते हैं कि हे भरतर्षभ! अर्थात् भरत कुल के राजाओं में सर्वश्रेष्ठ अर्जुन! तुम पहिले इन्द्रियों को रोककर इस ज्ञान विज्ञान का नाश करने वाले अत्यन्त पापी काम को मार डालो। “भरतर्षभ” पद देने से यह सूचित किया कि तुम भरत कुल के राजाओं में श्रेष्ठ हो, ज्ञान के अधिकारी हो, इसलिए काम को मार सकोगे। ‘प्रजहि हि’ इस पद की दोनों प्रकार की व्याख्यायें प्राप्त होती हैं। यदि इसे ‘ओ दाक् त्यागे’ धातु का ‘जहिहि’ रूप माना जाय तो इसका अर्थ होगा काम को बिल्कुल छोड़ दो और ‘प्रजहि’ पद पृथक् निकाल कर आगे के ‘हि’ को पृथक् अव्यय मान लिया जाय तो अर्थ होगा कि पूर्ण रूप से मार डालो जिससे कि आगे उत्पन्न ही न होने पाये। आगे के दूसरे पद्य में केवल ‘जहि’ पद ही दिया गया है। वहाँ तो मारना ही अर्थ होगा। किन्तु यहाँ ‘ओ दाक् त्यागे’ धातु मानने वालों का आशय है कि पहिले त्याग करो फिर धीरे धीरे मन को शुद्ध करते हुए मार ही डालना। मुख्य तात्पर्य मार डालने अर्थात् सदा पूर्ण रूप से परित्याग कर देने में ही है। कई व्याख्याकार यहाँ इन्द्रिय पद को उपलक्षण मानकर मन और बुद्धि का भी ग्रहण इस पद से करते हैं। उनके मतानुसार अर्थ होगा कि मन, बुद्धि और इन्द्रिय सबका निग्रह करके काम को छोड़ दो या मार दो। और कई व्याख्याकार यहाँ इन्द्रियों का ही रोकना कहते हैं। मन और बुद्धि का रोकना अग्रिम पद्यों में बतलाते हैं।

यहाँ ज्ञान और विज्ञान दो पद आये हैं। प्राचीन व्याख्याकारों के मतानुसार इनका अर्थ इस प्रकार है कि शब्द श्रवण से जो परोक्ष ज्ञान होता है वह ज्ञान पद से कहा गया, और मनन और निदिध्यासन के अनन्तर जो प्रत्यक्ष जैसा ज्ञान होता है वह विज्ञान शब्द का अर्थ है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी इन शब्दों का यह अर्थ मानते हैं कि अनेक पदार्थों में व्यापक रूप से एक तत्त्व को देखना ज्ञान है और एक तत्त्व का ही अनेक रूप से विकास देखना यह दृष्टि विज्ञान है। इसका विशेष विवेचन

“ज्ञानन्तेऽहं सविज्ञानं” इत्यादि सप्तमाध्याय के पद्य की व्याख्या में किया जायगा। इन दोनों का ही काम से आवरण होता है। काम इन दोनों दृष्टियों को ढँककर मानो मार ही देता है। इसलिए इसे ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाला कहा गया। (४१)

आगे के दोनों पद्यों के व्याख्यान में व्याख्याकारों का बहुत बड़ा मतभेद है। श्रीशंकराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार यह अर्थ कहते हैं कि काम का हनन किस प्रकार किया जाय, इसका स्पष्टीकरण इन पद्यों में किया जाता है। इन्द्रियाँ स्थूल शरीर की अपेक्षा उत्तम हैं। क्योंकि स्थूल शरीर में प्रकाश देने वाली हैं और अहंकार तत्त्व से साक्षात् उत्पन्न होने के कारण व्यापक भी हैं। इसीलिए दूर के विषयों का भी ग्रहण चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा हो जाता है। उन इन्द्रियों से भी पर अर्थात् उच्च श्रेणी का मन है। क्योंकि मन की सहायता से ही इन्द्रियाँ अपने विषयों में जा सकती हैं। यदि मन किसी अन्य विषय में लगा हुआ हो तो मनुष्य सामने से निकले हुए हाथी जैसे बड़े पदार्थ को भी नहीं देखता। तोप की जैसी बड़ी ध्वनि को भी नहीं सुनता, इसलिए इन्द्रियों की प्रवृत्ति मन की सहायता से ही सब शास्त्रों में मानी जाती है, इस कारण मन उनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ हुआ और मन से भी पर है बुद्धि, क्योंकि मन के उपस्थित किए विषयों पर निश्चय रूप से बुद्धि ही विचार करती है। उस बुद्धि से भी पर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ वह है। यहाँ ‘वह’ पद से आत्मा लिया गया जिसका कि पूर्व पद्यों में ‘देही’ नाम से विवरण हो चुका है। वह देही या आत्मा बुद्धि, मन व इन्द्रिय सबमें चेतनता रूप प्रकाश देता है। इसलिए उसे सबसे ऊँचा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। आगे के पद्य में उपदेश है कि इस प्रकार बुद्धि से पर आत्मा को समझ कर उसे मन, बुद्धि आदि के द्वारा स्थिर करके (जब मन बुद्धि में विकार रूप वृत्ति पैदा नहीं होगी तब आत्मा स्थिर रहेगा। मन व बुद्धि की चञ्चलता से उनकी वृत्तियों का प्रभाव व प्रतिबिम्ब आत्मा पर भी पड़ता है। इसी से आत्मा स्थिर रहता हुआ भी चञ्चल जैसा प्रतीती होने लगता है। जब मन व बुद्धि में कोई विकार न होगा तो आत्मा की स्थिरता स्पष्ट प्रतीत हो जायगी) इस काम रूपी दुःख से मारने योग्य शत्रु को मार डालो। तुम महाबाहु हो। तुम्हारे बाहु विशाल हैं, युद्ध में प्रवीण हो, इसलिए इस शत्रु को भी मार सकोगे। ‘दुरासद’ पद से यह सूचित किया जाता है कि कामरूप शत्रु को प्राप्त करना भी कष्ट साध्य है। मन और बुद्धि की वृत्तियों में कितना अंश काम का है और उसने किस प्रकार वस्तु तत्त्व ज्ञान को ढँका है यह ज्ञान भी कठिनता से होता है। क्योंकि काम अपने रूप में ही मन, बुद्धि आदि को रँगा रखता है। जब उसका पहिचान लेना ही कठिन है तो मारना तो कितना कठिन होगा, यह सहज ही समझ

में आ सकता है। आत्मज्ञान से ही अर्थात् मन, बुद्धि आदि से पृथक् रूप से आत्मा को जान लेने पर ही काम की विजय व मारना हो सकता है। यह कठोपनिषद् की नीचे लिखी हुई श्रुति का ही आंशिक अनुवाद है। वह श्रुति इस प्रकार है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्नपरं किञ्चद् सा काष्ठा सा परागतिः ॥

अर्थात् इन्द्रियों से पर (श्रेष्ठ) अर्थ उनके ग्राह्य विषय हैं। अर्थ अपनी ओर इन्द्रियों को खींच लेते हैं। इस अभिप्राय से उनको पर कहा गया है और अर्थों से परे मन है। अथवा पर शब्द का अर्थ पर रहने वाला ही किया जाय। शरीर के भीतर इनका सन्निवेश इस प्रकार है कि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को लाकर अपने ऊपर रखती हैं। मन इस विषयों की अच्छे बुरेपन की विवेचना किया करता है। इसलिए अर्थों की स्थिति इन्द्रिय और मन के बीच में बतलाई गई। अर्थों से आगे मन है। मन से भी आगे व उत्कृष्ट बुद्धि है, बुद्धि से महान् आत्मा पर है, महान् आत्मा से पर अव्यक्त अर्थात् प्रकृति है और प्रकृति से भी पर पुरुष है अर्थात् आत्मा है। पुरुष से पर कोई नहीं कहा जा सकता। परत्व अर्थात् श्रेष्ठत्व की वह सीमा है वही परम गति है।

इस श्रुति का ही आंशिक अनुवाद यहाँ किया गया है। श्रुति में जो महान् आत्मा और अव्यक्त अर्थात् प्रकृति को कहा गया था उसका यहाँ बुद्धि पद से ग्रहण कर लिया गया। उनका पृथक् विवरण नहीं किया। यह श्रीशंकराचार्य के मतानुसार इन श्लोकों की व्याख्या हुई।

कई विद्वान् ऐसा भी ऊह करते हैं कि महान् और अव्यक्त मूल अज्ञान के मुख्य रूप हैं। यहाँ उपदेष्टा भगवान् कृष्ण नित्य ज्ञानी हैं उनकी दृष्टि में वह अज्ञान आता ही नहीं। इससे उन्होंने बुद्धि से पर ही आत्मा को बतला दिया। श्रीरामानुजाचार्य इन पद्यों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि यहाँ पर शब्द से तत्त्वज्ञान का विरोध करने में जो उच्च है अर्थात् अधिक भाग लेता है वही कहा गया है। तत्त्वज्ञान के विरोध में पहिला भाग इन्द्रियों का है, वे ही अपने विषयों की ओर दौड़ जाती हैं, इससे तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हो पाता। किन्तु इन्द्रियाँ चुपचाप भी रहें तो भी मन में यदि इच्छा बनी रहे तो भी तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता। इससे मन तत्त्वज्ञान के विरोध में इन्द्रियों से अधिक भाग लेता है। यदि मन भी चुप हो जाय तो भी बुद्धि में यदि



कामवासना दृढ़ हो गई है तो भी ज्ञान का उदय नहीं होता। इस कारण बुद्धि को मन से भी पर कहा गया, और इन्द्रिय, मन और बुद्धि तीनों में ही यदि काम का उदय न हो तो भी रजोगुण की परिणाम भूत इच्छा सूक्ष्म रूप से तत्त्वज्ञान को रोके रखती है। उस समय वह इच्छा रूप काम बुद्धि से भी पर सूक्ष्म रूप से रहता है और तत्त्वज्ञान का विरोध करता रहता है। इस प्रकार 'तत्' शब्द से उन्होंने काम को ही लिया। आगे के पद्य में वे कहते हैं कि इस प्रकार बुद्धि से भी पर अर्थात् ज्ञान का विरोध करने में सबसे उच्च श्रेणी का काम को समझ कर अपने आत्मा अर्थात् बुद्धि को स्थिर करके इस दुरासद कामरूप शत्रु को मार डालो। यह बुद्धि से भी पर काम की कल्पना इनकी नयी है। काम वृत्ति को बुद्धि से पर मानने की उपनिषदों में भी कोई सूचना नहीं मिलती। इसी कारण वैष्णव टीकाकारों ने भी प्रायः इनकी व्याख्या का अनुसरण नहीं किया।

सम्पूर्ण महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठजी इन पद्यों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि पर शब्द से केवल उत्कृष्टता बतला देना या सन्निवेश बतला देना व्यर्थ है। इससे कोई लाभ नहीं। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि यहाँ 'पर' शब्द से सूक्ष्मतत्त्व या कारण लिया गया है। जिसका आशय यह होगा कि स्थूल रूप कार्य का सूक्ष्म रूप कारण में लय कर देना चाहिए। पहिले इन्द्रियों को पर बतलाया अर्थात् स्थूलभूत शरीरादि जगत् की कारण रूप इन्द्रियाँ हैं। कौषतकी उपनिषद् का प्रमाण उपस्थित कर उन्होंने यह बतलाया है कि प्राणों से देवता प्रकट होते हैं और देवताओं से भूत प्रकट होते हैं। यहाँ प्राण शब्द इन्द्रियों का ही बोधक है। उनसे इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता प्रादुर्भूत होते हैं और उन देवताओं से पंचमहाभूत प्रकट होते हैं। इससे इन्द्रियों की स्थूल पदार्थों के प्रति कारणता स्पष्ट हो जाती है। यह सभी मानते हैं कि स्थूल प्रपंच का कारण सूक्ष्म प्रपंच है। स्थूल प्रपंच में पंच महाभूत हैं और सूक्ष्म प्रपंच देवतामय है। इससे भी देवताओं की कारणता सिद्ध हो जाती है। देवता प्राणरूप है और इन्द्रियाँ भी प्राणरूप हैं। इसलिए स्थूल प्रपंच का कारण इन्द्रियों को कहना युक्तियुक्त ही है। उन इन्द्रियों का भी कारण मन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मन से ही देखता है, मन से ही सूँघता है इत्यादि। इससे सब इन्द्रियाँ मन के ही विकार हैं यह सिद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से यहाँ इन्द्रियों से भी पर मन को कहा गया और मन से पर बुद्धि को बतलाया। बुद्धि मन का भी कारण है यह बात तैत्तिरीय उपनिषद् के पंचकोष निरूपण से सिद्ध हो जाती है। वहाँ विज्ञान अर्थात् बुद्धि को प्रज्ञान अर्थात् मनके अन्तर्भूत मन से भी सूक्ष्म बतलाया गया है। सूक्ष्म ही स्थूल का कारण होता है। इससे बुद्धि मन का कारण सिद्ध हुई। उस बुद्धि से भी पर आत्मा है। आत्मा तो सब का कारण प्रसिद्ध ही है उसकी प्रथम वृत्ति मनोरूप ही होती है। इस सब कथन से यह सिद्ध किया गया कि काम के हनन के लिए पहिले स्थूल शरीर को

इन्द्रियों में लीन करना चाहिए। इन्द्रियों को मन में, मन को बुद्धि में, और बुद्धि को आत्मा में लीन करे। यही बात श्रुति में भी कही गई है —

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

अर्थात् वाक् और मन को ज्ञान में लीन करना। ज्ञान को महान् आत्मा में लीन करना, महान् आत्मा को शान्त आत्मा में लीन करना इत्यादि। यहाँ प्रकृत श्लोक में ज्ञान महान् और शान्त आत्मा तीनों का बुद्धि पद से ही ग्रहण किया गया है और उससे आगे जो मुख्य आत्मा बतलाया वह सबको प्रकाश देने वाला है। सबका कारण है। उसमें ही बुद्धि का लय करने पर काम का अत्यन्त नाश होगा। काम का अत्यन्त नाश होने पर आत्मा विशुद्ध रह जाता है यही मुक्ति का स्वरूप है। आगे पद्य में कहा गया है कि 'आत्मानम्' अर्थात् मन को 'आत्मना' अर्थात् मन से व बुद्धि से संस्तभ्य अर्थात् स्थिर करके और उसे हृदयाकाश सहित (हृदयाकाश में सब काम रहते हैं यह श्रुतियों में बतलाया गया है) बुद्धि से भी पर अर्थात् बुद्धि से अगम्य परमात्मा को जान कर इस काम रूप शत्रु का पूर्ण रूप से हनन कर देना चाहिए। इसका आशय पूर्वोक्त ही है कि बिना परमात्मज्ञान के और बिना मुक्ति प्राप्त किए काम का सर्वथा हनन सम्भव नहीं। काम का हनन ही मुक्ति है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी इसका अभिप्राय विवरण अपनी टिप्पणी में इस प्रकार करते हैं कि चेतना आत्मा का रश्मि (किरण) रूप ज्ञान बुद्धि, मन, और इन्द्रियों में क्रमशः प्रकाश देता रहता है। ये काम, क्रोध व रागद्वेष उस आत्मा के प्रकाश रूप ज्ञान विज्ञान को मलिन कर देते हैं। इस मलिन करने का क्रम यह है कि पहले इन्द्रियों में आये हुए ज्ञान को मलिन करते हैं। क्योंकि वहाँ ज्ञानरूप प्रकाश अल्प मात्रा में पहुँचता है। उसको मलिन करना सहज है। इसके अनन्तर मन में आये हुए आत्मा के प्रकाश ज्ञान विज्ञान को और फिर आगे बुद्धि में आये हुए प्रकाश को मलिन करते हैं। इस प्रकार यह मलिन भाव हमें आत्मा में भी दीख पड़ता है। यदि आत्मा को मन, बुद्धि आदि से पृथक् समझ लिया जायगा तो मन बुद्धि आदि में मलिनता आने पर भी आत्मा का मुख्य ज्ञान रूप प्रकाश निर्मल ही रहेगा। यही बात अन्तिम श्लोक में कही गई कि बुद्धि से पर अर्थात् भिन्न आत्मा को समझकर काम रूप शत्रु का भी नाश कर दो। अर्थात् काम के अधिष्ठान इन्द्रिय, मन और बुद्धि ही हैं, आत्मा इन सबसे पर है, आत्मा को इन सबसे पृथक् समझ लेने पर रागद्वेष या काम क्रोध उस पर कोई प्रभाव न डाल सकेंगे तब इनका रहना न रहना समान ही हो जायगा। यही काम के हनन का प्रकार बतलाया गया कि आत्मा इन सबसे पृथक् है यह मनन पूर्वक ठीक समझ लेना चाहिए।

लोकमान्य तिलक ने 'आत्मानम् आत्मना' इन पदों का अपने आपको संस्तभ्य अर्थात् रोककर यह अर्थ किया है और सब व्याख्या श्रीशंकराचार्य के समान ही है। पूर्व पद्य के इन्द्रिय नियमन का वे इतना ही अर्थ लगाते हैं कि कर्मयोगी इन्द्रियों को अपने वश में रखें। यथेच्छ प्रवृत्त न होने दें। इतना ही इन्द्रिय नियमन का अर्थ है। उन्हें संन्यास धर्म की तरह सर्वथा मार डालना विवक्षित नहीं है।

इति तृतीयोऽध्यायः



## सत्तावनवाँ-पुष्प

### चतुर्थ अध्याय

श्री भगवानुवाच—

इमं विवस्वतं योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।  
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (१)  
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।  
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ (२)  
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।  
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ (३)

द्वितीयाध्याय से आरम्भ कर तृतीयाध्याय में जिस कर्मयोग का विस्तार से वर्णन किया गया उसकी प्राचीन परम्परा आरम्भ में भगवान् बतलाते हैं कि यह योग अर्थात् कर्मयोग जो कि अव्यय अर्थात् अविनाशी है, सदा ही गुरु शिष्य परम्परा से लोकों में प्रचलित रहता है अथवा अव्यय पुरुष को प्राप्त करने का एक साधन है, इस कर्मयोग को पूर्वकाल में मैंने विवस्वान् के प्रति कहा था और विवस्वान् ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु को बतलाया, मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को कहा। इस प्रकार परम्परा से राजर्षियों में यह योग फैलता रहा। सब राजर्षि इसे जानते रहे। किन्तु बहुत बड़ा समय व्यतीत हो जाने पर यह योग नष्ट हो गया। अर्थात् लोग इसे भूल गए। हे परंतप! अर्थात् शत्रुओं को ताप देने वाले अर्जुन, आज यही कर्मयोग मैंने तुमको बतलाया है। यह शंका मत करना कि मुझसे भगवान् नई बात कह रहे हैं। यह कर्मयोग बहुत प्राचीन है और उत्तम रहस्य है। अर्थात् बिल्कुल छिपी हुई बात है। प्राचीन काल में प्रचलित थी किन्तु आज रहस्यभूत समझा जाता है। इस समय इसे कोई नहीं जानता। तुम मेरे भक्त और मित्र हो इसलिए मैंने तुम्हारे प्रति आज यह रहस्य प्रकाशित कर दिया है।

भारतीय सभ्यता में प्राचीन होने से ही किसी बात को प्रमाण माना जाता है। विशेष कर धर्म या कर्तव्य के सम्बन्ध में कोई नई बात प्रमाण नहीं माना जाती जब तक कि उसकी प्राचीन परम्परा सिद्ध न की जाय। इस प्रकार अन्य विषयों में भी प्राचीनता का अन्वेषण किया ही जाता है। इसी प्राचीनता से बचने के लिए कविवर कालिदास ने कहा है कि—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि किञ्चिन्नवमित्यवद्यम् ।

सन्तःपरीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढःपरप्रेत्ययनेयबुद्धिः ॥

अर्थात् पुरानी होने से ही सब बातों को अच्छा नहीं मान लेना चाहिए और नई होने से ही कोई बात अवद्य अर्थात् दोषयुक्त नहीं माननी चाहिए। सत् पुरुष परीक्षा करके अच्छा या बुरा समझते हैं। दूसरा कोई अच्छा कह दे, या प्राचीन समय से अच्छी कही जाती हों, ऐसी बातों पर विश्वास कर लेना मूढ़ पुरुषों का काम है। यह सब अपनी नई बात को प्रमाणित करने के लिए ही कहा गया है। आयुर्वेद में वाग्भट्ट ने नया ग्रन्थ बनाया। उसमें कई नई बातों की उद्धावना की। उन्हें भी यह कहना पड़ा—

ऋषिप्रणीते श्रद्धाचेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ ।

भेडाद्याः किंन पठ्यन्ते ततो ग्राह्यं सुभाषितम् ॥

अर्थात् केवल ऋषि प्रणीत होने के कारण ही ग्रन्थों पर श्रद्धा की जाय तो फिर चरक और सुश्रुत का ही इतना आदर क्यों? उन्हें छोड़ कर भेड़संहिता आदि ही क्यों न पढ़े जायें। ऋषि प्रणीतता तो उनमें भी समान ही है। चरक सुश्रुत का इतना आदर होने का कारण उनका सुभाषित ही है, तो फिर सुभाषित मेरा कहा हुआ भी क्यों न आदर पायेगा। अपनी नई बात का आदर लोक में कराने के लिए ही यह सब कहा जाता था। इससे यही सिद्ध होता है कि बिना प्राचीन परम्परा से मिलान के नई बात का आदर भारतीय सभ्यता में नहीं है। धर्म व कर्तव्य सम्बन्ध में तो यहाँ वेद को ही प्रमाण माना जाता है। वेद को भारतीय शिष्ट समुदाय अनादि मानता है इसलिए अत्यन्त प्राचीन उसका सम्प्रदाय होने के कारण उस पर कोई शंका नहीं की जा सकती। जिन बौद्ध, जैन आदि सम्प्रदायों ने वेद को प्रमाण नहीं माना, उन्हें भी अपने मत को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करने के लिए पुराने बुद्ध, जिन आदि का आश्रय लेना पड़ा।

यूरोप आदि पाश्चात्य देशों में इससे बिल्कुल उल्टी बात है। वहाँ नई बात की ही अधिक प्रतिष्ठा है। नई बात के आगे प्राचीन बात को तुच्छ समझा जाता है। नए-नए आविष्कार करने वाले ही वहाँ प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। इसका कारण है कि उनके यहाँ विकासवाद का सिद्धान्त है। अर्थात् सौ वर्ष पहले जो संसार था उससे आज का संसार उन्नत है, ऐसा वहाँ माना जाता है। किन्तु भारत का सिद्धान्त हासवाद है। यहाँ भारत का सिद्धान्त हासवाद है। यहाँ माना जाता है कि संसार क्रम से हास की ओर जा रहा है। इसीलिए यहाँ प्राचीनता की प्रतिष्ठा अधिक है। उन्नत मार्ग की ही सब लोग प्रतिष्ठा करते हैं। हमारे यहाँ हासवाद में जब प्राचीन काल ही उन्नत था तो उसकी ही प्रतिष्ठा होती है। पाश्चात्य देशों में विकास वाद के कारण नवीन समय ही उन्नत है। इसलिए वे नवीनता की ही प्रतिष्ठा करते हैं।

वस्तुतः विचार करने पर विकासवाद और हासवाद में दृष्टि-भेद ही कारण है। भारतीय दृष्टि अध्यात्म प्रधान है। ये आत्म सम्बन्धी उन्नति को ही उन्नति कहते हैं। जितना मनुष्यों को आत्मा के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान हो और उसके कारण सत्य अहिंसा आदि धर्मों की जितनी जिस समय प्रतिष्ठा अधिक हो उस काल को यहाँ उन्नति का समय कहा जाता है, और पाश्चात्य देशों में आधिभौतिक दृष्टि है। संसार में नए नए उपभोग के पदार्थों की प्राप्ति जिस समय हो उसे ही वे उन्नति का समय कहते हैं। यह मानी हुई बात है और प्रत्यक्ष सिद्ध भी है कि जितनी सांसारिक उन्नति होगी और उपभोग के साधनों में जनता जितनी फँसेगी उतनी ही आत्मा की ओर से उसकी दृष्टि हटती जायगी। इसलिए दृष्टि भेद के कारण जिसे वे विकासवाद कहते हैं उसे ही हम हासवाद कहते हैं अर्थात् पतन का समय कहते हैं। इस प्रकार दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। भारतीय संस्कृति का विश्वास है कि संसार अवनति की ओर फिसलता जाता है। जब विशेष अवनति हो जाती है तो कोई महान् शक्ति प्रकट होकर फिर उसे ऊँचे स्थान पर बैठा देती है। जहाँ से फिर वह प्राकृत नियमानुसार फिसलने लगता है। अधिक गिर जाने पर फिर कोई महाशक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। इसी विचार के अनुसार भगवान् ने कहा कि यह योग प्राचीन काल में प्रचलित था, अब काल क्रम से नष्ट हो गया। वह आज मैंने फिर तुम्हें बतलाया है। राजर्षियों में ही इस का प्रसार होने का कारण कई विद्वान् यह बतलाते हैं कि ब्राह्मणातिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य आदि को संन्यास का अधिकार नहीं है। इसलिए उन्हें सद्गति प्राप्त करने के लिए कर्मयोग का ही आश्रयण करना पड़ता है। अर्जुन भी क्षत्रिय ही है, इसलिए भगवान् ने इसे भी कर्मयोग ही बतलाया। किन्तु यह कथन उपयुक्त नहीं। संन्यास के लिंग धारण अर्थात् दण्ड, काषाय, वस्त्र आदि का क्षत्रिय आदि को निषेध भले ही माना जाय किन्तु ज्ञानयोग की प्रचलितता तो क्षत्रियों और वैश्यों में भी पुराने इतिहासों से सिद्ध होती है। राजर्षि जनक ज्ञानमार्ग के पूर्ण पथिक माने जाते हैं। मार्कण्डेय पुराण में समाधि वैश्य ने भगवती से ज्ञान का वरदान प्राप्त किया था। इसलिए राजर्षियों में ही कर्मयोग का प्रसार होने के कारण यही माना जा सकता है कि उनमें राज्यसुखभोग के कारण लम्पटता होना अधिक सम्भव है। अतः उनको ही इस वैराग्यमूलक कर्मयोग का उपदेश देना अधिक आवश्यक है जिससे वे राज्यसुखभोगों में न फँसें और अपने भविष्य कल्याण की ओर भी दृष्टि रक्खें।

यहाँ जो परम्परा कही गई है वह केवल मन्वन्तर की परम्परा है, इसी से उसे वैवस्वत मनु के पिता विवस्वान् से ही आरम्भ किया गया है। किन्तु प्राचीन मन्वन्तरों में भी इस योग की प्रचलिता और उसकी परम्परा व बार बार लुप्त होना और पुनः

किसी महापुरुष के द्वारा परम्परा प्रवृत्त होना, महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय प्रकरण (अ० ३४८) में बतलाया गया है। प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तर में यह योग नारद ने नारायण से प्राप्त किया था। आगे के मन्वन्तरों की परम्परा भी नारायणीय में वर्णित है। वैवस्वत मन्वन्तर की प्रक्रिया वहाँ इस प्रकार लिखी है कि नारायण से ब्रह्मा ने प्राप्त किया। ब्रह्मा ने दक्ष को दिया। दक्ष ने अपने ज्येष्ठ दौहित्र को और उन्होंने कनिष्ठ भ्राता विवस्वान् को दिया। दक्ष का दौहित्र अदिति का पुत्र विष्णु नाम का आदित्य है जिसे भगवान् कृष्ण ने विभूति अध्याय में “आदित्यानामहं विष्णुः” कहकर अपना रूप बतलाया है। इस प्रकार भगवान् का विवस्वान् को योग देना सिद्ध हो जाता है। आगे की परम्परा गीतोक्त ही है। नारायणीय भक्तिमार्ग का एक प्रतिष्ठित प्रकरण माना जाता है, उसमें भगवद्गीता का भी उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि वहाँ का भक्तियोग और भगवद्गीता का कर्मयोग एक ही है। भगवद्गीता में भागवत धर्म अर्थात् भक्ति मार्गों का पूर्ण विवरण प्राप्त होता ही है और जैसा कि हम आरम्भ के भूमिका रूप पुष्पों में लिख आये हैं कि वेद के अनन्तर संस्कृत वाङ्मय में भगवद्गीता ही भागवत धर्म का सबसे पुराना ग्रन्थ है। लोकमान्यतिलक ने भी ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग को ही गीता का मुख्य प्रतिपाद्य माना है और इसीलिए यहाँ भी योग शब्द का अर्थ वे कर्मयोग ही मानते हैं। प्रकरण से भी यहाँ योग शब्द का यही अर्थ सिद्ध होता है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने भी छः अध्यायों को राजर्षिविद्या या वैराग्ययोग ही कहा है। वैराग्ययोग शब्द का प्रयोग वे कर्मयोग में ही करते हैं। प्रकृत श्लोक पर भी उन्होंने शीर्षक दिया है—

**बुद्धि “योगस्य भगवन्मत सिद्धसनातनत्वोपनिषत्  
साम्ययोगस्य ज्ञान योग कर्मयोगाभ्यामतिप्राचीनत्वम्”**

इससे उनके मत में यहाँ योग शब्द का अर्थ बुद्धियोग सिद्ध होता है, वैराग्ययोग या कर्मयोग को वे बुद्धियोग का ही अंश मानते हैं। यह सब विषय आरम्भ के पुष्पों में कहा जा चुका है।

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य यहाँ योग शब्द का अर्थ ‘ज्ञाननिष्ठा लक्षणः स संन्यासः कर्मयोगोपायः करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कर्मयोग ज्ञाननिष्ठा प्राप्ति का उपाय है और उससे प्राप्त होने वाली ज्ञाननिष्ठा जिसके साथ कर्मसंन्यास भी सम्मिलित है वही गीता का मुख्य प्रपिपाद्य है। वही यहाँ योग शब्द से कही गई है। किन्तु नारायणीय में यही परम्परा जो बतलाई गई है, वहाँ कर्मयोग से ज्ञानयोग प्राप्त होता है, ऐसा कथन नहीं मिलता। वहाँ प्रवृत्ति धर्म की परम्परा नारद के द्वारा प्रवर्तित हुई यह प्राप्त होता है, और भागवत धर्म या भक्तियोग को भी वहाँ प्रवृत्तिधर्म के ही अन्तर्गत माना गया है और यहाँ भी “योगः” का विशेषण ‘तृतीयाध्याययोक्तः’

ऐसा श्रीशङ्कराचार्य ने भी माना है। तृतीयाध्याय में अधिकांश कर्मयोग का ही विवरण प्राप्त होता है। उनकी व्याख्यानुसार भी ज्ञानयोग का संकेत मात्र दो श्लोकों में है जैसा कि हम अपनी व्याख्या में कह चुके हैं। इसलिए यहाँ योग शब्द का अर्थ कर्मयोग ही करना उचित है। श्रीरामानुजाचार्य आदि ने भी योग शब्द का कर्मयोग ही अर्थ किया है। कर्मयोग और ज्ञानयोग की साधन और साध्यता के विषय में गीता का क्या प्रतिपाद्य है यह संक्षेप में कहा जा चुका है और आगे भी यथावसर इसका विवरण किया जायगा।

‘मैंने विवस्वान् को यह योग बतलाया’ यहाँ विवस्वान् शब्द से कोई विवस्वान् नाम का शरीरधारी पुरुष ही विवक्षित है और उसका पुत्र मनु भी कोई शरीरधारी ही हो सकता है। क्योंकि मनु या मनुष्यों में शरीरधारी पुरुष से ही परम्परा प्रवृत्त हो सकती है और आगे अर्जुन के प्रश्न में जो ‘विवस्वान् का जन्म पहले है’ यह कहा गया है वह भी विवस्वान् को जन्मधारी पुरुष विशेष ही सिद्ध करता है। पूर्व पुष्प में हम तीन प्रकार के देवताओं का विवरण कर आये हैं। उनमें से ये विवस्वान् और मनु तीसरे प्रकार के देवताओं के अन्तर्गत समझने चाहिये। इक्ष्वाकु से आगे तो मनुष्य वंश है यह सभी मानते हैं।

तुम मेरे मित्र हो इस वाक्य में भगवान् ने अर्जुन को अपना मित्र कहा। इस कथन पर यह शंका हो सकती है कि भगवान् का तो मित्र या शत्रु कोई नहीं हो सकता। वे तो रागद्वेष से सर्वथा शून्य हैं। इसी शंका के निवारणार्थ पहले ‘भक्तोसि’ पद दिया गया है। इससे यह अर्थ सिद्ध हो जाता है कि मेरे भक्त हो इसलिए मेरे मित्र हो। आगे भी भगवान् कहेंगे कि मैं सबके लिए समान हूँ। मेरा न कोई शत्रु है न मित्र, किन्तु जो मेरा भजन करते हैं वे अपने मन से सदा मुझमें रहते हैं। इसलिए मैं भी उनमें रहता हूँ अर्थात् उनसे दूर नहीं रहता। इस पर विशेष उस पद्य की व्याख्या ही में कहा जायगा। अथवा मनुष्यावतार रूप में सम्बन्धी होने के कारण और ईश्वर भक्त होने के कारण तुम मेरे मित्र हो ऐसा समझ लेने से कोई अनुपपत्ति नहीं रहती।





## अट्टावनवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।  
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ (४)

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।  
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ (५)  
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।  
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ (६)  
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।  
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ (७)  
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।  
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ (८)

ऐतिहासिक दृष्टि से चकित होकर अर्जुन प्रश्न कर बैठा कि आपका जन्म अपर अर्थात् बहुत पीछे का है और विवस्वान् का जन्म पर अर्थात् बहुत पूर्व काल का है, तब मैं यह कैसे मान लूँ कि आपने आदि में विवस्वान् को यह योग कहा? हमारे सामने जन्म लिया हुआ मनुष्य हजारों-लाखों वर्ष पहले होने वाले पुरुष को कोई विद्या सिखावे यह तो समझ में आ ही नहीं सकता। इस प्रश्न से सिद्ध होता है कि अर्जुन अभी तक भगवान् को कर्मवश जन्म लेने वाले सांसारिक पुरुष समझता है। इसीलिए विवस्वान् को उपदेश देने के लिए आप उस समय कहाँ से आये यह जिज्ञासा उसने प्रकट की।

उत्तर में भगवान् अपना स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन मेरे जन्म बहुत से पूर्व काल में हो चुके हैं। यह मत समझ कि तू कोई नया ही उत्पन्न हुआ है। द्वितीयाध्याय में विस्तार से कहा जा चुका है कि आत्मा नित्य है वह बार बार शरीर धारण करता और छोड़ता रहता है। इसी प्रकार मैं भी अवतार रूप से अनेक बार जन्म ग्रहण करता हूँ। भेद इतना ही है कि मैं अपने सब जन्मों की बात जानता हूँ अर्थात् स्मरण रखता हूँ और तुम कर्म परवश होने के कारण नहीं जानते, अर्थात् पूर्व जन्म का स्मरण नहीं रखते, क्योंकि तुम, परंतप अर्थात् शत्रुओं को तपाने वाले हो अर्थात् तुममें स्व पर भाव है, जिसको अपना समझते हो उससे प्रेम करते हो जिसे शत्रु समझते हो उससे द्वेष करते हो, इसीलिए कर्मवश होने के कारण कर्म के आवरण से तुम्हें स्मरण नहीं रहता। मेरे ज्ञान में कोई आवरण नहीं इसलिए मुझे सदा स्मरण रहा करता है।

इस पर अर्जुन के मन में यह भाव होना सम्भव है कि वे कोई जातिस्मर जीव होंगे। उत्तम कर्मवश कई मनुष्य जातिस्मर हो जाते हैं। उन्हें पूर्व जन्म का स्मरण बना रहता है। ऐसे वर्तमान समय में भी कई पुरुष या स्त्री देखे जाते हैं, जो कि अपनी पूर्व जन्म की बात बतला देते हैं और पूर्व के सम्बन्धियों को भी पहचान लेते हैं। ऐसे ही ये कृष्ण भी होंगे, ऐसा अर्जुन का विचार समझ, आगे के तीन श्लोकों से भगवान् अपना अवतार तत्त्व प्रकट करते हैं “अजोऽपि सन्नव्ययात्मा”। इस श्लोक की व्याख्या भिन्न भिन्न संप्रदाय के आचार्यों ने प्रकृति और माया शब्द के अर्थों को लेकर भिन्न भिन्न प्रकार से की है, और भगवान् के विषय में सभी संभव है, इसलिए सभी का संक्षिप्त आशय हम यहाँ उद्धृत करेंगे।

जगद्गुरुश्रीशंकराचार्य माया और प्रकृति शब्दों को “मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्” इस श्रुति प्रमाण के अनुसार एकार्थक मानते हैं। उनके मतानुसार श्लोक का अर्थ होगा कि मैं अज अर्थात् जन्म रहित और अव्ययात्मा अर्थात् किसी प्रकार के विनाश या क्षीणता से रहित हूँ। अज और अव्यय भगवान् ने जीवात्मा को भी द्वितीयाध्याय में बतलाया है। यहाँ विशेष अर्थ यह करना होगा कि कर्मवश शरीर ग्रहण या शरीर परित्याग मेरा नहीं होता। जीवत्व संशय को सर्वथा हटाने के लिए तीसरा विशेषण देते हैं कि मैं सब भूतों का ईश्वर हूँ, अर्थात् आकाशादि पञ्च महाभूतों पर और कर्मवश जन्म ग्रहण करने वाले प्राणियों पर अपना शासन रखता हूँ। यदि ऐसा है, तब तो आपका एक भी जन्म संभव नहीं, बहुत जन्म व्यतीत हो चुके इसकी तो क्या कथा। इसका उत्तर उत्तरार्द्ध से देते हैं कि ऐसा होता हुआ भी मैं अपनी प्रकृति को वश में करके उत्पन्न होता हूँ। इसका आशय है कि जो माया ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्त सब जीवों को मोहित करती है, मेरे दर्शन नहीं होने देती उसे ही मैं अपने वश में करके अवतार रूप में प्रकट होता हूँ। मुझ पर उस माया का कोई प्रभाव नहीं रहता क्योंकि वह मेरी है। इसी कारण अवतार रूप में भी मेरे ईश्वरत्व, आनन्दरूपता इत्यादि धर्मों में कोई बाधा नहीं आती। फिर भी आपका शरीर तो भौतिक ही होगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि मैं अपनी माया से ही जगत् के सामने प्रकट होता हूँ। अर्थात् जगत् को अपना प्रकट होना बतलाता हूँ, वस्तुतः मेरा भौतिक शरीर नहीं होता। अथवा मैं भौतिक शरीर का परिग्रह नहीं करता। जैसा कि शान्ति पर्व के नारायणीय प्रकरण में श्वेत द्वीप निवासी भगवान् विष्णु ने नारद से कहा है—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां वेत्तुमर्हसि ॥

अर्थात् हे नारद ! तुम जो मुझे भूत गुणों अर्थात् रूप स्पर्शादि से युक्त देख रहे हो वह मेरे द्वारा प्रकट की हुई माया ही है। मुझे वास्तव में ऐसा मत समझना। मैं सब भूतों और भूतों के गुणों से पृथक् हूँ। इससे सिद्ध होता है कि श्रुति और पुराणों में जो—

“य ह्येष आदित्ये हिरण्यमयः पुरुषः आप्रणखात् सर्वसुवर्णः”

इत्यादि रूपों में वर्णन मिलता है, या पुराणों में जो वैकुण्ठनाथ, क्षीरसमुद्रशायी, श्वेतद्वीप निवासी, एवं गोलोकनाथ इन चार विष्णु के रूपों का और इसी प्रकार भगवान् शङ्कर के तथा माता शक्ति के अनेक रूपों का वर्णन मिलता है वे सब भक्तानुग्रहार्थ माया कल्पित रूप ही है। अथवा सर्वजगद्रूप भगवान् की रूप और आयुध आदि की कल्पना ही वैकुण्ठनाथ आदि के रूप में की गई है, जैसा कि विष्णु पुराण, लिङ्ग पुराण आदि में स्पष्ट विवरण मिलता है। इसका विस्तार हमने अपने ‘पुराण पारिजात’ ग्रन्थ में किया है। इस छोटी प्रवचन माला में सब लिखने का स्थान नहीं। भगवान् सर्वथा सर्वगुणक्रियादि रहित ही हैं। उनका कोई रूप नहीं। इसी प्रकार अवतार रूप में जो भगवान् का शरीर देखा जा रहा है या जिस शरीर से अभी अर्जुन के रथ पर बैठे उपदेश दे रहे हैं, वह रूप भी उनका वास्तविक नहीं। अपनी माया के द्वारा जगत् को अपना रूप दिखा देते हैं। उसी रूप में अनन्त बल, पराक्रम, विद्या आदि को भी प्रकट कर देते हैं। वस्तुतः वे निर्गुण, निर्विकार, सच्चिदानन्द रूप हैं। इसी कारण उनका रूप कोई नियत नहीं। कभी सहस्रभुज रूप में कभी चतुर्भुज रूप में और कभी द्विभुज रूप में दर्शन दिया करते हैं। यही भाव इस प्रथम पद्य से प्रकट किया गया, यह श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव करते हैं और अधिष्ठाय पद का स्वीकार अथवा अपरित्याग एवं माया शब्द का अर्थ उनके मत में ज्ञान या संकल्प है। वे परब्रह्म को निर्गुण नहीं मानते, अपितु अनन्तकल्याणगुणगण विशिष्ट कहते हैं। उनके मतानुसार श्लोक के उत्तरार्द्ध का यह अर्थ है कि मैं अपनी प्रकृति अर्थात् भक्तानुग्रह आनन्दमयत्व, जगदीश्वरत्व आदि स्वभावों का परित्याग न करता हुआ ही अपने संकल्प से सम्यक् प्रकार से अर्थात् सर्वसामर्थ्य युक्त प्रकट होता हूँ। इन्होंने अपने भाष्य में भगवद् गुणों का और आदित्यमण्डलस्थित हिरण्यश्मश्रु आदि रूपों का भी यहाँ वर्णन किया है। इस आधार पर इनके भाष्य के व्याख्याकार यह भी आशय निकालते हैं कि भगवान् सगुण होने की तरह साकार भी हैं, उसी अपने आकार को अवतार रूप में प्रकट कर दिया करते हैं। इनके मतानुसार भगवान् का नित्य सिद्ध रूप है, उसी रूप में वे प्रकट हुए हैं। वह रूप भी इच्छा के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। इसीलिए विश्वरूपप्रदर्शन आदि की संगति हो जाती है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से तत्त्वदीपिका नाम की व्याख्या प्रकाशित है, उनके अनुसार सब जीव परब्रह्म से ही प्रकट हैं। किन्तु उन्हें प्रकट करने के समय ही भगवान् अपने आनन्दांश को छिपा लेते हैं। वह उनमें नहीं देते। इसी प्रकार ऐश्वर्यादि भी भगवान् के संकल्प से उनमें प्रकट नहीं हो पाते। यहाँ उत्तरार्द्ध का यह अर्थ है कि सामान्य जीवों की तरह अपने असाधारण गुण या स्वभाव को न छिपाता हुआ अपनी माया अर्थात् भक्तों पर अनुग्रह से अथवा ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति आदि के साथ ही प्रकट होता हूँ। अर्थात् अवतारों में ज्ञान बल शक्ति आदि ऐश्वर्य का तिरोभाव नहीं होता। इनके मतानुसार भगवान् के देह का जन्म या नाश नहीं है, अपितु आविर्भाव तिरोभाव है। अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहें अपना रूप प्रकट कर देते हैं और जब चाहे उसे तिरोहित कर देते हैं। श्रीवल्लभसम्प्रदाय के मुख्य विद्वान् गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी के नाम से जो व्याख्या प्रकाशित है उसमें माया शब्द का अर्थ 'अन्तरङ्गशक्ति' किया गया है और प्रकृति शब्द का अर्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है। आगे के पद्य से मिलाकर वे इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं कि जब जब धर्म की अर्थात् अपने प्रिय भक्ति मार्ग की हानि होती है और उसका विरोधी अधर्म उठने लगता है तब तब मैं अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के द्वारा पहले लीला के उपयोगी और कर्मयोग के अधिकारी अनेक परिकर रूप जीवों को प्रकट करता हूँ। और अपने आप भी अजन्मा रूप में ही प्रकट होता हूँ। जैसा कि श्रीमद्भागवत में वर्णित है कि पहिले भगवान् ने वसुदेव के मन में प्रवेश किया और फिर वसुदेव के द्वारा अर्पित भगवदंश को देवकी ने भी मन में ही धारण किया। इसलिए भगवान् का प्राकृत जीवों की तरह गर्भनिवासादि नहीं है। वे प्रकट भी अलौकिक चतुर्भुज रूप में ही हुए। आगे भी भक्तों को भिन्न भिन्न प्रकार के रूप दिखाते रहे। आनन्दतीर्थङ्कर नामक श्रीमध्वाचार्य की व्याख्या है कि अज और अव्ययात्मा होता हुआ भी आत्मा तो सबका ही अज अव्यय है परन्तु यहाँ अपनी विशेषता प्रदर्शित करने के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग देह अर्थ में किया गया है। इससे यह अर्थ है कि मेरा देह भी अज और अविनाशी है और ब्रह्मादि स्थावरान्त सब जगत् का ईश्वर होता हुआ भी मैं 'संभवामि' अर्थात् प्रकट होता हूँ। प्रकट होने का प्रकार बतलाते हैं कि अपनी प्रकृति का अधिष्ठान करके (यहाँ स्वां विशेषण से प्रसिद्ध स्वतंत्र प्रकृति का निवारण किया। अपनी प्रकृति अर्थात् अपना उद्भव स्थान वसुदेव देवकी आदि) उनमें अधिष्ठान अर्थात् प्रवेश करके स्वमायया अर्थात् अपने ज्ञान से प्रादुर्भूत होता हूँ। इनके मतानुसार भी भगवान् का देह प्राकृत नहीं है। अपितु जैसा पूर्व व्याख्या में वर्णन कर आये हैं— वसुदेव देवकी के मन में ही प्रवेश कर स्वेच्छा विग्रह से अपने आप प्रकट हुए हैं। देह भी स्वेच्छाकल्पित ही है।

सम्पूर्ण महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी ने इस पद्य पर विस्तृत विचार किया है। वे यह भी विचार उठाते हैं कि अन्ततः जो भगवान् कृष्ण का दृश्य रूप है, जिसकी बाल पौगण्ड कुमार यौवनादि अवस्थाओं का सभी ने दर्शन किया, उस देह का कोई उपादान कारण तो होना चाहिए। जिससे कि वह देह बना। वह उपादान क्या है? भौतिक तो भगवद्देह हो नहीं सकता, क्योंकि भौतिक देह का निर्माण तो गर्भ में पूर्व कर्मानुसार हुआ करता है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् की 'पञ्चाग्नि विद्या' में स्पष्ट है। यदि शरीर का उपादान माया या अविद्या को कहा जाय तो भी नहीं बनता, क्योंकि ईश्वर में अविद्या रूप माया नहीं है। यदि कहा जाय कि जीवों की अविद्या ही भगवद्देह बना देती है तो यह नितान्त असङ्गत होगा, क्योंकि जीवाविद्या से तो शक्तिरजतादि प्रातिभासिक (जिनकी सत्ता देखने के समय ही रहें) पदार्थों की उत्पत्ति ही मानी गई है। इस प्रकार तो भगवद्देह अति तुच्छ माना जायेगा, जो कि सर्वथा अनिष्ट है। इसलिए इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने विवरण किया कि (स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय) यहाँ स्व शब्द जगत् को उत्पन्न करने वाली प्रकृति से विलक्षणता दिखलाता है। स्व शब्द का अर्थ प्रत्यग् चैतन्य अर्थात् सबके भीतर विराजमान चैतन्य, शास्त्र में प्रसिद्ध है। उस चैतन्य को ही प्रकृति अर्थात् उपादान बनाकर उसी पर अधिष्ठित होकर प्रादुर्भूत होता हूँ। इसीलिए भगवान् के स्वरूप का वर्णन भी भागवत में मिलता है कि—

**‘आनन्दमात्र करपादमुखोदरादिः’**

अर्थात् भगवद्देह के हाथ पांव मुख उदर आदि सब आनन्द मात्र ही हैं। आनन्द मात्र अपने स्वरूप को ही देह रूप से भगवान् ने संघटित किया। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि चैतन्य तो दृश्य नहीं हो सकता, फिर भगवद्देह दृश्य कैसे हुआ? इसका उत्तर स्वमायया पद से दिया है। लोक में भी देखा जाता है कि ऐन्द्रजालिक आदि अपनी माया से अपने जैसा एक दूसरा देह प्रकट कर माया से ही प्रकट किये हुए सूत्र पर उसे आकाश में चढ़ा देते हैं और वहाँ कई प्रकार के खेल उसके द्वारा दिखा देते हैं। फिर आगे जब चाहे खेल दिखाकर उस माया को समेट लेते हैं। जब जीवों की माया भी इतना कार्य कर सकती है तो भगवान् की माया का तो कहना ही क्या, वह माया चैतन्य को भी दृश्य बना देती है। इतना भेद है कि ऐन्द्रजालिकों की माया कुछ क्षणों के लिए खेल दिखाती है, यह भगवान् की माया जितने काल उनकी इच्छा हो उतने काल उनके स्वरूप को दिखाती रहती है। मार्कण्डेय पुराण के सप्तशती स्तोत्र में जो महामाया का वर्णन किया है कि—

**नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् ।**

**तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम ॥**

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।

उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते ॥

तात्पर्य यह है कि माया नित्य है, वह सब जगत् को बनाती है, किन्तु देवताओं के कार्य साधन के लिए जब प्रकट होती है तब उसे उत्पन्न हुई ऐसा कहा जाता है। उसी माया से यहाँ भगवान् का रूप परिदर्शन आदि होता है, उनका देह माया मात्र से भासित हो रहा है। इसमें श्रीमद्भागवतोक्त ब्रह्मा की गोवत्सहरण लीला भी प्रमाण है। वहाँ कहा गया है कि ब्रह्मा ने ईश्वरत्व का सन्देह कर जब गोवत्स, गोपों को चुरा लिया था और भगवान् ने अपने देह से ही नये गोवत्स और गोपों की सृष्टि कर दी थी तब उन गोप और गोवत्सों को किसी ने नये तो नहीं पहचाना। किन्तु एक विशेषता हुई कि गोवत्सों पर गौओं का और गोपों पर उनकी माता का प्रेम अधिक बढ़ गया। इसी प्रेमातिशय को देखकर जब बलभद्र ने ध्यान लगाया तब उन्हें विदित हुआ कि ये गोवत्स और गोपाल भगवान् की नयी सृष्टि है, इस पर परीक्षित का प्रश्न है कि अपने अङ्गजात पुत्रों की अपेक्षा भी इन पर अधिक प्रेम क्यों हुआ? इस पर शुकदेवजी ने कहा परमात्मा आनन्दमय है, उस परमात्मा की साक्षात् प्रतिमूर्ति होने के कारण इन पर अधिक आनन्द होना स्वाभाविक है। इस मत में भी दृश्यमान भगवान् का शरीर माया के द्वारा ही दृश्य है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने भी माया के सत्त्वांश के द्वारा ही भगवान् के शरीर की दृश्यता कही है, और यह विशेषता बतलाई है कि वह माया रूप शरीर नित्य ही रहता है, उसीसे विवस्वान् को भी उपदेश दिया था। उसी शरीर से तुझे भी उपदेश दे रहा हूँ।

श्रीशङ्करानन्दस्वामी ने भी 'अधिष्ठाय' का अर्थ उस मायामय देह पर अहंममाभिमान करके यह किया है और सब प्रक्रिया समान ही है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी भगवान् कृष्ण को अव्यय पुरुष का अवतार और अधिकारिक पुरुष कहते हैं, अव्ययात्मा यह शब्द उनके मत में विशेषण रूप नहीं, अपितु प्रत्येक स्थान में बार बार आने से उसे निरूढ़ शब्द ही समझना चाहिए। अव्यय, अक्षर आदि का विवरण हम पन्द्रहवें अध्याय में करेंगे। इनके मतानुसार भगवान् का शरीर स्वेच्छा निर्मित है।

हमारे विचार से तो यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ वही होना चाहिए, जो भगवद्गीता के ही सप्तम अध्याय में कहा गया है। वहाँ पाँचों महाभूत, मन, बुद्धि और अहङ्कार को भगवान् ने अपनी अपरा प्रकृति बतलाया है और जीवत्व सम्पादक प्राण को परा प्रकृति। इन सबका विवरण वहीं किया जायगा। अन्यत्र भी भगवद्गीता में सृष्टि करने वाली शक्ति के लिए प्रकृति शब्द का, और जीवों को मोहित करने वाली शक्ति के लिये

माया शब्द का प्रयोग देखा जाता है। यह अवश्य है कि माया को भी भगवान् ने गुणमयी कहा है। इस प्रकार प्रकृति शब्द का परा अपरा प्रकृति अर्थ करने पर इस पद्य का आशय यह होगा कि वह प्रकृति मेरी है अर्थात् मैं ही उसका अधिष्ठाता हूँ। मेरी इच्छानुसार ही उसमें परिवर्तन होते हैं। इसलिए उसके द्वारा अपनी इच्छानुसार एक विशेष देह उत्पन्न करवाता हूँ। जिसमें अपने अनन्त वीर्य, ज्ञान, और आनन्द का विकास हो सके और अपनी माया द्वारा उस देह का परिग्रह करता हूँ। धातु प्रत्ययों के अनुसार माया शब्द का अर्थ अपरिच्छिन्न को परिच्छिन्न बनाना ही है, जिसका कि विशेष विवरण श्रीविद्यावाचस्पतिजी के ब्रह्मसिद्धान्त आदि ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। यहाँ यही तात्पर्य है कि मैं यद्यपि देशकाल से अपरिच्छिन्न हूँ तथापि अपनी माया से परिच्छिन्न होकर उन देहों में प्रवेश करता हूँ। इसी से लोक मुझे भी परिच्छिन्न मानने लगते हैं।

इस प्रकार प्रकृति और माया दोनों शब्दों का पद्य में ग्रहण उपपन्न हो जाता है। और देह की दृश्यता भी उपपन्न हो जाती है। एवं स्वेच्छा निर्मित शरीर होने के कारण स्वतंत्रता में भी कोई बाधा नहीं आती और स्वेच्छा निर्मित देह होने के कारण संसार मनुष्यों से विलक्षणता भी सिद्ध हो जाती है। इन व्याख्याओं के तारतम्य का विचार विद्वान् पाठक स्वयं कर लें। सभी मतों में भगवद्देह कर्म निर्मित नहीं है किन्तु स्वेच्छा सम्पादित है यह तो सिद्ध ही है।

इस पद्य में भगवान् ने सृष्टि का तत्त्व भी ध्वनित कर दिया। मैं अर्थात् अन्य पुरुष अज यद्यपि अजन्मा और अविनाशी हूँ, तथापि अपनी प्रकृति अर्थात् परा प्रकृति अक्षर पुरुष और अपरा प्रकृति क्षर पुरुष इन दोनों में अधिष्ठित अर्थात् व्यापक रूप से प्रविष्ट होकर माया शक्ति से अपने आपको भी परिच्छिन्न दिखाते रहते हैं। यही सृष्टि की प्रक्रिया है, जिसका कि पन्द्रहवें अध्याय में अव्यय आदि पुरुषों के निरूपण के समय विस्तार किया जायगा। यह जगद्रूप अवतार ही भगवान् का प्रथम अवतार है। जैसा कि श्रीभागवत में लिखा है—

एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।

यस्यांशांशेन सिद्ध्यन्ति देवतिर्यङ्नरादयः ।।

इस देह परिग्रह का कारण आगे दो पद्यों में भगवान् बतलाते हैं कि जब जब धर्म की ग्लानि अर्थात् हास होता है और अधर्म बढ़कर धर्म को दबाता है, तब तब मैं अपने आपको प्रादुर्भूत करता हूँ।

यहाँ धर्म शब्द का अर्थ मीमांसकोक्त यज्ञ यागादि धर्म ही विवक्षित नहीं है अपितु लोक प्रसिद्ध नैतिक धर्म सामाजिक धर्म आदि सभी समझ लेना चाहिए। मीमांसकोक्त धर्म भी उनमें अन्तर्गत अवश्य हैं। ये सब धर्म जब अधर्म के द्वारा अथवा अधार्मिकों के द्वारा दबाया जाता है, तभी भगवान् का प्रादुर्भाव होता है।

वैष्णवाचार्यों ने धर्म शब्द से मुख्य धर्म रूप भगवद्भक्ति का ही ग्रहण किया है, अर्थात् जब दुष्टों के आक्रमण से भक्ति मार्ग तिरोहित होने लगता है, तभी भगवान् प्रादुर्भूत होते हैं। यहाँ कई विद्वान् 'आत्मानं सृजामि' का यह अर्थ करते कि किसी विशेष व्यक्ति को धर्म रक्षार्थ मैं उत्पन्न कर देता हूँ, किन्तु आगे के पद्य में जब 'संभवामि युगे युगे' यह स्पष्ट कहा है, तब वह अर्थ यहाँ संगत नहीं हो सकता। किन्तु स्वयं मैं अपने आपको प्रादुर्भूत करता हूँ। यह भगवदवतार का अर्थ ही यहाँ सुसंगत है। 'आत्मानं सृजामि' का दूसरा अर्थ जो श्री पुरुषोत्तमजी गोस्वामी जी ने किया है वह पूर्वोक्त पद्य की व्याख्या में लिख चुके हैं। (७)

आप प्रादुर्भूत होकर क्या करते हैं? यह तीसरे पद्य में कहा है किस 'साधु' अर्थात् शिष्टजनों की रक्षा के लिए और धर्मद्वेषी दुष्टों के संहार के लिए तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं भिन्न भिन्न युगों में प्रादुर्भूत हुआ करता हूँ।

इससे यह सिद्ध किया कि मेरे अवतार का कोई समय नियत नहीं है। जब जब ऐसी परिस्थिति आये, तब तब अवतार ग्रहण कर मैं ये कार्य कर दिया करता हूँ।

वे प्रयोजन और कर्तव्य लोक प्रसिद्धि के अनुसार भगवान् ने बतलाए। किन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि जब इच्छामात्र से अनन्त कोटि के ब्राह्मण्डों की उत्पत्ति और संहार हो सकता है तब क्या शिष्टों की रक्षा और दुष्टों का दमन इच्छामात्र से संभव नहीं कि उसके लिए भगवान् स्वयं दौड़कर आयें। इस प्रश्न का विस्तृत विवेचन हम आगे के प्रवचन में करेंगे। किन्तु यहाँ इतना ही कहना है कि श्रीरामानुजाचार्य ने इसी श्लोक की व्याख्या में मुख्य प्रयोजन ध्वनित कर दिया है। साधु शब्द से वे भक्तजनों का ग्रहण करते हैं। भक्त जन जब मेरी भक्ति करते हुए मेरे दर्शन के लिए विशेष उत्कण्ठित हो जाते हैं और मेरे वियोग में क्षण क्षण समय उनका कल्प के समान व्यतीत होने लगता है, तब उनके परित्राण के लिए मैं प्रादुर्भूत होता हूँ। यहाँ केवल 'त्राण' शब्द न कहकर 'परित्राण' शब्द का प्रयोग किया है, परितः त्राण उनका यही है कि उन्हें दर्शन देना उनके साथ वार्तालाप, क्रीड़ा आदि करना इसी से उनकी तृप्ति होती है और वियोग दुःख से परित्राण होता है और उनके सताने वाले दुष्टों का मैं विनाश करता हूँ। इसी से मेरी भक्ति रूप धर्म की सम्यक् स्थापना होती है। यही अवतार का मुख्य प्रयोजन है। जो बिना स्वरूप ग्रहण के सिद्ध हो ही नहीं सकता। इस अवतार के प्रयोजन का विशेष विवेचन हम आगे के स्वतंत्र व्याख्यान में करते हैं।



## उनसठवाँ-पुष्प

### अवतार रहस्य

पूर्व प्रवचन में भगवान् ने अपने अवतार की प्रक्रिया और अवतार का कारण जो बतलाया है, उसकी व्याख्या की गई। यह अवतारवाद सनातन धर्म का वर्तमान में मूल आधार है। वर्तमान में सब मन्दिर आदि राम व कृष्ण के ही मिलते हैं और इन्हीं के उपासक बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त होते हैं। किन्तु कुछ काल से कई नए समाज जो प्रकट हुए हैं, इस अवतारवाद पर अपने तर्कों से कई शंकाएं उपस्थित करते हैं। इसलिए अवतारवाद पर कुछ स्वतंत्र प्रवचन भी कर देना आवश्यक प्रतीत हुआ। इससे अवतारवाद का मुख्य रहस्य संक्षेप में यहाँ प्रकाशित किया जाता है।

ईश्वरवादी सभी सम्प्रदाय, वे चाहे भारत के हों, चाहे अन्य देशों के, ईश्वर की उपासना आवश्यक मानते हैं। ईश्वर मानने का हमलोगों का प्रयोजन यही है कि हम उसकी उपासना कर अपना कल्याण सम्पादित करें। उपासना शब्द का अर्थ है कि अपने चित्त को एकाग्र कर उपास्य में लगा देना। किन्तु जबतक ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान न हो तब तक उसमें मन को लगाना सम्भव नहीं। हमारे मन का यही स्वभाव है कि ज्ञात वस्तु में शीघ्र चला जाता है, और अज्ञात वस्तु में जाना नहीं चाहता। इसलिए उपासना करने के पूर्व ईश्वर का स्वरूप ज्ञान आवश्यक हुआ। अब ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में यदि पता लगाते हैं तो 'जितनी मुँह उतनी बातें' वाली कहावत सामने आती है। कुछ विदेशीय लोगों के सम्प्रदाय मुसलमान आदि मानते हैं कि सात आसमान हैं। उन पर आठवीं कुर्सी और उस पर खुदा बैठा हुआ है। वह जो कुछ कहता है उसके कहते ही वह वस्तु तैयार हो जाती है। कुछ सम्प्रदायों के धर्म ग्रन्थों में लिखा है कि ईश्वर ने छह दिन में सृष्टि बनाई और सातवें दिन थककर विश्राम किया वह रविवार हमारा भी विश्राम दिन है। इनके कथनानुसार कुम्हार आदि के समान ईश्वर जगत् को गढ़ता है और उससे थकता भी है। इन लोगों की बात छोड़िए हम भारतवासियों को ईश्वर का पता वेद ने ही दिया है। इसलिए हम वेद से ही उसके स्वरूप के सम्बन्ध में भी पूँछें। वेद से पूँछने पर उपनिषद् की कुछ श्रुतियाँ हमारे सामने आती हैं और वे ईश्वर को सब इन्द्रियों से पर बतलाती हैं। हमारे पास जो ज्ञान के साधन हमारी इन्द्रियाँ हैं वे कोई भी ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती। जैसा कि 'केनोपनिषद्' में विस्तार से वर्णन किया है कि—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

प्रकरणानुसार यहाँ 'पश्यति' पद 'दृश्यते' के अर्थ में व्याख्याकारों ने माना है। उनके अनुसार इसका अर्थ होता है कि जो आँख से नहीं देखा जाता। इसका कारण भी वही श्रुति बतलाती है कि आँख को देखने की शक्ति उसी शक्तिधन ईश्वर से प्राप्त है। तब 'कितना ही चतुर नट हो अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता' इस कहावत के अनुसार अपने भीतर शक्ति देने वाले को आँख कैसे देख सकती है? जो इस बात का आग्रह करें कि हम तो आँख की देखी हुई वस्तु को ही मानते हैं उनसे यह पूछा जाय कि आँख ने आँख को कब देखा! फिर आँख को ही कैसे मानोगे। कदाचित् कहो कि सामने दर्पण रख कर आँख को देख सकते हैं तो यह कहना भ्रान्ति मात्र है। दर्पण में केवल काला धब्बा सा दिखाई देता है वह तो चक्षु इन्द्रिय नहीं है। चक्षु इन्द्रिय एक शक्ति विशेष है। उसे आँख नहीं देख सकती। जब आँख अपने आप को ही नहीं देख सकती तो अपने भी भीतर विराजमान शक्ति देने वाले को वह कैसे देख सकेगी। इसी प्रकार सब इन्द्रियों से ज्ञान होने का खण्डन वहाँ किया गया है कि सब इन्द्रियों को शक्ति उसी शक्तिधन से प्राप्त होती है। इसलिए इन्द्रियाँ उस पर नहीं जा सकती। बस! जो इन्द्रियों से न जाना जाय, वही ब्रह्म व ईश्वर है। जिन वस्तुओं को तुम संसार में देख या सुनकर उनकी उपासना में लगे रहते हो वह ब्रह्म व ईश्वर नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक और श्वेतकेतु के संवाद में एक आख्यायिका भी मिलती है कि जब पिता उद्दालक ने ईश्वर का उपदेश किया तो श्वेतकेतु यही हठ करने लगा कि ईश्वर कोई वस्तु है तो उसे मुझे दिखाओ। इस पर उद्दालक ने उससे कहा कि— एक कटोरा भर पानी ले आओ। पानी लाने पर एक लवण का ढेला मँगवाया और उसे उस जल में डाल कर ऊपर रखवा दिया और कहा कि आज का पाठ यहीं समाप्त है। अब कल प्रातः आना। जब दूसरे दिन श्वेतकेतु पढ़ने आये तो उनसे कहा कि वह जल का कटोरा लाओ। लाने पर कहा कि जो कल लवण का ढेला तुमने इसमें डाला था वह कहाँ है देखो। श्वेतकेतु ने अच्छी तरह आँख से देखकर कहा कि वह तो इसमें नहीं दिखाई देता। तब उद्दालक ऋषि ने पूछा कि नहीं देखने पर तुम मानोगे कि इसमें लवण नहीं है। हाँ कहने पर उन्होंने उसमें से एक चम्मच जल इनके हाथ में देकर कहा कि अब कहो कि जल में लवण है या नहीं। स्वाद से प्रतीत होने पर जब लवण का अस्तित्व श्वेतकेतु ने बतलाया तो उद्दालक ने कहा कि किस स्थान में है यह पता लगाओ। इधर उधर चारों दिशाओं से चम्मच द्वारा जल देने पर और 'यहाँ भी है, यहाँ भी है' ऐसा कहने पर पिता उद्दालक ऋषि ने पूछा कि क्या निश्चय करते हो। लवण जल में कहाँ है? तब श्वेतकेतु ने विचार कर उत्तर दिया कि पिताजी लवण कहीं एक जगह नहीं है जल के प्रत्येक कण में वह व्याप्त हो गया है। तब उद्दालक हँसकर बोले कि जिस प्रकार लवण इस जल के

कण कण में व्याप्त है पृथक् प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वर भी जगत् के प्रत्येक अणु में व्याप्त है, वह पृथक् नहीं मिल सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त उपनिषद् में सब इन्द्रियों से ईश्वर ज्ञान का निवारण करने पर भी यह आशा होती है कि इन्द्रियाँ न जान सकें तो भी वाणी से तो वेद उसका वर्णन करेगा ही। वाणी से गुण धर्म सुनकर ही मूर्ति कल्पना करली जायगी और उसी से उपासना हो जायगी। तब इस पर भी उपनिषद् निराश करता है कि—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

अर्थात् वाणी से भी जो नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाणी में कहने की शक्ति भी उसी से प्राप्त है। तब पूर्वोक्त न्याय से अपने आप पर वाणी का भी प्रयोग नहीं हो सकता। अच्छा, वाणी भी न कह सकी किन्तु मन का तो प्रयोग हो ही जायगा। जैसा कि द्राक्षा और मिश्री के मिठास में क्या भेद है? इसे वाणी नहीं कह सकती। किन्तु मन झट पहचान लेता है। जिह्वा द्वारा स्वाद लेकर वह बतला देता है कि यह द्राक्षा है और यह मिश्री है। इस आशय का भी खण्डन करती हुई श्रुति कहती है कि—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

यहाँ भी 'मनुते' यह पद 'मन्यते' के अर्थ में है। अर्थात् मन से भी जो नहीं जाना जा सकता। क्योंकि मन में भी मनन शक्ति उसी से प्राप्त है। अपने आप पर उस शक्ति का प्रयोग भी नहीं हो सकता। इस प्रकार वेद ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि—

‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।’

अर्थात् मन के साथ वाणी उस तत्त्व को प्राप्त न कर बीच से ही लौट आती है। बस! अब उपासकों को पूर्ण निराशा हुई कि मन का एकाग्र कर लगाना ही तो उपासना है, और मन जब वहाँ पहुँच ही नहीं सकता तो उपासना की इच्छा करना उपासना में प्रवृत्त होना बिलकुल व्यर्थ है। इस प्रकार की निराशा को मिटाने के लिए श्रुति प्रकृति में ही ब्रह्म व ईश्वर की उपासना बतलाती है। जैसा कि अभी उद्दालक ऋषि की उक्ति में हम कह आये हैं कि ईश्वर पृथक् नहीं मिल सकता किन्तु प्रकृति व प्राकृत जगत् के अणु अणु में वह व्याप्त है। उसी प्रकृति व जगत् के पदार्थों को पकड़ कर उनमें ही ईश्वर के दर्शन का विधान वेद ने किया। इस प्रकार की उपासनाएं उपनिषदों में बहुधा वर्णित हैं। किन्तु कठिनता यह है कि यह मार्ग मन के लिए इतना रूक्ष है कि मन का वहाँ जाना और फिर ठहरना असम्भव

सा है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि यह कृत्रिम वस्तुओं में बहुत आनन्द मानता है। किन्तु प्रकृति के विश्लेषण में आनन्द नहीं आता। जैसा कि सिनेमा में पर्दे पलटते देखकर मनुष्य बहुत बड़ा आनन्द मानते हैं किन्तु प्रकृति के पर्दे जो आकाश में पलटते रहते हैं उनकी तरफ कभी ध्यान भी नहीं दिया जाता। सूर्य मंडल स्थित गायत्री के पांच मुख हमारे शास्त्रों में बतलाए हैं। उनका प्रत्यक्ष दर्शन हमें उषाकाल से लेकर सूर्योदय तक होता है। उन मुखों का क्रम बतलाया है— मुक्ता, विद्रुम, हेम, नील और धवल। जब सूर्य का प्रकाश आने को होता है तो पहले आकाश में मोतियाँ सी हल्की, गुलाबी रंगत दौड़ जाती है। फिर कुछ काल में वह रंगत गहरी होकर विद्रुम अर्थात् मूँगा का रूप धारण कर लेती है। कुछ ही क्षणों के अनन्तर सुवर्ण जैसी कान्ति पूर्व दिशा में दिखाई देती है और फिर तारा मण्डल विलुप्त होकर नीलिमा आकाश में छा जाती है। तब भगवान् सूर्य का उदय होकर श्वेतता व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार के प्रकृति के पर्दे पलटते रहते हैं किन्तु इन पर ध्यान कोई कोई धीर पुरुष ही दे सकते हैं। उनका भी मन इस रूक्ष विषय में स्थिर नहीं होता। इससे जीवन का सर्वस्व भूत उपासना मार्ग अवरुद्ध सा होता देखकर सनातन धर्म के भक्ति मार्ग के आचार्य उन्हें हाथ उठाकर कहते हैं कि—

परमिममुपदेशमादृयध्वं निगमवनेषु नितान्त खेदखिन्नाः ।

विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥

इसका अर्थ है कि हे भावुक, भक्तो यदि तुम निगम अर्थात् श्रुतियों के वन में दूढ़ते दूढ़ते अत्यन्त खिन्न हो गए हो तो हमारा उपदेश सुनो और उसका आदर करो। हम तुम्हें ईश्वर का सच्चा पता बतलाते हैं कि गोपाङ्गनाओं के घरों में उलूखल से बँधे हुए उपनिषद् के अर्थ भूत परमात्मा को ढूँढो। वहाँ तुम्हें अवश्य ईश्वर का दर्शन होगा। यही अवतारवाद का मुख्य रहस्य है।

मनुष्य का मन वहीं लगता है जहाँ प्रेम हो। भावुक भक्त मन की उपमा भ्रमर से देते हैं। भ्रमर इतना चंचल है कि 'इस पुष्प से रस लिया, उससे लिया' इस प्रकार कहीं एक जगह स्थिर होता ही नहीं। यही दशा मन की भी है कि यह इधर उधर स्वाद ढूँढता हुआ भटकता रहता है। अब भ्रमर को एक जगह स्थिर करने के दो उपाय हैं। एक उसे काष्ठ की नली में बन्द कर ऊपर से ढक्कन बन्द कर दिया जाय तो वह विवश होकर रुक जायगा। किन्तु पहिले तो नली के भीतर आना ही उसका कठिन है। आप जिधर नली ले जायँगे वह उससे विपरीत मार्ग में ही चला जायगा। यदि किसी प्रकार प्रलोभन दिखाकर नली में उसे ले भी लिया तो ढक्कन बन्द करते ही वह निकल जायगा। मानलो कि किसी प्रकार आप ढक्कन लगाने में सफल हो गए तो आप निश्चिन्त हो बैठें कि अब हमने भ्रमर को पकड़ लिया, किन्तु वह अपने दाँतों से उस काष्ठ नली को काटने का यत्न आरम्भ कर देता है। धीरे धीरे नली को काट कर जहाँ एक छिद्र

बना पाया कि उसी से निकल कर वह उड़ जायगा, आप देखते ही रहेंगे। दूसरा उपाय यह है कि अपने यहाँ एक वापी में सुन्दर कमल का पुष्प लगाइये ज्यों ही कमल खिला कि भ्रमर बिना बुलाया ही वहाँ आयेगा और उस पर बैठकर रसास्वाद करने लगेगा। दैवात कभी रसास्वाद लेते लेते ही सूर्यास्त हो गया और कमल संकुचित हो गया तो भ्रमर कमल के उदर में ही बन्द रहेगा। अब इस कमल के पत्ते को काटने की शक्ति उनमें नहीं है। इसी बात को किसी कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है कि

बन्धनानि किल सन्ति बहूनि प्रेमरज्जु कृतबन्धनमन्यत् ।  
काष्ठभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिः कुण्ठितो भवति पद्मविभेदे ॥

एक भाषा के कवि ने भी कहा है कि

प्रीति-रीति विधिना भ्रमर अद्भुत रची बनाय,  
काष्ठभेद समरथ्य है कमल भेद नहीं जाय ।

इसी उपमा से मन के रोकने का भी प्रकार समझ लीजिए। काष्ठ की नली में उसे बन्द करना योग मार्ग है। जहाँ पहिले बन्द होना ही कठिन और फिर भी निकल कर उड़ जाने का डर। और पद्म में बन्द करना प्रेम मार्ग, वह भक्ति मार्ग है। जहाँ वह स्वयं ही आता है और रस लोभ से रुका रह जाता है। यदि कभी वहीं मँडराता रह गया तो वहाँ से नहीं उड़ सकेगा।

इससे सिद्ध है कि मन के रोकने का मुख्य प्रकार प्रेम ही है और प्रेम मनुष्य का अपने तुल्य प्राणी पर ही विशेष रूप से होता है। अपने जैसे ही आकार वाले अपने से बातचीत करने वाले के साथ ही मनुष्य का प्रेम होता है यह अनुभव सिद्ध है। इस ही कारण अत्यन्त कृपालु भगवान् मनुष्य रूप में प्रकट होकर भावुक भक्तों के प्रेम पात्र बनते हैं जिससे कि उनकी उपासना सिद्ध हो सके और वे अपना कल्याण प्राप्त कर सकें। यही बात हम इकतालीसवें पुष्प में मूर्ति पूजा का विवरण करते हुए कह चुके हैं कि—

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।  
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

यहाँ 'ब्रह्मणः' इस षष्ठी विभक्ति को कर्त्ता अर्थ में मान लेने पर यह अर्थ होता है कि उपासकों की सिद्धि के लिए अचिन्त्य अशरीरी ब्रह्म अपने रूपों की कल्पना करता है अर्थात् अपने रूप बना कर उन्हें दर्शन देता है।

भगवद्गीता में जो उक्त श्लोकों में भगवान् ने अपने अवतार के प्रयोजन बतलाए हैं सत्पुरुषों की रक्षा, दुष्ट पुरुषों का दमन और धर्म की स्थापना' इस पर बहुत सज्जन

यह शंका किया करते हैं कि जिनकी इच्छामात्र से अनेक ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और विनाश होता है वे रावण, कंस आदि को मारने के लिए स्वयं दौड़कर आवें यह बात समझ में नहीं आती। जब इच्छामात्र से ही उन दुष्टों की भी उत्पत्ति हुई थी तो इच्छामात्र से ही विनाश भी क्यों न कर दिया। धर्म विरोधी दुष्टों का नाश होने पर धर्म स्थापना अपने आप ही हो जाती फिर इसके लिए अवतार लेने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसका उत्तर यही है कि भगवान् स्वतंत्रेच्छ हैं। जिस कार्य को जिस प्रकार से करने की उनकी इच्छा हो जाय उसको उसी उपाय से कर डालते हैं। इसी बात को शास्त्रों में इन शब्दों में कहा जाता है कि 'उपायस्य उपायान्तरादूषकत्वात्' अर्थात् एक उपाय से कोई कार्य किया गया तो वहाँ यह दूषण नहीं दिया जा सकता कि दूसरे उपाय से ही क्यों न किया। इसमें करने वाले की इच्छा ही मुख्य होती है कि जिस उपाय से वह उचित समझे उसी उपाय से कार्य को करे। दुष्ट दमन और शिष्ट रक्षण इच्छामात्र से भी हो सकता था, अवतार लेकर भी हो सकता था। दोनों उपायों में अवतार लेना ही भगवान् ने अपनी इच्छा से उचित समझा तो इसमें कोई शंका करने का स्थान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त पुराणों में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि उन असुरों ने बहुत बड़ी तपस्या करके देवता आदि से न मर सकने का वरदान प्राप्त कर लिया था। उस वरदान की भी रक्षा भगवान् को करनी ही थी इसलिए उन्होंने मनुष्य अवतार धारण किया।

पुराने धर्मोपदेशक इस विषय में एक कहानी भी उपस्थित किया करते थे कि मुसलमान बादशाह अकबर ने एक बार बीरबल से यही प्रश्न किया कि तुम्हारा ईश्वर दुष्टों को दण्ड देने और भक्तों की रक्षा करने के लिए खुद दौड़कर आता है। हमने तो ऐसे नियम बना रखे हैं कि उनके द्वारा हमारे आफिसर ही ये काम कर लेते हैं। क्या हमारे जैसे ही शासन के नियम तुम्हारे ईश्वर के यहाँ नहीं है। क्या उनके नियत किए हुए कोई आफिसर भी नहीं हैं? जो ये काम कर सके। बीरबल ने कहा—हुजूर! इस बात का उत्तर देने के लिए मैं कुछ समय चाहता हूँ। बादशाह ने समय दे दिया। उस अवधि के भीतर ही बीरबल ने नदी किनारे एक बड़े मेले का आयोजन किया जिसमें सब आफिसरों के लिए अलग अलग नावें नियत कीं और बादशाह से भी निवेदन किया कि हुजूर नावों की सैर का एक मेला लगाया गया है, हुजूर भी वहाँ पधार कर थोड़ी देर नाव में सैर करें। बादशाह ने मान लिया, और वे भी एक बड़ी उत्तम, खूब सजी हुई मौका पर जा विराजे। नौकाएं इधर उधर घूमकर सब रईसों और आफिसरों को सैर कराने लगीं। इसी अवसर में पूर्व संकेतानुसार एक अन्तःपुर की दाई आयी। उसकी गोद में एक बालक था जो मोम से तैयार कराया गया था और उसका स्वरूप बादशाह के छोटे शाहजादे से बिल्कुल मिला दिया गया था। उसे आया हुआ देखकर बादशाह ने बड़े प्रेम से कहा कि लाओ लाओ इन्हें हमारे पास दे दो। दाई

एक नाव पर बैठकर उसे बादशाह की नाव के पास लाई और बादशाह की गोद में देते समय पूर्व संकेतानुसार उसने इस प्रकार असावधानी से हाथ हिलाया कि वह बालक बीच में जल में ही गिर गया। उसे गिरता देख बादशाह किसी से कुछ कहे बिना ही अपने आप वस्त्र पहिने ही नदी में कूद गए, और डूबते बालक को निकाल लाये। जब यह देखा कि यह मोम का बना हुआ बच्चा है तो बड़े कुपित हुए और बीरबल से क्रोध से बोले कि क्यों! ऐसी गुस्ताखी। बीरबल ने हाथ जोड़ कर कहा कि हुजूर! इसका उत्तर तो पीछे दूँगा। हुजूर पहिले यह फर्मावें कि हुजूर ने ऐसा साहस क्यों किया कि वस्त्र पहिने ही जल में कूद पड़े। यदि कोई खतरा हो जाता तो हम लोग की क्या दशा होती। यदि बालक असावधानी से हाथ से छूट गया था तो मैं पास ही था आप मुझे आज्ञा देते में बड़े आफिसर को कहता वह किस्तियों के आफिसर को आज्ञा देते। यूँ नियमानुसार कार्यवाही उचित होती। आपने किसी से कुछ न कह कर ऐसा साहस किया इसका क्या कारण था। बादशाह ने कहा— बीरबल! शाहजादे को डूबता देखकर मेरे हृदय में प्रेम से ऐसी उद्विग्नता हुई कि किसी से कहने में जो विलम्ब होता वह मुझे सह्य नहीं हो सका। इस प्रकार नियमानुसार कार्यवाही में जो समय लगता उतने समय में शाहजादे की क्या गति हो जाती, यही भाव मेरे मन में आया। बीरबल ने हाथ जोड़कर कहा कि हुजूर! यह उस दिन की बात का उत्तर है। जब मनुष्य होते हुए भी आपके हृदय में प्रेम की इतनी उछाल उठी कि आप बिना किसी से कुछ कहे कूद पड़े तो हमारा ईश्वर जो अकारण प्रेम का समुद्र है वह अपने भक्त रूप पुत्रों को इस प्रकार भव सागर में कष्ट पाता देखकर स्वयं कूद पड़ता है तो इसमें क्या आश्चर्य है। बादशाह मान गए और उत्तर से सन्तुष्ट हुए।

वास्तविक बात तो यह है कि शिष्टों पर अनुग्रह या दुष्टों का दमन और धर्मस्थापना यह सब तो इच्छामात्र से भी हो सकता था। किन्तु भक्तों की उपासना सिद्धि और उनकी दर्शन लालसा की शान्ति बिना स्वरूप ग्रहण के होना असम्भव था। इसलिए भक्तों की दर्शन की उत्कण्ठा को शान्त करना ही अवतार धारण का मुख्य प्रयोजन है। जैसा कि हम 'परित्राणाय साधूनाम्' इत्यादि श्लोक की व्याख्या में श्रीरामानुजाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों के मत के अनुसार व्याख्या करते हुए कह आये हैं।

जो सज्जन अवतार लेने का क्या प्रयोजन है? इसी बात पर अधिक बल देते हैं और प्रयोजन न मिलने के कारण ही अवतारवाद को स्वीकार नहीं करते, उनसे विशेष कर हमारा यही कहना है कि ईश्वर के प्रयोजन को जानने की मनुष्य की शक्ति ही नहीं। जिस प्रकार हमारे शरीर में माँस, रुधिर आदि में अनन्त कीटाणु डाक्टर लोग बतलाया करते हैं उनमें से एक एक कीटाणु हमारे कार्यों का प्रयोजन जानने में सर्वथा असमर्थ रहता है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में कीटाणु से भी बहुत अल्प शक्ति रखने वाले

हम जीव ब्रह्माण्डों के अधिनायक ईश्वर का प्रयोजन जानने में कैसे समर्थ हो सकते हैं। सभी दर्शनकारों ने यह प्रश्न उठाया है कि आप्तकाम जिसे कोई इच्छा शेष नहीं है ऐसा ईश्वर जगत् की सृष्टि आदि क्यों करता है? कई दर्शनकारों ने इसका उत्तर दिया कि जीवों को अपना कर्मफल भोग कराने के लिए सृष्टि की आवश्यकता है। जीवों को मन, इन्द्रिय, शरीर आदि न मिले तो सुख दुःख रूप कर्मफल का भोग वे कैसे कर सकें। इस पर भी पुनः शंका होगी कि जीव कर्मफल भोगें या न भोगें इससे ईश्वर को क्या। एक राजा जैसे अपनी प्रजा को कर्मफल देना आवश्यक समझता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का राजा ईश्वर भी प्राणियों को कर्मफल देना आवश्यक समझता है। यह उत्तर भी ठीक नहीं बनता, क्योंकि राजा को अपने शासन की रक्षा के लिए दुष्टों का दमन और शिष्टों की रक्षा आवश्यक है। इसके बिना उसका शासन सुरक्षित नहीं रह सकता। किन्तु ईश्वर तो आप्तकाम है। उसे अपना शासन रखने की भी कोई आवश्यकता नहीं, वह इस झंझट में क्यों पड़े। इस प्रयोजन का पूर्ण विचार करते हुए सब दर्शनों के अन्तिम दर्शन वेदान्त में यही उत्तर दिया गया है कि 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' अर्थात् जगत् को उत्पन्न करना, पालन करना, व संहार करना हम लोगों की बुद्धि में बड़ा दुस्तर कार्य प्रतीत होता है किन्तु अनन्त शक्ति ईश्वर के लिए यह एक लीला अर्थात् खेल मात्र है। जैसे कोई प्रतिष्ठित राजा अपने हाथ में लिए हुए एक पुष्प को घुमाता रहे इसका प्रयोजन उसका विनोद मात्र ही कहा जा सकता। उस पर प्रयोजन की कोई बड़ी भारी जिज्ञासा करना एक बेसमझी ही होगी। इसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति और संहार अनन्त शक्ति ईश्वर के लिए फूल घुमाने के समान ही है। इसलिए इसे केवल लीला या विनोद ही कहना चाहिए। प्रयोजन की अधिक जिज्ञासा इसमें व्यर्थ है। यही बात अवतार धारण के विषय में भी है। श्रीभागवत में देवताओं की गर्भस्तुति में कहा गया है कि—

न तेऽभवस्येश भवस्य कारणं,  
विना विनोदं बत तर्कयामहे ।

अर्थात् अजन्मा होते हुए भी आप जो जन्म ग्रहण करते हैं उसका कारण विनोद के अतिरिक्त और कुछ हमारी समझ में नहीं आता। यहाँ अवतार धारण का कारण भी स्पष्ट रूप से विनोद को ही बतलाया है। जिस प्रकार सृष्टि को उत्पन्न करना और संहार करना भगवान् का एक विनोद मात्र है उसी प्रकार अवतार रूप में प्रकट होना भी उनका एक विनोद ही है। यही इस पद्य से सिद्ध होता है।

यहाँ फिर भी शंका होगी कि विनोद भी विमनस्कता अर्थात् मन की ठहरी हुई अवस्था को हटाने के लिए ही किया जाता है। ईश्वर में तो विमनस्कता का भी सम्भव नहीं। वह तो सब दुःखों से असंस्पृष्ट माना जाता है। विमनस्कता भी एक प्रकार का दुःख ही है, फिर विनोद के लिए भी ईश्वर को किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं।



इस शंका को हटाने के लिए भक्तिमार्ग के परम आचार्य श्री वल्लभाचार्य पूर्वोक्त पद्य का दूसरा अर्थ भी करते हैं कि—

‘नतेऽभवस्य’ अर्थात् आप स्वयं अजन्मा हैं इसका क्या कहना। जो आपको प्रणाम करते हैं उन्हें भी आप अजन्मा कर देते हैं। ऐसे होते हुए भी जो आप अवतार रूप से जन्म ग्रहण करते हो उसका कारण हमारी समझ में ‘विनाविनोद’ है अर्थात् नौका रहित इस संसार समुद्र में प्रेरणा कर अपने भक्तों को पार लगा देना ही है। आपके दर्शन कर और आपकी लीलाओं का श्रवण कर भक्त जन संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। यह प्रयोजन बिना अवतार ग्रहण के सिद्ध ही नहीं हो सकता इसका विवरण हम पूर्व कर चुके हैं।

इतने पर भी जो सज्जन अवतार ग्रहण के प्रयोजन पर हठ करते रहें, उनसे यह पूँछना चाहिए कि वेद का उपदेश देने की ईश्वर को क्या आवश्यकता थी। जो आर्य समाज आदि ईश्वर के अवतार ग्रहण पर शंकाएं करते हैं वे भी वेद को ईश्वर रचित मानते हैं। इसलिए उनसे यह पूछा जा सकता है कि ईश्वर को वेद रचना करने की क्या आवश्यकता थी। इसका उत्तर वे यही दे सकते हैं कि ईश्वर परम दयालु है। सांसारिक मनुष्य संसार के झंझटों से पार पा सकें इसी उद्देश्य से वह वेद के द्वारा कर्तव्य का उपदेश दे देता है। यही हमारा भी उत्तर होगा कि जैसे वह करुणावश वेद में कर्म और उपासना का उपदेश देता है वैसे ही कर्म का आदर्श दिखाने को और उपासना की सिद्धि के लिए अवतार भी धारण करता है। सैकड़ों उपदेशों से जो काम नहीं बनता वह आदर्श अर्थात् उदाहरण देख कर बन जाता है। जैसे— वेद में उपदेश दिया है कि—

‘अनुव्रतः पितुः पुत्रो मा भ्राता भ्रातरं द्विषत्।’

अर्थात् पुत्र पिता का अनुगामी होकर रहे और भाई भाई में द्वेष ने हो। केवल इतना कह देने से ही लोगों पर प्रभाव पड़ना कठिन था, इसलिए राम रूप में अवतार लेकर उन्होंने उदाहरण देकर उपस्थित कर दिया कि पिता का अनुगामी इस प्रकार बना जाता है। एवं राम और भरत के दृष्टान्त से यह भी लोकों को समझा दिया कि भाई भाई में किस प्रकार का प्रेम होना चाहिए। इस उदाहरण से लोगों पर प्रभाव पड़कर पूर्वोक्त वेद की आज्ञा के पालन करने में उनकी प्रवृत्ति भली भांति हो जायगी। वेदोक्त उपासना मार्ग तो अवतार ग्रहण के बिना स्थिर हो ही नहीं सकता। यह विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। जिस करुणा के वश भगवान् ने वेद का उपदेश दिया उसी करुणा से प्रेरित होकर उन उपदेशों की सफलता के लिए अवतार भी लेते हैं। यह प्रयोजन का विवरण विस्तार से किया गया।

## “साठवां-पुष्प”

### अन्य शङ्काओं के उत्तर :-

अब इस अवतारवाद के सम्बन्ध में अवतार शब्द पर ही शङ्का की जाती है कि अवतार शब्द का अर्थ तो उतरना है। तो क्या आप की दृष्टि में ईश्वर एक निर्दिष्ट स्थान पर बैठा हुआ है जहाँ से उतर कर आता है। इस प्रकार तो वह मुसलमान भाइयों का ही मत आ गया कि सातवें आसमान पर आठवीं कुर्सी लगाकर वहाँ बैठा हुआ ईश्वर शासन करता है। ऐसी बातें तो इस विज्ञान के युग में चल ही नहीं सकतीं। इस शंका का उत्तर है कि अवतार शब्द का अर्थ यहाँ आविर्भाव वा प्रकट होना है। श्रीभागवत में अवतार शब्द के स्थान में बहुधा आविर्भाव शब्द का ही प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह होगा कि ईश्वर जो जगत् के प्रत्येक अणु में व्यापक है वह इच्छानुसार और आवश्यकता के अनुसार कहीं भी प्रकट हो जाता है। सूक्ष्म रूप से व्यापक रहने वाले का स्थूल रूप दिखाकर प्रकट होना एक अवस्था से दूसरी अवस्था में उतरना ही है। इसी अभिप्राय से दूसरी अवस्था में उतरने के कारण अवतार शब्द का भी यहाँ प्रयोग किया जाता है। किन्तु इसका अर्थ एक स्थान से उतरना नहीं समझना चाहिए। उसका मुख्य अर्थ प्रकट होना ही है। ईश्वर की व्यापकता सब ही ईश्वरवादी मानते हैं, फिर व्यापक का एक जगह प्रकट हो जाना क्यों नहीं संभव माना जा सकता। जैसे आजकल के विज्ञान की मूल भित्ति रूप विद्युत-शक्ति सबही जगह फैली हुई मानी जाती है उसे ही अपना काम लेने के लिए, प्रकाश जलाने के लिए या मशीन चलाने के लिए विज्ञान के वेत्ता लोग कहीं प्रकट कर लेते हैं। विद्युत-शक्ति जड़ है, उसे प्रकट करने के लिए चेतन पुरुष की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु ईश्वर तो चैतन्यघन रूप है। वहीं से चेतनता इसके अंश-भूत जीवों को भी मिलती है। इसलिए उसे प्रकट करने को किसी दूसरे चेतन की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं ही अपनी सवतंत्रता से जहाँ चाहे प्रकट हो सकता है। प्रेरणा रूप प्रार्थना करने का वर्णन तो सर्वत्र पुराणों में मिलता ही है। सूक्ष्म जगत् के परिचालक देवता आदि जब प्रार्थना करते हैं तब ही भगवान् प्रकट होते हैं।

फिर शङ्का होगी कि जब ईश्वर एक स्थान में प्रकट हो गया या स्थूल अवस्था में उतर आया तो फिर अन्य स्थानों में न रहेगा। इस प्रकार तो ईश्वर की व्यापकता नष्ट हो जायगी। यह शंका निरी उपहासास्पद है। क्या विद्युत् शक्ति एक स्थान में प्रकट कर ली जाती है तो वह अन्य स्थानों में नहीं रह जाती ? ऐसा ही होता तो दूर-दूर स्थानों में प्रकाश कैसे होता और सैकड़ों कोसों के अन्तर पर मशीनें कैसे चलाई

जातीं? इससे यही मानना होगा कि व्यापक तत्व एक जगह प्रकट हो जाता है तो भी अन्य स्थानों में यथावत् बना ही रहता है। इसी प्रकार ईश्वर जब अयोध्या व मथुरा में प्रकट हो गया तब भी अन्य स्थानों में यथावत् बना ही रहेगा इससे व्यापकता में कोई हानि नहीं आती।

फिर शंका होगी कि अवतारवादी अवतारों में तारतम्य मानते हैं। अर्थात् कोई अवतार दो या चार कलाओं से माना जाता है और कोई अधिक कलाओं से या कोई पूर्णावतार भी कहा जाता है। इस प्रकार निरवयव ईश्वर में अवयवों की कल्पना आ जाती है। कला नाम अवयवों का ही है। जब ईश्वर सावयव हो गया तो तर्क-शास्त्र के अनुसार वह अनित्य होगा। क्योंकि सावयव पदार्थ तो अनित्य ही देखे जाते हैं। यह बड़ा भारी दोष ईश्वर को अनित्य मानने का अवतारवाद पर आता है। इसका उत्तर है कि कलाओं से अवतार मानने का हम लोगों का यह आशय नहीं कि ईश्वर दो चार अवयवों से अवतार लेता है। किन्तु उसका आशय है शक्तियों की प्रकटता। ईश्वर में अनन्त शक्तियाँ हैं। जिस समय जहाँ जितनी शक्ति को प्रकट करने की आवश्यकता होती है वहाँ उतनी शक्ति प्रकट की जाती है। उन शक्तियों के अनुरोध से ही 'इतनी कला का अवतार' यह व्यवहार किया जाता है। जैसे हिरण्यकश्यपु आदि के वध के लिए केवल पराक्रम शक्ति की आवश्यकता थी। इसलिए नृसिंह आदि अवतारों में पराक्रम शक्ति ही प्रकट की गई।

व्यास आदि अवतारों में आवश्यकतानुसार केवल ज्ञान शक्ति ही प्रकट की गई है एवं राम और कृष्ण में पराक्रम, ज्ञान और आनन्द तीनों ब्रह्म के रूप प्रकट किए गए हैं, इससे वे पूर्णावतार कहते हैं। वहाँ भी आनन्द के कई भेद हैं। जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् की आनन्द वल्ली में कहा गया है। उनमें से भगवान् राम में शान्ति रूप आनन्द ही प्रकट है। सम्पत्ति काल में या बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी उनके मनमें कभी क्षोभ होता ही न था। जैसा कि वनवास देने के अनन्तर पश्चात्ताप करते हुए महाराज दशरथ ने कहा है कि—

“आहूतस्याऽभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।

न मया लक्षितस्तस्य विशेषोल्पोऽपि धीमतः” ॥

अर्थात् राम को मैंने राज्याभिषेक देने के लिए बुलाया था और वन में जाने की आज्ञा देकर यहाँ से भेजा किन्तु दोनों दशाओं में उनमें कोई भी भेद मैंने नहीं देखा। राज्य के लिए बुलाने पर कोई प्रसन्नता न देख पड़ी और वन की आज्ञा पर कोई दुःख न दीख पड़ा। सब दशाओं में गंभीर भाव से वे एक रूप रहते थे। यह चित्त में क्षोभ न होना ही शान्त्यानन्द कहलाता है। यही मुख्य आनन्द है और सम्पत्ति दशा में चित्त

का विकसित होना समृद्ध्यानन्द कहलाता है। समृद्धि के आनन्द का लक्षण है सदा हँसते-खेलते रहना। कभी चित्त को शोक में वा चिन्ता में न जाने देना। भगवान् कृष्ण में शान्त्यानन्द और समृद्ध्यानन्द दोनों की प्रकटता है। इन दोनों अवतारों के चरित्र प्रायः सभी पुराणों में मिलते हैं, किन्तु वहाँ भगवान् राम का हँसी-खुशी से चित्त का उल्लास प्रायः कहीं भी वर्णित नहीं है और भगवान् कृष्ण का शोक व चिन्ता में मग्न होकर बैठना कहीं भी वर्णित नहीं है। राम सदा शान्ति में ही रहते थे और कृष्ण सदा उल्लास में ही। पराक्रम, रूप, सत्ता और ज्ञान शक्ति तो दोनों ही अवतारों में परिपूर्ण रूप से प्रकट है। यही शक्तियों की प्रकटता कला रूप में वर्णित की जाती है। शक्ति को माया व प्रकृति शब्द से कहा जाता है। उसमें तो कलाएँ सभी दर्शनों में मानी गई हैं। इसलिए कलावतार कहने पर भी ब्रह्म व ईश्वर में कोई अवयव कल्पना का प्रसंग नहीं आता। एक यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि यों संसार में संसारी जीवों के रूप में प्रकट होने पर तो ईश्वर भी संसारी हो गया फिर अन्य जीवों में और ईश्वर में विशेषता ही क्या रही। ईश्वर का लक्षण तो योग दर्शन में यह बतलाया गया है कि—

**“क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः”**

अर्थात् अविद्या आदि पाँच क्लेश, कर्म, कर्म जनित विपाक अर्थात् सुख दुःख मोह और इन सब की वासनाएँ, इन सब का जहाँ स्पर्श भी न हो ऐसे पुरुष विशेष को ईश्वर कहा जाता है। जिन्हें अवतार माना जाता है वे तो सब प्रकार के सुख-दुःख, युद्ध, विवाद आदि कर्मों से सम्बन्ध रखने वाले देखे जाते हैं। फिर इनमें ईश्वर का लक्षण कैसे घटित होगा। जीव में और उनमें विशेषता ही क्या रही ? इसका उत्तर है कि जीव को अपने कर्मवश देह मिलता है। कर्म की वासना व संस्कार सदा उसके साथ रहता है। उसके अनुसार ही जीव को भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। किन्तु अवतार कर्मवश होकर जन्म ग्रहण नहीं करते। वे स्वेच्छानुसार जहाँ चाहे प्रकट होते हैं, और जब चाहें अपने रूप को तिरोहित कर लेते हैं। इसका दृष्टान्त इस प्रकार समझिए कि कारागार में कैदी भी जाते हैं और बड़े बड़े आफिसर भी व स्वयं राजा भी कभी कभी कारागार देखने जाते हैं। कैदी अपना कर्म-फल भोगने वहाँ गया है उसकी अवधि नियत है। वह उस अवधि के भीतर वहाँ से बाहर नहीं हो सकता। किन्तु आफिसर व राजा वहाँ जाकर भी स्वतंत्र है। वह जितनी देर चाहे वहाँ रहे जब चाहे तब छोड़कर चला जाय। उतना ही नहीं उसे यह भी स्वतंत्रता है कि किसी कैदी की सदाचार की रिपोर्ट पर वह उसे भी क्षमा देकर कारागार से बाहर कर सकता है। इसी प्रकार समझिए कि संसार एक कारागार है। इसमें अन्य जीव कैदी बन कर अपना कर्म-फल भोगने आये हैं। किन्तु ईश्वर अवतार लेकर कभी आता है तो वह इस कारागार रूप संसार की सुव्यवस्था के लिए आता है। यहाँ आने पर भी

उसकी स्वतंत्रता में कोई भी बाधा नहीं होती। वह कर्मवश नहीं है। जितने काल चाहे यहाँ रहे जब चाहे तब छोड़ जाय या जिन सदाचारी अपने भक्तजीवों को निकालना चाहे उन्हें निकाल भी ले जाय। यह स्वतंत्रता उसे यहाँ भी रहती है। ईश्वरवादी लोग ईश्वर में भी सृष्टि-प्रलय आदि कर्म मानते ही हैं। उक्त सूत्र में सुख-दुःख जनक या वासना जनक-कर्म ईश्वर में नहीं होते, इसी आशय से कर्मों का अस्पर्श बतलाया गया है और वेदान्त दर्शन में इसी आशय से ब्रह्म के दो भेद माने जाते हैं। शुद्धब्रह्म सदा कर्म रहित रहता है और मायाशबलित ब्रह्म सृष्टि आदि सब करता है। माया शबलित ब्रह्म को ही ईश्वर भी कहा जाता है। अवतार भी ईश्वर के ही होते हैं इसलिए युद्ध विवाद आदि कर्म भी माया-शबलित ब्रह्म में असम्भावित नहीं। उन कर्मों का कोई फल व संस्कार ईश्वर में नहीं होता। यह बात भगवद् गीता में ही -

“न मां कर्माणि लिम्पन्ति” ।

“तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्य कर्तारमव्ययम्” ।

इत्यादि वचनों से बार-बार कही गई है और बिना कर्म के भी अवतारों का देह कैसे घटित होता है यह विवरण श्लोकों की व्याख्या में भिन्न भिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार दिखाया जा चुका है। रही हर्ष-शोकादि की बात सो वह भी मायाकृत प्रदर्शन मात्र है यह भी उन श्लोकों की व्याख्या में व्यक्त हो चुका है। इस प्रकार अवतारवाद के विषय पर जो सामान्य शङ्काएँ थीं उनका उत्तर हमने दे दिया। अब अवतारों के चरित्रों की आलोचना यहाँ उचित प्रतीत नहीं होती। वह एक स्वतंत्र निबन्ध का विषय है यहाँ उतने विस्तार का स्थान नहीं। कुछ शंका जो भगवदवतारों पर विशेष रूप से उठायी जाती हैं, उनका उत्तर इससे आगे के -

“जन्म कर्म च मे दिव्यम्”

इत्यादि पद्य की व्याख्या में दिया जायगा।

अब केवल इस प्रश्न का उत्तर और देना है कि वेद में अवतारवाद है या नहीं। इसके लिए अवतारवाद के प्रतिपादक कुछ मंत्र यहाँ लिखे जाते हैं-

“प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वाः ॥

इसका अर्थ है कि प्रजाओं का पति भगवान् गर्भ के भीतर भी विचरता है। वह स्वयं तो जन्म रहित है किन्तु अनेक प्रकार से जन्म ग्रहण करता रहता है। विद्वान् पुरुष ही उसके उद्भव स्थान को देखते व समझते हैं। जिस समय वह आविर्भूत होता है तब सम्पूर्ण भुवन उसी के आधार पर अवस्थित रहते हैं। अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ नेता

बनकर लोकों को चलाता रहता है। इस मंत्र के प्रकृत अर्थ में अवतारवाद अत्यन्त स्फुट है। अब यदि कोई विद्वान् इसका अन्य अर्थ करें तो प्रश्न यही होगा कि उनका किया हुआ अर्थ ही क्यों प्रमाण माना जाय। मंत्र के अक्षरों से स्पष्ट निकलता हुआ हमारा अर्थ ही क्यों न प्रमाण माना जाय। वस्तुतः बात यह है कि वेद सर्वविज्ञान निधि है। वह थोड़े अक्षरों में संकेत से अनेक अर्थों को प्रकाशित कर देता है और उसके संकेतित सभी अर्थ शिष्ट सम्प्रदाय में प्रमाण भूत माने जाते हैं। इसलिए बिना किसी खींच-तान और लाग-लपेट के जब इस मंत्र से अवतारवाद बिल्कुल विस्पष्ट हो जाता है तब इस अर्थ को अप्रमाणित करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। यदि कोई वैज्ञानिक अर्थ भी इस मंत्र से प्रकाशित होता है तो वह भी मान लिया जाय। किन्तु अवतारवाद का अर्थ न मानने का कोई कारण नहीं। अन्य भी मंत्र देखिए :-

“त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत कुमारी” (अथर्ववेद-का० १०।४।८)।

यहाँ परमात्मा की स्तुति है कि आप स्त्री रूप भी हैं, पुरुष रूप भी हैं। कुमार और कुमारी रूप भी आप होते हैं।

अब विचारने की बात है कि परमात्मा अपने व्यापक स्वरूप में तो स्त्री, पुरुष, कुमार व कुमारी कुछ भी नहीं है। तब यह रूप जो मंत्र में वर्णन किए गए हैं यह अवतारों के ही रूप हो सकते हैं। पुरुष रूप में राम कृष्ण आदि अवतार प्रसिद्ध ही हैं। स्त्री रूप महिषमर्दिनी आदि अवतारों का विस्तृत वर्णन दुर्गा-सप्तशती में प्रसिद्ध है। वहाँ के अवतार सब स्त्री रूप ही हैं। व्यापक, निराकार परमात्मा पुरुष रूप में या स्त्री रूप में इच्छानुसार कहीं भी प्रकट हो सकता है। कुमारी रूप में अवतार भी वहाँ वर्णित हैं और कुमार रूप में वामनावतार प्रसिद्ध ही है। जिसकी विस्तार से कथा शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होती है। शिष्ट-सम्प्रदाय में मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद माने जाते हैं इसलिए शतपथ में प्रसिद्ध कथा को भी वेद का ही भाग कहना शिष्ट-संप्रदाय द्वारा अनुमोदित है और इस कथा का संकेत मंत्र में भी मिलता है।

“इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदं समूढमस्य पांसुरे”।

अर्थात् इन दृश्यमान लोकों का विष्णु ने विक्रमण किया—इन पर अपने चरण रखे।

अर्थात् अपने चरणों से सब लोकों को नाप डाला। सब लोक इनकी पाद-धूलि में अन्तर्गत हो गए। यह स्पष्ट वामन अवतार की कथा है। यहाँ भी अर्थ का विभाग उपस्थित होने पर यही उत्तर होगा कि मंत्र के अक्षरों से स्पष्ट प्रतीत होता हुआ हमारा अर्थ क्यों न माना जाय। जो कथा ब्राह्मण और पुराणों में प्रसिद्ध है उसके अनुकूल मंत्र का अर्थ न मानकर मनमाना अर्थ करना एक बलात् कार्य होगा। जो सम्प्रदाय

ब्राह्मण भाग को वेद नहीं मानते वे भी यह तो मानते ही हैं कि मंत्रों के अर्थ ही भगवान् ने ऋषियों की बुद्धि में प्रकाशित किए। वे ही अर्थ ऋषियों ने लिखे। वे ही ब्राह्मण हैं और पुराण आदि भी वेदार्थों के विस्तार ही हैं, यह उनमें ही वर्णन किया गया है। इसी प्रकार मत्स्यावतार की कथा और वराह अवतार की कथा भी शतपथ आदि ब्राह्मणों में स्पष्ट मिलती है। जो वैज्ञानिक अवतार हैं, जिनका सृष्टि में विशेष रूप से उपयोग है उनकी कथा ब्राह्मणों में सृष्टि प्रक्रिया बताने के लिए स्पष्ट रूप से दी गई है। उनके वैज्ञानिक अर्थों को प्रकाशित करने का यहाँ स्थान नहीं है। सम्पूर्ण सृष्टि का विवरण करना गीता के व्याख्यानों में सर्वथा अप्रस्तुत होगा।

महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी ने “मंत्र-भागवत” और “मंत्र-रामायण” नाम के दो छोटे निबन्ध भी लिखे हैं। उनमें राम और कृष्ण की प्रत्येक लीलाओं के प्रति-पादक मंत्र उद्धृत किये हैं। उन मंत्रों से राम और कृष्ण के प्रत्येक चरित प्रकाशित होते हैं और वेद के रहस्य प्रकाशित करने में ही जिनने अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत किया उन वेद के असाधारण विद्वान् विद्यावाचस्पतिश्रीमधुसूदनजीओझा ने भी गीताविज्ञान-भाष्य के आचार्यकाण्ड में उन मंत्रों को दुहराया है। इसलिए ये मंत्र उन लीलाओं पर नहीं घटते ऐसा कहने का साहस कोई नहीं कर सकता। इससे वेदों में अवतारवाद होना अति स्पष्ट हो जाता है।

उपनिषदों में भी ‘केनोपनिषद्’ में एक कथा आती है कि अग्नि, वायु और इन्द्र इन तीनों को एक बार यह अभिमान हुआ कि हमने ही असुरों पर विजय प्राप्त किया है तब इनका अभिमान चूर्ण करने को इनके सामने एक यक्ष प्रकट हुआ। यक्ष शब्द से वेद में एक अद्भुत् पदार्थ को कहा जाता है जिसका तत्त्व विदित न हो। ऐसा अद्भुत् पदार्थ अपने सामने देखकर इसका तत्त्व जानने को पहिले अग्नि को उसके पास भेजा गया। उस यक्ष ने अग्नि से पूछा कि तुम कौन हो ? तब अग्नि ने बड़े गर्व से उत्तर दिया कि मैं अग्नि हूँ। जातवेदा हूँ। अर्थात् जो पदार्थ लोक में पैदा होते हैं उन सबमें मैं व्याप्त रहता हूँ। यक्ष ने पूछा तुममें क्या शक्ति है ? अग्नि ने उत्तर दिया कि जो कुछ मेरे सामने आवे सबको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ। तब यक्ष ने इसके सामने एक तृण रक्खा और कहा कि इसे जला दो। अग्नि ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाई किन्तु वह उस तृण को न जला सका। तब वह लौटकर अपने साथियों के पास आ गया और उनसे कह दिया कि मैं इस अद्भुत् यक्ष को नहीं पहचान सका कि यह कौन है। तब वायु उसका तत्त्व जानने को गया उससे भी यक्ष ने पूछा कि तुम कौन हो ? तब इसने भी बड़े गर्व से कहा कि मैं वायु हूँ ! मातरिश्वा हूँ। अर्थात् सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता हूँ। तुममें क्या शक्ति है ? इसका उत्तर वायु ने दिया कि मैं सब पदार्थों को उड़ा सकता हूँ। इसके आगे भी यक्ष ने वही तृण रख दिया

कि इसे उड़ाओ। वायु ने अपनी पूर्ण शक्ति लगाई किन्तु उस तृण को न उड़ा सका। तब वह भी लौट आया और कहने लगा कि मैं भी नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है। तब स्वयं इन्द्र पहिचानने को गए, किन्तु इनके जाते ही वह यक्ष तिरोहित हो गया। ये उसे देख ही न सके। तब इन्हें भगवती, उमा के दर्शन हुए और उस उमा ने इनसे कहा कि असुरों पर विजय पाने की शक्ति परब्रह्म की ही है, वही सर्व शक्तियों का आधार है। तुम लोग उसकी ही शक्ति से शक्तिमान् होकर वृथा अभिमान करने लगे थे कि हम विजय करते हैं। इसलिए तुम्हारा अभिमान चूर्ण करने को भगवान् ने यह तुम्हें दर्शन दिया इत्यादि।

इस आख्यायिका में यक्ष अर्थात् अद्भुत् रूप से ब्रह्म का प्रकट होना स्पष्ट ही वर्णित है। आविर्भाव अर्थात् प्रकट होने को ही अवतार कहा जाता है यह हम निरूपण कर चुके हैं। इस आख्यायिका को कोई असम्भव घटना न समझ लें क्योंकि हमारे ज्ञान के भीतर जो ज्ञान रूप व ज्ञान का विषय तृण है उसे अग्नि नहीं जला सकता, वायु नहीं उड़ा सकता। यह अनुभव सिद्ध ही है। परमात्मा ज्ञान स्वरूप है उसके तृण को अग्नि व वायु कैसे जला व उड़ा सकते थे और इन्द्र ज्ञान-शक्ति का अधिष्ठाता माना जाता है उसे सब जान लेने का अभिमान है। इसलिए उसके सामने से वह यक्ष तिरोहित ही हो गया। अर्थात् इन्द्र के ज्ञान में भी वह न आया तब माया रूप उमा ने इन देवताओं को परब्रह्म का परिचय दिया। इससे उपनिषद् ने यही सिद्ध किया है कि जीव माया में ही ईश्वर को देख सकता है पृथक् रूप से उसका दर्शन जीव के लिए दुर्लभ है। जैसा कि हम उद्दालक, श्वेतकेतु की आख्यायिका में स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार भगवान् के आविर्भावों की कई कथाएँ ब्राह्मण उपनिषद् आदि में मिलती हैं। इससे अवतारवाद के वैदिक होने में कोई सन्देह नहीं रहता। आगे भगवद्गीता के विभूति अध्याय में भी विभूति और अवतारों का वर्णन आवेगा। वहाँ भी इस विषय पर प्रकाश डाला जायगा।





## इकसठवां पुष्प

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।  
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥  
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।  
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥  
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।  
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥  
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्तव इह देवताः ।  
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

पूर्वोक्त प्रकार से मेरा जन्म अर्थात् शरीरग्रहण रूप प्रकटता और कर्म ये दोनों ही दिव्य हैं। अर्थात् प्रकृतिजन्य नहीं। इनको इस प्रकार जो जान लेता है वह अपना प्राकृत देह छोड़ने पर पुनः जन्म नहीं लेता। किन्तु मुझे ही प्राप्त कर लेता है।

जन्म शब्द से यहाँ प्रादुर्भाव अर्थात् प्रकटता ही कही गई है। श्रीवल्लभाचार्य ने अपने ग्रन्थ में परिभाषा लिखी है कि नित्य और व्यापक के सम्बन्ध में जहाँ कहीं जन्म शब्द आवे वहाँ उसका अर्थ प्रकटता ही समझना चाहिए। इसी परिभाषा के अनुसार यहाँ जन्म शब्द का पूर्वोक्त अर्थ ही करना होगा। क्योंकि उत्पत्ति रूप अर्थ ईश्वर के सम्बन्ध में असम्भव है। उस जन्म की दिव्यता अर्थात् अप्राकृत होने का विवरण पूर्व श्लोकों की व्याख्या में विस्तार से किया जा चुका है और कर्म की दिव्यता ईश्वर पक्ष में सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि रूप में स्पष्ट ही है। वे कार्य किसी जीवधारी के द्वारा नहीं हो सकते। इसीलिए उन्हें दिव्य कहना उचित ही है और अवतार पक्ष में यही दिव्यता है कि बिना किसी फल की इच्छा के भी कर्म किए जाते हैं। जैसा कि पूर्व तृतीयाध्याय में –

“न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्”

इत्यादि श्लोक में विवरण किया जा चुका है। इस प्रकार जन्म और कर्म का ज्ञान होने पर परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान उसके अन्तर्गत अवश्य ही आ जायगा। ब्रह्म अपनी माया से किस प्रकार अवतरित होता है या सृष्टि, प्रलय आदि किस प्रकार करता है यह ज्ञान ही तो ब्रह्मज्ञान है और निष्काम कर्म भगवान् किस प्रकार करते हैं यह जानने

पर कर्मयोग का पूर्ण सिद्धान्त भी ज्ञात हो गया। इससे ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही जन्म कर्म के ज्ञान में अन्तर्भूत हो गए। तब उसका फल जो मोक्ष बताया गया वह उचित ही है, क्योंकि परब्रह्म का ज्ञान होने पर और कर्म संन्यास व कर्मयोग से जीवन व्यतीत करने पर ही मोक्ष शास्त्र में बताया गया है। यद्यपि ज्ञानयोग व कर्मयोग से जीवन्मुक्ति जीवित दशा में ही मिल जाती है, किन्तु विदेहकैवल्य अर्थात् पूर्ण मुक्ति तो प्राकृत शरीर छोड़ने पर ही प्राप्त होती है। इस अभिप्राय से यहाँ देह त्याग के अनन्तर ही मुक्ति कही गई है। जिन सम्प्रदायों में मुक्ति में भी ब्रह्म के स्वरूप में लीन होना नहीं माना जाता उनके मतानुसार “मामेति” का अर्थ मेरी समानधर्मता को प्राप्त कर लेता है या मेरा शरीर रूप बन जाता है, इत्यादि ही करना होगा।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी भगवद्गीता में ‘अस्मत्’ शब्द का अर्थ अव्यय पुरुष ही मानते हैं। उनके मतानुसार इस पद्य का यह अर्थ होगा कि अव्यय पुरुष का प्रादुर्भाव तो अवतार रूप से अप्राकृत है ही किन्तु कर्म भी अव्यय पुरुष में नहीं हो सकता। अक्षर वा क्षर के कर्मों का अव्यय में समारोप मात्र होता है। इसीलिए अव्यय पुरुष ही सबका कर्ता माना जाता है। यह भगवद्गीता के वाक्यों में अनेक बार स्पष्ट है और यही कर्म की दिव्यता है।

जन्म की दिव्यता का विवरण षष्ठ श्लोक की व्याख्या में विस्तार से किया जा चुका है और ईश्वर रूप के सृष्टि आदि कर्मों की दिव्यता अर्थात् अमानुषता प्रसिद्ध ही है। सृष्टि, प्रलयादि करने का सामर्थ्य किसी मनुष्य में हो ही नहीं सकता। इसलिए उनपर कुछ वक्तव्य नहीं है। अवतार रूप में जो भगवान् के कर्म हैं, विशेषकर बाल्य वा कौमारावस्था के जो ब्रजवास काल के कर्म पुराणों में वर्णित हैं, उन पर आजकल बहुत शंकाएँ की जाती हैं इसलिए उनपर संक्षेप में कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

बाल्यावस्था में भगवान् कृष्ण जो गोपियों के घरों से दूध माखन आदि चुरा लाते थे, इन लीलाओं पर बहुतों को शंका होती है कि ईश्वरावतार होकर भी भगवान् कृष्ण ने चोरी जैसे धर्म विरुद्ध अधर्म कार्य क्यों किये ? किन्तु वे शंका करने वाले सज्जन उन लीलाओं के पुराणोक्त वर्णनों पर पूरा ध्यान नहीं देते हैं। चोरी की कानूनी परिभाषा में उसका लक्षण किया जाता है कि किसी दूसरे की वस्तु पर नियम विरुद्ध अधिकार कर उसका जी दुखाना ही चोरी है। किन्तु यहाँ वह लक्षण बिल्कुल घटित नहीं होता। ईश्वर रूप में भगवान् सबके स्वामी हैं। तब वे वस्तुएँ दूसरे की भी नहीं कही जा सकती और जिन गोपियों के घरों से दूध मखन आदि भगवान् चुराते थे, उनका मन भी इससे दुःखित न होकर प्रेम वश अत्यन्त प्रफुल्लित होता था। जिन

गोपियों के घर भगवान् कई दिन नहीं जाते वे मन में प्रार्थना किया करती थीं कि कृष्ण मेरे घर पर मक्खन चुराने क्यों नहीं आते। मक्खन धरा है उसे वे कृपा कर ले जायें। लोक में कोई पुरुष ऐसी प्रार्थना करता हुआ नहीं देखा व सुना जाता कि मेरी तिजोरी में रुपये बहुत हैं इन्हें चोर आकर क्यों नहीं ले जाता। एक बार किसी का मक्खन चुरा कर कृष्ण धूप में भागते हैं तो वह कहती है कि :-

नीतं यदि नवनीतं नीतं नीतं किमेतेन ।

आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव ॥

अर्थात् यदि तुमने तत्काल का निकाला हुआ मक्खन ले लिया तो ले लिया, इससे क्या हुआ। किन्तु धूप से तपाई हुई भूमि पर तुम दौड़ो मत, (पैर में छाले पड़ जायेंगे)। कोई गोपी कहती है कि :-

क्षीरसारमपहत्य लीलया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया ।

मानसे मम नितान्ततामसे नन्दनन्दन कुतो न लीयसे ॥

अर्थात् दुग्ध का सार मक्खन चुराकर यदि तुम भागने लगे हो तो तमोगुण के कारण अत्यन्त अँधेरे मेरे मन ही में आकर क्यों नहीं छुप जाते ! (यहाँ कोई नहीं देख सकेगा) चोर पर इस प्रकार दया कर उसे छुपने का स्थान बताने वाला लोक में कोई भी देखा सुना नहीं जाता। इसलिए यह दूध मक्खन की चोरी भी प्राकृत चोरी नहीं। अपितु प्रेमावेश का एक अलौकिक चरित्र ही है। आनन्दरूप भगवान् कृष्ण उन गोपियों को अपना आनन्द प्राप्त कराने के लिये ही ऐसी लीलाएँ करते थे और इससे वे पूर्ण आनन्द विभोर होती थीं। इससे इन मधुर लीलाओं को भी दिव्य कर्म ही कहा जा सकता है।

भागवत आदि में वर्णित चीरहरण लीला पर भी आजकल के बहुत से लोग शंका किया करते हैं कि भगवान् ने “स्त्रियों को नंगी देखना” यह शास्त्र विरुद्ध कुत्सित कर्म क्यों किया। किन्तु उन सज्जनों को उस सम्पूर्ण परिस्थिति पर विचार करना चाहिये। प्रथम तो यह देखना आवश्यक होगा कि उस समय भगवान् कृष्ण की आयु क्या थी। गोवर्धन पर्वत उठाने के समय कृष्ण की अवस्था सात वर्ष की बताई गई है। यह चीर हरण लीला उससे पूर्व की है इसलिए उस समय इनकी अवस्था छः वर्ष की ही माननी होगी। इसके अतिरिक्त वे गोपियाँ इसीलिए देवताओं का आराधन करने लगी थीं कि हम कृष्ण के साथ खेल, क्रीड़ा, विहार कर सकें। यह वरदान हमें देवता लोग प्रसन्न होकर दें। इस प्रकार व्रत करती हुई भी वे अज्ञानवश बिल्कुल नग्न होकर जल में स्नान करती थीं, उन्हें शिक्षा देने के लिये ही भगवान् कृष्ण वहाँ गए

और इस प्रकार शिक्षा देना चाहा कि उनके हृदय में चोट लगकर वह शिक्षा सदा के लिये स्थिर हो जाय। जब गोपियों ने अपने वस्त्र मांगे और कहा कि :-

श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।

देहि वासांसि धर्मज्ञ नोचेत् राज्ञे ब्रुवामहे ॥

कई व्याख्याकारों ने इस पद्य से यह अभिप्राय निकाला है कि उन व्रत करने वाली कन्याओं में जो कृष्ण के साथ क्रीड़ा में सम्मिलित होना चाहती थीं, उनमें चारों वर्णों की कन्यायें थीं। यह बात उनकी वाक्य रचना से ही स्पष्ट होती है “हे श्याम सुन्दर हम तुम्हारी दासी हैं” यह कथन शूद्र वर्ण की कन्याओं का ही उपपन्न हो सकता है। क्योंकि दास भाव चतुर्थ वर्ण में ही स्वाभाविक होता है। “जो आप कहें वही हम करने को तैयार हैं” यह वाक्य भङ्गी से वैश्य कन्याओं का कथन प्रतीत होता है। इतनी अनुगतिता वैश्यों में ही स्वभाव सिद्ध देखी जाती है। तीसरे चरण में कहा है कि “तुम तो धर्म जानने वाले हो हमारे वस्त्र दे दो” यह कथन ब्राह्मण कन्याओं का प्रतीत होता है, क्योंकि धर्म की दुहाई देना ब्राह्मणों का स्वभाव सिद्ध है। चौथे चरण में कहा है कि “यदि वस्त्र नहीं दोगे तो हम राजा के दरबार में कहेंगी”। यह कथन क्षत्रिय कन्याओं का प्रतीत होता है क्योंकि इसमें वीर भाव झलकता है। अस्तु, चारों ही वर्णों की कन्यायें भगवान् कृष्ण के साथ क्रीड़ा विनोद प्रेमवश खेल-कूद करने को अत्यन्त उत्सुक थीं यह इससे सिद्ध हुआ। अब इस पर भगवान् कृष्ण क्या उत्तर देते हैं, सो सुनिये :-

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।

बद्धाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽहसः कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ॥

इसका अर्थ है कि तुम सबने व्रत धारण करके भी नग्न जल में प्रवेश करके देवताओं की अवज्ञा की है। अर्थात् तुम मनुष्यों के सामने नग्न जाती हुई तो लज्जित होती हो, किन्तु देवता, जो जल स्थल सबमें व्यापक है, उनकी परवाह नहीं करतीं। यही उनकी अवज्ञा है, इसलिए इस पाप की निवृत्ति के लिए हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाओ, और सूर्य को प्रणाम करके तब अपने वस्त्र ले लो। अब सोचने की बात है कि कोई छः वर्ष का बालक किसी नदी सरोवर में स्त्रियों को नङ्गी नहाती देखकर उनके पास जाकर यह उपदेश करे कि जल में नङ्गे होकर नहाना देवताओं की अवज्ञा है। इसका प्रायश्चित्त करो और आगे से नङ्गी नहाना बन्द करो। तो वहाँ इस घटना को देखने वाले शिष्ट पुरुष क्या कहेंगे ? क्या उस छः वर्ष के बालक की निन्दा करेंगे ? नहीं कभी नहीं वे यही कहेंगे कि छः वर्ष की अवस्था में जो इतना कुरीति सुधार करने पर उतारू है वह युवावस्था में कितना सुधार करेगा, यह भगवान् ही जाने। भगवान्

इसे चिरायु करें। तब फिर भगवान् कृष्ण पर ही इस लीला से शंका क्यों की जाय? इसी प्रकार “रास लीला”, आज कल के सुधारकों का प्रधान आक्षेप स्थान है। आजकल के ही क्यों उस लीला पर तो परम भागवत परीक्षित को भी सन्देह हुआ है। यह भागवत के प्रश्नोत्तर से सिद्ध है। उस लीला की व्याख्या करते हुये प्रधान टीकाकार श्रीधरस्वामी ने लिखा है कि -

**“कामविजयख्यापनार्थैवेयं लीला”**

अर्थात् यह लीला कामदेव पर विजय प्रसिद्धि दिखाने के लिए ही की गई है। अन्तिम अध्याय के मंगल श्लोक में भी उनने स्पष्ट किया है कि :-

**ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।**

**जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः ॥**

अर्थात् ब्रह्मादि देवताओं पर भी विजय करके जिसका अभिमान बहुत बढ़ गया है, ऐसे कामदेव का अभिमान चूर्ण करने वाले गोपियों के रास मण्डल के भूषण श्रीपति भगवान् सर्वोत्कर्षशाली हैं। इस कथा को श्लिष्ट लोग इस प्रकार समन्वित किया करते हैं कि ब्रज मण्डल में ही नाना विध छल-छिद्र करने वाले असुरों का विनाश करते हुए श्रीकृष्ण का जब प्रताप बढ़ते देखा तब कामदेव ने भी उनके पास गुप्त रूप से आकर इच्छा प्रकट की कि भगवान् मेरा विजय भी आज तक खुले मैदान में किसी ने नहीं किया। यद्यपि शंकर ने मुझे भस्म किया किन्तु वे समाधिरूप किले में बैठकर लड़ाई लड़े, खुले मैदान में जहाँ मेरी सेना भी उपस्थित हो वहाँ लड़कर मुझे किसी ने परास्त नहीं किया। इसलिए मैं भी आप से एक बार खुले मैदान में युद्ध चाहता हूँ। श्रीकृष्ण ने स्मित पूर्वक उत्तर दिया कि कौन समय युद्ध के लिये स्थिर करते हो। तब कामदेव ने शरद् काल उचित समझा क्योंकि शरद् की चन्द्रिका में ब्रजभूमि का एक-एक कण चमकता रहता है। सौन्दर्य की पराकाष्ठा ब्रज में विराजमान रहती है। भगवान् कृष्ण ने उस समय युद्ध मान लिया। यही बात “भगवानपि ता रात्रीः” इत्यादि रासपञ्चाध्यायी के आरम्भिक श्लोक में ध्वनित की गई है कि भगवान् ने जब उन रात्रियों को देखा, यहाँ उन रात्रि शब्द से जिस समय कामदेव को युद्ध का वचन दिया था, उनका ही संकेत है। अस्तु, भगवान् ने कामदेव की सेना को एकत्रित करने के लिये अपना वंशीरूप युद्ध का बिगुल बजाया। उसके सुनते ही गोपियों की ऐसी ही अवस्था का यहाँ वर्णन है कि जैसी युद्ध का बिगुल सुनने पर सैनिकों की हुआ करती है। अर्थात् वे जो भी काम कर रही थीं उसे अधूरा ही छोड़ कर भूषण वस्त्र आदि भी उल्टे-पल्टे धारण कर कामदेव की अन्तःकरण में प्रेरणा से वंशीध्वनि के अनुसार युद्धस्थल में आ पहुँची। उन्हें देख कर परम हृष्ट होकर कामदेव जब

अपने अस्त्र-शस्त्र सम्हालने लगा तो भगवान् कृष्ण ने अपनी स्वतन्त्रता दिखाने के लिये गोपियों को पतिव्रत धर्म का उपदेश देना आरम्भ किया। उस समय ऐसे असामयिक उपदेश से गोपियां भी खिन्न हुईं, और कामदेव ने भी गुप्त रूप से निवेदन किया कि भगवान् मेरी सेना के योद्धाओं को इस प्रकार उपदेश देकर विचलित करना तो युद्ध की मर्यादा से बाहर जाता है। मेरी इच्छा तो यह है कि सबके बीच में रह कर ही आप मेरे अस्त्र प्रहारों को सहन करें तब ही मैं अपना पूर्ण रूप से पराजय समझूँगा। इधर गोपियों ने उपदेश देते हुये भगवान् के सामने एक प्रश्न रक्खा कि महाराज आप पूर्ण धर्मवेत्ता हैं। हमारे एक प्रश्न का भी उत्तर दीजिये। किसी बड़े व्यापारी सेठ की स्त्री बड़ी पतिव्रता थी, उसने अपने पति का चरणोदक लेकर ही भोजन करने का नियम बना रक्खा था। जब एक बार उन सेठजी को व्यापार के लिये बाहर जाने का अवसर आया तो उन्होंने उसके लिए एक अपनी प्रतिमा बनवादी कि इसका चरणोदक लेकर भोजन कर लिया करना, वह वैसा ही करती रही। जब सेठ जी कुछ काल में विदेश से लौट आये तब भी उस स्त्री को उस प्रतिमा का ही चरणोदक लेना चाहिये वा खुद सेठ जी का, इसका निर्णय कीजिये। भगवान् कृष्ण ने कहा कि प्रतिमा तो सेठ जी के अभाव में निर्वाहार्थ बनायी गई थी। सेठ जी आ गये तब उनकी क्या आवश्यकता। अब तो स्वयं सेठ जी का ही चरणोदक उसे लेना चाहिये। गोपियों ने कहा इसी निर्णय को आप यहाँ भी काम में लीजिये। सब जीवों के उपास्य तो भगवान् ही हैं। उनकी उपासना से ही जीव सद्गति प्राप्त कर सकता है। किन्तु भगवान् सबको सदा मिल नहीं सकते। इसलिए उनके प्रतिमारूप प्रतिनिधि शास्त्रों ने पति आदि को बता रक्खा है। भगवत् बुद्धि से उनकी सेवा प्रतिमा रूप से ही की जाती है किन्तु जब भगवान् स्वयं हमारे सामने उपस्थित है तो उन प्रतिमाओं को छोड़कर स्वयं भगवान् की ही सर्वात्मभाव से उपासना हम क्यों न करें। यही बात श्री भागवत के निम्नलिखित श्लोक में संकेत से प्रकट की है :-

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।  
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

अर्थात् पतिपुत्र व उनके सम्बन्धियों की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म है यह जो आपने धर्म की व्यवस्था बताई है उन सबकी अपेक्षा हम एक आपकी ही उपासना क्यों न करें, क्योंकि आप तो सबके परम प्रिय आत्मा रूप से विराजमान हैं। आत्मा के सम्बन्ध से ही पति पुत्र आदि प्रिय होते हैं। उनमें प्रेम आत्मार्थ ही है। निरुपाधिक प्रेम तो आत्मा में ही है। जब सबके आत्मा ही प्रकट रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं तब सब प्रतिमाओं के स्थान में उनकी उपासना क्यों न की जाय। इन

उक्तियों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञगोपियाँ भगवान् का सर्वात्मभाव जानती थीं और प्रेम द्वारा उनकी आनन्दरूपता का अनुभव करने के लिए ही उनके साथ क्रीड़ा करना चाहती थी। विषयभोग की इच्छा से नहीं। इसीलिए इसके पूर्व पद्य -

**“सन्त्यज्य सर्वविषयान् तवपादमूलम्”**

कहा है। अर्थात् हम सब विषयों का त्याग कर आपके चरणारविन्द में आई हैं। इस प्रकार गोपियों की और कामदेव की अभिलाषा पूर्ण करने को भगवान् कृष्ण ने नृत्य आदि लीला प्रारम्भ की। बहुत से स्त्री और पुरुष जहाँ इकट्ठे होकर नृत्य गान आदि करें और भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद्य भी बजाये जाय उसे हल्लीस नाम की क्रीड़ा कहा जाता है। उसी का दूसरा नाम रास भी है। यही क्रीड़ा भगवान् गोप गोपियों के साथ करते थे। यहाँ जो भगवान् में कुछ काम चेष्टाओं का वर्णन आया है, वह कामदेव का विजय करने के अभिप्राय से ही है। इसीलिए वहाँ -

**“उत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार”**

लिखा है। इससे स्पष्ट कर दिया कि भगवान् कामदेव को अपना पुरुषार्थ प्रकट करने के लिए सहारा देते थे। इस प्रकार जब भगवान् को क्रीड़ासक्त देखा और अपने विजय के उन्माद से कामदेव प्रफुल्लित होने लगा तो भगवान् अपनी स्वतन्त्रता दिखाने के लिए झट सबके बीच से अन्तर्हित हो गये। गोपियाँ देखती रह गईं। किन्तु एक स्त्री को अपने साथ लेते गए। इससे कामदेव को फिर भी आशा रही कि अभी एक स्त्री साथ है। रमण कार्य एकान्त में ही होता है। इसलिए वह अपने बाण फेंकता हुआ अब भी साथ रहा। जब उस स्त्री को अभिमान हुआ कि सब छोड़कर मुझे ही साथ रक्खा है इसलिए मैं विशेष प्रेम पात्र हूँ। तब भगवान् उसके आगे से भी अन्तर्हित हो गये। वह भी देखती रह गई। अब कामदेव ने अपने को पूर्ण पराजित मान लिया और श्रीकृष्ण पर मेरा कोई प्रभाव नहीं हो सकता यह समझकर हाथ से धनुष फेंक दिया। उधर गोपियाँ विकल होकर पहले वृक्ष लता आदि से पूछती फिरीं कि कृष्ण कहाँ गये तुम ही हमें बताओ। फिर सब इकट्ठी होकर कृष्ण की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। जब इतने पर भी कृष्ण प्रकट न हुये तो सबने मिलकर गोपिका-गीत गाया। उसमें स्पष्ट कृष्ण भगवान् की ब्रह्मरूपता वर्णित है। आगे प्रेम में विह्वल होकर विरहवश सब रुदन करने लगीं तब भगवान् उनके बीच में ही प्रकट हो गये। इसमें भी यह रहस्य रक्खा है कि ईश्वर क्या है, कैसा है, इस प्रकार जो पूछ-ताछ में ही समय बिताता रहता है उसे ईश्वर दर्शन नहीं होता। जो अपने को तद्रूप मानकर अनधिकारी होता हुआ भी -

**“अहं ब्रह्मास्मि”**

की ध्वनि लगाने लगता है उसे भी ईश्वर दर्शन नहीं होता, किन्तु जब ईश्वर प्रेम में

विभोर होकर गान व रुदन करने लगता है तब ही भक्तिवश भगवान् उसे दर्शन देते हैं। प्रकट होते समय जो वर्णन भागवत में किया है :-

“तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।

पीताम्बरधरःस्त्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥

यहाँ भी कामदेव पर विजय ध्वनित किया है। जब कोई वीर विजय प्राप्त करता है तो उसका परिचय देते समय उसके पितृपितामह आदि का भी नाम लिया जाता है। इसीलिए यहाँ भी भगवान् के पितामह का नाम लेकर शौरि पद से निर्देश किया गया है। मुख पर स्मित होना माला धारण करना ये भी विजय के चिह्न हैं इन सबके द्वारा मूल भागवत में भी कामदेव पर विजय ध्वनित किया है और साक्षान्मन्मथ-मन्मथः इस चौथे चरण में तो उसे स्पष्ट ही कर दिया है। इसलिए भागवत के टीकाकार श्रीधरस्वामी की कामदेव विजय कल्पना भागवत के अनुकूल ही है यह कहा जा सकता है। आगे परम भक्त गोपिकाओं की मनोरथ सिद्धि के लिये भगवान् ने उनके साथ खेल-कूद आदि की क्रीड़ा की, जिससे आनन्द प्राप्त कर वे कृतकृत्य हुईं। किन्तु कामवासना का वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बात भागवत में -

“सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः”

इस पद से स्पष्ट कर दी है।

परीक्षित को सन्देह अवश्य हुआ कि भगवान् ने धर्म विरुद्ध परस्त्रियों के साथ ऐसी क्रीड़ाएँ भी क्यों की। किन्तु उसका उत्तर श्री शुकाचार्य ने यही दिया कि गोपियों के और उनके पतियों के भीतर भी अन्तर्यामी रूप से जो विराजमान है उस परब्रह्म के लिये भिन्न हो ही कौन सकता है। वह तो सबके ही भीतर रहता हुआ सबसे ही सब प्रकार क्रीड़ा करता रहता है।

इस प्रकार ये ब्रज मण्डल की मधुर लीलाएँ भी दिव्यकर्म ही हैं। मानुष भाव से इनका सम्बन्ध नहीं, यह संक्षेप में हमने सिद्ध कर दिया। कई विद्वान् इस लीला का आध्यात्मिक रूप में भी विवरण किया करते हैं कि गो नाम इन्द्रियों का है। उन सबकी रक्षा करनेवाला आत्मा ही गोप है। उसकी स्त्रीरूप से सहचारिणी बुद्धि ही गोपी है। वह आत्मा उस बुद्धि के साथ विविध क्रीड़ा करता रहता है। कभी उसके साथ नाचने लगता है, कभी उससे प्रच्छन्न हो जाता है, कभी प्रकट होता है।’ और कई विद्वान् आधिदैविक तारामण्डल आदि के साथ भी इस लीला का सम्बन्ध जोड़ते हैं। चन्द्रमा राशि चक्र से रास लीला करता रहता है। प्राचीन काल में नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से की जाती थी। उसके अनुसार विशाखा (नक्षत्र) सब नक्षत्रों की मध्यवर्तिनी



होने में रासेश्वरी है। उसका दूसरा नाम राधा भी है। अतएव उसके आगे के नक्षत्र को अनुराधा कहते हैं। विशाखा पर जिस पूर्णिमा को चन्द्रमा रहता है—उस दिन सूर्य कृत्तिका पर रहता है। सम्मुख स्थित सूर्य की सुषुम्णा है अतएव यह राधा वृषभानुसुता कही जाती है। फिर जब पूर्ण चन्द्रमा (पूर्णिमा का चन्द्रमा) राधा के ठीक सम्मुख भाग में कृत्तिका पर आता है, तो कार्तिकी पूर्णिमा रास का मुख्य दिन है। इसी प्रकार अन्यान्य अभिप्राय भी कई विद्वानों ने प्रकट किये हैं। सबका समावेश विस्तार भय से यहाँ नहीं किया जाता। सारांश यही है कि किसी भी दृष्टि से देखो भगवान् के कर्म दिव्य ही प्रमाणित होंगे और इन कर्मों के द्वारा भगवत्तत्त्व जान लेने से मनुष्य मुक्त हो जाता है यही यहाँ कहा गया (९)

यहाँ इसका कोई दृष्टान्त भी है, या केवल यह वाचिक ही संभावना मात्र है। इस मनोभावना का भगवान् उत्तर देते हैं कि जिनके राग-विषयाभिलाष, भय और क्रोध दूर हो गए हैं और जिनके ध्यान में सदा मैं ही रहता हूँ, इस प्रकार जिनका अन्तःकरण मानो मेरे ही से बँध गया है और जो निरन्तर मेरा ही आश्रय रखते हैं ऐसे बहुत से ज्ञान रूप तप से पवित्र होकर मेरे रूप में आ मिले हैं।

इस पद्य में कर्मयोग, उपासना और ज्ञान तीनों का ही समन्वय बताया गया। राग-द्वेष, भय इनको छोड़ देने से कर्मयोग का मुख्य सिद्धान्त आ गया। 'मन्मया' और 'मामुपाश्रिता' इन दो पदों से उपासना और भगवत् प्रेम बताया गया और ज्ञान का तो स्पष्ट नाम निर्देश ही है। इस प्रकार क्रमिक या एक काल में तीनों का समन्वय होने से मुक्ति प्राप्ति ही हो जाती है। इसीलिए भगवान् ने कहा कि इस प्रकार के बहुत से मनुष्य मेरे रूप में मिल गए हैं अर्थात् मुक्त हो गए हैं (१०)

तब यदि कुछ मनुष्यों को आपने मोक्ष दिया और कुछ को नहीं दिया तब तो आपका पक्षपात इस तरह सिद्ध हो गया। इस शङ्का का उत्तर अग्रिम पद्य से दिया जाता है कि जो मनुष्य जिस प्रकार अर्थात् जिस भावना से मेरा भजन करते हैं मैं भी उन्हें उसी भावना से भजता हूँ। अर्थात् उसी प्रकार का फल देता हूँ। जिस भाव से मेरा भजन किया जाय, वही उनकी अभिलाषा भजन से पूर्ण होती है, तब जो लोग संसार बन्धन में फँसे हुए मुक्ति चाहते ही नहीं, अर्थात् मुक्ति के उपयोगी प्रयत्न नहीं करते, उन्हें मुक्ति कैसे दी जाय। वैसे तो सब ही प्रकार से मनुष्य मेरे ही मार्ग पर आते हैं। अर्थात् किसी न किसी प्रकार मेरा ही भजन करते हैं। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा कि इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का जो सेवन करते हैं वे भी मेरा ही सेवन करते हैं। क्योंकि इन्द्र; वरुण आदि कोई भी मुझसे भिन्न नहीं। सब रूपों से मैं ही स्थित हूँ। किन्तु भिन्न-भिन्न भावों से भजन करने के कारण वे विधि से विच्युत हो जाते हैं।

अर्थात् सब नाम रूपों का त्याग कर निर्गुण रूप में वा प्राकृत गुण रहित रूप में जो मेरे उपासक होते हैं वे ही विधि पूर्वक जानकर भजन करने वाले कहे जाते हैं। नाम रूप को जो साथ ले लेते हैं, उनकी वह उपासना परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशीय हो जाती है। इसलिए वे व्यापक फल रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है। वह तो आत्मा का स्वरूप ही है। अज्ञान जनित आवरण केवल दूर करना है। वह आवरण नामरूपात्मक ही है। जब तक माया जनित नाम रूप से पृथक् नहीं हुए तब तक मोक्ष कैसे सिद्ध होगा। इसीलिए नाम रूप के प्रपञ्च में रहने वाले मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष के चाहने वाले भी नहीं कहे जा सकते। तब बिना इच्छा के मोक्ष उन्हें कैसे दिया जाय। जिस कामना के लिए वे उपासना करते हैं वही कामना उनकी पूर्ण की जाती है। मेरी उपासना कभी निष्फल नहीं होती। किसी भी रूप में करें वह मेरी ही उपासना है और उसका फल भी उन्हें प्राप्त होता है। किन्तु परिच्छिन्न फल मिलना वा नित्य फल मिलना यह उनकी इच्छा और क्रिया पर ही निर्भर है। मेरा इसमें कोई भी राग-द्वेष नहीं (११)

फिर श्रोता के मन में शंका होगी कि—नित्य फल की अभिलाषा तो सबको ही रहती है फिर सब ही नाम रूप से निर्मुक्त होकर वासुदेव भगवान् ही सर्व रूप हैं ऐसा समझकर ही भजन क्यों नहीं करते जिससे कि सबको ही नित्य फल मिल जाय। इसका उत्तर इससे आगे के पद्य से दिया जाता है कि सब अपने-अपने कर्म की सिद्धि अर्थात् फल प्राप्ति शीघ्र चाहते हैं। इसलिए अन्य देवताओं का भजन किया करते हैं। देवताओं का भजन करने से फल शीघ्र मिल जाता है। मनुष्य लोक में कर्म की सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है।

यद्यपि यज्ञों का फल स्वर्ग प्राप्ति भी देह छोड़ने पर ही होगी, किन्तु मोक्ष की अपेक्षा तो यह शरीर छोड़ने पर फल प्राप्त हो जाना भी बहुत ही शीघ्रता कही जा सकती है। क्योंकि मोक्ष तो अनेक जन्मों तक अभ्यास करने पर भी बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। इतना धैर्य रखना मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिए शीघ्र फल प्राप्ति की इच्छा से यज्ञ आदि में ही मनुष्यों की प्रवृत्ति होती है और इससे भी छोटे, संसार में धन, पुत्र आदि की प्राप्ति के लिए जो उपासना किया करते हैं उनको तो इसी जन्म में शीघ्र फल प्राप्ति हो जाती है। “मानुषे लोके” इन पदों से भगवान् ने यही व्यञ्जित किया है कि सर्वसाधारण मनुष्य जनता की प्रवृत्ति छोटे फलों की ओर ही होती है। दृष्टफल प्रायः सब ही चाहते हैं। वर्तमान में भी देखा जाता है कि अधिकांश आस्तिक जनता यही मनौती किया करती है कि हमारा जो मुकदमा अदालत में चल रहा है उसमें विजय हो जाय वा हमारे व्यापार में सफलता हो वा जिसके पुत्र नहीं होता हो वह कहता है कि यदि पुत्र हो जाय तो हम सत्यनारायण की कथा करा देंगे।

अथवा अमुक देवता के यहाँ ब्राह्मण भोजन करा देंगे, वा अमुक मन्दिर बनवा देंगे। इस प्रकार की क्षुद्रकामनाओं की सिद्धि उन्हें शीघ्र ही मिल जाती है। तब उन्हीं लौकिक फलों में अधिकांश जनता फँसी रहती है। परलोक के लिए यज्ञ आदि करने वाले भी बहुत अल्प ही मनुष्य होते हैं। फिर मोक्ष की तो कथा ही क्या ? मोक्ष भी बहुत से लोग ऐसे क्षुद्र कर्मों से ही चाहते हैं। वस्तुतः मोक्ष क्या है और उसके उपाय क्या हैं यह भी साधारण जनता को ज्ञान नहीं होता, तब मोक्ष प्राप्ति का सच्चा स्वरूप समझना और कई जन्म तक उसके उपायों में लगना तो बहुत दूर की बात है। एक कहावत प्रसिद्ध है कि दो साधु दूर-दूर आश्रमों में अपनी कुटिया बनाकर रहते थे और मोक्ष के अभिलाषी होकर प्रयत्न करते थे। एक बार भगवान् नारद विचरते हुए एक साधु की कुटिया में गए। उस साधु ने उनसे प्रार्थना की कि नारद जी ! आप तो सब जगह जाते हैं कभी भगवान् के पास जायँ तो मेरे लिए भी भगवान् से पूछना कि मुझे मोक्ष मिलेगा या नहीं और मिलेगा तो कितने दिन में ? दूसरे साधु के पास गए। उसने भी ऐसी ही प्रार्थना की। कुछ काल के पश्चात् जब नारद जी विचरते हुए फिर इनके आश्रमों में आये तो पहिले साधुने पूँछा कि महाराज ! मेरे प्रश्न का भगवान् ने क्या उत्तर दिया—नारद जी ने कहा कि दश जन्म के बाद यदि अभ्यास करते रहोगे तो तुम्हें मोक्ष मिल जायगा। यही भगवान् ने कहा है। सुनते ही वह साधु बड़ा निराश हो गया और कहने लगा कि महाराज ! दश बार जन्म लेना पड़े और उनमें बराबर अभ्यास करता रहूँ इतना समय किसने देखा है। मैं तो यह सब अभ्यास का झंझट छोड़ता हूँ। लौकिक फल प्राप्ति की आशा से ही कर्म करूँगा। जिन कर्मों का फल तत्काल मिलता जाय। दूसरे साधु के आश्रम में जाने पर और उसके भी यही बात पूँछने पर नारद जी ने कहा कि तुम्हारी कुटिया के आगे जो वृक्ष है उसमें जितने पत्ते हैं उतनी बार जन्म तुम्हें लेने पड़ेंगे और उनमें निरन्तर अभ्यास करते रहोगे तो तुम्हें मोक्ष मिल जायगा। सुनते ही वह साधु तो नाचने लग गया और बड़ी प्रसन्नता से कहने लगा कि कभी सही मोक्ष मिलेगा यह तो निश्चय हो गया। मुझे तो आशा ही नहीं थी कि मैं कभी मोक्ष प्राप्त कर सकूँगा। आपके सन्देश से वह निराशा तो दूर हुई। अब मैं दृढ़ निश्चय करता हूँ कि जब-जब जन्म लूँगा बराबर अभ्यास करता रहूँगा। पहिले साधु के समान ही मनुष्यों में अधिकांश होते हैं। दूसरे के समान धैर्य रखने वाले बहुत ही अल्प हैं। इसलिए इस मार्ग में आना ही बड़ा कठिन है। फिर पूर्व पद्य के अनुसार राग, भय, क्रोध आदि छोड़ कर भगवत् भाव में सदा लगे रहना तो अति विरले पुरुषों का ही काम है। यही बात इस अन्तिम पद्य में कही गई है (१२)

## ‘बासठवां-पुष्प’

‘चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

पूर्व पद्यों में यह कहा गया कि बहुत से लोग तो संसार से विरक्त होकर मुझे प्राप्त कर गए और अधिकांश लोग अपने कर्म, सांसारिक उन्नति के लिए ही करते रहते हैं। वे भगवद्भाव को प्राप्त नहीं कर सकते। इस पर श्रोता के चित्त में यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि मनुष्यों में प्रकृति का इतना भेद क्यों होता है ? क्यों कुछ लोगों की धैर्य्य पूर्वक निष्काम आराधना में प्रवृत्ति होती है और क्यों बहुतों की नहीं होती ? इस प्रश्न का मूलतः उत्तर देने के लिए भगवान् स्पष्ट करते हैं कि चार वर्ण मैंने ही बनाए हैं। उनमें सत्त्व आदि गुणों का और उनके अनुसार भिन्न-भिन्न कर्मों का विभाग भी मैंने ही किया है। मध्य में ही फिर प्रश्न उठेगा कि इस प्रकार विषमता करने से तो आपको भी बड़ा पाप लगता होगा ? इस प्रश्न का उत्तर साथ ही दे देते हैं कि इन चारों वर्णों का कर्त्ता होने पर भी मैं कर्त्ता नहीं हूँ; क्योंकि मैं अव्यय हूँ। अर्थात् मुझमें कोई विकार नहीं होता। अव्यय पुरुष सबका आलम्बन है। कुछ न करता हुआ भी वही सबका कर्त्ता कहलाता है। किन्तु उन कर्मों का प्रभाव उस पर कुछ भी नहीं पड़ता। इसका स्पष्टीकरण अग्रिम पद्य में होगा। यहाँ पहिले चार वर्णों का प्रसंग आया है; इसलिए वर्ण व्यवस्था पर ही विचार करना आवश्यक है।

यहाँ ‘गुणकर्मविभाग’ इस पद के अर्थ में सब ही व्याख्याकारों ने गुण शब्द से प्रकृति के सत्त्व, रज, तम गुणों को ही लिया है। इन तीन गुणों के आधार पर ही परस्पर सम्मिश्रण के प्रभाव से चार वर्ण बन जाते हैं। प्रकृति के गुणों का सांख्य शास्त्र में विस्तार से निरूपण हुआ है कि ये गुण केवल एक रूप में कभी नहीं रहते। सर्वत्र तीनों का ही मेल रहता है। कहीं कोई गुण अधिक मात्रा में और कहीं अल्प मात्रा में होता है। इस मात्रा के अल्प, अधिक होने के कारण ही मनुष्यों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव में बहुत बड़ा भेद हो जाता है। जिनमें सत्त्वगुण की बहुत अधिकता है, रज और तम बिल्कुल स्वल्प मात्रा में हैं; वे ब्राह्मण कहलाते हैं। जिनमें सत्त्वगुण के साथ रजो गुण का भी अधिक मेल है; सत्त्व को दबाकर रज प्रधान बन बैठा है; वे क्षत्रिय होते हैं, जिनमें सत्त्व की मात्रा अल्प हो जाती है और रजोगुण के साथ तमोगुण भी अधिक मात्रा में आ मिलता है; वे वैश्य वर्ण के माने जाते हैं और जहाँ तमोगुण ही अत्यन्त प्रबल होकर सत्त्व और रज को दबा देता है; वे शूद्र होते हैं। इस प्रकार गुणों की मात्रा अधिक-अल्प होने के कारण वर्णों का भेद होता है और उसी के कारण इनके कर्मों में भी भेद हो जाता है। सत्त्व प्रधान ब्राह्मण में शम, दम, सत्य आदि की

प्रधानता रहती है और उसके अनुसार ही शान्ति प्रधान कर्म अध्ययन, यजन आदि उसके होते हैं। रजोगुण का मिश्रण हो जाने से क्षत्रिय में वीरता, तेज आदि अधिक होता है और उसी के अनुसार युद्ध आदि कर्म उसके होते हैं। तम का मेल हो जाने से और सत्त्व के अत्यन्त दब जाने से वैश्य की प्रवृत्ति प्रायः सांसारिक कार्यों में ही अधिक होती है। कृषि, व्यापार आदि सब सांसारिक कार्य ही हैं। रजो गुण के कारण प्रवृत्ति भी इसमें प्रधान रहती है और तमो गुण के कारण वह प्रवृत्ति संसार की ओर ही जाती है। तमो गुण अत्यन्त प्रधान होने से शूद्र में सत्त्व-गुण के विद्याभ्यास, योग आदि की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं होती, वह संसार को ही सब कुछ समझता है और अत्यन्त हीन कर्म सेवा आदि ही करता रहता है। इन्हीं गुणों की विषमता से मनुष्यों की प्रकृति में भेद होता है।

यहाँ “गुणकर्मविभागशः” पद देखकर कुछ विद्वान् गुण, कर्म, विभाग से ही वर्ण व्यवस्था मानने का हठ करते हैं। इसलिए वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर है व गुण-कर्म के आधार पर इस विषय का विचार भी यहाँ आवश्यक है। “गुणकर्मविभागशः” इस पद में जो ‘शस्’ प्रत्यय है वह तद्धित का प्रत्यय स्वार्थ में ही होता है अर्थात् प्रकृति का अर्थ ही वहाँ रहता है, प्रत्यय का कोई नया अर्थ नहीं आता। यद्यपि किसी पाणिनीय सूत्र से यहाँ शस् प्रत्यय प्राप्त नहीं तथापि गुण, कर्म आदि को बहुत स्थान में व्यापक मानकर बहुवर्थकता से शस् प्रत्यय कई व्याख्याकारों ने सिद्ध किया है। किसी भी प्रकार से हो; अर्थ तो प्रत्यय का जो नियत है; वही मानना आवश्यक होगा। स्वार्थिक प्रत्ययों का कोई अर्थ नहीं होता। मूल शब्द का अर्थ वहाँ बना रहता है। इस प्रकार इस पद का अर्थ यही करना होगा कि चारों वर्ण मैंने पैदा किये और उनके गुणों, और कर्मों का विभाग भी मैंने ही किया। इस प्रकार तो वर्ण विभाग और गुण, कर्म विभाग दोनों ही ईश्वर कृत सिद्ध हो जाते हैं। जब ईश्वर कृत ही वर्ण विभाग है तब उसकी गुण कर्मानुसारता कहाँ रही ? गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था मानने वालों का तो अभिप्राय यह है कि यदि दूसरे वर्ण में जन्म लिया हुआ मनुष्य भी दूसरे वर्ण के शुभ कर्मों का ग्रहण कर ले तो वह दूसरे वर्ण में ही चला जाता है। किन्तु जब वर्णविभाग ईश्वर कृत है तो मनुष्यों व मनुष्य समाज को उसमें परिवर्तन करने का अधिकार कैसे प्राप्त हो जायगा ? मनुष्य अपनी बनाई वस्तु में परिवर्तन कर सकता है, किन्तु ईश्वर की बनाई हुई वस्तुओं में परिवर्तन करने का उसे कोई अधिकार नहीं। वह घोड़े को गधा व गधे को कुत्ता नहीं बना सकता। इसी प्रकार ईश्वर के बनाये हुए ब्राह्मण को मनुष्य वा मनुष्य समाज क्षत्रिय या शूद्र एवं क्षत्रिय या शूद्र को ब्राह्मण नहीं बना सकता ? हाँ, जिस वर्ण के जो कर्म ईश्वर ने नियत किये

हैं उनका आचरण न करने से वह धर्मभ्रष्ट व पतित अवश्य हो जायगा। किन्तु दूसरे वर्ण का नहीं बन सकता। व्यवहार में भी अपने कर्म छोड़ देने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पतित ब्राह्मण व पतित क्षत्रिय कहे जाते हैं, दूसरे वर्ण के नहीं गिने जाते। जैसे कोई पक्वान्न हमारे हाथ से नाली में गिर जाये तो वह खाने योग्य नहीं रहेगा। किन्तु नाम उसका नहीं बदलेगा। इसी प्रकार स्वकर्म से परिभ्रष्ट ब्राह्मण आदि भी व्यवहार योग्य न रहेंगे। किन्तु ब्राह्मण आदि की श्रेणी से वे न निकलेंगे।

यह भी स्मरण रहे कि गुण, कर्म से वर्ण व्यवस्था मानने वाले सज्जन गुण शब्द का अर्थ सत्य, अहिंसा, वीरता, व्यापार में प्रवीणता, आदि करते हैं और इन्हीं गुणों के अनुसार वे वर्णव्यवस्था मानने को प्रस्तुत होते हैं। किन्तु भगवद्गीता में गुण शब्द से सर्वत्र सत्त्व आदि गुण ही लिये जाते हैं और वे ही गुण ईश्वर प्रदत्त होते भी हैं। सत्य, अहिंसा, वीरता, आदि गुण भी उन सत्त्व आदि प्रकृति के गुणों से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये उन्हें सत्त्व आदि का कार्य ही कहा जाता है। गीता के अठारहवें अध्याय में वर्णों का पुनः प्रसंग आया है वहाँ लिखा है कि—

**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप ।**

**कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥**

वहाँ गुण शब्द का अर्थ शम-दम, वीरता आदि चित्त की वृत्तियों को ही प्रायः सब व्याख्याकारों ने माना है और उन वृत्तियों का उत्पादक स्वभाव अर्थात् सत्त्व आदि गुण वाली प्रकृति को ही कहा है, इसका भी तात्पर्य यही होता है कि सत्त्व आदि प्रकृति के गुणों के न्यूनाधिक भाव से शम आदि गुण बनते हैं, और उनके अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों के कृत्य होते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि सत्त्वादि गुणों की न्यूनाधिकता ईश्वर कृत है। उनके अनुसार शमदमादि चित्तवृत्ति रूप आत्म गुणों की उत्पत्ति होती है और उन वृत्तियों के अनुसार बाह्य कर्म शरीर चेष्टा रूप होते हैं। इससे भी वर्ण-विभाग और उन वर्णों का गुण-कर्म विभाग भी ईश्वर कृत ही सिद्ध होता है। सत्त्व आदि गुणों की न्यूनाधिकता मनुष्य नहीं कर सकता। इसलिए वर्ण परिवर्तन में मनुष्यों या मनुष्य समाज का कोई अधिकार सिद्ध नहीं होता। सत्त्व आदि गुणों की न्यूनाधिकता ईश्वर पर ही निर्भर है और ईश्वर भी पूर्व कर्मानुसार जीवों में सत्त्व आदि गुणों की न्यूनाधिकता देता है। इसी आधार पर वहाँ स्वभाव शब्द का अर्थ व्याख्याकारों ने पूर्व जन्म के कर्मजनित संस्कार भी किया है। वस्तुतः तो यहाँ स्वभाव शब्द का अर्थ बड़ा गम्भीर है। सृष्टि की उत्पत्ति में पुरुष और प्रकृति के अतिरिक्त एक शुक्र भी कारण होता है, जिसका विवरण गीता के चौदहवें अध्याय के आरम्भ में विशेष रूप से आवेगा। वह शुक्र श्रुति में तीन प्रकार का बतलाया गया है—वाक्, आप और अग्नि।

इन्हें ही पौराणिक परिभाषा में विभूति, श्री और ऊर्क् कहते हैं। जैसा कि “यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं” इत्यादि गीता के दशमाध्याय के पद्य में स्पष्ट होगा। उन्हें ही ब्रह्म वीर्य, क्षत्र वीर्य और वैश्य वीर्य कहा जाता है। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का मूल जगत् के उत्पादक शुक्र से ही आरम्भ हो जाता है। यही स्वभाव शब्द का अर्थ है। कदाचित् प्रश्न हो कि इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ से ही यदि वर्णव्यवस्था नियत है तो वह सभी देशों के मनुष्यों में होनी चाहिये फिर केवल भारतवर्ष में ही इसका प्रचार क्यों? केवल भारतवर्ष में ही प्रचार होने से तो यही अनुमान होगा कि प्राचीन काल में यहाँ के देश नेताओं ने ही समाज का हित समझ कर यह व्यवस्था चलायी थी। आज समयानुसार वह व्यवस्था उपयुक्त न रही इसलिए बदल डालनी चाहिए। ईश्वरकृत नियम तो सब संसार में ही व्याप्त होते हैं। वे किसी एक देश में नहीं हो सकते। इसका उत्तर है कि ईश्वर कृत वैज्ञानिक वर्ण व्यवस्था तो सब संसार में ही है। न केवल मनुष्य मात्र अपितु सब प्राणियों में व्याप्त है। इसी के आधार पर हमारे धर्म ग्रन्थों में ‘अज’ को ब्राह्मण ‘अश्व’ को क्षत्रिय ‘गौ’ को वैश्य आदि कहा है। न केवल प्राणियों में ही अपितु जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों में भी वर्ण व्यवस्था मानी जाती है। रत्न सम्बन्धी ग्रन्थों में मणि रत्न आदि में भी ब्राह्मण आदि भेद माना गया है। ज्योतिष के ग्रन्थों में ग्रह-तारा आदि में भी वर्ण भेद लिखा है और आयुर्वेद में औषधियों में भी वर्ण-भेद माना जाता है। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भक शुक्र की हुई वर्ण व्यवस्था सर्वत्र व्यापक है। किन्तु भारतवर्ष के ऋषि लोग बहुत प्राचीन काल से विज्ञान पारङ्गत थे। इसलिए उन्होंने वैज्ञानिक वर्ण व्यवस्था के अनुसार अपने समाज में भी इस व्यवस्था का परिचालन कर दिया। अन्य देशों में विज्ञान का प्रसार प्राचीन काल में नहीं हुआ। आध्यात्मिक और आधिदैविक विज्ञान का प्रसार तो आज भी नहीं है, केवल भौतिक विज्ञान की उन्नति पाश्चात्य देशों ने की है, इसलिए समाज संगठन में अन्य देशों में वर्ण व्यवस्था का प्रसार न हो सका। तात्पर्य यह है कि प्रकृति जनित वर्ण व्यवस्था तो सब देशों में सदा से ही थी किन्तु भारतवर्ष के प्राचीन महर्षि ही उसे समझ पाये। अन्य देशों के विद्वान् समझ न सके। इसलिए सामाजिक रूप से वर्णव्यवस्था का प्रसार भारतवर्ष में ही हुआ। प्रकृति की प्रेरणा से विद्याजीवी, सैनिक, व्यापारी और श्रमजीवी ये विभाग तो प्रायः सभी देशों में होते हैं। किन्तु उन विभागों को अन्य देशों वाले व्यवस्थित न कर सके। भारतवर्ष के प्राचीन नेता ऋषिमुनियों ने यह प्रकृति सिद्ध नियम भी समझ लिया कि कारण के गुण ही कार्य में जाया करते हैं। इसलिए पिता-माता के गुणों का सन्तान में जाना भी प्रकृति सिद्ध है। इसी आधार पर उन्होंने वर्ण व्यवस्था को कुलक्रम पर नियत कर दिया। कई ऐसी बातें हैं जो

विज्ञान सिद्ध होने पर भी भारत में ही प्रचलित हैं। दूसरे देशों वाले उस विज्ञान को न समझने के कारण अपने यहाँ उनका प्रचार न कर सके। जैसे बालकों के संस्कार, ये संस्कार विज्ञान से ही सिद्ध हैं, किन्तु केवल भारत में ही प्रचलित हैं। स्त्रियों का पातिव्रत धर्म, इसे भी अब वैज्ञानिकों ने विज्ञान सिद्ध बनाया है। किन्तु प्राचीनकाल में उन्हें इसका विज्ञान न विदित होने के कारण उनके समाज में इसका प्रचार न हो सका। ऐसे ही रजस्वला धर्म का भी अब वैज्ञानिकों ने अनुमोदन किया है। किन्तु दूसरे देशों में कहीं इसका प्रचार नहीं है। इसी प्रकार विज्ञान सिद्ध वर्ण व्यवस्था का भी विज्ञान न जानने के कारण दूसरे देशों में प्रचार न हो सका। भारतवर्ष के तो श्रुति, स्मृति, पुराण आदि सब ही शास्त्र; जन्मसिद्धवर्णव्यवस्था का समर्थन करते हैं, जैसा कि चारों वेदों में उपलभ्यमान पुरुष सूक्त में ही स्पष्ट मन्त्र है—

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।**

**ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥**

इस मन्त्र में विराट्पुरुष के मुख आदि भागों से ब्राह्मण आदि वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है। जैसा कि मन्त्र के चतुर्थ चरण में स्पष्ट हो गया कि पैरों से शूद्र उत्पन्न होते हैं। इसी के अनुसार पूर्व चरणों में भी यही अर्थ होगा कि मुख से ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं। यहाँ कई विद्वान् यह शंका करते हैं कि मुख से ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं इत्यादि मन्त्र का अर्थ करने पर प्रश्न और उत्तर में विषमता हो जायगी। इसके पूर्व मन्त्र में यह प्रश्न आया है कि—

**“मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते”**

अर्थात् जिस विराट् पुरुष का वर्णन कर रहे हो, उसका मुख क्या है ? बाहु कौन है ? और ऊरू और पाद नाम के अंग कौन से हैं ? इसके उत्तर में यह मन्त्र पढ़ा गया है। इसका अर्थ यदि ऐसा मानोगे कि मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ तो प्रश्न के अनुरूप उत्तर न होगा। प्रश्न है कि पुरुष का मुख क्या है ? उत्तर हुआ कि मुख से ब्राह्मण पैदा होता है। तब प्रश्न और उत्तर की कड़ी नहीं बैठती। मुख क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में मुख का स्वरूप दिखाना चाहिये था, न कि मुख से किसकी उत्पत्ति होती है, यह प्रश्न था। ऐसी शंका वे ही लोग करते हैं जो शास्त्रों की प्रश्नोत्तर प्रक्रिया को नहीं जानते। ‘मुखं किमस्यासीत्’ यह मुख के लक्षण का प्रश्न हुआ। लक्षण दो प्रकार के होते हैं एक ‘स्वरूप लक्षण’ और दूसरा ‘तटस्थ लक्षण’। यह ‘मुख’ है इस प्रकार मुख का स्वरूप दिखा देना ‘स्वरूप लक्षण’ होगा और कार्य कारण आदि के द्वारा मुख का परिचय दे देना तटस्थ लक्षण होगा। यहाँ तटस्थ लक्षण रूप से ही उत्तर दिया गया है कि जिससे ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं वह मुख है, इत्यादि। यह कार्य



द्वारा मुख आदि का परिचय दिया गया। इससे इसे तटस्थ लक्षण कह सकते हैं। जैसे कि वेदान्तसूत्रों में प्रथमतः —

“अथातो ब्रह्मजिज्ञासा”

इस सूत्र के द्वारा ब्रह्म के जानने की इच्छा प्रस्तुत की गई। उसके द्वितीय सूत्र में —

“जन्माद्यस्य यतः”

यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण ही कहा गया कि जिससे इस जगत् की उत्पत्ति पालन और संहार होता है, वही ब्रह्म है। यहाँ भी ब्रह्म का कार्य द्वारा ही परिचय दिया गया है। वहाँ यह प्रश्न कोई नहीं करता कि प्रश्न तो ब्रह्म का था, जगत् उत्पत्ति पालनादि का प्रसंग क्यों उठाया गया ? इसी प्रकार यहाँ भी तटस्थ लक्षण रूप से परिचय है कि जिससे ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं वह पुरुष का मुख है। जिससे क्षत्रिय होते हैं वे बाहु हैं इत्यादि। यह भी प्रश्न कई विद्वान् उठाते हैं कि मन्त्र के तीन पादों में कार्य और कारण का अभेद रूप से निर्देश है, अर्थात् ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु है इत्यादि ही कहा गया है। केवल चतुर्थ पाद में, पादों से शूद्र उत्पन्न हुए ऐसा कार्य कारण भाव कहा है। तब उस एक चतुर्थ पाद के अनुसार तीन पादों को लगाना उचित नहीं; अपितु तीन पादों के अनुसार चौथे पाद का भी अर्थ करना उचित होगा कि शूद्र वर्ण पुरुष के पाद से उत्पन्न होने के कारण पाद रूप ही है, इत्यादि यह कल्पना भी ठीक नहीं उतरती क्योंकि आगे के मन्त्रों में —

“चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षुः सूर्योऽजायत

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च

प्राणाद्वायुरजायत ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीष्णो द्यौः समवर्तत

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्” ॥

इत्यादि रूप से (मन से चन्द्रमा पैदा हुआ, चक्षु से सूर्य हुआ, मुख से अग्नि और इन्द्र हुए प्राण से वायु उत्पन्न हुआ इत्यादि) कार्य-कारण भाव उत्पाद्य-उत्पादक भाव ही बताया है। तदनुसार ही उस मन्त्र को भी कार्य-कारण भाव रूप से ही लगाना उचित होगा और कार्य और कारण का तीन स्थानों में अभेद रूप से निर्देश किया है यही मानना युक्तियुक्त होगा।

इसके अतिरिक्त जो मतवाद ब्राह्मणभाग व शाखाओं को वेद नहीं मानते वे भी यह तो स्वीकार करते ही हैं कि ब्राह्मण भाग व शाखा आदि मन्त्रों का अर्थ ऋषियों को बताने के लिये ईश्वर ने ही प्रकट किया है। तब यह देखना होगा कि तैत्तिरीय शाखा

में इस मन्त्र की व्याख्या रूप से जो लिखा गया है वह मनमाने अर्थों की अपेक्षा विशेष रूप से प्रमाण है। तैत्तिरीय शाखा में इस मन्त्र का अभिप्राय प्रकट करते हुए—

“मुखतोह्यसृज्यन्त” (तैत्तिरीयसंहिता ७ काण्ड, १ प्रपा० १० अनु)

यहाँ असृज्यन्त पद से मुख आदि अवयवों से ब्राह्मण आदि की उत्पत्ति स्पष्ट बताई गई है, इसी प्रकार मनु आदि महर्षियों ने भी इस मन्त्र का अर्थ उत्पत्ति रूप ही समझा है। मनु भगवान् कहते हैं कि—

“लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्” ।

इसका अर्थ स्पष्ट अर्थ है कि ब्रह्मा ने प्रजा की वृद्धि के लिये अपने मुख, बाहु, ऊरु और पाद रूप अंगों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को बनाया।

इसके अतिरिक्त मनु भगवान् ने नामकरण संस्कार के प्रकरण में लिखा है कि ब्राह्मण का नाम मंगलयुक्त होना चाहिये। क्षत्रिय के नाम से ही बलवत्ता प्रकट होनी चाहिये। वैश्य वर्ण नाम से ही धन-सम्पत्ति का योग प्रकट होना चाहिये। अब देखने की बात है कि उत्पन्न हुये बालक का दशम दिन नामकरण संस्कार होगा। दस दिन के बालक की गुण कर्म परीक्षा कौन कर सकता है। तब उस समय उसे किस वर्ण में माना जाय और कैसा नाम रक्खा जाय ? अगत्या यही कहना पड़ेगा कि जैसे माता-पिता के यहाँ जन्म हुआ है वही वर्ण इस बालक का भी मानना चाहिये और उसी के अनुसार नाम करना मनु को अभिप्रेत है। याज्ञवल्क्य भगवान् ने इस बात को विशेष रूप से स्पष्ट कर दिया है कि —

“सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः

अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्द्धनाः ॥

इसका अर्थ सुस्पष्ट है कि जिस वर्ण का पुरुष अपने समान वर्णवाली स्त्री से अपने वर्णोपयुक्त विधि के अनुसार विवाह कर जो सन्तान उत्पन्न करे वह उसी वर्ण का होता है, इससे जन्म सिद्ध वर्ण व्यवस्था ही सब स्मृतिकारों को अभिमत है यह स्पष्ट हो जाता है।

गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था के मुख्य प्रतिपादक श्रीस्वामीदयानन्दजी ने भी नामकरण प्रकरण में उक्त मनुस्मृति के श्लोक के अनुसार ही भिन्न-भिन्न वर्णों के भिन्न प्रकार के नाम माने हैं। वहाँ भी यही प्रश्न सामने आवेगा कि जन्म के दशवें दिन बालक की गुण कर्म परीक्षा कैसे हो और कौन ऐसी परीक्षा कर सकता है ? फिर वह नामकरण का विधान कैसे उपपन्न हो सकता है ? यदि पिता-माता के अनुसार वर्ण

मानकर बालक का नामकरण कर दिया तो आगे वर्ण परिवर्तन के साथ उसका नाम परिवर्तन भी आवश्यक होगा और तब दशम दिन नामकरण की स्मृति और सूत्रों की मानी हुई पद्धति एक प्रकार से व्यर्थ ही हो जायगी। इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि स्मृतिकार व सूत्रकारों को जन्म सिद्ध वर्ण व्यवस्था ही मान्य है। अन्यान्य श्रुतियों के द्वारा भी जन्मसिद्धवर्णव्यवस्था का समर्थन प्राप्त होता है जैसा कि यज्ञ में ब्राह्मण का वरण करते समय मन्त्र बोला जाता है कि -

“ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यं, ऋषिमार्षेयम्”

(शुक्ल यजुर्वेद अ० ७४६)

अर्थात् मैं आज ऐसे ब्राह्मण को प्राप्त कर रहा हूँ जो पितृमान् और पितृमान् का पुत्र है, स्वयं भी ऋषि और ऋषि का पुत्र भी है। यहाँ विचारने की बात है कि पितृमान् और पितृमान् के पुत्र तो सभी होते हैं बिना पिता-माता के किसी का जन्म नहीं देखा जाता। तब पितृमन्तं पैतृमत्यं इन विशेषणों की क्या आवश्यकता थी ? तब इन शब्दों में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में ही मानना उचित होगा। तब मन्त्र का अर्थ होगा कि जिसके पिता और पितामह प्रशस्त हैं। इससे जन्मसिद्धवर्णव्यवस्था श्रुति द्वारा स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। क्योंकि गुण कर्म के अनुसार वर्ण व्यवस्था मानने वालों के मत में तो पिता पितामह के प्रशस्त होने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पिता-पितामह कोई भी और कैसे भी हों वह यदि शुभगुण कर्मों वाला है तो अवश्य आदर पावेगा। इसी प्रकार राज्याभिषेक के मन्त्र में भी कहा गया है कि -

“इमं देवा असपत्नं सुबद्ध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठाय

महते देवराज्यायेन्द्रियस्येन्द्रियाय

इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रस्यैव विश एष वोमी राजा

सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा”।।

इस मन्त्र में “अमुष्य पुत्रम्, अमुष्यै पुत्रम्” (यजु.अ.९.) इन पदों के स्थान में ऊह करके उसके पिता-माता का नाम लिया जाता है। जिसका कि अभिषेक कर रहे हो। पिता-माता का नाम लेने का यही प्रयोजन हो सकता है कि जिसका हम राज्याभिषेक करते हैं उसके पितृ कुल और मातृ कुल दोनों प्रशस्त हैं। इससे भी जन्म सिद्ध ही वर्ण व्यवस्था अभिव्यञ्जित हो जाती है। केवल कर्म से वर्ण व्यवस्था माननेवालों के मत में पिता माता का नाम लेने का प्रयोजन ही क्या ? पिता-माता कोई भी हों उसका गुण कर्म प्रशस्त होना चाहिये। किन्तु श्रुति जब पिता-माता का निर्देश भी आवश्यक समझती है तब इससे जन्मसिद्ध ही वर्णव्यवस्था श्रुति को अभिप्रेत है, यह स्पष्ट ही प्रतीत हो जायगा।

सनातन धर्मावलम्बियों के सिद्धान्तानुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों ही वेद कहे जाते हैं। ब्राह्मण भाग में तो स्पष्ट ही जन्म से वर्ण व्यवस्था होने का प्रमाण मिलता है। “छान्दोग्योपनिषद्” में पञ्चाग्नि विद्या के प्रकरण में स्पष्ट कहा गया है कि पूर्व जन्म में जो उत्तम कार्य करते हैं वे यहाँ ब्राह्मण कुल व क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होते हैं और जो पूर्व जन्म में निन्दित कार्य करते हैं वे यहाँ कुत्ता, शूकर व चाण्डालादि योनियों में प्राप्त होते हैं।

“तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशोह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ।

ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनि -

वाथ य इह कपूयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् ।

श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ (छान्दो.)

यहाँ स्पष्ट अक्षरों में पूर्व जन्म के कर्मों को भिन्न योनि प्राप्त करने में कारण बताया गया है और कुत्ते, सूकरादि की तरह चाण्डालादि योनियों को अप्रशस्त कोटि में गिना है। शतपथब्राह्मण का चतुर्दशकाण्ड जो बृहदारण्यकोपनिषद् नामसे प्रसिद्ध है उसमें भी सृष्टि का प्रकरण कहते हुए पहले देवताओं की उत्पत्ति बताई गई है और उनमें ब्राह्मण आदि वर्ण विभाग बताया गया है। फिर उन्हीं देवताओं के सम्बन्ध से मनुष्यों में भी वर्ण विभाग हुआ ऐसा स्पष्ट कहा है।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्नव्यभव -

त्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत

क्षत्रं यान्येतानि देवत्राक्षत्राणीन्द्रो

वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमोमृत्युरीशान इति

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत

यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते

वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति।

स नैव व्यभवत् स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम् इयं वै

पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च

तदेतद्ब्रह्मक्षत्रंविट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्

ब्राह्मणोमनुष्ये क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः॥

इस सबका आशय है कि सूक्ष्म जगत् के देव, ऋषि आदि पहले उत्पन्न होते

हैं फिर उनके ही सम्बन्ध से स्थूल जगत् के मनुष्य आदि प्राणी उत्पन्न किये जाते हैं। सूक्ष्म जगत् के उन देवताओं के सम्बन्ध से ही मनुष्यों की प्रकृति में शम, दम, पराक्रम, आदि गुण उत्पन्न होते हैं, और उनके अनुसार ही मनुष्य अपने कार्य करता है। इस प्रकार पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओं की प्रकृति में प्रधानता, उनके अनुसार फिर इस जन्म के कर्म फिर उनके संस्कार रूप से विकास यह चक्र अनवरत घूमता रहता है। इस सबका चलाने वाला ईश्वर ही है इसलिए ईश्वर कृत जन्म सिद्ध ही वर्ण व्यवस्था इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। यही बात अठारहवें अध्याय में—

“कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः”

इस भगवद्गीता के श्लोक में भी कही गई है। वहाँ प्रकृतिवाचक स्वभाव शब्द से इन सब देवताओं का भी ग्रहण हो जाता है, जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं। वीर्य वा शुक्र का विभाग भी सूक्ष्म जगत् के देवताओं द्वारा ही होता है, देवताओं के द्वारा मनुष्यों की प्रकृति में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं और उन शक्तियों के अनुसार ही मनुष्यों की भिन्न-भिन्न कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इस सब क्रम के विचारने से यह स्पष्ट हो जायगा कि भिन्न-भिन्न योनि में जन्म होने से ही भिन्न-भिन्न कर्मों में प्रवृत्ति है। इस प्रकार वर्ण ही भिन्न कर्मों का कारण होता है न कि कर्म वर्ण का उत्पादक है, हाँ पूर्व जन्म का कर्म इस जन्म के वर्ण का कारण अवश्य है जैसा कि श्रुति के अनुसार पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं।

श्रीभागवत में भी इसका श्रुत्यनुसार विवरण स्पष्ट है और भी श्रुति में कहा है कि —

“गायत्र्या ब्राह्मणं निर्वर्तयत्  
त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं  
न केनचिद् छन्दसा शूद्रं  
तस्मादच्छन्दस्कः शूद्रः”

अर्थात् प्रजापति ने गायत्री से ब्राह्मण को बनाया। त्रिष्टुप् छन्द से क्षत्रिय को और जगती छन्द से वैश्य को बनाया। शूद्र को किसी छन्द से नहीं बनाया। इसीलिए शूद्र का छन्द अर्थात् वेद में अधिकार नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि वेद में ऐसी परिभाषा है कि गायत्री अग्नि का छन्द है, त्रिष्टुप् इन्द्र का और जगती आदित्य या वेश्मेदेवों का छन्द है। इसी परिभाषा के अनुसार यहाँ यही अर्थ होगा कि गायत्री के वाच्य अग्नि से ब्राह्मण को बनाया। त्रिष्टुप् छन्द के देवता इन्द्र से क्षत्रिय को, और

जगती के देवता आदित्य या विश्वेदेवताओं से वैश्य को बनाया। जैसा कि हम पूर्व दूसरी श्रुति के व्याख्यान में स्पष्ट कर चुके हैं। इसका विस्तृत तात्पर्य विद्वान् लोग यह भी बतलाते हैं कि गायत्री छन्द में तीन पाद होते हैं और प्रत्येक पाद में आठ-आठ अक्षर नियत हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व के कारण भी तीन हैं -

“योनिर्विद्या कर्मचेति त्रयं ब्राह्मणलक्षणम् ।

विद्यातपोभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥”

इस स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि योनि अर्थात् ब्राह्मण माता-पिता से जन्म, विद्या और ब्राह्मणोचित कर्म—इन तीनों की सम्पत्ति होने पर पूरा ब्राह्मण होता है। जिसमें विद्या और तपरूप कर्म नहीं है वह केवल जातिभाव से ब्राह्मण है, व्यवहारोपयोगी ब्राह्मण उसे नहीं कहा जा सकता। इनमें भी प्रत्येक के आठ-आठ भेद शास्त्रों में बतलाये गये हैं। जैसा कि ब्राह्मणों के सात गोत्र होते हैं, अगस्त्य को मिलाकर वे आठ बन जाते हैं—

“अगस्त्यष्टमानि गोत्राणि”।

इस प्रकार योनि अर्थात् उत्पत्ति कारण आठ हुए। इन आठ ऋषियों की सन्तान परम्परा में जो हों वे ही ब्राह्मण कहे जाते हैं। इसी प्रकार विद्या के आठ भेद निरूपित हैं—

“मनसे चेतसे धिय आकूतय उत् चित्तये ।

मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥”

इन आठों की व्याख्या यहाँ विस्तार भय से नहीं की जाती। इसी प्रकार कर्म भी आठ प्रकार के बतलाए हैं—

“धृतिः क्षमा दमः सत्यं शौचमार्जवमेव च ।

अस्पृहत्वमकामत्वं ब्राह्मणानाममी गुणाः ॥”

अर्थात् धैर्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, शौच अर्थात् पवित्रता, आर्जव अर्थात् सीधापन (चित्त की अकुटिलता) किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए लोलुप न होना और कामना अर्थात् इच्छाओं को न्यून करना ये ब्राह्मणों के स्वाभाविक गुण हैं। इस प्रकार आठ-आठ पदार्थों के तीन पादों से निष्पन्न होने के कारण गायत्री का पूरा साम्य ब्राह्मण में हो जाता है। यही आशय है कि गायत्री से ब्राह्मण को बनाया गया। यों ही क्षत्रिय और वैश्य का भी त्रिष्टुप् और जगती से सादृश्य लगाया जाता है जिसका विस्तार यहाँ करना उचित नहीं प्रतीत होता। वर्ण व्यवस्था के धर्मशास्त्र के “वीरमित्रोदय” आदि ग्रन्थों में देखकर जिज्ञासु सज्जन अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकते हैं। इसी श्रुति

के अनुसार उपनयन काल में ब्राह्मण को गायत्री के उपदेश, क्षत्रिय को त्रिष्टुप् के उपदेश और वैश्य को जगती के उपदेश का विधान है और इनके पाद के अक्षरों के अनुसार ही उपनयन की अवस्था भी नियत की गई है। कहा जा चुका है कि गायत्री का प्रत्येक पाद आठ अक्षर का होता है इसलिए ब्राह्मण का उपनयन अष्टम वर्ष में ही नियत किया गया है। त्रिष्टुप् छन्द के प्रत्येक पाद में एकादश अक्षर और जगती छन्द के प्रत्येक पाद में द्वादश अक्षर होते हैं। इसी आधार पर क्षत्रियों का ११वें वर्ष में और वैश्यों का १२वें वर्ष में उपनयन धर्मशास्त्रों में नियत किया गया है। इस प्रकार इन छन्दों के देवताओं से ब्राह्मणादि वर्णों का उत्पादन कहने से भी वर्ण व्यवस्था जन्म से ही सिद्ध होती है। श्री भागवत में भी इसका श्रुत्यनुसार विवरण स्पष्ट मिलता है—

मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरुद्वह ।  
 यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणोगुरुः ॥  
 बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः ।  
 योजातस्यायने वर्णान् पौरुषः कण्डकक्षतात् ॥  
 विशोऽवर्तन्त तस्योर्वो लोकवृत्तिकरीर्विभोः ।  
 वैश्यस्तदुद्भवो वार्ता नृणां यः समवर्तयत् ॥  
 पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषाधर्मं सिद्ध्ये ।  
 तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद् वृत्त्या तुष्यते हरिः ॥

( भास० ३ स्क० ६ अ० )

पूर्वोक्त श्रुति में ब्रह्म पद देवता का प्रकरण होने से अग्नि का वाचक है जैसा कि आगे की श्रुति में ब्रह्म के स्थान में अग्निपद देकर स्पष्ट किया गया है। किन्तु यहाँ भागवत में वृत्तियों का प्रकरण होने के कारण ब्रह्मपद ज्ञान का बोधक है। इससे श्लोकार्थ यह होगा कि पुरुषरूप भगवान् के मुख से ज्ञान पैदा हुआ। उसका अनुसरण करने के कारण वर्णों में मुख्य ब्राह्मण बना। पुरुष के बाहुओं से क्षत्र अर्थात् क्षत्राणरूप रक्षावृत्ति उत्पन्न हुई, उस वृत्ति के अनुसरण के कारण मनुष्यों में क्षत्रिय बना जो कि अन्य सब वर्णों की रक्षा करना ही अपनी वृत्ति मानता है। पुरुष के उरु स्थल से वृत्तियां अर्थात् जीवनोपाय कृषि, वाणिज्य आदि उत्पन्न हुए, उनका अनुसरण करने वाले मनुष्य वैश्य बने और पुरुष के पादों से सेवावृत्ति उत्पन्न हुई जो विष्णु भगवान् को प्रसन्न करने वाली है। उसका आश्रयण करने वाले मनुष्य शूद्र कहलाये।

इसका अभिप्राय है कि जीव भगवान् का ही एक अंश माना जाता है, इसलिए उसमें रहनेवाली सब शक्तियाँ भी भगवान् से उत्पन्न व भगवान् की शक्ति के अंश ही हैं, इसी अभिप्राय से कहा गया है कि भगवान् के अंगों से वे शक्तियाँ उत्पन्न हुईं और उन शक्तियों का जिन-जिन में प्रादुर्भाव हुआ वे ही ब्राह्मण आदि वर्ण कहलाये। इस विषय का विस्तार आगे के प्रवचन में किया जाता है। कुछ भी प्रकार मान लो, ब्राह्मणादि वर्ण शास्त्रों से ईश्वर कृत ही सिद्ध होते हैं और इस कारण जन्म सिद्ध ही वर्ण मानना सब शास्त्रों का सिद्धान्त प्रस्फुटित होता है। आगे के व्याख्यान में उपपत्ति से भी वर्ण व्यवस्था सिद्ध की जायगी।





## तिरसठवां पुष्प

### शरीर की समानता से वर्ण व्यवस्था का समर्थन

प्रत्येक मनुष्य के शरीर में प्रकृति ने चार भाग नियत किए हैं और उन चारों में पृथक्-पृथक् शक्ति दी है। पहिला भाग है शिर, उसमें ज्ञान-शक्ति प्रधान रूप से दी गई है। जिनके द्वारा ज्ञान होता है वे इन्द्रियां मस्तक के भाग में ही हैं और ज्ञान शक्ति के द्वारा अधिक परिश्रम करने पर शिर में ही पीड़ा प्रतीत होती है। आजकल तो वैज्ञानिकों ने स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि ज्ञानतन्तु मस्तक में ही होते हैं। उन तन्तुओं का प्रज्वलित होना ही ज्ञान कहा जाता है। इससे ज्ञान शक्ति मस्तक में है इस पर अब कोई सन्देह नहीं रह जाता। दूसरा शरीर का भाग वक्षस्थल है। जिसे छाती भी कहा जाता है। इसमें प्रकृति ने बल शक्ति रखी है। बल प्रयोग की मुख्य इन्द्रिय हाथ इसी विभाग में आते हैं और बल शक्ति का अधिक उपयोग करने वाले को वक्षस्थल में ही पीड़ा का अनुभव होता है। तीसरा शरीर का विभाग है उदर। इसमें बाह्य पदार्थों का संग्रह कर उनको यथोचित रूप में सब अंगों में बांटने की शक्ति जिसे एक शब्द में हम संग्रह-विभाजन-शक्ति कह सकते हैं, वह प्रकृति ने दी है। शरीर में जिन अन्न, जल आदि की आवश्यकता होती है वह सब उदर में ही पहिले अर्पित किए जाते हैं। वहीं से रस, रुधिर आदि बनकर वे शरीर के प्रत्येक अवयव में पहुँचते रहते हैं। यहाँ तक कि यदि शिर आदि किसी भी अंग में पीड़ा हो तो भी औषधि उदर में ही डाली जाती है। वहीं ऐसे यन्त्र प्रकृति ने रखे हैं कि जिनसे संगृहीत-पदार्थों का परिपाक होकर उनका यथोचित स्थान में बँटवारा हो जाता है। यहीं भगवद्गीता में भी भगवान् ने कहा है कि—

“अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥”

अर्थात् मैं ही वैश्वानर रूप होकर प्राणियों के शरीर अर्थात् उदर में बैठा हुआ प्राण, अपान क्रियाओं के साथ चारों प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य-अन्नो का परिपाक करता हूँ। यदि यह उदर कभी लोभ में आ जाय और संग्रह किए पदार्थों का यथोचित विभाग न करे तो न दूसरे अंगों की खैर हो सकती है और न अपने आप की ही। अपने आप भी अजीर्ण आदि रोगों से ग्रस्त हो जायगा और दूसरे अंग भी दुर्बल हो जावेंगे। शरीर का चौथा भाग है पैर। इसमें सब अंगों की सहायता करने की शक्ति प्रकृति ने दी है। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने की यदि शिर को इच्छा होती है तो उस स्थान में पहुँचाना पैर का ही काम होता है। जैसा आजकल यदि कोई पुरुष

सिनेमा आदि देखकर विनोद प्राप्त करना चाहता है तो उसे सिनेमा के स्थान में पहुँचाना पैर का ही काम है, या कोई सैनिक पुरुष युद्ध में जाकर बल प्रयोग करना चाहता है तो उसे युद्धस्थल में पहुँचाने के लिए भी पैर ही प्रस्तुत होते हैं। कृषि, व्यापार, आदि के द्वारा बाह्य पदार्थों का संग्रह करने में भी पैरों की अत्यधिक आवश्यकता होती है। यों तीनों ही शक्तियों को अपने-अपने कार्य में सहायता देना; इस चौथी शक्ति का कार्य प्रकृति ने नियत किया है। इसे ही सेवा शक्ति कहा जाता है।

इस शरीर के चारों भागों को ही चार गुहा कहा गया है शिरो गुहा, उरोगुहा, उदरगुहा और वस्ति गुहा। चारों गुहाओं में प्राणशक्ति अपने सात-सात विभाग बनाकर रहा करती है। वही प्राणशक्ति शरीर के सब काम चलाती है। सबके ऊपर एक मूलस्थान रहता है जो उस गुहा की प्राणशक्ति का मुख्य आधार है। आगे दो-दो करके तीन जोड़े रहते हैं और सबसे नीचे सातवां स्थान अकेला रहता है। जैसा कि शिरोगुहा में मूलस्थान ब्रह्मरन्ध्र है। यही सब शरीर की प्राणशक्ति का मुख्य आयतन है। शरीर में व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी का भी यही मूलस्थान है। इसका सूर्यमण्डल से सदा सम्बन्ध बना रहता है। प्रतिक्षण सूर्यमण्डल से शक्ति इसके भीतर आती है और इसी द्वार से निकल कर सूर्य मण्डल में जाया करती है। इसकी ही रक्षा के लिए आर्य जाति में चोटी रखने का विधान प्रचलित हुआ है। कर्मोपासना आदि के द्वारा जो हमलोग अतिशय विशेष का संचय करते हैं वह सूर्य-मण्डल के आकर्षण से निकल न जाय; इसलिए उस पर कुछ बालों का आवरण रखा जाता है। बाल ऐसी वस्तु है जिसमें से “इलैक्ट्रीसिटी” पास नहीं होती यह पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं। ऊपरी भाग से निकल न जाने के लिए जैसे यह प्रबन्ध किया गया है वैसे ही पृथिवी के आकर्षण द्वारा नीचे से वह अतिशय न निकल जाय; इसके लिए आसन का प्रबन्ध है। आसन के लिए जो-जो वस्तु बतलाई गई हैं—

### “चैलाजिनकुशोत्तरं”

अर्थात् कुश, मृगचर्म और रेशम का वस्त्र, ये सब ही पदार्थ “इलैक्ट्रीसिटी” को रोकने वाले हैं, यह पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी परीक्षा द्वारा सिद्ध किया है। इससे आर्य-जाति के सब विधानों की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है। यह विषय यहाँ प्रसङ्गागत कहा गया। मुख्य विषय यह था कि ब्रह्मरन्ध्र शिरोगुहा का मूलस्थान है। वहाँ से दो कान, दो आँख, दो नासिकाछिद्र इन तीन जोड़ों में प्राण-शक्ति आती है और अन्त का मुखछिद्र अकेला रहता है। ये ही सब ज्ञानेन्द्रियां कही जाती हैं। ज्ञान-शक्ति इनमें ही व्याप्त है। इनके द्वारा ही ज्ञान होता है जो सब शरीर में व्याप्त होता रहता है। दूसरी उरोगुहा का मूलस्थान कण्ठकूप है। इसमें से शक्ति लेने वाले तीन जोड़े—दो हाथ, दो

फेफड़े और दो स्तनच्छिद्र हैं। सातवां हृदयस्थल अकेला है; जहाँ एक प्रकार की धड़कन बनी रहती है। जो धड़कन जीवन-मरण की मुख्य परिचायक है। ऊपर की शिरोगुहा में जिस प्रकार पहिले प्राण शक्ति के संग्राहक दो कान बाहर निकल गए थे; इसी प्रकार इस उरोगुहा में भी दोनों हाथ बाहर निकले हैं, जो बल शक्ति के कामों में सबसे प्रमुख हैं। तीसरी उदर-गुहा का मूलस्थान हृदय ही है, जो कि उरोगुहा के सप्तम स्थान से मिल गया है। आगे तीन जोड़े-दो आँतें, दो यकृत-प्लीहा (जिगर और तिल्ली) तथा आमाशय और पक्वाशय नाम के दो नाभि के सातों मिलकर उदरगुहा कहे जाते हैं। इसमें भी पूर्व-गुहाओं की तरह प्रथम स्थान अन्त्र (आँतें) बाहर निकलने लगी थीं किन्तु वे बाहर न निकलकर वहीं मुड़कर दुहरा हो गई हैं। इसका कारण सूर्य का क्रान्ति-वृत्त है, जिसका वर्णन विस्तारभय से यहाँ नहीं किया जाता। अस्तु, चौथी वस्ति-गुहा का भी मूल स्थान नाभि-प्रदेश ही है जो कि उदर-गुहा के सप्तम-स्थान के साथ मिल गया है। आगे तीन जोड़े-दो पैर जो बाहर निकले हुए हैं, दो अण्डकोश और दो गुप्त-छिद्र हैं जिनमें से मूत्र और वीर्य निकलता है। सातवां गुदा-स्थान अकेला है। ये सातों मिलकर वस्ति गुहा या पादगुहा कही जाती हैं। इन्हीं स्थानों में से किसी एक-एक का निर्देश “ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्” इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति में किया गया है। जिसका अभिप्राय यही है कि जीव की ये चारों गुहाओं की शक्तियाँ परमात्मा के उन-उन अंगों की शक्तियों से निकली हैं। जिस प्रकार हम जीवों के शरीरों में चार भाग हैं और उन भागों में भिन्न-भिन्न चार शक्तियाँ हैं इसी प्रकार यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी परमात्मा का शरीर है। उस ब्रह्माण्ड के प्राणियों के भी चार भाग माने जाते हैं और उनमें चार भिन्न-भिन्न शक्तियाँ मानी गईं। परमात्मा के अंश रूप जीवों में परमात्मा की शक्तियों के अंश रूप ही चारों शक्तियों का विकास हुआ। ब्रह्माण्ड रूप शरीर में ज्ञान-शक्ति-प्रधान ब्राह्मण कहे जाते हैं, शक्ति-बल-प्रधान क्षत्रिय, संग्रह-शक्ति-प्रधान वैश्य और सेवा-शक्ति-प्रधान शूद्र नाम से कहे गए हैं। यद्यपि सब में ही सब शक्तियाँ अंश रूप से रहती हैं परन्तु प्रधान के द्वारा ही व्यवहार किया जाता है। ज्ञान-शक्ति जहाँ प्रधान रूप से हो वह ब्राह्मण, पराक्रम शक्ति-प्रधान क्षत्रिय आदि।

जिस प्रकार जीव के प्रत्येक अंग अपना अपना कार्य सुचारु रूप से करते रहें तो जीवात्मा प्रसन्न रहता है; इसी प्रकार परमात्मा के चारों अंग भी अपने अपने कार्य में लगे रहेंगे तो परमात्मा प्रसन्न रहेगा। परमात्मा की प्रसन्नता से ही सब जगत् की सुव्यवस्था रह सकती है। एक अंग के दूसरे अंग के कार्य में हस्तक्षेप करने से व्यवस्था बिगड़ जाती है।

जो लोग कर्म-व्यवस्था को परस्पर कलह का कारण बतलाकर दूषित करते हैं उन्हें इस शरीर की घटना पर ध्यान देना चाहिए। शरीर के अवयवों में कभी परस्पर

कलह होता नहीं देखा जाता अपितु सदा परस्पर सहयोग ही देखा जाता है। यदि हम सिनेमा आदि दृश्य देखेंगे तो उसका आनन्द आँख को मिलेगा किन्तु पैर यह विचार नहीं करते कि सुख तो आँख भोगेगी—हम चलने का परिश्रम क्यों करें, अपितु जिस दृश्य को देखना व सुनना आँख कान चाहें; उस दृश्य के स्थान में उनको पहुँचाने के लिए पैर सदा तत्पर रहते हैं। यदि कोई मनुष्य चलता हुआ मार्ग में दो-तीन बार ठोकर खा जाय तो देखने वाले यही कहेंगे कि “भाई, कान-आँख के अच्छे हो ? बार-बार ठोकर क्यों खा रहे हो ?” भला सोचिए ठोकर पैर ने खाई, आँख पर अन्धेपन का दोषारोपण क्यों ? किन्तु इसका कारण यही है कि मार्ग बतलाने का कार्य आँख का ही था। उसकी अपने कार्य में शिथिलता सिद्ध हुई। इसलिए उसी पर दोष दिया जाता है और यदि मार्ग में चलते हुए पैर में कोई कांटा या कंकरी चुभ जाय तो मुख में से झट आह निकल पड़ती है और हाथ दौड़कर उस कांटे या कंकरी को निकाल डालते हैं। इसी दृष्टान्त से समझना चाहिए कि यदि शूद्र-वर्ण पर कोई आपत्ति आई हो तो मुख-स्थानीय ब्राह्मण उसकी पुकार उठावे और हस्त-स्थानीय क्षत्रिय झट उसका प्रतीकार करने के लिए दौड़ पड़े। इस प्रकार का परस्पर सहयोग ही शास्त्रों ने शरीरावयवों का दृष्टान्त देकर सिखाया है। जब सब वर्णों को एक परमात्म-शरीर के अवयव बतलाया गया तो उनमें परस्पर विद्वेष की बात ही कहाँ रही ?

शरीर के अवयवों का उच्च-नीच-भाव भी शक्तियों के आधार पर ही है। ज्ञान-शक्ति अन्य सब शक्तियों की अपेक्षा प्रधान है। सैकड़ों सैनिकों का शासन भी एक सिविलियन विद्वान् द्वारा ही होता है। इससे लोक-व्यवहार में भी ज्ञान-शक्ति की प्रधानता सिद्ध है। इसीलिए ज्ञान-शक्ति-प्रधान शिर को प्रकृति पड़ गई है कि जब हम लेटने की दशा में सब अंगों को एक सीध में लाना चाहें तब भी वह कुछ ऊँचा ही रहना चाहते हैं। इसीलिए तकिया लगाने की आवश्यकता होती है। यह सब ज्ञान-शक्ति की ही महिमा है। मनुष्य-प्राणी में ज्ञान शक्ति और प्राणियों की अपेक्षा अधिक मात्रा में है। इसीलिए मनुष्य का शिर सबसे ऊँचा गया है। दूसरा स्थान बल-शक्ति का है इसलिए उसे संग्रह-शक्ति आदि के ऊपर रखा गया है। इस तरह शक्तियों के अनुसार ही अंगों में उच्च-नीच-भाव हैं जिसे सब अंग उचित मानते हैं। किसी अंग को अपने नीचा रहने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती और सब से ऊपर रहने वाला शिर भी कभी यह न चाहेगा कि पैरों को काट गिराया जाय, प्रत्युत उनकी रक्षा का ही प्रयत्न सदा करता रहेगा। इसी प्रकार का सामंजस्य सब कर्मों में भी रहना चाहिए और रहता भी था। जब से आधुनिक युग में अपर वर्णों को उकसाया गया कि तुम समाज में नीचे माने जाते हो तभी से यह पारस्परिक-कलह का सूत्रपात हुआ है। हमारे प्रवचन का

तात्पर्य यही है कि शास्त्रानुसार वर्ण-व्यवस्था में परस्पर कलह का कोई स्थान नहीं। वहाँ तो यही माना जाता कि—

“स्वे स्वे कर्माण्यभिरतः संसिद्धिं लभते पराम्”

अपने-अपने वर्णोचित कर्मों में ही रत रहता हुआ मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि को प्राप्त करता है।

यों शारीरिक-विज्ञान की दृष्टि से वर्ण-व्यवस्था पर विचार किया गया। अब सामाजिक विज्ञान की दृष्टि से भी विचार कीजिए। किसी भी समाज को उन्नति के लिए पहिले समाज में कला, कौशल का प्रचार होना आवश्यक माना जाता है। रहने के योग्य घर बनाना, घरों के समूह रूप में ग्राम, नगर आदि बनाना, निर्वाह के लिए उपकरण शैय्या-वस्त्र आदि बनाना—ये सब कला, कौशल के ही अन्तर्गत हैं। जिन दिनों भारत पराधीन था—तब यहाँ यह दशा थी कि कपड़ा सीने के लिए सुई भी दूसरों देशों से प्राप्त करनी पड़ती थी। उन्नति तो क्या, वह अपना जीवन भी नहीं रख सकता। इसी आशय से भारत ने स्वतन्त्र होते ही पहिले विविध शिल्पों की उन्नति पर ही ध्यान दिया है। वर्ण-व्यवस्था में इस शिल्प-बल को शूद्र-बल के रूप में स्थापित किया गया है। शूद्र समाज में प्रचुर-मात्रा में होते हैं। उनमें भिन्न-भिन्न शिल्प भिन्न-भिन्न जातियों में बांट दिए गए हैं। गृह-निर्माण कार्य, लकड़ी का कार्य, लोहे का कार्य—इत्यादि सब कार्यों के लिए शूद्र-वर्णान्तर्गत भिन्न-भिन्न जातियाँ नियत की गई हैं जो आज भी अपना-अपना व्यवसाय कर रही हैं और अपने-अपने व्यवसाय की शिक्षा उन्हें कुल-परम्परा से ही मिलती रहती है। इसी का फल है कि भारत में चाहे किसी समय युद्ध हो या और किसी प्रकार की आपत्ति आवे तो भी शिल्प नहीं रुक सकता। जैसे यूरोप आदि देशों में महायुद्ध का प्रसङ्ग आते ही वहाँ के शिल्प पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। जो इंग्लैण्ड सब देशों को वस्त्र आदि देता हुआ सब पर अपनी छाप रखता था उसको काम चलाना भी कठिन-सा हो गया। यह स्थिति भारत में कभी नहीं आ सकती। भिन्न-भिन्न जातियाँ अपने-अपने व्यवसाय में सब दशाओं में लगी रहेंगी। शिल्प-बल के लिए भी बुद्धि और शिक्षा की परम आवश्यकता होती है। वह बुद्धि और शिक्षा उन जातियों को कुल-परम्परागत ही मिल जाती है। यह प्रत्यक्ष है कि एक बड़ई का लड़का जितना जल्दी अपना काम सीख सकता है उतना दूसरी जाति का मनुष्य बहुतकाल के परिश्रम से भी कठिनता से सीख पायगा। इसी से सिद्ध है कि कुलपरम्परा में प्रकृति के द्वारा व्यवसाय-बुद्धि का संक्रमण होता रहता है। यही जन्म-सिद्ध-वर्ण-व्यवस्था का मूल आधार है। आजकल के जो शिक्षिताभिमानि सब वर्ण-जातियों में एक प्रकार की शिक्षा चलाना चाहते हैं और शूद्र-वर्ण की जातियों को अशिक्षित रखने

का प्राचीन भारत पर दोषारोपण करते हैं; यह उनकी भूल है। शिक्षा की आवश्यकता तो निःसन्देह सभी को है, किन्तु शिक्षा में भिन्न-भिन्न प्रकार होने चाहिए। जिसे आजकल शिक्षा कहा जाता है वह वास्तव में शिक्षा ही नहीं है; इस बात का अनुभव धीरे-धीरे भारत के देश-नेताओं को भी हो रहा है। यहाँ वक्तव्य इतना ही है कि वर्ण-व्यवस्था में शूद्र बल के रूप में शिल्प-बल की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा की गई है। उसकी सहायता और नियन्त्रण के लिए वर्ण-व्यवस्था में दूसरा वैश्य-बल स्थापित किया गया है। शिल्प में चतुर और नये-नये शिल्पों का आविष्कार करने वाला यह अवश्य चाहेगा कि मेरे शिल्प का दूर दूर तक भिन्न-भिन्न देशों में प्रचार हो। इस कार्य में उसकी सहायता व्यापार बल ही कर सकता है और वही व्यापार बल शिल्पियों को आलस्य से भी बचा सकता है। दूर-दूर देशों में अपने-अपने शिल्प के प्रचार के उद्देश्य से वे शिल्पी आलसी नहीं बनते, प्रत्युत उत्साह से उसमें प्रवृत्त रहते हैं। यही दुरुपयोग से बचना हुआ। व्यापार बल के द्वारा ही भिन्न-भिन्न शिल्पों का सब जगह प्रचार होता है। यह व्यापार बल ही वर्ण व्यवस्था में वैश्य-बल कहा जाता है। किन्तु इसमें दुरुपयोग की सम्भावना बहुत रहती है।

“व्यापारे वसते लक्ष्मीः”

इस न्याय के अनुसार व्यापारी धनिक होते हैं और लक्ष्मी प्राप्त होते ही उनमें एक प्रकार का मद आ जाता है जिससे वे अन्य सब को तुच्छ समझने लगते हैं। किसी कवि ने कहा है कि -

“हालाहलो नैव विषं, विषं रमा, जनाः परं व्यत्ययमत्र मन्वते ।

निपीय जागर्ति सुखेन तं शिवः स्पृशन्निमां मुह्यति निद्रया हरिः ॥”

अर्थात् समुद्र मन्थन-काल में हालाहल और लक्ष्मी दोनों ही समुद्र से निकले। इनका नाम रखने में जनता को धोखा हो गया। जनता ने हालाहल का नाम विष रख दिया है किन्तु वास्तव में हालाहल विष नहीं है; लक्ष्मी ही विष है। क्योंकि इनका फल प्रत्यक्ष में देखो—हालाहल भगवान् शंकर ने पिया। उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं, कोई विकार उन्हें नहीं हुआ, वे सुख से जागते हुए अपनी समाधि आदि का आनन्द लेते रहते हैं, किन्तु लक्ष्मी को भगवान् नारायण ने लिया। वे उसे लेते ही क्षीर-सागर में जाकर शयन कर गए। लक्ष्मी ने इतना नशा उनमें पैदा कर दिया कि जागते रहना उनके लिए कठिन हो गया। नशा करना ही विष का काम है, वह लक्ष्मी ने किया इसलिए उसे ही विष कहना चाहिए था। यह लक्ष्मी का नशा लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है। एक सात मंजिल का मकान बनाकर रहने वाला धनिक पुरुष अपने मकान के नीचे छोटी सी झोपड़ी में रहने वाले दरिद्र पुरुष को भी सहन नहीं कर सकता।

यही चाहता है कि यह इस झोपड़ी को छोड़ जाय तो इस भूमि को मैं अपने अधिकार में ले लूं। इसीलिए उस झोपड़ी पर नाली का जल आदि गिराकर उसे कष्ट देता रहता है। ऐसी घटनाएँ सैकड़ों लोक में देखी जाती हैं। इसलिए इस बल का भी नियन्त्रण अत्यावश्यक है। इस बल का नियन्त्रण शासन-बल के द्वारा ही हो सकता है। एक कोट्यधीश मनुष्य को जो अपनी दुकान पर अकड़ कर बैठा हो उसे भी एक सामान्य वेतन पाने वाला शासक का चपरासी धक्का देकर उसे अपने आगे कर लेता है। उस समय उसकी सब अकड़ निकल जाती है। इस शासन-बल को क्षत्रिय-बल के रूप में वर्ण-व्यवस्था में वैश्य-बल से ऊपर स्थान दिया गया है। राज्याभिषेक के मन्त्र में स्पष्ट अभिषेक करने वाला ब्राह्मण कहता है -

**“एष वो विशो राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा”।**

अर्थात् हे वैश्यों ! आज से यह तुम्हारा राजा बनाया जाता है। हमारा ब्राह्मणों का राजा तो सोम अर्थात् चन्द्रमा है। अर्थात् हम तो देवताओं के शासन में रहते हैं। हमें इन मनुष्यों की आवश्यकता नहीं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि क्षत्रिय-बल वैश्य-बल का नियन्त्रण करने के लिए ही स्थापित है।

शासक के हाथ में समाज को लौकिकशक्ति पूर्ण रूप से देनी पड़ती है। इसके बिना वह शासन ही नहीं कर सकता। इतनी सब शक्ति प्राप्त कर राजा भी मदोन्मत्त होकर अपने बल का दुरुपयोग करने लगे, अर्थात् अपने अत्याचारों से प्रजा को सताने लगे तो इसका नियन्त्रण करने वाला कौन ? यह एक बड़ा प्रश्न सब देशों के सामने है। इसका ठीक समाधान आज तक कोई देश नहीं कर पाया। पुराने लोगों ने इसका समाधान यह किया था कि राज्य का नियन्त्रण करने वाला शासन-विधान अर्थात् कानून है। परन्तु कानून है तो जड़। जब राजा की प्रवृत्ति उच्छृङ्खलता की ओर हो जाय और वह कहने लगे कि कानून मेरा बनाया हुआ है; मैं कानून के वश में कैसे रह सकता हूँ-“है कानून जबान हमारी”। तब राजा का नियन्त्रण करने वाला कौन ? यह एक जटिल प्रश्न है। अब बहुत सोच विचार के अनन्तर सब देशों ने यही इसका समाधान निकाला है कि जनतंत्र-शासन-प्रणाली हो। अर्थात् राजा कोई रहे ही नहीं। प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि ही शासन का काम चलावें। परन्तु इससे भी दुरुपयोग का नियन्त्रण बहुत कठिन है। उन प्रतिनिधियों को भी शासन-कार्य चलाने के लिए मिनिस्टर निर्वाचित करने पड़ते हैं और वे मिनिस्टर भी तो अन्ततः मनुष्य ही हैं। उनकी वृत्ति में भी उच्छृङ्खलता आ जाना स्वाभाविक है। फिर भी अन्ततः उनका नियन्त्रण शासन विधान अर्थात् कानून पर ही मानना पड़ेगा और कानून जड़ होने के कारण रोकने में असमर्थ ही होगा। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यदि मिनिस्टर लोग विधान के

विरुद्ध जावेंगे तो जनता के प्रतिनिधि उन्हें हटा देंगे। किन्तु यह सब जबानी ही बात है। जिसके हाथ में शासन है वह उसका सदुपयोग या दुरुपयोग कर सकता है। उसके बदलने में विधान द्वारा जितना समय लगेगा उतने समय में तो बहुत कुछ उथल-पुथल हो जावेगी। वर्तमान शासन के विरुद्ध हमें कुछ नहीं कहना है। जैसा कुछ होगा वह जनता को भोगना पड़ेगा। किन्तु हमें तो यहाँ यही कहना है कि इस प्रश्न का समाधान भारतवर्ष ने किया था और खूब किया था। लौकिक शक्ति सब कुछ शासक वर्गत्रय के हाथ में आवश्यक समझ कर दे दी गई। किन्तु आध्यात्मिक शक्ति भारत में इस प्रकार की थी कि जो सबसे ऊपर है। उस आध्यात्मिक शक्ति के अधिष्ठाता ब्राह्मण क्षत्र-बल को दुरुपयोग से बचा सकते थे। इसके बेन आदि राजाओं के बहुत से दृष्टान्त पुराणों में प्राप्त होते हैं। जहाँ आध्यात्म-शक्ति के द्वारा लौकिक शक्ति का दमन किया गया और उत्पीड़न से प्रजा को बचाया गया; एक दृष्टान्त हम यहाँ दे देते हैं।

एक बार जब इन्द्र को छल से असुर वध करने के कारण ब्रह्म-हत्या लग गई और उसकी निवृत्ति के लिए वे कहीं एकान्त में जाकर तप करने लगे तब देवताओं में यह प्रश्न उठा कि इतने काल हमारा शासक कौन रहे ? अराजक देशों में तो बहुत अव्यवस्था फैल जाती है। शासक का होना तो अत्यावश्यक है। अन्ततः देवगुरु बृहस्पति के परामर्श से यह निश्चय किया गया कि भारतवर्ष के महाराज नहुष को स्वर्ग में लाकर तब तक इन्द्र पद पर स्थापित किया जाय, जब तक कि मुख्य इन्द्र अपनी तपश्चर्या पूर्ण कर लौट न आवें। ऐसा ही किया गया। चन्द्र वंश के महाप्रतापी राजा नहुष को स्वर्ग में ले जाकर इन्द्र पद पर स्थापित किया गया। ऐसी कथाएं भू-लोक के स्वर्ग से ही सम्बन्ध रखती हैं जिसका विवरण अन्यत्र किया गया है। नहुष देवताओं का शासन चलाने लगे किन्तु शासन-शक्ति रजोगुण से ही सम्बन्ध रखती है। रजोगुण में विकृति होना स्वाभाविक है। वह विकृति नहुष के हृदय में भी हुई और उसने देव-समाज के सामने यह प्रश्न उठाया कि जब मैं इन्द्र हूँ तो इन्द्राणी को भी पत्नी के रूप में मेरी सेवा में उपस्थित होना चाहिए। देवता लोगों में यह प्रश्न सुनकर बड़ी घबराहट फैली। किसी पद पर अस्थायी रूप से किसी को नियत कर देना और बात है किन्तु पतिव्रता स्त्री इन्द्राणी दूसरे के समीप किस तरह जा सकती हैं ? इससे तो सम्पूर्ण देव जाति का अपमान होगा। जो जाति अपनी स्त्रियों की मर्यादा भी नहीं बचा सकती वह तो अत्यन्त जघन्य जाति समझी जावेगी। सब लोग फिर गुरु बृहस्पति के पास गए। उनसे सब वृत्तान्त कहा। तब गुरु बृहस्पति भी बोले कि भाई रजोगुण की शक्ति में विकार हो सकता है। इस क्षत्र-शक्ति का नियन्त्रण ब्रह्म-बल के द्वारा होगा। ब्रह्म-बल को किसी प्रकार जागरित करो। परामर्श होकर ब्रह्म-बल जागरित करने का उपाय ढूँढ़ निकाला गया और वह इन्द्राणी को बतला दिया गया। जब महाराज नहुष



का दूत इन्द्राणी के पास उसे बुलाने के लिए गया तब इन्द्राणी ने यही उत्तर दिया कि जब आप इन्द्र हो गए हैं तो मुझे आपकी सेवा में उपस्थित होने में क्या आपत्ति हो सकती है ? किन्तु हम स्त्रियों का यह स्वभाव होता है कि अधिक ऐश्वर्य देखकर हमारा प्रेम पुरुष पर होता है। अधिक ऐश्वर्य आपका मैं यही देखना चाहती हूँ कि पूर्व इन्द्र मेरे स्थान पर ऐरावत, उच्चैः श्रवा आदि वाहनों पर चढ़कर आया करते थे, किन्तु आपका वाहन एक विलक्षण प्रकार का हो। आप ऐसी पालकी पर चढ़कर मेरे स्थान पर पधारें कि जिसमें ऋषि लोग वाहक रूप से जुते हुए हों, तब मैं आपकी सेवा में सहर्ष प्रस्तुत हो जाऊँगी। नहुष ने सुनते ही आज्ञा दी कि सब ऋषियों को बेगार में पकड़ कर उपस्थित किया जाय और वे मेरी पालकी उठाकर इन्द्राणी के आवास भवन में पहुँचावें। आज्ञानुसार सब ऋषि पकड़-पकड़ कर लाए गए और पालकी में जोते गए। नहुष महाराज पालकी में विराजमान थे। ऋषियों ने कभी पालकी जन्म में उठाई तो थी नहीं, इसलिए उस कला के न जानने से उनके पैर इधर-उधर पड़ते थे और पालकी डाँवाडोल होती थी। उधर नहुष के हृदय में इन्द्राणी से भेंट करने की इतनी शीघ्रता थी कि ये लोग विमान की तरह उड़ाकर मुझे शीघ्र वहाँ क्यों नहीं पहुँचाते ? आगे ही अगस्त्य ऋषि जुते हुए थे। अपने आवेश से अगस्त्य ऋषि के सिर में ठोकर मारते हुए नहुष ने कहा कि “सर्प-सर्प” अर्थात् तेजी से चलो, तेजी से चलो। बस ब्रह्मतेज जागरित हो उठा। अगस्त्य ऋषि ने आँख से ज्वाला निकालते हुए शाप दिया कि “जा दुष्ट क्या सर्प-सर्प करता है, सर्प योनि में ही चला जा” आध्यात्मिक शक्ति से तत्काल शरीर परिवर्तन हो गया और महासर्प बनकर नहुष पालकी से नीचे की ओर गिरने लगे। गिरते गिरते विकलता से प्रार्थना की कि महाराज शाप की अवधि तो बतलाइये। तब अगस्त्य ऋषि ने कहा कि तुम्हारे ही वंश में युधिष्ठिर महाराज होंगे उनके शरीर को लपेट कर जब तुम उनसे धर्म-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर करोगे तब तुम इस योनि से मुक्ति पा जाओगे। वही प्रश्नोत्तर युधिष्ठिर की कथा महाभारत में वर्णित है और उसके अनन्तर ही नहुष को फिर अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण से स्वर्ग मिला। ऐसी अन्य भी कई कथाएं पुराणों में वर्णित हैं।

अब यहाँ यदि यह शंका हो कि इस प्रकार एक-एक बल पर दूसरा बल स्थापित करते हुए कर्म-व्यवस्था में सब बलों का नियन्त्रण कर उन्हें दुरुपयोग से बचाया जाय। किन्तु यदि ब्रह्म-बल विकृत होने लगे तो उसका नियन्त्रण किससे होगा? यह शंका व्यर्थ है। क्योंकि विकृत होने पर ब्रह्म-बल रहेगा ही नहीं। वह तो शुद्ध सत्त्व के आधार पर रहता है। सत्त्व में विकार हो नहीं सकता और रजोगुण आदि की ओर प्रवृत्ति होने पर ब्रह्म-बल रहेगा ही नहीं। तब सामान्य प्रजा की तरह उन नाममात्र के

ब्राह्मणों का भी नियन्त्रण राज्य के द्वारा ही हो जावेगा। जैसा कि वर्तमान में ब्रह्मबल हीन ब्राह्मणों का नियन्त्रण राज्य-शासनों द्वारा ही हो रहा है।

जो आधुनिक नव-शिक्षित पुरुष यह कहा करते हैं कि ब्राह्मणों के हाथों में ही सब शास्त्र थे; इन्होंने अन्य समाजों के उन्नति मार्ग रोककर अपने ही हाथ में सब अधिकार ले लिए। उनसे यह पूछना चाहिए कि अन्य समाजों की लौकिक उन्नति ब्राह्मणों ने रोक दी या आध्यात्मिक उन्नति ? आध्यात्मिक उन्नति रोकने का तो किसी का अधिकार ही नहीं। वह तो ईश्वर कृपा से और अपने एकान्त-चित्त से प्राप्त होती है। उसे रोकने का किसे अधिकार हो सकता है। रही लौकिक-उन्नति की बात सो लौकिक-उन्नति के समान शिल्प और व्यापार मुख्य रूप से माने जाते हैं। इन्होंने शिल्प शूद्रों के हाथ में दिया और व्यापार वैश्यों के हाथ में। ब्राह्मणों ने अपने हाथ में क्या लिया? ब्राह्मण यदि शास्त्र से पूछें कि हमारी लौकिक उन्नति के लिए हमें क्या उपाय बतलाया जाता है तो उन्हें उत्तर मिलता है कि -

“ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते”

अर्थात् ब्राह्मण का शरीर इन छोटी-छोटी लौकिक कामनाओं के लिए नहीं है। तब किसलिए है ? इसका उत्तर उत्तरार्ध से दिया जाता है -

“इह कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च।”

अर्थात् यहाँ तो तुम अपने शरीर को खूब कष्ट दो। पूर्ण तप करो। फल अग्रिम जन्म में मांगना। अब बिचारने की बात है कि जो “इस हाथ दे और उस हाथ ले”-इस न्यास से यहाँ का यहाँ ही फल मिलता है और ब्राह्मण यहाँ तो कर्म करे और उसका फल अग्रिम जन्म में कभी पावेगा, ऐसी स्थिति में ब्राह्मणों पर अधिकार छीनने का कलंक लगाना दुःसाहस-मात्र नहीं तो और क्या है ? कदाचित् कहा जाय कि इसी लेख में विद्या को सब शक्तियों के ऊपर बतलाया है और वह विद्या ब्राह्मणों ने शास्त्रों द्वारा अपने ही हाथ में रखी तो यह भी मिथ्या आक्षेप है। क्योंकि लौकिक-उन्नति की साधन-भूत सभी विद्याओं का अधिकार शास्त्र ने सब को ही दिया है। वेद-विद्या, जो मुख्य तथा परलोक की ही उन्नति बतलाती है-उसका ही अधिकार केवल द्विजाति-मात्र को है। इसलिए पूर्वोक्त बात ही सिद्ध होती है कि ब्राह्मण कर्म तो यहाँ करें और फल की आशा अग्रिम-जन्म में रखें। अस्तु, शास्त्र हमारे यहाँ अनादि-परम्परा-सिद्ध माने जाते हैं। वे ब्राह्मणों ने ही बना लिये और इन्होंने ही सब अधिकार अपने हाथ में ले लिये-यह कथन ही मूलतः अशुद्ध है।

शारीर-विज्ञान और सामाजिक-विज्ञान से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया गया। आधुनिक भौतिक-विज्ञानवादियों ने भी वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया है ऐसा भी

कई लेखों से प्रतीत होता है। स्वर्गीय गोवर्धन पीठाधीश्वर श्रीशङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थ महाराज ने “संस्कृत रत्नाकर” मासिक के वेदाङ्क में लिखा है कि रुधिर की परीक्षा से पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सब प्राणियों के रुधिर में चार प्रकार के भेद पाए हैं। उनके नाम रखे हैं “ओ”, “ए”, “बी”, “ए-बी”। इन रुधिरों के परस्पर सम्पर्क से हानि होती है—यह भी उन्होंने दिखाया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों की किन-किन पुस्तकों में इसका विवरण है—उन पुस्तकों के नाम भी उस लेख में दिए गए हैं। इससे नाम मात्र के भेद से वर्ण-व्यवस्था का मूल पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी मान लिया—यह सिद्ध हो जाता है।

इतिहास की दृष्टि से भी वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता सिद्ध होती है। भारतवर्ष में भगवान् रामचन्द्र का राज्यकाल ही उन्नति का मध्याह्न-काल माना जाता है। जब किसी राज्य में भारतीय प्रजा को सुख मिलता है तो यह प्रजा यही कहने लगती है कि आज तो हमें राम-राज्य जैसा सुख मिल गया। अपने पूर्व-सुख का स्मरण करने को वे राम का ही नाम मुख्य रूप से लेते हैं। उस उन्नति की पराकाष्ठा के युग रामचन्द्र के समय में वर्ण-व्यवस्था का उत्तम रूप से पालन था—यह उस समय के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है। जब वृद्धावस्था में बड़े यत्नों से प्राप्त किए भगवान् रामचन्द्र जैसे पुत्र को यज्ञ-विघ्नकारी असुरों के दमन के लिए मांगने को भगवान् विश्वामित्र आते हैं, महाराज दशरथ इस विचार में पड़ जाते हैं कि ऐसे प्रिय पुत्र को कुमारावस्था में ही असुरों से लड़ने के लिए किस प्रकार भेजूँ ? तब विश्वामित्र उनसे कहते हैं कि—  
**“मया त्वमाप्था : शरणं भयेषु वयं त्वयाप्यास्महि धर्मं वृध्यै ।**

**क्षात्रं द्विजत्वं च परस्परार्थं शंकां कृथा मा प्रहिणुष्व सूनुम् ॥”**

( भट्टि काव्य प्रथम सर्ग )

अर्थात्, राजन् ! जब हमें राक्षस आदि का भय होता है तो उसे मिटाने के लिए हम तुम्हें रक्षक बनाते हैं और जब तुम्हें धर्म-ज्ञान प्राप्त कर धर्म वृद्धि की इच्छा होती है तब तुम हम जैसे ब्राह्मणों की कुटियों में पहुँच कर हमारी शरण में आते हो। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रियों का परस्पर उपकार सदा चलता रहता है। यह विचार कर तुम्हें शङ्का नहीं करनी चाहिए। अपने पुत्रों को शीघ्र मेरे साथ भेजो। महाराज दशरथ और उनकी रानियाँ राम-लक्ष्मण के वियोग के स्मरण से विलख रही हैं किन्तु राम-लक्ष्मण को केवल धनुष हाथ में लेकर विश्वामित्र के साथ जाना ही पड़ता है—यह वर्ण-व्यवस्था का दृढ़ रूप में पालन उस युग में देखा जाता है। इसी प्रकार जब ब्राह्मण परशुराम भगवान् राम को ललकारते हैं कि धनुष हाथ में लेकर मेरे सामने युद्ध के लिए खड़े हो जाओ नहीं तो तुम्हारे वंश पर और तुम्हारे गुरु के नाम पर

भी तुम्हारे युद्ध के विमुख होने का अमिट कलंक लगेगा। तब भगवान् रामचन्द्र यही उत्तर देते हैं कि -

“जातः सोहं दिनकरकुले क्षत्रियः श्रोत्रियेभ्यो ।  
विश्वामित्रादपि भगवतो दृष्टदिव्यास्त्रपारः ॥  
अस्मिन्वंशे कथयतु जनो दुर्यशो वा यशो वा ।  
विप्रे शस्त्रग्रहणगुरुणः साहसिक्याद् बिभेमि ॥”

(अनर्घ राघव नाटक)

अर्थात् अवश्य ही मैंने उस सूर्य वंश में जन्म लिया है जिस वंश के राजा पूर्ण वीर क्षत्रिय और वेदज्ञ भी होते आए हैं और यह भी मुझे गौरव प्राप्त है कि मैंने भगवान् विश्वामित्र से दिव्य अस्त्रों की पूर्ण शिक्षा प्राप्त की है। किन्तु इस वंश पर कोई कलंक लगावे-चाहे उस वंश का यश बढ़े-किसी भी दशा में ब्राह्मण के सामने शस्त्र उठाने के साहस से मुझे भय है। जब परशुराम ने फिर क्रोध से कहा कि शस्त्र न उठाओगे तो मैं अपने कुठार से अभी तुम्हारा शिरच्छेदन कर दूँगा। तुम्हारी नव-परणीता स्त्री अभी रुदन के लिए परवश होगी और तुम्हें अभी यमराज का दर्शन करना पड़ेगा। तब फिर भगवान् रामचन्द्र कहते हैं कि -

“हारः कण्ठे विशत् यदि वा तीक्ष्णधारः कुठारः ।  
स्त्रीणां नेत्राण्यधिवसतु सुखं कज्जलं वा जलं वा ॥  
संपश्यामो ध्रुवमपि सुखं प्रेतभर्तुर्मुखं वा ।  
यद् वा तद् वा भवतु न वयं ब्राह्मणेषु प्रवीराः ॥”

अर्थात् हमारे कण्ठ में चाहे सुन्दर हार हो चाहे काटने के लिए कुठार आकर पड़े। हमारी स्त्रियों के नेत्रों में सुखकर कज्जल लगा रहे, चाहे जल भरा रहे। हमें चाहे लौकिक सुख देखने को मिले, चाहे यमराज का मुख देखना पड़े इधर या उधर कुछ भी हो किन्तु ब्राह्मणों के आगे वीरता दिखाना हमने नहीं सीखा। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का जिस समय में पालन था उसी समय भारत परम उन्नत था। आज नाना आक्षेपों से वर्ण-व्यवस्था जब अत्यन्त शिथिल हो गई है तब भारत की जो दशा है सो प्रत्यक्ष ही है।

इस प्रकार सब रूपों से वर्ण-व्यवस्था का समर्थन यहाँ किया गया।

## “चौसठवां-पुष्प”

### वर्णव्यवस्था के विरुद्ध पौराणिक प्रमाणों की आलोचना

श्रुति, स्मृत्यादि प्रमाणों और शारीरिक, सामाजिक आदि विज्ञानों द्वारा या ऐतिहासिक पद्धति से भी जन्म-सिद्ध-वर्ण-व्यवस्था की उपयोगिता पूर्व प्रवचन में सिद्ध की गई। अब जन्म-सिद्ध-वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध भी कुछ प्रमाण पुराणादि में प्राप्त होते हैं जैसा कि भगवान् विश्वामित्र का क्षत्रिय से ब्राह्मण हो जाना। अन्यान्य भी कई क्षत्रिय-वंशों के सम्बन्ध में पुराणों में मिलता है कि यह वंश का वंश ब्राह्मण रूप में परिवर्तित हो गया और कई जगह वचन भी कर्म से वर्ण-व्यवस्था मानने के प्राप्त होते हैं। उन सबकी आलोचना करना भी आवश्यक है।

इस विषय में सामान्य रूप से वक्तव्य यह है कि पुराण योग और तप की अलौकिक शक्ति को प्रतिपद स्वीकार करता है और उसी के अनुसार कथाओं का विवरण पुराणों में होता है। जिन सज्जनों को योग और तप की शक्ति पर विश्वास नहीं है; उन्हें पौराणिक घटनाओं की बात ही नहीं उठानी चाहिए। पौराणिक कथाओं में तो क्षत्रिय से ब्राह्मण होना ही क्या—मानुष योनि से तत्काल सर्प योनि प्राप्त हो जाना, जैसा कि पूर्व प्रवचन में नहुष के सम्बन्ध में हम लिख आए हैं या शिला से मनुष्य बन जाना, भी वर्णित है जैसा कि अहिल्या का रामायण में प्रसिद्ध है। इस प्रकार की अलौकिक शक्तियों से क्या नहीं हो सकता ? ऐसी ही शक्तियों से कोई वंश क्षत्रिय से ब्राह्मण भी हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अलौकिक शक्ति सब कुछ परिवर्तन कर सकती है। इससे प्राकृत नियमों में कोई बाधा नहीं पड़ती। प्राकृत नियम प्रकृति के अनुसार चलते हैं और योग और तप की अलौकिक शक्ति प्रकृति का परिवर्तन कर सकती है। इस शक्ति से तो भगवान् विश्वामित्र ने नई सृष्टि बनाने तक की प्रतिज्ञा कर दी थी और तदनुसार कुछ सृष्टि बना भी डाली थी—यह प्रसंग भी पुराणों में मिलता है। उनका कहना था कि ब्रह्मा पर ही सृष्टि बनाने का दायित्व निर्भर नहीं है। जिस वेद-विद्या के आधार से ब्रह्मा सृष्टि बनाते हैं वह वेद विद्या हमारे पास भी है। तब उसके आधार पर हम भी क्यों नहीं सृष्टि बना सकते ? इसी प्रकार की अलौकिक शक्ति के आधार पर किसी महर्षि या महामुनि ने कहीं वर्ण-परिवर्तन भी कर दिया तो वह तो अपवाद स्वरूप ही माना जावेगा। प्राकृत-नियम में उससे कोई बाधा नहीं पड़ सकती।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं इस परिवर्तन के मुख्य कारण का भी पुराणों में ही विवरण मिलता है। जैसा कि विश्वामित्र की कथा में मिलता है कि गांधि राजा ने अपनी

कन्या सत्यवती को ऋचीक ऋषि को विवाहित कर दिया। ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय, वैश्य की कन्या का ग्रहण धर्म शास्त्रों में अनुमत है। उन ऋचीक ऋषि से उनकी स्त्री और उनकी श्वश्रू दोनों ने ही अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए उपाय की प्रार्थना की। इस पर ऋचीक ऋषि ने अपने तपोबल से दो चरु बनाये। एक में क्षत्रियोचित गुणों का आधान किया और दूसरे में ब्राह्मणोचित गुणों का। उन दोनों चरुओं को स्थान विशेष में रख कर ऋचीक ऋषि स्नान करने के लिए गये थे उस अवसर में ही माता ने (गाधि राजा की स्त्री ने) अपनी पुत्री से कहा कि प्रत्येक मनुष्य का एक स्वाभाविक नियम है कि वह अपनी सन्तान को ही अधिक गुणवान देखना चाहता है। इसलिए तेरे चरु में ऋषि ने विशिष्ट गुण रखे होंगे। बहुत ही अच्छा हो कि तू अपना चरु मुझे दे दे और मेरा तू ले ले। इससे तेरा भाई उत्कृष्ट गुण-वाला उत्पन्न होगा तो तुझे भी इससे आनन्द ही होगा। उन चरुओं में क्षत्रियोचित और ब्राह्मणोचित गुणों का स्थापन था यह बात वे दोनों नहीं जानती थीं। इसलिए माता की आज्ञा का पालन करते हुए सत्यवती कन्या ने अपना चरु माता को दे दिया और माता के चरु का स्वयं उपयोग कर लिया। जब ऋषि को यह बात विदित हुई तो उन्होंने कहा कि—तुमने बड़ा अन्याय किया। अब तुम्हारी माता को तो ब्राह्मणोचित गुणों वाला पुत्र होगा और तुम्हें क्षत्रियोचित गुणों वाला, खूब मार-काट करने वाला पुत्र होगा। उनकी स्त्री ने बहुत प्रार्थना की कि—मैं मारकाट करने वाला पुत्र नहीं चाहती। तब ऋषि ने कुछ और उपाय करते हुए उससे अच्छा, पुत्र में क्षत्रियोचित गुण प्रकट नहीं होंगे किन्तु पौत्र में अवश्य होंगे। उन ऋचीक ऋषि के पुत्र जमदग्नि हुए और उनके पुत्र परशुराम। जो कि खूब युद्धप्रवीण हुए—यह बात प्रसिद्ध है। उनकी श्वश्रू गाधि-राजा की स्त्री से विश्वामित्र का जन्म हुआ। ये कुल मर्यादानुसार पिता के अनन्तर अपने राज्याधिकार पर आरुढ़ हुए। एक दिन वे मृगया के लिये सेना सहित गये थे। किसी सिंह के साथ पड़ कर बहुत दूर निकल गये। इतने में मध्याह्न का समय हो गया। सेना के सब लोग भूख, प्यास से व्याकुल हो गए और महाराज विश्वामित्र को भी भूख, प्यास ने सता रखा था। इतने में लौटते हुए एक बड़ा प्रशान्त आश्रम दिखलाई दिया। पूछने पर विदित हुआ कि यह महर्षि वसिष्ठ का आश्रम है। महाराज विश्वामित्र ने कहा कि महर्षि वसिष्ठ को बिना प्रमाण किये जाना उनकी अवज्ञा होगी और इससे बड़ा पाप लगेगा। इसलिये भूख, प्यास की विकलता रहने पर भी महर्षि का दर्शन करना ही चाहिए। वे रथ से उतर कर महर्षि वसिष्ठ के दर्शनार्थ उनके आश्रम में गये। प्रणाम आदि के अनन्तर कुछ वार्तालाप करके इनने आज्ञा माँगी कि—विलम्ब हो गया है। भूख, प्यास से सेना व्याकुल है। अब आज्ञा दीजिये कि अपने स्थान पर पहुँचकर अन्न, पानादि ग्रहण करें। महर्षि वसिष्ठ ने अतिथि धर्म का पालन करते हुए स्वाभाविक रूप से कहा कि आज यहीं हमारा

आतिथ्य स्वीकार कीजिये। महाराज विश्वामित्र बड़े गर्व से बोले कि महर्षे, सोच-समझ कर कहिए, मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ बहुत बड़ी सेना है। महर्षि वसिष्ठ ने स्मित-पूर्वक उत्तर दिया कि क्या हानि है ? आश्रम के पास ही पुण्य सलिला नदी बह रही है। वहाँ जल तो सुलभ होगा ही। हम भी यथाशक्ति भोजनादि का सामान उपस्थित कर देंगे। महाराज विश्वामित्र के हृदय में बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतनी छोटी-सी कुटिया में इनके पास इतना सामान कहाँ है कि मेरी सेना का आतिथ्य करने का ये साहस कर रहे हैं। अच्छा इनकी बात ही मान लेनी चाहिये—इस विचार से उन्होंने सेना को खेमा डालने की आज्ञा दे दी। सैनिक लोग स्नान आदि से निवृत्त हुए। निवृत्त होते ही उन्होंने देखा कि जिस पुरुष को जिस भोजन की इच्छा है उसी के उपयुक्त सामग्री ऋषि के शिष्य लाकर उपस्थित कर रहे हैं। इस प्रकार सब सेना ने बड़े आनन्द से वहाँ दिन बिताया। सबके चित्त में यह भाव हुआ कि इतना आनन्द तो हम घर पहुँचकर भी प्राप्त नहीं कर सकते थे। महाराज का भी उनके उचित ही आतिथ्य हुआ। राजोचित अन्न पानादि उन्हें पूर्णरूप से मिले। इस प्रकार आतिथ्य प्राप्त कर महाराज विश्वामित्र चलने की इच्छा से फिर महर्षि वसिष्ठ के पास गये और आतिथ्य की प्रशंसा व धन्यवाद करते हुए उन्होंने यह भी प्रश्न किया कि मेरे हृदय में एक संशय है कि आश्रम की कुटिया तो छोटी-सी दिखलाई देती है। इतनी सामग्री आपके पास कहाँ से आई कि मेरी सब सेना का सुन्दर रूप में आतिथ्य आपने कर दिया ? महर्षि वसिष्ठ ने अपनी गौ कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को दिखलाते हुए उत्तर दिया कि हमारी यह सम्पत्ति है। इसकी कृपा से हम अनेक राजाओं का भी आतिथ्य कर सकते हैं। जो इच्छा करें—वह सामान इससे मिल जाता है। महाराज विश्वामित्र का फिर मन पलटा और वे कहने लगे कि ऐसी वस्तु की आपके यहाँ क्या आवश्यकता होती होगी ? आज अकस्मात् मैं आ गया तब आपको सामग्री की आवश्यकता हुई, नहीं तो आप और आपके शिष्यों को कितना-सा सामान चाहिये ? ऐसी वस्तु तो हम राजाओं के पास रहे तो हम उससे सदा उपयोग लेते रहें। महर्षि वसिष्ठ ने उत्तर दिया कि यदि नन्दिनी अपनी इच्छानुसार जाना चाहे तो आप ले जा सकते हैं। आप अतिथि हैं, आपका सम्मान हमें सब प्रकार करना है। किन्तु यदि वह इच्छानुसार आपके साथ जाना न चाहे तो हम विवश हैं। गौ पर बलात्कार नहीं किया जा सकता। महाराज विश्वामित्र ने अपने भृत्यों को गौ के ले चलने की आज्ञा दी। किन्तु वह नन्दिनी गौ आँखों से अश्रुपात करती हुई वसिष्ठ ऋषि के चरणों के पास ही आकर बैठ गई। उसने यही भाव अभिव्यक्त किया कि आप मुझे क्यों छोड़ते हैं ? मैं आश्रम को छोड़कर जाना नहीं चाहती। तब महर्षि वसिष्ठ ने विश्वामित्र से कह दिया कि राजन् ! गौ जाना नहीं चाहती और बलात्कार गौ पर हो नहीं सकता। इससे मैं इसके देने में समर्थ नहीं

हूँ। महाराज विश्वामित्र को फिर क्षत्रियोचित अभिमान आया और वे बड़े आवेश से बोल उठे कि महर्षे, कोई भिखमंगा ब्राह्मण नहीं है जिसे देंगे या नहीं देंगे; कह दिया जाय। मेरे साथ बहुत बड़ा जन-बल है। उसकी सहायता से मैं उसे बाँधकर ले जा सकता हूँ और आप यदि बाधा डालेंगे तो शिष्यों सहित बँधे हुए आप भी घसीट कर ले जाये जायेंगे। महर्षि वसिष्ठ ने हँसकर इतना ही उत्तर दिया ऐसा नहीं हो सकता। महाराज की आज्ञा से सेना के लोग गौ को पकड़ने के लिये झपटे किन्तु महर्षि वसिष्ठ के तेज के आगे किसी भी सामन्त या सैनिक का साहस नहीं हुआ कि गौ को पकड़ सकें। तब महाराज विश्वामित्र स्वयं खड़े हुये कि हमारे पास भी क्षत्र-तेज रूप अस्त्र-बल है। हम अपने बल रूप तेज से इनको दबावेंगे। वे अपने दिव्य-अस्त्रों का प्रयोग करने लगे किन्तु महर्षि वसिष्ठ के हाथ में केवल एक ब्रह्म-दण्ड था। वे इनके सारे अस्त्रों को विफल कर देते थे। अन्त में विश्वामित्र ने धनुष तोड़ कर फेंक दिया और यह कहा कि -

“धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।

एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे” ॥

अर्थात् क्षत्रिय-बल को धिक्कार है। बल तो ब्रह्म-बल ही है। एक मात्र ब्रह्मदण्ड ने मेरे सब अस्त्रों को विफल कर दिया। ऋचीक ऋषि के चरु का प्रभाव जाग उठा और इन्होंने अपने सामन्तों को आज्ञा दे दी कि तुम लोग जाकर राज्य का प्रबन्ध करो। मैं तो अब यही शक्ति प्राप्त करने के लिये जाता हूँ। यह कहकर वे तपस्या करने चले गए और बहुत काल के तप के अनन्तर इन्होंने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। फिर भी जब तक पूर्णता इनमें न आयी तब तक मन्त्र-द्रष्टा होने पर भी महर्षि वसिष्ठ इन्हें राजर्षि कहकर ही संबोधित करते रहे। इन्होंने वसिष्ठ के बहुत अपकार किए। उनके पुत्रादि का हनन भी किया। किन्तु उन्होंने इन्हें राजर्षि कहना नहीं छोड़ा। जब एक दिन अपने किए पर पश्चात्ताप करते हुए ये वसिष्ठ ऋषि के चरणों पर जा गिरे तब इन्हें पूर्ण काम प्राप्त हुआ समझकर वसिष्ठ ने ब्रह्मर्षि कहा। इत्यादि कथा पुराणों और महाभारत में विस्तार से वर्णित है। कहने का तात्पर्य यही है कि तपोबल से उत्पादित चरु में ही ब्राह्मणत्व स्थापित था। वही समय पर प्रकट हुआ—और जन्म अन्ततः क्षत्रिय से ही था। उसका आवरण हटाने के लिए इतनी तपस्या करने की आवश्यकता हुई। इससे प्रत्युत यही सिद्ध होता है कि विश्वामित्र के काल में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म से ही मानी जाती थी। यदि गुण कर्म से मानी जाती होती तो इच्छा मात्र करते ही इन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त होजाता। इतने तप आदि की आवश्यकता ही न होती। जैसा कि आजकल के गुण, कर्मवादी किसी के इच्छामात्र करते ही उसे ब्राह्मण-श्रेणी में मान लेते हैं।



महर्षि विश्वामित्र और उनके वंश के अनेक ऋषि ऋग्वेद के बहुत बड़े अंश के द्रष्टा हैं। इससे प्राचीन काल में भी जब जन्मसिद्ध वर्ण व्यवस्था का होना पाया जाता है, तब इसे अनादि काल से ही जन्म सिद्ध कहना उचित होगा।

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी एक कथा कवष-ऐलूष की मिलती है कि ऋषियों ने सरस्वती नदी के तट पर एक सत्र, बहुत बड़ा यज्ञ जिसमें अनेक यजमान और बहुत से ऋत्विक् होते हैं आरम्भ किया। उसमें एक संकर जाति का कवष नाम का पुरुष, इलूष का पुत्र भी आकर सम्मिलित हो गया। उसे देखकर ऋषियों को बड़ा क्रोध हुआ कि यह शूद्र धर्मा संकर जाति का पुरुष किस प्रकार हमारे भीतर सम्मिलित होकर दीक्षा ग्रहण कर सकता है। उन्होंने इसे बलपूर्वक निर्जल-प्रदेश में ले जाकर डाल दिया कि यहीं पड़ा रहे और यह प्यास से मर जाय-सरस्वती का जल भी न पी सके। जिससे इसे अपने कुकर्म का फल प्राप्त हो। अन्ततः वहीं पड़े हुए कवष को ईश्वर प्रसाद से आपोनत्रिय नामक वैदिक-सूक्त का भान हुआ। जिस सूक्त में कि वायु से जल बना लेने की प्रक्रिया का वर्णन है। उस सूक्त के प्रभाव से इसने वहीं निर्जल प्रदेश में जल का प्रादुर्भाव कर अपनी पिपासा को निवृत्त कर लिया। अकस्मात् एक नई नदी का प्रवाह आता देखकर यज्ञ करने वाले ऋषियों को आश्चर्य हुआ। वे उस जल का अनुसरण करते हुए उस स्थान तक जा पहुँचे और उसे नए सूक्त का द्रष्टा जानकर बड़े आदर से अपने भीतर सम्मिलित कर लिया कि अब इसका देवताओं से सम्बन्ध हो गया। अब इसे ब्राह्मणत्व प्राप्त हो गया। इस कथन को भी कई विद्वान वर्ण परिवर्तन के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। किन्तु विचार करने पर इस कथा से भी जन्म-सिद्ध वर्ण व्यवस्था का प्रचलित होना ही सिद्ध होता है। यदि उस समय गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था प्रचलित होती तो जब यह ऋषि-मण्डली में जाकर यज्ञ करने को प्रस्तुत हुआ था-तब ही ब्राह्मण मान लिया जाता। ब्राह्मणोचित् कर्म के लिये प्रवृत्त हुआ और प्रवृत्त होने से ही सिद्ध है कि उस कर्म के उपयुक्त गुण भी इसमें होंगे ही। फिर गुण-कर्मानुसार यह ब्राह्मण क्यों न माना जाता ? और इस पर इतना क्रोध करना और निर्जल प्रदेश में ले जाकर इसे डाल देना आदि कार्य भी उपयुक्त न होते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उस समय भी वर्ण-व्यवस्था जन्म-सिद्ध ही प्रचलित थी। आगे जो ऋषियों ने इसका ब्राह्मणत्व स्वीकार किया वह तो उत्कट गुण देखकर ही किया। मन्त्र-दर्शन सभी ब्राह्मण नहीं कर सकते। हजारों में किसी एक को ही ईश्वरानुग्रह से मन्त्र-दर्शन होता था। इतना आश्चर्य-जनक बल इसे प्राप्त हुआ-इसलिए इस पर बहुत बड़ा ईश्वरानुग्रह समझा गया और ऐसा उत्कट गुण देखकर ही इसे ब्राह्मण-श्रेणी में सम्मिलित किया गया। उत्कटगुण तो सभी जगह नियमों के अपवाद रूप होते हैं। उन अपवादों से नियमों का भङ्ग नहीं माना जाता। जैसा कि गौ के

मलरूप गोमय में उत्कट गुण देखकर उसकी परम पवित्रता समाज में स्वीकृत हुई है तो इससे सभी मलों से पवित्रता का सम्बन्ध नहीं मान लिया जाता या किसी विशेष मृग के मांस रूप कस्तूरी में उत्कट गन्ध रूप गुण देखकर उसे पूजा आदि में भी स्वीकार किया गया तो इससे सब मांसों की अपवित्रता नहीं हट जाती। अपवाद, अपवाद ही रहते हैं। इसी प्रकार कवष का ब्राह्मणत्व भी अपवादरूप ही कहा जा सकता है। इससे वर्ण-व्यवस्था के नियम में कोई बाधा नहीं आती।

इसी प्रकार जहाँ-जहाँ पुराणों में किसी व्यक्ति या सम्पूर्ण वंश का ब्राह्मणत्व प्राप्त करना कहा गया है वहाँ भी किसी योग बल, तपो बल, या उत्कट देवता प्रसाद आदि कारण का अनुमान कर लेना होगा। कथा-प्रसङ्ग में उस कारण का उल्लेख नहीं हुआ। किन्तु बिना कारण के कोई कार्य हो ही नहीं सकता। इसलिए अनुमान से कारण अवश्य सिद्ध होगा। इस प्रकार इतिहास रूप से वर्णित वर्ण-परिवर्तनों का समाधान हो जाता है। अब जहाँ-जहाँ ऐसे वचन पुराणों में प्राप्त हैं उनकी कुछ आलोचना कर देना और शेष रह जाता है। इस विषय में भी पहिले यह ध्यान कर लेना चाहिए कि प्रमाणों में श्रुति को मीमांसकों ने सबसे बड़ा प्रमाण कहा है। श्रुति के विरुद्ध स्मृति या पुराण के कोई भी वाक्य माने नहीं जा सकते और स्मृति या पुराणों में जहाँ परस्पर विरोध प्रसङ्ग हो वहाँ स्मृति को ही बलवान् माना जाता है, क्योंकि आचार व्यवहार की व्यवस्था का निरूपण स्मृतियों का अपना विषय है। अपने विषय में शास्त्र की मुख्य रूप से प्रमाणता मानी जाती है। पुराणों का मुख्य विषय तो सृष्टि, प्रलय आदि का निरूपण है। आचार व्यवहार के निरूपण उनमें प्रसंगागत ही हैं। इसलिए वे स्मृतियों की अपेक्षा दुर्बल माने जाते हैं। दुर्बल प्रमाणों का अभिप्राय प्रबल प्रमाणों के अनुसार ही मानना यह मीमांसा की शैली है। जब पूर्व-पुष्पों में श्रुति और स्मृतियों के प्रमाणों से जन्म-सिद्ध-वर्ण-व्यवस्था ही स्थापित हो चुकी तब पुराणों में जो उसके विरुद्ध कोई वचन कहीं प्राप्त होते हों उनका श्रुति, स्मृति के अनुकूल ही अभिप्राय समझना मीमांसा शैली से उचित कहा जावेगा। उन वचनों में से भी कुछ वचनों का श्रुति स्मृति के अनुकूल अभिप्राय यहाँ बतला दिया जाता है जिससे कि इस विषय में कोई शंका न रह जाय।

सबसे प्रधान महाभारत में एक वचन मिलता है कि -

“न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।

ब्रह्मणा सृष्टपूर्वं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥”

अर्थात् वर्णों में कोई विशेष अर्थात् भेद नहीं है। जगत् को ब्रह्मा का बनाया हुआ होने के कारण ब्राह्म ही कहना चाहिए। भिन्न भिन्न कर्मों के कारण ही यह भिन्न भिन्न

वर्णों में विभक्त हो गया। इसमें स्पष्ट ही कर्मकृत्-वर्ण व्यवस्था का आभास मिलता है। किन्तु इसका प्रकरण देखने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में कोई अङ्गों का भेद या मूत्र, पुरीषादि भेद नहीं है। ब्रह्मा की बनाई हुई मनुष्य-सृष्टि में सबके अङ्ग सन्निवेशादि समान ही हैं। अङ्ग आदि देखने से ब्राह्मण आदि जाति का ज्ञान नहीं हो सकता, अपितु वर्ण-भेद का ज्ञापक उनका कर्मभेद ही है। भिन्न-भिन्न कर्म देखकर ही वर्णों की पहिचान होती है। इस प्रकार प्रकरणानुसार कर्म के द्वारा वर्णों की पहिचान यहाँ बतलाई गई है। “कर्मभिः” यह तृतीया विभक्ति हेतु अर्थ में नहीं, अपितु “जटाभिस्तापसः” इत्यादि के समान “इत्थंभूत लक्षणे” इस सूत्र से है। जैसे वहाँ जटाओं से तपस्वी का ज्ञान होता है—यह अर्थ है इसी प्रकार यहाँ भी भिन्न-भिन्न कर्मों से वर्णों का परिचय होता है। इससे कर्मों में वर्ण परिचय की हेतुता है वर्णोत्पादन की हेतुता इससे सिद्ध नहीं होती।

अन्यत्र भी महाभारत में सर्प-योनि प्राप्त नहुष के साथ जो युधिष्ठिर का संवाद है उसमें सर्प के वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न होने पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया है कि—सत्य, दान, क्षमा, शील, अनृशंसता अर्थात् क्रूरता न होना, तप और घृणा अर्थात् दया ये सब गुण जिसमें हों वही ब्राह्मण कहा जाता है। पुनः सर्प ने पूछा कि चारों वर्णों की व्यवस्था प्रमाणभूत है और वह जन्म से ही मानी जाती है ऐसे लक्षण तो कई एक शूद्रों में भी पाए जाते हैं फिर इन लक्षणों के अनुसार ही ब्राह्मणत्व कैसे माना जावेगा ? इस पर धर्मावतार युधिष्ठिर का स्पष्ट उत्तर है कि —

“शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न दृश्यते ।

न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।

यत्रैतन्न भवेत्सर्प ! तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥”

(महाभारत वन पर्व, अध्याय १८०)

इनका स्पष्ट अर्थ है कि “शूद्रों में भी यदि ये लक्षण मिलते हैं और द्विजों में अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में यदि नहीं मिलते तो उस शूद्र को शूद्र नहीं कहना चाहिए और ब्राह्मण को ब्राह्मण नहीं कहना चाहिए। जहाँ ये लक्षण हों उसे ही ब्राह्मण कहना चाहिए और जिसमें ये लक्षण न हों उसे शूद्र कहना चाहिए।” इससे भी गुण-कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था सिद्ध होती है। किन्तु इसका भी तात्पर्य यही है कि इन लक्षणों को देख कर ब्राह्मण की पहिचान होती है। यह आगे स्पष्ट हो गया है। जब

पुनः सर्प ने कहा कि जाति अर्थात् जन्म को प्रमाण क्यों नहीं मानते ? तब युधिष्ठिर ने अपना अभिप्राय स्पष्ट प्रकट किया है कि -

**जातिरत्र महासर्प ! मनुष्यत्वे महामते ।**

**सङ्करात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥**

अर्थात् हे महासर्प ! मनुष्यत्व समान रहने के कारण जाति अर्थात् जन्म की परीक्षा बहुत कठिन है। कौन, किसकी सन्तान है इसकी परीक्षा कैसे की जाय ? जब कि दुष्ट स्त्रियाँ व्यभिचार द्वारा सब वर्णों से सन्तान उत्पन्न कर लेती हैं। इसलिए परीक्षा का मुख्य साधन आचार ही है। इससे सूचित होता है कि इस कलियुग के आरम्भ काल में स्त्रियों का पतिव्रत धर्म बहुत शिथिल हो चुका था। उनमें व्यभिचार प्रवृत्ति बढ़ चुकी थी। कौन किसकी सन्तान है—यह निश्चय करना कठिन था। इसलिए आचार देखकर ही वर्ण का निश्चय करना युधिष्ठिर ने उपयुक्त बतलाया। आचार के द्वारा वर्ण-परीक्षा प्राचीन काल में भी मिलती है। छान्दोग्योपनिषद् में एक जबाला के पुत्र सत्यकाम का उपाख्यान है कि वह अपना उपनयन कराने को आचार्य के पास गया। आचार्य ने उससे पूछा कि तुम्हारा गोत्र क्या है ? तब उसने उत्तर दिया कि मैंने अपनी माता से अपना गोत्र पूछा था; माता ने यह उत्तर दिया -

**बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे ।**

**साऽहं न वेद किं गोत्रस्त्वमसीति ।**

**सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथाः ।**

अर्थात् मैंने बहुत मनुष्यों से सम्पर्क करते हुए युवावस्था में तुझे प्राप्त किया। इससे मैं नहीं कह सकती कि तू किस गोत्र का है। तू अपने को जबाला का पुत्र सत्यकाम ही बतला देना यह सुनते ही आचार्य ने कहा कि -

**समिधं सोम्य आहर उपत्वानेष्ये**

**न त्वैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति ।**

**न सत्यादगा इति ।**

अर्थात् तूने अपनी उत्पत्ति की दुर्बलता का विषय भी नहीं छिपाया। इतनी सत्य की रक्षा ब्राह्मण के अतिरिक्त और किसी में नहीं हो सकती। इसलिए मुझे निश्चय हो गया कि तू ब्राह्मण की ही सन्तान है। समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन करूँगा। इस आख्यायिका में उत्कट सत्य भाषण से ब्राह्मणत्व की परीक्षा सुस्पष्ट है। कई विद्वान् इस उपनिषद् की आख्यायिका से भी, गुण-कर्म से वर्ण-व्यवस्था सिद्ध करने का

साहस करते हैं। किन्तु जब आचार्य गोत्र पूछकर उपनयन करते थे तब गुण, कर्म से वर्ण-व्यवस्था का प्रसंग ही कहाँ रहा ? इस बात पर वे ध्यान नहीं देते। इसी प्रकार आचार द्वारा परीक्षा कर वर्ण का निश्चय करना उचित है—यही युधिष्ठिर का आशय प्रकट होता है। इससे यहाँ भी गुणों, कर्मों तथा वर्णों को पहिचानने में ही हेतु बतलाया गया है। वर्ण-परिकल्पना में नहीं।

इसी प्रकार “यक्ष-युधिष्ठिर संवाद” में भी कुछ विपरीत-सा आभास मिलता है। वहाँ यक्ष का प्रश्न है कि ब्राह्मणत्व किससे प्राप्त होता है—कुल से, आचार से, विद्या पढ़ने से या शास्त्र ज्ञान से ? इस पर युधिष्ठिर का उत्तर है कि—

“शृणु यक्ष ! कुलं तात ! न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।  
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥  
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।”

(म०भा०व०प० ३१३ अ०)

अर्थात् ब्राह्मणत्व में कुल, स्वाध्याय या शास्त्र ज्ञान ये कुछ भी कारण नहीं हैं; केवल वृत्त अर्थात् आचार ही ब्राह्मणत्व का कारण है। इसलिए ब्राह्मण को बड़े प्रयत्न से अपने वृत्त अर्थात् आचार की ही रक्षा करनी चाहिए। इसका भी तात्पर्य आचार की रक्षा में ही है; जैसा कि आगे के पद्य में स्पष्ट कर दिया गया है।

महाभारत के जिस काल में द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि निरन्तर युद्ध करने वाले और युद्ध के लिए क्षत्रियों को शिक्षा देने वाले भी ब्राह्मण ही माने जाते रहे। कर्म के कारण क्षत्रिय जाति में परिवर्तित नहीं हुए एवं सर्व ज्ञानसम्पन्न भीष्म क्षत्रिय ही माने जाते रहे। कर्ण ने अपना वर्ण छिपाकर परशुराम से शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की, किन्तु परशुराम को यह बात मालूम होते ही उन्होंने उसे विद्या से निर्वीर्य होने का शाप दे दिया एवं युद्ध छोड़कर धर्मान्तर में प्रवेश चाहने वाले अर्जुन को भगवद्गीता द्वारा उपदेश देकर भगवान् श्रीकृष्ण ने क्षत्रियोचित् धर्म में ही प्रवृत्त किया। भगवद्गीता में बार-बार यह उपदेश दिया कि अपने धर्म का ही पालन करना सब वर्णों को उचित है। उस जन्म सिद्ध वर्ण-व्यवस्था के इतनी दृढ़ता से पालन के समय में भी धर्मावतार युधिष्ठिर का गुण कर्म से वर्ण बतलाना कहाँ तक संभव हो सकता है—यह प्रत्येक विचारशील समझ सकता है। इसलिए उनके वाक्यों का पूर्वोक्त तात्पर्य लगाना ही सर्वथा उचित होगा। आगे जब वे युद्ध समाप्ति के अनन्तर भीष्म पितामह से धर्म श्रवण करने गए, तब वहाँ भी उन्होंने वर्ण परिवर्तन के सम्बन्ध में भीष्म से प्रश्न

किया है। यह अनुशासन पर्व में स्पष्ट है कि अन्य वर्ण ब्राह्मणत्व कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? इस पर धर्मज्ञ भीष्म पितामह का स्पष्ट उत्तर है—

“ब्राह्मण्यं तात ! दुष्प्राप्यं वर्णैः क्षत्रादिभिस्त्रिभिः ।

परं हि सर्वभूतानां स्थानमेतद्युधिष्ठिर” ॥

(महा० अनुशासन पर्व० अ० २७)

अर्थात् क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं कर सकते। यह ब्राह्मणत्व सब प्राणियों का उत्कृष्ट स्थान है। इसके अनन्तर अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने मातङ्ग की कथा सुनाई है। वह मातङ्ग एक संकर जाति का शूद्र था। उसने ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिये घोर तप किया और इन्द्र जब प्रसन्न होकर वर देने आये, तब उसने ब्राह्मणत्व प्राप्ति का ही वर माँगा। इस पर इन्द्र ने स्पष्ट उत्तर दिया कि ब्राह्मणत्व किसी अन्य वर्ण को प्राप्त नहीं हो सकता। जब मातङ्ग ने कहा कि —

इदं वर्षसहस्रं वै ब्रह्मचारी समाहितः ।

अतिष्ठमेकपादेन ब्राह्मण्यं नाप्नुयां कथम् ।

अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम् ।

(अनु० प० अ० २९)

अर्थात् इतने अधिक काल तक मैंने ब्रह्मचर्य धर्म का पालन किया, एक पैर से खड़े होकर तपस्या की तथा अहिंसा, दम आदि का यथोचित पालन किया, तब भी मैं ब्राह्मणत्व की प्राप्ति का अधिकारी क्यों नहीं हूँ ? इस पर पुनः इन्द्र ने उत्तर इस प्रकार दिया कि —

“श्रेष्ठतां सर्वभूतेषु तपोऽर्थं नातिवर्तते ।

तदग्र्यं प्रार्थयानस्त्वमचिराद् विनशिष्यसि ॥”

(अनु० प० अ० २९)

अर्थात् तपस्या से वही वस्तु प्राप्त की जा सकती है जिसकी प्राप्ति संभव हो। तपस्या के द्वारा ब्राह्मणत्व नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसके बाद भी यदि तुम उस ब्राह्मणत्व की प्राप्ति का प्रयत्न करोगे तो तुम्हारा शीघ्र ही नाश हो जावेगा।

इस महाभारतोक्त मातङ्ग की कथा द्वारा गुण, कर्म से वर्ण-व्यवस्था मानने वालों की जड़ ही कट जाती है। इतनी तपस्या और आचरण के अनन्तर भी यदि ब्राह्मणत्व प्राप्त न हुआ तो फिर वर्ण-परिवर्तन की आशा करना व्यर्थ ही सिद्ध होगा।

कुछ विद्वान् बिना पूर्वापर पर्यालोचन के ही मनुस्मृति के निम्नलिखित श्लोक से वर्ण परिवर्तन सिद्ध करना चाहते हैं -

“शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद् वैश्याद् तथैव च ॥”

अर्थात् शूद्र ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। क्षत्रिय से उत्पन्न और वैश्य से उत्पन्नों की भी इसी प्रकार परिवर्तन व्यवस्था जान लेनी चाहिए। वे विद्वान् यह भी नहीं सोचते कि इस पद्य में कारण कुछ भी नहीं बतलाया गया है। बिना कारण के ही यदि यों ही वर्ण-परिवर्तन हो जाता है, तो फिर यह वर्ण-व्यवस्था क्या हुई, एक खिलवाड़ हो गया। इसके पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट कारण का उल्लेख देखिये। मनुस्मृति में उक्त श्लोक का पूर्व श्लोक इस प्रकार मिलता है कि-

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते ।

अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात् ॥

इसका अर्थ है कि जो कन्या सन्तति ब्राह्मण से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न हुई हो, उसका सम्बन्ध यदि श्रेयान् उच्च वर्ण अर्थात् ब्राह्मण से ही होता जावे तो वह निकृष्ट जाति भी सातवें कुल में जाकर उत्तम वर्ण प्राप्त कर लेती है। यहाँ “प्रजायते” पद से कन्या सन्तति ही लेना प्राप्त है। “प्रजायते” का अर्थ “प्रजनः” अर्थात् गर्भ धारण ही संस्कृत में सुप्रसिद्ध है। इससे इस पद्य का स्पष्ट तात्पर्य यह निकलता है कि शूद्रा स्त्री में कोई लड़की ब्राह्मण से पैदा हुई। उस लड़की का सम्बन्ध फिर किसी ब्राह्मण से ही किया गया हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की कन्या से भी विवाह कर सकता है—यह धर्म शास्त्रों में विधि प्राप्त होती है और आपत्काल में किसी देश विप्लव या विवाहोपयुक्त कन्या न मिलने की दशा में शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता है। किन्तु यह वर्णान्तर में विवाह करने की प्रथा कलियुग में पुराण वचनों से निषिद्ध ठहराई गई है और फिर उससे उत्पन्न लड़की का भी ब्राह्मण कुल में ही विवाह हो तो इस क्रम से सातवें कुल में जाकर उसके मातृ-दोष का निवारण हो जाता है और सातवें कुल में वह शुद्ध ब्राह्मण की लड़की कहलाने लगती है। उसी का स्पष्टीकरण पूर्वोक्त -

“शूद्रो, ब्राह्मणतामेति”

इत्यादि पद्य में किया गया है कि क्रम से उत्तम वर्ण सम्बन्ध होने के कारण उसमें जो मातृ-दोष से शूद्रत्व था वह ब्राह्मणत्व रूप में परिवर्तित हो जाता है, इसी प्रकार यदि वह ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्न कन्या शूद्र कुल में ही दी जाय, और उससे उत्पन्न

कन्या भी फिर शूद्र कुल में ही जाय तो यों क्रम से सात बार सम्बन्ध हो जाने पर वह सातवीं बार की कन्या शुद्ध शूद्र कन्या कहलावेगी। उसमें जो पिता के सम्बन्ध से ब्राह्मणत्व का अंश था वह भी बार-बार नीच सम्बन्ध होने के कारण शूद्र रूप में परिणत हो जाता है। यदि वह कन्या शूद्रा स्त्री में उत्पन्न न होकर वैश्य-स्त्री में उत्पन्न हुई हो तो उसका क्रम से ब्राह्मण कुल में सम्बन्ध होने पर छठे बार में ही परिवर्तन हो जाता है और क्षत्रिय के गर्भ से उत्पन्न कन्या का पाँचवीं बार में ही परिवर्तन हो जाता है। यही व्याख्या उक्त पद्यों की सब ही व्याख्याकारों ने मानी है और कारण निर्देश होने के कारण युक्तियुक्त भी है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी संकर जाति के प्रकरण में यही बात लिखी है कि -

“जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा”।

अर्थात् वर्ण-संकर-रूप कन्याओं का पूर्वोक्त रूप से उत्तम कुल में सम्बन्ध होता रहे तो सातवें या पाँचवें युग अर्थात् परिवर्तन में जाति का उत्कर्ष हो जाता है। अर्थात् मातृ-दोष हटकर शुद्ध-वर्णता उन्हें प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार ये सब वचन वर्ण-संकर रूप से उत्पन्न कन्याओं के विषय में लगते हैं। कलियुग में जब दोष देखकर वर्णान्तर विवाह निषिद्ध ठहरा दिया गया, तब इन वचनों का आजकल कहीं सम्बन्ध ही प्राप्त नहीं होता। पूर्वकाल में भी धर्मशास्त्रों में जहाँ वर्णान्तर में विवाह की आज्ञा दी गई थी वहाँ भी पहिले अपने समान वर्ण में विवाह कर बहु-विवाह प्रथा के प्रचलित रहने के कारण यदि अन्य स्त्रियों से भी विवाह करने की इच्छा हो तब उस दशा में वर्णान्तर में विवाह करने की अनुमति मात्र दी गई थी। यह कोई आवश्यक धर्म नहीं माना गया था। आजकल तो बहु-विवाह-प्रथा भी विधान द्वारा निषिद्ध ठहराई गई है। इसलिए इन बातों के विचार का कोई प्रसङ्ग ही नहीं उठता।

कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि जब द्विजत्व संस्कारों से ही प्राप्त होता है तो शूद्रों को भी वह उन्हीं संस्कारों से क्यों नहीं प्राप्त हो जाता ? किन्तु यह कहना भी युक्ति-विरुद्ध है। उत्तम मणि या मोती आदि में जो काल-वश या अपवित्र वस्तुओं के सम्बन्ध से मलिनता आ गई हो वही उनके संस्कार से दूर की जा सकती है। शुद्ध पत्थर को संस्कार से मणि नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार द्विजों के कुल में उत्पन्न मनुष्यों में जो बीज गर्भ के कारण कुछ मलिनता है—वही संस्कारों द्वारा हटाई जाती है। संस्कार द्वारा अन्य वर्ण को अन्य रूप में ले जाना कभी नहीं हो सकता।

यह भी स्मरण रहे कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—ये तीनों शब्द अपत्य प्रत्यय से ही सिद्ध होते हैं। ब्रह्म, क्षत्र विश शब्द भी वर्णों के वाचक मिलते हैं और इन शब्दों से अपत्यार्थक प्रत्यय होकर बने हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य शब्द भी इन्हीं वर्णों



के बोधक ग्रन्थों में देखे जाते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अपने सदृश वर्ण में ही उत्पन्न अपत्यों का उस वर्ण में प्रवेश माना जाता है। अपत्य-प्रत्यार्थक शब्दों से जन्मसिद्ध वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण समर्थन हो जाता है और ब्राह्मण शब्द के विषय में तो स्पष्ट पाणिनि मुनि का सूत्र है कि “ब्राह्मोऽजातौ” अर्थात् “ब्रह्मन्” शब्द से अपत्यार्थक प्रत्यय होकर भी ब्राह्मण शब्द जाति अर्थ में सिद्ध होता है। जाति से भिन्न और कोई अर्थ जहाँ विवक्षित हो वहाँ “ब्राह्म” शब्द का ही प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था का मुख्य कारण जन्म ही है—यह बात सब प्रमाणों और युक्तियों द्वारा सिद्ध की गई। संस्कृत में भी हमने एक “चातुर्वर्ण्य नाम का लघु-निबन्ध लिखा है—जिसमें अन्यान्य सब वचनों की संगति लगाई गई है। जिन्हें अधिक जिज्ञासा हो वे उस निबन्ध का भी अवलोकन करें।



## पैसठवां पुष्प

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१४॥१५॥

पूर्व पद्य में जो कहा गया कि चारों वर्णों का बनाने वाला होकर भी मैं अकर्ता ही हूँ। इसी का स्पष्टीकरण करते हैं कि मुझ पर किन्हीं कर्मों का लेप नहीं होता। इसका कारण दूसरे चरण में बताते हैं कि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा अर्थात् इच्छा नहीं होती। इसका विवरण पूर्व भी हो चुका है कि कर्म स्वयं आत्मा पर लेप करने वाला वा आत्मा का बन्धन करने वाला नहीं है, अपितु मनुष्य की बुद्धि में जो राग-द्वेष होते हैं वे ही बुद्धि पर लेप करने वाले या आत्मा का बन्धन करने वाले हैं। राग-द्वेष की प्रेरणा से जो कर्म किये जाते हैं वे ही बांधने वाले होते हैं। राग वा द्वेष मनुष्य के फल के प्रति ही हुआ करते हैं। सामान्य मनुष्यों की प्रवृत्ति का विवरण पूर्व किया जा चुका है कि पहिले मनुष्य को फल की इच्छा होती है। फल की इच्छा से फिर उपाय की इच्छा होती है। उससे प्रयत्न होकर शरीर चेष्टा रूप कर्म हुआ करते हैं। यह साधारण मनुष्यों का क्रम ईश्वर पर लागू नहीं है। क्योंकि ईश्वर को न फल की इच्छा होती है, न उनके फल में राग-द्वेष है। तब ईश्वर के जो कर्म होते हैं वे राग-द्वेष की प्रेरणा से नहीं होते, अपितु सामान्य रूप से सब मनुष्यों को लाभ पहुँचाने के लिये ही हुआ करते हैं। जैसा कि सूर्य भगवान् जो ताप या प्रकाश देते हैं; वे किसी के राग या द्वेष से नहीं देते, अपितु सर्व साधारण के उपकार के लिये ही उनकी उष्णता या प्रकाश होते हैं। यही कारण है कि उनकी उष्णता या प्रकाश किसी के प्रति न्यूनाधिक नहीं होता अपितु सबको बराबर मिलता है।

कई व्याख्याकार इसका सम्बन्ध -

“वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्”

इस ब्रह्म सूत्र के साथ जोड़ते हैं। उस ब्रह्म सूत्र का अर्थ है कि भगवान् किसी प्राणी को सुख देते हैं और किसी को दुःख देते हैं; इससे उनमें विषमता अर्थात् भेद-भाव प्राप्त होगा और बहुत से प्राणियों को दुःख देने के कारण ईश्वर में निर्दयता भी प्राप्त होगी। इसका उत्तर उस सूत्र में दिया गया है कि ईश्वर प्राणियों को अपने-अपने कर्मानुसार फल देता है, इसलिये उसमें कोई विषमता वा निर्दयता का प्रसङ्ग ही नहीं होता। लोक

में भी कोई राजा या उसका नियुक्त किया हुआ जज किसी अपराधी को उसके कर्मानुसार क्रूर भी दण्ड दे तो वह निर्दय नहीं कहा जाता, क्योंकि अपराधी को दण्ड उसके कर्मानुसार मिलना ही चाहिये। यदि अपराधी भी दण्ड न पावेंगे तो संसार में अपराधियों की संख्या बहुत बढ़ जायेगी। इसी प्रकार यदि ईश्वर भी प्राणियों को अपने कर्मों का फल न दे तो पाप करने वालों की संख्या बहुत बढ़ जाय और संसार का चलना कठिन हो जाय। इसी बात का सम्बन्ध वे व्याख्याकार इस श्लोक से भी लगाते हैं कि मैं फलेच्छा से या राग-द्वेष से किसी प्राणी को सुख-दुःख नहीं देता, इसलिये उन कर्मों का लेप भी मुझ पर नहीं होता। मैं तो जैसे को तैसा फल दे देता हूँ।

किन्तु इस प्रकार की व्याख्या से इस पद्य का अर्थ संकुचित हो जाता है। ईश्वर का कार्य केवल जीवों को फल देना ही नहीं है, किन्तु जगत् का निर्माण जगत् का पालन और समय पर संहार ये सभी ईश्वर के कार्य हैं। सभी के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि मुझ पर इन कर्मों का कोई भी लेप नहीं होता; इसलिए इस पद्य की व्यापक रूप में ही पूर्वोक्त क्रम से व्याख्या करना उचित है कि कर्म फल की इच्छा न रहने के कारण ही कर्मों का फल मुझे नहीं होता। इस विषय में जैन दर्शन का सिद्धान्त भी हम पूर्व में दिखा चुके हैं कि उस दर्शन में “आस्रव” नाम का एक पदार्थ माना जाता है, वह राग-द्वेष रूप ही है। वह ही कर्मों को आत्मा पर लादता है और उसके विरुद्ध एक “संवर” नाम का तत्त्व है, वह आत्मा के कर्म सम्बन्ध को रोकता है।

हमारे वैदिक दर्शनों में इस प्रकार के कोई तत्त्व तो नहीं माने गये, किन्तु सिद्धान्त का तो समर्थन अवश्य मिलता है। विशेष कर भगवद्गीता में तो यह बार-बार स्पष्ट किया गया है कि फल के प्रति राग-द्वेष होने से ही आत्मा बन्धन में आता है। यदि फल की इच्छा ही न हो तो कर्म करते रहने पर भी न आत्मा में उनका लेप होता है न वे कर्म आत्मा के बन्धक होते हैं। धर्म शास्त्रों में भी ऐसे वचन मिलते हैं कि -

“क्रियमाणोपकारे तु हते विप्रे न पातकम्”

अर्थात् चिकित्सा आदि उपकार करते-करते ब्राह्मण आदि की मृत्यु हो जाय तो चिकित्सक को कोई पातक नहीं लगता। इससे भी बुद्धि की ही प्रधानता सिद्ध होती है कि बुद्धि में द्वेष हो तभी पातक होता है। हित बुद्धि से उपकार किया जा रहा हो तो पातक नहीं होता। इस विषय को इस प्रकार भी समझा जा सकता कि जो प्रातिस्विक रूप से प्रत्येक कर्म करता है वही उस कर्म का भोक्ता होता है। सामान्य रूप से कर्म करने वाले पर उन कर्मों के फल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसा कि मेघ सब बीजों को अङ्कुरादि रूप से परिणत करने में साधारण कारण है। वर्षा होने पर सब बीज

अपने-अपने अङ्कुरों के रूप में उग जाते हैं। मेघ का उनसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता, इसी प्रकार सामान्य कारणों पर कार्य का कोई लेप वा प्रभाव नहीं है। अपने-अपने प्रातिस्विक कर्मों का ही लेप वा प्रभाव मनुष्यादि प्राणियों पर होता है। वे प्रातिस्विक कर्म प्रायः राग-द्वेष आदि की प्रेरणा से ही होते हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कर्मों के लेप में राग-द्वेष आदि ही मुख्य कारण हैं।

पद्य के उत्तरार्द्ध में यह बताया गया है कि मुझ परमात्मा को जो इस प्रकार जान लेता है वह भी कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता। परमात्मज्ञान कर्मबन्धन से मुक्त कराने वाला है, यह सभी शास्त्र मानते हैं और यह भी आशय है कि परमात्मा निर्लिप्त भाव से कर्म करता है। इस प्रक्रिया को समझने वाला स्वयं भी उसी प्रकार कर्म करने का अभ्यास करता है और इस प्रकार कर्म करने पर वह भी कर्मबन्धन से अवश्य मुक्त हो जायगा (१४)

पूर्वोक्त जनक आदि के दृष्टान्त का पुनः स्मरण कराते हैं कि पूर्व में जनकादि राजर्षि भी मोक्ष की इच्छा से इसी प्रकार जानकर अनादि परम्परा से कर्म करते रहे हैं। उन्हीं के मार्ग पर चलते हुए तुम भी कर्म ही करते रहो।

धर्मशास्त्रों में धर्म के चार लक्षण बताये हैं -

**वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।**

**एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥**

यहाँ लक्षण शब्द का अर्थ है ज्ञान कराने वाला। धर्म का ज्ञान इन चार प्रकारों से ही होता है। सबसे मुख्य धर्म जानने का प्रमाण श्रुति है। वह सबसे प्रबल होती है। उससे विरुद्ध होने पर कोई भी प्रमाण नहीं माना जाता। जिस विषय में श्रुति ने कुछ भी नहीं कहा है या संक्षिप्त रूप से कोई आज्ञा दी है उस विषय में स्मृति भी प्रमाण होती है। श्रुति की संक्षिप्त उक्ति का विस्तार स्मृतियों से ही समझा जाता है और कई विषय जिनका विधि वा निषेध श्रुति में कुछ भी न हुआ हो, उनके विषय में स्मृति की आज्ञा भी सर्वथा माननीय है किन्तु श्रुति से विरुद्ध होने पर स्मृति सर्वथा अप्रमाण मानी जाती है। तीसरा धर्म में प्रमाण सदाचार है। जहाँ श्रुति और स्मृति दोनों मौन हैं; वहाँ श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण देखकर ही धर्म का निर्णय किया जाता है। श्रुति और स्मृति से विरुद्ध होने पर सदाचार सर्वथा अप्रमाण हो जाता है। शास्त्र की मर्यादा ऐसी ही है। किन्तु महाभारत में युधिष्ठिर आदि ने कई जगह सदाचार को ही सबसे मुख्य कहा है - उनका आशय यही है कि श्रुति स्मृति का आशय समझना सर्व साधारण के लिए बहुत कठिन होता है। इसलिए सर्व साधारण के लिए यही सुगम मार्ग है कि वे श्रेष्ठ पुरुषों को जैसा आचरण करते देखें; वैसा ही आचरण अपने आप भी करें।

इसीलिए सदाचार रूप प्रमाण को सर्वोपयोगी होने के कारण सर्वश्रेष्ठ प्रमाण कहा गया है और जो सदाचार श्रुति वा स्मृति के विरुद्ध न हो प्रत्युत अनुकूल हो उसे तो मुख्य प्रमाण मानने में कोई सन्देह ही नहीं हो सकता।

इसीलिए यहाँ बार-बार सदाचार की ओर भगवान् ध्यान दिलाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि जहाँ श्रुति-स्मृति आदि की व्याख्या में सन्देह हो, या श्रुति-स्मृति में जहाँ विकल्प बताया हो, वहाँ भी सदाचार से ही निर्णय करना आवश्यक होता है। यहाँ भी ऐसी ही बात है कि मुमुक्षु दशा में या ज्ञान की परिपक्व दशा में; संन्यास और कर्मयोग का विकल्प ही श्रुति आदि में प्राप्त होता है; जैसा कि तृतीयाध्याय के आरम्भ में ही भगवान् ने कहा है कि दोनों प्रकार की निष्ठा मैंने बताई है। तब शास्त्रों में विकल्प होने से सदाचार की ही शरण लेना आवश्यक हो गया। यद्यपि यहाँ सदाचार में भी दोनों मार्ग देखे जाते हैं। शुकदेव आदि कर्म परित्याग के आदर्श भी मिलते हैं और जनक आदि कर्मयोग के भी। इस दशा में सदाचार से भी विकल्प ही प्राप्त होगा। किन्तु अर्जुन क्षत्रिय है, इसलिये उसे राजर्षि जनक आदि के ही सदाचार का अनुसरण करना चाहिये। यह भगवान् का आशय प्रतीत होता है।

व्याख्याकार भी प्रायः ऐसा ही लिखते हैं कि तुम यदि अभी तत्त्ववेत्ता नहीं हुए तो ज्ञान की परिपक्वता के लिये कर्म करते रहो और यदि अपने को पूर्ण तत्त्ववेत्ता मानते हो तो लोकसंग्रहार्थ कर्म करते रहो। दोनों ही दशा में कर्म करना सदाचार के अनुसार तुम्हें आवश्यक है। यह हुई कर्म सामान्य की बात, अब प्रकृत में जो युद्ध रूप कर्म के लिये अर्जुन को प्रेरणा की जाती है, उस विषय में भी शास्त्र वचनों से सन्देह प्राप्त होता है। शास्त्रों में ऐसी भी आज्ञा है कि गुरु, ब्राह्मण आदि को किसी दशा में भी नहीं मारना चाहिये और यह भी वचन मिलता है कि—

“गुरुं वा ब्राह्मणं वापि आचार्यं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥”

अर्थात् गुरु हो, ब्राह्मण हो वा आचार्य आदि कोई भी हो, यदि वह अपने को मारने के लिये आया हो तो उसे मार ही देना चाहिये। उसमें कोई हिंसा आदि का विचार नहीं करना चाहिये। इस दशा में शास्त्र से सन्देह ही रहता है कि प्रकृत में कौन-सा वचन माना जाय। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वचन में “अपि” शब्द आ जाने से मीमांसा की दृष्टि से उसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है, अपितु आततायी अर्थात् वध के लिये उद्यत को अवश्य मारना इस पर ही बल है। इसलिये यह वचन आचार्य-गुरु आदि के अतिरिक्त स्थल में भी चरितार्थ हो सकता है।

इस प्रकार शास्त्र के वचनों में सन्देह ही रह जाता है। इसलिये भी सदाचार

की ओर बार-बार ध्यान दिलाना भगवान् को उचित प्रतीत होता है। क्षत्रियों का सदाचार ऐसा ही रहा है कि उन्होंने अवसर पड़ने पर गुरु आदि से भी युद्ध किया। जैसा कि इसी युद्ध में उपस्थित आचार के आदर्श भूत भीष्म भी अपने गुरु परशुराम से युद्ध कर चुके हैं, इत्यादि विषयों का संकेत इस पद्य में समझ लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त मनुस्मृति के पद्य में चौथा धर्म का लक्षण एक और शेष रह जाता है कि जो अपने आत्मा को प्रिय हो; उसे भी धर्म मानना चाहिये। इसे धर्म लक्षणों में सबके अन्त में कहा गया है और उस पद्य में पूर्व-पूर्व कहे हुए प्रमाण को प्रबल माना जाता है। इस प्रकार से यह सबसे दुर्बल सिद्ध होता है। इसका प्रसङ्ग कहीं ऐसे ही अवसर पर आ सकता है कि जहाँ वेद, स्मृति, सदाचार, इन तीनों से कोई निर्णय न होता हो। जैसा कि कवि कुल गुरु कालिदास कृत “अभिज्ञानशाकुन्तलनाटक” में जब दुष्यन्त ने प्रथमतः शकुन्तला को देखा और उसके मन में यह शङ्का हुई कि यह ब्राह्मण कन्या हो तो मेरा इससे अनुराग अधर्म होगा। वहाँ उसके मन में यह विचार आया कि —

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

अर्थात् यह शकुन्तला अवश्य ही क्षत्रिय के विवाह योग्य है, क्योंकि मेरे धर्मशील मन में इसकी अभिलाषा हुई है। सत् पुरुषों को सन्देह स्थल में अपनी चित्त वृत्ति को ही प्रमाण मानना आवश्यक होता है। यहाँ “सतां” पद आया है और पूर्वोक्त स्मृति के पद्य में भी “आत्मनः प्रियम्” लिखा है। इसका आशय है कि आत्मा सदा ही धार्मिक कार्यों का पक्ष पाती है। जब कोई मनुष्य प्रथम बार किसी मद्य की दुकान पर या वेश्या गृह में जाने को प्रवृत्त होता है, तो भीतर से उसे रोकने की प्रवृत्ति का अनुभव होता है। पैर थराने लगते हैं। बार-बार मन में आता है कि मुझे नहीं जाना चाहिये। आगे जब वह हठपूर्वक दुराचार में प्रवृत्त हो ही गया तो फिर आत्मा की रोकने की प्रवृत्ति भी दब जाती है। यही दुष्यन्त के “आर्य मे मनः” पदों से सूचित हुआ है कि मेरा मन इस प्रकार दुराचारों की प्रवृत्ति से दूषित नहीं हुआ है। इसलिये वह प्रमाण रूप से ग्रहण करने योग्य है। इसका विवरण हम भूमिका प्रकरण में पाश्चात्यों के माने हुए मनोदेवता की आलोचना में कर चुके हैं। विशेष जिज्ञासा के लिये उसी प्रकरण को देखना चाहिये (१५)



## छाछठवां-पुष्प

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

इन तीनों पद्यों पर व्याख्याकारों के बहुत मतभेद हैं और कई व्याख्याकारों ने बहुत विस्तार से व्याख्याएँ लिखी हैं। इनका अक्षरार्थ यह है कि कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है ? इस विषय में कवि अर्थात् बहुत बड़े-बड़े विद्वानों को मोह हो जाता है। मैं उस कर्म और अकर्म का तत्त्व तुम्हें खोलकर बता देता हूँ। जिसे जानकर तुम अशुभ अर्थात् पाप से वा पाप युक्त संसार से मुक्त हो जाओगे (१६)

कर्म का भी तत्त्व जानने योग्य है और विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म का भी तत्त्व जानने योग्य है एवं अकर्म अर्थात् कर्म के अभाव का भी तत्त्व जानने के योग्य है। कर्म की गति अर्थात् ज्ञान बहुत गहन अर्थात् गम्भीर है (१७)

जो कर्म में अकर्म देखे और अकर्म में कर्म देखे, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् कहलाने योग्य है, वही सच्चा कर्मयोगी है और उसे उन्हीं सब कर्मों का करने वाला समझना चाहिये। अर्थात् सब कर्मों का फल उसे प्राप्त हो जाता है (१८)

यहाँ प्रथम पद्य में “कर्म” और “अकर्म” दो का ही उल्लेख है। किन्तु दूसरे पद्य में “विकर्म” नाम से तीसरा प्रतिषिद्ध कर्म और सम्मिलित कर दिया है। प्रकरण संगति के लिए प्रथम पद्य में जो “अकर्म” पद आया है उसमें नञ् समास है; उस नञ् के अभाव और अप्रशस्तता ये दोनों अर्थ कर लेना उचित होगा। इससे पद्यों का यह अभिप्राय निकलता है कि जिसे स्थूल दृष्टि से शुभ कर्म समझा जाता है, उसमें भी जो सूक्ष्म दृष्टि से विरुद्ध कर्म या कर्म का अभाव देखता है और विरुद्ध कर्म या कर्म के अभाव में भी जो कर्म देखता है वह बुद्धिमान् है इत्यादि रूप से प्रशंसा की गई है।

आदि के दो पद्य तो तीसरे पद्य के भूमिका रूप ही हैं, उनमें तो कोई मतभेद का स्थान नहीं, किन्तु तीसरे पद्य के तात्पर्यार्थ में बहुत मतभेद हैं।

श्रीशङ्कराचार्य इसका यह तात्पर्य बतलाते हैं कि देह, इन्द्रिय आदि का कर्म जिस समय हो रहा हो उस समय भी आत्मा में कोई कर्म नहीं है। वह सदा ही निर्लिप्त अकर्ता है, इस बात को जो विचारता रहता है और स्थूल दृष्टि से जिस समय देह, इन्द्रिय आदि में कोई कर्म नहीं है अर्थात् वे चुपचाप हैं, उस समय भी उनमें कर्म है क्योंकि प्रवृत्ति की तरह निवृत्ति भी कर्म ही है। अर्थात् कर्म को रोकना भी एक कर्म ही है। पहले तीसरे अध्याय के पाँचवे श्लोक में कह आये हैं कि प्रकृति के गुण सदा क्रियाशील हैं। वे अपने बनाये हुए देह, इन्द्रिय आदि से भी सदा कर्म कराते रहते हैं। उस स्वाभाविक कर्म को रोकने के लिए भी प्रयत्न की आवश्यकता होगी। इस प्रकार चुपचाप बैठे रहने के समय भी कर्म को प्रयत्नपूर्वक रोकना भी कर्म हो गया।

जिस प्रकार नाव या रेलगाड़ी में दौड़ता हुआ मनुष्य अपने आस-पास के वृक्ष आदि में गति न होने पर भी गति देखता है और दूर से दिखाई देने वाले, चलते हुए, मनुष्यों को भी स्थिर रूप सा देखता है, उसमें गति का भान नहीं होता। इसी प्रकार सब प्राणियों के सदा स्थिर आत्मा में मैं ही चलता हूँ, मैं अमुक व्यवहार करता हूँ, इत्यादि रूप से गति की भ्रान्ति हो रही है और चुपचाप बैठने की दशा में देह आदि में गति रहने पर भी चुपचाप पन की भ्रान्ति हो रही है। उसी भ्रान्ति के निवारण के लिए भगवान् ने यह उपदेश दिया है कि आत्मा को सदा अक्रिय समझना चाहिये और प्राकृतिक देह आदि को सदा क्रियाशील ही समझना चाहिये। ऐसा यथार्थ ज्ञान होने पर ही अशुभसंसार से मोक्ष होगा और तभी यथार्थ द्रष्टा मनुष्य बुद्धिमान् कहा जायेगा और सब उत्तम कर्म करने का फल-चित्त शुद्धि रूप भी उसे प्राप्त होगा।

हम आरम्भ में कह आये हैं कि वर्तमान में श्रीशङ्कराचार्य से पुरानी कोई गीता की व्याख्या उपलब्ध नहीं है, किन्तु श्रीशङ्कराचार्य ने कई जगह अपने से पुराने व्याख्याताओं का खण्डन किया है। इससे विदित होता है कि उनसे प्राचीन भी गीता की व्याख्यायें थीं। यही बात इस पद्य की व्याख्या में भी हुई है। श्रीशङ्कराचार्य ने अपने से प्राचीन व्याख्याताओं का यह मत उद्धृत किया है कि वे इस पद्य का ऐसा आशय मानते थे कि नित्य-नैमित्तिक कर्मों में जो अकर्म देखता है, अर्थात् नित्य-नैमित्तिक कर्मों का कोई फल नहीं होता, इस कारण निष्फल होने से उसे अकर्म ही समझना चाहिये और नित्य नैमित्तिक कर्मों का न करना जो अकर्म है उस पाप का उत्पादक होने के कारण कर्म ही समझना चाहिये। इस प्रकार समझने वाला मनुष्य ही बुद्धिमान् कहा गया है। इस प्राचीन मत का खण्डन वे इस प्रकार करते हैं कि नित्य-नैमित्तिक कर्म भी तो प्रयत्न जन्य होने से कर्म ही हैं, उन्हें अकर्म समझना तो भ्रान्तिरूप अन्यथा ज्ञान होगा। फिर भ्रान्ति वाला मनुष्य बुद्धिमान् कैसे कहा गया और उसका अशुभ संसार से मोक्ष कैसे बताया गया। अन्यत्र कहीं भी शास्त्र में ऐसा विधान भी नहीं है



कि नित्य नैमित्तिक कर्मों को अकर्म ही समझो। वे सर्वथा निष्फल हैं; यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्म वा ग्रहण-स्नान आदि नैमित्तिक कर्म न करने से जो पाप होता, उसका निवारण करना ही उनका फल है। फिर उन्हें अकर्म कैसे कहा जाय ? इसी प्रकार उन नित्य-नैमित्तिक न करने से जो पापोत्पत्ति मानी जाती है; वह भी ठीक नहीं, क्योंकि अभाव से भाव उत्पन्न होने का श्रुतियों ने सर्वथा निषेध किया है। जहाँ स्मृतियों में नित्य नैमित्तिक न करने से पाप बताया गया है, उसका आशय यही है कि सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य कर्म के समय जो दूसरा कोई काम (क्रीड़ा, स्वाप आदि) किया जायगा, वही कर्म पाप का उत्पादक होगा, इसलिये कर्म ही पापजनक है, कर्म का अभाव पापजनक नहीं।

श्रीरामानुजाचार्य अकर्म का अर्थ ज्ञान करते हैं और इस पद्य से ज्ञान और कर्म का समुच्चय अर्थात् सहयोग निकालते हैं कि कर्म करने की दशा में भी जो अकर्म अर्थात् ज्ञान का अनुसन्धान करता रहता है और अकर्म अर्थात् ज्ञान के समय भी जो कर्म करता रहता है वही बुद्धिमान् है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से उनके आसनासीन किन्हीं वल्लभाचार्य की जो व्याख्या मुद्रित है उसमें वे लिखते हैं कि कर्म में अर्थात् कर्म की सामग्री आदि सब में जो अकर्म अर्थात् ब्रह्म को देखता है, जैसा कि आगे -

**“ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः”**

इत्यादि पद्य में कहेंगे और अकर्म शब्द से प्रतिषिद्ध कर्म कहा गया, वा अनधिकारी का कर्म छोड़ देना भी अकर्म कहा जा सकता है उन दोनों अकर्मों में बन्धन अर्थात् पापजनक होने के कारण जो कर्म देखता है; वही बुद्धिमान् है।

श्रीवल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम जी कहते हैं कि पुष्टि मार्ग में भगवदाज्ञा से किया जाने वाला कर्म ही यहाँ कर्म शब्द से विवक्षित है, वह किसी प्रकार बन्धक नहीं हो सकता, इस कारण उसे जो अकर्म समझता है और लौकिक दृष्टि से न करने योग्य समझे जाने वाले अकर्म को भी भगवदाज्ञा सिद्ध होने पर जो कर्म अर्थात् कर्तव्य समझ लेता है; वही बुद्धिमान् है।

इससे अर्जुन को यह संकेत किया कि जिस युद्ध को तुम न करने योग्य मान रहे हो उसे भी मेरी आज्ञा समझकर कर्तव्य मानोगे तो बुद्धिमान गिने जाओगे और सब सत्कर्मों के फल को प्राप्त कर लोगे।

श्रीनीलकण्ठजी ने प्रथमतः शाङ्करभाष्य के अनुसार ही श्लोकार्थ किया और अन्य एक दो व्याख्याताओं का खण्डन भी किया, किन्तु आगे “वस्तुतस्तु” कहकर

विस्तार से कई प्रकार से श्लोक का अर्थ दिखाया। उनमें से भी मुख्य पक्ष यहाँ दिखा दिया जाता है—

कर्म शब्द से कर्म, विकर्म, अकर्म तीनों लिये जाते हैं, उनमें अकर्म अर्थात् विरुद्ध दर्शन जो पुरुष करता है, जैसे कि यज्ञ यद्यपि विहित कर्म है, तथापि यदि वह श्रद्धाहीन पुरुष के द्वारा किया जाय तो व्यर्थ होने के कारण अकर्म कहा जायेगा। दम्भ अर्थात् ढोंग से यदि किया जाय तो वही पापजनक होने के कारण विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म कहा जायेगा। ढोंग से किये जाने वाले यज्ञादि भी पापजनक होते हैं, यह अन्यत्र महाभारतादि वचनों से स्पष्ट है। वचन नीलकण्ठी टीका में उद्धृत है, इसी प्रकार चुपचाप बैठना, कुछ न करना जो लोक दृष्टि से अकर्म कहलाने योग्य है, वह भी यदि अपने सामने गो-ब्राह्मण आदि की हत्या हो रही हो और स्वयं उनके बचाने में समर्थ होने पर भी चुपचाप रहे तो वह अकर्म पापजनक होने के कारण विकर्म रूप ही उचित दृष्टि से कहा जायगा और —

**“दीक्षितो न ददाति”**

यज्ञ दीक्षा जिसने ग्रहण कर ली है उसे दक्षिणा दान के पहले अन्य दान नहीं करना चाहिये अथवा जैसा गीता के अन्त में —

**“सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज”**

इत्यादि वाक्य से भगवान् की शरणागति को मुख्य माना गया है, ऐसे स्थलों में चुपचाप रहना ही धर्मजनक होने से सत्कर्म कहलाने योग्य हो जाता है।

ऐसे ही प्राणी की हिंसा यद्यपि स्वरूपतः विकर्म ही कही जा सकती है, किन्तु यज्ञ में किया हुआ पशु का आलम्बन सत्कर्म रूप हो जाता है एवं —

**बहूनां भवति क्षेमस्तस्य पुण्यप्रदो वधः।**

जहाँ एक इष्टकर्म करने वाले हिंसक पशु आदि को मारने से बहुतों की रक्षा होती हो; उसका मारना भी पुण्य जनक है। ऐसे स्थल में भी हिंसा सत्कर्म रूप हो जाती है। महाभारत कर्ण पर्व में जहाँ अर्जुन अपने गाण्डीव धनुष की निन्दा सुनकर युधिष्ठिर को मारने के लिए प्रस्तुत हुआ है, वहाँ भगवान् ने ऐसे ही दृष्टान्त बताकर उसका प्रबोध किया है कि जहाँ पाप रूप कर्म भी धर्म हो गये हैं और धर्म भी अधर्म रूप में परिणत हो गये हैं। यही हिंसा रूप कर्म बिना इच्छा से किसी कीट-पतङ्ग आदि का वध हो जाने पर अकर्म रूप कहा जायेगा। इसी प्रकार कोई चिकित्सक गो, ब्राह्मण आदि की चिकित्सा (ऑपरेशन से) कर रहा हो और उसकी अच्छी इच्छा रहने

पर भी अकस्मात् उसकी मृत्यु हो जाय तो वह पुण्य-पाप की उत्पादिका न होने से अकर्म ही कहा जायेगा। जैसा कि धर्मशास्त्रों में स्पष्ट वचन है कि—

**“क्रियमाणोपकारे तु हते विप्रे न पातकम्”**

(अर्थात् उपकार करते करते भी किसी ब्राह्मण की मृत्यु हो जाय, तो उससे कोई पातक नहीं होता)

**एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते दुष्टकारिणि।**

इस प्रकार कर्म, विकर्म, अकर्म तीनों को यथार्थ दृष्टि से लोक विपरीत भाव देखने वाले को ही भगवान् ने बुद्धिमान् और सब कर्मों का यथार्थ रूप से करने वाला कहा है। यह श्रीनीलकण्ठजी की व्याख्या व्यापक रूप होने के कारण युक्तियुक्त प्रतीत होती है। इसके आगे जो उन्होंने कई अन्य पक्ष भी लिखे हैं वे जटिल और प्रकृत विषय में अनुपयुक्त से ही प्रतीत होते हैं। अतः उनका विवरण यहाँ नहीं दिया जाता।

श्रीमधुसूदनसरस्वती एक व्याख्या तो श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार ही करते हैं। किन्तु दूसरी ज्ञान पक्ष की व्याख्या भी करते हैं। उसकी उत्पत्ति यही बताते हैं कि यहाँ भगवान् ने इस कर्म तत्त्व को जानकर “अशुभ” अर्थात् संसार से मुक्त हो जाना फल स्वरूप बताया है और संसार से मोक्ष बिना ज्ञान से हो नहीं सकता। श्रुति में स्पष्ट घोषणा है कि —

**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विधत्तेऽयनाय।**

अर्थात् परमात्मा को जानकर ही मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण रूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है और कोई मार्ग नहीं है। अशुभ संसार से मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान का उपदेश ही करना भगवान् को उचित था। वह भी इस पद्य में सूचित किया है कि कर्म अर्थात् कर्मजनित दृश्य संसार में जो कर्म रहित परमात्मा को देखे और अकर्म अर्थात् परमात्मा में कर्मभूत दृश्य जगत् को देखे—यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा में ही आरोपित है; परमात्मा से अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं, इस प्रकार जो देखे वह बुद्धिमान् है, योग युक्त है अर्थात् एकाग्रचित्त वाला है और सब कर्मों का फल चित्त शुद्धि उसकी हो चुकी; इस अभिप्राय से वह सब कर्मों का करने वाला भी कहा गया। यह ज्ञान परक व्याख्या यद्यपि प्रकरण के अनुसार उपयोगी प्रतीत नहीं होती, क्योंकि यहाँ उपक्रम में करने का ही उपदेश है और आगे भी “यस्य सर्वे सभारम्भाः” इत्यादि पद्यों में कर्म करने का ही प्रकरण पाया जाता है, तथापि यह अभिप्राय लगाया जा सकता है कि संसार में ब्रह्म दृष्टि रख कर ही कर्म करना चाहिये; तभी आसक्ति भी दूर होगी। यह अभिप्राय आगे “ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः” इत्यादि पद्य में स्पष्ट किया जायेगा।

इसलिए यह व्याख्या भी सर्वथा प्रकरण विरुद्ध नहीं कही जा सकती। अतएव श्रीनीलकण्ठजी ने पहले इस व्याख्या को प्रकरण विरुद्ध बताकर भी आगे यद्वा पक्ष से शब्दान्तरों से इस व्याख्या को भी दोहरा दिया है।

श्रीशङ्करानन्दजी ने भी इसी विषय को बहुत विस्तार से प्रपञ्चित किया है और “कृत्स्न कर्मकृत्” इस पद का “सब कर्मों को छेदन करने वाला” यह अर्थ विशेष रूप से किया है।

श्रीधरस्वामी पद्य का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि ईश्वराराधन रूप कर्म में जो अकर्म देखता है अर्थात् वह कर्म किसी दशा में बन्धक नहीं हो सकता, इसलिये उसे अकर्म ही समझना चाहिये और अकर्म अर्थात् नित्य, नैमित्तिक कर्मों को भी छोड़ने में जो कर्म देखता है अर्थात् उसे बन्धक समझता है; वह बुद्धिमान् है।

दूसरी व्याख्या यह भी करते हैं कि देहेन्द्रिय आदि में कर्म होते रहने पर भी आत्मा में जो उसका अभाव देखता है और क्लेश देने वाला समझ कर जो कर्म छोड़ देता है, उस अकर्म में जो कर्म अर्थात् मोक्ष प्रतिबन्धकता देखता है वही बुद्धिमान् है।

लोकमान्य तिलक प्रकरणोपयोगी कर्मयोग के अनुसार ही इसका अर्थ करते हैं कि आसक्ति और फलाशा छोड़कर जो कर्म किये जाते हैं, वे बन्धक नहीं होते, जैसा कि गीता में बार-बार भगवान् समझा रहे हैं। इसे बन्धक न होने के कारण ही कर्मयोगी के कर्मों को जो अकर्म ही समझता है और सर्वथा कर्म त्याग तो मनुष्य से हो नहीं सकता, यह भी गीता में बार-बार कहा है, तब जो हठपूर्वक कर्मों को छोड़ देता है, ऐसे अकर्म में भी जो कर्म देखता है, अर्थात् वह कर्म छोड़ना कई जगह बन्धन का कारण हो जाता है; जैसे कि अपने समक्ष ही कोई अपने माता-पिता वा गुरु को मारता रहे और उस समय समर्थ होता हुआ भी यदि कोई मनुष्य चुपचाप रहे तो वह अकर्म उसके लिए अवश्य बन्धक होगा। इसे ही अद्वारहवें अध्याय में भगवान् ने तामस त्याग कहा है। वह तामस त्याग तो किसी किसी समय विकर्म भी हो जाता है और शरीर को क्लेशकर समझकर जो कर्म को छोड़ देता है, वह भी राजस त्याग है। वह अद्वारहवें अध्याय में बताया गया है। इसमें भी त्याग का फल प्राप्त नहीं होता। इसलिये इस त्याग दशा में भी जो शरीर, वाणी आदि से कुछ कर्म प्रकृति के अनुसार होते रहेंगे वे भी बन्धक होने के कारण कर्म ही कहे जायेंगे। इस दृष्टि से जो अकर्म में कर्म देखता है; वही बुद्धिमान् अर्थात् व्यवसायात्मक बुद्धि से युक्त है, और वही सब प्रकार के कर्मों का सच्चा अधिकारी है।

सात्त्विक त्याग भगवान् ने अद्वारहवें अध्याय में यह बताया है कि कर्तव्य

समझ कर कर्म तो करता रहे; किन्तु उसमें आसक्ति और फलाशा छोड़ दे। उस प्रकरण के साथ एक वाक्यता करके इस पद्य का उक्त अर्थ ही करना उचित है। इसमें लोकमान्य ने अन्यान्य ग्रन्थों के भी प्रमाण दिये हैं। प्रकरण के अनुसार यह व्याख्या उचित प्रतीत होती है।

श्रीमान् विद्यावाचस्पतिजी ने कर्म और अकर्म में कवियों को भी मोह बताने के कारण और मैं कर्म का तत्त्व बताता हूँ, इसे जानकर तुम अशुभ से मुक्त हो जाओगे इस प्रतिज्ञा के कारण इस प्रकरण को विशेष महत्व दिया है और दार्शनिक तत्त्व भी यहाँ सूचित किया गया—यह भी माना है। प्रकृत में उपयोगी तो वे इन श्लोकों पर यही शीर्षक देते हैं कि ज्ञान पूर्वक अर्थात् तत्त्व ज्ञान के साथ मिला हुआ जो कर्म है, वह बन्धक नहीं होता। किन्तु आगे कर्म और अकर्म शब्दों पर टिप्पणी करते हुए; वे कर्म के छः भेद बतलाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से ये छहों कर्म कर्म शब्दार्थ के अन्तर्गत हैं, वास्तव में ब्रह्म ही दो प्रकार से संसार में भासित हो रहा है। उन दोनों रूपों के नाम वैदिक परिभाषा में अमृत और मृत्यु हैं। इनको ही रस और बल शब्द से वा ज्ञान और कर्म शब्द से भी कहा जाता है। ये दोनों ही सदा सम्बद्ध रहते हैं। एक दूसरे से कभी वियुक्त नहीं होता। उनमें अमृत भाग में से मृत्यु भाग को पृथक् से प्रदर्शित करने का प्रयत्न पहला कर्म है। इसे क्रतु, कृति, यत्न, अध्यवसाय आदि शब्दों से भी कहा जाता है। न्याय दर्शन में इन्हें आत्मा का ही गुण कहा गया है और इनके द्वारा शरीर में चेष्टा होकर जो शरीर की क्रिया को अन्य किसी वस्तु पर आरोपित किया जाता है; वह दूसरा “क्षणकर्म” नाम से कहा जाता है। यह स्वाभाविक कर्म का अन्यथाभाव है। क्षण पद से क्षणिकता विवक्षित है। यद्यपि सभी कर्म क्षणिक होते हैं, किन्तु इस द्वितीय रूप में क्षणिकता स्पष्ट रूप से सबको प्रतीत होती है। शरीर के अवयव इन्द्रियों में जो बोलना देखना आदि क्रियायें होती हैं; वे तीसरे “भाव कर्म” नाम से कही जाती हैं। व्याकरण में भाव और क्रिया का भेद स्पष्ट निरूपित है, जिसके साधन भी क्रियावान् हो वह “क्रिया” कही जाती है और जिसके साधनों में स्पन्द अर्थात् हलचल न हो वह “भाव” कहा जाता है। यहाँ क्रिया को क्षण ‘शब्द’ से कहा है और शरीर में ही जो दोषमार्जन, अतिशयाधान नाम के संस्कार, वैदिक पद्धति में प्रसिद्ध हैं, वे संस्कार नाम से चौथे प्रकार के कर्म हैं। इनका फल भी शरीर पर ही होता है, यह इसकी विशेषता है। जो अव्यय पुरुष के विरुद्ध पाप रूप कर्म हैं, वे पांचवें प्रकार के कर्म समझने चाहिये। एक मनुष्य के द्वारा जो भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं; वे छठे प्रकार में अन्तर्गत हैं। इन्हें कर्म कारक शब्द से कहा जाता है। इनमें से पांच प्रकार सर्वथा त्याग करने योग्य हैं, क्योंकि वह अव्यय पुरुष रूप मुख्य आत्मा के विरोधी हैं और अन्य कर्मों में भी जो आत्मा के विरोधी सर्वथा त्याग करने योग्य

हैं ये ही गीता के प्रकृत श्लोकों में विकर्म कहे गये हैं। आगे तृतीय पद्य की व्याख्या वे वेदोक्ति के अनुसार इस प्रकार करते हैं कि अमृत अर्थात् कर्म से भिन्न रसभाग, मृत्यु अर्थात् कर्मभाग में प्रविष्ट हो रहा है और मृत्यु अर्थात् कर्मभाग, अमृत में प्रविष्ट है। दोनों परस्पर घुल-मिल हो रहे हैं। यही बात श्रुति में भी कही गई है कि -

“अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।

मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥”

अर्थात् मृत्यु अर्थात् बल के भीतर अमृत भाग प्रविष्ट है और मृत्युभाग में ही अमृत भाग आहित अर्थात् स्थापित है। रसभाग बल के भीतर और बाहर सब रूप से व्याप्त है। उत्तरार्द्ध में अमृत विवस्वान् शब्द से कहा गया है। उसका अर्थ है कि मृत्यु ने अमृतभाग को मानो पहिन रखा है। अर्थात् जैसे पहिनने का वस्त्र सब ओर से शरीर को ढँके रखता है; इसी प्रकार अमृत ने चारों ओर से मृत्यु को घेर रखा है और मृत्यु का आत्मा अर्थात् स्वरूप अमृत में प्रविष्ट रहता है। इससे दोनों को परस्पर सम्मिलित बताया। यही गीता में भी कहा गया है कि कर्म में अकर्म अनुप्रविष्ट है और अकर्म में कर्म। इस कर्म के अनुप्रवेश से ब्रह्म के तीन रूप हो जाते हैं कर्मसहित ब्रह्म को वेदान्त में “मायाशबलित ब्रह्म” वा विशिष्ट ब्रह्म कहा जाता है। उसके ही तीन रूप हैं—सत्ता, चेतना और आनन्द। मृत्यु में भीतर प्रविष्ट जो अमृत का भाग है; वही सत्ता है। मृत्यु की सत्ता स्वतन्त्र नहीं, अपितु अमृत भाग ही उसमें सत्ता रूप है। उसी से वह सत् कहलाती है। यह सत्ता रूप अमृत भाग मृत्युरूप पदार्थों के परिवर्तित होते रहने पर भी कभी परिवर्तित नहीं होता। जब तक लकड़ी रहे, तब तक लकड़ी की सत्ता है, जल जाने पर कोयले वा भस्म की सत्ता है, वह भस्म भी जल में मिला दी जाय तो कर्दम ‘कीचड़’ की सत्ता, “है” पद से कही जायगी और तो क्या कुछ भी दृश्य भाग न रहने पर भी “नहीं है” इन शब्दों से अभाव के साथ भी सत्ता का व्यवहार होगा। इस प्रकार सत्ता भाव-अभाव दोनों में अनुप्रविष्ट है। अमृत भाग में जब मृत्यु भाग, भीतर प्रविष्ट हो जाय तो चेतना कही जाती है। चेतना नाम ज्ञान का है और ज्ञान सदा विषय गर्भित ही रहता है। ज्ञान प्रकाश रूप है। विषय न हो तो वह प्रकाश किसका करे। इसमें भी मृत्यु भाग विषय सदा बदलते रहते हैं और प्रकाश रूप अमृत भाग कभी नहीं बदलता। यह विषय पञ्चदशी नाम के वेदान्त ग्रन्थ के आरम्भ में ही विस्तार से स्पष्ट किया गया है। यद्यपि अमृत के साथ मृत्यु सदा सम्मिलित है; किन्तु उसी सम्मिलित रूप में जो अमृत के भाग को सूक्ष्म दृष्टि से पृथक् कर देखे, वह भाग “आनन्द” कहा जाता है। यह भी पञ्चदशी में स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार कर्म अकर्म अर्थात् मृत्यु और अमृत को पृथक्-पृथक् देखने वाला ही गीता में बुद्धिमान् कहा गया है और सब कर्म-अमृत अर्थात् आत्मा पर ही आश्रित हैं। इसलिये उस पुरुष को 'कृत्स्न कर्मकृत्' भी कहा गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सत्ता और चेतना यद्यपि कर्म मिश्रित है तथापि उस प्रकार से उन्हें कर्म को हटाकर विशुद्ध रूप में देखना ही ब्रह्म दृष्टि है। उसी के प्राप्त होने पर मनुष्य बुद्धिमान् कहा जाता है और अशुभ संसार से मुक्त हो सकता है।

इस प्रकार इस पद्य पर भिन्न-भिन्न मुख्य व्याख्याताओं के मतों का सारांश हमने प्रदर्शित किया। प्रकृत में अर्जुन को समझाया यही गया है कि तुम जो अपना धर्म सिद्ध युद्ध छोड़कर निश्चल रूप से कर्म रहित अकर्मा बनना चाहते हो, उस अकर्म में सूक्ष्मता से कर्म देखो ओर यदि राग-द्वेष, आसक्ति फल आशाओं को छोड़कर अपना धर्म मानकर युद्ध करो तो वह बन्धक न होने के कारण अकर्म ही होगा, यह विषय सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ही तुम बुद्धिमान् अधिकारी होवोगे।



## सङ्गसठवां-पुष्प

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः ।  
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥  
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।  
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥  
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।  
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥  
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।  
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

पूर्वोक्त पद्यों का ही स्पष्टीकरण आगे के पद्यों में किया जाता है। पूर्व पद्य में कहा गया कि अकर्म में अर्थात् बिना अधिकार के भी सर्वथा कर्म परित्याग में जो कर्म देखता है वही बुद्धिमान् है। तब सच्चा और विदित अकर्म कौन-सा है जो उपादेय है, उसका विवरण करते हैं कि जिस पुरुष के सब आरम्भ अर्थात् कर्म काम और सङ्कल्प से रहित हैं, इसका आशय है कि जो अपने कर्मों में फल की कामना नहीं रखता और “अहं करोमि” मैं करता हूँ इस प्रकार का सङ्कल्प और इसका फल भी मुझे मिलेगा इस प्रकार के सङ्कल्प का भी जिसके हृदय में कभी उदय नहीं होता, उसके पूर्वार्जित कर्म भी ज्ञान रूप अग्नि से जल जाते हैं और विज्ञ लोग उसी को पंडित कहते हैं। यहाँ पूर्वोक्त आत्मा को अकर्ता समझना ही ज्ञान शब्द से लेना चाहिये। इस प्रकार के आत्मा के निर्लिप्त अकर्ता होने का ज्ञान ही आत्म ज्ञान हुआ। उससे सब कर्मों का जल जाना अन्यत्र भी भगवद्गीता में वर्णित है। यही सच्चा अकर्म है। श्रीरामानुजाचार्य अपने पूर्वोक्त पद्यार्थ के अनुसार इस पद्य का भी यह आशय बतलाते हैं कि जैसा पूर्व में कह आये हैं, कर्म में ज्ञान-स्वरूपता समझना कैसे यथार्थ ज्ञान होगा, इसका स्पष्टीकरण इस पद्य में किया जाता है कि काम और सङ्कल्प अर्थात् प्रकृति के साथ आत्मा का एकीभाव समझने से रहित होकर जो कर्म किये जाते हैं वे बन्धक नहीं होते, प्रत्युत प्राचीन कर्म भी उस आत्मा के यथार्थ तत्त्व ज्ञान से भस्म हो जाते हैं, इसलिये ऐसे कर्मों में ज्ञानरूपता अर्थात् ज्ञान सहयोग का दर्शन करने वाला ही पंडित है (१९)

कर्म को भी अकर्म देखना जो पूर्व पद्य में बुद्धिमत्ता का लक्षण बताया गया,



उसी का इस पद्य में स्पष्टीकरण है कि जो कर्म फल की आसक्ति को छोड़ देता है और सदा ही तृप्त रहता है अर्थात् किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता और आश्रय अर्थात् कर्म फलों के भोग का आधार जो अहङ्कार है, उसे भी छोड़ देता है अर्थात् प्रकृति के धर्मों को अपने पर आरोपित नहीं करता, वह केवल यज्ञ रूप संसार चक्र के परिचालन के लिये या लोकसंग्रह के लिये कर्म में प्रवृत्त भी रहे अर्थात् सब कर्म करता रहे तो भी उसे ऐसा ही समझना चाहिये कि वह कुछ नहीं करता। क्योंकि कर्म का फल वह चाहता नहीं; इसलिये कर्म का बन्धन भी उसे नहीं होता। इसलिये उसका कर्म करना न करने के ही बराबर है। ऐसे ही कर्म को अकर्म रूप से देखना पूर्व पद्य में कहा गया है।

श्रीशङ्कराचार्य इस पद्य को उस व्यक्ति के लिये बताते हैं कि जो विवेक ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व कर्म कर रहा था; वह ज्ञान होने पर कर्म छोड़ ही देता है; किन्तु किसी कारणवश या प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने से जो कर्म न छोड़ सका और अपना स्वार्थ न रहने पर भी लोक संग्रह की दृष्टि से कर्म करता रहा। उसकी ही स्थिति इस पद्य में कही गई है और लोकमान्यतिलक तो इसे गीता का मुख्य प्रतिपाद्य ही मानते हैं कि ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी आसक्ति और फलाशा छोड़ कर कर्म करते ही रहना चाहिये (२०)

श्रीशङ्कराचार्य इस पद्य को संन्यास मार्ग पर ही लगाते हैं कि जिसे पूर्वजन्मकृत कर्मपरिपाक से इस जन्म में साधन रूप यज्ञादि न करने पर भी आत्मज्ञान हो गया, उसे इस लोक या स्वर्गादि लोकों की कोई इच्छा नहीं रहती और चित्त अर्थात् मन और आत्मा अर्थात् आत्मा से चैतन्य प्राप्त देह-इन्द्रिय आदि समूह उसके वश में हो जाता है और वह सब प्रकार के स्त्री-पुत्र आदि परिग्रह को छोड़ देता है, तब फिर जब तक प्रारब्ध कर्म वश देह है तब तक भोजनाच्छादनादि शरीर यात्रा के कर्मों को केवल अर्थात् अभिमान रहित होकर करता रहता है। उन कर्मों से उसे कोई पाप-पुण्य नहीं होता, यद्यपि पाप का वाचक “किल्बिष” पद ही आया है; किन्तु उसका अभिप्राय यही है कि ऐसे ज्ञानी के लिये पुण्य और पाप दोनों ही बन्धक होने के कारण पाप रूप ही हैं; इसलिये उस पद का यहाँ अर्थ समझना चाहिये कि कर्म का कोई भी फल अच्छा या बुरा उसे नहीं होता। इससे संन्यासी को भी शरीर यात्रार्थ कर्म करने की अनुमति प्राप्त होती है।

महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी ने ‘किल्बिष’ पद का यह अभिप्राय लगाया है कि श्रुति में जो यावत् जीवन अग्निहोत्रादि कर्म करने का विधान है,

यदि पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने से पूर्व ही उन अग्निहोत्रादि कर्मों को छोड़ दे तो उसे अवश्य पाप होगा; किन्तु ज्ञान प्राप्त होने पर उन कर्मों को छोड़ देने पर भी कोई पाप उसे नहीं होता; क्योंकि उसने श्रुति के विधान के अनुसार ही सब कर्मों का संन्यास कर दिया है।

श्रीरामानुजाचार्य कर्म-योग परक ही अर्थ करते हैं कि “आशीः” अर्थात् कर्मफल की इच्छा से रहित और चित्त अर्थात् पूर्व कृत कर्म स्मरण जनक चित्तवृत्ति वाला अन्तःकरण और मन अर्थात् सङ्कल्प-विकल्पात्मक वृत्ति वाला अन्तःकरण जिसके वश में है एवं सब प्राकृत पदार्थों में जिसने ममता का अभिमान छोड़ दिया है; वह अभिमान रहित होकर शरीर से सब प्रकार के शास्त्र विहित कर्म करता रहे तो भी उसे ‘किल्बिष’ अर्थात् संसार बन्धन नहीं प्राप्त होता। इसी के अनुसार लोकमान्यतिलक की भी व्याख्या है; उन्होंने संन्यास परक अर्थ का खण्डन भी किया है (२१)

यहाँ “शरीरं कर्म” ये पद विचारणीय हैं। संन्यास परक अर्थ करने वाले, इन शब्दों का “शरीर यात्रा के उपयोगी कर्म” अर्थ करते हैं और कर्म योग परक अर्थ लगाने वाले “शरीर मात्र से किये जाने वाले कर्म” यह अर्थ करते हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वती के कर्मयोगपरक अर्थ में ‘शरीर’ शब्द कहना व्यर्थ हो जायगा; यह दोष दिया है। कर्म, शरीर, वाक् और मन तीनों से होते हैं। जैसा कि न्याय दर्शन में शुभाशुभ प्रवृत्ति के दस भेद बताते हुए तीनों के कर्मों का ही निरूपण किया है। यहाँ ‘शरीर’ पद से मन और वाणी के कर्मों से भिन्नता बताई जाय तो यह उपयुक्त न होगा क्योंकि कर्मयोगी को किसी भी कर्म का फल बन्धक नहीं होता, यही पद्य का अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि मन और वाणी के कर्मों का फल हो ही गया तो “नाप्नोति किल्बिषम्” अयुक्त हो जायगा। इसलिये ‘शरीर’ पद से शरीरस्थिति के उपयुक्त मात्र भिक्षाटनादि कर्म ही यहाँ लेना उचित होता है। किन्तु लोकमान्यतिलक कहते हैं कि शरीर पद का अभिप्राय इतना ही है कि कर्मयोगी की व्यवसायात्मक बुद्धि तो अचल है, उसमें किसी प्रकार की कामना आदि का दोष उत्पन्न नहीं हुआ, तब कर्मयोगी जो लोक संग्रहादि के लिये कर्म करता है; वह केवल शरीर से ही करता है। इस प्रकार बुद्धि के सहयोग का अभाव बताने के लिये ही शरीर पद दिया गया है। स्पष्ट अभिप्राय यह है कि लौकिक पुरुषों को पहिले फलेच्छा होती है, फिर उस फल की प्राप्ति के लिये उपाय की इच्छा होती है, फिर इच्छा से प्रयत्न होता है और तब शरीर चेष्टा रूप कर्म बनते हैं। यह क्रम यहाँ नहीं है। क्यों कि यहाँ फलेच्छा है ही नहीं; इसी क्रमाभाव को सूचित करने के लिये शरीर पद दिया गया है। इससे कर्म मात्र ही यहाँ लेना

चाहिये और कर्मयोग प्रकरण में तदुपयुक्त ही अर्थ लगाना चाहिये। इन दोनों के तारतम्य का विचार पाठक स्वयं अपनी बुद्धि से कर लेवें।

इसी का विवरण अग्रिम पद्य में भी है। श्रीशङ्कराचार्य के कर्मसंन्यासपरकपूर्व पद्य के अर्थ के अनुसार इस पद्य का अर्थ है कि शरीर यात्रा के लिये जो भिक्षाटन का संन्यासी के लिये शास्त्र में विधान है; उस भिक्षाटन में जो कुछ भी प्राप्त हो गया उससे ही सन्तुष्ट रहने वाला अर्थात् अधिक तृष्णा न करने वाला और शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वों को पार कर जाने वाला एवं किसी के साथ उसके गुणों में भी दोष देखकर वैर न करने वाला और सिद्धि और असिद्धि में समान मन रखने वाला, इसका अभिप्राय है कि भिक्षाटन में जो कुछ प्राप्त हो उससे सन्तोष करना पूर्व बताया गया, किन्तु यदि किसी समय कुछ भी प्राप्त न हो तो असिद्धि दशा में भी किसी प्रकार के दुःख का अनुभव न करने वाला, इन शरीर यात्रा के कर्मों को करता हुआ भी इनसे किसी बन्धन में नहीं आता। अन्य पुरुषों की दृष्टि में उसके ये भिक्षाटनादि कर्म भी कर्म ही समझे जाते हैं और वे इस पर कर्म करने का आरोप किया करते हैं कि देखो साहब यह संन्यासी होकर भी कर्म करता ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् ने “कृत्वापि” यह पद दिया। अर्थात् लोकसामान्य की दृष्टि से वह कर्म करता है किन्तु इन कर्मों से उसका कोई बन्धन नहीं होता क्योंकि उसे स्वयं कर्तापन का अभिमान नहीं है और बिना अभिमान के कोई बन्धन नहीं होता। पूर्व के कर्म भी ज्ञान रूप अग्नि से जल चुके हैं; इसलिये आगे उसे जन्म प्राप्त होने की कोई शङ्का नहीं।

कर्मयोगपरक ही मानने वाले श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार तो पद्य का अर्थ व्यापक है कि अनासक्त होकर सब प्रकार के कृषि-व्यापारादि कर्म करता हुआ भी उनमें जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से सन्तोष करता रहे। इसका अभिप्राय यही है कि कर्मयोगी को भी तृष्णा कभी नहीं करनी चाहिये और जब तक शरीर धारण है; तब तक शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों की बाधाएँ आती ही रहेंगी, उनका अतिक्रमण करे अर्थात् उनका कोई प्रभाव चित्त पर न होने दे। विमत्सर का अर्थ है कि अपने पर कोई कष्ट आ पड़ा तो यह कष्ट किसी दूसरे का दिया हुआ है; ऐसी दूसरे पर मत्सरता की सम्भावना न करे। जैसा कि नीति ग्रन्थों में स्पष्ट कहा है कि -

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,

परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

अहङ्करोमीति वृथाभिमानः,

स्वकर्मसूत्र-ग्रथितो हि लोकः ॥

अर्थात् सुख वा दुःख का देने वाला कोई दूसरा नहीं है। दूसरा कोई पुरुष मुझे सुख वा दुःख देता है यह मानना कुबुद्धि है। मैं ही सब कार्यों का कर्ता हूँ; यह अभिमान भी झूठा है। वस्तुतः सब लोक अपने कर्म सूत्र के बन्धन में बँधा हुआ है। यही अभिप्राय कर्मयोगी का रहना चाहिये और सिद्धि असिद्धि का भी व्यापक अर्थ है कि युद्ध आदि कर्मों में भी सफलता हो वा असफलता दोनों दशाओं में समान चित्तवृत्ति रहनी चाहिये, अर्थात्—सिद्धि में कोई हर्ष न हो और असिद्धि में कोई परिताप न हो। इस प्रकार कर्म करने वाला मनुष्य कर्म करता हुआ भी किसी बन्धन में नहीं आता। इसका कारण पूर्व कई जगह स्पष्ट कर चुके हैं कि राग-द्वेष ही बन्धन के कारण हैं, बिना राग-द्वेष के कर्म बन्धक नहीं होते। जहाँ अपने उद्देश्य को बार-बार दोहराया जाय; ऐसे गम्भीर अर्थ में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। भगवान् का उद्देश्य अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना ही है; इसलिये वे भिन्न-भिन्न युक्तियों से और बार-बार दोहराकर कर्म योग में अर्जुन को प्रवृत्त करते हैं। इस कारण यहाँ पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिये।

श्रीशङ्करानन्दजी तो पुनरुक्ति बताते ही नहीं। उनके मतानुसार पूर्वोक्त पद्य में जो ज्ञान प्राप्त कर चुका है; उसके शरीर यात्रा के लिये किये जाने वाले भिक्षाटनादि कर्म बन्धक नहीं होते यह बताया गया है और इस पद्य में जो अभी पूरा ज्ञान प्राप्त न कर सका किन्तु ज्ञान प्राप्ति के लिये निदिध्यासन (साधना) कर रहा है, वह भी यदि आत्मा में हर्ष-शोक आदि वा दाता के गुण-दोष आदि का विचार न करता रहे तो उसके भी वे कर्म मोक्ष प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं होते यह कहा गया है। यदृच्छा लाभ सन्तुष्टः और विमत्सरः इन पदों से उक्त आशय प्रकट हो जाता है। इसलिये अधिकारी भेद से दोनों ही पद्यों का पृथक् पृथक् उपदेश है। साम्प्रदायिक व्याख्याकार इन पद्यों में भगवान् के आराधन रूप कर्म बन्धक नहीं होते इसी विषय का प्रतिपादन मानते हैं। लोकमान्यतिलक का भी कर्मयोगपरक अर्थ प्रायः श्री रामानुजाचार्य के अनुसार ही है।



## अरसठवां-पुष्प

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

तृतीय अध्याय में यज्ञ के लिये किया हुआ कर्म बन्धक नहीं होता, यह कहा जा चुका है और यज्ञ-पद वहाँ व्यापक अर्थ का बोधक है, यह भी व्याख्या में हम विस्तार से स्पष्ट कर चुके हैं। उसी यज्ञ प्रकरण को यज्ञ के अनेक भेद बताने के लिये पुनः यहाँ लिया जाता है। तृतीयाध्याय में केवल देव यज्ञ का ही व्यापक विवरण किया गया था; यहाँ योग समाधि आदि भी यज्ञ के ही अन्तर्गत होते हैं; यह बताया जाता है और दैव यज्ञ में भी उपकरण आदि सब वस्तुओं में ब्रह्म भावना का उपदेश भी किया जाता है। यहाँ पुनः कर्मयोग का ही प्रकरण आरम्भ होता है; यह तो मानना ही पड़ेगा। मध्य के दो पद्यों से संन्यास का प्रतिपादन कर पुनः कर्मयोग का आरम्भ क्यों किया गया ? इसकी संगति श्रीशङ्कराचार्य इस प्रकार लगाते हैं कि ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी किसी कारण से अर्थात् प्रारब्ध कर्म जनित-संस्कार विशेषों से जो पूर्वाभ्यास वश कर्म करता ही रहे, उसके वे कर्म भी बन्धक नहीं होते, यह यहाँ से कहा जाता है।

पद्य का अर्थ है कि जिसने सङ्ग अर्थात् कर्म या कर्म फल में आसक्ति छोड़ दी है, कर्म का व्यसन रूप से ग्रहण करना अर्थात् किसी कर्म विशेष के बिना रहा ही न जाय, यह कर्म में आसक्ति कही जायगी और फल में आसक्ति तो प्रसिद्ध ही है, इन दोनों ही प्रकार की आसक्ति, जिस पुरुष की निवृत्त हो चुकी हैं, और इस प्रकार जो अपने अन्तःकरण से धर्म-अधर्म रूप बन्धनों से या अहंकार के परित्याग से संसार रूप बन्धन से ही अपने को मुक्त मानता है एवं ज्ञान में ही जिसका अन्तःकरण सदा स्थिर रहता है। वह पुरुष यदि यज्ञ के लिये पूर्व तृतीयाध्यायोक्त संसार चक्र परिचालन रूप यज्ञ के उद्देश्य से कर्म करता है तो उसका वह कर्म समग्र अर्थात् फलसहित विलीन हो जाता है, फल नहीं देता। अपने फल का भोग करा कर ही नष्ट

होना सब कर्मों का साधारण नियम है, किन्तु उक्त प्रकार के पुरुष के यज्ञ के लिये किये हुए कर्म बिना फल प्रदान के ही नष्ट हो जाते हैं। यह “समग्रं प्रविलीयते” से कहा गया। भक्तिमार्ग के व्याख्याकार यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु ही करते हैं; उनका तात्पर्य है कि विष्णु की प्रसन्नता के लिये या उनकी आज्ञा से लोक शिक्षा के लिये, जो कर्म किये जायँ, वे बन्धक नहीं होते। कर्म अपना फल दिये बिना ही कैसे लीन हो जाता है इस शङ्का के समाधान के लिये भगवान् अग्रिम पद्य में यह उपदेश देते हैं कि सर्वत्र ब्रह्मभाव रहने पर ज्ञान के द्वारा कर्म की फल-प्रदान शक्ति नष्ट हो जाती है। उसी सार्वत्रिक ब्रह्मभाव को यज्ञ के उपकरणों में घटाया जाता है कि ‘अर्पण’ अर्थात् अग्नि में हवन के साधन जो सुवा आदि हैं, उनमें भी ब्रह्मभाव ही रहना चाहिये अथवा अर्पण अर्थात् अग्नि में डालना रूप जो क्रिया है, उसमें भी ब्रह्मभाव ही हो, हवि अर्थात् जिन पदार्थों का होम किया जाता है उनमें भी ब्रह्म भाव हो, जिसमें हवन करते हैं उस अग्नि में भी ब्रह्म भाव हो और हवन करने वाला यजमान भी अपने को ब्रह्म स्वयं ही माने। ‘ब्रह्मणा’ यह तृतीया कर्त्ता में है। इससे कर्त्ता-रूप यजमान ही लिया जाता है। इस भाव से यज्ञ रूप कर्म भी सम्पूर्ण ब्रह्मरूप ही हो गया। इस कर्म को ब्रह्मरूप मानने की समाधि अर्थात् एकाग्रता जिस पुरुष की हो जाती है, वह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है, अर्थात् कोई कर्म उसे अन्यत्र नहीं ले जा सकता। ब्रह्म की प्राप्ति कर्म से हो नहीं सकती। क्योंकि ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सबको ही स्वतः प्राप्त है, वह कोई अपने से भिन्न पदार्थ नहीं, जहाँ क्रिया के द्वारा पहुँचा जाय। इससे यही तात्पर्य निकलेगा कि ऐसे भाव वाले पुरुष के कर्म अपने आप ही विलीन हो जाते हैं। जिसकी दृष्टि में द्वैत भाव रहता है अर्थात् जो ब्रह्म को अपने से भिन्न मानता रहता है, उसे ही कर्म संसार चक्र में घुमाया करते हैं। अद्वैत भाव होने पर कर्म भी ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। भाव दो प्रकार से हो सकता है—एक उपासना रूप से अर्थात् भिन्न-भिन्न पदार्थों में परस्पर भिन्नता रहते हुए भी उनमें ब्रह्म की भावना मात्र की जाय। जैसे कि, उपासना के लिये शालग्राम शिला में विष्णु भगवान् की भावना कर ली जाती है और दूसरा प्रकार है कि उनमें विकार बुद्धि हटाकर सर्व कारण रूप ब्रह्म बुद्धि से ही उन्हें देखा जाय। पहिला मार्ग उपासना मार्ग के नाम से कहा जाता है और दूसरा ज्ञान मार्ग के नाम से। यहाँ श्रीशङ्कराचार्य का कथन है कि इस पद्य में कहे हुए ‘अर्पण’ ‘हवि’ आदि में ब्रह्मभाव को उपासना रूप नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ आगे के पद्यों में स्पष्ट रूप से ज्ञान का ही प्रकरण प्रतीत होता है; इसलिये यथार्थ रूप में ही यज्ञ के उपकरणों को ब्रह्म समझना यहाँ कहा गया है। यही ब्रह्मभाव यथार्थ ज्ञान है और इसे ही शास्त्रों में मुक्ति का साधन बताया गया है। जो साधक

व्यक्ति पहिले सब पदार्थों में उपासना रूप से ब्रह्म की भावना करते हैं, उनका भी अन्तिम फल सब पदार्थों को ब्रह्म रूप से देखना ही होता है। “अर्पणं ब्रह्म” यह पदविन्यास इसी प्रकार है जैसे कि कोई सीप को चाँदी समझ लेने वाला भ्रान्त पुरुष अपनी भ्रान्ति दूर होने पर कहे कि “रजतम् शुक्तिकैव”। इस वाक्य का तात्पर्य यही होगा कि जिसे मैंने रजत समझा था; वह तो वास्तव में सीप ही है। इसी प्रकार यहाँ भी वाक्यों का तात्पर्य यही समझना चाहिये कि जिसे सांसारिक लोग स्तुवा, हवि आदि भिन्न-भिन्न नामों से बोलते हैं; वह ब्रह्म ही है। ब्रह्म से अतिरिक्त कोई पदार्थ है ही नहीं; यही बात यज्ञोपकरणों के दृष्टान्त से सिद्ध की गई। यज्ञ के सब उपकरणों का समावेश करने के लिये भिन्न-भिन्न व्याख्याकार, इस पद्य के पदों की भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं, जैसा कि अर्पण शब्द में ‘अर्प्यते अनेन’ इस करण व्युत्पत्ति के अनुसार होम के साधन स्तुवा, जुहु आदि और जिन मन्त्रों से होम किया जाता है, वे मन्त्र भी ले लिये जाते हैं और ‘अर्प्यते अस्मै’ इस चतुर्थी विभक्ति की व्युत्पत्ति के अनुसार जिस देवता के लिये आहुति दी जाय; उस देवता में भी ब्रह्म बुद्धि ही रखना, यह भी आ जाता है एवं ‘अर्प्यते अस्मिन्’ इस सप्तमी विभक्ति की व्युत्पत्ति के अनुसार हवन के देश-काल आदि जिनमें आहुति दी जाती है, वे भी ले लिये जाते हैं। ‘ब्रह्मणा’ इस कर्तृ पद से प्रेरक यजमान और आहुति देने का साक्षात् कर्ता अध्वर्यु नाम का ऋत्विग् भी आ जाता है। इस प्रकार यज्ञ के सब उपकरणों में ब्रह्म-बुद्धि पूर्वक यज्ञादि कर्म करने से वे कर्म फलप्रद नहीं होते। “ब्रह्म-कर्म-समाधिना” का ऐसा भी अर्थ किया जाता है कि ब्रह्म पद को पृथक् समझकर ‘हुतं’ के आगे जोड़ देना, जिससे हवन अर्थात् प्रक्षेप क्रिया में भी ब्रह्म बुद्धि शब्द मर्यादा से ही सिद्ध हो जायगी और ‘कर्म समाधिना’ का यह अर्थ करना कि उक्त प्रकार से जिस पुरुष की कर्म अर्थात् यज्ञ में समाधि अर्थात् ब्रह्मभाव की एकाग्रता हो गई है; वह पुरुष ब्रह्म को ही प्राप्त करता है। इसी प्रकार दान, तप आदि कर्म भी सब ब्रह्मभाव से ही किये जायँ तो उनका एकमात्र फल ब्रह्मप्राप्ति ही होगा। वे कर्म और कोई फल देने वाले नहीं हो सकते (२४)

अब यज्ञ के अनेक भेदों का वर्णन किया जाता है। प्रायः व्याख्याकारों ने इसकी संगति यह बताई है कि ब्रह्म भाव से जो यज्ञ गत पद्य में बताया गया, उसकी स्तुति के लिये ही सब यज्ञों का वर्णन है। अथवा इन यज्ञों के वर्णन की संगति समझना चाहिये कि कर्मयोगी पुरुष अपने जीवन में क्या करता है ? इसका यज्ञ रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्णन किया जाता है। इनमें से कोई प्रकार अपनाकर कर्म योगी अपना जीवन व्यतीत करता रहे और उन सबमें यज्ञ रूप की ही भावना करता रहे। यहाँ तप, योग, दान, इत्यादि सभी पारलौकिक कर्मों का यज्ञ रूप से सभी जगह आधार रूप

से अग्नि की कल्पना की गई है। उसे अग्नि शब्द का लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिये। इस यज्ञ वर्णन के प्रथम पद्य का अर्थ है कि कई योगी अर्थात् कर्मयोगी “दैव यज्ञ” की ही उपासना करते हैं अर्थात् ‘कर्मयोग’ के विधानानुसार आसक्ति और फल कामना छोड़कर भिन्न-भिन्न देवताओं को आहुति देते रहते हैं। इसी प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पद्य के उत्तरार्ध का अर्थ करने में व्याख्याकारों के फिर कई प्रकार के मतभेद हैं। श्रीशङ्कराचार्य इसका अर्थ करते हैं कि कुछ योगी ‘ब्रह्म’ अर्थात् सर्वत्र व्यापक मूलतत्त्व को अग्नि मानकर ‘यज्ञ’ अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधि सहित जीव को यज्ञ से अर्थात् उपाधि रहित बनाकर उसी रूप से हवन कर दिया करते हैं, इससे इस व्याख्या के अनुसार संन्यासी मार्ग का विवरण हुआ। यज्ञ शब्द जीव के नामों में भी पढ़ा हुआ है। प्रथम यज्ञ शब्द से शरीर, इन्द्रिय आदि उपाधि सहित जीव का ग्रहण करना चाहिये और द्वितीय यज्ञ शब्द से उपाधि रहित केवल जीव का। तात्पर्य यह हुआ कि जीव का उपाधि-सहित जो रूप प्राणियों की दृष्टि में भासित हो रहा है, उसमें उपाधि अंश को निकाल देना चाहिये, तब जो निरुपाधिक जीव बचेगा, वह ब्रह्म से भिन्न न होगा। उसे ब्रह्म में ही अर्पित कर देना अर्थात् मिला देना, यही उसका होम हुआ। जब इन्द्रिय, शरीर आदि उपाधियों का परित्याग कर दिया जायगा, तब कर्म संन्यास स्वतः ही हो जायगा क्योंकि शुद्ध आत्मा तो कर्म रहित है ही, शरीर, इन्द्रिय आदि के द्वारा ही कर्म हुआ करते हैं। जब इन उपाधियों का सम्बन्ध ही आत्मा से न रखा गया तो यह जड़ रूप होने के कारण स्वतः ही कर्म रहित हो जायगा और जिस प्रकार घर, मठ आदि उपाधियों से घिरा हुआ आकाश उन उपाधियों के हटा देने पर महाकाश में ही मिल जाता है; उसी प्रकार उपाधिरहित जीव व्यापक ब्रह्म में ही लीन हो जायगा। पूर्व पद्य में जो सब में ब्रह्म भाव बताया गया, उसी ब्रह्म में ही लीन हो जायगा। पूर्व पद्य में जो सब में ब्रह्म भाव बताया गया, उसी ब्रह्म से यज्ञ करने का प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकारों की श्रेणी में, यहाँ फिर दोहराया गया है। यह ज्ञान रूप यज्ञ ही है जिसे आगे सब यज्ञों से श्रेष्ठ बताया जायगा और उसकी प्राप्ति का विशेष विवरण भी होगा।

श्रीरामानुजाचार्य पूर्वार्ध में तो “उपासते” पद के अनुसार देवताओं की पूजा का विवरण बताते हैं और उत्तरार्ध में हवन रूप यज्ञ का ही विवरण मानते हैं कि अन्य प्रकार के कर्मयोगी यज्ञ अर्थात् यज्ञ साधन हवि को ‘यज्ञेन’ अर्थात् यज्ञसाधन-स्रुवा आदि से अग्नि को ब्रह्म रूप मानकर उसमें हवन करते हैं। पूर्व-पद्य में यज्ञ के सब उपकरणों में ब्रह्म भाव कहा गया था, यहाँ केवल अग्नि मात्र में ही ब्रह्म भाव कहा—इसलिये ये कर्मयोगी पूर्वोक्त प्रकार के योगियों से निम्न श्रेणी के हैं; यह भी किसी-



किसी व्याख्याकार ने लिखा है। श्रीवल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी अपनी व्याख्या में यज्ञ शब्द का अर्थ विष्णु ही करते हैं। उनका यह आशय प्रतीत होता है कि विष्णु नाम रूप से जो उपासना सर्व साधारण में की जाती है, उसका व्यापक ब्रह्म को अग्नि मान कर उसमें प्रक्षेप कर देना अर्थात् विशुद्ध ब्रह्मरूप से ही उपासना करने का प्रकार इसमें बताया गया।

लोकमान्यतिलक पुरुष सूक्त में जो “देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्” यह मन्त्र आया, उसकी ही प्रतिच्छाया, इस गीता के पद्य में बतलाते हैं। यहाँ यह शङ्का होती है कि वह तो सृष्टि के आरम्भ का वर्णन है; उस समय और कोई हविर्द्रव्य न देखकर पुरुष का ही हवन किया गया; वह एक गूढ़ वैज्ञानिक आशय वहाँ हो सकता है; किन्तु यहाँ तो कर्मयोगियों के जीवन यात्रा के भेद कई प्रकार से बताये जा रहे हैं और वर्तमान काल का निर्देश, इस प्रकरण से उस पुरुष सूक्त के मन्त्र की प्रतिच्छाया लेने की संगति कैसे लगेगी ? इसका उत्तर वे देते हैं कि जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में केवल ब्रह्म का ही पुरुषावयवों से यजन होने का विवरण पुरुष सूक्त में मिला है; उसी प्रकार पूर्वोक्त पद्य के अनुसार सब उपकरणों में ब्रह्मभाव पूर्वक यजन करने का वर्णन ही यहाँ दोहराया गया है, इससे कर्मयोगी का कर्तव्य यही बतलाया कि वह सर्वत्र ब्रह्म भाव रखता हुआ, यज्ञादि कर्मों का यथाविधि सम्पादन करता रहे। श्रीधर स्वामी भी उत्तरार्ध से कर्मसंन्यास का ही निरूपण मानते हैं और पद्य का अर्थ करते हैं कि यज्ञ शब्द को यहाँ कर्म मात्र का बोधक उपलक्षण रूप से मानना चाहिये। इससे तात्पर्य हुआ कि यज्ञ अर्थात् समस्त कर्मों को ज्ञानयोगी ‘यज्ञेन’ अर्थात् पूर्वोक्त यज्ञोपकरणों में ब्रह्मभावना से ब्रह्म रूप अग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् ब्रह्म में सब कर्मों को लीन कर देते हैं। पूर्वार्ध में “दैवमेव” इस एव पद से देवताओं में ब्रह्मभाव का अभाव कहा गया। इसलिये वह वर्णन केवल कर्मकाण्डियों का है। वे ब्रह्मभावना न करते हुए केवल विधि के अनुसार कर्म करते रहे हैं और उत्तरार्ध में सर्वत्र ब्रह्मभावना से कर्म संन्यास बताया गया; यह श्रीधरस्वामी का आशय है (२५)



## उनहत्तरवां-पुष्प

श्रोत्रादीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।  
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥  
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।  
आत्मसंयम-योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥  
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।  
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥  
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।  
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥  
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।  
सर्वेप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥  
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।  
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम! ॥३१॥

पूर्व पद्य में दो यज्ञों का वर्णन हुआ। वे वेदोक्त यज्ञ वा संन्यास यज्ञ ही बताये गये। अब आगे योगमार्ग के अनुसार अन्य यज्ञों का निरूपण किया जाता है। तीसरा यज्ञ यह है—कई कर्मयोगी श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों को संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का एक स्थान में विनियोग करना संयम नाम से योग दर्शन में कहा गया है। चित्त को एक किसी विशेष स्थान पर ही रोक देना धारणा कही जाती है और चित्तवृत्तियों का एक किसी इष्ट वस्तु में निरन्तर प्रवाह जिस प्रवाह में दूसरी कोई वस्तु न आ सके; उसे ध्यान कहते हैं। इस प्रकार ध्यान करते-करते एक ही वस्तु में बहुत काल तक चित्त का रोक देना समाधि कही जाती है। ये तीनों यदि एक ही स्थान में हों तो उसका नाम संयम कहा गया है। यहाँ “संयमाग्निषु” यह बहुवचन जो दिया गया उसका आशय यह है कि इन्द्रियाँ बहुत हैं। एक-एक इन्द्रिय का संयम करने के लिये भिन्न-भिन्न प्रयास करना पड़ेगा। इसलिये बहुत संयम हो गये; अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि संयम के देश योगदर्शन में बहुत बताये गये हैं, जहाँ कि संयम किया जाय। उन भिन्न-भिन्न देशों में संयम करने से भिन्न-भिन्न प्रकार के फल भी योग दर्शन में बताये गये हैं। इन संयम देशों के बहुत

होने के कारण भी संयम का बहुत्व कहा गया। संयम में इन्द्रियों के हवन का अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों की विषयों की ओर जो स्वाभाविक गति है, उसे रोक कर उन्हें एक स्थान में अर्थात् अपने इष्ट देवता के रूप आदि में लगा देना ही उनका हवन है। जिस प्रकार हवन करने से, हवन किया हुआ द्रव्य, अग्नि में गिर कर, अपना स्वरूप खो देता है इसी प्रकार विषयों से हटा देने पर इन्द्रियाँ अपना स्वरूप खो कर नष्ट सी हो जाती हैं। इसी सादृश्य से इन्द्रियों का संयम रूप अग्नि में हवन कहा गया। अपने विषयों से इन्द्रियों को सर्वथा रोक कर ईश्वर में लगा देना ही तीसरा यज्ञ हुआ। चौथा यज्ञ कहते हैं कि कुछ कर्मयोगी शब्द आदि विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं अर्थात् इन्द्रियों से शब्दादि विषयों का ग्रहण करते रहते हैं; यह तो सभी मनुष्य करते हैं, फिर इसे भगवान् ने यज्ञ रूप में कैसे गिना और आगे सभी यज्ञों से पापों का नाश बताया है; वह कथन भी कैसे उपयुक्त होगा ! इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण करते हुए पापों का नाश कैसे सम्भव है ? इस शङ्का का उत्तर यह है कि जो पुरुष आहुति रूप से ही विषयों का ग्रहण करते हैं अर्थात् विषय ग्रहण में प्राणाग्निहोत्र-बुद्धि ही रखते हैं, जैसे अग्निहोत्र विधानानुसार ही किया जाता है इसी प्रकार शास्त्र विधान के अनुसार ही विषयों का ग्रहण करें, जिनका शास्त्र में निषेध है, उन विषयों का कभी ग्रहण न करें और जिन विषयों का ग्रहण करें, उनमें भी होम बुद्धि ही रखें, फलाशा वा व्यसनरूप आसक्ति न करें तो वह भी एक प्रकार का यज्ञ ही हुआ। तात्पर्य यह है कि एक बार ही इन्द्रियों को विषयों से सर्वथा हटाया न जा सके तो धीरे-धीरे उनके हटाने का यत्न करना चाहिये। वह यत्न इसी प्रकार होगा कि निषिद्ध विषयों का या निषिद्ध काल में विषयों का कभी सेवन न किया जाय और विषय सेवन में होम बुद्धि ही रखी जाय। तब धीरे-धीरे पूर्वार्ध में कहा हुआ इन्द्रिय हवन रूप यज्ञ सिद्ध हो जायगा। अतः यह चौथा यज्ञ तृतीय यज्ञ की प्राप्ति का साधन-रूप ही है। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना ।

व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥

इसका तात्पर्य है कि स्त्री प्रसङ्ग, मांस-भक्षण, मद्यपान आदि में तो प्राणियों की स्वभाव से ही प्रवृत्ति रहती है। इनमें शास्त्र विधि की कोई आवश्यकता नहीं; तब शास्त्र में जो कहीं इनका विधान मिलता है, जैसा कि विवाह विधि वा यज्ञों में मांस-भक्षण विधि तथा सौत्रामणि यज्ञ में मद्यपान विधि, यह सब विधायक नहीं; किन्तु सर्वत्र प्राप्त विषयों का नियमन करने के लिये हैं। विवाह विधि से विधि के अनुसार ग्रहण की हुई पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों से पत्नी भाव का निवारण किया जाता है। यज्ञ

में मांस विधि भी वृथा मांस खाने के निवारण के लिये ही है। इसी प्रकार सौत्रामणि याग का सुरापान भी अन्यत्र सुरापान के निषेध में ही तात्पर्य रखता है। इस प्रकार जो एकदम इन्द्रिय निरोध नहीं कर सकते उन्हें कृपालु शास्त्र ने धीरे-धीरे निवृत्त करने का प्रकार बताया है। इस प्रकार निषिद्ध देश-काल आदि का परित्याग कर होम बुद्धि से विषय सेवन भी निवृत्ति का कारण होने से यज्ञरूप बताया गया और निषिद्ध वस्तु, देश, काल आदि का परिवर्तन करने से पाप होगा ही नहीं। इसलिये पाप का नाश भी इस यज्ञ का फल कहना युक्ति-युक्त ही है। कई व्याख्याकार इस प्रकार भी इसकी संगति लगाते हैं कि आहुति द्रव्य जैसे अग्नि में गिरकर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार इन्द्रियों में आहुति रूप से डालकर जो पुरुष विषयों का नाश ही कर दें अर्थात् आगे उन विषयों की कामना का प्रवाह बन्द कर दें, वही इन्द्रियों में विषयों का हवन हुआ। इन्द्रियों से विषय ग्रहण का बड़ा दोष यही है कि उससे कामना तृप्त नहीं होती प्रत्युत बढ़ती ही जाती है। उस कामना का प्रवाह आगे रोक देना ही हवन का अभिप्राय है। इससे भी धीरे-धीरे निवृत्ति ही सिद्ध होती है। भक्ति मार्ग के व्याख्याता इस यज्ञ का यह भी तात्पर्य बतलाते हैं कि भगवान् का प्रसाद समझकर ही विषयों का ग्रहण किया जाय, यही विषयों का इन्द्रियों में होम हुआ अर्थात् जिह्वा से भगवान् को दिये हुए नैवेद्य के नाना रसों का ही स्वाद लिया जाय, कान से भगवत् कीर्तन ही सुना जाय, नाक से भगवान् को अर्पित माला का ही गन्ध लिया जाय। चक्षु से भगवान् की दिव्य मूर्ति का ही दर्शन किया जाय, इत्यादि रूप से भगवद्भाव होने के कारण इन्द्रियों की विषयासक्ति हट जायगी। यही चौथे प्रकार का यज्ञ हुआ।

अब पाँचवें प्रकार का उत्तमाधिकारी का कल्याण का परम साधक यज्ञ बताया जाता है कि कई उत्तमाधिकारी श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के सब विषय ग्रहण रूप कर्मों का और शरीर के सङ्कोच-विकास आदि प्राण के कर्मों का अथवा प्राण के द्वारा निष्पादित हाथ, पैर, वाणी आदि कर्मेन्द्रियों के कर्मों का आत्मसंयम रूप जो योग है उसे ही अग्नि बनाकर ज्ञान के द्वारा उस अग्नि को खूब जलाकर उसमें हवन कर देते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रियों के सब व्यापारों को रोककर केवल ज्ञानमार्ग या योगमार्ग में ही सदा निमग्न रहा करते हैं। तीसरे यज्ञ में केवल ज्ञानेन्द्रियों का ही संयम कहा गया था। यहाँ ज्ञानेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों का भी संयम कहा गया और ज्ञान दीपित पद से उसे तत्त्व ज्ञान के द्वारा सम्पादित बताया गया और पूर्वोक्त संयम का स्थान आत्मा को ही बताया गया। यही इस यज्ञ की विशेषतायें हैं।

आगे के एक ही पद्य में पाँच यज्ञों का निर्देश किया गया है। कई कर्मयोगी द्रव्य अर्थात् धन-सम्पत्ति से यज्ञ करते हैं। धन-सम्पत्ति लगाकर जो वेदोक्त यज्ञ किये जायँ

वे तो दैव यज्ञ नाम से प्रथम यज्ञ रूप में ही आ चुके। इसलिये यहाँ द्रव्य साध्य तीर्थाटन, वापी, कूप, तडागादि का निर्माण जिन्हें धर्मशास्त्रों में पूत कर्म कहा जाता है, वे ही लेना उचित हैं। इन कार्यों में ही फलाशा छोड़कर अपनी सम्पत्ति का उपयोग करते रहते हैं। यह अर्थ “द्रव्ययज्ञः” का हुआ। कई कर्म योगी सज्जन तप अर्थात् कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों को ही यज्ञ मानकर उनमें ही अपना जीवन बिताते हैं और कई योगानुष्ठान को ही यज्ञ मान कर उसी का आचरण करते रहते हैं। यहाँ श्रीमधुसूदनसरस्वती ने विशेष रूप से विवेचन किया है कि धारणा, ध्यान, समाधि ये मुख्य योग के अङ्ग तो संयम यज्ञ नाम से पूर्व ही कहे जा चुके। प्रत्याहार भी श्रोत्रादि इन्द्रियों का नियमन पूर्व कहा जा चुका और प्राणायाम आगे कहना है, इसलिये यहाँ योग के प्रारम्भिक अंग यम, नियम ही लेने चाहिये। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अधिक भोग साधन का सञ्चय न करना, ये पाँच यम नाम से कहे गये हैं। देह, मन आदि की पवित्रता शौच, सन्तोष, तप अर्थात् सामान्य व्रत आदि और ईश्वर में ध्यान लगाना स्मृति, पुराणादि का अध्ययन ये पाँच नियम कहे जाते हैं। इन यम नियमों को ही यज्ञ मान कर इनके अनुष्ठान में जीवन बिताते हैं और कई स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन और मीमांसा-विचार से उनका यथार्थ तात्पर्य समझना ज्ञान शब्द से यहाँ कहा गया; इस स्वाध्याय यज्ञ वा ज्ञान यज्ञ के द्वारा समय यापन करते रहते हैं। ये दो यज्ञ बताये गये। सब यज्ञों में आवश्यक कर्तव्य आगे दो विशेषणों से बताया जाता है कि सभी यज्ञ करने वालों को यति अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखना आवश्यक है। इसी प्रकार इनका व्रत अर्थात् नियम पूर्वक अपने काम में लगाना “संशित” अर्थात् तीक्ष्ण रूप दृढ़ होना चाहिये। श्रीमधुसूदनसरस्वती संशित व्रत शब्द से छठा यज्ञ कहा गया ऐसी व्याख्या करते हैं। इसका अर्थ बताते हैं कि पूर्व जो यम, नियम योग यज्ञ में बताये हैं, वे सामान्य रूप हैं; उन्हीं का सर्वत्र दृढ़ता से प्रयोग यहाँ संशित व्रत शब्द से कहा गया। जैसा कि योग दर्शन में अणुव्रत और महाव्रत नाम से अहिंसादि व्रतों के दो भेद बताये गये हैं। पूर्व में अणुव्रत कहा गया। यहाँ “संशितव्रताः” पद से महाव्रत कहा गया है।

हमारे विचार में इस पद्य में चारों आश्रमों के कर्तव्यों का यज्ञ रूप से वर्णन किया गया है। गृहस्थाश्रमी द्रव्य यज्ञ होते हैं। अर्थात् अपनी सम्पत्ति से तीर्थयात्रा, व्रतादि और नित्य के पञ्च महायज्ञ करते रहते हैं। वानप्रस्थ आश्रमी के ‘तपो यज्ञ’ और योग यज्ञ होते हैं। कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपस्या रूप व्रतों का और योग साधना का धर्मशास्त्रों में वानप्रस्थ आश्रम में ही विधान पाया जाता है। ‘स्वाध्याय’ यज्ञ पद से ब्रह्मचर्य आश्रम का कर्तव्य बताया गया है। जैसा कि अन्यत्र भी वाक्य है कि “छात्राणामध्ययनं

तपः” एवं “ज्ञानयज्ञ पद” से चतुर्थ संन्यास आश्रम का कर्तव्य कहा गया। उस आश्रम में केवल ज्ञान के लिये ही प्रयत्न करना होता है। “यतयः संशितव्रताः” इन पदों से यही उपदेश है कि सबको अपने-अपने कर्तव्य में दृढ़ रहना चाहिये।

अब आगे योग के चतुर्थ अङ्ग “प्राणायाम” का ही यज्ञ रूप से निरूपण किया जाता है। हम लोग सब मनुष्यों के शरीर में प्राण आदि वायु विशेषों की जो स्वाभाविक गति रहती है उसे रोककर एक विशेष नियमित रूप से चलाने का नाम ही प्राणायाम है। लोक में सन्ध्योपासन के समय जो प्राणायाम किया जाता है उसके तीन भेद होते हैं—‘पूरक’, ‘कुम्भक’ और ‘रेचक’। नाभि प्रदेश से उठाकर हृदय द्वारा वायु को मस्तक तक ले जाने का नाम पूरक है। मस्तक में कुछ काल तक रोकने का नाम कुम्भक और वहाँ से फिर नीचे की ओर लाने का नाम रेचक है। यह सामान्यतः लोकों की शिक्षा है, किन्तु प्रकृत पद्य में इनका पातञ्जल सूत्रानुसार दूसरे ही प्रकार का अर्थ लिया गया है। बाहर के वायु का भीतर प्रवेश करना यहाँ अपान शब्द से लिया गया है और भीतर के वायु को बाहर निकालना प्राण शब्द से लिया गया है। इस प्रक्रिया के अनुसार पद्य का अर्थ है कि कुछ विद्वान् शरीरस्थ वायु की साधारणता से चलने वाली गति को रोककर अपान में प्राण का हवन कर देते हैं। अर्थात् प्राण वायु का नियमन कर केवल अपान ही किया करते हैं अर्थात् बाहर के वायु को भीतर ही खींचने का अभ्यास बहुत काल तक किया करते हैं। इससे वायु की स्वाभाविक गति को मर्यादा में लाने में सहायता मिलती है। यह पूरक प्राणायाम हुआ और दूसरे विद्वान् अपान का प्राण में होम करते हैं। अर्थात् भीतर की वायु को बाहर निकालने का ही बार-बार अभ्यास किया करते हैं, यह रेचक नाम का प्राणायाम हुआ। इसके भी अभ्यास से पूर्वोक्त ही फल होता है। आगे कुम्भक बताते हैं कि कोई विद्वान् प्राण, अपान दोनों की गति रोक कर प्राणायाम अर्थात् उनके स्थिर करने में ही तत्पर रहते हैं अर्थात् कुम्भक नाम का प्राणायाम निरन्तर करने का ही अभ्यास किया करते हैं। इस रूप से तीन प्रकार के यज्ञ इस पद्य में बताये गये। एक प्राण का अपान में हवन, दूसरा प्राण में अपान का हवन और तीसरा दोनों की गति का निरोध में हवन।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने इन पद्यों की विस्तार से व्याख्या लिखी है और योग सूत्रों के साथ इन पद्यों का समन्वय भी किया है। उनकी व्याख्या के अनुसार तीनों ही जगह कुम्भक कहे गये हैं। भीतर के वायु को बाहर निकाल कर वहीं जितना हो सके उतने समय ठहर जाना बहिः कुम्भक हुआ और बाहर के वायु का शरीर में प्रवेश कर वहीं यथा शक्ति कुछ काल स्थिर रखना अन्तः कुम्भक है और दोनों की ही गति रोककर यथाशक्ति कुछ काल स्थिर रहना कुम्भक का कुम्भक तीसरा कुम्भक होगा।

अब जिसकी सिद्धि के लिये यह प्रयास किया जाता है वह चौथा प्राणायाम आगे के पद्य में बताते हैं कि कई प्रकार के योगी आहार का नियमन कर प्राणों का प्राणों में ही हवन कर देते हैं। अर्थात् रेचक पूरक आदि कुछ न कर जो वायु शरीर के जिन प्रदेशों में व्याप्त है उसे वहाँ का वहाँ ही ठहरा देते हैं, यही चौथे प्रकार का कुम्भक है। अथवा योग क्रम से जिस वायु का जय कर लिया उसमें ही औरों का हवन कर देते हैं अर्थात् प्राण, अपान इत्यादि वायु भेदों में जिस पर अभ्यास दृढ़ हो गया उसमें अन्य भेदों को लीन कर देते हैं। इसके सिद्ध होने में भोजन आदि का नियत रूप से होना अत्यावश्यक है। यह 'नियताहाराः' पद से कहा गया। इसका विस्तार छठे अध्याय में "नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति" इत्यादि पद्य में किया जायगा। कई व्याख्याकारों के मत से यहाँ आहार पद से इन्द्रियों के सभी विषयों का ग्रहण किया गया है और यह विशेषण सभी यज्ञों में कर्ताओं पर लगाना चाहिये अर्थात् सभी यज्ञ करने वाले इन्द्रियों से विषय ग्रहण करने का नियमन रखें। जहाँ तक सम्भव हो इन्द्रियों को अपने विषयों में अल्प मात्रा में जाने दें।

इस प्रकार तेरह वा चौदह प्रकार के यज्ञ बताकर उनका उपसंहार करते हैं। इन सभी यज्ञों के करने वाले यज्ञों के वेत्ता (जानने वाले) कहे जाते हैं और उन यज्ञों से इन सबके ही पाप नष्ट होते रहते हैं।

यज्ञ से बचे हुए अन्न का जो भोजन करते हैं वे सदा रहने वाले ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। यज्ञ शेष अन्न का नाम ही शास्त्रों में अमृत कहा है। तृतीयाध्याय में जो दैवयज्ञ का वर्णन किया गया है, वहीं और यहाँ भी पहला दैवयज्ञ जो बताया है, उसमें ही यज्ञ शेष अन्न का भोजन बन सकता है। क्योंकि देवताओं को आहुति देकर बचे हुए अन्न का भोजन करना वहाँ विहित है। तृतीयाध्याय में ही हम स्पष्ट कर आये हैं कि जो विशिष्ट यज्ञ न कर सकें वे पञ्चमहायज्ञ करके उनके शेष अन्न का भोजन कर लें अथवा भगवन्नैवेद्य के लिये भोजन बना कर भगवत्प्रसाद का ग्रहण करके भी इस विधि का प्रतिपालन शिष्ट लोग मान लेते हैं। किन्तु यहाँ जो संयम, प्राणायाम आदि यज्ञ बताये हैं उनमें तो अन्न का कोई उपयोग नहीं होता, फिर उससे बचे हुए अन्न का भोजन कैसे बनेगा ? इसलिये यहाँ यही व्याख्या प्रायः सबने की है कि यज्ञों के अनुष्ठान से जो समय बचे उस समय नियमित रूप से निषिद्ध पदार्थों को छोड़कर भोजन कर लेना ही यहाँ "यज्ञशिष्टाशिनः" पद का अभिप्राय समझना चाहिये। शिष्ट पद से यहाँ अन्न न लेकर समय लेना चाहिये, यही अभिप्राय हुआ। सभी यज्ञों से जो ब्रह्म प्राप्ति बताई गई है, वहाँ भी अल्प या बहुत काल का कोई नियम नहीं है। तीव्र संयम आदि करने वाले शीघ्र ही योग से तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म प्राप्ति कर लेते

हैं। सामान्य रूप से इन्द्रिय निरोध, द्रव्ययज्ञ आदि करने वालों को चित्तशुद्धि द्वारा धीरे-धीरे ज्ञान प्राप्त होकर चिरकाल में ब्रह्म प्राप्ति होती है। यहाँ अभिप्राय इतना ही समझना कि जो कोई भी यज्ञ करता रहेगा, वह ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग में चल रहा है, इसलिये कभी न कभी ब्रह्म को प्राप्त कर ही लेगा—“मार्गस्थो नावसीदति” (मार्ग में स्थित मनुष्य कभी विफल नहीं होता) आगे भी सोलहवें अध्याय में कहा जायगा कि “दैवी सम्पद् विमोक्षाय” अर्थात् दैवी सम्पत्ति में रहने वाला कभी न कभी मोक्ष प्राप्त कर ही लेगा।

इस प्रकार यज्ञ करने वालों की प्रशंसा कर आगे न करने वालों की निन्दा की जाती है कि हे कुरु वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! उक्त प्रकार के यज्ञों में से कोई भी यज्ञ जो नहीं करता उस अयज्ञ पुरुष का तो यह लोक भी नहीं बनता परलोक की तो कथा ही क्या ? अर्थात् इस लोक में भी प्रतिष्ठा वा सुख वह प्राप्त नहीं कर सकता, परलोक तो उसका बिगड़ा ही समझना चाहिये।

श्रीरामानुजाचार्य इस लोक पद से धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग को लेते हैं और अन्य पद से परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष का ग्रहण करते हैं। अर्थात् कोई भी यज्ञ न करने वाले के धर्म, अर्थ, काम भी सिद्ध नहीं होते, मोक्ष तो उसे प्राप्त होगा ही कहाँ से? तात्पर्य यही है कि वह मोक्ष के मार्ग पर ही न चढ़ा है तब उसको प्राप्त कैसे कर सकता है ! हमारी व्याख्या के अनुसार द्रव्य यज्ञ में नित्य के पञ्च महायज्ञों का भी समावेश हो ही गया है। पञ्चमहायज्ञादि भी न करने वाला पुरुष धर्म से भी रहित हो जाता है और बिना धर्म के अर्थ और काम भी सिद्ध नहीं होते। इससे भगवान् ने यही उपदेश किया है कि कोई न कोई यज्ञ करना सबके लिये आवश्यक है (३१)





## सत्तरवां-पुष्प

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।  
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥४॥३२॥  
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।  
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥  
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।  
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥  
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।  
येन भूतान्यशेषेण द्रक्षस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥  
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।  
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यति ॥३६॥  
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।  
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥३७॥

पूर्वोक्त सब यज्ञ प्रकरण का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार बहुत से भिन्न-भिन्न यज्ञ ब्रह्म के मुख में विस्तृत हैं। श्रीशंकराचार्य ब्रह्म शब्द का वेद अर्थ करते हैं, अर्थात् वेद के मुख में ये सब यज्ञ विस्तृत हैं। यहाँ आचार्यश्री का यह भी इङ्गित प्रतीत होता है कि वेद के द्वारा ही हमें इन सब यज्ञों का ज्ञान होता है, इससे ये सब यज्ञ ब्रह्मा के मुख से ही प्रकट हुए हैं, यह भी जाना जाता है और सब उनके अनुयायी व्याख्याकार वेद के मुख अर्थात् प्रारम्भ में पूर्व काण्ड में ब्राह्मण विस्तृत हैं, ऐसी ही व्याख्या करते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य यह अर्थ करते हैं कि ये सब यज्ञ ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के मुख अर्थात् प्राप्ति के उपाय रूप से विस्तृत हैं। तात्पर्य यह है कि इन यज्ञों का अनुष्ठान परमात्मा की प्राप्ति के लिये ही करना चाहिये। पद्य के उत्तरार्द्ध का अर्थ है कि इन सभी यज्ञों को कर्म से उत्पन्न हुआ समझो। तप, योग आदि जो भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ बताये हैं; वे भी कर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। शरीर, वाणी वा मन का कोई न कोई व्यापार सब में ही करना पड़ता है। यद्यपि आत्मा का ही परमात्मा

में हवन जो द्वितीय यज्ञ रूप (शंकराचार्य के मतानुसार) बताया है और इन्द्रिय, कर्म तथा प्राण कर्मों का आत्मसंयम रूप अग्नि में जो हवन पञ्चम यज्ञ में कहा है इनमें शरीर और वाणी के कर्म की आवश्यकता नहीं होती, तथापि मैं “ऐसा हवन करता हूँ” इस प्रकार का मन का व्यापार तो वहाँ भी अपेक्षित होगा ही। इस आशय से भगवान् ने सबको ही कर्मज कहा। इस कर्मज कहने का मुख्य आशय यह है कि सब प्रकार के यज्ञ करते हुए भी आत्मा निर्लिप्त ही रहता है। आत्मा विभु है। उसमें किसी प्रकार का व्यापार हो ही नहीं सकता। इस प्रकार आत्मा को निर्लिप्त मान कर तुम अशुभ संसार से मुक्त हो जाओगे।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि इन यज्ञों में नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान भी अन्तर्गत है। उन नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से तुम अशुभ अर्थात् पाप कर्मों से मुक्त हो जाओगे।

लोकमान्य तिलक ने “ब्राह्मणो मुखे” इन पदों का ऐसा अर्थ किया है कि इन यज्ञों में जो व्यापक दृष्टि बताई गई है उस दृष्टि को प्राप्त करने वाला व्यक्ति सर्वत्र ही ब्रह्मभाव देखता है। इसलिए उसकी यही बुद्धि होती है कि मैं तप, ध्यान आदि यज्ञ भी ब्रह्म के मुख में ही कर रहा हूँ। ब्रह्म का मुख अग्नि प्रसिद्ध है और प्रसिद्ध वैदिक यज्ञ अग्नि में ही होते हैं। इसीलिए प्रत्येक यज्ञ में हवनाधार की अग्निरूप से कल्पना की गई है। यही उपसंहार में भी है कि हवनाधार को ब्रह्म का मुख अग्नि रूप मानकर ही सब यज्ञ करने चाहिये (३२)

आगे ज्ञान यज्ञ की स्तुति अध्याय की परिसमाप्ति तक की जाती है। आरम्भ के उपोद्धात में ही हम लिख चुके हैं कि भगवान् का मुख्य लक्ष्य ज्ञान का उपदेश ही है। अर्जुन का मोह बिना ज्ञानोपदेश के हट नहीं सकता था। इसलिए आरम्भ से ही भगवान् ने ज्ञानोपदेश ही प्रस्तुत किया है। लोकमान्य तिलक यद्यपि भगवद्गीता का मुख्य प्रतिपाद्य कर्मयोग को मानते हैं, किन्तु वे भी ज्ञान मूलक और भक्तिप्रधान ये दो कर्मयोग के विशेषण देते हैं। इसलिए स्थान-स्थान पर ज्ञान की प्रशंसा आवश्यक है।

पद्य का अर्थ है कि हे पार्थ ! द्रव्य अर्थात् हवि आदि ब्रह्म पदार्थों से जो यज्ञ किये जाते हैं, उनकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अति श्रेष्ठ है। इसका कारण उत्तरार्द्ध में बताया गया है कि सब कर्म पूर्ण रूप से ज्ञान में मिलकर समाप्त हो जाते हैं।

यहाँ “सर्वम्” और “अखिलं” ये दोनों कर्म के विशेषण एकार्थ से प्रतीत होते हैं। किन्तु इसका समाधान यही है कि एक को कर्म का विशेषण मान लेना और दूसरे को क्रिया अर्थात् परिसमाप्ति क्रिया का विशेषण मान लेना। इससे यही अर्थ होगा कि सभी कर्म निःशेष रूप से ज्ञान में विलीन हो जाते हैं।

कई व्याख्याकार “अखिलं” का अर्थ कर्म के उपकरण भी करते हैं। अर्थात् कर्म और कर्म के उपकरण सभी ज्ञान में लीन हो जाते हैं। कहीं-कहीं सर्व शब्द से वैदिक याग और अखिल शब्द से स्मार्त यागों का भी ग्रहण किया गया है। सब कर्मों के ज्ञान में लीन हो जाने का अभिप्राय यही है कि सब कर्मों का अन्तिम फल तत्त्व ज्ञान प्राप्त करना ही है। अपना तत्त्वज्ञान रूप फल प्राप्त कराकर कर्मों का परिसमाप्त या लीन हो जाना स्वाभाविक ही है। क्योंकि फल प्रदान पर्यन्त ही संस्कार रूप से कर्म रहते हैं। अपना फल देकर सभी कर्म नष्ट हो जाया करते हैं। अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जैसा द्वितीयाध्याय में कह आये हैं कि कूप, नदी आदि में जितना काम हो सकता है; चारों तरफ ही जल भरा हुआ हो तो वह सभी काम उससे निकल जाता है। इसी प्रकार सब कर्मों का फल ज्ञान से प्राप्त हो जाता है। इस अभिप्राय से सब कर्मों की ज्ञान में परिसमाप्ति बताई गई है (३२)

आगे वह ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय; इसका उपाय बताते हैं कि आचार्य के पास जाकर उनको प्रणाम करते हुए और बार-बार उनसे पूछते हुए, उनकी सेवा करते हुए, उस ज्ञान को तुम प्राप्त करो। जो ज्ञानी अर्थात् शास्त्रजनित ज्ञान वाले और तत्त्व द्रष्टा हैं, अर्थात् न केवल शब्द ज्ञान किन्तु मनन, निदिध्यासन पूर्वक आत्म साक्षात्कार भी जो कर चुके हैं; वे तुम्हें ज्ञान का उपदेश दे देंगे।

यहाँ बहुवचन पद आदरसूचक है, ज्ञान प्राप्ति तो एक ही आचार्य से हो सकती है, बहुतों की आवश्यकता नहीं। इसलिये यही मानना उचित है कि एक ही आचार्य को आदर दिखाने के लिए कहा गया। जैसा कि संस्कृत भाषा में बहुधा आदरार्थ बहुवचन देखा जाता है। कई व्याख्याकार बहुवचन का यह भी अभिप्राय लगाते हैं कि उपदेश तो एक ही आचार्य से प्राप्त करो, किन्तु अन्य तत्त्वदर्शियों से प्रणिपात-सेवा आदि करते हुए प्रश्न रूप से जिज्ञासा किया करो। इस प्रकार बहुतों के साथ सम्भाषण से ज्ञान की लगन बढ़ेगी और शीघ्र ज्ञान प्राप्त कर लोगे।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि भगवान् ने ही स्वयं ज्ञान क्यों न दे दिया और आचार्यों के पास जाने को क्यों कहा ? अर्जुन तो “शिष्यस्तेऽहं” कहकर भगवान् से पूर्ण रूप से जिज्ञासा कर चुका है और प्रणिपात, परिप्रश्न आदि भी बार-बार कर ही रहा है। इसका एक समाधान तो हम उपोद्धात प्रकरण में—गीता स्मृति क्यों है ? इसके विवेचन में कर चुके हैं कि यहाँ गुरु-शिष्य भाव से विद्याग्रहण करने का अवसर नहीं है। अर्जुन स्वयं प्रभु बनकर रथी रूप से बैठा है और उपदेष्टा गुरु को उसने अपने सारथि बना रखा है। ऐसी स्थिति में गुरु-शिष्य भाव से उपदेश नहीं हो सकता। दूसरा उत्तर यह भी है कि यहाँ ज्ञान शब्द से आत्म साक्षात्कार पर्यन्त भगवान् को विवक्षित

है। वह काम एक दिन या एक दिन के अंश में नहीं हो सकता। केवल वाचिक उपदेश हो सकता है जो भगवान् कर ही रहे हैं; किन्तु उस पर मनन और निदिध्यासन अर्थात् बार-बार ध्यान बहुत काल में साध्य है। इसी के लिये भगवान् ने युद्ध आदि से निवृत्त होकर किसी आचार्य के पास जाना और उनसे प्रणिपात जिज्ञासा आदि करना तब उनके बताये हुए मार्ग से मनन, निदिध्यान के द्वारा आत्मसाक्षात् कर सकोगे। इसीलिए इस पद्य में “तत् (ज्ञानं) विद्धि” ऐसा कहा गया। “विद्” धातु का अर्थ भी ज्ञान है, उसका कर्म भी ज्ञान कैसे बनेगा “ज्ञान को जानो” यह तो स्पष्ट पुनरुक्ति होगी। इसलिए ज्ञान का अर्थ यहाँ साक्षात्कार ही करना उचित है। साक्षात् के प्रकारों को आचरण से जानो; यह वाक्य समन्वय ठीक हो जाता है।

इस प्रकार आचार्यों की सेवा आदि करने से मुझे क्या फल प्राप्त होगा ? इस जिज्ञासा के समाधान के लिए उसका फल अग्रिम पद्य में बताते हैं कि इस प्रकार आचार्यों से ज्ञान प्राप्त कर तुम फिर इस प्रकार के मोह में न पड़ोगे, जैसा कि स्व और पर मोह तुम्हें हो रहा है और सब भूतों को अपने आप में और फिर मुझमें देखोगे।

हम आरम्भ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि अर्जुन के मोह का मूल अपना और पराया यह भेद-भाव समझना ही था। वैसे तो अर्जुन ने बहुत संग्राम किये थे; उनमें सबमें हिंसा होती ही थी। किन्तु यहाँ अपने आदमियों को युद्ध में खड़ा देखकर उसे मोह हुआ था। इसीलिए उसके कथन का प्रारम्भ भी यहीं से था कि अपने आदमियों को युद्ध में खड़ा देखकर मेरे गात्रों में विषाद हो रहा है, अस्तु, यही स्व और पर का मोह मिटाने के लिए भगवान् कहते हैं कि तुम्हें ज्ञान प्राप्त हो जायगा तो फिर यह स्व और पर का मोह नहीं रहेगा। सब प्राणियों को एक समान देखोगे। वस्तुतः आत्मज्ञान स्वरूप ही है, इसलिये तत्त्व समझकर ज्ञान स्वरूप अपने आप में ही सबको देखोगे और फिर मुझ परमात्मा में ही सबको देखोगे। “मेरे ही सब अंश हैं” यह परम ज्ञान भी प्राप्त करोगे। तात्पर्य यही है कि जीवात्माओं का परस्पर भेद और परमात्मा से उनका भेद, ये दोनों ही प्रकार के भेद, तुम्हारी दृष्टि से हट जायेंगे। सब में अद्वैत भाव ही देखने लगोगे, इससे स्व पर भेद निवृत्त हो जायगा।

कई व्याख्याकार उत्तरार्द्ध के “अथो” शब्द को पूर्वार्द्ध के साथ जोड़कर यह अर्थ करते हैं कि ज्ञान होने के अनन्तर सर्वात्मभूत मुझ परमात्मा में ही सबको देखोगे।

श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त में जीवों का परस्पर भेद और परमात्मा से भी उसका भेद वास्तविक है। वह ज्ञान से नहीं मिट सकता है। इसलिए वे इसका अर्थ करते हैं कि सब भूतों को अपने समान ही देखोगे, क्योंकि ज्ञान सब में एक सा है।

भिन्न-भिन्न होने पर भी कोई विलक्षणता तो उनमें नहीं है। समानता के कारण ही एकरूपता यहाँ बताई गई है और अज्ञान मिट जाने पर जीव परमात्मा के भी समान हो जाता है। इसीलिए श्रुति में कहा है कि “निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति” और गीता में भी “मम साधर्म्यमागता” इस वचन से समानता ही बताई है। “आत्मनि” का अर्थ आत्मा के समान और “मयि” का अर्थ मेरे समान कैसे हो गया, यह तो हमारे बुद्धि का अगम्य विषय है।

“यज्ज्ञात्वा” पद में यत् पद से पूर्व पद्योक्त ज्ञान ही लिया जायगा, फिर “ज्ञानं ज्ञात्वा” में जो पुनरुक्ति सी प्रतीति होती है, इसका समाधान “तद्विद्धिः” पद पर जो लिखा जा चुका है; वही यहाँ समझ लेना चाहिये॥३५॥

कदाचित् अर्जुन के मन में यह शङ्का हो कि जब मैं युद्ध जैसे घोर पाप कर्म से लिप्त हो जाऊँगा, तो फिर मेरे मलिन अन्तःकरा में ज्ञान का उदय ही कैसे होगा और ज्ञान होकर भी उस पाप कर्म से छुटकारा कैसे होगा। बिना कर्म बन्धन से छूटे तो मुक्ति हो ही नहीं सकती, तो इस शंका का उत्तर भगवान् पहिले ही दे देते हैं कि यदि तुम सब पापियों से भी अधिकतर पाप करने वाले होगे तो भी उस ज्ञानरूप नौका से सब पाप समुद्र को पार कर जावोगे।

तत्त्व ज्ञान के लिए प्रयत्न करना भी पाप के क्षय का कारण होता है। इससे ज्ञान की उत्पत्ति में भी पाप कर्म तुम्हें बाधा न देंगे।

उत्तरपद्य में दृष्टान्त से यह सिद्ध किया जाता है कि ज्ञान उत्पन्न होते ही कर्म बन्धन कैसे हट जायगा ? ज्ञान तो उस समय अल्प मात्रा में रहेगा और पाप बहुत बड़ी मात्रा में होंगे। पद्य का अर्थ है कि जैसे जलाया हुआ अग्नि काष्ठ के ढेर को अतिशीघ्र भस्म कर डालता है। इसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि सब कर्मों के ढेर को भस्म कर देता है।

इसका आशय यही है कि ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर रागद्वेष विमुक्त आत्मा में कर्म अपने फल रूप सुख-दुःखों को उत्पन्न नहीं कर सकते। क्योंकि जिसने आत्मा को निर्लिप्त विशुद्ध समझ लिया, उसे सुख-दुःख हो ही कैसे सकेंगे। इससे कर्मों की सुख-दुःखोत्पादन शक्ति नष्ट हो गई, यही कर्मों का भस्म होना है। अब उनमें सुख-दुःख देने की शक्ति कभी न आवेगी। इसीलिए बीज भाव ही नष्ट हो जाने के कारण कर्मों का निःशेष भस्म होना कहा गया। “साति” प्रत्यय यहाँ निःशेष अर्थ में ही है। अन्य वचनों के साथ एकवाक्यता करके इसका आशय यह लेना पड़ता है कि वर्तमान शरीर जिनसे मिला है वे प्रारब्धकर्म तो भस्म होते नहीं, क्योंकि —

### “प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः”

प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही क्षय होता है और अब जो कर्म किये जा रहे हैं; वे क्रियमाण कर्म ज्ञानी में अतिशय पैदा नहीं करेंगे; यह पहिले से ही कहते आ रहे हैं। तब यहाँ पर भी भाव केवल संचित कर्मों का बताया गया है। प्रत्येक वाणी के साथ अनादि काल से किये हुए कर्म, जिन्हें अभी फल देने का अवसर नहीं मिला, उनका एक बहुत बड़ा ढेर रहता है। काल के अनुसार परिपाक प्राप्त कर वे ही भिन्न-भिन्न शरीरों के आरम्भक होते हैं, अर्थात् कर्म के रूप में आते-जाते हैं। ज्ञान उत्पन्न होने पर उनका बीज भाव नष्ट हो जायगा, अर्थात् वे कभी प्रारब्ध कर्म के रूप में आकर जन्म न दिला सकेंगे। जन्म होने का मुख्य कारण अविद्या ही है, वह अविद्या जब ज्ञान से नष्ट हो गई तो फिर जन्म की कथा ही क्या रही ? इसीलिए कर्मों का भी बीज भाव नष्ट होना यहाँ बताया गया। क्रियमाण कर्मों में तो सुख-दुःख, जनन शक्ति ज्ञान के लिए प्रयत्न करती ही जाती रहती हैं, यह कर्मयोग के सिद्धान्त में बार-बार उपदेश किया गया है।



## इकहत्तरवां-पुष्प

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।  
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥४॥३८॥  
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।  
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥  
अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।  
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥  
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।  
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥४१॥  
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।  
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोतिष्ठ भारत ॥४२॥

आगे ज्ञान की ही स्तुति पुनः करते हैं कि ज्ञान के समान और कोई पवित्र वस्तु नहीं है। ज्ञान ही सबसे अधिक रूप से आत्मा को पवित्र करने वाला है। वह ज्ञान केस प्रकार प्राप्त होता है—यह उत्तरार्द्ध में कहा जाता है कि योग अर्थात् कर्मयोग व समाधि योग में सिद्धता प्राप्त हुआ मनुष्य समय पाकर अपने आत्मा में ही ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह शङ्का अवश्य होगी कि अभी इससे चार पद्य पूर्व में तो भगवान् का उपदेश ऐसा कहा जा चुका है कि “आचार्य से प्रणिपात करके पूछो, वे तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे, उससे ज्ञान प्राप्त होगा” और यहाँ यह कहा जाता है कि अपने आप ही आत्मा में समय पाकर ज्ञान का लाभ होजाता है, यह तो पूर्वापर विरुद्ध हुआ। किन्तु रहस्य समझने पर ऐसी शङ्का नहीं रहती।

**रहस्य यह है कि—**

ज्ञान कहीं और जगह से लाना नहीं पड़ता, न ज्ञान किसी का दिया हुआ मिलता है, अपितु ज्ञान आत्मा का स्वरूप है। वह तो नित्य प्राप्त है। स्वरूप अपने से पृथक् कैसे होगा। फिर यहाँ जो ज्ञान का लाभ कहा है, वह लाभ भी “कण्ठचामीकरन्याय” से वा “दशमस्त्वमसि” न्यास से है। इन न्यायों का स्वरूप वेदान्त ग्रन्थों में यह बताया जाता है कि जैसे किसी के गले में सुवर्ण का कण्ठा हो, किन्तु नशे में या प्रमाद से यह समझ ले कि मेरे पास कण्ठा नहीं है और कण्ठा खो गया। कहकर बड़ा

अनुशोचन करने लगे, उस समय कोई दूसरा विज्ञ पुरुष आकर उसे बता दे कि भाई कण्ठा तो तुम्हारे गले में है, अनुशोचन क्यों करते हो ? तब जैसे वह कण्ठा मिल गया कहकर आनन्द में मग्न हो जाता है। वैसे ही आत्मा ज्ञान स्वरूप है और स्वयं प्रकाश है, किन्तु अविद्या के आवरणवश उसका प्रकाश नहीं हो रहा है। जब आचार्य उसे बता देते हैं कि ज्ञान या आनन्द तो तुम्हारा स्वरूप ही है, तब वह जानकर आनन्द मग्न हो उठता है। यही “कण्ठचामीकरन्याय” है।

दूसरा न्याय इस प्रकार है कि दस मनुष्य किसी नदी को पार करने लगे। जब पार कर गये, तब उन्होंने सोचा कि हम सब आ गये, कोई रह तो नहीं गया ? गिनती कर लेनी चाहिए, तब जो गिनती करने लगता वह अपने से अतिरिक्त नौ को गिन लेता और अपने आपको नहीं गिनता। सबने ही ऐसा कर निश्चय किया कि हमारा एक कोई साथी नदी में बह गया। ऐसा समझकर वे सब शोक में पड़ गये और रोने लगे। तब किसी बाहर के समझदार पुरुष ने उनके रोने-धोने का कारण जानकर कहा कि तुम दस के दस तो उपस्थित हो, फिर शोक क्यों करते हो ? उसके सामने भी उन्होंने नौ को गिनकर दिखाया तब उसने कहा कि “दशमस्त्वमसि” अरे दशवाँ तू है तब वे पूरे दस समझ कर शोक भूलकर आनन्द में आ गये। इसी प्रकार कभी-कभी व्यवहार दशा में ऐसा प्रमाद हो जाता है कि वस्तु के उपस्थित रहने पर भी उसका अभाव समझ कर शोक होने लगता है। यही दशा आत्मा के ज्ञान और आनन्द की है। वे आत्मा के स्वरूप होने पर भी अविद्यावश भूले हुये हैं। उन भूले हुआओं को ही आचार्य स्मरण करा देता है। प्रथमतः आचार्य के उपदेश से ही अविद्या का आवरण ज्ञान और आनन्द का स्फुरण होता है, यही उपदेश उपनिषद् वाक्यों में भी कई जगह आया है —

“प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ”

“अनन्य प्रोक्ते गतिरत्रनास्ति”

“आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता” —

इन्हीं वाक्यों के अनुसार भगवान् ने भी यहाँ प्रणाम, सेवा, प्रश्न आदि कर आचार्य से जानने का उपदेश दिया, किन्तु केवल आचार्य के उपदेश से ही अविद्या का आवरण सर्वथा नहीं हट जाता। उसे हटाने के लिए मनन और निदिध्यासन भी करने पड़ते हैं। निदिध्यासन अर्थात् बार-बार ध्यान करने में प्रारब्ध वा कर्मयोग की स्थिति के अनुसार किसी अधिकारी को बहुत समय लग जाता है और किसी को शीघ्र सफलता मिल जाती है। इसीलिए पद्य में “कालेन” यह सामान्य पद दिया है। अपने-



अपने अधिकारानुसार अथवा बहुत काल उससे समझ लेना। इसके अनन्तर पहिले अन्तःकरण की वृत्ति आत्माकार बनती है। इसलिए जिन व्याख्याकारों ने इस पद्य में आत्मा का अर्थ अन्तःकरण किया है वह भी विरुद्ध नहीं होता। अनन्तर वह वृत्ति भी विलीन होकर स्वयं प्रकाशात्मा ही रह जाता है। इस आत्मा की ज्ञानरूपता के प्रकट करने के लिए यह स्पष्ट भगवान् ने बताया कि ज्ञान अपने स्वरूप में ही प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा का स्वरूप ही ज्ञान है, उसे कहीं से उधार नहीं लाना पड़ता। वेदान्त के पञ्चदशी ग्रन्थ में ज्ञान की आत्मस्वरूपता और स्वप्रकाशता स्पष्ट की गई है।

श्री भगवद्गीता में भी आगे पञ्चमाध्याय में कहा जायगा कि -

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ( ॥५॥१६॥ )

इससे भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप है और उसे अज्ञान ने आवृत कर रखा है। वह आवरण दूर होने पर ज्ञान का प्रकाश स्वच्छ हो जाता है। जैसे सूर्य पर बादल का आवरण आया हो और उसके हट जाने पर सूर्य का प्रकाश हमारे लिए स्वच्छ हो जाता है। इस पद्य से पूर्वोक्त प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार समझ लेने पर गीता में पूर्वापर विरोध की कोई शङ्का नहीं रह जाती (३८)

आगे ज्ञान का प्रकाश होने के अन्तरङ्ग साधन कहते हैं कि श्रद्धावान्, तत्पर अर्थात् सब प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिसे लगन हो और इन्द्रियों का संयमन जिसने किया हो—इन्द्रियाँ जिसके वश में हों वह ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। ज्ञान प्राप्त करके बहुत शीघ्र परमशान्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पूर्वोक्त आचार्य के प्रति प्रणिपात, परिप्रश्न आदि तो ज्ञान के बहिरङ्ग साधन हैं। ज्ञान प्राप्ति का अन्तरङ्ग साधन तो गुरु, शास्त्र वचन आदि में श्रद्धा है। दोष दर्शन की वृत्ति मनुष्यों में स्वभावतः होती है। उस वृत्ति की प्रतिबन्धक वृत्ति को “श्रद्धा” कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि जिसमें मनुष्य की श्रद्धा हो उसमें दोष देखने की वृत्ति का कभी उदय ही नहीं होता, उस वृत्ति को रोक देने वाली अन्तःकरण की वृत्ति ही “श्रद्धा” कही जाती है। अथवा “श्रत्” यह अव्यय चेप के अर्थ में आता है। जिस पर अपना अन्तःकरण चिपक-सा गया हो, उस अन्तःकरण के चेप को ही “श्रद्धा” कहते हैं। श्रद्धा होने पर भी जिसे लगन न होगी उसे ज्ञान प्राप्त करने में विलम्ब लगेगा। इसलिए तत्परता को भी साथ कहा गया और श्रद्धा भी हो, लगन भी हो, किन्तु इन्द्रियाँ वश में नहीं हों तो वह श्रद्धा और लगन भी कुछ न कर सकेंगी। इन्द्रियाँ ही पुरुष को चक्कर में भटकाती रहेंगी। इस आशय से इन्द्रिय संयम भी कहा गया। ये

ज्ञानों अन्तरङ्ग साधन इकट्ठे हो जाने पर आचार्योपदेश से ज्ञान अवश्य प्राप्त होगा और ज्ञान प्राप्त होने पर चित्त की चञ्चलता मिटकर तत्काल ही शान्ति प्राप्त हो जायगी और आगे उसे शान्ति रूप मोक्ष प्राप्त करने में भी विलम्ब न लगेगा। जैसा कि कहा जा चुका है—मोक्ष परमानन्द का नाम है, और वह आनन्द भी आत्मा का स्वरूप ही है। अज्ञान का आवरण दूर होते ही आत्मस्वरूप आनन्द तत्काल मिल जाता है। आनन्द का मिलना भी पूर्वोक्त “कण्ठचामीकरन्याय” से ही समझना चाहिये। इसका एक और भी दृष्टान्त दिया जाता है कि जैसे कस्तूरी मृग के अणु में ही कस्तूरी रहती है, किन्तु इसका गन्ध आने पर मृग उस गन्ध को बाहर से आया हुआ समझ लेता है और उसकी प्राप्ति के लिए चारों ओर भटकता रहता है। यही दशा सब प्राणियों की है। आनन्द उसके आत्मा में है, किन्तु वे आनन्द को बाहर की वस्तु समझ कर वे बाहर विषयों में भटकते रहते हैं। आनन्द भी दो प्रकार का माना जाता है : शान्त्यानन्द और समृद्ध्यानन्द। उनमें शान्त्यानन्द ही मुख्य है और वही आत्मा का स्वरूप है। विषयों में जो आनन्द की झलक कभी-कभी दिखाई पड़ती है, वह भी अन्तःकरण के स्थिर होने पर आत्मानन्द का ही आभास है। इस विषय का विवरण हम पूर्व कर चुके हैं। इसलिए यहाँ पुनरुक्ति न करेंगे (३९)

उक्त पद्य में श्रद्धा और ज्ञान का महत्व दिखाकर आगे जिसे दोनों नहीं हैं, उस पुरुष की निन्दा की जाती है कि जो अज्ञ है अर्थात् आत्मज्ञान जिसे प्राप्त नहीं हुआ और गुरु और शास्त्र के वचनों में जिसे श्रद्धा भी नहीं है, साथ ही जिसके अन्तःकरण में निरन्तर सन्देह रहा करता है कि न जाने परलोक कोई है या नहीं। जीव के बन्धन, मोक्ष वास्तविक हैं या यह कोरा ढकोसला ही है। मुझे मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिये या सांसारिक भोगों के आनन्द में ही रहना चाहिए ? इत्यादि रूप संशय जिसके मन में सदा बने रहते हैं, वह पुरुष तो नष्ट ही होगा, अर्थात् सदा संसार चक्र में घूमता रहेगा। मोक्ष की ओर झुकना उसका संभव ही नहीं।

नीति वेत्ताओं ने भी कहा है कि —

**अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।**

**ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति ॥**

अर्थात् जो कुछ भी नहीं जानता उसे सिखाया जा सकता है और जो विशेष जानता है, उसे संकेत मात्र से ही कोई नया विषय समझाया जा सकता है। किन्तु जो थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर उसी के आधार पर अभिमानी हो गया है, उस पुरुष को तो ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकता। महात्मा भर्तृहरि ने भी नीतिशतक में बड़े प्रपञ्च से लिखा

है कि—चाहे कोई बड़े यत्न से बालू में से तेल निकाल ले और चाहे कोई मृग तृष्णा के जल से भी अपनी प्यास बुझा ले। इसी प्रकार इधर-उधर भटकता हुआ कहीं शश (खरगोश) का शृङ्ग भी प्राप्त कर ले। किन्तु जो मूर्ख होकर भी अपने विचारों का आग्रही है, उस मनुष्य के चित्त को कोई भी नहीं बदल सकता। ऐसे ही पुरुष का वर्णन इस पद्य में भी किया गया है कि जो स्वयं जानता भी नहीं और बड़े पुरुषों के या प्राचीन ग्रन्थों के वाक्यों पर श्रद्धा भी नहीं रखता अर्थात् उनमें दोष ही निकालता रहता है, वह सब विषयों में सदा संदेह ही करता रहता है। उसके उद्धार का कोई उपाय नहीं।

आगे सब विषयों में सन्देह रखने वाले की घोर निन्दा करते हैं कि जिसका अन्तःकरण सदा सन्देहों से भरा रहता है, वह तो इस लोक में भी कोई प्रतिष्ठा या सुख नहीं पा सकता और न अपना परलोक ही सुधार सकता है, न उसे कुछ सुख ही मिल सकता है। सुख के साधनों में भी उसे सदा ही सन्देह बना रहेगा। जैसा कि ऐसे ही पुरुष का किस्सा कहा करते हैं कि किसी प्रतिष्ठित पुरुष के यहाँ कोई नौकर था, उसके स्वामी ने एक दिन कहा कि घर में कोई रोगी है, उसके लिए अमुक वैद्य जी को बुला लाओ। यह सुनकर उसने नाना सन्देह उपस्थित किये कि यदि मैं वहाँ गया और वैद्य जी न मिले तो जाना व्यर्थ ही होगा। यदि मिल भी गये और दूसरे कार्य में लगे होंगे तो भी वे न आ सकेंगे। यदि आ भी गये और उनकी औषधि से कोई लाभ न हुआ तो यह सब आयोजन व्यर्थ ही होगा, इत्यादि, उसकी बातें सुनकर स्वामी ने उसे निकाल दिया। निरन्तर संशयाक्रान्त रहने वाले की यही दशा होती है। उसका यह लोक, बाहर लोक कुछ भी नहीं बनता और कोई सांसारिक सुख भी उसे प्राप्त नहीं हो सकता। इस वाक्य से भगवान् अर्जुन पर कटाक्ष करते हैं कि तुम्हारा अन्तःकरण भी इस समय संशयों से घिर गया है। उसमें धर्माधर्म का कोई निर्णय नहीं हो पाता, इस संशय को छोड़ो, अन्यथा तुम भी इसी गति में गिरोगे (४०)

आगे योग्य पुरुषों का कर्तव्य बताते हैं कि हे धनञ्जय ! जिनने योग अर्थात् समाधि दशा प्राप्त कर कर्मों का संन्यास कर दिया है अर्थात् सब कर्म छोड़ दिये हैं और आत्मज्ञान हो जाने से जिसके सब संशय भी छिन्न-भिन्न हो गये हैं ऐसे आत्मवान् अर्थात् आत्मा को जानने वाले पुरुष को या दृढ़ अन्तःकरण वाले पुरुष को कोई कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते।

श्रीरामानुजाचार्य इसका अर्थ करते हैं कि योग अर्थात् पूर्वकथित ज्ञानयोग से जिसके सब कर्म ज्ञान रूप में परिणत हो गये हैं और ज्ञान से आत्मज्ञान दृढ़ हो जाने से जिसके सब संशय दूर हो गये हैं, उस मनस्वी पुरुष को पुराने संचित कर्म भी बन्धन में नहीं डाल सकते।

लोकमान्यतिलक का तो यह सिद्धान्त है कि गीता में केवल योग पद जहाँ आया है, वह कर्मयोग का ही बोध कराता है। इसके अनुसार वे यही अर्थ करते हैं कि योग अर्थात् कर्म योग से जिसने कर्मों का अर्थात् कर्म फलों का संन्यास कर दिया है और ज्ञान से जिसके संशय दूर हो गये हैं इस आत्मज्ञानी पुरुष को कोई कर्म बन्धन में नहीं डाल सकते। इस प्रकार उनके मत में यहाँ संन्यास शब्द का अर्थ भी फल संन्यास ही है। किन्तु ऐसी व्याख्या करने पर पञ्चमाध्याय के आरम्भ का अर्जुन का प्रश्न नहीं बन सकता, उस प्रश्न को स्वारसिक बनाने के लिए यहाँ संन्यास शब्द का अर्थ कर्मसंन्यास ही करना उचित है। तभी इस पद्य में संन्यास कहा और अग्रिम पद्य में पुनः कर्मयोग का उपदेश देते हैं, इससे वह प्रश्न बन जाता है जैसा कि आगे स्पष्ट होगा।

अब सन्देह यह होगा कि जब कर्मों का स्वरूपतः संन्यास ही बताया गया, तब कर्म रहे ही कहाँ जो बन्धन में डाल सकते हैं। फिर उस पुरुष को कोई कर्म बन्धन में नहीं डालते यह इस श्लोक का कथन ही कैसे संगत होगा ? इसका उत्तर यही है कि श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार “कर्म बन्धन में नहीं डालते” यहाँ कर्म शब्द का अर्थ संचित कर्म ही लेना चाहिये। जैसे कि पूर्व कहा जा चुका है कि ज्ञान रूप अग्नि संचित कर्मों को भी जलाकर भस्म कर देता है, उसी का यहाँ पुनः संकेत किया गया।

तात्पर्य यह है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। अनादि काल से जीवात्मा जो कर्म करता रहा और उन कर्मों को अभी अपना फल देने का अवसर नहीं मिला वे “संचित कर्म” कहे जाते हैं और जो उनमें से अपना फल देने के लिए वर्तमान जन्म के कारण बनते हैं, वे “प्रारब्ध कर्म” कहे जाते हैं एवं इस जन्म में किये जाकर जो कर्म अपना संस्कार आत्मा में उत्पन्न करते हैं वे “क्रियमाण कर्म” नाम से व्यवहृत हो रहे हैं। उनमें से इस पद्य में कहे गये पुरुष वे क्रियमाण कर्म तो कर्मसंन्यास के कारण होंगे ही नहीं, और प्रारब्ध कर्मों का भोग से ही नाश होगा। तब बचे “संचित कर्म”। वे ज्ञान रूप अग्नि से नष्ट हो जाते हैं तब कोई भी कर्म उक्त पुरुष को बन्धन में नहीं डाल सकते। अथवा जब तक शरीर है तब तक शरीर यात्रा के लिए संन्यास दशा में भी जो भिक्षा आदि कर्म करेगा, अथवा शरीर धर्म रूप से जो वृथा चेष्टा रूप कर्म करता रहेगा वे कर्म बन्धन में नहीं डालते, यह भी अभिप्राय लगाया जा सकता। यही इस पद्य का आशय हुआ (४१)

आगे उपसंहार करते हैं कि हे भारत ! यह सब समझ कर जो तुम्हारे हृदय में अज्ञान से उत्पन्न संशय स्थान प्राप्त कर रहा है, इस संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काट कर कर्मयोग में प्रवृत्त हो जाओ और युद्ध के लिये खड़े हो जाओ।

पहिले ज्ञान को अग्निरूप कह कर उससे कर्म का भस्म होना कहा गया है और यहाँ उसी ज्ञान को खड्ग रूप बताकर उससे संशय का छेदन बताया है। इसका आशय यह है कि कर्म जनित संस्कार आत्मा पर आगन्तुक है। उनके जलाने पर आत्मा की कोई क्षति नहीं होगी। इसलिए निःशेष रूप से हटाने के लिए उनका जलाना ही ठीक है। इस आशय से ज्ञान को अग्नि का रूप देकर कर्म जनित संस्कारों का उससे भस्म होना कहा गया, किन्तु “संशय” अन्तःकरण की वृत्ति है, वह अन्तःकरण का ही एक अंश हुआ, उसका जलाना अन्तःकरण का ही जलाना होगा। अन्तःकरण आत्मा से नित्य संबद्ध है, वहाँ तो यही उचित होगा कि उस संशय वृत्ति के अंश को काट कर अन्तःकरण से निकाल दिया जाय। काटना शस्त्र से ही हो सकता है। इसलिए ज्ञान को तलवार का रूपक देकर उससे संशय का काटना ही बतलाया गया। इसी आशय से संशय को हृदय में स्थित कहा है। शरीर में कोई व्रण हो जाय तो उसे काट कर ही निकालना उचित होता है। इसलिए यहाँ संशय का छेदन साहित्य दृष्टि से भी बहुत उपयुक्त कहा गया है (४२)

॥इति चतुर्थोऽध्यायः॥



## अथ पंचम-अध्याय बहत्तरवां-पुष्प

अर्जुन उवाच-

संन्यासं कर्मणां कृष्ण ! पुनर्योगं च शंससि ।

यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

श्री भगवानुवाच-

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।

तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

पूर्वाध्याय में पहिले कर्मयोग का ही प्रधान रूप से प्रतिपादन हो रहा था। किन्तु अन्त में आकर यज्ञों के प्रकरण में उपसंहार में यह कहा गया कि द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है और यह भी कहा कि सब कर्म ज्ञान में ही परिसमाप्त हो जाते हैं अर्थात् ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर कोई कर्तव्य नहीं रहता। अध्याय के उपसंहार में भी “योगसंन्यस्तकर्माणं” इसके जो दो अर्थ किये गये हैं, उनमें एक अर्थ के द्वारा स्पष्ट रूप से कर्म संन्यास कहा गया; इस प्रकार ज्ञान की श्रेष्ठता ज्ञान में ही कर्म की परिसमाप्ति और स्पष्ट शब्दों में संन्यास का विधान करके भी अन्तिम पद्य में पुनरपि कर्मयोग के लिये अर्जुन को उठने अर्थात् युद्ध-समुद्यत होने का जो उपदेश दिया, उससे अर्जुन के चित्त में फिर सन्देह हो गया। इस सन्देह को मिटाने के लिए वह पुनः प्रश्न करता है कि हे कृष्ण ! इस सम्बोधन का अभिप्राय है कि आप भक्तों के चित्त के आकर्षण करने वाले हैं, आपको अपने भक्तों के लिये उत्तम ही मार्ग बताना चाहिये किन्तु आप मुझे कर्मसंन्यास भी कहते हैं और फिर भी कर्मयोग रूप युद्ध में प्रवृत्ति की प्रेरणा कर रहे हैं; दोनों परस्पर विरुद्ध कार्य तो हो नहीं सकते, इसलिये एक ऐसा निश्चित मार्ग बताइये जो दोनों में श्रेष्ठ हो उसी का अनुष्ठान मैं करूँगा।

श्रीभगवान् उत्तर देते हैं कि संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याण देने वाले हैं किन्तु उन दोनों में भी कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेषता रखता है।

यह प्रश्नोत्तर उस अधिकारी के लिए है जो पूर्ण ज्ञान न कर चुका हो। अभी साधन दशा में ही हो-ऐसा श्रीशंकराचार्य और उनके अनुयायी अन्य व्याख्याता भी मानते हैं। क्योंकि पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर तो कर्मयोग बन ही नहीं सकता। जब पूर्ण ज्ञान से अहंकार का क्षय हो गया, देहादि अभिमान ही नहीं रहा, तब देह आदि

को कर्म में वह प्रवृत्त ही क्यों करेगा और किसी वस्तु की उसे इच्छा भी नहीं है इसलिये भी कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यह सब श्रीशंकराचार्य के मतानुसार हम तृतीयाध्याय के आरम्भ में स्पष्ट कर चुके हैं। तब यह प्रश्नोत्तर साधन दशा में ही बन सकता है। तृतीयाध्याय के आरम्भ में भगवान् ने अधिकारी के भेद से दो मार्ग बताये थे और उनमें भी मुख्य ज्ञान योग को प्राप्त करने के लिये आरम्भिक दशा में कर्मयोग की आवश्यकता तीसरे और चौथे अध्याय में प्रपञ्चित की गई किन्तु चौथे अध्याय के अन्त में कर्मयोग के प्रसंग में ही यज्ञ निरूपण में कर्मसंन्यास का उपदेश दिया। इसलिये अर्जुन को पुनः सन्देह हो गया कि आप कर्मसंन्यास भी कहते जाते हैं और फिर भी मुझे युद्ध के लिये खड़ा होने को कहते हैं और कर्मयोग में ही प्रवृत्त रहने की आज्ञा देते हैं, इससे मेरी बुद्धि में चञ्चलता होती है कृपा कर एक मार्ग बताइये। इस पर भगवान् ने उत्तर में कर्मयोग को ही श्रेष्ठ बताया, यह कर्मयोग की स्तुति मात्र है। स्तुति इसलिये की गई है कि अर्जुन को उसके अधिकारानुसार कर्मयोग में ही प्रवृत्त करना है। चतुर्थ अध्याय के अन्त के पद्यों से स्पष्ट हो चुका है कि वह अभी ज्ञानी नहीं है। जिस कार्य में प्रवृत्त करना हो उसकी स्तुति उसी मार्ग में रुचि बढ़ाने के लिये आवश्यक है। यही शास्त्रों का नियम है, इसीलिये यहाँ कर्मयोग की स्तुति की गई। यही श्रीशंकराचार्य के मत में पूर्व अध्यायों के साथ इस अध्याय की संगति है।

श्रीरामानुजाचार्य पूर्व के साथ इस अध्याय की संगति बताते हैं कि चतुर्थाध्याय के अन्त में “योगसंसिद्धः ज्ञानं स्वयं विन्दति” यह कहकर कर्मयोग ही ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है, यह आदेश स्पष्ट किया। किन्तु ज्ञान हो जाने पर भी कर्मयोग की ज्ञान में प्रमाद न होने के लिए और शीघ्र सिद्धि प्राप्त होने के लिये या सुगम होने के कारण आवश्यकता है। यह भी तृतीय, चतुर्थ अध्याय में बार-बार भगवान् कहते आये हैं और इसीलिये ज्ञान प्राप्ति का उपदेश देकर भी अर्जुन को कर्मयोग रूप युद्ध में प्रवृत्ति का ही उपदेश दिया। उसी ज्ञान और कर्म के शोधन के लिये पञ्चमाध्याय का आरम्भ है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती बड़े प्रपञ्च से यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिये उद्योग करने वाले जिज्ञासु जनों को भी श्रुति ने अनासक्ति पूर्वक कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों ही मार्ग बतलाये हैं और भगवद्गीता में भी स्थान-स्थान पर जिज्ञासु जनों के लिये दोनों ही मार्गों का उपदेश मिला है। इसीलिये अर्जुन का यहाँ प्रश्न है कि इन दोनों मार्गों में कौन श्रेष्ठ है ? ज्ञानी के लिये तो सर्वकर्म संन्यास ही आवश्यक है, यही उन्होंने भी बड़े प्रपञ्च से सिद्ध किया है। तात्पर्य यह है कि जो अभी ज्ञान प्राप्त नहीं कर चुका उसी के लिये दोनों मार्ग हैं। इनमें यदि वह अधिकारी स्वतः विरक्त

हो तो उसके लिये कर्मसंन्यास है और यदि वैराग्य भी न हो तो उसके लिये कर्मयोग है। यह निर्णय पञ्चम और षष्ठ अध्यायों में किया जाता है। यही श्रीमधुसूदनसरस्वती के मतानुसार इन अध्यायों की संगति है। तृतीयाध्याय में दो प्रकार के निष्ठा भेद सुनकर भी जो अर्जुन ने पुनः संशय उपस्थित किया उसका भी यही कारण है कि अज्ञ पुरुष के लिये जो दोनों मार्ग बताये गये हैं उनमें भी एक निश्चित श्रेष्ठ मार्ग आप मुझे कृपा कर बतावें तो मैं उसी पर चलूँ। पद्य में जो 'पुनः' पद आया है उसका भी कई व्याख्याकार यही अर्थ करते हैं कि आपने वेद में भी दोनों मार्गों का उपदेश दिया है और फिर इस उपदेश में भी दोनों ही मार्ग बता रहे हैं, इनमें से एक ही कहिये। ऐसा ही अभिप्राय श्रीमधुसूदनसरस्वती का भी व्यक्त होता है।

किन्तु लोकमान्यतिलक इन व्याख्याकारों की उक्त प्रकार की संगति नहीं मानते। उनके मत में यह प्रश्न पूर्ण ज्ञानी के विषय में ही है। तृतीयाध्याय में भी दो प्रकार के मार्ग ज्ञानी के लिये ही बताये गये हैं और वहीं से आरम्भ कर यह भी सिद्ध किया गया है कि बिना कर्मयोग के संन्यास बन ही नहीं सकता और सब कर्मों का संन्यास तो असम्भव ही है। आगे के उपदेश के पद्यों से यही सिद्ध होता है कि यह प्रश्नोत्तर ज्ञानी के सम्बन्ध में ही है। इसीलिये आगे "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः" इत्यादि पद्यों में दोनों मार्गों की फलतः एकता ही सिद्ध की है। यह ठीक है कि अहंकारपूर्वक या फल की इच्छा से कर्म ज्ञानी नहीं कर सकता किन्तु जगच्चक्र चलाना रूप यज्ञ के लिये या लोक संग्रह के लिए अहंकार और फलाशा छोड़कर भी ज्ञानी लोग कर्म करते हैं यह राजर्षि जनक के दृष्टान्त से ओर अपने स्वयं के दृष्टान्त से भी भगवान् सिद्ध कर चुके हैं। गीता में यही विचार मुख्य है कि ज्ञानी पुरुष भी यज्ञार्थ वा लोकसंग्रहार्थ कर्म करता रहे या कर्म संन्यास कर ले। इन दोनों पक्षों में पूर्व मत ही भगवान् को इष्ट है यह गीता में बार बार उपदेश है। इसी विचार से यह प्रश्न भी ज्ञानी के सम्बन्ध में ही उपयुक्त होता है और भगवान् ने उसी के सम्बन्ध में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बताया है। ज्ञान हो जाने पर भी जब तक प्रारब्ध कर्मवश शरीर है तब तक कर्म करते ही रहना यही भगवान् को अभिमत है जैसा कि आगे के पद्यों में स्पष्ट हो जायगा। तृतीयाध्याय के साथ वे इस पुनः प्रश्न की संगति इस प्रकार लगाते हैं कि तृतीयाध्याय में दोनों मार्ग बतलाये गये और उनमें कर्मसंन्यास की प्राप्ति बिना कर्मयोग के नहीं हो सकती या जगच्चक्र परिचालन रूप यज्ञ के लिये भी कर्म करते रहना चाहिये। इस विषय का विवरण तीसरे-चौथे अध्याय में हुआ। अब यहाँ पुनः प्रश्न करने का अर्जुन का अभिप्राय यही है कि जब सांख्य मार्ग और कर्म मार्ग दोनों ही शास्त्र सिद्ध हैं तो फिर अपनी रुचि के अनुसार कोई पुरुष सांख्य मार्ग का ही ग्रहण



करें इसमें क्षति क्या है ? ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण आप मुझे कर्मयोग में ही प्रवृत्त होने का बार-बार उपदेश देते हैं इसीलिये कर्मयोग की विशेषता बताने को इस अध्याय का आरम्भ है। इसमें फलतः दोनों मार्गों की एकता का वर्णन भी आगे होने वाला है। यह भी श्रीशङ्कराचार्य का मत ठीक है कि मोक्ष प्राप्ति में कर्म का कोई उपयोग नहीं। मोक्ष केवल ज्ञान से ही प्राप्त होता है किन्तु लोकसंग्रह के लिये, लोक व्यवहार चलाने के लिये, ज्ञानी को भी अहंकार और आसक्ति छोड़कर कर्म करते रहना चाहिये—यही गीता में भगवान् का उपदेश है। तृतीयाध्याय में हमने लिखा है कि लोकमान्यतिलक कर्मयोग से ज्ञान प्राप्ति होती है यह नहीं मानते, अपितु कर्मयोग बिना ज्ञान के बन ही नहीं सकता इसलिये ज्ञान कर्मयोग के अन्तर्गत ही हो जाता है किन्तु यहाँ चतुर्थाध्याय के अन्त में “तत्स्वयं योगसंसिद्धः” इस पद्य की व्याख्या में योग शब्द का अर्थ उन्होंने कर्मयोग ही किया है इससे कर्मयोग के द्वारा ज्ञान प्राप्ति होना तो सिद्ध हो जाता है। प्रकृत पद्य में उन्होंने स्पष्ट भी मान लिया है कि कर्मयोग दोनों दशाओं में होता है। जिज्ञासु दशा में ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से ही यज्ञादि कर्म करना चाहिये यह तो सभी मानते हैं किन्तु पूर्ण ज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की ही विशेषता यहाँ बताई गई है। इसे केवल स्तुति प्रशंसा के लिये ही नहीं कहा जा सकता क्योंकि अर्जुन का प्रश्न वास्तविक विशेषता जानने के लिये है। “श्रेयः” शब्द को वैयाकरण प्रशस्य शब्द से ही सिद्ध करते हैं और आगे का ‘ईयसुन्’ प्रत्यय भी दो में तारतम्य बताने के लिये ही प्रयुक्त होता है और भगवान् के उत्तर में भी “तयोस्तु” यह ‘तु’ अव्यय जो आया है वह भी इस बात को ध्वनित कर रहा है कि दोनों मार्गों में तारतम्य ही यहाँ बताया गया और “विशिष्यते” पद से कर्मयोग की विशेषता स्पष्ट कही गई, इसलिये केवल स्तुतिवाद का यहाँ प्रसंग ही नहीं रहता। ‘पुनः’ पद से जो कई व्याख्याकारों ने भगवान् के कहे हुए अन्य वेदादि का ग्रहण किया है वह भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यहाँ अर्जुन सब शास्त्रों की व्यवस्था समझने नहीं बैठा था, न भगवान् ही वेदादि शास्त्रों की व्यवस्था करने के लिये उद्यत थे। यहाँ तो युद्ध में अर्जुन को प्रवृत्त करने के लिये यह उपदेश था इसलिये गीता के विषयों को ही गीता में व्यवस्थित करना चाहिये। पुनः पद का स्पष्ट अर्थ है कि संन्यास कहकर भी फिर आप कर्मयोग कह रहे हैं जैसा कि चतुर्थाध्याय में हम स्पष्ट कर चुके हैं, इसलिये पूर्वापर संगति से कर्मसंन्यास की अपेक्षा ज्ञानी के लिये भी कर्मयोग को श्रेष्ठ बताना ही भगवान् का स्पष्ट अभिप्राय इन पद्यों से प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि ज्ञानी को कर्म करने में अपना प्रयोजन कुछ नहीं है तथापि अन्य प्राणियों का भी हित करना उन्हें उत्तम मार्ग में लगाना ज्ञानी का भी स्वभाव सिद्ध ही होता है।

वह केवल अपनी मुक्ति के लिये ही कर्म करे ऐसा उसका स्वभाव नहीं बनता। वह तो स्वभावतः यही चाहेगा कि मेरे समान सब प्राणी ही उत्तम मार्ग में चलते हुए मुक्ति प्राप्त करें। अतः अन्य प्राणियों को सन्मार्ग का उपदेश देने के लिये ही ज्ञानी भी कर्म करता है। यदि ज्ञानी कर्म न करे तो सर्व साधारण किसके आदर्श से उपदेश प्राप्त करें। अज्ञानी को आदर्श बनाने पर तो उनकी यही दशा होगी कि -

“अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे”

अर्थात् अन्धा पुरुष किसी दूसरे अन्धे का ही सहारा ले तो पद पद में वह गिरेगा, यह अवश्यंभावी है। इसलिये अज्ञानी को तो आदर्श बनाना उचित नहीं और ज्ञानी कर्म करेगा नहीं, तब साधारण जिज्ञासु जन किसके आदर्श से शिक्षा प्राप्त करेंगे, इसलिये सब जनता के हित के लिये उन्हें सन्मार्ग का उपदेश देने के लिये ज्ञानी को भी कर्म करना चाहिये। इसी उद्देश्य से भगवान् ने भी गीता में सब प्राणियों का हित करना कई जगह आवश्यक माना है। जैसा कि दैवी सम्पत्ति के लक्षणों में-

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥

(गी०अ० १६ श्लो० २)

उपासना के प्रकरण में-

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ इत्यादि

और भी-

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (गी० ५।७)

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ (गी० ५।२५)

शिष्टाचार भी ऐसा ही देखा जाता है। स्वयं भगवान् श्रीशंकराचार्य जो गीता में सर्वकर्मसंन्यास को ही मुख्य प्रतिपाद्य मानते हैं उन्होंने स्वयं लोकहितार्थ कितने कर्म किये इसी पर दृष्टि डालिये। इतने ग्रन्थों का निर्माण उनका लोकहित के लिये ही तो था। शारीरिक भाष्य में अन्य सब दर्शनों का बड़े आवेश से खण्डन भी इसीलिये तो है कि लोक भ्रान्ति में न पड़े। मण्डन मिश्र आदि से शास्त्रार्थ जो उनके जीवन चरित्र में प्रसिद्ध है उसका भी तो उद्देश्य भ्रान्त मण्डन मिश्र पर या उनके उपदेश से भ्रान्त जनता की भ्रान्ति निवारणार्थ ही तो कहा जायगा और उनका अपने लिये इन कार्यों में क्या उद्देश्य हो सकता था। स्वयं वेदान्त के सूत्रकार भगवान् वेदव्यास भी कितने कर्मठ रहे, यह पुराणों की आख्यायिकाओं से सिद्ध हो जाता है। अर्जुन को उपदेश

कर तपस्या के लिये भेजना, बार-बार धृतराष्ट्र को उपदेश देना इत्यादि सब कार्य परानुग्रह के लिये ही तो कहे जा सकते हैं। क्या भगवान् व्यास ज्ञानी नहीं थे ? ऐसा कौन कह सकता है ? ज्ञानी होकर भी लोकानुग्रह बुद्धि से और धर्म रक्षा की भावना से सदा ही वे कर्मयोगी रहे। गीता के प्रवक्ता भगवान् कृष्ण ने तो अपना दृष्टान्त स्वयं ही अर्जुन के प्रति उपस्थित किया है कि मुझे संसार में कुछ भी पाना नहीं है तो भी लोकानुग्रह के लिये मैं कर्म करता ही रहता हूँ। इसी प्रकार वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि के भी लोकोपकार बुद्धि से कर्म पुराणादि में सुने जाते हैं। यह सब गीता में कहे गये “लोकसंग्रह” पद की व्याख्या के अन्तर्गत हो जाता है और इसे ही व्यवहार दृष्टि में उत्कृष्ट कर्म कहा जा सकता है। बस कर्मसंन्यास से केवल अपना ही मोक्ष मार्ग सिद्ध होगा। मनन, निदिध्यासन में ही सब समय लगाने के उद्देश्य से ही कर्मसंन्यास गीता के व्याख्याकारों ने बताया है। उस मनन और निदिध्यासन से अपनी मोक्ष प्राप्ति ही सिद्ध होगी और कर्मयोगी अपनी मोक्ष प्राप्ति के साथ-साथ सब जनता का हित भी सम्पादित करता रहेगा, अपने उपदेश और आदर्श दोनों से ही सर्व साधारण को कर्म मार्ग में प्रवृत्त करता रहेगा। निष्काम कर्म की शिक्षा से वे भी शनैः शनैः मोक्षमार्ग के अनुगामी बन जायेंगे। इन्हीं सब विचारों को दृष्टि में रखकर भगवान् ने कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को विशिष्ट बतलाया। यही व्याख्या समुचित प्रतीत होती है (१-२)



## तिहत्तरहवां-पुष्प

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो ! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

हे महाबाहु अर्जुन ! जो पुरुष किसी के साथ द्वेष नहीं करता और न किसी वस्तु की इच्छा करता है उसे नित्य संन्यासी अर्थात् सच्चा संन्यासी समझना चाहिये। क्योंकि जिसके राग-द्वेष; सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्व छूट गये वह सुखपूर्वक अर्थात् बिना परिश्रम के ही बन्धन से छूट जाता है।

सुख-दुःख, शीत-उष्ण, राग-द्वेष, ये परस्पर विरुद्ध जोड़े ही संसार के स्वरूप हैं। सबके मूल राग-द्वेष ही हैं। उन राग-द्वेषों को छोड़ना ही मुख्य संन्यास है। कर्म छोड़ देने पर भी जिसके मन से राग-द्वेष नहीं निकले वह तो मिथ्याचार-ढोंगी है, यह पूर्व भी कह चुके हैं। इसलिये कर्मों का त्याग तो संन्यास में गौण है। राग-द्वेष का परित्याग ही मुख्य है। उनके परित्याग के बिना कर्मयोग ही नहीं बनता और राग-द्वेष छोड़ देने पर संन्यास भी आ ही गया। केवल लोकसंग्रह बुद्धि से कर्म करते रहना ही कर्मयोग में विशेष है और बन्धन-मुक्ति रूप फल दोनों ही में मिलता है। इसीलिये कर्मयोग को विशेष अर्थात् प्रशंसित कहा गया, इसका विस्तार हम पूर्व पद्य में ही कर चुके हैं (३)

द्वितीयाध्याय से ही जो सांख्य और योग नाम से भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये गये, तृतीयाध्याय में भी प्रश्नोत्तर रूप से जिनकी भिन्नता का विवेचन हुआ वे दोनों मार्ग फल रूप से एक ही हैं। यह अब यहाँ कहा जाता है कि सांख्य और योग मार्गों को भिन्न-भिन्न मार्ग बालक कहा करते हैं। पण्डित ऐसा नहीं मानते अर्थात् वे दोनों को एक ही समझते हैं क्योंकि जो एक पर भी सम्यक् अर्थात् दृढ़ रूप से आस्था रखता है, वह दोनों का ही फल प्राप्त कर लेता है। इसी को दूसरे पद्य में स्पष्ट किया गया है कि सांख्य मार्ग के अनुगामी जो स्थान प्राप्त करते हैं, योग मार्ग के अनुगामी भी वही

स्थान पाते हैं। इस फल के विचार से सांख्य और योग दोनों को जो एक ही समझाता है वही ठीक है। इसीलिये पूर्व पद्य में उसे पण्डित कहा गया।

गीता में सांख्य और योग शब्द 'सांख्य-योग दर्शन' नाम से प्रसिद्ध दर्शनों के वाचक नहीं, यह पूर्व ही द्वितीय और तृतीय अध्यायों में स्पष्ट कर चुके हैं। यहाँ 'सांख्य' पद कर्मसंन्यास मार्ग के लिये कहा गया है और 'योग' शब्द कर्मयोग के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह भी विस्तार से पूर्व कहा जा चुका है। इसी आशय को लेकर भगवान् यहाँ सांख्य और योग का विवेचन करने लगे। यद्यपि यहाँ अर्जुन का प्रश्न कर्मयोग और कर्मसंन्यास के विषय में था और अध्याय के दूसरे पद्य में भगवान् ने भी उन्हीं मार्गों का तारतम्य बताया था किन्तु तृतीयाध्याय के आरम्भ में "सांख्यनिष्ठा" और "योगनिष्ठा" कही जा चुकी थी। उन्हीं शब्दों को यहाँ दोहराकर भगवान् यह सूचित करते हैं कि तुमने जो संन्यास और कर्मयोग की विशेषता पूछी वे ही सांख्ययोगमार्ग नाम से भी पूर्व मैंने बतलाया है। संन्यास केवल कर्म छोड़ने का नाम है किन्तु उसी में यदि ज्ञान को और जोड़ दिया जाय अर्थात् तत्त्वज्ञान के साथ कर्म छोड़े जायँ तो उसे ही सांख्य मार्ग कहा जाता है और कर्मयोग शब्द से केवल कर्म का सम्बन्ध ही प्रतीत होता है किन्तु उसके साथ फल त्याग और सम-बुद्धि आदि को जोड़ दिया जाय तो वही योगमार्ग कहलाने लगता है। इनका स्वरूप जब भिन्न और परस्पर विरुद्ध है, एक जगह कर्म छोड़ना दूसरी जगह कर्म करना इससे स्वरूप में परस्पर विरोध स्पष्ट है और अधिकारी भी दोनों के भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं तब फल भी दोनों का भिन्न-भिन्न ही होगा—ऐसी सम्भावना नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत फल की एकता के कारण दोनों मार्गों को भी एक ही समझना चाहिये।

यहाँ दूसरे पद्य में "सांख्यैः" और "योगैः", ये बहुवचनान्त शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उन पदों से सांख्य मार्ग और योग मार्ग बताया जाता तो दोनों शब्द एकवचनान्त ही होते जैसा कि पूर्व पद्य में दोनों को एकवचनान्त रखकर द्वन्द्व समास में द्विवचन का प्रयोग किया गया है। बहुवचन का प्रयोग होने के कारण दूसरे पद्य में इन पदों से सांख्यमार्ग के अनुगामी और योगमार्ग के अनुगामी पुरुष ही लिये जायँगे। सांख्य शब्द तो —

**“सम्यक्ख्यानम् संख्या, तथा प्रवर्तन्ते इति सांख्याः”**

सम्यक् अर्थात् तत्त्वनिश्चय रूप जो बुद्धि है वही हुई संख्या; उस बुद्धि से प्रवृत्त होने वाले पुरुष सांख्य हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार अनुयायी पुरुषों का वाचक स्वतः हो जाता है। किन्तु 'योग' शब्द को पुरुष वाचक बनाने के लिये व्याकरण की रीति से वहाँ "अर्श आदि अच्" प्रत्यय करना पड़ेगा —

## “योगः अस्ति येषां ते योगाः”

इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह शब्द भी अनुयायी पुरुषों का वाचक हो जायगा। पूर्व पद्य में ‘बाल’ शब्द से यह कहा गया कि जो केवल भिन्न-भिन्न शब्दों के अनुसार मार्गों की भिन्नता ही समझ लेते हैं, फल पर्यन्त विचार नहीं करते, वे पूर्ण रूप से न जानने के कारण बालकों की सी बुद्धि रखते हैं। वे ही दोनों मार्गों को भिन्न-भिन्न बतलाया करते हैं। कई व्याख्याकार यहाँ बाल शब्द से अतत्त्वज्ञ, केवल कर्मकाण्ड में लगे हुए पुरुषों का ग्रहण करते हैं। केवल कर्मकाण्ड की विधियों में दोनों मार्गों के फल भी भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं। जैसा कि—

## “कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकः”

कर्म करने से पितृलोक में गति होती है और ज्ञान से देवलोक में गति हो जाती है इत्यादि वाक्यों में कहा गया है। जब फल भी दोनों मार्गों के भिन्न-भिन्न ही हुए तो दोनों मार्गों का भेद स्पष्ट ही सिद्ध हो गया। किन्तु भगवान् कहते हैं कि यह केवल पूर्व-काण्ड में निरत बालकों की बातें हैं। तत्त्वज्ञ पुरुष तो कर्म और ज्ञान दोनों ही मार्गों से मोक्ष प्राप्ति का ही लक्ष्य रखते हैं। निष्काम कर्म करने से चित्त शुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में वेदान्त वाक्यों के श्रवण से ज्ञान का उदय होता है। इसलिये कर्मयोग का भी फल तत्त्वदृष्टि से मोक्ष ही है। उसी के उद्देश्य से तत्त्व जिज्ञासु पुरुष कर्म किया करते हैं और ज्ञान का फल तो मोक्ष प्राप्ति स्पष्ट रूप से ही शास्त्रों में बतलाया गया है। इसलिये दोनों मार्ग फल रूप में एक ही हुए। तब आरम्भ का प्रक्रिया भेद गणना के योग्य नहीं। इसलिये फल की एकता से दोनों को एक ही समझना बुद्धिमानों का कार्य है।

महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी शब्दार्थों के आधार पर भी मार्गों की एकता सिद्ध करते हैं। पूर्व कहा जा चुका है कि सम्यक् प्रकार की बुद्धि संख्या शब्द से कही जाती है। वह सम्यक् प्रकार यही है कि पदार्थों में भेद-भाव न देखकर एक रूप में उन्हें देखना। ‘सम्’ अव्यय का अर्थ निरुक्तकारने एकीभाव ही किया है। इस विचार से भी सब में एकता बुद्धि ही संख्या शब्द से कही जायगी। इसका यही तात्पर्य होगा कि बुद्धि सूक्ष्मतत्त्व से आरम्भ कर स्त्री-पुत्र आदि स्थूल पदार्थों तक जो भेद-भाव व्यवहार-दृष्टि से जाना जा रहा है उसे हटाकर एक कारण रूप आत्मा की बुद्धि ही सबमें रखने वाले सांख्य शब्द से कहे जायँगे और संन्यास शब्द का भी यही अर्थ किया जा सकता है कि न्यसन नाम फेंकने का है, उससे त्याग ही फलित होगा। सम् का पूर्वोक्त रूप से एकीभाव से भेद का त्याग यही अर्थ होगा। अर्थ करने पर इस

अर्थ से भी भेद का त्याग और एकरूपता बुद्धि ही सिद्ध होगी। योग शब्द का अर्थ योग दर्शन ही माना जाय तो यहाँ योग का लक्षण किया गया है—चित्त की वृत्तियों को रोकना। वृत्तियों के पाँच भेद योग-दर्शन में बतलाये गये हैं। उनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों से उत्पन्न होने वाली वा भ्रम-रूप और निद्रा, स्मृति आदि सबका ही अन्तर्भाव हो जाता है। सब चित्तवृत्तियों को रोक देने पर भी एक आत्मा ही निर्विकल्प रूप से बचेगा। योग दर्शन में भी यही कहा गया है कि वृत्तियों को रोक देने पर वृत्तियों का देखने वाला आत्मा अपने स्वरूप में ही शेष रह जाता है। इन वृत्तियों को रोकने के लिये ही सब कर्म, उपासना आदि किये जाते हैं वे भी सब योग शब्दार्थ के भीतर मान लिये जाते हैं। इस प्रकार सांख्य शब्द के अर्थ में भी एक निर्विकल्प बुद्धि आई और योग शब्द का अर्थ भी उस एकता में ही फलित हुआ। इस कारण भगवान् दोनों को एक ही कहते हैं। दोनों का फल एक रूप ही होता है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि निर्विकल्प-आत्मा के रूप में जाकर स्थिर हो जाना यही दोनों मार्गों का अन्तिम फल है।

दोनों मार्गों की एकता बतलाने के लिये यह व्याख्या बहुत उपयुक्त प्रतीत होती है। प्रकरण यहाँ कर्मयोग का है और इस व्याख्या में योग शब्द का अर्थ योग दर्शनानुसार चित्त वृत्तियों का निरोध कहा गया। इससे प्रकरण विरोध हुआ—यह शंका भी यहाँ नहीं करनी चाहिये क्योंकि राग-द्वेष इत्यादि चित्तवृत्तियों के निरोध के बिना कर्मयोग भी नहीं बनता। इसलिये राग-द्वेष आदि और हर्ष-शोक आदि वृत्तियों का निरोध कर्मयोग शब्द के अर्थ में भी आ ही जाता है और बिना फल की इच्छा के किये हुए कर्म भी इस व्याख्या के अन्तर्गत हो जाते हैं। यह स्वयं नीलकण्ठजी ने ही लिख दिया है।

अन्य व्याख्याताओं ने जैसा कहा है—जो पूर्व व्याख्या की गई है उसके अनुसार कर्मयोग से चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान स्वयं मोक्ष प्रदायक है, ऐसा मानने पर इन पद्यों का स्वारस्य नहीं बनता। “एक मार्ग पर भी आस्था रखने से दोनों का फल मिल जाता है” यह बात कहाँ हुई ? इस कथन से तो दोनों मार्गों की समानता सिद्ध होती है। “सांख्य से जो स्थान मिलता है, वही योग से भी मिलता है” यह कथन भी स्वारसिक रूप से नहीं बना। जब कर्मयोग साधन माना गया और ज्ञानयोग उसका साध्य हुआ तब ज्ञान ही मुख्य रहा। कर्मयोग तो उसकी प्राप्ति का साधन मात्र रहा। ऐसी दशा में दोनों से एक ही स्थान मोक्ष रूप मिलता है, यह कथन नहीं बन सकता। इसलिये योग शब्द से जो मार्ग बताया गया उसे साधन रूप कर्मयोग नहीं मानना चाहिये। किन्तु जैसा कि हम द्वितीय श्लोक की व्याख्या में लिख आये हैं कि तत्त्वज्ञान तो पहिले दोनों ही मार्ग वालों ने प्राप्त कर लिया, अब तत्त्वज्ञान प्राप्त

करके भी एक मार्ग वाले लोकसंग्रह के लिये कर्म करते रहते हैं और दूसरे मार्ग वाले कर्मों को सर्वथा छोड़ देते हैं। ये ही दो मार्ग योग और सांख्य शब्दों से कहे गये। यह मानने पर ही दोनों मार्गों की एकता का इन पद्यों में जो निरूपण हुआ वह उपयुक्त रूप से समझ में आ सकता है। श्रीनीलकण्ठजी की व्याख्या भी इसी ओर झुकती है। श्रीरामानुजाचार्य ने भी इन पद्यों का अवतरण करते हुए “अन्योन्यनैरपेक्षमाह” इस कथन से दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं, एक दूसरे का साधक नहीं, यही कहा है और आगे व्याख्या में “कर्मयोग से ज्ञानयोग प्राप्त होता है” ऐसा कहने वालों को ही भगवान् ने “बाल” कहा यह स्पष्ट लिखा है। इससे उनकी भी सम्मति इस दूसरी व्याख्या में ही सिद्ध होती है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने भी इन पद्यों का यही अर्थ माना है। वे गीता में बुद्धियोग का ही प्रतिपादन मानते हैं। उस बुद्धियोग में ज्ञान और वैराग्य दोनों अन्तर्गत हैं। रागद्वेष छोड़कर कर्म करते रहना—यह कर्मयोग उन्होंने वैराग्य योग नाम से ही अपनी प्रक्रिया में माना है। वह वैराग्य बिना ज्ञान के दृढ़ नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान का सहयोग भी अवश्य अपेक्षित है। तब फलित यह हुआ कि ज्ञान दोनों ही मार्गों में प्रधान है। एक मार्ग में उसे अनासक्त कर्मों का सहयोग है और दूसरे मार्ग में कर्मों का सहयोग नहीं। इस सहयोग के होने न होने से ज्ञान के स्वरूप में कोई भेद नहीं पड़ता। इसी आशय को भगवान् ने यहाँ व्यक्त किया है कि दोनों मार्गों का एक रूप से देखना ही बुद्धिमत्ता है। बिना विचार के कहने वाले बालक ही इन मार्गों का भेद बतलाते हैं।

लोकमान्यतिलक ने भी कर्मयोग को स्वतन्त्र मानते हुए इन पद्यों का यही आशय माना है। यहाँ भी उन्होंने यही लिखा है कि जब ज्ञान की प्रधानता दोनों ही मार्गों में है तब नाम मात्र का विवाद क्यों रखना ? दोनों को एक ही समझना चाहिये। कर्मयोग की स्वतन्त्रता इन पद्यों में भी उन्होंने अभिव्यक्त की है। पूर्व द्वितीय पद्य की व्याख्या में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि आरम्भिक दशा में कर्मयोग ज्ञान की प्राप्ति के लिये किया जाता है और आगे ज्ञान प्राप्त हो जाने पर वह कर्मयोग अपनी परिपूर्ण प्रौढ़ दशा में आता है। उस प्रौढ़ दशा का ही सांख्य मार्ग के साथ अभेद भगवान् ने बताया—यही प्रतिफलित निष्कर्ष हुआ।

ज्ञान के साधन रूप से जो कर्मयोग किया जाय वह सच्चा कर्मयोग भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि आसक्ति और फलाशा का परित्याग, बिना तत्त्वज्ञान के हो ही नहीं सकता और ये ही कर्मयोग के प्रधान स्तम्भ हैं। न उस साधनभूत कर्मयोग की सांख्य के साथ फलतः एकता कही जा सकती है, इसलिये प्रस्तुत पद्यों में उसका ग्रहण करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार साध्य-साधक भाव होने पर भी



एकता दोनों की भगवान् बतलाते तब तो अर्जुन कह बैठता कि फिर तो मेरा युद्ध छोड़ना और युद्ध करना भी एक ही है क्योंकि युद्ध करके विजय प्राप्ति द्वारा सुख और शान्ति मिलेगी; छोड़ देने से भी निरपेक्षता रूप चित्त शान्ति मिल ही जायगी; तब शान्ति रूप फल एक ही हुआ, फिर युद्ध करने का प्रयास क्यों करना ? यही क्यों ? प्राणी मात्र के सब कर्मों का अन्तिम फल तो सुख ही होता है। विद्यार्थी का विद्या पढ़ना, व्यापारी का व्यापार करना, किसी सेवक का सेवा वृत्ति कर निर्वाह उपयुक्त धन कमाना; सबका परिणाम तो अन्त में सुख प्राप्ति ही है। इस अन्तिम फल की दृष्टि से तो फिर सभी कर्म एक हो जायँगे, ऐसी एकता यहाँ विवक्षित नहीं कही जा सकती और इस प्रकार की एकता न मानने वालों की 'बाल' वा 'अपरिपक्व बुद्धि' भी नहीं कहा जा सकता।

एक कहावत प्रसिद्ध है कि किसी राजा के एक अन्तरङ्ग सहचर को यह कहने का अभ्यास हो गया था कि "ईश्वर जो कुछ करता है वह भले के लिये ही करता है।" एक दिन राजा के हाथ पर चाकू गिर गया और उससे घाव होकर बहुत-सा रुधिर निकल गया तब भी उस सहचर ने यही कहा कि ईश्वर जो कुछ करता है, भले ही के लिये करता है। राजा अपनी आर्त दशा में यह वाक्य सुनकर कुपित हो गया और उसने सहचर से कह दिया कि तुम हमारे पास से चले जाओ। इस पर भी वह सहचर यही कह कर चला गया कि ईश्वर जो कुछ करता है, भले ही के लिये करता है। अकस्मात् उसी दिन राजा कुछ डाकुओं के चक्कर में पड़ गया और वे उसे अपने इष्ट देवता के सामने बलि देने को ले गये। वहाँ ले जाकर जब उनकी दृष्टि उस घाव पर पड़ी तो उनका विचार हुआ कि अरे यह तो घाव खाया हुआ है। यह बलि योग्य नहीं, ऐसा विचार कर उन्होंने उसे छोड़ दिया। वहाँ से मुक्त होने पर राजा को अपने सहचर की बात याद आयी कि उसने ठीक कहा था। यह व्रण न होता तो आज मेरे प्राण ही चले जाते। इससे यह भले के लिये ही हुआ। तब उसने आदर के साथ अपने उस सहचर को बुला लिया और उसे सब कथा सुनाई। तब वह बोला कि आपने जो मुझे उस समय निकाल दिया वह भी मेरे भले के लिये ही हुआ। क्योंकि मैं यदि आपके साथ रहता तो आप तो व्रण के कारण बच जाते किन्तु मेरी तो बलि हो ही जाती। इसलिये वह बात ठीक ही है, ईश्वर जो कुछ करता है वह भले ही के लिये करता है।

इस प्रकार अन्तिम परिणाम तो भले के बुरे और बुरे के भले हो जाया करते हैं। इनसे कर्मों की एकता नहीं कही जा सकती। इसलिये फल की साक्षात् एकता ही एकत्व का साधक हो सकती है और पद्यों की दूसरी व्याख्या ही उपर्युक्त प्रतीत होती है (५)

## चौहत्तरहवां-पुष्प

संन्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।  
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥  
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।  
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥  
नैवकिञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।  
पश्यन् शृण्वन्स्पृशन्निघ्नन्शनन्गच्छन्स्वपञ्चसन् ॥८॥  
प्रलपन् विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।  
इन्द्रियाणीनिद्रयार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥  
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।  
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥  
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।  
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥  
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।  
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥  
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।  
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

कर्मयोग को जो संन्यास से विशिष्ट कहा उसका कारण कहते हैं कि हे महाबाहु अर्जुन ! बिना योग के संन्यास प्राप्त होना दुःख अर्थात् कष्टसाध्य है और जो कर्मयोग में युक्त अर्थात् पारंगत हो गया वह मुनि है अर्थात् मननशील होने के कारण मुनि कहलाने का अधिकारी हो जाता है और शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

पूर्व तृतीय अध्याय में कहा था कि -

“न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते”

बिना कर्म किये नैष्कर्म्य अर्थात् संन्यास प्राप्त नहीं होता। उसी उक्ति को यहाँ फिर दोहराया है कि बिना कर्मयोग के संन्यास का प्राप्त करना अति कठिन है। संन्यास

में सब इन्द्रियों के व्यापारों को एक बार ही रोक देना पड़ता है। ऐसा करना मनुष्य के लिये बहुत ही कष्ट साध्य है। इसका वर्णन कई बार गीता में आ चुका है कि इन्द्रियाँ बलात् अपने विषयों की ओर अवश्य जाती हैं और रोकने पर भी थोड़ा छिद्र पाकर विषयों की ओर निकल ही जाती हैं। एक भी इन्द्रिय निकल गई तो बुद्धि को विकृत कर देती हैं। इससे बनता हुआ काम बिगड़ जाता है। इस कठिनता को उपनिषदों ने भी बताया है कि—

“क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया

दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति” (कठोपनिषद्)

तीक्ष्ण तलवार की धार पर चलने के समान यह मार्ग अति कठिन है; यह बात बड़े-बड़े विद्वान् भी कहते हैं। इसलिये कर्मयोग के द्वारा पहिले फलाशा छोड़ने का अभ्यास कर शनैः शनैः इन्द्रियों को रोका जाय तो अभ्यास से वे धीरे-धीरे वश में आ जायँगी और तब पूर्ण रूप से कर्मयोग प्राप्त होने पर पूर्वाभ्यास के अनुसार निष्काम कर्म आसक्ति छोड़कर करना भी सुकर हो जायगा। उस प्रौढ़ कर्मयोग से ब्रह्मप्राप्ति मनुष्य सुकरता से ही और थोड़े काल में कर लेगा।

श्रीशंकराचार्य इस पद्य की व्याख्या में यह कहते हैं कि ज्ञान रहित केवल कर्म और केवल संन्यास में कर्म को श्रेष्ठ पहिले भगवान् ने बताया है। ज्ञान की दृष्टि से तो संन्यास ही श्रेष्ठ है; किन्तु उसे प्राप्त करने के लिये बुद्धि शुद्ध करने को पूर्व कर्म भी आवश्यक हैं। यहाँ ब्रह्म शब्द का अर्थ ब्रह्म प्राप्ति का मुख्य साधक संन्यास ही है। योग युक्त होने पर मननशील पुरुष को संन्यास प्राप्त हो जाता है। यही पद्य का अर्थ है और संन्यास प्राप्त कर फिर मोक्ष प्राप्त कर लेता है (६)

आगे कर्मयोग की पूर्णता के लिये किन-किन बातों की आवश्यकता है, इसका विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि जो योग अर्थात् कर्मयोग से युक्त अर्थात् परिनिष्ठित हो चुका है उसका आत्मा अर्थात् अन्तःकरण विशेष रूप से शुद्ध हो जाता है, इससे यह सूचित किया कि कर्मयोग में मन को शुद्ध करने की पूर्ण आवश्यकता है, आत्मा अर्थात् शरीर पर भी उसका पूर्ण विजय रहता है अर्थात् शरीर की क्रिया भी उसकी नियमित रहती है। वृथा चेष्टा वह कभी नहीं करता एवं सब इन्द्रियों पर भी वह विजय प्राप्त कर लेता है, इससे शरीर और इन्द्रियों को भी अपने वश में करना कर्मयोगी के लिये आवश्यक कहा गया। तब वह अपने आत्मा को सब देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि भूतों के आत्मा रूप से ही मानता है। अर्थात् आत्मा की व्यापकता उसे पूर्ण रूप से भासित हो जाती है। ‘स्व’ और ‘पर’ का भेद उसकी दृष्टि में नहीं रहता ऐसा पुरुष लोक संग्रहार्थ कर्म करता हुआ भी उनके लेप अर्थात् बन्धन से मुक्त रहता है।

विशेषणों के द्वारा कर्मयोग की पूर्णता में क्या-क्या आवश्यक है, यह सब बताया गया। “विशुद्धात्मा”, “विजितात्मा” और “जितेन्द्रियः” इन तीन पदों से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों पर अधिकार करना आवश्यक बताया गया। आत्मपद से आत्म सम्बन्धी शरीर मन आदि भी लिये जाते हैं। संस्कृत भाषा में ऐसा प्रयोग प्रचलित है, इसलिये इस व्याख्या को नवीन नहीं समझना चाहिये। इन्हीं तीनों के विजय को लक्ष्य मानते हुए संन्यास मार्ग के विशेष सम्प्रदाय में तीन दण्ड धारण किये जाते हैं। “सर्वभूतात्मभूतात्मा” इस पद से यह सूचित किया कि वस्तुतः एक ही आत्मा सब प्राणियों में व्यापक है। अविद्या वश उसकी व्यापकता का ज्ञान सबको नहीं होता।

कर्मयोगी की अविद्या दूर हो जाती है। इससे वह सब भूतों में व्याप्त एक ही आत्मा को देखने लगता है। कई व्याख्याकार इससे यह भी आशय निकालते हैं कि भगवान् कहते हैं कि मैं जैसे सब भूतों में व्यापक हूँ इसी प्रकार वह भी अपने को सब भूतों में व्यापक समझ लेता है। इसीलिये जैसे मुझ पर किसी कर्म का लेप नहीं होता, इसी प्रकार उस पर भी कर्म का लेप होना सम्भव नहीं। इसी कर्म लेप के अभाव के लिये यह विशेषण दिया गया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती इसका यह अर्थ करते हैं कि वह अपने आत्मा को सर्वभूत अर्थात् सब जड़ पदार्थों में कारण रूप से व्यापक मान लेता है और आत्मभूत अर्थात् सब चेतनों में भी व्याप्त देखने लगता है। श्रीरामानुजाचार्य जीवात्मा को व्यापक नहीं मानते और परमात्मा से अभिन्न भी नहीं मानते इसलिये वे इस पद का अर्थ यही करते हैं कि सब भूतों के आत्मा को अपने आत्मा से अत्यन्त सदृश होने के कारण अभिन्न मान लेता है। वास्तव में तो भगवद्गीता में कई जगह आत्मा की व्यापकता का वर्णन आता है इसलिये भगवद्गीता का यही सिद्धान्त मानना उपयुक्त होगा। बहुत जगह ऐसी क्लिष्ट कल्पना करना अस्वाभाविक ही है।

कई व्याख्याकार यही मानते हैं कि कर्मयोग में ऐसा होना सम्भव नहीं इसलिये इस पद्य को संन्यास पर ही मानना चाहिये और आरम्भ के योग पद से ज्ञानयोग वा समाधि रूप योग ही लेना चाहिये। आगे के तीन विशेषणों से भी त्रिदण्ड संन्यास ही पूर्वोक्त रूप से लेना उचित है। आगे जो कर्मों का लेप उस पुरुष पर न होना कहा गया है; वहाँ कर्म पद से संन्यासी के शरीर धारण के लिये किये जाने वाले भिक्षाटन आदि कर्म ही कहे गये हैं। उन कर्मों का उस पर लेप नहीं होता किन्तु यहाँ अध्याय के आरम्भ से ही कर्मयोग का प्रकरण चल रहा है इसलिये ऐसी व्याख्या प्रकरण के विरुद्ध ही प्रतीत होती है (७)

आगे के अष्टम और नवम पद्यों का अन्वयानुसार सम्मिलित ही अर्थ है कि जो

कर्मयोग में प्रौढ़ता प्राप्त कर चुका है और आत्मतत्त्व का जिसने पूर्ण निश्चय कर लिया है, वह देखता, सुनता, बाह्य वस्तुओं को छूता, पुष्प आदि का गन्ध ग्रहण करता, भोजन करता, पैरों से चलता, सोता, श्वास लेता, वाणी से बोलता, मल-मूत्रादि त्याग करता, हाथ से किसी वस्तु को उठाता, नेत्रों के पलक गिरने व उठने की क्रिया करता हुआ भी इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं ऐसा निश्चय रखता हुआ मैं, आत्मा कुछ नहीं करता हूँ यही मानता रहता है।

पूर्व “कर्मण्यकर्म यः पश्येत्” इत्यादि चतुर्थाध्याय के पद्य में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इन्द्रियों का काम चलते रहने पर भी आत्मा अकर्ता ही रहता है। अर्थात् आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती। उसी विषय का इन पद्यों में विस्तार से निरूपण किया है। तत्त्ववेत्ता पुरुष आत्मा को सदा अकर्ता ही देखता है। व्यापार सब इन्द्रियों में वा प्राणों में होते हैं। पहले पाँच पदों से ज्ञानेन्द्रियों के पाँचों व्यापार बताये गये हैं—देखना आँख का, सुनना कान का, स्पर्श करना त्वचा इन्द्रिय का, सूँघना घ्राण इन्द्रिय का और भोजन में रसों का जानना रसना इन्द्रिय का कार्य है और आगे पाँचों कर्मेन्द्रियों के कार्य बताये गये हैं—चलना पैरों का, बोलना वाणी का, मलमूत्र का त्याग नीचे की दोनों इन्द्रियों का, किसी वस्तु को उठाना हाथ का काम है। यद्यपि अन्यत्र शास्त्रों में उपस्थ कर्मेन्द्रिय का आनन्द अर्थात् स्त्री प्रसंग रूप कार्य कहा गया है किन्तु कर्मयोगी में उसका सम्भव नहीं इसलिये यहाँ विसर्जन शब्द से ही नीचे की दोनों इन्द्रियों का कार्य कह दिया गया। कर्मयोगी यदि स्त्री प्रसंग करे भी तो उसका उद्देश्य केवल सन्तान का उत्पादन ही धर्मानुसार होगा। वह वीर्यत्याग भी विसर्ग शब्द के ही अन्तर्गत हो जायगा। अपने अन्तःकरण में आनन्द लेना, कभी कर्मयोगी का उद्देश्य नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ पाँच कर्मेन्द्रियों के चार ही कर्म बताये गये हैं। मध्य में ही सोना अन्तःकरण का और श्वास लेना प्राण का कर्म छन्द के अनुरोध से बता दिया गया। स्वप्न और सुषुप्ति (गहरी नींद) ये मन की ही वृत्तियाँ हैं। जब मन वा बुद्धि अपने वासनामय पदार्थों को बाह्य रूप से देखते रहते हैं तो स्वप्नदशा होती है और जब मन पुरीतत् नाड़ी में चला जाता है तब वृत्तियों का द्वार बन्द होकर सुषुप्ति दशा हो जाती है। ये दोनों ही “स्वप्न” शब्द से कह दी गईं। इसको उपलक्षण अर्थात् अन्य वृत्तियों का भी संग्राहक मानकर अन्तःकरण की मन और बुद्धि की संकल्प, निश्चय आदि सब वृत्तियों का ग्रहण कर लेना चाहिये।

इसी प्रकार श्वास लेना “श्वासन्” पद से प्राण की सब वृत्तियाँ श्वास; उच्छ्वास, जम्हाई आदि ले ली गईं और उन्मेष निमेष जो अन्त में कहे गये—पलक गिरना, उठना ये प्राण वायु के ही जो अतिरिक्त भेद माने गये हैं, उनके व्यापार हैं। उपलक्षण रूप

से यहाँ ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण आदि के कहे गये वा न कहे गये सभी व्यापारों को जान लेना। तात्पर्य यही है कि ये सब व्यापार इन्द्रियों या प्राणों के ही होते रहते हैं और इन्द्रिय या प्राण प्रकृति के बने हुए हैं, इसलिये कर्म जितने हैं वे सब प्रकृति में ही हैं। प्रकृति से भिन्न आत्मा तो कभी कुछ नहीं करता। वह तो केवल द्रष्टा, देखने वाला है। व्यापक होने के कारण और स्मरण आदि के जनक संस्कारों का पात्र न होने के कारण उसमें कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। इस विचार से आत्म-तत्त्ववेत्ता पुरुष यही समझता रहता है कि मैं कुछ नहीं करता। मैं, अहम् शब्द आत्मा पर ही प्रयुक्त होता है। उसका कुछ भी न करना सिद्ध ही है। इस प्रकार जब आत्मा को अकर्ता कुछ न करने वाला समझता रहेगा तब उस कर्मयोगी को कर्मों का फल भी क्यों होगा ? जो काम करेगा वही फल भोगेगा। जो कुछ करता ही नहीं उसे फल भी क्यों मिलेगा ? इससे यहाँ यह भी सूचित किया जाता है कि कपिलप्रोक्त सांख्यदर्शन में जो यह माना गया है कि कर्म करने वाली प्रकृति है और फल भोगने वाला पुरुष है, वह वेदान्त दर्शन को मान्य नहीं। यहाँ प्रकृति पुरुष-आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं मानी जाती अपितु उसी के आधार पर रहने वाली और उसी की सत्ता से सत्तावाली, भेद या अभेद रूप से नहीं कही जाने योग्य मानी जाती है। जो पुरुष प्रकृति से मिला हुआ ही आत्मा का रूप समझता है वही कर्म करने वाला है और वही फल भोगता है। ऐसा समझना ही अज्ञान कहा जाता है। जिसे तत्त्वज्ञान हो गया और जिसने आत्मा को प्रकृति से निर्लिप्त जान लिया वह न कर्मों का कर्तृत्व अपने पर लादता है और न किसी कर्म का फल भोगता है। यही इन पद्यों के उपदेश का सार है कि सब कुछ करता हुआ भी उनका कर्तृत्व इन्द्रिय आदि पर ही माने, आत्मा को इनके पृथक् निर्लिप्त ही समझता रहे; यही कर्मयोग है और तब उसे किसी कर्म का फल भी नहीं हो सकता।

यहाँ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि इस प्रकार तो दुराचारी पुरुष भी कह देगा कि सब कुछ दुराचार इन्द्रियाँ ही करती हैं मैं तो निर्लिप्त ही हूँ तो क्या वह अपने दुराचार का भी फल न भोगेगा ? इस प्रकार तो शास्त्रों की सब मर्यादा बिगड़ जायगी और ढोंग को पूरा स्थान मिलेगा। किन्तु यह शङ्का व्यर्थ है क्योंकि अनाचार वा दुराचार बिना राग वा द्वेष के नहीं हो सकते और राग-द्वेष रहित होना कर्मयोगी के लिये भगवान् ने पद-पद में आवश्यक बताया है। इससे कर्मयोगी का दुराचारी होना सम्भव ही नहीं। यद्यपि राग और द्वेष भी अन्तःकरण के ही धर्म हैं शुद्ध आत्मा में वे भी नहीं रहते किन्तु यह सत्य है कि आत्मा को प्रकृति से मिला हुआ मानने पर ही राग वा द्वेष होंगे। आत्मा को सर्वथा निर्लिप्त अन्तःकरण से पृथक् मान लेने पर अन्तःकरण

में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यही बात गीता के तृतीयाध्याय में कही गई है कि बुद्धि से परतत्त्व आत्मा को समझ कर काम और क्रोध रूपी शत्रुओं को मार डालो, इसका तात्पर्य यही है कि बुद्धि से निर्लिप्त शुद्ध आत्मा के समझ लेने पर काम वा क्रोध नहीं रहते और बिना इनके दुराचार में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। अब जो अज्ञानी होने पर भी ज्ञानीपन का ढोंग दिखाकर जगत् को धोखा देना चाहेगा वह अपने किये का फल भोगेगा। इससे व्यवहार मर्यादा पर कोई आघात नहीं पहुँचता।

श्रीशङ्करानन्द जी इन पद्यों की व्याख्या में कहते हैं कि ये कर्मयोग बताये गये, वे स्वारसिक रूप से केवल शरीर, इन्द्रिय आदि के ही कर्म हो सकते हैं। कर्मयोगी का शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान इनके अर्थ में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। “श्वसन्”, “स्वपन्”, “उन्मिषन्”, “निमिषन्” आदि पदों से स्वतः होने वाले स्वाभाविक कर्म ही कहे गये हैं। इनके साहचर्य से और पदों से भी स्वाभाविक कर्म ही लेना चाहिये। इससे ये पद्य भी संन्यास मार्ग पर ही ठीक लगते हैं और बल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी इन पद्यों में परम भक्त के ही आचरण निर्दिष्ट हुए हैं ऐसा कहते हैं—देखना पद से यहाँ एकाग्र चित्त से ध्यान योग में भगवान् की मधुर मूर्ति का देखना ही लिया जाता है। सुनना भी यहाँ ध्यानयोग में भगवान् की मधुर ध्वनि या वंशी ध्वनि का सुनना ही है। छूना, भगवन्मूर्ति के चरणों का छूना ही है और सूँघना भी ध्यानयोग में भगवान् के मुख कमल सौरभ का सूँघना है, भोजन, भगवान् के नैवेद्य का भोजन ही समझना, चलना—गोचारणादि लीलाओं में ध्यानयोग में भगवान् के वियोग में चलने वाले दीर्घनिःश्वास बताये गये हैं। प्रलपन्, पद से भगवद्वियोग की उन्मत्त दशा में भौरे की तरह गूँजना सङ्केतित है। विसृजन् पद से वियोग की उन्मत्तावस्था में भगवान् को छोड़कर दूर चला जाना कहा गया है। ग्रहण, उसी अवस्था में चरणों को पकड़ कर स्थिर रहना है। उन्मेष वियोग की मत्त-अवस्था से जागकर, आँख खोल कर भगवत्स्वरूप का अनुभव बताया गया और निमिषन् पद से मूर्ति की मधुरता का अनुभव करते हुए फिर नेत्र मूँदना कहा गया है। ये सब भक्ति मार्ग में भगवान् के ध्यान की ही अवस्थायें हैं। इन्हीं का कर्मयोगी अर्थात् भगवद्भक्त के लिये यहाँ उपदेश है। सांसारिक कर्मों से भगवद्भक्त कर्मयोगी का कोई सम्बन्ध नहीं। कर्मयोग और भागवत्धर्म अर्थात् भक्तिमार्ग एक ही हैं यह हम उपोद्घात प्रकरण में ही कह आये हैं। इस प्रकार भक्तिमार्ग पर भी इन पद्यों का आशय लगाया गया है (८-९)

फल की इच्छा न रहने पर भी कर्म करने के लिये प्रेरणा ही क्यों होगी ? फलेच्छा से ही उपाय की इच्छा होती है तभी उपाय रूप कर्म किये जाते हैं। बिना फल की इच्छा से कर्म करने में प्रवृत्ति ही क्यों हो ? इस प्रश्न के दो प्रकार से

समाधान पूर्व किये गये। एक तो यज्ञ अर्थात् संसार परिचालन में सहयोग करने की बुद्धि से कर्म किये जायँ यह कहा गया। दूसरा लोकसंग्रह अर्थात् अज्ञ पुरुषों को उपदेश देने की बुद्धि से कर्म किये जायँ। अब इसी प्रश्न का समाधान करने का तीसरा प्रकार भगवान् और बताते हैं कि सब प्रकार के फल में आसक्ति आदि का संग छोड़कर भी जो पुरुष ब्रह्म अर्थात् जगन्नियन्ता परमेश्वर में कर्मों की स्थापना कर कर्म करता रहता है अर्थात् भगवान् की आज्ञा का पालन मैं करता हूँ इस बुद्धि से कर्म करता है, जैसे कि कोई भृत्य स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिये ही काम करता है। अपना उसका उन कामों से कोई सङ्ग अर्थात् सम्बन्ध नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् ने मुझे इन्द्रियाँ, मन आदि दिये हैं; इससे मुझसे कर्म कराने की भगवान् की इच्छा है अथवा भगवान् ने ही वेद आदि शास्त्रों में कर्म करने की स्पष्ट आज्ञा दी है, उसका पालन करना मेरा कर्तव्य है, इस प्रकार समझकर कर्मों का सब भार भगवान् पर ही रख देता है और जो करे उन सब कर्मों को भगवान् के लिए ही अर्पण कर देता है वह पाप से लिप्त नहीं होता जैसे कमल का पत्ता जल में रहता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता।

यहाँ पाप शब्द उपलक्षण रूप से पुण्य का भी बोधक है क्योंकि मोक्ष की दृष्टि से पाप और पुण्य दोनों ही बन्धन रूप होने के कारण रूप ही हैं। पैर में निगड़, चाहे लोहे की हो चाहे सोने की, पैर का बन्धन तो दोनों ही करती हैं। यही तीसरा प्रकार कर्म करने का कर्मयोगी के लिये भगवान् ने बताया कि भगवान् की आज्ञा समझकर ही उनकी प्रेरणा मानकर ही सब कर्म करना और उन कर्मों के किसी फल की बिना इच्छा किये उन कर्मों को भगवान् के लिए ही अर्पण कर देना। “सङ्गं त्यक्त्वा” का तात्पर्य श्रीशंकराचार्य यह बताते हैं कि मोक्ष तक की भी इच्छा न करना। किसी भी फल की इच्छा होने से उसका सङ्ग हो जायगा। मोक्ष तो अपना स्वरूप ही है। मन, इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध हटने पर वह स्वयं प्रकाशित हो जायगा, उसकी भी इच्छा करने की आवश्यकता ही क्या है ? इसी पद्य का आशय लेकर सनातन धर्म में यह प्रातः स्मरण बना है कि -

**लोकेश चैतन्यमयादिदेव माङ्गल्य विष्णो भवदाज्ञयैव ।**

**प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥**

इसका अर्थ है कि हे सम्पूर्ण लोक के स्वामी चैतन्य स्वरूप; सबके आदिभूत और सबके मङ्गलप्रद-व्यापक भगवन् ! आपकी आज्ञा से और आपकी प्रसन्नता के लिये मैं प्रातःकाल उठकर संसार यात्रा का अनुवर्तन करूँगा अर्थात् उसमें सहयोग दूँगा। कोई भी शास्त्रोक्त धर्मकार्य करके सनातनधर्म में बोला जाता है कि -



कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।  
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पये तत् ॥

अर्थात् शरीर, वाणी, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि प्रकृति-स्वभाव से जो कुछ करता हूँ वह परदेवता रूप नारायण के लिए अर्पित करता हूँ। यह केवल वाचिक ही नहीं रहे मन में भी ऐसा भाव खचित हो जाय और सदा यही भाव बना रहे तो यही कर्मयोग है।

श्रीरामानुजाचार्य यहाँ ब्रह्म का अर्थ प्रकृति करते हैं। जैसा कि आगे “मम योनिर्महद्ब्रह्म” (गी० १४।३) इस पद्य में ब्रह्म शब्द प्रकृति के ही लिये प्रयुक्त है। इस प्रकार उनके मत में यह पद्य पूर्व दो पद्यों के साथ ही सम्बन्ध रखता है। प्रकृति से बने हुए इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण आदि में ही सब कर्मों का स्थापन कर आत्मा निर्लिप्त रहता है यह पूर्व-पद्यों का अर्थ ही इसमें अनुवाद रूप से कहा गया। श्रीपुरुषोत्तमजीगोस्वामी भी अपने पूर्व-पद्यों के अर्थ के अनुसार ही भगवद्भक्ति पर ही इसका भी अर्थ करते हैं कि ब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् में संयोगावस्था रूप से सङ्ग का चिन्तन करता हुआ और वियोगावस्था में सङ्ग का त्याग करता हुआ जो भक्ति के व्यापार करता रहता है वह पद्य पत्र की तरह किसी कर्म से लिप्त नहीं होता।

कई व्याख्याकार इसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त न किये हुये मुमुक्षु पर ही लगाते हैं कि पूर्वोक्त पद्यों में तत्त्ववेत्ता का आचरण कहा गया कि वह आत्मा को अकर्ता समझकर निर्लिप्त रहता है। यहाँ जो अभी पूर्ण तत्त्ववेत्ता नहीं हुआ वह भी अपने कर्मों को भगवान् को अर्पण कर कर्म बन्धन से अलिप्त हो सकता है। इन व्याख्या भेदों में अपनी रुचि और अधिकार के अनुसार विज्ञान ग्रहण कर लें (१०)

आगे के पद्य में भी आत्मा की अकर्तृता का ही विवरण किया जाता है। यहाँ “केवलैः” पद “इन्द्रियैः” का ही विशेषण पद्य में आया है किन्तु अर्थ समन्वय की दृष्टि से इसे सबके साथ जोड़ लेना चाहिये। तदनुसार पद्य का अर्थ है कि कर्मयोगी केवल शरीर से, केवल मन से, केवल बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी आत्मा अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म करते रहते हैं। केवल पद से यहाँ यही सूचित किया जाता है कि आत्मा का सम्बन्ध कर्म में नहीं होता। कर्म सब मन, बुद्धि, शरीर वा इन्द्रियों से ही हो रहे हैं। आत्मा अकर्ता ही रहता है। यहाँ यह प्रश्न होगा कि जब आत्मा का कर्म में कोई सम्बन्ध ही नहीं है, तब उसका फल विशुद्धि भी आत्मा में क्यों होगी ? जो कर्ता है उसी पर फल होता है। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये ही हमने आत्मा का अन्तःकरण अर्थ किया है। आत्मा स्वयं निर्लिप्त

होने के कारण शुद्ध ही है। उसकी शुद्धि कर्म से क्या होगी ? इसलिये यहाँ आत्म शब्द का अन्तःकरण अर्थ करना ही योग्य है। अन्तःकरण में ही कर्म के कारण मलिनता आती है उसकी शुद्धि के लिये ही कर्मयोगी के शास्त्रोक्त कर्म होते हैं। बिना फल के उद्देश्य के शास्त्रोक्त कर्म किये जायँ तो उनसे अन्तःकरण शुद्धि ही होती है। अन्तःकरण शुद्धि के लिये योगी कर्म करते हैं इस कथन से इस पद्य में भी साधन दशा का कर्मयोग ही प्रतिपादित है; यह स्पष्ट होता है। परिनिष्ठित कर्मयोगी का तो अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है। वह तो केवल संसार चक्रपरिचालन, लोकसंग्रह वा ईश्वराज्ञा समझकर ही कर्म करता है। इससे यहाँ यही सूचित किया कि साधन दशा में भी आत्मा अकर्ता है—इसका अनुसन्धान रहना ही चाहिये; तभी परिनिष्ठित कर्मयोग सिद्ध होगा (११)

पूर्वोक्त सब प्रकरण का सारांश पुनः दोहराते हैं कि पूर्वोक्त कर्मयोग से कर्म फलों को छोड़कर जो कर्म करता है वह ज्ञानयोग निष्ठा आदि के क्रम से शान्ति अर्थात् पूर्ण शान्ति रूप मोक्ष प्राप्त कर लेता है और जो पूर्वोक्त प्रकार के योग से सम्बन्ध नहीं रखता और फल की कामना में इच्छा पूर्वक अर्थात् “मैं करता हूँ” इसी भावना से कर्म करता है, वह कर्मों के बन्धन में ही पड़ा रहता है।

इससे यही प्रदर्शित किया जाता है कि कर्मयोग रूप से जो कर्म करता है उसे शीघ्र या विलम्ब से ज्ञान निष्ठा प्राप्त होकर कभी न कभी मुक्ति मिलती ही है और जो सदा मैं ही कर्ता हूँ, मैं ही भोगता हूँ इस प्रकार अपने आप पर ही सब कर्मों को लादते रहते हैं और सांसारिक लौकिक वा पारलौकिक फल प्राप्ति की इच्छा से ही कर्म करते रहते हैं वे तो सदा ही बन्धन में पड़े रहेंगे। शान्ति शब्द का अर्थ श्रीरामानुजाचार्य आत्मानुभवरूप शान्ति ही करते हैं। वही कर्मयोग का मुख्य फल है। “नैष्ठिकी” शब्द से उस शान्ति को स्थिर रूप बताया गया है (१२)

चतुर्थ अध्याय के —

**“कर्मण्यकर्म यः पश्येत्”**

इस पद्य से आरम्भ कर अब तक यही सिद्ध किया गया कि कर्म सब इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण आदि करते हैं। आत्मा तो सदा अकर्ता ही रहता है। जब वह कुछ करता ही नहीं तब उसे फलयोग भी क्यों होगा ? यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ठीक है, कर्म इन्द्रिय वा अन्तःकरण आदि से ही होते हैं किन्तु प्रेरणा तो आत्मा की ही है। इन्द्रिय या अन्तःकरण प्राण आदि तो जड़ हैं। जड़ों में तो बिना चेतन की प्रेरणा के क्रिया हो ही नहीं सकती, यह संसार में देखा जाता है। वर्तमान युग में एक मशीन चाहे आटा पीसना, पाक बनाना आदि सब कर्म कर दे किन्तु आरम्भ में उसका बटन दबाकर चलाने वाला कोई चेतन अवश्य चाहिये। बिना चेतन की प्रेरणा के बड़ी-बड़ी

मशीनें भी शान्त ही पड़ी रहेंगी। इसी प्रकार शरीर यन्त्र में भी इन्द्रिय, मन आदि बिना आत्मा की प्रेरणा के कुछ नहीं कर सकते। जब प्रेरणा आत्मा की ओर से हुई तो कारयिता अर्थात् कर्म कराने वाला तो वह हो ही गया। तब जिस प्रकार भृत्यों के कर्म का फल स्वामी को ही भोगना पड़ता है, सेना लड़ती है किन्तु जय-पराजय रूप फल राजा को ही प्राप्त होते हैं। बड़े-बड़े कारखानों में बहुत से भृत्य काम करते रहते हैं किन्तु उनका फल रूप जो द्रव्य आता है वह स्वामी को ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार इन्द्रिय, मन आदि के कर्मों का भी फल प्रेरक आत्मा को ही मिलेगा यह सम्भव है। इस प्रकार शुभ-अशुभ फलों का भोक्ता तो आत्मा ही सिद्ध हुआ। इस प्रश्न के उत्तर के लिये इसपद्य में कहा जाता है कि आत्मा ज्ञानी कर्मयोगी की दृष्टि में प्रेरणा करने वाला भी नहीं है।

पद्य का अर्थ है कि मन से सब कर्मों का संन्यास अर्थात् परित्याग कर जितेन्द्रिय देही अर्थात् आत्मा नौ द्वारों के पुररूप इस शरीर में सुखपूर्वक अर्थात् सब चिन्ताओं से रहित होकर आनन्द से रहता है। वह न कुछ करता है, न किसी दूसरे अर्थात् अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि से कुछ कराता ही है। सब ही प्राणी दो कान, दो आँख, दो नासिका छिद्र और एक मुख ये ऊपर के और मल-मूत्र त्याग के दो नीचे के इस प्रकार नौ छिद्र रूप द्वारों वाले शरीर रूप पुर में ही रहते हैं। इसमें कर्मयोगी ज्ञानी की कोई विशेषता स्थूल दृष्टि से बताई गई प्रतीत नहीं होती। तथापि पद्य में जो विशेष्य और विशेषण पद आये हैं उन पर विचार करने से ज्ञानी और अज्ञानी का भेद प्रतीत हो जाता है। विशेष्य वाचक पद आत्मा का बोधक “देही” इस पद्य में आया है। उसका अभिप्राय यह है कि अज्ञानी पुरुष तो देह अर्थात् शरीर को ही आत्मा समझते हैं और वह शरीर जहाँ रहे उस घर, शय्या, आसन आदि को अपना आधार मानते हैं।

“मैं घर में रह रहा हूँ”

“मैं शय्या पर सो रहा हूँ”

“मैं आसन पर बैठा हूँ”

इत्यादि शरीर को ही ‘मैं’ शब्द का अर्थ मानकर उनके व्यवहार हुआ करते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष शरीर को आत्मा नहीं मानता। शरीर से आत्मा भिन्न है यह उसका दृढ़ निश्चय हो चुका है इसलिये वह नवद्वारपुर-रूप देह को ही अपना निवास स्थान मानता है। शय्या, आसन, घर आदि के निवासस्थान हैं, आत्मा का निवासस्थान तो कर्म फल रूप से प्राप्त शरीर ही है। जो कि प्रारब्ध कर्म की समाप्ति पर्यन्त रहेगा।

इससे यह भी सूचित किया कि जैसे घर, शैय्या, आसन आदि अपने स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हैं इसी प्रकार शरीर की स्थिति भी ज्ञानी और अज्ञानी की इस पद्य में सूचित हुई।

“सुखामास्ते” इन पदों से यह सूचित किया गया है कि संसारी पुरुष शरीर, इन्द्रिय आदि में कुछ उपघात, आपत्ति होने पर आत्मा को दुःखी समझने लगते हैं क्योंकि उन्हें शरीर में ही आत्मबुद्धि रहती है। शरीर सम्बन्धी पुत्र, मित्र, कलत्र आदि के दुःखी हो जाने पर भी वे दुःखी होते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुष सब द्वन्द्वों से रहित आत्मा को ही मैं शब्द का अर्थ मानता है। इसलिये उसे कोई चिन्ता वा दुःख होता ही नहीं। “वशी” शब्द से यह सूचित किया कि इन्द्रिय-मन आदि भी उसके वश में हैं। उन्हें वह अपने से भिन्न समझकर उनका निग्रह कर चुका है इसलिये ये उसके ज्ञान में बाधा नहीं डाल सकते। इस प्रकार के आत्मा में जैसे कोई क्रिया न होने से कर्तृता नहीं है इसी प्रकार वह किसी से कर्म कराता भी नहीं है। अर्थात् मन, इन्द्रिय आदि किसी को प्रेरणा भी नहीं करता। प्रेरणा भी तो एक प्रकार की क्रिया ही है। जब आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती है अथवा शरीर से धक्का देकर होती है। दोनों ही दशा में आत्मा क्रिया वाला हो जायगा और विभु अर्थात् व्यापक पदार्थ में हलचल रूप क्रिया हो नहीं सकती क्योंकि जो सर्वत्र व्यापक है उसमें हलचल कैसे हो ? आकाश के आधार पर वायु आदि क्रिया करते हैं किन्तु आकाश में कोई क्रिया नहीं होती क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है। वह सरक कर कहाँ जायगा ? उसके अवयव भी नहीं, तब अवयवों में हलचल भी कैसे सम्भव होगी ? आत्मा को भी इसी प्रकार व्यापक शास्त्रों ने बताया है तब उसमें जैसे क्रिया नहीं होती; उसी प्रकार प्रेरणा भी वह नहीं कर सकता। वाणी के द्वारा प्रेरणा भी वहाँ नहीं बन सकती क्योंकि वाणी भी एक इन्द्रिय है। आत्मा स्वयं वाणी रूप नहीं; न उनके स्वरूप में वाणी प्रविष्ट है, फिर वह वाणी से भी प्रेरणा कैसे करेगा ? इसलिये आत्मा जैसे कर्ता अर्थात् कर्म करने वाला नहीं है वैसे ही कारयिता अर्थात् दूसरों को प्रेरणा कर कर्म कराने वाला भी नहीं है। तब अन्तःकरण आदि जड़ों में क्रिया कैसे होती है इस पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान यही है कि इसपुर रूप शरीर में रहने के कारण आत्मा का और अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीर आदि का सन्निधान अर्थात् समीप रहना है। तब जैसे सूर्य के सम्मुख रहने वाले जल, दर्पण आदि में भी चमक आ जाती है, इसी प्रकार अनन्त प्रभा वाले आत्मा के समीप वा सम्मुख रहने से अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि में भी उसकी चेतनता का आभास आ जाता है। उस आभास से चेतन जैसे होकर ये अन्तःकरण, इन्द्रिय, शरीर आदि कर्म में लग जात हैं।

इस चैतन्यप्रभा को ही वेदान्त शास्त्र में चिदाभास कहा गया है वह चिदाभास ही इनका प्रेरक होकर कर्म कराता है। मुख्य आत्मा में कोई प्रेरणा आदि नहीं है। इस

प्रकार की दृष्टि से ज्ञानी पुरुष अपने आप को कर्ता वा कारयिता कुछ भी नहीं मानता। पुनः प्रश्न होगा कि जब आत्मा को व्यापक कहते हो तो उसका सन्निधान तो सब ही जगह है, फिर अन्य जड़ आदि वस्तुओं में भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब क्यों नहीं हो जाता और उनमें भी अपने आप क्रिया क्यों नहीं होने लगती ? इसका उत्तर है कि आत्मा के पूर्व शरीरादि से किये हुए कर्मों के अनुसार जो शरीर इसे मिला उस पर कर्मानुसार ही इसका स्वत्व रहा और यह भी शरीर, इन्द्रिय आदि को अपना समझता रहा। यह ममत्व भी इसका उन पर रहा। आज ज्ञानी हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म वश उसका ममत्व रूप सम्बन्ध उनके साथ है, यही आभिमुख्य अर्थात् अन्तःकरण आदि का आत्मा के सम्मुख होना है। इस सम्मुखता के कारण वे ही इसकी प्रभा, प्रतिबिम्ब ले सकते हैं। अन्य जड़ वस्तुओं में वैसा आभिमुख्य न होने से वे प्रतिबिम्ब नहीं ले सकते। इसलिये न उनमें चेतनता आती है, न क्रिया होती है। तब पुनः प्रश्न होगा कि आत्मा तो सदा ही अकर्ता रहा है तब पूर्व कर्म भी इसके कहाँ से आये ? पूर्व जन्म में भी शरीरादि इसके स्वरूप में प्रविष्ट नहीं थे फिर उनके किये कर्मों के अनुसार इसका ममत्व वर्तमान शरीरादि में क्यों हुआ ? इसका उत्तर यही है कि अनादि अविद्या के कारण यह अपने आपको शरीरादि से अभिन्न और कर्ता ही मानता रहा। इसी से कर्म इसी पर अपना प्रभाव डालते रहे और शरीरादि पर इसका ममत्व अनादि काल से ही बना रहा। अब ज्ञान होने पर वह ममत्व हटा है और तब मुक्ति की योग्यता आयी है। यही बात आगे “ज्ञानेन तु तदज्ञानम् येषां नाशितमात्मनः” इत्यादि पद्य में स्पष्ट की जायगी। यहाँ नवद्वारपुर में रहना बताकर यही सूचित किया कि अभी प्रारब्ध कर्म शेष रहने से उस पुर में ही यह रहता है उसमें ही प्रारब्ध कर्मवश इसका सान्निध्य है। उस सन्निधान मात्र से ही अन्तःकरण इन्द्रिय आदि चिदाभास प्राप्त कर अपने-अपने कर्म में लगे रहते हैं। पुर को नवद्वार कहने का यह भी अभिप्राय है कि उन द्वारों से प्राण वायु के निकल जाने का भी इस ज्ञानी को भय नहीं है। वह जब तक रहे वा जब चला जाय इसकी उसे कुछ भी चिन्ता नहीं। इसी के आधार पर इस नवद्वारपन को वैराग्य भावना का ज्ञानी और जिज्ञासुओं ने आधार बनाया है। जैसा कि श्रीकबीरदास जी ने कहा है -

नवद्वार का पींजरा तामें पंछी पौन ।

रहने का आश्चर्य है, गये अचम्भा कौन ॥

इसका संस्कृत में अनुवाद भी किसी सज्जन ने किया है-

उद्धाटितनवद्वारे पञ्जरे विहगोऽनलः ।

यत्तिष्ठति तदाश्चर्यं प्रयाणे विस्मयः कुतः ॥

श्रीनीलकण्ठजी ने इसकी व्याख्या में नवद्वार शब्द का अर्थ पूर्वोक्त कर्म करने के स्थान भी कहा है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और प्राण ये ही कर्म करने वाले पूर्व पद्यों में बताये हैं। कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति प्राण के द्वारा ही होती है इसलिये प्राण में ही उनका भी संग्रह कर लिया गया। इन नौ कर्म कर्ताओं का साक्षी-रूप से वह आत्मा बैठा रहता है। स्वयं कुछ करता-कराता नहीं। “सर्व कर्माणि” पद से नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्ध, आदि सब प्रकार के कर्म कहे गये हैं। अथवा लौकिक-अलौकिक सब कर्म इस पद से ले लेना यह भी व्याख्या हो सकती है। अस्तु, यह जीवन्मुक्ति अवस्था का वर्णन भगवान् ने किया।

श्रीशङ्कराचार्य इस पद्य को संन्यास का प्रतिपादक ही मानते हैं कि ज्ञानी पुरुष सब कर्मों को मनसा अर्थात् विवेक बुद्धि से छोड़कर न कुछ करता न कराता हुआ निश्चित भाव से शरीर में है, जैसे कोई पथिक किसी निवासस्थान में ठहरा रहे इसी प्रकार की इस जीवन्मुक्त की स्थिति होती है और उनके अनुयायी व्याख्याकार यह भी कहते हैं कि अध्याय के आरम्भ में जो कर्मयोग को संन्यास से श्रेष्ठ बताया था वह जब तक पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो; तब तक के ही लिये था। अर्जुन अभी तक वैसी ही दशा में था इसलिये उसके प्रति कर्मयोग को ही श्रेष्ठ कहा। वास्तव में तो कर्मसंन्यास ही सबसे श्रेष्ठ है यह इस पद्य से स्पष्ट कर दिया। श्रीशंकरानन्दजी ने इस पद्य का व्याख्यान बहुत विस्तार से किया है और उसमें विशेषकर यह सिद्ध किया है कि कर्मों के विधि वाक्य सबको मिथ्या समझने वाले ज्ञानी पर लागू नहीं हो सकते और सब जगत् को मिथ्या समझने वाला ज्ञानी पुरुष कर्म कर ही नहीं सकता। उनके मत में यह पद्य मुख्य रूप से सर्व कर्म संन्यास का ही प्रतिपादक है। किन्तु लोकमान्यतिलक कह रहे हैं कि इस पद्य में “मनसा” पद आया है इसका अभिप्राय यही है कि मन से सब कर्मों का संन्यास करे अर्थात् उन कर्मों में अपनी कर्तृत्व बुद्धि न रखे। जैसा कि अठारहवें अध्याय में विस्तृत वर्णन किया जायगा। उसी का यह सूत्रपात है! इस विचार के अनुसार वे इस पद्य को कर्मयोग का प्रतिपादक ही मानते हैं। इसी से प्रकरण संगति भी होती है।

श्रीरामानुजाचार्य “नवद्वारे पुरे संन्यस्य” इस प्रकार पद्य का अन्वय मानते हैं। उनके मतानुसार पूर्व पद्यों में इन्द्रिय, मन, प्राण आदि को कर्मों का कर्ता बतलाया गया। अब इस पद्य में शरीर को ही आत्मा के सन्निधान से चेतनता प्राप्त कर कर्ता बताया जाता है कि ज्ञानी पुरुष शरीर पर ही कर्मों का संन्यास अर्थात् स्थापन कर सुख से रहता है। शरीर से ही कर्म कराता रहता है। इससे उनके मतानुसार भी पद्य का कर्मयोग में ही तात्पर्य है (१३)

## पचहत्तरवाँ-पुष्प

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।  
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥  
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।  
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥  
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।  
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥  
तद्बुद्ध्यस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।  
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

इन पद्यों के व्याख्यान में भी व्याख्यकारों का बहुत मतभेद है। इस कारण सबका ही मत संक्षेपतः दिखाना उचित प्रतीत होता है। श्रीशङ्कराचार्य इनकी व्याख्या करते हैं कि पूर्व पद्य में जो आत्मा न करता है, न दूसरे से कराता है यह कहा गया—उसी का यह परिशेष है कि प्रभु अर्थात् सब शरीर का अधिष्ठाता जीवात्मा, न मन आदि को “तुम करो” इस प्रकार प्रेरणा करता है और न कर्म रूप भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यों को बनाता है, न उन बनाये हुए द्रव्यों के साथ शरीरादि के सम्बन्ध को कराता है। इससे यह सूचित किया कि भोग करने वाला वा इन्द्रिय, मन आदि को भोग कराने वाला भी आत्मा नहीं है। इससे न वह कर्ता है, न कारयिता है, न भोक्ता है, न भोजयिता है; वह सर्वथा निर्लिप्त है, यह बताया गया। तब यह सब कैसे होता है ? इसका उत्तर चतुर्थ पाद में दिया गया कि स्वभाव अर्थात् प्रकृति रूप माया जिसका विवरण आगे —

### ““दैवी ह्येषा गुणमयी”

इत्यादि रूप से किया जायगा वही सब प्रकार की प्रवृत्ति कराती है। तात्पर्य यही है कि माया के बने हुए अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि ही सब कुछ करते हैं, आत्मा न स्वयं करता है, न मन आदि को प्रेरणा देता है।

आगे के पद्य में विभु पद से परमात्मा लिया गया है। वह परमात्मा न किसी के पाप को ग्रहण करता है, न पुण्य लेता है अर्थात् परमात्मा के भक्तों का पाप भगवान् ही लेता है यह कल्पना निस्सार है और पूर्व पद्यों में सब कर्मों को ब्रह्मार्पण कर देना

जो कहा गया, तदनुसार भक्तों के अर्पण किये गये पुण्य रूप कर्मों का भी परमात्मा स्वयं ग्रहण नहीं करता। तब भक्त लोग पूजा, पाठ, जप, यज्ञ आदि शास्त्र विहित कर्म क्यों करते हैं ? इसका उत्तर द्वितीय पद्य के उत्तरार्ध से दिया गया है कि जीवों का “मैं स्वयं ब्रह्म रूप ही हूँ, न कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ” इस प्रकार का विवेक ज्ञान, अज्ञान अर्थात् पूर्वोक्त अविद्या से ढँका हुआ है। इसी से प्राणियों को मोह हो रहा है और वे अपने आत्मा को कर्ता, भोक्ता व पराधीन समझ कर सब प्रकार के कर्म उस मोह के कारण ही करते हैं। यह श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या हुई। उनके अनुयायी श्री मधुसूदनसरस्वती और श्रीशङ्करानन्दजी आदि भी कुछ शब्दों के हेरफेर के साथ इसी प्रकार की व्याख्या करते हैं। केवल द्वितीय श्लोक (१५वाँ) अवतरण में यह शङ्का उठाते हैं कि -

**“एष एव ह्येनं साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते”**

परमात्मा ही जिस पुरुष को उन्नत करना चाहता है उससे अच्छे कर्म कराता है और गिराना चाहता है उससे बुरे कर्म कराता है इत्यादि श्रुति और -

**“अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।**

**ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।”**

जीव स्वयं अज्ञानी है, वह अपने सुख-दुःख के कारण भी उपस्थित नहीं कर सकता। ईश्वर की प्रेरणा से ही स्वर्ग या नरक में जाता है—अर्थात् वैसे लोकों में जाने के कर्म करता है और उनके फल-भोग के लिये उन लोकों में जाता है इत्यादि स्मृतियों में ईश्वर को ही जीव का प्रेरक बताया गया है। इसी प्रकार उपासना आदि की विधि भी शास्त्रों में सर्वत्र प्राप्त है और भगवद्गीता में ही भगवान् ने स्वयं कहा है कि जो कोई भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फल आदि अर्पण करता है उनको मैं स्वयं भोजन करता हूँ इत्यादि, फिर प्रकृति के ही शिर सम्पूर्ण कर्तृत्व किस प्रकार डाला जाता है? आगे इसके समाधान में इस प्रकार की सब श्रुति-स्मृति भी मोह जनित अज्ञान के ही अनुवादक हैं, भक्तों के उत्साह बढ़ाने के लिये ही भगवान् ने भक्ति पूर्वक दिये हुए का मैं भोजन करता हूँ इत्यादि भी कहा है। वस्तुतः भगवान् न किसी का पुण्य ग्रहण करता है, न पाप लेता है। जहाँ ऐसा कहा है वह जीवों के मोह जनक अज्ञान का ही अनुवाद मानना चाहिये। इस विषय को इन व्याख्याकारों ने स्पष्ट अक्षरों में कह दिया है। इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याताओं का सिद्धान्त प्रदर्शित हुआ।

श्रीरामानुजाचार्य दोनों पद्यों को जीव परक ही लगाते हैं। वे माया, अविद्या आदि



शाङ्करवेदान्ताभिमत पदार्थों को नहीं मानते इसलिये अपने सिद्धान्तानुसार पद्यों का अर्थ करते हैं कि देव, मनुष्य, तिर्यग्योनि आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के देह, मन आदि के पृथक-पृथक प्रकार के कर्तृत्व को और उन कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाले देह आदि फलों के सम्बन्ध को भी आत्मा नहीं बनाता क्योंकि वह प्रभु अर्थात् समर्थ है। इसका तात्पर्य है कि वह भिन्न-भिन्न देहों में रहता हुआ भी कर्मों के वश में नहीं है। तब यह सब सांसारिक कर्मफलाप क्यों हो रहा है ? इसका उत्तर दिया जाता है कि यह सब स्वभाव की प्रवृत्ति है। स्वभाव शब्द का अर्थ है उनके मत में पूर्व-पूर्व कर्मों से उत्पन्न जीव में स्थित वासनायें; जिन वासनाओं ने आत्मा को देव, मनुष्य, तिर्यग्योनि आदि शरीरों में डाला है वे ही वासनायें उनसे अपने-अपने देह, मन आदि के उपयुक्त कर्म कराती रहती हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पूर्व-पूर्व कर्मजनित वासनाओं के अनुसार जीव उत्तरोत्तर कर्म करता रहता है और उनके फल भोगता रहता है। इस विचार से आत्मा का कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वतः नहीं है, पूर्व-पूर्व वासनानुसार है। द्वितीय पद्य को भी वे जीवात्मा पर ही कहते हैं कि किसी आत्मीय पुत्र, मित्र आदि का पाप या पुण्य आत्मा नहीं लेता अपितु अज्ञान अर्थात् ज्ञान के विरोधी-तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति को रोकने वाले पूर्वकृत कर्मों से जीव का तत्त्वज्ञान आवृत अर्थात् ढँका हुआ रहता है—कर्मवश तत्त्वज्ञान सब जीवों में उत्पन्न नहीं होता। इसी से सांसारिक जीव देहाभिमान रूप मोह में पड़े रहते हैं अर्थात् देह को ही अपना स्वरूप मानकर अपने आप में कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि समझते रहते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य ने नाम से जो व्याख्या मुद्रित है उसमें और श्रीगोस्वामीपुरुषोत्तम जी की व्याख्या में, दोनों पद्यों को ईश्वर पर ही लगाया गया है कि ईश्वर भिन्न-भिन्न योनियों में स्थित जीवों का कर्तृत्व उन योनियों के भिन्न-भिन्न कर्म वा उनके फलों के साथ जीव का सम्बन्ध उत्पन्न नहीं करता अपितु यह सब जीवों से सम्बन्ध रखने वाले प्रकृति जनित स्वभाव अर्थात् आदत के अनुसार ही होता है। द्वितीय पद्य में श्रीवल्लभोक्त व्याख्या में कहा गया है कि परमात्मा किसी का पुण्य-पाप नहीं लेता अर्थात् उन पाप-पुण्यों में प्रेरक भी नहीं बनता। किन्तु भगवान् ने जो माया शक्ति उत्पन्न की है, उसी के विद्या और अविद्या नाम के पाँच पर्व हैं जो श्रीभागवत में निरूपित हैं। उस अविद्या को ही यहाँ अज्ञान शब्द से कहा गया। उस अज्ञान से जीवों को अपना स्वरूप ज्ञान नहीं हो पाता। इसी से जीव मोह में पड़े रहते हैं और मोह के कारण ही अपने आप को कर्ता-भोक्ता समझते रहते हैं। यह सब स्वतन्त्र भगवान् ने ही जगत् रूप से क्रीड़ा करने की इच्छा से बनाया है।

श्रीगोस्वामीपुरुषोत्तमजी ने यह शङ्का उठाकर कि फिर श्रुति ने भगवान् को ही

सब कर्मों में प्रेरणा करने वाला कैसा बताया ? इसका उत्तर दिया है कि अज्ञानवश अपने स्वरूप को जिस प्रकार जीव भूल जाते हैं उसी प्रकार वेदार्थ ज्ञान में भी मोह में पड़ते हैं। प्रेरणा बताने वाली श्रुति ने भगवान् की स्वतन्त्र इच्छा का ही प्रतिपादन किया था अर्थात् भगवान् स्वतन्त्र हैं। वे अपनी स्वतन्त्रता से जिस जीव को उन्नत बनाना चाहते हैं उससे अच्छे कर्म करा लेते हैं और जिसे अवनति में डालना चाहते हैं, उससे बुरे कर्म करा लेते हैं, यह सब भगवान् की स्वतन्त्रता ही है। इसी का प्रतिपादन उस पूर्वोक्त श्रुति में किया गया था। जीव उसका भी तात्पर्य न समझ सके। इससे भगवान् पर विषमता वा प्राणियों पर दुःख देने के कारण निर्दयता का प्रसङ्ग आवेगा यह शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि किसी दूसरे पर विषमता वा निर्दयता कहला सकती है। जीव तो सब भगवान् के ही अंश हैं। भगवान् ही जगत् रूप क्रीड़ा की इच्छा से अपने अंशों को पृथक्-पृथक् रूप में भासित करते हैं अर्थात् स्वयं ही भिन्न-भिन्न रूपों से उन्नति और अवनति आदि का अनुभव किया करते हैं, यह उनकी केवल क्रीड़ा है, इसमें विषमता या निर्दयता का कोई प्रसङ्ग नहीं। आगम शास्त्र में विषमता और निर्दयता का यही समाधान किया जाता है। इस प्रकार वैष्णव व्याख्याताओं की व्याख्यायें भी भिन्न-भिन्न प्रकार की प्राप्त होती हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य मतानुयायिनी तत्त्वप्रकाशिका में इन पद्यों की व्याख्या की है कि पूर्वपद्य में जो कहा गया कि कर्मयोगी कर्मफल से बद्ध नहीं होता और जो इच्छापूर्वक आसक्ति से कर्म करता है, वह बन्धन में पड़ता है। इस पर प्रश्न होगा कि कर्मों में प्रेरक तो परमात्मा ही है जैसा कि पूर्व श्रुति और स्मृति द्वारा दिखाया जा चुका है। तब जीव तो परमात्मा की प्रेरणा से शुभ वा अशुभ कार्य करते हैं, जैसे कि कोई भृत्य स्वामी की आज्ञा से भिन्न प्रकार के कर्म किया करता है। तब फिर शुभ-अशुभ कर्मों का मुख्य रूप से दायित्व तो ईश्वर पर ही आया। जीव तो उसकी प्रेरणा से ही कर्म करता है। उसका तो बन्धन नहीं होना चाहिये। सब कर्मों का फल प्रेरक ईश्वर को ही मिलना चाहिये। इसका उत्तर दोनों पद्यों से दिया गया है कि कर्तृत्व अर्थात् कर्म करने में प्रवृत्ति, कर्म और कर्मफल का संयोग, ये सब प्रभु अर्थात् ईश्वर स्वतः नहीं बनाता किन्तु स्वभाव अर्थात् अनादि काल से जो कर्मों का बन्धन जीव को लगा हुआ है और अविद्या के कारण जिसे जीव ने प्रकृति रूप से अपने स्वरूप में प्रविष्ट समझ रक्खा है, वही सब कर्म आदि का कारण होता है। ईश्वर भी पूर्व-पूर्व कर्मों की वासना के अनुसार ही उत्तरोत्तर कर्मों में प्रवृत्ति कराता रहता है। इसीलिये उस पर विषमता वा निर्दयता का दोष भी नहीं आता और स्वतः प्रेरक न होने से वह पाप-पुण्य का भागी भी नहीं बनता। यह पूर्व पद्य का अर्थ उनके मतानुसार हुआ। द्वितीय पद्य में इसी को

स्पष्ट किया गया कि वह परमात्मा किसी का पुण्य वा पाप नहीं लेता अर्थात् पूर्व पूर्व कर्मानुसार प्रेरणा करने से पाप-पुण्य का भागी वह नहीं बनता किन्तु अनादि कर्मबन्ध रूप अज्ञान से जीवों का स्वाभाविक ज्ञान ढँका हुआ है। इसी मोह में वे पड़कर अपने आपको कर्त्ता, भोक्ता, आदि मानते हैं और ईश्वर को प्रेरक मान रहे हैं। स्वभाव और अज्ञान शब्दों का अर्थ इनने श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार ही किया है। केवल भेद इतना ही है कि उनके प्रभु, विभु शब्दों का अर्थ जीवात्मा को ही मानकर दोनों पद्यों को जीवात्मा पर ही लगाया है और इस व्याख्या में दोनों परमात्मा पर ही लगाये गये हैं।

श्रीमाध्वमतानुयीश्रीधरस्वामी की भी व्याख्या प्रायः ऐसी ही है, केवल उन्होंने स्वभाव शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य के मतानुसार अविद्या ही किया है और उत्तर पद्य में अज्ञान शब्द से ईश्वर के समवर्तित्व का ज्ञान न होना माना है। अर्थात् ईश्वर तो किसी को दण्डभी देता है तो वह भी उसके सुधार के लिये होने के कारण अनुग्रह रूप ही है। किन्तु जीव उसमें विषमता की कल्पना कर लेते हैं, यह उनका ईश्वर स्वरूप न जानने के कारण अज्ञान जनित मोह ही है। इस मोह का या ईश्वर स्वरूप न जानने का मुख्य कारण क्या है ? इसका विचार करने पर अविद्या या उसकी मूलभूत माया में ही पर्यवसान होगा।

महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी का मार्ग इन पद्यों की व्याख्या में सबसे निराला है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है—जैसा कि हमने “नैव कुर्वन्न कारयन्” इन पूर्व पद्य के शब्दों की व्याख्या में लिखा था कि आत्मा, इन्द्रिय, मन आदि को प्रेरणा नहीं करता, अपितु आत्मा के अभिमुख रहने के कारण वे मन आदि इसकी चैतन्य छाया लेकर स्वयं प्रवृत्त हो जाते हैं। इसलिये आत्मा अपने सन्निधान अर्थात् समीपस्थिति मात्र से प्रेरक मान लिया जाता है। वस्तुतः प्रेरणा करना भी उसकी ओर से नहीं बनता। यह इन पद्यों में दिखाया गया है। उसका कारण यह है कि जैसे चुम्बक और लोहे की परस्पर में समीपता होने के कारण लोहा चल जाता है, यही समीप स्थिति प्रेरणा कहलाती है। वहाँ लोहा और चुम्बक दोनों सावयव हैं और दोनों ही अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। इसलिये एक को प्रेरक और दूसरे को प्रेरणा ग्रहण करने वाला मान लिया जाता है।

यहाँ बात दूसरी है। आत्मा स्वयं तो सत्तावाला है किन्तु अन्तःकरण, इन्द्रियाँ आदि माया जनित होने के कारण अपनी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रखते। वे वास्तव में अनिर्वचनीय वा असत् ही हैं। तब सत् और असत् का सम्बन्ध कैसे बने ? और सत् के सन्निधान से असत् की प्रेरणा भी कैसे मानी जाय ? अतः अन्त में यही कहना पड़ेगा कि यह सब कर्तृत्व या कर्म या कर्म फल का सम्बन्ध, केवल माया का

चमत्कार वा कल्पना मात्र है। पूर्व पद्य का अर्थ है कि आत्मा अर्थात् जीवात्मा ने अहङ्कार में कर्त्तापन और इन्द्रियों में अपने-अपने कर्म उत्पन्न नहीं किये हैं, न कर्मों के फल का सम्बन्ध ही वह बनाता है। यदि आत्मा के समीप रहने से कर्म में प्रेरणा मिलती हो तो घट, पट, आदि जड़ वर्ग में भी प्रेरणा होनी चाहिये क्योंकि आत्मा तो व्यापक होने के कारण उनके भी समीप में हैं। लोक शब्द का अर्थ यहाँ उन्होंने जड़वर्ग ही किया है। उस जड़ वर्ग में कोई कर्म या उन कर्मों का कर्त्तृत्व नहीं देखा जाता, न उनका कर्मफल से कोई सम्बन्ध ही होता है। पद्य का अर्थ यही होगा कि लोक अर्थात् जड़ वर्ग में प्रभु अर्थात् आत्मा, कर्त्तृत्व, कर्म और फल संयोगों को उत्पन्न नहीं करता। इसी प्रकार प्राणियों में भी वह इनको उत्पन्न नहीं करता, यही मानना उचित है। फिर प्राणिवर्ग में कर्म कैसे होते हैं इसका उत्तर यही है कि—प्राणिवर्ग में जो जिसका स्वभाव अर्थात् आदत है, उसके अनुसार ही वह अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त रहता है जैसे—हाथी का स्वभाव चलते समय अपने पुच्छ को हिलाना है, वह वैसा ही करता रहता है। घोड़े का स्वभाव अपने आगे के पैरों को भूमि पर बार-बार पटकना है, वह वैसा ही करता है। इसी प्रकार अपनी-अपनी प्रकृति (आदत) के अनुसार सब प्राणी चेष्टा करते रहते हैं। आत्मा इन कर्मों की कोई प्रेरणा नहीं करता। हाँ, इस प्रकार की प्रेरणा उसमें अवश्य माननी होगी कि जैसे सूर्य उदय होते ही सर्वत्र प्रकाश फैलाता है; इस प्रकाश में प्राणिवर्ग अपनी-अपनी चेष्टा में लग जाते हैं; जड़वर्ग घट, पट, आदि में कोई चेष्टा नहीं होती। इसी प्रकार आत्मा का व्यापक होने के कारण सब स्थानों में सन्निधान है किन्तु जहाँ इन्द्रिय, मन आदि हैं, वहाँ कर्म होने लगते हैं और उनका कर्त्तृत्व भी अहङ्कार वश माना जाने लगता है। किन्तु जहाँ मन, इन्द्रिय आदि नहीं, उस जड़वर्ग में आत्मा के सन्निधान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह सब स्वभाव के कारण ही होता है। प्राणिवर्ग में जो स्वभावानुकूल चेष्टायें होती हैं उसमें आत्मा का सन्निधान ही कारणरूप होता है। क्योंकि मृत शरीरों में चेष्टा आदि नहीं देखी जाती। यद्यपि मृत शरीरों में भी विभु होने के कारण आत्मा का सन्निधान तो रहता ही है किन्तु इन्द्रिय, मन आदि के निकल जाने से प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं होता और चेतना का आभास न आने से चेष्टायें भी नहीं होतीं। इसी कारण जड़ और चेतन का यही विभाग चरक महर्षि ने लिखा है कि —

“सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्”

जहाँ इन्द्रियों का विकास है, वे चेतन कहलाते हैं, जहाँ इन्द्रियों का विकास नहीं, वे जड़ कहे जाते हैं। इसीलिये व्यवहार दशा में अन्तःकरण, इन्द्रिय आदि के कर्मों का कर्त्तृत्व आत्मा पर लाद दिया जाता है। वस्तुतः जैसे सूर्य प्रकाश में सब कर्मों

के होने पर भी उन कर्मों में सूर्य का कर्तृत्व नहीं माना जा सकता इसी प्रकार आत्मा में भी कर्तृत्व नहीं है अपितु अपने-अपने स्वभाव में कर्तृत्व रहता है। प्रश्न होता है कि कई प्राणियों की जो स्वाभाविक चेष्टायें पूर्व कही गईं उनमें चाहे स्वभाव का कर्तृत्व माना जाय, किन्तु मनुष्य प्राणी जो इच्छा और विवेक पूर्वक शास्त्रों के अनुसार शुभ वा अशुभ कर्म करता है, उनको स्वाभाविक कैसे कहा जायगा ? तो यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं क्योंकि जैसे भिन्न-भिन्न प्राणियों के शरीरों में स्वभावजनित चेष्टायें बतायी गयीं, इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहङ्कार वा इन्द्रियाँ इन सब का भी नियत स्वभाव है। मन अपने स्वभावानुसार सङ्कल्प-विकल्प करता है। बुद्धि अपने स्वभावानुसार ही सत्-असत् की विवेचना करती रहती है। अहङ्कार अपने स्वभावानुसार आत्मा पर कर्तृत्व आरोपित करता है। इन्द्रियाँ अपने स्वभावानुसार दर्शन, श्रवण आदि करती रहती हैं। यों यह सब स्वभाव का चक्र है। इसलिये उचित कहा गया कि —

**“स्वभावस्तु प्रवर्तते”**

अर्थात् स्वभाव ही सबकी प्रवृत्ति कराता है। द्वितीय पद्य के पूर्वार्ध में इसी का समर्थन किया गया कि जब आत्मा स्वयं कर्म भी नहीं करता और प्रेरणा भी नहीं करता तब वह किसी शुभ-अशुभ कर्म का आदान अर्थात् फलभोग भी नहीं करता, यह उचित ही है।

आगे प्रश्न उठता है कि फिर —

**“एष एव ह्येनं साधु कर्म कारयति”**

इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति में ईश्वर को प्रेरणा करने वाला कैसे बताया गया ? जब स्वभाव ही सब कुछ कर-करा लेता है, तब ईश्वर प्रेरणा की क्या आवश्यकता रही? इस प्रश्न का उत्तर द्वितीय पद्य के उत्तरार्ध से दिया गया है कि प्राणियों का ब्रह्मात्मक स्वरूप ज्ञान-अज्ञान से ढका रहता है—जैसे कोई राजा स्वप्न दशा में किसी शत्रु से घिर कर कैद हो जाय, यह अपना स्वरूप भूलकर अपने को बन्दी और अतिदीन मानने लगता है। इसी प्रकार जीव भी अनादि अविद्या के कारण अपना स्वरूप भूलकर “हम ईश्वर के सेवक हैं, ईश्वर हमारा नियन्ता है, वही हमसे सब कुछ कराता है” इत्यादि मानने लगते हैं। श्रुति भी उनकी अज्ञान दशा का ही अनुवाद करती हुई ईश्वर को प्रेरक बता देती है। यही बात अन्यत्र श्रुति में कही गयी है कि “जो अपने से भिन्न मानकर किसी देवता की उपासना करता है, वह ज्ञानवान नहीं अपितु देवता का पशुरूप है अर्थात् जैसे पशु को मनुष्य लोग यथेच्छ चलाया करते हैं इसी प्रकार देवता उस मनुष्य प्राणी को चलाया करते हैं। इस श्रुति से अज्ञानी को ही देव आदि की प्रेरणा होती है, यह स्पष्ट हो जाता है।

लोकमान्यतिलक यहाँ पूर्व पद्य में सांख्य का अभिमत सिद्धान्त ऐसा मानते हैं। सांख्य में स्वभाव अर्थात् प्रकृति को ही सब कुछ करने वाली माना जाता है, पुरुष निर्लिप्त ही रहता है। द्वितीय पद्य में वेदान्त के अनुसार प्रकृति को मायारूप बताते हुए उसे अज्ञान शब्द से कहा। उस अज्ञान से ही जीव का स्वाभाविक ज्ञान ढँका हुआ है। इन पद्यों से जीव और ईश्वर दोनों में ही कर्तृत्व का निराकरण किया गया, यह भी उन्होंने लिखा है। क्योंकि प्रभु, विभु आदि शब्द जीव और ईश्वर दोनों ही के लिये प्रयुक्त होते हैं और आत्मा शब्द भी वेदान्त में दोनों के लिये साधारण ही है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के शीर्षक के अनुसार इन पद्यों का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि अव्यय पुरुष अपनी ज्ञान ज्योति के द्वारा सदा ही अलिप्त रहता है। कर्मों का कोई प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। अन्यत्र भी अपने ग्रन्थों में उन्होंने यह विस्तार से स्पष्ट किया है कि भय, दुःख आदि, न ज्ञान से उत्पन्न कहे जा सकते हैं न अज्ञान से ही, क्योंकि सर्वथा अज्ञानी बालकादि में भय, दुःख आदि नहीं देखे जाते। क्योंकि वह स्वभावतः सदा प्रफुल्लित ही रहता है और पूर्ण तत्त्व ज्ञानी में भी वे नहीं रहते। इसलिये जहाँ ज्ञान-अज्ञान से आवृत है अर्थात् ज्ञान-अज्ञान दोनों का सम्मिश्रण हो वहीं भय, दुःख इत्यादि होते हैं।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के मतानुसार इन दो पद्यों की व्याख्या लिखी गयी। सारांश सबका यही है कि स्वतः आत्मा में कर्मकृत कोई फल नहीं होता, न कर्तृत्व ही स्वतः आत्मा में होता है। जो हम लोग कर्तृत्व वा कर्मफल का अनुभव करते हैं, वह सब प्रकृति के सम्मिश्रण के कारण हैं। प्रकृति जनित अज्ञान से ही आत्मा का स्वरूप ज्ञान दबा हुआ है। इसी कारण सांसारिक मनुष्य शोक, मोह आदि से विकल रहते हैं (१४-१५) इसीलिये अग्रिम तृतीय पद्य में कहा जाता है कि जिन कर्मयोगियों के विवेक ज्ञान से वह मोहजनक अज्ञान नष्ट कर दिया गया अर्थात् जिन्होंने माया या प्रकृति को अपने से पृथक् कर अपना स्वरूप ब्रह्मभाव यथावत् जान लिया, उनका ज्ञान सूर्यवत् चमक उठा है और वह सब सांसारिक वस्तुओं के तत्त्व को और परम अर्थात् परतत्त्व को भी प्रकाशित कर देता है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि जैसे सूर्यमण्डल की ओर जाने वाली हमारी दृष्टि का किसी मेघ आदि से आवरण हो जाता है तो हमें सूर्य नहीं दीखता, किन्तु उस आवरण के दूर होते ही सूर्य चमक उठता है और उसके प्रकाश में सब वस्तुएँ भी दिखाई देने लगती हैं, इसी प्रकार ज्ञान, आत्मा का स्वरूप है। उस पर अविद्या अर्थात् अज्ञान का आवरण छाया रहता है। वह आवरण विचार से जिनका दूर हो गया उनका स्वरूपभूत ज्ञान चमक उठता है और उससे परतत्त्व भी प्रकाशित हो जाता है। परतत्त्व के प्रकाशन के लिये किसी अन्य की

आवश्यकता नहीं, वह तो स्वयं प्रकाश है। किन्तु अज्ञान का आवरण हटाने के लिये ही अन्तःकरण वृत्ति रूप ज्ञान की आवश्यकता होती है। आवरण दूर होते ही सूर्य के समान परतत्त्व भी भासित हो जाता है। उसके भासित होने के अनन्तर जो स्थिति होती है वह आगे के पद्य में बतायी गयी है कि ज्ञान के द्वारा सब कल्मष अर्थात् पाप रूप कर्दम जिनके दूर हो गये हैं, वे पुरुष केवल परतत्त्व अर्थात् परब्रह्म में ही अपनी बुद्धि का योग कर देते हैं और उस परब्रह्म को ही अपना आत्मा मान लेते हैं। वह तो आत्मा ही है किन्तु उन्हें उसका आत्मा होना भासित हो जाता है। तब वे और सब छोड़कर केवल तन्निष्ठ अर्थात् उसी परतत्त्व में समाधि द्वारा स्थित हो जाते हैं और उसी को पर अयन अर्थात् अन्तिम प्राप्ति स्थान मानते रहते हैं, इस प्रकार अनन्य भाव होने पर वे उस स्थिति में पहुँच जाते हैं जहाँ से फिर लौटना नहीं होता। वह स्थिति आत्मा का स्वरूप ही है, उसमें गमन शब्द का प्रयोग केवल औपचारिक है। सांसारिक स्थिति से निकल कर वह स्थिति प्राप्त करना ही उस स्थिति में जाना कहा जाता है। इन पद्यों को भी प्राचीन टीकाकार संन्यास की स्थिति के वर्णन पर ही लगाते हैं किन्तु लोकमान्यतिलक कर्मयोग का प्रकरण होने से कर्मयोग परक ही सबको मानते हैं। उनका मत यही है कि कर्मयोग से ही यह अन्तिम स्थिति प्राप्त हो जाती है और पुनरागमन रहित मोक्ष भी उसी में रहते-रहते मिल जाता है। ज्ञान से ही मुक्ति होती है, इस श्रुति का विरोध नहीं होता क्योंकि ज्ञान तो कर्मयोगी को भी होना आवश्यक ही है, केवल कर्म छोड़ने का प्रसङ्ग है।

श्रीरामानुजाचार्य ने तृतीय पद्य में “परं प्रकाशयति” का अर्थ परम ज्ञान प्रकाशित हो जाता है यही माना है और चतुर्थ पद्य में भी उस ज्ञान में ही उनकी बुद्धि, मन आदि लगे रहते हैं, यही अर्थ किया है (१६-१७)



## छिहत्तरहवां-पुष्प

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।  
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥  
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।  
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥  
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।  
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥  
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।  
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

उक्त पद्यों में कर्मयोगी के लिये ज्ञान की आवश्यकता का पूर्ण विवरण किया गया, अब आगे कर्मयोगी के लिये समत्व बुद्धि की आवश्यकता भी बताई जाती है। द्वितीय अध्याय में “समत्वं योग उच्यते” इस पद्य के द्वारा सूत्र रूप से समत्व का उपदेश किया गया था। उसी का विस्तार यहाँ किया जाता है।

पद्य का अर्थ है कि विद्या और विनय, विनय पद से यहाँ उपशम अर्थात् पूर्ण शान्तता ली जानी उचित है, आदि गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण में, गौ में, हस्ति में, कुत्ते में और श्वपाक अर्थात् चाण्डाल में जो समानभाव को देखे, वही पण्डित कहलाने योग्य है अर्थात् पूरा कर्मयोगी है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म सब में समानरूप से रहता है और माया या प्रकृति के कारण जगत् का भेद व्यवहार चलता है। कर्मयोगी को सब में ब्रह्मभाव ही देखना चाहिये। वह प्रकृति वा माया के गुणों से उत्पन्न भेद-भाव पर दृष्टि न रखे। इसीलिए पद्य में सत्त्व, रज, तम तीनों गुण वाले प्राणियों का निर्देश किया है। विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण संस्कारयुक्त होने के कारण पूर्ण सात्विक है। गौ संस्कारयुक्त न होने के कारण रजोगुण युक्त है, ऐसी श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या है। हस्ति भी तमोगुण का रूप है। पूर्व के दो आकार में लघु थे। हस्ति आकार में बहुत बड़ा है। इससे यह भी सूचित करते हैं कि बाह्य आकार अर्थात् छोटे-बड़ेपन पर भी कर्मयोगी की दृष्टि नहीं जानी चाहिए। वह समान भाव पर ही दृष्टि रखे। आगे कुत्ता, आकार में भी बहुत छोटा है और सर्वभक्षी होने के कारण तमोगुण का भी प्रधान रूप है। उसका निर्देश किया गया; और मनुष्यों में तमोगुणवालों में प्रधान चाण्डाल



का अन्त में निर्देश किया गया। इन सब में ब्रह्म समान रूप से रहता है, भेद केवल प्रकृति के गुणों के कारण है। कर्मयोगी की दृष्टि सदा ब्रह्म पर ही रहनी चाहिए। इसलिये वह इनमें समान भाव ही देखे। माया के गुणों की विषमता पर वह दृष्टिपात ही न करे।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि ज्ञानाकार आत्मा सब में समान रूप ही है, उसी पर कर्मयोगी को अपनी दृष्टि रखनी चाहिये। प्राकृतिक भेद-भाव पर वह दृष्टि न रखे।

जिस प्रकार जघन्य पदार्थों में एवं उत्तम सरोवर आदि में प्रतिबिम्ब होने पर भी सूर्य किसी के गुण-दोष से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। इसी प्रकार ब्रह्म भी भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होने पर भी उनके दोष-गुणों से असंस्पृष्ट ही रहता है। यह जीव के प्रतिबिम्बवाद पक्ष में व्याख्या समझें।

कई विद्वान् इस प्रकार भी पद्य की व्याख्या करते हैं कि ब्राह्मण और गौ ये दोनों सत्त्वगुण वाले प्रथम कहे गये; हाथी जो रजोगुण का साक्षात् स्वरूप है, रजोगुण प्रधान राजा आदि महापुरुषों के पास जिसकी स्थिति रहती है, वह मध्य में कहा गया। श्वा और श्वपाक ये दोनों तमोगुणी अन्त में कहे गये। अत्यन्त विरुद्ध सत्त्वगुण और तमोगुण कहीं परस्पर सङ्कीर्ण न हो जायँ, इसलिए मध्य में हाथी को खड़ा किया गया और वह सत्त्व और तम को मिलने न देगा।

वर्णाश्रम व्यवस्था को उखाड़ने वाले वर्तमान युग के बहुत से विद्वान् इस पद्य को अपने पक्ष के पोषण में बहुधा उपस्थित किया करते हैं। सबके साथ समान ही व्यवहार होना चाहिये। खान-पान का भेद या छुआछूत इस गीता-वाक्य के विरुद्ध है, ऐसा उन महानुभावों का आशय होता है। किन्तु उन्हें इस बात पर दृष्टि डालनी चाहिये कि भगवद्गीता में यह उच्चतम जीवन्मुक्तिदशा का निरूपण है, इसे व्यवहार दशा में स्थित सामान्य मनुष्यों पर नहीं लगाया जा सकता। दूसरी यह भी बात विचारणीय है कि पद्य में “समदर्शिनः” कहा है, “समवर्तिनः” नहीं कहा है अर्थात् कर्मयोगी की दृष्टि सबमें समानरूपता में होनी चाहिए। बर्ताव अर्थात् व्यवहार में ऐसी समानता लेने पर तो संसार में बहुत बड़ा उलट-फेर हो जायगा। यदि कोई साधारण पुरुष दो-चार कुत्ते अपने साथ ले जाय और किसी बड़े राजा रईस के मुकाम में उन कुत्तों को बाँध कर दो-चार हाथी वहाँ से ले जाने लगे और पूछने पर यही कहे कि “पण्डिताः समदर्शिनः” तो उसकी बात को कौन मानेगा ? इसलिये यह मानना ही होगा कि यह उपदेश सबमें साम्यदर्शन के उच्च अधिकारी के लिये ही है। व्यवहार दशा में इसका लगाना सर्वथा अनुचित है। यह विषय अग्रिम पद्य में और स्पष्ट हो जायगा (१८)

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ऐसी समदर्शिता का तो स्मृतियों ने निषेध किया है। कोई अपूज्य चाण्डालादि का पूजन करे अथवा उत्तम ब्राह्मण की चाण्डाल आदि के समान ही अवज्ञा करे तो उसे गौतम धर्म सूत्र में अभोज्यात्र कहा है अर्थात् उसका अन्न खाने का भी सदाचारी पुरुषों को निषेध किया है। जैसा कि किन-किन का अन्न भोजन नहीं करना चाहिये, इस प्रकरण में गौतम का सूत्र है कि—

“समासमाभ्यां विषमसमेषु जातः” (गौ०ध०सू० २।८।२०)।

फिर यहाँ जो सबमें समान दृष्टि का भगवान् ने विधान किया और समान दृष्टि वाले को ही पण्डित कहा, यह तो उन स्मृतिवाक्यों से सर्वथा विरुद्ध होगा। इसका उत्तर दूसरे पद्य में दिया जाता है कि उन समदर्शी पुरुषों ने इसी जन्म में संसार को जीत लिया जिनका कि मन साम्य अर्थात् सर्वत्र समभाव में स्थित हो गया है। इसका कारण पद्य के उत्तरार्ध में बताया गया है कि ब्रह्म सर्वत्र दोषरहित होकर समभाव से विराजमान रहता है, इसका तात्पर्य है कि संसार दशा में जिन कुत्ता वा चाण्डाल आदि को दूषित समझा जाता है उनके उस दोष से ब्रह्म दूषित नहीं होता। जैसे कि पूर्व कहा जा चुका है कि मलिनस्थान में प्रतिबिम्बित होने पर भी बिम्बभूत सूर्य में उस दोष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दोष सब त्रिगुणात्मक माया के हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि समानभाव देखने वाले ब्रह्म में स्थित हैं अर्थात् उनकी दृष्टि ब्रह्म पर ही है और विषमभाव देखने वाले त्रिगुणात्मक प्रकृति वा माया में दृष्टि रखते हैं। इस कारण ब्रह्म में दृष्टि रखने वाले संसार को जीत लेते हैं अर्थात् संसार में रहते हुए भी जीवन्मुक्त दशा का अनुभव करते रहते हैं और विषमभाव देखने वालों की दृष्टि माया वा प्रकृति पर ही है, इससे वे प्रकृति जनित संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि स्मृति आदि में जो विषम दृष्टि बताई है, वह भी संसार में स्थित प्राणियों की विषम दृष्टि का ही अनुवाद है। विद्याओं के भी दो भेद माने गये हैं—

१. पराविद्या

२. अपराविद्या

ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या पराविद्या कही जाती है और संसारी पुरुषों को व्यवहार दशा का उपदेश देने वाली विद्या अपरा विद्या कही जाती है। भेद प्रतिपादक श्रुतिस्मृति आदि सब अपरा विद्या के ही अन्तर्गत हैं। हम पूर्व भी इस बात का निरूपण कर चुके हैं कि आर्यशास्त्र सब ही अधिकारियों को कल्याण का मार्ग दिखाने के लिये प्रवृत्त हैं। आज जिसकी ब्रह्म दृष्टि नहीं है उसे भी धीरे-धीरे ब्रह्म दृष्टि करा देना आर्यशास्त्रों का लक्ष्य है। इसीलिये कर्मकाण्ड प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों में वा स्मृति आदि में व्यवहार दशा के लिये ही सब धर्मों का निरूपण है। व्यवहार दशा में तो भेद-भाव रहता ही

है, जैसा कि पूर्व पद्य के व्याख्यान में कहा जा चुका है, जब मनुष्य कर्मयोग आदि के द्वारा उच्चश्रेणी पर पहुँच जाता है तब वह ऐसे विषमभाव प्रतिपादक शास्त्रों को भी लोकानुभव का अनुवादक मान लेता है। उस पराविद्या में स्थित पुरुष की इन अपरा विद्या के शास्त्रों में प्रवृत्ति नहीं होती। इसका यह अर्थ नहीं कि वह इन शास्त्रों को अप्रमाण मान लेता है किन्तु वह यही समझ लेता है कि ये सब विषमभाव के प्रतिपादक शास्त्र संसार दशा में स्थित पुरुषों के लिये हैं, उन्हें इनके ही द्वारा शनैः शनैः उन्नति करने का लाभ भी होता है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह संसार मूलभूत अविद्या के अनवाद मात्र हैं। इसीलिये मेरी प्रवृत्ति इनमें नहीं होनी चाहिये (१९)

न केवल उत्तम, अधम पुरुषों में ही समान दृष्टि का विधान कर्मयोगी के लिये किया जाता है किन्तु संसार के सभी पदार्थों में कर्मयोगी को समान ही दृष्टि रखनी चाहिये। यह आगे के पद्य में विधान करते हैं कि कोई प्रिय वस्तु प्राप्त कर उसे हर्ष में निमग्न नहीं होना चाहिये और अप्रिय अर्थात् अपनी प्रकृति के विरुद्ध कोई आपत्ति, रोग आदि आ पड़ने पर घबराना नहीं चाहिये। अर्थात् हर्ष और शोक में भी उसका समान ही भाव रहना चाहिये। इस प्रकार जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई है और वह कभी मोह को प्राप्त नहीं होती अर्थात् विचलित नहीं होती, वही ब्रह्मवेत्ता है और वह ब्रह्म में ही स्थित हो गया है अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मभाव उसने देख लिया है, यह मानना होगा (२०)

बाहर के अर्थात् संसार के विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध करने में जिसका अन्तःकरण आसक्त नहीं है, वह पुरुष अपने आत्मा में ही जिस सुख का लाभ अर्थात् अनुभव करता है, वह क्रमशः प्रकृति का सम्बन्ध छोड़कर ब्रह्म में समाधिरूप योग में अन्तःकरण को लगा कर अक्षय सुख अर्थात् मुक्तिरूप परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। इसलिये जो ब्रह्म सुख प्राप्त करना चाहता है वह इन्द्रियों से विषयोपभोग के क्षुद्र सुख को छोड़ देवे, यह तात्पर्य हुआ।

श्रीनीलकण्ठजी इसकी व्याख्या इस अवतरण के साथ करते हैं कि ब्रह्म सुख का तो अभी हमें कोई अनुभव ही नहीं, तब उसकी लालसा में पड़कर विषयों का सुख कैसे छोड़ा जा सकता है। इसका उत्तर इस पद्य में दिया गया है कि बाह्य विषयों का सम्बन्ध छोड़कर भी हमें आत्मानन्द का अनुभव सुषुप्ति काल में होता है। सुषुप्ति काल में विषय सम्बन्ध कुछ नहीं है, यह तो सभी मानते हैं और उस समय सुख का अनुभव होता है, इसे दो प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है— एक तो जागने पर जो ज्ञान होता है कि —

“सुखमहमस्वाप्सम्”

मैं बड़े आनन्द से सोया, यह सुषुप्ति काल के आनन्द की स्मृति है। स्मृति बिना पूर्वानुभव के हो नहीं सकती। इसलिये सुषुप्तिकाल में सुख का अनुभव हुआ था, यह मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि लौकिक पूर्णसुखों का अनुभव करते हुए भी मनुष्य को सुषुप्ति की इच्छा अवश्य होती है। इससे अनुमान होगा कि सुषुप्तिकाल का सुख इन सब विषय जनित सुखों से उच्चश्रेणी का है। तभी तो बड़े आनन्दकी प्राप्ति के लिये छोटा आनन्द छोड़ने में सर्वसाधारण की प्रवृत्ति देखते हैं। फिर जैसे हम लौकिक विषयों में सुख का अनुभव करते हैं वैसा अनुभव सुषुप्ति समय में क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है कि सुषुप्ति का सुख बुद्धि की वृत्ति रूप नहीं है अपितु वह बुद्धि के भी मूलभूत अज्ञान की वृत्ति है। अनुभव बुद्धि की वृत्तियों का ही होता है। अज्ञान की वृत्तियों का अनुभव करने की बुद्धि में शक्ति नहीं। इसलिये उस समय स्फुट अनुभव नहीं होता। किन्तु पूर्वोक्त कारणों से उसका अनुभव अवश्य किया जा सकता है। अनुमान भी एक अनुभव ही है। इसलिये उस आत्मानन्द के अनुभव के आधार पर विषयानन्दों को छोड़ा जा सकता है। जैसे कि कुछ काल तक सुषुप्ति के लिये विषय सुखों को सभी छोड़ते हैं। उसी विषय सुख छोड़ने के अभ्यास को बढ़ाया जाय। तब फिर प्रश्न होगा कि यदि सुषुप्ति काल में आत्मा के सुख का अनुभव हो जाता है तो फिर सुषुप्ति में और मुक्ति में भेद ही क्या रहा ? यदि दोनों एक ही हैं तो सुषुप्ति तो सबको ही स्वतः प्राप्त है फिर मुक्ति के लिये इतना प्रयास क्यों किया जाय ? इसी का उत्तर पद्य में 'अक्षय' पद से दिया गया है। इसका तात्पर्य है कि सुषुप्ति में यद्यपि आत्मसुख का अनुभव हो जाता किन्तु वह स्थायी नहीं। क्योंकि जीवभावप्राप्त कराने वाली अविद्या का नाश नहीं हुआ, इस कारण वह अविद्या फिर संसार की ओर जीव को खींच लेती है, इसलिये अविद्या के नाश होने का उपाय करना आवश्यक होता है। जब शास्त्रोक्त, गुरु के द्वारा प्राप्त उपदेशों से और उनके मनन और निदिध्यासन से अविद्या का क्षय हो जायगा तब वह आनन्द 'अक्षय' हो जायगा। उससे खींचकर निकालने वाला कोई न रहा इसलिये अब वह आनन्द सुस्थिर हो जाता है। उसे ही मुक्ति कहा जाता है (२१)



## सतहत्तरहवां-पुष्प

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।  
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥  
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।  
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥  
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।  
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥  
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।  
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥  
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।  
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥  
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।  
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥  
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोपक्षरायणः ।  
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥  
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।  
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

पूर्व कह चुके हैं कि विषयों में जो आनन्दानुभव होता है वह भी वास्तव में आत्मानन्द का ही अनुभव है। चित्त की स्थिरता होने पर आत्मा का आनन्द उस पर प्रतिबिम्बित हो जाता है। उसे ही अज्ञानवश लोग विषय जनित सुख समझ लेते हैं। जब ऐसा ही है तो प्रश्न होगा कि विषय जनित सुख और समाधि जनित सुख जब एक ही हुए, तब क्लेश से साध्य समाधि जनित सुख के लिये ही इतना प्रयत्न क्यों किया जाय ? विषय जनित सुख जो थोड़े प्रयास से प्राप्त हो सकता है उसे ही यदि अपनाया जाय तो क्या क्षति है ? इसका उत्तर देने के लिये आगे भगवान् उपदेश देते हैं कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! संस्पर्शज अर्थात् इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से प्राप्त होने वाले जो भोग अर्थात् सुखानुभव हैं वे दुःख की ही योनि अर्थात् कारण हैं एवं

शब्द से इसकी दृढ़ता बताते हैं कि अवश्य ही दुःख के कारण होते हैं। इसका कारण उत्तरार्ध में बताया गया है कि वे 'आद्यन्तवान्' हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं। इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से पैदा हुए हैं। इसलिये उत्पन्न होना तो सिद्ध हो ही गया; अब जो उत्पन्न होता है उसका नाश भी अवश्य देखा जाता है। इस न्याय से उसके विनाश का भी अनुमान हो ही जायगा। लोक में प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से जो उत्तम गन्ध, उत्तम रस, उत्तम रूप आदि का ज्ञान प्राप्त कर सुख होता है वह कुछ काल ही रहता है। उन पदार्थों का इन्द्रियों से सम्बन्ध हटने पर वह सुख निवृत्त हो जाता है और निवृत्त होने पर पुनः उसकी प्राप्ति के लिये मन में व्यग्रता हो उठती है। यदि वैसा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श आदि फिर न प्राप्त हुआ तो मन में बड़े दुःख का अनुभव होने लगता है और व्यग्रता बढ़ती जाती है कि कैसे वह पुनः प्राप्त किया जाय ? सुखानुभव थोड़े समय का था और यह पुनः प्राप्त करने की व्यग्रता बहुत काल तक रहती है। इसीलिये उस सुखानुभव को भगवान् ने दुःख का कारण वा दुःख का पूर्व रूप ही बतलाया। कदाचित् कोई ऐसी सम्भावना करे कि हम निरन्तर ही उन गन्ध, रस, रूप, स्पर्श आदि को अपने पास ही रखा करेंगे, वियोग होगा ही क्यों ? तब दुःख का कारण भी वह कैसे होगा ? तो यह सम्भावना मिथ्या ही सिद्ध होगी क्योंकि जिन धन, स्त्री, पुत्र आदि के सम्बन्ध से वे रूप, रस, गन्ध आदि प्राप्त हुए हैं, वे पदार्थ भी तो अनित्य हैं। यदि धन ही न रहा तो उन रसादि वाले उत्तम पान, भोजन आदि का प्रबन्ध कैसे कर सकोगे ? और जिस स्त्री के सम्बन्ध से ये विषय प्राप्त थे, वह स्त्री ही नष्ट हो गई तो उसका वियोग अनन्त दुःख ही रहेगा। उसका प्रतीकार ही क्या हो सकता है ? ऐसे ही पुत्र, मित्र, आदि सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिये। इससे इन्द्रियजन्य सुखों की अस्थिरता और उनके अभाव में सुख की अपेक्षा दुःख का बहुत अधिक होना स्पष्ट सिद्ध है। इसलिये 'बुध' अर्थात् विवेकी पुरुष इन विषय जनित सुखों में रमण अर्थात् आसक्ति नहीं करते। इनको दुःख का पूर्वरूप मान कर इनसे बचते ही रहते हैं। महात्मा भर्तृहरि ने भी कहा है—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः,

वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून् ।

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

अर्थात् बहुत काल तक भोग किये हुए भी विषय, एक दिन अवश्य भोग करने

वाले को छोड़ ही देते हैं, तो मन, स्वयं इन विषयों को क्यों नहीं छोड़ देता, क्योंकि कोई अन्तर नहीं। बल्कि विषय अपने आप छोड़ कर जाते हैं तो मन को कष्ट देते हैं और मन जान-बूझ कर यदि विषयों का परित्याग करता है तो वे ही शान्ति और सुख देते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इन्द्रियजन्य सुखों में तो आसक्त न होना यत्न से बन सकेगा। किन्तु काम, क्रोध रूप दोषों का जो वेग अन्तःकरण में होता है वह तो बलात् मनुष्य को विकल कर देता है। उसके अनुसार तो बलात् प्रवृत्त होना ही पड़ता है। इसका उत्तर देते हैं कि उन काम, क्रोधों से उत्पन्न वेग को सहन करना चाहिये। तभी कर्मयोग सिद्ध हो सकेगा।

पद्य का अर्थ है कि जो पुरुष काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को इसी देह में शरीर छूटने से पूर्व सहन कर सकता है, वही कर्मयोगी है और वही इस जन्म में तथा परलोक में सुख प्राप्त कर सकता है। द्वितीयाध्याय में उपदेश के आरम्भ में ही यह उपदेश दिया गया था कि इन्द्रिय और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न शीत, उष्ण, सख, दुःख आदि का सहन करना ही उपाय है। ऐसे सुख, दुःख आदि शरीरधारियों को अवश्यंभावी हैं उनसे चित्त में उल्लास वा घबराहट नहीं होनी चाहिये। उनका सहन ही कर लेना चाहिये। उसी उपदेश का यहाँ पुनः स्मरण कराया जाता है। काम, क्रोध का मध्य में भी शत्रु रूप से वर्णन आया है। जिस वस्तु के सम्बन्ध से पूर्व सुखानुभव हुआ था उसके दर्शन, स्मरण आदि से जो चित्त में उसकी पुनः प्राप्ति की अभिलाषा होती है उसे काम कहते हैं। उससे जो चित्त में एक प्रकार का तृष्णा रूप क्षोभ उठता है, वही काम से उत्पन्न वेग है। जिससे शरीर में रोमाञ्च, मुख और नेत्र में प्रसन्नता के चिह्न दिखाई देते हैं, जिनका कि वर्णन अलङ्कार शास्त्र में शृङ्गाररस के विभाव, अनुभाव रूप से मिलता है। इसी प्रकार अपने प्रतिकूल—जिसके सम्बन्ध से पहिले दुःख का अनुभव हुआ था उसके दर्शन, श्रवण आदि से उत्पन्न हुई चित्तवृत्ति को द्वेष वा क्रोध कहते हैं। इससे जो चित्त में उदीप्तता आ जाती है, जिससे कि नेत्र लाल हो जाते हैं, मनुष्य अपने ओष्ठ काटने लगता है, दाँत कटकटाने लगता है, वही क्रोध का वेग है। इनका भी वर्णन अलङ्कार शास्त्र में 'रौद्ररस' के विभाव, अनुभाव रूप से मिलता है। भगवान् उपदेश देते हैं कि इन वेगों को सहन कर लेना अर्थात् इनका चिरकालिक प्रभाव चित्त पर न पड़ने देना ही इनके शमन का उपाय है। जो सहन कर सकता है, इस कथन से यह सूचित किया जाता है कि इनका सहन करना कठिन है किन्तु बिना सहन किये कर्मयोग की सिद्धि नहीं होती। इससे सहन करना आवश्यक है। शरीर छूटने तक, इस कथन का यह अभिप्राय है कि शरीर रहते ऐसे वेग अवश्य

ही आते रहेंगे। कुछ काल काम-क्रोध आदि न उत्पन्न हों तो भी यह विश्वास नहीं करना चाहिये कि मैंने काम-क्रोध को जीत लिया। फिर समय पर इनका उत्पन्न हो जाना सम्भव है, इससे सदा ही सावधान रहना चाहिये। इससे ही यहाँ भी सच्चा सुख प्राप्त होगा और परलोक में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता होगी। इनका वेग धारण करने से चित्त में शान्ति रूप सुख होता है, यह अनुभव सिद्ध भी है। आयुर्वेद में भी और सब वेगों के धारण करने का निषेध किया है किन्तु क्रोध के वेग को धारण करने का ही उपदेश है (२३)

इन्द्रिय जनितसुख और दुःखों में निरत न होना यह उपदेश इन पद्यों से प्राप्त हुआ। तब विवेकी पुरुष कैसे सुख में निरत रहते हैं यह आगे के पद्य में बताया जाता है कि जो 'अन्तःसुख' हैं अर्थात् अपने में आत्मा ही आनन्द का अनुभव करता रहता है, आत्मा तो आनन्द रूप है ही। केवल मन की चञ्चलता के कारण उसका अनुभव नहीं होता। मन को स्थिर कर लेने पर आत्मानन्द का अनुभव हो जाता है, उसी अनुभव में जो सदा निरत रहता है और आत्मा के साथ ही सदा क्रीड़ा करता रहता है, जैसे सामान्य पुरुष, स्त्री, पुत्र आदि अपने से भिन्न व्यक्तियों से क्रीड़ा करते हैं वैसा न कर जिसकी आत्मा में ही क्रीड़ा होती रहती है और जो 'अन्तर्ज्योति' है अर्थात् प्रकाश भी कहीं बाहर से लेने की जिसे आवश्यकता नहीं, भीतर के अर्थात् आत्मा के प्रकाश से ही जिसके मन, बुद्धि आदि प्रकाशित रहते हैं वह योग युक्त पुरुष ब्रह्म रूप ही हो गया और अन्तिम दशा में भी वह ब्रह्म निर्वाण अर्थात् मुक्ति को अवश्य प्राप्त कर लेता है। जिन्हें बाह्य विषयों से विरक्ति हो गई है, आत्मा के ही आनन्दज्ञान आदि का जो सदा अनुभव करते रहते हैं, वे तो जीवन्मुक्त ही हैं। प्रारब्ध कर्म के कारण जब तक शरीर है तब तक जीवन्मुक्ति दशा में रहते हैं। शरीर हट जाने पर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। ब्रह्म की प्राप्ति भी उन्हें 'कण्ठचामीकर न्याय' से ही कही जाती है। ब्रह्म निर्वाण शब्द पर द्वितीय अध्याय के अन्तिम पद्य की व्याख्या में लिखा जा चुका है, उसका यहाँ भी अनुसन्धान कर लेना चाहिये। योगी शब्द का अर्थ यहाँ पुराने व्याख्याकारों ने समाधि स्थित पुरुष ही किया है। लोकमान्यतिलक तो सर्वत्र ही योगी शब्द का अर्थ कर्मयोगी ही करते हैं (२४)

उक्त प्रकार के विवेकी पुरुषों की ही आगे के पद्यों में प्रशंसा की जाती है कि जिनके मोक्ष के प्रतिबन्धक पाप, दोष आदि नष्ट हो चुके हैं और किसी प्रकार का संशय भी जिनके अन्तःकरण में नहीं रहा है या शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि द्वन्द्व भी जिन्हें बाधा नहीं पहुँचाते, अन्तःकरण जिनका पूर्ण संयत अर्थात् अपने वश में हो चुका है और सबमें एक ही आत्मा का दर्शन करने के कारण जो सब प्राणियों के हित



करने में ही सदा तत्पर रहते हैं, ऐसे ऋषि अर्थात् पूर्णज्ञान प्राप्त पुरुष अवश्य ही ब्रह्म निर्वाण अर्थात् ब्रह्म में लय रूप मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

ऋषि शब्द यद्यपि उन्हीं के लिये प्रयुक्त होता है जिन्होंने वेद के मन्त्रों का साक्षात्कार किया हो तथापि इस प्रकार के विवेकी पुरुष ऋषियों के समान ही हो जाते हैं, इस अभिप्राय से यहाँ उन विवेकी पुरुषों को ऋषि शब्द से कहा गया है अथवा यह भी अभिप्राय हो सकता है कि ऐसे सम्यग्दर्शन करने वाले पुरुष ही मन्त्र दर्शन भी किया करते हैं। ब्रह्म निर्वाण की प्राप्ति 'कण्ठचामीकरन्याय' से या अज्ञान निवृत्ति के कारण ही कही जाती है (२५)

जो पुरुष काम और क्रोध से विमुक्त हो चुके हैं, अर्थात् काम और क्रोध जिनके अन्तःकरण में अब उत्पन्न ही नहीं होते क्योंकि अन्तःकरण उनका पूर्णरूप से वश में हो चुका है और जिन्होंने आत्मा का पूर्ण रूप से ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार कर लिया है ऐसे संयमी पुरुषों के तो चारों ओर ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् ब्रह्मलय रूप मुक्ति भरी रहती है। उन्हें आगे कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। कहना चाहिये कि वे तो जीवन दशा में ही मुक्ति के बीच में ही बैठे हैं। प्रारब्ध कर्म का क्षय होते ही वे अवश्य ही ब्रह्म में लीन हो जायँगे। यहाँ भी यति पद से श्रीशङ्कराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार संन्यासी का ही ग्रहण करते हैं और श्रीरामानुजाचार्य तथा लोकमान्यतिलक इस शब्द का संयमी पुरुष ही अर्थ करते हैं (२६)

आगे के छठे अध्याय में जो योगमार्ग का निरूपण विस्तार से किया जाने वाला है उसका दिग्दर्शन अग्रिम दो पद्यों में किया जाता है। यह भगवद्गीता की शैली है कि जिस विषय का आगे विस्तार से निरूपण करना हो, उसका सूत्र रूप से सङ्केत पूर्व कर दिया जाता है। उसी शैली के अनुसार इस पद्य में भी आगे निरूपणीय योगमार्ग का सूत्र रूप से सङ्केत है कि बाहर के शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषयों को बाहर ही रखकर अर्थात् अन्तःकरण में इनका प्रवेश न कर अपनी चक्षु इन्द्रिय को भ्रुकुटियों के मध्य में स्थापित कर और ऊपर को जाने वाली प्राणवृत्ति और नीचे को जाने वाली अपानवृत्ति ये दोनों वृत्तियाँ जो नासिका के भीतर चलती प्रतीत होती रहती हैं, उनको समानभाव में रखकर अर्थात् कुम्भक रूप प्राणायाम से दोनों वृत्तियों का ऊपर-नीचे जाना रोककर जिसने अपने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को संयत अर्थात् अपने वश में कर लिया है और मोक्ष ही जिसका एक मात्र परायण अर्थात् प्राप्त करने योग्य है और इच्छा, भय और क्रोध जिसके बिलकुल नष्ट हो गये हैं, वह मुनि कहलाने का अधिकारी है; और उसे सदा ही मुक्त समझना चाहिये। यह दोनों पद्यों का सम्मिलित अर्थ है। इन दोनों को मिलाकर एक ही वाक्य बनता है।

शब्द आदि विषय बाहर की ही वस्तुएँ हैं। शरीर के भीतर भी शब्द, स्पर्श, रूप आदि अवश्य हैं किन्तु उनका उपभोग नहीं होता। बाहर के विषय ही इन्द्रियों के द्वारा मन में प्रवेश किया करते हैं और वे ही सुख-दुःख के कारण बना करते हैं। उनको बाहर ही रखना अर्थात् मन में प्रविष्ट ही न होने देना यह पहली बात है। आँख यद्यपि सबकी ही भ्रुकुटियों के मध्य में ही रहती है किन्तु दोनों आँखों की किरणें भिन्न-भिन्न दिशा में जाकर पदार्थों के रूपों का ग्रहण किया करती हैं। उन दोनों नेत्रों की किरणों को एक ही सीध में ले आना यही भ्रूमध्य दृष्टि कही जाती है। दोनों भ्रुकुटियों का जो मध्य स्थान है, जो नासिका के सम्मुख भाग में होता है, वहीं दोनों नेत्रों की रश्मियों को मिला देने से चित्त स्थिर हो जाता है। प्राण वृत्ति सदा ऊपर को जाया करती है और अपान वृत्ति नीचे की ओर जाया करती है। ये प्राण और अपान शरीर धारण के मुख्य हेतु हैं। इन्हीं से जीवित और मृत पुरुष की परीक्षा होती है। प्राण और अपान एक प्रकार के शक्ति विशेष हैं, उनके चलने से शरीर के भीतर स्थित वायु भी नासिकाओं के छिद्रों से बाहर और भीतर जाया आया करता है। उन प्राण और अपान की वृत्ति को भी प्राणायाम के द्वारा रोक देना पद्य के उत्तरार्ध में कहा गया। रोक देने पर दोनों वृत्तियाँ ऊपर नीचे न जाकर समान देश में ही स्थिर हो जाती हैं। इसे ही कुम्भक कहते हैं। ये सब मन के रोकने के उपाय बताये गये। इन उपायों से मन और बुद्धि की चञ्चलता हट जाती है और मन और बुद्धि की प्रेरणा न मिलने पर इन्द्रियों की भी विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ विषयों की ओर अभिमुख हुआ करती हैं। इस प्रकार की शरीर, मन, बुद्धि आदि की स्थिति बना लेने पर मन में किसी बाह्य वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा, भय, क्रोध ये सब वृत्तियाँ नहीं होतीं। तब आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थिर रहता है, यही मोक्ष है। इसलिये भगवान् ने कहा कि ऐसी स्थिति जिसने बना ली है वह मुनि तो सदा ही मुक्त है। प्रारब्धकर्मवश देह भले ही रहे किन्तु उसका देह में कोई अभिमान नहीं। देहपात होने पर वह सर्वत्र व्यापक ब्रह्म में लीन हो जायगा। यह पूर्व पद्यों में कह ही आये हैं।

श्रीनीलकण्ठजी ने इन दोनों पद्यों की विस्तृत व्याख्या लिखते हुए योग शास्त्र प्रसिद्ध योग के आठों अंगों का वर्णन इनमें घटाया है। “विगतेच्छाभय क्रोधः” इस विशेषण से यम और नियम जो योग के पूर्वाङ्ग हैं उनका विवरण किया। क्रोध का विगत होना कहने से योगशास्त्रोक्त चित्तप्रसादन भी बताया। विशेष प्रकार की शरीर की स्थिति किये बिना इस प्रकार के नासाग्रदृष्टि आदि नहीं हो सकते। इससे आसन भी सूचित किया। “प्राणापानौ समौ कृत्वा” इस विशेषण से ‘प्राणायाम’ कहा गया। “स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्” इससे इन्द्रियों को विषयों से हटाना एतद् रूप ‘प्रत्याहार’ कहा

गया। “नासाग्रदृष्टि” से ‘धारणा’ बताई गई। ध्यान तीसरे पद्य में कहा जायगा। समाधि जो दो प्रकार की होती है—“सविकल्पक” और “निर्विकल्पक” इनमें “यतेन्द्रियमनोबुद्धिः” इस विशेषण से सविकल्पक समाधि बताई गई है और “मोक्षपरायणः” पद से साक्षात् मोक्ष के समीप रहने वाली ‘निर्विकल्पक समाधि’ कही गई है। इसी प्रकार योग की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं का विवरण भी उन्होंने इस पद्य के विशेषणों से अभिव्यक्त किया है। उन सबका यहाँ विवरण नहीं किया जाता। विशेष जानने की इच्छा वाले उनकी टीका ही पढ़ें।

श्रीमधुसूदनसरस्वती योग शास्त्रोक्त पाँच मन की वृत्तियों का निरोध इन विशेषणों से सूचित किया यह व्याख्या करते हैं। “स्पर्शान्” का जो ‘बाह्यान्’ विशेषण दिया, इससे यह सूचित किया कि विषय सदा बाहर ही रहते हैं। यदि वे आत्मा के अङ्ग होते तो उनका आत्मा से विच्छेद असम्भव ही था, किन्तु ऐसा नहीं है। रूप, रसादि विषय सदा बाहर की ही वस्तु हैं। वे इन्द्रियों के द्वारा मन में प्रविष्ट किये जाते हैं। इसी से मन की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ बनती हैं। उसका यहाँ निषेध किया कि मन में विषयों का प्रवेश ही न करना। चक्षु इन्द्रिय को भ्रूमध्य में रखना जो बताया इससे चक्षु की अर्धनिमीलित दशा सूचित की गई। यदि चक्षु को सर्वथा मुद्रित कर लिया जाय तो निद्रावृत्ति का प्रसङ्ग आ जायगा और यदि पूर्णरूप से खुला रखा जाय तो विषयों का उसके द्वारा मन में प्रवेश होकर ‘प्रमाण’, ‘विपर्यय’, ‘विकल्प’ और ‘स्मृति’ ये चारों वृत्तियाँ मन की उत्पन्न हो जायँगी। इसलिये अर्धनिमीलित दृष्टि को नासिका की सीध में रखने का विधान बताया गया। इससे विषयों का मन में प्रवेश न होगा और मन में वृत्तियों का प्रादुर्भाव भी न होगा, इत्यादि रूप से योगशास्त्रोक्त मन के निरोध का वर्णन यहाँ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने किया है। यह सभी मानते हैं कि जीवन्मुक्ति दशा प्राप्त करने के लिये अन्तरंग साधन रूप योग का इन दोनों पद्यों में वर्णन है (२७-२८)

अब आगे के अन्तिम पद्य में इस योग का फल भगवान्, अव्यय पुरुष का ज्ञान ही है, यह दिखाते हैं। श्रीनीलकण्ठजी की व्याख्या के अनुसार ध्यानरूप योग के अङ्ग का विवरण करने के लिये ध्यान किसका होना चाहिये इसका विवरण करते हैं कि अव्यय-पुरुष रूप मेरा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परम शान्ति अर्थात् संसार से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। किस रूप में मेरा ध्यान करना चाहिये इसका विवरण विशेषणों से किया जाता है कि मैं यज्ञ, तप आदि सब धर्मकृत्यों के फल का भोक्ता हूँ। इसे उपलक्षण मानकर यह समझना चाहिये कि प्राणियों में जीवरूप से प्रविष्ट होकर मैं ही सब यज्ञ, तप, आदि का कर्त्ता हूँ और मैं ही उनके फल का भोग भी जीव रूप से करता हूँ। यह भी भोक्ता पद से सूचित किया है यज्ञ, तप आदि का भोग अर्थात्

फलरूप भी मैं ही हूँ, क्योंकि मैं सब लोकों का परमेश्वर रूप हूँ अर्थात् भिन्न-भिन्न लोकों में जाकर प्राणी जो भोग करते हैं वह मेरे ही अन्तर्गत रहते हैं और मैं सब जीवों का मित्ररूप होकर उनके साथ रहता हूँ। जैसा कि—

### द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते

अर्थात् जीव और ईश्वर रूप दो पक्षी जो परस्पर मित्र हैं वे इस एक ही वृक्ष अर्थात् शरीर पर साथ ही विराजमान रहते हैं। यद्यपि इस श्रुति के उत्तरार्ध में जीव को कर्मफल का भोग करने वाला और ईश्वर को केवल देखने वाला यह विशेष बताया गया है। किन्तु वह जीव भी ईश्वर से सर्वथा भिन्न नहीं किन्तु उसी का अंश है, यह भगवद्गीता में कहा जाने वाला है; इस अभिप्राय से यहाँ अपने आपको भगवान् ने भोक्ता भी कह दिया। अथवा श्रीविद्यावाचस्पतिजी की व्याख्या है कि भगवद्गीता में 'अस्मद्' शब्द से सर्वत्र अव्यय पुरुष ही कहा गया है। अव्यय पुरुष जीव रूप भी होता है और ईश्वर रूप भी। तब यहाँ भोक्ता कहने से जीवरूप अव्यय पुरुष का ही ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार सर्वात्म-भाव से भगवान् को जान लेने पर जीवित दशा में भी शान्ति प्राप्त होती है क्योंकि शान्ति के बाधक राग, द्वेष आदि क्लेश नहीं रहते और शरीर पात के अनन्तर भी ज्ञान से परम शान्ति रूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। श्रीरामानुजाचार्य शान्ति पद का अर्थ कर्मयोग के द्वारा प्राप्त होने वाली चित्त स्थिरता ही करते हैं। वह शान्ति भगवान् के जानने से ही होती है।

इस प्रकार गत पद्यों में 'जीवन्मुक्तिदशा' और उसे प्राप्त करने के उपायों का विवरण किया। यह जीवन्मुक्ति दशा संन्यास से ही प्राप्त होती है। इस अभिप्राय से श्रीशङ्कराचार्य के अनुयायीव्याख्याकारों ने इन पद्यों को संन्यास का प्रतिपादक ही माना है। किन्तु श्री रामानुजाचार्य अपनी व्याख्या में स्थान-स्थान पर 'कर्मयोग' का स्मरण कराते हैं। इससे उनके मत में यह सब कर्मयोग का ही विवरण है। लोकमान्यतिलक भी ऐसा ही कहते हैं। पञ्चम अध्याय के आरम्भ से ही कर्मयोग की विशेषता भगवान् ने बताना आरम्भ किया था और छठे अध्याय के आरम्भ में भी फिर कर्मयोग ही कहा गया है। इसलिये यह सब कर्मयोग का ही विवरण है। यद्यपि इन पद्यों में कही गई जीवन्मुक्ति दशा और शान्ति 'कर्मयोग' और संन्यास दोनों ही मार्गों में प्राप्त होती है तथापि प्रकरणानुसार इसे 'कर्मयोग' का ही विवरण समझना चाहिये, यह उनका मत है (२९)

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

## अठहत्तरहवां-पुष्प

### षष्ठ-अध्याय

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।  
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥  
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।  
न ह्यसन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥  
आरुरुक्षोमुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ।  
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥  
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।  
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

पूर्व पञ्चम अध्याय के अन्तिम पद्यों में जो सूत्र रूप से योग का सङ्केत किया, उसी का विवरण करने के लिये छठे अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है और यह भी सूचित करते हैं कि कर्मयोग की पूर्ण सफलता के लिये उसके अन्त में योग आवश्यक है। इस अध्याय का आरम्भ भी कर्मयोग की प्रशंसा से ही है यह तो सिद्ध ही है। उस कर्मयोग का स्वरूप फिर दोहराया जाता है कि जो कर्मों के फल पर आश्रित न होता हुआ कर्तव्य समझ कर कर्म करता रहता है; वही संन्यासी कहलाने का भी अधिकारी है और वही योगी अर्थात् कर्मयोगी भी है। केवल अग्नि का परित्याग करने से वा अन्य शास्त्रोक्त कर्म छोड़ने से ही संन्यासी नहीं कहा जाता। श्रीशङ्कराचार्य यहाँ योगी शब्द का अर्थ एकाग्रचित्त वाला करते हैं।

फल प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर ही जो कर्म करता है, वह कर्मफल पर ही आश्रय रखने वाला कहलाता है। ऐसा नहीं करना चाहिये। फल की आशा छोड़कर केवल कर्तव्य बुद्धि से ही कर्म करना चाहिये। जैसा कि अन्यत्र महाभारत में द्रौपदी और युधिष्ठिर के संवाद में कहा गया है—जब द्रौपदी ने एक बार महाराज युधिष्ठिर को उपालम्भ देते हुए कहा था कि दुर्योधन जिसे पापी कहा जाता है, वह राज्यसुख का भोग करता है और आप जो निरन्तर धर्म में निरत रहते हैं वे इस प्रकार वन में कष्ट भोग रहे हैं, तब इस धर्माचरण का क्या फल हुआ ? इस पर महाराज युधिष्ठिर का उत्तर है कि—

नाहं कर्मफलाकाङ्क्षी राजपुत्रि चराम्युत ।

ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ॥

अर्थात् हे राजपुत्रि ! मैं फल की इच्छा करके धर्म का आचरण नहीं करता अपितु दान करना चाहिये, यह समझ कर ही देता हूँ और यज्ञ करना चाहिये, यह समझ कर ही याग करता हूँ। कर्म में कर्तव्य बुद्धि ही प्रधान रहनी चाहिये। इस कर्तव्य बुद्धि से कर्म करने वाला पुरुष ही सच्चा संन्यासी, कर्मयोगी वा समाहित चित्त कहलाता है। गृहस्थ पुरुष जो अपने घर में श्रौत वा स्मार्त अग्नि की रक्षा करते हैं, उस अग्नि को छोड़ देने से या अन्य शास्त्रोक्त दान तप आदि कर्म छोड़ देने से ही संन्यास नहीं होता। इस पद्य पर श्रीशङ्कराचार्य ने विस्तृत रूप से व्याख्या लिखी है कि इससे भगवान् ने कर्म संन्यास का सर्वथा निषेध किया ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ऐसा मानने पर भगवद्गीता में कई जगह जो कर्मसंन्यास का स्पष्ट विधान मिलता है, जैसा कि “नैवकुर्वन्न कारयन्” इत्यादि पञ्चम अध्याय के पद्य में कह आये हैं और यहाँ भी तृतीय श्लोक में कहने वाले हैं; उन सबका विरोध होने से पूर्वापर विरोध के कारण गीता में अप्रमाणता हो जायगी। इसलिये यहाँ वही मीमांसा का न्याय लगाना चाहिये कि -

“नहि निन्दा निद्यान्निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु स्तुत्यान् स्तोतुम्”

अर्थात् निन्दा का तात्पर्य निन्दनीय की निन्दा में नहीं होता। किन्तु जिसकी स्तुति करना हो, उस स्तुति में ही परपक्ष की निन्दा का भी तात्पर्य समझना चाहिये। इस न्याय से यहाँ अग्नि परित्याग या कर्मपरित्याग संन्यास नहीं है। इस कथन का तात्पर्य फलाशा रहित कर्म करना जो कर्मयोग कहा गया उसकी स्तुति में ही है। यहाँ भगवान् ने अर्जुन को कर्मयाग का ही अधिकारी समझ कर उसे कर्मयोग में ही प्रवृत्त करना चाहा है। इसलिये स्थान-स्थान में कर्मयोग की स्तुति की है। स्तुति प्ररोचनार्थ होती है, यह मीमांसा में अर्थवाद प्रकरण में स्पष्ट ही निरूपित है। वास्तव में तो कर्मसंन्यास ही मुख्य है। कर्मयोग उसकी साधना के लिये चित्तशुद्धि करने में उपयुक्त है, यह आगे तृतीय पद्य में स्पष्ट हो जायगा। यहाँ “संन्यासी च योगी च” यह दो बार जो ‘चकार’ आया है, इसे कई विद्वानों ने पुनरुक्ति मान कर आक्षेप किया है और इसका उत्तर देते हुए ‘व्यङ्ग्यमन्दाकिनी’ टीका में “चयोगी” का अर्थ सूर्यमण्डल भेदी करके उसे संन्यासी का विशेषण मान लिया गया है अर्थात् ऐसा संन्यासी ही सूर्यमण्डल को भेद कर आगे के लोकों में जाकर क्रम मुक्ति प्राप्त करने वाला होता है। वास्तव में तो वेद में ‘चकार’ का प्रयोग जिन जिन का समुच्चय करना हो उन दोनों पदों के

साथ ही होता है जैसा कि निरुक्तकार ने स्पष्ट किया है—भगवद्गीता वेद का ही विषय निरूपण करने वाली है। इसलिये यहाँ भी वैदिक प्रक्रिया का ही आश्रयण है। अन्यत्र भी महाभारत में प्रत्येक पद के साथ चकार का प्रयोग बहुधा देखा जाता है। इसलिये ऐसी क्लिष्ट कल्पना करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती (१)

संन्यास शब्द का अर्थ तो व्याकरण की दृष्टि से कर्म छोड़ना ही माना जा सकता है। फिर यहाँ भगवान् ने कर्म करने वाले को संन्यासी कैसे कहा—इसका उत्तर देने को दूसरा पद्य कहा जाता है कि हे पाण्डव ! जिसे विद्वान् लोग संन्यास कहते हैं उसे कर्मयोग ही समझो। क्योंकि सङ्कल्प अर्थात् फलप्राप्ति का लक्ष्य बिना छोड़े कोई भी योगी अर्थात् कर्मयोगी नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि संन्यास शब्द का अर्थ 'सम्यक्' अच्छे प्रकार से 'न्यसन्' अर्थात् त्याग ही है। यह ठीक है, परन्तु वह त्याग सङ्कल्प का ही मुख्य है। लोक में देखा जाता है कि पहिले मनुष्य किसी फल की मन में सम्यक् प्रकार से कल्पना करता है, फिर उसकी सिद्धि के लिये उपाय रूप से भिन्न भिन्न प्रकार के लौकिक वा शास्त्रीय कर्म करने लगता है। लोक में जो शास्त्रीय कर्म करने के आरम्भ में पहिले एक वाक्य पढ़ा करते हैं, जिसे संकल्प नाम से ही कहा जाता है, उसमें भी यही बोला जाता है कि “अमुक फल सिद्ध्यर्थम् अमुककर्म करिष्ये” अर्थात् धन, पुत्र, प्राप्ति, शत्रुपराभव आदि फलों की सिद्धि के लिये मैं इस कर्म का अनुष्ठान करूँगा। इस संकल्प का ही परित्याग अर्थात् छोड़ना मुख्य रूप से संन्यास कहा जाता है। वह संन्यास कर्मयोगी को भी अवश्य करना पड़ता है। बिना फल की इच्छा का परित्याग किये कर्मयोगी हो ही नहीं सकता। इसलिये 'संन्यास' शब्द का मुख्य अर्थ कर्मयोगी में भी घट जाता है। श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या है कि सङ्कल्प का त्याग संन्यास और कर्मयोग दोनों दशाओं में ही होता है। इसी समानता से कर्मयोग में भी संन्यास शब्द का प्रयोग किया गया है; यह भगवान् ने अपने वाक्य का समर्थन किया। पञ्चम अध्याय में जो सांख्य और योगमार्ग की अर्थात् संन्यास और कर्मयोग की एकता का विवरण विशेष रूप से किया गया था; उसी का यहाँ पुनः सङ्केत है। वहाँ फल की एकता से दोनों मार्गों की एकता बताई गई थी। यहाँ दोनों मार्गों का स्वरूप भी एक ही है। क्योंकि संसार बन्धन के छेदन का मुख्य कारण जो सङ्कल्प अर्थात् फलाशा का छोड़ना है; वह दोनों में ही होता है (२)

“आरुरुक्षो”:- यह तीसरा पद्य गीता में कर्म संन्यास को प्रधान कहने वाले व्याख्याकारों का मुख्य आधार है और कर्मयोग को प्रधान कहने वाले इसका आशय भिन्न प्रकार से बतलाते हैं। इसलिये इसपर गीता के मुख्य व्याख्याकारों की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें, उनके तात्पर्य का विवरण और उनकी आलोचना आवश्यक समझ कर सबका संग्रह यहाँ किया जाता है। श्रीशङ्कराचार्य यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ ध्यानयोग

करते हैं और 'शम' शब्द का अर्थ सब कर्मों का उपरम अर्थात् संन्यास कहते हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार पद्य का अर्थ है कि जो मुनि कर्मों के फल की इच्छा छोड़ चुका है और योग अर्थात् ध्यानयोग पर आरूढ़ होना अर्थात् उसमें प्रवृत्त होना चाहता है, उसके लिये ध्यानयोग में प्रवृत्त होने का कारण कर्म ही बनता है। तात्पर्य यह है कि फलाशा छोड़कर शास्त्रविहित नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों के करने से चित्त शुद्ध होगा और तभी वह ध्यानयोग में प्रवृत्त हो सकेगा। इससे ध्यानयोग में प्रवृत्त होने वाले के लिये कर्मों की आवश्यकता कही गई। किन्तु जब वही पुरुष जो योग पर आरूढ़ हो चुका अर्थात् योग प्राप्त कर चुका तब उसके लिये शम अर्थात् सब कर्मों का छोड़ देना—संन्यास करना ही उत्तरोत्तर उन्नति का कारण कहा जाता है। जब ध्यानयोग में स्थिति सिद्ध हो गई तब कर्मों को छोड़ देना चाहिये। उस समय वह कर्मों का परित्याग ही उत्तरोत्तर उन्नति का कारण बनता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जैसे-जैसे कर्मों को छोड़ता जायगा तैसे ही इन्द्रिय, मन आदि के कर्मरूपी परिश्रम में न लगने से उसका मन अधिक ध्यानयोग में प्रवृत्त होता जायगा और तब पूर्णयोगारूढ़ता प्राप्त कर लेगा। इस पद्य से कर्मयोग की मर्यादा बतलाई गई है कि जब तक ध्यानयोग सिद्ध न हो तभी तक कर्मयोग में रहना चाहिये। ध्यान सिद्ध हो जाने पर नित्य, नैमित्तिक आदि कर्मों को भी सर्वथा छोड़ देना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार यह सिद्ध हुआ कि यहाँ 'योगारूढ़' पद का योग में प्रवृत्त होना ही अर्थ है। पूर्णध्यानयोग प्राप्त कर लेना उसके अर्थ में नहीं आता। क्योंकि यदि पूर्णरूप से ध्यानयोग प्राप्त कर लेगा तब तो उत्तरोत्तर उन्नति की आवश्यकता ही क्या रहेगी ? जिसका कि कारण शम को बताया जाय। किन्तु आगे के पद्य में जो भगवान् स्वयं योगारूढ़ की परिभाषा बतलाते हैं कि सब सङ्कल्पों का परित्याग कर चुका हो वही योगारूढ़ है और भगवान् शङ्कराचार्य भी वहाँ सङ्कल्प की ऐसी ही विस्तृत व्याख्या करते हैं, उससे इसकी संगति नहीं बैठती। क्योंकि यहाँ ध्यानयोग में प्रवृत्त को ही योगारूढ़ माना गया और उत्तर पद्य में सब सङ्कल्प छोड़ देने वाले परिनिष्ठित पुरुष को।

श्रीरामानुजाचार्य योगशब्द का अर्थ आत्मदर्शन कहते हैं। उनके अनुसार पद्य का अर्थ होगा कि जब तक आत्मदर्शन की इच्छा करता रहे तब तक उस मुनि-मननशील के लिये कर्म ही आत्मदर्शन का साधन होता है और जब योगारूढ़ हो चुका अर्थात् आत्मदर्शन कर चुका तब उसके लिये कर्म निवृत्ति ही कारण बनती है। इससे उन्होंने आत्मा के साक्षात्कार पर्यन्त कर्मयोग की आवश्यकता सिद्ध की। किन्तु आगे शम अर्थात् कर्म निवृत्ति किसका कारण बनेगी इसका विवरण उनकी व्याख्या में कुछ भी नहीं मिलता। आत्मदर्शन जब प्राप्त हो चुका, उसके अनन्तर तो कोई वस्तु प्राप्त



करने को शेष नहीं रह जाती, फिर और प्राप्त करना ही क्या है ? जिसका कारण कर्मनिवृत्ति को माना जाय।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो टीका मुद्रित है उसमें योग शब्द का अर्थ 'आत्मसंयमन' किया है। वह जब तक प्राप्त न हो तब तक कर्म उसकी प्राप्ति का कारण बनता है और आगे आत्मसंयम हो जाने पर शम अर्थात् कर्मनिवृत्ति ही आत्मसंयम की "स्थूणानिखनन" न्याय से कारण होती है। यहाँ भी योगारूढ़ कहना और फिर उसके लिये भी कर्मनिवृत्ति को कारण बताना इन दोनों बातों की संगति ठीक नहीं बैठती। स्थूणानिखनन न्याय जो उन्होंने बताया अर्थात् जैसे किसी लकड़ी को भूमि में गाड़ कर यह ठीक गड़ी कि नहीं, इसकी परीक्षा के लिये उसे बार-बार हिलाकर देखा जाता है, इसी तरह आत्मसंयम सिद्ध हुआ कि नहीं इसकी परीक्षा के लिये शम अर्थात् कर्मनिवृत्ति ही करना उचित है यह तात्पर्य हुआ। किन्तु स्थूणानिखनन में तो कर्म से ही परीक्षा होती है, इसी तरह आत्मसंयम की भी कर्म द्वारा ही परीक्षा करना उचित होगा। चुपचाप बैठने से आत्मसंयम की परीक्षा कैसे हो जायगी ? यह कड़ी नहीं बैठती।

पैशाच भाष्य नाम की व्याख्या लिखने वाले विद्वान् ने 'तस्यैव' का अर्थ 'कर्म का ही' करके उसका 'शम' अर्थात् कर्मत्याग यहाँ बताया है। किन्तु श्रोशङ्कराचार्य ने तस्यैव का 'उसी पुरुष पर' यह अर्थ स्वारसिक सिद्ध किया है और वह 'उपशम' किसका कारण होता है, यह भी पैशाच भाष्य में स्पष्ट नहीं किया गया।

महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी योग शब्द का अर्थ इस छठे अध्याय में कहा जाने वाला समाधि योग ही करते हैं। उस समाधि योग पर जो आरूढ़ होना चाहता है अर्थात् उसमें प्रवृत्त होने के लिये उत्सुक है तब तक उसे कर्मानुष्ठान करना चाहिये। क्योंकि बिना कर्मानुष्ठान के चित्तशुद्धि नहीं होगी और बिना चित्त शुद्धि के योग नहीं बनेगा। अतः कर्म ही योगारोहण का साधन होता है। किन्तु जब योग पर आरूढ़ हो गया अर्थात् अष्टाङ्गयोग में लग गया तब यदि कर्म करता रहेगा तो योग में विक्षेप होगा। इसलिये 'शम' अर्थात् कर्मों का परित्याग ही उसकी योग सिद्धि का कारण बनता है। इस व्याख्या में भी चतुर्थ श्लोक में जो योगारूढ़ का लक्षण स्वयं कहा गया है उसकी सङ्गति नहीं लगती क्योंकि इन्होंने योग में प्रवृत्त हुए पुरुष को ही योगारूढ़ मान लिया और अग्रिम पद्य में 'सर्वसङ्कल्प संन्यासी' को योगारूढ़ कहा गया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती यहाँ योग शब्द का अर्थ वैराग्य कहते हैं। जब तक पुरुष वैराग्य की इच्छा ही करता रहे अर्थात् वैराग्य सिद्ध न हुआ हो, तब तक उसे कर्म ही करते रहना चाहिये। वह कर्म ही चित्त शुद्धि द्वारा वैराग्य के कारण बनेंगे किन्तु जब वही पुरुष योग अर्थात् वैराग्य में प्रवृत्त हो गया तब उसे शम अर्थात् सब कार्यो

का संन्यास कर देना चाहिये। वह शम ही इसके वैराग्य परिपाक का कारण बनेगा। उस समय भी कर्म करते रहने से वैराग्य में विक्षेप होगा। वैराग्य प्राप्त करने की इच्छा करने वाले के लिये 'मुनि' शब्द का प्रयोग भविष्यत् वृत्ति से किया गया है। अर्थात् आगे वह मुनि होगा इस विचार से, पहिले ही उसे मुनि कह दिया गया। इन्होंने भी वैराग्य में प्रवृत्त होने मात्र को ही योगारूढ़ शब्द का अर्थ माना। इससे उत्तर श्लोक की सङ्गति यहाँ भी नहीं लगती।

श्रीशङ्करानन्दजी ने इस पद्य पर विस्तृत व्याख्या लिखी है और संन्यास प्रतिपादक श्रुति-स्मृतियों का भी उद्धाटन अपनी व्याख्या में किया है। संन्यास मार्ग श्रुति सिद्ध है इसका विस्तार से प्रतिपादन किया है। अस्तु वह सब विस्तार छोड़ कर पद्य के अर्थ में पद्य के शब्दों का जो उनका अर्थ है वही हम उद्धृत करेंगे। उनकी व्याख्या में योग शब्द का अर्थ 'ज्ञानयोग' है। उस ज्ञानयोग की प्राप्ति जो चाहता है, उसे अपने इष्ट की सिद्धि के लिये कर्म ही करना चाहिये क्योंकि बिना नित्य-नैमित्तिक कर्मों के चित्त शुद्धि नहीं हो सकती और बिना चित्तशुद्धि के ज्ञानयोग नहीं बन सकता। इससे कर्मयोग को ज्ञानयोग सिद्धि का उपाय बतलाया गया। जैसा कि पूर्व "न कर्मणामनारम्भात्" इत्यादि पद्यों में कहा गया है। ज्ञानयोग सिद्धि का उपाय होने के कारण ही भगवद्गीता में कर्मयोग की स्थान-स्थान पर स्तुति आती है। किन्तु जब वही पुरुष ज्ञानयोग पर आरूढ़ हो गया अर्थात् ज्ञानयोग में परिनिष्ठित हो गया तब सब कर्मों का शम अर्थात् संन्यास ही उसका कर्तव्य है। वही उसके विदेह कैवल्य का कारण बनता है। इससे जो श्रुतिस्मृति यावज्जीवन अग्निहोत्र आदि का विधान करती हैं, वे अविद्वान् के लिये ही समझना चाहिये। यहीं उन्होंने सब श्रुतिस्मृतियों की एक वाक्यता करने का प्रयत्न किया है और आगे जड़, मूक आदि वैदिक कर्मों का अधिकार न रखने वाले के लिये ही संन्यास है इस मत का विस्तार से खण्डन किया है। इनकी व्याख्या में भी जब ज्ञानयोग में मुनि परिनिष्ठित हो चुका तब उसे आगे प्राप्त करना ही क्या रहा ? जिसके लिये शम को कारण बताया गया ? यह कारण शब्द की सङ्गति ठीक नहीं बैठती। जीवन्मुक्ति जब प्राप्त हो चुकी तब विदेहमुक्ति तो स्वतःसिद्ध है। उसका कारण शम को बताना उपयुक्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त लोकमान्यतिलक ने यह भी दोष इस व्याख्या पर दिया है कि मुक्ति का कारण तो श्रुतिस्मृति आदि में ज्ञान को कहा गया है, संन्यास तो उसका अङ्गमात्र है, उसे कारण कहना उपयुक्त नहीं होता।

लोकमान्यतिलक ने प्राचीन व्याख्याओं पर दोष लगाते हुए अपनी व्याख्या यह की है कि जब तक मुनि अर्थात् मननशील पुरुष कर्मयोग पर आरोहण करने की इच्छा करता रहे अर्थात् उसका कर्मयोग सिद्ध न हुआ हो, तब तक फलाशा छोड़कर उसके किये हुये कर्म ही शम अर्थात् चित्तशान्ति के कारण होते रहते हैं और जब योगारूढ़

हो गया अर्थात् उसका कर्मयोग पूर्ण रूप से सिद्ध हो गया तब यह कर्म चित्त शान्ति के कारण बनते थे। अब चित्तशान्ति ही कर्मों का कारण बन जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि कर्मयोग पूर्ण रूप से सिद्ध हो जाने पर भी वह मुनि शान्त चित्त से अर्थात् अनासक्त होकर और फलाशा छोड़कर कर्म करता ही रहे। यहाँ लोकमान्यतिलक ने कभी गाड़ी नाव पर और कभी नाव गाड़ी पर वाला लौकिकन्याय ही दृष्टि में रखा है। पूर्वावस्था में कर्म शान्ति के कारण बनते हैं और परिपक्व दशा में शान्ति ही कर्मों का कारण बनती है। कारण शब्द को सापेक्ष मान कर भी वे उसके साथ कर्म का ही सम्बन्ध जोड़ते हैं अर्थात् शान्ति ही कर्म का कारण होती है। यह सङ्गति लगाते हैं किन्तु शान्ति अर्थात् चित्त का विश्राम कर्म का कारण कैसे बनेगा ? यह बात समझ में नहीं आती। यह उनका कथन ठीक हो सकता है कि शान्ति प्राप्त होने पर भी पुरुष कर्म करता रहे, किन्तु क्यों कर्म करता रहे ? इसके कारण तो भगवद्गीता में अनेक जगह यज्ञ परिचालन (जगत् चक्रपरिचालन) लोकसंग्रह वा लोकोपदेश आदि बताते हैं, वे ही शान्त दशा में भी कर्म करने का कारण बनते हैं। शान्ति तो कारण नहीं बनती। इसलिये कारण शब्द का अर्थ इनके मत में भी ठीक नहीं घटता।

आधुनिक व्यङ्ग्य मन्दाकिनी नाम की हिन्दी व्याख्या में “कारणमुच्यते” इन पदों की पुनरावृत्ति का समाधान करने के लिये प्रथम कारण पद का असमवायि कारण अर्थ माना है और उत्तरार्ध में ‘उच्यते’ को ‘उच समवाये’ धातु से निष्पन्न मान कर वहाँ समवायि-कारण अर्थ किया है। किन्तु उत्तरार्ध में भी ‘शम’ ही प्रथमान्त पद है और ‘शम’ नाम यदि सर्वकर्म परित्याग का मानें अथवा शान्ति रूप चित्तवृत्ति का मानें तो दोनों ही प्रकार से उस नैयायिकों की प्रक्रिया में उसमें समवायिकारणता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि न तो न्याय में अभाव को ही समवायि कारण माना जाता है और न बुद्धि वृत्ति को ही। इस कारण नयी बात कहने का जो विद्वान् लेखक ने आयोजन बताया वह भी पूरी तरह घटा नहीं।

सब व्याख्याओं का सार लेते हुए और प्रकरण पर दृष्टिपात करते हुए हम इस प्रकार इस पद्य का व्याख्यान उचित समझते हैं—तृतीयाध्याय के आरम्भ में—

“ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्मयोगेन योगिनां”

इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों ही के लिये ‘योग’ शब्द का प्रयोग किया गया है। इस कारण यहाँ ‘योग’ शब्द से दोनों ही का ग्रहण उचित है। वास्तव में तो द्वितीयाध्याय में योग शब्द का अर्थ स्वयं करते हुए भगवान् ने—

“समत्वं योग उच्यते”

यह लक्षण किया है। अर्थात् सबमें साम्यबुद्धि रखना ही ‘योग’ है। यहाँ भी पञ्चम अध्याय के अन्त में उस साम्य बुद्धि का विवरण पद्यों से किया गया है और

आगे भी साम्य बुद्धि की प्रशंसा की जाने वाली है जिनकी व्याख्या वहीं हो चुकी है। वह साम्यबुद्धि संन्यास और निष्काम कर्म दोनों ही से प्राप्त होती है। इसलिये भी दोनों ही का योग शब्द से ग्रहण प्राप्त है। यद्यपि द्वितीयाध्याय में -

### “योगः कर्मसु कौशलम्”

यह भी कहा गया है। किन्तु उसका भी तात्पर्य ‘समत्वबुद्धि’ में ही लगाया जा सकता है, क्योंकि कर्म में कुशलता अर्थात् चतुरता यही है कि कर्म करते भी रहें और उसके बन्धन से भी बचे रहें। वह बात साम्यबुद्धि से ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त इस छोटे अध्याय में पातञ्जल योग का जो विस्तार से वर्णन किया जाने वाला है और साम्यबुद्धि प्राप्त करने के लिये आवश्यक समझ कर भगवान् ने जिसका वर्णन यहाँ उचित समझा है, योग शब्द के विचार में उस पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है। इस दृष्टि से ‘योगशब्द’ के जो भिन्न-भिन्न अर्थ व्याख्याकारों ने माने हैं, वे सब ही सुसङ्गत हो जाते हैं। ज्ञानयोग और कर्मयोग वास्तव में एक ही हैं। इसका विवरण भी पञ्चम अध्याय में हो चुका है। वहाँ फल एक होने के कारण दोनों की एकता का स्वीकार किया था किन्तु यहाँ पूर्व पद्य में स्वरूप भी दोनों का एक ही है, यह भी दिखाया जा चुका है और द्वितीय पद्य में जो दोनों मार्गों की एकता बताई गई, उसी का अनुवाद चौथे पद्य में ‘योगारूढ’ पद का विवरण करते हुए किया गया है। इन सब बातों पर दृष्टिपात करते हुए इस पद्य की व्याख्या यह उचित होगी कि फलाशा रूप संकल्प छोड़ चुकने के कारण जो मुनि अर्थात् मननशील हो चुका है और ‘योग’ अर्थात् साम्यबुद्धि पर आरूढ़ होने का अर्थात् उसे प्राप्त करने का इच्छुक है, उसके लिये कर्म ही फल सिद्धि का कारण कहा गया है। जैसा कि सभी व्याख्याकारों ने माना है। अब आगे योगारूढ़ हो जाने पर अर्थात् ‘साम्य बुद्धि’ प्राप्त कर लेने पर ‘शम’ अर्थात् चित्त की शान्ति ही योगदर्शन में उक्त आगे-आगे की भूमिका प्राप्त करने का कारण कही जाती है। इसका तात्पर्य यही है कि आगे जीवन्मुक्ति पर्यन्त उत्तरोत्तर भूमिका प्राप्त करने में कर्म का कोई उपयोग नहीं होता। ‘उपशम’ अर्थात् चित्त शान्ति ही उसे स्वयं आगे बढ़ाती रहती है। कर्म के सम्बन्ध में जो उसके दोनों मार्ग पहिल बताये हैं वे यहाँ भी सुस्थिर ही हैं। उनमें कोई परिवर्तन इस पद्य से नहीं किया जाता। वह आगे की उन्नति का कारण न होने से अनुपयोगी समझ कर कर्म छोड़ दे अथवा संसारचक्र-परिचालन रूप यज्ञ के लिये, लोकसंग्रह के लिये वा लोकों को उचित कर्म का उपदेश करने के लिये, कर्म करता रहे, यह उसकी इच्छा, वासना और प्रारब्ध कर्म की प्रेरणा पर ही निर्भर है। इस पद्य से कर्म करते रहने वा छोड़ देने का कोई नया विधान नहीं किया गया। दोनों मार्ग जो तृतीयाध्याय से पृथक्-पृथक् बताये गये वे यथावत् ही सुस्थिर हैं।

कर्मयोग के परम पक्षपाती लोकमान्यतिलक भी आगे की उन्नति अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में तो कर्म का उपयोग नहीं मानते। ज्ञान कर्म समुच्चय से मुक्ति प्राप्त होती है, यह तो उनका भी मत नहीं है। भगवद्गीता में भगवान् ने कर्मयोग को ही श्रेष्ठ माना है। जैसा कि पञ्चम अध्याय के आरम्भ में कहा गया और अन्त में अठारहवें अध्याय में भी कहा जायगा कि फलाशा और आसक्ति छोड़कर यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करते ही रहना चाहिये। यही मेरा निश्चित मत है और यही उत्तम है। हमारा तात्पर्य यही है कि इस पद्य से जो व्याख्याकार कर्म छोड़ने का ही तात्पर्य निकालते हैं वा जो कर्म करते रहने में ही इस पद्य का तात्पर्य बतलाते हैं, वे दोनों ही पक्ष इस पद्य से सिद्ध नहीं होते। इससे तो इतना ही सिद्ध होता है कि जब तक 'साम्यबुद्धि' रूप योग पूर्णतया प्राप्त न हो तब तक कर्म करना आवश्यक है। आगे दोनों ही मार्ग हैं अपनी इच्छा या वासना के अनुसार जिसे चाहे उसे स्वीकार करे। यह पद्य दोनों पक्षों में उदासीन ही है (३)

आगे "योगारूढ़" शब्द का अर्थ स्वयं भगवान् इसलिये बतलाते हैं कि किसी को कोई सन्देह न रहे। वह यह है कि इन्द्रियों के विषयों में कर्म का फल समझ कर या कर्मों में भी जब अनुषङ्ग अर्थात् आसक्ति न रहे और मन से सब सङ्कल्प अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयों की प्राप्ति की इसलोक वा परलोक में पाने की चित्त वृत्ति सर्वथा छूट चुकी हो तब भी उसे योगारूढ़ कहा जाता है। द्वितीय अध्याय में जो स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताया है या आगे त्रिगुणातीत-पुरुष का जो लक्षण कहेंगे उसी के समान यह योगारूढ़ का भी विवरण समझना चाहिये। इस पद्य में भी श्रीशङ्कराचार्य संन्यास का विधान मानते हैं। क्योंकि जब संकल्प का संन्यास हो चुका तो मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता। सङ्कल्प से ही सब कर्म होते हैं। इससे सङ्कल्प संन्यास से कर्म संन्यास भी सिद्ध हो गया यह उनकी व्याख्या है। लोकमान्य तिलक कहते हैं कि सङ्कल्प अर्थात् फल विषय की भावना का ही संन्यास यहाँ कहा गया और यह पद्य द्वितीय पद्य का ही अर्थ स्पष्ट करता है और वहाँ आरम्भ में -

**"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति"**

ऐसा कहने से कर्मयोग स्पष्ट है। इसलिये यहाँ भी सङ्कल्प मात्र का ही अर्थात् फल-वासना का ही संन्यास बताया गया न कि कर्मों का सर्वथा छोड़ना कहा गया। इसलिये यह पद्य भी कर्मयोग का ही प्रतिपादक है (४)

## उन्नासिहवां-पुष्प

उद्धरेदात्मनात्मानं                      नात्मानमवसादयेत् ।  
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः ॥५॥  
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।  
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥  
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।  
शीतोष्णसुखदुःखेषु                      तथामानापमानयोः ॥७॥  
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।  
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥  
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु                      ।  
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

अपना उद्धार अपने आप को ही करना चाहिये। अपने आपको संसार गर्त में गिराकर दुर्गति को न पहुँचावे। अपने आप ही अपने आपका बन्धु अर्थात् मित्र है और अपने आप ही अपना शत्रु है।

यहाँ आत्मा शब्द शरीर, इन्द्रिय, मन और सबसे ऊपर जो चैतन्य शक्ति मुख्य आत्मा है उन सबके समूह में प्रयुक्त हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि बाहर का कोई पुत्र, मित्र, कलत्र आदि अपने उद्धार में सहायता नहीं दे सकता, न कोई बाहर का मनुष्य अपने को गिरा सकता है। अपना उठाना या गिराना अपने ही कर्मों पर निर्भर है इसलिये अपना वास्तविक मित्र वा शत्रु भी किसी को न समझना चाहिये। अपने आप ही अपना बन्धु अर्थात् उपकारक हो सकता है और अपने आप ही अपना शत्रु बन सकता है।

यहाँ पूर्व में तो दूसरा कोई सुख-दुःख देने वाला मित्र वा शत्रु नहीं है, यह कहा गया है और उत्तरार्ध में अपने आप में कर्त्तापन का अभिमान भी झूठा बताया गया है। उसका कारण चतुर्थपाद में कहा है कि सब लोग अपने कर्म सूत्र में बँधे हुए हैं। अर्थात् पूर्व सञ्चित कर्मानुसार जिसकी जैसी वासना बनती है वह अपनी वासनानुसार ही आगे कर्म किया करता है और उनका फल सुख वा दुःख प्राप्त किया करता है। यहाँ हम कह चुके हैं कि आत्मा पद समूह का वाचक है, इसलिये कर्मजनित बुद्धि

की वासना या मन भी आत्मापद से ले लिये जाते हैं। इसलिये यहाँ आत्मा को ही अपना शत्रुमित्र कहा। कर्मों का कर्त्ता कौन होता है इसका विवेचन आगे “अधिष्ठानं तथा कर्त्ता” इत्यादि पद्य में किया जायगा। वहीं इसका अधिक स्पष्टीकरण होगा। यहाँ यही वक्तव्य है कि किसी दूसरे की प्रतीक्षा न कर अपने आपको ही अपने उद्धार का प्रयत्न करना चाहिये अर्थात् योगारूढ़ होने का प्रयत्न सावधान होकर करना चाहिये (५)

कौन पुरुष अपने आप का बन्धु बनता है और कौन अपने आप का शत्रु बनता है इसे आगे के पद्य में स्पष्ट करते हैं कि जिसने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को आत्मा से अर्थात् चिच्छक्ति से जीत लिया उसका आत्मा उसका बन्धु अर्थात् मित्रवत् उपकारक बन जाता है। तात्पर्य यह है कि जिसका अन्तःकरण अपने वश में हो, आत्मा की प्रेरणा से ही भिन्न-भिन्न व्यापारों में प्रवृत्त होता हो, वह पुरुष अपने आप का बन्धु है अर्थात् उपकारक है। इसके विपरीत जो अनात्मा अर्थात् अजितात्मा है जिसने अपने अन्तःकरण को वश में नहीं किया उसका आत्मा ही दूसरे शत्रु के समान शत्रुत्व रूप में वर्तता है। अर्थात् शत्रु के समान अपने आपका अपकारक बन जाता है।

जिसका अन्तःकरण वश में नहीं है अर्थात् इधर उधर सदा विषयों में चञ्चल रहा करता है, उसकी चिच्छक्ति, मुख्य आत्मा, न होने के बराबर ही है क्योंकि अन्तःकरण वश में न रहने से इन्द्रिय, शरीर आदि भी वश में नहीं रहते। जब ये सब ही स्वतन्त्र रूप से चलते रहे तब मुख्य आत्मा के रहने न रहने का फल ही क्या हुआ ? इसीलिये इस पद्य में भगवान् ने उसे अनात्मा कहा अर्थात् उसका आत्मा न होने के बराबर है। शरीर, इन्द्रिय, मन, आदिक पर अपना प्रभाव रखना ही आत्मा का काम है। जब इन पर ही प्रभाव नहीं रहा तो उसका रहना न रहना बराबर है। ऐसा पुरुष आपही अपने आपका शत्रु बनता है अथवा वश में न रहने वाला मन ही अपने शत्रु के समान हो जाता है। इसीलिये मन को वश में रखना अत्यावश्यक है। यह इस उपदेश का तात्पर्य हुआ। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि मन जब पूर्व-पूर्व वासनाओं के अनुसार ही आगे के कार्य करता है अथवा ईश्वर की प्रेरणा से ही मनुष्य कर्म किया करता है तब मन को वश में किया ही कैसे जायगा अथवा आत्मा भी ईश्वर-परतन्त्र रहता हुआ मन आदि को कैसे वश में करेगा ? इसका उत्तर लोकमान्यतिलक ने अपने गीता रहस्य में यह दिया है कि वासना आदि के या ईश्वर के अधिकार में रहने पर भी आत्मा स्वतन्त्र है, वह समय-समय पर अपनी स्वतन्त्रता शक्ति अवश्य प्रकट करता है। उसी समय से लाभ उठाकर संघातरूप आत्मा को अपने मन आदि पर अधिकार कर लेना चाहिये। इसका विशेष निरूपण आगे के पूर्व निर्दिष्ट “अधिष्ठानं तथा कर्त्ता” इत्यादि अठारहवें अध्याय के श्लोक की व्याख्या में ही किया जायगा (६)

इस प्रकार अन्तःकरण को वश में करने का फल क्या होगा ? यह आगे के पद्य में बताया जाता है कि जिस पुरुष ने अपने अन्तःकरण पर जय प्राप्त कर लिया है और जो 'प्रशान्त' अर्थात् पूर्वरूप से मन की चञ्चलता मिटा कर शान्ति प्राप्त कर चुका है अर्थात् शान्तिरूप परमानन्द जिसने पा लिया है, उसके लिये परमात्मा ही आत्मरूप से स्थित हो जाता है अर्थात् वह अब अपने आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं समझता। यही समाहित अर्थात् एकाग्ररूप स्थिति उसकी हो जाती है। परमात्मा आनन्द स्वरूप है। पूर्वोक्त प्रकार का पुरुष उस आनन्द का अनुभव प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्य ने पद्य के इस अर्ध भाग की पृथक् रूप से ही व्याख्या की है। अन्य व्याख्याकारों के मत में प्रायः यहाँ परमात्मा शब्द अपने अन्तरात्मा का ही बोधक है। कोई कोई मन, बुद्धि आदि से उत्कृष्ट होने के कारण "परमश्चासौ आत्मा च" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्तरात्मा को परमात्मा पद का वाच्य कहते हैं और कई व्याख्याकारों ने "परम आत्मा" इस प्रकार इसको पदच्छेद करके आत्मापद अन्तरात्मा का बोधक पृथक् माना है और शुद्ध आत्मा पद तो अपने अन्तरात्मा का बोधक है ही। पूर्वार्ध को पृथक् न कर सम्पूर्ण पद्य की व्याख्या प्रायः इस प्रकार करते हैं कि शीत, उष्ण (गर्मी) सुख-दुःख इत्यादि प्रकृति से प्राप्त द्वन्द्वों में अर्थात् परस्पर विरुद्ध पदार्थों में तथा अन्य संसारी पुरुषों से प्राप्त मान अपमान सत्कार व तिरस्कार आदि द्वन्द्वों में भी जो जितात्मा हैं, अर्थात् ऐसे अवसरों में भी अन्तःकरण को चञ्चल नहीं होने देता, इतना जय जिसने अपने अन्तःकरण का कर लिया है उसका आत्मा परं क्रिया का विशेषण अर्थात् उत्कृष्ट रूप से समाहित अर्थात् एकाग्र हो जाता है। कई व्याख्याकार आगे के पद्य से मिलाकर दोनों पद्यों की एक वाक्य रूप से भी व्याख्या करते हैं कि पूर्व जो योगारूढ़ का लक्षण किया है उसी का विवरण इन दोनों पद्यों में भी है कि जो शीत, उष्ण, मान-अपमान और लोहा-पत्थर स्वर्ण इत्यादि सब सांसारिक पदार्थों में समान भाव रखता है अर्थात् स्वर्ण में ग्रहण करने की बुद्धि जिसकी नहीं होती और पत्थर में वा लोहे में फेंक देने की बुद्धि नहीं होती, इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान से जिसका आत्मा तृप्त हो गया है अर्थात् जिसे यह बुद्धि हो गई है कि मैं सब कुछ जान गया, अब कुछ जानने की बात मेरे लिये बाकी नहीं है एवं जो कूट अर्थात् घट्ट के बीच गड़े हुए पाषाण स्तम्भ की तरह जिसका आत्मा स्थिर हो गया है, इन्द्रियों पर जिसने विजय प्राप्त कर लिया है ऐसा योगी 'युक्त' अर्थात् योगारूढ़ माना जाता है और उसी का आत्मा परम एकाग्र रहता है।

इस पद्य में जो ज्ञान और विज्ञान दो शब्द आये हैं उनका भेद श्रीशङ्कराचार्य आदि व्याख्याता इस प्रकार करते हैं कि शास्त्र वाक्यों का श्रवण कर जो मानसवृत्ति



होती है उसे ज्ञान कहा जाता है और उसका मनन और बार-बार ध्यान करने से जो प्रत्यक्ष सदृश अनुभव होता है उसे विज्ञान कहते हैं; और श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने ग्रन्थों में इन शब्दों का यह अर्थ लिखा है कि अनेक भिन्न-भिन्न अर्थों में एकरूपता देखना ज्ञान है और एक से ही अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं इस दृष्टि से देखना विज्ञान कहा जाता है। इसका विशेष विवेचन सप्तम अध्याय के “ज्ञानं तेऽहं स विज्ञानम्” इत्यादि पद्य में किया जायगा। कूटस्थ पद का अर्थ है कि चलते हुए बहुतों के समुदाय के बीच जो स्थिर रहे। जैसा कि तेली अपने यन्त्र को चारों तरफ घुमाता रहता है किन्तु उसके बीच में जो एक स्तम्भ गड़ा हुआ होता है जिस पर वह यन्त्र लगा है वह नहीं घूमता। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन आदि के चञ्चल रहने पर भी आत्मा स्थिर रहता है इसलिये उसे कूटस्थ कहते हैं। कूटस्थ आत्मा के समान ही जिस पुरुष ने अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को भी बना लिया है, वह देहादि का समुदाय रूप आत्मा भी कूटस्थ हो गया। इस अभिप्राय से यहाँ समुदाय रूप आत्मा के लिये कूटस्थपद दिया गया है (७-८)

न केवल जड़ वस्तुओं में किन्तु अपने से किसी प्रकार का व्यवहार रखने वाले चेतन प्राणियों में भी साम्य बुद्धि करना कर्मयोगी के लिये आवश्यक है। इस पूर्वोक्त साम्य बुद्धि को ही फिर दोहराया जाता है कि ‘सुहृत्’ अर्थात् प्रत्युपकार की इच्छा न रखकर सदा उपकार करने वाले शुद्ध हृदय पुरुष में मित्र अर्थात् परस्पर स्नेह जिसमें हो गया है ऐसे पुरुष में ‘अरि’ अर्थात् शत्रु में ‘उदासीन’ अर्थात् जो न शत्रु है न मित्र ऐसे तटस्थ पुरुष में, ‘मध्यस्थ’ अर्थात् परस्पर विरुद्ध दोनों दलों की जो भलाई चाहता हो, द्वेष्य अर्थात् जिसके साथ परस्पर बुराई करने का सम्बन्ध चल रहा हो, बन्धु-बान्धव अर्थात् अपने कुटुम्बी, साधु अर्थात् सत्कर्म करने वाले और पाप अर्थात् बुरे कर्म करने वाले सब प्रकार के पुरुषों में जिसकी समान बुद्धि है ऐसा पुरुष ही सब योगारूढ़ पुरुषों में भी उत्तम कहा जाने योग्य है।

योग दर्शन में कहा गया है—

“मैत्री-करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्॥”

(समाधिपाद ३३ सूत्र)

अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि जिसे संसार में सुखी देखे, उसके साथ अपना मित्र होने की भावना करे। इससे चित्त में ईर्ष्यावृत्ति का उदय नहीं होगा। चित्त का स्वभाव है कि किसी अन्य को सुखी देखकर उस पर ईर्ष्या होती है कि हमें भी ऐसा

सुख क्यों न मिला ? किन्तु जिसके साथ अपना प्रेम है उसे सुखी देखकर ऐसी ईर्ष्या नहीं होती किन्तु प्रसन्नता ही होती है। इसीलिये शास्त्र उपदेश देता है कि जिसे भी सुखी देखो उसके साथ मैत्री की भावना करो, अर्थात् उसे अपना मित्र ही समझो। इससे ईर्ष्यावृत्ति का उदय नहीं होगा और जिसे दुःखी देखो उस पर करुणा की भावना करो। अर्थात् किसी को दुःख पाता हुआ देखकर स्वयं प्रसन्न मत होओ किन्तु क्यों इसे परमात्मा ने कष्ट दिया इस प्रकार करुणावृत्ति ही उस पर रखो। इसी प्रकार जिसे पुण्य अर्थात् शुभकार्य करता हुआ देखो उस पर 'मुदितावृत्ति' करो अर्थात् अपने चित्त में प्रसन्नता का अनुभव करो और जिसे अपुण्य अर्थात् पुण्य विरोधी—पापकर्म करता हुआ देखो उस पर स्वयं खिन्न मत होओ किन्तु उपेक्षा करो अर्थात् संसार में सभी प्रकार के कार्य करने वाले पुरुष होते हैं, हमें इससे क्या लेना देना है ? इस प्रकार की उपेक्षा वृत्ति करो। ऐसी वृत्तियाँ करने से तुम्हारे चित्त में किसी के प्रति कोई बुरी भावना न होगी, तब चित्त का प्रसादन अर्थात् स्वच्छता होती जायगी। इस प्रकार की योगदर्शन में कही गई भिन्न-भिन्न भावनायें साधन दशा में उपयुक्त हैं किन्तु यहाँ भगवान् सिद्ध दशा की बात कहते हैं कि युक्त पुरुषों को दूसरों के चित्त के विषय में ध्यान ही नहीं देना चाहिये। किन्तु उसे तो सबके भीतर विराजमान विशुद्ध अन्तरात्मा को ही देखना चाहिये, वह तो शुद्ध है उसमें किसी प्रकार का विकार होता ही नहीं अपने साथ जो किसी का मित्रभाव से या शत्रुभाव से सम्बन्ध होता है वह उसकी मनोवृत्ति का ही प्रभाव है। आत्मा तो सदा ही शुद्ध और समानरूप है। उस आत्मा को ही सबमें व्यापक एक आत्मा को ही परमात्मा कहा जाता है। उस व्यापक परमात्मा पर ही युक्त पुरुष की दृष्टि रहनी चाहिये। वह अन्य पुरुषों की भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों पर कोई ध्यान ही न दे किन्तु सर्वत्र आत्मा पर ही व्यापक दृष्टि रखे, यह इस उपदेश का सार हुआ (९)



## अस्सीयवां-पुष्प

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।  
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥  
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।  
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥  
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।  
उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥  
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।  
सम्प्रेक्ष नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥  
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।  
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः ॥१४॥  
युञ्जन्नेव सदात्मानं योगी नियतमानसः ।  
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥  
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।  
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥  
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।  
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

उक्त प्रकार की साम्यबुद्धि प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास भी आवश्यक है। योगाभ्यास से अन्तःकरण को वश करने में बहुत सहायता मिलती है। वह योग अनेक प्रकार का भिन्न-भिन्न शास्त्रों में वर्णित है। मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, लययोग आदि कई भेद योग के शास्त्रों में निरूपित हैं और उन योगों में उपयुक्त सामान्य प्रक्रियाओं का ही संक्षेप से निदर्शन भगवान् करते हैं कि योगी अर्थात् योगाभ्यास में प्रवृत्त होने वाला पुरुष एकान्त स्थान में अर्थात् जहाँ व्यवहारिक पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त न हो सके ऐसे नदीतीर, पर्वतकन्दरा आदि स्थानों में स्थित होवे, वहाँ भी अकेला ही बैठे अर्थात् अपने इष्ट-बान्धव, पुत्र-कलत्र आदि का भी सम्पर्क न करे। इस प्रकार के जनसम्पर्क से परस्पर वार्तालाप का प्रसङ्ग होकर चित्त की एकाग्रता में बाधा उपस्थित

होना सम्भव है। इसलिये ऐसी बाधा के मूल को ही हटा देना चाहिये। चित्त और आत्मा अर्थात् इन्द्रिय, शरीर आदि को संयत रख कर योगाभ्यास करना चाहिये, यहाँ आत्मा पद शरीर, इन्द्रिय आदि के समूह का ही वाचक है। मन का संयम् अर्थात् एकाग्र करना विशेष आवश्यक है। इसलिये चित्तपद का पृथक् उपादान किया गया है। अपने योगाभ्यास की सिद्धि के अतिरिक्त और कोई इच्छा चित्त में नहीं रखनी चाहिये। जो दूसरों के मारण, मोहन आदि के उद्देश्य से योगाभ्यास करते हैं वे शास्त्र सम्मत कार्य नहीं करते, यह इस विशेषण से सूचित किया गया। एकाकी रहने पर भी लेखनी, पुस्तक आदि का संग्रह बहुत सा साथ रख लिया जाय ऐसा परिग्रह भी न होना चाहिये। इस प्रकार के अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को 'युञ्जीत' अर्थात् एकाग्र करना चाहिये। अथवा आत्मा अर्थात् चिदात्मा को अपने ही से मिलाना चाहिये। अर्थात् अपने ही दर्शन में निरत करना चाहिये। "सततम्" पद का अभिप्राय है कि योगाभ्यास निरन्तर करना चाहिये। कुछ काल किया और कुछ काल छोड़कर फिर आरम्भ किया, ऐसा नहीं होना चाहिये। योगदर्शन में भी कहा गया है कि "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" अर्थात् बहुत काल तक निरन्तर अर्थात् विच्छेद न कर आदर पूर्वक सेवन करने से योगाभ्यास दृढ़ होता है। सत्कार का तात्पर्य है कि मैं बहुत अच्छा कार्य कर रहा हूँ ऐसा भाव अभ्यासी के हृदय में रहना चाहिये।

यहाँ "निराशीः" और "अपरिग्रहः" इन विशेषणों के कारण श्रीशङ्कराचार्य ने योगी पद का संन्यास योग युक्त ही अर्थ किया है क्योंकि अन्य आश्रमों में तो कुछ न कुछ परिग्रह रहता ही है। किन्तु श्रीरामानुजाचार्य और तिलक आदि व्याख्याकार योगी पद का "कर्मयोगी" ही अर्थ मानते हैं। कर्मयोगी को मन से सब परिग्रह का त्याग करना ही पड़ता है और सांसारिक विषयों की इच्छा का भी परित्याग उसके लिये आवश्यक ही है। इसलिये यह विशेषण कर्मयोगी में भी उप्पन्न हो जाते हैं। अन्य कई व्याख्याकार पुस्तक, लेखनी आदि के झंझट में भी न पड़ना यही अपरिग्रह का अर्थ करते हैं।

अब पातञ्जल सूत्रों के अनुसार संक्षेप से योग का निरूपण प्रस्तुत किया जाता है। पातञ्जल सूत्र में योग के आठ अङ्ग बताये गये हैं। (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि। इनमें से यम-नियमों का तो बहुत कुछ कथन पूर्व ही हो चुका है—जैसा कि पञ्चमाध्याय के पद्यों की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः उनकी पुनरुक्ति न कर यहाँ आसन से ही प्रारम्भ किया जाता है। यह भी कारण है कि यम नियम तो सर्वसाधारण

के लिये, जो योगाभ्यास नहीं भी करते हैं उनके लिये भी आवश्यक होते हैं। इसलिये उनको योग के अङ्गों में ही गिनना, योग के अङ्गों में ही अन्तर्गत अनावश्यक है। योगाभ्यास करने वाले को उनकी विशेष आवश्यकता है। इसलिये उनकी योगाङ्गों में गणना की गई है, किन्तु योगाभ्यास तो आसन से ही आरम्भ होता है। इसलिये प्रथमतः आसन का ही निरूपण यहाँ किया जाता है कि पवित्र देश में अपना ऐसा सुस्थिर आसन प्रतिष्ठित करना चाहिये जो भूमि से न बहुत ऊँचा हो न एकान्ततः भूमि से सम्मिलित ही हो और उस आसन में चैल अर्थात् रेशम आदि का मृदु वस्त्र; अजिन अर्थात् पवित्र मृगचर्म और कुशा ये क्रम से उत्तरोत्तर होवें। यहाँ इन तीनों का क्रम से उत्तरोत्तर होना अपने शरीर की अपेक्षा से लेना चाहिये अर्थात् शरीर के नीचे पहिले रेशमी वस्त्र हो, उसके अनन्तर मृगचर्म और उसके अनन्तर कुशायेँ। कुशाओं का सम्बन्ध भूमि से रहना चाहिये। यही उत्तरोत्तर का क्रम शिष्ट सम्प्रदाय में प्रचलित है और श्रीशङ्कराचार्य ने भी इस पद्य की व्याख्या में लिखा है कि इनका क्रम पाठक्रम से विपरीत लेना चाहिये। अर्थात् भूमि की अपेक्षा यदि उत्तरोत्तर भाव लिया जाय तो पहिले कुशा फिर अजिन और फिर चैल यह क्रम होना चाहिये। कई व्याख्याकार चैलाजिनकुशोत्तरे यस्मिन् अर्थात् कुशाओं के ऊपर जिसमें चैल और अजिन हों, इस प्रकार विग्रह करके भी उक्त अर्थ निकालते हैं। अस्तु “शुचौ देशे” इन पदों से यह कहा गया कि पहिले आसन के स्थान की अर्थात् भूप्रदेश की पवित्रता देखना चाहिये। भूप्रदेश की पवित्रता का निरूपण धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया कि -

सर्वत्र वसुधा पूता यत्र लेपो न विद्यते ।

यत्र लेपः कृतस्तत्र पुनर्लेपेन शुद्ध्यति ॥

इसका अर्थ है कि जहाँ लेप अर्थात् बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध न हुआ हो ऐसा भूमि का प्रदेश पवित्र ही रहता है जैसा पर्वत, कन्दरा आदि का प्रदेश, और जहाँ एक बार लेप कर दिया गया हो, वहाँ तो फिर गोमय आदि का लेप करने पर ही शुद्धि होती है। जिस भूमि में अपवित्र वस्तुओं के सम्बन्ध सम्भव हों उसकी शुद्धि का प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि -

भूशुद्धिर्मार्जनाद् दाहात् कालात् गोक्रमणात्तथा ।

सेकादुल्लेखनाल्लेपाद् गृहं मार्जनलेपनात् ॥

(आचाराध्याय १८८ श्लोक)

अर्थात् भूमि की शुद्धि झाड़ू देने से, अग्नि जलाने से जहाँ विशेष अपवित्रता हुई हो अर्थात् मल-मूत्र आदि का सम्बन्ध या स्त्रियों का प्रसव आदि जहाँ हुआ हो

वहाँ कुछ काल उस भूमि को खाली छोड़ देने से अथवा गौओं का उस स्थान में परिभ्रमण कराने से पवित्रता हो जाती है और जहाँ घर बनाया गया हो, उसकी पवित्रता के लिये तो झाड़ू देना और गोमय आदि का लेपन करना ही पवित्रता का कारण होता है। इस प्रकार स्थान की पवित्रता कर लेनी चाहिये, यह यहाँ “शुचौ देशे” पद से कहा गया। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आधुनिक विज्ञान के वेत्ता डाक्टरों ने भी यह स्वीकार किया है कि गोमय में रोग के कीटाणुओं का संक्रमण नहीं होता और जिन वस्तुओं का आसन में उपयोग करना बताया गया है, वे सब वस्तुएँ भी आधुनिक भाषा में “नान कन्डेक्टिंग” मानी गई हैं। अर्थात् इनमें विद्युत शक्ति नहीं चलती। इससे भारतीय धर्म विज्ञान से कितना सम्बन्ध रखता है यह बात स्पष्ट हो जाती है। “शुचौ देशे” इन पदों से यह भी सूचित किया गया कि भूमि पर ही योगाभ्यासी को आसन लगाना चाहिये। किसी काष्ठ-पीठ चौकी, तखत आदि पर अभ्यास के लिये आसन न लगावें और “आत्मनः” पद से यह सूचित किया कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना आसन पृथक् ही हो। किसी दूसरे पुरुष के काम में लिये हुए आसन पर अभ्यास नहीं हो सकता क्योंकि जिस आसन पर कोई व्यक्ति बैठ गया उसमें उस व्यक्ति की विद्युत शक्ति का सम्बन्ध हो जाता है। दूसरा पुरुष यदि उस पर बैठेगा तो इन दोनों की विद्युत शक्ति का सम्मिश्रण होने से अभ्यास में बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी। बहुत ऊँचा आसन होने से भूमि की व्यापक विद्युत शक्ति से सम्बन्ध ही छूट जायगा। जो कि भूप्रदेश के प्राणियों के लिये अहितकर होगा और अत्यन्त नीचा आसन रहने पर भूमि ही योगाभ्यास से उत्पन्न शक्ति का आकर्षण कर ले, यह भय रहेगा। इसलिये अत्यन्त ऊँचे और अत्यन्त नीचे आसन का निषेध किया गया है। यह वैज्ञानिक प्रक्रिया इसमें समझ लेनी चाहिये। आसन अस्थिर हो अर्थात् इधर-उधर चल-प्रचल होने का भय न रहे इस प्रकार के समतल में आसन लगाना चाहिये। ऊँची-नीची भूमि न हो यह इस स्थिर विशेषण से सूचित किया गया (११)

ऐसे आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को संयत करके अर्थात् चित्त और इन्द्रियों की चञ्चलता को हटाकर और मन को एकाग्र करके, आत्मा अर्थात् चित्त शक्ति की विशुद्धि अर्थात् बन्धन निवृत्ति के उद्देश्य से योग का अर्थात् चित्तवृत्ति प्रवाह को रोकने का अनुष्ठान करना चाहिये। इससे “प्रत्याहार” रूप पाँचवाँ योगाङ्ग सूचित किया। “उपविश्य” पद से यह सूचित करते हैं कि योगाभ्यास बैठकर ही हो सकता है। खड़े रह कर या लेट कर नहीं। आत्म विशुद्धि का अर्थ अन्तःकरण की शुद्धि भी व्याख्याओं में किया गया है। उनका अभिप्राय है कि चित् शक्ति तो सदा ही शुद्ध है उस पर मलिनता तो चित्त के सम्बन्ध से ही आती है। इसलिये चित्त की शुद्धि

ही योगाभ्यास का मुख्य फल है। वेदान्त-दर्शन में अन्तःकरण के चार भेद माने गये हैं—(१) मन (२) बुद्धि (३) अहंकार और (४) चित्त। आगम शास्त्र में चित्त को ही चित्ति का प्रथम संक्रमण कहकर मुख्य माना गया है। उस चित्त की चञ्चलता हटा देने पर मन आदि सब अन्तःकरणों की चञ्चलता हट जाती है। इसलिये चित्त की क्रिया को संयत करना यहाँ कहा गया और अन्तःकरणों में मन का स्थान प्रथम आता है। मन में ही विशेष रूप से चञ्चलता प्रसिद्ध है। उसको एकाग्र करने से अर्थात् चञ्चलता हटाकर एक तरफ लगा देने से बुद्धि आदि की भी स्थिरता हो जाती है। इस अभिप्राय से पहिले मन की एकाग्रता और आगे चित्त पद से उपलक्षित कर शेष अन्तःकरणों की संयतता दिखाई गई। इसलिये पुनरुक्ति नहीं समझना चाहिये इसके अतिरिक्त मन को एकाग्र अर्थात् एक जगह स्थिर करना इससे “धारणा” रूप योग का छठा अङ्ग भी कहा गया। इससे भी पुनरुक्ति का परिहार हो जाता है (१२)

इस प्रकार तीसरे अङ्ग आसन के अनन्तर प्रत्याहार और धारणा रूप पाँचवें और छठे योगाङ्गों का ही पहिले निर्देश कर दिया गया। चौथा अङ्ग प्राणायाम बाकी रह गया, उसका निरूपण आगे के पद्य से किया जाता है। पूर्वोक्त पद्य में आसन शब्द में “करणाधिकरणयोश्च” इस व्याकरण सूत्र से “ल्युट्” प्रत्यय किया गया है। इसलिये वहाँ आसन शब्द का अर्थ है बैठने का स्थान। जहाँ भाव में प्रत्यय कर आसन शब्द बनाया जाय वहाँ बैठने की प्रक्रिया का ही नाम आसन होगा। जैसा कि “पद्मासन” “स्वस्तिक आसन” “सिद्धासन” आदि में प्रसिद्ध है। इस प्रकार के शरीर स्थिति रूप आसनों के भेद भी चौरासी, योग के ग्रन्थों में बताये गये हैं जो कि हठयोग की प्रक्रिया में आते हैं। इन सबके झंझट में न डालकर प्राणायाम के समय आवश्यक शरीर की स्थिति का निरूपण यहाँ किया जाता है कि काय अर्थात् धड़, ग्रीवा और शिर को समान रूप में अर्थात् एक सीध में रखना चाहिये और ये सब निश्चल रहें; इधर-उधर परिवर्तन की क्रिया बन्द रखनी चाहिये। इधर-उधर दिशाओं को न देखकर अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिये। दोनों नेत्रों की रश्मियाँ जो भिन्न-भिन्न रूप से चलती हैं उन्हें एक जगह मिला कर पुनः एक जगह मिला देना ही नासाग्र दृष्टि कहलाती है। दोनों नेत्रों से जो पृथक्-पृथक् रश्मियाँ निकलती हैं उन्हें तिरछा करके नासिका के अग्रभाग की ओर झुका कर एक सीध में कर देने से यह दृष्टि बनती है, उससे केवल अपनी नासिका का अग्रभाग ही दिखाई देता है। इधर-उधर की दिशाएँ नहीं दिखाई देतीं। इससे चित्त की एकाग्रता में बहुत बड़ी सहायता मिलती है। यह हठयोग की प्रक्रिया है। इन्द्रियों को बल पूर्वक एक ओर लगाना ही ‘हठयोग’ कहलाता है, इसलिये लोकमान्य तिलक ने जो इस निरूपण में लिखा है कि गीता में हठयोग

का कोई स्थान नहीं, वह उचित नहीं प्रतीत होता। सब ही योगों के उपयुक्त अंशों को गीता में ले लिया गया है (१३)

आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को सब प्रकार से शान्त रखना चाहिये। अन्तःकरण में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के सांसारिक भावों का उदय न हो, ऐसा यत्न करना चाहिये और अन्तःकरण में विकार उत्पन्न करने वाले भय का सञ्चार मन में से सर्वथा हटा देना चाहिये। इस लोक में या परलोक में मेरी दुर्गति होगी, इस प्रकार का भय भी चित्त में नहीं लाना चाहिये। योगाभ्यास करने के काल में ब्रह्मचर्य का नियम आवश्यक है। शास्त्रों में जो आठ प्रकार का मैथुन बताया गया है उन सबका परित्याग करना ही ब्रह्मचर्य है। आठ प्रकार का मैथुन इस प्रकार कहा गया है कि—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्ष्यं गुह्यभाषणम् ।

सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।

विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवं प्रकीर्तितम् ॥

स्त्रियों का स्मरण करना, उनकी बात मुख से कहना, उनके साथ क्रीड़ा, उनको सकाम देखना, उनके साथ गुप्त बात करना “स्त्री प्रसङ्ग करूँगा” इस प्रकार का चित्त में सङ्कल्प और उस सङ्कल्प की सिद्धि के लिये कई प्रकार के प्रयत्न और अन्ततः ‘क्रियानिर्वृत्ति’ अर्थात् स्त्री संपर्क, यह आठ प्रकार का मैथुन कहा जाता है और इनके विपरीत अर्थात् इन सब का छोड़ना ही ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार के ब्रह्मचर्य में स्थित होना आवश्यक है। यद्यपि “प्रशान्तात्मा” पद से ही सांसारिक विषयमात्र की निवृत्ति कह दी गई थी तथापि विशेष आवश्यकता बोधन करने के लिये ब्रह्मचारिव्रत में स्थित होना पृथक् भी कहा गया। मन को पूर्ण रूप से संयत अर्थात् एकाग्र करके अपने चित्त को मुझ परमेश्वर में ही लगा कर “मत्परः” अर्थात् मुझको ही सर्वानन्दमय मानता हुआ युक्त अर्थात् बहुत काल पर्यन्त ऐसी ही स्थिति में रहे। यहाँ मनःसंयम पद से क्रम प्राप्त प्रत्याहार और धारणा का पुनः सूचन किया गया है। “मच्चित्तः” और “मत्परः” पदों से ध्यान नाम योग का प्रधान अङ्ग बताया गया। योगदर्शन में भी इसी को मुख्य माना है। वहाँ कहा है कि —

“ईश्वर प्रणिधानाद्वा”

अर्थात् ईश्वर के किसी रूप में एकाग्र कर मन को स्थापित किया जाय, इसी से योग सिद्धि होती है। ‘युक्तः’ पद से समाधि का ही कथन कई व्याख्याकारों ने माना है और मूल का ‘आसीत्’ पद भी उसे ही स्पष्ट कर रहा है ऐसी स्थिति में चिरकाल



तक रहना। ऐसी सम्प्रज्ञातसमाधि से ही असम्प्रज्ञात समाधि भी सिद्ध हो जाती है। इनमें केवल इतना ही भेद है कि सम्प्रज्ञात समाधि में “मैं इस वस्तु का ध्यान कर रहा हूँ” इस प्रकार की ‘ध्याता’ ध्यान की वस्तु, ध्येय और ध्यान यह “त्रिपुटी” बनी रहती है और असम्प्रज्ञात समाधि में यह त्रिपुटी नहीं रहती अर्थात् “मैं और ध्यान करता हूँ यह अंश भी ध्यान में से हट जाते हैं, केवल जिस ईश्वर के रूप का ध्यान किया जाय वही मात्र चित्त में रह जाता है (१४)

आगे के पद्य में इस अभ्यास का फल बताया जाता है कि इस प्रकार मन को सदा योगयुक्त करने वाले योगी का मन सर्वथा स्थिर हो जाता है अर्थात् उसकी वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा सर्वथा निवृत्त हो जाती है। धन आदि बाह्य वस्तुओं की इच्छा को वित्तैषणा कहा जाता है। पुत्र आदि कुटुम्ब रखने की इच्छा को पुत्रैषणा बताया गया है और लोक में मेरा नाम प्रतिष्ठा से लिया जाय ऐसी प्रसिद्धि की इच्छा लोकैषणा कहलाती है। ये तीनों प्रकार की इच्छाएँ ही संसार बन्धन रूप हैं। योगाभ्यास करने से मन में इन तीनों ही इच्छाओं का अभाव हो जाता है और अन्त में उसको वह शान्ति प्राप्त होती है जिसका परम फल निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। मोक्ष किसे कहते हैं यह भी स्पष्ट किया जाता है कि मुझमें ही आकर स्थित हो जाना यही मोक्ष है अर्थात् जीव भाव हट कर ब्रह्म रूप हो जाना ही मोक्ष कहा जाता है। उस समय जीव में किसी प्रकार की हलचल नहीं रहती। ब्रह्म रूप होकर वह भी क्षोभ रहित हो जाता है। यह निर्वाण पद प्राप्त कर लेना ही योग का परम फल है (१५)

योग साधना के समय संसार व्यवहार की स्थिति कैसी होनी चाहिये ? इसका निरूपण आगे के दो पद्यों में किया जाता है कि हे अर्जुन ! अधिक भोजन करने वाले का योग सिद्ध नहीं हो सकता और सर्वथा भोजन छोड़ देने वाले को भी योग सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार अधिक सोने वाला और निरन्तर जागने वाला भी योग सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसका यह भी अभिप्राय है कि बहुत से लोग योगाभ्यास में प्रवृत्त होकर भी छोटे-छोटे कार्यों में लग जाते हैं जैसा कि अभ्यास के आरम्भ में ऐसी स्थिति हो जाती है कि बहुत सा अन्न या जल पेट में डाल दिया जाय और जब चाहे उसका निस्सारण कर दिया जाय। ऐसी शक्ति हठयोग से प्राप्त हो जाती है। इसी तरह कई दिन तक निद्रा न लेना और फिर कई दिन सोते ही रहना ऐसी स्थिति भी प्राप्त हो जाती है। किन्तु इन छोटे-छोटे कार्यों में लग जाने से योगाभ्यास का परम फल चित्त की एकाग्रता सिद्ध नहीं होती। इसलिये इस पद्य के द्वारा यह उपदेश भी दिया जाता है कि ऐसे छोटे कार्यों की ओर मन न लगाना। किन्तु अपने मुख्य लक्ष्य की ओर ही सदा ध्यान रखना चाहिये (१६)

तब किस प्रकार लोक व्यवहार चलाना चाहिये यह बताते हैं कि आहार और विहार अर्थात् चलना-फिरना यह सब उचित रूप में होना चाहिये अर्थात् जब भूख लगे तब जितना अपेक्षित हो उतना अन्न ले लिया जाय और आवश्यकतानुसार इतना भ्रमण भी किया जाय कि जिससे शरीर में श्रम प्रतीत न हो। इसके अतिरिक्त अन्य लौकिक कामों में चेष्टा अर्थात् शरीर व्यापार भी नपा-तुला ही होना चाहिये और सोना-जागना भी नियत समय पर हो ऐसा करने वाले के लिये योग दुःख का मिटाने वाला हो जाता है। अर्थात् ऐसी दिनचर्या रखने वाला योगाभ्यास से कष्ट नहीं पाता। विपरीत आचरण करने वाले सम्भव है कि रोगी हो जाये (१७)



## इक्यासीवां-पुष्प

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।  
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥  
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।  
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥  
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।  
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥  
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।  
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥  
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।  
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥  
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।  
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥  
सङ्कल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।  
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥  
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।  
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

अपना कल्याण चाहने वाले की योग में प्रवृत्ति आवश्यक है। इस अभिप्राय से योग में रुचि उत्पन्न करने के लिये भगवान् पुनः योग की प्रशंसा आरम्भ करते हैं और योग के अङ्गों को विस्तार से दृष्टान्तों द्वारा साथ-साथ समझाते भी जाते हैं। चौदहवें श्लोक में जो “युक्त आसीत्तत्परः” कहा गया है वहाँ युक्त शब्द का क्या अर्थ है, युक्त किसे कहते हैं ? यही पहिले समझाया जाता है कि जब मन विशेष प्रकार से रोका जाकर केवल आत्मा में ही स्थिर हो जाय और इसलोक या परलोक की कोई इच्छा चित्त में न रह जाय तब ऐसा पुरुष युक्त कहा जाता है। पद्य के पूर्वार्ध में “निर्विकल्पकसमाधि” बतलायी गयी जो कि योग शब्द का मुख्य अर्थ है। सविकल्पक समाधि तो योग के आठ अंगों में अन्तिम रूप से गिनी गई है। इसी से सिद्ध है कि

सविकल्पकसमाधि योग का अङ्ग है, तब योग शब्द का मुख्य अर्थ निर्विकल्पकसमाधि ही होगा। सविकल्पक और निर्विकल्पक समाधियों का यह भेद पूर्व बताया जा चुका है कि सविकल्पक समाधि में द्रष्टा, दृश्य और दर्शन यह त्रिपुटी रहती है अर्थात् “मैं ईश्वर को या आत्मा को जान रहा हूँ यह बुद्धिवृत्ति रहती है, इसमें मैं यह अंश द्रष्टा का है आत्मा या ईश्वर दृश्य है और जानता हूँ यह दर्शन का प्रतिभास है। यह ‘त्रिपुटी’ भी जब हट जाय, केवल दृश्य भूत आत्मा वा परमात्मा ही बुद्धिवृत्ति में रह जाय तब “निर्विकल्पक समाधि” कही जाती है। यहाँ “आत्मन्येव अवतिष्ठते” आत्मा में ही स्थित हो जाय इस “एव” पद से यही सूचित किया गया है कि द्रष्टा और दर्शन का भी भाव न रहे, केवल दृश्यरूप आत्मा में ही चित्त की स्थिति हो जाय, इससे यही बताया गया कि निर्विकल्पक समाधि जिसे प्राप्त हो गई वही पुरुष युक्त कहलाने का अधिकारी है। उत्तरार्ध के “निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः” इन पदों से उस समाधि की स्थिरता का बोधन किया गया है कि सांसारिक वा पारलौकिक भोगों की वासना भी शेष न रह जाय। यदि ऐसी वासना का उदय होगा तो अवश्य ही एकाग्रता रूप समाधि टूट जायगी। इसी को योग शास्त्र में “व्युत्थान” शब्द से कहा जाता है। उस व्युत्थान का निषेध करने से यह सूचित किया कि चिरकाल तक निर्विकल्पक समाधि में रहने वाला पुरुष ही युक्त कहलाने का अधिकारी होता है।

किसी व्याख्या में “सर्वकामेभ्यः” इस पञ्चमी विभक्ति को ‘ल्यप्’ प्रत्यय का लोप होकर पञ्चमी माना गया है, इससे यह अर्थ निकलता है कि लौकिक और पारलौकिक विषयों को प्राप्त करके वह इच्छा रहित हो गया। इसका तात्पर्य है कि उस पुरुष को सर्वात्मभाव की प्रतीति हो गई अर्थात् अपने आप को सबमें व्याप्त देखने लगा। जब सबमें अपने आपको ही व्याप्त देखेगा तब इच्छा कहाँ से रहेगी ? क्योंकि इच्छा तो उसी वस्तु की होती है जो प्राप्त न हुई हो। सभी में जब आत्मा का प्रवेश मान लिया तब अप्राप्त कुछ नहीं रहा, फिर इच्छा कहाँ रहेगी ? इसी का विवरण आगे “सर्वभूतस्थमात्मानं” इत्यादि में किया जायगा। यह ज्ञान की परम अवस्था है। इससे यह बताया गया कि निर्विकल्पक समाधि भी हो और परमज्ञान भी; तब वह पुरुष युक्त कहला सकता है (१८)

इसको ही उपमा के द्वारा और स्पष्ट करते हैं कि जो पुरुष योग के अभ्यास में लगा है और अभ्यास करते-करते जिसका चित्त पूर्णसंयत अर्थात् पूर्वोक्त समाधि में स्थित हो गया है, उसके आत्मा की उपमा अर्थात् सदृशता दीपक की उस अवस्था से दी जा सकती है कि जो दीपक वायु रहित प्रदेश में रखा हुआ निश्चल हो, जिसके अग्रभाग में कोई हलचल न होती हो। यही बात योगदर्शन में भी कही गई है कि —

### “तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्”

“वृत्तिसारूप्यमितरत्र” अर्थात् चित्तवृत्तियों को रोक देने पर द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। पूर्ण शान्ति ही आत्मा का अपना स्वरूप है। उसमें किसी प्रकार का क्षोभ वा हलचल होना सम्भव ही नहीं। आत्मा तो सदा ही अपने स्वरूप में ही स्थित रहेगा, वह अपने स्वरूप से विच्युत होता ही कब था। जिसके निवारण के लिये योगाभ्यास करें। उसे तो श्रुति ने कूटस्थ नित्य कहा है। कूटस्थ नित्य में तो विकार वा स्वरूप विच्युति हो ही नहीं सकती, इस शंका का उत्तर दूसरे सूत्र से दिया गया है कि आत्मा यद्यपि स्वरूप से कभी विच्युत नहीं होता, किन्तु मन में जब चञ्चलता के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं तो उसमें प्रतिबिम्बित होने के कारण आत्मा भी उनके समान रूप वाला चञ्चल ही अनुभव में आता है। जब मन वृत्तियाँ सर्वथा रोक दी जायगी तब वह प्रतिबिम्ब की रूप से प्राप्त होने वाली चञ्चलता भी मिट जायगी। इससे आत्मा अपने निश्चल भाव में ही दीखने लगेगा। यही बात इस पद्य में भी कही गई है कि जहाँ वायु का बिलकुल प्रसार नहीं ऐसे स्थान में रखे हुए दीपक की लौ जैसे बिलकुल स्थिर दिखाई देती है ऐसे ही योगाभ्यास करके चित्त को स्थिर कर लेने वाले पुरुष का आत्मा भी पूर्णरूप से स्थिर ही अनुभव में आता है। उसमें किसी प्रकार की हलचल प्रतीत नहीं होती। हलचल मन आदि अन्तःकरणों के सम्बन्ध से प्रतीति का कारण ही क्या रहा ? यह तो विशुद्ध प्रकाश स्वरूप है। इसी अभिप्राय से यहाँ दीपक की उपमा दी गई है (१९)

आगे योगाभ्यास के समय अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है, इस बात का भी निरूपण योगाभ्यास में परम रुचि उत्पन्न करने के लिये योग शब्द का अर्थ बताते हुए किया जाता है। योग किसे कहते हैं यह योग शब्द का मुख्य अर्थ ही बताया जाता है। अभ्यास करते-करते जिस अवस्था में पहुँच कर चित्त अपने आप उपरत अर्थात् वृत्तिशून्य बन जाय और जिस अवस्था में मन से केवल परमानन्द-रूप आत्मा का ही दर्शन करता हुआ, यह संघात रूप जीव अपने आप में ही सन्तुष्ट रहने लगे अर्थात् सन्तोष के लिये बाहर के पदार्थों की इच्छा बिलकुल न रखे बाह्य पदार्थों की इच्छा आनन्द प्राप्ति के लिए ही होती है जब आत्मा की परमानन्द रूपता समझ ली गई तो बाह्य पदार्थों की इच्छा ही क्यों होगी ? इस कारण बाह्य पदार्थों की इच्छा न करता हुआ वह पुरुष अपने आप में ही सदा सन्तुष्ट रहेगा इसीलिये उसका चित्त विलीन सा अर्थात् न रहने के बराबर हो जायगा। सङ्कल्प-विकल्प ही चित्त के रूप हैं। जब सङ्कल्प विकल्पों के प्रवाह को रोक दिया गया तो मन का रहना, न रहने के समान ही हो जाता है। यह ‘लययोग’ की अवस्था का वर्णन है (२०)

योगाभ्यास में परम सुख का अनुभव होता है, इसका विवरण अग्रिम पद्य में किया जाता है कि जो अत्यन्त अर्थात् पराकाष्ठा का अनन्त सुख है और उस सुख का अनुभव इन्द्रियों से नहीं हो सकता, अपितु केवल बुद्धि ही उसका ग्रहण करती है। उस सुख का यह योगी पुरुष अनुभव करता है और जिस सुख में स्थित होकर “मैंने तत्त्व प्राप्त कर लिया” ऐसा अनुभव करता हुआ उससे विचलित नहीं होता यह आत्मानन्द का ही निरूपण है। विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो सुख होता है वह परिमित अर्थात् एक सीमा में बँधा हुआ है। एक विषय से सुख का अनुभव करते हुए विषयान्तर या उससे भी अधिक सुख की इच्छा बनी रहती है किन्तु यह समाधि का सुख सीमाबद्ध नहीं; उसके अनुभव के समय किसी दूसरे सुख की इच्छा ही नहीं रहती। इसीलिये उसे अत्यन्त या अनन्त कहा गया है। इन्द्रियों से विषयों के सुख का ही अनुभव होता है क्योंकि इन्द्रियों को विधाता ने बाहर की ओर जाने वाली ही बनाया है, जैसा कि -

“पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः”

इस श्रुति में कहा गया है। इसलिये आत्मा की ओर न जाने से आत्मा के आनन्द का अनुभव इन्द्रियाँ नहीं कर सकतीं। केवल बुद्धि ही उस आनन्द का अनुभव करती है। यही सुषुप्ति अवस्था के सुख से इस समाधि सुख की विलक्षणता है। सुषुप्ति अवस्था में भी शास्त्रों ने सुख माना है क्योंकि जब पुरुष सुषुप्ति से हटकर जाग्रत अवस्था में आता है तब “सुखमहमस्वाप्सम्” अर्थात् मैं बड़े आनन्द से सोया इस प्रकार सुषुप्तिकाल के सुख का स्मरण करता है। यदि सुख न होता तो स्मरण किसका होता ? इससे सुषुप्ति सुख का अनुमान ही होता है। उस काल में उस सुख का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता किन्तु समाधि सुख का, बुद्धि अनुभव करती है। मैंने परम आनन्द प्राप्त कर लिया, “अब मैं कृतकृत्य हो गया” ऐसा अनुभव समाधि दशा में ही होता रहता है। सुषुप्ति सुख का ग्रहण केवल अविद्या की वृत्ति से ही शास्त्रों ने माना है क्योंकि उस अविद्या का भी स्मरण होता है कि “न किञ्चिदवेदिषम्” अर्थात् सुषुप्ति दशा में मैंने भीतर-बाहर की कोई वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं किया, यह अज्ञान का ही स्मरण है। इस अज्ञान को वेदान्त शास्त्र में सब का उत्पादक कारण शरीर कहा गया है। उस अज्ञान की वृत्ति से ही सुषुप्ति अवस्था के सुख का ग्रहण होता है, किन्तु समाधि सुख का ग्रहण सत्त्वप्रधाना-बुद्धि भी करती है। रज और तम के कारण जो हलचल हुआ करती है, वह दबकर केवल सत्त्वगुण ही बुद्धि में प्रकट रह जाय, तब सत्त्वगुण के सुख रूप होने के कारण बुद्धि भी सुख रूप ही हो जाती है, यही बुद्धि से समाधि सुख का ग्रहण है। अर्थात् ग्रहण करने वाली बुद्धि भी उस समय सुख रूप

ही हो गई है। फिर उस सुख में स्थित होकर उससे विचलित होने का कोई कारण ही नहीं होता। यहाँ यह शङ्का होगी कि फिर तो समाधि से व्युत्थान ही कभी न होगा। जब समाधि से विचलित ही पुरुष न होगा तो समाधि टूटेगी ही क्यों और फिर आगे संसार के सब व्यवहार ही रुक जायँगे किन्तु ऐसा तो नहीं होता। एक बार समाधि में मग्न होकर भी फिर पुरुष उससे उठकर संसार व्यवहार में निरत देखे जाते हैं और शास्त्र भी व्युत्थान दशा का वर्णन करते हैं, इसका उत्तर है कि मूलभूत अविद्या जब तक समूल नष्ट नहीं हुई तब तक वह समाधि से भी पुरुष को उठाकर संसार की ओर खींच लेती है। जब कालक्रम से अभ्यास करते-करते अविद्या का समूल नाश हो जायगा तब सर्वथा मुक्ति प्राप्त हो जायगी और फिर सभी सांसारिक झंझट निवृत्त हो जायँगे क्योंकि आत्मा को वास्तव में तो समाधि से विच्युत वा विकार प्राप्त नहीं होता। यह तो अविद्या के कारण ही भिन्न-भिन्न व्यापार करता हुआ प्रतीत होता है। इसी अभिप्राय से श्रुतियों में “ध्यायतीव लेलायतीव” यह इव शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् मानो आत्मा विषयों का ध्यान सा करता रहता है और उनकी तरफ झुकता सा रहता है, इससे यही सूचित होता है कि विषयों का ध्यान या उनकी ओर झुकना वास्तविक नहीं। वह केवल अविद्या के कारण प्रतीत है (२१)

समाधि दशा से स्वतः विचलन क्यों नहीं होता ? इसका कारण आगे के पद्य में बताया जाता है कि इस सुख को प्राप्त करके मनुष्य “इससे भी बड़ा कोई लाभ है” ऐसा नहीं मानता। अर्थात् यही समझता है कि मैंने जो कुछ प्राप्त कर लिया, उससे अधिक लाभ कोई हो ही नहीं सकता। आनन्द की सीमा मैं प्राप्त कर चुका और इस समाधि में स्थित हुआ पुरुष बहुत भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता।

इसका अभिप्राय है कि विचलित होने के दो ही कारण होते हैं; या तो एक प्रकार का सुख भोगता हुआ भी पुरुष उससे अधिक सुख प्राप्त करने की इच्छा से चञ्चल होकर, प्राप्त सुख को छोड़कर, आगे बढ़ना चाहता है; जैसा कि दो सौ रुपये मासिक वेतन प्राप्त करने वाला पुरुष तीन सौ, मासिक प्राप्ति के लिये सदा यत्नशील रहता है; अथवा जो विषय जन्य सुख प्राप्त है, उसमें किसी प्रकार की बाधा देखकर उस बाधा से छुटकारा प्राप्त करने की इच्छा से उससे विचलित होता है। जैसा कि दो सौ रुपये मासिक प्राप्त करने पर भी यदि उस आफिसर की अप्रसन्नता आदि का भय हो तो, मनुष्य उसे छोड़कर दूसरा स्थान प्राप्त करने की इच्छा करेगा। ये दोनों ही बातें समाधि के आनन्द में नहीं होती; इससे उस आनन्द से विचलित होने का कोई कारण ही नहीं; यह इस पद्य में बताया गया। न तो उससे बढ़कर कोई आनन्द ही हो सकता है जिसके कारण उस सुख को छोड़कर अधिक की इच्छा की जा सके और

न उसके आगे कोई दुःख ही टिक सकता है, जिसके कि कारण विचलित हो सके। बहुत बड़े शस्त्र निर्घात आदि के दुःखों से भी उस अवस्था से विचलन नहीं हो सकता। क्योंकि उस आनन्द के आगे गुरुतर दुःखों को भी यह तुच्छ ही मानता है। फिर दंश मशक आदि की बाधा के कारण विचलित होने की तो कथा ही क्या ? इसलिये उस दशा से व्युत्थान वा विचलन होना सम्भव ही नहीं (२२)

शास्त्र में और लौकिक भाषा में इस प्रकार के अनुष्ठान को 'योग' शब्द से कहा जाता है। वह योग नाम इसका विपरीत लक्षण से है। यह प्रतिपादन करते हैं कि इस प्रक्रिया से साधना करने वाले को दुःख संयोग का वियोग हो जाता है अर्थात् उसे दुःख का सम्बन्ध बिल्कुल नहीं रहता। वह वियोग ही विपरीत लक्षण से योग नाम से कहा गया है। यह प्रौढ़वाद से विपरीत लक्षण द्वारा योग शब्द का अर्थ बताया गया। वास्तव में तो बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध छोड़ने पर ही अन्तःकरण का आत्मा से योग होता है। इसलिये "आत्म नियोगः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अन्तःकरण का आत्मा से सम्बन्ध होना ही योग शब्द का मुख्य अर्थ है। यही बात भगवान् पतञ्जलि ने अपने सूत्र में कही है कि -

“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः”

“तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्”

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का रोकना ही योग है। उस समय द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। वृत्तियों का निरोध होकर चित्त भी आत्माभिमुख ही हो जाता है यही तात्पर्य है। इस प्रकार “यत्रोपरमते चित्तं” यहाँ से आरम्भ कर चित्तवृत्ति निरोध रूप योग का पूर्ण विवरण किया। आगे पद्य के उत्तरार्ध से उसकी अवश्य कर्तव्यता का उपदेश देते हैं कि इस योग का योजन अर्थात् अनुष्ठान निश्चय से अर्थात् अवश्य ही करना चाहिये। अनुष्ठान से सिद्धिलाभ में यदि विलम्ब भी लगे तो चित्त में “निर्वेद” अर्थात् विरक्तता नहीं लानी चाहिये। “अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी” ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। अनिर्वेद में एक चिड़िया का शिष्टाचार में प्रसिद्ध उदाहरण श्रीमधुसूदनसरस्वती ने दिया है कि समुद्र की लहरों में एक चिड़िया के अण्डे बह गये थे, इससे कुपित होकर उस चिड़िया ने मन में सङ्कल्प किया कि मैं इस समुद्र को जल रहित कर दूँगी। ऐसा विचार कर वह अपनी चञ्चु में जल भर-भर कर बाहर फेंकने लगी। आस-पास के अन्य पक्षी उसका यह साहस देखकर हँसने लगे। कई ने उसे समझाया भी कि इस प्रकार चञ्चु में भर कर फेंकने से तो तेरी आयु ही पूर्ण हो जायगी। समुद्र का तो एक छोटा सा प्रदेश भी इससे खाली न होगा। किन्तु वह अपने प्रयत्न में लगी ही रही। उसी प्रदेश में भगवान् नारद भी एक दिन चले आये



और चिड़िया का यह उत्साह देखकर उन्होंने भी उसे समझाया कि तेरे किये समुद्र का एक प्रदेश भी खाली न हो सकेगा। किन्तु चिड़िया अपने उत्साह से विचलित न हुई और बराबर चञ्चु से भर-भर कर जल बाहर फेंकती ही रही। उसके इस अपूर्व उत्साह से प्रसन्न होकर भगवान् नारद ने गरुड़ से जाकर कहा कि तुम्हारी जाति के छोटे पक्षी के अण्डे समुद्र ने बहा दिये हैं। तुम्हें भी इस काम में अपनी जाति के पक्षी की सहायता करनी चाहिये। तब गरुड़ वहाँ आये और अपने प्रबल पक्षवेग से समुद्र का जल बाहर फेंकने लगे। तब इससे भयभीत होकर समुद्र ने चिड़िया के अण्डे अपने भीतर से देकर उसे प्रसन्न कर दिया। इसी प्रकार जो मनुष्य “मैं यह काम नहीं कर सकता” इस प्रकार का ‘निर्वेद’ चित्त में न लाकर काम में जुटा रहे, उसकी किसी न किसी प्रकार ईश्वर सहायता करता है और उसका मनोरथ अवश्य ही पूर्ण होता है। इस प्रकार के उत्साह से योग के अनुष्ठान में लगे ही रहना चाहिये।

श्रीनीलकण्ठजी यहाँ यह भी बताते हैं कि यहाँ शम, दम आदि ज्ञान के अंगों का उपदेश किया गया है जिनमें से निश्चय पद से यहाँ “श्रद्धा” की दृढ़ता का उपदेश दिया गया और “अनिर्विण्ण चेतसा” इस पद से सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों की सहनशीलता का उपदेश किया गया कि सुख-दुःख आदि द्वन्द्व आ पड़ने पर भी निर्वेद अर्थात् चित्त में ग्लानि नहीं लानी चाहिये एवं आगे के “संकल्प प्रभवान्कामान्” इत्यादि दो पद्यों में मन के निग्रह रूप शम और बाह्य इन्द्रियों के निरोध रूप दम का उपदेश दिया गया है और “शनैः शनैरुपरमेत्” इत्यादि पदों से उपरति तो स्पष्ट ही बतायी गई है (२३)

योग साधना का प्रारम्भ किस प्रकार करना चाहिये। इसका भी परम कृपावश भगवान् उपदेश देते हैं कि सबसे पहिले चित्त के सङ्कल्प-विकल्प से उत्पन्न होने वाले कामना अर्थात् इच्छाओं को अशेष अर्थात् पूर्ण रूप से छोड़ना चाहिये। यही शम कहा जाता है और सब इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में इधर-उधर सब ओर जाने से रोक देना चाहिये यही दम कहा जाता है (२४)

आगे धैर्य से बुद्धि को रोककर शीघ्रता न करते हुए धीरे-धीरे उपराग अर्थात् विषयों से निवृत्ति करनी चाहिये। यों मन के विषयों से निवृत्त होने पर वह मन आत्मा में ही स्थिर हो जायगा तब और कोई भी संसार की चिन्ता उसमें न रहेगी। इस प्रकार आरम्भ से निर्विकल्पक समाधि पर्यन्त का विवरण इन पद्यों में फिर दोहराया गया। कह चुके हैं कि बुद्धि में प्रविष्ट होने के लिये ऐसे गम्भीर विषयों को कृपालु बार-बार ही कहा करते हैं, इनमें पुनरुक्ति की शङ्का नहीं करनी चाहिये। “अशेषतः” पद से यह दिखाया गया कि इस लोक के और ब्रह्मलोक पर्यन्त दिव्य

लोकों के भी कामों में कभी इच्छा न हो। उत्तरार्ध के “समन्ततः”पद से सब इन्द्रियों को सब विषयों से निवृत्त करना बताया गया है। धैर्य पूर्वक रोकी हुई बुद्धि से धीरे-धीरे उपराग अर्थात् विषयों का त्याग करना चाहिये। यह पूर्व पद्य में कहे गये “अनिर्वेद” का ही स्पष्टीकरण है।

श्रीनीलकण्ठजी की व्याख्यानसार इन पद्यों से शम, दम, उपरति रूप तीनों अङ्गों का विवरण किया गया है और अन्त में सविकल्पक और निर्विकल्पक दोनों समाधियों का भी दिग्दर्शन करा दिया गया है। इन दोनों पद्यों का एक ही अन्वय है। किन्तु हिन्दी भाषा में बड़े वाक्य लिखना जटिल हो जाता है। इस कारण हमने भिन्न-भिन्न वाक्य कर आशयानुवाद ही किया है। इस प्रकरण में अन्यत्र भी विशेषणों को पृथक्-पृथक् कर आशयानुवाद ही व्याख्या में लिखा गया है (२५)



## बयासीयवां-पुष्प

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

उक्त--“शनैः शनैरुपरमेत्” इस पद्य में जो संक्षेप से कहा गया उसी की विशद व्याख्या आगे के पद्यों से की जाती है कि मन यद्यपि स्वभाव से ही चञ्चल है, इसलिये इसका स्थिर रहना कठिन है। किसी न किसी निमित्त को पाकर यह विषयों की ओर दौड़ना चाहेगा, किन्तु योगी सावधान रहे कि जिस-जिस निमित्त से यह मन बाहर के जिस विषय की ओर जाने लगे उसी विषय के दोषों का अनुसन्धान कर मन को वहाँ जाने से रोक ले और इस प्रकार रोक कर वश में आये हुए मन को आत्मा में ही लगा दे। यही धीरे-धीरे रोकने का तात्पर्य हुआ। विषयों में दोष देखने से ही वैराग्य होता है। इस दोष दर्शन का प्रपञ्च शास्त्रों में बहुत कुछ मिलता है और हम भी इस व्याख्या में पूर्व कई जगह स्पष्ट कर आये हैं। जैसा कि-यदि धन की ओर मन जाने लगे तो वहाँ यह विचारना चाहिये कि धन के उपार्जन में बहुत क्लेश होता है और वह यदि नष्ट हो जाय तो फिर बड़ा अनुताप होता है एवं जब तक धन

पास रहे तब तक ऐसा आत्मा में मोह रहता है कि संसार के सब प्राणियों को तुच्छ समझ कर उनका अनादर किया जाता है। इससे अन्य मनुष्यों से वैर हो जाता है और वह वैर भी दुःखदायक ही है। इस प्रकार, आदि, अन्त और मध्य में भी जब दुःख ही दुःख है तब धन में सुख कहाँ से आया ? इसी प्रकार स्त्रियों की तरफ मन जाने लगे तो वहाँ भी दोष दर्शन करना चाहिये कि जिस सौन्दर्य पर आसक्त होकर मन स्त्रियों की ओर झुकता है, वह सौन्दर्य वास्तव में क्या है ? स्त्रियों के कुच एक मांस की ग्रन्थि हैं, मुख चर्म से ढका हुआ कफ, पित्त, थूक आदि का समूह है, जब ये ही वस्तुयें बाहर दिखाई दें तब तो हम इनसे घृणा करते हैं फिर चर्म के आवरण से ढक जाने पर ही ये वस्तुएँ चित्ताकर्षक कैसे बन गई ! इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि में भी दोष दृष्टि कर वहाँ जाने से मन को रोकना चाहिये और इस मन को बुद्धि द्वारा बार-बार समझाना चाहिये कि परमसुख आत्मा में ही है। इसीलिये आत्मा पर सबसे अधिक प्रेम प्राणियों को होता है और जगह प्रेम तभी तक है जब तक वे अपने अनुकूल हैं। कोई भी पुत्र, कलत्र, मित्र आदि अपने से कुछ भी विपरीत होने लगे तो झट वह प्रेम द्वेष के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार प्रेम जब आत्मा की अनुकूलता पर ही निर्भर है, तब आत्मा ही प्रेम का मुख्य स्थान सिद्ध हुआ और प्रेम सुख के कारण ही होता है, या सुख का ही परिणाम प्रेम रूप से प्रकट है तो फिर आत्मा की ही परमसुख रूपता सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार समझाकर मन को आत्मा में ही स्थिर करना चाहिये (२६)

इस प्रकार बड़े परिश्रम से मन को रोक कर आत्मा में स्थित करने रूप योग से ऐसा क्या फल मिलेगा ! जिसके लिये इतना श्रम किया जाय ! इसका उत्तर आगे के पद्य में दिया जाता है कि जब मन विषयों से हट कर शान्त हो जायगा तब इसमें रजोगुण दब जायगा और रजोगुण के कार्य शोक, मोह, आदि भी दूर हो जायँगे। ऐसा योगी सत्त्व प्रधान स्वच्छ मन में ब्रह्म का पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण स्वयं ब्रह्म रूप का ही अनुभव करने लगेगा और रज और तम के कार्य जो धर्म, अधर्म आदि से इसे ब्रह्म से अलग कर रहे थे, वे भी कल्मष निवृत्त हो जायँगे, तब इसे उत्तम अर्थात् जिससे अधिक और हो नहीं सकता ऐसा निरतिशय सुख प्राप्त हो जाता है। इसलिये परम परिश्रम करके भी योग प्राप्त करने की चेष्टा करनी ही चाहिये। इसे सम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप कहा गया और पूर्व पद्य के 'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' की यह व्याख्या हुई (२७)

इस प्रकार निर्विकल्पक समाधि पर्यन्त योग का वर्णन कर, उसका अन्तिम फल दिखाया जाता है कि इस प्रकार आत्मा को सदा योग युक्त करते हुए योगी के अविद्यादि दोष रूप सब कल्मष दूर हो जाते हैं और वह 'सुखेन' अर्थात् अनायास

ही परब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता है। जो कि अत्यन्त है अर्थात् अन्त का अतिक्रमण करने वाली है, वहाँ से पुनरावृत्ति नहीं होती और सुख अर्थात् परमानन्द रूप है। इस प्रकार सर्व दुःख निवृत्ति रूप मोक्ष प्राप्त करना योग का परम फल बताया। इस पद्य में ब्रह्म संस्पर्श शब्द का भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किया है। कोई ब्रह्म का 'संस्पर्श' अर्थात् 'अनुभव' ऐसा अर्थ करते हैं और कहीं संस्पर्श का 'तादात्म्य' अर्थ माना जाता है। कई जगह इस पद को सुख का विशेषण मान कर बहुव्रीहि समास किया गया है कि-योगी ऐसा सुख प्राप्त करता है जो सुख ब्रह्म का स्पर्श करता है, अर्थात् ब्रह्म का रूप ही है। तात्पर्य सबका एक ही निकलता है कि मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मानुभव जिन्होंने अर्थ किया, उनके मत में भी मुक्ति ही सिद्ध होती है क्योंकि -

### “ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति”

इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म का अनुभव ही ब्रह्म का रूप प्राप्त करा देता है, वही मुक्ति है। सुखेन पद से जो अनायास अर्थ सिद्ध हुआ, उससे कई व्याख्याकार योग को अन्तराय अर्थात् विघ्नों का अभाव भी मानते हैं अर्थात् सब विघ्नों के दूर होने पर योग से अवश्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है। विघ्न योगसिद्धि में क्या-क्या होते हैं और उनका निवारण किस प्रकार किया जाता है ? ये सब पातञ्जल योगसूत्रों में विस्तार से वर्णित हैं (२८)

आरम्भ में कर्मयोग के उपयुक्त साम्यबुद्धि ही प्रस्तुत थी, वही साम्यबुद्धि प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास बताया गया था। उपसंहार में साम्यबुद्धि प्राप्त करना ही योग का फल है, इस साम्यबुद्धि का सम्बन्ध फिर दोहरा दिया जाता है जिससे कि प्रकरण का सम्बन्ध बन जाय। पद्य का अर्थ है कि उक्त प्रकार के योग से आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को युक्त कर योगी अपने आत्मा को सब भूतों में व्यापक रूप से देखता है और सब भूतों को अपने आप में देखता है। इस प्रकार सब जगह समत्वबुद्धि उसे प्राप्त हो जाती है अर्थात् सबमें एकरूपता देखने का अभ्यास हो जाता है। यही बात पञ्चम अध्याय के 'विद्या विनय सम्पन्ने' इत्यादि पद्य में कही गई थी। वहीं से साम्यबुद्धि करने के प्रकरण का आरम्भ था। मध्य में उसके उपयुक्त योगाभ्यास का प्रकरण कह कर उपसंहार में फिर वही साम्यबुद्धि कही गई है।

उपादान कारण का अपने कार्य के साथ परस्पर आधार-आधेय भाव रूप दोनों प्रकार का सम्बन्ध हुआ करता है। जैसा कि 'पट' का उपादान कारण 'तन्तु' हैं तो यहाँ दोनों प्रकार का सम्बन्ध बताया जाता है कि तन्तुओं में पट है और पट में तन्तु

है। पट तन्तुओं के आधार पर ही है, यदि तन्तु न होते तो पट भी न होता। इसी आशय से न्याय शास्त्र में माना जाता है कि पट समवाय सम्बन्ध से तन्तुओं में रहता है और कहीं किसी को धागे की आवश्यकता हो तो वह पट में से ही धागे निकाल लेता है, इससे तन्तुओं का पट में रहना भी सिद्ध ही है। इसी प्रकार सब जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को माना गया है। इसीलिये ब्रह्म के भी जगत् के साथ दोनों प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। 'जगत् में ब्रह्म व्यापक है' ऐसा भी कहा जा सकता है और 'सब जगत् ब्रह्म में ही हैं' यह भी कहा जा सकता है। इन दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों का गीता में बार-बार कथन मिलता है। इससे ब्रह्म का उपादान कारण होना ही सिद्ध होता है। यहाँ आत्मा पद ब्रह्म का ही बोधक है, जीवात्मा भी वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है, यह भी गीता में कई जगह स्पष्ट किया गया है। इस पद्य का आशय कई व्याख्याकार ऐसा भी निकालते हैं कि साम्यबुद्धि से ज्ञान की परमसीमा ली गई और योग का विस्तृत वर्णन तो इस प्रकरण में हुआ ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि योग और ज्ञान दोनों सिद्ध होने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। कई व्याख्याकारों ने सब भूतों में आत्मा को देखना यह निर्विकल्पक समाधि कही है। जिस प्रकार एक ही रज्जु (रस्सी) में कई प्रकार के भ्रम हो सकते हैं—कोई उसे सर्प समझ ले, कोई जल की धारा समझ ले, कोई लकड़ी समझ ले, किन्तु रज्जु का यथार्थ ज्ञान होने पर वे सब सर्प, जलधारा वा दण्ड रज्जु में ही लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि में ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार होने पर सब जगत् उसी में लीन हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात समाधि में जगत् की ब्रह्म में स्थिति बताई गई। इस प्रकार इस पद्य का भी योग से ही वे व्याख्याकार सम्बन्ध जोड़ते हैं (२९)

पूर्व पद्य की व्याख्या में हम जीव और ब्रह्म की एकता का गीता में कई जगह निरूपण है यह कह चुके हैं, उसी को यहाँ भी स्पष्ट किया जाता है। पहिले योगी का अपने आत्मा को अर्थात् जीव को सब में व्याप्त और सबका आत्मा में ही रहना बताया गया, अब उसी को परब्रह्मावतार भगवान् कृष्ण अपने में घटाते हैं कि जो मुझे सबमें व्याप्त देखता है और सबको मेरे ही अन्तर्गत देखता है, उसकी दृष्टि में मैं कभी नष्ट नहीं होता और वह भी मेरी दृष्टि में कभी नष्ट नहीं होता। 'नश्' धातु का अर्थ भगवान् पाणिनि ने अदर्शन अर्थात् न दीखना ही किया है। तदनुसार इसका यही तात्पर्य कहा जा सकता है कि जो मुझे सर्वत्र देखता है उसकी दृष्टि से मैं बाहर कभी नहीं होता क्योंकि अन्ततः दृष्टि से कुछ तो देखेगा; जो देखेगा उसी में मैं व्याप्त रहूँगा तब मैं दृष्टि से बाहर कहाँ हुआ और वह भी मेरी दृष्टि से बाहर नहीं होता क्योंकि वह मेरा रूप ही हो गया; तब अपना रूप अपनी दृष्टि से बाहर कैसे हो सकता है !

श्रीरामानुजाचार्य, जीव और ब्रह्म का एवं ब्रह्म और जगत् का भी अभेद नहीं मानते। इसलिये वे परम समता रूप से क्लिष्ट कल्पना पूर्वक इस पद्य की व्याख्या करते हैं कि परम समता हो जाने के कारण वह पुरुष मेरे सदृश ही हो गया है। इसलिये परम समानता के कारण वह मुझे सदा देखता रहता है और मैं उसे देखता रहता हूँ। वस्तुतः यहाँ समानता की कोई बात ही नहीं, इसलिये भगवद्गीता का अद्वैतवाद ही प्रतिपाद्य है, यही कहना होगा। परस्पर आधार-आधेयभाव का विवरण पूर्व पद्य की व्याख्या में ही किया जा चुका है (३०)

एकत्व भाव रहने पर भी साधक मनुष्य को ईश्वर भक्त रहना चाहिये, यह बताते हुए भगवान् योग की परम काष्ठा का उपदेश करते हैं कि एकत्व अर्थात् जीव-ब्रह्म के अभेद पर आस्था रखता हुआ भी जो योगी सर्वभूतों में व्यापक समझ कर मुझे भजता रहता है, वह प्रारब्ध कर्मवश व्युत्थान अवस्था में चाहे किसी भी दशा में रहे—चाहे शुकदेव, याज्ञवल्क्य आदि की तरह कर्म का सर्वथा परित्याग कर दे, चाहे जनक आदि के समान निष्काम बुद्धि से कर्म करता रहे, चाहे दत्तात्रेय आदि के समान विधि-प्रतिषेध शास्त्रों की ओर दृष्टि न देकर कभी प्रतिषिद्ध कर्म भी करने लग जाय, इस प्रकार किसी दशा में रहता हुआ भी वह सब काल में मुझमें ही सदा स्थित है। ऐसा ही समझना चाहिये; इसका तात्पर्य है कि उसकी मोक्ष प्राप्ति में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। वह सदा मुझमें ही स्थित है और देह परित्याग के अनन्तर मुझमें ही मिल जायगा।

कई विद्वान् कहा करते हैं कि अद्वैत में अर्थात् अभेद समझ कर भक्ति नहीं बन सकती क्योंकि भक्ति में “सेव्य-सेवक भाव” रहता है और अभेद में वह नहीं रहता। इसका इस पद्य में निराकरण किया गया कि एकत्व पर आस्था रख कर भी मेरा परमात्मा रूप से भजन बन सकता है। जैसा कि श्रीमधुसूदन सरस्वती का एक पद्य बताया जाता है कि—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः

स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः ।

शठेन केनापि वयं हठेन,

दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

अर्थात् हम यद्यपि अद्वैत मार्ग में इतने प्रतिष्ठित थे कि इस मार्ग में चलने वाले, हमारी उपासना किया करते थे अर्थात् हमें गुरु मान कर हमसे उपदेश लेते थे और

आत्मानन्द के अनुभव रूप उच्च सिंहासन पर भी हमें दीक्षा प्राप्त थी, तथापि गोपवधुओं के साथ क्रीडा करने वाले परम हठी रूप कृष्ण ने बलपूर्वक हमें दास बना लिया। विष्णु षट्पदी में भी कहा गया है कि—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।

सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

अर्थात् यद्यपि आप में और मुझमें भेद नहीं है तो भी मैं ही आपका हूँ; आप मेरे नहीं कहे जा सकते। जैसा कि समुद्र और तरङ्ग में कोई भेद नहीं है, समुद्र का जल ही तरङ्ग रूप से उछलता देखा जाता है तो भी तरङ्ग ही समुद्र के कहे जाते हैं, समुद्र तरङ्गों का नहीं कहलाता। जहाँ अंशांशी भाव है वहाँ अंशी का ही अंश कहा जाता है; अंश का अंशी नहीं कहा जाता। इस प्रकार अद्वैतवाद में मैं परमात्मा का हूँ, इस बुद्धि से सेव्य-सेवक भाव सम्यक् प्रकार से बन सकता है। भक्ति मार्ग से ही जो अद्वैतावस्था में पहुँचना चाहते हैं वे अपनी तीन दशाओं का वर्णन किया करते हैं। जैसे कोई सेवक अपने स्वामी का अन्तरङ्ग बने तब उसकी भी तीन अवस्थाएँ होती हैं—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रयम् ।

अर्थात् मैं उसी का हूँ, यह पहिली अवस्था है। इससे अपने अन्य सम्बन्ध का निवारण किया जाता है। जब अधिक अन्तरङ्गता प्राप्त हो जाय तब वह कहने लगता है कि “ममैवासौ” अर्थात् मेरे स्वामी मेरे ही हैं, इससे उनके अन्य पुरुषों से सम्बन्ध का निवारण होता है। आगे अत्यन्त अन्तरङ्गता होने पर ‘स एवाहं’ अर्थात् मैं और वो एक ही हैं, ऐसी बुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार परमात्मा के साथ भी क्रम से भक्तों के तीनों प्रकार के सम्बन्ध क्रम होते हैं। पहिली अवस्था में मैं भगवान् का ही हूँ यही बुद्धि होती है, जो कि उक्त षट्पदी के वाक्य में कही गई। आगे अधिक प्रेम होने पर “ममैवासौ” अर्थात् भगवान् मेरे ही हैं, यह बुद्धि हो जाती है। जैसा कि ब्रजगोपिकाएँ सब भगवान् कृष्ण को अपना ही मानती थीं वा भगवान् कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ सब उन्हें अपने ही घर देखा करती थीं, ऐसा वर्णन भागवत में मिलता है। इसी प्रेम की पराकाष्ठा हो जाने पर ऐक्य भाव हो जाता है अर्थात् भेद का पर्दा टूट जाता है। इस प्रकार भक्ति के द्वारा भी अद्वैत प्राप्ति होती है। यही किसी भक्त ने स्पष्ट कहा है कि —

दासोऽहमिति मे बुद्धिः प्रागासीत्परमात्मनि ।

दाकारोऽपहतस्तेन गोपी वस्त्रापहारिणा ॥



अर्थात् पहिले मेरी परमात्मा में 'दासोऽहं' मैं दास हूँ यह बुद्धि थी, किन्तु गोपियों के वस्त्र चुराने वाले ने मेरी बुद्धि का भी 'दा' अक्षर चुरा लिया अर्थात् 'दासोऽहं' 'सोऽहं' रह गया। इस प्रकार अद्वैत में भी भक्ति भली-भाँति बनती है और भक्ति से भी अद्वैत सिद्ध होता है। इन दोनों बातों का विवरण हमने किया। व्याकरण की रति से तो अद्वैत में ही भक्ति होना सुतरां सिद्ध है क्योंकि 'भाग' और भक्ति दोनों शब्दों में एक ही धातु है और प्रत्यय भी एक ही अर्थ का है। इसलिये भाग होना अर्थात् अपनी अंशरूपता का अनुभव करना ही भक्ति है। यद्यपि जीव भगवान् का अंश तो है ही, किन्तु उस अपने अंशपन का प्रेम के द्वारा अनुभव करने लगे यही भक्ति कही जाती है।

अस्तु, श्रीरामानुजाचार्य यहाँ भी एकत्व पर आस्था रखने का अर्थ समानभाव पर आस्था रखना ही कहते हैं। इस प्रकार इस पद्य में परम फलरूप मुक्ति का विवरण किया गया (३१)

आगे के पद्य में धर्ममार्ग में भी इस साम्यबुद्धि का परम उपयोग बताया जाता है कि अपनी उपमा अर्थात् सदृशता से ही जो सब प्राणियों में सुख या दुःख को समान रूप से देखता है, वह योगी उच्च श्रेणी का कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि जैसे अन्य पुरुष हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें तो हमें सुख का अनुभव होता है और बुरा व्यवहार करें तो दुःख का अनुभव होता है, इसी उपमा से मनुष्य को समझना चाहिये कि मैं अन्य पुरुषों से आदर का व्यवहार करूँगा तो उन्हें सुख होगा और यदि गाली प्रदान आदि अनादर करूँगा तो उन्हें दुःख होगा। ऐसा समझ कर सबके साथ आदर व्यवहार करना ही परम धर्म है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है कि -

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।

आत्मनःप्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

धर्म का सर्वस्व अर्थात् सार भूत धर्म सुनो और सुनकर आचरण में भी लाओ। वह सार यही है कि जो कार्य अपने प्रतिकूल है, वह दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिये। कोई दूसरा पुरुष हमें गाली दे, हम पर प्रहार करे या हमारी वस्तु ले ले तो हमें बुरा लगता है तब हमें भी किसी को गाली देना, उस पर प्रहार करना या किसी की वस्तु बिना उसके दिये ले लेना ये सब कार्य नहीं करने चाहिये। इस प्रकार सोचने से धर्म की सब ही बातें सिद्ध हो जाती हैं। इसलिये इसे धर्म का सर्वस्व कहा गया है और भगवान् ने भी यहाँ ऐसा करने वाले को परम योगी बताया है। यहाँ योगी शब्द का अर्थ कर्मयोगी ही करना उचित है क्योंकि समाधि रूप योग से इसका सम्बन्ध नहीं बनता (३२)

## तिरासीवां-पुष्प

॥ अर्जुन उवाच ॥

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ! ।  
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥  
चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद् दृढम् ।  
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।  
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥  
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।  
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

योग का यह उपदेश सुनकर अर्जुन से न रहा गया। इसकी कठिनता का अनुभव करता हुआ वह कहता है कि हे मधुसूदन ! आपने जो समत्व बुद्धि का साधन अर्थात् उसके उपाय रूप से योग का उपदेश किया, उस योग की स्थिरता लिये हुए स्थिति अर्थात् पूर्णता कहीं होगी, यह मैं नहीं देखता। इसमें कारण है मन की चञ्चलता। इस अपने अभिप्राय को ही दूसरे पद्य में स्पष्ट करता है कि हे कृष्ण ! मन बड़ा चञ्चल है। बड़े वेग से कभी एक जगह और कभी दूसरी जगह जाता रहता है और प्रमाथि अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि को मथन करने वाला है। जहाँ यह जाता है वहीं इन्द्रियों को भी मथन करके अर्थात् बलपूर्वक अपने साथ ले जाता है और शरीर को भी इसकी आज्ञा के अनुसार ही कार्य करना पड़ता है। यह शरीर, इन्द्रिय आदि का मथन बताया गया। इसके अतिरिक्त यह मन बलवान भी बहुत है अर्थात् इसे रोकना चाहें तो झटपट नहीं रोक सकते। यही इसकी बलवत्ता है और दृढ़ता है, अर्थात् जहाँ एक बार लग गया वहाँ से इसका हटना बड़ा कठिन कार्य है। ऐसे मन का रोकना तो मैं अत्यन्त कठिन मानता हूँ। जैसे वायु को रोक कर कोई एक जगह स्थापित नहीं कर सकता; वायु सदा चलनशील ही रहेगा। उसका एक स्थान में रोक लेना जैसा कठिन है वैसा वा उससे भी कठिन मन का रोकना है।

यहाँ “साम्येन” यह तृतीया विभक्ति ‘हेतु’ अर्थ में की गई है। इससे यह अर्थ

प्रकट होता है कि साम्य बुद्धि का कारण भूत जो योग आपने बतलाया। पूर्व प्रकरण सावधानतया देखने पर समझ में आ जायगा कि भगवान् ने पहिले पञ्चम अध्याय में कर्मयोगी के लिये समान रूप से सबको देखना, इस समत्व बुद्धि का ही उपदेश किया था और उस बुद्धि के सम्पादन करने के लिये योग साधन बतलाया अथवा 'साम्येन' इस तृतीया विभक्ति को "प्रकृत्यादि तृतीया" अर्थात् अभेद अर्थ में तृतीया मानना चाहिये। इससे यह अभिप्राय होगा कि समत्व-बुद्धि रूप ही उसका सम्पादक योग आपने कहा, वह योग भी मन की चञ्चलता के कारण अत्यन्त कठिन है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि अर्जुन का मनःसंयम महाभारत में स्थान-स्थान पर वर्णित हुआ है। जब छोटी आयु में ही द्रोणाचार्य के पास इन क्षत्रिय कुमारों ने शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की थी, उस अवसर में शिक्षा देने के अनन्तर गुरु द्रोणाचार्यने एक दिन सबकी परीक्षा के लिए नियत किया। बाण-विद्या में मुख्य रूप से लक्ष्य-वेध ही प्रधान होता है। इसलिए लक्ष्य-वेध की ही परीक्षा उस दिन नियत की गई। एक कृत्रिम चिड़िया का रूप बना कर उसकी आँख बनाई गई और उस आँख में एक काला छोटा-सा बिन्दु लगाया गया। सब शिक्षितों को आदेश दिया गया कि इस काले बिन्दु का अपने बाण से बेधन करो। प्रत्येक व्यक्ति कार्य के लिए उठने लगा। जो धनुष हाथ में लेकर वेध करने के लिए उद्यत होता, उससे गुरु जी पूछते कि "ठहरो, यह बतलाओ कि क्या देख रहे हो ?" वह कहता कि "सामने वृक्ष देख रहा हूँ, उस पर लटकाई गई चिड़िया को देख रहा हूँ। उसकी आँख और उसमें काले धब्बे को देख रहा हूँ।" गुरु जी कहते जाते कि "बैठ जाओ, तुम लक्ष्य-वेध नहीं कर सकोगे।" इसी प्रकार सब को परीक्षा में अनुत्तीर्ण कर बैठा दिया गया। जब अर्जुन उठ कर सामने आया तब इससे भी गुरु जी ने यही प्रश्न किया कि "सामने क्या देख रहे हो ?" अर्जुन ने उत्तर दिया कि "मैं और कुछ नहीं देखता, केवल उस काले-धब्बे पर मेरी दृष्टि जमी हुई है। मैं उसे ही देखता हूँ।" गुरु जी ने अर्जुन की पीठ ठोकी और कहा कि "तुम निश्चित रूप से लक्ष्य-वेध कर सकोगे। अब बाण छोड़ने की भी आवश्यकता नहीं।" यह मनःसंयम का पहिला उदाहरण था। बिना मनःसंयम के इतनी एकाग्रता हो ही नहीं सकती।

अनन्तर प्रौढ़ावस्था में जब भगवान् व्यास के उपदेश से यह इन्द्र के पास शस्त्रास्त्र-विद्या प्राप्त करने गया तब एक दिन इन्द्र के दरबार में अप्सराओं का नृत्य हो रहा था। वहाँ उर्वशी नाम की अप्सरा जब खड़ी हुई तब यह इस विचार से उसकी ओर बार-बार देखने लगा कि इसी से हमारा वंश प्रवृत्त हुआ है। जब यह शाप-वश मर्त्य-लोक में गई थी तब पुरुरवा राजा के पास ही रही थी और पुरुरवा ने इसमें

ही जो सन्तान उत्पन्न की, उससे ही आगे हमारा वंश चला। इसके मन में यही विचार था, किन्तु इन्द्र ने इसे बार-बार उर्वशी की ओर देखता हुआ देखकर यह अनुमान किया कि अर्जुन इस पर मोहित हो गया है। इसलिए बार-बार देख रहा है। अर्जुन स्वर्ग-लोक का अतिथि है—इसका सत्कार आवश्यक है, ऐसा विचार कर इन्द्र ने गुप्त-रूप से उर्वशी को आज्ञा दी कि “आज रात्रि को तुम अर्जुन के पास जाना और इसका मनोरथ पूर्ण करना”। आज्ञानुसार उर्वशी अर्ध-रात्रि में अर्जुन के पास गई और हाव-भावों से उसे मोहित करने लगी। उस समय अर्जुन ने यही कहा कि “देवी तू हमारे वंश की प्रवर्तिका है, इसी विचार से मैंने तो तेरी ओर देखा था। काम-वासना मुझ में बिल्कुल नहीं है। उर्वशी ने बार बार समझाया कि हम तो स्वर्ग-लोक की वेश्यायें हैं। पिता धर्म कर स्वर्ग प्राप्त करता है तो वह भी हम से रमण करता है और उसका पुत्र भी यदि धर्माचरण से स्वर्ग प्राप्त करे तो वह भी स्वर्ग में हमारा उपभोग करता है। वेश्याओं में इस प्रकार के सम्बन्ध का विचार नहीं रहता। इसलिए वंश-प्रवर्तिका होने पर भी इन्द्र की आज्ञा से मैं तुम्हारे पास आई हूँ। तुम्हें मेरे साथ रमण कर स्वर्ग का आनन्द लेना चाहिये। किन्तु अर्जुन का मन बिल्कुल विचलित न हुआ और इसने यही कहा कि देवी, मैं तो इस समय शिक्षा प्राप्त करने आया हूँ, ब्रह्मचर्य में हूँ, मैं तेरा स्पर्श कदापि नहीं कर सकता। अन्ततः कुछ काल तुम्हें नपुंसकत्व होगा—यह शाप देकर उर्वशी को लौट ही जाना पड़ा। अर्ध-रात्रि के समय एकान्त में प्राप्त उर्वशी जैसी अप्सरा का प्रत्याख्यान सहज बात नहीं है। इतने मनःसंयम का जो परिचय दे चुका है, वह अर्जुन भी मन पर विश्वास नहीं करता और भगवान् से स्पष्ट कहता है कि भगवन् मन का रोकना तो बड़ा कठिन कार्य है। फिर आजकल के लोग भी जो झटपट मनःसंयम का विश्वास कर बैठते हैं—कितनी गलती करते हैं—यह सोचना चाहिये। जब कोई विद्यार्थी श्रेणी में पढ़ता हुआ किसी प्रश्न की कठिनता प्रकट करे और शिक्षक उसे कह दे कि “कोई कठिन नहीं है, तुम व्यर्थ उलझन में पड़ते हो”—तब तो प्रश्न कठिन नहीं समझा जावेगा। किन्तु यदि शिक्षक भी कहे कि “हाँ भाई, है तो कठिन, किन्तु अभ्यास करो, धीरे-धीरे समझ में आ जावेगा”—तब उस प्रश्न की कठिनता सब को ही मान लेनी पड़ेगी (३३-३४)

इसी प्रकार का यहाँ भगवान् का भी उत्तर है कि “हे महाबाहो—विशाल भुजा वाले अर्जुन ! निःसन्देह मन बहुत चञ्चल है और इसका रोकना बहुत ही कठिन कार्य है, किन्तु अभ्यास करने पर और वैराग्य-भावना से रोका जा सकता है।” इस प्रकार मन को रोकने की कठिनता भगवान् ने भी मान ली और वैराग्य-भावना एवं अभ्यास का उपदेश दिया।

अर्जुन के प्रश्न का यही अभिप्राय था कि मन का रोकना तो आपने योग मार्ग में कहा किन्तु उसका उपाय नहीं बताया। वह उपाय स्पष्ट कीजिये जिससे कि मन को रोका जा सके। उसका अभिप्राय समझ कर भगवान् ने यहाँ अभ्यास और वैराग्य को मन के रोकने का उपाय बताया। पातञ्जल योग सूत्र में भी इसी के अनुसार कहा गया है कि—“अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः” अर्थात् अभ्यास और वैराग्य, ये दोनों मिलकर मन के रोकने के कारण होते हैं। आगे वहाँ इनका विवरण भी किया है कि, “तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः” तथा “स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः” (समाधिपाद १३-१४)। इन सूत्रों का आशय है कि मन को रोकने का प्रयत्न ही अभ्यास शब्द से कहा जाता है। वह प्रयत्न ही जब बहुत काल पर्यन्त किया जाय और उपेक्षा से नहीं किन्तु आदर अर्थात् मन के संलग्न भाव से किया जाय और निरन्तर हो अर्थात् एक दिन किया, दो दिन बीच में छोड़ा, ऐसा न हो किन्तु लगातार ही रहे और सत्कार अर्थात् मन में श्रद्धा भी रहती जाय कि इससे मुझे अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी तो वह प्रयत्न दृढ़ होकर अवश्य फल देता है। इसी अभिप्राय से सनातन धर्म में नित्य सन्ध्योपासनादि करने का उपदेश किया जाता है। जैसे कोई हठीले घोड़े को एक निर्दिष्ट स्थान पर ले जाकर रोकने का लगातार क्रम रखा जाय तो आगे वह उस स्थान पर जाकर स्वयं रुकने लगेगा। इसी प्रकार मन को जब थोड़े-थोड़े समय एक जगह रोका जाय तो वह धीरे-धीरे रुकने का समय बढ़ाता जाता है; एक दिन एक मिनट रुका तो दो चार दिन में दो मिनट रुकने लगेगा। इसी प्रकार क्रम से समय बढ़ाते हुए बहुत काल तक रुकना भी सिद्ध हो जायगा। सन्ध्या करते समय या उपासना काल में यही प्रक्रिया काम में ली जाती है कि कुछ काल तक मन को एकाग्र किया, आगे उस एकाग्रता को आदर और सत्कार पूर्वक कुछ बढ़ाते चलें तो बहुत देर तक मन रुकने लगता है और इस प्रकार धीरे-धीरे बहुत काल की एकाग्रता रूप समाधि भी प्राप्त की जा सकती है। दूसरे उपाय वैराग्य का कुछ विवरण हम “यतो यतो निश्चरति” इत्यादि श्लोक की व्याख्या में कर आये हैं। उसी प्रकार के दोष दर्शन से विरक्तता पैदा होती है। इसीलिये शास्त्रों में वस्तु विचार को ही काम का विरोधी कहा गया है। सभी विषयों के स्वरूप के विचार में मन को लगाना चाहिये कि यह है क्या? किस प्रकार उत्पन्न हुआ है और कौन सी ऐसी विशेषता है जिसके कारण मन उस पर जाता है जैसा कि किसी रूप पर मन आसक्त होने लगे तो वहाँ सोचना चाहिये कि रूप तो प्रकाश की रश्मि और पदार्थों के सम्बन्ध से प्रकट होते हैं और क्षण क्षण में बदलते रहते हैं। एक ही बादाम आदि किसी वस्तु को हम पत्थर से पीसने लगे तो उस पीसने के समय उसमें क्रम से कई प्रकार के रूप दिखाई देंगे और उस पिट्टी का रूप मूल वस्तु से बिल्कुल पृथक् प्रकार का ही प्रतीत होगा। मेंहदी आदि किसी-

किसी वस्तु में तो इतना परिवर्तन हो जाता है कि जानना भी कठिन हो जाता है कि यह किस वस्तु की पिढी है। इसी प्रकार चेतन प्राणियों में भी अत्यन्त परिवर्तन देखा जाता है कि युवावस्था में जो लावण्य या चमत्कार पुरुषों या स्त्रियों के मुख पर दिखाई देता है वह कुछ समय के अनन्तर नहीं रहता। वृद्धावस्था में तो वह विकृति इतनी बढ़ जाती है कि जिसको देखने के लिये हम पहिले बड़े उत्सुक थे, उसे आज घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, ऐसी परिवर्तनशील वस्तु पर क्या प्रेम करना ! ऐसा वस्तु विचार कर मन की आसक्ति को हटाना चाहिये। ऐसे ही स्पर्श, गन्ध, रस आदि में मन आसक्त होने लगे तो वहाँ भी वस्तु विचार करना चाहिये कि जो पदार्थ आज हमें अत्यन्त रुचिकर सुस्वादिविष्ट लगता है, वही दो दिन के बाद अत्यन्त अरुचिकर हो जाता है। यदि वह पदार्थ वास्तव में उत्तम होता तो दो दिन के बाद उसमें क्या हो जाता कि अब रुचि के स्थान में घृणा होने लगे। इससे सिद्ध है कि वह रुचिकरता उस पदार्थ की स्वाभाविक नहीं है, अपितु आगन्तुक है जो कि कुछ काल में परिवर्तित हो जाती है। आगन्तुकता इससे भी स्पष्ट है कि जिन लवण, मधुर अम्ल आदि पदार्थों के पृथक्-पृथक् रहने पर हमें उतनी रुचि नहीं होती उनका विशेष प्रकार से संयोग कर देने पर मीठे-खट्टे आदि पदार्थों में रुचिकरता विशेष होती रहती है। इसी प्रकार की आगन्तुकता और अनित्यता का विचार कर मन की आसक्ति को हटाना चाहिये। इस प्रकार सब विषयों से आसक्ति हटने पर मन अपने आप रुक जायगा और सच्चे सुख के अन्वेषण में लगेगा। धीरे-धीरे उसे जब स्थिरता के आनन्द का अनुभव होने लगेगा तो वह स्वयं ही स्थिर होने की ओर अग्रसर हो जायगा। इसी प्रकार वेद से अवगत स्वर्ग सुख में भी क्षय और तारतम्य का विचार कर उससे भी मन को हटाना चाहिये। स्वर्ग सुख का भी भोग के अन्तर नाश होता है जैसा कि -

**“क्षीणे-पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति”**

इत्यादि गीता के पद्य में ही बताया जायगा। इसी प्रकार स्वर्ग सुख में छोटा-बड़ापन रहता ही है। वहाँ भी कोई सामान्य देवभाव प्राप्त करते हैं, कोई अधिकारी पुरुष इन्द्र, वरुण आदि बन जाते हैं, अपने से ऊँचा किसी पुरुष को देखकर चित्त में ईर्ष्या का उदय होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार असुरों के आक्रमण की विपत्ति देवभाव में भी आया ही करती है। इस प्रकार के विचार कर स्वर्ग सुख से भी चित्त की आसक्ति हटा देनी चाहिये। यही बात योगसूत्र में भी कही गई है कि -

**“दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्”**

अर्थात् इस लोक के प्रत्यक्ष विषय और स्वर्ग लोक के श्रुति से विज्ञात विषय, इन दोनों की ही इच्छा न रखना ही वैराग्य है। इसे योग मार्ग में वशीकार नाम से

भी कहा जाता है अर्थात् इस अवस्था में मन अपने वश में हो जाता है। ये ही “अभ्यास” और “वैराग्य” मन को रोकने के उपाय भगवान् ने बताये (३५)

कठिन और दुस्साध्य होने पर भी आवश्यक समझ कर मन को रोकने की प्रवृत्ति होनी ही चाहिये, यह आगे के पद्य में बताते हैं कि जब तक आत्मा अर्थात् मन का संयम न किया जाय, तब तक योग की प्राप्ति नहीं हो सकती। बिना मन का संयम किये योग दुष्प्राप है यह मेरा मत है और मन को वश में कर प्रयत्न करता रहे तो उपाय से योग प्राप्त हो सकता है। इसलिये यदि योग प्राप्त कर संसार के बन्धन से छूटना इष्ट हो तो मन को संयत करने के लिये अभ्यास और वैराग्य करना ही चाहिये। यहाँ ‘योग’ शब्द का अर्थ ज्ञानयोग या कर्मयोग ही करना उचित होगा। क्योंकि जिस योग का वर्णन इस छठे अध्याय में किया गया है, वह तो स्वयं मन का निरोध करना ही है। जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने भी योग का लक्षण करते हुए कहा है कि -

“योगश्चित्तवृत्ति निरोधः”

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का रोकना ही योग है और यहाँ गीता में भी पूर्वोक्त पद्यों से यही सिद्ध होता है कि मन का रोकना ही योग है। “मन के चञ्चल होने के कारण योग की स्थिति मैं नहीं समझता” इस अर्जुन के प्रश्न से भी यही सिद्ध होता है कि मन का रोकना ही योग शब्द का अर्थ है फिर “मन को रोके बिना योग की प्राप्ति नहीं हो सकती वा दुष्प्राप्य है” अर्थात् कठिनता से हो सकती है, इस कथन का तात्पर्य ही क्या हो सकता है ? योग से ही योग की प्राप्ति बताने से तो अर्थ संगति नहीं हो सकती। उपाय और उपेय एक कैसे हो सकते हैं ? इसलिये योग शब्द का अर्थ ‘ज्ञानयोग’ वा ‘कर्मयोग’ मानने से ही अर्थ संगति बैठ सकेगी कि जब तक अन्तःकरण को वश में न किया जाय अर्थात् पूर्वोक्त पातञ्जल योग सिद्ध न किया जाय तब तक ज्ञानयोग वा कर्मयोग सिद्ध नहीं हो सकता या उसका सिद्ध करना कठिन है। मन को वश में करके यत्न करते रहने पर ज्ञानयोग या कर्मयोग सिद्ध हो सकता है। भगवद्गीता के टीकाकार श्रीशङ्करानन्दजी यहाँ योग शब्द का अर्थ “ज्ञानयोग” ही करते हैं और लोकमान्यतिलक तो सर्वत्र ही गीता के योग शब्द का अर्थ “कर्मयोग” ही किया करते हैं और यहाँ पञ्चम अध्याय से ही प्रकरण भी कर्मयोग का ही चल रहा है। इसलिये योग शब्द का अर्थ “कर्मयोग” करना ही उचित प्रतीत होता है। ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों में ही मनःसंयम की अर्थात् मन को रोकने की आवश्यकता तो निर्विवाद है। इसलिये दोनों ही संगत हो सकते हैं। इसका विशेष विवेचन इस अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में किया जायगा।

कई व्याख्याकारों ने इस पद्य के योग शब्द का अर्थ समत्वबुद्धि रूप “साम्ययोग”

किया है। गीता के द्वितीय अध्याय में “समत्वं योग उच्यते” इस वचन के अनुसार समत्वबुद्धि भी योग शब्द का अर्थ हो सकता है किन्तु समत्व बुद्धि स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं है। इसलिये उसे प्राप्त करने के लिये योगानुष्ठान कहना कहाँ तक उचित होगा? “समत्व बुद्धि” का तो इस प्रकरण में कर्मयोग के अङ्ग रूप से ही उपदेश है। मनुष्य को संसार बन्धन से छुड़ाने वाले पुरुषार्थ रूप तो ज्ञानयोग वा कर्मयोग ये दोनों ही हैं; जैसा कि तृतीयाध्याय के आरम्भ में ही भगवान् ने दो निष्ठा बता कर स्पष्ट कर दिया है। इस पर मननशील विद्वान् स्वयं विचार कर लें।





## चौरासीवां-पुष्प

॥ अर्जुन उवाच ॥

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।  
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥  
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।  
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥  
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।  
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।  
नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥  
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।  
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥  
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।  
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥  
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।  
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥४३॥  
पूर्वाभ्यासेन तेनैव हियते ह्यवशोऽपि सः ।  
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥  
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धिकिल्बिषः ।  
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

इस पर पुनः सन्देह में पड़कर अर्जुन प्रश्न करता है कि हे कृष्ण ! जो श्रद्धापूर्वक योग साधन में प्रवृत्त तो हो गया, किन्तु अयति अर्थात् पूर्ण मनःसंयम न कर सकने के कारण योग से उसका मन विचलित हो गया, इसलिये योग सिद्धि प्राप्त न कर सका, ऐसे पुरुष को शरीर त्याग के अनन्तर क्या गति प्राप्त होगी ? (३७)

हे महाबाहो ! क्या वह दोनों ओर से गिरकर अर्थात् कर्म उपासना मार्ग या संसार का सुख भी उसने छोड़ा और योग सिद्धि भी न कर सका, इसलिये दोनों ओर से ही गिरा ? तब घटा में से पृथक् हुए छोटे बादल के टुकड़े के समान नष्ट अर्थात् इधर-उधर विलीन ही हो जायगा ? अर्थात् वायवीय शरीर प्राप्त कर प्रेत रूप में ही भटकने लगेगा ? क्योंकि किसी मार्ग में उसने प्रतिष्ठा अर्थात् सिद्धि तो पायी नहीं। वेदोक्त कर्मानुष्ठान छोड़कर ब्रह्मज्ञान के उपाय में लगा था उसमें भी “विमूढ” हो गया अर्थात् वहाँ चल न सका तब अन्त में उसकी बुरी गति ही होने की सम्भावना हो सकती है (३७)

हे कृष्ण ! मेरे इस सन्देह का निवारण करने में आप ही योग्य हैं। आपके अतिरिक्त और कोई इस सन्देह को मिटाने वाला न मिल सकेगा क्योंकि परलोक में किसी की क्या गति होगी, इस परोक्ष विषय को ईश्वर के अतिरिक्त और कौन जान सकता है ? ईश्वर ही कर्मानुसार प्राणियों को भिन्न-भिन्न फल देता है वही जानता भी है कि किस कर्म का क्या फल होना चाहिये ? और लोग जो परलोक की बातचीत करते हैं वह तो उनकी अटकल मात्र है उससे संशय का छेदन अर्थात् सर्वथा मिटना नहीं हो सकता। इनका अनुभव सत्य है या ये भी धोखे में ही हैं यह सन्देह बना ही रहेगा।

पद्यों का आशय स्पष्ट है—इनमें और कुछ वक्तव्य नहीं।

श्री भगवान् इसका उत्तर देते हैं कि हे प्रिय पार्थ ! इस प्रकार सम्बोधन कर अपना प्रेम उस पर प्रकट करते हैं कि तुम ऐसा प्रश्न पूछते हो, बड़े सुयोग्य श्रोता हो। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैं भली-भाँति दूंगा अथवा यह भी आशय हो सकता है कि तुम पृथा के पुत्र होने के कारण मनुष्यावतार में मेरे सम्बन्धी हो, इस कारण तुम्हारे सन्देह को हटाना आवश्यक ही है। इस लोक में या परलोक में उस पुरुष का विनाश अर्थात् उसकी सम्भावित दुर्गति नहीं हो सकती। यह निश्चय समझो कि कल्याण अर्थात् शुभ कार्य करने वाला कोई भी पुरुष कभी दुर्गति में नहीं जा सकता। यद्यपि जिस मार्ग में चला था उसमें पूर्ण सिद्धि न पा सका तो भी उसका उद्देश्य तो शुभ ही था और अच्छे मार्ग पर ही चला था फिर वह दुर्गति क्यों प्राप्त करेगा ? (४०)

क्या गति उसे प्राप्त होगी ? इसका वर्णन आगे करते हैं कि अपने शुभ उद्देश्य के कारण पुण्य करने वाले जिन लोकों में जाते हैं उन्हीं लोकों को वह प्राप्त करेगा और वहाँ बहुत काल तक निवास करेगा। भोगों में चित्त चला जाने के कारण ही योग से गिरा होगा। इसलिये अब तक का साधन किया हुआ योग उसकी इच्छानुसार उसे उन भोगों की प्राप्ति के लिये ही स्वर्ग में ले जायगा। और वहाँ जिन भोगों की इच्छा

से यह योग से विच्युत हुआ है उन्हीं भोगों को उसे प्राप्त करावेगा। समय का नियमन निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता। पूर्व के योगाभ्यास में जितना बल होगा उतने ही काल तक भोग प्राप्ति होगी। इसलिये सामान्य रूप से “शाश्वतीः समाः” कह दिया गया है। भोग प्राप्त करने के लिये ही स्वर्ग प्राप्ति और स्वर्ग निवास होता है। इसलिये “उषित्वा” का अर्थ हमने भोग करना ही किया है। इसके अनन्तर वह पवित्र और धनधान्य समृद्ध पुरुषों के घर में जन्म लेता है क्योंकि योग से भ्रष्ट अर्थात् विचलित हो गया, इसलिये मुक्ति तो प्राप्त कर नहीं सकता। अच्छे कार्य में लगे रहने के कारण स्वर्ग सुख प्राप्त कर आगे जन्म ग्रहण ही करेगा (१४)

अथवा योगियों के ही कुल में इस योग भ्रष्ट का जन्म होता है, ऐसा जन्म पाना मनुष्य के लिये अति दुर्लभ है। इससे यह सूचित किया जाता है कि धन समृद्धि वाले लक्ष्मीवान् पुरुषों के घर जन्म लेने की अपेक्षा भी दरिद्र किन्तु जिस कुल में योगाभ्यास परम्परा से प्रचलित रहा हो उस कुल में जन्म लेना अति श्रेष्ठ है। जिस कुल में सदा योगाभ्यास चल रहा होगा वहाँ शुक्रशोणित द्वारा भी इसमें योगाभ्यास का अंश आ जायगा। पूर्व जन्म के संस्कार भी योग के अनुकूल रहेंगे और इस जन्म के शरीर में भी जब योगाभ्यास का अंश प्रविष्ट हो जायगा तो इसे सिद्धि प्राप्त करने में विशेष सुगमता होगी। इसी अभिप्राय से इस जन्म को भगवान् ने अति दुर्लभ कहा है। अतिश्रेष्ठ जन्म प्राप्त करना विशेष दुर्लभ ही होता है। बहुत काल तक पूर्व जन्म में योगाभ्यास हो चुका हो, कुछ थोड़ी ही न्यूनता रही हो तभी ऐसा जन्म प्राप्त हो सकता है, यही दुर्लभतर शब्द से सूचित किया। इस पद्य में भी वर्णव्यवस्था का मूल भगवान् ने सूचित कर दिया कि योगियों के कुल में उत्पन्न होने से शुक्र-शोणित द्वारा योगाभ्यासियों के अवयव इसमें प्रविष्ट हो जायँगे तो शीघ्र योगाभ्यास सिद्ध होगा। जिस कुल में जन्म हो उसी कुल के संस्कार बालक में आते हैं। यही जन्म सिद्ध वर्णव्यवस्था का मूल है (४२)

दोनों प्रकार के जन्मों में से किसी भी प्रकार का जन्म पावे तो भी पूर्व शरीर की बुद्धि का योग तो इसे प्राप्त हो ही जायगा। श्रुति में कहा है कि -

**“तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च”**

अर्थात् जब मनुष्य पूर्व शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर में जाने लगता है तब उसके साथ उसकी विद्या जो सीखी हो और कर्म जो किये हों; उनका संस्कार साथ चलता है और पूर्व की जैसी बुद्धि थी, वह भी साथ जाती है। वैसी बुद्धि होने के कारण फिर वह उस योगाभ्यास के यत्न में पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने में लग जाता है। कुरुनन्दन! इस सम्बोधन से ध्वनित करते हैं कि तुमने भी पवित्र ‘कुरु’ कुल में जन्म पाया है,

इसलिये तुम भी इस अभ्यास के अधिकारी हो और उसी अभ्यास के अनुसार मुझसे योग का प्रश्न कर रहे हो (४३)

अर्जुन के मन में शङ्का उत्पन्न हुई कि इस जन्म में यदि धन समृद्धि वाले कुल में वह आया तो भोग-विलास आदि में ही लगेगा, परिस्थिति अनुकूल न होने पर योगाभ्यास में प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी ? उसका अभिप्राय जान कर भगवान् उसका उत्तर देते हैं कि पूर्व जो अभ्यास किया था, वही विवश कर उसे मानो खींच कर योगाभ्यास में लगा देता है अर्थात् पूर्व जन्म का किया हुआ अभ्यास प्रबल होता है, वह इस जन्म की विरुद्ध परिस्थितियों में से भी बलपूर्वक मन को खींच लेता है। इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि इस जन्म में कोई प्रबल पाप हो गया हो तो वह उस पूर्व जन्म के संस्कार को भी दबा देगा। इस विचार से पाप से बचना तो आवश्यक ही है। इसी अभिप्राय से पूर्व पद्य में “श्रीमतां” के साथ “शुचीनां” विशेषण भी दिया है। यही अभिप्राय है कि पवित्र कुल में यदि जन्म लेगा तो कुलमर्यादानुसार पाप कर्मों से बचता ही रहेगा। चरक संहिता में भी कहा गया है कि -

**हन्यते दुर्बलं दैवं पौरुषेण विपश्चिता।**

अर्थात् पूर्व जन्म का संस्कार जो दैव कहा जाता है, वह यदि दुर्बल हो और इस जन्म का पुरुषार्थ प्रबल हो जाय तो उस दैव को हटा देता है। यदि पूर्व जन्म का संस्कार ही प्रबल हुआ और इस जन्म का पुरुषार्थ उससे दुर्बल रहा तो पुरुषार्थ विफल होगा। दैव के अनुसार ही सिद्धि या असिद्धि होगी। दैव को तो हम जान नहीं सकते कि किसका कैसा है इसलिये पापों से बचने का ही यत्न करना चाहिये। यदि कोई प्रबल पाप न हुआ तो अवश्य ही प्रबल प्रतिबन्धक रहते हुए भी योगभ्रष्ट पुरुष विवश होकर योग में पूर्वाभ्यास द्वारा लगाया ही जायगा। जैसा कि प्रह्लाद, ध्रुव आदि को हुआ कि प्रबल प्रतिबन्धक रहने पर भी वे भगवद्भक्ति में अग्रसर हो ही गये।

पुनः अर्जुन के मन में शंका हुई कि पूर्वजन्म में योगाभ्यास यदि प्रबल हो गया हो तब तो उसका प्रबल संस्कार इस जन्म की परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर ले, यह ठीक है। किन्तु यदि पूर्वजन्म में अभ्यास का प्रारम्भ मात्र ही किया हो तो उसके संस्कार में इतनी शक्ति कहाँ से आ जायगी कि इस जन्म की परिस्थितियों को दबाकर वह योगाभ्यास में लग ही जाय। उसके मन की बात जानकर भगवान् उत्तर में योग का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि योग इतनी उत्तम वस्तु है कि उसकी ‘जिज्ञासा’ अर्थात् जानने की इच्छा भी जिसने की हो वह भी ब्रह्म अर्थात् वेद के कर्मकाण्ड के प्रतिपादित लोकों का अतिक्रमण कर जाता है। फिर अभ्यास में जो प्रवृत्त हो गया, उसका कहना ही क्या ? इस कारण पुण्य लोकों की प्राप्ति और वहाँ से लौट कर

फिर परिस्थितियों पर उसी संस्कार से विजय प्राप्त कर फिर अभ्यास में लगना यह सब बन जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य के उत्तरार्ध का यह अर्थ करते हैं कि योग की जिज्ञासा भी जिसने पूर्व जन्म में कर ली है, वह इस जन्म में कर्मयोगादि का अनुष्ठान कर देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि शब्दों में कही जाने वाली ब्रह्म अर्थात् प्रकृति का अतिक्रमण कर, शब्द से न कहने योग्य ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, किन्तु यह तो अग्रिम श्लोक में कहा गया है। अभी तो अभ्यास का ही प्रकरण है यहीं फल प्राप्ति का वर्णन कैसे उपयुक्त माना जायगा ? (४४)

इस प्रकार फिर सिद्धि के लिये यत्न में दृढ़ता पूर्वक लगा हुआ वह योग भ्रष्ट सब पापों के दूर होने पर अनेक जन्मों के अभ्यास से योग की सिद्धि प्राप्त कर, परम गति अर्थात् ब्रह्मनिर्वाण रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ 'प्रयत्नाद्' और 'यतमान' इन दोनों शब्दों में पुनरुक्ति प्रतीत होती है। इसका निवारण करने के लिये श्रीशङ्कराचार्य ने इस पुनरुक्ति के द्वारा अभ्यास में प्रयत्न की दृढ़ता बोधित की है और व्याख्याता श्रीनीलकण्ठजी ने दूसरे यतमानः शब्द से योगाभ्यास को वायुनिरोध खेचरी मुद्रा आदि का अभ्यास कहा है, यत्नपूर्वक उन अभ्यासों में लगने से परमगति प्राप्त हो जाती है, यह उनका आशय है। "अनेक जन्म संसिद्धः" कहने से मोक्ष की दुर्लभता सूचित की गई है कि कई जन्मों के अभ्यास से परमगति रूप मोक्ष प्राप्त किया जाता है (४५)



## पचासीवां-पुष्प

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

आगे उपसंहार में योग का सबसे उत्कर्ष प्रदर्शित करते हैं कि तपस्या करने वालों से भी योगी अधिक अर्थात् श्रेष्ठ होता है और ज्ञानियों से भी अधिक बुद्धि वाला होता है एवं केवल कर्म में लगे हुए पुरुषों से भी अधिक श्रेष्ठ होता है। इसलिए हे अर्जुन ! तुम यदि कल्याण चाहते हो तो योगी हो जाओ।

यहाँ यह विचार करना आवश्यक है कि “योगी” शब्द से कौन से योग का साधन करने वाला यहाँ बताया गया। तृतीयाध्याय के आरम्भ में “ज्ञानयोग” और “कर्मयोग” दो ही निष्ठाएँ बताई गयी थीं, किन्तु यहाँ ज्ञानी और कर्मी दोनों से योगी को श्रेष्ठ कहा गया है, यह तीसरी निष्ठा कहाँ से आई ? प्राचीन प्रायः सभी व्याख्याकार यहाँ योगी शब्द का अर्थ इस षष्ठाध्याय में कहे गये योग का अनुष्ठान करने वाला ही कहते हैं। उसमें भी दो प्रकार के भेद हैं। षष्ठाध्याय में पातञ्जल सूत्र के अनुसार अष्टाङ्ग योग का वर्णन है; ऐसा कई व्याख्याकारों ने माना है। जैसा कि हम भी इस प्रवचन में उसके अनुसार ही लिख चुके हैं।

किन्तु श्रीशङ्करानन्दजी आदि व्याख्याता संन्यासपूर्वक पूर्ण ब्रह्म ज्ञान ही षष्ठाध्याय में कहा गया है और पातञ्जल सूत्र के अनुसार जो योग का वर्णन मिलता है, वह अङ्ग मात्र है, उसका भी अनुष्ठान ज्ञानी के लिए आवश्यक माना गया है, किन्तु मुख्य निरूपण इस अध्याय में पूर्ण ज्ञान निष्ठा का ही है, यही मानते हैं। तब यहाँ सबसे अधिक योगी को कैसे कहा गया ? इसका उत्तर प्राचीन व्याख्याकारों की ओर से यह दिया गया है कि यहाँ तपस्वी शब्द का अर्थ केवल कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों में लगे हुए पुरुष हैं और ज्ञानी शब्द का अर्थ केवल शास्त्र पढ़कर शाब्दज्ञान सम्पादित करने वाले पुरुष हैं, जो कि लोक में पण्डित नाम से प्रसिद्ध होते हैं एवं कर्मी शब्द से वेद में कहे हुए कर्मों को फल की आशा से करने वाले कहे गये हैं, ये तीनों ही अनुभवरूप ज्ञान से शून्य रहते हैं और योगी पुरुष समाधि तक पहुँच कर अनुभव भी प्राप्त करता है। इसलिए योगी को इन सबसे श्रेष्ठ बताया गया है।

लोकमान्यतिलक अपनी व्याख्या में कहते हैं कि “तपस्वी” शब्द से कृच्छ्रचान्द्रायण आदि व्रतों का अनुष्ठाता लिया जाय, और “कर्म” पद से फलाशा से कर्म करने वाले लिये जायँ, यह तो ठीक है, क्योंकि फलाशा से कर्म करने वालों का विवरण आरम्भ में ही द्वितीयाध्याय में किया जा चुका है और वैसा न कर फलाशा छोड़ देने का उपदेश भी गीता में बराबर दिया जा रहा है, किन्तु “ज्ञानी” शब्द का अर्थ संकुचित करने में कोई भी प्रमाण नहीं। उससे न केवल शब्द पढ़कर परोक्ष ज्ञान प्राप्त करने वाले ही लिये जायँ, किन्तु अनुभव प्राप्त करने वाले सांख्यनिष्ठापारङ्गत पुरुष भी लिये जाने चाहिये। और “योगी” पद तो गीता में सर्वत्र ही “कर्मयोगी” के लिए प्रयुक्त हुआ है। तदनुसार यहाँ भी योगी पद से कर्मयोगी लेना उचित है। ज्ञानयोग अर्थात् कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता पञ्चमाध्याय के आरम्भ में स्पष्ट शब्दों में कही गई है, वही यहाँ उपसंहार में फिर दोहराई गई। उसका कारण भी मध्य-मध्य में विवृत हो चुका है कि ज्ञान निष्ठापूर्वक कर्मसंन्यास कर देने वाला पुरुष केवल अपना ही हित सम्पादन कर सकता है और कर्मयोगी अपने आचरण द्वारा उपदेश देता हुआ अन्य प्राणियों का भी हित सम्पादित करता है। इसीलिए भगवद्गीता में कर्मयोग की श्रेष्ठता का ही बार-बार वर्णन है।

दूसरी यह भी बात विशेषरूप से विचारणीय है कि यहाँ अर्जुन को भी योगी बनने का उपदेश दिया गया है। श्रीशङ्कराचार्य आदि प्रायः सभी प्राचीन व्याख्याताओं ने यह प्रकट किया है कि गीता में भगवान् ने मुख्य रूप से तो संन्यास का ही प्रतिपादन किया, किन्तु अर्जुन अभी संन्यास मार्ग का अधिकारी नहीं था, इसलिए उसे कर्मयोग का ही उपदेश दिया। ‘कर्मण्येवाधिकारस्ते’ इत्यादि वाक्यों के द्वारा तुम अभी कर्मयोग के ही अधिकारी हो यह बात स्पष्ट कही गई है। इस विचार से तो यहाँ योगी शब्द का अर्थ कर्मयोगी ही मानना उचित प्रतीत होता है। अङ्गरूप से आवश्यकतानुसार पातञ्जल योग का भी अनुष्ठान करते हुए तुम निश्चित कर्मयोगी बनो, यही भगवान् का उपदेश अर्जुन के प्रति युक्त हो सकता है, और भगवद्गीता के अन्त में “करिष्ये वचनं तव” मैं आपकी आज्ञा के अनुसार ही कार्य करूँगा यह कह कर आगे अर्जुन युद्ध में ही प्रवृत्त हुआ है। योगाभ्यास के लिए किसी एकान्त स्थान में नहीं गया। यदि समाधियोग अनुष्ठान की ही भगवान् की आज्ञा होती तो उसे एकान्त स्थान में ही जाकर योगाभ्यास में लग जाना आज्ञानुसार उचित होता। यद्यपि कहा जा सकता है कि युद्धकाल में अर्जुन फलाशात्यागी या अनासक्त भी नहीं रह सका, इससे भी पूरा आज्ञा पालन तो नहीं बना, किन्तु स्वधर्माचरण में प्रवृत्त रहो, इस आज्ञा को तो उसने स्पष्ट निभाया ही और अनासक्ति या फलाशा त्याग का अभ्यास करने लगा। वह एक दिन में ही सिद्ध

हो जाने वाली बात नहीं थी, अभ्यास साध्य है। उस अभ्यास में अर्जुन लग गया हो, यह सम्भव है। सारांश यह है कि यहाँ “योगी” शब्द का अर्थ कर्मयोगी मानना ही उचित प्रतीत होता है।

श्रीरामानुजाचार्य ने भी इस पद्य में तो नहीं, किन्तु इस प्रकरण के अन्य पद्यों में “योगी” शब्द का प्रायः “कर्मयोगी” अर्थ किया है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी तो गीता का मुख्य प्रतिपाद्य बुद्धियोग को मानते हैं। उनके अनुसार यहाँ अर्जुन को “बुद्धियोगी” बनने का ही उपदेश है। बुद्धियोग के अन्तर्गत ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों ही आ जाते हैं। इसी कारण बुद्धियोगी को पृथक्-पृथक् तीनों से उत्कृष्ट कहा गया। कर्मयोग के साथ भक्ति का भी सम्मिश्रण आवश्यक है, यह इसके आगे के पद्य में भगवान् कहते हैं कि सब योगियों में भी मुझ ईश्वर में अपना अन्तःकरण लगाकर श्रद्धापूर्वक जो मुझ ईश्वर को भजता है उसे मैं “युक्ततम” अर्थात् परयोगनिष्ठ मानता हूँ।

कई व्याख्याकारों ने जो गीता के छह, छह, अध्यायों का विभाग किया है कि पहले छह अध्यायों में कर्म का निरूपण, मध्य के छह अध्यायों में भक्ति और अन्त के छह अध्यायों में ज्ञान का निष्कर्ष दिया है, तदनुसार सप्तमाध्याय से भक्ति का विवरण करते हुए जो भक्ति के आश्रय भगवान् के स्वरूप का निर्देश किया जाने वाला है, उसे ही इस अन्तिम पद्य से सूचित कर दिया। यह प्रायः गीता की शैली है कि आगे जो विषय विस्तार से वर्णित होगा, उसका सूत्रपात पहिले ही कर दिया जाता है। तदनुसार ही यहाँ भी प्रथम षट्क के अन्त में द्वितीय षट्क का संकेत किया गया।

लोकमान्यतिलक ने भी ज्ञानमूलक भक्ति-प्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य माना है। इन तीनों की शृङ्खला गीता में जोड़ दी गई है।

इस प्रकार कर्मप्रतिपादक प्रथम षट्क यहाँ पूर्ण हुआ।





गीता व्याख्यान माला ३ खण्डों में छपी है। खण्ड संख्या  
का आशय इन्हीं खण्डों से है।

## श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय, श्लोक, खण्ड का अकारादिवर्णानुक्रम

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
अकीर्तिं चापि भूतानि	२	३४	१
अक्षरं ब्रह्म परमम्	८	३	२
अक्षराणामकारोऽस्मि	१०	३३	२
अग्निज्योतिरहः शुक्लः	८	२४	२
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्	२	२४	१
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा	४	६	१
अज्ञश्चाश्रद्धाधानश्च	४	४०	१
अत्र शूरा महेष्वासाः	१	४	१
अथ केन प्रयुक्तोऽयम्	३	३६	१
अथ चित्तं समाधातुम्	१२	९	२
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यम्	२	३३	१
अथ चैनं नित्यजातम्	२	२६	१
अथवा योगिनामेव	६	४२	१
अथवा बहुनैतेन	१०	४२	२
अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा	१	२०	१
अथैतदप्यशक्तोऽसि	१२	११	२
अदृष्ट पूर्वं हृषितोऽस्मि	११	४५	२
अदेशकाले यद्दानम्	१७	२२	३
अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्	१२	१३	२
अधर्मं धर्ममिति या	१८	३२	३
अधर्माभिभवात्कृष्ण !	१	४१	१
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य	१५	२	३
अधिभूतं क्षरो भावः	८	४	२

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
अधियज्ञः कथं कोऽत्र	८	२	२
अधिष्ठानं तथा कर्ता	१८	१४	३
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्	१३	११	३
अध्येष्यते च य इमम्	१८	७०	३
अनन्तविजयं राजा	१	१६	१
अनन्तश्चास्मि नागानाम्	१०	२९	२
अनन्य चेताः सततम्	८	१४	२
अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्	९	२२	२
अपनेक्षः शुचिर्दक्षः	१२	१६	२
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्	१३	३१	३
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्	११	१९	२
अनाश्रितः कर्मफलम्	६	१	१
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च	१८	१२	३
अनुद्वेगकरं वाक्यम्	१७	१५	३
अनुबन्धं क्षयं हिंसाम्	१८	२५	३
अनेकचित्तविभ्रान्ताः	१६	१६	३
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्	११	१६	२
अनेकवक्त्रनयनम्	११	१०	२
अन्तकाले च मामेव	८	५	२
अन्तवत्तु फलं तेषाम्	७	२३	२
अन्तवन्त इमे देहाः	२	१८	१
अन्नाद्भवन्ति भूतानि	३	१४	१
अन्ये च बहवः शूराः	१	९	१
अन्येत्वेवमजानन्तः	१३	२५	३
अपरं भवतो जन्म	४	४	१
अपरे नियताहाराः	४	३०	१
अपरेयमितस्त्वन्याम्	७	५	२

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
अपर्याप्तं तदस्माकम्	१	१०	१
अपाने जुह्वति प्राणम्	४	२९	१
अपि चेत्सुदुराचारः	९	३०	२
अपि चेदसि पापेभ्यः	४	३६	१
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	१४	१३	३
अफलाकांक्षिभिर्यज्ञः	१७	११	३
अभयं सत्त्व संशुद्धिः	१६	१	३
अभिसन्धाय तु फलम्	१७	१२	३
अभ्यासयोगयुक्तेन	८	८	२
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि	१२	१०	२
अमानित्वमदम्भित्वम्	१३	७	३
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य	११	२६	२
अमी हि त्वां सुरसङ्घाः	११	२१	२
अयनेषु च सर्वेषु	१	११	१
अयतिः श्रद्धयोपेतः	६	३७	१
अयुक्तः प्राकृतस्तब्धः	१८	२८	३
अवजानन्ति मां मूढाः	९	११	२
अवाच्यवादांश्च बहून्	२	३६	१
अविनाशि तु तद्विद्धि	२	१७	१
अविभक्तं च भूतेषु	१३	१७	३
अव्यक्तादीनि भूतानि	२	२८	१
अव्यक्तादव्यक्तयः सर्वाः	८	१८	२
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः	८	२१	२
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्	२	२५	१
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्	७	२४	२
अशास्त्रविहितं घोरं	१७	५	३
अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्	२	११	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
अश्रद्धाघानाः पुरुषाः	९	३	२
अश्रद्धया हुतं दत्तम्	१७	२८	३
अश्वस्थः सर्ववृक्षाणाम्	१०	२६	२
असक्तबुद्धिः सर्वत्र	१८	४९	३
असक्तिरनभिष्वङ्गः	१३	९	३
असत्यमप्रतिष्ठं ते	१६	८	३
असौ मया हतः शत्रुः	१६	१४	३
असंयतात्मना योगः	६	३६	१
असंशयं महाबाहो !	६	३५	१
अस्माकं तु विशिष्टा ये	१	७	१
अहं क्रतुरहं यज्ञः	९	१६	२
अहङ्कारं बलं दर्पम्	१६	१८	३
अहङ्कारं बलं दर्पम्	१८	५३	३
अहमात्मा गुडाकेश !	१०	२०	२
अहं वैश्वानरो भूत्वा	१५	१४	३
अहं सर्वस्य प्रभवः	१०	८	२
अहं हि सर्वयज्ञानाम्	९	२४	२
अहिंसा सत्यमक्रोधः	१६	२	३
अहिंसा समता तुष्टिः	१०	५	२
अहो बत महत्पापम्	१	४५	१
आ			
आख्याहि मे को भवान्	११	३१	२
आचार्याः पितरः पुत्राः	१	३४	१
आद्योऽभिजनवानस्मि	१६	१५	३
आत्मसम्भाविता स्तब्धाः	१६	१७	३
आत्मौपम्येन सर्वत्र	६	३२	१
आदित्यानामहं विष्णुः	१०	२१	२

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठम्	२	७०	१
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	८	१६	२
आयुधानामहं वज्रः	१०	२८	२
आयुस्सत्त्वबलारोग्य-	१७	८	३
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्	६	३	१
आवृतं ज्ञानमेतेन	३	३९	१
आशापाशशतैर्बद्धाः	१६	१२	३
आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्	२	२९	१
आसुरीं योनिमापन्नाः	१६	२०	३
आहारस्त्वपि सर्वस्य	१७	७	३
आहुस्त्वामृषयः सर्वे	१०	१३	२
इ			
इच्छाद्वेषसमुत्थेन	७	२७	२
इच्छाद्वेषः सुखदुःखम्	१३	६	३
इति गुह्यतमं शास्त्रम्	१५	२०	३
इति ते ज्ञानमाख्यातम्	१८	६३	३
इति क्षेत्रं तदा ज्ञानम्	१३	१८	२
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा	११	५०	२
इत्यहं वासुदेवस्य	१८	७४	३
इदमद्य मया लब्धम्	१६	१३	३
इदं तु ते गुह्यतमम्	९	१	२
इदं ते नातपस्काय	१८	६७	३
इदं शरीरं कौन्तेय !	१३	१	३
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	१४	२	३
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे	३	३४	१
इन्द्रियाणां हि चरताम्	२	६७	१
इन्द्रियाणि पराण्याहुः	३	४२	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः	३	४०	१
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्	१३	९	३
इमं विवस्वते योगम्	४	१	१
इष्टान् भोगान् हि वो देवाः	३	१३	१
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नम्	११	७	२
इहैव तैर्जितः सर्गः	५	१९	१
ई			
ईश्वरः सर्वभूतानाम्	१८	६१	३
उ			
उच्चैःश्रवसमश्चानाम्	१०	२७	२
उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि	१५	१०	३
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	१५	१७	३
उत्सन्नकुलधर्माणाम्	१	४४	१
उत्सीदेयुरिमे लोकाः	३	२४	१
उदाराः सर्व एवैते	७	१८	२
उदासीनवदासीनः	१४	२३	३
उद्धरेदात्मनात्मानम्	६	५	१
उपद्रष्टानुमन्ता च	१३	२२	३
ऊ			
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः	१४	१८	३
ऊर्ध्वमूलमधश्शाखम्	१५	१	३
ऋ			
ऋषिभिर्बहुधा गीतम्	१३	४	३
ए			
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य	११	३५	२
एतद्योनीनि भूतानि	७	६	२
एतन्मे संशयं कृष्ण !	६	३९	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
एतान्नहन्तुमिच्छामि	१	३५	१
एतान्यपितु कर्माणि	१८	६	३
एतां दृष्टिमवष्टभ्य	१६	९	३
एतां विभूतिं योगं च	१०	७	२
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय !	१६	२२	३
एवमुक्तो हृषीकेशः	१	२४	१
एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये	१	४७	१
एवमुक्त्वा ततो राजन् !	११	९	२
एवमुक्त्वा हृषीकेशम्	२	९	१
एवमेतद्यथाऽत्थ त्वम्	११	३	२
एवम्परम्पराप्राप्तम्	४	२	१
एवम्प्रवर्तितं चक्रम्	३	१६	१
एवं बहुविधा यज्ञाः	४	३२	१
एवं बुद्ध्या परं बुद्ध्वा	३	४२	१
एवं सततयुक्ता ये	१२	१	२
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म	४	१५	१
एषा तेऽभिहिता सांख्ये	२	३९	१
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ !	२	७२	१
ओ			
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	८	१३	२
ॐ			
ॐ तत्सदिति निर्देशः	१७	२३	३
क			
कच्चित्रोभय विभ्रष्टः	६	३८	१
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ !	१८	७२	३
कट्वाम्ललवणात्युष्ण	१७	९	३
कथं न ज्ञेयमस्माभिः	१	३९	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये	२	४	१
कथं विद्यामहं योगिन् !	१०	१७	२
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि	२	५१	१
कर्मणः सुकृतस्याहुः	१४	१६	३
कर्मणैव हि संसिद्धिम्	३	२०	१
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम्	४	१७	१
कर्मण्यकर्म यः पश्येत्	४	१८	१
कर्मण्येवाधिकारस्ते	२	४७	१
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि	३	१५	१
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य	३	६	१
कर्षयन्तः शरीरस्थं	१७	६	३
कविं पुराणमनुशासितरम्	८	९	२
कस्माच्च ते न नमेरन्	११	३७	२
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिम्	४	१२	१
काम एष क्रोध एषः	३	३७	१
कामक्रोधवियुक्तानाम्	५	२६	१
काममाश्रित्य दुष्पूरम्	१६	१०	३
कामात्मानः स्वर्गपराः	२	४३	१
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः	७	२०	२
काम्यानां कर्मणां न्यासम्	१८	२	३
कायेन मनसा बुद्ध्या	५	११	१
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः	२	७	१
कार्यकारणकर्तृत्वे	१३	२०	३
कार्यमित्येव यत्कर्म	१८	९	३
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्	११	३२	२
काश्यश्च परमेष्वासः	१	१७	१
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्	११	४६	२



श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
किरीटिनं गतिं चक्रिणं च	११	१७	२
किं कर्म किमकर्मेति	४	१६	१
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मम्	८	१	२
किं पुनर्बाह्यणाः पुण्याः	९	३३	२
कुतस्त्वा कश्मलमिदम्	२	२	१
कुलक्षये प्रणश्यन्ति	१	४०	१
कृपया परयाविष्टः	१	२८	१
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम्	१८	४४	३
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतान्	१४	२१	३
क्रोधाद्भवति सम्मोहः	२	६३	१
क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्	१२	५	२
क्त्नैब्यं मास्म गमः पार्थ !	२	३	१
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा	९	३१	२
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवम्	१३	३४	३
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि	१३	२	३
ग			
गतसङ्गस्य मुक्तस्य	४	२३	१
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी	९	१८	२
गाण्डीवं संसते हस्ततात्	१	३०	१
गामाविश्य च भूतानि	१५	१३	३
गुणानेतानतीत्य त्रीन्	१४	२०	३
गुरुनहत्वा हि महानुभावान्	२	५	१
च			
चञ्चलं हि मनः कृष्ण !	६	३४	१
चतुर्विधा भजन्ते माम्	७	१६	२
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्	४	१३	१
चिन्तामपरिमेयां च	१६	११	३

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
चेतसा सर्व कर्माणि	१८	५७	३
ज			
जन्म कर्म च मे दिव्यम्	४	९	१
जरामरणमोक्षाय	७	२९	२
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः	२	२७	१
जितात्मनः प्रशान्तस्य	६	७	१
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये	९	१५	२
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा	६	८	१
ज्ञानेन तु तदज्ञानम्	५	१६	१
ज्ञानं कर्म च कर्ता च	१८	१९	३
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्	७	२	२
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता	१८	१८	३
ज्ञेयः स नित्य सन्न्यासी	५	३	१
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि	१३	१२	३
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते	३	१	१
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः	१३	१७	३
त			
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्	१५	४	३
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य	१८	७७	३
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च	१	१३	१
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते	१	१४	१
ततः स विस्मयाविष्टः	११	१४	२
तत्त्ववित्तु महाबाहो !	३	२८	१
तत्र तं बुद्धि संयोगम्	६	४३	१
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्	१४	६	३
तत्रापश्यत् स्थितान्पार्थः	१	२६	१
तत्रैकस्थं जगत्कृस्त्नम्	११	१३	२

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा	६	१२	१
तत्रैवं सति कर्तारम्	१८	१६	३
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च	१३	३	३
तदित्यनभिसन्धाय	१७	२५	३
तद्बुद्ध्यस्तदात्मानः	५	१७	१
तद्विद्धि प्रणिपातेन	४	३४	१
तपस्विभ्योऽधिको योगी	६	४६	१
तपाम्यहमहं वर्षम्	९	१९	२
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि	१४	८	३
तमुवाच हृषीकेशः	२	१०	१
तमेव शरणं गच्छ	१८	६२	३
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते	१६	२४	३
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय	११	४४	२
तस्मात्तमिन्द्रियाण्यादौ	३	४१	१
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व	११	३३	२
तस्मात्सर्वेषु कालेषु	८	७	२
तस्मादसक्तः सततम्	३	१९	१
तस्मादज्ञानसम्भूतम्	४	४२	१
तस्मादोमित्युदाहृत्य	१७	२४	३
तस्माद्यस्य महाबाहो !	२	६८	१
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुम्	१	३७	१
तस्य सञ्जनयन् हर्षम्	१	१२	१
तं विद्याद्दुःखसंयोगम्	६	२३	१
तं तथा कृपयाविष्टम्	२	१	१
तानहं द्विषतः क्रूरान्	१६	१९	३
तानि सर्वाणि संयम्य	२	६१	१
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः	१	२७	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
तुल्य निदास्तुतिर्मीनी	१२	१९	२
तेजः क्षमा धृतिः शौचम्	१६	३	३
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकम्	९	२१	२
तेषामहं समुद्धर्ता	१२	७	२
तेषामेवानुकम्पार्थं	१०	११	२
तेषां सततयुक्तानाम्	१०	१०	२
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः	७	१७	२
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्	४	२०	१
त्याज्यं दोषवदित्येके	१८	३	३
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः	७	१३	२
त्रिविधा भवति श्रद्धा	१७	२	३
त्रिविधं नरकस्येदम्	१६	२१	३
त्रैगुण्यविषया वेदाः	२	४५	१
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः	९	२०	२
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्	११	१८	२
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः	११	३८	२
द			
दण्डो दमयतामस्मि	१०	३८	२
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च	१६	४	३
द्रंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि	११	२५	२
दातव्यमिति यद्दानम्	१७	२०	३
दिवि सूर्यसहस्रस्य	११	१२	२
दिव्यमाल्याम्बरधरम्	११	११	२
दुःखमित्येव यत्कर्म	१८	८	३
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः	२	५६	१
दूरेण ह्यवरं कर्म	२	४९	१
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्	१	२	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्	११	५१	२
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण !	१	२८	१
देवद्विजगुरुप्राज्ञ-	१७	१४	३
देवाभ्यावयतानेन	३	११	१
देही नित्यमवध्योऽयम्	२	३०	१
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे	२	१३	१
दैवमेवापरे यज्ञम्	४	२५	१
दैवी ह्येषा गुणमयी	७	१४	२
दैवी संपद्विमोक्षाय	१६	५	३
दोषैरेतैः कुलधनानाम्	१	४३	१
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि	११	२०	२
द्यूतं छलयतामस्मि	१०	३६	२
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः	४	२८	१
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च	१	१८	१
द्रोणं च भीष्मं च	११	३४	२
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	१५	१६	३
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्	१६	६	३
ध			
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	१	१	१
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः	८	२५	२
धूमेनाव्रियते वह्निः	३	३८	१
धृत्या यया धारयते	१८	३३	३
धृष्टकेतुश्चेकितानः	१	५	१
ध्यानेनाऽत्मनि पश्यन्ति	१३	२४	३
ध्यायतो विषयान्पुंसः	२	६२	१
न			
न कर्तृत्वं न कर्माणि	५	१४	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
न कर्मणामनारम्भात्	३	४	१
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण !	१	३२	१
न च तस्मान्मनुष्येषु	१८	६९	३
न च मत्स्थानि भूतानि	९	५	२
न च मां तानि कर्माणि	९	९	२
न च शक्नोम्यवस्थातुम्	१	३०	१
न च श्रेयोऽनुपश्यामि	१	३१	१
न चैतद्विद्यः कतरन्नो गरीयः	२	६	१
न जायते म्रियते वा	२	२०	१
न तदस्ति पृथिव्यां वा	१८	४०	३
न तद्भासयते सूर्यः	१५	६	३
न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्	११	८	२
न त्वेवाहं जातु नासम्	२	१२	१
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म	१८	१०	३
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य	५	२०	१
न बुद्धिभेदं जनयेत्	३	२६	१
न भस्पर्शं दीप्तमनेकवर्णम्	११	२४	२
नमः पुरस्तादथपृष्ठतस्ते	११	४०	२
न मां कर्माणि लिम्पन्ति	४	१४	१
न मां दुष्कृतिनो मूढाः	७	१५	२
न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्	३	२२	१
न मे विदुः सुरगणाः	१०	२	२
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते	१५	३	३
न वेदयज्ञाध्ययनैः	११	४८	२
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा	१८	७३	३
न हि कश्चित्क्षणमपि	३	५	१
न हि देहभृता शक्यम्	१८	११	३

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्	२	८	१
न हि ज्ञानेन सदृशम्	४	३८	१
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति	६	१६	१
नाऽदात्ते कस्यचित्पापम्	५	१५	१
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानाम्	१०	४०	२
नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्तारम्	१४	१९	३
नासतो विद्यते भावः	२	१६	१
नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य	२	६६	१
नाहं प्रकाशः सर्वस्य	७	२५	२
नाहं वेदैर्न तपसा	११	५३	२
निमत्तानि च पश्यामि	१	३१	१
नियतस्य तु सन्न्यासः	१८	७	२
नियतं कुरु कर्मत्वम्	३	८	१
नियतं सङ्गरहितम्	१८	२३	३
निराशीर्यत चित्तात्मा	४	२१	१
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः	१५	५	३
निश्चयं शृणु मे तत्र	१८	४	३
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः	१	३६	१
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति	२	४०	१
नैते सृती पार्थ ! जानन्	७	२७	२
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि	२	२३	१
नैव किञ्चित्करोमीति	५	८	१
नैव तस्य कृतेनाऽर्थ	३	१८	१
प			
पञ्चैतानि महाबाहो !	१८	१३	३
पत्रं पुष्पं फलं तोयम्	९	२६	२
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः	८	२०	२

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
परं ब्रह्म परं धाम	१०	१२	२
परं भूयः प्रवक्ष्यामि	१४	१	३
परित्राणाय साधूनाम्	४	८	१
पवनः पवतामस्मि	१०	३१	२
पश्य मे पार्थ ! रूपाणि	११	५	२
पश्यादित्यान्वसून्द्रान्	११	६	२
पश्यामि देवांस्तवदेव !	११	१५	२
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम्	१	३	१
पाञ्चजन्यं हृषीकेशः	१	१५	१
पार्थ ! नैवेह नामुत्र	६	४०	१
पितासि लोकस्य	११	४३	२
पिताऽहमस्य	९	१७	२
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च	७	९	२
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि	१३	२१	३
पुरुषः स परः पार्थ !	८	२२	२
पुरोधसां च मुख्यं माम्	१०	२४	२
पूर्वाभ्यासेन तेनैव	६	४४	१
कृत्यक्त्वेन तु यज्ज्ञानम्	१८	२१	३
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च	१४	२२	३
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य	९	८	२
प्रकृतेः क्रियमाणानि	३	२७	१
प्रकृतेर्गुणसम्भूताः	३	२९	१
प्रकृत्यैव च कर्माणि	१३	२९	३
प्रजहाति यदा कामान्	२	५५	१
प्रयत्नाद्यतमानस्तु	६	४५	१
प्रयाणकाले मनसा	८	१०	२
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्	५	९	१



श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	१६	७	३
प्रशान्तमनसा ह्येनम्	६	२७	१
प्रशान्तात्मा विगतभीः	६	१४	१
प्रसादे सर्वदुःखानाम्	२	६५	१
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्	१०	३०	२
प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान्	६	४१	१
ब			
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य	६	६	१
बलं बलवतां चाहम्	७	११	२
बहिरन्तश्च भूतानाम्	१३	१५	३
बहूनां जन्मनामन्ते	७	१९	२
बहूनि मे व्यतीतानि	३	५	१
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा	५	२१	१
बीजं मां सर्वभूतानाम्	७	१०	२
बुद्धियुक्तो जहातीह	२	५०	१
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः	१०	४	२
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव	१८	२९	३
बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तः	१८	५१	३
बृहत्साम तथा साम्नाम्	१०	३५	२
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्	१४	२७	३
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि	५	१०	१
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	१८	१४	३
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः	४	२४	१
ब्राह्मणः क्षत्रियविशाम्	१८	४१	३
भ			
भक्त्या त्वनन्यया शक्यः	११	५४	२
भक्त्या मामभिजानाति	१८	५५	३

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
भयाद्रणादुपरतम्	२	३५	१
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च	१	८	१
भवाप्ययौ हि भूतानाम्	११	२	२
भीष्मद्रोणप्रमुखतः	१	२५	१
भूतग्रामः स एवाऽयम्	८	१९	२
भूमिरापोऽनलो वायुः	७	४	२
भूय एव महाबाहो	१०	१	२
भोक्तारं यज्ञतपसाम्	५	२९	१
भोगैश्वर्यं प्रसक्तानाम्	२	४४	१
म			
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि	१८	५८	३
मच्चित्ता मदगतप्राणाः	१०	९	२
मत्कर्म कृन्मत्परमः	११	५५	२
मत्तः परतरं नाऽन्यत्	७	७	२
मदनुग्रहाय परमम्	११	१	२
मनः प्रसादः सौम्यत्वम्	१७	१६	३
मनुष्याणां सहस्रेषु	७	३	२
मन्मना भव मद्भक्तः	९	३४	२
"    "    "	१८	६५	३
मन्यसे यदि तच्छक्यम्	११	४	२
मम योनिर्महद्ब्रह्म	१४	३	३
ममैवांशो जीवलोके	१५	७	३
मया ततमिदं सर्वम्	९	४	२
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः	९	१०	२
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदम्	११	४७	२
मयि चानन्य योगेन	१३	१०	३
मयि सर्वाणि कर्माणि	३	३०	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
मय्यावेश्य मनो ये माम्	१२	२	२
मय्यासक्तमनाः पार्थ !	७	१	२
मय्येव मन आधत्स्व	१२	८	२
महर्षयः सप्त पूर्वे	१०	६	२
महर्षीणां भृगुरहम्	१०	२५	२
महात्मानस्तु मां पार्थ !	९	१३	२
महाभूतान्यहङ्कारः	१३	५	३
मा ते व्यथा मा च	११	४९	२
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय	२	१४	१
मानापमानयोस्तुल्यः	१४	२५	३
मामुपेत्य पुनर्जन्म	८	१५	२
मां च योऽव्यभिचारेण	१४	२६	३
मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य	९	३२	२
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी	१८	२६	३
मूढ ग्राहेणात्मनो यत्	१७	१९	३
मृत्युः सर्वहरश्चाहम्	१०	३४	२
मोघाशा मोघकर्माणः	९	१२	२
य			
यद्वेदं परमं गुह्यम्	१८	६८	३
य एनं वेत्ति हन्तारम्	२	१९	१
य एवं वेत्ति पुरुषम्	१३	२३	३
यच्चापि सर्वं भूतानाम्	१०	३९	२
यच्चावहारार्थमसत्कृतोऽसि	११	४२	२
यजन्ते सात्विका देवान्	१७	४	३
यज्ञो दानं तपः कर्म	१८	५	३
यज्ञशिष्टामृतभुजः	४	३१	१
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः	३	१३	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	३	९	१
यज्ञे तपसि दाने च	१७	२७	३
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्	४	३५	१
यततो ह्यपि कौन्तेय !	२	६०	१
यतन्तो योगिनश्चैनम्	१५	११	३
यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्	१८	४६	३
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः	५	२८	१
यतो यतो निश्चरति	६	२६	१
यत्करोषि यदश्नासि	९	२७	२
यत्तदग्रे विषमिव	१८	३७	३
यत्तु कामेप्सुना कर्म	१८	२४	३
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्	१८	२२	३
यत्तु प्रत्युपकारार्थं	१७	२१	३
यत्र काले त्वनावृत्तिम्	८	३२	२
यत्र योगेश्वरः कृष्णः	१८	७८	३
यत्रोपरमते चित्तम्	६	२०	१
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानम्	५	५	१
यथाऽऽकाशस्थितो नित्यम्	९	६	२
यथा दीपो निवातस्थः	६	१९	१
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः	११	२८	२
यथा प्रकाशयत्येकः	१३	३३	२
यथा प्रदीप्तं ज्वलनम्	११	२९	२
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात्	१३	३२	३
यथैधांसि समिद्धोऽग्निः	४	३७	१
यदग्रे चानुबन्धे च	१८	३९	३
यदहङ्कारमाश्रित्य	१८	५९	३
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति	८	११	२

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
यदा ते मोहकलिलम्	२	५२	१
यदादित्यगतं तेजः	१५	१२	३
यथा भूतपृथग्भावम्	१३	३०	३
यदा यदा हि धर्मस्य	४	७	१
यदा विनियतं चित्तम्	६	१८	१
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु	१४	१४	३
यदा संहरते चायम्	२	५८	१
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु	६	४	१
यदि मामप्रतीकारम्	१	४६	१
यदि ह्यहं न वर्तेयं	३	२३	१
यदृच्छया चोपपन्नम्	२	३२	१
यदृच्छालाभसन्तुष्टः	४	२२	१
यद्यदाचरति श्रेष्ठः	३	२१	१
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्	१०	४१	२
यद्यप्येते न पश्यन्ति	१	३८	१
ययातु धर्मकामार्थान्	१८	३४	३
यया धर्ममधर्मं च	१८	३१	३
यथा स्वप्नं भयं शोकम्	१८	३५	३
यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्	३	१७	१
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा	३	७	१
यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्	१५	१८	३
यस्मान्नोद्विजते लोकः	१२	१५	२
यस्य नाऽहङ्कृतो भावः	१८	१७	३
यस्य सर्वे समारम्भाः	४	१९	१
यं यं वाऽपि स्मरन् भावम्	८	६	२
यं लब्ध्वा चापरं लाभम्	६	२२	१
यं सन्न्यासमिति प्राहुः	६	२	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
यं हि न व्यथयन्त्येते	२	१५	१
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१६	२३	३
यः सर्वत्रानभिस्नेहः	२	५७	१
यातयामं गतरसम्	१७	१०	३
या निशा सर्व भूतानाम्	२	६९	१
यान्ति देवव्रता देवान्	९	२५	२
यामिमां पुष्पितां वाचम्	२	४२	१
यस्मात्सञ्जायते किञ्चित्	१३	२६	३
यावदेतान्नरीक्षेऽहम्	१	२२	१
यावानर्थ उदपाने	२	४६	१
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा	५	१२	१
युक्ताहारविहारस्य	६	१७	१
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानम्	६	१५	१
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानम्	६	२८	१
युधामन्युश्च विक्रान्तः	१	६	१
ये चैव सात्त्विका भावाः	७	१२	२
ये तु धर्म्यामृतमिदम्	१२	२०	२
ये तु सर्वाणि कर्माणि	१२	६	२
ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्	१२	३	२
ये त्वेतदभ्यसूयन्तः	३	३२	१
येऽप्यन्यदेवताभक्ताः	९	२३	२
ये मे मतमिदं नित्यम्	३	३१	१
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	४	११	१
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१७	१	३
येषामर्थे कांक्षितं नः	१	३३	१
येषां त्वन्तगतं पापम्	७	२८	२
ये हि संस्पर्शजा भोगाः	५	२२	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
योगयुक्तो विशुद्धात्मा	५	७	१
योगसन्न्यस्तकर्माणम्	४	४१	१
योगस्थः कुरु कर्माणि	२	४८	१
योगिनामपि सर्वेषाम्	६	४७	१
योगी युञ्जीत सततम्	६	१०	१
योत्स्यमानानवेक्षेऽहम्	१	२३	१
यो न हृष्यति न द्वेष्टि	१२	१७	२
योऽन्तः सुखोन्तरारामः	५	२४	१
यो मामजमनादिं च	१०	३	२
यो मामेवमसम्मूढः	१५	१९	३
यो मां पश्यति सर्वत्र	६	३०	१
यो यो यां यां तनुं भक्तः	७	२१	२
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः	६	३३	१
र			
रजस्तमश्चाभिभूय	१४	१०	३
रजसि प्रलयं गत्वा	१४	१५	३
रजो रागात्मकं विद्धि	१४	७	३
रसोऽहमप्सु कौन्तेय	७	८	२
रागद्वेषवियुक्तैस्तु	२	६४	१
रागी कर्मफलप्रेप्सुः	१८	२७	३
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य	१८	७६	३
राजविद्या राजगुह्यम्	९	२	२
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि	१०	२३	२
रुद्रादित्या वसवो ये च	११	२२	२
रूपं महत्ते बहुवक्त्र नेत्रम्	११	२३	२
ल			
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्	५	२५	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ततात्	११	३०	२
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा	३	३	१
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः	१४	१२	३
व			
वक्तुमर्हस्यशेषेण	१०	१६	२
वक्त्राणि ते त्वरमाणा	११	२७	२
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः	११	३९	२
वासांसि जीर्णानि यथा	२	२२	१
विद्याविनयसंपन्ने	५	१८	१
विधिहीनमसृष्टात्रम्	१७	१३	३
विविक्तसेवी लघ्वाशी	१८	५२	३
विषया विनिवर्तन्ते	२	५९	१
विषयेन्द्रिय संयोगात्	१८	३८	३
विस्तरेणाऽऽत्मनो योगम्	१०	१८	२
विहाय कामान् यः सर्वान्	२	७१	१
वीतरागभयक्रोधाः	४	१०	१
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि	१०	३७	२
वेदानां सामवेदोऽस्मि	१०	२२	२
वेदाविनाशिनं नित्यम्	२	२१	१
वेदाहं समतीतानि	७	२६	२
वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव	८	२८	२
वेपथुश्च शरीरे मे	१	२९	१
व्यवसायात्मिका बुद्धिः	२	४१	१
व्यामिश्रेणेव वाक्येन	३	२	१
व्यास प्रसादाच्छ्रुतवान्	१८	७५	३
श			
शक्रोतीहैव यः सोढुम्	५	२३	१



श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
शनैश्शनैरुपरमेत्	६	२५	१
शमो दमस्तपः शौचम्	१८	४२	३
शरीरं यदवाप्नोति	१५	८	३
शरीरं वाङ्मनोभिर्यत्	१८	१५	३
शुक्लकृष्णे गतीह्येते	८	२६	२
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य	६	११	१
शुभाशुभ फलैरेवम्	९	२८	२
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यम्	१८	४३	३
श्रद्धया परया तप्तम्	१७	१७	३
श्रद्धावाननसूयश्च	१८	७१	३
श्रद्धावान्सलभते ज्ञानम्	४	३९	१
श्रुतिविप्रतिपन्नास्ते	२	५२	१
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात्	४	३३	१
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः	३	३५	१
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः	१८	४७	३
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्	१२	१२	२
श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्ये	४	२६	१
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च	१५	९	३
श्वसुरान्सुहृदश्चैव	१	२७	१
स			
स एवायं मया तेऽद्य	४	३	१
सङ्करो नरकायैव	१	४२	१
सङ्कल्प प्रभवान्कामान्	६	२४	१
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसः	३	२५	१
सखेति मत्वा प्रसभम्	११	४१	२
स घोषो धार्तराष्ट्रणाम्	१	१९	१
सततं कीर्तयन्तो माम्	९	१४	२

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
स तथा श्रद्धया युक्तः	७	२२	२
सत्कारमानपूजार्थम्	१७	१८	३
सत्त्वं रजस्तम इति	१४	५	३
सत्त्वं सुखे सञ्जयति	१४	९	३
सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्	१४	१७	३
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य	१७	३	३
सदृशं चेष्टतेस्त्वस्याः	३	३३	१
सद्भावे साधुभावे च	१७	२६	३
सन्तुष्टः सततं योगी	१२	१४	२
संनियम्येन्द्रियग्रामम्	१२	४	२
सन्न्यासस्तु महाबाहो !	५	६	१
सन्न्यासस्य महाबाहो !	१८	१	३
सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण	५	१	१
सन्न्यासः कर्मयोगश्च	५	२	१
समदुःखसुखः स्वस्थः	१४	२४	३
समं कायशिरोग्रीवम्	६	१३	१
समं पश्यन्हि सर्वत्र	१३	२९	३
समं सर्वेषु भूतेषु	१३	२७	३
समः शत्रौ च मित्रे च	१२	१८	२
समोऽहं सर्वभूतेषु	९	२९	२
सर्गाणामादिरन्तश्च	१०	३२	२
सर्वकर्माणि मनसा	५	१३	१
सर्वकर्माण्यपि सदा	१८	५६	३
सर्वगुह्यतमं भूयः	१८	६४	३
सर्वतः पाणिपादं तत्	१३	१३	३
सर्वद्वाराणि संयम्य	८	१२	२
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्	१४	११	३

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
सर्वधर्मान् परित्यज्य	१८	६६	३
सर्वभूतस्थमात्मानम्	६	२९	१
सर्वभूतस्थितं यो माम्	६	३१	१
सर्वभूतानि कौन्तेय	९	७	२
सर्वभूतेषु येनैकम्	१८	२०	३
सर्वमेतद्भुतं मन्ये	१०	१४	२
सर्वयोनिषु कौन्तेय	१४	४	३
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः	१५	१५	३
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि	४	२७	१
सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	१३	१५	३
सहजं कर्म कौन्तेय !	१८	४८	३
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा	३	१०	१
सहस्रयुगपर्यन्तम्	८	१७	२
साधिभूताधिदैवं माम्	७	३०	२
साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः	५	४	१
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म	१८	५०	३
सीदन्ति मम गात्राणि	१	२९	१
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा	२	४८	१
सुखदुःखे समे कृत्वा	२	३८	१
सुखमात्यन्तिकं यत्तत्	६	२	१
सुखं त्विदानीं त्रिविधम्	१८	३६	३
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा	२	५४	१
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्	५	२७	१
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य	२	३१	१
स्थाने हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या	११	३६	२
सुदुर्दर्शमिदं रूपम्	११	५२	२
सुहृन्मित्रार्युदासीन-	६	९	१

श्लोकों के प्रतीक	अध्याय	श्लोक	खण्ड
स्वभावजेन कौन्तेय !	१८	६०	३
स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानम्	१०	१५	२
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः	१८	४५	३
	ह		
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्	२	३७	१
हन्त ते कथियष्यामि	१०	१९	२
हृषीकेशं तदावाक्यम्	१	२१	१

---



# श्री गीता प्रवचनमाला

(द्वितीय भाग)



व्याख्याता

राष्ट्रपति सम्मानित

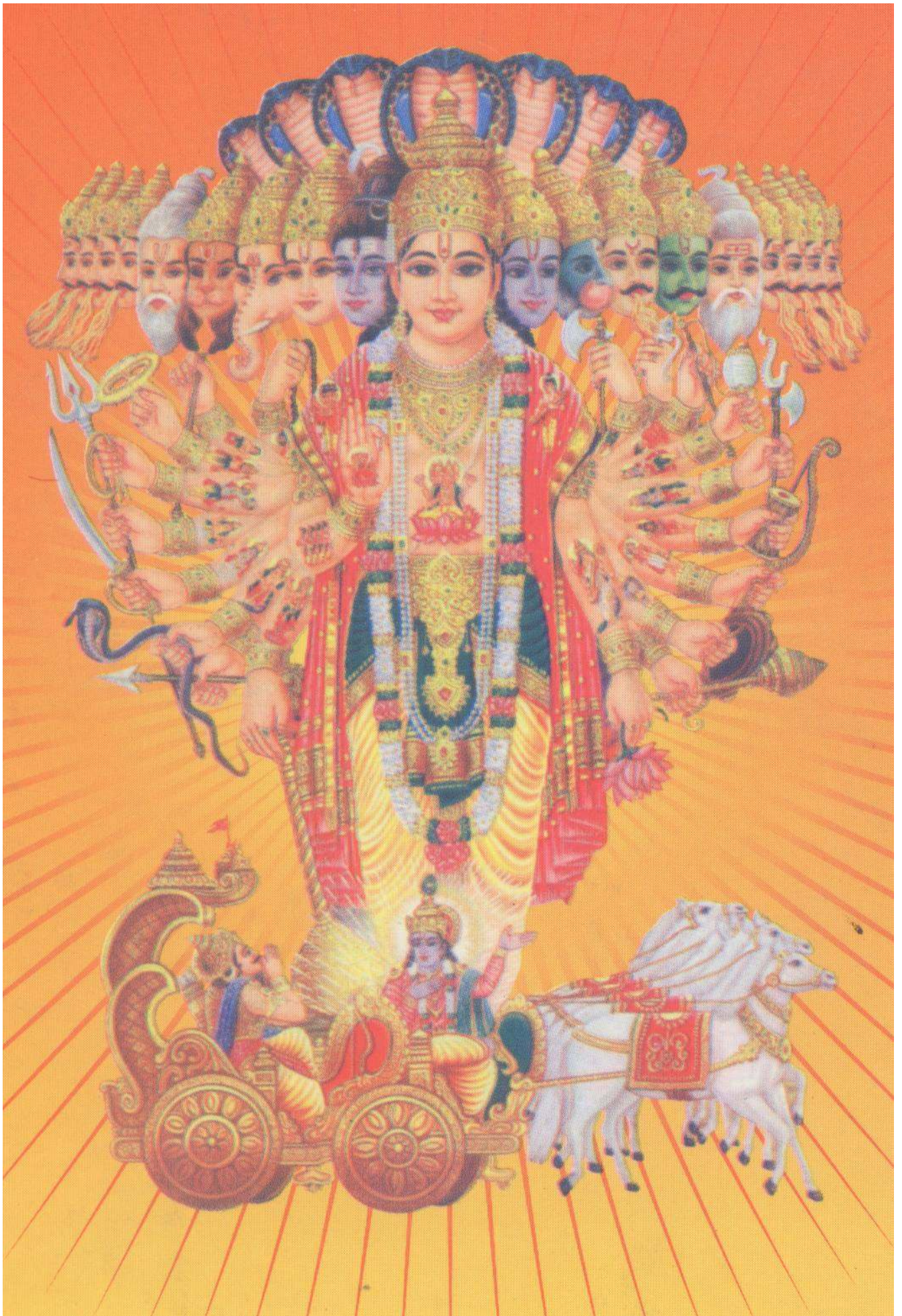
महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संपादक

राष्ट्रपति सम्मानित

आचार्य डा. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी









**डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी**  
सम्पादक

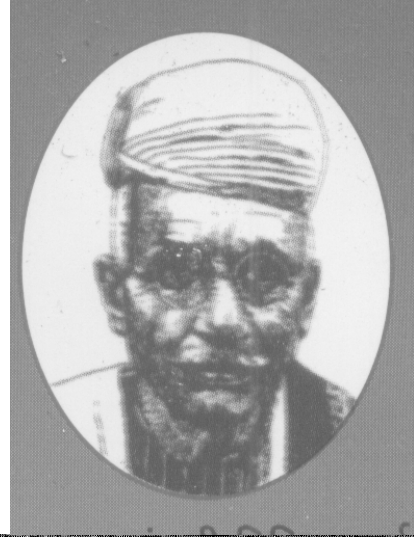
जन्मतिथि : 16 अप्रैल, 1934

पिता : म. म. प. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

माता : श्रीमती गुलाब देवी चतुर्वेदी

प्रारम्भिक शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा जयपुर, लाहौर, हरिद्वार, अल्वर तथा वाराणसी में। "वाल्मीकीय रामायण में राजनीति" विषय पर शोध-निबन्ध। अध्यापन संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ तथा संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में। वहाँ के साहित्य विभागाध्यक्ष पद से सन् 1994 में सेवानिवृत्त। संस्कृत और हिन्दी में 30 पुस्तकें लिखित सम्पादित व प्रकाशित। हिन्दी और संस्कृत की पत्रिकाओं में शताधिक शोध लेख, ललित निबन्ध तथा काव्य रचनाएँ तथा कहानियाँ। सम्प्रति धर्मगम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक।

संस्कृत वाग्विवर्धिनी परिषद, कविभारती, आन्वीक्षिकी, श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी संस्थान, वाराणसी संस्कृत संसद आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना और मंत्रित्व तथा अध्यक्षता। 15 अगस्त 1999 को राष्ट्रपति डॉ. के.आर. नारायणन् द्वारा राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित। संप्रति अपने पुत्रों डॉ. प्रयास चतुर्वेदी (रीडर, फ्रेंच विभाग, का.हि.वि.वि.) तथा डॉ. संजय चतुर्वेदी (विद्युतव्यवसायनिरत) के साहचर्य में धर्मपत्नी श्रीमती सरोज चतुर्वेदी सहित वाराणसी में निवास करते हुए साहित्यानुशीलन तथा अध्यात्म चिन्तन।



**महामहोपाध्याय प. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी**  
प्रवचनकर्ता

जन्मतिथि : पौ. शु. वशमी वि.स. 1938

निधनतिथि : 10 जून 1966

पिता : श्रीमान् गोकुलचन्द्र चतुर्वेदी

माता : श्रीमती लवङ्गी देवी चतुर्वेदी

राजस्थान की वर्तमान राजधानी जयपुर नगर में उत्पन्न, वहीं के संस्कृत कॉलेज में प्रारम्भ से सर्वोच्च शिक्षा तक प्राप्त। सर्वोच्च परीक्षा में विश्वविख्यात म.म. शिवकुमार शास्त्री की कलम से सौ में से सौ अंक प्राप्त। अध्यापन व्यवसाय का प्रारम्भ सहारनपुर के जैन महाविद्यालय से। अध्ययन काल में ही संस्कृत मासिक पत्र का संपादन एवं प्रकाशन। हरिद्वार के ऋषिकुल के प्रिंसिपल रहते हुए गुरुकुल के शास्त्रार्थ में भारत भर में विख्यात। लाहौर में 15 वर्ष निवासकाल में महामना पंडित मदनमोहनमालवीय, पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि का निकट सम्पर्क। पंजाब सिन्ध क्वेटा, विलोचिस्तान आदि में धर्मव्याख्यानार्थ अनेक बार यात्राएँ। देश के विभिन्न प्रमुख नगरों में अनेक बार यात्राओं में धर्माचार्यों, शंकराचार्यों, संस्कृत विद्वानों, हिन्दी कोविदों का निकट सम्पर्क सहयोग। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन आदि अनेक संस्थाओं के संस्थापक संचालक। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की सर्वोच्च संस्कृत उपाधि महामहोपाध्याय से, तथा स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद द्वारा 15 अगस्त 1958 को संस्कृत सम्मान में प्रथम स्थान। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे दिग्गज सहाध्यायी। संस्कृत हिन्दी में 50 से अधिक ग्रन्थों के निर्माता। केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त। अपनी मातृसंस्था जयपुर संस्कृत कॉलेज के 20 वर्ष प्रिंसिपल रहकर सेवा निवृत्त। पुनः लाहौर और अलवर में प्रिंसिपल। देश विभाजन के उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सम्मानित शोध संचालक। 86 वर्ष तक निरन्तर लेखन भाषण अध्यापनरत रहते हुए 1966 में काशी में शिवसायुज्य।

# श्री गीता प्रवचनमाला

द्वितीय भाग

व्याख्याता

राष्ट्रपति सम्मानित

महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संपादक

राष्ट्रपति सम्मानित

आचार्य डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी



प्रकाशन कक्ष

काशीहिन्दूविश्वविद्यालय

वाराणसी—२२१००५

भारत



ISBN No. : 81-85305-23-4

पुस्तक का नाम : श्री गीता प्रवचनमाला  
द्वितीय भाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५ की प्रकाशन  
अनुदान योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

प्रथम संस्करण : २००७

© काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मूल्य : ३६०.००

प्रकाशक :

डा० विश्वनाथ पाण्डेय

विशेषकार्याधिकारी (प्रकाशन)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-२२१ ००५

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

विशेषकार्याधिकारी, प्रकाशन कक्ष

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-५ (भारत)

फोन : ९१-५४२-२३०-७२१६

फैक्स : ९१-५४२-२३६८५९८ / २३६८१७४

ईमेल : vnp@bhu.ac.in

मुद्रक :

तारा प्रिंटिंग वर्क्स

रथयात्रा-गुरुबाग रोड

कमच्छा, वाराणसी-२२१०१०

## प्रारम्भिक वक्तव्य

“श्रीगीता प्रवचनमाला” का यह द्वितीय षट्क भी आज भगवत्कृपा से पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। इस द्वितीय षट्क में उपासना का वा अन्य मतानुसार उपास्य तत्त्व-भगवान् के स्वरूप का विस्पष्ट विवरण है। श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार भी यह “राजविद्या” अर्थात् भक्तितत्त्व का ही निरूपण है। भक्तितत्त्व, उपासना तत्त्व, वा उपास्य भगवान् के सम्बन्ध में मुख्य भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य और अन्य श्रीरामानुजाचार्य आदि वैष्णव व्याख्याकारों का मतभेद होना एक स्वाभाविक सी बात है। इस विषय में हमने यथा सम्भव सभी व्याख्याकारों के उपयुक्त मतों का अपनी व्याख्या में संग्रह करने का प्रयास किया है। विशेषकर “दशम” आदि अध्यायों में जहाँ बहुत मतभेद हैं वहाँ अवश्य ही सब व्याख्याकारों का तात्पर्य स्पष्ट रूप से अपनी “प्रवचन माला” में देने का प्रयास किया है। यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है, इसे तो विज्ञ पाठक ही देख सकेंगे।

इस षट्क में अष्टम अध्याय में श्राद्धतत्त्व का विवरण, दशम-विभूति अध्याय में “श्री शिव” और उनके मस्तक पर विराजमान “भगवती गङ्गा” का पुराणोक्त विस्तृत वर्णन दिया गया है, एवं, बारहवें अध्याय में “मूर्तिपूजा” को शास्त्र से असम्मत कहने वाले मत का विस्तार से खण्डन किया है, तथा मूर्तिपूजा को वेद, स्मृति, पुराण आदि से सम्मत सिद्ध किया गया है। आशा है इन विस्तृत व्याख्यानों पर विज्ञ पाठक विशेष रूप से ध्यान देंगे।

यह भी हमने स्थान-स्थान पर सप्रमाण निर्देश किया है कि “श्रीभगवद्गीता” में किसी एक ही संप्रदाय का अन्धानुगम नहीं, प्रत्युत निष्कल निराकार परब्रह्म की जो पाँच रूपों में उपासना सामान्य अधिकारियों के लिए शिष्ट सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है उन सभी का संकेत “श्रीभगवद्गीता” में प्राप्त होता है। इसी कारण किसी के भी साथ विरोध न होने से “श्रीभगवद्गीता” सर्वमान्य रही है और रहेगी। अब भगवत्कृपा हुई तो तृतीय-षट्क भी प्रस्तुत करने का हम शीघ्र ही प्रयास करेंगे और उसमें ईश्वरतत्त्व निरूपण, अव्यय, अक्षर, क्षर आदि पुरुषों का विचार, एवं ज्ञान और भक्ति में भगवद्गीता किसे उत्कृष्ट मानती है—इस विषय का भी यथाशक्ति विवेचन किया जायेगा। किन्तु यह सब भगवत्कृपा पर निर्भर है, इसलिए उसी भगवान् के चरण कमलों का ध्यान कर इस छोटे से वक्तव्य को समाप्त करते हैं।

इस खण्ड को प्रस्तुत करने में भी मेरे शिष्य श्रीरामाधीन शास्त्री व्याकरण-  
साहित्याचार्य व्याकरण चक्रवर्ती, एवं पुत्र श्रीशिवदत्त शर्मा व्याकरण साहित्याचार्य  
एम०ए० और पौत्र ईश्वरप्रसाद शर्मा एम०ए० की उल्लेखयोग्य सहायता प्राप्त हुई है,  
अतः उनका आशीर्वाद पूर्वक स्मरण करना भी आवश्यक है।

पौष शुक्ल सप्तमी

२०२० विक्रमाब्द

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

२३ दिसम्बर १९६३ खृष्टाब्द

---

## श्री गीता प्रवचन माला-द्वितीय खण्ड

### भूमिका

ईश्वर की कृपा से श्रीगीताप्रवचन माला का द्वितीय खण्ड पं० गिरिधर जी शर्मा चतुर्वेदी के द्वारा परिपूर्ण हुआ है। इसका पहला खण्ड जिसमें भगवद्गीता के छः अध्यायों की व्याख्या थी, दिसम्बर १९६२ में प्रकाशित हुआ था। उस समय यह योजना थी कि गीता के सम्पूर्ण अध्यायों की व्याख्या तीन खण्डों में समाप्त की जाय। तदनुसार यह दूसरा खण्ड अध्याय ७ से १२ तक इस रूप में प्रकाशित हो रहा है। अब तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक का प्रवचन-भाष्य पण्डित जी लिख रहे हैं। आशा है अगले श्रावणी महोत्सव तक वह भी छपकर पाठकों को प्राप्त हो जायेगा। तदन्तर यह भी योजना है कि उपनिषदों पर पण्डित जी द्वारा विरचित इसी प्रकार का प्रवचन-भाष्य विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित किया जाय। हिन्दू धर्म के महान् ग्रन्थों की व्याख्या प्रस्तुत करने का विचार विश्वविद्यालय की प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत निर्धारित हुआ है। ईश्वर से प्रार्थना है कि पण्डित गिरिधर शर्मा जी को ऐसी शक्ति और दीर्घायुष्य प्रदान करें जिससे उनके द्वारा और अन्य विद्वानों के द्वारा यह योजना संसिद्ध हो सके।

गीता के इस अंश में भी पण्डित जी ने वही शैली रखी है जो प्रथम भाग में थी। इसकी दो विशेषताएँ हैं। एक तो श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि प्राचीन आचार्यों का गीतार्थ के विषय में अभिमत यथा संभव उपन्यस्त किया गया है, दूसरे उपनिषद् और वैदिक प्रमाणों से भी गीतार्थ का समर्थन करते हुए बहुत-सी नई सामग्री प्रस्तुत की गई है। इसके साथ ही सनातन धर्म के दृष्टिकोण से भी धर्मतत्त्व के महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस अंश में पण्डित जी की नवीन विवेचना शैली भी है।

गीता भारतीय संस्कृति का महान् ग्रन्थ है। उसके अर्थों का पारावार नहीं है। किन्तु गीता का स्वारस्य आचार में है। उसे जीवन में जितना ही क्रियान्वित किया जाय वही गीता का सच्चा अर्थ है। इस भाग में भगवान् की विभूतियों का और उनके विराट् रूप का विशेष वर्णन है। दशवें और ग्यारहवें अध्याय के ये वर्णन बहुत दिव्य हैं किन्तु उनका सार यही है कि एक ओर यह सारा विश्व भगवान् का दिव्य विराट् रूप है और दूसरी ओर मनुष्य शरीर उसी का सौम्य प्रतिरूप है। हम इस सौम्यरूप को देखने के अभ्यस्त हो गए हैं इसलिए भगवान् की विराट् महिमा का वर्णन नहीं करते। पर यदि एक क्षण के लिए भी हम अपनी बुद्धि के दिव्य चक्षु से भी भगवान् की उस

दिव्य महिमा के दर्शन का अवसर पा जायँ तो हमारी भी वही दशा होगी जो अर्जुन की हुई थी, अर्थात् किसी बड़े भय से मन व्यथा में डूब जायेगा। तब संसार का कार्य मनुष्य नहीं कर सकेगा। इसलिए सौम्य भाव से जीवन स्थिति का निर्वाह और ईश्वर की शक्ति का निरन्तर स्मरण यही व्यक्ति के लिए कर्तव्य मार्ग है। इस दृष्टिकोण को पाठक यथास्थान पल्लवित देखेंगे।

आशा है पहले खण्ड की भाँति इस द्वितीय-खण्ड का भी व्यापक स्वागत किया जायगा।

पौष शुक्ल सप्तमी

२०२० विक्रमाब्द

दिसम्बर १९६३

वासुदेव शरण अग्रवाल

---

## पुरोवाक्

गीता प्रवचन, गीता व्याख्यानमाला ग्रन्थ का यह द्वितीय भाग का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होते देखकर बहुत हर्ष का होना स्वभावसिद्ध है। इस द्वितीय भाग का प्रथम संस्करण सन् १९६४ में लेखक के जीवन काल में प्रकाशित हुआ था जिसकी भूमिका म०म०पं० श्री गिरिधर शर्मा जी ने (प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक) स्वयं लिखी थी। उस काल में यह ग्रन्थ नेपाल प्रकाशन समिति के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया था जिसके सम्मान्य सम्पादक स्वर्गीय डॉ० वासुदेव शरण जी अग्रवाल महानुभाव थे। उन्होंने ही तीन भागों की भूमिकाएं भी लिखीं। इस प्रकार लेखक की स्वयं और सम्मान्य संपादक की दो भूमिकाओं सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। वे दोनों भूमिकाएं इस द्वितीय संस्करण में भी प्रकाशित की जा रही हैं।

द्वितीय संस्करण के तीनों भागों के सम्पादन का कार्य श्रीमान् डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय जनसम्पर्क अधिकारी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा मुझे दिया गया जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार करके तीनों भागों का संपूर्ण मुद्रित भाग लाल स्याही की कलम के साथ प्रत्यक्षर पाठ करते हुए उसकी मुद्रण अशुद्धियों का शोधन कर श्रीमान् डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय जी को दिया और उनको उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रेस में मुद्रणार्थ भेज दिया। मेरे पूज्य पिता जी की अत्यन्त वृद्ध अवस्था में इस ग्रन्थ का मुद्रण होने से तथा सहयोगी विद्वान् की असावधानी से स्थान स्थान पर अनेक अशुद्धियां छप गई थीं।

वर्तनी में भी पर्याप्त सुधार करना था। इसीलिए प्रूफ संशोधन करने से पहिले प्रेस में भेजी जाने वाली मुद्रित प्रति को आद्योपान्त पढ़कर उसका संशोधन करना अनिवार्यतया आवश्यक था। उससे पर्याप्त सुविधा हुई कि प्रूफ में बहुत अधिक संशोधन की आवश्यकता नहीं रही। फिर भी दो बार तो प्रूफ आद्योपान्त पढ़ना ही होता है, तथा कई बार तीन प्रूफ भी पढ़ने पड़ते हैं। यह सारा श्रम अत्यन्त हर्ष देने वाला था क्योंकि इस ग्रन्थ के अनुपलब्ध हो जाने से प्रायः विगत दस वर्षों से इसकी बराबर मांग बनी हुई थी और आत्मीय जनों के सामने हमें इसकी विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किये जाने की अनुमति न मिलने के कारण लज्जित होना पड़ रहा था। हम बार बार इन वर्षों में कुलपति महोदय तथा सम्बद्ध प्रकाशन अधिकारी महोदय को पत्र लिखकर इसके द्वितीय संस्करण के विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित किये जाने के सम्बन्ध में आवेदन करते रहे, यह भी हमने अनेक बार निवेदन किया कि यदि किसी भी असुविधापूर्ण परिस्थिति के कारण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन

यदि नहीं हो सके तो कृपया इसके द्वितीय संस्करण को अन्यत्र से प्रकाशित कराने की अनुमति विश्वविद्यालय के द्वारा हमें दी जाय। परन्तु मालुम हुआ कि ऐसा करने में भी वैधानिक अड़चनें थीं। अस्तु, अकस्मात् जब डॉ० पाण्डेय जी महानुभाव ने आधिकारिक पत्र भेजकर मुझे इस ग्रन्थ के तीनों भागों के द्वितीय संस्करण के सम्पादन के लिए प्रकाशनार्थ अधिकृत किया तो मुझे इस कार्य को स्वीकार कर तत्काल इस कार्य को पूर्ण करते हुए जितना हर्ष हुआ वह वर्णनातीत है। इसके लिए मैं तथा मेरे समानधर्मा सभी लोग जिन्होंने अनेक पत्र लिखकर इसके उपलब्ध कराने की मुझे प्रेरणा दी, तथा इसके प्रस्तुत द्वितीय संस्करण से लाभान्वित होने वाले समस्त विज्ञ समुदाय के आदरणीय डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय जी, तथा विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, अनेकानेक धन्यवाद के अधिकारी हैं। उन सभी को हम सादर धन्यवाद अर्पित करते हैं।

पहिले मैंने इन तीनों भागों को एक ही बड़ी जिल्द में उपलब्ध कराने का निवेदन किया था जिससे अलग अलग भागों के अनुपलब्ध होने की असुविधा न झेलनी पड़े। इस प्रस्तुत द्वितीय भाग के विषय में यह बात सबसे पहिले सामने आई थी कि प्रथम और तृतीय भाग तो उपलब्ध थे, द्वितीय भाग पहिले ही अनुपलब्ध हो गया। मेरी अपनी प्रति माननीय लोगों ने आग्रह से आवश्यकतावश व्याख्यान देने के आधार के लिए लेकर अपने पास रख ली। प्रस्तुत संस्करण की कापी प्रति कहीं भी पुस्तकालय आदि में नहीं मिल सकी। तब मुझे अनेक स्थानों की यात्रा करनी पड़ी जिन्होंने मुझे यह प्रति मांग कर ली थी, उन्हीं से अन्ततः, मैंने प्राप्त कर प्रकाशनार्थ इसे प्रस्तुत किया। ऐसी कठिनाई भविष्य में न आये इसी उद्देश्य से तीनों खण्डों को एक ही जिल्द में प्रकाशन करने का अनुरोध मैंने किया था, परन्तु उसे श्रीमान् पाण्डेय जी ने यह कहते हुए नहीं माना कि एक तो जिल्द अधिक मोटी होने पर पढ़ने वालों के लिए असुविधाजनक हो जायगी और दूसरी बात यह कि उस स्थिति में इसमें छोटे टाइप का उपयोग किया जाना अनिवार्य हागा और वह भी सुविधा जनक न हो सकेगा।

अन्ततः जैसा प्रकाशन प्रथम संस्करण में किया गया था, वैसा ही प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया।

द्वितीय भाग के प्रथम संस्करण की एक दो बातें और भी उल्लेख करने योग्य हैं। जब इसका लेखन हो रहा था उसी काल में कुछ प्रमुख पत्रों में यह प्रश्न छापा गया किसी विद्वान् के लेख में कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का जो विस्तार से विवरण किया है, और उनमें जिन जिन का नाम लिया है, उनकी

विशेषता क्या है। पिताजी ने इस लेख को पढ़कर उसके उत्तर के रूप में उन विभूतियों का रहस्य विस्तार से लिखा और अपने उस काल के अनेक व्याख्यानों में भी यह कहा कि गीता व्याख्यानमाला के द्वितीय भाग में इसका वर्णन किया गया है। इसलिए इस भाग की तत्काल प्रतीक्षा की जा रही थी, यही कारण है कि यह भाग सबसे पहिले अनुपलब्ध हुआ।

अस्तु, अब अन्य बातों के विस्तार में न जाकर हम इस पुरोवाक् को यहीं पूर्ण करते हैं और विश्वविद्यालय के अधिकारियों को पुनः धन्यवाद अर्पित करते हैं।

इस भाग को प्रस्तुत करने में भी मेरे पुत्र डॉ० संजय चतुर्वेदी व डॉ० प्रयास चतुर्वेदी (रीडर, फ्रेंच विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। इन्हें भी आशीर्वाद देता हूँ।

गुरुपूर्णिमा }  
२००५ }

निवेदक

शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

जी. २८, अरविन्दकोलोनी,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

वाराणसी ।

---



# गीता व्याख्यान माला

## द्वितीय भाग

### विषय-सूची

### सप्तम-अध्याय

पुष्प संख्या	पृष्ठ संख्या
१- प्रथम पुष्प ( ७।१-२ )	१
(१) मध्य षट्क की संगति	
(२) "समग्र" शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ	
(३) ज्ञान और विज्ञान शब्दों का विवेचन	
(४) भगवान् ने अनन्त ज्ञान को परिच्छिन्न कैसे कहा ?	
२- द्वितीय पुष्प ( ७।३-५ )	८
(१) सिद्धि तथा परमासिद्धि का निरूपण	
(२) सप्तम तथा अष्टम अध्याय को "सिद्ध-विद्या" कहने का कारण	
(३) अपने स्वरूप वर्णन की प्रतिज्ञाकर प्रकृति का विवेचन क्यों ?	
(४) प्रकृति शब्द में व्याख्याकारों के मतभेदों का प्रदर्शन तथा पन्द्रहवें अध्याय से इसकी एकवाक्यता	
३- तृतीय पुष्प ( ७।६-७ )	१४
(१) श्री शङ्कराचार्य तथा श्री रामानुजाचार्य का प्रकृति और ब्रह्म के निरूपण में मतभेद तथा विद्यावाचस्पति के मतानुसार भी विवेचन	
(२) अद्वैत द्वैत तथा विशिष्टाद्वैत आदि का एक ही पद्य में संकेत	
४- चतुर्थ पुष्प ( ७।८-१२ )	१८
(१) विभिन्न पदार्थों में साररूप से भगवान् द्वारा अपने स्वरूप का निर्देश	
(२) प्रणव (ओंकार) की सर्व वाक्स्वरूपता	
(३) सात्त्विक राजस एवं तामस भावों का विभिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार विवेचन	
(४) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार 'अहं' शब्द के अर्थ का विभूतियोग और बन्ध के द्वारा जगत् के पदार्थों के साथ संबन्ध	

- ५- पञ्चम पुष्प ( ७।१३-१५ ) २६
- (१) गुणों के आवरण के कारण अव्यय पुरुष के ज्ञान का अभाव
  - (२) श्री शंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य के मतानुसार “माया” का निरूपण
  - (३) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार दैवी माया और आसुरी-माया का विवेचन
- ६- षष्ठ पुष्प ( ७।१६-१९ ) ३२
- (१) चार प्रकार के भक्तों का उदाहरण सहित विवेचन
  - (२) गोस्वामी पुरुषोत्तम जी के मतानुसार भक्तों का वर्गीकरण
  - (३) “वासुदेव” शब्द की निरुक्ति
  - (४) भक्ति और ज्ञान के अङ्गाङ्गि भाव के विषय में विभिन्न आचार्यों के मतभेद प्रदर्शन
  - (५) भक्ति और ज्ञान के अङ्गाङ्गि भाव के सम्बन्ध में अपना विचार
- ७- सप्तम पुष्प ( ७।२०-२४ ) ३७
- (१) माया से मोहित होने के कारण ही मनुष्यों को परमतत्त्व की प्राप्ति में बाधा
  - (२) श्रद्धा-सहित उपासना से ही सब कार्यों की सिद्धि का विवेचन
  - (३) “मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं” इस कथन का विशेष विवेचन
  - (४) सभी मनुष्य भगवान का भजन क्यों नहीं करते ? इसके समाधान में विभिन्न व्याख्याकारों के मत
- ८- अष्टम पुष्प ( ७।२५-३० ) ४४
- (१) ‘योगमाया’ के निरूपण में सभी व्याख्याकारों के मतों का दिग्दर्शन
  - (२) ‘योगमाया’ के सम्बन्ध में श्री विद्यावाचस्पति जी का वैज्ञानिक निरूपण
  - (३) वस्तुतः ‘योगमाया’ से परमतत्त्व का आवरण नहीं होता-इसका उपनिषद् के दृष्टान्त से समर्थन
- अष्टम-अध्याय**
- ९- नवम पुष्प ( ८।१-४ ) ४९
- (१) ब्रह्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ शब्दों की व्याख्या

- (२) 'कथं' और 'कः'—इन दो प्रश्नार्थक शब्दों पर विभिन्न व्याख्याकारों की व्याख्या
- (३) पूर्वोक्त प्रश्नों का विभिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार उत्तर
- १०— दशम पुष्प ( ८।५-८ ) ५७
- (१) भगवान् का स्मरण कर शरीर त्यागनेवालों की गति का श्रीरामानुजाचार्य और श्रीनीलकण्ठ के मतानुसार विवेचन
- (२) मृत्यु-काल में ध्यान करने की विधि का निरूपण
- ११— ग्यारहवाँ पुष्प ( ८।९-१३ ) ६३
- (१) ध्यान-विधि में भगवान् के स्वरूप का निरूपण
- (२) 'ओं' शब्द का श्रुति के अनुसार व्याख्यान
- १२— बारहवाँ पुष्प ( ८।१४-१६ ) ६७
- (१) एकाग्र चित्त होकर भजन करनेवालों को ही भगवान् शीघ्र दर्शन देते हैं—इसका प्रतिपादन
- (२) भगवान् को प्राप्त कर लेने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता—इसका विस्तृत विवेचन
- १३— तेरहवाँ पुष्प ( ८।१७-१९ ) ७४
- (१) "युग" शब्द की व्याख्या में श्री भास्कराचार्य के सिद्धान्त का निरूपण
- (२) ब्रह्मा के दिन और रात में होने वाले कार्य, एवं पुराणोक्त चार प्रकार के प्रलय का विवरण
- (३) "अव्यक्त" शब्द का पुराणोक्त प्रक्रिया के अनुसार अर्थ की संगति
- १४— चौदहवाँ पुष्प ( ८।२०-२२ ) ७९
- (१) अव्यक्तरूप मूलतत्त्व का उदाहरण सहित विवेचन
- (२) "अक्षर" एवं "धाम" शब्द के व्याख्यान में भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों के मतों का दिग्दर्शन
- (३) साम्प्रदायिक व्याख्याकारों के मतानुसार "परपुरुष" का निरूपण
- १५— पन्द्रहवाँ पुष्प ( ८।२३-२६ ) ८७
- (१) "उत्तरायण" और "दक्षिणायन" काल का विवेचन

- (२) उपनिषद् के आधार पर “देवयान” तथा “पितृयाण”  
का प्रदर्शन

१६- सोलहवाँ पुष्प ( श्राद्ध की उपपत्ति पर व्याख्यान ) ११

- (१) “श्राद्ध” शब्द के अर्थों का विश्लेषण  
(२) श्राद्ध कर्म की उपयोगिता का श्रुति एवं पुराणों द्वारा समर्थन

१७- सतरहवाँ पुष्प ( २-श्राद्ध व्याख्यान ) १७

- (१) पितरों के प्रत्यक्ष दर्शन का सोदाहरण उपपादन  
(२) पितृलोक से पुनर्जन्म ग्रहण करने के वैज्ञानिक क्रम-विवेचन  
में वेदोक्त प्रमाणों का संग्रह

१८- अठारहवाँ पुष्प ( ८।२७-२८ ) १०२

- (१) “योगी” शब्द की व्याख्या में व्याख्याकारों के मतों का  
दिग्दर्शन  
(२) सप्तम और अष्टम अध्याय को ‘सिद्धविद्या’ नाम देने में  
श्रीविद्या वाचस्पति जी की युक्ति का निदर्शन

### नवम-अध्याय

१९- उन्नीसवाँ पुष्प ( ९।१-५ ) १०५

- (१) ‘राजविद्या’ के निरूपण में व्याख्याकारों के मतों का स्पष्टीकरण  
(२) सभी साम्प्रदायिक आचार्यों के मतानुसार भगवान् के अपने  
स्वरूप कथन की व्याख्या  
(३) भगवान् के अपने स्वरूप कथन पर हमारा विचार

२०- बीसवाँ पुष्प ( ९।६-१० ) ११३

- (१) बिना संसर्ग के भी आधाराधेय भाव का सोदाहरण निरूपण  
(२) ‘अनन्त कर्म के कर्ता होने पर भी भगवान् को कर्म का  
बन्धन नहीं होता’ इसका उपपादन

२१- इक्कीसवाँ पुष्प ( ९।११-१७ ) ११७

- (१) मनुष्य के प्रकृतियों के कार्यों का दिग्दर्शन  
(२) ‘अहं क्रतुरहं यज्ञ’ इत्यादि पद्यों की वैज्ञानिक व्याख्या

२२- बाईसवाँ पुष्प ( ९।१८-२२ ) १२४

- (१) “गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी” इस पद्य के शब्दार्थों की पुनरुक्ति  
के समाधान में श्रीविद्यावाचस्पति जी का सिद्धान्त

- (२) योग क्षेम के निर्वाह के कारण का उदाहरण सहित व्याख्यान
- २३- तेईसवाँ पुष्प ( १।२३-२८ ) १२९
- (१) “अन्य देवताओं के उपासक भी मेरी (भगवान् की) ही पूजा करते हैं” इस कथन का विवेचन
- (२) “पत्रं पुष्पं फलं तोयम्” इस पद्य की सोदाहरण व्याख्या
- (३) भगवदर्पण बुद्धि से कार्य करने का निर्देश तथा उसके फलों का महत्वकथन
- २४- चौबीसवाँ पुष्प ( १।२९-३४ ) १३६
- (१) भगवान् के सभी प्राणियों में समानभाव का सोदाहरण उपपादन
- (२) भक्ति मार्ग की सुलभता का प्रतिपादन
- (३) “मन्मना भव भद्रतः” इस पद्य की व्याख्या में विभिन्न व्याख्याकारों के मतों का दिग्दर्शन
- दशम-अध्याय**
- २५- पचीसवाँ पुष्प ( १०।१-५ ) १४१
- (१) भगवान् के स्वरूप-ज्ञान का महत्व, तथा श्री रामानुजाचार्य के मतानुसार प्रकृत पद्य के विशेषण पदों का साभिप्राय विवेचन
- (२) मनोवृत्तियों के नामों का व्याख्यान
- २६- छब्बीसवाँ पुष्प ( १०।६-७ ) १४६
- (१) सात महर्षि एवं चार मनु के विवेचन में श्री शङ्कराचार्य, श्री रामानुजाचार्य एवं श्री तिलक आदि के विचारों का प्रदर्शन
- (२) श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार ‘योग’ और ‘विभूति’ शब्द की व्याख्या
- २७- सत्ताइसवाँ पुष्प ( १०।८-११ ) १५०
- (१) भगवद्भाव से युक्त पुरुषों को ‘बुद्धियोग’ की प्राप्ति का विवरण
- (२) श्री शङ्कराचार्य के सिद्धान्तानुसार ज्ञानदीपक के रूप का स्पष्टीकरण
- २८- अट्ठाइसवाँ पुष्प ( १०।१२-१८ ) १५२
- (१) योग और विभूति का विस्तार जानने के लिए अर्जुन द्वारा स्तुति पूर्वक भगवान् से किये गये प्रश्नों का निरूपण

२९- उन्तीसवाँ पुष्प ( १०।१९-२२ )

१५७

- (१) अर्जुन के योग और विभूति, इन दोनों प्रश्नों में केवल-विभूति कथन की भगवान् की प्रतिज्ञा का विभिन्न व्याख्या-कारों के मतानुसार विवेचन
- (२) जगत्पालक विष्णु और देवता रूप विष्णु का विवरण
- (३) उनचास मरुतों की उत्पत्ति का रहस्य
- (४) सामवेद के महत्व का प्रतिपादन

३०- तीसवाँ पुष्प ( रुद्राणां शङ्करश्चास्मि )

१६३

- (१) आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक रुद्रों का परिचय
- (२) उपनिषदों के आधार पर शिवतत्त्व का निरूपण

३१- इकतीसवाँ पुष्प ( शङ्कर का महत्व )

१७०

- (१) शङ्कर के विश्वरूप की व्याख्या
- (२) शङ्कर के श्वेतरूप एवं आभूषणों का वैज्ञानिक विवेचन
- (३) ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर की एकता का उपपादन
- (४) महाभारत तथा कूर्म पुराणोक्त भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा भगवान् शङ्कर की आराधना का उल्लेख

३२- बत्तीसवाँ पुष्प ( १०।२३-२७ )

१७९

- (१) महर्षि भृगु के परीक्षक रूप का वर्णन
- (२) महर्षि और देवर्षि शब्द की व्याख्या

३३- तैंतीसवाँ पुष्प ( १०।२८-३१ )

१८३

- (१) सर्प और नाग के भेद में विभिन्न व्याख्याकारों का मत
- (२) 'रामः शस्त्रभृतामहम्' इस पद्यांश की व्याख्या
- (३) गङ्गा जल के महत्व का श्रुति एवं पुराणों द्वारा उपपादन

३४- चौंतीसवाँ पुष्प ( श्री गङ्गा का महत्व )

१९०

- (१) देवी भागवत के आधार पर श्री गङ्गा के उद्भव का रहस्य-कथन

- (२) श्री गङ्गा के 'धर्मद्रवी' नाम का रहस्य

३५- पैंतीसवाँ पुष्प ( १०।३२-३६ )

१९४

- (१) 'मैं सब सृष्टि का आदि अन्त और मध्य हूँ' इस कथन का न्याय दर्शन एवं पुष्टिमार्ग के मतानुसार व्याख्यान

(२) 'अक्षराणामकारोऽस्मि' इस अंश की विशेष व्याख्या

३६- छत्तीसवाँ पुष्प ( १०।३७।४२ )

२००

(१) वासुदेव, धनञ्जय, व्यास तथा उशना रूप विभूतियों का विवरण

(२) विभूतियों के पहचानने के लक्षण और भगवान् की व्यापकता का निर्देश

### एकादश-अध्याय

३७- सैंतीसवाँ पुष्प ( ११।१-४ )

२०३

(१) अध्यात्मविद्या की महत्ता

(२) भगवान् के लिए प्रयुक्त सम्बोधनों का तात्पर्य

(३) अर्जुन के श्रवण, मनन और निदिध्यासन का दिग्दर्शन

(४) शाब्दिक ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान

(५) भीमसेन और हनुमान

३८- अड़तीसवाँ पुष्प ( ११-५-८ )

२०९

(१) अभिमान शून्यता से उपदेश प्राप्ति का आधार

(२) अर्जुन के लिए सम्बोधनों का तात्पर्य

(३) विश्वरूप के दृश्य

(४) विश्वरूप का सर्वाश्रयत्व

(५) यान्त्रिक गवेषणा और अतीन्द्रिय ज्ञान

(६) दिव्य चक्षु का निरूपण

३९- उन्तालीसवाँ पुष्प ( ११-९-१४ )

२१८

(१) विश्वरूप के द्रष्टा

(२) भगवान् के अनेक सम्बोधन और उनका तात्पर्य

(३) भगवान् के अनेक मुख का रहस्य

(४) आभरणों के वर्णन की विशेषता और देवताओं के ध्यान में आभूषणों का महत्त्व

(५) उपमा और अतिशयोक्ति का उपयोग और प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ उदाहरण

(६) तेजोवर्ण की विलक्षणता पर व्याख्याकारों का मतभेद

(७) विश्वरूप के प्रकाश से गीता ज्ञान की समानता

(८) शुद्ध पुष्टि और मर्यादा पुष्टि के ध्यान की प्रक्रिया

४०- चालीसवाँ पुष्प ( ११-५-२२ )

२३०

- (१) देवताओं के दर्शन का विशेष महत्व
- (२) ब्रह्मा का तात्त्विक स्वरूप
- (३) त्रिदेव का दर्शन और ऋषियों का महत्व
- (४) अनन्त और वासुकि का अन्तर
- (५) "दीप्तानलार्कद्युति" में सन्देह और समाधान
- (६) "शाश्वतधर्म गोप्ता" का विवरण
- (७) लोकत्रय के व्यथित होने पर शङ्का और उत्तर
- (८) शङ्कराचार्य के मतानुसार देवों के विश्वरूप में प्रवेश की व्याख्या
- (९) रुद्र, आदित्य और वसुओं के नाम

४१- इकतालीसवाँ पुष्प ( ११-२३-३१ )

२३८

- (१) परमेश्वर के सामर्थ्य
- (२) अन्तरात्मा की व्यथा
- (३) श्री विष्णु के संहारक रूप की मीमांसा

४२- बयालीसवाँ-पुष्प ( ११-३२-३९ )

२४४

- (१) "काल" शब्द का अर्थ
- (२) "काल" शब्द पर विशेष वक्तव्य
- (३) दर्शन शास्त्र में काल का स्वरूप
- (४) आगम शास्त्र में काल तत्त्व
- (५) भीष्म का महत्त्व
- (६) "जयद्रथ" में विशेष शक्ति का आधान
- (७) अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति
- (८) "देव" और "पुरुष" शब्दों की व्युत्पत्ति

४३- तैंतालीसवाँ पुष्प ( ११-४०-४६ )

२५३

- (१) प्रणाम और क्षमा याचना
- (२) चतुर्भुज रूप का उपपादन
- (३) भगवान् कृष्ण की शास्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा पर शङ्का और समाधान

४४- चौवालीसवाँ पुष्प ( ११-४७-४९ )

२५६

- (१) "आत्मयोग" शब्द की विभिन्न व्याख्याएँ



- (२) भगवान् श्री कृष्ण के दो रूपों का दिग्दर्शन
- (३) अन्यत्र प्रदर्शित विश्वरूप से इस रूप की विशेषता का प्रतिपादन
- (४) वेद और यज्ञ का सम्बन्ध
- (५) भारतीय संस्कृति में दान का महत्त्व

४५- पैतालीसवाँ पुष्प ( ११-५०-५५ )

२६१

- (१) “स्वकं रूपं दर्शयामासा भूयः” इस पर शङ्का और उत्तर
- (२) देवताओं को भी विश्वरूप-दर्शन की अभिलाषा का तात्पर्य
- (३) “अनन्यभक्ति” की विभिन्न व्याख्या

द्वादश-अध्याय

४६- छियालीसवाँ पुष्प ( १२।१-५ )

२६७

- (१) प्रत्यक्ष आपके और अव्यक्त अक्षर के उपासकों में कौन श्रेष्ठ है ?  
अर्जुन के इस प्रश्न का भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों के  
मतानुसार विवेचन
- (२) साकारोपासकों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन
- (३) अक्षर ब्रह्म के सात विशेषणों का विश्लेषण
- (४) अक्षर ब्रह्म की उपासना के प्रकार का निरूपण
- (५) अव्यक्त या अक्षर की उपासना में अत्यन्त क्लेश का निर्देश

४७- सैंतालीसवाँ पुष्प ( १२।६-१० )

२७८

- (१) सगुण साकारोपासकों के शीघ्र उद्धार का उपपादन
- (२) “मत्कर्म परमो भव” इस पद्यांश की व्याख्या में ब्रह्म के मूर्त  
एवं अमूर्त रूपों का निरूपण

४८- अड़तालीसवाँ पुष्प ( मूर्ति-पूजा का समर्थन-१ )

२८३

- (१) “शालग्राम” और नर्मदेश्वर की पूजा का सरहस्य व्याख्यान
- (२) विष्णु पुराण आदि के आधार पर विष्णु की मूर्ति का विवरण
- (३) ब्रह्मा की मूर्ति के व्याख्यान में “सावित्री” और “गायत्री” के  
स्वरूप का वैज्ञानिक रहस्य
- (४) निगम, आगम एवं पुराणों के आधार पर महाशक्ति के स्वरूपों  
का दिग्दर्शन
- (५) गणेश की प्रतिमा तथा उनके आयुधों का सरहस्य विवेचन
- (६) वेदमूर्ति भगवान् सूर्य की एवं उनकी गति तथा अश्वों का  
वैदिक परिभाषा के अनुसार विश्लेषण

४९- उनचासवाँ पुष्प ( मूर्ति-पूजा का समर्थन-२ )

२९६

- (१) विभिन्न मूर्तियों की आवश्यकता का उपपादन
- (२) मूर्तिपूजा के विरोधी भी मूर्ति-पूजक
- (३) वेद में भी मूर्तिपूजा का विधान
- (४) “न तस्य प्रतिमा अस्ति” इस मन्त्र की सुसङ्गत व्याख्या
- (५) “सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्” इस मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ
- (६) उपनिषदों में पर ब्रह्म के रूपनिषेध का तात्पर्य
- (७) “यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके” इस कथन का रहस्य
- (८) “न प्रतीके नहि सः” इस ब्रह्म सूत्र का विवेचन

५०- पचासवाँ पुष्प ( १२।११-१२ )

३१०

- (१) निष्काम कर्म की सरलता
- (२) “श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्” इस पद्य की भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार व्याख्या
- (३) पूर्वोक्त पद्य पर अपना विचार

५१- इक्क्यावनवाँ पुष्प ( १२।१३-२० )

३१५

- (१) श्री शङ्कराचार्य के मतानुसार अक्षरोपासकों की भावना का विवरण
- (२) “शुभाशुभपरित्यागी”, “अनिकेतः”, धर्म्यामृतम्” इन पदों के अर्थों का विवेचन

---

# द्वितीय षट्क

## सप्तम-अध्याय

### प्रथम-पुष्प

#### श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥२॥

कर्म, उपासना और ज्ञान का क्रम से गीता में सन्निवेश मानने वालों के मत के अनुसार मध्य षट्क में अर्थात् सप्तम से द्वादश अध्याय पर्यन्त उपासना का निरूपण है। उपासना; उपास्य स्वरूप ज्ञान के बिना नहीं हो सकती इसलिए भगवान् ने अपना स्वरूप निर्देश भी इसी षट्क में किया है। उस स्वरूप निर्देश की ही प्रतिज्ञा श्रोता को सावधान करने के लिए प्रथम पद्य में की गई है, “तत्त्वमसि” इस महावाक्य के तीनों खण्डों का विवरण तीनों षट्कों में है—इस श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि के मतानुसार त्वं पदार्थ का निरूपण प्रथम खण्ड में हुआ, अब तत्पदार्थ का निरूपण करने के लिए मध्यम खण्ड का प्रारम्भ होता है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार भगवद्गीता में चार खण्ड हैं। बुद्धि के वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और धर्म नाम के चार सात्विक रूपों से वैराग्य का विस्तार प्रथम षट्क में किया गया, सप्तम और अष्टम अध्यायों में “ज्ञान” का निरूपण किया जाता है, जो कि उनके मतानुसार “सिद्धविद्या” है। इस विद्या में भगवान् की रुचि अल्प है, इसलिए इसका उपदेश दो ही अध्यायों में दिया गया है। आगे के चार अध्यायों में “ऐश्वर्ययोग”, अर्थात् भक्तिमार्ग कहा गया है, किसी भी प्रकार से देखो, सप्तम और अष्टम अध्यायों में तो भगवान् का स्वरूप निर्देश ही मानना सभी मार्गों से उचित होगा। ज्ञान योग भी बिना ज्ञेय के पूर्ण नहीं होता, इसलिए मुख्य ज्ञेय रूप भगवान् का ही स्वरूप निर्देश मानना यहाँ आवश्यक है। उसी की प्रतिज्ञा प्रथम पद्य में की जाती है।

पूर्व अध्याय के साथ इसकी संगति इस प्रकार है कि उसके अन्त में “सब योगियों में जो अन्तरात्मा को मुझ परमेश्वर में निवेशित कर श्रद्धा पूर्वक मेरा भजन

करता है वह विशेष कर योगयुक्त माना जाता है यह कहा गया है। अब किस प्रकार मुझ परमेश्वर में मन लगाया जाय इसकी विधि बताने के लिए अपना स्वरूप निर्देश इस अध्याय से आरम्भ किया जाता है।

पद्य का अर्थ है कि हे पार्थ तू मुझमें ही अपने मन को आसक्त कर योग का आचरण करता हुआ और मुझे ही अपना आश्रय मानता हुआ, जिस प्रकार संशय रहित रूप से मेरा पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकेगा उस प्रकार को सुन।

यद्यपि अर्जुन को ही यह प्रश्न करना उचित था कि आप में अन्तःकरण का निवेश किस प्रकार किया जाय, इसे बतलाने के लिए आप अपना स्वरूप बतलाइये। किन्तु अर्जुन को प्रश्न करता न देख कर परम कारुणिक भगवान् श्रीकृष्ण ही अपनी ओर से अपने स्वरूप का कथन प्रारम्भ करते हैं। जैसे कोई राजा का भृत्य हो तो उसका आश्रय तो राजा होगा और आसक्ति उसकी किसी धन आदि में रहेगी। ऐसा भी यहाँ न हो, यहाँ तो परमात्मा में ही चित्त की आसक्ति रहे और उसी को आश्रय माना जाय। योग शब्द का अर्थ यहाँ शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी अन्य व्याख्याकार पूर्व अध्याय में कही गई चित्त की एकाग्रता ही करते हैं। किन्तु लोकमान्य तिलक का तो सिद्धान्त है कि गीता में योग शब्द सर्वत्र ही “कर्मयोग” का वाचक है। तदनुसार वे यहाँ भी “योगं युञ्जन्” का अर्थ “कर्मयोग करता हुआ” यही करते हैं।

“समग्रं मां” ऐसा कहने में यह शङ्का हो सकती है कि क्या भगवान् भी खण्ड और पूर्ण दो रूप में हैं ? वे तो सदा पूर्ण रूप ही रहते हैं फिर पूर्ण रूप से समझ लेना, इसका तात्पर्य क्या है ? इसका उत्तर श्रीशङ्कराचार्य यह दे रहे हैं कि पूर्ण रूप से अर्थात् विभूति, ऐश्वर्य, शक्ति आदि का पूर्ण ज्ञान कर सकेगा। यही भगवान् का तात्पर्य है और इसी के अनुसार इसी षट्क में विभूति, विश्वरूप प्रदर्शन आदि भी अन्तर्गत हैं।

श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार तो “समग्र” शब्द का अर्थ जीव, प्रकृति रूप शरीर सहित ही होगा।

श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी ने “समग्र” शब्द का अर्थ सर्वरसयुक्त किया है। उनका तात्पर्य है कि भक्ति दोनों प्रकार से होती है। एक केवल भगवान् का भजन और एक सभी रसों, अर्थात् शृङ्गार माधुर्य आदि रसों को सम्मिलित कर भगवद्भजन। उनमें से उस सम्प्रदाय में दूसरा प्रकार ही श्रेष्ठ माना जाता है, उसी का यहाँ संकेत है (१)

हे पार्थ ! मैं तुझे विज्ञान सहित ऐसा ज्ञान सम्पूर्णरूप कहता हूँ कि जिसके जान

लेने पर फिर कोई जानने की बात शेष नहीं रह जाती” यहाँ “ज्ञान” शब्द को व्याकरण की रीति से करण वाचक ल्युट् प्रत्ययान्त मानना चाहिए। इससे यहाँ ज्ञान का “वक्ष्यामि” क्रिया का कर्म होना और उत्तरार्द्ध में “ज्ञात्वा” का कर्म होना उचित होगा। क्योंकि करण साधन मान लेने पर ज्ञान, विज्ञान शब्दों का अर्थ शब्द ही हो गया। शब्द का ही कहना भी बन सकता है, और उत्तरार्द्ध में भी उन शब्दों का तात्पर्य समझ कर—यह अर्थ सुसंघटित हो सकेगा।

यहाँ ज्ञान और विज्ञान का भेद बताने के लिए श्रीशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में विज्ञान शब्द का अर्थ विशेष ज्ञान अर्थात् अनुभव सहित ज्ञान किया है। इसका तात्पर्य है कि पहिले वाक्यों से शब्द ज्ञान होता है फिर मनन के द्वारा उस पर असंभावना और विपरीत भावना हटाई जाती है, इसके अनन्तर जो दृढ़ ज्ञान हो गया उसका निदिध्यासन अर्थात् बार बार अभ्यास करने पर ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, यह वेदान्त की प्रक्रिया है। जैसा कि कहा गया है—

**श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।**

**मत्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः ॥**

पहिले श्रुति के वाक्यों से श्रवण करना चाहिये, फिर युक्तियों से मनन करना चाहिये और मनन से दृढ़ कर उस तत्त्व का निरन्तर ध्यान करना चाहिए, इसी से दर्शन अर्थात् साक्षात्कार होता है।

वह साक्षात्कार ही स्वानुभव नाम से कहा जायेगा, वही विज्ञान शब्द का अर्थ है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह होगा कि वह स्वानुभव तो कहने की वस्तु नहीं है। वह तो अपनी बुद्धि में ही प्रकट होता है, फिर उसे “वक्ष्यामि” का कर्म कैसे बनाया जाय ? महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी इसका यह समाधान करते हैं कि “दशमस्त्वमसि” इत्यादि वाक्यों से शब्दजनित भी अनुभवरूप ज्ञान होता है। इससे उसका कथन विरुद्ध नहीं माना जायेगा, किन्तु फिर भी यह प्रश्न तो रहेगा ही कि ऐसी कोई स्वानुभव की बात आगे गीता में कही नहीं गई है, तब “वक्ष्यामि” यह प्रतिज्ञा कैसे सुसंगत होगी ?

श्रीरामानुजाचार्य “विज्ञान” शब्द का अर्थ पृथक् रूप का ज्ञान, और ज्ञान शब्द का अर्थ स्वरूप ज्ञान करते हैं। इसका तात्पर्य स्वयं स्पष्ट करते हैं कि चिद् और अचिद् दोनों मेरे शरीर हैं, मैं उनसे पृथग्भूत अनन्त कल्याण गुण वाला हूँ। यहाँ भी यही प्रश्न होगा कि स्वरूप ज्ञान में ही पृथक् होना तो आ गया फिर विज्ञान शब्द कहने का कोई प्रयोजन नहीं रहता ?

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ज्ञान, विज्ञान शब्दों का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—  
अनेक में एक भाव को अनुगत देखना ज्ञान है और एक को ही अनेक रूपों में  
विकसित देखना विज्ञान है। दूसरे शब्दों के कार्यों में कारण को अनुगत देखना ज्ञान,  
और एक कारण से अनेक कार्यों का उद्भव देखना विज्ञान है। यही बात प्रकृत श्लोक  
की व्याख्या ज्ञानेश्वरी में श्रीज्ञानदेवजी ने भी कही है कि—

तीरलग्ना तरणीव कुण्ठीभवति शेमुषी,  
परावृत्तपदो दूराद् विचारश्चापसर्पति ।  
तर्कोऽपि नैवोत्सहते यत्र तज्ज्ञानमर्जुन,  
प्रपञ्चोऽन्यत्तु विज्ञानमज्ञानं तत्र सत्यधीः ॥

अर्थात् जहाँ तीर पर लगी हुई नौका की तरह बुद्धि आगे चलने से रूक जाती  
है और बुद्धि की विचार शक्ति भी जिसके समीप जाने में पीछे पैर कर लौट आती है  
एवं तर्कशक्ति भी जहाँ काम नहीं करती वह ज्ञान है एवं उस एक कारण से ही सम्पूर्ण  
प्रपञ्च का उद्भव मानना विज्ञान है, तथा उस प्रपञ्च को सत्य मान लेना अज्ञान है।  
इसमें शब्दों के अर्थ बताने के साथ ही ज्ञान की अत्यन्त दुरूहता भी कही गई है।  
इससे श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या की भी सुसंगति हो जाती है कि शब्द मात्र से समर्पित  
परोक्षज्ञान “ज्ञान” है और उसे ही अनुभव में ले लेना “विज्ञान” है। अनेक में एक  
तत्त्व को अनुगत देखना केवल शब्द मात्र के आधार पर ही हो सकता है और एक  
से अनेक तत्त्वों का विकास, अनुभव अर्थात् बुद्धि में भी आ सकता है। इस अभिप्राय  
से श्रीशङ्कराचार्य के अक्षर भी लगाये जा सकते हैं। श्रीभागवत में भी एकादशस्कन्ध  
के उन्नीसवें अध्याय में ज्ञान विज्ञान शब्द आये हैं और उनका विवरण भी विद्यावाचस्पतिजी  
की व्याख्या के अनुकूल ही वहाँ मिलता है—

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ।  
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥  
एतदेव हि विज्ञानं तथैवैकेन येन यत् ।  
स्थित्युत्पत्तिलयान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥

( ११, १९, १४-१५ )

अर्थात् जगत् के अनन्त पदार्थों का नौ, ग्यारह, पाँच और तीन के रूपों में  
समझना और अन्त में सबमें एक ही मूल तत्त्व को अनुगत देखना ज्ञान है। यही विज्ञान  
भी है, किन्तु उसमें इस तरह नहीं देखा जाता, अपितु प्रक्रिया का भेद हो जाता है।

एक से ही त्रिगुणात्मक जगत् में भावों की उत्पत्ति स्थिति और लय देखना यह विज्ञान की प्रक्रिया है। अमरकोश में भी ज्ञान और विज्ञान शब्द के ऐसे ही अर्थ बतलाये गये हैं कि -

**“मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः”**

अर्थात् मोक्ष में बुद्धि लगाना ज्ञान है और शिल्प या शास्त्रों में जो बुद्धि हो वह विज्ञान है।

यह सभी जानते हैं कि मोक्ष प्राप्ति सब जगत् में एक तत्त्व को देखने से ही होती है और शिल्प या अन्य शास्त्रों में एक का अनेक रूप से विस्तार ही किया या कहा जाता है। इससे ज्ञान विज्ञान शब्द की अनेकार्थकता भी नहीं माननी पड़ती।

आगे प्रतिज्ञा के अनुकूल गीता में भी दोनों ही प्रकार मिलते हैं। अभी चौथे पाँचवें श्लोक में अपनी आठ प्रकार की “अपरा” प्रकृति और एक प्रकार की “परा” प्रकृति बतला कर पहिले विज्ञान का उपदेश दिया गया और छठे सातवें श्लोकों में अपनी सब जगत् में व्यापकता बतलाकर ज्ञान का उपदेश दिया एवं सात्त्विक ज्ञान अर्थात् उत्तम ज्ञान का यही लक्षण अद्वारहवें अध्याय के बीसवें श्लोक में भी कहा गया है, जिसकी व्याख्या यथावसर की जायगी। इस प्रकार श्रीविद्यावाचस्पतिजी की ज्ञान विज्ञान शब्दों की व्याख्या सब प्रकार से सुसंगत प्रतीत होती है।

अब उत्तरार्द्ध पर विचार करना प्राप्त है। संसार के सभी विद्वान् भारतीय तथा अन्य देशीय ज्ञान को अनन्त ही मानते हैं। योरोपीय विद्वान् न्यूटन ने अपने अन्तिम समय में कहा था कि “मुझे लाग चाहे बहुत बड़ा विद्वान् समझें किन्तु मेरा अपना अनुभव तो ऐसा कहता है कि मैं ज्ञान समुद्र के तीर पर ही खड़ा था और समुद्र की लहरों से जो सीपी आदि आ जाती थी उनके ही उपयोग से अपना गुजारा करता रहा”। इस कथन से उन्होंने विज्ञान समुद्र का अथाह होना ही बतलाया। हमारे देश के परम विद्वान् श्रीभर्तृहरि ने भी लिखा है कि -

**यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विपइव मदान्धः समभवम्,**

**तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।**

**यदा किञ्चित् किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतम्,**

**तदामूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥**

अर्थात् जब मैं बहुत थोड़ा जानता था तब हाथी की तरह मद से अन्धा होकर यह समझता था कि मैं सब जानता हूँ। किन्तु ज्यों ज्यों बुद्धिमान् पण्डितों के पास

बैठकर कुछ कुछ जानने लगा तब वह पहले वाला मद ज्वर की तरह उतर गया और मैं यह समझ गया कि मैं तो निरा मूर्ख हूँ, कुछ भी नहीं जानता।

इन सब कथनों से सभी महा विद्वानों ने ज्ञान-समुद्र की अति गम्भीरता ही प्रकट की है और यही सूचित किया है कि इस समुद्र का पार कोई नहीं पा सकता। फिर यहाँ भगवान् ने इस छोटे से ग्रन्थ में यह प्रतिज्ञा कैसे कर दी कि इसके जानने के अनन्तर कुछ भी जानने की बात बाकी नहीं रहेगी। कुछ लोग उपहास करते हैं कि यह तो आजकल के नोटिसबाजों की सी बात हुई। जैसा नोटिसबाज कहा करते हैं कि हमारी एक दवाई खा लेने से फिर शरीर में कोई रोग नहीं रहेगा। वैसा ही यह कथन भी हुआ कि इस ज्ञान विज्ञान के जानने के अनन्तर कुछ भी जानने की बात बाकी नहीं रहती। किन्तु विचार करने पर प्रतीत होता है कि यह उपहास व्यर्थ है। इस कथन में बड़ी गम्भीरता है।

भगवद्गीता उपनिषदों का सार है। छान्दोग्योपनिषद् में पिता उद्दालक और पुत्र श्वेतकेतु का संवाद मिलता है। जब श्वेतकेतु अपने गुरु के घर से विद्या पढ़ कर अपने घर आया तो उसके मुख की आकृति से पिता उद्दालक ऋषि ने समझा कि पुत्र को विद्या का अभिमान अधिक हो गया है, यह अभिमान इसका हटाना चाहिए, अन्यथा इसे अभिमान नाश की ओर ही ले जायेगा। इस विचार से उन्होंने पुत्र को अपने समीप बैठा कर पूछा कि कहो पुत्र, क्या क्या पढ़ आये हो। श्वेतकेतु ने कहा कि पिताजी सब कुछ पढ़ लिया। गुरुजी जितनी विद्या जानते थे वे सब विद्याएँ उन्होंने कृपाकर दे दीं। इस पर उद्दालक पूछने लगे कि तुमने गुरु से ऐसी विद्या प्राप्त की है कि जिससे बिना पढ़ा हुआ भी पढ़े हुए के समान हो जाय। जिस बात का कभी विचार न किया हो वह भी विचारी हुई सी जान पड़े। यह सुन कर श्वेतकेतु चौंक पड़ा और कहने लगा कि पिताजी ऐसी विद्या तो गुरुजी ने नहीं पढ़ाई और जहाँ तक मैं समझता हूँ, गुरुजी भी ऐसी विद्या नहीं जानते होंगे, क्योंकि अगर जानते होते तो मुझे अवश्य बतला देते। इसलिए अब मैं आपसे ही पूछता हूँ, आप ही कृपा कर बताइये कि वह विद्या कैसी है। इस प्रकार पुत्र का अभिमान ढीला हुआ देख कर पिता उद्दालक उसे उपदेश देने लगे कि हे पुत्र मैं तुम्हें बतलाता हूँ अवधान से सुनो।

जैसे मृत्तिका के बने हुए जगत् में जितने पदार्थ हैं, उन सबका पृथक् पृथक् ज्ञान एक मनुष्य के लिए दुष्कर है, किन्तु एक मृत्तिका के गोले को जान लेने से मृत्तिका के बने सभी पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न पदार्थ केवल वाणी के द्वारा ही बनाये हुए हैं, अर्थात् नाम रूप ही सबके भिन्न-भिन्न हैं। सबमें अनुस्यूत सत्य पदार्थ तो केवल एक मृत्तिका ही है। इसी प्रकार एक सुवर्ण को जान



लेने पर सुवर्ण के बने हुए कटक, कुण्डल, केयूर आदि सभी पदार्थ जान लिए जाते हैं एवं लोहे की बनी हुई नख काटने की नापित की नहरनी को जान लेने पर सब लोहे के बने पदार्थ जान लिए जाते हैं क्योंकि एक छोटे से लोहे के बने पदार्थ को देख लेने पर लोहे का ज्ञान हो गया, इससे लोहे के पदार्थ जान लिए गये। इसी प्रकार सब जगत् का एकमात्र मूल कारण जो “सत्” पदार्थ है, उसके जान लेने पर सभी जगत् के पदार्थ जान लिए गये; क्योंकि जगत् के सब पदार्थ तो कल्पना मात्र हैं, उनमें केवल नाम रूप का ही भेद है। सत्य पदार्थ तो सबमें अनुगत एक “सत्” ही है; जिसे ब्रह्म नाम से व्यवहार के लिए कहा जाता है। इसे ही वेदान्त में एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा कहा जाता है।

इसका तात्पर्य यही हुआ कि एक कारण के ज्ञान से सब कार्यो का ज्ञान हो जाता है; क्योंकि कोई भी कार्य अपने कारण से भिन्न नहीं है। इसी प्रक्रिया का आलम्बन कर भगवान् ने भी यहाँ यह उपदेश दिया है कि मैं तुम्हें सब जगत् के मूल कारण का ज्ञान करा देता हूँ। उसको जान लेने पर और कुछ भी जानने की बात बाकी नहीं रह जायेगी। इससे यही दिखलाया कि अब मैं तुम्हें सब जगत् का मूलतत्त्व बतला देता हूँ। उसे जान लेने पर फिर काल्पनिक जगत् में और कोई जानने की बात बाकी नहीं रहेगी। आगे कई प्रकार से मूलतत्त्व का ही विवरण किया गया है और पन्द्रहवें अध्याय में अव्यय पुरुष ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का मूल है, यह बतला दिया गया है। इस विचार से भगवान् की यह प्रतिज्ञा बड़ी गम्भीरार्थक प्रतीत होती है (२)



## द्वितीय-पुष्प

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।  
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेति तत्त्वतः ॥३॥  
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव ।  
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥  
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।  
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

यहाँ अर्जुन के मन में यह शङ्का हुई होगी कि जब आप ही सब प्रपञ्च के मूल कारण हैं और घट शराब आदि में मृत्तिका के समान या कनक कुण्डल आदि में सुवर्ण के समान आप सबमें व्यापक हैं तो फिर सभी जीव अपने में भीतर रहने वाले आपका ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त कर लेते। यदि कहें कि मन बुद्धि आदि के आवरण से ढँका हुआ होने के कारण मुझे नहीं जान सकते, तो भी यह प्रश्न होगा कि उस आवरण को हटाने का प्रयत्न सब लोग क्यों नहीं करते। ऐसी अर्जुन की शङ्का जान कर भगवान् स्वयं ही उसका उत्तर दे देते हैं कि मैं यद्यपि सब में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ, परन्तु मेरी माया से मोहित होकर सांसारिक जीव मुझे ढूँढ़ने के प्रयत्न में ही नहीं लगते। अन्य तिर्यग्योनि आदि को तो इतना ज्ञान ही नहीं है कि वे अपने भीतर मुझे देख सकें। केवल मनुष्य ही शास्त्राधिकारी होने के कारण शास्त्रों से मेरा पता पाते हैं। किन्तु वे भी मेरी माया के वश में पड़े हुए संसार के भोगों में ही आसक्त रहते हैं। हजारों में कोई एक पुरुष मेरे ज्ञान की प्राप्ति रूप सिद्धि के लिए प्रयत्न करने लगता है। जो इस प्रयत्न में लगे उसे ही सिद्ध कहना चाहिए। यद्यपि सिद्धि उसे प्राप्त नहीं हुई किन्तु सन्मार्ग पर आ गया, इसलिए सिद्ध कहलाने का अधिकारी हो गया। ऐसे भी हजारों पुरुषों में से कोई एक ही मुझे पूर्ण रूप से जान पाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सिद्धि के ज्ञान दो प्रकार समझने चाहिए—एक सामान्य सिद्धि, दूसरी परमा सिद्धि। सब अज्ञान पतित जीवों में ज्ञानमय आत्मस्वरूप को देखना, अतएव ज्ञान प्राप्ति के लिए यत्न में लगना सामान्य सिद्धि हुई। जिसके कारण प्रयत्न में लगने वाले भी सिद्ध कहलाये और आत्मा के सब आवरण हटा कर परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर स्वयं भी ज्योति स्वरूप बन जाना परमासिद्धि है। इन दोनों का ही इस पद्य में वर्णन किया गया कि ज्ञान के लिए प्रयत्न रूप सिद्धि भी हजारों में कोई एक करता है और मेरा यथार्थ

ज्ञान तो यत्न करने वाले भी हजारों में से किसी एक को होता है। अर्थात् परमासिद्धि प्राप्त करने वाला तो लक्षकोटि में कोई एक निकलता है। जैसा कि इतिहासों में वामदेव, शुकदेव आदि के इने गिने ही उदाहरण मिलते हैं। श्रीरामानुजाचार्यजी पद्य के उत्तरार्द्ध के भी दो भाग करते हैं कि यत्न करने वालों में भी बहुतों में कोई एक सिद्धि प्राप्त करता है; और सिद्धों में से भी कोई एक मेरा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। अर्थात् अवतार विभूति आदि के रूप में चाहे मुझे जान ले, किन्तु सत् चित् आनन्द रूप से मेरा यथार्थ अनुभव तो बहुत ही दुष्कर कार्य है। ऐसे अति दुष्कर ज्ञान का मैं तुम्हें उपदेश देने लगा हूँ। इसलिए तुम अपने को परम सौभाग्यशाली समझो यही तात्पर्य हुआ।

यहाँ ज्ञान के लिए प्रयत्न करने वालों को भी सिद्ध कहा गया है। इसी कारण श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इस विभाग को “सिद्धविद्या” नाम से निर्देश किया है। अर्थात् ज्ञानियों के मनन करने योग्य विषय इसमें बतलाये गये हैं, इसलिए “सिद्ध-विद्या” यह नाम अनुगतार्थ है (३)

अब आगे प्रतिज्ञा के अनुसार स्वरूप प्रदर्शन का आरम्भ करते हैं कि पृथिवी, जल, अनल अर्थात् तेज, वायु, ख अर्थात् आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है। यह अपरा प्रकृति जाननी चाहिए। इससे भिन्न जीव रूप मेरी परा प्रकृति समझो, जिससे कि सम्पूर्ण जगत् का धारण हो रहा है। जीव शब्द “जीव प्राण धारणे” धातु से बनता है; इससे प्राण को धारण करने वाली मेरी परा प्रकृति है, यह भी अर्थसंगत हुआ।

यहाँ पहिले यह प्रश्न उठता है कि भगवान् ने प्रतिज्ञा तो की अपना स्वरूप बतलाने की और करने लगे अपनी प्रकृति का वर्णन, ऐसी विभिन्नता क्यों ? इसका उत्तर है कि समग्र रूप से मुझे जिस प्रकार जानोगे यह प्रतिज्ञा में निर्देश था। समग्र रूप से जानने का यही अर्थ है कि प्रकृतियों सहित भगवान् को जाना जाय। इसलिए प्रकृतियों का भी निर्देश आवश्यक हुआ। अथवा इस प्रकार समझें कि भगवान् का अपना रूप तो वाणी तथा मन से परे है, वह तो किसी का ज्ञेय हो ही नहीं सकता, तब प्रकृति विशिष्ट भगवान् को या माया शबलित ब्रह्म को ही जाना जा सकता है, यही सूचित करने के लिए भगवान् ने पहिले अपनी प्रकृतियों का निर्देश किया है कि प्रकृति में ही मेरा रूप देख सकते हो। प्रकृतियों से अलग कर मुझे नहीं जान सकते। वेदान्तशास्त्र में भी मायाशबलित ब्रह्म को ही ज्ञान का विषय माना जाता है। परब्रह्म अर्थात् निष्कल ब्रह्म तो वाणी और मन से परे ही है। उसके लिए तो उपनिषद् भी “न विद्मः” “न विजानीमः” कहते हैं। अर्थात् सामान्य रूप से या विशेष रूप से हम नहीं जान सकते।

सांख्य शास्त्र में पदार्थों का चार प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। एक मूल प्रकृति, दूसरा प्रकृति विकृति, तीसरा केवल प्रकृति और चौथा भेद प्रकृति विकृति दोनों से भिन्न माना गया है; जिसे वहाँ पुरुष कहा जाता है। उनमें से वहाँ प्रकृति विकृति शब्द से जो सात कहे गये हैं; उनमें से यहाँ बुद्धि और अहङ्कार दो ही आये हैं। पाँच महाभूत और मन केवल विकृति रूप ही लिए गये, ऐसा परस्पर विरोध क्यों हुआ ? और पाँचों महाभूतों को “प्रकृति” शब्द से कैसे कहा गया ? इसका समाधान करने के लिए प्रायः सभी व्याख्याकार यहाँ महाभूत वाचक पाँचों शब्दों से उनके कारण सूक्ष्म भूत या शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक तन्मात्राओं का ही ग्रहण करते हैं। यद्यपि भूमि आदि शब्द महाभूतों के ही वाचक सर्वत्र माने जाते हैं, तथापि यहाँ लक्षणा वृत्ति से तन्मात्राओं का बोध वे लोग मानते हैं और लक्षणा का कारण बतलाते हैं यहाँ का “प्रकृति” शब्द, क्योंकि पृथिवी, जल आदि को प्रकृति शब्द से नहीं कहा जा सकता। इस तरह सात प्रकार की प्रकृति विकृति तो यहाँ सांख्य दर्शन से मिला दी गई किन्तु मूल प्रकृति नाम यहाँ क्यों नहीं लिया और केवल विकृति मन का नाम यहाँ कैसे आया। इसका समाधान लोकमान्यलिक इस प्रकार करते हैं कि सांख्य शास्त्र में मूल प्रकृति को स्वतन्त्र माना गया है, अर्थात् वह स्वयं ही सृष्टि रचना करती है, उसका कोई प्रेरक नहीं। यह मत गीता को मान्य नहीं। यहाँ आगे भगवान् कहने वाले हैं—

**“मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्” (१।१०)**

अर्थात् मेरी अध्यक्षता अर्थात् प्रेरणा से ही प्रकृति सब जड़ चेतन जगत् को उत्पन्न करती है। इसलिए स्वतन्त्र प्रकृति का नाम यहाँ नहीं लिया गया और मन सब इन्द्रियों का प्रेरक है तथा वासना रूप से जगत् का परिचालक है, इसलिए उसका नाम भी प्रकृतियों में गिन दिया गया है।

श्रीशङ्कराचार्य ने लक्षणा वृत्ति से जिस प्रकार महाभूत वाचक शब्दों से पञ्चसूक्ष्मभूत या तन्मात्राओं को लिया जाता है, उसी तरह लक्षणा से मूल प्रकृति का भी ग्रहण कर लिया है। सांख्य शास्त्र का क्रम इस प्रकार है कि पहिले मूलप्रकृति, उससे महान्, उससे अहङ्कार और अहङ्कार से पाँच तन्मात्राएँ। इसी क्रम का आरोह क्रम से निर्वाह करने के लिए उन्होंने महाभूत वाचक शब्दों से तो तन्मात्राओं का ग्रहण किया ही आगे के “मनस्” शब्द से मन के कारणभूत अहङ्कार को लिया। महत्तत्त्व का वाचक बुद्धि शब्द तो यहाँ है ही। आगे के “अहङ्कार” शब्द से मूल प्रकृति का ग्रहण किया। किन्तु सांख्य का मत तो श्रीशङ्कराचार्य को सर्वथा मान्य नहीं। इसलिए वे अहङ्कार शब्द का अर्थ अविद्या संयुक्त अव्यक्त करते हैं जैसा कि वेदान्त सूत्र के प्रथमाध्याय चतुर्थ पाद

के आरम्भ में ही सूत्रकार ने लिखा है। इस लक्षणा का कारण यह बतलाते हैं कि अहङ्कार का जनक वासना गर्भित अविद्यारूप अव्यक्त ही है। इसलिए जैसे विष से मिले हुए अन्न को विष ही कह दिया जाता है। इसी प्रकार अहङ्कार की वासना से युक्त अविद्या रूप अव्यक्त को भी अहङ्कार शब्द से कह दिया गया।

श्रीरामानुजाचार्य तो इस निरूपण का सांख्य के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। वे मानते हैं कि भगवद्गीता में यह परा और अपरा नाम की प्रकृति स्वतन्त्र रूप से बतलाई गई है। इसका अन्य शास्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिए उन्होंने किसी पद की लक्षणा नहीं की। आदि में पाँच महाभूत अपने विकारों के कारण बनते हैं। जैसा कि पृथिवी में जो वृक्ष अन्न आदि उत्पन्न होते हैं उनका कारण पृथिवी ही है, इसी प्रकार जल में जो फेन बुद्बुद् होते हैं, उनका कारण जल, नानाविध प्रकाश और भिन्न-भिन्न पदार्थों में उष्णता की प्रतीति का कारण अग्नि, विचित्र रूप से भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रवाहित होने वाले सब प्रकार के वायु का एक महाभूत रूप वायु एवं शब्दों का कारण आकाश है। इसीलिए इन पाँच महाभूतों को यहाँ “प्रकृति” नाम से कहा गया एवं सब इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण होने से मन एवं सब बाह्य प्रवृत्तियों का कारण होने से अन्तःकरण रूप बुद्धि और अहङ्कार का भी प्रकृति रूप से उल्लेख किया गया। यह अपरा प्रकृति हुई, क्योंकि यह जीव के भोग का साधन है और इससे विलक्षण अर्थात् इसका भोग करने वाली चेतनरूप जीव शब्द वाच्य परा प्रकृति है। भोग करने वाली होने के कारण वह उच्च श्रेणी की है, इसलिए उसे “परा” कहा गया।

श्रीमधुसूदनसरस्वती बुद्धि, अहङ्कार आदि शब्दों में लक्षणा न मानकर मनस् शब्द से ही प्रकृति का ग्रहण कर लेना चाहिए, इस प्रकार का पक्षान्तर भी कहते हैं और लक्षणा का कारण प्रकृति शब्द के समानार्थक होना ही बतलाते हैं।

श्रीश्रीधरस्वामी तेरहवें अध्याय के क्षेत्र शब्द से जिन-जिन तत्त्वों का वर्णन किया है, उन सबका ही यहाँ संग्रह करने के लिए पाँचों महाभूतों में ही उनके गुणों का भी समावेश मान लेते हैं और मन के धर्मों अर्थात् इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख आदि का मन में समावेश मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रकृति शब्द से केवल कारण मात्र ही नहीं कहे गये अपितु माया जनित सभी प्रपञ्च का प्रकृति में समावेश कर लिया है, जो कि तेरहवें अध्याय में क्षेत्र शब्द से कहा गया है। यह पक्षान्तर ही श्रीधरस्वामी ने लिखा है।

महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी ने भी एक पक्षान्तर लिखा है। उनके अनुसार वे सांख्योक्त मूल प्रकृति का “प्रकृतिरष्टधा” इस प्रकृति शब्द से ही ग्रहण कर

लेते हैं और सांख्योक्त सात प्रकृतिविकृतियों में मन को और मिलाकर उनकी आठ संख्या कर दी गई है, यह मानते हैं। मन के संग्रह करने का कारण यह बतलाते हैं कि श्रुतियों में बहुत स्थानों पर मन को ही सब इन्द्रियों का कारणभूत या प्रकृति माना है। इसलिए उसका भी प्रकृतियों में समावेश उचित है। सांख्योक्त प्रक्रिया से ही बद्ध रहने की कोई आवश्यकता वे यहाँ नहीं मानते और मूल प्रकृति को यहाँ मेरी कहा गया, इससे उसकी परमात्मा से उत्पत्ति ध्वनित होती है, ऐसा ही पुराणों में वर्णन भी है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी पन्द्रहवें अध्याय में कहे गये क्षर, अक्षर, अव्यय पुरुषों का ही यहाँ से संकेत आरम्भ किया गया है, यह मानते हैं। अव्यय पुरुष स्वयं भगवान् हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में प्रायः सर्वत्र “अहं” शब्द से ही अव्यय पुरुष का निर्देश किया है और क्षर पुरुष को अपरा प्रकृति एवं अक्षर पुरुष को परा प्रकृति जहाँ माना गया वहाँ अक्षर पुरुष को “कूटस्थ” शब्द से कहा गया है और यहाँ उसे ही जीव शब्द से कह दिया, इसमें कोई विरोध हो ही नहीं सकता, क्योंकि जीव कूटस्थ ही रहता है। अथवा दूसरा पक्ष उन्होंने यह भी लिखा है कि श्रुतियों में “अर्द्धं वै प्रजापतेर्मर्त्यमासीदर्धममृतम्” प्रजापति का अर्द्धभाग मर्त्य अर्थात् क्षर रूप होता है और अर्धभाग अमृत अर्थात् अक्षर ही रहता है। इसके अनुसार यहाँ क्षर और अक्षर दोनों को ही परा प्रकृति कहा गया। दोनों का अर्ध भाग अर्थात् क्षर और अक्षर को मिलाकर एक रूप से ही श्रुति में कहा गया है। इसी कारण से यहाँ भी “परा” इस एकवचनान्त शब्द से ही दोनों का ग्रहण कर लिया गया और यद्यपि परिणाम से विकार प्राप्त करने वाला क्षर पुरुष है, तथापि क्षर के सम्बन्ध से अक्षर में भी विकार प्रतीत होता जाता है। इसी अभिप्राय से—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।

तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ।

(मुण्डकोपनिषत् २।१)

जैसे प्रज्वलित अग्नि से उसकी हजारों चिनगारियाँ उसके समान ही निकलती हैं। इसी प्रकार विविध प्रकार के पदार्थ अक्षर से ही निकलते हैं और उसमें लीन होते हैं इत्यादि श्रुतियों में अक्षर को ही उपादान कारण कहा गया है। इस प्रकार क्षर, अक्षर दोनों का ही परा प्रकृति में समावेश मान लिया जाय और अपरा प्रकृति शब्द से सांख्यमार्गोक्त प्रकृति को ही माना जाय यह भी एक मार्ग है। उस अपरा प्रकृति में ही अपने माने हुए अट्टारह प्रकार के व्यावहारिक आत्माओं का समावेश भी विद्यावाचस्पतिजी ने माना है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार इन दोनों पद्यों के अर्थ का यहाँ विवरण किया गया।

पद्यार्थ की दृष्टि से हम यहाँ श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या को ही उत्तम मानते हैं, क्योंकि उसमें किसी दूसरे प्रमाण के साथ समन्वय और उस समन्वय के कारण ही प्रस्तुत पद्यों के पदों में लक्षणावृत्ति का आश्रय नहीं करना पड़ता। गीता का यह “प्रकृतिवाद” स्वतन्त्र रूप ही रहता है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी का गीता के ही पन्द्रहवें अध्याय से समन्वय का मार्ग भी समुचित प्रतीत होता है। (४-५)



## तृतीय-पुष्प

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥८॥६॥

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥७॥

हे धनञ्जय ! सब जितने जड़रूप या चेतनरूप भूत अर्थात् उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं, उनकी योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान पूर्व कथित मेरी परा और अपरा प्रकृति को ही निश्चित रूप से समझो। किन्तु ये दोनों प्रकृतियाँ मेरी हैं। इससे सम्पूर्ण जगत् का प्रभव अर्थात् उत्पत्ति का कारण और प्रलय अर्थात् लीन होने का स्थान मैं ही हूँ।

तेरहवें अध्याय में जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का निर्देश कर, आगे कहा गया है कि जो कुछ स्थावर जङ्गम संसार में दिखाई देता है, वह सब इन क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से ही जानना चाहिए और उससे आगे यह भी कहा है कि परमेश्वर सभी में समान रूप से विराजमान है, किन्तु उन सब पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी वह विनष्ट नहीं होता, अपितु अपने स्वरूप में सदा बना रहता है। उसी के अनुसार यहाँ भी कहा है कि उत्पन्न होने वाले सब भूत मेरी परा, अपरा प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ हैं वे ही यहाँ क्रमशः अपरा और परा प्रकृति नाम से कहे गए हैं और वहाँ जैसे परमेश्वर को सबमें व्याप्त बतलाया गया, इसी प्रकार यहाँ भी यह कहा गया कि मैं ही प्रकृति द्वारा सब जगत् का उत्पादक और संहारक हूँ। अग्रिम पद्य में मणिसूत्र के दृष्टान्त से यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि भूतों की उत्पत्ति और विनाश से मेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। इन पद्यों में द्वैत अद्वैत का भी संकेत है। इसलिए द्वैतवादी और अद्वैतवादियों के मतानुसार इनका आशय समझ लेना आवश्यक है।

श्रीशङ्कराचार्य ने पूर्व अपरा प्रकृति को माया रूप अव्यक्त ही बतलाया है। इसके अनुसार इन पद्यों का भी आशय उनके मत से यही है कि माया शक्ति के द्वारा मैं ही सब जगत् का उत्पादन और संहार करता हूँ। जगत् के माया जन्य होने के कारण मेरा उसके उत्पाद और विनाश से यद्यपि कोई सम्बन्ध नहीं, तथापि माया का आश्रय मैं ही हूँ, अर्थात् मेरे अवलम्ब के बिना माया कुछ नहीं कर सकती, इसलिए मैं ही सब जगत् का उत्पादक कहलाता हूँ और विनाश काल में जगत् माया शक्ति



में ही लीन होता है, इसका भी यही अर्थ है कि माया द्वारा मुझमें लीन होता है। यह अभिप्राय उनके अनुयायी श्रीमधुसूदनसरस्वती ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि माया का आश्रय और विषय मैं ही हूँ। इसलिए जिस प्रकार माया के सब कार्यों का कर्त्ता मायावी कहा जाता है इसी प्रकार सब जगत् का उत्पादक और संहारक मैं ही हूँ। जगत् के मायिक होने के कारण ही भगवान् का जगत् के गुण दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता जैसा कि मायावी माया के कार्यों से वस्तुतः असम्बद्ध ही रहता है।

श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार जड़ चेतन रूप प्रकृति और जीव परमात्मा के शरीर रूप हैं और परमात्मा ही उनका आत्मा होने से प्रधान है। उसी अपने मत के अनुसार उन्होंने इन पद्यों का अर्थ लगाया है कि सब जड़ चेतनात्मक जगत् के पदार्थ मेरी इन दोनों प्रकृतियों से अर्थात् मेरे शरीर से उत्पन्न होते हैं और परा, अपरा दोनों प्रकृति भी मुझे से ही उत्पन्न हैं। उनके इस कथन का यही तात्पर्य समझना होगा कि परा, अपरा प्रकृतिरूप मेरे शरीर की परिचालना मेरे द्वारा ही होती है, इसलिए उनका भी कारण मुझे ही मानना चाहिए और अन्त में भी सब मुझे में ही प्रलीन होते हैं, इसलिए प्रलय रूप भी मैं ही हूँ। इसका आशय उनके टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि परमात्मा में जड़चेतनात्मक सब प्रकृति और जीवों का लय नीरक्षीर न्याय से है। अर्थात् जल और दुग्ध को मिला देने पर यद्यपि दोनों एकरूप प्रतीत हो जाते हैं, किन्तु वास्तव में जल दुग्ध से पृथक् ही रहता है। इसी प्रकार विनाश काल में प्रकृति और जीव के परमात्मा में लीन होने पर भी वे अपने स्वरूप से पृथक् ही रहते हैं उनका सर्वथा अभाव नहीं होता।

द्वैतवादी श्रीमध्वाचार्य की व्याख्या है कि जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् की सत्ता और प्रतीति मेरे ही कारण है और उनका भोक्ता भी मैं ही हूँ। इसलिए मैं उनका उत्पादक और संहारक कहा जाता हूँ। इसी अंश में उन्होंने कुछ श्रुति और पुराणों के प्रमाण भी उपस्थित किए हैं कि सबका उत्पादक, पालक, संहारक और सबका नियमन अर्थात् अपनी अपनी मर्यादा में स्थापन करने वाला होने के कारण ही परमात्मा उनका प्रभव प्रलय कहा जाता है। इससे यही स्पष्ट हुआ कि यहाँ “प्रभव” और “प्रलय” शब्दों से परमात्मा में सबकी निमित्त कारणता ही समझनी चाहिए उत्पादन कारणता नहीं।

श्रीवल्लभाचार्य तो शुद्धाद्वैतवादी प्रसिद्ध ही हैं। उनके मतानुसार माया प्रकृति आदि भी परब्रह्म से ही उत्पन्न हैं, वे ही अपनी क्रीड़ा के लिए सब खेल बनाते हैं।

इसलिए सबका प्रभव अर्थात् उत्पत्ति स्थान और प्रलय अर्थात् लय स्थान होना परमात्मा का उक्त रीत से सुसङ्गत हो जाता है।

श्रीनिम्बार्काचार्य के मतानुयायी श्रीकेशवाचार्य यहाँ कहते हैं कि जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च मेरी परा और अपरा प्रकृतियों से रचा हुआ है, वे दोनों प्रकृतियाँ मेरी शक्ति हैं। शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं होती, इसलिए अपनी शक्ति द्वारा मैं ही सब जगत् का उत्पादक और संहारक हूँ। श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार तो क्षर-अक्षर दोनों पुरुष जगत् की उत्पत्ति में कारण होते हैं, किन्तु सबका आलम्बन होने के कारण अव्यय पुरुषरूप भगवान् कृष्ण इसका दायित्व अपने पर ही लेते हैं कि मैं ही सब जगत् के उत्पत्ति और प्रलय का आधार हूँ। (६)

मुझसे भिन्न रूप और कुछ भी नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणि समूह की तरह मुझमें ही पिरोया हुआ है।

श्रीशङ्कराचार्य इसका सम्बन्ध पूर्व पद्य के साथ ही जोड़ते हैं कि मुझसे भिन्न और कोई जगत् का कारण नहीं है। यह सब जगत् मुझमें इस प्रकार पिरोया हुआ है कि जैसे सूत्र में मणिगण पिरोये रहते हैं। इसका तात्पर्य है कि उपादान कारण के साथ कार्य के पाँच प्रकार के सम्बन्ध व्यवहार में प्रसिद्ध हैं। जैसा कि तन्तु और पट के सम्बन्ध के विषय में परस्पर आधाराधेय भाव भी कहा जा सकता है कि तन्तुओं में पट है और पट में तन्तु है और भेद या अभेद भी कहा जा सकता है कि तन्तु ही पट रूप हो गये हैं, या नाम रूप और क्रिया भिन्न भिन्न होने के कारण पट तन्तु से सर्वथा भिन्न है जैसा कि न्याय प्रक्रिया में अवयव और अवयवी का भेद माना जाता है। इस प्रकार चार सम्बन्ध हुए। पाँचवाँ यह भी कहा जा सकता है कि तन्तु तो पट से भिन्न हैं क्योंकि वे पहिले भी रहते हैं और पट के नष्ट हो जाने पर भी रहते हैं। किन्तु पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तु से पृथक् होकर कभी दिखाई नहीं देता। इस प्रकार के पाँचों सम्बन्धों का निष्कर्ष इसी रूप में बतलाया जाता है कि पट अनिर्वचनीय है। इनमें से एक आधाराधेय भाव का निरूपण इस पद्य के उत्तरार्द्ध में किया गया कि सूत्र के आधार पर ही मणि समूह रहता है। इससे अन्य सम्बन्ध भी समझ लेना और एकरूपता, पूर्वार्द्ध में कह ही आये हैं कि मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। इस प्रकार इस पद्य से वही तात्पर्य निकलता है कि मैं अर्थात् परमेश्वर ही सब जगत् का उपादान कारण हूँ। यहाँ यह सन्देह फिर भी रह जाता है कि जिस सूत्र में मणि समूह पिरोया रहता है वह सूत्र तो मणि समूह से पृथक् ही रहा ? इसके समाधान के लिए कई विद्वान् यहाँ सूत्र शब्द का अर्थ “हार” करते हैं। जैसे एक हार में मणि समूह पिरोया रहता है। वह हार मणि समूह से पृथक् कोई वस्तु भी

सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् मुझमें पिरोया हुआ है अर्थात् मुझसे पृथक् होकर उसकी कोई सत्ता नहीं।

श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य की यही व्याख्या करते हैं कि जैसे शरीर आत्मा से पृथक् रूप मानकर नहीं गिना जाता और आत्मा की शक्ति से ही वह शक्तिमान् भी रहता है, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अर्थात् प्रकृति और उसके कार्य मुझमें “परतर” अर्थात् सर्वथा भिन्न नहीं है और सब मेरे ही आश्रित हैं। जैसे मणिसमूह सूत्र के आश्रित रहते हैं और ज्ञान, शक्ति, बल आदि ही सब जगत् में व्याप्त रहते हैं। उनसे ही सब जगत् ज्ञानवान्, बलवान् तथा शक्तिमान् रहता है। इस प्रकार मुझे ही सबका कारण और सबका “शेषी” अर्थात् प्रधान समझना चाहिए।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है, वह इसका यह भी आशय लगाती है कि जब जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं अर्थात् ब्रह्मरूप ही है, तब उसे अविद्या द्वारा कल्पित कहना भी एक कल्पना मात्र ही है। उनके अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी ने यह आशय बतलाया है कि पूर्व पद्य में उत्पत्ति और संहार का कारण अपने को बतलाया। इस पद्य के उत्तरार्द्ध में यह भी कहते हैं सबकी स्थिति भी मेरे आधार पर है जैसे कि मणिसमूह सूत्र के आधार पर ही स्थित रहता है। सूत्र यदि टूट जाय तो सब मणियाँ भी बिखर जाँय।

श्रीनिम्बार्काचार्य के अनुयायी श्रीकेशवाचार्य इसका अर्थ कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मा में शरीर के सब पदार्थ अर्थात् इन्द्रिय अन्तःकरण आदि आश्रय भाव से रहते हैं इसी प्रकार सब जगत् आत्मा रूप मेरे ही आश्रित रहता है। इसी में सूत्रमणि का दृष्टान्त दिया गया।

द्वैतवादी मध्वाचार्य “परतर” शब्द का अर्थ उत्कृष्ट करते हैं। अर्थात् मुझसे बड़ा कोई नहीं है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार जिस प्रकार तरङ्ग, फेन, बुद्बुद् आदि समुद्र के पदार्थ समुद्र से पृथक् नहीं कहे जा सकते इसी प्रकार आलम्बन रूप अव्यय समुद्र से उत्पन्न जगत् के सब पदार्थ भी अव्यय से पृथक् नहीं कहे जा सकते।

इस प्रकार इन पद्यों में अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैताद्वैत आदि के आचार्यों का अभिमत अर्थ स्पष्ट कर दिया गया।

वास्तव में तो भगवद्गीता में अद्वैत सिद्धान्त ही प्रतिपादित है, यह आरम्भ की पुष्पिका में ही हम स्पष्ट कर चुके हैं। (७)

## चतुर्थ-पुष्प

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।  
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥७८॥  
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।  
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥९॥  
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।  
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥  
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।  
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥  
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।  
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मैं जल में रस रूप से विराजमान हूँ। सूर्य और चन्द्रमा में प्रभा अर्थात् कान्ति रूप से, सब वेदों में प्रणव अर्थात् ओङ्कार रूप से और मनुष्यों में पुरुषत्व रूप से मैं ही स्थित हूँ।

इस प्रकरण के पद्यों का भी आशय व्याख्याकार भिन्न-भिन्न रूप से लगाते हैं। श्रीशङ्कराचार्य पूर्व पद्य के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ते हैं कि मुझमें सब संसार पिरोया हुआ है। इस बात को ही स्पष्ट किया जा रहा है कि किस-किस रूप में कौन कौन पिरोया हुआ है। जल तत्त्व रस में पिरोया हुआ है। इसी बात को इस रूप में कहा गया है कि मैं जल में रसरूप से स्थित हूँ और विशद रूप से वर्णन किया जाय तो यह तात्पर्य होगा कि जल का सार रस ही है। रस के अतिरिक्त जल तत्त्व और कुछ भी नहीं है। लोक में यद्यपि इसका आधार जल को माना जाता है, किन्तु रस के अतिरिक्त जल तत्त्व केवल कल्पना मात्र है। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा में प्रभा अर्थात् उनका प्रकाश ही सार रूप है। वह प्रकाश ही मण्डल रूप से हमें दीख रहा है। ऐसे ही वेदों में प्रणव ही सार है। वेद वाक्-रूप हैं और वाक् के विषय में श्रुति में कहा गया कि -

“अकारो वै सर्वा वाक् । सैषा स्पर्शोष्मभिव्यज्यमाना बह्वी  
नानारूपा च भवति”

अर्थात् अकार ही सब वाणी का रूप है। उसके साथ स्पर्श और उष्मा का योग होने पर उनसे अभिव्यक्त होती हुई वाणी बहुत से भिन्न भिन्न वर्णों के रूप में चली जाती है। इनमें उष्मा का रूप विसर्ग है और स्पर्शों का प्रतिनिधि मकार ले लिया गया। इन दोनों को अकार के साथ मिलाने पर ही प्रणव अर्थात् ओङ्कार बना है। इसलिए ओङ्कार को सर्व वाक् रूप कहा जा सकता है। इसी आशय से भगवान् ने कहा कि सब वेदों में प्रणव रूप अर्थात् वाक् रूप मैं ही हूँ। वाक् के अतिरिक्त वेदों में और कुछ भी नहीं बचता। इसी प्रकार पुरुषों में जो पुरुष का मुख्य धर्म है, जिसे पुरुषत्व या पौरुष कहा जाता है, उसके अतिरिक्त पुरुष और कुछ भी नहीं, वही पुरुषत्व आश्रय और धर्म दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है। इस कथन से श्रीशङ्कराचार्य का अभिप्राय यही प्रकट हुआ कि धर्मरूप से भगवत्तत्त्व सबमें व्याप्त है और वह धर्म ही सारभूत है। उसके आश्रय रूप से धर्मों की कल्पना तो केवल नाम मात्र ही है। इसी बात का कुछ विद्वान् इस रूप में भी विवरण करते हैं कि परमात्मा तीन रूप से जीवों का उपासनीय होता है। वे तीन रूप हैं -

विश्व, विश्वचर और विश्वातीत।

विश्व तो सब जगत् का नाम प्रसिद्ध ही है। जगत् के रूप में ही भगवान् की उपासना प्रथमाधिकारी किया करते हैं। विचारक लोग जो यह विचार करें कि विश्व में तो अशुद्धि बहुत व्याप्त है। उसे भगवान् के रूप से कैसे उपासना में लाया जाय, वे विश्वचर अर्थात् विश्व में रहने वाले पवित्र धर्मों के रूप में उपासना करते हैं। यह मध्यम अधिकारियों का मार्ग हुआ। इनके विचार में पवित्र धर्मरूप से भगवान् सब पदार्थों में विराजमान हैं। उन पदार्थों में जो अशुद्धि कहीं प्रतीत हो, वह माया का रूप है। इसी आशय से आगे के पद्यों में “पुण्यो गन्धः” और “धर्माविरुद्धः कामः” यह कहा गया है। इससे स्पष्ट व्यञ्जित हो गया कि माया के अंश को हटाकर पवित्र धर्मरूप से यहाँ अपनी स्थिति ही भगवान् ने बतलाई है। अब जो उत्तम अधिकारी यह सोचते हैं कि विश्व में कितनी भी छाँट करो अन्ततः माया का कुछ न कुछ अंश मिला ही रहेगा, वे विश्वातीत अर्थात् विश्व से सर्वथा बाहर मान कर ही भगवान् की उपासना करते हैं। उनकी उपासना में क्लेश बहुत होता है यह बारहवें अध्याय में स्पष्ट किया जायेगा। यहाँ सर्वसाधारण मध्यम अधिकारियों की उपासना के योग्य विश्वचर रूप का भगवान् ने वर्णन किया।

श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या का यह आशय है कि जिस प्रकार शरीर में आत्मा ही सारभूत है उसी की दी हुई शक्तियों से शरीर का परिचालन होता है। इसीप्रकार

मेरे शरीरभूत सब जगत् में मैं ही साररूप से अवस्थित हूँ। जैसा कि जल में रसरूप से, सूर्य और चन्द्र में प्रभारूप से इत्यादि।

श्रीमध्वाचार्य अपनी व्याख्या में इन पद्यों का सम्बन्ध “ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्” इत्यादि पूर्वोक्त पद्यों से मिलाते हैं। वे कहते हैं कि “मत्तः परतरं किञ्चित्” इत्यादि पद्य से और “मयि सर्वमिदं प्रोतं” इस पूर्व पद्य से ज्ञान कहा और अब विज्ञान कहते हैं। विज्ञान शब्द का अर्थ वे सारभूत अर्थ ही करते हैं। इन पद्यों से यह प्रकट किया जाता है कि सार के सारपन का और आश्रय के आश्रयपन का भी नियामक भगवान् ही है। मैं जल में रसरूप हूँ, इसका तात्पर्य यह होगा कि रस जो जल का सार है उसका नियमन भी मैंने ही किया है। सार और आश्रय पृथक् पृथक् हैं और इनका नियमन करने वाला भगवान् इनसे पृथक् है, इसलिए भेदवाद ही सिद्ध हुआ।

श्रीनीलकण्ठजी लिखते हैं कि मणिसूत्रों के पूर्व पद्योक्त दृष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि सब जगत् भगवान् में पिरोया हुआ है, किन्तु भगवान् जगत् में अनुगत रूप से विराजमान नहीं हैं। तब शङ्का होगी कि कार्यों में अनुगत न होने वाला तो उपादान कारण नहीं कहला सकता। घट, शराव आदि में मृत्तिका अनुगत है, इसीलिए उपादान कारण कहलाती है। इस शङ्का का समाधान यदि जगत् को रज्जु, सर्प या स्वप्न के पदार्थों के समान सर्वथा असत्य कह कर दिया जाय तो अर्जुन की समझ में जगत् की असत्यता एकदम न आ सकेगी, इसलिए क्रम से समझाने के लिए सब जगत् में साररूप भगवान् अपने आपको ही बतलाते हैं कि जल में रस रूप मैं हूँ। इसका तात्पर्य यही है कि जल का एक भी परमाणु रस से रहित नहीं है। रस सब जल में व्यापक है। इसी से जल रस में “प्रोत” है कहा जा सकता है। इसी प्रकार सब जगत् में मैं व्याप्त हूँ। जगत् का एक भी अणु मुझसे अतिरिक्त नहीं है। इससे उपादान भाव स्पष्ट कर दिया गया और बुद्धि दौड़ाने पर जैसे रस का आश्रय कल्पित मात्र है, वैसे ही सब जगत् भी परब्रह्म में कल्पित मात्र है यह भी क्रम से सिद्ध हो जायेगा।

कई व्याख्याकार रस आदि शब्दों का रसतन्मात्रा अर्थ करते हैं। ऐसे ही प्रभा शब्द का अर्थ रूपतन्मात्रा और शब्द का अर्थ शब्दतन्मात्रा ही समझना चाहिए। तन्मात्रा से अतिरिक्त महाभूतों का और कोई स्वरूप नहीं सिद्ध होता। इसी प्रकार भगवान् से अतिरिक्त जगत् का भी कोई स्वरूप नहीं है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार इन पद्यों का यही आशय है कि मैं अव्यय रूप से सब जगत् में व्याप्त हूँ इसका विवरण यहाँ किया गया है। इनके मत का विशेष रूप से स्पष्टीकरण इसी पुष्प के अन्तिम भाग में किया जायेगा।

यहाँ यह भी स्मरण रहे कि दशमाध्याय में जो विभूतियों का वर्णन किया गया है, वहाँ इस प्रकरण की पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ जिस-जिस वर्ग में जो-जो प्रधान हैं वे ही उपासना में ध्यान करने के योग्य बतलाये जायेंगे और यहाँ जिस-जिस वस्तु में जो-जो सार रूप है, उसका कथन किया गया है। इसी प्रकार प्रकरणज्ञानपूर्वक अध्ययन करने से भगवद्गीता में पुनरुक्ति कहीं न मिलगी। (८)

पृथिवी में पवित्र गन्ध रूप से मैं रहता हूँ। इसका आशय है कि कहीं जो दुर्गन्धि प्रतीत होती है वह मायाकृत है। पृथिवी का मुख्य स्वरूप सुन्दर गन्ध ही है यह कथन उपलक्षण मात्र है। इसका सम्बन्ध सभी के साथ मानना चाहिए। जैसा कि जल में मधुर रस है वही मेरा रूप है इत्यादि। इसका तात्पर्य और स्पष्ट किया जाय तो यह समझें कि पृथिवी में स्वभावतः सुगन्ध ही है। दुर्गन्ध की प्रतीति जो कहीं हो जाती है वह अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से होती है। इसीलिए उसे मायाकृत समझना चाहिये। अग्नि में तेज रूप से मैं ही प्रविष्ट हूँ। यहाँ यह विचारने की बात है कि इस प्रकरण में चार महाभूतों में साररूप से अपनी स्थिति भगवान् ने कही। किन्तु वायु का जो पांचवाँ महाभूत है उसका सार नहीं बतलाया गया। इस कारण कई व्याख्याकारों ने यहाँ के चकार पद से वायु का भी ग्रहण मान लिया है कि वायु में स्पर्श रूप से मैं विराजमान हूँ। प्राणियों में जीवन शक्तिरूप से और तपस्वियों में तपरूप से मैं स्थित हूँ। तपस्वियों का जीवन तप के लिए होता है। इसलिए जीवन शक्ति के साथ ही उसका यहाँ ग्रहण किया गया है। (९)

मध्य में ही सब प्रकरण का सार भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ ! सब जड़ चेतनात्मक वस्तुओं का बीज अर्थात् मुख्य उत्पादक मुझको ही समझो। किन्तु इतनी विशेषता समझनी होगी कि अङ्कुर को पैदा करने के अनन्तर बीज का अपना स्वरूप कुछ नहीं रहता, किन्तु मैं सब जगत् को उत्पन्न करके भी स्वस्वरूप से जैसा-तैसा बना रहता हूँ। यह बात सनातन शब्द से कही गई। श्रुति में भी कहा है कि -

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थात् इस जगत् का उत्पादक वह परमात्मा पूर्ण है और यह जगत् भी पूर्ण है, उस पूर्ण से ही यह पूर्ण निकला है, किन्तु पूर्ण निकाल लेने पर भी उस पूर्ण का कुछ भी अंश न्यून नहीं होता किन्तु वह यथावत् पूर्ण बना रहता है। यह कैसे संभव है, इसके उपपादन के लिये ही श्रीशङ्कराचार्य ने जगत् को मायारूप कहा है। अर्थात् जगत् उनसे उत्पन्न ही नहीं होता, केवल उस जगत् का भानमात्र अविद्यावश जीव को

हो जाता है और श्रीरामानुजाचार्य आदि बीज का इतना ही अर्थ मानते हैं कि जगत् के प्ररोह अर्थात् फैलाव का कारण परब्रह्म ही है, जैसे कि शरीर के सब धातुओं के फैलाव का कारण जीवात्मा ही होता है। आगे कहते हैं कि बुद्धिमानों में बुद्धिरूप से और तेजस्वियों में तेजरूप से मैं ही स्थित हूँ। इससे धर्मरूप से सब जगत् में अपनी ही स्थिति कई उदाहरणों से स्पष्ट की गई है। तात्पर्य वही पूर्वोक्त है कि धर्मरूप से परब्रह्म सभी पदार्थों में व्याप्त है। (१०)

अन्य उदाहरण देते हैं कि बलवानों में बलरूप से मैं ही स्थित हूँ, किन्तु काम और राग से रहित बल ही मेरा स्वरूप है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर इन्द्रिय और मन इन सबका सामर्थ्य ही बल कहा जाता है। उसमें मन के बलों में काम और राग आ जाते हैं। जो विषय अपने सामने उपस्थित न हो, केवल वासनामात्र मन में उपस्थित हो उसकी इच्छा काम कही जाती है और जो विषय सामने उपस्थित हो, उसके साथ जो मन का दृढ़ सम्बन्ध जुड़ जाता है वह 'राग' कहा जाता है। इन दोनों से भगवान् अपने आपको पृथक् करते हैं कि ये काम और राग तो माया के रूप हैं। इनके अतिरिक्त शरीर मन आदि के जो सामर्थ्य हैं—दान, व्रत तीर्थयात्रा आदि भगवान् के रूप हैं। इस प्रकार काम को अपने रूप से पृथक् बतलाया। किन्तु इस पद्य के उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि हे भरतश्रेष्ठ धर्म से जो विरुद्ध न ले जाय ऐसा काम भी मेरा रूप है। इससे यह सूचि होता है कि धर्म के विरुद्ध जो काम हो वह माया का रूप है।

यवनधर्म या ईसाई आदि धर्मों में माना जाता है कि भलाई सब ईश्वर से प्रकट होती है और बुराई शैतान से प्रकट होती है। किन्तु ऐसा मानने में आपत्ति यह होगी कि संसार में अधिकतर बुराई ही देखी जाती है तो क्या शैतान ईश्वर से भी बड़ा है। हिन्दू धर्म ऐसा नहीं मानता। इस धर्म में भलाई बुराई जो कुछ संसार में है, वह सब ईश्वर से ही प्रकट है। ईश्वर ही अपने-अपने पूर्व कर्मों के अनुसार किसी को भलाई में और किसी को बुराई में प्रवृत्त कर देता है। यहाँ जो धर्म विरुद्ध काम और राग आदि को मायाजनित बतलाया गया, वह माया भी ईश्वर से पृथक् कोई वस्तु नहीं, अपितु ईश्वर की ही शक्ति है। हाँ, उसके गुण और धर्म अवश्य ही परमात्मा या परब्रह्म से भिन्न हैं। इसीलिए ऐसा समझा जाता है कि जगत् में जो कुछ बुराई दिखाई देती है वह सब माया का रूप है। संसार माया का ही रचा हुआ है इसलिए संसार में बुराई ही अधिकतर दिखाई देती है। आगे कहा जायेगा कि जो पुरुष परब्रह्म की शरण चले जाते हैं वे माया को पार कर ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकरण में भी यही



उपदेश दिया गया है कि मायाजनित धर्मों से बचना चाहिये और ईश्वरीय धर्मों में यत्न से प्रवृत्त होना चाहिए। (११)

पूर्वोक्त हमारी व्याख्या के अनुसार माया के रूप भी भगवान् से पृथक् नहीं हैं इसी बात को स्पष्ट रूप से इस पद्य में कहा जाता है कि माया या प्रकृति के जो सत्त्व, रज, तम नाम के तीन गुण हैं; उनके जो-जो कार्य होते हैं वे भी मुझसे ही उत्पन्न हैं ऐसा स्पष्ट समझो। किन्तु मैं उनमें नहीं, वे मुझमें हैं।

इस चौथे चरण की व्याख्या में फिर व्याख्याकारों के मतभेद हैं। श्रीशङ्कराचार्य और उनके कई अनुयायी इसका यह आशय बतलाते हैं कि मैं उनके अर्थात् प्रकृति के गुणों से उत्पन्न संसार के अधीन नहीं हूँ, अपितु वे सभी मेरे अधीन हैं। तात्पर्य यह कि मैं स्वतन्त्र हूँ माया या प्रकृति मेरे अधिकार में रहती है। माया या प्रकृति के गुण दोषों से मैं लिप्त नहीं होता। परब्रह्म पर माया या प्रकृति कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। यही बात श्रीभागवत के आरम्भ के पद्य में ही कही गई है कि “धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्” अर्थात् परमात्मा अपने तेज के द्वारा कुहक अर्थात् माया को दूर रखता है।

श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या के अनुसार इसका आशय है कि प्रकृति जनित संसार से मेरा कोई उपकार नहीं। प्रकृति की तो मेरे बिना स्थिति ही नहीं हो सकती। इसलिए वह तो मेरे द्वारा सदा ही उपकृत है। इसका आशय वे और भी स्पष्ट करते हैं कि उनके मत में प्रकृति ईश्वर का शरीर है किन्तु इतना भेद है कि शरीर के द्वारा आत्मा का कुछ उपकार होता ही है किन्तु प्रकृति जनित संसार के द्वारा मेरा कोई भी उपकार नहीं। इसका तत्त्व अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता बतलाने में ही है। मैं अपनी इच्छानुसार लीला रूप से जगत् को कभी फैला देता हूँ और कभी समेट लेता हूँ।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है, उसमें नकार का सम्बन्ध दोनों जगह जोड़ा है। अर्थात् न मैं प्रकृति के गुणों में हूँ, न प्रकृति के गुण मुझमें हैं। प्रकृति के गुण प्रकृति में रहे हैं। प्रकृति के गुणों से उत्पन्न पदार्थ प्रकृति में ही रहते हैं। मुझ पर उनका स्पर्श नहीं होता।

श्रीनीलकण्ठजी यहाँ यह विवरण करते हैं कि जब प्रकृतिजनित संसार आपसे ही पैदा हुआ तो जैसे मृत्तिका घट, शराव आदि में अनुगत रहती है ऐसे आपका भी संसार के पदार्थों में प्रवेश रहेगा और ऐसा प्रवेश रहने पर उनके विकार आप पर भी आने चाहिए ? इस शङ्का का उत्तर भगवान् देते हैं कि मैं उनमें नहीं हूँ, अर्थात् मेरा संसार के साथ जन्य जनक भाव भृत्तिका घट आदि की तरह नहीं, अपितु रज्जु सर्पादि

की तरह है। जैसे रज्जु में सर्प भासित हो जाता है, अर्थात् वह कल्पितसर्प रज्जु की ही सत्ता ले लेता है और रज्जु में ही उसका भान भी होता रहता है। किन्तु उस कल्पित सर्प के विकारों से रज्जु का कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं। इसी प्रकार मैं जगत् को सत्ता और स्फुरण दे देता हूँ; जगत् के विकारों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं और जगत् तो मेरे बिना भासित ही नहीं हो सकता। इसलिए वह तो मेरे ऊपर अध्यस्त ही है। जैसे कि कल्पित सर्प रज्जु पर अध्यस्त रहता है। इसी के अनुसार श्रीमधुसूदनसरस्वती और श्रीशङ्करानन्दजी भी जगत् के मिथ्यात्व में ही इसका तात्पर्य लगाते हैं।

निम्बार्क-संप्रदाय के अनुसार व्याख्या करने वाली तत्त्वप्रकाशिका इस प्रकार विवरण करती है कि सात्विक देवादि राजस मनुष्य और तामस पशु आदि में भी मैंने अवतार धारण किया है। किन्तु वहाँ भी मेरी शक्ति का कोई विघात नहीं हुआ। इसलिए मैं उन देवता मनुष्य आदि के सदृश उस उस जाति का नहीं हुआ और वे सब देव मनुष्य आदि तो सदा ही मेरे अधीन हैं।

श्रीलोकमान्यतिलक इसके दो आशय लगाते हैं। एक तो यह कि मैं पूर्वोक्त रस आदि रूपों से जगत् में व्याप्त हूँ किन्तु इन जल आदि में स्थित जो रस आदि मेरा रूप है उतना ही मुझे मत समझो, मैं सब मायिक जगत् से परे भी रहता हूँ। अर्थात् विश्व और विश्वचर दो ही मेरे रूप नहीं हैं किन्तु विश्वातीत भी मेरा रूप है जो कि माया को पार कर जाने वालों की दृष्टि में आता है। दूसरा गम्भीर आशय यह है कि यह त्रिगुणात्मक जगत् यद्यपि मुझसे ही प्रकट हुआ माना जाता है, ऐसा श्रुति स्मृति आदि में वर्णन मिलता है, किन्तु मैं फिर भी प्रकृति के गुणों में नहीं हूँ, अर्थात् अपने निर्गुण स्वरूप में ही रहता हूँ और वह जगत् तो मुझसे पृथक् होकर कुछ रह ही नहीं जाता। इसलिए वह मुझमें है यही मानना चाहिए।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी इसकी व्याख्या अपनी टिप्पणी में कुछ विस्तार से लिखते हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि ये गीता में आये हुए “अहं” शब्द का अर्थ अव्यय पुरुष ही मानते हैं। भगवान् कृष्ण ने अपने आपको अव्यय पुरुष रूप ही कहा है, इस कारण वे अव्यय पुरुष के लिए ही “अहं” शब्द का प्रयोग किया करते हैं। यह पन्द्रहवें अध्याय में स्पष्ट किया जायेगा कि अव्यय पुरुष कुछ करता नहीं किन्तु सबका आधार होने के कारण सब कुछ वही करता है यह भी कहा जा सकता है। वह एक समुद्रस्थानीय है। जैसे जल तरङ्ग फेन बुद्बुद् आदि समुद्र में उत्पन्न सब पदार्थ समुद्र से बाहर नहीं हो सकते इसी प्रकार अव्यय समुद्र में उत्पन्न सब जगत् के पदार्थ भी अव्यय से बाहर नहीं हो सकते। यही बात पूर्व “मत्तः परतरं नान्यत्” में कही गई। यहाँ यह कहा जाता है कि चाहे ब्रह्म के विवर्तभाव हों अर्थात् ब्रह्म में

अध्यारोप से भासित होते हों, अथवा प्रकृति के गुणों के विकार हों, वे सब पूर्वोक्त न्याय से अव्यय से ही उत्पन्न कहे जायेंगे, किन्तु अव्यय पुरुष की उनमें विभूति मात्र रहेगी, प्रकृति विकारों में अव्यय का बन्ध या योग नहीं होगा। जहाँ परस्पर सम्बन्ध होने पर भी एक स्वतन्त्र रहे और दूसरा उसके अधीन बन जाय वहाँ उसे “विभूति” कहा जाता है और जहाँ दोनों समानरूप से भासित होते रहें वहाँ “योग” कहा जाता है तथा जहाँ दो पदार्थों का मेल होने पर दोनों ही अपना स्वरूप छोड़ दें और उनसे तीसरा पदार्थ ही उत्पन्न हो जाय वहाँ “बन्ध” नाम का सम्बन्ध कहा जाता है। जैसा कि शोरा और कोयला मिला देने से “बारूद” नाम का एक अतिरिक्त पदार्थ बन जाता है, जिससे कि बड़े-बड़े पर्वत भी उड़ा दिये जाते हैं। दूध और जल मिलाने पर वे दोनों ही अपने-अपने रूप में बने रहते हैं, इसलिए यह “योग” सम्बन्ध का उदाहरण है और हमारी बुद्धि में जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ आते हैं और उससे निकलते रहते हैं, किन्तु बुद्धि में उनसे कोई विकार नहीं होता। यहाँ बुद्धि का उनके साथ “विभूति” सम्बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार का बन्ध या योग अव्यय पुरुष में किसी का नहीं है, किन्तु विभूति मात्र है। यही बात “नत्वहं तेषु” इन पदों से कही गई। मैं उनमें नहीं हूँ अर्थात् मेरा योग या बन्ध उनके साथ नहीं है और वे सब पदार्थ तो अव्यय में रहते ही हैं और अव्यय के अधीन हैं, यह हम समुद्रदृष्टान्त से कह चुके हैं। इससे यही आशय हुआ कि जगत् के पदार्थों में मेरा योग या बन्ध नहीं है। इसी का स्पष्टीकरण आगे उन्होंने इस प्रकार किया है कि भाव दो प्रकार के होते हैं। एक सात्मक और दूसरा निरात्मक। जो आत्मा के द्वारा धारण किये जायँ वे सात्मक भाव कहे जाते हैं, और जो प्रकृति के द्वारा ही धारण किये गये हों वे प्रकृति में ही रहेंगे, आत्मा में नहीं। जैसा कि किसी पर्वत पर कोई मनुष्य पशु आदि घूम रहे हों, वे पर्वत के अङ्ग नहीं कहला सकते। इसी प्रकार बुद्धि या इच्छा में भिन्न प्रकार के विषय आते भी और उससे निकलते भी हैं किन्तु बुद्धि का उनके साथ विभूति रूप सम्बन्ध ही रहता है। बुद्धि उनमें रहती है ऐसा कोई नहीं कहता, क्योंकि यदि उन विषयों में बुद्धि रहती तो वे चेतन हो जाते, किन्तु बुद्धि में भासित जड़ पदार्थ चेतन नहीं कहलाते, इसलिए बुद्धि उन पदार्थों में नहीं रहती यह ही मानना पड़ेगा, इसी दृष्टान्त से यहाँ भी कहा गया है कि सात्विक राजस और तामस तीनों प्रकार के पदार्थ यद्यपि मुझसे ही उत्पन्न हैं, किन्तु मेरा उनके साथ केवल विभूति सम्बन्ध ही है, मैं उनमें हूँ यह नहीं कहा जा सकता। (१२)

## पञ्चम-पुष्प

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।  
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥७॥१३॥  
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।  
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥  
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।  
माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

इस प्रकार भगवान् ने स्वयं को सब जगत् का उत्पादक और सबसे निराला रहनेवाला भी पूर्व पद्यों में कहा। यहाँ यह शङ्का होगी कि इस प्रकार जब आप सब जगत् के उत्पादक अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों प्रकार के कारण हैं, तो जिस प्रकार घट आदि पदार्थों में उनकी उपादान रूप मृत्तिका अनुस्यूत रहती है, वैसे आपका भी सब जगत् में अनुस्यूत रहना मानना होगा, फिर आपको सब लोग ही क्यों नहीं जान लेते ? कदाचित् कहें कि अज्ञान के आवरण से नहीं जान पाते तो यह प्रश्न होगा कि वैसा आवरण करनेवाला कौन है ? इसी का उत्तर भगवान् यहाँ से आरम्भ करते हैं कि ये अर्थात् प्रत्यक्ष दीखनेवाले सबके ज्ञान में आनेवाले जो तीन सत्त्व, रज, तम गुणों के विकार रूप भाव अर्थात् राग द्वेष मोह आदि पदार्थों से सब जगत् मोह में पड़ा हुआ है, अर्थात् इन्होंने ही जगत् के जीवों के ज्ञान का आवरण कर रखा है। इसी कारण मैं जो तीनों गुणों से पर अर्थात् ऊपर रहनेवाला अव्यय पुरुष हूँ उसे जीवधारी नहीं जान पाते। फिर ये जीवधारी उस आवरण को हटाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि यह सुप्रसिद्ध दैवी द्योतन वाले प्रकाशशील परमात्मा की पूर्वोक्त सत्त्वादि गुणों वाली माया दुःख से भी हटाई नहीं जा सकती। देव-परमात्मा कोई भिन्न माया का स्वामी है, ऐसी शङ्का न हो, इसलिए “मम” पद भी दे दिया गया है। अर्थात् जिसे सब लोग प्रकाश रूप परमात्मा की माया मानते हैं वह मेरी ही है। इस कारण मेरे ही हटाने से वह हट भी सकती है—यह उत्तरार्द्ध में कहा जाता है कि जो-जो मनुष्य आदि प्राणी मेरी शरण में आ जाते हैं, वे इस माया को तिर जाते हैं, अर्थात् इससे पार होकर संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

पूर्व प्रथम षट्क के उपोद्धात में ही कहा जा चुका है कि श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य के “माया” पदार्थ के विषय में मतभेद है। श्रीशङ्कराचार्य सब जगत्

को माया के द्वारा ही भासित कहते हैं। उनके मतानुसार जगत् उत्पन्न नहीं होता किन्तु जीवों को ज्ञान का आवरण करने वाली माया के कारण प्रतीत हो जाता है, किन्तु श्रीरामानुजाचार्य माया को एक प्रकार की ईश्वर की शक्ति ही मानते हैं। वह केवल मोहित करने वाली ही न होकर जगत् का वास्तविक उत्पादन करने वाली है।

इसी अपने मत का समर्थन करते हुए वे इन पद्यों की व्याख्या करते हैं कि इन अत्यन्त हीन सात्विक राजस तामस रूप गुणमय भावों से अर्थात् उन भावों के बने हुए शरीर इन्द्रिय और उनके भोग्य पदार्थों से मोहित होता हुआ, देवताओं से लेकर वृक्ष आदि स्थावर पर्यन्त सब जगत् जो कि मेरा शरीर रूप है, वह सबके प्रधान आत्मा रूप और सदा एक रूप रहने वाले मुझको नहीं जानता। ऐसे निकृष्ट पदार्थों में भोग्य बुद्धि ही सब जीवों को क्यों होती है ? इसके उत्तर के लिये आगे का पद्य कहते हैं कि यह माया जो कि सत्व रज और तम रूप तीनों गुण वाली है, वह देव अर्थात् जगत् रूप से क्रीड़ा करने वाले मैंने ही बनाई है। इसीलिये इसका कोई पार नहीं पा सकता। इसको माया शब्द से इसी आधार पर कहा जाता है कि जैसे असुर, राक्षस और अस्त्र-शस्त्र आदि विचित्र प्रकार के कार्य कर दिखाते हैं, इसी प्रकार यह ईश्वर की शक्ति भी विचित्र कार्य करती है। इसी का उन्होंने विष्णु-पुराण से एक उद्धरण भी दिया है, जहाँ कि असुरों के किये हुए विचित्र दृश्यों को ही माया कहा गया है। आगे और भी स्पष्ट करते हैं कि माया शब्द मिथ्या अर्थ का बोधक नहीं है। इन्द्रजाल फैलाने वाले को जो मायावी कहा जाता है वह भी उसकी फैलाई हुई मन्त्र औषध आदि शक्तियों के कारण ही कहा जाता है। उसके बनाये हुए पदार्थों को भी जो माया शब्द से कह दिया जाता है, वह माया के बने पदार्थों से उत्पादित बुद्धि का विषय होने से ही लक्षणा से कहा जाता है। जैसा कि मञ्च पर स्थित पुरुषों के शब्द करने पर “मञ्चाः क्रोशन्ति” इत्यादि कह देते हैं।

तात्पर्य यह है कि माया शब्द वास्तविक विचित्र कार्य उत्पन्न करने वाली ईश्वरीय शक्ति का ही बोधक है। यही शक्ति भगवान् के स्वरूप को ढँका रखती है और जीवों की अपने पुत्र कलत्र आदि में भोग्यता की बुद्धि भी उत्पन्न करती है। आगे उत्तरार्द्ध का अर्थ पूर्ववत् ही है।

जो हो भगवद्गीता में माया शब्द प्रायः सब जगह मोह करने वाली के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, यह हम चतुर्थाध्याय के आरम्भ के “संभवाम्यात्ममायया” की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं।

श्रीमधुसूदन आदि इस पद्य की व्याख्या में श्रीशङ्कराचार्य के मतानुसार वेदान्त प्रक्रिया का पूर्ण विस्तार करते हैं। आरम्भ के दैवीपद की व्याख्या उन्होंने की है

स्वप्रकाश चैतन्य रूप आनन्द को ही आश्रय और विषय बनाने वाली अर्थात् माया परब्रह्म में ही रहती है इसलिए वह परब्रह्म इसका “आश्रय” हुआ और माया का वाचक दूसरा अज्ञान शब्द भी है, वहाँ यह प्रश्न होगा कि किसका अज्ञान ? जैसे ज्ञान का विषय अवश्य होना चाहिए—घट का ज्ञान, मनुष्य का ज्ञान इत्यादि। इसी प्रकार अज्ञान का विषय अवश्य ही होना चाहिये। यद्यपि वेदान्तशास्त्र में अज्ञान को ज्ञानाभाव रूप नहीं कहा जाता, किन्तु ज्ञान की तरह अज्ञान भी भाव रूप ही माना जाता है। अतः उस अज्ञान का भी विषय कोई होना ही चाहिये। तब इसका उत्तर भी वेदान्त ग्रन्थों में यही दिया जाता है कि मायारूप अज्ञान का विषय भी परब्रह्म ही है। यह “संक्षेपशारीरक” नाम के वेदान्त ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि “आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचित्तिरेव केवला” अर्थात् माया का आश्रय और विषय दोनों निर्विशेष परब्रह्म ही है। उस दशा में दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं जो कि आश्रय या विषय माना जाय। यह सब निरूपण वेदान्त ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से किया हुआ है।

दैवी शब्द का अर्थ हुआ परब्रह्म परमात्मा में ही रहने वाली और उसे ही अपना विषय बनाने वाली। “एषा” पद से यह सूचित किया कि “अहमज्ञः” इस प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध। इस अनुभव में ज्ञान का अभाव भासित नहीं है अपितु ज्ञान का विरोधी भाव रूप अज्ञान ही भासित होता है, यह प्रक्रिया भी वेदान्त ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से बतलाई गई है। यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखी जाती। “गुणमयी” पद से उस माया को तीन गुणवाली बतलाया, और आगे “मम” पद से मेरी अर्थात् ईश्वर सम्बन्धिनी कहा। वह “दुरत्यया” है अर्थात् कोई जीव बिना मेरी कृपा से उसका पार नहीं पा सकता। यहीं वेदान्त ग्रन्थों में निरूपित यह प्रक्रिया स्पष्ट की गई है कि जीव, ईश्वर, जगत् आदि का विभाग नहीं था, तब केवल एक शुद्ध चैतन्य में ही माया “अविद्या” सुप्त दशा में उपस्थित थी, क्योंकि माया भी अनादि मानी जाती है उसकी भी उत्पत्ति नहीं कही जा सकती। आगे जब विश्व की उत्पत्ति का अवसर आता है, तब वही माया जिसमें कि सत्त्व गुण अति स्वच्छ होने के कारण दर्पण के समान है, उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब होता है वे ही जीव कहे जाते हैं। यद्यपि माया एक है, किन्तु उससे उत्पन्न उसी के परिणामभूत अन्तःकरण अनन्त हैं, उनमें प्रतिबिम्ब भी अनन्त होते हैं। इन प्रतिबिम्बों को ही चिदाभास या जीव कहा जाता है। यहाँ यह भी समझना होगा कि परब्रह्म परमात्मा पर उस माया का कोई प्रभाव नहीं होता, प्रतिबिम्बरूप जीव ही उसके वश में रहते हैं। यहाँ श्रीनीलकण्ठजी ने इतना विशेष लिखा है कि परब्रह्म में माया उपाधि रूप से रहती है, किन्तु जब वही विशेषण रूप से उसके स्वरूप में प्रविष्ट हो जाय तब उस माया विशिष्ट का नाम ईश्वर हो जाता है और उस ईश्वर के

ही प्रतिबिम्ब रूप जीव होते हैं। इससे ईश्वर और जीव दोनों में ही माया का प्रभाव सिद्ध हुआ। किन्तु फिर भी ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्बरूप। इससे जैसे प्रतिबिम्बों पर बिम्बों का पूर्ण अधिकार देखा जाता है, बिम्ब में जो कुछ दोष या गुण हों वह प्रतिबिम्ब में भी आ ही जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी ईश्वर के वश में ही रहते हैं। वह ईश्वर ही सृष्टि करता है अर्थात् आकाश आदि क्रम से सब पदार्थों को उत्पन्न करता है और अपने उत्पन्न किये हुए पदार्थों में कुछ अव्यवस्था आ पड़ने पर उसे हटाने के लिए जगत् में अवतार भी वही लेता है। प्रकृत श्लोक में “मम” पद से ईश्वर ही कहा गया। मेरी अर्थात् ईश्वर सम्बन्धिनी। जीव और ईश्वर दोनों में जो प्रविष्ट है वह बिम्ब स्थानीय परब्रह्म साक्षी नाम से वेदान्त में कहा जाता है। वही साक्षी अपने में अध्यस्त माया को और अपने प्रतिबिम्ब रूप जीवों को प्रकाशित करता रहता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि दर्पण आदि में जो प्रतिबिम्ब होता है वह तो अपने को या अन्य को नहीं जानता, फिर जीव अपने को या अपने से भिन्न पदार्थ को कैसे जान जाता है ? इसका उत्तर है कि दर्पण आदि में मुख आदि जड़ पदार्थों का ही प्रतिबिम्ब होता है तब उसमें जानने का सामर्थ्य कहाँ से आवे। मुख आदि शरीर के अवयव तो जड़ ही है, चेतनता तो उनमें आत्मा के सम्बन्ध से ही आती है। इससे दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब जड़ का होना सिद्ध है। किन्तु माया में तो साक्षात् चैतन्य का प्रतिबिम्ब हुआ है इसलिए वे प्रतिबिम्ब रूप जीव अपने तथा पराये आदि सबको समझते हैं। वे जीव जब तक बिम्बरूप परब्रह्म के साथ अपनी एकता न समझें, तब तक उपाधि के धर्मों को अपने ऊपर ही मानते रहते हैं। जैसे जल आदि में जो प्रतिबिम्ब हुआ है, जल में हलचल होने पर उस प्रतिबिम्ब में भी वह हलचल दिखाई देती है, या काच आदि में दरार पड़ जाने पर प्रतिबिम्ब भी टूटा सा दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार जिसमें प्रतिबिम्ब हुआ है उस अन्तःकरण के सुख दुःख रोग ताप आदि धर्म प्रतिबिम्ब में भी अवश्य ही आवेंगे। इसी अभिप्राय से भगवान् ने माया को “दुरत्यय” अर्थात् न पार करने योग्य बतलाया। इसके उपाधिभूत अन्तःकरण में जितनी ज्ञान क्रिया आदि की शक्ति है उतना ही यह जान सकता है या कर सकता है और उस ज्ञान क्रिया आदि को अपना ही मानता रहता है, अतएव उनका फल भी भोगता रहता है तब क्या इसका छुटकारा ही कभी नहीं होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए भगवान् ने पद्य का उत्तरार्थ कहा है कि जब सच्चिदानन्द रूप विविध अवतार धारण करनेवाले मुझमें अपने उपाधिभूत मन का निवेश कर देता है, यही भगवान् का आराधन हुआ। अपने किये हुए सब कर्मों के फलों को भी भगवान् को अर्पण कर देना भी उसी आराधन के अन्तर्गत है। तब जिस प्रकार बिम्ब में लगाया हुआ तिलक आदि प्रतिबिम्ब

में भी अपने आप ही दिखाई दे जाता है, इसी प्रकार उन कर्मों के फलभूत धर्म अर्थ काम रूप पुरुषार्थ भी इसे प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार भगवान् का आराधना करते-करते जब अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, अर्थात् उपाधि के सब दोष हट जाते हैं तब उस उपाधि में स्वच्छदर्पण की तरह परब्रह्म का स्वच्छ प्रतिबिम्ब पड़ जाता है और “तू ही परब्रह्म है इस गुरु के उपदेश व शास्त्र के मनन तथा निदिध्यासन से “अहं ब्रह्मास्मि” अर्थात् मैं परमानन्द रूप परब्रह्म हूँ यह अखण्डरूप चित्तवृत्ति हो जाती है, वह चित्तवृत्ति अन्तःकरण को पैदा करनेवाली मूल अविद्या का ही नाश कर देती है और जब प्रतिबिम्ब का आधार ही नष्ट हो गया तब प्रतिबिम्ब किस पर रहेगा। इसलिए यह प्रतिबिम्ब रूप जीव बिम्बरूप परब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। यही माया का तरण हुआ। “मामेव” इस एवकार से यह सूचित किया है कि केवल मुझको ही जो शरण बनाते हैं, अर्थात् शरणता में उपाधि का भी प्रवेश नहीं करते वे ही माया का तरण करते हैं। इसी बात को श्रीशङ्करानन्दजी ने और स्पष्ट कर दिया है कि “मामेव” पद से रथ पर दिखाई देनेवाले सगुण साकार स्वरूप को मत समझ लेना, क्योंकि सगुण रूप की उपासना से माया का तरण नहीं हो सकता। इसलिए मेरे मुख्य सच्चिदानन्द रूप की ही जो शरण आते हैं, वे ही माया का तरण करते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी इस पद्य पर शीर्षक रूप में टिप्पणी देते हैं कि माया और प्रकृति एक ही है। वह दो प्रकार की होती है—दैवी माया और आसुरी माया। दोनों में से जिस माया या प्रकृति में सत्त्व गुण की प्रधानता रहे वह “दैवी माया” है, और जहाँ रज या तम की प्रधानता हो वह आसुरीमाया है। सत्त्व प्रधान दैवी माया आत्मा का अत्यन्त आवरण नहीं करती। इसलिए दैवी माया से बद्ध पुरुष भगवान् को अपना शरण बना सकते हैं और उनकी कृपा से माया का पार भी पा सकते हैं, यह इस पद्य में कहा गया और आसुरीमाया का अत्यन्त आवरण जिस पर हुआ है, उन्हें भगवान की शरणागत होने की बुद्धि ही कभी उत्पन्न नहीं होती। इसलिए वे सदा संसार में ही घूमते रहते हैं, यह अग्रिम पद्य में बतलाया जायेगा। यह तो हम कई बार कह ही चुके हैं कि उनके मत में गीता में “अस्मत्” शब्द का प्रयोग अव्यय पुरुष के लिये ही होता है। इसलिये श्रीमधुसूदनसरस्वती और शङ्करानन्दजी ने जो “मां” शब्द की निर्गुण परक व्याख्या की है, वह इनके मत में भी उपपन्न ही है। (१४)

जब ऐसा ही है तो सभी लोग आपकी शरण में आकर माया के पार क्यों नहीं उतर जाते, क्यों संसार के झंझटों में दुःख भोगते रहते हैं ? इसका उत्तर भगवान् अग्रिम पद्य में देते हैं कि जो दुष्कृत अर्थात् पाप कर्मों में अपनी मूढ़ता वश लगे रहते हैं, वे अधम पुरुष मेरी शरण में नहीं आ सकते, क्योंकि माया उनकी मेरी शरण में



आने की बुद्धि का हरण कर लेती है। वे आसुर भावों में ही लगे रहते हैं। आसुर भाव वालों का विशेष विवरण आगे सोलहवें अध्याय में विस्तार से किया जायेगा।

श्रीरामानुजाचार्य यहाँ भगवान् को न भजने वालों के भी चार भेद बताये गये हैं, जैसे कि अग्रिम पद्य में भजने वालों के चार भेद बताये जायेंगे, ऐसी व्याख्या करते हैं। वे चार भेद उन्होंने इस प्रकार बताये हैं कि १. मूढ़, २. नराधम, ३. मायापहतज्ञान, और ४. आसुरभाववाले। 'दुष्कृतिनः' पद को वे सबका विशेषण मानते हैं। अर्थात् ये चारों ही प्रकार के मनुष्य पापकर्मों में ही लगे रहते हैं। उन्हें मेरी शरण में आने का अवकाश ही नहीं मिलता। मूढ़ वे हैं जो मेरे स्वरूप को या मेरे ऐश्वर्य को जानते ही नहीं। जो सुन सुना कर मेरा या मेरे ऐश्वर्य का कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मेरी ओर प्रवृत्त नहीं होते वे "नराधम" हैं और मेरा ज्ञान हो जाने पर भी कूट युक्तियों से जिन्हें मेरे ऐश्वर्य पर असंभावना रहती है, वे "मायापहतज्ञान" कहे जाते हैं और जो मेरे भगवद्रूप से द्वेष रखते हैं वे "आसुरभाववाले" कहे जाते हैं। इनमें पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक दुष्ट होते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पति ने जो इस पद्य में कहा है उसका विवरण पहले ही आ चुका है। श्रीशङ्करानन्दजी यहाँ "दुष्कृतिनः" पद से मीमांसकों का ग्रहण करते हैं, क्योंकि वेद के पूर्ण विश्वासी होकर भी काम्य कर्म रूप दुष्कृत में ही लगे रहते हैं और ईश्वर की ओर झुकने का अवसर ही नहीं पाते। तथा "मूढ़" पद से तार्किक, वैशेषिक आदि का ग्रहण करते हैं। जिनका ज्ञान माया ने हरण कर लिया है, अतएव वे परमाणु आदिवादों में ही लगे रहते हैं एवं "नराधम" पद से चार्वाक, आदि का निर्देश बतलाते हैं, जिन्हें कि ईश्वर पर विश्वास ही नहीं। (१५)



## षष्ठ-पुष्प

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।  
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥७॥१६॥  
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।  
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥  
उदारा सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।  
आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥  
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।  
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

हे अर्जुन ! पुण्य कार्य करने वाले चार प्रकार के पुरुष मेरा भजन करते हैं। एक आर्त अर्थात् रोग, शत्रु तथा भयङ्कर जन्तु से पीड़ित। दूसरा जिज्ञासु जो ज्ञान प्राप्ति की इच्छा रखता हो। तीसरा धन, पद, पुत्र आदि अपनी उन्नति चाहने वाला और चौथा ज्ञानी अर्थात् जो मेरा स्वरूप जान चुका हो। (१६)

इन चारों में ज्ञानी विशेष प्रकार का है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठता का कारण बतलाने के लिए उसको दो विशेषण दिये जाते हैं कि एक तो वह नित्य युक्त है अर्थात् सदा ही भजन करने वाला है। पीड़ित होकर जो भजन करते हैं, उनका भजन पीड़ा निवृत्त हो जाने पर बन्द हो जाना संभव है। उन्नति चाहने वाला पुरुष भी उन्नति मिल जाने पर या न मिलने पर भी घबरा कर भजन छोड़ देता है, ऐसा लोक में देखा जाता है। जिज्ञासु पुरुष भी ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर संभव है कि अन्य शास्त्रोक्त निदिध्यासन समाधि आदि मार्गों में लग जाय, किन्तु जो तत्त्व जानकर भगवद् भजन में लगा है, उसका भजन कभी नहीं छूटेगा। इस कारण वह भजन में नित्य युक्त है। दूसरा हेतु यह है कि अन्य तीन प्रकार के भक्तों का लक्ष्य अपने इष्ट साधना की ओर भी रहता है। आर्त अपनी पीड़ा निवृत्त को ही मुख्य लक्ष्य में रखता है। जिज्ञासु का ज्ञान प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य रहता है और उन्नति चाहने वाले का मुख्य लक्ष्य तो अपनी उन्नति पर है ही, किन्तु ज्ञानी को और किसी वस्तु की भी अभिलाषा नहीं, इस कारण वह निष्काम रूप से एक मात्र भगवान् में ही भक्ति रखता है। भगवान् ही एक मात्र उसका लक्ष्य हैं। इन्हीं दोनों कारणों से वह सब भजन करने वालों में श्रेष्ठ माना जाता है। इन्हीं

कारणों से ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय होता हूँ। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी के प्रति उपदेश है कि जाया, पति, पुत्र आदि उनके काम के लिए प्रिय नहीं होते अपने ही काम के लिए उनसे प्रेम होता है। इसीलिए प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अपने किञ्चित् विरुद्ध होते ही उनके साथ प्रेम शिथिल हो जाता है या टूट जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि सबसे अधिक प्रेम सबका आत्मा पर ही है और ज्ञानी पुरुष अन्तर्यामी परमात्मा को ही मुख्य आत्मा मान चुका है, इसलिए आत्मा रूप से उसका परमात्मा अत्यन्त प्रिय हो यह युक्तियुक्त ही है और वह परमात्मा के साथ एकता ही प्राप्त कर चुका है। अतः परमात्मा का भी वह आत्मा बना हुआ है। इसलिए वह मेरा अत्यन्त प्रिय है—यह परमात्मा श्रीकृष्ण का कहना भी युक्तियुक्त ही है। (१७)

तो क्या अन्य प्रकार के भक्त आपके प्रिय नहीं हैं ? ऐसी शङ्का समझ भगवान् कहते हैं कि ये चारों प्रकार के भक्त ही उदार हैं। उदार शब्द का अर्थ बहुत व्याख्याकारों ने उत्कृष्ट ही किया है। अर्थात् और प्रकार के कार्य छोड़ कर मेरी उपासना में ही लगे हैं, इसलिए उच्च श्रेणी के हैं। उदार शब्द का दाता अर्थ ही लोक में प्रसिद्ध है, उसके अनुसार श्रीरामानुज आदि ऐसा भी अर्थ करते हैं कि भजन करना एक प्रकार से मुझे दान करना ही है। इसीलिए सब भजन करने वालों को भगवान् ने उदार बतलाया। कई व्याख्याकारों ने उदार शब्द का अर्थ अच्छे मार्ग पर चलने वाला कहा है। आगे ज्ञानी की विशेषता का पुनः वर्णन किया जाता है कि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है। इसका विवरण हम अभी कर चुके हैं कि वह भगवान् के साथ एक भाव को प्राप्त हो गया है, इसलिए भगवान् की आत्मा ही बतलाते हैं। पुनः ज्ञानी की प्रशंसा करते हैं कि वह युक्तात्मा अर्थात् अपने आपको ही वासुदेव रूप मानता हुआ और मुझको ही सबसे उत्कृष्ट प्राप्ति योग्य समझता हुआ मुझ में ही लगा रहता है। (१८)

ऐसा ज्ञान झटपट ही नहीं हो जाता, किन्तु अनेक जन्मों के अन्त में यह ज्ञान प्राप्त होता है कि वासुदेव ही सर्वरूप हैं, अर्थात् उनसे भिन्न जगत् में कुछ भी नहीं। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने वाला ही महात्मा कहने योग्य है और वह मनुष्यों में दुर्लभ है अर्थात् कोई कोई मनुष्य ही ऐसा मिलता है। वह ज्ञानी मुझमें ही मिल जाता है।

भजन करने वालों की गणना के आदि में जो “सुकृतिनः” पद दिया है, उसका यह आशय है कि जिनका पूर्व जन्मों का पुण्यकर्म परिपक्व हो चुका है वे ही आर्ति आदि की दशा में मेरा भजन करते हैं। यदि पुण्योदय न हुआ हो तो अन्य लौकिक उपायों में लग जायेंगे, या “आरोग्यं भास्करादिच्छेत्” इत्यादि वचनों के अनुसार अन्य देवों की उपासनों में लग जायेंगे। सबसे प्रथम आर्त की जो गणना की, उसका आशय यह है कि किसी प्रकार की भी विपत्ति पड़ने पर सभी भगवान् का भजन किया करते

हैं। अतः व्यापक रूप से भगवान् के भजन का कारण आर्त ही है। इसी आशय से आर्त को प्रथम स्थान दिया। आगे सबको ही जो उदार अर्थात् श्रेष्ठ बतलाया है उसका यह तात्पर्य है कि चाहे किसी रूप में भी भगवान् के भजन में लगे किन्तु भगवद्भजन की यह विशेषता है कि वह अन्तःकरण में पवित्रता उत्पन्न कर ही देता है और किसी भी कारण से भगवद्भजन में लगे हुए पुरुष बहुधा सच्चे भगवद्भक्त बन जाते हैं, ऐसा भी लोक में देखा जाता है। यदि जिस कारण से भजन में लगे वह अपना इष्ट भी सिद्ध हो जाय—पीड़ित पुरुष की पीड़ा दूर हो जाय, उन्नति की कामनावाले को उन्नति मिल जाय, तब तो कहना ही क्या ! वे तो फिर अवश्य ही भगवद्भक्त बन जाते हैं। इन चारों प्रकार के भक्तों के उदाहरण भी कई व्याख्याकारों ने दिये हैं। आर्त्ति से भजन करने वालों में गजेन्द्र, प्रह्लाद, द्रौपदी, जरासन्ध की कैद में पड़े हुए राजा आदि प्रसिद्ध हैं। जिज्ञासुओं में परीक्षित, शौनक, अर्जुन और उद्धव आदि हैं। अर्थार्थी भजन करने वालों में ध्रुव, सुग्रीव और विभीषण आदि को लेना चाहिए और ज्ञानी शुकदेव, नारद, भीष्म आदि भी प्रसिद्ध ही हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने इन चारों में पहले की अपेक्षा आगे वाले को भजन में श्रेष्ठ बतलाया है। उसका तात्पर्य यही हो सकता है कि उत्तरोत्तर के भजन में लगन अधिक होती है।

श्रीवल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी इन चार प्रकार के भक्तों का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों से सम्बन्ध लगाते हैं, और इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि आर्त अर्थात् सांसारिक दुःखों से उद्विग्न होकर धर्म रूप से मेरी सेवा करता है। धर्म मिल जाने पर भगवत् प्रसाद होकर सांसारिक दुःखों की निवृत्ति हो ही जायेगी यही उसका आशय होता है। जिज्ञासु कामात्मक भगवत्स्वरूप की इच्छा रखने वाला। इस सम्प्रदाय में कामस्वरूप भी भगवान् को ही माना जाता है जैसा कि गोपियों ने अनुभव किया। अर्थार्थी का तात्पर्य है कि मेरी सेवा के लिए उसके उपयोगी धनरूप मुझको ही माननेवाला अर्थरूप से सेवा करता है और ज्ञानी तो मोक्ष रूप भगवान् को मानकर भजन करता है यह प्रसिद्ध ही है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो टीका प्रसिद्ध है उसमें “ज्ञानी च” इस चकार से ब्रज गोपिकाओं का संग्रह किया है। वे उक्त चारों प्रकारों में से किसी भी प्रकार में नहीं आतीं और न वे सुकृति अर्थात् धर्म करने वाली ही कही जा सकती हैं, क्योंकि इस जन्म में या पूर्व जन्म में भी उनका भगवत् प्रेम प्राप्ति के लिये धर्माचरण करना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। श्रीमधुसूदनसरस्वती भी चकार से ही उनका संग्रह करते हैं और वे यह भी लिखते हैं कि आर्त और अर्थार्थी ये दोनों पहले जिज्ञासु भाव प्राप्त करके पीछे भगवद्भक्त बनेंगे और जिज्ञासु तो बिना किसी व्यवधान के ही ज्ञान प्राप्त कर भगवद्भक्त बन जायेगा, इसी अभिप्राय से आर्त और अर्थार्थी के मध्य में

जिज्ञासु को रक्खा है कि वे दोनों ही पहले जिज्ञासु भाव प्राप्त करते हैं, और पीछे ज्ञान प्राप्त कर पूर्ण भगवद्भक्त बन जाते हैं।

श्रीशङ्करानन्दजी ने अन्तिम श्लोक पर वेदान्त प्रक्रिया का बहुत कुछ विवेचन किया है। अन्य कुछ व्याख्याकार जो यह संकेत करते हैं कि इस प्रकरण में अपरिपक्व विज्ञान या शब्द मात्र से परब्रह्म को जान लेने वाले का वर्णन है, इसका तो उन्होंने खण्डन किया है, क्योंकि सब पद्यों पर ध्यान देने से जिसका ज्ञान परिपक्व हो चुका है उसी का वर्णन यहाँ सिद्ध होता है। जैसा कि हमने भी पद्यों में व्याख्या की है। किन्तु प्रथम पद्य में चार प्रकार के पुण्यकर्मा भक्त मेरा भजन करते हैं। यहाँ “मां” शब्द से सगुण उपासना ही केवल भगवान् को अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि जिनका ज्ञान परिपक्व हो गया है वे सगुण स्वरूप को कल्पित मानते हुए उसकी उपासना में लग ही नहीं सकते। इसलिए वहाँ “मां” शब्द से दोनों ही प्रकार के सगुण और गुणातीत अर्थात् गुणों से परे रहने वाले रूपों का ग्रहण करना चाहिये। अन्यत्र भी विष्णुपुराण आदि में वासुदेव शब्द का ऐसा अर्थ किया कि -

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।

तेनाऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ॥

इसका आशय है कि उस शब्द में वासु और देव दो शब्द मिले हुए हैं। “वासु” शब्द का अर्थ है जो सबमें रहे और सब जिसमें रहें, और “देव” शब्द तो स्व प्रकाश का वाचक है ही। ऐसा ही “मां” शब्द मानने से और “वासुदेवः सर्वमिति” इस वाक्य खण्ड में भी वासुदेव शब्द का यही अर्थ मानने से सब निर्वाह हो जाता है अर्थात् निर्गुण रूप भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। “मां प्रपद्यते” इन पदों का भी स्वारसिक अर्थ श्रीशङ्करानन्दजी मुझमें तत्काल लीन हो जाता है यही करते हैं। वस्तुतः ज्ञानवान् होने के अनन्तर बहुत जन्मों के बाद मुझे प्राप्त करता है—ऐसा अर्थ तो यहाँ हो ही नहीं सकता। क्योंकि जब आगे के पद्यों में ज्ञानी मेरा आत्मा ही है और मुझे परमप्रिय है, यह स्पष्ट शब्दों में कहा गया, तब अनेक जन्म लेने की ज्ञानी को आवश्यकता ही क्या रही ? इसलिए यहाँ जीवन्मुक्ति दशा का ही वर्णन है। श्रुति में भी स्पष्ट कहा है कि “तस्य तावदेव चिरं यावद्विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये” अर्थात् इतना ही विलम्ब है कि मैं इस शरीर से छूटा कि परब्रह्म में लीन हुआ। श्रीविद्यावाचस्पतिजी तो सर्वत्र ही गीता के “अस्मद्” शब्द का अर्थ प्रायः अव्यय पुरुष ही मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार भी श्रीशङ्करानन्द की व्याख्या उपपन्न है। क्योंकि अव्यय पुरुष तो निर्गुण ही है।

यहाँ यह अवश्य विचारणीय विषय है कि भगवद्गीता में ज्ञान को प्रधान माना गया या भक्ति को ? श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भक्ति का अङ्ग ही माना है। श्रीवल्लभाचार्य

का भी ऐसा ही सिद्धान्त है और वे श्रीभागवत के द्वारा अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। अन्य वैष्णव आचार्य भी प्रायः ऐसा ही स्थान स्थान में सङ्केत किया करते हैं, किन्तु श्रीशङ्कराचार्य और उनके अनुयायी ज्ञान को ही प्रधान मानते हैं और कर्म, भक्ति आदि को उसका अङ्ग, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति का साधन मानते हैं—यह आचार्यों का मतभेद तो प्रसिद्ध है। किन्तु भगवद्गीता के द्वारा किस मत का समर्थन हुआ यह अवश्य विचारणीय है। “भक्त्या मामभिजानाति” इस अद्वारहवें अध्याय के पद्य में तृतीया विभक्ति से भक्ति की अङ्गता सिद्ध होती है और ग्यारहवें अध्याय के “भक्त्या त्वनन्यया” पद्य में भी भक्ति की अङ्गता सिद्ध की गई है। इन पद्यों का अर्थ उन्हीं प्रकरणों में स्पष्ट किया जायेगा। ज्ञान को भक्ति का अङ्ग मानने वाले जो यह युक्ति दिया करते हैं कि बिना जाने तो प्रेम हो ही कैसे सकता है। इसलिए ज्ञान तो भक्ति का अङ्ग है ही। इस युक्ति का उत्तर भी भगवद्गीता के पद्यों से मिलता है कि तत्त्व ज्ञान भक्ति से प्राप्त होता है अर्थात् पहिले सामान्य रूप से भगवान् को समझ कर प्रेम किया जाय और आगे भगवान् का तात्त्विक ज्ञान अर्थात् वे ही सर्वरूप हैं उनसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं— यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है। किन्तु इस प्रकरण में ज्ञानी की जो भजन करने वालों में गणना की गई, इससे अवश्य ही ज्ञान का भक्ति में अङ्गभाव सिद्ध हो जाता है और सब प्रकरणों से यह भी सिद्ध है कि परिपक्व ज्ञानी का ही यहाँ वर्णन है। इस प्रकार भगवद्गीता में आपात दृष्टि से परस्पर विरोध ही प्राप्त होता है। इसी विरोध के समाधान के लिए श्रीशङ्करानन्द आदि ने उक्त व्याख्या की है और ज्ञानी की चाहे निर्गुण की ही भक्ति मानी जाय, किन्तु भक्ति की प्रधानता तो सिद्ध हो ही गई इस प्रकार जो भजन बतलाया गया, उसका वे लोग यही आशय मानते हैं कि ज्ञान प्राप्त होने पर भी शरीर धारण करते हुए यह ज्ञान दृढ़ रहे शिथिल न हो, इसके लिए निर्गुण भगवान् का चिन्तन करते रहना चाहिये।

लोकमान्यतिलक ने भी गीता रहस्य के “भक्ति मार्ग” प्रकरण में इसका विचार किया है। किन्तु अन्त में उन्होंने कर्मयोग में ही भक्ति का समावेश मान लिया।

हमारा विचार तो इस विषय में यही है कि ज्ञान और भक्ति इन दोनों का परस्पर अङ्गाङ्गीभाव चलता रहता है अर्थात् भगवत् प्रेम से तत्त्व ज्ञान विकसित होता रहता है और तत्त्वज्ञान से भगवत् प्रेम बढ़ता रहता है। दोनों की अन्तिम अवस्था जो परज्ञान, परिपक्वज्ञान या पराभक्ति कही जाती है, वे दोनों एक ही हैं। ऐसा ही भगवद्गीता के वर्णनों से सिद्ध होता है। इसी से उक्त पद्यों का विदेहमुक्ति के वर्णन पर पर्यवसान मानना व्याख्याकारों का युक्तियुक्त ही है। इस पर विज्ञपाठक यथोचित विचार कर लें। (१९)

## सप्तम-पुष्प

कामैस्तैस्तैर्हतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः ।  
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥  
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।  
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥  
स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।  
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥२२॥  
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।  
देवान् देवयजो यान्ति भद्रक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥  
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।  
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

भजन करने वालों का वर्णन समाप्त कर आगे पुनः माया से मोहितों का ही प्रसङ्ग आरम्भ किया जाता है कि भिन्न-भिन्न कामनाओं से मनुष्यों का मुख्य ज्ञान हर लिया जाता है और वे उन कामनाओं के वशीभूत होकर अन्य देवता इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि की शरण में जाकर उनकी उपासना करने लगते हैं। उन उपासनाओं में जिन जिन नियमों की आवश्यकता हो उन नियमों का भी पालन करते हैं—ऐसा ही पूर्व जन्मों का उनका संस्कार होता है। उस संस्कार से बद्ध होकर ही वे ऐसा किया करते हैं। इस पद्य में जो अन्य देवताओं की उपासना कही गई है, उसका तात्पर्य फल की इच्छा से किये गये यज्ञों से जो देवताओं का आराधन होता है, उसमें समझना चाहिये। अथवा अतिक्षुद्र तामस भूत, प्रेत आदि देवयोनियों की उपासना में भिन्न-भिन्न फल प्राप्ति की आशा से जो लग जाते हैं, वे भी यहाँ लिये जा सकते हैं।

निर्गुण निराकार भगवान् के जो उपासना के लिए विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य ये पाँच रूप कल्पित हैं, उनका ग्रहण यहाँ नहीं करना चाहिये। वे तो भगवान् के ही रूप हैं और दशम अध्याय में “रुद्राणां शङ्करश्चास्मि” इत्यादि रूप से यहाँ भी अपना रूप बतलाया गया है। निर्गुण, निराकार परब्रह्म के ही उपासना के लिए पाँच रूप कल्पित किये जाते हैं। उनकी उपासनाओं पर ऐसा आक्षेप कभी नहीं हो सकता। इस पद्य में भी “अन्य देवता” शब्द ही दिया गया है। देवता तो जीवधारी ही हैं उनकी

ही उपासना पर यह कटाक्ष है। ईश्वरोपासना पर नहीं। ईश्वरोपासना तो चाहे किसी भी रूप में हो, वह सब ही भगवद्गीता में मेरी उपासना शब्द से कही गई है। (२०)

सबकी बुद्धि के प्रेरक तो आप ही हैं, फिर ऐसे लोगों की बुद्धि को प्रेरणा कर आप अपने में ही क्यों नहीं लगा लेते ? इसका उत्तर अग्रिम पद्य में दिया जाता है कि जो जो भक्त श्रद्धा से जिस जिस शरीर की पूजा करना चाहता है, उसकी उस ही श्रद्धा को मैं अचल बना देता हूँ। उसका परिवर्तन नहीं करता। तृतीय अध्याय में जो यह उपदेश दिया गया है कि कर्मों में आसक्ति रखने वाले जो अज्ञ पुरुष हैं, उनकी बुद्धि को विचलित नहीं करना चाहिये, वही आशय यहाँ उपासना में भी प्रकट किया गया। उस श्रद्धा को दृढ़ करने में भी उनका हित ही है, क्योंकि जिनकी बुद्धि में पूर्व संस्कार वश रजोगुण या तमोगुण अधिक हैं उन्हें उस राजस, तामस देवताओं की उपासना से हटाया जायेगा तो वे और भी दोषयुक्त लौकिक कार्यों अर्थात् मद्यपान व्यभिचार आदि में लग जायेंगे। अभी श्रद्धा से देवताओं की उपासना में तो लगे हुए हैं। इस उपासना से चाहे आगे कहे जाने वाला नाशवान् ही फल मिले किन्तु मनुष्य योनि से तो ऊपर ही जायेंगे। अन्य क्षुद्र कार्यों से तो नरक प्राप्ति भी संभव है। इसलिए उनकी हित बुद्धि से ही उनकी श्रद्धा को निश्चल बनाना भगवान् ने कहा है। यह तो ठीक है कि भगवान् ही सबकी बुद्धि के प्रेरक हैं किन्तु वे भी पूर्व संस्कारानुसार ही बुद्धि में प्रेरणा देते हैं। तामस बुद्धि को एकदम सात्विक बना देने का काम वे नहीं करते। ऐसा करने से तो संसार का भेदभाव भी मिट जायेगा और फिर सृष्टि ही न चलेगी। इसलिए अपने-अपने कर्मों के अनुकूल ही प्रकृति बनाई जाती है। श्रीभागवत में भी दशमस्कन्ध की गोवर्धन लीला में इन्हीं भगवान् कृष्ण ने कहा कि -

**अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्  
कर्तारं भजते सोऽपि नह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ।**

(अ. २४ श्लो० १४)

अर्थात् कर्मों का फल प्रदाता यदि ईश्वर है तो वह भी कर्म की ही अपेक्षा रखता है, अर्थात् कर्मानुसार ही फल देता है। अकर्ता का वह प्रभु नहीं है, अर्थात् बिना कर्म किये अकस्मात् कोई फल नहीं दे देता। वेदान्त सूत्र में भी यही निर्णय किया गया है कि पूर्व पूर्व संस्कारानुसार आगे के कर्म होते रहते हैं और उन कर्मों का फल भी कर्मों के अनुकूल ही ईश्वर से मिलता रहता है।

श्रीरामानुजाचार्य ने इस पद्य की व्याख्या में यह भी लिखा है कि सब देवताओं में भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से विराजमान हैं। इसलिए उन देवताओं की उपासना



भी एक प्रकार से भगवान् की ही उपासना है। इस अभिप्राय से उनकी श्रद्धा को दृढ़ बनाना उचित ही है। (२१)

वह पुरुष मेरी अचल की हुई श्रद्धा से उन भिन्न देवताओं की आराधना में ही लगा रहता है और उस उपासना के फल रूप में अपनी कामना के अनुसार फल भी प्राप्त करता है। वे फल मेरे ही दिये हुए होते हैं। फल प्रदाता तो ईश्वर ही है। जैसा कि पूर्व पद्य की व्याख्या में हम लिख चुके हैं। शिव महिम्नस्तोत्र में भी कहा गया है कि -

क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुभृताम्,  
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।  
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवम्,  
श्रुतौ श्रद्धां बध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ॥

अर्थात् हे भगवान् शङ्कर ! यज्ञ करने वाले जब अपनी फल प्राप्ति के सम्बन्ध में सोते रहते हैं तब आप ही जागते हो। तात्पर्य यह कि हमें फल किस प्रकार और कैसा मिलेगा यह ज्ञान उन यज्ञ करने वाले को नहीं होता, यही उनका शयन है और आप उसमें जागते हैं अर्थात् किसे कैसा फल देना इसका विचार आपको ही रहता है। कर्म तो जिस समय किया उसी समय नष्ट हो जाता है। सभी क्रियाएँ क्षणमात्र ही रहती हैं, आगे नष्ट हो जाती हैं। यदि पुरुषरूप परमात्मा का आराधन न किया जाय तो वह नष्ट हुआ कर्म, फल देने के लिए कहाँ से आवेगा। इसलिए आपको ही फल प्रदान का जिम्मेवार समझकर सब लोग वेद पर श्रद्धा रखकर कर्म करने की कमर बाँधे रहते हैं। यही बात भगवान् कृष्ण ने भी इस पद्य में कही है कि मेरे ही दिये हुए फलों को सब उपासक प्राप्त करते हैं। शिव और कृष्ण एक रूप ही हैं और वे ही फलप्रदाता हैं। “मयैव” इस एवकार से “हि तान्” इस हि शब्द से मैं ही फल प्रदाता हूँ, इस अंश को दृढ़ किया गया है। अथवा “हितान्” को एक पद मानकर यह अर्थ कर लेना चाहिए कि उस आराधक पुरुष के हित अर्थात् चाहे हुए फल मेरे ही दिये हुए होते हैं। (२२)

जब अन्य देवताओं की उपासना करने वाले भी आप ही का दिया हुआ फल प्राप्त कर ही लेते हैं, तब उन्हें आप हत-ज्ञान अर्थात् ज्ञान रहित क्यों बतलाते हैं ? इसका उत्तर आगे के पद्य में दिया जाता है कि उन छोटी बुद्धि वालों को अर्थात् किसी धन, पुत्र आदि की कामना को लेकर परमात्मा से भिन्न समझ कर भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना करने वालों को जो फल मिलता है, वह अन्तवान् अर्थात् नष्ट होने वाला

होता है। यहाँ “तु” शब्द से अपने उपासकों की अपेक्षा उन अन्य देवोपासकों का भेद सूचित किया। नाश होने वाला फल उन्हें क्यों मिलता है ? यह उत्तरार्ध में स्पष्ट किया जाता है कि अन्य देवताओं की उपासना करने वालों का अपनी अपनी कामना-सिद्धि के अतिरिक्त अन्तिम फल यह है कि वे देवताओं की पूजा में लगे रहें तो उन देवताओं का लोक प्राप्त कर लें, या अन्ततः उनका सायुज्य प्राप्त कर लें, अर्थात् उनके ही स्वरूप में मिल जावें। जबकि उनका लोक और वे देवता भी स्वयं ही नाशवान् हैं तो उनके लोक में जाना या उनके स्वरूप में मिल जाना भी नाशवान् ही होगा। जब देवता ही अपने स्वरूप से प्रच्युत हो जायेगा तब उसमें मिलने वाले को भी प्रच्युत होना ही पड़ेगा। इनसे मेरे भक्तों का यही भेद है कि मेरे भक्त मुझे भी प्राप्त कर लेते हैं। मैं तो नित्यानन्दमय सदा अविनाशी हूँ इससे मुझे प्राप्त कर लेना तो संसार से छुटकारा पा लेना ही है। जो संसार से छुटकारा पा गया, वह फिर संसार के बंधन में नहीं आ सकता। इसलिए मेरी उपासना का फल अनन्त-अविनाशी ही है। यहाँ “मामपि” (मुझे भी) इस “अपि” शब्द का अर्थ कई व्याख्याकार यह लगाते हैं कि पूर्व जो चार प्रकार के भक्त कहे गये हैं, उनमें से आदि के तीन कुछ कामना रखते हैं। वे अपनी कामना की पूर्ति रूप फल भी प्राप्त कर लेते हैं और अन्त में मेरी उपासना का परमफल ज्ञान प्राप्त कर मुझमें भी मिल जाते हैं। भगवान् परब्रह्म की भक्ति से चित्त शुद्ध होकर सब कामनाएँ दूर हो जाती हैं और अन्त में “भगवान् ही सब कुछ हैं”—यह ज्ञान भी मिल ही जाता है। जैसा कि श्रीभागवत में भगवान् का ही वचन है कि —

“न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।

भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥”

अर्थात् मुझमें जिन्होंने अपनी बुद्धि लगा रखी है, उनकी कामना आगे दूसरी कामना पैदा करने वाली नहीं होती। संसार में कामनाओं का सिलसिला चलता रहता है। वैसा सिलसिला भगवान् के भक्तों में नहीं चलता। इसमें दृष्टान्त दिया गया है कि धान बो देने पर अङ्कुर पैदा करने वाला होता है, किन्तु उसे भूँज दिया जावे या पानी में डाल कर औँटा दिया जावे तो फिर वह बीज बोने लायक नहीं रहता। अर्थात् अंकुर पैदा करने की शक्ति उसकी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार भगवान् में बुद्धि लगाने पर कामनाओं की आगे सिलसिला पैदा करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। जब कामनाएँ नष्ट हो गईं तो फिर ज्ञान-प्राप्ति में विलम्ब नहीं लगता।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इस पद्य पर विशेष टिप्पणी लिखी है। उनका कथन है कि अमृत, ब्रह्म, सुब्रह्म, शुक्र और पाप्मा—इन पाँचों से मिलकर जीव का स्वरूप

बनता है। अव्यय, अक्षर और क्षर ये अमृत कहे जाते हैं। जिनका कि स्वरूप-विवेचन पन्द्रहवें अध्याय में किया जायेगा। गति और स्थिति रखने वाला “यजुः” नाम का वेद ब्रह्मा कहा जाता है, जो कि सब जगत् का उपादान कारण बनता है। स्नेह और तेज जिसमें रहते हैं वह अथर्ववेद सुब्रह्म है। अग्नि और आप (जल) जिसके गर्भ में हैं, ऐसा वाक् का मण्डल शुक्र कहा जाता है। प्रकृति के तीनों गुण, दो प्रकार की बुद्धि, तीन प्रकार की मात्राएँ और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—ये तीनों शरीर ये सब पाप्मा कहलाते हैं। इनमें ब्रह्म और सुब्रह्म तो ब्रह्म-सत्य हैं, अर्थात् इनमें ब्रह्म की ही सत्ता अनुस्यूत हुई है और शुक्र देवसत्य कहा जाता है, अर्थात् वह देवताओं के स्वरूप से उत्पादित है और पाप्मा अनृत अर्थात् मिथ्याभूत कहा जाता है। इनमें से भोक्ता रूप भूतात्मा यदि देव-सत्य की ओर झुका हुआ हो अर्थात् शरीर के उत्पादक शुक्र की ओर ही लगे तो वह देवताओं का यजन करने वाला कहलायेगा और अमृत की ओर लगा हुआ हो तो वह आत्मा का भक्त कहा जायेगा। देवताओं का पूजन करने वाला देवताओं में मिलेगा, अर्थात् शुक्र से बार बार भिन्न भिन्न शरीर प्राप्त करता रहेगा और अमृत की ओर लगने से अमृत रूप प्राप्त कर लेगा। इन सबकी विस्तृत व्याख्या से तो एक पूरा स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन जायेगा, इसलिए उनके मत के परिचय के लिए यहाँ सङ्क्षेप-मात्र कर दिया है। (२३)

यदि प्रयास समान है और फल में बहुत बड़ा भेद है तो फिर सब ही लोग आपका ही भजन क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर “अव्यक्तं”—इस पद्य से दिया जाता है। यह पद्य पुनः ऐसा उपस्थित हो गया है कि इसमें व्याख्याकारों के बहुत मतभेद हैं। हम संक्षेप से सबका ही वर्णन कर देते हैं—

श्रीशङ्कराचार्य इसकी व्याख्या करते हैं कि पूर्व अप्रकट और इस समय प्रकट रूप में उपस्थित हुआ मुझको निर्बुद्धिलोग मानते हैं। अर्थात् शरीर ग्रहण से पूर्व में अप्रकट था अर्थात् किसी को ज्ञात नहीं था। अब प्रकट हो गया हूँ, ऐसा ही सब लोग समझते हैं। परन्तु वे निर्बुद्धि क्यों हैं ? उसका कारण बतलाते हैं कि मेरा जो सबसे पर-ईश्वर भाव है, जो कि अविनाशी है और जिससे उत्तम और कोई हो ही नहीं सकता, ऐसे भाव को वे नहीं जानते। इसका तात्पर्य यही हुआ कि जीवरूप ही सबकी दृष्टि में आता है। परमात्मा का स्वरूप ही लोग नहीं जानते, इसलिए जीवरूप देवताओं के ही भजन में लगते हैं। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से मुझ परमात्मा की उपासना में नहीं लगते।

श्रीरामानुजाचार्य इसे अवतार पर लगाते हैं कि निर्बुद्धिलोग मुझे ऐसा समझते हैं कि जैसे संसारी पुरुष शरीर ग्रहण से पूर्व अव्यक्त रहते हैं, अर्थात् वे कहाँ हैं ?

इसका किसी को पता नहीं लगता और आगे शरीर ग्रहण करने पर प्रकट हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व द्वितीय अध्याय में “अव्यक्तादीनि भूतानि”—इत्यादि पद्य में कहा गया है। ऐसा ही संसारी पुरुष वसुदेव का पुत्र एक पराक्रमी क्षत्रिय-विशेष मुझे मानते हैं। वे मेरे परं भाव अर्थात् ईश्वर रूप जो कि अविनाशी और अनुत्तम अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है, उसको नहीं जानते। इसलिए अन्य देवताओं को बड़ा समझ कर उनकी उपासना में लगे रहते हैं।

श्रीमध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ) लिखते हैं कि पूर्व मैं कार्यभूत देह से रहित था, और अब मैंने कार्यभूत देह ग्रहण कर लिया है। इसलिए मेरे तात्त्विक, अव्यय और अनुत्तम भाव को ब्रह्मा, शिव आदि भी नहीं जानते, साधारण मनुष्यों की तो कथा ही क्या ? इस अज्ञान के कारण ही लोग मेरे भजन में नहीं लगते। अन्य देवताओं को पहिचानते हैं, इसलिए उनके भजन में लगे रहते हैं।

प्रायः बहुत से व्याख्याकारों ने श्रीरामानुजाचार्य के समान ही श्रीकृष्णावतार पर ही इस पद्य को लगाया है। श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी ने इसका अर्थ किया है कि मैं यद्यपि अपने पूर्ण सामर्थ्य से और सच्चिदानन्द रूप से सम्पन्न ही अवतीर्ण हुआ हूँ, किन्तु लोग मुझे ऐसा नहीं समझते। वे साधारण मनुष्य के रूप में ही जानते हैं, इसलिए मेरे भजन में प्रवृत्त नहीं होते।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने व्याख्या की है कि देह-ग्रहण से पूर्व मैं कार्य करने में असमर्थ था और देह-ग्रहण कर कार्य करने में समर्थ हो गया हूँ, ऐसा ही साधारण लोग मुझे संसारी मनुष्यों की तरह ही समझते हैं, किन्तु मैं तो सदा ही सब सामर्थ्य से युक्त रहता हूँ। चाहे अव्यय अर्थात् सोपाधिक रूप में रहूँ चाहे अनुत्तम अर्थात् निरूपाधिक रूप में रहूँ—सर्वदा ही सब प्रकार की सामर्थ्य मुझमें है, इस प्रकार के मेरे परंभाव को बुद्धि-विहीन लोग नहीं समझते, इसीलिए मुझे नहीं भजते हैं।

श्रीशङ्करानन्दजी मुख्य आत्मा पर ही इस पद्य को लगाते हैं कि देह तो व्यक्त अर्थात् प्रकट है और उसका अधिष्ठाता आत्मा अप्रकट अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण न किए जाने वाले रूप में रहता है। वास्तव में अव्यक्त आत्मा ही व्यक्त देहादि के रूप में प्रकट होता है, अर्थात् कर्मवश जन्म ग्रहण करता है, किन्तु उस आत्मा को बुद्धि रहित लोग नहीं पहिचानते। वह आत्मा व्यय अर्थात् परिवर्तन से रहित है और सबसे ही उत्कृष्ट है, किन्तु अज्ञान के कारण आत्मोपासना में सर्वसाधारण प्रवृत्त नहीं होते। शरीरधारी जीवरूप देवताओं को ही समर्थ समझकर उनकी उपासना में लगे रहते हैं।

श्रीधरस्वामी व्याख्या करते हैं कि वास्तविक रूप में तो मैं अव्यक्त अर्थात्

किसी प्राणी के जानने योग्य नहीं हूँ, किन्तु मत्स्य, कूर्म, मनुष्य आदि आकारों से व्यक्त रूप में आ जाता हूँ। इस मुख्य तत्त्व को न जानते हुए साधारण लाग मेरी उपासना में नहीं लगते।

लोकमान्यतिलक ने आगे के पद्य के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा है कि माया से ढका हुआ रहने के कारण मैं अव्यक्त रहता हूँ, किन्तु कहीं-कहीं व्यक्त रूप में आ जाता हूँ। इसी युक्ति को योग या माया कहा गया है। यहाँ उन्होंने माया के स्वरूप का ही विशेष विवरण लिखा है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी इस पद्य का वास्तविक अर्थ करते हैं कि यह सांख्य मत पर कटाक्ष है कि वे अव्यक्त और व्यक्त दो ही प्रकार के तत्त्व मानते हैं। इन तत्त्वों का परस्पर परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् व्यक्त कभी अव्यक्त रूप में आ जाता है और अव्यक्त फिर व्यक्त रूप में चला जाता है। इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त का चक्र घूमता रहता है इतना ही वे समझते हैं। भगवद्गीता में “अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः”— इस वाक्य से अव्यक्त को अक्षर रूप ही बतलाया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि अक्षर और क्षर—इन दो ही रूपों को वे पहिचानते हैं, किन्तु सबसे ऊपर का और सबसे उत्तम जो अव्यय तत्त्व है, उसे नहीं जानते। इसीलिए निर्बुद्धि कहकर उनकी निन्दा की गई है। उनके ही चक्र में पड़कर साधारण लोग भी मेरा वास्तविक अव्यय स्वरूप जो कि सबका आधार है और जिसके ज्ञान से ही परम पद मिलता है, उसे नहीं जानते। अज्ञान के कारण ही सबके आत्माभूत अव्यय की शरण में नहीं आते, अक्षर के अन्तर्गत देवताओं की ही उपासना में लगे रहते हैं। इस प्रकार अव्यय शब्द को सर्वोत्तम पुरुष पर रूढ़ मानकर ही इस पद्य का अर्थ स्पष्ट होता है। (२४)



## अष्टम-पुष्प

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।  
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥  
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।  
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥  
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।  
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥  
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।  
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ व्रताः ॥२८॥  
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।  
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥  
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।  
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

प्रायः अधिकांश लोग आपका तत्त्व नहीं जान पाते, इसका कारण क्या है ? सो वह इस पद्य में बतलाया जाता है कि योगमाया से आवृत अर्थात् ढँका हुआ रहने के कारण मैं सबके द्वारा नहीं जाना जाता हूँ। सबके द्वारा नहीं जाना जाना—इसका तात्पर्य है कि कोई कोई मेरे परमभक्त ही मुझे जान सकते हैं। सब लोग तो माया के द्वारा मूर्ख हो रहे हैं, इसलिए मेरा अज अर्थात् जन्म रहित और अव्यय अर्थात् नाशरहित रूप नहीं जान पाते।

यहाँ भी “योगमाया समावृतः”—इस पद का व्याख्याकार भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य का अर्थ है कि सत्त्व आदि गुणों की योजना ही योग है। वही माया कहलाती है। अथवा भगवान में चित्त को एकाग्र करना ही योग है। वही माया है। इसका तात्पर्य यही लगाना होगा कि सत्त्व आदि गुण ही माया हैं, अथवा भगवान् ने इच्छानुसार माया उत्पन्न की है। वही भगवान् के स्वरूप को ढँका हुआ रखती है, सबको नहीं जानने देती।

श्रीरामानुजाचार्य का अर्थ है कि “योग” शब्द से यहाँ मनुष्य-साधारण स्वरूप,

वेश-विन्यास आदि का ग्रहण है। वही माया अर्थात् इन्द्रजाल करने वालों की तरह मेरी शक्ति है। उसी से मैं ढँका रहता हूँ। इसका तात्पर्य होगा कि मैंने अपनी इच्छानुसार सर्व-साधारण मनुष्यों का जैसा स्वरूप, वेश आदि धारण कर रखा है, इसी से सब लोग मुझे अजन्मा, अविनाशी अर्थात् ईश्वर के रूप में नहीं जान पाते, साधारण मनुष्य ही मानते हैं।

श्रीमध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ) कहते हैं कि योग अपना सामर्थ्य और माया इन दोनों से मैं ढँका हुआ रहता हूँ।

श्रीहनुमत्कृतपैशाचभाष्य में लिखा है कि गुणों के साथ सम्बन्ध ही योग है, वही माया भी कहलाती है। उसने मुझे ढँक रखा है।

श्रीवेङ्कटमाधव लिखते हैं कि योग भगवान् का अर्थ मेरा सङ्कल्प जो है, वही माया है, उससे मैं ढँका रहता हूँ। इसका तात्पर्य होगा कि अपनी इच्छानुसार ही मैंने अपने आपको प्रच्छन्न कर रखा है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है, उसमें लिखा है कि मैं कभी अंशी रूप में अर्थात् पूर्ण-ब्रह्म-रूप में अवस्थित रहता हूँ और कभी अंश रूप में, अर्थात् सब जीवों के समान रूप में अवतार ग्रहण करता हूँ। सब रूप ग्रहण करने का मेरा जो सामर्थ्य है, वही माया है, अर्थात् सर्व साधारण को मोह करा देती है। वही मुझे नहीं जानने देती।

श्रीवल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि योग के प्रकट करने के लिए जो माया अर्थात् मेरी दासरूप शक्ति है, उसी से मैं ढँका हुआ हूँ और उसने सब लोगों को मूढ़ बना रक्खा है।

श्रीनीलकण्ठजी योग शब्द को पृथक् करके सम्बोधन पद मानते हैं। अच् प्रत्यय करने से जो योग शब्द बनता है—वह योगी के अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है, ऐसा मानकर अर्थ उन्होंने यह अर्थ किया कि हे योग ! अर्थात् कर्मयोगी अर्जुन ! माया से ढँका हुआ होने के कारण मुझे सब नहीं पहचानते, इत्यादि।

निम्बार्क सम्प्रदाय की अनुयायिनी “तत्त्व-प्रकाशिका” टीका में लिखा है कि योग अर्थात् मेरा संकल्प, उससे उत्पन्न जो माया है अर्थात् सर्व साधारण मनुष्यों का जैसा स्वरूप है उससे मैं ढँका हुआ हूँ।

श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि योग अर्थात् मेरा सङ्कल्प, उसके वश में रहने वाली जो माया है उससे मैं ढँका हुआ हूँ। यद्यपि वह माया भगवान् को नहीं ढँक सकती, किन्तु जीवों की दृष्टि को ढँक देती है। इससे वे मेरा स्वरूप नहीं देख पाते।

श्रीशङ्करानन्दजी “माया समावृतः” इस पद को “लोकः” का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं कि अपने प्रवाह से सब जीवों को जन्म, मरण आदि के प्रवाह से युक्त करने वाली, अतएव “योग” पद से वाच्य जो माया, इससे जिनका ज्ञान ढँका हुआ है—वे मूढ़ लोग मेरे तात्त्विक स्वरूप को नहीं जानते, इत्यादि।

श्रीधरस्वामी की व्याख्या है कि योग शब्द का अर्थ युक्ति है। यहाँ उसका तात्पर्य है कि मेरा जो अचिन्तनीय प्रज्ञा-विलास है, वही माया कहा जाता है, उससे मैं आवृत अर्थात् प्रच्छन्न हो रहा हूँ।

लोकमान्यतिलक के इस पद्य का अर्थ पूर्व पद्य के साथ ही किया जा चुका है कि अव्यक्त का व्यक्त रूप में होना ही युक्ति अर्थात् योग है और वह योग ही माया शब्द से भी कहा गया है। उससे मैं ढँका हुआ हूँ अर्थात् प्रकट रूप में जो आया हुआ हूँ इसी से मुझे साधारण मनुष्य समझ कर लोग मेरा असली रूप नहीं पहचानते।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने “संशय तदुच्छेदवाद” ग्रन्थ में माया, महामाया, योगमाया इत्यादि शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ किया है। वे यहाँ योगमाया शब्द का अर्थ करते हैं कि रस और बल जो दो मूल तत्त्व है, उनमें दो बलों का संसर्ग होकर जो एक नई वस्तु उत्पन्न हो जाय और कारणरूप दोनों वस्तुएँ न रहें इस प्रकार का योग कराने वाली जो माया है वही “योगमाया” कही जाती है। इस प्रकार ईश्वर ने अपना ईश्वर रूप छोड़ कर जो मनुष्य रूप धारण किया वही योगमाया है। उससे अर्थात् मनुष्य रूप से आच्छन्न होने के कारण मुझे मूढ़ लोग नहीं पहचानते। यही उनके मतानुसार पद्य का तात्पर्य होगा। उनके मतानुसार “योगमाया” माया के अन्तर्गत एक छोटी वस्तु हो जाती है। किन्तु मन्त्र शास्त्र में योगमाया को अन्तरङ्ग शक्ति कहा गया है। इस तारतम्य पर विद्वान् पाठक स्वयं विचार कर लें। (२५)

वास्तव में योगमाया मेरा आवरण नहीं कर सकती। क्योंकि माया के अधिष्ठाता पर माया का कोई प्रभाव नहीं होता। वह तो केवल जीवों की दृष्टि को ढँक लेती है, इसी से सब जीव मुझे नहीं पहचानते। जिस प्रकार हमारी दृष्टि और सूर्य के बीच में आया हुआ बादल सूर्य को नहीं ढँक सकता। इतना बड़ा सूर्य छोटे से बादल से कैसे ढँका जाय। किन्तु वह सूर्य पर जाती हुई हमारी दृष्टि को ढँक लेता है। इसी से हम समझ लेते हैं कि बादल से सूर्य ढँक गया। इसी प्रकार जीवों की दृष्टियों में भगवान् ही ढँके हुए प्रतीत होते हैं। इसी बात का स्पष्टीकरण इस पद्य में किया जाता है कि हे शत्रुओं के तपाने वाले भरतवंश अर्जुन, मैं जो हो चुके और जो वर्तमान हूँ तथा जो आगे होंगे, उन सब प्राणियों को जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता। इससे यही सिद्ध हुआ कि माया का प्रभाव मुझ पर नहीं है, किन्तु जीवों पर ही है। पूर्वपद्य



की व्याख्या में “सर्वस्य न प्रकाशः” इन पदों का तात्पर्य हमने बतलाया था कि सर्व साधारण मुझे नहीं जानते, कोई-कोई भक्त ही जानते हैं, किन्तु यहाँ कहा जाता है कि कोई भी नहीं जानता, यह विरोध सा प्रतीत होता है, किन्तु वेदान्त की दृष्टि से इसका समाधान है कि ईश्वर तो सबका ज्ञाता है, वह ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकता। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में भगवान् याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है कि—“विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्” अर्थात् जो सबका जानने वाला है उसको कोई कैसे जाने। यदि वह ज्ञान का विषय बने तो ज्ञान का कर्ता कोई दूसरा होगा, क्योंकि कर्ता और कर्म दोनों एक नहीं हो सकते, इस विचार के अनुसार ईश्वर किसी के ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकता। यही यहाँ कहा गया है कि मुझे कोई नहीं जानता। पूर्व पद्य में जो भक्तों का जानना सूचित किया वे भी भक्ति के आधार अर्थात् प्रेम पात्र रूप में ही परमात्मा को जानते हैं। सबके अनतर्यामी रूप से तो साक्षात्कार वे भी नहीं कर सकते। (२६)

सब प्राणियों के न जानने का दूसरा भी कारण बतलाते हैं कि सब जीवधारी प्राणियों में इच्छा अर्थात् किसी का अनुराग और द्वेष अर्थात् किसी से वैर ये दोनों भरे रहते हैं। उसी इच्छा द्वेष के जोड़े से सब प्राणियों में एक प्रकार का मोह अर्थात् अज्ञान भरा रहता है। उसी से उनकी दृष्टि में सम्मोह अर्थात् चकाचौंध सी आ जाती है। अतः वे सदा मोह में ही पड़े रहते हैं। सांसारिक बाह्य वस्तुओं का भी ज्ञान यथार्थ रूप से उन्हें नहीं हो पाता, फिर आत्मतत्त्व जो अत्यन्त गम्भीर है उसे जानने की तो कथा ही क्या। इस पद्य के अनुसार पूर्वोक्त पद्य में “योगमाया” शब्द का श्रीविद्यावाचस्पतिजी का किया हुआ अर्थ ही उचित प्रतीत होता है। राग और द्वेष अन्तःकरण और विषयों के सम्बन्ध से एक अतिरिक्त वस्तु रूप में ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए उन्हें योगमाया कहना सुसंगत होगा। उस पद्य का ही इसमें स्पष्टीकरण किया गया, यही उनके मतानुसार इस पद्य की व्याख्या होगी। इस पद्य का यह भी अभिप्राय कहा जा सकता है कि प्राणियों में जो राग और द्वेष भरे हुए हैं, उसी के अनुसार वे मुझे भी देखते हैं। बहुत से असुर मेरे साथ द्वेष ही करते हैं बहुत से आप्त बान्धव समझ कर प्रेम करते हैं। इस प्रकार सबकी दृष्टि ही जब विकृत हो रही है तो मेरा ईश्वर रूप उनकी दृष्टि में कैसे आ सकता है। ये राग द्वेष सब सृष्टि में भरे हुए हैं। अथवा ये राग द्वेष ही सृष्टि के कारण हैं। इनसे छुटकारा होना असंभव सा है। (२७)

जब यही दशा है तो आपका भजन कोई भी कैसे करेगा ? इसका उत्तर इस पद्य से दिया जाता है कि जिन मनुष्यों के पाप कर्मों का अन्त आ गया है, अर्थात् पुण्य कर्म करने से जिन के पाप धुल गये हैं, वे पूर्वोक्त प्रकार के राग द्वेष से छूट

कर दृढ़ता से नियम पालन करते हुए मेरा भजन करते हैं। जैसा कि चार प्रकार के भक्तों के निरूपण में लिखा जा चुका है कि पीड़ा आदि में भी बहुतों को अन्य देवताओं का भजन ही सूझता है। पुण्य कर्म करने वाले लोग ही उस समय मेरी ओर झुकते हैं। (२८)

ऐसे ही लोग वृद्धावस्था और मृत्यु से भयभीत होकर उनसे छुटकारा पाने की इच्छा करते हुए मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, अर्थात् मेरा भजन करते हैं। वे ही ब्रह्म और कर्मों को सर्वरूप से समझ पाते हैं और आध्यात्म भी वे ही जानते हैं। इससे यह सूचित किया कि मेरा आश्रय लेने से ही जरामरण आदि संसार के झंझटों से छुटकारा मिल सकता है। (२९)

जो पूर्वोक्त पुरुष मुझे अधिभूत के साथ, अधिदैव के साथ और अधियज्ञ के साथ जानते हैं, वे चित्तको एकाग्र रखते हुए मृत्यु के समय भी मुझे जानते रहते हैं। इन दोनों पद्यों में जो नये-नये शब्द आये हैं, उन सबकी व्याख्या अग्रिम अध्याय के आरम्भ में अर्जुन के प्रश्न पर भगवान् ने स्वयं की है। वहीं इन शब्दों पर हम भी अपना वक्तव्य लिखेंगे। इन दोनों पद्यों को अग्रिम अध्याय की अवतरणिका के रूप में ही समझना चाहिये। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पहिले जो चित्त की एकाग्रता का अभ्यास और भगवान् का मनन करता रहेगा, वही मृत्यु काल में उनका स्मरण कर सकेगा। बिना पूर्व यत्न के उस समय भगवान् का स्मरण अत्यन्त कठिन है। (३०)

सातवाँ अध्याय समाप्त ।



## अष्टम-अध्याय

नवम-पुष्प

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।  
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥८॥१॥  
अधियज्ञः कथं कोऽत्रदेहेऽस्मिन् मधुसूदन ।  
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।  
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥  
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।  
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

सप्तम अध्याय के अन्त में नये शब्दों के जाल में लपेट कर जो भगवान् ने गम्भीर अर्थरूप ढेले से लुढ़का दिये, इससे अर्जुन चकित हो गया और बलात् उसके मुख से जिज्ञासा निकल पड़ी कि हे पुरुषोत्तम ! जो आपने नये नये शब्द यहाँ कहे हैं, उन सबका स्पष्ट विवरण कृपा कर सुनाइये, जिससे कि मैं समझ सकूँ। प्रत्येक शब्द का विवरण पूछते हुए अर्जुन कहते हैं कि आपने जो कहा है कि मेरे उपासक उस ब्रह्म को जान लेते हैं। तो वह ब्रह्म क्या है। उसका स्पष्ट विवरण कीजिए। इसी प्रकार आपने उसी पद्य में अध्यात्म और कर्म शब्द भी कहे हैं। वह अध्यात्म क्या है ? इसका भी स्पष्ट करना अपेक्षित है। दूसरे पद्य में जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ अपने को जानना आपने बतलाया है। वहाँ अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ शब्दों से क्या क्या तत्त्व आपको विवक्षित हैं, यह भी स्पष्ट कीजिए और इस देह में अधियज्ञ क्या है और कैसे रहता है, यह भी जानना चाहता हूँ। हे मधुसूदन ! अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को नियत अर्थात् सावधान रखने वाले पुरुषों के द्वारा मृत्युकाल में आप किस प्रकार जाने जा सकते हो। यहाँ प्रकार का प्रश्न किया, इसका तात्पर्य है कि मृत्यु काल में तो विविध प्रकार के रोगों से सबकी चेतना विलुप्त सी हो जाती है, उस समय आपका ज्ञान या स्मरण कैसे किया जा सकता है इसका भी विवरण कीजिए। सब मिलाकर अर्जुन ने सात प्रश्न किये।

यहाँ व्याकरण की प्रक्रिया से “अध्यात्मम्” “अधिभूतम्” “अधिदैवम्” इन शब्दों का अर्थ होता है कि आत्मा में रहने वाला, भूतों में रहने वाला और देवताओं में रहने वाला। अधियज्ञ शब्द पुँल्लिङ्ग, व्याकरण की रीति से अव्ययीभाव समास में नहीं बनता। इसलिए वहाँ तत्पुरुष समास कर यज्ञ का अधिष्ठाता यह अर्थ कर लेना चाहिये।

लोकमान्यतिलक ने इन सभी शब्दों का तात्पर्यार्थ यह बतलाया है कि उनमें रहने वाला अर्थात् उनका अधिष्ठाता। अधिदैवत शब्द का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है कि शास्त्रों में बहुत जगह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न देवता माने जाते हैं। उदाहरणार्थ आँख के सूर्य, कान के दिशा, त्वचा के वायु, नाक के अश्विनीकुमार तथा जिह्वा के वरुण हैं एवं कर्मेन्द्रियों में वाणी के अग्नि, हाथ के इन्द्र, पैर के विष्णु, गुदा के मृत्यु और उपस्थ के प्रजापति देवता हैं। इनके विषय में ही अधिदैवत पद से प्रश्न है, ऐसा उन्होंने आशय प्रकट किया है। इसके अतिरिक्त द्वितीय पद्य के पूर्वार्द्ध में वे अपनी व्याख्या में दो प्रश्न निकालते हैं, क्योंकि वहाँ “कथं” और “कः” ये दो प्रश्न वाचक शब्द आये हैं। इसलिए वहाँ यह अर्थ करना चाहिये कि अधियज्ञ कैसा होता है और इस देह में अर्थात् अधिदेह कौन हैं। अधिदेह शब्द यद्यपि सप्तमाध्याय के पद्यों में भगवान् ने नहीं कहा था, तथापि अर्जुन ने अपनी ओर से ही यह प्रश्न उठाया। भगवान् के उत्तर की भी उन्होंने इसी प्रकार व्याख्या की है।

अन्य व्याख्याकार भी “कथं” और “कः” इन दो प्रश्नार्थक शब्दों का पृथक् पृथक् विवरण करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य अपने सिद्धान्तानुसार प्रश्नों का आशय इस प्रकार लगाते हैं कि अपने जरा मरण से मोक्ष के लिए जो पुरुष यत्न करते हैं उनका जानने योग्य ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म क्या है और ऐश्वर्य की अभिलाषा से जो आपकी उपासना करते हैं, उनका जानने योग्य या उपास्य अधिभूत और अधिदैव क्या है। इस प्रकार पूर्व कहे हुए चार प्रकार के भक्तों से इन प्रश्नों का सम्बन्ध जोड़ा गया और पूर्वोक्त उपासकों में ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य तीनों का जानने योग्य अधियज्ञ कौन है और उसका अधियज्ञ भाव किस प्रकार है तथा उन तीनों ही के द्वारा मरण काल में आप किस प्रकार जाने जा सकते हैं, अर्थात् ज्ञानी तो पहले ही आपको जानकर आपका प्रिय बन चुका है, अन्य तीनों का जानने का क्या प्रकार और क्या स्वरूप है।

श्रीनीलकण्ठजी सात प्रश्नों का यह अभिप्राय बताते हैं कि मुख्य रूप से जानने योग्य तो एक ही है। उसके विषय में तो एक ही प्रश्न होगा। अन्य छह प्रश्न उपासना के सम्बन्ध में हैं। दूसरे पद्य के “कथं” और “कः” का उन्होंने इस प्रकार विशकलन

किया है कि अधियज्ञ कौन है, यह तो अधियज्ञ के स्वरूप का प्रश्न हुआ और कथं के साथ उत्तरार्थ का “ज्ञेयः” पद जोड़ कर वह किस प्रकार जाना जा सकता है, यह अर्थ किया और ज्ञान पद को उपासनार्थक ही मानकर अधियज्ञ की उपासना किस प्रकार की जाय, यह तात्पर्य उन्होंने निकाला है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने दोनों प्रश्नार्थक शब्दों का आशय लगाया है कि यज्ञ में वर्तमान अर्थात् यज्ञ का अधिष्ठाता कोई इन्द्रादि देवता है या स्वयं स्वयं परमेश्वर ही है—यह प्रथम प्रश्न हुआ और दूसरा प्रश्न यह है कि उस अधियज्ञ की उपासना कैसे की जाय ? क्या अपने स्वरूप से अभिन्न मानकर या तादात्म्य अर्थात् भेदाभेद मानकर और वह इस देह में किस प्रकार रहता है, क्या जाने हुए मन, बुद्धि आदि के रूप में या उनसे भिन्न ही उसका कोई रूप है ? इन दोनों को पृथक् पृथक् प्रश्न नहीं मानना चाहिए, किन्तु दोनों मिलाकर एक ही प्रश्न है। अतएव उत्तर एक ही प्रकार का दिया गया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने प्रश्नों की व्याख्या भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की है जिसका कुछ दिग्दर्शन यहाँ करा दिया गया। विस्तार उत्तर में लिखेंगे। (१-२)

उत्तर के पद्यों की भी व्याख्याकारों की प्रायः भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ हैं, इसलिए इस आवश्यक गम्भीर विषय में भी सबका ही मत प्रदर्शित कर देना आवश्यक है। दो पद्यों की साथ ही व्याख्या की जाती है।

श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या है कि हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! अक्षर अर्थात् विनष्ट न होने वाला ही परब्रह्म है। “परम” इस विशेषण से “ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म” इस पद्य में आगे कहे जाने वाले वर्ण समूह रूप ब्रह्म के ग्रहण का यहाँ वारण किया गया है। “परम” इस विशेषता से पर ब्रह्म की सबसे उत्कृष्टता और सबके नियन्त्रण का सामर्थ्य सूचित किया गया है। उसी परब्रह्म का स्वभाव अर्थात् अपना ही रूप जो सब प्राणियों के भीतर आत्मा रूप से प्रविष्ट हो रहा है वही अध्यात्म शब्द से कहा जाता है। सब भूतों की उत्पत्ति करने वाला जो विसर्ग अर्थात् अग्नि में चरु का डालना रूप जो यज्ञ है, वही विसर्ग शब्द से समझना चाहिए। इस यज्ञ से ही अन्नादि के उत्पन्न होने पर भूतों की उत्पत्ति में सहायता प्राप्त होती रहती है, क्षर अर्थात् विनाश होने वाले जो भाव अर्थात् पदार्थ हैं वे ही “अधिभूत” कहे जाते हैं। पुरुष अर्थात् सबको पूर्ण करने वाला या पुर अर्थात् शरीर में शयन करने वाला जो ज्ञान, क्रिया, शक्ति वाला हिरण्यगर्भ है उसे ही “अधिदैवत” समझना चाहिए। इस शरीर में जो यज्ञ है, उसका अधिष्ठाता मैं ही हूँ, यज्ञ देह के द्वारा ही सम्पादित होता है, इस अभिप्राय से उसे देह में बताया गया और श्रुतियों में “यज्ञो वै विष्णुः” अर्थात् यज्ञ विष्णु का ही स्वरूप

है, ऐसा कहा गया है। वक्ता भगवान् कृष्ण विष्णु के अवतार हैं। इस अभिप्राय से मैं ही अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ का अधिष्ठाता हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या है कि परम अक्षर अर्थात् प्रकृति से रहित जो आत्मस्वरूप है वही ब्रह्म है और स्वभाव अर्थात् प्रकृति अध्यात्म कही जाती है। यहाँ आत्मारूप न होती हुई भी जो आत्मा से सम्बन्ध रखती हैं वे वासनाएँ प्रकृत शब्द से समझनी चाहिये। इन दोनों में से ब्रह्म तो ग्राह्य कोटि में है और प्रकृति त्याज्यकोटि में, यह भेद भी जिज्ञासु को स्वयं समझ लेना चाहिये और भूतभाव अर्थात् मनुष्यादि रूपता को उत्पन्न करने वाला पञ्चाग्नि विद्या में पाँचवीं आहुति के रूप में कहा गया जो स्त्री सम्पर्क में होने वाला विसर्ग है, वही कर्म शब्द से कहा जाता है। इस कर्म को छोड़ने के लिए इसका स्वरूप जानना भी आवश्यक है। आगे आकाशादि भूतों में रहने वाले जो शब्दतन्मात्रा आदि सूक्ष्म पदार्थ हैं वे ही अधिभूत कहे जाते हैं। इनका भी ज्ञान मनुष्यों को ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है और देवता जो इन्द्र वरुण प्रजापति आदि हैं इनको भोग्यरूप से मानने वाला जो उनसे विलक्षण भोक्ता पुरुष है, वह “अधिदैवत” कहा जाता है और अधियज्ञ अर्थात् सभी यज्ञों के द्वारा आराध्य मैं ही हूँ। इन्द्र आदि देवता मेरे ही शरीर रूप हैं। “अत्र देहे” पद से हमने देहरूप इन्द्र आदि का ही ग्रहण किया है।

श्रीमध्वाचार्य अपने आनन्द तीर्थ भाष्य में इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि यहाँ “परम” शब्द से शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद का वारण किया गया है। स्वभाव शब्द जीव का भाव बोधक है। भाव शब्द से नित्य पदार्थ लेते हैं। इससे अन्तःकरण की व्यावृत्ति कर दी गई और भूत अर्थात् प्राणी, भाव अर्थात् जड़ पदार्थ, इन्हें उत्पन्न करने वाली ईश्वर की क्रिया कर्म शब्द से कही जाती है। नष्ट और उत्पन्न पदार्थ अधिभूत हैं और पुरुष अर्थात् जीवों का अधिपति जो सब जीवों के ऊपर वर्तमान है वह ब्रह्म या संकर्षण व्यूह अधिदैव शब्द से कहा जाता है। सब यज्ञों का भोक्ता या अधिष्ठाता मैं ही हूँ। यज्ञों के अनुष्ठान में तो अग्नि को प्रधानरूप से देखा जाता है, वह न लिया जाय इसके लिये यहाँ “देहे” कहा गया। “अत्र” पद सामने दिखाई देने वाले देहों का बोध कराता है। इससे भगवान् अपने देह का निराकरण करते हैं, क्योंकि उनके देह में यज्ञ का भोग करने वाला कोई दूसरा नहीं है। वे तो स्वयं ब्रह्म रूप हैं जिसका कि स्वरूप प्रथम प्रश्न के उत्तर में ही बतलाया जा चुका है। अपनी व्याख्या के समर्थन में गीता कल्पग्रन्थ के अनेक वचन उन्होंने उद्धृत किये हैं।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या है कि सात्वततन्त्र में भगवान् के तीन रूप बतलाये गये हैं। प्रथम रूप प्रसिद्ध महत्तत्त्व को उत्पन्न करने वाला है, दूसरा समष्टि अर्थात्

सब जीवों का समुदाय रूप और तीसरा प्रत्येक शरीर में स्थित जीव रूप। यहाँ अक्षर पद से पहिला रूप ही लिया गया, क्योंकि उस रूप के साथ क्षरण अर्थात् विनाश का कोई सम्बन्ध नहीं। पहिला रूप लेना ही “परम” पद से सूचित किया। यद्यपि इस सम्प्रदाय में अक्षर पुरुष को पुरुषोत्तम का धाम माना जाता है, तथापि यहाँ उस धाम की और अपनी एकता को सूचित करने के लिए अक्षर ब्रह्म कह दिया गया है और स्वभाव अर्थात् जीव का ही अन्तरङ्ग भाव जो सोलह कलावाला मन कहलाता है, वही अध्यात्म शब्द से कहा गया है और पञ्चभूतों से उत्पादित जो भाव अर्थात् शरीर, उसका वासना द्वारा उत्पन्न करने वाला विसर्ग अर्थात् यज्ञ, वही कर्म शब्द से लिया जाता है। विनाशी सब शरीर अधिभूत कहे जाते हैं। प्रत्येक जीव से लेकर समष्टि विराट् पुरुष तक के सब शरीर अधिभूत के अन्तर्गत माने जाँय और सबमें व्यापक पुरुष अधिदैवत है। इन्द्रिय मन आदि के अधिष्ठाता देवता भी चकार पद से ले लिये जाने चाहिये। इस सम्प्रदाय में भगवान् पुरुषोत्तम के चित्स्वरूप से जो समष्टि जीव प्रकट हुआ माना जाता है जो कि शब्दादि विषयों का भोग करने वाला है, वही यहाँ पुरुष पद से हमने लिया और इस देह में अन्तर्यामी रूप से विराजमान मैं ही सब यज्ञों का अधिष्ठाता या भोक्ता होने से अधियज्ञ हूँ।

इसी वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी व्याख्या करते हैं कि पर अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् जिसमें जाने जाते हैं वह परम शब्दार्थ अविनाशी रूप अक्षर ब्रह्म कहा जाता है। वही भगवान् अपनी लीला के लिए सरसता आदि स्वभाव वाले जो जीव की भाव अर्थात् अभिव्यक्ति करते हैं वही भाव अध्यात्म कहा जाता है। भूतों में अर्थात् भक्त मनुष्यों में जो भाव अर्थात् भगवान् का प्रेम विद्यमान है, उसको प्रकट करने वाला जो विसर्ग अर्थात् भगवत्सेवा में सम्पत्ति का व्यय, वही मुख्य कर्म समझना चाहिये। क्षरभाव अर्थात् भगवान् से वियोग हो जाने पर ताप की अधिकता से जिसका नाश हो जाता है, वह शरीर ही अधिभूत कहा जाता है। यह सन्ताप न केवल भक्तों में ही अपितु सभी जीवों में होता है। वे सभी जीव अधिभूत कहे जायेंगे और सब जीवों के हृदय में जो प्रेमरूप पुरुष विद्यमान है, वही अधिदैवत है तथा इस देह में मेरी सेवा आदि का उपायभूत जो यज्ञ किया जाता है, उसका अधिष्ठाता और भोक्ता मैं ही हूँ।

श्रीनीलकण्ठजी अपनी व्याख्या प्रायः श्रीशंकराचार्य के समान ही करते हैं। केवल प्रथम पद्य के पूर्वार्द्ध में एक पक्षान्तर उन्होंने भी लिखा कि “तत्त्वमसि” इस महावाक्य के अनुसार जीव उपाधि विनिर्मुक्त होकर अपना अविनाशी भाव प्राप्त कर ले, तब वही तत् पद वाच्य ब्रह्म रूप हो जाता है। वह अवस्था “अक्षरं ब्रह्म परमं”

से कही गई और जब तक अपनी उपाधि से बद्ध रहे तब तक वह “त्वं” पद वाच्य होता है। वही अवस्था अध्यात्म पद से कही गई है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने भी विभिन्न प्रमाण उद्धृत करते हुए शङ्कराचार्य के भाष्य का ही पूर्णरूप से समर्थन किया है। केवल इतना ही भेद उनकी व्याख्या में मिलता है कि वे विसर्ग पद से यज्ञ, दान, तप इन तीनों कर्मों का ग्रहण करते हुए तीनों को ही कर्म पद वाच्य कहते हैं।

तत्त्वदीपिका प्रायः श्रीरामानुजस्वामी के अनुसार ही व्याख्या करती है। केवल कर्म शब्द का अर्थ उसमें श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार ही लिखा है।

लोकमान्यतिलक इन पद्यों की कुछ विलक्षणता से व्याख्या करते हैं। परम अक्षर ब्रह्म है। केवल अक्षर पद कहने से कदाचित् किसी को सांख्य शास्त्रोक्त प्रकृति का भ्रम होना संभव है, क्योंकि नाश प्रकृति का भी नहीं होता, उस भ्रम को मिटाने के लिए यहाँ “परम” विशेषण दिया गया है। परम अविनाशी अर्थात् सर्वथा विनाश के सम्बन्ध से शून्य वेदान्त निरूपित परब्रह्म ही है। प्रकृति में तो अवस्था परिवर्तन होता रहता है, इसलिए वह परम अक्षर नहीं कही जा सकती। प्रत्येक वस्तु का मूल भाव जो सूक्ष्मरूप से वस्तु में विद्यमान रहता वही अध्यात्म कहा जाता है और सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक वस्तुओं की परब्रह्म से उत्पत्ति करानेवाला ही कर्म शब्द से कहा गया है। प्रत्येक वस्तु में जो नाश होने वाली वस्तु रहती है अर्थात् नाम और रूप, वे अधिभूत कहे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ का एक अधिष्ठाता जो चेतन पुरुष माना गया है, जिसे वेदान्त सूत्र में “अभिमानी” शब्द से कहा गया है—वही अधिदैव शब्द से लेना चाहिये। “अत्र देहे” इत्यादि वाक्य का वे अर्थ करते हैं कि इस नश्वर देह में अन्तर्यामी रूप से मैं ही स्थित हूँ। स्मरण रहे कि प्रश्न में भी इन्होंने अधिदेह का प्रश्न पृथक् निकाला था, उसी के अनुसार उत्तर में भी यही अभिव्यक्त करते हैं कि इस देह का अधिष्ठाता अधिदेह मैं ही हूँ। इसके अतिरिक्त अधियज्ञ की व्याख्या वे पृथक् नहीं मानते, क्योंकि पूर्व तीसरे चौथे अध्याय में और आगे भी यज्ञ के भोक्ता आदि का निरूपण हो चुका है। इसके अतिरिक्त “अहमेव” इन पदों का सम्बन्ध वे सब उत्तरों से मानते हैं, अर्थात् ब्रह्म, कर्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव आदि सब कुछ मैं ही हूँ। इससे भेदभाव का यहाँ सर्वथा खण्डन किया गया।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी पन्द्रहवें अध्याय में जो क्षर, अक्षर और अव्यय नाम के तीन पुरुष बतलाये जायेंगे, उनके अनुसार ही यहाँ के पद्यों की भी व्याख्या करते हैं कि अव्यय पुरुष सबसे प्रधान है, उसके स्वरूप में विद्या और अविद्या दोनों का समावेश है। वे विद्या और अविद्या ही यहाँ ब्रह्म और कर्म शब्द से कही गई हैं। इनमें



विद्याभाग सदा एक रूप रहता है और अविद्याभाग या कर्मभाग प्रतिक्षण बदलता रहता है। अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। उनमें आनन्द, विज्ञान और मन ये तीनों विद्यमान हैं, और मन, प्राण और वाक् ये तीनों अविद्याभाग या कर्मभाग हैं। कर्मभाग से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है, वही क्षर भाग ही सब जगत् का उपादान कारण बनता है। अक्षर तो केवल निमित्त कारण रहता है। पन्द्रहवें अध्याय में जो तीन पुरुष कहे जायेंगे, उनके अव्यय पुरुष परब्रह्म, अक्षर पुरुष परमब्रह्म और क्षर पुरुष अवरब्रह्म कहा जाता है। यह इन तीनों की स्वरूप बोधक परिभाषा है। उसी के अनुसार यहाँ भी अक्षर को परमब्रह्म कहा गया है और बृंहण स्वभाव अर्थात् सब जगत् में व्यापक होने के कारण उसे ही यहाँ ब्रह्म शब्द से कहा गया। वही ब्रह्म-कर्म-मय अव्यय पुरुष सब चेतन प्राणियों में अनुगत रहता है, यही अनुगत रहना उसका अपनाभाव है। वह अध्यात्म कहलाता है और सम्पूर्ण सृष्टि की कारणभूत जो क्रिया है वह कर्म शब्द से कही जाती है। सृष्टि के उत्पादक होने के कारण विसर्ग शब्द से वही कही गई है। उस अव्यय पुरुष का जितना अंश जड़ पदार्थों में रहता है, वह अधिभूत कहा जाता है। वह विनाशी है और देवताओं में जितना अव्यय पुरुष का अंश है, उसे अधिदैवत समझना और देवता और भूत दोनों के उत्पादक प्रजापति में जो अव्यय व्याप्त है वह अधियज्ञ कहा जाता है। वह अव्यय पुरुष का मुख्य रूप है, अर्थात् अव्यय पुरुष ही मुख्य प्रजापति है। इसलिए भगवान् कृष्ण ने अपने को ही अधियज्ञ कहा। भगवद्गीता में भगवान् का प्रयुक्त अहं शब्द अव्यय पुरुष के अभिप्राय से ही होता है अथवा दूसरी व्याख्या है कि प्राणियों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण नाम से जो तीन शरीर वेदान्त आदि शास्त्रों में वर्णित हैं, उनमें स्थूल शरीर को भूतचिति नाम से वैज्ञानिक भाषा में कहा जाता है, क्योंकि वह पृथिवी आदि भूतों का चयन रूप ही है। सूक्ष्म शरीर को देवचिति नाम से कहा जाता है, क्योंकि द्योतन अर्थात् प्रकाश शील देवता-इन्द्रिय आदि का चयनरूप ही वह है और तीसरा सबका आभ्यन्तर कारण शरीर बीजचिति कहलाता है, क्योंकि देव और भूत सबके बीजभूत अविद्या का चयन रूप ही वह होता है। यहाँ भूतचितिरूप स्थूल शरीर को अधिभूत कहा गया। विनाश वाला होने के कारण उसके साथ क्षर विशेषण भी लगाया। देवचिति रूप सूक्ष्म शरीर को अधिदैवत कहा गया। भूतनिर्मित पुर में शयन करने के कारण उसे पुरुष शब्द से कहा गया है और बीजचिति रूप कारण शरीर को अध्यात्म कहा गया है। स्वभाव अर्थात् प्रकृति के द्वारा स्वरूप संगठन न होने के कारण वह स्वभाव शब्द से भी कहा गया है और सब शरीर में अर्थात् तीनों शरीरों को व्याप्त कर जो इनका परस्पर परिवर्तन रूप यज्ञ हो रहा है, उस यज्ञ का अधिष्ठाता पूर्वोक्त ब्रह्म-कर्ममय अव्ययात्मा ही अधियज्ञ शब्द से कहा गया है।

इस प्रकार प्राणियों के शरीर में ही चारों की स्थिति बतला दी गई और सबके कारणभूत ब्रह्म और कर्म जिन्हें रस और बल शब्द से भी कहा जाता है, वे मूलभूत से सन्निवेशित कर दिये गये। इस प्रकार इन दो पद्यों में जगत् निर्माण के तत्त्व संक्षिप्त शब्दों में कह दिये गये। (३-४)



## दशम-पुष्प

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।  
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥  
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।  
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावंभावितः ॥६॥  
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।  
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥  
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।  
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥

सप्तम प्रश्न का उत्तर दिया जाता है कि अन्तकाल अर्थात् मृत्यु के समय जो विष्णुरूप में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मनुष्य मेरे भाव को अर्थात् विष्णु तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए कि स्मरण करने वालों को वैष्णवभाव की प्राप्ति होगी या नहीं, अपितु अवश्य ही होगी—ऐसा निश्चय रखना चाहिए।

श्रीरामानुजाचार्य के मत में मुक्ति हाने पर भी परमात्मा में जीव लीन नहीं होता, अपितु परमात्मा के सदृश ही माया के संसार के झंझटों से छूटकर शुद्ध भाव में अवस्थित हो जाता है। इस अपने सिद्धान्त के अनुसार ही वे यहाँ भी अर्थ करते हैं कि मेरे भाव अर्थात् स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। जैसे कि जड़भरत के उपाख्यान में श्रीभागवत में कहा गया है कि अन्त में उनका ध्यान मृग में लगा रहा इसलिए उन्हें मृग योनि में ही जन्म मिल गया। यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि वे उस मृग के ही रूप में चले गए, किन्तु उस मृग के सदृश अन्य मृग का शरीर उन्हें मिल गया—यही वहाँ स्पष्ट होता है। तदनुसार यहाँ भी समझना चाहिए कि परमात्मा का अन्तकाल में चिन्तन करने से वैसा ही रूप हो जाता है, न कि उसी में लय होता है।

यहाँ चकार से यह बतलाया कि अन्य काल में अर्थात् संसार दशा में भी जब निरन्तर मेरे स्मरण का अभ्यास करता रहेगा, तब ही मरणकाल में भी स्मरण कर सकेगा। अन्यथा उस समय स्मरण दुर्लभ है। इसलिए मनुष्य को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि अन्तकाल में स्मरण करने से ही सद्गति मिल जायेगी, तब फिर पहिले

से अभ्यास में समय क्यों बितावें ? क्योंकि बिना पूर्व के अभ्यास के उस समय नाना रोगों के आक्रमण द्वारा स्मरणशक्ति ही प्रायः जाती रहेगी, तब उस समय स्मरण कहाँ से हो सकेगा ? जैसा कि किसी भक्त कवि ने लिखा है कि—

“कृष्ण, त्वदीयपदपङ्कजपिञ्जरान्ते,  
अद्यैव मे वसतु मानसराजहंसः।  
प्राणप्रयाणसमये कफ-वात-पित्तैः  
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥”

अर्थात् हे भगवन् कृष्ण ! मेरा मनरूपी हंस आज ही आपके चरणारविन्दरूप पिंजरे में जाकर रहने लगे, ऐसा ही कृपा कीजिए। प्राण निकलते समय तो कफ, वायु, पित्त आदि से जब कण्ठ ही रूक जायेगा अर्थात् रोगों के आक्रमण से स्मृति-शक्ति ही जाती रहेगी तब आपका स्मरण होने की क्या आशा हो सकती है।”

जिनका पूर्व से ही भगवान् के चिन्तन का दृढ़ अभ्यास हो जाता है तो वह अभ्यास ही मरण-काल में भी स्मरण करा ही देता है। यही बात इस पद्य में चकार से सूचित की गई कि “और अन्तकाल में”—अर्थात् पूर्व काल से ही अभ्यास दृढ़ कर मरण-काल में भी मनुष्य शरीर छोड़ते समय जो स्मरण करते हैं, वे मनुष्य मेरे रूप को प्राप्त कर लेते हैं।

“माम् एव”—इस एवकार से यह सूचित किया गया है कि सप्तम अध्याय के अन्तिम पद्यों में जो अधिभूत, अधिदैव आदि के साथ अपना भजना बतलाया था, वैसा सम्मिलित स्मरण अन्तकाल में नहीं होना चाहिए, किन्तु इस समय केवल मेरे शुद्धरूप का ही स्मरण करना चाहिए।

श्रीनीलकण्ठजी ने यहाँ विशेष विवेचन किया है कि यह गति किसकी बतलाई गई है ? क्योंकि पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान जिसे हो गया, उसके विषय में तो श्रुति में कहा है कि उसके प्राण निकलकर कहीं जाते ही नहीं। वह तो देह का नाश होते ही सर्वात्मभाव को प्राप्त कर लेता है जैसा कि श्रीशुकदेव के विषय में भागवत में बतलाया गया है और यहाँ देह को छोड़कर जाना वर्णित है—इससे यही मानना होगा कि ज्ञान की पूर्ण काष्ठा जो प्राप्त नहीं कर सके उनके ही विषय में यह कहा जा रहा है और केवल अर्थ-कामना आदि से उपासना करने वालों को इतनी उच्चगति मिल नहीं सकती, क्योंकि वे तो सगुण साकाररूपों में ही लगे रहते हैं—इसलिए साक्षाद् ब्रह्म-भाव उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता। तब यह गति उनकी ही कही गई है कि जिन्होंने पूर्वोक्त द्वितीय प्रश्न के उत्तर के प्रकार से “त्वम्” पदार्थ जीव का शोधन तो कर लिया, किन्तु जीव

और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार न कर पाए, वे भी क्रम-मुक्ति प्राप्त करेंगे। पूर्व ही छठे अध्याय में भगवान् ने कहा है कि कल्याण-मार्ग पर चलता हुआ कोई भी मनुष्य दुर्गति नहीं पा सकता। उसी न्याय के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान के लिए प्रयास करते हुए भी जो पूर्ण सफलता न प्राप्त कर सके उनकी ही, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में देव-यान-मार्ग का वर्णन है और यहाँ भी थोड़े ही आगे शुक्ल, कृष्ण मार्ग बतलाए जायेंगे, उनमें से ही शुक्ल-मार्ग से गति होती है। उनको ही अन्तकाल का भावनारूप स्मरण भी आवश्यक है। यों शुक्ल-मार्ग से जाते हुए वे पुरुष ब्रह्मलोक तक चले जाते हैं और वहाँ कल्पान्त तक निवास करते हुए अन्त में ब्रह्म के साथ मुक्त होकर भगवान् के स्वरूप में मिल जाते हैं। क्रम-मुक्ति प्राप्त करने वाले भी भगवान् में लीन ही होते हैं। भगवान् के सदृश बनकर पृथक् रहते हैं—ऐसी कल्पना श्रुति और शास्त्रों से विरुद्ध है। इसीलिए यहाँ भी “मद् भाव” पद दिया गया है। भाव शब्द का सदृश अर्थ करना अप्रसिद्ध है। (५)

न केवल मेरे ही विषय में यह नियम है कि अन्तकाल में मेरा स्मरण करने वाला मेरे भाव में आ जावे, किन्तु यह एक सामान्य नियम है कि “हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! जिस जिस पदार्थ का स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्त समय में शरीर छोड़ता है, उसी के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि उस विषय के भाव की भावना उसमें दृढ़ रूप से स्थिर हो जाती है। इससे वह उसी भावना से भावित रहा करता है।” द्वितीयाध्याय के “वासांसि जीर्णानि यथा विहाय” इत्यादि पद्य की व्याख्या में श्रीभागवत और भगवद्गीता का अविरोध दिखलाते हुए हम इस विषय का विवरण कर चुके हैं कि मरण-समय में जो भावना होती है और उस भावना के कारण जिस पदार्थ का स्मरण उस समय हो जाता है, वह भावना तब तक स्थिर रहती है जब तक कि जीवात्मा के सूक्ष्म-शरीर को उस अपने किए हुए स्मरण के विषयी-भूत शरीर में पहुँचा न दे। स्मरण किए हुए उस स्थूल शरीर को प्राप्त करा कर वह भावना हट जाती है। प्रकृत पद्य में जो “सदा” पद दिया गया है, उसका यही आशय समझना चाहिए कि नये स्थूल शरीर की प्राप्ति तक उस भावना से सूक्ष्म शरीर भावित रहता है। कई व्याख्याकारों ने इस अन्तिम चरण को पूर्व-चरण के साथ जोड़कर यह भी अर्थ लगाया है कि पुरुष सदा ही जिसका स्मरण करता रहेगा, उसी के स्मरण की भावना दृढ़ हो जाने के कारण मरण-काल में भी उसी का स्मरण कर सकेगा। अन्यथा उस समय स्मरण करना दुर्लभ है, जिसका कि विवरण पूर्व-पद्य की व्याख्या में विस्तार से किया जा चुका है। इसी आशय से श्रीशङ्कराचार्य यहाँ भाव शब्द का अर्थ देवता-विशेष ही करते हैं। अर्थात् जिस-जिस देवता का स्मरण करता हुआ शरीर

छोड़ेगा उसी देवता के भाव को अर्थात् उसके समान लोक, समान रूप आदि को प्राप्त कर लेगा। अन्य व्याख्याकार “भाव” शब्द का अर्थ सामान्यरूप से पदार्थ ही करते हैं, जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है। यह दूसरे शरीर की प्राप्ति कैसे होती है, इसका विवरण आगे शुक्ल, कृष्ण मार्गों का निरूपण करते हुए इसी अध्याय में बतलाया जायेगा और हम भी वहीं इस विषय का विशेष रूप से विवरण करेंगे। (६)

इसी का विवरण आगे के पद्य में भी भगवान् करते हैं कि जब अन्तिमकाल की भावना के अनुसार ही आगे जन्म मिलना निश्चित सिद्धान्त है तब तुम्हें भी चाहिए कि सब समय मेरा स्मरण करते रहो और अपने धर्मानुकूल युद्ध भी करते रहो। इसी प्रकार जब भावना के कारण तुम्हारे मन और बुद्धि मुझमें लगा दिए जायेंगे, तब तुम निःसन्देह मुझको ही प्राप्त कर लोगे।

यहाँ युद्ध करना प्रस्तुत प्रकरण में उपयोगी होने के कारण उपलक्षणरूप से कहा गया है। सब मनुष्यों को उपदेश करते हुए भगवान् का यही आशय है कि मनुष्य अपने-अपने शास्त्र-विहित धर्म का आचरण करता रहे और धर्म का आचरण करता हुआ भी सदा परमात्मा का स्मरण करता रहे, जिससे कि उसके मन और बुद्धि परमात्मा के स्वरूप से विचलित न हो सकें। यहाँ पुनः “असंशयं” यह पद देकर भगवान् ने इस विषय को अत्यन्त दृढ़ किया है कि सदा मेरा स्मरण करने वाला मुझको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा परब्रह्म का तो कोई नाम और रूप है ही नहीं, फिर मन और बुद्धि का अर्पण वहाँ कैसे किया जायेगा और बिना नाम तथा रूप के सब समय में स्मरण भी कैसे बन सकेगा ? इसी समस्या को हल करने के लिए शास्त्रों में पाँच रूपों की कल्पना की गई है और उनके नाम भी विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश माने गए हैं। इन पाँचों देवताओं के जो कल्पित रूप हैं, वे भी वैज्ञानिक हैं, अर्थात् जगत् की सृष्टि में भगवान् जिन-जिन पदार्थों का उपयोग करते हैं वे सब ही उनके भुजा, आयुध आदि के रूप में भिन्न-भिन्न रूपों की उपासना में सम्मिलित किए गए हैं, जिनका कि विवरण तन्त्र-शास्त्रों और पुराणों में विस्तृत रूप से किया गया है। परमात्मा का चाहे पिता समझ कर पुरुष रूप में स्मरण किया जावे या माता समझ कर स्त्री के रूप में स्मरण किया जावे इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं पड़ता। स्पष्टरूप से तन्त्रों में कहा गया है कि “स्त्रीपुंभेदो न जायते” अर्थात् स्त्री रूप से परमात्मा की उपासना की जावे या पुरुष रूप से इसमें किसी प्रकार भेद नहीं है। सभी रूप कल्पित हैं और सभी की कल्पना में वैज्ञानिक रहस्य सम्मिलित हैं। उन ही आकारों में मन, बुद्धि लगाने का भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश है। इसलिए भगवद्गीता में साम्प्रदायिक विरोध का कोई अवसर नहीं मानना चाहिए। इसी विषय का आगे के पद्यों में स्पष्ट निरूपण होगा। (७)

मृत्युकाल में किस प्रकार का आपका ध्यान करना चाहिये, इस अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् अन्तकाल में स्मरणीयरूप का विवरण भी साथ ही करते हैं कि हे पृथापुत्र अर्जुन ! एक ही परमात्मा के विषय में जो ज्ञान का प्रवाहरूप अभ्यास है वह योग भी कहा जाता है। उस योग से चित्त को युक्त किया जाय, अर्थात् उसी अभ्यास में मन लगाया जाय और इस प्रकार मन लगाया जाय कि वह अन्य किसी विषय में जा ही न सके। इस प्रकार एकाग्र मन से आदित्य मण्डल स्थित पुरुष का ध्यान करता हुआ मनुष्य उसी पुरुष को प्राप्त कर लेता है।

श्रीनीलकण्ठजी इस पद्य में भिन्न-भिन्न उपासनाओं के क्रम का वर्णन करते हैं कि उपासक दो प्रकार के होते हैं, एक साधना करनेवाले और दूसरे जिनकी उपासना सिद्ध हो चुकी है वे सिद्ध। साधना करने वालों को पहिले मन से ही मूर्ति की कल्पना कर, उस मूर्ति में चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करना आवश्यक होता है। इनको दोहरा प्रयत्न करना पड़ता है—एक मन से मूर्ति कल्पना करने का और दूसरा उस मूर्ति में चित्त को स्थित करने का। किन्तु जो सिद्ध हो चुके हैं उन्हें केवल चित्त स्थिर करने का ही यत्न करना पड़ता है। मानस मूर्ति में चित्त स्थिरता की सिद्ध हो जाने पर भी आगे क्रम से एक देश शरीर, विराट्, सूत्रात्मा, ईश्वर और परम पुरुष, इनमें चित्तवृत्ति लगानी होती है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे एक शुद्ध श्वेत स्फटिक मणि है, वह उसका शुद्ध रूप हुआ, इसमें जब किसी रक्त पुष्प की छाया पड़ जाय तो वह रक्तरूप दिखाई देने लगेगी। यह स्फटिक में रक्त रङ्ग का भान प्रथम अभ्यास हुआ। बार-बार उसी पर दृष्टि रखने से वह स्फटिक रक्तमणि रूप में ही भासित होने लग जाता है। स्फटिक की बुद्धि चली जाती है, यह अभ्यास की दृढ़ता से उसका तीसरा रूप हुआ। अब उसे ही चाँदनी में रख दिया जाय तो वह कुछ नील सा दीखने लगेगा, यह अभ्यास के द्वारा उसका चौथा रूप बना। उसे ही दूर से देखने वाले मनुष्य को वह नीलकमल सा दीख पड़ेगा। यह अभ्यास के द्वारा उसका पाँचवाँ रूप हुआ। इस प्रकार एक ही स्फटिक अभ्यासों की परम्परा से पाँच रूपों में चला जाता है। इसी प्रकार सर्वदोष विनिर्मुक्त शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परब्रह्म का मुख्य रूप है। वही माया के साथ जब रहता है तो माया के धर्मों का प्रतिबिम्ब होकर ईश्वर रूप से उपासनीय हो जाता है और उस ईश्वर रूप में माया की प्रबलता हो जाने पर सबका नियन्त्रणरूप ईश्वर भाव जब छिप सा जाता है तब वही सूत्रात्मा हो जाता है और माया रूप अविद्या से जब दृढ़ हो जाय तो वह विराट् अर्थात् स्थूल आकाशादि प्रपञ्च के रूप में भासित होने लगता है और समष्टि पर से भी बुद्धि हटाकर जब हम देह पर बुद्धि जमा लेते हैं तो केवल एक देहरूप में ही उसका भान होने लगता है। इस प्रकार स्फटिक के समान शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा के भी अभ्यास से पाँच रूप बन जाते हैं।

अब आगे प्रकाशन क्रम देखिये। जिस प्रकार एक दीपक किसी घटादि से ढंका हुआ हो तो वह तो उसका प्रकाश केवल उस घट को ही दिखावेगा। घट में यदि एक छिद्र कर दिया जाय तो बाहर के भी कुछ पदार्थों को जहाँ-जहाँ प्रकाश पड़ेगा, उन्हें वह दिखा सकेगा और घड़े में से उसे एकदम बाहर निकाल दिया जाय तो जिस भवन में वह रक्खा होगा उस भवन के सब पदार्थों को प्रकाशित कर सकेगा। इसी प्रकार देह मात्र में रूका हुआ चैतन्य केवल देह मात्र का ही प्रकाश करता है, वही चक्षु के छिद्र से जब बाहर निकल जाता है, तब अपने समीपस्थ कुछ पदार्थों को भी दिखाने लगता है। जब सर्वथा देह का अभिमान भुलाकर केवल चैतन्य रूप में उसे स्वतन्त्र बना दिया जाय तो वह सब जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करने लगेगा। इसी प्रकार उपासना का भी क्रम देखिये। जब देह मात्र में मानस ध्यानरूप उपासना में सफल होकर समष्टिरूप विराट् की उपासना में मन लगाया जाय, तो यद्यपि यह उपासना भी ब्रह्म से सम्मिलित ही होगी, किन्तु एक देह में की हुई उपासना से यह श्रेष्ठ कही जायेगी। इसी प्रकार विराट् से आगे बढ़कर सूत्रात्मा की जब उपासना करने लगेंगे तो वह विराट् की उपासना से भी उच्च श्रेणी की होगी। इसी प्रकार उससे भी उच्च श्रेणी की ईश्वरोपासना और सर्वोच्चश्रेणी की ब्रह्मोपासना या ब्रह्मज्ञान होगा। वहाँ विराट्, सूत्रात्मा आदि में मन लगाना यहाँ अभ्यास पद से कहा गया है। इसी प्रकार योगदर्शन में भी क्रम माना गया है। इसलिये वह अभ्यास ही योग कहा जा सकता है। जब क्रम से सर्वोच्चश्रेणी में पहुँच कर परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसको अपने अभेद रूप से “अहमेव वासुदेवः” इस रूप से समझ लेता है, तब वह परमपुरुष को अवश्य प्राप्त कर लेता है—यही पद्य का आशय हुआ है। (८)





## ग्यारहवाँ-पुष्प

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।  
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥  
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।  
भ्रुवोर्मध्ये प्राणामावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥  
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।  
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥  
सर्वं द्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।  
मूर्धन्याध्यायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥१२॥  
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।  
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

किस प्रकार के पुरुष का ध्यान करना चाहिये या किस प्रकार के पुरुष को प्राप्त कर सकेगा, इसका विवरण यहाँ से आरम्भ करते हैं कि कवि अर्थात् भूत भविष्य को जानने वाला पुरातन, अनुशासन करने वाला, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा सबके आधार या सबको बनाने वाला, अचिन्त्यरूप और अन्धकार से परे सूर्य के समान प्रकाशमान् का जो स्मरण करता है, वह उसे ही प्राप्त करता है—यह अग्रिम पद्य से सम्बन्ध है।

यहाँ “अनुशासितारं” पद से प्रतीत होता है कि यह ईश्वर स्वरूप का वर्णन है, क्योंकि सबका शासन करना ईश्वर का ही काम है। अथवा अन्य विशेषणों से यदि परम पुरुष परमात्मा का ही वर्णन माना जाय तो अनुशासितारं पद का अर्थ होगा—सभी वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सबका शासन करने वाला, अर्थात् जड़चेतनात्मक सब वस्तुओं को अपनी-अपनी मर्यादा में रखने वाला। जैसा कि श्रुतियों में वर्णन किया गया है कि —

“एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः”

(वृहदारण्यक ५।८।९)

अर्थात् इसी अक्षर पुरुष के शासन में सूर्य और चन्द्रमा पकड़े हुए रखे हैं। यह

अन्तर्यामीरूप का ही शासन है। 'अणु से भी अणु' इससे यही तात्पर्य निकलता है कि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म। जो जिसका उपादान कारण होता है वह उस वस्तु के भीतर अनुप्रविष्ट रहता है। जैसे वस्त्र के भीतर तन्तु या घट के भीतर मृत्तिका। यह मूल तत्त्वरूप परमात्मा आकाश आदि का भी उपादान कारण है, इसलिये उनमें भी अनुप्रविष्ट है। अनुप्रविष्ट तभी हो सकेगा जब कि उससे भी सूक्ष्म होगा। इससे सिद्ध हुआ कि अणु अर्थात् परम सूक्ष्म आकाश आदि से भी यह अति सूक्ष्म है।

वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य तो जीव को अणुरूप ही मानते हैं, इसलिए उनके मतानुसार यह भी अर्थ हो सकता है कि अति सूक्ष्मभूत जीव से भी यह अति अणु है। सबका मूल कारण होने से ही यह सबसे पुराण अर्थात् प्राचीन है। उत्तरार्द्ध में जो "धातारं" पद आया है, उसके तीन अर्थ व्याख्याकारों ने किये हैं। सबका धारण करने वाला है, अव्यय पुरुष ही सबका आधार है यह एक अर्थ हुआ। अथवा वि उपसर्ग का लोप मानकर विधातारं समझा जाय, तो अर्थ होगा कि सब जगत् को उत्पन्न करने वाला और तीसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सबको अपने-अपने कर्म फल का विभाग कर देने वाला। "अचिन्त्यरूप" के भी कई अर्थ हो सकते हैं जिसका रूप वाणी और मन में भी नहीं आ सकता। इसका तात्पर्य होगा कि रूप अर्थात् आकार है ही नहीं, तब वाणी और मन में कैसे आवे। अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि यदि कोई रूप माना भी जाय तो वह जीवों के मन और वाणी से परे ही रहता है, अर्थात् किसी के मन और वाणी में नहीं आ सकता। अथवा यदि सम्पूर्ण संसार उसी का रूप है यह माना जाय तो भी अनन्तता के कारण वह भी इन्द्रिय मन आदि के द्वारा जाना नहीं जा सकता। यह भी कहा जा सकता है कि जो संसार के भिन्न-भिन्न रूप हमारे मन और बुद्धि में आते हैं, उनसे मूल कारण का रूप या आकार भिन्न ही प्रकार का है। इसीलिए श्रुति उसे "यह भी नहीं" "यह भी नहीं" ऐसा कहकर ही बतलाया करती है। अथवा यह भी तात्पर्य लगाया जा सकता है कि वे भगवान् जो लीला के लिए विचित्र रूप धारण करते हैं, वही उनकी महिमा है। वे महिमा के बनाये रूप भी किसी एक मर्यादा में बद्ध नहीं रहते। इस कारण वे भी प्राणियों के विचार में नहीं आ सकते। जैसा कि आगे विश्व रूप प्रदर्शन में भगवान् ने अपना विलक्षण रूप अर्जुन को दिखलाया है और उसे न समझकर अर्जुन भी घबरा गया और "को भवान्" "को भवान्" ऐसा पूछने लगा।

यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि भगवान् यह भी उपदेश दे रहे हैं कि ऐसे रूप का स्मरण करो और उसे अचिन्त्य भी बता रहे हैं, जब अचिन्त्य ही है तो उसका स्मरण कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर भी कई प्रकार से दिया जा सकता है कि

भगवान् का मुख्य रूप तो मन आदि में नहीं आ सकता किन्तु महिमारूप जो अवतार आदि हैं, उनका स्मरण किया जाय। अथवा जो पाँच रूप उपासकों के लिए नियत किये गये हैं उनका ही स्मरण किया जाय। अथवा पूर्णरूप से भगवान् ध्यान में नहीं आ सकते तो प्रतीक अर्थात् भाग रूप में उनका स्मरण किया जाय। बिना स्मरण किये तो जीव को सफलता नहीं मिल सकती और स्मरण उनका हो नहीं सकता। इसीलिए उपासकों की सिद्धि के लिए ये भिन्न-भिन्न मार्ग निकाले गये हैं।

श्रीशङ्करानन्दजी आदि यह भी तात्पर्य निकालते हैं कि पूर्व जन्मों के शुभकर्मों के परिपाक से भगवान् ही जिसकी मुक्ति चाहते हैं उसे अनुस्मरण का प्रकार भी बतला देते हैं। जैसा कि श्रुति ने कहा है कि “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” परमात्मा जिसका वरण करता है अर्थात् जिस पर प्रसन्न होता है वही उसे पा सकता है। पाने का मार्ग भी उसे ही मिल सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी लिखा है —

सोइ जाने जेहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ॥

आगे कहते हैं कि वह परम पुरुष परमात्मा आदित्य वर्ण है, अर्थात् सूर्य के समान स्वयं प्रकाशमान है। वह किसी अन्य से प्रकाशित नहीं होता, अपितु स्वयं ही अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करता रहता है और तम अर्थात् प्रकृति के तमोगुण से अथवा संसार में व्याप्त अज्ञानरूप अन्धकार से दूर रहता है। यह अज्ञान उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता। ऐसे पुरुष का अन्तकाल में स्मरण करना चाहिये। (९)

अन्तकाल के अनुध्यान का प्रकार आगे बताया जाता है कि प्रयाणकाल अर्थात् अपने अन्तिम समय में मन को निश्चल रूप से स्थिर कर पूर्व पद्योक्त रूप का ध्यान करता हुआ और भगवान् के प्रेम तथा योग बल अर्थात् पूर्वावस्था में साधन की हुई योग प्रक्रिया के द्वारा उत्पादित संस्कार से संपन्न होता हुआ, पहिले अपने प्राण को हृदय कमल में रोककर गुरु द्वारा बताई गई प्रक्रिया से चक्रों के भेद क्रम से उसे दोनों भ्रुवों के मध्य में स्थित आज्ञा चक्र में ले जाकर स्थिर करता हुआ पुरुष अपनी इस प्रक्रिया के द्वारा प्रकाशमान परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है, यह दोनों पद्यों का मिलाकर स्पष्ट आशय हुआ। (१०)

गम्भीर अर्थ को बार-बार प्रकट करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, इस आशय से पुनः स्मरण योग्य पुरुष का ही वर्णन भगवान् प्रस्तुत करते हैं कि जिसे वेद के जानने वाले विद्वान् अक्षर पुरुष कहा करते हैं और अपने हृदय को राग द्वेषों से रहितकर चित्त का संयम करने वाले जिस पुरुष में प्रवेश पा लेते हैं और जिसमें प्रवेश पाने की इच्छा से ही पूर्वावस्था में ब्रह्मचर्य नियम धारण कर द्विजाति लोग वेद का अध्ययन किया करते हैं, वही मुख्य प्राप्त करने योग्य स्थान मैं तुम्हें संक्षेप से और बतलाऊँगा।

इस पद्य के उत्तर भाग का बहुत अंश कठश्रुति से मिलता है। वहाँ ऐसा पाठ है कि -

“यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्”

(कटो० २।१५)

इसमें से यहाँ ब्रवीमि के स्थान में “प्रवक्ष्ये” और ओमित्येतत् को आगे के दूसरे पद्य में ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म करके मिला दिया गया। इस परिवर्तन का कारण हम पूर्व कह चुके हैं कि भगवद्गीता को स्मृति रूप ही रखना है, जिससे कि केवल द्विज जातियों के ही अध्ययन करने का बन्धन इसमें न रहे। अपितु सभी मनुष्य इससे लाभ उठा सकें। श्रुति का पाठ जैसा का तैसा रख देने से उसमें अधिकार का बन्धन हो जाता है। श्रुति के अध्ययन करने का अधिकार केवल उपनीत द्विजातियों को ही है और कुछ वर्ण अक्षरों का भी परिवर्तन कर देने पर उसमें श्रुतित्व नहीं रहता, वह सबके पढ़ने के योग्य बन जाती है। इसी आशय से कई जगह श्रुतियों को परिवर्तित करके ही भगवद्गीता में लिया गया है। वैसा ही यहाँ भी किया गया। (११)

पूर्वोक्त प्रक्रिया को ही पुनः स्पष्ट करते हुए आगे कहा जाता है कि इन्द्रियों के सब छिद्रों को रोककर अर्थात् किसी भी इन्द्रिय को विषयों में न जाने देकर और मन को हृदय कमल के भीतर रोककर तथा प्राण को मस्तक में स्थित ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर “ओम्” इस ब्रह्म के प्रतीपादक एक अक्षर का ध्यान करता हुआ और उस अक्षर के द्वार कहे जाने वाले मुझ परमात्मा का स्मरण करता हुआ जो मनुष्य शरीर छोड़कर जाता है वह परम जाति अर्थात् मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकरण में क्रम मुक्ति प्राप्त करने का ही प्रकार बतलाया गया है, यह पूर्व पद्यों की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। जो पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो चुके उनके तो प्राण शरीर से निकलकर कहीं जाते ही नहीं, प्रत्युत शरीर का बन्धन छोड़ कर सबमें लीन हो जाते हैं ऐसा ही श्रुतियों में कहा गया है। इसलिए जो साधक पूर्णरूप से ब्रह्मज्ञान प्राप्त न कर सके वे ही अन्तकाल की यहाँ कही हुई घटनाओं से क्रम मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् आगे कहे जाने वाले शुक्लमार्ग में जाकर सूर्यमण्डल से ऊपर के लोकों से चले जाते हैं और कल्प के अन्त में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। उनका ही वर्णन प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है। ॐकार को जो यहाँ ब्रह्म रूप कहा गया, वह शब्द और अर्थ को अभिन्न मानकर ही समझना चाहिये। “ओम्” यह शब्द ब्रह्म का वाचक है—यह बात योगदर्शन में और उपनिषदों में भी स्पष्ट निरूपित है। (१२-१३)

## बारहवाँ-पुष्प

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

मैं सबके लिए अति दुर्लभ हूँ, ऐसी मन में शङ्का नहीं करनी चाहिये, इस आशय से अपनी सुलभता का वर्णन भगवान् करते हैं कि हे पार्थ ! अन्य विषयों से अपने चित्त को हटाकर जो सदा जीवन पर्यन्त मेरा स्मरण करते रहते हैं, ऐसे एकाग्रचित्त वाले योगियों के लिए मैं सुलभ हूँ, अर्थात् वे मुझे अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। किसी प्रकार का मेरी प्राप्ति में कष्ट उन्हें नहीं होता।

योग दर्शन में कहा गया है कि -

“स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेविता दृढ भूमिः” (यो०सू० १।१४)

अर्थात् चित्त की स्थिरता के लिए जो अभ्यास किया जाय, वह दीर्घकाल तक अर्थात् यावज्जन्म करना चाहिये। ऐसा न हो कि वर्ष दो वर्ष करके छोड़ दिया जाय और निरन्तर अभ्यास होना चाहिये, बीच में विच्छेद न हो एवं आदर पूर्वक अभ्यास होना चाहिये, उपेक्षा पूर्वक नहीं। ऐसे अभ्यास से ही योग की वह भूमिका दृढ़ हो जाती है। इसी बात को प्रकृत पद्य में भी बतलाया गया है। यहाँ “अनन्यचेताः” पद से सत्कार कहा गया। जहाँ अपना आदर हो वहीं और विषयों को छोड़कर चित्त लगा करता है एवं “सततं पद से अविच्छेद अर्थात् बीच में न रूकना बतलाया गया और “नित्यशः” पद से जीवन पर्यन्त उस अभ्यास की स्थिरता बतलाई गई। इस प्रकार दृढ़ता से एकाग्रचित्त होकर जो योगी मेरा स्मरण करते रहते हैं, उनके लिए मैं दुर्लभ नहीं हूँ, अपितु अनायास ही प्राप्त हो सकता हूँ।

लोकमान्यतिलक भगवद्गीता में सर्वत्र योगी पद का अर्थ “कर्मयोगी” ही मानते हैं। तदनुसार यहाँ भी उन्होंने योगी पद का कर्मयोगी ही अर्थ किया है।

भक्तिमार्ग के टीकाकारों के अनुसार तो “योगिनः” का अर्थ भक्ति निरत ही है।

गीविद्यावाचस्पतिजी गीता में प्रयुक्त अहं शब्द का अव्यय पुरुष ही अर्थ करते हैं। उनके अनुसार अव्यय पुरुष को प्राप्त कर लेना ही परम सिद्धि है। अव्यय पुरुष यद्यपि साक्षात् स्मृति का विषय नहीं बन सकता, तथापि कल्पित पाँच रूपों में से किसी का भी अनन्य भाव से स्मरण करना ही यहाँ अभीष्ट है। (१४)

सुगमता से आपको प्राप्त कर लेने पर आगे क्या होगा सो आगे के पद्य में कहा जाता है कि मुझको जिन्होंने प्राप्त कर लिया, वे ही महात्मा परम सिद्धि अर्थात् साक्षात् मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं और सब दुःखों के स्थान व सदा वेनाशशील जन्म फिर प्राप्त नहीं करते, अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा पाकर नेरन्तर मेरे स्वरूप में लीन रहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि पूर्व के पद्यों में गति, अगति बताने के कारण क्रम मुक्ति का ही प्रसङ्ग मानना पड़ेगा, किन्तु इन पद्यों में साक्षात् भगवत् प्राप्ति रूप विदेह कैवल्य का ही प्रतिपादन है। जिन पुरुषों का चित्त दृढ़ भूमिका को प्राप्त कर चुका है, उनको कहीं जाना-आना नहीं पड़ता, वे देह छोड़ते ही व्यापक परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। (१५)

मुझको प्राप्त करके ही जन्म मरण से छुटकारा मिल सकता है, इस बात को और दृढ़ करते हैं कि हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक पहुँचते हुए मनुष्य भी पुनरावर्तनशील अर्थात् पुनर्जन्म के अधिकारी रहते हैं। केवल मुझको ही प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

कई व्याख्याकार ऐसा भी अर्थ करते हैं कि ब्रह्मलोक पर्यन्त स्थान पुनरावर्ती है, अर्थात् उनका उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, इसलिए वहाँ तक पहुँचने वाले प्राणियों का पुनः पतन निश्चित है। जब वह लोक ही न रहेगा तो वहाँ के प्राणी अन्ततः नीचे ही गिरेंगे, किन्तु जो मुझे प्राप्त कर लेते हैं वे अविनाशी हो जाते हैं, क्योंकि मेरा तो उत्पत्ति विनाश है नहीं, इसलिए मुझे प्राप्त करने वाले मनुष्य भी पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाते हैं। ब्रह्मलोक पद से यहाँ चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक अर्थात् सत्य लोक ही समझना चाहिये, क्योंकि परब्रह्म को प्राप्त करने पर तो पुनर्जन्म का अभाव ही उत्तरार्द्ध में बतलाया गया है। इसलिए पूर्वार्द्ध में ब्रह्म का लोक नहीं लिया जा सकता। यह भी कारण है कि ब्रह्म का लोक तो कोई हो नहीं सकता, वह तो व्यापक है, सर्वत्र ही अवस्थित है।

भगवान् कृष्ण जिनके अवतार हैं उन विष्णु लोक में वैकुण्ठ को भी श्रीवल्लभाचार्य आदि ने व्यापक ही कहा है। इसलिए भी ब्रह्मलोक पद से “सत्यलोक” ही लेना प्राप्त

होगा। हम लोग सन्ध्योपासन के समय जिन सात व्याहृतियों का स्मरण करते हैं, वे ही सात लोक क्रम से अवस्थित हैं। भूःपद से हमारी यह पृथिवी ली जाती है, भुवःपद से पृथिवी और सूर्य के मध्य का अन्तरिक्ष, स्वःपद से सूर्यमण्डल, महःपद से सूर्य के ऊपर का अन्तरिक्ष, जनःपद से सूर्यमण्डल से परवर्ती परमेष्ठीमण्डल, तपःपद से उसके ऊपर का अन्तरिक्ष और सत्यम पद से सबसे ऊपर का स्वयम्भूमण्डल लिया जाता है। वही चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक है। चतुर्मुख ब्रह्मा वहीं निवास करते हैं।

इस पद्य में जो अर्जुन और कौन्तेय, दो सम्बोधन आये हैं, उनका आशय प्रायः व्याख्याकारों ने यह माना है कि इन सम्बोधनों से भगवान् अर्जुन को यह कहते हैं कि तुम स्वभाव से भी शुद्ध हो, अर्जुन नाम स्वच्छ श्वेत का ही है और मातृकुल से भी तुम पूर्ण शुद्ध हो क्योंकि तुम्हारी माता मेरी बुआ कुन्ती ही है। इसलिए दोनों प्रकार से शुद्ध तुम इस ज्ञान के द्वारा मुझे प्राप्त कर लेने के पूर्ण अधिकारी हो। अथवा यह भी आशय लगाया जा सकता है कि इस समय जैसे तुम कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न हो, ऐसा गर्भवास मुझे प्राप्त कर लेने पर नहीं करना होगा। तब तुम पूर्णरूप से अर्जुन अर्थात् स्वच्छ ही रहोगे।

यहाँ यह बड़ी शङ्का उपस्थित होती है कि छान्दोग्य उपनिषद् में जहाँ पितृयाण और देवयान नाम से जीव की दो प्रकार की गति बतलाई गई है, वहाँ देवयान मार्ग के अन्त में लिखा है कि -

“पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति।”

(५ खण्ड ९)

अर्थात् देवयान मार्ग से जानेवाले जीव जब सत्यलोक प्राप्त कर लेते हैं तब उन्हें अमानव पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है। इस मार्ग से जाने वालों की पुनरावृत्ति वहाँ नहीं बतलाई गई। उसी के आधार पर यहाँ भी जो कहा जाने वाला है कि शुक्ल और कृष्ण नाम के दो मार्ग हैं, उनमें कृष्ण मार्ग से जानेवाले फिर लौटते हैं और शुक्ल मार्ग से जानेवाले नहीं लौटते। इसी प्रकार अन्यत्र पुराणों में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है कि जो ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेते हैं वे ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं। यथा—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ।

यह पुराण स्मृति श्रीशङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र कार्याधिकरण में उद्धृत की है, फिर इन सब प्रमाणों के विरुद्ध यहाँ ब्रह्मलोक तक से पुनः लौटना कैसे बतलाया गया। इसका समाधान कई व्याख्याकारों ने करने की चेष्ट की है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती और महाभारत के व्याख्याकार श्रीनीलकण्ठजी यहाँ यह व्यवस्था लिखते हैं कि जो आगे बतलाये जानेवाले अर्चि आदि मार्ग से ब्रह्मलोक तक पहुँच जाते हैं उन्हें तो वहाँ से भी लौटना पड़ता ही है, यही बात इस पद्य में बतलाई गई है और जो सगुण उपासना आदि में लगे रहकर ब्रह्मलोक तक जाते हैं वे नहीं लौटते। उनमें पूर्वोक्त पुराण वाक्य चरितार्थ होता है कि वे ब्रह्मलोक में ही ज्ञान की परिपक्वता प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं।

किन्तु यह व्यवस्था पूरी नहीं उतरती, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में देवयान मार्ग वा अर्चि आदि मार्ग के अन्त में ही पूर्वोक्त वाक्य लिखा है और यहाँ भी शुक्ल गति से जाने वालों का ही फिर न लौटना बतलाया गया है एवं ब्रह्म सूत्रों के अन्तिम सूत्र “अनावृत्तिः शब्दात्” के भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य ने अर्चि आदि मार्ग से जानेवालों का ही न लौटना माना है। इसलिए ऐसा मानना श्रीशङ्कराचार्य के भी विरुद्ध होगा।

माध्वसम्प्रदाय के अनुयायी व्याख्याकार श्रीराघवेन्द्रजी इसका यों समाधान करते हैं कि इस भूमि में ही जो स्वर्ग आदि लोकों की कल्पना पुराणों में पाई जाती है, जैसा कि सुमेरु पर्वत की उपत्यकाओं में ही ब्रह्मलोक आदि कई पुराणों में बतलाये गये हैं उसी ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति यहाँ मानी गयी है और सब लोकों के उपरिभाग में जो सत्यलोक नाम का ब्रह्मलोक स्थित है, वहाँ तक पहुँचने वाले तो फिर नहीं लौटते। उनके ही सम्बन्ध में पूर्वोक्त न लौटने के वाक्य चरितार्थ होते हैं, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में जो देवयान मार्ग बतलाया गया है उसमें तो सूर्य आदि के अतिक्रमण का स्पष्ट विवरण मिलता है, इसलिए भूमण्डल स्थित सुमेरु के प्रान्त भाग में ब्रह्मलोक आदि की स्थिति चाहे पुराणों में प्राप्त होती हो किन्तु मृत्यु के अनन्तर उन लोकों में प्राप्त होने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं। इसलिए यह समाधान भी उपयुक्त नहीं जँचता।

परमार्थप्रपा नाम की भगवद्गीता की व्याख्या में यह समाधान किया गया है कि यद्यपि त्रिलोकी के ऊपर भाग में अर्थात् सूर्यमण्डल के ऊपर जो महः जनः आदि लोक हैं उनमें पहुँचने वाले जीवों का पुनरावर्तन नहीं होता—ऐसा पुराणों में प्राप्त होता है। तथापि क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जागरण आदि व्यवहार तो उन लोकों में भी रहते हैं, इसलिए सभी व्यवहारों का अभाव रूप परम मुक्ति तो भगवान् को प्राप्त करके ही मिल सकती है। यहाँ पुनरावृत्ति शब्द का यही तात्पर्य है कि ब्रह्मलोक तक पहुँचने वाले भी जीव साधारण व्यवहारों का अतिक्रमण नहीं कर सकते। वह अतिक्रमण मुझे प्राप्त करके ही हो सकता है। इसी से मिलता जुलता वैज्ञानिक समाधान भी कई विद्वान् इस प्रकार किया करते हैं कि भूमि का साममण्डल रथन्तर माना जाता है, अर्थात् सूर्य के रथ का, उनके कुछ ऊपर भाग में स्थित अंश तक पृथिवी का आकर्षण रहता है



जैसा कि निरुक्त में माना गया है कि देवताओं का रथ उनका स्वरूप ही है, कुछ तरण करने तक पृथिवी व्याप्ति रहती है। उस मर्यादा को पार कर जो जीव महः जनः आदि लोकों में या सत्यलोक तक पहुँच गये उनका पृथिवी पर लौटना तो फिर नहीं बन सकता, क्योंकि पृथिवी के आकर्षण से वे विमुक्त हो चुके हैं, किन्तु उन्हीं लोकों में उनका परिभ्रमण होता रहता है और उन लोकों में स्थित अन्य देवताओं के समान असुरों से भय आदि भी उन्हें प्राप्त होते रहते हैं। इससे सर्वथा भय से मुक्त उन्हें नहीं कहा जा सकता। यही पुनरावृत्ति शब्द का अर्थ है कि उन लोकों में ही इधर उधर उनका भ्रमण होता रहता है। “इमं मानवमावर्त नावर्तन्ते” इस श्रुति का भी स्पष्टार्थ यही है कि इस मनुष्य लोक में वे जन्म नहीं लेते, किन्तु सर्वथा जीव के भय आदि व्यवहारों से विमुक्त भी वे नहीं कहे जा सकते। जीव व्यवहारों से विमुक्ति तो मुझको अर्थात् अव्यय पुरुष को प्राप्त करके ही हो सकती है, यही प्रकृत पद्य का तात्पर्य है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने “देवता निवित्” नाम के ग्रन्थ में भूतात्मा की आठ प्रकार की गतियों का विवरण किया है। यहाँ प्रसङ्गागत उनका भी विवरण संक्षेप से लिख दिया जाता है। वे पहिले मुक्ति के दो भेद करते हैं—परामुक्ति और अपरामुक्ति। परामुक्ति के विषय में श्रुतियों में लिखा है कि “न तस्य प्राणा उत्कामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते” अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने वाले के प्राण निकलकर कहीं जाते नहीं, किन्तु यहीं लीन हो जाते हैं। इस परामुक्ति का ही दूसरा नाम कैवल्य है। इसके भी दो भेद होते हैं—क्षीणोदरक और भूमोदरक। शरीर, मन बुद्धि आदि को आत्मा से पृथक् कर आत्मा को केवल रूप में बचा लेना “क्षीणोदरक” है और आत्मा की व्याप्ति बढ़ाकर सबका आत्मा में समावेश कर लेना “भूमोदरक” है जैसा कि श्रीशुकदेव का सर्वात्मभाव श्रीभागवत में वर्णित है। क्षीणोदरक वाला पुरुष जब सबको आत्मा की व्याप्ति से निकाल कर विशुद्ध रह जाता है तो उसमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता, वह व्यापक ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। उसे कहीं जाना आना नहीं पड़ता। इसी प्रकार जिसने सब ब्रह्माण्ड को आत्मा ही मान लिया वह भी यहीं सबमें लीन हो जाता है, उसे भी जाना आना नहीं पड़ता, इन दोनों में केवल प्रक्रिया का भेद है। एक में आत्मा की व्याप्ति में से सबको निकालकर आत्मा को अणु से भी अणु बनाया जाता है, जैसा कि “अप्राणो ह्यमनाश्रयः” इत्यादि श्रुतियों में वर्णित है और दूसरी प्रक्रिया में आत्मा की व्याप्ति बढ़ाकर उसे सर्वरूप बनाया जाता है जैसा कि श्रुति में वर्णित है कि “यस्यत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्”। इसके अतिरिक्त जो लोग सगुण ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूपों की उपासना करते हुए सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य प्राप्त करते हैं अपने इष्टदेव के लोक में चला जाना सालोक्य है, उनके समीप में पहुँच

जाना सामीप्य है। इष्ट देवता के समान ही अपना रूप हो जाना सारूप्य है और अन्त में इष्ट देवता के रूप में ही मिल जाना सायुज्य कहलाता है। इनमें अन्तिम सायुज्य ही मुक्ति कहा जा सकता है। यह अपरामुक्ति हुई, जो कि सगुणोपासकों को ही प्राप्त होती है। कहा गया है कि परामुक्ति में कहीं जाना नहीं पड़ता, किन्तु अपरामुक्ति में अपने आराध्य देवता के लोक में जाना पड़ता है। इनके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् में जो देवयान, पितृयाण नाम के दो मार्ग बतलाये हैं, व इसी अध्याय में जो शुक्ल कृष्ण नाम की दो गति बतलाई गई है, उनमें भी प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं। पितृयाण मार्ग की एक शाखा ही यममार्ग है। अच्छे कर्म करने वाले चन्द्रलोक की ओर जाते हैं तो बुरे कर्म करने वाले 'यमलोक' अर्थात् सूर्य से दूर विपरीत मार्ग में शनिमण्डल की ओर चले जाते हैं और वहीं नानाविध नरकों की यातना पाया करते हैं। इसी प्रकार देवयान मार्ग के भी आगे चलकर दो भेद हो जाते हैं। एक सूर्यमण्डल के समीप विचरते रहना और दूसरा सूर्यमण्डल को भेदकर आगे के महःजनः आदि लोकों में या सत्यलोक तक चला जाना। इनमें से दूसरे ही प्रकार का वर्णन हम प्रकृत पद्य में कर चुके हैं कि सूर्यमण्डल से ऊपर जाने वाले भी क्रममुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार पितृयाण के दो भेद, देवयान के भी दो भेद और तीन प्रकार की मुक्ति, सब मिलकर सात प्रकार गति के हो चुके। आठवाँ प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में ही कहा गया है कि पृथिवी से बाहर के लोकों में कहीं न जाकर पृथिवी के आकर्षण में ही घूमते हुए जो जीव कृमि, कीट, पतङ्ग आदि के रूप में बार-बार जन्म लेते और बार-बार मरते हैं जिनको "जायस्व म्रियस्व" नाम से तृतीयस्थान रूप में वहाँ वर्णित किया गया है यह आठवीं गति हुई। इसकी वहाँ उपनिषद् में बहुत निन्दा की गई है कि इस चक्र से निकलना ही बहुत कठिन है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने जो व्यावहारिक आत्माओं के अठारह भेद बतलाये हैं उन सबका भी पृथक्-पृथक् गति का निरूपण इसी "देवतानिवित्" ग्रन्थ में किया है। जैसा कि "ब्रह्मपरिस्थिति" में जो परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर नाम के चार मुख्य आत्मा माने गये हैं, वे तो व्यापक हैं। जहाँ भी जीव की गति होगी, वहाँ वे प्राप्त हो जायेंगे। उनका कहीं आना जाना नहीं होता। व्यापक पदार्थ में जाने आने का कोई संभव नहीं। आगे "देव परिस्थिति" में जो पाँच प्रकार के आत्मा वहाँ निरूपित हुए हैं, वे शरीर नाश के अनन्तर अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं। जैसा कि शान्तात्मा और महानात्मा महत्तत्त्व में, आकृतिमहान् और प्रकृतिमहान् तथा अहंकृतिमहान् ये तीन जो भेद बतलाये गये हैं, उनमें आकृतिमहान् चौरासी लाख प्रकार के शरीरों का उत्पादक है। जिस योनि में जीव की गति होगी, वहीं वह उसके अनुकूल शरीर बना देगा एवं प्रकृतिमहान् भी उस योनि के अनुसार ही स्वभाव पैदा कर देगा, अहङ्कृतिमहान् परमेष्ठी मण्डल में चला जाता है। विज्ञानात्मा,

जिसे चाक्षुषपुरुष नाम से भी कहा जाता है, वह सूर्य मण्डल में चला जाता है। प्रज्ञानात्मा चन्द्र मण्डल में और प्राणात्मा जो इन्द्रिय रूप से काम करता था, वह शरीर नाश होने पर कर्पूर की तरह इधर-उधर लीन हो जाता है। यों इन नौ आत्माओं का कहीं गमनागमन नहीं होता।

अब आगे भूतात्माओं के जो नौ भेद बतलाये हैं, उनमें शरीर तो पाँच भूतों में ही मिल जाता है और वैश्वानर, तैजस ये दोनों जिस शरीर में जीवात्मा जायेगा, वहीं शरीर की वृद्धि आदि करने में लगेंगे। कर्मात्मा अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि प्राप्त करेगा। चिदाभास और चिदात्मा तो जहाँ ये जन्म लेंगे वहीं अपना काम करने लगेंगे और विभूति, अर्क और श्री भी तत्तत् योनि के अनुसार वहीं प्राप्त हो जायेंगे।

इस प्रकार सभी व्यावहारिक आत्माओं का वहाँ निरूपण किया गया है। (१६)



## तेरहवाँ-पुष्प

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद् ब्रह्मणो विदुः ।  
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥  
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।  
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥  
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।  
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों का उत्पत्ति-विनाश पूर्व पद्य में सूचित किया। वह उत्पत्ति विनाश कितने काल में होता है, इसे बतलाने के लिए आगे के पद्य कहे जाते हैं। प्रथम पद्य का अर्थ है कि सहस्रयुग तक का काल ब्रह्मा का एक दिन जाना जाता है और इसके अनन्तर हजार युग की ही ब्रह्मा की रात्रि होती है ऐसा दिन रात की व्यवस्था जानने वाले पौराणिक लोग कहते हैं।

यहाँ युग शब्द से एक चतुर्युगी समझनी चाहिये। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये चारों युग मिलाकर एक चतुर्युगी होती है। वही चतुर्युगी यहाँ युग शब्द से विवक्षित है। ऐसे हजार युग अर्थात् हजार चतुर्युगी व्यतीत होने पर ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। दिन और रात्रि की यही व्यवस्था मानी जाती है कि जो जितने काल तक सूर्य को देखता है, वह उसके लिए दिन और जितने काल तक सूर्य न दिखाई दे वह रात्रि कहलाती है, ऐसा मनुष्यों का व्यवहार प्रसिद्ध है। हमसे ऊपर के प्राणी जो पितृलोक निवासी कहे जाते हैं वे चन्द्रमण्डल के ऊपर के भाग में अर्थात् जो चन्द्रमा का भाग हमें दिखाई नहीं देता उस भाग में रहते हैं, जैसा कि ज्योतिष के आचार्य श्रीभास्कराचार्य ने लिखा है कि “विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति” अर्थात् चन्द्रमण्डल के ऊपर के भाग में पितर लोग निवास करते हैं। उन पितरों को पन्द्रह दिन तक सूर्य का दर्शन बराबर होता रहता है और पन्द्रह दिन नहीं होता। ऐसा सूर्य और चन्द्रमा की गति के तारतम्य से होता है। जिस दिन अमावस्या होती है उस दिन चन्द्रमा और सूर्य एक स्थान पर रहते हैं, अर्थात् चन्द्रमा के ठीक मस्तक पर उस दिन सूर्य रहा करता है, इसलिए वह चन्द्रमण्डलस्थित पुरुषों के लिए मध्याह्न है। चन्द्रमा के इधर के भाग पर बिल्कुल सूर्य का प्रकाश न पड़ने के कारण हम मनुष्य लोकवासी उस दिन चन्द्रमा को नहीं देख पाते। आगे चन्द्रमा तेजी से निकल २जाता है, वह सवा दो दिन में ही एक राशि

का भोग समाप्त कर देता है और सूर्य को एक राशि भोग में एक मास लगता है, इस प्रकार आगे निकले हुए चन्द्रमा के इधर कुछ अंश पर तिरछेरूप में सूर्य का प्रकाश पड़ जाता है, इसलिए इधर का कुछ भाग हम लोगों को दिखाई देने लगता है जो कि क्रमशः बढ़ता जाता है। जितना भाग हमें दिखाई देता है उतना ही दूसरे भाग के लोगों के लिए अदृश्य होता जाता है। इस प्रकार शुक्लपक्ष की अष्टमी को पितर लोगों के लिए सायङ्काल हो जाता है, आगे पूर्णिमा को जिस दिन हमारी ओर का चन्द्रमा का भाग पूर्ण प्रकाशित रहता है उस दिन पितरों के लिए अर्ध रात्रि है। कृष्णपक्ष की अष्टमी को उन्हें सूर्य दिखाई देने लगता है, इसलिये वह उनका दिनोदय है। इस सूर्य के दीखने और न दीखने के कारण उनका दिन-रात एक मास का होता है। इसी प्रकार देवता लोग जो सुमेरु स्थान पर निवास करते हैं वे जब तक सूर्य उत्तर गोल में रहे तब तक अर्थात् मेष राशि से कन्या राशि पर्यन्त सूर्य की स्थिति में छह मास सूर्य को देखते हैं और तुला से मीन पर्यन्त जब तक सूर्य दक्षिण गोल में रहे तब तक सूर्य उन्हें नहीं दिखाई देता, क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने से नब्बे अंश के आकाश भाग को ही देख सकता है, इसी कारण हमारा एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र समझा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मा को जितने काल तक सूर्य का दर्शन हो उतने काल तक उनका दिन और जितने काल तक सूर्य का दर्शन न हो वह उनकी रात्रि कही जायेगी। किन्तु ब्रह्मा सब लोकों के ऊपर सत्यलोक में स्थित माने जाते हैं, सत्य लोक के नीचे में ही अन्य सब लोक आ जाते हैं, इसलिए सूर्य कभी भी रहे वह ब्रह्मा को अदृश्य नहीं हो सकता, ब्रह्मा तो उसी दिन सूर्य को न देखेंगे जिस दिन सूर्य न रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि एक सूर्य की आयु ब्रह्मा का एक दिन होता है। फिर इतने ही काल तक सूर्य नहीं रहता अतः वह उनकी रात्रि है। पुनः जब दूसरे सूर्य का संगठन हो जायेगा तब ब्रह्मा के लिए दूसरे दिन का उदय होगा।

इस प्रकार ब्रह्मा के दिन और रात का चक्कर चलता रहता है। ब्रह्मा का एक दिन ही पौराणिक भाषा में एक कल्प कहलाता है। वह ब्रह्मा के दिन का समय एक हजार चतुर्युगी होता है। उसी का निरूपण इस पद्य में किया गया। हमारे वर्षों से गणना की जाय तो तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षों में एक चतुर्युगी होती है। इसको हजार गुना कर देने पर ब्रह्मा के दिन का परिमाण निकलेगा, जो कि हम मनुष्यों की गणना से चार अरब बत्तीस कोटि वर्ष होंगे। यही एक सूर्य की आयु है और फिर इतने ही काल तक सूर्य का अभाव रहता है। इस ब्रह्मा के दिन में चौदह मनुओं का राज्य होता है। प्रत्येक मनु के राज्य का समय कुछ अधिक इकहत्तर चतुर्युगी सिद्ध होगी, छह मन्वन्तर बीतने पर आज सातवें वैवस्वतमनु का राज्य कहा जाता

है। इस विचार से प्रायः दो अरब वर्ष से कुछ न्यून समय इस ब्रह्मा के दिन का व्यतीत हुआ, यही सिद्ध होता है। (१७)

ब्रह्मा के दिन और रात में क्या-क्या कार्य होते हैं, इसका विवरण आगे दो पद्यों में किया जाता है कि ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में अव्यक्त अर्थात् अपने कारण में जो अप्रकटरूप कार्य लीन थे उस अवस्था से व्यक्ति अर्थात् इस जगत् के पदार्थ प्रकट हो जाते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में उसी अव्यक्त अर्थात् अप्रकट सूक्ष्म कारणावस्था में लीन हो जाते हैं। हे पार्थ ! इस प्रकार सब जड़ चेतनात्मक तत्त्वों का समूह बार-बार पैदा होकर बार-बार लीन होता रहता है। ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में अपने-अपने कारण में लीन हो जाता है और फिर ब्रह्मा के दिन का आरम्भ होने पर प्रकट हो जाता है। यह प्रकट होना और लीन होना अवश्यंभावी है, इसे रोकने का वश किसी का नहीं है।

पुराणों में चार प्रकार के प्रलय बतलाये गये हैं। एक हमारे दिन रात का प्रलय, जैसा कि हम सो जाते हैं तो हमारी इन्द्रिय, मन आदि लीन हो जाते हैं और जागते ही फिर वे अपने अपने काम में लग जाते हैं। यह सब प्राणियों का नित्य का प्रलय और प्रबोध है, जो कि नैतिक प्रलय नाम से कहा जाता है। दूसरा सब जगत् को पैदा करने वाले ब्रह्मा की रात्रि में जो प्रलय होता है, वह ब्रह्मा के प्रतिदिन होने के कारण दैनन्दिन प्रलय कहलाता है, जैसा कि हम पूर्व पद्य में विवरण कर चुके हैं कि एक सूर्य का लीन होना ही ब्रह्मा की रात्रि है। उस समय सूर्य के लीन हो जाने पर सूर्य के वश में रहने वाली हमारी त्रिलोकी नष्ट हो जाती है, किन्तु सूर्य के ऊपर के महः, जनः, तपः और सत्यलोक बने रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के दिन और रात का चक्र चलते रहने पर ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु जब पूरी हो जाती है, तब सबके उत्पादक ब्रह्मा का लय हो जाने पर सातों लोक और उन सबके प्राणी आदि सब जड़ चेतनात्मक प्रपञ्च प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इसे पुराणों में “प्राकृतप्रलय” कहा गया है। इनके अतिरिक्त चौथा “आत्यन्तिकप्रलय” जो कि मनुष्य को पूर्ण ज्ञान हो जाने पर होता है। वहीं से फिर नहीं लौटना पड़ता। इसीलिए उसका नाम “आत्यन्तिकप्रलय” रक्खा गया है। इसकी कोई अवधि नियत नहीं है। जिस समय जीव को ज्ञान हो जाय तभी उसकी अविद्या का लय हो जाता है। इन चारों में से यहाँ “दैनन्दिन प्रलय” का ही वर्णन किया गया है, जो कि ब्रह्मा के सो जाने पर अर्थात् एक सूर्य के लीन हो जाने पर त्रिलोकी का प्रलय होता है। ब्रह्मा की आयु दो परार्द्ध मानी गई है, जिनमें कि आजकल संकल्प में द्वितीय परार्द्ध पढ़ा जाता है।

पूर्वपद्य की व्याख्या में हम ब्रह्मा के दिन की गणना मनुष्यों के वर्षों के विचार

से चार अरब, बत्तीस करोड़ लिख आये हैं। इतनी ही रात्रि का योग करने पर आठ अरब, चौंसठ करोड़ मनुष्यों के वर्ष ब्रह्मा का एक अहोरात्र हुआ। इनको तीन सौ साठ के गुणित करने पर ब्रह्मा का एक वर्ष होगा और उसे सौगुना करने पर ब्रह्मा की आयु के वर्ष निर्णीत होंगे। उनको पुनः तीन सौ साठ के गुणाकर दिन बनाने पर दिन और रात का पृथक्-पृथक् योग कर लेने पर हमारे भारतीयों के गणित शास्त्र के अनुसार दो परार्द्ध के आस पास संख्या पहुँच जाती है। जो कुछ भेद रहे वह प्राचीन और आधुनिक गणित प्रक्रिया के भेद के कारण ही मानना चाहिये। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के अवतार के समय देव की स्तुति में स्पष्ट वर्णन है कि -

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।

व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ॥

( १ भाग १०।३।२४ )

इसका अर्थ है कि हे भगवान् जब दो परार्ध संख्या का समय पूर्ण हो जाता है और सब लोक नष्ट हो जाते हैं एवं सब महाभूत सबके आदिभूत परमात्मा में लीन हो जाते हैं और यह व्यक्त संसार काल वेग से अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाता है तब एक आप ही शेष रहते हैं, इसी कारण आपका नाम शेष है। अथवा उस समय सब नाम भी आप में ही लीन हो जाते हैं।

इस पुराणोक्त काल प्रक्रिया पर विचार करने से सिद्ध होता है कि इन पद्यों में जिन व्याख्याकारों ने अव्यक्त शब्द का प्रकृति अर्थ किया है, उन्होंने पुराण प्रक्रिया पर ध्यान नहीं दिया, यही कहना होगा, क्योंकि प्रकृति में लय तो ब्रह्मा के सौ वर्ष पूरे हो जाने पर पुराणों में कहा गया है। प्रतिदिन ब्रह्मा की रात्रि में ऐसा नहीं हुआ करता। इसलिए यहाँ अव्यक्त का अर्थ अपनी-अपनी कारणावस्था ही करना चाहिये। अथवा ब्रह्मा की सुषुप्ति अवस्था ही यहाँ अव्यक्त शब्द का अर्थ उचित होगा।

द्वितीय अध्याय के “नासतो विद्यते भावः” इत्यादि पद्य में जो कह आये हैं कि नई वस्तु कोई उत्पन्न नहीं होती और जो वस्तुएँ हैं उनका कभी नाश नहीं होता वही बात यहाँ “स एवायं” पदों से पुनः स्मरण कराई गई है कि सब जगत् की अव्यक्त और व्यक्त नाम की दो अवस्थाएँ हैं। कभी सब कार्य अपने कारण में लीन होकर अप्रकट अवस्था में रहते हैं और कभी वे ही कार्य रूप में प्रकट हो जाते हैं। नई वस्तु कोई नहीं बनती, न किसी सद् वस्तु का अभाव ही होता है। सब जगत् कभी अप्रकट अवस्था में रहता है और कभी प्रकट अवस्था में आ जाता है। यही अवस्था परिवर्तन अव्यक्त और व्यक्त शब्दों का अर्थ है। “अवश” पद से यही सूचित किया कि ये

अवस्थाएँ किसी प्राणी की इच्छानुसार नहीं बनतीं, अपितु प्रकृति के नियमानुसार विवश रूप से इन अवस्थाओं में जाना पड़ता है। प्रकृतिनियमसिद्ध आकर्षण-विकर्षण आदि बलात् इन अवस्थाओं में ले जाते हैं।

इस प्रकार इन पद्यों में संसार की स्थिति और लय का निरूपण किया गया। किन्तु इस पर यह शङ्का होगी कि कभी संसार का व्यक्त अवस्था में रहना, कभी अव्यक्त अवस्था में रहना यह तो सांख्य की प्रक्रिया ही सिद्ध हुई, फिर आपने सप्तम अध्याय के चौबीसवें पद्य में सांख्य प्रक्रिया मानने वालों को अबुद्धि शब्द से क्यों स्मरण किया था ? इसका उत्तर देने के लिए यहाँ भी अपना अधिष्ठाता रूप प्रकट करने के लिए आगे का पद्य कहा जाता है। (१८-१९)





## चौदहवाँ-पुष्प

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

श्लोकार्थ है कि यह जो कार्य कारण प्रपञ्च बतलाया गया और कारणावस्था को अव्यक्त कहा गया, उस कारणरूप अव्यक्त से भी परे एक दूसरा भाव है वह भी इन्द्रियों से नहीं जाना जाता, इसलिये उसे भी अव्यक्त शब्द से कहते हैं, वह सदा रहने वाला है। सब भूतों के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता।

जो कार्य कारण प्रपञ्च पूर्व बतलाया गया उसमें जहाँ कार्य अप्रकट रूप में रहे, वह कारण कहा जाता है और जब वह प्रकटरूप में हो जाय तो उसे कार्य कहते हैं। इन दोनों में कारण को सत्य और कार्य को मिथ्या माना जाता है। जैसा कि श्रुति में कहा गया है कि “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्” अर्थात् घट, शराव आदि जितने मृत्तिका के प्रपञ्च हैं, उनमें शब्दमात्र का ही भेद है, सत्य वस्तु एक मिट्टी ही है। यहाँ मृत्तिका को अपने कार्यों की अपेक्षा सत्य कहा गया, किन्तु उसके भी कारण पर दृष्टिपात करने से वह भी केवल वाणी का आरम्भ ही समझी जायेगी। तब उसका भी कारण ही सत्य रहेगा। इस प्रकार कार्य कारण प्रपञ्च की परम्परा चलते-चलते जहाँ जाकर समाप्त हो जायेगी अर्थात् जहाँ से आगे कार्यकारण परम्परा न चले, वह अन्तिम सबका कारण ही सत्य ठहरेगा। वह अवश्य ही एक और सदा रहने वाला है। बीच-बीच के अवान्तर प्रपञ्च नष्ट होते रहते हैं, किन्तु वह मूल कारण सदा ही रहने वाला है। उसका नाश कभी नहीं हो सकता और वह भी अव्यक्त है अर्थात् किसी इन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता। केवल अपने आप ही उसकी सत्ता समझी जा सकती है। इन्द्रियाँ तो अवस्थाओं को जानती हैं। अवस्था रहित मूल तत्त्व को नहीं पहचान सकतीं। जैसा कि एक सुवर्ण के बहुत से आभूषण-कटक, कुण्डल, केयूर आदि बनाये जा सकते हैं। सुवर्ण उन सबमें अनुगत है अर्थात् सबमें प्रविष्ट हो रहा है, इसलिये सुवर्ण सबका कारण और वे कटक, कुण्डल आदि कार्य कहे जाते हैं। किन्तु वह

सुवर्ण क्या है यह जानना कठिन है। क्योंकि सुवर्ण को हम जहाँ देखेंगे, वहाँ किसी अवस्था में ही पायेंगे। कहीं कड़े के रूप में, कहीं कुण्डल के रूप में और जब तक कड़ा कुण्डल आदि न बने, तब तक एक पिण्ड रूप में एवं सुनार यदि उसे गला दे तब उसे द्रव के रूप में, इस तरह किसी न किसी अवस्था में ही वह पाया जायेगा। सब अवस्थाओं का कारणभूत सुवर्ण जिसे कहा जाता है वह क्या वस्तु है, यह इन्द्रियाँ नहीं बतला सकतीं। आप यह कह सकते हैं कि सुवर्ण कोई है अवश्य जो कि इन सबमें अनुस्यूत है। इस प्रकार वह स्वसंवेद्य हो सकता है, किन्तु इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। यही प्रकार मृत्तिका में भी समझना चाहिये कि घट, शकोरा, भित्ति चूर्ण आदि अनेक रूपों में हम मृत्तिका को देखते हैं किन्तु वह मृत्तिका क्या है जो कि सबमें व्याप्त दिखाई देती है, यह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। जब नित्य काम में आने वाले सुवर्ण, मृत्तिका आदि की ही यह स्थिति है कि उनका असली स्वरूप जानना हमारे लिये कठिन है, तब सबके कारणभूत परमतत्त्व के जानने की तो आशा ही क्या की जा सकती है। ऐसा सदा अविकृत रहने वाला मूलतत्त्व सत्, चित्, आनन्द इन तीन रूपों से सब जगत् में व्याप्त है और ये तीनों रूप भी पृथक्-पृथक् नहीं किन्तु एक ही हैं। इन सबका विस्तृत निरूपण द्वितीय अध्याय के सोलहवें पद्य “नासतो विद्यते भावः” में तथा इसके आगे दूसरे पद्य में भी कर चुके हैं। उसकी पुनरुक्ति यहाँ नहीं की जाती। अब प्रश्न यह होता है कि वहाँ तो सत्ता, चेतना और आनन्द तीनों को ही प्रत्यक्ष बतलाया है, फिर यहाँ उस परम तत्त्व को अव्यक्त क्यों कहा गया ? न्याय शास्त्र में वस्तु के साथ उसकी सत्ता को प्रत्यक्ष माना जाता है एवं ज्ञान को भी न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष ही कहा जाता है, मन से उसका प्रत्यक्ष होता है और आनन्द को भी वह सुख शब्द से कहते हैं और उसका भी मन से प्रत्यक्ष मानते हैं तो ये तीनों मूलतत्त्व तो व्यक्त ही हुए फिर प्रकृत पद्य में अव्यक्त शब्द से क्यों कहा गया ?

इसका उत्तर है कि प्रत्येक पदार्थ के साथ जो सत्ता जानी जाती है, उसे ही न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष कहा गया है। इस प्रकार जो विषय संवलित ज्ञान होता है उसे ही वहाँ प्रत्यक्ष कहा गया है और अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति होने पर जो मन का एक विकास होता है वही वहाँ सुख शब्द का वाच्य तथा प्रत्यक्ष कहा गया है। ये तीनों ही सत्ता, ज्ञान और आनन्द न जगत् के मूल कारण हो सकते हैं और विषयों के साथ मिले होने के कारण नित्य भी नहीं हो सकते। इनका तो विनाश भी प्रत्यक्ष ही देखा जाता है, किन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर जो सत्ता, ज्ञान और आनन्द प्रतीत होते हैं वे ही नित्य हैं और उन्हें ही अविनाशी तथा अव्यक्त कहा जाता है। किसी भी पदार्थ

में व्याप्त रहती है, जिसका कि विवरण विस्तार से हम पूर्वोक्त पद्य में कर चुके हैं, वही सत्ता जगत् का मूल और अविनाशी तत्त्व है एवं जगत् का मूलभूत जो आनन्द है वह भी मन का विकास रूप नहीं, अपितु सब जगत् में व्याप्त रहने वाला शान्तिरूप आनन्द ही है। ये तीनों ही प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं हो सकते। विषयों के साथ मिलकर ही सत्ता और ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। विषयों को छोड़कर उनका स्वरूप बुद्धि में नहीं आ सकता, वह अव्यक्त ही रहता है। इसी तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए गुरुवर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने “संशयतदुच्छेदवाद” ग्रन्थ में इन तीनों तत्त्वों को कृष्ण और शुक्ल नाम से दो प्रकार का बतलाया है। शुक्ल तीनों तत्त्वों का ही प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है। कृष्ण अर्थात् छिपे हुए तीनों कभी व्यक्त नहीं हो सकते। इसीलिए श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध तृतीय अध्याय में उसे अव्यक्त शब्द से ही कहा है—

**रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं, ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।**

**सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं, स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः। ( २४ )**

अर्थात् जो रूप सबका आदि, अव्यक्त, ब्रह्मज्योति, निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष तथा निरीह है वही तुम आत्मप्रकाश रूप साक्षात् विष्णु हो। यहाँ पर तत्त्व को निर्विशेष सत्ता रूप कहा गया। इसका यही तात्पर्य है कि विशेषरूप विषयों को छोड़कर सत्ता का स्वरूप अव्यक्त ही रहता है। (२०)

आगे के पद्य की व्याख्याकार भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याख्याएँ करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य का तो सीधा ही अक्षरार्थ है। पूर्व पद्य में जिसे परभाव कहा गया है, वही अव्यक्त भाव अर्थात् गूढ़ सत्तारूप अक्षर शब्द से कहा जाता है, कभी क्षरण अर्थात् विनाश न होने के कारण अक्षर शब्द अनुगतार्थ है। वही सबसे उत्कृष्ट परप्राप्य स्थान है। जिसे प्राप्त कर लेने पर वहाँ से लौटना नहीं पड़ता। वही मेरा अर्थात् विष्णु का परमधाम समझना चाहिये। श्रुतियों में विष्णुपद शब्द से वही कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि पूर्व पद्य में जो परभाव कहा गया है वही आगे भगवद्गीता के “ये त्वक्षरम्” “कूटस्थोऽक्षर उच्यते” इत्यादि पद्यों में अक्षर शब्द से निर्दिष्ट है, उसे वेदवेत्ता लोग परमगति कहते हैं। भगवद्गीता में भी इसी अध्याय के तेरहवें श्लोक में परमगति शब्द से उसे ही प्राप्य स्थान बतलाया है। प्रकृति जीव और परमात्मा नाम के तीनों तत्त्वों में वही प्रकृति और जीव से पृथक् रहने वाला है। उसे प्राप्त करके कोई नहीं लौटता, वह मेरा परमधाम है, अर्थात् सबको नियन्त्रण में रखने का सर्वोच्च स्थान है। इसका तात्पर्य इस प्रकार लगाया जाता है

कि अचेतनरूपा प्रकृति प्रथम नियमन स्थान है, और चेतनरूप जीव द्वितीय नियमन स्थान है तथा उन दोनों से पृथक् अपने स्वरूप में ही सदा रहने वाला परमोच्च नियमन स्थान है। अथवा धाम शब्द का अर्थ प्रकाश अर्थात् ज्ञान किया जाय तो अर्थ होगा कि प्रकृति तो सर्वथा जड़ है, जीव उसकी अपेक्षा प्रकाशशील है और सबसे उच्च श्रेणी का प्रकाशशील मेरा स्वरूप है।

श्रीवल्लभाचार्य के मतानुसार व्यापकरूप वैकुण्ठ का नाम ही अक्षर है और वह पुरुषोत्तम भगवान् का धामरूप कहा गया है। उनकी व्याख्या है कि अक्षर को ही अव्यक्त शब्द से समझना चाहिये, प्रकृति या जीव अव्यक्त शब्द के वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि उनको प्राप्त करके पुनरावृत्ति होती है, किन्तु अक्षर परमागति है, इसीलिये ज्ञानमार्ग से चलने वालों का वही सबसे उच्च प्राप्ति स्थान है। ज्ञानमार्गी की दृष्टि से उसे परमगति कहा गया। पुरुषोत्तम भगवान् तो केवल भक्तिलभ्य हैं यह अग्रिम पद्य में कहा जायेगा।

श्रीनीलकण्ठजी लिखते हैं कि अव्यक्त पद से दृष्टि के विषय होने का अभाव दिखलाया गया और अक्षरपद का व्यापक रूप अर्थ मानकर उससे देश, काल और वस्तु परिच्छेद का अभाव बतलाया गया। उसी दृश्य और तीनों परिच्छेदों से शून्यभाव को परमगति कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्मलोकपर्यन्त की गति पुनरावृत्ति होने के कारण परमगति नहीं है, किन्तु यह कार्य और कारण सबसे परे होने के कारण परमगति कही जाती है। जहाँ से फिर नहीं लौटना पड़ता, वही मेरा धाम अर्थात् मेरा परम ज्ञानरूप प्रकाश है, इससे परमप्रकाश को सब उपाधि से पृथक् बतलाया गया। इस पद्य से निर्विशेष, निष्कल ब्रह्म की प्राप्ति को ही मुक्ति बतलाया गया।

निम्बार्क सम्प्रदाय की अनुयायिनी “तत्त्व प्रकाशिका” में लिखा है कि अक्षर शब्द से भगवद्गीता के भिन्न स्थानों में जिसका वर्णन किया गया है, वही जीव की परमगति है। इसका तात्पर्य है कि जीव सदा प्रकृति गुणों से बद्ध रहा करता है। प्रकृति के गुणों को छोड़कर अपने स्वरूप में आ जाना ही उसकी परमगति कही जाती है। यद्यपि गति प्राप्त करने योग्य स्थान का अर्थ है अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेना, गति शब्द से नहीं कहा जाना चाहिये, तथापि प्रकृति के गुणों से पृथक् हो जाने के कारण यहाँ उसे गति शब्द से ही कहा गया। वही प्रकृति से पृथक् हुआ जीवात्मा मेरा मुख्य निवास स्थान है। यद्यपि कई श्रुतियों में प्रकृति से मिले हुए जीवात्मा को भी मेरा निवास स्थान बतलाया है, किन्तु वह गौण स्थान है, केवल संसारियों पर अनुग्रह करने के लिए उसे भी “अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः” इत्यादि श्रुतियों में मेरा निवास स्थान बतला दिया गया है, तथापि मुख्य निवास स्थान (परमधाम) प्रकृति से पृथक् हुए मुख्य आत्मा को ही समझना चाहिए।

श्रीमधुसूदनसरस्वती की व्याख्या है कि जो भाव यहाँ अव्यक्त और अक्षरपद से कहा गया है, वही परमागति अर्थात् सबसे उच्च प्राप्ति का स्थान श्रुतियों ने बतलाया है जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा धाम अर्थात् वास्तविक स्वरूप है। यद्यपि परब्रह्म और उसके स्वरूप में किसी प्रकार का भेद नहीं होता तो भी यहाँ “राहो शिरः” की तरह षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर दिया गया है। राहु और शिर यद्यपि एक ही रूप हैं, सिर का ही नाम राहु है, तब भी व्यवहार में राहु का सिर बोल दिया जाता है। उसी प्रकार यहाँ भी मेरा धाम अर्थात् स्वरूप यह भेद व्यवहार कर दिया गया। वस्तुतः जहाँ पहुँच कर जीव नहीं लोटते, वही मैं हूँ यही तात्पर्य है।

श्रीशङ्करानन्दजी ने यहाँ “मम” शब्द का अर्थ मायारूप उपाधि से संवलित ब्रह्म किया है और परमधाम शब्द का माया विरहित शुद्ध ब्रह्म अर्थ किया है।

श्रीलोकमान्यतिलक ने इस पद्य की व्याख्या में लिखा है कि सांख्यों की मानी हुई प्रकृति ही केवल अव्यक्त शब्द का अर्थ नहीं है किन्तु इससे परे जो अक्षर पुरुष कहा जाता है वह भी अव्यक्त शब्द का वाच्य है। भगवद्गीता में दोनों ही के लिए अव्यक्त और अक्षरपद आये हैं। भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में अक्षरपद से पहिले सांख्य की कही हुई प्रकृति को ही बतलाया है और आगे जो उससे भी पर अव्यय पुरुष बतलाया है, वह परब्रह्म है, किन्तु यह व्याख्या इसलिए ठीक नहीं उतरती कि वहाँ अक्षर का स्वरूप कूटस्थ कहा गया है और सांख्यों की प्रकृति कूटस्थ नहीं कही जा सकती। सांख्योक्त प्रकृति परिणामी नित्य कही जा सकती है, किन्तु जब उसमें परिणाम मान लिया गया तब कूटस्थ नित्य वह कहाँ रही।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी यद्यपि अव्यय को ही परमागति मानते हैं, किन्तु जीव के प्रयत्न से जो गति प्राप्त होती है, उन सबमें उच्च गति अक्षर पुरुष की प्राप्ति ही है। अक्षर पुरुष को प्राप्त कर लेने पर फिर जीव को किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, अव्यय पुरुष की प्राप्ति उसे स्वतः ही हो जाती है, क्योंकि अक्षर पुरुष और अव्यय पुरुष सदा मिले ही रहते हैं। (२१)

हे पार्थ वह परपुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है, जिसके कि भीतर सब जड़ चेतनात्मक प्रपञ्च समाया हुआ है और जिसने सब प्रपञ्च को फैला रक्खा है।

श्रीशङ्कराचार्य यहाँ परपुरुष का अर्थ “पुरुषात्र परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः” पुरुष से पर और कोई वस्तु नहीं है, वहाँ परत्व की समाप्ति है और वही सबका परम प्राप्य स्थान है इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सबसे परपुरुष करते हैं और

अनन्य भक्ति शब्द का यह अर्थ कहते हैं कि जहाँ आत्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न न रहें, “अहं ब्रह्मास्मि” मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार का ज्ञान हो जाना ही अनन्य भक्ति है। जैसा कि किसी वेदान्ती भाषा कवि ने कहा है —

“मैं हूँ तो हरि हैं नहीं हरि हैं तो मैं नाहें ।

ज्ञान पन्थ अति सांकरो यामे दो न समाहिं ।।”

इस प्रकार अद्वैत की वासना को दृढ़ करना ही अनन्यभक्ति यहाँ कही गई है। भक्तिशब्द का ज्ञान अर्थ प्रसिद्ध है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि भाग और भक्ति दोनों शब्द एक ही भज धातु से बनते हैं और प्रत्यय भी दोनों शब्दों में एक ही अर्थ का है, इसलिए व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार भाग और भक्ति शब्द एकार्थ ही सिद्ध होते हैं। परब्रह्म का भाग अर्थात् अंशरूप ही जीव है, यही अद्वैतवाद है और यही परमज्ञान भी कहा जाता है। अंशरूपता शक्ति की दृष्टि से कही जाती है। परब्रह्म सर्वशक्तिमान है और जीव में आवरण हो जाने के कारण शक्ति अल्प रह जाती है। इसी अभिप्राय से जीव को “ब्रह्मसूत्र” आदि में अंश रूप कहा जाता है। ब्रह्म का अंश होता हुआ भी जीव अपनी अंशरूपता का अनुभव नहीं कर पाता। जब आचार्य द्वारा “तत्त्वमसि” अर्थात् तू ही परब्रह्म है, यह सुनकर ‘अहं ब्रह्मास्मि’ यह ज्ञान प्रकट हो जाता है तभी अनन्य भक्ति समझनी चाहिये। इसी भक्ति से परपुरुष अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति होती है। प्राप्ति भी यहाँ “कण्ठचामीकर” न्याय से ही समझनी चाहिये। जैसे कोई पुरुष नशा आदि में मत्त होकर अपने गले में पड़े हुए सुवर्ण के आभूषण को भूल जाय और कण्ठाभूषण खो गया ऐसा समझकर रोने लगे, तब यदि कोई सावधान पुरुष उसे आकर बतला दे कि भाई खो कहाँ गया, आभूषण तो तुम्हारे गले में ही है। तब उसे बड़ा हर्ष होता है और कहने लगता है कि अहा मेरा आभूषण मिल गया। यही कण्ठचामीकरन्याय कहलाता है। इसी प्रकार जीव ब्रह्मरूप होता हुआ भी अविद्या के नशे में अपनी ब्रह्मरूपता को भूल बैठा है। जब आचार्य के उपदेश से अपना ब्रह्मभाव समझ लेता है, तब मैंने परब्रह्म को प्राप्त कर लिया, ऐसा मानने लगता है।

उत्तरार्द्ध में जो परपुरुष का लक्षण बतलाया है कि जिसके उदर में सब प्रपञ्च समाया हुआ है, उसके अनुसार अद्वैत ज्ञान ही भक्तिशब्द का अर्थ करना यहाँ उचित प्रतीत होता है।

श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य की अवतरणिका में कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष जिसे प्राप्त कर लेता है, वह तो पूर्व की अपेक्षा भी विलक्षण है और आगे परपुरुष का अर्थ भी भगवद्गीता में जो पहिले “मत्तः परतरं नान्यत्” इत्यादि पद्य में कहा गया है वही

है। अर्थात् जिसमें सब जगत् पिरोया हुआ है वह परपुरुष है और पहिले अनन्य चेताः इत्यादि पद्य में बतलाई गई भक्ति ही यहाँ अनन्यभक्तिशब्द से कही गई है। वहाँ इनर्क व्याख्या के अनुसार भगवत् कृपा प्राप्त होना ही पदार्थ है। इसलिए यहाँ भी यही अर्थ है कि मेरी कृपा से मनुष्य मुझे प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी यहाँ परपुरुष का अर्थ पुरुषोत्तम ही करते हैं, जो कि पन्द्रहवें अध्याय में क्षर, अक्षर से पर बतलाया गया है और अनन्य भक्ति शब्द का अर्थ करते हैं कि मुझसे अतिरिक्त और किसी का ज्ञान जिसमें न रहे इस प्रकार की प्रेमरूपा भक्ति। वह केवल भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त हो सकती है यही पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त उन्होंने यहाँ कहा है।

श्रीनीलकण्ठजी यहाँ यह व्याख्या करते हैं कि निर्विशेष सर्वोत्तम परमपुरुष में लीन हो जाना पूर्वपद्य में बतला दिया गया। इस पद्य में जिन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है और अभी अपने से अभिन्न समझ कर परब्रह्म की उपासना कर रहे हैं उन्हीं का वर्णन किया गया है, क्योंकि इस पद्य में परपुरुष को “लभ्य” अर्थात् प्राप्त करने योग्य बतलाया गया है और जो परमज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मरूप ही हो चुका वह तो परब्रह्म से अभिन्न ही हो गया उसे ब्रह्म का “लभ्य” कैसे बतलाया जाय ? इसलिये इस पद्य में अवर कक्षा के अधिकारियों का विवरण है। उत्तरार्द्ध में जो सब भूतों का अपने उदर में रखना और सब भूतों में व्याप्त रहना बतलाया गया है, वह भी माया शबलित ब्रह्म में ही घट सकता है। इससे इस पद्य में उपासकों की अवरकक्षा की गति बतलाई गई है, यही माना उचित होगा। किन्तु प्राप्ति तो पूर्व पद्य में भी बतलाई गई है। “प्राप्य” और “लभ्य” पदों में व्याकरण की दृष्टि से कोई भेद नहीं कहा जा सकता, इससे जैसा कि हम पूर्व में कह आये हैं कि कण्ठचामीकर न्याय से ही प्राप्ति कहना यहाँ उचित है और उत्तरार्द्ध में कहे गये धर्म भी परब्रह्म में वेदान्त के सभी ग्रन्थों में बतलाये जाते हैं। पहिले उत्तम कोटि की गति बताकर आगे उससे अवरकोटि की गति बतलाना गीता की शैली में अन्यत्र नहीं मिलता, इससे यह व्याख्या समुचित नहीं प्रतीत होती।

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्रीकाशीरिभट्ट महोदय अपनी “तत्त्वप्रकाशिका” व्याख्या में कहते हैं कि परपुरुष क्षेत्रज्ञ पुरुष से विलक्षण पुरुष ही यहाँ बतलाया गया है और उसकी प्राप्ति का साधन अन्य देवता ओर अन्य मनोरथों के स्पर्शरहित भक्ति को बतलाया गया। जीवात्मा और परमात्मा में स्वाभाविक भेदाभेद है, यह सिद्धान्त यहाँ स्फुट हुआ।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने अनन्यशब्द का अर्थ अपने को ही ब्रह्म समझना करके

भी भक्तिशब्द से प्रेमरूपा भक्ति ही ली है। किन्तु एकरूपता हो जाने पर प्रेम कहाँ रहा ? प्रेम तो अपने से भिन्न में ही व्यवहार में आता है। इसलिए यह व्याख्या भी विचारणीय है।

श्रीशङ्करानन्दजी ने इस पद्य की विस्तृत और उत्तम व्याख्या की है। वे परपुरुष शब्द का अर्थ सब व्यक्त और अव्यक्त से अस्पृष्ट रहने वाला पुरुष ही करते हैं और अनन्यभक्ति का अर्थ करते हैं कि “अहं” और “इदं” दोनों जिसमें न रहे, ऐसा केवल परब्रह्म को विषय बनाने वाला ज्ञान। इससे योगदर्शन में कही हुई “समाधि” ही सिद्ध होती है। वेदान्तों में इसे ही अद्वैत की परमकाष्ठा, चरमवृत्ति शब्द से कहा गया है। उस वृत्ति से ही वह परमपुरुष प्राप्त होता है। यहाँ भी प्राप्ति कण्ठचामीकर न्याय से ही कही गई यही मानना उपयुक्त होगा। आगे उत्तरार्द्ध का विवरण करते हुए लिखते हैं कि जिसके उदर में सब भूत स्थित हैं, यह कहने से माया रहित शुद्ध ब्रह्म बतलाया गया। जैसे बाहर के पदार्थ किसी दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार माया का रचित सम्पूर्ण प्रपञ्च जिसमें प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट हो रहा है, ऐसी भावना करनी चाहिये। इसका आशय यह होगा कि परब्रह्म से अतिरिक्त वास्तविक सत्ता किसी पदार्थ की नहीं है। सब प्रपञ्च माया का ही रचा हुआ है और वह परब्रह्म में अर्थात् अपने आप में प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट हो रहा है। अब इस प्रकार की भावना जिनकी नहीं बन सकती, उनके लिए इससे सरल उपाय चौथे चरण में बतलाया गया कि वे परब्रह्म को सब प्रपञ्च में व्यापक समझने का अभ्यास करें। इसी अभ्यास से आगे की प्रतिबिम्ब समझने की भावना भी बन जायेगी।

इस प्रकार सब साम्प्रदायिकों की अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुकूल व्याख्या इन दोनों पद्यों की प्राप्त होती है। (२२)





## पन्द्रहवाँ-पुष्प

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।  
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥८॥२३॥  
अग्निज्योतिरहः शुक्लः षणमासा उत्तरायणम् ।  
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥  
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षणमासा दक्षिणायनम् ।  
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥  
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।  
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

पूर्व पद्यों में जिन्हें पूर्ण ब्रह्म ज्ञान हो चुका है उनकी अक्षर या अव्यय पुरुष में प्राप्ति होने का विवरण किया गया। अब ज्ञान के लिए प्रयत्न करते रहे, किन्तु ज्ञान की पूर्णता प्राप्त न कर सके या जो वैदिक कर्मकाण्ड या स्मार्त इष्टाधूर्त (कूप, तड़ाग, धर्मशाला आदि) के निर्माण में ही लगे रहे, उन लोगों की क्या गति होती है उसका भी विवरण प्रसङ्गागत सुनाने के लिये भगवान् अर्जुन को सम्बोधित करते हैं कि हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस काल में मृत्यु होने से योगयुक्त मनुष्यों को फिर नहीं लौटना पड़ता, अथवा (जिस काल में मृत्यु होने से) फिर संसार में आना पड़ता है, उनका भी विवरण मैं तुम्हें बतला देता हूँ। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और जिन छह महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहता है वह उत्तरायण का समय, इन समयों में मृत्यु होने से ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् उनको इस संसार में फिर नहीं आना पड़ता और धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और जिन छह महीनों में सूर्य दक्षिण की ओर रहता है वह दक्षिणायन का काल। इनमें मृत्यु को प्राप्त हुआ योगी चन्द्रमण्डल को प्राप्त कर (वहाँ भोग कर) फिर संसार में लौट आता है। यही शुक्ल और कृष्ण नाम के दो गमन मार्ग सम्पूर्ण जगत् के पुरुषों के सदा से चल रहे हैं। जिनमें कि एक से जाने पर संसार में फिर नहीं आना पड़ता और दूसरे से जाने पर फिर संसार में आवागमन होता रहता है—यह चार पद्यों का अक्षरार्थ बताया गया।

यहाँ पूर्व के योगी शब्द से तृतीय अध्याय में कहे गये ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनों ही समझने चाहिये। पहिले जो ज्ञानयोग में लगे हुये थे किन्तु उसमें पूर्णता प्राप्त न कर सके उनकी गति कही गई है। ब्रह्मवेत्ता पद से भी ऐसे अपरिपक्व ज्ञानी ही

समझने चाहिये, क्योंकि परिपक्व ज्ञानियों के लिये तो श्रुतियों ने स्पष्ट कहा है कि “न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते” अर्थात् उस ब्रह्मवेत्ता पुरुष के प्राण निकल कर कहीं नहीं जाते, यहीं व्यापकरूप हो जाते हैं। आगे केवल कर्मकाण्ड में कामनापूर्वक लगे रहने वालों की गति बतलाई गई है। इन्हीं दोनों मार्गों को छान्दोग्य उपनिषद् में देवयान और पितृयाण शब्दों से कहा गया है। यहाँ भगवान् ने दोनों मार्गों का संक्षेप से संकेत मात्र किया है, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् तथा अन्य उपनिषदों में भी इनका पूरा विवरण प्राप्त होता है। छान्दोग्य आदि उपनिषदों में देवयान मार्ग में उत्तरायण के आगे संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् इनके नाम हैं और आगे कहा गया है कि जो जीव विद्युत् तक पहुँच जाते हैं, उनको एक अमानव पुरुष ब्रह्म में प्राप्त करा देता है, वे फिर इस संसार में नहीं लौटते। ब्रह्मसूत्र के श्री शङ्कराचार्य कृत भाष्य में अन्यान्य श्रुतियों के आधार पर विद्युत् से आगे वरुण, इन्द्र और प्रजापति के नाम और गिनाये हैं। यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् में जो आदित्य के अनन्तर चन्द्रमा कहा गया है वह हमारा परिचित चन्द्रमा नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो आदित्य से बहुत नीचे रह जाता है। आदित्य में पहुँच कर फिर इस चन्द्रमा में यात्रा नहीं बन सकती। इसलिये वहाँ सूर्य से ऊपर वर्तमान परमेष्ठी मण्डल रूप चन्द्रमा समझना चाहिये। सोम प्रधान होने के कारण दोनों ही में चन्द्र शब्द का प्रयोग श्रुतियों में किया जाता है। अन्यान्य पुराणों में वर्णन मिलता है कि इस प्रकार ब्रह्मलोक तक पहुँचे हुए जीव वहीं निवास करते रहते हैं और अन्त में ब्रह्मा जब मुक्त होते हैं, तब वे भी ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं। प्रस्तुत गीता के पद्य में भी उन सबका समावेश समझ लेना चाहिये। इसके आगे के पद्य में जो फिर लौटने वालों का मार्ग बतलाया गया है, जिसे कि पितृयाण मार्ग कहते हैं, उसका क्रम छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार मिलता है कि धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन, (इस मार्ग से जाने वाले जीव संवत्सर में अभिव्याप्त नहीं हो सकते, यहाँ संवत्सर शब्द से सब संवत्सर मण्डल में व्याप्त संवत्सराग्नि ही जाननी चाहिये। कर्म करने वाले उस अग्नि-मण्डल में पूर्ण व्याप्त नहीं होते उसके एक देश में ही रहते हैं।) ये स्थान गीता में भी गिनाये गये हैं। इसके आगे पितृलोक आकाश और चन्द्रमा ये नाम मिलते हैं। चन्द्रमण्डल में रहकर अपने पुण्य कर्मों का फल वहाँ भोग कर फिर वे संसार में लौट आते हैं। यहाँ चन्द्रमण्डल के आसपास के स्थान ही पितृलोक शब्द से कहे गये हैं और पितृलोक तथा चन्द्रमण्डल के मध्य का अवकाश आकाश शब्द से कहा गया है। यह वही चन्द्रमा है जिसे हम लोग चन्द्रमा कहा करते हैं।

श्लोक के आरम्भ में ही “काल” शब्द दिया गया है। इससे सुनने वाले यही समझ सकते हैं कि रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन में मरने वाले पितृलोक में जाकर

फिर लौट आते हैं और दिन, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण में मरने वाले फिर नहीं लौटते, किन्तु वेदान्त सूत्रों तथा उनके भाष्यों में विचार किया गया है कि इस प्रकार तो फिर ब्रह्मविद्या या उसके उपयोगी कार्य करने का कोई भी महत्त्व नहीं रहा ? जिसने जन्म भर तपस्या आदि की और निष्काम भाव से उपासना करता रहा, वह भी दैवात् यदि रात्रि में मर गया तो उसे भी फिर जन्ममरण के चक्कर में यदि पड़ना पड़े और जिसने काम वासना न छोड़ी वह भी दैवात् दिन में मर जाय तो उसे फिर न लौटना पड़े, ऐसी व्यवस्था मान लेने पर विद्या के लिये प्रयत्न करने का कोई महत्त्व ही नहीं रहा? दिन या रात्रि में मरना ही सब कुछ सिद्ध रहा। इन सब बातों पर विचार कर ब्रह्मसूत्र और उसके भाष्य में यही निश्चय किया गया है कि यहाँ श्रुति और स्मृति में कालवाचक शब्द उनके अभिमानी देवताओं के वाचक हैं। आर्य संस्कृति में सब जड़पदार्थों के अधिष्ठाता एक-एक अभिमानी देवता माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि चेतनरूप परब्रह्म जगत् के जड़चेतन सभी पदार्थों में व्यापक है, वही जड़ पदार्थों का अभिमानी कहा जाता है। अथवा उसी के द्वारा नियुक्त सूक्ष्म प्रपञ्च के प्राणी देवता कहे जाते हैं। वे भी जड़ चेतन सभी में व्याप्त रहते हैं। उनको ही अभिमानी देवता समझना चाहिये। वे ही यहाँ कालवाचक शब्दों से कहे गये हैं। इसलिये इस प्रकरण के दिन, रात्रि शुक्ल, कृष्णपक्ष आदि शब्द आतिवाहिक अर्थात् उन मार्गों में जीवों को ले जाने वाले देवताओं के ही वाचक हैं। वे देवता सदा ही उनमें व्याप्त रहते हैं। इसलिये यहां दिन, रात शुक्ल, कृष्ण पक्ष आदि का कोई भेद नहीं समझना चाहिये। अपने-अपने कर्म के अनुसार सबकी गति होती है, चाहे वे किसी काल में भी मरें। यहाँ प्रश्न उठाया गया है कि फिर भीष्म का शरीर त्याग के लिये उत्तरायण की प्रतीक्षा करना महाभारत में क्यों वर्णित है ? वे तो ज्ञानी और तपस्वी थे जब कभी भी शरीर त्याग कर देवयान मार्ग से ही चले जाते, फिर इतने काल तक शर शय्या का कष्ट उनने क्यों भोगा ? इसका वहाँ उत्तर दिया गया है कि केवल आचार परिपालन के लिये ही उनने इतना कष्ट सहा। अर्थात् लोक में जो दक्षिणायन का मरण निन्दित माना गया है, उस रूढ़ि की रक्षा करने के लिये ही वे समय की प्रतीक्षा करते रहे। अथवा मैं स्वच्छन्द मृत्यु हूँ, इस बात को जनता को प्रत्यक्ष दिखाने के लिये ही उनने ऐसा किया। मध्य में युधिष्ठिर को नीति, धर्म और मोक्ष आदि का उपदेश देना था, यह भी समझ लेना चाहिये।

इन पद्यों की व्याख्या में लोकमान्यतिलक ने बहुत कुछ विवेचन किया है, और यह सिद्ध किया है कि पुराने समय में इन शब्दों को कालवाचक ही माना जाता था, आगे चलकर इनमें आतिवाहिक देवता का अर्थ प्रचलित हुआ। यह उनकी पाश्चात्य विद्वानों की विवेचन दृष्टि के संस्कारों से प्राप्त ऐतिहासिक दृष्टि ही कही जा सकती

है। आर्यसंस्कृति में ऐसा कालभेद नहीं माना जा सकता। आर्यसंस्कृति के अनुसार तो केवल इतना कहा जा सकता है कि तपस्या और ज्ञान के लिये यत्न करने वाले आदि की मृत्यु दिन, शुक्ल तथा उत्तरायण आदि में ही होती है, ऐसा ही दैव विधान है और कामना में कर्म करने वालों की मृत्यु रात्रि में होने का दैव विधान है। इस प्रकार भी आरम्भ में जो अग्नि, ज्योति, धूम आदि शब्द आये हैं वे प्रसिद्धि में कालवाचक नहीं हैं। वे शब्द भी इस बात का संकेत करते हैं कि यहाँ भी अभिमानी देवताओं से अभिप्राय है। आगे जो शुक्ल, कृष्ण को गति नाम दिया गया है और इन सबसे भी अग्रिम पद्य में जो “सृति” शब्द दिया गया है, वह भी इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि यहाँ मार्ग में मिलने वाले और क्रम से आगे बढ़ने वाले आतिवाहिक देवता ही कहे गये हैं। आर्यसंस्कृति में मृतपुरुष का शव अग्नि में जलाने की प्राथा अनादि काल से प्रचलित है। इसी के अनुसार देवयान मार्ग में पहले अग्निशब्द दिया गया है। उस शब्द को दूसरे मार्ग में भी लगा लेना चाहिये। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा कि मृतपुरुष के शव को जब अग्नि में जलाया जाता है तो उस जलाने के समय ही उसके सूक्ष्म शरीर की तीन प्रकार की गति हो जाती है। जो शुक्ल मार्ग अर्थात् प्रकाश में जाने का अधिकारी है, उसका सूक्ष्म शरीर अग्नि की ज्वाला में होकर बाहर होता है और आगे भी वह केवल प्रकाश की ओर ही (दिन, शुक्ल पक्ष उत्तरायण आदि क्रम से) चलता रहता है एवं जिनको कृष्ण मार्ग अर्थात् अन्धकार में जाना है उनका सूक्ष्म अन्धकार की ओर रात्रि, कृष्णपक्ष दक्षिणायन आदि क्रम से जाता रहता है। उसका प्रकाश से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता और जिनकी दूसरे लोगों में गति होती ही नहीं, जिनका कि छान्दोग्य उपनिषद् में तीसरी गति के रूप में जाना बतलाया गया है, उनका सूक्ष्म शरीर अग्नि से उत्पन्न होने वाले भस्म के साथ मिलता है और वे इस पृथिवी में कीटपतङ्ग आदि के रूप में बार-बार पैदा होते और मरते रहते हैं। इसको उपनिषद् में बहुत ही बुरी गति बतलाया गया है। इस चक्कर से निकलना ही बड़ा कठिन है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि चन्द्रमण्डल की ओर जाने वालों की भी मध्य से दो प्रकार की गति हो जाती है। अच्छे कर्म करने वाले चन्द्रमण्डल की ओर जाते हैं और बुरे कर्म करने वाले यममार्ग अर्थात् नरक की ओर चले जाते हैं। उनका ही विवरण गरुड़पुराण में वैतरणी नदी तिरने आदि के रूप में किया गया है। इस प्रकार सब मिलाकर जीव की गतियों का वर्णन पूर्व हो चुका है। आर्य संस्कृति में जो श्राद्ध कर्म किया जाता है, उसका प्रधान रूप से पितृयाण मार्ग से ही सम्बन्ध है। श्राद्ध के भोक्ता पितर ही कहे जाते हैं। इस प्रसङ्ग से यहाँ श्राद्ध का विवरण भी कर देना प्राप्त हो गया है। वही अगले पुष्पों में लिखा जाता है। (२३-२६)

## सोलहवाँ-पुष्प

### “श्रद्धा की उपपत्ति पर व्याख्यान”

पहिले श्रद्धा शब्द पर ही विचार करना चाहिये कि श्रद्धा शब्द का मुख्य अर्थ क्या है। कई आधुनिक विद्वान् आर्य समाजी आदि इस शब्द का यह अर्थ करते हैं कि श्रद्धा से जो कर्म किया जाय वही श्रद्धा कहा जाता है। इसका अभिप्राय वे इस प्रकार लगाया करते हैं कि श्रद्धा अर्थात् बड़े आदर से जो अपने पिता माता आदि की सेवा करना या उनको खिलाना, पिलाना ही श्रद्धा है, किन्तु यह अर्थप्रसिद्धि के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि श्रद्धा अर्थात् आदर बुद्धि से तो देवपूजा, कथाश्रवण, दान आदि बहुत कर्म किये जाते हैं। उन सबको “श्रद्धा” शब्द से कोई नहीं कहता। वास्तव में तो श्रद्धा शब्द का जिस श्रद्धा से सम्बन्ध है, वह श्रद्धा उक्त छान्दोग्य उपनिषद् की प्रथम आहुति के रूप में ही बतलाई गई है। वहाँ लिखा है कि परलोक यात्रा के समय जो जीव अर्थात् सूक्ष्म शरीर की प्रथम आहुति होती है, उस प्रथम आहुति में परलोक को ही अग्नि माना जाता है। उसमें सूर्य ही समिधा रूप है, सूर्य की किरणें ही धुआँ रूप में, दिन ही उसकी ज्वाला है आदि। इस अग्नि में देवता लोग श्रद्धा का हवन करते हैं। इसके भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य ने व्याख्या की है कि मरने वाले के प्राण ही देवता हैं, वे जिस श्रद्धा का हवन करते हैं, वह यज्ञ आदि कर्मों में जो जल का व्यवहार होता है, उसका सूक्ष्म अंश ही है। इसका स्पष्ट विवरण इस प्रकार है कि मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर को छोड़ कर जाया करता है, क्योंकि जीव तो व्यापक है। व्यापक वस्तु एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में जा ही नहीं सकती। तब व्यापक जीव शरीर को छोड़ ही कैसे सकता है। इसलिए जैसे उस घट का आकाश भी दूसरी जगह चला जाता है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर से बाहर हो जाने पर उसके घेरे में आया हुआ जीव भी गया मान लिया जाता है। सूक्ष्म शरीर का सांख्यदर्शन में स्वरूप बतलाया गया है कि ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन बुद्धि, इनका ही सम्मिलित नाम सूक्ष्म शरीर है। वेदान्तदर्शन के तृतीय अध्याय के आरम्भ में विचार हुआ है कि ये सब सूक्ष्मशरीर के पदार्थ तो शक्तिविशेष रूप हैं, इनके साथ भूतों का अर्थात् “मैटर” का भी कोई अंश जाता है कि नहीं? वहाँ निर्णय यही किया गया है कि जैसे किसी पात्र में घृत या तैल रक्खा जाय तो उसके निकालने पर उस पात्र के भी सूक्ष्म अवयव उस घृत या तैल के साथ अवश्य ही आते हैं। मिट्टी के पात्रों में यह पात्रों के अंशों का आना स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार जिस सूक्ष्म

शरीर का स्थूलशरीर के साथ इतने वर्षों तक सम्बन्ध रहा, उसके निकलने पर स्थूलशरीर के कुछ अंशों का जाना भी युक्तिसिद्ध है। इन स्थूलशरीर के सूक्ष्म अंशों के अतिरिक्त सूक्ष्मशरीर के साथ और क्या वस्तु जाती है यह भी श्रुति में बतलाया गया है कि -

**“तं विद्या कर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च”**

अर्थात् जो कुछ यहाँ जाना गया है उसके संस्कार और जो कर्म किये हैं उनके संस्कार तथा अनादिकाल से साथ लगी हुई कारण शरीररूप वासना भी साथ ही रहती है। इनमें से कर्मजनित संस्कारों का ही विवरण श्रीशङ्कराचार्य ने किया है कि यज्ञ, दान आदि में जो संकल्प आदि के रूप से जल छोड़ा जाता है उसका ही सूक्ष्मअंश सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बद्ध हो जाता है। जैसे कि जो हम भोजन किया करते हैं उसके तीन भाग होते हैं, स्थूल भाग मलरूप होकर शरीर से निकल जाता है, सूक्ष्मभाग रसरुधिर आदि बनकर शरीर को पुष्ट करता रहता है और अतिसूक्ष्मभाग मन में संलिष्ट होता है। इसी प्रकार पीये हुए जल के भी तीन भाग होते हैं। इन सबका विवरण “अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः” इत्यादि रूप में उपनिषदों में ही प्राप्त होता है। इसी दृष्टान्त से देखना चाहिये कि कर्मों में जिस जल का उपयोग किया जाता है उसके भी सूक्ष्म अंश अतिशयरूप से सूक्ष्मशरीर में संबद्ध रहते हैं। इन्हें ही श्रद्धा शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने बतलाया है। इसकी पुष्टि के लिए कर्म करना श्राद्ध शब्द से कहा जाता है।

पुष्टि का विवरण इस प्रकार है कि कौषीतकि उपनिषद् में स्पष्ट वाक्य है -

**“ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति”** (१।२)

अर्थात् जो प्राणी इस लोक से जाते हैं, मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे चन्द्रलोक में ही जाते हैं, यह सामान्य नियम है। ज्यौतिष के सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ में परम विद्वान् श्रीभास्कराचार्य का कथन है कि “विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति” अर्थात् चन्द्रमण्डल के ऊपर के भाग में जो भाग हमारे लिए अदृश्य रहता है उसमें पितरों का निवास रहता है। इस प्रकार श्रुति और स्मृति दोनों की तो एक वाक्यता हो जाती है, किन्तु आजकल के जो विद्वान् श्रुति और स्मृति पर पूर्ण विश्वास नहीं रखते और युक्ति से ही सब विषयों का पुष्ट करना उचित मानते हैं, उनके लिए युक्ति से भी इसका समर्थन आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु अपने सजातीय घन से आकृष्ट होकर उसकी ओर ही जाती है, इसका विवरण व्याकरण के महाभाष्य<sup>१</sup> और ज्योतिष के सिद्धान्त शिरोमणि<sup>२</sup> आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

१. लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवी मेव गच्छत्यान्तर्यतः । इत्यादि (१ अ०।१ पा१।९ सूत्र)

२. आकृष्टिशक्तिश्चमही तथा यत् खस्थं गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।  
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे। (गोलाध्याये श्लो० ६)

इसी न्याय से यहाँ भी देखना चाहिये कि जो सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर से बाहर निकला है, उनमें सूक्ष्मशरीर की वस्तुओं में मन ही प्रधान है और वह मन चन्द्रमा का अंश वैदिकविज्ञान में माना गया है। इसलिए उस प्रधानमन पर चन्द्रमा का ही आकर्षण रहता है और सजातीयाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार उसे चन्द्रमा की ओर ही जाना चाहिये, यही बात युक्ति से भी सिद्ध होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् में विशेष विवरण करते हुए इस सामान्य नियम के दो अपवाद भी माने गये हैं। एक तो अपवाद यह है कि जिन्होंने चान्द्रायण आदि व्रत, तप, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा अपनी बुद्धि को प्रबल बना लिया और चञ्चल मन को बहुत कुछ दबा दिया, उनके सूक्ष्मशरीर पर मन को गौण हो जाने से चन्द्रमा का आकर्षण नहीं हो सकता, किन्तु बुद्धि के प्रबल होने के कारण सूर्य का ही आकर्षण होता है, क्योंकि बुद्धि सूर्य का अंश है। इसलिये वे चन्द्रलोक में न जाकर सूर्य के आकर्षण से सूर्य की ओर जाते हैं। जिनका कि विवरण “अग्निज्योतिः” इत्यादि पद्य में किया गया है। यह उत्तमगति में ले जाने वाला अपवाद हुआ। दूसरा अपवाद अधमगतिरूप है। जिन्होंने इन्द्रियों के ही सदा वशीभूत रहते हुए इन्द्रियों को ही प्रबल बनाया और मन की शक्ति को इन्द्रियों से दबाया हुआ ही रक्खा, इन्द्रियों के भौतिक होने के कारण उनके सूक्ष्मशरीर में भूतों का ही आकर्षण रहेगा और वे निरन्तर इस भूत ग्राम में ही चक्कर खाते रहेंगे यही छान्दोग्य उपनिषद् में तीसरी अधम गति बतलाई गई है। इन दोनों उत्तम और मध्यम गतियों से भी श्राद्ध का सम्बन्ध स्मृतिकारों ने माना है। यथा—

देवो यदि पिता यातः शुभकर्मानुयोगतः ।

तस्यान्नमृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥

पशुत्वे च तृणं भवेत् ॥

किन्तु इनका विवरण संक्षेप से इन व्याख्यानों के अन्त में लिखा जायेगा। श्राद्ध कर्म का प्रधानरूप से सम्बन्ध पितृलोक से ही है, इसलिए पितृलोक गति का विवरण पहिले लिखा जाता है।

उक्त प्रकार से भूतों का सूक्ष्म अंश और विद्याकर्म आदि के संस्कार लेकर जब यह सूक्ष्मशरीर चन्द्रमा के आकर्षण से चन्द्रमण्डल की ओर चला, तब प्रकृति के नियमानुसार उन भूतांशों में न्यूनता होना आवश्यक होगा। प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक पदार्थ में से कुछ अंश निकल कर दूसरे पदार्थों में प्रविष्ट हुआ करते हैं और दूसरी जगह से कुछ पदार्थ आकर उन वस्तुओं में सम्मिलित भी हुआ करते हैं। जैसा कि हमारे शरीर में ही प्रत्यक्ष है कि हम मध्याह्न में पेट भरकर भोजन कर लेते हैं,

किन्तु सायंकाल होते-होते वह खाए हुए अन्न का अंश इधर-उधर चला जाता है और सायंकाल फिर पेट खाली मालूम होता है। तब फिर उसकी पूर्ति अन्न से करनी पड़ती है। यही क्रम निरन्तर चलता रहता है। हम तो इस क्षति की पूर्ति बार-बार खाकर लिया करते हैं, किन्तु वह मृत पुरुषों के सूक्ष्मशरीर के साथ जो भूतों का सूक्ष्मांश गया है उसकी क्षतिपूर्ति कौन करे और कैसे हो ? यदि क्षतिपूर्ति अच्छे प्रकार से न हुई तो वह भूतों का सूक्ष्मांश क्षीण हो जायेगा और उसके स्थान में वायु का प्रवेश होकर उस सूक्ष्मशरीर को वायवीय स्थूलशरीर मिल जायेगा जिसे शरीर वाले प्रेतपिशाच आदि कहे जाते हैं। इसीलिए लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि जिनका श्राद्धकर्म न हुआ उनके लिए लोग कहा करते हैं कि वह तो वायु में फिरा करता है। बस इसी स्थान पर सनातनधर्म के आचार्य पुत्रों को संबोधित करते हैं कि हे पुत्रों ! जिस समय तुम बिना शरीर के थे तब माता पिताओं ने अपने अंश लगाकर तुम्हारा शरीर बनाया था, अब उसका बदला देने का समय है कि उनका शरीर क्षीण होकर वे अशरीर होते हुए दुर्गति की ओर झुकते हैं, इसलिए तुम्हें उचित है कि तुम उनका शरीर बनाओ। इसी उद्देश्य से पुत्र जो आरम्भ के दस दिनों में पिण्ड दान किया करते हैं, उस पिण्ड को “गात्र पिण्ड” नाम से कहा जाता है। इसका अर्थ है कि शरीर के निर्माण अर्थात् पोषण के लिए यह कर्म किया जाता है। इसमें श्रुति का भी स्पष्ट प्रमाण है कि -

यद्वोऽग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।

तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥

(अथर्व० १८ का० ४ सू० ४ अ०)

हे मृतपुरुषों ! अग्नि ने पितृलोक में पहुँचाते हुए जो तुम्हारा एक अङ्ग त्यक्त किया है, उसका मैं पुनः पोषण करता हूँ। इससे सम्पूर्ण अङ्ग प्राप्त कर पितृलोक में जाकर तुम वहाँ के आनन्द का भोग करो। वेद में अग्नि शब्द बहुधा प्राणशक्ति के लिए ही प्रयोग में आता है। इसलिए प्राणशक्ति के द्वारा जो आवागमन से पूर्वोक्त प्रकार की न्यूनता होती है उसकी पूर्ति इस मन्त्र के द्वारा समझ लेनी चाहिये।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एक ही क्षण में संसार में शतशः सहस्रशः प्राणियों का देहान्त होता है और वे सब उसी एक मार्ग में जाते हैं, तब जिसका पुत्र श्राद्ध करे उसी को उसके दिये पिण्ड आदि का भाग प्राप्त हो, इसका नियमन करने वाला कौन ? हजारों प्राणियों में से किसी एक खास प्राणी को ही वह भाग किस आधार पर मिल सकता है ? तो इसका उत्तर है कि इसका नियमन मनःशक्ति से ही होता है। मन में ऐसी प्रबलशक्ति है कि दूर रहने पर भी और अनेक प्राणियों के मन



का व्यवधान रहने पर भी जिसका सम्बन्ध जिसके साथ है, उसी मन पर उसका प्रभाव पड़ता है जैसे कि किसी का मित्र मुम्बई में रहता हो, उस पर कोई अचानक विपत्ति आवे या उसे किसी कारण से खिन्नता हो तो उसका प्रभाव कलकत्ते में रहने वाले उसके मित्र के मन पर भी अवश्य पड़ जाता है और उसके मन में भी अचानक खेद का उदय हो जाता है। चाहे उस समय वह उसे समझ न सके कि मेरा मन अचानक क्यों खिन्न हो गया, किन्तु समय पर अवश्य विदित हो जाता है कि मित्र पर कोई विपत्ति थी इसीलिए मेरा मन भी खिन्न हुआ था। इसका अनुभव करने वाले इसे ठीक समझ सकते हैं। इसी प्रकार परलोक जाते हुए माता पिता के मन का भी पुत्र के मन के साथ सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध ही पुत्र के दिये हुए अन्न आदि का सूक्ष्म अंश उसके माता पिताओं के मनःप्रधान सूक्ष्मशरीर को ही प्राप्त हो जाता है। इसका दृष्टान्त शास्त्रों में यह लिखा मिलता है कि जैसे सैकड़ों गौओं के झुण्ड में छोड़ा हुआ बछड़ा झटपट अपनी माता को ही पहचान कर उसी के पास चला जाता है इसी प्रकार प्राणियों के या प्राणियों के पुत्रों के दिये हुए अन्न, पान आदि भी जिसे दिये हों, ढूँढ़ लेते हैं। यह स्मरण रहे कि यहाँ दिये स्थूल अन्न या पिण्ड आदि के सूक्ष्मांश ही चन्द्र, सूर्य आदि की किरणों द्वारा आकृष्ट होकर सूक्ष्म शरीरों का ही पोषण कर सकता है। स्थूल अन्न, पान आदि इस प्रकार नहीं जा सकते। इसलिए नास्तिकों का किया हुआ यह कुतर्क व्यर्थ है कि -

मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारकम् ।

प्रस्थितानां हि जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम् ॥

अर्थात् श्राद्ध का अन्न यदि मृतपुरुषों की तृप्ति कर देता है तो विदेश जाने वाले पुरुष अपने साथ खाने पीने का सामान क्यों ढोवें। घर वालों को कह जाया करें कि हमारा श्राद्ध कर देना। उसी से उन्हें वहाँ मिल जायेगा, यह कुतर्क व्यर्थ है, क्योंकि स्थूलशरीर के लिए स्थूल ही अन्न, पान आदि की आवश्यकता होती है। वह स्थूल अन्नपान आदि सूक्ष्म किरणों की सहायता से नहीं पहुँचाया जा सकता। सूक्ष्मशरीर को सूक्ष्मअन्नपान आदि की ही आवश्यकता है। वह सूर्यचन्द्र की सूक्ष्मकिरणों द्वारा जा सकता है।

इस प्रकार दशाह के अभ्यन्तर दिये हुए गात्रपिण्डों से सूक्ष्मशरीर के पोषण का विवरण हुआ। आगे जिन मञ्जिलों पर सूक्ष्मशरीर को कुछ विश्राम लेना पड़ता है उनका वर्णन गरुड़पुराण आदि में प्राप्त होता है, वहाँ भोग के लिए अन्नपान आदि भेजने को मासिक श्राद्ध किये जाते हैं। अन्ततः एक वर्ष पूरा होने पर यह सूक्ष्मशरीर पितृलोक

चन्द्रमण्डल के आस-पास के लोकों में पहुँच जाता है, तब वर्ष के अन्त में सपिण्डीकरण श्राद्ध किया जाता है। उसका तात्पर्य है—पूर्व पितरों के साथ इस नूतन पितर का भी सम्बन्ध जोड़ दिया। सपिण्डीकरण का मुख्य काल वर्ष का अन्त ही शास्त्र में माना गया है। पितरों का दिन एक मास का होता है इसका विचार कर और कलियुगी मनुष्यों की आयु अल्प देखकर या सपिण्डीकरण से पूर्व कई कार्यों में बाधा समझकर बारहवाँ दिन उसका अनुकल्प मान लिया गया है। अब सपिण्डीकरण के अनन्तर श्राद्ध के जो अवसर माने गये हैं, उनमें अमावस्या और मरण की तिथि प्रधान मानी जाती है। अमावस्या पितृलोक का मध्याह्न है, जिसका विवरण हम इसी अध्याय के १७वें श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं। मध्याह्न ही यहाँ के मनुष्यों के लिए क्षुधा का मुख्य समय है। इसी के अनुसार अमावस्या को ही पितृलोकवासियों की क्षुधा का समय समझ कर वह श्राद्ध का प्रधान दिन माना गया है। दूसरा प्रधान समय जो मरण तिथि माना गया, उसका कारण है कि सूर्य चन्द्रमा और पृथिवी के सम्बन्ध की जैसी परिस्थिति मरणतिथि में थी, वही परिस्थिति फिर एक वर्ष के बाद आ जाती है। इसलिए जिन चन्द्रकिरणों की सहायता से वह पितृलोक गया था, वर्ष के बाद उस तिथि में उन चन्द्रकिरणों के साथ ही उसका फिर पृथिवी से सम्बन्ध हो जाता है। स्मरण रहे कि आजकल जो बहुत से मनचले लोग तारीखों के अनुसार श्राद्ध किया करते हैं, वह प्रथा शास्त्रानुमोदित नहीं हो सकती, क्योंकि सूर्य चन्द्रमा आदि का पृथिवी के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए क्षयाह्न श्राद्ध के दिन जो कि गौड़ सम्प्रदाय में एकोद्दिष्ट रूप से किया जाता है, उसमें पितरों के आवाहन की आवश्यकता नहीं समझी गई है, क्योंकि उस दिन पृथिवी के साथ उस पितर का स्वयं ही सम्बन्ध हो जाता है। इसलिए उन किरणों की सहायता से ही पितृलोक में अन्नपान आदि प्रेषित किये जाते हैं। कई लोग प्रश्न करते हैं कि यदि उस पितर का भूमि से सम्बन्ध होता है तो भूमि में आकर कहाँ रहता है ? इसका उत्तर स्मृतिग्रन्थों में इस प्रकार दिया गया है कि —

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ।

वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥

अर्थात् जिन ब्राह्मणों को श्राद्ध के पूर्व दिन निमन्त्रित किया जाता है, उन ब्राह्मणों के शरीर में ही वे पितर लोग आकर निवास कर लेते हैं और वायु के समान उनके साथ विचरते रहते हैं। जहाँ वे बैठे वहीं वे बैठ जाते हैं। इसलिए निमन्त्रण प्राप्त करते ही ब्राह्मणों को विशेष नियम से रहने का विधान शास्त्रों में किया गया है। वे यह समझ कर ही अपने व्यवहार करें कि हममें पितरों का आवेश है।

## सतरहवाँ-पुष्प

### ( २ ) “ श्राद्ध व्याख्यान ”

अब जो लोग हठ करते हैं कि इस प्रकार ब्राह्मणों के शरीर में पितर रहते हैं, इस बात को हम तो तभी माने कि जब हम उनको देख सकें ? इसका उत्तर है कि सनातन वैदिक धर्म तो दिखाने को भी तैयार है, किन्तु देखने के लिये आँख चाहिये। जो कहें कि हमारी आँख तो बहुत अच्छी है हम छोटे से छोटे पदार्थों को भी देख सकते हैं उन्हें समझना चाहिये कि अर्जुन तो कमल के समान चक्षुवाला कहा जाता था, किन्तु जब भगवान् से उसने विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की तो भगवान् ने यही कहा कि -

‘न तु मां शक्यसे द्रष्टुमेनैव स्वचक्षुषा।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

(११।८)

अर्थात् इन आँखों से तो मेरा वह रूप न देख सकोगे। मैं तुम्हें दिव्य नेत्र दे देता हूँ, उनसे मेरा वह ईश्वर रूप देखो। इसका यही तात्पर्य है कि देव पितर आदि सूक्ष्म जगत् के तत्त्व इन चर्म चक्षुओं से नहीं देखे जा सकते। उनके लिए शास्त्रानुकूल विशुद्ध आचरणों से प्राप्त दिव्य नेत्र चाहिये। पितरों के प्रत्यक्ष दर्शन का वर्णन हमें पद्मपुराण में प्राप्त होता है कि श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिए भरत चित्रकूट गये और भगवान् राम ने उनसे पूछा कि तुम भी पिताजी को अकेला छोड़ कर यहाँ कैसे चले आये। तब भरत ने अश्रुभरे नेत्रों से कहा कि जिन पिता जी की याद करते हैं वे अब संसार में नहीं हैं। आपके वियोग में ही उन्होंने अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया। यह सुनकर भगवान् राम ने बहुत विलाप किया। सीता लक्ष्मण को सम्बोधित कर वे कहने लगे कि -

सीते मृतस्ते श्वसुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण, इत्यादि।

भरत को तो समझा बुझाकर और उनके आग्रह से अपनी पादुका देकर लौटा दिया, किन्तु भरत पिताजी की मरणतिथि बतला गये थे, उसका भगवान् राम ने स्मरण रक्खा। जब वह तिथि आई तो श्रीराम ने वन में श्राद्ध का आयोजन किया। वहाँ के वनवासी ऋषि मुनियों को ही निमन्त्रित किया और सीता की वन में जो पदार्थ इङ्गुदी तैल आदि मिल सकते थे उनसे ही वन्य पदार्थों का पाक करने की आज्ञा दी। जब समय पर मुनि लोग भोजनार्थ पधारे, तब उन्हें देखते ही सीता भाग कर किसी वनकुञ्ज

में छिप गई। राम को बड़ा आश्चर्य हुआ कि सीता कहाँ भाग गई। श्राद्ध का समय न निकल जाय, इस विचार से उन्होंने लक्ष्मण की सहायता से ही मुनियों को भोजन व पिण्डदान आदि का सब विधान पूर्ण किया। जब विप्र विसर्जन के अनन्तर मुनि लोग अपने-अपने आश्रमों को चले गये, तब सीता भी वन कुञ्ज से निकल कर आ गई। उस समय सीता और राम का संवाद वहाँ यों लिखा है—भगवान् राम ने पूछा कि —

**किमर्थं सुभ्रु नष्टासि मुनीन् दृष्ट्वा समागतान्।”**

अर्थात् हे सुन्दर भ्रू वाली जानकी ! मुनियों को आते देख कर तुम छिप क्यों गई ? यहाँ वन में से तो मुनियों से परदा करने की आवश्यकता नहीं होती, फिर छिप जाने का क्या कारण था ? इस पर सीता ने उत्तर दिया कि —

**“पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव**

**याहं राज्ञा पुरा दृष्टा सर्वालङ्कारभूषिता।।”**

अर्थात् महाराज ! मैंने देखा कि ब्राह्मणों के शरीर में ही आपके श्रीपिता जी महाराज दशरथ भी हैं। तब मेरे मन में यह हुआ कि जो महाराज मुझे आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से सजी हुई देखा करते थे, उनके सामने इन वन के अभद्र वस्त्र आदि पहने कैसे जाऊँ। मुझे वन्य वस्त्र पहिने हुए वन में आते समय ही महाराज ने देखा था, इसका ही फल यह हुआ कि वे भूमण्डल छोड़कर पितृलोक चले गये। अब यदि फिर इस वेश में देखें तो पितृलोक भी छोड़कर अन्यत्र जाने की उनकी भावना न हो जाय, इसीलिए मैंने उनके सामने जाना उचित न समझा। फिर यह भी तो विचारिये कि क्या भोजन लेकर उनके सामने परोसती। मैंने जो यहाँ पाक बनाया था, वैसा भोजन तो राजाओं के दासों के दास भी कभी नहीं खाते। इस अन्न को महाराज के सामने कैसे परोसती ! इन्हीं सब विचारों से यहाँ न रहना ही मैंने उचित समझा।

इस आख्यान में सीता को ब्राह्मणों के अङ्गों में अपने श्वसुर का दर्शन स्पष्टरूप से कहा गया है। बस पतिव्रता सीता के जैसे दिव्यनेत्र जिसने प्राप्त किये हैं, वह पितरों का स्पष्ट दर्शन भी कर सकता है। यहाँ कई लोग यह शङ्का करते हैं कि सीता को दर्शन हुआ, भगवान् राम को क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर है कि भगवान् राम तो मुनियों में भावना रूप से पिता का दर्शन तो कर ही रहे थे, तभी तो पिता की भावना से श्राद्ध विधि के अनुसार मुनियों को भोजन आदि कराते ही थे। सीता को श्राद्धकाल में ऐसी भावना न थी तब भी उसे दर्शन हुआ, वही पुराण में लिखा गया।

यह छान्दोग्य उपनिषद् की पञ्चाग्नि विद्या में प्रथम आहुति का वर्णन लिखा गया। आगे वहाँ पितृलोक में अपने कर्मानुसार भोग कर फिर पुनर्जन्म प्राप्त करने के लिए संसार में लौटना पड़ता है। उस लौटने का भी वर्णन अग्निरूप में ही किया गया

है। मेघ मण्डल का द्वितीय अग्नि के रूप में वर्णन है। वहाँ विद्युत् ही रश्मि तथा वायु की समिधा है, आदि। उस अग्नि में सोमरूप सूक्ष्मशरीर का मेघ के अधिष्ठाता देवता ही हवन करते हैं। इसका तात्पर्य है कि पितृलोक से सूक्ष्मशरीर जब लौटने लगता है, तब पहिले मेघमण्डल में आता है। आगे भूमि को ही तीसरी अग्नि बतलाया गया है अर्थात् मेघ के जल के वर्षा रूप से वह सूक्ष्मशरीर भूमि पर गिरता है। यहाँ इतने ऊँचाई से गिरने से बहुत बड़ी व्यथा होती होगी, यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मार्ग में वह सूक्ष्म शरीर अचेतन रूप ही रहता है। उसे किसी प्रकार का सुख दुःख का भोग नहीं होता। इस प्रकार वर्षा के जल रूप में भूमि पर आकर जैसा जन्म पूर्व कर्मानुसार इसे प्राप्त करना है, वैसे ही रूप में जाकर यह चौथी अग्नि रूप पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। वर्षा के जल से ही अन्न, फल, घास आदि सब पैदा होते हैं। जिस योनि में इसे जाना है, इसके कर्म पूर्वोक्त बछड़ा गौ के दृष्टान्त के अनुसार उसी रूप में ले जाते हैं। यदि मनुष्य जन्म ही फिर कर्मानुसार पाना है तो अन्न के रूप में उत्पन्न होकर उस मनुष्य के आहार रूप में चला जाता है। यदि पशु बनना है तो घास आदि के रूप में उसी पशु के उदर में जायेगा। यदि पक्षी आदि बनना है तो फल आदि के रूप से उस निर्दिष्ट पक्षी के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। उन पिताओं के शरीर में भी बहुत काल तक घूमता रहता है, जैसा कि आयुर्वेद आदि में वर्णित है कि अन्न से रस बनता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, उससे मेदा, उससे अस्थि, उससे मज्जा, (अस्थि का कठिन भाग) और उससे भी आगे सप्तम धातुरूप शुक्र बनता है। शुक्र रूप में परिणत होकर यह पुरुष के द्वारा पञ्चम अग्नि रूप स्त्री के गर्भाशय में डाला जाता है और फिर वहाँ क्रम से बढ़ता हुआ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के रूप से संसार में प्रकट हो जाता है। यह संसार में फिर लौटने का शास्त्रोक्त विवरण संक्षेप से प्रसङ्गागत कहा गया।

श्राद्ध कर्म का मुख्य सम्बन्ध पितृलोक से ही है। पितृलोक में चन्द्र किरणादि के द्वारा अन्न का सूक्ष्मांश भेजने के लिए जो पिण्डदान आदि किया जाता है, उन सबका भी वैज्ञानिक वर्णन हो सकता है जैसा कि पिण्डरूप में जो अन्न दिया जाता है, वह वीर्य का ही रूप समझ कर दिया जाता है। वीर्य पिण्डरूप में ही होता है। उसके आदि और अन्त में जो “अवनेजन” और “प्रत्यवनेजन” के रूप में जल दान विहित है, वह वीर्यरूप पिण्ड के रूप में रहने वाले अंश के ऊपर नीचे द्रव भाग का ही अनुकल्प है। पिण्ड प्रदान के लिए जो वेदी बनाई जाती है, वह गर्भाशय का अनुकल्प है और उस पर जो रेखा की जाती है वह भी मुख्य गर्भ स्थिति के स्थान का निर्देश है।

इस प्रकार जिस प्रक्रिया से पिता ने पुत्र को उत्पन्न किया था, उसी प्रक्रिया से पुत्र भी पिता के पितृलोक स्थित या मार्ग स्थित शरीर का पोषण करता है—यह श्राद्ध

विधि का विवरण मन्त्र ब्राह्मण आदि वेद में बहुत विस्पष्ट रूप में लिखा गया है जैसा कि मन्त्र भाग में ही देखिये—

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टा पूर्तेन परमे व्योमन् ।

हित्वा यावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥

(ऋग्० ७।६।१५)

इस मन्त्र से मुमुर्षु पिता के प्रति निवेदन है कि अब आप पितरों के साथ सम्मिलित होइये और उन पितरों के राजा यम से भी अपने दान धर्मादि कर्मों के कारण सम्मिलित होइये तथा पापों को दूर हटा कर तब अपना यह शरीर त्याग कीजिए। आगे अच्छी कान्ति वाले दूसरे शरीर को प्राप्त कीजिए। इस मन्त्र में पूर्वोक्त पञ्चाग्नि विद्या का ही संक्षेप में विवरण है, यह पाठकों को विदित हो जायगा। इससे जीवित पितरों की ही पूजा आदि मन्त्र भाग में मानी गई है, यह मत खण्डित हो जाता है। कई विद्वान् इसका आशय बतलाया करते हैं कि जीवित पिता से ही अपने दुष्ट कर्म छोड़कर पूर्व पुरुषों के अनुसार कर्म करने का निर्देश इसमें किया गया है, किन्तु जीवित पिता से “पुनरस्तमेहि” (फिर मरो) यह कहना सर्वथा अनुचित हो जाता है और यम के साथ मिलना जीवित दशा में कैसे सम्भव हो सकता है। चतुर्थ पाद में नये शरीर की प्राप्ति भी इसमें दिखलाई गई है, वह भी जीवित दशा में संभव नहीं हो सकती और दुष्टकर्म छोड़ने आदि का उपदेश भी पुत्र की ओर से पिता को उपयुक्त नहीं होता, इसलिए उन विद्वानों का मन्त्रार्थ उपयुक्त नहीं होता। इसी प्रकार मुमुर्षु पुरुष के सम्बन्ध में ही दूसरे मन्त्र में भी देवताओं से प्रार्थना मिलती है कि —

पूषात्वेतश्चावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।

सत्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥

(ऋग्वेद-७।६।२३)

इस मन्त्र का अर्थ है कि पूषा—इस पृथिवी मण्डल का अभिमानी देवता तुम्हें इस शरीर से अलग करे। वह पूषा देवता सदा ज्ञान रखने वाला है और सब भुवनों का रक्षक है। वही पूषा देवता तुम्हें पितृलोक में पहुँचावे और अग्नि भी तुम्हें विशुद्ध ज्ञान वाले देवताओं को देवे।

यहाँ मरण के अनन्तर पितर और देवताओं को देने की पूषा और अग्नि से स्पष्ट प्रार्थना है। इससे भी जीवित पितरों के श्राद्ध का पक्ष निर्मूल सिद्ध हो जाता है।

उन पितरों को हवि ग्रहण कहने के लिए इस लोक में बुलाने की भी प्रार्थना मन्त्रों में स्पष्ट मिलती है—

उशनतस्त्वा निधीम द्युसन्तः समिधीमहि ।

उशन्नुशत आवह पितृन् हविषे अत्तवे ॥

अग्नि से प्रार्थना है कि हम लोग कामना से आपका स्थापन करते हैं और कामना से ही आपको प्रदीप्त करते हैं। आप इच्छा करते हुए हमारे पितरों को हवि भोजन करने के लिए यहाँ लाइये।

इस मन्त्र में हवि भोजन करने के लिए पितरों का यहाँ आना स्पष्ट निर्दिष्ट है इस प्रकार हवि क्या हो, इसका निर्देश भी घृतकुल्या, मधुकुल्या आदि शब्दों से मन्त्र में स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार ब्राह्मणों में भी पिण्ड पितृयज्ञ आदि के रूप में इस कर्म का विस्तृत विवेचन है। उन सबका प्रसङ्ग यहाँ लाने से बहुत विस्तृत हो जायगा इसलिए उसे छोड़ते हैं।

अब अन्य देवयानमार्ग या जायस्व म्रियस्व नाम के तृतीय अधोगति के स्थान में भी जो श्राद्ध का उपयोग पूर्वोक्त स्मृति वचनों के आधार पर बतलाया गया है उसका भी संक्षिप्त विवरण कर इस व्याख्यान को पूर्ण करते हैं। इस संसार में जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उन सबका उत्पादक वैदिक विज्ञान में सूर्य और चन्द्रमा के माना गया है। इनकी किरणों के तारतम्य से ही पृथिवी में ऋतुओं का परिवर्तन हुआ करता है। वे ऋतु भी “ऋतवः पितरः” इत्यादि श्रुतियों में पितृ शब्द से कही गयी हैं। ऋतुओं के कारण ही सब अन्न, फल, वनस्पति आदि पृथिवी में उत्पन्न होते हैं यह बात प्रसिद्ध है। इन ऋतुरूप पितरों का सबसे शरीरों में स्थित सौम्य प्राणरूप पितरों से सम्बन्ध रहता है। पितरों की मुख्य परिभाषा वेद में यही मानी गई है कि सौम्य प्राणों का नाम ही पितर है। वे ही सबके पालक होते हैं। इसी से पितृशब्द का प्रयोग उनमें यथार्थ घटित हो जाता है। इन सौम्य प्राणों का सभी लोकों के प्राणियों से सम्बन्ध है और ऋतु रूप पितर भी इनके ही साथ सब लोकों में व्यापक हैं। सौम्य प्राण हमारे मन, शरीर आदि में भी व्याप्त हैं। बस अपने मन में जिस अपने पितर आदि के लिए संकल्प कर अन्न, पान आदि दिया जाता है, वह अपने मन में स्थित सौम्य प्राणरूप पितरों की सहायता से जहाँ जिस योनि में हमारे पितृ पितामहादि रहते हों वहीं उन्हें प्राप्त हो जाता है। सौम्य प्राण ऋतुओं में और सब जगत् में भी व्यापक हैं, इसीलिए उनका सम्बन्ध सभी प्राणियों के शरीर से है और ऋतु ही सब वस्तुओं की उत्पादक हैं। इसी सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न योनियों में भी अन्न पान आदि का उन-उन योनियों के भोज्य रूप में पहुँच जाना पूर्वोक्त स्मृतियों में बतलाया गया है।

पितृ विज्ञान वेदों में बड़े विस्तार से लिखा है। उस सबका विवरण यहाँ संक्षेप में भी देना अप्रस्तुत विस्तार हो जायेगा इसलिए इतना ही अति संक्षेप में कह कर इस व्याख्यान को पूर्ण किया जाता है।

## अठारहवाँ-पुष्प

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।  
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥८॥२॥  
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,  
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।  
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा  
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

हे पृथा पुत्र अर्जुन ! इन दोनों मार्गों को जानता हुआ कोई भी योगी मोह को प्राप्त नहीं होता। इसलिए तुम्हें भी सब समयों में योग युक्त रहना चाहिये।

सब वेदों में, सब यज्ञों में, सभी प्रकार की तपस्याओं में और भिन्न-भिन्न प्रकार के दान करने से जो इन कर्मों से उत्पादित पुण्य अर्थात् अतिशय विशेष के द्वारा फल प्राप्त होना शास्त्रों में बतलाया गया है, मेरे कहे हुये इस अष्टम अध्याय के इस रहस्य को जानकर अथवा इन सप्तम और अष्टम, दो अध्यायों में कहे हुए मेरे स्वरूप को समझ कर योगी उन सब फलों का अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् उन फलों को नीचा छोड़कर उनसे भी आगे बढ़ जाता है और परम स्थान अर्थात् सबके आदिभूत कारण रूप परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ भी प्रथम पद्य में पार्थ और अर्जुन दो सम्बोधन पद हैं। उनका आशय यही समझना चाहिये कि जिस प्रकार इस समय तुम पृथा के पुत्र हुए हो, इस प्रकार इन योगों के समझ लेने पर फिर तुम्हें किसी माता के गर्भ से जन्म नहीं लेना पड़ेगा, आगे परब्रह्मरूप मुख्य स्थान को प्राप्त कर लोगे। अथवा यह भी आशय लगाया जा सकता है कि तुम पृथा नाम की मेरी बुआ के पुत्र हो यही समझ कर यह परमरहस्य मैंने तुम्हें बतला दिया है। मनुष्यावतार धारण करने पर संसार के सम्बन्धों का भी पालन करना आवश्यक हो जाता है और श्वेतरूप वाचक अर्जुन पद से अतिस्वच्छ अन्तःकरण होने के कारण इन रहस्यों के जानने व धारण करने की योग्यता भी तुममें है, इसलिए तुम योग युक्त हो सकते हो, यह सूचित किया।

अब यहाँ योगी शब्द का प्रकरण से उपयुक्त अर्थ क्या होना चाहिये, यह विचारणीय है। श्रीशङ्कराचार्य ने प्रथम पद्य में “योगी” शब्द का समाहितचित्त अर्थात्



चित्त को एकाग्र रखनेवाला यह अर्थ किया है। अन्य प्राचीन व्याख्याकार भी प्रायः उनका ही अनुकरण करते हैं और दूसरे पद्य में जो योगी को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त करना बतलाया गया है, वहाँ वे योगी पद से ज्ञानयोगी ही लेते हैं।

लोमान्यतिलक का तो एक प्रकार का ऐसा आग्रह है कि भगवद्गीता में सब जगह “योगी” शब्द का अर्थ कर्मयोगी किया जाय, किन्तु इन पद्यों में कर्मयोगी अर्थ उपयुक्त नहीं जान पड़ता। पूर्व पद्य में इन मार्गों को जाननेवाला योगी मोह में नहीं पड़ता इस कथन में एकाग्रचित्त से जो दोनों मार्गों की गति और उन गतियों के कारणों को समझ लेता है, वही मोह में नहीं पड़ता, यही उपयुक्त अर्थ प्रतीत होता है और अर्जुन को भी यही उपदेश है कि एकाग्रचित्त से इन दोनों मार्गों का मनन करो और देवयान मार्ग से जाने का प्रयत्न करो, अर्थात् उस मार्ग में जाने के लिए योग, तप आदि का यथाशक्ति सम्पादन करते रहो और दूसरे पद्य में तो “इदं विदित्वा” यहाँ स्पष्ट ही विद् धातु का प्रयोग है, इससे ज्ञानयोग ही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

उत्तर पद्य में “सर्वमिदं” का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने यह किया है कि अष्टम अध्याय के आरम्भ में जो अर्जुन के सात प्रश्न थे और जिनका उत्तर इस अध्याय में भगवान् ने दिया है, उसी के जानने की यह फलस्तुति है। इन उत्तरों में ब्रह्म का ज्ञान अन्तर्गत हो जाता है और उपसंहार में भी अव्यक्त पद का अर्थ अक्षर ब्रह्म ही बतलाया गया है। इससे ब्रह्म के ज्ञान से अन्य सब काम्य कर्मों के फलों की अपेक्षा ऊँचा नित्य फल प्राप्त करना सिद्ध ही है। इसलिए इस फलस्तुति को केवल प्रशंसारूप ही नहीं मानना चाहिये।

श्रीरामानुजाचार्य ने “सर्वमिदम्” पदों से सप्तम और अष्टम इन दोनों अध्यायों में कहे गये अर्थों का संग्रह माना है, क्योंकि भगवान् ने अपना स्वरूप निर्देश दोनों ही अध्यायों में किया है। इसका भी यही तात्पर्य हुआ कि दोनों अध्यायों में वर्णित मेरे स्वरूप को समझकर सबसे उच्च स्थान ब्रह्म पद प्राप्त हो जाता है।

आरम्भ के प्रकरणों में व्याख्याकारों के मतों का संक्षेप से निरूपण करते हुए हम दिखा चुके हैं कि श्रीविद्यावाचस्पतिजी इन सप्तम और अष्टम अध्यायों को “सिद्धविद्या” नाम से पृथक् ही प्रकरण मानते हैं।

“यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः”

इस सप्तम अध्याय के पद्य में ज्ञान के लिए प्रायत्न करने वालों को ही सिद्ध पद से कहा गया है। इसीलिए ज्ञान के इस निरूपण को उन्होंने “सिद्धविद्या” ही नाम दिया। यहाँ पूर्व के आचार्यों ने भी प्रकरण के अन्तिम इस पद्य को इस प्रकरण की

फलस्तुति रूप मानकर उसी पक्ष का अर्थात् इन दो अध्यायों के भिन्न प्रकरण होने का ही संकेत मान लिया। इसके आगे चार अध्यायों में ही भक्ति मार्ग का विस्तृत निरूपण है। इन दो अध्यायों में पहिले ब्रह्मज्ञान का ही निर्देश किया है, यही सिद्ध हुआ। यद्यपि अन्य विद्याओं की अपेक्षा यह “सिद्धविद्या” भगवद्गीता में संक्षेप से कही गई है। इससे श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने यह अभिप्राय निकाला है कि यह विद्या भगवान् कृष्ण को प्रिय नहीं है, किन्तु यहाँ जो इससे परब्रह्म की प्राप्ति बतलाई उससे तो इस विद्या की भगवत् प्रियता ही सिद्ध होती है। इसका मनन पाठक विद्वान् कर लें। (२७, २८)

आठवाँ अध्याय समाप्त।



नवमोऽध्यायः

उन्नीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवनानुवाच।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।  
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥  
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।  
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥  
अश्रद्धानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।  
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥  
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।  
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥  
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।  
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

इसके बाद भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन ! तुम दोषदर्शी नहीं हो इसलिए अब मैं तुम्हें अत्यन्त गुप्त उपदेश सुनाता हूँ। अब जो मैं आगे कहूँगा उसमें ज्ञान और विज्ञान दोनों अंश होंगे और इसके जान लेने से अशुभ अर्थात् पापलिप्त संसार से तुम मुक्त हो जाओगे।

यह विद्या जो अब मैं कहूँगा वह सब विद्याओं की राजा है और सब गुप्त बातों की भी यह राजा है तथा जितने पवित्र पदार्थ हैं उन सबमें यह उत्तम है और यह विषय केवल सुन लेने का ही नहीं है अपितु जिस प्रकार सुख आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इसी प्रकार यह विषय प्रत्यक्ष से भी जाना जा सकता है। इससे यह न समझ लेना कि कोई लौकिक विषय होगा, ऐसा नहीं है अपितु यह विषय धर्म से युक्त है अर्थात् परलोक में भी परमसिद्धि देने वाला है। इतना होने पर भी इसका अनुष्ठान सुख पूर्वक किया जा सकता है और यज्ञ आदि की तरह इसका फल भी नष्ट होने वाला नहीं है, अपितु अविनाशी फल को यह देता है, अथवा स्वयं भी अविनाशी है।

हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! जो धर्म मैं आगे कहने वाला हूँ, इसमें जो

श्रद्धा नहीं रखते अर्थात् दोष निकालने की चेष्टा करते हैं, वे मुझको प्राप्त न कर जन्म मरण के चक्ररूप संसार में विचरते रहते हैं।

पूर्व अध्याय के अन्त में हमने पुनः स्मरण कराया है कि प्राचीन व्याख्याकार भगवद्गीता में छह-छह अध्यायों के तीन विभाग मानते हैं किन्तु श्रीविद्यावाचस्पतिजी मध्य खण्ड में दो विभाग करते हैं। सप्तम, अष्टम अध्याय का “सिद्धि विद्या” नाम का एक भाग है और नवम आदि चार अध्यायों का “राजविद्या” या “ऐश्वर्ययोग” नाम का दूसरा विभाग है। यह श्रीविद्यावाचस्पतिजी का मत, इस अध्याय के आरम्भ की इस स्तुति से स्पष्ट हो जाता है कि यह भक्ति का प्रकरण पूर्व के प्रकरण से विलक्षण है और यहाँ “तु” शब्द से भी यही सूचित किया गया। यहाँ इस “राजविद्या” के जितने विशेषण दिये गये हैं, वे सब भक्ति मार्ग पर ही सुसंगठित होते हैं, क्योंकि भक्तिमार्ग में जो आनन्द प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष है, उसी आनन्द की प्राप्ति के लिए इस मार्ग में बहुधा लोग प्रवृत्त भी होते हैं और कर्म या ज्ञान मार्ग की अपेक्षा इसका अनुष्ठान भी सुखपूर्वक हो सकता है। यद्यपि ज्ञानमार्ग को प्रधान मानने वाले इन विशेषणों से ज्ञान मार्ग की ही स्तुति बतलाते हैं कि परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है इसलिए वह भी प्रत्यक्षावगम हुआ और कर्म सम्पादन के लिये जो बहुत सी सामग्री का संगठन करना पड़ता है वह भी ज्ञानमार्ग में नहीं होता, इससे अनुष्ठान में भी इसे सुकर बतलाया, किन्तु अनुभव से यह स्तुति भक्तिमार्ग पर ही विशेष रूप से सुसंगत होती है। राजविद्या का यह भी अर्थ कई व्याख्याकारों ने किया है कि यह विद्या राजाओं में ही विशेष रूप से प्रचलित थी, जैसा कि चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में कह आये हैं। प्राचीन काल में इतिहासों से ऐसा ही प्रायः सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों में ज्ञानमार्ग का अधिक प्रसार था और भक्तिमार्ग क्षत्रियों में ही अधिक रूप से चलता था। वास्तव में बात यह है कि भगवद्गीता में भगवान् को ज्ञानमार्ग के साथ निष्काम कर्म करने की भी प्रधानरूप से शिक्षा देना है, क्योंकि अर्जुन को कर्ममार्ग में प्रवृत्त करने के लिए ही गीता का उपदेश दिया गया है और ज्ञान और कर्म को मिला देना ही भक्तिमार्ग या भागवत धर्म नाम से कहा जाता है। व्याकरण की प्रक्रिया से भाग और भक्ति शब्द एकार्थक ही सिद्ध होते हैं यह पहिले कह चुके हैं इससे भी ज्ञान और कर्म दोनों को मिला देना ही भक्ति शब्द का अर्थ ही सिद्ध होता है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए यह भक्ति मार्ग की विशेष रूप से स्तुति की गई है। इस विचार से भी यहाँ के विशेषणों को भक्तिमार्ग की स्तुति रूप कहना ही सुसंगत होता है। यद्यपि श्रीशङ्कराचार्य ने और उनके मतानुयायी “स्वराज्य सिद्धि” आदि ग्रन्थों में ज्ञान और कर्म के अधिकारियों की अत्यन्त विलक्षणता बतलाकर दोनों का संयोग अत्यन्त असम्भव है, यही सिद्ध किया है। तथापि यह कहा

जा सकता है कि कामना से जो कर्म किये जाँय, उनका ज्ञान से मिलाना अवश्य ही असंभव है, किन्तु निष्काम कर्म तो श्रीशङ्कराचार्य के मतानुसार भी ज्ञान के साधक हैं, इसलिए उनका ज्ञान से विरोध नहीं कहा जा सकता। लोकमान्यतिलक ने ज्ञानयोग और कर्मयोग नाम की दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र मानी हैं, और उनके मतानुसार कर्मयोग ही भागवतधर्म या भक्तिमार्ग कहा जाता है। किन्तु श्रीशङ्कराचार्य कर्मयोग को यद्यपि स्वतन्त्र रूप से मुक्ति का साधन नहीं मानते, तथापि कर्मयोग से ज्ञानयोग प्राप्त हो जाता है और वह ज्ञानयोग मुक्ति का साधक है यह उन्होंने भी गीता के भाष्य में स्थान-स्थान पर कहा है। जिसका कि विवरण इस व्याख्या में भी हम कई स्थानों पर कर चुके हैं।

इस प्रकार जब कर्मयोग को ज्ञानयोग का साधक मान लिया गया तब कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्मों का अनुष्ठान ज्ञानयोग का विरोधी तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परस्पर विरोधियों में तो साध्य साधनभाव भी नहीं बन सकता। इस विचार से यही सिद्ध होगा कि निष्काम कर्मानुष्ठान और ईश्वर भक्ति दोनों साथ चल सकते हैं और इन दोनों का मेल ही भगवद्गीता में स्थान-स्थान पर कहा गया है। यही मार्ग भागवतधर्म या भक्तिनिष्ठा शब्द से भी कहा जाता है। भक्तिनिष्ठा को कई जगह स्वतन्त्रनिष्ठा भी माना गया है और कई जगह ज्ञाननिष्ठा के ही अन्तर्गत मान लिया गया, क्योंकि परमज्ञान और पराभक्ति का स्वरूप एक ही होता है, जिसका कि निरूपण हम पूर्व ही कर चुके हैं और आगे भी “भक्त्या मामभिजानाति” इस पद्य की व्याख्या में विशेष रूप से करेंगे।

इन पद्यों के ज्ञान विज्ञान शब्दों का विस्तार से विवेचन सप्तमाध्याय के आरम्भ में किया जा चुका है। उसकी पुनरुक्ति यहाँ करना अनुचित होगा। इस मार्ग में श्रद्धा न रखने वालों को संसार में भटकना पड़ता है, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते, इस कथन से भगवान् ने यही सिद्ध किया कि बिना भक्ति के ज्ञानयोग का सिद्ध हो जाना भी प्रायः असंभव ही है। इससे भक्तिमार्ग की विशेष रूप से आवश्यकता बतलाई गई है। (१-३)

अब आगे अपना स्वरूप निर्देश स्पष्टरूप से भगवान् करते हैं। सप्तमाध्याय के आरम्भ में भी स्वरूप कथन किया गया है और यहाँ भी स्वरूप कथन होगा। इसका कारण यही है कि ज्ञान भी ज्ञेय के बिना नहीं बन सकता और भक्ति या उपासना भी उपास्य के ज्ञान के बिना नहीं बन सकती। इसलिए दोनों ही जगह भगवान् का स्वरूप निर्देश आवश्यक है। सप्तम अध्याय की अपेक्षा यहाँ इतनी ही विलक्षणता है कि वहाँ ज्ञेयरूप से अर्थात् ज्ञान के विषय रूप से भगवान् का स्वरूप कथन है और

यहाँ उपासना के विषयरूप से स्वरूप कथन है। इन दोनों में कुछ विलक्षणता भी है जो कि पद्यों की व्याख्या के अनन्तर स्पष्ट की जायेगी। भगवान् का स्वरूप निर्देश होने के कारण चतुर्थ और पञ्चम पद्यों की व्याख्या भी सभी सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने माने हुए सिद्धान्तों के अनुकूल की है। उन सबको ही संक्षेप से दिखाना यहाँ आवश्यक है। पहिले हम श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार दोनों पद्यों के अर्थ निर्देश करते हैं। आगे जिस जिस व्याख्या में जो विशेषता मिलती है उसका विवरण कर सबके अन्त में कुछ अपना विचार भी प्रकट किया जायेगा।

श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार इन दोनों पद्यों का अर्थ है कि मुझसे अर्थात् मेरे परभाव से सम्पूर्ण ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त प्राणी व्याप्त हैं, अर्थात् सब प्राणियों में आत्मारूप से मैं ही विराजमान हूँ, किन्तु वह व्यापक मेरा रूप किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया जा सकता। सब चराचर प्राणी मुझमें ही स्थित हैं। जैसे कि सब शरीर इन्द्रिय आदि का आधार आत्मा ही होता है, इसी प्रकार सब चराचर प्राणियों का आधार मैं ही हूँ। इससे यह न समझ लेना कि आत्मा जिस प्रकार शरीर में रहता है—ऐसा लोग समझते हैं, वैसे मैं भी सब प्राणियों में रहता हूँ; क्योंकि मैं असङ्ग हूँ। मेरा आधाराधेय भाव आदि सम्बन्ध किसी से नहीं बनता। इससे मैं प्राणियों में नहीं हूँ—यही परमार्थ रूप समझना होगा और परमार्थरूप से देखने पर तो सब प्राणी भी मुझमें नहीं हैं, क्योंकि यदि मैं उनका आधार बनता तो भी मेरा उनसे सङ्ग हो ही जाता। किन्तु मैं सर्वथा असङ्ग हूँ अर्थात् किसी के साथ मेरा कुछ भी मेल नहीं। इस विचार से यही कहना होगा कि सब भूत मुझमें नहीं है। हैं भी और नहीं भी हैं—ये दोनों बातें कैसे बन सकती है, इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि यह मेरी ईश्वर भाव की योग अर्थात् घटना है। इसे तुम भली भाँति विचारो। उसी ईश्वर भाव की घटना को आगे भी स्पष्ट किया गया है असङ्ग रहता हुआ भी मैं सब भूतों का धारण करता हूँ और पूर्वोक्त प्रकार से भूतों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता, सब भूतों का उत्पादन या वर्धन करने वाला भी मैं ही हूँ। यहाँ “मम आत्मा” कहने से यह न समझना चाहिए कि परम पुरुष भगवान् का भी कोई शरीर है और उसमें वे आत्मा रूप से विराजमान रहते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है; किन्तु लोकों में जैसे शरीर और आत्मा को पृथक् मानकर मेरा आत्मा यह व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार का व्यवहार अर्जुन को समझाने के लिए भगवान् ने भी कर दिया। इसका आशय ऐसा भी लगाया जा सकता है कि नवग्रहों में राहु नाम का ग्रह केवल शिर मात्र ही है; इससे राहु और शिर एक ही हैं, किन्तु आरोप से दोनों को पृथक् पृथक् “राहोः शिरः” यह षष्ठी विभक्ति का भी व्यवहार वहाँ कर दिया जाता है। इसी प्रकार भगवान् और आत्मा के एक होने पर भी “मम

आत्मा" ऐसा षष्ठी विभक्ति का व्यवहार लोकदृष्टि से कर दिया गया। इसी विषय को आरम्भ में ही स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने "मेरे परभाव से मैं व्याप्त हूँ" ऐसी व्याख्या की है। अर्जुन को यह समझाया कि जिस रूप से मैं तुम्हारे रथ पर बैठा हूँ, इसी रूप से सब जगह व्याप्त हूँ—ऐसा न समझना, किन्तु अपने अव्यय रूप से मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य ने "मया ततं" की व्याख्या की है कि अन्तर्यामी रूप से मैं जड़ चेतनात्मक सब भूतों में व्याप्त हूँ। जैसा कि श्रुति में कहा गया है कि जो परब्रह्म पृथिवी में रहता है, पृथिवी को अपनी मर्यादा में रखता है पृथिवी जिसका शरीर है, किन्तु पृथिवी जिसे नहीं जानती। इसी प्रकार जल आदि जड़ पदार्थों में भी अन्तर्यामी रूप से भगवान् की स्थिति बतलाकर आगे श्रुति में यह भी कहा है कि जो आत्मा में रहता है, आत्मा का नियमन करता है और आत्मा जिसका शरीर है, किन्तु आत्मा जिसे नहीं जानता। यहाँ आत्मा पद से जीवात्मा ही लिया जाता है। यही श्रुति श्रीरामानुजसम्प्रदाय की परम मूल है और इसी के अनुसार उन्होंने इन पद्यों की भी व्याख्या की है। मुझमें सब भूत स्थित हैं, और मैं उनमें नहीं हूँ—इसका आशय वे यह बतलाते हैं कि सब भूतों की स्थिति मेरे अधीन है, किन्तु मैं उनके अधीन नहीं हूँ। अथवा उन भूतों के द्वारा मेरा कोई उपकार नहीं, किन्तु उनकी तो सत्ता ही मेरे बिना नहीं रह सकती। इसलिए मेरा तो उन पर उपकार है ही। दूसरे पद्य में जो कहा जाता है कि भूत भी मुझमें नहीं है, उसका आशय है कि जैसे घड़े में जल भरने पर उस जल की आर्द्रता या घृत भरने पर उसकी चिक्कणता जैसे घट में आ जाती है वैसे भूतों का कोई धर्म मुझमें नहीं आता। इससे कहा जा सकता है कि भूत भी मुझमें नहीं हैं। ऐसा दृष्टान्त लोक में प्रायः नहीं देखा जाता, इसलिए इसे भगवान् ने इसे अपनी आश्चर्यजनक घटना कहा। इसका आशय यही है कि मेरे संकल्पमात्र से ही भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि हुआ करती है। मेरा उनसे कोई सङ्ग नहीं है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है उसमें कहा गया है कि मैं अक्षर रूप से सब जगत् में व्याप्त हूँ। अक्षर ही इस सम्प्रदाय में पुरुषोत्तम का चरण स्थानीय माना जाता है। उसी रूप से व्याप्ति यहाँ बतलाई गई है और उसे ही अव्यक्त कहा गया है। सब भूत मुझमें हैं इसका आशय यहाँ यह लगाया जाता है कि नाम रूप कर्मात्मक सब भूत, सच्चिदानन्द रूप अस्ति भाति प्रिय रूप, मेरे आधार पर स्थित रहते हैं। इससे उनकी स्थिति मेरे अधीन है। मैं सच्चिदानन्द रूप उनके अधीन नहीं हूँ। आगे भूत भी मुझमें नहीं है—इस कथन से भगवान् अपने को विरुद्ध धर्मों का आश्रय बताते हैं। लोक में परस्पर विरुद्ध समझे जाने वाले भी धर्म भगवान् में पाये

जाते हैं—यह भगवान् का विरुद्ध धर्मों का आश्रय होना ही इस सम्प्रदाय में माना जाता है। मेरा संकल्प ही जिसे कि अन्य सम्प्रदाय वाले माया कहते हैं, वही सब भूतों का उत्पादक है आदि।

इसी सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थकर्ता श्रीपुरुषोत्तमजीगोस्वामी अपनी व्याख्या में “अव्यक्तमूर्तिना” पद का अर्थ करते हैं कि सब पुरुष मेरे व्यापक रूप का दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु जिस पर कृपा कर मैं दर्शन दे देता हूँ वही मेरा व्यापक रूप देख सकता है जैसा कि यहीं आगे अर्जुन को दिव्यचक्षु देकर भगवान् अपना रूप दिखलावेंगे। आगे कहा गया है कि जड़ चेतनरूप सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही स्थित रहता है। मैं ही उसे कभी अपनी क्रीडा के लिए प्रकट कर देता हूँ और कभी समेट लेता हूँ। मैं उनमें नहीं रहता—अर्थात् जैसे मृत्तिका के ढेर में से कुछ मृत्तिका लेकर उससे घट बना लिया जाता है तो वह मृत्तिका भी घटरूप में परिच्छिन्न होकर दीखने लगती हैं, इस प्रकार मैं भूतों से परिच्छिन्न नहीं होता, सदा व्यापक रूप से हूँ। आगे कहा गया कि मुझमें भूत नहीं है, उसका आशय है कि कोई भी भूत मुझसे भिन्न नहीं है। तब आधाराधेय-भाव भी वास्तविक रूप में नहीं बन सकता। यह मेरा ईश्वर भाव ही है कि जिससे मैं भूतों को अपने से पृथक् दिखा देता हूँ।

निम्बार्कसम्प्रदाय की अनुयायिनी तत्त्वदीपिका व्याख्या में इसका आशय इस प्रकार बतलाया गया है कि सब भूत मेरे आधार पर स्थित हैं, किन्तु मैं उनके आधार पर नहीं हूँ, अर्थात् मैं निराधार ही अपनी महिमा से प्रतिष्ठित हूँ। यही बात श्रुति में कही गई है कि “स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि” (छान्दोग्य ७।२४) “मम आत्मा” इन पदों में आत्मा शब्द का अर्थ ये मन करते हैं, अर्थात् मेरा संकल्प ही सबका उत्पादक है और सब पदों की व्याख्या प्रायः श्रीरामानुजभाष्य के अनुसार ही है।

श्रीशङ्करानन्दस्वामी अपनी व्याख्या में “मत्स्थानि सर्वभूतानि” इन पदों का अर्थ करते हुए कहते हैं कि जैसा जल में बुद् बुद् आदि रहा करते हैं या जैसे ग्राम नगर आदि जल या दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, इसी प्रकार सब भूत मेरे भीतर रहते हैं और मैं उनमें नहीं हूँ। इसका आशय बतलाते हैं कि जैसे घर में वायु रहती है या बिलों में सर्प रहता है, इस प्रकार मैं भूतों में नहीं रहता, क्योंकि निरवयव पदार्थ कहीं प्रविष्ट होकर नहीं रह सकता। आगे जो अपने में भी भूतों की स्थिति का निषेध किया है, उसका आशय यह बतलाते हैं कि वस्तुतः भूत मुझसे भिन्न नहीं हैं, इसलिए आधाराधेय भाव भी वास्तविक नहीं। “मम आत्मा” का तात्पर्य यही बतलाते हैं कि शरीरधारी स्वरूप से मैं “भूतभृत्, भूतभावन आदि नहीं हूँ, किन्तु व्यापक आत्मा रूप से सब भूतों का उत्पादन और वर्धन करता हूँ।



श्रीनीलकण्ठजी इन ने पद्यों पर विशेष व्याख्या में “तत्त्वमसि” इस वाक्य का विवरण गीता के तीनों षट्कों में माना है, उनके मतानुसार मध्य के षट्क में “तत्” पदार्थ का निरूपण है—ऐसा मानने वालों के मत में वह व्याख्या उपयुक्त हो सकती है; किन्तु जो व्याख्याकार कर्म, उपासना और ज्ञान का गीता के तीनों षट्कों में क्रम से विवरण मानते हैं, उनके मतानुसार यह श्रीनीलकण्ठजी की व्याख्या नहीं जमती, क्योंकि उपास्य रूप तो प्रकृति या मायासहित ही होता है। मन वाणी से परे शुद्ध ब्रह्म उपास्य नहीं हो सकता। इसीलिए केनोपनिषद् में बार बार कहा गया है कि —

“तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते”

इसका आशय है कि ब्रह्म मन वाणी से परे ही है। जिसकी लोग उपासना करते हैं वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है। इसलिए उपास्य रूप में तो शक्ति का सम्बन्ध रहना ही चाहिये। उपास्य रूप भगवान् ही होता है और भगवान् शब्द के अर्थ में गुण ऐश्वर्य आदि सम्मिलित हैं। विशेषकर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने जो यह माना है कि इसी अध्याय से “भक्तियोग” कहा जाता है उनके मत से तो यह श्रीनीलकण्ठजी की व्याख्या सर्वथा विरुद्ध ही रहती है। इसलिए हमारे विचार से श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार यह व्याख्या इन पद्यों की होनी चाहिये कि अव्यक्त अर्थात् सांख्य निरूपित प्रकृति ही जिसकी मूर्ति है—ऐसे मैंने सम्पूर्ण जगत् का विस्तार अर्थात् निर्माण किया है। सप्तम अध्याय में परा और अपरा दोनों प्रकृतियों को अपने से भिन्न बतलाया था, इसलिए वहाँ “मम” पद दिया गया था, किन्तु यहाँ प्रकृति को अपनी मूर्ति अर्थात् अपने स्वरूपान्तर्गत उपासना के लिए बतलाते हैं। यही पूर्व की अपेक्षा विलक्षणता सिद्ध हुई। ज्ञान के समय शक्ति या प्रकृति को पृथक् ही समझा जाता है, किन्तु उपासना के समय प्रकृति को उपास्य रूप के अन्तर्गत रखना ही उचित होता है। यद्यपि “पञ्चदशी” में शुद्ध ब्रह्म की भी उपासना हो सकती है—ऐसा कहा है और भगवद्गीता में भी बारहवें अध्याय में अक्षर की उपासना कही जायेगी, किन्तु वहीं यह भी कहा जायेगा कि अक्षर की उपासना में उपासकों को क्लेश बहुत होता है, इससे उपासना में शक्ति या प्रकृति को साथ रखना ही भगवान् ने आवश्यक बतलाया। पाठक देखेंगे कि आगे के पद्यों में भी प्रकृति का ही वर्णन विशेष रूप से प्राप्त होता है और उसी के द्वारा जगत् का निर्माण माना है। भगवान् के स्वरूप में भूतवर्ग भी अन्तर्गत रहते हैं। भूतों को ही आधार बनाकर उनमें ही भगवान् की उपासना की जाती है। इसीलिए यहाँ भूतों को भी अपने स्वरूप के अन्तर्गत बतलाया, किन्तु उपासना के समय भी उपासक को यह न भूलना चाहिये कि भगवान् भूतों के अधीन नहीं, वे स्वतन्त्र ही हैं। उपासना भी तीनों रूपों से होती है। भगवान् को विश्वरूप मानकर, विश्वचर मानकर व विश्वातीत अर्थात्

विश्व से सर्वथा पृथक् मानकर। इस आशय को उपासक भी कभी न भूलें—इसी अभिप्राय से आगे के दो विशेषणों से भूत सम्बन्ध का निषेध किया गया और ऐश्वरयोग शब्द से यह भी ध्यान दिलाया गया कि उपासना ईश्वर की होती है। ईश्वर जगत् की रचना करता है और जगत् की वृद्धि भी करता है, किन्तु फिर भी वह जगत् से स्वतन्त्र ही रहता है। यह सब निर्देश इन पद्यों में किया गया।

सप्तम अध्याय के १२वें श्लोक में हम श्रीविद्यावाचस्पतिजी के अनुसार व्याख्या लिख आये हैं कि अव्यय पुरुष सबका आधार है उससे बाहर विश्व का कोई पदार्थ नहीं रह सकता। किन्तु अव्यय पुरुष आधार ही रहता है और उसका जगत् के साथ विभूति सम्बन्ध ही रहता है योग या बन्ध नहीं होता। यही यहाँ भी समझ लेना चाहिये कि अपने में भगवान् ने जो स्थिति बतलाई वह विभूति सम्बन्ध रूप है और आगे दो विशेषणों से जो निषेध किया वह योग सम्बन्ध या बन्ध का निषेध है। यही आशय उन्होंने यहाँ भी इन पद्यों के शीर्षक से व्यक्त किया है। (४-५)



## बीसवाँ-पुष्प

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।  
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥  
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।  
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥  
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।  
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥  
न च मां तानि कर्माणि निबन्धन्ति धनञ्जय ।  
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥  
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।  
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

विना संसर्ग के भी आधाराधेय भाव किस प्रकार होता है, इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं। जैसे सब जगह विचरने वाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित रहता है, किन्तु उस वायु से आकाश का किसी प्रकार का संसर्ग नहीं रहता, वायु इधर-उधर सब जगह घूमता है, किन्तु आकाश निश्चल रूप से ही स्थिर रहता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक भूतपूर्व मुझमें रहते हैं, किन्तु मेरा उनके साथ कोई संसर्ग नहीं रहता। मैं सब भूतों का आधार होने पर भी सबसे पृथक् अर्थात् विश्वातीत ही रहता हूँ। श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य की व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार अनालम्बन रूप आकाश में महान् वायु स्थित है अर्थात् उस वायु की स्थिति भी मेरे आधार पर है, इसी प्रकार यह निश्चय समझो कि सब भूत मुझमें ही स्थित हैं। किन्तु इस व्याख्या में यथा तथा पदों से बोधित दृष्टान्त भाव कैसे संगत होगा—यह विचारणीय है। अपने आप में दृष्टान्त बन नहीं सकता। एक प्रश्न यह भी होता है कि पूर्व पद्य में जो “मेरा ईश्वर भाव का योग देखो”—इस कथन से यह सूचित किया कि मेरी ईश्वरभाव की यह घटना है। लोक में इसका दृष्टान्त नहीं मिल सकता—इस कथन का इस उदाहरण से विरोध पड़ेगा, क्योंकि यहाँ लोक में भी इसका दृष्टान्त बतला दिया गया। यही विचार कर श्रीनीलकण्ठजी इस पद्य को भी ईश्वर भाव में ही लगाते हैं। वे वायु शब्द का अर्थ सूत्रात्मा करते हैं। जैसा कि “वायु वै” गौतमतत्सूत्रम् (बृ०उ० ३।७।२) इत्यादि

बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ के प्रकरण में कहा गया है और जिसके अनुकरण पर ही आजकल भी सर्वधर्मावलम्बी लोग अनन्त चतुर्दशी को अनन्तसूत्र का धारण करते हैं तथा आकाश शब्द का अव्याकृत आकाश अर्थ करते हैं, जो कि सबका कारणभूत है और जिसका “आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता” (छा० ८।१४।१) इत्यादि श्रुतियों में निरूपण है, तब पद्य का अर्थ होगा कि जैसे सूत्रात्मा रूप वायु अव्याकृत आकाश में स्थित है उसी प्रकार सब भूतों को मेरे भीतर स्थित समझो। ये सूत्रात्मा और अव्याकृत आकाश दोनों ही लौकिक पदार्थ नहीं, अलौकिक ईश्वर कोटि में ही माने जाते हैं। इसलिए ईश्वर भाव में लौकिक दृष्टान्त यहाँ नहीं आया और यह मेरा ईश्वरीय योग है, यह पूर्व का कथन सुसम्बन्ध ही रहा। (६)

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! सब जड़चेतनात्मक जगत् के पदार्थ कल्प अर्थात् ब्रह्मा की आयु का अवसान होने पर मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं, फिर कल्प के आरम्भ में अर्थात् नये ब्रह्मा का दिन आरम्भ होने पर मैं उन सबको प्रकट कर देता हूँ।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि ब्रह्मा का दिन पूरा होने पर तो केवल त्रिलोकी का क्षय होता है, सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रकृति में लीन नहीं होता, इसलिए यहाँ कल्पक्षय और कल्पादि पदों का अर्थ यथोक्त प्रकार का ही करना उचित है। (७)

इस प्रकार अपनी मायारूप प्रकृति को अपने वश में रखकर सम्पूर्ण प्रपञ्च को मैं प्रकट करता हूँ। यह सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक भूतग्राम अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही अधीन रहता हुआ विवश रहता है अर्थात् अपने उत्पन्न होने और नष्ट होने में सब भूतों की कोई स्वतन्त्रता नहीं। मेरी प्रकृति जब उन्हें प्रकट करे तो वे प्रकट हो जाते हैं और जब अपने में लीन करे तो लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राणी वर्ग भी प्रकृति से बद्ध होकर अपने वश में न रहता हुआ ही सुख दुःख आदि का भोग किया करता है। जो लोग इस बात का अभिमान करें कि प्रकृति के वश में रहकर प्राणी वर्ग सुख दुःख आदि का भोग नहीं करता, अपितु जो स्वयं करे उसी का फल वह पाता है। उन्हें इस बात का उत्तर देना होगा कि अतिबाल्यावस्था ही किसी की अति सुख से और किसी की महाकष्ट से व्यतीत होती है—इसका कारण क्या है ? उनके तो अभी कोई कर्म नहीं हैं। वहाँ तो अगत्या पूर्वजन्म के कर्म या प्रकृतिजनित ही सुख दुःख मानने पड़ेंगे। प्रकृति भी किसी को अकस्मात् सुख दुःख नहीं देती; अपितु पूर्व जन्मों के अनुसार ही सुख दुःख दिया करती है। संसार अनादि है, इसमें पूर्वजन्म के कर्म उत्तरोत्तर जन्मों के सुख दुःखों के कारण हुआ करते हैं। यह सब सुख दुःखों का भोग प्रकृति जनित पदार्थों के सम्बन्ध से ही होता है। इसलिए प्रकृति को ही सबका कारण माना जाता है। (८)

इस पर श्रोता के मन में यह शङ्का होना संभव है कि जब इस प्रकार के अनन्त कर्म करने के कारण ईश्वर को भी पुण्य पाप आदि होता होगा और उसे भी इन सब कर्मों का फल भोगना पड़ता होगा ? इसका उत्तर भगवान् स्वयं दे देते हैं कि हे धनञ्जय ! जगत् का उत्पादन और विलयन आदि कर्म मुझे नहीं बाँधते, क्योंकि मैं तटस्थ की तरह रहता हूँ। किसी काम के होते समय जो उसमें भाग न ले वह उदासीन या तटस्थ कहा जाता है। किसी नदी में बहुत लोगों के तैरने पर भी जो तट पर ही स्थित रहे वह तटस्थ कहा जाता है, इस कथन से कर्मों का सम्बन्ध भगवान् पर से हटाया जाता है, किन्तु पूर्व पद्य में “विसृजामि” पद्य आया। इससे तो सब कर्मों का कर्तृत्व अपने पर माना गया और यहाँ अपनी उदासीनता बतलाई जाती है, इन बातों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है ? इसका उत्तर पद्य के चौथे पाद से दिया जाता है कि उन सृष्टि प्रलय आदि कर्मों में कोई आसक्ति नहीं। इसी कारण वे कर्म मुझे बाँध नहीं सकते। पूर्व चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि मुझ पर कर्मों का लेप नहीं होता, क्योंकि कर्म फल प्राप्त करने की मेरी इच्छा नहीं है। उस कर्म फल प्राप्ति की इच्छा को ही आसक्ति समझना चाहिये और उस इच्छा का अभाव ही यहाँ “असक्त” पद से बतलाया गया। इसका तात्पर्य यही है कि सृष्टि प्रलय आदि करता हुआ इच्छा नहीं रखता। इससे उसे कर्मों का फल भी नहीं मिलता। कर्मों का फल भोगने की जिसे इच्छा हो वही फल पाता है—यही सिद्धान्त गीता में बार-बार दोहराया गया है अथवा “असक्त” शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि किसी-किसी पुरुष को किसी कर्म में आसक्ति हो जाती है। वह उन कर्मों के बिना रह ही नहीं सकता जैसा कि मादक द्रव्यों का व्यसन रखने वाला पुरुष मादक द्रव्यों के सेवन के बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार किसी पुरुष की द्यूत में, किसी की शिकार आदि में और किसी की स्त्री प्रसङ्ग में आसक्ति हो जाती है। उनका मन उन कार्यों को करने की बार-बार प्रेरणा किया करता है। ऐसी आसक्ति उसमें नहीं। बिना आसक्ति का ही कर्तृत्व उस पर है। प्रकृति को सन्निधान मात्र से प्रेरित कर देना ही उसका काम होता है। यही बात “उदासीनवत्” के “वति” प्रत्यय से भी कही गई है। जैसे उदासीन पुरुष को कोई इच्छा या आसक्ति नहीं होती, वैसे ही मुझे भी कोई इच्छा या आसक्ति नहीं है। इसीलिए कर्म बन्ध मुझ पर नहीं होता, यही इस पद्य का मुख्य आशय है। भक्तिमार्ग में लगे हुए पुरुष ईश्वर की इसी प्रकार उपासना करते हैं कि वह सब जगत् का उत्पादन पालन और संहार करता हुआ भी उन कर्मों में अनासक्त तथा उनके फलों से अलिप्त रहता है। इसी कारण यहाँ भक्ति के प्रकरण में इसे दोहराया गया और इससे भक्तिमार्ग के पथिकों को विशेष रूप से यह उपदेश भी दिया गया कि तुम भी कर्मों में आसक्त या कर्म

फलों के इच्छुक मत हुआ करो, तभी सच्चे भक्त बन सकोगे। भक्त लोग कोई इच्छा अपने इष्टदेव से नहीं करें, यही भक्तिमार्ग का सिद्धान्त है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार तो अहं शब्द का अर्थ अव्यय पुरुष होता है और अव्यय पुरुष में बन्ध हो ही नहीं सकता, इसलिए बन्ध का निषेध युक्तियुक्त ही है और योग नाम का सम्बन्ध भी अव्यय पुरुष का कहीं नहीं होता, इसलिए “असक्त” या असङ्ग भी उसे कहा गया। केवल विभूति रूप ही सम्बन्ध है यह पूर्व (७।१२) की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं। (९)

इस प्रकरण में उपसंहार रूप आगे का पद्य कहा जाता है कि यों मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चर और अचर जगत् को उत्पन्न और लीन भी किया करती है। इसी कारण से हे कुन्ती पुत्र ! जगत् के सभी पदार्थ उलट-पलट हुआ करते हैं, किन्तु प्रकृति का प्रेरक होने से उत्पाद और विनाश का कर्तृत्व मुझ पर ही माना जाता है। जैसे कि राजकार्य मन्त्री आदि ही चलाते हैं, किन्तु कर्तृत्व उनके प्रेरक राजा का ही माना जाता है।

लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि इस पद्य में “वि” और “परि” उपसर्गों को देख कर कई व्याख्याकार “विवर्तवाद” का प्रसङ्ग उठाते हैं, किन्तु यहाँ विवर्तवाद का कोई प्रसङ्ग प्रकरणागत भी नहीं और विवर्तवाद के मुख्य आचार्य श्रीशङ्कराचार्य ने भी इस पद्य की व्याख्या में विवर्तवाद का कोई प्रसङ्ग नहीं उठाया। “विपरिवर्तते” का अर्थ तो केवल बनना बिगड़ना ही है”। यह “विवर्तवाद” का प्रसङ्ग श्रीवैङ्कटनाथ की व्याख्या में ध्वनित होता है। किन्तु इस प्रकरण में जो कहा गया कि मैं अर्थात् परब्रह्म तो उदासीन ही हूँ और प्रकृति ही मेरी अध्यक्षता में सब कुछ करती है। यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ यदि अविद्या किया जाय तो इस प्रकरण से विवर्तवाद अवश्य ही स्फुट हो जाता है। (१०)



## इक्कीसवाँ-पुष्प

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।  
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥  
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।  
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥  
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।  
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥  
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।  
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥  
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।  
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥  
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।  
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥  
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।  
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस प्रकार पूर्व प्रकरण से सिद्ध होता है कि मैं नित्य शुद्ध और मुक्त स्वभाव हूँ एवं सब भूतों में आत्मारूप से मैं ही विराजमान हूँ, किन्तु इस समय मैंने मनुष्य के उद्धार के लिए अपनी इच्छा से मनुष्य शरीर धारण कर रखा है, इसी कारण से मेरे सब भूतों के ईश्वर रूप परमभाव को न जानते हुए मूर्ख लोग दुर्योधन आदि मेरी अवज्ञा अर्थात् तिरस्कार करते हैं। जैसा कि दूत बनकर सन्धि के प्रस्ताव के लिए सभ में जाने पर भी दुर्योधन ने स्पष्ट ही अवज्ञा की और अनेक रूप दिखाने पर भी मुझे ऐन्द्रजालिक ही समझा। यहाँ श्रीवल्लभाचार्य की टीका में अपने सम्प्रदायानुसार यह व्याख्या की गई है कि यद्यपि मैंने अपने हाथ, पैर, मुख, उदर आदि जो कि सद आनन्दरूप ही हैं उनको ही सबको देखने योग्य मनुष्यों के समान बनाकर प्रकाशित कर रखा है, तो भी उस भाव को न जानते हुए माया से ढंकी दृष्टि रहने के कारण मूढ़ता को प्राप्त मनुष्य मेरी अवज्ञा करते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी तो अपने शीर्षकों में इस पद्य को सामान्यरूप में ही लगाते हैं कि अव्यय पुरुष ही अक्षर क्षरभाव में जाता हुआ यद्यपि भिन्न-भिन्न प्राणियों के रूप में जाता है, मानुषी तनु उपलक्षण मात्र है, तो भी मूढ़ लोग जगत् में अव्यय पुरुष को नहीं पहचानते और क्षररूप ही समझ कर उसके साथ अनादर या तिरस्कार का भाव रखते हैं। इस पद्य से भगवान् ने भक्ति या उपासना में अवतारवाद की भी आवश्यकता ध्वनित की। जैसा कि हम चतुर्थ अध्याय के आरम्भिक पद्यों में अवतारवाद के व्याख्यान में विस्तार से बतला चुके हैं। (११)

इस प्रकार मेरी अवज्ञा करने वालों की सब आशाएँ भी झूठी ही होती हैं, अर्थात् ऐसे पुरुष उन पदार्थों को प्राप्त नहीं कर सकते जिनकी बार-बार आशा करते हों और उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं। ईश्वर की अवज्ञा करने वालों के यज्ञादिकर्म भी सफल नहीं होते और उनका ज्ञान भी व्यर्थ ही है। ईश्वर को न पहचाननेवाले नास्तिकों का ज्ञान सफल कैसे कहा जा सकता है एवं उनका चित्त भी विक्षिप्त जैसा रहता है। वे राक्षससम्बन्धिनी या असुरसम्बन्धिनी मोहयुक्त प्रकृति में पड़े हुए अमुक को मारो, अमुक को काटो, अमुक का धन हरो इत्यादि कार्यों में लगे रहते हैं।

यहाँ व्याख्याकार श्रीवेङ्कटनाथ ने ऐसे पुरुषों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव के तीन भेदों का स्पष्ट निरूपण किया है जो ईश्वर को नहीं पहचानते, उनकी प्रकृति “मोहिनी” कही जाती है और जो ईश्वर को न जानते हुए शास्त्र में न बतलाए गए या निन्दित विषयभोगों में लगे रहते हैं, उनकी रागप्रधान रजोगुण से उत्पन्न “आसुरी” प्रकृति समझनी चाहिये और जो ईश्वर से द्वेष या उसकी निन्दा आदि किया करते हैं उनकी तमोगुण से उत्पन्न “राक्षसी” प्रकृति जाननी चाहिए। इस आसुरी प्रकृति का विशेष विवरण आगे सोलहवें अध्याय में करेंगे। (१२)

हे पार्थ ! इन पूर्व पद्योक्त आसुरी आदि प्रकृतिवालों से विपरीत जो दैवी प्रकृति का आश्रयण करने वाले महात्मा पुरुष हैं वे तो मुझे सब भूतों का आदि कारण अव्यय पुरुष रूप जानकर और सब जगह से चित्त हटाकर एकमात्र मुझमें ही चित्त लगाते हुए सदा मेरा भजन किया करते हैं।

यहाँ श्रीवल्लभाचार्य के नाम से मुद्रित व्याख्या में महात्मा शब्द का विशेष विस्तृत विवरण किया गया है कि जो अनेक जन्मों से संचित पुण्यों के प्रभाव से मुक्ति के पूर्ण अधिकारी हो चुके हैं और जिनका आगे सोलहवें अध्याय में “अभयं सत्त्वसंशुद्धिः” इत्यादि पद्यों के द्वारा वर्णन किया जायगा, जिनका यह अन्तिम जन्म है, अर्थात् आगे मुक्त होकर फिर जिन्हें जन्म नहीं लेना है वे ही यहाँ महात्मा शब्द



से कहे गये हैं। वे अन्य अर्थात् क्षर अक्षर आदि से मन को हटाकर केवल आनन्दमय मूर्ति अव्यय पुरुषरूप मेरा ही सदा भजन किया करते हैं। (१३)

भजन का प्रकार ही आगे के पद्य से बतलाते हैं कि वे निरन्तर मेरा ही कीर्तन अर्थात् गुणगान किया करते हैं और यम-नियम आदि से चित्त को वश में करने का सदा यत्न करते रहते हैं। उनके व्रत अर्थात् नियम ऐसे दृढ़ होते हैं कि किसी के ढिगाये ढिग नहीं सकते एवं भक्ति अर्थात् परम प्रेम से मुझे ही सदा प्रणाम किया करते हैं और नित्ययुक्त अर्थात् एकाग्रचित्त से मेरी उपासना करते रहते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या में इस पद्य से प्रसिद्ध नवधा भक्ति बतलाई गई है। इनमें कीर्तन तो अपने शब्द से ही पद्य में कहा गया है। “यतन्तः” पद से श्रवण अर्चन और पादसेवन लेना उपयुक्त होगा। “दृढव्रत” शब्द से जन्माष्टमी रामनवमी एकादशी आदि व्रतों की दृढ़ता बतलाई गई है, व्रतों में भगवान् का स्मरण ही मुख्य रहता है। इसलिए इस पद से स्मरण ले लिया जायेगा। “नमस्यन्तः” पद से वन्दन कहा गया। “भक्ति” पद का अर्थ है अपने को ईश्वर का भाग बनाना, इससे दास्यरूपा भक्ति अन्तर्गत हो गई। “उपासते” पद से संख्यभाव ले लिया जाता है तथा “नित्ययुक्त” पद से आत्मनिवेदन विवक्षित है। (१४)

अन्य भी भजन के प्रकार बतलाते हैं कि कई महात्मा पुरुष ज्ञानरूप यज्ञ से ही मेरी पूजा करते हुए मेरी उपासना करते रहते हैं। ज्ञान में यज्ञ भावना का निरूपण पूर्व चौथे अध्याय में “ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः” पद्य से कर चुके हैं कि हविर्द्रव्य, होम के साधन, आधारभूत अग्नि और हवि डालने वाले हाथ इत्यादि सबमें ही ब्रह्मभावना करना। यहाँ किसी व्याख्या में इस ज्ञानयज्ञ की उपासना को छोटी कक्षा का बतलाया है, किन्तु ऐसा कहनेवाले महानुभाव यह भूल गये कि पहले चार प्रकार के भक्तों के निरूपण में भगवान् ने ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। इतना ही नहीं वहाँ कहा गया है कि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है “ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्” वही आशय यहाँ भी समझना चाहिये कि ज्ञानयज्ञ से उपासना करनेवाले सभी उपासकों में श्रेष्ठ हैं।

यहाँ भी अग्रिम पद्य में यज्ञाङ्गों में अपनी भावना स्पष्ट की जायेगी। ज्ञानयज्ञ में भी अनेक प्रकार उत्तरार्द्ध में बतलाये जाते हैं कि कई महात्मा एकत्व रूप से उपासन करते हैं, अर्थात् ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को ही ब्रह्मरूप मानते हुए अथवा “वासुदेव सर्वम्” भगवान् वासुदेव ही सब कुछ हैं ऐसा मानते हुए एकत्वभाव से मेरा अनुसन्धान अर्थात् निदिध्यासन करते हैं और कई महात्मा पृथक् समझकर अर्थात् मुझको स्वाम और अपने आपको दास मानकर मेरी उपासना किया करते हैं एवं कई महात्मा बहुध

अर्थात् विभूति, जो अग्रिम अध्याय में कही जानेवाली हैं, उनमें ध्यान लगाते हुए मेरी ही उपासना करते रहते हैं। वे सब विभूतियाँ भगवान् के ही रूप हैं, उनमें ध्यान लगाना भी भगवान् की ही उपासना है अथवा बहुधा शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि शिव, विष्णु, महाशक्ति, गणेश और सूर्य, इन परब्रह्म के पाँच रूपों में उपासना करते हैं और कई एक सब ओर मेरे मुख, बाहु उदर आदि का ध्यान करते हुए “सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्” इस पुरुषसूक्त के अनुसार व्यापक रूप में मन लगाकर उपासना किया करते हैं। अथवा पद्य के उत्तरार्द्ध का यह भी आशय हो सकता है कि भगवान् की तीन प्रकार से उपासना शिष्टसम्प्रदाय में जो प्रचलित हैं वही यहाँ कही गई। एक सम्पूर्ण विश्व को भगवान् का रूप मानकर, दूसरी विश्व के कणकण में भगवान् का विराजमान रहना मानकर और तीसरी भगवान् को सब जगत् से पृथक्-जगत् के दोषों से सर्वथा सम्पर्क शून्य मानकर। ये ही विश्व, विश्वचर और विश्वातीत नाम से उपासनाएँ प्रसिद्ध हैं। इस पद्य में एकत्व से जो उपासना कही गई वह “विश्वातीत” की उपासना है। पृथक्त्व अर्थात् बहुत्व से जो कही गई, वह विश्वचररूप की उपासना है और “बहुधा विश्वतो मुखम्” इस पद से सम्पूर्ण विश्व को ही भगवान् का रूप मानकर उपासना बतलाई गई है। (१५)

ज्ञान को यज्ञरूप मानकर अर्थात् यज्ञ में ज्ञान का आरोप कर विश्वरूप उपासना का और विस्तार कहते हैं कि मैं ही क्रतु अर्थात् वैदिक ज्योतिषोम आदि यज्ञरूप हूँ, मैं ही यज्ञ अर्थात् स्मार्त शिव, विष्णु, यज्ञ आदि का रूप हूँ। मैं ही स्वधा अर्थात् पितृयज्ञ हूँ, मैं ही औषध अर्थात् यज्ञ में काम आने वाले ब्रीहि यव आदि अन्न हूँ। मैं ही मन्त्र हूँ, मैं ही हवि हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और हवन करना रूप कर्म भी मैं ही हूँ।

इस पद्य में “ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः” (४।२४) इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का ही विस्तार है। भक्तिमार्ग में निरत पुरुषों को भी इसी भावना से यज्ञ आदि करते रहना चाहिए। इसी आशय से पूर्व पद्य का भाव यहाँ दोहराया गया है। (१६)

पूर्वोक्त कथन से विश्व के रूप में उत्पन्न होनेवाला मुझे भक्त लोग न समझ लें, इस भ्रमनिवृत्ति के लिए अग्रिम पद्य कहा जाता है कि इस जगत् का पिता अर्थात् पैदा करनेवाला मैं ही हूँ और माता भी मैं ही हूँ, अर्थात् मातारूप शक्ति भी मुझसे पृथक् नहीं है, अपितु मेरा ही रूप है और धाता अर्थात् जगत् का पालन पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ। लोक में देखा जाता है कि प्रत्येक पुरुष के जैसे पिता माता आदि होते हैं ऐसे ही पितामह, पितामही आदि भी होते हैं इसी प्रकार जगत् के पिता आप है तो पितामह भी कोई होगा ? इस शङ्का के निवारण के लिए कहा गया कि पितामह भी मैं ही हूँ अर्थात् मेरा उत्पादक और कोई नहीं है। अथवा पितामह शब्द ब्रह्मा का

वाचक भी प्रसिद्ध है वही यहाँ लिया जाय तो अर्थ होगा कि ब्रह्मा भी मेरा ही रूप है। जगत् में जो कुछ जानने की वस्तु है, वह मैं ही हूँ। इससे छान्दोग्य उपनिषद् में कही गई उस प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं कि एक के जानने से ही सबका ज्ञान हो जाता है। मृत्तिका सुवर्ण आदि को स्वयं ही पहचान लेता है कि ये मृत्तिका सुवर्ण आदि के बने हुए ही हैं। इसी प्रकार सब प्रपञ्च के कारण रूप मुझे जान लेने पर सब प्रपञ्च का ज्ञान हो जाता है, शेष कुछ नहीं रहता एवं सबको पवित्र करने वाला भी मैं ही हूँ। प्राणियों में जो मलिनता आ जाय, वह मेरे स्मरण से ही दूर हो जाती है। अथवा सबको पवित्र करनेवाले जो गङ्गा आदि तीर्थ हैं वे भी मेरा रूप हैं। सब वेदों का सार जो स्मृति ब्राह्मण आदि में ओङ्कार को बतलाया है, वह ओङ्कार भी मेरा ही रूप है। अथवा योगसूत्रों के अनुसार यह समझना चाहिये कि ओङ्कार का वाच्य मैं ही हूँ। यहाँ वाच्य और वाचक का अभेद समझ कर ओङ्कार को अपना रूप बतलाया गया। उस ओङ्कार के विस्तार रूप जो भेद हैं, जो कि ऋक्, साम और यजुः नाम से प्रसिद्ध हैं, वे मेरा ही रूप हैं अथवा पूर्ववत् यह भी समझो कि उन वेदों में मैं ही कहा गया हूँ। शब्द और अर्थ का अभेद मानकर ही वेदों को अपना रूप बतलाया गया। वस्तुतः इस पद्य के चतुर्थ चरण का पूर्वोक्त पद्य से ही सम्बन्ध समझना चाहिए, क्योंकि उस पद्य में यज्ञ के अङ्गों का विस्तार बतलाया गया है और ये तीनों वेद भी यज्ञ के ही विस्तृत अङ्ग हैं।

यहाँ पाठकों को यह समझ लेना चाहिए कि वेद के विषय में दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं कि वेद तीन हैं अथवा चार हैं। ये दोनों ही बातें इसलिए एक रूप ही मानी जाती हैं कि रचना भेद से तो वेद तीन ही होते हैं। रचना तीन प्रकार की हुआ करती है—गद्यरूप, पद्यरूप और गानरूप। जो किसी छन्द में बधी हुई न हो प्रकीर्णक हो उसे गद्यरूप रचना कहा जाता है। वही जब किसी खास मर्यादा में बाँध दी जाय तो उसे पद्यरूप रचना कहा करते हैं और वही पद्य रचना जब गान के रूप में गाई जाने योग्य बना दी जाय तो उसे गीतिरूप रचना कहा करते हैं। गद्य का ही नाम यजुः, पद्य का नाम ऋक् और गीति का नाम साम है। इस प्रकार वेद तीन ही कहे जाते हैं, क्योंकि रचना का कोई अन्य प्रकार नहीं बचता। अथर्ववेद का जो गद्यभाग है वह यजुः की गणना में, पद्यभाग ऋक् की गणना और गान का भाग यदि कोई मिले तो वह साम की गणना में आ जायेगा। किन्तु सम्पूर्ण वेद को यदि यज्ञ करने वाले ऋत्विजों के अनुसार बाँटा जाय तो वेद चार हो जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक छोटे बड़े यज्ञों में चार ऋत्विक् अवश्य होते हैं—होता, उध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। देवताओं का आवाहन करने वाला, अर्थात् स्तुतिपाठ से उन्हें बुलाकर सम्मुख बैठाने वाला “होता” कहा जाता है। गाकर उन देवताओं की स्तुति करनेवाला “उद्गाता”

तथा आहुति देनेवाला “अध्वर्यु” कहा जाता है। इन तीनों के कार्यों का निरीक्षण कर त्रुटि होने पर उन्हें सावधान करने वाला और उस त्रुटि का प्रायश्चित्त या कोई विघ्न होने पर शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्म करके उन विघ्नों का निवारण करने वाला “ब्रह्मा” कहा जाता है। इनमें होता के पढ़ने का होतृकर्म सिखाने वाला ऋग्वेद, अध्वर्यु कर्म की शिक्षा देने वाला यजुर्वेद, उद्गाता के पढ़ने का सामवेद और ब्रह्मा के पढ़ने योग्य अथर्व वेद नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि ब्रह्मा को तीनों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए वे तीनों वेद भी पढ़ना आवश्यक होता है किन्तु शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों के लिए अथर्ववेद भी उसे पढ़ना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि “ब्रह्मा” चतुर्वेदी हुआ करता है। इस प्रकार चार वेदों की गणना भी युक्तियुक्त होती है। इसलिए तीन और चार—यहाँ संख्या भेद देखकर कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए और कई महाशय जो यह कल्पना कर बैठते हैं कि अथर्ववेद पीछे का बनाया हुआ है, वह कल्पना उनकी निःसार ही है। यहाँ तीन वेदों का ही नाम आया, वह रचना क्रम से ही है। कई व्याख्याकार यहाँ “च” पद से अथर्ववेद का भी ग्रहण करते हैं। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि इन सब का ग्रहण पूर्व पद्य के मन्त्र पद से हो चुका था, फिर उनका नाम लेना यहाँ पुनरुक्ति मात्र ही है ? उनकी उस शङ्का के निवारण के लिए इन वेद प्रसिद्ध शब्दों का वैज्ञानिक अर्थ भी यहाँ लिख दिया जाता है।

मनुष्य के शरीर की अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ तो अपने समीप आये हुए अर्थों का ही ग्रहण करती हैं, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय दूर के पदार्थों को भी देख सकती हैं। दूर के पदार्थों के साथ शरीर स्थित इन्द्रिय का सम्बन्ध कैसे हो जाता है और बिना सम्बन्ध के इन्द्रिय के द्वारा दूरस्थ पदार्थों का ग्रहण कैसे हो जाता है ? इस विषय पर स्वदेशीय व विदेशीय विद्वानों की भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ हैं। हमारे यहाँ नैयायिकों ने माना है कि हमारी चक्षुरिन्द्रिय ही तैजस होने के कारण दूर के पदार्थों के समीप चली जाती है। वैदेशिक विद्वान् मानते हैं कि प्रकाश की किरणें भिन्न-भिन्न पदार्थों का स्पर्श कर हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर वैसा आकार बना देती हैं, इससे ही हमें दूर के पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है। ये सब कल्पनाएँ दूषित हैं। इनकी उपपत्ति ठीक नहीं जमती। इसका विस्तृत विवेचन हम अपने “वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति” नाम के ग्रन्थ में लिख चुके हैं। यहाँ अप्रस्तुत होने के कारण उसका विशेष विस्तार नहीं किया जाता। यहाँ इतना ही कहना है कि वैदिक विज्ञान में सब जड़चेतनात्मक के अन्तःप्रविष्ट एक प्रणशक्ति मानी जाती है। प्राणशक्ति ही उन पदार्थों का संघटन भी करती है और उन पदार्थों पर ही बैठकर दूर तक भी फैलती है। पदार्थों का संघटन करनेवाली प्राणशक्ति को “चित्य” और उनपर बैठकर दूर तक फैलनेवाली प्राणशक्ति को वैदिक परिभाषा में “चितेनिधेय” कहा जाता है। वह चितेनिधेय प्राणशक्ति अपनी शक्ति के अनुसार

जहाँ तक फैलती है, उस फैलाव में जितने पदार्थ अन्तर्गत हो जाते हैं, उनका ही हमें चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण हुआ करता है। हमारी चक्षुरिन्द्रिय की प्राणशक्ति भी इसी प्रकार दूर तक फैला करती और भिन्न-भिन्न पदार्थों की प्राणशक्ति भी इसी प्रकार फैलती है। इन दोनों प्राणशक्तियों का योग होने पर पदार्थ देखने में आता है। गृद्ध आदि प्राणियों की चक्षुरिन्द्रिय में दूर तक फैलने शक्ति रहती है, इससे वे दूरतक पदार्थों को भी देख सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ का जो एक आकार होता है, वह “ऋक्” कहा जाता है और उसका अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्रसार जहाँ तक हुआ हो वह उसका साम मण्डल होता है तथा पदार्थ के स्थिति के प्रदेश और मध्य में जितने मण्डल बनते हैं, वे सब यजुर्मण्डल नाम से कहे जाते हैं। प्रकाश, सूर्य ओर दीपक आदि में इन मण्डलों का दर्शन हमें स्फुट रूप से हो जाता है। जैसा कि चारों ओर फैले हुए अन्धकार के बीच एक दीपक रखा जाय, तो उस घने अन्धकार में उस दीपक के फैलाव का एक मण्डल स्पष्ट दिखाई देगा। इसी प्रकार का सूर्यमण्डल का जो एक बृहत्साम अर्थात् उसक फैलाव का अन्तिम मण्डल है, वही “ब्रह्माण्ड” कहा जाता है। सूर्य मण्डल के सम्बन्ध से इन ऋक्, यजुः और साम का निरूपण शतपथ आदि श्रुतियों में स्पष्ट रूप से मिलता है। जगत् में चार प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं। एक “स्वयंज्योति” जैसे सूर्य, अग्नि आदि। दूसरे “परज्योति” जो दूसरे के प्रकाश लेकर अपनी चमक दिखाते हैं। जैसे चन्द्रमा, सरोवर के जल आदि। तीसरे प्रकार के वे पदार्थ हैं, जिनमें चमक तो नहीं होती, किन्तु रूप उनका दूर तक दिखाई देता है। जैसे कि पृथिवी के बने पदार्थ। वे रूपज्योति नाम से जाते हैं और जिनमें रूप भी नहीं है वे “अज्योति” कहे जाते हैं। वे वायु पदार्थ हैं। इनमें से आदि के तीनों प्रकार से पदार्थों के ऋक्, यजुः और साम ये तीनों मण्डल बनते हैं तथा इनके कारण ही दूर के पदार्थ भी हमें दिखाई दिया करते हैं। यह वैज्ञानिक वेदों संक्षिप्त निरूपण हुआ।

प्रकृत पद्य में ऋक्, यजुः और साम पद से इन वैज्ञानिक पदार्थों को भी लिया जा सकता है। इससे “मन्त्र” शब्द के अर्थ के साथ पुनरुक्ति नहीं रहेगी।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने शीर्षकों से यह सूचित किया है कि “अहं क्रतुरहं यज्ञः” इत्यादि पद्य से यज्ञ के सब उपकरण मिलाकर जैसे सबमें यज्ञरूप एकत्व की भावना की जाती है और पितामाता आदि को मिलाकर जैसे एक कुटुम्ब, एवं ऋक्, साम और यजुः आदि वेद विभागों पर जैसे वेदत्व की एक भावना होती है, इसी प्रकार प्रकृति के प्रपञ्च में फैले हुए सब प्रकार के पदार्थों में एक ईश्वर-अव्यय की भावना कर उस रूप में अव्यय पुरुष की उपासना का यहाँ विधान हुआ है। (१७)

## बाईसवाँ-पुष्प

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।  
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥  
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।  
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥  
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-

मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

पूर्व पद्यों में कही गई अपनी व्यापकता का ही आगे भी विस्तार करते हैं कि मैं ही सबकी गति हूँ, जहाँ प्राप्त होकर सब प्राणी विश्राम किया करते हैं, उस गन्तव्य स्थान को गतिशब्द से कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि संसार में भटकते हुए सब प्राणी मुझमें ही आकर विश्राम लेते हैं, अर्थात् मुझे प्राप्त करने के अनन्तर फिर कहीं जाना नहीं पड़ता और मैं ही सबका भर्ता अर्थात् धारण और पोषण करने वाला हूँ तथा मैं ही सबका प्रभु अर्थात् अपने अपने कार्यों में सबको नियुक्त करने वाला और उनका नियन्त्रण करने वाला अर्थात् उनके कर्मों को प्रत्यक्ष रूप से देखने वाला हूँ एवं मैं ही सबका निवास अर्थात् आधार रूप हूँ। मेरे ही आधार पर सब प्राणी ठहरे हुए हैं। सबका 'शरण' अर्थात् जो मेरी शरण में आ जाते हैं उन सबको दुःख से बचाने वाला मैं ही हूँ। मैं सब प्राणियों का 'सुहृत्' हूँ, अर्थात् उनसे कोई उपकार न चाहता हुआ सदा उनका भला ही किया करता हूँ। जैसे कि मित्र वही होता है जो बदला न चाहता

हुआ भलाई ही किया करे। ऐसा ही मुझे सब प्राणियों का मित्र समझो। इसी प्रकार सब प्राणियों का “प्रभव” अर्थात् उत्पन्न करने वाला, ‘प्रलय’ अर्थात् सबको अपने में लीन करने वाला और “स्थान” अर्थात् उत्पत्ति और लय के मध्य में उनकी स्थिति रखने वाला भी मैं ही हूँ एवं “निधान” अर्थात् जहाँ सब प्राणी आगे भोगने के लिए अपन कर्मों को स्थापित करें वह भी मैं ही हूँ। मैं ही सबका बीजरूप हूँ, अर्थात् मुझसे ही सब प्राणी प्रकट होते हैं, किन्तु लोक में देखा जाता है कि बीज स्वयं नष्ट होकर अङ्कु को पैदा किया करता है, मैं ऐसा नहीं हूँ। मैं स्वयं “अव्यय” अर्थात् अविनाशी रहत हुआ ही सबको उत्पन्न किया करता हूँ।

इस पद्य में गति और प्रलय शब्दों के अर्थ में, निवास, निधान और स्थान शब्दों के अर्थ में तथा प्रभव और बीज शब्दों के अर्थ में पुनरुक्ति प्रतीत होती है, अर्थात् एव ही अर्थ को बार बार कहा गया है, ऐसा जान पड़ता है। इसके समाधान के लिए व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रयत्न किये हैं। जैसा कि श्रीवल्लभाचार्य ने प्रलयशब्द का अर्थ पापों का नाशक किया है और निवासशब्द का पूर्वपद्य से सम्बन्ध मिलाकर यज्ञभूमि अर्थ किया है तथा स्थान शब्द का अर्थ तीर्थ, क्षेत्र आदि किया है और ‘निधान’ शब्द से वे भी पूर्व पद्य का स्मरण कर यज्ञपात्र स्तुवा चमस आदि, जिनमें कि होम करने के पदार्थ रखे जाते हैं उन्हें लेते हैं एवं “प्रभव” शब्द का अर्थ यज्ञफल का उत्पादक ही मानते हैं।

एवं श्रीपुरुषोत्तमजी निवासशब्द का अर्थ जीव का निवास-देह मानते हैं। इसी प्रकार श्रीमधुसूदनसरस्वती प्रभव और प्रलय शब्दों को भावसाधन मानकर उसका केवल उत्पत्ति और विनाश ही अर्थ करते हैं। यह सब व्याख्याकारों की क्लिष्ट कल्पना ही है और किसी भी प्राचीन व्याख्या से पुनरुक्तियों का पूरा समाधान नहीं होता। इसी अभिप्राय से श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इस पद्य को अव्यय पुरुष का अक्षर और क्षर के साथ क्या क्या सम्बन्ध है, यही निरूपण करने वाला माना है, “अव्ययम्” यह नपुंसक लिङ्ग का निर्देश सन्निहित बीजशब्द के साथ होने के कारण ही किया गया है। वैसे अव्यय तो सब लिङ्गों से अतीत है। जो पद समीप में हो उसके अनुसार ही लिङ्ग अव्यय शब्द में भी कर दिया जाता है। अव्यय पुरुष की उन्होंने अपने ग्रन्थों में पाँच कलाएँ मानी हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। उन पाँचों का अक्षर और क्षर के परिणाम भूत जगत् के पदार्थों के साथ क्या क्या सम्बन्ध होता है, यही इस पद्य में पृथक् पृथक् बतलाया गया है। अवच्छेदक के भेद से सब पुनरुक्तियों का समाधान हो जाता है। गतिशब्द आनन्द के लिए कहा गया है। आनन्द ही सबका प्राप्य स्थान है। आनन्द में पहुँच कर फिर प्राणियों को और कहीं जाने की इच्छा नहीं रहती। प्रभु,

भर्ता और निवासशब्द प्राण के अभिप्राय से कहे गये हैं, क्योंकि प्राण ही सबका धारण कर्त्ता है एवं सब प्राणी उसी के आधार पर रहते हैं, अतः निवास भी वही है और वही शरीरस्थ सब पदार्थों का प्रभु भी है। जैसा कि उपनिषदों में वर्णित है कि अन्य सब इन्द्रियों के क्रमशः निकलने पर भी शरीर स्थित रहा, किन्तु प्राण के निकलने की तैयारी करने पर ही सब उसके साथ ही निकलने लगे, तब उससे सबने प्रार्थना की कि आप ही हम सबसे बड़े हैं आप न जाइये, आपके बिना हम नहीं रह सकते।

साक्षी, प्रभव, प्रलय और स्थान ये शब्द मनरूप अव्यय पुरुष की कला के लिए कहे गये हैं, क्योंकि मन यह अव्यय पुरुष की कला पाँचों कलाओं के मध्य में गिनी जाती है। वही पूर्व की कलाओं के साथ मिलकर मुक्ति का साक्षी बनता है और आगे की कलाओं के साथ मिलकर सृष्टि और प्रलय दोनों का साक्षी होता है। प्राण और वाक् उसी से निकलते हैं व उसी में प्रलीन होते और उसी के आधार पर स्थिर रहते हैं। बीज और निधान शब्द पांचवीं कला वाक् के लिए कहे गये हैं, क्योंकि वाक् का ही परिणाम सब पदार्थ हैं। वही पाँचों महाभूतों की जननी है। पाँचों महाभूतों को उत्पन्न करने वाली को ही वाक् कहा जाता है। सांख्य दर्शन की प्रक्रिया में भी वाक् अर्थात् शब्दतन्मात्रा सबसे पहिले उत्पन्न होकर आगे के सबकी उत्पादिका बनती है। उसी को सत्कार्यवाद की दृष्टि से “निधान” भी कहा गया है। इसका अभिप्राय है कि वाक् नया पदार्थ कोई उत्पन्न नहीं करती, पहिले जो उसमें वर्तमान रहते हैं उन्हें ही प्रकट कर देती है। शरण और सुहृत् शब्द इस पद्य में विज्ञान रूप कला के लिए कहे गये हैं, क्योंकि विज्ञान ही सबका शरण बनता है। आपत्ति में पड़े हुए प्राणियों की रक्षा ज्ञान ही करता है और वह ज्ञान ही बिना प्रत्युपकार की इच्छा के मित्ररूप से सबकी भलाई करता रहता है।

इन्हीं बारह प्रकारों को पूर्णरूप से समझकर अव्ययरूप ईश्वर की सदा उपासना करते रहने से मनुष्यमात्र का कल्याण होता है—यही पद्य का सार हुआ। (१८)

आगे के पद्य में भी सब कार्यों का कर्तृत्व भगवान् अपने ऊपर ही लेते हैं कि हे अर्जुन ! मैं ही वसन्त और ग्रीष्म काल में तापरूप होकर सब प्राणियों को तपाता हूँ। वर्षाकाल में कभी-कभी वर्षा का अवरोध कर देता हूँ और कभी वर्षा मैं ही करता हूँ। देवताओं के लिए अमृतरूप और अन्य प्राणियों के लिए मृत्युरूप भी मैं ही हूँ। कहाँ तक कहूँ जो पदार्थ सामने दिखाई देते हैं वे सत् पदार्थ भी मेरा ही रूप है और जो दिखाई नहीं देते अर्थात् जिन शशविषाण, खपुष्प आदि का सर्वथा अभाव रहता है अथवा जो भूत और भविष्यत् काल के पदार्थ हैं, वह भी मैं ही हूँ। भाव और अभाव दोनों ही मुझसे पृथक् नहीं कहे जा सकते। इसीलिए सत्ता रूप से भगवान् भाव अभाव



दोनों में ही व्याप्त रहते हैं। जहाँ कुछ न दिखाई दे, वहाँ भी “नहीं है” इस ‘है’ पद से अभाव की सत्ता सिद्ध होती है। यही भाव पन्द्रहवें पद्य में एकत्व से व्यापक ब्रह्म की उपासना बतलाई गई है। (१९)

कर्मकाण्ड के मार्ग में जो लगे हुए हैं वे भी मेरा ही यजन करते हैं, यह बात आगे के दो पद्यों में कही जाती है कि जो तीनों वेदों के जानने वाले हैं। स्मरण रहे कि कर्मकाण्ड अनुष्ठान करने वालों को ही “त्रयीधर्म” में निरत पहिले द्वितीय और तृतीय अध्यायों में भी कह आये हैं और सबसे बड़ा सोम यज्ञ करते हुए उसमें सोम का पान करते हैं तथा उन सोम आदि यज्ञों के द्वारा अपने को पापों से मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार यज्ञों से मेरा ही यजन करते हैं और उन यज्ञों के फलरूप से स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं, वे पवित्र इन्द्रलोक आदि लोकों को कर्म के अनुसार प्राप्त कर वहाँ देवताओं के विविध प्रकार के भोगों का भोग किया करते हैं। (२०)

इस प्रकार अपने कर्म के अनुसार बहुत काल तक स्वर्ग सुखों का भोग कर जब अपना किया हुआ कर्म समाप्त हो जाता है, तब वे फिर इसी मनुष्यों के लोक में आ जाते हैं। इस प्रकार वेद के कहे हुए कर्मकाण्ड को ही धर्म मानते हुए और भिन्न-भिन्न लोकों को प्राप्त करने की कामना से उसी में लगे हुए आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं। यह उपासना मार्ग को दृढ़ करने के लिए काम्यकर्म करने वालों की निन्दा प्रसङ्गागत की गई। (२१)

उस प्रकार प्रसङ्गागत कामनावालों की निन्दा कर फिर आगे उपासना का ही प्रसङ्ग लेते हैं कि इस प्रकार कामनाओं के फन्दे में न पड़कर जो केवल मेरा ही ध्यान करते हुए उपासना में लगे रहते हैं, उन निरन्तर मेरे ही लिए परिश्रम करने वालों का योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ अर्थात् उनके योग-क्षेम को अपने ऊपर मानता हूँ।

जो वस्तु प्राप्त न हो उसकी प्राप्ति को “योग” कहते हैं और जो वस्तु प्राप्त हो गई उसकी रक्षा को “क्षेम” कहते हैं। यह योग-क्षेम अनन्य भक्तों का मैं अपने ऊपर ही लेता हूँ। इसका तात्पर्य है कि जो भक्ति करते हुए भी अपने योगक्षेम की चिन्ता स्वयं किया करते हैं उनके योग-क्षेम की चिन्ता मुझे नहीं करनी पड़ती, उन्हें कुछ काल परीक्षा के लिए अपने बल पर ही छोड़ता हूँ। जैसा कि प्रसिद्ध गजेन्द्र जब तक अपना बल लगाता रहा, तब तक मैं उसकी रक्षा के लिए नहीं दौड़ा, किन्तु जब वह निःसहाय होकर केवल मेरे ही आधार पर हो गया, तब मैंने शीघ्र दौड़कर उसकी रक्षा कर ली। इसी प्रकार द्रौपदी भी जब तक अपने बल से अपने वस्त्र को सम्हालती रही तब तक मैं उपेक्षा ही करता रहा, जब अपने बल का सहारा छोड़कर वह वस्त्र

को निराधार छोड़ बैठी तभी मैंने उसका वस्त्र बढ़ा दिया। यही बात अनन्य शब्द से सूचित की गई है कि जो अपना बल कुछ भी न लगाकर केवल मेरे ही आधार पर हो जाते हैं उनके योग-क्षेम का भार मैं ले लेता हूँ।

इस पद्य पर शिष्ट सम्प्रदाय में एक आख्यायिका भी प्रसिद्ध है कि एक भक्त सज्जन इसी पद्य के आधार पर योग-क्षेम की चिन्ता कुछ न करते हुए अनन्यभाव से ही भगवदुपासना में लग रहे थे, बारबार घर के लोगों के कहने पर भी उपार्जन की ओर बिल्कुल उदासीन रहते थे। एक बार जब घर के बालक क्षुधा से पीड़ित होकर रुदन करने लगे तो इनके चित्त में यह भाव आया कि संभवतः यह पद्य भगवान् का कहा हुआ नहीं है। भगवान् यदि ऐसा उपदेश देते तो अपनी कही हुई बात को इस प्रकार न भूल जाते। वे तो सर्वज्ञ हैं, उन्हें सदा ही सब विषयों का स्मरण रहता है। इससे यही प्रतीत होता है कि यह पद्य पीछे से किसी ने भगवद्गीता में मिला दिया है, भगवान् का कहा हुआ यह नहीं। इसी भावावेश में बहुत देर रह कर अन्त में उन्होंने पुरानी प्रथा के अनुसार इस पद्य पर हरितालिका लेप कर दिया और पुस्तक बन्द कर कहीं नित्यचर्या के लिए बाहर चले गये। जब कुछ देर बाद लौटकर आये तो देखते हैं कि सब बाल-बच्चे मिष्ठान्न खाते हुए खेल रहे हैं। आश्चर्य से भीतर जाकर देखा कि बहुत सा भोजन का सामान जो कि एक गृहस्थ को कई मास के लिए हो इतना भरा हुआ है। जब स्त्री से पूछा कि यह सामान कहाँ से आया तो वे कहने लगीं कि वाह, आपने ही तो भेजा है। अभी थोड़ी देर पहिले आपका भेजा हुआ एक अधेड़ सा बालक ही यह सब दे गया था और कह गया था कि आपने ही यह सब भिजवाया है फिर आप ही अनजान की तरह कैसे पूछ रहे हैं। इन्होंने आश्चर्यचकित होकर पूछा कि वह अधेड़ बालक कैसा था, क्या उसके कोई चिह्न भी था ? स्त्री ने कहा उसके नीचे का ओंठ पीला था। तब ये अपने किये पर घोर पश्चात्ताप करने लगे कि “मैं कैसा पतित हूँ कि मैंने भगवान् के ओंठ पर हरिताल लगा दी, यह सब भगवद्गीता तो खास भगवान् के मुख से निकली हुई आज भी मानों उनके ओंठ में ही विराजमान है, इस घोर पाप का मैं क्या प्रायश्चित्त कर सकूँगा” इत्यादि। जिसे सच्चा विश्वास हो उसके लिए सभी कुछ सम्भव है। (२२)



## तेईसवाँ-पुष्प

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।  
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥  
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।  
नतु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥  
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।  
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥  
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।  
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥  
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।  
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥  
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।  
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

यहाँ श्रोता के मन में यह शङ्का होना संभव है कि जब आप ही सर्वरूप हैं सब यज्ञों के अधिष्ठाता रूप भी आप ही हैं—यह “अधियज्ञोऽहमेवात्र” इस पद्य से कह चुके हैं, तब फिर सोमपान आदि यज्ञों के द्वारा भी तो आपका ही आराधन हुआ, फिर यज्ञ करने वाले गमनागमनरूप संसारचक्र में क्यों पड़ते हैं ? इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि जो पुरुष अन्य इन्द्रादि में भक्ति रखते हुए श्रद्धा से युक्त होकर उनका ही भजन करते रहते हैं, दोष देखने की जो चित्तवृत्ति मनुष्यों में स्वाभाविक होती है, उस वृत्ति की प्रतिबन्धक अर्थात् न होने देने वाली चित्तवृत्ति को श्रद्धा कहते हैं। जिस मनुष्य की जिस देवता गुरु आदि पर श्रद्धा होती है, उस अपने श्रद्धास्पद के दोष देने की चित्तवृत्ति ही उसकी कभी नहीं उठती। इसका शब्दार्थ है कि “श्रत्” अर्थात् मन का एक जगह चिपकना, उसका आधान अर्थात् स्थापन करना ही “श्रद्धा” है। हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! वे भी मेरा ही यजन करते हैं यह सत्य है, किन्तु वे विधिपूर्वक यजन नहीं करते। इसीलिए आवागमन रूप संसारचक्र में पड़े रहते हैं।

यहाँ “अविधिपूर्वक” शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्यजी अज्ञानपूर्वक कहते हैं

जैसा कि यहीं अग्रिम पद्य में कहा जाने वाला है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि सबके अन्तर्यामी रूप से मुझे न जानकर वे यज्ञादि करते हैं, इसीलिए मुक्तिरूप फल उन्हें नहीं मिलता।

श्रीशङ्करानन्दजी लिखते हैं कि “ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः” एवं “अहं क्रतुरहं यज्ञः” इत्यादि पद्यों से यज्ञ में जो अपनी व्यापकता बतला चुका हूँ, उस प्रकार का भाव उनमें नहीं रहता, यही अविधिपूर्वकता है। यह भी कहा जा सकता है कि कामनाओं को छोड़कर यज्ञादि करना ही मुख्यरूप से विहित है। वे वैसा नहीं करते क्योंकि उस पद्य में “कामकामाः” कहा गया है। इसलिए कामना बनी रहने के कारण ही उनकी संसारचक्र से निवृत्ति नहीं होती।

कई व्याख्याकारों ने अन्यदेवता पद से शिष्ट सम्प्रदाय में प्रसिद्ध या शास्त्रों में प्रसिद्ध पञ्चदेवोपासना का प्रसङ्ग उठाया है, किन्तु यज्ञ-धातु यज्ञ अर्थ में ही सुप्रसिद्ध है और यज्ञ में इन्द्र वरुण देवताओं के ही उद्देश्य से हवि दी जाती है। इसलिए उनका वह प्रसङ्ग यहाँ ठीक नहीं उतरता। पञ्चदेवता तो ब्रह्म के ही स्थान में ध्यान की सुविधा के लिए माने जाते हैं। उनका निराकरण भगवद्गीता में नहीं है प्रत्युत अग्रिम विभूति अध्याय में उन्हें अपना रूप समझ कर उनकी उपासना ही सूचित की गई है। (२३)

पूर्व पद्य का ही स्पष्टीकरण आगे भी किया जाता है कि वास्तव में तो मैं अर्थात् जगदीश्वर ही सब यज्ञों की आहुति आदि का भोग करने वाला और सब यज्ञों का स्वामी हूँ, किन्तु केवल कर्मकाण्ड में लगे हुए मनुष्य मुझे यथार्थ रूप से नहीं जानते अर्थात् वे यज्ञ के अधिष्ठाता इन्द्र आदि को मुझसे पृथक् ही समझते हैं। इसीलिए स्वर्ग आदि लोक को भोगकर गिर जाते हैं। इस पद्य से भगवान् यही उपदेश देते हैं कि यज्ञ आदि कर्म भी भगवान् का व्यापक स्वरूप समझ कर ही करने चाहिये। बिना ज्ञान के कर्म मुक्तिप्रद नहीं हो सकते। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध है कि भगवद्गीता में कर्म ज्ञान और उपासना, इन तीनों की ही एक कड़ी जोड़ी हुई है। इसी अभिप्राय से लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। मुख्य प्रतिपाद्यता के विषय में सन्देह करने वालों को भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों की ही समुचित रूप से व्यवस्था है, किसी का विरोध नहीं। प्रधानता अपने अपने अधिकार के अनुसार मनुष्य भिन्न-भिन्न रूप में नियत कर सकते हैं। (२४)

जो परमात्मज्ञान से शून्य रहकर ही भिन्न-भिन्न कर्म किया करते हैं, उनकी परलोक गति भिन्न-भिन्न प्रकार की अग्रिम पद्य में बतलाई जाती है कि देवताओं का

यजन करने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं, अर्थात् उनका भाव निरन्तर देवताओं में ही रहा करता है, इसलिए मृत्यु के बाद भी वे देवरूप होकर देवताओं में ही मिलते हैं और जिनका व्रत अर्थात् मन की स्थिति पितरों की ओर होती है, वे पितरों को ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् मृत्यु के अनन्तर पितृलोक में जाते हैं और जो भूतों की अर्थात् अबरकक्षा के यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि की इज्या अर्थात् पूजा में ही लगे रहते हैं, वे अपने पूज्य भूतों को ही प्राप्त करते हैं। किन्तु मेरा यजन करने वाले अर्थात् सबको मेरा ही रूप समझ कर जो यज्ञ आदि या उपासना करते रहते हैं, वे मुझे प्राप्त करते हैं।

यहाँ अन्त के “अपि” शब्द को अन्य व्याख्याकारों ने “तु” इस अव्यय के अर्थ में माना है। इसलिए पूर्व के तीन पदों से विलक्षणता दिखाई गई कि यज्ञ या उपासना में परिश्रम तो समान ही होता है, किन्तु ज्ञान और अज्ञान के कारण फल में इतना भेद होता है कि जो देव पितृलोक आदि को प्राप्त करते हैं, उन लोकों के विनाशी होने के कारण उनका फल भी विनाशी होता है, अर्थात् जब वे लोक नष्ट हो जाते हैं तो उन्हें प्राप्त कर लेते हैं, मेरा विनाश कभी होता नहीं, इस कारण वे भी विनाश के भय से सदा बचे रहते हैं। किन्तु श्रीवल्लभसम्प्रदानुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी “अपि” शब्द को अपने ही अर्थ में मानते हैं। वे इस पद्य का आशय यह निकालते हैं कि देवता आदि का यजन करने वाले अर्थात् यागादि कर्मकाण्ड में लगे हुए कर्म के अङ्ग रूप से कर्म का अङ्ग समझकर मेरी उपासना करने वाले पुरुष भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि मैं ही सर्वरूप हूँ। देवता पितर आदि भी मेरा ही रूप हैं, इसलिए उन्हें प्राप्त करने वाले भी परम्परा सम्बन्ध से मुझे ही प्राप्त करते हैं, किन्तु इतना भेद रहता है कि देवता पितर आदि के उपासक परम्परा से मुझे प्राप्त करते हैं और मुझे ही सर्वरूप मानकर ज्ञानपूर्वक मेरी उपासना करने वाले सीधे ही मुझे प्राप्त कर लेते हैं। इससे अन्त में सबको ही भगवत्प्राप्ति बतलाई गयी। केवल साक्षात् या परम्परा मात्र का ही भेद रहता है।

कई व्याख्याकार तीसरे चरण के भूतोपासकों में भद्रकाली, दुर्गा आदि के उपासकों को लेते हैं। यह उनका साम्प्रदायिक आग्रह मात्र ही है। दुर्गा आदि तो पञ्चमहाशक्तियों में ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में मानी गयी हैं और उनकी उपासना परब्रह्म के पाँच रूपों की उपासना के अन्तर्गत है। उन्हें भूतोपासना में लेना सर्वथा आग्रह मात्र है। ऐसे आग्रह का भगवद्गीता में कोई स्थान नहीं है। जैसा कि कई मनचले मनुष्य “मद्याजिनः” पद का “मद्यमजन्ति” विग्रह कर मद्य पीनेवाले—यह अर्थ कर लेते हैं। वह अर्थ जिस प्रकार उपहास की सामग्री मात्र है। इसी प्रकार इन साम्प्रदायिक आग्रह वालों का दुर्गा,

भद्रकाली आदि अर्थ भी केवल उपहास की ही सामग्री है। वास्तव में तो इस पद्य में जो “पितृव्रत” शब्द आया है, इससे यही ध्वनित होता है कि छान्दोग्य उपनिषद् में जो तीन प्रकार की गतियाँ बतलाई गयी हैं, जिनका कि विस्तृत विवरण हम अष्टम अध्याय के अन्त में श्राद्ध के व्याख्यान में लिख चुके हैं, उसी का यहाँ संक्षिप्त संकेत स्पष्ट विदित होता है कि देवताओं का यजन करने वाले देवयान मार्ग में जाते हैं, पितरों के उपासक पितृयाण मार्ग में और जिनका मन भूतों में अर्थात् धन, सम्पत्ति, पशु आदि में ही लगा रहता है वे उन भूतों को ही प्राप्त करते हैं, अर्थात् इसी लोक में उनका आवागमन होता रहता है, कोई परलोक गति उनकी नहीं होती। किन्तु इन सब कर्मों से अपना पीछा छुड़ाकर जो सदा परमात्मा में ध्यान लगाते हैं, वे मुझे अर्थात् परमात्मा को ही प्राप्त कर लेते हैं—यही पद्य का आशय उपयुक्त प्रतीत होता है। (२५)

पूर्वोक्त प्रकार से मेरी भक्ति सबसे बड़ा फल देने वाली है, इतना ही नहीं, किन्तु देवताओं की भक्तिरूप यज्ञादि में जितना द्रव्य व्यय और आडम्बर करना पड़ता है, वह भी मेरी भक्ति में नहीं है—यह बात अग्रिम पद्य में कहते हैं कि जो कोई पुरुष भक्ति से अर्थात् प्रेम से पत्ता पुष्प कच्चे फल या अन्ततः जल मात्र भी मुझे अर्पण करता है, वह प्रेम से अर्पण किया गया है ऐसा मानकर मैं उसका स्वीकार कर लेता हूँ। मैं यद्यपि सदा ही आप्तकाम निरन्तर तृप्त हूँ, तथापि आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को प्रयत्न अर्थात् वश में रखकर प्रेम से यह दिया गया है, ऐसा समझ कर ही मैं उसका स्वीकार अवश्य करता हूँ।

यहाँ “अश्नामि” पद दिया गया है। उसका अर्थ भोजन करना ही होता है और इस पद्य में फल या जल दो ही भोज्य पदार्थ कहे गये हैं। पत्र या भोज्य पदार्थ नहीं, इससे कई व्याख्याकार यह तात्पर्य निकालते हैं कि जैसे भक्त लोग प्रेम में विह्वल होकर मुझे सब कुछ देते हैं। इसी प्रकार मैं भी उनके प्रेम का आदर करता हुआ सब पदार्थों को ही खा लेता हूँ। चाहे वे खाने की वस्तु हो या न हों।

भगवान् कृष्ण ने यह केवल वाचिकरूप से ही नहीं कहा है, किन्तु कई जगह क्रियारूप में भी इसे दिखलाया है। जैसा कि महाभारत के उद्योगपर्व के भगवद्गीता पर्व में स्पष्ट लिखा है कि जब दुर्योधन ने अनेक सामग्री बनाकर आपसे भोजन का आग्रह किया, तब आपने यही उत्तर दिया कि भोजन दो प्रकार से होता है या तो परस्पर प्रेम हो तब भोजन किया जाता है, अथवा कोई पुरुष आपत्ति में पड़ा हो उसे भोजन न मिलता हो तब वह कहीं भी खा लेता है। यहाँ दोनों ही बातें नहीं हैं। न तो तुम्हारा हमारे साथ प्रेम है, न हम पर ऐसी आपत्ति ही है। “नच संप्रीयसे राजन् नचैवापद्गता वयम्”। इसी के अनुवाद रूप से लोक में भी एक कहावत प्रसिद्ध है कि—

“तोहिं प्रीति न मोहि आपदा”।

इस प्रकार दुर्योधन को उत्तर देकर आप विदुर के घर भोजन करने चले गये। महाभारत में तो इतना ही प्राप्त होता है, किन्तु शिष्टसम्प्रदाय में यह भी प्रसिद्धि है कि जिस समय आप विदुर के घर पहुँचे, उस समय विदुर कहीं कार्यवश बाहर गये हुए थे। आपने वहाँ पहुँच कर विदुर की पत्नी से कहा कि मुझे बड़ी भूख लगी है, कुछ खाने को शीघ्र दो। तब विदुर की स्त्री शीघ्रतावश कुछ केले घर में से उठा लाई और प्रेम में इतनी विह्वल थी कि फलों का गुद्दा तो नीचे डालती जा रही थी और छिलके भगवान् के हाथ में देती जाती थी, आप बड़े आनन्द से उन छिलकों को ही खा रहे थे। इतने में विदुर बाहर से आ गये और अपनी स्त्री से कहने लगे कि अरी पगली तू यह क्या कर रही है। श्रीकृष्ण को ये छिलके क्यों खिला रही है। तब उसे भी होश आया और छिलके फेंककर फल भगवान् के हाथ में देने लगी, तब भगवान् कृष्ण ने उपालम्भ देते हुए विदुर से कहा कि विदुर ! तुमने आनन्द ही बिगाड़ दिया। उस प्रेम के छिलके के समान भोजन का आनन्द अब इन फलों में कहाँ है आदि।

इस पद्य में भक्ति पद दो बार आया है। एक “भक्त्या प्रयच्छति” और दूसरा “तदहं भक्त्युपहतम्”। इसका आशय श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि व्याख्याकार यह बतलाते हैं कि जो पदार्थ दिये जाँय, उनमें मुख्य रूप से भक्ति ही प्रधान रहनी चाहिए, अन्य किसी गुण की विशेष आवश्यकता नहीं। जैसा कि भक्तों के बनाये हुए इस पद्य में भी स्पष्ट कहा है कि —

व्याधस्याचरितं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का  
कुब्जायाः किमु नामरूपमधिकं किंतत्सुदाम्नो धनम् ।  
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्  
भक्त्या तुष्यति केवलं नहि गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ॥

अर्थात् भगवान् केवल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, अन्य गुणों की कोई आवश्यकता नहीं। अन्य गुणों का अभाव प्रसिद्ध भक्तों में बतलाया जाता है कि व्याध (शिकारी) में शुद्ध आचार कहाँ था। ध्रुव की अवस्था क्या थी, गजेन्द्र में कौन सी विद्या थी, कुब्जा में रूप कहाँ था। सुदामा के पास कौनसा धन था, विदुर का वंश कौन सा ऊँचा था, (वे तो दासी-पुत्र थे) यादवों के राजा उग्रसेन का पुरुषार्थ क्या था। (जिन्हें अपने पुत्र ने ही कैद कर दिया था) तथापि भक्ति के कारण ही ये सब भगवान् के प्रिय बने और प्रसिद्ध भक्त कहलाये।

कदाचित् कहो कि पद्य में जो “प्रयतात्मनः” पद आया है उससे तो यह भी सिद्ध होता है कि भक्त मनुष्य का अन्तःकरण भी पवित्र रहना चाहिये। इससे तो अन्तःकरण में दोष न होना भी स्पष्ट बतलाया गया, फिर गुणों की आवश्यकता नहीं कैसे मानी जायेगी ? तो इसका उत्तर है कि भगवान् में प्रेम होने पर अन्तःकरण तो अपने आप ही पवित्र हो जाता है। उसके लिए और विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। (२६)

मैं परमात्मा इतना सुलभ हूँ, ऐसा सोचकर हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! तू जो कुछ करता है या अपने देह धारण के लिए जो कुछ खाता है या परलोक में शुभ फल प्राप्त करने के लिए जो हवन, दान या तप करता है उन सब कर्मों को मुझ परमात्मा को ही समर्पण कर दिया कर।

यहाँ पहिले पद से सामान्य रूप से सभी कर्म कह दिये गये। आगे के पदों में उस प्रथम पद का ही विस्तार किया गया है। प्राणी मात्र को देह धारण के लिए भोजन आवश्यक होता है, इसलिए उसे सब कर्मों में प्रथम स्थान दिया गया। आगे जो यज्ञ, दान और तप नाम के तीन कर्मों का विवरण है वह उपनिषद् के आधार पर है। छान्दोग्य उपनिषद् में आश्रमों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि “त्रयोधर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयः” (छा० १।२३।१)। इसका तात्पर्य है प्रथम आश्रम सबका उपजीव्य होने के कारण गृहस्थाश्रम है। उसमें तीन प्रकार के धर्म होते हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। दूसरा वानप्रस्थ आश्रम बतलाया है, जिसमें तपस्या ही मुख्य है और तीसरा आश्रम वहाँ नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अर्थात् जीवन भर ब्रह्मचारी ही रहकर समय व्यतीत करना—यह बतलाया गया है। आगे कहा है कि इन तीनों आश्रमों का युक्त रूप से पालन करने वाले उत्तमलोकों को प्राप्त करते हैं और जो ब्रह्म में ही अपना मन लगा देता है, अर्थात् चतुर्थ आश्रमी है, वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इनमें से यहाँ गृहस्थाश्रम के यज्ञ और दान दो धर्म ले लिये गये और तप वानप्रस्थाश्रम का ले लिया। इन्हीं तीनों अर्थात् यज्ञ, दान और तप का विवरण विशेष रूप से अद्वारहवें अध्याय में भी किया गया है और आवश्यक कार्य माना गया है। बारहवें अध्याय में भी सबसे सरल अन्तिम भक्ति का उपाय इस कर्म समर्पण को ही बतलाया गया है। वहाँ केवल कर्म सामान्य का ही निर्देश है। यहाँ उन कर्मों के अवान्तर भेद भी लिखकर सबका अर्पण बतला दिया गया है। शिष्ट सम्प्रदाय में भी ऐसा प्रसिद्ध है कि कोई भी उत्तम कार्य कर के अन्त में यह बोल दिया करते हैं कि —



कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा  
 बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतिस्वभावात्  
 करोमि यद्यत्सकलं परस्मै  
 नारायणायेति समर्पये तत्।

अर्थात् मैं जो कुछ अपने शरीर, वाणी, मन इन्द्रिय, बुद्धि, प्राण या अपनी आदत के अनुसार करता हूँ, वह सब परतत्त्व नारायण को समर्पण कर देता हूँ। इस प्रकार के शब्द मात्र सभी शिष्ट लोग बोल दिया करते हैं, किन्तु अन्तःकरण में ऐसा भाव भी रखें तो उन्हें परमसिद्धि प्राप्त हो सकती है। (२७)

ऐसे सब कर्मों का आपको अर्पण कर देने से क्या फल होगा ? सो अग्रिम पद्य में बतलाते हैं कि ऐसा करने से तुमको कर्मों के जो शुभ और अशुभ फल होते हैं और वे ही कर्मों के बन्धन कहे जाते हैं, उन बन्धनों से छुटकारा पा जाओगे, अर्थात् फिर किसी भी अच्छे या बुरे कर्म का बन्धन तुम्हें नहीं रहेगा और कर्मों का फल छोड़ देना ही मुख्य संन्यास है। इसी को कर्मयोग भी कहा जाता है। इसलिए कर्म को मेरे लिए अर्पण कर देने से तुम्हारा आत्मा संन्यास और योग दोनों से युक्त हो जायेगा और इस शरीर से ही जीवन्मुक्त दशा में प्राप्त हो जाओगे तथा इस शरीर का त्याग करोगे तो मुझमें मिल जाओगे। (२८)



## चौबीसवाँ-पुष्प

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।  
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥  
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।  
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥  
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।  
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥  
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।  
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥  
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।  
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥  
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।  
मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

आगे भगवान् कहते हैं कि मैं सब प्राणियों में एक रूप से ही रहता हूँ। मेरा न कोई शत्रु है और न मेरा कोई प्रिय ही है, किन्तु इतना होने पर भी जो भक्ति पूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरे ही आधार पर रहते हैं, इस कारण मैं भी उनमें सदा निवास किया करता हूँ।

यहाँ प्रश्न होगा कि तब तो आप भी सेवाप्रिय हुए ? जो आपका भजन या सेवा करे उनमें आप रहते हैं। जो सेवा न करें, उनमें नहीं रहते, ऐसी तो प्रायः सभी बड़े आदमियों की प्रकृति देखी जाती है कि वे सेवा करने वालों पर प्रसन्न रहते हैं और सेवा न करने वालों पर रुष्ट या उदासीन रहा करते हैं। फिर आपमें समतारूप विशेषता क्या हुई ? इसका उत्तर भगवान् ने उत्तरार्द्ध में दिया है कि वे मुझमें हैं, इसीलिए मैं भी उनमें रहता हूँ। इससे मेरी समानता में कोई बाधा नहीं पड़ती; जैसा कि सूर्य सबके लिए समान है। वह सबको ही गर्मी और प्रकाश देता है किन्तु जो मनुष्य गर्मी या प्रकाश न लेना चाहे, अपने घर की सब खिड़कियों को बन्द करके बैठा रहे तो उसे प्रकाश नहीं मिलेगा और इस कारण कोई सूर्य की विषमता नहीं बतला सकता। यह

पुरुष का ही दोष कहा जायेगा कि वह अपनी खिड़कियों को बन्द करके क्यों बैठा है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान् से प्रेम नहीं करते अर्थात् अपनी मन बुद्धि आदि को उनकी तरफ न झुकाकर संसार में उन्हें लगाये रहता है, उसने मानों अपने शरीररूपी घर की वे खिड़कियाँ ही बन्द कर लीं, तब उसे भगवान् की कृपा न मिले तो इस कारण भगवान् में कोई विषमता नहीं हो सकती। इस प्रकार और भी दृष्टान्त देखिये कि अग्नि सबका ही शीत निवारण करता है। वह सबके ही लिए समान है, किन्तु जो मनुष्य छाती खोलकर उसके सामने बैठेंगे, उनका शीत निवारण अधिकता से होगा और जो दूर दूर ही रहेंगे, उनका शीत निवारण अल्प मात्रा में ही होगा। इससे अग्नि की भी कोई विषमता नहीं समझी जा सकती। इसी प्रकार कामधेनु, कल्पवृक्ष आदि ये सबके ही लिए समान हैं, किन्तु इनके पास जाने वाले ही इनसे लाभ उठाते हैं। इस कारण उनमें भी कोई विषमता नहीं समझी जाती। इसी प्रकार भगवान् से प्रेम करने वाले अपने प्रेम के कारण ही उनकी कृपा प्राप्त करते हैं। इससे भगवान् पर भी विषमता का दोष नहीं लगाया जा सकता। (२९)

आगे के पद्यों में भक्तिमार्ग सबके लिए सुलभ है, इस बात का प्रतिपादन किया जाता है। प्रथमतः अपने पुराने कर्मों के कारण कोई भी भक्तिमार्ग से वञ्चित नहीं हो सकता यही बतलाते हैं कि कोई भी मनुष्य चाहे कितना भी दुराचारी अर्थात् दुष्ट आचरण करने वाला पापी रहा हो, किन्तु यदि वह भी और तरफ से मन हटाकर मेरा भजन करने लगे तो उसे उस भजन करने की दशा में सत्पुरुष ही मानना चाहिये, अर्थात् पुराने पापों को याद कर अब उसका तिरस्कार किसी को नहीं करना चाहिये, क्योंकि अब वह अच्छे मार्ग में लग गया।

यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसा दुराचारी पापी मनुष्य भगवान् की भक्ति में लगेगा ही क्यों ? किन्तु ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि कर्मों की विचित्र महिमा है। कोई भी मनुष्य सदा ही पाप ही पाप करता हो ऐसा नहीं होता, अपितु पाप करने वालों से भी अच्छे कर्म भी कभी बन ही जाते हैं। इसी प्रकार बड़े धर्मपरायण रहने वालों से भी कभी कोई पापकर्म भी हो ही जाते हैं। सभी कर्म समय समय पर अपना फल देते ही रहते हैं। उन कर्मों के अनुसार ही मनुष्यों की चित्तवृत्तियाँ भी बना करती हैं। इस क्रम के अनुसार दुराचारियों में भी कभी किसी शुभ कर्म का उदय होने से उनकी चित्तवृत्ति भी भगवान् की भक्ति में लग सकती है। जैसा कि प्राचीनकाल से वाल्मीकि आदि की और वर्तमान युग के तुलसीदास एवं सूरदासजी आदि की भी कथा प्रसिद्ध है कि थोड़ा संकेत मिलते ही उनकी चित्तवृत्ति बदल गई और वे भगवान् के परम भक्त बन गये। (३०)

इसी बात को अग्रिम पद्य में भगवान् ने भी कहा है कि वह दुराचारी पुरुष भक्ति में लगते ही बहुत शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है, अर्थात् पूर्व की उसकी दुराचार की वृत्तियाँ अतिशीघ्र बदल जाती हैं और वह पक्का धर्माचरण करनेवाला बन जाता है तथा नित्य शान्ति को प्राप्त कर लेता है। भगवान् अर्जुन को ही यह अधिकार देते हैं कि हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! तुम स्वयं ही सबके सामने प्रतिज्ञा की घोषणा कर दो कि मेरा भक्त कभी भी नाश को प्राप्त नहीं हो सकता। जिसने मुझ परमात्मा में अपना मन लगा दिया, वह अवश्य ही सबसे बड़ा धर्मात्मा बनेगा और सबसे बड़ी मोक्षरूप शान्ति को अवश्य ही प्राप्त करेगा। (३१)

आगे जाति पाँति का भी कोई बन्धन भक्ति मार्ग में नहीं है इसका निरूपण करते हैं कि हे पार्थ ! मेरा आश्रयण करने वाले अर्थात् परमात्मा की ही भक्ति करने वाले, जिन्होंने पापयोनियों में जन्म प्राप्त किया है “पापयोनि” पद से यहाँ अन्त्यज या म्लेच्छ आदि लिए जाते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार वर्ण होते हैं, इसी प्रकार इन चारों वर्णों से बहिर्भूत मनुष्यों को भी चार भागों में ही बाँटा गया है। जिन भागों के नाम हैं—अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दास और दस्यु। अन्त्यज और अन्त्यावसायी भिन्न-भिन्न वर्णों का परस्पर मेल होकर वर्णसङ्कर रूप से उत्पन्न हुआ करते हैं और दास वे हैं जो निकृष्ट जाति के होकर भी चारों वर्णों के द्वारा सेवक रूप से स्वीकार कर लिये जाते हैं एवं जो वर्णों से सर्वथा ही अस्वीकृत हैं वे “दस्यु” नाम से कहे जाते हैं। उनके भी भगवान् मनु ने दो भेद किये हैं। एक आर्यभाषा बोलने वाले और दूसरे म्लेच्छभाषा बोलने वाले। संस्कृत से क्रमशः विकृत होकर जो अपभ्रंश भाषाएँ बनी हैं वे आर्यभाषा कहलाती हैं और जो मूलतः ही संस्कृत से भिन्न हैं वे म्लेच्छभाषा कही जाती हैं। ये सब वर्णों से बहिर्भूत ही “पापयोनि” शब्द से लिये गये हैं। पाप करने से ही ये सब योनियाँ मिलती हैं, इस कारण इन्हें “पापयोनि” कहा गया। इनके अतिरिक्त वर्णों में अन्तर्गत होने पर भी जो वेद का अधिकार नहीं रखते वे स्त्री और शूद्र भी यहाँ इसीलिए गिने गये कि वे भी वेदोक्त कर्मकाण्ड में अधिकारी न होने के कारण भक्ति मार्ग के ही अधिकारी हैं। वैश्य का ग्रहण यहाँ इसीलिए किया गया है कि वे अपने कृषि, व्यापार आदि कार्यों में लगे रहने के कारण कर्मकाण्ड आदि का समय प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनका उद्धार भी भक्तिमार्ग से हो सकता है। वर्तमान में भी देखा जाता है कि वैश्य वर्ग के लोग ही अधिकतर भक्तिमार्ग में लगे रहते हैं। ये सब भी भक्तिमार्ग के द्वारा परमगति को प्राप्त कर लेते हैं। (३२)

इससे कोई यह न समझ ले कि वेद का अधिकार न रखने वालों के लिए ही

भक्तिमार्ग है, इसी शङ्का के निवारण के लिए आगे भगवान कहते हैं कि उक्त प्रकार के सामान्य अधिकारी भी जब मेरा आश्रयरूप भक्ति प्राप्त कर परमगति प्राप्त कर लेते हैं, तब फिर पवित्र ब्राह्मण या राजर्षियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, अर्थात् वे तो भक्तिमार्ग के द्वारा शीघ्र ही परमगति प्राप्त कर सकेंगे। इसलिए अन्त में अर्जुन को उपदेश देते हैं कि तुम भी इस अनित्य अर्थात् शीघ्र ही नष्ट होने वाले और निरन्तर दुःख ही जिसमें रहता है—ऐसे लोक अर्थात् मनुष्य जन्म को प्राप्त कर मेरे परमात्मा के ही भजन में लगे रहो। इसी से सब प्रकार के पापों से बच जाओगे। युद्ध करने में जो पाप की शङ्का तुम्हें हो रही है उसको भी मेरा आश्रय प्राप्त कर छोड़ दो। (३३)

आगे भजन का प्रकार बतलाते हैं कि मुझमें ही मन लगाओ, मेरी ही भक्ति अर्थात् श्रवण, कीर्तन, भजन आदि किया करो। मेरा ही (परमात्मा का) यज्ञ से पूजन किया करो, नमस्कार भी मेरे प्रति ही करते रहो। इस प्रकार अनन्यभाव से मेरा सेवन करते हुए अपने अन्तःकरण को योगयुक्त रखोगे और मुझ परमात्मा को परायण अर्थात् परमप्राप्य समझोगे तो मुझको ही प्राप्त कर लोगे।

भगवान् यद्यपि सर्वव्यापक हैं। वे तो सबको ही सदा ही प्राप्त हैं, इसलिए पूर्वोक्त कण्ठचामीकर न्याय से ही यहाँ प्राप्ति समझनी चाहिये। तात्पर्य यही हुआ कि मैं सदा ही सबको प्राप्त हूँ, किन्तु तुम लोग मुझे भूले हुए हो। प्रेमभाव से जब मेरी ओर लगोगे तो अनुभव कर सकोगे कि मैं तुम्हें प्राप्त हो गया।

यहाँ व्याख्याकार श्रीवैङ्कटनाथ ने पूर्व पूर्व की प्राप्ति का साधन उत्तरोत्तर को बतलाया है, अर्थात् अपने मन को परमात्मा में लगा देना मुख्य कर्तव्य है, यदि यह तुमसे न हो सके तो मेरे भक्त बनो अर्थात् प्रेम पूर्वक मेरी श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति किया करो, यदि वह भी न कर सको तो मेरी बाह्यपूजा गन्धपुष्प आदि से किया करो, (यही “मद्याजी” शब्द का अर्थ है) अथवा यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा का प्रेम तुम्हारे मन में नहीं उत्पन्न होता तो याग आदि कर्मकाण्ड किया करो। फल छोड़ कर कर्मकाण्ड करने से प्रेमरूपा भक्ति तुम्हें प्राप्त हो जायेगी। यदि इतना भी न कर सको तो मुझे सदा नमस्कार करते रहो, अर्थात् अपने आपको नीचा समझ कर और परमात्मा को अपना आराध्य उच्चकोटि का समझ कर हाथ जोड़ना आदि व्यापार किया करो। इससे भी क्रमशः सिद्धि प्राप्त कर लोगे।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या है, उसमें कहा गया कि पहिले तीन विशेषणों से पुरुषोत्तम के ही उद्देश्य से ज्ञान, उपासना और कर्म का विधान किया, चौथे नमस्कार से प्रपत्ति अर्थात् शरणगति बतलाई गई। अपने आपको भगवान् के ऊपर छोड़ देना ही मुख्य शरणागति है। इससे ही यहाँ नमस्कार शब्द से कहा गया

है। इस प्रकार मन, वाणी और कर्म आदि से मेरी-पुरुषोत्तम की आराधना करते हुए मुझको ही प्राप्त कर लोगे, अर्थात् पोषण रूप मेरा अनुग्रह पा जावोगे और मेरे ही वैकुण्ठ आदि लोकों को भी प्राप्त कर लोगे। आगे चतुर्थ चरण को वे पृथक् लगाते हैं कि उन लोकों को प्राप्त करके भी जब पुष्टिमार्ग के अनुसार आत्मा का अर्थात् अपने जीवभाव का मेरे साथ ही योग करते रहोगे तब मुझमें ही लीन हो जाओगे। इस प्रकार अपने पुष्टिमार्ग के अनुसार उन्होंने व्याख्या की है।

श्रीशङ्करानन्दजी इस पद्य का अवतरण देते हैं कि अर्जुन का यह आशय समझकर कि निर्विशेष ब्रह्म का तो मुझे अधिकार नहीं, तब मैं आपका भजन किस प्रकार कर सकता हूँ ? भगवान् उत्तर देते हैं कि मुझमें मन लगाओ अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को मेरा ही रूप समझ कर जिस पदार्थ को भी देखो, उसमें मेरा ही रूप देखा करो। अथवा दूसरा यह भी अभिप्राय कहा जा सकता है कि मैं जो नित्ययुक्तस्वरूप हूँ, उस मेरे स्वरूप में ही मन लगावो एवं यज्ञ आदि कर्म करने की इच्छा हो तो जिन देवताओं का यजन करो, उनमें भी मेरा ही भाव रक्खा करो अर्थात् मेरी विभूति समझ कर उनका यजन किया करो। सदा मेरे ही भक्त बने रहो अर्थात् यज्ञ आदि कर्मों में भी “ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः” इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मभाव ही सर्वत्र रक्खा करो और कुत्ते चाण्डाल आदि तक को मेरा रूप मानकर—मैं ईश्वर को प्रणाम करता हूँ इस बुद्धि से कुत्ते, चाण्डाल आदि सबको प्रणाम किया करो। अथवा जिन गुरु पिता माता आदि को प्रणाम करते हो उन्हें भी मेरा रूप समझ कर ही प्रणाम किया करो और सब अवस्थाओं में परमात्मा परब्रह्म ही मेरी गति है—इस प्रकार मुझको ही अपना परमप्राप्य समझते रहो। इस प्रकार कर्मयोग में अपने अन्तःकरण का सम्बन्ध जोड़ते हुए अन्त में मुझे ही प्राप्त कर सकोगे अर्थात् संसार बन्धन से मुक्त हो सकोगे।

यह पद्य यहाँ गीता के मध्य में कहा गया है। अष्टारह अध्याय की गीता का पूर्वार्द्ध यहाँ समाप्त होता है, यहाँ भी यह पद्य कहा और गीता की समाप्ति में अष्टारहवें अध्याय के अन्तिम उपदेश के पूर्व भी कुछ पाठभेद से यह पद्य पुनः दोहराया गया है। इससे सिद्ध होता है कि यह उपदेश भगवान् को पूर्व से अभिमत है, केवल भेद इतना ही है कि यहाँ भक्तिमार्ग के अङ्ग रूप से यह पद्य आया है और अन्त में सब गीता के साररूप से अर्थात् ज्ञानकाण्ड के भी निष्कर्ष रूप से गुह्यतम कह कर इस पद्य का उपदेश दिया है। इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् की शरणागति, उपासना और ज्ञान दोनों भागों में ही अत्यावश्यक है। (३४)

नवाँ अध्याय समाप्त ।

## दशम-अध्याय

### पचीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवनानुवाच।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।  
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥१०॥१॥  
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।  
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥२॥  
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।  
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥  
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।  
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥  
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।  
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

आगे भगवान् और अपना स्वरूपविस्तार बतलाने के लिए दशम अध्याय का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि हे बड़ी भुजा वाले अर्जुन ! तुम और भी मेरा उत्तम वचन भली-भाँति सुनो, जो कि मैं तुम्हारे हित की इच्छा से कहूँगा, क्योंकि तुम मेरे उपदेश सुनकर प्रसन्न हो रहे हो, इसलिए मेरी भी तुम्हें उपदेश करने में प्रवृत्ति बढ़ रही है। गम्भीर अर्थ बार बार कहने पर ही समझ में आ सकता है। भगवत्तत्त्व तो सबसे अधिक गम्भीर है, इसलिए उसके बार बार कहने में पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये। उसी गम्भीर अपने तत्त्व को कहना प्रारम्भ करते हैं कि मेरे सर्वोच्चप्रभाव अथवा प्रकट होने को देवता और ऋषि कोई भी नहीं जानते, क्योंकि मैं सब देवता और सब बड़े बड़े ऋषियों से भी पहिले वर्तमान रहता हूँ और उन देवता और महर्षियों का सब प्रकार का कारण अर्थात् उपादान कारण और निमित्त कारण भी मैं ही हूँ, तब मुझसे पीछे उत्पन्न होने वाले और मेरे ही उत्पन्न किये हुए वे देवता और महर्षि मेरे प्रभाव और प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में क्या जान सकते हैं। अपने मूल कारण का या उसके सामर्थ्य का पूरा विस्पष्ट ज्ञान उन्हें हो ही नहीं सकता। (१-२)

आगे भगवान् अपने ज्ञान का सर्वोत्तम फल बतलाते हुए कहते हैं कि जो सब पुरुषों में चेतन और अचेतन की एकरूपता अर्थात् आत्मा और शरीर के पृथक् पृथक् होने का स्पष्ट ज्ञान रखता है, आत्मा और शरीर को पृथक् पृथक् न समझना ही “सम्मूढ़ता” कही जाती है, उसका अभाव ही यहाँ “असम्मूढ़” पद से कहा गया है और जो मुझको कभी जन्म न लेने वाला, अनादि काल से एक रूप ही रहने वाला और सब लोक का नियमन करने वाले सूर्य, चन्द्र और इन्द्र आदि का भी नियामक मुझको जान लेता है, वह मेरी भक्ति को रोकने वाले सब पापों से मुक्त हो जाता है। प्रतिबन्धक कोई न रहने पर जैसे सब कार्य अपने स्वरूप में भली-भाँति उदित होते हैं, इसी प्रकार भक्ति के प्रतिबन्धक पापों के न रहने पर भक्ति अच्छे रूप में प्रकट हो जाती है।

यहाँ श्रीरामानुजाचार्य ने अपने भाष्य में सब विशेषणों का प्रयोजन भलीभाँति खोला है। उनकी व्याख्या के अनुसार “अज” इस विशेषण से उत्पन्न होने वाले और अतएव बदलते रहने वाले संसार के पदार्थों से अपनी विलक्षणता भगवान् ने दिखलायी। यद्यपि जीव भी अजन्मा है, जैसा कि द्वितीय अध्याय में “अजो नित्यः श्वाश्वतोऽयं पुराणः” इत्यादि के द्वारा कह चुके हैं, तथापि उनका भिन्न-भिन्न शरीरों के साथ सम्बन्ध तो होता ही है, इस कारण शरीर विशिष्टता के रूप में उसका जन्म कहा जा सकता है। मेरा परब्रह्म के रूप में किसी जड़शरीर से भी सम्बन्ध नहीं, इस कारण मैं सर्वथा अजन्मा ही हूँ यह “अज” शब्द का तात्पर्य हुआ। यद्यपि अवतार रूप में शरीर सम्बन्ध होता है, तथापि वह शरीर सम्बन्ध अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण किया जाता है, इसलिए वह अजन्मा होने में बाधा नहीं डालता और कई सम्प्रदाय तो अवतारों का भी जड़रूप शरीर नहीं मानते, वे तो कहते हैं कि अवतार रूप में भगवान् “आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि” हैं, अर्थात् उनके हाथ पाँव, मुख आदि सब शरीर के अवयव उनके स्वरूपभूत आनन्द के ही बने हुए हैं। इस कारण जड़सम्बन्ध न होने से यह “अज” विशेषण अच्छे प्रकार से उपपन्न हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न होगा कि ऐसा जड़ सम्बन्ध का अभाव तो मुक्त पुरुषों में भी देखा जाता है, अर्थात् जिन्होंने संसार से मोक्ष प्राप्त कर लिया, उनका तो आगे जड़शरीर से किसी प्रकार का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं, इसलिए उनसे भी विलक्षणता बतलाने को दूसरा विशेषण “अनादि” दिया है। यद्यपि मुक्त पुरुषों का आगे जड़शरीरों से सम्बन्ध नहीं रहेगा, किन्तु पहिले तो रहा है। इसलिए वे अनादिरूप में सदा से ही अज नहीं कहे जा सकते और मैं अज होता हुआ अनादि भी हूँ, अर्थात् मेरा जड़ शरीर से सम्बन्ध किसी काल में भी नहीं हुआ—यही मुक्त पुरुषों से मेरी विलक्षणता है। यहाँ पुनः शङ्का होना संभव है कि



जैसे मनुष्यों का एक कोई राजा होता है, वह भी मनुष्यों की ही जाति का है। अपने पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों के कारण उसे मनुष्यों का स्वामित्व प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार देवताओं का स्वामी इन्द्र भी देवताओं की जाति का है। यों ही विचार करने पर आप यद्यपि सब ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं तो भी ब्रह्माण्ड से विलक्षण नहीं हो सकते ? ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जीवविशेष आपको भी मानना उचित होगा। जैसा कि योग सूत्रकार ने लिखा भी है कि “पुरुषविशेष ईश्वरः” अर्थात् ईश्वर भी एक प्रकार की विशेषता रखने वाला सांख्य के माने हुए पुरुषों में से ही एक है। इसी से अपनी विलक्षणता बतलाते हुए भगवान् उत्तर देते हैं कि मैं सब लोकों का “महेश्वर” हूँ, अर्थात् ईश्वरों का भी ईश्वर हूँ। इस कारण मैं ब्रह्माण्ड से पृथक् ही हूँ। पूर्वोक्त राजा आदि की युक्ति मुझ पर लागू नहीं हो सकती। इस विशेषण से यह भी तात्पर्य निकलता है कि मेरी महेश्वरता अर्थात् ईश्वरों का भी नियमन करना स्वभावसिद्ध है। जो ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हैं उनका स्वभावतः ब्रह्माण्ड का नियमन नहीं बन सकता, क्योंकि अपने आप जब ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत रहेंगे तो अपना ही नियमन अपने आप कैसे कर सकेंगे, जैसा कि राजा आदि अपने आपका नियमन नहीं कर सकते, इसलिए सब ब्रह्माण्ड का नियमन करने वाले को ब्रह्माण्ड से पृथक् ही होना चाहिये। इस प्रकार मेरी सबसे विलक्षणता समझ लेने वाला पुरुष सब पापों से मुक्त है—यह बात भी युक्तिसिद्ध हो गई। (३)

न केवल देवता, ऋषि आदि के स्थूल शरीर ही मेरे उत्पादित हैं, किन्तु उनके सूक्ष्मशरीर और उसके अन्तर्गत मन की विविध वृत्तियाँ भी मेरे ही द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणियों के कर्मानुसार उत्पन्न की जाती हैं। इसी विषय को स्पष्ट करने के लिए मनोवृत्तियों के कुछ नाम यहाँ गिनाए जाते हैं। इन वृत्तियों में भी कई एक के व्याख्याकारों के मतानुसार भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। उनमें से हम यहाँ श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार ही अर्थ लिख देते हैं। अन्तःकरण के सूक्ष्म अर्थों को जानने के - सामर्थ्य को बुद्धि कहा जाता है, जिसके होने से मनुष्यलोक में बुद्धिमान् कहा जाता है। आत्मा और अनात्मा के भेद को यथार्थ रूप से समझ लेना ज्ञान है। जो पदार्थ जिस समय बुद्धि के सामने हो उसके समझने में भ्रम न होना अर्थात् झटपट उसके समझ में आ जाने के सामर्थ्य को ही “असम्मोह” शब्द से कहा गया है। चित्त के विकारों के कारण उपस्थित होने पर भी विकार न होने का जो मन में सामर्थ्य है, वही “क्षमा” कही जाती है। जिस विषय का जैसा ज्ञान अपने चित्त में है उसे उसी रूप में दूसरे के चित्त में भी उत्पन्न करने की अपनी मनोवृत्ति को “सत्य” कहा जाता है। जैसा कि वेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कहा गया है कि कौन मनुष्य सदा सत्य ही बोल सकता है, क्योंकि

मनुष्य का ज्ञान ही अस्थिर है। जब ज्ञान ही निश्चित न होगा तो उससे उत्पन्न वाणी कैसे सत्य हो सकती है ? इस प्रकार शङ्का कर वहाँ यही उत्तर दिया गया है कि अपने मनोभावों के अनुकूल कहने की जो मन में भावना हो उसे ही सत्य कहा जाता है। बाह्य इन्द्रियों के विषयों पर जाने की वृत्ति को रोकने की जो मनोवृत्ति हो उसे दम कहते हैं और अन्तःकरण की ही विषयों में जाने की वृत्ति को रोकने को “शम” कहा जाता है। अपना अपना अभीप्सित विषय प्राप्त होने पर मन का दब जाना ही “दुःख” है। पूर्वोक्त सुख के अनुभव करने के मन के सामर्थ्य को “भव” कहते हैं। इसके विपरीत जानने से मन के सामर्थ्य को “अभाव” कहते हैं—यह अर्थ श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार लिखा गया है। श्रीशङ्कराचार्य ने तो उत्पत्ति और विनाश ही भव और अभाव का अर्थ किया है। वह चित्तवृत्ति नहीं कहा जा सकता, इसी कारण यहाँ श्रीरामानुजाचार्य का अर्थ ही लिया गया है। आगे दुःख का कारण उपस्थित होने पर उससे बचने की मन की वृत्ति को “भय” कहते हैं। इसके विपरीत किसी विषय में मन की निःशङ्कप्रवृत्ति होने का भाव ही “अभय” है। किसी प्राणी को कष्ट न देने के मन के संकल्प को ही “अहिंसा” कहा गया है। सब प्राणियों में समानभाव रखना “समता” है। जो कुछ प्राप्त हो जाय उसे ही पूर्ण मानने की चित्तवृत्ति को “तुष्टि” कहते हैं। परलोक के हित के लिए शरीर को कष्ट देने की मनोवृत्ति “तप” कही जाती है, इसके कारण मुनि लोग “तपस्वी” कहलाया करते हैं। अपने पास जो निर्वाह से अधिक धन या सामग्री है उसको अन्य प्राणियों के पास पहुँचाने की मनोवृत्ति यहाँ “दान” शब्द से समझनी चाहिये। धर्माचरण के कारण लोक में प्रसिद्धि हो, जिससे कि अन्य सज्जन भी लाभ उठावें—ऐसी मन में भावना होना ही यहाँ “यश” शब्द का अर्थ है। इसके विपरीत भाव होना ही “अयश” शब्द से यहाँ लिया गया है। ये अर्थ भी श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या के अनुसार ही चित्तवृत्ति रूपता बतलाने के लिए किये गये हैं। कई व्याख्याकारों ने “अयश” शब्द से सभी बुद्धि आदि के विपरीत भावों का ग्रहण कर लेना माना है। ये सब भाव प्राणियों में मेरे द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं।

“भाव” शब्द के कथन का यहाँ यह अभिप्राय है कि इनमें कई एक को कई जगह पूर्व का अभावरूप ही माना है। जैसा कि दुःख, सुख का अभावरूप ही है, अभय, भय का अभावरूप है इत्यादि विवरण कई ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह वास्तविक नहीं समझा जाना चाहिये, किन्तु इन सब पदार्थों को भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों के रूप में ही मानना चाहिये। जैसा कि हम अपनी व्याख्या में लिख चुके हैं।

लोकमान्यतिलक इस “भाव” शब्द को सांख्य दर्शन से लिया हुआ कहते हैं। उन्होंने अपने गीता रहस्य में यह भी स्पष्ट किया है कि सांख्य दर्शन इन सब मनोवृत्तियों

को बुद्धि की—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य नाम की सात्विक वृत्तियों का विस्पष्ट विवरण ही मानता है। उनके विचार के अनुसार ये सब बुद्धि की वृत्तियाँ होने के कारण प्रकृति से ही उत्पन्न कही जा सकती हैं, किन्तु यहाँ भगवान् ने इन सब वृत्तियों को अपने से उत्पन्न कह कर उस मत से अरुचि प्रकट की। कई निबन्धकारों ने इससे यह भी अभिप्राय निकाला है कि जिस प्रकार पाश्चात्यों के धर्मग्रन्थों में अच्छी बातें ईश्वर से उत्पन्न मानी गई हैं और बुरी बातें शैतान की करतूत मानी गई हैं - यह आर्यशास्त्रों का मत नहीं है। आर्यशास्त्रों के मत से तो अच्छे और बुरे सभी भाव परमात्मा से ही उत्पन्न माने जाते हैं। प्राणियों के अच्छे और बुरे कर्म ही उनकी उत्पत्ति के कारण बना करते हैं—यही भाव यहाँ प्रकट किया गया है। (४-५)



## छब्बीसवाँ-पुष्प

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥१०॥६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

इस पद्य की व्याख्या में सब व्याख्याकारों का पूरा मतभेद है। पद्य का अक्षरार्थ है कि सात महर्षि, पूर्व के चार और मनु ये सब मुझमें ही भाव रखने वाले अथवा मेरे प्रभाव में रहने वाले मेरे मन से उत्पन्न हुए थे जिनकी कि ये सब सन्तान लोक में व्याप्त हैं।

अब वे सात महर्षि कौन हैं और पूर्व के चार—ये स्वतन्त्र हैं या मनु के विशेषण हैं ? यदि मनु के विशेषण हैं तो मनु तो चौदह प्रसिद्ध हैं, फिर यहाँ चार ही क्यों कहे गये ? इस विषय पर भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ हैं। परममान्य भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य दोनों ही “चत्वारः” पद को मनु का ही विशेषण मानकर चार मनु—यही अर्थ करते हैं, केवल “मद्भावाः” शब्द के अर्थ में इन दोनों आचार्यों का थोड़ा सा मतभेद है। श्रीशङ्कराचार्य ने इस पद का अर्थ किया है कि ये सब मुझमें भावना रखने वाले अथवा मेरे जैसे सामर्थ्य वाले थे और श्रीरामानुजाचार्य का अर्थ है ये सब मेरे ही मत में स्थित थे अर्थात् मेरे संकल्प के अनुसार ही चलते थे। सात महर्षि इन दोनों ही के मत में भृगु आदि हैं। अब भृगु आदि शब्द से कौन सात लिये जाँय, इस विषय पर भी मतभेद है। लोकमान्यतिलक चाक्षुष मन्वन्तर के सात ऋषि—जिनके कि नाम—भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनाभ और सहिष्णु हैं वे ही मान्य आचार्यों को अभिप्रेत हैं—ऐसा लिखकर अपनी ओर से उनके मत का खण्डन भी वे करते हैं कि पद्य में “येषां लोक इमाः प्रजाः” कहा गया है। इससे उस समय वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर की प्रजा के उत्पादक सात ऋषि ही लेने चाहिये, चाक्षुष मन्वन्तर के सात ऋषियों का ग्रहण यहाँ युक्तियुक्त नहीं। यद्यपि श्रीरामानुजाचार्य ने “पूर्वे” पद से पूर्व मन्वन्तर के सात ऋषि लेना लिखा है, किन्तु यहाँ का “पूर्वे” पद तो अब से पहिले के—यही अर्थ बतलाता है, “पूर्व मन्वन्तर के” यह अर्थ करना यहाँ क्लिष्ट कल्पना ही है, यह युक्ति देकर तिलक महाशय ने वैवस्वत मन्वन्तर के ही सात महर्षि—मरीचि, अङ्गिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ

इनका ही ग्रहण माना है। इनके साथ भृगु और दक्ष का नाम और जोड़ कर इन्हें ही विष्णुपुराण आदि में “नवब्रह्माणः” कहा गया है, किन्तु यहाँ भी यह विचारने की बात रह जाती है कि गीता के इस पद्य में सात महर्षि ही कहे गये हैं और तिलक महोदय के बतलाये हुए सात नामों में भृगु का नाम नहीं आता, फिर उक्त दोनों भाष्यकारों ने जो “भृगवादयः” लिखा है, वह उनकी उक्ति कैसे लगाई जायेगी ?

किसी व्याख्याकार ने स्वायम्भुव मन्वन्तर में सबसे प्रथम उत्पन्न भृगु, अङ्गिरा मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अत्रि और वसिष्ठ—ये नाम लिखे हैं। किन्तु ये गणना में आठ हो जाते हैं, इस कारण वे भृगु और अङ्गिरा को एक ही मानते हैं। सर्वत्र श्रुतियों और स्मृतियों में पृथक् पृथक् प्रसिद्ध भृगु और अङ्गिरा को एक ही मान लेना उनका महासाहस ही कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त मान्य आचार्यों ने जो चार मनु बतलाये हैं, उनके नाम चार सावर्णि कहे हैं, किन्तु सावर्णि नाम से पुराणों में सात प्रसिद्ध हैं, उनमें से यहाँ चार ही क्यों लिये गये, इनकी उपपत्ति ठीक नहीं बैठती ?

श्रीरामानुजभाष्य के व्याख्याकार ने जो यह लिखा है कि किसी पुराण में ऐसा मिलता है कि दक्ष की कन्या में चार सावर्णि मनु एक साथ उत्पन्न हुए थे, वे ही यहाँ विवक्षित हैं, किन्तु ऐसा मान लेने पर भी पद्य में आगे जो कहा गया है कि उनकी उत्पत्ति की हुई इस समय लोक में प्रजा हैं—यह वाक्य तो संगत हो ही नहीं सकता। इन दोनों मान्य भाष्यकारों के अतिरिक्त अन्य बहुत से व्याख्याकारों ने “पूर्व चत्वारः” इन दोनों पदों को पृथक् रूप ही माना है और यही अर्थ किया है कि सात महर्षि एवं उनसे भी पूर्व के चार अर्थात् सनक आदि चार ऋषि जिनको कि पुराणों में सबसे पहिले ब्रह्मा से उत्पन्न बतलाया गया है वे और सब मनु—ये सब मेरे ही द्वारा मन से उत्पन्न किये हुए हैं क्योंकि ब्रह्मा भी मेरा ही रूप है आदि।

तिलक महाशय ने इस व्याख्या पर यह दोष दिया है कि सब पुराणों में ऐसा मिलता है कि सनक आदि चारों ऋषियों ने कोई प्रजा उत्पन्न नहीं की, वे उत्पन्न होते ही ब्रह्मज्ञानी हो गये और सदा कुमार अवस्था में ही रहे। इसी आधार पर उन चारों को ही “सनत्कुमार” कहा जाता है। यहाँ “सनत्” इस अव्यय का अर्थ सदा है। ऐसी स्थिति में पद्य के चौथे चरण में जो कहा गया है कि उनकी ही सब प्रजा लोक में व्याप्त है वह संगत नहीं होगा, किन्तु तिलक महाशय यह भूल गये कि संस्कृत भाषा में लक्षणा का एक उदाहरण “छत्रिणो यान्ति” दिया जाता है। जहाँ कुछ मनुष्य छत्ता लिये हुए हों और कुछ बिना छत्ते के हों तो भी उस संपूर्ण समुदाय को छत्री पद से कह दिया जाता है, तब जिस प्रकार छत्र वाले और बिना छत्र वाले दोनों का समुदाय

लक्षणा से “छत्री” पद द्वारा कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी सात ऋषि और चौदह मनु ये सब तो प्रजा के उत्पादक हैं और सनक आदि चार प्रजा उत्पन्न करने वाले नहीं हैं, उन सबका समुदाय “येषां लोक इमाः प्रजाः” इस वाक्य से लक्षणा द्वारा कह दिया जायेगा। कई व्याख्याकारों ने इस आपत्ति का यह भी समाधान किया है कि प्रजा अर्थात् वंश दोनों प्रकार से माना जाता है जन्म देने से और विद्या देने से। तब सनक आदि चारों ने भी आगे के लागों को विद्यादान किया, इसलिए वे भी वंश प्रवर्तक माने जा सकते हैं। तिलक महाशय ने यहाँ पूर्व के चार इन पदों से महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय नामक प्रकरण में कहे गये और वैष्णव सम्प्रदायों में प्रसिद्ध वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चारों व्यूहों का निर्देश माना है, किन्तु ये चारों तो वैष्णव सम्प्रदायों में भगवान् के रूप ही माने जाते हैं, इनका यहाँ ऋषियों और मनुओं के प्रकरण में कहना संगत नहीं जान पड़ता। ब्रह्मसूत्रों में अन्य दर्शनों के साथ इस व्यूहवाद का खण्डन किया गया है, उसी व्यूहवाद को भगवद्गीता में उठाना भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त भी व्याख्याकारों की अनेक कल्पनाएँ इस पद्य की व्याख्याओं में मिलती हैं। किसी किसी महानुभाव ने “चत्वारः” पद का एक देशन्याय से चौदह अर्थ भी कर डाला है, जिससे चौदह मनु यह अर्थ निकल आया। सबका यहाँ विवरण देकर सम्माननीय व्याख्याताओं पर कटाक्ष करना अनुचित होगा, इसलिए हम अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्या यहाँ लिख देते हैं। हमारे विचार से सात ऋषि यहाँ भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ लिये जाने चाहिये, क्योंकि इनकी ही हिरण्यगर्भ के मन से उत्पत्ति पुराणों में प्राप्त होती है और इनमें से ही कई प्रजा के उत्पादक भी पुराणों में माने गये हैं। श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य का भृगु आदि सात ऋषि कहना भी इस प्रकार उपपन्न हो जाता है। इससे आगे “पूर्वे चत्वारः” को पृथक् ही मानना चाहिये और इसका अर्थ सबसे पूर्व उत्पन्न सनक आदि चार ही करना उचित है। ये प्रजा के उत्पादक नहीं ? इस आपत्ति का समाधान पूर्व किया जा चुका है। इसके आगे “मनवस्तथा” इन पदों से चौदहों मनु लिये जाने चाहिये। यद्यपि अभी तक सात ही मनु हुए हैं, शेष सात आगे होने वाले हैं उनकी प्रजा इस समय सामने नहीं है तथापि जो प्रजाएँ सामने हैं वे भी तो अतीत मनुओं की हैं, इससे चौथे पाद का विरोध नहीं होगा। यहाँ भी पूर्वोक्त छत्रिन्याय की लक्षणा समझ लेनी चाहिये। इनमें ऋषियों की सन्तान में ब्राह्मण वर्ग हैं और मनुओं की सन्तान में क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रजा हैं। ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध हिरण्यगर्भ भी भगवान् का ही एक रूप है, इसलिए उसके उत्पादित ऋषि मनु आदि को भी भगवान् ने अपने मन से उत्पादित ही यहाँ कहा। ये सब मेरे ही वैष्णवभाव से युक्त थे, इसीलिए अग्रिम पद्य में इन सबको अपनी विभूति के अन्तर्गत ही बतलाया है। (६)

इस कही हुई मेरी विभूति अर्थात् विस्तार और ऐश्वर्य-सामर्थ्य को जो यथार्थ रूप से जान लेता है, वह अविचलित योग से सम्यग् दर्शन प्राप्त कर लेता है इसमें संशय नहीं करना चाहिये।

श्रीरामानुजाचार्य, “विभूति” शब्द का अर्थ ऐश्वर्य करते हैं एवं योगशब्द का कल्याण गुणगण और अविकम्पयोग का अर्थ अविचाली भक्ति करते हैं।

लोकमान्यतिलक तो सर्वत्र “योग” शब्द का अर्थ कर्मयोग ही किया करते हैं। तदनुसार इस पद्य के चौथे चरण का उनके मत में यही अर्थ है कि ऐसा जानने वाला पुरुष विचलित न होने वाले कर्मयोग को प्राप्त कर लेता है।

श्री शङ्करानन्दजी “विभूति” शब्द का अर्थ माया से विविध रूप होना, योग शब्द का अर्थ मायासम्बन्ध से प्राप्त ऐश्वर्य और चौथे चरण के अविकम्पयोग का अर्थ विकल्परहित उपासनायोग करते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी की यहाँ बहुत विस्तृत व्याख्या है। पूर्व सप्तम अध्याय के “नत्वं तेषु ते मयि” की व्याख्या में अव्यय पुरुष के विभूति, योग और बन्ध नाम से तीन प्रकार के सम्बन्ध हम कह चुके हैं, उन्हीं में से बन्ध को छोड़ कर विभूति और योग दो शब्द यहाँ कहे गये हैं। जिनमें परस्पर दहरोत्तर भाव रहता है अर्थात् एक छोटा (दूसरे के उदर में प्रविष्ट) और दूसरा बहुत बड़ा हो उन दोनों में यदि बड़े पदार्थ से प्रवृत्त अर्थात् अलग न होकर छोटे पदार्थ में अनुग्रह रूप से कुछ अंश का प्रविष्ट हो जाना “विभूति” कही जाती है और अपने बड़े स्वरूप में से सर्वथा पृथक् होकर छोटे में ही प्रविष्ट हो जाना “योग” कहा जाता है। इसके बहुत से उदाहरण भी उन्होंने यहाँ अपनी टिप्पणी में दिये हैं। जैसा कि एक बर्फ का ढेला बिना पिघला हुआ ही यदि जल में डाल दिया जाय तो उसका जल के साथ “विभूति” सम्बन्ध होगा और वही गलाकर यदि जल में मिला दिया जाय तो “योग” सम्बन्ध हो जायेगा। कहीं सरोवर आदि के जल में सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब पड़ा हो, उस प्रतिबिम्ब में जो मुख्य सूर्य का प्रकाश पड़ता हो, वहाँ मुख्य सूर्य के प्रकाश का “विभूति” सम्बन्ध कहना होगा और जिस जल आदि पर प्रतिबिम्ब पड़ा है उस जल आदि के नष्ट हो जाने पर वह प्रतिबिम्ब भी मुख्य सूर्य के प्रकाश में मिल जायेगा, वहाँ उस प्रतिबिम्ब का सूर्य प्रकाश में “योग” कहा जायेगा। जल में जो द्रवत्व अर्थात् पिघलापन रहता है वह अग्नि के योग से हुआ करता है। जैसा कि वैशेषिक सूत्रों में भगवान् कणाद ने लिखा है कि “अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्” वहाँ जल के साथ उस तेज का योग सम्बन्ध है, क्योंकि वह तेज अपने केन्द्र से पृथक् होकर ही जल में प्रविष्ट हुआ है और आगे उस जल को फिर अग्नि पर चढ़ाकर उष्ण कर दिया जाय तो वहाँ जल

के साथ अग्नि का विभूति सम्बन्ध कहा जायेगा, क्योंकि वह अग्नि अपने केन्द्र से पृथक् नहीं हुआ है, इसीलिए थोड़ी देर रख देने पर वह अग्नि जल से निकल कर अपने केन्द्र में ही चला जाता है और जल शीतल हो जाता है। जहाँ भात पकाया जाय वहाँ चावल और जल का योग होगा और जहाँ चावलों को केवल धोने के लिए उन पर जल डाला जाय वहाँ जल का विभूति सम्बन्ध ही मानना होगा। केसर, कस्तूरी और कर्पूर आदि के साथ गन्ध वाले पदार्थों का “योग” है और उनका गन्ध जब वायु में चला जाता है तब वायु के साथ उन गन्ध वाले द्रव्यों के अवयवों की विभूति मात्र होती है। प्रकृत में इसी प्रकार जो पूर्व पद्यों में “बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः” इत्यादि कहा है वह बुद्धिमान् आदि पुरुषों के साथ अव्ययपुरुष के योग का उदाहरण है; और आगे के पद्यों में जो भगवान् ने अपने को सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त बतलाया है, वह आदि, मध्य और अन्त रूप से अव्यय पुरुष की “विभूति” ही समझनी चाहिये। इसी प्रकार आगे इस अध्याय में जो विभूतियों की गणना की जाने वाली है, उन सब पदार्थों में भी अव्यय पुरुष का विभूति रूप ही सम्बन्ध है, अर्थात् वे धर्म अव्यय पुरुष से पृथक् नहीं होते और उन पदार्थों में अनुग्रह रूप से व्याप्त रहते हैं। (७)





## सत्ताइसवाँ-पुष्प

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥१०॥८॥

मच्चिता मदगतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥१॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

पूर्व पद्य में जो न विचलित होने वाला योग बतलाया, वह किस प्रकार का है, इसी का विवरण आगे दिया जाता है कि मैं ही सम्पूर्ण जगत् का प्रभव अर्थात् उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों रूप से वर्तमान हूँ और यह जो संसार तुम देख रहे हो यह सब मुझसे प्रवृत्त होता है अर्थात् जगत् में चर और अचर सबकी जो क्रिया है उसका भी कारण मैं ही हूँ। मेरी प्रेरणा से ही सब प्राणियों तथा जड़ पदार्थों में भी क्रिया होती है यह जानकर बुध अर्थात् पण्डित कहलाने के पूर्ण अधिकारी वे लोग मुझमें ही सदा अपनी चित्तवृत्ति रखते हुए मेरा भजन किया करते हैं। यहाँ “भावसमन्विताः” इस पद से उनकी मनोवृत्ति मेरी ओर रहती है—यह दिखलाया गया और “भजन्ते” पद से उनके शरीर की क्रिया—चरणस्पर्श पूजा आदि भी मेरे ही उद्देश्य से होती है अर्थात् वे लोग जिसको प्रणाम करते हैं या जिसको तिलक लगाते या पुष्पमाला पहनाते हैं अथवा जिसे भोजन कराते हैं उसे मेरा ही रूप मान कर करते हैं। (८)

इसी का और विस्पष्ट वर्णन अग्रिम पद्य में किया जाता है कि ऐसे भावयुक्त पुरुषों का चित्त सदा मुझमें ही लगा रहता है और उनके प्राण अर्थात् सब इन्द्रियाँ भी मेरी ओर ही पूर्वोक्त प्रकार से लगी रहती हैं, अथवा उनका प्राण अर्थात् जीवन के सब व्यापार मेरे ही उद्देश्य से हुआ करते हैं। ऐसे लोग परस्पर मिलने पर मेरे अर्थात् ज्ञान, बल, वीर्य आदि से ब्रह्म के ही चरित्रों को एक दूसरे के प्रति जनाया करते हैं और मेरे ही बल, वीर्य आदि का सदा कथन करते हुए प्रसन्न होते हैं और उसी में आनन्द प्राप्त करते हैं। (९)

उनके ऊपर मैं क्या अनुग्रह करता हूँ यह आगे के पद्य में भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार नित्य संलग्न होकर प्रेमपूर्वक जो मेरा भजन करते रहते हैं, उनको मैं ऐसा “बुद्धियोग” देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ “बुद्धियोग” शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य करते हैं कि मेरा पूर्णतत्त्व जानने वाली जो बुद्धि है, वही यहाँ बुद्धि शब्द से कही गई, उस बुद्धि के साथ उनका योग करा देता हूँ। इसे ही द्वितीयाध्याय में व्यवसायात्मिका बुद्धि कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य “प्रीतिपूर्वक” शब्द का सम्बन्ध भी इधर जोड़कर कहते हैं—मैं उन्हें प्रसन्नता पूर्वक ऐसी परिपक्व बुद्धि देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ “विपाकदशापन्नबुद्धि” कहने से भक्ति का परिपाक जिसमें हो गया हो, ऐसी बुद्धि ही उन्हें विवक्षित है—यह प्रतीत होता है। “उपयान्ति” शब्द से उनके व्याख्याकार यह तात्पर्य निकालते हैं कि वे मेरे समीप आ जाते हैं। श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त में मुक्त पुरुषों का परमात्मा के साथ “सायुज्य” नहीं होता—यह पाठकों को स्मरण होगा।

श्रीनीलकण्ठजी ने “बुद्धियोग” शब्द का अर्थ ज्ञानरूप समाधि किया है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी तो गीता का प्रतिपाद्य ही बुद्धियोग को मानते हैं और बुद्धियोग में ही ज्ञानयोग; भक्तियोग और कर्मयोग आदि का समावेश करते हैं। (१०)

नित्य मेरे ध्यान में लगे हुए उन भक्तों पर दया करने के लिए ही मैं उनके आत्मभाव अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति में स्थित होकर उनके सदा से साथ लगी हुई अविद्या के कारण उत्पन्न संसार के मोहरूप अन्धकार को पूर्ण प्रकाश वाले ज्ञानरूप दीपक से नष्ट कर देता हूँ।

इस पद्य से ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होने पर भी मध्य में जो मनन, निदिध्यासन की आवश्यकता होती है उसकी सूचना दी गई। इसका तात्पर्य यही है कि वेदान्तवाक्य आदि के श्रवण से जो “बुद्धियोग” मेरे प्रसाद से प्राप्त हुआ, उसके प्राप्त होते ही मेरी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति नहीं मिल जाती, अपितु अनादिकाल से जो जीव के साथ अविद्या का सम्बन्ध है और उसी अविद्या के कारण संसार के पुत्र, कलत्र और सम्पत्ति में जो ममता रूप आसक्ति हो रही है उसका निवारण भी उसके अन्तःकरण में बैठकर ज्ञानरूप दीपक जलाकर मैं ही कर देता हूँ अर्थात् उन भक्तों के मनन, निदिध्यासन में सहायता देकर उनके अन्तःकरण में ऐसा प्रकाश देता हूँ कि जिससे वे मेरा साक्षात्कार कर मुझमें ही लीन हो जाँय।

यहाँ श्रीशङ्कराचार्य ने इस दीप का विस्पष्ट विवरण करते हुए रूपक बहुत

उत्तम बनाया है कि विवेक रूप उस दीपक में भगवद्गीता द्वारा प्राप्त भगवान् का प्रसाद ही तैल है एवं निरन्तर चित्त में मेरी भावना का जो अभिनिवेश उन भक्तों में रहता है, वही दीप-प्रकाश का सहायक वायु के रूप में अवस्थित है और निरन्तर एकाग्रता से भगवान् का ध्यान करने से जो आत्मा और परमात्मा का अद्वैतभाव से दर्शन हो जाता है, वही उस दीपक की प्रभा है।

अन्य व्याख्याओं में यह भी कहा गया है कि जैसे अन्धकारों का हटाना और किसी प्रकार से सम्भव नहीं, वैसे ही यह अज्ञानजनित अन्धकार बिना विवेकरूप दीपक से नहीं हटाया जा सकता। भगवद्गीता में यहाँ भक्ति का प्रकरण है, इसलिए भगवान् ने यह कहा है कि भक्तों के अन्तःकरण में दीपक भी मैं ही जला देता हूँ। पूर्व पद्य के साथ इस पद्य को मिलाने से यह स्पष्ट होगा कि भक्तों के अन्तःकरण में प्रथम वेदान्त वाक्यों द्वारा शाब्दज्ञान भी मैं ही उत्पन्न करता हूँ और आगे मनन, निदिध्यासन की शक्ति उन्हें देकर तथा अज्ञान का आवरण हटाकर अपना साक्षात्कार भी उन्हें करा देता हूँ।

पूर्व पद्य में जो अन्तिम फल बतलाया गया है कि वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं, उस मुख्य फल का सम्बन्ध दोनों पद्यों के अन्त में जोड़ना चाहिये कि इस प्रकार मेरा साक्षात्कार कर वे मेरे भक्त मुझमें ही आ मिलते हैं। (१९)



## अट्टाईसवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।  
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥  
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिनारदस्तथा ।  
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥  
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।  
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥  
स्वयमेवाऽऽत्माऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।  
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥  
वक्तुमर्हष्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।  
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥  
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।  
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥  
विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।  
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

सप्तम अध्याय से आरम्भ कर जो भगवान् ने अपना स्वरूप बतलाया, उससे अर्जुन को ज्ञान हुआ कि ये साक्षात् परमेश्वर ही हैं और इस ज्ञान से उसके चित्त में भगवान् की भक्ति भी हुई। उसी से प्रेरित होकर इसी अध्याय के चौथे श्लोक से जो भगवान् ने अपनी विभूति और योग का संक्षेप से निर्देश किया, उसका विस्तार जानने की इच्छा से वह स्तुति पूर्वक प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! आप परब्रह्म हैं, परम तेज ही आपका रूप है और आप ही परम पवित्र हैं अर्थात् आपका स्मरण करने से मल से दूषित मनुष्यों के अन्तःकरण भी पवित्र हो जाते हैं। आपको वेदमन्त्रों के देखने वाले भृगु, वसिष्ठ आदि ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आदि दिव्य तथा सनातन पुरुष, देवताओं के भी देव, अजन्मा एवं व्यापक कहते हैं और स्वयं आप भी मुझसे कह रहे हो।

यहाँ पुरुष कहने से सामान्य पुरुषों का ही बोध हो जायेगा, इसलिए “शाश्वत” शब्द दिया, अर्थात् नित्यपुरुष रूप आप हैं, किन्तु सांख्य में भी पुरुष को नित्य ही माना जाता है इसलिए इस विशेषण से भी जीवात्मा का प्रसङ्ग नहीं हटा, अतः “दिव्य” विशेषण दिया। इसका अभिप्राय है कि जगत् रूप से क्रीडा करने वाले पुरुष आप हैं एवं सब देवताओं के भी आप आदिभूत हैं, अज और व्यापक हैं—ऐसा ही आपको सब ऋषियों ने भी बतलाया है और आप भी मुझे स्वयं अपना ऐसा ही स्वरूप बतला रहे हैं।

यहाँ श्रीरामानुजाचार्य ने महाभारत में नारद, असित, देवल और व्यास ने कहाँ कहाँ भगवान् कृष्ण को ऐसा कहा है, उसके उद्धरण भी दिये हैं। (१२-१३)

हे केशव ! मैं आपके कथन को सर्वथा सत्य मानता हूँ—अर्थात् मुझे आपके कथन पर पूर्ण श्रद्धा है और मुझे निश्चय हो गया है कि आपके प्रादुर्भाव को देवता और दानव कोई नहीं जानते। देवता तो आपके प्रसार से ऐश्वर्य प्राप्तकर सदा भोग निरत रहते हैं, इस कारण आपको जानने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता और दानवों का स्वयं वध कर आप उन्हें मोक्ष देते हैं इसलिए वे भी नहीं जान पाते। वास्तव में तो आपका प्रभव अर्थात् जन्म है ही नहीं, आप तो सदा एकरूप रहते हैं, जो है ही नहीं उसे कोई जान क्या सकेगा। आपका स्वरूप भी तत्त्वतः कोई नहीं जानता। हे पुरुषोत्तम ! स्वयं अपने आत्मा से अपने आपको जानते हो। आप भी अन्तःकरण से अपने को नहीं जान सकते, किन्तु आत्मा से आत्मा को जानते हो, इसका तात्पर्य यही हुआ कि अन्तःकरण तो किसी का भी आप तक पहुँच नहीं सकता।

आप ही भूतों की उत्पत्ति करते हो और आप ही भावयुक्त भी बनाते हो, अर्थात् उनका स्वभावभूत सूक्ष्मशरीर भी आप ही बनाते हो, सब भूतों के आप स्वामी हो तथा देवताओं के भी देवता हो और जगत् के भी स्वामी हो। ये सब पदसम्बोधन रूप में पद्य में कहे गये हैं, हमने उनका प्रथमान्त की तरह अर्थ कर दिया है। कई व्याख्याकारों ने इन सम्बोधन पदों को अग्रिम पद्य के साथ जोड़ा है। (१४-१५)

हे भगवन् ! संक्षेप से कुछ विभूतियों का वर्णन आपने सुनाया, उसे सुनकर मेरी उत्कण्ठा हुई है कि आपकी सब विभूतियों का वर्णन मैं सुनूँ। इस कारण आप कृपा कर अशेष अर्थात् सम्पूर्ण रूप से अपनी दिव्य विभूतियों को कहिये, जिन विभूतियों से आप सब लोकों में विराजमान हो रहे हो। हे योगिन् ! मैं निरन्तर आपका ध्यान करने की इच्छा करता हूँ, किन्तु आपको कैसे जानूँ—यह बतलाइये ? और किन-किन भावों में अर्थात् पदार्थों में मैं आपका चिन्तन अर्थात् ध्यान कर सकता हूँ।

भगवान् के लिए “योगिन्” ऐसा सम्बोधन अर्जुन की ओर से गीता में यहीं आया है। भगवान् तो स्वयं योग से जानने योग्य हैं, फिर उनको योगी कहना उचित प्रतीत नहीं होता, इसीलिए यही विचार कर श्रीरामानुजाचार्य यहाँ “योगी” ऐसा प्रथमान्त पाठ मानते हैं और उसे अर्जुन का विशेषण मानकर योगयुक्त हो मैं आपको किस प्रकार जानूँ—यह अर्थ निकालते हैं। अन्य व्याख्याकार “योग” शब्द का अर्थ ऐश्वर्य मानकर हे ईश्वर—यही अर्थ करते हैं और कई व्याख्याकारों ने सर्वव्यापक या सब कुछ करने में समर्थ—यह भी इस शब्द का अर्थ माना है। दूसरी बात यहाँ यह है कि मैं आपको कैसे जानूँ ? इस अर्जुन के प्रश्न का तो आगे कोई उत्तर नहीं मिलता, तब क्या भगवान् ने उसके इस प्रश्न का कोई उत्तर ही नहीं दिया—ऐसा मानना तो गीता की शैली के विरुद्ध है, क्योंकि जहाँ-जहाँ प्रश्न हुआ है, वहाँ भगवान् ने उत्तर अवश्य दिया है। तब अर्जुन के प्रश्न का यही अभिप्राय लगाना उचित होगा कि जब आप स्वयं “देवता और ऋषि भी मुझे नहीं जानते” यह कह चुके हैं, तब मैं छोटी बुद्धि वाला कैसे जान सकता हूँ। बिना जाने चिन्तन या ध्यान हो नहीं सकता, इसलिए ही आपकी विभूतियों का प्रश्न करता हूँ कि उन विभूतियों का ही ध्यान करता हुआ आप तक पहुँच सकूँ।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी की व्याख्या के अनुसार विभूतियों में अविकृत रहते हुए भी भगवान् का अनुग्रह तो रहता ही है, इसलिए विभूतियों में ध्यान लगाकर भी परम्परा सम्बन्ध से भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार “कथं विद्याम्” इस प्रश्न को भी उत्तरार्द्ध के साथ जोड़ देना ही उचित है कि किन-किन जङ्गम या स्थावर पदार्थों में मैं आपका चिन्तन करूँ।

श्रीशङ्करानन्दजी “कथं विद्यां” इस प्रश्न का यह आशय निकालते हैं कि पहिले विभूतियों में आपका ध्यान करने से जब अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा, तब भी आपका निर्विशेष रूप समझने की शक्ति हो सकेगी, इसलिए पहिले विभूति बतलाइये, तब निर्विशेष रूप को जानने का विचार होगा। (१६-१७)

हे जनार्दन ! आपने यद्यपि संक्षेप से विभूति और योग सुनाया है, किन्तु इस आपके अमृतमय उपदेश को सुनकर तृप्ति नहीं हो रही है, अतः विस्तार से उस विभूति और योग का वर्णन कीजिए।

विभूति और योगशब्द का अर्थ इस अध्याय के सातवें श्लोक की व्याख्या में श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार हम लिख चुके हैं। आपका उपदेश सुनकर तृप्ति नहीं होती—ऐसा कथन भी गीता में अर्जुन का यहीं प्राप्त हुआ है। (१८)

## उन्तीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।  
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥  
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।  
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥  
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।  
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणमहं शशी ॥२१॥  
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।  
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥

इस प्रकार अर्जुन के भावपूर्ण प्रश्नों को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे कुरुश्रेष्ठ ! अब जो मेरी दिव्य विभूतियाँ प्रसिद्ध हैं उन्हें तुमसे संक्षेप से ही कहता हूँ, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है अर्थात् कोई भी उन मेरी विभूतियों की गणना करने में समर्थ नहीं हो सकता। यहाँ पहले पद्य में अर्जुन ने भगवान् से विभूति और योग को विस्तारपूर्वक कहने की प्रार्थना की थी, उसी के उत्तर में भगवान् ने कहा कि विभूतियों के विस्तार का तो अन्त नहीं है अतः प्रधान का ही निर्देश करता हूँ। “हन्त” यह अव्यय पद भगवान् की दयालुता और अर्जुन की दयापात्रता सूचित करता है। “विभूतयः” इस प्रथमान्त को पृथक् वाक्य का कर्ता मानना उचित होगा, क्योंकि “कथयिष्यामि” इस क्रिया का कर्म तो द्वितीयान्त होना चाहिये था ? यद्यपि अट्टारहवें पद्य में योग और विभूति दोनों का अर्जुन का प्रश्न है, फिर भगवान् ने केवल विभूति कहने की प्रतिज्ञा क्यों की ? इस प्रश्न का उत्तर श्रीरामानुजाचार्य देते हैं कि विभूतिशब्द का अर्थ है जो भगवान् के द्वारा प्रवृत्त किये जाँय अर्थात् उनका प्रवर्त्य हो और योगशब्द का अर्थ है कारणरूपता। वे दोनों ही यहाँ बतलाये गये हैं। “अहं सर्वस्य प्रभवः” इन शब्दों से कारणता बतलाई गई और “मत्तः सर्वं प्रवर्तते” इससे प्रवर्त्यता। आगे जो विभूतियाँ कही जायेंगी, उनमें भी दोनों ही प्रकार के तत्त्व बतलाये जायेंगे—प्रवर्त्य भी और अपने पैदा किये हुए भी। “अहमादिश्च मध्यं च” इत्यादि पद्य से आरम्भ में ही सबकी कारणता बतला दी गई है, तब केवल विभूतिकथन की ही जो प्रतिज्ञा है उसे योग का भी उपलक्षण समझना चाहिये।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या का भी मत इनसे मिलता जुलता ही है। श्रीशङ्कराचार्य के अनुयायी नीलकण्ठजी लिखते हैं कि योगशब्द का अर्थ “वैश्वरूप्य” अर्थात् अपनी सर्वरूपता है, वह आगे ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप प्रदर्शन में स्पष्ट होगी। इस अध्याय में केवल विभूतियों का ही वर्णन है। इससे अर्जुन के दोनों प्रश्नों का उत्तर दो अध्यायों में दिया गया है, न्यूनता नहीं समझनी चाहिये। श्रीविद्यावाचस्पतिजी की व्याख्या के अनुसार तो विभूति और योगशब्दों का अर्थ इसी अध्याय के सप्तम श्लोक की व्याख्या में विस्तार से लिखा जा चुका है और गीता में भी विभूति और योग दोनों के ही उदाहरण वहाँ दिये जा चुके हैं। आगे भी जो बहत्तर प्रकार की विभूतियाँ बतलाई गई हैं उनमें भी “मैं आदित्यों में विष्णु हूँ, मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ” इत्यादि योग के उदाहरण हैं। विभूति के उदाहरण तो बहुत हैं ही। इसलिए केवल विभूति कहने की प्रतिज्ञा उनके मत में भी उपलक्षण रूप ही माननी चाहिये। “प्राधान्यतः” कहने का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि विभूति प्रकरण में जिन-जिनको भगवान् ने अपनी विभूति बतलाया है, वे उस उस वर्ग के प्रधान ही समझने चाहिये, जैसा कि आगे स्पष्ट होता जायेगा। (१९)

आपकी विभूतियों का अन्त क्यों नहीं है और आप विस्तार से विभूतियों का उपदेश क्यों नहीं कर सकते ? इसका उत्तर अग्रिम पद्य में दिया जाता है कि हे गुडाकेश ! गुडाका नाम निद्रा का है उसका स्वामी अर्थात् उसे वश में रखने वाला हो, जो स्वयं निद्रा के वश में न हो, वह “गुडाकेश” कहा जाता है, अथवा जिसके मस्तक के बाल घुँघराले हों। मैं सब भूतों के अन्तःकरण में रहनेवाला सब भूतों का आत्मा रूप हूँ और मैं ही सब भूतों का आदि मध्य और अन्तरूप हूँ, अर्थात् जब कोई प्राणी न था उस समय भी मैं था और जब सब हैं तब भी मैं अपनी स्वतन्त्रता न छोड़ता हुआ उनमें सम्मिलित हूँ तथा जब कोई न रहेगा तब भी मैं रहूँगा। इस प्रकार सभी मेरी विभूति रूप हैं, तब उनकी गणना कैसे की जा सकती है। (२०)

अब विभूति कहने का आरम्भ करते हैं कि आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, तेज वाले पदार्थों में किरणधारी सूर्य हूँ, मरुतों में मरीचि हूँ और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

विष्णु यह शब्द दो जगह प्रसिद्ध है। एक सब जगत् के कर्ता और पालक को विष्णु कहा जाता है और दूसरे देवताओं में भी विष्णु नाम का देवता प्रसिद्ध है। यहाँ देवतारूप विष्णु को विभूति बतलाया है। उस देवतारूप विष्णु पर ही जगत्-पालक विष्णु की उपासनार्थ भावना की जाती है। इस विष्णु को और विभूतियों की समान कोटि में नहीं गिनना चाहिये, यह तो भगवान् का रूप ही है। इस देवतारूप विष्णु



का विवरण ऐतरेय ब्राह्मण के आरम्भ में ही मिलता है कि -

“अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः”

अर्थात् अग्नि देवताओं में सबसे आरम्भ का है और विष्णु सबके अन्त में हैं, इन दोनों के बीच में ही सब देवता हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में देवता तैंतीस माने गये हैं—आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य। ये सब मिलाकर इकतीस हुए। दो अश्वनीकुमारों को जोड़कर तैंतीस हो जाते हैं। इनमें अश्वनीकुमार तो तीनों लोकों की दो सन्धियों में आ जाते हैं और अन्य देवता क्रम से व्यवस्थित रहते हैं। इस पृथिवीलोक में आठ वसु हैं, अन्तरिक्ष में ग्यारह रुद्र हैं और सूर्य लोक में बारह आदित्य। उन आदित्यों की गणना छोटे से आरम्भ कर उत्तरोत्तर बड़े के क्रम से की गई है। इस प्रकार विष्णु नाम का आदित्य सबसे बड़ा सिद्ध होता है। उसे ही भगवान् ने सब विभूतियों से प्रथम गिना है। इसी रूप से विवस्वान् नाम के अपने छोटे भाई को आपने कर्मयोग का उपदेश दिया था—यह चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में कह आये हैं। आगे दूसरा रूप सूर्य को बतलाया। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि रवि और आदित्य तो एक के ही नाम हैं, फिर यहाँ पुनरुक्ति होगी ? इसका उत्तर है कि आदित्य नाम से तो बारह देवता हैं और रवि नाम से यहाँ सूर्यमण्डल लिया गया है। उस सूर्यमण्डल में विराजमान देवतारूप को प्रथम बार विभूति बतलाया और द्वितीय विभूति उस मण्डल को बतलाया। इसीलिए यहाँ रवि का विशेषण “अंशुमान्” दिया गया है। हम पूर्व कह चुके हैं कि जिस वर्ग में जो प्रधान है, वही यहाँ विभूतिरूप से परिणत हैं। देवताओं का सबसे बड़ा होने के कारण विष्णुनाम का आदित्य प्रधान है और जितने तेज के मण्डल संसार में हैं उनमें सूर्यमण्डल ही प्रधान है। यद्यपि सूर्य से भी बहुत बड़े-बड़े तारे आजकल के वैज्ञानिक सिद्ध करते हैं, किन्तु हमारे पृथिवीमण्डल पर जितना तेज सूर्यमण्डल का आता है उतना और किसी का नहीं आता, वे बड़े तारे हमसे इतनी दूर हैं कि अपना बहुत ही कम प्रकाश हमारे पास तक पहुँचा सकते हैं। इसलिए इस पृथिवी पर खड़े होकर जो भगवान् उपदेश दे रहे हैं, उनका सूर्य को ही प्रधान मानकर उसे अपनी विभूति बतलाना सर्वथा उपपन्न है। इसमें कोई शङ्का नहीं हो सकती।

मरुत् नाम के उनचास देवता पुराणों में बतलाये गये हैं। उनकी उत्पत्ति का पुराणों में इस प्रकार विवरण मिलता है कि जब देवता बार-बार असुरों को मारने लगे और असुर निःशेषप्राय हो गये तो असुरों की माता दिति ने कश्यप से प्रार्थना की कि मुझे ऐसा पुत्र दीजिये जो इन्द्र को मारने वाला हो। कश्यप ने यह वर दिया कि एक वर्ष तक तू कभी अपवित्र न रहने का नियम पालन करेगी तो तुझे इन्द्र को मारने वाला पुत्र उत्पन्न हो जायेगा। दिति कश्यप से गर्भ प्राप्त कर उसी प्रकार के नियम में रहने

लगी। इन्द्र को भी जब यह विदित हुआ तो वह जाकर प्रत्यक्ष रूप में तो दिति की सेवा करने लगा, किन्तु छिपा छिपा हुआ दिति के अपवित्र होने की ताक में रहा। एक दिन दिति इन्द्र की सेवा की प्रशंसा करती हुई जङ्घाओं के बीच अपना सिर झुकाकर दिन में ही सो गई। इन्द्र इसे ही अपवित्रता का अवसर देखकर प्रच्छन्न रूप से उसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया और अपने वज्र से गर्भ के सात टुकड़े कर दिये। जब छेदन करने से वे बालक रोने लगे तो उन्हें रोने से रोकते हुए इन्द्र ने फिर एक एक के सात सात टुकड़े कर दिये। उनकी रोदनध्वनि से दिति जाग पड़ी, तब इन्द्र ने बाहर निकल कर प्रार्थना की कि माता तुमने मेरा मारने वाला पुत्र चाहा था, इसलिए मैंने गर्भ का ही छेदन कर दिया, इस अपराध को क्षमा करो, तब दिति ने उससे यही कहा कि जो हुआ सो हुआ, अब ये सबके सब तुम्हारे सहचर रहें और पृथिवी से आरम्भ कर अन्तिम लोकपर्यन्त इनमें से सात सात का एक एक गण एक एक लोक में रहा करें आदि। इन उनचास मरुतों के नाम वेद में भी आये हैं और पुराणों में भी कई जगह हैं, किन्तु इनमें “मरीचि” नाम अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इतना अवश्य है कि पुराणों में नामों में भेद भी मिलता है, सम्भव है किसी पुराण में मरीचि नाम भी आया हो। भगवद्गीता की किसी व्याख्या ने इस पर प्रकाश नहीं डाला, केवल “अविगीता” नाम की जो आधुनिक टिप्पणी है, उसमें भी दो तीन पुराणों के नाम लिखे हैं, किन्तु मरीचि नाम कहीं नहीं मिला—यही लिखा है। यदि यह नाम कहीं भी उपलब्ध न हो तो उस टिप्पणी ने इस विभूति का यह आशय बतलाया है कि मरीचि नाम दीप्ति का है और इन मरुत् देवताओं को वेदों और पुराणों में कई जगह दीप्तिमान् कहा गया है। उन दीप्तिमान् मरुतों में मरीचि अर्थात् किरणों के रूप में मैं ही विराजमान हूँ। इस प्रकार यहाँ साररूप से अपने अवस्थित रहने के कारण भगवान् ने मरुतों में मरीचि को अपनी विभूति बतलाया। चौथे पाद में कहा गया कि नक्षत्रों में चन्द्रमारूप मैं हूँ। यहाँ नक्षत्रपद से सब तारामण्डल कहा गया, उनमें सबसे अधिक प्रकाशमान चन्द्रमा को प्रधान होने के कारण ही अपनी विभूति बतलाया गया अथवा नक्षत्र शब्द का अर्थ है चलने वाले ग्रह आदि, उनमें चन्द्रमा में ही सबसे अधिक गति है। इसलिए गतिमानों में प्रधान होने के कारण चन्द्रमा की विभूतियों में गणना हुई। (२१)

वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवों में वासव अर्थात् इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियों में मन मैं हूँ और भूतों में चेतना मैं हूँ।

वेदशब्द के दो प्रकार के अर्थ किये जाते हैं। एक तो मन्त्र-ब्राह्मण समूहात्मक ग्रन्थ और दूसरा सब पदार्थों में अनुस्यूत वितानादि रूप। कई विद्वान् द्वितीय अर्थ को नहीं मानते। उनका कथन है कि शब्दों का शक्तिग्रह मुख्यरूप से व्यवहार से ही होता

है और वेदशब्द का व्यवहार मन्त्रब्राह्मण समूहरूप ग्रन्थों में ही प्रसिद्ध है, इसलिए वही वेदशब्द का मुख्य अर्थ व्यवहार से सिद्ध होता है, दूसरा अर्थ मानना युक्तियुक्त नहीं, किन्तु यह उन विद्वानों का कथन ही युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यह ठीक है, शक्तिग्राहकों में व्यवहार ही मुख्य है किन्तु वेदशब्द का अर्थ करने के लिए वेद के व्यवहार को भी तो मानना चाहिये। वेद में ही जब बहुत स्थानों में दूसरे अर्थ का भी निरूपण स्पष्ट अक्षरों में है, तब उस दूसरे अर्थ को व्यवहार विरुद्ध कैसे कहा जाय। प्रस्तुत पद्य में मन्त्रब्राह्मण समूहरूप ग्रन्थों का ग्रहण करने पर उनमें सामवेद को भगवान् ने अपना रूप बतलाया, उसमें शङ्का हो सकती है कि लोक में ऋक्, यजुः, साम, अथर्व—यही क्रम प्रसिद्ध है और वर्तमानयुग के ऐतिहासिक विद्वान् भी यही निर्णय करते हैं कि ऋक् वेद ही प्रधान वेद है, सामवेद तो उसके अन्तर्गत ही है। सामवेद नाम से जो ग्रन्थ आजकल प्रसिद्ध है उसमें केवल सत्तर के आसपास मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं मिलते। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की सब शाखाएँ तो अभी प्राप्त नहीं हुई हैं, अतः वे सत्तर मन्त्र भी किसी ऋग्वेद की शाखा से लिये गये होंगे। इसके अतिरिक्त सामवेद की ध्वनि को धर्म शास्त्रकारों ने अपवित्र भी बताया है, फिर भगवान् ने उसे अपना रूप क्यों बताया ? इसका उत्तर है कि सामवेद ग्रन्थ परिमाण में चाहे छोटा हो, किन्तु गान सामवेद के मन्त्रों का ही होता है और भक्तिमार्ग में गान को प्रधानता दी जाती है। जैसा कि एक भगवान् की उक्तिरूप पद्य में स्पष्ट कहा गया है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।

मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

भगवान् कहते हैं कि मैं वैकुण्ठ में भी नहीं रहता और योगियों के हृदय में भी मैं नहीं रहता, केवल मेरे भक्त जहाँ गान करते हैं वहीं रहा करता हूँ। यहाँ गीता के मध्यम षट्क में भक्ति का ही प्रतिपादन मुख्य है, इसलिए गान प्रधान सामवेद को अपना रूप बतलाया, जो युक्तियुक्त ही है। परिमाण में छोटा होने पर भी गानमय होने के कारण सामवेद की प्रधानता बतलाई गई।

दूसरा जो वेदशब्द का अर्थ कहा गया, उसका विवरण वेदों में ही इस प्रकार मिलता है कि प्रत्येक पदार्थ का जो स्वरूपभूत पिण्ड है, वह “ऋक्” है और जहाँ तक उसका स्वरूप दिखाई पड़े, वहाँ तक का मण्डल उसका “साम” कहलाता है। इन दोनों के बीच में जो प्राणरूप अग्नि भरा रहता है वह “यजुः” है। इन वेदों का विचार करने पर तो साममण्डल के पेट में ही ऋक् और यजुः दोनों आ जाते हैं। इसलिए अधिक प्रदेश में व्याप्ति होने के कारण सामवेद ही प्रधान है, उसे ही भगवान्

ने अपना रूप बतलाया। इन वैज्ञानिक वेदों का विवरण अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ नहीं किया जाता। जिनको अधिक जानना हो वे हमारी लिखी हुई “वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति” नाम की हिन्दी पुस्तक में देख सकते हैं।

दूसरे और तीसरे विषय पर तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि देवों का राजा होने के कारण इन्द्र उनमें प्रधान है और सब इन्द्रियों का परिचालक होने के कारण मन उनमें प्रधान है ही।

चौथे पाद में भूत शब्द से चेतन प्राणियों का ग्रहण करना चाहिये। चेतन प्राणी, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि के समुदाय रूप होते हैं। उनमें बुद्धि की वृत्तिरूप जो ज्ञान है वही प्रधान है। उसी के कारण वे जड़ पदार्थ से विलक्षण कहे जाते हैं। वही बुद्धिवृत्तिरूपी ज्ञान यहाँ “चेतना” शब्द से कहा गया है उसे ही भगवान् ने अपना विभूति रूप बतलाया। चेतनाशब्द का आत्माअर्थ करना तो यहाँ युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि उसे तो भगवान् पहिले ही अपना रूप बता चुके हैं। (२२)



## तीसवां-पुष्प

### “रुद्राणां शङ्करश्चास्मि”

रुद्रों में शङ्कर रूप मैं हूँ। इस वाक्य को और विभूतियों की समान कोटि में नहीं समझना चाहिये, किन्तु “अहं” शब्द का अर्थ जो विद्यावाचस्पतिजी के व्याख्या के अनुसार सब जगह अव्ययपुरुष है, उस अव्ययपुरुष का मुख्य योग शङ्कर में मानना चाहिये। जैसा कि आगे “वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि” इस वाक्य में भी माना जायेगा। भगवान् कृष्ण विष्णुरूप हैं। वे विष्णु और भगवान् शङ्कर एक ही रूप हैं—यह आगे स्पष्ट किया जायेगा। पहिले इस वाक्य का विवरण कर देना आवश्यक है।

रुद्र के सम्बन्ध में श्रुति में दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं—“एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः” अर्थात् रुद्र एक ही है दूसरा नहीं—यह एक वचन है और दूसरा वचन यह भी श्रुति में ही प्राप्त है—“असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्” अर्थात् हजारों जिनकी संख्या भी नहीं हो सकती, इतने रुद्र भूमि में विराजमान हैं। इनकी संगति शतपथ ब्राह्मण के नवमकाण्ड के आरम्भ में इस प्रकार लगाई गई है कि क्षत्र अर्थात् राजा रुद्र एक हैं और असंख्यात रुद्र जो बतलाये गये हैं वे विट् अर्थात् प्रजारूप हैं। इस वाक्य में अधिपति शङ्कर रूप मैं हूँ। अथवा रुद्र अन्तरिक्षस्थ देवता हैं। वे ग्यारह माने गये हैं। श्रुति और पुराणों में उनके नाम प्राप्त होते हैं। श्रुति में (बृहदारण्यक उपनिषद्) जनक के यज्ञ प्रसङ्ग में शाकल्य के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने तैंतीस देवताओं की गणना में ग्यारह रुद्र—दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा, यों मिलाकर गिनाये हैं। दस प्राणों का विवरण इस प्रकार है कि मस्तक में सात (दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख) नीचे दो—मलमूत्र त्याग करने के छिद्र, दसवीं नाभि और ग्यारहवाँ मुख्य प्राण, जो कि व्यवहार में भी प्राणशब्द से कहा जाता है। ये आध्यात्मिक रुद्र हुए। ये अन्तरिक्षस्थ रुद्र देवताओं से ही शरीर में उत्पन्न होते हैं। इसलिए रुद्र कहलाते हैं।

आधिदैविक एकादश रुद्र तारामण्डलों में विराजमान हैं। इनके नाम भिन्न-भिन्न रूप से मिलते हैं—१. अज, एकपात्, २. अहिर्बुध्न्य, ३. विरुपाक्ष, ४. त्वष्टा, अयोनिज या गर्भ, ५. रैवत, भैरव, कपर्दी या वीरभद्र, ६. हर, नकुलीश, पिङ्गल या स्थाणु, ७. बहुरूप, सेनानी या गिरीश, ८. त्र्यम्बक, भुवनेश्वर, विश्वेश्वर या सुरेश्वर, ९. सावित्र, भूतेश या कपाली, १०. जयन्त वृषाकपि, शम्भु या सन्ध्य, ११. पिनाकी, मृगव्याध, लुब्धक या शर्व। ये तारामण्डल में अभिज्ञ विद्वानों द्वारा पहिचाने जाते हैं।

आधिभौतिक रुद्रों में आठ तो शिव की मूर्ति प्रसिद्ध है, जिनका कि वर्णन कालिदास आदि कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। १. पृथिवी, २. जल, ३. वह्नि, ४. वायु, ५. आकाश, ६. सूर्य, ७. चन्द्रमा और ८. यजमान, अर्थात् यज्ञ करने वाले का आत्मा। इनके अतिरिक्त यज्ञ में प्रसिद्ध तीन अग्नियाँ—पवमान, पावक और शुचि, ये ग्यारह हैं। ये सब ही दोनों प्रकार के हैं। इनमें कुछ उपद्रावक अर्थात् प्राणियों का अहित करने वाले हैं, उनसे अपने को बचाने की प्रार्थना वैदिक सूक्तों में की गई और कई मन्त्रों में उनसे “मूजवान्” पर्वत से भी परे जाने की प्रार्थना की गई है। वे ही संहारक रुद्र माने जाते हैं और जो प्राणियों के हितकर हैं उन्हें उपास्य माना जाता है। यहाँ भगवान् ने भी रुद्रों में जो शङ्कर हैं, शम् नाम कल्याण का है, अर्थात् कल्याण करने वाले शिव रूप को ही अपना रूप बतलाया।

इस शिवरूप का वर्णन श्रुति और पुराणों में बहुत कुछ प्राप्त होता है। उसी के आधार पर हम यहाँ संक्षेप से शिव का वर्णन लिख देते हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं  
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः॥७॥

यह शिव के परात्पर रूप का वर्णन मिलता है। यहाँ “शिव” शब्द स्पष्ट है और उसे ही परमात्मा रूप से विज्ञेय बतलाया। इसका अर्थ है कि जो किसी के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता, लोक व्यवहार में भी जो नहीं आता है और किसी प्रमाण से भी जिसका ज्ञान नहीं हो सकता, जिसका कोई लक्षण न होने से अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता, मन से भी जिसका चिन्तन नहीं हो सकता, जो किसी शब्द के द्वारा भी नहीं कहा जा सकता, एक ही आत्मा है—यह प्रतीति जिसके आधार पर होती है, सम्पूर्ण संसार जहाँ शान्त हो जाता है, ऐसा शम प्रधान, एकरूप ही शिव, तीनों जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति से चौथा माना जाता है। वही आत्मा है, उसे ही जानना चाहिये। परात्पर रूप ही जब माया के द्वारा सीमाबद्ध रूप में दिखाया जाता है, तब वही पुरुष कहलाता है। पुरुष, गीता के पन्द्रहवें अध्याय में तीन रूप में वर्णित हुआ है अव्यय, अक्षर और क्षर। उनमें प्रत्येक की पाँच-पाँच कलाएँ उसी अध्याय की व्याख्या में कही जायेंगी। उनमें अव्यय पुरुष जो ईश्वररूप कहा गया है, उसकी पाँच कलाएँ—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् या अन्न नाम से तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित हैं। उन पाँचों के रूप में शिव की उपासना भिन्न-भिन्न नामों से प्रसिद्ध है। आनन्द रूप शिव मृत्युञ्जय नाम से पूजित होते हैं, क्योंकि मृत्यु का जय करने पर ही आनन्द प्रकट होता है।

विज्ञान रूप शिव दक्षिणामूर्ति से नाम प्रसिद्ध हैं, क्योंकि शिव की दक्षिणामूर्ति वर्ण मातृका पर प्रतिष्ठित है और विज्ञान भी वर्णमातृका पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इससे दक्षिणामूर्ति की विज्ञानरूपता सिद्ध हो जाती है। ये दोनों मूर्तियाँ श्वेतरूप में पूजित होती हैं। तीसरा मनोमय शिवरूप कामेश्वर नाम से पूजित होता है, क्योंकि मन कामप्रधान है। काम को मन का ही रेत या सार श्रुतियों ने माना है। जैसा कि नासदीयसूक्त में लिखा है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि

मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्।

मन के धर्म अनुराग का वर्ण रक्त होने के कारण तन्त्रों में यह कामेश्वर शिवमूर्ति रक्तवर्ण की मानी गई है और पञ्चप्रेत पर्यङ्क पर शक्ति के साथ विराजमान इस कामेश्वर की उपासना तान्त्रिकों में प्रसिद्ध है। चौथी प्राणमय शिवमूर्ति पशुपति, नीललोहित आदि नामों से प्रतिष्ठित है। आत्मा ही पशुपति है, प्राणरूप पाश के द्वारा विकाररूप पशुओं का नियमन करता है, अतः प्राणमय मूर्ति को पशुपति कहना युक्तियुक्त है। नीललोहित शब्द का रहस्य यह है कि प्राण वैदिक परिभाषा में दो प्रकार का है, एक आग्नेय और दूसरा सौम्य। अग्नि का वर्ण लोहित-सुनहरा और सोम का नील या कृष्ण माना गया है। दोनों को मिलाकर प्राणरूप शिव का नील-लोहित नाम कहा गया है। पाँचवीं वाङ्मय शिवमूर्ति भूतेश नाम से उपास्य है। भूतों की पूर्वावस्था ही वाक्शब्द से कही जाती है। इसलिए वाङ्मय मूर्ति का “भूतेश” नाम युक्तियुक्त है।

अव्यय पुरुष के आगे अक्षरपुरुष का प्रादुर्भाव है। अक्षरपुरुष के रूप में शिव भगवान् का वर्णन इस श्रुति में मिलता है—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु

य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।

प्रत्यङ्जनाँस्तिष्ठति सङ्चुकोचान्तकाले

संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ (श्वेताश्वर० ३।२)

इस श्रुति का अर्थ है कि एक ही रुद्र है, दूसरा कोई नहीं, जो सब लोकों को अपनी शक्ति से वश में रखता है और सबके भीतर अन्तर्यामी रूप से विराजमान है, वह सबका पालन करता है और अन्तकाल में वही सब जगत् को संकुचित कर लेता है। स्वयं अविकृत रहकर जगत् का उत्पादन पालन आदि करना अक्षर का ही कर्तव्य है। उस अक्षरपुरुष की पाँच कलाएँ होती हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। इन कलाओं का स्पष्ट वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में ही किया जायेगा। यहाँ इतना ही कहना

है कि इन्द्र, अग्नि और सोम ये तीनों मिलकर एक महेश्वरस्वरूप बनता है। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड में निरूपण है और महाभारत द्रोणपर्व के अन्त में शतरुद्रीय प्रकरण में भी भगवान् व्यास का वचन है—

स वै रुद्रः स च शिवः सोऽग्निः सर्वश्च सर्ववित्  
 सचेन्द्रश्चैव वायुश्च सोऽश्विनौ सच्च विद्युतः ।  
 स भवः सच पर्जन्यः महादेवः सनातनः ।  
 स चन्द्रमा सचेशानः ससूर्यो वरुणश्च सः ।

(भारतद्रोण पर्व, अ. २०२, श्लो० १०२-१०३)

यहाँ अग्नि, इन्द्र, और चन्द्रमा पद से सोम, ये तीनों शिव के रूप हैं—यह स्पष्ट है। अन्य देवताओं को भी यहाँ शिव की सर्वात्मकता बतलाने के लिए शिव का रूप ही बतलाया गया है। इससे भी शिव की अक्षर पुरुष रूप से सर्वात्मकता सिद्ध हो जाती है। उपमन्यु के तपस्या करने पर भगवान् शिव ने पहिले इन्द्र रूप से ही उसे दर्शन दिया था—यह भी महाभारत और शिव पुराण में स्पष्ट रूप से वर्णित है। अग्नि और सोम दोनों शिव के बाह्य रूप हैं, जिनका कि वर्णन अभी आगे इस लेख में किया जायेगा।

आगे क्षर पुरुष रूप शिव अष्टमूर्ति रूप हैं, जिनका कि विवरण हम पूर्व आधिभौतिक रुद्र रूप से कर आये हैं। यों परात्पर और त्रिपुरुषरूपता शङ्कर की स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

पद्य खण्ड के अर्थ में जो पहिले लिखा गया है कि रुद्र का घोर रूप भी होता है और शिवरूप भी। वे रूप भी अक्षर पुरुष के अन्तर्गत ही समझने चाहिये। ऐतरेय श्रुति में लिखा है—“अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वौ, घोरान्या च शिवान्या च” आदि। इसका तात्पर्य है कि “अग्नीषोमात्मकं जगत्” अर्थात् अग्नि और सोम ये दोनों जो अक्षर पुरुष की पृष्ठ कलाएँ पूर्व अक्षर पुरुष के निरूपण में कही गई हैं, उनमें ही अग्नि के यहाँ दो रूप बतलाये गये—एक घोर रूप और दूसरा शिव रूप। जब तक अग्नि अकेला रहे तब तक वह घोररूप रहता है, उससे नाना प्रकार के रोग उत्पात आदि हुआ करते हैं, किन्तु सोम का सम्बन्ध होने पर उसका रूप शिव अर्थात् कल्याण कर हो जाता है। जितना सोम का सम्बन्ध अग्नि में हो उतना ही वह कल्याणकर बनता जाता है। इसलिये सोम सहित अग्नि ही शिवरूप से उपास्य है। उपद्रावक रूप अर्थात् केवल रुद्ररूप अग्नि से शान्त रहने या अपने को व अपने परिजनों को न मारने की प्रार्थना वैदिक रुद्रसूक्तों में की गई है और उससे मूजवान पर्वत के पार चले



जाने की भी प्रार्थना है। “परो मूजवतोऽतीहि”। मूजवान पर्वत शूलेमान नाम से प्रसिद्ध पर्वत के समीप है और शिवरूप अर्थात् सोम मिश्रित अग्नि से—

“या ते रुद्र शिवा तनुरघोरा पापकाशिनी। तया नस्तन्वा शन्तमया  
गिरिशन्तामिचाकशीहि”

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा अपनी सम्हाल रखने की प्रार्थना की गई है। मन्त्र का अर्थ है कि हे पर्वत के निवासी शिव ! जो तुम्हारा कल्याणकारी रूप है उस परमकल्याण कर रूप से हमारा शासन करते रहो। यही रूप सदाशिव नाम से सबका उपास्य होता है। आगमशास्त्र में इस रूप को ईश्वर से भी ऊपर माना गया है, किन्तु उस आगमिक प्रक्रिया का यहाँ विस्तार करना अप्रकृत प्रसङ्ग हो जायेगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि रुद्र अन्तरिक्षस्थ देवता हैं—यह पूर्व कहा जा चुका है और निरुक्त में अन्तरिक्षस्थ देवताओं का सामान्य नाम वायु है। वही वायु केवल अग्नि का सम्बन्ध होने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न कर देता है और सोम का मिश्रण हो जाने पर सदा ही शिव रूप रहता है। इसी कारण सदाशिव नाम से रुद्र की उपासना मन्त्र में बतलाई गई है। वायु का घनीभूत रूप जल है और जल को ही वैदिक परिभाषा में अम्बा या अम्ब कहा जाता है। इस कारण सोम का अधिक सम्बन्ध बनाने के लिये साम्ब सदाशिव शब्द का भी उपासना में प्रयोग किया करते हैं।

अग्नि की प्रखररूपता के कारण पुरुषरूप और सोम को शीतलरूपता के कारण शक्तिरूप से समझा भी जाता है। इनमें से अग्नि सदा उर्ध्वगामी अर्थात् ऊपर को जाने वाला रहता और सोम ऊपर से नीचे की ओर आने वाला होता है। वास्तविक विचार में ये दोनों एक ही रूप हैं। ऊपर जाने की एक मर्यादा है, उस मर्यादा पर पहुँच कर अग्नि सोमरूप में परिवर्तित हो जाया करता है और नीचे की ओर आकर जब वह सोम अग्नि में गिरता है तब वह अग्निरूप में परिवर्तित हो जाता है। घृत तण्डुल आदि सोमप्रधान पदार्थों का अग्नि में गिरकर अग्निरूप हो जाना तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। अथर्ववेद के बृहज्जाबालोपनिषद में लिखा है—

अग्नीषोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचक्षते। रौद्री घोरा या तैजसी  
तनूः। शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः।

अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजो विद्याकला स्वयम्।

स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसी ॥१॥

द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका ।  
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चानिलात्मिका ॥२॥  
वैद्युतादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ।  
तेजो रसविभेदैस्तु वृतमेतच्चराचरम् ॥३॥  
अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।  
अतएव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥४॥  
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोमः अधः शक्तिमयोऽनलः ।  
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्चद्विश्वमिदं जगत् ॥५॥  
अग्नेरूध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम् ।  
यावदग्न्यात्मकं सोम्यममृतं विसृजत्यधः ॥६॥  
अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूध्वगा ।  
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पावनं भवेत् ॥७॥  
आधारशक्त्यवधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।  
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥८॥  
शिवश्चोर्ध्वमयः शक्तिरूध्वशक्तिमयः शिवः ।  
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥९॥

इसका अर्थ यह है कि “इस सब जगत् के आत्मा अग्नि और सोम हैं या इसे अग्निरूप भी कहते हैं। घोर तेज (अग्नि) रूद्र का शरीर है, अमृतमय शक्ति देने वाला सोम शक्तिरूप है। अमृतमय सोम सबकी प्रतिष्ठा है, विद्या और कला आदि में तेज व्याप्त है। स्थूल व सूक्ष्म सब भूतों में रस (सोम) है और तेज (अग्नि) सब जगह व्याप्त है। तेज दो प्रकार का होता है—सूर्य और अग्निरूप एवं सोम के भी दो रूप हैं—रस (जल) और अनिल (वायु)। तेज के विद्युत् आदि अनेक विभाग हैं और रस के मधुर आदि भेद हैं। तेज और रस से यह चराचर जगत् बना है। अग्नि से ही अमृत (सोम) उत्पन्न होता है और सोम से अग्नि बढ़ता है, अतएव अग्नि और सोम के परस्पर हविर्यज्ञ से सब जगत् उत्पन्न है। अग्नि ऊर्ध्वशक्तिमय होकर अर्थात् नीचे आकर अग्नि बन जाता है। इन दोनों के सम्पुट से निरन्तर यह विश्व रहता है। अग्नि जब तक सोमरूप में परिणत न हो तब तक ऊपर ही जाता रहता है और सोम जब

तक अग्निरूप न बने तबतक नीचे ही गिरता रहता है। इसीलिये कालाग्निरूप रुद्र नीचे है और शक्ति इनके ऊपर विराजमान है। इसी आधार पर तन्त्रशास्त्र में शिव के वक्षःस्थल पर विराजमान शक्ति की उपासना प्रचलित है। अथवा उसका यह भी आशय हो सकता है कि ज्ञानशक्तिरूप शिव के आधार पर क्रियाशक्तिरूप शक्ति विराजमान है। दूसरी स्थिति में अर्थात् सोम की आहुति हो जाने पर अग्नि ऊपर और पावन सोम नीचे हो जाता है। ऊपर आता हुआ अग्नि अपनी आधारशक्ति सोम से धृत है (बिना सोम से उसका जीवन नहीं) और नीचे आता हुआ सोम शिव की ही शक्ति कहलाता है अर्थात् बिना शिव के आधार के वह भी नहीं रह सकता, दोनों एक दूसरे के आधार पर हैं। शिव शक्तिमय है और शक्ति शिवमय है, शिव और शक्ति जहाँ व्याप्त न हो—ऐसा कोई स्थान नहीं है।”

अग्नि और सोम का इससे अधिक विस्पष्ट वर्णन हो नहीं सकता। ये दोनों अग्नि और सोम अक्षररूप महेश्वर के ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार तीनों पुरुषों के रूप में शङ्कर भगवान् का वर्णन किया गया।



## इकतीसवाँ-पुष्प “शङ्कर का महत्व”

आर्य शास्त्रों के अनुसार ईश्वर तीन रूपों में उपास्य होता है— विश्व, विश्वचर और विश्वातीत। सम्पूर्ण विश्व को ईश्वररूप में देखना पहला मार्ग है। विश्व में सर्वत्र व्यापक ईश्वर को देखना दूसरा मार्ग है और विश्व से सर्वथा पृथक् तथा उससे ऊपर ईश्वर को देखना तीसरा मार्ग है। अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीनों पुरुषों में क्षर पुरुष ही विश्व के रूप में परिणत हुआ करता है। वह क्षर भी अक्षर का ही परिणाम या विवर्त है, अतः वह अक्षर ही जगत् को उत्पन्न कर “तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्” (उसको उत्पन्न कर उस पर बैठ गया) इस न्याय से जगत् में व्याप्त होकर उसे अपनी पर्यादा में रखने के कारण विश्वचर कहलाता है और अव्यय पुरुष यद्यपि सबका आधार है, किन्तु सबमें सम्मिलित नहीं होता। जैसा कि यहीं नवम अध्याय के चौथे पद्य में भगवान् ने कहा है। इसलिए अव्ययपुरुष को और उससे भी पूर्व माया विरहित परात्पर को विश्वातीत कहा जाता है। इनमें से विश्वातीत और विश्वचर भगवान् शङ्कर के रूप का पूर्व पुष्प में विवरण किया गया।

अब उनके विश्वरूप की व्याख्या की जाती है। विश्वरूप का वर्णन मुण्डकश्रुति में इस प्रकार आता है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।  
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।

(मुण्ड० २।१।४)

अर्थात् अग्नि जिसका मस्तक है, सूर्य और चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, दिशाएँ जिसके कान हैं, वेद जिसकी वाणी है, वायु जिसके प्राण हैं, विश्व के प्राणी जिसके हृदय हैं और पृथिवी जिसके पैर हैं, वह सब भूतों का अन्तरात्मा ईश्वर है। इसी का विस्ताररूप से कथन पुराणों के विराटरूप वर्णन में किया गया है। यहाँ अग्नि पद से सूर्य से आरम्भ कर आगे के स्वयम्भू पर्यन्त सब लोक समझ लेने चाहिये। स्वयम्भूमण्डल अग्निप्रधान है और सूर्यमण्डल भी अग्निप्रधान है, इस कारण अग्निशब्द से ही आगे के पाँचों लोकों को श्रुति में कह दिया गया।

अब भगवान् शङ्कर की मूर्ति की ओर ध्यान देना चाहिये। जो सूर्य से आरम्भ कर पाँच लोकश्रुति में कहे गये हैं, जिनको ईश्वर का मस्तक कहा है उसी का अनुसरण

कर शङ्कर की मूर्ति भी पाँच मस्तकों की बनाई जाती है। उनमें सबसे ऊपर का स्वयम्भूमण्डल रूप मुख अग्निप्रधान होने के कारण रक्त बनाया जाता है जिसका नाम “ईशान” है। पूर्व की ओर “तत्पुरुष” नाम का मुख सूर्य स्थानीय है, वह श्वेतरूप का बनाया जाता है, क्योंकि सूर्य की किरणों में सातों रूप मिलाकर श्वेतरूप ही भासित होता है। मध्य का जनलोक अप्रधान होने के कारण कृष्णरूप माना जाता है जो मूर्ति में दक्षिण की ओर रक्खा जाता है, वह “अघोर” नाम से प्रसिद्ध है। पश्चिम की ओर का मुख “सद्योजात” नाम से पीतवर्ण का माना जाता है उसे महर्लोक का प्रतिनिधि मान लेना चाहिये। रक्त और कृष्ण का मध्यवर्ती पीतवर्ण माना जाता है। उत्तर ओर का मुख “वामदेव” नाम का तपो नाम का प्रतिनिधि पुनः श्वेतवर्ण माना जाता है। यही बात शङ्कर के ध्यान में भी कही गई है -

“मुक्तापीतपयोदभौक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभिः”

श्रुति में जो सूर्य और चन्द्रमा नेत्र बतलाये गये हैं, उनके साथ अग्नि को और मिलाकर शङ्कर की मूर्ति में तीन नेत्र रखे जाते हैं। उनमें मध्य का नेत्र कुछ ऊपर की ओर उठा हुआ रखा जाता है। वह मस्तक की ओर उठने का ही सङ्केत समझना चाहिये। सातों लोकों में सूर्यपर्यन्त तीन लोक ही मुख्य माने जाते हैं, आगे के लोक हमारे लिए अप्रकाशित ही हैं, इसलिए शङ्कर के आकार में भी उनको जटारूप से ही माना गया है। जनलोक ही जलप्रधान है—यह कह चुके हैं। इसी आशय से भगवान् शङ्कर की जटा में गङ्गा का निवास माना जाता है। चन्द्रमण्डल तो मूर्ति में नेत्ररूप से आ गया, आगे जटा के समीप जो चन्द्रमा है, वह चन्द्रकलारूप है। इसका भी आशय है कि जनलोक भी सोमप्रधान होने के कारण (सोम, वायु और जल तीनों एक ही तत्त्व के रूप हैं, इसलिए जनलोक को जलप्रधान या सोमप्रधान कहने में विरोध नहीं समझना चाहिये।) चन्द्रशब्द से कहा जाता है, किन्तु वह मण्डलरूप नहीं है, कलारूप ही है, वही मस्तक के ऊपर का चन्द्रमा है। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य कर शङ्कर का “व्योमकेश” नाम भी कहा जाता है। यहाँ व्योम शब्द से द्युलोक के ऊपर का ही आकाश समझना चाहिये। भगवान् शङ्कर का ध्यान श्वेतरूप में किया जाता है। जैसा कि कहा गया है—

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारु चन्द्रावतंसम्  
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम् ।  
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम्  
सर्वाद्यं सर्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥

इस ध्यान से पद्य में “रजतगिरिनिभं” और “रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गम्” ये दोनों पद शङ्कर का स्वच्छ श्वेतरूप बतलाते हैं। इसका आशय एक तो यह है कि वैज्ञानिकों के मतानुसार श्वेतरूप सब रूपों की समष्टिरूप है। सब रूपों को मिलाने पर यदि वे सबके सब जागृत रहें तो श्वेत होता है और सब मूर्च्छित हो जाँय तो कृष्णवर्ण होता है। दोनों ही प्रकार के हमारे देवताओं के ध्यान प्रसिद्ध हैं। कृष्णरूप में भगवान् विष्णु, भगवती काली आदि का ध्यान होता है और श्वेतरूप में भगवान् शङ्कर का। सूर्य किरणों में सातों ही रूप हैं—यह वैज्ञानिक भी कहते हैं; और तिकोने काच से देखने पर स्पष्ट भी देखे जा सकते हैं। सातों रूपों के पृथक्-पृथक् कागज लेकर एक चक्कर में रखकर उनको जोर से घुमाने पर भी श्वेत ही दिखाई देगा। इन दशाओं में सातों रूप जागृत रहते हैं यही कारण श्वेत दीखने का है। इससे यही सिद्ध हुआ कि सब रूप भगवान् शङ्कर में ही हैं और वे जागते हुए हैं। इसीलिए मन्त्रशास्त्र में शिव को प्रकाशरूप कहा जाता है और शक्ति को विमर्शरूप कहा जाता है। विमर्शप्रकाश का विरोधी होने से कृष्णवर्ण हुआ। उस कृष्णवर्ण शक्ति को पृथक् निकाल लेने पर शङ्कर का श्वेतरूप ही शेष रह जाता है। दूसरी बात यह भी है कि श्वेतरूप स्वाभाविक है और रूप—काला, पीला, लाल आदि रङ्ग श्वेत पर चढ़ाये जाते हैं, किन्तु श्वेत बनाने के लिए किसी रङ्गरेज की आवश्यकता नहीं होती और रङ्गों को धोकर हटा देने पर वस्त्र आदि श्वेत ही हो जाते हैं। इससे श्वेतवर्ण सब रङ्गों का अभावरूप ही सिद्ध होता है, बस, जहाँ सब रूपों का अभाव हो और सब रूपों की समष्टिरूप जो हो अर्थात् सब रूप उसी से प्रकट होते हों, वही ईश्वर का रूप हुआ। उसी रूप में शङ्कर का ध्यान किया जाता है। ईश्वर का विरुद्ध धर्मों का आश्रय होना भी श्रुति स्पष्ट बतलाती है—“तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके” वह चलता है, नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है, वे विरुद्ध धर्म भी शङ्कर की मूर्ति के ध्यान में स्पष्ट हैं, वही गङ्गारूप से जल भी विराजमान है और नेत्ररूप से अग्नि भी वहीं विराजमान है, उसी मूर्ति में अमृतमय चन्द्रमा भी है और विष भी है। विष को गले में छिपा रक्खा है और चन्द्रमा को मस्तक के ऊपर स्पष्ट कर रक्खा है। इससे भक्त लोग अमृत का ही लाभ करते हैं, विष उनकी दृष्टि में आता ही नहीं। ये सब ईश्वर के लक्षण शङ्कर में विद्यमान हैं। उनके हाथ में जो मृग है, वह यज्ञ का प्रतीक है। श्रुति में ऐसा वर्णन मिलता है कि यज्ञ मृगरूप होकर दौड़ा। यज्ञ से ही सब संसार का उत्पादन और पालन होता है, इसलिए ईश्वर के हाथ में यज्ञ रक्खा गया है और काटनेवाला परशु संहार का चिह्न है। शेष दो हाथों में जो वर और अभय उक्त ध्यान में बतलाये गये हैं, वे भक्तों को उत्तम लोक देना या उनका मृत्यु का भय हटाना प्रकट कर रहे हैं। उनका शरीर जो

विभूति से आच्छन्न रहता है, वह विभूति भस्मरूप है और वही जगत् का मूलतत्त्व है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि भिन्न-भिन्न रूपों के पदार्थ जलाने पर सब कोयले के रूप में काले हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न रूप पहिले सब पदार्थों में सूर्य किरणों से प्राप्त थे उन सबको जब अग्नि ने हटा दिया तब भीतर का स्तर काला निकल पड़ा जो कि परमेष्ठीमण्डल का रूप है। वह मण्डल सोमप्रधान होने से कृष्णवर्ण ही है, उन जले हुए कोयले आदि पदार्थों को भी फिर अग्नि में डाला जाय तो अन्त में श्वेत भस्म ही प्रकट होता है—यह अन्तिम श्वेतरूप स्वयम्भूमण्डल का है और पूर्व कथन के अनुसार यह स्वतः सिद्ध है। स्वयम्भूमण्डल ही सब जगत् के आदि में बना है, जैसा कि मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में जगत् की सृष्टि का निरूपण करते हुए बतलाया गया है। इसी आशय से हमने विभूति रूप भस्म को जगत् का मूलतत्त्व कहा था। सब जगत् का संहार कर अन्त में भगवान् शङ्कर उसके भस्म को शरीर पर लपेटे रहते हैं और इसी से आगे फिर जगत् का उत्पादन करते हैं, यह उत्पादन और संहार की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

अब शङ्कर के शरीर में जो चारों ओर सर्प लिपटे रहते हैं उसका भी आशय बतलाया जाता है। एक तो स्पष्ट बात यह है कि भगवान् शङ्कर को जगत् का संहारकर्त्ता माना जाता है, इसलिए संहार की सामग्रीरूप सर्प उनके शरीर में रहना आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि शङ्कर तमोगुण के नियन्ता माने गये हैं और सर्प से अधिक तमोगुणी जीव कोई नहीं मिलता, अपने बच्चों का भी आप ही खा जाना यह सर्प जाति की स्त्रियों में ही देखा जाता है। इसलिए उस तमोगुण रूप सर्प को भगवान् अपने शरीर में ही नियन्त्रित रखते हैं। तीसरा आशय कुछ गम्भीर है और ज्योतिष से सम्बन्ध रखता है। आकाशमण्डल में जो ग्रह घूमते हैं वे एक बार जिस मार्ग पर चलकर मण्डल बनाते हैं, दूसरी बार उसी मार्ग पर नहीं चलते, किन्तु कुछ हटकर चलते हैं। इस प्रकार उनके भिन्न-भिन्न मण्डल बनते जाते हैं और कुछ काल के अनन्तर जब उसी पहले मार्ग पर आ जाते हैं तब उनके वे मण्डल सर्प के रूप में वेष्टित हो जाते हैं। ऐसे प्रत्येक ग्रह नक्षत्रों के भिन्न-भिन्न सर्पों के आकार बन जाते हैं। आकाश भगवान् शङ्कर का प्रथम शरीररूप है, इसलिए उसमें वे सर्प भिन्न-भिन्न स्थानों में दिखलाये गये हैं। ध्यान में कहा हुआ व्याघ्र चर्म भी संहारक जन्तु सम्बन्धी होने के कारण संहार की ही सामग्री है। “प्रसन्न” पद से उनकी आनन्दरूपता ध्यान में प्रकट की गई है और कमल पर बैठे हुए जो उक्त ध्यान में शङ्कर को बतलाया गया है, वहाँ कमल पृथिवीरूप है और सब लोकों में व्यापक शङ्कर का भी अपने पृथिवीलोक में ही ध्यान करना भक्तों के लिए हितकर होता है, इसी आशय से वह पद दिया गया है। इस सम्पूर्ण ध्यान के विवरण से शङ्कर की महेश्वररूपता स्पष्ट हो जाती है।

## ब्रह्मा विष्णु और शङ्कर की एकता

श्रुतियों में तो एक ही परब्रह्म माना गया है। सृष्टि करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला ये तीनों ब्रह्मा विष्णु और शिवरूप पुराणों में ही वर्णित हैं, उन पुराणों में तीनों की एकता ही बतलाई गई है। विष्णुपुराण में ब्रह्मा का कथन है कि—

मद्रूपमास्थाय सृजत्यजो यः, स्थितौ च योऽसौ पुरुषस्वरूपी ।

रुद्रस्वरूपेण च योऽस्ति विश्वं, धत्ते तथानन्तवपुस्समस्तम् ।

(विष्णु पु० अंश ४। अ.१ श्लो०८६)

जो अजन्मा मेरे रूप को धारण कर जगत् की सृष्टि करता है, स्थिति के समय जो पुरुषरूप है और जो रुद्र स्वरूप धारण कर विश्व का संहार करता है तथा अनन्तशरीर वाले विष्णु के रूप में सम्पूर्ण विश्व का धारण करता है।

इसी प्रकार शिवमहिमाप्रधान कूर्मपुराण में भी कहा है कि—

रजोगुणमयं चान्यद्रूपं तस्यैव धीमतः ।

चतुर्मुखस्तु भगवान् जगत्सृष्टौ प्रवर्तते ।

सृष्टं च पाति सकलं विश्वात्मा विश्वतो मुखः ।

सत्त्वं गुणमुपाश्रित्य विष्णुर्विश्वेश्वरः स्वयम् ।

अन्तकाले स्वयं देवः सर्वात्मा परमेश्वरः ।

तमोगुणं समाश्रित्य रुद्रः संहरते यतः ।

एकोऽपि सन् महादेवस्त्रिधाऽसौ समवस्थितः ।

(कूर्म पु० पू० ४।५०-५३)

अर्थात् उसी प्रसिद्ध पुरुष का रजोगुणप्रधान दूसरा रूप है जिससे ब्रह्मा के रूप में जगत् की सृष्टि करता है और वही सत्त्वगुण का आश्रय कर विश्वात्मा विष्णु के रूप में उस जगत् का पालन करता है तथा अन्त में तमोगुण का आश्रय कर रुद्ररूप में विश्व का संहार करता है। यों एक ही महादेव तीनों रूपों में स्थित हैं।

इसी प्रकार प्रायः सभी पुराणों में तीनों रूपों की एकता ही बतलाई गई है। कूर्मपुराण में तीनों के पृथक् पृथक् नाम लिखकर उन नामों की निरुक्ति से भी एकता सिद्ध की गई है एवं शिव और विष्णु के जहाँ जहाँ सहस्र नाम मिलते हैं



उनमें भी विष्णु सहस्रनाम में शिव के और शिव सहस्रनाम में विष्णु के भी नाम अन्तर्गत होते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी तीनों की एकता मानने से ही निर्वाह होता है। तीनों रूपों को भिन्न-भिन्न मान लेने पर संहारक रूप का ही अधिक महत्व सिद्ध होगा, क्योंकि वह एक के उत्पादित और दूसरे के पालित जगत् को नष्ट कर देता है, इस कारण वही उन दोनों से बड़ा सिद्ध हुआ। इसी प्रकार यह भी मानना होगा कि संहारक रूप ही सबका संहार कर अन्त में शेष रहता है, तब आगे सृष्टि भी वही कर सकता है, क्योंकि दूसरा कोई रूप तो बचा ही नहीं है ? फिर वह सृष्टि करने या पालन करने कहाँ से आवेगा। इससे यही मानना उचित है कि एक ही परमात्मा किसी रूप से सृष्टि करता है, किसी रूप से पालन करता है और किसी रूप से संहार करता है, वही अन्त में शेष रहता है। इससे ब्रह्मा विष्णु और शङ्कर की एकरूपता ही सिद्ध होती है।

इनमें ब्रह्मा की उपासना का तो कोई सम्प्रदाय नहीं, किन्तु विष्णु और शिव के सम्प्रदाय उपासकों में बहुत प्रसिद्ध हैं और उनमें परस्पर कौन छोटा और कौन बड़ा इस बात को लेकर परस्पर कलह भी चलता रहता है। किन्तु पुराणों को देखने से यही प्रतीत होता है कि यह कलह आधुनिक साम्प्रदायिकों का ही है, भगवान् व्यास ने तो जैसे पाद्म, वैष्णव, नारद, वाराह, गारुड़ ये पुराण विष्णु की प्रधानता के बनाये हैं; इसी प्रकार वायु (शिव) लिङ्ग, स्कन्ध, कूर्म और ब्रह्माण्ड ये पुराण शिव की प्रधानता के बनाये हैं। विष्णु की प्रधानता के पुराणों में विष्णु को ही उत्पादक, पालक और संहारक कहा है एवं शिव के प्रधानता के पुराणों में शिव को ही उत्पादक, पालक और संहारक रूप से वर्णित किया है। शेष पुराणों में मिली-जुली ही पाँचों देवताओं की उपासना बतलाई है। यहाँ भगवद्गीता में भी अव्यय पुरुषरूप भगवान् कृष्ण ने विष्णु और शङ्कर दोनों को ही अपनी विभूति कहा है। इससे दोनों की समानता या एकरूपता ही प्रकट होती है। वस्तुतः अव्यय पुरुषरूप मूलतत्त्व को “वेवेष्टि” इति विष्णुः (जो सबका वेष्टन करे अर्थात् सबके भीतर बाहर रहे) इस व्युत्पत्ति के अनुसार चाहे विष्णु कह लिया जाय अथवा “शेरतेऽस्मिन् लोकाः” (जिसमें सब लोक शयन करते हैं अथवा जो सबका कल्याणकारक है) इन व्युत्पत्तियों के अनुसार शिव कह लिया जाय, इससे दोनों की मूलतत्त्वरूपता ही सिद्ध होती है, कोई भेद नहीं सिद्ध होता। शिष्ट सम्प्रदाय में भी एक पद्य प्रसिद्ध है—

उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययतो भिन्नवद्भाति ।

कलयतु कश्चन मूढो हरिहरभेदं विना शास्त्रम् ।

अर्थात् दोनों हरि और हर शब्दों में प्रकृतिरूप ह धातु एक ही है, केवल प्रत्यय का भेद है। उस प्रत्यय का भी अर्थ एक ही है, इसलिए हरि और हर दोनों शब्दों का एक ही अर्थ सिद्ध हुआ। इन दोनों में भेद कल्पना शास्त्रों को बिना देखे ही है।

कई सज्जन श्रीशङ्कर को तमोगुणी कहकर इनको उपासना के अयोग्य बतलाने की चेष्टा किया करते हैं, किन्तु उन्हें यह सोचना चाहिये कि जीव तो प्रकृति के गुणों के वश में रहा करते हैं और ईश्वर प्रकृति या माया के वश में नहीं होता, अपितु प्रकृति या माया का नियन्त्रण करता है। शिव भगवान् ईश्वर हैं, वे भी प्रकृति या माया के नियन्त्रण करने वाले ही हैं, तब सत्त्वगुण का नियन्त्रण करने की अपेक्षा मलिन तमोगुण का नियन्त्रण कठिन होता है, इससे तो शिव का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है। शिष्ट सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न देवताओं से भिन्न-भिन्न फलप्राप्ति की इच्छा का भी एक पद्य प्रसिद्ध है -

आरोग्यं भास्करादिच्छेद् धनमिच्छेत् हुताशनात् ।

ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत् मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् ।

शक्तेरनन्तसौभाग्यम् '

इत्यादि ।

अर्थात् रोगरहित रहने की सूर्य भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये, धन प्राप्ति की इच्छा अग्नि से करनी चाहिये, ज्ञान महेश्वर की उपासना से प्राप्त करना चाहिये एवं मोक्ष विष्णु भगवान् से प्राप्त करना चाहिये और लौकिक भिन्न प्रकार का ऐश्वर्य आदि शक्ति की उपासना से होता है आदि। इससे मोक्ष प्राप्ति के लिए भगवान् विष्णु की ही उपासना प्राप्त होती है, ऐसा कई विद्वान् कहा करते हैं, किन्तु इसमें भी यह विचार आवश्यक है कि बिना तत्त्वज्ञान के तो मोक्ष होता नहीं-यह "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है। तब विष्णु भगवान् भी बिना तत्त्व के तो मुक्ति देंगे नहीं और ज्ञान महेश्वर से ही मिलेगा, तब यही सिद्ध हुआ कि मोक्ष का अधिकारी पहिले महेश्वर भगवान् बना देते हैं तब उसका मोक्ष में प्रवेश भगवान् विष्णु कर लेते हैं। इससे मोक्ष देना भी दोनों ही के द्वारा सिद्ध हुआ।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य श्रीवल्लभाचार्य ने भी अपने सम्प्रदाय के सारभूत आरम्भिक ग्रन्थ में यह लिखा है कि यद्यपि शिव और विष्णु दोनों ही भोग और मोक्ष देने में समर्थ हैं, तथापि शिव भोग ही देते हैं और विष्णु मोक्ष ही देते हैं। इसमें युक्ति उन्होंने यह लिखी है कि जो जिसका स्वयं उपयोग करता है, वह दूसरे को नहीं देता यह प्रसिद्ध बात है। विष्णु भगवान् भोग का उपयोग स्वयं करते हैं और शिव शान्ति रूप मोक्ष का उपयोग करते हैं, इस कारण शिव अपने उपयोग की वस्तु मोक्ष न देकर

भोग ही देते हैं और विष्णु अपने उपयोग की वस्तु भोग किसी को न देकर मोक्ष ही देते हैं। किन्तु यहाँ भी ऐसी विपरीत युक्ति कही जा सकती है कि जिसके पास जो हो वही तो दूसरे को भी दे सकेगा। इससे भगवान् विष्णु के पास यदि भोग माना जाता है तो वे भोग ही दे सकेंगे और शिव के पास शान्तिरूप मोक्ष माना जाता है तो वे मोक्ष ही दूसरे को दे सकेंगे। इसलिए ऐसी युक्तियों में न पड़कर दोनों से ही साधक की इच्छा और अधिकार के अनुसार दोनों ही प्राप्त होते हैं—यह ही मानना चाहिये।

महाभारत के अनुशासन पर्व में जब महाराज युधिष्ठिर महाविद्वान् भीष्म से धर्म सुन रहे थे और उन्होंने शिव की महिमा सुनना चाहा, तब भीष्म पितामह ने यही उत्तर दिया कि शिव की महिमा कहने में मैं असमर्थ हूँ; क्योंकि शिव भगवान् तो सर्वत्र व्यापक हैं और दिखाई किसी को कहीं नहीं देते। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि केवल मैं ही नहीं कोई भी जीवधारी शिव की महिमा कहने में असमर्थ है, हाँ इस सभा में भगवान् कृष्ण उपस्थित हैं, ये उनके अनतरङ्ग हैं। ये चाहें तो उनकी महिमा का वर्णन कर सकते हैं और उन्होंने भगवान् कृष्ण से भी प्रार्थना की कि आप युधिष्ठिर को शिव की महिमा सुनाइये। भगवान् कृष्ण ने भी आरम्भ में यह कह कर कि शिव की महिमा पूर्ण रूप से जानने में तो ब्रह्मा आदि भी असमर्थ रहते हैं, हाँ उनके कुछ गुणों का वर्णन करता हूँ। इसके आगे उन्होंने अपनी रानी जाम्बवती की सुयोग्य पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना और सुयोग्य पुत्र प्राप्ति के लिए शङ्कर की तपस्या और उनकी कृपा प्राप्त करने की अभिलाषा से अपने गरुड़ पर चढ़कर शिव के परमभक्त उपमन्यु के आश्रम में जाना, वहाँ उनसे दीक्षा प्राप्त कर बहुत काल तक शिव की तपस्या करना, अन्ततः प्रसन्न होकर पार्वती सहित शिव का इन्हें दर्शन देना और प्रसन्नतापूर्वक शिव और पार्वती दोनों के ही इन्हें वरदान—यह लम्बी कथा भगवान् कृष्ण ने उस सभा में सब को सुनाई। इससे सब सभा बड़ी प्रसन्न हुई और शिव का गुणगान करने लगी।

कूर्मपुराण आदि में यही कथा कहकर इसके आगे इतना और कहा गया है कि वरदान देकर भगवान् शिव ने कृष्ण से अपने साथ ही चलने को कहा और इन्हें कैलाश पर अपने साथ लिवा ले गये। वहाँ कृष्ण बहुत काल तक आनन्द विहार करते रहे। इसी अवसर में द्वारका को सूनी समझ कई शत्रुओं ने द्वारका पर आक्रमण कर दिया, तब गरुड़ जहाँ इन्हें पहुँचा आये थे, वहाँ लेने को आये, किन्तु वहाँ न पाकर वापस लौट गये, फिर नारद से पता पाकर गरुड़ कैलाश पर गये और वहाँ कृष्ण को शत्रुओं के आक्रमण का सब वृत्तान्त सुनाया, तब कृष्ण शिव से विदा लेकर द्वारका आये और यथावत् पुरी की रक्षा की, इत्यादि।

यह आगे का कूर्मपुराण आदि में किया हुआ वर्णन मनुष्य आकारधारी शङ्कर

का ही हो सकता है। वरदान तक का महाभारत वर्णन तो ईश्वर रूप शङ्कर का है। उन्हीं का नररूप में अवतार भी पुराणों से सिद्ध होता है, जिनका पार्वती से विवाह आदि का वर्णन है और अर्जुन के साथ युद्ध वर्णन भी महाभारत में मिलता है। वे नररूपधारी शिव भगवान् शिव के अवतार ही कहे जा सकते हैं। पुराणों में रुद्र की सृष्टि का भी दो प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है—एक भूत, प्रेत, पिशाच आदि की सृष्टि उन्होंने की, उनको मनुष्यों का नाशक समझकर ब्रह्मा ने उन्हें ऐसी सृष्टि करने से मना कर दिया और दूसरे कई पुराणों में ऐसा भी मिलता है कि शङ्कर ने ब्रह्मा की प्रेरणा पर अपने समान ही भयानक रूप वाले तथा जन्म मृत्यु से रहित प्राणियों की सृष्टि आरम्भ की, तब ब्रह्मा ने उनसे कहा कि मृत्युरहित ऐसे प्राणियों की सृष्टि करोगे तो संसार इन्हीं से भर जायेगा, फिर अन्य पैदा किये हुए प्राणी कहाँ रहेंगे। इससे मरणशील प्राणियों की सृष्टि करो। भगवान् शङ्कर ने वैसी सृष्टि करने का निषेध कर दिया और वे सृष्टि से विरत हो गये।

भगवद्गीता के उक्त पद्यांश का यह भी आशय लगाया जा सकता है कि उन सब भयानकरूप प्राणियों में उनका सृष्टि करने वाला जो मुख्य शङ्कररूप है वह मैं ही हूँ अर्थात् वह अव्यय पुरुष ही है।



## बत्तीसवाँ-पुष्प

वित्तेशो

यक्षरक्षसाम् ।

वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।

गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

उच्चैश्श्रवसमश्वानां विद्धिमामृतोद्भवम् ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

आगे कहा जाता है कि यक्ष और राक्षसों में वित्तेश अर्थात् धन का स्वामी कुबेर मैं हूँ। यहाँ कई व्याख्याकार लिखते हैं कि यक्ष और राक्षस जाति में बहुत थोड़ा भेद है, दोनों ही क्रूर जातियाँ हैं। राक्षस शब्द का अर्थ कोशकारों ने जिससे रक्षा की जाय वह राक्षस है—ऐसा किया है।

इन दोनों जातियों का ही अधिपति कुबेर को माना जाता है, इस कारण दोनों के प्रधानभूत कुबेर को प्रधानता के कारण ही भगवान् ने अपनी विभूति कहा।

वसु नाम के जो आठ देवता प्रसिद्ध हैं, उनमें मैं पावक हूँ और शिखर वाले पर्वतों में मेरु अर्थात् सुमेरु मैं हूँ। आगे हिमालय पर्वत की भी विभूतियों में गणना आती है, इस पुनरुक्ति के निवारण के लिए कई व्याख्याकारों ने “शिखरी” शब्द का अर्थ विशेष प्रकार के शिखर वाले या रत्नयुक्त शिखर वाले किया है। तात्पर्य यही है कि यदि सब स्थावर पदार्थों में से किसी में मेरा ध्यान करना हो तो हिमालय में किया करो और विशेष प्रकार के रत्नयुक्त शिखर वालों में ध्यान करना हो तो सुमेरु पर्वत में ध्यान किया करो। ध्यान करने के लिए ही इन विभूतियों की गणना है—यह आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। (२३)

हे पार्थ ! पुरोहित अर्थात् राजाओं को याजन आदि कराने वालों में मुख्य इन्द्र

के पुरोहित बृहस्पति को मेरा रूप समझो। सेनाओं के नेता जो भिन्न-भिन्न लोक में हैं, उनमें स्कन्द अर्थात् देवताओं का सेनापति कार्तिकेय रूप मैं हूँ और सरस् अर्थात् जलाशयों में समुद्ररूप मैं हूँ। (२४)

मन्त्रों में द्रष्टा ऋषि कहे जाते हैं। उनमें भी जो अधिक मन्त्रों के द्रष्टा हैं वे महर्षि पद से कहे जाते हैं। उन महर्षियों में भृगुरूप मैं हूँ। भृगु महर्षि के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में एक कथा मिलती है कि ऋषि लोग एक समय सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे। उनके चित्त में विचार हुआ कि ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु इन तीनों देवताओं में कौन बड़ा है। तब उन्होंने ब्रह्मा के पुत्र भृगु ऋषि को परिक्षा के लिए तीनों देवताओं के समीप भेजा। वे पहिले ब्रह्मलोक में गये, वहाँ पर परीक्षार्थ ब्रह्मा को इन्होंने प्रणाम या स्तुति आदि कुछ नहीं किया। ब्रह्मा को अपने पुत्र का यह अविनय देख चित्त में क्रोध हुआ और वह क्रोध उनके मुख की रक्तता से प्रकट भी हो गया, यह देखकर भृगु आगे महेश्वर के समीप कैलाश पर गये। इन्हें आया देखकर शंकर भगवान् इनसे मिलने के लिए खड़े हुए, किन्तु ये उनसे नहीं मिले, तब शंकर भगवान् को भी क्रोध आ गया और “तुम बड़े असभ्य हो” ऐसा कहकर उन्होंने इन्हें मारने के लिए त्रिशूल उठा लिया, तब भगवती पार्वती ने प्रार्थना कर उन्हें किसी प्रकार शान्त किया। इसके अनन्तर भृगु वैकुण्ठ में विष्णु भगवान् के समीप गये। वहाँ विष्णु भगवान् अपनी पत्नी लक्ष्मी माता की गोद में सो रहे थे। भृगु ने जाते ही उनके वक्षस्थल पर लात मारी। तब भगवान् विष्णु उठ खड़े हुए और प्रणाम कर भृगु ऋषि से कहने लगे कि ब्रह्मन् ! मुझे आपका आगमन विदित नहीं था, इसलिए यह मेरा अपराध क्षमा कीजिये, आपके चरण बड़े कोमल हैं, मेरे वक्षस्थल से उनमें चोट लगी होगी, आदि। तब भृगु यज्ञ में अन्य ऋषियों के पास लौट आये और उन्हें सब वृत्तान्त सुनाया। सब सुनकर ऋषियों ने सत्वगुण प्रधान होने के कारण विष्णु भगवान् को ही सर्वश्रेष्ठ माना। श्रीभागवत वैष्णवपुराण है इस कारण विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन वहाँ उचित ही है। उन्हीं भृगु को यहाँ भगवान् कृष्ण ने अपना रूप बतलाया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि किसी दूसरे की लात भगवान् को नहीं लगी थी, अपितु अपने ही विभूतिरूप एक महर्षि की लात थी।

भृगु महर्षि ने भगवान् विष्णु के वक्षस्थल में ही लात क्यों मारी ? इस पर भी अनेक विद्वान् कल्पना किया करते हैं कि भगवान् के उत्तमाङ्ग में लात मारना तो अत्यन्त अनुचित होता और उनके चरणों में से गङ्गा प्रकट हुई है, वहाँ लात मारने से श्रीगङ्गा का तिरस्कार होता। भगवान् के वक्षस्थल में तो लक्ष्मी का निवास है और बाह्यण तत्रापि ऋषि, लक्ष्मी का सदा ही तिरस्कार करते हैं—यह सब सोचकर भृगु ने

भगवान् विष्णु के वक्षस्थल में ही लात मारी। श्रुति में भृगु का दूसरे प्रकार का भी वर्णन मिलता है “अर्चिषि भृगुः संबभूव, अङ्गारेष्वङ्गिरा” इत्यादि। किन्तु वह प्राणरूप भृग्वङ्गिरा का वर्णन है। उससे यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं। आगे कहा गया है कि गिराम् अर्थात् अर्थ प्रतिपादक शब्दों में एक अक्षर रूप मैं हूँ। यहाँ गीता के सभी व्याख्याकारों ने एक अक्षर पद से प्रणव या ओङ्कार का ही ग्रहण किया है किन्तु पूर्व सप्तम अध्याय में ही “प्रणवः सर्ववेदेषु” कहा जा चुका है। उससे यहाँ पुनरुक्ति ही होगी? इस कारण हमारे मतानुसार यहाँ यह अर्थ करना चाहिये कि वाणी जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम से चार प्रकार की प्रसिद्ध हैं, उनमें अर्थ प्रतिपादक और सब प्राणियों में व्यापक “स्फोटरूप” मैं हूँ। अर्थ प्रतिपादकस्फोट सब प्राणियों में व्यापक रूप से रहा करता है—यह वैयाकरणों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। इससे “गिराम्” यह बहुवचन भी सुसंगत हो जायेगा।

सब प्रकार के यज्ञों में जपरूप यज्ञ मेरा रूप है। स्मृतियों में भी कहा गया है कि जपयज्ञ सबसे उत्तम है, क्योंकि इसमें पशु, बीज आदि किसी की हत्या नहीं करनी पड़ती, इस श्रेष्ठता के कारण ही यहाँ भी भगवान् ने उसे अपना रूप बतलाया और स्थितिशील अर्थात् एक स्थान से न हटने वाले पदार्थों में हिमालयरूप मैं हूँ। इस पर जो वक्तव्य था वह हम “मेरुः शिखरिणामहम्” पर कह चुके हैं। (२५)

सब प्रकार के वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल रूप मैं हूँ। इस अश्वत्थ का जगत् रूप से पन्द्रहवें अध्याय में वर्णन किया जायेगा। उपनिषदों में ब्रह्म का भी अश्वत्थ रूप से निरूपण मिलता है। यह वृक्ष बहुत घेर घुमेर होता है और सोम इसमें प्रधान रूप से रहा करता है। इसी कारण इसके नीचे सोने बैठने वालों को यक्ष्मा आदि रोग नहीं होते। इसी विशेषता से वट आदि वृक्षों से भी इसे प्रधान माना जाता है। इस प्रधानता के कारण ही भगवान् ने इसे अपना रूप बतलाया।

देवर्षियों में नारदरूप मैं हूँ। पहिले महर्षियों में भृगुरूप अपने को बतला आये हैं। महर्षि और देवर्षियों में यह भेद समझना चाहिये कि जिनका देवताओं में भी आवागमन रहे वे देवर्षि कहे जाते हैं और केवल मनुष्यलोक के निवासी महर्षि नाम से प्रसिद्ध होते हैं। देवर्षि नारद का सनत्कुमार के पास ब्रह्मविद्या का अध्ययन करना उपनिषदों में भी प्रसिद्ध है और इन्द्र आदि देवताओं के समीप इनका जाना आना प्रायः पुराण आदि में बहुधा वर्णित है। इसलिए ये देवर्षि कहे जाते हैं और भक्तिमार्ग के तो ये प्रधान आचार्य ही हैं। इन्हीं कारणों से देवर्षियों में प्रधान मानकर इनको भगवान् ने अपना रूप बतलाया।

गन्धर्वों में प्रधानरूप चित्ररथ नाम का गन्धर्व मैं ही हूँ। ज्ञान या तप के बल से जिन्होंने बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया है वे सिद्ध कहे जाते हैं। उनमें कपिलमुनि रूप मैं हूँ। कपिलमुनि विष्णु के चौबीस अवतारों में से एक हैं—यह श्रीमद्भागवत में वर्णित हुआ है और दर्शन विद्या इन्होंने ही आरम्भ की है, इस कारण इन्हें आदिविद्वान् भी कहा जाता है। इसलिए भगवान् कृष्ण का इन्हें अपना रूप बतलाना सर्वथा सुसंगत है। (२६)

घोड़ों में समुद्र मन्थन के समय अमृत के साथ निकला हुआ उच्चैःश्रवा नाम का अश्व जो सब अश्वों में प्रधान है और इन्द्र का वाहन है उसे मेरा ही रूप समझो। इसी प्रकार समुद्र मन्थन के समय ही प्रकट हुआ 'ऐरावत' नाम का गजेन्द्र भी मेरा ही रूप है और मनुष्यों में ही कहीं ध्यान करना हो तो मनुष्यों के अधिपति राजा को आश्रय बनाकर मेरा ध्यान किया करो। स्मरण रहे कि आरम्भ में अर्जुन का यही प्रश्न था कि मैं किन-किन भावों में आपका ध्यान किया करूँ। इस कारण भगवान् सब वर्गों में जो जो प्रधान हैं, उन्हें ही अपना रूप बतलाकर उनके आधार से ध्यान करने का उपदेश अर्जुन को दे रहे हैं। इसी कारण घोड़े, हाथी, राजा आदि को अपना रूप बतलाते हैं। इसका आशय यही है कि इन वर्गों में ही यदि ध्यान करना चाहो तो इन-इन प्रधान व्यक्तियों में मेरा ध्यान किया करो। (२७)





## तैंतीसवाँ-पुष्प

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।  
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥  
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ॥  
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥  
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।  
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥  
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।  
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जान्हवी ॥३१॥

जिनसे दूसरे पर युद्ध में प्रहार किया जाय, उन्हें आयुध कहते हैं। उन आयुधों में सर्वप्रधान वज्र जो इन्द्र के हाथ में रहता है, वह मैं हूँ। दूध देने वाली गायों में कामधेनु नाम की जो गौ है, जो कि न केवल दूध देती है अपितु उससे जो चाहा जाय वही दे देती है—ऐसी सर्वश्रेष्ठ गौ मेरा ही रूप है और सन्तान उत्पन्न करने का कारण जो कन्दर्प अर्थात् कामदेव है, जिसके कारण पुरुषों की स्त्री संसर्ग में प्रवृत्ति होती है, वह मेरा ही रूप है। इन्हीं भगवान् की बाल-लीलाओं में जो रासलीला आती है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीधरस्वामी ने लिखा है कि “कामविजयख्यापनार्थेयं लीला” अर्थात् भगवान् कृष्ण ने कामदेव से खुले मैदान की लड़ाई लड़कर उसे परास्त किया—यही इस लीला का आशय है। किन्तु यहाँ भगवान् कृष्ण ने उस कामदेव को भी अपना ही रूप बतलाया है। तब वहाँ श्रीधरस्वामी का यही आशय समझना होगा कि अपने ही एक भिन्न कार्य करने वाले सर्वविजयीरूप को भगवान् ने परास्त किया। “प्रजनः” पद से यह भी सूचित किया जाता है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ऋतुकाल में स्त्रीसंसर्ग में प्रवृत्ति कराने वाला जो काम है, वही शास्त्रानुकूल होने के कारण मेरा रूप है, व्यर्थ काम अशास्त्रीय होने के कारण मेरा रूप नहीं और सर्पों में उनका राजारूप वासुकि नाम का सर्प मेरा रूप है। (२८)

नागों में नागों का ईश्वर अनन्त अर्थात् शेषनाग मेरा रूप है, जिस शेष को पर्यङ्क बना कर भगवान् विष्णु उस पर शयन किया करते हैं। यहाँ कुछ व्याख्याकारों ने सर्प और नागों का यह भेद बतलाया है कि एक सिर वाले सर्प कहलाते हैं और अनेक

सिर वाले नाग कहे जाते हैं। किसी व्याख्याकार ने यह भी लिखा है विषवाले सर्प कहे जाते हैं और जिनमें विष न हो वे नाग हैं। किन्तु संस्कृत के कोशों से इन व्याख्याकारों की पुष्टि नहीं होती। श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार इन शब्दों का यह अर्थ करते हैं कि जो सर्पण करते हैं अर्थात् गतिशील होते हैं वे सर्प हैं और जो न चलने वाले हों वे नग या स्वार्थिक अण् प्रत्यय से नाग कहे जा सकते हैं। अमरकोशकार ने कद्रू नाम की कश्यप की स्त्री से उत्पन्न नाग होते हैं, उन्हीं के ईश्वर, अनन्त नाम से कहे जाते हैं और सर्पों का राजा वासुकि है ऐसा लिखकर इसके अनन्तर ही अजगर के नाम लिखे हैं। अजगर से चला नहीं जाता यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इससे अन्तिम व्याख्या ही कुछ कोशानुमत और व्याकरणानुफूल होने से युक्तियुक्त प्रतीत होती है। जल के अधिष्ठाताओं में वरुणरूप मैं हूँ। यादस् शब्द का अर्थ कोशकार ने जलजन्तु लिखा है, किन्तु वरुण को जन्तुरूप नहीं कहा जा सकता, इसलिए श्रीशङ्कराचार्य ने जलदेवता इसका अर्थ किया है और श्रीरामानुजाचार्य ने जलनिवासी अर्थ माना है। वरुणजल का देवता होने के कारण जल में ही निवास करता है—ऐसा श्रीभागवत से एकादशी व्रत के अनन्तर नन्द के जल में डूब जाने की कथा से भी सिद्ध होता है, क्योंकि भगवान् कृष्ण ने जल में प्रवेश करके ही वरुणलोक प्राप्त किया था और वहीं से नन्दजी को लौटा लाये थे। पितरों में अर्यमारूप मैं हूँ और दण्ड देकर प्रजाओं को मर्यादा में जो रखते हैं, उनमें यमरूप मैं हूँ। (२९)

दैत्यों में प्रह्लादरूप मैं हूँ। दैत्य जाति राक्षस यक्ष आदि से भिन्न प्रकार की है। प्रह्लाद की रक्षा के लिए ही आपने नृसिंहरूप धारण किया था। प्रह्लाद भक्तों में शिरोमणि गिना जाता है। अनन्त भक्त होने के कारण वह भक्तरूप ही हो गया है। उसे ही भगवान् ने यहाँ अपना रूप बतलाया है। जगत् की सब वस्तुओं का परिणाम करने कराने वालों में कालरूप मैं हूँ। विष्णुपुराण में विष्णु भगवान् के चार रूप बतलाये हैं, उनमें काल भी एक है। मृग अर्थात् वन में विचरने वाले प्राणियों में मृगेन्द्र अर्थात् सिंहरूप मैं हूँ, वन में विचरने वालों में सिंह प्रधान हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि वनेचरों में ही यदि मेरा ध्यान करना हो तो सिंह का आधार मानकर उसमें ही मेरा ध्यान करना चाहिये। पक्षियों में वैनतेय अर्थात् गरुड़ मैं हूँ। (३०)

जो वेग से चलकर वस्तुओं को पवित्र करते हैं अर्थात् कूड़ा-करकट निकाल कर वस्तुओं को स्वच्छ कर दिया करते हैं, उनमें पवन अर्थात् वायुरूप मैं हूँ। शस्त्र धारण करने वालों में रामरूप मैं हूँ। यहाँ रामशब्द का अर्थ कई व्याख्याकार दाशरथीराम करते हैं और कई परशुराम। परशुराम अर्थ करने वाले व्याख्याकार दाशरथी राम यहाँ न लिये जाने का कारण यह बतलाते हैं कि दाशरथी राम तो आपका साक्षात् रूप ही

हैं, वे विभूतियों में क्यों गिने जाते। किन्तु यह युक्ति उनकी ठीक नहीं प्रतीत होती क्योंकि आगे के पद्यों में वासुदेव को अर्थात् स्वयं अपने आपको भी गिनाया है। यह गणना तो ध्यान करने के लिये है, इसलिये यहाँ शङ्कर या वासुदेव की तरह दाशरथी राम को भी गिना जा सकता है।

हमारे मतानुसार भी यहाँ परशुराम को ही लिया जाना उचित है, किन्तु कारण यह है कि इन विभूतियों में जो उस काल वर्तमान थे उनकी ही गणना है। इसीलिए भूतकाल के वराह, नृसिंह, वामन अवतार या भविष्यकाल के बुद्ध, कल्कि यहाँ विभूतियों में नहीं गिने गये। इससे यही मानना होगा कि भूत और भविष्यत् को गिनाने से तो अनन्तता हो जाती और किन-किन भावों में आपका चिन्तन करूँ यह अर्जुन का प्रश्न भी वर्तमान काल के चिन्तन के आधार कहने का ही संकेत करता है। परशुराम भगवान् चिरजीवी होने के कारण महाभारतकाल में भी उपस्थित थे, इसी कारण भीष्म, द्रोण और कर्ण ने इनसे ही विद्या सीखी थी। उन वर्तमान परशुराम का ही यहाँ विभूतियों में निर्देश किया हुआ मानना चाहिये।

जल-जन्तुओं में सबसे बड़ा मकर मेरा रूप है और नदियों में जान्हवी अर्थात् श्रीगङ्गारूप मैं ही हूँ। श्रीगङ्गा का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से यहाँ श्रीगङ्गा के महत्त्व का संक्षिप्त वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

गङ्गाजल का महत्त्व तो न केवल भारतवासी किन्तु अन्य देशों के वैज्ञानिक भी मानते हैं। एक बार अमेरिका में बहुत प्रकार के जल भिन्न-भिन्न स्थानों से मँगाकर उनकी रासायनिक परीक्षा की गई थी और उस परीक्षा के द्वारा गङ्गाजल को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया था। कई बार पाश्चात्य डाक्टरों ने परीक्षा कर यह भी सिद्ध किया है कि विसूचिका आदि भयङ्कर रोगों के कीटाणु इस जल में डालते ही इसके प्रभाव से मर जाते हैं। यह बात तो भारतवासी प्रत्येक गृहस्थ ही जानता है कि कई वर्षों तक किसी पात्र में रक्खा रहने पर भी इसमें कीड़े नहीं होते हैं और बहुत काल तक यह जैसा का तैसा बना रहता है। सोने को खूब तपाकर गङ्गाजल में डुबाने पर भी यह क्षीण नहीं होता, जहाँ कि अन्य प्रकार के जल क्षीण हो जाया करते हैं। ये सब इसके महत्त्व प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, किन्तु इस प्रकार के महत्त्व का कारण क्या है, इसका विचार करने पर साधारण दृष्टि से पाश्चात्य वैज्ञानिक या बहुत से भारतीय भी यही समझ लेते हैं कि हिमालय प्रदेश से यह आता है और वहाँ की विचित्र प्रकार की औषधियों के सम्पर्क से ऐसे महत्त्व इसमें प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु भारतीय ऋषियों ने इस प्रकार की अटकल से ही सन्तोष नहीं कर लिया था। उन्होंने अपने अन्वेषण से निश्चय किया था कि यह जल उत्पत्ति से ही अन्य जलों से विलक्षण प्रकार का है। जैसा कि वेदों

और पुराणों में स्पष्ट लिखा है। वेद के मन्त्र और ब्राह्मणों में जल के कई प्रकार के भेद बतलाये गये हैं। कर्मकाण्ड में बोले जाने वाला एक सुप्रसिद्ध मन्त्र है कि—

या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवु-

र्या आन्तरिक्षा उत पार्थिवीर्याः ।

हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः,

शिवाः शंस्योनाः सुहवा भवन्तु ।

इस मन्त्र में जल के तीन प्रकार बतलाये गये हैं। एक दिव्य, दूसरा अन्तरिक्ष का और तीसरा पृथिवी का। अन्यान्य मन्त्रों में भी इस प्रकार से जल के भेदों का कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से वर्णन है। जैसा कि -

या आपो दिव्या पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उतवा पृथिव्याम् ।

तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा

(अथर्वश्रुति, ४।२।८।५)

इस अथर्ववेद के राज्याभिषेक मन्त्र में भी जल के उक्त तीनों ही प्रकार लिखे हैं।

एवं -

या आपो दिव्या उतवा स्रवन्ति खनित्रिमा उतवा स्वयंजाः ।

समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह भावयन्तु ।

(ऋक्-७।४९।२)

इस ऋग्वेद के मन्त्र में दिव्यजल को पृथक् गिनाकर आगे पृथिवी के जलों के ही तीन भाग कर दिये गये—एक नदियों में बहने वाला, एक कूप आदि खोद कर निकाले जाने वाला और एक जो पर्वत आदि प्रदेशों में स्वयं ही निकल पड़ता है।

ऐतरेय उपनिषद् में शब्दान्तर से जल के चार विभाग बतलाये हैं और उनका स्थान निर्देश भी किया है -

स इमाँल्लोकानसृजत् अम्भोमरीचीर्मरमापः,

अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्ष-

मरीचयः, पृथिवीं मरः या अधस्तात् ता आपः ।

(ऐत०, १।१।२)

यहाँ लोकशब्द से जल ही लिये गये हैं, क्योंकि कई जगह वेदों और पुराणों में लोकसृष्टि के प्रसङ्ग में जल की ही प्रथम सृष्टि बतलाई गई है। उस जल के यहाँ लोकभेद से चार भाग बतलाये गये हैं। जिनके नाम हैं अम्भः, मरीचिः, मर और आपः। इनका स्थान निर्देश इस प्रकार बतलाया कि द्युलोक से अर्थात् सूर्यमण्डल से ऊपर का जो अप् भाग है, यह “अम्भ” कहा जाता है। द्युलोक अर्थात् सूर्यमण्डल ही उसकी प्रतिष्ठा है, अर्थात् ऊपर के लोकों का जल सूर्यमण्डल के आसपास ही आकर ठहरता है और मरीचि नाम सूर्यकिरणों का है। उनमें व्याप्त जो जल अन्तरिक्ष में फैला रहता है, वह जल भी मरीचियों से सम्बन्ध रखने के कारण “मरीचि” नाम से ही कहा जाता है। तीसरा जल “मरः” बतलाया जो कि शतपथ ब्राह्मण में कहे गये आठ रूपों में प्राप्त होकर पृथिवी का निर्माण करता है और पृथिवी से नीचे के पाताल आदि लोकों में जो जल मिलता है, उसका जलसामान्य के वाचक अप्शब्द से ही व्यवहार किया गया। इस उपनिषद् में पूर्व वेदमन्त्रों में कहे गये दिव्यजल का ही अम्भशब्द से व्यवहार किया गया, अन्तरिक्ष के जल का “मरीचि” शब्द से और पार्थिव जल को “मर” और “आप” दो भागों में बाँटा। यहाँ “अम्भ” शब्द से और पूर्वोक्त मन्त्रों में दिव्य शब्द से जो जल कहा गया है वही श्रीगङ्गाजल है। इसी के लिए मन्त्रों में यह भी कहा गया है कि चन्द्रमा जल के भीतर होकर ही चला करता है और यह भी कहा गया है कि यह दिव्यजल सूर्य के समीप या सूर्य के साथ रहा करता है। सूर्य की किरणें धक्का मार कर इसे हटाया करती हैं। इस प्रकार सूर्य किरणों से हटाया जाकर यह दिव्यजल सुमेरु प्रान्त में जहाँ कि सूर्यकिरणों का वेग बहुत अल्प हो जाता है, वहाँ इकट्ठा होकर घनीभूत हो जाता है और वहीं सूक्ष्मरूप से स्थूलजल के रूप में आकर नीचे गिर पड़ता है।

यह भी स्मरण रहे कि एक सूर्य का प्रकाश जहाँ तक फैलता है, उस सम्पूर्ण गोल को एक ब्रह्माण्ड माना जाता है। अनन्त आकाश में ऐसे हजारों ब्रह्माण्ड हैं। इनमें ऐसी भी घटना होती है कि दो ब्रह्माण्डों की परिधि आपस में मिल जाया करती हैं। ऐसी स्थिति में सूर्य की किरणों द्वारा अन्तिम परिधि के पास आई हुई एक ब्रह्माण्ड की जलधारा दूसरे ब्रह्माण्ड में भी प्रविष्ट हो जाती है। वामन भगवान् ने जब अपने पैरों से तीनों लोकों को नापा था, उस समय उनके पाद के अङ्गुष्ठ से हमारे ब्रह्माण्ड की परिधि का कुछ अंश टूट गया था। इसीलिए हमारे इस ब्रह्माण्ड को “वामन नखाग्रस्फुटित ब्रह्माण्ड” कहते हैं। श्रीभागवत और विष्णुपुराण में श्रीगङ्गा का यही वर्णन मिलता है कि उस टूटी हुई परिधि के स्थान से दूसरे ब्रह्माण्ड की जो जलधारा इस ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुई वही क्रमशः श्रीगङ्गा के रूप में परिणत हो गई। महाभारत में और अन्य कई पुराणों में गङ्गा का इस प्रकार का विवरण स्पष्ट मिलता है -

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वर ।  
 विश्वरूपाऽपरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना ॥  
 पुण्यापुण्यतमैर्जुष्टा गङ्गा भागीरथी शुभा ।  
 प्लवन्तीव प्रवेगेन हृदे चन्द्रमसः शुभे ॥  
 तथा ह्युत्पादितः पुण्यः स हृदः सागरोपमः ।  
 तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि ।  
 शतं वर्षसहस्राणां शिरसैव महेश्वरः ।

(महारत भीष्मपर्व जन्वूखण्ड अ० ६)

यहाँ गङ्गा का सुमेरु पर गिरना और उसी का वहाँ एक चन्द्र सरोवर बनाना स्पष्ट कहा है तथा महेश्वर ने उसे बहुत वर्षों तक धारण किया यह भी कहा गया है। महेश्वर का शिरोभाग आकाश कहा जाता है जैसा कि कोश में इनका नाम “व्योमकेश” प्रसिद्ध है और अष्टमूर्ति शिव की मूर्तियों में आकाश ही सर्वोच्च है। इससे यही तात्पर्य निकला कि यह गङ्गा की धारा आकाश में बहुत काल तक घूमती रही। वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि तत्त्वों में परिवर्तन बहुत काल में ही होता है, इससे सूक्ष्मजल को घन बनने में बहुत वर्ष लगे—यह युक्त ही है।

वामपादाम्बुजाङ्गुष्ठनखस्रोतविनिर्गताम् ।  
 विष्णोर्विभर्ति यां भक्त्या शिरसाहर्निशुं ध्रुवः ॥१०९॥  
 ततः सप्तर्षयो यस्याः प्राणायामपरायणाः ।  
 तिष्ठन्ति वीचिमालाभिरुह्यमानजटाजले ॥११०॥

(विष्णुपुराण अं० २, अध्याय ८।)

यहाँ विष्णुपुराण में जो विष्णु के वामपाद के अङ्गुष्ठ से गङ्गा का निकलना लिखा है, वह वामनावतार विष्णु के ही पादनख से विदीर्ण ब्रह्माण्ड परिधि से दूसरे ब्रह्माण्ड की जलधारा का प्रवेश समझना चाहिये। जैसा कि श्रीभागवत के वर्णन से स्पष्ट हो जायेगा। आगे ध्रुव और सप्तर्षियों का शिर पर धारण और आचमन आदि जो बतलाया गया है वे ध्रुव और आकाश में दीखने वाला सप्तर्षिमण्डल ही हैं। इससे भी बहुत काल तक आकाश में सूक्ष्मरूप से गङ्गा का विचरना स्पष्ट हो जाता है।

“तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो  
 वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाह विवरेणान्तः

प्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारु-  
 णकिञ्चल्कोपरञ्जिताखिलजगदधमलापदोपस्य-  
 र्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुलक्षितवचोऽभि-  
 धीयमानातिमहता कालेन युगसहस्रोप-  
 लक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार। यत्तद्  
 विष्णुपदमाहुः। यत्र ..... वीरव्रत औत्तन-  
 पादिः शिरसा विभर्ति'', इत्यादि ।

(श्रीभागवत, स्क० ५।अ० १७।)

यहाँ श्रीभागवत में विक्रमण करते हुए विष्णु के वामपदाङ्गुष्ठ-इन पदों से विष्णु का वामन अवतार स्पष्ट हो जाता है और श्रीगङ्गा को जो विष्णुपद से निकली हुई लोक में बतलाया जाता है, उसका अभिप्राय भी स्पष्ट है कि उस ध्रुव सन्निहित आकाश प्रदेश को जहाँ कि सप्तर्षि मण्डल है-“विष्णुपद” ही कहा जाता है। अमरकोश में तो “विष्णुपद” नाम आकाश सामान्य का ही माना गया है। वहाँ बहुत काल तक भ्रमण कर प्रकट होने से ही श्रीगङ्गा “विष्णुपदी” या विष्णुपाद से निकली हुई कही जाती है। ध्रुव का शिर से धारण करना यहाँ भी स्पष्ट वर्णित है। आगे उसका अलकनन्दा आदि चार रूपों में बहना और भारतवर्ष में होकर समुद्र में मिलना भी स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार मन्त्रों, ब्राह्मणों और पुराणों में श्रीगङ्गा का महत्व अति स्पष्ट है।



## चौंतीसवाँ-पुष्प

### ( २ ) श्रीगङ्गा का महत्त्व

श्रीदेवीभागवत में श्रीगङ्गा के उद्भव का और भी रहस्य बतलाया गया है कि श्रीगङ्गा किस प्रकार प्रकट हुई। वहाँ कथा है कि कार्तिकी पूर्णिमा के दिन श्रीराधा के महोत्सव में सब ब्रह्मा आदि देवता गोलोक में उपस्थित थे। गोप गोपी आदि गोलोक के निवासियों की भी बड़ी सभा लगी हुई थी, राधा और कृष्ण मध्य में रासमण्डल में विराजमान थे, उस शुभ अवसर में सरस्वती का सुन्दर गायन हो रहा था। उस गायन से प्रसन्न होकर ब्रह्मा आदि सब देवताओं ने आभूषणों से सरस्वती का सम्मान किया। भगवान् कृष्ण ने भी दिव्य आभूषण देकर सरस्वती का बहुत सम्मान किया। अनन्तर ब्रह्मा की प्रेरणा से उस सभा में उपस्थित श्रीशङ्कर भगवान् ने भी अपना गान आरम्भ किया। शङ्कर का गान आरम्भ होते ही सभा के सब लोग आत्मविस्मृत होकर मूर्च्छित-से हो गये। कुछ काल के अनन्तर जब सबको चेतना प्राप्त हुई, तो सबने सामने रासमण्डल की ओर देखा कि वहाँ राधा-कृष्ण नहीं हैं और उनके स्थान में जल भरा हुआ है। यह देखकर सब लोग चकित होकर अति विकल हो गये कि सबके आराध्य देव राधा कृष्ण कहाँ गये ? सबको अत्यन्त विकल देख आकाशवाणी के द्वारा भगवान् कृष्ण ने यह बोधित किया कि शङ्कर के गान से हम दोनों द्रुत हो गये हैं और हमारा अङ्ग ही जो जलरूप में परिणत हो गया, वह रासमण्डल में भरा हुआ है। अब हमारे स्थान में इसी को मानकर तुम सब इसी की उपासना करो। वस्तुतः हम निराकार हैं। तुम सबको दर्शन देने के लिए नराकार में प्रकट होते हैं और आज इस समय हम “नीराकार” हो गये हैं। तीनों को अर्थात् निराकार, नराकार और नीराकार को एक ही मानना चाहिये। तीनों रूपों में साधकों को हमारा ध्यान करना चाहिये। यह वाणी सुनकर सब देवता और गोप गोपियों ने उस जल को प्रणाम किया। ब्रह्मा ने अपने कमण्डलु में उसका अंश भर लिया, शङ्कर ने अपनी जटाओं में उसका अंश धारण कर लिया। इस प्रकार श्रीगङ्गा, राधाकृष्ण के अङ्ग से प्रकट हुई।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं और श्रीराधा उनकी आनन्ददायिनी (ह्लादिनी) शक्ति हैं। श्रीकृष्ण आनन्दरूप हैं किन्तु बिना शक्ति की सहायता के अपने आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते, न अन्य साधक ही बिना शक्ति की सहायता के उनके आनन्द का अनुभव कर सकता है। उनकी अन्तरङ्गशक्ति श्रीराधा ही उनके आनन्द का उनको भी अनुभव कराती हैं और उनके भक्तों को भी उनके आनन्द का अनुभव कराती हैं। इसी



कारण उनका “राधा” नाम है। व्याकरण के अनुसार “राध” धातु का अर्थ सिद्धि ही है। आनन्द का अनुभव में आना ही उसकी सिद्धि है। दोनों मिलकर ही वेदान्त और आगम प्रक्रिया में ब्रह्म नाम से कहे जाते हैं। उनके अङ्ग से प्रकट होने के कारण ही श्री गङ्गा “ब्रह्मद्रवी” कही जाती है।

शतपथ ब्राह्मण के छठे काण्ड के प्रथम ब्राह्मण में इसी अंश को अपनी परिभाषा के शब्दों में संकेतित किया गया है। वहाँ पहिले ऋषियों की सत्ता और उनका सात रूप में विस्तार बतला कर आगे कहा है कि ब्रह्म ने अनेक रूप में होने का जब विचार किया तब उससे पहिले त्रयी विद्या अर्थात् तीनों वेद प्रादुर्भूत हुए। फिर उस त्रयी विद्या को तपाने से उसी वाक् रूप लोक से अप् का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्म ने त्रयी विद्या के साथ उस अप् में प्रवेश किया। इससे आगे पृथिवी की उत्पत्ति का वर्णन है।

यहाँ ब्रह्मपद से शक्ति सहित ही ब्रह्म समझना चाहिये, क्योंकि सृष्टिकर्ता शक्ति सहित ब्रह्म ही होता है। शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म से सृष्टि नहीं हो सकती यह सभी पुराणों में स्पष्ट है। इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि शक्ति सहित ब्रह्म से ही अप् की उत्पत्ति है और वे अप् दिव्य अप् रूप ही हैं। वे ही घनीभूत होकर गङ्गा के रूप में प्रकट होते हैं यह सब विषयपूर्व पुष्प में विस्तार से बतलाया जा चुका है। श्रुति में मध्य में जो त्रयी विद्या की उत्पत्ति बतलाई गई, वह त्रयी विद्या त्रैगुण्य का ही रूप समझना चाहिये। प्रकृति के द्वारा ही सब जगत् की सृष्टि हुआ करती है। वह अप् की सृष्टि में भी पूर्व आवश्यक ही है। त्रयी विद्या सहित ब्रह्म का जो अप् में प्रवेश श्रुति के द्वारा बतलाया गया, उसका तात्पर्य है कि तीनों वेद ही धर्मों के प्रतिपादन में मुख्य प्रमाण हैं। वे धर्म प्रतिपादक प्रमाण धर्म के ही बोधक समझने चाहिये। धर्मसहित ब्रह्म ने इस अप् में प्रवेश किया, इसी से गङ्गा “धर्मद्रवी” भी कही जाती है।

“धर्मद्रवी” कहने का कई विद्वान् एक दूसरा भी आशय लगाया करते हैं कि श्रीगङ्गा का तीनों देवताओं से सम्बन्ध माना जाता है। ब्रह्माजी के कमण्डलु में वे रहती हैं, शङ्करजी के जटाजूट में और विष्णुजी के चरणों में। ये तीनों देवता ही प्रकृति के तीनों गुणों के अधिष्ठाता माने जाते हैं। विष्णु सत्त्वगुण के, ब्रह्मा रजोगुण के और शङ्कर तमोगुण के। इन देवताओं का सम्बन्ध बतलाना, इनके अधिष्ठेय गुणों का बोधक मान लिया जाय, तब श्रीगङ्गा का तीनों गुणों से सम्बद्ध सिद्ध होगा। धर्म का भी प्रकृति के तीन गुणों से ही सम्बन्ध है। तत्रापि रजोगुण से धर्म का मुख्य सम्बन्ध है। सत्त्वगुण के चरण तक ही उसकी व्याप्ति रहती है आगे मोक्ष का अधिकार आ जाता है और तमोगुण के मस्तक तक ही धर्म का सम्बन्ध है। तमोगुण के नीचे के भाग में अधर्म की व्याप्ति हो जाती है। इस न्याय से धर्मद्रवी गङ्गा का भी तीनों देवताओं के पृथक्-

पृथक् अङ्गों से सम्बन्ध बतलाया गया। रजोगुणरूप ब्रह्मा के कमण्डलु से सम्बन्ध कहा जाता है। कमण्डलु हाथ में रहता है। हाथ शरीर का मध्य भाग है, वह सम्पूर्ण शरीर का बोधक है। इससे धर्मद्रवी गङ्गा का रजोगुण से पूर्णतया सम्बन्ध सिद्ध हुआ। विष्णु के चरण से ही सम्बन्ध माना गया। पूर्वोक्त प्रकार से धर्म का सम्बन्ध सत्त्वगुण के चरण तक ही है और शङ्कर के मस्तक से सम्बन्ध माना गया, वहीं तक धर्म की व्याप्ति रहती है। इस निरूपण से भी गङ्गा की धर्मरूपता मानी जा सकती है। वास्तव में तो ये तीनों देवता एक ब्रह्म के ही रूप हैं—यह हम पूर्व शङ्कर के निरूपण में श्रुति स्मृति प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं, इसलिए शतपथ श्रुति में धर्म सहित ब्रह्म का ही अप् रूप गङ्गा जल में प्रवेश कहा गया।

इन दो पुष्पों में अप् या “अम्भः” रूप गङ्गा जल की जो जो स्थिति कही गई है, उन सबका संक्षिप्त विवरण वाल्मीकि कृत गङ्गा स्तोत्र के एक पद्य में ही मिल जाता है। वह पद्य यह है—

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती,  
स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ती ।  
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूं निर्भरं भर्त्सयन्ती,  
पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित् पावनी नः पुनातु ॥

इसका अर्थ है कि पहिले यह गङ्गा ब्रह्माण्ड की परिधि को तोड़ती है, आगे महादेव के मस्तक की जटाओं को सुशोभित करती है, अर्थात् आकाश मण्डल में भ्रमण करती है, फिर स्वर्लोक से नीचे गिरती है और सुवर्ण के पर्वत सुमेरु की गुफाओं और पाद पर्वतों में चक्कर खाती है, यहाँ से आगे चलकर पृथिवी के पृष्ठ अर्थात् भारतवर्ष में भ्रमण करती हुई पाप की सेनाओं का समूल विध्वंस करती है और अन्त में जाकर समुद्र को पूर्ण करती है। “पूरयन्ती” पद से यहाँ यह अभिप्राय प्रकट किया गया कि समुद्र गङ्गा के प्रपात से ही भरता है और उत्तरभारत की नदियां प्रायः गङ्गा में ही आकर मिल जाती हैं तथा गङ्गा ही सब नदियों को साथ लेकर समुद्र की पूर्ति करती है। समुद्र में भी मीठी धारा बहुत दूर तक अलग ही चलती रहती है—यह गङ्गासार संगम की यात्रा करने वाले सज्जन जानते ही हैं। ऐसी देवताओं की नगर की नदी हम सबको पवित्र करे। इस प्रकार श्रुति-स्मृति और पुराण आदि सबमें गङ्गा का बहुत बड़ा महत्त्व माना गया है। अब जो सज्जन केवल मन्त्र भाग को ही वेद मानते हैं, उनको गङ्गा का महत्त्व मन्त्र से भी समझाया जा सकता है। मन्त्र भाग में भी स्पष्ट है कि —

इदमापः प्रवहत यत्किञ्चिददुरित मयि,  
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वाशेष उतानृतम् ।

इसका अर्थ है कि मैंने जो कुछ पाप किये हैं ? जो किसी के साथ द्रोह किया है, जो किसी को दुर्वचन कहे हैं अथवा जो असत्य भाषण किया है, उन सब पापों को अप् बहा देवे। यहाँ सब प्रकार के पापों का क्षय करने की अप् से प्रार्थना स्पष्ट है और अप् नाम यहाँ भी गङ्गा जल का है—यह बात पूर्व पुष्प के मन्त्रों से स्पष्ट की जा चुकी है।

इसी गङ्गा को भगवान् ने अपना रूप बतलाया है, जो कि पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है कि उनके अङ्ग से सम्भूत होने के कारण ये उनका ही रूप हैं।



## पैंतीसवां-पुष्प

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।  
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।३२।  
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।  
अहमेवाक्षयः कालो घाताहं विश्वतोमुखः ।३३।  
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।  
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।३४।  
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।  
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।३५।  
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।  
जयोऽस्मि व्ययसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।३६।

हे अर्जुन ! मैं सब सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य हूँ, अर्थात् जब कुछ नहीं था तब भी आदिभूत मैं उपस्थित था और जब कुछ न रहेगा तब भी सबका शेषभूत मैं रहूँगा ही। किसी पदार्थ का नाश लोक में कुछ शेष मानकर ही समझा जाता है। जैसा घड़ा फूट गया तो “ठीकरी” बची और उसे भी तोड़ा गया तो चूर्ण बचा, इत्यादि। सबमें सत्ता अनुगत रहती है, इसी कारण सत्ता को नित्य और ब्रह्म रूप माना जाता है। इसलिए इन विशेषणों से भगवान् अपनी सत्ता ही प्रदर्शित करते हैं। मध्य में जब जगत् के सब पदार्थ बन जाते हैं, तो उनमें भी व्याप्त होकर मैं रहता हूँ। लोक में और न्यायदर्शन में जब एक नया पदार्थ बन जाता है तब पूर्व का पदार्थ नहीं रहता। जैसा कि मृत्तिका के पिण्ड से जब घट बना लिया गया तो मृत्तिका-पिण्ड अब नहीं रहा। उसी प्रकार यह भी प्राप्त होगा कि जब ब्रह्म से जगत् बन गया तब ब्रह्म नहीं रहा ? इस शङ्का के निवारण के लिए ही भगवान् ने “मध्यं चैव” पद दिया है, अर्थात् जगत् की स्थिति में भी अविकृत रूप से सब जगत् के पदार्थों में प्रविष्ट होकर रहता ही हूँ। सब पदार्थों में सत्ता मेरी ही व्याप्त हो रही है। लोक में और न्यायशास्त्र में जो उपादान कारण का कार्यदशा में लोप माना जाता है, वह उनकी भ्रान्ति है। वस्तुतः उपादान कारण की ही सत्ता कार्य में संक्रान्त हो जाती है, इसी तरह सत्तारूप मुझसे ही सब जगत् के पदार्थ सत्तावान् होते हैं। विभूतियों के कथन के आरम्भ में भी ऐसा ही कहा है, उसकी यहाँ पुनरुक्ति प्रतीत होती है। उसका निवारण अन्य व्याख्याकार

इस रूप में करते हैं कि वहाँ भूतों का अर्थात् प्राणियों का ही आदि, मध्य और अन्त अपने को बतलाया था और यहाँ जड़चेतन रूप सब जगत् का ही आदि, अन्त और मध्य अपने को बतला रहे हैं। केवल पुष्टिमार्ग के अनुयायी श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है, उसमें यह अर्थ किया गया है कि पुष्टि, मर्यादा और प्रवाहरूप जगत् का आदि अर्थात् उत्तमाङ्ग-मस्तक रूप मैं हूँ और “अन्त” अर्थात् उन सबके मध्य में विराजमान मन रूप मैं हूँ एवं मध्य अर्थात् मर्यादा का हृदय रूप जो वेद है वह भी मैं ही हूँ।

इसी सम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी-यह व्याख्या करते हैं कि सर्ग तीन प्रकार के होते हैं-कार्यसर्ग, कारणसर्ग और लीलारूप सर्ग। वे ही तीन सर्ग यहाँ आदि, अन्त और मध्यशब्द से कहे गये हैं। इनमें आदि सर्ग बाह्य जगत् की सृष्टि को कहा जाता है, जिसका कि नाम कारण सर्ग है और अन्त सर्ग ब्रह्मा के किये हुए रजोगुण रूप सर्ग को कहा जाता है, वह यहाँ अन्तपद से लिया गया तथा मध्यपद से लीलारूप सर्ग लिया जाता है। इन तीनों सर्गों के मध्य सर्ग को ही भगवान् श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिए उसका अन्त में निर्देश किया। तीनों सर्गों के रूप से मैं ही विराजमान हूँ। ये दोनों व्याख्याएँ वल्लभसम्प्रदाय के अनुकूल हैं। उनके साम्प्रदायिक ग्रन्थों में ही इन विषयों का अधिक विस्तार मिल सकता है। आगे भगवान् कहते हैं कि विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मा की विद्या मैं हूँ। जीव इसी विद्या से मोक्ष को प्राप्त हो सकता है और मोक्ष ही प्राप्त करने की वस्तुओं में श्रेष्ठ है, इसीलिए उसे प्राप्त कराने वाली आत्मविद्या भी सर्वश्रेष्ठ है। जो विद्वान् परस्पर विचार किया करते हैं जिसे कि लोक में “शास्त्रार्थ” कहा जाता है, उनके वे विचार तीन प्रकार के हुआ करते हैं-वाद, जल्प और वितण्डा। इन सबका निरूपण न्यायदर्शन में प्राप्त होता है। उन तीनों में वादरूप मैं हूँ। किसी विषय की सिद्धि “वाद” से ही हुआ करती है। इस कारण वाद सबमें प्रधान है। (३२)

अक्षरों में अकार रूप मैं हूँ। अकार ही अन्य सब वर्णों और अक्षरों का उत्पादक है। जैसा कि श्रुति में कहा गया है-

**अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति।**

(ऐतरेय आ० २।३।७।१३)

अर्थात् अकार ही सब वाणी का मूल है। स्पर्श और ऊष्मा के योग से अभिव्यञ्जित होकर वह नाना वर्णों के रूप में प्रकट हो जाता है। श्रुति में स्पर्श शब्द वर्णोच्चारण के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों और स्थानों का बोधक है और ऊष्मा वर्णों में ठोसपन

लाने वाली एक प्रकार की गर्मी है। इन दोनों का अकार के साथ योग होने पर वर्णमाला के सब वर्णों की उत्पत्ति हो जाती है। जैसा कि अकार का अपने रूप में कण्ठ स्थान है, उसे ही तालु स्थान से उच्चरित किया जाय तो इकार रूप हो जाता है। मूर्धास्थान से उच्चारण करने पर ऋकाररूप, दन्तस्थान में लृकार रूप और ओष्ठ स्थान में आकर वही उकार रूप हो जाता है। ऋ और लृ संयुक्त अक्षर है। इनमें अकार के मध्य में र और ल व्यञ्जनों का सम्बन्ध और किया जाता है। इन स्वरों को यदि द्विगुण किया जाय और वाणी का आयतन न बढ़ाया जाय तो ये स्वर दीर्घ हो जाते हैं एवं त्रिगुण करने और आयतन न बढ़ाने से ये प्लुतस्वरूप हो जाते हैं। अ और इ दोनों के योग से एकार और अ और उ इन दोनों के योग से ओकार बनता है। इन ए और ओ के पूर्व भाग में पुनः अकार का सम्मिश्रण कर देने पर ऐ और औ हो जाते हैं। इस प्रकार सब स्वरों की उत्पत्ति का विवरण किया गया। स्वरों का विवृत प्रयत्न है अर्थात् इनके उच्चारण के समय जिह्वा और स्थानों में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, वे अलग अलग ही रहते हैं। यदि जिह्वा का स्थान के साथ सम्बन्ध कर दिया जाय तो वही अकार ककार के रूप में परिणत हो जाता है और उसी के साथ बाह्य प्रयत्न (मुख से बाहर के प्रयत्न) संवार से उच्चारण किया जाय तो ग कार रूप हो जाता है, इस ग कार के उच्चारण में यदि नासिका का भी योग किया जाय तो वही ङ कार हो जाता है और क तथा ग दोनों वर्ण ही ऊष्मा का सम्बन्ध किया जाने पर ख और घ के रूप में परिणत हो जाते हैं। यह कण्ठ स्थान के व्यञ्जनों का विवरण हुआ। इनको यदि तालुस्थान में लाया जाय तो च छ ज झ ञ और मूर्धास्थान में आकर ट ठ ड ढ ण। दन्तस्थान में आकर त थ द ध न एवं ओष्ठ स्थान में आकर प फ ब भ म के रूप आ जाते हैं। यदि स्थान के साथ जिह्वा का पूरा सम्बन्ध न कर कुछ सम्बन्ध किया जाय तो स्थान भेद से य र ल व ये अन्तस्थ वर्ण बन जाते हैं और जिह्वा के स्पर्श के तारतम्य और स्थानभेद से ये ही श ष स के रूप में चले जाते हैं। अकार और ह कार तो स्थान दृष्टि से एक ही हैं, केवल प्रयत्नभेद से ही इनका भेद प्रतीत होता है। यों संक्षेप रूप में अकार की सर्ववर्णरूपता बतलायी गयी। विस्तार से इस विषय के विवरण की इच्छा जानने वाले शिक्षा नाम के वेदाङ्ग का अवलोकन करें। यों अकार के सर्वमूल होने के कारण भगवान् ने अकार को अपना रूप बतलाया।

समास जो व्याकरण में प्रसिद्ध हैं, उनके समुदाय में द्वन्द्व समास रूप में हैं। द्वन्द्व समास में यही विशेषता हुआ करती है कि इसमें जिन जिन पदों का समास हो उन दोनों ही पदों के अर्थ प्रधान रहते हैं और अन्य समासों में नैयायिक के मतानुसार लक्षणा हुआ करती है, किन्तु द्वन्द्व समास में उनके मत में भी लक्षणा की कोई आवश्यकता

नहीं पड़ती। इन्हीं विशेषताओं के कारण द्वन्द्व समास सब समासों में प्रधान माना जाता है, अतः उसे ही भगवान् ने अपना रूप बतलाया।

श्रीनीलकण्ठजी दूसरे प्रकार से भी व्याख्या करते हैं कि सम्यक् स्थिति समास शब्द का अर्थ है। वह विचार के लिए विद्वानों की स्थिति हो या गुरुशिष्यों की अध्ययन-अध्यापन की, अथवा किसी मन्त्र के अर्थ पर विचार करने के लिए स्थिति हो, सभी स्थिति समास शब्द से कही जाती है। उन सब स्थितियों में होने वाले जो विचार हैं वे सामासिक कहे जायेंगे। उन विचारों में जो रहस्यभूत गम्भीर अर्थों का विचार है वह मेरा रूप है। द्वन्द्व शब्द का रहस्य अर्थ व्याकरण में पाणिनि “द्वन्द्वं रहस्य (८।१।१५) इत्यादि सूत्र में लिखा है। रहस्य अर्थात् गुप्त गम्भीर अर्थों का विचार ही समितियों में प्रधान हुआ करता है, अतः उसे ही भगवान् ने अपना रूप बतलाया।

मैं ही न क्षीण होने वाला नित्य कालरूप हूँ। पूर्व में भी तीसवें पद्य में अपनी कालरूपता भगवान् बतला चुके हैं। इस पुनरुक्ति का समाधान व्याख्याकार यही करते हैं कि मैं काल का भी काल हूँ। अथवा पूर्व क्षण दिन आदि भेदों से भिन्न काल को अपना रूप बतलाया और यहाँ अक्षयकाल को अपना रूप कह रहे हैं। आगे विश्वरूप प्रदर्शन में अपने को कालरूप कहेंगे। उसी का संकेत यहाँ पहिले ही कर दिया—यह माना जा सकता है। धाता अर्थात् सबको अपने अपने कर्म का फल देने वाला, इसीलिए सब तरफ मुखवाला भी मैं ही हूँ। कई व्याख्याकार धाता शब्द का अर्थ हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा भी करते हैं, वे चतुर्मुख हैं अर्थात् चारों दिशाएँ मुख हैं इसलिए “विश्वतो मुखः” कहा गया। हम पूर्व शङ्कर के प्रकरण में लिख आये हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर ये एकरूप ही हैं और यहाँ ब्रह्मा की गणना अन्यत्र नहीं हुई इसलिए यहाँ दूसरी व्याख्या ही उपयुक्त प्रतीत होती है। (३३)

सर्व प्राणियों का अन्त में हरण करने वाला मृत्युरूप भी मैं ही हूँ और उत्पन्न होने वाले प्राणियों में उद्भव अर्थात् उन्नतिरूप मैं ही हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री और वाक् एवं स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा ये मेरा ही रूप है। यहाँ व्याख्याकारों ने श्री, वाक् इत्यादि के भिन्न भिन्न प्रकार के अर्थ किये हैं। हमारे विचार से यहाँ ऐसा अर्थ करना उचित होगा कि “श्री” शब्द तो लक्ष्मी के लिए और वाक्शब्द सरस्वती के लिए प्रसिद्ध ही है। कीर्ति, शब्द आदि वर्ण की समानता से और “कीर्त्यते सर्वैःस्तूयते” इस व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार काली का वाचक हो सकता है। इसलिए महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ये तीनों पुराणों और तन्त्रों में प्रसिद्ध देवियाँ मेरा अर्थात् अव्यय का ही रूप हैं। जैसा कि देवीभागवत आदि में कहा गया है कि “स्त्रीपुं भेदो

न गण्यते” अर्थात् वास्तव में ब्रह्म का तो कोई लिङ्ग नहीं, उनकी स्त्री और पुरुष दोनों रूपों में उपासना हो सकती है। इनके अतिरिक्त स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा जो बतलाई गयी, वे भी इन प्रधान देवताओं के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। जैसा कि स्मृति और मेधा सरस्वती के रूप, धृति महाकाली का रूप है, क्योंकि वही सबकी आदिभूता अतएव सबका धारण करने वाली है और क्षमा महालक्ष्मी का रूप है, क्योंकि लक्ष्मीवान् पुरुषों का ही क्षमाशील होना परमगुण माना जाता है। (३४)

साम शब्द का अर्थ प्रत्येक प्रदार्थ से निकलने वाले प्राणों का अन्तिम मण्डल है—यह हम पूर्व “वेदानां सामवेदोस्मि” की व्याख्या में लिख चुके हैं। जगत् में सब पदार्थों में भिन्न भिन्न साम होते हैं, उन सबमें सूर्यमण्डल का साम सबसे बड़ा है इसलिए वह बृहत्साम कहा जाता है। सब साममण्डलों में वह बृहत्साम मैं ही हूँ। छन्द जो छन्दःशास्त्र में प्रसिद्ध हैं उनमें गायत्री नाम का छन्द मैं हूँ। इस गायत्री की वेदों में बड़ी महिमा गायी गयी है। सोम लेने के लिए भिन्न भिन्न छन्द गये वे सोमस्थान में अपने वर्ण और छोड़ आये। जब गायत्री गई तो वह सोम को भी ले आई और उन वर्णों के छोड़े हुए अक्षरों को भी ले आई, इत्यादि शतपथब्राह्मण में कहा गया है। ब्रह्मसूत्र में भी ‘छन्दोऽभिधानात्रेति चेन्न’ इत्यादि सूत्र में श्रेष्ठ है। ब्राह्मण वर्ण भी गायत्री छन्द से ही प्रजापति ने बनाया है—यह “गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्” इस श्रुति से सिद्ध है। इन्हीं कारणों से गायत्री को सर्वश्रेष्ठ मानकर भगवान् ने अपना रूप बतलाया। महीनों में मार्गशीर्ष मेरा रूप हैं। यहाँ लोकमान्यतिलक ने मार्गशीर्ष को अपना रूप भगवान् ने क्यों बतलाया—इस पर कुछ विवेचन लिखा है। उनका कथन है कि पूर्व काल में मार्गशीर्ष से ही महीनों की गणना होती थी इसीलिए इसका नाम “आग्रहायण” भी कोश में मिलता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि कभी सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र पर रहा होगा उसी समय वसन्त ऋतु का और संवत्सर का भी प्रारम्भ हो सकता है। महाभारत-मीमांसाकार ने यह अनुमान लगाया है कि महाभारत का युद्ध मार्गशीर्ष में ही हुआ था—यह कई प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है, अतः भूमि का भार उतारना जो भगवान् कृष्ण के अवतार का मुख्य प्रयोजन था, वह मार्गशीर्ष में ही सिद्ध हुआ, इस कारण मार्गशीर्ष को भगवान् ने अपना रूप बतलाया और ऋतुओं में वसन्त ऋतु रूप मैं हूँ। ऋतुओं में तो वसन्त की श्रेष्ठता लोक में और कविसम्प्रदाय में प्रसिद्ध ही है। (३५)

छल करने वालों में द्यूतरूप मैं हूँ। यहाँ बहुत से लोग शङ्का किया करते हैं कि द्यूत जैसे जघन्य कार्य को भगवान् ने अपना रूप क्यों बतलाया ? इस पर हमारा वक्तव्य यह है कि जैसे अन्य कई धर्मों में उत्तम वस्तु परमात्मा से उत्पन्न मानी जाती



है और निकृष्ट वस्तु या कार्य शैतान से उत्पन्न माने जाते हैं, वैसा आर्यशास्त्रों का मत नहीं है। ऐसा मानने पर तो शैतान परमात्मा से ही बड़ा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि बुराइयाँ संसार में बहुत हैं। आर्यशास्त्रों में तो सत् और असत् सब वस्तु परमात्मा से ही उत्पन्न मानी जाती हैं। जैसा कि गीता में ही स्थान स्थान पर कहा गया है। परमात्मा बड़ा दयालु है, वह जीवों के उद्धार के लिए चाहा करता है कि जीव किसी भी प्रकार मेरी ओर झुकें और मैं उनका उद्धार करूँ। इसलिए जो सदा ही द्यूत, चोरी आदि कुकर्मों में निरत रहते हैं और ईश्वर का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते, यदि उन कुकर्मों में कहीं ईश्वर भाव बतलाया जाय तो संभव है वे भी उस तरफ झुक सकें, और शनैः शनैः उद्धार पा सकें। इसी आशय से द्यूत को भी भगवान् ने अपना रूप बतलाया है और तेजस्वियों में तेजरूप मैं ही हूँ। जीतने वालों में जयरूप होकर मैं प्रविष्ट हूँ, व्यवसाय अर्थात् नाना उद्योग करने वालों में व्यवसायरूप से मैं ही प्रविष्ट रहा हूँ और सत्त्वगुण वाले धार्मिकों में सात्त्विकरूप से मैं ही प्रविष्ट हूँ।

इन पद्यों में धर्मरूपता ही भगवान् ने अपनी प्रकट की है, क्योंकि वैसे धर्म वालों में वह धर्म ही साररूप होता है। यद्यपि यह बात पहिले सप्तम अध्याय में बतलाई गई है, तथापि यहाँ भी उसका स्मरण करने के लिए और दोनों प्रकरणों की एकवाक्यता बोधन करने के लिए धर्मरूपता के कुछ उदाहरण यहाँ भी कह दिये गये। (३६)



## छत्तीसवाँ-पुष्प

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।  
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥  
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।  
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥३८॥  
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।  
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥३९॥  
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।  
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥  
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।  
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥४१॥  
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।  
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥

वृष्णि अर्थात् यादवों में वसुदेव का पुत्र मैं हूँ। यद्यपि वसुदेव पुत्र ही यहाँ उपदेश करने वाले हैं इसलिए वासुदेवरूपता तो उनकी सिद्ध ही है, परन्तु जैसा कि हम कई जगह स्पष्ट कर चुके हैं कि यहाँ अहं शब्द का अर्थ पुरुषोत्तम अव्यय भगवान् हैं। इस प्रकार यह संगति बैठ जाती है कि मैं वासुदेव अव्ययपुरुषरूप हूँ। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मैं आपका चिन्तन कहाँ कहाँ करूँ—यह अर्जुन का प्रश्न था, इसलिए अपना नाम भी बतलाना भगवान् को आवश्यक प्रतीत हुआ कि मेरे रूप में भी परमात्मा का चिन्तन कर सकते हो। कई व्याख्याकारों ने यह भी लिखा है कि स्वयं अपने आपकी विभूति तो हो नहीं सकते, इसलिए विभूतिमान् अर्थात् जिसकी विभूति बतलाई गई है वह ही मैं हूँ। किसी किसी व्याख्या में वासुदेवशब्द का अर्थ हलधर बलराम भी किया है, वे भी वसुदेव के पुत्र हैं और विष्णु के दस अवतारों में उनकी ही गणना किया करते हैं। उनका मत है कि कृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं, वे अवतारों की गणना में नहीं आ सकते। वस्तुतः यहाँ श्रीविद्यावाचस्पतिजी की ही व्याख्या अनुकूल होती है, जैसा हमने पूर्व में ही लिखा है कि “वासुदेव” यादवों में अव्ययपुरुषरूप हैं। पाण्डवों में धनञ्जय अर्थात् तुम—श्रोता ही अव्यय पुरुष के

रूप हो। इसका आशय है कि तुम अपने आत्मा में भी अव्ययपुरुष का चिन्तन किया करो। मुनियों में व्यासरूप मैं हूँ। साक्षात् मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि कहलाते हैं। उनमें तो भृगु को अपना रूप बतला चुके हैं और जो ऋषियों से सीखकर वैसे ही विद्वान् बन गये हों वे मुनि कहे जाते हैं। उन मुनियों में व्यास को भगवान् अपना रूप बतला रहे हैं। व्यास भगवान् ने बहुत बड़े बड़े कार्य किये हैं। वेदों का विभाग, अष्टादशपुराणों और महाभारत आदि की रचना एवं वेदान्त के ब्रह्मसूत्र का निर्माण, इत्यादि कार्य उनके प्रसिद्ध हैं। इन्हीं कारणों से व्यासमुनियों में सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं। उन सर्वश्रेष्ठ व्यास को ही भगवान् ने अपना रूप बतलाया। कवियों में उशना अर्थात् शुक्राचार्यरूप मैं हूँ। (३७)

दमन करने वालों में दण्डरूप मैं हूँ। दमन अर्थात् मनुष्यों को अपनी अपनी मर्यादा में रखने वालों में दण्डरूप मैं हूँ। मर्यादा में रखने के चार उपाय नीति में वर्णित हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। इनमें दण्ड को यद्यपि अगतिक गति कहा गया है, अर्थात् जब किसी भी उपाय से काम न चले तब दण्ड का प्रयोग करना चाहिये, किन्तु उक्त चारों उपायों में है दण्ड ही मुख्य, क्योंकि इससे अवश्य ही मर्यादा की रक्षा हो सकती है। इसी कारण “भीषाऽस्मात् वातः पवते” इत्यादि श्रुतियों में परमात्मा को भी भयदाता अर्थात् दण्ड देने वाला ही बतलाया गया है।

यहाँ भगवान् का भी यही आशय है कि दण्डरूप उपाय से ही मैं सूर्य चन्द्र आदि सबको मर्यादा में रखता हूँ। अपनी विजय चाहने वाले में नीतिरूप मैं हूँ। विजय दिलाने वालों में नीति ही प्रधान है। “जिगीषताम्” पद का विजय चाहने वाले पुरुष अर्थ किया जाय तब तो यहाँ भी धर्मरूपता ही भगवान् ने बतलाई—यही सिद्ध होगा और “जिगीषताम्” पद का विजय दिलाने वाले उपाय—यह अर्थलक्षणा से ले लिया तो उनमें सर्वश्रेष्ठ होने के कारण “नीति” को अपना रूप बतलाया—यह सम्बन्ध ठीक बैठ जायेगा। आगे भगवान् कहते हैं कि गोपनीयों में मौन मेरा रूप है, अर्थात् किसी वस्तु की गोपनीयता वाक्संयम से विशेष रूप में रहती है। इष्टमन्त्र आदि के द्वारा मनुष्यों की सिद्धि मिलना तभी संभव होता है जब उसको गुप्त रखा जाय। अतः सभी गोपनीयों में प्रधान होने के कारण भगवान् ने अपने को मौनरूप कहा और ज्ञानियों में जो ज्ञान है वह भी मेरा रूप है। परमप्रकाशरूप भगवान् की दिव्य आत्मविभूति ज्ञान है। सप्तम अध्याय में चार प्रकार के भक्तों की गणना के अन्त में ज्ञान को अपनी विभूति बतलाकर भगवान् ने उसकी विशेषता प्रकट की। (३८)

हे अर्जुन ! सभी भूतों का जो बीज अर्थात् मूल कारण है वह मैं हूँ। ऐसा कोई भी चर या अचर पदार्थ नहीं है जो मुझसे अलग हो, अर्थात् सबकी सत्ता मेरे

द्वारा ही है। (३९)

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि हे परन्तप अर्जुन ! कहाँ तक कहूँ मेरी दिव्य विभूतियाँ अनन्त हैं अर्थात् उन सबकी गणना नहीं हो सकती। यहाँ विभूतियों का जो विस्तार मैंने कहा वह तो एक संक्षेप प्रकार है। (४०)

भगवान् अपनी विभूतियों को पहचानने का लक्षण बतलाते हैं कि संसार में जो जो पदार्थ विशेष ऐश्वर्य, लक्ष्मी या शोभा तथा बल से युक्त हैं, वे सब मेरे तेज के अंश से प्रकट हुए हैं—ऐसा तुम समझो।

यहाँ विभूतिमत् आदि पदों में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ का बोधक है, अतः प्रशंसित ऐश्वर्य ही लेना चाहिये।

यहाँ श्रीविद्यावाचस्पति के मतानुसार “विभूतिमत्” शब्द से ब्राह्मण और श्रीमत्पद से वैश्य तथा ऊर्जित पद से क्षत्रिय का ग्रहण विवक्षित है। प्रशंसा योग्य विभूति, लक्ष्मी और बल को लोक में विशेष स्थान मिलता है। (४१)

इस प्रकार इस प्रकरण को पूर्ण करते हुए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! अथवा तुझे इन बहुत सी बातों को जानने से क्या प्रयोजन है ? बस, साररूप से यही जान लो कि इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से व्याप्त कर मैं स्थित हूँ।

यह जगत् भगवान् का एक अंशरूप है—इसका विवरण ऋग्वेद के “पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” (ऋ० १०।९०।३) इस मन्त्र में मिलता है। इसी बात को यहाँ भगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित कर कहा कि बस यही एक बात सदा ध्यान में रखने योग्य है। (४२)

दसवाँ अध्याय समाप्त ।



## एकादश अध्याय

### सैंतीसवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।  
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥  
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।  
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥  
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।  
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥  
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।  
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥

मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने रहस्यमय अध्यात्मविद्या का जो उपदेश दिया है उससे मेरा यह मोह जाता रहा। (१)

मैंने आपसे संसार की उत्पत्ति और लय का भी विस्तार से विवरण सुना, और हे पुण्डरीकाक्ष ! मैंने अविनाशी माहात्म्य का भी विस्तार से श्रवण किया। (२)

हे परमेश्वर ! इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि आपने अपने विषय में जो वर्णन किया है आप वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम ! मैं आपका वह ईश्वरभाव से सम्पन्न रूप देखना चाहता हूँ। (३)

यदि आप यह समझते हैं कि आपका वह ईश्वररूप देखने का मुझमें सामर्थ्य है तो हे योगेश्वर प्रभो ! मुझे आप अपना वह अव्यय रूप दिखलाइये। (४)

गीता के पिछले दश अध्यायों में भगवान् ने अर्जुन को जो मोहनाशक तत्त्वोपदेश दिया उस उपदेश ने अर्जुन के मोहान्धकार को दूर करने में प्रकाशस्तम्भ का कार्य किया, उसी की सूचना अर्जुन ने इस एकादशाध्याय के प्रथम पद्य में दी है। औषध खा लेने के बाद जब तक रोगी यह न अनुभव प्रकाशित करे कि उसका रोग दूर हो गया तब तक उसे सफल चिकित्सा नहीं कहा जा सकता। दवा वही है जो रोगी का रोग दूर कर स्वास्थ्य का अनुभव करा दे। इस प्रकार औषध सेवन के दो कार्य हो जाते हैं—एक रोग दूरीकरण और दूसरा स्वास्थ्यलाभ। अर्जुन का अज्ञानरूपी रोग अभी

दूर हुआ है—यह अभी उसके कथन से प्रतीत हुआ है, परन्तु अभी स्वस्थ होकर “करिष्ये वचनं तव” कहने की बात दूर है। यहाँ मोह अर्थात् द्वैतरूप अज्ञान का विगत होना अर्थात् अंशतः दूर होना ही अर्जुन ने स्वीकार किया। वह बिलकुल विनष्ट नहीं हुआ, वह बात गीता के अन्त में हुई, जब भगवान् ने पूछा कि “कच्चिदज्ञान संभूतः प्रनष्टस्ते धनंजय” उसके उत्तर में अर्जुन ने “नष्टो मोहः” की घोषणा की। यदि वह इतने ही से युद्धार्थ समुद्यत हो गया होता तो सम्भवतः गीता में अठारह अध्याय नहीं, दस ही अध्याय होते। यहाँ के कथन से अर्जुन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भगवान् ने जो कुछ कहा उसको उसने पूर्णरूप से अपनी बुद्धि में जमा भी लिया है। यह नहीं कि वह सारा कथन हवा में ही उड़ गया हो। श्रीकृष्ण ने जो कुछ उपदेश दिया उन उपदेशों के यहाँ अर्जुन ने शीर्षक लगा दिये हैं। वह कह रहा है कि आपने मुझे रहस्यमय अध्यात्मविद्या का उपदेश दिया है। इस अध्यात्मविद्या के उपदेश से ही भारत विश्वगुरु रहा है। जिस देश में संग्रामाङ्गण में खड़े खड़े संसार का सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण अनन्त ज्ञान के अमृत से भरा उपदेश सुना दिया गया हो, उस देश की क्षेत्र में समानता संसार में कौन कर सकता है। यही बात स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका की सर्वधर्मपरिषद में बड़ी फटकार के साथ कही थी कि ऐ अमेरिका निवासियो, विज्ञान से चमत्कार भरे यन्त्रों का तुमने आविष्कार किया है, व्यापार की अनन्त वस्तुएँ तुमने निकाली हैं, भारत तुमसे यन्त्र विज्ञान और व्यापार में पिछड़ गया है, वह तुमसे सीखेगा, तुम उसे सिखाते रहो, यन्त्र भी भेजते रहो, उसमें हमें कुछ नहीं कहना पर आश्चर्य तो यह है कि आप भारत में मिशनरियां भेजते हैं, भारत के लोगों को धर्मोपदेश देने के लिए। जिस देश में लड़ाई में खड़े खड़े गीता जैसे उपदेश सुना दिये गए हों, जिस देश की सूत कातने वाली स्त्रियों के चरखे से ‘सोऽहं सोऽहं’ की ध्वनि निकला करती है, उस देश के निवासियों को आप लोग क्या धर्म सिखाएंगे। इस पर वहाँ के समाचार पत्रों ने भी इसका समर्थन किया था कि जहाँ विवेकानन्द जैसे महापुरुष विद्यमान हैं वहाँ धर्मोपदेशक भेजना हमारे लिए लज्जा की बात है।

वह अध्यात्मज्ञान जब साक्षात् भगवान् के मुख से ही सुन लिया तब उसके आनन्द की सीमा न रही, वह आनन्दविह्वल हो उठा, इसका प्रमाण यह है कि उसने उपर्युक्त चार श्लोकों में कमलपत्राक्ष, परमेश्वर, पुरुषोत्तम, प्रभो, योगेश्वर, इतने सम्बोधन भगवान् के लिए लगा दिये। भगवान् कृष्ण का अर्जुन से प्रारम्भ से ही प्रेम रहा है, उसी स्नेह से प्रेरित होकर आज भगवान् ने सारे भारतीय शास्त्रों का निचोड़ अर्जुन को थोड़ी ही देर में कह सुनाया। अर्जुन जब गद्गद् हो गया तो बड़े स्नेह से उसने उनका स्मरण कमलपत्राक्ष शब्द से किया। यह भगवान् के नेत्रों की माधुरी को प्रकाशित करने

वाला सम्बोधन है जो कि प्रगाढ़ स्नेह का प्रतीक है। प्रेमपूर्ण भक्ति की उत्कट अवस्था में ही ऐसा सम्बोधन निकलना संभव है। भगवान् ने विगत अध्यायों में सारे संसार को अपनी ही विभूति बतलाया है, अर्जुन ने वह रूप भी उनका अच्छी तरह समझ लिया है, इसी उद्देश्य से उसका दूसरा सम्बोधन परमेश्वर है। उन सर्वव्यापी भगवान् को वह पुरुष रूप में ही देखता आया है, वह ईश्वर होते हुए भी अर्जुन के मानवशरीरधारी मित्र हैं, कहीं ऐसा न हो कि ईश्वर भाव के उनके महत्त्व का और अपनी क्षुद्रता का अनुभव करते करते भगवान् मेरी पहुँच के भी बाहर हो जाँय—यही विचार कर उनको पुरुषोत्तम कह रहा है, वे आज भी पुरुषश्रेष्ठ रूप से ही उनके सामने उपस्थित हैं। अर्जुन अपनी अपेक्षा प्रत्येक बात में श्रीकृष्ण को बढ़ा हुआ पाता है। ज्ञान में, वीरता में, योग में, ऐश्वर्य में, किसी भी क्षेत्र में उनकी थाह नहीं है। इसीलिए उनका स्वयं को भृत्य, सेवक, दास, अनुचर समझ कर वह उन्हें प्रभो कह रहा है। भगवान् ने कर्मयोग, बुद्धियोग आदि विविध योगों का अर्जुन को उपदेश दिया है, किस समय किस मार्ग से चलने में कल्याण है—यह भी स्पष्ट कर दिया है—“इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्” इत्यादि से प्रारम्भ से ही भगवान् ने योगमार्ग को प्रकाशित किया है। यह समझ कर अर्जुन उन्हें योगेश्वर भी कह रहा है। अर्जुन के द्वारा श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त एक साथ इतने अर्थगर्भित सम्बोधन अर्जुन के अपने आपको भगवदर्पण कर देने के द्योतक हैं। अर्जुन एक सत्य वक्ता है, वह अपने मनोभावों को उसी रूप में उपस्थित कर देता है। श्रीकृष्ण के विषय में उसने अपने सभी मनोभावों को सर्वदा अवितथरूप में प्रकाशित किया। गीता के प्रथमाध्याय में उसने श्रीकृष्ण के सामने अपने सभी मनोभावों को खुलकर व्यक्त किया था। जब भगवान् की अविरल उपदेश धारा बहने लगी और अर्जुन उसमें निमज्जन करने लगा, तब भी उसने अपने मनोभावों को नहीं दबाया। जहाँ कहीं उसके मन में शंका हुई वहीं गीताकार को ‘अर्जुन उवाच’ से अर्जुन की शंका को उपस्थित करना पड़ा। अर्जुन ने एक जगह भगवान् से यहाँ तक पूछ लिया कि —

“तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव”

हे भगवान् आप मुझे इस घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं।” भगवान् भी कभी भी अर्जुन के प्रश्नों की उपेक्षा नहीं करते, अपितु उसके प्रत्येक प्रश्न का विश्लेषण करके पूर्ण अधिकार पूर्वक प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में शास्त्रों के गम्भीर रहस्यों का सीधी और सरल भाषा में सार कहते चले जा रहे हैं। अर्जुन पूर्ण एकाग्रता से उसका श्रवण कर रहा है। वस्तुतः भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मज्ञान से दूर जाकर ही मनुष्य

शोक मोहादि से ग्रस्त हुआ करता है। अर्जुन का मोह भी आत्मज्ञान के अभाव में लब्धास्पद हो रहा है। आत्मोपदेश से ही उसका दूर होना संभव है। आत्मज्ञान की तीन सीढ़ियाँ हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। अर्जुन भी यहाँ भगवान् से श्रवण कर रहा है और भगवान् के प्रभाव से उसका मनन भी साथ ही साथ चल रहा है। अर्जुन के मध्य में आने वाले प्रश्न ही उपदेश काल में उसकी मननशीलता की सूचना दे रहे हैं। अब निदिध्यासन बाकी है जो आत्मज्ञान का अनिवार्य अङ्ग है। निदिध्यासन समाधि या योग का ही स्वरूप है, उसमें आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन होना आवश्यक है। ज्ञानमार्ग के पथिक उसी के लिए अष्टाङ्गयोग का आश्रय लेते हैं। परन्तु यहाँ अर्जुन को योगाभ्यास करने का समय नहीं है। चारों ओर शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सेना युद्ध के लिए तैयार खड़ी है। आत्मा के पूर्णज्ञान के बिना अर्जुन का रोग निर्मूल नहीं हो सकता। वह नहीं भी हुआ। इसीलिए इस समय अर्जुन इस अवसर को हाथ से जाने देना नहीं चाहता। एक जागरूक भक्त के रूप में उसने यह भगवान् से निवेदन कर ही दिया कि आपने अपने जिस रूप का अभी विस्तार से वर्णन किया है क्या आपके उस रूप को मैं देख सकता हूँ ? हो सकता है वह ऐसा हो जिसके देखने का मैं अधिकारी न समझा जाऊँ। परन्तु आपके उस रूप को देखने की लालसा मेरे मन को अत्यन्त उत्सुक बनाए दे रही है। आपसे तो यह छिपा नहीं है कि मैं आपका वह रूप देख सकता हूँ या नहीं। यदि देख सकता हूँ तो हे भगवन् ! आप वह रूप मुझे अवश्य दिखा दीजिए।

शास्त्रों का शब्दात्मक उपदेश सभी सुनते रहते हैं परन्तु वह ज्ञान सर्वदा जाग्रत नहीं रह पाता, न ही वह समस्त संशयों का निवारक है। परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान सभी संशयों का उच्छेदक होता है, आंखों देखी वस्तु को सभी सर्वथा सत्य मान लेते हैं। यही बात आत्मज्ञान के विषय में भी है। आत्मोपदेश तो एक से एक बड़े विद्वान् और महात्मा के द्वारा करोड़ों व्यक्ति सर्वदा सुनते रहते हैं, परन्तु सभी आत्मज्ञानी नहीं हो जाते। आत्मज्ञान आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करने के बाद ही होता है। आत्मा या परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन बिना परमेश्वर की कृपा के संभव नहीं। वही उन्हें देख या जान सकता है जिसे वे स्वयं वरण कर लें—

“यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः”

“सोइ जाने जेहि देहु जनाई॥”

बड़े-बड़े महात्मागण भी आत्मोपदेश करते करते थक जाते हैं, जब कोई श्रोता उनसे यह प्रार्थना करता है कि महात्मन् ! मेरी आपके वचनों में बड़ी श्रद्धा हो गई



है, आप कृपा कर मुझे ईश्वर का दर्शन करा दीजिए, तब वे महात्मा यदि कोरे परोपदेश कुशल हों तब तो बगलें झांकते हैं और यदि परमेश्वर से अनुगृहीत हैं तब यही निर्देश करते हैं कि भक्ति, उपासना या ज्ञान किसी मार्ग का अभ्यास करो, तुम्हें परमेश्वर का दर्शन अवश्य हो जायेगा। इसी प्रकार का मार्ग दिखलाने में वे समर्थ हैं, ईश्वर को आँखों के सामने प्रकाशित कर देना उनकी सामर्थ्य के बाहर की बात है। परन्तु यहाँ तो अर्जुन को कोई विद्वान् महात्मा उपदेश देने नहीं आये हैं, स्वयं भगवान् परमेश्वर ही अर्जुन को अपने स्वरूप से अवगत करा रहे हैं, इसलिए उनके लिए अपने रूप को दिखा देना कुछ भी अशक्य नहीं, अर्जुन भी इसीलिए भक्ति विनम्र होकर उनसे उनके स्वरूप के दिखा देने की प्रार्थना कर रहा है। भगवान् भी शास्त्रों के परिपालक हैं, यदि शास्त्र किसी मनुष्य को इस प्रकार भगवद्दर्शन का अधिकार नहीं देता तो शायद भगवान् भी अपने उस रूप को मुझे प्रकाशित नहीं करेंगे—इसी विचार से अर्जुन ने भी 'यदि' लगा दिया है। इसका यह अर्थ कथमपि नहीं है कि 'यदि' भगवान् अपना रूप दिखा सकते हों तो दिखावें। भगवान् के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाला अर्जुन भगवान् के सामर्थ्य में आशंका करे यह संभव नहीं है। अतः यही मानना उपयुक्त है कि शास्त्र परिपालन की दृष्टि को सामने रखकर ही अर्जुन ने यह निवेदन किया है। अर्जुन के अग्रज भीमसेन के सामने भी एक बार ऐसा ही प्रसंग आ गया था, वह गन्धमादन पर्वत पर कमल के पुष्पों को द्रौपदी के लिए लाने जा रहा था। पवनसुत हनुमान् पहाड़ की उस छोटी सी पगडंडी के बीच वृद्ध वानर का वेश बनाकर लेट गये और उनके बीच में लेट जाने से वह छोटा सा मार्ग रूक गया। इतने में भीम उसी मार्ग से बढ़ते हुए वृद्ध वानर के सामने जा पहुँचे। उन्हें बड़ी जल्दी थी, लेकिन वानर का उल्लंघन उन्होंने अनुचित समझकर वृद्ध वानर से कहा कि तुम मेरे मार्ग से हट जाओ मैं शीघ्रता में हूँ। वानर ने बड़ी शिथिल वाणी में उत्तर दिया कि पथिक मैं बहुत अस्वस्थ हूँ, मार्ग में पड़ा हूँ, उठने की शक्ति भी मुझमें नहीं है, तुम्हीं कृपया मेरी पूँछ एक तरफ हटाकर निकल जाओ। भीम को तो शीघ्रता थी ही उन्होंने अपने दोनों हाथों से वृद्ध वानर की पूँछ उठाकर अलग करने की चेष्टा की, अपनी दस हजार हाथियों की पूरी शक्ति लगा डाली पर यह कोई सामान्य पूँछ नहीं थी, इसी पूँछ ने राक्षसराज रावण की लङ्का को अग्निदेव के अर्पण कर दिया था, वह पूँछ टस से मस भी न हुई। दुःशासन के दस हजार हाथियों के बल की द्रौपदी के चीर में परीक्षा हो चुकी थी, भीम के उसी बल की वृद्ध वानर की पूँछ में परीक्षा हो गई। आश्चर्य का पुतला बना भीम प्रार्थना कर रहा था कि आप कोई सामान्य वानर नहीं हैं, अवश्य ही आप कोई देव, विद्याधर या यक्ष हैं। आप कृपया मुझे अपना परिचय दीजिए। वृद्ध वानर

ने कहा मैं हनुमान् तुम्हारा अग्रज हूँ। तुम्हें इस मार्ग में आगे जाते देखकर तुम्हें सावधान करने के उद्देश्य से यहाँ आकर लेट गया हूँ। आगे गन्धर्व राज्य है, यह मनुष्यों के जाने का मार्ग नहीं है, मनुष्य यहीं तक आ सकता है जहाँ तुम खड़े हो, यदि तुम अपने कार्य को बहुत ही आवश्यक समझते हो तो आवश्यक जाओ, परन्तु गन्धर्वों से सावधान रहना, यही मुझे तुम्हें बतलाना था। वृद्ध वानर का कथन भीम ने बड़ी श्रद्धा से सुन तो लिया परन्तु जिस प्रकार अर्जुन ने यहाँ भगवान् से उनका ईश्वर रूप देखने की प्रार्थना की है वैसे ही भीमसेन ने भी भगवान् से प्रार्थना की कि आज सौभाग्य से आपका दर्शन हो गया, मेरी एक अभिलाषा पूर्ण कर दीजिए। मुझे कृपया अपना वह रूप दिखा दीजिए जिस रूप को धारण कर आपने समुद्रोल्लंघन किया था। उसके बाद ही उसने देखा कि हनुमान् का मस्तक आकाश में सूर्य के नजदीक पहुँच गया, उनके पैरों में सारे अन्तरिक्ष का अन्तराल बँध गया, उस विशाल और मन से भी अचिन्त्य हनुमान् के रूप को देखकर भीमसेन घबड़ा गया और उनसे अपने रूप का संवरण करने की प्रार्थना करने लगा। यहाँ अपने नेत्रों को सफल बनाने के लिए ही अर्जुन ने भी भगवान् से अपना रूप दिखा देने की विनम्र प्रार्थना की है। (१-४)



## अड़तीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।  
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥  
पश्यादित्यान्वसूक्तद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।  
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥  
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।  
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥  
नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।  
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

अर्जुन की पूर्वोक्त विश्वरूप दर्शन की इच्छा पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कोई नकारात्मक उत्तर नहीं दिया। कोई सामान्य व्यक्ति जो कि उस रूप को दिखलाने में असमर्थ हो वही नकारात्मक उत्तर देता है। परन्तु भगवान् तो सभी सामर्थ्यों से युक्त हैं। प्रश्न यही रह जाता था कि अर्जुन भगवान् के उस अव्ययरूप को देखने का अधिकारी है या नहीं, यही बात अर्जुन ने भी अपने पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट कर दी थी कि यदि आप यह समझते हैं कि आपका वह रूप आँखों से देखने का मैं अधिकारी हूँ तो कृपया मुझे दिखलाइये। इससे अर्जुन ने अपना विनीत भाव प्रकट कर दिया था और वह अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं जाना चाहता—यह भी उसने स्पष्ट कर दिया था। विनय-अभिमानशून्यता बड़े से बड़े अधिकार को प्राप्त करने में समर्थ बना देती है। पहले के अध्यायों में श्रीकृष्ण ने अपने रूप को प्राप्त करने का अधिकारी उसे ही बतलाया है जो भक्तिभाव से उन्हें आत्मसमर्पण कर दे। यही बात अर्जुन के विषय में पहले भी और यहाँ भी सर्वथा चरितार्थ हो चुकी है, इसीलिए भगवान् ने उसे यह अमूल्य उपदेश भी दिया और जब उसने विश्वरूप दर्शन की इच्छा प्रकट की तो उसके उत्तर में वे कहते हैं—

“हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों हजारों स्वरूपों को तुम देखो, वे रूप अनेक प्रकार के दिव्यरूप हैं, उनमें नानावर्ण हैं अनेक प्रकार की आकृतियाँ उनमें हैं।” (५)

“आदित्य वसु रुद्र अश्विनीकुमार मरुत इत्यादि देवताओं को देखो और हे भारत ! बहुत से ऐसे आश्चर्यों को देखो जो कि तुमने आज तक कभी नहीं देखे होंगे।” (६)

“हे गुडाकेश ! आज तुम मेरे शरीर में चर और अचर सहित सारे जगत् को देखो और इसके अतिरिक्त भी तुम अपने मन में जो शङ्का धारण किये हुए हो उसका उत्तर भी देख लो।” (७)

“तुमने ठीक ही कहा, तुम अपने इन्हीं प्राकृतिक नेत्रों से मेरे ऐश्वर्य रूप को देखने में समर्थ न हो सकोगे। मैं तुम्हें दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ, उन चक्षुओं से मेरे ईश्वर सम्बन्धी योग को देखो। (८)

इन चार श्लोकों में भगवान् ने चार बार “पश्य” इस शब्द की आवृत्ति की है। ऐसा मालूम होता है कि भगवान् अपने उस रूप को अर्जुन को दिखाने के लिए पहले से ही तैयार बैठे हैं। उनमें अपने रूप को अर्जुन के प्रति दिखलाने का बड़ा उत्साह है कि आज हमें मानों सृष्टि में पहली बार विराट् रूप के दर्शन का एक अधिकारी प्राप्त हुआ है। एक व्यक्ति अपने महत्व को प्रकाशित करने के लिए किसी उपयुक्त अधिकारी का अन्वेषण करता रहता है। कोई प्रकाण्ड विद्वान् यह चाहता है कि मुझे कोई ऐसा योग्य शिष्य प्राप्त हो जिसे मैं अपने ज्ञान का पूर्ण रूप से वितरण कर सकूँ। कोई भी कलाकार अपनी कला के महत्व को पहचानने वाले व्यक्ति का अन्वेषण करता रहता है। जब गुरु को शिष्य और कलाकार को कोई पारखी मिल जाता है तो वे अपनी विद्या और कला को प्रकाशित करने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखते। अर्जुन की विद्या, बुद्धि और पराक्रम में श्रीकृष्ण को पूर्ण विश्वास है। यद्यपि सामान्य व्यक्तियों की भाँति उन्हें अपने रूप को प्रकाशित करने की कोई लालसा नहीं है, जैसे कि किसी विद्वान् और कलाकार को हुआ करती है। परन्तु किसी भी उपयुक्त पात्र के मिलने पर अपने रूप दिखाने का जो उत्साह उनके अन्दर है वह उनकी शब्दावली में प्रतिपद प्रकाशित हो रहा है। उन्होंने अर्जुन को यहाँ पार्थ कहकर सम्बोधन किया। व्याख्याकारों ने इस सम्बोधन की पृष्ठभूमि में अर्जुन के प्रति भगवान् कृष्ण के निरतिशय स्नेह का प्रकाशन माना है। अर्जुन के आगे दो सम्बोधन-भारत और गुडाकेश और हैं। भारत उसके वंश का ही परिचायक सम्बोधन है परन्तु गुडाकेश सम्बोधन अर्थगर्भित है। भगवान् के इस विराट् रूप को देखने की योग्यता पूर्ण जितेन्द्रिय पुरुष में ही संभव है, अभ्यास करते करते इन्द्रियों को बहुत से लोग वश में कर लिया करते हैं, परन्तु आलस्य के आक्रमण से संसार का कोई प्राणी नहीं बच पाता। वह आलस्य शरीर मन आदि के श्रम से उत्पन्न होता है, निद्रा उसी का मूर्तिमान् रूप है। ‘गुडाका’ का अर्थ

निद्रा किया जाता है, इसका 'ईश' अर्थात् जितनिद्रय पुरुष ही 'गुडाकेश' सम्बोधन का अधिकारी है। अर्जुन ने अपनी जीवन की कितनी ही रात्रियाँ भगवान् के साथ नाना कार्य करते हुए बिता दी थीं, अतः भगवान् को इसका प्रमाण मिला हुआ था कि अर्जुन जितेन्द्रिय पुरुष होने के कारण अप्रमत्त और कर्तव्य में जागरूक पुरुष है, ऐसा ही पुरुष उस रूप को देखने का अधिकारी हो सकता है। वैसे अर्जुन का यह सम्बोधन गीता में ही अनेक बार प्रयुक्त हो चुका है और अन्यत्र भी यथावसर प्राचीन साहित्य में इसका उपयोग हुआ है, परन्तु इस प्रकरण में अर्जुन का भगवान् के द्वारा किया गया यह सम्बोधन कुछ विशेष महत्व रखता है जो कि ऊपर प्रकट किया गया है और जिससे विश्वरूप दर्शन के लिए अर्जुन की पूर्ण पात्रता सिद्ध हो जाती है।

भगवान् ने इस पद्यावली में यह बतलाया है कि विराटरूप में उसे क्या दिखाई देगा। अर्जुन यहाँ अनेक प्रकार के दिव्यरूपों को देखेगा, उसे इस रूप में नाना प्रकार के वर्ण दिखाई देंगे और अनेक प्रकार की आकृतियाँ दिखाई देंगी। अपने इस कथन से भगवान् ने विराट् रूप की मोहक दर्शनीयता को व्यक्त किया है। किसी सुरम्य दृश्य के लिए रूप का आकर्षण प्रथम वस्तु है। कोई नाटक रंगमंच आदि तब तक दर्शनीय नहीं बनता जब तक की उसमें अनेक प्रकार के लाल, पीले, नीले, हरे, काले, सफेद विविध आँखों को लुभाने वाल रङ्ग न हों। नाटक के मंच को विविध रंगों की रोशनी से सजाये बिना दर्शकों को उसमें आनन्द प्राप्त नहीं होता। वर्तमान में तो मिश्रण से कितने ही प्रकार के वर्णों की सृष्टि हो रही है। जो कुछ मुझे दर्शन कराया जायगा यह कोई भयावह दृश्य होगा या बिलकुल नीरस स्वरूप होगा, ऐसा नहीं है। दुनियाँ का रमणीय से रमणीय रूप भी तो वहीं से प्रादुर्भूत हुआ है, मोहक से मोहक रंग भी तो उसी से प्राप्त हुए हैं, नहीं नहीं हमारे दृश्यमान सुन्दर वर्णों की रमणीयता तो विश्वरूप के वर्णों की रमणीयता का आभास भी नहीं दे सकेगी। जिन वर्णों को हम देखते हैं, उनसे तो हमारा मन ही नहीं भरता, इसका अर्थ है कि वो अपूर्ण है, मन को पूर्णतया तृप्ति प्रदान कर देना उनकी शक्ति के बाहर है, परन्तु परमात्मा के शरीर स्थित वर्ण तो सर्वथा परिपूर्ण मात्रा में सुव्यवस्थित दिखाई देंगे। वर्णों के साथ ही साथ नाना आकृतियों के देखने की बात भी भगवान् ने उस रूप की दर्शनीयता को प्रकट करने के लिए ही कही है। अनेक प्रकार के रंग जैसे देखने में आकर्षण उत्पन्न करते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार की आकृतियाँ भी दृष्टि के आकर्षण में मुख्य कारण हैं। देवियों और देवताओं में भी विलक्षण आकृतियाँ मानी गई हैं। हनुमान् वानराकार हैं, गणपति का मस्तक हाथी का है, ब्रह्मा और शंकर के पांच मुख हैं, कार्तिकेय के छह मुख हैं, वराह और नृसिंह के भी विलक्षण आकार हैं। इस प्रकार उपास्य देवताओं में भी

विचित्र आकृतियों के दर्शन होते ही हैं। यह विश्वरूप भी सभी देवताओं का एकत्र प्रदर्शक होगा। अतः इसमें एक ही जगह नाना आकृतियों का दिखाई देना भगवान् ने कहा है। यह भगवान् का विराट् रूप यद्यपि एक ही है परन्तु इनमें आकृति और वर्णों की तथा दर्शनीय पदार्थों की अनेकता से “रूपाणि” यह बहुवचनान्त प्रयोग किया गया है। शत और सहस्र शब्द यहाँ सैकड़ों और हजारों के वाचक नहीं अपितु अनन्त के वाचक हैं, जैसा कि वेदमन्त्र में भी “सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्” इत्यादि स्थलों पर व्यवहार देखा गया है। वहाँ यदि ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः’ का अर्थ ‘वह पुरुष एक हजार मस्तकों वाला था’ यह किया जाय तो ‘सहस्राक्षः’ आदि का ठीक अर्थ न बैठेगा, एक हजार आँखों वाला ऐसा अर्थ करने पर सिर भी एक हजार और आँखें भी एक हजार यह अर्थ होगा, तो क्या सारे सिर एक ही नेत्रों वाले होंगे। इस प्रकार के स्थलों पर भी भरत शास्त्र के अनुसार इन संख्यावाचक शब्दों को निश्चित संख्या में सीमित न मानकर अपरिमित संख्या का द्योतक माना जाता है, उसी के अनुसार यहाँ भी हे पार्थ ! अनन्त रूपों को तुम इस मेरे एक ही शरीर में देख लो—यह आशय स्पष्ट हो जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य भगवान् के इस कथन की पृष्ठभूमि में अर्जुन का कौतूहलान्वित और हर्ष से गद्गद् होकर प्रार्थना करना ही भगवान् की इस परमरूपदर्शन की कृपा का कारण है ऐसा मानते हैं, जो कि अन्य व्याख्याकारों को भी सम्मत है। उन्होंने पद्य के “रूपाणि” पद के विशेषण के रूप में ‘सर्वाश्रयाणि’ और जोड़ा है, उनके अनुयायी ‘तात्पर्य चन्द्रिका’ के रचयिता वेङ्कटनाथ ने सर्वाश्रयत्व को स्पष्ट करते हुए सबके आश्रयरूप आदित्य आदि मण्डलों को ग्रहण किया है, शतसहस्ररूपों की व्याख्या में श्रीरामानुजानुयायी तात्पर्य चन्द्रिकाकार ने उनके सम्प्रदाय में व्यूह बना कर अनन्तरूपों में परिदृष्ट हो जाते हैं। एक ब्रह्माण्ड को एक आदित्य प्रकाशित करता है, इस रूप में सभी ब्रह्माण्डों का एक साथ दर्शन होगा अतः ब्रह्माण्डों की अनेकता को शतसहस्र आदि शब्दों से बतलाया गया है ऐसी व्याख्या भी उनकी है। नानाविधशब्द के अर्थ में भी प्रत्येक अवयव संस्थान में भूषण और आयुधों के अलग-अलग सन्निवेश आदि का अभिप्राय अन्तर्गर्भित है। दिव्यशब्द का अर्थ भी यहाँ ‘दिविभवं दिव्यम्’ ‘स्वर्ग में होनेवाला’ ऐसा करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि आगे उस रूप के वर्णन में पृथिवी आदि का भी समावेश बतलाया जायेगा। इसीलिए श्रीरामानुज ने दिव्य का अर्थ ‘अप्राकृत’ किया है, अर्थात् ये रूप इस प्रकार के हैं जो प्रकृत के समुत्पादित नहीं हैं, जो भगवान् के अपने ही रूप हैं। नाना वर्णों की व्याख्या में भी तात्पर्यचन्द्रिकाकार ने अपने सम्प्रदायानुसार यही विलक्षणता दिखलाई है कि वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध

ये जो चार व्यूह हैं वे प्रत्येक युग के अनुसार श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण माने गए हैं, उन सभी का इस विश्वरूप में एकत्र सन्निवेश होने से ही इस रूप में नानावर्णों की समष्टि हो गई है।

आगे के पद्यों में बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, दो अश्विनी कुमार और उनचास मरुत् को देखने को कहा गया है, साथ ही ऐसे दृश्य भी देखने को कहा गया है जो अदृष्टपूर्ण हैं अतः उनका कोई अलग नाम भी नहीं दिया गया; उन्हें आश्चर्य ही कह दिया गया है। ये दृश्य केवल अर्जुन के ही द्वारा अदृष्टपूर्व हों—ऐसी बात नहीं है, वस्तुतः सृष्टि में ऐसे दृश्य किसी ने देखे ही नहीं। आदित्य, वसु, रुद्र और अश्विनीकुमार ये चारों सृष्टि के निर्माता तथा परिचालक देव प्राण हैं, इनका वर्णन वेदों में ही बड़े विस्तार से उपलब्ध हो जाता है, वस्तुतः ये अव्यय-परब्रह्म के सूक्ष्मशरीर में सर्वदा स्थित रहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का विवरण जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में प्राणि मात्र को हुआ करता है, वैसे ही परब्रह्म के भी तीनों शरीर हैं। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् तो उनका स्थूल शरीर है ही, सूक्ष्मशरीर वह है जहाँ इस स्थूल जगत् के परिचालक तत्त्वदेवता, ऋषि, पितृ आदि सर्वदा उपस्थित होकर प्रतिक्षण अपने अपने नियत कार्य का संचालन करते हैं। उनके कार्य में थोड़ी सी भी असावधानी संभव ही नहीं है, क्योंकि स्वयं परब्रह्म प्रतिक्षण उनके कार्यों के निरीक्षक के रूप में सर्वत्र उपस्थित रहता है। “भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः” इत्यादि मन्त्रों में उस परब्रह्म के ही भय से सूर्य का उदय और वायु का संचरण बतलाया गया है। अतः परमात्मा का सूक्ष्मशरीर सर्वदेव, ऋषि, पितृ आदि से युक्त रहता है, सारा ब्रह्माण्ड उसके एकदेश में संस्थित रहता है, स्थूल जगत् में जिन घटनाओं का अनुभव हमें होता है, सूक्ष्म जगत् में वे घटनाएँ उससे बहुत पहिले ही घटित हो जाया करती हैं। सूक्ष्मजगत् के अन्वेषक और ज्ञाता स्थूलजगत् में घटित होने वाली बातों को पहिले ही जान लेते हैं। अनेक बार स्वप्नों में जो कि सूक्ष्म जगत् के ही अंश होते हैं, हमें आगे घटित होने वाली घटनाओं की पूर्व सूचनाएँ मिल जाया करती हैं। यहाँ भी भगवान् ने अपना सूक्ष्मरूप से सर्वत्र अवस्थित शरीर ही अर्जुन को दिखलाया है। अतः सूक्ष्मजगत् में स्थित सभी पदार्थों का परिचय दिया गया है।

आनन्दगिरि इस पद्य को पूर्वपद्य की व्याख्या के रूप में ग्रहण करते हैं। पहिले ‘दिव्यानि रूपाणि’ कहा गया था, उसी का स्पष्टीकरण आदित्य आदि के निर्देश से किया गया। पहिले पद्य में जो ‘नानाविधानि’ (अनेक प्रकार के) यह कहा गया था, उसी को यहाँ ‘बहून्यदृष्टपूर्वाणि’ से स्पष्ट किया गया है, वहाँ जो ‘नानावर्णाकृतीनि’

कहा था, उसी को यहाँ 'आश्चर्याणि' कहा गया है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि संसार की अनेक बातों का ज्ञान तो हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है और बहुत सी बातें जो प्रत्यक्ष प्रमाण से वेद्य नहीं होतीं वे शास्त्र के द्वारा विदित होती हैं। देवता आदि का स्वरूप, स्वर्ग, अपूर्व आदि का ज्ञान शास्त्र के ही आधार पर होता है। इसके अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे पदार्थ हैं, जिनका शास्त्रों में भी वर्णन नहीं मिलता, परन्तु उनकी सत्ता अवश्य है। यहाँ विश्वरूप में लोकदृष्ट, शास्त्रदृष्ट और सर्वथा अदृष्ट सभी पदार्थों को देखने के लिए कहा गया है। श्रीवल्लभाचार्य के नाम से मुद्रित व्याख्या में 'आश्चर्याणि' का अर्थ यह किया गया है कि विश्वरूप में परस्पर विरुद्ध पदार्थों को एकत्र अवस्थित दिखलाया जायेगा। लोकमान्यतिलक ने लिखा है कि महाभारत के नारायणीय धर्मप्रकरण में भी नारद को भगवान् ने विश्वरूप दिखलाया था, वहाँ ये ही देवगण वर्णित हैं, वहाँ यह विशेषता है कि बारह आदित्य बाईं ओर, आठ वसु सामने की ओर, ग्यारह रुद्र दाहिनी ओर तथा दो अश्विनी कुमार पिछली तरफ थे। यहाँ गीता में उनके सन्निवेश का वर्णन नहीं है और यह आवश्यक भी नहीं है कि सन्निवेश का भी एक सा ही वर्णन सर्वत्र किया जाय। विश्वरूप दर्शन का प्रसंग अन्यत्र अनेक स्थानों पर आता है, तब 'अदृष्ट पूर्वाणि' का अर्थ कैसे समन्वित होगा ? इस पर आगे 'यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्' इस पद्यांश की व्याख्या में हम कहेंगे। देवताओं में भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चारों वर्णों का भेद शतपथ ब्राह्मण आदि में बतलाया गया है जिसका लोकमान्यतिलक ने यहाँ भी संकेत कर दिया है कि वसु ब्राह्मण हैं, आदित्य क्षत्रिय हैं, मरुद्गण वैश्य हैं और अश्विनीकुमार शूद्र वर्ण के हैं।

केवल आदित्य देवता ही नहीं, इस रूप में चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत् एक ही जगह दिखाई देगा। सारा जगत् करोड़ों वर्षों में भी कोई देखने में समर्थ नहीं हो सकता। यद्यपि विज्ञान के चमत्कारपूर्ण यन्त्रों के द्वारा वर्तमान में अल्प समय में सारी पृथ्वी की परिक्रमा सम्पन्न करा दी जाती है। आकाश के ग्रह नक्षत्र आदि का अन्वेषण और दर्शन भी शक्तिशाली यन्त्रों की सहायता से आज उपक्रान्त हो रहा है और देश तथा काल की दूरी आज बहुत सामीप्य में बदली जा रही है। परन्तु फिर भी सृष्टि के बहुत रहस्यमय प्रदेश अभी यन्त्रों की पहुँच के बाहर हैं और ऐसे-ऐसे ब्रह्माण्ड भी बहुत हैं। विज्ञान के द्वारा एक ब्रह्माण्ड का पता लग सकता है। कभी किसी चीज का कहीं पता लगता है, कभी कहीं कोई रहस्यमय पदार्थ प्राप्त हो जाता है, अन्वेषण का निरन्तर प्रचलित रहना ही इस बात का प्रमाण है कि सर्वत्र रहस्य व्याप्त है। जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष दर्शन के योग्य हैं उन्हीं का इन यान्त्रिक गवेषणाओं से पता लगता है, परन्तु जो पदार्थ सर्वथा अतीन्द्रिय हैं, उनके विषय में विज्ञान सर्वथा नकारात्मक



उत्तर दे देता है। इसी से जनता में उन विषयों पर सन्देह अपना स्थान बना लेता है कि ये वस्तुएँ जिनका कि शास्त्रों में इतने विस्तार से वर्णन मिलता है, उनकी कोई स्थिति है या नहीं ? परन्तु वस्तुतः बात यही है कि वे पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य हैं ही नहीं। यहाँ भगवान् ने उन सभी तत्त्वों को अर्जुन को दिखा देने की प्रतिज्ञा जो की है वह उन्हीं के सामर्थ्य के अनुरूप है। वे अपने शरीर के एक देश में स्थित सम्पूर्ण चराचर को देखने के लिए कह रहे हैं। इसके अतिरिक्त अर्जुन को यह भी स्वतन्त्रता दे रहे हैं कि तुम वह सब भी देख लो जो देखना चाहते हो। प्रथम अध्याय में अर्जुन ने कहा था कि हम यह भी तो निश्चय नहीं कर सकते कि हममें और कौरवों में कौन अधिक बलवान् है, विजय हमारी होगी या उनकी होगी। अर्जुन को अपनी इसी शङ्का का उत्तर युद्ध होने के पहिले ही अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष देखने के लिए भगवान् कह रहे हैं। आगे विश्वरूप के वर्णन में भी यह बात आयेगी कि संग्राम में खड़े समस्त योद्धागण विश्वरूप के मुख में प्रवेश कर रहे हैं। अतः सभी व्याख्याकार 'यच्चान्यद् द्रष्टमिच्छसि' का यही अर्थ लगाते हैं कि इससे अर्जुन की इसी मानसिक उलझन का समाधान किया गया है कि इस युद्ध में विजय किसकी होगी। युद्ध के पहिले ही जय पराजय कैसे दिखा दिये गये इसका उत्तर हम ऊपर दे चुके हैं कि भौतिक जगत् की घटनाएँ कैसे भौतिकजगत् की घटनाएँ सूक्ष्मजगत् में पहिले घटित हो जाती हैं और वे ही भौतिकजगत् में प्रतिबिम्बित हो जाया करती हैं। यहाँ भगवान् ने अर्जुन की दृष्टि को जगत् से हटाकर सूक्ष्म जगत् की ओर उसे प्रेरित कर दिया।

भगवान् का वह दिव्य रूप, जिसको दिखाने की यहाँ प्रतिज्ञा हुई है भौतिक नेत्रों से दिखाई नहीं दे सकता। भौतिक नेत्र तो परिमित वस्तु को ही देखने में समर्थ हुआ करते हैं, वह रूप तो अपरिमित और आद्यन्तशून्य है। अतः उस दिव्यरूप को देखने के लिए दिव्यनेत्रों की ही आवश्यकता हुआ करती है। ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाले योगी उस रूप का दर्शन करने के लिए अपने बाह्यनेत्रों को बन्द कर समाधि के द्वारा दिव्यनेत्रों का उद्घाटन करते हैं सामान्यदर्शन से ऊपर के दर्शन के लिए भी ज्ञानमयनेत्रों की आवश्यकता होती है जो कि गुरु के द्वारा प्रदत्त होते हैं—यही गुरु की विशेषता है। एक सुप्रसिद्ध उक्ति है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः

अज्ञानरूपी तिमिर से अन्धी बनी हुई दृष्टि का जिन्होंने विज्ञान के अंजन से भरी

सलाई लगाकर उन्मीलन कर दिया उन गुरुदेव को प्रणाम है। यहाँ भी अर्जुन ने “शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्” कह कर भगवान् के प्रति अपना शिष्यत्व स्वीकार कर ही लिया था, इसीलिए भगवान् भी अपना रूप दिखाने के लिए उसे दिव्य विज्ञानमय नेत्र दे रहे हैं। यह दूसरी बात है कि सामान्य गुरु आदि में जितनी शक्ति होती है उतना ही सामर्थ्य वे शिष्य की बुद्धि में दे सकते हैं, किन्तु अर्जुन को तो आज अपरिमित शक्तिवाले गुरु मिले हैं इसीलिए वे सब कुछ दिखला सकते हैं। महाभारत में अन्यत्र भी ऐसा प्रसंग आया है कि जब भगवान् ने अपने दिव्यरूप की झलक दिखायी। युधिष्ठिर का सन्धि-सन्देश लेकर धृतराष्ट्र की सभा में जब भगवान् श्रीकृष्ण दूत के रूप में उपस्थित हुए और दुर्योधन ने उन्हें बांधने का जब उपक्रम किया तब भी भगवान् ने अपना घोर रूप दिखलाया था -

“तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः  
न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानत्रस्त चेतसः  
ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम्  
तत्रायं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान्  
प्रादात्तेषां च भगवान्दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः

(म०भा० ५।१३१।१३-१५)

केशव के उस घोररूप को देखकर धृतराष्ट्र की सभा में उपस्थित सभी राजाओं के नेत्र बन्द हो गए, उनके चित्त में त्रास उत्पन्न हो गया। केवल द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह और विदुर उस तेज से त्रस्त नहीं हुए, वहाँ जो महात्मागण उपस्थित थे उन्हें भगवान् ने अपने स्वरूप को देखने के लिए दिव्यनेत्र प्रदान किये। योगचक्षु से दूर के विप्रकृष्ट पदार्थ और पास के सूक्ष्म पदार्थ भी दिखलाई दे जाया करते हैं। जब महाभारत युद्ध की तैयारी हो चुकी तो महर्षि वेदव्यास धृतराष्ट्र के पास पहुँचे। धृतराष्ट्र ने उनसे निवेदन किया कि सारे संसार के यशस्वी योद्धा इस संग्राम में आये हैं, यह युद्ध अवश्य ही दर्शनीय होगा, परन्तु नेत्रों के न रहने से मैं इस अभूतपूर्व दृश्य के देखने से वंचित ही रह जाऊँगा। इस पर सर्वविधि सामर्थ्य संपन्न भगवान् व्यास ने कहा कि राजन् ! यदि तुम्हारी इस युद्ध को देखने की प्रबल अभिलाषा है तो मैं तुम्हें योगशक्ति से दृष्टि प्रदान कर सकता हूँ, तुम अपने स्थान पर बैठे हुए ही संग्राम का सारा दृश्य देख सकोगे। इस पर धृतराष्ट्र ने कहा कि सारा जीवन तो बिना नेत्रों के कट गया और आज अपने पुत्रादि का नाश देखने के लिए मैं आपसे नेत्रों की याचना करूँ—यह उपयुक्त नहीं, यदि आप मुझ पर ऐसी ही कृपा करना चाहते हैं तो किसी मेरे अनुचर

को ऐसी शक्ति दे दीजिए जो मेरे पास में ही स्थित रह कर संग्राम का दर्शन करता रहे और मुझे पूरा पूरा विवरण सुनाता रहे। यह सुनकर भगवान् व्यास ने संजय, जो वहाँ उपस्थित थे उनको योगचक्षु प्रदान किये जिससे कि संजय धृतराष्ट्र के पास बैठे हुए महाभारत संग्राम का दर्शन किया करते थे और समय समय पर संग्रामभूमि में जाकर प्रत्यक्ष दर्शन भी कर लेते थे। वह यथादृष्ट दृश्यों को धृतराष्ट्र को सुनाते रहे। इन सब बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि उस समय सिद्ध महात्मागण अतीत अनागत दूरस्थ तथा अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को योगशक्ति से न केवल स्वयं ही जान लेते थे, अपितु जिस पर अनुग्रह करते उसे भी इस प्रकार देखने योग्य नेत्र प्रदान कर देते थे। भगवान् के सामर्थ्य की तो बात ही क्या, अर्जुन को कहीं यह शंका न हो कि आप दिव्यचक्षु देने की बात कह रहे हैं तो मेरे इन नेत्रों को आप क्या करेंगे ? इस पर टीकाकारों ने आशय स्पष्ट किया है कि हे अर्जुन ! तुम्हारी आँखों को जरा भी पीड़ित किये बिना मैं तुम्हें अपने रूप को देखने में समर्थचक्षु प्रदान करूँगा। तुम्हारे नेत्रों से केवल आवरण ही तो हटाना है जिसके कारण सूक्ष्मपदार्थ व्यवहित हो रहे हैं। मोतियाबिन्द का ऑपरेशन कर देने पर आँखें पुनः देखने में समर्थ हो जाती हैं, वहाँ केवल आँखों पर आया हुआ आवरण ही तो हटाया जाता है, यहाँ किसी यन्त्रशास्त्र आदि का प्रयोग आवरण हटाने के लिए नहीं करना पड़ेगा, यह केवल मानसिक व्यापार से ही सम्पन्न हो जायेगा।

दिव्यचक्षु प्रदान करके ऐश्वर्ययोग को दिखाने की बात यहाँ कही गई है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चार बुद्धि के रूपों की सत्ता ईश्वर में है—यह हम कह आए हैं। यह ऐश्वर्ययोग बुद्धि का वह चतुर्थ रूप ही है जो भगवान् में सर्वदा वर्तमान रहता है। आठों सिद्धियाँ और नवों निधियाँ इस रूप में सर्वदा स्थित रहती हैं। अतः सर्वरूप होने के कारण भगवान् भक्त की इच्छा के अनुसार सभी रूपों में प्रकट हो जाया करते हैं। (५-८)



## उन्तालीसवाँ-पुष्प

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।  
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥१॥  
अनेक वक्त्रनयनमनेकाद्भूतदर्शनम् ।  
अनेकदिव्याभरणं दिव्याऽनेकोद्यतायुधम् ॥१०॥  
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।  
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो मुखम् ॥११॥  
दिविसूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।  
यदि भाःसदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥  
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।  
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥  
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।  
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

भगवान् ने अर्जुन को अपना दिव्यरूप देखने के लिए दिव्यनेत्र दे दिये और वे युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के सारथी बने रथ हांक रहे थे, वहीं उन्होंने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखा दिया। भगवान् सारे विश्व के द्रष्टा हैं, आज अर्जुन की प्रार्थना पर उन्होंने अपने आपको दृश्य बना दिया, यहाँ अर्जुन द्रष्टा है और भगवान् अपने विश्वरूप में दृश्य हैं। अर्जुन जब भगवान् का विश्वरूप देख रहा है तब उसके मन में कोई प्रश्न नहीं है, केवल भगवान् के उस रूप को पूर्णरूप से देख लेने का कौतूहल है। हम जब कोई परमआश्चर्य की घटना देखते हैं तो हमारी वाणी मूक हो जाती है, केवल नेत्र ही देखने का काम करते हैं, अर्जुन की भी वही स्थिति है, विश्वरूप दर्शन के समय उसकी वाणी मौन है, सारी इन्द्रियाँ सिमट कर मानों आँखों में ही एकत्र हो गई हैं। अभी वह उस रूप का वर्णन करने में भी असमर्थ है। उस विश्वरूप का दर्शन दो व्यक्तियों को इस स्थान पर हो रहा है, एक तो स्वयं अर्जुन है जो मुग्धभाव से इस रूप को देख रहा है और दूसरा संजय है जिसको भगवान् वेदव्यास की कृपा

से पहिले ही दिव्यदृष्टि प्राप्त हो चुकी है, उसकी दृष्टि के सामने भगवान् का विश्वरूप भी है और उसका दर्शक अर्जुन भी खड़ा है, यद्यपि अर्जुन उस रूप दर्शन से मुग्ध हो चुका है, संजय की भी चाहे वही स्थिति हो चुकी हो परन्तु वह अपने कर्तव्य में जागरूक है, उसे महाभारत संग्राम में घटित होने वाली घटनाओं को सुनाने के लिए धृतराष्ट्र के पास भगवान् वेदव्यास ने दिव्यदृष्टि देकर बिठाया है, अतः जो विश्वरूप सामने प्रकट हुआ उसका वर्णन वह आगे छः श्लोकों में करता है। वह कहता है कि “हे राजन्, अर्जुन से ऐसा कह कर महायोगेश्वर भगवान् हरि ने पार्थ को अपना परम ऐश्वर्य रूप दिखाया।” हरि का अर्थ है हरण करने वाला, भगवान् भक्तों की अविद्या और क्लेशों के हरण कर लेने के कारण भी हरि हैं और यज्ञ में अपने भाग का स्वयं हरण करने के कारण भी हरि हैं तथा सबसे अधिक आकर्षक हरे रंग का शरीर धारण करने के कारण भी उन्हें हरि शब्द से सम्बोधित किया है। महाभारत के मोक्ष धर्मप्रकरण में हरि शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि—

**“इडोपहूतं गेहेषु हरेर्भागं क्रतुष्वहम्  
वर्णो मे हरितः श्रेष्ठस्तस्मात् हरिरिति स्मृतः”**

भगवान् का एक नाम कृष्ण है जिसका अर्थ होता है काला, दूसरा हरि है जो उन्हें हरे रंग का बतलाया है परन्तु वर्णन की शैली में काला और हरा एक ही मान लिये जाते हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं रहता। भगवान् का विशेषण यहाँ “महायोगेश्वर” है। विश्वरूप दिखाने की पूर्णशक्ति का इस विशेषण से तात्पर्य है, अनेक प्रकार के आश्चर्यों को दिखा देना बाजीगरों के द्वारा भी शक्य हो जाता है, भगवान् ने धृतराष्ट्र की सभा में दुर्योधन को जब विविध रूप दिखलाए तभी भगवान् के प्रति उसकी आस्था हो जानी चाहिए थी, परन्तु उसने वहाँ यही उत्तर दिया था कि हम तो राजा लोग हैं, ऐसे ऐसे बाजीगर राजाओं के पास आकर अपना कौतुक दिखलाया ही करते हैं, इसलिए प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर भी गहन मोह का आवरण होने के कारण दुर्योधन श्रीकृष्ण के रूप में श्रद्धावान् न हो सका। वेणीसंहार नाटक में सहदेव ने भीमसेन के द्वारा जब भगवान् के दुर्योधन के सामने विविध रूप दिखाने की बात और फिर भी दुर्योधन के सचेत न होने की बात सुनकर आश्चर्य प्रकट किया तो भीमसेन ने यही कहा कि—

**आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ  
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्त्वनिष्ठाः ।  
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्  
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ॥**

आत्मा में रमण करने वाले परब्रह्म में प्रेम रखने वाले, ज्ञान शक्ति को बढ़ाकर अपनी तमोगुण की ग्रन्थियों को विघटित कर देने वाले महात्मागण निर्विकल्पक समाधि में सारे मोहान्धाकार और सारे प्रकाशों के आगे स्थित जिस रूप का दर्शन किया करते हैं, उस रूप को मोह से अन्धा बना हुआ यह दुर्योधन कैसे पहिचान सकता है। परन्तु अर्जुन और संजय तो भगवान् के स्वरूप को यथार्थरूप में समझते हैं, इसलिए विश्वरूपदर्शन में उनके पूर्ण सामर्थ्य की अभिव्यंजना के लिए यहाँ महायोगेश्वरशब्द का प्रयोग भगवान् के लिए किया गया है। व्याख्याकारों ने इस शब्द पर दो प्रकार की व्याख्याएँ लिखी हैं। योग का अर्थ होता है जीव और ब्रह्म की एकता, जो महापुरुष होने के साथ साथ इस योग को भी पूर्णरूप से जानते थे उन शुकदेव, वामदेव, याज्ञवल्क्य, जनक आदि के भी ईश्वर होने के कारण भगवान् महायोगेश्वर कहलाये। श्रीरामानुज ने महा का अर्थ आश्चर्य किया है, अर्थात् आश्चर्यमय योगों के जो अधीश्वर हैं उन भगवान् ने पार्थ को परमऐश्वर्यरूप दिखलाया। वेदान्त प्रक्रिया में माया विशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है, क्योंकि माया परिग्रह के अनन्तर ही ईशानक्रिया संभव होती है। जीव भी ईश्वर का ही अंश है—“ईश्वर अंश जीव अविनाशी”, परन्तु माया के अनेक सघन आवरणों से आबद्ध हो जाने के कारण उसका ईश्वरभाव तिरोहित-सा हो जाता है, इसीलिए जहाँ ऐश्वर्यरूप कहा गया है वहाँ “परमम्” भी कहा गया, यह वह स्थिति है जहाँ पर ब्रह्ममाया का परिग्रह तो कर लेता है, परन्तु माया का उस पर कोई आवरण नहीं, माया की ग्रन्थियाँ उस पर नहीं हैं, वह पूर्णरूप से माया का ईशान कर रहा है, उसका यथेच्छ उपयोग कर रहा है। गीता के भूमिकारूप प्रवचनों में हम कह चुके हैं कि यहाँ अर्जुन सारे जीवों का प्रतिनिधि बनकर उपस्थित है और उपदेष्टा भगवान् साक्षात् परब्रह्म के स्वरूप हैं। उनका वही ईश्वरभाव यहाँ प्रत्यक्ष हो रहा है। ऐश्वर्य ने यहाँ जो रूप दिखलाया वह किसी अन्य का रूप नहीं था, अपितु अपना ही असाधारण रूप था। जिस रूप में सर्वदा वे अर्जुन के साथ रहा करते थे वह तो सर्वसाधारण रूप था। मनुष्यमात्र को वैसा रूप सुलभ था, उनके अंगों में विलक्षण चमत्कार होना दूसरी बात है, परन्तु अंगों के सन्निवेश में अन्य मनुष्यों से उनमें कोई विलक्षणता नहीं थी। हाँ विशेष अवसरों पर चतुर्भुज आदि आकार उनके देखे गए या अनेक अवसरों पर अतिमानुष सिद्धियाँ भी उनमें देखी गईं, परन्तु सर्वदा के व्यवहार में वे मानवाकार में ही प्रत्यक्ष होते रहे। यह विश्वरूप उनका असाधारणरूप है, यह और किसी के पास नहीं है। (९)

इसके आगे विश्वरूप का वर्णन किया जाता है। यह वर्णन बहुत ही सरस है, महाभारत ही नहीं भारतीय वाङ्मय के श्रेष्ठ भागों में इस वर्णन की गणना की जाती

है। भगवान् के विश्वरूप का वर्णन अनेक स्थानों पर वेद आदि में प्राप्त होता है परन्तु वर्णन की दृष्टि से जितना सौन्दर्य और स्वाभाविकता इस वर्णन में है वैसी अन्यत्र मिलना कठिन है। इसके पढ़ते-पढ़ते आँखों के आगे भगवान् का वह रूप आविर्भूत होने लगता है और रोमांच होने लगता है। “विश्वरूप-धारी भगवान् के अनेक मुख और नेत्र थे, अनेक अद्भुत दृश्यों से वह युक्त, अनेक दिव्यआभरणों से वह सुशोभित था और उस रूप में अनेक दिव्यशस्त्र उठे हुए दिखाई दे रहे थे। अनेक मुख दिखाई देने का अर्थ अनन्त मुखों से है। यहाँ अनेक शब्द का ‘एक से अधिक’ यह तात्पर्य न होकर अनन्त से ही तात्पर्य समझना चाहिए, क्योंकि एक से अधिक मुखादि तो अनेक देवताओं के स्वरूप में आ जाते हैं, फिर उन देवताओं से इस विश्वरूप में क्या वैशिष्ट्य रहेगा और यह विश्वरूप अभूतपूर्व कैसे माना जा सकेगा। अतः व्याख्याकारों ने अनेक शब्द को अनन्त के लिए ही माना है। वे अनेक मुखादि भी समान रूप के नहीं अपितु अनेक रूपों के थे। यदि एक ही प्रकार के अनेक रूप होते तो ‘अनेक रूप और अनेक नेत्रों वाला’—यह कहना निरर्थक होता, जहाँ मुख अनेक रहेंगे वहाँ नेत्र तो स्वभावतः अनेक होंगे ही, फिर उनको पृथक् कहने की क्या आवश्यकता थी, इससे यही तात्पर्य निकाला जाता है कि वे अनेक मुख भी एक ही आकार प्रकार के नहीं थे अपितु अनेक आकारों के अनेक मुख थे उनमें नेत्र भी अनेक थे। इस प्रकार अनेक आकारों वाले अनेक मुखों का वर्णन विश्वरूप के ध्यान में सर्वत्र मिलता है और उस रूप के सर्वदेवमय होने के कारण वैसा वर्णन उचित भी है, क्योंकि देवताओं के विभिन्न प्रकार के आकार हमारे यहाँ समुपलब्ध भी होते हैं। गणपति का मुख गजाकार है, वराह भगवान् का मुख सूकराकार है, भगवान् हयग्रीव का मुख घोड़े के आकार वाला है, हनुमान् जी का मुख वानराकार है, नृसिंह का मुख सिंह के समान है, कार्तिकेय के छः मुख हैं, शंकर भगवान् के पांच मुख हैं, ब्रह्माजी के चार मुख हैं। इन सभी रूपों और आकारों का वैज्ञानिक गूढ़ तात्पर्य है जिसको समझे बिना कुछ लोग इन उपास्य रूपों पर अनेक प्रकार की शंकाएँ उपस्थित किया करते हैं। इस विषय का विवेचन यहाँ अप्रासंगिक हो जायगा, परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि देवताओं के वर्णनों में रूपों की इस विविधता का कारण यह है कि जिस देवता में जिस तत्त्व की प्रधानता है वह तत्त्वसृष्टि में जिस आकार में प्रस्फुटित हो जाता है वही उस देवता का रूप मान लिया जाता है। ऐसा इसलिए भी किया गया है कि उन उन देवताओं का तात्त्विक रूप हमारे सर्वदा सामने रहे और हम उस रूप का ध्यान करते हुए उसके तात्त्विक रूप का भी ध्यान कर सकें। वस्तुतः वे रूप हमारे चरम उपास्य नहीं, अपितु उनका तात्त्विक रूप ही हमारा चरम उपास्य बनता है। परन्तु उस तात्त्विक रूप तक पहुँचने का माध्यम

वे प्रत्यक्षरूप ही हुआ करते हैं। अतः उन रूपों को ध्यान में लेना भी परम आवश्यक है। जैसे वर्णमाला में और लिपि में आपाततः कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, वर्णमाला उच्चारण और श्रवण का विषय है और लिपि लिखने और देखने का विषय है, परन्तु लिपि के माध्यम से ही हम वर्णमाला-शब्दों, वाक्यों और महावाक्यों तक पहुँच पाते हैं, उसी प्रकार विशिष्ट आकृतियाँ जिनमें प्रतीकरूप से सम्पूर्ण जगत् का विस्तार अन्तर्भूत हो जाता है हमें अनेक प्रकार के रहस्यों को बतलाती हुई सर्वत्र अपनी महिमा से परिव्याप्त परब्रह्म तक पहुँचा देती हैं। इस विषय का अधिक विवरण हम आगे के प्रवचनों में प्रसङ्गानुसार प्रस्तुत करेंगे, यहाँ भगवान् के विश्वरूप में भी सारा चर-अचर देव-दानव आदि प्रपञ्च दिखाते हुए उनको सूत्ररूप से स्पष्ट करने के अभिप्राय से 'अनेक वक्त्र नयनं' यह विश्वरूप का विवरण सर्वप्रथम दिया गया और आगे अर्जुन ने जब उसका वर्णन प्रारम्भ किया तब भी "पश्यामि देवांस्तव देव देहे" यहीं से किया। अतः विश्वरूप में देवताओं का साक्षात्कार हुआ—यह सबसे बड़ी चमत्कार की बात है। आगे अर्जुन के द्वारा प्रयुक्त देवशब्द के विवरण में भी देवतत्त्व का थोड़ा परिचय प्रस्तुत किया जायेगा। इसके बाद विश्वरूप को "अनेकाद्भुतदर्शनम्" कहा गया है। जो पदार्थ पहिले कभी न देखा हो अथवा जिस दृश्य का साक्षात्कार पहिले कभी न हुआ हो और साथ ही जिसमें विस्मय जनकता भी हो उसे अद्भुत शब्द से कह दिया जाता है। किसी अदृष्ट पूर्व तथा विस्मयोत्पादक वस्तु को देखकर हम यह कहते हैं कि हमने एक अद्भुत वस्तु देखी, यहाँ मुख और नयन तो ऐसी वस्तुएँ हैं जो सर्वत्र देखी जाती हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त विश्वरूप में ऐसी भी अनेक वस्तुओं के दर्शन हुए जो अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व हैं। ठीक ही है, करोड़ों वर्षों में भी किसी के द्वारा विश्व की समस्त वस्तुओं को देख लेना असाध्य कार्य है, अन्य वस्तुओं को छोड़ दें उपनिषद् का ही दृष्टान्त लें कि एक मिट्टी के बने पदार्थों का भी सारे संसार में परिचय प्राप्त करने चलें तो उसका परिचय प्राप्त कर लेना भी एक मनुष्य के द्वारा अपनी पूरी आयु में भी, या अनेक आयु में भी संभव नहीं, तब संसार के सभी पदार्थों की इयत्ता प्राप्त कर लेनी सर्वथा अशक्य है। परन्तु परब्रह्म के स्वरूप में तो सभी कुछ अवस्थित है, इसलिए उनके विश्वरूप से बाहर कोई वस्तु नहीं जा सकती। जब दर्शक को अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व वस्तुएँ दिखाई देंगी तो वह जिनको पहिचानता होगा उनका नाम लेगा और जिनका उसे परिचय न होगा उन्हें या तो कल्पित नाम देकर अभिव्यक्त करने की चेष्टा करेगा या उसके चित्त पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन करेगा। यहाँ संजय ने उन अभूतपूर्व दृश्यों को देखकर "अनेकाद्भुतदर्शनम्" इतना ही कहा क्योंकि उन दृश्यों का पहिले परिचय न होने के कारण उनको कोई संज्ञा देने



में वह असमर्थ है। भगवान् ने पहिले अदृष्टपूर्व आश्चर्य दिखाने की प्रतिज्ञा की थी, उसके साथ भी विश्वरूप में अद्भुत दृश्यों को देखने की वर्णन की एकवाक्यता बन जाती है। श्रीशंकरानन्द ने “अनेकाद्भुतदर्शन” पद को भी नेत्रों के वैशिष्ट्य दिखाने में ही लगाया है, उनका अर्थ है अपरिमित और आश्चर्य उत्पन्न करने वाले ऊपर नीचे तिरछे देखने वाले, विकार, सौम्य साधारण, भयंकर और विचित्र दृष्टियाँ या नेत्र जिसमें है। नयन पहिले कह दिया गया है अतः इस व्याख्या में दृष्टि शब्द से निर्वचन करने का तात्पर्य यही मालूम होता है कि नेत्रों की दर्शन क्रिया से अभिप्राय है। वह रूप अनेक दिव्य आभरणों से युक्त था। ऐश्वर्यरूप में आभरणों का रहना स्वतः सिद्ध है। भगवान् के शरीर पर दिव्यआभरण सर्वदा विराजमान रहते हैं। कौस्तुभमणि उनकी ग्रीवा में सर्वदा सुशोभित रहती है, श्रीवत्स चिह्न भी आभूषण के रूप में उनके वक्षःस्थल पर विराजमान रहता है। मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर, अङ्गद आदि का विलक्षण वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण के वर्णन प्रसङ्ग में श्रीमद्भागवत आदि में स्थान स्थान पर प्राप्त होता है। आभूषणों को सभी देवताओं के ध्यान में अनिवार्य स्थान दिया गया है। उपासना में सबसे पहली आवश्यक बात है चित्तवृत्ति की एकाग्रता। चित्त की एकाग्रता में आभूषणों का ध्यान मानसिक उत्सुकता को जागृत करके चञ्चलता को निवृत्त करने में सहायक होता है। भक्त ध्यान मुद्रा में अपने इष्टदेव के दर्शन का प्रयास करते समय सबसे पहले आभूषणों पर ही अपने मन को केन्द्रित करता है। सुन्दर सुन्दर आभूषणों के मानसिक स्मरण से चित्तवृत्ति जब एकाग्र हो जाती है तब उपास्य देव का स्वरूप दर्शनक्रम से सुकर हो जाता है। इसीलिए पूजा पद्धतियों में सर्वत्र आभूषणों के ध्यान का महत्व है। अनेकानेक देवियों और देवताओं के अनेकानेक आभूषण हैं। भगवान् शङ्कर के आभूषण मुण्डों की मालाएँ ही हैं, परन्तु चन्द्रमा और गंगा भी उनके आभूषणों में सम्मिलित हैं। पुराणों में इन आभूषणों और आयुधों की भी प्रतीकात्मकता का विस्तार से वर्णन मिलता है। विष्णुपुराण में चित्तवृत्तियों को ही भगवान् के आभूषण और आयुधों के रूप में चित्रित किया है। आगमशास्त्र में जितने अक्षर हैं, उन अक्षरों के समुदाय को ही भगवती या भगवान् शङ्कर की मुण्डमाला बतलाया है। इस प्रकार प्रत्येक आभूषण और आयुध का विस्तार से निरूपण पुराणों और आगमों में प्राप्त होता है। आभूषणों को धारण करना प्रसन्नता और मांगल्य का सूचक माना जाता है। प्राचीनकाल के राजागण भी विभिन्न शुभ अवसरों पर विभिन्न आभूषण धारण किया करते थे। विश्वरूप में भी दिव्यआभरणों का दर्शन प्रसन्नता का सूचक है। वहाँ दिव्य अनेक समुद्यत आयुध भी हैं, संग्राम के अवसर आयुधदर्शन का विशेष महत्व है। प्राचीनकाल में युद्धों में अनेक प्रकार के गदा, खड्ग, धनुष, बाण, पट्टिश, तोमर आदि आयुधों का

प्रयोग होता था। भगवान् भी कौमोदकी नाम की गदा, नन्दक नाम का खड्ग और सुदर्शनचक्र आदि को आयुध के रूप में धारण करते हैं, दुष्ट दलनपूर्वक भक्तों का परित्राण आयुध धारण का मुख्य उद्देश्य है। यहाँ विश्वरूप में विभिन्न दिव्यआयुधों का धारण भगवान् किये हुए हैं और अन्याय पक्ष के दमन की सूचना दे रहे हैं। एक टीका में यहाँ पञ्चमहाभूत ही भगवान् के आयुधरूप में वर्णित हुए हैं—ऐसा विवरण किया गया है जो भगवान् के परिकर की प्रतीकात्मकता की ओर संकेत है। (१०)

वह रूप दिव्यमाला तथा वस्त्रों से अलंकृत है, उसमें दिव्यगन्ध का अनुलेपन है, वह देव सभी प्रकार के आश्चर्यों से युक्त हैं, वे अनन्त और चारों ओर मुख वाले हैं। विश्वरूप के वर्णन में यहाँ सभी पदार्थों को दिव्य बतलाया गया है जो प्रत्येक वस्तु की अलौकिकता का द्योतक है। (११)

यदि आकाश में एक साथ सहस्रों सूर्यों की आभा प्रकट हो जाय, तो वह जो तेजः पुञ्ज होगा वह उस महान् विश्वरूपात्मक पुरुष की एक झलक दे सकेगा। विश्वरूप के प्रकट होते ही उसका अपरिमित प्रकाश सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त हो गया। यह वही तेज है जिसका एक एक अंश प्राप्त करके सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रकाशित हो रहे हैं। वह प्रकाश अपरिमेय है। परब्रह्म दिव्य तेज से सर्वदा आवृत रहता है। आत्मा का तेज दिव्य तेज होता है। साधनमार्ग या भक्तिमार्ग में प्रवेश करने वाले पहिले आन्तरिक तेज के ध्यान से बाह्यतेज का अतिक्रमण करते हैं। आन्तरिक विशुद्ध आत्मतेज में परब्रह्म आवृत रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं कि भगवन् ! संसार में ज्योति या प्रकाश क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा कि सूर्य ही प्रकाश है। इस पर जनक ने पुनः प्रश्न किया कि सूर्य का प्रकाश तो दिन में ही सुलभ होता है, जब रात्रि में सूर्य भी नहीं रहता तो कौन सा प्रकाश रहता है? इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उस समय चन्द्र का प्रकाश संसार के कार्य का निर्वाहक है। जनक ने कहा कि चन्द्रमा भी शुक्लपक्ष में ही प्रकाश फैलाता है, जब कृष्णपक्ष में वह नहीं रहता तब किसका प्रकाश व्यवहार का परिचालन करता है ? इस प्रश्न पर याज्ञवल्क्य ने जनक के जिज्ञासाभाव की सराहना करते हुए उत्तर दिया कि उस समय अग्नि का प्रकाश जगत् के व्यवहार का निर्वाहक होता है। जनक अभी रूकने वाले नहीं थे, उन्होंने कहा कि जहाँ अग्नि भी सुलभ नहीं, न अन्य प्रकाशों की कोई संभावना है वहाँ कौन सा प्रकाश व्यवहार का निर्वाहक है ? तब याज्ञवल्क्य ने बड़ी प्रसन्नता से उत्तर दिया कि जहाँ अरण्य आदि में घोर अन्धकार व्याप्त हो वहाँ व्यवहार का परिचालन वाणी या शब्द के आधार पर होता है। निर्जन अरण्य में अनेक प्रकार के शब्दों को सुनकर या परस्पर वाणी के आदान प्रदान के द्वारा थोड़ा बहुत

व्यवहार संचालन हो जाया करता है, वाणी ही उस समय प्रकाश का काम देती है। अब अन्तिम प्रश्न फिर जनक ने किया भगवन् ! जिस समय गहरी निद्रा में प्राणी विलीन रहता है, उस समय उसके लिए सूर्य चन्द्र अग्नि या वाणी कोई भी प्रकाश काम के नहीं होते तो क्या वह विशुद्धतम की अवस्था है या वहाँ भी कोई प्रकाश है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि वहाँ आत्मा का प्रकाश ही काम दे रहा है, वह प्रकाश ही सबका प्रकाशक है, जब कोई प्रकाश काम नहीं देता तब वही प्रकाश वाणी का साक्षी बनता हुआ उसके अन्धकार को दूर करता है और जागृत होने पर उसे पुनः चैतन्य या स्फूर्ति प्रदान करता है। वही प्रकाश उसे यह भी बोध कराता है कि मैं आज बड़े आनन्द की निद्रा में रहा, यदि वहाँ कोई प्रकाश या चैतन्य सत्ता है ही नहीं तो फिर प्राणी को “मैं बड़े आनन्द से सोया, मुझे कुछ भी बोध नहीं रहा” यह अनुभव किस आधार पर होगा ! फलतः उस समय साक्षिरूप आत्मा का प्रकाश ही जीव को अनुभूत होता है। इसी बात को स्वाराज्यसिद्धि नामक वेदान्तग्रन्थ में कहा गया है कि -

संशान्ते रविशशिवह्निवाक्प्रकाशे,

निर्वाणे करणगणे निरस्ततन्त्रः ।

स्वज्योतिः प्रकटितवासनामयार्थ-

श्चिद्धातुः श्रुतिभिरुदिरितोऽन्तरात्मा ।

अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि और वाणी के प्रकाश के सम्यक् शान्त हो जाने पर और समस्त इन्द्रियगण के भी क्रियाशून्य हो जाने पर अपने तन्त्रों को छोड़कर जो ज्योति वासनामय अर्थों को प्रकाशित करने वाला चैतन्य है उसी को श्रुतियों ने अन्तरात्मा कहा है, वह अन्तरात्मा का ही प्रकाश है। इस सारे सन्दर्भ का प्रकृत में तात्पर्य यही है कि जितनी ज्योतियाँ संसार में परिदृश्यमान हैं उन सबमें आत्मज्योति ही सबसे प्रधान है। जिसकी आत्मज्योति चली जाती है उसको संसार में किसी ज्योति का आश्रय नहीं मिल सकता। इतना ही नहीं संसार के ज्योतिपिण्ड भी उसी सर्वात्मज्योति का थोड़ा थोड़ा प्रकाश ग्रहण करके प्रकाशित होते हैं। विश्वरूप का प्रकाश भी इतना अपरिमित है कि हमारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने वाले सूर्य के समान जब हजारों सूर्य आकाश में एक साथ उदित हो जाँय तब उस सर्वात्मज्योति की कुछ आभा दे सकते हैं। यहाँ विश्वरूप के तेज के वर्णन में आलंकारिक शैली का प्रयोग किया गया है। जहाँ वस्तुतः कोई उपमान न मिलता हो और नए उपमान की कल्पना करके प्रस्तुत वर्णनीय वस्तु की सहायता दिखाई जाय वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद या अभूतोपमा नाम

का अलंकार माना जाता है। अतिशयोक्ति अलंकार के भेद में 'यदि' आदिशब्दों का प्रयोग आवश्यक होता है, इसे उपमा का एक भेद अभूतोपमा भी कुछ आलंकारिक विद्वान् मानते हैं। प्राचीन अलंकारशास्त्र के आचार्य उपमा अलंकार में उपमान की वास्तविक स्थिति आवश्यक मानते थे। मुख आदि के चन्द्र आदि जो उपमान हैं वे कल्पित नहीं, अपितु वास्तविक हैं। अतः वास्तविक पदार्थों में ही उपमान की योग्यता होना प्राचीन आचार्यों को सम्मत था, अतः कल्पित उपमान के साथ सादृश्यवर्णन के प्रसंग पर वे अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद मानते थे। परन्तु परवर्ती आलंकारिक आचार्यों ने उपमा अलंकार में उपमान वास्तविक ही होना चाहिए—यह नियम आवश्यक नहीं माना और कल्पित उपमान के साथ प्रकृत वस्तु का सादृश्य स्थापित कर देने को भी उपमा अलंकार के ही भेदों में गिना। दोनों ही पक्षों में यह बात स्पष्ट है कि जो प्रकृत पदार्थ है और जिसे हम कल्पित करके कोई उपमा देना चाहते हैं वह वस्तुतः अनुपम है, उसके लिए वास्तविक जगत् में कोई उपमान मिल सकता ही नहीं, इसीलिए उपमान की कल्पना करनी पड़ती है। काव्यों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। भगवान् कृष्ण के वक्षःस्थल का वर्णन करते हुए शिशुपालवध महाकाव्य में महाकवि माघ ने इसी शैली का प्रयोग किया है कि -

उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगंगापयसः पतेताम् ।  
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ।

(सर्ग ३ श्लो० ८)

अर्थात् यदि आकाश में आकाशगंगा के जल की दो धारायें पृथक् प्रवाह के रूप में प्रवाहित हों तो उनसे भगवान् कृष्ण के तमालवृक्ष के समान नीले और दोनों ओर मुक्तालताओं से आबद्ध वक्षःस्थल की उपमा दी जा सकती है। आकाशगंगा के दोनों ओर से गिरने वाले प्रवाह दोनों ओर आबद्ध मुक्तालता के समान होंगे और बीच का आकाश उनके वक्षःस्थल के समान होगा क्योंकि ऐसा अभी तक हुआ नहीं इसलिए ऐसा होना संभव नहीं, फलतः वक्ष की निरुपमता सिद्ध हो जाती है। महिम्नस्तोत्र में भगवान् शंकर की स्तुति करते हुए पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं -

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,

सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।

लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं

तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

अर्थात् काले पर्वत के समान यदि स्याही या काजल हो, वह स्याही समुद्र के पात्र में घोल दी जाय, कल्पवृक्ष की शाखा ही लेखनी के रूप में प्रयुक्त हो, सारी पृथ्वी लिखने के लिए कागज बने और स्वयं भगवती सरस्वती अनन्त काल तक यदि लिखती रहें तो भी हे प्रभो ! आपके गुणों का पार पा जाना असंभव है। ऐसी घटना के संभव न होने के कारण इस उक्ति का तात्पर्य यही निकलता है कि भगवान् के गुणों की सीमा है ही नहीं। यहाँ भी ठीक उसी शैली का प्रयोग किया गया है कि यदि आकाश में सहस्र सूर्य एक साथ निकल आवें तो उनका सम्मिलित प्रकाश उस महात्मा की थोड़ी आभा दे सकता है। इसका तात्पर्य भी यही है कि चूंकि ऐसी घटना संभव ही नहीं है अतः विश्वरूप का वह तेज वस्तुतः निरूपम है। भगवान् के तेज की कोई समानता लोक और वेदशास्त्रों में दिखाई सुनाई नहीं देती। परन्तु इस वर्णन से भी भगवान् के तेज की समानता का निश्चित पता मिल जाना संभव है क्योंकि सहस्र सूर्यों की सम्मिलित कान्ति यदि उस रूप का थोड़ा आभास दे सकती है तो लाख दो लाख या इससे अधिक सूर्यों की कान्ति के समान कान्ति से विश्वरूप की सिद्धि हो जाती है, इससे विश्वरूप की कान्ति की अपरिमेयता स्पष्ट हो जाती है। भगवान् के तेज को अपरिमित कहने का तात्पर्य यदि यह होता कि वह हम लोगों की दृष्टि से अपरिमित है तब तो एक सहस्र सूर्य की कान्ति के उदाहरण से काम चल जाता, परन्तु शास्त्रों ने आपेक्षिक दृष्टि से नहीं अपितु वास्तविक दृष्टि से भगवान् के तेज को अपरिमित बतलाया है। अतः यहाँ व्याख्याकारों ने सहस्र शब्दों को अनन्त का ही वाचक माना है दशशत संख्या का नहीं। सहस्र शब्द की अनन्तता का संकेत हम पूर्व प्रवचन में कर चुके हैं कि प्राचीन वाङ्मय में सहस्र शब्द का अपरिमित संख्या के अर्थ में अनेकत्र प्रयोग देखा गया है। उसी शैली से यहाँ भी व्याख्या समझनी चाहिए।

इस विलक्षण तेज के वर्णन पर किसी टीकाकार ने यह लिखा है कि यहाँ अर्जुन को भगवान् से अपने मायातीत विशुद्ध रूप का दर्शन कराया अर्थात् यहाँ अर्जुन को निर्विशेष ब्रह्म का दर्शन हुआ क्योंकि वही शुद्ध ब्रह्म विशुद्ध तेजरूप माना गया है, वह केवल तेज रूप से ही शास्त्रों में वर्णित है। परन्तु वामन नामक विद्वान् टीकाकार ने इस मत का विस्तार से खण्डन किया है। उनका कहना है कि यहाँ के तेजोवर्ण से यहाँ शुद्ध परब्रह्म का दर्शन मानना संगत नहीं, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म तो कथमपि चक्षु का विषय बन ही नहीं सकता। यह रूप तो माया विशिष्ट ब्रह्म का ही रूप हो सकता है, इसमें जिस तेजःपुञ्ज का वर्णन प्रकान्त हुआ है वह प्रकृति के गुणत्रय में सत्त्वगुण का ही रूप है। सत्त्व का रूप प्रकाशमय, रजोगुण का क्रियामय और तम का घना आवरण माना गया है, उसी के आधार पर यहाँ रज और तम से असंस्पृष्ट शुद्ध सत्त्व

के प्रकाश का वर्णन है। यदि यह विशुद्ध ब्रह्म का वर्णन होता तो वह तो सर्वथा निर्गुण निराकार रूप से शास्त्रों में उपवर्णित हुआ है, यहाँ तो उसके अनेक मुख और नयनों का वर्णन पहिले किया जा चुका है तब यह विशुद्ध परब्रह्म का वर्णन कैसे हो सकता है। परब्रह्म का दर्शन तो चक्षु के द्वारा नहीं हो सकता ? इस पर यदि यह कहा जाय कि प्राकृत नेत्रों से परब्रह्म का दर्शन न मानने पर भी दिव्यनेत्रों से तो उसका दर्शन हो ही सकता है, इसीलिए यहाँ भगवान् ने अर्जुन को दिव्यनेत्र प्रदान किये हैं, तब भी यदि परब्रह्म का दर्शन नहीं हुआ तो दिव्यनेत्रों का प्रदान भी निष्फल ही हुआ ? इसका उत्तर देते हुए उस व्याख्याकार ने लिखा है कि दिव्यनेत्रों का ही यह फल है कि अर्जुन भगवान् के सूक्ष्मशरीर में एकत्र अवस्थित सभी चराचर को देख सका। वह त्रिगुणात्मक सूक्ष्मजगत् ही है, विशुद्ध ब्रह्म तो किसी भी प्रकार के नेत्रों से दर्शन की योग्यता से सर्वथा बहिर्भूत है।

श्रीरामानुज आदि अनेक व्याख्याकार पूर्व श्लोक—सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्” में आये देवशब्द का अर्थ प्रकाशमान करते हैं और उसके प्रकाशमानता के विवरण के रूप में प्रस्तुत पद्य को लेते हैं। आधुनिक धर्म प्रवक्ता इस पद्य के आधार पर गीता की स्तुति भी किया करते हैं कि ज्ञान के अनन्त आकाश में गीता का भी वही तेज है जो कि अनन्त आकाश में भगवान् के विश्वरूप का। गीता में प्रतिपादित विज्ञान का अन्त भी सहस्रों व्याख्या होने के अनन्तर भी आज तक नहीं मिल पाया। अस्तु, यह एक प्रसंगागत कथन है। (१२)

आगे के पद्य में कहा गया है कि — “देवाधिदेव भगवान् के उस विश्वरूप में एक न एक स्थान पर अर्जुन ने सम्पूर्ण संसार को अनेक रूपों में प्रविभक्त देखा”। पद्य में कहा गया ‘तत्र’ पद पूर्व वर्णित विश्वरूप का परामर्शक है, उसी विश्वरूप में सारा विश्व दिखाई दिया जो अनन्त आयाम तक विस्तृत था, जिसमें अनन्त बाहुएँ, अनन्त उदर, अनन्त नेत्र थे, जिसका तेज अपरिमित था, जो अपरिमित दिव्यआभरण और आयुधों से युक्त था, उसी दिव्यरूप में ब्रह्मा आदि अनेक देव, तिर्यक्, मनुष्य, स्थावर आदि, पृथिवी अन्तरिक्ष पाताल आदि स्थान, भोग्य भोगों के विभिन्न उपकरणों से युक्त प्रकृति पुरुषात्मक जगत् दिखाई दिया। जैसे मृत्तिका भक्षण काल में अपने मुख के एकदेश में विस्तृत चतुर्दशलोक यशोदा को दिखाई दिये थे, वैसे ही इस रूप के भी एकदेश में समस्त जगत् दिखाई दिया। महात्म्यदर्शन के बिना भक्ति दृढ़ नहीं हो पाती, इसलिए पार्थ को भगवान् ने कृपापूर्वक इस दिव्यरूप का दर्शन कराया। यशोदा को दर्शन कराते समय तो शीघ्र ही उन्होंने अपने महात्म्य का प्रेमाधिक्य के कारण संवरण कर लिया। वल्लभाचार्य के अनुसार यशोदा को दर्शन कराना शुद्ध पुष्टि महात्म्य था और यहाँ अर्जुन को दर्शन देते समय मर्यादापुष्टि थी।

श्रीनीलकण्ठ ने इस पद्य की हृदय में भगवान् के ध्यान की प्रक्रिया को प्रदर्शित करते हुए व्याख्या की है। चतुर्भुज भगवान् के ध्यान में पहिले चित्त को भगवान् के रूप सौंदर्य में लगाया जाता है, तदनन्तर उनके मुखारविन्द या उनके स्मित में चित्त केन्द्रित होता है, फिर उसे भी छोड़ कर चित्त विश्वरूप पर आरूढ़ हो जाता है। उन्होंने मन को ही दिव्यचक्षु माना है और अपनी इस उक्ति के समर्थन में छान्दोग्य उपनिषद् का “मनोऽस्य दैवं चक्षुः” यह उद्धरण भी दिया है। (१३)

उस परम विलक्षण रूप को देखकर भी अर्जुन के मन में कोई भय का आवेग उत्पन्न नहीं हुआ, उसकी आँखों में कोई चकाचौंध भी उत्पन्न नहीं हुई, विमूढ़ होता हुआ वह कर्तव्य ज्ञान शून्य भी नहीं हुआ, उस स्थान को छोड़कर कहीं गया भी नहीं, अपितु एक कर्तव्य का पूर्ण ज्ञान रखने वाले धीर पुरुष की भाँति उसने व्यवहार किया। उसका रोम-रोम उस रूप को देखकर हर्ष से खिल उठा ! अपने नेत्रों के सामने उस महान् रूप को देखकर अर्जुन ने भक्तिभाव से सिर झुका कर प्रणाम किया और दोनों हाथों को अञ्जलिबद्ध करके स्तुति करने लगा। (१४)



## चालीसवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसंधान् ।  
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरागांश्च दिव्यान् ॥१५॥  
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।  
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥  
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।  
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥  
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।  
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥  
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।  
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥  
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।  
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥  
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।  
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥  
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनो मरुतश्चोष्मपाश्च ।  
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

विश्वरूप को देखने के बाद अर्जुन ने सभक्ति प्रणाम करके जो कुछ देखा उसे कहना प्रारम्भ कर दिया। आगे के सोलह पद्यों में वह कहता है “हे देव ! मैं आपके शरीर में देवताओं, समस्त विशेष भूतों के समूहों, कमलासनस्थ ब्रह्मा, शंकर, ऋषियों और समस्त दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।” यहाँ सबसे पहिले देवताओं को कहने का तात्पर्य यही है कि देवता साधारणतया प्रत्यक्ष नहीं होते। अनेक प्रकार के कठिन जप तप अनुष्ठान आदि से कभी-कभी किसी-किसी को देवताओं का प्रत्यक्ष और उनसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होने की कथाएँ पुराण आदि में प्राप्त होती हैं, परन्तु वह एक बहुत



कठिन मार्ग है, देवपद मनुष्यों के लिए सर्वदा से स्पृहणीय भी रहा है, यज्ञ यागादि स्वर्ग जाकर देवपद प्राप्ति के उद्देश्य से ही विहित हैं। अतः उन सभी देवताओं को विश्वरूप में प्रत्यक्ष देखकर अर्जुन ने सर्वप्रथम उन्हीं का नाम लिया। इसके अतिरिक्त स्थावर, जङ्गम और उद्भिज, अण्डज, स्वेदज, जरायुज आदि प्राणियों को उनके स्थानों सहित अर्जुन ने देखा। कमलासन पर बैठे ब्रह्मा को भी देखा, यद्यपि देवताओं में ब्रह्मा भी सम्मिलित हैं, परन्तु वही सृष्टि के उत्पादक हैं अतः उनका दर्शन अन्य देवों से भी अधिक महत्व रखता है, इसलिए उनका पृथक् निर्देश हुआ है। देवता तीन प्रकार के माने जाते हैं, यह हम गीता के तृतीय अध्याय के दशम श्लोक की व्याख्या में कह आए हैं। भगवान् के शरीर में तो स्थूल सूक्ष्म सभी प्रपञ्च रहता है इसलिए अर्जुन ने तीनों ही प्रकार के देवताओं को देख लिया। प्राणरूप में ब्रह्मा पृथिवीमण्डल के चारों तरफ फैलने वाला “चित्तेनिधेय” नाम का प्राण कहा जाता है। वही पृथिवी के सब जीवधारी शरीरों का उत्पादक है एवं चारों ओर फैलता है इस कारण उसे चतुर्मुख कहा जाता है। अथवा चारों वेद उसी के मुख से निकलते हैं इसलिए भी चतुर्मुख कहा जा सकता है एवं लोकाधिष्ठातारूप में सत्यलोक का अधिष्ठाता अधिपति ब्रह्मा कहा जाता है, वही सत्यलोक नीचे के सब लोकों का उत्पादक है इसलिए वह भी सबकी सृष्टि करने वाला कहा जाता है। पूर्व व्याख्या के अनुसार पृथिवी ही कमल है जैसा कि पद्मपुराण में कहा गया है कि -

एतदेव महापद्ममुद्भूतं यन्मयं जगत् ।

तत् वृत्तान्ताश्रयं यस्मात् पादमित्युच्यते बुधैः ।

अर्थात् यह दीखने वाली पृथिवी ही महान् पद्म है, इसका वृत्तान्त इस पुराण में है इसलिए इसे पद्मपुराण कहा जाता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार यह दृश्यमान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही कमल है, इसके ऊपर विराजमान रहने से ब्रह्मा कमलस्थित कहलाता है, वह भी चारों दिशाओं का अवलोकन करता है इसलिए चतुर्मुख कहा जाता है। वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार ये दोनों ब्रह्मा एक ही हैं। ब्रह्माण्ड के मध्य में विराजमान सूर्य हिरण्य नाम से कहा जाता है इसलिए ब्रह्मा को हिरण्यगर्भ नाम से भी श्रुतियों में कहा गया है—जैसा कि मन्त्र है -

“हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्

स दाधार पृथिवीं द्यामुते मां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥”

अर्थात् सबसे पहिले हिरण्यगर्भ ही प्रकट हुआ। वही सब भूतों का अधिपति है और स्वर्गलोक पृथिवी आदि सब लोकों का वही धारण करता है, उसके लिए हम लोग यज्ञ में हवि प्रदान करते हैं। मनुस्मृति में भी यही कहा गया है -

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम् ।

महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में जब सब अन्धकार ही था तब उस अन्धकार को हटाने के लिए सबसे पहिले स्वयंभू प्रकट हुआ, वही स्वयं अप्रकट रहता हुआ भी सबको प्रकाशित करता है और सब महाभूतों के आदि में वही प्रकट हुआ है। इस प्रकार के ब्रह्मा का भी अर्जुन ने भगवान् के शरीर में दर्शन किया। सृष्टि के संहारक भगवान् शंकर और ऋषिगणों का दर्शन भी बड़े महत्व की बात है। शंकर भगवान् के लिये ईश और ईशान शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में सुप्रसिद्ध है, कुछ व्याख्याकार ब्रह्मा को विष्णु के नाभिकमल में स्थित देखा-ऐसा अर्थ करके ईशशब्द से विष्णु भगवान् का ही ग्रहण मानते हैं तथा अन्य व्याख्याकार ईशशब्द से यहाँ शंकर का ही ग्रहण करते हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण विष्णु के ही पूर्णावतार हैं अतः वे स्वयं ही विष्णुरूप हैं, ब्रह्मा का भी पृथक् ग्रहण हो ही चुका है तब शंकर भगवान् का ईशशब्द से संग्रह यहाँ उचित है, क्योंकि देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और शंकर ही मुख्य हैं। ऋषिगण सृष्टि के प्रमुख तत्त्व हैं और उन तत्त्वों का समाधि में साक्षात्कार करने वाले मनुष्यरूपधारी भी ऋषि हैं, जिनका विस्तृत विवरण गुरुवर विद्यावाचस्पति मधुसूदन जी ओझा के 'महर्षिकुलवैभव' नामक ग्रंथ में किया गया है और उस ग्रंथ की संस्कृत और हिन्दी व्याख्या में भी मैंने सविस्तार ऋषित्व का विवरण प्रस्तुत कर दिया है। वेदमन्त्रों के द्रष्टा और संसार में ज्ञान विज्ञान की ज्योति के आदिप्रकाशक ऋषि ही हैं। भारतीय सभ्यता में ऋषियों का विशेष आदर सर्वदा से ही रहा है, उन ऋषियों को भी यहाँ विश्वरूप में अर्जुन ने प्रत्यक्ष देखा। अनन्त और वासुकि दिव्य सर्प हैं, अनन्त तो अपने सहस्र फणों पर समस्त पृथिवी को धारण किये हुए हैं और वासुकि स्वर्गस्थित दिव्य सर्प हैं। पुराणों की आख्यायिकाओं में इनका सर्वत्र वर्णन मिलता है, हमने अपने अन्य पुराण सम्बन्धी ग्रंथ में इनका तात्त्विक विवेचन किया है। गीता के पूर्व विभूति अध्याय में भी हम इन सर्पों का भेद बतला चुके हैं। (१५)

आगे अर्जुन कहता है कि "हे विश्वरूप विश्वेश्वर मैं आपका वह रूप देख रहा हूँ जिसमें अनेक भुजाएँ, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं, आपके रूप सभी ओर से अनन्त दिखाई दे रहे हैं, आपका न तो आदि ही मुझे दिखाई दे रहा है,

न कोई मध्य आपका मैं देख रहा हूँ और न अन्त ही आपका मुझे लक्षित हो रहा है।" यहाँ "सर्वतः" पद को 'पश्यामि' के साथ लगाकर 'सर्वतः पश्यामि' ऐसी व्याख्या भी कुछ व्याख्याकारों की है। जो अनन्त है वह तो सर्वतः अनन्त होगा ही, अतः उसके लिये 'सर्वतः अनन्त रूपम्' यह यथाश्रुत अन्वय उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। 'सर्वतः पश्यामि' ऐसा अन्वय करने पर "मैं आपको सब ओर से देख रहा हूँ—यह बात फलित होती है, इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि अर्जुन को भगवान् ने जो दिव्यदृष्टि प्रदान की, उसका फल उसे यह प्रत्यक्ष मिला कि भगवान् के अनन्त रूप को भी उसने सभी ओर से अपने दिव्यनेत्रों से देख लिया। आगे आदि मध्य और अन्त को मैं नहीं देख रहा हूँ—इस कथन से यह न समझ लिया जाय कि बहुत सी बातें वास्तविक सत्ता रखती हुई भी सूक्ष्मता आदि के कारण दिखलाई नहीं देती, अतः यहाँ भी वास्तविक आदि मध्यान्त तो हैं, परन्तु अर्जुन को दिखाई नहीं दिये—यह बात नहीं है। जिस अर्जुन को दिव्यदृष्टि प्राप्त हो चुकी उसे सभी कुछ दिखाई देगा, जो होगा ही नहीं वहीं नहीं दिखेगा, इसीलिए आगे विश्वेश्वर, विश्वरूप, यह सम्बोधन भी साभिप्राय है और पूर्वार्ध में इसीलिए "अनन्तरूपम्" भी कहा गया है कि विश्वरूप में अनन्तता स्वाभाविक है औपाधिक नहीं। आदि और अन्त का पता लग जाने पर ही मध्यभाग का ज्ञान होता है, जब आदि और अन्त का ही ज्ञान नहीं तब मध्य का ज्ञान कैसे हो, इसीलिए यह स्पष्टार्थ कथन है। (१६)

विश्वरूप में जितने मस्तक हैं सब पर किरीट अर्थात् मुकुट सुशोभित हैं, जितने हाथ हैं उनमें गदाचक्र आदि आयुध हैं, वह विश्वरूप तेज की राशि ही है, सभी ओर से वह प्रकाशमान हो रहा है, चारों ओर से तेज की तीव्रता के कारण उसे देखने से भी अर्जुन असमर्थ हो रहा है, वह प्रज्वलित प्रचण्ड अग्नि अथवा प्रकाशमान सूर्य के समान है। उस रूप का निश्शेष ज्ञान किसी को होना संभव नहीं है अतः वह अप्रमेय है।

किरीटी शब्द से उस रूप के मस्तक का ज्ञान होने के कारण और मस्तक के सर्वोच्चस्थित रहने के कारण वह रसात्मक भाग है, गदाचक्र आयुधों से युक्त भाग समस्त प्राणों के आधिदैविक धर्मों के निर्धारण करने वाला है, जब उस रूप को प्रदीप्त अग्नि और सूर्य के समान बतला दिया तो वह अप्रमेय अर्थात् ज्ञान का अविषय कैसे रहा और पहिले के पद्य में सहस्रों सूर्यों का प्रकाश भी उस रूप का आभास ही दे सकता है, इस कथन के अनन्तर फिर एक सूर्य या अग्नि की उस रूप की तुलना कहाँ तक संगत कही जा सकती है, यह पूर्वापर विरोध प्राप्त होता है ? उसके अनेक उत्तर टीकाओं में मिलते हैं। "दीप्तानलार्कद्युति" इस पद में कोई संख्या विवक्षित न होने से कोई विरोध नहीं रह जाता, यह एक समाधान है, इसलिए यहाँ भी अनन्तसूर्य

और अनन्त अग्नि को समझा जा सकता है। यद्यपि स्वरूपतः उसका तेज अनन्त है परन्तु निदर्शन के लिए प्रदीप्त अग्नि और सूर्य को बतलाया गया है, सादृश्य एक देश में ही हुआ करता है, सादृश्य ज्ञान से कभी वस्तु का पूर्ण परिचय नहीं मिला करता, वह तो संकेतमात्र करता है, वैसे ही प्रदीप्त पावक और प्रकाशमान सूर्य विश्वरूप के संकेतमात्र हैं, स्वरूपतः तो वह अनन्ततेजोयुक्त है—यह दूसरा समाधान है। “समन्तात्” पद को “दुर्निरीक्ष्यम्” के साथ न जोड़ कर “दीप्तानलार्कद्युतिम्” के साथ जोड़ देने पर “समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिम्” अर्थात् चारों ओर से यह विश्वरूप प्रदीप्त अग्नि और प्रकाशमान सूर्य के समान कान्ति वाला है, ऐसा अन्वय मान लेने पर भी उक्त शंका नहीं रह जाती। (१७)

अर्जुन कहता है—“आप अक्षर हैं, आप परम ज्ञातव्य हैं, इस संसार के आधार आप ही हैं, आप अव्यय हैं, अनादि धर्मों के रक्षक आप सनातन पुरुष हैं—ऐसा मेरा विश्वास है।

उपनिषदों में परा और अपरा दो विद्याएँ ज्ञातव्य रूप से बतलाई गई हैं, उन विद्याओं में परम अक्षरस्वरूप से ईश्वर का ही प्रतिपादन है, अतः उपनिषत्प्रतिपादित विद्याओं के द्वारा ज्ञातव्य भी ईश्वर ही है। उपर्युक्त पद्य में परमवेदितव्य अक्षर कहकर भगवान् को सारे विश्व का उत्पादक बतलाया, समस्त विश्व का परमनिधान कहकर विश्व की मोक्षावस्था में ईश्वर में ही लय बतलाते हुए उसे ही संसार का लय रूप भी बतलाया और “शाश्वतधर्मगोप्ता” कहकर विश्व की स्थिति का कारण भी परमेश्वर को ही बतलाया। इस प्रकार अर्जुन ने उस रूप के आकार का वर्णन करने के अनन्तर उस रूप का क्या तत्त्व समझा—यह भी बतला दिया। भक्ति के आचार्य सनातन पुरुष से यदुवंशी भगवान् कृष्ण का अर्जुन का सहचारी रूप लेते हैं।

पहिले परमब्रह्म को अक्षररूप बतलाया, यहाँ भी स्थूलादि गुणों से रहित अक्षरब्रह्म आप ही हैं—यह पूर्व से एक वाक्यता बन जाती है, निर्गुण अक्षर ब्रह्म भी सगुण रूप के आधार पर ही शाखाचन्द्र न्याय से गृहीत होता है, यह विश्वरूप भी उसी न्याय से गुण रहित परब्रह्म का ज्ञान कराता है, परब्रह्म वेदान्त आदि से ज्ञातव्य ही है, उपास्य वह नहीं है, गुण धर्मों के बिना उपासना नहीं बन सकती। अक्षर शब्द से परब्रह्म का कथन करके विश्व के निधान के रूप में सगुण ब्रह्म का ही कथन किया, अर्थात् आप ही परब्रह्म हैं और आप ही सगुण रूप से उपास्य बन रहे हैं। “शाश्वतधर्मगोप्ता” पद से हिरण्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म बतलाया, सनातन पुरुष का अर्थ चिरन्तन जीवात्मा है वह भी आप ही हैं—यह श्रीनीलकण्ठ की व्याख्या है। (१८)

“आदि, मध्य और अन्तरहित, अनन्त पराक्रम से युक्त चन्द्रमा और सूर्य जिसके नेत्ररूप हैं, प्रदीप्त अग्नि जिसके मुख में स्थित है और अपने तेज से जो सम्पूर्ण संसार को प्रतप्त कर रहा है ऐसे आपके रूप को मैं देख रहा हूँ।”

यह पद्य पूर्व पद्य के अर्थ से समानता रखता है। एक व्याख्याकार पूर्व पद्य से पुरुषोत्तमरूप और इस पद्य से विश्वरूप का वर्णन मानते हैं। सूर्य और चन्द्र को इसमें नेत्र कहा गया है, यह यहाँ पूर्व से नया कथन है। श्रीरामानुजाचार्य ने उपर्युक्त दोनों पद्यों के सारांश के रूप में लिखा है कि—भगवान् सबके स्रष्टा, सबके आधार, सबके प्रशासक, सबके संहर्ता, ज्ञान आदि अपरिमित गुणों के सागर, आदि मध्यान्त रहित हैं, उनका अर्जुन ने साक्षात्कार किया। अनन्तबाहु का अनन्तक्रिया शक्ति सम्पन्न अर्थ ही अभीष्ट है। प्रदीप्त अग्नि के मुख में होने के वर्णन से विश्वरूप के मुखस्थित दाँत बहुत प्रकाशमान थे—ऐसा तात्पर्य भी निकलता है। (१९)

“स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य का यह अन्तरिक्ष और सारी दिशाएँ अकेले आपके द्वारा ही व्याप्त हो रही हैं। आपका यह अद्भुत उग्र रूप देखकर हे महात्मन् तीनों लोक व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं।” सारी दिशाओं के अन्तराल का विश्वरूप के द्वारा व्याप्त होना उसकी अपरिमित विशालता और असीम तेजोमयता का द्योतक है। ऐसे विशाल और तेजोमय रूप का साक्षात्कार होने पर त्रिलोकी का व्यथित हो जाना स्वाभाविक ही है! यहां यह प्रश्न उठता है कि संजय और अर्जुन के अतिरिक्त अन्य किसी के पास विश्वरूप दर्शन के योग्य दृष्टि ही जब नहीं थी तब त्रिलोकी को उस रूप का दर्शन ही कैसे हुआ और उस रूप के दर्शन से व्यथा कैसे हुई ! इसका समाधान यह है कि विश्वरूप के अन्तर्गत जिस त्रैलोक्य का अर्जुन को प्रत्यक्ष हो रहा था वही त्रिलोकी उस रूपदर्शन से व्यथित हो रही थी। यदि कहा जाय कि विश्वरूप के अन्तर्गत जो त्रिलोकी है वह तो सदा ही भगवान् का दर्शन करती रहती है, फिर उसे व्यथा क्यों हुई ! तो इसका उत्तर होगा कि उस समय भगवान् ने कालरूप धारण कर अर्जुन को दिखाया था, इस कारण से यह नई बात देखकर उनके स्वरूप में प्रविष्ट त्रिलोकी का भी व्यथित होना स्वाभाविक है। दूसरी बात यह है कि स्वयं अर्जुन भी उस रूप को देखकर घबड़ा गया था। उसने अपनी ही चित्तवृत्ति को सब जगह प्रतिबिम्बित देखा, उसी से उसे सारा त्रैलोक्य व्यथा से युक्त प्रतीत हुआ। (२०)

ये देवसमूह आप में प्रवेश कर रहे हैं, कुछ डर के मारे अञ्जलियाँ बांधकर आपकी शरण में जा रहे हैं, महर्षियों और सिद्धों के समूह स्वस्ति वाचन पूर्वक बड़ी बड़ी स्तुतियों से आपको प्रसन्न कर रहे हैं।

श्रीशंकराचार्य ने इस पद्य के वर्णन के द्वारा प्रथमाध्याय में अर्जुन की इस शंका

का कि—युद्ध में विजय हमारा होगा या हम ही विपक्षियों के द्वारा जीत लिए जायेंगे, उत्तर कहा है। उनका अर्थ है—भूमि के भार को उतारने के लिए देवगण ही मनुष्यरूप धारण करके राजा आदि के रूप में पृथ्वी पर आये थे, वे ही संग्राम में मृत्यु को प्राप्त करके पुनः देवभाव को प्राप्त होने पर आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कुछ भागने में भी असमर्थ होने के कारण अञ्जलि बांधे हुए हैं। अनेक प्रकार के उत्पातों की सूचना प्राप्त करने वाले महर्षि और सिद्धगण उत्पात शमन के लिए आपकी स्तुति कर रहे हैं। इससे प्रस्तुत संग्राम में केवल पाण्डवों की ही विजय होगी—यह निश्चित रूप से अभिव्यक्त हो रहा है। पहिले हम कह आये हैं कि स्थूल जगत् में प्रतिबिम्बमात्र प्रत्यक्ष हो जाया करता है, उसी के अनुसार आगे होने वाले पाण्डव पक्ष के विजय और प्रतिपक्षी योद्धागण के विनाश को यहाँ पहिले ही देख लिया गया। (२)

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यदेव, विश्वदेव और अश्विनी कुमार, मरुद्गण और पितृगण तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के संघ सभी विस्मित होकर आपको देख रहे हैं।

देवों के तैंतीस भेदों में आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य ये इकतीस कहे जाते हैं। अन्य दो में भिन्न भिन्न मत हैं, कहीं कहीं अश्विनी कुमार लिखे हैं, कहीं इन्द्र और प्रजापति कहे गये हैं। उनमें आठ वसुओं के विवरण वृहदारण्यक उपनिषद् के जनक यज्ञ प्रसङ्ग में शाकल्य के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताए हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु हैं। वसुशब्द का निर्वचन वहाँ यह किया गया है कि जिनमें सब निवास करते हैं। वसुशब्द का धन अर्थ प्रसिद्ध है, वह भी इनमें ही रहता है। ग्यारह रुद्र वहाँ आध्यात्मिक बतलाये गये हैं जो कि पुरुष के शरीर में दस इन्द्रियाँ और एक व्यावहारिक आत्मा इस रूप में रहा करते हैं। इनकी निरुक्ति यह है कि ये निकलते हुए सबको रुदन कराते हैं, इसलिए रुद्र कहे जाते हैं। बारह आदित्य बारह महीनों के अधिष्ठाता सूर्यमण्डलों को कहा गया है। इन्द्र सब देवताओं का राजा और प्रजापति सबके केन्द्र में रहने वाला प्राण विशेष है। पुराणों में इकतीस के नाम और ही प्रकार से मिलते हैं—रुद्र, उपेन्द्र, सविता, धाता, त्वष्टा, अर्यमा, इन्द्र, ईशान, भग, मित्र, पूषा ये आदित्यों के नाम हैं।

हर, अत्र्यम्बक, रुद्र, मृगव्याध, अपराजित, कपाली, भैरव, शम्भू, कपर्दी, वृषाकपि और बहुरूप ये एकादश रुद्रों के नाम हैं।

वर, ध्रुव, अधर, सोपमा, प्रभञ्जन, अनल, प्रत्यूष, प्रभास ये आठ वसुओं के नाम हैं। मरुत् उनचास प्रसिद्ध हैं, जिनका विवरण विभूतिप्रकरण में किया जा चुका है।

यह विश्वरूप केवल अर्जुन को ही विस्मित कर रहा हो ऐसी बात नहीं है, देवता और असुर जो मनुष्यों के लिए नाना प्रकार के आश्चर्यों के निधान हैं, वे भी इस रूप को देखकर आश्चर्यान्वित हो रहे हैं। मनुष्य के ऊपर की सृष्टि में जितने प्राणी हैं उनकी गणना इसमें आ गई है। मनुष्य मध्य की सृष्टि है। जो मनुष्य मृत होकर चन्द्रमण्डल के समीप स्थित रहते हैं वे पितर कहे जाते हैं। गन्धर्वदेव जातिविशेष हैं जो गायनकला में प्राचीन कथाओं में विख्यात है। यक्ष भी देवजाति विशेष है जिसका कि कुबेर अधिपति है। साध्य और सिद्ध भी देवाताओं के पृथक् पृथक् विभेद हैं। (२२)



### इकतालीसवाँ-पुष्प

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरूपादम् ।  
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥  
नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।  
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥  
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।  
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥  
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।  
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥  
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।  
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥  
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।  
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥  
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।  
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥  
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।  
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥  
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।  
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे महाबाहो ! अनेक मुखों और नेत्रों तथा अनेक भुजाओं, ऊरु प्रदेशों और पैरों तथा अनेक उदरों और अनेक दंष्ट्राओं से विकराल आपके इस महान् रूप को देखकर समस्त लोक और मैं घबड़ा गया हूँ।

किसी विकराल वस्तु को देखकर घबराहट होना स्वाभाविक है। अनेक मुखों के होने से यह ध्वनित किया कि आपका यह रूप सबको निगल जाने में समर्थ है, अनेक नेत्रों का होना इस बात को प्रकट कर रहा है कि आप सब कुछ देख रहे हैं।



बहुधा दुष्कर्म में प्रवृत्त मनुष्य एकान्त अन्वेषण करते हैं और ऐसा मानते हैं कि उनके उस कार्य को कोई नहीं देख रहा होगा, परन्तु परमेश्वर के नेत्र चारों ओर फैले हुए हैं, वह प्रत्येक प्राणी के कहीं भी किये हुए समस्त शुभाशुभ कर्मों को प्रतिक्षण देख रहा है। यही भारतीय संस्कृति की वेदों से चली आ रही शिक्षा है कि हम दुष्कर्मों को एकान्त में सम्पन्न करते हुए सभी आँख वाले प्राणियों की आँखों से बच सकते हैं, परन्तु परमेश्वर के तो अनन्त नेत्र हैं, जिनकी यह विशेषता है कि उन नेत्रों से वह हमें देख रहा है, परन्तु हम उसे नहीं देख सकते। इसी शिक्षा के आधार पर चलता हुआ पुरुष बड़े से बड़े दुष्कर्म और आपत्तियों से बच जाता है। यदि परमेश्वर केवल देखने मात्र में समर्थ होता और इसके अतिरिक्त और कोई सामर्थ्य उसमें न होता तो उसका देखना अकिञ्चित्कर हो जाता। ऐसे भी बहुत से प्राणी हैं जो अपने सामने होने वाली घटनाओं को देखते रहते हैं, परन्तु उसके लिए कुछ भी प्रतीकार करने का सामर्थ्य उनमें नहीं होता। ऐसा प्राणियों का देखना किसी दुष्कर्म में प्रवृत्त मनुष्य को रोकने में समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु परमेश्वर के विश्वरूप में जहाँ प्राणियों के क्रियाकलापों को देखने के लिए अनन्त नेत्रों का वर्णन है, वहीं उनकी उत्पथगामिता को समाप्त करने के लिए अनन्त भुजाएँ भी हैं। वे अपनी अनन्त क्रियाशक्तिसम्पन्न अनन्त भुजाओं से सबको पकड़ भी लेते हैं। उनके अनन्त ऊरु और चरण भी हैं जिससे दौड़ने का भी पूर्ण सामर्थ्य उनमें है। यदि कोई चाहे कि दौड़कर कहीं अन्यत्र पहुँच कर वह उनकी पहुँच के बाहर हो जायगा, सो बात भी नहीं है, वे दिग् दिगन्त में भी क्षण भर में पहुँच सकते हैं, वे जिसको चाहें निगल सकते हैं और उसको पचाने के लिए उनके स्वरूप में अनन्त उदर हैं जिनमें वे सब कुछ पचा सकते हैं। यह सब भय की पूर्ण सामग्री है, इसे देखकर यदि समस्त लोक और अर्जुन प्रव्यथित हो उठें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। (२३)

आगे अर्जुन कहता है कि पृथिवी स्थित होते हुए भी आकाश का स्पर्श करने वाले, प्रकाश से जगमगाते, अनेकों रूपों वाले, मुँह को फैलाए, जलती हुई सी चौड़ी चौड़ी आँखों वाले आपको देखकर हे विष्णो ! मेरा अन्तरात्मा अत्यन्त व्यथित हो गया है, मेरा धैर्य जवाब दे रहा है और मैं अशान्त होता जा रहा हूँ।

यहाँ अर्जुन ने अन्तरात्मा का व्यथित होना बतलाया है। यद्यपि सबके अन्तरात्मा रूप से सर्वत्र अवस्थित भगवान् स्वयं ही हैं, वे क्या व्यथित होंगे ? अर्जुन के अन्तरात्मा रूप से स्थित भगवान् और विश्वरूप को प्रकाशित करने वाले भगवान् एक ही हैं, तब अपना ही रूप देखकर व्यथा कैसी ? ऐसी शंका न हो इसलिए श्रीशंकराचार्य ने यहाँ अन्तरात्मा का अर्थ मन ही किया है। अन्तर्जगत् का संचालन होने से मन का

मी अन्तरात्मा शब्द से व्यवहार देखा जाता है और यहाँ भी विश्वरूप को देखकर अर्जुन की जो व्यथा है वह भी उसके मन को ही है, चैतन्यरूप से अनुप्रविष्ट आत्मा तो सर्वत्र एक ही है, उसे नहीं।

पद्य में विश्वरूप के लिए नभ का स्पर्श करने वाला कहा गया है, आकाश या नभ तो सर्वत्र व्यापक है, उसका स्पर्श तो सभी करते हैं, तब नभ का स्पर्श करना विश्वरूप की कौन सी विशेषता है ? इस शंका को समाहित करने के लिए श्रीरामानुजाचार्य यहाँ नभशब्द के अर्थ के रूप में उस व्योम को लेते हैं जो इस त्रिगुणात्मक आकाश के आगे का परमाकाश है, वह सर्वोच्च स्थित सूर्यलोक से भी बहुत आगे है। यही इस विश्वरूप की परमविशालता है कि पृथ्वी से परमाकाश तक वह विस्तृत है। अथवा नभशब्द से अर्जुन ने यहाँ वही बतलाया जो कि काला तवा-सा हमें ऊपर दिखाई दिया करता है और इसीलिए उस रूप को देखकर लोकत्रय व्यथित भी हो रहा है।

वल्लभसम्प्रदाय के अनुसार लिखी गई अमृततरंगिणी टीका में यहाँ अन्तरात्मा पद से चैतन्य ही लिया गया है और उसके भी व्यथित हो जाने से विश्वरूप की अत्यन्त भयजनकता मानी है। केवल आत्माधिष्ठित देह ही प्रव्यथित हो रहा हो—ऐसी बात नहीं, अपितु विश्वरूप भगवान् का अंशरूप जीवात्मा भी इस रूप को देखकर संत्रस्त हो उठा है। व्योमस्पर्शी होने से उस रूप के ज्ञान की असमर्थता प्रकट होती है। वह दीप्त है, इससे उसका केवल ध्यान में साक्षात्कार संभव है। अनेक वर्णों की स्थिति होने के कारण उसका निश्चित स्वरूप गृहीत हो रहा है। उसका मुख फैला हुआ है—इस कथन से वह प्रार्थना करने योग्य है—यह सूचित होता है। दीप्त और विशाल नेत्रों के कथन से उस रूप की भयावहता, अतएव भय के कारण उसके दर्शन की असमर्थता अभिव्यक्त हो रही है। विष्णो ! यह सम्बोधन भी रक्षा की प्रार्थना के रूप में प्रयुक्त हुआ है। (२४)

दंष्ट्राओं से विकराल कालाग्नि के सदृश आपके मुखों को देखकर मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं रह गया है, मैं अशान्त हो रहा हूँ, हे देवताओं के ईश ! जगत् के आश्रय भगवान् ! आप मुझ पर प्रसन्न हो जाइये। (२५)

और अपने मित्रराजाओं सहित धृतराष्ट्र के ये सारे पुत्र, भीष्म, द्रोण, कर्ण हमारे पक्ष के धृष्टद्युम्न आदि प्रमुख योद्धाओं के साथ बड़ी बड़ी दाढ़ों से विकराल आपके मुखों में बड़ी शीघ्रता से प्रवेश कर रहे हैं, कुछ लोग तो दाँतों के बीच में ही मस्तकों के चूर्णित हो जाने के कारण लटकते दिखाई दे रहे हैं।

भूमि भार को हटाने के लिए भगवान् ने अवतार ग्रहण किया था। पृथ्वी पर

जितने दुष्ट राजागण थे वे असुरों के अंश थे, अतः उनका संहार इस महाभारत युद्ध में होना था। अर्जुन को भी इस युद्ध में आंशिक रूप से यह शंका अवश्य थी कि युद्ध में विजय किस पक्ष की होगी। पहिले के पद्य में संकेतरूप से यह विपक्षियों का संहार वर्णित हो चुका है, यहाँ धृतराष्ट्र के पुत्रों का नाम निर्देशपूर्वक वर्णन किया गया है, ये सब आगे घटित होने वाली घटनाएँ श्रीकृष्ण भगवान् के प्रसाद से अर्जुन ने दिव्यदृष्टि प्राप्त कर पहिले ही देख लीं। श्रीनीलकण्ठजी ने इन पद्यों में धृतराष्ट्र के पुत्रों का प्रवेश तो विश्वरूप के नीचे के प्रदेशों में जो कि नरक आदि लोक हैं उनमें माना है और भीष्म आदि जो भगवद्भक्त हैं उनका प्रवेश भगवान् के मुख में कहा है जिनसे अग्नि ब्राह्मण और वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। (२६-२७)

जैसे नदियों के जलों की बहुत सी वेगवती धाराएँ समुद्र की ओर ही बहती हैं वैसे ये सारे मनुष्य लोक के वीरगण आपके जलते हुए मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। (२८)

आगे के पद्यों में दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि—“जैसे अपने नाश के लिए पतङ्ग बड़े वेग से प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये योद्धागण अपने विनाश के लिए बड़े वेग से आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। प्रथम दृष्टान्त में नदियों के जल समुद्र में मिलते तो अवश्य हैं, परन्तु उनके स्वरूप का नाश नहीं होता, समुद्र के जल के रूप में उनकी स्थिति रहती है, जल के वे वेग अल्पता को छोड़कर भूमा भाव को प्राप्त हो जाते हैं, अतः इस उदाहरण से धर्मनिष्ठ और भगवद्भक्त होते हुए भी जो भीष्म द्रोणादि महारथीगण कर्तव्यबुद्धि से कौरव पक्ष का अनुसरण कर रहे हैं वे विश्वरूप में बिना किसी शोचनीयता को प्राप्त हुए विलीन हो रहे हैं—यह ध्वनित होता है तथा दूसरे पद्य से अधर्मनिष्ठ जो दुष्ट राजागण हैं वे अग्नि में शलभ के समान अपने स्वरूप को नष्ट करते हुए विलीन हो रहे हैं—यह इन दोनों दृष्टान्तों का संगमन युक्तियुक्त जाना पड़ता है। (२९)

“हे विष्णो ! आप अपने प्रज्वलित मुखों से चारों ओर से समस्त लोकों को ग्रास बनाते हुए उन्हें समाप्त कर रहे हैं। आपके शरीर से निकलने वाली उग्र कान्तियाँ अपने प्रकाश से समस्त जगत् को प्रपूरित करती हुई उसे प्रतप्त कर रही हैं।”

यहाँ विष्णो ! यह भगवान् का सम्बोधन है। यह बात प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा जगत् के उत्पादक हैं, विष्णु पालक और शंकर संहारक हैं। यहाँ विष्णु को जगत् का संहारक बतलाया गया है, इसका आशय यही है कि सत्त्वगुणप्रधान लोगों की निरापद स्थिति से ही जगत् का परिपालन होता है और सत्त्वगुणप्रधान व्यक्तियों की निरापद स्थिति तमोगुणप्रधान आसुरभाव से युक्त लोगों के विनाश के अनन्तर ही संभव है। अतः यहाँ

भी विश्व के सम्यक् परिपालन के लिए ही दुष्टों का विनाश विश्वरूप में दिखाई दे रहा है, भगवान् ने अपने कर्तव्यों में भी यही बात बतलाई है कि -

**“परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्  
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे”**

इनमें साधुओं का परित्राण जहाँ भगवान् ने अपना कर्तव्य बतलाया वहाँ दुष्टों के विनाश को भी उन्होंने अपने कर्तव्य में सम्मिलित कर लिया है, वस्तुतः दुष्टों के विनाश के बिना जगत् का परिपालन संभव ही नहीं है, इसीलिए भगवान् विष्णु के चरित्रों में सर्वत्र पुराणादि में असुरों का विनाश वर्णित होता रहा है। (३०)

यह भलीभाँति जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण स्वयं परमेश्वर भगवान् हैं और उन्हीं का यह विश्वरूप है, इस परम विलक्षण रूप को देखकर मानो अर्जुन सब कुछ भूल गया, अथवा उसकी यह जानने की अभिलाषा जाग्रत हो गई कि भगवान् के अनन्तरूपों में यह कौन सा रूप है, इसीलिए आगे वह कहता है कि -

हे देववर, मेरा आपको प्रणाम है, आप प्रसन्न हों और कृपा कर मुझे बतलाएँ कि इतने उग्ररूप वाले आप कौन हैं ! अथवा हे कृष्ण ! यह इतना उग्र आपका कौन सा रूप है ! आप जो आदिपुरुष हैं उन्हें मैं जानना चाहता हूँ। आपकी चेष्टाओं के अभिप्राय को समझने में भी मैं असमर्थ हो रहा हूँ।

इस पद्य की व्याख्या में श्रीनीलकण्ठ तो यही मानते हैं कि इस भयानक और विशालतमरूप को देखकर अर्जुन यह सर्वथा भूल गया कि ये भगवान् कृष्ण हैं, अतः उसने ये पूछा कि आप कौन हैं ! परन्तु श्रीरामानुजादि ऐसा नहीं मानते। उनके विचार में अर्जुन अभी इतना व्यामूढ़ नहीं है कि वह भगवान् कृष्ण ही यह रूप मुझे दिखा रहे हैं—यह बात भूल गया हो, क्योंकि अभी पूर्व पद्य में ही उसने भगवान् को विष्णो, कह कर सम्बोधित किया है और इससे पहिले भी “त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्” इत्यादि पद्यों से इस रूप को भगवान् का ही रूप समझ कर उनके यथाज्ञात गुण धर्मों का परिचय दे चुका है, अतः यहाँ उसकी यह जिज्ञासा है कि आपके जिन धर्मों को मैं जानता हूँ उनके अतिरिक्त आपके इस रूप का क्या धर्म है, अर्थात् इस रूप से आप क्या कार्य लेते हैं। यदि अर्जुन के प्रश्न का यह आशय है तो उसे यही पूछना था, परन्तु अर्जुन के शब्द तो बतला रहे हैं कि वह इस रूप के धर्म को जानने का अभिलाषी बाद में हैं, उससे पहिले रूप ज्ञान की उसकी अभिलाषा है, तभी वह कह रहा है कि “आप कौन हैं यह बतलाइये”। यदि स्वरूप को जानता हुआ धर्म को जानने की अभिलाषा वह प्रकट करता तो उसकी शब्दावली कुछ दूसरी ही होती ?

इसका उत्तर व्याख्याकार यह देते हैं कि अनेक बार हम व्यक्ति को जानते हुए भी, वह क्या काम करता है—इस बात को जानने के लिए “आप कौन हैं” या “आप क्या हैं” इन शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। वहाँ हमारा प्रयोजन उस व्यक्ति के स्वरूप को जानने से नहीं, अपितु उसके कार्य को जानने से ही रहता है। उसी तरह यहाँ भी यद्यपि अर्जुन ने यह कहा कि “आप कौन हैं यह बतलाइये” परन्तु उसका अभिप्राय यही है कि आप इस रूप से क्या कार्य लेते हैं।

अर्जुन ने भगवान् के ऐश्वर्यमय रूप को देखने की अभिलाष की थी, उसकी कल्पना किसी मोहक छवि को देखने की रही होगी, इस परम विकराल रूप को देखने की तो संभवतः उसने कभी कल्पना न की होगी, परन्तु सन्दर्भ के अनुसार ही स्वरूप का दर्शन उपयुक्त जान कर युद्ध के प्राङ्गण में जहाँ सारे संसार के भारभूत प्रजापीड़क दुष्ट राजाओं का संहार प्रकान्त हो रहा है वहाँ उन्होंने अर्जुन को अपना अत्यन्त उग्र काल रूप ही दिखाया। इस समय इसी रूप के प्रदर्शन की आवश्यकता थी, क्योंकि एक तो अर्जुन युद्ध का परिणाम जानना चाहता था, वह परिणाम इसी रूप के द्वारा युद्ध-स्थल पर दिखाकर दिखाया जा सकता था और दूसरे हम पहिले लिख चुके हैं कि अर्जुन को दिव्य-दृष्टि देकर भगवान् ने उसे सूक्ष्म-प्रपञ्च देखने की योग्यता दे दी थी। सूक्ष्म-प्रपञ्च में इस समय लड़ाई, मारकाट ही हो रही थी, इसलिए वे ही रूप अर्जुन के सामने आए। इसीलिए आगे कालरूप से भगवान् ने अपना परिचय भी दिया है जो कि आगे लिखा जायेगा। (३१)



## बयालीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।  
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥  
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।  
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥  
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।  
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।  
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।  
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥  
कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।  
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥  
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।  
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥  
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।  
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

मैं समस्त संसार का अन्त कर देने वाला बड़ा हुआ या सर्वादि भूत अथवा परिपूर्ण काल हूँ। इस समय लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। सेनाओं में जो योद्धागण खड़े हैं, वे सब यदि तुम युद्ध के लिए उद्यत न भी होओगे तो भी जीवित नहीं रहेंगे।

यहाँ भगवान् ने अपने इस रूप को कालरूप बतलाया है। कालशब्द कल धातु से बना है। कल धातु के यद्यपि गणना करना, बांधना, छेदन करना, जानना आदि कई अर्थ हैं, तथापि संहाररूप काल के लिए गणनारूप अर्थ को मुख्यता दी जाती है। “कलयति गणयति लोकानामायुरिति कालः” अर्थात् जो आयु की गणना करे वह काल होता है। “प्रवृद्धः” का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने वृद्धि किया है, अर्थात् “मैं बढ़ा हुआ हूँ।” परन्तु आनन्दतीर्थ इस अर्थ को नहीं मानते। काल परमेश्वर का रूप है और उसकी उत्पत्ति विनाश और वृद्धि नहीं होती। अतः उन्होंने “प्रवृद्धः” का अर्थ प्रकर्षण वृद्ध अर्थात् अनादि अथवा परिपूर्ण किया है। इस युद्ध में दुष्टों के संहार के लिए मेरी प्रवृत्ति हुई है—यह भी भगवान् ने बतलाया। इससे अर्जुन ने जो इस स्वरूप का परिचय और उसकी प्रवृत्ति के विषय में पूछा था उन दोनों बातों का उत्तर हो गया। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि कहीं तुम यह न समझना कि यदि मैं युद्ध में शस्त्र न चलाऊँगा तो परिणाम कुछ का कुछ होगा, ऐसा नहीं है, तुम चाहे युद्ध करो या न करो, परिणाम तो पूर्व निश्चित हो चुका है। जिन लोगों की आयु पूरी हो चुकी वे जिस सेना में भी खड़े हुए होंगे तुम्हारे शस्त्र चलाए बिना भी वे अपने आप मेरे मुख में आ चुके हैं।

### “काल” शब्द पर विशेष वक्तव्य

विष्णुपुराण में भगवान् के चार रूप बतलाए गए हैं—पुरुष, प्रकृति, काल और व्यक्त। यहाँ भी भगवान् ने अपने को कालरूप ही बतलाया। इससे भी विष्णु की ही कालरूपता सिद्ध होती है।

दर्शन-शास्त्रों में भी कालशब्द पर बहुत कुछ विवेचन किया गया है। न्यायदर्शन में नौ द्रव्यों में से काल नाम का एक पृथक् द्रव्य ही माना गया है। इसके पृथक् द्रव्य मानने की वे यह युक्ति देते हैं कि “इदानीं घटः” (इस समय यह पदार्थ है या इस समय यह क्रिया हो रही है) इत्यादि प्रतीति सबको होती है। इस प्रतीति में “दानीं” प्रत्यय आश्रय अर्थ में ही हुआ है, इससे काल का द्रव्य, क्रिया आदि सबका आधार होना सिद्ध हो जाता है। इस पर कई वादियों का कथन है कि यहाँ “इदम्” शब्द का अर्थ—अतिरिक्त काल मानने की आवश्यकता नहीं। सूर्य की गति को “इदम्” शब्द का अर्थ मानने पर सूर्य की इस प्रकार की गति में अर्थात् सूर्य के इस स्थान पर रहने पर यह द्रव्य या क्रिया हुई—इस प्रकार सूर्य की गति को आधार मान लेने पर काम चल जावेगा। इसका न्यायशास्त्र में उत्तर दिया जाता है कि आधाराधेय भावसम्बन्ध होने पर ही हो सकता है। यहाँ सूर्य की गति के साथ इन संसार के द्रव्यों या क्रियाओं

का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। सूर्य की क्रिया सूर्य में रहती है और भिन्न-भिन्न पदार्थों की क्रिया भिन्न-भिन्न पदार्थों में। क्रिया भी अपने आश्रय में ही रहा करती है इसलिए इनका परस्पर सम्बन्ध जोड़ने के लिए कालरूप एक पृथक् द्रव्य मानने की आवश्यकता है। जब काल नाम का एक पृथक् द्रव्य मानना ही पड़ा तब उसे ही जगत् के सब पदार्थों का आश्रय मान लेना ही युक्तियुक्त होगा।

सांख्य-दर्शन वाले न्यायदर्शन की इस युक्ति को नहीं मानते। वे कहते हैं कि जगत् के पदार्थ या क्रियाओं का सूर्य की गति के साथ चाहे वास्तविक सम्बन्ध न हो तो भी व्यवहार के लिए कल्पित सम्बन्ध जोड़ लिया जाता है। सूर्य की गति तो अनुमान से सिद्ध होती है और वह क्षण आदि काल के छोटे मान का परिचय भी हमें नहीं दे सकती। इसलिए घड़ी आदि पदार्थों को भी कल्पना कर उनके साथ भी सब पदार्थों का और पदार्थों की क्रियाओं का सम्बन्ध मनुष्य अपनी बुद्धि से ही जोड़ लिया करता है। प्राचीनकाल में भी जब घड़ी आदि मशीन से नहीं बनती थी तब भी समय के ज्ञान के लिए ऐसे पदार्थों की कल्पना कर ली जाती थी कि जिनसे समय का ज्ञान हो सके, जैसे कि एक किसी काँच के पदार्थ में परिमित रेत भर लिया करते थे और उसके भीतर ऐसे छिद्र बनाया जाता था कि एक ओर की रेत धीरे-धीरे गिरती हुई निश्चित समय में दूसरी ओर चली जाती थी। उससे ही घड़ी, घण्टे आदि का व्यवहार चला लिया करते थे। किसी बालक के जन्म के समय उसका इष्ट-काल जानने की बड़ी आवश्यकता होती है। उसी के आधार पर ज्यौतिष-शास्त्र के अभिज्ञ उसके जन्मभर का शुभाशुभ बतलाया करते हैं। इससे मानना होगा कि समय-ज्ञान की कोई न कोई प्रक्रिया बहुत पुराने समय से प्रचलित रही। अस्तु, इसी कल्पित सम्बन्ध से निर्वाह हो जावेगा फिर अतिरिक्त काल नाम का द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि वास्तविक सम्बन्ध ही आवश्यक माना जावे तो भी एक आकाश नाम का द्रव्य सबने ही मान रखा है जो कि सबका ही आधार है। उसमें जगत् के सब पदार्थ भी रहते हैं और समय की माप करने के लिए कल्पित सब वस्तुएँ भी उस आकाश में रहा करती हैं। इससे सबका एक जगह रहना रूप सम्बन्ध भी बन जावेगा तब काल नाम का एक पृथक् द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यही बात -

“दिक्कालाकाशादिभ्यः”

इस सांख्य-सूत्र में कही गई है।

इस प्रकार न्याय-शास्त्र की मानी हुई युक्ति का सांख्य ने खण्डन किया। किन्तु आगे चलकर उसे भी काल नाम का एक पदार्थ मानने की आवश्यकता हुई। सांख्य



में माना जाता है कि प्रलय-दशा में प्रकृति में कोई क्षोभ नहीं होता। प्रकृति के सब गुण अपने ही रूप में परिणत होते रहते हैं। जब सृष्टि का समय आता है तो उनमें क्षोभ होकर एक गुण दूसरे गुण को दबाने लगता है। इसी से विषमता उत्पन्न होकर आगे संसार चल पड़ता है। यहाँ भी यह प्रश्न होगा कि निस्तब्ध अथवा अपने ही रूप में परिणत होने वाले गुणों में यह नई शक्ति किसने पैदा की कि उनमें एक दूसरे को दबाने का विषम परिणाम होने लगा। यदि कहा जावे कि ईश्वर की इच्छा से ही ऐसा परिवर्तन हुआ तो एक तो सांख्य-दर्शन में ईश्वर माना ही नहीं जाता और यदि ईश्वर को मान भी लें तो भी ईश्वर के गुणज्ञान, इच्छा आदि सब नित्य हैं। उनमें भी परिवर्तन कैसे हुआ ? इसलिए काल ही एक ऐसा द्रव्य मानना पड़ेगा जो प्रकृति में क्षोभ कराकर विषमता उत्पन्न करता है। इस काल को सांख्य-दर्शन वाले प्रकृति का ही एक रूप मानते हैं और ईश्वर-सांख्य या योगदर्शन या पुराणों के अनुसार यह ईश्वर का ही एक रूप है जैसा कि पूर्व कहा गया है।

आगम-शास्त्रों में काल और महाकाल नाम से इसके दो भेद माने जाते हैं। महाकाल की ही शक्ति महाकाली मानी जाती है। कहीं आगम-शास्त्रों में ऐसा भी विवेचन मिलता है कि महाशक्ति के जो तीन परिणाम हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया उनमें इच्छाशक्ति से ही महाकाल का प्रादुर्भाव होता है। सामान्य-काल तो वहाँ माया के पाँच कंचुकों में माना गया है। भगवान् परमशिव जब अपनी इच्छा से अणु-भाव प्राप्त कर जीव बनते हैं तब उनकी पाँच शक्तियाँ भी संकुचित रूप से जीव में प्राप्त होती हैं। वे ही माया के पाँच कंचुक कहे जाते हैं। परमशिव में जो सब कुछ करने का सामर्थ्य है वह जीव में कलारूप से प्राप्त होता है, अर्थात् जितनी कला की शिक्षा जीव ने पाई हो उतने कार्य यह जीव भी कर सकता है। परमशिव में जो सर्वज्ञता है वह विद्यारूप से जीव में प्राप्त है, अर्थात् मनुष्य जितनी विद्या पढ़े उतना ज्ञान इसे भी होता है। परमशिव में जो परमानन्द है वह मनुष्य आदि जीवों में रागरूप से प्राप्त होता है, अर्थात् जिसके साथ राग प्राप्त हो उसके सम्बन्ध से यह भी आनन्द प्राप्त कर लेता है एवं परमशिव में जो त्रिकालाबाध्य सत्ता है, अर्थात् सब समय रहने का सामर्थ्य है वह जीव को कालरूप में प्राप्त होता है, अर्थात् जितना काल जिसके लिए नियत है उतने काल तक वह भी जीवित रह सकता है एवं परमशिव में जो सर्वभवन सामर्थ्य अर्थात् सब रूपों में प्रकट हो जाने की शक्ति है वह जीवों में नियतिरूप से आती है, अर्थात् जितना आकार जिसका नियत है उतना यह जीव भी घट-बढ़ सकते हैं। जैसा कि वट पिप्पलादि वृक्ष बहुत बढ़ते हैं, पिपीलिका आदि छोटे प्राणी बहुत अल्प-मात्रा में ही बढ़ते हैं। इन कंचुकों में जो काल आता है वह महाकाल का ही एक अंश है।

सबका विचार करने से तत्त्व यही निकला कि सब पदार्थों में परिवर्तन कर देने वाली शक्ति ही महाकाल है। वही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करता है। उसे परमात्मा का रूप कह लीजिए या पराशक्ति का परिणाम समझ लीजिए, बात एक ही है। भगवान् कृष्ण ने यहाँ अन्य पुराणों के समान काल को अपना ही रूप बतलाया कि मैं कालरूप हूँ और यह मेरा रूप इस समय संहार के कार्य में लगा हुआ है। जैसा कि श्रीभागवत् आदि पुराणों में स्पष्ट है कि भूमि की पीड़ित दशा देखकर उसका भार उतारने के लिए ही भगवान् कृष्ण का यह प्रादुर्भाव था। “कालः कलयतामहम्” इन शब्दों से दशम अध्याय के विभूति प्रकरण में भी भगवान् कृष्ण काल को अपनी विभूति या अपना रूप बतला चुके हैं। यहाँ भी अपने को कालरूप उन्होंने इन्हीं कारणों से कहा। (२२)

आगे भगवान् कहते हैं कि—इसलिए तुम उठो, यश के भागी बनो, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके समृद्ध राज्य का भोग करो। तुम्हारे इन विपक्षियों को तो मैंने पहिले ही समाप्त कर दिया है। हे सव्यसाचिन् ! तुम इस कार्य में निमित्त मात्र बन जावो। सव्यसाचीशब्द का अर्थ है कि अर्जुन दाहिने की तरह वामहस्त से भी धनुष की प्रत्यंचा खेंच सकता था। यहाँ यह सम्बोधन देने का यह अभिप्राय है कि तुम बड़े योद्धा होने के कारण इस योग्य हो इसलिए मैं तुम्हें ही निमित्त बनाना चाहता हूँ। (२३)

भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि विश्वविख्यात महारथियों को भी इस वीर ने युद्ध में मार दिया, यह संसार में बड़ा भारी यश अर्जुन के हाथ लगेगा। इस युद्ध में समस्त शत्रुओं का संहार हो जाने के अनन्तर निष्कण्टक राज्य का उपयोग भी अर्जुन आदि पाण्डवों को ही करना है। जब इतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष अपने विपक्षियों का संहार उसने विश्वरूप में देख लिया और भगवान् ने स्वयं अपने मुख से भी कह दिया तब तो जैसे शस्त्र किसी के मारने में निमित्त मात्र बनते हैं, वैसे ही अर्जुन आदि मारने वालों की भी स्थिति है। “द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य भी जो वीर योद्धागण विपक्ष सेना में दिखाई दे रहे हैं, वे सब मेरे द्वारा, पहिले ही विनिहत हो चुके हैं, तुम उनको बिना कष्ट प्राप्त किये जीत लो, युद्ध में तुम ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त करोगे।

अर्जुन युद्ध विद्या में बड़ा निपुण था। परन्तु इस महाभारत संग्राम में तो विश्व के सबसे बड़े महारथी लड़ने आये थे, उनमें जिनसे अर्जुन को भय था वे यही हैं जिनका भगवान् ने यहाँ नाम लिया है। किरातार्जुनीय महाकाव्य में वन में रहते हुए

पाण्डवों के पास भगवन् वेदव्यास के आने का वर्णन है। उन्होंने भी भीष्म द्रोण और कर्ण के ही पराक्रम का चित्रण किया है -

त्रिः सप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः  
वीर्याविधूतस्य तथा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ।  
यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्य इवान्तकोऽपि  
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणः स भीष्मः ।  
सृजन्तमाजाविषु संहती र्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः  
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ।  
समीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्  
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ।

अर्थात् इक्कीस बार राजाओं को मारने वाले और स्वयं भीष्म के गुरु परशुराम भी जिन भीष्म के पराक्रम से तिरस्कृत होकर गुणों का आधार के कारण ही अधिक होना समझ गए थे। जिन भीष्म पर अपना कोई अधिकार न होने के कारण यमराज उनसे लज्जित जैसा हो गया है, वह भीष्म जब खड़े होकर अपना धनुष संग्राम में प्रकंपित करें तब किसका मन एकमात्र से विह्वल न हो जायगा। संग्राम में बाणवर्षा करने वाले गुरु द्रोणाचार्य को तुम लोगों में से कौन सहन कर सकता है, जैसे कि जिस अग्नि की ज्वाला प्रकट हो रही हो और जो मानो प्रलयाग्नि के रूप में सम्पूर्ण जगत् को ग्रास बना लेना चाहता है ऐसे अग्नि को कोई सहन नहीं कर सकता, इसी प्रकार गुरु द्रोणाचार्य के पराक्रम को भी कोई सहन न कर सकेगा एवं जब क्रोध के कारण धैर्य को छोड़कर, परशुराम की आराधना करने वाला अर्थात् उनका शिष्य राधा का पुत्र कर्ण संग्राम में खड़ा होगा तब पूर्व अपरिचित भय में मृत्यु का भी पक्षपात हो सकता है अर्थात् मृत्यु भी उससे डर सकता है।

जयद्रथ से अर्जुन को कोई भय नहीं था, परन्तु उसके पिता की तपस्या से उसमें कुछ दैवी शक्ति का आधान हो गया था इसलिए यहाँ उसका भी नाम लिया गया है। महाभारत युद्ध में जब जयद्रथ के मरने का समय आया उस समय भगवान् कृष्ण ने ही अर्जुन को यह चेतावनी दी है कि जब जयद्रथ का जन्म हुआ उस समय आकाशवाणी हुई थी कि इसे संग्राम में महारथी मारेगा। उस समय इसके पिता ने अपनी योगशक्ति लगाकर उसे यह वरदान दे दिया कि जो इसका कटा हुआ शिर भूमि में पड़ता देखेगा उसका भी शिर उसी समय सौ टुकड़े हो जायेगा। इसीलिए भगवान्

की चेतावनी से अर्जुन ने उसका शिर जमीन में नहीं पड़ने दिया अपितु बाणों की परम्परा से दूर तक उड़ाया। इसके पिता कुरुक्षेत्र में ही सन्ध्योपासन कर रहे थे, उनकी अंजलि में ही वह शिर पड़ा और उन्होंने भूमि में पटक दिया इसलिए उनका ही शिर सौ टुकड़े हुआ। यह कथा महाभारत में लिखी गई है। ये सभी स्वतः काल के मुख में पहुँच चुके हैं। अतः ये शङ्का भी नहीं रहनी चाहिए कि पूजा के योग्य अपने इन गुरुजनों के साथ बाणों से युद्ध कैसे करूँ ? तुम्हें इन्हें नहीं मारना है, इन्हें तो मैंने पहिले ही मार दिया है। (३४)

### संजय कहता है कि -

केशव के ये वचन सुनकर, किरीटधारी अर्जुन कांप उठा। वह बहुत भयभीत हो गया था, उसने दोनों हाथों से अञ्जलिबद्ध प्रणाम किया और गद्गद स्वर में फिर भगवान् कृष्ण से कहने लगा।

किसी भारी भय के कारण अथवा किसी महान् दुःख का आक्रमण होने पर अथवा अत्यन्त स्नेह के आवेग से उत्पन्न अतुल हर्ष के उत्पन्न हो जाने से नेत्र आँसुओं से भर जाया करते हैं और कफ के प्राबल्य से गला रुंध जाता है, मुख से टूटे टूटे शब्द निकलते हैं, उस स्थिति को ही 'गद्गद' शब्द से कहा जाता है। पद्य के वर्णन में अर्जुन की भयाक्रान्त अवस्था का ही चित्रण है। स्थिति की भयजनकता स्पष्ट है। श्रीशङ्कराचार्य ने यहाँ संजय के कथन से यह तात्पर्य निकाला है कि भीष्म, द्रोण और कर्णादि से वियुक्त हो जाना जब प्रस्तुत वर्णन में धृतराष्ट्र ने सुन लिया तब उस दुर्योधनादि अपने पुत्रों के मरने का भी निश्चय हो ही जायेगा और वह सन्धि करने को समुद्यत हो जायेगा, परन्तु भवितव्यता के वश में आकर धृतराष्ट्र वैसा न कर सका। (३५)

### अर्जुन स्तुति करने लगा -

हे हृषीकेश ! यह सर्वथा उचित है कि आपके कीर्तन से संसार प्रसन्न और आपमें अनुरक्त होता है, राक्षसगण आपके भय से दिशाओं की ओर पलायित हो जाते हैं और समस्त सिद्धगण आपको प्रणाम करते हैं। (३६)

और हे महात्मन् ! वे आपके प्रति प्रणत क्यों न हों, आप ही तो सबके गुरु, ब्रह्मा को भी उत्पन्न करने वाले हैं। हे सम्पूर्ण जगत् के आधार ! देवताओं के स्वामी ! अविनाशी भगवन् ! आप स्वयं अक्षर हैं, सत् असत् और उनसे भी परे आप ही हैं। (३७)

आप आदिदेव हैं, पुराणपुरुष हैं, इस विश्व के चरम आधार हैं, ज्ञाता और ज्ञेय हैं, परम तेज हैं, हे अनन्तरूप भगवन् ! यह विश्व आपके द्वारा ही फैलाया हुआ है। (३८)

आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण और चन्द्रमा हैं, आप ही प्रजापति और प्रपितामह हैं, मैं सहस्रों बार आपको प्रणाम करता हूँ, आपके सामने प्रणत होते हुए मुझे तृप्ति ही नहीं होती, मैं पुनः अनेक बार आपको प्रणाम करता हूँ।

स्थाने हृषीकेश श्लोक, राक्षसों को विनष्ट करने वाले रक्षोघ्न मंत्रों में मन्त्र शास्त्र में प्रसिद्ध है। यह नारायण मन्त्र और सुदर्शनास्त्र मन्त्रों से सम्पुटित करके जपा जाता है और विघ्नों के उत्पादक और अनिष्टों के प्रवर्तक राक्षसों का इसके जप से विनाश हो जाता है, ऐसी विद्वानों में प्रसिद्धि है। महाभारत युद्ध की चर्चा सुनकर अन्तर्जगत् के नियामक देवता ऋषि, सिद्ध, असुर आदि युद्ध दर्शन के लिए आकाश में एकत्रित हो गए थे। युद्ध में दर्शकरूप से उपस्थित देवताओं का वर्णन प्राचीन साहित्य में सर्वत्र मिलता है, वे पुष्पवृष्टि और हर्षध्वनि भी करते हैं। इस विश्वरूप को देखकर उन सभी को अपार हर्ष और प्रीति उत्पन्न हो गई, जो असुरगण उपस्थित हुए थे वे भीति से पलायित हो गए।

यह रूप देख लेने के बाद अर्जुन को अपरोक्ष रूप से विदित हुआ कि भगवान् के इतने श्रवण, मनन, कीर्तन आदि का क्या कारण है। आज उसने उनका प्रभाव प्रत्यक्ष देख लिया। उनके विषय में लोक और शास्त्रों में प्रसिद्ध सभी बातें अब अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष रूप से प्रत्यक्षर सत्य हो गईं। भगवान् समस्त देवासुर सिद्धादि के द्वारा प्रणम्य हैं, संसार में जितने भी गुरु हैं वे उन सबसे अधिक ज्ञानयुक्त हैं, सर्व ज्ञानमय हैं, समस्त सृष्टि के समुत्पादक ब्रह्मा के भी वे उत्पादक पिता हैं, ब्रह्मा समस्त संसार में पितामहरूप से प्रसिद्ध हैं, उनके भी उत्पादक होने के कारण भगवान् सारे जगत् के प्रपितामह हैं। संसार में जितनी भी अस्ति नास्ति बुद्धि है, भाव या अभाव हैं, वह सब उन्हीं के आधार पर है, परन्तु वे उस अस्ति नास्ति और भाव अभावों से भी परे हैं, अथवा सत् असत् शब्द से यहाँ कार्य कारण को भी समझा जा सकता है, सारा कार्य कारण उन्हीं के आधार पर चलता है, परन्तु फिर भी वे कार्य कारणों से अतीत हैं। कार्य कारण तो संसार की चीजें हैं, वे तो विश्वातीत हैं। अथवा सत् और असत् शब्द से प्रकृति की कार्यावस्था और कारणावस्था को लिया जा सकता है, नाम रूपादि के विभागों से समन्वित प्रकृति कार्यरूपा है और साम्यावस्थापन्न प्रकृति कारणरूपा है। उसकी ये दोनों ही स्थितियाँ चैतन्यरूप परमेश्वर के ही आधार पर हैं। वह परमेश्वर स्वयं प्रकृति की इन दोनों अवस्थाओं से परे है। इसीलिए वह अक्षर है।

देवशब्द द्युतिमान् के लिए आता है, संसार में जितने सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र आदि प्रकाशमान पदार्थ हैं, उनसे पहिले कान्तिमान् भगवान् ही थे। उन्होंने इन पदार्थों को अपने प्रकाश का अंश प्रदान किया है, अतः वे आदिदेव हैं। जितने प्राणधारी पुरुष

संसार में हैं, जो कि अपने अपने शरीररूपी पुरों में शयन करते हैं, उन सबमें सबसे प्राचीन या आदिपुरुष भी भगवान् ही हैं। विश्व की प्रलयावस्था में उन्हीं में संपूर्ण विश्व विलीन हो जाता है, अतः वे ही इस विश्व के परम निधान हैं। यहाँ जड़कारणवाद की जड़ स्पष्ट शब्दों में उखाड़ दी गई है। प्रकृति को ही विश्व का कारण मानने वाले सांख्य आदि दर्शन प्रकृति को ही सारे विश्व का अन्तिम लय स्थान मानते हैं, परन्तु यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि जड़प्रकृति में विश्व विलीन कभी नहीं होता न उससे उत्पन्न ही होता है, परन्तु चैतन्य रूप परमेश्वर से ही विश्व की उत्पत्ति और उसी में उसका लय होता है। पूर्व अध्यायों में जो प्रकृति को सबका उत्पादक बतलाया है उस प्रकृति के भी उत्पादक परब्रह्म रूप भगवान् ही हैं—यह पुराणों में स्पष्ट है।

सभी का प्रेरणाप्रद वायु, सबकी आयु का नियमन करने वाला यजमान, सबका आधार अग्नि, सारे रसों को परिपूर्ण मात्रा में सर्वत्र पहुँचाने वाला जल का अधिदेवता वरुण, सम्पूर्ण विश्व रूपी प्रजा में नैतिक नियमों की सुरक्षा रखने वाला प्रजापति, ये सभी जगत् में प्रतिक्षण अनुभूयमान पदार्थ भगवान् के ही विविध रूप हैं। अतः सभी प्रकार से भगवान् परमपूज्य हैं, सबके प्रणम्य और परम उपास्य हैं। (३९)



## तैंतालीसवाँ-पुष्प

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व ।  
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समानोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥  
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।  
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥  
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।  
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥  
पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।  
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥  
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधायकायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।  
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥  
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।  
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥  
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।  
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

आपको सम्मुख से प्रणाम करता हूँ, पृष्ठभाग से भी आपको प्रणाम है, आप तो आगे पीछे सभी ओर से परिपूर्ण हैं, आपको सब ओर से प्रणाम है, आपकी शक्ति अनन्त है, आप अमित पराक्रमशाली हैं, आप सभी में व्याप्त हैं, इसीलिए सर्वशब्द के वाच्य अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। (४०)

नमस्कार करने के अनन्तर अर्जुन को अपनी हेयता और भगवान् की महत्ता का बोध हुआ और उसे भगवान् के साथ अब तक के अपने उन सभी व्यवहारों का स्मरण हो आया जो वह उनके साथ उन्हें एक सामान्य मानव समझ कर करता आया है। आगे के पद्यों में वह अपने उन व्यवहारों के प्रति क्षमा याचना करता है कि -

प्रत्येक स्थान पर अनेकों बार एक सामान्य मित्र समझ कर मैं आपको कृष्ण, यादव, सखा आदि शब्दों से सम्बोधित करता आया हूँ, वह सब आपकी इस महिमा

को बिना जाने प्रमाद या प्रेम से हुआ है। समय समय पर हास परिहास के प्रसंगों में विहार, शयन, साथ साथ बैठने और भोजन के समय मैंने आपके प्रति अपराध भी किये हैं, हे अप्रमेय (प्रमाणों से जानने के अयोग्य) अच्युत आप वही हैं, जिनके साथ मेरे वे सब व्यवहार थे। मैं आपके समक्ष उनके लिए क्षमा प्रार्थना करता हूँ।

भगवान् परमार्थतः कृष्ण, यादव, सखा, मित्र आदि सब कुछ हैं, तब उनके साथ सभी प्रकार के व्यवहार हो सकते हैं, फिर यह क्षमा प्रार्थना कैसी ? इसका उत्तर है कि हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा आदि सम्बोधन भगवान् को भगवान् मानकर प्रयुक्त होने पर क्लेश कारक नहीं, परन्तु अर्जुन ने तो उन्हें सामान्य यादव या सामान्य मित्र समझ कर ये सम्बोधन किये थे, अतः उनका अनुताप उसके चित्त में है। (४१-४२)

आप इस चराचर जगत् के पिता हैं, इस संपूर्ण संसार के पूज्य और सर्वातिशायी गुरु हैं, आपकी समानता भी कहीं नहीं है, आपसे बड़ा तो कोई होगा ही कहाँ से, तीनों लोकों में इसीलिए आप अप्रतिम अर्थात् जिनके सदृश किसी का प्रभाव नहीं है ऐसे प्रभावशाली हैं।

ईश्वर एक ही हो सकता है, दो ईश्वर हो जायं तो संसार के नियमों में ही व्याघात उत्पन्न हो जाय। अतः भगवान् के बराबर अन्य कोई नहीं। (४३)

मैं दण्डवत् साष्टांग प्रणाम करता हुआ पूज्य और प्रभु आपको प्रसन्न कर रहा हूँ। हे देव, जैसे पिता अपने पुत्र की प्रिय और अप्रिय सब बातों को सह लेता है और जैसे कृपाशील मित्र अपने मित्र की सभी बातें सह लेता है और पति अपनी प्रिया की सब बातों को सह लेता है एवं प्रियजनों के लिए आप अत्यन्त प्रिय हैं, मेरे अपराधों पर ध्यान न दीजिए। (४४)

इसके बाद अर्जुन कहता है कि—“आपके इस पहिले कभी न देखे हुए रूप को देख कर अपार हर्ष भी हुआ है, परन्तु इस इतने विशाल रूप को देख कर मन में बड़ा भारी भय भी उत्पन्न हो गया है। हे देवताओं के ईश ! जगत् के आश्रय भगवन् ! मुझे पुनः वही रूप दिखाइये। (४५)

पहिले अर्जुन भगवान् का पुरुषोत्तम रूप देखता आया है, जब उसने विश्वरूप देखा तो उसके मन में यह सन्देह हो गया कि ये मुझे पुनः पुरुषोत्तमरूप दिखाएंगे या नहीं ? इसीलिए उसने व्यग्र होकर यह प्रार्थना की। वह कैसा रूप है जिसको मैं देखना चाहता हूँ, उसी का आगे अर्जुन वर्णन कर रहा है—

मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र धारण किये हुए मैं आपको देखना चाहता हूँ। हे सहस्रों भुजाओं वाले विश्वमूर्ति भगवान् ! आप उसी चतुर्भुज रूप में मुझे दर्शन दीजिए। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या भगवान् कृष्ण सदा ही चतुर्भुज



रूप में रहते थे ? श्री भागवत में देवकी के गर्भ से आविर्भूत होने के समय तो चतुर्भुजरूप का वर्णन मिलता है, परन्तु जब वसुदेव और देवकी ने यह प्रार्थना की कि इस रूप को माँस की चक्षु वाले साधारण मनुष्यों को मत दिखाइये, तब से आप द्विभुजरूप में ही हो गए। ब्रज-लीला आदि में आपके द्विभुज-रूप का ही वर्णन है। इस पर वक्तव्य यह है कि भगवान् कृष्ण कभी द्विभुजरूप में और कभी चतुर्भुजरूप में भी रहते थे। इसीलिए उनके वर्णन में शङ्ख, चक्र, गदा और धनुष इन चारों आयुधों का वर्णन मिलता है और इनकी अनुकृति करने वाले करुष के राजा पौण्ड्रक ने भी ये ही चारों आयुध अपने कृत्रिम हाथों में धारण किये थे। यहाँ महाभारत युद्ध में भी सारथी का कार्य करते हुए घोड़ों की लगाम रोकने और उनकी पीठ भी थपथपाने के लिए आपने चतुर्भुज ही रूप रखा था। इसी कारण आरम्भ में आपने घोड़ों की लगाम रोकते हुए शङ्ख भी बजाया, जैसा कि भगवद्गीता के ही आरम्भ में लिखा गया है और स्थानों में कृष्ण का शंख बजाना महाभारत में वर्णित है। उसी चतुर्भुज रूप को अर्जुन देखना चाहता है। इस समय जो हजारों हाथों वाला विश्वरूप सामने देख रहा है उससे वह भयभीत है।

दूसरा प्रश्न यह भी यहाँ उपस्थित होता है कि जब भगवान् कृष्ण शस्त्र हाथ में न लेने की प्रतिज्ञा करके ही महाभारत युद्ध में आए थे तब फिर गदा, चक्र आदि आयुधों का धारण भी यहाँ क्यों था ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि यद्यपि महाभारत युद्ध में शस्त्र न चलाने की आपकी प्रतिज्ञा थी, किन्तु अपने वीर वेश की शोभा रक्षित करने के लिए हाथ में गदा और चक्र रखे हुए थे अथवा अर्जुन पहिले अन्य समयों में जो आपके रूप देखा करता था वैसे ही रूप इस समय दिखाने की प्रार्थना कर रहा है। उन अवसरों में तो गदा, चक्र आदि हाथ में रखना भगवान् का स्वाभाविक ही था। यह दूसरी बात ही यहाँ उचित जान पड़ती है, क्योंकि आगे जब भीष्म ने इनको शस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा की तब आप घोड़ों का चाबुक या रथ का पहिया लेकर ही दौड़े थे। यदि युद्ध-स्थल में शोभा के लिए भी शस्त्र आपके हाथ में होते तो रथ का पहिया या घोड़ों का चाबुक लेकर क्यों भीष्म के सम्मुख दौड़ते? यदि कदाचित् कहा जाय कि आयुध न लेने की प्रतिज्ञा के कारण ही रथचक्र या चाबुक लिया ? तो फिर भीष्म की आयुध ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा पूरी न हुई—यह कहना पड़ेगा, किन्तु सर्वत्र कहा यही जाता है कि भगवान् कृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ कर अपने भक्त भीष्म की प्रतिज्ञा ही रक्खी। यदि यही माना जाय कि अंशतः अपनी प्रतिज्ञा भी रख ली और अंशतः भीष्म की प्रतिज्ञा भी पालित कर दी ? तो फिर उक्त दोनों ही समाधान ठीक हो सकते हैं, अर्थात् वीर शोभा के लिए कृष्ण गदा शङ्ख हाथ में रखते थे—यह समाधान बन सकता है। (४६)

## चौवालीसवाँ-पुष्प

### श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।  
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥  
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।  
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥  
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।  
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

विलक्षण रूप देखकर डरे हुए अर्जुन के प्रार्थना करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि “हे अर्जुन, तुम पर प्रसन्न होकर मैंने आत्मयोग से अनन्त और सबका आदिभूत तेजोमय यह विश्व का आत्मभूत परमरूप तुम्हें दिखाया है, जो कि तुमसे अतिरिक्त इससे पूर्व किसी ने नहीं देखा।

अर्जुन ने सर्वदा भगवान् का अनुगमन किया था, उनकी प्रत्येक बात उसके लिए अतर्क्य आज्ञा के समान होती थी। कितनी ही बार उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया था। वह जानता था कि युद्धस्थल पर सेना की ही बहुत बड़ी आवश्यकता होती है, परन्तु उसने भगवान् की भारी यादव सेना को न मांगकर भगवान् को ही मांगा था। शारीरिक बल और पराक्रम तो उस समय अनेकों योद्धाओं के पास था परन्तु विनीत स्वभाव और धैर्य धारण की क्षमता तथा आज्ञा पालन किसी के पास नहीं था। भगवान् वेदव्यास ने भी वनवासकाल में पाण्डवों के पास जाकर दिव्य अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अर्जुन को ही प्रेरित किया था, यद्यपि शारीरिक शक्ति से उससे भी बड़ा चढ़ा भीम भी वहाँ उपस्थित था। इस प्रकार सर्वत्र अर्जुन ने अपनी लोकोत्तर योग्यता का परिचय दिया था। भगवान् किसी धन दौलत से प्रसन्न होने वाले तो हैं नहीं, उसकी उनके पास क्या कमी थी, वे तो सन्मार्ग पर योग्यता और धैर्य से बढ़ने वाले व्यक्ति को ही अपना प्रेमपात्र बतलाते हैं—यह उनके जीवन की सभी घटनाओं से स्पष्ट है। यही कारण है कि वे अर्जुन पर सदा से प्रसन्न रहे। यहाँ भी सारे संसार में केवल एक अर्जुन को ही उन्होंने यह रूप दिखाया। केवल उसे ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। “आत्मयोगात्” इस पद का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य अपने सामर्थ्य से ऐसा

करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य “अपने सत्य संकल्प से” और श्रीवल्लभाचार्य “अचिन्त्य ऐश्वर्ययोग” इस पद का अर्थ लिखते हैं।

श्रीशङ्करानन्दजी “मायायोग सामर्थ्य” इस शब्द का अर्थ करते हैं। अथवा इस शब्द का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि अपने आत्मभूतस्वरूप—परब्रह्म या व्यापक अव्यय पुरुष के साथ इस मानुषावतार का योग कर उससे यह रूप तुम्हें दिखाया है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि आत्मा के साथयोग तो सदा ही रहता है, फिर योग करके दिखाने का क्या अर्थ होगा ? इसका उत्तर है कि आगे जो “तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य” कहा गया है और यहाँ भी जो “परं” और “यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्” कहा है, इन भगवान् के वचनों से ही भगवान् कृष्ण के दो रूप सिद्ध होते हैं—एक मानुषावतार अर्जुन के रथ पर बैठा हुआ रूप और दूसरा जो कुछ काल के लिए अर्जुन को दिखाया, वह रूप। तब नया रूप जो दिखाया वह परब्रह्म परमेश्वर या परमाव्यय पुरुषोत्तम के साथ मानुष शरीर का योग करने से ही प्रादुर्भूत था। वह योग यद्यपि सदा ही रहता है, किन्तु उस योग से काम अभी लिया गया—यही इस शब्द का तात्पर्य उचित प्रतीत होता है। श्रीभागवत में भी दशम स्कन्ध की ब्रह्मस्तुति में जो ब्रह्मा का वचन है कि—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य,

स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोऽपि ।

नेशेमहि त्ववसितुं मनसाऽन्तरेण

साक्षात्तवैव

किमुतात्मसुखानुभूतेः ।

अर्थात् मुझ पर कृपा कर जो आपने यह इच्छामय शरीर धारण किया है उसके भी महत्त्व को जानने को संसार के मनुष्य समर्थ नहीं हैं, फिर नित्य आनन्द ज्ञानमय आपके रूप को तो जान ही कौन सकता है ? इस कथन से भी भगवान् कृष्ण के दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। उस परब्रह्म रूप में योग करके ही यह विश्वरूप दिखलाया गया। यद्यपि वेदान्त की प्रक्रिया के अनुसार सभी जीवधारियों का ब्रह्म के साथ अंशांशी भावरूप योग सिद्ध है, तथापि देहजनित अज्ञान रूप आवरण से आच्छादित रहने के कारण वे उस योग को भूले हुए हैं। इसी से ऐसे रूप देखने का उनको सामर्थ्य प्राप्त नहीं, किन्तु भगवान् कृष्ण तो नित्य ज्ञानमय हैं उन पर अज्ञान का आवरण हो ही नहीं सकता। उनका देह भी इच्छामय है, पञ्चभूतों का बना हुआ नहीं, जैसा कि ब्रह्मा की उक्ति में कहा गया है। इस कारण वे इस योग से ऐसा रूप दिखा सकते हैं। अथवा

अपने में सदा ही वर्तमान समाधि रूप योग से यह रूप तुम्हें दिखाया यह अर्थ भी उचित हो सकता है। इसीलिये अर्जुन ने रूप दिखाने की प्रार्थना में भगवान् को “योगेश्वर” नाम से संबोधित किया है और संजय ने भी “महायोगेश्वर” ही वहाँ भगवान् का नाम दिया है।

यद्यपि भगवान् कृष्ण को विश्वरूप दिखाने का कई जगह अवसर आया है। जैसा कि बाल्यावस्था में जब यशोदा “तैने मिट्टी खाई है” ऐसा कह कर धमकाने लगीं तब अपना मुख खोलकर उसमें सब लोकों का दर्शन यशोदा को करा दिया था और अक्रूर को भी जल और स्थल में एक ही काल में अनेक रूप दिखाये थे या जब अक्रूर विचार में पड़े तब उन्हें भी व्यापक विश्वरूप दिखाया था एवं कुछ दिन पूर्व दुर्योधन की सभा में भी अपने नानारूप दिखा चुके थे, किन्तु इस समय का यह सबको ग्रास करने वाला कालरूप अब्दुत् ही था। इस प्रकार का विश्वरूप केवल इसी समय अर्जुन को ही दिखाया था। इसलिए भगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्ण में यह विश्वरूप दर्शन का सामर्थ्य सदा ही विद्यमान था, किन्तु जब अवसर पड़ता तभी उससे काम लिया जाता था। (४७)

भगवान् आगे बतला रहे हैं कि—“वेदों के अध्ययन, यज्ञ, दान, अनेक पुण्य क्रिया और उग्र तपस्याओं से भी हे कुरुवीर, इस नरलोक में मेरे इस रूप का दर्शन तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं कर सका।

मानव को संसार में अनेक बातों पर विश्वास हुआ करता है और अपने पुरुषार्थों के आधार मनुष्य बड़ी से बड़ी बात को भी अपने वश में समझ लेता है। प्राचीनकाल में पुरुषार्थ के जो अंग समाज में परिपूर्ण मात्रा में प्रचलित थे उनमें वेदों का अध्ययन मुख्य था, वेद ही संपूर्ण आचार विचार और व्यवहारों के आधार माने जाते थे। समाज के सबसे प्रधान अंग ब्राह्मणों के लिए तो यह अनिवार्य ही था कि बिना किसी अभिलाषा के उन्हें सम्पूर्ण वेद, उनकी अंगभूत विद्याओं का अध्ययन और मनन करना होता था—

“ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च”

अध्ययन अथवा ज्ञान प्राप्ति में भारत सर्वदा संसार का मार्गदर्शक रहा है, जितने ज्ञातव्य विषयों के चिन्तन का विकास यहाँ हजारों वर्ष पहिले हो चुका था उसकी एक झलकमात्र भी संसारभर को चमत्कृत करने के लिए पर्याप्त थी। उस ज्ञानराशि का साक्षात्कार ऋषियों और विद्वानों ने अपने सम्पूर्ण जीवन की पूर्णाहुति देकर किया था और इसीलिए उस ज्ञान की रक्षा और अभिवृद्धि यहाँ अनिवार्य मानी गई। परन्तु केवल अध्ययन से शाब्दिक ज्ञान ही हुआ करता है, परमतत्त्व का साक्षात्कार

अध्ययन से नहीं हो सकता। वेदों के अध्ययन का मुख्य प्रयोजन प्राचीनकाल में यज्ञ की विधियाँ सम्पन्न करना माना जाता था। वेदों और यज्ञों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था कि बहुधा वेद और यज्ञों को एक ही समझ लिया जाता था। वेदों पर आक्षेप करने वाले बौद्ध जैन सिद्धान्तों में ज्ञान के अंश में उतना भेद नहीं दिखाई देता परन्तु उनको यज्ञों से चिढ़ थी और यज्ञों का विरोध करने के लिए ही वे सम्पूर्ण वेदों को ही अपना प्रतिपक्षी मानने लगे थे। वस्तुतः यज्ञ वेद विहित कर्मकाण्ड पर आधारित है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं, यज्ञ के वैज्ञानिक रहस्य पर हमने अन्यत्र प्रवचन में प्रकाश डाला है। जो यज्ञ विशेष कामनाओं से किये जाते थे वे उन कामनाओं की पूर्ति के ही हेतु बनते थे। लेकिन ब्रह्म का साक्षात्कार यज्ञों के द्वारा नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् ने वेदों के अध्ययन और यज्ञ दोनों को ही अपने इस रूप को देखने के साधन के रूप में स्वीकार नहीं किया। यहाँ वेद और यज्ञ के बाद अध्ययन शब्द आया है। जहाँ तक अध्ययन का सम्बन्ध है वह वेद में ही संभव है। अक्षरों के ज्ञानपूर्वक ग्रहण कर लेने का नाम ही अध्ययन प्राचीन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। यज्ञ का सम्बन्ध वेदविहित क्रियाकलापों से है, अतः यज्ञ का अध्ययन कैसे होगा यह प्रश्न उपस्थित होता है। श्रीशङ्कराचार्य ने इसीलिए यहाँ यज्ञ के अध्ययन का अर्थ यज्ञविज्ञान का अध्ययन किया है। यज्ञों में वेदमन्त्रों का उच्चारणरूप उपयोग मात्र है, परन्तु उनका विधान और इतिकर्तव्यता ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती है। श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र तथा कल्पसूत्रों में भी ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर यज्ञों की विधियों का विवरण दिया गया है। यह सब यज्ञ विज्ञान कहा जा सकता है और अध्ययन से ही इसका सम्बन्ध है। अतः वेदों से उसका पृथक् परिगणन यहाँ भगवान् ने किया है। दान या उत्सर्ग का भी भारतीय संस्कृति में प्रारंभ से ही बड़ा आदर रहा है। कई ग्रन्थों में महादानों का भी बड़ा विस्तृत विवरण दिया गया है, सभी राजागण और धनाढ्य पुरुष विभिन्न शुभ अवसरों पर या धर्मबुद्धि से समय समय पर बड़े बड़े दान दिया करते थे। सभी वस्तुओं के दानों का शास्त्रों में विधान मिलता है और किस फल की प्राप्ति के लिए कौन सा दान किया जाता है—यह भी प्राप्त होता है। सारी धार्मिक विधियों के अंग के रूप में भी सर्वत्र दान का विधान है। पुत्री के विवाह को भी कन्यादान की पवित्र संज्ञा दी गई है। इस प्रकार दान उपकारार्थ धर्म और काम्य कर्म के रूप में भारत में सर्वदा से प्रचलित रहा है। दान का अर्थ है “स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन” अर्थात् देय पदार्थ से अपने अधिकार को हटा कर उस पर ग्रहीता का स्वत्व पैदा कर देना। परन्तु बड़े से बड़ा दान देकर भी भगवान् का विश्वरूप नहीं देखा जा सकता। शास्त्रों में जो अन्य अनेक धार्मिक क्रियाकलाप हैं उनके द्वारा भी यह रूप नहीं देखा जा सकता। अनेक प्रकार से की जाने वाली तपस्याएँ भी उस रूप को नहीं दिखा सकतीं। तपस्याओं से प्राचीनकाल

में बड़ी बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती थीं, जिनका वर्णन पुराणों में सभी जगह मिलता है। तपस्याओं में शरीर को अनेक प्रकार का कष्ट दिया जाता है। केवल अनन्यभक्ति से ही यह दर्शन होना संभव है—इस बात को आगे के पद्यों में भगवान् ने बतलाया है। यदि भगवान् में ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्ति न हो तो इस रूप को देखने के लिए अध्ययन, यज्ञादि निरर्थक हो जाते हैं। यहाँ भी पुनः “त्वदन्येन” कहा, अर्थात् तुमसे अतिरिक्त कोई पुरुष इन साधनों से मेरा यह रूप नहीं देख सकता। तुम देख सकते हो इसका आशय यही है कि तुम मेरे असाधारण भक्त हो। (४८)

आगे भगवान् कहते हैं कि “मेरे इस घोर रूप को देखकर तुम्हें जो कष्ट और स्तब्धता हो रही है वह और आगे न बढ़े, इसलिए मैं वही अपना रूप धारण कर रहा हूँ। तुम भयरहित और प्रसन्न होकर फिर मेरा वही रूप देखो। यहाँ व्यथा और विमूढ़भाव ये दोनों अर्जुन में भगवान् ने बतलाये। व्यथा नाम दुःख का है जो कि रजोगुण का कार्य है और विमूढ़भाव का अर्थ क्रियाशून्य हो जाना है, जो कि तमोगुण का कार्य है। रज और तम दोनों ही के कार्य अर्जुन में उपस्थित थे। इन दोनों ने सत्त्वगुण को दबा दिया था जिससे हर्ष नहीं था। भगवान् इन दोनों को हटाकर सत्त्व का कार्य हर्ष प्रकट करने को कह रहे हैं।

भगवान् के इस कथन का मनोवैज्ञानिक महत्व है। अनेक बार ऐसी मायापूर्ण घटनाएँ हो जाती हैं कि हम किसी अपने परिचित मनुष्य को किसी अप्रतर्क्य स्थिति में देखते हैं तो हमें आश्चर्य और क्षोभ होता है, उसी को थोड़ी ही देर हम उससे बिलकुल भिन्न स्थिति में जब देखते हैं तो हमको अपना पूर्व का दर्शन मिथ्या मालूम होने लगता है, हम समझते हैं कि वह हमारा भ्रम था। स्वप्नों में तो ऐसी घटनाओं का अनुभव हुआ करता है। परन्तु उन सबको हम मिथ्या समझते हैं क्योंकि वे बातें वास्तविक नहीं होती। कहीं अर्जुन इस विश्वरूप दर्शन को भी मिथ्या या स्वप्न न समझ ले, इसलिए यहाँ उन्होंने कह दिया कि अब मैं तुम्हें उसी रूप में दर्शन दूँगा, जिसे तुम देखना चाहते हो और फिर इसके बाद भगवान् ने अपना वही रूप प्रकट किया। किसी भ्रम या स्वप्न में दोनों स्थितियों की कड़ी इस तरह नहीं बैठती। स्वप्न वाला व्यक्ति यह नहीं कहता कि मैं जाग्रत अवस्था में अमुकरूप में तुम्हारे समक्ष उपस्थित होऊँगा। यद्यपि स्वप्न आदि भी भविष्य की सूचना दिया करते हैं, परन्तु इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति उनमें नहीं देखी जाती। (४९)



## पैंतालीसवाँ-पुष्प

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दनः ।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्ट्वानसि यन्मम ।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्ट्वानसि मां यथा ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

आगे संजय ने कहा कि—भगवान् वासुदेव ने अर्जुन से ऐसा कह कर पुनः उसे अपना मानवाकार रूप दिखाया और उग्ररूप से फिर सौम्य महात्मा का रूप धारण करके डरे हुए अर्जुन को आश्चस्त किया।

यहाँ भगवान् वासुदेव ने अपना रूप दिखलाया—इस कथन में वासुदेवशब्द से यह ध्वनित किया कि जो वासुदेव के यहाँ उत्पन्न हुआ था। “स्वकं रूपम्” अपना रूप दिखाया—ऐसा कहना यहाँ असङ्गत प्रतीत होता है, क्या विश्वरूप उनका अपना नहीं, किसी दूसरे का उधार लिया हुआ था ? ऐसा तो है नहीं, दोनों उन्हीं के अपने ही रूप हैं, फिर मानवशरीर में उन्होंने अपना रूप दिखाया यह कथन कैसे संगत होगा? इसका उत्तर है कि एक ही परब्रह्म को हम भ्रान्ति से अनेक समझ लेते हैं,

यह कथन भ्रान्ति गर्भित कथन ही है, अर्थात् सांसारिक प्राप्ति जो कि भ्रान्त प्रतीति होती है यही है कि यह कृष्ण का रूप है, यह अमुक का रूप है, वस्तुतः सभी रूप परब्रह्म के ही हैं। संजय जो कि वक्ता हैं वे तो संसार के ही अन्तर्गत हैं वे कोई मुक्त ज्ञानी पुरुष तो हैं नहीं। अतः उनके कथन में यह बात वक्ता की मर्यादा के अनुकूल ही है।

यहाँ यह बात भी उठती है कि भगवान् भी कैसी विचित्र सामान्यजनों की सी लीलाएँ दिखा रहे हैं, कहाँ उन्होंने अभी विश्वरूप दिखाया था कहाँ पुनः वही चतुर्भुज रूप दिखा दिया। इतनी जल्दी जल्दी रूप बदलना कैसे संभव है ? इसी बात को समाहित करने के लिए श्लोक में “महात्मा” शब्द दिया गया है। इसका आशय है कि वे सत्यसंकल्प वाले हैं, जब जैसे चाहें वैसे बन सकते हैं। क्षुद्रात्माओं पर जो नैसर्गिक प्रतिबन्ध हुआ करते हैं वे उन पर नहीं चलते। यह भी इससे अर्थ निकाला गया है कि महात्मा अर्थात् सर्वत्र व्यापक होते हुए भी उन्होंने सौम्यवपु अर्थात् पुनः मानवाकार धारण कर लिया। (५०)

अपने जाने पहिचाने अनन्त सौन्दर्यमय भगवान् श्रीकृष्ण के सुमधुर रूप को पुनः अपने नेत्रों के आगे देखकर अर्जुन की जान में जान आई और उसने कहा कि—

हे जनार्दन, आपका परम सुन्दर यह मनुष्य रूप देखकर अब मैं मन से स्वस्थ और प्रकृतिस्थ हो गया हूँ।

अर्जुन की भगवान् के प्रति यह विज्ञापना उसके परिवर्तित अनुभव को प्रकाशित कर रही है। जब वे ही नित्य सहचर श्यामसुन्दर उसके सामने खड़े हैं जो संग्राम में उसका रथ हांकने वाले हैं तब डर किस बात का ? यहाँ “मानुषं रूपं” इस पद से अवतार का रहस्य भी प्रकट किया गया है। मनुष्य का अपने सजातीय मनुष्य में ही प्रेम होता है, उसी को देखकर वह प्रसन्न हुआ करता है, इसी कारण करुण समुद्र भगवान् मनुष्यावतार धारण किया करते हैं। (५१)

अर्जुन के प्रकृतिस्थ हो जाने पर पुनः भगवान् ने विश्वरूप के महत्त्व पर प्रकाश डाला। वे कहते हैं कि—

अत्यन्त दुर्दर्शनीय जिस रूप को अभी तुमने देखा, देवता लोग भी इस रूप को देखने की नित्य अभिलाषा रखते हैं।

देवता भी इस रूप के दर्शन की अभिलाषा रखते हैं, इससे यह स्पष्ट हो गया कि उनकी भी अभिलाषा ही रहती है, इस रूप को देखने का अधिकार उनको भी प्राप्त नहीं है। इस रूप में ऐसी क्या बात है कि जिसको देखने की अभिलाषा देवता भी



रखें। यह रूप तो परम भयानक है, उग्र है, सुदुर्दर्शनीय है। जैसा कि इसका वर्णन किया गया है, जिस रूप को देखने से लोकत्रय प्रव्यथित हो उठे उसको देखने की अभिलाषा भला देवताओं के मन में क्यों उठने लगी ? देवता भी तो उसके दर्शन से भयभीत होंगे ? यहाँ 'अपि' शब्द ने और भी सन्देह में डाल दिया है। देवता भी सर्वदा उसके देखने की अभिलाषा रखते हैं अर्थात् देवताओं के अतिरिक्त जो अन्य प्राणी हैं उनकी अभिलाषा तो इस रूप को देखने के लिए है ही, यह कैसी विचित्र बात कही गई। अर्जुन जैसा जितेन्द्रिय और मनस्वी योद्धा जिस रूप को देखकर काँप उठा उसे देखने की अभिलाषा प्राणिमात्र के मन में कहाँ से उठ सकती है, क्या सभी लोग भय से व्याकुल हो जाने की ही अभिलाषा रखते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यह भगवान् का कालरूप है जैसा कि उन्होंने इसका परिचय दिया। काल तीन हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान। तीनों इस रूप में प्रत्यक्ष हो गये। वर्तमान तो सबके सामने ही रहता है। जो घटनाएँ अपने साथ घट चुकी हैं। और भूतकाल का विषय बन गई उनका भी ज्ञान सभी को रहता है, परन्तु भविष्य को देखने की अभिलाषा सभी की रहती है। मेरे साथ आगे क्या होगा, मैं कितनी समृद्धि का उपभोग करूँगा, कब तक जीवित रहूँगा इत्यादि प्रश्न सभी के मन में उठते हैं। देवता भी नियत समय के लिए ही देवपद प्राप्त करते हैं, यज्ञ यागादि का संपादन ही देवपद प्राप्ति का हेतु बतलाया गया है, परन्तु वह नियतकाल तक ही रह सकता है, जब उनके किये हुए पुण्य क्षीण हो जाते हैं तब उन्हें पुनः भूलोक पर आकर मनुष्यों की तरह ही रहना होता है, जैसे चुनाव में चुन लिये जाने पर और मन्त्रिपद ग्रहण करके पूर्ण अधिकार का उपभोग कर लेने के अनन्तर अवधि बीत जाने पर मन्त्रियों को भी सामान्य जनता के समान ही अपना जीवन निर्वाह करना होता है। अधिकार हाथ से चला जाता है, अतः देवत्व की यह अवधि कब तक है और इसके आगे वे किस स्थिति में रहेंगे—यह जानने की अभिलाषा देवताओं को भी अवश्य रहती है। भगवान् के इस रूप में सभी को अपनी भविष्य स्थिति प्रत्यक्ष दिखलाई दे जाती है। जैसा कि अर्जुन ने महाभारत युद्ध का परिणाम पहिले ही प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख लिया। यही कारण है कि इस रूप के देखने की अभिलाषा देवताओं को भी सदा ही रहती है। पुनः प्रश्न होता है कि भविष्य का ज्ञान तो अर्जुन को भगवान् ने सूक्ष्म प्रपञ्च में उसकी दृष्टि फेर कर ही कराया जैसा कि कहा गया है, तब देवता आदि तो सूक्ष्म प्रपञ्च के ही अन्तर्गत हैं, वे सूक्ष्म प्रपञ्च के दर्शन की अभिलाषा क्यों रखेंगे ? इसका उत्तर है कि हम गीता के तृतीय अध्याय की व्याख्या में तीन प्रकार के देवता बतला आये हैं; उनमें प्राणरूप देवता ही सूक्ष्म प्रपञ्च के अन्तर्गत हैं, अन्य दो प्रकार के प्राणीरूप देवता तो अपना भविष्य जानने की इच्छा रखते ही हैं, उनको ही यहाँ दर्शनाभिलाषी बतलाया गया। (५२)

इसके आगे भगवान् कहते हैं कि “वेद, तपस्या, दान और यज्ञ या पूजा के द्वारा हे पार्थ ! मेरे जिस रूप को तुमने अभी देखा उसे नहीं देखा जा सकता।

पूर्व पद्य में भी यही बात इसी रूप में आ चुकी है, भेद इतना ही है कि पहिले यह बात विश्वरूपधारी भगवान् के मुख से कही गई थी और अब मनुष्य रूपधारी भगवान् कृष्ण के मुख से कही जा रही है, इसलिए यहाँ पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिए। दूसरा भेद छन्द का भी है, वहाँ बड़ा छन्द है और यहाँ छोटा अनुष्टुप् छन्द है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से भी इस प्रकरण में विशेष सौन्दर्य यह है कि सामान्य कथनों में छोटा अनुष्टुप् छन्द काम में लिया गया है और विशाल विश्वरूप के वर्णन, उसकी स्तुति और उसके कथन में बड़ा छन्द है—यह वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य के रूप में साहित्यशास्त्र में वर्णितकाव्य का चमत्कार इस प्रकरण की शोभा बढ़ा रहा है। (५३)

परन्तु पूर्व कथन की यह पुनरुक्ति कुछ और भी अभिप्राय रखती है। प्रश्न यह है कि मनुष्य के पास आत्मोन्नति के जो उपाय अध्ययन यज्ञ दानादि हैं उनको तो भगवान् ने इस रूप के दर्शन के लिए अनुपयुक्त ठहरा दिया, इसके अतिरिक्त भी क्या कोई उपाय है जिससे इस रूप का दर्शन प्राप्त हो सके, अथवा यह सर्वथा ही दर्शन के बहिर्भूत रूप है, किसी भी उपाय से कोई इसे देख ही नहीं सकता ? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिये उत्थानिका के रूप में भगवान् ने अपने पूर्व कथन की पुनरुक्ति करके अग्रिम पद्य से अपने इस रूप को देखने का उपाय बतलाया है। साभिप्राय पुनरुक्ति दोषावह नहीं होती। विश्वरूपदर्शन का आगे जो उपाय बतलाते हैं वह वही है जिस उपाय से अर्जुन को यह सौभाग्य मिला है। पहिले भगवान् ने कहा है कि “हे अर्जुन मैंने तुम पर प्रसन्न होकर तुमको यह रूप दिखाया है” तो बस, वही यह रूप देख सकता है जिस पर भगवान् प्रसन्न हों। आगे प्रश्न होगा कि भगवान् प्रसन्न कैसे होंगे उसी के उत्तर के रूप में आगे भगवान् कहते हैं कि—

हे शत्रुओं को ताप देने वाले अर्जुन ! केवल अनन्य भक्ति से ही मेरा यह रूप जाना जा सकता है, देखा जा सकता है, यही नहीं इसमें प्रवेश भी किया जा सकता है।

भक्तिभाव से जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन करता है वह इस रूप को जान सकता है—यह श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या है। इस पर प्रश्न यह है कि जब भगवान् अध्ययन से इस रूप के दर्शन का स्पष्ट निषेध पहिले कर चुके हैं तब यहाँ शास्त्रों से इस रूप के ज्ञान की बात कैसे संगत होगी, शास्त्रों से ज्ञान होने का अर्थ भी तो शास्त्रों के अध्ययन से ही है और अध्ययन की अकिञ्चित्करता पहिले ही शब्दतः कह दी गई है, तब शास्त्र से जानने की व्याख्या का क्या अभिप्राय होगा ? उत्तर यह है कि पहिले केवल अक्षरग्राही अनन्यभक्तिरहित अध्ययन मात्र से इस रूप की प्राप्ति का

निषेध किया गया था, यहां अनन्य भक्ति पुरस्सर अधीत हुए शास्त्रों से विश्वरूप के ज्ञान की बात कही गई है, अतः कोई विरोध नहीं रह जाता। भक्ति के द्वारा ही इसके दर्शन और इसमें प्रवेश अर्थात् लीन हो जाने की भी बात कही गई है। जीव का परब्रह्म में लीन हो जाना ही परम पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति भी अनन्यभक्ति से ही यहाँ प्रतिपादित हुई है, किन्तु मध्य में ज्ञान और दर्शन प्राप्त करने के अनन्तर। अनन्यभक्ति शब्द के व्याख्याकारों ने कई प्रकार के अर्थ किये हैं। अपने आपको भगवान् से भिन्न न समझ कर जो भगवान् में अपने अंशीरूप से प्रेम किया जाय, वह इस शब्द का पहिला अर्थ है। अन्य किसी देवता की ओर ध्यान न लगाकर केवल कृष्ण में ही प्रेम करना दूसरा अर्थ होगा। अन्य सांसारिक वस्तु-धन, दारा, पुत्र आदि से मन हटा कर भगवान् में प्रेम पूर्वक मन को जोड़ देना इस शब्द का तीसरा अर्थ है। सब पदार्थों को ब्रह्मरूप समझकर ब्रह्मरूप भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्तयोग-यह चौथा अर्थ है। इस प्रकार की अनन्य भक्ति से ही मेरा तात्त्विक ज्ञान और दर्शन हो सकता है-यही भगवान् ने यहाँ कहा। दर्शनशब्द का अर्थ व्याख्याकार प्रायः प्रत्यक्ष देखना ही करते हैं, किन्तु अर्जुन के समान विश्वरूप दर्शन तो प्राप्त होना दुर्लभ ही है। “एवंविधः” शब्द से तो इस प्रकार का विश्वरूप देखना ही कहा जा सकता है। तब दूसरी व्याख्या यह भी की जा सकती है कि सामान्यरूप से मुझे जानना भी भक्ति से ही हो सकता है और तात्त्विकदर्शन अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्माण्डरूप है-इस प्रकार का ज्ञान भी भक्ति से ही प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञान हो जाने के अनन्तर इसी रूप में प्रवेश भी हो सकता है। विश्वरूप में प्रवेश ही सर्वात्मभाव कहा जाता है और इसी सर्वात्मभाव को शास्त्रों ने मुक्ति बतलाया है। इस पद्य में “अर्जुन” और “परन्तप” दो सम्बोधन दिये गये हैं। “परन्तप” शब्द का अर्थ सामान्यतः शत्रुओं को ताप देने वाला होता है। यहाँ मुख्य शत्रु अज्ञान ही ‘पर’ शब्द से समझना चाहिये। इससे यही अभिप्राय निकलेगा कि हे अर्जुन ! तुम अज्ञान को नाश करने में समर्थ हो, इसीलिए तुम्हें यह उपदेश दिया जाता है। “शक्य अहमेवंविधः” ऐसा प्रयोग पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होता, इसलिए इसे आर्ष प्रयोग ही मानना चाहिये।

यहाँ भक्त्या यह तृतीया विभक्ति भक्ति का अङ्ग भाव बतलाती है और आगे जो ‘ज्ञातुं’, ‘द्रष्टुं’ और ‘प्रवेष्टुम्’ पद आये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि भक्ति से ज्ञान और दर्शन प्राप्त होता है और उसके अनन्तर भगवान् में प्रवेश अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। हम गीता व्याख्या के तृतीय खण्ड की समाप्ति में इसका विस्तृत विवेचन करेंगे कि भगवद्गीता में ज्ञान को भक्ति का अङ्ग माना गया या भक्ति को ज्ञान का अङ्ग माना गया है ? इसलिए यहाँ इसका विस्तार नहीं किया जाता। (५४)

इसके आगे अध्याय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि “हे पाण्डव !

जो व्यक्ति मेरे कार्यों को करता है, अथवा मेरे लिए ही प्रत्येक कार्य करता है, जो मुझे ही परम अर्थात् अपना सब कुछ मानता है, जो मेरा भक्त है और जो काम क्रोधादि से या अपने कुटुम्बियों के सङ्ग से अलग रहता है और समस्त प्राणी मात्र से जिसका कोई वैर नहीं है, वही व्यक्ति मुझे प्राप्त करता है।

जो मेरा काम करता रहे का तात्पर्य यह है कि भगवान् ने अपने अवतार ग्रहण के जो प्रयोजन बतलाए हैं वे ही भगवान् के कार्य हैं, उन्हें जो करता रहे। जो साधुओं का परित्राण, दुष्टों का दमन और धर्म का संस्थापन करता रहे वह भगवान् के ही काम करता है, अतः भगवान् का प्रिय हो जाता है। व्याख्याकारों ने यही अर्थ किया है कि जो सारे कार्य मेरे लिये ही करता हो। इसका विस्तृत विवेचन हम बारहवें अध्याय के १०वें श्लोक की व्याख्या में करेंगे। परम का अर्थ गति किया गया है अर्थात् मैं ही जिसकी चरमगति हूँ। “संगवर्जित” से अभिप्राय पुत्र पौत्र कलत्रादि के वर्जन से है। इस प्रकार इस अध्याय में भगवान् के विश्वरूप का वर्णन और उसकी प्राप्ति के उपाय के रूप में भक्ति का निरूपण भगवान् के द्वारा किया गया। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि भगवद्गीता में भक्तिशब्द केवल नाम जप आदि के लिए ही नहीं कहा गया है, अपितु सांसारिक कुटुम्ब आदि का परित्याग और किसी भी प्राणी से वैर न करना अर्थात् उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न देना भक्तिशब्द से कहा गया है। (५५)

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।



द्वादशोऽध्यायः  
छियालीसवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।  
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥१२॥१॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।  
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥  
ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।  
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥  
संनिम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।  
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥  
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।  
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

मध्यम षट्क का यही अन्तिम अध्याय है। जो व्याख्याकार कर्म, उपासना और ज्ञान का प्रतिपादन तीनों षट्कों में क्रमशः मानते हैं, उनके मतानुसार उपासनाकाण्ड का यह अन्तिम अध्याय है, और जो “तत्त्वमसि” इस वेदान्त महावाक्य के तीनों पदों का प्रतिपादन भगवद्गीता के तीनों षट्कों में मानते हैं, उनके मतानुसार “तत्” पद से कहे जाने वाले परमात्मा का निरूपण इस अध्याय के साथ समाप्त हो जायेगा। इसमें प्रथम पद्य द्वारा जो अर्जुन का प्रश्न है, उसकी भी व्याख्याकार भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं।

श्रीशङ्कराचार्य का कथन है कि पूर्व के अध्यायों में भगवान् ने अपने व्यापकरूप की उपासना प्रायः कही है और दशम अध्याय में भिन्न-भिन्न विभूतियों के रूप में परिच्छिन्न अर्थात् व्यक्तरूप में एकदेश स्थित चराचर में अपना चिन्तन बतलाया। एकादश अध्याय में विश्वरूप दिखाकर अन्त में “मत्कर्मकृत्” इत्यादि पद्य के द्वारा अपने पूर्व

प्रदर्शित विश्वरूप का “अस्मत्” शब्द से ग्रहण कर उसी की उपासना का आदेश किया। आर्य शास्त्रों में भगवान् की उपासना के तीनों प्रकार वर्णित हैं। विश्वरूप से विश्वचररूप से और विश्वातीतरूप से भगवान् की उपासना बतलाई जाती है। दशमाध्याय में विश्वचररूप से बतलाई, अर्थात् विश्व के अन्तर्गत विशेष प्रभावशाली व्यक्तियों में भगवद्भाव करना वहाँ बतलाया गया एवं गत एकादश अध्याय में विश्वरूप से ही उपासना कही गई और इनसे पूर्व के सप्तमाध्याय में “न त्वहं तेषु ते मयि” इत्यादि वाक्यों से विश्वातीत रूप की उपासना कही गई है। यहाँ अर्जुन के मन में संशय होना स्वाभाविक ही था कि इन तीनों प्रकारों में से सबसे सरल और उत्तम प्रकार कौन सा है ? जो सरल और उत्तम प्रकार हो उसको ही मुझे ग्रहण करना चाहिए, इस आशय से अर्जुन पूछता है कि एवं—इस प्रकार से अर्थात् विश्व या विश्वचर में मन लगाकर निरन्तर एकाग्रता से जो आपकी उपासना करते हैं और जो अक्षररूप से व्यापक तथा इन्द्रियों से न जानने योग्य अर्थात् विश्वातीतरूप में उपासना करते हैं उनमें श्रेष्ठ योगवेत्ता आप किनको मानते हैं ? विश्व, विश्वचर की उपासना ही व्यक्त उपासना कही जायेगी और विश्वातीत की उपासना अव्यक्त उपासना समझी जानी चाहिये, क्योंकि विश्वातीत रूप प्रकट नहीं होता, वह अव्यक्त ही रहता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार मायाशबलित या प्रकृति विशिष्ट परब्रह्म ही ईश्वर कहा जाता है। इसलिए व्यक्तोपासना को ईश्वरोपासना भी कह सकते हैं। तात्पर्य यही हुआ कि व्यक्त और अव्यक्तोपासना इन दोनों मार्गों में कौन सा मार्ग उत्तम है। “योगवित्तम” शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि योग अर्थात् चित्त की एकाग्रता रूप समाधि को जानने वाले योगवेत्ता कहे जायेंगे, उनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है ?

श्रीरामानुजाचार्य यहाँ सगुण और निर्गुण का प्रश्न उठाते हैं। उनका कथन है कि छठे अध्याय में योगनिरूपण प्रसङ्ग में निर्गुणरूप की उपासना कही गई है और यहाँ सर्वगुण विशिष्ट अपना रूप दिखाकर भगवान् ने उनकी उपासना का आदेश किया। इस पर अर्जुन का प्रश्न है कि इन सगुण और निर्गुण की उपासनाओं में श्रेष्ठ मार्ग कौन सा है और शीघ्रता से सिद्धि किस मार्ग से मिलती है ?

मध्वाचार्य श्रीआनन्दतीर्थ यहाँ अव्यक्तशब्द से प्रकृति को लेते हैं और प्रकृति की अधिष्ठात्री लक्ष्मी से उसका तात्पर्य बतलाते हैं। उनके मतानुसार प्रश्न का अर्थ है कि जो भक्त आपकी अर्थात् परब्रह्म की उपासना करते हैं और जो अव्यक्त की अर्थात् लक्ष्मी देवी की उपासना करे हैं उनमें श्रेष्ठ कौन है ? भगवद्गीता में ही पहिले “अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः” इत्यादिरूप में अव्यक्त को ही अक्षरशब्द का अर्थ बतलाया है। वहाँ भी इनके मतानुसार अव्यक्तशब्द का अर्थ लक्ष्मी माता ही है और “अक्षरात्परतः परः”

इत्यादि वाक्यों के द्वारा परब्रह्म को उस लक्ष्मी देवी से भी पर कहा गया है। सामवेद आदि में कई जगह लक्ष्मी माता की उपासना का विधान प्राप्त होता है, इसलिए अर्जुन के प्रश्न की संगति लग जाती है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती तथा महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी यहाँ साकार निराकार का प्रसङ्ग लेते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से विश्वरूप प्रदर्शन के द्वारा या विभूति अध्यायों में जो आपने अपना साकार रूप बतलाया, उसकी उपासना जो भक्त करते हैं और जो “अस्थूल” “अनणु” उपनिषदों में कहे गये या “मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चित्” इत्यादि उपदेशों के द्वारा पूर्व कथित इन्द्रियों से अग्राह्य अक्षर अर्थात् निराकार व्यापक तत्त्व की उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकार के भक्तों में अधिक योगवेत्ता अर्थात् शीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेने वाले कौन हैं—यह निर्णय कर बतलाइये। जिससे कि मोक्ष की इच्छा से मैं भी उस मार्ग का अनुसरण करूँ।

श्रीशङ्करानन्दजी और श्रीधरस्वामी अर्जुन के प्रश्न का यह आशय लगाते हैं कि ज्ञान और भक्ति में कौन मार्ग श्रेष्ठ है। कदाचित् किसी को यह शङ्का हो कि यहाँ तो “उपासते” पद स्पष्ट है, फिर ज्ञान का प्रसङ्ग यहाँ कैसे लिया जायेगा ? तो इसका उत्तर है कि ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी ज्ञान की स्थिरता के लिए उपासना करने की आवश्यकता होती है। जैसा कि पञ्चदशी आदि ग्रन्थों में बतलाया गया है कि दूसरी ओर से चित्त को रोक कर निरन्तर निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन ही उस समय की उपासना है। इसलिए यहाँ प्रश्न का आशय यही लगाना चाहिये कि पहिले भगवान् ने “मद्भक्ता यान्ति मामपि” इत्यादि उपदेशों के द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता कही है और “सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि” इत्यादि वाक्यों के द्वारा कहीं ज्ञान की भी श्रेष्ठता बतलाई है। एकादश अध्याय के अन्त में भी “मत्कर्मकृन्मत्परमः” इत्यादि शब्दों के द्वारा भक्ति का आदेश दिया और भक्ति से ही मेरा सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान हो सकता है—इस वाक्य के द्वारा भक्ति को ज्ञान का अङ्ग बना दिया। इससे यही सिद्ध होता है कि भक्ति करने पर ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान के अनन्तर भगवद्रूप में प्रवेश हो जाता है, इससे अन्त में ज्ञान की श्रेष्ठता सिद्ध हुई। इस कारण अर्जुन का प्रश्न स्वाभाविक है कि भक्ति और ज्ञान इन दोनों मार्गों में शीघ्र और निश्चित फल देने वाला कौन है? पद्य का अक्षरार्थ इनके मत में यह है कि जिस प्रकार का विश्वरूप आपने मुझे दिखाया उस साकार रूप में जो आपकी उपासना करते हैं, अथवा जो ज्ञान प्राप्त कर उसकी स्थिरता के लिए इन्द्रियों से न जानने योग्य व्यापक अक्षर की पूर्वोक्त रूप से उपासना करते रहते हैं, उन दोनों में शीघ्रता और निश्चित फल प्राप्त करने वाले कौन हैं ?

श्रीविद्यावाचस्पतिजी यहाँ साकारोपासना से ईश्वरोपासना का आशय लगाते हैं

और अक्षरोपासना से आत्मानुचिन्तन लेते हैं, क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय में अक्षर को कूटस्थ अविचाली जीवरूप बतलाया है और सप्तमाध्याय के आरम्भ में भी प्रकृतिरूप से जीव का ही निर्देश किया है। इसलिए अक्षरपद से जीव का ग्रहण युक्तियुक्त है। इनके मतानुसार पद्य का अर्थ है कि जो पूर्व प्रदर्शित साकार ईश्वर रूप से आपकी उपासना करते हैं और इन्द्रियों से अग्राह्य अक्षर अर्थात् आत्मा की चिन्तनरूप उपासना करते रहते हैं, उन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ?

हमारे विचारानुसार आगे के उत्तर के पद्यों पर ध्यान देने से और प्रकृत पद्य में भी अव्यक्त को दूसरी ओर रखकर प्रश्न करने से साकार, निराकार या विश्वरूप, विश्वातीत की उपासना से सम्बन्ध में प्रश्न का आशय लगाना उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी कारण उत्तर में भगवान् मूर्ति-पूजा का भी साधनरूप से उपदेश करेंगे। भगवान् के उत्तर के पद्यों में ही यह सब स्पष्ट हो जायेगा। (१)

इसके समाधान में भगवान् कहते हैं कि सदा योग से युक्त होकर और भगवान् मेरी अवश्य रक्षा करें—इस प्रकार परम श्रद्धा रखते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, वे ही मेरी दृष्टि में युक्ततम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि “मयि” इस अस्मद् शब्द से भगवान् का क्या अभिप्राय है ? श्रीविद्यावाचस्पतिजी गीता में अस्मद् शब्द का अर्थ प्रायः अव्यय पुरुष ही मानते हैं, किन्तु अपने गीता के आचार्यकाण्ड में जहाँ गीता के अस्मद्शब्दों का भिन्न-भिन्न रूप से निरूपण किया है वहाँ इस अस्मद्शब्द को ईश्वर का वाचक ही माना है। ईश्वर के साकार और निराकाररूप से निराकाररूप को आगे पृथक् कहने के कारण यहाँ साकार ईश्वर ही विवक्षित है—यह तो स्पष्ट ही है।

यहाँ श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि इससे अक्षरोपासकों को निकृष्ट नहीं बतलाया, उनके विषय में तो आगे कहा जायेगा। यहाँ साकारोपासकों को श्रेष्ठ बतलाने का यही अभिप्राय है कि साकारोपासना के मार्ग में क्लेश अल्प होता है और अक्षरोपासकों को अधिक क्लेश होता है, जैसा कि आगे के पद्यों में स्पष्ट किया जायेगा।

वल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी यहाँ “अस्मद्” शब्द का अर्थ पुरुषोत्तम अर्थात् अव्ययपुरुष ही मानते हैं, किन्तु अव्यक्त का पृथक् कथन होने के कारण यहाँ अपने अवताररूप में प्रकट स्वयं गीता का उपदेश करते हुए पुरुषोत्तम ही यहाँ विवक्षित हैं—यह उनका मत है। इस सम्प्रदाय में अव्यक्त पुरुषोत्तम भगवान् ही वासुदेव कृष्ण रूप में प्रकट हैं—यही माना जाता है। उस सम्प्रदाय के अनुसार ही उनकी व्याख्या है।



जो कुछ भी हो, इस पद्य के द्वारा साकारोपासना को श्रेष्ठ माना गया—यह तो सभी व्याख्याकारों को सम्मत है। कई व्याख्याकार, अर्जुन पूर्ण योगारूढ़ नहीं हैं इसलिए उसे साकारोपासना का ही उपदेश देना भगवान् ने उचित समझा—ऐसा मानते हैं और कई वास्तव में ही साकारोपासना सर्वसुलभ होने के कारण श्रेष्ठ है—ऐसा कह लेते हैं। (२)

जो अक्षर की उपासना करते हैं उनका क्या होता है—यह तो अग्रिम पद्य में बतलाया जायेगा। यहाँ अक्षर के ही सात विशेषण दिये जाते हैं। इन दोनों पद्यों को मिलाकर एक ही वाक्य समझना चाहिये। उस अक्षर का विशेषणों द्वारा स्वरूपनिर्देश किया जाता है कि वह “अनिर्देश्य” है, अर्थात् किसी शब्द से नहीं कहा जा सकता और “अव्यक्त” है, अर्थात् किसी भी अनुमान आदि प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। अथवा इन्द्रियों से अगम्य है। “सर्वत्रग” अर्थात् सब स्थानों में व्याप्त, अचिन्त्य अर्थात् मन में भी आने योग्य नहीं है और कूटस्थ है। “कूट” शब्द, छल से किये जाने वाले असत्य व्यवहार में निरूढ़ है, इससे यहाँ कूटशब्द से माया को लेना चाहिये, उस माया में स्थित है अर्थात् माया के अन्तर्गत न होकर अधिष्ठातारूप से उसके ऊपर विराजमान रहता है, इसी कारण वह अचल भी है, अर्थात् चलनक्रिया माया का धर्म है, वह माया के अधिष्ठाता में नहीं रह सकता। वह ध्रुव भी है अर्थात् जिसमें परिणाम अर्थात् अवस्था परिवर्तन न हो वह ध्रुव कहा जाता है—यह श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार पद्य का आशय कहा गया। श्रीरामानुजाचार्य यहाँ अक्षरशब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा अर्थात् शरीर के अधिष्ठाता जीव को मानते हैं। उसका निरन्तर चिन्तन ही उसकी उपासना है। इस प्रकार भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञानमार्ग में लगकर और निरन्तर आत्मा का ही अनुचिन्तन करने वाले इस पद्य के द्वारा कहे जाते हैं—यह उनका आशय हुआ। अपनी व्याख्या में वे विशेषणों का आशय भी इस प्रकार लगाते हैं कि “अनिर्देश्य” अर्थात् देव, मनुष्य, पशु आदि जो शरीरों के वाचकशब्द हैं उनके द्वारा आत्मा नहीं कहा जाता, क्योंकि वह देहादि से भिन्न है और शरीरों की तरह चक्षु आदि इन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता, इस कारण अव्यक्त है तथा सर्वत्रग है। यहाँ सर्वशब्द से भिन्न-भिन्न देह ही लेना चाहिये। उन अपने देव आदि देहों में चेतना देने के कारण अपनी किरणों के द्वारा सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु ऐसा होने पर भी देह आदि तो बुद्धि में आ सकते हैं, पर यह आत्मा उनसे भिन्न होने के कारण विचार में भी नहीं आ सकता और “कूटस्थ” है अर्थात् चाक या अरहट्ट के घूमने पर भी जो मध्य का डण्डा नहीं घूमता उसे कूटस्थ कहते हैं। इसी प्रकार शरीरों के क्रियाशील होने पर भी आत्मा क्रियाशून्य रहता है, इसीलिए यह “कूटस्थ” कहलाया। उसका स्पष्टीकरण “अचलम्” इस विशेषण से किया गया है और ध्रुव अर्थात् नित्य है।

वल्लभ आदि सम्प्रदायों के अनुयायी अन्य वैष्णव भी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान में लगकर आत्मचिन्तन करने वालों का ही इस पद्य में प्रतिपादन मानते हैं। जैसा कि श्रीभागवत में कहा गया है—

श्रेयः स्तुतिं भक्तिमुदस्य ते प्रभो !

क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,

नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

(स्कन्ध १०, अ० १४, श्लो० ४)

अर्थात् कल्याण को प्रवाहित करने वाली आपकी भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञानप्राप्ति के लिए कष्ट उठाते हैं, उनको वह कष्टमात्र ही मिलता है, जैसा कि मोटे तुषों के कूटने वाले केवल क्लेश के भागी होते हैं यही आशय यहाँ के पद्यों का भी वैष्णव व्याख्याकारों ने माना है। केवल आनन्दतीर्थभाष्य के कर्ता श्रीमध्वाचार्य यहाँ अव्यक्तपद से प्रकृति का ग्रहण करते हैं और मुख्य प्रकृति लक्ष्मी की उपासना की भगवदुपासना से तुलना करते हैं, किन्तु अनिर्देश्य आदि विशेषणों के अर्थ उन्होंने योग्यप्रकार से नहीं लगाये और प्रकृति की उपासना की अपेक्षा भगवदुपासना सरल है, प्रकृति की उपासना में अधिक क्लेश होता है—यह उनका सिद्धान्त भी विलक्षण ही प्रतीत होता है। इसलिए इन पद्यों की उनकी व्याख्या की यहाँ उपेक्षा ही की जाती है।

श्रीशङ्कराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार ज्ञान को ही भक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं—यह प्रसिद्ध ही है। इस कारण उनके मार्ग पर चलने वाले श्रीनीलकण्ठजी ने इन विशेषणों की व्याख्या संग्राह्यरूप में की है, अतः उसे यहाँ लिख देना आवश्यक है। अक्षरशब्द से यहाँ वही तत्त्व लिया जाता है जो कि बृहदारण्यकोपनिषद् में जनक की सभा में गार्गी का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा था कि 'एतद् वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्ति—अस्थूलमनणु' इत्यादि। अर्थात् सर्वधर्मरहित निर्विशेषब्रह्म ही अक्षरशब्द का वाच्य है। उसकी जो उपासना करते हैं अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के बाद भी विपरीत भावना का उदय न हो जाय, इस कारण निदिध्यासनरूप परब्रह्म का ध्यान करते रहते हैं वे ही यहाँ कहे गये। उस ब्रह्म के सात विशेषणों की व्याख्या इस प्रकार है कि वह अनिर्देश्य है अर्थात् किसी शब्द से नहीं कहा जा सकता, 'अव्यक्त' है अर्थात् बुद्धि से भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। जैसा कि श्रुति में स्पष्ट कहा है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् मन और वाणी जिसे न प्राप्त कर बीच से ही लौट आते हैं।

कदाचित् प्रश्न हो कि ऐसे मन और वाणी में न आने वाले तत्त्व को माना ही क्यों जाय ? उसका उत्तर दिया जाता है कि वह 'सर्वत्रग' है अर्थात् सत्ता और स्फुरणरूप से सब जगत् में व्याप्त है, इसलिए उसको मानना आवश्यक है। इस पर प्रश्न हो कि सब पदार्थों में जो सत्ता व्याप्त है, वह न्यायशास्त्र का माना हुआ सत्ता सामान्य ही क्यों न मान लिया जाय और स्फुरण जो बतलाया जाता है वह भी न्यायशास्त्र की अभिमतबुद्धि की विषयता ही क्यों न मान ली जाय ? इसका उत्तर अचिन्त्यविशेषण से दिया जाता है। इसका अभिप्राय है कि नैयायिक तो सत्ता और विषयता को प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु सबमें व्यापकब्रह्म किसी भी प्रमाण के द्वारा जाना नहीं जा सकता। सत्ता आदि से भिन्नब्रह्म को मानने की युक्ति यह है कि सत्ता में सत्ता न्याय मतानुसार नहीं मानी जाती, किन्तु सत्ता भी अवश्य ही सत् कही जाती है, यदि सत्ता असत् हो जायेगी तो वह भावरूप पदार्थ ही नहीं रहा, इसलिए सत्ता में भी ब्रह्म अनुगत है—यह मानना आवश्यक होगा। इसी प्रकार विषयता में भी समझ लेना चाहिये। न्याय की मानी हुई सत्ता से ब्रह्म की विशेषता दूसरे कूटस्थ विशेषण से भी सिद्ध करते हैं कि झूठे पदार्थ को सच्चा बता देना ही कूट शब्द का अर्थ है। उसमें स्थित होकर उसे प्रकाशित करनेवाला कूटस्थ कहा जाता है। यहाँ कूटशब्द से अहङ्कार समझना चाहिये। अहङ्कार का अर्थ है देह, इन्द्रिय आदि में अहं (मैं) यह बुद्धि। वह मिथ्या है, इसका भी प्रकाशक चैतन्य आत्मा या ब्रह्म ही है, क्योंकि यह देहादि में अहं बुद्धि भी जो भासमान होती है और जो भासमान हो, उसका प्रकाशक कोई उससे अतिरिक्त होना चाहिये। जैसा कि घट, पट आदि सब पदार्थों का प्रकाशक उनसे भिन्न सूर्य, दीपक आदि हैं। इसी प्रकार इस अहं बुद्धि का प्रकाशक भी इस बुद्धि से विलक्षण एक चैतन्य आत्मा मानना स्वतः सिद्ध हो जाता है। पुनः प्रश्न होता है कि उक्त प्रकार की अहं बुद्धि (मैं हूँ इस बुद्धि) में जो आया वही तो आत्मा है, उससे भी अतिरिक्त उसका प्रकाशक आत्मा मानने की आवश्यकता ही क्या ? इसका उत्तर "अचलम्" इस विशेषण से देते हैं। इसका आशय है कि अहं प्रतीति में तो मैं सुखी हूँ, मैं चिन्तित हूँ, दुःखी हूँ इत्यादि रूप से परिवर्तन प्रतीत हुआ करता है और "अहमिहैव गृहे तिष्ठामि" (मैं इस घर में बैठा हूँ) इत्यादि अनुभवों के अनुसार एकप्रदेश में रहना भी प्रतीत होता है, यदि ऐसा ही आत्मा माना जायेगा तब तो वह शरीर आदि की तरह अनित्य ही होगा ? फिर शरीर आदि से भिन्न आत्मा मानना ही व्यर्थ हो जायेगा, इसलिए आत्मा को तो अचल अर्थात् न बदलने वाला ही जानना चाहिये। जैसा कि गीता के द्वितीय अध्याय में ही सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए अहं प्रतीति में आने वाला ही आत्मा नहीं है अपितु उसका भी भासक है। फिर प्रश्न होता है कि आत्मा

सबका प्रकाशक माना जाता है, परिवर्तन भी नहीं होता, इसलिए सदा ही उसका प्रकाश रहता है—यह मानना पड़ेगा, तब सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में कोई भी प्रकाश नहीं होता—यह बात कैसे बनेगी ? और वह आत्मा इन्द्रिय आदि को प्रेरणा देता है—यह भी आत्मवादी सब मानते हैं। प्रेरणा देना अपने आपके बिना क्रियाशील हुए नहीं बन सकता। कुम्हार आदि को अपने व्यापार से ही चाक आदि में प्रेरणा देने वाला देखा जाता है। यदि आत्मा में भी क्रिया मान ली जाय तो आत्मा को सर्वव्यापक मानना नहीं बन सकता, क्योंकि व्यापक आकाश आदि में क्रिया नहीं देखी जाती ? इन सब बातों का उत्तर “ध्रुवम्” इस विशेषण से दिया जाता है। इसका अर्थ है कि आत्मा अवश्य ही नित्य है और निश्चल भी है। नित्य निश्चल ही ध्रुवशब्द का अर्थ है। गहरी नींद में भी प्रकाश रहता ही है, तभी तो जागने पर “मैं बड़े आनन्द से सोया”—इस प्रकार नींद में अनुभव किये हुए आनन्द का स्मरण होता है। यदि निद्रा अवस्था में आनन्द का अनुभव न हुआ होता तो स्मरण कैसे होता। बिना अनुभव के तो स्मरण बन ही नहीं सकता। इसलिए गहरी नींद में आनन्द का प्रकाश सिद्ध हो जाता है। बुद्धि के प्रलीन रहने के कारण उस समय स्पष्ट प्रतीति नहीं होता। मैंने कुछ नहीं जाना—इस प्रकार निद्रा में अज्ञान का भी स्मरण होता है, वही अज्ञान सबको ढके रहता है, इसलिए बुद्धि आदि की प्रतीति नहीं होती। दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि जैसे चुम्बक बिना अपना व्यापार किये हुए भी लोहे में व्यापार करा देता है, इसी प्रकार आत्मा बिना अपनी क्रिया के भी इन्द्रिय, मन आदि में क्रिया उत्पन्न करा सकता है। इसलिए आत्मवादियों के सिद्धान्त में कोई भी दोष नहीं रहता। (३)

सभी मतों में यह शङ्का होती है कि ऐसे अक्षर की उपासना किस प्रकार हो सकती है ? जबकि वह मन और वाणी का विषय ही नहीं हो सकता। उपासना तो चित्त को एक जगह स्थिर करने का ही नाम है। वैष्णवाचार्यों के मतानुसार भी निर्गुण आत्मा का उपासनारूप निदिध्यासन भी कैसे हो सकेगा ? क्योंकि जब मन उसे प्राप्त ही नहीं कर सकता तो बार-बार अनुसन्धान कैसे संभव हो ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए अग्रिम पद्य के तीन चरणों से उपासना का प्रकार बतलाते हैं और मध्य में ही तृतीय चरण से इस उपासना का फल भी कहते हैं। उपासना यों है कि सब इन्द्रियों का संयम अर्थात् विषयों में जाने से उसे रोकना पहिले होना चाहिये—यह तो सभी ध्यानमार्गों में आवश्यक ही होता है और सर्वत्र समबुद्धि रहनी चाहिये, अर्थात् सुख या दुःख की प्राप्ति में चित्त में कुछ भी विकार न होना चाहिये अथवा देहों के भिन्न-भिन्न रहने पर भी सबमें ज्ञान रूप आत्मा एक ही है—इस प्रकार आत्मा पर ही दृष्टि रखनी चाहिये। भगवद्गीता के पञ्चम अध्याय में “निर्दोषं हि समं ब्रह्म” ऐसा कहा

गया है। उसके अनुसार यहाँ यह भी अर्थ हो सकता है कि सब जगत् के पदार्थों में “ये सब ब्रह्मरूप ही हैं—ऐसी भावना होनी चाहिये और इसी भावना से सब प्राणियों का हित करने में सदा तत्पर रहना चाहिये। किसी का किञ्चित् भी अपकार अपने द्वारा न हो—इसमें सावधान रहना चाहिये। इस प्रकार के बर्ताव से ही अक्षरब्रह्म की उपासना बन जाती है। इस उपासना का फल भगवान् कहते हैं कि अक्षर की उपासना करने वाले भी मुझको ही प्राप्त करते हैं। यहाँ एवकार का अभिप्राय श्रीशङ्कराचार्य यह लगाते हैं कि वे तो सदा ही मेरे स्वरूप में स्थित हैं। जैसा कि ‘ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्’ में कहा जा चुका है। श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त में मुक्त होने पर भी जीव परब्रह्म के साथ एकता नहीं प्राप्त करता। इसी के अनुसार वे यहाँ अर्थ करते हैं कि मुझको ही प्राप्त करते हैं, अर्थात् मेरे समान ही संसार से छुटकारा पा जाते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या है कि ऐसे आत्मोपासक भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु भक्ति के बिना इस रूप में आनन्द उन्हें नहीं मिलता। इसी कारण पूर्व पद्य में इन्हें युक्ततम नहीं कहा, किन्तु उपासकों को ही युक्ततम बतलाया।

श्रीशङ्कराचार्य के सिद्धान्तानुयायी अन्य नीलकण्ठजी आदि व्याख्याता तो इस भगवत् प्राप्ति को ही पराकाष्ठा मानते हैं। (४)

तब पुनः यह शङ्का होगी कि जब ये भी आपको प्राप्त कर लेते हैं तो फिर आपने साकार सगुणोपासकों को ही युक्ततम क्यों बतलाया ? इसका उत्तर अग्रिम पद्य में दिया जाता है कि अव्यक्त में मन लगाने वाले को क्लेश अर्थात् मन बुद्धि का कष्ट अधिक होता है, क्योंकि देहधारी पुरुष अव्यक्त में अपने मन का निवेश बड़े कष्ट से कर सकते हैं जब तक मनुष्य आदि को अपने देह का अभिमान रहता है, इसके दोनों अर्थ हो सकते हैं, सामान्य अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित मनुष्य शरीर को ही आत्मा समझा करते हैं, वे भी इस शब्द से कहे जा सकते हैं और जिन्होंने शास्त्रवाक्यों या गुरुवाक्यों से आत्मा को देह से पृथक् समझ लिया उन्हें भी यह मेरा देह है—ऐसी देह में ममता बुद्धि तो रहती है। वे देह में ममता रखने वाले भी इस पद से कहे जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यही होता है कि जब तक हम लोगों को यह मेरा देह है, यह मेरी आँख है, इससे मैं देखता हूँ, ये कान हैं, इनसे मैं सुनता हूँ, इत्यादि रूप से देह और देह के अवयवों में अहन्ता या ममता रहेगी, तब तक हम लोग व्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण योग्य अर्थों में ही झुँकेगे, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने ग्रहण करने योग्य पदार्थों की ओर ही जाती हैं और उनके साथ ही मन भी उन पदार्थों की ओर ही जाया करता है। उनको उधर से रोक कर जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता उस ओर मन को लगाना बहुत कठिन है।

यहाँ पद्य में “अधिकतर” पद आया है। इसका आशय श्रीशङ्कराचार्य यही लगाते हैं कि यद्यपि सगुण साकार की उपासना में भी इन्द्रियों को बाह्य सांसारिक विषयों से तो रोकना पड़ता है इसलिए अधिक क्लेश तो वहाँ भी है, किन्तु कुछ अवलम्ब रहने से वह मार्ग सुकर हो सकता है। जैसा कि हम द्वितीय अध्याय के ६१वें श्लोक पर मूर्तिपूजा के प्रतिपादन में लिख चुके हैं कि इन्द्रियों के विषयों को भगवान् से सम्बन्ध कर रोकने में सुकरता होती है। सुन्दर माला आदि गन्ध भगवान् के लिए तैयार करने या सुन्दर खाद्य पदार्थ भगवान् को नैवेद्य देने के लिए बनाने में इन्द्रियाँ और मन लग सकते हैं, किन्तु जहाँ बिना किसी अवलम्बन के ही बलात् इन्द्रियों को रोकना पड़े, वहाँ उन इन्द्रियों के दमन में देहाभिमानियों को और भी अधिक कष्ट का अनुभव होना स्वाभाविक है।

श्रीनीलकण्ठजी अव्यक्तोपासना में जो क्लेश है उसे स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्त मूर्ति आदि के उपासक हैं वे इस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं कि वास्तव में यह सब संसार ब्रह्म पर ही अध्यस्त है, अर्थात् माया द्वारा परब्रह्म ही जगद्रूप से भासित हो रहा है। पहिले परब्रह्म पर चेतन प्राणियों का आभास होता है फिर चेतन प्राणियों पर आतिवाहिक अर्थात् जड़रूप मृत्तिका पाषाण आदि का अध्यास हो जाता है। यह मूर्ति भी मृत्तिका, पाषाण, धातु आदि किसी से ही बनी हुई होगी, तब जैसे रज्जु पर किसी को किसी अवसर पर सर्प का भ्रम हो जाय और फिर वह अपनी दृष्टि गड़ाकर बार-बार उस रज्जु को देखता रहे तो जैसे अध्यास का सर्प गायब हो जाता है और रज्जु ही उसे प्रतिभासित होता है, इसी प्रकार प्रतिमा पर पूर्ण ध्यान लगाने से इसका भी जड़त्व दूर हो जायेगा और वह प्रतिमा ही चेतनरूप में इसके सामने प्रकाशित हो जायेगी। जैसा कि कई भक्तों ने प्रतिमा में ही परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया और साक्षात्कार करके बाणासुर आदि परब्रह्मरूप शङ्कर के साथ साक्षात् व्यवहार करने लगे। ऐसे चरित्र पुराणों में स्पष्ट मिलते हैं। इसे ही योगदर्शन भाष्य में “वितर्कज प्रत्यक्ष” कहा गया है। इस प्रकार व्यक्त की उपासना करने वाले क्रम से परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं और जो पहिले ही अव्यक्त की ओर छलांग मारकर जाना चाहें, उनकी वैसी ही गति होती है जैसी की निरालम्ब आकाश में कूद फाँद करने वालों की, अर्थात् उन्हें केवल क्लेश ही मिलता है। सिद्धि हाथ नहीं लगती। जैसा कि हम श्रीभागवत के श्लोक के द्वारा दिखा चुके हैं।

यहाँ के पद्यों को, बारहवें पद्य पर ध्यान देकर कई व्याख्याकारों ने भक्ति और ज्ञान के तारतम्य पर ही लगाया है। अर्थात् इन पद्यों के द्वारा यही विवेचन किया है कि भक्ति श्रेष्ठ है या ज्ञान ? अर्जुन के प्रश्न को भी वे उस ओर ही खींचते हैं, जैसा

कि हम इस अध्याय के आरम्भ से ही उनका मत प्रदर्शित करते आये हैं, किन्तु हमारे मत से सम्पूर्ण प्रकरण की आलोचना करने से यहाँ उपासना का ही प्रकरण होने से और विभूति कथन एवं विश्वरूप प्रदर्शन के अनन्तर इस प्रकार का प्रश्नोत्तर होने से व्यक्त उपासना या अव्यक्त उपासना में कौन श्रेष्ठ है—यही अर्जुन का प्रश्न है और उसी के अनुसार अध्याय के अन्त तक भगवान् ने भी व्यक्त उपासना की श्रेष्ठता ही प्रदर्शित की है। बारहवें श्लोक का आशय भी हम इसी क्रम के अनुसार स्पष्ट करेंगे। (५)



## सैंतालीसवाँ-पुष्प

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।  
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥  
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।  
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥  
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।  
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥८॥  
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।  
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ॥९॥  
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म परमो भव ।  
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धमवाप्स्यसि ॥१०॥

सगुण साकार की उपासना करने वाले को और भी लाभ है—यह प्रदर्शित करते हैं कि हे पार्थ ! जो अपने कर्मों को मेरे अर्थात् साकार विश्वरूप के आधार पर छोड़कर सब अपने कर्मों के फलों को मुझे अर्पण कर अनन्यभाव से मन का योग लगाकर मुझे ही सबसे उत्कृष्ट मानकर मेरा ही ध्यान करते हुए अपनी चित्तवृत्ति को मेरी ओर ही रखते हैं, उनका शीघ्र ही मृत्युरूप संसार समुद्र से मैं शीघ्र ही उद्धार करने वाला हो जाता हूँ, क्योंकि वे अपने चित्त को मुझमें ही अर्पण कर चुके हैं। इसका तात्पर्य यही हुआ कि सगुण साकाररूप भी चित्तयुक्त है, वह अपने चित्त से यह देखता रहता है कि कौन मेरी उपासना कर रहे हैं। ऐसा देखकर वह अपने उपासकों की सहायता करता रहता है। यह ईश्वर की सहायता का बहुत अवलम्ब भी सगुण साकार के उपासकों को प्राप्त होता है और जो व्यापक अक्षर ब्रह्म की ही उपासना में लगते हैं उनको अक्षरब्रह्म तो कोई सहायता दे नहीं सकता, क्योंकि अक्षरब्रह्म का चित्त आदि के साथ योग नहीं, इसलिए वह यह जान भी नहीं सकता कि कौन मेरी उपासना करता है, तब सहायता प्राप्त होने की तो कथा ही क्या । अक्षरब्रह्म तो सबके प्रति एक-सा ही है। यही बात पूर्व भी भगवान् ने कही कि यद्यपि मैं सबके प्रति समानरूप हूँ, मेरा न किसी से द्वेष है और न प्रेम, किन्तु जो मेरा भजन करते हैं, वे मेरी ओर झुके हुए हैं, अर्थात् मुझमें अपना मन लगाये हुए हैं, इसलिए मैं भी उनकी ओर झुकता हूँ,



अर्थात् उनकी सहायता करता हूँ। वहाँ भी “अस्मद्” शब्द से सगुण साकारोपासना का ही अभिप्राय है। अनन्योपासना का कई प्रकार से तात्पर्य हम पूर्व पद्यों में कह आये हैं, वही यहाँ भी समझना चाहिये।

कई व्याख्याकार इसका यह आशय बतलाते हैं कि सगुण साकार मेरे रूप में जो मन लगाते हैं, उन्हें मैं बहुत शीघ्र ही शुद्धब्रह्म की प्राप्ति करा देता हूँ। शुद्धब्रह्म प्राप्ति ही मृत्युयुक्त संसार सागर से उद्धार पाना है।

श्रीवल्लभाचार्य इसका यह आशय लगाते हैं कि यद्यपि मेरे भक्त मेरे सगुण साकाररूप में ही मन लगावेंगे, किन्तु मुझमें अर्थात् कृष्णरूप में मन लगाने में ही ऐसी शक्ति है कि उनको परब्रह्म प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। यही बात श्रीभागवत् के रास पञ्चाध्यायी में परीक्षित के प्रश्न पर शुकदेवजी ने कही है कि भगवान् श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव ही मनुष्यों का कल्याण करने के लिए है। उन पर प्रेम से या द्वेष से भी मन लगाने वालों को मुक्ति प्राप्ति हो ही जाती है। (६-७)

इस प्रकार साकार उपासना की श्रेष्ठता सिद्ध कर आगे भगवान् वैसी उपासना का ही अर्जुन को उपदेश देते हैं कि तुम भी मुझमें अर्थात् मेरे साकाररूप में ही मन को स्थापित करो। पद्य में “आधत्स्व” पद आया है। आधानशब्द का प्रयोग संस्कृतभाषा में किसी वस्तु को बन्धक (गिरवी) रूप में रखने के अर्थ में हुआ करता है। इस शब्द के प्रयोग से यहाँ भी यही आशय लेना चाहिए कि अपने मन को मेरे पास बन्धक रख दो अर्थात् जैसे बन्धक रखी हुई वस्तु से उसका स्वामी उससे कोई दूसरा काम नहीं ले सकता, उस प्रकार तुम भी अपने मन से मेरी उपासना के अतिरिक्त कोई दूसरा सांसारिक काम न लो। मन तो संकल्प करने वाला होता है और बुद्धि निश्चय करने वाली कही जाती है। इसलिये आगे भगवान् कहते हैं कि केवल संकल्प ही मेरे विषय में न करो किन्तु निश्चयात्मक बुद्धि को भी मेरे आधार पर ही स्थापित कर दो, अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान भी मेरा ही किया करो। बुद्धि की वृत्ति ही ज्ञानशब्द से कही जाती है। इनका कार्यकारणभाव भी बतलाया गया कि मुझमें मन लगाने से ही मेरा ज्ञान प्राप्त कर सकोगे। एकादश अध्याय के अन्त में जो भक्ति से मेरा दर्शन और उसमें प्रवेश भी हो सकता है—यह कहा गया है उसे ही यहाँ दोहराया गया। ऐसा करने से अपना देह छोड़ने के अनन्तर भी बिना सन्देह के मुझे ईश्वररूप को प्राप्त कर मेरे में ही निवास करोगे। यहाँ “निवसिष्यसि” आर्ष प्रयोग है। लोक में “निवत्स्यसि” प्रयोग होता है। (८)

इस प्रकार मन और बुद्धि का लगाना बहुत कठिन कार्य है—इस विचार से आगे भगवान् कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से मन को स्थिर करने में अपने को असमर्थ पाते हो तो हे धनञ्जय ! अभ्यास के सम्बन्ध से मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो।

पहिले छठे अध्याय में भी जब अर्जुन ने मन के रोकने को अतिकठिन कार्य बतलाया था तब भगवान् ने यही उत्तर दिया था कि अभ्यास से धीरे धीरे मन पकड़ा जाता है। अभ्यास का स्वरूप “योगदर्शन” में यही बतलाया गया है कि मन को स्थिर करने का बार बार यत्न करना ही अभ्यास कहा जाता है। मन का यह स्वभाव है कि जिस वस्तु की ओर बार बार ले जाया जाय, वहाँ फिर धीरे-धीरे अधिक काल तक ठहरने लगता है। इसी आशय से सनातनधर्म में नित्य सन्ध्योपासनादि कर्म करने की विधि बतलाई गई है कि बार बार प्रतिदिन मन भगवान् की ओर ले जाया जायेगा तो वह कुछ काल तक भगवान् में ठहरने लगेगा। इस पर भ्रमर के दृष्टान्त से विस्तृत व्याख्या हम द्वितीय अध्याय के ६१वें पद्य में लिख चुके हैं। यहाँ अभ्यास से अभिप्राय यही है कि श्रवण कीर्तन आदि जो नव प्रकार की भक्ति बतलाई गई है, उसी का अनुष्ठान किया करो। वे नवधा भक्ति नीचे लिखे प्रकार से श्रीभागवत् में वर्णित हैं -

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

(स्क० ७। अ० ५ श्लो० २३)

अर्थात् भगवान् के, अपने इष्टदेव के गुणानुवाद सुनना, अपने मुख से भी उनका कथन करना, उन्हीं गुणों को बार बार याद करना, चरणकमल की सेवा, पूजन करना, प्रणाम करना, उनके प्रति दासभाव प्रकट करना, आगे दृढ़ता हो जाने पर अपने इष्ट से मित्रभाव स्थापित करना और अन्त में आत्मनिवेदन अर्थात् सर्वरूप से अपने आपको उनके ही अधीन बना देना—यही नौ प्रकार की भक्ति है। इन्हीं का बार बार आवर्तन “अभ्यास” शब्द से यहाँ कहा गया। (९)

यदि इस प्रकार का अभ्यास करने में भी असमर्थ हो अर्थात् अभ्यास में भी मन नहीं लगता तो उससे भी सरल उपाय यह है कि मेरी प्रसन्नता के लिए कुछ काम करते रहो। इस प्रकार मेरे लिए काम करते हुए भी सिद्धि प्राप्त कर सकोगे, अर्थात् इस प्रकार के कार्यों से अभ्यास में मन लगेगा और अभ्यास से फिर पूर्वोक्त प्रकार से मन स्थिर हो जायेगा तब अन्त में मुझे प्राप्त कर लोगे।

यहाँ मेरे लिये कार्यों का विवरण कई व्याख्याकारों ने मन्दिर में झाड़ू लगाना, मन्दिर धोना, किसी पूजा करने वाले के लिए चन्दन, पुष्प, तुलसी आदि का सम्पादन कर देना या भगवान् को भोग लगाने को रसोई बना देना, आदि किया है। ऐसे छोटे छोटे कामों में अनायास मन लग सकता है और कुछ मन लगने पर फिर पूर्वोक्त नवधाभक्ति के अर्चन, पादसेवन और वन्दन आदि में भी मन लग जाता है, फिर वह क्रम से भगवान् में स्थिर भी हो जायेगा।

इन दोनों पद्यों में मूर्तिपूजा का विधान स्पष्टरूप से प्राप्त होता है। मूर्तिपूजा का कुछ विवरण हम दूसरे अध्याय के ६१वें श्लोक में लिख आए हैं। अब यहाँ उसका विस्तृत विवरण किया जाता है। भगवान् की पूर्व उक्ति से यह सिद्ध हो चुका है कि देहधारियों का अव्यक्त में प्रवेश दुःख से अर्थात् अतिकठिनता से हो सकता है। इसी कारण से श्रुति में भी ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दोनों रूप बतलाये गये हैं—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च,  
मर्त्यञ्चामूर्तञ्च स्थितञ्च यञ्च सच्च त्यच्च ।

(बृहदारण्यक० २।३।१)

अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त। इन्हीं को मर्त्य और अमर्त्य, स्थित और चर तथा सत् और असत् भी कहते हैं। यद्यपि आगे के विवरण से सिद्ध होता है कि ये दो रूप ब्रह्म के वहाँ जगत् की अवस्था में ही बतलाए गए हैं। आकाश और वायु अमूर्त हैं और तेज जल पृथिवी ये मूर्त हैं, तथापि श्रुति में आरम्भ में ब्रह्म के दो रूप हैं—ऐसा कहा गया, इसलिए कारणरूप ब्रह्म में भी दो प्रकार के रूप हैं—यह मानना आवश्यक होगा। इसका तात्पर्य यही निकला कि अमूर्त अर्थात् अप्रकटरूप से देहधारी कोई काम ही नहीं ले सकते, इसलिए जो अमूर्त अर्थात् अप्रकट पदार्थ हैं उनकी भी कल्पित मूर्ति देहधारियों को बनानी पड़ती है। इसके कई एक निदर्शन हम द्वितीय अध्याय के मूर्तिपूजा प्रकरण में दे आये हैं कि अमूर्तशब्द की लिपिरूप मूर्ति कल्पना देहधारियों को करनी पड़ती है। इसी प्रकार अमूर्तरूप बिन्दु और रेखा की भी मूर्ति कल्पना उन्हें करनी पड़ती है। यदि कहो कि अक्षर, बिन्दु, रेखा आदि के बिना रूप कल्पना के तो विद्या ही प्राप्त न होगी ? और बिना विद्या प्राप्त किये तो मनुष्य जन्म ही निरर्थक हो जायेगा ? तो दूसरी बात और भी सोचिये कि बिना मूर्ति कल्पना के ईश्वर का ज्ञान या ईश्वरोपासना न बन सकेगी और बिना ईश्वरोपासना या ईश्वरज्ञान के मनुष्य जीवन का क्या मूल्य रह जायेगा ? इसी अभिप्राय से आचार्यों का यह वचन है कि —

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य

निर्गुणस्याशरीरिणः ।

उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

यह पद्य और इसकी दो प्रकार की व्याख्या हम द्वितीयाध्याय में प्रदर्शित कर चुके हैं। वहाँ ब्रह्म ही अपना स्वरूप प्रकाशित करता है इस अर्थ का हमने केवल अवतारवाद ही उदाहरण बतलाया था, किन्तु श्रीरामानुजाचार्य ने ब्रह्मकर्तृकरूप प्रकाशन के पाँच भेद बतलाए हैं, अर्थात् परब्रह्म ही अपने को पाँच रूपों में प्रकाशित किया

करता है, इन पाँच रूपों का उन्होंने पाञ्चरात्र आगम के अनुसार इस प्रकार विवरण किया है—अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी। इनमें प्रतिमारूप से जो भगवान् प्रकट होते हैं वह “अर्चा” कही जाती है। परब्रह्म का अवताररूप से प्रकट होना ‘विभव’ कहा जाता है। व्यूह चार होते हैं—वासुदेव व्यूह, संकर्षण व्यूह, प्रद्युम्न व्यूह और अनिरुद्ध व्यूह। अनन्त कल्याण गुण वाला, प्राकृतगुण और दोषों से वर्जित पहिला वासुदेव व्यूह कहा जाता है, उससे उत्पन्न जीव संकर्षण व्यूह कहे जाते हैं, मन-समूह रूप से प्रद्युम्न व्यूह कहे जाते हैं और सब जीवों के अहङ्कार समूह रूप से अनिरुद्ध व्यूह हैं। ये चारों व्यूह हुए। इनमें जो अनिरुद्ध व्यूह आया वह परब्रह्म का सर्वोत्पादक स्थूल रूप है। उनका ही सूक्ष्मरूप आगे चौथे सूक्ष्मरूप से कहा जाता है और जीव, जड़ आदि सबके भीतर प्रविष्ट होकर सबको अपनी अपनी मर्यादा में रखने वाला ‘अन्तर्यामी’ भगवान् का पाँचवाँ रूप है। इनमें उपासक का क्रम से प्रवेश होता है। पहिले उपासक अर्चा अर्थात् मूर्ति की पांच प्रकार की उपासना करता है—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग। भगवद्मूर्ति को मन्दिर में प्रतिष्ठित करना और उस स्थान को मार्जन, प्रक्षालन आदि से प्रतिदिन स्वच्छ करते रहना—‘अभिगमन’ कहा जाता है। चन्दन, पुष्प, धूप, दीप आदि सामग्री को इकट्ठा करना ‘उपादान’ कहा जाता है। मूर्ति में षोडशोपचार समर्पित करना “इज्या” कही जाती है। नाम मन्त्र आदि का जप ‘स्वाध्याय’ है और अन्त में चित्त में भगवान् का ध्यान ही ‘योग’ है। इस पांच प्रकार की अर्चा की उपासना से अन्तःकरण का मल क्षीण हो जाने पर साधक को भिन्न भिन्न अवतारों की उपासना का अधिकार मिलता है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व की सिद्धि हो जाने पर व्यूह, सूक्ष्म, अन्तर्यामी इन रूपों की उपासना का अधिकार मिलता जाता है। पाँचों रूपों की उपासना सिद्ध हो जाने पर भगवान् उन्हें मुक्ति पद दे देते हैं; जहाँ से संसार में फिर नहीं लौटना पड़ता। स्मरण रहे कि इनके सिद्धान्त में मुक्ति में भी जीव और ब्रह्म एक नहीं होते, किन्तु जीव ब्रह्म के समान हो जाता है। केवल इतना भेद रहता है कि ब्रह्म जगत् का उत्पादन, पालन और संहार करता रहता है, इस प्रकार ब्रह्म की समानता को प्राप्त नहीं कर सकते। यह तो उनके सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण है। यहाँ कहना इतना ही है कि श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त में मूर्तिकल्पित नहीं है, अपितु परब्रह्म ही मूर्तिरूप से प्रकट हुआ है। प्रतिष्ठा आदि के द्वारा उस प्रकटता को प्रस्फुट किया जाता है।



## अड़तालीसवाँ-पुष्प

### “मूर्तिपूजा का समर्थन”

श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार अर्चा अर्थात् मूर्ति भक्तों की कल्पना नहीं है, अपितु स्वयं भगवान् ही अर्चारूप से प्रकट होते हैं—इसका विवरण किया जा चुका। अन्य आचार्यों के मत से भक्तों के द्वारा ही जो ब्रह्म की मूर्ति कल्पना की जाती है, उस कल्पना में भी उन्होंने बड़े रहस्य माने हैं। प्रथमतः विष्णु भगवान् की शालग्राम शिला में और शङ्कर भगवान् की नर्मदेश्वर में जो पूजा की जाती है उसी पर दृष्टिपात कीजिये। शालग्राम शिला जो नदी से निकाली जाती है, उनके मध्य में स्वर्ण रहता है और वह स्वर्ण चारों ओर काले प्रस्तर से घिरा हुआ रहता है। यह विश्वरूप भगवान् का एक प्रतिरूपक है। भगवद्रूप विश्व की भी ऐसी ही परिस्थिति है कि सप्तभुवन रूप विश्व के मध्य में देदीप्यमान सूर्य सुवर्णरूप है और उसके चारों ओर कृष्ण वर्ण का सोम उसे घेरे हुए है। जिस प्रकार कृष्ण वर्ण सोम के मण्डल के मध्य चमकता हुआ सूर्यमण्डल विराजमान रहता है और यह सूर्यमण्डल या सोममण्डल गोल आकार के ही होते हैं उसी की प्रतिकृति (नकल) मानो भगवान् ने एक नदी में प्रस्तररूप से प्रकट कर दी है। इसी प्रस्तर का पता पूर्व आचार्यों ने बहुत काल के अन्वेषण के अनन्तर लगाया होगा और तभी विश्वरूप भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में इसकी पूजा प्रचलित की गई।

इसी प्रकार यह भी देखना चाहिए कि सूर्य सदा एक स्थान में नहीं रहता, वह दिन में पूर्व से पश्चिम की ओर जाता हुआ दिखाई देता है और पश्चिम में जाकर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। जो आजकल के विद्वान् भूमि का भ्रमण मानते हैं, उनके मत से भी यह तो सिद्ध ही है कि भूमि का और सूर्य का क्रम सदा एक प्रकार का नहीं रहता। इसी कारण हम पृथिवी के निवासियों को सूर्य कभी पूर्व ओर और कभी पश्चिम की ओर दिखाई देता है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न गोल आकारों को यदि इकट्ठा किया जाय तो वह प्रलम्ब आकार का एक गोल बनेगा। वैसा ही प्रलम्ब गोल आकार नर्मदा के पाषाणों में प्राप्त होता है। इसलिए उन प्रस्तरों में भगवान् शङ्कर की पूजा प्रचलित की गई है। तात्पर्य यह हुआ कि सूर्यमण्डल को मध्य में एकत्र स्थित मानकर गोलरूप में विष्णु भगवान् की मूर्ति कल्पना की गई और सूर्य या पृथिवी के भ्रमण से जो ब्रह्माण्ड की परिस्थिति होती है, उसी की प्रतिकृति मानकर नर्मदेश्वर को शङ्कर भगवान् की मूर्ति माना गया। ये दोनों ही विश्वरूप ईश्वर हैं और

चित्त को स्थिर करने के लिए उन मूर्तियों का आधार मान कर इनकी उपासना प्रचलित है। भिन्न-भिन्न उपासकों के लिए ये दोनों भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ कल्पित हैं। अधिकारानुसार उपासक इनका उपयोग करते हैं।

अब जो सम्पूर्ण-मनुष्य के आकार रूप में विष्णु, शिव, शक्ति आदि की मूर्तियाँ कल्पित की गई हैं उनका विवरण करना अवसर प्राप्त है। विष्णु भगवान् जगत् के पालक माने जाते हैं। जगत् के पालक के लिए दुग्ध परमावश्यक है। बाल्यावस्था से ही दुग्ध का उपयोग आरम्भ हो जाता है। इसलिए भगवान् विष्णु का क्षीरसागर अर्थात् दुग्ध के समुद्र में ही शयन माना जाता है। ब्रह्माण्ड के अनन्त जीवों के पालनार्थ दुग्ध देना, बिना दुग्ध-समुद्र के कैसे बन सकता है ? इसके अतिरिक्त कौस्तुभमणि जैसा उनके वक्षःस्थल में विराजमान है और सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति की अधिष्ठात्री श्रीमाता लक्ष्मीदेवी भी उनकी सेवा में सदा प्रस्तुत रहती हैं, जिससे धन-सम्पत्ति द्वारा भी वे सब जगत् का पालन कर सकते हैं। जगत् के पालन के लिए यह भी आवश्यक है कि संहार की सामग्री को दबाया जाय, इसी अभिप्राय से भगवान् विष्णु का शयन, संहारकों के ईश्वर शेषनाग पर माना जाता है। इसका यही आशय है कि संहारक सर्प को वे अपने शरीर के नीचे दबाये हुए है।

इसी प्रकार शङ्कर भगवान् जगत् के संहारकर्ता माने जाते हैं। उनका रूप भी संहारकारक ही कल्पित है। संहारकारक के पास संहार की सामग्री चाहिए। संहार की सामग्री सबसे विशेष सर्प ही माने जा सकते हैं। वे सर्प उनके प्रत्येक अङ्ग में लिपटे हुए हैं। जिस महासर्प को विष्णु भगवान् ने अपने शरीर के नीचे दबा रक्खा था वे ही बड़े बड़े सर्प भगवान् शङ्कर के अङ्गों में प्रस्फुट रूप में व्याप्त देखे जाते हैं अन्य भी संहार की सामग्री विष या विष के जिनमें अंश हैं वे आक धतूरे आदि या संहार के साधन त्रिशूल आदि भी उनके हाथों में स्फुटरूप से दिखाई देते हैं एवं ब्रह्मा जगत् के उत्पादक माने जाते हैं। उत्पत्ति का प्रधान साधन जलतत्त्व ही है। जल से ही सब वृक्ष लता आदि की या प्राणियों की उत्पत्ति देखी जाती है। वह जल ही उनके हाथ के कमण्डलु में विराजमान है। इसी प्रकार पृथिवी ही सब प्राणियों के शरीर की उत्पादिका है, वह पृथिवी ही कमल रूप में कल्पित कर ब्रह्मा का आसन रूप मानी गई है। यह इन तीनों देवताओं की बाह्य परिस्थिति का अपने अपने अधिकार के अनुकूल होना बतलाया गया। अब इनकी मूर्ति का अन्तरङ्ग रहस्य भी प्रकट किया जाता है। विष्णुपुराण में भगवान् विष्णु की मूर्ति का विवरण इस प्रकार मिलता है।

आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणात्मकम् ।

विभर्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः ।

श्रीवत्ससंस्थानधरमनन्तेन समाश्रितम् ।  
 प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदारूपेण माधवे ॥  
 भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाहङ्कारमीश्वरः ।  
 विभर्ति शङ्खरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम् ॥  
 चलत्स्वरूपमत्यन्तं जवेनान्तरितानिलम् ।  
 चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुकरे स्थितम् ॥  
 पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः ।  
 सा भूतहेतुसङ्घाता भूतमाला च वै द्विज ॥  
 यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिकर्मात्मकानि वै ।  
 शररूपाण्यशेषाणि तानि धत्ते जनार्दनः ॥  
 विभर्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम् ।  
 विद्यामयं तु तज्ज्ञानमविद्याकोशसंस्थितम् ॥  
 इत्थं पुमान् प्रधानं च बुद्ध्यहङ्कारमेव च ।  
 भूतानि च हृषीकेशे मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥  
 विद्याविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत्समाश्रितम् ॥

(वि०पु० प्र०अ० २२)

इनका अर्थ है कि सम्पूर्ण जगत् के जीवधारियों के जो आत्मा-जीव निर्मल और गुणों से रहित हैं, उन सबके समुदाय को कौस्तुभमणिरूप से धारण करते हैं, अर्थात् विष्णु भगवान् के वक्षःस्थल में जो कौस्तुभमणि है वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवात्माओं का प्रतीक है। अनन्त भगवान् श्रीविष्णु के वक्षःस्थल में जो श्रीवत्स का चिन्ह है वह प्रधान अर्थात् प्रकृति का प्रतिरूप है एवं भगवान् विष्णु के हाथ में जो कौमोदकी गदा है वह बुद्धिरूप समझनी चाहिये। भूतों को उत्पन्न करने वाला और इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाला जो राजस और तामस दो प्रकार का अहङ्कार सांख्यदर्शन में प्रसिद्ध है, वह भगवान् विष्णु के आकार में शङ्ख और शार्ङ्गरूप में विराजमान है और विष्णु भगवान् के हाथ में जो सुदर्शनचक्र है—जो अपने वेग के आगे वायु को भी पीछे छोड़ देता है, वह संसार के जीवों के मन का रूप जानना चाहिये एवं मुक्ता माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील और हीरक इन पाँच प्रकार के रत्नों की बनी हुई जो वैजयन्ती नाम

की माला विष्णु भगवान् धारण करते हैं, वह आकाश, वायु तेज, जल और पृथिवी इन पाँच महाभूतों का प्रतीक है और संसार के प्राणियों के जो पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रिय और पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रिय होती हैं वे वाणरूप से भगवान् विष्णु के आयुधों में विराजमान हैं। ('जैसे वाण अपने लक्ष्य पर जाता है वैसे ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों पर दौड़ कर जाया करती हैं—यही इन्द्रियों और वाणों की समानता समझनी चाहिए। पूर्वोक्त प्रकृति आदि में समानता अपनी बुद्धि से समझ लेनी चाहिए) एवं भगवान् विष्णु जो अत्यन्त स्वच्छ नन्दक नाम का खड्ग धारण करते हैं वह संसार के प्राणियों की विद्या अर्थात् ज्ञानरूप जानना चाहिये। जैसे खड्ग अपने कोश से ढँका हुआ रहता है उसी प्रकार यह विद्या भी अविद्या अर्थात् अज्ञान से आच्छादित रहती है। इससे विद्या और अविद्या दोनों ही भगवान् के हाथ में हैं, वे ही संसार के प्राणियों को प्राप्त हाती हैं—यह दिखलाया गया। इस प्रकार प्रकृति से आरम्भ कर इन्द्रिय महाभूत आदि पर्यन्त या बुद्धि के धर्म-ज्ञान, अज्ञान ये सब भगवान् विष्णु के आकार में ही विराजमान हैं। भगवान् विष्णु का जो श्यामवर्ण है वह उनमें कोई वर्ण न होने या सब वर्ण उनमें ही होने की सूचना देता है। सब वर्णों का अभाव भी श्यामरूप से कहा जाता है और सब रूपों के पदार्थों को इकट्ठा मिलाकर पीसा जाय तो वे सब भी मिलकर श्याम हो जाते हैं। देवताओं की या भगवान् की जो भुजाएं कल्पित होती हैं वे दिशाओं की प्रतीक हैं। चारों दिशाओं में व्याप्ति बतलाने के कारण प्रायः चतुर्भुज मूर्ति ही मानी जाया करती है। जहाँ अवान्तर दिशा अर्थात् कोणों की भी संख्या मिला ली जाय तो आठ भुजा की भी मूर्ति होती है, जो कि शक्तियों की मूर्तियों में प्रसिद्ध हैं जिनका विवरण आगे किया जायेगा। यदि ऊपर का और नीचे का भाग—ये दो भी दिशाओं में सम्मिलित कर लिये जायें तो दश दिशाएं हो जाती हैं। इसीलिए शक्तियों की दश भुजा की मूर्ति भी मानी गई है और दिशाओं को अपने रूप से अनन्त मान लिया जाय तो अनन्त का प्रतीक सहस्र माना जाता है इसलिए महर्षिर्मर्दिनी देवी के सहस्र भुजा रूप का वर्णन मार्कण्डेयपुराण में मिलता है और वेद के पुरुषसूक्त में भी पुरुषरूप भगवान् के हजारों मस्तक, नेत्र, चरण आदि का वर्णन है। इन सबको हाथों का भी उपलक्षण मानना चाहिये एवं भगवान् कृष्ण ने जो अर्जुन को विश्व रूप दिखलाया था, उसमें हजार हाथों का वर्णन है। मुख्य दिशा चार ही हैं, इसलिए परब्रह्म की प्रतीक विष्णु शिव आदि की मूर्तियाँ चतुर्भुज हुई हैं और भगवान् की शक्ति की, दिशा अवान्तर दिशा आदि सबमें व्यापकता दिखलाने के लिए शक्ति की मूर्तियाँ अष्टभुजा या दश भुजा मानी गई है। पृथिवी ही सबभूतों की वेष्टन रूपा है और पृथिवी को वेदों में “अग्निगर्भा” कहा गया है—“यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी” इसी कारण भगवान् विष्णु का वस्त्र अर्थात् आवरण या आच्छादन पीत माना गया।



इस प्रकार विष्णु की मूर्ति या उनके आयुध आदि का रहस्य विष्णुपुराण के आधार पर लिखा गया।

शिवमूर्ति का इसी प्रकार का रहस्य 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि, इस पद्य की व्याख्या में बतला चुके हैं। अतः उसकी यहाँ पुनरुक्ति अनावश्यक है। ईश्वर की ही तीसरी मूर्ति ब्रह्मा नाम से मानी जाती है उनका भी वर्णन आवश्यक है। यद्यपि ब्रह्मा का मन्दिर पुष्कर क्षेत्र के अतिरिक्त प्रायः कहीं प्राप्त नहीं होता, तथापि उनका आकार और आयुध पुराणों में प्रतिपादित है। उनके अनुसार ही कुछ लिखा जाता है। ब्रह्मा का रक्त वर्ण माना जाता है। सांख्यदर्शन में रजोगुण का रक्त वर्ण कहा गया है। रजोगुण ही सबका उत्पादक है। इसी कारण सृष्टिकारक वह रूप माना गया। तात्पर्य यह है कि क्रियाशक्ति ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पादिका है। उसका गति और अगतिरूप में संघर्ष चलता रहता है। रजोगुण क्रिया रूप ही है, इसलिए उसका रूप रक्त माना गया और रजोगुण के अधिष्ठाता होने के कारण ब्रह्मा का भी वही रूप कल्पित हुआ। ब्रह्मा के जो चार मुख हैं वे चारों वेदों या चारों वर्णों के प्रतीक हैं। सभी ब्रह्मा के द्वारा उत्पादित हैं। ब्रह्मा के हाथ में जो कमण्डलु है उसका वर्णन पूर्व कर चुके हैं। अन्य हाथों में पुस्तक, चरुपात्र और खुवा वर्णित हैं। वे यज्ञ की सामग्री होने के कारण यज्ञ के ही प्रतीक माने जाने चाहिये। उनका वाहन जो हंस बताया गया है, वह विवेक बुद्धि का प्रतीक है। नीर और क्षीर का विवेक अर्थात् पृथक् भाव कर देना हंस का प्रधान धर्म माना जाता है। इस कारण हंस को तिर्यक् योनि में सबसे बुद्धिमान् माना गया और बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं, इस कारण उनका वाहन हंस होना युक्तियुक्त है। पुष्कर में जो महाकाली मन्दिर है, वहाँ ऐसी घटना बतलाई गई है कि उनकी शक्ति सावित्री रूठ कर पर्वत पर जा बैठी हैं और ब्रह्मा के पास गायत्री अवस्थित हैं। इसकी घटना पुराण आदि में तथा लोक में यों प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा जब कोई यज्ञ आदि करना चाहते थे तब उनकी स्त्री सावित्री ने अपना शृंगार बनाने में कुछ विलम्ब कर दिया। ब्रह्मा से यह विलम्ब सहन नहीं हुआ, इसीलिए उन्होंने गायत्री को अपनी अर्धाङ्गिनी बनाकर यज्ञ कार्य आरम्भ कर दिया। यह घटना देखकर सावित्री रूठकर पर्वत पर जा बैठी। इसका तात्पर्य वैज्ञानिकों के उस कथन से है कि सूर्यमण्डल उदय होने से चार मिनट पूर्व ही वायुस्तर पर पड़े हुए सूर्य किरणों के वक्र हो जाने के कारण वे हमारी बुद्धि में मन्दता पैदा करती है। इसी कारण उनको "मन्देहा" नाम के राक्षस, पुराणों में कहा गया है और उन्हीं के प्रभाव को हटाने के लिए उसी समय हमें सन्ध्योपासन का उपदेश किया गया है। सन्ध्या में जो सूर्य की ओर अर्घ्यरूप से जलप्रक्षेप किया जाता है, वह जल उन वक्रकिरणों को पुनः सीधा कर देता है और इससे बुद्धि पर पड़ने

वाला उनका प्रभाव दूर हो जाता है। वह चार मिनट पूर्व आ जाने वाली शक्ति गायत्री रूप से मानी गई। सावित्री अर्थात् सूर्य के प्रधान शक्ति के आने में विलम्ब देखकर सूर्य ने गायत्री का प्रथम ग्रहण कर लिया—यह कल्पना की गई। सूर्य ही सब जगत् के पदार्थों का उत्पादक वैज्ञानिकों में प्रसिद्ध है, इसलिए सूर्य और ब्रह्मा एक माने गये और सूर्य की उक्त घटनाओं को ब्रह्मा के साथ जोड़ दिया गया। सावित्री के पर्वत पर जा बैठने का अभिप्राय यह है कि सूर्य की मुख्य किरणों का प्रकाश जब आता है तब वह पर्वतों के शिखरों पर ही सबसे पहिले पड़ता है। अस्तु ! यह प्रसङ्गागत वर्णन हुआ।

इस प्रकार परब्रह्म के जो सत्त्व आदि गुणों के भेद से तीन रूप माने गये हैं, उनकी मूर्ति के रहस्य का दिग्दर्शन यहाँ कराया गया। परब्रह्म के मन और वाणी में न आने के कारण उपासना के लिए जो पाँच रूप माने गये हैं—विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य, उनकी भी मूर्तियों का दिग्दर्शन करा देना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

सभी पुराणों में प्रायः ऐसा विवरण मिलता है कि जहाँ पर ब्रह्म को जगत् का उत्पादक कहा गया और साथ ही उसे सर्वव्यापक, सदा एकरूप और निर्गुण भी बतलाया गया, वहीं श्रोता ने यह प्रश्न किया कि ऐसे ब्रह्म से सृष्टि कैसे हो सकती है ? तब जो जिस पुराण में वक्ता माने गये हैं, उन्होंने यही उत्तर दिया कि सब भावों में एक-एक शक्ति रहती है। ब्रह्म में भी शक्ति है, वही शक्ति जगत् का निर्माण, पालन और संहार किया करती है। ब्रह्म साक्षी मात्र रहता है। भगवद्गीता में भी कहा गया है कि -

“मयाध्याक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्” (१।१०)

अर्थात् परब्रह्मरूप भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सब चर और अचर जगत् को उत्पन्न करती है। इस शक्ति को वेदान्तदर्शन में भेद और अभेद रूप एवं सत्त्व और असत्त्वरूप से अनिर्वचनीय (न कहने योग्य) माना गया है, क्योंकि यदि शक्ति को ब्रह्म से अभिन्न मान लिया जाय तब तो वह भी सदा एक रूप रहने वाली एवं व्यापक सिद्ध होगी ! तब ब्रह्म पर जो शङ्का होती है वही इस पर भी हो जायेगी कि ऐसी शक्ति भी परिवर्तन और परिच्छिन्न जगत् का उत्पादन कैसे कर सकती है ? और यदि उसे ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मान लिया जाय, तो एक तो “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्” (यह सब कुछ जो दिखाई देता है वह आरम्भ में एक ही रूप था उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नहीं थे)

इत्यादि शतशः श्रुतियों का विरोध होगा और दूसरे यह भी प्रश्न होगा कि यदि सर्वथा भिन्न है तो पृथक् रूप से कहीं प्राप्त क्यों नहीं होती ? किन्तु पृथक् रूप शक्तिमान् से कहीं भी नहीं देखा जा सकता। जैसा अग्नि में दाहकता की शक्ति है किन्तु वह दाहकता शक्ति अग्नि से पृथक् होकर कहीं भी प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार ब्रह्म की उत्पादन, पालन और संहार की शक्तियाँ भी ब्रह्म से पृथक् होकर कहीं भी नहीं मिलतीं। इसी प्रकार उस शक्ति को सत् या असत् कहने में भी यही दोष प्राप्त होंगे। यदि सद् रूप कहा गया तो आदि में ब्रह्म और शक्ति दो पदार्थ सिद्ध हो गये। फिर सर्वथा अद्वैत बताने वाले श्रुतियों की क्या गति होगी और यदि असत् रूप मान लिया जाय तो वह कोई पदार्थ ही न हुआ, फिर उसका मानना ही व्यर्थ हो जायेगा। इसीलिए उसे सर्वथा अनिवर्चनीय ही माना जाता है। वह अनिवर्चनीय शक्ति सदा परब्रह्म के साथ ही रहती है। कभी परब्रह्म ज्ञानरूप है और शक्ति क्रियारूप—ऐसा मानकर ज्ञानरूप परब्रह्म के ऊपर क्रियारूप शक्ति खड़ी हुई है—ऐसा मान लिया जाता है। इस प्रकार की भी मूर्तियाँ कई जगह देखी जाती हैं कि जहाँ शिव पर आद्याशक्ति खड़ी हुई है, कहीं शक्ति और शक्तिमान् को साथ साथ ही माना जाता है—ऐसी भी बहुत सी प्रतिमाएँ मिलती हैं जिनमें लक्ष्मी नारायण साथ-साथ लेटे हुए हैं या लक्ष्मीदेवी नारायण के चरण दबा रही हैं या शिव पार्वती भी कई जगह साथ बैठे हुए दिखाए जाते हैं। कई जगह शक्तिरूप भगवती के भिन्न मन्दिर भी प्राप्त होते हैं। देव्युपनिषत्, देवी भागवत् आदि पुराणों में भी शक्तिरूपा भगवती का ऐसा कथन मिलता है कि मैं परब्रह्म रूप ही हूँ। परब्रह्म में और मुझमें कोई भेद नहीं है। वस्तुतः परब्रह्म का कोई चिन्ह नहीं है, उन्हें चाहे जगत् का पिता मानकर पुरुष रूप से उनकी उपासना की जाय या माता मानकर स्त्रीरूप से उपासना की जाय, इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं होता, क्योंकि परब्रह्म स्वयं स्त्री या पुरुष रूप नहीं है। दोनों ही रूप उपासकों के श्रद्धा और रुचि के अनुसार कल्पित ही हैं। यह अभेद भावना की बात हुई। जो भेद अभेदरूप से अनिवर्चनीय है, उसकी भिन्न रूप से भी उपासना कर सकते हैं और अभिन्नरूप से भी।

भिन्नरूप से उपासना करने में शक्ति के बहुत भेद हैं। शक्ति को शक्तिसामान्य रूप से एक भी माना जा सकता है और जगत् के उत्पन्न करने की शक्ति, पालन की शक्ति और संहार की शक्ति, इस प्रकार से शक्ति के तीन भेद भी कहे जा सकते हैं। कहीं जगत् की आदि अवस्था से लेकर पूर्णावस्था तक क्रमशः दश भागों में विभक्त कर दश शक्तियाँ भी मानी गई हैं। जो दशमहाविद्या नाम से तन्त्रशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इनमें जगत् की आदि अवस्था आद्याशक्ति या काली के नाम से विख्यात हैं और परिपूर्णावस्था षोडशी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरा आदि नामों से कही जाती हैं। पूर्णावस्था रूप भुवनेश्वरी का ध्यान इस प्रकार है—

उद्यद्दिनेशद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम् ।

स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम् ॥

अर्थात् प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा के समान रक्तवर्णवाली एवं चन्द्रमा को मुकुटरूप से धारण किये उन्नत कुच तथा तीन नेत्रवाली व कुछ हँसती हुई, पाश, अङ्कुश, वरद और अभय मुद्रा से युक्त हाथों वाली भगवती भुवनेश्वरी की मैं उपासना करता हूँ।

यहाँ शक्ति का रक्तवर्ण प्रकृति के रजोगुण का प्रतीक है। रजोगुण ही सृष्टि में प्रधान रहता है। सृष्टि की पूर्णता में उसका ही रूप प्रकट किया अथवा तन्त्रशास्त्रों में शिव को प्रकाशरूप और शक्ति को विमर्शरूप माना गया है, इसी कारण तन्त्र के सब विषयों में शक्तिरूप पार्वती प्रश्न करती हैं और शङ्कर उसका उत्तर देते हैं। इसका भी तात्पर्य यही है कि विमर्श से प्रश्न उठता है और प्रकाश अथवा पूर्ण ज्ञान उसका समाधान कर देता है। प्रकाश को स्वच्छ श्वेतवर्ण और विमर्श को रक्तवर्ण माना जाता है। इस कारण भी शक्ति को यहाँ रक्तवर्ण से ही रञ्जित किया गया। भगवती के तीन नेत्र इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप जो तन्त्रशास्त्र में शक्ति के रूप माने जाते हैं; उनके ही प्रतीक हैं। अथवा सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि नाम के जो तीन तेज हैं, उन्हीं के प्रतीक तीन नेत्र माने गये हैं। मुकुटरूप चन्द्रमा सोम का प्रतीक है, जो कि सोमजगत् के पदार्थों का उत्पादक है। अग्नि और सोम दो ही जगत् के तत्त्व माने गये हैं—“अग्नीषोमात्मकं जगत्”। उनमें अग्निनेत्ररूप से इस स्वरूप में अन्तर्गत हो गया और सोम का चन्द्रमारूप से किरीट मान लिया गया। उन्नत कुच जो बताए गए हैं, वे दुग्ध का निधान होने के कारण उत्पन्न जगत् के पालन पोषण की सूचना दे रहे हैं। मन्द हास्य से आनन्दरूपता बतलाई गई है और हाथों में जो पाश, अङ्कुश धर्म का स्वरूप है, क्योंकि कुमार्ग में जाने वाले प्राणियों को धर्म ही अङ्कुश के समान रोका करता है। पाश अर्थ का सूचक है, क्योंकि पाश की तरह अर्थ ही बाँध कर संसार में प्राणियों को घुमाया करता है। अभयमुद्रा मोक्ष को सूचित करती है तथा वरदानमुद्रा से संसार की सब सम्पत्तियों का दान अभिव्यञ्जित होता है। इन सबको देने वाली शक्तिरूपा जगदम्बा है—यही इससे सूचित किया जाता है। ये वर और अभय मुद्राएँ तो प्रायः सभी शक्ति-मूर्तियों में दिखाई जाती हैं, क्योंकि सांसारिक सम्पत्ति और मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से ही उपासना हुआ करती है।

इसी प्रकार शक्ति के जो तीन भेद माने गये उनके नाम—महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती प्रसिद्ध हैं। महाकाली कृष्णरूपा कही गई है, जो कि संसार के आरम्भ के रूप अर्थात् संसार की सृष्टि का आरम्भ ही हो रहा है उस रूप को सूचित

करता है। उस समय तमोगुण ही प्रधान रहता है। श्रुति में भी स्पष्ट कहा गया है कि “तम आसीत् तमसा गूढमग्रे” तमोगुण का रूप कृष्ण ही माना जाता है और काली के दशमुख, दशभुजा और दश ही चरण ध्यान में कहे गये हैं। वे दशों दिशाओं में उसकी व्याप्ति सूचित करते हैं। सृष्टि दशों दिशाओं में ही साथ साथ होती है किसी एक विशेष दिशा में नहीं। इसी प्रकार महालक्ष्मी का ध्यान रक्तवर्ण से किया जाता है। रक्तवर्ण रजोगुण का सूचक है—यह कह चुके हैं। इससे तमोगुण को दबाकर सृष्टि परिपूर्ण हो गई—यह दिखाया जाता है और महासरस्वती श्वेतवर्णा है। श्वेतवर्णमोक्ष का स्वरूप है। चार प्रकार के जो प्रलय पुराणों में वर्णित हुए हैं, उनमें आत्यन्तिक लय मोक्ष ही है, जहाँ से कि जीव का पुनः उठना ही नहीं होता। इस प्रकार ये तीन शक्तियों के स्वरूप जगत् के आदि मध्य और अन्त के बोधन करने वाले हैं। इन सब मूर्तियों के हाथों में जो आयुध आदि चिह्न हैं, उन सबका यहाँ विवरण करने से बहुत अधिक विस्तार हो जायेगा, पूर्व में जो आयुध आदि का दिग्दर्शन कराया गया है, उसी के अनुसार बुद्धिमान् पाठक सब मूर्तियों के चिह्नों का विवरण समझ लेवें।

आगे गणेश की प्रतिमा का विवरण लिखा जाता है। गणेश प्रतिमा का वर्णन “मुद्गलपुराण” में विस्तार से प्राप्त होता है। उसके प्रत्येक खण्ड में लम्बोदर गजानन आदि भिन्न अङ्गों का रहस्यनिरूपण किया गया है। उसका सारांश यह है कि गणेश का मस्तक भाग ईश्वर का प्रतीक है और नीचे का धड़ का भाग जगत् का प्रतीक है। ईश्वर का वाचक प्रणव या ओङ्कार कहा जाता है, इसके अनुसार मस्तक को ओङ्कार रूप भी कई जगह कहा गया है। प्राचीनकाल में जो ओङ्कार लिखने की रीति थी—“ॐ” इससे गणेश के मुख के आकार की समानता स्पष्ट प्रतिभासित हो जाती है। नीचे का आकार जो विश्व का रूप कहा गया, वह भी नीचे के आकार के विस्तार की और विश्व के विस्तार की समानता से स्पष्ट ही है। विश्व के अन्तर्गत ईश्वर की उपासना हो सकती है—इसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है। उनके हाथों में जो चार चिह्न हैं, वे चारों पुरुषार्थ के प्रतीक कहे जाते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार ही पुरुषार्थ माने गये हैं। गणेश के हाथ में जो अङ्कुश है वह धर्म का प्रतीक है। अङ्कुश की तरह धर्म ही कुमार्ग में जाते हुए मनुष्यों को रोका करता है। उनके हाथ में जो पाश है वह अर्थ का प्रतीक है। पाश की तरह ही अर्थ-धन सम्पत्ति आदि पुरुष को बाँधने वाले होते हैं। उनके हाथ का मोदक काम का प्रतीक है। मोदक के समान ही काम मनुष्यों को तात्कालिक आनन्द देने वाला हुआ करता है और कमल मोक्ष का प्रतीक है। जिस प्रकार कमल जल में रहकर भी जल से निर्लिप्त रहता है, इसी प्रकार संसार में रहता हुआ भी संसार से निर्लिप्त रहने वाला पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कई विद्वान् श्रीगणेश को उनचास मरुतों में आरम्भ के मरुत् का स्वरूप मान कर भी इनकी प्रतिमा की व्याख्या किया करते हैं। अद्वैतवाद की प्रक्रिया में सब जगत् ही ब्रह्म का रूप है इसलिए मरुत देवताओं के अन्तर्गत होने पर भी गणेश को परब्रह्म के रूपों में से एक मानना विरुद्ध नहीं होता। प्रथम मरुत् भूमि से ही आरम्भ होता है। भूमि से आरम्भ कर सूर्यमण्डलपर्यन्त मरुतों की स्थिति मानी जाती है। इस विचार से गणेश को भूमिमण्डल का अधिष्ठातारूप भी माना जाता है। भूमि के रस का आस्वादन करने वाला प्रधानरूप से मूषक ही हुआ करता है। भूमि के द्वारा जो रोग आदि फैलते हैं उनकी सूचना भी मूषक के द्वारा ही मिला करती है, इसी विचार से भूमि के अधिष्ठाता गणेश का वाहन मूषक को माना गया है। यह भी कहा जा सकता है कि गणेश बुद्धि के भी अधिष्ठाता हैं और मूषक कुतर्क का रूप है। कुतर्क जैसे सब विषयों को छिन्न भिन्न कर डालता है, वैसे ही मूषक भी वस्त्र आदि को काटा करता है। बिना कुतर्क को दबाये बुद्धि काम नहीं दे सकती, इसीलिए बुद्धि के अधिष्ठाता गणेश मूष को दबाकर बैठते हैं। भूमि के अधिष्ठाता होने के कारण ही गणेश सब देवताओं में प्रथम पूजित हुआ करते हैं, क्योंकि भूमि में स्थित मनुष्यों का भूमण्डल स्थित देवता से ही मुख्य सम्बन्ध होता है। भूमण्डलस्थित मनुष्यों को ऐसा उपदेश भी गणेश प्रतिमा से दिया जाता है कि अपने कार्यों का आरम्भ लघुरूप से किया जाय, मध्य में उनका विस्तार रहे और अन्त में फिर संक्षिप्तरूप हो जाय—ऐसी ही गणेश की प्रतिमा है, जिसका आदि और अन्त संक्षिप्त है और मध्य में उदर बहुत विस्तृत रूप है। मरुत् की गति एक ओर ही होती है इसीलिए गणेश का भी एक ही दन्त माना गया है और उस दाँत से विघ्नरूप शत्रुओं का विदारण कर जो उनके रुधिररूप सिन्दूर से गणेश का सम्पूर्ण शरीर लाल रहता है वह रजोगुण का चिह्न है। पृथिवी के प्राणियों में हाथी ही सबसे बड़ा होता है, इसी कारण गणेश का मुख इस मरुत्पक्ष में हाथी के समान माना गया है। हाथी के कान भी बहुत विस्तृत होते हैं इसी प्रकार गणेश भी “शूर्पकर्ण” भी कहे जाते हैं। शूर्पकर्ण का यह भी आशय है कि सूप जैसे धान्य आदि का कूड़ा कर्कट निकाल कर उन्हें स्वच्छ कर देता है, इसी प्रकार बुद्धि भी अपने विचार से सब मलों को हटाकर एक स्वच्छ ज्ञान के रूप में परिणत हो जाया करती है। गणेश की शक्ति ऋद्धि और बुद्धि मानी जाती हैं। उनमें बुद्धि का विवरण किया गया, ऋद्धि अर्थात् सम्पत्ति भी पृथिवी मण्डल से ही सबको प्राप्त होती है। इसलिए वह भी पृथिवी के अधिष्ठाता गणेश की शक्ति मानी गई और सिद्धि इनकी गोद में विराजमान रहती है। इसका भी अभिप्राय यही है कि गणेश की आराधना से ही सब कार्यों में सिद्धि प्राप्त हुआ करती है।

यों जगत् सहित ब्रह्म के रूप में, प्रथममरुत् देवता के रूप में और बुद्धि के अधिष्ठाता रूप में तीन प्रकार से गणेश प्रतिमा का विवरण किया गया। तीनों ही परब्रह्म के रूप हैं। जगत् के मस्तक पर भी परब्रह्म विराजमान रहता है। जैसा कि “ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्” इत्यादि पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ के पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जायेगा। बुद्धि के प्रेरणा देने वाला अतएव उसका अधिष्ठाता भी आत्मारूप परब्रह्म ही है एवं मरुत् आदि सब देवता भी परब्रह्म के ही अंश हैं, इन सब विचारों से गणेश को भी परब्रह्म के पाँच स्वरूपों में एक रूप में से कल्पित किया गया है।

कई विद्वान् गणेश को इन्द्र का रूप मानकर भी इनकी प्रतिमा की व्याख्या करते हैं। गणेश की पूजा में जो वैदिकमन्त्र प्रयुक्त होते हैं उनका देवता इन्द्र ही वेदाङ्गों में माना जाता है। इन्द्र भी गणरूप सब देवताओं का स्वामी है। इसलिए गणपति या गणेश नाम इन्द्र के साथ संगत होता है और देवताओं का अपना शरीर ही उनके वाहन आदि के रूप में वर्णित हुआ करता है—इस निरुक्त के सिद्धान्त के अनुसार इन्द्र का वाहन जो ऐरावत हाथी है उसके समान ही गणेश का मुखमण्डल आदि भी कल्पित है। ऐरावत हाथी भी लाल वस्त्र से आच्छादित माना गया है, इसी प्रकार गणेश की प्रतिमा भी सिन्दूर से रञ्जित है। मरुत् देवता भी इन्द्र के सहचर ही हैं, इसलिए यह व्याख्या भी पूर्व की तीन व्याख्याओं के अन्तर्गत ही समझनी चाहिये। इन्द्र के वज्र के समान ही इनका एक दाँत भी विघ्नरूप शत्रुओं का विघातक पूर्व कहा जा चुका है।

गणेश और स्वामी कार्तिकेय की यह कथा जो पुराणों में प्राप्त होती है कि भगवान् शङ्कर ने जब यह आदेश दिया कि जो पृथिवी की प्रदक्षिणा कर पहिले लौटेगा, उसी का प्रथम विवाह किया जायगा, तब कार्तिकेय तो मयूर पर चढ़कर झट से पृथिवी की प्रदक्षिणा करने को चल पड़े, किन्तु गणेश वैसा न कर अपने पिता माता की ही प्रदक्षिणा कर वहाँ स्थित हो गये और यही उत्तर दिया कि आपकी प्रदक्षिणा पृथिवी की प्रदक्षिणा के समान हो गई। इस कथा से भी इनकी बुद्धि की अधिष्ठातृता ही सिद्ध होती है और वैदिक प्रक्रिया में बुद्धि का अधिष्ठाता इन्द्र ही माना जाता है, क्योंकि इन्द्र का ही रूप है—सूर्य और सूर्य ही सबकी बुद्धि को प्रेरणा देता है, इससे भी गणपति की इन्द्ररूपता ही सिद्ध होती है। शिव पार्वती के पुत्र होने के कारण ही ये शिवगणों के अधिष्ठाता हैं। इसलिए इन्हें भी गणेश कहा जाता है और इन्द्र भी सब देवों का स्वामी है—यह भी इन्द्र का पूर्वोक्त के साथ साम्य हो जाता है। शिवपुराण आदि में जो गणेश को पार्वती के अङ्ग के मल से बनाया हुआ कहा गया है, वह भी गणेश का पृथिवी तत्त्व का अधिष्ठाता होना ही सिद्ध करता है। इसलिए उस व्याख्या

को भी गणेश की मरुतरूपता में ही लगाना चाहिए। शरीर का मल पृथिवी का भाग होता है—यह सुप्रसिद्ध ही है।

इस प्रकार गणेश प्रतिमा की कई प्रकार की व्याख्या और उन सबका तात्पर्यसमन्वय भी दिखाया गया।

अब पाँच रूपों में से एक सूर्य की व्याख्या शेष है। सूर्य के मन्दिर तो बहुत अल्पसंख्या में प्राप्त होते हैं, किन्तु वेदों में सूर्य ही सब देवताओं में प्रधान माने गये हैं और वेदों में इन्हें सब प्रजा का प्राणरूप भी कहा गया है, इसलिए इन्हें भी ब्रह्म के पाँचरूपों में एक रूप—ब्रह्म का प्रतिनिधि मानना युक्तियुक्त ही है। ये प्रत्यक्षदेव कहे जाते हैं, क्योंकि सब प्रजा को प्रतिदिन ही इनके दर्शन प्राप्त हुआ करते हैं। मन्दिर में जो इनका रथ बनाया जाता है जैसा कि जयपुर में एक सूर्य मन्दिर प्रतिष्ठित है और वह प्रतिष्ठित सूर्य, भानु सप्तमी को नगर में घुमाया भी जाता है। उस रथ का वर्णन विष्णुपुराण में यह प्राप्त होता है कि सूर्य की जो सांवत्सरिक गति है, अर्थात् इनकी गति का जो चक्र, क्रान्तिवृत्त नाम से ज्यौतिष में प्रसिद्ध है, वही इनका रथ माना जाता है। निरुक्त दैवतकाण्ड में भी यह स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं का अपना स्वरूप ही अपना रथ या वाहन कहा जाता है। इसी के अनुसार इनकी गति को ही विष्णुपुराण में इनका रथ बतलाया गया। आकाशकेन्द्र का मण्डल “विषुवत्वृत्त” कहा जाता है और सूर्य की गति का या अन्यान्य ग्रहों की गति का मार्ग “क्रान्तिवृत्त” नाम से प्रसिद्ध है। उनमें से सूर्यक्रान्तिवृत्त विषुवत्वृत्त को दो जगह काटता है। मध्य में विच्छिन्न होने के कारण सूर्य का सारथी अनूरु कहा जाता है। अनूरु का तात्पर्य यही है कि उसका मध्य भाग कटा हुआ है। सात छन्द ही सूर्य के सात अश्व कहे जाते हैं, क्योंकि सूर्य को ही “वेदमूर्ति” श्रुतियों में कहा गया है और वेद के चलाने वाले छन्द ही होते हैं। छन्द नाम नियत मात्रा में अक्षरों का परिमाण कहा जाता है। भिन्न भिन्न देवताओं के लिए भिन्न भिन्न छन्द भी वैदिक परिभाषा में नियत हैं, जैसा कि अग्नि का गायत्री छन्द है। इसका तात्पर्य यही है कि अग्नि की स्तुति के मन्त्र प्रायः गायत्री छन्द में ही निबद्ध होते हैं। इन्द्र का त्रिष्टुप् छन्द है। इन्द्र के स्तुति के मन्त्रों में प्रायः त्रिष्टुप् छन्द का ही व्यवहार किया जाता है। आदित्य की स्तुति में प्रायः जगती छन्द का व्यवहार देखा जाता है। ये छन्द ही वेद में विशेषकर व्यवहार में लाये जाते हैं। गायत्री से आरम्भ कर जगतीपर्यन्त सात ही छन्द होते हैं। ये ही वेदमयसूर्य के सात अश्व माने गये हैं। अथवा सूर्य के क्रान्तिवृत्त में सात विभाग कर उनको अजवीथी, नाग वीथी आदि संज्ञाएँ दी गई हैं। उन्हें ही सात घोड़े माना जा सकता है। सूर्य का रथ मन्त्रों में हिरण्यमय अर्थात् सोने का कहा गया है —



“हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्”

इसका तात्पर्य है कि सूर्यमण्डल में प्रकाश नहीं है। वर्तमानकाल के वैज्ञानिक भी सूर्यमण्डल में काले धब्बे बतलाया करते हैं और वे सूर्य का फोटो लेकर उससे सिद्ध करते हैं तथा यह भी कहते हैं कि ये काले धब्बे घटते बढ़ते रहते हैं। वस्तुतः मन्त्र में तो सूर्य के लोक अर्थात् मण्डल को कृष्णवर्ण ही कहा गया है—

“आकृष्णेन रजसावर्तमानो निवेशयन्नमृतम्मर्त्यञ्च”

किन्तु उनके चारों ओर जो सोममण्डल व्याप्त है वह सूर्य की किरणों के आघात से जल उठता है, उसी का प्रकाश चारों ओर फैला करता है। सूर्य के समीपवर्ती होने के कारण उसी को सूर्य का रथ माना गया और उसके ही घोड़े सारथी आदि का वर्णन ऊपर किया गया।

इस प्रकार परब्रह्म के प्रतिनिधिरूप जो पाँच देवता माने गये हैं, उन सबकी मूर्तियों का विवरण यहाँ किया गया। ऐसी रहस्यमयमूर्ति जिनसे परमात्मा परमेश्वर के ज्ञान में पूर्ण सहायता मिले, उनके द्वारा परमात्मा की उपासना कितनी आवश्यक है यह इस विवरण से पूर्णरूप से समझ में आ सकेगा। संभव है बहुत पाठक सज्जनों को यह शङ्का हो कि भगवद्गीता तो वैष्णवग्रन्थ है, इनमें शङ्कर आदि का इतना वर्णन करने की आवश्यकता क्या थी ? उनसे हमारा निवेदन होगा कि गीता में अद्वैतवाद ही प्रधान है। इसी कारण पुष्पिका में इसे “अद्वैतामृतवर्षिणी” कहा गया है। अद्वैतवाद में ब्रह्म और जगत् में किसी प्रकार अल्प भी भेद नहीं माना जाता, फिर ब्रह्म में मन और बुद्धि का प्रवेश न होने के कारण ब्रह्म के ही स्थान में जो पाँच रूप माने गये, उनमें तो भेद दृष्टि करने का कोई स्थान ही नहीं रहता। इसके अतिरिक्त लोक में इन सबके ही, विशेषकर विष्णु, शिव और शक्ति के उपासना-स्थान मन्दिररूप में भारत में सर्वत्र व्याप्त हैं। इसी कारण उन सबकी मूर्तियों का संक्षिप्त रहस्य उपासना प्रकरण में बतलाना हमें आवश्यक प्रतीत हुआ। अब मूर्तिपूजा पर जो आधुनिक युग में सामान्य मनुष्यों की शङ्काएँ होती हैं या कई समाजों की ओर से शङ्का उपस्थापित कर उपासकों के मन को अस्थिर करने का यत्न किया जाता है, उन शङ्काओं का समाधान अगले पुष्प में और कर इस प्रकरण की पूर्ति की जायेगी।



## उनचासवाँ-पुष्प

### ( २ ) मूर्तिपूजा का समर्थन

प्रथमतः मूर्तिपूजा पर यह शङ्का उठाई जा सकती है कि उपासना में चित्त को एकाग्र करने के लिए यदि मूर्ति की आवश्यकता मानी भी जाय तो भी भिन्न-भिन्न प्रकार की इतनी मूर्तियाँ बनाने की क्या आवश्यकता है। एक प्रकार की ही मूर्ति से चित्त की स्थिरता का कार्य लिया जा सकता है ? इसका उत्तर होगा कि उपासकों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और सभी उपासकों का उपकार करना आवश्यक है इसी कारण नाना प्रकार की मूर्तियाँ कल्पित हुई हैं। कई सांसारिक मनुष्यों की चित्तवृत्ति क्रोधप्रधान ही होती है, वे सदा झगड़ा करने में ही प्रसन्न रहते हैं। घर में भी सबसे झगड़ना, बाहर गये तो दुकानदार आदि से भी विवाद कर आना, इष्टमित्रों पर भी सामान्य सी बात पर लड़ पड़ने में ही उनकी प्रवृत्ति रहा करती है। तब उनका चित्त स्थिर करने के लिए क्रोधप्रधान मूर्तियों की ही आवश्यकता होगी। जैसा कि हिरण्यकशिपु का वक्षःस्थल विदीर्ण करते हुए नृसिंह भगवान् की मूर्ति या अपने आयुधों से असुरों का रुधिर बहाने वाली भगवती चण्डिका की मूर्ति। ऐसी मूर्तियों में ही अपनी क्रोधरूप रुचि के अनुकूल होने के कारण उनका भी मन लग सकेगा और वे भी उपासनामार्ग में प्रवृत्त हो सकेंगे। पहिले ही उनकी चित्तवृत्ति में क्रोध की प्रधानता है, फिर क्रोधमयी मूर्ति की उपासना से तो उनका क्रोध और भी बढ़ जायेगा, इससे उलटा उनका अपकार ही होगा—ऐसी शङ्का करना अनुचित होगा, क्योंकि काम क्रोध आदि मन के दोष मन की चञ्चलता में ही उत्पन्न हुआ करते हैं, उपासना के द्वारा चित्त स्थिर हो जाने पर ये सब दोष निवृत्त ही होंगे, बढ़ेंगे नहीं। इसी अभिप्राय से श्रीभागवत में भगवान् का वचन है कि—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।

भर्जिताः क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते ॥

अर्थात् मुझमें जिनने मन लगा लिया है उनके हृदय में काम की कामनाओं का सिलसिला नहीं बढ़ सकता, जैसे कि भूँज डालने पर धान अपना अङ्कुर पैदा नहीं कर सकता। यहाँ काम पद को मन के क्रोध आदि सब दोषों का उपलक्षण मानना चाहिये, अर्थात् उपासना से भूँजे हुए मन के दोष आगे अपना सिलसिला नहीं बढ़ा सकते।

इसी प्रकार कुछ अधिकारियों का मन शान्ति की ओर ही अधिक झुकाव रखता

है। वे सबसे शान्तिमय व्यवहार में ही रुचि रखते हैं। उनके उपयोग के लिए शान्तिमय भगवान् शङ्कर की मूर्ति ही लाभदायक हो सकती है। जिस शान्तिमय मूर्ति में अग्नि भी नेत्ररूप से विराजमान है और जल भी गङ्गारूप से जटाजूट में धारण है। विष भी कण्ठ में कालिमा की छंटा दिखा रहा है और अमृतमय चन्द्रमा भी शोभित है, किसी का कोई विरोधी नहीं। इस विषय का उपमन्यु के शिवस्तोत्र में विस्तृत वर्णन है कि—

सविषोऽप्यमृतायते भवान्,

शवमुण्डाभरणोऽपि पावनः ।

भव एव भवान्तकः सताम्,

समदृष्टिर्विषमेक्षणोऽपि सन् ।

अपि शूलधरो निरामयो

दृढवैराग्यरतोऽपि रागवान् ।

अपि भैक्ष्यचरो महेश्वर—

श्चरितं चित्रमिदं हि ते प्रभो ।

अर्थात् आप विष धारण करते हुए भी भक्तों के लिए अमृतरूप हैं। शवों के मुण्डों की माला को धारण करते हुए भी परम पवित्र हैं। आपका नाम 'भव' है किन्तु भक्तों के भव अर्थात् संसार का नाश करते हैं। आपकी दृष्टि अर्थात् नेत्र विषम अर्थात् तीन हैं (तीन विषम संख्या मानी जाती है) तो भी समदृष्टि हैं, अर्थात् सबको समानरूप से देखते हैं। आपको शूल है 'शूल एक प्रधान रोग होता है' किन्तु शूल धारण करते हुए भी आप सदा रागद्वेषों से रहित हैं। राग-द्वेष आदि आप में नहीं, इससे आपको वैराग्य सम्पन्न माना जाता है, किन्तु भगवती पार्वती पर आपका दृढ़-अनुराग भी है। आप स्वयं भिक्षाटन करते हैं, किन्तु भक्तों को सब कुछ देते हैं और आपका नाम भी महेश्वर है। यह आपका चरित्र सब जगत् से विचित्र ही प्रतीत होता है। ऐसी शान्तमयी मूर्ति की उपासना शान्त भक्तों के लिए परम उपयोगी सिद्ध होगी। ऐसे ही उन्नति या दुःखकाल में एकरूप रहने वाले भगवान् रामचन्द्र की उपासना भी शान्तिप्रिय उपासकों के लिए लाभदायक हो सकती है। इसी प्रकार कई अधिकारियों का मन सुन्दरता में विशेष लगता है। वे सौन्दर्य के ही उपासक होते हैं। सब जगह सौन्दर्य की ही खोज किया करते हैं। उनके लिए सौन्दर्यमय लक्ष्मी नारायण की ही मूर्ति उपयुक्त हो सकती है, जिसके कि सौन्दर्य का अद्भुत वर्णन कवियों ने किया है। जैसा कि श्रीअप्ययदीक्षित ने अपने वरदराजस्तव में कहा है—

नाथ त्वदंघ्रिनखधावनतोयलग्ना-

स्तत्कान्तिलेशकणिका जलधिं प्रविष्टाः ।

ता एव तस्य मथनेन घनीभवन्त्यो

नूनं समुद्रनवनीतपदं प्रपन्नाः ।

अर्थात् हे भगवान् विष्णु ! आपके चरण का सदा श्रीगङ्गा प्रक्षालन करती रहती हैं। उस प्रक्षालन के जल में जो आपके चरण नखों की कान्ति का कुछ अंश बह कर समुद्र में प्रविष्ट हो गया, समुद्र मन्थन के समय वही अंश इकट्ठा होकर समुद्र के मक्खन-चन्द्रमारूप से निकल पड़ा और भी कहा है-

तापत्रयौषधवरस्य तव स्मितस्य

निश्वासमन्दमरुता निबुसीकृतस्य ।

एते करण्डकरचया इव विप्रकीर्णा

जैवात्रिकस्य किरणा जगति भ्रमन्ति ॥

अर्थात् आपका जो मन्द हास है वही भक्तों के तीनों प्रकार के तापों की औषधि है, उस औषधि में से आपके निश्वास का वायु कूड़ा-करकट निकाल कर उसे स्वच्छ कर देता है, वही कूड़ा करकट चन्द्रमा के किरणों के रूप में चारों ओर जगत् में फैला रहा है, अर्थात् चन्द्रमा के किरण आपके मन्द हास के कूड़ा-करकट हैं। इस प्रकार के अद्भुत, जिसके सौन्दर्य का वर्णन कवि लोग करते हुए नहीं थकते, ऐसी सुन्दर मूर्ति सौन्दर्य के उपासकों को दी जाय तो उनका मन कितना एकाग्र हो सकेगा यह सोच लेना चाहिये। इसी प्रकार कोटिकाम कमनीय राधाकृष्ण की मूर्ति भी सुन्दरता के उपासकों के लिए परम उपयुक्त है। क्रीडा आदि करते हुए बालकों से प्रेम करने वाले उपासकों को भी कृष्ण की मूर्ति की उपासना ही उपयुक्त है। जैसा कि उनका वर्णन है -

गोधूलिधूसरितकोमलगोपवेशम्,

गोपालबालकशतैरनुगम्यमानम् ।

सायन्तने प्रतिगृहं पशुबन्धनाय,

गच्छन्तमच्युतशिशुं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥

अर्थात् गौओं की धूलि से जिनका अङ्ग धूसर वर्ण का हो रहा है, गौ चराने वालों के समान जिनका सुन्दर वेश है। सैकड़ों गो चराने वाले बालक जिनके साथ

हैं और सायंकाल गौओं को अपने घरों में बांधने के लिए जो घूम रहे हैं—ऐसे बालकरूप अच्युत भगवान् को मैं सदा प्रणाम करता हूँ। इसी प्रकार अद्भुत बातें देख कर ही जिन्हें आनन्द मिला करता है, ऐसे साधकों के लिए भी कालिय सर्प के फणों पर नृत्य करते हुए या गोवर्द्धन पर्वत को अपने नख पर उठाये हुए भगवान् कृष्ण की मूर्ति ही परम लाभदायक हो सकती है। श्रीवल्लभसम्प्रदाय में यशोदा की गोद में खेलते हुए कृष्ण ही मुख्यरूप से उपास्य माने जाते हैं। बालकों में अधिक प्रेम रखने वाले साधकों के लिए वैसे ही कृष्णमूर्ति चित्त को स्थिर करने वाली सिद्ध होती है। ऐसे ही भिन्न भिन्न रुचि के अधिकारियों के लाभार्थ अनेक प्रकार की मूर्तियों की आचार्यों ने कल्पना की है।

अब दूसरा प्रश्न मूर्तिपूजा पर यह किया जाता है कि चित्त की स्थिरता के लिए योग आदि अन्य उपाय भी हैं। फिर मूर्तिपूजा की ही विशेषकर क्यों आवश्यकता मानी जाय ? इसका उत्तर तो पूर्व के पद्यों में भगवद्गीता में ही स्पष्ट दे दिया गया है कि योग आदि में जो अव्यक्त की ओर मन लगाया जाता है उसमें क्लेश बहुत अधिक है और यदि जैसा कि योगदर्शन में कहा गया है कि ‘यथाभिमतध्यानाद्वा’ (यो०सू० १।३९) जहाँ मन लगे उसी का ध्यान करते रहना चाहिए। इस उपदेश के अनुसार व्यक्त में ही मन लगाकर समाधि की जाय, तब तो वह योगमार्ग भी मूर्तिपूजा रूप ही हो गया, क्योंकि देहधारियों का मन तो व्यक्त मूर्तियों में ही लगा करता है। देहधारियों की प्रवृत्ति व्यक्त की ओर ही होती है। इसी कारण जो महानुभाव मूर्तिपूजा का विरोध करते रहे वे भी किसी न किसी रूप में मूर्तिपूजा की ओर झुक ही जाते हैं। जैसा कि दादू संप्रदाय के प्रवर्तक श्री दादूदयाल जी मूर्तिपूजा के विरोधी रहे। उन्होंने अपनी ‘वाणी’ में यह लिखा है कि टाँकी देकर गढ़े जाने वाले देवता को हम नहीं मानते न हमारे अनुयायियों को ऐसा देवता मानना चाहिये, किन्तु वे भी जहाँ ईश्वर का वर्णन अपनी ‘वाणी’ में करते हैं, वहाँ कहते हैं कि सूर्य चन्द्रमा सब नक्षत्र आदि उसी परमेश्वर की मानों घूम घूम कर आरती उतारते हैं। अब सोचिये कि आरती तो परिच्छिन्न की ही उतारी जाती है, सर्वत्र व्यापक परमात्मा की आरती भी कैसे उतारी जाय ? इसलिए आरती उतारना कह कर उन्होंने परमात्मा को परिच्छिन्न मान लिया और परिच्छिन्न मानते ही मूर्ति कल्पना है। इसी प्रकार श्रीस्वामी दयानन्दजी ने भी अपने ग्रन्थ में परमात्मा की मन से परिक्रमा करना लिखा है। परिक्रमा शब्द का अर्थ है “परितः क्रमण” अर्थात् चारों ओर घूमना। व्यापक परमात्मा का चारों ओर ही क्या हुआ ? और व्यापक के चारों ओर कोई घूम ही कैसे सकता है। इसलिए मन से भी परिक्रमा का उपदेश देते हुए उन्होंने भी मूर्तिपूजा के विरोधी होते हुए भी ईश्वर को परिच्छिन्न

मान लिया और परिच्छेद ही मूर्ति है। इसलिए कहा जा सकता है कि स्वभाव ने उन्हें भी मूर्तिपूजा की ओर झुका ही डाला।

अब तीसरा प्रश्न मूर्तिपूजा पर विरोधियों की ओर से यह उठाया जाता है कि वेद में या प्रामाणिक पुराणों में मूर्तिपूजा का कहीं विधान है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न रूप से विशकलित कर देखना चाहिये कि वेद में ईश्वर की पूजा का विधान है या नहीं एवं वेद में ईश्वर के अङ्गों का वर्णन है या नहीं ? और वेद में आकार कल्पना भी कहीं की गई है या नहीं ? पहिले प्रश्न का उत्तर होगा कि ईश्वर की पूजा का विधान वेद में स्थान-स्थान पर है, जैसा कि -

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधसो अर्चत ।

अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्वर्चत ॥

(ऋक् सं० ६।५।६)

अर्थात् हे बुद्धिमान् पुरुषों ! तुम सब इन्द्र की पूजा करो, विशेष रूप से पूजा करो और हे पुत्रों ! तुम लोग भी इन्द्र की पूजा करो, जिस प्रकार जितेन्द्रिय पुरुष पूजा करते हैं।

एवं—

माचिदन्यद्विशंसत सखायो मारिषण्यत ।

इन्दमितस्तोता वृषणं सचास्तुते मुहुरुक्था च शंसत ॥

(ऋक् सं० ५।७।१०)

“हे मित्रों ! इन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी की स्तुति न करो। अन्य की स्तुति करके अपने को क्षीण न बनावो, इन्द्र ही सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाला है, इसलिए सामूहिक रूप से इन्द्र की ही स्तुति तुम लोग करो। (स्मरण रहे कि शङ्का करने वाले आर्यसामाजिक सज्जन इन्द्र आदि शब्दों को ईश्वर का ही वाचक मानते हैं)।

और भी देखिये—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।

उर्वारुकमिव बन्धान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

हम तीन नेत्र वाले शङ्कर भगवान् की पूजा करते हैं जो कि सुन्दर गन्ध से सुशोभित हैं और संसार के मनुष्यों की पुष्टि बढ़ाने वाले हैं। जिस प्रकार ककड़ी,

खरबूजा आदि अपने बन्धन स्थान से टूट कर अलग हो जाते हैं इसी प्रकार हम मृत्यु अर्थात् कर्म के बन्धन से मुक्त हो जावें और अमृत अर्थात् मोक्ष या परब्रह्म से मुक्त न होवें।

कहाँ तक कहा जाय ईश्वर की पूजा का विधान वेद में प्रतिपद पर है। यदि ईश्वर की पूजा का विधान न होता तो ईश्वर का मानना ही व्यर्थ हो जाता। अब यहाँ यह भी सोचना चाहिए कि ईश्वर की पूजा बिना मूर्ति कल्पना की कैसे हो सकती है? “अर्च-पूजायाम्” भगवान् पाणिनि ने अर्च धातु का पूजा ही अर्थ बतलाया और पूजा शब्द गन्ध पुष्प आदि के अर्पण में ही प्रसिद्ध है। व्यापक परब्रह्म को गन्ध पुष्प आदि का अर्पण बिना मूर्ति कल्पना के किया ही नहीं जा सकता। ईश्वर के मानने का मनुष्यों को यही तो फल है कि वे उसकी पूजा, अर्चा आदि कर अपना उद्धार कर सकें।

अब दूसरी बात जो ईश्वर के अङ्ग वर्णन की है उसके कई उदाहरण पूर्व द्वितीय अध्याय के ६१वें श्लोक की व्याख्या में दिये जा चुके हैं और भी कुछ मन्त्र अङ्ग प्रतिपादन के यहाँ दिये जाते हैं—

आश्रुतकर्णश्रुधी हवन्नुचिदधिष्व मे गिरः ।

इन्द्रस्तोममिमं मम कृष्वायुजश्चिदन्तरम् ॥

(ऋ० सं० १।१।२०।३)

अर्थात् हे अधिक सुनने वाले इन्द्र ! मेरी प्रार्थना को अच्छी तरह सुनो और उसे सुनकर पूर्व की तरह ये मेरे वचन भी हृदय से धारण करो और हे इन्द्र ! तुम्हारे लिए प्रयुक्त इस मेरे स्तोम को बार-बार श्रवण करो।

एवं इन्द्र की ही प्रार्थना में दूसरा मन्त्र है—

आद्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्याचतुभिराषड्भिर्हूयमानः ।

अष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमखः मा मृधस्कः ॥

(ऋ०सं० २।६।२१।४)

हे भगवान् इन्द्र ! दो, चार छह, आठ या दस घोड़े के रथ में विराज कर यहाँ पधारो। ये सोम तुम्हारे लिए तैयार है।

ऐसे भी शतशः मन्त्र वेदों में प्राप्त हैं, जिनमें देवताओं के अङ्गों का या अङ्गों से किये जाने वाले कार्यों का विवरण विस्तार से प्राप्त होता है और यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि मूर्ति पूजा का विरोध करने वाले आर्यसमाज के विद्वान् श्रीस्वामीदयानन्दजी

के कथनानुसार देवताओं के बोधक शब्दों को वे ईश्वर का ही वाचक मानते हैं। अब यह भी देखना होगा कि ईश्वर के मुख्य अङ्ग नेत्र आदि तो हो नहीं सकते, तब कल्पित मूर्तियों के अङ्गों का ही वह वर्णन मानना होगा, यदि ईश्वर के मुख ही अङ्ग मान लिये जाँय तो फिर व्यापकता की हानि हो जायेगी और ईश्वर साकार वेद से सिद्ध हो गया तो उसकी प्रतिकृति बनाना भी अनुचित नहीं कहा जा सकेगा। वेद में आकार कल्पना का विशिष्ट उदाहरण द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है और भी आकार कल्पना के कई उदाहरण वेदों में प्राप्त हैं। आक्षेपकर्ता सज्जन तो यहां तक साहस करते हैं कि पुराण, रामायण आदि में भी मूर्तिपूजा नहीं है, किन्तु वहाँ तो स्पष्ट ऐसे वर्णन प्राप्त होते हैं जिनका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। जैसा कि श्रीवाल्मीकीयरामायण में जब भगवान् रामचन्द्र सीता को साथ लेकर पुष्पक विमान में लङ्का से लौट रहे हैं तब सीता को अनेक स्थान दिखा रहे हैं, वहाँ लिखा है कि—

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।

सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्येनाभिपूजितम् ॥

एतत् पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोत्प्रभुः ॥

(वा०रा०यु० १२६।१५-१६)

अर्थात् महासागर पर जो यह तीर्थ दिखाई दे रहा है, “सेतुबन्ध” इस नाम से विख्यात है, तीनों लोकों में पूजनीय एवं परम पवित्र तथा बड़े-बड़े पापों को नष्ट करने वाला है। यहाँ पहिले भगवान् शङ्कर ने कृपा की थी। श्रीस्वामीदयानन्दजी ने एक श्लोक का कुछ ही भाग लिखकर इसका यह अर्थ कर दिया कि यहाँ मैंने तेरे वियोग में चौमासा किया था। यहाँ चौमासा करना किस शब्द का अर्थ है यह वे ही महानुभाव जान सकते हैं। श्रीमद्भागवत में तो आठ प्रकार की प्रतिमा भी गिनाई गई हैं—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।

मानोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥

(११।२७।१२)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं कि पूजा के लिए मेरी मूर्ति आठ प्रकार की होती है—पत्थर की, लकड़ी की, लोहा की, मिट्टी अथवा चन्दन के लेप की, लेख्या अर्थात् सुवर्ण आदि पर लिखे मन्त्र की, बालुका की, मणि की और मनोमयी अर्थात् अपने मन को मेरे स्वरूपमय बनाना। अब चौथा आक्षेप यही अवशिष्ट रहता है जो



मूर्तिपूजा पर आक्षेप करने वालों का एक ब्रह्मास्त्र है कि वेद में जब मूर्ति का स्पष्ट निषेध लिखा है, तब मूर्ति बनाना और उसकी पूजा स्पष्ट ही वेद से विरुद्ध हो जाता है। इसका प्रधान मन्त्र वे यह दिया करते हैं कि—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।

हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येष ॥

(यजु०सं० ३२।३)

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध से ही आक्षेपकर्ता लोग मूर्तिपूजा का निषेध निकाला करते हैं और इसका यही अर्थ किया करते हैं कि उस परमात्मा की कोई प्रतिमा अर्थात् मूर्ति नहीं है, जिसका कि बहुत बड़ा यश है। अब विचार करने की बात है कि पूर्वचरण में “तस्य” पद आया है और दूसरे चरण में “यस्य” पद आया है। यस्य और तस्य का परस्पर सम्बन्ध संस्कृतभाषा के जाननेवाले सभी माना करते हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध यहाँ कार्य-कारणभाव के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता। कार्यकारणभाव से यही अर्थ होगा कि जिस परमात्मा का बहुत बड़ा यश है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा हो नहीं सकती। बहुत बड़ा यश होना कारण हुआ और प्रतिमा न होना कार्य। यह बिलकुल उलटी बात है कि जिसका बहुत बड़ा यश हो उसकी मूर्ति न बनाई जाय। लोक में तो ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है बहुत बड़ा यश हो उसके अनेक चित्र लिए जाते हैं और पत्थर आदि के “स्टेच्यू” भी अनेक स्थान पर रक्खे जाते हैं। तब ऐसी उलटी बात वेद ने क्यों कही ? ऐसा विचार करने पर यह अर्थ अप्रामाणिक ही सिद्ध होगा। यहाँ प्रकरण भी ऐसा अर्थ करने के विरुद्ध ही है। यह मन्त्र यजुर्वेदसंहिता में जहाँ आया है उसे पूर्व पुरुषसूक्त है और आगे के मन्त्रों में भी परमात्मा के बड़े यश का ही वर्णन प्राप्त होता है। इन्हीं सब बातों को सोच कर यहाँ भाष्यकारों ने “प्रतिमा” शब्द का अर्थ प्रतिमान अर्थात् समानता ही किया है। तब यह सुसंगत अर्थ हो जायेगा कि जिस परमात्मा का बहुत बड़ा यश है और जो सब संसार का उत्पादक है उसके समान कोई नहीं हो सकता। यही अर्थ प्रकरणसंगत और मन्त्र के द्वितीय चरण के कहे हुए कार्यकारणभाव से भी सुसंगत होगा। यदि प्रकरण संगति की ओर ध्यान न देकर एवं “प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः”—(एक एक मन्त्र का पृथक् अर्थ नहीं करना चाहिये किन्तु प्रकरण के अनुसार ही अर्थ करना चाहिए) इस निरुक्तकार के कथन पर ध्यान न देकर एक एक मन्त्र का मनमाना अर्थ किया जाय तो मूर्तिपूजा की ओर से भी यह मन्त्र उपस्थित किया जा सकता है कि—

एह्याश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥

इसका हम अर्थ करेंगे कि हे भगवन् जगदीश्वर ! आओ और इस प्रस्तर की प्रतिमा में विराजो। तुम्हारी इस प्रतिमा की विश्वेदेवा सौवर्ष की आयु करें। यदि कहा जाय कि ऐसा अर्थ करना न प्रकरण के अनुकूल है न सनातनधर्मानुयायी भाष्यकारों ने ही ऐसा अर्थ किया है, तब तो हम भी दिखा चुके हैं कि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' का अर्थ जो आप करते हैं वह भी न प्रकरण के अनुकूल है न प्राचीन भाष्यकारों ने ही ऐसा अर्थ माना है। एक ईशावास्योपनिषद् या शुक्ल यजुर्वेद संहिता के ४०वें अध्याय का यह मन्त्र भी ईश्वर के शरीर निषेध के लिए उपस्थित किया जाता है कि—

**सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्ना-**

**विरं**

**शुद्धमपापविद्धम् ।**

**कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथा-**

**तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।**

इसमें स्वयम्भू और सब अर्थ के बनाने वाले ईश्वर के अकायम्, अव्रणम् इत्यादि विशेषण दिये गये हैं। इससे ईश्वर का काय अर्थात् शरीररहित होना सिद्ध हो जाता है। फिर उस शरीर विरहित ईश्वर का प्रतिमारूप शरीर बनाना सर्वथा अनुचित ही होगा ? इसका उत्तर है कि एक तो मन्त्र का यह अर्थ करना ही असङ्गत है, क्योंकि यहाँ उत्तरार्द्ध में कवि आदि जो विशेषण आये हैं, वे सब प्रथमान्त और पुल्लिङ्ग के रूप हैं और पूर्वार्द्ध में अकायम् आदि विशेषणों को या तो द्वितीयान्त माना जाय—ऐसा करने पर आदि के “सः” पद के साथ उनका अन्वय नहीं होगा और ‘पर्यगात्’ क्रिया के साथ सम्बन्ध भी इन द्वितीयान्तों का कर्ता रूप से नहीं बन सकेगा। इसके लिए उत्तरार्द्ध के कवि आदि को ही इसका कर्ता मानना पड़ेगा, किन्तु उत्तरार्द्ध में ‘व्यदधात्’ क्रियापद पृथक् उपस्थित है, इसलिए वह भी असङ्गत ही रहेगा। इस कारण इस मन्त्र का अर्थ तो जो कुछ श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने लगाया है वही उपयुक्त है कि—इसके पूर्व मन्त्र में जो ‘तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति’ आया है उसी से इस मन्त्र का भी सम्बन्ध है, अर्थात् “मातरिश्वा” नाम का वायु जब अप् अर्थात् सोम के भागों को अग्नि पर अर्पित करता है तो “शुक्र” नाम का एक पदार्थ उत्पन्न होता है जो कि आगे सब जगत् का उत्पादक बनता है। इस शुक्र का वर्णन वेद में अन्यत्र भी आया है—‘तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते’ अर्थात् यह जो शुक्र जगत् की पूर्वावस्थारूप उत्पन्न हुआ वह कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, अपितु अमृतपद से कहे हुए ब्रह्म और ब्रह्म, यहाँ कही हुई ब्रह्म की शक्ति या प्रकृति का ही एक रूप है। ये परब्रह्म, प्रकृति और शुक्र एक ही हैं। इनमें भेद नहीं समझना चाहिए। इसी शुक्र का इस प्रकृत में आरम्भ में ही

निर्देश किया गया और उसी शुक्र के विशेषण आगे दिये गये हैं कि वह जो शुक्र वायु के हवन से उत्पन्न होता है वह अकाय है—अर्थात् दूसरे किसी पदार्थ का चयन (चिनाई) उसमें नहीं है और उसके बीच में कोई व्रण अर्थात् छिद्र भी नहीं है तथा स्नायु अर्थात् कहीं गाँठ भी नहीं है। इस प्रकार वह शुद्ध और पाप अर्थात् दोषों से न वेधा हुआ जो शुक्र है उसको वही पूर्वोक्त मातरिश्वा वायु, पर्यगात् अर्थात् चारों ओर से वेष्टित करता है। पूर्वार्द्ध के सब विशेषण शुक्र के द्वितीयान्त हैं। उत्तरार्द्ध में उसी मातरिश्वा वायु के विशेषण आये हैं, वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी है। सोम का परिणाम होने के कारण, उसमें मन का प्रादुर्भाव हो जाने के कारण वह जड़ नहीं है अतएव मनीषी भी है, अर्थात् सोम के परिणाम रूप मन का वह स्वामी है। चारों ओर शुक्र को व्याप्त किये हुए है और स्वयम्भू अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न है किसी के व्यवधान से उत्पन्न नहीं और वही शुक्र द्वारा सब अर्थों को सदा के लिए उत्पन्न करता है—यही इस मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार इसमें ईश्वर की कोई चर्चा ही नहीं।

यदि पुराने भाष्यकारों के मतानुसार पूर्वार्द्ध के विशेषणों को वैदिकभाषा के परिवर्तनानुसार नपुंसक मानकर प्रतिवादियों का ही किया हुआ अर्थ मान लिया जाय तो भी वहाँ यह प्रश्न होगा कि जब 'अकायम्' कह दिया तो फिर 'अव्रणम्' और 'अस्नाविरम्' कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। जब शरीर ही नहीं तो व्रण या स्नायु का कोई सम्बन्ध ही सम्भव नहीं। अमुक पुरुष के कोई बालक नहीं है और उसके मुख में दाँत भी नहीं हैं—ऐसा व्यवहार तो कहीं भी नहीं देखा जाता ? इससे तो यही सिद्ध होगा कि ईश्वर का शरीर व्रण और स्नायु से रहित है, इसलिए उसे सर्वसाधारण शरीर नहीं कहा जा सकता, तब तो व्रण आदि से रहित ईश्वर का शरीर ही इससे सिद्ध हो गया। तब फिर उसकी प्रतिकृति प्रतिमा रूप से बनाने में भी कोई दोष नहीं रहा।

इसी प्रकार ईश्वर या परब्रह्म में जो रूप आदि का निषेध करने के वचन संहिता या उपनिषदों में मिलते हैं—जैसा कि—

**यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूषि पश्यति ।**

**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥**

अर्थात् जो आँख से नहीं देखा जाता क्योंकि आँख में देखने की शक्ति उसी परब्रह्म से प्राप्त है, तब कोई भी चतुर नर अपने कन्धे पर अपने आप नहीं चढ़ सकता, इसी कारण आँख और सबको देखती है, स्वयं अपने को नहीं देख सकती। जब आँख आँख को भी नहीं देख सकती तो आँख के भी भीतर बैठा हुआ जो आँख

को शक्ति दे रहा है उसे देखने की तो कथा ही क्या ? बस, आँख आदि इन्द्रियों से जो नहीं देखा जाता उसी को हे शिष्य ! तुम ब्रह्म समझो। जिसकी सब लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार रूप रस आदि सब गुणों का निषेध करने पर ब्रह्म या ईश्वर निराकार ही सिद्ध हो जाता है; तब उस निराकार की आकार कल्पना कैसी ? इसका उत्तर तो हम पूर्व ही दे चुके हैं कि परब्रह्म या ईश्वर का कोई वास्तविक आकार नहीं है, किन्तु उपासक लोग अपने चित्त को स्थिर करने के लिए कल्पित आकार बना लेते हैं। यदि यहाँ यह कहा जाय कि उक्त वचन में 'नेदं यदिदमुपासते' भी लिखा गया है, इसका अर्थ है कि जिसकी सब सांसारिक लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं, इस कथन से तो आपकी बनाई हुई मूर्तियों का ब्रह्म या ईश्वर से भिन्न होना सिद्ध हो गया ? तो उत्तर होगा कि यह कथन तो उलटा आपके विपरीत पड़ेगा, क्योंकि यहाँ उपास्यरूप को ब्रह्म से भिन्न बतलाया गया है और 'उपासते' यह वर्तमानकाल की क्रिया है, इससे तो यही सिद्ध होगा कि वेद के समय में वहाँ उससे भी पूर्व ऐसी मूर्ति की उपासना प्रचलित थी, फिर इतनी प्राचीन मूर्ति पूजा को आजकल के लोग भी मानें या करें तो इससे उनकी प्रशंसा ही सिद्ध होगी, कोई आक्षेप उन पर नहीं हो सकता। फिर यह भी तो देखिये कि यहीं आगे चलकर यह वचन भी आता है कि—

**यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।**

**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥**

अर्थात् जो मन से भी नहीं जाना जाता, (इन मन्त्रों में पश्यति, मनुते, इत्यादि कर्मवाच्य के प्रयोग हैं, वेद में इन्हें कर्तृवाच्यरूप में प्रयुक्त कर दिया गया है। जैसा और भी सैकड़ों जगह वेद में क्रियाओं के परिवर्तन देखे जाते हैं) क्योंकि मन में भी मनन करने की शक्ति उसी ब्रह्म से प्राप्त है; इसलिए पूर्वोक्त न्याय से मन भी उसका मनन नहीं कर सकता, तब विचार कीजिए कि मन से ईश्वर का चिन्तन तो आप भी मानते हैं। यदि मन से चिन्तन न करें तो आँख बन्द कर सीधा शरीर कर एकान्त में क्यों बैठते हैं ? इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर का पूजा, ध्यान आदि कुछ भी न किया जाय तो फिर मनुष्यों को ईश्वर का उपदेश ही वेद ने क्यों किया ? क्योंकि मनुष्यों को उस उपदेश से कोई लाभ नहीं ? इससे अन्ततः यही मानना पड़ेगा कि जनसाधारण पहिले कर्म या उपासना करते हुए आगे बढ़ते जाते हैं, अन्त में जब ज्ञानकाण्ड में पहुँचते हैं अर्थात् परिपक्व ज्ञानी बन जाते हैं, तब परब्रह्म में सर्वधर्मों का निषेध उन्हें श्रुति बता देती है और इस प्रकार सर्वधर्मगुण शून्य परब्रह्म को जानकर वे अपने आत्मा को उसी में लीन कर देते हैं। जब तक पूर्ण ज्ञान न हो अर्थात् एक ही परब्रह्म

सर्वत्र व्यापक है और वही हमारे आत्मा में भी है, हम भी उससे पृथक् नहीं—ऐसा अद्वैत ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान कहा जाता है और उस ज्ञान के लिए ही ये सब वचन हैं। इस प्रकार का ज्ञान जब तक उदित न हुआ हो तब तक सब सांसारिक मनुष्य अज्ञानी ही कहे जा सकते हैं और उनके लिए ही कर्म उपासना आदि सब शास्त्रों में बतलाए गये हैं, जिससे वे भी क्रमिक उन्नति कर सकें। इसलिए “प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्” इत्यादि वचन कह कर प्रतिमापूजक अज्ञानी हैं—ऐसा उपहास करना भी किसी प्रकार उपयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संसार के सभी मनुष्य जब तक अद्वैत ज्ञान न प्राप्त हो तब तक उपनिषदों में अज्ञानी कहे गये हैं और जब अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो जाय तब कर्म उपासना आदि किसी की भी आवश्यकता नहीं रहती। सभी ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि सब वेदों को ही उपनिषदों में अपरा विद्या कहा गया है और इनके बतलाए हुए कर्म, उपासना आदि को अज्ञानी अर्थात् पूर्ण रूप से अद्वैत साक्षात्कार जिन्हें न हुआ हो उनके लिए ही माना है।

इस प्रकार वेद के संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि भागों में जो मूर्तिपूजा का विरोध दिखाने की चेष्टा प्रतिपक्षियों की ओर से की जाती है, उस सबका उत्तर यहाँ दिया गया। अब पुराण आदि में भी जो मूर्तिपूजा का विरोध प्रदर्शन किया जाता है, उस पर भी कुछ कहना आवश्यक है। श्रीभागवत् के दशमस्कन्ध का मुनियों के प्रति भगवान् कृष्ण के कथन का यह पद्य कई विद्वान् उपस्थित करते हैं—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु मौम इज्यधीः।  
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

(अ० ८४ श्लो० १३)

इसका अर्थ है कि तीन—वात, पित्त, कफ धातुओं से बने हुए अन्त में श्मशान में जो अवश्य भस्म होगा उस शरीर को ही जो आत्मा मान लेता है और पुत्र, स्त्री आदि को जो अपना ही स्वरूप मानता है एवं भूमि के बने हुए पदार्थों में जिसकी पूज्य बुद्धि होती है और सामान्य जलमात्र को जो तीर्थ समझ लेता है, ज्ञानवान् आप जैसे ऋषि मुनि आदि में जिसकी पूज्यबुद्धि नहीं होती, वह बैल या गदहा कहने योग्य है। यहाँ भूमि के बने पदार्थों में पूज्यबुद्धि रखने वाले को बैल या गदहा बतलाया गया है। मूर्तिपूजकों की मूर्तियाँ भी मृत्तिका, पाषाण आदि की ही बनी हुई होती हैं और उनमें मूर्तिपूजक पूज्यबुद्धि रखते हैं, इसलिए उन्हें श्रीभागवत् में ही बैल या गदहा बतलाया गया। इससे पुराण में भी मूर्तिपूजा का विरोध सिद्ध हुआ—यह आक्षेप बिलकुल बेसमझी का है, क्योंकि मूर्तिपूजकों को भूमि के पदार्थ मृत्तिका पाषाण आदि में पूज्य बुद्धि

बिल्कुल नहीं होती। उस मूर्ति को द्वार बनाकर जिस परमात्मा में वे अपना चित्त लगाते हैं, उसी परमात्मा में उनकी पूज्य बुद्धि रहती है। वे परमात्मा को पूज्य मानते हैं न कि मृत्तिका, पाषाण आदि की बनी हुई मूर्तियों को, जैसा कि हम द्वितीय अध्याय में दिखा चुके हैं कि मूर्तिपूजक पाषाण की मूर्ति के आगे खड़ा होकर कहा करता है कि जिसमें पृथिवी जल, तेज आदि कुछ भी नहीं हैं और जिसकी कोई मूर्ति भी नहीं है—ऐसे परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। ऐसी ही बुद्धि से सब लोग मूर्ति को द्वार बनाकर विष्णु, शिव आदि या उनके अवतार राम कृष्ण आदि को ही प्रणाम किया करते हैं, उनमें ही पूज्यबुद्धि रखते हैं। पद्य में जो भूमि के पदार्थों में पूज्य बुद्धि वाले बतलाए गये हैं उसका तात्पर्य तो उन लोगों से है जो भूमि से बने हुए मकान, अन्न, धन आदि को ही सर्वस्व मानकर उनमें ही पूज्यबुद्धि या प्रतिष्ठा रखें, उन्हें गोखर कहा गया है। मूर्तिपूजकों पर यह वाक्य किसी प्रकार घटित नहीं हो सकता। ऐसा ही आशय इसके पूर्व के पद्यों में भी आया है कि —

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।

ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥

अर्थात् केवल जलाशय ही तीर्थ नहीं हैं और मृत्तिका या पाषाण से बने हुए ही देवता भी नहीं हैं क्योंकि वे तीर्थ और देवता तो बहुत काल में मनुष्यों को पवित्र किया करते हैं और आप जैसे सत्पुरुष तो दर्शनमात्र से सबको पवित्र कर देते हैं। यहाँ वहाँ मीमांसा का न्याय लगाना चाहिये कि “न निन्दा निन्द्यान् निन्दितुं प्रवर्तते अपितु स्तुत्यान् स्तोतुम्” अर्थात् ऐसे अवसरों में जहाँ एक के सामने दूसरे की निन्दा की जाती है, वहाँ उस निन्दा का उस निन्दनीय की निन्दा में तात्पर्य नहीं होता, किन्तु जिसकी स्तुति की जाती है उसकी स्तुति में ही सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्य समझना चाहिये। इसी न्याय के अनुसार यहाँ तीर्थ रूप से माने गये जलाशयों की या देवताओं के प्रतिनिधिरूप से मानी गई मृत्तिका पाषाण आदि की मूर्तियों की निन्दा में तात्पर्य नहीं, अपितु सम्पूर्ण पद्य का तात्पर्य मुनियों की स्तुति में ही है। यही पद्य के तृतीय चरण में भी स्पष्ट किया गया है कि वे जलाशय या मूर्तियाँ बहुत काल में फल देती हैं और सत्पुरुष तो तत्काल ही पवित्रता रूप फल दे देते हैं। इससे सत्पुरुषों की स्तुति में ही तात्पर्य है—यह स्पष्ट हो गया। बहुत काल में ही सही किन्तु अन्ततः पवित्रता तो जलाशयरूप तीर्थ और मृत्तिका पाषाण की बनी हुई मूर्तियाँ भी देती ही है यह पद्य में ही स्पष्ट किया। इसी प्रकार पुराणों के वचनों की भी संगति सर्वत्र सिद्ध हो जाती है। मूर्तिपूजा का विरोध कहीं भी सिद्ध नहीं होता।

कई विद्वान् एक वेदान्तसूत्र भी वेद में उपस्थित किया करते हैं। वह सूत्र है—

“न प्रतीके नहि सः” (ब्रह्मसू०अ० ४पा० १ सू० ४) इसका वे यह अर्थ करते हैं कि प्रतीक में ब्रह्म दृष्टि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह प्रतीक ब्रह्म नहीं है। मूर्ति भी एक प्रतीक ही है इसलिए उसमें ब्रह्म दृष्टि न होने से उसकी पूजा व्यर्थ ही सिद्ध हुई। किन्तु यह आक्षेप भी न समझने के कारण ही है, क्योंकि भाष्यकार ने इस सूत्र का अर्थ किया कि “मनोब्रह्मेत्युपासीत”, “आकाशो ब्रह्म” “आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः” इत्यादि श्रुतियों में जो मन, आकाश और आदित्य इत्यादि को ब्रह्म कहा गया है, वे ही यहाँ प्रतीकशब्द से लिये गये हैं, क्योंकि वेदान्तसूत्र उपनिषदों की ही मीमांसा करते हैं। इसलिए सूत्रों में उनका ही ग्रहण युक्तियुक्त है। उनमें साधक को अपना आत्मग्रह करना चाहिये या नहीं, अर्थात् अपने आत्मा की उन मन, आदित्य आदि के साथ एकत्व की भावना करनी चाहिये या नहीं ? इस सन्देह के निराकरण के लिए यह सूत्र प्रवृत्त है। सूत्रकार कहते हैं कि उन प्रतीकों में अर्थात् मन, आकाश, आदित्य आदि में आत्मा की अभेद भावना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे प्रतीक साक्षात् ब्रह्मरूप नहीं हैं ब्रह्म से बने हुए हैं और साधक का आत्मा भी ब्रह्म का ही अंश है, किन्तु जैसे सोने के बने आभूषण कटक, कुण्डल, रुचक आदि सब सोने से अभिन्न कहे जा सकते हैं, किन्तु वे परस्पर एक नहीं हो सकते। कड़ा कड़ा ही रहेगा और कानों का कुण्डल कुण्डल ही रहेगा। इसी प्रकार ब्रह्म से बने हुए आकाश आदित्य आदि और ब्रह्म के अंश जीव, ये सब भी ब्रह्म से अभिन्न कहे जा सकते हैं, किन्तु इन सबमें परस्पर एकता नहीं हो सकती—यही सूत्रकार का निर्णय है। यहाँ मूर्ति पूजा का कोई प्रसङ्ग ही नहीं। बस, अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं। मूर्तिपूजा के विरोध में जो श्रुति, पुराण, सूत्र आदि प्रतिपक्षियों की ओर से उपस्थित किये जाते हैं, उन सबका स्पष्ट उत्तर हमने यहाँ लिख दिया और अपने दृढ़ प्रमाण तथा युक्तियों से मूर्तिपूजा का समर्थन भी कर दिया। इसी को भगवान् कृष्ण ने प्रस्तुत पद्य में भी कहा है कि अभ्यास करने में भी तुम असमर्थ हो तो मेरे कर्म-मन्दिरों की स्वच्छता, चन्दन पुष्प आदि इकट्ठे कर उनको मुझे अर्पण किया करो। उसी से धीरे धीरे मन मेरी ओर झुकेगा और फिर अभ्यास से मुझमें अर्थात् ईश्वर में स्थिर हो जायेगा, इस प्रकार क्रम से सिद्धि प्राप्त कर लोगे। (१०)



## पचासवाँ-पुष्प

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।

सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्याज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

आगे कहते हैं कि यदि इस प्रकार मेरे कर्म अर्थात् मेरी पूजा के उपस्कर जुटाने आदि में भी अपने को असमर्थ पाते हो, जैसा कि किसी भोक्ता ब्राह्मण का एक किस्सा कहा जाता है, वह निमन्त्रण में बहुत भोजन कर आया था इससे रुग्ण होकर वैद्य को बुलाया, वैद्य ने अपने पास से गोलियाँ निकाल कर दीं कि इन्हें जल के साथ खा जाओ, तो वह कहने लगा कि वैद्य जी यदि मेरे पेट में इतना स्थान होता तो एकाध लड्डू ही क्यों न खाता। वैसी ही बात यहाँ भी है कि यदि सांसारिक पुरुषों के पास इतना पूजा के उपकरण आदि लगाने का समय हो तो वे उस समय में संसार के दूसरे काम ही क्यों न करें। इस विचार के अनुसार पूजा आदि के उपकरण जुटाने का भी समय यदि तुम्हारे पास न हो तो परम कृपालु भगवान् उसे भी छोड़ देना चाहते हुए कहते हैं कि अच्छा नया काम कुछ मत करो, जो कुछ भी करते हो उसके फल का त्याग कर दो, अर्थात् जो कर्म करते हो, वे ही कर्म फल की इच्छा त्याग कर किया करो। उनके फलों में चित्त मत लगाया करो। इस प्रकार मेरे योग अर्थात् मेरे साथ सम्बन्ध करने वाले कर्मयोग का आश्रय तुम्हें मिल जायेगा और धीरे-धीरे आत्मा अर्थात् अन्तःकरण का संयम-एकाग्रता करने में सफल हो जाओगे। इस प्रकार क्रम से सरल से सरल उपाय कहते जाना भगवान् की परम कृपालुता अभिव्यक्त करता है।

“मद्योग” शब्द का अर्थ वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी यह करते हैं कि मेरे साथ योग रखने वाले मेरे भक्तों का ही तुम आश्रयण किया करो, अर्थात् उनके साथ मिलना-जुलना आरम्भ कर उनसे प्रेमबन्ध स्थापित करो। इससे धीरे-धीरे पूर्व पद्यों में कहे हुए सब उपाय क्रमशः सिद्ध होते जायेंगे। (११)

यह इस अध्याय का १२वाँ श्लोक एक प्रकार से कूट श्लोक कहने के योग्य है। महाभारत के आरम्भ में ही लिखा है कि जब श्रीभगवान् वेदव्यास महाभारत की रचना करने लगे, तब उन्हें चिन्ता हुई कि मैं तो बनाता जाऊँगा, किन्तु इतने बड़े ग्रन्थ को लिखेगा कौन ? उन्होंने श्रीगणेशजी से प्रार्थना की कि आप इसके लेखक बन



जाइये। श्रीगणेशजी ने कहा मैं इस प्रतिज्ञा पर लिख सकता हूँ कि मेरी लेखनी न रुके। श्रीव्यासजी ने कहा कि यह तो मैं मान लेता हूँ, किन्तु इतना आपको भी मानना पड़ेगा कि जो कुछ लिखो वह अर्थ समझ कर लिखना। श्रीगणेशजी ने भी यह स्वीकार कर लिया। तब व्यास भगवान् ने यह उपाय सोचा कि कुछ सामान्य बना देने के अनन्तर एक-एक कूटश्लोक वे वहाँ रख देते थे। उसका अर्थ समझने में श्रीगणेशजी को भी कुछ समय लग जाता था। इतने समय में वे और बहुत से पद्य बना लेते थे। इस प्रकार के कूटश्लोकों की गणना भी भगवान् व्यास ने कर दी है कि -

अष्टौ श्लोकसहस्राणि,

अष्टौ श्लोकशतानि च ।

अहं वेद्मि शुको वेत्ति,

संजयो वेत्ति वा नवा ॥

अर्थात् आठ हजार आठ सौ श्लोक इस ग्रन्थ में इतने कठिन हैं कि उन्हें स्वयं मैं जानता हूँ या शुकदेव जानता है और मेरा शिष्य संजय जानता है या नहीं ? ऐसा सन्देह भगवान् व्यासजी को क्यों हुआ, इस विचार से इस पद्य को कूट में ही गिनते हैं और यहाँ “वानवा” शब्द का “वानवा चतुरः पुमान्” ऐसा अर्थ करते हैं, अर्थात् “वा नवा” यह सन्देहवाचक नहीं है, किन्तु “वानवा” एक पद है और वह चतुर पुरुषों का वाचक है। इससे पूर्वोक्त पद्य का यह अर्थ हुआ कि मैं जानता हूँ, शुकदेव जानता है, संजय जानता है और चतुर पुरुष जान सकते हैं। यहाँ यह प्रसङ्ग कहने का हमारा तात्पर्य यह है कि यह बारहवाँ श्लोक उन्हीं कूटश्लोकों के अन्तर्गत प्रतीत होता है। इसी कारण सभी व्याख्याकार इस पर भिन्न-भिन्न मार्ग लेते हैं। उन सबका प्रदर्शन कर हम अपना मत अन्त में दिखावेंगे।

श्रीशङ्कराचार्य इसकी व्याख्या यों करते हैं कि अविवेकपूर्वक अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक श्रेयस्कर है और उस ज्ञान से भी ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है तथा उससे भी ज्ञान ध्यानपूर्वक कर्मों का फल छोड़ना श्रेष्ठ है। उस कर्मफलत्याग के कारण अविद्या सहित संसार की शांति अर्थात् उपशम, अनन्तर अर्थात् बिना व्यवधान के ही प्राप्त हो जाता है। इस अपने कथन का आशय वे स्वयं ही प्रकट करते हैं कि पूर्व पद्यों में चित्त की स्थिरता के क्रमिक उपाय बतलाये गए और यह भी कहा गया कि यदि यह नहीं कर सकते हो तो यही करो। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्व पूर्व के अनुष्ठान में जो समर्थ नहीं है उसी को आगे का उपाय कृपापूर्वक भगवान् ने बतलाया। सबके अन्त में कर्मफल त्याग कहा, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते हो तो जो कर्म करते हो उन्हें ही फल की आशा छोड़कर किया करो। उसी फल के त्याग को इस

श्लोक के द्वारा स्तुति की जाती है कि यह कर्म फल त्याग सबसे श्रेय है अर्थात् उत्कृष्ट है। इस स्तुति का कारण यह है कि—

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवति**

इस श्रुति में ज्ञानपूर्वक हृदय की सब कामनाओं का क्षय हो जाय, तब क्षय होते ही मनुष्य अमृत अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कामक्षय का विधान किया गया है।

यहाँ बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये भी जो कर्मफल का त्याग बतलाया, वह फल का त्याग काम त्याग रूप ही है, क्योंकि कर्मों के फल भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनाओं की सिद्धि ही हुआ करती है, उसका त्याग ही कामनाओं का त्याग है। श्रुति के बतलाए हुए ज्ञानपूर्वक काम त्याग को और यहाँ अज्ञ पुरुष के किये गये काम त्याग के समान समझ कर ही यह स्तुति की गई है कि त्याग करते ही संसार का उपशम हो जाता है। वस्तुतः ज्ञानपूर्वक त्याग से ही संसार का उपशम होता है, क्योंकि “ऋते ज्ञानात्रमुक्तिः” (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती) यह श्रुतियों का परम सिद्धान्त है, तथापि स्तुति के लिए यहाँ अज्ञ पुरुष के कामना क्षय को शान्ति का कारण बतला दिया। जैसा कि एक ब्राह्मण अगस्त्य ने समुद्र का पान किया था; ब्राह्मणत्व धर्म समान होने के कारण सभी ब्राह्मणों की उस कर्म से स्तुति कर दी जाय कि ब्राह्मण ऐसे होते हैं जो समुद्र भी पी जाते हैं। इसी प्रकार कामनाओं का क्षय समान देखकर यहाँ भी स्तुति कर दी गई है।

श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य की यह व्याख्या करते हैं कि बिना ज्ञान के जो अतिकठिनता से अर्थात् हठयोगरूप अभ्यास किया जाय, उससे ज्ञान ही श्रेय अर्थात् श्रेष्ठ है एवं केवल अक्षरों से प्राप्त अपरिपक्व ज्ञान से आत्मा का ध्यान अपने लिए अधिक कल्याण का उपाय है, वह ध्यान भी यदि पूर्ण सिद्ध न हुआ हो तो उसकी अपेक्षा कर्मों के फलों का त्याग कर देना ही आत्मा के लिए अधिक हितकर है, क्योंकि बिना फलाशा के कर्म करने से अपने आपको बड़ी शान्ति मिलती है। यह शान्ति क्रम से ही प्राप्त होती है—फलाशा के बिना कर्म करते रहने से चित्त शुद्धि होकर ध्यान में प्रवृत्ति होती है और ध्यान से ज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञान से भगवान् का साक्षात्कार होता है और उससे पराभक्ति प्राप्त होती है। इससे यह अभिप्राय प्रकाशित किया कि जो भक्तियोग का अभ्यास करने में भी असमर्थ हैं, उनके लिए आत्मनिष्ठा ही कल्याणकारक है और आत्मनिष्ठा में भी जिनके मन की शान्ति नहीं, उनको फल की आशा छोड़कर कर्मनिष्ठ होना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार पूर्वोक्त पद्यों का ही अनुवाद रूप यह पद्य है, यह इनके मत से अर्थ हुआ। आनन्दतीर्थोपनामक श्री मध्वाचार्य की व्याख्या है

कि अज्ञानपूर्वक अभ्यास से ज्ञान ही श्रेष्ठ है और केवल ज्ञान से ज्ञान सहित ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है—यह कर्मयोग की स्तुति की गई है।

श्रीवल्लभाचार्य और गोस्वामीपुरुषोत्तमजी की व्याख्या प्रायः श्रीशङ्कराचार्यजी से मिलती जुलती है। केवल वहाँ भक्तिमार्ग के अनुसार ध्यानशब्द का अर्थ भगवत्सेवा या भगवान् के रूप का चिन्तन किया गया है। फल त्याग की स्तुति ही यहाँ है—यह उनका भी मत है।

श्रीनीलकण्ठजी लिखते हैं कि श्रवण आदि के अभ्यास से ज्ञान अर्थात् तत्त्व निश्चय श्रेष्ठ है। उस ज्ञान का ध्यान अर्थात् सदा अनुचिन्तन करते रहना उससे भी श्रेष्ठ है और उस ध्यान से भी कर्म के फलों का त्याग कर देना श्रेष्ठ है। कर्मफल का त्याग योगी ही कर सकता है इस कारण यहाँ कर्मफल त्यागी को योगी के समान मानकर उसकी स्तुति की गई।

अन्य व्याख्याएँ भी पूर्वोक्त व्याख्याओं का अनुसरण करती हैं। श्रीशङ्करानन्दजी यहाँ “ऋते ज्ञानान्मुक्तिः” इस श्रुतिविरोध की अशङ्का उठाकर इस पद्य का यही अर्थ करते हैं कि श्रवण मनन आदि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् साधन सब श्रुति स्मृतियों ने बतलाया है। यदि अभ्यास और ज्ञान में कोई प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाय तो ध्यान करना चाहिये। ध्यान का अर्थ एक प्रकार की चित्तवृत्ति बनाना ही है, जो कि उपासनाशब्द से भी कही जा सकती है। इस उपासना से ज्ञान के प्रतिबन्धक पूर्वजन्म के अनिष्ट संस्कार आदि दूर हो जाते हैं, इससे ज्ञान सिद्ध हो जाता है। ज्ञान सिद्धि का उपाय होने के कारण ही उसे यहाँ ज्ञान से श्रेष्ठ बतलाया गया। उस ध्यान से कर्मफलों का त्याग श्रेष्ठ है। कर्मफल त्याग का यहाँ यह अर्थ है कि कर्मों से उत्पन्न वासना नाम के संस्कार से जो सब संसार उत्पन्न होता है वह सभी कर्मफल कहा जा सकता है। उस सबका त्याग अर्थात् निर्विकल्प समाधि में सिद्ध होकर सब जगह ब्रह्मदर्शन करना ही कर्मफल त्याग कहा जा सकता है, उससे शीघ्र ही शान्ति प्राप्ति हो जाती है।

लोकमान्यतिलक पद्य का अर्थ करते हैं कि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है, ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है। ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है और इस कर्मफल के त्याग से तुरन्त ही शान्ति प्राप्त होती है।

आगे उन्होंने वेदान्त मार्गानुयायी, भक्ति मार्गानुयायी और सांख्ययोग मार्गानुयायी आदि सब व्याख्याकारों का खण्डन तो किया, किन्तु अपने आप भी ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता क्यों अधिक है ? इसका स्पष्टीकरण नहीं कर सके। आगे उन्होंने निष्कर्ष यह निकाला है कि साम्य बुद्धि प्राप्त करने के लिए तीन उपाय हैं—अभ्यास, ज्ञान और ध्यान।

इनमें यदि किसी से अभ्यास न सधे तो वह ज्ञान अथवा ध्यान में से किसी भी उपाय को स्वीकार कर ले। यह निष्कर्ष भी विचित्र ही है। गीता के पद्यों से यह अर्थ प्राप्त नहीं होता। आगे उन्होंने यह भी शङ्का उठाई है कि जो अभ्यास, ज्ञान, ध्यान आदि सबमें अशक्त है, वह सब कर्मों के फलों को भी कैसे छोड़ सकेगा ? इसका समाधान किया कि एकदम कर्मफल छोड़ने का यहाँ अभिप्राय नहीं है, किन्तु धीरे धीरे पूर्व अध्यायों में बतलाए गए मार्ग के अनुसार कर्मयोग का अभ्यास करे। परिपक्व दशा में कर्मफल त्याग सिद्ध हो जायेगा। तब शान्ति भी प्राप्त हो जायेगी। यह समाधान भी इसलिए ठीक नहीं हुआ कि पूर्व पद्यों में किसी भी कर्म में समर्थ नहीं है तो कर्मफल त्याग कर दे—इस भगवान् की उक्ति से यह सिद्ध है कि सर्वथा अशक्त को ही यह कर्मफल त्याग का उपदेश किया गया है, क्रम-क्रम से परिपक्वता प्राप्त कर लेने वाले को नहीं।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने शीर्षककाण्ड में यह शीर्षक दिया कि ईश्वरीय उपासना के अनुकल्प अभ्यास, ज्ञान, ध्यान और कर्मफल त्याग, इन चार प्रकार के उपायों में आगे का उपाय श्रेष्ठ है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने में निरत रहने का नाम अभ्यास है और ईश्वर में परम अनुराग प्राप्त करने के हेतुभूत कर्मों में निरत रहना ध्यान है।

हमारे मत के अनुसार इस पद्य का अर्थ यह है कि ज्ञान ही निश्चयपूर्वक परम कल्याण का साधन है। वह अभ्यास से प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रथम चरण को पृथक् वाक्यरूप ही माना जाय और आगे जो ध्यान अर्थात् पूर्व दसवें पद्य में कही गई ईश्वरसेवा की विशेषता और उससे भी कर्मफल की विशेषता बतलाई गई है, वहाँ विशेषता अधिक जनों से साध्य होने के कारण ही मानी जाय। इस प्रकार आगे के तीन चरणों का तात्पर्य होगा कि ज्ञान की अपेक्षा ध्यान अर्थात् श्रवण कीर्तन आदि नवधाभक्ति विशेष है अर्थात् सुकर है। इसका अभ्यास थोड़े परिश्रम से सब लोग कर सकते हैं। उस ध्यान की अपेक्षा भी जो-जो कर्म सांसारिक स्वभावतः करते हैं उन्हें फल की आशा छोड़कर अपना कर्तव्य समझ कर करना और भी सुकर है। इस प्रकार फलाशा छोड़ने से क्रमशः ईश्वरोपासना और आगे अद्वैत ज्ञान भी सिद्ध हो जायेगा तथा परम शान्ति भी प्राप्त हो जायेगी। यह तीन चरणों की व्याख्या महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी की प्रथम व्याख्या के अनुकूल है। पूर्व जो श्रीनीलकण्ठजी का मत दिखाया गया है वह उनकी दूसरी व्याख्या है।

इस प्रकार इसमें मन लगाने के सुगम से सुगम साधनों का उपदेश कर आगे उपासनाकाण्ड की पूर्ति करते हुए भगवान् यह भी दिखाते हैं कि भक्तजनों का लोकों के साथ व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए और उनकी अपनी अन्तःकरण की वृत्ति कैसी रहनी चाहिये—इसी का विवरण आगे के पद्यों में इस अध्याय की या उपासनाखण्ड की पूर्ति तक किया जाता है। (१२)

## इक्यावनवाँ-पुष्प

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।  
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥  
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।  
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद् भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥  
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।  
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः सच मे प्रियः ॥१५॥  
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥  
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।  
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥१७॥  
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।  
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥  
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।  
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ॥१९॥  
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।  
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

श्रीशङ्कराचार्य इन पद्यों में यह विशेषता प्रकट करते हैं कि पूर्व अर्जुन के सगुण साकारोपासक और आकाररहित अक्षरोपासकों में कौन श्रेष्ठ है—इस प्रश्न पर सामान्यतः यह उत्तर दिया था कि सगुणसाकारोपासक श्रेष्ठ है। अक्षरोपासना में क्लेश अधिक होता है। यह उत्तर अर्जुन की योग्यता और अधिकार पर लक्ष्य रख कर ही दिया गया था, किन्तु अभिव्यञ्जित यही किया कि अक्षरोपासक ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वहाँ “ते प्राप्नुवन्ति मामेव” कहा। उसका अक्षरार्थ यह होता है कि वे तो सीधे मुझको ही प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् मेरे स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं और आगे साकारोपासकों के लिए सातवें पद्य में कहा कि उनका उद्धार मैं करता हूँ। इससे उनको अपने उद्धार के लिए साकार स्वरूप की अपेक्षा बतलाई गई। इससे सिद्ध हो जाता है कि जो बिना किसी की अपेक्षा

के ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं वे ही परमुखापेक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यदि साकारोपासक भी स्वयं ही भगवान् में लीन हो सकते तो “मैं उनका उद्धार करता हूँ”—यह कथन नहीं बन सकता था। अक्षरोपासना का अर्थ ज्ञाननिष्ठा या परब्रह्म के साथ अभेद भावना ही है। स्वयं ईश्वरभाव को जो प्राप्त कर चुका वह अपने उद्धार के लिए दूसरे ही की अपेक्षा (चाहे वह ईश्वर ही हो) क्यों करेगा ? इससे बात यही सिद्ध होती है कि भगवान् अर्जुन के परम हितैषी हैं इसलिए उसे उसके अधिकार के अनुसार कर्मयोग का ही उपदेश देते हैं, किन्तु अपने मुख्य तत्त्व का कथन भी छोड़ना नहीं चाहते, इसलिए अक्षरोपासकों के लिए जो वहाँ सर्वत्रसमानता की बुद्धि और सब भूतों का हितसाधन आवश्यक बतलाया था, उसको ही विस्तृत इन पद्यों में किया जाता है। इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्य इन पद्यों को ज्ञाननिष्ठा या संन्यासमार्ग पर ही लगाते हैं। किन्तु हम तो पूर्व ही कह चुके हैं कि प्रथमखण्ड भूमिका के विस्तृत विवेचन के अनुसार यह मध्यमखण्ड भक्तिमार्ग या उपासनाखण्ड का ही विवरण मुख्यतया करता है। उसके अनुसार ही हमारे मत में इन पद्यों का आशय भी उपासना के प्रतिपादन में ही है। उपासक भक्तों के आचार और मनोवृत्ति का विवरण ही इनमें किया गया है। जैसा कि हम पूर्व बारहवें पद्य के अन्त में लिख आये हैं। पद्यों का अर्थ इस प्रकार है—सब प्राणियों से द्वेष करने वाला न हो, केवल इतना ही नहीं सबके साथ मित्रता भी रखे, उनके दुःखों को दूर करने वाला हो। योगदर्शन में भी कहा गया है कि—

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-**

**विषयाणां**

**भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।**

(योगसू० १।३३)

अर्थात् किसी मनुष्य को सुखी देखकर उस पर मैत्री की भावना करे, ये मेरा मित्र है ऐसा समझने पर ईर्ष्या नहीं होगी। किसी को दुःखी देखकर उस पर करुणा की भावना करे, करुणा की भावना का यह अर्थ नहीं है कि उसके दुःख से अपने आप भी दुःखी हो जाय, किन्तु उसके साथ सहानुभूति करना और यथाशक्ति उसके दुःख हटाने का प्रयत्न करना ही करुणा है। इसी प्रकार किसी को पुण्य करता हुआ देखकर मुदिता की भावना करे, अर्थात् अपने चित्त में प्रसन्न हो एवं किसी को पाप करता हुआ देख कर उस पर उपेक्षा की भावना करे, अर्थात् उससे द्वेष न करे, संसार में इसी प्रकार मनुष्य किया करते हैं—ऐसी उपेक्षा की भावना मन में करे। इस प्रकार की भावनाओं से चित्त में प्रसन्नता रहती है। इनमें से मैत्री और करुणा इन दो भावनाओं को यहाँ भगवान् ने कुछ विस्तार से बतलाया है, अन्य भावनाएँ भी आगे पद्यों में

आवेंगी। आगे भगवान् कहते हैं कि स्त्री, पुत्र, गृह सम्पत्ति, आदि में ममता न करे और मैं सब कुछ करता हूँ—ऐसा अहङ्कार भी चित्त में न रखे। भाग्यवश जो सुख या दुःख आवे उनमें भी समान रहे और यदि कोई अपना अपकार भी करे तो उसमें सहनशील रहे अर्थात् उसके अपकार की भावना मन में न करे। (१३)

निरन्तर जो कुछ प्राप्त हो जाय उसमें ही सन्तुष्ट रहा करे एवं योगी अर्थात् चित्त को एकाग्र रखने का अभ्यास किया करे, अथवा कर्मयोग में सदा निरत रहे। अन्तःकरण को अपने वश में रखे, आत्मज्ञान से कल्याण होगा—ऐसी मन में दृढ़ भावना रखे और मन तथा बुद्धि को मेरे में अर्पित कर दे, अर्थात् अपने मन और बुद्धि का विषय प्रधानरूप से मुझे ही बनाए रखे। जो इस प्रकार की भावना रखता है वह भक्त मुझे प्रिय है।

श्रीशङ्कराचार्य यहाँ कहते हैं कि पूर्व सप्तमाध्याय में जो भगवान् कह आये हैं कि “जिससे किसी प्राणी को कष्ट न हो” और ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है, उसी का विस्तार यहाँ के पद्यों में भी “यो मद्भक्तः स मे प्रियः” से किया जाता है। इससे उनका तात्पर्य यही है कि यहाँ ज्ञानी का ही वर्णन है। हम अपना मत पूर्व ही लिख चुके हैं। (१४)

जिससे कोई मनुष्य न घबराए तथा स्वयं भी किसी से न घबराए, अर्थात् ऐसा आचरण रखे कि कोई उससे द्वेष ही न करे और यदि करे भी तो अपने सदाचार के कारण निर्भय रहे तथा हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग ये जिसमें न हों, वही भक्त मुझे प्रिय होता है। (१५)

जो किसी कार्य में किसी दूसरे की सहायता की इच्छा न रखे, सदा पवित्र रहे, जो सब कार्यों के लिए चित्त में उत्साह रखे, किन्तु किसी भी कार्य में बद्ध न हो, सदा तटस्थता की भावना रखे। इससे पूर्व कही हुई योगसूत्रोक्त मुदिता और उपेक्षा भावना भी सूचित की गई। चित्त में कभी भी दुःख न आने दे और चित्त से सभी सुख दुःख देने वाले कार्यों के फल का त्याग ही रखे। कई व्याख्याकार इसका अर्थ कर्म-संन्यास ही मानते हैं, किन्तु श्रीशङ्कराचार्य यहाँ फल त्याग ही अर्थ समझते हैं। भगवद्गीता के अष्टारहवें अध्याय के आरम्भ में जो त्याग की परिभाषा की गई है, उसके अनुसार यही अर्थ उचित भी है। ऐसा ही भक्त मुझे प्रिय होता है। (१६)

जो अपने कार्य की सिद्धि में अर्थात् इष्ट वस्तु प्राप्त होने पर न प्रसन्न हो और अनिष्ट भी कभी आ पड़े तो उससे द्वेष न करे। इन पदों से उदासीनता को ही स्पष्ट किया गया है एवं न शोक करता है न किसी वस्तु की इच्छा करता है,

इस प्रकार शुभ और अशुभ फलों का चित्त से त्याग करने वाला और भक्ति रखने वाला प्राणी मुझे प्रिय है। (१७)

शत्रु और मित्र में समान भाव रखे तथा यदि कहीं अपना आदर हो अथवा निरादर भी हो तो समान भाव रखे एवं शीत, गर्मी, सुख और दुःख में समान ही रहे तथा किसी का चित्त से सङ्ग न किया करे। (१८)

निन्दा और स्तुति को समान समझे, आवश्यकता से अधिक न बोले और सन्तुष्ट रहे अर्थात् वस्त्र, भोजन आदि जो मिल जाय, उसी से संतोष करे अधिक की इच्छा न करे, अनिकेत रहे, अनिकेत शब्द का अर्थ कई व्याख्याकार यह करते हैं कि जिसके घर-बार कुछ न हो, इससे संन्यास ही सिद्ध हुआ। किन्तु लोकमान्यतिलक इसका अर्थ करते हैं कि जिसका ठिकाना कहीं भी न हो, अर्थात् अनिश्चित रूप से कहीं भी रहा करे। जिसकी बुद्धि कभी डाँवाडोल न हो और निरन्तर मेरे में प्रेम रखने वाला हो, वही मनुष्य मुझे प्रिय होता है। (१९)

इस पद्य में “धर्म्यामृतम्” और “धर्मामृतं” दोनों प्रकार के पाठ देखे जाते हैं। “धर्म्यामृतम्” जहाँ पाठ है वहाँ “धर्मादिनपेतं धर्म्यम्—इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म से युक्त—यह अर्थ हो जाता है। धर्म से युक्त और अमृत अर्थात् सुनने में भी चित्त को सुख देने वाला तथा मोक्ष को भी प्राप्त कराने वाला हो जाता है। “धर्मामृतम्” इस पाठ में धर्मरूप अमृत—यह अर्थ रहता है, तात्पर्य एक ही है। भगवान् कहते हैं कि मैंने “अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्” इत्यादि पद्यों में जो तुम्हें उपदेश दिया है वह अमृत रूप है। इस उपदेश को जो अपने आचरण में सदा लेते रहते हैं और श्रद्धा से युक्त रहते हैं, सब मनुष्यों में जो दूसरे के वाक्य के दोष देखने की प्रवृत्ति रही है उसको रोकने वाली चित्तवृत्ति का नाम श्रद्धा है, “दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिः श्रद्धा” ऐसी श्रद्धा से युक्त रहते हैं। अर्थात् इन मेरे वाक्यों में दोष देखने की इच्छा जिनके मन में कभी नहीं उठती और जो मुझ ईश्वर को ही परम अर्थात् अन्त में प्राप्त समझते हैं वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

यहाँ सभी पद्यों में प्रिय शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने पूर्वोक्त पद्य के अनुसार ज्ञानी ही किया, किन्तु इस पद्य में श्रीनीलकण्ठजी कहते हैं कि ज्ञानी को तो भगवान् ने पहिले “ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्” (७।१८) इस वाक्य से अपना आत्मा ही कह दिया, इसलिए यहाँ प्रिय शब्द से भक्त अर्थात् अपने में प्रेम रखने वाले को ही भगवान् ने प्रिय कहा है—ऐसा कहते हैं। श्रीरामानुजाचार्य आदि को भी भक्त को ही भगवान् ने प्रिय कहा—यही इष्ट है।



इस प्रकार भगवद्गीता में कर्म, उपासना, ज्ञान, इन तीनों का तीन षट्कों में प्रतिपादन मानने वालों के मत से “उपासनाकाण्ड” यहाँ पूर्ण हुआ और ‘तत्त्वमसि’ इस महावाक्य के पदों का तीनों षट्कों में जो प्रतिपादन मानते हैं, उनके मतानुसार “तत्” पदार्थ अर्थात् ब्रह्म-ईश्वर निरूपण यहाँ पूर्ण हुआ। श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार “राजविद्या” अर्थात् विद्याओं में जो भगवान् कृष्ण को अत्यन्त प्रिय है, वह “भक्ति विद्या” परिपूर्ण हुई। (२०)

बारहवाँ अध्याय समाप्त ।





# श्री गीता प्रवचनमाला

(तृतीय भाग)



व्याख्याता

राष्ट्रपति सम्मानित

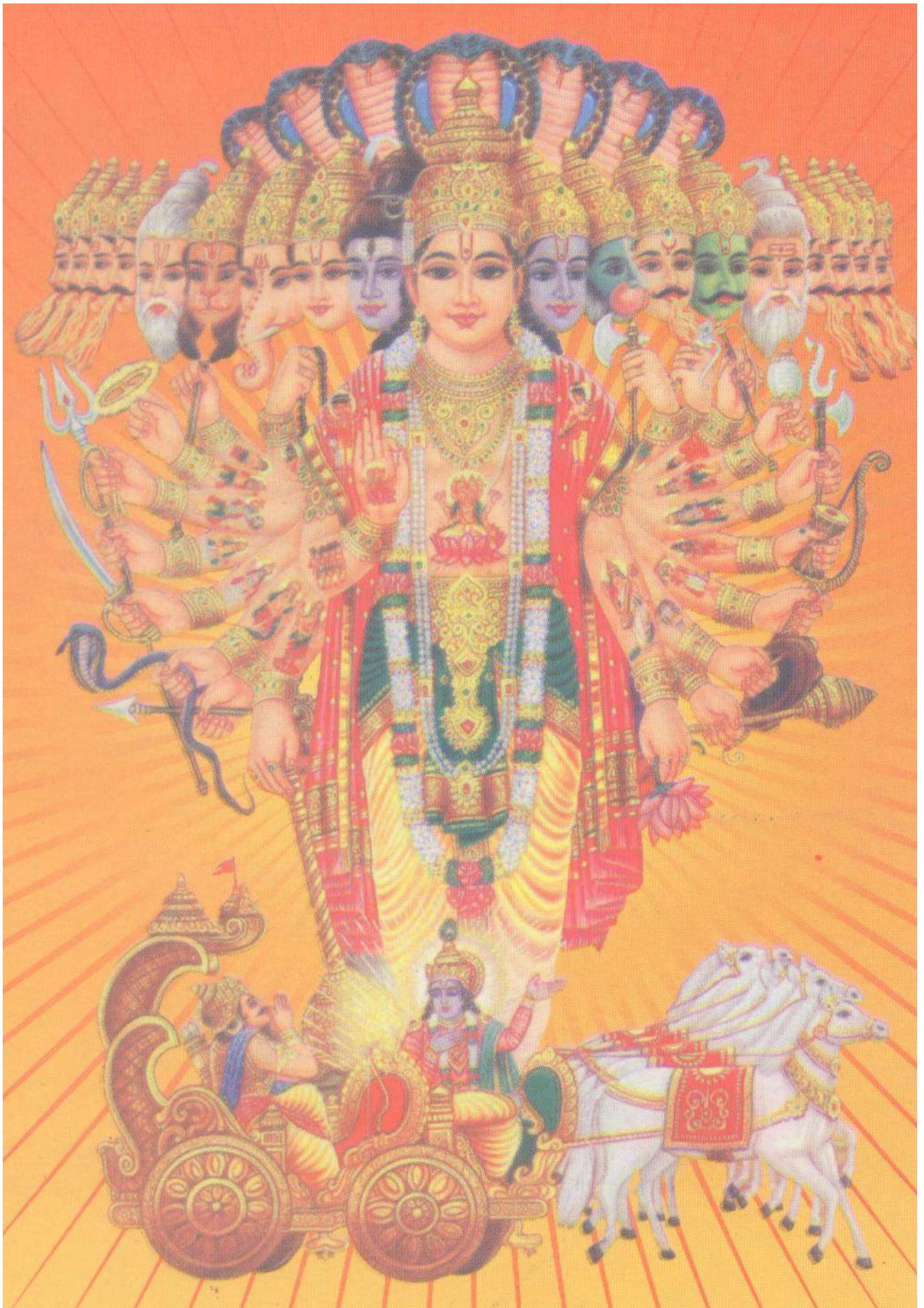
महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संपादक

राष्ट्रपति सम्मानित

आचार्य डा. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी









**डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी**  
सम्पादक

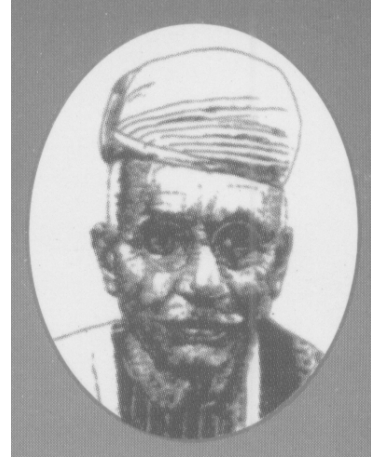
जन्मतिथि : 16 अप्रैल, 1934

पिता : म. म. पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

माता : श्रीमती गुलाब देवी चतुर्वेदी

प्रारम्भिक शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा जयपुर, लाहौर, हरिद्वार, अल्वर तथा वाराणसी में। "वाल्मीकीय रामायण में राजनीति" विषय पर शोध-निबन्ध। अध्यापन संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ तथा संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में। वहाँ के साहित्य विभागाध्यक्ष पद से सन् 1994 में सेवानिवृत्त। संस्कृत और हिन्दी में 30 पुस्तकें लिखित सम्पादित व प्रकाशित। हिन्दी और संस्कृत की पत्रिकाओं में शताधिक शोध लेख, ललित निबन्ध तथा काव्य रचनाएँ तथा कहानियाँ। सम्प्रति धर्मागम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक।

संस्कृत वाग्विवर्धिनी परिषद, कविभारती, आन्वीक्षिकी, श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी संस्थान, वाराणसी संस्कृत संसद आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना और मंत्रित्व तथा अध्यक्षता। 15 अगस्त 1999 को राष्ट्रपति डॉ. के.आर. नारायणन् द्वारा राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित। संप्रति अपने पुत्रों डॉ. प्रयास चतुर्वेदी (रीडर, फ्रेंच विभाग, का.हि.वि.वि.) तथा डॉ. संजय चतुर्वेदी (विद्युतव्यवसायनिरत) के साहचर्य में धर्मपत्नी श्रीमती सरोज चतुर्वेदी सहित वाराणसी में निवास करते हुए साहित्यानुशीलन तथा अध्यात्म चिन्तन।



**महामहोपाध्याय पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी**  
प्रवचनकर्ता

जन्मतिथि : पौ. शु. दशमी वि.स. 1938

निधनतिथि : 10 जून 1966

पिता : श्रीमान् गोकुलचन्द्र चतुर्वेदी

माता : श्रीमती लवङ्गी देवी चतुर्वेदी

राजस्थान की वर्तमान राजधानी जयपुर नगर में उत्पन्न, वहीं के संस्कृत कॉलेज में प्रारम्भ से सर्वोच्च शिक्षा तक प्राप्त। सर्वोच्च परीक्षा में विश्वविख्यात म.म. शिवकुमार शास्त्री की कलम से सौ में से सौ अंक प्राप्त। अध्यापन व्यवसाय का प्रारम्भ सहारनपुर के जैन महाविद्यालय से। अध्ययन काल में ही संस्कृत मासिक पत्र का संपादन एवं प्रकाशन। हरिद्वार के ऋषिकुल के प्रिंसिपल रहते हुए गुरुकुल के शास्त्रार्थ में भारत भर में विख्यात। लाहौर में 15 वर्ष

निवासकाल में महामना पंडित मदनमोहनमालवीय, पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि का निकट सम्पर्क। पंजाब सिन्धु क्वेटा, विलोचिस्तान आदि में धर्मव्याख्यानार्थ अनेक बार यात्राएँ। देश के विभिन्न प्रमुख नगरों में अनेक बार यात्राओं में धर्माचार्यों, शंकराचार्यों, संस्कृत विद्वानों, हिन्दी कोविदों का निकट सम्पर्क सहयोग। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन आदि अनेक संस्थाओं के संस्थापक संचालक। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की सर्वोच्च संस्कृत उपाधि महामहोपाध्याय से, तथा स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद द्वारा 15 अगस्त 1958 को संस्कृत सम्मान में प्रथम स्थान। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे दिग्गज सहाध्यायी। संस्कृत हिन्दी में 50 से अधिक ग्रन्थों के निर्माता। केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त। अपनी मातृसंस्था जयपुर संस्कृत कॉलेज के 20 वर्ष प्रिंसिपल रहकर सेवा निवृत्त। पुनः लाहौर और अलवर में प्रिंसिपल। देश विभाजन के उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सम्मानित शोध संचालक। 86 वर्ष तक निरन्तर लेखन भाषण अध्यापनरत रहते हुए 1966 में काशी में शिवसायुज्य।

# श्री गीता प्रवचनमाला

तृतीय भाग

व्याख्याता

राष्ट्रपति सम्मानित

महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संपादक

राष्ट्रपति सम्मानित

आचार्य डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी



प्रकाशन कक्ष

काशीहिन्दूविश्वविद्यालय

वाराणसी- २२१००५

भारत

ISBN No. : 81-85305-24-2

पुस्तक का नाम : श्री गीता प्रवचनमाला  
तृतीय भाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५ की प्रकाशन  
अनुदान योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

प्रथम संस्करण : २००७

© काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मूल्य : ५२५.००

प्रकाशक :

डा० विश्वनाथ पाण्डेय

विशेषकार्याधिकारी (प्रकाशन)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-२२१ ००५

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

विशेषकार्याधिकारी, प्रकाशन कक्ष

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-५ (भारत)

फोन : ९१-५४२-२३०-७२१६

फैक्स : ९१-५४२-२३६८५९८ / २३६८१७४

ईमेल : vnp@bhu.ac.in

मुद्रक :

तारा प्रिंटिंग वर्क्स

रथयात्रा-गुरुबाग रोड

कमच्छा, वाराणसी-२२१०१०

## पुरोवाक्

गीता व्याख्यानमाला के द्वितीय संस्करण का यह तीसरा भाग विद्वान् पाठकों को समर्पित करते हुए अपार हर्ष का अनुभव होना स्वाभाविक है। मुझे इस भाग के प्रथम मुद्रण काल में घटित घटनाओं का स्मरण आज भी रोमांचित करता है। उस काल इस प्रवचनमाला के व्याख्याता मेरे प्रातः स्मरणीय पूज्य पिता स्वर्गीय महाहोपाध्याय श्रीमान् पण्डित गिरिधर शर्मा जी की अवस्था चौरासी वर्ष की थी और वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मालवीय भवन में उन दिनों छान्दोग्य उपनिषद् पर अपने क्रमिक प्रवचन सुना रहे थे। उन्हीं दिनों एक रविवार को अत्यन्त शीतकाल में पिताजी की आवाज पर पक्षाघात का आक्रमण हो गया और प्रवचन की शक्ति उनमें फिर अन्त तक नहीं लौटी। उपनिषदों पर तो मालवीय भवन में रविवार को उनका प्रवचन चल रहा था और घर पर प्रतिदिन वे बोलकर गीताप्रवचन लिखवाते जा रहे थे और तत्काल उसे बी०एच०यू० प्रेस में भेजा जा रहा था और उसके प्रूफ आते जा रहे थे। इस प्रकार गीता प्रवचन का द्वितीय भाग १२वें अध्याय तक का पूर्ण हुआ था। जैसे ही तीसरा भाग शुरू होने को था कि वे सहसा अस्वस्थ हो गए। उस काल यह गंभीर विषय उपस्थित हो गया कि गीता प्रवचन माला का तीसरा भाग कैसे पूर्ण हो। हालांकि जब वे गीता पर प्रवचन कर रहे थे तब उसके नोट्स लिए जा रहे थे। परन्तु नोट्स और पूरे प्रवचन के लेखन में तो बहुत बड़ा अन्तर होता है। अन्ततः डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, जो कि यह जानते थे कि मैं प्रवचन काल में बराबर पिताजी के साथ रहता और प्रवचन के नोट्स लेता था, उन्होंने मुझसे गीता प्रवचन माला के तीसरे भाग को लिखने को कहा। उनकी प्रेरणा से इस तीसरे भाग का लेखन कार्य नोट्स को सामने रखकर तथा गीता की समस्त टीकाओं का अनुशीलन करते हुए मैंने ही पूर्ण किया।

मेरे इस प्रकार के लेखन को पूज्य पिताजी का पूर्ण आशीर्वाद और समर्थन प्राप्त होता रहे यह श्री अग्रवाल जी तथा श्री ज्योति भूषण गुप्त जी (तत्कालीन-कोषाध्यक्ष, का०हि०वि०वि०) का कथन था। पिताजी की वागिन्द्रिय ही पक्षाघात से बोलने के क्रम के लिए अवरुद्ध हुई थी। श्रवण शक्ति ठीक काम कर रही थी। अतः मैं नित्य प्रति अपना तीसरे भाग का लेखन उन्हें सुनाता जाता था और वे यत्र तत्र कुछ संकेतों से बोलते हुए तथा कुछ लिखकर उसमें संशोधन और परिवर्तन करने के संकेत देते जा रहे थे। एक दिन मेरे सुना देने के उपरान्त उन्होंने मुझे आशीर्वादात्मक वाक्य सुनाया कि “बाणभट्ट की “कादम्बरी” पुस्तक अधूरी ही थी कि बाणभट्ट का देहान्त हो गया, तब कादम्बरी को उनके पुत्र ने पूर्ण किया, वही कार्य हमारी इस अस्वस्थ

स्थिति में इस गीता प्रवचन माला के सन्दर्भ में तुम कर रहे हो। मैंने इस कथन पर उन्हें निवेदन किया कि बाणभट्ट की कथा तो सुनी हुई बात है, परन्तु यहां तो आप स्वयं प्रत्येक अक्षर सुनकर उसे अपना स्वत्व दे ही रहे हैं और प्रत्यक्ष आशीर्वाद भी दे रहे हैं, इससे इसकी प्रमाणिकता उक्त घटना से अधिक बढ़ जाती है।

हमारा प्रयत्न यह था कि कहीं इसी गहन रुग्णावस्था में उनका शरीर नहीं रहा तो गीता प्रवचन के सम्पूर्ण मुद्रण को वे नहीं देख सकेंगे, इसलिए यथा संभव यह लेखन और साथ साथ चलने वाले मुद्रण का कार्य शीघ्रता से सम्पन्न कर दिया जाय। कुलपति महोदय श्रीमान् स्व० भगवती साहब का भी बी०एच०यू० प्रेस को यह विशेष आदेश था कि गीता प्रवचन के मुद्रण कार्य को किसी भी प्रकार न रोका जाय। इस तत्परता से यह कार्य सम्पन्न होता रहा, बाद में इस शीघ्रता में हुई त्रुटियों की ओर ध्यान जब गया तो देखा गया कि थोड़ा पिछले अंश की ओर ध्यान दिये जाने पर आगे होने वाली त्रुटियों को नहीं रहने दिया गया होता। पिछले दो भागों में कई स्थानों पर अनेक बातों को इस भाग में आये हुए अध्यायों के प्रवचनों में विस्तार से लिखने की बात कही गई थी। उसका इस लेखन प्रवाह में ध्यान नहीं रक्खा जा सका। यद्यपि जब वह विषय लिखकर पिताजी को सुनाया तो उन्होंने उस विषय को संकेतित तो करा ही दिया, परन्तु उन विषयों का विस्तृत निरूपण जो इस गीता प्रवचन माला की अपनी एक मुख्य विशेषता है, वह इस तीसरे भाग में नहीं हो पाया, यदि वह भी इसमें आ गया होता तो इसका कलेवर प्रथम भाग से भी अधिक पृष्ठों में गया होता।

इस भाग में गीता के प्राचीन व्याख्याकारों की व्याख्याओं का सार संकलन ही प्रमुख रूप से है। साथ ही पिताजी के जो कुछ विशेष विषयों पर लेख पूर्व प्रकाशित होकर विख्यात हो चुके थे उनका भी उनकी आज्ञा और निर्देश से यथा स्थान समावेश कर दिया गया।

मैंने इस गीता प्रवचन माला के द्वितीय संस्करण के प्रथम और द्वितीय भागों के अपने “पुरोवाक्” शीर्षक कथनों में इस “गीता प्रवचन” ग्रन्थ के सन्दर्भ में अपने अनुभवों को प्रस्तुत किया है। परन्तु वे सारे अनुभव कभी भी एकत्र लिखे ही नहीं जा सकते। वे तो विपुल मात्रा में हैं। अतः जब उन बातों को लिखने का अवसर उपस्थित होता है तो कई नई बातें सूझती हैं कि इन्हें भी मनीषियों के मनोविनोदार्थ प्रस्तुत कर दूं।

इस सन्दर्भ में एक बात तो यह कथनीय है कि पिताजी के गीता और उपनिषदों के प्रवचन काल में मालवीय भवन तथा उससे पूर्व के संस्कृत महाविद्यालय आदि



के स्थान श्रोताओं से खचाखच भरे रहते थे। वह स्थिति उसके उपरान्त यदा कदा विशेष-विशेष वक्ताओं के आने पर कभी कभी ही देखने को मिलती है। बीच के काल में तो श्रोताओं के अभाव में दो चार श्रोताओं को गीता प्रवचन का श्रोता बनता हुआ देखा गया। परन्तु इस वर्ष इस श्रोताओं की संख्या में पुनः वृद्धि हुई है, यह बात स्वयं आमन्त्रित होकर प्रवचन करते हुए मेरे अनुभव में आई और यह भी अनुभव हुआ कि वर्तमान गीता समिति इस सन्दर्भ में पर्याप्त सचेष्ट है और उसका लाभ भी जनता को प्राप्त हो रहा है। श्रोताओं की उपस्थिति की दृष्टि से गीता प्रवचन के समय में भी अनुकूल परिवर्तन कर दिया गया है। पहिले गीता प्रवचन का समय प्रातः ८ बजे से ९ बजे तक नियत था। अब वह समय प्रातः १० बजे से ११ या ११.३० तक हो गया है। पहिले प्रारंभ और अन्त में भजन के अतिरिक्त केवल गीता पर प्रवचन ही होता था, अब भजन, गीता के एक अध्याय का सामूहिक पाठ उसके उपरान्त मालवीय जी महाराज की प्रतिमा पर वक्ता के द्वारा माल्यार्पण, फिर वक्ता की प्रस्तुति में मन्त्री महोदय के द्वारा कुछ वक्तव्य उसके उपरान्त गीता पर व्याख्यान, उसके उपरान्त प्रस्तुत किये गए व्याख्यान का सार मन्त्री महोदय के द्वारा प्रस्तुत करना जिसमें उनकी स्वयं की ली यथा स्थान छोटी बड़ी प्रशंसात्मक तथा आलोचनात्मक टिप्पणियाँ होती हैं, उसके बाद समाप्ति सूचक भजन गायन और तब इस प्रकल्प की परिपूर्ति होती है। यही रविवासीय गीता का क्रम कुछ काल से चल रहा है। मुझे जो इस समय स्मरण पिताजी के प्रवचन काल का आ रहा है वह उस काल की विशिष्ट श्रोतृ-मण्डली का है। उस काल की श्रोता मण्डली में इस विश्वविद्यालय के विश्व विख्यात मनीषी नियमित रूप से उपस्थित रहते थे, जिनमें कुछ नाम हैं, प्रो० डा० नारलीकर, जिनके सुपुत्र ने गणित में विश्व व्यापिनी ख्याति अर्जित की और जो स्वयं अनेक वर्षों तक पी०वी०सी० पद पर रहे डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल अपने समय के भारतीय विद्याओं भाषाओं के व्यातनाम विद्वान् थे, डॉ० राजबली पाण्डेय महोदय, पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी, पण्डित बलदेव उपाध्याय वयोवृद्ध श्रीमान् श्यामाचरण डे महाशय, प्रो० भीखनलाल आत्रेय, जबसे डॉ० नटवर लाल हीरा लाल भगवती महोदय कुलपति बने और अपने सहयोग के लिए पी०वी०सी० के रूप में उन्होंने एम०सी०बीजावत महोदय को बुलवा लिया तब से उन्होंने नियमित रूप से गीताप्रवचन का श्रवण किया और उनके कारण भी विश्वविद्यालय के समस्त उच्च अधिकारीगण उपस्थित रहते थे। नगर के दूरस्थ भागों से भी श्री याज्ञिक जी आदि अनेक महानुभाव नियमित रूप से गीता प्रवचन को सुनते थे। संस्कृत महाविद्यालय के विद्वानों को रविवार का अवकाश न होकर भारतीय प्राचीन अनध्याय की परम्परा को देखते हुए आज भी अष्टमी और

प्रतिपदा तिथियों को साप्ताहिक अवकाश मिलता है, परन्तु गीता प्रवचन के श्रवण का लाभ उन्हें भी मिले और दो बार न आना पड़े इसलिए रविवार को संस्कृत महाविद्यालय का कार्यकाल प्रातःकाल १० बजे से प्रारम्भ होता था, अतः संस्कृत महाविद्यालय के कवितार्किक चक्रवर्ती श्री महादेव शास्त्री जी (बाद में संन्यास लेने पर श्री स्वामी माहेश्वरानन्द जी) श्री पं० रामनाथ दीक्षित, पं० श्री हीरावल्लभ जी, आदि समस्त विद्वान् उपस्थित होते थे। इस प्रकार रविवासीय गीता प्रवचन की यह श्रोता मण्डली अपना एक अलग ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। कुछ अन्य विद्वानों का स्मरण भी आ रहा है जिनमें आचार्य बदरीनाथ शुक्ल (जो बाद में संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे) वे इसी विश्वविद्यालय में थे, श्रीराम व्यास ज्योतिषी, श्री गया प्रसाद ज्योतिषी, पं० सीताराम त्रिपाठी आदि विद्वान् भी निरन्तर प्रवचनों में विद्यमान रहते थे। गीता प्रवचनों के लिखे जाने का प्रस्ताव सर्वप्रथम श्रीमान् डॉ० प्रो० दरबारी लाल जी कोठिया, महोदय ने रक्खा था और श्री महेन्द्र कुमार जैन महाशय ने इस पर बहुत जोर दिया था। उस समय के छात्रों में अग्रगण्य और वर्तमान के भारत विख्यात मनीषियों में डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी, श्री डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, श्री स्व० रतिनाथ झा आदि प्रमुख थे। इनमें से कई महानुभाव अपने अध्ययन के अन्तिम चरण में थे।

मैं गीता प्रवचन के मध्य के काल में प्रायः दो वर्ष अध्यापक होकर पंजाब विश्वविद्यालय की सेवा में चण्डीगढ़ चला गया था। उन्हीं दिनों गीता व्याख्यानमाला के प्रथम भाग का मुद्रण होता रहा। प्रूफ सम्बन्धी और सम्पादन सम्बन्धी अनेक त्रुटियां उसमें रह गईं। उपरान्त मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में साहित्य विभाग में अध्यापक होकर आ गया। इस प्रयत्न में पिताजी का आशीर्वाद और कुलपति श्री भगवती महोदय का उत्साह मेरा संबल था। मैंने आने के उपरान्त गीता व्याख्यानमाला के कार्य को सम्हाला। पंजाब विश्वविद्यालय में मैंने पी-एच०डी० शोधोपाधि के लिए कार्यारम्भ कर दिया था। परन्तु यहाँ आने पर मुझे स्वयं को शोधोपाधि के लिए पुनः पंजीकृत कराना अनिवार्य था। इसके लिए जब मैं श्रीमान् स्वर्गीय डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल जी महानुभाव से परामर्श लेने गया तब उन्होंने मुझे समझाया कि मैं भले ही रजिस्ट्रेशन की औपचारिकता पूरी कर लूँ, परन्तु पी-एच०डी० उपाधि तो प्रतिवर्ष सैकड़ों लोग प्राप्त कर रहे हैं, जो कार्य अन्य कोई नहीं कर सकेगा सिवा मेरे वह कार्य ही मुझे पूरी तल्लीनता से करना चाहिए और वह है पिताजी के वर्तमान लेखन को पूर्ण करने में योग देने, उसकी शीघ्र मुद्रण व्यवस्था देखने, और साथ ही हिन्दी और संस्कृत में उनके प्रकाशित अप्रकाशित बिखरे हुए लेखों को व्यवस्थित कर उन्हें प्रकाशन के उपयुक्त रूप में प्रस्तुत करने का महान् कार्य।

मैंने भी इस तथ्य का अनुभव किया और रजिस्ट्रेशन मात्र करा लेने के बाद मैंने उस ओर से ध्यान हटाकर गीता प्रवचन पर ही ध्यान केन्द्रित किया। द्वितीय भाग में एकादश अध्याय पर पिताजी की आज्ञा पाकर मैंने ही लेखन किया था। फिर जब उनकी वाणी पर पक्षाघात का आक्रमण हुआ तो त्रयोदश अध्याय से अन्तिम अष्टादश अध्याय तक का गीता की विभिन्न टीकाओं को सामने रख कर लेखन भी मैंने पूर्ण कर उन्हें सुनाया और उनकी स्वीकृति प्राप्त की।

इसी मध्य में पिताजी के संस्कृत लेखों का संस्कृत पत्रिकाओं से संकलित कर “चतुर्वेदिसंस्कृतरचनावलिः” इस नाम से चौखम्बा मुद्राणालय से प्रकाशन कराया। “निबन्धादर्शः”, “प्रमेय पारिजातः”, “पुराण पारिजातः”, “वैदिकविज्ञानम्” आदि पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। यह सब पिताजी के जीवन काल में प्रकाशित होकर उन्हें समर्पित होती रहीं।

हिन्दी भाषा में उनके निबन्धों का संकलन करके ‘साहित्यिकनिबन्ध’ तथा ‘दर्शन अनुचिन्तन’ नामक पुस्तकें उन्हें समर्पित हुईं। ये सभी पुस्तकें उच्चकोटि के प्रकाशन संस्थानों से प्रकाशित हुईं। इस प्रकार मेरी काशी में नियुक्ति का मुख्य उद्देश्य सन्तोषजनक रीति से पूर्ण हुआ।

पिताजी के दिवंगत होने के उपरान्त पटना से पुराण परिशीलन नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ, उसका भी बहुत कुछ लेखन कार्य मैंने ही किया। हिन्दी में “भारतीय दर्शनों में आत्मा”, “भगवान् श्रीकृष्ण और शिवतत्त्व”, “वैदिक वर्णव्यवस्था और श्राद्ध”, “उपनिषद् परिशीलन”, “छवि की किरणें”, “आत्मकथा और संस्मरण”, “प्रत्यालोचन” इन ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन सम्पन्न किया। एम०ए० पास करने के सत्रह वर्ष उपरान्त मैंने “बाल्मीकि रामायण में राजनीति” विषय पर अपना शोध कार्य पूर्ण कर शोधोपाधि प्राप्त की।

मेरे सेवा निवृत्त होने और पुनर्नियुक्ति (सुपर एन्युएशन) के अन्तराल में पिताजी का संस्कृत में अनेक वर्षों के परिश्रम से लिखा गया महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ “पुराणविद्या” इस नाम से जयपुर की राजस्थान संस्कृत अकादमी संस्था से प्रकाशित कराने के उपरान्त ही मैंने चैन की सांस ली। क्योंकि पिताजी की महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन हो चुका था।

परन्तु अब दूसरी समस्या आ गई कि वर्षों पूर्व प्रकाशित ये सभी कृतियाँ अनुपलब्ध हो चुकी थीं। उनमें गीता व्याख्यानमाला ही प्रमुख और सबसे बड़ी थी। आज भगवत्कृपा से वह कार्य सम्पन्न होने के उपरान्त मुझे अपार हर्ष का अनुभव

होना स्वाभाविक है और इसके लिए मैं प्रारंभ से पूर्णता पर्यन्त श्रीमान् डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय महोदय, जनसम्पर्क अधिकारी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं सदस्य प्रकाशन समिति का हृदय से कृतज्ञ हूँ। अपने पास रहने वाले अपने पुत्रों डॉ० संजय चतुर्वेदी और डॉ० प्रयास चतुर्वेदी (रीडर फ्रेंच भाषा विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) का भी मैंने पर्याप्त सहयोग लिया। इन्हें हृदय से शुभाशीर्वाद देता हूँ।

आशा है इस दीर्घकाल से अनुपलब्ध ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन से विद्वानों को मनस्तोष और आनन्द प्राप्त होगा।

निवेदक-

शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी

---

## आरम्भिक वक्तव्य

भगवत्कृपा से गीता प्रवचनमाला का यह तृतीयखण्ड प्रस्तुत हो रहा है। इस मध्य में मुझे अनेक पत्र मिलते रहे जिनमें इस खण्ड के मुद्रण की प्रतीक्षा करने की बात लिखी गई थी। इसके पूर्व के दो खण्डों को पाठक सज्जनों ने पढ़ा और पत्र भी इस विषय के मुझे मिलते रहे। अनेक समाचार पत्रों में पूर्व खण्डों की आलोचनाएँ-प्रत्यालोचनाएँ भी हुईं। पहिले तो मैं भी शास्त्रीय आलोचनाओं में बराबर भाग लेता था। मेरे आलोचनात्मक लेखों का संग्रह भी किया गया है, परन्तु वृद्धावस्था के शैथिल्य और पूर्वारब्ध कार्यों में यथाशक्ति लगे रहने के कारण इस समय इन आलोचनाओं में पढ़ने का अवकाश और शक्ति नहीं। यावज्जीवन के स्वभावानुसार यथाशक्ति कुछ लिखते-लिखाते रहना ही इस समय अवशिष्ट कार्य रह गया है। वही करता रहता हूँ। नेत्रों के दौर्बल्य से जब से स्वयं पढ़ना छूटा तभी से स्वयं लिखना भी छूट गया है। कई वर्षों से एकाधिक विद्वान् या छात्र की मुझे सहायता लेनी होती है।

इस भाग को प्रस्तुत करने में प्रमुख सहायता मेरे कनिष्ठ पुत्र श्री शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी की मिली। गतवर्ष जनवरी मास में मैं वागवरोध रोग से आक्रान्त हो गया। बहुत दिनों तक बोल ही नहीं सका। उस अवसर पर शिवदत्त शर्मा ने मुझसे निर्देश लेकर इस ग्रंथ के कार्य को आगे बढ़ाया। जब मैं गीता पर प्रवचन करने हिन्दू विश्वविद्यालय में जाया करता था, उस समय जो व्यक्ति मेरे साथ जाता था, वह व्याख्यान के संक्षिप्त नोट भी ले लेता था। वे नोट्स सुरक्षित प्राप्त हो गए। श्री पं० गयाप्रसाद जी ज्योतिषी महोदय भी प्रवचन काल में नोट्स लेते रहे। उनके नोट्स भी प्राप्त हो गए। अनेक विषयों की प्रत्यभिज्ञा इन के आधार पर होती गई। जब कुछ-कुछ वाणी खुलने लगी तब मैं भी बोल कर लिखाने लगा। गीता की व्याख्याओं का सार संकलन ही इस भाग में भी आपको मिलेगा। कुछ विशेष विषय भी इसमें चर्चित हुए हैं। क्षर-अक्षर निरूपण, ईश्वर निरूपण, ज्ञान और भक्ति, आदि विषयों पर कुछ विस्तार से लिखा है।

आयुष्मान् शिवदत्त शर्मा को मैं शुभाशीर्वाद देता हूँ। उसने इसमें पर्याप्त श्रम किया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के नेपाल प्रकाशन मण्डल के अधिकारियों का मैं आभार स्वीकार करता हूँ कि वहां की पूरी सहायता से इस गीता व्याख्यान माला का लेखन और प्रकाशन हुआ है। श्रीमान् डा० वासुदेव शरण अग्रवाल जी महोदय ने आरम्भ से ही इसके प्रकाशन में रुचि ली, भूमिकाएं भी लिखी, उनको भी मैं साधुवाद देता हूँ। श्री चिन्तामणि झा ने भी इसके प्रकाशन में परिश्रम किया है, उन्हें मेरे शुभाशीर्वाद हैं। मेरे पौत्र श्री ईश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, एम०ए० तथा मेरे प्रशिष्य रामप्रसाद त्रिपाठी

तथा गोप राजुराम (आन्ध्र) ने भी इस कार्य में योग दिया है। इन्हें भी मैं शुभाशीर्वाद देता हूं। अन्त में मेरा यही निवेदन है कि इस ग्रन्थ में जहां कोई दोष दिखाई दे, वह मेरा ही है, मेरा असामर्थ्य ही उसमें कारण है। जो कुछ ग्राह्य अंश इसमें हो वह आचार्यों, मनीषियों और गुरुजनों का ही प्रसाद है, यही समझकर पाठक महानुभाव इसका अवलोकन करें और कृपापूर्ण दृष्टि से मेरे दोषों को क्षमा करें।

महाशिवरात्रि

सं० २००१

गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

## भूमिका

यह ईश्वर की महती कृपा है कि म०म० पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी के भाष्य का जो वाग्यज्ञ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आरम्भ हुआ था, वह अब पूर्ण हो रहा है। यह योजना इस प्रकार थी कि श्रीमद्भगवद्गीता के अठारह अध्यायों को मूल और भाष्य समेत ६-६ अध्यायों के तीन खण्डों में प्रकाशित किया जाय। तदनुसार पहला खण्ड (अध्याय १-६) ७-१२-१९६२ को और दूसरा खण्ड (अध्याय ७-१२) २३-१२-६३ को प्रकाशित हुआ था। आज यह तीसरा खण्ड अध्याय (१३-१८) प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हो रहा है। तीनों खण्डों में लगभग १४०० पृष्ठ हुए हैं। पण्डित जी की आयु ८४ वर्ष की है। इधर पक्षाघात के आक्रमण के कारण उनका स्वास्थ्य सार्वजनिक चिन्ता का विषय बन गया था किन्तु भगवान् ने उनकी रक्षा की। अब वे प्रायः रोग से मुक्त हो गए हैं किन्तु व्याधि की अवस्था में भी उन्हें गीता-प्रवचन के तीसरे खण्ड को विधिवत् संपन्न करने का बराबर ध्यान बना रहा और अपनी तपश्चर्या से वे सफल मनोरथ हुए।

इन छह अध्यायों में विशेष बात यह है कि इनमें अनेक वैदिक विद्याओं का उल्लेख पाया जाता है, जैसे १३वें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषय का स्पष्ट विवेचन किया गया है। ये दोनों शब्द ऋग्वेद में पाए जाते हैं। क्षेत्र शरीर है और क्षेत्रज्ञ आत्मा है। जो आत्मा को नहीं जानता वह अक्षेत्रविद् है और जो जानता है उसे क्षेत्रविद् कहते हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में सच्ची दृष्टि सब प्रकार के अन्य ज्ञानों से श्रेष्ठ है। सब शरीर में, भगवान् की सत्ता के विषय में, सब भारतीय शास्त्रों का मत स्पष्ट है और वही बात गीता में दृढ़ता से कही गई है। विराट् ब्रह्म सूर्य है, उसी की ज्योति या एक किरण अध्यात्म शरीर में आत्मा है।

गीता के इस अध्याय में कहा गया है कि ऋषियों ने अनेक वेद मन्त्रों में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संबन्धी इस विद्या को समझाया है और इसी का उल्लेख ब्रह्मसूत्रों के शब्दों में है जिनमें उपनिषदों का सार है। इसी के साथ पूरे शरीर की रचना किन तत्त्वों से हुई है, इसका भी स्पष्ट उल्लेख है, अर्थात् पञ्चभूत, दस इन्द्रियां, पांच तन्मात्रा या इन्द्रियों के विषय इन बीसों के अतिरिक्त अहंकार (वैयक्तिक अहंभाव या मन), विराट्बुद्धि (विज्ञान) और अव्यक्त प्रकृति एवं इनके अतिरिक्त इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, चेतना, प्राणात्मक विधृति और इनका एकत्र पुरुष रूप में संघात या जमघट यह क्षेत्र का ठाट है।

इसके अतिरिक्त संसार में ज्ञान क्या है और अज्ञान क्या है ? इसको भी इस

अध्याय में स्पष्ट और सरल शब्दों में कहा गया है। इसके अलावे ज्ञेय ब्रह्मतत्त्व या परमात्मा के दो स्वरूपों की व्याख्या करते हुए निर्गुण और सगुण कहा गया है। इस वर्णन की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें केवल शब्दों का जंजाल नहीं, यह तो ज्ञानी की साधना की दृष्टि से मथा हुआ मकखन है। यहाँ किसी एक साधना को अच्छा और दूसरी को बुरा कहने का प्रश्न नहीं; अतएव ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इन तीनों मार्गों को सत्यात्मक बताया गया है।

चौदहवें अध्याय में ब्रह्म के दो स्वरूपों का एक नये ढंग से वर्णन है जिसे मातृ-पितृ विद्या कहा जा सकता है। 'द्यौः पिता पृथिवी माता' यह ऋग्वेद का प्राचीन सूक्त था। इसे ही द्यावा-पृथिवी विद्या भी कहा जाता था। इसे ही स्वयंभूपरमेष्ठी विद्या भी कहते थे। स्वयंभू पिता और परमेष्ठी माता है। स्वयंभू पुरुष और परमेष्ठी विराज् प्रकृति है। स्वयंभू सूक्ष्मातिसूक्ष्म अव्यक्त तत्त्व और परमेष्ठी महान् महिमा भाव है। स्वयंभू बीजप्रद या गर्भाधान करने वाला रेतोधा पिता है। परमेष्ठी गर्भ धारण करने वाली महद्योनि या महिमारूपिणी माता है। स्वयंभू अपरिभाष्य या वर्णन से परे है किन्तु परमेष्ठी विराज् या प्रकृति सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से बनी है और उसी के साथ गुणातीत या गुणों के वैषम्य से विचलित न होने वाले ज्ञानी का भी लक्षण बताया गया है। ऐसा व्यक्ति ब्रह्म तुल्य ही बन जाता है। ब्रह्मभूयाय कल्पते।

पन्द्रहवें अध्याय में अश्वत्थ विद्या का विवेचन है। यह भी मूलतः वैदिक विद्या ही थी जहाँ इस विश्व को ब्रह्म वृक्ष और समस्त विश्वों या ब्रह्माण्डों की समष्टि को ब्रह्म कहा गया है। वृक्ष और वन की उपमा ब्रह्माण्ड के स्वरूप को दृढ़ता से सामने लाती है। गीता के इस वर्णन में कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ स्पष्टता से समझ लेना चाहिए। वेदों में जिसे सहस्रवल्श वनस्पति अर्थात् सहस्र शाखाओं वाला वृक्ष कहा है उसे ही यहाँ अव्यय अश्वत्थ कहा गया है। जो सहस्र या अनन्त है वही अव्यय है। जैसे अनन्त का कभी अन्त नहीं होता वैसे ही अव्यय का कभी व्यय या क्षय नहीं होता। इस निखिल ब्रह्माण्ड में अनेक संसार हैं। वे ऐसे ही हैं जैसे अण्डे के भीतर की सफेदी में भरे हुए अनन्त कण या कोशों की सत्ता होती है। दोनों में एक बड़ी समानता है। वह यह है कि विश्व में भी प्राण या अस्तित्व है। अण्डे के कोश या कणों में भी प्राण हैं। प्राण को वेदों में हिरण्य या रेतस् भी कहा गया है। इसीलिए इस ब्रह्माण्ड की एक संज्ञा हिरण्यगर्भ भी है। उसी हिरण्यगर्भ का वर्णन अव्यय अश्वत्थ के रूप में पाया जाता है। इनमें केवल प्रतीकों का भेद है। वास्तविक तथ्य एक ही हैं। अश्वत्थ नाम भी सार्थक है। अश्वत्थ की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। एक तो अश्वत्थ वह है जो आज है, कल निश्चित नहीं। यह संसार सदा परिवर्तनशील



है। यह भवचक्र ऐसा पहिया है जो सदा घूमने वाला है। इस परिवर्तमान चक्र का अङ्ग-प्रत्यङ्ग या इसके सहस्रों अरे निरन्तर घूम रहे हैं। इस प्रकार यह ध्रुव या एक रूप टिकाऊ नहीं है और इसकी अ+श्वत्थ संज्ञा चरितार्थ है। अश्वत्थ का दूसरा संकेत और भी अधिक प्राचीन एवं गूढ़ था जिसके नीचे या जिसकी छाया में एक-एक अश्व का अस्तित्व है वही अश्वत्थ है। यह अश्व काल है (कालो अश्वो वहति सप्त रश्मिः, अथर्व)। प्रत्येक विश्व काल पर आश्रित है। काल-चक्र के परिभ्रमण से ही विश्व का विकास हो रहा है। काल ही विश्व के स्वरूप का आधान करने वाला है। यदि एक क्षण के अनन्तर दूसरा क्षण संभव न हो तो व्यक्ति और संसार, व्यष्टि और समष्टि सब प्रकार के जीवन का अन्त हो जाय। गत्यर्थक अश् धातु से अश्व शब्द बना है। अश्व-पशु या अश्व-काल इन दोनों का प्रवृत्ति-निमित्त एक ही है। कालरूपी अश्व का सबसे स्फुट दृष्टान्त सूर्य है। वह अपनी गति के अनुसार विश्व की गति को नियमित कर रहा है। अतः सूर्य सापेक्ष काल का सबसे समर्थ प्रतीक है। सूर्य के द्वारा प्रवर्तित काल के अनेक खण्ड, वर्ष, मास, पक्ष, अहोरात्र के रूप में हमारे अनुभव में आते हैं और फिर किसी अनन्त काल राशि में विलीन हो जाते हैं। काल के एक रस प्रवाह में इन काल खण्डों की कहीं ध्रुव सत्ता नहीं है किन्तु फिर भी उनका अनुभव प्रत्येक प्राणी को हो रहा है। अर्वाचीन भाषा में सूर्यरूपी अश्व और संसाररूपी अश्वत्थ के संबन्ध का वर्णन करते हुए कहा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक सौर मण्डल है जिसके केन्द्र में उसका क्रियात्मक सूर्य प्रतिष्ठित है। निश्चय ही सौर मण्डल के सब प्राणियों का जन्म सूर्य की शक्ति से ही होता है।

गीता के 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' इस श्लोक में ऊर्ध्व और अधः शब्दों का भी विशेष अर्थ है। ये लौकिक संस्कृत के समान दिशावाची शब्द नहीं हैं किन्तु ऊर्ध्व का अर्थ अव्यक्त और सूक्ष्म है और अधः का अर्थ व्यक्त स्थूल है। ऊर्ध्व अमृत या अविनाशी और अधः मर्त्य या विनाशी है। संसार रूपी वृक्ष का मूल ऊर्ध्व, अमृत या ब्रह्म तत्त्व है। इस महावृक्ष की जो जटायें नीचे की ओर फैलती हैं वे कर्मानुसारिणी हैं। हम जैसा कर्म करते हैं उसी के अनुसार जटाओं की रस्सियां बटी जाती हैं। इस वृक्ष का न अन्त है न आदि। यह एक पुरानी प्रवृत्ति है जो आदि पुरुष या ब्रह्म की शक्ति से प्रवृत्त हुई है। यह संसार भूतों से बना हुआ क्षर कहा जाता है। इसमें व्याप्त जीव या प्राण अक्षर हैं और इन दोनों से ऊपर अथवा अधिक सूक्ष्म भगवान् अव्यय या पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। यह बड़ा गुह्य या छिपा हुआ ज्ञान है (गुह्यतमं ज्ञानम्) जो भगवान् ने अर्जुन से कहा।

सोलहवें अध्याय में वेदों की देवासुर विद्या का मानवीय धरातल पर बहुत ही

सुन्दर विवेचन किया गया है। देवों और असुरों का यह द्वन्द्व विराट् जगत् में भी है किन्तु इसकी सबसे स्फुट सत्ता मनुष्यों के जीवन और आचार में देखी जाती है। इसी सामाजिक स्वरूप को चरित्र संबन्धी गुण-दोषों के सांचे में ढाल कर यहाँ कहा गया है कि संसार में भूतों की सृष्टि या प्राणियों का जन्म दो ही प्रकार से हुआ है, एक देवों के रूपों में दूसरे असुरों के रूपों में (द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च) देवों और असुरों को मनुष्य जैसे रूप में हम कहीं नहीं देख पायेंगे। किन्तु मनुष्यों की जो दो तरह की प्रवृत्ति या स्वभाव हैं उनमें भी दैवी-संपद् और आसुरी संपद् का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। देवों का लक्षण सत्य, अमृत, ज्योति और पवित्रता है। असुरों का लक्षण असत्य, अन्धकार, मृत्यु और अशौच या अपवित्रता है। देव की शक्ति को न देखनेवाले असुर प्रायः यही कहते हैं कि सत्य की प्रतिष्ठा करने वाला कोई ईश्वर इस संसार के मूल में नहीं है। इसलिए कामों का उपयोग ही यहाँ परम पुरुषार्थ है। धन, मान, दम्भ, अहंकार, काम-क्रोध इनका क्रूर चक्र ऐसे दुरात्मा व्यक्तियों के मन को ग्रस लेता है।

सत्रहवें अध्याय में अर्जुन ने अपनी एक शंका प्रकट की कि यह जो आपने सत्त्व, रज, तम, तीन प्रकार की जीवन प्रणाली कही है उसके अनुसार जीवन बिताने वाले लोगों की श्रद्धा कैसी होती है। उनके देवता, तप, आहार, यज्ञ, दान आदि प्रवृत्तियों में किस प्रकार के भेद होते हैं जिससे कि उन व्यक्तियों की तत्काल पहिचान की जा सके। संक्षेप में सत् और असत् का भेद क्या है ?

अठारहवें अध्याय में कर्म संन्यास और कर्मफल त्याग इन दो दृष्टियों के पारस्परिक भेद का बहुत अच्छा विवेचन किया गया है। कैसा कर्म सांख्य और योग के अनुसार उचित है। इसके विषय में समन्वय परक उत्तर यहाँ पाया जाता है जिसका मूल हेतु भी वहाँ त्रिगुणमयी सात्त्विकी, राजसी और तामसी धृति अर्थात् विचार धाराएँ हैं। यही वर्णों के स्वाभाविक अपने-अपने कर्मों का भी वर्गीकरण किया गया है। इस प्रकार की सोच-विचार की स्वीकृत जीवन प्रणाली को गीताकार ने बुद्धियोग की संज्ञा दी है और इसे गुह्य से गुह्यतर ज्ञान कहा है।

महामहोपाध्याय श्री गिरिधर जी ने गीता की यह नई व्याख्या बड़े मनोयोग से विस्तार के साथ प्रस्तुत की है। इसमें श्रुति, स्मृति के अनेक प्रामाणिक वचनों का भी यथा स्थान संग्रह किया गया है। इन प्रवचनों का उपदेश काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के श्रोताओं के समक्ष कथा रूप में किया गया था और लगभग उसी रूप में ये मुद्रित किए जा रहे हैं। इनमें गीता पर भाष्य लिखने वाले शंकर, रामानुज आदि प्रमाणभूत

आचार्यों के मतों का भी तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन है। यह इस प्रवचनभाष्य की अपूर्वता है।

आशा है, इसके द्वारा अपने देश में गीता साहित्य की विशेष अभिवृद्धि और गीता-ज्ञान का व्यापक प्रचार हो सकेगा।

इस कार्य की पूर्ति में पण्डित जी की रुग्णावस्था के समय उनके सुपुत्र श्री शिवदत्त जी ने सम्पादन और प्रूफ संशोधन में विशेष सहयोग दिया जिसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

श्री पं० रामाधीन शास्त्री ने महामहोपाध्याय जी के लेखक के रूप में इन प्रवचनों की पाण्डुलिपि मुद्रणार्थ तैयार की, अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

१०-३-१९६५

फाल्गुन शुक्ल सप्तमी

}

वासुदेव शरण

---

# गीता व्याख्यान माला

## तृतीय भाग

### विषय-सूची

### त्रयोदश अध्याय

पुष्प संख्या		पृष्ठ संख्या
१-	पुष्प (श्लो० १)	२४
	(१) उत्तर षट्क का प्रारंभ	
	(२) प्रकरण विभाग पर प्रश्न और समाधान	
	(३) प्रक्षिप्त श्लोक विचार	
	(४) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अर्थ	
	(५) पूर्व पद्यों से समन्वय	
	(६) प्रत्यक्षवाद के द्वारा क्षेत्रज्ञ के स्वरूप पर शंका और उसका उत्तर	
२-	पुष्प (श्लो० २)	३१
	(१) 'अपि' शब्द का तात्पर्य	
	(२) जीव का अज्ञानाच्छन्न होना	
	(३) आत्मा की अलिप्तता	
	(४) विद्या और अविद्या	
	(५) भगवान् कृष्ण की स्थिति	
	(६) क्षेत्रज्ञ का ज्ञान	
३-	पुष्प (श्लो० ३-४)	३६
	(१) क्षेत्र के विषय में ज्ञातव्य बातें	
	(२) क्षेत्र के ज्ञान की आवश्यकता	
	(३) समास कथन	
	(४) 'गीतम्' पद का तात्पर्य	
	(५) ब्रह्मसूत्र पद	
४-	पुष्प (श्लो० ५-६)	४०
	(१) तत्त्वों की गणना	
	(२) सांख्य और वेदान्त की तत्त्वगणना	
	(३) अव्यक्त और शरीर	

- (४) आत्मा के धर्म और क्षेत्र के धर्म  
 (५) विकार का तात्पर्य  
 ५- पुष्प (श्लो० ७-११) ४४  
 (१) क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का अधिकारी  
 (२) अमानित्व-अदम्भित्व  
 (३) आचार्योपासना  
 (४) शुचिता के विषय में विकल्प का निरास  
 ६- पुष्प (श्लो० १२) ५०  
 (१) ज्ञेय का स्वरूप  
 (२) ज्ञान के विषय में विप्रतिपत्ति और उत्तर  
 (३) अनादिमत्परम् की विविध व्याख्याएं  
 (४) सत् और असत् का निषेध क्यों ?  
 (५) अस्ति-नास्ति बुद्धि और अतीन्द्रिय पदार्थ  
 (६) शास्त्रों द्वारा मूल तत्त्व के प्रतिपादन की प्रक्रिया  
 (७) क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म का एकत्व  
 (८) ज्ञाता ज्ञेय कैसे बना इस प्रश्न का उत्तर  
 ७- पुष्प (श्लो० १३-१८) ५३  
 (१) क्षेत्रज्ञ का विवेचन  
 (२) सोपाधिक ब्रह्म  
 (३) विविध उदाहरण और श्रुति का उद्धरण  
 (४) इन्द्रिय विवर्जित का आशय  
 (५) श्री नीलकण्ठ की व्याख्या का संक्षिप्त सार  
 (६) श्री शंकरानन्द का कमल का दृष्टान्त  
 (७) अविज्ञेयता पर शंकर और उत्तर  
 (८) स्फटिक और जपा कुसुम  
 (९) जल-चन्द्र, रज्जु-सर्प दृष्टान्त  
 (१०) चर-अचर पर विचार  
 (११) अनेक दृष्टान्त  
 (१२) चार ज्योति पदार्थों का संकेत  
 (१३) आत्मरूप से अवस्थित ब्रह्म  
 (१४) 'तम के परे' का आशय  
 (१५) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विज्ञान का फल

८- पुष्प (श्लो० १९-२३)

६६

- (१) परा-अपरा प्रकृति का पूर्वोपन्यास
- (२) अनादि का तात्पर्य
- (३) यथाश्रत अर्थ के ग्रहण में आपत्ति
- (४) प्रकृति की अनादिता और ईश्वरत्व
- (५) पुरुष का भोक्तृत्व
- (६) उपद्रष्टा और अनुमन्ता का आशय
- (७) पुरुष और गुणों का चार प्रकार का संग
- (८) विभिन्न दर्शनों का मत परिग्रह
- (९) अंशांशिभाव सम्मत व्याख्या
- (१०) मुक्ति और कर्म क्षय
- (११) बाण द्वारा लक्ष्य वेध का दृष्टान्त

९- पुष्प (श्लो० २४-३४)

७५

- (१) ध्यान से दर्शन
- (२) सांख्य योग से दर्शन
- (३) योग का अर्थ
- (४) कर्म योग से दर्शन
- (५) नीलकण्ठ का समन्वय
- (६) मणिप्रभा दृष्टान्त
- (७) क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पत्ति का आशय
- (८) यथार्थ दर्शन क्या है ?
- (९) अपनी हिंसा न करने का आशय
- (१०) प्रकृति के आधार पर दृष्टि
- (११) अव्यय का अर्थ
- (१२) आत्मा का पंचकोशों से अतीत होना
- (१३) आकाश का दृष्टान्त
- (१४) सूर्य का दृष्टान्त
- (१५) अणु-परिमाण सिद्धान्त
- (१६) फल श्रुति
- (१७) व्याख्याकारों के विभिन्न मत
- (१८) अध्याय का उपसंहार

## चतुर्दश अध्याय

### १०- पुष्प ( १-२ )

८४

- (१) गुण आदि का उपक्रम
- (२) दर्शनों का प्रक्रिया भेद
- (३) द्वैत दर्शन और सांख्य का भेद
- (४) व्याख्याकारों का अध्यायोपक्रम
- (५) गंभीर विद्या
- (६) यज्ञ-यागादि से प्रस्तुत ज्ञान की उत्कृष्टता
- (७) ज्ञान के तीन विभाग
- (८) ज्ञान और उसके प्रतिबन्धक
- (९) औषध का दृष्टान्त
- (१०) श्री रामानुजाचार्य का साधर्म्य का अर्थ

### ११- पुष्प ( ३-४ )

९०

- (१) सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया
- (२) यद्यत्पिण्डे तत्तद् ब्रह्माण्डे
- (३) हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति
- (४) उपनिषद् का उत्पत्ति वर्णन
- (५) विराट् का विवरण
- (६) क्रीडार्थ विस्तार
- (७) प्रकृति की स्वतन्त्रता का खण्डन
- (८) प्रकृति को भी ब्रह्म कहा गया है
- (९) आगमानुसारी व्याख्यान
- (१०) महानात्मा का विवरण
- (११) मूर्तियों की अनन्तता
- (१२) पुनरुक्ति की आशंका का समाधान
- (१३) प्रकृति और ब्रह्म जगत् के माता-पिता के रूप में उपास्य
- (१४) अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या

### १२- पुष्प ( ५-८ )

१०२

- (१) गुण की परिभाषा
- (२) गुणों के द्वारा बन्धन

(३) गुण और प्रकृति के वैषम्य का उपपादन	
(४) भगवान् की बन्धलीला	
(५) श्री निम्बार्काचार्य का मत	
(६) "प्रकृतिसंभवाः" का तात्पर्य	
(७) गुणों का निर्देश क्रम	
(८) गुणों का कार्य	
(९) श्रुति का उद्धरण	
(१०) गुणों की अभिमानिनी शक्तियाँ	
(११) सत्त्व का स्वरूप	
(१२) सत्त्व के विशेषणों का तात्पर्य	
(१३) रजोगुण का स्वरूप	
(१४) तमोगुण का स्वरूप	
(१५) प्रमाद का विशकलन	
(१६) गुणों की क्रियारूपता का प्रतिपादन	
१३- पुष्प ( ९-१३ )	११७
(१) गुणों के प्रभाव	
(२) तीनों गुणों का साहचर्य	
(३) गुणों के वृद्धि-हास की पहिचान	
(४) सत्त्वादि के पृथक्-पृथक् प्रभाव	
१४- पुष्प ( १४-१८ )	१२५
(१) मरणोत्तर गुणानुसार गति	
(२) गुणों के कार्य	
(३) भृत्यादि का दृष्टान्त	
१५- पुष्प ( १९-२१ )	१३२
(१) गुणों के कर्तृत्व का निश्चय मोक्षदायक	
(२) दुःख विनिर्मुक्ति	
(३) गुण ही देह के कारण	
(४) अर्जुन के प्रश्न में पहिचान जानने की जिज्ञासा	
(५) प्रश्न का तात्पर्य	
(६) अर्जुन के प्रश्न के तीन भाग	
(७) लिंग शब्द का आशय	



१६- पुष्प ( २२-२५ )

१३९

- (१) गुणातीत अवस्था का उपक्रम
- (२) प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा राग-द्वेष से विरति
- (३) गुणातीत की समाधि स्थिति
- (४) समाधि की अवस्थाएं
- (५) गुणातीत अवस्था में समभाव
- (६) स्वस्थ, धीर आदि का तात्पर्य
- (७) स्थित प्रज्ञ के लक्षणों से समानता

१७- पुष्प ( २६-२७ )

१४७

- (१) भक्तियोग का उपदेश
- (२) ब्रह्मभूयस्त्व की प्राप्ति
- (३) भगवान् ही सबकी प्रतिष्ठा हैं
- (४) पद्य का व्याख्यान
- (५) योग की भूमिकाओं का समन्वय
- (६) चैतन्योपासना
- (७) भागवत का उद्धरण
- (८) लोकमान्य तिलक का कर्मयोग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन
- (९) तन्त्र शास्त्र के अनुसार 'अहम्' का अर्थ

### पञ्चदश अध्याय

१८- पुष्प ( १ )

१५३

- (१) अश्वत्थ निरूपण
- (२) अश्वत्थ का अर्थ
- (३) कठोपनिषद् और महाभारत से साम्य
- (४) ऊर्ध्वमूल के अनेक अर्थ
- (५) अश्वत्थ कल्पना का कारण
- (६) वृक्ष वर्णन की काव्य-शैली
- (७) संसार वृक्ष का रूपक
- (८) धार्मिक महत्त्व के प्रशस्त वृक्ष
- (९) ब्रह्माश्वत्थ और कर्माश्वत्थ

१९- पुष्प ( २-५ )

१६१

- (१) अश्वत्थ का विस्तार
- (२) कर्मवृक्ष
- (३) कर्म का क्षय
- (४) सांख्य प्रक्रिया का समन्वय
- (५) संसार वृक्ष का मिथ्यात्व
- (६) वृक्ष रूपक का विशद विवेचन
- (७) श्री वल्लभाचार्य की व्याख्या

२०- पुष्प ( ६ )

१७१

- (१) भगवान् का परमधाम

२१- पुष्प ( ७ )

१७६

- (१) जीव ब्रह्म का अंश

२२- पुष्प ( ८-११ )

१८२

- (१) आत्मा द्वारा शरीर का ग्रहण और त्याग
- (२) परमेश्वर की साक्षिता

२३- पुष्प ( १२-१५ )

१८६

- (१) ज्योतिपिण्डों में ईश्वरीय तेज
- (२) उपनिषद् की आख्यायिका
- (३) भगवान् की वेदवेद्यता

२४- पुष्प ( १६-१७ )

१९३

- (१) क्षर, अक्षर और अव्यय का निरूपण

२५- पुष्प

२००

- (१) वैज्ञानिक-विवेचन
- (२) अक्षर पुरुष

२६- पुष्प ( १८-२० )

२०६

- (१) पुरुषोत्तम स्वरूप
- (२) त्रिपुरुष ज्ञान का फल
- (३) भारतीय संस्कृति के तीन मार्ग
- (४) त्रिपुरुष निरूपण में गीता की सर्वश्रेष्ठता

## षोडश अध्याय

२७- पुष्प	२१४
(१) दैवी और आसुरी सम्पत्तियां	
(२) अध्याय की विविध संगतियां	
२८- पुष्प ( १-३ )	२२०
(१) दैवी सम्पत्ति के लक्षण	
(२) अभय	
(३) भय के कारण का दार्शनिक विवेचन	
(४) सत्त्व संशुद्धि	
(५) तेज के प्रसंग में वसिष्ठ और अगस्त्य का उपाख्यान	
२९- पुष्प ( ४-७ )	२३२
(१) आसुरी सम्पत्ति	
३०- पुष्प ( ८ )	२३६
(१) आसुरी दृष्टि में जगत् का स्वरूप	
३१- पुष्प ( ९-२० )	२४१
(१) असुरों के उपद्रावक कार्य	
(२) असुरों का अहंकार	
(३) शुम्भ-निशुम्भ का उदाहरण, यज्ञ आदि को आसुरी सम्पत्ति में गिनने का कारण	
(४) वृत्रोत्पत्ति में प्रमाद	
३२- पुष्प ( २१-२४ )	२५०
(१) नरक का त्रिविध द्वार	
(२) श्रेय और प्रेय	
(३) शास्त्र का प्रामाण्य और वर्तमान स्थिति	

## सप्तदश अध्याय

३३- पुष्प ( १ )	२५४
(१) अर्जुन का प्रश्न	
(२) विधिशून्य श्रद्धायुक्त मनुष्यों की स्थिति	
३४- पुष्प ( २ )	२५७
(१) श्रद्धा त्रैविध्य	
(२) श्रद्धा का स्वरूप	

पुष्प संख्या	पृष्ठ संख्या
३५- पुष्प ( ३-४ )	२५९
(१) सत्त्वानुरूपा श्रद्धा	
(२) श्रद्धानुसार भजन	
३६- पुष्प ( ५-६ )	२६१
(१) असुरों का सिद्धान्त और व्यवहार	
३७- पुष्प ( ७-१० )	२६३
(१) आहार त्रैविध्य	
(२) सात्त्विक आहार	
(३) राजस और तामस आहार	
३८- पुष्प ( ११-३३ )	२६८
(१) यज्ञ त्रैविध्य	
(२) सात्त्विक आदि यज्ञ	
३९- पुष्प ( १४-१९ )	२७१
(१) त्रिविधतप	
(२) तप के सात्त्विक आदि भेद	
४०- पुष्प	२७६
(१) ब्रह्मचर्य	
४१- पुष्प ( २०-२२ )	२८५
(१) दान के भेद	
(२) दान का स्वरूप	
(३) दान का आदर्श	
(४) दान का पात्र	
४२- पुष्प ( २३-२८ )	२९०
(१) ओं तत्सत् का निर्देश	
(२) अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या	
(३) 'तत्' पद का संकेत	
<b>अष्टादश अध्याय</b>	
४३- पुष्प	२९९
(१) अध्याय की अवतरणिका	

पुष्प संख्या	पृष्ठ संख्या
४४- पुष्प ( १ )	३०२
(१) संन्यास और त्याग विषयक अर्जुन का प्रश्न	
(२) संन्यास के भेद	
४५- पुष्प ( २ )	३०६
(१) काम्य कर्मों का स्वरूप	
(२) गौण संन्यास और मुख्य संन्यास	
४६- पुष्प ( ३ )	३११
(१) कर्म त्याग के विषय में विभिन्न मत	
४७- पुष्प ( ४-६ )	३१६
(१) तीन प्रकार का त्याग	
(२) त्याग का स्वरूप	
(३) यज्ञ, दान और तप आवश्यक	
४८- पुष्प ( ७-९ )	३२१
(१) नियत कर्म का परित्याग दोषावह	
(२) कर्म सिद्धान्त में वर्ण व्यवस्था की विशेषता	
(३) तामस त्याग	
४९- पुष्प ( १०-११ )	३२७
(१) कर्म फल त्याग ही त्याग है	
(२) कर्म मार्ग की विशेषता	
५०- पुष्प ( १२ )	३३१
(१) कर्मों के फल	
५१- पुष्प ( १३-१६ )	३३५
(१) कर्म सिद्धि के पांच कारण	
(२) दैव या भाग्य	
५२- पुष्प ( १७ )	३४१
(१) अहंकार और बुद्धिलेप के अभाव से समस्त कर्मदोषों से मुक्ति	
(२) दर्शनों का निरास	
५३- पुष्प ( १८ )	३४६
(१) कर्म चोदना और कर्म संग्रह	
५४- पुष्प ( १९ )	३४९
(१) ज्ञान, कर्म और कर्ता का निरूपण	

पुष्प संख्या	पृष्ठ संख्या
५५- पुष्प ( २०-२२ )	३५१
(१) ज्ञान के सात्त्विक, राजस, तामस भेद	
५६- पुष्प ( २३-२५ )	३५६
(१) कर्म के गुणानुसार तीन भेद	
५७- पुष्प ( २६-२८ )	३५९
(१) कर्ता के गुणानुसार तीन भेद	
५८- पुष्प ( २९-३२ )	३६४
(१) बुद्धि के गुणानुसार तीन भेद	
५९- पुष्प ( ३३-३५ )	३६९
(१) धृति के गुणानुसार तीन भेद	
६०- पुष्प ( ३६-४० )	३७२
(१) सुख का स्वरूप और उसके गुणानुसार तीन भेद	
(२) गुणों की सर्वत्र व्याप्ति	
६१- पुष्प ( ४१-४४ )	३८२
(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का स्वभावजकर्म	
(२) ब्राह्मण के कर्म	
(३) क्षत्रिय के कर्म	
(४) वैश्य के कर्म	
(५) शूद्र का कर्म	
६२- पुष्प ( ४५ )	३९१
(१) स्वकर्म निरतता और सिद्धि	
६३- पुष्प ( ४६ )	३९३
(१) अपने कर्म से ईशार्चन	
(२) भीष्म का उदाहरण	
६४- पुष्प ( ४७ )	३९६
(१) स्वधर्म की परधर्म से श्रेष्ठता	
(२) पुरुषार्थ	
(३) धर्म और विज्ञान	
(४) मनुष्य जन्म की सफलता	
(५) प्रपञ्च और संसार	

पुष्प संख्या	पृष्ठ संख्या
६५- पुष्प ( ४८ )	४४९
(१) सहज कर्मानुष्ठान दोष युक्त होते हुए भी आवश्यक	
(२) धूम का उदाहरण	
(३) श्री शंकराचार्य की विस्तृत व्याख्या	
६६- पुष्प ( ४९ )	४५७
(१) संन्यास से नैष्कर्म्य सिद्धि	
६७- पुष्प ( ५० )	४६०
(१) ब्रह्मप्राप्ति और ज्ञान की पराकाष्ठा	
६८- पुष्प ( ५१-५३ )	४६५
(१) ब्रह्मभाव की प्राप्ति की प्रक्रिया	
६९- पुष्प ( ५४ )	४६९
(१) ब्रह्मभाव का फल पराभक्ति	
७०- पुष्प ( ५५ )	४७१
(१) भक्ति से ईश्वर की उपलब्धि	
७१- पुष्प ( ५६-५७ )	४७५
(१) शाश्वत पद की प्राप्ति	
७२- पुष्प ( ५८ )	४७७
(१) भगवान् के प्रसाद से दुर्गों का संतरण	
७३- पुष्प ( ५९-६० )	४७९
(१) मिथ्या अभियान से कर्म परित्याग का अनौचित्य	
७४- पुष्प ( ६१ )	४८२
(१) हृदय स्थित ईश्वर के द्वारा जगच्चक्र संचालन	
७५- पुष्प	४८७
(१) ईश्वर निरूपण परिशेष	
७६- पुष्प	४९५
(१) भारतीय दर्शन शास्त्रों में परम तत्त्व	
७७- पुष्प ( ६२ )	५०८
(१) ईश्वर शरण से ही पराशान्ति और शाश्वत पद की प्राप्ति	
७८- पुष्प ( ६३ )	५१४
(१) रहस्यमय ज्ञान का उपदेश	

पुष्प संख्या	पृष्ठ संख्या
७९- पुष्प ( ६४ )	५१६
(१) पुनः हित कथन	
८०- पुष्प ( ६५ )	५१९
(१) भगवान् को सर्वात्मना समर्पण	
८१- पुष्प ( ६६ )	५२४
(१) समस्त धर्मों को छोड़कर भगवान् की शरण लेने का आदेश	
८२- पुष्प	५३८
(१) श्री शंकराचार्य का उपसंहार	
८३- पुष्प	५४३
(१) भक्ति और ज्ञान	
८४- पुष्प ( ६७-७८ )	५४९
(१) गीतोपदेश के अधिकारी आदि	
गीता के श्लोकों की अकारादि क्रम से अनुक्रमणिका	

---



# श्री गीता प्रवचनमाला

## तृतीय भाग

## तृतीय-षट्क त्रयोदशोऽध्यायः

### प्रथम-पुष्प

#### श्री भगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेचि तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥

अब तृतीय उत्तर षट्क का आरम्भ किया जाता है। जैसा कि प्रथम षट्क के उपोद्धात प्रकरण में हमने विभिन्न मतों का निरूपण किया है, उसके अनुसार किन्हीं व्याख्याकारों के मतानुसार यह षट्क ज्ञान काण्ड का निरूपण करने वाला है और श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि “तत्त्वमसि” इस महावाक्य के अनुसार गीता के तीनों षट्कों का विभाग मानते हैं। उनके मतानुसार यह षट्क “असि” पद का विवरण है अर्थात् जीव की ब्रह्म के साथ एकता इस षट्क में बतलाई जाती है। एवं श्रीविद्या-वाचस्पतिजी के मतानुसार जो भगवद्गीता में राजर्षिविद्या, सिद्ध विद्याएँ, वैराग्य योग और ज्ञान योग प्रतिपादित हैं उनके निरूपणानुसार इस षट्क में आर्षविद्या द्वारा धर्मयोग का संस्कार बतलाया जाता है।

यहाँ प्रश्न होगा कि अन्य व्याख्याताओं के अनुसार ज्ञान का या जीव ब्रह्म की एकता का निरूपण तो इस षट्क में मिलता है किन्तु “आर्षविद्या” या “धर्मयोग” तो उस षट्क में पाया नहीं जाता। यदि “ऋषिर्भिर्बहुधा गीतम्” इस पञ्चम पद्य के अनुसार “आर्षविद्या” इसे मान भी लिया जाय तो भी ‘कर्मयोग’ का निरूपण तो इन छह अध्यायों में विस्तार रूप से प्राप्त नहीं होता फिर श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मत की संगति किस प्रकार होगी ? इसका उत्तर है कि सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों में ही आर्य जाति के धर्म, अधर्म निहित हैं। सत्त्वगुण का परिणाम ही धर्म कहा जाता है और तमोगुण के परिणाम को अधर्म कहते हैं। इन तीनों गुणों का विस्तार से निरूपण इस षट्क में प्राप्त होता है, इसलिए धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, ये चार जो बुद्धि के सात्त्विक रूप और इनके विपरीत जो चार तामस रूप सांख्य दर्शन में बतलाए गए हैं उनमें से धर्म, अधर्म का निरूपण इस षट्क में सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि लोकमान्य तिलक के मतानुसार जो प्रथम षट्क के उपोद्धात प्रकरण में पाश्चात्य विद्वानों के मतों की समीक्षा हम कर चुके हैं उनके अनुसार आर्य जाति का धर्म, व्यावहारिक आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है, इस कारण भी इन छह अध्यायों

में जब अन्य व्याख्याकारों के मतानुसार आत्म-ज्ञान या जीव-ब्रह्म का अभेद-ज्ञान माना जाता है तब धर्म ज्ञान की पूर्णता भी आत्मा से सम्बन्ध रखने के कारण ही माननी होगी, इसीलिए सोलहवें अध्याय के अन्त में कहा गया है कि—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।  
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥  
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।  
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(१६।२३-२४)

इस विचार से श्रीविद्यावाचस्पतिजी का प्रकरण विभाग भी सुसंगत हो जाता है। कई प्रतियों में अध्याय के आरम्भ में एक पद्य मिलता है—

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।  
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

इसका अर्थ है कि अर्जुन कहता है कि हे केशव ! अब मैं प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, और ज्ञान-ज्ञेय, इनको भी जानना चाहता हूँ। इस पद्य को प्रायः प्राचीन सभी व्याख्याकारों ने प्रक्षिप्त ही माना है, किन्तु श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपनी टिप्पणी में लिखा है कि महाभारत की पुस्तक में यह पद्य भगवद्गीता में मिलता है और इन छह का ही इन अध्यायों में विशेषकर निरूपण मिलता है, इस कारण श्री विद्यावाचस्पतिजी उत्थानिका रूप से अर्जुन के इस प्रश्न का होना यहाँ उचित बतलाते हैं। श्रीमान् लोकमान्य तिलक ने अपनी व्याख्या में इस पद्य को प्रक्षिप्त बतलाते हुए लिखा है कि यह पद्य मानने से भगवद्गीता की श्लोक संख्या सात सौ के स्थान में सात सौ एक हो जायगी। इसका उत्तर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपनी टिप्पणियों में यह दिया है कि इस पद्य को तो मानना चाहिये किन्तु सोलहवें अध्याय के पाँचवें पद्य के अनन्तर जो निम्नलिखित पद्य कई पुस्तकों में मिलता है कि—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥

यह पद्य वहाँ प्रक्षिप्त-सा प्रतीत होता है क्योंकि दैवी और आसुरी सम्पत् का विवरण पूर्व पद्यों से ही आरम्भ हो चुका है फिर मध्य में उसके कथन की प्रतिज्ञा

असमञ्जस-सी प्रतीत होती है। इस कारण उस पद्य को वहाँ नहीं मानना चाहिए। इससे संख्या में कोई विषमता न होगी। इन मतों की युक्तायुक्तता पर विज्ञ पाठक स्वयं विचार कर लें।

अब प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार आरम्भ के पद्य की व्याख्या लिखी जाती है कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह शरीर जो प्रत्यक्ष हमारा-तुम्हारा सबका दिखाई दे रहा है, उसे “क्षेत्र” नाम से कहा जाता है और जो इसका जानने वाला है उसे “क्षेत्रज्ञ” नाम से उसके जानने वाले कहा करते हैं।

यहाँ श्रीशङ्कराचार्य इसका सम्बन्ध सप्तम अध्याय के आरम्भ से मिलाते हैं कि वहाँ जो “अपरा” और “परा” नाम की दो प्रकृति बतलाई गई हैं, वे ही यहाँ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ नाम से विशेष विवरण के लिए प्रस्तुत की जाती हैं। विशेष विवरण यहाँ यही होगा कि “क्षेत्रज्ञ” नाम से जो जीवात्मा कहा जाता है वह भी सब शरीरों में एक ही है और क्षेत्र भी उससे पृथक् नहीं है, इन सब बातों का विवरण उन-उन पद्यों में ही किया जायगा। शरीर का नाम जो यहाँ क्षेत्र बताया उसकी निरुक्ति भी कई प्रकार से श्री आचार्य चरणों ने की है। आत्मा का आवरण होने के कारण आत्मा को सब भूतों के संघर्ष से बचाता है, इसलिए क्षय से त्राण करने के कारण अविद्या के बन्धन से अपनी रक्षा करता है। इसलिए भी इसे क्षेत्र कहा जा सकता है। अथवा आत्मा के नित्य रहने पर भी यह शरीर स्वयं क्षीण होने वाला है, “क्षि” धातु से क्षेत्र बनाया जायतो भी क्षरणशील अर्थात् विनष्ट होने के कारण क्षेत्र शब्द शरीर में उपयुक्त हो जाता है। अथवा जैसे खेती करने वाले लोग क्षेत्र-शब्द-वाच्य अपने खेतों में सब प्रकार के अन्न, शाक आदि उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा इस शरीर के द्वारा ही सब प्रकार के अच्छे-बुरे कर्म करता है और उनका आगे स्वयं अच्छा-बुरा फल भोगता रहता है। इस प्रकार क्षेत्र की समानता होने के कारण इसे “क्षेत्र” कहा गया।

उस क्षेत्र भूत शरीर को जो करतलामलकवत् जानने वाला है, उसे क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। वह क्षेत्रज्ञ शरीर रूप क्षेत्र को या तो स्वाभाविक ज्ञान का विषय बनाता है, या उपदेश के आधार पर उसे जान जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य इस अध्याय से पूर्वोक्त षट्क में आए हुए प्रकृति, पुरुष, उनका सम्बन्ध-रूप प्रपञ्च, ईश्वर का स्वरूप, कर्म, ज्ञान, भक्ति और उसके संपादन प्रकारों की व्याख्या मानते हैं। उनके मत से इस अध्याय में देह और आत्मा का स्वरूप, देह से अतिरिक्त आत्मा की प्राप्ति का उपाय, आत्मा के स्वतन्त्र स्वरूप का परिचय, आत्मा के अचेतन पदार्थों से सम्बद्ध होने का कारण तथा अचेतन से आत्मा को पृथक् समझने का उपाय बतलाया गया है।

श्लोक में कहा गया है “यह शरीर”। यहाँ “यह” शब्द सन्निकृष्ट पदार्थ का वाचक होगा। अतः शरीर के जो धर्म हैं, वही ‘इदम्’ शब्द से लिए जायेंगे। ‘मैं देवता हूँ, मनुष्य हूँ, स्थूल हूँ, कृश हूँ, इत्यादि अनुभवों में शरीर ही मुख्य रूप से ज्ञान का विषय बनता है। जितनी जातियाँ जितने गुण आदि हैं सबका आधार यह शरीर ही है, मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, इत्यादि अनुभवों में हमें आत्मा और शरीर का मिला जुला ज्ञान होता है। वस्तुतः यह शरीर आत्मा के द्वारा भोग्य है, वह आत्मा से अलग है, आत्मा इस शरीर का भोक्ता है, इसे जो क्षेत्र संज्ञा दी गई वह भोग क्षेत्र होने के कारण, यह ऊपर व्युत्पत्ति में आ ही चुका है। क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को कहा गया है। यद्यपि “घट, पट, गंगा, यमुना आदि को जानता हूँ” इत्यादि अनुभवों में ज्ञान के विषय घट-पट आदि ज्ञाता से भिन्न हैं, और उन पदार्थों का ज्ञाता शरीर विशिष्ट आत्मा ही होता है तथापि “मैं शरीर को जानता हूँ” इत्यादि अनुभवों में घट-पट आदि की तरह ही शरीर भी ज्ञान का विषय ही बन जाता है और शुद्ध ज्ञातृत्व आत्मा पर ही जाता है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञाता केवल आत्मा ही है, उसके लिए शरीर भी घट-पटादि के समान ज्ञेय ही बना रहता है। प्रश्न यह उठता है कि “मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, सुखी हूँ, दुखी हूँ”, इत्यादि अनुभव शरीर को भी होते हैं, तब ज्ञाता केवल आत्मा ही है शरीर नहीं यह कैसे समझा जाय, इसका उत्तर है वास्तव में शरीर कभी ज्ञाता नहीं हो सकता, वह तो क्षेत्र है, ज्ञेय है, आत्मा का भोग साधन है, ज्ञाता तो केवल जीवात्मा को ही कहा जा सकता है, ‘मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, देखता हूँ, सुनता हूँ, इत्यादि अनुभव भी शरीर के नहीं केवल आत्मा के ही हैं परन्तु शरीर कभी आत्मा से पृथक् नहीं रहता और आत्मा भी बिना शरीर के किसी प्रकार का उपभोग नहीं कर सकता इसलिए उनके भोग के सम्बन्ध में नित्य सम्बद्ध रहने से शरीर की ज्ञातृता का अवास्तविक अनुभव होता है। तत्त्वतः ज्ञाता तो केवल आत्मा ही है। ज्ञाता जो आत्मा है उसका आकार ऐसा नहीं है जो चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा गृहीत हो सके वह तो योगशक्ति सम्पन्न मन में ही प्रतिभासित हो सकता है। यही कारण है कि योग शक्ति से विरहित मनुष्य शरीर को ही आत्मरूप से समझने का अभ्यासी हो गया है। इसी बात को अन्यत्र इस श्लोक में कहा गया है—

“उत्क्राःमन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः” ॥

अर्थात् शरीर छोड़ते हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए प्रकृति के गुणों से युक्त इस आत्मा को मूढ़ लोग नहीं देख सकते, ज्ञान रूपी नेत्र धारण करने वाले लोग ही उसे देख सकते हैं।

तत्त्व दीपिका आदि व्याख्याओं के इस पद्य के व्याख्यान का आशय यह है कि पहिले परा और अपरा भेद से जो दो प्रकृतियाँ कही गई हैं उनमें परा प्रकृति को क्षेत्र और अपरा प्रकृति को चेतन क्षेत्रज्ञ कहा गया है। पहिले जिस प्रकृति को अचेतन कहा गया है उसी का परिणाम रूप यह शरीर है, यह पुरुष का निवास स्थान है। अतः इसे क्षेत्र कहा जाता है। यद्यपि संसार दशा में भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान रहता है अर्थात् जड़ चेतन या ज्ञाता और ज्ञेय का ज्ञान सांसारिक व्यवहार में अनुभूत होता है परन्तु वह मिश्रित ज्ञान है, विविक्त या पृथक् पृथक् ज्ञान नहीं है, परन्तु मृत शरीर में जब हम चेतना के अभाव को प्रत्यक्ष देख लेते हैं तब यह निश्चय हो जाता है कि चेतन स्वरूप आत्मा इस शरीर से पृथक् है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यह पृथक् पृथक् ज्ञान सबको नहीं होता, केवल आत्मा को ज्ञाता समझ जाने वाले पुरुष को वैसा ज्ञान हो सकता है।

अमृततरंगिणी में कहा गया है कि यह शरीर मरणादि धर्म युक्त है और ईश्वर के अंश रूप जीव का उत्पत्ति स्थान है, यह उत्पत्ति ईश्वर अपनी लीला के लिए ही करता है। इस बात की यथार्थता को समझ जाने वाला ही क्षेत्रज्ञ कहलाता है। यहाँ पर जो ऐसा जाने वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है इस प्रकार की जो अन्योक्ति की गई है उससे यह प्रकाशित किया गया कि इस प्रकार का विभक्त ज्ञान संभव ही नहीं है, यह अमृततरंगिणीकार श्रीपुरुषोत्तमजी का आशय है।

अद्वैत मतानुयायी श्री नीलकण्ठजी ने इस श्लोक की व्याख्या में सांख्य मत को उद्धृत करके उसकी समालोचना लिखी है। वे कहते हैं कि—‘तत्त्वमसि’ इस महावाक्य के अनुसार गीता में पहिले—

**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।**

**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥**

इस पद्य के द्वारा ‘त्वम्’ पद का अर्थ कहा गया है। इसके अनन्तर द्वादश अध्याय में—

**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।**

**सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥**

इस पद्य से ‘तत्’ पदार्थ को समझाया गया है। ये दोनों पद्य ‘तत्’ और ‘त्वम्’ के लक्षण कहे जा सकते हैं। इन दोनों के लक्षणों में एकता होने से ये दोनों भिन्न भिन्न नहीं माने जा सकते। दोनों के लक्षणों में ‘अव्यक्तत्व, अचिन्त्यत्व, अचलत्व, सर्वगतत्व’ इत्यादि बातें समान हैं। यदि ‘तत्’ पदार्थ और ‘त्वम्’ पदार्थ, अर्थात् जीवात्मा और

परमात्मा अलग अलग माने जायँ तब तो उपर्युक्त पद्य में जो दोनों को 'सर्वगत' माना गया है वह संभव न हो सकेगा। क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा यदि भिन्न भिन्न हो गए तो ये दोनों एक दूसरे में नहीं रह सकेंगे, तब सर्वगतत्व कैसे बनेगा ? अतः दोनों में अभेद मानना आवश्यक है। इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जन्म, मरण, शरीर, संयोग और वियोग को देखते हुए आत्मा या पुरुष को अनन्त संख्या में मानना आवश्यक है। क्योंकि यदि एक ही पुरुष माना जाय तो एक के जीवन धारण कर लेने से सभी जीवित हो जायेंगे। परन्तु ऐसा चूँकि देखने में नहीं आता। अतः आत्मा या पुरुषों का अनन्त संख्या में मानना आवश्यक हो जायगा और इससे अद्वैतवाद ही खतरे में पड़ जायगा। इसका उत्तर देते हुए अद्वैतवादी पहिले पुरुषबहुत्व पर दोष दिखाते हैं, पुरुष का व्यापक होना पुरुषबहुत्ववादी को भी संमत है, तब सभी पुरुष व्यापक भी होंगे। ऐसी स्थिति में एक पुरुष को जो सुख दुःखादि का भोग होगा वह दूसरे पुरुष को भी होगा, क्योंकि सभी पुरुष सभी स्थानों पर रहेंगे। परन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। एक अन्तःकरण जब सुखादि रूप से परिणत होगा तो एक ही चेतन पुरुष को उसका अनुभव होगा यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यापक होने से सभी पुरुष तो वहाँ उपस्थित रहेंगे। अतः आत्मा एक ही है और वह सर्वत्र व्यापक है। तब जो जन्म मरणादि के प्रतिनियत होने की बात उठाई गई थी उसका उत्तर अवशिष्ट रह जाता है वह यह है कि आत्मा के व्यापक होने पर भी अन्तःकरण रूप उपाधियाँ अनेक हैं। अन्तःकरणादि से आत्मा का सम्बद्ध होना ही जन्म और वियुक्त होना ही मृत्यु कहा जाता है। जैसे एक घड़े के बन जाने से आकाश कम नहीं हो जाता और करोड़ों घड़ों के फूट जाने से आकाश बढ़ नहीं जाता वैसे ही शरीरों के संयोग-वियोग से आत्मा के स्वरूप में भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब गीता में पहिले ही जीव और ब्रह्म का लक्षण बतला दिया गया और उन दोनों की एकता स्वतः सिद्ध है तब तो आगे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेचन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। वेदान्त का चरम लक्ष्य तो जीव और ब्रह्म की एकता को स्पष्ट कर देने के उपरान्त परिसमाप्त हो जाता है। उसका उत्तर है कि ये सब बातें व्यवहारातीत अवस्था में ही बनती हैं। परन्तु व्यवहार दशा में जब जीव और ईश्वर की विभिन्नता का बोध प्रत्येक प्राणी को बना हुआ है तब उस भेद को मिटाने के लिए यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ज्ञान का उपदेश प्रारंभ हुआ है।

यहाँ एक व्याख्या में केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने वाले मत की भी आलोचना की गई है। उसे भी संक्षेप से कहा जाता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के ही आधार पर चलने वाले कहेंगे कि हमें इन्द्रिय मन बुद्धि अहंकार के अतिरिक्त अन्य

किसी ज्ञाता का अनुभव ही नहीं होता तब यह कहना कि यह शरीर तो क्षेत्र है और इसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ इससे भिन्न है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होगा। मैं जाता हूँ, मैं भोजन करता हूँ इत्यादि जितने भी व्यावहारिक अनुभव हैं वे सब इन्द्रियों के समूहरूप शरीर को ही तो हो रहे हैं। अनुमान प्रमाण के आधार पर भी शरीर से अतिरिक्त आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं होती। देवदत्त यज्ञदत्त का पुत्र है, क्योंकि वह यज्ञदत्त के समान है इत्यादि अनुमान के आधार पर हम इन्द्रियादि के समूह रूप शरीर को ही तो ग्रहण कर रहे हैं। जब कोई किसी को शतायु होने का आशीर्वाद देता है तब वह शरीर के ही उतने दिनों तक स्थित रहने की कामना करता है अन्य किसी की नहीं। अतः इन्द्रियादि के समूहरूप शरीर से अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व की कल्पना करके उसे ही ज्ञाता कह कर प्रधानता देना प्रमाण विरुद्ध है। इस पर प्रत्यक्ष प्रमाणवादी से यह प्रश्न होगा कि शरीर में जितने पदार्थों के अस्तित्व का अनुभव होता है उनमें से ज्ञाता किसे कहोगे ? देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार उनमें से कोई एक ज्ञाता है या सभी का समुदाय ज्ञाता है ? वस्तुतः इनमें से कोई भी ज्ञाता नहीं बन सकता। देह को ज्ञान होता है यह तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि शयनावस्था में जब देह परवश होकर पड़ा हुआ है तब भी ज्ञान तो होता है, साथ ही मेरे पैर में पीड़ा है, मेरा सिर दर्द कर रहा है इत्यादि देहविषयक पीड़ा का अनुभव देह को नहीं अपितु देह से अतिरिक्त और ही किसी को हो रहा है। अतः यह ज्ञातृत्व देह पर नहीं जा सकता इन्द्रियाँ भी ज्ञाता नहीं मानी जा सकतीं क्योंकि इन्द्रियों के भी सुन्दर और असुन्दर तथा स्पष्टता और खराबी का अनुभव होता है, तब इन्द्रियों के इस प्रकार के अनुभवों का ज्ञाता स्वयं इन्द्रियां नहीं हो सकतीं उनसे कोई अन्य ही ज्ञाता मानना होगा। प्राण को भी ज्ञाता नहीं कहा जा सकता क्योंकि निद्रा में अपने और पराये का ज्ञान नहीं रह जाता। मन बुद्धि और अहंकार में चंचलता, जड़ता और दुष्टता आदि का ज्ञान होता है उसका ज्ञातृत्व उनके अतिरिक्त किसी और पर ही जायगा। अब इन सबके समूहरूप पूरे शरीर को ज्ञाता मानने का प्रश्न उठता है, उसका उत्तर स्पष्ट है कि जब अवयव अचेतन ही सिद्ध हुए तो अचेतन अवयवों का समुदाय भी अचेतन ही होगा। एक लकड़ी अचेतन है तो करोड़ों लकड़ियां इकट्ठी हो जाने से उनमें चैतन्य कैसे आ जायगा इसलिए ये सब ज्ञेय हैं और ज्ञाता ज्ञेय से अलग ही होता है। इसीलिए भगवान् ने यहां क्षेत्र शब्द से शरीर को, शरीर के अन्दर अनुभूयमान सभी तत्त्वों को अलग कर दिया है और उसके ज्ञाता के रूप में चेतन क्षेत्रज्ञ ईश्वर को अलग कर दिया है। आगे के पद्यों में इन्हीं का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है। (१)



## द्वितीय-पुष्प

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।१३।२

“हे अर्जुन ! सभी क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ भी समझो। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वह मेरा ज्ञान माना गया है।”

क्षेत्र की परिभाषा को भगवान् ने पूर्व पद्य में बतला दिया है कि यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। वहां एक वचन है और यहां बहुवचन है। वहां उदाहरण के लिए किसी भी एक शरीर को समझाया गया था, परन्तु शरीर अनन्त है, उन सभी शरीरों में क्षेत्रज्ञ बन कर केवल एक ही ईश्वर अनुप्रविष्ट है। इसी बात को सूचित करने के लिए यहां क्षेत्र के साथ बहुत्व और क्षेत्रज्ञ के साथ एकत्व है। यहां शरीर में अनुप्रविष्ट चैतन्य को भगवान् ने अपना ही रूप बतलाया है, तब क्या शरीर भगवद्रूप नहीं है ? इसका समाधान पहिले ही अपनी परा और अपरा प्रकृति का निरूपण करके भगवान् ने कर दिया है। शरीर भूतसंघात रूप परा प्रकृति है और जीव चेतनांशरूप अपरा प्रकृति है। तब भी तो प्रकृति ईश्वर रूप ही सिद्ध हुई क्योंकि प्रकृति ईश्वर की ही शक्ति है तथा शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न होते हैं, तब यहां क्षेत्रज्ञ को ही अपना रूप कहना तथा क्षेत्र को अपने से पृथक् बोधित करना कैसे संगत होगा। इसीलिए इस पद्य में ‘अपि’ शब्द का प्रयोग है कि क्षेत्र तो मुझसे पृथक् नहीं है, वह तो मेरी शक्ति रूप है परन्तु क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ। जब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ईश्वर रूप ही सिद्ध हुए तो इनके अतिरिक्त और रहा क्या, जिससे पृथक् ज्ञान के लिए यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विवेक समझाने की आवश्यकता पड़ी। इसका उत्तर है कि यद्यपि समस्त जड़ चेतन प्रपंच ईश्वर का ही रूप है, परन्तु जीव ने अज्ञान से आच्छन्न होकर अपने ईश्वरत्व को विस्मृत कर रक्खा है। जीव की संसार दशा में जो स्थिति है उसे दूर करने के लिए ही यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विवेचन है। इसमें तो किसी प्रकार के संशय का अवकाश ही नहीं है कि संसार में रहते हुए और सांसारिक व्यवहार का परिचालन करते हुए सभी प्राणी अपने शरीर को ही आत्मा समझ रहे हैं। प्रत्येक कार्य का कर्तृत्व वे अहंकार पर्यन्त शरीर पर ही आरोपित करते हैं। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तक जो शरीर का अनुभव सबको हो रहा है उसी को सब लोग कर्ता भी समझते हैं। इसका अनुभव तो व्यवहार दशा में कभी किसी को हो ही नहीं पाता कि सभी क्रियाओं का कर्ता और भोक्ता देहादि अहंकारान्त शरीर नहीं अपितु चेतन या चिदाभास आत्मा है। इस प्रकार आत्मा एक के ऊपर एक आवरण पड़ते चले जाने से प्रगाढ़ आवरणों में आबद्ध होता चला जाता

है। यहां यह भी सर्वथा ध्यान में ले लेना चाहिए कि इन आवरणों से आत्मा के अपने स्वरूप में कुछ भी विकार उपस्थित नहीं होता। दीपक को किसी बर्तन से ढँक देने पर दीपक का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा; उसके प्रकाश में कोई परिवर्तन नहीं होगा, हां उसको ढँकने वाला बर्तन काला अवश्य पड़ जायगा। आवरण करने वाले में ही विकार होगा आवृत पदार्थ तो तदवस्थ ही रहेगा, आत्मा पर इन आवरणों से कुछ भी भेद न होगा। आत्मा का सहजात धर्म है प्रकाशित होना। उसका प्रकाश सत्ता, चेतना और आनन्द का अनुभव होना है। अज्ञान से अत्यन्त आवृत व्यक्ति को भी सत्ता चेतना और आनन्द का अनुभव अवश्य होगा। इसीलिए आत्मा की सर्वत्र समान रूप से स्थिति में किसी विवाद का अवसर नहीं आता। परन्तु उन आवरणों को आत्मोन्मुख करने की क्षमता जीव को मिली हुई है। आत्मा के धर्मों का प्रतिबिम्ब इन आवरणों पर पड़ने के कारण ये आवरण सचेष्ट हो जाते हैं। सचेष्टता आ जाने पर ये आत्मोन्मुख भी हो सकते हैं, आत्मा विमुख भी। उस समय बुद्धि को सावधान रखकर इन्हें आत्मोन्मुख बनाए रखना यह जीव का काम है। यह संस्कार से होता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि यदि आत्मा के अतिरिक्त अन्य भोक्ता नहीं तब तो आत्मा भी संसार प्रपंच के अन्तर्गत आ गया। तब तो संसार के धर्मों का प्रभाव आत्मा पर भी अवश्य मानना होगा। भोक्ता रहते हुए वह संसार से असंग और संसार के प्रभाव से अलग कैसे रह सकेगा। दूसरी दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि जब ईश्वर के अतिरिक्त और कोई भोक्ता है ही नहीं तब भोग्य रूप यह संसार भी कैसे स्थित रह सकेगा। जीव जब ईश्वर ही है और ईश्वर को संसार जब इष्ट ही नहीं, क्योंकि संसार से पृथक् करके अपने स्वरूप को जानने के उपदेश सभी शास्त्रों के द्वारा निरन्तर दिये जा रहे हैं, तब यही मानना होगा कि ईश्वर को संसार इष्ट ही नहीं है जब ईश्वर को ही संसार अनिष्ट है यह सिद्ध हो गया तो संसार आएगा ही कहां से। ईश्वर की इच्छा से ही तो संसार की उत्पत्ति स्थिति और संहार होते हैं। यदि संसार की सत्ता ही उसे अभीष्ट नहीं तो संसार की उत्पत्ति ही कैसे होगी। इससे तो संसार की स्थिति ही समाप्त हो जाती है। परन्तु न तो यही माना जा सकता है कि ईश्वर संसारी है और संसार के धर्मों का उस पर भी प्रभाव है और न यही स्वीकार किया जा सकता है कि संसार की स्थिति ही नहीं है। यदि संसार की स्थिति ही न मानी जाय तब तो जीवात्मा के बन्धन और उसके मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्रों के वचन ही असिद्ध हो जायेंगे। साथ ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों का भी अपलाप होगा क्योंकि संसार तो हमारे प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है, उसकी असत्ता को कैसे स्वीकार किया जा सकता है। उपर्युक्त दोषों के रहने पर जीव और ईश्वर की एकता कैसे मानी जा सकती है। इसका

उत्तर अद्वैतवादी आचार्य यही देते हैं कि अज्ञान के कारण आत्मा कर्ता और भोक्ता जैसा समझ लिया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे दूर से हम किसी सूखे वृक्ष (स्थाणु) को मनुष्य समझ लेते हैं अथवा जैसे अन्धकार में रस्सी को सर्प समझ लेते हैं। वह हमारा भ्रम या अज्ञान ही है। हमारे इस भ्रम या अज्ञान का वस्तु स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमारे समझ लेने से सूखा वृक्ष (स्थाणु) मनुष्य नहीं बन जाता या रज्जु सर्प नहीं बन जाती, हां हमारे ऊपर भ्रम, भय आदि के रूप में उस अज्ञान का प्रभाव अवश्य पड़ता है। परन्तु वह प्रभाव तभी तक है जब तक वस्तु स्थिति हमसे ओझल है। अज्ञान या भ्रम के दूर होते ही हम पर उसका प्रभाव भी नहीं रहेगा। इसी प्रकार निर्विकार और अकर्ता चैतन्य आत्मा को भी प्रकृति के संग से जन्ममरणधर्मा, भोक्ता, कर्ता आदि समझ लिया जाता है। परन्तु यह तभी तक है जब तक कि आत्मा और प्रकृति के स्वरूप के विषय में अज्ञान है। जिस क्षण यह अज्ञान हट जायगा उसी क्षण आत्मा पर समझे हुए मिथ्या आरोपित धर्म भी स्वतः निवृत्त हो जायंगे। ऐसा मान लेने पर न तो आत्मा को संसारी ही मानने की आवश्यकता हुई क्योंकि संसार आत्मा पर अज्ञान से आरोपित है, वह उसके अपने स्वरूप में अनुप्रविष्ट नहीं हैं और न संसार के अभाव को मानने की कोई आवश्यकता आई क्योंकि यदि संसार नहीं होगा तो आत्मा पर आवरण ही असिद्ध हो जायगा और उसके हटाने के शास्त्र बोधित उपाय भी निरर्थक हो जायंगे। साथ ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी संसार की सत्ता सिद्ध हो ही रही है।

श्रुतियों में भी सर्वत्र विद्या, अविद्या, श्रेय, प्रेय आदि शब्दों से ज्ञान और अज्ञान का निरूपण किया गया है और अज्ञान को हटाने का भी आदेश दिया गया है। ज्ञान का फल बहुत बड़ा माना गया है। यदि सर्प को सर्प न जाना जाय या सर्प के विषय में अज्ञान हो तो मृत्यु के मुख में मनुष्य पहुँच जाता है, उसका ज्ञान रहने पर उससे बच निकला जा सकता है, इससे ज्ञान का फल कितना बड़ा है यह बात सिद्ध है।

यह तो प्रत्यक्ष अनुभव से ही सिद्ध है कि जो व्यक्ति शरीर को ही आत्मा समझ बैठता है उसे काम, क्रोध, राग, द्वेष, जन्म मृत्यु के हर्ष, शोक आदि अवश्य होते हैं। परन्तु जो व्यक्ति देह से आत्मा की भिन्नता का अनुभव कर लेता है उसे उपर्युक्त बातों का अनुभव नहीं होता। अतः जिस प्रकार अविद्या से उत्पादित जरा मृत्यु आदि का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, उसी प्रकार सुख, दुःखादि का भी आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि दोनों ही अविद्याकृत हैं।

इस पर फिर वही प्रश्न उपस्थित होगा कि यदि आत्मा संसारी नहीं है तो शास्त्रों के उपदेश निरर्थक हो जायंगे, उसका भी यही उत्तर है कि शास्त्रों की सार्थकता अविद्या

से आबद्ध आत्मा के लिए है, अविद्या से विमुक्त आत्मा के लिए शास्त्रों का महत्त्व वास्तव में नहीं है। अविद्या से सम्बद्ध आत्मा के लिए भी शास्त्रों की उपयोगिता का प्रयोजन अविद्या के सम्बन्ध को निवृत्त कर देना ही है।

इस पर कुछ विचारक यह भी प्रश्न उठाते देखे गये हैं कि गीता के उपदेश भगवान् कृष्ण स्वयं विमुक्तात्मा हैं या अविद्या से आच्छन्न हैं। यदि वे विमुक्त हैं तब तो उपदेश्य उपदेशक भाव ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि आत्मा की यथार्थता का ज्ञान हो जाने पर तो भेद बुद्धि ही समाप्त हो जाती है। जब भेद बुद्धि ही जाती रही तब भगवान् से अर्जुन अलग ही नहीं रहा और यदि भगवान् भी अविद्या से आबद्ध हैं तब उनके द्वारा दिया गया उपदेश प्रामाणिक कैसे होगा। उपदेश्य और उपदेशक दोनों एक ही रोग के रोगी हैं। एक रोगी दूसरे रोगी का क्या इलाज करेगा।

इसका उत्तर स्पष्ट है कि भगवान् तो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले हैं परन्तु वे अविद्या से आबद्ध जीव की स्थिति को तो सम्यक् प्रकार से समझते हैं। अविद्या ने जीव को अनन्त उपाधियों से आबद्ध-सा कर रक्खा है। अतः आत्मा भी अनन्त से प्रतीत हो रहे हैं। उनकी यही प्रतीत होने वाली अनन्तता संसार का विषय है। इसीलिए किसी एक उपाधि से सम्बद्ध आत्मा के मुक्त हो जाने पर भी सभी अविद्या की उपाधियां निवृत्त नहीं हो जातीं। इसी कारण उपदेश्य भगवान् भी संसारावस्था में पड़े हुए चैतन्य की स्थिति को ध्यान में रखकर ही उपदेश देते हैं। अतः उक्त दोष का यहां अवकाश नहीं है।

अद्वैतवाद से भिन्न मत रखने वाले आचार्य यहाँ क्षेत्रज्ञ का अर्थ जीव करते हैं। जीव और ईश्वर का अंशांशिभाव या जीव और ईश्वर की पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता उन्हें अभिमत है। पद्य के 'माम्' पद का इनके मत में भी परब्रह्म या ईश्वर ही अर्थ होगा।

एक अन्य व्याख्या के अनुसार पद्य का अर्थ दूसरे प्रकार का है कि क्षेत्रज्ञ प्रायः क्षेत्र में और स्वयं में कोई भेद नहीं समझता। वह क्षेत्र को अपना ही रूप समझता है। जो क्षेत्रज्ञ क्षेत्र को अपना रूप न समझ कर उससे पृथक् समझता है वही समझना या ज्ञान श्रेष्ठ ज्ञान है, भगवान् कहते हैं कि वही ज्ञान मुझे अभिमत है। यह इस प्रकार के ज्ञान की श्रेष्ठता को बतलाया गया है।

श्री नीलकण्ठ की व्याख्या में ज्ञान शब्द का विशकलन किया गया है कि ज्ञान का अर्थ है अपरोक्ष रूप से तत्त्व का निश्चय। उन्होंने यह भी कहा है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में से किसी एक के ज्ञान हो जाने मात्र से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती। भ्रम

से छुटकारा पाने के लिए रज्जु और सर्प दोनों का ज्ञान आवश्यक होता है। केवल रज्जु या केवल सर्प का ज्ञान भ्रम को निवृत्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार यहां भी संसार रूप भ्रम को निवृत्त करने के लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाना आवश्यक है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाना सम्यक् प्रकार से ईश्वर का ज्ञान प्रस्तुत पद्य में कहा गया है। अनेक व्याख्याओं में इस प्रकार के ज्ञान की सिद्धि और उसकी महत्ता बतलाने के लिए अनेक युक्तियां और प्रमाण भी उपस्थित किए गए हैं। गीता के व्याख्याकारों ने सबसे विस्तृत व्याख्या संभवतः इसी पद्य पर लिखी हैं और अपने अपने सिद्धान्तों को युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर इस पद्य से सिद्ध किया है, उन्हीं का कुछ दिग्दर्शन हमने प्रस्तुत किया है। (२)

---

## तृतीय-पुष्प

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ १३।३

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव

हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥१३।४

“वह क्षेत्र जो कुछ है, जैसा है, जैसे विकारों से युक्त है और जहाँ से उद्भूत है, तथा वह क्षेत्रज्ञ जिस स्वरूप का है, उसका जैसा प्रभाव है, उसको संक्षेप से मुझसे सुनो।”

आगे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप निरूपण करते समय जिन बातों पर प्रकाश डालना है उनकी यहां संक्षिप्त तालिका दे दी गई है। जिन बातों पर आगे विस्तृत प्रकाश डालना है प्रारंभ में उनका संकलन कर देने से वक्ता और बोद्धा दोनों को सरलता का अनुभव होता है। फिर विषय चाहे कितना ही क्लिष्ट हो इस प्रकार प्रारंभ में ही विभक्त कर देने से वह शीघ्र ही समझ में आ जाता है।

उपर्युक्त शीर्षकों में ज्ञातव्य क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, उनके धर्म, उनकी विकृतियां, उनके प्रभाव आदि का विवरण देने की प्रतिज्ञा की गई है। ‘यादृक्’ का अर्थ ‘वह जिसका आश्रय है’ ऐसा किया गया है।

क्षेत्रज्ञ तो इन्द्रियातीत होने के कारण केवल विशेष प्रकार के अनुभव का विषय है, अतः उपदेश से क्षेत्रज्ञ का ज्ञान होना युक्तियुक्त है। परन्तु जिस शरीर को क्षेत्र के रूप में बतलाया गया है वह तो प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य होने से आपामर सभी को ज्ञात है। तब उस शरीर रूप क्षेत्र को बतलाने की क्या आवश्यकता ? शास्त्र के द्वारा तो अज्ञात अर्थ का ही ज्ञापन हुआ करता है। जो बात सभी को प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञात हो जाती है उसको बतलाने के लिए उपदेशात्मक गीता शास्त्र की इतने संरम्भ से प्रवृत्ति क्यों हुई। इस शंका का निवारण भी उक्त श्लोक से हो जाता है कि जितना हम प्रत्यक्ष प्रमाण से शरीर को जानते हैं वह उतना ही नहीं है। उसका ज्ञान भी अपने आप में एक बड़ा शास्त्र है। यह शरीर वास्तव में किस रूप का है, इसके क्या-क्या कार्य हैं, यह बनता किन-किन तत्त्वों से है, इसके प्रभाव किस रूप में प्रकट होते हैं इत्यादि बातों को सभी लोग प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं जानते। अतः इसके परिचय के लिए भी शास्त्रों की प्रवृत्ति न्याय संगत है।

फिर प्रश्न हो सकता है कि शरीर का परिचय देना, उसके प्रभावों का विवेचन

करना, उसके विकारों का स्वरूप बतलाना इत्यादि तो आयुर्वेदादि शास्त्रों का विषय है। अध्यात्म प्रधान गीता आदि शास्त्रों का शरीर के विवेचन से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है उसका भी उत्तर यही है कि आयुर्वेदादि शास्त्रों का शरीर विवेचन उनकी अपनी आवश्यकताओं तक ही होता है। शरीर की विकृतियों की चिकित्सा के उद्देश्य से उन शास्त्रों की प्रवृत्ति है। उतने मात्र से उन शास्त्रों का प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। परन्तु अध्यात्म शास्त्र का शरीर विवेचन तो समस्त रोगों के मूल अविद्या रूपी महारोग के उन्मूलन को लक्ष्य में रखकर किया गया है। अतः केवल स्थूल विकृतियों की पहिचान और उनकी चिकित्सा के लिए जितना शरीर विवेचन आयुर्वेदादि शास्त्रों में किया गया है उतना यहाँ पर्याप्त नहीं। यद्यपि उन शास्त्रों में भी चरक आदि ग्रन्थों में दार्शनिक दृष्टि से भी शरीर विवेचन उपलब्ध होता है, परन्तु वह वहाँ प्रसङ्गागत और शरीर के मूल तत्वों की ओर एक संकेत भर है। उसका सांगोपाङ्ग विस्तृत विवेचन तो अध्यात्म शास्त्रों का ही विषय है। इसीलिए आत्म विद्या के मुख्य प्रतिपादक वेदों उपनिषदों और वेदान्त-सूत्रों में शरीर का विस्तृत विवेचन मिलता है। वेदान्त सूत्रों पर श्रीशंकराचार्य का जो भाष्य है उसका नाम भी शारीरिक भाष्य है जो इसी बात को विचार दृष्टि में ला देता है, क्योंकि शरीर का विवेचन वहाँ का मुख्य विषय है। शरीर भी स्थूल, सूक्ष्म, कारण भेदों से विख्यात है और उनका विस्तृत निरूपण अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। उसी का संक्षिप्त सार यहाँ भगवान् ने भी कहने का उपक्रम किया है।

यहाँ भगवान् ने “तत्समासेन मे शृणु” कह कर यह प्रकट कर दिया है कि यहाँ का विवेचन एक संक्षिप्त विवेचन है। ‘समास’ शब्द का व्याकरण आदि शास्त्रों में एक वृत्ति के रूप में व्यवहार है। अनेक शब्दों को जोड़ देने के नियमों का अध्ययन समास के अन्तर्गत वहाँ माना गया है। वह समास भी संक्षेप का ही बोधक है। प्रत्येक शब्द के साथ प्रत्यय न जोड़ कर भी इन प्रत्ययों के अर्थों को समझ लेने के नियम वहाँ बतलाए जाते हैं। यही वहाँ का संक्षेप होता है जो समास संज्ञा से वहाँ विवक्षित है। परन्तु संक्षेप अनेक प्रकार से हो सकता है। वह शब्द के व्यावहारिक स्वरूप में भी होता है जो कि व्याकरण के द्वारा प्रदर्शित है तथा विस्तृत अर्थ का सार संगृहीत करके थोड़े शब्दों में व्यक्त कर देना भी एक संक्षेप है। वही संक्षेप यहाँ के समास शब्द से गृहीत है। ऐसा समझने पर यह भी स्पष्ट होता है कि जो बात गीता के प्रस्तुत सन्दर्भ में कही जा रही है वह विस्तृत रूप में कहीं अन्यत्र भी कही गई होगी और इस संक्षेप को जानने के लिए उन स्थलों का भी कम से कम नाम मात्र से परिज्ञान अवश्य होना चाहिए जहाँ इन विषयों का विस्तार मिलता है। इसी बात को ध्यान में

रख कर भगवान् ने अग्रिम पद्य में इन स्थलों का संकेत किया है जहां इस विषय का विस्तृत निरूपण है ऐसा आशय कुछ व्याख्याकारों ने लगाया है। (२)

श्री शंकराचार्य ने अपने भाष्य में आगे के पद्य को प्ररोचनार्थ कथन माना है। इसका तात्पर्य है कि प्रस्तुत क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप विवेचन इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि सारा आर्ष वाङ्मय इसके विवेचन से भरा है। अतः इसके ज्ञान के लिए जिज्ञासु महानुभावों को अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए यही प्ररोचना कथन का आशय है। पद्य का अर्थ है—

“पृथक्-पृथक् छन्दों में ऋषियों ने इसका अनेक प्रकार से गान किया है तथा कार्य कारण भाव का प्रदर्शन करते हुए निश्चित अर्थ रखने वाले ब्रह्मसूत्रों के पदों में इस विषय का विवरण है”।

यहाँ विचारणीय यह है कि क्रिया पद केवल ‘गीतम्’ यही है, जिसका अर्थ है ‘गाया था’, या ‘गाया गया’। ऋषियों ने विविध छन्दों के द्वारा गाया है यहां तक तो ठीक है, परन्तु ब्रह्मसूत्र के पदों में भी यह गाया गया है यह कथन असमंजस प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र के नाम से भगवान् बादरायण व्यास के द्वारा विरचित वेदान्त सूत्रों की प्रसिद्धि है। श्री शंकराचार्य के अतिरिक्त अन्य सभी व्याख्याकारों ने यहां ब्रह्मसूत्र से व्यास विरचित वेदान्त सूत्रों का ही आशय निकाला है। पाणिनि के अष्टाध्यायी सूत्रों में इन्हीं को भिक्षुसूत्र भी कहा है क्योंकि भिक्षु अवस्था अर्थात् संन्यास अवस्था में ही इन सूत्रों के विशेष मनन की परंपरा रही है। परन्तु वेदान्त सूत्रों में गायन की क्रिया संगत नहीं हो सकती। गायन के लिए तो छन्दोबन्धन आवश्यक होता है, वहीं गायन के लय सम्बन्धी नियमों का पालन भी संभव होता है। वेदान्त सूत्रों में तो इस प्रकार के नियमों का संगठन देखने में नहीं आता। प्रत्युत सूत्रों में तो कम से कम अक्षरों का निवेश किया जाता है। सूत्र का प्रसिद्ध लक्षण है—

“अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रकृतो विदुः ॥’

इसमें सूत्रों में प्रथम बात उनका अल्पाक्षर होना ही है। अनेक व्याख्याओं में ‘गीतम्’ को कथन सामान्य में लगाकर व्याख्या की गई है तथा कुछ व्याख्याओं में ‘गीतम्’ को केवल छन्दों के साथ अन्वित करके ब्रह्मसूत्र पदों के लिए पृथक् कथनार्थक क्रिया का अध्याहार किया गया है।

श्री शंकराचार्य एवं उनके अनुयायी श्री नीलकण्ठ तथा श्री शंकरानन्द आदि ने ‘ब्रह्मसूत्रपद’ का अर्थ किया है ‘ब्रह्म के प्रतिपादक उपनिषद् वाक्य’ और उदाहरण के रूप में ‘आत्मेत्येवोपासीत’ आदि श्रुतियां उद्धृत की हैं। इससे उनका यह आशय



जाना जा सकता है कि वे 'ब्रह्मसूत्रपद' से उपनिषदों का ही ग्रहण करते हैं, वेदान्त सूत्रों का नहीं। वेदान्त सूत्रों के यहां ग्रहण न करने का आशय यही लगाया जा सकता है कि महाभारत और वेदान्त सूत्र दोनों ही व्यास कर्तृक हैं, अतः एक ही कर्ता की कृति का अपनी ही अन्य कृति में उद्धरण होना संभवतः अनुपपन्न माना गया हो। अविगीता की टिप्पणी में महाभारत के एक उद्धरण से इसी मत को स्पष्ट करते हुए यह भी दिखाया गया है कि वेदान्त सूत्रों की रचना गीता के बाद में हुई, तथा "स्मृतेश्च" आदि अनेक सूत्रों में गीता का ग्रहण भी किया गया है। इस पक्ष में 'गीतम्' पद भी चरितार्थ हो जाता है क्योंकि उपनिषत् भी छन्दोबद्ध होने से 'गान' का विषय बन सकते हैं। 'ब्रह्मसूत्रपद' से वेदान्त सूत्रों का ग्रहण मानने वाले यह कहते हैं कि दोनों ही कृतियां जब श्री व्यास जी की हैं तब उनका अन्योन्य उद्धृत होना कोई असंगति नहीं रखता। भगवान् श्री कृष्ण के अवतार के पूर्व ही भगवान् वेद व्यास अवतीर्ण हो चुके थे, तभी तो भगवान् ने विभूतियों के उल्लेख में 'मुनीनामप्यहं व्यासः' कह कर व्यास जी का अपनी विभूति के रूप में उल्लेख किया है। श्रीहर्ष के नैषधीय चरित और खण्डनखण्डखाद्य, अप्ययदीक्षित के चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द आदि कृतियों में एक दूसरे का एक दूसरे में उल्लेख भी मिलता है इत्यादि बातें अविगीता की टिप्पणी में लिखी गयी हैं। हमारी दृष्टि में दोनों ही पक्ष ठीक हैं और दोनों का ही समर्थन किया जा सकता है। लोकमान्य तिलक ने यहां वेदान्त सूत्रों का ही ग्रहण माना है।

श्री रामानुजाचार्य ने इस पद्य की व्याख्या में वेदों उपनिषदों और स्मृतियों से अनेक उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिये हैं जिनसे इन विषयों के उन स्थलों पर विस्तृत निरूपण होने का आभास मिल जाता है।

श्री नीलकण्ठ ने 'ऋषिभिर्बहुधागीतम्' इससे वसिष्ठ के योगवासिष्ठ का भी ग्रहण कर लिया है। 'हेतुमद्भिः' और 'विनिश्चितैः' ये दोनों ब्रह्मसूत्रों के विशेषण उनका महत्व दिखाने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि उपनिषद एक ऋषि के द्वारा दृष्ट न होने के कारण परस्पर विशृङ्खल और अनेकत्र परस्पर विरुद्ध अर्थों का भी आभास देते हैं, इसीलिए उनके लिए यहां भगवान् ने 'बहुधा' और 'विविधैः' विशेषण दिए हैं। उन उपनिषदों को क्रमबद्ध करके उनका युक्ति पुरस्सर निश्चित अर्थ कर देने का कार्य वेदान्तसूत्रों में सम्पन्न हुआ है। बिना वेदान्तसूत्रों के उपनिषदों का तात्पर्य समझना असम्भव है इसलिए वेदान्त सूत्रों के लिए 'हेतुमद्भिः' और 'विनिश्चितैः' ये दोनों अर्थ—गर्भित विशेषण दिये गए हैं। 'हेतुमद्भिः' विशेषण से तो यह बतलाया गया है कि उनमें सिद्धान्तों की दुर्बोधता को दूर करने के लिए युक्तियां दी गई हैं और 'विनिश्चितैः' का यह आशय है कि उनके प्रतिपादन में किसी प्रकार के सन्देह का अवकाश नहीं है। (४)

## चतुर्थ-पुष्प

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।५।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।६।

“महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त (प्रकृति), एकादश इन्द्रियां, पांच इन्द्रियों के विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना, धैर्य यह संक्षेप से विकारों सहित क्षेत्र बतलाया गया है।”

यहां क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले पदार्थों के नामों का परिगणन कर दिया गया है। यही यहां संक्षेप का अभिप्राय है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच महाभूत प्रसिद्ध ही हैं। सर्वत्र व्याप्त होने से इनकी महाभूत यह संज्ञा है। महाभूतों की सूक्ष्मावस्था ही यहां गिनाई गई है क्योंकि महाभूतों का स्थूल रूप जो इन्द्रिय ग्राह्य है वह आगे पृथक् बतलाया गया है। महाभूतों का उत्पादक अहंकार है, उसकी उत्पादक बुद्धि और उसका भी कारण अव्यक्त अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों की समष्टि भूता प्रकृति है। अहंकार और बुद्धि से यहां प्रत्येक प्राणी में पृथक् पृथक् अवस्थित जो अहंकार हैं उनका ग्रहण नहीं अपितु सृष्टि के आरंभक जो अहंकार और बुद्धि हैं उनका ही यहां ग्रहण है। यद्यपि सृष्टि के आरंभक बुद्धि तत्त्व को महत्तत्त्व या महान् शब्द से ही कहा जाता है परन्तु बुद्धि शब्द से भी उसका व्यवहार प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यहां बुद्धि को अहंकार और अव्यक्त के मध्य में कहने से भी बुद्धि का अर्थ महत्त्व ही होगा। यह आठ प्रकार की प्रकृति है।

पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय तथा एक मन को मिलाकर एकादश इन्द्रियां होती हैं। ‘दशैकं च’, दस और एक ऐसा कहकर जो मन को अलग किया है उसका आशय एक व्याख्याकार यह लगाते हैं कि मन प्रधान रूप से इन्द्रियों का परिचालक है उसकी इन्द्रियों में गणना गौण रूपसे ही की जाती है। सर्वत्र मन की इन्द्रियों से पृथक् ही गणना देखी गई है, मन को उभयात्मक कहा गया है, अर्थात् मन बन्धन भी करता है और मोक्ष भी। यहां यदि मन को इन्द्रियों में न समझा जाय तो वाच्यार्थ संगत नहीं हो सकेगा। इसलिए मन को भी इन्द्रियों के अन्तर्गत ही मानना उपयुक्त है ऐसा भी कुछ व्याख्याकारों का मत है। मन के इन्द्रिय न मानने पर भी मन सहित ग्यारह इन्द्रियां ऐसा कथन कोई अनुपयुक्त नहीं होता। क्योंकि एकादश गणना में मन का इन्द्रिय होना आवश्यक नहीं। यज्ञदत्त सहित ग्यारह स्त्रियां ऐसा कहने में यज्ञदत्त

का भी स्त्री होना आवश्यक नहीं, ग्यारह संख्या में ही वहां आशय है ऐसा भी एक व्याख्या में लिखा गया है। इसके अनुसार मन को यदि इन्द्रिय न भी माना जाय तो भी यहां उसकी इन्द्रियों के साथ गणना करने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। इसके अतिरिक्त शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध ये इन्द्रियों के पांचों विषय भी क्षेत्र के ही रूप हैं। इन्हीं को सांख्यदर्शन में तन्मात्रा शब्द से कहा गया है। यह सांख्य के अनुसार तत्त्वों की गणना है।

सांख्य में २४ तत्त्व माने गये हैं, उन्हीं का संकलन करके यह क्षेत्र का परिचय दिया गया है ऐसा सभी व्याख्याकारों ने स्वीकार किया है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यहां वेदान्त की प्रक्रिया भी लिखी है और उसका समन्वय भी कर दिया है कि उपनिषदों में परमेश्वर की माया नाम की जो शक्ति है, वह अव्यक्त, अव्याकृत और अचिन्त्य है। परमेश्वर सिसृक्षा से जब उसकी ओर ईक्षण करता है तब वही बुद्धि सर्ग कहा जाता है। उस ईक्षण के अनन्तर 'एकोऽहं बहुस्याम्' ऐसी ईश्वर की आत्म प्रेरणा ही अहंकार की सृष्टि है। उसके अनन्तर आकाश की उत्पत्ति होती है, उससे वायु, उससे अग्नि, उससे जल और उससे पृथ्वी की उत्पत्ति होती है यह सृष्टि की वेदान्त सम्मत प्रक्रिया है।

आरोह क्रम से परिचय देते समय पंचभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त यह क्रम रहेगा। इस प्रक्रिया के अनुसार यहां भगवान् ने आरोह क्रम से ही क्षेत्र का परिचय दिया है ऐसा मानना होगा। अन्तिम तत्त्व से क्रमशः आदि के तत्त्व को समझना आरोह क्रम है। प्रकृति के रूपों में महाभूत ही अन्तिम तत्त्व होते हैं। उनसे पूर्व का तत्त्व अहंकार है, उससे पूर्व का बुद्धि और उससे पूर्व का अव्यक्त प्रकृति या माया है। यह वेदान्त-सम्मत क्रम भी यहां पूर्णरूप से संग्रहीत हो जाता है, यह श्रीमधुसूदनसरस्वती का आशय है। सृष्टि के आगे की प्रक्रिया में सांख्यदर्शन और वेदान्त में कोई विशेष अन्तर नहीं। मूलतत्त्व-विषयक सिद्धान्त में ही दोनों का भेद है। इन तत्त्वों के नाम भी 'ऐक्षत' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर ईक्षण कह दिया जाता है। परन्तु वह ईक्षण भी परमेश्वर का ही होता है, विषय रूप से उसमें माया भी आ जाती है अतः वह सृष्टि का प्रथम उन्मेष कहा जा सकता है। ईश्वर की अनेक रूपों में प्रकट होने की इच्छा का ही नाम अहंकार है। क्षेत्र के तत्त्वों के परिगणन में वेदान्त और सांख्य में कोई अन्तर नहीं आता। इसीलिए नाम और संख्या के परिगणन में सभी व्याख्याकारों ने इसे सांख्यानुसारिणी मान लिया है। परन्तु आगे क्षेत्रज्ञ के निरूपण में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सांख्य में अव्यक्त या प्रकृति जैसे एक स्वतंत्र तत्त्व है वैसा यहां गीता को आभिमत नहीं।

श्रीनीलकण्ठ ने यहां अव्यक्त शब्द से शरीर का ही ग्रहण माना है। क्षेत्र को ही उन्होंने शरीर कहा है। अतः शरीर का परिचय देते समय अव्यक्त का अर्थ शरीर ही करना चाहिए ऐसा उनका आशय है। अव्यक्त शब्द से शरीर कैसे लिया जाय इसके समर्थन में उन्होंने कहा कि उपनिषद् में भी शरीर के प्रकरण में आया है—‘शरीरं रथमेव तु’ (कण्ठो ३।३) वहां शरीर ही अव्यक्त है यह वेदान्तसूत्र के भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। श्रीनीलकण्ठ ने भी उसी के अनुसार यहां अव्यक्त का अर्थ शरीर ही किया है। उसी अव्यक्त के विकारों के रूप में आगे इन्द्रियों की गणना भी उन्होंने इस पक्ष में संगत मानी है।

आगे के षष्ठ के अवतरणिका भाष्य में श्रीशंकराचार्य ने लिखा कि वैशेषिक दर्शन में जिनको आत्मा का धर्म माना गया है वे भी वस्तुतः क्षेत्र के ही रूप हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि भी क्षेत्र के ही अन्तर्गत हैं और षष्ठ के उपसंहार में कहा गया है “यह विकार सहित क्षेत्र का विवरण संक्षेप से कहा गया है”। अतः इच्छा द्वेषादि क्षेत्र के विकार हैं। श्रीरामानुज ने इसे और भी स्पष्ट करके लिखा है कि पञ्चभूतादि तो क्षेत्र के आरम्भक द्रव्य हैं और इच्छा द्वेषादि उसके विकार या परिणाम हैं। वैशेषिक दर्शन में जो इनको आत्मधर्म माना गया है उसकी आलोचना करते हुए श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि वैशेषिक दर्शन का आत्मा भी क्षेत्र के ही अन्तर्गत है। वेदान्त का चिदाभास ही वैशेषिकों का आत्मा है। अतः उस दृष्टि से उन्हें आत्मधर्म कह देने पर भी उनके क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाने में कोई बाधा नहीं।

श्रीरामानुजादि भाष्यकारों ने अपने सिद्धान्त के अनुसार इच्छा द्वेषादि को आत्मधर्म माना है क्योंकि गीता में आगे आत्मा को सुख दुःखादि का भोक्ता कहा गया है। परन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये क्षेत्र के सान्निध्य होने के अनन्तर ही आत्मा के भोग्य बनते हैं, अतः इन्हें क्षेत्र के अन्तर्गत भी लिया गया है और आत्मा के इनका भोक्ता होने से क्षेत्रज्ञ के साथ भी इनका समन्वय हो जाता है। जिस प्रकार के पदार्थों से पहिले सुख का अनुभव हुआ हो उस प्रकार के पदार्थों की पुनः प्राप्ति की अभिलाषा का नाम इच्छा और जिस प्रकार के पदार्थों से दुःख का अनुभव हुआ हो उन पदार्थों के त्याग की इच्छा का नाम ही द्वेष है। अनुकूल अनुभव को सुख और प्रतिकूल अनुभव को दुःख कहा जाता है। ‘संघात’ कहने का प्रयोजन है कि पहिले तो पञ्चभूतादि की पृथक् पृथक् गणना कर दी गई, अब कहीं यह सन्देह न हो कि पृथक् पृथक् अवस्था में अवस्थित होने पर तो ये क्षेत्र हैं और इनका समूह बन जाने पर ये क्षेत्र से विलक्षण हो जाते हैं। अतः संघात शब्द से यही स्पष्ट किया गया कि वे पृथक् पृथक् और समूह रूप दोनों ही अवस्थाओं में क्षेत्र के ही अन्तर्गत आते हैं। चेतना

को भी क्षेत्र के ही अन्तर्गत कहा गया है क्योंकि वह भी ज्ञेय ही है। विशुद्ध आत्मा के स्वरूप में जो चेतना है वह इससे पृथक् है। श्रीशंकराचार्य ने इसके उदाहरण के रूप में गरम किये हुए लोहे को लिया है। जैसे अग्नि में निरन्तर तपाया हुआ लोहा भी अग्नि के सदृश लाल और गरम हो जाता है वैसे ही चेतन आत्मा के नित्य संसर्ग से शरीर रूप क्षेत्र भी चेतन के समान हो जाता है। आयुर्वेद में तो स्पष्ट ही चेतना को एक धातु माना है। यद्यपि बुद्धि शब्द से चेतना स्मृति धृति अहंकारादि को जाना जा सकता है परन्तु यहाँ इन सबके पृथक् पृथक् क्षेत्र होने से ही गणना भी अलग-अलग रखी गई है। 'धृति' नियमन करने वाली चित्त वृत्ति है। व्याख्याकारों ने इन धर्मों को उपलक्षण मान कर सभी अन्तःकरण क्षेत्र रूप हैं यह स्वीकार किया है।

यहाँ प्रश्न होता है कि चार्वाक संघात को ही आत्मा मानता है, क्षणिक ज्ञान को ही बौद्ध आत्मा मानते हैं, इच्छा द्वेष सुख दुःख आदि का ज्ञान ही आत्मा का ज्ञापक है यह नैयायिक मानते हैं, तब ये सब यहां क्षेत्र के ही अन्तर्गत कैसे मान लिए गए। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने ऐसी शंका उठाकर इसके उत्तर के रूप में पद्य के 'सविकार' शब्द को लगाया है। विकार शब्द यहां निरुक्तादि ग्रन्थों में प्रतिपादित भावविकारों का वाचक है। जायते, आस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति, ये ६ भाव विकार माने गए हैं जिनका विवरण प्रसंगानुसार हम पूर्व प्रवचनों में कर चुके हैं। उक्त दार्शनिकों की आत्म विषयिणी मान्यता भी इन्हीं विकारों तक है। वे विकार भी ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र के ही स्वरूप में अन्तर्निविष्ट हैं।

---

## पंचम-पुष्प

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

क्षेत्र के स्वरूप का उपसंहार पूर्व के पद्यों में हो चुका। इसके आगे क्षेत्रज्ञ का विवरण प्रसंग प्राप्त है। परन्तु आगे के इन पाँच श्लोकों में क्षेत्रज्ञ का स्वरूप कहने से पहिले यह भी बतलाना भगवान् ने आवश्यक समझा कि उस क्षेत्रज्ञ को समझने के लिए पहिले उसके ज्ञान के उपयुक्त योग्यता का होना आवश्यक है। बिना वैसी योग्यता के क्षेत्रज्ञ का स्वरूप ध्यान में ही नहीं आ सकता। उक्त पद्यों की अवतरणिका में सभी व्याख्याकारों ने यही लिखा है कि इन पद्यों में भगवान् ने क्षेत्रज्ञ को जानने का अधिकारी कौन है, इसी का विवरण दिया है। इस पर प्रश्न होता है कि पूर्व पद्यों में क्षेत्र के विवरण के पहिले क्षेत्र के ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी का विवरण भगवान् ने क्यों नहीं दिया ? उसका उत्तर यही होगा कि क्षेत्र तो अहर्निश अनुभव का विषय है। अतः केवल संकेत मात्र से वह सभी की बुद्धि में अनायास आ सकता है। परन्तु क्षेत्रज्ञ प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं है, वह परोक्ष रूप से ही सर्वदा अवस्थित रहता है और परोक्ष विषय सभी की समझ में नहीं आ सकता जब तक कि उसके समझ लेने के लिए समुचित योग्यता प्राप्त न कर ली जाय। यह बात इसी से सिद्ध है कि शास्त्रों से अनभिज्ञ व्यक्तियों को क्षेत्र का ज्ञान रहते हुए भी परोक्ष सत्ता का ज्ञान नहीं हो पाता। यदि क्षेत्र के ही समान क्षेत्रज्ञ को जानने के लिए किसी अतिरिक्त योग्यता की आवश्यकता न हो तो जिस प्रकार सभी को क्षेत्र का ज्ञान रहता है उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ का भी सभी को ज्ञान हो जाना चाहिए परन्तु वैसा नहीं देखा जाता। इसका कारण यही है कि क्षेत्रज्ञ को जानने के लिए विशेष प्रकार की योग्यता की आवश्यकता

होती है। दूसरे शब्दों में स्वयं को अनेक, संस्कारों से संस्कृत करना पड़ता है। ये संस्कार दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनाङ्गपूर्ति के रूप में होते हैं, जिनका विवरण हम पूर्व के प्रवचनों में कर चुके हैं, यहां भी प्रकरणानुसार संस्कारों से संस्कृत करना अपने आपको आवश्यक हो जाता है। जिन योग्यताओं का भगवान् ने उल्लेख किया है उनमें भी अनेक दोषमार्जन रूप हैं, कुछ अतिशयाधान रूप हैं और कुछ हीनाङ्गपूर्ति रूप हैं। क्षेत्रज्ञ का विस्पष्ट ज्ञान हो जाना भी स्वयं में एक हीनाङ्गपूर्ति है। श्रीशंकराचार्य ने इस पद्य की अवतरणिका में लिखा है कि इन सभी गुणों से युक्त संन्यासी ही क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को जानने का वास्तविक अधिकारी है। क्षेत्रज्ञ के ज्ञान की योग्यता के साधन इस प्रकार हैं—

“अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, ऋजुता (सरलता), आचार्य की उपासना, शौच, आत्मा का निग्रह”

अपने में जो कुछ गुण हैं उनके आधार पर पूज्य व्यक्तियों के प्रति तिरस्कार प्रकट करना मान है, उससे दूर रहना ही अमानित्व होता है, यह एक व्याख्या है ! दूसरी व्याख्या के अनुसार अपने में जो गुण हैं या जो गुण नहीं हैं उन गुणों का प्रदर्शन करके अपनी श्लाघा करना मान है, कई बार मनुष्य ऐसे गुणों को भी अपने में प्रदर्शित करने लगता है जो कि वास्तव में उसमें नहीं होते, ऐसे प्रदर्शन से स्वयं को दूर रखना अमानित्व होता है, यह इस व्याख्या का आशय है। श्रीशंकरानन्द ने लिखा है कि मान वह है जिससे कि विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति का प्रतिबन्ध हो जाता है। आत्मज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को मान का परित्याग करना अनिवार्य हो जाता है। श्रीरामानुजाचार्य और श्रीशंकराचार्य उत्कृष्ट पूज्य जनों के पूजा व्यतिक्रम को मान कहते हैं और उसका कारण अपने में विद्यमान और अविद्यमान गुणों का प्रदर्शन मानते हैं। जो व्यक्ति धन, अधिकार, सौन्दर्य, प्रसिद्धि आदि के रहने के कारण अथवा इनके वस्तुतः न रहने पर भी इनका प्रदर्शन करने लगते हैं, वे इस आत्मज्ञान के निकट कभी नहीं पहुँच सकते। इसके आगे ‘अदम्भित्व’ आता है। दम्भ भी चित्त वृत्ति ही है और ‘मान’ की तरह ही उसका बाह्य प्रदर्शन भी हुआ करता है। यहां श्रीशंकराचार्यादि भाष्यकारों ने अपने धर्म को प्रकाशित करने को दम्भ कहा है। जो धर्मानुष्ठान कर्तव्य बुद्धि से न किया जाकर दिखाने के लिए किया जाता है, जिसमें कि अपनी प्रतिष्ठा और पूजा को बढ़ाने का उद्देश्य अन्तर्निहित होता है वह दम्भ है, उसमें अपने आपको परम धार्मिक सिद्ध करना ही मुख्य उद्देश्य होता है, ऐसी स्थिति में मानसिक झुकाव के अभाव में मनुष्य धर्म पालन तो कर नहीं पाता, हाँ उसके बाहरी रूपों का बड़े घटाटोप से पालन करता है। वह अविधिपूर्वक धर्मानुष्ठान है। एक व्याख्या में कहा गया है कि

धर्म का अनुष्ठान दम्भ से भी किया जाता है और कर्तव्य बुद्धि से भी किया जाता है, दोनों में परिश्रम तो बराबर ही करना पड़ता है। दम्भ से किया गया धर्मानुष्ठान केवल श्रम के ही लिए रह जाता है उससे और कोई फल सिद्ध नहीं हो पाता जबकि कर्तव्य बुद्धि से किये गए धर्मानुष्ठान से बहुत बड़ा सुख प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार प्रायः सभी व्याख्याकारों ने दम्भ को एक प्रकार के धर्मानुष्ठान से ही जोड़ा है। श्रीशंकरानन्द ने विलक्षण वेश धारण करके प्रभावशाली भाषण देकर अनेक प्रकार की विलक्षण क्रियाओं से और विविध चतुरताओं से अपने महत्त्व को प्रकट करने को दम्भ कहा है। इस प्रकार के दम्भ से दूर रहना ही 'अदम्भित्व' है। 'अहिंसा' का अर्थ है प्राणियों को पीड़ा न देना। यह पीड़ा न देने का भाव व्यापकता रखता है। मन, वचन और शरीर किसी से भी किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाना ही अहिंसा है। 'शान्ति' या क्षमा का अर्थ है कि अपराध करने वाले पुरुष के अपराध का कोई प्रतीकार न करके उसकी उपेक्षा करना। दूसरी व्याख्या के अनुसार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक उपद्रवों को सहन करते जाना शान्ति है। वाणी, मन और शरीर को एक स्थिति में रखना ही ऋजुता या आर्जव कहलाता है। किसी को धोखा बिना दिये अपने हृदय की समानता रखते हुए व्यवहार का परिचालन करते जाना ऋजुता है, यह भी एक व्याख्या है।

इसके आगे है आचार्य की उपासना। आचार्य का भारतीय संस्कृति में बहुत बड़ा स्थान माना गया है। आचार्य का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—

**'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः**

**सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते'**

जो शिष्य का उपनयन संस्कार करके अपने पास रखकर उसे सकल्प और सरहस्य वेदों का अध्यापन करता है उसे आचार्य कहा जाता है। यहां तत्त्वप्रकाशिकामें 'ब्रह्मनिष्ठ' पुरुषों को आचार्य बतलाते हुए ये श्लोक उद्धृत किये गये हैं—

**आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ।**

**मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राशयः शुचिः ॥**

**गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः ।**

**एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥**

आत्म ज्ञान के अधिकारी की योग्यता में श्रुति कहती है "आचार्यवान्पुरुषो



वेद'' आचार्य में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला ही तत्त्व ज्ञान का अधिकारी है। परमार्थप्रपा में भी इसी प्रसंग में एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

यद्यप्युद्दामबुद्धिः पठनपरिणामद्वेदशास्त्राक्षरार्थो  
न ह्याचार्यं विनासौ तदपि परिचिनोत्येतदुक्तं रहस्यम् ।  
ब्रूते नामापि यद्यप्यजिरनिवसतामन्यवक्त्राच्छ्रुतानि  
प्रायस्तं तं पदार्थं नहि कथकमृते वेत्युपोद्गायकोऽपि ॥

अर्थात् तीव्र बुद्धि वाला मनुष्य यद्यपि स्वयं भी वेदों और शास्त्रों के अक्षरार्थों को समझ सकता है, परन्तु आचार्य के बिना वेदों और शास्त्रों के रहस्य उसकी बुद्धि में समाविष्ट नहीं हो सकते।

यहां विभिन्न व्याख्याकारों ने आत्म-ज्ञान के उपदेश को ही प्रकरणानुसार आचार्य माना है। श्रीरामानुजाचार्य ने आचार्य की उपासना का अर्थ चतुर्थ अध्याय से संगति करते हुए आचार्य को प्रणिपात उनसे परिप्रश्न और उनकी सेवा किया है। शौच या पवित्रता दो प्रकार की मानी गई है, बाह्य शरीर और इन्द्रियों की पवित्रता मृत्तिका या जलादि से होती है, और अन्तःकरण के मल, राग, द्वेषादि को दूर करने के लिए विवेक से शुचिता मानी गई है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने आन्तरिक मलों का अपनयन करने के लिए विषयों के दोषों का अनुसन्धान करके शुचिता संपादन कहा है। उसके लिए अस्पर्श्य पदार्थों का स्पर्श न करना, अभक्ष्य पदार्थों को न खाना, और अग्राह्य वस्तुओं का परित्याग आवश्यक बतलाया है। श्रीवल्लभाचार्य मतानुसारिणी व्याख्या में भगवान् के स्मरण से आन्तरिक मलों की शुद्धि मानी गई है।

यहाँ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि वर्तमान में प्रायः लोगों का ऐसा विचार बनता जा रहा है कि बाह्य शुद्धि को कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए, मन का शुद्ध रहना ही मुख्य वस्तु है। बाहर से हम अपनी इच्छानुसार आचरण करते रहें, मन अवश्य शुद्ध रहना चाहिए, मन के शुद्ध रहने पर बाहर की अपवित्रता हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। इसी बात को आज प्रायः लोग मानने लगे हैं और इसी का अपने व्यवहार में आचरण करने के फलस्वरूप शास्त्र बोधित बाहरी शुचिता का उपहास भी देखने में आता है। परन्तु यह एक बहुत बड़ी भूल है। आन्तरिक शुचिता और बाहरी शुचिता का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि हमने बाहरी आहार-व्यवहार में अपनी पवित्रता के विचार को ताख में रख दिया तो आन्तरिक शुचिता को भी सर्वथा समाप्त ही समझिये। भारतीय आचार्यों ने इसीलिए सर्वत्र आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की पवित्रता पर समान रूप से बल दिया है और दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार किया

है। जिस प्रकार बाह्य पवित्रता के अभाव में आन्तरिक पवित्रता नहीं हो सकती उसी प्रकार आन्तरिक पवित्रता के अभाव में बाह्य पवित्रता रखना भी केवल प्रदर्शन मात्र है जिसे अभी दम्भ कहा गया है। इसको 'स्थैर्य' या स्थिरता भगवान् ने बतलाया है। श्रीशंकराचार्य स्थैर्य का अर्थ केवल मोक्ष मार्ग में ही अध्यवसाय रखना करते हैं। अध्यात्मशास्त्र में जिनका बोध कराया जाता है उसमार्ग में निश्चल हो जाना ही यहाँ स्थिरता है। इसी का विवरण अन्य व्याख्याकार ने किया है कि अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ते हुए जो विघ्न उपस्थित हों उनके होते हुए भी उस मार्ग से विचलित न होना ही यहाँ स्थिरता का तात्पर्य कुत्सित कर्मों से अथवा स्वेच्छाचारिता से अपने को बचाने में है।

“इन्द्रियार्थों में वैराग्य, अहंकार का अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःखों में दोष का अनुदर्शन करना”।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये इन्द्रियों के अर्थ कहे गए हैं, इनमें विराग भावना का होना ही वैराग्य है। इन सभी में सदोषता देखने से इनसे मन हट जाता है। जन्म में गर्भवासादि की पीड़ा का स्मरण, मृत्यु का भय, वृद्धावस्था में स्मरणशक्ति तथा शरीर की शक्ति का क्षीण हो जाना इत्यादि दोषों को देखने से भी चित्त में ज्ञान उत्पन्न होने की योग्यता आ जाती है। शिरोवेदना आदि व्याधियाँ हैं। इसी प्रकार आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि दुःख हैं। इन सभी में दोषों का अनुदर्शन होना चाहिये। देह में आत्मा का अभिमान अहंकार है। उसी प्रकार आत्मा में देह का अभिमान होना भी अहंकार है, दोनों ही परिवर्जनीय हैं।

“आसक्ति होना, पुत्र, स्त्री, गृह आदि में आत्मबुद्धि न रखना, अभिलषित और अनभिलषित पदार्थों में समान बुद्धि रखना”।

जिनमें सङ्ग हो सकता है ऐसे सभी विषयों से प्रेम न रखना ही आसक्ति है। पुत्र-स्त्री आदि के सुखी-दुःखी, अनुगत रहने पर तथा गृह के सुन्दर या असुन्दर रहने पर आत्मा से सुख-दुःखादि का अनुभव सर्व सामान्य को होता है। उससे बचने का यहाँ निर्देश है। इष्ट वस्तु के मिल जाने से सुख और अनिष्ट के मिल जाने पर दुःख होना भी सर्वसामान्य का अनुभव है। आत्मज्ञानोन्मुख व्यक्ति को इष्ट और अनिष्ट दोनों को समान भाव से देखना चाहिए।

“मुझमें अनन्य भाव से अविचलित भक्ति, एकान्त देश का सेवन, और जन समुदाय से विरत होजाना।”

ऊपर कहे हुए गुणों में जब पुत्र, दार, गृहादि सभी से स्नेह हटाने का आदेश

है तो फिर स्नेह का पात्र कौन हो यह बतलाना भी आवश्यक हुआ। उसके लिए भगवान् में ही भक्तिरूप स्नेह होना चाहिए। यही यहाँ कहा गया। यहाँ अनन्य योग से अव्यभिचारिणी भक्ति का यही अभिप्राय है कि भगवान् में पूर्ण रूप से मन को लगा देना चाहिए तथा अन्य सभी स्थानों से उसे हटा लेना चाहिए। एकान्त स्थान का सेवन भी चित्तवृत्तियों के निरोध के लिए परमावश्यक है। परन्तु एकान्त में रहने पर भी यदि विषयों का निरन्तर चिन्तन चलता रहेगा तो वह एकान्त सेवन नितान्त व्यर्थ होगा। इसलिए आगे भगवान् ने जन समुदाय में अरति होना भी आवश्यक बतलाया।

“नित्य ही आत्म ज्ञान में रत रहना, तत्त्व ज्ञान के अर्थ का दर्शन करना, यही ज्ञान है, इससे विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है”।

श्रीशंकराचार्य ने तत्त्वज्ञानार्थ का अर्थ मोक्ष किया है। तत्त्व ज्ञान का फल मोक्ष ही है। श्रीरामानुजाचार्य ने ज्ञान का अर्थ ज्ञान साधन किया है, यह ज्ञान हो जाने पर आध्यात्म ज्ञान होता है। अतः यह ज्ञान का साधन हुआ।

---

## षष्ठ-पुष्प

ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यते ॥१२॥

“जो ज्ञेय है जिसको जानकर अमृतत्व की प्राप्ति होती है उसे कहूँगा, परम ब्रह्म अनादि है, वह न सत् है और न असत् ही कहा जाता है।”

श्रीशंकराचार्य इस पद्य के भाष्य की अवतरणिका में यह प्रश्न उठाते हैं कि उपर्युक्त ज्ञान के साधनों से ज्ञातव्य क्या है; उसी का यह उत्तर है कि ब्रह्म ही उससे ज्ञातव्य है, फिर प्रश्न होगा कि जिस विषय का ज्ञान होता है वह उस विषय का ज्ञापक हुआ करता है, यहाँ अमानित्व आदि का जो ज्ञान बतलाया गया वह तो ब्रह्म विषयक ज्ञान है नहीं, तब अमानित्व आदि के ज्ञान से ब्रह्म ज्ञेय कैसे होगा ? घट के ज्ञान का विषय अग्नि कैसे हो जायगा ? इसका उत्तर यही है कि ये सब ज्ञान के साधन हैं, ज्ञान के साधनों को भी ज्ञान कहा जा सकता है, उस साधन भूत ज्ञान से साध्य भूत जो ज्ञान है, जिसे प्रस्तुत पद्य में ज्ञेय कहा गया है, वह परब्रह्म का ही ज्ञान है। उस परब्रह्म के ज्ञान का फल क्या होगा इस जिज्ञासा को मिटाने के लिए ज्ञाता के अमृतत्व का प्ररोचना के लिए कथन किया गया है। किसी प्राचीन व्याख्या में ‘अनादि’ पद को अलग और ‘मत्परम्’ को अलग करके वासुदेव जो भगवान् हैं तत्परक ब्रह्म है ऐसा अर्थ किया गया था, इसका कारण यह था कि ‘अनादि’ पद में बहुव्रीहि समास के द्वारा ही ‘अनादिमत्’ का स्वतः बोध हो जाता है, तब बहुव्रीहि समास वाले अनादि शब्द के अनन्तर ‘मत्तुप्’ प्रत्यय जोड़कर ‘अनादिमत्’ बनाने से पुनरुक्ति दोष होगा, इस दोष को दूर करने के लिए ‘अनादि’ को पृथक् पद बनाकर और ‘मत्परम्’ को अलग करके उपर्युक्त अर्थ किया गया था, परन्तु श्रीशंकराचार्य ने उक्त व्याख्या का खण्डन करते हुए लिखा है कि ऐसी व्याख्या पुनरुक्ति दोष को हटाने के लिए तभी स्वीकार की जा सकती है यदि उससे अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाती, परन्तु उक्त व्याख्या से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि ‘मत्परम्’ इसे ब्रह्म का विशेषण ही बनाना होगा और ब्रह्म को किसी परिच्छेदक विशेषण से विशिष्ट बनाना अभिमत नहीं है। इसलिए समान ही अर्थ के रहते हुए ‘मत्तुप्’ का प्रयोग यहां श्री शंकराचार्य ने श्लोकपूर्ति के लिए माना है। इस प्रकार अमृत होने की प्ररोचना से अर्जुन को उन्मुख करके, वह ज्ञेय ब्रह्म न सत् है और न असत् है ऐसा भगवान् ने कहा है। एक तरफ तो उसे बहुत स्पष्ट शब्दों में ज्ञेय कहा, और दूसरी ओर न वह सत् है और न असत् है ऐसा कह दिया, संसार में जो भी कुछ ज्ञेय है वह सत् या असत् दोनों में से कुछ नहीं है, ऐसा कहना तो

विरुद्ध कथन होगा। इसका उत्तर है कि सभी उपनिषदों में ब्रह्म को बतलाने की यही शैली रही है—‘नेति-नेति’ ‘अस्थूलं अनणु’ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में निषेध मुखेन ही ब्रह्म का परिचय दिया जाता है। गीता उपनिषदों का ही सार कथन है और सर्वजगत्कारण ब्रह्म को सत्ता, असत्ता या किसी गुणादि के आधार पर बतलाया भी नहीं जा सकता, इसीलिए गीता में भी यही उपक्रम किया गया है।

ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसका ‘अस्ति’ शब्द से व्यवहार न होता हो, जिसका ‘अस्ति’ शब्द से व्यवहार नहीं होता या हो सकता वह वस्तु नहीं है; यही कहना पड़ेगा। वह ज्ञेय भी है और असत् भी है यह तो विप्रतिषिद्ध कथन है। इसका उत्तर यह है कि वह नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह नास्ति बुद्धि का विषय ही नहीं है। फिर प्रश्न होगा जितना भी ज्ञान है वह या तो अस्ति बुद्धि का विषय है या फिर ‘नास्ति’ बुद्धि का विषय है, इसका उत्तर है कि ‘अस्ति’, ‘नास्ति’ बुद्धि के विषय वे ही पदार्थ होते हैं जो इन्द्रियों से गृहीत हो सकें, जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं वे ‘अस्ति’ ‘नास्ति’ दोनों ही बुद्धियों के विषय नहीं हो सकते। सत्ता और असत्ता दोनों का निषेध ब्रह्म की अतीन्द्रियता बोधन के लिए ही है। अपने उसी रूप में वह विज्ञेय होता है। सभी जाति, क्रिया और गुणों के सम्बन्ध से उनका अर्थ समझते हैं। ‘गो, अश्व’ इत्यादि शब्दों द्वारा जाति का बोध होता है। ‘पचति, पठति’ आदि शब्दों से क्रिया का बोध होता है, शुक्लकृष्ण आदि शब्दों से गुणों का तथा धनी, गोमान् आदि शब्दों से सम्बन्ध का बोध होता है। ब्रह्म में जाति न होने से वह सत् आदि शब्दों से नहीं कहा जाता है, निर्गुण तथा निष्क्रिय होने से गुण शब्द या क्रिया शब्द भी उसे बोधित नहीं कर सकते, अद्वितीय होने के कारण वह सम्बन्ध के वाचक शब्दों से भी बोधित नहीं हो सकता। अन्ततः यह वाणी का विषय ही नहीं यही ‘यतो वाचो निवर्तन्ते’ इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भी कहा गया है। यह श्री शंकराचार्य के अनुसार प्रस्तुत पद्य की व्याख्या हुई।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने लिखा है कि जब ब्रह्म किसी भी प्रकार के शब्द से बोधित हो ही नहीं सकता तो उसके बोधन का उपक्रम ही कैसे किया जाता है ? इसका उत्तर वे देते हैं कि वेदान्त सूत्र है ‘शास्त्रयोनित्वात्’ अन्य शब्दों से उसका बोध नहीं हो सकता, शास्त्र से ही उसका ज्ञान हुआ करता है। शास्त्र भी तो अन्ततः शब्द रूप ही है और शब्दों में उसके बोधन करने की योग्यता नहीं है। इसका उत्तर भी वे यही देते हैं कि शास्त्र के शब्द भी इदमित्थं रूप से ब्रह्म का बोध नहीं करा सकते। किसी प्रकार लक्षणा आदि से उसका बोध कराते हैं। उनके कहने का प्रकार भी ‘आश्चर्य-वत्पश्यति कश्चिदेनम्’ कोई इसे आश्चर्य की तरह देखता है, इत्यादि है।

श्रीनीलकण्ठ ने ‘अनादिमत्’ शब्द पर पूर्वोक्त शंका उठाकर उसका समाधान

दूसरे प्रकार से कर दिया है कि अव्यक्त आदि भी प्रवाह नित्य है। इसी बात का बोधनकरने के लिए अनादि के साथ 'मतुप्' प्रत्यय और जोड़ा गया है, यह उनका आशय है।

एक व्याख्यामें 'मत्परम्' पद को काट कर 'मत्तः' अर्थात् मुझ सगुण ब्रह्म से वह पर है ऐसा माना है।

श्रीरामानुजाचार्य 'मत्परम्' का अर्थ 'अहं परो यस्य तत्' 'मैं' पर, जिसका ऐसा अर्थ मान कर परा प्रकृति रूप जीव जो उनके सिद्धान्त में भगवान् का शरीर है उसको ग्रहण करते हैं। 'वह न सत् है, न असत्' इसका अर्थ वे करते हैं कि सत् और असत् शब्द से कार्यों और कारणों का निर्देश किया जाता है, ब्रह्म कार्यों और कारणों से अतीत है। अतः वह सत् और असत् दोनों से विलक्षण है। यद्यपि 'असद्वा इदमग्र आसीत्' आदि श्रुतियों में ब्रह्म को कारण रूप में कहा गया है तथापि वह ब्रह्म की विशुद्ध अवस्था नहीं, कर्म बन्धन के द्वारा ही ब्रह्म कारणता बनती है। अपने स्वरूप में तो वह सर्वकार्यकारणातीत ही है।

श्रीवल्लभाचार्यमतावलम्बिनी व्याख्यान में 'न सत् और न असत्' का अर्थ लगाया गया है कि ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय है।

श्रीशंकरानन्द ने यहां यह प्रश्न उठाया है कि उपक्रम तो किया गया था क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के विवेचन का। क्षेत्र का निरूपण कर देने के उपरान्त क्षेत्रज्ञ का विवेचन प्रकरण प्राप्त था उसे छोड़कर ब्रह्म का विवेचन क्यों प्रारम्भ किया गया ? इसका उत्तर यही है कि क्षेत्रज्ञ का विवेचन और ब्रह्म का विवेचन एक ही है। क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म एक ही हैं, यह अद्वैत वाद ही गीता का अभिमत है और इसीलिए क्षेत्रज्ञ के प्रकरण में यहां ब्रह्म का स्वरूप कथन सुसंगत हो जाता है।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि ब्रह्म को तो सर्वत्र विज्ञाता कहा जाता है। 'विज्ञातारम् केन विजानीयात्' अर्थात् जो विज्ञाता है, जानने वाला है उसे किससे जाना जायगा ? आंख से मनुष्य सब कुछ देखता है, परन्तु अपनी आंख को कभी नहीं देख पाता। शीशे आदि में आँख नहीं उसका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। इसी प्रकार जो ज्ञाता है, वह ज्ञेय कैसे बनेगा, परब्रह्म तो सर्वत्र ज्ञाता ही माना गया है, तब यहां गीता में भगवान् ने ब्रह्म को ज्ञेय कैसे कहा ? उसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म ज्ञाता है, वह ज्ञेय नहीं होता; स्वरूपतः उसे नहीं जाना जा सकता, परन्तु जैसे हम आंख को बिना देखे भी वर्णन से आंख का थोड़ा बहुत आभास पा लेते हैं, यद्यपि उससे विस्पष्ट ज्ञान नहीं आभास मात्र होता है उसी प्रकार ब्रह्म का भी स्वरूपतः इदमित्थंभावेन परिचय कथमपि नहीं दिया जा सकता क्योंकि वह ज्ञाता है, परन्तु निषेध मुखेन उसकी झलक हमें शास्त्रों के द्वारा मिल जाया करती है।

## सप्तम-पुष्प

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।  
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥  
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।  
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तुं च ॥१४॥  
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।  
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥  
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।  
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥  
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।  
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥१७॥  
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।  
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

“वह ब्रह्म सब ओर हाथ और पैर वाला है, सब ओर आँख और ग्रीवा रखता है, सब ओर उसके कान हैं और वह सबको आवृत करके स्थित है।”

‘ब्रह्म सत्’ शब्द से ज्ञातव्य नहीं ऐसा ऊपर कहा गया है, इससे यह शङ्का न हो कि वह वास्तव में ‘असत्’ है, कुछ नहीं है, इसी शङ्का को निवृत्त करने के लिए उसमें सामान्य प्राणियों के से अङ्गों का विवरण यहाँ दिया गया है। सारे प्राणियों की इन्द्रियाणि उपाधियों से क्षेत्रज्ञ के अस्तित्व का निश्चय हो जाता है। क्षेत्ररूपी उपाधि के कारण ही ‘ब्रह्म’ को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, वह क्षेत्र अनन्त पाणि-पाद वाला है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। क्षेत्र ही उपाधि के कारण जो विशेषतायें क्षेत्रज्ञ में प्राप्त होती हैं, वे मिथ्या हैं। इसीलिए पहिले ‘न सत् है, और न असत्’ यह कहा गया है। उपाधि रूप मिथ्या धर्म भी ज्ञेय ब्रह्म के से धर्म वाला हो जाता है। अतः उसका भी सद्रूप से यहाँ कथन किया गया है। अध्यारोप और अपवाद से प्रपञ्चशून्य ब्रह्म को समझाने की वेदान्तादि दर्शनों की प्रक्रिया है। ब्रह्म के अस्तित्व के सूचक रूप में यहाँ सब ओर हाथ, पैर ब्रह्म के बतलाए गए हैं। वस्तुतः सूचक होने पर भी जो इनको यहाँ ब्रह्म रूप ही कह दिया गया है, यह औपचारिक कथन है। यह प्रस्तुत पद्य पर श्री शंकराचार्य का आशय है।

श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि प्रारम्भ में क्षेत्रज्ञ के विषय में उसका स्वरूप और उसके प्रभाव को बतलाने की प्रतिज्ञा की गई है, उसी के अनुसार पूर्व पद्य में उसका अशेष विशेष-शून्य स्वरूप बतला दिया गया और अब प्रस्तुत पद्यावली के द्वारा उसके प्रभावों का कथन किया जा रहा है। यह प्रभाव उसके विश्वरूप के प्रतिपादन के रूप में कहा जा रहा है। उन्होंने श्री शंकराचार्य के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए यहाँ यह कहा है कि पाणि, पाद आदि उपाधियाँ जब मिथ्या हैं, तब मिथ्या उपाधियों को पहिले ब्रह्म रूप समझना और फिर उन सबसे ब्रह्म बुद्धि हटाना, पहिले कीचड़ से अपने को लिप्त करके फिर उसके प्रक्षालन का प्रयत्न करने के समान है, इससे तो अच्छा यही है कि उपाधि विनिर्मुक्त ब्रह्म का ही स्वरूप समझा जाय। इसका उत्तर उन्होंने यही दिया है कि उपाधि-परिच्छिन्न ब्रह्म के परिज्ञान के बिना विशुद्ध ब्रह्म का ज्ञान संभव नहीं है। सोपाधिक ब्रह्म का ज्ञान विशुद्ध ब्रह्म के ज्ञान का उपायभूत है। वह शाखाचन्द्रन्याय के समान है।

श्री रामानुजाचार्य ने सर्वतः पाणिपाद आदि का तत्तत् अंगों के न रहने पर भी उन सबकी शक्ति रखने वाला ब्रह्म है ऐसा अर्थ किया है। ब्रह्म देश-काल के परिच्छेद के बिना ही सबका आवरण करता है, जीव भी ब्रह्म के ही समान होने से ब्रह्म की शक्तियाँ उसमें वैसे ही हैं।

तत्त्व-प्रकाशिका में भी यही अर्थ किया गया है कि इन्द्रियों से रहित होता हुआ भी ब्रह्म सभी इन्द्रियों की शक्तियों से सम्पन्न है।

पद्य में सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की गणना नहीं की गई है, अतः पाणि-पाद समस्त कर्मेन्द्रियों के और नेत्र और श्रुति (कान) समस्त ज्ञानेन्द्रियों के उपलक्षण हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में जो भी कुछ शक्ति है वह ब्रह्म की ही है, अथवा ब्रह्म में इन इन्द्रियों के न रहने पर भी इनकी सारी शक्तियाँ विद्यमान हैं। ये दोनों प्रकार की व्याख्याएँ संगत हो जाती हैं।

भाष्योत्कर्ष दीपिका में रथ का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार रथ के जड़ होने से बिना चेतन के रथ में गति नहीं होती, वैसे ही इन्द्रिय समूह के जड़ होने से चेतन ब्रह्म की सहायता के बिना उसमें कोई गति नहीं हो सकती। इन्द्रियों को शक्ति चेतन ब्रह्म से ही मिलती है। इसीलिए औपधिक या औपचारिक रूप से श्रुतियों में और गीता में भी ब्रह्म को अनन्त इन्द्रियों वाला कह दिया गया है।

परमार्थप्रपा में यह श्रुति उद्धृत करके उसकी व्याख्या करते हुए प्रस्तुत पद्य की समानता बतलाई गई है कि—



विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखा विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।

सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥

इससे यही तात्पर्य निकला कि इन्द्रियों के स्वरूप बिना रहे भी ब्रह्म में सम्पूर्ण चराचर के उत्पादन का सामर्थ्य है।

“वह ब्रह्म सभी इन्द्रियों के गुणों का आभास रखता है, वह सभी इन्द्रियों से विवर्जित है, आसक्ति से शून्य वह सबका भरण करने वाला है, वह निर्गुण होता हुआ गुणों का भोक्ता है।”

पूर्व पद्य में ब्रह्म को सभी ओर सभी इन्द्रियों से युक्त बतलाया गया है, वह ब्रह्म का औपाधिक वर्णन है, उससे कहीं ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप की आशङ्का न हो जाय। अतः यहाँ प्रस्तुत पद्य का आरम्भ है, ऐसा श्री शंकराचार्य का आशय है। इन्द्रियों के गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं, उन सबका उसमें आभास है। श्री शंकराचार्य ने यहाँ अन्तःकरण के मन, बुद्धि आदि के गुणों का भी आभास उसमें है ऐसा अर्थ किया है। वह सभी इन्द्रियों के गुणों का आभास मात्र ही क्यों रखता है, उन गुणों में संसक्त क्यों नहीं है ? इसका उत्तर आगे दिया गया कि वह सभी इन्द्रियों से विवर्जित है। यदि इन्द्रियाँ वहाँ स्वरूपतः हों तब तो वह उन गुणों में व्यापृत हो। परन्तु वह सभी इन्द्रियों से विवर्जित है। अतः गुणों में व्यापृत होने का प्रश्न नहीं उपस्थित होता। तब उन गुणों का आभास भी उसमें कैसे होगा इसका उत्तर है कि सभी इन्द्रियों की शक्तियाँ उसमें विद्यमान होने के कारण उन शक्तियों से सभी इन्द्रिय गुणों के आभास होने में कोई क्षति नहीं। ‘सर्वेन्द्रियविवर्जितम्’ कथन से वह निःसङ्ग, कूटस्थ, चैतन्य रूप है ऐसा ध्वनित किया गया। यहाँ श्री शंकराचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता” इत्यादि श्रुतियों में जो ‘जवन’ आदि धर्म ब्रह्म में बतलाए गए हैं वे भी इसीलिए हैं कि इन गुणों की असाधारणता का ब्रह्म में बोध होने के कारण ब्रह्म की उपासना हो सकती है। पारमार्थिक दृष्टि से तो ब्रह्म में इनमें से कोई गुण, धर्म है ही नहीं। सभी इन्द्रियों से विवर्जित होने के कारण ही वह असक्त कहा गया है, परन्तु सबका भरण करने वाला भी वही बतलाया गया है, क्योंकि वही सद्रूप से सर्वत्र अवस्थित है। सत्ता ही सम्पूर्ण चराचर का भरण करने वाली है और वही ब्रह्म है। अतः ‘सर्वभृत्त्व’ उसमें सुसंगत हो जाता है।

श्री रामानुजाचार्य ने ‘इन्द्रिय गुण’ का अर्थ इन्द्रियों की वृत्तियाँ माना है, अर्थात् इन्द्रियों की वृत्तियों से भी वह व्यवहार के परिचालन में समर्थ है। साथ ही ‘सर्वेन्द्रियविवर्जित’ होने का आशय वह लगाते हैं कि इन्द्रियों की वृत्तियों के बिना

भी वह सब कुछ जानता है, यह उसका विलक्षण सामर्थ्य प्रकट किया गया है। असक्त का अर्थ वे करते हैं कि ब्रह्म देव, मनुष्य आदि के देहों में असक्त है, परन्तु सर्वभृत् अर्थात् देवादि का भी भरण-पोषण करने वाला वही है। निर्गुण का अर्थ श्री शंकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य तथा अन्य व्याख्याकारों ने सत्त्व, रज, तम आदि गुणों से रहित ही किया है।

श्री नीलकण्ठ ने यहाँ कहा है कि पद्योक्त विशेषणों से ब्रह्म में किसी भी प्रकार की विचित्रता का प्रतिषेध है। देवताधिकरण में ब्रह्म सूत्रों में जिन देव आदि का विवरण है वे भी ब्रह्म के ज्ञान से बाधित हो जाता है। अतः वे भी पारमार्थिक रूप ब्रह्म नहीं कहे जा सकते। सर्वेन्द्रिय विवर्जित का व्याख्यान लिखते हुए कहते हैं कि ब्रह्म में ग्राह्य रूपादि और ग्राहक मन आदि नहीं हैं।

“अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्” (कठोपनिषद्)

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः (मु. उ.)

आदि वचनों से ब्रह्म के स्वरूप में किसी भी प्रपञ्च का कोई सम्बन्ध संभव नहीं है। ऐसा प्रपञ्चशून्य ब्रह्म को मान लेने पर “सर्व ब्रह्म” सब कुछ ब्रह्म ही है इत्यादि शास्त्रीय वचन किस प्रकार संगत हो सकेंगे, ब्रह्म को ही सब कुछ कहने पर तो प्रपञ्च भी ब्रह्म के स्वरूप में ही स्वीकार करना पड़ेगा जिसका कि निषेध दिखाया जा चुका है, इसी का उत्तर देते हुए ब्रह्म के असक्त और ‘सर्वभृत्’ विशेषण दिए गए हैं। वह सबका भरण करने वाला है, अर्थात् समस्त प्रपञ्च का आधार है। प्रश्न यह है कि ब्रह्म के साथ सम्पूर्ण प्रपञ्च का जो आधाराधेय भाव है वह घट और उसके रूप के समान समवाय सम्बन्ध से है अथवा घट और भूतल के समान संयोग सम्बन्ध से है। इस प्रश्न का ही उत्तर देने के लिए ‘असक्तम्’ यह विशेषण है जिसका अभिप्राय है कि संसार में अनुभूयमान सम्बन्धों से पृथक् है। इस विशेषण से सभी सांसारिक सम्बन्धों का निषेध किया जाता है। यहाँ फिर प्रश्न होता है कि वह सबका भरण करनेवाला भी है और असक्त अर्थात् असम्बद्ध भी है। यह एक अलौकिक बात है, लोक में तो जो आधार बनता है उसका अपने आश्रित के साथ समवाय संयोग आदि सम्बन्ध अवश्य देखा जाता है, अतः ये दोनों बातें यहाँ लौकिक दृष्टि से परस्पर विरुद्ध मालूम होती हैं। इस प्रश्न का एक उत्तर तो यही है कि ब्रह्म में लौकिक दृष्टि से सम्बन्ध का घटित न होना भूषण ही है दूषण नहीं क्योंकि ब्रह्म तो अलौकिक है, उसके साथ लौकिक दृष्टान्त कैसे सुसंगत होंगे ? तब तो फिर सन्देह होगा कि ऐसी बात का विश्वास ही कैसे किया जाय। माना कि ब्रह्म का स्वरूप नितान्त अलौकिक है, परन्तु

उसके स्वरूप को समझने के लिए तो लौकिक उदाहरण ही आवश्यक होंगे क्योंकि उदाहरण एक देश में ही समानता रखते हैं, पूर्ण रूप से परिचय नहीं कराते, अतः ब्रह्म के सम्बन्ध में कोई अंश तो लोक सिद्ध होना चाहिए। इस पर श्री नीलकण्ठ ने मरु-मरीचिका का प्रसिद्ध दृष्टान्त उपस्थित कर दिया है कि रेगिस्तान में धूप के पड़ने से जो जल दिखाई देता है उस जल का आधार मरु प्रदेश ही है, परन्तु उस मरु-प्रदेश का उस दिखाई देने वाले जल से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि जिस पदार्थ की वास्तविक सत्ता हो उसी के दूसरे वास्तविक सत्ता रखने वाले पदार्थ से समवाय संयोग आदि सम्बन्ध कहे जा सकते हैं, यहाँ मरु-मरीचिका में प्रतीत होने वाले जल की वास्तविक सत्ता ही नहीं है, तब नितान्त अविद्यमान जल से मरु प्रदेश का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? फलतः आधारता के ग्रहण कर लेने के उपरान्त भी किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को यहाँ अस्वीकार ही करना पड़ेगा। वही स्थिति यहाँ ब्रह्म के विषय में भी समझनी चाहिए। ब्रह्म के आधार पर अवस्थित समस्त चराचर प्रपञ्च की वास्तव में सत्ता ही नहीं है, और इसीलिए सारे प्रपञ्च का आधार होता हुआ भी वह ब्रह्म प्रपञ्च से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता, यही यहाँ असक्त और सर्वभृत् विशेषणों का आशय है। फिर प्रश्न होता है कि इस प्रकार संसार को मरु-मरीचिका के समान मान लेने पर तो संसार सर्वथा असत्य हो जायगा और कर्तव्य, कर्म और उपासना की शास्त्र विधियाँ भी निरर्थक हो जायँगी, संसार को सत्य समझ कर ही कर्म और उपासना को अवसर मिलता है, जब संसार ही सत्य नहीं रहा तब कर्म और उपासना के प्रतिपादन सभी शास्त्रीय वचन भी सर्वथा निरर्थक हो जायँगे। शास्त्रों के वचनों का निरर्थक हो जाना तो भगवान् को भी अभिमत नहीं, क्योंकि आगे कार्य और अकार्य की व्यवस्थिति में भगवान् ने शास्त्र को ही प्रमाण मानने की बात कही है, तब इसका उत्तर यही होगा कि संसार के मिथ्यात्व का जब तक ब्रह्म के ज्ञान से बाध नहीं हो जाता दूसरे शब्दों में जब तक ब्रह्म का ज्ञान संसार के ज्ञान को बाधित नहीं कर देता तब तक समस्त शास्त्रों के वचनों की सार्थकता बनी हुई है, इस बात को पूर्व के श्लोकों के प्रवचनों में भी यथा स्थान स्पष्ट किया जा चुका है। जैसे सरोवरादि के जल में प्रतिबिम्बित सूर्य बिम्ब में हलचल होती है, वह बिम्बभूत सूर्य में नहीं उसके प्रतिबिम्ब में ही है। उसी प्रकार चिदाभास गुणों का आलम्बन होने के कारण गुणों का भोक्ता सा है, परन्तु बिम्ब की दृष्टि से तो वह निर्गुण ही कहा जाता है।

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि ब्रह्म स्वरूपतः सर्वेन्द्रियविवर्जित असक्त और निर्गुण होते हुए भी माया से सर्वेन्द्रिय गुणाभास, सर्वभृत् और गुणों का भोक्ता बन जाता है या वैसा प्रतीत होने लगता है।

श्री शंकरानन्द ने लिखा है कि जैसे कमल प्रातःकाल स्वयं ही विकसित होता है परन्तु कमल के विकास का कर्तृत्व हम सूर्य पर आरोपित कर देते हैं कि सूर्य ने कमलों को खिला दिया, सूर्य का प्रकाश सर्वत्र ही फैलता है, कमलों में जो सूर्य का प्रकाश फैलता है उसमें तथा उससे अन्यत्र फैलनेवाले सूर्य के प्रकाश में कोई भेद नहीं है, यह बात नहीं है कि कमलों पर सूर्य उनको खिलाने के उद्देश्य से अपना प्रकाश फैलाता हो, परन्तु सूर्य के प्रकाश के किसी विशेष प्रयोजन के न रहने पर भी हम यह बात उस पर आरोपित कर देते हैं कि सूर्य ने कमलों को खिला दिया। वैसे ही ब्रह्म किसी के उद्देश्य से चेतन नहीं है, परन्तु हम इन्द्रियादि उपाधियों में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखकर ब्रह्म को शरीरधर्मा मान लेते हैं उसे गुणों का भोक्ता आदि समझने लगते हैं, वस्तुतः तो वह असंग है। 'सर्वतः पाणिपादं' आदि जो पहिले कहा गया था वह ब्रह्म के स्वरूपाधिगम के लिए नहीं अपितु उसकी सत्ता के ज्ञान के लिए ही था। प्रपञ्च में सर्वत्र सत्ता और चेतना के अन्वित देखे जाने से ही ब्रह्म का 'सर्वभृत्' होना सिद्ध है।

वल्लभ-सिद्धान्तानुसारिणी व्याख्या में कहा गया है कि 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' पद से लौकिक इन्द्रियादि का ब्रह्म के स्वरूप में निषेध है, परन्तु 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' शब्द से दिव्य इन्द्रियादि ब्रह्म के स्वरूपान्तर्गत हैं ऐसा आशय है। निर्गुण कह देने से जब ब्रह्म ही निर्गुण है तब गुणों की स्थिति ही नितान्त व्यर्थ हो जायगी, भोक्ता के सम्बन्ध के अभाव में भोग्य की स्थिति ही निरर्थक हो जाती है, उसी का उत्तर है कि स्वरूपतः निर्गुण होते हुए भी गुणों से वह अपना भोक्तृत्व सम्बन्ध अवश्य रखे हुए हैं।

“वह भूतों के बाहर और भीतर अवस्थित है, वह अचर और चर है, सूक्ष्म होने के कारण वह ज्ञातव्य नहीं है, वह दूर भी है और समीप में भी अवस्थित है”। (१५)

श्री शंकराचार्य ने शरीर को लक्ष्य करके यह श्लोक लगाया है कि शरीर में त्वचा पर्यन्त को बाहर और चिदाभास को अन्तर् या भीतर कहा गया है। बाहर और भीतर कहने में मध्य में ब्रह्म का अभाव न समझ लिया जाय, अतः उसे अचर और चर भी कहा गया है, इससे देहाभास आदि का भी बोध हो जाता है। फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ब्रह्म चर और अचर है तब तो वह व्यवहार का विषय होने से सभी के लिए विज्ञेय भी है, जो व्यावहारिक वस्तु है उसे तो सभी जानते हैं तथा व्यवहार की सभी वस्तुएँ या तो चर हैं या अचर हैं। चर का अर्थ जंगम या चलनशील होता है, जिसमें क्रिया शीलता हो वह चर कहलाता है और जिसमें क्रिया शीलता का

अभाव हो वह अचर या स्थावर कहा जाता है। स्थावर और जंगम पदार्थों के आधार पर ही विश्व का सम्पूर्ण व्यवहार चल रहा है। जब ब्रह्म को ही चर और अचर या स्थावर जंगम स्वरूप मान लिया तो ब्रह्म सभी के प्रतिक्षण व्यवहार का विषय बन गया, फिर उसे कौन नहीं जानता, जब चराचरात्मक होने के कारण वह सभी को ज्ञात है तब वह अविज्ञेय कहाँ रहा कि उसको एक अत्यन्त रहस्य का विषय बना कर शास्त्रों की गंभीर चर्चा का विषय बनाया जाय। इसी के उत्तर में आगे कहा गया कि यद्यपि वह चराचर स्वरूप है परन्तु ये सभी उसकी उपाधियाँ हैं, वह इन सबका विधारक है, तब वह विधारकत्वेन इनसे पृथक् उपलब्ध क्यों नहीं होता, इसी का उत्तर है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से अविज्ञेय रहता है। यहाँ सूक्ष्म का अर्थ है इन्द्रियों की पहुँच के बाहर होना। वर्तमान में यह भी प्रश्न किया जाता है कि विज्ञान के द्वारा आविष्कृत बड़े-बड़े यन्त्रों से अतीन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है। हम अपने नेत्रों से छोटे होने के कारण जिन चीजों को कथमपि नहीं देख सकते ऐसी वस्तुएँ भी यन्त्रों की सहायता से अनायास देख लेते हैं। शरीर के जिन अत्यन्त आवृत कीटाणुओं को आँखों से कभी देखा ही नहीं जा सकता उनको भी एक्सरे करके यन्त्र द्वारा देखा जा रहा है और उनका उपचार भी किया जा रहा है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि आज ऐसी कोई भी सूक्ष्म से सूक्ष्म भी वस्तु बाकी नहीं रह गई जो कि वैज्ञानिक यन्त्रों से न जानी जा सके। यदि ब्रह्म या आत्मा भी शरीर के भीतर कोई होता तो वह भी अवश्य ही यन्त्रों के द्वारा जाना जा सकता था। वह सूक्ष्म होने से ही नहीं जाना जाता यह बात उस युग में तो मानी जाने योग्य हो सकती थी जब वैज्ञानिक यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था, परन्तु आज यान्त्रिक प्रक्रिया के इस मध्याह्न काल में भी किसी वस्तु को सूक्ष्म कहकर अविज्ञेय कहना एक उपहासास्पद कथन है। विज्ञान वेत्ताओं के परोक्ष सत्ता पर इस आक्रमण का उत्तर दार्शनिकों के यहाँ बड़ा सरल है कि सूक्ष्म की वह परिभाषा ही नहीं जो आप कर रहे हैं। आप तो उसे सूक्ष्म कह रहे हैं जो सामान्यतः हमारी इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं हो पाता परन्तु यन्त्र आदि साधनों से जिसे देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में देखा जाने की योग्यता तो उसमें अवश्य है परन्तु आवरणों के कारण और छोटाई के कारण वह देखने में नहीं आता उसे ही आप सूक्ष्म कह रहे हैं। परन्तु प्रस्तुत पद्य में ब्रह्म को सूक्ष्म कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह आवरणों से आवृत होने से दुर्ज्ञेय होने के कारण अथवा बहुत छोटा अणु होने के कारण सूक्ष्म है। यहाँ सूक्ष्म कहने का अभिप्राय उसके अतीन्द्रिय या इन्द्रियों की परिधि से बाहर होने से है। जिस पदार्थ में इन्द्रियों से विज्ञात होने की योग्यता है उन्हीं पदार्थों को यन्त्र आदि की सहायता से देखा जा सकता है।

परन्तु जिसमें इन्द्रियों से दिखलाई देने की योग्यता ही नहीं अथवा जो इन्द्रियों की पहुँच के बिलकुल बाहर है उसे यन्त्र कैसे दिखला सकते हैं। अतः ब्रह्म की अविज्ञेयता में जो यहाँ सूक्ष्मता को हेतु बनाया है वह बिलकुल ठीक है। तब तो इसका यह अर्थ हुआ कि वह कभी जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि ज्ञान का साधन तो इन्द्रियाँ ही हैं और वह इन्द्रियों की पहुँच के बाहर है। इसका उत्तर यह है कि वह अविद्वानों के लिए ही दूरस्थ होने के कारण अविज्ञेय है परन्तु जो विद्वान् हैं, शास्त्रों के मर्म के ज्ञाता हैं, उनके लिए तो आत्मस्वरूप होने के कारण वह सर्वदा ही विज्ञेय है क्योंकि वह तो उनका आत्मा होने के कारण अन्तिक अर्थात् अत्यन्त समीप में अवस्थित है। बिना जाने तो अत्यन्त पास की वस्तु भी सैकड़ों योजन की दूरी पर स्थित वस्तु के समान ही अलभ्य है, परन्तु जब वह वस्तु ज्ञात हो गई तो उसके सन्निकट फिर और कुछ भी नहीं रह जाता है। हाँ, इस बात का ज्ञान शास्त्रों से होता है, उन शास्त्रों के रहस्यों को यथावत् समझने वालों को श्रीशंकराचार्य ने यहाँ विद्वान् कहा है और न समझने वालों को अविद्वान् कहा है।

श्री नीलकण्ठ ने सूक्ष्मता से अविज्ञेय होने में स्फटिक और जपा कुसुम का दृष्टान्त दिया है। स्फटिक मणि स्वभावतः श्वेत होता है परन्तु जपा कुसुम के सान्निध्य से वह लाल प्रतीत होने लगता है। जो विद्वान् हैं वह तो यह समझ जाते हैं कि यह रक्तिमा स्फटिक की नहीं पुष्प की है, परन्तु जो अविद्वान् हैं उनकी दृष्टि में सूक्ष्मता के कारण यह बात नहीं आती।

दूरस्थ और अन्तिकस्थ में श्री नीलकण्ठ ने सूर्य के बिम्ब और जल में उसके प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिया है। अन्य टीकाओं में यहाँ इसी बात को समझाने के लिए तप्त लोह पिण्ड, सुवर्ण कटक कुण्डल, जल और तरङ्ग आदि के उदाहरण दिए गए हैं।

“वह भूतों में अविभक्त और विभक्त होकर स्थित है, वह भूतों का धारण करने वाला है वह उनका विलय तथा उत्पादन भी करता है।”

समस्त कार्य-कारण-संघातरूप भूतों में आकाश की तरह वह अविभक्त रूप से स्थित है, जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलों में प्रतिबिम्बित होता है वैसे एक ही ब्रह्म के प्रतिबिम्बित रूप समस्त जीव हैं। प्रत्येक देह के भिन्न होने के कारण वह प्रतिबिम्बित ब्रह्म विभिन्न की तरह प्रतीत हो रहा है। यदि जल चन्द्र का दृष्टान्त ब्रह्म के लिए उपस्थित किया जाता है तब तो चन्द्रमा से जल पात्र सरोवरादि पृथक् हैं अतः ब्रह्म से भी शरीरादि को पृथक् मानना होगा उसका उत्तर है कि वही भूतों का भर्ता

है, वह अधिष्ठाता के रूप में सभी भूतों को धारण कर रहा है अतः उसी की सत्ता से सभी सत्तावान् हैं उससे पृथक् कुछ नहीं है। रज्जु में अध्यस्त सर्प का आधार जिस प्रकार रज्जु ही है, रज्जु से पृथक् सर्प की कोई सत्ता नहीं वैसे ही आधार भूत ब्रह्म से पृथक् प्रपञ्च की भी कोई पृथक् सत्ता नहीं। वह ग्रसिष्णु है, इसका तात्पर्य है कि जैसे रज्जु का ज्ञान सर्प आदि को ग्रस लेता है, वैसे ही ब्रह्म का ज्ञान प्रपञ्च को ग्रस लेता है, और प्रभविष्णु का अर्थ भी इसी प्रकार है कि अज्ञानावस्था में जैसे रज्जु सर्प आदि को उत्पन्न कर देती है वैसे ही ब्रह्म भी समस्त प्रपञ्च को उत्पन्न कर देता है।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने प्रत्येक देह में पृथक् पृथक् आत्मा को मानने वालों के उत्तर के रूप में 'अविभक्तम्' पद को माना है कि आकाश की तरह वह ब्रह्म सर्वत्र एक ही है परन्तु उपाधि भेद से जिस प्रकार आकाश पृथक् पृथक् प्रतीत होता है उसी प्रकार अविभक्त ब्रह्म भी उपाधि भेद से पृथक् पृथक् सा अवभासित हो रहा है। यह क्षेत्रज्ञ के स्वरूप के प्रसंग में कहे जाने के कारण ऐसा न माना जाय कि क्षेत्रज्ञ भले ही एक हो परन्तु सर्वजगत्कारणभूत ब्रह्म को पृथक् पृथक् क्यों न मानें, इसी का उत्तर श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भूतभर्तृ' पद से मानकर कहा है कि ब्रह्म और क्षेत्रज्ञ में अभेद है, दोनों एक ही हैं।

श्री शंकराचार्य ने यहाँ पूर्व-पक्ष उठाया है कि पूर्व पद्य में जो अचर और चर ब्रह्म को बतलाया गया है वह असंगत प्रतीत होता है। चर को तो ब्रह्म कहा जा सकता है अचर को नहीं, क्योंकि चेतना जो ब्रह्म का स्वरूप है, वह चर या जंगम पदार्थों में ही है अचर पदार्थों में नहीं, अतः केवल चर पदार्थों में ही रहने के कारण या तद्रूप होने से ब्रह्म परिच्छिन्न है वह अपरिच्छिन्न नहीं। इसी का उत्तर अविभक्त पद से माना है कि चराचर में व्यापक ब्रह्म की सत्ता की उपलब्धि निर्मल अन्तःकरण में ही हो सकती है, जैसे सर्वत्र अवस्थित आकाश का प्रतिबिम्ब निर्मल जल में पड़ता है, जैसे दूरस्थ अग्नि से प्रज्वलित हो उठने की क्षमता केवल सूर्यकान्त मणि में ही होती है, जैसे रूप के सर्वत्र अवस्थित होने पर भी केवल आंखों से ही रूप का ग्रहण संभव होता है उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल अन्तःकरण में ही चराचरावस्थित ब्रह्म के जानने की शक्ति है सभी में नहीं। स्थल में आकाश का प्रतिबिम्ब न गिरने से आकाश के व्यापकत्व में कोई न्यूनता नहीं आ सकती वैसे ही मलिन अन्तःकरण वाले जीवों को यदि सर्वत्रावस्थित ब्रह्म के एकत्व की उपलब्धि नहीं होती केवल चर पदार्थों में स्पष्ट चेतना के प्रतीत होने से केवल वहीं उन्हें ब्रह्म का भान होता है तो एतावता ब्रह्म परिच्छिन्न नहीं हो सकता इसी बात को यहाँ अविभक्त पद से कह कर जो उसके अखण्डत्व को नहीं समझ पाते उनके लिए 'विभक्तमिव' भी कह दिया गया है।

श्री रामानुजाचार्य यहाँ कहते हैं कि देव मनुष्य आदि भूतों में सर्वत्र स्थित आत्मा ज्ञाता के रूप में एकाकार होने से अविभक्त है। जो अविद्वान् हैं वे 'यह देव है यह मनुष्य है' इस प्रकार आत्मा को विभक्त समझते हैं अतः उनके लिए कहा गया है कि वह विभक्त की तरह मालूम होता है। वह भूतों का भर्ता है यह कहने का अभिप्राय भी क्षेत्र से उसे पृथक् सिद्ध करना ही है। ग्रसिष्णु का अर्थ अन्नादि को खाने वाला है इससे भी अन्नादि से उसकी पृथक्ता सिद्ध की गई है। इन सभी से वह क्षेत्र से पृथक् है यह दिखलाया है।

श्री वल्लभाचार्य की तत्त्वदीपिका के अनुसार इस पद्य में ब्रह्म का सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कारण होना बतलाया गया है।

“वह ज्योतियों की भी ज्योति है, वह तम से परे है, वह ज्ञान है, ज्ञेय है, ज्ञान-गम्य है, वह सबके हृदय में प्रतिष्ठित है।

सूर्य, चन्द्र, दीपक, मणि आदि जो ज्योतिवाले पदार्थ हैं उनको भी प्रकाशित करने वाला ब्रह्म ही है। संसार में चार प्रकार के पदार्थ हैं, स्वज्योति, परज्योति, रूपज्योति और अज्योति। स्वज्योति का अर्थ है जिसे प्रकाश कहीं अन्यत्र से नहीं लेना जिसका अपना स्वरूप ही प्रकाशमय है, ऐसा ही सूर्य है। परज्योति का अर्थ है जिसे अन्यत्र से प्रकाश मिलता है और तब वह प्रकाशित होता है, चन्द्र आदि सूर्य से प्रकाश ग्रहण करके प्रकाशित होते हैं इसलिए ये परज्योति हैं। पृथ्वी आदि रूप-ज्योति हैं इनका अपना रूप ही दिखाई देता है, वायु, आकाश आदि अज्योति हैं। ये जितने ज्योति वाले पदार्थ हैं इन सबका प्रकाशक आत्मा या ब्रह्म ही है। इसके दो प्रकार के अर्थ हैं। एक तो यदि ज्योति का ग्रहण करने वाला न हो तो सभी ज्योतियां निरर्थक हैं अतः ज्योतियों का ग्राहक आत्मा ज्योति की भी ज्योति हुआ। दूसरा ज्योति वाले पदार्थों में भी ज्योतिरूप से वही अवस्थित है। श्री नीलकण्ठ ने अन्तर्ज्योति और बहिर्ज्योति कहकर अन्तर्ज्योति से बुद्धि आदि का और बहिर्ज्योति से सूर्य आदि का ग्रहण किया है। यहां यह प्रश्न होता है कि चन्द्रमा को प्रकाशित करने वाला सूर्य है यह ज्योतिष-शास्त्र में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार एक ज्योतिष्मान् जब दूसरे की ज्योति से प्रकाशित होता है तो प्रकाश देने वाला प्रकाश ग्रहण करने वाले ज्योति पिण्ड के समान ही प्रकाश फैलाने वाला होता है। सूर्य भी प्रकाश फैलाता है, चन्द्रमा भी। जब सूर्य प्रकाश फैलाता है तब उसी प्रकाश को चन्द्रमा लेता है। जब यहां ब्रह्म को सबका प्रकाश बतलाया गया तो वह भी इन ज्योति पिण्डों के समान ही प्रकाश फैलाने वाला होना चाहिए, परन्तु सूर्य चन्द्र, अग्नि आदि की तरह ब्रह्म को अपना प्रकाश फैलाते हुए कभी नहीं देखा जाता इसी का उत्तर आगे 'ज्ञान' शब्द से दिया गया है कि ब्रह्म भौतिक



ज्योति को नहीं फैलाता वह ज्ञानरूप ज्योति का प्रकाशक है, ज्ञानरूप ज्योति के अभाव में कोई भी ज्योति निष्फल ही रहती है इसीलिए उसे सभी ज्योतिष्मान् पदार्थों की ज्योति के रूप में यहां कहा गया है। वही ज्ञान ज्ञेय है अर्थात् वह ज्ञान आवरणों से आवृत होने के कारण अनायास ही नहीं जाना जा सकता अपितु विशेष प्रयत्न से ज्ञेय है। उसका ज्ञान कैसे होता है इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए आगे उसे ज्ञानगम्य बतलाया गया है। यहां ज्ञानगम्य के ज्ञान शब्द से अमानित्व अदम्भित्व आदि जो ज्ञान अभी बतलाया गया उसका ग्रहण है। उसी ज्ञान से यह परमज्योति ब्रह्म गृहीत होता है। तब क्या वह ज्योति कहीं बहुत दूर देशमें स्थित है या वह बहुत अधिक विशाल है अथवा उसमें वर्तमान भूत भविष्य आदि का कोई कालकृत भेद है इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए आगे कहा गया कि वह सभी के हृदय में अवस्थित है। वह सबका आत्मरूप है, जिन लोगों की दृष्टि भीतर की ओर झुकी रहती है उन्हें उसका प्रकाश सर्वदा मिलता रहता है। ब्रह्म का यह प्रकाशमय रूप उपासना में भी सर्वत्र विहित है। उपासना में सूर्य चन्द्र आदि सभी में परब्रह्म की सत्ता बतलायी जाती है। भगवान् के ध्यान का एक पद्य है—

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती

नारायणः सरसिजासनसन्निषण्णः ।

केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी

हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्रः ॥

‘सूर्य मण्डल के मध्य में अवस्थित, कमलासनासीन, केयूर, मकर, कुण्डल हार आदि दिव्य आभूषणों से अलंकृत, शंख चक्र को धारण करने वाले हिरण्मय भगवान् नारायण सबके द्वारा ध्येय हैं, इसी प्रकार उपास्य रूप में सभी ज्योति पिण्डों में भगवान् का ध्यान उपासना-पद्धतियों में विहित है। श्लोक में आया “तमसः परमुच्यते” यह वाक्य अन्धकार और ज्योति का नित्य सम्बन्ध बतलाने के लिए है ऐसा कुछ व्याख्याओं में मिलता है। ज्योति अन्धकार से परे की वस्तु है। जहां जाकर अन्धकार समाप्त हो जाता है वहीं ज्योति का आरम्भ होता है अन्धकार प्रकाश का अभाव मात्र नहीं है अपितु वह भी एक तेज रूप ही है, इसीलिए गौर तेज और श्याम तेज इन नामों से अन्धकार और प्रकाश दोनों को तेज के रूप में विज्ञान की प्रक्रिया में समझा जाता है। गौर तेज और श्याम तेज परस्पर नित्य संसक्त रहते हैं। चाहे कितना भी अधिक प्रकाश क्यों न हो यह नहीं कहा जा सकता कि वहां अन्धकार बिलकुल है ही नहीं। अधिक से अधिक प्रकाश में भी प्रकाश के आवरणक पदार्थ की छाया पड़

जाती है वह छाया वहाँ अन्धकार की निरन्तर सत्ता बतला रही है। परन्तु यह लौकिक दृष्टान्त है। ज्ञान-रूप ज्योति में तो अन्धकार के उद्भव का प्रश्न ही नहीं है, वही ज्ञान-रूप ज्योति यहाँ ब्रह्म है, उसी को यहाँ 'तम के आगे' कहा गया है। लौकिक सभी तेज तम से सर्वदा अनुविद्ध रहते हैं, परन्तु ब्रह्मज्योति या आत्मज्योति तम से सर्वथा परे है। बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश देते हुए आत्मज्योति को ही मुख्य बतलाया था। गीता में भी विश्वरूपदर्शन में भगवान् के ज्योतिर्मय रूप का विवरण हम विगत प्रवचनों में कर चुके हैं।

'तमसः परम्' का श्री रामानुजाचार्य ने 'प्रकृति से पर' अर्थ किया है। तमस् शब्द से उन्होंने प्रकृति की साम्यावस्था को लिया।

### आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्,

इत्यादि स्मृति में भी प्रकृति की साम्यावस्था को तमस् शब्द से कहा है। उससे पर यहाँ ब्रह्म को बतलाया है। इसका अभिप्राय यह होगा कि सृष्टि के आरम्भ में केवल साम्यावस्थापन्न प्रकृति या माया ही नहीं थी अपितु उसका भी आधारभूत ब्रह्म था। हम लोगों की दृष्टि में वह काल की दृष्टि से आदि की अवस्था होने के कारण पर कही जाती है। देश व्यवधान या काल व्यवधान दोनों में 'पर' शब्द का व्यवहार चला करता है। इस हमारी व्यवहार दृष्टि से ही हमें गीता के पर शब्द का अभिप्राय समझना होगा।

श्री हनुमत्कृत पैशाच भाष्य में तम का अर्थ अज्ञान किया गया है। तम से परे का अर्थ हुआ अज्ञान से परे, ब्रह्म अज्ञान से परे है ज्ञान रूप है। उत्तरार्ध का भी अर्थ उन्होंने यह किया कि ब्रह्म ही ज्ञान का साधन है वही ज्ञान का विषय है और वही ज्ञान फल है। ज्ञान का फल ही ज्ञानगम्य होता है। यहाँ-यह शंका उपस्थित हो सकती है कि ज्ञान का विषय अन्य होता है और उसका फल अन्य होता है, दोनों एक रूप नहीं होते-“ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्” उसका उत्तर यही है कि ये कथन उपाधियों से आवृत दशा के हैं, उपाधि विनिर्मुक्त दशा में तो न केवल ज्ञान का विषय और उसका फल ही एक है अपितु उसका साधन भी एक ही है। यद्यपि 'तमस्' शब्द का अभिधा वृत्ति से प्रधान व्यवहार तो अन्धकार में ही है परन्तु लक्षणा के आधार पर उसके अज्ञान आदि अर्थ भी प्रयोगों में आते हैं-

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

इत्यादि लोक विश्रुत पद्यों में अज्ञान को तिमिर कहा गया है। तत्त्व दीपिका में भी तम

का अर्थ प्रकृति ही किया है, इतनी वहाँ विशेषता लिखी है कि पर शब्द का अपरिणामी अर्थ किया है। प्रकृति का जो धर्म परिणाम है उससे पर अर्थात् दूसरा विपरीत अपरिणाम ही होगा। ब्रह्म की अपरिणामिता इससे बतलायी जाती है।

“इस प्रकार से संक्षेप में यहाँ क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय बतलाए गए हैं। मेरा भक्त इनको जानकर मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है।”

श्रुतियों तथा अन्य स्मृतियों में जिस विषय को विस्तार से कहा गया है उसे यहाँ संक्षेप में बतला दिया। महाभूत से धृति पर्यन्त क्षेत्र का निरूपण हुआ। अमानित्व से तत्त्वज्ञानार्थदर्शन पर्यन्त ज्ञान का प्रतिपादन हुआ और “ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि” से लेकर ‘तमसः परमुच्यते’ तक ज्ञेय का विवरण हुआ। भगवान् कहते हैं कि इस सभी विज्ञान को जानने का अधिकारी मेरा भक्त होता है और इसे जान कर वह मेरे भाव अर्थात् परमेश्वर भाव को प्राप्त कर लेता है “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” श्री रामानुजाचार्य ने मद्भावा का अर्थ असंसारित्व किया है, अर्थात् वह असंसारी हो जाता है। वह मुक्त हो जाता है ऐसा अर्थ भी व्याख्याओं में मिलता है।

इससे आगे प्रकृति-पुरुष का निरूपण प्रस्तुत होगा।

---

## अष्टम-पुष्प

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।  
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥  
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।  
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥  
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।  
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥  
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।  
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥  
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।  
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

सप्तम अध्याय में परा और अपरा दो प्रकार की प्रकृति बतलाई गई हैं, वही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ हैं। इन दोनों प्रकृतियों का उपन्यास करके वहां कहा—“एतद्योनीनि भूतानि” अर्थात् समस्त भूतों की योनि या जन्म का कारण ये ही दो प्रकृतियां हैं। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ किस प्रकार भूतों के उत्पादक होते हैं इसी बात को आगे के पद्य में स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं कि “प्रकृति और पुरुष ये दोनों ईश्वर की प्रकृतियां हैं, ये दोनों अनादि हैं ऐसा समझो, बुद्धि आदि विकार और गुण ये सभी सुख, दुःख मोहात्मक प्रकृति से संभूत हैं।”

अनादि उसे कहते हैं कि जिसका आश्रय अनादि हो। ईश्वर जब नित्य है तब उसकी प्रकृति भी नित्य है, जैसे ईश्वर की उत्पत्ति या उसका आदि नहीं वैसे ही उसमें सर्वदा स्थित, उससे अपृथग्भूता प्रकृति की भी उत्पत्ति या उसका आदि नहीं। ईश्वर का ईश्वरत्व या उसका नियमन करना दोनों प्रकार की प्रकृतियों का स्वामी होना ही है। सारांश यह है कि जिन पर अपरा, प्रकृति पुरुष, आदि संज्ञाओं से शास्त्रों में व्यवहृत होने वाली दो प्रकार की प्रकृतियों से ईश्वर संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार कर रहा है वे प्रकृतियां अनादि और सारे संसार की कारणभूत हैं। श्री शंकराचार्य ने अनादि शब्द में बहुव्रीहि समास माना है “न आदिर्विद्यते ययोः” इस विग्रह वाक्य में ‘न आदि’ पद से अनादि ईश्वर लिया जाता है, वह आदिशून्य ईश्वरजिनका है, अर्थात् जिसका आश्रय है, वह पुरुष और प्रकृति नाम की प्रकृति अनादि है ऐसा अर्थ यहां आचार्यवर

को अभीष्ट है। उन्होंने यहां कुछ विद्वानों के द्वारा स्वीकृत तत्पुरुष समास का खण्डन किया है। द्विवचनान्त आदि शब्दसे “न आदी अनादी” ऐसा विग्रह करके भी अनाद यह बनाया जा सकता है। इससे अर्थ में भी यह परिवर्तन उपस्थित हो जाता है वि प्रकृति और पुरुष दोनों में स्वतन्त्र रूप से अनादित्व मान लेना पड़ता है। यह सांख्य दर्शन की प्रक्रिया है। सांख्य में प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतन्त्र रूप से अनादि माना जाता है, इसीलिए आदि में दो मूल तत्त्व मान लेने के कारण सांख्य दर्शन द्वैत दर्शन कहलाता है। परन्तु अद्वैत सिद्धान्त के आदि में दो मूल तत्त्व नहीं अपितु एक ही मूल तत्त्व माना जाता है। अवश्य ही माया नाम की ईश्वर की शक्ति को वेदान्त दर्शन भी नित्य मानता है परन्तु उसमें स्वतन्त्र रूप से नित्यता नहीं है, वह ईश्वर की शक्ति है और शक्ति कभी शक्तिमान् से पृथक् होकर उपलब्ध नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् परस्पर अभिन्न होते हैं, इसीलिए वेदान्त में द्वैत की संभावना के निरस्त कर दिया है। सांख्य दर्शन की विचार-पद्धति अपनाने वाले विद्वान् यहां प्रकृति और पुरुष इन उन्हीं की अभिमत संज्ञाओं का व्यवहार दिखाकर तथा दोनों की अनादित की स्पष्ट उद्घोषणा बतलाकर गीता में सांख्य सिद्धान्त के ही प्रतिपादन का आग्रह कर सकते हैं, उन्हीं को श्री शंकराचार्य ने यहां उत्तर दिया है कि यहां अनादि शब्द में तत्पुरुष समास नहीं अपितु बहुव्रीहि समास ही अभिमत हो सकता है। बहुव्रीहि समास के विग्रह वाक्य में “न आदिर्विद्यते ययोः” यहां पूर्वोक्त प्रकार से ‘न आदि’ पद से ईश्वर का ग्रहण होता है और उसी के आश्रित प्रकृति और पुरुष दोनों प्रकृति भेदे से समझा जाता है। यहां कठिनाई यही है कि प्रकृति ईश्वर की अविभक्त माया शक्ति का भी नाम है और उसी के विभक्त दो रूपों में भी एक का नाम प्रकृति है। इसीलिए सप्तमाध्याय में प्रकृति शब्द के साथ परा अपरा विशेषण लगाए गए थे और इसीलिए आगे भी भेद न हो इसलिए परा प्रकृति को तो उसी नाम से स्वीकृत कर लिया और अपरा प्रकृति को पुरुष कह दिया। वहां यह विस्पष्ट कर दिया गया है कि ये परा और अपरा प्रकृतियां ईश्वर की अभिन्न शक्तियां हैं इनमें संख्याकृत आनन्त्य भी होता है परन्तु अन्ततः ये सब एक और अद्वितीय ईश्वर से अभिन्न होने के कारण मिथ्या हैं यह सब माया शक्ति का पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या-विजृम्भण है।

पद्य में यथाश्रुत प्रकृति और पुरुष दोनों को स्वतन्त्र रूप से अनादि मान लेने पर तो वे ही दोष प्राप्त होंगे जो वेदान्त दर्शन की ओर से सांख्य दर्शन पर दिखाए जाते हैं। दोनों के अनादि और स्वतन्त्र होने से संसार का कुछ भी निमित्त न रह जायगा और निमित्त के अभाव में मोक्ष का प्रसंग भी न रहेगा। दोनों के अनादि होने से अद्वैत तत्त्व की ज्ञापक श्रुतियां व्यर्थ या निरर्थक हो जायगी तथा दोनों के स्वतन्त्र और

अनादि होने पर बन्ध और मोक्ष का भी अभाव होगा। जब प्रकृति और पुरुष दोनों को ईश्वर की शक्ति के रूप में नित्य माना जाता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं, तब उपर्युक्त सारे दोष नहीं उपस्थित होते। क्योंकि जितने विकार और गुण हैं वे सब प्रकृति से संभूत हैं। बुद्धि से प्रारम्भ करके देहेन्द्रिय पर्यन्त विकार माने गए हैं और सुख, दुःख, तथा मोह के अनुभव के आकार में परिणत जो होते हैं वे गुण कहे जाते हैं। 'प्रकृतिसंभवान्' में प्रकृति का अर्थ विकारों की जो कारण त्रिगुणात्मिका माया है उससे अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि जितने विकार और गुण हैं वे सब प्रकृति से ही संभूत हैं, ऐसा हे पार्थ तुम समझो। वे विकार और गुण कौन हैं इसका उत्तर अग्रिम पद्य से देते हैं कि कार्य और कारणों के कर्तृत्व में प्रकृति ही हेतु होती है। कार्य शरीर को कहा गया है, तेरह उसके आरम्भक भूतों को कारण कहा गया है, सुख-दुःख, मोहशब्द, गुण करणों के ही आश्रित होने के कारण यहां करण शब्द से ही उनका ग्रहण माना है। इन सबकी कारणभूता प्रकृति ही है।

पुरुष, जीव, क्षेत्रज्ञ और भोक्ता ये पर्याय शब्द हैं। वह पुरुष सुख और दुःख के उपभोग में हेतु है। प्रकृति के विचारों और गुणों के हेतु हो जाने से और पुरुष के उसका भोक्ता हो जाने से संसार के कारण वे दोनों हैं यह कैसे सिद्ध होगा, इसका उत्तर यही है कि यदि कार्य-कारण संघात रूप से प्रकृति का परिणाम न हो और उसका चेतन भोक्ता न हो तो संसार कैसे चलेगा ? दोनों को स्वीकार करने पर ही संसार की स्थिति माननी होगी, प्रकृति और पुरुष का अविद्या रूप जो संयोग होता है उसी से संसार चलता है। सुख-दुःखादि के संभोग का ही नाम संसार है।

तत्त्व-प्रकाशिका में पूर्वोक्त अमानित्व आदि का यहाँ गुण शब्द से ग्रहण किया है।

श्री शंकरानन्द ने श्री शंकराचार्य की व्याख्या के आधार पर यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर की शक्ति रूप माया को भी अनादि मान लेने के उपरान्त ही ईश्वर का ईश्वरत्व या ईशानकर्तृत्व भी नित्य रूप में सिद्ध हो सकता है, यदि शक्ति अनादि न हो तो शक्ति की उत्पत्ति के पूर्व काल में ईशितव्य के अभाव में ईश्वरत्व ही असंभव हो जायगा, परन्तु ईश्वर का ईश्वरत्व तो त्रिकालाबाधित नित्य है। अतः उसकी ईशितव्या माया शक्ति भी ईश्वर के समान ही नित्य कहनी होगी। वेदमन्त्र में भी माया शक्ति की इस नित्यता को कहा गया है—

**‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्’**

आदि मन्त्रों में माया शक्ति को अजा और एका कहकर उसकी अनादिता बतलाई गई

है। यहीं आगे श्री शंकरानन्द ने ईश्वर और उसकी माया शक्ति को मानते हुए भी ईश्वर की शक्ति माया को अनादि न मानने के विचार की समालोचना करते हुए लिखा है कि यदि वह शक्ति या प्रकृति अनादि न हो तो उसके अभाव की अवस्था में केवल ईश्वर को ही जगत् का कारण कहना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में एक तो उक्त प्रकार से किसी समय ईशितव्य के अभाव में ईश्वर में ईश्वरत्व ही नहीं रहेगा, दूसरा दोष यह होगा कि प्रकृति के अभाव की अवस्था में जब ईश्वर सृष्टि करेगा तो किसी को सुख और किसी को दुःख प्राप्त होने से ईश्वर में सुख-दुःख प्रदायित्व भी मानना होगा और उसके भी कारण के रूप में ईश्वर में भी विषमता और नैर्घृण्य मानने होंगे, ऐसा मानना किसी भी आस्तिक दर्शन को स्वीकृत नहीं। यदि ईश्वर के स्वरूप में वैषम्य नैर्घृण्य नहीं है ऐसा कहा जाय तो माया शक्ति के अभाव की अवस्था में जीव नाना योनि में क्यों उत्पन्न हुए उनके सुख और दुःख का कारण क्या है, यह कहना असंभव होगा और कार्य-कारण की सर्व सम्मत परंपरा भी खतरे में पड़ जायगी। साथ ही माया से आबद्ध होने पर ही जीव को बद्ध कहा जाता है और माया से मुक्त जीव को ही मुक्त या उसकी मोक्ष प्राप्ति माना जाता है, प्रकृति को अनादि न मानने पर उक्त बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था भी बिगड़ जायगी। इसलिए प्रकृति को अनादि मानना आवश्यक है। श्री शंकराचार्य के व्याख्यान को ही श्री शंकरानन्द जी ने लिखा है।

श्री रामानुजाचार्य यहाँ कहते हैं कि प्रकृति और पुरुष जो कि एक दूसरे में संसृष्ट हैं वे अनादि हैं। बन्धन के कारण भूत जो इच्छा, द्वेष आदि विकार हैं तथा मोक्ष के हेतुभूत जो अमानित्व आदि गुण कहे गए हैं ये सब प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति का परिचय देते हुए श्री रामानुजाचार्य लिखते हैं कि पुरुष से संसृष्ट अनादि काल से प्रवृत्त, क्षेत्र के आकार में परिणत हो जाने वाली यह प्रकृति अपने इच्छा, द्वेष आदि विकारों से तो जीव का बन्धन करती है और अमानित्व आदि अपने गुणों से जीव को विमुक्त भी करती रहती है। आनन्दतीर्थकृत माध्व भाष्य में प्रस्तुत पद्य का समानार्थक श्रीमद्भागवत का यह पद्य भी उद्धृत किया है—

“कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।

भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥

( भागवत ३।२६।८ )

अग्रिम पद्य का अर्थ है—“प्रकृति में अवस्थित होता हुआ पुरुष प्रकृति से उत्पादित गुणों का भोग करता है, इसका कारण सत्, असत् योनि जन्म में पुरुष से गुणों का संग ही है”।

पुरुष भोक्ता है, वह अविद्यारूपिणी और कार्य-कारण रूपों में परिणत होने वाली प्रकृति में जब स्थित होता है तो वह प्रकृति को अपनी जैसी बना लेता है तब वह प्रकृति के द्वारा उत्पादित सुख-दुःख, मोह आदि गुणों का भोग भी करता है, वह स्वयं को सुखी, दुःखी, मूढ़, पण्डित आदि समझने लगता है। सुख-दुःखादि गुणों के इस भोग में जो सङ्ग होता है पुरुष का, वही इस संसार के सद् और असत् योनियों में जन्म का कारण है। श्री शंकराचार्य ने यहां संसार पद का अध्याहार माना है। देव आदि सद् योनियां और पशु आदि असद् योनियां हैं। श्री नीलकण्ठ कहते हैं कि देहेन्द्रियमन के संघात रूप शरीर में जब पुरुष स्थित होता है उसी अवस्था में वह गुणों का भोग करता है। सुषुप्ति, समाधि और मूर्छा आदि के समय जब पुरुष प्रकृतिस्थ नहीं रहता तब वह गुणों का भोग भी नहीं करता। सत्-असत् योनियों में पुरुष के जन्म के कारण पुरुष का गुणों के साथ सम्बन्ध ही है, इस बात को दिखाते हुए उन्होंने कहा है देव सात्त्विक होते हैं, मनुष्य राजस और पशु तामस हैं। यह विभाग भी पुरुष के गुणों के ही संसर्ग से सृष्टि होने का समर्थक है।

तत्त्व-प्रकाशिका में लिखा है कि पुरुष सत्त्वादि गुणों के कार्यों में आसक्त होकर उसके साधन भूत पुण्य और पाप कर्मों में प्रवृत्त होता है और उनका फल भोगने के लिए सत् और असत् योनियों में जाता है। फिर वहां कर्म का आरम्भ करता है और फिर उनका फल भोगने के लिए अन्य योनियों में जाता है। जब तक वह विषयों को त्याग कर मोक्ष के साधन बुद्धि, वैराग्य आदि का सेवन नहीं करता तब तक यह संसार क्रम चलता ही रहता है।

श्री शंकरानन्द ने गुण सङ्ग का अर्थ गुण बन्धन किया है कि देहेन्द्रियादि गुण विकारों में जो सङ्ग अर्थात् अहं बुद्धि है वही अविद्या मूलक अध्यास है। अविद्वान् इससे अध्यस्त होकर नाना योनियों में परिभ्रमण करता है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है—“इस देह में जो पर पुरुष है, वह उपद्रष्टा है, अनुमन्ता है, भर्ता और भोक्ता भी वही है, वह महेश्वर है उसे परमात्मा भी कहा गया है।” उप अर्थात् समीप में स्थित होकर वह पुरुष द्रष्टा अर्थात् असंग रहता है। उपद्रष्टा शब्द यज्ञ के कार्यकर्ताओं का निरीक्षण करने वाले यज्ञविद्या में कुशल अधिकारी का वाचक है। वह यज्ञ कर्म में व्यापृत ऋषि है जो कार्यों का निरीक्षण करता है। उसी प्रकार इस संसार यज्ञ का भी पर पुरुष उपद्रष्टा है। दूसरी भी व्याख्या श्री शंकराचार्य ने यह लिखी है कि देह, चक्षु, मन, बुद्धि आदि द्रष्टा हैं उनका भी अन्तरतम द्रष्टा आत्मा है। उसके आगे उसका और कोई अन्य द्रष्टा नहीं है। अत्यन्त समीप से देखने के कारण ही आत्मा को उपद्रष्टा कहा गया। होने वाली क्रियाओं से परितोष ही अनुमनन है, वह



आत्मा ही अनुमन्ता है। दूसरा अर्थ यह भी है कि नित्य सहचर होता हुआ भी बुद्धि आदि को अपने व्यापारों से नहीं हटाता, इसलिए भी यह अनुमन्ता है। भर्ता का अर्थ है कि अचेतन पदार्थों देहेन्द्रियादि में अपनी चेतना प्रदान करके उनके स्वरूप का वह विधारण कर रहा है। बुद्धि के सुख-दुःख मोहादि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से उपाधियों के भेद के कारण विभिन्नता के उपस्थित हो जाने पर वह भोक्ता रूप में प्रतीत होता है, सबका आत्मा होने से और स्वतन्त्र होने से वह महेश्वर कहा जाता है। परम द्रष्टा होने के कारण वह परमात्मा कहा जाता है।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि देह का नियमन, भरण और देह के अन्त में शेष रहने से देह, इन्द्रिय और मन के प्रति वह महेश्वर है।

श्री नीलकण्ठ ने यहां विलक्षण ही व्याख्या लिखी है। वे कहते हैं कि पहिले गुणों के सङ्ग से संसार होता है, यह कहा गया है। पुरुष के साथ गुणों का चार प्रकार से सङ्ग हो सकता है। उनमें प्रत्येक प्रकार के सङ्ग को मानकर पृथक्-पृथक् दर्शनों की प्रवृत्ति हुई है। चार प्रकार के सङ्गों में प्रथम वह है जिसमें केवल प्रकृति को ही सब कुछ मानकर पुरुष का अपलाप या उसके अस्तित्व का निषेधही कर दिया जाता है। ऐसा सम्बन्ध मान लेने से ही जड़कारणवाद की सृष्टि होती है जैसा कि चार्वाक आदि दर्शनों का प्रतिपादन है। इसी दृष्टि को सामने रखने वालों को लक्ष्य में रखकर यहाँ भगवान् ने पुरुष को भोक्ता कहा है। जड़वादी विचारधारा में भोग ही मुख्य माना जाता है। वे भोक्ता को ही सब कुछ मानते हैं। गुणों के सम्बन्ध होने के अनन्तर केवल गुणों को ही प्रधान मानना यह दूसरा सम्बन्ध है। इसमें गुणों की प्रधानता होने से वास्तविक कर्तृत्व का अभिमान पुरुष को हो जाता है, इसीलिए वह कर्म के फलों का भर्ता या उनको एकत्रित करने वाला होने के कारण पद्य में उसे इसी दृष्टि से भर्ता कहा गया है, तार्किकों की दृष्टि में आत्मा का यही स्वरूप है। तीसरे प्रकार का पुरुष और गुणों का सम्बन्ध वह है जिसमें गुणों की और पुरुष की समान रूप से प्रधानता मानी जाती है, इसी सम्बन्ध को सांख्य दर्शन ने ग्रहण किया है। चौथा सम्बन्ध गुणों के साथ पुरुष की समान प्रधानता मानना होता है। इस सम्बन्ध में दोनों की समान रूप से प्रधानता होने के कारण गुणों के विकारों या धर्मों का पुरुष में सङ्क्रमण नहीं माना जाता, वह उदासीन या तटस्थ भाव से गुणों के प्रचार को देखता रहता है, उनका साक्षी बना रहता है, योग दर्शन में ईश्वर को इसी प्रकार का साक्षी कहा गया है, उसे ही गीता के प्रस्तुत पद्य में उपद्रष्टा कहा है। इन सभी में आत्मा का उपद्रष्टा रूप उत्तम अनुमन्ता मध्यम, भर्ता अधम और भोक्ता अधमाधम है; यह भी श्री नीलकण्ठ ने लिखा है। वही आत्मा जब गुणों के साथ अपने समप्राधान्य से भी ऊपर उठकर गुणों के साथ

क्रीड़ा करता है तब उसे महेश्वर कहते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाला जो उसका अन्तर्यामी रूप है उसे परमात्मा कहा है। यद्यपि ईश्वर का उपद्रष्टा रूप भी गुणों को छोड़कर उसके साक्षी के रूप में ही स्थित है परन्तु उसमें उसकी स्थिति प्रत्येक संघात में पृथक्-पृथक् होती है। एक संघात में स्थित होता हुआ दूसरे संघात में होने वाले गुण प्रचार को वह नहीं देख सकता। इसलिए समस्त संघातों का दर्शन करने वाला परमात्मा अलग कहा जाता है। इसी को आगे गीता में ही कहा जायगा।

**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।**

**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥**

उपर्युक्त ६ रूपों में अनुमन्ता, भर्ता और भोक्ता इन तीन रूपों से तो आत्मा बन्धन में आता है और उपद्रष्टा महेश्वर और परमात्मा इन तीन रूपों में वह मुक्तावस्था में प्रतिष्ठित होता है।

श्री वल्लभाचार्य जीव और ईश्वर का अंशांशिभाव मानते हैं। जीव और ईश्वर दोनों ही शरीर में प्रतिष्ठित हैं। प्रस्तुत पद्य में भी इस देह में परम पुरुष रूप से परमात्मा को प्रतिष्ठित दिखाते हुए उन्होंने—

**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**

**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥**

यह श्रुति उद्धृत की है और शरीर रूप वृक्ष में वह अवस्थित है, यही पद्य का आशय लगाया है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है कि—

“जो इस प्रकार गुण सहित पुरुष और प्रकृति को समझ जाता है वह सर्वथा वर्तमान रहता हुआ भी पुनः उत्पन्न नहीं होता।”

भारतीय दर्शनों का यह सिद्धान्त है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर मुक्ति हो जाती है। परन्तु साथ ही यह भी सिद्धान्त है कि जो कर्म किये जा चुके हैं उनका भोग करने के बाद ही वे क्षीण होते हैं। पूर्व जन्मों के कर्मों को भोगने के लिए वर्तमान जन्म और वर्तमान जन्म में ज्ञानोत्पत्ति से पूर्वकृत कर्मों के भोग के लिए ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर भी जब कर्म चलता ही रहेगा तब उन कर्मों के भी भोग के लिए कम से कम एक जन्म और मानना आवश्यक होगा। ऐसी स्थिति में गीता में जो यहाँ ‘न स भूयोऽभि जायते’, कहा गया है उसका कैसे समर्थन होगा, यह प्रश्न उठाकर श्री शंकराचार्य

ने उसका उत्तर दिया है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर सब ही कृताकृत कर्म समाप्त हो जाया करते हैं यही बात—

**“ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन”**

**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि”**

इत्यादि वाक्यों में कही गई है। श्रीशंकराचार्य ज्ञानप्राप्ति के उपरान्त जन्म की निवृत्ति में युक्ति देते हुए कहते हैं कि अविद्या जनित कर्मों के ही द्वारा जन्मान्तर का अंकुर प्रारम्भ होता है। यहां गीता में भी भगवान् ने अनेकत्र कहा है कि अहंकार पूर्वक अभिसन्धि से किये हुए कर्म ही जन्मादि फल के प्रदाता होते हैं। महाभारत में इसका समर्थक पद्य भी भाष्य में उद्धृत हुआ है कि—

**बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।**

**ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ॥**

जिस प्रकार अग्नि के द्वारा जला दिए गए बीज पुनः अंकुर उत्पन्न नहीं कर सकते उसी प्रकार क्लेशों के ज्ञान के द्वारा समाप्त कर दिये जाने पर यह आत्मा भी जन्म ग्रहण नहीं करता। फिर पूर्व पक्ष उठाया गया है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर किये हुए कर्मों का ज्ञान से दाह हो जाता है यह हमने मान लिया क्योंकि वे ज्ञान के साथ ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु इस जन्म में अथवा पूर्व जन्मों में ज्ञान उत्पन्न होने से पहिले जो कर्म किये जा चुके हैं उनका अभाव कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि शास्त्रों में ‘सर्वकर्माणि’ कहा गया है—अर्थात् ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को जला देता है, सब कर्मों में अतीत के कर्म भी सम्मिलित हैं। यदि यह कहा जाय कि ‘सर्वकर्माणि’ का अर्थ भी ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर होने वाले सभी कर्म हैं तो ऐसा संकोच करने में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। ज्ञान हो जाने पर भी जन्मान्तर के अभाव को न मानने वालों ने यह भी कहा था कि जिस प्रकार वर्तमान शरीर के आरम्भ करने वाले कर्म ज्ञान हो जाने पर भी अपना फल शरीर धारण पर्यन्त देते ही रहते हैं, वैसे ही ज्ञान हो जाने के अनन्तर भी जो कर्म किए जायेंगे भले ही वे अहंकार और अभिसंधि से न भी किये जायें परन्तु तब भी वे अपना फल तो अवश्य ही देंगे क्योंकि फलों को उपस्थित करना तो कर्मों का स्वभाव है, फलतः ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर भी मुक्ति का प्रसंग नहीं होता। वह तो महाप्रलय की अवस्था में ही प्राप्त हो सकेगा। इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य एक दृष्टान्त से प्रस्तुत सिद्धान्त को समझाते हैं कि जैसे किसी लक्ष्य का वेधन करने के लिए धनुष से छोड़ा गया बाण लक्ष्य का वेधन करने के अनन्तर भी उतना आगे चला जाता है जितना कि वेग उसमें दिया गया है। उसी प्रकार

शरीर के आरम्भक कर्म लक्ष्यभूत ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी वेग के अवशिष्ट रहने के कारण शरीर धारण पर्यन्त अपना फल देते रहते हैं। परन्तु जिस बाण को धनुष पर चढ़ा लेने के अनन्तर लक्ष्य के अभाव में धनुष से वापस उतार लिया गया, उसमें कुछ भी वेग न रहने से वह जरा भी दूर नहीं जा सकता, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर किए जाने वाले कर्म अविद्या और अहंकार रूपी वेग के अभाव में अपने आश्रय भूत शरीर में ही जीर्ण हो जाते हैं, वे फल प्रदाता ही नहीं बनते। अतः गीता का ज्ञानवान् के विषय में 'न स भूयोऽभिजायते' वह पुनः उत्पन्न नहीं होता यह कथन सर्वथा समीचीन और युक्तिपूर्ण है।

श्री रामानुजाचार्य 'न स भूयोऽभिजायते' की व्याख्या में लिखते हैं कि वह ज्ञानवान् पुरुष अपरिच्छिन्न ज्ञान स्वरूप, मायादि से विनिर्मुक्त आत्मा को देह छोड़ने के अनन्तर प्राप्त कर लेता है।

---

## नवम-पुष्प

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।  
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥  
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।  
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥  
यावत् संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।  
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥२६॥  
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।  
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥  
समं पश्यन्ति सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।  
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥  
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।  
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥  
यदाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।  
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥  
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।  
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥३१॥  
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।  
सर्वत्राऽवस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ! ॥३२॥  
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।  
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥  
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।  
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

“कुछ लोग ध्यान से आत्मविषयक दर्शन करते हैं, कुछ आत्मा से ही आत्मा को देखते हैं, अन्य लोग सांख्ययोग से दर्शन करते हैं, दूसरे कर्म योग से

आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त इन उपायों को न जानने वाले दूसरे आचार्यों से सुनकर उपासना करते हैं ये श्रुति अर्थात् श्रवण में परायण होने वाले मृत्यु का तरण कर जाते हैं”। (२४, २५)

शब्दादि विषयों से अपनी इन्द्रियों को हटाकर उनको मन में स्थित करना और मन को प्रत्यगात्मा में निरन्तर स्थित रखना ही ध्यान है, तैलधारा के समान सन्तत ज्ञान का ही नाम ध्यान है। इस प्रकार के ध्यान से संस्कृत अन्तःकरण में ‘आत्मनि’ अर्थात् बुद्धि में आत्मा को योगी देखते हैं। अन्य विद्वान् सांख्ययोग से आत्मदर्शन करते हैं। इसका अभिप्राय है कि सत्त्व, रज, और तम मेरे द्वारा दृश्य हैं, मैं उनसे पृथक् उनके कार्यों का देखने वाला नित्य और गुणों से विलक्षण आत्मा हूँ, ऐसा चिन्तन ही सांख्ययोग के द्वारा आत्मदर्शन कहलाता है। निष्काम और ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करते जाना कर्मयोग है, कुछ विद्वान् इसी प्रकार कर्म करते करते निर्मल ज्ञानप्राप्त करके मेरा दर्शन करते हैं। अन्य लोग जो न तो ध्यान की ही प्रक्रिया को जानते हैं, न सांख्ययोग से ही परिचित हैं और न ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म करना ही जानते हैं वे आचार्यों से सुनकर उन सुने हुए उपदेशों का ही आश्रय लेते हैं। ऐसे श्रवण परायण लोग भी मृत्यु का तरण करके आत्मभाव को प्राप्त कर ही लेते हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने ध्यान का अर्थ भक्तियोग किया है, अर्थात् भक्तियोग से कुछ विद्वान् मुझे प्राप्त करते हैं। श्री वल्लभाचार्य ने यहां योग शब्द से अष्टाङ्गयोग का ग्रहण किया है। श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि जो निष्काम कर्म करते हुए ब्रह्म को जानना चाहते हैं वे कर्मयोगी हैं। कर्मयोग के अनन्तर ब्रह्मज्ञान के अभिलाषी वेदान्तादि के श्रवण में प्रवृत्त होते हैं, फिर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही ये मनन आदि में प्रवृत्त होते हैं, ये ही सांख्य के अनुयायी माने गए हैं। इस प्रकार मनन करने पर जब ब्रह्म की सत्ता का निश्चय हो जाता है तब ये विद्वान् लोग ब्रह्म से विपरीत ज्ञान अर्थात् देहादि से आत्मबुद्धि को हटाने के लिए ध्यानमार्ग का आश्रय लेते हैं। इनमें जो कर्म और सांख्य में निष्णात हैं वे ध्यान के द्वारा आत्मा अर्थात् देह में ‘आत्मना’ अर्थात् बुद्धि से परमेश्वर को देखते हैं। जिन्होंने कर्ममार्ग का आश्रय नहीं लिया है वे सांख्ययोग अर्थात् विचारात्मक योग का आश्रय लेकर ध्यान करते हैं, तब ईश्वर को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार तीनों साधनों का आत्मदर्शनार्थ समुच्चय यहां अभीष्ट है, न कि एक के अभाव में दूसरे साधन का विकल्प। उपर्युक्त उपायों से जो ब्रह्मसाक्षात्कार बतलाया गया है, कुछ विद्वान् तो उसे सत्य साक्षात्कार अथवा प्रमाणरूप मानते हैं, तथा कुछ विद्वानों के मत में वह ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं अपितु उसके साक्षात्कार का भ्रम है। इसका उपपादन करते हुए श्री नीलकण्ठ ने यह दृष्टान्त दिया है कि जैसे दूर से मणि की प्रभा को ही दर्शक मणि समझ लेता है, परन्तु जब वह प्रभा को मणि समझ उसे ग्रहण

करने के लिए प्रवृत्त होता है तो वह वास्तव में मणि को प्राप्त कर लेता है। यहां भी ऐसा ही है कि उपर्युक्त उपायों से वास्तव में 'तत् त्वमसि' में 'त्वम्' पदार्थ जो प्रत्यगात्मा है, उसी का साक्षात्कार होता है, 'त्वम्' पदार्थ के ही 'तत्' पदार्थ समझने का भ्रम होता है, उस 'त्वम्' पदार्थ को 'तत्' पदार्थ समझ कर जब प्रमाता उसके साक्षात्काररूप ग्रहण के लिए प्रवृत्त होता है तब मणि और उसकी प्रभा जैसे नित्यसम्बद्ध हैं और मणि की प्रभा देखकर मणि के ग्रहण के लिए समुद्यत व्यक्ति के हाथ में जैसे मणि आ जाती है उसी प्रकार 'त्वम्' पदार्थ और 'तत्' पदार्थ भी नित्य सम्बद्ध हैं, अतः 'त्वम्' के ग्रहण के लिए समुद्यत प्रमाता को 'तत्' पदार्थ जो ब्रह्म है उसका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार का भ्रम संवादिभ्रम कहा जाता है।

कुछ व्याख्याओं में उपर्युक्त साधनों को ग्रहण करने वालों में उत्तम, मध्यम, अधम का क्रम है, अर्थात् ध्यान से आत्मा को देखने वाला उत्तम, सांख्य योग से आत्मदर्शन करने वाला मध्यम और कर्मयोग से आत्मदर्शन करने वाला मन्द तथा अपने अनुभव के नितान्त अभाव में केवल श्रवण पर आश्रित रहने वाला अतिमन्द है।

इसके आगे का पद्य है कि—“स्थावर या जंगम जो कुछ भी वस्तु उत्पन्न होती है, हे भरतर्षभ ! उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न समझो” (२६)

श्री शंकराचार्य यहाँ प्रश्न उठाते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से यहां क्या अभिप्राय है। कूप में से जल निकालने के लिए घट का रस्सी से संयोग किया जाता है वैसा संयोग तो यहां सम्भव नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ आकाश के समान ही निरवयव है, दो अवयवी द्रव्यों का परस्पर वैसा सम्बन्ध बन सकता है। तन्तु और पट के समान दोनों का समवाय सम्बन्ध भी यहाँ नहीं हो सकता, क्योंकि तन्तु पट का जैसे कार्यकारण भाव है वैसा कार्यकारण भाव यहां क्षेत्रज्ञ का नहीं है। तब यहां संयोग का क्या अभिप्राय होगा? इसके उत्तर में श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विषय और विषयी तथा विभिन्न स्वभाव वाले हैं, उनमें एक के धर्म को दूसरे में समझ लेना यही अध्यासरूप संयोग इनका है और यह दोनों का पृथक्-पृथक् स्वरूप न जानने के कारण है। जैसे रज्जु और सर्प के स्वरूप को पृथक् पृथक् न समझने की दशा में सर्प का रज्जु पर अध्यास हो जाता है अथवा जैसे रांगे और रजत के स्वरूप को न जानने की दशा में रांगे को ही रजत समझ लिया जाता है, ठीक वैसे ही अध्यास या भ्रम रूप संयोग यहां भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का है जिससे कि स्थावर और जंगम सभी वस्तुओं की सृष्टि हो जाती है जो कि वास्तव में मिथ्या ज्ञान का विजृम्भण है। ज्ञेय ब्रह्म पर क्षेत्र को माया के द्वारा प्रदर्शित हाथी, महल आदि की भांति, स्वप्न में दिखाई देने वाली वस्तुओं की भांति, गन्धर्व नगर की भांति समझने वाला व्यक्ति ही मुक्ति का अधिकारी होता है यह बतलाया गया है।

श्री रामानुजाचार्य ने यह भी लिखा है कि सभी स्थावर जंगम पदार्थ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही होते हैं, उनकी वियुक्तावस्था में कुछ भी नहीं होता। अग्रिम पद्य का अर्थ है कि—

“समस्त भूतों में समान भाव से अवस्थित और नाशवान् पदार्थों में अविनश्वर भाव से अवस्थित परमेश्वर को जो देखता है उसका ही देखना वास्तव में देखना है।” (२७)

तत्त्वज्ञानी पुरुष की दृष्टि रागद्वेषादि से शून्य हो जाती है। उसे कोई पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं लगता, सभी पदार्थ उसे समानरूप मालूम होते हैं, संसार के सभी पदार्थ नाशवान् हैं परन्तु वह तत्त्वज्ञानी पुरुष इन सभी पदार्थों में अनुस्यूत कभी नष्ट न होने वाले तत्त्व को पहिचान लेता है। तत्त्व ज्ञान के बाद जो दृष्टि मिलती है उसमें कहीं भी कोई विभेद नहीं भासित होता। समान भाव से देखना मात्र ही नहीं अपितु अपने देखने के अनुकूल समान भाव से व्यवहार भी वह कर सकता है, प्रकृति के नियम भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। वह यदि विष को अमृत के समान पी जाय तो उसकी मृत्यु नहीं होती। प्रह्लाद, मीरा आदि की समान रूप से सर्वत्र ईश्वर को अवस्थित देखने और समान भाव से व्यवहार करने की कथाएं प्रसिद्ध ही हैं। ऐसे दर्शन का अभ्यास करने पर उसके पुनर्जन्म की कथा समाप्त हो जाती है। श्री शंकराचार्य ने यहाँ विनाश को सभी भाव विकारों का उपलक्षण माना है और ईश्वर में किसी भी विकार को न देखना ही असली देखना है यह कहा है। देखते तो सभी हैं परन्तु विपरीत रूप से देखते हैं, जैसे तैमिरिक रोग से ग्रस्त मनुष्य आकाश में अनेक चन्द्रों को देखता है, परन्तु उसका देखना विपरीत दर्शन है। चन्द्रमा को यथास्थित रूप से ही देखना वास्तविक देखना या सम्यक् दर्शन है। यहाँ भी आत्मा को सर्वत्र विभक्त रूप से तो सभी देखते हैं परन्तु सर्वत्र एक रूप में समान भाव से देखना ही सम्यक् दर्शन होता है। श्री रामानुजाचार्य ने लिखा है कि जो आत्मा को समान भाव से न देखकर देव, मनुष्य आदि विषम आकारों में देखता है तथा उसे जन्म विनाश, आदि से युक्त भी समझता है वह संसार चक्र में संसरण करता रहता है।

सर्वत्र समभाव से ईश्वर के दर्शन की प्रशंसा और उसका फल बतलाते हुए भगवान् आगे कहते हैं कि—“सर्वत्र अवस्थित ईश्वर को समान भाव से देखने वाला पुरुष स्वयं अपनी हिंसा नहीं करता, अतः परम गति को प्राप्त कर लेता है”। (२८)

यहां प्रश्न उठता है कि अपनी हिंसा तो स्वयं ईश्वर को न जानने वाला भी नहीं करता, तब ईश्वर को जानने वाला अपनी हिंसा नहीं करता, यह तो कोई ज्ञान का फल नहीं



हुआ। इसका उत्तर है कि अज्ञानी पुरुष आत्मा का तिरस्कार करता रहता है, वही आत्मा की हिंसा है। आत्मा के स्वरूप को न जानकर अनात्मा को आत्मा समझना ही आत्मा का तिरस्कार या उसकी हिंसा है। पहिले आत्मा का तिरस्कार करके अपने शरीर को ही आत्मा समझना, फिर उसका भी हनन करके स्त्री, पुत्रादि को आत्मा समझना, फिर उसका भी हनन करके गृह, सम्पत्ति आदि को आत्मा समझना, यह सब आत्मा की हिंसा ही है। उपर्युक्त प्रकार से ज्ञान हो जाने पर ज्ञाता इस प्रकार की हिंसा से रक्षित होकर परम गन्तव्य स्थान को प्राप्त हो जाता है।

आत्मा को अन्यथा समझना महाभारत में भी हिंसा कहा गया है—

“योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।

किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥”

इसी प्रकार भगवान् मनु भी लिखते हैं कि—

योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।

स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः ॥

(मनु २५।४५)

श्री नीलकण्ठ ने यहां यह भी आशय लगाया है कि सर्वत्र एक आत्मा को देखने वाला पुरुष जैसे अपने को नहीं मारता वैसे दयालु स्वभाव धारण करके दूसरों को भी पीड़ा नहीं पहुंचाता।

अग्रिम पद्य का अर्थ है—

“सब ओर समस्त कर्म प्रकृति के द्वारा ही किये जा रहे हैं; आत्मा अकर्ता है, ऐसा जो देखता है, वही सम्यग्दर्शी है”। (२९)

पूर्व पद्य में ईश्वर को समभाव से देखना ही वास्तव में देखना है यह कहा गया था, परन्तु संसार में गुणों और कर्मों की विलक्षणता से ऐसा कैसे देखा जा सकता है, इसी का उत्तर यहां है कि गुणों और कर्मों की यह विलक्षणता प्रकृति के द्वारा होती है, प्रकृति ईश्वर की माया शक्ति है। यहां आत्मा को अकर्ता कहने का अभिप्राय उसे स्वतन्त्र सिद्ध करना है।

केवल प्रकृति को सभी कार्यों की सम्पादक और आत्मा को अकर्ता समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है अपितु अन्ततः सर्वभूतात्मक प्रकृति भी उसी एक पर ब्रह्म में स्थित है, उसका कारण भी परमात्मा है, यह समझना भी आवश्यक है। इसी बात को समझाते हुए

भगवान् अग्रिम पद्य कहते हैं कि—“जब भूतों के पृथग्भाव को भी एक ही स्थान पर स्थित देखता है, और उसी स्थान से समस्त चराचर प्रपंच का विस्तार देखता है तब प्रमाता ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है”। (३१)

यहां श्री शंकराचार्य आदि ने ‘एक स्थान का अर्थ ब्रह्म में स्थित किया है और श्री रामानुजाचार्य आदि ने एकस्थ का अर्थ प्रकृति में स्थित किया है।

सभी पृथक् पृथक् भूतों को एक ही प्रकृति में स्थित समझ लेने से उससे पृथक् आत्मा का स्वरूप समझ में स्पष्टता से आ जायगा यही प्रकृतिस्थित का आशय है। अनेक व्याख्याकारों ने इससे सांख्य प्रक्रिया का उत्तर माना है कि ब्रह्म में ही सभी भूत अवस्थित हैं और वहीं से सबका उत्थान होता है। यहां यह भी स्पष्ट है कि पहिले सभी कार्यो में एक ही कारण अनुस्यूत है यह जाना जाता है, फिर एक ही कारण से सभी कार्य उत्पन्न होते हैं, यह समझा जाता है। इसी प्रक्रिया को ज्ञान और विज्ञान शब्द से भी कहा है यह हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है।

शरीरादि में नित्य संस्थित आत्मा शरीर के द्वारा होने वाले शुभाशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होता यह समझाने के लिए ऐसा किस कारण से होता है इसे अग्रिम पद्य से समझाते हैं कि—

“हे कौन्तेय ! यह अव्यय परमात्मा अनादि और निर्गुण होने से शरीर में स्थित होता हुआ भी न कुछ करता है और न लिप्त ही होता है”। (३२)

अव्यय का अर्थ है कि जिसका व्यय न होता हो। अनादि का अर्थ है जिसका कोई कारण न हो। जिस पदार्थ का आदि होगा वह अवयवी होगा और उसके स्वरूप का व्यय भी होगा। परमात्मा अनादि होने से निरवयव है अतः इसका व्यय भी नहीं होता। इसी प्रकार जो पदार्थ सगुण होता है उसके गुणों का व्यय होने से उसका भी व्यय होता है। परमात्मा निर्गुण है अतः गुणों के कारण वह परमात्मा शरीरस्थ कहलाता है तथा वह कोई कर्म नहीं करता।

शरीर में स्थित क्षेत्रज्ञ यदि कर्ता नहीं है तब कर्ता कौन है। यदि क्षेत्रज्ञ के अतिरिक्त और कोई कर्ता है तब तो क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता जो कही गई है वह सिद्ध न होगी, उसका उत्तर श्री शंकराचार्य ने दिया है कि अविद्या का स्वभाव है कि ‘करोति’ और ‘लिप्यते’ यह व्यवहार आत्मा पर हो रहा है। इसी बात को “स्वभावस्तु प्रवर्तते” इत्यादि के द्वारा भगवान् ने कहा है।

माध्वभाष्य में ‘न करोति’ का अर्थ किया गया है कि लौकिक क्रियादि उसके नहीं हैं।

श्री वेंकटनाथ ने अपनी ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में पहिले यह शरीरस्थ प्रत्यगात्मा अव्यय है, व्यय रहित है, ऐसा अन्वय किया है, फिर कहा है कि यह व्यय दो प्रकार से हो सकता है, धर्मों के स्वरूप की उत्पत्ति से अथवा धर्मों के उत्पन्न न होने पर भी धर्मों की उत्पत्ति मानने पर। अनादि कहकर तो धर्मों की उत्पत्ति का निषेध किया गया और निर्गुण कह कर धर्मों की उत्पत्ति का भी निषेध हो गया। अनादि होने से जब जन्म ही नहीं है तब जन्म के बाद होने वाले भाव विकार भी न होंगे अतः परमात्मा अविकारी सिद्ध हुआ।

श्रीवल्लभाचार्य लिखते हैं कि अन्तःपुरुष जो परमात्मा है अथवा आत्मा रूप जो जीव है वह अक्षर रूप से अनादि और निर्गुण है, अतएव वह अव्यय है, वह भगवदिच्छा से स्वतः पृथक् हो जाने पर भी अकर्ता और निर्लिप्त है।

श्री नीलकण्ठ ने परमात्मा का अर्थ पांच कोशों से अतीत किया है। वह शरीरमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों कोशों से परम अर्थात् अतीत होने से परमात्मा है। वह अनादि होने से देश और काल के परिच्छेद से शून्य है। प्रश्न उठता है कि उसे परमाणु रूप ही क्यों न माना जाय, क्योंकि परमाणु भी निरवयव होता है और वह नित्य भी है, इसका उत्तर है कि परमाणु में देशपरिच्छेद होता है, आत्मा में नहीं, अतः आत्मा को परमाणु नहीं कहा जा सकता। प्रश्न होता है कि परमात्मा में अनादि होने से सजातीय और विजातीय भेद का न होना तो ठीक है, परन्तु वह अपनी शक्तियों से समस्त प्रपञ्च की रचना करता है, अतः उसमें स्वगत भेद तो मानना होगा। उसका उत्तर देते हैं कि वह निर्गुण होने से स्वगत भेद वाला भी नहीं है।

तत्त्वप्रकाशिका में परमात्मा का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि देह, मन, बुद्धि आदि का भी आत्मा शब्द से व्यवहार किया जाता है, ईश्वर इन सबसे परे है, अतः उसे परमात्मा कहा जाता है।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि जैसे सूर्य के प्रतिबिम्ब में क्रिया होने पर भी सूर्य पर उसका कोई प्रभाव नहीं, वैसे ही शरीर की क्रियाओं का कोई लेप आत्मा पर नहीं पड़ता। श्री शंकरानन्द ने निर्गुण का अर्थ गुण की कार्यभूत प्राणादि षोडश कलाएँ भी किया है और उनसे रहित होने के कारण भी परमात्मा को निर्गुण कहा है।

ऐसा कोई दृष्टान्त भी है कि नहीं कि जो सर्वदा कहीं रहता हुआ भी वहाँ के विकारों से दूर रहे ! अग्रिम पद्य में इसी के दृष्टान्त के लिए कहते हैं कि “जैसे सूक्ष्मता के कारण सर्वत्र अवस्थित होता हुआ भी आकाश उपाधिभूत द्रव्य से उपलिप्त नहीं होत वैसे ही देह में सर्वत्र अवस्थित आत्मा भी उपलिप्त नहीं होता”। ( ३२ )

यहां आत्मा जैसे अनन्त देहों में सर्वत्र अवस्थित है वैसे ही प्रत्येक देह में भी सर्वत्र अवस्थित है यह 'सर्वत्र' पद की विशेषता है। श्री वल्लभाचार्य ने 'सौक्ष्म्यात्' का अर्थ 'अणु होने से' किया है। श्री नीलकण्ठ और श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'सौक्ष्म्यात्' का अर्थ असंग 'स्वभाव वाला होने से' ऐसा किया है।

आत्मा के अकर्तृत्व और निर्लेप होने को दूसरा दृष्टान्त देते हुए परमकारुणिक भगवान् कहते हैं कि—

“जैसे एक सूर्य इस सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित कर रहा है वैसे ही सम्पूर्ण क्षेत्र को एक ही क्षेत्री प्रकाशित करता है”। (३३)

क्षेत्री ही अपने ज्ञान रूप प्रकाश से समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है। जैसे प्रकाशित करने वाला सूर्य निर्लेप भाव से ही समस्त चराचर को प्रकाशित करता है, वैसे ही निर्लेप भाव से क्षेत्री भी समस्त क्षेत्रों को प्रकाशित करता है। श्री वल्लभाचार्य आत्मा को ईश्वर का अंश मानते हैं अतः उनकी व्याख्या है कि जैसे ईश्वर का नेत्र होता हुआ रवि संपूर्ण लोकों का प्रकाशक है, वह भी ईश्वर का ही अंश है; वैसे ही ईश्वर का अंश जीव भी ज्ञान रूप ज्योति से सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रकाशक है।

आत्मा को अणुपरिमाण माननेवाली तत्त्वप्रकाशिका में कहा है कि यहां परिच्छिन्न परिमाण वाले सूर्य का उदाहरण देने से आत्मा भी परिच्छिन्न परिमाण वाला ही है। उन्होंने विभुपरिमाण और मध्यमपरिमाण मानने में दोष दिखाते हुए अणु परिमाण पक्ष को ही इस दृष्टान्त से माना है।

श्री नीलकण्ठ ने लिखा है कि सूर्य अपनी सत्ता मात्र से समस्त लोकों को प्रकाशित करता है न कि तन्तुवाय की तरह व्यापार में प्रवृत्त होता हुआ ! सूर्य के दृष्टान्त से एकत्व और अकर्तृत्व के कारण आत्मा का निर्लेप होना श्री नीलकण्ठ ने लिखा है।

अन्त में अध्याय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि—“इस प्रकार ज्ञान चक्षु से क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का अन्तर और भूतप्रकृति के मोक्ष को जो समझ जाते हैं वे परमभाव को प्राप्त करते हैं”। (३४)

ऊपर जिन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की व्याख्या की जा चुकी है उनके अन्तर को जानने का परम फल परमपद अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेना ही है। ऊपर दोनों का अन्तर भी बतला दिया गया है, यही उसकी फलश्रुति है। ज्ञानचक्षु का अर्थ है शास्त्रों अथवा आचार्य के प्रसाद से विवेक दृष्टि मिलना। यहां लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि नवम अध्याय में जिस राजविद्या का निरूपण है वह प्रत्यक्ष चर्मचक्षु का विषय है, उसके अनन्तर एकादश में जो विश्वरूप वर्णन है वह भगवद्भक्त को दिव्य चक्षुओं से मिलता है। अब

यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विवेचन ज्ञान चक्षुओं से बतलाया गया है। पद्य के 'भूतप्रकृतिमोक्ष' पद के ऊपर व्याख्याकारों में मतभेद है। श्री शंकराचार्य भूतों की प्रकृति जो अविद्या नाम की है उसके अभाव को ही मोक्ष कहते हैं, परन्तु अन्य सांख्य सम्मत व्याख्या को मानने वाले समस्त भूतों की जो मूल प्रकृति है उसका मोक्ष होना अर्थ करते हैं। उनके अनुसार पुरुष तो निर्लेप द्रष्टा मात्र है, बन्ध और मोक्ष दोनों ही प्रकृति के ही होते हैं। लोकमान्य तिलक ने भी यही व्याख्या मानी है। परन्तु अन्य व्याख्याकार इस मत का खण्डन करते हुए गीता में मोक्ष और परमतत्त्व के विषय में सांख्य का प्रतिपादन नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हुए 'भूतेभ्यः प्रकृतेश्च मोक्षः' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् अविद्या के कार्यों से मोक्ष का ज्ञान हो जाना। इस रहस्य को समझने वाले परमपद के भागी होते हैं। श्री नीलकण्ठ ने यहां यही प्रश्न किया है कि क्या दर्शन की तरह गुणों के और पुरुष के अन्तर मात्र को समझ लेना ही मोक्ष है, इसी का उत्तर उन्होंने 'भूतप्रकृतिमोक्ष' पद से माना है कि आकाश आदि भूतों की प्रकृति जो अविद्या है उसका मोक्ष अर्थात् समूलोन्मूलन हो जाने पर ही परमपद की प्राप्ति होती है। दोनों का अन्तर मात्र जान लेने से ही मुक्ति नहीं हो जाती जैसा कि सांख्य दर्शन में माना जाता है। यदि प्रकृति एक सत्य और व्यापक हो तब व्यापक और निर्लेप दृष्टि वाले बहुत से पुरुषों के द्वारा उसका देखा जाना अपरिहार्य ही रहेगा। ऐसी स्थिति में प्रकृति का मुक्तावस्था में भी दर्शन होने से मुक्त पुरुषों का भी पुनर्बन्ध मानना होगा। यदि वह प्रकृति मिथ्या है तब जिसको आत्मा का साक्षात्कार हो जायगा उसकी दृष्टि में रज्जु में दिखाई देने वाले सर्प की भांति सर्वदा के लिए प्रकृति का अभाव हो गया, यही कहना होगा। अनात्मज्ञ अन्य पुरुषों के लिये प्रकृति अनादि अनन्त है, यह कहा जा सकता है। इसलिए प्रकृति और पुरुष के केवल भेद को समझ लेना ही मोक्ष है ऐसी बात नहीं अपितु जैसे रज्जु के ज्ञान से सर्प का बाध होता है और उसी बाध के फलस्वरूप भय से निवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुष या आत्मा के ज्ञान से प्रकृति या अविद्या का बाध होने के अनन्तर जन्म मरणादि के प्रवाह से मुक्ति मिलती है।

## दशम-पुष्प चतुर्दश अध्याय

श्री भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।

यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः ॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

विगत अध्याय में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का निरूपण हुआ। प्रकृति और पुरुष अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अविद्या के द्वारा एक दूसरे पर अध्यास से समस्त सृष्टि होती है तथा उनके यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर जब ज्ञान के द्वारा अविद्या निवृत्त हो जाती है तब मोक्ष होता है; अमानित्व आदि ज्ञान साधनों के द्वारा बन्ध से मुक्ति हो जाती है। सत्त्वादि गुणों से युक्त सुख आदि का संग बन्धन का कारण है, यह सब विवेचन पूर्व अध्याय में हुआ। अब प्रस्तुत अध्याय में तीनों गुण किस प्रकार बन्ध करते हैं और किस प्रकार उस बन्धन से मुक्ति मिल सकती है, यह विवेचन करना है। साथ ही ऊर्ध्वगमन, नीचगमन, और मध्य में स्थिति होना इस महत्वपूर्ण विषय का भी प्रतिपादन होगा।

श्री शंकराचार्य ने प्रस्तुत अध्याय का आरंभ बतलाते हुए दार्शनिक भंगिमा से इस प्रकार प्रतिपादन किया है कि विगत अध्याय में सांख्य दर्शन की ही संज्ञाओं का व्यवहार और उसी की प्रक्रिया का प्रतिपादन देखकर बहुत अशों में गीता के संसार के स्वरूप कथन का आधार सांख्य दर्शन को माना जाना संभव है। परन्तु प्रक्रिया में सांख्य दर्शन और वेदान्त दर्शन का साम्य रहते हुए भी मूल तत्त्व के प्रतिपादन में दोनों दर्शनों में भेद है, इस बात को हम विगत प्रवचनों में स्पष्ट कर चुके हैं। जैसा कि गीता प्रवचन के प्रथम भाग में कहा जा चुका है, वेदान्त दर्शन में भी अनेक संप्रदाय हैं, उनमें जगत के मूलतत्त्व के विषय में मुख्य मतभेद है। कोई मूलतत्त्वों को अनेक मानते हैं, उन्हें द्वैतवादी कहा जाता है, कोई विशिष्टाद्वैतवादी हैं, कोई शुद्धाद्वैतवादी और कोई अद्वैतवादी हैं। ये सभी वाद वेदान्त दर्शन के ही अवान्तर भेदों में परिगणित होते हैं। सांख्य दर्शन भी द्वैतवादी दर्शन है, तब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि वेदान्त के द्वैतवादी सम्प्रदाय और सांख्य में क्या भेद होगा। भेद यही है कि जहां द्वैतवादी सांख्य जगत के मूल में दो तत्त्वों का विवरण देता हुआ प्रकृति और

पुरुष दोनों को स्वतन्त्र कहता है वहाँ वेदान्त का द्वैतवाद दो मूलतत्त्वों को मानते हुए भी चेतन सत्ता से भिन्न तत्त्व को स्वतन्त्र नहीं अपितु चेतन सत्ता के आधार पर अवस्थित मानता है। अद्वैत दर्शन की दृष्टि में ब्रह्म अपनी माया शक्ति को साथ में लेता हुआ समस्त संसार की सृष्टि और उसका संहार करता है। वह माया ही प्रकृति है वह त्रिगुणात्मिका है, सत्त्व, रज और तम ये ही प्रकृति के भेद हैं। इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति के आधार पर सृष्टि कैसे उत्पन्न हो जाती है, कैसे सर्वव्यापक सच्चिदानन्दसत्ता गुणत्रय के बन्धन में आती है, यही प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

माध्वभाष्य में कहा गया है कि विगत अध्याय में—

**“साधनं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु”**

इत्यादि के द्वारा क्षेत्रज्ञ के व्यवहारिक स्वरूप में आबद्ध हो जाने का साधन गुणों का सङ्ग बतलाया गया है। उसी साधन सम्पत्ति रूप गुणत्रय के स्वरूप का विवेचन, और कौन गुण किस प्रकार चेतन को आबद्ध करता है यही आगे के पाँचों अध्यायों का विषय है। यद्यपि अनेक पद्यों में आगे ईश्वर के माहात्म्य का भी वर्णन है, परन्तु प्रधान रूप से उपर्युक्त वर्णन ही प्रस्तुत किया गया है।

श्री वेंकटनाथ प्रस्तुत चतुर्दश अध्याय में विगत त्रयोदश अध्याय में कहे गए प्रकृति के संक्षिप्त स्वरूप का ही विस्तार से कथन मानते हैं। उन्होंने भी सांख्यानुसारिणी प्रतिपादन की प्रक्रिया का वही पूर्वपक्ष और उसका वही समाधान दिया है जो श्री शंकराचार्य ने लिखा है।

श्री वल्लभाचार्य की व्याख्या में यह भी कहा गया है कि गत अध्याय के अन्तिम पद्य में “यान्ति ते परम्” में जो पर शब्द का अर्थ है उसे भी प्रस्तुत अध्याय में खोला गया है।

श्री नीलकण्ठ ने भी उसी पूर्व अध्याय के अन्तिम पद्य से संगति जोड़ते हुए लिखा है कि भूतप्रकृति क्या है ? किस आधार पर वह भूतों को उत्पन्न करती है ? कैसे वह बन्धन करती है ? उससे मोक्ष कैसे होता है ? मुक्त पुरुषों का क्या लक्षण है ? इत्यादि विषयों पर प्रकाश डालने के लिए चतुर्दश अध्याय का प्रारंभ किया जाता है।

श्री शंकरानन्द ने लिखा है कि मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु पुरुष के लिए तीनों गुणों और उनके कार्यों को जानलेना परमावश्यक है, इसीलिए गुणत्रय का यहां परिचय दिया जाता है।

लोकमान्य तिलक ने गीता के प्रस्तुत सन्दर्भ का साम्य अनुगीता और मनुस्मृति के चतुर्दश अध्याय में भी बतलाया है।

अग्रिम पद्यों का अर्थ है—“पुनः ज्ञानों में उत्तम परमज्ञान कहता हूँ, जिसे जानकर सारे मुनिगण यहां से परमसिद्धि को प्राप्त हो गए। इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य में आ जाने वाले सृष्टि काल में उत्पन्न नहीं होते और प्रलय काल में उनको कोई व्यथा नहीं होती”। (२)

यह बात नहीं है कि प्रस्तुत महत्वपूर्ण ज्ञान का उपदेश पूर्व नहीं आया है। गीता के विगत अध्यायों में अनेक बार गुणत्रय का विवेचन हो चुका है। परन्तु एक तो यह बहुत ही गंभीर विद्या है, गंभीर विद्या अनेक बार कहने पर ही बुद्धि में ठीक प्रकार से बैठती है। दूसरे भगवान् अर्जुन को सम्यक् रूप से ज्ञानोपदेश करके उसके अज्ञान को सर्वथा निर्मूल कर देना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने पूर्व कथित गंभीर ज्ञान को भी सरलता से बुद्धिगम्य बनाने के लिए स्वयं ही पुनः कहने का आश्वासन दिया है। ज्ञान के यहां दो विशेषण हैं ‘परम्’ और ‘उत्तमम्’। पर तो वह इसलिए है कि उसका विषय पर वस्तु है और इस ज्ञान का फल उत्तम भी कहा गया है। जिसका फल उत्तम हो वही उत्तम होता है। इस ज्ञान का फल है मोक्ष; वही सब फलों में उत्तम फल है। उस मोक्ष की प्राप्ति जिस ज्ञान से होती है वह ज्ञान भी अवश्य ही उत्तम होगा ! भगवान् ने कहा है कि यह ज्ञानों में उत्तम ज्ञान है। किन ज्ञानों में उत्तम है ? क्या विगत अध्याय में कहे गए अमानित्व आदि ज्ञान से उत्तम यह है ? श्री शंकराचार्य ने यह नहीं माना। उन्होंने लिखा है कि यहाँ अमानित्व आदि से उत्तमता बतलाने में प्रयोजन नहीं अपितु अन्य जो कर्मकाण्ड में विहित यज्ञ यागादि का ज्ञान है, उससे इस ज्ञान की उत्तमता बतलाना यहां भगवान् को अभीष्ट है। यज्ञयागादि का ज्ञान ही सर्वोत्तम ज्ञान क्यों न माना जाय इसका उत्तर है कि मोक्षरूप सर्वोत्तम फल को देने वाला ज्ञान यज्ञयागादि का नहीं है; उससे तो अधिकाधिक स्वर्गप्राप्ति तथा ऐहलौकिक समृद्धि की प्राप्ति ही सिद्ध होती है। मोक्ष तो इसी ज्ञान से होता है। इससे यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि भगवान् ने इतर ज्ञानों को निकृष्ट कहा है। यहां का प्रयोजन तो श्रोताओं में इस ज्ञान की ओर रुचि पूर्वक जिज्ञासु भावना उत्पन्न करना है। क्या इसका कोई उदाहरण भी है, भगवान् सभी मुनियों का उदाहरण दे रहे हैं कि वे सभी मुक्त हो गए, उनके देहबन्धन छूट गए, श्री शंकराचार्य ने मुनि का अर्थ मननशील संन्यासी किया है। यद्यपि संन्यासाश्रम चतुर्थ आश्रम है। इतने थोड़े से काल में ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाना कैसे संभव है, इसीलिए उन्होंने मननशील



संन्यासी कहा है। जो निरन्तर मनन चिन्तन करता रहे वह सर्वदा ही संन्यासी है, इसके लिए आयु का बन्धन नहीं है।

श्री रामानुजाचार्य ने कहा है कि जो ज्ञान पहिले बतलाया गया है उससे भिन्न परन्तु प्रकृति और पुरुष के अन्तर्गत ही पुनः ज्ञान का उपदेश करता हूं। उन्होंने यहां यज्ञ यागादि को पृथक् नहीं किया अपितु प्रकृति पुरुष सम्बन्धी जो अनेक प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं उन्हीं में यह सर्वोत्तम ज्ञान है ऐसा कहा है।

श्री वेंकटनाथ ने यज्ञादि को बहिरङ्ग और इस ज्ञान को अन्तरङ्ग कहा है।

श्री वल्लभाचार्य की तत्त्वदीपिका में कहा गया है कि पूर्व के अध्याय के अन्तिम पद्य में जो 'यान्ति ते परम्' कहा गया; उसी 'परम्' की व्याख्या से यह अध्याय आरंभ होता है। 'प्रवक्ष्यामि' का अर्थ उन्होंने विवरण सहित कहूंगा ऐसा किया है। वह परमज्ञान अचिन्त्यशक्ति और महिमा से युक्त पुरुषोत्तम का ही ज्ञान है।

श्री नीलकण्ठ ने दार्शनिक दृष्टि से परज्ञान का विवरण इस प्रकार दिया है कि सभी ज्ञानों में ज्ञाता, वृत्ति और पदार्थ इन तीनों का समावेश होता है। "मैं घट को जानता हूं" इस ज्ञान का विश्लेषण करने पर स्पष्ट होगा कि इस में तीन भाग हैं, "मैं" का अर्थ है प्रमाता या ज्ञाता, "जानता हूं" का अर्थ है घटाकार वृत्ति होजाना, जिस विषय का ज्ञान होगा चित्त की वृत्ति तदाकार हो जायगी यही दार्शनिक परिभाषा में वृत्तिज्ञान कहा जाता है, तीसरा अंश घट स्वयं होगा। इन तीनों में प्रमाता और विषयाकार चित्तवृत्ति तो अनिवार्य ही है, तीसरे ज्ञान का अंश जो घट है वह प्रकाशरूप है। घट के ज्ञान में जो घट है वह प्रकाशरूप ही कहा जा सकता है। घट यहां उदाहरण के लिए ले लिया गया है, वह ज्ञान मात्र का उपलक्षण है। किसी भी ज्ञान में जिसका ज्ञान होगा वह वस्तु प्रकाशरूप से ही विद्यमान रहेगी, उसका जो इन्द्रियवेद्य स्थूल रूप है वह तो ज्ञान का अंग है नहीं, वह तो ज्ञान का जनक बनकर रह जाता है। अतः प्रत्येक ज्ञान में अवस्थित जो परज्ञान है वह ब्रह्म ही है, वह प्रकाशरूप है। उन्होंने यह वार्तिककार की कारिका उद्धृत की है कि—

**परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता**

**संविद् सैवेह ज्ञेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः ।**

अर्थात् बाह्य जितने भी ज्ञान के विषयभूत पदार्थ हैं, उनका जो फल है उसे 'संवित्' कहा जाता है, वह प्रकाशरूप है, वेदान्त के द्वारा उसे ही परम विज्ञेय बतलाया जाता है।

श्री शंकरानन्द ने प्रस्तुत ज्ञान की उत्तमता को समझाने के लिए कहा है कि यद्यपि मुक्ति का असाधारण कारण आत्मा और अनात्मा का पृथक् ज्ञान हो जाना, आत्मा की ब्रह्म से अभिन्नता का ज्ञान हो जाना, तथा प्रकृति के विलीन होने का ज्ञान हो जाना ही है। ऐसी स्थिति में उसे ही मुक्ति का कारण होने से सर्वोत्तम ज्ञान कहना चाहिए। यहां जो गुणों और उसके कार्यों का ज्ञान बतलाया गया है उससे ब्रह्मवेत्ता गुण की वासना से उत्पन्न होने वाली बाहरी प्रवृत्ति को रोक कर सम्यक् दर्शन का अभ्यासी हो जाता है, इससे ज्ञान और उसके प्रकाशरूप फल का प्रतिबन्ध नहीं होता। यों तो ज्ञान भी प्राप्त होता रहता है, उसका प्रकाश भी सभी को होता रहता है, परन्तु प्रतिबन्धक सामग्री के भी सर्वदा सामने रहने पर ज्ञान और फल दोनों का प्रतिबन्ध भी होता रहता है। यही मुक्ति मार्ग में बड़ी बाधा है। तीनों गुणों और उनके कार्यों के ज्ञान के अनन्तर प्रतिबन्ध होने का भय जाता रहता है और ब्रह्मवेत्ता को विदेह कैवल्य प्राप्त हो जाता है। इसीलिए गुणों का यह ज्ञान आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से भी उत्तम माना गया है। जैसे रोगी के लिए रोग कैसा है, उसकी क्या औषध है, औषध का क्या अनुपान है, उसरोग में क्या पथ्यवस्तु लेनी चाहिए, इत्यादि के ज्ञान से भी बढ़कर लाभ पहुँचाने वाला ज्ञान यह होता है कि अमुक वस्तु अपथ्य है, उसके सेवन से औषध और पथ्य से पहुँचने वाले लाभ का प्रतिबन्ध होता है, अतः अमुक अपथ्य पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए। इससे अपथ्य के प्रतिबन्ध से जब निवृत्ति हो जायगी तभी पथ्य और औषध का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा। औषध के सेवन और आरोग्य की सिद्धि को भी अपथ्य के अभाव में ही बल मिल सकेगा। उपर्युक्त उदाहरण के ही आधार पर प्रकृत में भी इसीलिए प्रतिबन्धक गुण और उनके विकारों के ज्ञान को उत्तम कहा गया है। क्योंकि गुणों और उनके प्रभावों के अभाव में ही ज्ञान को बल मिल सकेगा। अन्यथा कितना भी विशिष्ट ज्ञान प्रतिबन्धकों के रहने पर अकिंचित्कर हो जायगा।

अग्रिम पद्य में भगवान् ने यह बतलाया है कि इस ज्ञान का फल अवश्यंभावी है; इस ज्ञान का आश्रय लेकर जिन्होंने व्यवहार का परिचालन किया वे मेरे साधर्म्य को प्राप्त हो गए। यहां 'साधर्म्य' के अर्थ में व्याख्याकारों में मतभेद है। श्री शंकराचार्य, श्री शंकरानन्द, श्री मधुसूदन सरस्वती आदि अद्वैत सिद्धान्त के अनुयायी व्याख्याकार साधर्म्य का अर्थ सारूप्य करते हैं। 'ब्रह्मवेद ब्रह्मवैव भवति' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म को जान लेने वाला ब्रह्मरूप ही हो जाता है, यही बात सिद्ध होती है। गीता में क्षेत्रज्ञ और परब्रह्म में कुछ भी अन्तर नहीं है, यह बात विगत अध्याय के प्रवचनों में विस्तार से कही जा चुकी है; अतः क्षेत्रज्ञ का ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेना उक्त आचार्यों ने माना है।

श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्तानुसार मुक्तात्मा ब्रह्मरूप नहीं अपितु ब्रह्म के समान हो जाता है। उसमें भी सर्वात्मत्व, सर्वनियन्तृत्व, सबका अधिष्ठाता होना आदि धर्म आ जाते हैं। यही उनके यहां 'साधर्म्य' का अर्थ होगा। 'साधर्म्य' या समानधर्मता भिन्नता में ही हो सकती है। भिन्नता के न रहने पर समानता कैसे रहेगी और समानता के न रहने पर सधर्मता कहां से होगी। इस प्रकार अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार 'साधर्म्य' की व्याख्या की गई है। सृष्टि में उत्पन्न न होना और प्रलय में व्यथित न होना जो बतलाया गया है उस पर श्री शंकरानन्द यह प्रश्न करते हैं कि जो भगवान् के साथ साधर्म्य को प्राप्त हो गया उसकी सर्ग में उत्पत्ति और प्रलय में व्यथा का प्रश्न ही नहीं उठता। तब क्या यह यथास्थित वस्तु का ही कथन है। इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह अप्राप्त निषेध नहीं है। एक वह भी मुक्तावस्था है जब शिव विष्णु आदि के लोकों में प्राप्त होकर भी प्राणी मुक्त कहलाता है। परन्तु वह मुक्ति अपुनर्भव देने वाली नहीं है। शिव विष्णु आदि की सृष्टि के समय उनको फिर उस रूप में उत्पन्न होना पड़ेगा। विद्वानों को कहीं ऐसा सन्देह न हो जाय कि भगवान् यहां जिस साधर्म्य रूप मुक्ति की बात कह रहे हैं वह भी कहीं वैसी ही मुक्ति तो नहीं है जिसमें फिर उत्पन्न होने का प्रश्न आवे। उसी का निषेध यहां भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में किया है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने वाले फिर कभी भी संसृति के चक्र में आते ही नहीं।

---

## एकादश-पुष्प

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः संभवन्ति याः

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

“हे भारत; महान् ब्रह्म मेरी योनि है, मैं उसमें गर्भ का आधान करता हूँ। फिर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है, हे कौन्तेय; समस्त योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं उनकी योनि तो महद् ब्रह्म है और मैं उनका बीजप्रद पिता हूँ।”

संसार चक्र से छुटकारा पाना ज्ञान से ही संभव है। अतः यहां से भगवान् ने यह यह कहना प्रारंभ किया कि यह संसार चक्र प्रारंभ किस प्रकार होता है। कह चुके हैं कि जिससे बचना हो उसका भी ज्ञान आवश्यक है। सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया थोड़े से अक्षरों से समझा देना बड़ा कठिन कार्य है। सृष्टि की उत्पत्ति हमसे बहुत दूर की वस्तु है। भगवान् तो नित्य हैं, अतः उनके लिए तो कुछ भी परोक्ष नहीं है, परन्तु हमारे लिए तो वह प्रक्रिया सर्वथा परोक्ष है। परोक्ष विषयों को समझने की यही शैली है कि उस परोक्ष विषय की समानता रखने वाली जो बात हमारे सामने घटित होती हो उसको आधार बनाकर परोक्ष विषय को कह दिया जाता है। समझाने में इस प्रकार की समानता जब विषय से पृथक् करके कही जाती है तब तो उसे दृष्टान्त या उदाहरण कह देते हैं; परन्तु जब समानता का प्रस्तुत संदर्भ से नितान्त पार्थक्य अभीष्ट नहीं होता तब उस स्थिति में जो व्यवहारिक समानता प्रतिपाद्य विषय के साथ स्थापित की जाती है, उसे आलंकारिक शैली कहा जाता है। इसका प्रयोजन विषय प्रतिपादन की सरलता ही है। संपूर्ण संसार चक्र कैसे प्रारंभ में प्रवर्तित होता है, इस अत्यन्त परोक्ष विषय को समझाने के लिए यहां भगवान् ने यह उदाहरण लिया कि प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति का जो क्रम प्रत्यक्ष सभी को अनुभूत और नित्य-दृष्ट है उसी क्रम के आधार पर सृष्टि के आरंभ की भी झलक मिल सकती है। दूसरी बात यह भी है कि भारतीय दर्शनों का यह सिद्धान्त है कि “यद्यत्पिण्डे तत्तद् ब्रह्माण्डे” अर्थात् प्रत्येक प्राणि-पिण्ड में सृष्टि आदि का जो क्रम देखा जाता है, समस्त ब्रह्माण्ड का भी वही क्रम है। इसलिए भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रतिपादन शैली मनोवैज्ञानिक आधार रखती है और इस शैली से दुर्बोध विषय भी अनायास ही बोध-गम्य हो जाता है।

प्रत्येक प्राणी की उत्पत्ति का क्रम यही है कि योनि में बीज का आधान होता

है; वह गर्भ स्थित बीज समय पाकर पोषण प्राप्त करता हुआ प्राणि-शरीर के रूप में प्रकट हो जाता है। जिस गर्भाधान की प्रक्रिया से प्रत्यक्ष समस्त प्राणियों की उत्पत्ति देखी जाती है, वही प्रक्रिया यहां सम्पूर्ण सृष्टि आदि उत्पत्ति के विषय में भी भगवान् ने बतलायी है। यद्यपि सृष्टि का यह चक्र अनादि माना गया है परन्तु सृष्टि और लय दोनों की परम्परा चलती है। लय के अनन्तर जो सृष्टि होती है उसी का क्रम समझना यहां लक्ष्य है।

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि भगवान् की आत्मभूत जो माया शक्ति है, जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति कहलाती है, वही गर्भाधान के लिए योनि रूप है। योनि का अर्थ होता है कारण; प्रकृति ही समस्त चराचर प्रपंच का कारण है। प्रस्तुत पद्य में उसे 'महत् ब्रह्म' कहा गया है। यहां ईश्वर के लिए जिस ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ करता है उसी का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह यहां योनि का ही विशेषण है। 'महत्' और 'ब्रह्म' ये दोनों ही विशेषण यहां योनि रूपा प्रकृति के लिए प्रयुक्त किये गए हैं। वह अपने विकारों से बहुत बड़ा है, सभी विकारों का वह कारण है तथा सभी का भरण वह करती है इसीलिए प्रकृति या माया को यहां 'महत्' और 'ब्रह्म' कहा गया है। उसी प्रकृति में हिरण्य गर्भ की उत्पत्ति का कारण जो गर्भ है उसका निक्षेप भगवान् ने बतलाया। पद्य में जो 'अहम्' शब्द आया है, उसका अर्थ है क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूपिणी दोनों प्रकृतियों का स्वामित्व रखने वाला ईश्वर। उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि अविद्या से प्रयुक्त कामना पूर्वक कर्म की उपाधियों का अनुगमन करने वाला जो क्षेत्रज्ञ है, ईश्वर उसे क्षेत्र से संयुक्त कर देता है। हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति के अनन्तर उस हिरण्यगर्भ से फिर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। उस चराचर की उत्पत्ति का कारण यही क्षेत्र क्षेत्रज्ञ संयोग रूप गर्भाधान है।

श्री वेंकटनाथ की ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि योनि रूप प्रकृति देश और काल से सीमित न होने के कारण 'महत्' कही गई है; वह बृंहणशील होने के कारण ब्रह्म है। समस्त कार्य रूप विकारों की वृद्धि करते रहना ही उसकी बृंहणशीलता है। वही ईश्वर के द्वारा किये जाने वाला गर्भाधान का स्थान है। उसमें ईश्वर समस्त भूत जगत के कारण रूप "एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय" मैं एक हूं, बहुत रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ, ऐसा श्रुतियों में प्रतिपादित जो ईक्षणरूप संकल्प है उसका आधान करता है। वही यहां गर्भाधान कहा गया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती और श्रीवेंकटनाथ दोनों आचार्यों ने यहां प्राणि की उत्पत्ति को उपमान के रूप में ग्रहण किया और उपनिषद् के आधार पर जीव की उत्पत्ति की

प्रक्रिया का भी संक्षेप में दिग्दर्शन किया है। उपनिषदों में सूक्ष्म 'आप' रूप प्राण की पुरुष या प्राणि शरीर के रूप में परिणत हो जाने तक की पांच श्रेणियां कही गई हैं। इन्हें उपनिषद में आहुति कहा गया है। प्रथम आहुति चन्द्रमण्डल से मेघों में होती है। दूसरी आहुति मेघों से पृथ्वी पर वर्षा के रूप में होती है। तीसरी आहुति अन्न के मानव शरीर में पहुँचने के रूप में होती है। चौथी आहुति पिता के द्वारा माता के शरीर में गर्भाधान के रूप में होती है और अन्तिम पांचवीं आहुति में उपर्युक्त क्रम से चन्द्रमण्डल से चला हुआ वह प्राण तत्त्व प्राणि शरीर के रूप में अवतीर्ण होता है। यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि जिस प्राणतत्त्व की यह आहुतियां बतलाई गई हैं उसे शास्त्र की परिभाषा में अनुशयी कहा जाता है। इस प्रक्रिया का विषद वर्णन हम विगत प्रवचनों में श्राद्ध के प्रकरण में कर चुके हैं। चतुर्थ जो गर्भाधान रूप आहुति बतलाई गई है, उसमें आहार के रूप में अपने शरीर में व्याप्त सन्तान को पिता माता के शरीर में आहुत करता है। इस आहुति से पुत्र शरीर के साथ संयोग प्रारंभ होता है; उसे शरीर प्राप्त कराने की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है और शरीर मिलने से पहिले मांस पिण्ड आदि रूपों में वह जाता है, उसे शास्त्रों में कललादि अवस्थाएं बतलाया गया है। यही क्रम यहां उपमेय रूपा सर्वजगत् सृष्टि में भी भगवान् बतला रहे हैं कि प्रलयावस्था में मुझ में विलीन जो अविद्या वश काम्य कर्मों का अनुशय रखने वाला क्षेत्रज्ञ है उसे कार्य और कारण के समूह रूप में अवस्थित क्षेत्र के साथ चिदाभास नाम के शुक्र से मैं सिंचित करता हूं। यह गर्भ माया वृत्ति रूप होता है। वही मध्य की आकाश वायु, तेज, जल पृथिवी आदि अवस्थाओं में परिणत होता है। उसी गर्भाधान से हिरण्यगर्भादि की उत्पत्ति होती है। स्मरण रहे कि यह उत्पत्ति ईश्वर के द्वारा विहित गर्भाधान के बिना संभव नहीं क्योंकि इस प्रक्रिया में ईश्वर कृत गर्भाधान ही सम्पूर्ण सृष्टि का आदि कारण है।

श्री वल्लभाचार्य लिखते हैं कि "सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च", इत्यादि पद्य में भगवान् ने सर्ग या सृष्टि का उपक्रम कर दिया है। वह सर्ग प्रकृति का होने से प्राकृत और गुण सम्बन्धी होने से सगुण है। उसी की उत्पत्ति का वर्णन यहां प्रक्रान्त हुआ है। योनि रूप प्रकृति के लिए 'मेरी' कहने का अभिप्राय यह है कि गुणों की कारण रूपा प्रकृति ईश्वरांश और ईश्वर से ही समुद्भूत है। समस्त भूतों का प्रकृति के गुणों के साथ संयोग मैंने ही किया है। ब्रह्म सद्रूप है और प्रकृति सदंश रूप है, वही योनि या वीर्य का निषेक स्थान है। ब्रह्म का अंश होने से प्रकृति को महत् ब्रह्म कहा गया है। प्रकृति समस्त भूतों की कारण रूप और अचेतन है। उसमें बीजरूप चेतना का आधान अक्षरात्मा पुरुष करता है। ईक्षण के द्वारा ही यह गर्भाधान होता है,

वह ईक्षण सृष्टि का बीज है। इससे संयुक्त या मिले हुए पुरुष की 'विराट्' यह संज्ञा है। उसमें उत्पन्न होने वाले प्रकृति और पुरुष दोनों के स्वरूप को धारण करने वाले आत्मा को जीव कहा जाता है। जिस प्रकार माता में उत्पादित पुत्र में पिता और माता दोनों का अंश है, वह माता के अंश को भी धारण करता है और उसमें पिता का भी बीजरूप अंश विद्यमान है, उसी प्रकार यह ईश्वर के द्वारा प्रकृति में समुत्पादित जीव भी ईश्वर का अंशरूप है।

श्रीपुरुषोत्तमजी की अमृत तरंगिणी में ब्रह्म का अर्थ लीला के लिए फैलने वाली किया गया है। वह प्रकृति ही है। वह पुरुषोत्तम भगवान् की योनि अर्थात् क्रीड़ा के लिए विचित्र अनेक वस्तुओं को प्रकट करने वाला गर्भाधान का स्थान है। उसमें भगवान् के गर्भाधान करने का अभिप्राय क्रीड़ा की इच्छा का भाव स्थापित करना है। इस प्रकार के गर्भाधान के अनन्तर समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। यहां विश्वास उत्पन्न करने के लिए अर्जुन को भारत ! कहकर सम्बोधित भी किया गया है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि पूर्व अध्याय में कही गई भूत प्रकृति क्या वस्तु है, किसके आधार पर वह भूतों को उत्पन्न करती है इस बात को इस पद्य में कहा गया है। यहां 'मम' 'मेरी' का अर्थ शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा है। उसकी योनि का अर्थ है प्रवेश स्थान। 'महद्ब्रह्म' में महत् का, कार्य रूप में प्रथम समुत्पन्न महत्तत्त्व का जो ब्रह्म अर्थात् बृंहक या पोषक है वह प्रकृति है जिसे अव्यक्त, अव्याकृत आदि पर्याय शब्दों से भी कहा जाता है। उसमें अपने प्रतिबिम्ब का आधान करना ही गर्भ धारण कराना है। यह प्रतिबिम्ब चिदात्मा का ही होता है। इस प्रकार चैतन्य से गर्भित जो प्रकृति है उसी से उत्पन्न होने वाले सारे भूतों तथा हिरण्यगर्भादि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार चैतन्य के प्रतिबिम्ब के योग से सृष्टि बतलाकर भगवान् ने सृष्टि के विषय में सांख्य दर्शन में प्रकृति को जो स्वतन्त्र माना गया है उसका खण्डन कर दिया।

श्री रामानुजाचार्य का कथन है कि प्रकृति के गुण किस प्रकार बन्धन के हेतु बनते हैं यह बतलाने के लिए सम्पूर्ण भूत प्रपञ्च की रचना के लिए प्रकृति और पुरुष संयोग भी भगवान् ने स्वयं ही किया है, यही बात उक्त पद्य से बतलाई गई है। उनका अर्थ है कि समस्त संसार की कारण भूता प्रकृति मेरी ही है। वह महत्तत्त्व और अहंकार आदि की कारण है, अतः उसे यहां 'महद् ब्रह्म' कहा गया है। यहां प्रकृति मेरी है और वह संपूर्ण संसार की कारण भूता है ऐसी व्याख्या करके 'योनि' के पूर्व में समस्त संसार का अध्याहार किया है। यदि ऐसा न करके यथा श्रुत "मम योनि" दोनों का परस्पर सीधा ही अन्वय किया जाय तब तो 'मेरी योनि, अर्थात् मेरी भी कारण

भूता प्रकृति है', ऐसा अर्थ करना होगा। परन्तु प्रकृति को ईश्वर का भी कारण मानना गीता को अभिमत नहीं। पहिले—

**“मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय”**

इत्यादि में परब्रह्म से आगे और कोई तत्त्व नहीं है ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। उपर्युक्त यथाश्रुत अन्वय के अनुसार प्रकृति को ईश्वर का कारण मान लेने पर तो पूर्वोक्त श्लोक का विरोध होगा। साथ ही उस व्याख्या में मैं उसमें गर्भाधान करता हूँ तथा सभी योनियों में जितनी मूर्तियां हैं उनकी योनि तो महद् ब्रह्म है और मैं उनका बीज वपन करने वाला पिता हूँ, यह आगे के श्लोक का अर्थ भी गड़बड़ा जायगा। पहिले तो प्रकृति को ईश्वर का कारण कहना और फिर उसी प्रकृति को योनि रूप मान कर उसके कार्य रूप ईश्वर से उसमें गर्भाधान की बात कहना यह परस्पर विरुद्ध कथन हो जायगा। इसलिए यहां प्रकृति को समस्त संसार की योनि कहने के लिए श्लोक में छोड़ दिये गए 'समस्त संसार' का अध्याहार करना अनिवार्य है। प्रकृति को श्रुति में भी अनेक बार ब्रह्म कहा गया है, उदाहरण के लिए—

**“यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः**

**तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते”**

‘जो सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता है, उसी से यह ब्रह्म, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होता है।’ यहां प्रकृति को स्पष्ट रूप से ब्रह्म कहा गया है। यद्यपि प्रकृति और ब्रह्म पारिभाषिक हैं और प्रकृति और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं तथापि जैसे ब्रह्म सबका कारण है और सबसे बृहत् है इसी प्रकार प्रकृति भी महदादि सभी आगे उत्पन्न होने वाले तत्त्वों की कारण है और महदादि सभी तत्त्वों से बृहत् अर्थात् बड़ी भी है अतः ब्रह्म के साथ इन धर्मों के सादृश्य से ब्रह्म से भिन्न प्रकृति को भी यहां ब्रह्म कह दिया गया है। अवश्य ही यह इस शब्द का औपचारिक प्रयोग माना जायगा। सप्तम अध्याय में जो चेतन रूपा भूत प्रकृति बतलाई गई है उसे ही यहां गर्भ शब्द से कहा गया है। प्रश्न उपस्थित होता है कि वहां चेतन को जड़ रूपा अपरा प्रकृति का आधार और जड़ प्रकृति को चेतन का आधेय कहा गया था यहां “ययेदं धार्यते जगत्” (७।५) से जीव रूपा परा प्रकृति को जड़ जगत् रूप अपरा प्रकृति का धारण करने वाली स्पष्ट बतलाया गया है। यहाँ उसके विपरीत जड़ प्रकृति को ही जीव रूप गर्भ का आधेय स्थान कहा जा रहा है, यह पूर्वापर विरुद्ध कथन प्रतीत होता है। इसका उत्तर है कि यहां गर्भ रूप जीवप्रकृति और जड़प्रकृति का आधाराधेय भाव नहीं कहा जा रहा है अपितु भगवान् यहां यही कह रहे हैं कि मैं जीव और प्रकृति को संयुक्त कर देता हूँ, अचेतन प्रकृति



भोग क्षेत्ररूपा है उसके साथ भोक्ता जीवों को संयुक्त कर देता हूं। मेरे संकल्प के द्वारा संपन्न इन जीव और जड़ दोनों प्रकृतियों के संयोग से ब्रह्म से लेकर घास फूस तक की सम्पूर्ण सृष्टि का प्रादुर्भाव हो जाता है।

आनन्दतीर्थ कृत माध्वभाष्य में आगमशास्त्र की प्रक्रिया का आधार लेते हुए प्रकृति जिसे यहां योनि शब्द से कहा है उसे चेतन माना है, वह श्रीः भूः और दुर्गा इन तीन रूपों में विभक्त है। प्रकृति स्वयं महालक्ष्मी है। यह प्रश्न उठाया गया है कि यहां जड़ प्रकृति का ग्रहण ही उपयुक्त है क्योंकि आगे सत्त्व रज और तम इन तीन गुणों का विस्तार से वर्णन आवेगा। सत्त्व रज और तम जड़ प्रकृति के ही भेद हैं, अतः यहां भी महत् ब्रह्म, योनि शब्द से जड़ प्रकृति का ही ग्रहण उचित होगा, अन्यथा पहिले तो यहां चेतन प्रकृति का उपन्यास हुआ और आगे जड़ प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन हुआ यह असंगत कथन हो जायगा। इसका उत्तर उक्त भाष्य और उसकी व्याख्या में यह दिया गया है कि आगे गुणत्रय के रूप में जिस प्रकृति का वर्णन है वह भी चेतन प्रकृति ही है। यद्यपि सत्त्व रज और तम ये तीनों गुण जड़ प्रकृति के ही हैं परन्तु इनमें से प्रत्येक गुण की अभिमानीनी श्रीः भूः और दुर्गा नाम की चेतन प्रकृतियां हैं। यद्यपि प्रकृति रूपा भगवती, माहेश्वरी, कौमारी, माहेन्द्री, श्रीः, भूः, दुर्गा ये सात भेद आगमों में माने गए हैं, फिर यहां श्रीः भूः दुर्गा ये तीन ही भेद प्रकृति के कैसे कहे गए इसका समाधान करते हुए उक्त भाष्य में कहा गया है कि उक्त सात भेदों में आदि के चार भेद भगवती, माहेश्वरी, कौमारी, और माहेन्द्री ये प्रकृति के अवान्तर भेद हैं, ये अन्य जीव रूप हैं, प्रकृति के प्रारंभिक भेद तो तीनों गुणों की अभिमानीनी देवताओं के रूप में अन्तिम तीन श्रीः भूः दुर्गा ही हैं। अपने प्रतिपादित सिद्धान्त की पुष्टि के लिए काषायण श्रुति का यह उद्धरण दिया है कि—

**श्रीर्भूर्दुर्गा महती तु माया या लोकसूतिर्जगतो बन्धिका च**

**उमा वागाद्या अन्यजीवास्तदंशास्तदात्मना सर्ववेदेषु, गीताः**

अर्थात् “जगत् को उत्पन्न करने वाली और उसको बन्धन में लेने वाली महती माया या महामाया श्रीः भूः और दुर्गा इन तीन भेदों से युक्त है। उमा, वाक् (सरस्वती) आदि अन्य जीव उसी के अंश हैं और इन अंशों का भी उसी महामाया शक्ति के रूप में समस्त वेदों में गायन हुआ है। आगे यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि योनि शब्द से योनि की प्रजनन और गर्भधारण इन दोनों शक्तियों का बोध हो सकता है। उनमें प्रकृत में योनि शब्द से गर्भधारणगुणसम्पन्ना योनि ही विवक्षित है, वह भगवान् की भार्या रूप में ही यहां ग्राह्य है। “महद् ब्रह्म मेरी योनि है” इसमें योनि शब्द से प्रजनन

गुण वाली योनि का आशय लगाया जायगा तब तो 'मेरीयोनि' कहने का अभिप्राय प्रकृति को अपनी उत्पादिका माता के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु यहां प्रकृति को अपनी जननी बतलाने का अभिप्राय भगवान् का नहीं है। यहां तो उस योनि में वे स्वयं को गर्भाधान करने वाला पिता स्पष्ट शब्दों में ही कह रहे हैं। इसलिए यहां योनि का गर्भ धारण की शक्ति रखने वाली ही अर्थ करना होगा। इसकी पुष्टि में भी प्रस्तुत भाष्य में सामवेद की शार्कराक्ष श्रुति का उद्धरण दिया गया है कि—

**विष्णोर्योनिर्गर्भसंधारणार्था महामायासर्वदुःखैर्विहीना ।**

**तथाप्यात्मानं दुःखिवन्मोहनार्थं प्रकाशयन्ती सह विष्णुना सा ॥**

अर्थात् “सर्वविध दुःखों से विहीन, गर्भ का संधारण करने वाली महामाया नाम की विष्णु की योनि है। यद्यपि वह सभी दुःखों से विनिर्मुक्त है फिर भी अपने को दुःखी की तरह मोहितावस्था में देखने की लालसा से वह विष्णु के साथ स्वयं को प्रकाशित करती है।” सीता जी को जो दुःखादि का अनुभव हुआ था वह सब मिथ्या या केवल प्रदर्शन के लिए ही था।

तत्त्व प्रकाशिका में चेतन और अचेतन शक्ति के अधीश्वर भगवान् का ईक्षण ही गर्भ कहा गया है।

श्री शंकरानन्द ने लिखा है कि प्रकृति से अवच्छिन्न चेतन ईश्वर प्रकृति की अनन्त शक्तियों से सम्पन्न होता हुआ प्रकृति और उसके गुणों के विकारों में क्रियाशीलता उत्पन्न करने के लिए अपने आभास का निक्षेप करता है। ईश्वर के आभास का निक्षेप हो जाने से जो सामर्थ्य प्रकृति में आ जाता है उसी से महत्तत्त्व, भूत, तथा चार प्रकार के प्राणिशरीरों की सृष्टि हो जाती है।

भाष्योत्कर्षदीपिका में 'महद्ब्रह्म' का महत्तत्त्व की बृंहक प्रकृति है ऐसा अर्थ मानना असंगत बतला कर महत् और ब्रह्म दोनों को प्रकृति का स्वतन्त्र रूप से विशेषण माना गया है जैसा कि उक्त सभी व्याख्याओं में माना है। यह भी प्रश्न उठाया गया है कि हिरण्यगर्भ जो प्रथमोत्पन्न है उसकी उत्पत्ति तो प्रकृति से मानना ठीक है परन्तु सभी भूतों की उत्पत्ति प्रकृति से कैसे बतलायी गई, इसका उत्तर भारत ! इस सम्बोधन से माना है कि भरत का पुत्र ही भारत कहलावेगा, अर्जुन यद्यपि भरत का पुत्र नहीं है, परन्तु भरत के वंश के आदि पुरुष होने से उस वंश में समुत्पन्न सभी क्षत्रिय भारत शब्द के सम्बोधनीय हो गए। इसी प्रकार यद्यपि प्रकृति से तो हिरण्यगर्भ या महत्तत्त्व की ही उत्पत्ति होती है, उससे आगे फिर क्रमशः समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है,

परन्तु मूल में प्रकृति से ही उत्पत्ति होने से समस्त भूतों की उत्पत्ति भी प्रकृति से ही कह दी गई है।

राघवेन्द्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'महत् ब्रह्म जो चित्प्रकृति है वह मेरी योनि अर्थात् माया है। उसमें मैं गर्भ का आधान करता हूँ इसका अभिप्राय है कि २४ तत्त्वों के अंशों से युक्त जीवों का शरीर में निक्षेप करता हूँ। इस निक्षेप से समुद्भूत प्राणियों का देहों से संयोग रूप जन्म होता है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार व्यावहारिक आत्मा के अठारह भेद होते हैं जिनका विवरण विगत प्रवचनों में किया गया है। उनमें एक महान् आत्मा भी है। उसके तीन भेद हैं, आकृति महान्, प्रकृति महान्, और अहंकृति महान्। इनमें आकृति महान् का विवरण प्रस्तुत पद्य में है—

**“तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता”**

प्रकृति महान् का निरूपण गीता में अन्यत्र आया है, अहंकृति महान् से अहंकार का ग्रहण होता है जिसे सांख्य शास्त्र में महत्तत्त्व कहा जाता है, आकृति महान् से सभी प्राणियों के आकारों का निर्माण हो रहा है। संसार में सभी जड़ चेतन पदार्थों की असंख्य आकृतियां देखी जाती हैं। देवताओं में भी विविध आकृतियां हैं जिनका वर्णन पुराणादि में सर्वत्र विस्तार से मिलता है। आकृति की सृष्टि क्रम में बहुत बड़ी महत्ता है ! शब्द का संकेत ग्रह भी कई मतों के अनुसार आकृति में ही होता है। ये समस्त संसार में दृष्टिगोचर होने वाली आकृतियां महान् आत्मा नाम के व्यावहारिक आत्मा के आकृति महान् नामक भेद से ही समुद्भूत हैं। विद्यावाचस्पति जी ने सृष्टि विद्या में त्रिपुरुष विज्ञान को मुख्य माना है। क्षर अक्षर और अव्यय ये पुरुष हैं। गीता में इनका वर्णन आया है। इन तीनों पुरुषों की पांच-पांच कलाएं हैं। गीता में भगवान् ने 'अहम्' शब्द से अव्यय पुरुष को ही कहा है जो क्षर अक्षर से अतीत है। यहां भी प्रस्तुत पद्य में 'अहम्' शब्द से अव्यय पुरुष का ही ग्रहण है। उनके मतानुसार पद्य का अर्थ होगा कि अव्यय पुरुष महानात्मा में जो गर्भाधान करता है उससे अक्षर पुरुष की उत्पत्ति होती है और आगे चलकर उसी से सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति होती है। वेदान्त प्रक्रिया में क्षर पुरुष समष्टि व्यष्टि भेद से विश्व और विराट् कहा जाता है और अक्षर पुरुष को तेजस और हिरण्यगर्भ और अव्यय पुरुष को प्राज्ञ और सर्वज्ञ कहा जात है, इससे यहां हिरण्यगर्भ अर्थ करने वाली व्याख्याओं की संगति हो जाती है। अक्षर पुरुष से क्षर पुरुष बनता है और क्षर पुरुष से सारा जगत् बनता है।

अग्रिम पद्य में भगवान् ने कहा है कि 'देव, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मनुष्य

पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, आदि योनियों में देहों के आकार रूप जो मूर्तियां हैं उनकी योनि अर्थात् कारण तो महद् ब्रह्म है और गर्भाधान करने वाला पिता मैं हूं। कहा जा चुका है कि संसार में मूर्ति या आकृति ही मुख्य पहिचान की वस्तु है। आकृतियां अनन्त हैं। पहिले तो प्रत्येक जाति के प्राणियों की आकृतियां अलग-अलग हैं। देवताओं में आकृतियों के अनन्त भेद हैं। विश्वरूप दर्शन के प्रकरण में देवताओं की मूर्तियों का कुछ विवरण हमने दिया है। गन्धर्व, यक्ष आदि देव जातियों की आकृतियां भी पुराणादि साहित्य में विभिन्न प्रकार की वर्णित हैं। राक्षसों का जहां कहीं वर्णन आता है उनकी आकृतियों के वर्णन में विशेष आकर्षण रहता है। इसी प्रकार मनुष्यों की आकृति प्रसिद्ध ही है। पशु पक्षियों की भी प्रत्येक की पृथक् पृथक् आकृतियां हैं। मूर्तियों या आकृतियों के इस जातिगत वैशिष्ट्य से भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक ही जाति के एक व्यक्ति की आकृति दूसरे व्यक्ति की आकृति से नहीं मिलती। इसी को कुछ लोग इस प्रकार भी कह दिया करते हैं कि परमेश्वर की सृष्टि में पुनरुक्ति नहीं होती। यदि कदाचित् किसी एक व्यक्ति की आकृति किसी दूसरे व्यक्ति से जैसी की तैसी मिल जाय तो वह संसार में एक आश्चर्य का ही विषय बन जाती है। सारांश यह कि आकृति या मूर्तियां अनन्त हैं। इसीलिए भगवान् ने “याः मूर्तयः संभवन्ति” कह कर संसार में परिदृश्यमान मूर्तियां अनन्त हैं यह दिखाया है। तब जैसे किसी टकसाल या खजाने में सिक्के ढाले जाते हैं वैसे ही इन सभी मूर्तियों का निर्माण करने वाली भी कोई टकसाल है जिसमें निर्मित होकर ये मूर्तियां संसार में प्रादुर्भूत होती हैं। इन सभी मूर्तियों का एक निश्चित सन्निवेश और एक निश्चित विकास क्रम देखकर ऐसा तो माना नहीं जा सकता कि इनकी उत्पत्ति नितान्त आकस्मिक है। अवश्य ही यह सारी मूर्तियां बुद्धिपूर्वक निर्मित नियति के नियमों के आधार पर विकसित हैं, अतः इनका उद्भव किसी निश्चित स्थान से और निश्चित नियम से ही होता होगा। उसी का विवरण भगवान् ने यहां किया है कि ये जितनी मूर्तियां हैं उनकी योनि या कारण या उनका निर्माण स्थान पूर्वोक्त ‘महद् ब्रह्म’ रूप प्रकृति ही है। प्रकृति में ही इन सभी मूर्तियों का निर्माण हो रहा है और वहीं निर्मित होकर ये मूर्तियां विश्व में प्रकट हो जाया करती हैं। अब साथ ही यह भी प्रश्न सामने आता है कि जिस प्रकार कोई सांचा किसी मूर्ति या आकार को ढाल देता है, परन्तु जिस पदार्थ को वह आकार मिलता है वह पदार्थ उस सांचे के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता है ! पूर्व निर्मित पदार्थ ही सांचे में पहुँच कर विशेष आकार ग्रहण कर सकता है। उसी प्रकार यह प्रकृति को केवल मूर्तियों का निर्माण स्थान मात्र कहा गया है। उन मूर्तियों में जो द्रव्य (Material) भूत पदार्थ है जिसको कि प्रकृति रूपी सांचे में विभिन्न आकार प्राप्त हो

बतलाया जाता है वह पदार्थ कहां से आता है। इसका उत्तर भगवान् ने साथ ही दे दिया है कि उन मूर्तियों में जो मूल व बीजरूप तत्त्व है जिसके आधार पर ही सभी आकारों का निर्माण प्रकृति में हो जाता है, उस बीज का देने वाला स्वयं मैं ही हूं।

श्रीरामानुजाचार्य ने पूर्व पद्य से इस पद्य की आभासित होने वाली पुनरुक्ति को हटाने के लिए कहा है कि सम्पूर्ण संसार प्रपंच की मूल कारणावस्था का परिचय पूर्व पद्य में आया है और उस मूल कारण की उत्पत्ति के अनन्तर आगे की जो भी कुछ दृश्यमान सृष्टि है उसका भी कारण मैं ही हूं इस बात को प्रस्तुत पद्य में बतलाया है। आज भी जो सृष्टि हो रही है और आगे भी जो सृष्टि होगी उसके भी मूल में महद् ब्रह्मरूपा योनि और बीजप्रद पिता मैं ही हूं। प्रश्न हो सकता है कि दोनों पद्यों में वर्तमान काल की क्रिया का ही निर्देश है। वहां 'ददामि' कहा गया था, यहां भी 'संभवन्ति'या अध्याहार करके "अहं बीज प्रदः पिता अस्मि" ऐसा वर्तमान काल का ही निर्देश है। यदि पूर्व पद्य में आदि कारण का निर्देश होता तो अर्जुन के उपदेश काल से पूर्व हो जाने के कारण पूर्व पद्य में भूतकालिक निर्देश होना चाहिए था। "मैंने गर्भाधान किया" ऐसा कहना चाहिए था, कहा तो गया है कि मैं गर्भाधान करता हूं। इसका उत्तर है कि सृष्टि और प्रलय का प्रवाह अनादि और अनन्त है, सर्वदा ही यह क्रम चलता रहता है और सर्वदा ही भगवान् की सिसृक्षा चलती रहती है, वह समाप्त हो गई, अब नहीं होगी या नहीं हो रही है, ऐसा नहीं है। अतः वर्तमानकालिक निर्देश सुसंगत हो जाता है, प्रत्युत यदि भूत कालिक निर्देश किया जाता तो यह शंका उठ सकती थी कि क्या आगे सृष्टि का क्रम रूक जायेगा जो कि भगवान् ने मैंने पहले गर्भाधान किया था ऐसा कहा। महद् ब्रह्म के कारण होने का अर्थ श्री रामानुजाचार्य ने लगाया है कि मेरे द्वारा चेतन वर्ग से संयुक्त महान् से लेकर विशेष पर्यन्त प्रकृति कारण है। भगवान् सर्वत्र कर्मों के अनुसार चेतन वर्ग का संयोग करते हैं यही यहां उनका पितृत्व कहा गया है।

श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि सृष्टि की उत्पत्ति माता और पिता दोनों से होती है। यहां प्रकृति माता है और भगवान् सृष्टि के पिता हैं। इसी प्रकार भगवान् का पुराणादि में जहां कहीं वर्णन आया है प्रकृति के साथ ही आया है। भगवान् की जितनी आराध्य-मूर्तियां हैं उन सभी के साथ संसार की माता के रूप में और भगवान् की अत्यन्त अन्तरङ्ग प्राणवल्लभा के रूप प्रकृति भी नित्य उपास्य है। लक्ष्मीनारायण गौरीशंकर, सीताराम, राधाकृष्ण इत्यादि भगवान् की उपास्यमूर्तियों में शक्ति के रूप में प्रकृति भी उपास्य है।

श्रीपुरुषोत्तम जी ने अपनी अमृततरङ्गिणी में इस श्लोक की व्याख्या के आरम्भ में यह प्रश्न उठाया है कि संसार में दृश्यमान अनेक योनियों में अनन्तता की प्रतीति होती है उन सबका उत्पत्ति स्थान एक ही प्रकृति कैसे होगी। उसी का उत्तर यहां दिया गया है कि प्रकृति से पहले समस्त प्रकार के जड़ चेतनों को उत्पन्न करने वाली सभी योनियाँ उत्पन्न होती हैं और फिर उन योनियों से समस्त मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं। उन सभी मूर्तियों का उत्पत्ति स्थान प्रकृति है और इच्छा तथा ज्ञान रूप बीज का प्रदाता परमेश्वर स्वयं है। ईश्वर की इच्छा से ही वह महद् ब्रह्म नाना योनियों में भासित हो रहा है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि जैसे पृथिवी से समस्त औषधियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही सुर, नर, तिर्यक् और स्थावर इन चारों की मूर्तियाँ प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार पुरुष अपनी भार्या में अनुशय से युक्त शुक्र का आधान करता है, भार्या से पिण्ड की उत्पत्ति होती है और शुक्र के अंश से चैतन्य की उत्पत्ति होती है वैसे ही चैतन्य विशिष्ट पिण्ड का पिता ईश्वर है और माता माया है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि भगवान् अपनी विमर्श शक्ति का आलम्बन करके अपने अनादि आत्मा के अणुओं को अनुग्रह के लिए संसार में उत्पन्न करते हैं। पिता भी अपने शरीर के अणुओं को ही माता के शरीर में आहित करता है। सभी योनियों की आदिकारण उनको उपबृंहित करने वाली शक्ति समस्त संसार को उत्पन्न करने का स्वभाव रखने वाली माया है, वही माता है। शक्तिमान् और किसी भी नाम से पूर्णरूपेण सम्बोधन के अयोग्य ईश्वर ही पिता हैं। श्री अभिनवगुप्त ने यहां दैवीमीमांसा-दर्शन का अनुसन्धान कराया है कि सृष्टि के विस्तार के लिए बीज दाता वहां ईश्वर को माना गया है और क्षेत्र रूपिणी प्रकृति ही वहां माया है। जैसे क्षेत्र में अंकुर की उत्पत्ति के लिए बीजवपन किया जाता है वैसे ही प्रकृति रूप क्षेत्र में पुरुष के बीजाधान द्वारा संसार चक्र चलता है। जैसे मनुष्यादि जीव-जगत् की सृष्टि के विस्तार के लिए माता के क्षेत्र में पिता का वीर्याधान आवश्यक है वैसे ही प्रकृति माता के क्षेत्र में परमपिता परमेश्वर के वीर्याधान द्वारा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मक विराट् सृष्टि का उद्भव हो जाता है। यह मातृ शक्ति स्त्री रूपिणी है, इसे वेद स्मृति आदि में कहीं 'संस्त्यानशक्ति' शब्द से कहीं 'अप' 'सलिल' आदि शब्दों से ग्रहण किया जाता है। अव्याकृत अवस्था में स्थित उस महा प्रकृति में परमेश्वर अपने वीर्याधान के द्वारा गर्भ उत्पन्न करता है। उसके अनन्तर महत्तत्त्वआदि के क्रम से सृष्टि का विस्तार होता चला जाता है। यह कौन्तेय ! इस सम्बोधन का आशय लगाया है कि जैसे महेन्द्र के द्वारा अनुगृहीता

कुन्ती से तुम्हारी उत्पत्ति हुई वैसे ही मेरे द्वारा अनुगृहीता प्रकृति से समस्त संसार की उत्पत्ति हो जाती है।

श्री शंकरानन्द ने प्रकृति और ईश्वर के संयोग से उत्पत्ति बतला कर अन्त में लिखा है कि माता प्रकृति और पिता ईश्वर का मोक्ष परब्रह्म के अनुग्रह से ही होता है।

अन्य व्याख्याओं में प्रायः उपर्युक्त विषयों का ही कथन किया गया है। विद्या-वाचस्पति जी के मत का पूर्व श्लोकार्थ में विवरण किया ही जा चुका है कि व्यावहारिक आत्मा के अठारह भेदों में महानात्मा के तीन भेद हैं, उनमें आकृति महान् का यहां वर्णन है। वही बात इस पद्य में और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि सभी आकार महद् ब्रह्म से ही समुद्भूत हैं।

---

## द्वादश-पुष्प

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।

निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।

तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥८॥

पहिले के श्लोकों में प्रकृति के समष्टि रूप का वर्णन किया गया। अब यह बतलाया जा रहा है कि प्रकृति से समुद्भूत जो गुण हैं वस्तुतः उन्हीं के द्वारा संसार चक्र चल रहा है। पद्य का अर्थ है कि—

“सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, ये ही शरीर में अव्यय देही को आबद्ध करते हैं”।

श्री शंकराचार्य ने कहा है कि गुण शब्द यहां पारिभाषिक है। न्यायशास्त्र में प्रसिद्ध जो रूप, रस आदि चौबीस गुण हैं उनकी परिभाषा अलग है। जो द्रव्याश्रित हो वह गुण कहलाता है। रूप, रस आदि द्रव्यों के आश्रित हैं अतः वे वहां गुण कहे जाते हैं। यहां सत्त्व, रज, तम को गुण कहने में उस परिभाषा से काम नहीं चल सकता। क्योंकि ये गुण तो प्रकृति रूप हैं और प्रकृति द्रव्य आदि सभी की आश्रय है, ऐसी स्थिति में इन गुणों को द्रव्याश्रित कैसे कहा जा सकता है, प्रत्युत द्रव्यादि सभी पदार्थ इन गुणों के ही आश्रित हैं यही कहना होगा। इसलिए यहां गुण की पृथक् परिभाषा कहनी पड़ेगी। जो गौण या परतन्त्र हो उसे भी गुण कहा जाता है। वही यहां के गुण का भी अभिप्राय है। यद्यपि रूप रसादि में भी गुण का यह अभिप्राय लिया जा सकता है, क्योंकि वे भी द्रव्य के आधीन होकर ही स्थिर रहते हैं, द्रव्य से पृथक् उनकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु वे केवल द्रव्य के ही परतन्त्र हैं, अतः उनकी परिभाषा में द्रव्याश्रित कहना आवश्यक है। ये गुण द्रव्यादि की उत्पत्ति से भी पूर्व विद्यमान रहते हैं अतः इन्हें द्रव्याश्रित नहीं कहा जा सकता। तब ये किस के परतन्त्र हैं। इसका उत्तर श्री शंकराचार्य ने दिया है कि ये क्षेत्रज्ञ के आधीन हैं। बीच में एक



प्रश्न और उठाया गया है कि जैसे रूप रसादि में गुण हैं और जिस द्रव्य के आश्रित रूप रसादि हैं वह द्रव्य गुणी हैं। वह द्रव्य उन गुणों से स्वरूपतः सर्वथा भिन्न है, उसी प्रकार सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृति के हैं अतः प्रकृति को गुणी कहना होगा, तब प्रकृति से गुण पृथक् सिद्ध होंगे। इसका उत्तर यही है कि प्रकृति से गुण पृथक् नहीं हैं, इसीलिए गुण की वह परिभाषा यहां अस्वीकृत कर देनी पड़ी जो रूप रसादि की है। हां, क्षेत्रज्ञ के आधीन होने से क्षेत्रज्ञ से पृथक् सत्ता इनकी मानी जा सकती है। ये गुण क्षेत्रज्ञ के प्रति नित्य परतन्त्र क्यों हैं इसका कारण यह है कि ये अविद्यात्मक हैं। ये क्षेत्रज्ञ को आधार बनाकर ही अपनी स्थिति प्राप्त करते हैं। पद्य में कहा गया है कि ये गुण देह में देही आत्मा को बांधते हैं। भला प्रकृति के द्वारा उत्पादित गुणों में इतनी सामर्थ्य कहां है कि वे आत्मा को बांधे, इसीलिए श्री शंकराचार्य ने बांधने का अर्थ किया है कि बांध सा देते हैं। जैसे कोई बादल आकाश में फैलकर सूर्य बिंब को ढँक सा देता है। वस्तुतः पृथ्वी से भी लाखों गुना बड़े सूर्य में यही बात आती है कि बादल ने सूर्य को ढांक दिया। वही बात यहां भी है कि तीनों गुण आत्मा को क्या बाँधेंगे। परन्तु सामान्य दर्शकों को या संसारी प्राणियों को यही आभास होता है कि गुणों ने आत्मा को बांध लिया। इसीलिए श्री शंकराचार्य ने गुणों के द्वारा आत्मा के बन्धन पर यह शंका की कि आत्मा के लिये तो कहा गया है कि वह लिप्त नहीं होता तब यहां गुणों के द्वारा आत्मा के बन्धन कहने का क्या अभिप्राय है; इसका उत्तर यही है कि ऐसा प्रतीत मात्र होता है कि मानों गुणों ने आत्मा को बांध लिया हो। वस्तु स्थिति में तो गुणों के द्वारा क्षेत्रज्ञ का बन्धन कथमपि संभव ही नहीं है। 'प्रकृति-संभवाः' का अर्थ है भगवान् की माया से संभूत। सांख्यदर्शन में भी इन तीनों गुणों का विस्तार से वर्णन है, वहां भी ये गुण प्रकृति के ही भेद हैं; परन्तु वहां प्रकृति स्वतन्त्र है। इसीलिए सांख्य सिद्धान्त से गीता के प्रतिपाद्य विषय का पृथक्करण करने के लिए श्री शंकराचार्य ने यहां माया या प्रकृति को भगवान् की शक्ति कहा है।

श्रीरामानुजाचार्य ने इस पद्य के आरंभ में कहा है कि सृष्टि के आरंभ में प्राचीन कर्मों के कारण अचेतन प्रकृति के संसर्ग से देव योनियों में उत्पन्न प्राणियों का पुनः देव भाव से जन्म होता है, उसका कारण क्या है, इसी बात को इस पद्य में कहा गया है। नैमित्तिक सृष्टि के आदि में जो प्राणियों के जन्म होते हैं वे पूर्व सृष्टि में उत्पन्न उन प्राणियों के कर्मों के अनुसार परम पुरुष के संकल्प से उनके अचेतन के साथ संसर्ग होने पर होते हैं। प्राचीन कर्मों का फल उसी से सिद्ध हो जाता है। उस फल की प्राप्ति के अनन्तर वह शरीर नष्ट हो जाता है। रह गया शरीरस्थित आत्मा, वह स्वयं विशुद्ध है। तब फिर यह आत्मा नित्य सृष्टि का विषय कैसे बनेगा। इसी का उत्तर है कि प्रकृति

संभूत गुण देह को आबद्ध करते हैं, गुणों के द्वारा प्रकृति के स्वरूप का परिचय दिया जाता है। प्रकृति का स्वरूप क्या है, उसका स्वरूप परिचय देने के लिए यही कहा जायगा कि वह गुणत्रय रूप है। इसलिए तीनों गुण प्रकृति के स्वरूप निरूपक धर्म हुए, जो वस्तु के स्वरूप में अनुप्रविष्ट धर्म होते हैं वे वस्तु को कभी नहीं छोड़ते। तब यदि गुण प्रकृति के स्वरूप निरूपक धर्म हैं तो प्रकृति के स्वरूप और गुणों के स्वरूप परिचय में वैषम्य क्यों। प्रकृति एक है, गुण तीन हैं। प्रकृति के स्वरूप में अन्य बातें कही जाती हैं, गुणों के स्वरूप में दूसरा परिचय दिया जाता है, ऐसा क्यों। इसका उत्तर है कि यह सब इसलिए बतलाया जाता है कि इन गुणों की उत्पत्ति प्रकृति से विषय भाव से होती है। फिर प्रश्न होता है कि शब्द आदि की तरह सत्त्व आदि गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों नहीं होता। शब्द आदि भी गुण हैं, उनका तो प्रत्यक्ष से अनुभव हो जाता है, परन्तु वैसा प्रत्यक्ष अनुभव सत्त्व आदि गुणों का तो होता नहीं; अनुमान प्रमाण से भी सत्त्व आदि गुणों को इसीलिए नहीं जाना जा सकता कि जो पदार्थ नित्य है और इन्द्रिय वेद्य नहीं है उसमें अनुमान नहीं चलता ऐसा शारीरिक दर्शन में युक्ति पूर्वक प्रतिपादन किया है। जब प्रकृति के गुण प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से उपलब्ध ही नहीं हो सकते तो उनके उपदेश का भी क्या प्रयोजन रह जायगा। उपदेश का प्रयोजन तो उपदेश्य को उपलब्ध करना ही है। उपलब्धि के साधन प्रत्यक्षादि प्रमाण ही हैं। इनसे गुणों की उपलब्धि संभव नहीं जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। तब गीतादि शास्त्रों में गुणों का उपदेश क्या प्रयोजन रखता है। इसीलिए गुणों की उपलब्धि के लिए गुणों के किसी आधार की कल्पना करनी पड़ेगी। इसका उत्तर देते हुए श्री रामानुजाचार्य ने गुणों को कार्यों के ही द्वारा जानने योग्य कहा है। अभिप्राय यह कि प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह ये गुणों के तीनों कार्य प्रत्यक्ष हैं। इन कार्यों के कारण के रूप में गुणों का अनुमान हो जाता है क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती; वह कारण शास्त्रप्रमाण से सत्त्व, रज, तम नाम के गुण ही हो सकते हैं। जैसे किसी विषमय औषधि की जो शक्ति है, वह अतीन्द्रिय है। फिर भी उसका उपदेश उससे बचनेके लिए किया ही जाता है उसी प्रकार अतीन्द्रिय गुणों का उपदेश भी मुक्ति मार्ग में उनसे बचने के लिए आवश्यक हो जाता है। ये गुण प्रकृति दशा में उद्भूत नहीं होते; महत्तत्त्व आदि में ही ये उद्भूत होते हैं और देव मनुष्यादि के देहों से सम्बन्ध रखने वाले अव्यय देहों को ये तीनों गुण बन्धन में लेते हैं। जब तक देही का देह संबन्ध है तभी तक इनके द्वारा बन्धन होता है। अव्यय में स्वतः गुण सम्बन्ध की योग्यता नहीं है, परन्तु देह में आकर वह गुणों से सम्बद्ध हो जाता है।

आनन्द तीर्थ के माध्वभाष्य में कहा गया है अध्याय के आरम्भ में जिस ज्ञान

को कहने की प्रतिज्ञा की गई है वह ज्ञान तो विगत दो पद्यों द्वारा कह दिया गया। उसके आगे जो कुछ कहा जा रहा है वह किसलिए ? आगे का कथन तो असंगत मालूम होता है। इसका उत्तर दिया गया है कि जो स्वयं के लिए ऐसा समझता है कि मैं बद्ध हूँ, वह बन्धन की निवृत्ति के साधनों की जिज्ञासा करके निवृत्ति साधनों का अनुष्ठान करता है। इसलिए बन्धन को दूर करने के साधन का अनुष्ठान करने के लिए उस साधन को कहने से पूर्व गुणत्रय के साधन का अनुष्ठान करने के लिए उस साधन को कहने से पूर्व गुणत्रय के द्वारा किये गए बन्ध का प्रकार पहिले बतलाया गया है।

ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कही जाती है। उसी प्रकार प्रकृति से परस्पर अङ्गाङ्गी भाव से संपन्न होकर वैषम्य से तीनों गुणों की अभिव्यक्ति होती है। ये गुण प्रकृति के परिणाम रूप देह में तादात्म्य भाव से अवस्थित क्षेत्रज्ञ देही को जो कि वस्तुतः अव्यय और निर्विकार है उसे उसी प्रकार आबद्ध करते हैं जिस प्रकार निष्कम्प सूर्य बिम्ब को सरोवर का चंचल जल कंपित रूप में दिखा देता है।

श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि आगे के चौदह पद्यों में भगवान् बन्ध लीला का प्रतिपादन कर रहे हैं। अपने कार्यों सहित बन्धन करने वाले ये गुण आत्मा के नहीं अपितु प्रकृति के हैं। देहों में चेतन का बन्धन करने वाले ये गुण ही हैं। आत्मा को हीन भाव में पहुँचा देना प्रकृति का ही धर्म है। भगवान् की अंशभूता प्रकृति में जो गुण हैं वे तो सत्ता, चेतना और आनन्द हैं। इनकी गुण संज्ञा भी बन्धन का साधन होने के कारण ही है। बन्धन की साधन रस्सी को गुण कहा जाता है। आत्मा को आबद्ध करने में ये गुण रस्सी के स्थान पर ही हैं, इसी से इनकी 'गुण' यह संज्ञा है। देह का अभिमान रखने वाले ये गुण अणुरूप उस चिदंश को बाँध लेते हैं। हे महाबाहो; विशाल भुजाओंवाले अर्जुन; यह संबोधन इस व्यंजना को लिए हुए है कि तुम अपनी विशाल भुजाओं से गुणों के इस बन्धन को निवृत्त कर सकते हो। विशाल भुजाओं से गुणों का बन्धन यद्यपि निवृत्त नहीं किया जा सकता परन्तु जिस प्रकार रस्सी आदि के बाहरी बन्धन को अपनी सशक्त भुजाओं द्वारा दूर करने की सामर्थ्य तुममें है, उसी प्रकार गुणों के बन्धन को निवृत्त करने की सामर्थ्य भी तुम रखते हो। तुम्हें चाहिए कि तुम गुणों के बन्धन को निवृत्त कर दो।

श्रीनीलकण्ठ ने गुणों द्वारा देही के बन्धन पर एक उपमा दी है कि जिस प्रकार खूँटे से रस्सी के द्वारा बछड़ा बाँध दिया जाता है उसी प्रकार ये गुण आत्माका बन्धन करते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य की तत्त्व दीपिका व्याख्या में गुणों के साम्य को प्रकृति कह कर कालरूपी ईश्वर से उसका विक्षोभ होने पर महत्तत्त्व आदि कार्यों में गुण रूप से उसकी अभिव्यक्ति मानी है। अपने वक्तव्य की पुष्टि में उन्होंने विष्णुपुराण के ये पद्य उद्धृत किए हैं—

प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः  
 क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ  
 स एव क्षोभको ब्रह्मन् ! क्षोभ्यश्च परमेश्वरः  
 स संकोचविकासाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः  
 गुणसाम्यात्ततस्तस्मात्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने !  
 गुणव्यंजनसंभूतः सर्गकाले द्विजोत्तम !  
 सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्”

(विष्णु पुराण)

अर्थात् सृष्टिकाल के आ जाने पर अपनी इच्छा से भगवान् हरि ने प्रवेश करके व्यय और अव्यय रूप प्रधान और पुरुष को विक्षुब्ध किया। हे ब्रह्मन् ; उस समय विक्षुब्ध करने वाला और विक्षुब्ध होने वाला दोनों परमेश्वर के ही रूप थे। संकोच और विकास धर्मों से वह हरि ही प्रधान रूप में भी अवस्थित थे। हे मुने; क्षेत्रज्ञ के द्वारा अधिष्ठित उस गुण साम्यात्मक प्रकृति से गुणों की अभिव्यक्ति से सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार का महान् अर्थात् महत्तत्त्व समुद्भूत हुआ। इस प्रकार प्रकृति के परिणाम रूप ये तीनों गुण अपने कार्य महदादि पृथिव्यन्त देहों से सम्बन्ध रखने वाले देही आत्मा को अपने कार्य रूप सुख दुःखादि से संयुक्त करते हैं। यदि ऐसा है तो गीता में पहिले कहा गया है कि—

“देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत !”

अर्थात् सभी देहों में स्थित यह देही अवध्य है। यहां गुणों से उसका बन्धन स्वीकार किया जा रहा है, यह परस्पर विरुद्ध उक्ति हो जायगी, उसका उत्तर अव्यय शब्द से देते हैं कि देह में स्थित रहता हुआ भी वह अव्यय है, उसके स्वरूप का अन्यथा भाव नहीं होता। गुण उस अव्यय का देह और उसके अनुबन्धक तत्त्वों में अभिनिवेश कर देते हैं और उसे आबद्ध कर लेते हैं।

श्रीमधुसूदन सरस्वती लिखते हैं कि जड़ प्रकृति रूप होने से गुण नित्य परतन्त्र

हैं, नियम है कि सभी अचेतन पदार्थ चेतन के लिए होते हैं; प्रकृति अचेतन है उसके भेद रूप गुण भी अचेतन हैं वे चेतन क्षेत्रज्ञ के लिए हैं। जब गुण प्रकृति रूप ही हैं तो यहां पद्य में उन्हें “प्रकृतिसंभव” अर्थात् प्रकृति से समुत्पन्न क्यों कहा गया। प्रकृति से संभूत कहने पर तो गुणों की प्रकृति से भिन्नता सिद्ध होती है, इसका उत्तर देते हैं कि प्रकृति से अङ्गाङ्गिभाव से विषम आकार में ये गुण आगे परिणत होते हैं, यहां ‘संभव’ का अर्थ नवीन उत्पत्ति नहीं अपितु परिणति है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब तक साम्यावस्था में रहे तब तक तो वह प्रकृति है और विभिन्नता अर्थात् पृथग्भाव प्राप्त करने पर एक एक गुण उससे उत्पन्न कहा जाता है। इसी कारण ऐसा भी प्रवाद अन्यत्र शास्त्रों में देखा जाता है कि सांख्य मतानुसार गुणत्रय ही प्रकृति है और वेदान्त मतानुसार गुणत्रयवती प्रकृति है।

श्री शंकरानन्द ने पद्य में कहे गए गुणों के क्रम की संगति लगाते हुए लिखा है कि सत्त्व गुण मुक्ति का परम साधन होने से उत्कृष्ट है अतः उसका सबसे पहिले निर्देश हुआ है। समस्त क्रियात्मक प्रवृत्तियों का कारण होने से रजोगुण का उसके बाद उल्लेख है और सबसे निकृष्ट होने के कारण तमोगुण का अन्त में निर्देश किया गया है। प्रकृति से संभूत हैं अर्थात् इनका उपादान कारण प्रकृति है। कार्य और कारण का अभेद होने से ये प्रकृत्यात्मक हैं, अतः सर्वगत हैं। इसीलिए समस्त जगत् गुणमय है। ये गुण बहिर्जगत् में विषयों के रूप में, तथा अन्तर्जगत् में राग द्वेष, लोभ, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, शम, दम, सत्य, दया, दाक्षिण्य आदि रूपों में वर्तमान होते हुए अपने विकारों के आवरणों में आत्मा के स्वरूप को तिरोहित करके देह में ही आत्मा का अध्यास कराते हुए तथा देह के धर्मों और कर्मों में ही अहंता और ममता का अभिनिवेश कराते हुए आत्मा को जन्म मरणादि से संयुक्त करके उसका नाश करते हैं। यद्यपि आत्मा समस्त इन्द्रियों से विवर्जित, असक्त प्रकृति से ही कर्मों को न करने वाला, लिप्त न होने वाला, कूटस्थ और चिद्रूप गीता में सर्वत्र बतलाया गया है, तथापि अज्ञान दशा में उसका गुणों के द्वारा बन्धन अध्यास मूलक है, वस्तुतः उसका बन्धन कभी नहीं होता। यदि उसका वास्तविक बन्धन मान लिया जाय तब तो मोक्ष की कथा ही समाप्त हो जायेगी। जो व्यक्ति नित्य निरन्तर आत्मानुभूति में लीन रहता है दुःखों के अभाव को देखता है, उसको आत्मा के आनन्दरस की अनुभूति होती रहती है, वह गुणों का अतिक्रमण करके विदेह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो यतिभाव को प्राप्त करके भी गुणों के दोषों से लिप्त होकर कर्म करता है उसके प्राप्त ज्ञान का संकोच होने लगता है, उसके चित्त में विक्षेप आने लगता है और अन्ततः जन्मादि बन्धन को प्राप्त करता है। जड़भरत का उदाहरण देते हुए श्री शंकरानन्द ने लिखा

है कि भरत विद्वान् थे परन्तु सत्त्व गुण के विकास भूत दया के दोष से एक मृग शावक में उनकी पोष्यत्व और ममत्व बुद्धि हो गई और उसके स्नेह पाश से आबद्ध होकर वे पुनः जन्मादि के बन्धन में आ गए।

परमार्थप्रपा व्याख्या में इस श्लोक के समर्थन में अधोलिखित श्रुति और उसकी व्याख्या उद्धृत की गई है—

“अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्ती सरूपाम्  
अजोह्योको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः”

यहां अजा प्रकृति है, लोहित शुक्ल और कृष्ण उसके सत्त्व रज और तम ये तीनों गुण हैं। वह बहुत सी प्रजा को उत्पन्न करती है। उसका इच्छा पूर्वक अनुशयन करने वाला अध्यास भावापन्न क्षेत्रज्ञ है, इसका भोग करके मुक्तावस्था में ब्रह्मभाव को प्राप्त होता हुआ वह इसे छोड़ देता है।

राघवेन्द्र की विवृति में प्रकृति को चेतन कहा गया है, वह महालक्ष्मी है, उससे उत्पन्न गुणों की अभिमानिनी श्रीः, भूः, दुर्गा नाम की तीन शक्तियां हैं। वे देह में स्थित अव्यय चिदंशका बन्धन करती हैं। जीव अनन्त हैं और सभी शक्तियां सभी जीवों का बन्धन करती हैं फिर भी उनके बन्धन में यह विशेष विभाग है कि श्री देवताभावापन्न जीव का बन्धन करती है, भूः मनुष्यभावापन्न जीव का बन्धन करती है और दुर्गा असुरभावापन्न जीव का बन्धन करती है। यहां यह भी ध्यान में ले लेना चाहिए कि सांख्य दर्शन में इन गुणों को द्रव्यरूप माना है। परन्तु विद्यावाचस्पति जी ने युक्तियां और प्रमाण देते हुए इन्हें क्रिया रूप सिद्ध किया है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है—‘उन गुणों में सत्त्व गुण निर्मल हो । के कारण प्रकाशक और उपद्रव रहित है, वह सुख तथा ज्ञान के सङ्ग से आत्मा का बन्धन करता है।’

सत्त्व गुण निर्मल अर्थात् स्फटिकमणि के समान स्वच्छ और आवरण को हटाने में सक्षम होता है, वह सुख के संग से आत्मा का बन्धन करता है। “मैं सुखी हूं” इत्यादि अनुभव में सुख आत्मा को मिथ्यारूप से लिप्त करता है। यह लेप अविद्या के कारण है। जब आत्मा को सुख का अनुभव हो रहा है तब उसको मिथ्या रूप से लिप्त करना कैसे कहा जाय इसी का उत्तर है कि यह लेपन अविद्या के कारण होने से ही मिथ्या है। फिर प्रश्न होता है कि इच्छा, सङ्ग और अभिनिवेश शब्द एक ही अर्थ के सूचक होते हैं। यहां सङ्ग शब्द का प्रयोग है, उसका भी अर्थ इच्छा ही है। इच्छा आत्मा का धर्म है, तब अपने ही धर्म से बन्धन कैसे होगा। उसका उत्तर है कि

इच्छा आत्मा का धर्म नहीं अपितु मन का धर्म है। मन क्षेत्र के ही अन्तर्गत आता है, अतः इच्छा क्षेत्र का ही धर्म हुआ क्षेत्रज्ञ आत्मा का नहीं। जो धर्म विषय का है वह विषयी का धर्म कैसे हो सकता है। इस बात को गीता में त्रयोदश अध्याय में “इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं” इत्यादि पद्य में स्पष्ट कर दिया है कि इच्छा से लेकर धृति पर्यन्त क्षेत्र के ही धर्म हैं। इसलिए आत्मा की धर्म भूता जो अविद्या है, जिसमें विषय और विषयी के पार्थक्य का ज्ञान नहीं रह जाता, उसके द्वारा अपने आत्मभूत सुख में आत्मा लिप्त सा दिखा दिया जाता है। जो असङ्ग है, उसे अविद्या सङ्गयुक्त के समान दिखा देती है। जिसका सुख से कोई सम्बन्ध नहीं है उसको सुखी के समान दिखा देती है। इसी प्रकार ज्ञान से भी सत्त्व गुण आत्मा का बन्धन करता है। यहां भी वही प्रश्न होगा कि ज्ञान तो आत्मा का ही धर्म है; सत्ता, ज्ञान और आनन्द ये तीनों आत्मा के ही धर्म माने गए हैं तब आत्मधर्मभूत ज्ञान के द्वारा आत्मा का बन्धन कैसे होगा। उसका भी उत्तर यही है कि यहां सुख के साथ जो ज्ञान का ग्रहण है इससे यह भी क्षेत्र का ही धर्म है आत्मा का नहीं। यदि यहाँ आत्मा का धर्म जो ज्ञान है, उसका ग्रहण किया जाय तो उससे बन्ध सम्भव नहीं। इसलिए इस प्रकार सुख के सङ्ग से सत्त्व गुण के द्वारा आत्मा का बन्धन बतलाया, वह सुख क्षेत्र का ही धर्म है और अविद्या से आत्मा पर अध्यस्त होता है। इसी प्रकार वह ज्ञान भी क्षेत्र का ही धर्म है इसके सङ्ग से भी सत्त्व गुण आत्मा को आबद्ध के समान प्रदर्शित करता है। यह श्रीशंकराचार्य की व्याख्या है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रकाश का सुख का आवरण न करना ही निर्मलत्व है, सत्त्व गुण में यही निर्मलता है, अतएव वह प्रकाशक है, मणि की तरह उसे बतलाया गया है, मणि यद्यपि प्रकाश युक्त नहीं होती तथापि वह प्रकाश का आवरण नहीं करती। प्रकाश का अर्थ उन्होंने किया है प्रकाश के सुख को देने का कारण, प्रकाश का अर्थ है वस्तु की यथार्थता का ज्ञान। आमय का अर्थ होता है रोग, सत्त्व गुण अनामय है, इसका अर्थ है कि वह नीरोगता का सम्पादक है। यह सत्त्व गुण सुख और ज्ञान के सङ्ग से आत्मा का बन्धन करता है। इसका अर्थ है कि पुरुष के लिए सुख और ज्ञान प्रस्तुत करता है। जब पुरुष ज्ञान और सुख से सम्बद्ध हो जाता तब ज्ञान और सुख प्राप्ति के लोकसिद्ध और वेदोक्त साधनों में प्रवृत्त होता है। इसका तात्पर्य है कि सुख और ज्ञान से परिचित होकर पुरुष यह चाहने लगता है कि मुझे सर्वदा सुख और ज्ञान मिलता रहे। अतः सर्वदा सुख और ज्ञान मिलने के जो साधन वेदों में बतलाए गए हैं और जो साधन लोक में प्रसिद्ध हैं, पुरुष उन साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है। यहां यह शंका होती है कि वेदोक्त जो यज्ञ यागादि

साधन हैं उनके अनुष्ठान से तो उत्तमयोनि की प्राप्ति होती है और उन योनियों में अधिक सुख की भी प्राप्ति होती है। उन साधनों के अनुष्ठान से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है वह उत्तम लोकों में ले जाकर अधिक मात्रा में सुख का उपभोग कराता है। परन्तु लौकिक साधनों का तो कोई अदृष्ट फल सुना नहीं जाता। इसका उत्तर दिया गया है कि लौकिक साधन से स्मृति आदि के द्वारा बोधित साधनों का ग्रहण करना चाहिए।

ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में सत्त्व के प्रकाशक होने का अर्थ किया गया है कि वह चैतन्य के आवरण और उसके अन्तिम रूप प्रकाश को उत्पन्न करता है। ऐसा क्यों है, क्योंकि वह निर्मल है, स्फटिक के समान स्वच्छ है, वह चेतना के बिम्ब ग्रहण के योग्य है। वह आमय अर्थात् दुःख का विरोधी है अर्थात् वह सुख का अभिव्यंजक है। ऐसा सत्त्व गुण सुख और ज्ञान के सङ्ग से बन्धन करता है, इसका अभिप्राय है कि सुख और ज्ञान सत्त्व के कार्य हैं। उनके साथ आत्मा का जो सामीप्य होता है, उसी से सत्त्व आत्मा को आबद्ध कर लेता है। मैं सुखी या ज्ञानी बनूँगा ऐसा जो मन का धर्म है उसे मन के अभिमानी क्षेत्रज्ञ पर आरोपित करता है।

वल्लभाचार्य की तत्त्वदीपिका में कहा गया है कि प्राकृत होने के कारण सत्त्व गुण लौकिक सुख और लौकिक ज्ञान के संपर्क से आत्मा को बाँधता है। पुरुष को सुख और ज्ञान में आसक्त कर देता है।

श्रीपुरुषोत्तमजीकी अमृततरंगिणी में कहा गया है कि सत्त्व गुण भगवान् की इच्छा रूप पदार्थों की अवस्थिति का कारण होने से निर्मल होने के कारण प्रकाशक है अर्थात् भगवान् के रमणात्मक सर्वस्वभूत रूप को प्रकट करने में समर्थ है। अनामय का अभिप्राय है कि वह भगवान् की सेवा में प्रतिबन्धक जो राग, द्वेषादि हैं उनसे रहित है। अतः वह भगवत्सेवा का साधनभूत जो उत्तम शरीर है, उसके सङ्ग से और ज्ञानोत्पत्ति के साधक के रूप में बन्धक बनता है। यहां अर्जुन के अनघ; इस सम्बोधन का आशय यह लगाया है कि हे अर्जुन ! तुम मेरे द्वारा अनुगृहीत हो, अतः तुम्हें इस बन्धन का भय नहीं है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि सत्त्वगुण निर्मल है अर्थात् दुःख और मोहादि मलों से रहित है। प्रकाशक का अर्थ है कि वह आलोक के समान सभी अर्थों का द्योतक है। वह अनामय अर्थात् रज और तम से अभिभूत नहीं है, इसलिए वह सुख और ज्ञान के संपर्क से अविद्या के कारण जिसका स्वरूप, ज्ञान और आनन्द तिरोहित हो गया है ऐसे पुरुष को “मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ” ऐसे अनुभव के अभिमान से अन्तःकरण वृत्ति के धर्म सुख और ज्ञान का आत्मा पर आरोप करके बाँधता है।



अविगीता में लिखा है कि रजोगुण और तमोगुण का तो बन्धकत्व ठीक है, परन्तु सत्त्वगुण तो प्रकाशक होने से ज्ञान का जनक है, अनामय होने से सुख का जनक है, ऐसे सत्त्वगुण को बन्धक कैसे माना जाय। इसका उत्तर दिया गया है कि सत्त्वगुण ज्ञान और सुख को उत्पन्न करने के अनन्तर उससे पुरुष का 'मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ' अमुक वस्तु मेरे सुख का साधन है, इत्यादि प्रकार के अहंता और ममता रूप संग उत्पन्न करके बन्धन करता है। उदाहरण के लिए सत्त्वगुण की कार्यभूता दया के द्वारा जड़भरत का बन्धन हुआ था, यह कहा गया है, जो हम पहिले लिख आए हैं।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने प्रकाशक का अर्थ किया है कि तमोगुण के द्वारा उत्पन्न किये गए आचरण का तिरोधायक है। चैतन्य के बिम्ब के ग्रहण करने की योग्यता ही उसकी निर्मलता है। उसमें चैतन्य का बिम्ब अनायास गृहीत हो जाता है।

श्रीशंकरानन्द ने कहा है कि सत्त्व के अनामय होने का अभिप्राय है कि दो प्रकार के आमय होते हैं—एक विक्षेप और दूसरी जड़ता। ये दोनों रजोगुण और तमोगुण के कार्य हैं। वे इसके विपरीत हैं परन्तु सत्त्वगुण के स्वरूप में विक्षेप और जड़ता का लेश भी नहीं है। सत्त्व गुण विशुद्ध सुख और विशुद्ध ज्ञान का जनक है। यदि उसमें विक्षेप हो तो उसके द्वारा सुख या आनन्द का प्रतिभास नहीं मिल सकेगा और यदि जड़ता का संपर्क भी वहां है तो उसकी आनन्द जनकता समाप्त हो जायगी। वस्तुतः सत्त्व के कार्यों में दुःख और जड़ता का लेश भी नहीं माना जा सकता। इसीलिए कहीं ऐसा न समझ लिया जाय कि सत्त्वगुण में प्रधान रूप से तो सुख और ज्ञान होता है परन्तु आंशिक रूप से दुःख और जड़ता भी उसके स्वरूप में सम्मिलित है। ऐसा बिल्कुल नहीं है। सत्त्व का स्वरूप दुःख या चंचलता और अज्ञान या जड़ता से नितान्त असंस्पृष्ट है। इसीलिए सत्त्व गुण का नितान्त यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए भगवान् ने उसके लिए अनामयम् कहना आवश्यक समझा। उपर्युक्त विश्लेषण से यही सिद्ध हुआ कि सत्त्व गुण का स्वरूप और उसका प्रभाव अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल है। परन्तु इतना स्वच्छ और निर्मल होते हुए भी अन्ततः सत्त्व गुण बन्धक ही है। बन्धन उसी का संभव होता है जो बन्धन से छूटा हुआ हो, बँधा हुआ न हो। बन्धन से छूटना और बन्धन के अभाव के भी दो स्पष्ट रूप हैं, एक तो जो बन्धन में बँधा ही नहीं, वह बन्धन शून्य कहा जायगा, और एक वह जो पहिले एक बार या अनेकों बार बन्धन में आ चुका है परन्तु अब जो सुकृतवश मुक्त दशा में पहुँच चुका है, परन्तु अभी 'चक्रभ्रमवत् धृतशरीर' है, पहिले का उदाहरण सनत्कुमार हैं, जो कि उत्पन्न होते

ही ज्ञानी हो गए और अविद्या के प्रभाव से दूर रहे, और दूसरे के उदाहरण जनक आदि हो सकते हैं। इस प्रकार के पुरुषों का यदि सत्त्व गुण के कार्य सुखादि से संसर्ग होगा तो वे मुक्त होकर भी सुखास्वाद करने लगेंगे। मुक्तावस्था में पहुंचकर फिर बद्धावस्था में चले जायेंगे। दूसरा व्याख्यान यह भी है कि सत्त्व गुण की ब्रह्म ज्ञानी पुरुष को शम, दम, दया, अहिंसा, शान्ति जो साधन सम्पत्ति बतलाई गई है उस अपनी कार्यभूता साधन सम्पत्ति से सुख का अनुभव करता हुआ उपासना से साध्य ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि के लोकों का जो पारलौकिक सुख है उसकी कामना उत्पन्न करके बांध देता है। इसी प्रकार ज्ञान सङ्ग से भी बन्धन करता है। ब्रह्मवेत्ता को तर्क, मीमांसा, सांख्य, योग, आगम, तन्त्र आदि के अर्थ ज्ञान में आसक्त कर देता है। ज्ञान सङ्ग का दूसरा अर्थ करते हुए श्रीशंकरानन्द लिखते हैं कि ईश्वर के महत्त्व के प्रतिपादक जो शास्त्र हैं वे भी ज्ञान शब्द से लिए जाते हैं। “ज्ञायते ईश्वरोऽनेन इति ज्ञानम्” इस व्युत्पत्ति से उक्त अर्थ लाभ हो सकता है। उसमें सङ्ग का अभिप्राय है, ईश्वर के गुण, कथा श्रवण, भजन आदि में आसक्त होना। इसी आसक्ति से सत्त्व गुण मुक्त पुरुष का बन्धन करता है। इनके सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति केवल आत्मसाक्षात्कार या ज्ञान से ही संभव है। भक्ति आदि अन्य साधन ज्ञान को ही पुष्ट करने में उपयोगी हैं।

राघवेन्द्र की टीका में कहा गया है कि श्रीः भूः दुर्गा इन तीन शक्तियों के द्वार देव, मनुष्य और असुरों के बन्धन का क्रम बतलाया जा रहा है। उन देवियों में श्रीः या सत्त्व गुण निर्मलता से और व्याधि आदि उपद्रवों के अभाव से प्रकाशक अर्थात् ज्ञान के उत्पादक होने से देवताओं का बन्धन करती है।

सत्त्व गुण का स्वरूप बतलाकर अग्रिम पद्य में भगवान् रजोगुण का स्वरूप और उसके द्वारा बन्धन का प्रकार कहते हैं कि—

“रजोगुण रागात्मक है यह तृष्णा के आसङ्ग से उत्पन्न होता है, हे कौन्तेय; यह रजोगुण देही आत्मा को कर्म सङ्ग से बांधता है।” रागार्थक रञ्ज धातु से रजस् शब्द बनता है। रञ्जधातु रँगने के अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे गैरिक आदि धातुओं से वस्त्रादि रँग दिये जाते हैं वैसे ही रजोगुण से देहाध्यस्त आत्मा रँग सा दिया जाता है। इसे तृष्णा के आसङ्ग से समुद्भूत कहा गया है। अप्राप्तवस्तु की अभिलाषा को तृष्णा कहते हैं, आसङ्ग का अर्थ है प्राप्तवस्तु में मानसिकप्रेमयुक्त संपर्क होना। रजोगुण को तृष्णा और आसङ्ग दोनों से समुद्भूत बतलाया गया है। इस प्रकार से समुत्पन्न होनेवाला यह रजोगुण कर्मसङ्ग से देही का बन्धन करता है, दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजनों के लिए

किया जाने वाला कार्यकलाप यहां कर्म शब्द से अभिप्रेत है। यह श्रीशंकराचार्य का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्य ने रागात्मक का अर्थ राग के कारण किया है, राग रूप नहीं। आत्मा का अर्थ कारण भी प्रसिद्ध है। राग का परिचय स्त्री पुरुष में एक दूसरे के लिए स्पृहा के रूप में दिया है। राग के प्रेम रूप अर्थ का उन्होंने यहां ग्रहण किया है। इसी प्रकार तृष्णा और आसङ्ग का भी कारण रजोगुण को माना है, उसे तृष्णा और आसङ्ग से उद्भूत नहीं कहा; दृष्ट या अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों में तत्परता ही कर्म सङ्ग है, जिससे कि वह देही का बन्धन करता है।

श्री आनन्दतीर्थ के माध्वभाष्य में भी रजोगुण को तृष्णा और आसङ्ग का कारण ही बतलाया गया है।

श्री वेंकटनाथ ने राग का अर्थ काम किया है। रजोगुण रागात्मक है अर्थात् कामात्मक है। कर्मसङ्ग का आकार उन्होंने लिखा है “मैं अमुक कार्य करता हूं, और इसके फल का उपभोग करूंगा” ऐसी अभिलाषा ही कर्मसङ्ग है और इसी से अकर्ता आत्मा का बन्धन रजोगुण के द्वारा होता है।

श्रीपुरुषोत्तमजी ने राग का अर्थ किया है अनेक पदार्थों की उत्पत्ति के द्वारा भगवान् का रञ्जन। समस्त वस्तुएं भगवान् के लिए हैं इस बात के अज्ञान से उन पदार्थों की अभिलाषा के सङ्ग से रजोगुण की उत्पत्ति इन्होंने कही है।

श्री नीलकण्ठ ने तृष्णा का अर्थ किया है प्राप्त अर्थों में भी तृप्ति न होना।

राघवेन्द्र की टीका में रजोगुण की अभिमानिनी भू देवी को कहा गया है और उसे मनुष्य का बन्धक माना गया है।

आगे तमोगुण का परिचय देते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“हे भारत ! तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है वह सभी देहधारियों को विमुग्ध करता है वह आत्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बांधता है।”

मोह का अर्थ श्री शंकराचार्य ने अविवेक किया है। तमोगुण प्राणियों के विवेक को नष्ट कर देता है।

‘अज्ञानजन्य’ का अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि ज्ञान से जो अन्य है, वही यहां अज्ञान है। वस्तु की यथार्थता का बोध ही ज्ञान है। अज्ञान वह है जिसमें वस्तु की यथार्थता का ज्ञान न होकर उससे विपरीत ज्ञान होता है। तमोगुण वस्तु के

यथार्थ स्वरूप के विपरीत विषय के ज्ञान से उत्पन्न होता है। कर्तव्य कर्म से अन्य कर्म में प्रवृत्ति रखने के कारण कर्तव्य में जो अनवधान होता है उसे प्रमाद कहा जाता है। कर्मों का आरम्भ न करना ही आलस्य का स्वभाव है, उसे स्तब्धता भी कह सकते हैं। थकावट से कार्यों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति का विश्राम हो जाना ही निद्रा है। बाह्येन्द्रियों का उपरत हो जाना स्वप्न कहलाता है और मन के भी उपरत हो जाने की स्थिति को सुषुप्ति कहा जाता है। प्रमाद आलस्य और निद्रा इन तीनों से तमोगुण आत्मा का बन्धन करता है।

आनन्दतीर्थ के माध्वभाष्य में 'अज्ञानजम्' का अर्थ किया गया है कि जो अज्ञान का जनक है, जहां से अज्ञान उत्पन्न होता है।

श्री वेंकटनाथ ने अज्ञान को आवरण शक्ति प्रधान बतलाया है। श्री वल्लभाचार्य ने तमोगुण को विरुद्ध ज्ञान या अविद्या से उत्पन्न कहा है।

श्रीपुरुषोत्तमजी लिखते हैं कि तमोगुण भगवान् के लीला आदि के अज्ञान से उत्पन्न होता है। वह प्रलयात्मक होने से भगवान् का विस्मरण करा देने वाला है और समस्त प्राणियों का भ्रम जनक है। वह भगवान् की सेवा के प्रतिबन्धक प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बन्धन करता है।

श्रीनीलकण्ठ ने माया की आवरण शक्ति को अज्ञान बतलाया है और उसी माया की आवरण शक्तिरूप अज्ञान से तमोगुण की उत्पत्ति मानी है। प्रमाद सत्त्वगुण के कार्यरूप प्रकाश का विरोधी है। आलस्य जड़ता है, वह रजोगुण के प्रवृत्तिरूप कार्य का विरोधी है। सत्त्व और रज दोनों के कार्य प्रकाश और प्रवृत्ति की विरोधिनी निद्रा है। इन तीनों से यह तमोगुण देही को बांधता है।

आचार्य श्री अभिनवगुप्त ने अपनी टिप्पणी में प्रमाद पर लिखा है कि जो मनुष्यजन्म सुदुर्लभ है, बहुत काल के शत सहस्र सञ्चित पुण्यों से जिसकी उपलब्धि हुई है, जो मोक्ष की प्राप्ति का एक मात्र साधन है उस मनुष्य जन्म को वृथा गँवाना ही प्रमाद है। प्राचीन उक्ति है—

**आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते**

**स वृथा नीयते येन प्रमादी स नराधमः**

अर्थात् आयु का एक क्षण भी सभी रत्नों से भी नहीं खरीदा जा सकता। आयु के उस क्षण को जो व्यर्थ ही गँवाता है वह नराधम प्रमादी है। शुभ कर्मों में प्रमाद ही आलस्य कहा जाता है।

श्री शंकरानन्द ने लिखा है कि पद्य में 'तु' शब्द का अर्थ है कि यह तमोगुण सत्त्व और रज दोनों से भी अधिक बन्धन करने वाला है। वह अज्ञान से उत्पन्न होता है इसका अभिप्राय है कि जहां ज्ञान अपनी सत्ता ही प्राप्त नहीं करता उस अवस्था से तमोगुण की सृष्टि हो जाती है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं करना चाहिए। क्योंकि अभाव से किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। तमोगुणरूप कार्य अज्ञान अर्थात् ज्ञान के अभाव से नहीं माना जा सकता। तमोगुण को यहां अज्ञान से उत्पन्न कहा गया है। अज्ञान, माया या प्रकृति एक ही बात है। ऐसी स्थिति में 'गुणाः प्रकृति-संभवा' यह जब पहिले ही कहा जा चुका है अर्थात् सभी गुण प्रकृति से ही समुद्भूत हैं तब यहां तमोगुण को विशेष रूप से अज्ञान से उत्पन्न कहने का अभिप्राय यह है कि सत्त्व और रज में तो आंशिक रूप से अज्ञान का विरोध भी दिखाई देता है परन्तु तमोगुण में तो अज्ञान का पूर्ण राज्य है, इसीलिए वह ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त अपने संपर्क में आ जाने वाले प्राणियों का बन्धन करता है। श्री शंकरानन्द ने इन तीनों गुणों के परिचय से यह सूचित किया है कि ब्रह्मवेत्ता इन तीनों के प्रभाव से बचने की चेष्टा करे। जब बुद्धि निर्मल हो और विषय सुख की ओर आसक्ति बढ़े तब समझना चाहिए कि सत्त्व गुण का आविर्भाव हो रहा है। जब विषयों में राग का आविर्भाव और कर्मों में आसक्ति हो तब रजोगुण का प्रभाव समझना चाहिए और जब बुद्धि में जड़ता प्रादुर्भूत होने लगे, विपरीत ज्ञान होने लगे तथा प्रमाद आलस्य और निद्रा का प्राबल्य हो तो वह तमोगुण के चिन्ह होंगे। इन सबको सूक्ष्म दृष्टि से समझ कर सर्वदा इनसे बचते रहना ही ब्रह्मवेत्ता का मुख्य कार्य है। इसीलिए यहां इनका उपदेश दिया गया है। ब्रह्मवेत्ता को चाहिए कि वह इन गुणों के विकारों के विपरीत गुणों का विकास करता हुआ आत्मचिन्तन में तत्पर रहे।

श्री राघवेन्द्र की व्याख्या में अज्ञानको तमोगुण से उत्पन्न कह कर दुर्गा को तमोगुण की अभिमानिनी देवता कहा गया है जो कि असुरों का बन्धन करने वाली है।

विद्यावाचस्पति जी ने अपने ग्रन्थों में इन तीन गुणों को क्रियारूप माना है। क्रिया का जब प्रारंभ मात्र हो वह सत्त्वगुण है और क्रिया उत्कट हो जाय वह रजोगुण है तथा अत्युत्कट अवस्था में जब क्रिया पहुंच जाय तब तमोगुण का रूप आ जाता है। तमोगुण को जो क्रिया का प्रतिबन्धक अर्थात् प्रमाद आलस्य आदि का जनक भगवान् ने कहा है वहां उत्कट क्रिया इसी रूप में है कि जैसे समान बल वाले दो पुरुषों से खींची जाती हुई रस्सी अपने स्थान से बिल्कुल नहीं चलती। वहां यह नहीं कहा जा सकता कि रस्सी में क्रिया नहीं है। यदि वहां क्रिया न होती तो इस रस्सी को खींचने

वाले दोनों पुरुष थक क्यों जाते। इससे भी कहना होगा कि वह उत्कट क्रिया है। एक क्रिया के दूसरी क्रिया से प्रतिहत हो जाने के कारण बल प्रकट नहीं होता। इसी को प्रमाद आलस्य आदि कहा जाता है। इस प्रकार सत्त्वगुण में क्रिया अत्यल्प रहने के कारण आत्मा का स्वरूप बहुत कुछ भासित हो जाता है। इसीलिए उसको ज्ञानजनक और सुखजनक भगवान् ने कहा। रजोगुण में क्रिया अधिक बढ़ जाने के कारण आत्मा का स्वरूप तिरोहित हो जाता है और तमोगुण में तो आत्मा के स्वरूप का पता ही नहीं लगता। संसार की आसक्ति ही अत्यन्त बढ़ जाती है। इसलिए सत्त्वगुण को ब्रह्मवेत्ता लोग भी कथंचित् अपनाते हैं और इतर दोनों गुणों को सर्वथा वर्जित करते हैं।

---

## त्रयोदश-पुष्प

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत !  
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥९॥  
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत !  
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥  
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते  
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥  
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा  
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥१२॥  
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च  
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥१३॥

अब आगे एक पद्य में भगवान् ने पहिले तीनों गुणों के जो पृथक्-पृथक् पद्यों में कार्य दिखलाए थे उनका संक्षेप भी कर दिया है कि—

“सत्त्व गुण, सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में प्रवृत्त करता है, और ज्ञान को आवृत्त करके तमोगुण प्रमाद में प्रवृत्त करता है”।

अभिप्राय यह कि प्राणी के सामने सुख और दुख की विषम परिस्थितियां सर्वदा आया करती हैं। जब सत्त्वगुण बढ़ता है तो चाहे कितने ही दुःख और पीड़ा का कारण क्यों न उपस्थित हो जाय सत्त्वगुण उसका अनुभव नहीं होने देगा और सुख का ही अनुभव करा कर प्राणी को उसी से आबद्ध रखेगा। इसी प्रकार रजोगुण जब वृद्धि को प्राप्त रहेगा तो चाहे कितना भी सुख और अज्ञान हो रजोगुण सर्वदा उसे कार्य में ही लगाए रहेगा। सर्वविध सुख और सुविधा से सम्पन्न होता हुआ भी प्राणी शास्त्र बोधित तथा ऐहलौकिक कर्मों में रजोगुण के कारण ही प्रवृत्त रहता है। इसी प्रकार तमोगुण ज्ञान का आवरण करके मनुष्य को प्रमादी बना देता है। चाहे वह कितना भी ज्ञानवान हो, परन्तु तमोगुण की मात्रा अधिक होने पर उसका ज्ञान विलुप्त होने लगता है और उसमें प्रमाद की मात्रा बढ़ जाती है।

राघवेन्द्र की व्याख्या में श्री देवी को सत्त्व की अभिमानिनी और सुख प्रदान करने वाली; भू देवी को रजोगुण की अभिमानिनी और क्रिया शक्ति प्रदान करने वाली और दुर्गादेवी को तमोगुण की अभिमानिनी और प्रमाद की वर्धक कहा गया है।

उक्त तीनों गुण सर्वदा साथ साथ रहते हैं। कोई किसी को सर्वथा छोड़ नहीं सकता। ये तीनों प्रकृति के स्वभाव रूप होते हुए एक दूसरे के आश्रित ही सर्वदा रहते हैं। जब तीनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् है और तीनों के कार्य भी पृथक्-पृथक् हैं तब उनके परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित मानने की क्या आवश्यकता ? इसका उदाहरण देते हुए अविगीता में कहा गया है कि जैसे प्रकाश और दाहकत्व दोनों अग्नि के गुण हैं। जलाना और प्रकाशित करना ये दोनों उनके कार्य भी पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी वे दोनों अग्नि के ही आश्रित होकर साथ-साथ रहते हैं। ये दोनों एक दूसरे के आश्रित होते हैं, यह भी मानना ही पड़ेगा। बिना उष्णता के अग्नि का प्रकाश नहीं फैल सकता और बिना प्रकाश के उष्णता की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार प्रकृति के तीनों गुण भी अन्योन्याश्रित होकर ही कार्य करते हैं। जब ये तीनों साथ-साथ रहते हैं तो इनके पृथक्-पृथक् कार्य सम्पादन का क्या क्रम रहता है, इसी बात को भगवान् अग्रिम पद्य में बतला रहे हैं कि “हे भारत ! रज और तम को दबा कर सत्त्वगुण कार्य करता है, सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण तथा रज और सत्त्व को दबाकर तमोगुण कार्य करता है”।

प्रत्येक अवस्था में तीनों गुणों की साथ-साथ स्थिति रहते हुए भी एक गुण प्रबल होता है और शेष दो गुण दबे हुए रहते हैं। यही इनका स्वभाव है। इसी गुणों के स्वभाव को अन्यत्र इस प्रकार उद्धृत किया गया है कि—

**अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथाऽन्योऽन्यानुजीविनः**

**अन्योन्यमाश्रयाश्चैव तथाऽन्योऽन्यानुवर्तिनः**

**अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः ॥**

अर्थात् तीन गुण एक दूसरे के साथ युग्म बनाकर तथा एक दूसरे को उत्पन्न करते हुए स्थित रहते हैं, ये एक दूसरे के अनुजीवी होते हैं”। एक गुण का उदय होने पर दूसरे गुण उसके सहायक के रूप में कार्य करते हैं। जब सत्त्व गुण बढ़ता है तो अपने कार्य ज्ञान और सुख का अनुभव कराता है। रजो गुण के बढ़ने पर कार्य और तृष्णा आदि का अनुभव होने लगता है। और तमोगुण के बढ़ने पर ज्ञान का आवरण आदि होने लगते हैं।

सत्त्व आदि में किसी एक गुण की प्रबलता क्यों होती है ? इसका कारण बतलाते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि यद्यपि तीनों प्रकृति के साथ ही अनुबन्ध



रखते हैं तथापि पुराने कर्मों के कारण तथा आहार आदि के वैषम्य के कारण किसी एक की प्रबलता तथा अन्य का अभिभव होता है।

तत्त्व दीपिका में भागवत के अनुसार आगम आदि दस पदार्थों को सत्त्वादि की वृद्धि का कारण बतलाया गया है। भागवत में आगम आदि का इस प्रकार वर्णन है—

**“आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च  
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः”**

अर्थात् आगम, अप, प्रजा, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार ये दस गुणों के कारण हैं। गुणों के कारण कहने का अभिप्राय गुणों की वृद्धि से है।

आगे के पद्यों में भगवान् यह बतला रहे हैं कि यह बात व्यवहार दशा में किस प्रकार अनुभव में आ सकती है कि कब कौन सा गुण बढ़ा हुआ है। मनुष्य या प्राणिमात्र जिसमें जानने की शक्ति है, यह कैसे समझ सकता है कि उसकी वर्तमान दशा में वह किस गुण के प्रभाव में है। अथवा कोई दूसरा प्राणी यह कैसे जान पावेगा कि उससे सम्बन्ध रखने वाला व्यक्ति इस समय किस गुण के प्रभाव में है। जब तक अनुभव में कोई ऐसी कसौटी न आ जाय कि जिससे निश्चित गुण की वृद्धि का ज्ञान हो सके तब तक उन गुणों से कैसे बचा जाएगा। इसलिए आगे के तीन पद्यों में भगवान् यही पहिचान या अनुभव चिह्न बतला रहे हैं कि जिनके द्वारा हम गुणों के वृद्धि और हासों को समझ सकते हैं। इसमें सर्वप्रथम सत्त्व गुण के प्रभाव को इस प्रकार बतलाते हैं कि—

जब इस शरीर के सभी द्वारों में प्रकाश रूपी ज्ञान फैल जाय तब यह समझना चाहिए कि इस समय सत्त्व गुण बढ़ा हुआ है।”

सत्त्व गुण के बढ़ने का अर्थ है रजोगुण और तमोगुण का दब जाना। मनुष्य में सर्वदा तीनों ही गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु उसकी विभिन्न अवस्थाओं में कभी एक गुण बढ़कर दूसरे गुणों को दबा देता है और कभी दूसरा गुण प्रथम और अंतिम को दबाकर स्वतः प्रधान बन बैठता है तथा कभी अन्तिम गुण पहिले के दोनों गुणों को दबाकर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। इनमें प्रथम जो सत्त्व गुण है वह जब रज और तम को दबाकर प्रधान बनता है तब मनुष्य की सभी इन्द्रियों में ज्ञान रूप प्रकाश फैल जाता है। सभी इन्द्रियाँ निरापद होकर अपने अपने विषयों का ग्रहण करती रहती हैं। इसमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं हो पाती, क्योंकि रज और तम ही इन्द्रियों के इस

ज्ञान में बाधा डालने वाले हैं। जब सत्त्व गुण के प्रभाव से रज और तम दब जाते हैं तब इन्द्रियों को अपने अपने विषयों का अनायास ज्ञान होता रहता है। उनमें शुद्धता और निर्मलता का अनुभव होता रहता है। यही इन्द्रियों का निर्मल ज्ञान इस बात का साक्षी हो जाता है कि ऐसा अनुभव करने वाले मनुष्य में इस समय सत्त्व गुण की वृद्धि हो रही है, इसके रजोगुण और तमोगुण दबे हुए हैं। यह श्रीशंकराचार्य के अनुसार लिखा गया।

श्री रामानुजाचार्य ने प्रकाश का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि प्राणी की चक्षु आदि इन्द्रियां जब वस्तु के भ्रम युक्त स्वरूप को न दिखाकर उसके यथार्थ स्वरूप को दिखावें तब इन्द्रियों में स्फूर्ति या प्रकाश का अनुभव होता है। उस प्रकाश में जो ज्ञान होगा वह यथार्थ ज्ञान ही होगा। इस प्रकार का निर्मल ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा जब उपलब्ध हो रहा हो तब सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है ऐसा समझना चाहिए।

पीछे कहा गया था कि सत्त्व आत्मा को सुख में लिप्त करता है। इन्द्रियों का विषयों के साथ संसर्ग होकर यथार्थ अनुभूति होने से ही सुख प्रतीत होता है, इस प्रकार श्रीवेंकटनाथ ने पूर्वोक्त सुख का भी प्रकाश के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया है।

गीता के प्रकरणों का भक्ति परक अर्थ प्रकट करने वाले श्रीपुरुषोत्तम जी ने अपनी अमृततरङ्गिणी में इस पद्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि श्रोत्र आदि की वृद्धि समझनी चाहिए। कानों से जब भगवान के कथामृत का ही पान हो, नेत्रों से भगवान की अलौकिक मूर्ति ही देखी जाय तब सत्त्वगुण की वृद्धि समझनी चाहिए। इस पर स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि ऐसा अनुभव होना तो प्राणि मात्र को अभीष्ट ही है कि वह भगवदर्पण हो जाय। तब सत्त्व गुण को बन्धक क्यों माना जाय। इसका भी दार्शनिक दृष्टि से यही समाधान होगा कि यह सत्त्व गुण की बन्धकता ही है कि जिससे हमें स्वयं में भगवान् से पृथक् होने का अनुभव होता है। भगवान की कथा का श्रवण करते समय भी 'मैं यह कथा सुन रहा हूँ' ऐसा भगवान् से पृथक् अपने आप का ज्ञान श्रोता को बना रहता है। यही सत्त्व गुण की बन्धकता इस व्याख्या के अनुसार कही जा सकती है।

श्रीनीलकण्ठ ने प्रकाश की व्याख्या करते हुए यह आशय व्यक्त किया है कि प्रकाश अन्धकार का विरोधी है। इन्द्रिय द्वारों से प्रकाश का अर्थ भी यही होगा कि इन्द्रिय द्वारों में आत्मा के आवरणरूप का अधिकाधिक विरोधी ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब सत्त्व गुण की वृद्धि समझना चाहिए।

अविगीता में संकलित उपन्यास दर्पण में एक दूसरे प्रकार की व्याख्या भी की

गई है। 'सर्वद्वारेषु' में 'सर्वद्वा' और 'एषु' अलग-अलग करके 'सर्वद्वाः' को 'ज्ञानम्' का विशेषण बना दिया गया है। इसका तात्पर्य हुआ कि गुणों में जब सब ओर द्वार बनने वाला प्रकाश रूप ज्ञान हो जाता है तब सत्त्व गुण की वृद्धि समझना। इस व्याख्या में इन्द्रियों को छोड़ दिया गया है। इसका आशय इस प्रकार समझा जा सकता है कि गुणों के कार्यों में सत्त्व गुण के प्रकाश और ज्ञान ये दो कार्य बतलाए गए थे। सत्त्व गुण जब रज और तम को दबा कर विवृद्ध होगा तो वह अपने कार्य प्रकाश और ज्ञान को रज और तम के कार्यों पर आरोपित कर देगा। तब रज और तम भी ज्ञान से आवृत हो जायँगे यही इनमें सत्त्व की वृद्धि होगी। इनमें सत्त्व गुण तो स्वयं प्रकाश और ज्ञान रूप है ही, रज और तम भी ज्ञान के प्रकाश से आच्छादित हो जाते हैं। सभी कार्यों में इस ज्ञानरूप प्रकाश की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। कोई भी कार्य करने से पूर्व उसका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक होता है। किसी भी कार्य के सम्पादन का क्रम-‘जानाति’, ‘इच्छति’, ‘यतते’ यही है। अर्थात् पहिले उस कार्य का ज्ञान हो, तब उसमें प्रवृत्त होने की इच्छा हो और अन्ततः उसके लिए प्रयत्न हो तभी कोई भी कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता है। जब यह क्रम सभी कार्यों का सर्वत्र है, तब तो सत्त्व गुण सर्वदा ही बढ़ा हुआ रहेगा। कोई न कोई कार्य करते रहना प्राणि मात्र का स्वभाव है और सभी कार्यों के सम्पादित होने का यही उपर्युक्त क्रम है। तब रज और तम के विवृद्ध होने का प्रश्न ही नहीं आवेगा। परन्तु इसका आशय यह नहीं है। सत्त्व गुण का ही उपर्युक्त क्रम बतलाया गया है। यह आवश्यक नहीं कि सभी कार्य उपर्युक्त क्रम से ही किये जायं। बहुत से लोग बिना जाने या कम जानकर भी कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं। वह रज और तम का प्रभाव है, उसका फल यही होता है कि-

### “विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्”

लौकिक भाषा में इसे कह सकते हैं कि “क्या सोचा था क्या बन गया”। वह अज्ञान दशा या अल्प ज्ञान दशा में प्रारम्भ कर देने का ही फल होता है। संसार में सर्वत्र इस प्रकार के कार्यों के भी उदाहरण मिलते ही रहते हैं।

अनेक व्याख्याकारों के मतानुसार किसी भी पदार्थ के सन्निकर्ष होने पर अन्तः-करण में एक उस पदार्थ के आकार की वृत्ति का उदय होता है। ये वृत्ति सत्त्व के बढ़ने पर ही समुदित होती है। रज और तम के उत्कट होने पर पदार्थों की अन्तः-करण में वृत्ति का उदय नहीं होता। जब पदार्थों के सन्निकर्ष से अन्तःकरण में तदाकार वृत्ति का उदय होता हो तब सत्त्व गुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिए।

इसके अनन्तर जब रजोगुण विवृद्ध होता है तब क्या चिन्ह उसके अनुभव में प्रकट होते हैं यह बात बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, शान्ति का अभाव स्पृहा ये सब हे भारतर्षभ ! रजोगुण के विवृद्ध होने पर उत्पन्न होते हैं”।

रजोगुण क्रियाशील है। वही अन्य गुणों का संचालक है। जब वह सत्त्व और तम को दबाकर बढ़ता है तब लोभादि उत्पन्न होते हैं। इनके स्वरूप का विश्लेषण व्याख्याओं में मिलता है। श्रीशंकराचार्य दूसरे के द्रव्य को ग्रहण करने की इच्छा को लोभ कहते हैं। श्रीरामानुजाचार्य अपने द्रव्य का त्याग न करना लोभ का स्वरूप मानते हैं। पैशाच भाष्य का आशय है कि शास्त्रों में त्याग का विधान है, अनेक प्रकार के दानों में त्याग का ही रूप स्पष्ट है। वह शास्त्र विहित दान या त्याग जो नहीं करता, उसमें लोभ की स्थिति समझनी चाहिए। शास्त्रों में जो दान लेना निषिद्ध हो उसको ग्रहण करना भी लोभ ही कहा जाता है। श्रीवल्लभाचार्य ने कृपणता को लोभ कहा है। श्रीपुरुषोत्तम जी ने लिखा है कि भगवत्सेवा के लिए जितने व्यवहार योग्य द्रव्य की अपेक्षा हो उससे अधिक द्रव्य की लौकिक सुखादि के लिए अभिलाषा ही लोभ है। श्रीमधुसूदनसरस्वती प्रतिक्षण धन का लाभ होने पर भी उसकी बढ़ने वाली अभिलाषा को लोभ कहते हैं।

प्रवृत्ति का अर्थ है किसी भी क्रिया में सामान्य रूप से चेष्टा होना। श्रीरामानुजाचार्य बिना प्रयोजन के स्वभाव में जो चलनशीलता आती है, दूसरे शब्दों में स्वभाव की जो चंचलता है उसे प्रवृत्ति कहते हैं। पैशाच भाष्य में प्रवृत्ति का अर्थ ‘प्रकर्षण वर्तन’ किया है, अर्थात् किसी भी कार्य में अत्यधिक संरम्भ से लग जाना ही प्रवृत्ति है। श्रीमधुसूदन-सरस्वती कार्यों में निरन्तर लगे रहने को प्रवृत्ति मानते हैं। श्रीपुरुषोत्तमजी प्रवृत्ति को लोभ के साथ जोड़कर कहते हैं कि लौकिक सुखादि के लिए अधिक धन की प्राप्ति की चेष्टा ही प्रवृत्ति है। श्रीनीलकण्ठ अग्निहोत्रादि में प्रवृत्त होना ही प्रवृत्ति का अर्थ मानते हैं।

फल के साधन भूत कर्मों का आरम्भ भी रजोगुण का चिन्ह है। कोई भी फल तदनुकूल कर्मसंपादन से ही प्राप्त होता है।

‘अवशम् का’ अर्थ है चित्त का हर्ष राग आदि में लिप्त होकर अशान्त बना रहना। इन्द्रियों का अपने विषयों से उपरत न होकर निरन्तर विषयों में प्रवृत्त रहना भी अवशम कहा गया है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने ‘इस कार्य को करने के अनन्तर वह

कार्य करूँगा' इस प्रकार के निरन्तर कार्यों में प्रवृत्त होने के संकल्प को अशम कहा है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि कामनाओं और संकल्पों से अन्तःकरण को शान्त न होने देना ही अशम है।

सभी सामान्य वस्तुओं में तृष्णा का होना ही स्पृहा है। श्रीमधुसूदनसरस्वती लिखते हैं कि थोड़ा या अधिक मात्रा में दूसरे का धन देखने मात्र से ही उसके ग्रहण की अभिलाषा करना स्पृहा है। श्रीपुरुषोत्तमजी अपने अयोग्य वस्तु की इच्छा को स्पृहा कहते हैं।

उक्त सभी चिन्ह रजोगुण की वृद्धि के परिचायक होते हैं।

इसके आगे अवशिष्ट तमोगुण के चिन्ह बतलाते हैं कि—“अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह, हे कुरुनन्दन, ये तमोगुण के विवृद्ध होने पर उत्पन्न होते हैं।”

अप्रकाश का अर्थ ही श्रीशंकराचार्य ने अविवेक किया है। तमोगुण के प्रवृद्ध होने पर प्राणी विवेकभ्रष्ट हो जाता है। श्रीरामानुजाचार्य ने ज्ञान का उदय न होना ही अप्रकाश माना है। तमोगुण सत्त्वगुण और रजोगुण का विरोधी है। सत्त्वगुण में ज्ञान होता है, अतः उसके विरुद्ध धर्म रखने वाले तमोगुण में ज्ञान का अभाव होना स्वाभाविक है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने इतना और कहा है कि ज्ञान प्राप्ति के साधनों के सन्निहित रहने पर भी ज्ञान का अभाव होना ही अप्रकाश है।

श्रीवल्लभाचार्य ने लिखा है कि यहाँ तमोगुण के चिन्ह जो बतलाए गए हैं वह पंचपूर्वा अविद्या ही है, जिसे दूसरे शब्दों में कहा गया है। अन्धतामिस्र, तामिस्र, महामोह और मोह तथा तम ये ही पञ्चपूर्वा अविद्या है। आत्मा के स्वरूप का अज्ञान होने पर प्राण, अन्तःकरण, देह और इन्द्रिय आदि पर आत्मा का अध्यास हो जाता है। यह तमोगुण के कारण ही होता है। अप्रवृत्ति का अर्थ है किसी भी कार्य में प्रवृत्ति का अभाव हो जाना, कार्यों में प्रवृत्ति के इस अभाव से मोह अर्थात् जड़ता उत्पन्न हो जाती है। ये सब बातें जब अनुभव में आने लगें तब तमोगुण को बढ़ा हुआ समझना चाहिए। श्रीरामानुजाचार्य ने अप्रवृत्ति का अर्थ स्तब्धता, प्रमाद का अर्थ अकार्य में प्रवृत्त होने के कारण उसके फल स्वरूप अनवधान और मोह का अर्थ विपरीत ज्ञान किया है। पैशाच भाष्य में अप्रवृत्ति का अर्थ आलस्य, प्रमाद का अर्थ प्राप्तवस्तु का अज्ञान और मोह का अर्थ अविवेक किया है। श्री मधुसूदन सरस्वती ने अप्रवृत्ति का अर्थ किया है कि “अग्निहोत्रं जुहुयात्” ‘अग्निहोत्र करना चाहिए’ इत्यादि शास्त्र की विधियों का ज्ञान रहते हुए भी उन शास्त्र बोधित कार्यों में प्रवृत्ति की नितान्त अयोग्यता होना। प्रमाद का अर्थ वे करते हैं कि जिस समय जिस कार्य का अनुष्ठान आवश्यक है उस समय

उस कार्य को सम्पादित करने का अनुसन्धान न रहना ही प्रमाद है। श्रीपुरुषोत्तमजी अप्रवृत्ति का अर्थ भगवान् के सेवन और भगवान् के सङ्ग आदि में प्रवृत्ति न होना मानते हैं। प्रमाद का अर्थ भगवान् के भजन का अनुसन्धान न करना है। मोह का अर्थ संसार में आसक्ति है।

इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण के वृद्धि के चिन्हों को बतलाकर आगे के श्लोकों में यह कहा जायगा कि किस गुण के बढ़ने पर मृत्यु होने से किस प्रकार की गति प्राणी की होती है।

---

## चतुर्दश-पुष्प

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।  
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥  
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।  
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥  
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।  
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥  
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।  
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥  
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।  
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥

“जब सत्त्व गुण के बढ़ने पर प्राणी की मृत्यु हो जाती है तब वह उत्तम तत्त्व जानने वालों के अर्थात् देवताओं के अमल लोकों को प्राप्त करता है।”

श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि मृत्यु के द्वारा भी जो कुछ फल प्राप्त होता है उसका भी कारण संग और राग ही है। अत एव संग और राग से उत्पन्न होने वाले ये फल भी गौण ही हैं। प्रधान फल तो मोक्ष है जो कि असंग और रागादि से विमुक्त होने पर ही मिलता है। श्रीशंकरानन्द ने यहां यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि मरणोत्तर विभिन्न लोकों की जो प्राप्ति शास्त्रों में कही गई है, वह वर्णों और आश्रमों के अनुसार नहीं, अपितु मरण काल में जो गुण बढ़ा होता है, उसी के अनुसार होती है। मरणोत्तर जो गति भेद होता है उसका कारण उस काल में बढ़ा गुण ही है। श्रीपुरुषोत्तमजी लिखते हैं कि जो गुण मरण काल में बढ़ा रहता है आत्मा उसी से गमन करता है और वह गुण जिस लोक में अधिक है उसी लोक में जाता है।

सत्त्व गुण के प्रवृद्ध होने पर तत्त्व वेत्ताओं के अमल लोकों में प्राप्ति होना यहां कहा गया है। महदादि तत्त्वों को जानने वालों को ही यहां तत्त्व वेत्ता कहा गया है यह श्रीशंकराचार्य का आशय है। ‘उत्तमविदाम्’ का अर्थ श्रीरामानुजाचार्य ने ‘आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले’ किया है। आत्मा ही सबसे उत्तम है, आत्मवेत्ता ही उत्तम वेत्ता हैं उनके जो लोक हैं वहीं वह देहधारी जाता है। ‘लोकान्’ में बहुवचन से यह भी ध्वनित होता है कि आत्मवेत्ताओं के अनेक लोक हैं। आगे स्पष्ट होगा कि

वो लोक मर्त्यलोक से ऊपर की ओर स्थित हैं। श्री मधुसूदनसरस्वती ने 'उत्तमविदाम्' का अर्थ 'हिरण्यगर्भादि की उपासना करने वाले' किया है। हिरण्यगर्भ का तात्पर्य विगत प्रवचन में स्पष्ट किया जा चुका है। उन लोकों का परिचय देते हुए श्रीमधुसूदन-सरस्वती ने कहा है कि जहां देवताओं के समान सुखों का उपभोग प्राप्त होता है, वे ही उत्तम तत्त्ववेत्ताओं के लोक हैं। श्रीवल्लभाचार्य ने 'उत्तमविदाम्' का अर्थ 'उत्तम उपायों को जानने वाले योगी' किया है। लोक का अर्थ देह किया है। इसका तात्पर्य है कि सत्त्व-प्रधान पुरुष योगियों के कुलों में शरीर ग्रहण करता है। इस प्रसंग में गीता प्रवचन प्रथम भाग में ।

### “शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते”

स्मरणीय है। श्रीवल्लभाचार्य आगे कहते हैं कि सत्त्व प्रधान व्यक्ति योगी के घर शरीर धारण करके पुण्य कार्य करता है अथवा उत्तम लोकों को जाता है यह व्याख्या भी उन्हें मान्य है। श्रीपुरुषोत्तम जी कहते हैं कि जिन ब्रह्मा-विष्णु आदि के लोकों को उत्तम ज्ञानी लोग ही जान सकते हैं उनको वह प्राप्त करता है। श्री अभिनवगुप्ताचार्य इस पद्य की व्याख्या में लिखते हैं कि केवल मरण काल में अकस्मात् ही सत्त्व गुण बढ़ जाय तथा रजोगुण और तमोगुण दब जाय और प्राणी को उत्तम लोकों की प्राप्ति हो जाय ऐसी बात नहीं है। सम्पूर्ण जन्म में जब निरन्तर सात्त्विक व्यापारों का अभ्यास चलता रहे तभी मरण काल में भी सत्त्व गुण बढ़ा रहता है और तभी उक्त लोकों की प्राप्ति भी संभव है। जो ऐसा मानते हैं कि जीवन भर चाहे अन्य गुणों में लिप्त रहे परन्तु अन्त में जिसका सत्त्व गुण बढ़ जाय उसे उक्त लोकों की प्राप्ति हो जाती है उन्हें श्रीअभिनवगुप्ताचार्य ने शरीर के अनुभवों से दूर बतलाया है। उनका कहना है कि मरण काल में तो सबको सर्वदा मोह ही हुआ करता है। जब जीवन में निरन्तर सात्त्विक भावना बनाए रहने का अभ्यास हो तभी अन्तिम समय में भी सात्त्विक भावना बनी रह सकती है। 'अमलान्' की व्याख्या श्रीशंकरानन्द कहते हैं कि जन्म, जरा, व्याधि ही मल हैं, जिन लोकों में जन्म जरा व्याधि नहीं वे ही अमल लोक कहे जाते हैं। उन्होंने यह भी लिखा है कि मरणोत्तर गति के विषय में श्रुति और स्मृतियों का स्पष्ट कथन है कि जैसा कर्म करता है वैसा ही बन जाता है। परलोक गति, पुण्यापुण्य कर्म के ही आधार पर बनती है। तब यहां कर्मों को छोड़कर जो गुणों की वृद्धि के कारण लोकान्तर गति बतलाई जा रही है वह श्रुति विरुद्ध जान पड़ती है। इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि जन्मान्तर तो निश्चित ही पुण्य पाप कर्मों के आधार पर ही होता है, परन्तु पुण्यापुण्य कर्मों के कारण ही मरण काल में तत्तद् गुणों की वृद्धि हो



जाती है यही यहाँ का आशय है। आगे रज और तम में मृत्यु होने पर उसकी गति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“रजोगुण की वृद्धि दशा में मृत्यु होने पर कर्म सङ्गी पुरुषों में जन्म होता है और तमोगुण की वृद्धि में मरण होने पर वह मूढ़ योनियों में समुत्पन्न होता है।” (१५)

यहां कर्मसङ्गी का अर्थ कर्मों में आसक्त पुरुष किया गया है। विहित और निषिद्ध कर्मों में निरन्तर लगे रहने वालों को कर्मसङ्गी कहते हैं। कर्म तो प्राणिमात्र करते रहते हैं, इसलिए श्रीरामानुजाचार्य ने कर्म सङ्गी का अर्थ फलानुसन्धानपूर्वक कर्म करने वाले किया है। मनुष्यलोक में ही फलानुसन्धान पूर्वक अधिक कर्म किया जाता है। इसलिए रजोगुणी व्यक्ति की उत्पत्ति सामान्य मानवों में होती है। इसी प्रकार मूढयोनि का अर्थ पशुयोनि किया गया है। तमोगुणी व्यक्ति का जन्म पशुपक्षि योनियों में होता है।

अग्रिम पद्य में इन तीनों गुणों के फलों का संक्षेप से वर्णन इस प्रकार दिया गया है कि—

“सुकृत कर्म का सात्त्विक निर्मल फल माना गया है, रजो गुण का फल दुःख और तमोगुण का फल अज्ञान माना गया है।” (१६)

श्रीशंकराचार्य इस पद्य को उपर्युक्त श्लोकों में कथित अर्थ का संक्षेप कथन मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि ऊपर जो सत्त्वादि गुणों की वृद्धि में मरण के उपरान्त गति बतलाई गई है, उन योनियों में पूर्व जन्म के ये गुण क्या फल देते हैं, यह इस पद्य का आशय होगा। यही सुकृत अर्थात् पुण्य अथवा शुभ कर्मों का फल सात्त्विक और निर्मल बतलाया गया है। आगे रज और तम का फल कहा गया है। तब प्रारंभ में भी सत्त्व का ही फल निर्मल क्यों नहीं कहा गया। वहां सत्त्व के स्थान पर सुकृत कर्मों का फल सात्त्विक होता है ऐसा क्यों कहा, इसका समाधान यह है कि सुकृत कर्म और सात्त्विक कर्म एक ही बात है। सुकृत शब्द का प्रयोग शास्त्रों में बहुत अधिक है, अतः यहां उसका प्रयोग हुआ है। श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि सत्त्वगुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर आत्मवेत्ताओं के कुल में जन्म होता है यह बात विगत प्रवचन में कही गई है। आत्मवेत्ताओं के कुल में समुत्पन्न वह सत्त्व-गुण प्रधान प्राणी उसजन्म में भी फल की इच्छा को छोड़कर ईश्वर की आराधना की बुद्धि से ही कर्मों में प्रवृत्त होगा और उन कर्मों का फल फिर और भी अधिक निर्मल होगा। इस प्रकार दूसरे जन्म में बहुत संभव है कि प्राणी परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर ले।

रजोगुण की वृद्धि में मृत्यु होने पर उसकी गति कर्म सङ्गी पुरुषों के यहां उत्पत्ति के रूप में बतलाई गई है। कर्मसङ्गी पुरुषों के यहां उत्पन्न होकर फिर वह फल की इच्छा से ही कर्मों में प्रवृत्त होता रहेगा और उसके फल स्वरूप आगे भी सांसारिक बन्धनों में ही जकड़ा रहेगा जो कि दुःख रूप हैं। यह दुःख की परम्परा चलती रहेगी। इसीलिए रजोगुण का फल दुःख रूप ही बतलाया गया है। तमोगुणी की उत्पत्ति मूढ़योनियों में कही गई है उन योनियों में ज्ञान का प्रायः अभाव है। यदि उनमें थोड़ा बहुत ज्ञान है भी तो वह भी अपने आहार, निद्रा, भय, आदि तक ही सीमित है जो कि पारमार्थिक दृष्टि से नगण्य है। वह अज्ञान शब्द से ही कहा जायगा। मूढ़ योनियों में समुत्पन्न प्राणी सर्वदा अज्ञान परंपरा में ही चलते रहते हैं। श्रीआनन्दतीर्थ ने लिखा है कि रजोगुण का फल जो दुःख यहां कहा गया है उसका तात्पर्य यही लगाना चाहिए कि वहां सुख की मात्रा अल्प और दुःख की अधिक है। यदि वहां सुख के संस्पर्श से शून्य सर्वथा दुःख ही दुःख माना जाय तो तमोगुण और रजोगुण का फल एक रूप ही हो जायगा। यदि कहा जाय कि तमोगुण का तो अज्ञान रूप फल पृथक् बतला दिया गया है, अतः रजोगुण के फल के साथ तमोगुण के फल के सांकर्य की आशंका व्यर्थ है तो उसका उत्तर है कि सुख के अत्यन्त अभाव को ही अज्ञान कहते हैं, अतः सुख से सर्वथा शून्य दुःख और अज्ञान एक ही बात है। इसलिए रजोगुण के फल दुःख में अत्यल्प सुख और अत्यधिक दुःख कहना उचित होगा। श्रीपुरुषोत्तम जी कहते हैं कि भगवान् के परितोष के लिए किया गया कर्म ही सुकृत कर्म है। उसका सात्त्विक निर्मल फल भगवान् का परितोष ही है। राजस कर्म का फल संसारात्मक दुःख और तामस कर्म का फल भगवान् से विमुख हो जाना या अज्ञान है। श्रीनीलकण्ठ ने ज्ञान वैराग्य आदि को सात्त्विक निर्मल फल कहा है। तीनों गुणों के फलों का संकलित कथन भगवान् करते हैं कि—“सत्त्व से ज्ञान होता है, रज से लोभ होता है, प्रमाद, मोह और अज्ञान तमोगुण से होते हैं।” (१७)

श्रीरामानुजाचार्य अपने पूर्व श्लोक के व्याख्यान के अनुसार ही इसका अर्थ करते हुए कहते हैं कि अग्रिम जन्म में जब उत्तम कुल में जन्म लेकर प्राणी फिर सत्त्व गुण की अपने आप में अभिवृद्धि करेगा तो उसे आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार रूप ज्ञान हो जायेगा। वह अनायास जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। इसी प्रकार जब रजोगुण की वृद्धि होगी तब लोभ उत्पन्न होगा। यहां स्वर्ग आदि लोकों में निवास का लोभ ही श्रीरामानुजाचार्य ने लोभ माना है। इसी प्रकार तमोगुण जब बढ़ा हुआ होगा तब प्रमाद का उदय होगा। प्रमाद का अर्थ पहिले किया

जा चुका है कि अनवधान के कारण असत्कर्म में प्रवृत्ति होना ही प्रमाद है। इस प्रकार के प्रमाद से मोह होगा। मोह का अर्थ भी किया जा चुका है कि वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है उससे विपरीत ज्ञान होना ही मोह है। प्रमाद बढ़ जाने पर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होकर उनके स्वरूप से विपरीत स्वरूप का ग्रहण होने लगेगा। इस विपरीत ज्ञान से तमोगुण की मात्रा और भी अधिक बढ़ जायगी और उससे अज्ञान की वृद्धि होती चली जायगी।

श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि यहां जो सत्त्व आदि का फल बतलाया गया है उसमें पूर्वोक्त कारणों का ही अनुसन्धान करना चाहिए। सत्त्व गुण से यहां ज्ञान का उत्पन्न होना बतलाया गया है। इन्द्रिय द्वारों में प्रकाश हो जाना, इन्द्रियों के द्वारा अपने-अपने विषयों का अनायास ग्रहण किया जाना, यही यहां ज्ञान का अभिप्राय है। पहिले सत्त्व से ज्ञान और सुख दोनों कहे गए थे। उसका अभिप्राय भी वहां स्पष्ट किया गया था कि इन्द्रियां जब बिना किसी व्यवधान के अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में सक्षम हो जाती हैं तब मनुष्य को सुख का अनुभव स्वतः होने लगता है। इसके विपरीत इन्द्रियों के द्वारा विषयों के अनायास ग्रहण में जब किसी प्रकार की बाधा उपस्थित हो जाती है तब उस अनुभव को ही दुःख कहा जाता है। अनुकूलवेदनीय को सुख और प्रतिकूल वेदनीय को दुःख जो कहा गया है उसका भी अभिप्राय अब स्वतः स्पष्ट हो जायगा। इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण में किसी बाधा का न होना ही अनुकूल वेदनीयता है, और विषयों के ग्रहण में बाधा उत्पन्न हो जाना ही प्रतिकूल वेदनीयता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती का आशय है कि यहां यद्यपि सत्त्व के फल के रूप में केवल ज्ञान ही कहा गया है परन्तु उपर्युक्त प्रकार के ज्ञान से सुख का होना अनिवार्य है, अतः उसका भी यहां अनुसंधान कर लेना चाहिए। रज से जो लोभ की उत्पत्ति बतलाई गई है उसका विवरण करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि करोड़ों विषयों की प्राप्ति हो जाने पर भी उन विषयों से अभिलाषा निवृत्त नहीं होती। यह अभिलाषा जब निरन्तर बढ़ती जाती है तब उसका पूरा करना अशक्य होता है और अन्ततः वह दुःख का ही कारण बनती है। जिस प्रकार सत्त्व के फल में केवल ज्ञान को बतला कर सुख को वहां अर्थलभ्य रक्खा गया था, वही बात यहां दुःख के विषय में भी समझनी चाहिए।

सत्त्वादि गुणों की वृद्धि के समय मृत्यु होने से क्या गति होती है इसका वर्णन पहिले आ चुका है। उसी का स्थान क्रम से पुनः निर्देश अग्रिम पद्य में किया जाता है कि—

“सत्त्व में स्थित पुरुष ऊपर संस्थित होते हैं। रजोगुणी पुरुष मध्य में जाते हैं और घृणा के योग्य तमोगुण के व्यवहार में स्थित पुरुष अधोगति को प्राप्त करते हैं।” (१७)

यहां श्रीशंकराचार्य ने अन्तिम तमोगुण के साथ जो ‘वृत्त’ शब्द आया है उसे तीनों के साथ समन्वित किया है। सत्त्व में स्थित होने का अर्थ भी सात्त्विक व्यवहार करने वाले ही होगा। सात्त्विक व्यवहार रखने वाले ऊपर के लोकों अर्थात् देवता आदि के लोकों में उत्पन्न होते हैं। रजोगुणी प्राणी मध्य अर्थात् मनुष्य लोक में ही जाते हैं और जघन्य अर्थात् निन्दित जो तमोगुण है, उसके वृत्त अर्थात् निद्रा, आलस्य आदि में संस्थित प्राणी अधोगति को प्राप्त करते हैं, अर्थात् पशु आदि योनियों में जाते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि सत्त्व गुण में संस्थित प्राणी क्रमशः मुक्ति को प्राप्त करते हैं। ‘ऊर्ध्व’ का अर्थ उन्होंने मुक्ति किया है। मध्य में जो रजोगुणी प्राणियों की स्थिति पद्य में बतलाई गई है उसका अर्थ उन्होंने किया है कि फलानुसन्धान पूर्वक काम करने वाले पुनरागमन रूप संसार बंधन में पड़ कर कष्ट पाते रहते हैं। तमोगुणी व्यक्ति निकृष्ट व्यवहारों में निरत रहने के कारण पहले पक्षी तथा कीटादि योनियों में जाते हैं फिर गुल्म लता आदि बनते हैं और अन्ततः शिला, काष्ठ आदि रूपों में परिणत होते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य ने ऊर्ध्व का अर्थ ब्रह्मलोकपर्यन्त या मोक्ष दोनों किया है। मध्य का अर्थ आधार भाग स्थिति तथा ‘अधः’ का अर्थ अतलादि पृथ्वी से नीचे के लोक माना है। यहां यह स्मरण करा देना आवश्यक है कि पृथ्वी को लेकर ऊपर तक सात लोक—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यलोक हैं, जिनका स्मरण द्विजाति मात्र संध्या वनदन के समय कर लेते हैं। इसी प्रकार अतल, वितल, सुतल, महातल, तलातल, रसातल, पाताल—ये सात लोक पृथ्वी से नीचे स्थित माने गए हैं जिनका वर्णन पुराण आदि में सर्वत्र प्राप्त होता है।

अविगीता में पद्योक्त क्रिया पदों का अभिप्राय इस प्रकार लिखा गया है कि लोक व्यवहार में जैसा कि हम देखते हैं कि अपने स्वामी को प्रसन्न करने के हेतु कार्य करने वाले पुरुषों को उन्नत स्थान पर भेजा जाता है। वे जिस स्थान पर रहते हैं उससे ऊँचे पद पर चले जाते हैं। उसी प्रकार भगवान् सात्त्विक कार्यों से प्रसन्न होते हैं, इसीलिए उनके द्वारा प्रेरित होकर सात्त्विक कार्यों में निरत रहने वाले प्राणी ऊपर के लोकों में जाते हैं। इसीलिए यहां उनके लिए ‘गच्छन्ति’ इस क्रिया का प्रयोग हुआ। दूसरा लौकिक दृष्टान्त लीजिए कि जो व्यक्ति अपने जघन्य कृत्यों से अपने स्वामी को

अप्रसन्न रखते हैं वे कुपित स्वामी के द्वारा प्रेरित होकर जिस स्थान पर स्थित होते हैं उससे निम्न स्थान को जाते हैं। उनकी पदच्युति हो जाती है। इसी प्रकार अपने जघन्य तमोगुणी कृत्यों से ईश्वर को अप्रसन्न कर देने वाले प्राणी उसके द्वारा प्रेरित होकर अधोगति को जाते हैं, इसीलिए उनके लिए भी यहां 'गच्छन्ति' का ही प्रयोग है। परन्तु जो व्यक्ति न तो कोई उत्कृष्ट कार्य करके अपने स्वामी को प्रसन्न ही करते हैं और न निकृष्ट कार्य करके उसे कुपित ही करते हैं, वे न तो ऊपर ही जाते हैं और न उनकी अधोगति ही होती है, वे जिस स्थान पर हैं उसी पर स्थित रहकर कालयापन करते हैं, इसलिए उनके लिए 'तिष्ठन्ति' यह क्रिया प्रयुक्त की गई है।

लोकमान्य तिलक ने सांख्य कारिका और अनुगीता में भी इस आशय का साम्य दिखाया है और यह भी कहा है कि सत्त्व गुण से स्वर्गादि सुख भले ही प्राप्त हो जायं परन्तु उसे परम पुरुषार्थ इसीलिए नहीं कहा जा सकता कि अन्ततः वह अनित्य ही है। मोक्ष तो प्रकृति और पुरुष के पृथक्-पृथक् ज्ञान के अनन्तर ही सांख्य दर्शन में माना गया है। परन्तु मोक्ष के लिए सत्त्व गुण की अत्यधिक आवश्यकता है। गीता में मोक्ष का स्वरूप प्रकृति पुरुष का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाना नहीं अपितु अविद्या का समूलोन्मूलन हो जाना है। इसी के स्पष्टीकरण के लिए भगवान् ने आगे के श्लोकों में प्रकाश डाला है।

---

## पञ्चदश-पुष्प

नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ! ।

किमाचारः कथंचैतान्स्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

“जब द्रष्टा (देखने वाला) इन गुणों के अतिरिक्त और किसी को कर्ता के रूप में नहीं देखता तथा गुणों से भी पर तत्त्व को जान लेता है, तब वह मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है। (१९)

श्रीशंकराचार्य इसकी उत्थानिका में यह सूचना देते हैं कि अब तक गुणों की मीमांसा हुई। पूर्व अध्याय में जो कहा गया था कि पुरुष प्रकृति में स्थिर हो कर मिथ्याज्ञान से सम्बद्ध होता हुआ अपने भोग्य तीनों गुणों में, जो कि सुख दुःख-मोहात्मक बतलाए गए हैं, उनमें “मैं सुखी हूँ, मैं मूढ़ हूँ” इत्यादि अनुभवों के द्वारा आसक्त है। यही आसक्ति पुरुष के अनेक प्रकार की योनियों में जन्म होने का कारण है। इस अध्याय में अब तक प्रकृति से समुद्भूत गुणों का वर्णन हुआ है। यह सब मिथ्याज्ञान से समुद्भूत होने के कारण पुरुष के बन्धन का ही कारण है, इस बात का भी विस्तार से प्रतिपादन किया गया। अब गुण और परम तत्त्व का सम्यग्दर्शन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है जो कि पुरुष या जीवधारी का परम अभीष्ट है इस बात का प्रतिपादन प्रारम्भ करते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वती का कथन है कि प्रस्तुत चतुर्दश अध्याय में तीन विषयों का कथन करना था। उनमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वराधीन है तथा गुणों का स्वरूप और उनके द्वारा बन्धन का क्या प्रकार है ये दो बातें कह दी गई हैं। अब गुणों के उपर्युक्त बन्धन से मुक्ति कैसे मिलती है और गुणों के बन्धन से मुक्त पुरुषों की क्या पहिचान है, यह बतलाना अवशिष्ट रह गया है, अतः आगे के पद्यों में भगवान् ने इसी बात का प्रतिपादन किया है।

पहिले भगवान् ने गुणों के सन्तरण का उपाय बतलाते हुए कहा था कि—

“मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते”

जो लोग मेरा आश्रय लेते हैं वे इस माया का सन्तरण करते हैं। भगवान् का आश्रय भी शास्त्र ज्ञान तथा आचार्य के प्रसाद से होता है। शास्त्र से ब्रह्मवेत्ता यह जान लेता है कि गुणों के सङ्ग में कैसा अनर्थ है, इसी से वह वासना के वश में नहीं रहता। संसार की व्यावहारिक दशा में भी वह परम तत्त्व की ओर से कभी भी अपनी दृष्टि नहीं हटाता। संसार में जो भी कुछ हो रहा है उस सब के कर्ता तीनों गुण ही हैं, आत्मा इनसे सम्बन्ध न रखता हुआ केवल इनका दर्शक या साक्षी है, ऐसा वह सर्वदा समझता रहता है। इस प्रकार अपनी दृष्टि और व्यवहार का सम्यक् परिचालन करता हुआ प्राणी इन गुणों के बन्धन से विमुक्त होकर मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।

सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण ही कार्य कारण रूप विषयों के आकार में परिणत होते हैं। संसार में जितनी भी अवस्थाएँ और कार्य हैं, उन सबके कर्ता केवल गुण ही हैं। सांसारिक क्रिया कलापों का कर्ता गुणों के अतिरिक्त अन्य और कोई नहीं है। कर्म शरीर से भी किये जाते हैं, वाणी से भी उच्चारण रूप कार्य निरन्तर होते रहते हैं। ये जो कायिक, वाचिक और मानसिक कार्य हैं, उनमें बहुत से कार्य शास्त्र सम्मत और शिष्टानुमोदित होते हैं तथा बहुत से कार्य शास्त्रों में वर्जित और शिष्ट समुदाय में निन्दित भी माने जाते हैं। इन सभी कार्यों के कर्ता शरीर और इन्द्रियां ही हैं। आँखें ही देखने का कार्य करती हैं, कान ही सुनने का कार्य करते हैं, मनन, चिन्तन करना मन का ही कार्य है, ज्ञान प्राप्त करना बुद्धि का ही कार्य है, बोलना वाणी का ही कार्य है, इस प्रकार संसार के समस्त कार्य कलाप देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। ये सब तीनों गुणों के ही कार्य या विकृतियां हैं। तीनों गुण ही अन्तःकरण और बाह्यकरण रूपी शरीरों के रूपों में परिणत होकर सारे कार्यों का संचालन कर रहे हैं। इन तीनों गुणों का इस प्रकार समस्त कार्यों का संचालन करने का यह अर्थ नहीं है कि संसार में जो भी कुछ है वे तीनों गुण ही हैं, इनके अतिरिक्त और कोई तत्त्व है ही नहीं। ऐसा समझना असंगत है। ऐसा भी कोई तत्त्व है जिसमें इन गुणों का किसी प्रकार का संस्पर्श नहीं है। जो आकाश के समान निष्क्रिय और शान्त है और जो इन गुणों और इनके विकार रूप कार्यों का साक्षी है। इस प्रकार गुण और आत्मा के स्वरूप का पृथक्-पृथक् देखना ही सम्यक् दर्शन है। इसी सम्यक् दर्शन से मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है, जिसको यहां भगवान् ने कहा है कि “वह मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है।” यह श्रीशंकराचार्य और तदनुगामी व्याख्याकारों का आशय है। श्रीनीलकण्ठ ने यह भी कहा है कि इस प्रकार का दर्शन करने वाला तो मेरे भाव को प्राप्त करता है और ऐसा सम्यक् दर्शन करने में जो समर्थ नहीं है, वह गुणों को ही सब कुछ समझने के कारण गुण भाव को ही प्राप्त करता है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि सत्त्वगुण के बढ़ने पर ऊर्ध्व गमन होता है, यह पहिले कहा गया था। वह ऊर्ध्वगमन कहां तक होता है अर्थात् ऊर्ध्वगमन का अन्त कहां तक आता है तथा वह ऊर्ध्वगमन किस प्रकार होता है, यह यहां बतलाया जा रहा है। यद्यपि ऊर्ध्वगमन सत्त्वगुण के बढ़ने पर होता है और सत्त्वगुण सात्त्विक आहार और फल की अभिलाषा से रहित सुकृत कार्यों के करते रहने से होता है, यह पहिले ही कह चुके हैं। तथापि सत्त्वगुण का कार्य ऊर्ध्व की ओर प्रवृत्ति करके पूरा हो जाता है। आगे भी ऊपर की ओर उठते जाने में भी सत्त्वगुण सहायक तो अवश्य होता है परन्तु आत्मा का और गुणों का पृथक्-पृथक् संशय रहित ज्ञान ही मुख्य रूप से ऊपर की ओर निरन्तर बढ़ता हुआ अन्ततः ईश्वर भाव में पहुंचा देता है।

माध्वभाष्य में कहा गया है कि यहां गुणों को ही कर्ता कह कर अन्य के कर्तृत्व का जो निषेध किया गया है उसका अर्थ यह नहीं है कि गुण स्वतन्त्र रूप से कर्ता हैं। अपितु गुणों का कर्तृत्व यहां परिणाम सापेक्ष है। सांसारिक परिणामों के कर्ता गुण ही हैं, उनके अतिरिक्त सांसारिक परिणामों का कर्ता अन्य कोई नहीं है। परन्तु श्रुति और स्मृति प्रमाणों से स्वतन्त्र रूप से कर्ता तो ईश्वर ही है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि चतुर्दशाध्याय में अब तक भगवान् ने पुरुष की बन्धलीला बतलाई थी। अब इन आगे के दो पद्यों में उसकी मोक्ष लीला कहते हैं। उनका तात्पर्य है कि जब द्रष्टा गुणों को ही अपनी प्रवृत्तियों का कर्ता और आत्मा को उससे पृथक् समझ लेता है तब वह ब्रह्म भाव या अक्षर भाव को प्राप्त कर लेता है। श्रुति में भी कहा गया है—

**“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” ( मु० उ० ३।२।१। )**

अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।

श्रीपुरुषोत्तम जी लिखते हैं कि गुणों के द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाली अनेक प्रकार की विचित्रताओं के द्वारा भक्त को यही समझ में आता रहता है कि ये गुण भगवान् के ही हैं और इन गुणों की सम्पूर्ण विचित्रताओं का कारण भगवान् का माहात्म्य ही है। ऐसा समझने वाला मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है।

राघवेन्द्र विवृति में कहा गया है कि “नान्यं” में सन्धिविच्छेद करके “ना” का अर्थ मनुष्य करना चाहिए। पद्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि जो पुरुष गुणों को कर्ता नहीं समझता अपितु गुणों से अतिरिक्त आत्मा को ही कर्ता समझता है वही वास्तव में मनुष्य कहलाने का अधिकारी है क्योंकि वही मननशील है, वही अन्त में



मेरे भाव को भी प्राप्त करता है। माध्वभाष्य के व्याख्यान में कर्ता के जिस मुख्य अर्थ की यहां व्यावृत्ति की गई थी, इस व्याख्या में वही मुख्य अर्थ ग्रहण करना होगा। माध्वभाष्य में जो आत्मा पर ही कर्तृत्व सिद्ध किया गया उसी का इस व्याख्या में भी समर्थन है। किन्तु भगवद्गीता में तो आत्मा के कर्तृत्व का बहुधा निराकरण मिलता है। इसलिए ये दोनों व्याख्याएं गीता के अन्यत्र उक्त विषयों से संगति नहीं रखतीं। गीता का आशय तो यही है कि गुण ही कर्ता हैं, आत्मा पर कर्तृत्व केवल आरोपित है।

अग्रिम पद्य में यह कह रहे हैं कि मेरे भाव को प्राणी किस प्रकार प्राप्त करता है—

‘देह के बीज भूत इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके प्राणी जन्म, मृत्यु, जरा के दुःखों से छूटकर अमृत का उपभोग करता है’ (२०)

समस्त शास्त्रों की प्रवृत्ति का मूल कारण दुःखों से छूटना है। सांख्य की प्रथम कारिका में कहा गया है—

“दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ”

तीन प्रकार के दुःखों के आक्रमणों से आक्रान्त प्राणिमात्र की अभिलाषा इन दुःखों से छूटने के उपायों को जानने के लिए सर्वदा बनी रहती है। अनेक शास्त्रों में इन दुःखों से छूटने के उपायों का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु उन उपायों की निस्सारता दिखाते हुए उसी कारिका के उत्तरार्ध में कहा गया है कि दृष्ट या प्रत्यक्ष उपाय दुःखों का सर्वदा के लिए सर्वथा उन्मूलन नहीं कर सकते। उनके द्वारा दुःखों का उन्मूलन कुछ काल के लिए कुछ मात्रा में होता है। शरीर के रोगों की चिकित्सा करने से कुछ काल के लिए शरीर नीरोग हो जाता है परन्तु सर्वथा और सर्वदा के लिए सुखी जीवन बना देना चिकित्साशास्त्र के सामर्थ्य के बाहर की बात है। अन्ततः जन्म, मृत्यु, जरा के कष्टों से वह कैसे छुड़ा सकता है। कर्मकाण्ड की यज्ञादि विधियों का अनुष्ठान करके स्वर्गादि की प्राप्ति मानी गई है। परन्तु वह भी सर्वदा के लिए नहीं कही जा सकती क्योंकि उसके लिए स्पष्ट सुना जाता है कि—

“क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति”

यज्ञ यागादि के द्वारा प्राप्त पुण्यों के क्षीण हो जाने पर फिर मर्त्यलोक में प्रवेश करना पड़ता है। मर्त्यलोक में प्रवेश का अर्थ है जन्म, जरा, मृत्यु के क्लेश प्राप्त करना। उपनिषदों में कहा गया है—

“यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।”

अर्थात् सुख की उपलब्धि भूमा भाव में ही हो सकती है, अल्पता में सुख की उपलब्धि नहीं होती। भूमा भाव का अर्थ है निस्सीमता और संकोच शून्यता। वही यहां अमृत शब्द से कहा गया है।

बौद्धवाङ्मय में भी जन्म, मृत्यु, जरा की व्याधि से छुटकारा प्राप्त करने की अवस्था को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है और उसे वहां ‘निर्वाण’ शब्द से कहा गया है। परन्तु वहां निर्वाण जन्म, मृत्यु आदि के क्लेशों से छूट कर आभावात्मक स्थिति का नाम है। गीता को यह अभिमत नहीं। गीता में भी निर्वाण शब्द आया है परन्तु वह “ब्रह्मनिर्वाण” है। दुःखों से छूट कर अभाव की स्थिति नहीं अपितु सर्वदा एक रूप और नित्य रहने की स्थिति में ही सार्थकता मानी गई है। ब्रह्म जो सत्ता, चेतना, आनन्दात्मक है उसमें अवस्थित होने पर ही दुःखों से विनिर्मुक्ति मिलती है।

गुणों को यहां देह का समुद्भव कहा गया है। इसका अभिप्राय सभी व्याख्याकारों ने यही प्रकट किया है कि ये गुण ही देह के कारण हैं या देह इन्हीं से उत्पन्न होता है। श्रीशंकराचार्य ने इन्हें बीज रूप कहा है। जिस प्रकार बीज से विशाल वृक्ष निकलता है उसी प्रकार गुणों से ही शरीर का विकास होता है। श्रीरामानुजाचार्य ने “देहसमुद्भवान्” का अर्थ किया है कि देह का कारण जो प्रकृति है, उससे ये समुद्भूत होते हैं। इनका अतिक्रमण जीवित अवस्था में ही करने का अभिप्राय यहां व्याख्याकारों ने प्रकट किया है। अतिक्रमण का अर्थ तत्त्व ज्ञान से इनका बाध कर देना है। ऐसा करने से जीवित अवस्था में ही अमृत का उपभोग प्राणी कर सकता है और इस प्रकार पूर्व के श्लोक में कहे गए ईश्वर भाव को प्राप्त कर लेता है।

श्रीपुरुषोत्तम जी कहते हैं कि यहां ‘देही’ शब्द के प्रयोग से यह ध्वनित होता है कि इन गुणों का अतिक्रमण करके प्राणी अलौकिक दिव्य देह को प्राप्त करता है और भगवान् के साथ दिव्य भोगों का उपभोग करता है, जिसे उनके दर्शन में नित्य-लीलाप्रवेश कहा जाता है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि निर्विकल्पक समाधि आदि के अभ्यास से गुणों का अतिक्रमण होता है। इस प्रकार अमृत का उपभोग या आनन्द की प्राप्ति ही गुणों के अतिक्रमण का प्रयोजन है।

लोकमान्यतिलक ने लिखा है कि सांख्य की प्रकृति और वेदान्त की माया एक ही पदार्थ है। त्रिगुणातीत अवस्था को ही ब्राह्मीस्थिति कहा जाता है। स्थितप्रज्ञ का

विवरण सुनकर द्वितीय अध्याय में (२-५४) अर्जुन ने जैसे प्रश्न किया था वैसे ही वह यहां त्रिगुणातीत का लक्षण सुनकर भी प्रश्न करता है कि—

“हे प्रभो ! किन लिङ्गों से यह जाना जा सकता है कि प्राणी इन तीनों गुणों से अतीत हो गया ? उसका आचरण कैसा होता है और किस प्रकार वह इन गुणों का अतिक्रमण करता है ? (२१)

तीनों गुणों के चिन्ह तो भगवान् ने पहिले कह ही दिये हैं। अब जब प्राणी इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कर लेता है तब उसका कैसा व्यवहार हो जाता है, यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा है। क्योंकि संसार में जितने प्राणी हैं उनमें अधिकांश तीनों गुणों के प्रभाव में ही स्थित रहते हैं। गीता के श्रोता अर्जुन को भी उपदेश श्रवण से पहिले और इस समय उपदेश श्रवण काल में भी गुणों के प्रभाव में ही परिस्थित मानना पड़ेगा। अन्यथा वह उपदेश सुनने का अधिकारी ही नहीं रह जायगा। गुणत्रयातीत पुरुष तो उपदेष्टा की कोटि में ही आता है। हां, उपदेश्य व्यक्ति में सत्त्वगुण की अधिक मात्रा होने के कारण ही वह उपदेश्य बना है। परन्तु वह गुणातीत अवस्था में नहीं है। उसे गुणातीत व्यक्तियों की पहिचान होना भी कठिन है। क्योंकि वह स्वयं जिस अवस्था में स्थित है उसी को अन्यत्र भी वह पहिचान लेता है। परन्तु जिसका उसे कोई अनुभव नहीं उसका उसे परोक्षज्ञान भले ही हो जाय, प्रत्यक्ष होने पर उसे गुणातीत रूप में वह तब तक नहीं पहिचान सकेगा जब तक कि उसे उस अवस्थावालों के निश्चित चिन्ह न मालूम हों। भगवान् ने पिछले पद्यों में गुणों का प्रभाव और गुणातीत अवस्था का महत्त्व इतने विस्पष्ट भाव से व्यक्त कर दिया है कि सभी श्रोताओं की गुणातीत अवस्था के प्रति एक स्पृहणीय भावना उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए अर्जुन अपनी जिज्ञासा को न रोक सका और उसने भगवान् से प्रश्न कर ही दिया।

पद्योक्त सम्बोधन प्रभो ! का आशय है कि अर्जुन यह प्रकट कर रहा है कि आप मेरे ही नहीं प्राणिमात्र के सन्देहों के निराकरण करने में पूर्ण समर्थ ज्ञान विज्ञान के भण्डार हैं। किसी विद्वान् मनुष्य से कोई गम्भीर बात पूछने में यह निराशा संभावित हो सकती है कि उसे उस गंभीर बात का ज्ञान न हो। परन्तु ज्ञान की राशि रूप भगवान् कृष्ण के विषय में तो ऐसी निराशा का गन्ध भी अर्जुन को नहीं आ सकता था। इसलिए अपनी भगवान् में इस सुदृढ़ निष्ठा को यहाँ अर्जुन ने प्रभो ! इस सम्बोधन में व्यक्त किया है।

यहाँ अर्जुन के तीन प्रश्न हैं। प्रथम तो यह कि वे कौन से लक्षण या चिन्ह हैं जिन्हें देखकर गुणातीत पुरुष को देखने मात्र से पहिचान लिया जाय। जिस प्रकार

कहीं भी धुआँ देख कर यह जान लिया जाता है कि वहाँ अग्नि है, धुआँ अग्नि की पहिचान है, क्योंकि धुएँ का और अग्नि का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है। जहाँ धुआँ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी, जहाँ अग्नि नहीं होगी वहाँ धुआँ कदापि नहीं मिलेगा। जहाँ इस प्रकार का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध होता है वहाँ पहिचान के साधन को देख लेने से परोक्ष पदार्थ का भी निश्चित ज्ञान हो जाता है। गुणातीत व्यक्ति स्वरूपतः अपनी गुणातीत अवस्था को नहीं दिखा सकते, परन्तु उसमें ऐसी पहिचान तो अवश्य होगी जिसका अनुभव करके यह ज्ञान हो जाय कि अमुक पुरुष गुणातीत अवस्था में है। दूसरा प्रश्न यह है कि गुणातीत पुरुष का आचरण किस प्रकार का होता है। क्या उसकी चेष्टाएँ भी अन्य व्यक्तियों के समान नियन्त्रित होती हैं अथवा वह यथेच्छरूप से चेष्टाएँ करता है। वह वैदिक या लौकिक विधियों का पालन भी करता है अथवा नहीं। तीसरा प्रश्न यह है कि समुद्र के समान चारों ओर फैले हुए इन गुणों का अतिक्रमण वह किन उपायों से करता है।

अविगीता में कहा गया है कि यहां लिङ्ग शब्द से गुणातीत पुरुष के आन्तरिक असाधारण धर्मों के विषय में प्रश्न है और आचार शब्द के उसके बाह्य कर्मानुष्ठान किस प्रकार के होते हैं यह पूछा गया है। यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि आन्तरिक असाधारण धर्म तो दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में आ नहीं सकते। तब उनके पूछने का यहाँ क्या प्रयोजन हो सकता है। इसका उत्तर अविगीता में यह दिया गया है कि अपने भीतर गुणातीत अवस्था की पहिचान करने के लिए आन्तरिक असाधारण धर्मों को अर्जुन ने पूछा है तथा अन्य व्यक्ति में गुणातीत अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बाह्य आचरण का प्रश्न किया है।

---

## षोडश-पुष्प

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।  
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥  
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।  
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥  
समदुःखसुखः स्वस्थः सम लोष्टाश्मकाञ्चनः ।  
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥  
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

“हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह जब प्रवृत्त होते हैं तब गुणातीत पुरुष इनसे द्वेष नहीं करता और जब ये निवृत्त होते हैं तब वह इनकी आकाङ्क्षा नहीं करता ॥२२॥

यह गुणातीत अवस्था का स्वानुभववेद्य स्वरूप है। गुणातीत का अर्थ यह नहीं है कि उससे गुणों का किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं रहा। गुणों से सब प्रकार के सम्बन्ध छूट जाने की स्थिति तो विदेहकैवल्य में ही प्राप्त होती है। जब तक आत्मा का देह-सम्बन्ध बना हुआ है तब तक व्यवहार में तो तीनों गुण आवेंगे ही। परन्तु गुणातीत अवस्था में पहुंचा हुआ पुरुष गुणों में आसक्ति शून्य होकर ही प्रवृत्त होगा। उसके विचार में यह बात अविचल रूप से स्थिर रहेगी कि गुण ही व्यवहार का परिचालन कर रहे हैं, मैं केवल इनका द्रष्टा हूँ। वह आत्मा पर इनका लेप कभी नहीं होने देगा। आत्मा पर गुणों का लेप तभी होता है जब गुणों के जो कार्य हैं उनमें किसी गुण में अभिलाषा और किसी में अनिच्छा उत्पन्न हो। गुणातीत पुरुष अपने व्यवहार में गुणों से न तो द्वेष ही करेगा और न उसकी अभिलाषा ही रखेगा। स्पष्ट ही है कि प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह सत्त्व, रज और तम के कार्य रूप हैं। श्रीशंकराचार्य ने इनके द्वेष और आकाङ्क्षा का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि—मुझमें तमोगुण का स्पर्श हो गया, इससे मूढ़ता आ गई, दुःखात्मक राजसी प्रकृति के उदय से मैं अपने स्वरूप से चलायमान हो गया, यह मेरे लिए कष्ट का विषय है कि मैं अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो गया। प्रकाशात्मक सात्त्विक गुण मुझमें विवेकशीलता का प्रादुर्भाव करता हुआ मुझे

आबद्ध कर रहा है, इस प्रकार संसारी पुरुष गुणों से द्वेष करते रहते हैं। परन्तु त्रिगुणातीत अवस्था में पहुँचा हुआ व्यक्ति इस प्रकार के गुणों के द्वेष से अपने को दूर रखता है। इसी प्रकार जैसे सत्त्वादि गुणों में संस्थित पुरुष सत्त्व आदि गुणों को आत्मा के प्रति प्रकाशित करके फिर यह चाहते हैं कि ये गुण अब निवृत्त हो जायं, ऐसा वह पुरुष नहीं चाहता। यह दूसरे व्यक्ति के जानने योग्य चिन्ह नहीं अपितु स्वयं अनुभवकरने योग्य बातें हैं।

श्रीरामानुजाचार्य का यहां यह आशय है कि आत्मा के अतिरिक्त दो प्रकार की वस्तुएँ मिलती हैं। एक वे जो इष्ट हैं और दूसरी अनिष्ट हैं। जब अनिष्ट वस्तुएँ, अथवा अनिष्ट वस्तुओं को उपस्थित करने वाले साधन सामने आते हैं तो उनमें हेयता के कारण द्वेष बुद्धि होती है। इसी प्रकार जब इष्ट वस्तुएँ अथवा उनको उपस्थित करने के साधन सामने से हट जाते हैं तब उनके प्रति आकाङ्क्षा होती है, ऐसा सभी का अनुभव है। उनमें अनिष्ट साधन जब सामने आवें तब गुणातीत अवस्था में स्थित पुरुष उनसे द्वेष नहीं करता। मृत्यु अनिष्ट है, मृत्यु का साधन सर्प, व्याघ्र आदि हैं, जब ये सामने आते हैं तो उसके व्यवहार में इनके प्रति कोई द्वेष भावना उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार जो इष्ट वस्तुएँ हैं उनके हट जाने पर यह उनकी आकाङ्क्षा नहीं करता। तीनों के तीनों कार्य इष्ट साधन भी हैं तथा अनिष्ट साधन भी। प्रकाश जो सत्त्व गुण का कार्य है, वही तब अनिष्ट साधन बन जाता है जब वह भय आदि के साधनों को प्रकाशित करे। भय का साधन सिंह आदि हैं। यदि सिंह की समीप उपस्थिति के समय घना अन्धकार रहे तो सिंह मनुष्य को देख नहीं सकेगा। अतः उस समय अन्धकार ही इष्ट साधन होगा। इस प्रकार तीनों गुण विभिन्न परिस्थितियों में इष्ट साधन और अनिष्ट साधन दोनों बन जाते हैं। इनके विषय में गुणातीत मनुष्य का क्या व्यवहार है यह बतलाया गया है।

आनन्दतीर्थ के माध्व भाष्य का आशय है कि सत्त्वादि गुण स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें स्थूल सत्त्वादि गुणों से लौकिक प्रकाश प्रवृत्ति और मोह उत्पन्न होते हैं और सूक्ष्म गुणों से परमेश्वर विषयक यह होते हैं। इनमें से गुणातीत पुरुष स्थूल गुणों से उत्पन्न प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह की आकाङ्क्षा और उनके प्रति द्वेष से मुक्त रहता है। परन्तु सूक्ष्म भगवद्विषयक गुणों के कार्यों में तो उसकी आकाङ्क्षा ही रहती है। इसीलिए माध्वभाष्य में श्लोक के “न द्वेष्टि, न काङ्क्षति” का अर्थ करते हुए ‘प्रायः’ और जोड़ दिया है कि वह प्रायः इनकी आकाङ्क्षा नहीं करता। अर्थात् स्थूल गुणों के कार्य लौकिक प्रकाश आदि के प्रति उसके आकाङ्क्षादि नहीं होते।

सूक्ष्म गुणों के प्रकाशादि कार्यों के प्रति तो उसकी आकाङ्क्षा बनी ही रहती है। अपने कथन के समर्थन में सामवेद की भाल्लवेय शाखा का यह मन्त्र उन्होंने लिखा है—  
**रजस्तमस्सत्त्वगुणान् प्रवृत्तान् प्रायो न च द्वेष्टि न चापि काङ्क्षति ।  
 तथापि सूक्ष्मं सत्त्वगुणं च काङ्क्षेत् यदि प्रविष्टं सुतमश्च जह्यात् ॥**

इसमें सूक्ष्म सत्त्व गुण की आकाङ्क्षा का विधान है। महाभारत मोक्षधर्म प्रकरण का भी पद्य उद्धृत किया गया है—

**“न हि देवा ऋषयश्च सत्त्वस्था नृपसत्तम !**

**हीनाः सत्त्वेन सूक्ष्मेण ततो वैकारिका मताः**

**कथं वैकारिको गच्छेत्पुरुषः पुरुषोत्तमम्”**

इसका आशय है कि यदि देवता और ऋषि सूक्ष्म सत्त्व गुण से विहीन हो जायें तब वे सत्त्वस्थ नहीं कहे जा सकते अपितु उन्हें स्थूल-गुण-विकारों में स्थित रहने से तथा सूक्ष्म सत्त्व से विहीन होने के कारण वैकारिक ही कहना पड़ेगा। वैकारिक होने पर वे पुरुषोत्तम भाव को कैसे प्राप्त कर सकेंगे, अर्थात् उनका मोक्ष कैसे होगा। गीता में जो गुणों का विवेचन हुआ है उसमें इस प्रकार का स्थूल सूक्ष्म विभाग नहीं देखा जाता। अतः इस स्थूल विभाग के अनुसार गीता में स्थूल गुण और उनके कार्यों का ही विवेचन हुआ है यही मानना होगा।

श्रीपुरुषोत्तमजी ने लिखा है कि गुणातीत पुरुष गुणों की प्रवृत्ति और निवृत्ति को भगवदिच्छा से प्रेरित समझता है, अतः उसका गुणों के प्रति स्वतः इच्छा और द्वेष का भाव निवृत्त हो जाता है।

श्रीनीलकण्ठ का आशय है कि गुणातीत पुरुष समाधि में निरत रहता है। समाधि को छोड़ने की दशा को व्युत्थान कहते हैं। जब व्युत्थान दशा में गुणों का सम्पर्क होता है तब वह इनसे द्वेष नहीं करता। समाधि अवस्था में जब गुणों का आविर्भाव होता है तब वह इनकी आकाङ्क्षा नहीं करता। समाधि अवस्था में गुणों के द्वारा अनेक चमत्कार अनुभूत होते हैं। वे समाधि के प्रतिकूल योगशास्त्र में माने गए हैं। समाधि-स्थित पुरुष इन चमत्कारों का अनुभव करते हुए भी उनकी आकाङ्क्षा नहीं रखता। भागवत् का पद्य भी उन्होंने उद्धृत किया है कि—

**“देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा**

**सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्**

दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं

वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः''

( श्री मद्भागवत ११।१३।३६ )

अर्थात् समाधि में संस्थित सिद्ध पुरुष जो कि आत्मस्वरूप को प्राप्त कर चुका है वह नश्वर शरीर की निश्चेष्ट रूप से स्थिति और उसकी चल अवस्था को उसी प्रकार नहीं देखता जिस प्रकार कि मदिरा के मद से अन्ध व्यक्ति भाग्य से प्राप्त अथवा अप्राप्त वस्त्र का ज्ञान नहीं रखता। शरीर को वस्त्र के रूप में तो भगवान् ने भी दूसरे अध्याय में कहा ही है।

श्रीनीलकण्ठ ने यहां योग वासिष्ठ में कही गई सात योग की भूमिकाओं को भी इस प्रकार उद्धृत किया है कि—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहता

विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका

पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता

इनमें मुमुक्षु अवस्था तक की साधन सम्पत्ति प्रथम है। श्रवण और मनन रूप विचार की दूसरी अवस्था है। तीसरी अवस्था निदिध्यासन है। ये तो समाधि की साधनभूत अवस्थाएं हैं। चौथी अवस्था समाधि के फल के रूप में हैं जिसमें कि सत्त्वगुण की अभिवृद्धि होकर ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। इस अवस्था में योगी कृतार्थ हो जाने पर भी पुष्कल मात्रा में जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव नहीं कर पाता। योग की पंचम अवस्था में वह स्वयं स्थित भी रहता है और स्वयं उत्थित भी होता है। छठी अवस्था में वह दूसरे के प्रयत्न से ही उठाया जाता है और सातवीं अवस्था में न स्वतः वह उठता है और न दूसरे के द्वारा ही उठाया जा सकता है। श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि नित्यसमाधि में स्थित पुरुष की इस अवस्था को ही इस पद्य में कहा गया है।

इस प्रकार अनुभव योग्य गुणातीत अवस्था का विवरण करके आगे गुणातीत पुरुष के आचरण के विषय में जो अर्जुन का प्रश्न था उसका उत्तर भगवान् अग्रिम पद्य के द्वारा देते हैं कि—

“वह उदासीन के समान स्थिर रहता है, गुणों के द्वारा वह चलायमान नहीं होता, गुणों का गुणों के साथ व्यवहार हो रहा है ऐसा वह समझता है। ( २३ )



दो व्यक्तियों के परस्पर कलह में प्रवृत्त होने पर जो तीसरा व्यक्ति उन दोनों में से किसी का पक्ष ग्रहण नहीं करता, केवल उनका अवलोकन करता है, वह उदासीन या तटस्थ माना जाता है। इसी प्रकार शास्त्रीय अथवा लौकिक वाद विवाद में भी जब दो व्यक्ति तर्क प्रतितर्क प्रस्तुत करते हैं, तब एक तीसरा व्यक्ति उन विवाद में पड़े हुए लोगों में से किसी का पक्ष न लेता हुआ साक्षि रूप से अवस्थित रहता है, वह भी उदासीन कहलाता है। गुणातीत अवस्था में पहुँचा हुआ व्यक्ति भी इसी प्रकार उदासीन की भांति स्थित रहता है। प्रश्न होगा कि यहां कौन सा कलह या विवाद है जिसके लिए उसे उदासीन के समान रहना पड़ता है, अथवा किसके द्वारा विचलित किये जाने की यहां आशंका होती है। इसका समाधान है कि प्रतिक्षण व्यवहार में आने वाले जो गुण हैं, वे ही परस्पर कलहायमान अवस्था में रहते हैं और उन्हीं की उस अवस्था से यह पुरुष उदासीन रहते हैं। एक दूसरे का अभिभव आदि करते रहना गुणों का स्वभाव बतलाया गया है। आत्मवेत्ता को आत्मा से पृथक् गुणों का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। वह चिरकाल तक निरन्तर समाधि अवस्था में संस्थित रहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है, वह यह स्पष्ट जान जाता है कि पूर्वजन्म या इस जन्म के कर्मों से प्रेरित होकर देह, इन्द्रिय आदि अपने-अपने भोजन शयनादि कार्यों में लगे रहते हैं, मैं इनका द्रष्टा इनसे सर्वथा पृथक् हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य के कथन का आशय है कि उदासीन भाव दो प्रकार से आता है। एक तो जब किसी कार्य को करने की क्षमता नहीं होती तब मनुष्य उदासीन हो जाया करता है। दूसरा जब पूर्ण तृप्त हो जाने पर किसी कार्य में उसकी इच्छा ही नहीं रहती तब वह उदासीन हो जाता है। यहाँ दूसरे प्रकार की उदासीनता ही ग्राह्य है। गुणातीत पुरुष आत्म ज्ञानी होने पर आप्त काम हो जाता है। अतः वह गुणों से उदासीन हो जाता है।

श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि भगवान् की इच्छा से ही गुणों का परस्पर व्यवहार चल रहा है यह समझ कर वह तटस्थ रहता है।

श्रीनीलकण्ठ ने समाधि की छठी भावना का विवरण करके इस पद्य को लगाया है कि गुणातीत पुरुष समाधि में उदासीन के समान स्थिर रहता है। वह समाधि से उठने में कोई प्रयोजन नहीं देखता। क्योंकि किसी वासना के मन में न रहने से 'मेरा अमुक कर्तव्य है' ऐसी कोई भावना उसके मन में नहीं रहती। यदि कोई अन्य व्यक्ति उसे उठने को प्रेरित न करे तो केवल गुणों के द्वारा वह समाधि से विचलित नहीं किया जाता। दूसरे के द्वारा उठाया जाने पर भी वह यही देखता है कि गुणों का परस्पर

व्यवहार चल रहा है। ऐसा समझता हुआ वह स्तब्ध रहता है। वह गुणों के द्वारा उत्पादित इष्ट और अनिष्ट का स्पर्श नहीं होने देता। एक उदाहरण देकर उन्होंने इसे स्पष्ट किया है कि जैसे कोई भोजन करने वाला व्यक्ति अपनी मूढ़ता के कारण भोज्य पदार्थों के रसों को नहीं जानता। किसी दूसरे व्यक्ति के समझाने पर भी उनकी विशेषता के अनुभव न होने से वह उनका स्वाद नहीं लेता और उनके सुख दुःखों का भी अनुभव नहीं करता। उसी प्रकार गुणों के प्रति गुणातीत पुरुष की स्थिति हो जाती है।

अग्रिम पद्य में गुणातीत पुरुष के अन्य लक्षण कहते हैं कि—

“वह दुःख और सुख में समान बुद्धि रखता है, उसके लिए लकड़ी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह प्रिय और अप्रिय विषयों में एक ही भाव रखता है, वह धीर है, अपनी निन्दा और स्तुति को भी वह समान भाव से सुनता है। सम्मान और अपमान में भी उसका तुल्य भाव रहता है। मित्र पक्ष और शत्रु पक्ष दोनों में वह तुल्य भाव रखता है, वह सभी कार्यों के आरंभ का परित्याग कर देता है, जो इस प्रकार के आचरणों से युक्त हो जाता है वह गुणातीत कहलाता है” (२४, २५)

मित्र और अरि पक्ष में उदासीनता का अभिप्राय लिखते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि बहुत से लोग स्वतः तो दोनों पक्षों से उदासीन रहते हैं, परन्तु दूसरों के लिए वह किसी पक्ष का ग्रहण कर लिया करते हैं। उदाहरण के रूप में यहां किरातार्जुनीय महाकाव्य में व्यासजी की यह उक्ति ध्यान देने योग्य है कि—

**वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः**

(किरातार्जुनीय)

अर्थात् वीतराग और मुक्ति मार्ग का अवलम्बन करनेवाले पुरुषों को भी उत्तम पक्ष में पक्षपात होता ही है। परन्तु गुणातीत अवस्था वास्तव में वही है जहां किसी भी ओर पक्षपात सर्वथा न हो। ‘सर्वारम्भपरित्यागी’ का अर्थ वे करते हैं कि दृष्टार्थक या अदृष्टार्थक समस्त विधियों का परित्याग करके केवल शरीर यात्रा निर्वाहार्थ कर्म को स्वीकार करने वाला ही गुणातीत पुरुष होता है।

‘स्वस्थ’ का अर्थ है कि जो अपने में अर्थात् आत्मा में ही सर्वदा संस्थित रहता है, पुत्रादि के जन्म मरण से जन्य सुख-दुःखादि में जिसकी समान बुद्धि रहती है। मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण आदि में उसकी समान बुद्धि बतलाई गई है। इसका आशय यह है कि किसी भी प्रकार के प्रलोभन से वह विचलित नहीं किया जा सकता। निन्दा और स्तुति आदि शरीर और उसके धर्मों की ही हुआ करती है। बहुत से लोग राग, द्वेषादि

का विजय कर लेते हैं परन्तु यह न्यूनता उनमें देखी जाती है कि अपनी स्तुति सुन कर उन्हें बड़ा हर्ष होता है और अपनी निन्दा सुनकर क्लेश का अनुभव करते हैं। गुणातीत पुरुष की उक्त धारणा बड़ी दृढ़ रहती है कि निन्दा या स्तुति उसकी अपनी नहीं अपितु शरीर और उसके धर्मों की हैं। अतः वह इनमें अपनी समचित्तता का पूरा निर्वाह करता है। स्तुति और निन्दा के ही कारण मान या अपमान होता है। मान से स्तुति और अपमान से निन्दा होती है। इनको स्तुति और निन्दा का फल भी कहा जा सकता है। जब वह स्तुति और निन्दा में समान भाव रखता है तो मानापमान में भी उसका समान भाव रहना स्वाभाविक ही है। भेद यही है कि स्तुति और निन्दा वाणी से होती है तथा मानापमान व्यवहारों से प्रकट होता है। धीर का अर्थ व्याख्याकारों ने धीमान् या बुद्धिमान् किया है। महाकवि कालिदास ने धीर की सुन्दर परिभाषा लिखी है कि—

**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः**

(कुमारसंभव ३ सर्ग)

चित्त विकार के हेतु के उपस्थित होने पर भी जिनका चित्त चंचल नहीं होता वे ही धीर कहलाते हैं।

श्रीनीलकण्ठ के अनुसार इन दोनों श्लोकों में समाधि की चौथी और पांचवीं अवस्थाओं का विवरण है। पहिले पांचवीं और फिर चौथी यह ऊपर से नीचे की ओर का क्रम उन्होंने यहां माना है। पांचवीं असंसक्ति नाम की योग की भूमिका का वर्णन करते हुए वह कहते हैं कि उस अवस्था में योगी को सुख और दुःख में समभाव प्राप्त हो जाता है। वह स्वस्थ रहता है अर्थात् अपनी इच्छा से ही स्थित रहता है। समाधि में जब इच्छा का अभाव हो जाता है तब वह स्वयं ही उठता है। अपनी उत्थित अवस्था में भी लोष्ट, अश्म और काञ्चन में वह सम बुद्धि ही रखता है। निन्दा और स्तुति में अपनी धीरता के कारण वह समानता रखता है। जैसे कोई शूर पुरुष तीव्र प्रहार की वेदना से भी चेतना शून्य नहीं होता, अपने धैर्य से वह वेदना का अनुभव या उसे सहन करता है उसी प्रकार हर्ष और विषाद का अनुभव करता हुआ भी यह समाधिस्थित गुणातीत पुरुष अपने धैर्य से विचलित नहीं होता। इससे पहिले की जो स्थितियां बतलाई गई हैं उनमें वेदना का अनुभव होने पर भी हर्षादि का उदय नहीं होता तथा उसके भी पूर्व की अवस्था में वेदना का ही अनुभव नहीं होता।

आगे के श्लोक में चतुर्थ सत्त्वापत्ति नामक अवस्था का विवरण है। उसमें

विद्वान् पुरुष द्वैतभाव को मरुमरीचिका के समान असत्य समझता हुआ मान और अपमान में तुल्य भाव रखता है, वह किसी पक्ष का ग्रहण करने के लिए कोई यत्न नहीं करता।

इस प्रकार इन उपर्युक्त चार पद्यों में भगवान् ने गुणातीत पुरुष के लिङ्ग और आचरणों का परिचय दिया। आनन्द गिरि तथा लोकमान्य तिलक और डा० राधाकृष्णन् ने अपनी टिप्पणियों में यहां द्वितीय अध्यायोक्त स्थितप्रज्ञ के चिन्हों से इसे समान बतलाया है। लोकमान्य ने १२वें अध्याय में भक्तिमान के लक्षणों से भी यहां की समानता बतलाई है। 'सर्वारभपरित्यागी', 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' 'उदासीनः' इत्यादि विशेषण यहां पूर्वोक्त प्रकार से ही प्रयुक्त देखे जाते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकला है कि सिद्धि के विभिन्न मार्गों का आश्रय लेने पर भी सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेने वाले पुरुषों के लक्षण एक से ही हो जाते हैं। लोकमान्य ने यह भी लिखा है कि प्रारंभ के अध्यायों से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्म किसी भी स्थिति में नहीं छोड़े जा सकते। इस प्रकार उनका कहना है कि स्थितप्रज्ञ त्रिगुणातीत और भक्ति, ये सब कर्मयोग के ही मार्ग हैं।

---

## सप्तदश-पुष्प

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

अर्जुन के दो प्रश्नों का उत्तर विगत चार पद्यों में भगवान् ने दिया। उसने तीन प्रश्न किये थे। किन लिङ्गों से गुणातीत पुरुष युक्त रहता है, उसके क्या आचरण होते हैं तथा वह किस प्रकार इन गुणों का अतिक्रमण करता है। तीसरे प्रश्न का उत्तर यहां है कि—

‘जो अविचल भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। (२६)

यहाँ अविचल भक्तियोग से भगवान् नारायण की सेवा को गुणों के अतिक्रमण का और मोक्ष का उपाय कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि केवल प्रकृति और आत्मा के पृथक् पृथक् ज्ञान मात्र से गुणों का अतिक्रमण या मुक्ति नहीं होती, अपितु निग्रह और अनुग्रह में समर्थ सत्य सङ्कल्प जो भगवान् हैं, जो कि आश्रित पुरुषों के प्रति वात्सल्य के समुद्र हैं, उनकी एकान्त भक्ति से ही इन गुणों का अतिक्रमण और मोक्ष की प्राप्ति संभव है।

आनन्दतीर्थ कहते हैं कि भक्ति योग से भगवान् की सेवा करने वाला प्राणी प्रकृति के समान भगवान् को प्रिय हो जाता है। ‘ब्रह्मभूय’ में ब्रह्म शब्द का अर्थ उन्होंने प्रकृति किया है, पहिले भी “मम योनिर्महद् ब्रह्म” आदि में ब्रह्मशब्द का प्रकृति अर्थ किया ही जा चुका है। जैसे प्रकृति भगवान् को अत्यधिक प्रिय है, उसी प्रकार भगवान् की सेवा करने वाला प्राणी भी भगवान् का प्रिय होता हुआ गुणों का अतिक्रमण कर जाता है, यह इस व्याख्या का आशय है।

आनन्दगिरि ने उपसंहार के इस पद्य के आधार पर ब्रह्मभाव को प्राप्त करना ही इस अध्याय का मुख्य तात्पर्य है, यह प्रकट किया है।

श्री वल्लभाचार्य ने ब्रह्मभूय का अर्थ अक्षरभाव किया है।

श्रीनीलकण्ठ ने यहां तीसरी तनुमानसा नाम की योगावस्था का विवरण माना है। इसमें योगी किसी दूसरी वृत्ति के वशीभूत न होकर भगवान् में तैलधारा के समान

अनवच्छिन्न मनोवृत्ति का अर्पण करता है, यही 'अव्यभिचारेण भक्ति' है। इस प्रकार अपने चित्त को सूक्ष्म बनाकर वह गुणों का अतिक्रमण कर जाता है और अपने ध्यान के परिपाक के अनन्तर सत्त्व गुणका भी बाध करके ब्रह्मभाव में पहुँचने की योग्यता प्राप्त करता है।

श्रीशंकरानन्द ने भक्तियोग का लक्षण बतलाते हुए ये पद्य उद्धृत किए हैं—

मत्कथाश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये  
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ  
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे  
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य ने पद्योक्त चकार को अवधारणार्थक माना है। इसका तात्पर्य है कि वह भगवान् की ही सेवा करता है। इससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि जो फलानुसन्धान पूर्वक भगवान् की भक्ति करते हैं वे फल को ही प्रधान मानते हैं, भगवान् को अङ्ग समझते हैं, अतः उनको ब्रह्मसायुज्य की प्राप्ति नहीं होती। फलेच्छा के बिना भक्ति में निरत रहने वाले प्राणी को ही वह पद मिलता है। फलेच्छा शून्य होकर जब कोई भगवद्भक्ति में विलीन होता है और कोई उससे यह प्रश्न करता है कि भाई तुम इस प्रकार के निष्फल मार्ग में प्रवृत्त क्यों हुए हो; तब वह निरन्तर भगवद्भक्ति में विलीन रहने के कारण विद्वत अन्तःकरण वाला व्यक्ति भक्तिरस के सात्त्विकभावों से व्याप्त होता हुआ केवल मौन रहकर सारा उत्तर दे देता है।

अविगीता में श्री वामन का आशय लिखा है कि ज्ञान का फल मोक्ष ही होता है। ज्ञानी दो प्रकार के होते हैं, निर्गुणोपासक और सगुणोपासक। इनमें से निर्गुणोपासकों का गुणातीत होने के कारण ब्रह्मभाव हो जाना ही मोक्ष है। जो सगुणोपासक हैं उनका भगवान् के साथ साधर्म्य हो जाना मोक्ष है। इस प्रकार जिनको आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ है परन्तु जो भगवान् की भक्ति में निरत हैं वे भी भगवान् का सारूप्य प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु वे नव वैकुण्ठ जो कि अमुक्त स्थल है वहां ही रहते हैं और जय विजय की भांति उनकी स्थानच्युति भी होती है। जो ज्ञानी हैं वे कभी कल्पना में भी च्युत नहीं होते। यह बात पहिले—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः  
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च

इस पद्य के द्वारा बतलाई गई है। प्रस्तुत पद्य में सगुण मोक्ष को 'ब्रह्मभूय' कहा गया है। आपकी भक्ति से ब्रह्मभाव कैसे प्राप्त हो जायगा, इस संभावित प्रश्न का उत्तर देते हुए आगे भगवान् कहते हैं—

“क्योंकि मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। अमृत, अव्यय, शाश्वत धर्म, और एकान्त सुख की भी मैं प्रतिष्ठा हूँ।”

जिसमें जो प्रतिष्ठित हो उसे उसकी प्रतिष्ठा कहा जाता है। श्रीशंकराचार्य के अनुसार 'अहम्', (मैं) का अर्थ यहां प्रत्यगात्मा है। प्रत्यगात्मा परमात्मा की प्रतिष्ठा है, अर्थात् परमात्मा प्रत्यगात्मा पर प्रतिष्ठित है। परमात्मा और प्रत्यगात्मा एक ही हैं, माया-विमुक्त होने पर प्रत्यगात्मा ही परमात्मा हो जाता है। किस प्रकार के ब्रह्म की प्रतिष्ठा मैं हूँ, इसी का उत्तर है कि जो अमृत है अर्थात् अविनाशी है, और जो अव्यय अर्थात् विकारों से परे है। इसके अतिरिक्त जो शाश्वत नित्य धर्म और उसके समुद्भूत स्थायी सुख है, उसकी भी प्रतिष्ठा भगवान् ही हैं। अमृत अव्यय स्वभाववाले परमानन्द रूप परमात्मा की प्रतिष्ठा प्रत्यगात्मा है। प्रत्यगात्मा ही सम्यक् ज्ञान के द्वारा परमात्मा के रूप में गृहीत होता है। इस प्रकार का ज्ञान 'ब्रह्मभूय' अर्थात् मोक्ष के लिए उपयुक्त है। ईश्वर की जिस शक्ति से भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ब्रह्म प्रवृत्त होता है वह शक्ति भी ब्रह्म ही है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न रहते हैं।

एक दूसरे प्रकार से भी इस पद्य की व्याख्या श्रीशंकराचार्य ने प्रस्तुत की है। ब्रह्म का अर्थ सविकल्पक ब्रह्म है और 'अहम्' का अर्थ निर्विकल्पक ब्रह्म है। सविकल्पक ब्रह्म की प्रतिष्ठा निर्विकल्पक ब्रह्म है अर्थात् सविकल्पक ब्रह्म निर्विकल्पक के आधार पर ही प्रतिष्ठित रहता है।

वह सविकल्पक ब्रह्म अमृत और अव्यय है, मरण धर्म से मुक्त और व्यय रहित है। शाश्वत और नित्य जो ज्ञान निष्ठात्मक धर्म है तथा जो सर्वदा स्थायी रहने वाला सुख है उसकी भी मैं ही प्रतिष्ठा हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य शाश्वत धर्म का अर्थ भगवान् का ऐश्वर्य करते हैं, क्योंकि धर्म तो साधन है, यहां साध्य का कथन किया जा रहा है। एकान्त सुख का तात्पर्य तो स्पष्ट ही है कि सांसारिक सुख तो नष्ट होने वाला होता है, वह सर्वदा स्थायी नहीं रहता। उससे हटाने के लिए यहां एकान्त सुख कहा गया। माध्व भाष्य में यहां ब्रह्म का अर्थ माया किया गया है जैसा कि त्रयोदशाध्याय में—

“मम योनिर्महद् ब्रह्म”

में किया गया था। मैं प्रकृति की प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हूँ यह अभिप्राय स्पष्ट ही है।

श्रीश्रीधराचार्य ने लिखा है कि प्रतिष्ठा का अर्थ प्रतिमा है। मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा अर्थात् प्रतिमा हूँ, घनीभूत ब्रह्म हूँ। जिस प्रकार घनीभूत प्रकाश ही सूर्यमण्डल है।

एक नवीन व्याख्याकार का आशय है कि प्रतिष्ठा का अर्थ है पर्याप्ति, मैं ब्रह्म की पर्याप्ति हूँ, अर्थात् ब्रह्म ही हूँ। आनन्द गिरि ने अमृत का अर्थ मोक्ष किया है, मैं अमृत की प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् मुक्ति का आश्रय हूँ। मोक्ष मेरे आधीन है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि पृथ्वी-आकाश आदि का आश्रय जो अक्षर है वही यहां ब्रह्म शब्द से कहा गया है, उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् मूल स्थान मैं ही हूँ। अथवा वह अक्षर जिससे प्रतिष्ठित है वह मैं ही हूँ। क्योंकि वह ऐश्वर्य का निधान है, वह ऐश्वर्य मेरा ही रूप है। ब्रह्मानन्द रूप मोक्ष ही अमृत है उसकी भी मैं ही प्रतिष्ठा हूँ। धर्म का अर्थ है मोक्ष रूपी फल का देने वाला भगवान् का शाश्वत धर्म, उसकी भी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय मैं ही हूँ। ऐकान्तिक सुख का अर्थ भजनानन्द, पद्य में प्रतिपादित पृथक्-पृथक् पदों के जो वाच्यार्थ हैं उन अलग-अलग अधिकारियों की प्रतिष्ठा अर्थात् गम्य स्थान मैं ही हूँ।

श्रीनीलकण्ठ ने इस पद्य के द्वारा योग की विचारणात्मक द्वितीय भूमिका का उल्लेख माना है। ब्रह्म का अर्थ उन्होंने वेद किया है। मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् वेदों के तात्पर्य का पर्यवसान मुझमें ही है। कर्म और ब्रह्म दोनों के दर्शन के द्वारा अमृत अर्थात् मृत्युतरण का साधन वेद ही है। अव्यय भी वेद का ही विशेषण है, इसका तात्पर्य है कि अपौरुषेय होने के कारण उसमें अप्रामाण्य की कभी शङ्का नहीं हो सकती, वह स्वतः प्रमाण है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि अशेष संशयों का उच्छेद करने वाला जो वेद है, उसके उपक्रम और उपसंहार का पर्यालोचन करके मुझमें समग्र वेद का अन्तिम तात्पर्य मुमुक्षु पुरुष को समझ लेना चाहिए, यही विचारणा नामक योग की द्वितीय भूमिका है।

श्लोक के उत्तरार्ध में हेतु और फल दिखलाते हुए 'शुभेच्छा' नाम की प्रथम भूमिका को कहकर अध्याय का उपसंहार भगवान् ने किया है। शाश्वत धर्म का अर्थ भगवान् में अर्पित नित्य धर्म है, जो कि काम्य कर्मों के समान फलप्रदान करने के अनन्तर क्षीण नहीं हो जाता। उस धर्म के आधार पर परमज्ञान प्राप्त करने की इच्छा का प्रारंभ होता है और उससे शाश्वत फल रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो परा भूमिका को प्राप्त करने में अशक्त है उसके लिए पूर्व-पूर्व भूमिकाएं यहां कही गई हैं।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य 'मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ' इसका अर्थ करते हैं कि मेरी सेवा करने से ब्रह्म भाव प्राप्त हो जाता है। अन्यथा जड़रूप से ब्रह्म की उपासना करने पर



जो मोक्ष होता है वह सुषुप्ति अवस्था के समान ही होता है, जिससे कि उत्थान होने पर पुनः पूर्वावस्था में पहुंचना पड़ता है।

भगवान् ने यहां स्वयं को जो ब्रह्म की प्रतिष्ठा आदि कहा है उसको पुष्ट करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती ने श्रीमद्भागवत के ब्रह्मस्तुति और शुक्राचार्य के पद्य उद्धृत किये हैं—

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः  
सत्यः स्वयंऽयोनिरनन्त आद्यः ।  
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः  
पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥

( भागवत ब्रह्मस्तुति )

यहां श्रीकृष्ण भगवान् को समस्त उपाधियों से शून्य आत्मा या ब्रह्म कहा है। श्रीशुकदेव जी ने कहा है—

सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः  
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥

अर्थात् संसार की समस्त वस्तुओं का भावार्थ सत्ता रूप से अवस्थित सोपाधिक ब्रह्म है, उसकी भी परमसत्ता भगवान् कृष्ण हैं, अतः उनसे भिन्न कौनसी वस्तु है जिसका वर्णन किया जाय।

श्रीशंकरानन्द ने यहां अमृत शब्द से आद्यन्त विकारों का अभाव, अव्यय शब्द से वृद्धि और विपरिणाम का अभाव और शाश्वत शब्द से अपक्षय और विनाश का अभाव माना है। उन्होंने श्लोक का यह भी अर्थ लिखा है कि निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिष्ठा 'अहम्' अर्थात् आत्मा है।

परमार्थप्रपा में मेरी सेवा करने वाला मेरे भाव को प्राप्त करता है यह लिख कर अध्यात्ममीमांसा का श्लोक लिखा है कि—

“कृष्णाकारेण साक्षादिह हि विजयते सूत्रसंज्ञः परात्मा  
ज्योतिर्विश्वप्रकाशं व्रजति दिनकराकारतां यद्वदत्र ।  
यत्स्वे गात्रेऽथ वक्त्रेऽर्जुनजननिकृतेऽदर्शयद्विश्वरूपं  
तं नत्वा स्वानुभूतिप्रदमुपनिषदां हार्दमर्थं ब्रवीमि”

राघवेन्द्र टीका में ब्रह्म का अर्थ महालक्ष्मी किया है और मुझसे अवियुक्त महालक्ष्मी को प्राप्त कर लेने वाला मुझे ही प्राप्त कर लेता है ऐसा पद्य का आशय व्यक्त किया है।

लोकमान्य तिलक ने कहा है कि द्वैतवादी सांख्य के मत को छोड़ देने पर सर्वत्र एक ही सत्ता की स्वतः सिद्धि हो जाती है। सिद्धान्त रूप से सर्वत्र एक ही सत्ता के स्वीकार कर लिए जाने पर उसकी प्राप्ति के साधन के रूप में अनेक उपायों में से किसी एक ही उपाय को स्वीकार करने में गीता का कोई आग्रह नहीं है। भक्ति को अवश्य यहां सर्वजन सुलभ कहा गया है परन्तु उसका कहीं भी ऐसा आशय गीता के प्रकरणों में नहीं लगाया जा सकता कि भक्ति के अतिरिक्त अन्य उपाय त्याज्य हैं। उपासना सम्प्रदाय के आचार्यों ने गीता के उस अनभिमत सिद्धान्त को गीता में दिखाकर जबर्दस्ती उसे गीता पर मढ़ा है। लोकमान्य के अनुसार किसी भी मार्ग का आश्रय लेना अधिकारानुसार सर्वथा उचित होते हुए भी मुख्य बात यह है कि ज्ञान हो जाने पर लोक संग्रहार्थ सांसारिक कर्म छोड़ दिये जायं या किये जायं। कर्मयोग की श्रेष्ठता बतलाते हुए गीता में इसी प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी “अहम्” शब्द का अर्थ प्रायः गीता में अव्यय पुरुष ही मानते हैं, यह कई बार कहा जा चुका है। यहां “अहम्” शब्द का अर्थ उन्होंने ‘ईश्वराव्यय’ माना है। ईश्वराव्यय सर्वव्यापक है। उसी में सब जीवाव्यय भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसी प्रकार यहां ईश्वराव्यय को ही सबकी प्रतिष्ठा बतलाया गया। ब्रह्म अर्थात् निर्विशेष और अव्यय अर्थात् तीनों पुरुष और अमृत अर्थात् मोक्ष और शाश्वतधर्म अर्थात् संसार में फैले हुए धर्म और ऐकान्तिक सुख अर्थात् मोक्ष में प्राप्त निरन्तर सुख की प्रतिष्ठा में ही हूं अर्थात् ईश्वराव्यय के आधार पर सब कुछ प्रतिष्ठित है। उसके बाद कुछ भी नहीं हो सकता, यही पद्य का आशय उनके मतानुसार हुआ।

इनके अतिरिक्त एक तन्त्रशास्त्र के अनुसार व्याख्या और भी है। वहां ‘अ’ शब्द का अर्थ ब्रह्म, ‘ह’ शब्द का अर्थ ब्रह्म की शक्ति मानी जाती है, उन दोनों का समुदाय ही ‘अहम्’ शब्द का वाच्य अर्थ है। ‘अहम्’ अर्थात् शक्ति सहित ब्रह्म, वह ही सबकी प्रतिष्ठा है। अर्थात् सब कुछ उसी में प्रतिष्ठित है। शक्ति सहित ब्रह्म से बाहर कुछ भी नहीं हो सकता।

एक आधुनिक विद्वान् व्याख्याकार ने यहां यह आक्षेप किया है कि “गीता में कहीं श्रीकृष्ण और ‘ब्रह्म’ पर्याय हैं, कहीं ‘श्रीकृष्ण’ ‘ब्रह्म’ के मार्ग निर्देशक हैं, और कहीं ‘श्रीकृष्ण’ ही ‘ब्रह्म’ की प्रतिष्ठा हैं—यह सचमुच बड़ा ही चिन्त्य विषय है।” गीता पर यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि सब ही व्याख्याकारों के अनुसार भगवान् कृष्ण को परब्रह्म ही माना गया है।

## पञ्चदश अध्याय

### अष्टादश-पुष्प

ऊर्ध्वमूलमधश्शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् । १५, १ ।

पन्द्रहवें अध्याय में क्षर, अक्षर और अव्यय, इन तीन पुरुषों का निरूपण होगा। गीता में अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा यह महत्व की बात है कि इसमें त्रिपुरुष विज्ञान का विस्पष्ट रूप से प्रतिपादन हुआ है। विगत अध्याय में तीन गुणों का विस्तार से प्रतिपादन हुआ। अब इस अध्याय के प्रारंभ में उन तीनों गुणों से समुत्पादित जो संसार है, उसका क्या स्वरूप है इस बात को अश्वत्थ वृक्ष के रूपक से समझाते हैं कि—

ऊपर की ओर जिसका मूल है, नीचे की ओर जिसकी शाखाएं (टहनियां) फैली हुई हैं ऐसा यह जो संसार है, इसे ऋषियों ने अव्यय अश्वत्थ कहा है। छन्द ही जिसके पत्ते हैं, उसको जो जान गया वही वेदवेत्ता है” (१)

यहां ‘ऊर्ध्वमूलम्’ का अर्थ है ऊपर की ओर जिसकी जड़ें हैं। जड़ के ऊपर की ओर होने का अर्थ है कि वह मूलस्थान कालतः सूक्ष्म है, वह सबका कारण है, वह नित्य है, वह महान् है, वह मायाशक्ति से युक्त ब्रह्माव्यक्त है, वही इस संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का मूल है। नीचे की ओर शाखा का अभिप्राय यह है कि पाँच तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा आदि आगे की सृष्टि का संपूर्ण प्रपंच ही इस अश्वत्थ वृक्ष की शाखाएं हैं। इनके नीचे की ओर होने का अभिप्राय उत्पत्ति क्रम में इनकी बाद में उत्पत्ति होना है। ऐसा यह जो वृक्ष है उसे अश्वत्थ कहते हैं, अश्वत्थ का अर्थ होता है जो कल भी न रहे ‘न श्वोऽपिस्थाता’ अर्थात् जो क्षण मात्र में नष्ट हो जाने वाला हो। इस वृक्ष के पत्ते वेद हैं। पत्ते वृक्ष को चारों ओर से ढंक कर वृक्ष की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार वेद भी कर्तव्याकर्तव्य, विधि, निषेधों का बोधन करते हुए इस संसार की रक्षा करते हैं, इस संसार वृक्ष को जान लेने वाले को वेदवेत्ता कहते हैं। वेद का अर्थ ज्ञान है और वेदवित् का अर्थ ज्ञानवान् है, यहां वेदवित् कहने का तात्पर्य उस व्यक्ति की प्रशंसा करने में है अर्थात् मूल सहित संसार वृक्ष के ज्ञान के अतिरिक्त और कोई भी ज्ञातव्य पदार्थ संसार में शेष नहीं बचता। अतः इस ज्ञान का धारण करने वाला श्रेष्ठ ज्ञानी है यह बात युक्तिसंगत हो जाती है। पद्य में जो ‘प्राहुः’ अर्थात् पहिले विद्वानों ने कहा है यह कथन है उसके समर्थन में कठोपनिषद् का यह मन्त्र टीकाओं में उद्धृत हुआ है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। ( कठोपनिषद् ६।१। )

श्री शंकराचार्य ने महाभारत के निम्न श्लोक भी इसी प्रसंग में उद्धृत किये हैं—

अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः  
 बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः।  
 महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा  
 धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥  
 आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः।  
 एतद् ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माचरति नित्यशः।  
 एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना  
 ततश्चात्मरतिं प्राप्य यस्मान्नावर्तते पुनः॥

(म० भा० १४।३५।२०-२२)

अर्थात् अव्यक्त रूपी मूल से उत्पन्न होकर उसी के अनुग्रह से यह बढ़ा है, बुद्धि इसका स्कन्ध है, इन्द्रिय कोटर हैं, महाभूत इसकी शाखाएं हैं, विषय पत्ते हैं, धर्म और अधर्म पुष्प हैं, सुख और दुःख फल हैं, सभी भूत अर्थात् प्राणियों का आश्रय है ऐसा यह सनातन वृक्ष है, ज्ञान रूपी तलवार से इस वृक्ष को काटकर आत्मरत होता हुआ प्राणी फिर लौटकर वापस नहीं आता।

श्रीरामानुजाचार्य ऊर्ध्व मूल का अर्थ सप्तलोकों के ऊपर स्थित चतुर्भुज ब्रह्मा करते हैं। अव्यय का अर्थ उन्होंने किया है कि ज्ञान के उदय होने से पूर्व अच्छेद्य होने के कारण यह अव्यय है। छन्दों को जो पत्ता कहा गया है उसका अर्थ वे करते हैं कि श्रुति के द्वारा प्रतिपादित काम्य कर्मों से यह संसार वृक्ष बढ़ता है अतः छन्द इसके पत्ते हुए। वेद संसार वृक्ष के छेदन का उपाय बतलाता है, जब तक उच्छेद्य पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तबतक उसका उच्छेद कैसे किया जायगा इसलिए संसार वृक्ष के ज्ञाता को यहां वेदवित् कहा गया है।

माध्वभाष्य में ऊर्ध्व का अर्थ विष्णु किया गया है। ऊर्ध्वमूल का अर्थ विष्णु जिसका मूल है यह किया गया है। पत्ते फल का कारण होते हैं, बिना पत्तों के कभी फल नहीं निकलता। वेद बोधित कर्तव्यों को करने के अनन्तर ही स्वर्गादि फलों की उत्पत्ति मानी गई है। इसीलिए यहां वेदों को पत्तों के रूप में कहा है।

आनन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि ऊर्ध्व और अधः शब्द उत्कृष्ट और अपकृष्ट के वाचक हैं। मूल उत्कृष्ट है और शाखाएं अपकृष्ट हैं। मूल ब्रह्म है, अतः वह सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्मा को जो मूल कहा गया वह भी इस व्याख्या में इस प्रकार संगत हो जाता है कि वह प्रथम है—‘स वै शरीरी प्रथमः’, प्रथम होने के कारण वह उत्कृष्ट है।

यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संसार की वृक्ष के रूप में कल्पना क्यों की गई। यह ठीक है कि समस्त संसार को कोई एक साथ नहीं देख सकता और इसीलिए उसके सम्पूर्ण स्वरूप को एक साथ पूरा समझने के लिए किसी काल्पनिक उपमान की आवश्यकता हुई। परन्तु फिर भी यह प्रश्न तो अवश्य उपस्थित होगा ही कि वृक्ष को ही क्यों यहां उपमान बनाया गया। उसका उत्तर है कि जिस प्रकार वृक्ष कुल्हाड़ी आदि से काटने योग्य होता है वैसे ही यह संसार भी ज्ञान की तीक्ष्ण तलवार से काट देने योग्य है, उसी को उपर्युक्त पद्य में असंग शस्त्र कहा गया है। इस पर फिर प्रश्न होगा कि क्या वृक्ष होना ही काटने की योग्यता का सूचक है। क्या जितने भी वृक्ष हैं सबकी एक ही विशेषता है कि वे काटे जाने योग्य हैं। ऐसी तो कोई बात नहीं। देखा तो यह जाता है कि हरे भरे वृक्षों की छाया और उनके फल प्राप्त करने के लिए उनकी रक्षा की जाती है, तब संसार एक वृक्ष रूप है इसीलिए वह काटने योग्य हो गया यह बात कैसे युक्ति संगत होगी। इसका उत्तर देते हुए एक व्याख्याकार ने लिखा है कि यदि कोई पथिक किसी निश्चित स्थान पर पहुंचने के उद्देश्य से चला और मार्ग में नदी के तट पर उसे एक ऐसा विशाल वृक्ष दिखाई दिया जो आधा उखड़ कर गिर गया है और आगे जाने का मार्ग उसके गिरने से बन्द हो गया है, तो अपने निश्चित स्थान पर पहुंचने का दृढ़ संकल्प रखने वाले पथिक के सामने केवल यही उपाय रह जाता है कि वह शस्त्र से उस वृक्ष का छेदन करके आगे जाने का मार्ग बनावे। इसी प्रकार मोक्ष रूपी गन्तव्य स्थान पर पहुंचने के लिए जिस व्यक्ति ने प्रस्थान कर दिया है और जो उस गन्तव्य स्थान के श्रवण, मनन आदि के मार्ग पर चल रहा है, उसे प्रकृति और उसके विकारों से बना संसार रूपी महावृक्ष मार्ग को रोके हुए पड़ा हुआ दिखाई देगा। उसे देखकर इस मार्ग के पथिक को घबड़ाना नहीं चाहिए, क्योंकि इस वृक्ष को काट कर रास्ता साफ कर लेने के लिए असंग रूपी शस्त्र उसके पास उपस्थित रहेगा। उसे इस शस्त्र का उपयोग करना चाहिए। शस्त्र भी हो और उससे गिरे हुए वृक्ष को काटना भी प्रारंभ कर दिया हो, परन्तु वृक्ष के कटने से पहले कमजोर होने के कारण कहीं वह शस्त्र ही टूट गया तब क्या होगा, इसी के

समाधान के लिए पद्य में शस्त्र का 'दृढेन' यह विशेषण दिया गया है। यदि शस्त्र दृढ़ होगा तो वह नहीं टूटेगा। इसी प्रकार असंग या आसक्ति शून्यता भी दृढ़ होनी चाहिए। बहुधा देखा जाता है कि कुछ पदार्थों से कुछ समय के लिए आसक्ति हट जाने पर भी अन्य पदार्थों में आसक्ति बनी रहती है अथवा उन्हीं पदार्थों में कुछ काल के उपरान्त फिर आसक्ति हो जाती है। यह दृढ़ असंग शस्त्र है, इसे ही संन्यास कहा जाता है। संसार वृक्ष को काटने में यही दृढ़ शस्त्र का काम देता है।

संसार की स्थिति में तो दिखाया जा चुका है कि उसका मूल परब्रह्म ऊपर है और उसकी शाखाएं नीचे की ओर हैं, परन्तु उसका उपमान जो वृक्ष है उसका मूल ऊपर हो और शाखाएं नीचे हो ऐसा वृक्ष तो देखने में आता नहीं। उपमान को उसी रूप में कहीं उपलब्ध होना चाहिए जिस रूप में उससे उपमेय पदार्थ का सादृश्य दिखाया जा रहा है। इसीलिए श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि व्याख्याकारों ने उपमान के रूप में एक ऐसे ही वृक्ष का वर्णन किया है जिसका मूल ऊपर की ओर है और शाखाएं नीचे की ओर हैं। नदियां अपने जल के वेग से किनारे के नीचे के भाग को काट देती हैं, बाकी बचा हुआ तट अनेक स्थानों पर बहुत ऊंचा रह जाता है। वहां जो विशाल वृक्ष होते हैं उनकी जड़ के स्थान के कट जाने से, तथा वायु के प्रबल वेग का आघात लगने से वे वृक्ष या तो गिर जाते हैं या मूल से आधे उखड़ कर नीचे की ओर झुक जाते हैं। नदियों में वर्षाकाल में जलधारा का वेग बहुत बढ़ जाता है और उसी समय बहुत से वृक्ष उखड़ कर तट पर गिर जाते हैं। किसी कवि ने नदी को उपालम्भ देते हुए कहा है—

**यास्यति जलधरसमयस्तव च समृद्धिर्लघीयसी भविता**

**तटिनि ! तटद्रुमपातनपातकमेकं चिरस्थायि**

नदी को सम्बोधन है कि हे तटिनि (नदी) वर्षाकाल के चले जाने पर तेरी यह जल की समृद्धि क्षीण हो जायगी, परन्तु अपने तट के वृक्षों को गिराने का जो पाप तूने अपने समृद्धिकाल में किया है, वह चिरस्थायी रहेगा।

यहां इसी प्रकार का वृक्ष उपमान रूप से गृहीत है जिसका कि मूल नदी के वेग से उखड़ गया है और वायु के आघात से जो अपने मूल से टूटा तो नहीं है परन्तु उलट कर नीचे की ओर झुक गया है, ऐसी स्थिति में उसका मूल भाग ऊपर की ओर रहेगा और शाखाएं नीचे की ओर चली जाएंगी।

यहां फिर यह शंका की जाती है कि अश्वत्थ वृक्ष का ही ग्रहण क्यों है। अश्वत्थ,

पीपल वृक्ष का नाम है, उसके अतिरिक्त भी तो अनेक बड़े-बड़े वृक्ष हैं। उनमें से किसी को भी उपमान बनाया जा सकता था, इसका समाधान यह किया जाता है कि यद्यपि अन्य वृक्ष भी यहां उपमान के रूप में लिए जा सकते हैं, परन्तु अश्वत्थ इस संज्ञा का यौगिक अर्थ भी संसार में घटित हो जाता है। 'जो कल स्थिर न रहे' यह अश्वत्थ का अर्थ हम दिखा चुके हैं। यह विनश्वर संसार का स्वरूप परिचय भी हो जाता है। जो कल भी न रहेगी, ऐसी वस्तु के लिए 'अव्यय' विशेषण असंगत है यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसे प्रवाह नित्य माना जाता है, जिसका निरूपण प्रसंगानुसार पहिले अनेक बार किया जा चुका है।

श्रीवल्लभाचार्य ने संसार रूपी अश्वत्थ के मूल को भगवान् रूपी अश्वत्थ कहा है। जैसा मूल वृक्ष है, उससे उत्पन्न वृक्ष भी वैसा ही है। अश्वत्थ आदि एक वृक्ष में कोटिशः फल होते हैं और एक फल में असंख्य बीज होते हैं। यह ब्रह्माण्डात्मक वृक्ष एक बीज से निकला है। इस प्रकार अनादि अनन्त भगवान् वृक्ष के मूल हैं, अक्षर उसका फल है और अक्षर के तत्त्व उसके अंश हैं। ब्रह्माण्ड का निर्माण भगवान् अपने अंश के द्वारा करते हैं।

श्रीनीलण्ठ आनन्द रूप अद्वय तत्त्व को संसार का मूल बतलाते हैं। यह संसार मिथ्या होने के कारण 'अश्वत्थ' है। जो वस्तु मिथ्या होती है उसी के लिए कहा जाता है कि यह कल नहीं रहेगी। तो भी अज्ञानियों के लिए यह अव्यय है, अर्थात् अज्ञानी पुरुष इसको सर्वथा स्थिर रहने वाला समझते हैं। उस संसार रूपी अश्वत्थ को जो जानता है वह वेद-वित् है अर्थात् इस संसार का यथार्थ स्वरूप जो इसका मिथ्या या अनित्य होना है इस बात को जिसने जान लिया वह सब कुछ जान गया।

श्रीशंकरानन्द ने इस पद्य की व्याख्या में लिखा है कि यद्यपि यह संसार वृक्ष अनित्य है, क्षणस्थायी है, परन्तु फिर भी इसे अव्यय कहने का अभिप्राय यह है कि मीमांसकों ने कहा है—'न कदाचिदनीदृशं जगत्' अर्थात् जगत् सर्वदा एक रूप रहता है। वेदों को संसार वृक्ष के पत्ते बतलाया गया है। उसका अभिप्राय श्री शंकरानन्द लगाते हैं—पत्ते अपनी सुन्दरता से वृक्ष को ढंग देते हैं, उसी प्रकार वेदों में देवलोक आदि की प्राप्ति बतलाई गयी है, उन प्ररोचना वाक्यों से संसार की वास्तविकता को ढँक दिया जाता है। पत्तों से ढँके रहने के कारण वृक्ष के दोष दिखाई नहीं देते, उसी प्रकार पुराण और इतिहास के सहित वेदों के द्वारा अनेक प्रकार से यज्ञ-यागादि कर्मों, उपासनाओं तथा योग और तन्त्र की क्रियाओं से संसार के सभी दोष आवृत से हो जाते हैं। पत्ते वृक्ष की वृद्धि में भी सहायक होते हैं। उसी प्रकार वैदिक विधियों के द्वारा

भी संसार का क्रिया कलाप आगे बढ़ता रहता है। इस प्रकार के संसार वृक्ष को जानने वाला व्यक्ति वेदवेत्ता कहा गया है। प्रश्न होता है कि जो मिथ्या है, जड़ है, दुःखात्मक है, अपने गुणों से बुद्धि को मोहित करता है, जो जन्म मरण आदि अनर्थों का हेतु है, ऐसे संसार वृक्ष को जानकर कोई वेदवेत्ता कैसे हो जायेगा ? वेद तो सत्य, ज्ञान और आनन्दमय ब्रह्म का प्रतिपादन करता है और संसार वृक्ष उससे विपरीत गुण धर्मों वाला है, तब संसार वृक्ष का ज्ञाता वेदवेत्ता कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि—जिस बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है उस वृक्ष में बीज का रस अवश्य जाता है। बीज का जैसा रस रहेगा, वृक्ष का भी वैसा ही रस होगा। संस्कृत में प्रसिद्ध न्याय है—“कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते” अर्थात् कारण के गुण ही कार्य के गुण का आरम्भ करते हैं। नीम के कडुवे बीज से उत्पन्न होने वाला नीम का वृक्ष भी कडुवा ही होगा। इसी प्रकार यह न्याय सर्वत्र घटित है। यहां भी ब्रह्म रूपी मूल से जगद्वृक्ष की उत्पत्ति बतलाई गई है। ब्रह्म ही यहां बीज रूप है। यह चैतन्यगुण विशिष्ट है। इसीलिए संसार वृक्ष भी चैतन्यगुण विशिष्ट होगा। इसीलिए ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ इत्यादि श्रुतियां भी संसार वृक्ष को चेतनामय बतला रही हैं। इसीलिए संसार के ज्ञाता को वेदवेत्ता कहा गया है।

श्रीधरी व्याख्या में वेद को पत्ता बताने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पत्ते छाया बना देते हैं उसी प्रकार वेद भी धर्म और अधर्म के प्रतिपादन द्वारा उनके फलों के सुख से संसार को आकर्षक बना देते हैं।

भाष्योत्कर्षदीपिका में वृक्ष के जल में गिरने वाले प्रतिबिम्ब को यहां उपमानरूप अश्वत्थ वृक्ष कहा है। प्रतिबिम्ब उलटा ही गिरता है। जैसे जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष वास्तविक नहीं, मिथ्या होता है, उसी प्रकार संसार भी वास्तविक नहीं, मिथ्या है, यही बात इस रूपक से स्फुट की गई है। उस पर यह शंका उठाई गई है कि प्रतिबिम्बित वृक्ष की वास्तविक सत्ता ही नहीं। जिसकी वास्तविक सत्ता का ही अभाव है उसको उपमान के रूप में कैसे समझा जा सकता है। इसका उत्तर है कि जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष की वास्तविक सत्ता नहीं उसी प्रकार संसार की भी वास्तविक सत्ता नहीं है। काल्पनिक और मायारूप जगत् के उपमान के रूप में अवास्तविक जल में प्रतिबिम्बित वृक्ष को समझने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

परमार्थप्रपा में ‘अश्वत्थ’ का अर्थ किया है कि जो ‘श्वः’ अर्थात् प्रबोध के अनन्तर स्थित न रहे। प्रबोध का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान प्राप्त हो जाने के अनन्तर ज्ञानी के लिए संसार की स्थिति नहीं रहती। परन्तु प्रबोध अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त



कठिन है, अतः उसे 'अव्यय' कहा गया है, अर्थात् जो प्राणी दृढ़तर अज्ञान में आबद्ध हैं, उनके लिए यह निरन्तर चलता रहता है। इस व्याख्या में छन्द का अर्थ वासनाएं भी किया गया है।

लोकमान्य तिलक ने इस पर एक लम्बी टिप्पणी लिखी है। उन्होंने विश्ववृक्ष, जगद्वृक्ष, वारुणवृक्ष, सुपलाश वृक्ष आदि अनेक वृक्षों से अश्वत्थ वृक्ष का साम्य दिखाया है। अश्वत्थ की व्युत्पत्ति में उन्होंने अश्व अर्थात् घोड़े को ही लिया है। घोड़ा जहां ठहरे उसे अश्वत्थ कहेंगे। सूर्य के घोड़े पितृयाण की लम्बी रात्रि में इस अश्वत्थ वृक्ष के नीचे विश्राम किया करते हैं इसलिए इसकी अश्वत्थ संज्ञा प्राप्त हुई। उन्होंने अश्व अर्थात् कल 'जो स्थिर न रहने वाला हो' इस व्युत्पत्ति को बाद की व्युत्पत्ति माना है। पहले पीपल को ही अश्वत्थ कहते थे, परन्तु प्राचीन धर्म ग्रन्थों में वटवृक्ष को ही संसार वृक्ष माना गया है क्योंकि उसके पाये ऊपर से नीचे की ओर लटक जाते हैं। 'गोभिल गृह्य सूत्र' में इसे न्यग्रोधवृक्ष कहा गया है। न्यक् का अर्थ होता है नीचे, रोध अर्थात् बढ़ने वाला। जो नीचे की ओर बढ़े उसे न्यग्रोध कहेंगे। वह वरुण का वृक्ष है। महाभारत के अनुसार मार्कण्डेय ऋषि ने भगवान् बालमुकुन्द को प्रलय काल में न्यग्रोध वृक्ष की टहनी पर देखा था। "छान्दोग्य उपनिषद्" में न्यग्रोध के बीजों का वर्णन है। पीपल और वट के अतिरिक्त संसार वृक्ष के लिए औदुम्बर वृक्ष की कल्पना भी की गयी है। इसे गूलर कहते हैं और पुराणों में इसे दत्तात्रेय का वृक्ष माना गया है। इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में संसार वृक्ष के लिए वट, पीपल या गूलर के वृक्षों का औपम्य मिलता है। लोक में भी इन तीनों ही वृक्षों को देवतात्मक और पूजने योग्य माना जाता है। समय-समय पर इन वृक्षों की पूजाएं लोक में देखी जाती हैं। महाभारत के अन्य सन्दर्भों के साथ तुलना करते हुए यहां लोकमान्य ने पीपल का वृक्ष लिया है। गूलर या बरगद का नहीं।

डाक्टर राधाकृष्णन् ने पाश्चात्य विद्वानों के मतों का भी इस श्लोक के अर्थ से साम्य दिखाया है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के अनुसार अश्वत्थ दो प्रकार का है—

१. ब्रह्माश्वत्थ और दूसरा कर्माश्वत्थ। उपनिषद् में ब्रह्माश्वत्थ का विवरण है। अमृत, ब्रह्म और शुक्र ये तीन मिलकर एक अश्वत्थ बनता है। ईश्वर की वृक्ष के रूप में भावना करके उसकी उपमा श्रुतियों में उपलब्ध होती है—

तस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् तस्मान्प्राणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।  
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

यह ब्रह्म वृक्ष उपासकों की इच्छानुसार तीन प्रकार का माना गया है। ब्रह्मा के उपासक उदुम्बर, विष्णु के अश्वत्थ और शिव के उपासक वट वृक्ष के रूप में उपासना करते हैं। परन्तु मुख्य रूप से यह अश्वत्थ ही कहलाता है। इस अश्वत्थ की एक हजार बल्शा होती हैं। हमारी पृथ्वी के रूप में एक बल्शा है। उसमें पांच पुण्डीर हैं। स्वयं भू प्रजापति प्रथम पुण्डीर है, अक्षर पुरुष उसकी आत्मा है। दूसरी पुण्डीर परमेष्ठी प्रजापति है। तीसरी पुण्डीर हिरण्यगर्भ प्रजापति है। चतुर्थ पुण्डीर चन्द्रमा रूपी प्रजापति है। पांचवाँ पुण्डीर अग्नि रूपी प्रजापति है। इस प्रकार का यह ब्रह्म वृक्ष उपासकों के द्वारा उपास्य होता है।

किन्तु यहां भगवद्गीता में इस वृक्ष को छेद्य अर्थात् काटने योग्य कहा गया है, इसलिए यहां कर्माश्वत्थ ही विवक्षित है। कर्मजाल को असंग शस्त्र से काट कर ही परम पद प्राप्त किया जाता है।

---

## उन्नीसवां-पुष्प

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अधश्चमूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके १५।२

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा १५।३

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी १५।४

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा पदमव्ययं तत् १५।५

“उस (वृक्ष) की शाखाएँ नीचे तथा ऊपर की ओर फैली हुई हैं, गुणों से वे बढ़ रही हैं, विषय रूपी पत्ते उनमें निकलते हैं, उसकी जड़ें जो कि कर्मों से अनुबद्ध हैं नीचे मनुष्य लोक की ओर व्याप्त हैं।”

पहिले के पद्य में कहा गया था कि वृक्ष का मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचे की ओर फैली हैं, यहां कहा जा रहा है कि मूल नीचे की ओर हैं और शाखाएँ नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं। यह असंगति नहीं है, ये दो वृक्ष हैं। पहिले ब्रह्माश्वत्थ था, यह कर्माश्वत्थ है। ब्रह्माश्वत्थ का मूल ऊपर है कर्माश्वत्थ का उसकी अपेक्षा नीचे की ओर है। संसार का जैसा निर्माण हम देखते हैं वह हमारा बनाया हुआ नहीं, वह अनादि है, वह ब्रह्माश्वत्थ है। हम जो अपने कर्मों के द्वारा अपना अलग संसार बना रहे हैं, वह कर्माश्वत्थ है। अपने कर्मों के अनुसार हम उन्नत भी होते हैं और अवनत भी होते हैं। इसी को श्रुति में भी कहा गया है कि—

“तद्य इह कपूयाचरणास्ते कपूयां योनिमापद्येरन,

रमणीयाचरणाः रमणीयां योनिम्”

इस संसार में जो निन्दित आचरण करने वाले हैं वे मृत्यु के उपरान्त निन्दित योनियों में जाते हैं और जो रमणीय आचरण वाले हैं उन्हें सुन्दर योनियों में जन्म मिलता है। इस प्रकार मिली हुई सुन्दर तथा असुन्दर योनियों में पुनः शुभाशुभ कर्मों का आरम्भ होता है। यही शुभाशुभ कर्मों के द्वारा आवागमन की परंपरा इस कर्मवृक्ष की शाखाएँ हैं। मनुष्य लोक का नाम ग्रहण करना यह संकेत करता है कि मनुष्यों का ही शुभाशुभ कर्मों में पूर्ण अधिकार है, मनुष्यों में ज्ञान परिपूर्ण मात्रा में रहता है,

अन्य प्राणियों में ज्ञान बहुत थोड़ी मात्रा में है और ऊपर की देव आदि योनियों में ज्ञान की मात्रा अधिक होते हुए भी वेदशास्त्रों के द्वारा विहित कर्मों में उनका अधिकार नहीं माना गया है। इसीलिए उन्हें केवल भोग योनि कहा गया है, इसी प्रकार निकृष्ट पशु, पक्षि आदि योनियां भी भोग योनियां ही हैं जिनमें निकृष्ट भोगों की प्राप्ति होती है। अधिकतर दुःख का भोग वहां होता है। मनुष्य योनि में ही जिन अच्छे या बुरे कर्मों का अनुष्ठान होता है, उसी के अनुसार ऊपर की उच्च योनियों की अथवा नीचे की निकृष्ट योनियों की प्राप्ति होती है। इसलिए मनुष्य लोक में कर्मवृक्ष की जड़ों को फैला हुआ कहा गया है। इस पर अन्य धर्मावलम्बी यह शंका किया करते हैं कि यदि मनुष्य योनि को ही कर्म करने वाला माना जाय तो मनुष्यों की तो संख्या संसार में बहुत ही न्यून है। इसके अतिरिक्त कीट पतंग आदि संसार के प्राणी बहुत विस्तृत हैं। तब मनुष्य ही कर्म करेगा तो भोक्ता इतने विस्तृत कैसे हो जाएंगे। इसका समाधान बहुत से विद्वान् इस प्रकार करते हैं कि मनुष्य जितने कर्म करता है उनका फल भोगने को उसे बार-बार अनन्त जन्म लेने पड़ते हैं। इस प्रकार कर्म एक मनुष्य जन्म में किए जाने पर भी उनके फल भोग के लिए अनन्त प्राणियों का संघटन बन जाता है और कई विद्वान् इसका यह भी आशय लगाते हैं कि मनुष्य योनि में ही कर्म होता है इसका आशय यही है कि बुद्धि पूर्वक कर्म मनुष्य ही करता है और सब प्राणी प्रकृति के बन्धन में रहते हैं। इसलिए उन्हें कर्म करने वाला नहीं माना जाता। जैसा कि सिंह को प्रकृति ने मांस भक्षक बनाया है। अब यदि उसको भी मांस भक्षण का पाप लगे तो उस पाप से कभी छुटकारा ही नहीं होगा। इसलिए ऐसे स्वाभाविक कर्मों का फल उन जन्तुओं को नहीं भोगना पड़ता और यदि वे भी रागद्वेष पूर्वक कोई कर्म करें तो उन कर्मों का फल उन्हें भी भोगना ही पड़ता है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृतिवश जो जन्तु कर्म करते हैं उनका फल उन्हें नहीं भोगना पड़ता किन्तु रागद्वेष पूर्वक किये हुए कर्मों का फल तो भोगना उनको भी आवश्यक ही होता है। मनुष्य लोक में तो इस वृक्ष की जड़ों को बतलाया और नीचे तथा ऊपर उसकी शाखाओं को फैला हुआ कहा। नीचे से अभिप्राय निकृष्ट मृगादि योनियों से है और ऊर्ध्व या ऊपर से अभिप्राय देवादि योनियों से है। ये योनियां ही इस परिकल्पित वृक्ष की शाखा रूप हैं।

पैशाच भाष्य में मनुष्य लोक के ग्रहण को उपलक्षणार्थ माना है। उनका आशय यह मालूम होता है कि जहां-जहां भी कर्म करने की शक्ति है उन सभी लोकों में इस वृक्ष का मूल समझना चाहिए।

आनन्द गिरि कहते हैं कि यथोक्त प्रकार से उपवर्णित यह वृक्ष अन्य प्रसिद्ध

वृक्षों से विलक्षण है, पैर से लेकर मस्तक तक इसकी शाखाएं व्याप्त होने से यह प्रबल है।

अमृत तरंगिणी में लिखा है कि पूर्व पद्य में भगवान् के क्रीडात्मक वृक्ष का वर्णन है और इस पद्य में उसी क्रीडात्मक वृक्ष से समुद्भूत संसार वृक्ष का निरूपण है।

श्रीनीलकण्ठ ने पद्योक्त 'अनुसंततानि' का अर्थ प्रवाह नित्य किया है। जो मनुष्य लोक में इस वृक्ष के मूल बतलाए गए हैं वे प्रवाह नित्य हैं। वासनाओं से कर्म होते हैं और कर्मों से वासनाएं होती रहती हैं यही इनका परस्पर अनुबन्ध है।

श्रीशंकरानन्द ने पूरे श्लोक का तात्पर्य लिखते हुए कहा है कि ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इस क्षणिक शरीर के विनष्ट हो जाने पर स्वतः ही मुक्ति हो जायगी। उसके लिए पुरुष को किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है क्योंकि देह के विनष्ट हो जाने पर भी पूर्व के तथा इस जन्म के कर्म जो संचित होते रहते हैं, वे पुण्य पाप रूप रहते हैं और उनके विषय में यह शास्त्रीय सर्वमान्य सिद्धान्त है कि—

**“नाभुक्तं क्षीयते कर्म”**

अर्थात् 'बिना भोग के कर्म का क्षय नहीं होता है।'

**“अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्”**

'अपने द्वारा किये गए शुभ और अशुभ कर्मों का भोग अवश्य होता है।'

**“प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः”**

'जिन कर्मों का प्रारंभ हो चुका है उनका क्षय उनके फल भोग करने के अनन्तर ही होता है।' उपर्युक्त सर्वतन्त्र समस्त वचनों के अनुसार जो कर्म किये जाते हैं उनके फल भोग के अनन्तर ही मुक्ति होती है। उन कर्मों का फल भोगने के लिए ही नाना प्रकार के उत्कृष्ट और निकृष्ट शरीरों को ग्रहण करना होता है, उसे ही योनियां कहते हैं जिनकी संख्या चौरासी लाख तक पुराण आदि में प्रसिद्ध है। प्रस्तुत पद्य इसी विषय का संकेत है कि ऊपर और नीचे इस वृक्ष की शाखाएं फैली हैं, अर्थात् मनुष्य लोक में किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिए उत्कृष्ट और निकृष्ट योनियों की प्राप्ति होती है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिए जिससे आगे की योनियां न प्राप्त हों। उसका उपाय कर्मों का परित्याग कर संन्यासी हो जाना ही है। यही इस

वृक्ष का छेदन है जिसे आगे के पद्य में कहा गया है। यद्यपि संन्यास अवस्था में भी कर्मों से छुटकारा तो नहीं मिलता, वह तो शरीर के साथ लगा ही रहेगा। भगवान् पहिले ही कर चुके हैं—

“न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्”

अर्थात् कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता। इसलिए अनासक्ति पूर्वक निष्काम कर्म करते जाना मुक्ति का उपाय है ऐसा लोकमान्य तिलक ने स्थिर किया है। यहां जो भगवान् ने असंग शस्त्र से उस वृक्ष का छेदन बतलाया उसका भी यही अभिप्राय है कि अनासक्ति पूर्वक निष्काम कर्म करते रहने से मुक्ति हो सकती है। श्रीशंकराचार्य का अभिप्राय भी यहां स्पष्ट ही हो जाता है कि कर्मरूपी वृक्ष का ही असंग शस्त्र से पूर्णतया छेदन यहां अभीष्ट बतलाया गया जिससे कर्म संन्यास ही प्रतिफलित हो जाता है।

लोकमान्य तिलक ने यहां लिखा है कि उक्त दो श्लोकों में वेदान्त सम्मत दृश्य सृष्टि का, जो कि वेदों में भी पुरुष शक्ति आदि में उपवर्णित है और सांख्य शास्त्रोक्त ब्रह्माण्ड वृक्ष का मेल कर दिया गया है। सांख्य में प्रकृति पुरुष दो मूल तत्त्व हैं, दोनों स्वतन्त्र हैं, परन्तु वेदान्तानुयायिनी गीता को यह अभीष्ट नहीं। अतः यहां दोनों प्रक्रियाओं का एकीकरण साभिप्राय है। गुण यहां जल सेचन के स्थान पर हैं। जिस प्रकार जल को सेचन से वृक्ष की शाखाएं वृद्धि को प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार इस वृक्ष की शाखाओं को भी ‘गुणप्रवृद्धा’, अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से बढ़ा हुआ कहा गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए इस त्रिगुणात्मक वृक्ष के फैलाव से मुक्त हो जाना आवश्यक है। परन्तु यह वृक्ष इतना विशाल है कि इसके ओर छोर का पता नहीं मिलता, अतः आगे उस तीव्र शस्त्र का संकेत है जिससे कि इस वृक्ष को काट डाला जाय।

अग्रिम पद्यों का अर्थ है—

‘इस वृक्ष का ऐसा रूप यहां उपलब्ध नहीं होता, इसका आदि और अन्त भी उपलब्ध नहीं होता, इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति का भी पता नहीं चलता, ऐसे इस अश्वत्थ वृक्ष को सुदृढ़ ‘असंग’ शस्त्र से काटने के उपरान्त उस स्थान का पूर्ण रूप से अन्वेषण करना चाहिए जहां पहुंच कर लौटने की स्थिति नहीं आती, उसी आदि पुरुष की शरण को अन्वेषक प्राप्त कर लेता है जहां से यह पुरानी संसार की प्रवृत्ति प्रारंभ हुई है। (३-४)

इसका रूप उपलब्ध न होने का कारण बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि

यह वृक्ष स्वप्न, मृगमरीचिका तथा माया से निर्मित गन्धर्व नगर के समान मिथ्या है। स्वप्न जो हम देखते हैं उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती यह सर्वानुभव सिद्ध बात है। मृग-मरीचिका अर्थात् प्रचण्ड धूप में तपते हुए बालू रेत के ढेर में प्यास से व्याकुल मृग को सरोवर का भ्रम हो जाता है। बालू के ढेर में जैसे मृग को सरोवर का ज्ञान हो जाना, उसका मिथ्या ज्ञान है, उसी प्रकार यह संसार वृक्ष भी मिथ्या है। इसी प्रकार जादूगर अपनी माया से आकाश में गन्धर्व नगर दिख देते हैं, वह भी सर्वथा मिथ्या है, उसी प्रकार से इस संसार वृक्ष को समझना चाहिए। जैसे स्वप्न के पदार्थों की वास्तव में उपलब्धि नहीं होती, जैसे सारे जीवन दौड़ते रहने पर भी मृग को बालू के ढेर में जल की उपलब्धि नहीं हो सकती, जैसे माया की गन्धर्व नगर की कोई वास्तविक उपलब्धि कभी नहीं हो सकती, उसी प्रकार इस संसार वृक्ष का रूप, इसका आदि अन्त, इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् मध्य भाग का भी कभी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उसकी यथार्थ में जब कोई सत्ता ही नहीं तो उसके रूपादि की उपलब्धि का प्रश्न ही नहीं होता। स्वप्न आदि का ज्ञान जैसे भ्रमात्मक है, वैसे ही संसार का ज्ञान भी भ्रमात्मक है। जाग्रत अवस्था में पहुंचने पर जैसे स्वप्नादि भ्रम तिरोहित हो जाते हैं, वैसे ही परम तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार होने से संसार वृक्ष भी विलीन हो जाता है। परंतु यह संसार रूपी अश्वत्थ बड़ा गहरा है, इसकी जड़ें बहुत नीचे तक फैली हुई हैं। इसको काटना ही इसके पार जाने का एकमात्र उपाय है। काटने के लिए जिस सुदृढ़ हथियार की आवश्यकता है, वह असंग है। पुत्र, धन, लोकैषणा आदि से सर्वथा विमुख ही असंग कहलाता है, जिसे पहले ही भगवान् बतला चुके हैं।

उक्त वस्तुओं से अपनी चित्तवृत्ति को हटाना तो असंग शस्त्र हुआ, उसकी सुदृढ़ता कैसे होती है, इस बात को श्रीशंकराचार्यजी लिखते हैं कि चित्तवृत्ति को परमात्मा की ओर अभिमुख करने का निश्चय करके दृढ़ किया जाता है। बार-बार विवेक के अभ्यासरूपी पत्थर पर रगड़ कर उस शस्त्र पर धार लगाई जाती है और उससे संसार वृक्ष को काट डाला जाता है।

श्रीनीलकण्ठ ने यहां प्रत्येक पद की सार्थकता पूर्वपक्ष उठाकर अपनी व्याख्या में दिखाई है। पहिले तो अश्वत्थ शब्द की व्युत्पत्ति से यह ध्वनित किया कि वह वृक्ष क्षणस्थायी है, फिर अव्यय पद से यह प्रकट किया कि वह प्रवाह नित्य है। ऐसी स्थिति में वासनाओं तथा कर्मों के बीज और अंकुर के समान एक दूसरे को निरन्तर उत्पन्न करते रहने से यह वृक्ष कभी नष्ट नहीं किया जा सकता, इस आशंका से इसका उत्तर देते हुए प्रस्तुत पद्य में यह दिखाया जा रहा है कि यह संसार वृक्ष अनिवर्चनीय है, न इसे सत्तायुक्त ही कहा जा सकता है और न इसे असत् ही कह सकते हैं। यही

बात इस रूप में कही गई है कि इसका कोई रूप उपलब्ध नहीं होता और आदि, मध्य, अन्त का भी पता नहीं लगता। जिस प्रकार रज्जु में दिखाई देने वाला सर्प सम्यक् प्रकार से देखने में उपलब्ध नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक् विचार पूर्वक देखने पर संसार वृक्ष का भी कोई रूप उपलब्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अज्ञान दशा में जिस प्रकार संसार दिखाई देता है, ज्ञान दशा में उस प्रकार दिखाई नहीं देता अतः इस संसार वृक्ष का मिथ्या होना केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसके रूप की अनुपलब्धि बतलाकर स्वप्रकाश जो ज्ञान है, जो कि यथार्थ अनुभव में उपलब्ध होता है, उसकी व्यावृत्ति कर दी गई तथा बीज आदि जो रूपवान् पदार्थ हैं उनसे भी इसका पूर्ण साधर्म्य नहीं यह बात भी बतलाई गई है। ऐसा होने पर खरगोश के सींग के समान यह तुच्छ वस्तु होगी, इसके लिए इसे आदि अन्त शून्य बतलाया गया। इसका अभिप्राय यह है कि इस संसार का उपादान कारण जो अज्ञान है उसका कोई आदि अन्त प्रतीति में नहीं आता, अतः उस अज्ञान से समुत्पन्न यह संसार वृक्ष भी वैसा ही है। यदि यह आद्यन्त शून्य है तब तो आत्मा की ही तरह यह भी अत्याज्य होगा, इसका उत्तर देने के लिए इसकी 'संप्रतिष्ठा' का अभाव बतलाया गया। जिस प्रकार उपमान रूप वृक्ष अपने आधार भूमि में विलीन हो जाता है उस प्रकार इस संसार वृक्ष के विलीन होने का कोई स्थान नहीं है। आत्मा तो सर्वाधिष्ठानसद्रूप है, अतः यह आत्मा के समान नहीं है। इस पर कहा जा सकता है कि यह ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है, परन्तु यह वृक्ष ब्रह्म में लीन नहीं होता। लीन कोई पदार्थ उसी में होता है जिसका वह विकार हो। संसार वृक्ष को ब्रह्म का विकार मान लेने पर तो ब्रह्म कूटस्थ नहीं रह जायगा। अतः यह ब्रह्म का विकार होने से ब्रह्म में विलीन हो जाता है ऐसा नहीं कहा जा सकता। तब अन्ततः संसार की गति क्या होती है इसका समाधान यही है, अत्यन्त तुच्छ जो अज्ञान है वही इस संसार का मूल है। श्रुति कहती है—'तुच्छेनाभ्वपिहितं तदासीत्।' ज्ञान के द्वारा मूल-भूत अज्ञान ही विनष्ट हो जाता है। यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म जगत् का सुषुप्ति (गहन निद्रा) में आत्मा से स्वतः ही असंग हो जाने से सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि संसार से आत्मा असंग है परन्तु इस प्रकार की नित्य अनुभूयमान आत्मा की असंगता के द्वारा संसार का उन्मूलन इसलिए नहीं हो पाता कि वह अनुभूयमान असंग भी अविद्या जन्य ही है और अविद्या से अविद्या का उच्छेद नहीं हो सकता। इसीलिए निर्विकल्पक समाधि के द्वारा कारण शरीर से भी आत्मा की असंगता का बोध करना आवश्यक होता है। उस प्रकार के असंग शस्त्र से इस संसार का उसी प्रकार विच्छेद या विलोप कर देना चाहिए जिस प्रकार कि रज्जु के ज्ञान से सर्प का विलोप हो जाता है।



श्रीशंकरानन्द ने 'सका वैसा रूप उपलब्ध नहीं होता' इसका तात्पर्य यह लगाया है कि मीमांसा दर्शन के अनुसार जो अनेक प्रकार के प्ररोचना कथन वेदों में माने जाते हैं, 'ध्रुवाद्यौः, ध्रुवा पृथिवी', स्वर्ग ध्रुव अर्थात् अटल है, पृथिवी ध्रुव है, 'स्वर्गा लोका अमृतत्वं भजन्ते', स्वर्गलोक में रहने वाले अमर होते हैं, इत्यादि बातें प्रत्यक्ष जगत् में नहीं दिखाई देतीं। यहां जो भी कुछ मिलता है, नाशवान् अवस्था में ही मिलता है। जो पदार्थ सावयव होता है, वह नित्य या ध्रुव नहीं हो सकता, अतः स्पष्ट है कि स्वर्गादि लोकों का जैसा वर्णन मिलता है, वह सब प्ररोचनार्थक होने के कारण मिथ्या है। इसीलिए वह यथावर्णित रूप उपलब्ध नहीं होता यह कहा गया। आगे उन्होंने लिखा है कि यदि यह संसार अनित्य और दुःखस्वरूप है ऐसा निश्चय है तब वह बादल की छाया के समान क्षणिक है, तब कुछ काल दुःख भोगने के अनन्तर फिर शाश्वत सुख भोगने की आशा की जा सकती है, इसका उत्तर देने के लिए कहा जाता है कि उसका अन्त नहीं है।

श्रीरामानुजाचार्य इसके रूप की उपलब्धि न होने का अर्थ यह लगाते हैं कि जैसा रूप अभी गत श्लोकों में इसका बतलाया गया कि चतुर्मुख ब्रह्मा इसका आदि मूल है, मनुष्य लोक तक इसकी शाखाएं फैली हैं, इस रूप में यह संसार वृक्ष उपलब्ध नहीं होता। इतना ही ज्ञान होता है कि मैं मनुष्य हूं, देवदत्त का पुत्र तथा यज्ञदत्त का पिता हूं, उसी के अनुरूप हूं इत्यादि। आगे गुणमय भोगों के असंग से इस संसार का नाश हो जाता है, यह बात भी उपलब्ध नहीं होती। यह उपलब्धि का विषय नहीं अनुभव का ही विषय है, क्योंकि उपलब्धि तो दूसरे पदार्थ की होती है, वृक्ष के नष्ट हो जाने पर दूसरा कुछ बचता ही नहीं जिसकी कि उपलब्धि हो।

माध्व भाष्य में विमर्श को ही संसार वृक्ष का छेदन बतलाया गया है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि माया से मोहित जो वादीगण हैं, वे जब वेदोक्त प्रकार से वेदोक्त रूप में इस वृक्ष का अन्वेषण करने चलते हैं तब यह उस रूप में उन्हें नहीं मिलता। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है—

“मायामात्रं तु कात्स्न्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्” ( ब्र०सू० ३।२।३ )

अर्थात् इसके पूर्णस्वरूप की अभिव्यक्ति न होने से यह संसार माया मात्र है। जिस पदार्थ का पूरा रूप प्रतीत न होता हो उसका द्रष्टा उसे माया कह देता है। माया से विमुग्ध वादीगण इसके आदि अन्त को भी नहीं समझते और इसकी प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति का भी निषेध कर देते हैं। जिसे आगे—

### ‘असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्’ ( १६।८ )

आदि पद्यों में बतलाया जायगा। परन्तु इसकी असत्यता माया मात्र है। यह जगत् वास्तविक दृष्टि से असत्य नहीं है। यदि ऐसा है, तब सत्य होने से यह संसार त्याज्य नहीं हो सकता, फिर इसका छेदन करने का आगे विधान क्यों है, इसका उत्तर देते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि संसार यद्यपि सत्य ही है, परन्तु इस संसार पर जीव के द्वारा परिकल्पित एक बड़ा भारी दोषपूर्ण आवरण उसी प्रकार का छाया हुआ है, जिस प्रकार निर्मल जल सुवर्ण के कलश के आवरण से युक्त है। वह जीव कल्पित होने के कारण कार्यभूत संसार कहलाता है। संसार में देखा जाता है कि एक बालक उत्पन्न हुआ, उस एक ही को सहस्रों व्यक्ति पुत्र, मित्र, शत्रु आदि के रूपों में लेते हैं। यही आवरण है, यही माया कृत है और अनादि, अनन्त है, आसुरी सम्पत्ति वाले मायाग्रस्त व्यक्तियों को यह इसी रूप में उपलब्ध होता है। परम शान्ति की प्राप्ति के अभिलाषी को असंग शस्त्र से इसी ममतामय संसार का छेदन करना है। इसके उच्छेद के अनन्तर भगवान् का धाम रूप जो संसार है उस नित्यलीला में प्रवेश होता है, जहां से लौटना नहीं पड़ता। वल्लभाचार्य ईश्वर की ही भांति जीव को भी अनादि मानते हैं। जब ममतामय संसार का उच्छेद हो गया तो उसे फिर जीव कैसे कहा जायेगा। उसका उत्तर देते हुए श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि यद्यपि यह सत्य है कि जीव व्यवहार संसार सम्बन्ध के कारण ही है, परन्तु जैसे कोई दण्ड धारण करने वाला पुरुष है, उसे दण्डी कहा करते हैं, यदि उसका दण्ड नष्ट हो गया तो अब उसे दण्डी नहीं कहना चाहिए, परन्तु उसकी पूर्व स्थिति का स्मरण करके उसे फिर भी दण्डी कह दिया जाता है, उसी प्रकार असंग शस्त्र से दोष रूपी संसार को दूर कर देने पर भी पहिले की स्थिति का स्मरण करके उसे जीव कह दिया जाता है, वह जीव ईश्वर का अंश रूप है और जीव तथा ईश्वर का परस्पर अंशांशभाव सम्बन्ध है, यह श्रीवल्लभाचार्य का सिद्धान्त है।

संसार वृक्ष को काटकर जहां से वापस नहीं लौटा जाता, वह पद वैष्णव अर्थात् विष्णु सम्बन्धी स्थान है, वहीं से यह संसार रूपी पुरातन माया वृक्ष प्रकट होता है, यह श्रीशंकराचार्य का कथन है।

श्रीनीलकण्ठ ने प्रथम पद्य के व्याख्यान में निर्विकल्पक समाधि को असंग शस्त्र कहा है, आगे वे कहते हैं कि केवल निर्विकल्पक समाधि की अवस्था तक पहुंच जाने मात्र से अभीष्ट सिद्धि नहीं होती अपितु उसके अनन्तर ‘अहं ब्रह्मास्मि’ आदि श्रुति प्रतिपादित स्थान का अन्वेषण आवश्यक होता है, श्रुति और तर्क युक्तियों से उसी का

अन्वेषण करना चाहिए। उसी स्थान पर पहुंचने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता। यहां 'प्रपद्ये' यह उत्तम पुरुष के एकवचन की क्रिया है, यह वक्ता के साथ अन्वित होनी चाहिए, जिसका यहां अर्थ होगा कि वक्ता जो भगवान् श्रीकृष्ण हैं वे अपने लिए उस परम पद के आश्रय लेने को कह रहे हैं। परन्तु गीता में उपदेष्टा भगवान् कृष्ण तो स्वयं ब्रह्म रूप हैं, परब्रह्म के पूर्णावतार हैं, वे स्वयं अपना ही कैसे आश्रय ग्रहण करेंगे, इस अनुपपत्ति को मिटाने के लिए व्याख्याकारों ने विभिन्न बातें कही हैं। श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि यहां जीव को ही भगवान् कह रहे हैं कि तुम ऐसी कामना करो कि मैं भी उसी शाश्वत पद को प्राप्त करूं। 'अहमपि तदेव पदं प्रपद्ये इति कामयेत्।' इसमें 'अहमपि', तथा 'इति कामयेत्' आदि का ऊपर से अध्याहार करना पड़ता है। उन्होंने ने इसको बिना अध्याहार किये यह भी व्याख्या की है कि भगवान् अपने ही लिए उस पद को प्राप्त करने के लिए कह रहे हैं। वे यद्यपि स्वयं परब्रह्म रूप ही हैं परन्तु पहिले उन्होंने अपने लिए कहा है कि 'वर्त एव च कर्मणि' मैं भी कर्म में प्रवृत्त ही हूँ, अतः जीव का जो परम कर्तव्य है उसकी शिक्षा देने के लिए वह स्वयं भी उस मार्ग का ग्रहण कर रहे हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने दो प्रकार से इसको लगाया है। पहिले तो उन्होंने 'प्रपद्ये' को 'प्रपद्येत्' के अर्थ में मानकर उसे जीव के साथ अन्वित कर दिया है और फिर यथादृष्ट रूप में 'प्रपद्य, इयतः' इस प्रकार सन्धि विच्छेद करते हुए यह विलक्षण अन्वय किया है कि 'आद्यं तमेवपुरुषं प्रपद्य इयतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता' अर्थात् उसी आदि पुरुष का आश्रय लेकर आज से पुरानी शिष्टों की प्रवृत्ति अर्थात् व्यवहार चलता था। उस आदि पुरुष से ही जगत् रूपी प्रवृत्ति ने प्रसार प्राप्त किया है, इस कथन की पुष्टि में—

**‘मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्’**

**‘अहं सर्वस्य प्रभावो मत्तः सर्वं प्रवर्तते’**

**‘मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय’**

इत्यादि पद्यांशों को श्री रामानुजाचार्य ने उपस्थित किया है। श्रीशंकरानन्द ने यहां 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' इस समानार्थक श्रुति को भी उद्धृत किया है।

लोकमान्य तिलक ने यहां उक्त क्रियापद के अन्वय का विचार किया है जिसका सारांश हम ऊपर कह आए हैं, उन्होंने अध्याहार करके अन्वय करने का ही समर्थन किया है।

पुराणी प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए डाक्टर राधाकृष्णन् ने लिखा है कि उस आद्य चेतना से ही विश्व की ऊर्जाएं निकलती हैं और शिष्य अपने आपको वस्तु रूप से पृथक् करके उस आद्य चेतना में शरण लेता है। किस प्रकार के ब्यक्ति उस पद को प्राप्त करते हैं—यह बतलाने के लिए अग्रिम पद्य कहते हैं कि—

‘जो मान और मोह से रहित है, संग रूपी दोष पर जिन्होंने विजय प्राप्त कर ली है, जो सर्वदा अध्यात्म भाव में ही निरत रहते हैं, सुख दुःखादि के द्वन्द्व से जो विमुक्त हो चुके हैं ऐसे अमूढ़ अर्थात् विद्वान् लोग ही उस अव्यय पद को प्राप्त करते हैं। (५) मान मोह आदि का विवेचन अनेक बार हो चुका है।

---

## बीसवां-पुष्प

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम १५। ६

जिस परम पद का संकेत पूर्व पद्य में कर चुके हैं उसी का निषेधमुखेन गुण वर्णन प्रकृत में किया जाता है कि—

‘सूर्य भी उसको प्रकाशित नहीं करता, चन्द्रमा तथा अग्नि भी उसे प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है, मेरा स्थान या तेज वह है कि जहां प्राप्त होकर पुनः लौटना नहीं पड़ता। (६)

सूर्य यद्यपि सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने की सामर्थ्य रखता है, परन्तु वह भी अपना प्रकाशन सामर्थ्य उसी परमतत्त्व से ग्रहण करता है, अतः वह उसे कैसे प्रकाशित कर सकता है। जब सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता तो चन्द्रमा और अग्नि तो सूर्य से कम प्रकाशशील है, वे कैसे प्रकाशित करेंगे, फिर उनका निषेध क्यों, इसका उत्तर यह है कि जब रात्रि में सूर्य नहीं रहता और कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा भी नहीं रहता तथा प्रगाढ़ निद्रा आदि की स्थिति में अग्नि आदि के प्रकाश की भी कोई संभावना नहीं रहती, तब भी आत्मा का प्रकाश निरन्तर फैलता रहता है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि ज्ञान ही सबका प्रकाशक होता है और आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है। बाह्य प्रकाश तो विषयों और इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध में बाधक जो अन्धकार है उसे ही मिटा सकते हैं। योग के द्वारा इस ज्ञान का प्रकाश होता है, अनादि कर्मों के द्वारा इस योग का निराकरण होने से इस योग की प्राप्ति नहीं हो पाती। भगवान् की शरण में चले जाना ही योग की प्राप्ति का उपाय है, जहां से फिर लौटकर नहीं आना पड़ता। उस ज्योति को ‘परम धाम’ भी इसीलिए कहा जाता है कि वह सूर्य आदि का भी प्रकाशक है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं—जिस पद को प्राप्त करने का वर्णन विगत पद्य में आया है, वह सर्वोन्नत पद यदि है तो वहां से पतन भी अवश्यंभावी है। एक श्लोक प्रसिद्ध है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।

संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवनम् ॥

अर्थात् जितने संचय हैं सबका अन्त में क्षय ही होता है, जितनी उन्नतियां हैं

सबका अन्त पतन में ही होता है, संयोग का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त ही मरण है। अतः यह परम पद परमोन्नत होने से ही परम है, तब तो वहां से पतन होना भी अवश्यंभावी है, इस आशंका को निर्मूल करने के लिए ही भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी है कि यह जो लौकिक न्याय उन्नति के विषय में तुम समझते हो वह यहां नहीं लगाना चाहिए। यह स्थान ऐसा है कि यहां पहुंचने वाला वापस लौटकर आता ही नहीं। ऐसा वह कैसा स्थान हो सकता है जो परमोन्नत होने पर भी अवनति शून्य है। जहां से कोई कभी रिटायर नहीं होता। इस जिज्ञासा के उपशम के लिए ही उस तेज के जगत् में परिदृश्यमान रूपादि से विलक्षण रूपादि का वर्णन यहां किया जा रहा है कि उसे सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता। सूर्य रूपवान् पदार्थ को नेत्रों के द्वारा देखने योग्य बनाता है, यही उसके द्वारा किया हुआ भासकत्व है। परमतत्त्व तो नीरूप अर्थात् रूप रहित है, तब उसे सूर्य कैसे प्रकाशित करेगा। रूपरहित पदार्थ भी मानसिक चिन्तन के विषय बन जाते हैं, अतः आत्मा का भी मन के घेरे में आ जाना संभव है, इस आशंका को हटाने के लिये 'न शशांकः' कहा है, अर्थात् चन्द्रमा भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकता। चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है—'चन्द्रमा मनसो जातः', अतः वह मन का अनुग्राहक है। इसलिए 'न शशांकः' का अर्थ यहां यही लगाया जायगा कि जो पदार्थ मानसिक प्रसन्नता के कारण होते हैं उसे चन्द्रमा के प्रकाश की परिधि में मानकर उनका चन्द्रमा से प्रकाशित होना स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु आत्मतत्त्व के विषय में तो—

### ‘यन्मनसा न मनुते’

‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियों में यही बतलाया गया है कि वह मन और वाणी दोनों ही का विषय नहीं है, इसलिए यहां चन्द्रमा भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकता यह स्पष्टोक्ति है। तब संभव है वाणी के द्वारा ही उसका प्रकाश हो सकता हो। इस आशंका को भी दूर करने के लिए ‘न पावकः’ कहा गया है। पावक अर्थात् अग्नि वाणी का अनुग्राहक माना गया है। वाणी का जो विषय होगा वह वाणी के अनुग्राहक अग्नि के द्वारा भासित होगा। परन्तु ‘यद्वाचाऽनभ्युदितम्’ इत्यादि श्रुतियों के द्वारा वह परमतत्त्व वाणी का भी विषय नहीं है, यह स्पष्ट है, अतः यहां अग्नि के द्वारा भी उसके प्रकाश्यत्व का निषेध है। इसके अतिरिक्त श्रुतियों में आत्मा को प्राणमय, मनोमय, और वाङ्मय कहा गया है। उनका तीनों का ही यहां निवारण किया गया है। सूर्य प्राणरूप है, जैसा कि—‘प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः’ इत्यादि अनेक श्रुतियों में स्पष्ट हैं। चन्द्रमा का मनोमय होना

भी श्रुतियों में स्पष्ट है और वाक् का यहां स्पष्ट ही उल्लेख है। इससे वह तीनों भी इसी आत्मा की प्रेरणा से ही चलते हैं। इसलिए आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक उपनिषद् के ज्योतिर्ब्राह्मण में जो ज्योतियां बतलाई गई हैं, प्रथम सूर्य ज्योति आगे उसके अभाव में चन्द्रज्योति दोनों ही जहां न हो वहां अग्नि ज्योति और तीनों के अभाव में वाक् ज्योति बतलाई गई है। उसमें अग्नि और वाक् को एक कर यहां आत्मा में चारों का ही अनुपयोग बतला दिया। इसलिए यह सिद्ध कर दिया कि आत्मा स्वयं प्रकाश है। उसी आत्मा को भगवान् अपना धाम कहते हैं। अर्थात् आगे जो पद्य में कहा जायगा कि जीव मेरा ही अंश है, वही बात यहां ध्वनित कर दी गई। इस व्याख्या में नेत्र, मन और वाणी के अनुग्राहक के रूप में सूर्य, चन्द्र, अग्नि का उपस्थापन हुआ है ऐसा मानना होगा। नेत्र, मन और वाणी तीनों से अगम्य होने के कारण ही वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से पृथक् है यह बात भी प्रतिफलित हो जाती है।

‘नाऽन्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञम्’ ( मुण्डको० ७ )

‘अस्थूलमनणु’

( बृ०उ० ३।८।८ )

इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परम तत्त्व के इस निर्विशेष या सर्वविशेष शून्य रूप का ही प्रतिपादन हुआ है। ‘परम धाम’ में जो धाम शब्द है उसके दो अर्थ प्रसिद्ध हैं जैसा कि कहा जा चुका है, एक ‘घर’ और दूसरा तेज या ज्योति। श्रीनीलकण्ठ दूसरा अर्थ लेते हुए उसका अर्थ ज्ञान ज्योति करते हैं। उसका ‘परम’ यह जो विशेषण है, उसके साथ मिलाने पर अर्थ होगा, ‘परम ज्ञान ज्योति’। ज्ञान का तेज रूप होना अनेक बार कहा गया है कि ज्ञान कोई सूर्य चन्द्र आदि की तरह अपने तेज को चक्षुग्राह्य या इन्द्रियों से संवेद्य रूप में बाहर नहीं फैलाता, अपितु ज्ञान का तेज या प्रकाश सभी इन्द्रियों का प्रकाशक है। इन्द्रियों में रूपादि ग्रहण की जो शक्ति है, वह ज्ञान का ही प्रकाश है। यदि यह प्रकाश पास में नहीं है, तब सूर्य चन्द्र आदि कोई प्रकाश काम न देगा। मूर्छित या मृत पुरुष के लिए सूर्य चन्द्र आदि सम्पूर्ण प्रकाश व्यर्थ हैं। मूर्छित या मृत पुरुषों में भी अवस्थान रूप इन्द्रियां तो हैं, परन्तु उन सबका अनुग्राहक ज्ञानरूप प्रकाश नहीं है। निष्कर्ष यह कि ज्ञान का प्रकाश ही मुख्य प्रकाश होता है। अन्य सभी ज्योतियों से ज्ञान ज्योति की श्रेष्ठता सिद्ध होने पर अब ‘परम धाम’ या परम ज्ञान की गुत्थी भी सुलझ जायगी, ज्ञान भी दो प्रकार का है। एक अपरम ज्ञान और दूसरा परम ज्ञान। प्रत्येक पदार्थ का पृथक्-पृथक् जो ज्ञान है वह वृत्ति रूप ज्ञान है। वह तत्त्वपदार्थों के आकार प्रकार में सीमाबद्ध होने के कारण परिच्छिन्न है। सांसारिक व्यवहार का

परिचालक यही ज्ञान है। इससे भिन्न, वृत्ति रहित और परिच्छेद शून्य जो ज्ञान है वह परम ज्ञान है जो संसार व्यवहार का निवर्तक है। उस ज्ञान का प्रकाश मिलते ही संसार व्यवहार का परिचालक वृत्तिरूप ज्ञान विगलित हो जाता है, और फिर अपरमज्ञान की सीमा से परे चला जाता है, फिर संसार की सीमा में नहीं लौटना होता। यद्यपि सांसारिक व्यवहार दशा में भी सर्वविशेषशून्य इस परम ज्ञान का आभास होता है। सुषुप्ति, अवस्था तो इसका उदाहरण है ही, काव्य नाटकादि के द्वारा होने वाली रसानुभूति की अवस्था में भी इसी परम ज्ञान की स्थिति अभिनवगुप्त, मम्मट, जगन्नाथ आदि साहित्य के आचार्यों ने दार्शनिक प्रक्रिया से सिद्ध कर दिखाई है और 'रसो वै सः' आदि श्रुतियों के आधार पर यह भी सिद्ध कर दिया है कि काव्य नाटकादि से होने वाली रसचर्वणा से प्रकाशित होने वाला ज्ञान भी वृत्तिरूप ज्ञान नहीं है अपितु परम ज्ञान ही है, परन्तु सांसारिक दशा में प्रतीयमान यह परम ज्ञान स्थायी नहीं होता और इसके विषय में 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' नहीं कहा जा सकता। गहन निद्रा से उठने के बाद और नाटक आदि देखने के उपरान्त मनुष्य अपनी पूर्ववस्था में ही पहुंच जाता है। जहां से पुनरावर्तन नहीं होता उस स्थान को प्राप्त करने के लिए तो योग मार्ग के द्वारा समाधि का ही आश्रय लेना होता है और उसी के अनन्तर वह भी स्थिति प्राप्त हो सकती है जबकि मनुष्य सांसारिक व्यवहारों से युक्त होता हुआ भी उनसे निर्लिप्त रह सकता है।

यहां यह एक आंशका उपस्थित हो सकती है कि परम ज्ञान तो स्वयं भगवद्रूप ही है, फिर यहां 'वह मेरा धाम है' ऐसा उसे मेरा कह कर क्यों निर्दिष्ट किया गया। इसका उत्तर यही है कि यह समझाने के लिए औपचारिक कथन है। वास्तव में तो परम धाम या परमज्ञान भगवद्रूप ही है। अमृत पाने के समय मोहिनी रूप धारी भगवान् ने देवताओं में छद्म रूप से प्रविष्ट होकर जिस असुर का चक्र के द्वारा शिरश्छेद कर दिया था, उसका नाम राहु था। सिर के कट जाने पर उसका मस्तक भी सजीव ही रहा और धड़ भी क्योंकि वह अमृतांश का पान कर चुका था, धड़ का नाम केतु पड़ा और केवल शिर का राहु। ऐसा होने पर भी व्यवहार में 'राहु का सिर' कहना व्यर्थ है। परन्तु समझाने के लिए उसे औपचारिक शैली के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। इसी को 'राहोः शिरः' न्याय भी कह दिया करते हैं। यहां भी जो परमधाम है, वही परमतत्त्व या परमेश्वर परब्रह्म है। वहां पहुंच कर पुनरावृत्ति का मूल जो अज्ञान है परम तत्त्व तक पहुंच जाने पर उसका अभाव हो जाता है। जब संसार में पुनरागमन का मूल कारण ही समाप्त हो गया तो फिर संसार में आगमन भी नहीं होगा और सांसारिक दुःखों की सर्वदा के लिए निवृत्ति हो जायगी। यहां 'परम धाम' की व्याख्या



में सूर्य आदि के द्वारा अप्रकाश्य, अर्चि आदि के मार्ग से जाने योग्य, सत्य लोक के भी ऊपर प्रतिष्ठित अप्राकृत नित्य विष्णु लोक है, वहां पहुंच कर पंचभूतों के आकर्षण से बाहर हो जाने के कारण पृथ्वी आदि स्थानों में पुनरावृत्ति नहीं होती ऐसा किसी व्याख्याकार का आशय है, उसका श्रीनीलकण्ठ ने यह कह कर खण्डन किया है कि इस प्रकार के 'विष्णु लोक' को स्थान विशेष रूप में 'परमधाम' मान लेने पर उसका कोई रूप भी अवश्य होगा, तब उसका कोई रूप उपलब्ध नहीं होता यह कथन समीचीन नहीं होगा। अतः वह 'परमधाम' 'परमज्ञान' रूप ही माना जा सकता है।

तत्त्व प्रकाशिका में 'मम धाम' का अर्थ मेरा शक्ति रूप धाम करके वह शक्ति ब्रह्म से अभिन्न या एक रूप भी नहीं है और न उससे भिन्न है, उसी प्रकार जिस प्रकार की अग्नि की दाहकत्व शक्ति को अग्नि से भिन्न या अग्नि रूप नहीं कहा जा सकता।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने इस श्लोक की समानार्थक—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं  
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।  
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं  
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

यह श्रुति उद्धृत करके परज्योति के प्रतिपादन का समर्थन किया है।

वल्लभ संप्रदाय के बहुत से विद्वान् धाम शब्द का यह भी अर्थ करते हैं कि पुरुषोत्तम भगवान् का अक्षर पुरुष धाम है, अक्षर पुरुष का अर्थ व्यापी वैकुण्ठ है। वही भगवान् का धाम अर्थात् निवास स्थान है। पुरुषोत्तम भगवान् अक्षर पुरुष के भी अधिष्ठाता बनकर उस पर निवास करते हैं। यह भी मत यहां समझ लेना चाहिए।

## इक्कीसवां-पुष्प

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति १५। ६७

विगत श्लोक की श्रीनीलकण्ठ की व्याख्या लिखते हुए हमने कहा था कि सभी उन्नतियां अन्ततः पतन की ओर ही जाती हैं। जिस धाम में जाने की बात कही गई है वहां से लौटना नहीं होता यह बतलाया गया। श्रीशंकराचार्य ने प्रस्तुत पद्य को उसी पूर्वोक्त अपुनरावृत्ति का उपपादक माना है। पद्य का अर्थ है—“जीवलोक में सनातन रूप से जीव के रूप में अवस्थित मेरा ही एक अंश है, जो कि मन के सहित प्रकृति में स्थित इन्द्रियों को खींचता है।

यहां श्रीशंकराचार्य ने यह शंका भी उठाई है कि पद्य में जीव को परमात्मा का अंश कैसे कहा गया। परब्रह्म तो निरवयव है, उसका अंश कथन कैसे संगत हो सकता है और यदि इसी पद्य को इस विषय में प्रमाण मानकर परमात्मा में अंशों की कल्पना कर ली जाय तब यह नियम भी अवश्य बाधक बनेगा कि जो पदार्थ सावयव होते हैं, उनका विनाश भी अवश्य होता है। तब परमेश्वर के भी अंश या अवयव मान लेने पर उसका विनाश भी मानना होगा। परन्तु परमेश्वर की सत्ता स्वीकार करने वाले किसी भी आस्तिक मत में उसे विनाशी नहीं माना गया है। तब यह अंशांशि भाव की उक्ति कैसे समीचीन मानी जायगी। इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि परमेश्वर में यह अंश कल्पना पारमार्थिक दृष्टि से नहीं, अपितु औपाधिक है। अविद्या की उपाधि से परिच्छिन्न चैतन्य में ही जीवबुद्धि होने से उस उपाधि के विनष्ट होते ही जीव बुद्धि जाती रहती है, उसी प्रकार जिस प्रकार जलरूप उपाधि के न रहने पर सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं रहता, और घट रूप उपाधि के विनष्ट हो जाने पर घटाकाश की पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। ये उपाधियां मिथ्या हैं अतः परमेश्वर में भी अंश की परिकल्पना वास्तव में संसार दशा में ही है, संसारातीत दशा में तो परब्रह्म ‘एकमेवाद्वितीयम्’ है, उसमें किसी प्रकार का अवयव विभाग माना ही नहीं जाता। भगवान् के अंश के रूप में परिकल्पित जीव किस प्रकार संसरण और उत्क्रमण करता है, इसको दिखलाते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि वह जीव अपने-अपने स्थानों में प्रतिष्ठित कान, नाक आदि इन्द्रियों को मन सहित खींचता है। इसका अभिप्राय यही है कि आत्मा के बिना केवल मन या इन्द्रियां किसी भी विषय का ग्रहण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। चेतन आत्मा के रहने पर ही इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग किया जा सकता है।

आनन्द गिरि व्याख्या में कहा गया है कि यहां जीव को ब्रह्म का अंश ही कह

दिया गया तब जिस प्रकार अंश और अंशी सर्वदा संयुक्त ही रहते हैं उसी प्रकार जीव को ब्रह्म नित्य ही प्राप्त है, फिर उसकी प्राप्ति के लिए इतना समाधि आदि का प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता। इसका उत्तर देते हुए वहां कहा गया है कि दो प्रकार की प्राप्ति होती है। एक अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति, दूसरी प्राप्त पदार्थ की प्राप्ति। अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति तो प्रसिद्ध ही है। किसी के पास रुपये नहीं हैं, उसे रुपये प्राप्त हो गए यह अप्राप्त की प्राप्ति कही जायगी। परन्तु प्राप्त पदार्थ की भी तब प्राप्ति ही मानी जाती है जब प्राप्त पदार्थ को मनुष्य भूल जाय। जब उस भूले हुए पदार्थ का उसे स्मरण आवे या कोई अन्य व्यक्ति उसे उसका बोधन करे तब उसे जो प्रसन्नता होती है वह भी नए पदार्थ मिलने की प्रसन्नता से कम नहीं होती। इसके बोधन के लिए कई प्रकार के न्याय दर्शनों में प्रसिद्ध हैं, उनमें से एक है 'कण्ठचामीकरन्याय' किसी व्यक्ति के गले में सोने की जंजीर पड़ी है, भ्रम या प्रमाद से उसे यह ध्यान नहीं रहा और उसने जंजीर खो गई समझकर उसका अन्वेषण प्रारंभ किया। जब किसी पुरुष ने उसे बतलाया कि मूर्ख, जंजीर तो तेरे गले में है, तब उसे उसका ज्ञान होता है। यही प्राप्त की प्राप्ति कही जाती है। ब्रह्म रूप होते हुए भी अपने ब्रह्म भाव को जो प्राणी ने विस्मृत कर रक्खा है, उसी से वह क्लेश में है। जब कोई उपदेश उसे यह बोधन करा देता है कि तू तो नित्य शुद्ध मुक्त स्वभाव वाला ब्रह्म ही है—

‘तत्त्वमसिश्चेतकेतो।’

तब उसे नित्य प्राप्त ब्रह्म भाव की भी प्राप्ति होती है। अतः कोई आपत्ति नहीं आती।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने कहा है कि सुषुप्ति में ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती है परन्तु जाग्रत अवस्था में पुनः व्यवहार दशा में जीव भाव में आना पड़ता है, वह अज्ञान दशा में ब्रह्मभाव में जाना हुआ। परन्तु जो ज्ञान से अज्ञान को निवृत्त करके ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है वह पुनः संसार दशा में नहीं आता।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि यह पुरुष सच्चिदानन्द रूप पुरुषोत्तम का ही अणु रूप अंश है। यह चेतना स्वरूप है और परमेश्वर की इच्छा से उससे पृथक् हुआ है, इसका वास्तविक स्वरूप नित्य है, अतः यह सनातन कहा गया है। श्रीवल्लभाचार्य जीव और ब्रह्म का अंशांशि भाव मानते हैं, वह जीव ब्रह्म का अंशांशि भाव इस पद्य में स्फुट हो गया है। इसके समर्थन में उन्होंने यहां अनेक श्रुति और स्मृतियों को उद्धृत कर दिया है। यह संभावित पूर्वपक्ष भी उन्होंने लिखा है कि ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है, जिसका अभिप्राय है कि ब्रह्म निरवयव है। तब उसके अंश की कल्पना ही कैसी। इसका उत्तर देते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि ब्रह्म

निरवयव है या सावयव है यह केवल शब्द प्रमाण वेद्य विषय है, प्रत्यक्ष और अनुमान आदि के द्वारा इसे नहीं बतलाया जा सकता। ऐसी स्थिति में अनेक श्रुतियां और स्मृतियां समुद्धृत करके उन्होंने यह दिखाया है कि श्रुतियों और स्मृतियों के वचनों के आधार पर ब्रह्म सावयव ही सिद्ध होता है। तब उसके निरवयव होने की कल्पना क्यों की जाय। 'एकमेवाऽद्वितीयम्' का सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य होना जो अभिप्राय निकाला जाता है, उसमें सजातीय और विजातीय भेद तो ब्रह्म में नहीं है, परन्तु परब्रह्म के अंश के रूप में जीव को स्वीकार कर लेने पर अंशांशि भावापन्न परब्रह्म और जीव में स्वगत भेद तो आ ही जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उन्होंने उठाया है कि जीव और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् मान लेने पर जीव अलग इकाई हुई और ब्रह्म अलग और फिर उनमें अंशांशिभाव भी रहा, तब स्वगत भेद नहीं सजातीय भेद भी उनमें सिद्ध हो गया। इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि ब्रह्म में आनन्द की जो मुख्यता है, वह जीव भाव में तिरोहित हो जाती है, अतः ब्रह्म और जीव सजातीय नहीं रह जाते। हां, जो अवान्तर धर्म हैं उनकी समानता तो अंश और अंशी में इष्ट ही है।

**‘पुरुष एवेदं सर्वम्’**

**‘पादोऽस्य विश्वाभूतानि’, ( ऋग्वेद )**

इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म का सावयव होना प्रतिपादित है। यदि जीव ईश्वर का अंश है तब यह शंका होगी कि जिस प्रकार अंश के सुख दुःखानुभव से अंशी को भी उसका अनुभव होता है, मनुष्य के हाथ या पैर को पीड़ा होने पर मनुष्य को भी पीड़ा होना अनुभव सिद्ध है, उसी प्रकार जीव के सुख दुःखानुभव करने पर ईश्वर में भी सुख दुःखों का अनुभव प्राप्त हो जाता है। इसका उत्तर यह है कि, अंश की अंशी से पृथक् सत्ता नहीं होती। पुरुष के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से हाथ पैर आदि उसके अंश या अवयव पृथक् नहीं कहे जा सकते। ऐसा भी अनुभव नहीं होता कि अंशी को जो ज्ञान नहीं होता वह अंश को हो जाता हो। अतः जीव के सुख दुःख से परमेश्वर के सुख दुःख का अनुमान विपरीत अनुमान है। होना यह चाहिए कि परमेश्वर के सुख दुःख से जीव के सुख दुःख की कल्पना की जाय। ऐसा होने पर जीव को जो कष्टानुभव होता है, वह कैसे युक्तियुक्त होगा। ईश्वर में तो दुःख का संश्लेष है नहीं, इसका उत्तर यह है कि यह द्वैत भावना से होता है। अंश और अंशी मिलकर एक होते हैं। अंशी प्रधान और अंश गौण होता है। परन्तु अविद्या से समुत्पादित द्वैत बुद्धि के चक्र में पड़ने वाला जीव ब्रह्म के साथ अपने अंश भाव को विस्मृत करके अपनी स्वतन्त्र स्थिति

का अनुसंधान करने लगता है और इसी से क्लेश प्राप्त करता है। जीव में ब्रह्म के आनन्दांश का तिरोधान हो गया है। यहां उन्होंने इस बात का खण्डन किया है कि जीव और ब्रह्म का विभाग अविद्या कृत है। ये उसे ब्रह्मकृत ही मानते हैं। यदि जीव और ब्रह्म के विभाग को अविद्या कृत माना जाय तब सृष्टि के आरम्भ में अविभक्त जो ब्रह्म है, वह संसारी नहीं है, और जो विभाग है वह संसार के बिना हो नहीं सकता। तब सृष्टि में दिखाई देने वाले भेद को सिद्ध करने पर अन्योन्याश्रय दोष का वारण कठिन हो जायगा। संसार के होने पर तो भेद गृहीत होगा, और पहिले भेद के बिना संसार आयेगा ही कहां से। अतः इस अनुपपत्ति का भी यही समाधान है कि जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न और अनादि हैं। यदि भेद अविद्या के द्वारा कल्पित माना जाय तब अविद्या का कोई स्वरूप निर्वचन संभव नहीं है, अतः उसका भ्रान्ति रूप या मिथ्यात्व सिद्ध हो गया, तब द्वैत भाव को मिथ्या आधार पर प्रतिष्ठित कहना होगा। जो बात श्रुति स्मृति और अनुभव से सिद्ध है उसके आधार को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है। यदि ब्रह्म को ही उसका आधार मानें तब ब्रह्म भी संसारी है, ऐसा कहना पड़ेगा जो कि अभीष्ट नहीं है। तब मूल में जीव और ईश्वर ये परस्पर अंशांशि भावापन्न दो पृथक्-पृथक् तत्त्व मानने होंगे। जीव तो अनन्त हैं और पद्य में 'जीवभूतः सनातनः' यह एक वचन कहा गया है, इसका समाधान करते हुए श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि यहां समष्टि में एक वचन है। जीव समष्टि से यहां तात्पर्य है। इस सिद्धान्त में यह सबसे बड़ी शंका रह जाती है कि यदि ब्रह्म सावयव है, तो सावयव पदार्थ विनाशशील होते हैं यह सर्वतन्त्र सम्मत सिद्धान्त है, इसके अनुसार ब्रह्म को भी विनाशवान् मानना होगा। इसका समाधान वे यह करते हैं कि ब्रह्म परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय है, यह बात श्रुति स्मृति से सिद्ध होती है। वह सावयव होता हुआ भी नाशवान् नहीं है, सावयवत्व और विनाशशून्यत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म ब्रह्म में रहते हैं जैसा कि 'तदेजति तन्नैजति' तद्दूरे तदुअन्तिके' इत्यादि श्रुतियों में विरुद्ध धर्माश्रय ब्रह्म को बतलाया गया है।

श्रीनीलकण्ठ यहां यह पूर्वपक्ष उठाते हैं कि विगत पद्य में कहा गया था कि वह धाम सूर्य आदि के द्वारा प्रकाश्य नहीं है, वह अक्षर रूप है और सर्वत्र व्यापक है। तब स्वप्रकाश अक्षर तत्त्व के सर्वत्र अनुस्यूत होने पर किसी भी पदार्थ को इन्द्रियों से ग्रहण करने के लिए हमें सूर्य आदि अन्य प्रकाशों की आवश्यकता क्यों होती है। क्यों नहीं स्वप्रकाश आत्मा को स्वतः तत्तत्पदार्थों का ग्रहण हो जाता। स्वयं जोतिरूप को अपने विषय को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्योति की अपेक्षा नहीं होती। इसी का उत्तर देने के लिए आगे के तीन पद्य कहे गए हैं। जगत् का स्रष्टा ईश्वर ही

शरीर में अनुप्रविष्ट होता है—‘तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्।’ ईश्वर ही इस प्राण धारण रूप उपाधि का परित्याग करते समय उत्क्रमण करने वाला कहा जाता है। इसीलिए यहां भगवान् कहते हैं कि जीव लोक में जो सनातन जीव है वह मेरा ही अंश है। इसकी उपमा वेद में दी गई है कि जैसे अग्नि के महान् समूह से स्फुलिंग छिटक कर अलग गिरते रहते हैं, वैसे ही जीव ईश्वर से पृथक् होता है। जैसे विस्फुलिंग अग्नि समूह से पृथक् होकर फिर नया अग्नि समूह बना लेता है, वैसे ही जीव भी ईश्वर से पृथक् होकर अपनी नई सृष्टि बना लेते हैं। जैसे अग्नि समूह से पृथक् होकर भी स्फुलिंग में और अग्नि में कोई भेद नहीं होता वैसे ही ईश्वर से पृथक् होने पर भी जीव और ईश्वर में कोई वास्तविक भेद नहीं होता। जो कुछ भी भेद अवभासित होता है, वह औपाधिक भेद ही है।

द्वैतवाद की तत्त्व प्रकाशिका व्याख्या में अद्वैतवाद के इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है कि जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है, क्योंकि प्रतिबिम्ब सनातन नहीं हो सकता और यहां जीव को सनातन कहा गया है।

श्रीशंकरानन्द ने द्वैतवाद की आशंका उपस्थित करने वाले पूर्वपक्षी से प्रश्न किया है कि यदि जीव और ब्रह्म में भेद है तो क्या ब्रह्म से अतिरिक्त कोई जीव है; या ब्रह्म ही जीव बनता है, अथवा जीव है ही नहीं यह आपका आशय है। यदि जीव है ही नहीं यह आप कहें तब तो कहने वाले आप स्वयं ही अभावग्रस्त हो जायेंगे। यदि आप कहें कि हां, हम वस्तुतः हैं ही नहीं, तब प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध होगा। प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु को कोई अनुन्मत्त पुरुष अस्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए जीव का अभाव तो कहा नहीं जा सकता। अब यदि आप कहें कि जीव है, और वह ब्रह्म से पृथक् है, तब यह पूछना होगा कि ब्रह्म से पृथक् वह जीव चेतन है अथवा अचेतन। यदि आप उसे अचेतन कहें तब तो आपको जो ज्ञान होता है, वह कैसे होगा। अचेतन पदार्थ को ज्ञान नहीं होता। यदि आप कहें कि वह चेतन है तो श्रुति विरोध होगा, क्योंकि श्रुतियों में चेतन केवल ईश्वर को ही माना जाता है। “नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, नाऽन्योऽतोऽस्ति विज्ञाता” उस ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा और विज्ञाता नहीं है। इसलिए ब्रह्म और जीव पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते। अब रह गया तीसरा पक्ष कि ब्रह्म ही जीव है, यह पक्ष भी संभव नहीं। यदि ब्रह्म ही जीव हो तो जीवों को ब्रह्म की पूर्णता और असंसारिता का अनुभव होना चाहिए, ऐसी स्थिति में फिर संसार की स्थिति ही अवरुद्ध हो जायगी। अतः यही कहना उपयुक्त होगा कि अविद्या रूप उपाधि से आच्छन्न होकर ब्रह्म ही जीव भावापन्न हो गया है। फिर प्रश्न होगा कि ब्रह्म तो असंग

और अविकारी है, उसका अविद्या से सम्बन्ध ही कैसे होगा, और अविद्या से सम्बद्ध होजाने पर वह अविकारी कैसे कहा जायगा, इसका उत्तर है कि सफेद शंख पीले रंग से असम्बद्ध रहता हुआ भी पीलिया रोग के रोगी को पीला नजर आता है। पीला दिखाई देने पर भी शंख के अपने रूप में कोई विकार नहीं आता। उसी प्रकार ब्रह्म के ऊपर संसार उपाधि से आरोपित होने के कारण मिथ्या है। अविद्यावश जीव को अपना पृथक् भाव भासित हो जाता है।

---

## बाईसवां-पुष्प

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः  
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् १५। ८  
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च । १५। ९  
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते  
उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्  
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः । १५। १०  
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्  
यतन्तोऽप्यकृतात्मनो नैनं पश्यन्त्यचेतसः । १५। ११

“यह जीव रूप ईश्वर जब शरीर ग्रहण करता है और जब शरीर को छोड़कर उत्क्रमण करता है, तब वह मन के सहित इन्द्रियों को लेकर उसी प्रकार जाता है जिस प्रकार वायु किसी स्थान से चलते समय वहां का गन्ध अपने साथ ले लेता है।” (८)

आत्मा एक शरीर को लेता है और एक को छोड़ता है, इसे ही जीवन और मृत्यु कहते हैं। छोड़ते समय और नया शरीर लेते समय वह अकेला नहीं रहता अपितु मन और इन्द्रियां भी उसके साथ रहती हैं, जिन्हें सूक्ष्म शरीर कहा जाता है। श्राद्ध का विवेचन करते समय हम इसका विवेचन कर चुके हैं कि शारीरिक सूत्रों के अनुसार सूक्ष्म अंश भी आत्मा के साथ जाता है। शरीर का जो ग्रहण श्लोक में कहा गया उसका तात्पर्य एक व्याख्या में यह भी लिखा गया है कि सुषुप्ति से उठने पर आत्मा शरीर को प्राप्त करता है अर्थात् मन और इन्द्रियों का ग्रहण करता है। वायु में जो गन्ध मालूम होता है वह वायु का अपना नहीं है अपितु वायु के संसर्ग में जो पदार्थ जाते हैं, उन्हीं का गंध वायु ले लेता है। इससे जीवात्मा इन्द्रिय और मन के कर्षण में स्वतन्त्र नहीं, परमेश्वर की प्रेरणा ही उसमें हेतु भूता है, ऐसा आशय भी कुछ व्याख्याकारों का है। अग्रिम पद्य में यह कहा गया है कि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा यह जीवात्मा विषयों का सेवन करता है—

“कान, नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मन पर अधिष्ठित होकर यह (जीवात्मा) विषयों का उपसेवन करता है। (९)

उक्त इन्द्रियों पर अधिष्ठित होने का अर्थ श्रीनीलकण्ठ ने किया है कि इन इन्द्रियों



को व्यापारवान् बनाकर वह विषयों का ग्रहण करता है। जिस प्रकार दीपक अपनी प्रभा को प्राप्त करने के लिए तेल और बत्ती की अपेक्षा रखता हुआ भी वस्तुओं को प्रकाशित करने में किसी की अपेक्षा नहीं रखता, स्वयमेव पदार्थों को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार आकार विशेष को प्राप्त करने के लिए जीव इन्द्रिय मन आदि की अपेक्षा करता है, परन्तु विषयों का अवभास तो वह स्वयं ही करता है। श्रीशंकरानन्द ने पद्योक्त चकार से इन्द्रिय और मन के साथ ही बुद्धि का भी ग्रहण माना है।

जब सभी इन्द्रियों पर अधिष्ठित होकर आत्मा ही विषयों का सेवन कर रहा है तो उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती। अनुभव में तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार के अतिरिक्त विषयों का उपभोक्ता आत्मा मिलता नहीं, तब यह कैसे समझा जाय कि यह सभी विषयोपभोग जीवात्मा कर रहा है। इसका उत्तर देने के लिए भगवान् आगे का श्लोक कहते हैं कि—

“उत्क्रमण करते हुए, या स्थित रहते हुए, या भोजन करते हुए, गुणों से संयुक्त होते हुए आत्मा को ज्ञानरूपी नेत्रों वाले ही देखते हैं, विमूढ़ पुरुष नहीं देख सकते।”(१०)

परमेश्वर हमारे प्रत्येक कर्म का नित्य साक्षी है, यह बात गीता के इस पद्य से सुस्पष्ट है। हमारे प्रत्येक कार्य का देखने वाला परमात्मा है, यह दृष्टि भारत में सर्वदा से रही है। पारमार्थिक दृष्टि तो बिना इस विचार के बन ही नहीं सकती, लौकिक दृष्टि में भी इस विचार की बड़ी आवश्यकता है। बहुधा बुराइयों में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति एकान्त या एकाकीपन देखकर यह समझ लेता है कि इस समय इस कुकर्म को कोई नहीं देख रहा है, इसका साक्षी कोई नहीं है, मुझे इस कर्म का उत्तर किसी के सामने नहीं देना होगा। यदि वह यह समझ जाय कि जो भी कुछ कार्य मनुष्य कर रहा है, उसका साक्षी उसकी अन्तरात्मा के रूप में अवस्थित परमेश्वर है, जिसके समक्ष उसे इसका उत्तर देना होगा तो बहुत सी बुराइयां दूर हो जायं, परन्तु ऐसा होता नहीं। विषयों में विक्षिप्त चित्त वाले पुरुष जिन्हें यहां भगवान् ने विमूढ़ कहा है, वे अपने में अवस्थित तथा सर्वत्र प्राणियों में प्रतिष्ठित आत्मसत्ता को नहीं देख पाते। अधिक संख्या नहीं देखने वालों की ही है, इसीलिए उन्हीं का भगवान् ने पहिले निर्देश किया है। परन्तु जिनके ज्ञान नेत्र उद्घाटित हो चुके हैं, उन्हें तो साक्षी के रूप में सभी कार्यो में भगवान् की सर्वत्र सत्ता का अनुभव होता रहता है। जब किसी की मृत्यु होती है, तो आत्मा ही उस मृत के शरीर को छोड़ता है, जिसे उत्क्रमण कहते हैं। वही शरीर का परम विधारक होने से उसमें स्थित कहा गया है। भोजनादि व्यापार में भी वह

सर्वत्र मौजूद है, सुख दुःख मोहादि में भी वह साक्षी रूप से सर्वत्र अनुगत है। ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों की ऐसी ही दृष्टि दृढ़ हो जाती है और उन्हें आत्म-सत्ता का सर्वत्र साक्षात्कार हो जाता है।

शरीरादि पिण्डों में आत्मा का अभिमान रखने वाले विमूढ़ हैं और शरीरादि को नाशवान समझकर उसके परिचालक के रूप में उससे पृथक् आत्मसत्ता का अनुभव करने वाले ज्ञानी हैं, यह श्रीरामानुजाचार्य का आशय है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि इन्द्रियों और मन पर अधिष्ठित आत्मा उनके शरीर से उत्क्रमण करने पर उत्क्रान्त होता है, स्थित रहने पर स्थित होता है। वस्तुतः उसका उत्क्रमण या स्थिति वास्तविक नहीं अपितु इन्द्रियादि उपाधियां के कारण है, वैसे ही जैसे घड़े के चलने पर घड़े का आकाश भी चलता हुआ मालूम होता है। विमूढ़ लोग इन क्रियाओं में उसके तात्त्विक रूप को नहीं जान पाते। वह यही समझते हैं कि आत्मा ही यह सब कर रहा है। जो ज्ञानी हैं वे समझ जाते हैं कि ये उपाधि के धर्म आत्मा पर आरोपित हो रहे हैं, वस्तुतः तो आत्मा अकर्ता है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न कर लिया है उन्हें तो सर्वत्र आत्मदर्शन होता है, परन्तु जिनका ऐसा प्रयत्न नहीं हुआ है, वे यदि सब कार्यों में आत्मदर्शन का प्रयास भी करें तो क्योंकि उनके राग-द्वेष, काम, क्रोधादि का शमन नहीं हुआ है, अतः उन्हें इस प्रयत्न से कोई लाभ नहीं हो सकता। शरद ऋतु में जल के होने पर भी बीज बो देने से फल नहीं निकलेंगे। अकृतात्मा पुरुष यदि अनेक प्रकार की दीक्षाएं ले लेता है तो भी किसी संप्रदाय की दीक्षा ले लेने मात्र से उसके बाहरी वेश विन्यास में भले ही विशेषता आ जाय, उसे कोई पारमार्थिक विशेष लाभ उससे हो जायगा इसकी संभावना तो व्यर्थ है।

आगे आत्मदर्शी योगी और अनात्मदर्शी अकृतात्मा का ही विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

‘प्रयत्न करने वाले योगीगण अपनी बुद्धि में अवस्थित आत्मा को देखते हैं, जो अकृतात्मा हैं वे यत्न करते हुए भी इसे नहीं देख पाते। (११)

योगी समझ लेता है कि ‘यह मैं हूं।’ उसे आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। परन्तु जो अकृतात्मा हैं, जिनकी आत्मा का संस्कार नहीं हुआ, जो अपने दुश्चरित्रों से उपरत नहीं हुए, जिनके दर्पादि शान्त नहीं हुए वे अविवेकी पुरुष इसे नहीं देख पाते।

श्रीरामानुजाचार्य ने योगियों को देखने का अभिप्राय लिखा है कि वे शरीर से पृथग्भूत आत्मा का दर्शन करते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य ने योगी का अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध करने वाले किया है। योग का अर्थ होता है चित्तवृत्ति का निरोध 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि योगी गण आत्मा को उत्क्रान्ति आदि क्रियाओं से हीन देखते हैं। उन्होंने 'अकृतात्मानः' का अर्थ किया है कि जिनका चित्त यज्ञादि से शुद्ध नहीं हुआ है।

---

## तेईसवां-पुष्प

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्  
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् । १२।  
गामाविश्य च भूतानि धारयाभ्यहमोजसा  
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः । १३।  
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।  
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् । १४।  
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च  
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् । १५।

‘जो तेज सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में संस्थित रहता हुआ समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, उसे हे अर्जुन तुम मेरा तेज समझो’ (१२)

पहिले यह कहा गया था कि सूर्य, चन्द्र और अग्नि परमतत्त्व को प्रकाशित करने में असमर्थ हैं। वे असमर्थ क्यों हैं, उसका कारण यहां बतलाया जा रहा है कि इनमें जो तेज है, वह परमेश्वर का ही तेज है, वह उन्हें ही क्या प्रकाशित करेगा। क्या दीपक से सूर्य दिखाई देता है। श्रीशंकराचार्य ने आगे के चार पद्यों में भगवान् की विभूतियों का संक्षेप से वर्णन माना है। सूर्य, चन्द्र आदि में जो चैतन्यात्मक ज्योति है, वह भगवान् का ही रूप है। श्रीशंकराचार्य ने यह प्रश्न उठाया है कि चैतन्यात्मक ज्योति तो स्थावर और जंगम सभी पदार्थों में समान है, फिर यहां सूर्य, चन्द्र आदि विशेष पदार्थों का परिगणन क्यों किया। क्या इनके अतिरिक्त स्थानों में चैतन्यात्मक ज्योति नहीं है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य लिखते हैं कि आदित्य आदि में सत्त्व गुण की अत्यन्त प्रखरता होने से वहां चैतन्य अत्यन्त स्फुटित है, अतः उदाहरण के रूप में उन्हें ही उपस्थित किया है। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब शीशे में ही गृहीत होता है, लकड़ी, पत्थर आदि में नहीं, यद्यपि मुख लकड़ी पत्थर आदि के भी सामने जाता है, उसी प्रकार आदित्य आदि सत्त्व प्रमुख पिण्डों में चैतन्य ज्योति की प्रस्फुटितता अत्यधिक है। वैसे चैतन्य ज्योति सर्वत्र समान रूप से ही परिव्याप्त रहती है।

गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने भी कहा है—“प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना”।

यदि आदित्य आदि में प्रकाशित होने वाला तेज परमेश्वर का है तो वह आदित्य आदि को कैसे प्राप्त हो गया, इसका उत्तर देते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि आदित्य आदि ने परमेश्वर की आराधना से वह उनसे प्राप्त किया है। सूर्य चन्द्र आदि में प्रतिष्ठित तेज परमेश्वर का ही है इस आशय की अनेक श्रुतियां भी व्याख्याकारों ने उद्धृत की है।

श्रीपुरुषोत्तम जी ने “वह मेरा ही तेज है”, इसका यह भी आशय लिखा है कि परमेश्वर की इच्छा के बिना सूर्य-चन्द्र आदि भी प्रकाश फैलाने में असमर्थ हैं।

उपनिषद् में एक आख्यायिका आती है कि एक बार असुरों पर विजय प्राप्त कर इन्द्र, अग्नि, वायु इन देवताओं को यह अभिमान हो गया कि असुरों को हमने ही परास्त किया। ये तीनों आपस में अपने को बड़ा तथा अधिक शक्तिशाली सिद्ध करने के लिए विवाद करने लगे। उसी समय इनके सामने एक यक्ष प्रकट हुआ जिसकी आकृति से यह न जाना जा सके कि वह मनुष्य, देव आदि कौन हैं, उसे ही संस्कृत में यक्ष कहा जाता है। इन्द्र आदि भी उसे देखकर पहिचानने में समर्थ न हो सके। तब इन्द्र ने अग्नि से उसके समीप जाकर उसका पता लगाने को कहा। अग्नि के समीप जाने पर यक्ष ने प्रश्न किया कि तुम कौन हो और क्या शक्ति रखते हो। “मैं अग्नि हूं और समस्त संसार को पल भर में जला देने की शक्ति रखता हूं,” अग्नि का उत्तर था। यक्ष ने एक तिनका उसके सामने रखकर कहा कि इसे जला दो। अग्नि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी तिनके को न जला सका और वापस लौटकर यक्ष के पहिचानने में अपनी असमर्थता प्रकट करने लगा। इस बार इन्द्र ने वायु को भेजा। वायु ने भी यक्ष के प्रश्न पर कहा कि “मैं वायु हूं, समस्त संसार को क्षण भर में उड़ा देने की शक्ति रखता हूं,” परन्तु यक्ष के दिये हुए तिनके को वह न उड़ा सका। तब इन्द्र स्वयं गया। इन्द्र ज्ञान का अधिष्ठाता माना गया है। उसे यह अभिमान है कि संसार में जो भी कुछ है वह उसके ज्ञान से बाहर नहीं रह सकता। उसके जाने पर वह यक्ष गायब हो गया और यह दिखा दिया कि तुम ज्ञान का अभिमान रखते हो परन्तु मुझे नहीं जान सकते। इसके बाद उमा भगवती के द्वारा उनको यह ज्ञान हुआ कि तुम अपनी अपनी शक्ति का अभिमान करके व्यर्थ विवाद करते हो, शक्ति का परमाधार तो परब्रह्म है। उसी की शक्ति की कुछ मात्रा तुमको मिली हुई है।

इस आख्यायिका से भी यही स्पष्ट होता है कि परमात्मा ही शक्ति या तेज का धन है, और उसी से थोड़ी थोड़ी शक्ति प्राप्त करके सूर्य चन्द्र आदि सम्पूर्ण चराचर को प्रकाशित करते हैं।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि आदित्य आदि शब्दों के द्वारा पिण्ड और उसके अभिमानी देवता दोनों का ग्रहण करना चाहिए।

श्रीशंकरानन्द ने लिखा है कि भगवान् तो स्वयं ही तेजो रूप हैं, तब 'मामकम्' का अर्थ सुसंगत करने के लिए 'राहु के सिर' वाला न्याय यहां भी लगा लेना चाहिए। अपने व्यापक रूप का वर्णन करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि—“मैं अपने ओज से पृथ्वी में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण भूतों को धारण करता हूं, और रसात्मक सोम बनकर सभी औषधियों को पुष्ट करता हूं” (१३) “मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के शरीर का आश्रय लेता हुआ प्राण और अपान से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूं” (१४) काम-रगादि से विवर्जित उस ईश्वरीय शक्ति के आधार पर ही पृथ्वी इतनी भारी होने पर भी नीचे गिरकर विदीर्ण हो जाने से बची हुई है। श्रुतियों में कहा गया है—

“येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा (तै०सं० ४१।८)

“सदाधारपृथिवीम्” (ऋ० ८।७।३।१)

सभी औषधियों का पोषक सोम तत्त्व है। वही सर्व रसात्मक और सभी रसों का खजाना है। भगवान् स्वयं सोम बनकर सारी औषधियों को पुष्ट कर रहे हैं। सोम अमृत रसमय होता है, जिससे कि समस्त औषधियों को संजीवनी शक्ति प्राप्त होती है। श्रीनीलकण्ठ ने सोम का अर्थ जल किया है, जिस जल का सारभूत अंश रस कहलाता है।

उदरस्थ अग्नि का नाम वैश्वानर है। उपनिषद् में लिखा है—

“अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते”

(बृ०उ० ५।१।१)

अग्नि प्राण और अपान से संयुक्त होकर ही अन्न को पचाता है। भोज्य, भक्ष्य; लेह्य और चोष्य ये चार प्रकार के अन्न होते हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने खाद्य चोष्य, लेह्य और पेय ये चार अन्न कहे हैं। अपूप आदि जो दांतों से खाये जाय वह भक्ष्य हैं, जो केवल जिह्वा से आलोडन कर निगल जाया जाता है, वह सूप आदि भोज्य अन्न कहा गया है। जीभ पर रखकर जिसके रसमात्र का आस्वाद लिया जाय वे फल आदि लेह्य कहे जाते हैं। दाँतों से विदीर्ण करके रसमात्र का स्वाद लेकर अवशिष्ट जो फेंक दिया जाता है, वे गन्ना आदि चोष्य कहे जाते हैं।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि उपर्युक्त प्रकार से भोक्ता को भगवान् और भोज्य पदार्थों को सोमरूप समझने वाला व्यक्ति भोज्य पदार्थ के दोषों से उपलिप्त नहीं होता। श्रीशंकरानन्द ने पार्थिव, तैजस, आपोमय और वायव्य ये चार प्रकार के अन्न बतलाए हैं। उनमें मनुष्य आदि के लिए पार्थिव अन्न काम में आता है। चातकादि पक्षियों के लिए जलमय अन्न होता है। बालखिल्य आदि के लिए तैजस अन्न होता है, और सर्प आदि के लिए वायु ही अन्न के रूप में है। सभी प्राणियों के इन विविध प्रकार के अन्नों को उनकी जाठराग्नि के रूप में अवस्थित परम कृपालु भगवान् पचाते रहते हैं।

अग्रिम पद्य में भगवान् कहते हैं कि—

“मैं सभी प्राणियों के हृदय में सन्निविष्ट हूँ। मुझ से ही स्मृति और ज्ञान तथा उनका अपोहन अर्थात् नाश भी होता है। सम्पूर्ण वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूँ, वेदान्तों का कर्ता मैं हूँ और वेदों का वेत्ता भी मैं ही हूँ।” (१५)

पुण्य कर्मों वाले पुरुषों को अपने कर्मवश ज्ञान और स्मृति रहती है, और पाप कर्म वालों को उनका अपोहन अर्थात् नाश होता है। हृदय सभी प्राणियों के मध्यदेश में अवस्थित है, वहीं से ज्ञान का उदय होता है। ‘सभी वेदों के द्वारा वेद्य मैं ही हूँ’, इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि वेदों में अग्नि, वायु, सोम, इन्द्र आदि देवताओं के मन्त्र बहुत अधिक हैं, और इन देवताओं का नियामक परमेश्वर ही है, अतः उन मन्त्रों के प्रतिपाद्य देवताओं का भी अन्तर्यामी रूप से अवस्थित परब्रह्म ही वेदों के द्वारा परमवेद्य सिद्ध होता है। ‘वेदान्तकृत्’ का अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि वेदों के अन्त को करने वाला मैं ही हूँ। अन्त का अर्थ होता है फल, वेद का अन्त अर्थात् वेद का फल। ‘इन्द्रं यजेत्’, ‘वरुणं यजेत्’ इत्यादि जो वैदिक विधियाँ हैं, उन विधियों का फलप्रदाता परमेश्वर ही है, अतः वह ‘वेदान्तकृत्’ हुआ। माध्व भाष्य में वेदों के अर्थों के निर्णय करने वाले वेदान्त दर्शन को ही वेदान्त माना है, और उसी का कर्ता परमेश्वर को स्वीकार किया है। पूर्वानुभूत विषयों के संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं, विषयों और इन्द्रियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क से समुद्भूत ज्ञान को यहां ज्ञान कहा गया है। अपोहन का एक अर्थ तो स्मृति और ज्ञान का विनाश पहले दिखाया ही जा चुका है। कुछ विद्वान् अपोहन का अर्थ अज्ञान निवृत्ति भी मानते हैं। श्रीवल्लभाचार्य अपोहन का अर्थ करते हैं—अपकृष्ट ऊहन, उसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं कि यह प्रमाण इस प्रकार प्रवर्तित हो सकता है, ऐसी प्रमाणों की प्रवृत्ति की योग्यता और विषय सामग्री

के निरूपण से उत्पन्न प्रमाणों को पुष्ट करने वाला जो ज्ञान है वह अपोहन कहलाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये मुख्यतः चार प्रमाण माने गए हैं, जो यथार्थ ज्ञान के जनक होते हैं। इनमें से किस प्रमाण की प्रवृत्ति कब होती है यह निश्चय करना ही 'अपोहन' है।

वेदों के द्वारा वेद्य मैं ही हूँ' इस अंश में श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि वेद प्रतिपादित इन्द्र आदि देवताओं में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित होने के कारण वेद मेरे ही प्रतिपादक हैं। परन्तु वे इस मत का खण्डन करते हैं कि अन्य देवता आदि के वेद वेद्यत्व को हटाकर केवल एक ब्रह्म का बोधन श्रुति को अभीष्ट है। जीव को ईश्वर का शाश्वत अंश मानने वाले श्री वल्लभाचार्य जी के सिद्धान्त में ब्रह्मज्ञान से अन्य देवताओं आदि के ज्ञान को बाधित करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे भगवान् के अंश रूप में अवस्थित हैं। उनका कथन है कि अध्यारोप और अपवाद जीव कल्पित हैं, वास्तविक नहीं। ब्रह्मसूत्रों में भगवान् बादरायण ने अध्यारोप और अपवाद की स्थापना की है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म पर संसार उसी रूप में आरोपित है जिस प्रकार रज्जु में सर्प। संसार पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या है। अतः संसार में से संसारत्व बुद्धि को हटाना अपवाद कहलाता है। इसी को यहां पद्य में अपोहन अर्थात् निकृष्ट तर्क कहा गया है। यह निकृष्ट तर्क इसलिए है कि भगवान् के द्वारा उत्पादित जो संसार है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है, उस संसार में मिथ्यात्व की बुद्धि करना, यह निकृष्ट तर्क ही है। भगवान् कहते हैं कि यह अपोहन भी मुझसे ही प्रादुर्भूत हुआ है। उसका तात्पर्य श्रीवल्लभाचार्य ने लगाया है कि भगवान् ने ही बादरायण के रूप में ब्रह्म सूत्रों का निर्माण कर इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है और अध्यारोप और अपवाद को प्रतिष्ठित किया है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए आगे उन्होंने अपने आपको 'वेदान्तकृत्' भी कहा है। इसी प्रकार यहां श्री वल्लभाचार्य ने संसार को वास्तविक और संसार के मिथ्यात्व सिद्धान्त को अपोहन कहा है। इस पर प्रकारान्तर से विचार करते हुए वे कहते हैं कि अध्यारोप और अपोहन जीवकल्पित है या नहीं। नहीं है ऐसा कहने पर श्रुति विरोध होगा। श्रुतियां उन्हें जीवकल्पित कह रही हैं। इनको जीवकल्पित मान लेने में इष्टापत्ति है, संसार को मिथ्या कहना या संसार का मिथ्या रूप जीवकल्पित है। परमेश्वर के द्वारा विनिर्मित संसार मिथ्या कैसे हो सकता है। संसार के दो रूप हैं, एक ईश्वरोत्पादित और दूसरा जीव के द्वारा समुत्पादित। जीव कल्पित संसार अध्यारोपापवाद रूप है। ईश्वरोत्पादित संसार सत्य है, वह मिथ्या नहीं हो सकता। उसका ईश्वर के द्वारा उत्पादित होना ही इसके लिए यथेष्ट प्रमाण है। यदि कहो कि वह ईश्वर के द्वारा नहीं अपितु माया के द्वारा उत्पादित है, यह समीचीन नहीं,



क्योंकि ब्रह्मवाद में माया कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, वह स्वतः ईश्वर से ही प्रादुर्भूत है। ब्रह्मसूत्रों और उसके श्रीवल्लभाचार्यकृत भाष्य में माया की पृथकता का खण्डन कर दिया गया है। यह 'वेदान्तकृत' पर श्रीवल्लभाचार्य का आशय है। श्रीनीलकण्ठ ने कहा है कि वेदान्तकर्ता और वेदवेत्ता का नाम ग्रहण कर भगवान् ने यह अभिव्यंजित किया है कि ये मेरे विभूति रूप हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार गीता का व्याख्यान करने वाले श्री अभिनव गुप्ताचार्य ने लिखा है कि परमात्मा के विमर्श से जो संसार समुत्पन्न होता है, वह विश्व की महासृष्टि ही ज्ञान है। अपोहन विकल्प ज्ञानात्मक है जो पाशव सृष्टि रूप मायामय प्रमाता के लिए होता है। ईश्वर की शक्तियां जीव में संकुचित होकर आती हैं, यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सिद्धान्त है। ईश्वर में जो ज्ञान शक्ति है, उसे यहां ज्ञान शब्द से ही कहा गया, जीव में वह ज्ञान शक्ति संकुचित होकर पहुंचती है, उसे यहां अपोहन कहा गया है। स्मरण का तात्पर्य प्रतिसंहत जो विश्व है, उसका पुनः अवभास होना है। इस प्रकार स्मृति, ज्ञान और अपोहन इन तीन शब्दों से सभी प्रकार का ज्ञान ले लिया गया है। इससे भगवान् सर्वज्ञ हैं और वे संसार के स्वतन्त्रकर्ता हैं, यह बात प्रतिफलित हो जाती है। वेद और वेदान्त के कर्ता का अभिप्राय यह है कि कर्म उनके फल और उनके सम्बन्ध के द्वारा समस्त संसार के निर्माण और उनके उन्मूलन में भगवान् ही समर्थ हैं। किसी व्याख्याकार ने यहां पद्य में पठित 'एव' शब्द को चार प्रकार से लगाया है—'वेदैरेवाहं वेद्यः' मैं वेदों के ही द्वारा वेद्य हूं, अर्थात् वेदों के अतिरिक्त और प्रकार से वेद्य नहीं हूं। 'सर्वैरेव वैदैरहं वेद्यः' 'सभी वेदों से मैं वेद्य हूं', वेद चार हैं, उनमें से किसी एक वेद के द्वारा नहीं अपितु सभी वेदों के द्वारा मैं वेद्य हूं। 'सर्वैर्वेदैरहमेव वेद्यः' सब वेदों के द्वारा मैं ही वेद्य हूं अर्थात् मेरे अतिरिक्त वेदों के द्वारा और कुछ भी वेद्य नहीं। 'सर्वैर्वेदैरहं वेद्य एव' सभी वेदों के द्वारा मैं अवश्य वेद्य बनता हूं अर्थात् मेरे ज्ञान के लिए वेदों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने पद्य का पूर्वाद्ध जीवात्मा की ओर तथा उत्तरार्ध परमात्मा की ओर लगाया है। जीवात्मा ही प्राणियों के हृदय में प्रवेश करता है, आत्मा के हृदय में प्रविष्ट हो जाने के कारण ही प्राणी को पूर्व जन्म की स्मृति हो जाती है। योगी गण जन्मान्तर का भी स्मरण कर लेते हैं। विषय और इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न ज्ञान भी हृदय प्रविष्ट आत्मा के द्वारा ही होता है। योगियों को विप्रकृष्ट देश काल का भी जो ज्ञान हो जाता है उसका कारण भी हृदयनिविष्ट आत्मा ही है। उत्तरार्ध में सभी वेदों के द्वारा वेद्यता और वेदान्तकर्तृत्व और वेदवित् होना परब्रह्म का निरूपक है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि वेदान्त के लिए तो भगवान् ने अपने आप को कर्ता कहा,

परन्तु वेद के लिए वेत्ता ही कहा है। इससे वेद के निर्माता भगवान् अपने आपको नहीं कहते यह वेदों के प्रति अनादिता और अपौरुषेयता का पोषक है। जो विद्वान् वेदों को महर्षिकृत् कहते हैं वे भी यह तो मानते हैं कि ईश्वर कृपा से ही महर्षियों के हृदय में वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। इसलिए उनके मत में भी वेद पुरुष विनिर्मित नहीं होते। 'वेदविदेव', इसका दूसरा तात्पर्य यह भी हो सकता है कि वेद किसका विधान करता है और किसका अनुवाद करता है इत्यादि बातों को मैं ही जानता हूं। जैसा कि श्री भागवत में लिखा गया है कि वेद क्या विधान क्या अविधान करता है, इसको मेरे से अतिरिक्त कोई नहीं जानता। वहां यह भी कहा गया है कि सब जगह मेरा ही विधान है, मेरा ही अविधान है, इस तरह मेरा प्रतिपादन करके वेद अन्त में मुझ में ही सबका निषेध करके कृतकृत्य हो जाता है। वह यहां भी कहा गया है कि "वैदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादि।

इसका तात्पर्य है कि परमार्थ दृष्टि से वेद परब्रह्म के भी प्रतिपादक हैं, अवान्तर तात्पर्य से उनके द्वारा इन्द्र, वरुण आदि देवताओं को भी वेदों में प्रतिपाद्य मान लिया जाता है। इस सब प्रकरण का तात्पर्य अद्वैतवाद में ही है, अर्थात् भगवान् यह अपने मुख से कह रहे हैं कि सब कुछ मैं ही हूं, अर्थात् मेरे से पृथक् कुछ भी नहीं है।

---

## चौबीसवां-पुष्प

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते । १५ । १६,

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः । १५ । १७

‘लोक में क्षर और अक्षर ये दो ही पुरुष हैं, समस्त भूत क्षर पुरुष हैं, कूटस्थ को अक्षर पुरुष कहा जाता है। १६ । उत्तम पुरुष तो परमात्मा नाम से उदाहृत इनसे पृथक् है जो तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर उनका भरण करता है।’ १६। इस प्रकार प्रकृति का वर्णन अनेक प्रकार से करते हुए अन्त में रहस्य विषय का स्पष्ट कथन यहां कर देते हैं।

श्रीशंकराचार्य पूर्व से प्रस्तुत पद्यों की संगति लगाते हुए कहते हैं कि पहिले सूर्य चन्द्र आदि विशेष विभूतियों का वर्णन किया गया था और अब प्रस्तुत पद्यों के द्वारा उपाधि शून्य परमेश्वर का तात्त्विक या स्वरूपतः वर्णन किया जा रहा है। यद्यपि ब्रह्म का स्वरूप वर्णन संभव नहीं है, यह वेदान्त सम्मत सिद्धान्त है, उसका कार्यों के द्वारा परिचय देते हुए तटस्थ लक्षण ही किया जा सकता है। परन्तु क्षर, अक्षर, अव्यय पुरुषों की वैज्ञानिक व्याख्या, जिसका अभी आगे चलकर हमें विवरण करना है, उसके अनुसार जगत् के मौलिक तत्त्वों के रूप में इन पुरुषों को गृहीत कर लेने पर बिना उनका विश्लेषण कर समझे सृष्टि विज्ञान समझ में ही नहीं आ सकता। हां, इतना फिर भी कहना ही पड़ेगा कि शाब्दिक ज्ञान की सीमा अवश्य है। उससे वस्तु का पूरा विवरण नहीं किया जा सकता। वह तो केवल अनुभवैक वेद्य है।

भगवान् ने दो पुरुष बतलाए जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है कि जगत् के सम्पूर्ण दृश्य रूप को यदि हम दो राशियों में विभक्त करें तो वे नामतः क्षर और अक्षर कहलाएंगे। क्षर का अर्थ है क्षरणशील, नष्ट होने वाला। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये जो पांच महाभूत हैं, इन्हीं को भगवान् ने क्षर कहा है। ये भूत विनाशशील होते हैं। पृथ्वी या पृथ्वी से बने पदार्थ, जल या उससे बने पदार्थ, तेज या उससे बने पदार्थ, वायु, आकाश ये सब विनाशशील होने के कारण ही क्षर कहे गए हैं। जब इनकी उत्पत्ति होती है तो इनका विनाश भी निश्चित है। ‘यज्जन्यं तदनिन्यम्’ जो उत्पन्न होता है, वह विनष्ट भी अवश्य होता है यह दर्शनों का सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार उत्पत्तिशील भूतों का विनष्ट होना निश्चित होने के कारण वे विनाशशील,

अतएव क्षरणशील या क्षर पुरुष कहे गए। जगत् में इस क्षर पुरुष के अतिरिक्त दूसरा तत्त्व भी मिलता है, जिसे पद्य में अक्षर कहा गया और उसका परिचय देने के लिए उसे कूटस्थ बतलाया गया। वह क्षर से विपरीत धर्म वाला है। क्षर तो विनाशशील है और अक्षर विनाश रहित। श्रीशंकराचार्य अक्षर को भगवान् की मायाशक्ति मानते हैं। मायाशक्ति ही क्षर पुरुष की उत्पत्ति का बीज है। उसी मायाशक्ति से समस्त क्षर पुरुष प्रादुर्भूत होता है। माया भगवान् की शक्ति होने के कारण नित्य ही मानी जाती है। परब्रह्म जब नित्य है तो परब्रह्म की शक्ति भी नित्य ही होगी। इसीलिए यहां उसे क्षर से विपरीत स्वभाव वाली कहा गया। भगवान् की माया ही अक्षर पुरुष है। वही माया या अक्षर पुरुष संसार के समस्त प्राणिवर्ग के द्वारा सम्पादित होने वाले विविध काम्य-कर्मों से समुत्पन्न संस्कारों का आश्रय बनती है। कूटस्थ के श्रीशंकराचार्य ने दो अर्थ किये हैं। कूट का एक अर्थ होता है राशि। जो राशि के समान स्थित हो वह कूटस्थ कहा जाता है। इसका यहां तात्पर्य यही होगा कि अक्षर पुरुष और क्षर पुरुष ये प्रत्यक्ष परिदृश्य-मान संसार की दो पृथक् पृथक् राशि के रूप में परिस्थित हैं और उनमें भी अक्षर पुरुष क्षर के ऊपर प्रतिष्ठित है, अतः वह क्षर पुरुष की राशि या ढेर पर प्रतिष्ठित होने के कारण कूटस्थ कहा गया है। दूसरा अर्थ कूटस्थ का श्रीशंकराचार्य ने कुटिलता किया है। कूट, माया, वंचना, जिह्मता, कुटिलता ये सब पर्याय एक ही बात को बतलाने वाले हैं। इसके अनुसार अनेक प्रकार की माया वंचना या विविध मिथ्या रूपों में स्थित रहने वाला कूटस्थ हुआ। भगवान् की जो माया शक्ति है जिसे अभी अक्षर कहा गया है, वह तो माया ही है, उसका जितना भी विजृम्भण है, सब मिथ्या है। क्योंकि वह सदैव एक रूप से समवस्थित ब्रह्म को विभिन्न रूपों में दिखाती है, इसी से उसके कार्यों का मिथ्या होना स्पष्ट है। श्रीशंकराचार्य ने उसकी अक्षरता या क्षरणशीलता के अभाव का हेतु बतलाते हुए लिखा है कि संसार के बीजों के अनन्त होने से वह क्षीण नहीं होता। संसार के बीजों की कोई इयत्ता नहीं है। संसार के इन समस्त बीजों का खजाना ही अक्षर है। वह अक्षर है क्योंकि वह अक्षय है। संसार के दृश्यमान अनन्त रूपों से ही संसार बीजों के भण्डार की अक्षरता या अक्षयता का आसानी से पता लग जाता है। क्षर और अक्षर नामक दोनों पुरुषों से विलक्षण जगत् का निर्माता एक तीसरा पुरुष और है, जिसे पद्य में परमात्मा, अव्यय और ईश्वर शब्दों से कहा गया है। प्रतिबिम्बभूत जीवात्मा से पृथक् बिम्ब रूप होने के कारण वह उनसे परम अर्थात् उत्कृष्ट है, अतः वह परमात्मा कहा गया है। वह विनाश या व्यय से सर्वथा विरहित है, अतः उसे अव्यय कहते हैं। उसके लिए ही उपनिषदों में कहा गया है—

## “पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते”

‘पूर्ण का पूर्ण निकालने पर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है।’ यही उसका अव्ययत्व है। वह इनसे अन्य है, इसका अर्थ है, क्षर और अक्षर नाम की दोनों उपाधियों से वह शून्य है। इसीलिए वह इन उपाधियों के दोषों से भी असंस्पृष्ट ही रहता है। वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला है। क्षर और अक्षर इन दोनों पुरुषों से उत्कृष्ट होने के कारण उसे उत्तम पुरुष कहा गया है। वेदान्त अर्थात् उपनिषद् और सूत्रों में परमात्मा का ऐसा ही स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है। भूः, भुवः और स्वः इन तीनों लोकों में वह अपनी चैतन्य शक्ति से प्रवेश करके इनके स्वरूप का विधारण करता है, वह अव्यय है, अर्थात् विनाश रहित है, और सबका ईशान करने के कारण वह ईश्वर कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार अचेतन या जड़ पदार्थों में प्रतिबिम्बित जो जीवात्मा है, उसे ही क्षर पुरुष कहते हैं जो कि ब्रह्म से लेकर स्तम्ब तक फैला हुआ है। वह सभी भूतों से संस्पृष्ट है, अतः जीवात्मा से संस्पृष्ट जो भूत हैं उन्हें ही यहां क्षर पुरुष कहा गया है। भूत यद्यपि अनेक हैं, तो भी उनकी संसर्गरूप उपाधि एक ही है, अतः पुरुष में एकत्व का निर्देश है। इसके अतिरिक्त जो अक्षर पुरुष यहां बतलाया गया है वह अचेतन के संसर्ग से सर्वथा शून्य है, वह मुक्तात्मा कूटस्थ कहा गया है। मुक्तावस्था को हो या मुक्तात्मा को ही इनके मत में यहां अक्षर कहा गया है। वह कूटस्थ क्यों है इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि वह अचेतन या जड़ के संसर्ग से दूर रहने के कारण अचेतन के ही परिणाम विशेष जो ब्रह्मा आदि हैं, उनके देह से विलक्षण स्वरूप वाला होने के कारण ही कूटस्थ कहा जाता है। मुक्तात्मा भी अनेक हैं, परन्तु अचेतन की अभाव रूप एक उपाधि से संयुक्त होने के कारण ही यहां भी एकत्व निर्देश है। क्योंकि मुक्तात्मा तो सृष्टि से अबतक अनेक हुए होंगे। स्वयं भगवान् ने पहिले उनके लिए बहुवचन का निर्देश किया है—

“बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः”

“मम साधर्म्यमागताः

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च”

इन पद्यों में भगवत्स्वरूप बन जाने वाले व्यक्तियों के लिए बहुवचन का प्रयोग यह बतलाता है कि मुक्तावस्था भी अनेकों को प्राप्त हो चुकी थी। अतः अचेतन के संसर्ग के अभाव की एक उपाधि से युक्त होने के कारण ही यहां एकवचन का प्रयोग

करना सुसंगत है। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य के अनुसार बद्ध पुरुष को क्षर और मुक्त पुरुष को अक्षर कहा जाता है। इन दोनों बद्ध और मुक्त पुरुषों से भी विलक्षण तीसरा जो पुरुष है, उसे परमात्मा कहते हैं। सभी श्रुतियों के द्वारा यही प्रतिपादित होता है, वह उत्तम पुरुष परमात्मा बद्ध और मुक्त पुरुषों से विलक्षण है। अचेतन, उसमें संसृष्ट चेतन और मुक्त ये ही तीनों लोक पद्य में कहे गए हैं। अव्यय पुरुष तीनों लोकों का भरण करने वाला बतलाया गया है, अतः वह इन तीनों से पृथक् है। इनके साथ उसका व्यय नहीं होता अतः वह अव्यय है और इनका ईशान करने के कारण ईश्वर है यह तो स्पष्ट हो ही चुका है।

माध्वभाष्य में भूतों को क्षर और प्रकृति को अक्षर कहा गया है।

पैशाच भाष्य में उत्तम पुरुष की व्याख्या में लिखा है कि इस उत्तम पुरुष से जगत् पूर्ण रहता है।

ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में अन्य व्याख्याओं की आलोचना की गई है। श्रीधरस्वामी ने अक्षर को चेतन जीव बतलाया है, परन्तु आनन्दगिरि के अनुसार जीव ही पुरुषोत्तम है। अतः अक्षर चेतन जीव नहीं हो सकता। उन्होंने श्रीरामानुजाचार्य के इस व्याख्यान को भी असंगत बतलाया है कि क्षर पुरुष बद्ध जीव है और अक्षर मुक्त जीव है। क्षर को भूत कहा गया है। भूत पंच महाभूत का वाचक शब्द है। बद्ध जीव का यह अर्थ माना जाय कि जो अचेतन पदार्थ हैं वही बद्ध जीव है, तो ऐसा अर्थ करना कहीं भी युक्ति युक्त नहीं कहा गया। अक्षर को जो मुक्त जीव कहा गया है उसका भी खण्डन करते हुए ब्रह्मानन्द गिरि व्याख्या में कहा गया है कि मुक्त जीव तो परमेश्वर के साथ एक रूप हो जाते हैं ऐसा श्रीरामानुजाचार्य भी मानते हैं। फिर यदि अक्षर पुरुष का अर्थ मुक्त जीव किया जायगा तब परमेश्वर को उससे अन्य उत्तम पुरुष अव्यय और परमात्मा कहना कैसे संगत होगा। क्योंकि मुक्त जीव और परमात्मा तो एक ही हैं। 'निरंजनः परमं साम्यमुपैति' (मु०उ० ३।१।३) इत्यादि श्रुतियों में मुक्तात्मा परमेश्वर के साथ परम साम्य को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा कहा गया है। यदि यह कहो कि मुक्तात्माओं की भी अनेक श्रेणियां हैं। उच्च श्रेणी के मुक्तात्मा परमेश्वर से अभिन्न हो जाते हैं, और उनसे नीची श्रेणी में संस्थित मुक्तात्मा क्षर पुरुष की परिधि से तो ऊपर उठ जाते हैं परन्तु परमात्मा के साथ एकीभाव को प्राप्त नहीं करते, मध्यम अवस्था में ही स्थित रहते हैं, उन्हें ही अक्षर कहा जाता है तो इस प्रकार के कथन में कोई प्रमाण नहीं मिलता। मुक्तात्माओं में भी श्रेणियों के तारतम्य की कल्पना कहीं नहीं देखी जाती। यदि यह कहा जाय कि श्रुति में जो मुक्तात्मा और परब्रह्म का साम्य माना गया

है वह केवल आनन्दांश को लेकर ही है, न कि पूरे अंशों में उन दोनों का साम्य विवक्षित है। क्योंकि प्रलय काल में समस्त प्रपंच के लीन हो जाने पर मुक्तात्मा भी लीन हो जाते हैं, परन्तु परब्रह्म शेष रहता है। इसी प्रकार संसार की रचना करना भी परमेश्वर का ही कार्य है अन्य का नहीं। इन बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुक्तात्मा और परब्रह्म में जिस साम्य का प्रतिपादन श्रुतियों में हुआ है, वह केवल आनन्दांश में ही है, सर्वांश में नहीं और ऐसा होने पर परमात्मा और मुक्तात्मा में आनन्दांश के अतिरिक्त अन्य अंशों को लेकर तो वैषम्य बना ही रहा, अतः मुक्तात्मा को अक्षर पुरुष के रूप में समझना युक्तियुक्त है और परमात्मा को उससे भिन्न कहने का अभिप्राय भी आनन्दांश के अतिरिक्त अन्य अंशों की दृष्टि को ध्यान में लेने से समझ में आ जाता है। इसका खण्डन करते हुए उक्त व्याख्याकार लिखते हैं कि ऐसा मान लेने पर तो राजा और उसके भृत्य की तरह ही आनन्दांश में भी तारतम्य अवश्य माना होगा। राजा के भृत्य को भी आनन्द तो अवश्य प्राप्त होता है परन्तु राजा की अपेक्षा उसका आनन्द कम ही रहेगा। राजा के और भृत्य के आनन्द की एकता तो तभी होगी जब भृत्य भी राजा हो जाय और राजा के सभी अधिकार उसे भी प्राप्त हो जायें। यही बात यहां भी है कि मुक्तात्मा को परमेश्वर का आनन्द तभी होगा जब वह परमेश्वर ही हो जाय। अन्य बातों में तो वह परमेश्वर के समान न हो और आनन्द उसे परमेश्वर का ही मिले यह संभव नहीं है। अतः मुक्तात्मा के विषय में श्रीरामानुजाचार्य का जो सिद्धान्त है वह ठीक नहीं, ऐसा उक्त व्याख्या का आशय है।

इसी प्रकार माध्व भाष्य में अक्षर को महालक्ष्मी बतलाया गया है वह भी अयुक्त है। क्योंकि महालक्ष्मी परमात्मा से अभिन्न ही है, ऐसी स्थिति में उससे अतिरिक्त परमात्मा का उत्तम पुरुष के रूप में पृथक् निर्देश करना उपयुक्त नहीं होगा। यदि अक्षर पदवाच्या महालक्ष्मी को परब्रह्म से अभिन्न न मानकर पृथक् ही माना जाय तब वह भी जीव रूप ही सिद्ध होगी और तब उसे क्षर पुरुष के अन्तर्गत ही मानना उपयुक्त होगा। यदि यह कहो कि अन्य जीवों से उत्कृष्ट होने के कारण महालक्ष्मी का अक्षर के रूप में पृथक् निर्देश किया गया है, तो यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि उसके रूप में तो यहां भगवान् का ही निर्देश करना प्रकरण प्राप्त है और उन्हीं का निर्देश पुरुषोत्तम के रूप में हुआ भी है। अतः श्रीशंकराचार्य के अनुसार माया की कारण रूप उपाधि ही अक्षर पुरुष को मानना युक्तियुक्त है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि ये पुरुष न तो स्त्री प्रकृति वाले हैं और न केवल जड़ प्रकृति वाले हैं, क्योंकि इनका निर्देश यहां पुरुष शब्द से हुआ है। समस्त जीव

जो कि भगवान् के अंश हैं और अचेतन प्रकृति से संसृष्ट हैं, यहां क्षर कहे गए हैं। भूत वे इसलिए हैं कि भवन अर्थात् उत्पत्ति आदि क्रियाओं के वे विषय बनते हैं। भगवान् का जो धाम है, वही अक्षर पुरुष कहा गया है। वह कूटस्थ है, इसका तात्पर्य है कि वह विशुद्ध है, उसमें सांसारिक दोषों का संस्पर्श नहीं है। वही समस्त संसार का मूल है। धाम को पुरुष कहने का एक अभिप्राय यह भी है कि वह सच्चिदानन्द रूप है। वह भूत समुदाय रूप कूट अर्थात् समूह में स्थित है इसलिए भी उसे कूटस्थ कहा गया है। यह मुक्ति के द्वारा प्राप्त होता है।

“बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः”

इत्यादि पद्यों में आध्यात्मिक रूप से उस अक्षर का निर्देश हुआ है। इनसे अन्य जो अव्यय पुरुष बतलाया गया है, वह ईश्वर है अर्थात् विभिन्न और परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय भूत है, जैसा कि पूर्व प्रवचनों में कहा गया है कि श्रीवल्लभाचार्य परमेश्वर को परस्पर विरुद्ध विभिन्न धर्मों का आश्रय मानते हैं। वह पुरुषोत्तम इसलिए है कि समस्त संसार में, जिसे पद्य में तीन लोक कहा गया है, उसके कण-कण में प्रविष्ट होकर उसका वह धारण कर रहा है। पुरुष शब्द की ‘पुरिषोते’, ‘जो पुर में शयन करे वह पुरुष होता है’ यह व्युत्पत्ति है। उसके अनुसार वह समस्त संसार रूपी पुर में शयन करता है। शयन का अर्थ धारण करना ही है। किसी मकान में कोई पुरुष शयन करता है तो इसका यह तात्पर्य होता है कि वह उस मकान के स्वामित्व को धारण किये हुए है। यद्यपि धारण करने के अर्थ में अन्य शब्दों का भी व्यवहार हो सकता है, परन्तु अत्यन्त आत्मीयता को अभिव्यक्त करने के लिए ‘पुरुष’ शब्द की व्युत्पत्ति में शयन का ही निवेश मिलता है। श्लोक में तो धारण करने के अर्थ को बतलाने के लिए ‘बिभर्ति’ शब्द स्पष्ट रूप से आ ही गया है। आगे उन्होंने यह भी प्रश्न उठाया है कि अक्षर पुरुष को अभी भगवान् का धाम बतलाकर उसे सच्चिदानन्द रूप कहा गया, तब अक्षर पुरुष और परब्रह्म में भेद ही क्या रहा। इसका उत्तर देने के लिए उन्होंने परमात्मा शब्द को उपस्थित किया है और कहा है कि अक्षर तो धाम है और परमात्मा उसके अधिदेवता हैं। उदाहरण के लिए जिस प्रकार जल प्रवाह रूप गंगा को तो नदी कहा जाता है, वह तो उसका बाह्य रूप है, परन्तु उसके अधिदेवता के रूप में गंगा की अधिष्ठात्री देवी का ध्यान सर्वत्र विहित है। उसी प्रकार यहां भी समझ लेना चाहिए। पुरुषोत्तम शब्द का यह भी आशय अन्य व्याख्याओं के समान उन्होंने भी प्रकट कर दिया है कि नित्यबद्ध और मुक्त पुरुषों से अव्यय पुरुष की उत्कृष्टता दिखाने में इसका तात्पर्य है।

श्रीपुरुषोत्तम जी की अमृत तरंगिणी के अनुसार क्षर और अक्षर का निर्देश



भगवान् के पुरुषोत्तम रूप को अभिव्यक्त करने के लिए ही यहां किया गया है। क्षर पुरुष भगवान् की लीला का उपायभूत है, और अक्षर उनमें अनुप्रविष्ट भगवान् का चरण रूप है। उत्तम पुरुष का तात्पर्य है कि वह सबसे अज्ञात है और सबसे अतिरिक्त है। उसे श्रुति आदि में सबसे उत्कृष्ट अतः परमात्मा कहा गया है। वह रसों का अनुभव करने के लिए तीनों लोकों में आविर्भूत होता है, उनका धारण और पोषण करता है। इस कार्य में उसके स्वरूप में कोई न्यूनता या वृद्धि नहीं होती इसीलिए उसे अव्यय कहा गया है। न्यूनता या वृद्धि के बिना धारण कैसे हो सकेगा इसका उत्तर देने के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका कि अर्थ है कि वह सभी प्रकार से कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि सब भूतों में ईश्वर के प्रतिबिम्ब के रूप में अनुप्रविष्ट और भूतों का विनाश होने पर विनष्ट हो जाने वाला, जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान क्षर पुरुष है। अक्षर पुरुष माया रूपी उपाधि वाला है। वह कर्मों से समुत्पन्न न होने के कारण कूटस्थ कहा गया है। वह भूतों के विनष्ट होने पर विनाश को प्राप्त नहीं हो जाता। वह क्षरण को अर्थात् स्वरूप से विच्युति को प्राप्त नहीं, इसीलिए अक्षर कहा गया है। इन दोनों, कार्योपाधिक्षर और कारणोपाधि अक्षर से अतिरिक्त सर्व उपाधियों से शून्य जो पुरुष है, वह अव्यय पुरुष है, वही परमात्मा कहा गया है। वही माया का ईशान करता हुआ उत्तम, मध्यम और अधम शरीर रूप तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर इनका धारण करता है। इस पर भी सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व जो ईश्वर और जीव के धर्म हैं उनसे उसका व्यय नहीं होता, अतः वह अव्यय है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि संसार में अप्रबुद्ध स्वभाव वाले मूर्ख पुरुष भी पृथ्वी आदि पांच भूतों से विनिर्मित शरीर को चेतन और क्षर रूप समझते हैं, अतः इस संसारी जनों की मूढ़ता के कारण उनकी द्वैत बुद्धि निवृत्त नहीं होती।

भगवान् तो सभी पर अनुग्रह करने के कारण द्वैत बुद्धि को विनष्ट करके सम्पूर्ण लोक में व्यापक के रूप में ज्ञातव्य हैं। इसीलिए उन्हें क्षर से अतीत कहा गया है। क्योंकि क्षर जो भूत हैं, वे जड़ हैं। वे अक्षर से भी अतीत इसलिए हैं कि आत्मा का प्रबुद्ध होना ही अक्षर का अतिक्रमण है। यदि आत्मा को प्रबुद्ध न माना जायगा तो वह सर्व व्यापक कैसे होगा। इस प्रकार सब कुछ मुझे ही समझते हुए मूर्ति क्रिया और ज्ञानात्मक रूप से ब्रह्म तत्त्व की उपासना करने वाला पुरुष मेरा ही भजन करता है यह भगवान् का यहाँ आशय है।

---

## पच्चीसवां-पुष्प वैज्ञानिक विवेचन

श्रीविद्यावाचस्पतिमधुसूदन जी ने अपने ग्रन्थों में प्रायः इन्हीं तीन पुरुषों को आधार बनाया है। इसलिए उनके मत का भी संक्षेप यहां देना आवश्यक प्रतीत होता है। उसका सारांश लिखा जाता है। जैसा कि हम पूर्व प्रवचन में कह आये हैं, अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष भारतीय सृष्टि विज्ञान के मूलाधार हैं। इनमें से प्रत्येक की पांच-पांच कलाओं का वर्णन श्रुतियों में प्राप्त होता है।

अव्यय पुरुष की पांच कलाओं के नाम आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् हैं। इनमें शक्ति के द्वारा परिच्छिन्न होने पर सबसे पहले मन का प्रादुर्भाव माना गया है। जिसको हम मन समझते हैं, वह तो बहुत पीछे उत्पन्न होने वाली स्थूल अवस्था है। यहां जो मन बतलाया जाता है, वह अति सूक्ष्म सबकी आदिभूत अवस्था है। इनमें नामों में भ्रम न हो जाय, इसलिए इस सर्वप्रथम मन का श्लोवसीयस मन नाम से श्रुतियों में व्यवहार है। बृहदारण्यक, उपनिषद् में “तन्मनोऽकुरुत” कहकर मूलतत्त्व आत्मा से सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव बतलाया गया है और ऋग्वेद संहिता के नासदीय सूक्त में भी—

“कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्”

इत्यादि मन्त्र के द्वारा सर्वप्रथम मन और फिर उसकी इच्छावृत्ति का उद्भव बतलाया गया है। मन में रस और बल दोनों तत्त्व हैं। जिन्हें आनन्द और क्रिया शक्ति नाम से भी कहा जाता है। इसमें दोनों प्रकार का आरम्भ होता है। एक खोलने वाला तथा दूसरा बांधने वाला। स्मरण रहे कि गांठ लगाने के लिए जिस प्रकार बल काम में आता है, खोलने के लिए भी वैसे ही बल की आवश्यकता हुआ करती है। खोलनेवाले बल से मन के अनन्तर विज्ञान और उसके अनन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसलिए, आनन्द, विज्ञान और मन ये तीनों मुक्तिसाक्षिक कलाएं कही जाती हैं। इनका सृष्टिप्रक्रिया में उपयोग नहीं होता। इनमें तो सृष्टि का अत्यन्त लय-रूप मुक्ति होती है। किन्तु बांधनेवाले बल से जो कलाएं निर्मित होती हैं, उनके नाम हैं मन, प्राण और वाक्। मन को दोनों तरफ लिया गया है। वह बन्ध और मोक्ष दोनों का कारण है। उसी से उत्पन्न होनेवाले हमारे मन के लिए भी कहा जाता है—

“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः”

अर्थात्, हमारी अध्यात्म-दशा में भी मन ही बन्ध या मोक्ष की ओर ले जाने

वाला है। जब वह संसार की ओर झुकता है, तब अधिक-से-अधिक बांधता चला जाता है और श्रेयोमार्ग में परमात्मा की ओर चला गया, तब सारे बन्धनों से मुक्त कराकर मोक्ष-पद पर प्रतिष्ठित कर देता है। अस्तु, अव्यय पुरुष की इन पांच कलाओं का निरूपण तैत्तिरीय-उपनिषद् में हुआ है। वहां 'वाक्' का नाम 'अत्र' है। वह वाक् की स्थूल अवस्था है, जो आगे स्पष्ट होगी। इनमें तीन कलाएं मुक्तिसाक्षिक और तीन सष्टिसाक्षिक हैं। मन को दोनों ओर ग्रहण करने से ६ होती हैं, यह कह चुके हैं। सृष्टि के विषय में जहां कहीं आत्मा शब्द आया है, वहां शतपथ आदि ब्राह्मणों में सर्वत्र 'सोऽयमात्मा मनोमयः प्राणमयो वाङ्मयः', यह बार-बार स्मरण कराया है। अर्थात्, अव्यय पुरुष की कला-रूप ये तीन तत्त्व ही आत्मा-रूप से सम्पूर्ण प्रपंच में अवस्थित हैं। प्रपंच का यदि हम विश्लेषण करने लगे, तो तीन ही वस्तु हाथ लगती है—ज्ञान, क्रिया और अर्थ। उनके मूल ये तीन माने गए हैं—सम्पूर्ण ज्ञान का मूलतत्त्व मन है, क्रिया का मूलतत्त्व प्राण और अर्थों का मूलतत्त्व 'वाक्'। यह 'वाक्' शब्द 'अवाक्' से निकला है। 'अव्' उपसर्ग के अकार का लोप व्याकरण में माना गया है। इसलिए अवाक् का 'वाक्' ही शेष रह जाता है। अवाक् शब्द का अर्थ है सबसे नीचे श्रेणी की वस्तु। इसका तात्पर्य यही है कि स्थूल रूप में आ जाने के कारण यह मन और प्राण की अपेक्षा छोटी श्रेणी की वस्तु मानी जाती है। दूसरा निर्वचन यह भी है कि 'उ', 'अ' और 'अक्' इन तीनों से मिलकर वाक् शब्द बनता है। इनमें 'अ' विशुद्ध तत्त्व, अर्थात् मन का वाचक है और 'उ' प्राण का। इन दोनों से यह अनुविद्ध अर्थात् मिली हुई रहती है, इसलिए भी 'वाक्' कहलाती है। इससे आशय यही निकला कि मन और प्राण के बिना 'वाक्' का मिलना असम्भव है। भूतों की सूक्ष्मावस्थारूप 'वाक्' में मन और प्राण सर्वत्र व्यापक है। प्राण की व्यापकता समझ में आ सकती है, क्योंकि जड़चेतनात्मक सम्पूर्ण प्रपंच में क्रियाशक्ति सर्वत्र ही दिखाई देती है, किन्तु मन की व्यापकता में बहुत विचारकों को सन्देह होगा। मन से निकला हुआ ज्ञान तो केवल चेतनों में ही दिखाई देता है, जड़ वस्तुओं में उसका अभाव है। तब उसे सर्वत्र व्यापक कैसे माना जा सकता है। किन्तु इसके समाधान के लिए यह पहिले दृढ़ता से समझ लेना चाहिए कि वैदिक दर्शन में जड़-चेतन-व्यवहार केवल काल्पनिक है। जड़ों में ज्ञान का अभाव कभी नहीं होता। जड़-चेतन की उपपत्ति तो आयुर्वेद के परमाचार्य महामुनि चरक ने लिखी है कि—

“सोन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्”

अर्थात्, जहां इन्द्रियों का विकास हो गया, वह चेतन कहलाने लग गया, जहां

इन्द्रियां गुप्त ही रह गईं, विकास न पा सकीं, वह जड़ कहा गया। मन या उसके प्रकट होनेवाला ज्ञान तो सर्वत्र ही है, किन्तु इन्द्रियों के अभाव में उसका विकास नहीं हो पाता। इसलिए जड़ पदार्थ में भी किंचित् विलक्षणता उत्पन्न होकर यदि इन्द्रियों का विकास हो जाय, तो वह चेतन-रूप में परिणत हो जाता है, जैसे, फलों के सड़ जाने पर वहां सैकड़ों कृमि चेतन उत्पन्न हो जाते हैं। मिट्टी और लकड़ी में भी आर्द्रता आते ही कृमि और घुन उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार, चेतन में भी इन्द्रियों का विकास न रहे, अर्थात् वे शिथिल या विलुप्त हो जायँ, तो उनमें जड़ता की प्रतीति होने लगती है। जैसे मृत, प्रसुप्त अथवा मूर्च्छित शरीर में। अस्तु, प्रस्तुत यही था कि 'वाक्' समस्त भूतों की जननी है और मन तथा प्राण उसके गर्भ में अवश्य रहा करते हैं। सांख्य-दर्शन की प्रक्रिया में भी भौतिक प्रपञ्च में शब्द-तन्मात्रा की उत्पत्ति सर्वप्रथम मानी जाती है। उसके आगे ही क्रम से अन्य तन्मात्राएँ और पञ्च महाभूत उत्पन्न होते हैं। इससे दार्शनिक प्रक्रिया में भी 'वाक्' की भूतजनकता सिद्ध है।

इन तीनों कलाओं में प्राण के आधार पर अक्षर पुरुष का विकास होता है। वह प्राणप्रधान या क्रियाप्रधान है और वाक् के आधार पर क्षर पुरुष विकसित होता है। वह अर्थप्रधान है। इसकी प्रक्रिया यह है कि जब एक व्यापक तत्त्व को परिधि के भीतर ले लिया जाय, तब वह स्वभावतः उस परिधि को तोड़कर बड़ा बनने की ओर प्रवृत्त रहता है, सजातीयाकर्षण का यही सिद्धान्त है कि मिट्टी का ढेला आकाश में फेंके जाने पर भी हमारे हाथ के द्वारा दी हुई शक्ति समाप्त हो जाने पर अपने-आप अपने घन पृथ्वी पिण्ड की ओर आता है। तैजस दीपक की शिखा अपने घन सूर्यमण्डल की ओर ऊपर स्वभावतः चलती है, ऐसे भूमा में से निकलता हुआ वह पुरुष भूमारूप ही बनना सतत चाहता है और इसका प्रकार यही है कि वह अपने से बाहर के व्यापक तत्त्व को भी अपने भीतर लेता जाय। इसलिए बाहर व्याप्त तत्त्व को अपने भीतर लेने की एक प्रवृत्ति उसमें उत्पन्न होती है। जिसे शतपथ-ब्राह्मण में 'अशनाया' नाम दिया गया है। अशनाया का अर्थ है भूख, अर्थात् उसे सबको अपने भीतर ले लेने की भूख होती है। वह अशनाया भी एक प्रकार का बल है और रस तथा बल के लिए 'अमृत' और 'मृत्यु' शब्दों का श्रुतियों में पारिभाषिक प्रयोग है, अर्थात् वहां रस को अमृत कहते हैं और बल को मृत्यु। इसलिए अशनाया को भी वहां मृत्यु कहा गया है। अशनाया को मृत्यु कहने का अभिप्राय श्रुति का यही है कि वह अशनाया एक प्रकार का बल है। अशनाया बल उत्पन्न होने पर तीन अंश हो जाते हैं, जिनके नाम उक्थ, अर्क और अशिति श्रुतियों में प्रसिद्ध हैं। अशनाया से अपना अन्न लेने को उस बलविशिष्ट रस का एक अंश उठता है, वह उठने के कारण 'उत्थ' या 'उक्थ' कहा

जाता है। उत्थ से ही उक्थ बना है। तब वह बाहर से अन्न लेने को चलता है। इस चलन को श्रुति में 'अर्चन' कहा गया है और चलनेवाले अंश से जो वस्तु बनती है, उसे कहा गया है—अर्क। तब वह अपने से बाहर के जिस तत्त्व को अपने भीतर ले लेता है, वह बाहर का तत्त्व उसकी 'अशिति', अर्थात् खुराक बन जाता है। इस प्रकार, यह आकर्षण-विकर्षण-प्रक्रिया चल पड़ती है और उन परिच्छिन्नता को प्राप्त पुरुषों के बलों का एक प्रकार संघर्ष-सा मच जाता है। यही क्रिया प्रधान अक्षर पुरुष का प्रादुर्भाव है।

### अक्षर पुरुष

यह अक्षर पुरुष प्राण प्रधान है और क्रिया प्रधान है। इसकी भी पांच कलाएं हैं। जिनके नाम हैं—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। ये ही पांचों ईश्वर के कल्पित रूप माने गए हैं। दूसरे शब्दों में अक्षर पुरुष-रूप ईश्वर के ये पांच रूप हैं।

परिधि के भीतर के तत्त्व को बाहर फेंकनेवाली शक्ति का नाम इन्द्र है और बाहर फेंकने से जो स्थान रिक्त हो गया, इसकी पूर्ति के लिए बाहर से तत्त्व लेकर पालन कर देने वाली शक्ति का नाम विष्णु है। इस प्रकार आवागमन होते रहने पर भी वस्तु की एक रूप में दिखने वाली प्रतिष्ठा शक्ति का नाम ब्रह्मा है। प्रतिष्ठा स्थिरता रखने के कारण यही सबका उत्पादक कहलाता है। ये तीनों शक्तियां केन्द्र में रहती हैं। केन्द्र का नाम वैदिक परिभाषा में 'नाभि' है। उस नाभि में रहने के कारण उस अक्षर की ये तीनों कलाएं 'नभ्य' कही जाती हैं। अब केन्द्र से फेंके हुए रस का प्रतिष्ठा-प्राण की सहायता से बाहर एक पृष्ठ बन जाता है। उस पृष्ठ पर भी दो तत्त्व रहते हैं, बाहर जानेवाले और बाहर से आकर भीतर केन्द्र की ओर जानेवाले। इनमें बाहर जानेवाले तत्त्व का नाम अग्नि है और बाहर से वस्तु के केन्द्र की ओर जानेवाले तत्त्व का नाम सोम है। ये दोनों कलाएं पृष्ठ पर रहने के कारण 'पृष्ठ्य' कहलाती हैं। स्मरण रहे कि अव्यय पुरुष की अन्तिम प्राण और वाक् नाम की कलाएं यहां अग्नि और सोम के रूप में विकसित हुई हैं। इसलिए अग्नि को 'प्राण' और सोम को 'वाक्' नाम भी दिया जा सकता है। इन दोनों पृष्ठ की कलाओं का विकास तत्त्वों के बाहर निकलने के कारण ही हुआ है। इसलिए बाहर फेंकनेवाली 'इन्द्र'-शक्ति का इनके साथ विशेष सम्पर्क है और इन तीनों 'इन्द्र', 'अग्नि' और 'सोम' को मिलाकर एक ही रूप में इनकी उपासना पुराणों में प्रसिद्ध हो गई और तीन रूप सम्मिलित होने के कारण बहुत बड़ा महत्त्व हो जाने से वे तृतीय देवता महेश्वर नाम से उपास्य हो गये। "वन्दे सूर्यशशांकवह्निनयनम्" आदि महेश्वर का ध्यान भी इस रूप में संगत हो जाता

है और अपने परम भक्त उपमन्यु को शंकर ने पहिले इन्द्र रूप में दर्शन दिया है, इस कथा के अनुसार भी महेश्वर की इन्द्र रूपता व्यंजित होती है।

इन्द्र का अधिष्ठान सूर्य-मण्डल है, सोम का चन्द्र-मण्डल, अग्नि अपने रूप में पृथ्वी में व्याप्त है ही। इन्हीं तीनों को भगवान् महेश्वर का नेत्र कहा गया है। यह संक्षेप में अक्षर पुरुष के विकास का वर्णन किया गया। सबके आदिभूत ब्रह्मा के नाम से ही समस्त शक्तियों का वर्णन ब्राह्मणों में अधिक मिलता है और अग्नि सोम का प्रपंच भी विस्तार से है। विष्णु और इन्द्र, इन दोनों शक्तियों के कार्य स्थान-स्थान पर संकेतित हैं।

इन्द्र और विष्णु दोनों ही असुरों को जीतते रहते हैं। कभी नहीं हारते। ये दोनों परस्पर भी स्पर्धा, अर्थात् युद्ध कर एक-दूसरे को दबाने की इच्छा करते हैं, किन्तु इनमें से कोई भी नहीं हारता। दोनों मिलकर तीन प्रकार के सहस्र प्रेरित करते हैं। ऋक्संहिता के मन्त्रों में इन्द्र और विष्णु की स्पर्धा स्पष्ट वर्णित है। ये जो तीन सहस्र प्रेरित करते हैं, उनसे ही साम-मण्डल बनता है, इन अक्षर पुरुष की कलाओं का विवरण शतपथ ब्राह्मण के ११वें काण्ड में मिलता है।

श्रुतियों में प्रतिपादित हुआ है कि प्रजापति का अर्धभाग तो अमृत रहता है और आधार मर्त्य हो जाता है। इसका आशय है कि अक्षर पुरुष अंशतः अपने स्वरूप में भी बना रहता है और उसी का अंश भूतों के रूप में भी विकसित होता जाता है। भूतों के रूप में विकसित होना ही संसार की उत्पत्ति है। इसलिए कहा जा सकता है कि भूत-रूप में परिणत क्षर पुरुष ही संसार है। उस क्षर पुरुष की भी अक्षर की सहायता से पांच कलाएं बनती हैं, जिनके नाम हैं—प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न। शतपथ-ब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के आरम्भ से ही इन कलाओं की उत्पत्ति का क्रमिक विवेचन है और आगे के काण्डों में भी वह विस्तृत होता गया है। षष्ठ काण्ड के आरम्भ में प्राणों का नाम 'ऋषि' लिखा है तथा उन्हीं का विकास तीनों वेदों को माना है, आगे प्राण से 'आप्' की उत्पत्ति बतलाई गई है। अस्तु, आगे इन कलाओं का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप में विस्तृत विकास हो जाता है। सबके उत्पादक तत्त्व आधिदैविक प्रकरण में आते हैं और उनसे दोनों प्रकार की धाराएं चलती हैं—आधिभौतिक और आध्यात्मिक। प्रत्येक प्राणी का पृथक्-पृथक् शरीर-रूप जो एक-एक पिण्ड बनता जाता है, उसका बाह्य और आन्तर विस्तार आध्यात्मिक रूप कहा जाता है और, ब्रह्माण्ड की एक-एक शाखा में जड़-चेतन-रूप समस्त तत्त्वों को उत्पन्न करनेवाले जो पांच पिण्ड हैं, उन्हें आधिभौतिक रूप कहते हैं। इससे यह सिद्ध

हुआ कि सबके मूल में आधिदैविक रूप है। उनसे उत्पन्न या विकसित होते हैं आधिभौतिक रूप और उनसे फिर विकसित होते हैं आध्यात्मिक रूप। आधिदैविक स्थिति में क्षर कलाओं के भी वे ही नाम रहते हैं, जो अक्षर पुरुष की कलाओं के थे, अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। आधिभौतिक रूप में पांच मण्डलों के नाम होते हैं—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा। इनके परस्पर संयोग से उत्पन्न होने वाली प्राणिशरीरों की पांच कलाओं के नाम हैं—बीज-चिति (कारण-शरीर), देव-चिति (सूक्ष्म-शरीर), भूत-चिति (स्थूल-शरीर), प्रजा, (सन्तति) और वित्त (सम्पत्ति)। इन तीनों प्रकार की पांच-पांच कलाओं की मूलभूत कलाएं वे ही पूर्वोक्त पांच हैं—प्राण, अप्, वाक्, अन्नद और अन्न।

अक्षर पुरुष की कलाओं से क्षर पुरुष का विकास होने के लिए मध्य में एक नया तत्त्व उत्पन्न होने की और आवश्यकता होती है, जिसे वैदिक परिभाषा में 'शुक्र' नाम दिया गया है। लौकिक भाषा में उसे 'वीर्य' भी कहा जाता है। जैसे, प्रत्येक प्राणिशरीर की उत्पत्ति वीर्य से देखी जाती है, वैसे ही इस सम्पूर्ण प्रपंच की उत्पत्ति जिससे होती है, वह भी एक वीर्य या शुक्र नाम की वस्तु है। उक्त तीन पुरुषों में केवल अव्यय पुरुष को पुरुष या अमृत शब्द से कहते हैं। अक्षर और क्षर को प्रकृति नाम देते हैं। श्रुतियों में इन्हें ब्रह्म शब्द से भी कहा गया है। इन पुरुष और प्रकृति के योग से उत्पन्न होने वाला है—शुक्र। ये तीनों एक ही मूल तत्त्व के रूप हैं।

**“तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते”**

श्रीभगवद्गीता में भी यही क्रम निर्धारित हुआ है। वहां अव्यय पुरुष को पुरुष और क्षर तथा अक्षर को उसकी अपरा और परा प्रकृति माना (सप्तम अध्याय) है। यही त्रिपुरुष विज्ञान भगवद्गीता के प्रस्तुत संदर्भ में सुस्पष्ट हो गया है। यह त्रिपुरुषविज्ञान का संक्षेप संकेत मात्र बतलाया गया, अधिक जानने वालों को विद्यावाचरूपति जी के 'विज्ञान विद्युत', आदि ग्रन्थों को देखना चाहिए।

## छब्बीसवां-पुष्प

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।१८।

यो मामेवमसम्पूढो जानाति पुरुषोत्तमम्

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ।१९।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ! ।

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ! ।२०।

‘क्योंकि मैं क्षर पुरुष से अतीत अर्थात् बिलकुल पृथक् हूं, और अक्षर से भी उत्तम हूं अतः लोक और वेद में पुरुषोत्तम के रूप में विख्यात हूं (१८)

जिस ईश्वर की पहले व्याख्या की गई है, उसका पुरुषोत्तम यह नाम प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तम इस नाम के निर्वचन के लिए ही यह पद्य कहा गया है। पुरुषोत्तम का यथाश्रुत अर्थ है पुरुषों में उत्तम, अर्थात् पुरुषों में श्रेष्ठ। पुरुष मनुष्य का भी पर्याय शब्द है, अतः पुरुषोत्तम का अर्थ नरश्रेष्ठ भी किया जा सकता है। परन्तु पुरुषोत्तम इस नाम का रहस्य वास्तव में उसके नरश्रेष्ठ होने में नहीं है, अपितु संसार में व्याप्त जो क्षर, अक्षर और अव्यय के रूप में तीन पुरुष बतलाए गए हैं उनमें क्षर और अक्षर से अतीत और उत्तम होने के कारण ही अव्यय पुरुष को पुरुषोत्तम कहा गया है।

‘क्षर से अतीत हूं’ इसका अर्थ करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं कि संसार रूपी वृक्ष के बीज अश्वत्थवृक्ष से मैं अतीत हूं। अक्षर का अर्थ है कि संसार रूपी वृक्ष का जो बीज है वही अक्षर है, मैं उससे भी उत्तम हूं। उत्तम का अर्थ श्रेष्ठ भी हो सकता है।

श्रीरामानुजाचार्य अपनी विगत पद्यों की व्याख्या के अनुसार ही इसका अर्थ करते हुए लिखते हैं कि क्षर पुरुष अर्थात् बद्ध जीव से मैं अतीत हूं, और अक्षर पुरुष अर्थात् मुक्त जीव से भी मैं उत्तम हूं। इसीलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम रूप से प्रसिद्ध हूं। लोक का अर्थ श्रीरामानुजाचार्य ने स्मृति किया है क्योंकि स्मृतियां अपने अर्थ की पुष्टि के लिए श्रुति का अवलोकन करती हैं। छान्दोग्य उपनिषद् का मन्त्र है—

‘परं ज्योतिरपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः’

(छां उ० ८।१२।३)

‘अंशावतारं पुरुषेत्तमस्य ह्यनादिमध्यान्तमजस्य विष्णोः’

(वि०पु० ५।१७।३३)



आदि पुराणों में तथा

**हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतः' ( रघुवंश ३ )**

इत्यादि काव्यों में सर्वत्र पुरुषोत्तम रूप से भगवान् विख्यात हैं।

आनन्दगिरि व्याख्या में क्षर का अर्थ कार्य रूप से अवस्थित विश्व किया गया है। भगवान् कार्य रूप से अवस्थित विश्व से तथा माया नाम से अक्षर पुरुष से उत्कृष्ट हैं, उनके अधिष्ठाता होने के कारण उनके दोषों से असंस्पृष्ट हैं, अतः पुरुष की उपाधियाँ जो क्षर और अक्षर हैं उनमें जो एकता का अध्यास है, अतः जो पुरुष शब्द से कहे जाते हैं, ऐसे उन दोनों से वे उत्कृष्ट हैं, इसीलिए संसार में और वेदों में उन्हें पुरुषोत्तम कहा गया है।

श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि 'अहम्' शब्द से यहां भगवान् स्वयं अपने को कह रहे हैं कि मैं जो यहां तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ वह मैं स्वयं भी क्षर और अक्षर से ऊपर का पुरुषोत्तम हूँ। जो मुझे इससे अतिरिक्त समझते हैं, वे माया से विमोहित हो रहे हैं। अन्यत्र भी इसी बात को कहा है कि—

**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्**

**परं भावमजानन्तो ममाऽव्ययमनुत्तमम्**

श्रीपुरुषोत्तम जी ने लोक और वेद के अतिरिक्त श्लोक से पठित 'चकार' से सूत्र स्मृति आदि का भी ग्रहण किया है।

तत्त्व प्रकाशिका में लोक का उदाहरण सहस्र नाम में दिया गया है 'केशवः पुरुषोत्तमः'। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने पुरुषोत्तम के कुछ अन्य उदाहरण भी दिये हैं।

श्रीशंकरानन्द ने पुरुषोत्तम का उत्कर्ष निष्कलत्व, नित्यत्व, निर्गुणत्व, चेतनत्व आदि धर्मों से बतलाया है। प्रस्तुत विषय को समझाते हुए उन्होंने भित्ति चित्र का उदाहरण दिया है। चित्र को छोड़कर भित्ति की पृथक् सत्ता है। सूक्ष्म दृष्टि से सोचने पर भित्ति की सत्ता के बिना चित्र की पृथक् सत्ता उपलब्ध नहीं हो सकती। उसी प्रकार क्षर और अक्षर से अव्यय पुरुष पृथक् रहता हुआ उनका आधार बनता है। परमार्थप्रपा में कहा गया है कि देहाभिमानी जीव की पुरुष यह संज्ञा होती है। उससे उत्कृष्ट मैं हूँ, अर्थात् मुझे देहाभिमान नहीं है। यह बात पुरुषोत्तम से व्यक्त की गई। अग्रिम पद्य का अर्थ है कि—

इस प्रकार जो असम्पूढ़ व्यक्ति मुझे पुरुषोत्तम रूप से जानता है वही सर्व वेत्ता है, और हे भारत ! वह मुझे सभी भावों से भजता है (१९)

यह प्रस्तुत निरूपण की फलश्रुति है। आखिर क्षर, अक्षर और अव्यय के स्वरूप को जानने का कोई फल भी तो होना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि सबसे बड़ा फल तो यही है कि उक्त विषय को जानने वाला व्यक्ति सब कुछ जान जाता है। उसके लिये श्लोक में 'सर्ववित्' शब्द है। उससे भी उत्कृष्ट फल जो कहा गया है वह है सर्व-भाव से भगवान् का भजन करना। उक्त पुरुषत्रय का ज्ञाता सर्ववेत्ता कैसे हो गया। संसार में तो ज्ञान का कोई थाह है नहीं। बड़े से बड़ा ज्ञानी पुरुष भी अपने ज्ञान की सीमा को जानता है और उससे यह भी स्पष्ट भासित होता है कि जो कुछ वह जानता है, उससे हजारों गुना अधिक विषय अभी जानने के लिए बाकी पड़ा है। तब सर्ववेत्ता तो संसार में कोई हो ही नहीं सकता। इसका उत्तर यही दिया जाता है कि कारण के ज्ञान से सभी कार्यों का ज्ञान अपने आप हो जाता है। उपनिषद् में भी यह प्रसंग आता है कि श्वेतकेतु जब अपना अध्ययन समाप्त करके अपने पिता उद्दालक के आश्रम में लौटे और पिता के सामने उन्होंने अपनी पढ़ी हुई समस्त विद्याओं का वर्णन किया तब उद्दालक ने उनसे प्रश्न किया कि तुमने वह विद्या पढ़ी या नहीं जिसके कि ज्ञान लेने से जानी हुई, या बिना जानी हुई सभी विद्याएं अपने आप अन्तःकरण में भासित हो जाती हैं। उत्तर में जब श्वेतकेतु ने ऐसी विद्या के जानने का निषेध किया और अपने पिता से उस विद्या को सिखा देने की प्रार्थना की, तो उन्होंने यही सिखाया कि कारण का यदि ठीक ज्ञान हो जाय तो कार्य का ज्ञान अपने आप हो जाया करता है। जैसे मिट्टी से बने हुए सभी पदार्थों की कारण मृत्तिका ही है। मिट्टी के बने हुए सभी पदार्थों को कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में देख भी ले, यह भी असम्भव ही है, परन्तु यदि उसे मिट्टी का ठीक प्रकार से ज्ञान हो गया तो वह बिना देखे मिट्टी के पदार्थों को भी देखकर पहिचान जायेगा कि यह मिट्टी का बना पदार्थ है। उसी प्रक्रिया से मनुष्य सर्ववेत्ता भी बन सकता है कि सम्पूर्ण जगत् के मूल कारण का ज्ञान यदि उसे हो गया तो संसार में फिर उसके लिए ज्ञातव्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता, वह 'सर्ववित्' हो जाता है, सभी कुछ जान जाता है। यहां जो तीनों पुरुषों का विवरण किया गया है वे तीनों पुरुष, और उनमें भी अव्यय पुरुषोत्तम समस्त जगत् का मूलकारण है। उसी मूलकारण को यद्वां भगवान् ने समझाया है। उसके ज्ञाता को सर्ववित् कहना युक्तियुक्त है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् के मूलकारण का ज्ञान उसे हो चुका है। सर्वभावेन भजन का अभिप्राय यह है कि ऐसे ज्ञान से सम्पन्न पुरुष जो भी कुछ करता है वह भगवान् का भजन ही होता है, क्योंकि सभी कार्यों को करते समय उसका ध्यान पुरुषोत्तम भगवान् की ओर ही रहता है। शिवस्तोत्र में इस आशय का एक सुप्रसिद्ध पद्य है—

“आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्  
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः  
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वांगिरो  
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम्”

शंकर भगवान् का भक्त कह रहा है कि ‘हे भगवान् ! आप तो मेरे आत्मरूप हैं, भगवती गिरिजा ही मेरी बुद्धि है, मेरे प्राण ही आप के सहचर हैं, मेरा शरीर ही आपका मंदिर है, मैं जो निरन्तर अनेक प्रकार के विषयों का उपभोग करता रहता हूँ वही आपकी पूजा है, मेरी निद्रा ही समाधि अवस्था है, मेरे चरणों में जो संचार हो रहा है अर्थात् मैं जो कहीं भी भ्रमण करता हूँ वही आपकी प्रदक्षिणा है, जो भी कुछ मैं बोलता हूँ वह सब आपकी स्तुति है, इस प्रकार हे शंभो ! जो भी कुछ मैं कर रहा हूँ, वह आपकी आराधना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।’ यही सर्व भावेन भगवद् भक्ति कही जा सकती है।

श्रीरामानुजाचार्य का कथन है कि पद्योक्त ‘एवम् पुरुषोत्तमं जानाति’ का तात्पर्य है कि क्षर और अक्षर पुरुषों से, व्यापन, भरण; ऐश्वर्य आदि योगों के कारण जो व्यक्ति मुझे पृथक् समझ लेता है, वह इस प्रकार के ज्ञान के मेरी प्राप्ति का उपाय होने के कारण जो कुछ जानने योग्य है वह सब जान जाता है। सब भावों से भजन करने का तात्पर्य यह है कि मेरी प्राप्ति के साधनों के रूप में जो मेरे भजन करने के अनेक प्रकार बतलाये गए हैं, उन सभी भजन के प्रकारों से वह सर्ववेत्ता पुरुष मेरा भजन करता है। भगवान् के भजन के अनेक प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं। श्रवण, कीर्तन, अर्चन आदि नवधा भक्ति तो भक्ति संप्रदाय में प्रसिद्ध ही है। उन सभी प्रकारों से भजन को सर्वभावेन भजन यहां कहा गया है ऐसा श्रीरामानुजाचार्य का आशय है। भगवान् की सर्वतो भावेन भक्ति के लिए भगवान् के स्वरूप का ज्ञान और भक्ति के प्रकारों का ज्ञान आवश्यक होता है। इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में वैसी भक्ति कैसे संभव हो सकती है। सर्ववेत्ता पुरुष को ही ऐसी भक्ति प्राप्त होने का सौभाग्य मिलता है, क्योंकि सर्ववेत्ता होने के कारण वह भगवान् के स्वरूप और भक्ति के प्रकारों को जान जाता है। श्रीरामानुजाचार्य ने यह भी कहा है कि भगवान् की दो प्रकार की प्रीति का सम्पादन उक्त ज्ञान से होता है। एक तो भगद्विषयक सभी ज्ञातव्य बातों को जानने से भगवान् की प्रीति मिलती है और सब प्रकार से उनकी सेवा से भी उनकी प्रीति मिलती है। उपर्युक्त ज्ञान से सम्पन्न पुरुष दोनों प्रकार की भगवत्प्रीति को प्राप्त कर लेता है। भक्ति के आचार्य यहां यह भी कहते हैं कि गीता के इस पद्य के द्वारा ज्ञान

को भक्ति के अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। 'सर्ववित्' होने के अनन्तर उसका उपयोग भक्ति या भजन में बतलाया गया है। वस्तुतः ज्ञान और भक्ति एक दूसरे के पोषक होते हैं। बिना ज्ञान के भक्ति नहीं बनती और बिना भक्ति के पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता। चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कर्म, उपासना और ज्ञान ये तीनों मार्ग भारतीय संस्कृति में स्वीकार किये गए हैं, परन्तु सर्वत्र ये तीनों परस्पर में एक दूसरे के पोषक होते हैं। किसी एक को हेय दृष्टि से देखने पर दूसरे उपाय की पूर्णता में पूर्ण सन्देह रहता है, यह भारतीय संस्कृति की मौलिक बात है। विशेषकर भगवद्गीता में तो तीनों के समन्वय पर भगवान् ने सर्वत्र बल दिया है।

पैशाच भाष्य में कहा गया है कि नाम, कर्म, स्वरूप, बल, वीर्य और तेज से जो भगवान् को जानता है वही सर्ववित् है।

आनन्दगिरि व्याख्या में असम्भूत का अर्थ किया गया है कि भगवान् परिच्छिन्न नहीं हैं यह ज्ञान हो जाना ही असम्भूतता है। सर्ववित् के प्रमाण में—

**“यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति”**

यह श्रुति, और सर्वभाव के लिए

**“वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः”**

यह स्मृति उन्होंने उद्धृत की है। श्रीवल्लभाचार्य ने इस मार्ग को अन्य मार्गों से विलक्षण कहा है। जिस किसी देवता की उपासना से सर्ववित् होना संभव नहीं, परन्तु पुरुषोत्तम तत्त्व को जानने पर एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान होने से वह सर्ववित् हो जाता है, यही प्रस्तुत में विलक्षणता का आशय है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि जो भगवान् के यथोक्त पुरुषोत्तमत्व में असम्भूत अर्थात् संशय विपर्यास आदि से विहीन है, वही सर्ववित् है और इसके फलस्वरूप वह भगवान् का सब प्रकार से भजन करने में समर्थ होता है।

अविगीता की टिप्पणी का आशय है कि सामान्य रूप से सर्ववित् होने या सर्व शब्द के कोश के आधार पर ज्ञान होने से अभीष्ट सिद्धि नहीं हो सकती, इसीलिए सर्ववित् कहकर फिर 'जानाति' भी कहा—जो सर्ववित् होकर मुझे पुरुषोत्तम के रूप में जानता है। इसका तात्पर्य यही है कि ज्ञान के दोषों को दूर कर जो मेरे पुरुषोत्तम भाव को अपरोक्ष रूप से जानता है वही सर्वभाव से मेरा भजन कर सकता है।

तत्त्व प्रकाशिका में सर्वभावेन भजन का तात्पर्य बतलाया है कि मन, वाणी और शारीरिक कर्मों से वह भगवान् का भजन करता है। उन्होंने यह कहा है कि पुरुषोत्तम

भाव को जानने वाला व्यक्ति ही मेरा भजन करता है, अन्य व्यक्ति अन्य देवताओं का भजन करते हैं। उन्होंने इस प्रसंग में महाभारत के ये पद्य उद्धृत किये हैं—

“ रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः

ब्रह्मा मामाश्रितो राजन्नाहं कंचिदपाश्रितः

ममाश्रयो न कश्चित्तु सर्वेषामाश्रयो ह्यहम्

ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः

प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यतः परिमितं फलम्”

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने सर्वभाव का अर्थ प्रेमपूर्ण भक्तियोग किया है।

श्रीशंकरानन्द ने इस प्रकार के भजन का प्रयोजन ज्ञान और उसके फल के प्रतिबन्ध की निवृत्ति माना है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है—

हे निष्पाप अर्जुन ! इस प्रकार का यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मैंने बतलाया है, मनुष्य को चाहिए कि इसको जानकार बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाय’ (२०)

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि वैसे तो पूरी गीता ही एक शास्त्र है, परन्तु उसमें भी पन्द्रहवें अध्याय का क्षर, अक्षर और अव्यय का प्रकरण एक स्वतन्त्र शास्त्र कहने योग्य है, यह इस प्रकरण के विशेष महत्व को बतलाने के लिए कहा गया है। इस प्रकरण का महत्व तो इसके विषय पर ध्यान देने से ही सुस्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इसमें संसार के मूल तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। इसी प्रकरण की विशेषता को ध्यान में लेने के बाद भगवान् की इस घोषणा का रहस्य भी खुलता है कि—

“ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते”

‘हे अर्जुन ! मैं तुझे विज्ञान सहित ऐसे ज्ञान को समझा देता हूँ जिस ज्ञान को प्राप्त करने के अनन्तर और कुछ जानने को अवशिष्ट रह ही नहीं जाता।’ भगवान् की इस प्रकार की यह घोषणा अवश्य ही पहिले तो कुछ सन्देह में डालती है कि जैसे आजकल के विज्ञापनकर्ता किसी अपनी बनाई हुई वस्तु के गुण को हजार गुना बढ़ा चढ़ा कर लोगों को आकर्षित करते हैं, कहीं उसी प्रकार यहां भगवान् भी अपने उपदेश के प्रति अर्जुन का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करने के लिए अपने उपदेश के महत्व को प्रदर्शित करने में अतिशयोक्ति से तो काम नहीं ले रहे हैं, क्योंकि ज्ञान का अन्त किसी

को मिला ही नहीं, तब छोटी सी गीता में ज्ञान और विज्ञान का अन्त बतलाने की बात आपाततः कुछ अतिशयोक्ति मालूम होती है, परन्तु जब यह स्पष्ट होता है कि गीता में क्षर, अक्षर और अव्यय का प्रतिपादन हुआ है, जो संसार के मूल तत्त्व हैं, तब एक के ज्ञान से सम्पूर्ण का ज्ञान होने की जो उपनिषद् की युक्ति है वह समर्थित होती है और तभी सहस्रों दर्शनों और नीतिग्रन्थों के रहते हुए भी गीता का जो संसार में इतना महत्वपूर्ण स्थान है, उसका रहस्य समझ में आता है। इसीलिए यहां भगवान् ने इस मूर्धन्य प्रकरण के महत्व को स्थिर करते हुए इसे गुह्यतम शास्त्र कहा है।

शास्त्र का अर्थ तो उपर्युक्त प्रकरण के महत्व के साथ स्पष्ट हो जाता है, परन्तु गुह्यतम अर्थात् अत्यन्त छिपा हुआ यह अंश ध्यान देने योग्य है। अन्य देशों से भारत में विद्या के विषय में जो विशेषताएं मिलती हैं उनमें यह भी एक है कि यहां महत्वपूर्ण विषयों को गुप्त रखने का आग्रह पाया जाता है। इस बात को लेकर बहुत से पश्चिमी विद्वान् तथा उनके अनुयायी भारतीय विचारक भी यह आक्षेप करते देखे जाते हैं कि इन विद्याओं को गुप्त रखने में विशेष वर्ग तथा विशेष व्यक्तियों की स्वार्थपरता ही कारण है। कुछ लोग यह भी कहते देखे गए हैं कि किसी विद्या को गुप्त कहने के भीतर अपने अज्ञान को छिपाये रखना भी एक कारण हो सकता है। यदि वे बातें सर्वसाधारण के सामने उपस्थित कर दी जाय तो उनके अज्ञान की पोल खुल जाने का डर रहता है। परन्तु यह सब आक्षेप इन विद्याओं के महत्व को बिना समझे किये जाते हैं। प्रत्येक महत्वपूर्ण बात तब सर्वथा निरर्थक या निष्प्राण हो जाती है जब उसे अनधिकारी को बतलाया जाता है। जिस विद्या को समझने में अधिक बुद्धि या परिश्रम करना पड़े अल्पप्रज्ञ व्यक्ति उससे घबड़ाता है, और अन्ततः—

**‘अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते’**

अर्थात् उस स्थान पर पहुंचने में अशक्त होने के कारण उसकी निन्दा करते हैं, इस उक्ति को चरितार्थ करने लग जाते हैं। फलतः जिनकी उन विषयों में जिज्ञासा और श्रद्धा होती है, वे भी अपनी श्रद्धा से डिगने लग जाते हैं। इसीलिए किसी भी श्रेष्ठ विद्या को उपयुक्त अधिकारी को ही देने के लिए भारतीय आचार्यों का आग्रह देखा गया है। यहां गीता का श्रोता अर्जुन इस विषय को जानने का उपयुक्त अधिकारी है, इसे तो बतलाने की आवश्यकता ही नहीं, भगवान् ने उसे अपना विश्वरूप भी दिखा दिया था, अतः उसे शास्त्रों का रहस्य भी खोलकर समझाना उपयुक्त समझ भगवान् ने यह गुह्यतम शास्त्र भी उससे कह दिया। भारत और अनन्ध, इन सम्बोधनों से भगवान् ने स्वयं अर्जुन की योग्यता को प्रकट कर दिया है। इस ज्ञान को प्राप्त करके बुद्धिमान हो,

इसका तात्पर्य श्रीरामानुजाचार्य बतलाते हैं कि भगवान् को प्राप्त करने के लिए जिस बुद्धि या बुद्धियोग की अपेक्षा होती है, वह इस ज्ञान से प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो भी कुछ कर्तव्य कर्म है वह भी इस ज्ञान से पूरा हो जाता है। अन्यत्र भगवान् ने कहा है—

**“सर्व कर्माऽखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते”**

अर्थात् हे पार्थ, ज्ञान में समस्त कर्म समाप्त हो जाते हैं। कर्मों के चित्त शुद्धि प्राप्त करके ज्ञान प्राप्ति की योग्यता सम्पादन की जाती है। ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर कृतकृत्यता हो जाती है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि सभी कर्म परमात्मा के ज्ञान होने तक ही उपयोगी हैं, परमात्मा की अवगति में ही सभी पुरुषार्थों की परिसमाप्ति हो जाती है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं कि इस सर्वाद्वय प्रतिपादक ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर ही बुद्धिमान् कहलाता है न कि व्यावहारिक बुद्धि से। इसके ज्ञानमात्र से ही कृतकृत्यता हो जाती है। श्रीअभिनवगुप्ताचार्य का यह भी कथन है कि इस श्लोक के प्रारंभ में जो इति शब्द आया है, उससे यह सूचित होता है कि जो भी कुछ वक्तव्य या उपदेष्टव्य बात थी वह यहां समाप्त कर दी गई। इस पर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि फिर आगे के अवशिष्ट अध्यायों में क्या कहा गया है। इसका उत्तर देते हुए श्रीअभिनवगुप्ताचार्य कहते हैं कि आगे के षोडश अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन करते हुए भगवान् ने अर्जुन की पात्रता का ही निरूपण किया है—

**“मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि भारत ! ।”**

उस अध्याय में कोई उपदेश की बात नहीं आती। शिष्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए ही प्रसंगागत और भी कुछ बातें कह दी गई हैं, इसलिए दो अध्याय हो गए हैं अन्तिम अध्याय में अर्जुन की कुछ शंकाओं का ही विस्तार से समाधान है। अतः गीता के वक्तव्य की यहीं परिसमाप्ति है, ऐसा उक्त आचार्य का कथन है।

‘बुद्धिमान् स्यात्’ यह एक परोक्ष निर्देश है, केवल अर्जुन के लिए नहीं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् ने समस्त अधिकारी पुरुषों के लिए अर्जुन के माध्यम से यह उपदेश दिया है।

## षोडश अध्याय सत्ताईसवां-पुष्प

### दैवी और आसुरी सम्पत्तियां

शास्त्रों के रहस्यभूत क्षर, अक्षर, अव्यय पुरुषों का निरूपण विगत अध्याय में हुआ। अब प्रस्तुत षोडशाध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्ति का सविस्तार विवरण भगवान् प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय के श्लोक की व्याख्या के प्रारंभ में व्याख्याकारों ने अनेक प्रकार से इस अध्याय की संगति लगाई है। श्रीशंकराचार्य मोक्ष प्राप्ति को ही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य मानते हैं। अतः उन्होंने कहा है कि दैवी संपत्ति का अनुष्ठान या उसका प्राप्त होना मोक्ष का उपायभूत है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुष को दैवी संपत्ति को प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा करनी चाहिए, तभी दैवी संपत्ति से संपन्न होने के अनन्तर वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। मोक्ष के अधिकार की सिद्धि के लिए यद्यपि दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करना ही परम उपयोगी है, परन्तु साधक साधनों के साथ ही बाधक साधनों का भी ज्ञान होना परमावश्यक हुआ करता है। जैसे मोक्ष को प्राप्त करने के लिए दैवी सम्पत्ति सम्पन्नता साधक साधन है, वैसे ही आसुरी सम्पत्ति मोक्ष की बाधक भी सर्वदा प्रस्तुत रहती है। आसुरी सम्पत्ति से बचना भी मुमुक्षु के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि दैवी सम्पत्ति का ग्रहण करना। यदि साधक पुरुष मोक्ष की विधातक आसुरी सम्पत्ति से बचता चला जाय तो उसमें दैवी सम्पत्ति के लक्षण अपने आप ही प्रकट होने लग जाते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि आसुरी सम्पत्ति जिसका त्याग करना अभीष्ट है उसके स्वरूप का विस्पष्ट ज्ञान हो। कई बार मनुष्य जिस बात को दैवी सम्पत्ति के रूप में गृहीत करके अपने व्यवहार में उसका ग्रहण कर लेता है वही आगे चलकर परिणाम में आसुरी सम्पत्ति प्रमाणित होने लगता है और जब मनुष्य को उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है और वह उससे अपना पीछा छुड़ाना चाहता है तो वह पूर्ण रूप से उसे इस प्रकार अपने प्रभाव में ले लेती है कि मनुष्य चाहते हुए भी उससे अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता। प्राचीन कथावाचक गण इस प्रसंग में एक रोचक बात सुनाया करते थे कि बरसात की बढ़ी हुई गंगा जी में कोई गुरु और शिष्य स्नान करने गये। स्नान करके पूजा पर बैठते हुए गुरुजी ने देखा कि गंगा जी में एक काला कम्बल बहता आ रहा है। उन्होंने अपने समीपस्थ शिष्य से पानी में तैर कर उस कम्बल को ले आने को कहा। आज्ञाकारी शिष्य जल में कूद पड़ा और तैर कर उस कम्बल को उसने हाथ से पकड़ लिया। वह कम्बल नहीं भालू था जो पानी के बहाव में बहा जा रहा था। उसने अपने मुख



से शिष्य का हाथ पकड़ लिया। यह शिष्य भी उसके साथ बहने लगा। उसे बहता देख कर गुरुजी ने आवाज देकर कहा कि कम्बल को छोड़ दे, तू चला आ। शिष्य ने बहते हुए कहा गुरुजी मैं तो इसे छोड़ रहा हूँ, परन्तु इसने मुझे पकड़ लिया, यह मुझे नहीं छोड़ता। यह दृष्टान्त यही बतलाने के लिए दिया जाता है कि हम आसुरी सम्पत्ति को भी दैवी सम्पत्ति समझकर पहिले तो अपना लेते हैं, बाद में उसका परिणाम देखकर जब उसे छोड़ना चाहते हैं तब वह हमें नहीं छोड़ती। आसुरी सम्पत्ति के चक्कर में पड़ने का कारण उसका स्वरूप विषयक अज्ञान ही है। यदि स्वरूप का ठीक ज्ञान नहीं है तो भालू को कम्बल समझ कर उसे लेने पर अपना सर्वनाश ही होगा। इसीलिए दैवी सम्पत्ति के स्वरूप ज्ञान से भी अधिक आवश्यक आसुरी सम्पत्ति का पूर्ण ज्ञान होना है जिससे कि उसके प्रभाव से सर्वथा बचा जा सके। इसीलिए भगवान् ने प्रस्तुत अध्याय में जहां दैवी सम्पत्ति का वर्णन केवल तीन श्लोकों में ही पूरा कर दिया है वहां आसुरी सम्पत्ति का अध्याय के अन्त तक वर्णन किया है। उन्होंने आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुषों के मनोभावों, उनके व्यवहारों, यहां तक उनके भोज्य आहारों का भी विशद वर्णन करके पूरी तरह उसकी पहिचान कर उससे बचने का उपदेश दिया जिसका निरूपण आसुरी सम्पत्ति के विवरण करते समय आगे प्रस्तुत किया जायगा।

श्रीशंकराचार्य तथा अन्य व्याख्याकारों ने यहां यह भी लिखा है कि प्रस्तुत अध्याय में जो दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन है वह विगत नवमाध्याय में जो तीन प्रकार की प्रकृतियां बतलाई गई हैं इन्हीं का विशद रूप है। वहां के श्लोक हैं—

**मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः**

**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥**

**महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः**

**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥**

इनमें राक्षसी, आसुरी और दैवी प्रकृतियों का वर्णन आया है। यहां प्रस्तुत प्रसंग में दैवी और आसुरी दो ही सम्पत्तियां वर्णित हुई हैं। राक्षसी और आसुरी में परस्पर यह भेद है कि यद्यपि दोनों ही वेद बोधित कार्यों की अवहेलना करती हैं परन्तु राक्षसी प्रकृति में द्वेष-मूलिका हिंसा का प्रधान स्थान है और आसुरी सम्पत्ति में राग के प्राबल्य के कारण विषय भोग की प्रधानता रहती है। यहां राक्षसी प्रकृति का पृथक् विवरण नहीं किया गया। उसका कारण व्याख्याकारों ने यह बतलाया है कि मोक्ष की विधातिका दैवी के अतिरिक्त दोनों हैं, अतः दैवी सम्पत्ति को मोक्ष के साधन के रूप में और

आसुरी तथा राक्षसी इन दोनों मोक्ष की अवरोधिनी सम्पत्तियों को एक करके परिवर्जनीय और मोक्ष की बाधिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

श्रीरामानुजाचार्य अध्याय की संगति लगाते हुए कहते हैं कि विगत अध्याय में जो क्षर, अक्षर, अव्यय का अतिगंभीर निरूपण किया गया, उसकी स्थिरता के लिए ही यहां दैवी और आसुरी सम्पत्ति का विशकलन हुआ है। दैवी सम्पत्ति शास्त्रों के वश में रहती है और आसुरी सम्पत्ति शास्त्र आदि के नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं समझती। यही इन दोनों में महान् अन्तर है कि एक नियन्त्रित है, दूसरी सर्वथा अनियन्त्रित। जो नियन्त्रित रहती है वह निश्चित ही कल्याणदायिनी होगी और जो अनियन्त्रित है उसकी अनर्थकारिता में किस विचारक को सन्देह हो सकता है ? आसुरी सम्पत्ति के प्रकरण में आगे चल कर स्पष्ट होगा कि संसार का नियन्ता जो परमेश्वर है, आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुष उसका भी सर्वथा निषेध कर देते हैं। वे अपनी प्रकृति के अनुसार किसी भी प्रकार का नियन्त्रण सहन ही नहीं कर सकते। इसीलिए श्री रामानुजाचार्य ने इनको शास्त्र के विपरीत आचरण करने वाला माना है और अव्यय ईश्वर के ज्ञान की स्थिरता के लिए शास्त्रानुकूल दैवी सम्पत्ति की उपादेयता स्वीकार की है।

श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि पूर्व अध्याय के अन्त में कहा गया था कि—

**‘यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्  
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत’ ।**

इसमें जो असंमूढ शब्द आया है उसी का विवरण इस अध्याय में उपक्रान्त हुआ है। जो दैवी सम्पत्ति से अनुगृहीत पुरुष हैं वे असंमूढ हैं और जो आसुरी सम्पत्ति वाले हैं वे संमूढ हैं, यही इस देवासुर सम्पत्ति के विभाग का प्रयोजन है यह श्रीवल्लभाचार्य का यहां आशय है।

अमृत-तरंगिणी के रचयिता श्री पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि पूर्वाध्याय के अन्त में कहा गया था कि—

**‘एवं बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत’**

अर्थात् इसी ज्ञान को प्राप्त करके बुद्धिमत्ता और कृतकृत्यता की प्राप्ति होती है। इस पर यह शंका होती है कि संसार में इतने बुद्धिमान् लोग हैं, एक से एक बढ़कर अपनी बुद्धिमत्ता का दावा रखते हैं, वे सभी इस ज्ञान को प्राप्त करके कृतकृत्य क्यों नहीं हो जाते, इसी प्रश्न का उत्तर यहां दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति का विवरण करते हुए दिया जा रहा है कि यद्यपि मानव तथा मानवेतर प्राणियों में भी बुद्धि है,

मनुष्य तो मुख्य रूप से बुद्धिजीवी ही माना गया है, परन्तु सभी बुद्धि रखने वाले न तो इस ज्ञान को समान रूप से प्राप्त ही कर सकते हैं और न समान रूप से उन्हें कृतकृत्यता की ही प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि सभी का इस विषय में समान अधिकार नहीं रहता। जिनका जन्म ही दैवी सम्पत्ति में हुआ है और जन्म के अनन्तर जो दैवी सम्पत्ति में ही पोषण प्राप्त करते हैं उन्हीं का इस विज्ञान को जानने में अधिकार है, इसी बात को बतलाने के लिए यहां दैवी और आसुरी सम्पत्ति का विवरण किया जा रहा है और आगे चलकर—

**“मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि भारत”**

कह कर अर्जुन का जन्म ही दैवी सम्पत्ति में हुआ है अतः अर्जुन की दैवी सम्पत्ति से परिपूर्णता बतलाते हुए उसे ज्ञान विज्ञान का पूर्ण अधिकारी भगवान् ने बतलाया है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि वेद में कहा गया है—

**“द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च”**

अर्थात् प्रजापति की दो सन्तान हुई देव और असुर ! इससे यह सिद्ध हुआ कि गीता का दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का निरूपण वेदों के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। अपनी चित्तवृत्ति को अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि की ओर ले जाने वाले देवता होते हैं और दम्भ, दर्प आदि की ओर ले जाने वाले असुर होते हैं। अर्जुन को पहिले ही अनघ कह कर भगवान् सम्बोधित कर चुके हैं अतः उसके दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होने में कोई सन्देह नहीं है।

तत्त्व प्रकाशिका में कहा गया है कि गुह्यतम शास्त्र के अधिकार निर्णय के लिए नवमाध्याय में प्रक्रान्त दैवी और आसुरी सम्पत्ति का यहां विस्तार से विवरण दिया जा रहा है। श्रीमधुसूदनसरस्वती का कथन है कि पूर्वाध्याय में—

**‘अथश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके’**

इत्यादि पद्य के द्वारा यह बतलाया गया था कि पूर्व जन्म के कर्मों के द्वारा समुत्पादित जो वासनाएं होती हैं वे ही संसार वृक्ष की अवान्तर मूल बनती हैं। उनमें जो शुभ और सात्त्विक वासनाएं होती हैं उन्हें ही दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत माना जाता है अतः पूर्वजन्म की शुभ और सात्त्विक वासनाएं इस जन्म की दैवी सम्पत्ति का कारण बनती हैं, इसी प्रकार वेदों और शास्त्रों में जिन कर्मों के करने का निषेध है, उन निषिद्ध कर्मों के करते रहने से और शास्त्रों के निषेधों का अतिक्रमण करने से आसुरी सम्पत्ति का उदय होता रहता है। यह आसुरी सम्पत्ति रागद्वेष पर अवलम्बित

रहती है और यह सारे अनर्थों की मूलभूता है। स्पष्ट है कि इनमें दैवी शास्त्रों के द्वारा विहित है, समस्त शास्त्र एक स्वर से दैवी सम्पत्ति का ग्रहण करने के उपदेश देते हैं अतः वही शास्त्रों के द्वारा सम्मत आदृत, और विहित है, इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति समस्त शास्त्रों में निन्दित और प्रतिषिद्ध मानी गई है। जहां कहीं दैवी सम्पत्ति का विवरण मिलेगा वहीं साथ में आसुरी सम्पत्ति का भी विवरण प्राप्त होगा। परन्तु दैवी सम्पत्ति का विवरण ग्रहण करने के लिए किया जायगा और आसुरी का परिवर्जन या बचने के लिए। उदाहरण के लिए काव्य शास्त्र को ही लीजिए। काव्य शास्त्र कान्तासम्मित उपदेश प्रदान करते हैं, यह हम गीता प्रवचन के प्रथम भाग के आरम्भ में स्पष्ट कर चुके हैं। रामायण महर्षि वाल्मीकि का आदि काव्य है। उसमें दैवी सम्पत्ति शाली भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का भी पुण्यमय पावन चरित्र अंकित है, और साथ ही दम्भ दर्प अभिमान की साक्षात् मूर्ति राक्षस राज रावण का भी चरित्र अंकित है। परन्तु उस काव्य का यह विस्पष्ट निष्कर्ष है कि—

“रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्”

अर्थात् राम आदि की तरह ही व्यवहार करना चाहिए रावण आदि की तरह नहीं। इस प्रकार दोनों सम्पत्तियों का वर्णन होने पर भी काव्य शास्त्र के द्वारा आदरणीय और अनुकरणीय के रूप में केवल दैवी सम्पत्ति का ही ग्रहण हुआ करता है। आसुरी सम्पत्ति का विवरण सर्वदा बाध्य और त्याज्य के रूप में ही होता है। श्री अभिनवगुप्ताचार्य अध्याय की अवतरणिका में लिखते हैं कि पहिले जो “एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्” कहा गया है उसमें श्रुतिविहित कर्मों का अनुष्ठान ही बोध रूप माना गया है। इसके साथ ही अविहित का त्याग भी आवश्यक है। आत्म लाभ के लिए शास्त्रों के अध्ययन से, ‘इदम्’ ‘इत्थम्’ और ‘एवम्’ का प्रत्येक कर्मानुष्ठान के पूर्व ज्ञान आवश्यक है। वह कर्म किस रूप का है, उसके सम्पादन का प्रकार क्या है और अन्ततः उसका परिणाम क्या है, यह विचार विमर्श और परामर्श से निश्चय कर लेना चाहिए। इससे जीवन में जो कुछ अभ्यास किया जाता है उसका फल आत्मलाभ होने लगता है। इस प्रकार की युक्ति, चिन्ता और भावना से युक्त पुरुष में शिष्य बनने और गंभीर ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। विगत अध्याय के अन्तिम पद्य की व्याख्या करते हुए हमने श्री अभिनवगुप्ताचार्य के मत का विवरण दिया था कि वे उस अध्याय में गीता के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का उपसंहार मानते हैं और आगे के इस षोडश और सप्तदश अध्याय को शिष्य की योग्यता के विवरण के रूप में तथा अन्तिम अठारहवें अध्याय को अर्जुन की शंकाओं के विस्तृत समाधान और उपसंहार के रूप में स्वीकार करते

हैं। उसी के अनुसार यहां दैवी सम्पत्ति-सम्पन्न पुरुष गंभीर ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी होता है तथा आसुरी सम्पत्ति वाला पुरुष उसका सर्वथा अनधिकारी है, अर्जुन दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होने से ही इस ज्ञान का अधिकारी बना इसी का विवरण करने के लिए अग्रिम अध्यायों का उपस्थापन आचार्य को अभीष्ट है।

वस्तुतः समस्त शास्त्रों का अन्तिम तात्पर्य इसी दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के विवरण में ही हुआ करता है। इन सम्पत्तियों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। सम्पूर्ण जीवन के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी कार्यों में उनका परीक्षण होना चाहिए। यह बात नहीं कि कोई पुरुष सर्वथा दैवी शक्ति से ही सम्पन्न होगा, उससे कोई निन्दित कार्य होगा ही नहीं, ऐसे पुरुष संसार में सुदुर्लभ हैं। इसी प्रकार सर्वथा आसुरीभाव से वेष्टित पुरुष भी अनेकधा प्रशंसनीय कार्य करते देखे जाते हैं। इन सम्पत्तियों का गहन सम्बन्ध यद्यपि अध्यात्म जगत् से ही होता है, परन्तु अध्यात्म जगत् ही व्यावहारिक जगत् का भी परिचालक है, अतः इन सम्पत्तियों की पहिचान बाह्य आहार विहारों में भी पूर्ण रूप से हो जाती है। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता है जिसका विस्तार से वर्णन हम गीता प्रवचन प्रथम भाग के आरम्भिक प्रवचनों में कर चुके हैं कि यहां कर्तव्य, अकर्तव्य का निर्णय आध्यात्मिक जगत् पर पड़ने वाले प्रभावों को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। इसलिए गीता का यह दैवी आसुरी सम्पत्ति का वर्णन व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है।

आगे के श्लोकों में दैवी सम्पत्ति का वर्णन किया गया है।

---

## अट्टाडसवां-पुष्प

श्री भगवानुवाच

अभयं सत्त्व-संशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् । १ ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् । २ ।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! । ३ ।

श्री भगवान् कहते हैं—हे भारत !

‘अभय, सत्त्व अर्थात् अन्तःकरण की सम्यक् शुद्धि, ज्ञान और योग में स्थित हो जाना, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप ऋजुता, अर्थात् सरलता (१) अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, अर्थात् पर निन्दा से निवृत्त होना, भूतों पर दया, लोलुपता का अभाव होना, मृदुता, लज्जाशीलता, चपलता का अभाव (२) तेज, क्षमाशीलता, धैर्य, शुचिता, अर्थात् पवित्रता, द्रोह न करना, अतिमानी, अर्थात् अभिमानी न होना ये सब गुण दैवी सम्पत्ति में समुत्पन्न पुरुष को प्राप्त होते हैं।

इन दैवी सम्पत्ति के लक्षणों में से अनेक लक्षण तेरहवें अध्याय में कहे गए ज्ञान के साधनों के समान ही हैं। वहां सम्यक् ज्ञान किस प्रकार का होता है और इसके साधन क्या हैं यह बात बतलाई गई थी। इस प्रकरण में भी उसी का बहुत कुछ साम्य है, क्योंकि दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होना मोक्ष प्राप्ति का साधन या उपाय है, और मोक्ष प्राप्ति ज्ञान से ही होती है। अतः मोक्ष प्राप्ति के उपाय भूत जो साधन हैं, वे ज्ञान के लक्षणों के से हो जायं तो उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती। दो दो बार उन बातों को उतने ही विशद रूप में समझाने का अभिप्राय भी स्पष्ट है कि इन गुणों का जितना भी अधिक स्पष्टीकरण किया जाय उतना ही कम है। किसी भी आदर्श पुरुष के लिए यह आवश्यक है कि वह सर्वदा इन्हें अपने सामने रखे, क्षण भर के लिए भी इनका परित्याग न करे। दैवी सम्पत्ति में तो ये ही सर्वतो भावेन आदरणीय गुण हैं। सम्पत्ति अर्थात् धन से भरा हुआ कोई करोड़पति व्यक्ति जैसे निरन्तर अपने धन पर ही दृष्टि रखता है, उसकी और अधिक वृद्धि के उपाय ही सर्वदा सोचता है, उसके क्षीण न होने देने का प्रत्येक प्रबन्ध रखता है, उसी प्रकार दैवी सम्पत्ति का स्वामी इसकी

देखभाल करता है। यह सम्पत्ति सर्वदा बढ़ती रहे और इसका अपक्षय न हो इसके लिए वह निरन्तर जागरूक रहता है, और इस सम्पत्ति का बार-बार अनुध्यान और निरीक्षण करता रहता है। इस प्रकार का निरीक्षण करते रहने से ही यह सम्पत्ति रहती है। जैसे कण कण संचय करने से धन बढ़ता चला जाता है, वैसे ही इन गुणों का भी कण कण संचय करते रहना दैवी सम्पत्ति शाली का स्वभाव हो जाता है। वह दूसरे के गुणों के परमाणुओं को अपने में पर्वत के समान बढ़ा चढ़ा कर विकसित करता रहता है जिससे उसे ऐसी सन्तुष्टि प्राप्त होती है जो करोड़पति या चक्रवर्ती सम्राट को भी स्वप्न में भी सुलभ नहीं हो सकती।

### अभय

दैवी सम्पत्ति में सर्वप्रथम स्थान भगवान् ने अभय को दिया है। भय के कारण के उपस्थित होने पर भय के प्रभाव में आ जाना प्राणिमात्र का स्वभाव है। परन्तु दैवी सम्पत्ति वाले प्राणी कभी भयभीत नहीं होते। श्री रामानुजाचार्य ने लिखा है कि अपनी इष्ट वस्तु के वियोग और अभीष्ट वस्तु की अनुपलब्धि से प्राणि मात्र को कष्ट पहुंचता है, उस दुःख का जो कारण है उसे देखकर भय होता है, उससे निवृत्त हो जाना ही अभय कहलाता है। दुःख के कारण को देखकर ही भय हुआ करता है। जब तक इष्ट का वियोग न हुआ हो, केवल यह प्रतीत हो कि अमुक वस्तु मेरे अमुक इष्ट का विधात करने वाली है, तभी तक उससे भय होता है। जब इष्ट का विधात होने लगता है तब भय की स्थिति समाप्त होकर दुःख की स्थिति आती है। एक सुभाषित में इसी बात का चित्रण है कि—

“तावद् भयेन भेतव्यं यावद् भयमनागतम्  
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम्”

अर्थात् भय से या भय के कारण उपस्थित होने पर तभी तक डरना उचित है जब तक कि भय का वह कारण सामने उपस्थित नहीं हो जाता, जब भय सामने आ ही पहुंचा तब डरने से कोई लाभ नहीं, तब तो उसका यथोचित प्रतीकार करने के लिए सन्नद्ध हो जाना चाहिए। आनन्द गिरि व्याख्या का आशय यह है कि भय तब उत्पन्न होता है जब कोई ऐसा कार्य हो जाय जिस कार्य के औचित्य पर सन्देह हो कि मेरे द्वारा किया गया अमुक कार्य उचित है या अनुचित। इसीलिए दैवी सम्पत्ति शाली पुरुष स्वेच्छा से कोई कार्य करता ही नहीं। वह अपने प्रत्येक कार्य का आधार शास्त्र और महापुरुषों के उपदेश को बनाता है। शास्त्रों को शास्त्र इसीलिए कहा जाता है कि वह

शासन करता है, अर्थात् दूषित मार्ग में जाने से रोकता हुआ सन्मार्ग में प्रवृत्त करता है। इसलिए शास्त्र बोधित कार्यों के औचित्य पर सन्देह हो ही नहीं सकता। जब सन्देह नहीं रहा तो भय का कारण भी नहीं रहा और अभय की प्राप्ति हो गई। इसी अभय की प्राप्ति के लिए शास्त्रों का आश्रय लेना परमावश्यक है। शास्त्रों के उपदेशों को छोड़ कर अपनी इच्छा से आचरण करने वाले पुरुषों के सिर पर सर्वदा भय की छाया बनी रहती है क्योंकि उन्हें अपने कार्यों पर सर्वदा सन्देह रहता है कि हमारा अमुक कार्य कहीं अनुचित तो नहीं हुआ। श्री पुरुषोत्तम जी ने जो लिखा है उसका आशय यह है कि सबसे बड़ा भय प्राणी को काल का होता है। एक न एक दिन काल हमें अपने इष्ट जनों से वियुक्त कर देगा यह मृत्यु से भय सभी को होता है। इससे किसी की मुक्ति नहीं हो पाती क्योंकि मृत्यु एक अनिवार्य बात है और मृत्यु के उपरान्त की स्थिति का शाब्दिक परोक्ष ज्ञान भले ही हो जाय, प्रत्यक्ष अनुभव उस स्थिति का किसी को नहीं होता या अनुभव करने वाला अपने अनुभव को सुनाकर दूसरों को सचेत करने नहीं आता। प्रतिदिन संसार में सहस्रों प्राणियों की मृत्यु होती है और सबको यह विदित है कि हमारी भी मृत्यु निश्चित है। वह एक ध्रुव सत्य है—“जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः”, परन्तु उससे भय इतना है कि अपनी वर्तमान दशा से अत्यन्त असन्तुष्ट पुरुष भी मृत्यु के भय से इतना त्रस्त रहता है कि वह मरना नहीं चाहता। तात्पर्य यह है कि काल का भय ही सबसे बड़ा भय होता है। परन्तु ज्ञान सम्पन्न मुमुक्षु पुरुष को जब यह ज्ञात हो जाता है कि परमेश्वर कालादि सभी का नियामक है, उसी के शासन में मृत्यु को भी चलना पड़ता है “मृत्युर्धावति पंचमः” तब वह सबसे बड़े इस काल के भय से भी मुक्त हो जाता है और उसे अभय प्राप्त हो जाता है। श्रीनीलकण्ठ इसी बात को इस रूप से कहते हैं कि अपने स्वरूप के नाश की बुद्धि का अभाव हो जाना, अर्थात् हम कभी नहीं रहेंगे यह बुद्धि मिट जाना ही अभय है। आत्मज्ञानी पुरुष की यह बुद्धि निवृत्त हो जाती है कि हम नहीं रहेंगे। क्योंकि आत्मा का अभाव कभी नहीं होता। श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि मुमुक्षु पुरुष जब सभी सांसारिक वस्तुओं का परित्याग कर संन्यासी हो जाता है तब उसे इस बात का भय नहीं रहता कि समस्त वस्तुओं का परित्याग कर देने पर अकेला रहकर मैं कैसे जीवित रहूंगा। सर्वात्मदर्शी बनकर वह अपने एकाकीपन को भुला देता है और सभी में आत्मदर्शन करने के कारण उसे भय नहीं रह जाता। श्रीशंकरानन्द कहते हैं कि अभय की बात तब उठती है जब भय का कारण उपस्थित हो। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि भय के कारणों के उपस्थित होने पर भी दैवी सम्पत्ति वाला



पुरुष भीत नहीं होता। वह अपनी उपस्थिति से अन्य लोगों को भी निर्भय बना देता है। विभीषण की शरणागति के अवसर पर वाल्मीकि रामायण में भगवान् श्री रामचन्द्र की उक्ति लिखी है कि—

**सकृदेव प्रपन्नाय तवाऽस्मीति च वादिने  
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।**

अर्थात् एक बार शरण में जो आ गया और जिसने यह कह दिया कि “मैं तेरा हूँ” ऐसे प्राणी को मैं समस्त भूतों से निर्भय बना देता हूँ, यह मेरा व्रत है।” दैवी सम्पत्ति जहां है वहां पहुंचने वाले प्राणी भय शून्य हो जाते हैं। प्राचीन काल में जिन ऋषियों के तपोवनों और आश्रमों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है, वे दैवीसम्पत्ति सम्पन्नता के जीते जागते चित्र हैं, वहां परस्पर विरुद्ध प्रकृति रखने वाले गो, व्याघ्र आदि में भी किसी को एक दूसरे से भय नहीं रहता था। भारत टीका में आत्मचिन्तन के लिए पर्वतों की गुफाओं में रहने पर भी भीत न होने आदि को अभय कहा है। राघवेन्द्र विवृति में कहा गया है कि दूसरों को उद्विग्न करने से उनसे भय की आशंका होती है—परन्तु मुमुक्षु पुरुष के लिए भगवान् पहिले ही कह आए हैं कि—

**“यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।”**

जिससे लोक उद्विग्न नहीं होता और जो स्वयं लोक से उद्विग्न नहीं होता ऐसे पुरुष को भय किससे होगा।

विद्यावाचस्पति श्रीमधुसूदनजी ओझा ने अपने ‘ब्रह्मविज्ञान’ ग्रन्थ में भय का विवेचन किया है। वह प्रकरण बड़े महत्व का है अतः हम उसे यहां उद्धृत करते हैं। पहिले उन्होंने भय का कारण ज्ञान है अथवा अज्ञान यह विचार करते हुए लिखा है—

**“भयं ततोऽज्ञानवशात्प्रजायते भयस्य मात्रा तदबोधमात्रया  
प्रशान्तिमात्राऽपि च बोधमात्रया सर्वत्र दृश्येतविवेकशलिनाम्”**

(ब्रह्म विज्ञान, श्लोक २५१)

अज्ञान से भय होता है, जितना अज्ञान होगा उतना ही भय होगा, जितना ज्ञान हो जायगा उतने अंश में भय निवृत्त हो जायगा।

**प्रज्ञाभयेऽस्मिन्विचलत्यवश्यं शान्तौ पुनः सा स्थिरतामुपैति  
प्रज्ञा यदुत्सीदति चात्मनः सा भयस्य काष्ठा म्रियते तदासौ**

(ब्रह्म विज्ञान, श्लोक १५२)

अर्थात् भय होने पर बुद्धि विचलित हो जाती है, भय के शान्त होने पर वह शान्त होती है। बुद्धि में जब विवेक का बल होता है तब प्रज्ञा विचलित नहीं होती, इसीलिए स्थितप्रज्ञ पुरुष को भय नहीं होता। भय की पराकाष्ठा में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।

इसके अनन्तर यह बतलाया गया है कि शरीर के किन किन तत्त्वों पर भय के क्या क्या प्रभाव होते हैं। यदि भय युक्त पुरुष का प्राण कम्पित हो जाता है तब चाहे वह कितना ही दुर्बल हो अपने स्थान से भाग जाता है। भय के प्रभाव से वाणी में कम्पन होने पर टूटी टूटी आवाज निकलने लगती है। भय से यदि शरीर के वायु में कम्पन हो तब शरीर के अंग थरथराने लग जाते हैं और अधिक श्वास आने लगता है। यदि भय के कारण शरीरस्थ तेज में कम्पन हो तो मुख में शुष्कता आ जाती है। यदि शरीरस्थ जल में भय से कम्पन हो तो सारे शरीर में पसीने आ जाते हैं। यदि पार्थिव तत्त्व में कम्पन हो तो शरीर निश्चेष्ट हो जाता है जिसका परिणाम मूर्छा में होता है। यदि अधिक समय तक शरीर में भय का प्रभाव रहे तो मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार भय के प्रभावों का वर्णन करने के उपरान्त आगे वह पूर्व पक्ष रूप में उठाई गई इस बात का खण्डन करते हैं कि भय अज्ञान से होता है। ऐसा नहीं है अपितु भय ज्ञान से ही होता है, अज्ञान से तो भय नहीं होता यही देखा जाता है। किसी व्यक्ति को यदि यह ज्ञान हो जाय कि अमुक वृक्ष में भूत रहता है, तो वह वहां जाने से डरेगा, जिसको इसका ज्ञान नहीं है वह तो रात्रि को उस वृक्ष के नीचे निर्भय होकर सो जाता है और दिन में भी उसकी शीतल छाया में सानन्द विश्राम करता है। इस प्रकार ज्ञान से ही भय सिद्ध होता है। तब यदि ज्ञान से भय हो तो आत्मा को ज्ञान और आनन्दमय कैसे बतलाया जाता है, इसका उत्तर देते हुए भय का वास्तविक निरूपण करते हैं कि—

अत्राहुरज्ञानकृतं न तद्भयं नत्वेव विज्ञानकृतं क्वचिद्भयम्  
ज्ञानं यदज्ञानकृतं तदागमान्मुह्यन्ति सर्वे भयहेतुरस्ति तत्

(ब्रह्म विज्ञान २६६)

अर्थात् भय न तो अज्ञान से उत्पन्न होता है और न ज्ञान से। उसका कारण अज्ञान से आवृत ज्ञान है जब अज्ञान से ज्ञान आवृत हो जाता है तभी भय होता है।

जो ज्ञानवान् पुरुष है उनका ज्ञान कभी अज्ञान से आवृत नहीं होता अतः उनको कभी भय भी नहीं होता।

सत्त्व संशुद्धि का अर्थ श्री शंकराचार्य ने अन्तःकरण की शुद्धि किया है। अन्तःकरण जब शुद्ध नहीं होता तो मनुष्य दूसरों को धोखा देता है, उनसे कपट, छल, दंभ करता है, मिथ्या भाषणादि करता है। विशुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष कभी ऐसा नहीं करता इसी बात को श्री रामानुजाचार्य ने इस रूप से कहा है कि अन्तःकरण का रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव से बचे रहना ही सत्त्व संशुद्धि है। संशुद्धि का अर्थ आनन्द गिरि ने किया है सम्यक् शुद्धि। शुद्धि में सम्यक्ता दिखाते हुए वे लिखते हैं कि भगवान् के स्फुरण होने की योग्यता अन्तःकरण से हो जाना ही सत्त्व संशुद्धि है। श्रीनीलकण्ठ ने चित्त की निर्मलता को सत्त्व संशुद्धि कहा है। अन्तःकरण के निर्मल न रहने से ही व्यवहार में बड़े बड़े अनाचार होने लगते हैं, अतः दैवी सम्पत्ति वाला पुरुष सत्त्व संशुद्धि को अनिवार्य मानता है—

‘ज्ञान योग व्यवस्थिति’ का अर्थ करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि शास्त्रों के द्वारा तथा आचार्य के उपदेश से आत्मादि पदार्थों का अवगमन ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार का जो अवगमन होता है वह केवल शाब्दिक होने के कारण परोक्ष रूप से ही होता है, अतः उसके प्रायोगिक रूप को ही योग कहा जाता है जिसके बिना केवल शाब्दिक ज्ञान अधूरा रह जाता है। समस्त इन्द्रियों को अपने विषयों से समेट कर अपने शास्त्र आदि के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान को अनुभूति में एकाग्र होकर उतारना ही योग है। ज्ञान और योग में अर्थात् शास्त्रों और आचार्य के द्वारा आत्मा आदि पदार्थों का सम्यक् प्रकार से अवगमन करना और इन्द्रियों को एकाग्र कर इस अवगत ज्ञान को अनुभूति का विषय बनाना इन दोनों प्रयत्नों में सर्वदा अपने को लगाये रहना ही ‘ज्ञानयोगव्यवस्थिति’ कहलाती है। श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप प्रकृति से पृथक् है, इस प्रकार के ज्ञान योग में प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न कर लेना ही ‘ज्ञानयोगव्यवस्थिति’ है। पैशाच भाष्य में अष्टाङ्ग योग के अनुष्ठान से आत्मा आदि प्रमेय पदार्थों के अपरोक्ष साक्षात्कार को योग कहा गया है। आनन्द गिरि कहते हैं कि विज्ञात पदार्थों को चित्त की एकाग्रता से अनुभवारूढ़ कर देना ही योग है।

दान का अर्थ श्रीशंकराचार्य करते हैं कि अपने पास जो अन्न आदि है उसका यथाशक्ति संविभाग करना अर्थात् उसे वितरित करना ही दान है। वही दान दान कहलाने योग्य है जो कि अपने द्वारा न्यायपूर्वक उपार्जित द्रव्य का सत्पात्र में निक्षेप होता है। यदि किसी अन्याय बेईमानी आदि से बहुत सा धन उपार्जित कर लिया और उसका कुछ अंश वितरित कर दिया वह दान निकृष्ट या तामस दान है जैसा कि आगे भगवान् ने दान के सात्त्विक, राजस, तामस भेद स्वयं करके उनका स्वरूप भी समझाया है वहीं दान पर विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

अपनी उच्छृंखल चित्त वृत्तियों पर अंकुश लगाना ही दम कहा जाता है। इन्द्रियां अपने विषयों के आकर्षण में चित्त को ऐसा बांध सा देती हैं कि उन क्षण स्थायी विषयों के पीछे पीछे चित्त भटकता रहता है। दम से चित्त के इस चांचल्य की उपरति होती है। इन्द्रियों को अपने विषयों से अलग करने का अभ्यास इसमें आवश्यक होता है। योग मार्ग में यम, नियम आदि की प्रक्रिया में दम का ही साधन बतलाया जाता है। यहाँ कुछ व्याख्याकारों ने अन्तःकरण के शमन करने को दम माना है जबकि अन्य व्याख्याकारों ने बाह्य इन्द्रियों के विषयों से पृथक् करण को ही दम कहा है। उनका कहना है कि अन्तःकरण की उपरति को आगे शान्ति पद से भगवान् ने पृथक् बतला दिया है। दैवी सम्पत्ति शाली पुरुष के लिए इन्द्रिय दमन अनिवार्य है।

इससे आगे यज्ञ कहा गया है। श्रीशंकराचार्य ने श्रुतियों में विहित अग्निहोत्रादि तथा स्मृतियों में विहित विष्णु, रुद्र, देवी आदि सभी यज्ञों का संग्रह किया है। यद्यपि असुर लोग भी यज्ञ करते थे ऐसा वर्णन सर्वत्र मिलता है परन्तु वह यज्ञ दैवी सम्पत्ति का सूचक नहीं। बिना किसी फल की अभिलाषा के भगवत्प्रीत्यर्थ सर्वभूतहित कामना से जो यज्ञ विधिपूर्वक किये जाते हैं वे ही दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं यह श्रीरामानुजाचार्य का आशय है। हम कह चुके हैं कि यज्ञ एक सृष्टि क्रम को निरन्तर निर्बाध रूप से परिचालित करने वाली प्रकृति सिद्ध वैज्ञानिक प्रक्रिया है। प्रकृति के उपकारक अंश को अपनी अनुकूलता के लिए आकृष्ट कर लेना ही मानवीय यज्ञों का मुख्य प्रयोजन है। जनता में व्याप्त कष्ट को दूर करना इन यज्ञ कर्त्ताओं का प्रधान उद्देश्य रहता है। पैशाच भाष्य में स्मृति विहित पञ्चमहायज्ञों और श्रुतिविहित अग्निष्टोम आदि यज्ञों का यहाँ संग्रह किया है। पुरुषोत्तमजी ने पद्योक्त चकार से यह ध्वनि निकाली है कि भगवान् की विभूति के रूप में ही यज्ञों का अनुष्ठान करने पर दैवी सम्पत्ति का लाभ होता है। भारतवर्ष में यज्ञों का इतना अधिक महत्त्व माना गया है कि प्राचीन वाङ्मय यज्ञों के वर्णनों से ओत प्रोत है। यज्ञों की विधियों को बतलाने के लिए एक पूरा शास्त्र “मीमांसा” के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् ने भी यहाँ उस हमारी संस्कृति के महत्वपूर्ण अङ्ग को दैवी सम्पत्ति के स्वरूप में परिगणित कर दिया है।

आगे स्वाध्याय का कथन है। श्रीशंकराचार्य ने बिना किसी लौकिक उन्नति की अभिलाषा के केवल अदृष्ट उत्पन्न करने के लिए वेदों के अध्ययन को स्वाध्याय कहा है। वेद में भगवान् की समस्त विभूतियों की आराधना के प्रकारों को बतलाया है ऐसा समझकर वेदों के अभ्यास में अपनी निष्ठा रखना ही स्वाध्याय है ऐसा श्री रामानुजाचार्य का आशय है। स्वाध्याय करना भारतीय संस्कृति का आवश्यक अंग बतलाया गया है। समावर्तन संस्कार के समय गुरु अपने शिष्य को यह उपदेश देता था कि—

### “स्वाध्यायान्मा प्रमदः”

अर्थात् स्वाध्याय में कभी प्रमाद नहीं करना। स्वाध्याय भी विशेष रूप से वेदों के अभ्यास को ही कहा जाता है क्योंकि वेद ही असन्दिग्ध और सुनिश्चित अर्थों का बोधन करते हैं। वेदों के आधार पर विरचित जो साहित्य है उसे भी स्वाध्याय के विषयों में आचार्यों ने परिगणित कर लिया है। आधुनिक दृष्टि से तो किसी भी प्रकार का अध्ययन स्वाध्याय कहा जा सकता है। आज तो समाचार पत्रों का अवलोकन भी एक प्रकार का स्वाध्याय ही कहा जाता है, परन्तु प्राचीन काल में स्वाध्याय की एक विशेष मर्यादा होती थी और उसके लिए विशेष प्रकार के आचार विचार और विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति का संगठन करना होता था। उसी को यहाँ भगवान् ने दैवी सम्पत्ति के निरूपण में स्थान दिया है।

आगे तप का निरूपण है। तप का भी हमारे यहाँ बहुत बड़ा स्थान रहा है। अपने शरीर को कष्ट सहिष्णु बनाना ही तप का मुख्य उद्देश्य है। कृच्छ्र, चान्द्रायण, एकादशी आदि के उपवास आदि अनेक प्रकार के तप भारतीय संस्कृति में विहित हैं। तपस्या से प्राचीन काल में अनेक प्रकार की सिद्धियों के प्राप्त करने का वर्णन सर्वत्र मिलता है। पैशाच भाष्य में कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार की तपस्याओं का उल्लेख किया गया है।

आर्जव का अर्थ है सरलता। इसका निरूपण प्रकरणानुसार पहले ही आ चुका है। श्रीरामानुजाचार्य ने मन, वाणी और कार्यों के एक सूत्र में चलने को आर्जव कहा है। वस्तुतः आर्जव नम्रता का ही पर्याय है, नम्रता में विलक्षण आकर्षण रहता है उसी को नीतिकारों ने शील शब्द से भी कहा है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध पद्य है—

“वन्हिस्तस्य जलायते जलनिधिःकुल्यायते तत्क्षणा-

न्मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिस्सद्यः कुरङ्गायते ।

व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते-

यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥’

अर्थात् शीलवान् व्यक्ति के सम्मुख अग्नि जल के समान शीतल हो जाता है, समुद्र छोटी कुल्या बन जाता है, सुमेरु पर्वत छोटी शिला के समान हो जाता है, अत्यन्त क्रूर प्रकृति वाला मृगपति भी शीलवान् पुरुष के सम्मुख आते ही सीधा सा मृग बन जाता है, विषधर सर्प भी माला के समान आचरण करने लगता है। गरल का रस भी पीयूष की वर्षा करने लगता है। इतने विलक्षण प्रभाव वाले आर्जव, नम्रता या शील को दैवी सम्पत्ति में स्थान देना उचित है।

अहिंसा तो प्रसिद्ध ही है। सत्य का स्वरूप भी यद्यपि सभी को ज्ञात रहता है, परन्तु आचरण में सत्य को उतारना प्रारम्भ से ही बहुत कठिन माना गया है। वस्तुतः मन, वाणी और कर्म की एकरूपता रहने से ही सत्य का परिपालन सम्भव है। जिस प्रकार खिले हुए पुष्प की दूर से ही गन्ध प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार सत्य का आचरण करने वाले मनुष्य का प्रभाव बहुत दूर दूर तक व्याप्त रहता है। सत्य को भगवान् का रूप भी बतलाया गया है। सत्य की व्यवहारिक मर्यादा नीतिकारों ने अनेक प्रकार से बनाई है। वास्तव में जो बात जिस तरह घटी हो अथवा जिस घटना का जो परिणाम होनेवाला हो उसको उसी रूप में प्रकाशित कर देना, उसी को सत्य कहते हैं। वेदों में कहा गया है—

**“एतद्धि मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः”**

अर्थात् नेत्र ही मनुष्य के लिए सत्य है जब कोई बात आंख से देखी जाती है तो उसकी सत्यता पर सन्देह नहीं रह जाता। परन्तु सत्य की व्यावहारिक सीमा में उसका प्रिय होना भी आवश्यक है। एक सूक्ति प्रसिद्ध है कि—

**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।**

**प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥**

अर्थात् प्रिय सत्य का ही कथन करना चाहिए, कटु सत्य का नहीं, फिर भी व्यवहारिक रूप में सत्यनिष्ठ होना दैवी सम्पत्तिशाली के लिए आवश्यक माना गया है, वह प्रियता का विचार नहीं करता, चाहे किसी को कटु भी लगे किन्तु अपने सत्य को वह नहीं छोड़ना चाहता।

अक्रोध का अर्थ है दूसरे के द्वारा पीड़ित होने पर भी अपने चित्त को विचलित न करके शान्त रखना। क्रोध आने पर मनुष्य दूसरे को पीड़ित करने लगता है। इस प्रकार के विकार को हटा देना अक्रोध है, यह श्री रामानुजाचार्य का आशय है। श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि यदि कोई बिना किसी कारण के ही ताड़ना करने लगे उस समय भी अपने चित्त पर उस पुरुष के व्यवहार से किसी प्रकार के विकार को उत्पन्न न होने देना ही अक्रोध है।

त्याग का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने संन्यास किया है। त्याग का अर्थ अपने स्वामित्व में आई हुई वस्तु को छोड़ना ही हो सकता है, लोक में त्याग का यही अर्थ प्रसिद्ध भी है, परन्तु श्री शंकराचार्य उक्त अर्थ को यहाँ इसलिए नहीं लेते क्योंकि वह बात दान शब्द से पहिले ही कह दी गई है। समस्त संसार का त्याग करना ही संन्यास

कहा जाता है। श्रीरामानुजाचार्य ने आत्महित के प्रतिकूल जो वस्तुएं हैं उनको दूर कर देना यहाँ त्याग माना है। वस्तुतः त्याग शब्द का अर्थ अठारहवें अध्याय में स्वयं भगवान् करेंगे।

शान्ति का अर्थ है अन्तःकरण का उपशम। इन्द्रियों का अपने विषयों की ओर जो स्वाभाविक आकर्षण है उससे उन्हें रोक देना ही शान्ति है।

दूसरों के प्रति दूसरे के छिद्रों को प्रकाशित करना पिशुनता कहलाती है। यह बहुत बड़ा अपराध है इसे सबसे बड़ा पाप कहा गया है—

**“पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः”**

अर्थात् यदि किसी मनुष्य को पिशुनता या चुगलखोरी की आदत है तो उसे और पातकों की क्या आवश्यकता है क्योंकि पिशुनता तो सभी पापों की अधिष्ठात्री है। इस प्रकार की पिशुनता से दूर रहना अपैशुन कहा जाता है। श्री रामानुजाचार्य दूसरे के लिए अनर्थकर वाक्यों को न बोलना अपैशुन कहते हैं। पैशाच भाष्य में दूसरों के छिद्रों को आवृत कर देना अपैशुन माना गया है। पुरुषोत्तम जी ने सर्वत्र भगवद् बुद्धि से परनिन्दा से विरत हो जाना अपैशुन कहा है।

दुःखितों पर कृपा करना दया कही जाती है। पैशाच भाष्य का आशय है कि भगवान् की सृष्टि में प्रत्येक प्राणी रक्षणीय है, इस बुद्धि से प्राणिमात्र के साथ ममत्व स्थापित करना ही दया है। माध्व भाष्य में दूसरे को दुःखी देखकर उसके दुःख को सहन न करते हुए उसके दुःख निवारणार्थ प्रयत्न करना दया कहा गया है।

अपने विषयों के समीप आने पर इन्द्रियों का चञ्चल हो उठना ही लोलुपता है। ऐसे प्रसङ्ग पर इन्द्रियों में विकार न उत्पन्न होने देना ही अलोलुप्त्व है। श्रीरामानुजाचार्य ने विषयों से निस्पृह रहने को अलोलुप्त्व कहा है।

मार्दव या मृदुता क्रूरता के अभाव का नाम है। मृदुता रहने पर सज्जन पुरुषों की स्नेह भाजनता प्राप्त होती है।

अकार्य या खराब काम करने में लज्जा का अनुभव होना ‘ही’ कहा गया है। पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि भगवान् से पृथक् होकर जो जीवन मिलता है जिसमें कि भगवान् की कोई सेवा आदि नहीं होती ऐसे जीवन से भगवद् भक्त को लज्जा होती है।

बिना किसी प्रयोजन के हाथ पैरों को हिलाना अथवा बिना प्रयोजन के कुछ बोलते रहना यह चञ्चलता या चापल है। इसका अभाव ही यहाँ अचापल शब्द से कहा गया है।

श्रीशंकराचार्य ने तेज का अर्थ प्रगल्भता किया है। त्वचा की कान्ति से यहाँ अभिप्राय नहीं है। दुष्ट जनों के द्वारा अपना अभिभव न होना ही तेज का लक्षण है। वह तेज दैवी सम्पत्ति वाले पुरुषों में सर्वदा विद्यमान रहता है। महाकवि कालिदास ने लिखा है—

“शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः”

अर्थात् शान्ति प्रधान तपस्वी जनों में दुष्टों को भस्म कर देने वाला दाहात्मक तेज निगूढ़ है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि दैवी सम्पत्तिवाला मनुष्य सीधा साधा और अशक्त होगा तो कोई भी दुष्ट और दुराचारी मनुष्य उसके सौजन्य का दुरुपयोग कर सकता है और इस प्रकार वह सर्वदा दुर्जनों के ही चङ्गुल में पड़ा रहेगा। यदि उसमें दुर्जनों के दुराचार को दबाने का सामर्थ्य रहेगा तभी वह निश्चिन्तता से आत्मलीन हो सकेगा। ऐसी अनेक प्राचीन कथाएं प्रसिद्ध हैं जिनमें ऋषियों और सत्पुरुषों के द्वारा अपने निगूढ़ तेज का प्रयोग देखा जाता है। तपस्या में निरत वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में एक बार महाराज विश्वामित्र पहुँचे, उनका वहाँ इतना विलक्षण अतिथि सत्कार हुआ कि वह आश्चर्यान्वित हो गए। मृगया के लिए एक बहुत बड़ी सेना भी वे अपने साथ ले गए थे। इतने बड़े जन समुदाय का स्वागत देखकर उन्होंने महर्षि वसिष्ठ से यह पूछा कि आपके आश्रम में इस प्रकार की सुदुर्लभ अतिथि सत्कार के योग्य सामग्री कहाँ से आई ? तब उन्हें पता चला कि कामधेनु महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में निवास करती है और उसके प्रभाव से कुछ भी वस्तु अलभ्य नहीं है। यह जानकर महाराज विश्वामित्र ने महर्षि से निवेदन किया कि ऐसी गऊ तो राज प्रासादों में उचित है, आपकी तो आवश्यकताएं बहुत अल्प हैं उनकी पूर्ति तो हमारे यहाँ से ही अनायास हो सकेगी, आप कृपया कामधेनु को मेरे राजमहल में ले जाने की अनुमति दे दीजिए। इस पर महर्षि वसिष्ठ ने यही उत्तर दिया कि कामधेनु स्वतंत्र है, उसे कोई आज्ञा नहीं दे सकता, यदि वह स्वयं आपके साथ जाने को प्रस्तुत हो तो आप उसे बड़े हर्ष से ले जा सकते हैं। कामधेनु ने महर्षि वसिष्ठ के पास में आकर उन्हीं के आश्रय में रहने की दृढ़ अभिलाषा व्यक्त की। इस पर महाराज विश्वामित्र ने क्रुद्ध होकर महर्षि वसिष्ठ सहित कामधेनु को बांधकर ले चलने की अपने सैनिकों को आज्ञा दी। महर्षि का निगूढ़ तेज प्रगट हुआ और उनके तेज के सामने ठहरने की किसी की सामर्थ्य नहीं रही। विश्वामित्र भी यह कहकर तपस्या करने वन में चले गए कि इस वृद्ध में जो सामर्थ्य है वह प्राप्त करके ही अब मैं वापस लौटूंगा।

इसी प्रकार महर्षि अगस्त्य की कथा प्रसिद्ध ही है कि कामान्ध इन्द्रपद पर



आसीन राजा नहुष के द्वारा पालकी में जोते जाने पर सिर में उसके पैर की ठोकर खाने के उपरान्त उनका निगूढ़ तेज जाग उठा और उन्होंने नहुष को सर्प बनाकर स्वर्ग से नीचे गिरा दिया। स्वयं भगवान् कृष्ण के चरित्र में ऐसी अनेक घटनाएं आती हैं जहाँ उन्होंने अपने तेज का प्रभाव दिखाया। सन्धि का प्रस्ताव लेकर जब वे दुर्योधन की राजसभा में उपस्थित हुए और दुर्योधन ने उनको बांधना चाहा तब उन्होंने अपना तेज प्रकाशित किया जिससे सभी लोग संत्रस्त हो गए। दैवी सम्पत्ति में तेजस्विता या तेज का परिगणन उस प्रकार के पुरुष की अनभिभवनीयता को प्रकाशित करता है।

क्षमा का तात्पर्य अपराधी के अपराध को भूल जाना है। महापुरुष क्षमाशील होते हैं बड़े-बड़े अपराधियों के प्रति भी उनके चित्त में कोई विकार नहीं आता। पहले जो अक्रोध कहा गया है उससे क्षमा में यह भेद है कि क्षमा में क्रुद्ध और ताड़ना करने वाले व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का बुराभाव उत्पन्न नहीं होता, और अक्रोध में चित्तवृत्ति की क्रूरता भी नहीं उत्पन्न हो पाती।

धृति का अर्थ है धैर्य। बड़ी आपत्ति में पड़ जाने पर भी कर्तव्य का निरन्तर ध्यान रखने वाला पुरुष ही धृतिमान् या धीर कहलाता है—

“विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।”

अर्थात् चित्त के विकार के कारण के उपस्थित होने पर भी जिनका चित्त विकृत नहीं होता वे ही धीर कहे जाते हैं। श्रीशंकराचार्य अवसाद प्राप्त देह और इन्द्रियों के दुःख को हटाने वाली चित्तवृत्ति को धृति कहते हैं। जिससे अनुगृहीत होकर देह और इन्द्रियाँ कष्ट का अनुभव नहीं करतीं।

शौच का अर्थ पहले किया जा चुका है। वह दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य उन दोनों का ही विस्तार से विवेचन हो चुका है। पुनरुक्ति की शंका शुचिता के महत्व को जमाने के लिए मान लेने पर नहीं रहती।

अद्रोह का अर्थ है दूसरे को नष्ट करने की इच्छा का अभाव। अनतिमानिता का अर्थ है स्वयं को अत्यधिक पूज्यकोटि में न समझना। वैसे तो मानिता ही त्याज्य है परन्तु कई बार जनसम्मर्द से स्वयं को पृथक् करने के लिए थोड़ा बहुत मानप्रदर्शन आवश्यक हो जाता है, परन्तु अतिमानी कभी नहीं होना चाहिए। ये ही समस्त गुण भगवान् ने दैवी सम्पत्ति के रूप में बतलाए हैं। इसके आगे परित्याज्य के रूप में आसुरी सम्पत्ति और असुरों के स्वभाव का भगवान् ने विस्तार से वर्णन किया है।

## उन्तीसवां-पुष्प

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ! ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ ! मे शृणु ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥

“हे पार्थ ! आसुरी सम्पत्ति में उत्पन्न होने वाले पुरुष दम्भ, दर्प, अत्यन्त मान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान को प्राप्त करते हैं।”

दैवी सम्पत्ति के विपरीत आसुरी सम्पत्ति होती है। अतः दैवी सम्पत्ति से विपरीत लक्षण आसुरी सम्पत्ति के हैं। ये सब असुरों के मनोभाव हैं, असुर भाव में रहने वालों की चित्तवृत्ति दम्भ आदि से परिपूर्ण रहती है। आगे चलकर इसी अध्याय में भगवान् ने यह भी दिखा दिया है कि असुरमनोभावों का क्या रूप होता है और वे किस प्रकार के क्रियाकलापों से समस्त संसार को उद्विग्न करते हैं। अमानित्व अदम्भित्व आदि ज्ञान के निरूपण में त्रयोदश अध्याय में निषेध मुखेन हम इस श्लोक में कथित दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और पारुष्य का विवेचन कर चुके हैं।

दैवी और आसुरी सम्पत्ति का स्वरूप बतलाकर भगवान् इनके फल अथवा कार्य का विवरण करते हैं—

“दैवी सम्पत्ति मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पत्ति बन्धन के लिए होती है, हे पार्थ ! तुम शोक मत करो, तुम्हारा जन्म दैवी सम्पत्ति में हुआ है।”

श्री रामानुजाचार्य ने ‘निबन्ध’ का अर्थ अधोगति की प्राप्ति किया है। श्रीपुरुषोत्तम जी ने अन्धतम की प्राप्ति को ‘निबन्ध’ बतलाया है। दैवी सम्पत्ति का आश्रय लेकर प्राणी बन्धनों से छूटता है और आसुरी सम्पत्ति का आश्रय लेकर अधिकाधिक बन्धनों में बँधता ही चला जाता है।

श्री वामनाचार्य ने लिखा है कि देह को ही आत्मा और जड़ को ही सत्य मानना

बन्ध है, इससे विपरीत आत्मा को देह से सर्वथा पृथक् समझना तथा चेतन को सत्य समझना ही मोक्ष है। दैवी सम्पत्ति आत्मा की देह से पृथक् सत्ता समझने में और चेतन को अन्तिम सत्य समझने में अत्यन्त सहायक होती है। बन्ध यद्यपि अविद्या से होता है परन्तु आसुरी सम्पत्ति उसे और भी अधिक कस देती है इसीलिए निश्शेष रूप से बन्धन के अर्थ में यहाँ भगवान् ने 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग किया है।

अर्जुन ने जब दम्भ, दर्प, अभिमान आदि का आसुरी सम्पत्ति के रूप में चित्रण भगवान् से सुना तब उसके सामने अपने जीवन के दम्भ, आदि से भरे चित्र आने लगे। उसे निश्चय होने लगा कि मैं आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुषों में ही परिगणित हूँ। अज्ञान की स्थिति तो मुझ में है ही, अन्यथा युद्ध के विषय में मैं लडूँ या न लडूँ ऐसा सन्देह मुझे क्यों होता। वह मेरे अज्ञान के कारण ही हुआ जिसको हटाने के लिए भगवान् को इतना उपदेश देना पड़ रहा है। समय समय पर दम्भ आदि का उदय भी मुझमें होता ही रहा है, अतः मैं आसुरी सम्पत्ति वाला ही व्यक्ति हूँ और मेरी दुर्गति ही होगी। ऐसे भाव अर्जुन के मन में उठने लगे और उसके मुख पर भी विषाद का प्रभाव परिलक्षित हो उठा। उसे देखकर उसके विषाद को दूर करते हुए भगवान् ने कहा हे पाण्डव ! तुम मेरे सहचर और महाराज पण्डु के पुत्र हो, समय समय पर दम्भादि वृत्तियों के चित्त में उदित होने पर भी अन्ततः तुम उनपर अधिकार रखने में समर्थ हो, तुम यदि आसुरी सम्पत्ति में होते तो हम तुम्हें यह सब उपदेश ही क्यों देते ? अतः तुम्हें अपने को दैवी सम्पत्तिशाली समझने में सन्देह नहीं करना चाहिए।

आगे भगवान् कहते हैं—“हे पार्थ ! इस संसार में प्राणियों की दैवी और आसुरी दो ही श्रेणियाँ होती हैं। उनमें दैवी श्रेणी का वर्णन विस्तार से कह दिया गया अब तुम आसुर वर्ग का विवरण सुनो !” परस्पर विरोधी दो बातें जब कही जाती हैं, तब सभी कुछ उन दोनों के ही अन्तर्गत आ जाता है। मानव और मानवेतर कह देने से सभी पदार्थ इन दोनों के अन्तर्गत आ जायँगे। धर्म और अधर्म कहने से इनके बाहर क्या बचेगा। हाँ, जिस विषय में ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें कही जाँय, अभाव कोटि में उसी से सम्बद्ध बातों को लेने से समझने में सुविधा होती है, अतः अभाव पक्ष में प्रकरणानुसार विषय का संकोच कर दिया जाता है। भाव पक्ष तो निश्चित ही रहता है उसी के आधार पर अभाव पक्ष को भी समझ लिया जाता है, इसीलिए यहाँ भगवान् ने भूत सर्ग को दैव और आसुर बतलाया है। साथ ही यहाँ एक दूसरे का अभाव दिखाना लक्ष्य भी नहीं है, अपितु उनका परस्पर विरोध दिखाने में तात्पर्य है। उनमें से 'दैव का विस्तार से कथन कर दिया' इस भगवान् के कथन का आशय श्री शंकराचार्य

ने यह लगाया है कि—अभय, सत्व संशुद्धि आदि को बतलाकर विस्तार से कहा। उसकी अपेक्षा आसुरी सम्पत्ति को दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और पारुष्य ये पांच बातें कह कर ही छोड़ दिया, अतः आसुरी सम्पत्ति की अपेक्षा दैवी सम्पत्ति विस्तार से कही गई। श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि विगत गीता के अध्यायों में प्रतिपादित कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि दैवी सम्पत्ति से संबद्ध हैं। उन्हीं का विस्तार से प्रतिपादन भी हुआ है, अतः दैवी सम्पत्ति के विस्तार से कथन की बात कही गई। श्रीविद्यावाचस्पति मधुसूदन जी ओझा ने यह लिखा है कि यह श्लोक बहुत सी पुस्तकों में नहीं मिलता। और त्रयोदशाध्याय के आरम्भिक पद्य को मान लेने पर गीता की श्लोक संख्या भी बढ़ती है। दैवी और आसुरी सम्पत्ति का वर्णन पूर्व प्रकान्त होने से उसका यह नवीन सा उपक्रम उपयुक्त भी नहीं मालूम होता। अतः इस पद्य को प्रक्षिप्त समझना चाहिए। आगे विस्तार से आसुर सर्ग का वर्णन करते हैं—

“असुर भाव वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते उनमें पवित्रता, आचार अर्थात् शुद्धि और अशुद्धि का विवेक और सत्य की स्थिति नहीं है।”

प्रवृत्ति और निवृत्ति का अर्थ है शास्त्र के द्वारा बोधित कार्यों का अनुष्ठान करना और शास्त्रों में निषिद्ध कार्यों से विरत हो जाना। आसुर भाव वाले पुरुष या तो शास्त्रों को जानते ही नहीं, यदि जानते भी हों तो आसुरभाव के वश में आकर शास्त्र बोधित कर्तव्याकर्तव्य की अवहेलना करते हैं। उनकी अवहेलना भी अज्ञान मूलक ही होती है, अतः भगवान ने ‘न विदुः’ ही कह दिया है। वस्तुतः आसुर स्वभाव वालों को भी ज्ञान होता है यह अनेक प्राचीन उदाहरणों से सिद्ध है। रावण के विषय में प्रसिद्ध है कि वह शास्त्रों का बड़ा पण्डित था। दुर्योधन ने कहा था कि—

“ जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि । ”

अर्थात् मैं धर्म के स्वरूप को जानता हूँ परन्तु धर्म में मेरी प्रवृत्ति नहीं होती, अधर्म को जानते हुए भी मेरी उससे निवृत्ति नहीं होती, हृदयस्थित किसी देवता के द्वारा जैसी प्रेरणा पाता हूँ वैसा ही करता हूँ। इससे स्पष्ट है कि आसुर स्वभाव वाले बहुत से पुरुषों को भी ज्ञान तो होता है, परन्तु आसुर स्वभाव से दबा दिये जाने के कारण उनका वह ज्ञान नहीं के ही समान है। जिस हृदयस्थित देवता की दुर्योधन ने बात कही है, वह आसुर स्वभाव ही है। उनमें पवित्रता का कोई विचार नहीं रहता और वे स्वच्छन्द आचरण करते हुए सत्य की भी परवाह नहीं करते। एक व्याख्याकार ने लिखा है कि परमहंस और त्रिगुणातीत पुरुषों के आचरणों और क्रिया कलापों में

भी स्वच्छन्दता कई बार मिल सकती है, परन्तु वे पूर्ण सत्य रूप परब्रह्म में निरन्तर लीन रहते हैं अतः उनमें सत्य का अभाव कभी नहीं देखा जा सकता। उनसे भेद दिखाने के लिए यहां आसुर भाव वालों में सत्य का भी अभाव होता है, यह कहा गया। जैसा कि विगत प्रवचनों में स्पष्ट किया जा चुका है, मन, वाणी और कर्म का एक सूत्र में स्थित रहना ही सत्य है, परन्तु आसुर भाव वाले पुरुषों के मन में कुछ रहता है, वाणी में कुछ और ही रहता है और उनके आचरण कुछ और ही होते हैं।

---

**तीसवां-पुष्प**  
**असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।**  
**अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥**

“आसुरी सम्पत्ति वाले जगत् को असत्य, अप्रतिष्ठ, ईश्वर शून्य, अपरस्पर सम्भूत और काम मूलक कहते हैं।”

श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार सांसारिक लोग प्रायः असत्य का ही व्यवहार करते हैं, अथवा जैसे आसुर भाव वाले अपना रूप असत्यमय रखते हैं, वे संसार को भी वैसा ही असत्य समझते हैं। श्री रामानुजाचार्य आदि व्याख्याकारों ने कहा है कि श्रुति स्मृति आदि में ब्रह्म को ही सत्य माना गया है, वही जगत् का आधार है।

**“तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति**  
**प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्”**

(बृहदारण्यक ३०)

**“एष ह्यैवतत् सादयति यामयति चेति”**  
**“सदेव सोम्येदमग्र आसीत्”**

(छान्दोग्य उपनिषद्)

**“तत् सत्यमित्याचक्षते”**

(तैत्तिरीय सं०)

इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म को ही सत्य कहा है और वह समस्त संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है ऐसा माना गया है। आसुरी लोग जगत् को असत्य कहकर ब्रह्म की सत्ता अथवा उसके दृश्यमान जगत् से किसी भी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार कर देते हैं। कुछ व्याख्याओं में धर्माधर्म को सत्य कहा है और असुर स्वभाव वालों को धर्माधर्म विवेक से वर्जित देखकर उनकी दृष्टि में संसार असत्य है यह बात मानी गई है।

संसार को आसुरी सम्पत्तिशाली के पक्ष में असत्य कहने का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जैसे पारमार्थिक दृष्टि से जगत् सत्य नहीं है; मिथ्या है, वैसे ही व्यावहारिक दृष्टि से जगत् मिथ्या नहीं है सत्य है। जब तक मनुष्य जगत् की व्यावहारिक

सीमा में है तब तक वह जगत् को मिथ्या नहीं कह सकता। परन्तु आसुरी सम्पत्ति के लोग दम्भ के वशीभूत होकर व्यावहारिक दशा में भी अपनी प्रतिष्ठा जमाने और अपने ज्ञान का आडम्बर बांधने के लिए जगत् को मिथ्या कहने लगते हैं। अपने बाह्य आवरण के भीतर रहते हुए वे विविध दुराचरणों में लिप्त रहते हैं, और जब कभी लोगों की दृष्टि उनके दुराचरणों पर जाती है तब वे जगत् को तथा अपने सभी व्यवहार को असत्य कह कर बच जाते हैं। उसी बात को यहाँ असत्य शब्द से कहा है। ज्ञानी होने का दम्भ भरने वाले ऐसे लोग आसुरी सम्पत्ति से लदे होते हैं।

तत्त्व दीपिका में असत्य शब्द से मायावाद को ग्रहण करके अद्वैतवादी को ही आसुरी माना गया है। अद्वैतवाद में संसार को रज्जु स्थित भ्रमजन्य सर्प के समान मिथ्या माना गया है। तत्त्व दीपिका में उसी पर आक्षेप है। अद्वैतवाद का वेदान्त के अन्य विशिष्टाद्वैत आदि मतों से सामञ्जस्य नहीं बैठता। विशिष्टाद्वैतवाद में संसार को सर्वथा सत्य माना जाता है, अतः इस अंश में शुद्धाद्वैत मत का अद्वैतवाद से विरोध होता है। प्रस्तुत पद्य में भगवान् का कटाक्ष सिद्ध करने के लिए शुद्धाद्वैत वादी क्यों पीछे रहते। ऐसा स्वर्णावसर वे अपने हाथ से कैसे जाने देते, उन्होंने असत्य शब्द से श्री शंकराचार्य के मायावाद को लेकर अद्वैतमत को आसुर मत सिद्ध करने की चेष्टा की। अद्वैतवाद पर किये गए इस आक्षेप का वामनाचार्य ने अपनी टिप्पणी में विस्तार से पद्यबद्ध समाधान कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि कुछ लोग अद्वैतवाद की निन्दा का आशय निकालने की चेष्टा करते हैं, परन्तु उनका यह प्रयास अशोभनीय है। क्योंकि शतशः श्रुतियों में द्वैतवाद को स्पष्ट रूप से मिथ्या कहा गया है। सत्रहवें अध्याय में गीता में भी “वासुदेवः सर्वम्”। (१७।११)

कहकर अद्वैतवाद को स्वीकार किया गया है। चिदाभास को सिद्ध करते हुए श्री वामनाचार्य कहते हैं—

“एकस्यान्यस्वरूपत्वं न तस्याभासतं विना

घटते न घटः क्वापि पटो न च पटस्ततः”।

अर्थात् एक वस्तु आभासता के बिना दूसरी वस्तु के रूप में नहीं बदल सकती। घट कभी पट नहीं होता। अतः ईश्वर के संसार रूप बन जाने के लिए चिदाभास का मानना आवश्यक हो जाता है और मूलतत्त्व एक परब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। उन्होंने आगे कहा है कि जो भगवान्—

‘ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः’

‘ सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ’ ।

“ तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् । ”

“ पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं तद्राजसम् ”

इत्यादि अनेक पद्यों में अद्वैतवाद के सार का उपदेश कर चुके हैं, वे भला जगत् को पारमार्थिक रूप में मिथ्या कहने वाले अद्वैत सिद्धान्त को आसुरी सम्पत्ति में कैसे गिन सकते हैं। अतः यह दृष्टिकोण ठीक नहीं।

असत्य के बाद आसुरी लोगजगत् को अप्रतिष्ठ भी कहते हैं। यदि अद्वैतवाद से यहाँ तात्पर्य होता तो वहाँ तो ब्रह्म पर इस असत्य जगत् को प्रतिष्ठित माना गया है, अर्थात् ब्रह्म ही जगत् की प्रतिष्ठा है, परन्तु आसुरी सम्पत्ति वाले लोग ब्रह्म को या प्रकृति को न मानने के कारण जगत् की कोई प्रतिष्ठा या जगत् का कोई आधार है, ऐसा नहीं मानते। लोकमान्य तिलक इस पद्य से यह आशय व्यक्त करते हैं कि वेदान्त और सांख्य सम्मत सिद्धान्तों का अपलाप आसुरी लोग करते हैं, वेदान्त ने ब्रह्म को जगत् की प्रतिष्ठा कहा और सांख्य ने प्रकृति को जगत् का मूलाधार माना, परन्तु आसुरी लोग इन दोनों में से किसी को भी नहीं मानते और संसार को सर्वथा निराधार मानते हैं। एक व्याख्या में यह भी कहा गया है कि पुराण आदि शास्त्रों के अनुसार पृथ्वी का आधार पाताल स्थित शेषनाग है, वही हमारे जगत् की प्रतिष्ठा या उसका आधार है। असुर भाव वाले लोग ऐसी किसी बात पर विश्वास नहीं करते, वे तो प्रत्यक्ष वादी होते हैं, जैसा देखते हैं वैसा ही मानते हैं, जो कुछ वे नहीं देखते उसको स्वीकार नहीं करते। प्रत्यक्ष संसार का कोई शेषनाग आदि आधार प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता अतः उनके लिए वह मानने की बात नहीं है।

जब उन्होंने केवल प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मान लिया तो वे ईश्वर की सत्ता को भी अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष उन्हें दिखाई नहीं देता। अपरस्पर सम्भूत की कई तरह की व्याख्या व्याख्याकारों ने की है। अधिकांश व्याख्याकारों ने अपर और पर दोनों शब्दों को जोड़कर—

“ अपरस्परं क्रियासातत्ये ”

इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अपर के आगे सुट् प्रत्यय करके अपरस्पर शब्द माना है। इसका अभिप्राय है कि अपर अर्थात् पुरुष और पर अर्थात् स्त्री, इनसे यह जगत् सम्भूत अर्थात् उत्पन्न होता है। स्त्री पुरुष के संसर्ग से ही सबकी उत्पत्ति होती है ऐसा वह प्रत्यक्ष देखते हैं, अतः ऐसा ही मानते भी हैं कि जगत् की उत्पत्ति का



कारण ढूँढ़ने के लिए ब्रह्म आदि तत्त्वों का अन्वेषण करना व्यर्थ है, वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है और आगे उसी का स्पष्टीकरण—

### “किमन्यत् कामहेतुकम्”

अर्थात् इस जगत् के विषय में अधिक कहने की क्या आवश्यकता है, इतना ही कह देना पर्याप्त है कि जगत् का मूल काम वासना है। श्रीरामानुजाचार्य ने अन्वय दूसरे प्रकार से लगाया है। वे कहते हैं कि—

“अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्”

इसको अलग करके ‘किमन्यत्’ को “अपरसपर सम्भूतम्” के साथ रखना चाहिए। अपरस्पर सम्भूतं का वही अर्थ है जो पहिले किया जा चुका है, तब इस अन्वय का अर्थ होगा कि इस संसार में ऐसा कौन है जो स्त्री पुरुष के संसर्ग के अतिरिक्त प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ हो। अन्त में उसी का द्रढ़ीकरण करते हुए कहा है “कामहेतुकम्” अर्थात् समस्त जगत् स्त्री पुरुषों की कामवासना से उत्पन्न होने के कारण ‘कामहेतुक’ या ‘काममूलक’ है।

लोकमान्यतिलक इस व्याख्या को क्लिष्ट कल्पना पर आधारित मानते हैं। उनके मत में—

‘अपरस्परसम्भूतम्’ का अर्थ ‘नञ्’ घटित होना चाहिए। यह जगत् परस्पर अर्थात् एक से दूसरा इस क्रम से सम्भूत नहीं है। वेदान्त और सांख्य में उपनिषदों के आधार पर जगत् की उत्पत्ति का एक क्रम माना गया है।

“आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः।

अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः।

ओषधीभ्य अन्नम्। अन्नात् पुरुषः।

(तैत्ति०, २।१)

इस तैत्तिरीय श्रुति में आत्मा से आकाश, उससे वायु, उससे अग्नि, उससे जल, उससे पृथ्वी, उससे ओषधियाँ, उनसे अन्न, और उससे पुरुष की उत्पत्ति कही गई है। गीता में भी—

“अन्नाद् भवन्ति भूतानि”

इत्यादि पद्यों में उक्त क्रम को परिपुष्ट किया गया है, मनुस्मृति में भी इस प्रकार का क्रम मिलता है, परन्तु सबका आधार तैत्तिरीय श्रुति ही है। इसी प्रकार का जगत्

की उत्पत्ति का जो श्रुति सम्मत और दार्शनिकों के द्वारा समादृत एक निश्चित क्रम है, उसको आसुरी सम्पत्ति वाले स्वीकार नहीं करते, क्योंकि इस प्रकार के जगत् के किसी निश्चित क्रम को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता और प्रत्यक्ष के अतिरिक्त उनके यहां और कई प्रमाण माना नहीं जाता। अतः वे इस क्रम को अस्वीकार कर देते हैं। जब उनसे पूछा जाय कि तुम जगत् की उत्पत्ति का कारण क्या मानते हो तो वे कहते हैं कि इसका कारण काम वासना है।

आसुरी सम्पत्तिशाली मनुष्यों के ये जगत् के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति सम्बन्धी विचार न केवल तर्क दृष्टि से रिक्त हैं अपितु व्यावहारिक और नैतिक दृष्टि से भी कितने हेय हैं यह बात स्पष्ट है। ये लोग स्त्री पुरुष के संसर्ग में विवाह आदि किसी नियम की परवाह नहीं करते। रावण ने विवाहिता भगवती सीता के अपहरण में कोई संकोच नहीं किया। दुश्शासन ने द्रौपदी को भरी सभा में नग्न करते समय नैतिकता का कोई विचार नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्य किसी नियम को नहीं चलने देते, उनके कारण सारी सामाजिक शान्ति खतरे में पड़ जाती है। जगत् के प्रति अपनी उक्त दृष्टि बनाकर वे आगे क्या क्या करते हैं यह भगवान् अग्रिम पद्यों में बतला रहे हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्याकारों की व्याख्याओं का संकलन किया गया। हमारे मत से तो यह सम्पूर्ण पद्य बौद्ध मत का संकेत है क्योंकि बौद्ध मत भी मत दृष्टि से बड़ा प्राचीन है। श्रुति में भी उसका निराकरण कई जगह आता है। इसी तरह गीता में भी उसकी तरफ संकेत किया गया कि वे लोग आसुरी सम्पत्ति के ही हैं। वे भी इस जगत् को असत्य कहते हैं। 'शून्यं, शून्यम्, क्षणिकं क्षणिकम्' इत्यादि उनके सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं और जगत् की प्रतिष्ठा वे कहीं नहीं मानते। इससे उनके मत में जगत् अप्रतिष्ठ असत्य है और परस्पर उत्पत्ति भी जैसी कि श्रुति में दिखाई है वह भी उनके मत में नहीं बन सकती, क्योंकि जब संसार के सब पदार्थ क्षणिक हैं तो दूसरे को पैदा करने का उनको अवसर ही कहाँ मिलेगा। तब यह जगत् हुआ क्यों इसका उत्तर वे यही देते हैं कि काम इस संसार का मूल है। अतः काम विजय को ही इस क्षणिक और दुःखमय संसार से छूटने का उपाय और उसी को अन्तिम लक्ष्य मान लेते हैं। परन्तु काम विजय करने के उपरान्त उनके सामने कोई लक्ष्य नहीं रह जाता और तब उनकी स्थिति सर्वदा लक्ष्यहीन और निरालम्ब रह जाती है। न तो वे धर्म विधि से सांसारिक जीवन बिताते हुए क्रम मुक्ति ही पाते हैं और ज्ञान मार्ग से मुक्ति तो उनके लिए बहुत दूर की चीज हो जाती है, क्योंकि ज्ञान स्वरूप आत्मा से विमुख रहते हैं। इस प्रकार इस सम्पूर्ण पद्य में बौद्ध मत का ही संकेत प्रतीत होता है।

## इकतीसवां-पुष्प

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः  
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः । १ ।  
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः  
मोहादगृहीत्वाऽसदग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः । १० ।  
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः  
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः । ११ ।  
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः  
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् । १२ ।  
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्  
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् । १३ ।  
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि  
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी । १४ ।  
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया  
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः । १५ ।  
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः  
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ । १६ ।  
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः  
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् । १७ ।  
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः  
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः । १८ ।  
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्  
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु । १९ ।  
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।  
ममप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् । २० ।

“इस दृष्टि का आश्रय लेकर नष्ट आत्मा वाले और अल्पबुद्धिवाले तथा क्रूर कर्म करनेवाले ये जगत् के शत्रु जगत् के नाश के लिए उत्पन्न होते हैं वा नाश करने में समर्थ रहते हैं (९)” दृष्टि और दर्शन एक ही बात है। यहां विचार के अर्थ में दृष्टि शब्द का प्रयोग है। विगत पुष्प में जो जगत् के विषय में असत्य, अप्रतिष्ठ आदि कहा गया है, वही आसुरी सम्पत्ति वालों का दर्शन है। प्रत्येक कार्य चाहे वह अच्छा हो या बुरा उसके पीछे एक विचार, दर्शन या दृष्टि अवश्य होती है। आसुरी सम्पत्ति वालों की भी एक दर्शन या दृष्टि है जो कि ऊपर कही गई है। जैसे विचार होंगे आचरण भी उसके अनुसार ही होगा। जब उन्होंने जगत् को असत्य अप्रतिष्ठ आदि मान लिया तो अब उन्हें परोक्ष सत्ता का कोई भय ही नहीं रह गया। अब अपनी शक्ति ही उनका परम आश्रय या आधार है। वे अपनी शक्ति को निरन्तर बढ़ाने में लग जाते हैं, उनकी आत्मा नष्ट हो जाती है, उनका जो अपना पूर्वानुगत साधु स्वभाव है, वह चला जाता है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण का आश्रय लेने से परोक्ष और व्यापक सत्ता की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। उनकी बुद्धि भी अल्प हो जाती है। केवल प्रत्यक्ष मात्र का आश्रय लेना बुद्धि की अल्पता का सूचक है। धर्म और मोक्ष की अभिलाषा का एकान्ततः परित्याग करके केवल अर्थ और काम के वशीभूत हो जाना भी बुद्धि की अल्पता का ही सूचक है। वे संसार को अपने वश में लेने के लिए हिंसा का आश्रय लेते हैं। जो उनका कहना नहीं मानता उसका वे वध कर देते हैं। इसीलिए वे जगत् के घोर शत्रु बनकर संसार के नाश का उपक्रम रचने लगते हैं।

“जिसका पूर्ण करना कठिन है ऐसे काम का आश्रय लेकर दम्भ, मान और मद के वशीभूत होकर मोह के कारण अशुभ विचारों का ग्रहण करते हुए और अपवित्र व्रतों को लेते हुए ये व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं” (१०)

श्रीरामानुजाचार्य ने ‘असद् ग्राह’ का अर्थ किया है कि जिनका धनार्जन असत् है। अन्याय से जो द्रव्य का ग्रहण करते हैं।

आनन्दगिरि आदि व्याख्याओं में लिखा है कि कामिनी आदि के वशीकरण, राजा के वशीकरण आदि के उद्देश्यों से प्रेरित होकर ये लोग विविध देवताओं की पूजा, उनकी बलि आदि देते हैं और मद्य, मांस आदि का प्रयोग करते हुए अशुचि व्रत धारण करते हैं।

“वे प्रलय तक की अपरिमित चिन्ता करते रहते हैं, कामोपभोग में रत रहते हैं, और यही सब कुछ है ऐसा निश्चय उनका होता है” (११)

ये लक्षण प्रायः आधुनिक सब ही लोगों में किसी मात्रा में प्राप्त होते हैं। प्रत्येक

प्राणी का जीवन एक निश्चित समय के लिए होता है। अस्थिर और क्षण भंगुर संसार में आज एक क्षण बाद क्या होगा और कल क्या हो जायगा यह किसी को मालूम नहीं होता।

“किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्”

मत्त स्त्रियों के पलकों के समान चञ्चल और अस्थिर यह जीवन बतलाया गया है। इतने अस्थिर जीवन में रहते हुए भी आसुरी सम्पत्ति के लोग प्रलय तक के प्रोग्राम बनाते रहते हैं। वे यह मानने के लिए तैयार नहीं होते कि इन कार्यक्रमों को पूरा करने से पहिले ही वे संसार से कूच कर जायंगे। कुछ व्याख्याकारों ने प्रलय का अर्थ यहां मरण भी किया है। अर्थात् वे मरण पर्यन्त की चिन्ता करते रहते हैं, चिन्ता भी अपने सुख और उपभोग की ही उनकी होती है और इसी में वे अपना सम्पूर्ण जीवन बिता देते हैं,

‘एतावदिति निश्चिताः’

का अर्थ किया गया है कि जो कुछ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है वही सब कुछ है उसके बाहर परलोक या ईश्वर कुछ नहीं है, ऐसा उनका निश्चय होता है। कुछ व्याख्याओं में अर्थ और काम तक ही उनकी अभिलाषाएं रहती हैं, इससे आगे धर्म और मोक्ष भी है यह वे नहीं मानते, ऐसा कहा गया है।

“वे शतशः आशा रूपी पाशों से आबद्ध रहते हैं, काम और क्रोध परायण होते हैं, कामभोग के लिए निरन्तर अन्यायपूर्वक अर्थसंचित करते रहना चाहते हैं। (१२)

आशा संसार में बहुत बड़ा पाश है। एक उक्ति है—

‘आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्’

आशा बहुत बड़ा दुःख है और निराश अर्थात् आशाओं से रहित रहना परम सुख है। आसुरी सम्पत्ति के लोग एक, दो, नहीं शतशः आशापाशों से आबद्ध रहते हैं। वे काम, क्रोध परायण हो जाते हैं, काम और क्रोध ही उनके परम आश्रय रहते हैं। या तो वे काम लिप्त रहते हैं और या किसी पर क्रुद्ध होकर उसे नष्ट करने को समुद्यत रहते हैं, अपनी कामनाओं के उपभोग के लिए उन्हें द्रव्य की आवश्यकता होती है। अतः लूट-पाट करके, हत्या करके, डाका डालकर, चोरी करके, युद्ध के द्वारा वे निरन्तर अर्थसंचय करते रहने की अभिलाषा रखते हैं। न्याय का उनके जीवन में कोई स्थान ही नहीं होता, अतः एक सभ्य पुरुष की भांति न्यायपूर्वक द्रव्यसंग्रह करना वे नहीं जानते।

आगे आशापाशों का विवरण करते हैं—

“आज मैंने यह प्राप्त किया, अब इस मनोरथ को करूँगा, मेरे पास तो यह धन है ही और वह धन भी मेरे पास आ जायगा” (१३)

“मैंने अमुक शत्रु को मार दिया है, अन्य शत्रुओं को भी मौत के घाट उतार दूँगा, मैं ही ईश्वर हूँ, सब वस्तुओं का भोग करने वाला मैं ही हूँ, मैं सिद्ध हूँ (क्योंकि मेरे पास सभी सिद्धियाँ मौजूद हैं) मैं बलवान् और सुखी हूँ” (१४)

“मैं धनी हूँ, उच्चकुलसंभूत हूँ, मेरे समान और कौन है, मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आनन्द प्राप्त करूँगा, इस प्रकार के अज्ञान से वे विमोहित रहते हैं” (१५)

उक्त श्लोकों में बतलाया गया है कि आसुरी लोगों की प्रवृत्ति स्वभावतः अन्याययुक्त कर्मों में रहती है। वे अपने आगे सम्पूर्ण जगत् को तृण समझते हैं और जिस वस्तु की कामना उनको होती है उसे प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार के साधन को काम में लेने से नहीं चूकते। उनमें पहले सिरे का अहंकार होता है। यह अहंकार सभी क्षेत्रों में होता है। धन में, वे अपने बराबर धनी किसी को नहीं रहने देना चाहते। रावण ने अपनी पूरी लंका सोने की बना ली थी, जिसका उदाहरण ही अन्यत्र दुर्लभ है। आसुरी लोग अपने अतिरिक्त अन्य किसी को ईश्वर नहीं मानते। प्रह्लाद जब भगवान् का स्मरण करता था और अच्छी अच्छी साधुजनोचित बातें करता था तो उसके पिता असुरराज हिरण्यकश्यपु को बहुत खराब मालूम होता था, अन्ततः ईश्वर की रट लगाने वाले अपने पुत्र को भी उसने मार डालने के उपाय किए। उनका मद इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह अपने से अधिक किसी की सुनना ही नहीं चाहते, तब भला वह ईश्वर की सत्ता कैसे स्वीकार कर सकते हैं। दुर्गासप्तशती में शुम्भ का संदेश लेकर चण्डमुण्ड नामक दूत भगवती के पास पहुँचकर जो कुछ कहते हैं, वह गीता के इस संदर्भ का सटीक उदाहरण है। वे कहते हैं—

“देवि ! दैत्येश्वरः शुम्भस्त्रैलोक्ये परमेश्वरः ।

दूतोऽहं प्रेषितस्तेन त्वत्सकाशमिहागतः ॥

अव्याहताज्ञः सर्वासु यः सदा देवयोनिषु ।

निर्जिताऽखिलदैत्यारिः स यदाह शृणुष्व तत् ॥

मम त्रैलोक्यमखिलं मम देवा वशानुगाः ।

यज्ञभागानहं सर्वानुपाशनामि पृथक् पृथक् ॥

त्रैलोक्ये वररत्नानि मम वश्यान्यशेषतः ।  
 तथैव गजरत्नं च हत्वा देवेन्द्रवाहनम् ॥  
 क्षीरोदमथनोद्भूतमश्वरत्नं ममामरैः ।  
 उच्चैःश्रवससंज्ञं तत् प्रणिपत्य समर्पितम् ॥  
 यानि चान्यानि देवेषु गन्धर्वेषूरगेषु च ।  
 रत्नभूतानि भूतानि तानि मय्येव शोभने ॥  
 स्त्रीरत्नभूतां त्वां देवि ! लोके मन्यामहे वयम् ।  
 सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजो वयम् ।

इस संदर्भ में शुम्भ के भेजे हुए संदेश में दम्भ, दर्प, अभिमान, ईश्वरत्व आदि सभी आसुरी सम्पत्तियों की उपर्युक्त बातें कूट-कूट कर भरी हैं और कामार्त होकर शुम्भ ने भगवती को अपने पास आने को कहा इससे उसकी बुद्धि की भ्रष्टता और कामोपभोग निरतता का पर्याप्त परिचय मिल जाता है। जब भगवती ने अपनी प्रतिज्ञा सुनाई कि—

“यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति ।  
 यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति ॥”

तब इसे सुनकर आसुरी सम्पत्ति का क्रोध और क्रूर कर्मत्व भी प्रकट हो गया और शुम्भ ने धूम्रलोचन को आज्ञा दी—

“हे धूम्रलोचनाशु त्वं स्वसैन्यपरिवारितः ।  
 तामानय बलाद्दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम् ॥  
 तत्परित्राणदः कश्चिद्यदिवोत्तिष्ठते परः ।  
 स हन्तव्योऽमरो वाऽपि यक्षो गन्धर्व एव वा ॥”

आसुरीसम्पत्तिशालियों के जो भाव गीता में चित्रित किए गए हैं उनके उदाहरण प्राचीन साहित्य में सर्वत्र मिलते हैं। यही नहीं जीवन में ही यदि हम देखें तो हमें मालूम होगा कि जाने में या अनजान में हम इन दैवी और आसुरी सम्पत्तियों के लक्षणों से ही गुजरते हैं। देवासुरसंग्राम हमारे भीतर निरन्तर चल रहा है। जब कभी हमारे मन में शुभ बातें आती हैं, जिन्हें दैवी सम्पत्ति में भगवान् ने गिनाया है, तो समझना चाहिए कि देवासुर युद्ध में इस समय देवता प्रबल हैं, असुर उनसे दबे हैं और जब आसुरी

सम्पत्ति के लक्षण हमारी चित्तवृत्ति में उदित हो रहे हों उस समय हमें समझना चाहिए कि इस समय असुर प्रबल हैं, देवता दबे हुए हैं। इसकी अच्छी प्रकार से पहचान करके हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे दैवी सम्पत्ति प्रबल बनी रहे और हम आसुरी सम्पत्ति के वशीभूत न होने पायें। क्योंकि एक बार हमारे ऊपर आसुरी सम्पत्ति का अधिकार हो जाने से उसे हटाना कठिन हो जाता है और फिर अन्य जन्मान्तरों के लिए अन्धतम में चला जाना पड़ता है।

यहां यह शंका होना स्वाभाविक है कि अन्य भावों के साथ “मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा” आदि बातों को आसुरी सम्पत्ति में क्यों गिना गया। यज्ञ करना और दान देना तो शास्त्र विहित है, और शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान तो दैवीसम्पत्ति के अन्तर्गत आता है, फिर भगवान् ने इनका परिगणन आसुरी सम्पत्ति में किस प्रयोजन से किया। इसका उत्तर है कि दैवीसम्पत्ति में यज्ञ, दान आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हुए “यह कार्य मैं कर रहा हूँ”, “यह दान मैं दे रहा हूँ” ऐसी अहंता बुद्धि हट जाती है और जगन्नियन्ता परमेश्वर के द्वारा ही यह सब हो रहा है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ, यह भाव रहता है। इसके विपरीत आसुरी सम्पत्ति में सर्वत्र अहंता का साम्राज्य रहता है। “मैं यज्ञ करूँगा”, मैं दान दूँगा” इत्यादि अहंता से परिपूर्णभावनाएं आसुरी सम्पत्ति वालों के प्रत्येक कार्य में रहा करती हैं। एक प्राचीन कथानक है कि एक बड़े आदमी थे और उनके यहां से सर्वदा गरीबों को कुछ न कुछ दिया जाया करता था। जब गरीब लोग उनके यहां लेने आते और जो कुछ मिलता उसे लेकर लौटने लगते तो दाता सज्जन की बड़ी प्रशंसा करते और उन्हें अनेक मङ्गल कामनाएँ समर्पित करते, यह सुनकर उन सज्जन की आंखें झुक जाया करती थीं। एकबार किसी ने उनसे पूछा कि अन्य देने वाले लोग तो अपने दान की बात सुनकर फूले नहीं समाते, परन्तु आपके आगे जब आपके दान की प्रशंसा की जाती है तब आपकी आंखें नीचे की ओर क्यों हो जाती हैं। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि—

**“देने वाला और है देता है दिन रैन ।**

**लोग नाम मेरा कहें इससे नीचे नैन ॥”**

अर्थात् देने वाला तो ईश्वर है जो दिन रात देता रहता है, परन्तु लोग मुझे देने वाला कहते हैं, मुझे इसी से लज्जा का अनुभव होता है और मेरी आंखें नीचे हो जाती हैं।

आसुरी लोगों की इन्हीं भावनाओं को देखकर भगवान् ने उन्हें “अज्ञानविमोहिताः” कहा है। अर्थात् वे सभी कार्यों का कर्त्ता अपने को ही समझते हैं, यही उनका सबसे



बड़ा अज्ञान है। जिससे वे सर्वदा विमोहित रहते हैं। वस्तुस्थिति को न समझना ही अज्ञान है, “कर्त्ता मैं नहीं हूँ” फिर भी “मैं कर्त्ता हूँ” यह समझना ही अज्ञान है। इसी से आसुरी लोग सर्वदा लिप्त रहते हैं।

“अनेक प्रकार की अभिलाषाओं से वे विभ्रान्त रहते हैं, मोह के जाल से वे आवृत रहते हैं, काम के उपभोग में लगे हुए वे लोग अपवित्र नरक में गिरते हैं(१६)”

जैसा कि ऊपर आसुरी लोगों की अनेक प्रकार की अभिलाषाओं का वर्णन आया है, उन अनेक प्रकार की चित्तवृत्तियों से वे निरन्तर घुमाए जाते हैं, उनकी चित्तवृत्ति में स्थिरता कभी आने नहीं पाती। यह भी कर लूँ इत्यादि अभिलाषाओं की तरंगें उनके चित्त में सर्वदा उठती रहती हैं। इसीलिए वे मोह जाल से समावृत कहे गये हैं। मोह का स्वरूप आवरण करने वाला है, अतः मोह के जाल से गति नरक की ओर ही होती है, तथा अपने वर्तमान जीवन को भी वे नरक के समान ही भोगते हैं। उनका अन्त नरक के समान ही दुःखमय होता है। श्री नीलकण्ठ ने असत् पदार्थ में सत् होने की बुद्धि को मोह कहा है। आसुरी लोग सर्वदा असत् पदार्थों में ही सत् की बुद्धि रखते हुए मोहावृत रहते हैं।

“अपने को उच्च समझते हैं, स्तब्ध रहते हैं, धन और मान के मद से भरे रहते हैं, नाम मात्र के विधिविहीन यज्ञों का दम्भपूर्वक अनुष्ठान करते हैं” (१७)

‘आत्मसम्भावित’ का तात्पर्य व्याख्याकारों ने लगाया है कि उन्हें कोई चाहे मानें या न मानें परन्तु वे स्वयं अपने को बहुत बड़ा मानते हैं और अपने में बड़ी बड़ी सम्भावनाएं, “मैं ऐसा बनूंगा” “वैसा बनूंगा” आदि करते रहते हैं। स्तब्ध का तात्पर्य है कि वे पूज्य पुरुषों के आने पर उन्हें शिष्टाचार प्रदर्शन के लिए प्रणाम आदि नहीं करते। देवता के सामने जाने पर भी नहीं झुकते। उनकी किसी चेष्टा से नम्रता का प्रदर्शन नहीं होता। धन और आत्मसम्मान के मद से युक्त होने की बात इस प्रकरण में अनेक बार आई है, उसका तात्पर्य यही है कि धन और मान का मद उन्हें कभी नहीं छोड़ता, वे यज्ञ भी करते हैं, परन्तु यज्ञ में कोई लोककल्याण की दृष्टि उनकी नहीं होती जैसी कि दैवीसम्पत्ति में होती है। यज्ञ आदि के द्वारा भी वे अपने दम्भ को ही प्रकट करते हैं, और यज्ञ में किसी शास्त्रीय विधि का पालन नहीं करते, स्वेच्छा से यज्ञ के नाम पर कुछ प्रदर्शन करते हैं। इसीलिए भगवान् ने उसे नामयज्ञ कहा है, अर्थात् उनके यज्ञ वास्तविक नहीं अपितु नाममात्र के होते हैं। विधिपूर्वक यज्ञ न करने के कारण यज्ञों का कोई फल तो उन्हें मिलता नहीं, प्रत्युत्, विपरीत फल को ही वे प्राप्त करते हैं।

असुरों ने एक बार देवताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए एक पुरुष उत्पन्न करने की इच्छा से यज्ञ का अनुष्ठान किया। देवराज इन्द्र को पराजित करके समाप्त कर देना यह उस यज्ञ का प्रधान उद्देश्य था। जब यज्ञ में आहुति दी जाने लगी तो उसके लिए मन्त्र बोला गया “इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व” अर्थात् हे यज्ञ से उत्पन्न होने वाले इन्द्र के शत्रु तुम वृद्धि को प्राप्त करो। इस मंत्र की उच्चारण विधि का ध्यान नहीं रक्खा गया। मन्त्रों के उच्चारण में तीन प्रकार के स्वर माने गए हैं, उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित। मंत्र का उच्चारण आदि में उदात्त स्वर रखकर करना चाहिए था, तब इष्टसिद्धि होती, परन्तु स्वर विधि में व्यत्यास हो गया, मन्त्र आद्युदात्त के स्थान पर अन्तोदात्त बोला गया। शत्रु शब्द का अर्थ है शातन करने वाला, मारने वाला। आद्युदात्त उच्चारण करने पर तत्पुरुष समास “इन्द्रस्य शत्रुः” होता है, जिसका अर्थ असुरों को अभीष्ट था। परन्तु मन्त्रोच्चारण अन्तोदात्त हुआ। अन्तोदात्त में बहुब्रीहि समास होता है, “इन्द्रः शत्रुः (शातयिता) यस्य स इन्द्रशत्रुः” अर्थात् इन्द्र है मारने वाला जिसका, ऐसे हे इन्द्रशत्रु ! तुम वृद्धि को प्राप्त करो। यही उच्चारण हुआ और फल यह हुआ कि जहाँ यज्ञ से असुरगण इन्द्र को मारने वाले को प्राप्त करना चाहते थे, वहाँ उनके विपरीत स्वर से मन्त्रोच्चारण के कारण उस यज्ञ से समुत्पन्न वृत्रासुर इन्द्र के वज्र से मारा गया।

इस प्रकार यज्ञ में किसी विधि का परिपालन आसुरी सम्पत्ति के लोग नहीं जानते।

“अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोध का आश्रय लेते हुए तथा गुणों को भी दोषों के रूप में देखते हुए अपने और अन्य के देह में संस्थित ईश्वर से द्वेष दिखाते हैं” (१८)

“ऐसे मुझसे द्वेष करने वाले, क्रूर प्रकृति वाले, संसारस्थित नराधमों को मैं निरन्तर आसुरी योनियों में ही फेंकता रहता हूँ” (१९)

“ये मूढ़ जन्म जन्मान्तरों तक आसुरी योनियों में भटकते हुए मुझे प्राप्त किये बिना अधम गति को प्राप्त होते हैं” (२०)

अपने में विद्यमान और अविद्यमान गुणों का अपने पर आरोप करके उसका प्रदर्शन करते रहना अहंकार है। वस्तुतः आत्मा असंग है, परन्तु ये लोग आत्मा पर ही समस्त विद्यमान और अविद्यमान गुणों को आरोपित करते रहते हैं, “मैं ऐसा हूँ” ‘यह कर सकता हूँ, ‘वह कर सकता हूँ’ इत्यादि अहंकार से ये आच्छन्न रहते हैं। इन्हें

अपने बल का भी बहुत बड़ा आश्रय रहता है। यद्यपि बल का आश्रय लेना बुरा नहीं है। मोक्ष मार्ग में भी बल की बड़ी आवश्यकता होती है—

“नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः”

अर्थात् बल हीन को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु दैवीसम्पत्ति में बल जहाँ आत्मरक्षा और आत्मचिन्तन के लिए उपादेय है वहाँ आसुरी सम्पत्ति में बल का उपयोग परपीड़न में होता है। एक प्रसिद्ध पद्य है—

“विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।

खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥”

अर्थात् दुष्ट की विद्या विवाद करने के लिए, धन मदोन्मत्त होने के लिए, और शक्ति या बल परपीड़न के लिए होता है। साधु की विद्या, उसके विपरीत, आत्मज्ञान के लिए, धन, दान देने के लिए, और बल, आत्मरक्षा के लिए होता है।”

आसुरी सम्पत्तिवालों की अन्तिम गति भी भगवान् ने यहाँ बतला दी कि उनका कभी उद्धार नहीं होता, क्योंकि उद्धार करने वाले भगवान् स्वयं हैं और वे लोग उन्हीं से द्वेष रखते हैं। अतः वे जन्म जन्मान्तर तक सर्वदा अशुभ योनियों में ही रहते हैं। दैवी सम्पत्ति को प्राप्त करके जो मोक्ष या परमसुख की प्राप्ति होती है उसका आभास भी उन्हें नहीं मिलता। इससे भगवान् का यही तात्पर्य है कि इस प्रकार गिरे हुए मनुष्य सहसा नहीं उठ सकते। किन्तु सब प्राणियों के भीतर जो ईश्वर का अंश आत्मरूप से विराजमान है वह किसी समय स्वतन्त्रता से उनके उद्धार की भी प्रेरणा कर देता है तो वे सुधर भी जा सकते हैं, विशेष कर हम इसका विचार “ईश्वरः सर्वभूतानाम्” इत्यादि १८वें अध्याय के प्रवचन में करेंगे।

---

## बत्तीसवां-पुष्प

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

आचारत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥२३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

काम, क्रोध, और लोभ ये नरक के तीन प्रकार के द्वार हैं और ये आत्मनाश के कारण हैं अतः इनका परित्याग कर देना चाहिए।” (२१)

आसुरी सम्पत्ति का इतना वर्णन करके उसका उपसंहार करते हुए भगवान् आसुरी सम्पत्ति के मूल कारण के रूप में काम, क्रोध और लोभ को बतलाकर उनके त्याग की आज्ञा दे रहे हैं। गीता अध्यात्मशास्त्र है, अतः सम्पूर्ण गीता में कामादि के परित्याग की बात प्रसंगानुसार आई है। ये ही ऐसी मनोवृत्तियां हैं जिन पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है और बड़े योगी भी इनके चक्र में पथभ्रष्ट हुए हैं इसकी कथाएं सर्वत्र मिलती हैं—

“कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः”

दैवी और आसुरी प्रवृत्तियां प्रकाश और अन्धकार की भांति साथ-साथ रहती हैं और अवसर पाकर घटती बढ़ती रहती हैं। रजोगुण का परिणाम ही क्रोध है। काम की अधिक मात्रा ही लोभ है। जब किसी विशेष वस्तु के उपभोग की इच्छा होती है तो उसके साथ ही यह भी इच्छा होती है कि इसका उपभोक्ता केवल मैं ही हूँ, कोई अन्य इसका उपभोग न करने पाए और जिस वस्तु की कामना है उसमें कोई न्यूनता भी न आने पाये, इसी का नाम लोभ है। यद्यपि उन वस्तुओं की अभिलाषा सभी सांसारिक व्यक्तियों को होती है, परन्तु सभी लोभी इसलिए नहीं कहे जा सकते कि जैसे वे उस वस्तु का उपभोग करना चाहते हैं, वैसे ही वे अन्य लोगों को भी उसका उपभोग करने देना चाहते हैं। वे “जियो और जीने दो” के सिद्धान्त पर चलते हैं। परन्तु लोभी पुरुष ‘जियो’ तक ही रहते हैं ‘जीने दे’ को नहीं मानते। फलतः

वे अन्य लोगों के पास उपभोग की सामग्री को देखकर उसे उनसे छीनने की चेष्टा करते हैं। यही आसुरीसम्पत्ति है और यही नरक का तीसरा द्वार यहाँ भगवान् ने बतलाया है। इसी प्रकार काम भी भगवान् का रूप है चार पुरुषार्थों में काम की गणना है। वह एक स्वतःसिद्ध मानवीय या प्राणिमात्र की प्रवृत्ति है। परन्तु जिस काम को नरक का द्वार यहाँ भगवान् ने बतलाया है, वह असत् काम है। वही काम सत् और पुरुषार्थ के अन्तर्गत तथा भगवद्रूप माना गया है जो धर्म के विरुद्ध न हो—

**“धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ !”**

यह भगवान् ने स्पष्ट कह कर धर्म से अविरुद्ध काम को अपना रूप बतलाया है। परन्तु धर्म विरुद्ध जो काम है, जो आसुरीसम्पत्ति के अन्तर्गत है, वह नरक का द्वार है। उससे बचना चाहिए। इन तीनों को छोड़ने का भगवान् ने आदेश दिया है।

जिस प्रकार धर्माविरुद्ध काम उपयुक्त है उसी प्रकार धर्मानुकूल अर्थोपार्जन भी उपयुक्त है। भगवान् ने विगत पद्यों में आसुरी अर्थ संग्रह की जो निन्दा की उसका यह तात्पर्य नहीं कि अर्थोपार्जन बुरी चीज है। अर्थोपार्जन के बिना तो जीवन यात्रा ही असम्भव है। आलस्य में पड़े रहना, कोई काम न करना, और केवल भगवान् के भरोसे बैठे रहना भगवान् ने कभी पसन्द नहीं किया। वह भगवद् विश्वास नहीं अपितु मोह है जो आसुरी सम्पत्ति का अंग है। क्योंकि उसमें कार्य कारण भाव के ज्ञान का अत्यन्त अभाव है। मलूक दास जी की एक उक्ति प्रसिद्ध है—

**“अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम ।**

**दास मलूका कह गए सबके दाता राम ॥”**

यह यदि पूर्ण तत्त्व ज्ञान होने पर होता है तब तो ठीक है, परन्तु संसार स्थित मनुष्यों को तो ऐसा उपदेश दिया ही नहीं जा सकता। उनको तो अर्थोपार्जन के लिए न्यायानुकूल प्रयत्न करना ही पड़ेगा। यदि अन्याय पूर्वक धनोपार्जन किया गया जिससे एक व्यक्ति को तो सुख हुआ और एक सहस्र व्यक्तियों को पीड़ा हुई तो उसे भगवान् ने आसुरीसम्पत्ति ही कहा है। यद्यपि किसी के लाभ में किसी को कष्ट पहुँचना भी अनिवार्य है। एक स्थान के लिए विज्ञापन हुआ, दस प्रार्थना पत्र आए, उनमें से एक की नियुक्ति हुई, तो बाकी नौ को मानसिक कष्ट अवश्य होगा, परन्तु उनको कष्ट देने का कोई विचार नियुक्त होने वाले के मन में नहीं था। इसी क्रम से अर्थोपार्जन उचित है जिसमें किसी को पीड़ा देने का आपके मन में विचार न हो। धर्मानुकूल अर्थोपार्जन से धर्म प्रवृत्ति को ही बढ़ाना चाहिए और धर्मानुकूल काम का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार के क्रम से कभी कष्ट का अनुभव नहीं होगा प्रत्युत सर्वदा सुख का अनुभव

होगा। यद्यपि ऐसा सुख तो संसार में मिलने की कल्पना नहीं की जा सकती कि जिसमें दुःख का लेश भी न हो, क्योंकि प्राक्तन कर्मों के अनुसार जो दुःख मिलना निश्चित है वह तो मिलेगा ही। परन्तु नये दुःख की उत्पत्ति रुक जायगी और इससे आगे उस स्थिति में भी पहुँचा जा सकेगा जिसमें दुःख है ही नहीं और न सुख ही है। वही मोक्ष है। हमने इस विषय का विस्तार से निरूपण गीता-व्याख्यानमाला के प्रथम भाग में किया है। अब जब काम, क्रोध, लोभ नरक के द्वार हैं, इन्हें छोड़ना चाहिए तो प्रश्न होता है कि इनको किस प्रकार छोड़ा जाय, उसका उत्तर भगवान् आगे दे रहे हैं कि—

“शास्त्रानुकूल आचरण करने से इनसे छूटकारा मिलता है। पहिले इनके छूट जाने से क्या फल होता है यह बतलाते हैं कि—

“हे कौन्तेय ! इन तीन तमोद्वारों से छूटकर प्राणी अपने श्रेय का आचरण करता है और इस प्रकार श्रेय का आचरण करने से वह श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है”(२२) उपनिषदों में यम और नचिकेता के संवाद में यम ने नचिकेता से कहा है—

**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः**

अर्थात् श्रेय और प्रेय मनुष्य के सामने आते हैं, धीर पुरुष इनकी ठीक से पहिचान करता है, उनका विवेचन करता है—

यहाँ श्रेय और प्रेय का मनुष्य के सामने आना, बुद्धिमान मनुष्य का श्रेयोवरण और मन्द पुरुष का प्रेयग्रह वर्णित है।

प्रेय वही है जो आपाततः सुन्दर मालूम होने पर भी परिणाम में भयावह हो और श्रेय वही है जो प्रारम्भ में कष्टदायक प्रतीत होने पर भी परिणाम में अत्यंत हितावह हो। उनका परीक्षण करके श्रेयो मार्ग का ग्रहण करना ही भगवान् के उपदेश का सार है। उन्होंने काम, क्रोध का परित्याग करके श्रेय का आचरण प्राप्त होना बतलाया है और उसी से परम गति की प्राप्ति बतलाई है। परम गति का अर्थ केवल मरणोत्तर शुभ गति ही नहीं अपितु जीवन में इस लोक में भी शुभ फलों की प्राप्ति होती है, यह भी इसमें अन्तर्गर्भित है। इस श्रेयःप्राप्ति का उपाय शास्त्र विधियों का आचरण ही है। आगे उसकी अवहेलना से सिद्धि या परागति कुछ भी नहीं मिलती यह बतलाते हुए कहते हैं—

“जो पुरुष शास्त्र विधि का परित्याग करके अपने इच्छानुसार आचरण करता है, वह सिद्धि, सुख, और परागति को प्राप्त नहीं करता”(२३)

इसलिए तुम्हें अपने कर्तव्य अकर्तव्य का निश्चय करने में शास्त्र को आधार बनाना चाहिए, शास्त्र की विधियों में उक्त बातों को जानकर ही तुम कर्म करने के योग्य हो सकोगे”(२४)

यहाँ शास्त्र का अर्थ श्री शंकराचार्य आदि ने वेद ही किया है और वेदों के विधि निषेधों के पालन को शास्त्रविधि माना है। श्री नीलकण्ठ ने—“ब्राह्मणो यजेत” “न सुरां पिबेत्” आदि वेदोक्त विधिनिषेधों का उल्लेख किया है। कुछ व्याख्याओं में वेद और तदनुकूल स्मृति पुराणादि को शास्त्र के अन्तर्गत कहा गया है।

यहाँ कार्य अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र को प्रमाण मानने की बात कही गई है। किसी भी कार्य को करने से पूर्व शास्त्रीय आदेश क्या है यह देख लेना चाहिए। वर्तमान में विचारकों का यह ध्यान होता जा रहा है कि प्रत्येक कार्य करने से पूर्व शास्त्रीय आज्ञा को कहाँ तक देखा करें। जब उनसे यह प्रश्न किया जाता है कि आपकी सम्मति में भारतीय संस्कृति की रक्षा आवश्यक है अथवा नहीं तो उसको तो वे स्वीकारात्मक उत्तर देते हैं। यह भी वे मानते हैं कि अपनी संस्कृति को अपना कर ही हमारी विश्व के सामने इज्जत हो सकेगी। परन्तु समय का टेढ़ा प्रश्न उनके सामने आता है। वे कहते हैं कि आजकल इतना समय कहाँ मिलता है कि पहिले शास्त्र का आदेश लें, फिर काम करें। आजकल तो बहुत जल्दी-जल्दी समस्याओं का समाधान करना होता है। परन्तु इस प्रकार के उत्तर से कोई प्रश्न हल नहीं होता। अपनी संस्कृति की रक्षा का एकमात्र उपाय है अपने शास्त्रों और उनकी आज्ञाओं का आदर और परिपालन। अर्जुन जब युद्ध से विमुख होने लगा तो भगवान् ने उसे इसीलिए युद्ध करने के लिए प्रेरित किया कि अन्याय के विरुद्ध क्षत्रिय को युद्ध करना ही चाहिए। यही शास्त्र का आदेश है। शास्त्र के आदेशों के परिपालन से ही शुभ गति भी प्राप्त होती है। भीष्म पितामह जब अपने पिता का श्राद्ध करने लगे और पिण्ड दान का अवसर आया तब उन्होंने देखा कि जमीन के भीतर से उनके पिता का हाथ पिण्ड ग्रहण करने के लिए बाहर निकला। इस पर भीष्म पितामह ने शास्त्रीय आज्ञा क्या है, यह जानना चाहा। ऋषियों ने बतलाया कि शास्त्रीय आदेश तो भूमि में बिछी हुई कुशाओं पर ही पिण्ड दान करने का है। इस पर पितामह भीष्म ने उस प्रत्यक्ष निकले हुए पिता के हाथ पर पिण्ड नहीं रक्खा, अपितु शास्त्रानुसार कुशाओं पर ही पिण्ड दिया। तब आकाश वाणी हुई जिसमें कि भीष्म की शास्त्र निष्ठा की प्रशंसा की गई। इस प्रकार की प्रगाढ़ और कट्टर शास्त्र निष्ठा से ही प्राचीन काल में भारत गौरवान्वित था। और भविष्य में भी भारत का अतीत गौरव उसे तभी प्राप्त होगा जब त्रिकालदर्शी तपःपूत महर्षियों के द्वारा समुपदिष्ट शास्त्रों पर भारतीयों का समस्त क्रिया कलाप फिर से प्रतिष्ठित हो जायगा।

## सप्तदश अध्याय तेतीसवां-पुष्प

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

अर्जुन ने प्रश्न किया—

हे कृष्ण ! जो लोग शास्त्रविधि को छोड़कर श्रद्धापूर्वक यजन करते हैं; उनकी सत्त्व, रज, तम में से किसमें स्थिति होती है ?”

दैवी और आसुरी सम्पत्ति का विगत अध्याय में विस्तार से वर्णन हुआ और उपसंहार में भगवान् ने शास्त्रानुसार आचरण करने का उपदेश दिया। अपनी इच्छा-नुसार कर्म करने को उन्होंने हेय बतलाया। इस कथन को सुनकर अर्जुन को जो संदेह हुआ वह उसने इस अध्याय के आरम्भ में ही प्रकट कर दिया। अर्जुन का यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है। संसार में सभी लोग शास्त्रों को नहीं जानते और बहुत से लोग शास्त्र पढ़ कर भी उसके रहस्य को जानने में असमर्थ रहते हैं। परन्तु शास्त्रों को न जानकर या उसके रहस्य तक बिना पहुंचे भी वे यज्ञादि कार्यों में श्रद्धा रखते हैं। अपनी परम्परा में जो बातें यज्ञ यागादि या देवपूजा आदि के विषय में चली आ रही हैं उनका वे श्रद्धापूर्वक पालन करते हैं, उनकी अवज्ञा नहीं करते। परन्तु शास्त्रोक्त विधियों का पालन वे नहीं कर पाते क्योंकि वे उन्हें जानते ही नहीं। अथवा जानकर भी उतने बड़े शास्त्रीय क्रियाकलाप का पालन करने में अपने को अनेक दृष्टियों से असमर्थ पाते हैं। परन्तु वे यजन आदि कर्मों का परित्याग नहीं करते अपितु श्रद्धापूर्वक वृद्धजनों के कथनानुसार या अपनी बुद्धि के अनुसार उन शुभ कर्मों का मनोयोगपूर्वक अनुष्ठान करते हैं। तब जैसा कि भगवान् ने विगत अध्याय के उपसंहार में शास्त्रविधिविहीन कर्म करने वालों को सिद्धि, सुख और परागति प्राप्त नहीं होती यह कहा, क्या उनकी भी वही स्थिति होती है, उन्हें भी सिद्धि, सुखादि की प्राप्ति नहीं होती ? अर्जुन के इस प्रश्न से यह ध्वनित होता है कि उन पुरुषों के साथ अर्जुन की सहानुभूति है, वह नहीं चाहता कि उनकी दुर्गति हो। यदि उनकी दुर्गति ही निश्चित है तब तो संसार के अधिकांश पुरुष दुर्गति के भागी हो जायेंगे, क्योंकि ऐसे पुरुषों की संख्या बहुत अधिक रहती है।

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि जो लोग किसी शास्त्र विधि को जानकर भी उसे छोड़कर अविधि पूर्वक देवादि का पूजन करते हैं, उनका यहाँ ग्रहण नहीं है। क्योंकि



यहाँ अर्जुन के प्रश्न में “श्रद्धयान्विताः” यह विशेषण लगाया गया है। जिन्होंने शास्त्र का ज्ञान रहते हुए भी उसके पालन की अवहेलना की वे श्रद्धायुक्त नहीं कहे जा सकते। अतः वे अर्जुन के प्रश्न के विषय नहीं हैं। अर्जुन ने यह क्यों पूछा कि ऐसे पुरुषों की स्थिति सत्त्व में होती है या रज, तम में। उसे यही पूछना चाहिए था कि उनको सिद्धि सुख और परागति प्राप्त होती है या नहीं ? इसका उत्तर है कि सिद्धि और सुख तो प्राप्त होता है, क्योंकि अपने काम से उन्हें संतोष देखा जाता है यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है, जो व्यक्ति बिना शास्त्र जाने अपने कर्तव्य का पालन श्रद्धा से करते हैं उन्हें उन कार्यों का संतोष रूप फल प्रत्यक्ष रूप से मिलता है और उससे उनके अन्तःकरण में—सुख भी प्रतीत होता है। रह गई परागति की बात, सो जब वे श्रद्धान्वित होकर पूजन करेंगे तो परागति न होने का कोई कारण नहीं। यदि उनकी सुगति होने में कोई संदेह होता तो उनकी प्रवृत्ति ही क्यों होती। बुद्धिमान पुरुष भी बिना शास्त्र जाने लोकाचार और वृद्ध व्यवहार देखकर उनमें प्रवृत्त देखे जाते हैं। अतः उनको अपनी गति का निश्चय होता ही है। कदाचित् कहा जाय कि उनकी प्रवृत्ति से उनकी सुगति होगी यह उनका निश्चय है, इस अनुमान में क्या प्रमाण, तो इसका उत्तर यही है कि यदि उन विधियों का कोई दृष्टफल होता तब तो उसी के लिए उनकी प्रवृत्ति उन कार्यों में मानी जा सकती थी, परन्तु उन विधियों का कोई दृष्ट फल तो देखा नहीं जाता, अतः अदृष्ट फल की ही कल्पना करनी पड़ती है, उस अदृष्ट फल की प्राप्ति का उनको निश्चय रहता है, तभी उनकी उसमें प्रवृत्ति होती है, अन्यथा वे उसमें बिना कोई प्रयोजन देखे प्रवृत्त ही क्यों होते। अब वह अदृष्ट फल उनको मिलता है कि नहीं यह प्रश्न तो शास्त्रानुसार विधियों का आचरण करने वाले के विषय में भी हो सकता है। यदि उनका आधार शास्त्र है तो इनका भी आधार वृद्धोपदेश और लोकाचार है, स्वेच्छा से यह भी प्रवृत्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में दोनों में जो कुछ अन्तर आवेगा उसका कारण गुण ही होंगे। इसीलिए अर्जुन ने यहां गुणविषयक ही प्रश्न किया कि ऐसे पुरुषों की स्थिति किस गुण में मानी जायगी।

माध्वभाष्य का आशय है कि शास्त्रविधि का अनुष्ठान न करने का कारण अज्ञान ही है। जो वेदादि शास्त्रों का ज्ञान रखते हुए भी उन विधियों की अवज्ञा ही नहीं करते, प्रत्युत अपने तर्काभास और अल्प बुद्धि के आधार पर वेदादि शास्त्रों का विरोध करने के लिए भी प्रस्तुत हो जाया करते हैं, उनके विषय में तो अर्जुन ने इसीलिए प्रश्न नहीं किया, क्योंकि उनकी निष्ठा के तमोगुण में होने में कोई संदेह ही अर्जुन को नहीं रह गया था। स्वयं भगवान् ने अभी विस्तार से उन्हें आसुरी सम्पत्ति से परिपूर्ण बतला ही दिया था। माध्वभाष्य के व्याख्याकार ने यह भी लिखा है कि जो ऐसे मतवाद हैं कि वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करने का खण्डन करते हैं वे तो स्पष्ट ही तामस

स्थिति वाले हैं। उनमें तो अर्जुन को अब कोई सन्देह ही नहीं रह गया है। उसने “श्रद्धयान्विताः” कहकर ऐसे लोगों को तो पहिले ही अलग छाँट दिया है। आनन्दगिरि व्याख्या में लिखा है कि यदि उनकी स्थिति सत्त्व में होगी तो उनका ज्ञान में अधिकार होगा अन्यथा नहीं।

श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि विगत अध्याय के अन्त में जो भगवान् ने कहा था कि जो शास्त्रविधि को छोड़कर ‘कामचार’ से प्रवृत्त होते हैं उनकी गति ठीक नहीं होती। इसी पर अर्जुन का प्रश्न है। ‘कामचार’ को ही यहाँ श्रद्धा कहा गया है।

श्री नीलकण्ठ ने यहाँ शास्त्र शब्द से वेद, वृद्ध पुरुषों के सदाचरण और अपने कुल के आचरण का ग्रहण माना है। क्योंकि ये सभी धर्माधर्म के विषय में प्रमाण माने जाते हैं।

“स्मृतिशीले च तद्विदाम्” अर्थात् ऋषियों के या वेदवेत्ताओं के स्मृति और शील भी धर्म में प्रमाण होते हैं इस धर्म सूत्र में ऋषियों के शील अर्थात् सदाचरण को भी धर्म में प्रमाण माना गया है। इसी प्रकार कुल में शिष्ट पुरुषों से चली आ रही मर्यादाएं, जिनको कुलाचार कहते हैं, वे भी धर्म के विषय में प्रमाण होती हैं। इन सभी के धर्माधर्म विवेक में प्रमाण होने से शास्त्र शब्द से यहाँ इन सभी का ग्रहण अभीष्ट है। परन्तु जो व्यक्ति इन सभी को छोड़कर अन्यत्र ही श्रद्धा रखता है उसकी स्थिति किस गुण में मानी जायगी ? उदाहरण के लिए किसी पुरुष के पिता ने एक कुआँ खुदवाया। अब वह पुरुष निर्मल गंगा जल का भी इसीलिए परित्याग कर देता है कि उसे अपने पिता के बनाए हुए कुएँ पर अपार श्रद्धा है। वह यह अपने मन में निश्चित मान बैठता है कि यह कुआँ मेरे पिता जी का बनवाया हुआ है, यह सैकड़ों गङ्गा निदियों से भी अधिक महत्व रखता है। अन्य लोगों को गंगा स्नान, गंगा जल का पान और गंगा जी की पूजा, प्रदक्षिणा आदि करने से जिस फल की प्राप्ति होती है वह मुझे इसी कुएँ पर स्नान, जलपान, पूजा, प्रदक्षिणा आदि करने से होगी, ऐसी जिस पुरुष की श्रद्धा है और इसी के अनुसार जिसका आचरण है उसकी स्थिति क्या है ? अपने पिता में और उनके कार्यों में अत्यन्त श्रद्धा रखने से क्या उसकी स्थिति सात्विक मानी जायगी, अथवा शास्त्रबोधित गंगा के महत्व की अवहेलना करने से रजोगुण में उसकी स्थिति होगी या यह तामसी है ? क्योंकि जिस प्रकार रांगे में चाँदी का भ्रम असत् या विपरीत है उसी प्रकार कम महत्व की वस्तु में उसकी सबसे अधिक महत्व की बुद्धि बन गई और अधिक महत्व की वस्तु को उसने नगण्य समझ लिया है। इनमें से उसकी निष्ठा या स्थिति किसमें है यह अर्जुन के प्रश्न का आशय है।

## चौंतीसवां-पुष्प

त्रिविधा भवति श्रद्धा प्राणिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

भगवान् ने कहा—

“प्राणियों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाली श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है, उसको सुनो।”

अर्जुन का प्रश्न था कि जो श्रद्धावान् है और शास्त्रविधि को छोड़कर कर्मानुष्ठान कर रहा है उसकी क्या निष्ठा है ? इस पर भगवान् ने श्रद्धा को तीन प्रकार का बतला दिया। इसी प्रकार से विगत अध्याय में त्याग को तीन प्रकार का बतलाया था और आगे अष्टादश अध्याय में भी त्याग आदि के गुणों के विभाग से तीन प्रकार के भेदों का कथन करेंगे। सात्त्विकी, राजसी और तामसी श्रद्धा को भगवान् ने स्वभावजा बतलाया है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि अर्जुन ने अपने प्रश्न में पूछा था कि शास्त्रविधि के बिना यजन करने वालों की निष्ठा क्या है ? उसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि जिस निष्ठा के विषय में तुम पूछ रहे हो वह प्राणियों के स्वभाव के अनुसार होती है। पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के द्वारा धर्म और उसके जो संस्कार हैं जो कि मृत्यु के समय प्रकट होते हैं, वही स्वभाव कहे जाते हैं, वह तीन प्रकार के होते हैं, सात्त्विक, राजस और तामस। यदि पूर्वजन्म में सात्त्विक देवता पूजन आदि के द्वारा धर्मानुष्ठान किया होगा तो इस जन्म में भी निर्मल अन्तःकरण बनता चला जायगा और मोक्ष की प्राप्ति होगी। यदि रजोगुण या तमोगुण के कर्मों का अनुष्ठान पूर्वजन्म में हुआ होगा तो तदनुसार ही इस जन्म में भी श्रद्धा होगी।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि स्वभाव का अर्थ होता है अपना असाधारण धर्म। प्राचीन वासनाओं से जो प्राणियों में विभिन्न प्रकार की रुचियाँ होती हैं वही स्वभाव है। जहाँ रुचि होगी वहीं श्रद्धा होगी। श्रद्धा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि अपने अभीष्ट को सिद्ध करनेवाली वस्तु का ग्रहण करने में जो द्वार होती है वही श्रद्धा है। आत्मा के धर्मों की अनुकूलता से वासना, अथवा रुचि या श्रद्धा उत्पन्न होती है। ये आत्मधर्म भी तीनों गुणों से संयुक्त रहते हैं, अतः श्रद्धा भी भगवान् ने तीन प्रकार की बतलाई है।

आनन्दगिरि व्याख्या में लिखा है कि श्रद्धा प्राणि मात्र में होती है और इसके लिए शास्त्र की कोई अपेक्षा नहीं होती। श्रद्धा का उत्पादक जो स्वभाव बतलाया गया है उसके त्रिविध (तीन प्रकार के) होने के कारण श्रद्धा भी त्रिविध बतलाई गई।

श्रद्धा को ही तीन प्रकार का बतलाकर भगवान् ने अर्जुन की मनःस्थिति इस शंका का समाधान कर दिया कि यह समझना मिथ्या है कि जो भी कार्य श्रद्धा से किया जायगा वह चाहे कैसा ही हो, शुभ ही होगा। श्रद्धा तो प्राणिमात्र की अपने अपने कार्यों में होती ही है। बिना श्रद्धा के कोई भी पुरुष किसी कार्य में प्रवृत्त होता ही नहीं है। अतः श्रद्धामात्र के होने से उसको सद्गति प्राप्त होगी या उसकी अच्छी निष्ठा होगी, यह मानना दोषपूर्ण है। तब जब तीनों प्रकार की श्रद्धा होती है तो यह भी स्वतःनिर्णीत हो गया कि सात्विकी श्रद्धा ही अभीष्टदायिनी होगी, राजसी और तामसी श्रद्धा तो बन्धन करने वाली ही होंगी, सात्विकी श्रद्धा का उदाहरण आगे भगवान् ने देवताओं का यजन आदि बतलाया है। देवताओं का स्वरूप और उनकी यजनविधि का ज्ञान शास्त्रों से ही होता है। अतः शास्त्रज्ञानशून्य व्यक्ति जो यजन करेगा उसकी निष्ठा सात्विक नहीं कही जा सकती, यह बात भी श्रद्धा के त्रैविध्य कथन से प्रतिफलित हो गई। श्रद्धा का लक्षण है—

### “दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिः श्रद्धा”

अर्थात् दोष दर्शन के अनुकूल जो चित्तवृत्ति है उसको रोक देने वाली चित्तवृत्ति का नाम श्रद्धा है। दोष दर्शन की मानव में सहजात प्रवृत्ति होती है। सभी जगह वह कुछ न कुछ दोष देख ही लेता है। परन्तु जिसमें श्रद्धा होती है, उसमें दोष नहीं दिखाई देते। श्रद्धा दोषदर्शन का अभाव कर देती है। जब दोषदर्शन रुक जाता है तब विश्वास हो जाता है। जब तक दोष दिखाई देते रहेंगे तब तक उस पर हमारा विश्वास नहीं होगा, क्योंकि दोष दर्शन विश्वास को रोक देने वाला है। अतः पहिले श्रद्धा होती है तब विश्वास होता है। लोक में प्रायः श्रद्धा और विश्वास को एक ही समझा जाता है। परन्तु श्रद्धा विश्वास से पहिले होती है। वह विश्वास की जननी है। यह कोई निश्चित नहीं कि श्रद्धा अमुक व्यक्ति की अमुक स्थान या व्यक्ति पर अवश्य होगी। उसमें जैसा कि भगवान् ने कहा पूर्वजन्म का संस्कार ही कारण है, जिसे स्वभाव कहा जाता है। यह भी समझ लेना आवश्यक है कि लोग बहुधा अन्धश्रद्धा को दूषित समझते हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर श्रद्धा का लक्षण बतलाया, उसका स्वरूप ही अन्धता का पोषक है। जिसमें श्रद्धा होती है उसमें दोष दर्शन का अभाव हो जाता है और उसके दोष दिखाई नहीं देते। अतः उसके दोषों की ओर से श्रद्धावान् मनुष्य अन्ध ही रहता है। परन्तु कार्यकारण सम्बन्ध जानकर और तर्क से अपनी श्रद्धा को दृढ़ बनाते रहना भी मानवीय स्वभाव है।

श्रद्धा शब्द का निर्वचन है ‘श्रत्’ ‘घा’, “श्रत् धीयत अनया”। ‘श्रत्’ का अर्थ है मन में श्रद्धेय के प्रति एक प्रकार का चेप हो जाना।

आगे भगवान् सत्त्व को श्रद्धा का कारण बतलाते हैं।

## पैंतीसवां-पुष्प

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत !

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

“हे भारत ! सभी की श्रद्धा सत्त्व के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है जो जैसी श्रद्धा रखता है, वह उसी रूप का हो जाता है।”

श्री शंकराचार्य ने सत्त्व का अर्थ विशिष्ट संस्कार किया है, जिसे विगत पद्य में भगवान् ‘स्वभाव’ कह चुके हैं। सभी प्राणियों की श्रद्धा अपने अन्तःकरण के अनुसार ही होती है। अन्तःकरण संस्कारों से भरा रहता है। श्री रामानुजाचार्य ने भी सत्त्व का अर्थ विशिष्ट अन्तःकरण ही किया है। समस्त पुरुष अपने अन्तःकरण के संस्कारों के अनुसार ही संसार की वस्तुओं में स्नेह या द्वेष रखते हैं। जिसका जैसा अन्तःकरण होगा, वह उसी प्रकार की श्रद्धा से युक्त रहेगा। इसका तात्पर्य विगत पद्य से ही साम्य रखता है। श्रद्धामय का अर्थ है कि पुरुष में श्रद्धा की प्रचुरता है। भगवान् ने अर्जुन के इस प्रश्न का भी समाधान कर दिया कि बिना शास्त्र ज्ञान के भी श्रद्धा होती है, तथा मनुष्य का व्यक्तित्व श्रद्धा से ओत-प्रोत है। श्रद्धा का इतना महत्त्व है कि जिसकी जैसी श्रद्धा है उसका सारा व्यक्तित्व ही तद्रूप है।

श्री नीलकण्ठ कहते हैं कि श्रद्धा युक्त होने पर पुरुष को आत्म दर्शन का अधिकारी बतलाकर श्रुति ने श्रद्धा को आत्मदर्शन का साधन कहा है। तब श्रद्धा के सात्त्विक, राजस, तामस आदि विभाग कैसे बनेंगे ? राजस या तामस श्रद्धा से आत्मदर्शन में कैसे सहायता मिलेगी ? उसी के उत्तर में भगवान् ने उक्त पद्य कहा है। पूर्वजन्मार्जित सात्त्विक, राजस, तामस संस्कारों के अनुरूप श्रद्धा होती है। पहिले जो श्री नीलकण्ठ ने उदाहरण दिए थे, यहाँ भी इन उदाहरणों का समन्वय उन्होंने किया है कि यदि कोई पुरुष पूर्वसंस्कारों के कारण अपने पिता के बनाए हुए कूप पर श्रद्धा रखता हुआ, अपने पिता को देवता ही समझता है तो देवगण उस पर अनुकम्पा रखते हैं। शास्त्र ज्ञान से विद्वान् होने के कारण अपने नित्यकर्मों के परित्याग से जो पाप इस पुरुष का इकट्ठा होता है, उसे भी इस पर अनुग्रह करके देवगण हटाते रहते हैं। यदि इसकी पूर्ववासना के अनुरूप राजसी श्रद्धा है तो रजोगुण प्रधान यक्षगणों का यह कृपा भाजन होता है। परन्तु अपनी इच्छानुसार कर्म करने वाले इस पुरुष के नित्यादि कर्मों के लोप

से समुद्भूत प्रत्यवाय को दूर करने में यक्षगण समर्थ नहीं होते। उसमें तो केवल देवताओं का ही सामर्थ्य है। यक्षगण अपनी शक्ति के अनुसार इस राजस श्रद्धायुक्त पुरुष पर अनुग्रह करके उसको अपने अधिकार में स्थित सांसारिक सिद्धि प्रदान कर भले ही अनुगृहीत कर दें परन्तु प्रत्यवाय हटाना उनके सामर्थ्य में नहीं है। फलतः यह बन्धन से छूटने की ओर अग्रसर नहीं हो पाता। यदि किसी पुरुष की पूर्वसंस्कारों के कारण तामसी श्रद्धा है, और वह यह समझता है कि मेरा मृत पिता प्रेत बनकर मेरे कुटुम्ब को बाधा न पहुँचावे, और इसी आशंका से प्रेरित होकर वह प्रेत योनि में स्थित समझ कर अपने पिता की प्रीति की कामना से उसके बनाए हुए कूप की पूजा करता है, तो प्रेत भावना से पूजन आदि करने के कारण प्रेतों का ही वह कृपा पात्र बनता है। क्योंकि वे ही तमोगुण प्रधान होते हैं।

इस प्रकार श्रद्धा की मनुष्य के लिए अनिवार्यता बतलाकर सात्त्विकादि क्रम से श्रद्धेय का भेद बतलाते हैं। कि—

सात्त्विक पुरुष देवताओं का पूजन करते हैं, यक्ष और राक्षसों का पूजन राजसी लोग करते हैं और इनके अतिरिक्त जो तामसी पुरुष हैं वे प्रेतों और भूतगणों की पूजा किया करते हैं” (४)

इन्द्र, विष्णु, रुद्र आदि देवगण प्रसिद्ध हैं। जिनको शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, परन्तु तो भी वृद्धोपदेश से सुनकर या परम्परा सिद्ध रूप से जो उक्त देवताओं की पूजा करते हैं, वे सात्त्विक पुरुष होते हैं। यह प्रकरण उन्हीं लोगों के लिए है जो शास्त्रज्ञान से शून्य हैं, इस बात का टीकाकारों ने बार-बार स्मरण कराया है। राजस और तामस यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत आदि का पूजन करते हैं। यह क्रम भारत में बहुत प्राचीन है यह इससे ध्वनित होता है।

---

## छत्तीसवां-पुष्प

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

“जो मनुष्य शास्त्रों में अविहित घोर तपस्या करते हैं, जो दम्भ, अहंकार से संयुक्त रहते हैं और काम तथा राग तथा मद से भरे होते हैं, जो अपने शरीर में संस्थित भूतग्राम और मुझको कष्ट देते हैं ऐसे पुरुषों को निश्चय ही असुर समझो” (५)

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त पद्यों में सात्त्विक, राजस और तामस श्रद्धा के भेदों और देव, यक्ष, राक्षस, भूत-प्रेत, पिशाच आदि श्रद्धेय भेदों को बतलाकर आगे आसुर लोगों की अशास्त्रीय घोर तपस्या की निन्दा भगवान् ने की है। इसका तात्पर्य यही है कि सात्त्विक श्रद्धा और सात्त्विक तप तो बहुत कम लोग करते हैं, प्रायः राजसी और तामसी श्रद्धा और तदनुसार राजस् और तामस तपस्या ही लोगों की होती है, जो कि अन्ततः निष्फल ही होती है, अतः उसकी निन्दा करके भगवान् उससे बचने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में विहित न होने के कारण इस प्रकार के तप आदि का कोई उच्च फल तो होता नहीं। ऐसी तपस्या शारीरिक क्लेश के लिए ही होती है और उससे शरीर स्थित आत्मा को भी कष्ट ही होता है।

भगवान् ने इस प्रकार के लोगों के तीन विशेषण यहां दिए हैं—

“दम्भाहंकारसंयुक्ताः” “कामरागबलान्विताः”

और ‘अचेतसः’। इन विशेषणों से इस प्रकार के लोगों की हीनता को ही भगवान् ने प्रकाशित किया है। प्रश्न यह हो सकता है कि शास्त्र विहित जो तपस्याएं हैं, उनमें भी तो शरीरस्थित भूतग्राम को और शरीर स्थित जीवात्मा को कष्ट होता ही है, तब केवल अशास्त्र विहित घोर तपस्या में भगवान् ने ये दोष क्यों दिखाए ? ये दोष तो तपस्या मात्र में उपस्थित होंगे, चाहे वह शास्त्रविहित हो चाहे शास्त्रप्रतिषिद्ध हो। इसका उत्तर स्पष्ट ही है कि शास्त्रविहित तपस्या का उद्देश्य आत्मशुद्धि और मोक्षप्राप्ति होता है, अतः मोक्षरूप फल मिलने पर आत्मस्वरूप की उपलब्धि अथवा आत्मसाक्षात्कार ही हो जाता है। भूतग्राम और जीवात्मा दोनों को ही आत्मोपलब्धि में अपार हर्ष ही होता है। फल की प्राप्ति पर क्लेश नवीन सुख का जनक हो जाता है। परन्तु अशास्त्र विहित जो घोर तपस्या है उसका प्रयोजन या फल तो आत्मोपलब्धि होता नहीं, प्रत्युत

उनसे तो आत्मा और भी अधिकाधिक आवृत होता जाता है। आत्मा को अपने स्वरूप से दूर हटाने में क्लेश ही होता है। यही बात भगवान् ने यहाँ कही है। ऐसे पुरुषों में “मैं घोर तपस्या से इन्द्र आदि देवताओं को वश में कर लूंगा” इत्यादि रूप से दम्भ और अहंकार व्याप्त रहता है जो आत्मा का आवरण करने वाला होता है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि अशास्त्रविहित शब्द से भगवान् का आशय वेद विरुद्ध लोक प्रचलित लौकिक आदि मार्गों से है। उसमें तपस्या करने वाला अपने शरीर को काट-काटकर अग्नि में उसका हवन करता है और इस प्रकार अपने को परम कष्ट देकर इष्टदेव को प्रसन्न करके उससे अभीष्ट फल की प्राप्ति ही मुख्य उद्देश्य होता है। किन्तु यह श्रीनीलकण्ठ जी की व्याख्या उपयुक्त नहीं है क्योंकि श्रीदुर्गासप्तशती में सब उपदेश सुनकर सुरथ राजा और समाधिवैश्य की तपस्या लिखी है, उसमें उन दोनों का अपने शरीर के मांस काटकर हवन लिखा है और उससे देवी की प्रसन्नतारूप उत्तम फल भी उन्हें प्राप्त हुआ। दुर्गासप्तशती भी पुराणान्तर्गत एक प्रामाणिक ग्रन्थ है, अतः उसका लिखना अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता और उसको अशास्त्र विहित भी नहीं कह सकते। इसलिए यहां वही दृष्टान्त देना चाहिए जो सर्वथा शास्त्रविहित नहीं है जैसा कि आगे कहा जाता है कि जो मनुष्य तीक्ष्ण कांटे बिछाकर उस पर लेटते रहते हैं बैसा अशास्त्रीय तप ही यहां निन्दित है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने लिखा है कि अपने दम्भ और अहंकार के वशीभूत होकर वे लोग इस प्रकार की शरीर को अत्यन्त पीड़ा पहुँचाने वाली तपस्याओं से जो महान् शारीरिक कष्ट का अनुभव होता है, उसकी भी कोई परवाह नहीं करते।

वस्तुतः जो लोग आज कल देखे जाते हैं कि कांटे आदि बिछाकर उनके ऊपर सोते रहते हैं, वैसे लोगों से यहां तात्पर्य प्रतीत होता है। श्रीनीलकण्ठ जी का कथन यहाँ मार्गविशेष की निन्दा करके भगवद्गीता पर साम्प्रदायिकतत्त्व का आरोप करनेवाला सिद्ध होता है किन्तु भगवद्गीता में किसी सम्प्रदाय की निन्दा या किसी सम्प्रदाय पर कटाक्ष नहीं है, यह हम कई स्थानों पर स्पष्ट कर चुके हैं।

---



## सैंतीसवां-पुष्प

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।  
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥  
आयुस्सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।  
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥  
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।  
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥  
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।  
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्

॥१०॥

अब सामान्य रूप से परिचय कराने के लिए सात्त्विक आदि पुरुषों के आहार आदि का भी वर्णन भगवान् कर देते हैं कि—

सभी लोगों को आहार भी तीन प्रकार का प्रिय होता है यज्ञ या, तप और दान भी उनके तीन ही प्रकार के होते हैं, उन भेदों को इस प्रकार सुनो (७)

आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रेम को बढ़ाने वाले रस से युक्त चिकने, चिरकाल तक स्थिर रहने वाले, हृदय को शक्ति देने वाले भोज्यपदार्थ सात्त्विक पुरुषों को प्रिय होते हैं (८)

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि आहार आदि जो आगे वर्णित हुए हैं वे सत्त्वादि प्रधान प्राणियों के चिह्न हैं। इन आहार, यज्ञ, तप आदि को देखकर यह पहिचाना जा सकता है कि अमुक व्यक्ति दैवी और आसुरी सम्पत्तियों में से किसके अन्तर्गत है। साथ ही सत्त्वादि प्रधान आहार आदि के इस निरूपण का यह भी स्पष्ट अर्थ समझा जा सकता है कि जो पुरुष अभ्युदय और निःश्रेयस की कामना रखते हैं उन्हें सात्त्विक आहार आदि का परिग्रह और राजस, तामस आदि आहार का परित्याग करना चाहिए।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि आहार से सत्त्व आदि गुणों की वृद्धि होती है—

“अन्नमयं हि सौम्य मनः”

“आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः”

आदि उपनिषद् वाक्यों में आहार के आधार पर ही मन का स्वरूप और आहार

से ही सत्त्व शुद्धि की बात आती है। वर्तमान में आहार शुद्धि का विचार अत्यन्त सीमित रह गया है, उसी के परिणाम स्वरूप व्यापक रूप में रजोगुण और तमोगुण का विस्तार देखने में आता है। जब हम आहार विहार में पवित्रता का विचार छोड़कर स्वच्छन्द रूप से आहार आदि का सेवन करते हैं तो हमें वे ही फल प्राप्त होते हैं जो रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि में भगवान् ने कहे हैं। हमारी अभिलाषा इस पर भी यही रहती है कि हमें सुख और शान्ति की निरन्तर प्राप्ति होती रहे। बड़े लोग विश्वशान्ति की भी बातें करते हैं और विश्वशान्ति के लिए एकत्रित होकर शस्त्रास्त्र तथा सेनाओं पर प्रतिबन्ध लगाने की बात भी सोचते रहते हैं। परन्तु शान्ति और सुख दैवी सम्पत्ति की वस्तुएं हैं। हमारे दैनिक आहार व्यवहार तो राजस और तामस रहें और अभिलाषा रखें हम सुख और शान्ति की, यह एक उपहास की ही बात है। ऐसी परिस्थिति को देखकर एक प्राचीन उक्ति का स्मरण आता है कि—

“धर्मस्य फलमिच्छन्ति धर्मं नेच्छन्ति मानवाः ।

फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥”

अर्थात् प्रायः संसार में मानवों की यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे धर्म का फल जो सुख, शान्ति और समृद्धि आदि हैं, उनकी तो इच्छा रखते हैं, परन्तु उनकी प्राप्ति का उपाय जो धर्माचरण है, उसको कभी नहीं चाहते। इसी प्रकार पाप के फल जो दुःख, अशांति, दरिद्रता आदि हैं, उन्हें तो कभी नहीं चाहते, परन्तु उनके मिलने का कारण जो पापाचरण है उसे बड़े प्रयत्न से करते हैं। कहीं कोई ऐसा न कहे कि आपने सात्त्विक आचरण और आहार को ग्रहण करने की बात तो बतला दी, परन्तु यह नहीं बतलाया कि सात्त्विक, राजस और तामस आहार कौन-कौन होते हैं, इसीलिए भगवान् ने गीता में जहाँ दर्शनों के रहस्यों का प्रतिपादन किया वहाँ उन्होंने सात्त्विक आदि अहारों का प्रतिपादन भी नहीं छोड़ा। सात्त्विक आहार का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि जो पदार्थ आयु को बढ़ाने वाले हों वे सात्त्विक होते हैं। जितनी अधिक आयु प्राप्त होगी उतना ही अधिक धर्माचरण करने को मिलेगा। अतः सात्त्विक पुरुष का आहार ऐसा होना चाहिए जो आयुवर्धक हो। वर्तमान में जो अकालमृत्यु हो जाती है और नये-नये रोग मानव जीवन को समाप्त कर देते हैं उनका कारण राजस, तामस आहार का सेवन ही है।

इसके उपरान्त सत्व-बल और आरोग्य अर्थात् स्वास्थ्य को बढ़ाना सात्त्विक आहार की पहिचान है। रसों से भरे, चिकने हृदय को पुष्ट करने वाले पदार्थ सात्त्विक आहारों में परिगणित हुए हैं। इनका विस्तृत निरूपण धर्मशास्त्रों के ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वहाँ पदार्थों के नाम गिनाकर बतलाए गए हैं कि अमुक-अमुक पदार्थों का सेवन

करना चाहिए। सात्त्विक आहार को स्थिर और प्रीति बढ़ाने वाला कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि प्राचीन काल में अनेक ऐसे पदार्थ उपलब्ध होते थे जिनका सेवन करने से बहुत समय तक दुबारा आहार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती थी, शरीर में कोई क्षीणता नहीं आती थी, और सात्त्विक पुरुष बहु काल तक अपनी समाधि आदि कृत्यों में लगा रहकर भी शारीरिक क्लेश का अनुभव नहीं करता था। सात्त्विक आहार से मानसिक प्रीति बढ़ती है। सात्त्विक आहारों में हलुआ, घृताप्लुत भात, रोटी और खीर आदि लिये जा सकते हैं एवं राजस आहार में कटु (चिरपिरे) खट्टे तथा नमक जिनमें अधिक हो, बहुत गरम, तीक्ष्ण अर्थात् जिनके खाने पर जिह्वा में तेजी मालूम हो, और रूखा तथा जिनके खाने से हृदय में दाह मालूम होता हो ऐसे आहार हैं जो दुःख और शोक पैदा करने वाले होते हैं। चटपटी चटनी और बहुत मसाले वाले समोसे आदि इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इसी प्रकार तामस आहार जिनको प्रिय होते हैं, उनका विवरण किया जाता है कि जिनका समय हो चुका हो, समय हो चुकने से जिनमें रस भी लुप्त हो गया हो, यहाँ तक कि सडान जिनमें आने लगी हो—ऐसे बहुत देर के बासी भोजन तामस लोगों को प्रिय होते हैं।

“अत्यन्त कटु, खट्टे, अतिलवणयुक्त, अत्यन्ततीखे, रूखे, दाह करनेवाले, दुःख, शोक और रोगों के उत्पादक आहार राजसी पुरुषों को इष्ट होते हैं।” (९)

अत्युष्ण में जो अति है उसको श्री शंकराचार्य ने सभी के साथ जोड़ा है। राजसी पुरुष सभी रसों में अति ही चाहते हैं। अत्यन्त कटु नीम आदि होते हैं। अत्यन्त तीक्ष्ण मिर्च आदि हैं। अन्यरस तो प्रसिद्ध ही हैं। इनसे दुःख, शोक और रोगों का होना भगवान् ने बतलाया है। इनका सेवन करते समय तत्काल जो पीड़ा होती है वह दुःख है, सेवन करने के अनन्तर जो शारीरिक पीड़ा होती है वह शोक है और उग्र रसों के सेवन करने से शरीर स्थित धातुओं में जो विकार आ जाते हैं उन्हें श्री नीलकण्ठ ने आमय कहा है। सारा शरीर चित्त और धातुओं पर अवलम्बित है—

“चित्तायत्तं धातुवश्यं शरीरं नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम् ।

तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति ॥”

अर्थात् शरीर, चित्त और धातुओं पर अवलम्बित है। चित्त के नष्ट हो जाने पर धातु भी नष्ट हो जाते हैं। इसलिए सभी प्रकार से चित्त की रक्षा करनी चाहिए, चित्त के स्वस्थ रहने पर अनेक प्रकार की नवनवोन्मेशशालिनी बुद्धि का स्फुरण होता है।

राजसी और तामसी आहार से धातुओं की विकृति होकर चित्त भी चञ्चल हो उठता है और उससे व्यक्ति की एकरूपकता नष्ट हो जाती है।

“अल्प पाचक वाले, रसविहीन, बासी, उच्छिष्ट और अपवित्र भोजन तामस जनों को प्रिय होते हैं।” (१०)

यातयाम का अर्थ है चिरकाल तक पड़े रहने से जिनका पाचन कठिनता से होता है। एक व्याख्या में इसका तात्पर्य लिखते हुए कहा गया है कि याम का अर्थ प्रहर किया जाय तो बहुत ऐसे पदार्थ होते हैं, जो अनेक प्रहर का समय बीत जाने पर ही भक्ष्य होते हैं। दूध को कई प्रहर तक रख देने से ही दधि बनता है, अतः यहाँ याम शब्द को प्रहर वाचक न मानकर जो पदार्थ जितने समय में दोष युक्त होता है, उतने काल का उस पदार्थ के लिए ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेदादि शास्त्रों में कौन पदार्थ कितने समय के अनन्तर दोष पूर्ण हो जाता है, इसका विस्तार से वर्णन है। गतरसम् का अर्थ व्याख्याकारों ने किया है कि जिसमें से रस निकल गया है। श्रीरामानुजाचार्य का आशय है कि पार्थिव पदार्थों में पाकज शक्ति के निरन्तर चलते रहने से कोई पदार्थ कभी रस विहीन नहीं हो सकता। जब तक पदार्थ में अवस्था ग्रहण करने की शक्ति रहेगी तब तक वह अवश्य किसी न किसी रस से युक्त रहेगा। जब पदार्थ में से अवस्था परिवर्तन ग्रहण करने की शक्ति निकल जायगी तब वह पदार्थ स्वरूपतः नहीं रहेगा, ऐसी स्थिति को अभाव शब्द से ही कहा जायगा, गतरस शब्द से नहीं। अतः गतरस शब्द का तात्पर्य उन्होंने यही लगाया है कि जिसमें से स्वाभाविक रस चला गया। ‘पूति’ का अर्थ तो सभी व्याख्याकारों ने दुर्गन्ध युक्त ही किया है। ‘पर्युषित’ का अर्थ ही शंकराचार्य ने किया है कि जो पदार्थ पक जाने के अनन्तर रात्रिभर रक्खा रहे उसे पर्युषित कहा जाता है। श्री रामानुजाचार्य ने इसमें रात्रिका ग्रहण आवश्यक नहीं समझा। उन्होंने इतना ही कहा कि समय बीत जाने पर जिस पदार्थ का रस बदल गया हो, वह पर्युषित है। वस्तुतः हिन्दी में ‘बासी भोजन’ संस्कृत के पर्युषित का ही भाव प्रस्तुत करता है। बासी भोजन यद्यपि प्रातःकाल का रक्खा हुआ सायंकाल तक रक्खे रहने से हो जाता है परन्तु अधिक व्यवहार इसका रात्रि में रक्खे रहने वाले पदार्थ के लिए ही होता है। इसी लोकप्रसिद्धि को श्री शंकराचार्य ने ध्यान में रक्खा है।

उच्छिष्ट आहार भी तामस व्यक्तियों को प्रिय माना गया है इस पर प्रायः सभी व्याख्याकारों ने शास्त्र निर्दिष्ट मर्यादाओं के अनुसार गुरु से अतिरिक्त उच्छिष्ट तामस प्रिय होता है, ऐसा निवेश किया है। गुरु के उच्छिष्ट सेवन का तो अनेक बार शिष्य

के लिए विधान भी प्रायश्चित्त जनित पापप्रणोदन के लिए होता है। यदि सर्वथा उच्छिष्ट की व्यावृत्ति हो जायगी तब तो आचार्य का उच्छिष्ट भोजन भी शिष्य के लिए तामस ही कहा जायगा और तामस भोजन का शास्त्र में विधान मानना असत् होगा, अतः गुरु के उच्छिष्ट से अतिरिक्त जो उच्छिष्ट है उसको तामस प्रिय कहना चाहिए ऐसा व्याख्याकारों ने पुराणोक्त उद्धरणों से दिखाया है। अमेध्य का अर्थ है जो मेध्य अर्थ यज्ञ में उपयोग के योग्य न हो। अपवित्र में इसका तात्पर्य है।

इस प्रकार सात्विक, राजस और तामस पुरुषों के आहारों का भगवान् ने निरूपण करके यह प्रकट किया कि आत्महितैषी पुरुष को सात्विक आहार का सेवन करना चाहिए, उससे सात्विक वृत्तियाँ ही जाग्रत होंगी, राजसी और तामसी वृत्तियाँ दबेंगी और श्रेयोमार्ग की ओर अग्रसर होने में सहायता मिलेगी। हम यदि यह चाहें कि अपने आहार को राजस और तामस बनाए रखें, अपवित्र और उच्छिष्ट सेवन का कभी त्याग न करें और सात्विक बुद्धि प्राप्त करते रहें, सात्विक व्यवहार चलाते रहें, तो यह बात असंभव है। यही कारण है कि आहार का हमारे शास्त्रों में बहुत अधिक विचार मिलता है।

---

## अड़तीसवां-पुष्प

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

“फल की आकाङ्क्षा न रखने वाले पुरुषों के द्वारा शास्त्रों में विहित जिस यज्ञ का ‘यज्ञ करना चाहिए’ ऐसा मन में निश्चय करके अनुष्ठान किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ कहा जाता है।”

‘विधिदृष्ट’ श्री शंकराचार्य ने शास्त्र में जिन यज्ञों का विधान है उन्हीं यज्ञों को माना है। ऐसे यज्ञ जिनका शास्त्रों में विधान है वे अवश्य करणीय होते हैं, उनके न करने से प्रत्यवाय का भागी बनना पड़ता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने लिखा है कि यदि स्वयं किसी कारण यज्ञ करने में असमर्थ हो तो अपने प्रतिनिधि के रूप में किसी शास्त्रज्ञ पुरुष का वरण कर उसके द्वारा यज्ञानुष्ठान करके भी शास्त्र की आज्ञा का पालन किया जा सकता है। यद्यपि यह क्रिया अमुख्य या गौण है। सात्त्विक यज्ञ करने वाले पुरुष के मन में किसी प्रकार के फल की कामना न हो यही सात्त्विक यज्ञ की पहिली शर्त है, क्योंकि फल की आकाङ्क्षा मन में आते ही वह कर्म फल के स्वरूप के अनुसार राजस या तामस कोटि में चला जाता है। एक टीका में इस प्रकार फलकामना को छोड़कर यज्ञानुष्ठान करने वाले पुरुष को श्रोत्रिय कहा गया है। जब फल की कामना नहीं रहेगी तो उस यज्ञ का उद्देश्य क्या रहेगा, क्या उद्देश्य विहीन वह यज्ञ होगा ? इस प्रकार के यज्ञानुष्ठान में तो किसी की प्रवृत्ति ही न होगी, जिसका कुछ भी उद्देश्य न बतलाया जा सके। उसके लिए भगवान् ने यह उद्देश्य बतलाया है कि “यह यज्ञानुष्ठान मेरा कर्तव्य है” इस प्रकार अपने कर्तव्य का निर्वाह ही एक बहुत बड़ा उद्देश्य है। सात्त्विक पुरुषों को यज्ञ यागादि अनुष्ठान करते समय अपने मन में इसी उद्देश्य को रखना चाहिए। वनवास की अवधि में जंगलों में विचरते हुए एक बार महाराज युधिष्ठिर से द्रौपदी ने कहा कि महाराज ! आप इतने यज्ञ और दान करने के अनन्तर भी जंगलों की खाक छान रहे हैं, और यज्ञ, दान आदि न करने वाला दुर्योधन आनन्द से राज्य सुख भोग रहा है; इससे यही निर्णय करना चाहिए कि यज्ञ आदि का अनुष्ठान करने

से दुर्गति और न करने से सुख प्राप्त होता है। तब क्या आपने इतना श्रम इसी दुर्गति के लिए किया ? द्रौपदी की इस बात पर महाराज युधिष्ठिर ने यही सात्त्विक आदर्श का उत्तर दिया कि—

“नाहं धर्मफलाकांक्षी राजपुत्रि ! चराम्युत  
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्यपि ॥”

अर्थात् हे राजपुत्रि ! मैं धार्मिक यज्ञ, दान आदि विधियों का अनुष्ठान किसी फल की आकांक्षा से नहीं करता। मुझे देना चाहिए, दान देना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है, यज्ञ करना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है, यही समझ कर मैं यज्ञानुष्ठान करता हूँ। जब मेरे यज्ञादि कार्य किसी फल के उद्देश्य से होते ही नहीं तो उनसे फल क्या होगा।

राजस यज्ञ का निरूपण करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि—

“फल की अभिसन्धि से या दम्भ के लिए जो यज्ञ किया जाता है, हे भरत श्रेष्ठ ! वह यज्ञ राजस कहा जाता है।” (१२)

स्वर्ग प्राप्ति तथा अनेक लौकिक सिद्धियों की प्राप्ति के उद्देश्य से भी यज्ञ किए जाते हैं, उन्हें राजस कहा जाता है। बहुत लोग, “यज्ञ करने से मैं संसार में बड़ा धार्मिक समझा जाऊंगा”, इस प्रकार के दम्भ प्रदर्शन के लिए भी बहुत से यज्ञ किया करते हैं। राजसूय, अश्वमेधादि यज्ञों का अनुष्ठान वही राजा कर सकता है जिसने अन्य सभी राजाओं को अपना करदाता बना लिया हो, जिसका शासन सभी राजगण स्वीकार करते हों। स्पष्ट है कि ऐसे यज्ञों का अनुष्ठान अपने महत्त्व के प्रकाशन के लिए ही होता है। इस शंका का कि जब यज्ञ राजस हैं, तो इनका विधान ही शास्त्रों ने क्यों किया, हम पहिले ही समाधान कर चुके हैं कि ऐसे व्यक्ति भी धर्म विमुख न हों, कुछ धार्मिक कृत्य करते रहने से आगे सात्त्विकता की ओर अग्रसर होने की आशा रहेगी, इसी दृष्टि से शास्त्रों ने इनका विधान किया है।

“जो यज्ञ शास्त्रीय विधियों से विहीन हो, जिसमें अन्न का दान न किया गया हो, जिसके अनुष्ठान में श्रद्धा का अभाव हो, ऐसे यज्ञ को तामस यज्ञ कहा जाता है। (१३)

राजस यज्ञों की विधियाँ भी शास्त्रों में बतलाई गई हैं, अतः राजस के वर्णन में विधिहीनता की बात नहीं कही गई थी। तामस यज्ञों में विधि का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रहता, प्रत्युत शास्त्रीय विधियों से सर्वथा विपरीत विधियों का ही तामसी लोग अपने यज्ञों में पालन करते हैं। मन्त्र हीन का अर्थ एक व्याख्याकार ने उच्चारण की

स्वर, वर्ण आदि की विधियों से विहीन किया है। तामस यज्ञों में श्रद्धा का भी सर्वथा अभाव होता है। यज्ञ करने वाले असुर सम्पत्तिशाली पुरुष का यज्ञकर्त्ता ऋत्विक् आदि के प्रति कोई अच्छा व्यवहार नहीं होता। ऐसे यज्ञ अधोगति प्रदान करने वाले होते हैं। वे यज्ञ बहुत निकृष्ट फलों की अभिलाषा से किए जाते हैं। मारण, मोहन, उच्चाटनादि प्रयोग इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

---



## उन्तालीसवां-पुष्प

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।  
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥  
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।  
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥  
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।  
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥  
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।  
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥  
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।  
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥  
मूढाग्रहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।  
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

“देवताओं, द्विजों, गुरुओं तथा विद्वानों का पूजन करना पवित्रता रखना, सरलता से रहना, ब्रह्मचर्य का परिपालन करना, प्राणिपीड़ा से दूर रहना यह शारीरिक तप कहलाता है।” (१४)

यज्ञ का सात्त्विक, राजस, तामस विभाग विगत पद्यों में कह दिया गया है। इस प्रकरण में उन मुख्य मुख्य प्रसिद्ध धार्मिक कृत्यों के तीनों गुणों से विभक्त रूपका वर्णन भगवान् करते हैं जिनकी लोक तथा शास्त्र में पर्याप्त प्रसिद्धि है। यज्ञ के उपरान्त तपस्या के स्वरूप का निरूपण करते हुए पहिले उसके शारीरिक, वाचिक और मानसिक ये तीनों स्वरूप बतलाकर, फिर उनके सात्त्विक, राजस, तामस भेदों का निरूपण होगा। शारीरिक तपस्या में सबसे पहिला देवपूजा को लिया गया है। देव पूजा में शरीर का पर्याप्त व्यायाम हो जाता है। यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि तप का अर्थ श्रम सर्वत्र अनुगत रहेगा। शारीरिक तप में शरीर को श्रम होता है, मानसिक तप में मन को तथा वाचिक तप में वाणी को श्रम उठाना पड़ता है। आपाततः तप में जिस विषय का तप हो उसमें कुछ क्लेश का अनुभव होता ही है। परन्तु वह क्लेश अभीष्ट ही होता है। देवपूजा में शरीर को क्लेश उठाना पड़ता है। उसके लिए अपना एक निश्चित क्रियाकलाप स्थिर करना होता है, जिससे स्वच्छन्दता पर अंकुश लगता है।

फिर देवपूजा के सम्भार एकत्रित करने में पर्याप्त श्रम उठाना पड़ता है। परन्तु देवभक्त इन सब कार्यों में निस्सीम प्रसन्नता और आनन्द का अनुभव करता है और कभी भी इनसे विरत होना नहीं चाहता। इन कर्मों में उसकी इतनी तत्परता हो जाती है कि वह इन कर्मों को छोड़कर परम पुरुषार्थ मोक्ष की भी अभिलाषा छोड़ देता है। शंकर भगवान् ने अपनी सेवा में तत्पर एक भक्त को प्रसन्न होकर मोक्ष प्रदान कर दिया। इससे उसे बड़ा कष्ट हुआ। मोक्ष में भगवान् की पूजा का यह आनन्द कहाँ, वहाँ नित्य भगवान् के प्रसाद के रूप में भस्मानुलेपन कहाँ मिलेगा, मुक्ति हो जाने पर पवित्र रुद्राक्ष की माला का संसर्ग छूट जायेगा। शंकर भगवान् के मंदिर की पुनीत सीढ़ियाँ चढ़ने को नहीं मिलेंगी। उसने दुःखी होकर अपनी इन नित्य सहचर वस्तुओं से अन्तिम विदा लेते हुए कहा—

भस्मोद्धूलन ! भद्रमस्तु भवते रुद्राक्षमाले ! शुभं  
हा सोपानपरम्परे ! गिरिसुताकान्तालयालंकृते !  
अद्याराधनतोषितेन विभुना युष्मत्सपर्यासुखा—  
लोकोच्छेदिनि मोक्षनामनि महामोहे निधीयामहे ।

अर्थात् हे भस्मानुलेपन ! तुम्हारा कल्याण हो, हे रुद्राक्षमाले तुम्हारा शुभ हो ! शंकर भगवान् के मन्दिर की सोपान परम्परे, आज मैं बड़ा उद्विग्न हूँ, क्योंकि मेरी आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने मुझे मोक्ष नामक बड़े मोह से भरा वह पद दे दिया है जिसमें तुम्हारी पूजा के सुख का आनन्द छूट जायेगा। संस्कृत साहित्य में देव भक्तों की अनेक सरस मार्मिक उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, जिनसे भक्तों की भावप्रवणता का पता चलता है।

देवपूजा के अनन्तर द्विजों की पूजा का उल्लेख है। यह भी शारीरिक तप है। यह समाज में द्विजों की पवित्रता, उच्चता और त्याग शीलता का द्योतक है। गुरु पूजन तो प्रसिद्ध ही है। बहुधा गुरुपूजन में अधिक शारीरिक श्रम उठाना पड़ता है। प्राचीन काल में गुरुओं की आवश्यकताओं की पूर्ति शिष्यगण ही किया करते थे। वे आवश्यकताएं अपनी पूर्ति के लिए कठोर शारीरिक श्रम की अपेक्षा रखती थीं। शिष्य को तपस्या करवाकर उसके मन की पवित्रता संपादन के लिए अनेक बार गुरु भी उससे दक्षिणा आदि के रूप में पर्याप्त शारीरिक श्रम लेकर उसे भविष्य जीवन में कठोर श्रम से जीवन यापन करने के पाठ पढ़ा दिया करते थे, जिसकी अनेक कथाएं भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इन कथाओं में गुरु का शिष्य के प्रति किसी प्रकार का द्वेष या उसे

केवल कष्ट पहुँचाना ही उद्देश्य नहीं होता था, अपितु उपार्जित ज्ञान के साथ-साथ उसमें पर्याप्त क्रियाशीलता उत्पन्न करने का पवित्र विचार उनका होता था।

गुरु के उपरान्त भगवान् ने प्राज्ञजनों की पूजा का विधान किया है। शास्त्रीय विधिपूर्वक जिनसे अध्ययन तो नहीं हुआ परन्तु जो अपने ज्ञान से उत्कृष्ट हैं, उनका भी पूजन करना तप के अन्तर्गत ले लिया जाता है। शौच का अर्थ यहाँ शारीरिक पवित्रता सम्पादन है, जिसका कि भारतीय धर्मशास्त्रों में विस्तृत प्रतिपादन है, जो पर्याप्त श्रम की अपेक्षा रखने के कारण तप के अन्तर्गत संगृहीत हुआ है। आर्जव का अर्थ सरलता है। यद्यपि सरलता का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं अपितु मन से भी है, अतः उसे शारीरिक तप में गिनने में कुछ सन्देह हो सकता है, परन्तु मानसिक सरलता या नम्रता के शारीरिक प्रदर्शन का ही यहाँ तात्पर्य मानने से अनुपपत्ति नहीं रहती, शारीरिक उद्धत और अनर्गल चेष्टाओं को संयत करना भी श्रम साध्य ही है, अतः इसका भी शारीरिक तप में परिगणन किया गया है। ब्रह्मचर्य का परिपालन तो बिना श्रम के हो ही नहीं सकता, अतः वह तो मुख्य रूप से शारीरिक तप में संगृहीत हुआ ही है। परन्तु ब्रह्मचर्य भी शारीरिक श्रम की भाँति मानसिक श्रम की भी पर्याप्त अपेक्षा रखता है, फिर भी उसमें शारीरिक श्रम की मुख्यता रहने के कारण उसका यहाँ संकलन कर दिया गया है। ब्रह्मचर्य पर हम अग्रिम पुष्प में कुछ विस्तार से कहेंगे। अहिंसा को शारीरिक तप कहने का आशय स्पष्ट ही है कि परपीड़ा से बचने के लिए स्वयं को बहुत श्रम करना होता है। बहुधा दूसरे के द्वारा पहुँचाई गई पीड़ा को सहन करके उसका प्रतीकार न करने में भी बहुत श्रम होता है। इसका भी क्षेत्र मानसिक भी है परन्तु शरीर का ही प्राधान्य होने के कारण उसे शारीरिक तप में ही गिना गया है।

“उद्वेग न पहुँचाने वाले सत्य, प्रिय और हितकारी वाक्य बोलना, स्वाध्याय का अभ्यास करना वाङ्मय तप कहलाता है।

अन्य इन्द्रियों के समान वाणी भी स्वच्छन्द रूप से निकलती रहती है। उसे संयत करना भी श्रम साध्य होता है। कठोर वाणी के उच्चारण से श्रोता को मानसिक पीड़ा या उद्वेग होता है। अतः उद्वेग उत्पन्न करने वाली वाणी का उच्चारण न करना वाचिक तप माना गया है। बहुधा मिथ्या भाषण से ही शिष्ट पुरुषों को अधिक पीड़ा पहुँचती है। वे सर्वदा वाणी में सत्य का ही आश्रय लेते हैं और वैसा ही दूसरे से चाहते भी हैं, अतः सत्य का ही उच्चारण करना वाचिक तप का अंग माना गया है।

परन्तु यदि सत्य ऐसा है जो बहुत कठोर है, जिसके सुनने से श्रोता को पीड़ा हो सकती है, ऐसी वाणी पर भी संयम रखना आवश्यक हो जाता है। अतः वही बात कहनी चाहिए जो सत्य होने के साथ प्रिय भी हो। परन्तु यदि केवल सत्य और प्रिय का ही ध्यान रक्खा जाय तो बहुत सी हितकारी बातों का उच्चारण ही न हो सकेगा क्योंकि ऐसी बहुत सी बातें हैं जो सत्य होनेपर भी आपाततः प्रिय नहीं होतीं। अतः हितकारी सत्य और कष्ट न पहुँचानेवाली वाणी को अपने व्यवहार में स्थान देना वाङ्मय तप माना गया है। एक नीति वाक्य प्रसिद्ध है—

**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्—**

**न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।**

**प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष—**

**धर्मः सनातनः ॥**

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय बोलना चाहिए, ऐसा सत्य नहीं बोलना चाहिए जो सत्य तो हो, परन्तु कष्ट पहुँचाने के कारण अप्रिय मालूम होता हो। ऐसी वाणी का भी उच्चारण निन्दित माना गया है जो प्रिय हो परन्तु मिथ्या हो। वाग्व्यवहार के इस प्रतिबन्ध से सहज ही अनुमान हो सकता है कि बोलते समय कितनी सावधानी और श्रम की अपेक्षा हुआ करती है। इसके अतिरिक्त स्वाध्याय का अभ्यास करते रहना भी वाङ्मय तप माना गया है। अपने स्वाध्याय में भी वाणी को पर्याप्त श्रम करना पड़ता है। स्वाध्याय शब्द, जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, मुख्य रूप से वेदाध्ययन का ही वाचक है। वेदों का उच्चारण अन्य साहित्य की तरह नहीं होता अपितु उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों पर ध्यान देकर तदनुसार ही वेदों का उच्चारण करना होता है, जो स्पष्ट ही बहुत श्रमसाध्य है, अतः वह भी एक तप ही है।

**“छात्राणामध्ययनं तपः”**

इत्यादि वचनों में अध्ययन को ही छात्रों का तप कहा गया है। यह वाङ्मय तप का विवरण हुआ।

“मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव मौन रहना, आत्मा का निग्रह रखना, यही मानस तप कहा जाता है।” (१६)

स्पष्ट है कि उक्त बातों के सम्पादन में पर्याप्त श्रम होने से ये तप के अन्तर्गत हैं।

इस प्रकार तप के शारीरिक, वाचिक और मानसिक स्वरूप का विवरण करने के उपरान्त अब इसका तीनों गुणों के अनुसार विभाजन आगे के तीन श्लोकों में भगवान् ने किया है।

“फल की आकांक्षा को छोड़कर परम श्रद्धा से मनुष्यों के द्वारा किया हुआ उक्त तीनों प्रकार का तप सात्विक कहलाता है।” (१७)

सात्विक भेद में फल की आकांक्षा छोड़ देना सर्वत्र अनुगत है, और राजस और तामस भेदों में फल की आकांक्षा सर्वत्र मुख्य रहती है। साथ ही परम श्रद्धा से युक्त होकर जो तप किया जाय वही सात्विक है, यह बात भी कही गई। श्रद्धा भी तीन प्रकार की पहिले कही गई है। उसमें परम श्रद्धा से सात्विक श्रद्धा का ग्रहण करना स्पष्ट है।

राजस तप का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“सत्कार मान और पूजा के लिए दम्भपूर्वक जो तप किया जाता है वह चञ्चल और अस्थिर होता है, वह राजस तप कहलाता है। (१८)

अन्य राजस भेदों की भांति ही इसका विवरण भी समझ लेना चाहिए।

“मूढ़तापूर्ण आग्रह से शरीर को कष्ट देकर जो दूसरों को निर्मूल करने के उद्देश्य से तप किया जाता है, वह तामस तप है।” (१९)

अपनी शक्ति की परीक्षा न करके जो बहुत उग्र तप प्रारम्भ कर देते हैं, जिसमें शरीर को अनेक प्रकार के भयंकर कष्ट पहुंचाए जाते हैं, जिसका उद्देश्य दूसरों को पीड़ा पहुंचाना ही मुख्य होता है, ऐसे तप तामस तप कहे जाते हैं। तपस्या के स्वरूप और तीनों गुणों के अनुसार उसके भेदों के इस कथन से अन्य भेदों के समान ही यह स्पष्ट है कि आत्महित कामना रखने वाले पुरुषों को सात्विक तप का आश्रय लेना चाहिए और राजस तथा तामस तप से बचना चाहिए।

---

## चालीसवां-पुष्प

### ब्रह्मचर्य

आदि सत्ययुग में जब सम्पूर्ण ऋषिमण्डली भगवान् स्वायम्भुव मनु से धर्म-श्रवण करने गई थी, और भगवान् मनु की आज्ञा से उनके शिष्य भगवान् भृगु ने सब प्रकार के धर्म सुनाये थे, उस समय ऋषिमण्डली ने अकाल मृत्यु के सम्बन्ध में भी एक प्रश्न किया था कि वर्ण आश्रम धर्मों में स्थित मनुष्यों की अकाल मृत्यु क्यों हो जाती है ? भगवान् भृगु ने उसका उत्तर देते हुए कहा था कि-

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।

आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥

(मनुस्मृति अ० ५)

इस श्लोक में अकाल मृत्यु के ४ कारण बताये गये हैं—(१) वेदों का अभ्यास न करना, (२) आचार छोड़ देना, (३) आलस्य और (४) अन्न का दोष। जब हम विचारते हैं कि ये कारण आजकल हममें, हमारे समाज में कहाँ तक फैले हुए हैं और फिर अपनी दशा की ओर देखते हैं तो हृदय फड़क उठता है। जिस आपत्ति का कारण दूँढ निकालने के लिए हम इधर-उधर भटक रहे थे, जिसकी खोज के लिए हैरान थे, उसका निर्णय तो हमारे पूर्वजों ने सहस्रों वर्ष पहले ही कर रखा है और करुणावश हमें बतला भी दिया है। अब हम उसे न देखें, उसकी कुछ परवाह न करें, उधर से आंख ही बन्द कर लेवें और इधर-उधर पर्वत खोदकर चुहिया निकालते फिरें, तो दोष किसके सिर पर मँढ़ा जायगा।

हमको पुराणों और इतिहासों से स्पष्ट पता लगता है कि आपके इस आनन्द कानन भारत पुण्य क्षेत्र में अकाल मृत्यु जैसी दुष्ट लता का कहीं अंकुर तक भी देखने-सुनने में न आता था। यहाँ तो सब मनुष्य समृद्धिशाली, पराक्रमशाली, विद्वान्, हृष्ट-पुष्ट, नित्य आनन्दमय होते थे। अपने सुख के सामने न केवल यही इन्द्र भवन की सम्पदाओं को तुच्छ समझते थे, किन्तु देवता भी इनके सुखों को, इनके अधिकारों को देखकर नित्य भारत में जन्म लेने के लिए ललचाये रहते थे। किन्तु आज ये सब बीते स्वप्न की बड़बड़ाहट हैं, आज इन बातों पर विश्वास तक नहीं होता। आज किस देश में, किस नगर में, किस ग्राम में, किस घर में अकाल मृत्यु पिशाची ने अपना पंजा नहीं जमा रक्खा है ? कितने पिता आज पुत्रों के वियोग में तड़प रहे हैं। कितनी बालविधवाओं का करुणक्रन्दन भारत के आकाश को फाड़ रहा है। प्लेग, हैजा, आदि

कैसे कैसे दुष्ट रोग भारत को अपना घर बना रहे हैं और भारतवासियों को अपनी करनी का फल दे रहे हैं। जो आज जीते हैं वे मरे से बढ़कर हैं। पैदा होते ही रोग शरीर के साथ लग जाता है, बल और बुद्धि का कहीं पता भी नहीं, भारत के नवयुवकों के आज मुखकमल को देखिये—क्यों इन पर यह अकाल में ही तुषार पड़ गया। पराक्रमी ऐसे हैं कि हाथ से मक्खी उड़ा लेना भी पुरुषार्थ की बड़ी दूर की सीमा से कुछ बाहर निकला हुआ है। पूर्वजों के शरीरों के साथ हमारे शरीरों की तुलना करने पर अनुपात से तो यही मालूम होता है कि एक-एक हाथ के शरीर की भविष्यवाणी अब पूरी ही होना चाहती है। हम लोग यह कह देते हैं यह सब ईश्वर की इच्छा है। किन्तु ईश्वर के नाम पर अन्याय का कलंक लगाना उचित नहीं, वह सदा हमारे कर्मों के अनुसार फल देने वाला है। हम अपने आचारों की खोज करें कि हम क्या कर रहे हैं ? हम यदि आज खोज भी करते हैं तो पश्चिमी दृष्टि से खोज करते हैं। अपने निर्भ्रान्त शास्त्रों के सिद्धान्त की ओर नहीं आते, कि जिनमें पहिले ही सब कार्य कारण-भाव का निर्णय हो चुका है।

मनुस्मृति में जो ४ कारण अकाल मृत्यु के बतलाये हैं—उनमें से एक-एक की जाँच कर लीजिए, खूब विचारपूर्वक दृष्टि फैला लीजिए। लाचार होकर आपको कहना पड़ेगा कि चारों कारण आजकल यहाँ अपने पूरे स्वरूप में उपस्थित हैं। पहला कारण बतलाया गया है वेद का अभ्यास न करना। जिसमें—

**‘भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति।’**

‘भूत, भविष्य, वर्तमान—सब कुछ वेदों से ही जाना जाता है का दावा करने वाले ऋषि-मुनियों का कानून था कि—

**‘योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।**

**स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥**

जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वेद न पढ़ कर अन्य बातों में श्रम करता है, वह वंश सहित जीता शूद्र कोटि में गणना योग्य हो जाता है। यहाँ आज कितने वेदज्ञ ब्राह्मण हैं ? कितनों ने सांगवेद पढ़कर अपने पूर्वजों के विद्याभण्डार के रत्नों की कान्ति भी देखी ? कितने ही हमारे देशवासी तो वेदों का नाम भी नहीं जानते हैं। कानून यह था कि—

**“ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च”**

ब्राह्मण बिना कारण सोचे धर्मबुद्धि से छओं अंगों सहित वेदों को पढ़े और समझे।

किन्तु आज वेदों के पढ़ने की चर्चा आते ही पेट की बात आगे आ पड़ती है कि वेद, शास्त्र पढ़ेंगे तो खायेंगे क्या ? आज पेट की ज्वाला इतनी बढ़ गई है कि उसे ही बुझाने में सारा जीवन समाप्त हो जाता है, किन्तु फिर भी वह बढ़ती ही जाती है। ब्राह्मणों में कथा है कि भरद्वाज ऋषि बाल्य, यौवन, जरा तीनों अवस्थाओं में वेद ही पढ़ते रहे और जब इन्द्र ने उनसे पूछा कि आपको चौथी अवस्था और मिले तो आप क्या करेंगे ? उस पर भी उन्होंने यही उत्तर दिया कि ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाभ्यास करते ही उसे भी बिता दूँगा। पाँचवीं और मिलेगी तो वह भी वेद पढ़ने में ही जायगी। किन्तु आज अवस्था की तो कौन कहे, कुछ वर्ष भी कुछ मास भी, कुछ दिन भी ब्राह्मण नामधारियों के भी वेद पढ़ने में खर्च नहीं होते। सौभाग्यवश लोग वेद पढ़ते भी हैं, वे—

‘स्थाणुरयं भारहारः किलाभू-

दधीत्य वेदं न विजानात्यर्थम् ।

यह केवल बोझ सिर पर रखने वाली थूण के समान है जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता, इस मंत्र के ही दृष्टान्त बनते हैं। सांग सार्थवेद पढ़कर उसके द्वारा अलौकिक विद्याओं को जानने वाला आज कौन भारत में है ? हाँ, वेद का दावा तो आज जगत् में बहुत बढ़ गया है कि ‘वेद में यह नहीं, वह नहीं’ इत्यादि, किन्तु जब पूछा जाय बाबू साहब ! आपने कितने काल तक वेद पढ़ा है, तो उत्तर यही होगा कि उर्दू या अंग्रेजी में उसका तर्जुमा देखा है। जिस वेद को पढ़ने के लिए दर्शनों के आचार्य, मुनि और ऋषि बीसों वर्ष ब्रह्मचर्य रखते थे, फिर भी यावज्जीवन उसके अर्थ ज्ञान का निरन्तर यत्न ही करते रहते थे, उसका ज्ञान हम अनुवादों के आधार पर प्राप्त करना चाहते हैं, इससे अधिक और शोक की बात क्या होगी ? इससे अधिक क्या अधःपात होगा ? निरुक्तकार यास्क मुनि कहते हैं—

“नैतेषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा,

विना तप के मंत्रों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। वह तप जाने कहाँ गया। वेदों में है क्या, जिसके लिए हम, हम ही नहीं किन्तु सारी सृष्टि उनका गौरव करती है—यह कोई नहीं जानता। सुतरां वेद ज्ञान की जो दुर्दशा भारत में हुई है, उसका विचार करने से आँखों के आगे अन्धकार छा जाता है।

जब वेद-ज्ञान ही न रहा, तो धर्मज्ञान कहाँ से हो, और आचार का पालन क्यों न सूखे वृक्ष के फल के समान हो जाय। जब आचार जानेंगे, तब न आचार का पालन करेंगे। आचार जानने का साधन वेद शास्त्र जब छोड़ दिया तो आचार-पालन हो कहाँ



से। हमारे पूर्वजों ने अनेकों वर्ष जंगलों में भटककर राज्य तक का सुख छोड़कर जो सम्पत्ति प्राप्त की थी, और परम करुणा वश जो उपदेश के रूप में दी थी, उस सम्पत्ति को उस रत्नराशि को हमने बन्दर का कांच समझ लिया है। मूर्ख जौहरी के लड़के के समान कूड़े-करकट में उन अमूल्य रत्नों को फेंक रहे हैं। हम तनिक भी विचार दृष्टि से काम लेवें, तो विदित होगा कि हमारे आचारों में कितना तत्त्व भरा हुआ है। सैकड़ों वर्षों की खोज से वैज्ञानिक जिन बातों को जान पाया है—उन्हें आचार के रूप में हमारे घरों की अनपढ़ स्त्रियाँ भी जानती हैं। आज हम अपने आचारों पर हँसा करते हैं, किन्तु उन्हीं बातों को जब विदेशी वैज्ञानिकों के मुख से सुनते हैं तो सिर झुकाकर मान लेते हैं। अपने पूर्वजों की बातों पर विश्वास नहीं, किन्तु विदेशियों की बातों पर पूर्ण विश्वास है—इतना अधःपात किस जाति का होगा ! मानो आत्मिक बल हममें निःशेष ही हो गया। हमारे घरों में गोबर का चौका लगाने की पुरानी रीति है, किन्तु नव शिक्षित बाबू सज्जन भला इसे कब पसन्द करते ? इससे घृणा करते थे, हँसते थे। किन्तु आज वैज्ञानिकों की राय हुई कि गोबर पर कीटाणु आदि बाहरी दोषों का संक्रमण नहीं हो सकता, तो अब बहुत से डाक्टरों के भी घर में गोबर का चौका लगाने लगा। वैष्णव हिन्दू सदा से अपने घरों में तुलसी रखते आये हैं, भला बाबूओं के बंगले में इस बेचारी को कहाँ स्थान मिलता, किन्तु अंग्रेज डाक्टरों ने अनुभव करके बतला दिया कि मलेरिया का उपाय इससे अच्छा कोई नहीं, तो अब तुलसी के भी उच्च ग्रह आये। जगह-जगह इसका प्रचार होने लगा। तात्पर्य—हम केवल दूसरों की दृष्टि से देखते हैं। पाश्चात्य शिक्षा से हम सर्वथा दृष्टवादी हो गये हैं, अदृष्ट-धर्म अधर्म पर हमारा विश्वास जाता ही नहीं। डाक्टरों के कहने से यह दृढ़ विश्वास है कि प्लेग का असर समीप रहने वालों पर हो जाता है, अतः प्लेग के रोगी से यहां तक डरते हैं कि पुत्र पिता के पास नहीं जाता, पुरुष स्त्री के पास नहीं जाता। किन्तु तामसी, नीच जाति, व पापियों की संगति से तमोगुण, व पाप का भी असर होता है—इस ऋषिवाक्य को नहीं मानते। अच्छा, अदृष्टवाद को जाने दीजिए, जिनका फल प्रत्यक्ष है, उन आचारों को भी कौन मानता है ? प्रातःकाल उठने के लाभों को कौन नहीं जानता ? किन्तु कितने सज्जन ब्राह्म-मुहूर्त में उठते हैं ? शौच-विधि, दन्तधावन, नित्य स्नान आदि का फल तो प्रत्यक्ष है, फिर भी कितने नवशिक्षित इन्हें निभाते हैं ? बस आचारस्य च वर्जनात् यह मनुस्मृति का कहा हुआ दूसरा अकाल मृत्यु का कारण भी यहाँ पूरा उपस्थित है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

तीसरे हेतु आलस्य के विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। आलस्य का तो भारत में साम्राज्य है। काम कुछ न करेंगे, किन्तु कहेंगे यही कि फुरसत नहीं। दिन भर व्यर्थ

बिता देने वालों की हमारे यहाँ कमी नहीं। इसे जो विशेष जानना चाहें, विदेशीय सज्जनों की कार्यपरता का अपने से मुकाबिला कर देख लेवें।

अब रहा चौथा हेतु अन्न दोष। इसके विषय में कुछ न पूछिये। जिस जाति के पूर्वजों ने मद्य, मांस के सेवन को महापाप माना था, उस जाति में आज होटलों में बड़े आनन्द से अण्डे और ब्राण्डी उड़ती है। बुद्धि यह हो गई है कि खाने-पीने का धर्म से सम्बन्ध ही क्या ? धर्म को इन सज्जनों ने दुनियाँ से बाहर की वस्तु मान रखा है—जिसका आचार-व्यवहार से कोई ताल्लुक ही नहीं। शास्त्र ने निर्णय किया था कि 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' जो हम भोजन करते हैं, उसके तीन भाग होते हैं। स्थूल भाग मल रूप में निकल जाता है, मध्य भाग रस, रुधिर, मांस मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र—इन सात धातुओं को क्रम से बनाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म सार भाग होता है उसका मन बनता है। जैसा पुरुष अन्न खायेगा, वैसा ही उसका मन होगा। सात्विक अन्न से सात्विक मन बनेगा तो ईश्वर-भक्ति, परोपकार, दान, दया, आदि के विचार होंगे। तामस अन्न खाने से तामस मन बनेगा तो परद्रोह, कुचाल, छल, हिंसा आदि के विचार होंगे। इस ही आधार पर शास्त्र ने भोजन में बड़ा विवेक रक्खा। शुद्ध अन्न हो, शुद्ध कमाई का हो, शुद्धिपूर्वक बनाया जाय, वह भोजन करना। किन्तु आज न अन्न का विचार, न कमाई का। भक्ष्याभक्ष्य का विवेक वैज्ञानिक बुद्धि में ही नहीं समाता।

अब जब चारों कारण अकाल मृत्यु को हमारे यहाँ उपस्थित करते हैं, तो मानना चाहिए कि इन्हीं कारणों से दुर्दशा हो रही है और यदि हम अपना शुभ चाहें तो इन्हीं कारणों को दूर करें।

हमें शास्त्रों ने चार आश्रमों के पालन का उपदेश दिया है—सबसे प्रथम ब्रह्मचर्य, फिर गार्हस्थ्य, फिर वानप्रस्थ, फिर संन्यास। पहली सीढ़ी ब्रह्मचर्याश्रम के बिगड़ जाने से सभी आश्रम अस्त-व्यस्त हो गये। ब्राह्मण का आठ वर्ष का बालक, क्षत्रिय का ११ वर्ष का और वैश्य का १२ वर्ष का उपनयन संस्कार होकर आचार्य के घर जाकर निवास किया करता था। 'उपनयन' शब्द का अर्थ ही यह है कि आचार्य उसे अपने समीप ले जाता था, उपनयन सब द्विज मात्र का आवश्यक कर्म है। क्या सुन्दर प्रथा थी, कैसा उच्च आदर्श था कि कोई द्विज बालक अपनी पूर्वावस्था में घर रह ही न सके, आचार्यों के घर जाकर पहले विद्या पढ़े तब घर में आकर रहने का अधिकारी हो। आज हम दूसरे देशों की कानूनों की बड़ी प्रशंसा करते हैं कि उस-उस देश में कम्पल्सरी एजुकेशन है, अपने यहाँ भी सरकार से वैसा कानून बनाने की प्रार्थना करते

हैं—किन्तु अपने घर के कानून का हमसे पालन नहीं हो सकता। अपने घर के कानून को हम देखते ही नहीं। इससे बढ़कर क्या कानून होगा कि द्विजों के लड़के नियत अवस्था में अवश्य आचार्य के घर जाँय, अन्यथा वे अपनी कुल प्रतिष्ठा से पतित माने जाँय। जिसे अपनी कुल प्रतिष्ठा रखनी हो, जिसे द्विज रहना हो, वह आचार्य के घर जाकर कम से कम १२ वर्ष तक निवास करे। वहाँ उसे वेद का, चरण अर्थात् अध्ययन करना होता था उसे ही कहते थे 'ब्रह्मचर्य'। सांगवेद के अध्ययन के साथ-साथ उससे आचार्यों के पालन का पूरा अभ्यास कराया जाता था। दण्ड, कमण्डलु लिए, मेखला बाँधे, कौपीन लगाए, साधारण वेष से रहना होता था। यह आवश्यक न था कि स्कूल में जाकर भर्ती होते ही कोट, पतलून, कमीज, नेकटाई और बूट का अनावश्यक खर्च पिता के सिर पर पड़े। भोजन भी भिक्षात्र का करना होता था—जिससे शौक पैदा न हो, जैसा मिले, वैसा साधारण भोजन का अभ्यास हो। मान अपमान के सहने की शक्ति पैदा हो और सबसे बढ़कर यह बुद्धि हो कि मैं देश का अन्न खा रहा हूँ, देश का मुझ पर ऋण हो रहा है, अपनी विद्या द्वारा देश की सेवा कर यह ऋण मुझे चुकाना है। आचार्य में पिता-बुद्धि होती थी, सहपाठियों में भ्रातृभाव होता था, स्त्री मात्र को माता कहने की आदत होती थी। जरा हम सोचें कि क्या वह आदर्श था। क्यों न उस रीति से शिक्षा पाकर जगत् में भ्रातृभाव उत्पन्न हो। वे आँखें जो सब स्त्रियों को माता दृष्टि से देख चुकी हैं फिर किसी पर क्यों बुरी तरह पड़ेंगी ? वहाँ आचार्यों की न केवल साचिक शिक्षा होती थी, किन्तु प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठने से लेकर शयनपर्यन्त के सभी सदाचार गुरु की निरीक्षकता में पालन करने होते थे। सन्ध्या, हवन आदि आचार्यों का पालन, परिश्रम से शास्त्रों का अध्ययन, भिक्षा लाना, गुरु के घर का सब कार्य करना—इतक कृत्य रहने पर आलस्य को स्थान ही कहाँ?

अन्न का परिपूर्ण विचार वहाँ करना होता था। भक्ष्य का पूर्ण विवेक था। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त चारों दोषों में से एक भी दोष नहीं उत्पन्न होने पाता था। जब वेद-विद्या समाप्त कर चुके, तब आचार्य को दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा लेकर समावर्तन होता था। समावर्तन अर्थात् घर लौटना। बिना विद्या समाप्त किए कोई घर नहीं लौट सकता, विवाह का नाम भी नहीं ले सकता। समावर्तन के पीछे विवाह कर धर्म से गृहस्थाश्रम का पालन करता हुआ, अवस्थानुसार वानप्रस्थ और संन्यास का अधिकारी होता था।

अब आप आज की हमारी दशा पर विचार कीजिए। जिस शिक्षा की आज भारत में प्रधानता है, उसमें न अपनी भाषा का स्थान है, न अपना वेष रहता है, न अपने भाव ही आ सकते हैं। संसार भर के शिक्षित मनुष्य इस बात पर एक मत हैं कि अपनी भाषा द्वारा दी हुई शिक्षा ही शिक्षा का सच्चा फल दे सकती है। जैसे बालक

के शरीर पोषण के लिए माता का दूध ही प्राकृतिक आहार है, अन्य आहार विकृति ही उत्पन्न करते हैं, ऐसे ही मानस भावों के पोषण के लिए मातृभाषा का विज्ञानरूपी दुग्ध ही प्राकृतिक सामग्री है। अन्य भाषा द्वारा दी हुई शिक्षा भावों के पोषण के स्थान में उन्हें विकृत हो करती है। इसी से तो सब देशों के नेता अपने बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध अपनी भाषा में ही करते हैं। किन्तु हमारी शिक्षा ही निराली है। यहाँ उच्च शिक्षित कहाने वाले भी, अपनी शिक्षा की डींग के आगे संसार की बुद्धि को तुच्छ समझने वाले भी, अपनी मातृभाषा में अपना नाम तक लिखना नहीं चाहते, अपने धर्मग्रन्थ वेद की भाषा की बात ही कौन कहे, देव-वाणी संस्कृत को भी एक तरफ रखिए, जब उन्हें अपनी सभ्यता का वा अपने धर्म का ज्ञान ही नहीं, तो उन पर उन्हें श्रद्धा कैसे होगी ? अपने धर्म आदि की बात जानने के लिए जो कुछ वे पढ़ते हैं, उसका भी उन्हें मार्मिक ज्ञान नहीं होता। विदेशीय भाषा द्वारा प्राप्त की गई शिक्षा अन्तःकरण पर नहीं जमती। प्रत्यक्ष ही देखिए, लाखों छात्र कालेजों में पढ़ते हैं, किन्तु उनमें से कितने यथार्थ वैज्ञानिक बनते हैं, कितने राजनीति के विद्वान होते हैं, कितने अर्थशास्त्र पारंगत होते हैं, कितनों को उच्च कक्षा की इंजीनियरी आती है ? अपनी भाषा में जब शिक्षा हो, तब ही सच्चा विषय-ज्ञान हो सकता है, यह अबाधित सिद्धान्त है।

कहाँ तक कहा जावे, जब तक उसमें आचार-शिक्षा की प्रधानता न रहेगी, जब तक शिक्षित और सदाचारी ये दोनों शब्द समानार्थक न बना दिये जायेंगे, जब तक शिक्षा के साथ व्यायाम का समुचित प्रबन्ध कर नवयुवकों को बलिष्ठ न बनाया जायगा, तब तक देशोन्नति का नाम ही नाम रहेगा। यथार्थ उन्नति इन बातों से ही हो सकती है, ये सब बातें अवलम्बित हैं, पुराने आदर्श के ब्रह्मचर्याश्रम की रक्षा पर।

यह है ब्रह्मचर्य का आदर्श। शोक है कि हमने आज उस ब्रह्मचर्याश्रम की परिपाटी को नाटक के रूप में कर दिया है। जैसे रामलीला वाले भगवान् रामचन्द्र के वर्षों के चरित्रों को कुछ दिनों में करके दिखाया करते हैं—ऐसे ही हमारे घरों में यह ब्रह्मचर्य की लीला घंटों में ही समाप्त हो जाती है। उसी समय एक वेदी पर उपनयन और दूसरी वेदी पर समावर्तन हो जाता है। वेद का आरम्भ और उसकी समाप्ति साथ ही साथ होती है लड़का पढ़ने काशी, कश्मीर चलने लगता है तो विवाह का लालच देकर रोक दिया जाता है। ब्रह्मचर्य का नाश कर बाल-विवाह की कुप्रथा को हमने स्थान दिया, अब बल और बुद्धि कहाँ से हो ? वीर्य ही शरीर का बल है, और उससे ही आगे मन बुद्धि की पुष्टि होती है। इसकी रक्षा पर जब प्राचीनों का ध्यान था, बिना

परिपक्व हुए स्त्री की इच्छा तक मन में न आने देते थे, और गृहस्थाश्रम में भी सन्तानोत्पत्ति के लिए शास्त्रोक्त विधि से ऋतु-काल में स्त्री-प्रसंग के अतिरिक्त वीर्य की पूर्ण रक्षा करते थे—तभी वह बल और बुद्धि भारत में थी कि आज वह स्वप्न सा प्रतीत होता है। उनकी कथाएँ सुनकर आश्चर्य-समुद्र में डूब जाना पड़ता है, झटपट उन्हें असत्य कह डालते हैं। एक आबाल ब्रह्मचारी थे भीष्म, जिन्हें आज सनातन धर्मावलम्बी पितामह कहते हैं। वृद्धावस्था में जिनके बल के सामने बड़े-बड़े तरुण वीर, भीमार्जुन जैसे धनुर्धर हवास भूल जाते थे। जगन्नियन्ता श्रीकृष्ण ने भी जिनके आगे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी, किन्तु भीष्म की, उनको शस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा न टूट सकी। टूटे कैसे ? भीष्म का नियम भी कैसा दृढ़ था।

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः ।  
 यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कदाचन ॥  
 त्यजेच्च पृथिवीगन्धमापश्च रसमात्मनः ।  
 ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ॥  
 प्रभां समुत्सृजेदेको धूमकेतुस्तथोष्णताम् ।  
 त्यजेच्छब्दं तथाकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥  
 विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट् ।  
 न त्वहं सत्यमुत्सृष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥

मैं तीनों लोकों को छोड़ सकता हूँ, देवताओं का राज्य या इससे भी बड़ी कोई वस्तु हो तो उसे भी छोड़ सकता हूँ, किन्तु सत्य को कदापि नहीं छोड़ सकता। चाहे पृथ्वी गन्ध छोड़ देवे, जल अपना रस छोड़ देवे, प्रकाश चाहे रूप दोड़ दे, वायु का स्पर्श चाहे पृथक् हो जाय, सूर्य चाहे कान्ति छोड़ दे, अग्नि गर्मी छोड़ दे, आकाश में चाहे शब्द न रहे, चन्द्रमा की किरणों से शीतलता निकल जाय, इन्द्र चाहे पराक्रम छोड़ देवे, धर्मराज चाहे धर्म छोड़ देवे—किन्तु मैं कभी सत्य छोड़ने का संकल्प भी नहीं कर सकता। यह थी ब्रह्मचारी की सत्यनिष्ठा, जिससे परमेश्वर भी हार मानते थे। रोम-रोम में बाण चुभे रहने पर भी, अनन्त रुधिर की धारा शरीर से गिरती रहने पर भी जिनने धर्म का रहस्य सुनाया था। आज हम उनकी बातों का क्या विश्वास करेंगे, जिनने ब्रह्मचर्य की कभी कदर ही न जानी। इसका विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। सभी बुद्धिमान ब्रह्मचर्य के लाभों को जानते व मानते हैं, किन्तु आत्मिक दुर्बलता के कारण अनुष्ठान नहीं करते।

सनातन धर्म के मान्य स्मृति, पुराण सब ही ब्रह्मचर्य की महिमा गा रहे हैं। भगवान् शंकराचार्य की ब्रह्मचर्य की कथा कितनी प्रसिद्ध है। इस गिरी दशा में भी—अविद्या का साम्राज्य होने पर भी बहुत से सनातन धर्मी पण्डितों के घरों में ब्रह्मचर्याश्रम हुआ करते थे, और उनसे देश को अच्छा लाभ होता था। किन्तु आज भीषण-काल ने वह भी न रहने दिया।

---

## इकतालीसवां-पुष्प

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमविज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

“देना उचित है, ऐसा समझकर जो दान अनुपकारी पुरुष को उचित देश, काल और पात्र का विचार करके दिया जाता है उस दान को सात्त्विक कहा गया है।”(२०)

विगत पद्यों में तप का विवरण हुआ। अब दान का निरूपण करते हैं। संसार की अन्य संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति की जो भेदक विशेषताएं हैं, उनमें यज्ञ, तप, दान आदि मुख्य हैं। अन्य संस्कृतियों में भी दान का स्वरूप मिल सकता है परन्तु इसके महत्त्व का कारण सहित निरूपण और आचरण में उसका जो व्यापक प्रयोग भारत में हुआ और होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है। दान के आदर्श की कथाओं से हमारा इतिहास भरा पड़ा है। स्नातक को जो गुरु उपदेश देते हैं उसमें अन्य उपदेशों के साथ दान का उपदेश भी दिया जाता है।

“श्रद्धया देयम्

अश्रद्धया देयम्”

वह दान भी त्रिगुण से संवलित है। मनुष्य को सात्त्विक विधि से ही दान करना चाहिए। राजस और तामस विधि से किया हुआ दान नितान्त निष्फल ही नहीं दोषावह भी होता है। अतः राजस और तामस दान नहीं करना चाहिए। दान कहते किसे हैं, इसका स्वरूप क्या है ? इस विषय में प्रसिद्ध है कि—

“स्वस्वत्त्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्त्वोत्पादनं दानम्”

किसी वस्तु से अपने अधिकार को हटाकर ग्रहीता के अधिकार को उस पर स्थापित कर देना दान कहलाता है। दान देने से पहिले देय वस्तु पर हमारा अधिकार रहता है, हम उस पर से अपना अधिकार हटाते हैं और उस पर ग्रहीता पुरुष के अधिकार को स्वीकार करते हैं। इसी बात को प्रकाशित करने के लिए दान करते समय संकल्प बोलना भी हमारे यहाँ विहित है। उसका भी यही तात्पर्य है कि देय वस्तु पर

इम प्रतिग्रहीता पुरुष के स्वामित्व को स्वीकार कर रहे हैं, संकल्प के अन्त में यह भी कहा जाता है कि—

**“इदं न मम”**

अर्थात् अब अमुक वस्तु मेरी नहीं है। इससे उसपर से अपने स्वत्व की निवृत्ति को प्रकाशित कर दिया जाता है। दान करते समय यही बात ध्यान में रहती है कि मुझे दान करना चाहिए। मेरे पास अमुक वस्तु है, जिस पुरुष के पास इस वस्तु का अभाव है और जिसे इसकी आवश्यकता है उसको मुझे यह वस्तु देनी चाहिए। मुझे अपनी आवश्यकता से अत्यधिक वस्तु रखने की क्या आवश्यकता है, इसके अभाव से जो पीड़ित है, उन्हें यह वस्तु देकर मुझे उनका अभाव दूर करना चाहिए यही ‘दातव्यम्’ का अर्थ है। श्रीमद्भागवत में तो जो व्यक्ति अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक वस्तु रखता है उसे चोर और दण्डनीय भी कहा गया है—

**“यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्  
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति”**

अर्थात् पुरुष का स्वत्व उतने पर ही होती है जितने से उसका निर्वाह हो जाय, उससे अधिक की जो पुरुष अभिलाषा रखता है, वह चोर है, दण्ड का भागी है। इससे दान का यह स्वरूप समझने में सरलता हो जाती है कि वह नितान्त कर्तव्य बुद्धि से अन्य अभावग्रस्त पुरुषों की आवश्यकता की परिपूर्ति के लिए ही विशेष रूप से विहित है। सात्त्विक दान के विषय में दूसरी स्मरणीय बात अनुपकारी पुरुष को दान देने की कही गई है। प्रायः देखा जाता है कि किसी ने हमारा कोई उपकार किया उसके बदले में हमने उसे दान दे दिया। यह सात्त्विक दान नहीं है। अतः सत्त्वप्रधान पुरुषों को उचित है कि उसी पुरुष को दान दें जिसमें प्रत्युपकार की आशा न हो। एक व्याख्या में ‘अनुपकारी’ का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ऐसे पुरुष को दान देना उचित है जो उसका प्रत्युपकार करने का सामर्थ्य न रखता हो। ऐसा पुरुष सर्वथा अकिञ्चन ही होगा। यदि सात्त्विक पुरुष सक्षम होगा तो वह लिए हुए दान का प्रत्युपकार करने का अवसर देखकर अपने लिए हुए प्रतिग्रह का बदला चुका देगा और उस स्थिति में वह सात्त्विक दान नहीं रह जायगा। अतः प्रयत्न पूर्वक ऐसे पुरुष का अन्वेषण करना चाहिए जो सर्वथा अकिञ्चन हो, जिसे अपनी आवश्यकताओं की परिपूर्ति में कठिनाई का अनुभव होता हो और वस्तुतः हमारे दान से जिसकी सहायता हो सकती हो। आगे देश, काल, पात्र का भी दान देते समय विचार करने की बात कही गई है। तीर्थयात्रादि में दान भी आवश्यक रूप से विहित होता है; कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों में दान



देने से चित्तशुद्धि में विशेष सहायता प्राप्त होती है। इसी प्रकार काल का भी दान देते समय ध्यान दिया जाता है। चन्द्रग्रहण तथा सूर्यग्रहण आदि कालों में दान करने से अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले अदृष्ट विशेष की उत्पत्ति मानी गई है। इसी प्रकार सत्पात्र का भी दान देते समय ध्यान रखना चाहिए। पात्र के स्वरूप का एक परिचय तो 'अनुपकारिणे' कहकर ऊपर दिया जा चुका है। पात्र का विचार करते समय इस बात को विशेष रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि दानपात्र ऐसा न हो जो दी हुई वस्तु का दुरुपयोग करने वाला हो। यदि वह पुरुष दुराचारी हुआ तो दान की वस्तु भी उसके निकृष्ट आचरण को ही पुष्ट करने में सहायक होगी और उसके प्रत्यवाय के अंश से देने वाला भी अनुलिप्त होगा। इसीलिए ऐसे पात्र का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है, जो सदाचारी हो, वशिष्ठ ने दान योग्य पुरुष का उल्लेख करते हुए लिखा है—

“स्वाध्यायाढ्यं योनिमन्तं प्रशान्तं वैतानस्थं पापभीरुं बहुज्ञम् ।

स्त्रीषु क्षान्तं धार्मिकं गोशरण्यं व्रतैः स्नातं तादृशंपात्रमाहुः ॥”

अर्थात् दान का पात्र वह पुरुष माना गया है जो स्वाध्याय सम्पन्न हो, जो अच्छे कुल में समुत्पन्न हुआ हो, प्रकृति से जो चञ्चल या उपद्रव करने वाला न हो, शान्त हो, जो यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानों में लगा रहता हो, जो पाप कार्यों से डरने वाला हो, जो बहुज्ञ हो अर्थात् अनेक विषयों का ज्ञान रखता हो, जो स्त्रियों के संसर्ग से दूर रहने वाला हो, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह गृहस्थ न हो अपितु इसका यही अभिप्राय है कि जो अपनी परिणीता पत्नी के साथ धर्माचरण करता हुआ साधुजनोचित जीवन यापन करने वाला हो, कामासक्त होकर अनेक स्त्रियों की ओर जिसकी दुष्प्रवृत्ति न होती हो, जो धार्मिक हो अर्थात् धार्मिक मर्यादा का उल्लंघन न करता हो, जो गौओं को शरण देने वाला हो, गोपालक हो, अनेक प्रकार के व्रतों के अवसर पर जिसने गंगास्नादि पुण्यकर्मों का अनुष्ठान किया हो, अथवा व्रतों से ही जिसने आत्मक्षालन रूपी स्नान किया हो।

उपर्युक्त दानपात्र के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे पुरुषों को दान की अपेक्षा रहती है। अतः ऐसे पुरुषों को दान का पात्र कहा गया है। श्रीशंकराचार्य तथा अन्य व्याख्याकारों ने षडङ्गवेदवेत्ता को दानपात्र माना है।

श्री पुरुषोत्तम जी ने लिखा है कि—

“धनं मूलमनर्थानाम्”

अर्थात् धन ही सब अनर्थों का मूल है, इत्यादि नीति वाक्यों के अनुसार आवश्यकता से अधिक धन रहने पर अनर्थोत्पत्ति की आशंका रहती है, अतः अपनी आवश्यकता से अधिक धन का सत्पात्र को समुचित देश काल में दान करते रहने से अनर्थ की आशंका से निवृत्त होकर कल्याण की सम्भावनाएं बढ़ती रहती हैं।

कुछ व्याख्याकारों ने “देशे काले च पात्रे च” में पात्र शब्द के साथ जो सप्तमी विभक्ति दिखाई देती है, उसको या तो चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी माना है अथवा पातृ शब्द की चतुर्थी का एक वचन माना है। श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि इस प्रकार की कल्पना की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यहाँ पूर्वाध्याय में जो दान शब्द है वह तो देय पदार्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है और उत्तरार्द्ध का दान शब्द व्युत्पत्ति से त्यागमात्र का वाचक है। अतः प्रथम दान शब्द के साथ चतुर्थी विभक्ति की अपेक्षा है इसीलिए “अनुपकारिणे में चतुर्थी विभक्ति श्रुत हुई है। अग्रिम दान शब्द में चतुर्थी विभक्ति की अपेक्षा नहीं है यद्यपि—

“कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्”

(अष्टा० १।४।३२)

इस पाणिनि सूत्र के अनुसार यहाँ चतुर्थी विभक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है परन्तु कर्म विभक्ति के अभाव में सम्प्रदान संज्ञा की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, श्रीनीलकण्ठ ने उत्तरार्द्ध के दान शब्द की आवृत्ति मानी है। पहले दान शब्द को देशकाल में अनुपकारी पुरुष को दान देना चाहिए, इस प्रकार लगाया है, तथा दूसरे आवृत्ति वाले दान शब्द को सत्पात्र को दान करना चाहिए, इस तरह लगाया है। यदि दोनों की एकत्र प्राप्ति हो जाय तो इससे बड़ा गुण है, उसमें तो कुछ कहना ही नहीं है।

यह सात्त्विक दान का विवरण हुआ। अब आगे राजस और तामस दान का विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“जो दान प्रत्युपकार के लिए अथवा किसी फल की प्राप्ति के उद्देश्य से और खेदानुभव पूर्वक दिया जाता है उसको राजस दान कहा जाता है।” (२१)

“जो दान बिना देश और काल का विचार किए तथा अपात्रों को बिना सत्कार के अवज्ञा पूर्वक दिया जाता है उसको तामस दान कहते हैं।” (२२)

सात्त्विक दान के अतिरिक्त राजस और तामस दान में पहिले की ही तरह फलाकांक्षा का सम्बन्ध बन जाता है। राजस दान में पहिली बात भगवान् ने यह कही कि उसमें प्रत्युपकार की अभिसन्धि रहा करती है। मैं अमुक व्यक्ति को इतना द्रव्य

दान कर दूँगा तो उससे प्रभावित होकर अमुक अवसर आने पर वह मेरा अमुक कार्य कर देगा, इस प्रकार की बुद्धि से दान देना प्रत्युपकारार्थ दान ही कहा जाता है। बहुत से व्यक्ति यह सोचा करते हैं कि मुझे इतना धन मिल गया अथवा मुझे सन्तान आदि किसी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो गई तो मैं भगवान् के मंदिर में सत्यनारायण की कथा का आयोजन करवा दूँगा, इस प्रकार वे लोग भगवान् के साथ भी प्रत्युपकार बुद्धि से काम करते हैं। फलाभिसन्धि तो राजस भाव में मुख्यवस्तु है ही। दान करने से स्वर्ग होगा, गोदान करने से वैतरणी नदी के पार चले जायेंगे, इस प्रकार की फलाकांक्षा से दिया हुआ दान राजस श्रेणी का है।

‘परिक्लिष्टम्’ का अर्थ करते हुए श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि ‘दान में स्वयं इतना द्रव्य कैसे खर्च किया जाय- कम दान देना उपयुक्त है’, इस बुद्धि से जो दान किया जाय वह भी राजस कोटि में आता है। तामस दान में देशकाल आदि का तो कोई विचार किया ही नहीं जाता, कभी भी किसी भी स्थान में कुछ दे देना मात्र लक्ष्य हुआ करता है। साथ ही दान लेने वाले की देने वाला अवज्ञा भी करता है। दाता की बुद्धि में यह बात रहती है कि जिसको वह दे रहा है वह हीन है और अवज्ञा का पात्र है। अतः वह उसे बड़े निकृष्ट शब्दों से सम्बोधित करके दान देता है।

इस प्रकार सात्त्विक, राजस, तामस दान का निरूपण हुआ। पूर्व की ही भांति इनमें सात्त्विक दान का ही प्रयोग करना चाहिए, आदर पूर्वक सत्पात्र-पुरुष को उचित देश काल में बिना किसी प्रत्युपकार की अभिलाषा के सर्वदा देते रहना चाहिए। इसी से चित्त शुद्धि और कल्याण की प्राप्ति होती है।

---

## बयालीसवां-पुष्प

ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।  
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥  
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।  
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥  
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।  
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२५॥  
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।  
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते ॥२६॥  
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।  
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥  
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।  
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह ॥२८॥

“ब्रह्म का ओं तत्सत् यह तीन प्रकार का निर्देश स्मृत हुआ है, प्राचीन काल में ‘ओं तत् सत्’ इस ब्रह्म के त्रिविध निर्देश से ही ब्राह्मण, वेद और यज्ञों का विधान हुआ था।” (२३)

श्री शंकराचार्य कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप को सत्त्वगुण सम्पन्न बनाने का प्रकार इसमें भगवान् ने बतलाया है कि यज्ञ, दान, तप आदि कृत्यों को सत्त्वगुण सम्पन्न बनाने का प्रकार यह है कि उन क्रियाओं के प्रारम्भ में ‘ओं तत् सत्’ का उच्चारण करना चाहिए। इससे सभी क्रियाएं सद्गुणयुक्त हो जाया करती हैं। इसी बात को अग्रिम पद्य में कहा जायगा। प्रस्तुत पद्य में ‘ओं तत् सत्’ इस ब्रह्म के निर्देश की स्तुति की गई है कि यह साक्षात् ब्रह्म का ही तीन पदों वाला निर्देश है। इसी से ब्राह्मण, यज्ञ और वेदों का निर्माण हुआ है। शिवमहिम्नस्तोत्र में एक पद्य आता है—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-

नकाराद्यैवर्णैस्त्रिभिरभिदधतीर्णविकृति

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरभिरुन्धानमणुभिः

समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद ! गृणात्योमिति पदम्।

अर्थात् 'ओं' यह पद चार अणुरूप ध्वनियों से युक्त है। प्रारम्भ की अकार, उकार, मकार इन तीन ध्वनियों से तो यह तीनों वेद तीनवृत्तियों, तीन भुवनों, तीन देवताओं का बोध करता है और अपनी चौथी नाद रूप ध्वनि से विकृतियों के परे स्थित है भगवान् ! यह आपका वाचक बनता है, इस प्रकार है प्रभो ! यह 'ओं' पद आपके समस्त और व्यस्त दोनों रूपों का बोधक है।

श्री रामानुजाचार्य इस पद्य में ब्रह्म से वेद का ही ग्रहण करते हैं और यह भाव उन्होंने प्रकट किया है कि समस्त वेदोक्त विधियाँ 'ओं तत् सत्' इस निर्देश से समन्वित रहती हैं।

माध्व भाष्य में 'ओं तत् सत्' पद की ब्रह्म वाचकता दिखलाते हुए एक पद्य उद्धृत किया है कि—

ओतं जगद्यत्र स्वयं च पूर्णं

वेदोक्तरूपोऽनुपचारतश्च ।

सर्वैः शुभैश्चाभियुतो न चान्यैः

ओं तत्सदित्येनमतो वदन्ति ॥

उपनिषदों में 'ओं तत् सत्' को ब्रह्म का वाचक कहा गया है, टीकाओं में इसके उदाहरण के लिए—

तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्

(कठोपनिषद्)

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः

(छान्दोग्य ३०)

इत्यादि वाक्य कहे गए हैं। श्री नीलकण्ठ कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाओं में अज्ञानवश दोष की आशंका बनी ही रहती है। धार्मिक क्रियाओं में यदि कोई कहीं दोष आ जाय तो उसके प्रायश्चित्त का विधान होता है। अतः ज्ञात अथवा अज्ञात दोष के निवारण के लिए प्रायश्चित्त से शुद्धि सम्पादनार्थ यहाँ 'ओं तत् सत्' इसको प्रारम्भ में उच्चारण करने का विधान भगवान् ने किया है। 'ओं तत् सत्' के उच्चारण से दोष का शमन कैसे हो जायगा, इस स्वाभाविक शंका का उत्तर देने के लिए उसका महत्व भगवान् ने प्रस्तुत पद्य में बतलाया है जिससे यह प्रकट हो कि इस निर्देश में दोषों के प्रशमन का सामर्थ्य है।

श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि 'ओं' इस पद से यह सूचित किया जाता है कि शरीर धारण पर्यन्त यज्ञ, दान, तप आदि की जो शास्त्रसिद्ध प्रक्रिया कही गई है, उसको स्वीकार करना चाहिए। इसका उच्चारणकर्ता शास्त्र सिद्ध उक्त विधियों में यावज्जीवन अपनी निष्ठा दृढ़ रखने का स्मरण रखता है। संस्कृत में 'ओं' का अर्थ स्वीकार करना भी होता है। वक्ता इसका उच्चारण करके अपने जीवन में इस शास्त्र सिद्ध अर्थ के व्यवहार को सिद्ध करता है। 'तत्' पद का विवरण देते हुए श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि 'तत्' यह सर्वनाम पद है। तत् शब्द से सामान्य रूप से सभी का बोध होता है, किसी विशेष पदार्थ का नहीं। इससे प्रकृत सन्दर्भ में यह फलित होता है कि किसी भी विशेष पदार्थ को बतलाने में असमर्थ जो 'तत्' पद है वह ब्रह्म का वाचक है। इससे फलों की अभिसन्धि का अभाव ब्रह्म में सूचित होता है। क्योंकि बिना विशेष पदार्थ के स्मरण के फल की अभिसन्धि ही कैसे होगी। यदि यह कहो कि जो सामान्य वाचक शब्द होता है उसके अर्थ में समस्त विशेष पदार्थों का स्वतः अन्तर्भाव हो जाता है, जैसे 'गौ' यह सामान्य गौ का वाचक शब्द है, गौ कहने वाले का तात्पर्य तब तक किसी विशेष गौ में नहीं समझा जा सकता जब तक वह उस विशेष गौ की विशेषता का अलग विवरण न दे। परन्तु सामान्य रूप से कहे गए उस गो शब्द के अर्थ में लाल, सफेद, काली, सभी प्रकार की विशेषताओं से युक्त गौवों का अन्तर्भाव हो जाता है। किसी भी विशेषता को रखने वाली गौ उस सामान्य रूप से समुच्चरित गो शब्द के अर्थ की सीमा के बहिर्भूत नहीं हो सकती। इसी प्रकार जब 'तत्' इस सर्वनाम को सामान्य निर्देशक मान लिया तब समस्त विशेषों का भी इसमें स्वतः अन्तर्भाव हो गया और समस्त विशेषों का अन्तर्भाव हो जाने का कारण फलाभिसन्धि की जिस शंका का परिहार करने चले थे वह अपने आप ही उलटी गले में आ गिरी। इसका उत्तर देते हुए श्रीअभिनवगुप्ताचार्य लिखते हैं कि जब सभी विशेषणों का अन्तर्भाव है तो सभी फलों की अभिसन्धि भी होगी, किसी एक विशेष का अन्तर्भाव न होने से कोई एक फलाभिसन्धि न होगी, उस स्थिति में पूर्व कथित सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता। सर्वभूत हित कामना से यज्ञ का अनुष्ठान किया। सर्व भूत यज्ञ में यज्ञ कर्त्ता भी आ गया और उसकी भी हित कामना उसमें सम्मिलित हो गई तो यह कोई दोषावह बात नहीं रही। दोष तो तभी होता है जब अन्य विशेषों को छोड़कर किसी निश्चित विशेष पर ध्यान दिया जाता। आगे 'सत्' इस पद से अनुष्ठीयमान यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा का बोधन होता है। यदि यज्ञ आदि का अनुष्ठान 'असत्' बुद्धि से किया जाय तो वे तामस हो जाते हैं, अतः उनको सद बुद्धि से करना ही समुचित है, इस बात का स्मरण 'सत्' शब्द से किया जाता है। इसलिए यह मेरा आवश्यक कर्त्तव्य है ऐसा

समझ कर ही यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना उचित है, फलाभिसन्धि पूर्वक इनका अनुष्ठान उचित नहीं है, यही स्मरण 'ओं तत् सत्' इसके प्रारम्भिक प्रयोग से हो जाता है। महाभारत का एक श्लोक भी श्रीअभिनवगुप्त ने यह बतलाने के लिए अपनी व्याख्या में उद्धृत कर दिया है कि भाव बदलने से सत्कर्म भी असत्कर्म बन जाया करते हैं। पद्य इस प्रकार है—

“तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः साधारणो वेदविधिर्न कल्कः ।

प्रसह्यवित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः” ॥

(म०भा० १।१।२७५)

अर्थात् सदबुद्धि से किए गए तप, अध्ययन, वेदों की विधियाँ और बलात्कार से द्रव्य का अपहरण भी पाप नहीं होता और उन्हीं कार्यों को यदि असद् बुद्धि से किया जाय तो तप अध्ययन आदि भी पाप के अन्तर्गत परिगणित हो जाया करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि तप, अध्ययन और साधारण वेद विधि यद्यपि कल्क अर्थात् पाप के विरोधी हैं, परन्तु कर्त्ता का भाव अच्छा न हो तो वे ही पाप रूप हो जाते हैं। अच्छे भाव से किया हुआ किसी दूसरे के बलात् द्रव्य का छीनना भी पाप नहीं है। जैसे किसी कसाई के यहाँ गौ वध के लिए बैँधी हो तो उसका बलपूर्वक छीनना भी पाप नहीं होता अपितु धर्म ही हो जाता है। इसलिए भाव ही मुख्य कारण है।

इस प्रकार 'ओं तत् सत्' की एक व्याख्या करने के अनन्तर श्री अभिनव गुप्ताचार्य ने उसकी एक दूसरी भी व्याख्या लिखी है कि 'ओं तत् सत्' को भगवान ने यहाँ ब्रह्म का त्रिविध निर्देश कहा है। ब्रह्म का यह त्रिविध निर्देश ब्रह्म की त्रिविध अवस्थाओं को निर्दिष्ट करता है। 'ओं' पद से ब्रह्म की उस अवस्था का निर्देश होता है जिसमें समस्त प्रपञ्च शान्त पड़ा रहता है। 'तत्' शब्द से ब्रह्म की वह अवस्था निर्दिष्ट होती है जिसमें विश्व के निर्माण की इच्छा प्रादुर्भूत हो जाती है कि—“एको-ऽहं बहुस्यां प्रजायेय” “मैं एक हूँ बहुत बन जाऊँ”। 'सत्' शब्द उस इच्छा के द्वारा प्रतिफलित प्रपञ्च रूप अवस्था का बोधक है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यह आशय व्यक्त किया है कि 'ओं तत् सत्' यह ब्रह्म का त्रिविध निर्देश स्मृत हुआ है, इतना कह देने मात्र से श्रोता को कोई कर्त्तव्य परिज्ञान नहीं होता, अतः अन्य वेद वाक्यों में जिस प्रकार विधि वाक्य का अध्याहार कर लिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'ओं तत् सत्' का यज्ञादि विधियों के प्रारम्भ में उच्चारण करना चाहिए ऐसी विधि समझ ली जाती है। इस प्रकार 'ओं तत् सत्' इस पुनीत वाक्य के महत्त्व का बोधन करने के अनन्तर भगवान् कहते हैं—

“इसलिए ‘ओम्’ ऐसा उच्चारण करके ही ब्रह्मवादी पुरुषों की शास्त्रनिर्दिष्ट यज्ञ, दान, तप, आदि क्रियाएं निरन्तर चलती रहती हैं” (२४)

पद्य में जो ‘तस्मात्’ (इसलिए) कहा गया है उसका पूर्व श्लोक से सम्बन्ध है। क्योंकि ‘ओं तत् सत्’ यह ब्रह्म का निर्देशक है इसलिए जो ब्रह्मवादी पुरुष हैं वे प्रत्येक क्रिया के पूर्व ‘ओम्’ का उच्चारण अवश्य करते हैं। ब्रह्मवादी पुरुष वे ही हैं, जो कुछ भी बोलते हैं वह ब्रह्म के ही सम्बन्ध में होता है। बोलने और क्रियाओं में तो सांसारिक शब्द और क्रिया कलापों का समावेश होता है, अतः उन शब्दों और उन क्रियाकलापों में अपना ब्रह्म भाव स्थिर रखने के लिए वे ब्रह्मवादी पुरुष प्रत्येक शास्त्र बोधित क्रिया कलाप के प्रारम्भ में ‘ओं’ का उच्चारण अवश्य करते हैं। ब्रह्म का निर्देशक ओंकार परम पवित्र है, अतः शास्त्र बोधित कार्यों के ही प्रारम्भ में इसका प्रयोग होना चाहिए यह नहीं कि किसी भी क्रिया के प्रारम्भ में इसका उच्चारण अवश्य किया जाय। इसीलिए यहाँ ‘विधानोक्त’ शब्द भगवान् ने कहा है। ओंकार की ही दूसरी संज्ञा प्रणव भी है। मनुस्मृति में कहा गया है—

“ब्रह्मणः प्रणवः कुर्यादादावन्ते चसर्वदा ।

स्त्रवत्यनोक्तं पूर्वं परस्तात्तु विशीर्यते ॥”

(मनु० २।७४)

अर्थात् वेदोच्चारण के आदि और अन्त में प्रणव अर्थात् ओंकार का उच्चारण अवश्य करना चाहिए। जिस वेदोच्चारण के आदि में ओंकार का उच्चारण नहीं किया जाता वह वेदों का उच्चारण निष्फल हो जाता है। जिसके आरंभ में ओंकार का उच्चारण नहीं किया जाता वह वेद मंत्र स्मृत हो जाता है अर्थात् पहिले से ही चल पड़ता है और आगे ओंकार न बोलने से आगे से विशीर्ण हो जाता है अर्थात् बिगड़ जाता है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि यज्ञ की समस्त क्रियाएं ओंकार के उच्चारण पूर्वक ही प्रारम्भ हुआ करती हैं। तैत्तिरीय श्रुति है कि—

ओमिति ब्रह्मा प्रसौति ।

ओमिति शस्त्राणि शंसन्ति ॥

ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति ।

ओमिति सामानि गायन्ति ॥

(तै० उ० १।८।१)



इससे यज्ञ के सभी कार्य कर्त्तागण अपने सभी यज्ञीय कार्यों के प्रारम्भ में ओंकार का उच्चारण अवश्य करते हैं यह प्रतिफलित हो जाता है।

आगे तत् शब्द निरूपण में भगवान् कहते हैं कि—

“तत् इसका उच्चारण करके फल की आकांक्षा को छोड़कर मोक्ष की आकांक्षा रखने वाले पुरुष या, तप, दान आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं” (२५)

‘तत्’ भी ब्रह्म का निर्देशक पद है। श्री रामानुजाचार्य आदि व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्याओं में—

“स वः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम्”

इस महाभारतोक्त सहस्र नाम में ‘तत्’ पद का ब्रह्म निर्देशकत्व स्पष्ट हुआ है ऐसा लिखा है। पैशाच भाष्य में तत् को सम्पूर्ण ‘ओं तत् सत्’ का उपलक्षण माना है। श्री नीलकण्ठ लिखते हैं कि पूर्व पद में जैसे ब्रह्मवादी अर्थात् मुक्त पुरुष—

“ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्  
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना”

इत्यादि निर्दिष्ट प्रकार से सब कुछ ब्रह्म ही समझते हैं और ओंकार का प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में उच्चारण अवश्य करते हैं, उसी प्रकार जो अभी मुक्त नहीं हुए हैं, मुमुक्षु हैं, वे भी अपने यज्ञादि सभी कर्मों को ब्रह्ममय देखते हैं। इस विषय में मुक्त पुरुषों और मोक्ष की इच्छा रखने वाले पुरुषों में कोई अन्तर नहीं होता। यही प्रकट करने के लिए कर्मानुष्ठान काल में उन कर्मों को ब्रह्ममय देखने की उनकी भावना दृढ़ हो जाती है। उन्होंने पद्य की शब्द योजना के विषय में लिखा है कि—

‘तदित्यनभिसन्धायफलम्’ में ‘फलम्’ के साथ ‘अनभिसन्धाय’ अन्वित होता है। अतः सान्निध्य में श्रुत होने के कारण ‘तत्’ के साथ ‘अभिसन्धाय’ इस पद का अध्याहार कर लेना चाहिए। फल की अभिसन्धि यज्ञादि कार्यों में मुमुक्षु पुरुष की नहीं होती, परन्तु वह सभी क्रियाओं में ‘तत्’ अर्थात् ब्रह्म का अनुसन्धान सर्वदा रखता है।

एक व्याख्या में दार्शनिक दृष्टि से ‘तत्’ शब्द ब्रह्म का ही बोधक बनता है यह दिखाया गया है। सामने उपस्थित वस्तु के लिए ‘तत्’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक वस्तु अपने उपादान कारण का ही विशेष सन्निवेश हुआ करती है। घड़ा अपने उपादान कारण मृत्तिका का ही एक विशेषसन्निवेश होता है। घड़े को देखकर जब हम ‘तत्’ ‘वह’ शब्द का प्रयोग करते हैं तब व्यावहारिक दृष्टि से हमारे ‘वह’ कहने का

अभिप्राय घड़े से होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से उसकी उपादान कारणभूता मृत्तिका ही हमारे निर्देश का विषय बनती है, सुन्दर वस्त्र को देखकर 'वह' इस निर्देश से व्यावहारिक दृष्टि से उस सुन्दर वस्त्र का ही बोध होता है परन्तु तात्त्विक दृष्टि से उसके उपादान कारण धागे ही हमारे 'तत्' 'वह' इस निर्देश का विषय बनते हैं। इसी प्रकार समस्त वस्तुओं के लिए समझा जा सकता है। निष्कर्ष यह कि तत्त्व दृष्टि सर्वदा सम्मुख समुपस्थित पदार्थ के उपादान कारण को ही अपनाती है। इस दृष्टि से जब हम सम्पूर्ण जगत् और उसके सभी पदार्थों को देखें तो प्रतीत होगा कि इस सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही है। अतः 'तत्' शब्द से तत्त्व दृष्टि में ब्रह्म का ही बोध होगा जैसे घड़े का आकार बनने से पहिले भी उसकी स्थिति मृत्तिका में ही थी और घड़े का आकार नष्ट हो जाने पर भी उसकी अन्तिम परिणति मृत्तिका रूप में ही हो जाती है। उसी प्रकार जगत् के पूर्व भी ब्रह्म ही है और जगत् के उपरान्त भी वही अवशिष्ट रहता है। इस पर शंका हो सकती है कि जैसे घड़े के पूर्व मृत्तिका ही उपलब्ध होती है और उसके अनन्तर भी उपलब्ध होती है तथा घड़ा देखते समय भी मृत्तिका का रूप सामने रहता है, उस प्रकार ब्रह्म यदि जगत् का उपादान कारण है तो वह भी हमारे प्रत्यक्ष अनुभव का विषय क्यों नहीं बनता ? इसका उत्तर है कि ब्रह्म के अनुभव के बिना तो हमारा एक क्षण भी नहीं बीतता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सत्ता, चेतना और आनन्द के रूप में ब्रह्म सर्वत्र अनुभूयमान है। अपनी सत्ता का बोध हुए बिना हमें किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान ही कैसे होगा। अतः ब्रह्म प्रत्येक वस्तु के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में अभिन्न अनुभव का विषय बन ही रहा है। 'तत्' के निर्देश से मुमुक्षु तत्त्व वेत्ता सर्वत्र ब्रह्म की ही सत्ता का अनुभव करता है और प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में 'तत्' शब्द का प्रयोग करके वह अपनी प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म भावना को ही दृढ़ करता रहता है।

हिन्दी साहित्य की वर्तमान काव्य धारा जिसे छायावाद, रहस्यवाद आदि शैलियों के रूप में ग्रहण किया जा रहा है उसमें व्यापक सत्ता के लिए 'वह' का निर्देश किया जाता है। प्राचीन साहित्य में भी 'तत्' पद से व्यापक सत्ता का निर्देश 'तत्पदमामनन्ति' इत्यादि में सर्वत्र देखने को मिलता है। अब अन्तिम 'सत्' शब्द का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“हे पार्थ ! सत्ता अर्थ में और साधु अर्थात् शोभन भाव में सत् शब्द का प्रयोग होता है तथा प्रस्तुत कर्म के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है।” (२६)

कहा जा चुका है कि सत्ता, चेतना और आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप है। उसमें

प्रथम सत्ता को ही बतलाया जाता है। ब्रह्म सत्ता रूप से सर्वत्र अनुस्यूत रहता है। कोई भी उपलब्ध वस्तु सत्ता के बिना नहीं रहती अतः 'सत्' शब्द ब्रह्म के ही सत्ता रूप का बोधक होता है। इसके अतिरिक्त शोभन अर्थ में भी सत् शब्द का प्रयोग देखा जाता है। 'सद्विचार' 'सदाशय' 'सद्गुण' आदि शब्दों में प्रयुक्त सत् शब्द शोभन अर्थ का ही निर्देशक बनता है। इसी प्रकार प्रशस्त कल्याण युक्त कर्म के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। यज्ञ, दान, तप आदि सत् होते हैं। इसका यह भी अभिप्राय है कि विवाहादि प्रशस्त कर्मों में सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। आनन्दगिरि ने लिखा है कि भगवान् ने यह 'सत्' शब्द के प्रयोग की जो प्रशस्तता बतलाई, उससे ध्वनित होता है कि 'सत्' शब्द यज्ञादि कार्यों में उपस्थित होने वाले दोष का अपनयन करने में समर्थ है।

इसके आगे कहते हैं—“यज्ञ, तप और दान में 'सत्' शब्द का प्रयोग होता है और इनसे संबद्ध कर्मों में 'सत्' शब्द का उच्चारण किया जाता है” (२७)

श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि 'ओं तत्सत्' के प्रयोग से विगुण कर्म भी सद्गुण युक्त बन जाया करते हैं। यद्यपि अस्तित्व सभी अवस्थाओं में समान रूप से सर्वत्र अनुस्यूत रहता है। सत्ता से विरहित कभी भी कोई पदार्थ रह ही नहीं सकता, परन्तु यज्ञ, तप, दान आदि में अपनी सर्वदा सत्ता, स्थिति या निष्ठा रखना श्रेष्ठ है। यह यहां भगवान् का आशय एक व्याख्या में व्यक्त किया गया है।

सत् का विरोधी असत् है। उसका परिचय देते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रद्धा रहित होकर जो हवन, दान, तप आदि कर्म किया जाता है, वह असत् कहलाता है, न तो उसकी स्थिति मरणोत्तर काल में ही होती है और न इस जीवन में ही उसकी कोई स्थिति होती है” (२८)

असत् का अर्थ है स्थिति या सत्ता से शून्य। श्रद्धा ही प्रत्येक कर्म की स्थिति या उसकी विधायक होती है। कोई भी किया हुआ कर्म तो अपनी सम्पन्नता के अनन्तर समाप्त हो जाता है। आपने कोई यज्ञ किया, यज्ञ की क्रिया तो यह विधि पूरी होने पर समाप्त हो गई, अब उसका जो कुछ फल होगा वह यज्ञ विधि समाप्त हो जाने के अनन्तर ही होगा। तब उस समय यज्ञ क्रिया की स्थिति न होने से उसका फल प्रदाता कौन रहेगा। इसका उत्तर यही है कि उस क्रिया से जो अतिशय उत्पन्न हो जाता है, उसकी सत्ता रहती है और वही शुभाशुभ फल प्रदान करती है। परन्तु उस अतिशय की उत्पत्ति ही तब नहीं हो सकेगी जब वह क्रिया श्रद्धा शून्य होकर अनुष्ठित होगी। प्रत्येक क्रिया को अतिशय के रूप में स्थित कर देने के लिए सर्वत्र कर्तव्यानुष्ठान में

श्रद्धा का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है। यदि श्रद्धा न रही और यज्ञ यागादि क्रिया कलाप श्रद्धा के अभाव में अश्रद्धा से ही चलते रहे तो उससे अतिशय उत्पन्न न होने के कारण क्रिया समाप्त होने पर वे असत् हो जायेंगे। उनकी कोई स्थिति ही नहीं रह जायगी। उस स्थिति में जिस शुभ फल की प्राप्ति के लिए आपने उस कर्म का अनुष्ठान किया है, उस फल को देने वाला कौन होगा। बहुत से लोग मरणोत्तर काल में सद्गति या स्वर्ग प्राप्त करने के लिए यज्ञ, दान, तप आदि का अनुष्ठान किया करते हैं। परन्तु यदि उनका वह अनुष्ठान श्रद्धा पूर्वक न हुआ तो उससे कोई अतिशय उत्पन्न न हो सकेगा। मरणोत्तरकाल में उसकी कोई स्थिति न होगी अर्थात् जिस उद्देश्य से उस कर्म का अनुष्ठान किया गया है, वह कार्य सिद्ध न हो सकेगा, यही 'न च तत्प्रेत्य' का आशय है। इसके अतिरिक्त जो लोग ऐहिक समृद्धि के लिए इन कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे भी यदि श्रद्धा रहित होकर इनका अनुष्ठान करेंगे तो भी क्रिया सम्पत्ति के अनन्तर कर्म के असत् हो जाने से उनको ऐहिक फल देने वाला भी कोई न रहेगा, यही बात 'नो इह' से भगवान् ने प्रकट की है। इस प्रकार ब्रह्मवादी पुरुष की सारी क्रियाएं 'ओं तद् सत्' इस निर्देश से युक्त हों तब उसके सभी कार्य सद्गुण सम्पन्न हो जाते हैं यह बतलाकर इस अध्याय का उपसंहार किया गया है।

---

## अष्टादश अध्याय तैंतालीसवां-पुष्प

यह श्रीमद्भगवद्गीता का अन्तिम अध्याय है। गीता को 'अष्टादशाध्यायिनीम्' कहा गया है। अट्ठारह संख्या का प्राचीन वाङ्मय में कुछ विशेष महत्त्व है। पुराणों की संख्या भी अठारह है, महाभारत के पर्व भी अठारह हैं। इस प्रकार अनेकत्र इस संख्या का आदर देखा जाता है, जिसके कारण का निरूपण हमने अन्यत्र विस्तार से किया है। सभी व्याख्याकारों ने प्रस्तुत अध्याय में गीता के वक्तव्य अंश का उपसंहार माना है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि भगवान् ने इस अध्याय में न केवल गीता के विगत अध्यायों का ही सारांश संगृहीत करके तत्त्व कथन किया है अपितु समस्त वेदों का भी निचोड़ इसमें उन्होंने समाविष्ट कर दिया है।

श्रीरामानुजाचार्य अध्याय की संगति लगाते हुए कहते हैं कि विगत दो अध्यायों में यह बतलाया गया कि अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन वेदविहित यज्ञ, तप, और दानादि कर्मों का अनुष्ठान ही है। शास्त्र बोधित कर्मों का परित्याग करके अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति असंभव है। वैदिक कर्मों के सामान्य लक्षण प्रणव या ओं तत्सत् का सबके साथ अन्वित होना बतलाया गया। यह भी कहा गया कि मोक्ष के साधन तथा अभ्युदय अथवा लौकिक अभ्युन्नति के साधनों में भेद है। कर्मों के फल की अभिलाषा से रहित जो यज्ञादि का अनुष्ठान है वह मोक्ष का साधन है, उस प्रकार के यज्ञ आदि कर्मों अनुष्ठान सत्त्वगुण के बढ़ने पर ही संभव होता है और सत्त्व गुण की वृद्धि सात्विक आहारादि का सेवन करने से होती है। इस सब विषय के प्रतिपादन के अनन्तर अब यह कहना है कि मोक्ष के साधन के रूप में जो त्याग और संन्यास बतलाए गए हैं वे वस्तुतः एक ही हैं। त्याग और संन्यास का स्वरूप क्या है यह भी कहना है, आगे समस्त चराचर प्रपञ्च के ईश्वर जो भगवान् हैं, वे ही समस्त कर्मों के कर्त्ता हैं, इस बात को भी समझाया गया है, सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों में से मोक्ष के साधन के रूप में सत्त्व गुण सर्वदा ग्राह्य है तथा रज और तम परिवर्जनीय हैं, यह बात जो पहिले के अध्यायों में कही गई है उपसंहार में उसका भी स्मरण करा दिया है। यह भी स्पष्ट किया है कि अपने अधिकारानुसार कर्मों का अनुष्ठान ही भगवत् प्राप्ति का उपाय है, और अन्ततः समस्त गीता का प्रतिपाद्य विषय भक्तियोग है इसका भी स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है।

श्रीआनन्दतीर्थ ने अपने माध्वभाष्य में मोक्ष के जो साधन पहिले कहे हैं उन्हीं का इस अध्याय में उपसंहार माना है।

श्रीवल्लभाचार्य ने त्याग और संन्यास का निर्णय करके सब धर्मों के परित्याग पूर्वक भगवान् की शरण में चले जाने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय कहा है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि भगवान् ने प्रथमाध्याय में जिन विषयों का उपोद्घात किया, दूसरे अध्याय में जिन विषयों को सूत्ररूप से उपस्थित किया तथा अब तक के शेष अध्यायों के द्वारा जिन विषयों को पल्लवित किया, इस अन्तिम अध्याय में उन सबका सार कथन करते हुए उपसंहार किया है।

तत्त्व प्रकाशिका में कहा गया है कि जो व्यक्ति आलसी और अल्पबुद्धि वाले हैं और जो सम्पूर्ण गीता का अवलोकन और उसका मनन करने में असमर्थ हैं उनके कल्याण के लिए इस एक ही अन्तिम अध्याय में समस्त गीता का सार संकलन करके उन्हें मोक्ष मार्ग का दिग्दर्शन करा दिया गया है, अतः यह अध्याय समस्त गीता के मथितार्थ के अन्तर्गर्भित हो जाने से अत्यन्त महत्व का है।

श्रीशंकरानन्द ने अध्याय संगति लगाते हुए और अध्यायोक्त विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि पहिले यह कहा गया है कि श्रद्धा से समन्वित कर्मानुष्ठान ही अभीष्ट दायक होता है। श्रद्धा भी सात्विक राजस, तामस भेद से तीन प्रकार की बतलाई जा चुकी है, उनमें सात्विक श्रद्धा से समन्वित होकर सात्विक यज्ञ, तप, दानादि कर्मों का अनुष्ठान करने से जिस पुरुष का आत्मा या अन्तःकरण परिशुद्ध हो जाता है उसी का परमज्ञान को प्राप्त करने में अधिकार होता है। कौन से यज्ञादि हेय और कौन से उपादेय हैं, इसको समझाने के लिए तीनों गुणों से समन्वित उन कर्मों का विवरण प्रस्तुत किया गया जिससे कि कर्मों के अनुष्ठान करने वाले पुरुष को सन्देह न रहे। अब यह कहा जा रहा है कि संन्यास और त्याग दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। संन्यास में जो कर्मों के त्याग का विधान है वे काम्य या फलाशा से किए जाने वाले कर्म या निषिद्ध कर्म ही हैं, उन्हीं का त्याग संन्यास मार्ग में अभीष्ट है, न कि कर्ममात्र का त्याग करना किसी को अभिमत है, क्योंकि शरीर के रहते कर्ममात्र का त्याग कर देना तो संभव ही नहीं है, यह भगवान् स्वयं कह चुके हैं और अपना ही निदर्शन देकर समझा चुके हैं कि—

**“वर्त एव च कर्मणि”**

अतः नित्य कर्म जो यज्ञ यागादि तथा स्नान संध्योपासनादि हैं उनका तो विलोप प्रत्यवायजनक है, अतः अपने लिए जो शास्त्रविहित कर्म हैं, वे तो होने ही चाहिए। इस प्रकार इस अध्याय में समस्त उपनिषदों के सार का कथन हुआ है।

लोकमान्यतिलक तो गीता में कर्मयोग को ही प्रधान मानते हैं और इस अष्टादश अध्याय में उपसंहार में भगवान् ने अर्जुन को युद्ध करने को ही प्रेरित किया है तथा अर्जुन ने भी अन्त में भगवान् के वचन का पालन कर युद्ध करने की ही प्रतिज्ञा की है। अतः लोकमान्यतिलक के अनुसार इस अध्याय में कर्मयोग का स्पष्ट रूप से समर्थन उपलब्ध है।

श्रीशंकराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार गीता में ज्ञानयोग को ही मुख्य मानते हैं। उन्होंने इस उपसंहार के प्रकरण का जो समन्वय लिखा है उसका सारांश यही है कि गीता में यद्यपि प्रधान ज्ञान योग और संन्यास ही है तथापि अर्जुन अभी कर्म का ही अधिकारी है, अतः भगवान् ने उसे अभी मोक्ष के लिए संन्यस्त होने को प्रेरित नहीं किया अपितु उन्होंने उसे युद्ध के लिए ही प्रवृत्त किया।

---

## चौवालीसवां-पुष्प

अर्जुन उवाच-

संन्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक् केशिनिषूदन ! ॥१॥

“हे महाबाहो ! मैं संन्यास का तत्त्व जानना चाहता हूँ हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! त्याग का पृथक् तत्त्व भी मैं समझना चाहता हूँ। (१)

अर्जुन का यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसने इतने स्पष्ट रूप से यह प्रश्न उपस्थित किया है कि भगवान् को भी इसका स्पष्ट उत्तर देना पड़ा। दो बातों का पृथक् पृथक् स्वरूप जानने की अभिलाषा यहाँ अर्जुन ने प्रकट की है। दो विषयों का पृथक् पृथक् स्वरूप जानना तभी आवश्यक होता है जब उनके विषय में यह संदेह हो कि वे दोनों एक ही हैं अथवा स्वरूपतः वे पृथक् पृथक् हैं। साथ ही जब उनका अलग-अलग स्वरूप बतलाया जायगा तो उनका तात्त्विक रूप क्या है यह स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा।

गीता तथा उपनिषदों में प्रसङ्गानुसार संन्यास तथा त्याग का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि-

“न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः”

अर्थात् महापुरुषों ने अमृतत्व को कर्म, प्रजा या धन से नहीं अपितु केवल त्याग से प्राप्त किया।

इसी प्रकार-

“वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।

ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे ॥”

अर्थात् वे यतिगण जो वेदान्त के ज्ञान से अपने में सुनिश्चित अर्थों का धारण कर चुके हैं, जो संन्यास योग से युक्त हैं, शुद्ध सत्त्वगुण जिनका बढ़ा हुआ है, प्रलय या अन्तकाल में वे जन्म-मरण प्रवाह से विमुक्त होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेते हैं। उक्त उद्धरणों में त्याग और संन्यास का एक ही सन्दर्भ में विवरण किया गया है।

गीता में भी-

“त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥”



“अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी यो मदभक्तः स मे प्रियः ॥”

(१२।१६)

“सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥”

(१४।२५)

“सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥  
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥”

(५।१३)

“मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।  
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥”

(३।३०)

इत्यादि अनेक स्थलों पर संन्यास और त्याग का उल्लेख हुआ है। इन विभिन्न स्थलों पर संन्यास और त्याग का वर्णन सुनकर इनके स्वरूप में तथा पार्थक्य के विषय में अर्जुन की जिज्ञासा यहाँ स्वाभाविक ही है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती तथा आनन्दगिरि व्याख्या में इस बात का विस्तृत विचार किया गया है कि यहाँ अर्जुन ने संन्यास के तत्त्व को जानने के लिए जो प्रश्न भगवान् के सामने उपस्थित किया है वह किस प्रकार के संन्यास के विषय में हो सकता है। इस विचार का कारण यह है कि इस प्रश्न का जो उत्तर भगवान् ने दिया है उसमें आगे चलकर संन्यास और त्याग के सात्त्विक, राजस, तामस ये तीन भेद कर दिए हैं। पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर जो संन्यास होता है उसके विषय में तो न यह अर्जुन का प्रश्न संगत हो सकता है और न भगवान् का उसको दिया हुआ उत्तर ही पूर्णज्ञान के अनन्तर होने वाले संन्यास के लिए समझा जा सकता है। क्योंकि विगत अध्यायों में भगवान् ने—

‘यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्’

‘सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी’

इत्यादि पद्यों में पूर्णज्ञानपूर्वक संन्यास के स्वरूप के विषय में कोई संदेह शेष नहीं रहने दिया है। अतः उस अनेक बार कहे जा चुके अर्थ की पुनः जिज्ञासा तो

अर्जुन की अत्यन्त अल्पज्ञता का परिचय देने लगेगी। भगवान् ने इसके उत्तर में जो काम्य कर्मों को छोड़ देने मात्र को संन्यास कहा है वह भी असंगत हो जायगा क्योंकि पूर्णज्ञान के अनन्तर होने वाले संन्यास में तो केवल काम्य कर्म ही नहीं अपितु सर्वकर्म त्याग का विधान है। आगे जो संन्यास के तीनों गुणों के अनुसार सात्त्विक, राजस, तामस, तीन भेद किए गए हैं वे भी पूर्णज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर होनेवाले संन्यास में ठीक नहीं लगते, क्योंकि पूर्णज्ञानी तो निस्त्रैगुण्य स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब उस अवस्था में उसके संन्यास को गुणों के अनुसार तीन भेदों में विभाजित करना कैसे संगत हो सकेगा। फलतः पूर्णज्ञानी के संन्यास के विषय में न यह अर्जुन का प्रश्न ही है और न भगवान् का उत्तर ही।

तब कदाचित् यह प्रश्नोत्तर उस संन्यास के विषय में हो सकता है जिसमें ज्ञान प्राप्त तो नहीं हुआ परन्तु परम तत्त्व को जानने की इच्छा हो गई है। परमतत्त्व को जानने की इच्छा के उत्पन्न होने के अनन्तर एकनिष्ठ होकर उस ज्ञान के अर्जन में पूर्णरूप से प्रवृत्त हो जाने के लिए भी संन्यास का विधान है। परन्तु व्याख्याकारों ने इस पक्ष को भी नहीं माना। विविदिषा से जो संन्यास होता है वह भी सर्वकर्मसंन्यास ही होता है और उसके भी सात्त्विक आदि भेद नहीं कहे जा सकते। तब यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि यह प्रश्नोत्तर किस प्रकार के संन्यास को ध्यान में रखकर किया गया है। इसके उत्तर में उक्त व्याख्याओं में लिखा गया है कि संन्यास दो प्रकार का होता है, एक मुख्य संन्यास दूसरा गौण संन्यास। मुख्य संन्यास के भी दो भेद होते हैं, एक पूर्णज्ञान होने पर संन्यास तथा दूसरा विविदिषा होने पर अर्थात् ज्ञान की इच्छा होने पर। मुख्य संन्यास के दोनों ही भेदों पर यह प्रश्नोत्तर नहीं है यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो चुका। फलतः यह प्रश्नोत्तर गौण संन्यास पर ही है। जिनको तत्त्वज्ञान भी नहीं हुआ है और तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा भी जिनके अन्तःकरण में जागृत नहीं हुई है, जो अभी कर्म मार्ग में ही हैं, उनको भी कुछ कर्मों को छोड़ देने के लिए संन्यास कहा जाता है। यही गौण संन्यास है। इसी के विषय में अर्जुन का प्रश्न है। कर्म मार्ग में प्रवृत्ति रखने वाले पुरुष तीनों गुणों से सम्बद्ध रहते हैं। अतः उनके लिए विहित यह संन्यास भी तीन प्रकार का बतला दिया गया है।

आनन्दगिरि ने लिखा है कि युद्ध में समुपस्थित अर्जुन को जो मोह हुआ था उसको हटाने के लिए भगवान् ने यहाँ तत्त्वोपदेश उसे किया, उससे उसका मोह भी जाता रहा, यह बात उसने—

‘मोहोऽयं विगतो मम’ (११।१)

कहकर स्पष्ट कर दी है। अब उसे युद्ध में प्रवृत्त हो जाना चाहिए था। परन्तु वह अभी संन्यास और त्याग के प्रश्न ही कर रहा है। यदि कहीं इसी बीच में किसी षोड्धा ने उस पर प्रहार कर उसे विक्षत कर दिया तो कैसा अनर्थ होगा। इसके उत्तर में उन्होंने हृषीकेश, और केशिनिषूदन, इन संबोधनों को लगाया है। भगवान् ने अश्व का रूप धारण करने वाले एक बड़े विकट असुर का बड़ी युक्ति से वध किया था, अतः अर्जुन यह अभिव्यक्त कर रहा है कि आपके सामने रहते मुझ पर कोई प्रहार तो क्या करेगा कोई मेरी ओर दुष्ट बुद्धि से देख भी नहीं सकेगा। हृषीकेश का तात्पर्य भी इसी ओर है कि भगवान् सभी की इन्द्रियों के स्वामी हैं। सभी उनके वश में हैं।

---

## पैंतालीसवां-पुष्प

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

“काम्य कर्मों के परित्याग को कवियों ने संन्यास कहा है, समस्त कर्मों के फल के त्याग को विद्वानों ने त्याग माना है।” (२)

शास्त्रों में तीन प्रकार के कर्मों का विधान है, वे हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य कर्म वे कहलाते हैं जिनके करने से कोई फल नहीं बतलाया जाता परन्तु उनके न करने से पाप का भागी बनना पड़ता है। जैसे, शास्त्र की आज्ञा है कि—

“अहरहः सन्ध्यामुपासीत”

अर्थात् प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए। सन्ध्योपासन एक नित्य कर्म है। सन्ध्योपासन से किसी फल विशेष का शास्त्रों में विधान नहीं है परन्तु सन्ध्योपासन न करने से द्विजत्व नष्ट हो जाता है, यह प्रत्यवाय उससे शास्त्रों में कहा गया है। अतः नित्य कर्मों को द्विजाति मात्र को बिना किसी फल की कामना के करना होता है। दूसरे नैमित्तिक कर्म वे कहे जाते हैं जिनका अनुष्ठान किसी निमित्त के आ जाने पर होता है। जैसे—

“राहूपरागे स्नायात्”

अर्थात् सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण में स्नान करना चाहिए। चन्द्रग्रहण में काशी स्नान का विशेष महत्व है और सूर्यग्रहण में कुरुक्षेत्र स्नान का महत्व माना गया है। इस कर्म में राहु का सूर्य और चन्द्र का ग्रसन करना ही निमित्त है, अतः यह नैमित्तिक कार्य हुआ। तीसरे काम्य कर्म वे हैं जो किसी कामना से किये जाते हैं, जैसे पुत्र की कामना से पुत्रेष्टि यज्ञ किया जाता है, शत्रु पर विजय के उद्देश्य से श्येन याग किया जाता है। सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार के अनुष्ठान किये जाते हैं, स्वर्ग में इन्द्रपद प्राप्त करने के लिए अश्वमेध आदि यज्ञों का विधान है, ये सब विशेष विशेष कामनाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, अतः इन्हें काम्य कर्म कहा जाता है। इन्हीं काम्य कर्मों के परित्याग के लिए भगवान् ने प्रस्तुत पद्य में आदेश दिया है कि काम्य कर्मों को छोड़ देना ही संन्यास कहा जाता है। प्रश्न होता है कि नित्य और नैमित्तिक के समान ही जब काम्य कर्म भी शास्त्र विहित हैं तब उन्हें छोड़कर संन्यासी बनने की क्या आवश्यकता। इसका उत्तर है कि शास्त्र तो सभी प्रकार के

अधिकारी पुरुषों को दृष्टि में रखकर कर्म विधान करता है। जो अभी ऊँचे अधिकारी नहीं हैं, जिनके मन में अनेक प्रकार की कामनाएं उठती हैं, वे कहीं शास्त्रों में अपनी कामनाओं की पूर्ति का उपाय न देखकर शास्त्र विमुख न हो जाँय, इसलिए उनके लिए भी शास्त्र कर्म विधान तो अवश्य करता है, किसी भी प्रकार के अधिकारी को शास्त्र कभी मार्ग दिखाने से निराश नहीं करता, परन्तु कामनाएँ, जिनसे कि प्रेरित होकर काम्य कर्म किए जाते हैं, वे शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की हो सकती हैं। तब शुभ कामनाओं से किए गये कर्म तो उचित कहे जा सकते हैं, परन्तु अशुभ कामनाओं से किये गए कर्म तो अपना फल अवश्य देंगे और बन्धन में लेते चले जायेंगे। अशुभ कामनाओं की पूर्ति के लिए कर्मों का शास्त्र निर्देश ही क्यों करता है, इसका उत्तर तो पहिले दे ही चुके हैं कि विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियों की स्थिति को ध्यान में रखते हुए शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। तब उस स्थिति में संन्यासी के लिए काम्य कर्मों का परित्याग कर देना आवश्यक है। नित्य और नैमित्तिक विधि निषेधों का पालन तो उन्हें भी करना ही होता है। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि अनेक व्याख्याकार काम्य कर्मों को छोड़ने के इस संन्यास को गौण संन्यास कहते हैं, उनके अनुसार गौण संन्यास विषयक ही यह प्रश्न है और उसी विषय से सम्बन्धित यह उत्तर भी है। जो मुख्य संन्यास है उसमें तो केवल काम्य कर्मों को ही नहीं समस्त कर्मों को छोड़ दिया जाता है। वे संन्यासी गण निस्त्रैगुण्य मार्ग के अनुयायी होते हैं अतः उन्हें किसी विधि या निषेध के चक्र में नहीं पड़ना होता—

**“निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः”**

सन्ध्योपासनादि नित्य कर्म भी उनके लिये नहीं होते। किसी महात्मा पुरुष ने किसी से पूछा कि महाराज ! आप सन्ध्योपासन क्यों नहीं करते, तो उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—

**“मृता मोहमयी माता जातो ज्ञानमयः सुतः ।**

**सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे” ॥**

अर्थात् जननाशौच और मरणाशौच में सन्ध्योपासन आदि नित्य कर्म नहीं किये जाते। मोहरूपिणी जो हमारी माता थी वह मर गई, अतः हमको मरणाशौच लगा हुआ है और ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हो गया अतः हम जननाशौच में भी पड़े हुये हैं, जब दो दो सूतक सर्वदा ही हमको घेरे हुए हैं तब हम सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म कैसे कर सकते हैं। तात्पर्य यही है कि प्रधान संन्यास में सभी कर्मों का त्याग हो जाता है। परन्तु यहां गौण संन्यास का ही प्रकरण होने से भगवान् ने यहाँ केवल काम्य कर्मों के छोड़ने

को भी संन्यास कहा है। प्रश्न हो सकता है कि बाँधने वाले कर्म तो फलाभिसन्धि पूर्वक किए गये काम्य कर्म ही होते हैं। नित्य और नैमित्तिक कर्म तो बन्धक नहीं होते क्योंकि उनका कोई फल ही नहीं बतलाया जाता। बिना फल के नित्य और नैमित्तिक कर्म बन्धन नहीं करेंगे और बन्धन के अभाव में मुख्य संन्यास में उनका निषेध क्यों है। उसके उत्तर में श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि सर्वथा फल शून्य कोई कर्म नहीं होता। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के भी फल होते हैं, अतः मुख्य संन्यास में कर्म मात्र का परिवर्जन आवश्यक बतलाया जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रस्तुत पद्य में भगवान् ने संन्यास और त्याग के विषय में विद्वानों की विप्रतिपत्ति दिखाई है। एक स्थान पर संन्यास शब्द का प्रयोग और उसी अर्थ में विप्रतिपत्ति दिखाते हुये दूसरे स्थान पर त्याग शब्द का प्रयोग यह दिखाता है कि भगवान् को दोनों शब्दों का समान ही अर्थ अभीष्ट है।

समस्त कर्मों का जो फल अपने ऊपर या कर्ता के ऊपर आता है उसे छोड़ देना या उसे भगवदर्पण कर देना ही त्याग है।

पैशाच भाष्य में 'सर्वकर्मफलत्याग' का अर्थ नित्य और नैमित्तिक कर्मों के फल का त्याग किया गया है अन्यथा काम्य कर्म के विषय में जो पहिले कह दिया गया है उससे पुनरुक्ति की आशंका या साङ्कर्य दोष बना रहता है।

श्री नीलकण्ठ कहते हैं कि यद्यपि संन्यास और त्याग ये दोनों शब्द निवृत्ति के ही बोधक हैं परन्तु वह निवृत्ति वैराग्य, शारीरिक कष्ट से भय, मूढ़ता आदि अनेक कारणों से होती है, अतः निवृत्ति के कारण सात्त्विक राजस आदि भेदों से भिन्न भिन्न होते हैं, इसीलिए उन कारणों से होने वाली निवृत्ति भी सात्त्विक आदि भेदों से युक्त होती है। जो व्यक्ति वैराग्यभावना से प्रेरित नहीं होता वह भले ही श्रद्धावान् भी हो और भले ही उसने कर्मों का परित्याग भी कर दिया हो, परन्तु वैराग्य भावना की दृढ़ता के अभाव में उसे मानसिक विक्षेप से छुटकारा मिल नहीं सकता। संन्यासी हो जाने पर भी यदि वैराग्यभावना अन्तःकरण में प्रबल नहीं है तो राग द्वेषादि चलते रहेंगे। श्रीनीलकण्ठ ने वार्तिककार का एक वार्तिक उद्धृत किया है कि—

“प्रमादिनो बहिश्चिन्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।

संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः” ॥

तात्पर्य यही है कि मुख्य संन्यास में वैराग्यभावना की प्रबलता की अनिवार्य आवश्यकता होती है। बिना वैराग्य भावना की प्रबलता के जो संन्यास ग्रहण कर लिया

जाता है उसकी अपेक्षा तो कर्मों को निष्काम भावना से करते रहना ही अधिक श्रेयस्कर है, इसी आशय से यहाँ भगवान् ने काम्य-कर्मों के त्याग को संन्यास और नित्य, नैमित्तिक-कार्यों को फल की अभिलाषा के बिना करते जाना त्याग शब्द का अर्थ बतलाया है।

श्रीश्रीधराचार्य ने अपनी व्याख्या में यह विचार किया है जिसका संकेत हम ऊपर श्रीशंकराचार्य के मत के प्रदर्शन के सन्दर्भ में कर आए हैं कि नित्य कर्मों का जब कोई फल ही नहीं देखा जाता तब उनके त्याग की बात कैसे युक्ति युक्त हो सकती है, इसके उत्तर में उन्होंने यह आशय प्रकट किया है कि—

**“प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते”**

अर्थात् बिना किसी फलरूपी प्रयोजन को जाने किसी मन्द बुद्धि वाले पुरुष की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। प्रत्येक कार्य को करने के पहिले मनुष्य दो बातें अवश्य सोच लेता है कि—

**“इदं मदिष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यं च”**

अर्थात् यह कार्य मेरे अभीष्ट अर्थ को पूरा करने वाला है अथवा अमुक कार्य के करने से मुझे अमुक लाभ होगा और दूसरी बात जो मनुष्य सोचता है वह यह है कि मैं इस कार्य को कर भी सकूँगा अथवा नहीं। इस प्रकार इष्ट साधनता का ज्ञान और कृतिसाध्यत्व का ज्ञान भी किसी कार्य को आरम्भ करने से पहिले पुरुष अवश्य प्राप्त कर लेता है। अब यदि नित्यकर्मों का कोई फल ही न हो अथवा उनसे मनुष्य की कोई इष्ट सिद्धि न होती हो तो मनुष्य की उन नित्य कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। इसीलिए सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्र आदि नित्यकर्मों के लिए भी—

**“सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति”**

**“कर्मणा पितृलोकः”**

**“धर्मेण पापमपनुदति”**

इत्यादि फल श्रुतियाँ मिलती हैं। इन्हीं फलों के त्याग को त्याग शब्द का अर्थ यहां कहा गया है। यह पुनः शंका उठाई गई है कि फल बतला देने पर भी जब उन फलों का अन्ततः त्याग भी बतला दिया गया तो मानवीय प्रवृत्ति उन कर्मों में क्यों होगी यह प्रश्न तो फिर भी बन ही रहा। उसका उत्तर है कि उन्हीं फलों का त्याग यहाँ अभिप्रेत है जो प्रत्येक कर्मों के साथ बतलाए गए हैं, परन्तु—

**“तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन”**

इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परब्रह्म को जानने की इच्छा से वेदानुवचन यज्ञ, दान, तप आदि का विधान मिलता है। अतः जिस कर्म का जो विशेष फल कहा गया है उसका परित्याग कर देने पर भी उन कर्मों के अनुष्ठान का, परब्रह्म को जानने की अभिलाषा को जाग्रत करना, यह फल तो प्रस्तुत रहता ही है जिसके लिए इन कर्मों में प्रवृत्ति मनुष्य की बनी रहती है।

इस प्रकार काम्य कर्मों के परित्याग को संन्यास और समस्त कर्मों के फलों के परित्याग को त्याग शब्द का अर्थ यहाँ भगवान् ने बतलाया। अब आगे इस विषय में अनेक पक्षों की चर्चा भगवान् ने की है, उसे उपस्थित करते हैं।

---



## छियालिसवां-पुष्प

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

“दोषयुक्त या रागादि दोषों के समान कर्म मात्र का परित्याग कर देना चाहिए ऐसा कुछ मनीषियों का कथन है तथा यज्ञ दान, तप, आदि कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिए ऐसा दूसरे विचारक मानते हैं।” (३)

श्रीशंकराचार्य अपने भाष्य में इस बात पर पूर्वापर प्रसंग दिखाते हुए यह विचार प्रस्तुत करते हैं कि यह कर्म में अधिकृत मनुष्यों को ध्यान में रखकर ही सारे विकल्प उठाए जा रहे हैं, न कि पूर्ण ज्ञाननिष्ठ संन्यासी को लक्ष्य में रखकर। पूर्णज्ञाननिष्ठ संन्यासी के लिए तो तृतीय अध्याय में ही—

“ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्”

इत्यादि पद्यों में विवरण किया जा चुका है। अतः उनका यहाँ कोई प्रसंग नहीं। इस पर फिर पूर्वपक्ष उठता है कि वहीं तृतीय अध्याय में—

“कर्मयोगेन योगिनाम्”

इत्यादि पद्यों में कर्मयोगियों के विषय में भी विचार किया जा चुका है। अतः पूर्व विचारित कर्मयोगी की बात गौण संन्यास के रूप में यदि यहाँ उठाई जा सकती है तो पूर्व विचारित ज्ञाननिष्ठ सांख्यान्यायियों का विषय सभी विषयों का उपसंहार करते समय उपस्थित कर दिया जाय तो उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं। पूर्वपक्षी का तात्पर्य यह है कि यहाँ पर संन्यास अथवा त्याग शब्द को केवल कर्म में अधिकार रखने वाले पुरुषों के लिए ही न मानकर ज्ञाननिष्ठ और कर्माधिकारी दोनों के लिए सामान्यरूप से मानना चाहिए। केवल कर्माधिकारी मात्र में इसको सीमित करके ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों को इससे पृथक् कर देने में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। श्रीशंकराचार्य ने इसका उत्तर दिया है कि ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों के विषय में भी यदि यहाँ के संन्यास और त्याग विषयक प्रश्नोत्तरों को लगाया जायगा तो चूँकि उनका मोह और दुःख विनष्ट हो चुका है, अतः उसके त्याग का प्रश्न उनके विषय में न उठने से असंगति होगी। शारीरिक कष्ट जनित दुःखों को सांख्य के अनुयायी विद्वान् आत्मा में नहीं मानते क्योंकि इच्छा आदि मानसिक विकारों को वे क्षेत्र का ही धर्म समझते हैं। अतः वे

शारीरिक कष्ट और दुःख के भय से कर्मों का परित्याग नहीं करते और न ही अनुष्ठीयमान कर्मों को आत्मा में ही समझते हैं जिससे कि अपने नियत कर्मों को वे मोह से छोड़ बैठें। वे कर्मों का परित्याग इसीलिए करते हैं कि कर्मों का कर्तृत्व वे गुणों पर ही मानते हैं और आत्मा को अकर्ता ही समझते हैं। भगवान् ने—

**“सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य”**

इत्यादि पञ्चमाध्यायोक्त पद्यों में तत्त्ववेत्ता के लिए अपने मन से सभी कर्मों की वासना को हटा देना ही संन्यास का प्रकार बतलाया है। इस पर्यालोचन से यह सिद्ध हो जाता है कि परावरज तत्त्ववेत्ता संन्यासियों के अतिरिक्त जो अन्य व्यक्ति आत्मा के स्वरूप को नहीं समझते और मोह अथवा शारीरिक क्लेश के भय से जो कर्मों को छोड़ बैठते हैं उन्हें राजस और तामस त्यागी कहकर उनकी निन्दा की जाती है। कर्माधिकारी जो व्यक्ति आत्मा को न जानते हुए ही कर्मों के फल का त्याग करते हुए कर्म करते हैं उनकी स्तुति की जाती है। बारहवें अध्याय में—

**“सर्वारम्भपरित्यागी”**

(१२।१९।)

इत्यादि पद्यों में जो गुणातीत का लक्षण बतलाया गया है वह पारमार्थिक दृष्टि रखने वाले प्रधान संन्यासी का ही विशेषण है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों का यहाँ कोई प्रसंग नहीं अपितु कर्माधिकार में प्रवृत्त जो गौण संन्यासी हैं उन्हीं में यह तारतम्य बतलाया गया है कि कर्मों के फलों का परित्याग करने वाला ही सात्त्विक गुण से युक्त होने के कारण मोह या शारीरिक कष्ट के भय से कर्मों का परित्याग कर देने वाले राजस और तामस पुरुषों से उत्तम है।

श्रीरामानुजाचार्य ने मनीषी का अर्थ कपिल मतानुयायी तथा वैदिक विद्वान् दोनों लगाया है और यह अर्थ किया है कि रागादि दोषों की तरह बन्धन होने के कारण मुमुक्षु व्यक्ति को यज्ञ आदि समस्त कर्म छोड़ देने चाहिए। दूसरे विद्वान् यागादि कर्मों को न छोड़ना मानते हैं। पैशाचभाष्य में यज्ञादि कर्मों के समर्थन में—

**“स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः”**

(१८।४६।)

इस आगे आने वाले पद्य को उद्धृत करके यह तात्पर्य लगाया है कि भगवान् ने अपनी उपासना का प्रकार, प्रत्येक प्राणी को अपने नियत कर्मों का अनुष्ठान करके

ही ईश्वर की उपासना करनी चाहिए, यह बतलाया। वल्लभाचार्य ने सांख्य शास्त्र का उपपादन करते हुए लिखा है कि सांख्य दर्शन में यज्ञ आदि कर्मों में पशु हिंसा होती है और उससे जो दोष मनुष्य पर आता है वह मनुष्य को दुबारा बंधन में खींच लेता है। अतः इन दोष युक्त कर्मों का सर्वथा परित्याग ही कर देना चाहिये। दूसरे पक्ष को उन्होंने मीमांसकों का पक्ष बतलाया है जो कि यज्ञ दान और तप को श्रुति विहित होने के कारण त्याज्य नहीं मानते। श्रीवल्लभाचार्य ने भगवान् के कथन का यह तात्पर्य लगाया है कि ये पक्ष यद्यपि भ्रान्तिपूर्ण हैं तथापि वेदों को प्रमाण रूप से ग्रहण करने के कारण ये अंशतः समीचीन भी कहे जाते हैं।

श्रीनीलकण्ठ ने कहा है कि मनीषी अर्थात् अपने मन का निग्रह करने में समर्थ जो विद्वान् पुरुष हैं वे परमात्मा के विषय में जिन पुरुषों की जिज्ञासा उत्पन्न हो चुकी है उनके लिए रागद्वेष आदि दोष जिस प्रकार त्याज्य हैं उसी प्रकार सभी कर्म भी त्याज्य हैं ऐसा मानते हैं। और दूसरे यज्ञादि को त्याज्य नहीं मानते। ये दोनों मत श्रुति सिद्ध हैं—

“न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः”

“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः”

इन श्रुतियों में इन्हीं उपर्युक्त दोनों मतों का प्रतिपादन हुआ है। उन्होंने श्रीशंकराचार्य के मत का स्मरण करा दिया है कि ये दोनों पक्ष अविद्वान् के लिए ही हैं, क्योंकि जो विद्वान् हैं उनको तो कर्म में प्रवृत्ति का कारण जो अज्ञान है उसके नष्ट हो जाने के कारण कर्मों का त्याग स्वतः सिद्ध है। कहा गया है—

“न कर्माणि त्यजेत् योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ”

श्रीशंकराचार्य ने दोष युक्त कर्म को छोड़ने का यह अर्थ लगाया है कि शास्त्रों में जो निषिद्ध कर्म हैं वे दोष युक्त हैं जैसे—

“न कलञ्जं भक्षयेत् न सुरां पिबेत्”

इत्यादि शास्त्रों में कलञ्ज भक्षण और सुरापानादि का निषेध इसीलिये किया गया है कि वे दुर्गति और दुष्ट योनि को देने वाले हैं। अतः मुमुक्षु पुरुष को उन निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार शास्त्रों में दोषयुक्त जिन कर्मों का त्याग बतलाया गया है उन्हें ही त्याग शब्द से ग्रहण करना उचित है न कि काम्य कर्म या कर्म के फल का त्याग करना त्याग शब्द का तात्पर्य है, क्योंकि दोष विरहित कर्म

चाहे वे काम्य हों अथवा दूसरे प्रकार के हों, दुर्गति को देने वाले नहीं होते। फलत्याग को विधेय मान लेने पर तो मनुष्य की प्रवृत्ति ही कर्मों में नहीं होगी।

**“यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि”**

इत्यादि वाक्यों में दोष विरहित कर्मों के करने का स्पष्ट विधान है। साथ ही श्रीशंकरानन्द ने सांख्य सिद्धान्त का पक्ष भी प्रस्तुत कर दिया है कि समस्त यज्ञ यागादि विधियां दोष पूर्ण हैं, इसलिये उनका परित्याग उचित है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। ऐसा करने से विहित कर्म के न करने के कारण मनुष्य प्रत्यवाय का भागी बनेगा ऐसी शंका भी व्यर्थ है क्योंकि इस प्रत्यवाय से उस कर्मानुष्ठान में जो प्रत्यवाय या पाप होगा वह अधिक है। मीमांसक श्रुतिविहित कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक मानते हैं। अपने पक्ष में अनेक प्रमाण उनके हैं जैसे—

**“अकृत्वा वैदिकं नित्यं प्रत्यवायी भवेन्नरः”**

**“यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति”**

**“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः”**

**“सत्यं वद, धर्मं चर”**

**“सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यम्”**

**“श्रौतं चापि तथा स्मार्तं कर्मात्मव्य वसेद्विजः।**

**तद्विहीनः पतत्येव आलम्बरहिताम्भवत्॥”**

**“एकाहं जपहीनस्तु सन्ध्याहीनो दिनत्रयम्।**

**द्वादशाहमग्निश्च शूद्र एव न संशयः॥”**

**“तस्मान्न लङ्घयेत् सन्ध्यां सायं प्रातः समाहितः।**

**उल्लङ्घयति यो मोहात् स याति नरकं ध्रुवम्॥”**

इत्यादि। इन प्रमाणों से यही दिखाया है कि श्रुति में मनुष्यों के लिये जो आवश्यक तथा अनिवार्य कर्म हैं उन्हें करना ही चाहिये। उन कर्मों में जो दोष दिखाये जाते हैं उनका भी उनके यहां यह समाधान है कि मांस भक्षण स्त्रीसंसर्गादि मनुष्य के स्वभाव में सम्मिलित होने के कारण स्वाभाविक कृत्य हैं। मनुष्य इन कर्मों को स्वभाव से करता है। शास्त्र उसके स्वभाव पर ही यह नियन्त्रण लगाते हैं कि मांस भक्षण अमुक स्थान पर अमुक अवसर पर ही करना चाहिये। स्वाभाविक जो कामवासना मनुष्य में

है उस पर भी यह नियन्त्रण है कि विवाह विधि के द्वारा स्वीकृत अपनी भार्या से ही अपनी काम वासना को शान्त करना चाहिये। स्पष्ट है कि शास्त्र की विधियों ने मनुष्य की उच्छिद्दखल प्रवृत्ति को संयत किया है। उन विधियों का अनुष्ठान भी त्याग के बिना नहीं हो सकता। बहुधा देखा जाता है सभी कर्मों के त्याग के नाम पर प्रच्छन्न रूप से सभी कर्मों का उपभोग चलने लगता है। यह बहुत बड़ा अनाचार है। मोक्ष या परमार्थ का उससे दूर का भी सम्बन्ध नहीं। अतः इन नियत कर्मों का परित्याग किसी भी दशा में उचित नहीं। यह भगवान् ने इन दोनों मतों का प्रतिपादन किया। इसके आगे इन अनेक पद्यों में मतिभ्रम न हो जाय इसलिए भगवान् ने अपना निर्णय दिया है।

---

## सैंतालीसवां-पुष्प

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम !।

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।

कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

“हे भरत सत्तम ! त्याग के विषय में अब तुम मेरा निर्णय सुनो। हे पुरुष-  
व्याघ्र ! त्याग तीन प्रकार का माना गया है” (४)

यहाँ संन्यास और त्याग दोनों के विषय में किए गए अर्जुन के प्रश्न का केवल त्याग के विषय में अपना निर्णय देकर भगवान् ने जो समाधान किया उससे यह आशय निकालना सरल है कि भगवान् ने त्याग और संन्यास का एक रूप ही माना है। श्री शंकराचार्य ने यह भी लिख दिया है कि सात्त्विक, राजस और तामस भेदों से जो तीन प्रकार के त्याग का विवरण भगवान् ने किया है उससे यह प्रकरण शुद्ध ज्ञाननिष्ठ संन्यासी का नहीं अपितु कर्म में अधिकृत व्यक्ति का ही है यह सुस्पष्ट हो जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य ने यहाँ जो त्याग को तीन प्रकार का कहकर निर्दिष्ट किया है उसका सत्त्वादि गुणपरक अर्थ नहीं लिया है अपितु “त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः” का अर्थ उन्होंने किया है कि भगवान् ने स्वयं गीता के विगत सन्दर्भों में त्याग का तीन प्रकारों का निर्देश किया है, उन्हीं का उन्होंने यहाँ स्मरण कराया है। समस्त कर्तव्यकर्मों का अनुष्ठान करते हुए भी उनके फल को भगवदर्पण करते जाना प्रथम प्रकार का त्याग है। जैसा कि उन्होंने पहिले कहा है—

“मयि सर्वाणि कर्माणिसंन्यस्याध्यात्मचेतसा।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः” ॥

(३।३०)

इसी उक्त पद्य में अपने द्वारा अनुष्ठित कर्मों से “मैंने यह कार्य किया है” इस प्रकार की ममता का परित्याग कर देना दूसरे प्रकार का त्याग है। इसी प्रकार जो भी

कुछ संसार में हो रहा है उस सबके कर्ता स्वयं सर्वेश्वर भगवान् हैं, मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, इस तरह समझ कर अपने द्वारा सम्पादित कर्मों से अपनी कर्तृत्व बुद्धि भी हटा लेना तीसरे प्रकार का त्याग है। इन तीनों प्रकार के त्यागों का वर्णन पहिले किया जा चुका है, उसी का यहाँ संकेत है, यह श्रीरामानुजाचार्य का प्रस्तुत पद्य पर आशय है।

अन्य व्याख्याकारों ने सात्त्विक, राजस और तामस भेद से त्याग तीन प्रकार का होता है ऐसी ही व्याख्या लिखी है। श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि दृढ़ वैराग्य पूर्वक जो कर्म संन्यास है वह सात्त्विक त्याग है, शारीरिक परिश्रम के भय से जो कर्मों का परित्याग कर दिया जाता है वह राजस त्याग है, मूढ़तापूर्वक जो कर्म का त्याग है वह तामस त्याग की श्रेणि में आता है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती इसकी व्याख्या में लिखते हैं कि त्याग अभाव रूप होता है। अभाव तीन प्रकार का होता है, एक विशेषणाभाव, दूसरा विशेष्याभाव और तीसरा विशेषण और विशेष्य दोनों का अभाव। यहाँ कर्म विशेष्य है और फलाभिसंधि कर्म का विशेषण है। अतः जब फलाभिसंधिरूप विशेषण को छोड़ दिया जाय, फल की कामना के बिना ही कर्म किया जाय, वह प्रथम प्रकार का त्याग होगा। जब फलाभिसन्धि तो रहे परन्तु फलानुरूप कर्म न हो तो विशेषणरूप फलाभिसन्धि के रहने पर भी विशेष्य रूप कर्म न हो सका, अतः यह विशेष्याभाव रूप त्याग हुआ। तीसरी श्रेणी में फलाभिसन्धि रूप विशेषण भी नहीं है और तदनुरूप कर्म का भी अभाव हो जाता है अतः यह विशेषण और विशेष्य दोनों का अभावरूप तीसरे प्रकार का त्याग हुआ। यही तीन प्रकार का त्याग श्रीमधुसूदनसरस्वती ने न्याय शास्त्र की प्रक्रिया से यहाँ दिखाया है। आगे उन्होंने यह भी दिखाया है कि उक्त त्रिविध त्यागों में प्रथम प्रकार का त्याग सात्त्विक है, वह ग्राह्य है अर्थात् फलाभिसन्धि छोड़कर कर्म करना शास्त्रों में प्रशंसनीय और आदरणीय माना गया है। दूसरे प्रकार का जो त्याग है, जिसमें फलाभिसन्धि तो रहती है परन्तु तदनुरूप कर्म नहीं रहता वह राजस और तामस भेद से दो प्रकार का हो जाता है, शारीरिक कष्ट पर ध्यान देकर जो कर्म त्याग होता है वह राजस है, और बुद्धि विपर्यय से जो कर्म छोड़ दिए जाते हैं वह तामस है। दूसरे प्रकार का त्याग हेय है। यही दोनों प्रकार के त्याग यहाँ अर्जुन के प्रश्न और भगवान् के उत्तर के विषय हैं। तीसरे प्रकार का जो त्याग बतलाया, जिसमें कि कर्म का अभाव हो जाता है और फलाशा भी छूट जाती है वह यहाँ प्रश्नोत्तर का विषय नहीं है। वह तो गुणातीत अवस्था है जिसका निरूपण गीता के विगत अध्यायों में विस्तार से किया जा चुका है। जैसा कि एक व्याख्या का आशय स्पष्ट करते हुए हम पहिले भी दिखा चुके हैं कि मुख्य संन्यास भी दो प्रकार का होता है, एक तो पूर्ण ज्ञानी का संन्यास

अर्थात् कर्म परित्याग और दूसरा तत्त्व ज्ञानाभिलाषी का संन्यास अर्थात् कर्मपरित्याग जिसे कि विविदिषा संन्यास कहा गया है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने उसका भी यहाँ विवरण देते हुए लिखा है कि पूर्णज्ञान प्राप्तिवाला प्रथम कोटि का संन्यास तो जन्मान्तर के ज्ञान और वैराग्यसम्पन्न प्राणी को प्रारम्भ से ही हो जाता है, दूसरे प्रकार के संन्यास में प्राणी को इस जन्म में पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न के लिए सब कुछ त्याग करने को कहा जाता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के त्याग का विवेचन अब आगे भगवान् करते हैं। उससे पहिले अग्रिम पद्य में अब भगवान् ने यह बतलाया है कि शास्त्रों में जिन कर्मों का विधान है उन्हें अवश्य करना चाहिए। “यज्ञ, दान, तप, तथा अन्य शास्त्रीय कर्मों को छोड़ना नहीं अपितु उनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ, दान, तप तथा अन्य शास्त्रीय क्रियाकलाप मनुष्यों को पवित्र करने वाले होते हैं” (५)

यहाँ यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिए, इस प्रकार व्यतिरेक शैली से और “उन्हें करना ही चाहिए” यह अन्वय शैली से कहकर उन्हें अवश्य करना चाहिए यह इन कर्मों की अवश्य कर्तव्यता का विधान किया गया है। यज्ञ, दान, और तप आदि का स्वरूप पहिले विस्तार से बतलाया जा चुका है। श्री नीलकण्ठ ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में प्रत्येक कार्य को लगाया है। गृहस्थ पुरुष को यज्ञ तथा दान करते रहना चाहिए, वानप्रस्थ को तप करते रहना चाहिए तथा ब्रह्मचारी को आचार्य शुश्रूषा तथा अध्ययन करते रहना चाहिए। छान्दोग्य उपनिषद् में भी इन कर्मों का कथन किया गया है कि—

“त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति,  
प्रथमस्तप एव, द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी,  
तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व-  
एते पुण्यलोका भवन्ति”

(छां० उ० २।२३।१)

इन कर्मों का अनुष्ठान क्यों करना चाहिए इसका कारण भी भगवान् ने कृपा पूर्वक बतला दिया कि इन कर्मों के अनुष्ठान से मनीषि पुरुषों को पवित्रता प्राप्त होती है, अतः ये कर्म सर्वदा अनुष्ठेय हैं। पवित्रता प्राप्त होने का अर्थ है अपवित्रता का निवारण। वह अपवित्रता भी इसी जन्म में किए गए दुष्कृत्यों तथा जन्मान्तर में किए हुए कुकर्मों से संस्कार के रूप में मनुष्य के साथ लगी रहती है। कर्मों की अपवित्रता



भी कर्मों की पवित्रता से ही दूर की जाती है, इसका प्रतिपादन हम विगत प्रवचनों में यथा स्थान कर चुके हैं। यहाँ भगवान् ने पवित्रता रूप हेतु इन कर्मों के अनुष्ठान में बतलाकर यह भी बोधन कर दिया कि आत्मशुद्धि की कामना से ही इन कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए—न कि स्वर्ग आदि अन्य फलों की कामना से। मनीषि पद से यह भी सूचित कर दिया कि जो मनीषि या मनन शील नहीं हैं उनको इन कर्मों के अनुष्ठान से पवित्रता प्राप्त नहीं होती अपितु उन्हें इन कर्मों का अनुष्ठान करने के बाद गर्व आदि का ही अनुभव होता है, जैसा कि षोडश अध्याय में कहा गया है कि आसुरी सम्पत्ति वाले पुरुषों की भी यज्ञ, दान, तप आदि में प्रवृत्ति होती है, परन्तु उनसे उनको पवित्रता प्राप्त नहीं होती अपितु उनमें अधिकाधिक अहंकार आदि का ही उदय विशेष रूप से देखा जाता है जिनसे प्रेरित होकर वे जगत् का अधिकाधिक विद्रावण ही करते हैं। अतः मनीषि गण ही इन कर्मों को करने के वास्तविक अधिकारी होते हैं, और उन्हें ही इन कर्मों के अनुष्ठान का पवित्रता रूप फल भी प्राप्त होता है।

श्रीवल्लभाचार्य ने कहा है कि इस पद्य में मीमांसकों के मत को अंशतः स्वीकार किया है।

आगे के पद्य में भगवान् इन कर्मों के अनुष्ठान की युक्ति बतलाते हैं कि—

“इन कर्मों का अनुष्ठान भी संग और फलों का परित्याग करके ही करना चाहिए यही मेरा निश्चित और उत्तम मत है” (६)

यदि इन कर्मों का अनुष्ठान भी अहंकार पूर्वक तथा फल की कामना से किया जायगा तो वह निरर्थक ही होगा। वह आसुरी सम्पत्ति के अन्तर्गत ही माना जायगा।

श्री शंकराचार्य ने लिखा है कि इस पद्य में भगवान् ने किसी नई बात को कहने का उपक्रम नहीं किया अपितु विगत—‘निश्चयं शृणु मे तत्र’।

इत्यादि पद्य में जो कुछ कहने की प्रतिज्ञा की तथा आगे पावनत्व रूप उसका हेतु बतलाया उसी का इस पद्य में उपसंहार किया है। यहाँ ‘अपि’ शब्द का अर्थ बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जो कर्म अन्य लोगों के लिए अर्थात् अहंकारयुक्त यथा फलाकांक्षी व्यक्ति के लिए बन्धन करने वाले हैं, उनका अनुष्ठान भी मुमुक्षु पुरुष को संग तथा फलाशा छोड़कर करना चाहिए। अपि शब्द का यहाँ यह अर्थ नहीं है कि इनके अतिरिक्त कर्म तो करने ही चाहिए साथ-साथ इनको भी करना चाहिए। परन्तु उक्त अर्थ ही यहाँ अभीष्ट है। वस्तुतः यज्ञ, दान और तप ये तीनों कर्म इतना व्यापक क्षेत्र रखते हैं कि इनकी व्याख्या में शास्त्रीय समस्त विधियों का अन्तर्भाव हो जाता है।

श्रीशंकराचार्य ने कुछ विचारकों के इस मत का खंडन किया है कि प्रस्तुत पद्य

में 'एतानि कर्माणि' का अभिप्राय केवल काम्य कर्मों से है क्योंकि नित्य कर्मों का तो फल बतलाया ही नहीं जाता, अतः नित्य कर्मों में फलों को छोड़ने की बात संगत नहीं होती। अतः उनके मत में पद्य का यह अर्थ होगा कि नित्य कर्म तो करने ही चाहिए, ये काम्य कर्म भी संग और फलाशा को छोड़कर किए जाने चाहिए। इसका खंडन करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि पवित्र करना रूप फल अभी भगवान् ने नित्य कर्मों का भी बतलाया ही है, इसी से यह सिद्ध होता है कि नित्य कर्मों के भी फल होते हैं। काम्य कर्म तो बन्धक अवश्य होते हैं चाहे वे किसी भी प्रकार की अभिलाषा से क्यों न किए जायं। अतः मोक्ष मार्ग के पथिक को काम्य कर्मों से तो अपना सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न कर ही लेना चाहिए, यह श्रीशंकराचार्य ने यहाँ स्पष्ट किया है।

श्रीरामानुजाचार्य ने कहा कि ये कर्म भगवदुपासना रूप हैं, ऐसा समझ कर इनका अनुष्ठान प्रयाण पर्यन्त आवश्यक होता है। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यहाँ यह शंका उठाई है कि यदि काम्य कर्म भी पवित्रता उत्पन्न करते हैं तो फलाभिसन्धि से करने पर भी उनसे पवित्रता तो प्राप्त होगी ही, तब फलाभिसन्धि के परित्याग के लिए इतना आग्रह क्यों ? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि धर्मानुष्ठान का स्वभाव ही पवित्रता उत्पन्न करने का होता है अतः इन कर्मों से अवश्य ही पवित्रता प्राप्त होगी परन्तु यदि फलाभिसन्धि से ये कर्म किए जायेंगे तो इनसे प्राप्त होने वाली पवित्रता भी फल भोग कराने में ही सहायता देने वाली होगी न कि उससे पारमार्थिक ज्ञान प्राप्ति में किसी प्रकार की सहायता मिलेगी। निश्चय ही उत्तम फलों के उपभोग के लिए भी पवित्रता और उनके उपभोग की पात्रता आवश्यक होती है। उस प्रकार से कर्म करने पर उसी प्रकार की पवित्रता की और अतिशय की प्राप्ति हो सकेगी। सांसारिक दुःख और क्लेश से मुक्ति मिलने के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है और उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जो पवित्रता अपेक्षित होती है, वह फलाभिसन्धिपूर्वक कर्मानुष्ठान से नहीं मिल सकेगी। इसीलिए पवित्रता सम्पादन होने पर भी फलाभिसन्धि के परित्याग का आग्रह यहाँ किया गया है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए वेदान्त के वार्तिक-कार ने कहा है कि—

**काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा ।**

**विङ्गवराहादिदेहेन न ह्यैन्द्रं फलमश्नुते ॥**

इसीलिए यहाँ भगवान् ने ज्ञानोपयोगिनी अत्यन्त दुर्लभ पवित्रता की प्राप्ति के लिए संग और फल के परित्याग पूर्वक इन कर्मों के अनुष्ठान का आदेश दिया है।

अब आगे त्याग के तामस, राजस, और सात्त्विक रूपों का परिचय देते हैं।

## अङ्गतालीसवां-पुष्प

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।

स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत ॥८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन !

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विकोमतः ॥९॥

“नियत कर्म का परित्याग युक्तियुक्त नहीं होता, मोह से नियत कर्म को छोड़ देना तामस त्याग कहा जाता है।” (७)

जो अपने अपने नियत कर्म हैं उनके बिना तो शरीर यात्रा भी चलना संभव नहीं है। इस बात को भगवान् ने तीसरे अध्याय में—

“शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः”

इत्यादि पद्यों के द्वारा स्पष्ट बतला दिया है। यज्ञ शेष का भोजन करना विहित है। जो व्यक्ति बिना यज्ञ के भोजन करता है, उसके लिये भगवान् ने—

“भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्”

कह कर उसकी निन्दा की है। उपनिषद् में भी—

“केवलाघो भवति केवलादी” कहकर उसकी निन्दा की गई है। अतः शिष्टाचार सम्मत मार्ग यही है कि यज्ञशेष का ही भोजन करना चाहिए, यज्ञ एक नियत कर्म है। इसको नहीं छोड़ा जा सकता। यज्ञशेष आहार को ही शुद्ध आहार माना गया है—

“आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः

स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विमोक्षः”

(छां० उ० ६।५।४)

इत्यादि श्रुतियों में आहार शुद्धि को निःश्रेयस प्राप्ति का मूल माना गया है। अतः आहारादि की पवित्रता के लिए यज्ञ आदि नियत कर्मों का सम्पादन आवश्यक होता है। व्यावहारिक दृष्टि से भी अपने नियत कर्म का परित्याग करने—से समाज में अनेक प्रकार के विप्लव उठ खड़े होते हैं। अतः नियत कर्म का परित्याग किसी भी

अंश में क्षम्य नहीं माना जाता। जिसका जो कर्म नियत है, चाहे वह शास्त्रीय दृष्टि से हो अथवा व्यावहारिक दृष्टि से उसका अनुष्ठान तो नितान्त आवश्यक है।

भारतीय वर्ण व्यवस्था के अनुसार अन्याय के विरुद्ध शास्त्र उठाकर उससे प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का कर्म है। यहाँ महाभारत युद्ध में अपने उस नियत कर्म को करने में ही मोहवश अर्जुन शिथिल होने लगा और उसने सीधा यही विचार व्यक्त किया कि मैं सब कामों को छोड़कर संन्यासी बन जाऊँगा, भिक्षा मांगकर जीवन निर्वाह कर लूँगा परन्तु यह युद्ध मुझसे नहीं लड़ा जायगा। उसका इससे उत्तर हो जाता है कि अपने नियत कर्म को त्यागकर संन्यास ग्रहण करने की अभिलाषा मोह के कारण होने से यह तामस त्याग है, जो शास्त्रों में निन्दित माना गया है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि यहाँ नियत कर्म से तो भगवान् का आशय यज्ञ, दान, तप से है। युद्ध तो इनमें से किसी में नहीं आता। उसका उत्तर है, कि यज्ञ में देवपूजा होती है और श्रेष्ठ देवपूजा वही है जो अपने नियत कर्म से देवता की अर्चना की जाय। आगे भगवान् ने कहा है—

“स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः”

अर्थात् अपने नियत कर्म से अपने इष्ट देव की पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। क्षत्रिय का यह अपना नियत कार्य है कि वह अन्याय के विरुद्ध शास्त्र ग्रहण करे। वैसा करके वह देवार्चन कर सकता है—जो कि उसका यज्ञ है। भट्टनारायण विरचित संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक वेणीसंहार में भीम ने महाभारत युद्ध को एक प्रकार का यज्ञ ही बतलाया है—

“चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः  
संग्रामाध्वरदीक्षितो नरपतिः पत्नी गृहीतव्रता ।  
कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलं  
राजन्योपनिमंत्रणाय रसति स्फीतं यशो दुन्दुभिः ॥”

अर्थात् भीमसेन कहता है कि—हम चारों भाई भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव तो इस यज्ञ के ऋत्विज हैं, यज्ञ के कर्मों के उपदेष्टा स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, संग्राम रूप यज्ञ में स्वयं महाराज युधिष्ठिर ने दीक्षा ले रखी है, पत्नी द्रौपदी ने यज्ञ में व्रत ले रक्खा है। उसने अपने केश खोल रखे हैं, यही उसका व्रत है। इस यज्ञ में जिन पशुओं की बलि दी जायगी वे कौरव हैं, क्लेश की शान्ति ही इस यज्ञ का फल है। यज्ञ में राजाओं और स्वजनों को निमन्त्रण दिया जाता है, उसके लिए यह नगाड़ा और

दुन्दुभि बज रही है। यह काव्यात्मक शैली में युद्ध को ही यज्ञ के रूप में प्रस्तुत कर दिया है। तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय का अन्याय और अधर्म के विरुद्ध युद्ध करना यह नियत कार्य है। उसमें मोह के कारण पश्चात् पद होना यह तामसी मनोवृत्ति है, अतः उसका परित्याग करके अपने नियत कर्म को करते हुए उसके फल को भगवदर्पण कर देना यही सात्विक त्याग है, जैसा कि आगे भगवान् ने स्वयं सात्विक त्याग का लक्षण किया है। मोह तमोगुण का ही कार्य है, अतः मोह से नियत कर्म के परित्याग को तामस कहना सर्वथा युक्तियुक्त है।

एक व्याख्या में इससे सांख्य मत का निराकरण माना है। सांख्य मत में नियत कर्मों में भी अनेक प्रकार के दोष दिखाकर उनका त्याग ही बतलाया जाता है, उसका उत्तर यही है कि इस प्रकार दोषदर्शन करना मोहमूलक है। नित्य कर्मों में जो दोष दिखाये जाते हैं वे श्रुति और शास्त्र विहित होने के कारण दोष नहीं हैं। अतः दोष के भय से नित्य कर्मों का परित्याग कथमपि अभीष्ट नहीं।

दूसरी एक व्याख्या में इस पद्य के प्रारंभ में काम्य कर्मों का परित्याग करना संन्यास होता है ऐसा जो कवियों का मत दिखाया था, उसका उत्तर माना है। इसका आशय है कि जब वे काम्य कर्म भी शास्त्र विहित हैं तो शास्त्र पर श्रद्धा रखने वाले पुरुषों के लिए वे कर्म भी कैसे त्याज्य हो सकते हैं। उनका त्याग करना मोह मूलक होने के कारण तामस है। इतना तो इनको भी मानना होगा कि उन काम्य कर्मों का अनुष्ठान फलासक्ति छोड़कर ही करना चाहिए जैसा कि भगवान् ने स्वयं ही कह दिया है।

यम अहिंसा आदि नियत कर्मों की प्रशंसा सर्वत्र मिलती है—

“जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते

अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते”

“जाप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः

कुर्यादन्यत्र वा कुर्याद् ब्राह्मणो नात्रसंशयः”

इत्यादि महाभारत तथा मनुस्मृति के सन्दर्भों में इन नियत कर्मों की श्रेष्ठता बतलाई गई है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने इस पद्य की अपनी व्याख्या में यह पूर्व पक्ष उठाकर कि यज्ञों में हिंसा का विधान है, अतः वे हेय हैं, उसका मीमांसा की शैली से विस्तृत समाधान किया है।

लोकमान्यतिलक ने यहां नियत कर्म को नित्य नैमित्तिक, काम्य जो मीमांसकों के कर्म विभाग है, वहां का नित्य कर्म स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने अपने कर्तव्य को ही नियत कर्म माना है, और उसके त्याग को ही तामस कहा है।

आगे राजस त्याग का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“कर्म के अनुष्ठान में दुःख समझ कर शारीरिक क्लेश के भय से यदि कर्म का परित्याग कर दिया जाय, वह राजस त्याग है, वैसा करके त्याग का फल प्राप्त नहीं होता” (८)

मोह से कर्म त्याग तामस कहा गया। जिस व्यक्ति को मोह अर्थात् विपरीत ज्ञान नहीं है, वह यह जानता है कि इन कर्मों का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्धि होगी और मोक्ष की प्राप्ति होगी, परन्तु यह सब जानते हुए भी वह इन कर्मों के अनुष्ठान में बहुत बड़े शारीरिक क्लेश का अनुभव करता है। पहिले बहुत सा द्रव्य इकट्ठा करो, फिर यज्ञ की सारी सामग्री जुटाओ, पूजा के लिए अनेक प्रकार के उपकरण जो शास्त्रों में विहित हैं वे सब लाओ, फिर अनेक प्रकार के व्रत उपवासादि करो, ये सब शरीर के लिए कष्ट ही कष्ट उपस्थित करने वाली बातें हैं। शरीर को इतना कष्ट देने के लिए, यह सब सोच कर, कुछ व्यक्ति प्रस्तुत नहीं होते और इसीलिए आवश्यक कार्यों का परित्याग कर देते हैं। आजकल हम देखते हैं कि बहुत से लोगों में शास्त्रों के प्रति श्रद्धा है, विचार विमर्श के अवसर पर वे शास्त्रों की सभी बातों को युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध भी करने को प्रस्तुत रहते हैं, व्याख्यानों से जनता को भी शास्त्रीय कर्मों का अनुष्ठान करने के लिए प्रेरित करते हैं, उनके प्रचार के लिए पुस्तकें भी लिखते हैं, परन्तु जब उनके सामने स्वयं शास्त्रीय विधियों के परिपालन का प्रश्न आता है तो इन कर्मों को करने में बड़ा कष्ट होता है ऐसा सोच कर स्वयं उन विधियों के पालन से हिचकते हैं। आजकल बहुधा यह भी कहते हुए लोग देखे जाते हैं कि पुराने जमाने में जब मनुष्यों को आराम से घर बैठे, बिना कुछ किए भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुएं मिल जाती थीं, तब उन्हें इन सब धर्म कार्यों को करने के लिए पर्याप्त अवसर मिलता था। उस समय ये सब कार्य संभव थे, आज तो अपने निर्वाह के लिए उपार्जन करने में ही हमारा सारा समय चला जाता है, समय ही कहाँ है कि हम सन्ध्या, पूजा, यज्ञ आदि शास्त्रीय कार्यों को करें, इस प्रकार का तर्क देकर वे यह तो मान लेते हैं कि ये सब कार्य मानव के लिए उन्नति के साधन हैं, परन्तु उनके अनुष्ठान में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं, इसलिए वे लोग मोह से इन कामों को न छोड़ने के कारण तामस त्यागी नहीं परन्तु कायक्लेश से वे इन्हें छोड़ देते हैं, अतः उनका यह त्याग

राजस त्याग है। ऐसा करने से उन्हें त्याग का फल जो चित्त शुद्धि और मोक्ष है वह प्राप्त नहीं होता अपितु अपने आवश्यक कार्यों को छोड़ देने से वे प्रत्यवाय के भागी बनते जाते हैं और आध्यात्मिक, आधिदैविक, अधिभौतिक, पीड़ाओं से वे ग्रस्त होते चले जाते हैं। अतः इस प्रकार के कर्म त्याग को भी निन्दनीय ही माना गया है।

यहां राजस त्याग करने वाला व्यक्ति त्याग के फल को प्राप्त नहीं करता इस कथन पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि फल का तो परित्याग करने के लिए पहिले ही कह दिया फिर यदि त्याग का उसे फल नहीं मिलेगा तो ऐसा तो उसे अभीष्ट ही है, इसमें अनर्थ की कौन सी बात है। अवश्य ही फल का त्याग करने को भगवान् ने कहा है और फलाभिसन्धि रहित कर्म की ही उन्होंने प्रशंसा की है तथा अग्रिम पद्य में सात्त्विक त्याग के रूप में फलाभिसन्धि छोड़कर कर्म करने का कर्म में अधिकृत व्यक्ति को उपदेश भी दिया है। परन्तु इस प्रकार के फलाभिसन्धि रहित कर्म करने का जो फल चित्त शुद्धि और मोक्षावस्था की कामना है उस फल की तो इच्छा भी रहती है और इस प्रकार की युक्ति से कर्म करने वाले पुरुष को चित्त शुद्धि आदि फल भी मिलता देखा जाता है। अतः स्वर्गादि जो फल प्रत्येक कर्म के अलग-अलग बतलाए गए हैं उन्हीं का त्याग करना अभीष्ट होता है। चित्त शुद्धि आदि फल की अभिलाषा रखना तो आवश्यक भी है और वह फल प्राप्त भी होता है, वही फल राजस त्याग करने वाले को नहीं मिलता यह भगवान् का आशय यहाँ स्पष्ट है।

अग्रिम पद्य का अर्थ है कि—

“जो कर्म अपने लिए नियत है और जिसे कर्तव्य समझकर तथा संग और फल को छोड़कर किया जाता है वह त्याग सात्त्विक त्याग माना गया है” (९)

स्पष्ट है कि इस पक्ष में कर्म को नहीं छोड़ा जाता अपितु फल की आशा का परित्याग किया जाता है। श्रीशंकराचार्य यहाँ नियत कर्म का आशय नित्य कर्म से लगाते हैं जो कि मीमांसा में कहे गए तीन प्रकार के कर्मों में से एक है। नित्य कर्म का कोई फल नहीं सुना जाता, फिर उसके फल त्याग का क्या अभिप्राय है इस सम्भावित प्रश्न का उत्तर पहिले ही दिया जा चुका है कि लोक प्रवृत्ति को उद्बुद्ध करने के लिए नित्य कर्मों के फल भी शास्त्रों में बतलाए गए हैं। उन्हीं फलों के परित्याग से यहाँ अभिप्राय है। श्रीशंकराचार्य ने यह भी स्पष्ट किया है कि इस प्रकरण में भगवान् ने संन्यास और त्याग दोनों शब्दों का ग्रहण किया है। अतः दोनों का अभिप्राय एक ही है।

श्रीरामानुजाचार्य भगवान् की आराधना के रूप में नित्य, नैमित्तिक कर्म तथा

वर्णाश्रमादि विहित कर्मों का अनुष्ठान फल कामना का परित्याग करते हुए सात्त्विक होता है ऐसा कहते हैं क्योंकि वह शास्त्रों के अर्थ को यथावत् जानकर तदनुसार ही किया जाता है।

श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं कि पुष्टि और पुरुषोत्तम के ग्रहण आदि को छोड़कर भगवान् की आज्ञा के परिपालन के रूप में कर्म करना सात्त्विक त्याग है। श्रीपुरुषोत्तम जी नियत कर्म का अर्थ करते हैं कि जो कार्य भगवद् भक्ति के अंग हैं वे नियत कार्य हैं।

श्रीनीलकण्ठ ने यहाँ उपनिषद् के मंत्र उद्धृत करके प्रकृत प्रकरण को पुष्ट किया है—

“ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यांजगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥”

(ईशोपनिषद् १)

“कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥”

(ईशोपनिषद् २)

इन श्रुतियों में कर्म की निरन्तर करते रहने की प्रेरणा है। कुछ व्याख्याओं में भगवान् के इसी वचन से नियत कर्म भी फलवान् होते हैं ऐसा कहा गया है।

---



## उन्चासवां-पुष्प

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।

त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

“अकुशल अर्थात् क्लेशकारक कर्मों से त्यागी पुरुष जो मेधावी है, सत्त्वगुण में जो समाविष्ट है, जिसके संशय मिट चुके हैं वह द्वेष नहीं करता और कुशल अर्थात् शरीर को आनन्द देने वाले कार्यों में लिप्त नहीं होता।” (१०)

उक्त पद्य में त्यागी पुरुष की भगवान् ने परिभाषा दी है। जो व्यक्ति अपने आवश्यक कर्मों को छोड़ बैठते हैं उसका कारण यही है कि वे उन कर्मों को अकुशल समझते हैं। अकुशल का यहाँ अर्थ है कि जिनके अनुष्ठान से शरीर को क्लेश का अनुभव होता हो। अनेक कर्मों के प्रति मनुष्यों की यह बुद्धि हो जाती है कि अमुक कर्म को करने से क्या लाभ होगा और बिना लाभ के वह कर्म क्यों किया जाय। परन्तु त्यागी पुरुष नियत कर्मों के विषय में इन विचारों को स्थान नहीं देता, साथ ही जो कार्य कुशल अर्थात् आनन्ददायक हैं उनमें भी वह कभी लिप्त नहीं होता। उदाहरण के लिए भगवान् की पूजा में उनको पदार्थों का भोग लगाकर उसका प्रसाद स्वयं ग्रहण करना यह शास्त्र का विधान है। बहुत से व्यक्ति ऐसे अवसरों पर अनेक प्रकार के पदार्थों को बनाते हैं। प्रचुर मात्रा में घृत, शर्करा आदि का प्रयोग करके नाना प्रकार के पक्वान्न तैयार करते हैं और आवश्यकता से अधिक पदार्थों का उपभोग करते हैं। यही उनमें लिप्त हो जाना कहा गया है। त्यागी पुरुष इस प्रकार कभी आनन्द दायक कर्मों में लिप्त नहीं होता। उसकी इस निर्लेपता का कारण है उसका सत्त्वसमाविष्ट होना। अर्थात् आत्मा के विवेक ज्ञान से वह तृप्त रहता है इसीलिए उसे मेधावी कहा गया है। जिस बुद्धि के द्वारा आत्मा का ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे मेधा कहा जाता है। मेधावी होने के कारण ही उसके समस्त सन्देह भी निरस्त हो जाते हैं। इस प्रकार का त्यागी पुरुष ज्ञाननिष्ठ होता हुआ मोक्षमार्ग में अग्रसर हो जाता है यह श्रीशंकराचार्य का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि कर्मों में अपनी कर्तृत्व बुद्धि हटा लेना और फल की आशाओं का परित्याग शास्त्रीय त्याग कहलाता है। कर्मों को ही छोड़ बैठना कर्माधिकारी के लिए त्याग नहीं पाप है।

पैशाच भाष्य में अकुशल कर्म का उदाहरण अत्यन्त शीतकाल में प्रातःकाल स्नान को दिया है। बहुत से व्यक्ति शीतकाल में शारीरिक कष्ट के भय से स्नान करना ही छोड़ देते हैं। इसी प्रकार शीतकाल में अग्नि सेवन को कुशल कर्म का उदाहरण दिया है।

श्रीनीलकण्ठ ने इससे उस पुरुष की रागद्वेष शून्यता मानी है। उन्होंने यह भी प्रश्न उठाया है कि जो मेधावी है और जिसने संसार की अवास्तविकता को समझ लिया है वह उन कर्मों में लगेगा ही क्यों। जो व्यक्ति अपने दाह को मिटाना चाहता है वह यदि जानता हो कि पास में ही भगवती जाह्नवी की निर्मल धारा वह रही है तो वह एक क्षण के लिए भी गन्दे तालाब में क्यों रूकेगा। उसके लिये तो उपनिषद् कहता है—

“यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्”

(जाबालोपनिषद् ४)

“एतमेव प्रव्रजनो लोकमन्विच्छन्तः प्रव्रजन्ति”

(वृ० उ० ४।४।१२)

अर्थात् जिस दिन संसार से विरक्ति हो जाय उसी दिन कर्मों का परित्याग कर देना चाहिये। तब मेधावी पुरुष कर्मों का आचरण ही क्यों करता है। इसका उत्तर है यह सत्त्व समाविष्ट है। रज और तम तो इसके हट गये हैं परन्तु सत्त्वगुण इसमें अपना डेरा जमाये हुये है। फिर प्रश्न उठता है कि जो प्रधान संन्यास है उसमें संस्थित व्यक्ति भी तो सत्त्वगुण का आश्रय लेता है। इसका उत्तर है कि दोनों में यह महान् अन्तर है कि प्रधान संन्यास में गुणातीत अवस्था में पहुँचा हुआ मनुष्य अपनी इच्छा से सत्त्वगुण का परिग्रह करता है क्योंकि बिना गुण परिग्रह के संसार यात्रा ही नहीं चल सकती। परन्तु दूसरे प्रकार का व्यक्ति जिसका वर्णन प्रकृति में किया जा रहा है स्वेच्छा से सत्त्व का ग्रहण नहीं करता अपितु सत्त्वगुण जबरदस्ती उस पर हावी है। उसका पुरुषार्थ तो इतना ही है कि फलाभिसन्धि परित्यागपूर्वक कर्म करते करते उसने रज और तम को दबा दिया है। अग्रिम पद्य का अर्थ है—

“देहधारी पुरुष कभी भी कर्मों का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। जो कर्मों के फल का परित्याग कर देता है वही त्यागी कहलाता है।” (११)

मनुष्य तभी तक जीवित माना जाता है, जब तक उसमें कर्म करने की शक्ति रहती है, जब उसमें से कर्म करने का सामर्थ्य चला जाता है तब मनुष्य मृत समझ

लिया जात है। यही जीवित मनुष्य की पहिचान कही जा सकती है। शरीर में क्रियात्मकता का रहना ही मनुष्य के जीवित रहने का प्रमाण है। यह बात केवल आदर्श पुरुष के लिये ही कही जाती हो ऐसा नहीं, आदर्श तो कर्मों के बिना कथमपि स्थापित हो ही नहीं सकता, परन्तु वास्तविक स्थिति भी यही है कि मनुष्य अपनी जीवित अवस्था में क्षणभर के लिये भी बिना कर्म के रह ही नहीं सकता इसी बात को भगवान् ने—

“नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्”

इत्यादि पद्यों में स्पष्ट कहा है। अन्ततः श्वास तो मनुष्य को जीवित रहने के लिए लेना परमावश्यक है। मनुष्य मर गया या वह अभी जीवित है इसका परीक्षण डाक्टर या वैद्य यही देख कर करते हैं कि उसका श्वास अभी चल रहा है या नहीं। यद्यपि श्वास लेना इच्छा पूर्वक नहीं होता इसलिए उसे इच्छा पूर्वक कर्म नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी कर्म सामान्य की परिभाषा में तो वह भी आ ही जाता है। इसलिए देहधारी सब कर्म नहीं छोड़ सकते। इस परिभाषा में भगवान् ने वह भी ले लिया। यदि श्वास वह ले रहा है तो वह जीवित समझ लिया जाता है और श्वास लेने की क्रिया के रुक जाने पर वह मृत समझ लिया जाता है। यह श्वास लेना भी कर्म ही है। अतः स्पष्ट हुआ कि मनुष्य चाहे अन्य समस्त कर्मों का परित्याग कर दें परन्तु जीवित रहने के लिए उसे श्वास तो लेना ही पड़ेगा, यह कर्म तो उसका चलता ही रहेगा, इसीलिए भगवान् ने यहाँ यह स्पष्ट शब्दों में दिखा दिया कि मानव या प्राणधारी का स्वरूप कर्ममय है, कर्म से जीवित अवस्था में उसका पीछा छूट ही नहीं सकता। आप विशेष विशेष कर्मों को छोड़ सकते हैं, परन्तु कर्म का ताना बाना ऐसा बुना हुआ है कि सर्वथा सब कर्मों को आप छोड़ बैठें यह कभी भी संभव नहीं है। जब कर्म करने से छुट्टी कभी मिल ही नहीं सकती तो पूर्ण उत्साह से कर्म में प्रवृत्त होकर कर्मक्षेत्र में अपना आदर्श स्थापित करना चाहिए। भारत वर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से कर्म की यह ओजस्विनी शिक्षा दी जाती रही है। प्राचीन भारतीय साहित्य को देखने से यह पता चलता है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कर्मों का कितना विशाल रूप हमारे पूर्वज ऋषि महर्षियों ने तैयार किया था। हमारा धर्मशास्त्र एक परिपूर्ण कर्मशास्त्र ही है। नित्य, नैमित्तिक, काम्य आदि कर्मों के वर्गीकरण में मानव की उन्नति तथा मोक्ष साधक कर्मों में से किसी भी कर्म को छोड़ा नहीं गया है। इसी कर्म शास्त्र पर चलते हुए हमारे पूर्वजों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने चरण आगे बढ़ाए थे और उन्होंने ऐसे ऐसे आदर्श उस्थित किए थे जो आज अपने क्षेत्र में पूर्ण विराम चिन्ह बन गए हैं। जब तक भारत ने उन आदर्शों का अनुसरण किया तब तक भारत वर्ष लौकिक

और पारलौकिक समुन्नति के परम शिखर पर स्थित रहा, और जब से भारत ने भगवान् के बतलाए हुए कर्मशास्त्र की अवहेलना प्रारम्भ की, नित्य अथवा नियत कर्मों का मोह वश तथा शारीरिक क्लेशों के भय से परित्याग किया और अपने कर्मों में फलाशा और अहंकार को स्थान दिया तभी से भारत दुरवस्था के गर्त में गिरता चला गया। फिर तो कितने आक्रान्ताओं ने भारत को दबोचा और सहस्रों वर्षों की दासता ने हमें दरिद्र बना दिया। इस युग में निष्काम कर्म की भगवान् के द्वारा समुपदिष्ट चेतना की एक झलक फिर देखने को मिली। लोकमान्य तिलक के समान भारतीय संस्कृति के प्रौढ़ मनीषियों ने एक ओर जहाँ भगवान् के उपदेश को लोक भाषा में बड़ी योग्यता से जनता के सामने रक्खा वहाँ दूसरी ओर स्वराज्य के जन्मसिद्ध होने के अपने अधिकार की भी प्रबल घोषणा की और उसी गीता के कर्म परिपालन की युक्ति के आंशिक अनुष्ठान के बल से आज हम स्वतन्त्र हैं। परन्तु आज हमें अपनी आगे की समुन्नति के लिए कदम कदम पर भगवान् के कर्मोपदेश को ध्यान में रखने की आवश्यकता है जिसका आज हम भारतीय जनता में व्यापक अभाव देख रहे हैं। जहाँ भगवान् ने संग और फलाशा को छोड़कर कार्य करने का उपदेश दिया, वहाँ आज हमारा सम्भवतः कोई काम आसक्ति और फलाशा के बिना होता ही नहीं जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण समाज में अनेक प्रकार की विशृङ्खलताएं फैलती जा रही हैं, जिससे शासक वर्ग और नेतृ वर्ग में भी चिन्तायें देखने को मिलती रहती हैं। आसक्ति और फलाशापूर्वक कर्म करने से ही स्वार्थ और भ्रष्टाचार समाज में स्थान बनाता है जो कि बढ़ते चले जाने पर समस्त समाज को ग्रस लेता है। भगवान् कृष्ण के समय में यह दूषित वातावरण और भी अधिक उग्र रूप में उपस्थित हो गया था, जिसके परिणाम स्वरूप महाभारत जैसा बड़ा संग्राम हुआ, जिसमें लाखों वीर काम आए। उन विषमताओं के मिटाने का एकमात्र उपाय उक्त युक्ति से कर्मानुष्ठान ही है। इसका अनुष्ठान करने वाले को भगवान् ने त्यागी की पवित्र संज्ञा दी है। वही अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग है।

---

## पचासवां-पुष्प

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

“त्याग न करने वाले अत्यागी पुरुषों को मरने के अनन्तर अपने कर्मों के अनिष्ट, इष्ट और मिश्रित फल भोगने पड़ते हैं, संन्यासी पुरुषों को वह नहीं भोगने पड़ते।” (१२)

भगवान् ने पूर्व पद्यों में त्याग का जो स्वरूप बतलाया है उसका प्रभाव केवल वर्तमान जीवन में ही नहीं अपितु मृत्यु के अनन्तर भी उसका प्रभाव पड़ता है। जो पुरुष फलाभिलाषा का त्याग करके कर्मानुष्ठान नहीं करते और प्रत्येक कर्म में जिनका अहंता और ममता रूपी संग भी बना रहता है वे अत्यागी हैं। यद्यपि राजस और तामस त्याग के अन्तर्गत वे भी आ जाते हैं, अतः राजस त्यागी या तामस त्यागी उनको कहा जा सकता है परन्तु वह वस्तुतः प्रशंसनीय त्याग न होने के कारण और निन्दनीय हेने के कारण त्याग कहलाने का अधिकारी ही नहीं है। इसीलिए विगत पद्य में भगवान् ने सात्विक त्यागी को ही—“स त्यागीत्यभिधीयते” कहकर त्यागी कहा है। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है बिना कर्म किए तो कोई कभी रह ही नहीं सकता, अतः जो सात्विक त्याग का अनुष्ठान नहीं करते वे भी कर्म तो करते हैं, अतः अनुष्ठित कर्म का फल भी उनको मिलता है, क्योंकि वे फलाशा से ही कर्म करते हैं। कर्मों का वह फल इस जीवन में भी मिलता है जैसा कि कहा गया है—

त्रिभिर्वषैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।

अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते ॥

अर्थात् अत्यन्त उत्कट पुण्य और पाप का फल तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष अथवा तीन दिनों में यहाँ भोगना होता है। मृत्यु के अनन्तर उसका फल यहाँ भगवान् ने तीन प्रकार का बतलाया। या तो फल ऐसा मिलता है जो अभीष्ट नहीं होता अर्थात् मरने के बाद दुर्गति भोगनी पड़ती है, जिसका वर्णन आसुरी सम्पत्ति के प्रसङ्ग में भी भगवान् ने किया है तथा पुराण आदि शास्त्रों में भी नरक आदि की गति के रूप में उनका चित्रण किया गया है। दूसरा फल इष्ट प्राप्ति के रूप में भगवान् ने बतलाया है जो स्वर्गादि शुभगतियों के रूप में चित्रित हुआ है। तीसरा फल दोनों के मिश्रण के रूप में प्राप्त होता है, अर्थात् कुछ काल के लिए इष्ट फल मिलता है उसके अनन्तर अनिष्ट फल मिलता है, अथवा इष्ट के साथ ही साथ अनिष्ट फल भी जुड़ा रहता है।

व्याख्याकारों ने लिखा है कि यह बात उन्हीं के लिए है जो कर्मों में अधिकृत होते हुए फलासक्ति बिना छोड़े कर्मानुष्ठान करते हैं। आगे जो भगवान् ने संन्यासियों को यह फल नहीं होता ऐसा कहा है, उसका तात्पर्य यही है कि जो फलासक्ति छोड़कर कर्म करते हैं वे भी संन्यासी हैं, वे गौण संन्यासी हैं, क्योंकि उन्हें अभी मोक्ष के उपयुक्त पूर्णज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, अतः उन्हें मृत्यु के उपरान्त पुनः जन्म अवश्य लेना पड़ेगा। परन्तु जो मुख्य संन्यासी हैं, जिनको आत्मज्ञान हो चुका है उन्हें कभी कर्मों के फल भोगने के लिए पुनर्जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता। वे तो—

“न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते”

“भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे”

इत्यादि श्रुतियों के अनुसार यहीं मुक्त हो जाते हैं। यहाँ कुछ विचारकों ने यह व्यक्त किया है—

“अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः स संन्यासी”

इत्यादि पद्यों में कर्माधिकारी और अनासक्त पुरुष को संन्यासी कहा है, अतः यहाँ प्रकृत पद्य में भी संन्यासी का वही अर्थ लिया जाना उपयुक्त है कि जो सात्त्विक त्याग का आचरण करके संग और फलासक्ति छोड़कर शास्त्रविहित कर्मों का आचरण करते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वती ने उसका उत्तर देते हुए लिखा है कि सात्त्विक त्यागी के लिये संन्यासी शब्द गौण ही है, जो पूर्ण ज्ञानपूर्वक कर्म परित्याग कर देते हैं उन्हीं के लिये संन्यास का मुख्य प्रयोग होता है। जब मुख्यार्थ का बाध नहीं है तो अमुख्य गौण अर्थ में संन्यास को क्यों माना जाय। फिर यह भी बात है कि जो अमुख्य संन्यासी हैं उनको इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित फल नहीं भोगने होंगे यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि फलोपभोग का अभाव तो मोक्ष अवस्था में ही होता है और कर्मों में अधिकृत होने के कारण पूर्ण ज्ञान के अभाव में वे मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते। अतः यहाँ जिन संन्यासियों को त्रिविध फलों के न भोगने की बात भगवान् ने इस पद्य में कही है वे पूर्ण ज्ञाननिष्ठ परावरदर्शी परमहंस परिव्राजकाचार्य ही हो सकते हैं, फलों का त्याग करके सात्त्विक त्याग करने वाले कर्माधिकृत जीव नहीं, यह श्रीमधुसूदनसरस्वती ने उक्त आशंका का उत्तर दे दिया है। जो लोग वैसा भी त्याग न करके राजस और तामस ही त्याग करते हैं वे तो इन फलों को अधिकाधिक भोगते ही रहते हैं, अतः उनके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है, वे सर्वदा ही कर्मों और उनके त्रिविध फलों से आबद्ध ही हैं।

एक यह भी शंका उद्बुद्ध होती है कि जो सात्त्विक त्याग करने वाले कर्माधिकृत संन्यासी कहे गये हैं और जिनके लिये यह फल कहे गये हैं, वे जब फलाशा छोड़कर कर्म करते हैं तो उनको फल प्राप्ति होगी ही क्यों ? यदि उनको भी फलों की प्राप्ति आवश्यक है तब फिर फलाशा का परित्याग करके कर्म करने वाले और फलाभिसन्धिपूर्वक कर्म करने वाले में भेद ही क्या रहा और यदि उन्हें फल मिलना किसी तरह स्वीकार भी कर लिया जाय तो अनिष्ट और मिश्रफल उन्हें क्यों मिलेंगे। उन्होंने तो शास्त्रविहित कर्मों का फलाभिसन्धि छोड़कर अनुष्ठान किया है। शास्त्रीय कर्म तो इष्ट फल के ही जनक माने गए हैं, यदि शास्त्रीय कर्मों से अनिष्ट फल के मिलने की आशंका भी हो तो मनुष्य की उन कर्मों में प्रवृत्ति ही क्यों होगी। इसका उत्तर यही दिया जाता है कि जिस त्यागी पुरुष की भगवान् ने प्रशंसा की है, वह अभी कर्म क्षेत्र के बाहर नहीं है, उसके पूर्व संचित शुभाशुभ कर्मों के संस्कार उसके साथ हैं, वे तभी क्षीण होंगे जबकि उसे पूर्ण ज्ञान हो जायगा। अतः अपने पूर्व कर्मों के संस्कार उसे अनिष्ट, इष्ट तथा मिश्र फल दिलावेंगे। कर्म स्वभावतः तीनों गुणों से अनुविद्ध रहते हैं। उक्त युक्ति से कर्मानुष्ठान न करने पर सत्त्वगुण बढ़ेगा, इतना ही होगा, परन्तु शेष दोनों रजोगुण और तमोगुण सर्वथा हट जायेंगे ऐसा कर्माधिकृत अवस्था में नहीं माना जाता। पूर्णज्ञानावस्था में तो संन्यासी स्वेच्छा से सत्त्वगुण को स्वीकार करता है, वह कर्मों के बन्धन के परे त्रिगुणातीत अवस्था में है अतः वह इन गुणों के फलों के प्रभाव क्षेत्र के बाहर है, उस पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः सत्त्व के बढ़ने पर भी कर्माधिकृत व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठित कर्मों में दबी अवस्था में रज और तम भी सम्मिलित रहते हैं, अतः सत्त्वगुण के कारण जहाँ उसे इष्ट फल मिलेगा, वहाँ रज और तम के मिश्रित रहने के कारण अनिष्ट और मिश्रफल भी उसे प्राप्त होंगे। हाँ सात्त्विक पुरुष को इष्टफल अधिक मिलेगा अनिष्ट और मिश्रफल उसे कम मिलेंगे। इसके विपरीत जो राजस और तामस त्याग करके कर्मानुष्ठान करते हैं उन्हें अनिष्ट फल अधिक मिलेगा इष्ट अल्प मिलेगा।

एक यह भी व्याख्या है कि सात्त्विक त्याग करनेवाले को इष्टफल की प्राप्ति होती है, तामस त्याग करनेवाले को अनिष्ट फल मिलता है और राजस त्याग करने वाले को मिश्रफल मिलता है।

श्रीरामानुजाचार्य ने पद्य के 'प्रेत्य' पद का मरण अर्थ न करके 'कर्मानुष्ठान की समाप्ति के अनन्तर' ऐसा अर्थ किया है। इससे यही बात ध्वनित होती है कि सभी कर्मों के उक्त फल मृत्यु के अनन्तर ही भोगने होते हैं यह आवश्यक नहीं, अपितु

कर्मानुष्ठान के अनन्तर इस जन्म में भी शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना होता है, जैसा कि हमने पहिले लिखा है कि अत्यन्त उत्कट शुभाशुभ कर्मों का फल तीन वर्ष, तीन मास, यहाँ तक कि दिन के अन्दर भी भोगने को मिलता है।

लोकमान्य तिलक का मत है कि गीता में सभी कर्मों को छोड़ देने से सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ है। फलाशा को छोड़कर कर्म करते रहना ही मुख्य संन्यास है, अतः जो लोग फलाशा को नहीं छोड़ते उन्हें उक्त तीनों फल भोगने होते हैं। जो फलाशा का परित्याग कर देते हैं, वे संन्यासी हैं, उन्हें ये फल नहीं भोगने होते।

---



## इक्यावनवां-पुष्प

पञ्चेमानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वात्र स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

“हे महाबाहो ! समस्त कर्मों की सिद्धि के लिए कृतान्त सांख्य में कहे गए इन पांच कारणों को मुझसे समझो।” (१३)

यहाँ सांख्य और उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त कृतान्तपद सबसे पहिले ध्यान अपनी ओर खींचते हैं। सांख्य शब्द महर्षि कपिल के द्वारा प्रणीत सांख्यदर्शन के लिए सुप्रसिद्ध है। परन्तु श्रीशंकराचार्य ने इस शब्द का निर्वचन करते हुए वेदान्तपरक इसे लगा दिया है। जिस शास्त्र में ज्ञातव्य पदार्थों की संख्या या गणना कर दी गई हो वह शास्त्र सांख्यशास्त्र कहलाता है। वेदान्त में ज्ञातव्य पदार्थों का पूर्ण परिगणन कर देने से वेदान्त दर्शन को ही सांख्य भी कह दिया जाता है। “कृतान्त” यह विशेषण भी वेदान्तापरपर्याय सांख्य का ही है। कृतान्त में दो पद हैं—कृत और अन्त, कृत का अर्थ होता है—कर्म ! जो किया जाय वही कृत है। कर्म ही किया जाता है। अतः कर्म ही कृत हुआ। उस कृत अर्थात् कर्म का जहाँ अन्त हो जाय वही कृतान्त होता है। वेदान्त में कर्म की समाप्ति या उसके परित्याग का प्रतिपादन होता है, अतः वेदान्त ही कृतान्त हुआ। जहाँ पहुँच कर कृत अर्थात् कर्मों की इति श्री हो जाय, जिसके अनन्तर कर्म को कोई अवकाश ही न रह जाय वही शास्त्र कृतान्त इस विशेषण से विशिष्ट हो सकता है। जिसने वेदान्त के अनुसार श्रवण मनन निदिध्यासनपूर्वक परम-तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है, उसके लिए कुछ भी कर्म आवश्यक रूप से करने को नहीं रहता, अतः उसे हम वेदान्ती की भाँति कृतान्ती भी कह सकते हैं। वेदान्त शब्द में भी यही तात्पर्य अन्तर्निहित है। वेद का अर्थ होता है ज्ञान। वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त जहाँ हो जाय अर्थात् जिसके ज्ञान के अनन्तर कुछ भी ज्ञातव्य शेष न बचे

ब्रह्म दर्शन वेदान्त दर्शन समझा जाता है। गीता में सांख्य शब्द अनेक बार विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सांख्य दर्शन, वेदान्त दर्शन, ज्ञान, आदि अनेक अर्थ सांख्य शब्द के व्याख्याकारों ने किए हैं। यहाँ श्रीशंकराचार्य ने सांख्य का अर्थ वेदान्त करके कृतान्त विशेषण वेदान्त का ही है यह स्पष्ट किया है।

श्रीरामानुजाचार्य का आशय है कि सांख्य शब्द संख्या शब्द से बना है और संख्या शब्द में सम् और ख्या यह स्पष्ट विभाग है। सम् उपसर्ग है जिसका कि अर्थ है सम्यक् या अच्छे प्रकार से, ख्या का अर्थ है बुद्धि। जो बुद्धि सम्यक् है उसे संख्या कहते हैं, उसी से सम्बद्ध शास्त्र को सांख्य कहते हैं। सम्यक् बुद्धि वेदानुसारिणी बुद्धि ही होती है। वेद विपरीत बुद्धि सम्यक् नहीं होती। वेदबुद्धि ही शरीर इन्द्रिय प्राण और जीवात्मा रूप उपकरणों सहित परमात्मा को समस्त प्रपञ्च का कर्त्ता सिद्ध करती है। अतएव वही सम्यक् बुद्धि कही जा सकती है। सांख्य दर्शन तो वेदानुकूल न होने से वेद बुद्धि में गृहीत नहीं होता। उसमें तो ईश्वर को “एकमेवाद्वितीयम्” के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। अतः सांख्यदर्शन का सांख्य शब्द तो पारिभाषिक है, उक्त यौगिक अर्थ का परिग्रह करने पर सांख्य तो उसमें परिगृहीत होता नहीं। अतः सिद्धान्त प्रतिपादन के अवसर पर विपरीत मत वाले सांख्य का उल्लेख भगवान् क्यों करेंगे? अतः यहाँ भगवान् ने वेद और तदनुकूल शास्त्रों को सांख्य कहा है। प्रश्न उठ सकता है कि सांख्य दर्शन का एक वह भी तो विभाग है जिसमें ईश्वर को उसी रूप में स्वीकार किया जाता है जिस रूप में कि वेदों में उसका प्रतिपादन है। तब सांख्य दर्शन के उस अंश को ही वेदानुकूल होने से सांख्य शब्द का वाच्य क्यों न माना जाय, उसका उत्तर भी उन्होंने यही दिया है कि सेश्वर सांख्य भी अन्ततः उक्त प्रकार से वेद मूलक ही सिद्ध होता। अतः स्वयं वेद को ही सांख्य से क्यों न लिया जाय जिससे तन्मूलक समस्त शास्त्रों का स्वतः ग्रहण हो जाय। कृतान्त को विशेषण के रूप में ही उन्होंने भी लिया है और उसका यह तात्पर्य लिखा है कि जहाँ समस्त ज्ञातव्य तत्त्वों का यथावस्थित सन्निवेश है।

माध्व भाष्य में ‘सांख्य कृतान्त’ का अर्थ ज्ञान सिद्धान्त किया है।

पैशाचभाष्य में सांख्य का अर्थ उक्त प्रकार से वेदपरक करके कृतान्त का अर्थ निश्चय किया है, अर्थात् वह वेद जिसमें समस्त निश्चित ज्ञान का उपदेश हुआ है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि आत्मा को अकर्त्ता समझना यह जो उपदेश है, उसमें क्या वास्तव में तो आत्मा कर्त्ता है, उस पर हम अपनी इच्छा से उसे अकर्त्ता समझ लेते हैं ऐसा है, अथवा वास्तव में आत्मा अकर्त्ता ही है, हम व्यवहार दशा में

भ्रम से उसे कर्त्ता समझ लिया करते हैं। उसमें आत्मा वास्तव में अकर्त्ता है, हम उसे भ्रम वश कर्त्ता समझते हैं, यही सिद्धान्त है। तब यह बतलाना आवश्यक होगा कि कर्त्ता कौन है अथवा कर्मों का कारण कौन है ? उन्हीं कारणों को बतलाने का भगवान् ने इस पद्य में उपक्रम किया है।

आगे भगवान् पांचों कारणों को बतलाते हैं कि—

“अधिष्ठान अर्थात् शरीर, कर्त्ता अर्थात् चिदाभास, करण अर्थात् इन्द्रियाँ, चेष्टा अर्थात् शरीर में संचरण शील प्राणों के विविध व्यापार तथा पांचवां दैव ये सभी कर्मों के कारण हैं” (१४)

“शरीर वाणी और मन से मनुष्य जिस किसी भी कर्म का प्रारम्भ करता है, चाहे वे कर्म न्याय संगत हों अथवा उससे विपरीत अन्याय युक्त हों, उन सभी कर्मों में उक्त पांच ही कारण होते हैं” (१५)

“ऐसा होने पर जो व्यक्ति केवल आत्मा को ही कर्मों का कर्त्ता मान लेता है, वह दुर्मति असम्यक् दर्शी होने के कारण वास्तविक दर्शन नहीं करता” (१६)

शरीर को अधिष्ठान कहा गया है। जैसे वह मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि का अधिष्ठान या आधार है वैसे ही कर्मों का भी आधार है। अधिष्ठान से केवल बाह्य कर्मों का ही आधार नहीं अपितु कर्मजनित संस्कारों का भी आधार ग्रहण करने के लिए स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इन तीनों प्रकार के शरीरों का ग्रहण कर लिया जाता है। शरीर न हो तो कोई कर्म नहीं हो सकता। यदि भौतिक शरीर हो और उसमें अवस्थित चिदाभास या जीवात्मा न हो तो भी कोई कर्म नहीं हो सकता। कर्त्ता शब्द से यहाँ श्री शंकराचार्यादि भाष्यकारों ने चिदाभास का ही ग्रहण किया है।

“मन उत्क्रामन्मीलित इवाश्नन्पिबन्नास्ते”

“कर्त्ता शास्त्रार्थत्वात्”

“मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति”

इत्यादि श्रुति, सूत्र तथा गीता के विभिन्न सन्दर्भों में चिदाभास को ही कर्त्ता कहा गया है। शुद्ध चैतन्य तो अकर्त्ता ही है, उसमें कर्तृत्व का सभी स्थानों पर निषेध मिलता है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती अहंकार को कर्त्ता शब्द से लेते हैं। उन्होंने कहा है कि जीवात्मा तो सभी में अनुस्यूत है। करण शब्द से विभिन्न ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और

मन, बुद्धि का ग्रहण होता है। विविध चेष्टा से शरीर स्थित पांच प्रकार के प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान इन प्राण भेदों का ग्रहण होता है। यद्यपि ये चेष्टाओं के कारण हैं, चेष्टा शरीर की हलचल को ही मुख्य रूप से कहते हैं। परन्तु व्यवहार में चेष्टा के कारण को भी चेष्टा गौण रूप से कहा जा सकता है। कई विद्वान् इसका यह भी आशय लगाया करते हैं कि मनुष्य जो कुछ काम करता है उसमें दूसरे मनुष्यों की क्रियाएँ भी सहकारी कारण हुआ करती हैं। किसी मनुष्य के कार्यों की सफलता अथवा निष्फलता अन्य मनुष्यों की क्रियाओं पर भी अवलम्बित होती हैं। एक मनुष्य ने जो उद्योग किया दूसरे मनुष्यों का भी यदि वही उद्योग हुआ तो संघर्ष में जिसका संघर्ष प्रबल होगा वही सफल होगा। अतः एक मनुष्य का कार्य भी और मनुष्यों की चेष्टाओं का अनुमान करके हुआ करता है। इसलिए उसको भी कारण कहा गया।

पांचवां कारण दैव को बतलाया है, जिसको कुछ व्याख्याकारों ने भगवदिच्छा माना है, और कुछ व्याख्याकारों ने पूर्वजन्म के संचित संस्कारों को दैव कहा है। कार्यसिद्धि में दैव को सहायक मानना भारतीय दार्शनिकों में सर्वदा से ही रहा है। बहुधा दैव को कर्मों का कारण मानने के भारतीय सिद्धान्त पर आधुनिक लोग उपहास किया करते हैं, और यह दोष लगाते हैं कि इस दैव सिद्धान्त ने आलस्य की वृद्धि में बड़ी सहायता पहुँचाई। परन्तु यह उनका भ्रम है। यहाँ गीता में ही लीजिए, यह नहीं कहा गया कि केवल दैव से ही सभी कार्य होते हैं अपितु तर्क संगत पांच कारणों को उपस्थित करते हुए उसे सबसे अन्त में स्थान दिया गया। कर्मों के कारण शरीर और उसकी चेष्टाएँ भी हैं जिन्हें पहिले ही कहा गया, जिन्हें दैव के विपक्ष में आजकल पुरुषार्थ कहा जाता है। कुछ प्राचीन पद्यों में भी दैव का विरोध दिखाया जाता है। एक सुप्रसिद्ध पद्य है—

“उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-

दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या-

यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः”॥

अर्थात् जो उद्योगी पुरुष सिंह होते हैं उन्हीं के पास लक्ष्मी आती है, दैव या भाग्य से मिलेगा ऐसा कायर पुरुषों का कथन है, दैव को छोड़कर अपनी शक्ति से पुरुषार्थ करो, यदि यत्न करने पर भी कार्यसिद्धि नहीं होती तो इसमें तुम्हारा क्या दोष है, यह अन्वेषण करो कि तुम्हारे यत्न में क्या दोष रह गया। ऐसे कुछ प्राचीन सुभाषित

पद्यों में भी दैव की कारणता का तिरस्कार मिलता है। परन्तु इनका स्पष्ट तात्पर्य है कि जो लोग समस्त कर्मों की सिद्धि को सारे प्रयत्न छोड़कर केवल दैवाधीन मानकर बैठ जाते हैं उन्हीं की इनमें निन्दा की गई है। दैव को कार्यसिद्धि के लिए कारण मानने का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि अपने सारे प्रयत्नों को छोड़कर केवल दैव के आधार पर मनुष्य बैठ जाय। परन्तु दैव की कार्यसिद्धि में कारण के रूप में स्वीकृति व्यावहारिक रूप में यही महत्व रखती है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी यदि कार्यसिद्धि न हो तो मनुष्य को कोई दुःख नहीं करना चाहिए, उसे यह सोचकर पुनः कार्य में जुट जाना चाहिए कि इस बार मेरे प्रयत्नों के होते हुए भी दैव प्रतिकूल रहा, इसीलिए कार्य सिद्धि में बाधा उपस्थित हो गई, इस बार मैं पुनः अपने प्रयत्न से कार्य को पूरा करूँगा और दैव को भी अपने अनुकूल बना लूँगा। दैव की स्वीकृति में जो प्रत्यक्ष लाभ है वह है संतोष। हम भरपूर कार्य करने पर उसके फल की अभिलाषा के लिए व्याकुल नहीं होते, फल मिलने न मिलने को दैव पर छोड़ देते हैं, हाँ दैव के आश्रय पर बैठकर कर्तव्य विमुख हो जाना सर्वथा निन्दनीय है जैसा कि उक्त सुभाषित का आशय है। जो लोग आर्थिक समृद्धि के लिए व्याकुल रहते हैं और उचित तथा अनुचित सभी उपायों को अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए काम में लेना चाहते हैं, उन्हें दैव की प्रबलता को सामने रखकर अनुचित उपायों को काम लेने और स्वार्थ दृष्टि से हटाया जाता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध पद्य है—

“यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद् वा धनं  
तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम् ।  
तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः  
कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम्” ॥

अर्थात् विधाता ने आपके भाग्य में अधिक या कम जितना भी धन लिखा है, यदि आप शुष्क मरुप्रदेश में जाकर रहेंगे तो वह उससे कम होकर आपको नहीं मिलेगा और यदि आप सोने के पहाड़ सुमेरु नाम के पर्वत पर जाकर रहेंगे तो भी आपको उससे एक कपर्दिका भी अधिक नहीं मिलेगी। एक सुन्दर दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि किसी घड़े को कुएं या समुद्र में डुबोकर उसे जल भर कर निकाला जाय तो भी कुएं या समुद्र में अत्यधिक जलराशि रहने पर भी घड़े में उतना ही जल भरेगा जितना कि उसमें समा सकेगा। उससे एक बूंद भी अधिक जल उसमें नहीं भरेगा। इसी दृष्टान्त से प्रकृत में यह समझ लेना चाहिए कि धन की तृष्णा करते हुए अपने सम्मान को ताक में रखकर धनी पुरुषों के आगे कृपणता से हाथ फैलाना अच्छा नहीं। जितना

धन भाग्य में होगा उतना अवश्य मिलेगा, हमें अपना कार्य निरन्तर करते रहना चाहिए। दैव को कार्य सम्पादन में कारण मानना तर्क दृष्टि से भी तब आवश्यक हो जाता है जब सभी कारणों के उपस्थित रहते भी अतर्कित रूप से किसी विघ्न के उपस्थित हो जाने पर कार्य हानि हो जाती है। यदि दैव अदृष्ट या भाग्य कार्यसिद्धि में कारण न हो तो सभी मनुष्यों की सभी अभिलाषाएं पूर्ण हो जायें। मनुष्य अच्छी अभिलाषाएं रखता है और उनके अनुकूल चेष्टाएं भी करता है, परन्तु फिर भी जब उसका कार्य सिद्ध नहीं होता तो वहाँ कोई कारण अवश्य मानना होगा, वहीं कारण के रूप में दैव को मानना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार कर्म के सम्पादन में पांच कारण भगवान् कहते हैं कि—कर्मों की अभिव्यक्ति शरीर, वाणी और मन से ही होती है। न्याययुक्त या उससे विपरीत कहकर यह दिखलाया गया है कि केवल शुभ या शास्त्र विहित कर्मों के ही ये पांच कारण हैं, ऐसी बात नहीं अपितु कार्यमात्र के प्रति ये कारण हैं। दुर्योधन की उक्ति का एक श्लोक है—

“जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

केनापि देवेन हृदि स्थितेन

यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि” ॥

दुर्योधन कहता है कि मुझे धर्म का ज्ञान है, परन्तु मेरी प्रवृत्ति धर्म की ओर नहीं होती, मुझे अधर्म का भी ज्ञान है, परन्तु अधर्म से मेरी निवृत्ति नहीं होती, हृदयस्थित किसी देव के द्वारा मैं जिस प्रकार नियुक्त किया जाता हूँ, वैसा ही आचरण करता हूँ। स्पष्ट है कि अधर्म या अन्याय की ओर प्रवृत्त होने में दैव सहित पाँचों कारण होते हैं।

इस प्रकार सभी कर्मों के पांच कारण हैं, आगे भगवान् ने कर्म सामान्य के प्रति इन पांच कारणों के रहते हुए भी जो केवल आत्मा को ही कर्ता समझते हैं, उनको दुर्मति कहा है और उनकी समझ को भी भ्रम बतलाया है। इस कथन से भगवान् अर्जुन को यह भी चेतावनी देते हैं कि तुम केवल आत्मा को ही कर्ता मानकर युद्ध से निवृत्त होना चाहते हो, किन्तु अन्य योद्धाओं, की चेष्टाएं तुम्हें भी युद्ध के लिए खींच लेंगी अथवा दैव अर्थात् पूर्व जन्म का संस्कार भी उसमें कारण हो जायगा। यह बात आगे स्पष्ट रूप से भी कही जायगी।

## बावनवां-पुष्प

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

“जिसका भाव अहंकार पूर्ण नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन सभी लोकों का हनन करके भी न तो मरता ही है और न उसके फल से ही लिप्त होता है” (१७)

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि पूर्व पद्य में ‘जो कर्मों का कर्त्ता केवल आत्मा को समझता है वह दुर्मति है, वह देखता हुआ भी कुछ नहीं देखता’, ऐसा कहा गया है। तब प्रश्न होता है कि फिर सुमति कौन है और सम्यक् दर्शन क्या है ? उसी का उत्तर भगवान् ने इस पद्य में दिया है। शास्त्रों के अध्ययन, आचार्य के उपदेश आदि से जिसको यह ज्ञान हो जाय कि पांच अधिष्ठान आदि जो अविद्या के द्वारा आत्मा पर अध्यारोपित हैं, वही समस्त कार्यों के कर्त्ता हैं, मैं तो उनके इस कार्यकलाप का साक्षी मात्र हूँ, ऐसा जिसका भाव दृढ़ हो जाता है, किये हुए कर्मों का जिसकी बुद्धि पर कोई लेप नहीं होता, “मैंने यह निन्दित पापाचरण किया, इससे मुझे निश्चित ही अधोगति प्राप्ति होगी”, ऐसा लेप जिसकी बुद्धि पर नहीं आता, वह पुरुष समस्त संसार को मार देने पर भी मारने की क्रिया का कर्तृत्व अपने ऊपर न समझते हुए वस्तुतः मारता ही नहीं। अहंकार ही क्रिया का बोधक होता है, वह अहंकार ही जब बुद्धि में नहीं रहा तब वस्तुतः हो जाने पर भी वह क्रिया उसके लिए न होने के ही समान है। यदि उसकी बुद्धि पर उस क्रिया का लेप होता तब तो उसके फल के बन्धन में भी उसे अवश्य आना पड़ता, परन्तु अहंकार के न रहने से जब उसकी बुद्धि पर लेप ही नहीं रहा तो शरीर के द्वारा की गई समस्त प्राणियों के वध की क्रिया के फल से वह बद्ध भी नहीं होगा। इससे उक्त प्रश्न का भी उत्तर हो गया कि वही पुरुष सुमति वाला होता है और उसी का देखना-देखना कहलाता है। यहां यह प्रश्न होता है कि वह समस्त प्राणियों का हनन करके भी नहीं मारता यह विरुद्ध कथन है। जो मारता है वह नहीं मारता यह कैसे समझ लिया जाय। यह आलंकारिक शैली से उस पुरुष की स्तुति तो मानी जा सकती है, परन्तु इसको यथार्थ कैसे कहा जा कसता है। इस प्रश्न का उत्तर श्रीशंकराचार्य ने यह दिया है कि ये दोनों ही बातें दृष्टि भेद से उस पुरुष के विषय में यथार्थ हो जाती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से शरीर पर आत्मा का आरोप करके ‘मैं मारने वाला हूँ, ऐसा समझता हुआ भी वह पारमार्थिक दृष्टि से अपने को मारने वाला

नहीं समझता। इन दोनों दृष्टियों से देखने पर यथार्थ रूप से मारने पर भी न मारने की आपाततः परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाली बात सुसंगत हो जाती है।

आगे श्रीशंकराचार्य ने पुनः पूर्व पक्ष उठाया है कि 'अहं' शब्द से आत्मा ही गृहीत होता है। अहंकृत भाव के न होने का अर्थ आत्मा को कर्ता न समझना ही है। परन्तु विगत पद्य में कहा गया है कि किसी भी कार्य के पांच कारणों के रहते हुए जो केवल आत्मा को कर्ता समझे वही दुर्मति है, इससे यही प्रकट होता है कि केवल आत्मा कर्ता नहीं है अपितु अधिष्ठान आदि पांचों कारणों से युक्त आत्मा कर्ता होता है। जब इस प्रकार से पांचों कारणों से मिले हुए आत्मा पर कर्तृत्व आ ही गया तो कर्ता का भाव अहंकार शून्य या आत्मा को अकर्ता समझने का कैसे होगा ?। इसका उत्तर देते हुए आचार्य लिखते हैं कि विगत पद्य के 'केवल' शब्द को लेकर अधिष्ठान आदि सहित आत्मा को कर्ता मानने का भाव लेना ही असंगत है। आत्मा में विकार नहीं आता, वह स्वभावतः अविकारी है। जब वह अविकारी है तब वह अधिष्ठान आदि से मिल ही नहीं सकता। एक विकारी वस्तु ही दूसरी विकारी वस्तु से मिलती है। अतः आत्मा अधिष्ठान आदि कर्म के पांचों कारणों के साथ मिलकर कर्मों का कर्ता बनता है यह कहना ही त्रुटि पूर्ण है, असंग रहना या केवलत्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। विगत पद्य में "आत्मानं केवलं तु यः" में केवल शब्द आत्मा के स्वभाव का अनुवादक मात्र है। उसका यह तात्पर्य ही नहीं है कि केवल आत्मा कर्ता नहीं होता अपितु अधिष्ठान आदि से युक्त होता हुआ आत्मा कर्ता होता है। आत्मा तो कभी भी कर्ता होता ही नहीं, क्योंकि वह केवल है, असंग है, वह कार्य करने के लिए अधिष्ठान आदि से सम्बद्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि वह विकारी नहीं है। सम्बद्ध वे ही पदार्थ हुआ करते हैं जो विकार युक्त हों। आत्मा अविकारी है अतः वह अधिष्ठानादि से सम्बद्ध होकर कोई कार्य नहीं करता। आत्मा पर कर्तृत्व को किसी भी प्रकार से समझना अविद्यामूलक ही है। उसे ही भगवान् ने विगत पद्य में दुर्मति कहा है। सुमति सम्पन्न पुरुष कभी आत्मा को कर्ता समझता ही नहीं, अतः उसका भाव कभी अहंकृत होता ही नहीं। ऐसे ही पुरुष के लिए इतनी बड़ी बात भगवान् ने कही है कि वह समस्त प्राणियों को यदि मार भी डाले तो भी वह उसके लिए मारना ही नहीं है। अहंकार ही मारने आदि का ज्ञान कराने वाला है। जब बुद्धि में लेप नहीं रहा और अहंकार भी जाता रहा तो उस पर किसी भी सम्पाद्यमान कार्य का कर्तृत्व ही नहीं रहा, फिर वह उन कार्यों के शुभाशुभ फलों से भी क्यों लिप्त होगा। आत्मा अविकारी है इस बात को श्रुति, स्मृति तथा तर्क से स्पष्टतया सिद्ध किया गया है। गीता में ही



“अविकार्योऽयमुच्यते” ( २।१५ )

“गुणैरेव कर्माणि क्रियन्ते” ( ३।२७ )

“शरीरस्थोऽपि न करोति” ( १३।३१ )

इन पद्यों में अनेकों बार आत्मा को अविकारी कहा गया है।

“ध्यायतीव लेलायतीव” ( बृ. उ. ४।३।७ )

आदि श्रुतियों में भी इसी बात का स्पष्टीकरण मिलता है। तर्क से भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह निरवयव है, जिसमें अवयव भेद नहीं है, जो किसी के भी आधीन नहीं है, अपरतंत्र है, स्वतन्त्र है ऐसा आत्म तत्त्व विकारी नहीं हो सकता। जो विकारी हो उसमें उपर्युक्त बातें नहीं मिल सकतीं।

पुनः शंका होती है कि जब आत्मा शरीर में उपस्थित रहता है, तब शरीर आदि के कार्य आत्मा के भी अवश्य होंगे। ऐसी स्थिति में अधिष्ठान अथवा शरीर में संस्थित आत्मा सर्वथा शरीर के द्वारा किये हुए कार्यों से पृथक् कैसे रह सकता है। इस शंका का उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जो अविद्या के द्वारा किया जा रहा है वह आत्मा पर कैसे समझा जा सकता है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध करना अविद्या का ही कार्य है अतः अविद्या के द्वारा सम्पादित जो आत्मा का शरीर के साथ संयोग है उसमें शरीर के द्वारा किये हुए कार्यों को आत्मा के द्वारा किया हुआ नहीं समझा जा सकता। इस बात को वेदान्त दर्शन में प्रसिद्ध अनेक उदाहरणों को उपस्थित करते हुए आचार्य ने समझाया है कि सीपी में अविद्या, अज्ञान अथवा भ्रान्ति से हमने रजतत्त्व को समझ लिया, एतावता हमारे अज्ञान से समझे हुए सीपी में रजतत्त्व से सीपी रजत नहीं बन जाती। नासमझ बालक आकाश के तल को काला समझते हैं परन्तु इससे रूप रहित आकाश काला कैसे हो जायगा। इसी प्रकार अविद्या ने ही शरीर और आत्मा को सम्बद्ध किया है इसलिए उस शरीर और आत्मा के सम्बन्ध के वास्तविक न होने से शरीर के द्वारा सम्पादित कार्य आत्मा के द्वारा सम्पादित नहीं कहे जा सकते और शरीरादि का कर्तृत्व आत्मा पर नहीं जा सकता। इसलिए भगवान् ने ऐसे सुमति संपन्न पुरुष के लिए ‘वह न करता है और न लिप्त होता है’ यह सर्वथा युक्ति-युक्त कथन किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि देह पर आत्मा का अभिमान अविद्याकृत और मिथ्या है, अतः जितने भी कार्य हैं सभी अविद्याकृत हैं। अविद्याकृत कर्मों का कर्तृत्व आत्मा पर कथमपि नहीं जा सकता। इस बात को सम्यक् रूप से अपनी बुद्धि में जब विद्वान् पुरुष जमा लेते हैं तब वे अविद्याकृत समस्त कार्य प्रपंच का परित्याग

कर आत्मलीन हो जाते हैं। वे समस्त कर्मों को छोड़ देते हैं और संन्यास मार्ग का अवलम्ब ग्रहण करके परम पुरुषार्थ मोक्ष के पूर्ण अधिकारी बन जाते हैं, यह श्री शंकराचार्य ने अपनी इस पद्य की व्याख्या के उपसंहार में अपने सिद्धान्त का स्मरण करा दिया है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि संसार के समस्त कार्य परमपुरुष की प्रेरणा से होते हैं, ऐसा निश्चित रूप से समझ कर जो युद्धादि कर्मों का कर्तृत्व अपने में नहीं समझता, उनके कर्तृत्व का अहंकार जिसको नहीं होता, वह समस्त लोकों को मार कर भी दोष से अनुलिप्त नहीं होता। श्रीरामानुजाचार्य ने इस पद्य का संकेत युद्ध स्थित अर्जुन की युद्ध दोष के भय से समुत्पन्न मनः स्थिति की ओर माना है। अर्जुन ने युद्ध में अपने पूज्य जनों को मारने से अपने में जिन दोषों की गीता के प्रथम अध्याय में संभावना की थी, उन्हीं का निराकरण यह भगवान् ने किया है जिसका तात्पर्य स्पष्ट है कि तुम युद्ध करो, परन्तु 'मैं शत्रुओं को पराजित करने के लिए युद्ध कर रहा हूँ' ऐसा अहंकार मन में न लाओ, अपितु यह परम पुरुष की इच्छा है ऐसा समझो तब तुमने जो भीष्म, द्रोण आदि को मारने पर पाप लगेगा ऐसी शंका की थी, उसकी तो बात ही क्या, यदि तुम समस्त प्राणियों को भी मार दोगे तो भी तुम्हें जरा भी पाप नहीं लगेगा।

पैशाच भाष्य में कहा गया है कि जिस प्रकार इन्द्रजाल दिखाने वाला ऐन्द्रजालिक पुरुष अपना इन्द्रजाल दिखाते समय किसी को मार देता है तो प्रत्यक्ष रूप से मार देने पर भी वस्तुतः वह नहीं मारता, इसी प्रकार वह इन्द्रजाल रूप अविद्या के वश में अपने को समझने वाला पुरुष मारने पर भी वास्तव में मारने वाला नहीं है और जब वह अपने को अविद्या रूपी इन्द्रजाल में आबद्ध समझ कर कर्म कर रहा है तो उसकी बुद्धि उन कर्मों की फलाभिलाषा से प्रसन्नता या दुःख के रूप में लिप्त नहीं होगी।

श्रीपुरुषोत्तम जी ने 'इमाँल्लोकान्' का तात्पर्य लिखा है कि 'इदम्' का अर्थ सन्निकृष्ट है। उसी की ओर संकेत करते हुए भगवान् ने यह भी ध्वनित कर दिया कि ये आसुरी सम्पत्ति वाले लोग हैं। इनको मारने में किसी प्रकार का दोष लगेगा यह शंका ही निरर्थक है। साथ ही जो पुरुष अहंकार से युक्त नहीं है वह अपने हानि लाभ के लिए तो किसी को मारेगा ही क्यों। वह तो लोक के लाभ के लिए ही ईश्वरेच्छा से प्रवृत्त होगा। अतः उस कार्य से वह किसी दोष का भागी कथमपि नहीं बनेगा।

श्रीनीलकण्ठ ने 'यस्य नाहंकृतो भावः' इतने अंश से शरीर को ही आत्मा समझने

वाले चार्वाक आदि का निरास माना है और आगे के 'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इतने अंश से बुद्धि को ही कर्ता मानने वाले बौद्ध दर्शन का निरास माना है। इसका तात्पर्य यही है कि देह को आत्मा मानने वाले अतएव सर्वदा अहं भाव से युक्त चार्वाक आदि वास्तव में हनन क्रिया भी करते हैं और उसके दोष से भी लिप्त होते हैं तथा बुद्धि को कर्ता मानने वाले बौद्ध आदि के विषय में भी यही बात है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से यह दोनों ही दृष्टियां त्रुटि पूर्ण हैं। उत्तरार्ध को श्रीनीलकण्ठ केवल स्तुति के लिए ही मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि इस प्रकार के पुरुष के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह किसी को मारेगा। मारने आदि क्रियाओं के कारण तो राग द्वेष आदि ही होते हैं जो कि अहंकार के ही द्वारा उत्पन्न होते हैं। जब अहंभाव ही नहीं रहा तो राग द्वेष आदि भी नहीं होंगे, और राग द्वेष आदि के न होने पर मारने आदि की क्रिया भी संभव नहीं होगी। अतः उत्तरार्ध कथन केवल उक्त पुरुष की प्रशंसा के लिए ही किया गया है। जो आवश्यक कार्य उसे करने होंगे उसका भी फल नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि वह आत्मा को अकर्ता समझ गया है और कर्म उसके लिए यथार्थ हैं ही नहीं। जिस प्रकार रज्जु सर्प में रज्जु बुद्धि से रज्जु पर प्रहार करने वाला पुरुष सर्प के क्रोध, दंश, फुंकार आदि का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार कर्तृत्व शून्य बुद्धि से सांसारिक कार्य कलाप का परिचालक पुरुष कर्मों के गुण दोषों से आक्रान्त नहीं होता। यदि रज्जु को सर्प समझ कर उस पर कोई पुरुष प्रहार करेगा तो उसे उन सब बातों का भी काल्पनिक अनुभव अवश्य होगा जो सर्प पर प्रहार करने से होता है। इसी प्रकार शरीर को ही आत्मा समझ कर कार्य करने वाला पुरुष कर्मों के गुण दोषों से भी लिप्त अवश्य होगा।

---

## तिरपनवाँ-पुष्प

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।

करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

“ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता ये तीन प्रकार की कर्मचोदना है, करण, कर्म और कर्ता ये तीन प्रकार का कर्म संग्रह है” (१८)

इस पद्य में जो ‘कर्म-चोदना’ और ‘कर्म-संग्रह’ शब्द आए हैं, ये पारिभाषिक शब्द हैं। दो प्रकार की परिभाषाएं इनसे प्रकट होती हैं। एक तो जो भी कोई कार्य हम करते हैं, उनके मूल में ‘कर्म-चोदना’ और ‘कर्म-संग्रह’ होते हैं। दूसरे मीमांसा शास्त्र में जो यज्ञों की विधियां बतलाई जाती हैं, उनमें ‘चोदना’ या ‘कर्म चोदना’ का प्रयोग बतलाया जाता है। दोनों ही प्रकार की परिभाषाओं के अनुसार प्रस्तुत पद्य का आशय व्याख्याओं में प्रकाशित किया गया है।

बुद्धिमान और विचारशील पुरुष किसी भी कार्य को करने से पहिले उस कार्य के विषय में अपना मानसिक निश्चय अवश्य करता है। यही मानसिक निश्चय उसे आगे कर्म में प्रवृत्त होने को प्रेरित करता है। सबसे पहिले किसी कर्म को करने में लगे हुए पुरुष को यह ज्ञान अवश्य होता है कि—

“इदं मदिष्टसाधनं मत्कृतिसाध्यं च”

अर्थात् यह कार्य मेरे अभीष्ट अर्थ को सिद्ध करने वाला और मेरे प्रयत्न से साध्य है। बहुत से कार्य इस प्रकार के होते हैं कि इष्ट तो वे होते हैं, परन्तु वे हमारी शक्ति से परे होते हैं। कौन व्यक्ति ऊंचा से ऊंचा पद प्राप्त करना तथा सब प्रकार के सुखोपभोग में लीन रहना न चाहता होगा। परन्तु इस प्रकार के अभीष्ट की सिद्धि के लिए सभी लोग इसीलिए प्रवृत्त नहीं हो पाते कि अभीष्ट होते हुए भी वे कार्य उनके प्रयत्नों से साध्य नहीं होते। साथ ही जो कार्य प्रयत्न साध्य तो हैं, परन्तु अभीष्ट नहीं हैं, ऐसे कार्यों में भी मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। विषपान कर लेना सभी के लिए शक्य है, कोई भी पुरुष जहर पी सकता है, परन्तु विषपान कोई भी इसीलिए नहीं करता कि उसका पान कर लेना संभव होते हुए भी वह इष्ट का विघातक है। जीवन सबसे अधिक इष्ट है, वह उसी का विघातक है, अतः कृतिसाध्यता और इष्ट-साधनता दोनों प्रकार के ज्ञान होने पर किसी भी कर्म में लोक-प्रवृत्ति होना देखा जाता है। परन्तु इतने मात्र ज्ञान होने से हम किसी काम को पूरा करने में समर्थ नहीं हो सकते। किसी काम को करने से पहिले हमें उसके विषय में यह मालूम होना चाहिए

कि हम इस काम को करने में समर्थ हैं, यही सामर्थ्य का परिज्ञान या अनुशीलन यहां 'परिज्ञाता' शब्द से बतलाया गया है। वह ज्ञाता या परिज्ञाता जो कुछ कार्य करता है, उस कार्य का स्वरूप क्या है इसका भी निश्चय कार्य करने से पहिले उसकी बुद्धि में अवश्य रहता है। यदि कार्य के स्वरूप का निश्चय उसकी बुद्धि में नहीं है, तो होगा यह कि वह जो कुछ भी करना चाहता है, उससे विलक्षण ही कार्य कर बैठेगा, एक उक्ति है—“विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्”

अर्थात् कोई मूर्ति बनाने वाला गणेश जी की मूर्ति बनाने बैठा, परन्तु बनाने से पहिले मूर्ति के रूप का निश्चय उसकी बुद्धि में नहीं था, परिणाम यह हुआ कि गणेश जी की मूर्ति बनाने चला था और बन्दर की मूर्ति बना बैठा। अतः जिस कार्य को हम जिस रूप में करना चाहते हैं, उस रूप का हमारी बुद्धि में पहिले से निश्चय रहना चाहिए। आधुनिक युग में इंजीनियरिंग विद्या का जो विकास है, वह वस्तु के स्वरूप के विषय में ही दी जाने वाली शिक्षा का एक विकसित रूप है, 'कर्म चोदना' में इसी को ज्ञेय कहा गया है। इसके साथ ही उस कार्य के सम्पादन की क्या रीति है, यह भी जानना आवश्यक है, प्रत्येक कार्य की एक विशेष प्रक्रिया होती है। यदि प्रक्रिया का अच्छे प्रकार परिज्ञान नहीं है, तो कार्यसिद्धि या तो होगी ही नहीं, यदि होगी तो बहुत आयास और समय व्यय होने पर भी अल्प मात्रा में ही होगी। ये ही उपर्युक्त तीनों बातें कर्मचोदना शब्द से यहां कही गई हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रक्रिया का प्रत्येक कार्य के सम्पादन में अनिवार्य स्थान है। उपर्युक्त प्रक्रिया के अनन्तर जब कर्म में मनुष्य प्रवृत्त होता है तब वह अपने कर्तृत्व को जागृत करता है, उसके साधन जुटाता है और अभीष्ट वस्तु को तैयार कर लेता है। ये तीनों करण, कर्म और कर्ता इन नामों से पद्य में कहे गए हैं, इन्हें कर्म संग्रह कहा गया है। लोकमान्य तिलक ने कर्म-चोदना शब्द से अन्तःकरण की क्रियाएँ और कर्म-संग्रह से उन्हीं आन्तरिक क्रियाओं के अनुसार होने वाली क्रियाओं का बोध माना है।

इसी प्रकार अनेक व्याख्याओं में मीमांसा के अनुसार कर्मचोदना तथा कर्मसंग्रह शब्द से शाब्दी भावना, आर्थी भावना तथा विधि का क्रिया रूप से समन्वय माना है।

श्रीशंकराचार्य ने 'परिज्ञाता' का अर्थ उपाधिरूप अविद्या के द्वारा कल्पित भोक्ता, किया है। उन्होंने लिखा है कि ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता इन तीनों के एकत्रित हो जाने पर हेय और उपादेय की दृष्टि से सभी कर्मों का आरम्भ होता है। आरम्भ होने के अनन्तर करण, कर्म और कर्ता में क्रिया के बाह्य रूप का ग्रहण हो जाता है। करण शब्द से बाह्य श्रोत्र आदि कर्मेन्द्रियों तथा बुद्धि आदि आन्तरिक साधनों का उन्होंने ग्रहण किया

है। कर्म संग्रह शब्द का अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि जहां कर्म का ग्रहण हो वही कर्म संग्रह है। कर्म इन तीनों में ही संगृहीत होता है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि पहिले जो कहा गया है कि स्वयं को अकर्ता समझना चाहिए, वह स्वयं में कर्तृत्व बुद्धि हटाना तभी संभव होता है जब सत्त्व गुण की अभिवृद्धि होती है। किसी भी कर्म में सत्त्व आदि गुणों के कारण जो वैषम्य आता है उसका विवरण देने के लिए यहां कर्म होता किस प्रकार है, यह बतलाया जा रहा है। कर्मचोदना का अभिप्राय उन्होंने वैदिक ज्योतिषोम आदि यज्ञ विधियों से लिया है, जिनमें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता की आवश्यकता होती है।

माध्वभाष्य में कहा गया है कि पुरुष स्वरूपतः जब अकर्ता है, तब जिन विधियों का शास्त्रों में विधान प्राप्त होता है, वे विधियां किसको लक्ष्य करके बतलाई जाती हैं, इसी के उत्तर में कहा गया है कि ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता को लक्ष्य करके विधियों का विधान किया जाता है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि पूर्व में आत्मा को जो अकर्ता और अभोक्ता बतलाया गया है, वहां सांख्य दर्शन भी पुरुष को अकर्ता तो मानता है, परन्तु उनके यहां पुरुष भोक्ता अवश्य है। उसी सांख्य सिद्धान्त में स्वीकृत आत्मा के भोक्तृत्व का यहां समर्थन है कि चिदाभास ही भोक्ता है, शुद्ध चैतन्य जो आत्मा है, वह भोक्ता नहीं है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने यहां मीमांसा की दृष्टि से भी शाब्दी भावना का विस्तार से विवेचन किया है।

तात्पर्य यही है कि कर्म की प्रक्रिया उपर्युक्त है। इस प्रक्रिया को जान लेने पर कर्म के दोषों से मनुष्य बच निकलने की युक्ति जान लेता है।

---

## चौवनवां-पुष्प

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

“गुणों के कार्यों के वर्णन प्रसंग में ज्ञान, क्रिया और कर्ता गुणों के भेद से तीन प्रकार के कहे जाते हैं, उनको यथावत् मुझसे सुनो” (१९)

श्रीशंकराचार्य ने कर्म का अर्थ क्रिया ही किया है और “कर्तुरीप्सिततमं कर्म” इत्यादि पारिभाषिक कर्म का ग्रहण यहां उन्होंने नहीं माना है। आनन्द गिरि कहते हैं कि कर्म शब्द यहां क्रिया का ही वाचक है परन्तु करण तथा कर्म कारक का भी इससे ग्रहण हो जाता है क्योंकि कारक क्रिया की ही उपाधियां हैं। तब प्रश्न होता है कि कर्ता भी तो क्रिया की ही उपाधि है फिर उसका पृथक् परिगणन क्यों किया गया, उसका उत्तर देते हुए आनन्दगिरि व्याख्या में लिखा गया है कि अज्ञान से आक्रान्त पुरुष आत्मा को ही कर्ता मानता है, उसके निराकरण के लिए कर्ता का पृथक् परिगणन यहां किया गया है। “त्रिधैव” में जो एव शब्द है उसके तात्पर्य को प्रकाशित करते हुए श्रीशंकराचार्य लिखते हैं कि ये तीनों गुणत्रय की सीमा के अन्तर्गत होने से तीन ही प्रकार के होते हैं। तीनों गुणों के बाहर इनका मिलना संभव ही नहीं है। ‘गुणसंख्याने’ का अर्थ श्रीशंकराचार्य तथा उनके अनुयायी सभी व्याख्याकारों ने सांख्य शास्त्र किया है। सांख्य शास्त्र में तीन गुणों के अनुसार ही ज्ञान, कर्म, कर्ता आदि का भेद दिखलाया गया है। श्रीशंकराचार्य ने यह भी लिखा है कि यद्यपि मूल तत्त्व के विषय में गीता में प्रतिपादित सिद्धान्त से सांख्य सिद्धान्त विपरीत जाता है, अतः मूल कारण के निरूपण के प्रसंग में सांख्य दर्शन को प्रमाण नहीं माना जाता, परन्तु गुण तथा उनके जो व्यापार हैं उसके प्रतिपादन में महर्षि कपिल के द्वारा प्रणीत सांख्य शास्त्र प्रमाण ही है। उसका आदर गीता में अनेकत्र देखा जाता है। तदनुसार ही यहां भी गुण प्रकरण में भगवान् ने आदर प्रदर्शनार्थ ‘गुणसंख्याने’ शब्द से महर्षि कपिल के द्वारा प्रणीत सांख्य शास्त्र का ग्रहण किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने ‘गुणसंख्याने’ का ऐसा अर्थ नहीं किया। उन्होंने ‘गुणसंख्याने’ का अपनी व्याख्या में यही अर्थ किया है कि यहां गुण भेद के अनुसार जो तत्तत्पदार्थों के भेद दिखलाये जा रहे हैं उसमें ज्ञान, कर्म और कर्ता भी तीन प्रकार के माने जाते हैं। गुणभेद के अनुसार वस्तु भेद का निरूपण गीता में विगत षोडशाध्याय तथा उसके भी पहिले से प्रारंभ हो चुका है। यही यहां प्रकरण प्राप्त ‘गुणसंख्याने’ का अर्थ है।

विगत पद्य में ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, करण, कर्म और कर्ता इनका उल्लेख किया गया था। श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि उनमें ज्ञेय और करण तो जड़ होते हैं, उनकी तो वही स्थिति है जो घट, कुठार आदि की है, ये ही पदार्थ ज्ञेय होते हैं। अतः सात्त्विक भेदों का निरूपण करते समय भगवान् ने उन्हें छोड़ दिया। कर्ता से परिज्ञाता का भी ग्रहण हो जाता है। सांख्य शास्त्र में ज्ञेय और करण का भी गुणत्रयानुसारी विभाग देखा जाता है। उदाहरणार्थ एक ही स्त्री में उसके पति की प्रीति होने के कारण सात्त्विक, उसको न जानने वाले अन्य पुरुष की राजस और सपत्नी आदि की तामस बुद्धि होती है, इस प्रकार सात्त्विक आदि तीनों भावों का निरूपण एक स्त्री को ही दृष्टान्त बनाकर समझा दिया जाता है। परन्तु इस प्रकार की विभिन्न बुद्धियों का कारण उसी स्त्री के स्वरूप में किसी प्रकार की तीनों के प्रति विलक्षणता नहीं अपितु समझने वालों की चित्तवृत्ति ही इस प्रकार समझाने में कारण होती है। इसीलिए ज्ञेय पदार्थ को तीनों गुणों से विभक्त नहीं किया गया अपितु परिज्ञाता या ज्ञान कर्ता का ही भेद यहां बतलाया जाता है।

यह विषय गीता में चतुर्दश अध्याय से ही प्रारंभ हो चुका है और यहां पुनः उसका निरूपण पुनरुक्त सा प्रतीत होता है। उस संभावित पुनरुक्ति को हटाते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि चतुर्दश अध्याय में—

“तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्”

इत्यादि के द्वारा यह बतलाया गया कि गुण बन्ध के हेतु हैं। सप्तदश अध्याय में—

“यजन्ते सात्विका देवान्”

इत्यादि के द्वारा गुणों के आधार पर ही दैव आसुर विभाग का निरूपण हुआ। अब यहाँ जो गुणत्रय के आधार पर ज्ञान आदि के भेद का निरूपण है उसका तात्पर्य यही है कि आत्मा जो गुणातीत है उसका क्रिया कारक आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार समझ लेने से पुनरुक्ति की आशंका नहीं रह जाती।



## पचपनवां-पुष्प

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते

अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्

वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम्

अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

“उस ज्ञान को सात्त्विक समझो जिससे समस्त विभक्त भूतों में एक अव्यय तथा अविभक्त भाव का दर्शन होता है” (२०)

सात्त्विक, राजस, तामस जिस ज्ञान के भेद हैं वह ज्ञान ईश्वर के स्वरूप भूत चेतना रूप ज्ञान से भिन्न है। ईश्वर के स्वरूप में सम्मिलित जो ज्ञान है वह तो गुणातीत है। उसमें इन गुणों के कारण कोई भेद उपस्थित नहीं होता। यहां जिस ज्ञान का निरूपण है वह तो वस्तुतः ‘ज्ञायते अनेन’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान का साधन है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के निरूपण के पहिले ‘अमानित्व, अदम्भित्व’ आदि जो ‘एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्’ कह कर ज्ञान का स्वरूप बतलाया गया था, उसी के यहाँ सात्त्विकादि विभाग हैं। स्पष्ट है कि वह निरूपण ज्ञान के साधन या साधन रूप ज्ञान का ही था। अतः यह ज्ञान का निरूपण भी साधन रूप ज्ञान का ही है। ज्ञान के साधन को भी ज्ञान शब्द से उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार कहा जाता है। सात्त्विक ज्ञान या सात्त्विक ज्ञान साधन वह है जिससे कि समस्त भूतों में एक अव्यय भाव का दर्शन किया जा सके। इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि भगवान् यहाँ ज्ञान के साधन के विषय में ही कह रहे हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करके इसके द्वारा सब भूतों में एक भाव देखने का विधान है, एक भाव देखने का यह सात्त्विक ज्ञान साधन ही हुआ। भाव का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने प्रस्तुत किया है कि सब भूतों में अर्थात् संसार के समस्त पदार्थ में एक वस्तु देखे। तात्पर्य स्पष्ट है कि सब पदार्थ एक नहीं अनेक हैं। परन्तु पदार्थों में वस्तु तत्त्व एक ही है। यह देखना कोई वस्तु स्थिति के साथ जबर्दस्ती या मिथ्या आरोप नहीं है अपितु वास्तविक बात यही है कि आत्मसत्ता ही समस्त दृश्यमान प्रपंच में अनुस्यूत है। आत्मा ही संसार का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। स्वर्णनिर्मित कटक कुण्डलादि सहस्रों पदार्थों में वस्तुभूत पदार्थ स्वर्ण ही है। मिट्टी के बने अनन्त पदार्थों

में वस्तु तत्त्व मिट्टी ही है, धागों से बने हुए अनन्त वस्त्रों में वस्तु तत्त्व धागे ही होते हैं, उसी प्रकार समस्त संसार के समस्त पदार्थों में वस्तु तत्त्व आत्मा या ब्रह्म ही है। यही वस्तु स्थिति का परिचय देने वाला ज्ञान सात्त्विक कहा जा सकता है। इसी प्रकार दूसरी बात जो भगवान् ने कही कि जो ज्ञान विभक्त पदार्थों में अविभक्त वस्तु तत्त्व का दर्शन करा दे वह सात्त्विक होता है यह स्पष्टता के लिए ही कथन हुआ है। जब सब भूतों में एक अव्यय भाव का दर्शन हो चुका तो विभक्तों में अविभक्त दर्शन स्वतः सिद्ध हो गया। प्रत्यक्ष दृश्यमान् पदार्थ विभक्त अथवा पृथक् पृथक् रूप से अवस्थित हैं, उनमें सात्त्विक ज्ञान के द्वारा यह बोध होता है कि ये विभक्त पदार्थ एक अव्यय अविभक्त वस्तु तत्त्व की ही भ्रम के कारण दिखाई देने वाली अवस्था मात्र हैं। राजाओं के महलों में ऐसे शीशे जड़े रहते हैं जहां घुसते ही एक व्यक्ति हजारों व्यक्तियों के रूप में दिखाई देने लगता है। महाकवि माघ ने लिखा है—

**रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे**

**एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ।**

अर्थात् रत्ननिर्मित स्तम्भों में प्रतिबिम्बित आकृति वाले कृष्ण, बलराम आदि एकाकी होते हुए भी ऐसे प्रतीत होते थे मानों पुरुष समुदाय से घिरे हों। परन्तु वस्तुतः प्रतीति में विभिन्नता रहते हुए भी वे एक ही थे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, इत्यादि मनुष्यों के जो व्यावहारिक विभाग हैं जो कि कर्मों की अधिकार दृष्टि से स्वतः होते हैं तथा काले, गोरे, लम्बे आदि जो आकारों के विभाग हैं उन सब में ज्ञान रूप आत्मा एक ही है, उन सबमें आत्म तत्त्व में कोई भी विभाग नहीं है, जिसे कि—

**‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’**

इत्यादि श्रुतियों में सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित कहा गया है, उसमें किए हुए कर्मों के फलों से भी कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं हो सकता, इस प्रकार के आत्म तत्त्व को जिस ज्ञान के द्वारा विभिन्न कर्मों के अनुष्ठान करते समय भी ध्यान में लिया जा सके उसी ज्ञान को सात्त्विक ज्ञान कहा जाता है।

माध्व भाष्य में कहा गया है कि सभी विभक्त भूतों में एक भाव देखने का अभिप्राय भगवान् विष्णु को सर्वत्र देखना है।

व्याख्याओं में यह भी कहा गया है कि इस प्रकार के सर्वत्र विभिन्न पदार्थों में एक रूप से समवस्थित स्वरूप का दृष्टान्त आकाश है। जिस प्रकार आकाश विभिन्न

पदार्थों में एक रूप से अनुप्रविष्ट है उसी प्रकार एक ही आत्मतत्त्व समस्त भूतों में एक रूप से अनुप्रविष्ट है। यही समझना सात्त्विक ज्ञान कहलाता है।

सात्त्विक ज्ञान के स्वरूप को समझाने के अनन्तर आगे राजस ज्ञान का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

“पृथक् भाव से जो ज्ञान अनेक प्रकार के पदार्थों को समस्त भूतों में ग्रहण करता है, वह ज्ञान राजस कहलाता है” (२१)

संसार में जो पदार्थ हमें उपलब्ध हो रहे हैं वे सब पृथक् रूप से ही अवस्थित होकर ज्ञान में आते हैं। पार्थक्य में ही सृष्टि का स्वरूप है और साम्य में लय माना जाता है। सृष्टि की प्रक्रिया का प्रारंभ भी यहीं से बतलाया जाता है कि परब्रह्म एकाकी अवस्था में रमण नहीं कर सकता था। उसने क्रीड़ा के लिए दूसरे की इच्छा की, उसी से संपूर्ण चराचर प्रपंच का प्रादुर्भाव हो गया। इससे भी यही प्रकट होता है कि संसार दशा में पृथक् भाव में ही पदार्थों की उपलब्धि होती है। तब प्रश्न होता है कि जब संसार अवस्था में ज्ञान में आने वाले समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप भेद गर्भित ही है, तब उनका यथार्थ ज्ञान भी भेद गर्भित ही होगा। ऐसी स्थिति में यथार्थ ज्ञान को राजस पक्ष में गिनना कैसे उपयुक्त होगा। उसका उत्तर है कि देखे जाने वाले पदार्थ तो भिन्न हैं परन्तु उनके अन्दर अनुप्रविष्ट जो आत्म तत्त्व है वह तो सर्वत्र एक ही है। जब हम उपलब्धमान वस्तुओं के भेद को देखते-देखते आत्म तत्त्व को भी भेद दृष्टि से ही ग्रहण करने लगते हैं तब वह यथार्थ ज्ञान नहीं रह जाता है। काले, गोरे, मोटे, दुबले, साधु स्वभाव वाले, दुष्ट स्वभाव वाले, सुखी, दुःखी इत्यादि प्रकार के प्राणियों को देखकर हम उनमें अवस्थित आत्मा को वैसे ही गुण धर्म वाला समझने लगते हैं, यह हमारा यथार्थ ज्ञान नहीं है। आत्मा काला, गोरा, मोटा, दुबला नहीं है। अतः पृथक्-पृथक् पदार्थों के स्वरूप विधारक एक आत्म तत्त्व को पृथक् समझना यथार्थ ज्ञान न होने से राजस ज्ञान होता है। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि उपर्युक्त पद्य में तो ‘आत्मा को पृथक्-पृथक् समझना राजस ज्ञान होता है’, ऐसा नहीं कहा गया। वहां तो जो ज्ञान नाना भावों को पृथक् रूप से समझे वह राजस होता है, यही कहा गया है। भाव शब्द से यहां संसार के पदार्थ ही लिये जाते हैं। तब संसार के पदार्थों को नाना रूप में समझना तो यथार्थ ही है, तब उसे राजस ज्ञान क्यों कहा गया। इसका उत्तर यही है कि एक अद्वितीय ब्रह्म ही संसार का अभिन्ननिमोत्तोपादान कारण वेदान्त में माना गया है। संसार में प्रतीत होने वाली पदार्थों की अनेकता यथार्थ ज्ञान नहीं अपितु भ्रम है। इसीलिए श्रीशंकराचार्य ने संसार को भ्रम रूप कहा है। समस्त

संसार में एकत्व दर्शन ही यथार्थ ज्ञान होता है। पार्थक्यगर्भित दर्शन अयथार्थ ज्ञान ही है, अतः उसे राजस कोटि में गिनना सर्वथा समीचीन है। श्रीरामानुजाचार्य ने यह भी लिखा है कि आत्मा को फल संयुक्त समझना भी पृथक् समझने के अन्तर्गत है। अतः इस प्रकार का ज्ञान राजस ही कहा जायगा। अनेक व्याख्याओं में ५ प्रकार के भेदों को “नाना भावान् पृथग्विधान्” से लिया है। कुछ लोग प्रति शरीर में आत्मा को भिन्न-भिन्न मानते हैं। उन आत्माओं को ईश्वर से भिन्न समझते हैं, आत्मा, ईश्वर और जड़ को भी वे सर्वथा भिन्न-भिन्न समझते हैं। यह आत्मा के विषय में भेद ज्ञान सर्वथा राजस कोटि का ही ज्ञान है। सात्त्विक ज्ञान में तो कोई भी भेद ज्ञान ठहरता ही नहीं। श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि ‘नानाभावान्’ और ‘पृथग्विधान्’ में जो बहुवचन है उसका तात्पर्य यह है कि राजस ज्ञान में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से नितान्त भिन्न प्रतीत होता है, उनका आपस में स्वरूपगत कुछ भी साम्य समझ में नहीं आता। यहां यह भी एक विचारणीय विषय टीकाओं में लिखा गया है कि ‘यत् ज्ञानं पृथग्विधान् नानाभावान् वेत्ति’ यह शब्द प्रयोग उचित प्रतीत नहीं होता। ज्ञान कैसे जानेगा। उसका समाधान व्याकरण की दृष्टि से यही किया जाता है कि ‘एधांसि पचन्ति’ (काष्ठ ही पकते हैं) जैसे व्यवहार होता है, वैसा ही शब्द व्यवहार यहां भी समझ लेना चाहिए। अग्रिम पद्य में तामस ज्ञान का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“किसी एक ही कार्य में उसे सम्पूर्ण कार्य की भांति समझ कर लिप्त हो जाना, ऐसा जिस ज्ञान के द्वारा होता है, जिसमें कोई हेतु नहीं दिखाया जा सकता, जो कि तात्त्विक अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, जो अल्प होता है, वह ज्ञान तामस कहा जाता है” (२२)

तामस ज्ञान अत्यन्त तुच्छ होता है इस बात को पद्योक्त ‘तु’ शब्द से बतलाया गया है।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि एक अपने देह या प्रतिमा आदि में आत्मा की पूर्णता को समझ लेना शरीर या प्रतिमा आदि के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता को न मानना तामस ज्ञान कहलाता है। शरीराकार आत्मा को समझ लेना भी इसी ज्ञान भेद के अन्तर्गत माना गया है। इसी प्रकार पत्थर या लकड़ी की प्रतिमा में ईश्वर को सीमित समझना भी तामस ज्ञान है। तब तो मूर्तिपूजा भी तामस ज्ञान से संभूत हुई, उसका उत्तर है कि मूर्ति की इस भावना से पूजा करना कि वह मूर्ति ही ईश्वर है, उसी से समस्त कामनाओं की प्राप्ति हो जायगी यह तामस ही है। ईश्वर सर्वत्र व्यापक है। वह मूर्ति में भी विद्यमान है। भक्ति से आराधना करने पर वह प्रकट होकर दर्शन देता है, इस भावना

से पूजन करना सात्त्विक भेद के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार का ज्ञान 'अहेतुक' होता है, उसमें कोई युक्ति नहीं होती, इसीलिए उसे अतात्त्विक भी कहा गया है, और उसका विषय अल्प होने के कारण वह अल्प भी कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य ने लिखा है कि प्रेत भूत आदि किसी एक की आराधना करते हुए उसे ही सब कुछ मान लेना अहेतुक और अल्प ज्ञान का ही फल होने से तामस है। इस प्रकार की आराधना आदि का विषय परमार्थ नहीं अपितु जघन्यस्वार्थ ही होता है।

बहुत से लोग देह को ही ईश्वर या आत्मा समझते हैं और प्रतिमादि की आराधना करने से अभीष्ट कामनाओं की सिद्धि होती देखकर प्रतिमादि को ही ईश्वर मान लेते हैं और उससे अतिरिक्त ईश्वर है, इस बात पर उनकी दृष्टि नहीं जाती। उनको उत्तर देते हुए श्रीशंकरानन्द ने यहां लिखा है कि यदि शरीर ही आत्मा होता तो "मैंने स्वप्न देखा" यह ज्ञान कैसे होता। शरीर तो स्वप्न दर्शन काल में निश्चेष्ट पड़ा है, तब स्वप्न का द्रष्टा कौन है। तथा यदि शरीर ही आत्मा है तो शरीर के जला दिए जाने पर आत्मा को भी भस्म हुआ मानना होगा। ऐसा मत चार्वाक के अतिरिक्त और किसी दार्शनिक का नहीं है। सुतरां चार्वाक आदि भौतिकवादियों का ज्ञान तामस ज्ञान है, यही इस विवेचन से प्रतिफलित होता है।

इसी प्रकार यदि अभीष्ट कामनाओं के प्रदाता होने के कारण ही प्रतिमा आदि को ईश्वर मान लिया जाय तब तो ओषधियां और वनस्पतियां तथा अनेक वृक्ष जो रोग निवारण करके आरोग्यरूप अभीष्ट को देने वाले हैं वे सभी ईश्वर हो जायेंगे। इसलिए ईश्वर की व्यापक सत्ता की ओर दृष्टि रखना ही पारमार्थिक और तात्त्विक ज्ञान कहा जा सकता है, अल्प प्रदेश में ईश्वर को सीमित समझ बैठना तामस ज्ञान के अन्तर्गत ही आता है।

इस प्रकार ज्ञान के तीनों भेदों का विवरण यहाँ दिया गया। इनमें अनेक जन्मों में किया हुआ सात्त्विक यज्ञ यागादि से समुत्पन्न जो ज्ञान है वह सात्त्विक है, वह मोक्ष के लिए उपयोगी होता है, राजस ज्ञान स्वर्गादि के उपभोग कराने में सहायक होता है और तामस ज्ञान केवल मूढ़ पुरुषों के व्यवहार का परिचालक होता है, जिसका फल निरन्तर जन्ममरण प्रवाह में पड़े रहना ही होता है।

---

## छप्पनवां-पुष्प

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।

क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अनुबन्धक्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।

मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

“नियत, सङ्ग रहित, बिना रागद्वेष के, फल की इच्छा को छोड़कर किया हुआ कर्म सात्त्विक कहलाता है” (२३)

पहिले ज्ञान के गुणत्रय के भेद से तीन भेद कहे गए थे। अब कर्म के तीन भेद कहे जा रहे हैं। पहिले ज्ञान होता है, तभी कर्म बनता है, इसका पौर्वापर्य क्रम भी यहाँ समझ में आ जाता है। नियत का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने नित्य ही किया है, परन्तु लोकमान्य तिलक वर्णाश्रम लोक मर्यादादि के अनुसार अपने-अपने कर्मानुष्ठान को ही नियत मानते हैं। सङ्गरहित होना सात्त्विक कर्म के विषय में आवश्यक है। उस कर्म में रागद्वेष बुद्धि भी नहीं होनी चाहिए। अन्त में कर्ता के विषय में भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह फल की इच्छा बिना रखे कर्म का अनुष्ठान करे। यद्यपि आगे कर्ता के भी सात्त्विक आदि भेद कहे जा रहे हैं। वहाँ भी सात्त्विक कर्ता को फलाशा शून्य होना चाहिए। परन्तु कर्म का स्वरूप बिना कर्ता के बनता ही नहीं, इसलिए सात्त्विक कर्म में भी फलाशा रहित कर्ता का स्मरण आवश्यक हुआ। श्रीनीलकण्ठ “अफलप्रेप्सुना” की व्याख्या में ‘फल’ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं कि— “फल्यु च लीयते चेति फलम्” जो छोटा हो और लीन भी हो जाय उसे फल कहा जाता है, वह फल क्रिया से प्राप्त होता है और वह अनात्म वस्तु होती है। उक्त फल से अतिरिक्त कोई अफल या आत्मवस्तु कहते हैं जो कहीं से लाना नहीं पड़ता, जो परिपूर्ण और अविनाशी है उसी आत्म रूपी अफल की इच्छा रखने वाले को यहाँ ‘अफलप्रेप्सू’ कहा गया है। सात्त्विक कर्मानुष्ठान करने वाला आत्मा को ही चाहता है। इसी बात को उपनिषदों ने यह कहकर समझाया है कि ब्राह्मण लोग उसी आत्मतत्त्व को अध्ययन, यज्ञ, दान आदि सात्त्विक फलाशाशून्य कर्मों से प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। ‘सङ्गरहितम्’ की व्याख्या करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि अपने किए हुए कर्म का आत्मा पर कोई राजस सम्पर्क नहीं होना चाहिए। आवश्यक यज्ञादि

का अनुष्ठान करते हुए यह भाव मन में न आवे कि “‘मैं एक बड़ा याज्ञिक हूँ’”, “‘ऐसा यज्ञ मेरे अतिरिक्त और कौन कर सकता है।’” इस प्रकार का अहंकार राजस अहंकार है, उससे रहित होना ही संग रहित कर्म करने का तात्पर्य है। कर्तृत्व के अहंकार से सर्वथा शून्य तो कर्त्ता कभी अज्ञान दशा में हो नहीं सकता और अज्ञान दशा से ऊपर उठ जाने पर कर्म करने का अधिकार रहता नहीं यह अद्वैत सिद्धान्त में प्रसिद्ध ही है।

राजस कर्म का विवरण देते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि—

“कामनाओं की पूर्ति की अभिलाषा से अथवा अहंकार के साथ अधिक परिश्रम से साध्य जो कर्म किया जाता है वह राजस कर्म कहा जाता है।” (२४) यहाँ भी “‘कामेप्सुना’” और “‘साहङ्कारेण’” ये दोनों कर्त्ता के ही विशेषण हैं। राजस कर्म वही है जो फल की अभिलाषा से किया जाय और जिसमें दम्भ या अहङ्कार भी सम्मिलित हो। “‘मैं इतने महत्व के कार्यों को करने वाला हूँ’” इत्यादि प्रकार से कर्त्ता के चित्त में कर्मानुष्ठान के समय अहंकार आ जाता है उसका कर्म के स्वरूप पर भी प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार फल की अभिलाषा से भी कर्म के स्वरूप में परिवर्तन आता है। इसीलिए कर्त्ता की विशेषता होते हुए भी इनका निवेश कर्म के विभाजन में आवश्यक होता है। श्रीशंकराचार्य ने यहाँ भी ‘साहङ्कारेण’ की व्याख्या में यह कहा है कि सर्वथा निरहंकारी जो तत्त्वज्ञानी पुरुष हैं उनको तो कर्माधिकार प्राप्त ही नहीं है। अतः साहंकार का अर्थ यहां अपने महत्व का अभिमान ही लगाना होगा। वैसे तो सात्त्विक कर्म का कर्त्ता भी अनात्मवेत्ता होने के कारण साहंकार होता है, राजस और तामस कर्मों के कर्त्ता की तो बात ही क्या है। परन्तु लोक व्यवहार में अनात्मवेत्ता पुरुष को भी निरहङ्कार कह दिया जाता है। अमुक व्यक्ति को बिल्कुल अहङ्कार या अभिमान नहीं है ऐसा अनेक पुरुषों के लिए समझा जाता है। वही सात्त्विक कर्म का कर्त्ता है। उसकी अपेक्षा जिसे लोक में अहङ्कार वाला समझा जाय उसके द्वारा अनुष्ठित कर्म राजस होता है यह विभाग बन जाता है, अतः साहङ्कार शब्द को यहाँ पारमार्थिक दृष्टि से नहीं अपितु लौकिक दृष्टि से ही लगाना चाहिए। राजस कर्म के लिए तीसरी बात ‘बहुलायासम्’ कही गई है। जो कर्म अधिक परिश्रम से साध्य हो वह राजस होता है। निष्काम भाव से जो यज्ञ तपस्या आदि किये जाते हैं वे भी बहुत परिश्रम से साध्य होते हैं तब वे भी राजस श्रेणी में ही आ जायेंगे। फिर अधिक और कम परिश्रम तो सापेक्ष ही होगा, किसकी अपेक्षा अधिक यह अपेक्षा बनी ही रहेगी, अनेक अल्प परिश्रम से सम्पन्न होने वाले कर्म भी उससे कम परिश्रम में हो जाने वाले कर्म की अपेक्षा ‘बहुलायास’ ही

कहे जायेंगे, तब इसका कोई निश्चय न हो सकेगा कि कौन कर्म बहुलायास हैं और कौन अल्पायास वाले हैं। इसका अन्तर यह है कि यहाँ यही अभिप्राय है कि जिन कर्मों के करने में बहुत सा व्यर्थ परिश्रम उठाना पड़े वे राजस होते हैं वे बहुलायास मात्र होते हैं। यहाँ बहुलायास के साथ मात्र शब्द को और जोड़ देने से संगति ठीक लग जाती है कि जो बहुलायास मात्र होते हैं जिनका कोई पारमार्थिक फल नहीं होता। श्रीरामानुजाचार्य ने लिखा है कि कर्त्ता को जिस कर्म के करने से यह अभिमान होता है कि बहुत अधिक परिश्रम से साध्य इस कार्य को मैं ही कर सकता हूँ, अन्य कोई नहीं वह राजस कर्म है। तामस कर्म का विवरण देते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि—

“परिणाम, शक्ति का अपव्यय, प्राणिपीडा और पौरुष की अपेक्षा को बिना किए जो कार्य मोह पूर्वक आरम्भ किया जाता है वह तामस कार्य कहलाता है” (२५)

कर्म के करने के अनन्तर उसके फल स्वरूप जो दुःख प्राप्त होता है, वह अनुबन्ध कहलाता है। अमुक कर्म करने पर मुझे बड़ा भारी कष्ट उठाना पड़ेगा, चोरी करने पर जेल जाना होगा, इत्यादि परिणाम की चिन्ता जिसमें नहीं रहती वह तामस कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म में शक्ति का जो अत्यधिक अपव्यय होता है वह तामस कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म में शक्ति का जो अत्यधिक अपव्यय होता है उसकी भी चिन्ता नहीं रहती। यदि हिंसा या हत्या भी करनी पड़े तो तामस कर्म में नियत पुरुष उसकी भी परवाह नहीं करता। पौरुष की अपेक्षा न करने का तात्पर्य है कि जो चार पुरुषार्थ हैं उनमें से किसी की भी सिद्धि उस कार्य से होती है या नहीं यह भी नहीं देखा जाता, स्पष्ट है कि ऐसे कार्य मूढ़ता वश ही किये जाते हैं अतः इन कार्यों को तामस कहा गया है।

उक्त कर्म विभाग में समस्त संसार में होने वाले कर्मों का समावेश हो जाता है। इनमें से सात्विक कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए और राजस और तामस कार्यों से बचना चाहिए यह निष्कर्ष पूर्व की भांति यहाँ भी प्रस्फुटित हो ही जाता है।

---



## सत्तावनवां-पुष्प

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी

धृत्युसाहसमन्वितः ।

सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।

विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

“संग से रहित, अहंवाद से शून्य धैर्य और उत्साह से युक्त, कार्य की सिद्धि और उसकी विफलता में समान दृष्टि रखने वाला कर्ता सात्त्विक होता है।” (२६)

यहाँ संग के परित्याग का अर्थ कर्म के फल की ओर दृष्टि न रखना ही है। सात्त्विक कर्ता की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वह कर्तव्य के फल की ओर कर्म करते समय या उससे पहिले कभी दृष्टि न रक्खे। तब फल की ओर दृष्टि न रखने पर कर्म की ओर उसकी प्रवृत्ति ही कैसे होगी। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने से पहिले यह ज्ञान आवश्यक होता है कि यह कर्म मेरा अभीष्ट सिद्ध करने वाला है। इस ज्ञान के बिना तो किसी भी पुरुष की किसी भी कार्य में प्रवृत्ति ही नहीं होती। यदि इष्टसाधनता का ज्ञान उसे हो गया तब आप कह देंगे कि यह कर्ता तो सात्त्विक नहीं रहा, क्योंकि इसकी दृष्टि इष्टसाधनता रूपी फल की ओर पहिले ही चली गई। ऐसी स्थिति में सात्त्विक कर्ता बनना असम्भव ही हो जायगा। इसका उत्तर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है। पहिली बात तो यही है कि यह परिभाषा सामान्य जनों के विषय कार्यों को दृष्टि में रखकर बनाई गई है। अनेक कार्य ऐसे भी होते हैं, जिनमें इष्टसाधनता का ज्ञान हुए बिना भी मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। अनेक महापुरुषों के ऐसे भी उदाहरण देखने को मिलते हैं कि वे अपने अनिष्ट करने वाले कार्य में भी लोकोपकार को दृष्टि में रखकर प्रवृत्त हो जाते हैं। तब यही कहना पड़ेगा कि यह नियम कुछ विशेष परिस्थितियों में ही दृष्टिगोचर हो सकता है। कर्म मात्र के विषय में सामान्य रूप से ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि परोपकार के लिए कष्ट सहन करने वाले व्यक्ति को भी तो परोपकार करना इष्ट ही है, उसके फलस्वरूप आत्मतुष्टि की प्राप्ति तो उसे होती ही है, तो इस पर यही कहना होगा कि आत्मतुष्टि रूप फल की कामना से बचने का यहाँ विधान नहीं है। यहाँ सांसारिक फलों से बचने का ही ‘मुक्त सङ्ग’ से आशय

लेना चाहिए। जिस व्यक्ति में सांसारिक फल की अभिलाषा होती है वह कर्तव्य कार्यों में प्रमाद करता है और अकर्तव्य निषिद्ध कार्यों का अनुष्ठान करने लगता है। उसी स्थिति से बचाने के लिए सात्विक कर्ता को यहाँ 'मुक्त सङ्ग' कहा गया है। सात्विक कर्ता की दूसरी विशेषता है उसका 'अहंवादी' न होना। यद्यपि मुक्तावस्था में पहुँचने के पूर्व उसका अहंकार सर्वथा विगलित नहीं हो सकता। परन्तु वह निमित्त मात्र के रूप में अहंकार का आश्रय लेता है, कार्य का प्रधान कारण तो वह परमेश्वर की इच्छा को ही मानता है। जैसा कि विगत एकादश अध्याय में भगवान् ने विश्व रूप दिखाकर अर्जुन से कहा था कि विपक्ष के योद्धागणों को तो मैं पहिले ही मार चुका हूँ—

### “निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्”

“हे अर्जुन ! तुम तो इनके मारने में निमित्तमात्र बन जाओ।” इस प्रकार की भावना से किसी भी कर्तव्य कर्म में प्रवृत्त होने पर उसके फलाफल का प्रभाव कर्ता पर स्वतः नहीं आता। किए हुए कार्यों पर से अपने अहंकार को मिटाने के लिए कर्ता को यह सोचना चाहिए कि यदि मैं इस कार्य को न करता तो भी यह कार्य अवश्य होता, भगवान् ने कृपा करके यह कार्य मुझसे ही करवा दिया। इस प्रकार का विचार करते रहने से कर्ता को 'अहंवाद' से छुट्टी मिल सकती है। सात्विक कर्ता की तीसरी विशेषता है उसका धृति अर्थात् धैर्य और उत्साह से समन्वित रहना। आगे चलकर भगवान् धैर्य के भी गुणानुसारी तीन भेद कहेंगे। उनमें जो सात्विक धैर्य है, उसी से सात्विक कर्ता को समन्वित होना चाहिए। धैर्य ही चित्त की वह अवस्था है जिससे किसी भी कार्य का स्वरूप पूर्ण हो सकता है। धैर्यवान् पुरुष आरम्भ किए हुए कार्य को कभी बीच में नहीं छोड़ता, चाहे उसे कितनी भी बड़ी विपत्ति का सामना क्यों न करना पड़े। उत्साह का भी कर्म सम्पादन में प्रमुख स्थान है। यदि उत्साह नहीं हुआ तो कर्म की प्रवृत्ति ही मनुष्य में नहीं होगी।

अन्तिम बात सात्विक कर्ता के विषय में कही गई है उसका सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार होना। कार्य की पूर्णरूपेण सम्पन्नता ही सिद्धि कही जाती है, और उसका पूर्णरूप से सम्पन्न न होना ही असिद्धि कही जाती है। जब कार्य के पूर्ण रूप से सम्पन्न होने में कोई बाधा आती है तो कर्ता का मन विचलित हो जाता है। अनेक लोग तो जरा बाधा उपस्थित होते ही अपने प्रारम्भ किए हुए कार्य का बीच में ही परित्याग कर देते हैं। भर्तृहरि ने नीतिशतक में इसी आशय का एक पद्य लिखा है—

“प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः

प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना  
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥”

अर्थात् नीच श्रेणी के लोग किसी भी महत्वपूर्ण कार्य को विघ्नों के आ जाने के भय से प्रारम्भ ही ही नहीं करते। द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति प्रारंभ कर देते हैं परन्तु मध्य में विघ्न के आते ही उस कार्य को अधूरा ही छोड़ बैठते हैं। उत्तम श्रेणी के व्यक्ति वे माने गए हैं जो कितने भी विकट विघ्नों के उपस्थित हो जाने पर भी प्रारम्भ किए हुए कार्य को कभी बीच में नहीं छोड़ते। किसी भी कार्य में विघ्न उपस्थित होना तो स्वभाव सिद्ध है। भगवान् ने स्वयं कहा है—

“सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः”

सभी कार्यों के आरम्भ विघ्नरूपी दोषों से उसी प्रकार ढँके रहते हैं जिस प्रकार अग्नि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में धुएं से ढँक जाती है। परन्तु सात्विक कर्ता कार्य की सिद्धि और उसकी असिद्धि में अपने चित्त में कोई विकार नहीं आने देता। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि कार्य की असिद्धि में विकार न होना तो ठीक है, परन्तु कार्य की सिद्धि में तो विकार के उपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता, तब कार्य सिद्धि में निर्विकार कहने का क्या आशय है। उसका उत्तर स्पष्ट ही है कि कार्य की सिद्धि होने पर “यह कार्य मेरे द्वारा सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ, मैं बड़ा प्रवीण कार्य कर्ता हूँ”, इस प्रकार के चित्त के विकार को अवकाश मिलता है। सात्विक कर्ता की बुद्धि में यह विकार नहीं आता। वह तो अपने को कार्य सिद्धि में निमित्त मात्र समझता है। श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि सात्विक कर्ता के कर्मानुष्ठान का उद्देश्य शास्त्र की आज्ञाओं का पालन मात्र होता है। कार्य की सिद्धि और असिद्धि से उसे कोई मतलब नहीं होता।

आगे राजस कर्ता का विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

“रागी, कर्म के फल को प्राप्त करने की कामना रखने वाला, लोभी, हिंसा का आचरण करने वाला, अपवित्र, हर्ष और शोक का अनुभव करने वाला कर्ता राजस कहा गया है” (२७)

सात्विक कर्ता को ‘मुक्त सङ्ग’ कहा गया था, परन्तु राजस कर्ता फल में अनुराग रखता है। बिना फल की कामना के उसका कोई कार्य नहीं होता। प्रत्येक कार्य का अनुष्ठान करने से पूर्व वह यह अच्छी तरह से जान लेना चाहता है कि इस कार्य का फल क्या होगा, इससे क्या फायदा होगा, उसका फल के विषय में उत्कट अनुराग

ही यहाँ 'रागी' का तात्पर्य है। उसका विषय भोग आदि सांसारिक फलों की ओर ही विशेष ध्यान रहता है। अतः वह आत्मचिन्तन आदि शुभ कर्मों में प्रवृत्ति नहीं रखता क्योंकि उनका लौकिक फल उसे दिखाई नहीं देता। दूसरी बात उसके विषय में 'कर्मफलप्रेप्सुः' कही गई है। जब वह किसी कार्य के प्रारंभ में ही उसके फल की ओर इतना अधिक राग रखता है तो स्वभावतः कर्म के उपरान्त उसके फल को प्राप्त करने की भी उसकी इच्छा बलवती हो जाती है। वह लुब्ध भी हो जाता है। मेरे अमुक कर्म का फल केवल मुझे ही मिले जिससे मैं उसका अधिक से अधिक उपभोग कर सकूँ, यह लोभ उसके मन में आ जाता है। इससे उसकी उदार वृत्ति नष्ट हो जाती है और संकुचित बुद्धि वाला होता हुआ स्वार्थी बन जाता है। चौथी बात उसके लिए भगवान् ने कही है कि वह 'हिंसात्मक' होता है। हिंसा भी एक कर्म ही है। राजस कर्ता अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए हिंसा का भी आश्रय लेता है, प्रारम्भ में उसे रागी कह दिया गया उसी से उसमें द्वेष का भी अस्तित्व सिद्ध हो गया। द्वेष ही हिंसा है। जिस वस्तु में उसे राग होता है, उसकी प्राप्ति में जो प्रतिबन्धक होते हैं उनसे उसका द्वेष भी होता है। उन प्रतिबन्धकों को मार्ग से हटाने का प्रयत्न करना ही हिंसा है। बहुधा ऐसे पुरुषों की अभिलाषाएं अनुचित और दुस्साध्य हुआ करती हैं, उनमें प्रतिबन्धक भरे रहते हैं और उन प्रतिबन्धकों को हटाते-हटाते वह इतनी अधिक हिंसा करने लगता है कि उसका स्वरूप ही हिंसा से भर जाता है। इसीलिए भगवान् ने उसे "हिंसात्मकः" कहा है; अर्थात् उसकी आत्मा या स्वरूप ही हिंसामय हो जाता है। हिंसा के आश्रय लेने के कारण ही उसमें अपवित्रता आ जाने से वह अशुचि अर्थात् अपवित्र ही बना रहता है। जब उसे अपने प्रयत्नों से अपनी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाती है तब वह अत्यधिक हर्षित हो जाता है, और जब उसका प्रयत्न विफल हो जाता है, प्रयत्न करने पर भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती तो वह शोक से भर जाता है। इस प्रकार का कर्ता राजस कहा जाता है।

आगे तामस कर्ता का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं—

“असावधान, अल्पबुद्धि वाला, स्तब्ध, धूर्त, दूसरे को हानि पहुँचाने वाला, आलसी, अप्रसन्न रहने वाला, कार्य को अधिक समय में करने वाला कर्ता तामस कर्ता कहा जाता है।” (२८)

अयुक्त का अर्थ करते हुए व्याख्याकारों ने कहा है कि तामस कर्ता की चित्त वृत्ति के निकृष्ट विषय में निरन्तर फँसे रहने के कारण वह शास्त्रीय कर्मों का अधिकार खो बैठता है। वह शास्त्रीय कार्यों के लिए अयोग्य हो जाता है। लोकमान्य तिलक ने

अयुक्त का अर्थ चञ्चल बुद्धि वाला किया है। अत्यन्त विषयासक्त होने से उसकी बुद्धि की स्थिरता समाप्त हो जाती है। प्राकृत का अर्थ लोकमान्य तिलक ने असभ्य किया है। यथा जात को ही प्राकृत कहा जाता है। दूसरी व्याख्याओं में प्राकृत का अर्थ कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से शून्य, अत्यल्प बुद्धि वाला आदि किये गए हैं, तात्पर्य एक ही है। स्तब्ध का अर्थ करते हुए श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि वह काष्ठ के दण्ड के समान किसी के सामने झुकता नहीं, श्रीरामानुजाचार्य ने लिखा है कि वह किसी भी शुभकाम का आरम्भ नहीं करता। लोकमान्य ने स्तब्ध का अर्थ गर्व से फूलने वाला किया है। नैष्कृतिक का अर्थ है दूसरे के हित का विघातक होना, उपर्युक्त तीन प्रकार के कर्ताओं से सात्विक कर्ता ही सर्वोत्कृष्ट है, वह कर्तव्य बुद्धि से शास्त्रीय आज्ञाओं का पालन और सत्कर्मों का अनुष्ठान करता रहता है। आगे बुद्धि के भेदों का विवरण होगा।

---

## अट्टावनवां-पुष्प

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।  
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ! ॥२९॥  
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।  
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३०॥  
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।  
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥३१॥  
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।  
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥३२॥

“हे धनञ्जय ! अब तुम मेरे द्वारा सम्पूर्ण रूप से पृथक्-पृथक् कहे जा रहे, बुद्धि और धृति के गुणों के अनुसार होने वाले तीन-तीन भेदों को सुनो।” (२९)

कर्ता के तीन भेदों का विवरण पूर्व प्रवचन में आ चुका है। सांसारिक व्यवहार परिचालन में बुद्धि का ही व्यापार मुख्य होता है, अतः भगवान् ने बुद्धि का भेद भी बतलाने की कृपा की। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि अर्जुन ने सत्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में ‘जो शास्त्र विधि को बिना जाने भी शुभकार्य करते हैं उनकी क्या निष्ठा होती है, यही प्रश्न किया था। मूल प्रश्न वही है। सांसारिक गुणत्रय का विवेचन वहीं से भगवान् ने कहना प्रारम्भ किया है। श्रद्धा और त्याग का गुणानुसारी भेद वहीं भगवान् ने कहकर त्याग के स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करके उसकी इतिकर्तव्यता का भी संकेत कर दिया। त्याग के ही विवरण प्रसङ्ग में अर्जुन ने त्याग और संन्यास का तत्त्व जानने के लिए प्रश्न कर दिया और भगवान् ने उसका उत्तर देते हुए संन्यास और त्याग का स्वरूप और उनकी मर्यादा कह दी। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भिक प्रवचनों में उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अर्जुन के अवान्तर प्रश्न का उत्तर हो जाने पर भगवान् ने पुनः असमाप्त उसी गुणगणानुसारी विवेचन को उठाया। श्रद्धापूर्वक किए गए सभी कार्य सुन्दर और कल्याणकारी ही होंगे इस भ्रम को भगवान् ने श्रद्धा को त्रिगुणवती दिखाकर दूर कर दिया। सात्त्विकी शास्त्रानुगामिनी श्रद्धा ही फलवती होती है, उसी का अनुमोदन किया जा सकता है, राजसी और तामसी श्रद्धा श्रेयोमार्ग के लिए कथमपि अभीष्ट नहीं होती। इसी प्रकार त्याग को भी सर्वथा पवित्र समझना भ्रम पूर्ण है। सात्त्विक त्याग ही ग्राह्य और करणीय है, राजस और तामस

त्याग हेय हैं, यह भी स्पष्ट हो गया। श्रद्धा और त्याग का इस प्रकार त्रैविध्य बतलाकर फिर भगवान् ने ज्ञान, कर्म और कर्ता का त्रैविध्य अष्टादश अध्याय के १९वें श्लोक से बतलाना आरम्भ किया। यहाँ यह प्रश्न स्वतः ही उपस्थित हो जाता है कि अर्जुन का सप्तदश अध्याय के आरम्भ में प्रश्न तो केवल इतना ही था कि शास्त्र विधि को बिना जाने भी जो व्यक्ति श्रद्धा से कर्मानुष्ठान करते हैं उनकी स्थिति सत्त्व रज और तम में से किसमें है। उस प्रश्न का तो श्रद्धा के त्रैविध्य कथन से ही उत्तर हो गया। उससे अर्जुन यह समझ गया कि श्रद्धा भी तीन प्रकार की है, जिस प्रकार की श्रद्धा से जो कार्य करने में प्रवृत्त होगा उसकी स्थिति उसी गुण में मानी जानी चाहिए। उसके आगे फिर भगवान् ने ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख के विविध विभागों का कथन क्यों किया। यों तो संसार के सभी पदार्थ तीन गुणों की सीमा में ही आते हैं, यदि सभी का परिगणन करना हो तो वह एक असम्भव बात होगी, जैसा कि भगवान् ने आगे उपक्रम भी नहीं किया। सुख के त्रैविध्य को कहकर इस बात का उपसंहार कर दिया। परन्तु फिर भी तो यह प्रश्न रह ही जाता है कि आखिर श्रद्धा के अतिरिक्त त्याग, ज्ञान आदि का त्रैविध्य कहने की भी यहाँ भगवान् को क्या आवश्यकता हुई। उसका उत्तर यह है कि अर्जुन के प्रश्न का आशय यही था कि शास्त्र को बिना जाने भी हमें अनेक बातों के बल पर यह भरोसा रहता है कि हम ठीक मार्ग पर चल रहे हैं और युक्ति और आत्मविश्वास से प्रेरित होकर हम यह समझ बैठते हैं कि हमें सत्कर्मानुष्ठान के लिए शास्त्र ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं। बिना उसके भी हम श्रेयोमार्ग का आश्रय लेकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यह भरोसा जिन बातों के बल पर हमें प्राप्त होता है, उनमें प्रधान स्थान श्रद्धा का है। उसी के लिए अर्जुन ने प्रश्न भी किया। अपनी श्रद्धा के बल पर हम बहुधा शास्त्र की अवहेलना करते हैं और यह समझते हैं कि यदि हममें श्रद्धा है तो हमें उसके अनुसार कार्य करते रहना चाहिए। उससे बिना शास्त्र ज्ञान के भी हम अवश्य मोक्ष या परम पुरुषार्थ के अधिकारी बन जायेंगे। श्रद्धा के उपरान्त फिर त्याग के बल पर हमें शास्त्रों की अवहेलना करने का अवसर मिलता है। दान आदि भी उसी के अङ्ग हैं। शास्त्र के प्रतिकूल आचरण करने वाले व्यक्ति भी बहुधा ऐसा सोचते हैं कि त्याग, दान आदि से हमें लोकप्रतिष्ठा और सद्गति दोनों प्राप्त हो सकते हैं। उसके उपरान्त ज्ञान का स्थान आता है। बहुत से व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर शास्त्रीय आज्ञाओं की अवहेलना करते हैं और यह समझते हैं कि ज्ञान से बढ़कर संसार में कोई बात नहीं हो सकती और ज्ञान हो जाने पर शास्त्रीय विधिनिषेधों का पालन करने की अनिवार्यता नहीं रह जाती। कुछ लोगों को यह भी विश्वास हो जाता है कि अच्छे-अच्छे कार्य हमेशा करते रहना चाहिए उसी से सद्गति मिलती है।

बहुत से लोगों को अपने कर्तृत्व का ही बड़ा बल मालूम होता है। जब मैं अमुक-अमुक कार्यों का कर्ता हूँ तो मेरी अधोगति क्यों होगी, यह बात उनके मन में रहनी चाहिए। इसके बाद बुद्धि का क्रम आता है। कुछ लोगों का यही विश्वास होता है कि सभी कार्य बुद्धि के अनुसार करते रहने से श्रेययोगति अवश्य होगी। हम चाहे कुछ भी करें, परन्तु हमारी बुद्धि शुद्ध रहनी चाहिए तो हमें अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होगी। इसके आगे कुछ लोग जीवन में धृति या संयम को ही सब कुछ मानते हैं, और अन्ततः कुछ लोगों का सुख प्राप्त करने में ही बड़ा बल रहता है कि जब हम सुखों का उपभोग कर रहे हैं तब हमें श्रेय की प्राप्ति क्यों नहीं होगी। इन्हीं सब शक्तियों के आधार पर शास्त्र विधि का परित्याग विचारक लोग भी कर दिया करते हैं औरों की तो बात ही क्या। उन्हीं सबका भगवान् ने क्रमशः निराकरण करते हुए तीनों गुणों के योग से उनको तीन-तीन प्रकार का दिखाकर यह सिद्ध कर दिया कि इन सबके सात्त्विक भेद ही श्रेयोमार्ग की ओर ले जाने वाले होते हैं, राजस और तामस भेदों का आश्रय लेने वाला पुरुष लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। आगे सात्त्विकी बुद्धि का स्वरूप दिखाते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“हे पार्थ ! जो बुद्धि प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय, बन्ध और मोक्ष का सम्यक् ज्ञान रखती है, वह बुद्धि सात्त्विकी बुद्धि होती है” (३०)

कर्म मार्ग को यहाँ प्रवृत्ति शब्द से और मोक्ष मार्ग को निवृत्ति शब्द से कहा है, ऐसा श्रीशंकराचार्य आदि आचार्यों का आशय है। निवृत्ति को श्रीशंकराचार्य ने संन्यास मार्ग कहा है। कार्य और अकार्य का तात्पर्य शास्त्रविहित कर्मों का करणीय रूप से ज्ञान और शास्त्र के द्वारा निषिद्ध कर्मों का वर्जनीय रूप से ज्ञान है। शास्त्रविहित कर्म दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले होते हैं, उनमें भी देश, काल, पात्र आदि का विचार किया जाता है। सात्त्विक बुद्धि में इन सभी बातों को जानने की शक्ति होती है। भय और अभय का ज्ञान भी सात्त्विक बुद्धि में ही प्रतिफलित होता है। सात्त्विक बुद्धि ही संसार बन्धन के और मोक्ष के स्वरूप को जानने में समर्थ हो सकती है। साथ ही सात्त्विक बुद्धि में सांसारिक बन्धन और मोक्ष के कारणों को भी जानने की शक्ति रहती है। आगे राजसी बुद्धि का विवेचन करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“धर्म, अधर्म तथा कार्य, अकार्य को जिससे समझने वाला पुरुष विपरीत रूप से समझने लगता है वह बुद्धि राजसी कही जाती है” (३१)

राजसी बुद्धि के द्वारा धर्म अधर्म तथा कार्य अकार्य के विषय में जो निर्णय किया जाता है, वह विपरीत होता है। राजसी बुद्धि से हम जिसे धर्म समझते हैं, वह



वस्तुतः अधर्म होता है। मनुष्य राजसी बुद्धि के प्रभाव से ही अधर्म को भी धर्म समझ बैठता है। इसी प्रकार राजसी बुद्धि जिसे अधर्म समझती है, वह वस्तुतः धर्म होता है। यही बात कार्य तथा अकार्य के साथ है। जिसे राजसी बुद्धि कर्तव्य के रूप में बोधन करती है वह वस्तुतः कर्तव्य की सीमा से पृथक् होता है और जिसे न करने को राजसी बुद्धि समझती है, वह कर्तव्य की सीमा में होता है। श्रीनीलकण्ठ ने यहाँ 'अयथावत्' का अर्थ 'सन्दिग्ध रूप' से किया है। अर्थात् राजसी बुद्धि के धर्म, अधर्म तथा कार्य अकार्य के विषय में किए गए निर्णय सर्वदा सन्दिग्ध ही रहते हैं। राजसी बुद्धि के मनुष्यों को अपने ज्ञान तथा कार्यों के विषय में सर्वदा सन्देह ही बना रहता है कि हमारा यह ज्ञान समीचीन है अथवा नहीं, अथवा हमारे द्वारा किया गया यह कार्य उचित है या नहीं।

आगे तामसी बुद्धि का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“जो बुद्धि अधर्म को धर्म समझती है, जो तमोगुण से आवृत होती है, जिससे सभी बातें विपरीत ही दिखलाई दिया करती हैं, हे पार्थ ! वही बुद्धि तामसी बुद्धि है” (३२)

तम से आवृत रहने वाली बुद्धि तामसी होती है। तम का विवरण करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि किसी भी पदार्थ की विशेषता को समझाने में जो प्रतिबन्ध आता है उसे ही तम कहते हैं। इस प्रकार के प्रतिबन्ध से युक्त जो बुद्धि होती है उसमें किसी भी पदार्थ की भेदक विशेषता का आभास नहीं होता। जब तक हम किसी भी पदार्थ की अन्य पदार्थों से भेदक विशेषता को न समझें तब तक उस पदार्थ का यथार्थ रूप क्या है यही हम नहीं जान सकते। हम उसकी आपाततः प्रतीत होने वाली विशेषता से ही उसके स्वरूप को समझने का प्रयत्न करते हैं जिससे उस वस्तु के विपरीत गुण धर्म ही हमारे ध्यान में आ सकते हैं। इसी के फल स्वरूप तामसी बुद्धि वाले मनुष्य अधर्म को धर्म समझ बैठते हैं, तथा अन्य सभी पदार्थों को विपरीत ही समझते हैं।

जो सज्जन बुद्धिवाद के बल पर ही समस्त व्यवहारों का सञ्चालन करने की सलाह देते हैं और शास्त्रों के ज्ञान को एक तरफ रख देने का उपदेश देने का साहस करते हैं, उनको बुद्धि के भेदों के गीता के इस प्रकरण का विशेष मनन करना चाहिए। आज प्रायः लोगों की यह धारणा देखने में आती है कि अच्छे और बुरे की पहिचान के लिए हमें भगवान् ने बुद्धि दी है। हमें अपनी बुद्धि से ही सब कुछ निर्णय लेना चाहिए, व्यर्थ ही शास्त्रों के आधारके अन्वेषण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इस

प्रकार के विचार रखने वाले सज्जनों से हमारा यही कहना है कि शास्त्रों को अपने व्यवहारों में प्रमाण रूप मानने का परिश्रम हमारे प्राचीन आचार्यों ने व्यर्थ ही नहीं उठाया था। जो लोग शास्त्रानुसार आचरण करते हैं उन्हें अपने क्रिया कलाप में कोई श्रम न करना पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है। परन्तु फिर भी अपनी बुद्धि के अनुसार न चलकर शास्त्रों में नियत की गई मर्यादाओं का पालन करने का भार स्वीकार करने में यही रहस्य है कि यदि हमने पूरे व्यवहार संचालन का भार अपनी बुद्धि पर ही छोड़ दिया तो हमारी बुद्धि रजोगुण और तमोगुण की ओर हमें घसीट ले जायगी और हम न तो ऐहलौकिक उन्नति ही संपादित कर सकेंगे और पारलौकिक दृष्टि के नष्ट हो जाने से पारलौकिक उन्नति तो हमसे बहुत दूर चली जायगी। हमें अपनी बुद्धि को सात्विक बनाने के लिए शास्त्रानुसार ही आचरण करना पड़ेगा। शास्त्रानुगामिनी बुद्धि ही सात्विक कहलाती है। इसीलिए भगवान् ने कार्य और अकार्य के निर्णय में पहिले ही शास्त्र को प्रमाण मानने के सिद्धान्त का विस्पष्ट रूप से प्रतिपादन कर दिया है।

लोकमान्य तिलक ने यहाँ पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा सत् और असत् कार्य के निर्णय के लिए जो एक देवता की कल्पना की है उसका उत्तर देते हुए लिखा है कि वह कोई पृथक् देवता नहीं अपितु सात्विक बुद्धि ही है। आगे धृति और सुख के भेद कहे जाते हैं।

---

## उनसठवाँ-पुष्प

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ।

प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥३५॥

“हे पार्थ ! जिस अव्यभिचारिणी धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं का मनुष्य योग से धारण करता है वह धृति सात्त्विक कही जाती है” (३३)

श्रीशंकराचार्य का यहां यह आशय है कि धृति का कार्य है रोकना। सात्त्विक धृति से मनुष्य अपने मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को उन्मार्ग में जाने से अथवा शास्त्र विरुद्ध आचरण से रोकता है। वह धृति अव्यभिचारिणी होनी चाहिए, अर्थात् इधर-उधर डिगने वाली न होनी चाहिए। अव्यभिचारिणी का अर्थ कुछ व्याख्याओं में समाधियुक्ता भी किया गया है। समाधि ही धृति की परम अवस्था है। मन, प्राण और शारीरिक व्यापारों का जो धारण धृति के द्वारा होता है वह योग के द्वारा होता है। योग का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने समाधि किया है। श्रीरामानुजाचार्य ने योग का अर्थ मोक्ष साधन का उपायभूत भगवदाराधन ‘योगेन’ शब्द से लिया है और योग को ही इस धृति के द्वारा क्रियाओं के धारण का प्रयोजन कहा है। श्रीनीलकण्ठ ने चित्त वृत्ति के निरोध को ही योग कहा है, जो कि योग का लक्षण है। वस्तुतः योग शब्द के साथ तृतीया विभक्ति के श्रुत होने से यही अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है कि योग यहाँ धृति का साधन ही है। योग दर्शन में योग को या समाधि को परम प्रयोजन ही माना जाता है। आलम्बन के लिए वहाँ ईश्वर को स्वीकार कर लिया जाता है। परन्तु गीता का तो स्पष्ट सिद्धान्त है कि परमलक्ष्य तो ब्रह्म साक्षात्कार ही है। अतः यहाँ योग को साधन के रूप में स्वीकार करना ही युक्तियुक्त है।

लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि धृति का अर्थ ‘धैर्य’ होता है, परन्तु यहाँ शारीरिक धैर्य से तात्पर्य नहीं अपितु मानसिक धैर्य से तात्पर्य है। मन का दृढ़ निश्चय ही यहाँ धृति शब्द का अर्थ है। मन और बुद्धि ये दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं। बुद्धि का कार्य है निश्चय करना, परन्तु बुद्धि के द्वारा किए गए निश्चय यदि स्थिर न हों, उनकी

स्थिति यदि कहीं न हो तो वे बुद्धि के निश्चय किसी काम के नहीं होते। अनेक पुरुष इस प्रकार के देखने में आते हैं, जिनकी बुद्धि तो बड़ी प्रखर होती है, उनके निर्णय भी बिल्कुल ठीक उतरते हैं, परन्तु उनके द्वारा किए हुए कार्य उनकी बुद्धि के निर्णय के अनुकूल नहीं होते। इसका कारण यही है कि बुद्धि के सात्विक होने पर भी उनकी धृति सात्विक नहीं होती। सात्विक धृति में योग की उपादेयता बतलाते हुए लोकमान्य तिलक कहते हैं कि अव्यभिचारी या इधर-उधर न जाने वाले धैर्य के बल पर मन, प्राण और इन्द्रियों के क्रिया कलापों को आधारित करना चाहिए। साथ ही यह भी बतलाना आवश्यक हो जाता है कि वे क्रियाकलाप होते किस पर हैं, दूसरे शब्दों में उन क्रियाओं का कर्म कौन है। उसी कर्म को यहाँ भगवान् ने योग शब्द से कहा है। लोकमान्य तिलक ने योग शब्द का अर्थ किया है 'कर्मफल त्याग'। उनका कथन है कि योग का अर्थ केवल 'एकाग्रचित्त' कर देने से काम नहीं चलता, अपितु जैसे सात्विक कर्त्ता का परिचय देते समय फल की आसक्ति छोड़ने को ही उसका प्रधान गुण कहा गया था, उसी प्रकार सात्विक धृति के लक्षण में भी फल की आसक्ति छोड़ने का कथन करना आवश्यक है, वही यहाँ योग शब्द से भगवान् ने कहा है। राजसी धृति का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“हे अर्जुन ! अवसर आने पर फल की आङ्क्षा से प्रेरित होकर मनुष्य जिससे धर्म, काम और अर्थ को धारण करता है, वही राजसी धृति है” (३४)

लोकमान्य तिलक ने विगत पद्य के 'योगेन' पद पर जो बात कही थी, हमारी दृष्टि में उसका समाधान यहाँ के प्रसङ्गेन' पद से हो जाता है। वहाँ यह कहा गया था कि वह धृति सात्विक होती है जो अव्यभिचारिणी अर्थात् अविचलित ही होती हुई मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को योग से धारण करें। विगत पद्य में धर्म, अर्थ, काम का नाम ग्रहण नहीं किया है, परन्तु यहाँ के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ भी धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धिनी मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं से ही तात्पर्य है। विशेषता केवल यही है कि वहाँ धृति को अव्यभिचारिणी कहा है और यहाँ कर्त्ता के लिए फलाकांक्षी कहा है। सात्विक धृति धर्मादि क्रियाओं को अव्यभिचारित अर्थात् नियत रूप से धारण करती है और राजसी धृति फलाकांक्षी होने पर धर्मादि को धारण करती है। सात्विक धृति नियम से धारण करती है अर्थात् सात्विक धृति कभी धर्मादि क्रियाओं को छोड़ती नहीं, परन्तु राजसी धृति प्रसङ्ग आने पर ही धर्मादि को धारण करती है। जो सात्विक धृति वाले होते हैं, वे कितनी ही आपत्ति आने पर भी धर्मादि क्रियाओं से अणुमात्र भी विचलित नहीं होते, परन्तु राजस धृति वाले धार्मिक आदि कृत्यों का

नियमित रूप से अनुष्ठान करना छोड़ते हैं। केवल विशेष प्रसङ्ग या अवसर आने पर धार्मिक आदि कृत्यों का अनुष्ठान कर लेते हैं।

तामसी धृति का विवरण देते हुए भगवान् कहते हैं—

“तामसी धृति वह है जिसके वशीभूत होकर तामसी बुद्धि वाला पुरुष निद्रा, भय, शोक, विषाद और मद को नहीं छोड़ता” (३५)

तामसी धृति के उक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि वह धैर्य का अत्यन्त विगर्हित रूप है। निद्रा में लिप्त रहने वाला पुरुष जाग्रत अवस्था में भी निद्रित के समान ही आचरण करता है। तामसी धृति उसे सर्वदा आशंकाओं से युक्त रखती है, अतः वह सर्वदा अनेक प्रकार के भयों से आक्रान्त रहता है। वह धृति कभी उस पर से भय की छाया हटने नहीं देती। एक भय हटते ही दूसरा भय उस पर सवार हो जाता है। भय के ही फल स्वरूप उसका चित्त विषाद से आकुल रहता है। वह मद से भी सर्वथा मत्त रहता है। अनेक प्रकार के मादक द्रव्यों का सेवन वह करने लगता है। तामसी धृति के इस विवरण को देखकर इससे सर्वथा बचने की प्रेरणा भगवान् ने दी है यह स्पष्ट है। मन के धर्म धृति का गुणानुसारी विवेचन करके और सात्त्विक धृति के ही प्राप्त करने योग्य होने को अभिव्यञ्जित करके आगे भगवान् सुख को भी तीन प्रकार का बतलाते हैं।

---

## साठवां-पुष्प

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ! ।  
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥  
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।  
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥  
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।  
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥  
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।  
निद्रालयस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥  
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।  
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

“हे भरत श्रेष्ठ ! अब मुझसे तीन प्रकार के सुख का विवरण सुनो, जिसमें मनुष्य अभ्यास वश रमण करता है और दुःख का अन्त प्राप्त कर लेता है।” (३६)

प्रस्तुत पद्य की अवतरणिका में व्याख्याकारों ने लिखा है कि अब तक क्रिया और कारकों का गुणों के अनुसार भेद कथन भगवान् ने किया। अब इनका जो फल है, वह सुख ही है। अतः सुख का भी गुणों के अनुसार त्रिविध वर्गीकरण करते हुए उसका स्वरूप निर्देश भगवान् करते हैं। सुख के स्वरूप कथन के उपक्रम रूप प्रस्तुत पद्य में—

### ‘अभ्यासाद्रमते’

का अर्थ है कि मनुष्य सुख में अभ्यास वश आनन्द प्राप्त करता है। अभ्यास का अर्थ है बार-बार उसका अनुभव करना। सुख का एक बार ही यदि अनुभव हो और उसके उपरान्त सुख का अनुभव यदि बन्द हो जाय तो ऐसे अल्प सुख के लिए मनुष्यों की इतने संरम्भ से प्रवृत्ति न हो। सुख का प्रमुख आकर्षण इसी बात में होता है कि वह बार-बार कारण सामग्री उपस्थित रहने पर प्राप्त होता रहता है। सुख की दूसरी विशेषता है कि मनुष्य सुख का अनुभव करता हुआ ही दुःख के अन्त को प्राप्त करता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस पद्य में तो सुख के सामान्य परिचय में ही यह कहा जा रहा है, ऐसा मानना होगा। तब राजस और तामस सुख प्राप्त करता

हुआ भी मनुष्य दुःख के अन्त को कैसे प्राप्त करेगा। सात्त्विक सुख के विषय में ही केवल यदि यह कहा जाय तब तो ठीक हो सकता है। परन्तु अवतरणिका के इस पद्य में तो सुख के सामान्य रूप का ही परिचय मानना होगा। सात्त्विक सुख का विशेष विवरण तो अग्रिम पद्य में किया जायगा। तब सभी प्रकार के सुख से दुःख का अन्त मनुष्य कैसे प्राप्त कर लेगा। राजस और तामस सुख तो दुःख का अन्त कर देने वाले होंगे नहीं।

श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि ने “दुःखान्तं च निगच्छति” का अर्थ करते हुए लिखा है कि समाधि में होने वाला सुख ही वह सुख है जिसमें अभ्यास करते करते मनुष्य रम जाता है और सांसारिक दुःखों से छूट जाता है। समाधि सुख सात्त्विक सुख ही है। तब इस कथन की संगति इसी प्रकार लगानी होगी कि यहाँ यद्यपि भगवान् ने सामान्य रूप से ही सुख का परिचय दिया। परन्तु जिस प्रकार पहिले कहे गए विवेचनों में सात्त्विक भेद ही उपादेय हैं, राजस और तामस हेय होते हैं, उसी प्रकार यहां भी सात्त्विक सुख जो समाधि सुख आदि के रूपों में अनुभूत होता है वही श्रेष्ठ और उपादेय है। राजस और तामस सुखभेद पूर्ववत् ही हेयता दिखलाने के लिए ही कहे गए हैं, इसमें तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

श्रीनीलकण्ठ ने सुख सामान्य पर भी इसे इस प्रकार लगाया है कि व्यवहार दशा में जब मनुष्य पुत्रमरणादि के अवसर पर परम दुःख से आकुल हो उठता है, उस समय अभ्यास वश पुनः जिन बातों में उसे सुख प्राप्त हुआ करता है, उससे तात्कालिक दुःख का उपशम हो जाता है। उस सुख का ही आश्रय लेकर मनुष्य बड़ा से बड़ा दुःख भी कालान्तर में भुला देता है। यदि ऐसा न होता तो यह संसार तो दुःखों से भरा है, उन दुःखों से दबा रहने के कारण मनुष्यों का अनेक वर्षों तक जीवित रहना ही कठिन हो जाता है। परन्तु जैसे संसार में दुःख ही दुःख भरा है, वैसे ही उसके साथ सुख भी सर्वत्र विद्यमान है। उस सुख के ही आधार पर मनुष्य बड़े से भी बड़े दुःख के आघात को सहन कर जाता है और शनैः शनैः उस दुःख के अन्त को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार राजस और तामस दुःख पक्ष में श्लोक को लगाकर फिर श्रीनीलकण्ठ ने सात्त्विक सुख की ओर भी इस पद्य को पूर्व क्रम से लगा दिया है। आगे सात्त्विक सुख का विवरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

“अपनी बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होने वाला वह सुख सात्त्विक सुख माना गया है जो आगे तो विष के समान प्रतीत होता हो परन्तु परिणाम में अमृत के समान हो” (३७)

श्रीशंकराचार्य ने इसका विवरण करते हुए लिखा है कि ज्ञान, वैराग्य, ध्यान तथा समाधि के आरम्भ में अत्यन्त परिश्रम होने के कारण विष के समान वह कठोर प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम में ज्ञान, वैराग्य आदि की प्राप्ति होने पर वह अनुभव सर्वथा विपरीत स्थिति में पहुँचकर अमृत के समान मधुर हो जाता है। उसे ही सात्विक सुख की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः सुख और दुःख अंधकार और प्रकाश की भांति सर्वदा सम्बद्ध रहते हैं। भेद इतना ही होता है कि कभी आरम्भ में ही अत्यधिक सुख प्राप्त हो जाता है और अन्त में दुःख ही दुःख शेष रह जाता है, जैसा कि आगे तामस दुःख के स्वरूप विवरण में भगवान् कहेंगे और कहीं प्रारम्भ में ही अत्यधिक विष के समान अप्रिय दुःख की अनुभूति हो जाती है, परन्तु अन्त में फिर सुख ही सुख अवशिष्ट रह जाता है, जिसकी उपमा यहां अमृत से दी गई है। परन्तु सुख दुःख से सर्वदा अनुगत रहता है और दुःख सुख से अनुगत रहता है। मनुष्य को सात्विक सुख प्राप्त करने की चेष्टा में निरत रहना चाहिए। अर्थात् शास्त्रों के उपदेशों के पालन में निरत रहना चाहिए। शास्त्रों के उपदेशों के परिपालन में प्रारम्भ में तो महान् कष्ट उठाना पड़ेगा, परन्तु अन्त में सुख ही सुख अवशिष्ट रह जाता है। यहाँ सुख के परिचय में भगवान् ने अलंकारिक शैली का आश्रय लिया है। उपमा देते हुए उन्होंने सात्विक सुख के स्वरूप को समझाया है। उपमा उसी वस्तु की दी जाती है, जिसको सभी लोग, विशेष कर जिसको सम्बोधन करके कहा जा रहा हो, वह अवश्य जानता हो, अपनी जानी पहचानी वस्तु की समानता की कल्पना करके बिना जानी हुई वस्तु का भी आंशिक परिचय मिल जाया करता है। यदि किसी व्यक्ति ने 'गवय' नाम का पशु नहीं देखा तो उसे समझाने के लिए कह दिया जाता है कि 'गवय' पशु गाय के समान ही होता है। गाय को उसने प्रत्यक्ष देखा है। उसी के गुण धर्मों की कल्पना वह गवय में भी कर लेता है। यहाँ जो भगवान् ने विष तथा अमृत का प्रत्यक्ष अनुभव अर्जुन को तो है नहीं; क्योंकि विष का प्रत्यक्ष अनुभव करने के उपरान्त तो मृत्यु हो जाती है, और अमृत का प्रत्यक्ष अनुभव करने के उपरान्त प्राणी अमर हो जाता है। अर्जुन में ये दोनों बातें नहीं हैं। तब वह इन उपमानों के आधार पर सात्विक सुख के रूप को कैसे समझेगा। इसका उत्तर यही है कि उपमान का प्रत्यक्ष अनुभव आवश्यक नहीं होता। उपमान प्रसिद्ध होना चाहिए इतना ही आवश्यक होता है। विष और अमृत का अनुभव यद्यपि किसी को नहीं होता फिर भी वे इतने प्रसिद्ध हैं कि सभी को उनके विषय में ज्ञान होता है। इसलिए इतने प्रसिद्ध उपमान के आधार पर सात्विक सुख के स्वरूप को भगवान् ने समझा दिया। सात्विक सुख के विषय में भगवान् ने यह भी इस पद्य में कहा है कि वह अपनी बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है। लोकमान्य



तिलक ने इस पद्य की विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि बुद्धि हमारे स्वरूप में एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा आत्म स्वरूप परब्रह्म का भी दर्शन हो सकता है और संसार का भी अनुभव होता है। यह समान रूप से प्राणि मात्र में व्याप्त है। यह बुद्धि जब आत्मा की ओर उन्मुख होती है तब जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसी से उत्पन्न होने वाला सुख सात्विक कहा जाता है।

श्रीशंकरानन्द ने अपनी व्याख्या में यह प्रश्न उठाया है कि हम देखते हैं कि ब्रह्मवेत्ताओं को जो ब्रह्मज्ञानरूपी सुख प्राप्त होता है उसमें योग साधन और समाधि में अत्यन्त क्लेश सहन करना पड़ता है। पुराण आदि में ऋषियों की तपस्याओं का जो वर्णन प्राप्त होता है, उसे देखने से यही स्पष्ट होता है कि अपने शरीर को अनेक प्रकार के शीतातप सहन करने के कष्ट देकर ब्रह्म सुख की प्राप्ति वे करते थे। उसकी तुलना में जो विषयों का सुख है, वह अति सुलभ है। सुख दोनों को ही कहा जाता है। तब अनायास या अल्प आयास से प्राप्त होने वाले विषय सुख की ही प्राप्ति क्यों की जाय। उसे ही सात्विक सुख क्यों माना जाय, विषय सुख को भी सात्विक सुख क्यों न समझा जाय। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीशंकरानन्द ने अपनी व्याख्या में अनेक विकल्प उठाए हैं। विषयों का सुख किसका धर्म कहा जाय ? उत्तर नकारात्मक है। विषय सुख को विषयों का धर्म नहीं माना जा सकता। यदि वह विषयों का धर्म होता तो विषयों की उपस्थिति में सर्वदा उस सुख की अनुभूति होनी चाहिए थी। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। विषयों का सेवन करते समय प्रारम्भ में जो सुख उपलब्ध होता है, दूसरे क्षण में वह सुख उपलब्ध नहीं होता। अधिक विषय सेवन करने पर उन विषयों से अरुचि ही हो जाती है। उदाहरण के लिए किसी को कोई मिठाई बड़ी प्रिय है। परन्तु पर्याप्त मिठाई खा लेने के अनन्तर जब पुनः वही मिठाई सामने उपस्थित होती है तो वह उससे अरुचि प्रकट करने लगता है। इससे स्पष्ट है कि विषय तो उपस्थित है, परन्तु उससे अब सुख के स्थान पर अरुचि ही मिल रही है। अतः विषयों से प्राप्त होने वाला सुख विषयों का धर्म नहीं है। तब यदि यह कहा जाय कि विषयों का सुख विषयों का धर्म नहीं अपितु इन्द्रियों का धर्म है तो यह भी समीचीन नहीं होता, क्योंकि विषयों के सन्निहित रहने पर ही उस सुख की उपलब्धि होती है, विषय यदि दूर स्थित हों तो इन्द्रियों के रहते हुए भी उस सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः वैषयिक सुख को इन्द्रियों का धर्म भी नहीं माना जा सकता। यदि कहा जाय कि वैषयिक सुख कर्मों का धर्म है। विशेष प्रकार के कर्मों के करने से वैसा सुख प्राप्त होता है तो यह भी उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि सुख को पुण्य कर्मों से उत्पन्न होने वाला उनका कार्य माना गया है। जो जिससे उत्पन्न होने वाला है, जिसका कार्य

है, वह उसका धर्म नहीं होता। अग्नि से भोजन उत्पन्न होने वाला है, जिसका कार्य है, वह उसका धर्म नहीं होता। अग्नि से भोजन बनता है भोजन बनाना अग्नि का कार्य है, न कि धर्म। यदि सुख को कर्मों का कार्य न मानकर धर्म ही माना जाय तो उसमें यह आपत्ति आती है कि जैसे अग्नि के जलते ही उसके धर्म उष्णता का तत्काल अनुभव होने लगता है वैसे ही पुण्य कार्य करते ही उसके सुख का भी अनुभव होना चाहिए। ऐसा नहीं देखा जाता। कर्म करने के समकाल में ही उसके सुख का अनुभव नहीं होता। अतः वैषयिक सुख को कर्मों का धर्म भी नहीं माना जा सकता। यदि कहा जाय कि वह सुख भोक्ता का ही धर्म है तो वह भी नहीं बनता, क्योंकि भोक्ता सर्वदा सुखी नहीं रहता, वह दुःखों के आघात से पीड़ित भी देखा जाता है। स्वर्गादि स्थान सुखमय माने गए हैं। यहाँ भी जब सुख का अनुभव होता है तो यही कहा जाता है कि यह स्वर्ग है। इसलिए सुख को स्वर्गादि स्थान विशेषों का धर्म ही क्यों न समझ लिया जाय। परन्तु ऐसा भी स्वीकार नहीं किया जा सकता यदि सुख को स्थान विशेष या देश विशेष का ही धर्म मान लें तब जो सुख की अभिलाषा रखते हैं उनके स्वर्ग जाने का प्रसङ्ग ही समाप्त हो जाता है। स्वर्ग में भी सुख ही मिलेगा और यहाँ भी विशेष स्थान पर सुख मिल ही रहा है, तब स्वर्ग जाने का प्रसङ्ग ही नहीं आवेगा। साथ ही किसी भी स्थान के लिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि वहाँ सुख ही मिलेगा, दुःख का वहाँ सर्वथा अभाव रहेगा। स्वर्ग में भी असुरों के त्रास से देवताओं को कष्ट प्राप्त होने की कथाएं पुराणों में वर्णित हैं। अतः वैषयिक सुख को स्थान विशेष या देश विशेष का धर्म भी नहीं कहा जा सकता। अब यह कहें कि जब सुख का समय आता है तभी सुख मिलता है। भाग्यानुसार सुख और दुःख के प्राप्त होने का समय निश्चित रहता है। उसी के अनुसार सुख की प्राप्ति देखी जाती है। अतः सुख को समय या काल का धर्म कहना चाहिए। तो यह कथन भी यथार्थ नहीं, यदि ऐसा हो तो जैसे सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि कालानुसार सर्वत्र होते हैं, वैसे ही काल धर्म होने पर निश्चित काल में सर्वत्र सुख का ही अनुभव होना चाहिए। किन्तु किसी विशेष काल में सर्वत्र सबको सुख का ही अनुभव होता हो ऐसा नहीं देखा जाता। अतः सुख काल का भी धर्म नहीं है।

विषय सुख को अज्ञान का ही धर्म मान लिया जाय यह भी एक पक्ष है। किसी भी सुख पहुँचाने वाली वस्तु के यथार्थ रूप को जान लेने पर उस सुख की प्रतीति समाप्त हो जाती है। सुख तभी तक मिलता है जब तक हम उसका वास्तविक रूप नहीं जानते। अतः सुख को अज्ञान का ही धर्म क्यों न माना जाय इस पक्ष का उत्तर तो सरल ही है, कि यदि किसी वस्तु के विषय में यह ज्ञान न रहे कि अमुक वस्तु

हमारी भोग्य है, तब तक सुख नहीं होता। भोग्यत्व के अज्ञान में सुख नहीं होता, इससे सिद्ध है कि सुख अज्ञान का भी धर्म नहीं है। तब सुख को ज्ञान का ही धर्म मान लिया जाय। भोग्यत्व ज्ञानरहने पर तो सुख का अनुभव होता ही है। इसका उत्तर है कि विरक्त पुरुष को वस्तु के भोग्यत्व का ज्ञान रहने पर भी उससे सुख का अनुभव नहीं देखा जाता। अतः सुख को ज्ञान का भी धर्म नहीं कहा जा सकता।

एक पक्ष यह भी उठता है कि सुख तब होता है जब इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य से विरत हो जाती हैं। अतः सुख को इन्द्रियों के व्यापार का अभाव रूप ही कह देना चाहिए। परन्तु यह पक्ष तो अनुभव विरुद्ध है। स्वप्न में मनुष्य को सुख प्राप्त नहीं होता, जबकि सभी इन्द्रियों के व्यापारों को विराम हो जाता है। व्यतिरेक के अभाव का भी उदाहरण इस पक्ष में मिल जाता है कि भोजनादि के समय इन्द्रियों के व्यापार जब चलते रहते हैं, उस समय सुख का अनुभव होता है। अतः सुख को इन्द्रियों के व्यापार का अभाव रूप मानना यह पक्ष भी अनुभव विरुद्ध है। वैषयिक सुख के स्वरूप के लिए अन्तिम पूर्व पक्ष लिखते हुए श्री शंकरानन्द कहते हैं कि अन्ततः सुख को दुःखाभाव रूप कह देने से सुख का परिचय मिल जाता है। सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी सुख के अभाव के समय दुःख के अभाव का अनुभव करता ही है। अतः सुख दुःख का अभाव रूप है, ऐसा कह देने से सांसारिक सुख का परिचय हो जाता है। परन्तु यह पक्ष भी त्रुटिशून्य नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए जो जड़ पदार्थ पत्थर, लकड़ी, मिट्टी आदि हैं, उन्हें दुःख नहीं होता। उनमें सर्वदा दुःख का अभाव रहता है। दुःख के अभाव को ही सुख मानने पर सभी जड़ पदार्थों में सर्वदा सुख की स्थिति माननी पड़ेगी। इस पक्ष को अत्यन्त निम्नकोटि का पक्ष दिखाते हुए श्रीशंकरानन्द ने लिखा है कि दुःख के अभाव को ही सुख कहने का अभिप्राय सुख को अभाव रूप मानना ही है। परन्तु आपामर प्राणीमात्र का अनुभव इस बात का साक्षी है कि सुख अभाव रूप नहीं अपितु भाव रूप है। तब क्या सुख को आत्मा का ही धर्म मानना चाहिए। इस पर श्रीशंकरानन्द लिखते हैं कि सुख आत्मा का धर्म नहीं, अपितु आत्मा का स्वरूप ही है। फिर प्रश्न होता है कि यदि सुख आत्मा का ही स्वरूप है तो जैसे—“मैं सुखी हूँ” यह अनुभव होता है, वैसे ही “मैं दुखी हूँ” यह भी अनुभव होता है। अतः दुःख को भी आत्मा का स्वरूप मानना चाहिए। उसका उत्तर देते हुए श्रीशंकरानन्द कहते हैं कि दुःख आत्मा का स्वरूप नहीं है अपितु वह आत्मा पर कल्पित या आरोपित है। जैसे किसी महान् कष्ट का अनुभव होने पर “मैं मर गया” ऐसा कोई कहे तो वह वास्तव में मरता नहीं, मरना उसका मिथ्या ज्ञान या आरोपित अनुभव ही है, वैसे ही “मैं दुखी हूँ” यह भी उसका आरोपित ज्ञान,

अतएव मिथ्या अनुभव ही है। आत्मा तो सुख स्वरूप ही है। अतः आत्मा का सुख ही वास्तविक सुख है। विषयों में जो सुख का अनुभव होता है वह भी उनकी आत्मा के प्रति अनुकूलता के कारण ही होता है। आत्मसुख का साक्षात्कार समाधि आदि के द्वारा ही हो सकता है। इसलिए सात्विक सुख में उसी की गणना यहाँ अभीष्ट है और समाधि आदि के प्रारम्भ में क्लेश का अनुभव होने से यहाँ भी सात्विक सुख का वैसा ही लक्षण भगवान् ने किया है कि जो प्रारम्भ में विष के समान और परिणाम में अमृत के समान हो वही सात्विक सुख है।

“राजस सुख का परिचय देते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि—विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो प्रारम्भ में तो अमृत के समान प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में जो विष के समान हो जाता है, वह सुख राजस सुख माना गया है” (३८)

विषयों और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख, विषय सुख या वैषयिक सुख कहा जाता है इसके विषय में अनुभवी पुरुषों का यह अनुभव होता है कि यह सुख कभी संतोष देने वाला नहीं होता। जितना ही अधिक विषयोपभोग से सुख प्राप्त किया जायगा उतना ही अधिक उसे और अधिक मात्रा में प्राप्त करने की अभिलाषा बढ़ती जायगी। राजा ययाति ने अपने पुत्र की युवावस्था का उपभोग करने के उपरान्त अपना यही अनुभव इस गाथा में प्रकाशित किया है कि—

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।**

**हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥**

अर्थात् विषय सुखों का अनुभव करने पर काम वासनाएं शान्त हो जाती हों यह बात नहीं है। अपितु जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत की आहुति डालने पर अग्नि और अधिक भभकती है उसी प्रकार विषयों के सेवन करने पर विषयों के प्राप्त करने की अभिलाषा और भी अधिक उग्र रूप धारण करती है। महात्मा भर्तृहरि ने वैषयिक सुख की निस्सारता का बड़ा आकर्षक वर्णन किया है कि—

**तृषा शुष्यत्यास्ते पिबति सलिलं स्वादु सुरभि ।**

**क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादि वलितान् ॥**

**प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूम् ।**

**प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥**

अर्थात् जब प्यास से मुंह सूखने लगता है तब स्वादिष्ट और सुगन्धित जल

पीकर प्यास बुझाई जाती है। जब भूख से मनुष्य व्याकुल हो जाता है तो अनेक प्रकार के शाक आदि के साथ स्वादिष्ट अन्न का सेवन करता है। जब कामाग्नि प्रदीप्त होती है तब पत्नी का आलिङ्गन करके कामाग्नि को शान्त की जाती है। इस प्रकार ये सब विषय सुख व्याधियों के प्रतीकार मात्र हैं, मनुष्य भ्रम वश ही इन्हें सुख समझता है। विषय सुखों को आनन्द दायक समझना उसी प्रकार भ्रमपूर्ण है जिस प्रकार रोग के मिटाने के लिए ली गई मीठी औषधि से पेट भरने की इच्छा करना होता है।

पद्य में कहा गया है कि विषय सुख या राजस सुख प्रारम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है। प्रारम्भ (अग्रे) का अर्थ श्रीशंकराचार्य जी ने प्रथम क्षण किया है। प्रथम क्षण में विषय सुख अमृत के समान प्रतीत होता है और परिणाम अर्थात् अन्त में विष के समान हो जाता है। इसका कारण बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य जी कहते हैं कि राजसी सुखोपभोग काल में बल, वीर्य, रूप, प्रज्ञा, मेधा, धन, और उत्साह की हानि हो जाती है। विषयोपभोग निरत व्यक्तियों का बल नष्ट हो जाता है, उनमें जो पराक्रम शक्ति है, तथा शरीर का जो सर्वश्रेष्ठ धातु वीर्य है उसका भी विषय सेवन से नाश हो जाता है। विषयी पुरुष का रूप भी साथ छोड़ दता है। अत्यन्त सुन्दर तथा कान्तिमान् पुरुष भी विषयों का सेवन करते रहने पर कुरूप प्रतीत होने लगता है। मेधा और प्रज्ञा की हानि जो श्रीशंकराचार्य ने कही है वह भी स्पष्ट ही है। धारण शक्ति को मेधा और नई-नई स्फूर्ति करने वाली बुद्धि को प्रज्ञा कहा जाता है। दोनों का ही वैषयिक सुख का उपभोग करने पर क्षय होता है। धन का व्यय करने पर ही इस प्रकार के उपभोग प्राप्त होते हैं, अतः धन की हानि भी स्पष्ट ही है। विषय सुखों का सेवन करने से उत्साह भी क्षीण हो जाता है। इसीलिए यह परिणाम में विष के समान कहा गया है। विषय सुख में या राजस सुख में लिप्त पुरुष बहुधा अधर्माचरण भी करने लगता है और इस प्रकार अधर्माचरण करने से उसे नरक में जाकर वहाँ के कष्टों को सहन करना पड़ता है। इसलिए भी इस सुख को परिणाम में विष के समान कहा गया है।

आगे तामस सुख का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“जो प्रारम्भ में तथा अन्त में भी आत्मा का मोहन ही करता हो, जो निद्रा, आलस्य, और प्रमाद से सम्भूत होता हो वह सुख तामस कहलाता है।” (३९)

राजस सुख प्रारम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है, उससे तामस सुख का यही भेद है कि वह प्रारम्भ और अन्त दोनों में ही कष्टप्रद है। तब उसे सुख ही क्यों कहा जाय, इसका उत्तर यही है कि मध्य में उसमें आनन्द का अनुभव होता है। मोह की व्याख्या करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि यहाँ मोह का यही तात्पर्य है कि

किसी भी वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है उनका परिज्ञान न होना। आत्मा के प्रकाश में ही वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप झलकता है। तामस कोटि का सुख आत्मा को ही आवृत कर देता है, अतः वस्तु का यथार्थ स्वरूप ही बुद्धि में नहीं आ पाता। आत्मा का यह मोह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से होता है। निद्रा आदि अनुभव के समय मोह के कारण बनते हैं। जब मनुष्य निद्रित अवस्था में रहता है तब उसे किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, इससे निद्रा मोह का कारण है, यह स्पष्ट ही है। आलस्य का परिचय देते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि इन्द्रियों की चेष्टाओं में मन्दता आ जाना ही आलस्य है। इन्द्रियों की चेष्टाओं में मन्दता आ जाने पर उनसे प्राप्त होने वाले ज्ञान में मन्दता आ जाती है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है, इसलिए आलस्य से समुद्भूत सुख को आत्मा का मोह हेतु कहा गया है। आवश्यक कर्तव्यों का अवधान न करना, जो कार्य जिस समय अवश्य ही करना चाहिए उसका ध्यान छोड़ देना, यही प्रमाद है। इस प्रमाद से भी ज्ञान की मन्दता बढ़ती है, इसलिए प्रमाद भी मोह का हेतु माना गया है।

इस प्रकार सुख के सात्विक, राजस, और तामसी रूपों का निरूपण हुआ, जिससे भगवान् का अभिप्राय जो कि इस प्रकरण का सार है वह स्पष्ट ही है कि राजस और तामस सुख का परित्याग करके सात्विक सुख का उपभोग करने से मनुष्य का कल्याण होता है। मुमुक्षु पुरुष को उपर्युक्त समस्त भेदों में सात्विक भेदों का ही अवलम्बन लेना चाहिए। राजस और तामस सुखादि का परित्याग कर देना चाहिए।

इन भेदों के निरूपण को सुनकर यह बात कही जा सकती है कि उपर्युक्त सुखादि में सत्त्व आदि गुणों की सीमा कहां तक है, कौन सा सुख कहाँ तक सात्विक कहलायेगा, कहाँ से वह सुख राजस हो जाता है, उसका कौन सा सुख तामस भेद के अन्तर्गत आता है, यह ज्ञान होना व्यवहार दशा में बड़ा कठिन है। अतः ऐसी बात मुमुक्षु को क्यों न कह दी जाय जिसके राजस और तामस रूप ही न हों, केवल सात्विक रूप ही उसका हो, उसी का सेवन मुमुक्षु पुरुष करता रहे, फिर उसे राजस और तामस रूपों को पहिचान कर उससे बचने का आयास ही न करना पड़े। इसका उत्तर देते हुए तथा गुणानुसार त्यागादि के भेदों की गणना का उपसंहार करते हुए भगवान् अग्रिम पद्य में कहते हैं।

“पृथ्वी में और स्वर्ग में, तथा देवताओं में ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न होने वाले इन तीनों गुणों से मुक्त हो।” (४०)

हम अपने से आर्थिक शारीरिक आदि से उन्नत पुरुषों को सुखी और दुःखी से

शून्य समझते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। ब्रह्म से लेकर घास फूस तक के सभी पदार्थ सत्त्व, रज और तम से आवृत हैं। स्वर्ग के देवता भी इन तीन गुणों से आवृत हैं। स्वर्ग और देवताओं का निर्देश भगवान् ने इसलिए किया कि प्रायः लोगों की स्वर्ग के लिए यही धारणा रहती है कि वहाँ आनन्द ही आनन्द है। देवताओं को भी ऐसा समणा जाता है कि उन्हें कभी किसी कष्ट का अनुभव नहीं होता। परन्तु भगवान् इस धारणा को निर्मूल करते हुए स्पष्ट कर रहे हैं कि कहीं भी कोई भी पदार्थ ऐसा मिल ही नहीं सकता जो इन गुणों की सीमा के बाहर हो। देवताओं को भी अनेक प्रकार के कष्ट होते हैं, जो कि तमोगुण के कार्य हैं। अतः यह समझना चाहिए कि मुमुक्षु पुरुष केवल वही करे जो केवल सात्त्विक हो, जिसका रज और तम से सर्वथा कोई सम्बन्ध ही न हो, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। अतः यही एक मार्ग कल्याण का सामने रह जाता है कि प्रत्येक कार्य करते समय उसकी सात्त्विकता की परीक्षा कर लेनी चाहिए और यह निश्चय हो जाने पर ही उस कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए कि वह कार्य सात्त्विक है। इसी से मोक्ष और कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है—

“नान्यः पन्था विद्यते”

---

## इकसठ-पुष्प

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ! ।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

शमो दमस्तथा शौचं शान्तिरार्जवमेव च ।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

परिचर्यादिकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

“हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों के द्वारा विभक्त कर दिए जाते हैं।” (४१)

गत प्रकरण में गुणों के अनुसार त्याग से लेकर सुख तक के विभाग का विस्तार से निरूपण हो चुका है। उन भेदों में सात्विक रूप का ही आश्रय लेना उचित है, यह भी भगवान् का आशय स्पष्ट किया जा चुका है। सात्विक रूप शास्त्रों में निश्चित हैं। कौन कर्म किसके लिए उपयुक्त होता है, इसका निरूपण स्वभाव से समुद्भूत गुणों के अनुसार शास्त्रों में विस्तार से लिखा गया है। अर्जुन ने जो अध्याय के प्रारम्भ में ही प्रश्न किया था कि जो लोग शास्त्र की विधियों को छोड़कर श्रद्धा पूर्वक यज्ञ यागादि करते हैं, उनकी स्थिति सत्त्व, रज और तम में से किसमें मानी जाय, इसका उत्तर भी इतने लम्बे निरूपण से हो ही गया कि सात्विक आचरण के लिए शास्त्रज्ञान पूर्वक कर्म करना ही अनिवार्य है। शास्त्रविधि की अवज्ञा करके किया गया क्रिया-कलाप रज और तम की ही श्रेणी में जाता है, उसे सात्विक कभी नहीं कहा जा सकता। इसी निर्णय के आधार पर अब यह प्रकरण प्रारम्भ होता है कि शास्त्रों में किस किस के लिए कौन-कौन कर्म सात्विक कहे गए हैं जिनका अनुष्ठान करके पुरुष श्रेय का भागी बनता है। क्या इस प्रकार का शास्त्रों में विभाग प्राप्त होता है। उसी के समाधान के रूप में भगवान् ने यह पद्य कहा है कि मनुष्यों के स्वभाव और गुणों के अनुसार कर्मों का विभाग शास्त्रों में कहा गया है। उसी के अनुसार आचरण करना चाहिए। मनुष्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चार वर्णों में विभक्त करके उनका कर्म विभाग किया गया



है। हम पहिले अपने वर्ण व्यवस्था के व्याख्यान में वर्णों की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डाल चुके हैं।

पद्य में जो “स्वभावप्रभवैः” पद आया है, उसका आशय स्पष्ट करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि सत्त्व, रज और तम ये तीनों ‘स्वभाव’ से समुद्भूत होते हैं। ‘स्वभाव’ शब्द से ईश्वर की प्रकृति या त्रिगुणात्मिका माया का ग्रहण किया गया है। उसी ईश्वर की स्वभावभूता या उसकी प्रकृतिरूपा माया से तीनों गुण उद्भूत होते हैं। इससे यह भी आचार्यवर ने ध्वनित कर दिया कि माया या प्रकृति सांख्य दर्शन के समान स्वतन्त्र यहाँ नहीं कही गई, यहाँ माया या प्रकृति को स्वभाव शब्द से कहने का यही आशय है कि जैसे मनुष्य पशु-पक्षी आदि का स्वभाव उनको छोड़ देने पर नहीं रह जाता, वैसे ही ईश्वर की स्वभावरूपिणी प्रकृति या माया भी अपने आश्रय ईश्वर के बिना नहीं रह सकती। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि गुण माया या प्रकृति से उत्पन्न नहीं होते अपितु गुणों की समष्टि का ही नाम माया या प्रकृति है। स्वभाव अर्थात् माया से गुणों को उत्पन्न हुए बतलाना यहाँ कैसे संगत होगा। इसका उत्तर यही है कि प्रकृति या माया की अवस्थाओं का नाम गुण है। गुणावस्था का उद्भव प्रकृति, माया अथवा स्वभाव से होता है, इसी आशय से यहाँ गुणों को स्वभाव से प्रभूत बतलाया गया है। तात्पर्य यह हुआ कि प्रकृति से समुद्भूत गुणों के द्वारा ब्राह्मणादि के कर्मों का विभाग किया जाता है।

दूसरे प्रकार से व्याख्या करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि ब्राह्मणादि के स्वभाव के कारण जो गुण हैं वे ही ब्राह्मणादि के स्वभाव के उत्पादक गुण ब्राह्मणादि के स्वभाव के पूर्व कैसे रहेंगे। कारण को तो कार्य के पूर्व अवश्य विद्यमान होना चाहिए। यदि ब्राह्मणादि के स्वभाव के उत्पादक गुण होते हैं तो उन्हें उनके स्वभाव के पूर्वस्थित रहना चाहिए। स्वभाव जन्म के साथ ही सम्बद्ध है। अतः जब ब्राह्मण आदि का जन्म ही नहीं हुआ तब उनके स्वभाव के उत्पादक गुण विद्यमान रहते हैं और वे ही इस जन्म के स्वभाव के उत्पादक बनते हैं। श्री शंकराचार्य तथा अन्य व्याख्याकारों ने भी किस वर्ण के स्वभाव का कौन सा गुण कारण बनता है इस बात को इस प्रकार लिखा है कि ब्राह्मण का स्वभाव सत्त्वगुण से सम्पन्न होता है। क्षत्रिय का स्वभाव गौण रूप से सत्त्व तथा प्रधान रूप से रजोगुण से बनता है। वैश्य का स्वभाव तमोगुण मिश्रित रजोगुण से बनता है और शूद्र का स्वभाव रजोगुण की गौण अवस्था और तमोगुण की प्रबल अवस्था से निर्मित होता है। इसी के फल स्वरूप ब्राह्मण प्रशान्त होते हैं, क्षत्रिय ऐश्वर्य शाली होते हैं, वैश्य अभिलाषा मय होते हैं और शूद्रों में मूढ़ता या अज्ञान की मात्रा अधिक होती है।

श्रीशंकराचार्य ने एक और प्रश्न उठाया है कि ब्रह्मणादि के कर्मों का विभाग तो शास्त्रों के द्वारा किया जाता है, अतः शास्त्रों ने ब्रह्मणादि के कर्मों का विभाजन किया है, ऐसा कहना चाहिए। गुणों ने विभाग ब्रह्मणादि के कर्मों का किया है यह कथन कैसे उपयुक्त होगा। उसका उत्तर देते हुए श्री शंकराचार्य लिखते हैं कि शास्त्रों ने जो ब्रह्मणादि के कर्मों का विभाग किया है वह भी गुणों के अनुसार ही किया है। अतः कर्मों के विभाजन के आदि कारण तो गुण ही हैं। गुणों के अनुसार जब ब्रह्मणादि के कर्म विभक्त हो जाते हैं तब शास्त्रों में उन्हीं का अनुवाद कर दिया जाता है। गुणों की पहिचान के बिना शास्त्रों में कर्म विभाग नहीं हुआ है।

आगे ब्रह्मणादि के कर्मों का क्रमश विवरण करते हैं :-

“शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता ये ब्राह्मण के स्वभाव सिद्ध कर्म होते हैं।” (४२)

अन्तःकरण की चञ्चलता को वशीकृत करने का नाम शम है। बाह्य इन्द्रियों को विषयों के असंयत सेवन से उपरत करने का नाम दम है। मृत्तिका आदि से शरीर को शुद्ध रखने का नाम शौच है। अपराधी के अपराध का प्रतीकार न करके उसके अपराध को भुला देने को क्षान्ति या क्षमा कहा जाता है। अभिमान आदि को छोड़कर सरलता धारण करने का नाम आर्जव है। ज्ञान और विज्ञान पर पहिले पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। ईश्वर में मन को लगाए रखना या ईश्वर विश्वासी होने का नाम आस्तिकता है। कुछ व्याख्याओं के अनुसार वेदों की आज्ञाओं को मानना और परलोक में विश्वास करने वालों को ही आस्तिक कहा जाता है। श्री शंकराचार्य कहते हैं कि वेदार्थ पर किसी भी कारण से आस्तिक पुरुष को कभी कोई शंका नहीं होती। श्रीरामानुजाचार्य ने अस्तिकता की विस्तृत व्याख्या करते हुए भगवान् में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखना, इसके विरुद्ध जो शब्द या तर्क हों उन्हें हेय दृष्टि से देखना, उनके अनुकूल शब्दों और तर्कों पर पूर्ण आस्था रखना ही आस्तिक्य है यह निर्वचन किया है। गीता में ही-

“वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः”

(१२।५)

“अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते”

(१०।८)

“मयि सर्वमिदं प्रोतम्”

(७।७)

“भोक्तारं यज्ञतपसां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति”

(५।२९)

“मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !”

(७।७)

“यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्”

“स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः”

(१८।४६।)

“यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्”

(१०।३।)

इन सन्दर्भों में भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, वे ही परब्रह्म कहे जाते हैं, उनमें किसी भी प्रकार के दोष का गंधमात्र भी नहीं है, स्वभाव से ही उनमें अनन्त ज्ञान विज्ञान आदि गुण-गण विद्यमान हैं, वेदान्त आदि समस्त शास्त्रों के द्वारा उन्हीं का ज्ञान कराया जाता है, समस्त जगत् के वे ही एक मात्र कारण और आधार हैं, समस्त जनन मरणादि कार्यों के वे ही प्रवर्तक हैं, वेद शास्त्रों में जितने कर्मों के विधान हैं, वे सब उन्हीं की आराधना के लिए हैं। उन कर्मों के द्वारा मनुष्यों से आराधित होकर वे ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी फलों के प्रदाता होते हैं, इत्यादि का प्रतिपादन किया गया है, उक्त भावों से पूर्ण रहने वाले आस्तिक कहे जाते हैं। ये सब ब्राह्मणों को स्वभाव से प्राप्त होते हैं। यहाँ श्री मधुसूदन सरस्वती के कथनानुसार ब्राह्मणों के ज्ञान विज्ञान आदि असाधारण धर्म भी बतलाए हैं और शम, दम आदि साधारण धर्म भी बतलाए गए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अध्ययन अध्यापन यज्ञ यागादि ऐसे कर्म हैं जिनका अनुष्ठान का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही शास्त्रों में दिया गया है। तथा शम दम आदि ऐसे धर्म हैं जिनका धारण ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य लोग भी करते हैं। उन्हें यहाँ ब्राह्मणों का कर्म बतलाने का यही अभिप्राय है कि अन्य लोगों को शम दमादि के लिए पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है। ब्राह्मणों को वह स्वभाव से ही मिले रहते हैं। अन्य लोगों में यदि शम दमादि का अभाव हो जाता है तो वह क्षन्तव्य भी हो सकता है, परन्तु ब्राह्मण यदि शम, दमादि से शून्य होता है तो वह ब्रह्मणत्व से गिर जाता है, वह अपना स्वभाव छोड़ देने से पतित कहलाने का अधिकारी है। केवल आपत्काल के लिए शास्त्रों ने छूट दे दी है कि यदि ऐसे ही किसी संकट का अवसर आ जाय तो ब्राह्मण को भी शस्त्र ग्रहण करना चाहिए और कर्तव्य से बाध्य होकर ही संग्राम में प्रमुख भाग ग्रहण किया था। ऐसे आपत् काल में ब्राह्मण भी शम, दम आदि छोड़

सकता है, परन्तु साधारण रूप से यदि ब्राह्मण इन कर्मों को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्त होता है तो वह अवश्य ही ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है। ब्राह्मण का स्वभाव सत्त्वगुण प्रधान माना गया है। शम, दमादि सत्त्वगुण के ही कार्य हैं। सत्त्वगुण से प्रेरित होकर ही वह इन कार्यों में प्रवृत्त होता है ब्राह्मण जब अपने स्वभाव रूप उक्त कर्मों का परित्याग करता है तो वह विक्षोभ सारे समाज में फैल जाता है। इसलिए कहा गया है—

**“ब्राह्मणत्वे संरक्षिते सर्वं संरक्षितं भवति”**

अर्थात् यदि ब्राह्मणत्व सुरक्षित रहे तो सभी कुछ सुरक्षित रहता है। यदि ब्राह्मणत्व पर ही आघात हुआ, यदि ब्राह्मण ने अपने कर्मों का परित्याग किया तो सारा समाज ही कर्तव्यच्युत होकर अधोगामी बनने लगता है। इसीलिए शास्त्रों में अपने विहित कर्मों का परित्याग कर देने वाले ब्राह्मण के लिए कहा गया है कि—

**सत्यं दानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।**

**दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥**

**यत्रैतल्लक्ष्यते वृत्तं सर्प ! स ब्राह्मणस्मृतः ।**

यह महाभारत वनपर्व में सर्प और युधिष्ठिर के संवाद का सन्दर्भ है। इसमें स्पष्ट ही उपर्युक्त कर्मों के परित्याग करने वाले को निन्द्य बतलाया है। मनु आदि स्मृतियों में भी ब्राह्मण को कभी इन धर्मों से विचलित नहीं होना चाहिए ऐसा स्पष्ट निर्देश है। अतः भगवान् ने ब्राह्मण के उक्त सत्त्वगुणानुसारी कर्मों का यहाँ उल्लेख किया है। आगे क्षत्रिय के स्वभावज कर्मों को भगवान् बतलाते हैं कि—

शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में पश्चात् पद न होना, दान करना, ईश्वर भाव रखना, ये क्षत्रिय के स्वभावज कर्म हैं।

शूरता का भाव शौर्य कहलाता है। अन्याय के आगे कभी सिर न झुकाना, प्रगल्भ रहना, यही तेज है। सभी अवस्थाओं में धैर्य रखना, सहसा किसी कार्य के उपस्थित हो जाने पर चतुरता से उस कार्य को पूर्ण कर देना दाक्ष्य या चातुरी कहा जाता है। जहाँ युद्ध में शत्रु समुदाय सामने खड़ा हो वहाँ भय के कारण शत्रुओं को प्रबल देखकर भी युद्ध से उपरत न होना, सर्वदा दान देते रहना तथा ईश्वर में सर्वदा निष्ठा रखना ये क्षत्रिय के कर्म हैं। ईश्वर भाव का यह भी तात्पर्य है कि क्षत्रिय को अपनी प्रभु शक्ति या ईशान शक्ति को प्रकाशित करते रहना चाहिए। शासक में ईश्वरत्व या ईशान कर्तृत्व अवश्य प्रकट रहना चाहिए। उसी से दण्डनीय पुरुष उसके शासन में दबे रहते हैं और उदण्डता को प्रश्रय नहीं मिलता।

आगे वैश्य तथा शूद्र के कर्तव्य कर्म का निर्देश है कि—

“खेती करना, गोरक्षा अर्थात् पशुपालन करना तथा वाणिज्य अर्थात् व्यापार करना वैश्य के स्वभाव सिद्ध कर्म हैं, परिचर्या करना, शूद्र का भी स्वभाव सिद्ध कर्म है।”

वैश्य और शूद्रों के कर्मों के आधार पर ही समाज की स्थिति और समृद्धि निर्भर है। कृषि के बिना तो भोजन के अन्न की प्राप्ति होना ही सुदुर्लभ है। वह वैश्य का स्वभाव सिद्ध कर्म माना गया है। पशु पालन करना भी वैश्य का ही स्वभाव सिद्ध कर्म है। यहाँ ‘गोरक्ष्य’ में गो शब्द पशु सामान्य का वाचक है। सभी प्रकार के उपयोगी पशुओं का पालन करना आवश्यक है। वहाँ भी रक्षा शब्द से यह ध्वनित किया जाता है कि पशुओं को कष्ट देकर उन्हें अपने उपयोग में लेना निन्दनीय है। सबसे पहिले पशुओं की रक्षा होनी आवश्यक है। जब उपयोगी पशु हृष्ट-पुष्ट हों तभी उन्हें अपने उपयोग में लेना चाहिए। प्राचीन काल में गाय अश्व आदि पशुओं के परिपालन और संरक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। गाय तो भारत में इतनी पूज्य और आदरणीय मानी गई हैं कि उसमें सभी देवताओं का निवास है। कोई भी धार्मिक विधि गोघृत, गो दुग्ध, गोमय आदि के बिना पूरी नहीं हो सकती। गोरक्षा तो सभी का सामान्य कर्तव्य उस समय माना गया था। स्वयं भगवान् कृष्ण ने बाल्यावस्था में गोकुल और वृन्दावन में गोपाल रूप ही धारण किया था।

“गावो मे चाग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ।

गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥”

यह भगवान् की उक्ति प्रसिद्ध है। उन्होंने गौवों के परिपालन में एक आदर्श उपस्थित किया था। गो रक्षा के लिए बड़े-बड़े राजा तथा सम्राटों ने अपने प्राणों का मोह भी छोड़ दिया था इसकी कथाएं सुप्रसिद्ध हैं। इसलिए गो रक्षा का तो भारत में एक आदर्श के रूप में बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलन रहा है। उसकी रक्षा का भार यहां विशेष रूप से वैश्य को दे दिया गया है। वाणिज्य का अर्थ है व्यापार। व्यापार वैश्यों का प्रधान कर्म है। आगे चलकर यही वैश्य वर्ण का परिचायक चिन्ह अवशिष्ट रह गया। अन्य कार्य अन्यवर्णों ने भी अपना लिए। देश का व्यापारी वर्ग वैश्य वर्ण ही आज भी बना हुआ है पशुपालन कृषि आदि को भी व्यापार का ही रूप दे दिया गया। परन्तु गीता में इन कर्मों का निर्देश करते समय अनासक्ति का विशेष महत्व माना गया है। इन कर्मों को करते समय अनासक्ति अर्थात् फल की आशा का परित्याग आवश्यक है। आज वह बात देखने में नहीं आती। आज कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य

या व्यापार अधिकाधिक धनोपार्जन के लिए समझे जाने लगे हैं भले ही वे अन्याय पूर्वक किए गए हों। परन्तु गीता में इनको स्वभावज कहने का यही अभिप्राय है कि जैसे स्वाभाविक अन्य कर्मों को हम बिना किसी फलाभिसन्धि के करते हैं वैसे ही ये कर्म बिना फलाभिसन्धि के किए जाने चाहिए। भगवान् की आज्ञानुसार समाज व्यवस्था का यथावत् परिचालन ही इन कर्मों का प्रधान उद्देश्य होता है। यदि फलाकांक्षा का भी इन कर्मों के स्वरूप में निवेश कर दिया गया तो इन सबका वास्तविक रूप बिगड़ कर समाजविध्वंसक रूप ही प्रकट होने लगता है। व्यापार या वाणिज्य को ही लीजिए। यदि वैश्य वर्ग समाज की व्यवस्था के सम्यक् परिचालनार्थ ही व्यापार करे तो सभी को सभी वस्तुएं बिना आयास के उपलब्ध हो जायं तो समाज में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रहती है। परन्तु जब व्यापार का उद्देश्य अधिकाधिक धन संग्रह हो जाता है, उस उद्देश्य में जब समाज की व्यवस्था का सम्यक् परिचालन गौण स्थान ग्रहण कर लेता है, तब सभी वस्तुओं का मूल्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि समाज के अधिकांश निर्धन व्यक्ति उन वस्तुओं के उपयोग से वंचित हो जाते हैं, कुछ धनाढ्य व्यक्तियों तक ही उन वस्तुओं का उपयोग सीमित हो जाता है। फलतः समाज में असन्तोष व्याप्त होकर एक विशृङ्खलता फैलने लगती है। यदि ऐसा न हो, यदि व्यापार के उद्देश्य समाज के सभी व्यक्तियों को सभी वस्तुएँ प्राप्त करा देने की भावना से वैश्य वर्ग अपने स्वाभाविक कार्य वाणिज्य का संचालन करे तो समाज के सभी व्यक्तियों को संतोष हो, और सर्वत्र शान्ति व्याप्त रहे।

इसी प्रकार शूद्र वर्ग का स्वाभाविक कर्म भगवान् ने उपर्युक्त तीनों वर्णों के कार्यों में सहायता देकर उनकी सेवा करना बतलाया है। कुछ लोग वर्तमान में यह आक्षेप करते हैं कि इस व्यवस्था में शूद्रों के साथ अन्याय किया गया है। उन्हें अत्यन्त निम्नकोटि के सेवा कार्य में नियत किया गया है, परन्तु यह धारणा बड़ी भ्रामक है। पहली बात तो यह है कि शूद्रवर्ण के आधार पर ही पूरे समाज का रूप खड़ा होता है। तीनों वर्णों की सेवा का अर्थ ही यही है कि उनके कार्यों में शूद्र वर्ण से ही अत्यधिक सहायता मिलती है। यदि इस वर्ग की सहायता न हो तो किसी भी वर्ण का कार्य सुचारू रूप से चल ही नहीं सकता। सेवा कर्म को हेय दृष्टि से देखना भी बड़ा भारी भ्रम है—

**“सेवा धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः”**

इत्यादि नीति वाक्यों में सेवा के महत्व को स्वीकार किया गया है। भगवान् ने यहाँ सेवा कर्म को शूद्र का स्वभाव सिद्ध कर्म बतलाते हुए यह ध्वनित किया है

कि जिस सेवा कर्म को अन्य वर्ण के लोग बड़े अभ्यास से सीखते हैं, वह शूद्र वर्ण के लोगों को स्वभाव से ही प्राप्त रहता है। अन्य वर्ण के लोग स्वाभाविक रूप से सेवा कर्म में बड़ी कठिनता से प्रवृत्त होते हैं, परन्तु शूद्रवर्ण के व्यक्तियों में सेवा की ऐसी लगन रहती है कि सभी कार्यों में सहायता के लिए वे अनायास समुद्यत हो जाते हैं। सेवा कार्य की व्यापकता को ही ध्यान में रखकर उनपर से अध्ययनादि का भार हटा लिया गया, क्योंकि सेवा अपने आप में एक इतना बड़ा कार्य है कि उसको करने के अनन्तर अन्य कार्यों के लिए शक्ति और समय ही अवशिष्ट नहीं रह जाता इसके अतिरिक्त स्मृतियों में शूद्रवर्ण के लिए यह भी व्यवस्था की गई है कि

“शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरेत्”

इस व्यवस्था से तो समाज का प्रधान आधार शिल्प ही शूद्र जाति के हाथ में दे दिया जाता है। शिल्प के आधार पर ही तो सब समाज का जीवन व्यवस्थित है। इसलिए शूद्र का स्थान बहुत ऊँचा हो जाता है यह सिद्ध ही है। हमने प्रकरणान्तर में इसका विवरण किया है, इसलिए यहाँ विस्तार नहीं करते। उन पर से शास्त्रीय कर्मों के अनुष्ठान का भी भार हटा लिया गया। रह जाती है यह बात कि उनको सेवा में लगाकर उनका स्तर गिरा दिया गया। तो इसमें शास्त्रों का या निर्देशों का कोई अपराध नहीं, सामाजिक व्यवस्था में फलाकांक्षा और स्वार्थ प्रवृत्ति का बढ़ जाना ही इसमें कारण है। शास्त्रों ने तो समाज व्यवस्था का सुचारु संचालन ही अपना लक्ष्य रक्खा था। वैज्ञानिक दृष्टि से भी इससे अच्छी और कोई समाज व्यवस्था नहीं बन सकती यह बात हम अपने वर्ण व्यवस्था के व्याख्यान में सिद्ध कर आए हैं, फलाभिसन्धि और स्वार्थ बुद्धि का आश्रय ले लेने पर तो शूद्र ही क्या ब्राह्मण भी हेय हो जाता है। वह भी निन्दनीय हो जाता है। उसके लिए स्वार्थ वश अपना कर्तव्य परित्याग कर देने पर उसे अपमानित कर समाज से बाहर कर देने की मनुस्मृति आदि में स्पष्ट आज्ञा है। अतः इस व्यवस्था में, जो कि निःस्वार्थ और कर्मों की सहजता के आधार पर निर्दिष्ट की गई है, कोई दोष नहीं आता। जो भी कोई दोष या अव्यवस्था उत्पन्न होती है वह अपने कर्मों के स्वभाव सिद्ध रूप को बिगाड़ कर उनको फलाभिसन्धि से करने पर ही होती है। भगवान् के उपदेश का यही सार है कि अपने अपने कर्मों का स्वाभाविक रूप में ही आचरण होना चाहिए। कोई भी काम जीवन निर्वाहार्थ ही किया जाता है। अतः काम में लग जाने से जीवन यात्रा का निर्वाह अवश्य होगा। आसक्ति या फलाशा और स्वार्थ बुद्धि छोड़ देने से हम अपनी जीवन यात्रा पूरी करने के साथ अन्य लोगों के भी जीवन मार्ग में अग्रसर होने में सहायक बनेंगे और यदि

हमारे कर्म ऐसे होंगे जो फलाशा और स्वार्थ से परिपूर्ण होंगे तो हम न तो अपनी ही जीवन यात्रा में सुखी होंगे और दूसरों के जीवन में तो बाधा पहुँचाएंगे ही। स्वार्थ सिद्धि या फलाशा का तो स्वरूप ही ऐसा है कि जिसमें अन्य लोगों के हितों पर आघात होता ही है। समस्त संसार की सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ भारत की इस सामाजिक व्यवस्था की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इससे अधिक विज्ञान की कसौटी पर कसी हुई, तर्क और युक्ति से दृढ़, सुन्दर और सुगठित और कोई भी समाज व्यवस्था हो ही नहीं सकती। आज जो देश धन तथा ज्ञान विज्ञान में संसार का नेतृत्व कर रहे हैं, उनमें भी वहाँ के विचारक समय-समय पर यह मत प्रकट करते रहते हैं कि सामाजिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिए यह आवश्यक है कि जब कामों का मनुष्यों में वितरण किया जाय तब उनकी रुचि किस कार्य में है, इसका परीक्षण कर लिया जाय। रुचि के प्रतिकूल कार्य मनुष्य को दे देने से या तो वह उस कार्य के सम्पादन में असफल रहेगा या उसे बहुत विलम्ब से सफलता प्राप्त होगी। इसके विपरीत यदि मनुष्यों की रुचि का परीक्षण करके उसके अनुसार उन्हें कार्य दिए जायं तो वे अपने कार्यों के सम्पादन में अवश्य और शीघ्रता से सफलता प्राप्त करेंगे। अनेक उन्नत देशों में आज इस प्रकार परीक्षण करके कार्यों के विभाजन की प्रक्रिया चल भी रही है। वहाँ भी धीरे-धीरे इस सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित हो रही है कि मनुष्यों की रुचि का निर्माण इसी जीवन की घटना और परिस्थितियों के आधार पर नहीं होता अपितु उस प्रकार की रुचि के निर्माण के लिए इस जीवन काल से बहुत अधिक समय का अभ्यास अपेक्षित होता है। एक प्रकार से इस निष्कर्ष से भारतीय वर्णों के स्वभावानुसार कर्मों के विभाजन का सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से भी पुष्ट होता जा रहा है।

जहां तक दोषों का प्रश्न है तो, वे तो जैसा हम कह चुके हैं कि फलाकांक्षा और स्वार्थ दृष्टि से कर्म करने के कारण होते हैं। वे तो इस प्रकार की दृष्टि रखने पर अच्छी से अच्छी व्यवस्था जो आज बनाई जायगी उसमें भी आ ही जायंगे। अतः अपने स्वभाव सिद्ध कर्मों को निष्काम बुद्धि से अपना कर्तव्य समझ कर करते जाना ही मनुष्य का जीवन में प्रधान लक्ष्य होना चाहिए, यही शास्त्रों का निष्कर्ष है, जिसे भगवान् ने यहां संक्षेप से कह दिया है।



## बासठ-पुष्प

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

“अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सम्यक् प्रकार से सिद्धि को प्राप्त करता है। अपना कर्म करते हुए मनुष्य को किस प्रकार सिद्धि मिलती है, यह सुनो” (४५)

प्रत्येक वर्णों के स्वभावानुसार कर्मों का परिगणन करके आगे भगवान् ने उस प्रकार के कर्म विभाग का क्या फल हाता है यह कहना प्रारम्भ किया। फल या प्रयोजन का ज्ञान हुए बिना किसी मन्दपुरुष को भी किसी कर्म में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। अतः इतने विस्तृत कार्य-कलाप के अनुष्ठान का क्या फल है यह जाने बिना वर्ण धर्मों में मानव का प्रवृत्त होना कठिन है। अतः भगवान् ने इन कर्मों का निर्देश करने के साथ ही इसका फल बतलाते हुए कहा है कि इस प्रकार के कर्मानुष्ठान का वही फल है जिसकी कामना सभी कर्म करने वालों को होती है। सभी कर्म करने वाले मनुष्यों की यही इच्छा रहती है कि जिस कार्य को उन्होंने अपनाया है उसमें उन्हें सफलता प्राप्त हो, उसका उद्देश्य पूरा हो। यदि किसी कर्म में प्रवृत्त मनुष्य को सफलता नहीं मिलती तो उसे बहुत कष्ट होता है। अतः यह स्वभाव सिद्ध बात है कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कार्यों में सिद्धि की अभिलाषा रखता है। इसी सर्व-साधारण की सामान्य अभिलाषा की पूर्ति को भगवान् ने उक्त प्रकार के कर्मानुष्ठान का फल बतलाया है। अपना-अपना कार्य करते हुए ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो पुरुष अपने स्वभाव सिद्ध कर्म का परित्याग कर अन्य वर्ण के स्वभाव सिद्ध कर्म को ग्रहण करता है, वह संसिद्धि प्राप्त नहीं करता। इसका कारण स्पष्ट है। प्रत्येक कार्य की सफलता का बीज उस कार्य में अपनी अभिरुचि और उस कार्य की कुशलता में निहित रहता है। जो अपना स्वभाव सिद्ध कार्य है, उसमें सभी की अभिरुचि भी होती है और उसमें वह जन्म से ही कुशलता भी प्राप्त करता जाता है। यदि कोई पुरुष अपने स्वभाव सिद्ध कार्य का परित्याग कर स्वभाव के विपरीत कार्य को अपनाता है तो वह उसमें या तो सर्वथा असफलता होता है, या उसे उस कार्य में आंशिक सिद्धि ही मिलती है, पूर्ण सिद्धि नहीं मिलती, अथवा पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने के लिए उसे बहुत अधिक समय तक अभ्यास करना पड़ता है। इसीलिए यहाँ भगवान् ने ‘संसिद्धि’ शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है कि सम्यक् प्रकार से सिद्धि मिलना। आंशिक सिद्धि और चिरप्रयास के उपरान्त सिद्धि सम्यक् सिद्धि नहीं कही जा सकती।

सिद्धि की व्याख्या में व्याख्याकारों ने लिखा है कि कर्मों की सिद्धि परमतत्त्व का ज्ञान हो जाना ही है। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि स्वभावानुसार शास्त्रबोधित कर्मानुष्ठान करने पर जो कुछ पूर्वसंचित अथवा इस जन्म में उपार्जित अपवित्रता रहती है, वह समाप्त हो जाती है। वह अशुचिता ही सिद्धि या ज्ञान की प्रतिबन्धक है। अपने में अशुचिता धारण करने वाले व्यक्ति में कभी शुद्ध ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। जो अशुचिता अपने में आ गई है उसको हटाने का उपाय यही है कि शास्त्रों के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों का मनुष्य अनुष्ठान करता रहे। निकृष्ट और घृणास्पद कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्य में अपवित्रता कस संचार होता है। वही अपवित्रता मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होने देती।

**“कण्टकं कंटकेनैव शोधयेत्”**

**“विषस्य विषमौषधम्”**

“अर्थात् कांटा चुभ जाने पर उसे कांटे से ही निकाला जाता है। विष का प्रभाव विष से ही दूर किया जाता है।”

इत्यादि नीति वाक्यों के अनुसार कर्मों के द्वारा आई हुई अशुचिता कर्मों के द्वारा ही दूर की जाती है। जिस प्रकार चुभने वाले कांटे के स्वरूप से उसे निकालने वाले कांटे के स्वरूप में भेद होता है, तथा जिस प्रकार अपने दुष्प्रभाव को प्रकट करने वाले विष से उसके प्रभाव को दूर करने वाले विष के स्वरूप में या उसके प्रयोग की प्रक्रिया में भेद होता है, उसी प्रकार अशुचिता का संचय करने वाले कर्मों के स्वरूप में और उस अशुचिता को दूर करने वाले कर्मों के स्वरूप में भी भेद होता है। अपनी इच्छानुसार असत् कर्मों के अनुष्ठान से अशुचिता का संचार होता है और शास्त्रों के द्वारा निर्दिष्ट कर्मों के अनुष्ठान से उस अशुचिता का क्षय होता है। इस प्रकार अशुचिता के क्षीण हो जाने पर मनुष्य को ज्ञान रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

यहाँ भगवान् ने जो ‘नरः’ पद कहा है उसका आशय खोलते हुए व्याख्याओं में लिखा गया है कि देवताओं को कर्म करने का अधिकार नहीं है, उन्हें केवल उपासना का ही अधिकार है। अतः उनसे पृथक् करने के लिए यहाँ ‘नर’ शब्द कहा गया है। यहाँ प्रश्न होता है कि अपने-अपने कर्मों का अनुष्ठान तो सभी करते हैं या अधिकांश व्यक्ति करते हैं परन्तु सबको तो ज्ञान नहीं हो जाता। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् ने प्रस्तुत श्लोक का उत्तरार्ध कहा है कि जिस प्रक्रिया से कर्म करने पर मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है, उसका प्रकार मैं कहता हूँ अर्जुन तुम सावधान होकर उसे सुनो।

## तिरसठवां-पुष्प

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ( ४६ )

“जहाँ से समस्त भूतों अर्थात् जड़ चेतन का उद्भव होता है, जिसने यह समस्त दृश्य जगत् फैला रक्खा है, मनुष्य अपने कर्म से उसकी अर्चना करके सिद्धि को प्राप्त करता है” (४६)

यदि मनुष्य केवल अपने अपने कर्मों में ही लगे रहें उससे भी सिद्धि नहीं मिल सकती। सिद्धि मिलने का प्रकार यही है कि अपने-अपने कार्यों का अनुष्ठान भगवान् को अर्पण करने की बुद्धि से किया जाय। मन में सर्वदा यही रहे कि मेरा यह कार्य भगवान् की अर्चना ही है। अपने-अपने कार्यों का अनुष्ठान करते समय ईश्वर के अर्चन की बुद्धि रखने पर ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यही युक्ति यहाँ भगवान् ने बतलाई है। इस बुद्धि से कर्म करने पर चित्त का अहंकार और ज्ञान के प्रतिबन्धक अन्य दोष जिनकी सिद्धि के विघ्न के रूप में सर्वदा आशंका बनी रहती है, वे स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। इस बुद्धि को रखकर अन्य घृणास्पद कार्य भी यदि कोई करता है तो वह भी निन्दनीय नहीं अपितु अग्रगण्य ही माना जाता है।

पितामह भीष्म ने भगवान् को संग्राम में शस्त्रग्रहण कराने की प्रतिज्ञा कर ली थी। भगवान् जब अर्जुन के सारथी बनकर संग्राम में भीष्म के सामने पहुँचे तब उन्होंने अपने क्षत्रियोचित शस्त्रप्रहार रूपी कर्म से ही भगवान् की अर्चना की। उन्होंने इतने तीव्र शस्त्रों का भगवान् पर प्रहार किया कि उनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया। अर्जुन पितामह भीष्म के प्रताप के सामने कुछ नहीं कर सका। अन्ततः भगवान् को युद्ध में शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा छोड़कर शस्त्र ग्रहण करना पड़ा। अपने रथ से कूद कर पितामह भीष्म को कटुवचन कहते हुए भगवान् टूटे हुए रथ का एक पहिया हाथ में लेकर उसी से पितामह भीष्म पर प्रहार करने के लिए दौड़ पड़े। इस पर पितामह ने कहा कि हे भगवन् ! आज आपने अपने भक्त की प्रतिज्ञा रखने के लिए अपनी शस्त्र न ग्रहण करने की प्रतिज्ञा तोड़ दी। अन्यथा समस्त लोकों को क्षणभर में उत्पन्न और समाप्त कर देने की अनिर्वचनीय शक्ति रखने वाले आपके लिए मेरे जैसे क्षुद्र पुरुष का संहार कर देना निमिष मात्र का कार्य था। पितामह भीष्म दुर्योधन का पक्ष लेते हुए भी भगवान् में पूर्ण श्रद्धा रखते थे। उन्होंने भगवान् कृष्ण के स्वरूप को पहिले ही पहिचान कर यह घोषणा कर दी थी कि भगवान् कृष्ण सामान्य मानव

नहीं, परब्रह्म के पूर्णावतार हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भीष्म पितामह ने ही भगवान् कृष्ण का अग्र पूजन करने की सलाह युधिष्ठिर को दी थी। भगवान् के भक्तों की गणना में पितामह भीष्म का अग्रस्थान है। उन्होंने जब भगवान् पर प्रहार किया तो दुर्योधनादि के समान द्वेष बुद्धि से नहीं अपितु अपने कर्म से भगवान् की अर्चना करने की ही बुद्धि से। विपक्ष की ओर से युद्ध कर रहे थे। जीवन भर जिसका साथ निभाया जिसके आश्रय में रहे, हृदय से पाण्डवों का हित चाहते हुए भी अपने कर्म का सम्यक् परिपालन करने के लिए संग्राम में उन्होंने दुर्योधन की सेना का सेनापतित्व ही स्वीकार किया और १८ दिन के संग्राम में पूरे १० दिन तक उनके ही सेनापतित्व में युद्ध होता रहा। उन्होंने पांच दिन में निष्पाण्डवा पृथ्वी कर देने की दुर्योधन के सामने प्रतिज्ञा भी की और अपनी उस चरम अवस्था में ब्रह्मचर्य के अतुल प्रभाव से वह पराक्रम दिखाया कि पांडव सेना में त्राहि-त्राहि मच गई और युद्ध का अन्तिम निर्णय समीप दिखाई देने लगा। परन्तु विजय तो भगवान् कृष्ण जहाँ थे उसी पक्ष की होनी थी।

अपनी आयु के अन्तिम समय में भीष्मपितामह ने जो भगवान् की स्तुति की, उसमें भी उन्होंने भगवान् के अपने पराक्रम से क्षत-विक्षत हो जाने वाले रूप का ही ध्यान किया है—

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये ।

मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विगलत्कवचेऽस्तुतिर्मदीया ॥

( भागवत् )

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः ।

धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुह्रिरिव हन्तुमिमं गतोत्तरीयः ॥

( भागवत् प्र० स्कन्ध० ९ अ० )

भीष्म पितामह अपने अन्तिम समय में भगवान् के उस रूप का ध्यान कर रहे हैं जो युद्ध के समय में घोड़ों के चलने से उठी हुई धूलि से ढँक गया था, जो श्रम के कारण पसीने से आप्लुत हो गया था और उनके शरीर की त्वचा भीष्म के पैने बाणों के प्रहार से कट-कट कर गिर रही थी, रक्त का प्रवाह जिसमें बह रहा था, जिसमें भगवान् अपनी प्रतिज्ञा को छोड़कर भीष्म की प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए रथ से कूदकर दूटे हुए रथ के पहिए को लेकर प्रहार करने के लिए उद्यत हो गए थे। यही भीष्म का उपास्य रूप था। यही अपने कर्म से ईशार्चन है। भीष्म को इसी से सिद्धि मिली और भक्तों की गणना में उनको अग्र स्थान प्राप्त हुआ।

प्रस्तुत पद्य में कहा गया है कि जिस परब्रह्म से समस्त जगत् की उत्पत्ति तथा उसमें क्रियाशक्ति का संचार होता है, उसकी पूजा अपने कर्म से करने पर मनुष्य को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक कार्य करते हुए परब्रह्म के स्वरूप और उसके माहात्म्य का ध्यान रखना चाहिए। शास्त्रों के द्वारा बोधित सात्त्विक कर्म भी इस ईशार्चन की भावना के बिना किए जाने पर अकिञ्चित्कर हो जाते हैं। यथार्थ ज्ञान जो सिद्धि रूप है, वह नहीं हो पाता।

---

## चौंसठवां-पुष्प

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

“गुण शून्य भी अपना स्वभावनियतधर्म अच्छे प्रकार से अनुष्ठित परधर्म से श्रेष्ठ है, अपने स्वाभाविक कर्म को करने वाला मनुष्य पाप का भागी नहीं बनता” (४७)

यहाँ भगवान् ने अपने स्वाभाविक कर्मों के परिपालन पर बहुत अधिक बल दिया है। अपने स्वभाव नियत कर्मों की व्याख्या ऊपर के पद्यों में हो चुकी है। यह जोर यहाँ भगवान् ने इस बात को ध्यान में रखकर दिया है कि यह मानव मात्र की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपनी वर्तमान स्थिति में असन्तुष्ट रहता है और दूसरे की गिरी हुई स्थिति को भी बहुत उच्चकोटि की मानता है। इस भावना के वशीभूत होकर बहुत से मनुष्य अपना काम छोड़कर दूसरों का काम अपना लेते हैं और इसमें बड़े सुख का अनुभव करते हैं। परन्तु यह सुख तामस सुख है। यह पहले तो अमृत के समान प्रतीत होता है, पर आगे चलकर विष के समान दुःखद हो जाता है। हम उदाहरण के लिए समाज की वर्तमान दशा को ही लें। इस समय भगवान् ने जो नियत और स्वभावसिद्ध कर्म बतलाए उनका तिरस्कार ही परम पुरुषार्थ माना जाता है। कहा जाता है कि विज्ञान के इस युग में अब वह प्राचीन कर्म विभाग निकम्मा हो चुका। प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक कर्म करने की पूरी स्वतंत्रता है। व्यवहार में भी बहुत कुछ यही बात आ रही है और ब्राह्मण क्षत्रिय आदि वर्ण विभाग की बात करना भी एक निन्दनीय बात समझी जा रही है। प्राचीन कर्म विभाग व्यवस्था को भेद-भाव पर आधारित बतलाकर उसकी पूर्णरूप से अवहेलना की जा रही है। परन्तु हमारा विनम्र प्रश्न है कि क्या प्राचीन कर्म विभाग की व्यवस्था को बदल डालने से समस्त भेद-भाव समाप्त कर दिये गये। देखने में तो आज यह आ रहा है कि प्राचीन भेद-भाव को मिटाकर हमने उससे दस गुने अधिक भेद-भाव उत्पन्न कर लिये और उन अपने बनाए भेद-भाव में इस तरह जकड़ गये कि वह पूरे समाज के लिए गहरी चिन्ता का विषय हो गये। भारत की प्राचीन व्यवस्था में परिवर्तन आज कोई नया नहीं है। इसके प्रारम्भ के बीज महाभारत के युद्ध के साथ ही जम गए थे। उस महायुद्ध में सम्पूर्ण भारत के सभी वीर पुरुष काम आये, वीरों के कुल के कुल नष्ट हो गए और उत्तर काल में भारतीय समाज में उन दोषों ने क्रमशः पदार्पण किया जिनकी

आशंका अर्जुन ने प्रथम अध्याय में ही की थी। वीर विहीन हो जाने के कारण भारत पर बाहरी आक्रान्ताओं ने आक्रमण किये और धीरे धीरे भारत दासता की ओर अग्रसर होने लगा। गीता में कही गयी समाज व्यवस्था पर बौद्ध मत ने भी आक्रमण किया और बौद्धकाल में भारत से रही सही वीरता भी जाती रही। आक्रान्ताओं ने हमारी समाज व्यवस्था को पूर्णशक्ति लगाकर नष्ट-भ्रष्ट किया और परिणाम स्वरूप वर्ण धर्म और आश्रम धर्मों का जो रूप बचा वह दोष युक्त हो गया। शास्त्रों को लोग भूलने लगे। शास्त्रों का मनन चिन्तन कुछ ही अंगुलिंगणनीय लोगों में सीमित रह गया। अधिकांश जनता में शास्त्र ज्ञान के अभाव में मनमानी रूढ़ियों ने घर कर लिया और शास्त्रों की पवित्र मर्यादाओं पर अन्धकार छाता चला गया। उसी परिस्थिति का चरम विकास अब हम अनुभव कर रहे हैं। प्रश्न होता है कि यदि महाभारत युद्ध में इस व्यवस्था की विकृति के बीज निहित थे और अर्जुन ने अपनी दूरदर्शिनी बुद्धि से उन्हें यदि पहिले ही जान लिया था, तो भगवान् की दृष्टि में वह बात क्यों नहीं आई ? उन्होंने अर्जुन को जबर्दस्ती युद्ध के लिए प्रेरित क्यों किया ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि भगवान् ने युद्ध को टालने का कम प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने सन्धि के लिए दूत बनना भी स्वीकार किया। परन्तु दुर्योधन की हालत इतनी बिगड़ गई थी कि बिना युद्ध के और कोई उपाय नहीं रह गया था। इस विवेचना से यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पथ भ्रष्टता के लिए इतना लम्बा इतिहास दोषी है उसका समाधान हम कैसे कर सकते हैं। यह बात नहीं है। यदि हम उस व्यवस्था के महत्व को समझ कर उसकी स्थिति को सम्हालने की चेष्टा में शक्ति भर योगदान करते हैं और तब भी प्रकृति के प्रवाह के कारण वह गिरती चली जा रही है तब तो हमारा उसमें दोष नहीं है। परन्तु यदि हम बिना उसके यथार्थ स्वरूप को जाने उसके महत्व पर आघात करते हुए स्वयं उसको बिगाड़ने में योगदान करते हैं तो अवश्य ही हम दोष के भागी बनेंगे। इस प्रश्न का समाधान तो हम पहले अपने वर्ण व्यवस्था की वैज्ञानिकता को सिद्ध करते हुए कर ही चुके हैं कि सामाजिक मनुष्यों के कार्यों से वैज्ञानिक रीति से इससे श्रेष्ठ विभाजन सम्भव ही नहीं, उसको हटाकर जो भी कोई दूसरी व्यवस्था बनाई जायगी वह उन दोषों से कई गुना अधिक दोषों वाली होगी जो दोष समय चक्र से इस व्यवस्था में आते हैं।

यहाँ भगवान् ने इतना संकेत कर दिया है कि अपना कर्म चाहे उसमें कुछ भी गुण प्रतीत न होता हो फिर भी श्रेष्ठ है, क्योंकि किसी लाभ के मिलने की अपने कर्मानुष्ठान में सम्भावना नहीं होती तो भी इतना तो अवश्य होता ही है कि अपना कर्म करते हुए मनुष्य पाप का भागी तो नहीं बनता। दूसरे कर्मों में प्रवृत्त हो जाने पर तो अज्ञान वश उसमें अनेक प्रकार के अपराधों की सम्भावना रहती है इसी लिए भगवान् ने यहाँ अपने विगुण अर्थात् लाभ से रहित कर्म को भी श्रेयस्कर बतलाया है।

## पुरुषार्थ

प्राचीन भारतीय समाज व्यवस्था के मूल आधार पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ के लिए पुरुष की सृष्टि होती है। अतः पुरुषार्थ का भी थोड़ा निरूपण यहाँ आवश्यक है।

आर्य-शास्त्रों में चार पुरुषार्थ बतलाए गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थ शब्द का अर्थ है 'पुरुषैरर्थ्यते पुरुषार्थः' पुरुष की इष्ट वस्तु ही पुरुषार्थ है। पूर्वोक्त चारों पदार्थ पुरुष को इष्ट होते हैं, अतः ये पुरुषार्थ कहे गए हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि अर्थ और काम ही पुरुषार्थ हैं। पुरुष स्वभावतः अर्थ और काम की ओर ही झुकते हैं। द्रव्योपार्जन और उसके द्वारा विविध प्रकार के सुखोपभोग करना कौन नहीं चाहता ? सच पूछिए तो इन दोनों के बिना पुरुष किसी काम का नहीं। अर्थ और काम से सर्वथा शून्य पुरुष को संसार में कोई 'पुरुष' कहने को भी तैयार न होगा। अर्थ और काम में जो जितनी उन्नति कर चुका है, जितनी संपत्ति जिसके पास है, जितने उपभोग के साधन—सुन्दर विशाल भवन, अच्छी से अच्छी सजीली गाड़ियाँ, चमकीले वस्त्राभूषण आदि जिसको उपलब्ध हैं, वह उतना ही उन्नत कहलाता है। संसार में उतना ही आदर पाता है। इसीलिए बालक से बूढ़े तक, मूर्ख से प्रकांड विद्वान् तक, ग्रामीण से चतुर नागरिक तक, सब इन दोनों के हेतु यथाशक्ति उद्योग करते हैं। जैसी सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति इन दोनों की ओर होती है, वैसी धर्म और मोक्ष की ओर नहीं। धर्म और मोक्ष की ओर यदि प्रवृत्ति होती भी है तो केवल विद्वानों को ही, सो भी अपनी इच्छा से नहीं, केवल शास्त्र की आज्ञा से। तब तो जिसमें पुरुष की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं उसे पुरुषार्थ कहना सर्वथा अनुचित है। आज्ञा और प्रेरणा से प्रवृत्ति होना औ बात है, तथा स्वतः इष्ट समझकर प्रवृत्ति होना और बात। प्रभु आदि की आज्ञा से तो पुरुष ऐसे कार्य में भी प्रवृत्त देखे जाते हैं जो उनको सर्वथा अनिष्ट है। इसके अतिरिक्त धर्म में प्रवृत्ति भी बहुधा अर्थ और काम के लिये ही होती है। प्रायः आस्तिक पुरुष कीर्ति के लिये या परलोक में धन-प्राप्ति की इच्छा से ही दान करते हैं। परलोक में विविध कामों की प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञ, तप आदि किए जाते हैं। अतः धर्म यदि पुरुषार्थ हो भी, तो स्वयं पुरुषार्थ नहीं, किन्तु अर्थ और काम का अंगभूत होकर—उनका साधन होने से गौण पुरुषार्थ हो सकता है। बिना किसी उद्देश्य के, केवल धर्म की इच्छा प्रायः किसी को नहीं होती। मोक्ष का तो स्वरूप ही बहुत कम इने गिने आदमी समझ सकते हैं, फिर उसकी इच्छा और उसके विषय की प्रवृत्ति की क्या कथा। सुतरां जिस सार्वभौम भाव से अर्थ और काम पुरुषार्थ कहे जा सकते हैं उस भाव से धर्म और मोक्ष नहीं। यदि कुछ पुरुषों को इनकी चाह



हो, तो भी सामान्य रूप से इन्हें पुरुषार्थ नहीं कह सकते। स्थूल दृष्टि से ऐसा ही प्रतीत होता है। किन्तु, यदि आप विचार-दृष्टि से काम लेंगे, तो सिद्ध हो जायगा कि धर्म और मोक्ष भी सार्वभौम भाव से पुरुषार्थ हैं, प्रत्युत ये ही मुख्य पुरुषार्थ हैं, अर्थ और काम गौण हैं।

इस पर विचार करने से पहले धर्म और मोक्ष शब्द का अर्थ जानना अत्यावश्यक है। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'धारण करना' है। इससे केवल यही अभिप्राय नहीं कि जो धारण किया जाय वही धर्म है। किन्तु 'ध्रियते इति धर्मः' और 'धरतीति धर्मः'—इन दोनों व्युत्पत्तियों के अनुसार जो धारण किया हुआ—तत्तद् वस्तु के स्वरूप को धारण करने वाला हो, वह उसका धर्म कहा जाता है। धर्म पद का यही अर्थ महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में वर्णित है—

“धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।

यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥”

‘धारण करने के कारण धर्म को धर्म कहते हैं, धर्म ही प्रजा को धारण करता है’—इत्यादि। अभिप्राय यह कि प्रकृति के प्रवाह में किसी का उत्थान और किसी का पतन बराबर चलता रहता है। शास्त्रकारों का निश्चय है कि यह उत्थान या पतन यादृच्छिक अकारण नहीं, किन्तु सकारण ही होता है। उत्थान का कारण उपस्थित होने पर उन्नति, और पतन का कारण उपस्थित होने पर पतन अवश्य होगा। इतना भी अवश्य स्मरण रहे कि इस उत्थान वा पतन का कारण क्रिया ही होती है। यह संपूर्ण संसार क्रिया-शक्ति का विजृम्भण मात्र है। बस, जो क्रिया पतन नहीं होने देती स्वरूप को स्थिर रखती हुई उन्नति की ओर बढ़ती है, वही धर्म कहलाने योग्य है। सुतरां स्वरूप-रक्षा ही धर्म का एकमात्र उद्देश्य है। इसके विपरीत जिस क्रिया से पतन होता है—जो क्रिया वस्तु के स्वरूप को नष्ट कर देनेवाली है, वही अधर्म कही जाती है। इसलिये उसका दूसरा नाम है ‘पातक’ अर्थात् पतन का गिरने का कारण।

ये धर्म और अधर्म शब्द सब वस्तुओं के संबंध में व्यवहृत हो सकते हैं। उदाहरण के लिये समझिए कि जिन क्रियाओं द्वारा वृक्ष हरा-भरा रहे—पुष्पित और फलित होने के उन्मुख रहे, वे क्रियाएं वृक्ष के संबंध में धर्म होंगी, चाहे वे वृक्ष की स्वयं शक्ति से उत्पन्न हों या आगंतुक पदार्थों के संबंध से पैदा हुई हों। इसके विपरीत जिनके द्वारा वृक्ष अपना वृक्षत्व छोड़कर स्थाणु (दूँठ) के रूप में चला जाय, वे क्रियाएं उसके संबंध में अधर्म होंगी। किन्तु जहां इतर जड़ पदार्थ वा क्षुद्र प्राणी केवल स्वाभाविक वा अन्यकृत क्रियाचक्र के अधीन उत्थान या पतन के प्रवाह में उछलते

और गोते लगाते हैं, वहां ज्ञान-प्रधान पुरुष-जाति स्वाभाविक क्रियाचक्र पर अपना अधिकार जमाती हुई अपने को पतित होने से रोककर, उन्नति की ओर प्रवृत्त हो सकती है। अतएव मनुष्य को धर्म और अधर्म का उपदेश शास्त्र द्वारा किया जाता है। शास्त्र हमें बतलाता है कि अमुक क्रिया के करने से तुम अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए उन्नति की ओर बढ़ सकोगे, अतएव यह तुम्हारे पक्ष में धर्म है, और अमुक क्रिया से तुम स्वरूप से पतित हो जावोगे, अतः यह तुम्हारे पक्ष में अधर्म है। विचारशील पाठक स्वयं विचार कर सकेंगे कि उत्थान और पतन में अपेक्षाकृत अवांतर-भेद बहुत हैं। अतएव सामान्य विशेष भाव से धर्म के भी अवांतर-भेद बहुत हो जाते हैं। जो क्रिया मनुष्यत्व सामान्य के उपयोगी है—जिस कार्य के करने में मनुष्य की मनुष्यता में कोई बाधा नहीं होती, प्रत्युत मनुष्यत्व के उच्च कोटि की ओर ले जाने वाली जो क्रिया हो, वह मनुष्य के पक्ष में सामान्य धर्म कही जायगी, किन्तु जो काम करने से मनुष्य मनुष्यत्व से पतित माना जा सकता है, वह मनुष्य-सामान्य के पक्ष में अधर्म होगा। पूर्वोक्त सामान्य धर्म का परिपालन करते हुए भी—मनुष्यत्व में कोई बाधा न होते हुए भी—जो क्रिया ब्राह्मणत्व में बाधक होगी, जिस क्रिया के द्वारा ब्राह्मण की मूलभूत ज्ञान शक्ति पर आघात होगा, वह ब्राह्मण के पक्ष में अधर्म होगी। किन्तु ब्राह्मणोचित शक्तियों का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह ब्राह्मणों का धर्म होगा। यह धर्म विशेष-धर्म या ब्राह्मण-धर्म कहा जायगा। इस विशेष-धर्म के संबंध में यह भी अत्यावश्यक होगा कि जो क्रिया ज्ञान-शक्ति के संबंध में परम उपकार करती हुई भी क्षत्रियत्व की मूलभूत पराक्रम-शक्ति पर आघात पहुंचाने वाली होगी, वह ब्राह्मणों का धर्म होते हुए भी क्षत्रियों के पक्ष में अधर्म कही जायगी। उनकी शक्ति का विकास जिसके द्वारा हो सके, वह उनका धर्म होगा। इस प्रकार प्रति जाति, प्रति श्रेणी, प्रति कुल और प्रति व्यक्ति विशेष धर्म के अनंत भेद होंगे, जिनका विस्तार करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हां, इतना और स्मरण करा देना है कि धर्म के विचार में वही उन्नति 'उन्नति' कही जाती है जो भविष्य में पतन का कारण न हो। जहां केवल तात्कालिक उन्नति की चमक—किन्तु भविष्यत् में अवनति का घोर अंधकार हो, उसे यहाँ उन्नति नहीं कहा जा सकता। यह तो पतन का पूर्वरूप मात्र है और पतन के दुःख को बहुत अधिक कर देने वाली है। वर्तमान में चाहे कुछ कष्ट भी सहना पड़े, किन्तु परिणाम अमृतमय हो, वही सच्ची उन्नति है। उसी को शास्त्रों में श्रेय कहते हैं। केवल परलोक ही नहीं, इस लोक की भी स्थिर उन्नति धर्म के ही अधीन है। शास्त्रकार भी धर्म के निरूपण में यही विश्वास दिलाते हैं—

“लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ।

उभयत्र सुखोदकं इह चैव परत्र च ॥”

—महाभारत, अनुशासन-पर्व, अध्याय २६५

अर्थात् लोकस्थिति के निर्वाह के लिए ही धर्म का नियम किया गया है। वह धर्म इहलोक और परलोक में भी परिणाम में सुख देने वाला होता है।

यहां परिणाम से केवल मेरा अभिप्राय यह था कि जैसे कोई चोर या छली अपने पाप के प्रकट होने तक कुछ द्रव्य इकट्ठा कर ले और कुछ काल तक उसका इष्ट उपभोग करता हुआ उसी को उन्नति मानने लगे, तो उन्नति शब्द का यह अर्थ यहां नहीं है। वह तो उसके पतन का पूर्वरूप मात्र है, जिसके अनंतर पतन अवश्यंभावी है। साथ ही यह भी याद रखना होगा कि जो एक व्यक्तिमात्र की उन्नति उन्नति नहीं कही जा सकती, किन्तु स्वजनों की और स्वदेश की उन्नति के अनुकूल उन्नति ही सच्ची उन्नति है। जो मनुष्य स्वार्थवश समुदाय को हानि पहुंचाएगा, समुदाय के अंतर्गत होने से उसका प्रभाव उस पर भी पड़ेगा। अतएव यहां भी स्पष्ट कहना होगा कि उन्नति के नाम से प्रकारांतर से वह अपनी ही अवनति कर रहा है। समुदाय के प्रश्न को छोड़कर अन्य व्यक्तियों को हानि पहुंचाने से भी इन सब व्यक्तियों द्वारा इसकी भी हानि अवश्य होगी। मान लीजिए कि धर्म का बंधन तोड़कर सब लोग स्वेच्छाचार में लगे हुए हों, ऐसी दशा में यदि मनुष्य औरों को कष्ट पहुंचाकर चोरी, छल आदि से अपने को धनी बनाता है, तो आगे उसकी ही स्थिरता क्यों होगी ? उससे अधिक चतुर मनुष्य उसकी भी वही दशा करेंगे जो उसने अन्य सीधे-सादे मनुष्यों की की है। इसी आधार पर शास्त्रकार बार-बार आज्ञा देते हैं कि—

“अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।

या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥” —मनु

“यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्मपुरुषः।

न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥”

—महाभारत, भीष्मानुशासन-पर्व, अध्याय २६५

“अन्य प्राणियों के द्रोह के बिना या अंततः अल्पद्रोह से जो वृत्ति हो सके, उसी का आश्रय ब्राह्मण को ग्रहण करना चाहिए।”—“मनुष्य जिस कार्य का औरों के द्वारा अपने लिये किया जाना नहीं चाहता, वह स्वयं भी दूसरों के लिये न करे।”

हां, तो जो क्रिया स्वरूप की रक्षा करती हुई उन्नति की ओर ले जाती है उसी का नाम धर्म है। अब आप स्वयं विचारें कि क्या कोई मनुष्य ऐसे काम वा अर्थ की इच्छा करेगा जो स्वरूप को नष्ट करने वाला हो। संसार में जहां तक दृष्टि फैलाकर देखिए, यही प्रतीत होगा कि पहले स्वरूप की रक्षा सब चाहते हैं। कितना ही कोई अर्थ या काम में आसक्त पुरुष हो, स्वरूप-नाश का प्रश्न उपस्थित होते ही वह तुरंत अर्थ या काम को नमस्कार कर देता है। कुछ थोड़े-से बुद्धि के शत्रु उन कृपणाचार्यों वा विषय-लंपटों की बात जाने दीजिए, जो क्षुधा से शरीर का नाश करते हुए भी धन ही धन की माला जपते या मद्य सेवन करते हैं तथा वारांगना-बाहुपाश से बंधे हुए जानते ही नहीं कि स्वरूप क्या होता है और उसका नाश किस चिड़िया का नाम है। वे तो नित्य नए राग और विलास की धुन में मृत्यु के आवाहन-मंत्र स्वयं जपा करते हैं। ऐसे विषयांध जगत् में कम नहीं हैं। इनकी प्रवृत्ति का कारण भी आगे दिखाया जायगा। सार्वभौम भाव से यदि प्रवृत्ति सर्वसाधारण की देखी जाय तो यही स्पष्ट होगा कि अर्थ और काम आदि सबसे बढ़कर पहले स्वरूप रक्षा की आवश्यकता है। वह स्वरूप-रक्षा धर्म के अधीन है। अतः धर्म ही प्रथम पुरुषार्थ हुआ। यह स्वरूप-रक्षा किसी दूसरे का अंग नहीं, किन्तु स्वतः सबकी अग्र है, अतः प्रधान पुरुषार्थ है। सच पूछिए तो अर्थ और काम इसी के अंग हैं। जिस पुरुष को जैसे स्वरूप का अभिमान होता है, वह वैसे ही अर्थ और वैसी ही काम-सामग्री की इच्छा किया करता है। स्वरूप-विरोधी अर्थ और काम की इच्छा कोई नहीं करता। इच्छा क्या नहीं करता, बिना स्वरूप के अर्थ और काम हो ही नहीं सकते। अतएव शास्त्रकारों का निश्चय है कि बिना धर्म के अर्थ और काम की स्थिति ही नहीं है—

“अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः ।

तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाभ्यां बहिष्कृतात् ॥”

महाभारत, आपद्धर्म, अध्याय १६५

“धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।” -भारत-सावित्री

“परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।”-मनु

अस्तु, संक्षेपतः यह सिद्ध हो चुका कि “स्वरूप-रक्षा” का साधन धर्म है, और स्वरूप-रक्षा के बिना अर्थ और काम की कोई स्थिति नहीं। अब किंचित् यह भी देखना होगा कि स्वरूप-रक्षा का क्या अभिप्राय है। जिस प्रकार के समाज, जाति, कुल, श्रेणी आदि का अभिमान हमको हो, वह सब हमारे स्वरूप में ही प्रविष्ट मान लिया जाता है। इसीलिये धर्म में अवान्तर तारतम्य बहुत अधिक हो जाते हैं। जो

असभ्य मनुष्य अपने में किसी प्रकार की सभ्यता का अभिमान नहीं रख सकते, उनके पक्ष में धर्म की व्याख्या बहुत कम रह जाती है। उनको केवल अपने स्थूल शरीर का अभिमान है, वही उनका स्वरूप है। उसकी रक्षा जितने से—अर्थात् जिस प्रकार के आहार-विहार से—उनके विचार में हो सकती है, उस धर्म को वे भी बड़े आदर और आग्रह से मानते हैं। स्थूल शरीर के नाशक विषभक्षण आदि से वे भी दूर ही रहेंगे और उनकी उन्नति के लिए बराबर यत्न करेंगे। किन्तु तत्काल की उन्नति ही उनके ध्यान में आती है, परिणाम को वे अविद्यावश नहीं समझ सकते। इसी से स्थूल शरीर के लिए भी परिणाम में अपकारक मद्यपान आदि से वे बचना नहीं चाहते। इसी प्रकार कुलरक्षा, समाजरक्षा और सभ्यता, यश आदि की रक्षा को अविद्यावश वे अपनी स्वल्प-रक्षा के अंतर्गत नहीं मानते, और अविद्या के कारण ही इन सबकी हानि सह लेते हैं। किन्तु जो कुछ वे अपना सर्वस्व मानते हैं उसकी रक्षा के साधनों में अवश्य उनकी भी प्रवृत्ति रहती है, इसी से धर्म उनके लिए भी पुरुषार्थ है ही। यही बात सभ्य मनुष्यों के लिए भी कही जा सकती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य विद्वान् होता है त्यों-त्यों सामाजिकता, सभ्यता, कुलमर्यादा, यश आदि को भी अपने स्वरूप में प्रविष्ट मानने लगता है, और अपने शरीर के समान ही—प्रत्युत उससे बढ़कर—इन सबकी रक्षा के लिये ध्यान देता है। स्पष्ट देखा जाता है कि शरीर का कष्ट सहते हुए भी सभ्य पुरुष वस्त्र-विन्यास, उठने-बैठने आदि में सभ्यता के नियमों का पालन आवश्यक समझते हैं। जिनको कुल मर्यादा पर विशेष अभिमान है वे मर्यादा को और जो यश के अभिमानी हैं वे यश को नहीं बिगड़ने देते। “रघुवंश” के द्वितीय सर्ग में महाकवि कालिदास की यह उक्ति कितनी मार्मिक है—

“किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।

एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।।”

सिंह से राजा दिलीप कहते हैं कि ‘हम लोगों का केवल यह हाड़-मांस का शरीर ही शरीर नहीं, एक यश-रूप शरीर हमारा और भी है, और हम लोग इस हाड़-मांस के शरीर की अपेक्षा उस यश-रूप शरीर का बहुत अधिक मूल्य समझते हैं। सो यदि तुम्हें भी मुझ पर दया दिखाना है तो उस यश-रूप शरीर पर ही दया दिखाओ।’

बुद्धिमान् प्रतिष्ठित मनुष्यों की यह स्वाभाविक बात है कि वे यश को अपना स्वरूप मानते हुए उसकी रक्षा के लिये अर्थ और काम को तो तुच्छ समझते ही हैं, शरीर को भी कष्ट देने में किंचित् संकोच नहीं करते। इसी उद्देश्य से यश के साधन ‘परोपकार’ को सबसे बड़ा धर्म माना गया है।

बुद्धिमान् सभ्य पुरुषों की विवेकशील दृष्टि में समाज भी अपना स्वरूप ही है। समाज और कुछ नहीं, बहुत से व्यक्तियों का समूह है। यदि सब व्यक्ति उसे अपना स्वरूप न समझें, तो फिर समाज का अस्तित्व कहां रहेगा। ऐसे विचारवालों की दृष्टि में जो समाज की उन्नति के साधन हैं वा जिन साधनों के बिना समाज की स्वरूप रक्षा नहीं हो सकती, वे सब भी धर्म के मुख्य स्वरूप माने जाते हैं।

कल्पना कीजिए एक ऐसे समाज की, जो धन-धान्य से पूर्ण है, सब प्रकार के शिल्प और उच्च कोटि के व्यापार जिसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, जिसको अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कभी दूसरे का धन हड़प जाने को तैयार हैं, परस्पर धोखा देने में अपना पुरुषार्थ मानते हैं, आपस में लड़ाई-झगड़े करते हैं और अवसर पाते ही एक दूसरे को मार डालने में भी नहीं हिचकते, तो क्या पूर्वोक्त सब ऐश्वर्यों के रहते हुए भी उस समाज को कोई उन्नत कह सकता है ? उन्नति तो दूर रहे, क्या उस समाज की जीवन-रक्षा भी कभी हो सकती है—उसे कुछ भी सुख और शांति मिल सकती है ? अतएव 'स्वरूप-रक्षा' को समाज-रक्षा के अधीन समझकर ही सभ्य समाज में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्मों का बहुत ऊँचा आसन है। इतना ही नहीं, समाज को निज स्वरूप माननेवालों के लिए समाज-रक्षा का प्रश्न बड़े महत्व का है। उसके सामने वे अपने धन, जन, सुख और शरीर तक का त्याग भी एक सामान्य बात समझते हैं। इसी भांति देश को स्वरूप माननेवाले, देशरक्षा के लिये, सबका बलिदान करते हैं। इससे भी बढ़कर, जो अपने को ब्रह्माण्ड का एक अंश मानते हुए—समस्त ब्रह्माण्ड में एक आत्मा देखते हुए—समस्त ब्रह्माण्ड को निज स्वरूप मान चुके हैं, वे ब्रह्माण्ड के हित के लिये सर्वस्व का बलिदान करने को प्रस्तुत रहते हैं। इसी भाव से प्रेरित होकर जगत् की रक्षा के लिये दधीचि ने अपनी हड्डियाँ भी दे दी थीं। ऐसे ही पुरुषों के लिये कहा गया है कि

“उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्”।

आप विचारेंगे कि इसी प्रकार विद्वान् सभ्य पुरुषों के पक्ष में क्रमशः धर्म की व्याख्या विस्तृत होती जाती है। यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि विद्या से मनुष्य परिणामदर्शी बनता है, अतएव ज्यों-ज्यों किसी कार्य से परिणाम में बुराई प्रतीत होती जाती है त्यों-त्यों वह कार्य विद्वानों के समाज में हेय माना जाता है। इसी आधार पर मद्य-मांस-वर्जन आदि विद्वत्समाज में बड़े धर्म समझे गए हैं।

यह स्वरूप के बाह्य विस्तार का संक्षेप हुआ, अब आंतर विस्तार की ओर आइए।

जिस समाज में दर्शन-शास्त्र का विशेष प्रचार या चर्चा नहीं वह स्वरूपरक्षा का कोई यत्न नहीं कर सकता, अथवा यों कहिए कि जो पूर्णतया यह स्पष्ट नहीं जानते कि इस स्थूल शरीर के बाद भी कुछ रहता है—परलोक में जानेवाला या पुनर्जन्म पानेवाला भी कोई है, वे उसकी स्वरूप-रक्षा या उन्नति के लिये भी कोई यत्न नहीं कर सकते, उनकी धर्म-व्याख्या स्थूल तत्त्वों पर ही समाप्त हो जाती है। किन्तु जो अपनी वैज्ञानिक दृष्टि से स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर का भी पूर्ण अनुभव कर चुके हैं, और गंभीर तत्त्व के तल तक पहुंचाने वाली जिनकी दृष्टि उस सूक्ष्म शरीर की स्वरूप-रक्षा और उन्नति के उपायों को भी देख चुकी है, उन विद्वान् महानुभावों के समाज में धर्म की व्याख्या बहुत विस्तृत है। वे स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर की उन्नति को बहुत अधिक प्रतिष्ठा देते हैं। अतएव परलोकसंबंधी धर्म ऐसे समाज में सबसे प्रधान माने जाते हैं। “परिणाम” शब्द से इनके यहां परलोक की उन्नति ही समझी जाती है। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर बहुत अधिक स्थायी है, वह इस शरीर को छोड़कर अनेक लोकों तथा दूसरे शरीरों में भी जाता है, उसको आगे सद्गति की ओर ले जाना या दुर्गति की ओर गिराना अपने ही कर्मों पर निर्भर है—इस तत्त्व को समझ जाने वाला विद्वान् या विद्वत्समाज स्वभावतः उसकी उन्नति के यत्नों में लग जाता है। यही कारण है कि आर्य-जाति के धर्म का विशेष संबंध परलोक से है और इस जाति की धर्म-व्याख्या अति विस्तृत एवं कठिन है। सहस्रों वर्ष पूर्व यह जाति दार्शनिक विज्ञान में चरम उन्नति कर चुकी थी—और स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, आत्मा, लोक, परलोक गति आदि का पूर्ण ज्ञान भी प्राप्त कर चुकी थी, साथ ही अपने तलस्पर्शी विज्ञान के द्वारा परलोक की उन्नति के साधन भी निश्चित कर चुकी थी। हमारे यज्ञ, तप, उपासना, योग श्राद्ध आदि धर्मों का उच्चतम विज्ञान से घनिष्ठ संबंध है, और वे सब सूक्ष्म शरीर की उन्नति के द्वारा परलोक की सद्गति के युक्तियुक्त साधन हैं। भले ही हम आज अज्ञानवश कर्मकांड के वायु-शुद्धि आदि छोटे-छोटे फलों की कल्पना किया करें, किन्तु कर्मकांड के आकर-ग्रंथ “ब्राह्मण” आदि हमें ऐसा नहीं बताते। वहां स्पष्ट परलोकगति ही अधिकतर कर्मों का मुख्य फल माना गया है। मीमांसा में एक “विश्वजित् अधिकरण” नाम का न्याय ही इसलिये है कि जिस कर्म का कोई फल श्रुति में न लिखा हो उसका फल स्वर्ग ही समझना। उपासना और ज्ञानकांड का तो परलोकगति से मुख्य संबंध ही है। ये सूक्ष्म शरीर, कारण-शरीर वा व्यावहारिक आत्मा की उन्नति के लक्ष्य से ही नियमित हैं।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का भेद न जानते हुए जनसाधारण भी अविज्ञात भाव से सूक्ष्म शरीर की वृत्तियों का अभिमान रखते हैं, और उन वृत्तियों को ही अपना मुख्य

स्वरूप मानते हुए उनकी रक्षा में शरीर तक का समर्पण कर बैठते हैं। सूक्ष्म शरीर में मन प्रधान है, अतः मन की सब वृत्तियां सूक्ष्म शरीर के ही अंतर्गत मानी जाती हैं। बहुत-से दयालु पुरुष दयावृत्ति को प्रधानता देते हुए—उसी को स्वरूप मानकर जैसे विपत्ति में पड़े हुए प्राणी की रक्षा के लिए अपना धन, जन, शरीर, प्राण सब कुछ छोड़ सकते हैं वैसे ही लोभी पुरुष लोभवृत्ति के चक्कर में पड़कर वा कामी पुरुष कामवृत्ति के वश में होकर भी सबका त्याग कर सकते हैं। यह त्याग भी स्वरूप-रक्षा के अभिमान से ही होता है। यह दूसरी बात है कि वह अभिमान उचित है वा अनुचित, सत्य है वा मिथ्या। लोभ, काम आदि वृत्तियां आगंतुक हैं, ये स्वरूप नहीं कही जा सकतीं, अतएव इनकी रक्षा के उपाय भी धर्म नहीं हो सकते। किन्तु जिन्होंने भ्रांतिवश इनको स्वरूप समझ लिया, वे अधर्म को धर्म समझ कर इन वृत्तियों के परिपालन में लगते हैं। अतः धर्म की अभिलाषा वहां भी है, धर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं है। सूक्ष्म शरीर, कारणशरीर वा आत्मा का तत्त्व जानने पर धर्म का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और आचरण में सत्यता आ जाती है। तात्पर्य यह कि जो समाज दर्शन-विज्ञान प्राप्त कर चुका हो उसकी “स्वरूप-रक्षा” कुछ और ही है, और उस जाति की धर्म व्याख्या अति विस्तृत एवं उच्च विज्ञान से संबंध रखने के कारण अति कठिन होती है। वह जाति अपने मुख्य धर्म के सामने अर्थ-कामादि सब प्रकार की उन्नति को गौण समझती है। उस जाति का धर्म औरों के धर्म की अपेक्षा विलक्षण ही होता है। यही कारण है कि हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि लौकिक उन्नति को गौण और तुच्छ ही मानते रहे। यद्यपि वे लौकिक उन्नति के भी सब साधनों के पारंगत विद्वान् तथा आचार्य थे। पारलौकिक उन्नति का जिनको पूर्ण अधिकार नहीं उन्हें वे लौकिक उन्नति के साधनों की पूर्ण शिक्षा भी दे गए हैं, तथापि उनका अपना लक्ष्य यही था कि

“ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते,

इह कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च

अर्थात् ब्राह्मणों की देह छोटी कामनाओं की पूर्ति करने के लिये नहीं है। वे इस जन्म में पूरा क्लेश उठावें और परलोक में अनंत सुख प्राप्त करें।” यह तो एक स्वाभाविक बात है कि बड़ी और अधिक काल की उन्नति के सामने छोटी और अल्पकाल की उन्नति को सभी छोड़ दिया करते हैं। आगे उत्पन्न होने वाले धान्य की आशा से घर के थोड़े धान्य को खेत में फेंक देने वाले कृषक वा घर की पूंजी को पहले ही खपा देने वाले व्यापारी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। फिर जिनको परलोक का निश्चित



ज्ञान है—जो उस विभूति के सामने यहां की विभूतियों को तुच्छ ही नहीं, तृण के समान निःसार मानते हैं और इसकी अपेक्षा उसके बहुत स्थिर होने का जिनको निश्चय है, वे उस उन्नति की आशा में यदि इसे छोड़ें तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक आख्यायिका है। महर्षि याज्ञवल्क्य संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहते थे। उनके दो स्त्रियाँ थीं। वे अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं—“मैत्रेयी ! मैं अब संन्यास लेता हूँ, मैं अपने धन का तुम दोनों में विभाग कर देना चाहता हूँ” मैत्रेयी पूछती है—“भगवन् ! क्या यह संपूर्ण पृथ्वी धन से भरी हुई मुझे मिल जाय तो मैं अमृत दशा को प्राप्त हो सकूंगी ?” याज्ञवल्क्य ने कहा—“नहीं ! धनवानों की तरह तेरा जीवन होगा, धन से अमृतदशा की तो आशा नहीं की जा सकती।” बस, मैत्रेयी बोल उठी—“जिससे मैं अमर न होऊंगी उस धन को लेकर क्या करूंगी ? जो आपका मुख्य धन आत्मज्ञान है वही मुझे दीजिए। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने समझाया कि आत्मा के संबंध से ही सब वस्तुओं में प्रियता होती है, इसलिये आनंदधनरूप आत्मा का ही विज्ञान प्राप्त करना चाहिए—इत्यादि। सत्य है। जिसे जिस रस का चसका है वह उसी के लिये मत्त है, संसार में उसे और कुछ नहीं सूझता। जिस प्रकार संसारी मनुष्य धन, पुत्र, कलत्र आदि के सुख में मस्त हैं उसी प्रकार भक्त भक्ति में और ज्ञानी ज्ञान में मत्त रहते हैं। सबकी प्रवृत्ति स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अर्थ और काम स्वरूपरक्षा की तुलना में, तुच्छ सिद्ध होते हैं। अतः पुरुषार्थ-विचार में धर्म का, अर्थ और काम सबसे, बहुत अधिक गौरव है। लौकिक और पारलौकिक, सब प्रकार की, उन्नति धर्म के ही अधीन है। किन्तु जो जितना अपना स्वरूप समझ सकता है वा जिस स्वरूप का जिसे मुख्य रूप से अभिमान है—अर्थात् स्वरूप में प्रविष्ट बहुत से पदार्थों में से जिसे जिसने मुख्य मान रक्खा है, उसी की रक्षा के लिए वह यत्न करता है। एक गरीब को केवल अपनी कुटिया की रक्षा की चिंता होती है, किन्तु राजा को संपूर्ण राज्य की रक्षा की चिंता लगी रहती है। इसी प्रकार अधिकाधिक विद्या के कारण जो अपना स्वरूप जितनी उत्तमता से जान सके, उसका धर्म उतना ही विस्तृत होता है। स्वरूपांतःप्रविष्ट पदार्थों में से भी अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कोई किसी को और कोई किसी को मुख्य मानता है, उसी पर उसका स्वरूपाभिमान दृढ़ होता है और उसी की उन्नति में वह प्रयत्नशील होता है। इसी आधार पर धर्मों के बहुत भेद हो जाते हैं, और इसी आधार पर कुछ साधारण धर्म सब के एक-से रहते हैं क्योंकि मनुष्यता, सामाजिकता आदि का अभिमान सबको एक-सा ही रहता है। आर्य-जाति अनादि काल से विद्वत्ता के उच्च आसन पर आरूढ़ है, इससे इसका धर्म भी बहुत विस्तृत है।

स्वरूप-रक्षा का साधन होने के कारण, अर्थ और काम से धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध की जा चुकी है। अब उस विषय में दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जाय। वास्तव में पुरुषार्थ 'सुख' है, और सब गौण पुरुषार्थ हैं। आनन्द ही के लिये सब मनुष्य सब काल में, सब दशा में, लालायित रहते हैं। सबकी दृष्टि एक ही लक्ष्य 'आनन्द' पर है। कोई धन कमा रहा है तो आनन्द के लिये, और कोई धन खर्च कर रहा है तो आनन्द के लिये। अर्थ, काम, धर्म आदि जिस-किसी वस्तु की इच्छा पुरुष को होती है, बस आनन्द के लिए ही होती है। इसलिये "पुरुषैरर्थ्यते यः स पुरुषार्थः"—पुरुष को जिसकी इच्छा हो वह 'पुरुषार्थ' है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'पुरुषार्थ' आनन्द या सुख ही हुआ, और सब उसके साधन होने से गौण पुरुषार्थ हुए। सुख के साधन ये तीनों हैं—धर्म, अर्थ और काम, इसलिये ये भी 'पुरुषार्थ' कहाते हैं। इनमें भी 'धर्म' ही सुख का मुख्य साधन है, अतः वह साधनों में मुख्य पुरुषार्थ है, इतर दोनों गौण हैं। इसका कारण यह है कि शुभ आचरण-रूप धर्म के बिना अर्थ और काम की प्राप्ति ही असंभव है। शास्त्राज्ञा-रूप धर्म का आचरण करते हुए ही सब वर्ण और जाति के मनुष्य अपनी-अपनी वृत्ति से उपयुक्त धनोपार्जन कर सकते हैं। धर्म के विरुद्ध साधनों से उपार्जन किया हुआ धन कभी सुख का कारण नहीं हो सकता, प्रत्युत अनन्त दुःख उत्पन्न करने वाला होता है। यह चोरी आदि के दृष्टान्तों से नीतिवेत्ता भी मानेंगे। साथ ही, धर्म-विरुद्ध परस्त्री आदि काम-भोग भी कभी सुखजनक नहीं हो सकता। मोहवश चाहे उन कामों में बहुत से लोग प्रवृत्त हो जाते हों, पर उनका समर्थन वे स्वयं भी नहीं कर सकते, और उन अर्थ-कामों से उन्हें कितना सुख और कितना दुःख होता है—यह तो उनका आत्मा ही जानता है। यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि अर्थ या काम से सुख तभी होता है जब उनमें संतोष हो और ईश्वर पर लक्ष्य हो। संतोष की मात्रा के बिना, धन कमाने से अधिकाधिक तृष्णा बढ़ती जाती है, और तृष्णा की ज्वाला से तपे हुए इधर-उधर दौड़-धूप करने वाले विश्राम-शून्य मनुष्यों को सुख का लेश भी नहीं मिल सकता। स्वयं काम भोग करते हुए भी जो दूसरों की ईर्ष्या से जले जाते हैं, अथवा जो उत्कट काम-भोग के द्वारा अपनी इच्छा को बढ़ाते हुए भी काम-भोग के साधन-शरीर, इन्द्रिय आदि को जर्जर कर लेते हैं, वे क्या स्वप्न में भी सुखी होते हैं ? फिर अर्थ और काम का स्वभाव ही नश्वर है, वे कभी स्थिर रह नहीं सकते, उनके विनाश पर ईश्वर-लक्ष्यवाले पुरुष ईश्वरेच्छा को बलवान् मानते हुए दुःख से बच सकते हैं, किन्तु जो उधर लक्ष्य नहीं रखते वे अथाह दुःख-सागर में डूबते हैं। इस प्रकार धर्म की सहायता भी सुख-साधन में अत्यावश्यक सिद्ध हुई। सारांश यह कि सुख वही पुरुषार्थ है जो दुःख से दबाया न जाय। जहां सुख एक अंश और दुःख

दो-तीन अंश हो वहां कोई विद्वान् प्रवृत्त नहीं होता। यदि धर्म के द्वारा अर्थ और काम की मर्यादा रक्खी जाय तो वे सुख-साधन हो सकते हैं, परन्तु धर्म की मर्यादा के बिना वे सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक उत्पन्न करते हैं। इससे भी सुख के साथ धर्म का ही घनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है और सुख के साधनों में धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ मानने योग्य ठहरता है। शास्त्रों में जो सुख का स्वरूप बड़ी विवेचना के साथ निरूपित हुआ है उस पर एक दृष्टि डालने से तो यह विषय अत्यंत स्फुट हो जाता है। सुख या आनंद बाहर की वस्तु नहीं, यह आंतरिक वस्तु है, या यों कहिए कि आत्मा का स्वरूप है। अविद्या के परिणाम अंतःकरण के आवरण से ढँके रहने के कारण यह आनंद हमें सदा प्रतीत नहीं होता। किन्तु जब अंतःकरण में सत्त्वगुण की प्रधानता होती है और वह स्वच्छ हो जाता है तब जैसे स्वच्छ शीशे से निकलकर दीपक की प्रभा चारों ओर फैल जाती है वैसे ही आत्मा की आनंदज्योति प्रकट होकर बाह्य विषयों तक फैल जाती है। उसी को हमलोग आनंदानुभव-सुख की प्रतीति-मानते हैं। सुख की प्रतीति सत्त्वगुण की प्रधानता पर अवलंबित है, और सत्त्वगुण की प्रधानता के साधन का ही नाम “धर्म” है।

जिस अर्थ या काम की प्राप्ति के लिये पुरुष विकल रहता है और जी-तोड़ परिश्रम करता रहता है, उसकी प्राप्ति के समय वह विकलता-वह चित्त की चंचलता-दूर हो जाती है और स्थिर चित्त में सत्त्व का उदय होता है। इसी से अर्थ और काम की प्राप्ति में सुख की प्रतीति होती है। महात्मा भर्तृहरि की उक्ति कैसी मार्मिक है-

**तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि**

**क्षुधार्त्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान् ।**

**प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिंगति वधूं**

**प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥**

अर्थात् “जब तृषा से मुख सूखने लगता है तब सुन्दर जल पीकर उसका प्रतिकार किया जाता है। क्षुधा की व्याधि उपस्थित होने पर शाक-ओदन आदि द्वारा उसका निवारण होता है। काम की अग्नि ज्वलित होने पर स्त्री-संयोग से उसे शांत किया जाता है। इस प्रकार रोग के प्रतिकारों को ही मनुष्य धोखे से सुख मान रहे हैं।”—तात्पर्य यही है कि दुःख-जनित चित्त की चंचलता मिटाना ही बाह्य विषयों के संग्रह का उद्देश्य है, सुख तो स्थिर चित्त में स्वतः प्रकाशित होता है। यह चित्त की स्थिरता अर्थ-कामों से, बिना धर्म की नियंत्रणा के, नहीं हो सकती। अधिकाधिक इच्छा से चंचलता बढ़ती ही जायगी। अतः धर्म के बिना अर्थ और काम पुरुषार्थ नहीं। किन्तु

धर्म, बिना अर्थ और काम के भी, पुरुषार्थ है। कारण, इच्छा-वृत्तियों को रोककर वा समाधि द्वारा, बिना बाह्य विषयों के भी, चित्त की स्थिरता प्राप्त की जा सकती है। इसका आशय यह है कि इच्छा, द्वेष आदि वृत्तियां जो मन में चंचलता पैदा करने वाली हैं, उनके हटने पर चित्त की चंचलता दूर होना ही सुख है। उन वृत्तियों का हटना दोनों प्रकार से संभव है—उनके अनुकूल पदार्थ प्राप्त करके या विचार द्वारा उन्हें पैदा ही न होने देने से। पहला उपाय सभी प्राणी करते हैं, किन्तु उससे यथार्थ सिद्धि नहीं होती। एक इच्छा के पूरी होने पर भी आगे इच्छा का स्रोत बहता ही रहता है। सब इच्छाएं तो कभी किसी की पूरी हो ही नहीं सकती, और यदि पूरी हों भी तो यह नहीं कहा जा सकता कि अब आगे इच्छा होगी ही नहीं, जहां फिर इच्छा उत्पन्न हुई कि फिर चंचलता और दुःख। ऐसा ही द्वेष आदि के संबंध में भी समझिए। अंतःकरण में इस द्वेष दुष्ट का राज्य होने पर भले-भले आदमी भी क्या नहीं कर डालते। अपने उपकारकों पर भी यह दुष्ट आक्रमण करवा देता है। सीधे-सादे और भोले-भाले आदमियों से भी यह छल-प्रपंच करा डालता है। इस भूत के आवेश में आकर मनुष्य अपने-आपको योग्य पुरुषों की दृष्टि से गिरा लेता है। कलुष हृदय की आकृति बाहर तक प्रकट हो जाती है। किन्तु यदि पूर्ण उद्योग से छल-प्रपंच कर आप कदाचित् अपने शत्रु पर विजय भी पा सकें, तो क्या वह सुख चिरस्थायी है ? याद रखिए, अंत में सत्य की विजय होगी और जिस सुख पर आप फूल रहे हैं उसका परिणाम घोर दुःख होगा।

इसी प्रकार मन के सब विकारों पर विचार कर लीजिए। किन्तु जो धर्ममार्ग के पथिक हैं वे संतोष, निर्वैरता, करुणा आदि की ऐसी सघन छाया में बैठ जाते हैं कि इन मनोविकारों का प्रचंड आतप उन्हें सता ही नहीं सकता। योगदर्शनकार भगवान् पतंजलि कहते हैं—“यदि चित्त की प्रसन्नता चाहते हो तो किसी प्राणी का अभ्युद देखकर उसके साथ ईर्ष्या करने के स्थान में उसे अपना मित्र समझो। किसी को दुःख पाता देखकर प्रसन्न मत हो, उस पर करुणा करो। पवित्र कार्य करते हुए पुरुषों को देखकर हर्ष-युक्त हो। पापियों की—यदि वे नहीं मानते हैं तो—उपेक्षा करो, उनसे झगड़ा मत करो, प्रत्युत उनको सुबुद्धि देने के हेतु परमपिता जगदीश्वर से प्रार्थना करो।”

यही प्रसन्नता के उपाय हैं जो धर्म-कल्प-वृक्ष के आश्रय के बिना मिल ही नहीं सकते।

निष्कर्ष यह कि हर तरह से मुख्य पुरुषार्थ ‘सुख’ ही है, और दुःखों के अभाव के बिना सुख प्रतीत हो नहीं सकता। केवल अर्थ और काम से कुछ काल तक सुख

हुआ भी तो वह दुःख के साथ ही रहेगा, दुःख को दबा नहीं सकता। किन्तु धर्म तो अर्थ और काम के साथ रह कर भी सुख प्रतीत करा सकता है और उनकी सहायता के बिना भी सुख-साधन हो सकता है।

जब यह सिद्ध हो चुका कि धर्म ही मुख्य पुरुषार्थ है, तब, अब मोक्ष के संबंध में थोड़ा विचार करना चाहिए। हम पहले कह आए हैं कि प्राणिमात्र दुःख का अभाव चाहते हैं। सुख के साथ भी दुःख भोगना कोई स्वीकार न करेगा। दुःख से छुटकारा पाने की और सबकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष के परम पुरुषार्थ होने में किसी प्रकार की शंका ही नहीं रह जाती, क्योंकि दुःख-निवृत्ति का ही नाम मोक्ष है। यह दूसरी बात है कि संसार में सब दुःखों का अभाव कभी हो नहीं सकता, अतः मोक्षार्थी पुरुषों को संसार से विमुक्त होना पड़ता है, इसे भयंकर समझ कर सब उसके लिए प्रवृत्त न हो सके, किन्तु मुक्ति की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं।

जो सज्जन इस प्रकार की शंका उठाते हैं कि जिस मोक्ष-दशा में सुख या दुःख किसी का भी अनुभव नहीं होता उसकी तरफ भला कौन प्रवृत्त हो, उनसे हमारा यही संक्षिप्त निवेदन है कि आप अतुल सुख भोगते हुए भी—विविध प्रकार की विलास-सामग्री सामने रहते हुए भी—क्यों नित्य शयन की इच्छा करते हैं—कौन सा हेतु है जो आपको सब सुखों से हटाकर उस निद्रा की ओर बलात् खींच ले जाता है जिसमें किसी दुःख या सुख का अनुभव नहीं होता ? अगत्या मानना पड़ेगा कि सांसारिक श्रम-रूपी दुःख से बचने के लिए शांति-रूपी निद्रा की ओर सबका झुकाव स्वाभाविक है, किन्तु अनादिकाल की वासना से धिरे हुए हम लोग उस शांति का चिरानुभव नहीं कर सकते—वासना हमें फिर उधर से इधर घसीट लाती है। तब, जो महानुभाव शांति का तत्त्व समझ जाते हैं वे सब वासनाओं के क्षय में लगकर मोक्ष-मार्ग के पथिक बन जाते हैं। शांत्यानंद ही मुख्य आनन्द है, समृद्ध्यानंद तो उसका साधनमात्र है। जिस समय मनुष्य कोई कोई नई उन्नति करता है—उसे कुछ धन मिले, ऐश्वर्य मिले वा पुत्र जन्म हो, उस समय कुछ काल के लिये अन्तःकरण में विकास होता है, मानों उस नए विषय को पकड़ने के लिये अंतःकरण फूल उठता है। किन्तु थोड़े समय के अनन्तर उस धन, ऐश्वर्य और पुत्र के विद्यमान रहने पर भी वह आनंद-प्रतीति नहीं रहती। अब वह नया पदार्थ भी अपने स्वरूप में आ गया, इसलिए स्वरूपभूत शांत्यानंद ही अब रह गया, वह चित्तवृत्ति का विकास होते समय जो एक विशेष चमत्कार रूप से आनन्द का अनुभव हुआ था, अब न रहा। हां, यदि वह नया पदार्थ अब चला जाय

तो दुःख होगा। पहले जब वह न था तब दुःख की वेदना वैसी न थी जैसी अब उसके चले जाने पर होगी। इसका कारण स्पष्ट है कि पहले वह पदार्थ अपने स्वरूप में नहीं था, अब उसके हटने से स्वरूप-हानि-प्रयुक्त दुःख होगा ही।

कहने का तात्पर्य यह कि यों समृद्ध्यानन्द क्रम से शांत्यानन्द के रूप में परिणत हो जाता है, और शांत्यानन्द आत्मा का स्वरूप है। मोक्ष के संबंध में जो यह विवाद दर्शनों में है कि कोई मोक्ष में सुख मानते हैं और कोई नहीं मानते, उसका भी निपटारा इसी रूप में ठीक होता है कि स्वरूपानन्द-अर्थात् शांत्यानन्द-मोक्ष में है, समृद्ध्यानन्द नहीं। मोक्ष “सर्वात्मभाव” कहा जाता है, अर्थात् सब कुछ उसके आत्मस्वरूप-में आ चुका। जब सब स्वरूप बन गया, तब फिर नई वस्तु मिलेगी कैसे और विकास कहाँ से होगा ? इसलिए समृद्ध्यानन्द वहाँ नहीं होता, किन्तु सब कुछ हमारा हो जाने पर-या हमारे सर्वस्व हो जाने पर कमी किस बात की रही ? शांत्यानन्द जो मुख्यानन्द है वह तो अनंत रूप में प्राप्त हो गया। मान लीजिए, एक पुरुष ऐसा है जो सांसारिक दृष्टि से पूर्ण उन्नति प्राप्त कर महाराजाधिराज बन गया। उसे अब प्राप्तव्य कुछ न रहा ! दूसरा क्रम-क्रम से अपना अधिकार बढ़ाता जाता है और अधिकार बढ़ने की दशा में नित्य-नित्य सुख का अनुभव करता है। इन दोनों में ऊँचे दर्जे का तो वही कहलाएगा जो सब कुछ प्राप्त कर चुका है। यह दूसरा भी कभी उस स्थिति पर पहुँचेगा-उसके लिये यह लालायित है। बस, इसी तरह सर्वात्मभाव प्राप्त कर चुकने वाला मुक्त पुरुष ही पूर्ण शांत है, संसारी लोग उसी स्थिति में पहुँचकर झंझट से छूटेंगे।

इस प्रकार, संक्षेप में सिद्ध यह किया गया है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से जो चार पुरुषार्थ आर्यशास्त्रों में निरूपित हुए हैं उनका स्वरूप क्रम से स्वरूप-रक्षा, सांसारिक उन्नति, भोग-विलास और दुःख-निवृत्ति है। ये ही प्राणिमात्र के इष्ट पदार्थ हैं। किसी भी इच्छा का लक्ष्य इनसे बाहर नहीं जा सकता। इसलिये ये चारों ही पुरुषार्थ हैं। और, चार ही पुरुषार्थ हैं भी, अधिक नहीं। सामान्यतः तो चारों ही पुरुषार्थ हैं, किन्तु विचार-दृष्टि से सिद्ध यही होता है कि मोक्ष तो परम पुरुषार्थ है, किन्तु सांसारिकों के लिये त्रिवर्ग में “धर्म” ही मुख्य पुरुषार्थ है, और अर्थ तथा काम गौण पुरुषार्थ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों पर दृष्टि रखकर दो प्रकार से धर्म की मुख्य पुरुषार्थता संक्षेप से सिद्ध की गई है। धर्म की ओर सबकी स्वाभाविक वृत्ति रहने पर भी धर्मानुष्ठान में और धर्म के मंतव्य में क्यों सबका परस्पर भेद हो जाता है, इसका उत्तर भी यथोचित देने की चेष्टा की गई है।

## धर्म और विज्ञान

हमारे सर्वश्रेष्ठ धर्म-प्रवक्ता भगवान् मनु ने स्पष्ट घोषणा की है कि जैसे-जैसे मनुष्य ज्ञान में अग्रसर होता जाता है, वैसे ही वैसे उसकी रुचि ज्ञान में बढ़ती जाती है और दृढ़ धार्मिक हो सकता है। धर्मोपदेश को जो मनुष्य तर्कबल से भी समझ लेता है, वही धर्म का पूर्ण विज्ञाता होता है। यह हमारे धर्म ग्रन्थों का डिण्डिमघोष है। भारत के इतिहास में वैज्ञानिकों या दार्शनिकों का धार्मिकों के साथ कभी संघर्ष हुआ हो ऐसा कहीं नहीं मिलता। दर्शन ही हमारे विज्ञान हैं और वे ही धर्म के मूल हैं। धर्मशास्त्र-प्रवक्ताओं ने भी इसीलिए दार्शनिक विषयों को अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है। भगवान् मनु ने आरम्भ के प्रथमाध्याय में और उपसंहार के बारहवें अध्याय में दोनों जगह दार्शनिक विवेचन किया है। इससे स्पष्ट बतला दिया कि धर्म का मूलस्तम्भ दर्शन-शास्त्र है। याज्ञवल्क्य भगवान् ने भी यतिधर्म-प्रकरण में पूर्ण दार्शनिक विवेचन किया है।

‘दर्शन’ और ‘विज्ञान’ को ‘साइंस’ और ‘फिलासफी’ नाम देकर इनको अलग अलग कर देना भी पाश्चात्य देशों की ही रूढ़ि है। उन्होंने इस पार्थक्य का आधार यह नियत किया है कि “जो नियम अनुभव में आकर दृढ़ बन जाय, वे ‘साइंस’ की कोटि में आ जाते हैं और जो केवल विचारों में रहें, अनुभव में न आये हों या जिनकी दृढ़ता संदिग्ध हो, वे ‘फिलासफी’ की श्रेणी में रखे जाते हैं। जो काम जैसे हो रहे हैं, वे साइंस की श्रेणी में हैं और ‘क्यों हो रहे हैं ?’ इसका मूल खोजना फिलासफी के अन्तर्गत है। किन्तु भारतीय दर्शन-शास्त्रों में ऐसी बात नहीं। वे दार्शनिक सिद्धान्तों को भी अनुभव में लाकर उत्तीर्ण कराते हैं, अतएव उनके नियम सुनिश्चित और दृढ़ हैं। साथ ही वे प्रत्येक कार्य-कारणभाव का मूलतत्त्व भी खोजना अपनी सीमा के अन्तर्गत मानते हैं। यह दूसरी बात है कि दर्शनों का श्रेणीबद्ध एक क्रम रखा गया है, जिसके अनुसार धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश कराया जाता है। किन्तु जो भी दर्शन जहां से आरम्भ करता है, उसका दृढ़ नियमों से पूर्ण विवेचन करता है। इससे दर्शन और विज्ञान का पृथक्करण हमारे यहां नहीं है। धर्म से भी उनका कोई विरोध या संघर्ष नहीं, प्रत्युत एक दूसरे के सहायक हैं। दर्शन धार्मिक नियमों की उपपत्ति बतलाते हैं और धर्मशास्त्र नियमों के पालन द्वारा विशुद्धि कर अन्तःकरण को दार्शनिक तत्त्वों के समझने योग्य बनाते हैं।

अन्यान्य देशों के साथ भारत की इस विषमता का कारण यही है कि दूसरे देशों में धार्मिक नियम किसी प्रतिष्ठा प्राप्त विवेचक विद्वान् के द्वारा संघटित हुए हैं।

किन्तु भारत के धार्मिक नियम मनुष्य-बुद्धि द्वारा प्रसूत नहीं। वे प्रकृति के शाश्वत नियमों के आधार पर संघटित हैं। अतएव हमारे यहां धार्मिक नियमों को 'ईश्वरीय नियम' समझा और कहा जाता है। प्रकृति के परिचालक का नाम ही 'ईश्वर' है, अतः प्राकृतिक नियम कहें चाहे ईश्वरीय नियम, बात एक ही होती है। हमारे छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जिन जिन नियमों की आधुनिक विज्ञान ने परीक्षा की, उन्हें अपनी परीक्षा में भी उत्तीर्ण ही पाया। प्राकृतिक या वैज्ञानिक होने के कारण ही भारतीय धार्मिक नियमों में परिवर्तन का कोई स्थान नहीं। मनुष्य-बुद्धि द्वारा संघटित नियमों का परिवर्तन दूसरे मनुष्य की बुद्धि कर सकती है। किन्तु ईश्वरीय प्रकृति के द्वारा संघटित नियमों का परिवर्तन मनुष्य के द्वारा असाध्य है। ऐसा परिवर्तन तो वह तभी कर सकता है, जब वह स्वयं ईश्वर बन जाय। हमारे शास्त्र तो यहाँ तक कहते हैं कि ईश्वर भी अपने नियमों को बदलता नहीं। यदि बदल दे, तो उसमें अज्ञता सिद्ध हो जाय। पहले कोई काम भूल से कर दिया जाय, तब उसका परिवर्तन, समझ लेने पर, होता है। किन्तु जो सदा ही सर्वज्ञ है, उससे भूल कैसे हो और परिवर्तन का स्थान ही कैसे प्राप्त हो ? इसके एक-दो उदाहरण देना यहां अप्रासंगिक न होगा। हमारे यहां का एक सामान्य नियम है कि सन्ध्या, पूजा आदि के समय हम कुशा, ऊर्णवस्त्र (ऊनी वस्त्र) और रेशमी वस्त्र को पवित्र मानते हैं। इनका ही आसन रखते हैं और शरीर पर ओढ़ने की आवश्यकता हो तो भी ऊर्णा वा रेशम का वस्त्र ही लेते हैं। 'भगवद्गीता' में आसन के लिए आज्ञा है—“चैलाजिनकुशोत्तरम्।” अर्थात् कुशा, मृगचर्म या ऊन का वस्त्र अथवा रेशम का वस्त्र ये क्रम से ऊपर रखे जाने चाहिए। साथ ही यह भी नियम है कि आवृत (आच्छादित) स्थान में बैठकर ही पूजा आदि करनी चाहिए, खुले आन्तरिक्ष में नहीं। वर्तमान विज्ञान की परीक्षा द्वारा सिद्ध हो गया है कि उक्त तीनों वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनमें होकर विद्युतशक्ति प्रसूत नहीं होती। इससे स्पष्ट आशय समझ में आ जाता है कि जप, पूजा आदि के द्वारा अन्तःकरण में संचित हमारी शक्ति को पृथिवी अपने आकर्षण-बल से खींच न ले, इसलिए ऐसी वस्तुएँ बीच में दे दी जाती हैं, जिनमें होकर बिजली के आकर्षण का प्रभाव ही न पड़ सके। साथ ही सूर्यमण्डल के द्वारा आकर्षण न हो जाय इसलिए आवृत स्थान का आग्रह किया जाता है, जहां कि सूर्य का आकर्षण बहुत मन्द गति से होता है। अब इन पृथ्वी या सूर्य में से आकर्षण-शक्ति निकाल दी जाय या कुश, मृगचर्म आदि में भी विद्युत की शक्ति प्रवाहित करने की योग्यता उत्पन्न कर दी जाय तो धर्म में परिवर्तन न हो। ऐसा परिवर्तन यदि मनुष्य-शक्ति के बाहर है, तो इन नियमों का परिवर्तन भी मनुष्य के द्वारा कैसे किया जा सकता है ? गोमय (गोबर) के उपलेपन की भी यही स्थिति है। उसकी भी वैज्ञानिक परीक्षा हो चुकी है।



दूसरा उदाहरण भी देखिये। पूजा आदि प्रत्येक कार्य का आरम्भ करने से पहले हमारे यहां आचमन करने का नियम है। इस पर 'शतपथ-ब्राह्मण' के आरम्भ में ही प्रश्न उठाया गया है कि 'यज्ञकर्म के आरम्भ में आचमन क्यों किया जाय ?' दो कारण बतला कर वहां इसका उत्तर दिया है। जल का स्वभाव है कि वह मलिनता को धो देता है और दो वस्तुओं को आपस में संयुक्त कर देता है। या यों कहिये कि एक प्रकार का चप उत्पन्न कर देता है। इसीलिए जल को 'पवित्र' और 'मेध्य' कहा जाता है। पवित्र शब्द का अर्थ है 'शोधन करनेवाला' और मेध्य शब्द का अर्थ है 'परस्परयोग की शक्ति पैदा करनेवाला।' यहाँ दोनों ही शक्तियों की आवश्यकता है। मनुष्य समय समय पर झूठ बोल देता है, इसलिए उसके अन्तःकरण में मलिनता आ जाती है। मन, वाणी और कर्म का एक क्रम में रहना ही शुद्धता है। झूठ बोलने से वह क्रम बिगड़ जाता है, क्योंकि मन में कुछ और ही है, वाणी से कुछ और ही निकलता है और क्रिया कुछ और ही होती है। वह इन तीनों का क्रम बिगड़ना ही एक प्रकार का मैल है। इसलिए झूठ बोलने से अन्तःकरण में मलिनता आ जाती है। इसी प्रकार अन्यान्य बुरे विचारों से भी उन बुरे विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ने से मलिनता आती है। उस मलिनता को धो डालने की आवश्यकता है और यज्ञ, पूजा आदि के द्वारा जो नये संस्कार उत्पन्न करने हैं, वे अन्तःकरण में दृढ़ता से चिपक जाय इसकी भी आवश्यकता है। इसलिए आचमन सब कर्मों के आरम्भ में आवश्यक माना जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि कोई भी बुरा काम करके हम जल पी लिया करें, तो वह पाप की मलिनता हमारी दूर हो जायगी। नहीं, बुद्धिपूर्वक जो काम किया जायगा, उसका संस्कार तो बुद्धि में दृढ़ता से बैठेगा। वह केवल जल से दूर नहीं हो सकता। उसके लिए तो प्रयश्चित्त-स्वरूप विस्तृत कर्म करने की आवश्यकता होती है। जैसे वस्त्र या पात्र में यदि अधिक मल लग जाय, तो वह केवल जल से दूर नहीं होता, उसे हटाना हो तो मलशोधक रीठा, क्षार आदि से रगड़ने की आवश्यकता होती है। किन्तु अज्ञानवश बहुत बार इच्छा न रहते हुए भी हमारे मुख से झूठ बात निकल जाती है। श्रुति में स्पष्ट लिखा है कि "कौन मनुष्य सदा सत्य बोलने का दावा कर सकता है ? मनुष्य का ज्ञान ही परिमित है। वह कई जगह असली बात को न समझ कर उलटा समझ जाता है, तब उस असत्य को वह कैसे बचा सकता है ?" बस ऐसे अनिच्छापूर्वक अज्ञात दशा में होने वाले असत्य आदि दुष्कर्मों से जो अल्प मल आता है, वह आचमनादि द्वारा दूर कर दिया जाता है। साथ ही आचमन गंगा, विष्णु आदि के स्मरण पूर्वक मन्त्र से किया जाता है, इसलिए मन, वाणी और वस्तु तीनों की शक्ति मिलकर हमारे अभीप्सित को सिद्ध करती हैं। केवल जल पी लेने से वह काम नहीं

हो सकता। आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान केवल वस्तुशक्ति का दिग्दर्शन करा सकता है। वाक् और मन की शक्ति में अभी उसका प्रवेश नहीं। इसलिए हमारे धार्मिक नियमों का आंशिक समर्थन ही विज्ञान के द्वारा हो सका है। संस्कार आदि की प्रत्येक क्रिया हमारे यहां वाक्शक्ति, मनःशक्ति और वस्तुशक्ति, तीनों पर अवलम्बित है। इसलिए आधुनिक विज्ञान धार्मिक नियमों का पूरा पता देने में अभी अपर्याप्त है, किन्तु वस्तुशक्ति का जितना पता वह दे सकता है, उससे उतने अंश में हमारे धार्मिक नियमों का समर्थन हो जाता है। हमारा विज्ञान तो तीनों शक्तियों को मिलाकर ही चलता है। मन, प्राण और वाक् तीनों मिलकर ही आत्मा के सहचर हैं। इसीलिए तीनों की ही प्रवणता धार्मिक कार्यों में आवश्यक है। इसी गम्भीर विज्ञान के आधार पर धार्मिक नियमों का पूरा समर्थन होता है और इस विज्ञान का अभाव होने के कारण ही आजकल प्रत्येक बात में मनुष्यों को शंका होती है। शंका-निराकरण का एक ही उपाय है कि भारतीय विज्ञान का मनन हो, इसका प्रसार हो, इसकी परिभाषाएं समझी जायं। तब फिर कोई शंका का स्थान नहीं रह जायगा। हमारे दर्शनशास्त्रों का विज्ञान इसी प्रकार का है, जिसमें मन, वाक् और वस्तु तीनों की शक्तियों का सम्मिश्रण है। उस विज्ञान से धर्म का अटूट सम्बन्ध है और उस संबंध को जानने पर ही सब शंकाएं दूर हो सकती हैं।

### मनुष्य जन्म की सफलता

शास्त्रदृष्टि और लौकिकदृष्टि—दोनों से यह प्रश्न बड़े महत्व का है कि मनुष्य का जन्म क्यों है ? सब योनियों में मनुष्य की प्रधानता क्यों है ? वा इस मनुष्य की सफलता किस वस्तु पर अवलम्बित है ? स्वभाव से ही यह प्रश्न सबके अन्तःकरण में स्थान पाता है, और अपनी अपनी बुद्धि और विवेक के अनुसार सबही इस प्रश्न पर समय-समय में विचार भी करते हैं। केवल लौकिक दृष्टि वाले मनुष्य विचार की गम्भीरता के अभाव से साधारण आहार, विहार आदि के उत्कर्ष में ही मनुष्य जीवन की सफलता मान लेते हैं, और इन लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिये ही नाना दुःख सहकर विविध प्रयास करते रहने में उनका जीवन व्यतीत हो जाता है। किन्तु दृष्टि में किंचित भी गम्भीरता आने से स्पष्ट भासित हो जाता है कि यह लौकिक दृष्टि सम्यग्-दृष्टि नहीं कही जा सकती, वा किसी लौकिक वस्तु की प्राप्ति ही मात्र मनुष्य जीवन की सफलता नहीं समझी जा सकती।

एक साधारण मनुष्य बड़े परिश्रम से जैसा गृह वा जितना द्रव्य प्राप्त कर अपनी पूर्ण सफलता मान बैठता है, दूसरा उच्च स्थिति वाला मनुष्य उतना प्राप्त होने

पर सफलता के स्थान में उलटी अपनी बड़ी भारी हानि समझता है, वैसी प्राप्ति को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता है।

यदि वस्तु पर ही सफलता अवलम्बित रहती, तो ऐसा कदापि न होता। उस वस्तु के मिलने पर सबही सफलता मान लिया करते। यों ही एक अथार्थी पुरुष केवल संपत्ति के लाभ में ही सफलता मान रहा है, संपत्ति लाभ के आगे उसकी दृष्टि में स्त्रीपुत्रादि-सौख्य का लाभ सर्वथा छोटा दिखाई देता है, यहां तक कि प्राणाधिक पत्नी, आत्मनिर्विशेष पुत्र वा स्वयं अपने शरीर के निमित्त संपत्ति का किंचित् अंश भी व्यय करना उसे प्राणान्त कष्ट से कहीं अधिक प्रतीत होता है, किन्तु उसके विरुद्ध दूसरा कामपरायण पुरुष भोग्य वस्तुओं के संग्रह में द्रव्य की कंकड़ पत्थर से बढ़कर कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं करता। सुखभोग के-ऐशो आराम के-सामान मिलना ही उसकी बड़ी भारी सफलता है। वैसे उपकरण प्राप्त करने के लिये वह झूठ बोल सकता है-छल कर सकता है, आचार छोड़ सकता है-प्राण तक निछावर कर सकता है। एक तीसरे पुरुष का इन दोनों ही से बिलकुल पृथक् मार्ग है। वह अपने सदाचार की रक्षा को ही अपनी पूरी सफलता समझे हुए है। संपूर्ण भूमण्डल का राज्य प्राप्त करने की, व दिव्यमाला, दिव्यचन्दन, दिव्यभवन और दिव्यवनिताओं के प्राप्त करने की प्रबल लालसा भी उसे अपने कर्तव्य से नहीं हटाती। वह उसे सत्यपथ से एक पैर नहीं डिगा सकती, कोई भी वासना उसे परद्रोह करने को तैयार नहीं कर सकती, वह नित्याचार के साधारण नियमों पर अटल है, और उनकी दृढ़ता ही उसकी सर्वाधिक सफलता है। कहां तक कहें ? संसार के मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रुचि प्रतिपद दृष्टिगोचर होती है। कोई राज्य प्राप्ति के लिये व्यग्र है, तो दूसरा कीर्ति के उपार्जन की धुन में ही लगा हुआ है। उसका यही विश्वास है कि “कीर्तियस्य स जीवितः” जिसकी कीर्ति संसार में है, वह मर कर भी जीवित ही है। किसी को तप ही प्रिय है, तो कोई संन्यास में ही सर्वलाभ माने बैठा है। यों भिन्न-भिन्न पुरुषों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है, और उस ही वस्तु की प्राप्ति में वह उसे पुरुष सफलता मान बैठता है। साथ ही एक वस्तु की प्राप्ति में जहां एक पूर्ण सफलता समझता है, वहां दूसरा उसकी प्राप्ति को कुछ भी महत्व नहीं देता और जहां किसी विशेष वस्तु की प्राप्ति से एक अपने को सफल समझ रहा है, वहीं अन्य लोग उस ही को सर्वथा सफलता से गिरा हुआ बतलाते हैं एवं एक ही पुरुष आज जिस वस्तु की प्राप्ति में सफलता मानता है, कल उसकी कुछ भी कीमत नहीं समझता। इन सब प्रत्यक्ष घटनाओं पर दृष्टि देने से यह तो सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि लौकिक वस्तुविशेष के साथ सफलता का कुछ भी संबन्ध नहीं। सफलता न धन से ही संबंध रखती है, न स्त्री पुत्रादि से ही, और न यश आदि से ही। हां,

इन लौकिक बातों पर अधिक बुद्धि लड़ाने से केवल एक ही बात निकल सकती है—वह यह कि जिस पुरुष को जिस वस्तु की इच्छा—या चाह—हो, उस वस्तु को प्राप्त कर लेना ही उस पुरुष की सफलता है। किसी विशेष—खास—वस्तु पर सफलता आलम्बित नहीं।

अब इस इच्छा—या चाह—का ही विचार करें कि पुरुषों की इच्छा का प्रवाह किस ओर है। किन्तु लौकिक दृष्टि से इसमें भी अव्यवस्था ही रहेगी। लौकिक पुरुषों का झटपट यही उत्तर मिलेगा, कि इच्छा का प्रवाह नियत नहीं है। उसके नाना स्रोत हैं। पूर्वोक्त रीति के अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुओं की भिन्न-भिन्न समय पर इच्छा हुआ करती है, किसी एक ही वस्तु की इच्छा सबको होती हो, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। सुतरां सफलता का मार्ग भी भिन्न-भिन्न ही होगा। तो क्या यथार्थ में मनुष्य की इच्छाओं का प्रवाह एक क्षेत्र पर जाता ही नहीं ? क्या वस्तुतः सफलता के मार्ग सर्वथा आपस में विभिन्न ही हैं ? विचारशक्ति उत्तर देती है कि नहीं, कदापि नहीं। ऊपर से विभिन्नता रहने पर भी इच्छाओं का स्रोत अवश्य किसी एक ओर को प्रवाहित है। सब पुरुषों की विभिन्न इच्छाओं में किसी एक प्रकार की प्रतिध्वनि निगूढ़ भाव से गूँज रही है। वही सफलता का मुख्य लक्ष्य है, और उसका पहले पता लगाना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। उस एकता को बिना लक्ष्य में रक्खे सफलता का मुख्य तत्त्व जानना या सफलता प्राप्त करना सर्वथा ही असंभव बात है।

शास्त्रकारों ने भी मनुष्य की इच्छा वृत्तियों के इस प्रवाह का खूब विचार किया है। सब पर दृष्टिपात कर उनमें चार इस प्रवाह के क्षेत्र माने हैं। चार तरफ को यह इच्छाप्रवाह बह रहा है जिन्हें चार पुरुषार्थ कहते हैं, जिनके नाम धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। पुरुष के अर्थनीय, वांछनीय पुरुष की इच्छा विषय, वा पुरुष की इच्छा जिनको लक्ष्य बनाती है—वे पुरुषार्थ ये चार हैं। इनमें धर्म शब्द का अर्थ है—स्वरूपरक्षा के साधन अर्थ कहते हैं, संपत्ति, समृद्धि या अभ्युदय को भोग का नाम काम है। और दुःख की अत्यन्त निवृत्ति—फिर दुःख का कभी संबन्ध न होना मोक्ष है। वस्तुतः विचार करने पर मनुष्य समाज का संपूर्ण इच्छाप्रवाह इन चार धाराओं में ही बंधा दीख रहा है, जो कोई भी इच्छा मनुष्य मात्र को होगी, वह इन चारों में से ही किसी एक की ओर झुकेगी। या तो मनुष्य इस उद्देश्य से किसी काम प्रवृत्त होता हुआ देखा जायेगा कि मैं अपने स्वरूप से गिर न जाऊँ, मेरा स्वरूप सुरक्षित रहे। यह उद्देश्य अन्य सब उद्देश्यों से बड़ा है, विवेकशील मनुष्य संपत्ति या भोग आदि सबकी अपेक्षा प्रथम अपने स्वरूप की रक्षा पर ही मुख्यतया ध्यान देते हैं। स्वरूपरक्षा होने पर ही संपत्ति या भोग पर दृष्टि जाती है। जो संपत्ति या भोग स्वरूपरक्षा का बाधक हो, स्वरूप से

गिरा देनेवाला हो—उसका स्वीकार कोई बुद्धिमान् न करेगा। अतएव शास्त्रों में अर्थ काम की अपेक्षा धर्म को मुख्य पुरुषार्थ माना गया है।

लोक सिद्ध भी ऐसा ही है, जैसे कि उष्णता को अग्नि का धर्म कहा जाता है, क्योंकि उष्णता अग्नि में रहती है, और अग्नि के स्वरूप की रक्षा भी करती है उष्णता जब तक रहे, तब ही अग्नि का अग्निपन स्थिर है, उष्णता चली जाने पर उसे अग्नि कोई नहीं कहता। यों ही मनुष्य का मनुष्यपना जिस पर अवलम्बित हो, वह मनुष्य का धर्म और ब्राह्मण का ब्राह्मणपना जिस पर स्थिर हो, वह ब्राह्मण का धर्म कहा जाता है। सारांश यह कि मनुष्य की इच्छाओं का एक प्रधान लक्ष्य धर्म होता है।

दूसरा लक्ष्य अर्थ या सम्पत्ति वा अभ्युदय है। अपनी उन्नति की इच्छा साधारणतः सब मनुष्यों में देखी जाती है, इसमें किसी प्रकार का संदेह ही नहीं। तीसरा लक्ष्य होता है भोग। भोग वा काम के लिये प्रायः मनुष्य निरन्तर प्रवृत्त रहते हैं। और चौथा सबसे प्रधान लक्ष्य होता है दुःखनिवृत्ति। यही दुःखनिवृत्ति आत्यन्तिक हो तो इसे कई दर्शनों के सिद्धान्तानुसार मोक्ष कहते हैं। इन चार बातों के अतिरिक्त और कोई इच्छा का विषय नहीं होता। इस ही तत्त्व पर शास्त्रकारों की चार पुरुषार्थों की व्यवस्था है।

यों इच्छाप्रवाह की चार धारा निश्चित होने से सफलता का भी लक्ष्य निश्चित हो जाता है। जब इनकी सबको स्वाभाविक इच्छा है, तो इनको प्राप्त कर लेना ही मनुष्य जन्म की सफलता होगी। किन्तु और गम्भीर विचार करने से यहां भी परितोष नहीं होता। प्रथम तो चार प्रवाह निश्चित होने पर भी जिस निगूढ़ एकता का पता लगाने की आवश्यकता थी, वह न मिल सकी। अनुभव करना है कि, चार के भीतर भी कोई एक ही भाव छिपा हुआ है, जो सबकी इच्छाओं और प्रवृत्तियों का लक्ष्य है। उस एक को प्राप्त किये बिना चार प्रवाह जान लेने से परितोष नहीं हो सकता। दूसरे इन चारों में भी मनुष्य की इच्छाओं का समान भाव नहीं देखा जाता। कोई धर्म को प्रधान समझता है तो कोई अर्थ को तीसरी काम ही की प्राप्ति में सफलता मान बैठा है, तो चौथा मोक्ष के लिये सबको छोड़ रहा है। इस इच्छा वैषम्य से सफलता की अव्यवस्था यहां भी बनी रही है। कई शास्त्रों में भी इन चारों का गौण प्रधान भाव निरूपित हुआ देखते हैं। मोक्ष को परम पुरुषार्थ कह कर सबने पृथक् कर दिया है, और धर्मादि त्रिवर्ग में कोई यों कार्यकारण भाव मानते हैं कि धर्म से अर्थ होता है, और अर्थ से काम मिलता है। ऐसा स्वीकार करने पर धर्म गौण, अर्थ उससे प्रधान और काम सबसे प्रधान मानना पड़ा, क्योंकि धर्म जब अर्थ के लिये है, तो अर्थ ही इच्छा का मुख्य लक्ष्य रहा। धर्म तो उसके साधन के लिये उसके अंगमात्र बना। यों ही अर्थ काम के

प्रति गौण बन जायगा। तब एकमात्र काम ही त्रिवर्ग में मुख्य पुरुषार्थ रहेगा। इस सिद्धान्त का श्रीमद्भागवत में खण्डन देखते हैं :-

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोर्थायोपकल्पते ।

नार्थस्य धर्मेकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ॥

(श्री भा० प्र० स्कन्ध २ अ० श्लो० ९।१०)

इसका अर्थ है कि धर्म वस्तुतः आपवर्ग्य अर्थात् मोक्ष संबंधी है, धर्म का फल मोक्ष ही कहा जा सकता है, अर्थ-धर्म का प्रयोजन कदापि नहीं हो सकता। और अर्थ का उपयोग धर्म के लिए मुख्य है, काम प्राप्त करना अर्थ का उद्देश्य नहीं। यों ही काम का उद्देश्य भी इन्द्रिय प्रीति नहीं है—केवल जीवन यात्रा मात्र है। एवं जीवन का उद्देश्य तत्त्व विचार है, न कि कर्मजनित अर्थ वा काम।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने श्री सुबोधिनी में इसका जो तात्पर्य विवरण किया है उसका संक्षेप यों है कि—

“चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः” (मीमांसा सूत्र)

यह धर्म का लक्षण शास्त्रसंमत है। चोदना नाम विधिवाक्य का है उसके द्वारा जो लक्षित हो, अर्थात् जिसके साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता वेदविधि द्वारा प्रकाशित हो वह धर्म कहलाता है। धन, पशु, पुत्र आदि अर्थ लौकिक हैं, ये विधिबोधित नहीं हो सकते। जो वस्तु प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय नहीं, वही वेदप्रतिपाद्य होती है, लौकिक धन, पशु, पुत्रादि प्रत्यक्ष सिद्ध है—वहां विधिस्पर्श नहीं होता इससे अर्थ साधक क्रियाओं को उक्त लक्षणानुसार धर्म कह ही नहीं सकते। यों साधारण सुख साधन को ही धर्म कहने लगें, तब तो औषध पीना भी धर्म कहा जायगा। दूसरे उक्त लक्षण में ‘अर्थ’ पद आया है, उसका तात्पर्य है कि जो साक्षात् अथवा परम्परा से आत्मा की अवनति का कारण न हो, उसे ही धर्म कहना चाहिए इसीलिए वेदविहित भी श्येनयाग धर्म नहीं कहलाता। क्योंकि श्येनयाग का फल शत्रुमारण है, और हिंसा द्वारा आत्मा का पतन होता है। ऐसी स्थिति में, धन, पशु, पुत्र आदि जो आत्मा के बन्धन के साधन होकर उसका पतन कराने वाले हैं—उनकी साधक क्रियाएं श्येनयाग की तरह धर्म नहीं कही जा सकती। तीसरे किसी लौकिक पुरुष के आचरणीय धर्म का फल किसी प्रकार अर्थ को कह भी सकते हैं, किन्तु मुमुक्षु पुरुषों के आचरण जो वस्तुतः धर्म कहाने

योग्य हैं—उनका फल तो अर्थ कहा ही नहीं जा सकता। अतः सिद्ध हो गया कि धर्म का फल अर्थ नहीं।

अर्थ का फल भी काम को नहीं कह सकते। क्योंकि काम नाम विषयसुख का लोकप्रसिद्ध है। वह विषय सुख इन्द्रिय और विषयों के अधीन है। जब शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय भी प्राप्त हों, और उनका ग्रहण करने की इन्द्रियों की भी शक्ति हो, तब विषयसुख सिद्ध होता है। अब विचार करने की बात है कि इस काम में अर्थ का कहां उपयोग हो सकता है। इन्द्रिय वा इन्द्रियशक्ति सर्वथा अर्थ के अधीन नहीं—यह स्फुट सिद्ध है। विषय-रूप, स्पर्श आदि के निर्माण में भी अर्थ की प्रभुता नहीं। अर्थ से रूप आदि में अपना स्वत्व संपादित होता है—इतना मात्र उपयोग कहो, तो भी उलटी बात है। क्योंकि अर्थ की सत्ता में काम प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत अर्थ का नाश होने पर कामप्राप्ति होती है। अर्थ का व्यय करके काम साधन किया जाता है—यह लोकसिद्ध है। इसलिए अर्थ को काम का कारण नहीं कह सकते। अर्थनाश कथंचित् काम का हेतु हो सकता है। दूसरे अर्थ का काम के साथ अन्वयव्यतिरेक भी नहीं। देखते हैं कि कृपण मनुष्य के पास धन रहने पर भी उसे कामप्राप्ति नहीं होती, और पशु आदि का बिना अर्थ के भी काम सिद्ध हो जाता है। फिर बिना अन्वयव्यतिरेक के कारणता कैसी ?

काम तो इन्द्रियप्रीति का कारण हो ही नहीं सकता। क्योंकि कामभोग से इन्द्रियों की लालसा बढ़ती ही जाती है, कभी पूर्ण नहीं होती, और बिना पूर्ति के प्रीति या तृप्ति कहां ?

विषयों के भोग से कामना—इच्छा की शान्ति होती ही नहीं, घृत से अग्नि की तरह इच्छाएं बढ़ती ही जाती हैं। फिर जो जिससे प्राप्त ही नहीं होता, वह उसका फल कैसे माना जाय।

इस सिद्धान्त के अनुसार काम स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं, उसका फल जीवनयात्रा मात्र है। अर्थ भी स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं, उसका फल धर्म है। धर्म भी मोक्ष के प्रति गौण है—स्वतन्त्र नहीं। तो अन्ततः एकमात्र मोक्ष ही पुरुषार्थ रहा। अब प्रकृत विषय पर आइये कि यों शास्त्र के भिन्न-भिन्न विवेचन द्वारा भी चार पुरुषार्थों पर एक रूप से इच्छा प्रवाह की विश्रान्ति नहीं मिलती।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य ने भी षोडशग्रन्थान्तर्गत बालबोध में इस पुरुषार्थवाद पर विचार किया है। उन्होंने—

**धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारोर्था मनीषिणां  
जीवेश्वरविचारेण द्विधा ते हि विचारिताः ॥**

इत्यादि आज्ञा द्वारा लौकिक और अलौकिक रूप से उक्त चारों पुरुषार्थों के दो दो भेद बतलाये हैं। वेद में ईश्वराज्ञा द्वारा जिन धर्म आदि चारों-पुरुषार्थों का विचार हुआ है, वे अलौकिक पुरुषार्थ हैं। और जीवकोटि के अत्युच्च विद्वान् परमपूज्य ऋषि, मुनियों ने धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र आदि में जिन धर्म आदि का विचार किया है वे लौकिक पुरुषार्थ हैं। इनमें लौकिक पुरुषार्थ निरूपण में अधार्मिक जनों के वंचनार्थ ईश्वरशिक्षानुसार ऋषि मुनियों ने कई जगह अपसिद्धान्त भी कहा है—ऐसा श्रीआचार्य-चरणों का आशय है और इस सब पर संक्षिप्त विचार करते हुए मोक्ष की ही मुख्य पुरुषार्थता आचार्यचरणों ने भी प्रदर्शित की है। और मोक्षविषय में भी सांख्य आदि दर्शनों के अनुसार सिद्ध स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष को गौण रखकर भगवदाश्रय से प्राप्त होनेवाले निरतिशयानन्द मोक्ष को मुख्य पुरुषार्थ कहा है। उक्त बालबोध ग्रन्थ के टीकाकार श्रीदेवकीनन्दन जी महाराज ने यह निष्कर्ष निकाला है कि काम और मोक्ष ये दो मुख्य पुरुषार्थ हैं। यहां कामशब्द से आत्मसुखरूप निरतिशयानन्द का ग्रहण करना चाहिये, और मोक्ष पद से दुःखनिवृत्ति का। धर्म इनका साधक रूप पुरुषार्थ है, और अर्थ धर्म का साधन होने से पुरुषार्थ कोटि में गिना जाता है। तो बस, उक्त सबही सिद्धांतों की एकवाक्यता हो जाती है, और इससे अन्त में दो ही पुरुषार्थ उठरते हैं—दुःखाभाव और सुख। इन ही दो को लक्ष्य रखकर मनुष्य की प्रवृत्ति है, ये ही दो सब पुरुषों की सब काल की इच्छा के विषय हैं, इन ही की प्राप्ति सफलता कही जा सकती है।

परन्तु एकता के पक्षपाती इस द्वैत को भी सहन नहीं कर सकते। वे कहते हैं—लक्ष्य एक ही होना चाहिये, दो नहीं और उक्त दोनों बातें हैं भी नियत साथ रहनेवाली। सुख और दुःख ये दोनों विरुद्ध गुण एकसाथ नहीं रह सकते। इससे निरन्तर सुख को पुरुषार्थ मानने पर दुःखाभाव अपने आ जाता है, फिर उसे स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानना सर्वथा अनावश्यक है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि फिर दुःखाभाव को ही क्यों न पुरुषार्थ मान लिया जाय, दुःख का अभाव होने पर उसका विरुद्ध गुण सुख अपने आप ही गृहीत हो जायगा। किन्तु यह प्रश्न विचार संगत नहीं। सुखस्थान में दुःख का अभाव सर्वत्र रहता है, किन्तु दुःखाभाव के स्थान में सर्वत्र सुख का रहना प्रामाणित नहीं हो सकता। सुषुप्ति, मूर्च्छा और प्रलय आदि में भी दुःख का अभाव है, किन्तु वहां सुख कदापि नहीं है और उन मूर्च्छा, प्रलय आदि की कोई भी पुरुष कदापि इच्छा भी नहीं करता। इससे सुखविरहित दुःखाभाव की पुरुषार्थता भी सिद्ध नहीं हो सकती।



महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य भी भगवदाश्रय से प्राप्त निरतिशय सुख को ही मुख्य पुरुषार्थ बतलाते हैं और जिन सांख्य आदि दर्शनों ने मोक्ष का यह स्वरूप माना है कि प्रकृति पुरुष का विवेक होने पर भी जीव की अहन्ता, ममता नष्ट हो जाती है और प्रकृतिगत सुख, दुःख का भोग पुरुष को नहीं होता, तब जीवन स्वरूपस्थित होने से कृतार्थ हो जाता है—उनके उस मोक्ष को आपने 'स्वतः' मोक्ष कह कर उत्तमाधिकारियों की उपेक्षणीय कोटि में स्थापित किया है। अतः सुख ही मुख्य पुरुषार्थ सिद्ध होता है। सब मनुष्य इस तत्त्व को एक मुख से स्वीकार करेंगे कि सुख सबका लक्ष्य है। सुतराँ सुख की सबको इच्छा, वा चाह है। और सुख को प्राप्त कर लेना ही मनुष्यजन्म की पूरी सफलता है।

वैज्ञानिक युक्ति भी इसके सर्वथा अनुकूल है। इस जीव को शास्त्रों ने भगवान् का एक अंश कहा है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द स्वयं आज्ञा करते हैं कि—

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**

श्रीदेवकीनन्दजी महाराज ने भी वैदिक प्रकरण में संगति लगाने को दो पुरुषार्थ लिखे हैं—किन्तु ग्रन्थ के निष्कर्षरूप से आप वा श्रीपुरुषोत्तम जी सब ही एक सुख को मुख्य पुरुषार्थ कहने में सहमत हैं।

अब सबका एक लक्ष्य-निशाना-मिल गया, जिस एकता को ढूँढ़ते थे—वह निकल आई। एकमात्र सुख वा आनन्द ही सबकी प्रवृत्ति का लक्ष्य है—उस ही की ओर सब इच्छाओं के प्रवाह प्रवाहित हैं। उसही के लिये न केवल मनुष्यमात्र ही, किन्तु प्राणिमात्र व्यग्र हो रहे हैं—उस ही की खोज में दिनरात भटकते हैं और उस ही का किंचित् अंश भी प्राप्त कर लेने पर अपने को कृतार्थ समझते हैं। उस ही के उपाय रूप से धर्म, अर्थ, काम आदि की प्रतिष्ठा है—और उस मुख्य पुरुषार्थ के साथ लगने से ही ये भी बेचारे पुरुषार्थ कहलाये हैं। उस ही के लिये गृह, वनिता, पुत्र, जप, तप, संयम, संन्यास आदि भिन्न-भिन्न उपायों का परिग्रह पुरुष करते हैं। इसमें किसी को संदेह नहीं, किसी के अनुभव का विसंवाद नहीं।

भगवान् व्यास भी 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इत्यादि उत्तर-मीमांसा सूत्र में इस अंशवाद के सिद्धान्त को दृढ़ कर रहे हैं—और उपनिषद् में भी अग्नि-विस्फुलिंग आदि के कई दृष्टान्त देकर यह वाद समर्थित हुआ है। भगवान् का स्वरूप आनन्दमय है, अतः यह जीव आनन्द का ही अंश हुआ। वैज्ञानिक प्रक्रिया में यह सिद्धान्त स्फुट प्रसिद्ध है कि जो जिसका अंश होता है, वह स्वभावतः अपने अंशी की ओर ही प्रवृत्त रहता है। जैसे ऊपर फेंका हुआ मिट्टी का ढेला हाथ का वेग समाप्त होने पर अपने

अंशी पृथिवी गोल की ओर ही स्वभावतः आ जाता है, या जैसे प्रकाश का एक अंश दीपक सदा प्रकाशघन द्युलोक की ओर ही प्रवृत्त रहता है, या जलमात्र की प्रवृत्ति जैसे जलघन समुद्र की ओर ही स्वाभाविक है—इसमें संदेह नहीं रह सकता। अतः सफलता लाभ करने के लिये जीव को आनन्द प्राप्ति अत्यावश्यक है।

इस प्रकार वैज्ञानिक युक्तिवाद और अनुभव के अनुसार सुख वा आनन्द की अभिमुखता जीवमात्र में सिद्ध होने पर प्रश्न यह उठता है कि जीव सच्चिदानन्द भगवान् का अंश है, तो स्वयं ही आनन्द रूप होना चाहिये। जो जिसका अंश होता है, उस अंश में उस अंशी के धर्म अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं, जैसा पृथिवी का अंश एक मिट्टी का ढेला है उसमें भी पृथिवी के धर्म रूप, रस, गन्धादि अवश्य हैं, एवं अग्नि का अंश एक छोटासा विस्फुलिंग (अग्निकण) है, उसमें भी अग्नि के धर्म उष्णता और प्रकाश रहते ही हैं, इसी प्रकार आनन्द के अंश जीव में आनन्द अवश्य रहेगा तो फिर इसे आनन्द की इच्छा वा अभिलाषा क्यों ? जो वस्तु स्वतः प्राप्त है, उसकी अभिलाषा कभी नहीं होती, फिर जो आनन्द जीव के स्वरूप में प्रविष्ट है—उसके लिये जीव का नित्य उत्सुक रहना—यह विलक्षण बात समझ में नहीं आती। इसका उत्तर श्रीशुद्धाद्वैत संप्रदाय के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार है—

सजातीय—विजातीय—स्वगत—भेदवर्जित सत्यादि—अनन्तगुणगणाशय नित्य शुद्ध, जगत्कारण, जगदाधार परमात्मा ने जब क्रीड़ा के लिये जगत् को उत्पन्न किया, और आकाशादि जड़ वर्ग की तरह अग्नि—विस्फुल्लिंग न्याय से जब अनन्त जीव परमात्मा से उत्पन्न हुए तब उसी परमात्मा की जगत् के नियमन करनेवाली इच्छा से जीव में आनन्दांश का तिरोभाव हो गया। कारण यह कि परमात्मा को क्रीड़ा के लिये उच्च, नीच आदि भेदभिन्न जगत् की रचना अभीष्ट थी और परमात्मा के अंशभूत जीवों में यदि स्वाभाविक आनन्द बना रहता, तो उनमें उच्चता नीचता कुछ भी न जाती। स्वरूपभूत आनन्द से सबही नित्यतृप्त रहते, और विषयव्यासंग के लिए उनकी विविध वृत्तियां भी न होतीं। सुतरां जगत् का स्वरूप कुछ न होता, और न यह जगत् चल सकता, परमात्मा की इच्छा भी सफल न होती। अतएव जगत् निर्माण करनेवाली इच्छाशक्ति ने जीव में आनन्दांश न रहने दिया, आनन्दांश को चित् 'ज्ञान' अंश में छिपा दिया, आनन्द लीन कर दिया। इस ही प्रकार जड़ और चेतन का भेद करने के लिये—अंश से उत्पन्न होनेवाले आकाश आदि में चित् 'ज्ञान' अंश भी प्रकट न रक्खा—उसे सत्—अंश में ही लीन कर दिया। यह सब विषय श्री वल्लभाचार्य ने तत्त्वदीप निबन्ध में स्पष्ट लिखा है—

बहुस्यां प्रजायेयेति दीक्षा तस्य ह्यभूत्सती ।  
 तदिच्छामात्रतस्तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः ॥  
 सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया  
 विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि  
 आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ।  
 सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता  
 अत एव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः ।  
 जडो जीवोन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः ॥

“मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक रूप से प्रकट होऊँ, यह परमात्मा की अप्रतिहत इच्छा हुई, और उसकी इच्छामात्र से उस ही परमात्मा ब्रह्म से जिस प्रकार अग्नि में से विस्फुलिंग (अग्निकण) निकलते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मरूप ब्रह्म के अंश, चैतन्यप्रधान, निराकार, अनन्दजीव, सृष्टि के आरंभ में निकले और सत् अंश की प्रधानता से आकाश, वायु आदि जड़ वर्ग भी परमात्मा से ही प्रकट हुए। परमात्मा के तीसरे आनन्द अंश की प्रधानता से अन्तर्यामी प्रकट हुए, जिनका सब के अन्तः प्रविष्ट रह कर सबका नियमन करना श्रुति वर्णन करती है। इस प्रकार जड़, जीव और अन्तर्यामी इन तीनों में परस्पर भेद का भी कारण यही है कि ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द इन तीनों धर्मों में पूर्व में उत्तर लीन हो गया है। अर्थात् अन्तर्यामी में तीनों हैं, जीव में सत्, चित् दो धर्म तो रहते हैं, किन्तु आनन्द धर्म चित् में अर्थात् ज्ञान में लीन हो जाता है। इससे जड़ में केवल सत्-मात्र धर्म रहता है, इस ही कारण जड़ वर्ग में केवल सत्ता की प्रतीति होती है, चेतना धर्म आनन्द की नहीं, और जीव में सत्ता और चैतन्य दो धर्म प्रतीत हैं, किन्तु आनन्द तिरोभूत है। अन्तर्यामी में तीनों हैं। इस आनन्द के कारण ही जड़ और जीव निराकार हो गये, अर्थात् भगवदंश होने पर भी भगवान् का चतुर्भुज आदि आकार इनमें प्रतीत नहीं होता।

अन्तिम श्लोक का तात्पर्य यह है कि श्री भगवान् का आकार हम लोगों की तरह अस्थि, मांस, मज्जा आदि का बना हुआ भौतिक शरीर रूप नहीं है, किन्तु उनके आकार के संबन्ध में “आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः” लिखा है, अर्थात् भगवान् के हाथ, पांव, मुख उदर—सब आनन्दरूप हैं, आनन्द ही हाथ है, आनन्द ही पांव है, वही मुख है, वही उदर है—इत्यादि। अतएव वह आकार भौतिक आकारों की तरह विनाशी न होकर नित्य सनातन है। अस्तु, जब आनन्द ही हस्तपादादि आकार हुआ,

और आनन्द का जीव में और जड़ में तिरोभाव हो गया तब जीव और जड़ में उस आनन्दमय आकार का प्रसंग ही कहां से हो, सुतरां आनन्द के लोप या तिरोभाव से जीववर्ग एवं जड़वर्ग उस दिव्य आकार से विरहित अतएव निराकार कहलाने योग्य हो गये और यही कारण है कि जीव परिच्छिन्न, अणुमात्र हो गया, क्योंकि उपनिषद् में लिखा है कि “यो वै भूमा तत्सुखम्” आनन्द ही भूमा अर्थात् महत्व है, और महत्व ही आनन्द है, इसके विपरीत ‘यदल्पं तद् दुःखम्’ अर्थात् दुःख ही अल्पता है, एवं अल्पता ही दुःख है। यों भूमा अर्थात् महत्व और आनन्द की जब समव्याप्ति है, एक के बिना दूसरा रहता ही नहीं, तब आनन्द का तिरोभाव होने पर महत्व का तिरोभाव होना स्वतः सिद्ध है।

दूसरे वेदान्ती भी आनन्द का तिरोभाव मानते हैं। उक्ति के प्रकार का कुछ थोड़ा सा भेद है। उनके मत में अविद्या का जीव के साथ अनादि संबन्ध है और अविद्या की आवरण और विक्षेप दो शक्तियां हैं। यह आवरण शक्ति ही जीव को अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं होने देती, और उस ही ने जीव के आनन्द भाव को छिपा रक्खा है। उनका मत है कि सर्वथा छिपाया भी नहीं है, सामान्य रूप से कुछ भान है। स्फुट भान नहीं। इसका उपपादन मैत्रेयी ब्राह्मण की श्रुतियों में भी स्पष्ट प्रतिपादित है। अब विचार यह है कि जीव यदि अपनी आनन्द रूपता को न जानता तो उसे अपने आप पर, वह असाधारण परम प्रेम भी न होता। आनन्द ही जब प्रेम रूप से परिणत होता है, तो बिना आनन्द के प्रेम कैसा ? सुतरां प्रेम के द्वारा, अनुमान होता है कि अपनी परानन्दरूपता आत्मा को विदित है। किन्तु यदि आत्मा अपने को परमानन्दरूप समझ लेता, तो आनन्द के लिए निरंतर उत्सुकता न रहती, आनन्द के लेशमात्र के लालच से यों गली-गली भटकता न फिरता, फिर उसे आनन्द के लिए विषयों की इच्छा ही न होती। जैसे कस्तूरी मृग अपनी ही कस्तूरी का गन्ध प्राप्त करता हुआ उसे बाहर से आया समझ कर उसकी पूर्ण प्राप्ति के लिए इधर उधर वन में भटकता है, वैसे ही विषयसंनिधान में अपने ही आनन्द की एक झलक देख कर यह जीव भी पूर्ण आनन्द ही प्राप्ति के लिये विषयों की ओर दौड़ता रहता है। मृग को यह ज्ञान नहीं की गन्ध का संपूर्ण खजाना कस्तूरी मेरे शरीर में ही मौजूद है। यों ही जीव भी नहीं जानता कि इस आनन्द का घन मैं ही हूं। तो आनन्द रूपता के सर्वथा अविदित रहने पर प्रेम न हो सकता और सर्वथा विदित हो जाने पर विषयवांछा न रहती। दोनों बातें होती हैं, इससे यह मानना पड़ा कि सामान्य रूप से अपनी आनन्दरूपता प्रतीत भी है, और अविद्या के आवरण के कारण आवृत भी है, अर्थात् अप्रतीत भी है। प्रतीति और अप्रतीति दोनों कैसे संभव हो सकती हैं इसके लिए एक दृष्टान्त देते हैं कि एक

पिता अपने पुत्र का अध्ययन शब्द सुनना चाहता है, किन्तु पुत्र कई अपने सहपाठियों के साथ मिलकर एक ही स्वर में पढ़ रहा है। तो अब पुत्र के शब्द का ज्ञान पिता को है भी, और नहीं भी है। सामान्यरूप से सब शब्दों के साथ यह पुत्र का शब्द भी सुन रहा है, किन्तु यही पुत्र का शब्द है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा विशेषरूप से नहीं होती। वहां पुत्र के शब्द का विशेष भान इसलिए नहीं होता कि दूसरे शब्द उसके प्रतिबन्धक हैं, यहां भी आत्मा को अपनी आनन्दरूपता का भान इसलिये नहीं होता कि अविद्या की आवरणशक्ति उसकी प्रतिबन्धक है, इस अविद्या का आत्मा पर इतना प्रभुत्व मानने की अपेक्षा भगवदिच्छानुसार जीव में आनन्दांश तिरोभूत हो गया है। है तो, किन्तु प्रतीत नहीं होता—यह श्री वल्लभाचार्य का सिद्धान्त ईश्वरानुरक्त पुरुषों के लिये विशेष हृदयग्राही सिद्ध होगा।

हमारा प्रयोजन यहां इतना ही है कि आनन्द का अंश होने पर भी आनन्द धर्म का जीव में तिरोभाव है, आनन्द छिपा हुआ है, उस आनन्द का विवेचन विद्यारण्यस्वामी ने अपने पंचदशी ग्रन्थ में इस प्रकार किया है कि—

अभानेन परं प्रेम भानेन विषये स्पृहा ।

अतो भानेप्यमाताऽसौ परमानन्दतात्मनः ॥

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।

भानेप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते ॥

इसका तात्पर्य यह कि आनन्द के साधन पदार्थ में ही सर्वत्र प्रेम देखने में आता है, जिस वस्तु के संबन्ध से आनन्द प्राप्त करते हैं उस ही से प्रेम किया करते हैं। या एक प्रकार का आनन्द ही प्रेमरूप में परिणत होता है। आत्मा या जीव सबसे बढ़कर अपने आप में प्रेम करता है, स्व-स्वरूप में यह जितना प्रेम किये हुए है, उतना किसी के साथ नहीं करता। कोई मनुष्य स्त्री, पुत्र, धन आदि में कितना ही प्रेम करता हो, किन्तु घर में आग लगते ही सबको छोड़ कर पहले अपने आप बाहर भागता है, अपनी रक्षा, सबकी रक्षा से बढ़कर समझता है। प्रबल आपत्ति के समय सबकी उपेक्षा कर अपने बचाव की चिन्ता करना स्वाभाविक है। इसके विपरीत जो कहीं दृष्टान्त मिलते हैं, वे कृत्रिम भाव को प्रबलकर स्वाभाविकता को दबा देने के निदर्शन हैं, प्राकृतिक नियम पूर्वोक्त ही है और जहाँ किसी दूसरे के लिये अपने शरीर के परित्याग के उदाहरण देखे जाते हैं, वहाँ भी शरीर से भी बढ़कर कोई बाधा नहीं आती। साधारणतः मनुष्यों को शरीर पर्यन्त में आत्मबुद्धि अविद्या की कृपा से दृढ़ हो रही

है, इस कारण आत्मभावना से शरीर की रक्षा करने में सब ही पूर्ण यत्नशील है। किन्तु जहाँ शरीर के किसी अवयव के विकृत होने के कारण मन पर विशेष दुःखरूप आघात होने लगता है, वहाँ शरीर का भी वह अवयव कटवाने में झट से प्रवृत्ति हो जाती है, क्योंकि शरीर की अपेक्षा मन में आत्मभाव प्रबल है। इस विषय का विस्तार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। कहना केवल यही है कि आत्मा को अपने आप में सबसे अधिक प्रेम है, और अपना संबन्ध होने से ही और वस्तुओं पर प्रेम होता है। यह बात अनुभवसिद्ध भी है। और 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' याज्ञवल्क्य ने अपनी स्त्री से कहा है कि हे मैत्रेयि ! पति के काम के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने काम के लिये पति प्रिय होता है। स्त्री के काम के लिये स्त्री प्रिय नहीं होती, अपने काम के लिये स्त्री प्रिय होती है, इत्यादि रूप से धन, पुत्र, मित्र, आदि सबकी प्रियता आत्मा के लिये बतलाई है। इससे आत्मा ही पर प्रेमास्पद है—यह सिद्ध किया है। यह प्रतीति आत्मा को जीवन में नहीं होती, और उस छिपे हुए आनन्द की तलाश में ही यह अज्ञानवश इधर उधर भटकता है, उसे प्राप्त कर लेना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझता है इसके सब कामों में उस ही आनन्द को प्राप्त करने की प्रबल लालसा निगूढ़ भाव से विद्यमान है और सच्चा आनन्द प्राप्त कर लेना ही मुख्य कृतार्थता है। यही मनुष्यजन्म की सफलता है। इतना अंश सबके ही मत से निर्विवाद सिद्ध हो गया।

अब प्रश्न यह रहा कि वह सफलता हो कैसे ? वह सच्चा आनन्द मिले कैसे ? बस, इस ही प्रश्न की मीमांसा में सारा जगत् लगा हुआ है। लौकिक लोग अपने अपने बुद्धिबल के अनुसार आनन्द की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न उपाय निकालते हैं, दर्शनों के आचार्य अपनी अपनी युक्तियों के द्वारा जीववर्ग को सच्चे सुख के भिन्न भिन्न मार्ग बतलाते हैं। अब किस का मार्ग अच्छा, और किस का बुरा—इस विवेचना के चक्कर में पड़कर अनधिकार चेष्टा तो हम करना नहीं चाहते, और विषयानन्द सच्चा आनन्द नहीं है—इस पर दार्शनिक युक्तियों की उलझन में पड़कर पाठकों का अधिक समय नष्ट करने की भी इस समय हमारी इच्छा नहीं है। इस समय तो हम सीधी सी बात की ओर दृष्टि दिलावेंगे कि जब आनन्द जीव की अपनी पैतृक संपत्ति है, तो उसे लेने के लिये इसे दूसरों के दरवाजे खटखटाने की तो कुछ भी आवश्यकता प्रतीत होती नहीं, अपनी वस्तु को लेने के लिये यह विषय वा इन्द्रियों की शरण में क्यों जाय ? न वह वस्तु उनके पास उसे मिलेगी ही, वह उनकी वस्तु ही नहीं, वे इसे देंगे कहाँ से ? वह तो इसकी अपनी ही वस्तु है, और अपने स्वरूप में ही मिलेगी। किन्तु जिसने छिपाई है, वही देगा। जिसकी इच्छा से खोई गई है, उस ही की इच्छा से प्राप्त

भी हो सकेगी। उसके पास अब भी वह अनन्त अटूट खजाना मौजूद है, और सदा रहता है, वह चाहे, तो इस ही क्षण हमारी सब अभिलाषा पूर्णकर सकता है, हमें स्वयं आनन्द का बड़े भारी सेठ बना सकता है। किन्तु वह ऐसा चाहे, इसके लिये हमें उसे प्रसन्न करना चाहिये, उसके पास जाना चाहिये, उसका ध्यान अपनी दुर्गति की ओर दिलाना चाहिये। तभी कृतकृत्य होंगे, तभी वह हमारा अभाव दूर करेगा। सारांश यह कि जगदाधार, जगन्नियन्ता, भगवान्, परमात्मा को प्राप्त करना, उसे प्रसन्न करना यही हम जीवों का प्रधान कर्त्तव्य है, और इस ही कर्त्तव्य का पालन कर हम सफल हो सकते हैं।

अब परमात्मा की प्राप्ति के एवं उसे प्रसन्न करने के भी भिन्न-भिन्न साधन शास्त्रकार बतलाते हैं। कोई कहते हैं परमात्मा की आज्ञा-श्रुति, स्मृति के अनुसार कर्मों का अनुष्ठान यावज्जन्म करते जाओ-इससे ही परमात्मा प्रसन्न होगा, और इससे ही हम परमात्मा को प्राप्त कर सकेंगे। दूसरे कहते हैं-परमात्मा को यथार्थ रूप में जान लो, बस इससे ही परमात्मा प्रसन्न हो जायगा। तीसरे कहते हैं-विषयों से मन हटा लो, इस वैराग्य से ही परमात्मा प्रसन्न होगा और यों ही मिलेगा। कोई तप करने को कहता है तो कोई जप, उपासना बतलाता है। कोई तीर्थयात्रा का ही आदेश करता है, तो कोई व्रत करने की बात उठाता है। यों भिन्न-भिन्न मार्ग अपनी-अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार सब कह रहे हैं किन्तु यथार्थ विचार करने पर श्रुति सबका खण्डन करती है। वह तो कहती है-

**‘नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो’**

**न मेधया न बहुना श्रुतेन ।**

**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष**

**आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥**

अर्थात् न तो वह परमात्मा-ईश्वर-प्रवचन अर्थात् वेद पढ़ने पढ़ाने से प्राप्त होता है, न बुद्धि से मिलता है, न शास्त्र से मिलता है। जिसको यह ईश्वर स्वयं वरण करता है-अर्थात् चाहता है, उसे ही मिलता है, और उसके ही प्रति अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट करता है। यहां प्रवचन पद वेदोक्त कर्मकाण्ड का भी उपलक्षण है, मेधा-अर्थात् बुद्धि से बुद्धि संबंधी ज्ञान आदि सब साधन ले लिये जाते हैं, और श्रुति अर्थात् शास्त्र से शास्त्रोक्त तप आदि सब आगन्तुक साधनों का ग्रहण कर लेना चाहिये। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदोक्त साधन, जीव विचारित साधन, व आगन्तुक साधन

कोई भी परमात्मा को प्राप्त नहीं करा सकते। साधनों के वश में वह है ही नहीं, वह तो स्वतन्त्रेच्छ है। इच्छानुसार जिसे चाहता है, उसे मिलता है। यहां श्रुति में 'वृणुते' पद दिया है, जैसे स्वयंवर में कन्या जिसका इच्छानुसार पतिरूप से वरण करती है, उसे ही वह प्राप्त होती है, किंवा वर जैसे भार्यारूप से जिस कन्या का वरण करता है—उसे ही प्राप्त होता है और जैसे कन्या के वरण कर चुकने पर फिर उस वर की दूसरी कन्याओं की ओर प्रवृत्ति नहीं होती, किंवा वर के वरण कर चुकने पर फिर वह कन्या दूसरे स्थान में विनियुक्त नहीं होती, वैसे ही परमात्मा के स्वीकार कर चुकने पर फिर वह पुरुष किसी दूसरे का दास कहाने का या और कर्म करने का अधिकारी नहीं रहता ऐसा श्री विठ्ठलेश जी ने भक्तिहंस में स्पष्ट कहा है। साथ ही यह भी बात है कि स्वयंवर में जैसे किसी पुरुष को पहले से यह नहीं मालूम होता कि कन्या मुझे वरेगी, ऐसे यहां भी वरण से पूर्व किसी को यह नहीं मालूम हो सकता है कि परमात्मा मुझे वरण करेगा। इच्छानुसार जब वह वरण करेगा, तब हमें अनुमान होगा। इस अनुमान के क्या-क्या साधन हैं ? किन-किन हेतुओं से ऐसे वरण का अनुमान हो सकेगा, यह हम आगे चलकर दिखावेंगे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं श्रीभगवद्गीता और श्रीमद्भागवत में उक्त श्रुति का तात्पर्य श्रीमुख से कहा है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।

शक्य एवविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।

(श्रीभगवद्गीता)

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो वेष्टापूर्वं न दक्षिणा

व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।

(श्रीभागवत)

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि अर्जुन ! जैसा मेरा यह विश्वरूप अभी तुमने देखा है, इस प्रकार का मेरा पूर्णरूप न वेद पढ़ने से और वेदोक्त कर्म करने से देखा जा सकता है, न तप से, न दान से, न यज्ञ से यह रूप देखने की शक्ति हो सकती है। श्रीभागवत में श्री उद्धवजी के प्रति यही उपदेश है कि न सांख्य, न योग, न धर्म, न वेदाध्ययन, न त्याग (संन्यास) न यज्ञ, वापी कूप आदि, न दक्षिणा, न व्रत, न तीर्थ यम नियम ये कोई भी मुझे अनुरोधपूर्वक प्राप्त कराने के साधन नहीं हैं। ये मुझे वश



में नहीं कर सकते। इन सब वाक्यों पर दृष्टि देने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि पुरुष के प्रयत्नमात्र से भगवत्प्राप्ति सुलभ नहीं। भगवान् पुरुष के प्रयत्न के वश में नहीं, वे सर्वथा स्वतन्त्रेच्छ हैं, जिस पर कृपा होती है—उसे ही प्राप्त होते हैं। अन्य किसी साधन की वहाँ कोई गति नहीं।

तो क्या भगवान् ऐसे निष्ठुर हैं कि वे हमें बराबर दुःखसागर में ही पटके रखेंगे? हमारे नित्य सुख की प्राप्ति के उपायों की वे कोई कदर नहीं करेंगे ? क्या परमात्मा के यहाँ भी यह पक्षपात और अन्याय है कि किसी पर कृपा हो जाय और कोई कृपा का भिखारी ही बना रहे, कृपा की आशा में ही दुःखसागर में डूबता उतराता गोते खाता रहे ? ऐसा अन्याय तो किसी साधारण राजा का भी सह्य नहीं होता, किसी के यहाँ ऐसा अन्धेर होता दिखाई दे, तो उसकी आश्रित, उसकी प्रजा एक मुख से उसके विपरीत हो जाते हैं, विप्लव हो जाता है, घर घर उसकी निन्दा होने लगती है। सब यही कहने लगते हैं—‘बाबा यह राज्य के योग्य नहीं’ ‘ऐसे पक्षपाती से राजकाज नहीं चल सकता’। तो भला फिर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के नियन्ता परमात्मा की यदि यह दशा रहे, तो ऐसे परमात्मा के पीछे जगत् का तो खातमा हुआ। ऐसे परमात्मा का महत्व ही क्या ? उसकी प्रतिष्ठा ही कौन करे ? शास्त्र भी हमें परमात्मा का स्वरूप नहीं बतलाते, वे तो कहते हैं—परमात्मा समदर्शी व न्यायकारी है, भगवान् अपने मुख से भी यही कहते हैं—

“समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः”

मैं सबके लिए समान हूँ, न कोई मेरा शत्रु है, न मित्र है तब यह कृपा और अकृपा की बात समझ में नहीं आती, इस पर तो बड़ा संशय उठता है।

वेदान्तसूत्रप्रणेता भगवान् व्यासदेव ने भी इस प्रकार का सन्देह उठाया है कि किसी को सुखी और किसी को दुखी उत्पन्न करने के कारण सृष्टिकर्ता परमात्मा में विषमता का दोष आ जायगा, और समर्थ होकर दुखियों का दुःख न निवारण करने पर वह निर्दय भी कहावेगा। इस आपत्ति का उत्तर उन्होंने वेदान्तसूत्र में यह दिया है कि जीवों के कर्मानुसार परमात्मा फल देता है, इसलिये विषमता वा निर्दयता का वहाँ कोई प्रसंग नहीं। परमात्मा का न पक्षपात है, न द्वेष है। जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है, और किये हुये कुकर्म को परमात्मा क्षमा भी नहीं कर सकता। वह दयालु अवश्य है, परन्तु संसार के प्रबन्ध में बाधा न पड़े—इसलिये किये कर्म का फल उसे देना ही पड़ता है। यही संक्षेपतः व्यास भगवान् ने कहा है “वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्”।

किन्तु श्रीवल्लभाचार्य निबन्ध और उसके स्वकृत प्रकाश में आज्ञा करते हैं कि सूत्रकार व्यासजी का यह समाधान लौकिक बुद्धि के अनुसार है, वस्तुतः ऐसा मानने पर कर्म ही प्रधान हो जायगा, और परमात्मा को कर्म के वश में मानना पड़ेगा। तो बस, स्वतन्त्रता जाती रहने से परमात्मा असमर्थ कोटि में गिना जाने योग्य होगा, अतः उक्त समाधान वास्तविक नहीं। तब वास्तविक समाधान क्या है, इस पर वे कहते हैं कि—

“आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैर्घृण्यं चापि वर्तते”

(निबन्ध श्लो० ७६)

इसका तात्पर्य है कि निर्दय वह कहलाता है जो किसी दूसरे को दुःख दे, अथवा दुःख पाते हुए दूसरे की रक्षा न करे। एवं विषमता अथवा अन्याय उसमें माना जाता है कि जो दूसरों के साथ पक्षपात वा द्वेषवश भिन्न-भिन्न प्रकार का बर्ताव करे। किन्तु अपने आप ही कोई सुख, दुःख को कौतुक मात्र समझता हुआ भिन्न-भिन्न स्थानों में कभी सुख और कभी दुःख का स्वीकार करता रहे, साथ ही दोनों को क्रीड़ामात्र जानता हुआ दोनों में ही लिप्त न हो तो वह निर्दय कभी नहीं कहला सकता। एवं अपने आपके लिये ही भिन्न-भिन्न साधन प्रस्तुत करता हुआ उनका भिन्न-भिन्न फल क्रीड़ामात्र के रूप में ग्रहण करे, तो वह पक्षपाती भी नहीं कहा जा सकता। श्रुति कहती है कि ‘स आत्मानं स्वयमकुरुत’ परमात्मा ने अपने आपको ही जगद्रूप किया है। जगत् के जड़-जीव परमात्मा से भिन्न नहीं, उसके ही अंश हैं। तब जीव विशेष के साथ पक्षपात या द्वेष करना मानों अपने ऊपर ही पक्षपात या द्वेष करना है। अपने आपके संबन्ध में पक्षपात द्वेष का कभी व्यवहार ही नहीं होता। अतः यह सब परमात्मा की स्वस्वरूप में लीलामात्र है, निर्दयता, वा विषमता का वहां कोई प्रसंग ही नहीं। इस समाधान को ही प्रकृत प्रश्न पर भी लगा लीजिए कि क्रीड़ामात्र के लिए जगत् की उत्पत्ति और निरोध करता हुआ भगवान् सच्चिदानन्द परमात्मा क्रीडारूप से ही किसी जीव पर कृपा कर देता है, उसके कृपा रूप वरण से ही वह जीव उस अपने खोए हुए आनन्द को प्राप्त कर लेता है, और यों उसके मनुष्य जन्म की सफलता हो जाती है।

अब तक सिद्ध यह हुआ कि, मनुष्य जन्म की सफलता सुख प्राप्त करने पर ही अवलम्बित है, और सच्चा सुख आनन्दमय भगवत् स्वरूप को प्राप्त किये बिना मिल नहीं सकता; एवं भगवत्स्वरूप तब ही प्राप्त हो सकता है, जब भगवान् की कृपा हो, वही कृपा कर जिसका वरण करते हैं वह व्यक्ति उनके स्वरूप को प्राप्त कर

सकता है। मनुष्य के यज्ञ, दान, तप आदि किसी प्रयत्न से भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते, भगवान् स्वतन्त्र हैं वे किसी साधन के वश में नहीं। तो अब प्रश्न यह उठता है कि, फिर मनुष्य बेचारा अपने जन्म की सफलता के लिए क्या कर सकता है ? मनुष्य के वश की ही यह बात नहीं, तब मनुष्य को अपना जन्म सफल करने का उपदेश देना भी व्यर्थ है। मनुष्य तो प्रभु की इच्छानुसार एक प्रवाह में बह रहा है, प्रभु, ही कृपा कर जब प्रवाह से निकालना चाहेंगे, तब निकाल लेंगे, वह स्वयं तो विवश है, फिर जन्म सफल न करने के लिये किसी मनुष्य को उपालम्भ देना—उसे बुरा कहना—बिलकुल अन्याय है और मनुष्य को उपदेश देने के लिये ऋषि, मुनि, आचार्य महात्माओं का इतना आयोजन, इतने ग्रन्थ बनाना सर्वथा व्यर्थ है।

इसका उत्तर यह है कि, भगवत्स्वरूप की प्राप्ति के द्वारा सच्चा सुख प्राप्त करना भगवान् की इच्छा या कृपा पर ही निर्भर है, किन्तु भगवान् की कृपा का पात्र बनने के लिये भगवत्सेवा करना तो अवश्य ही मनुष्य का कर्तव्य है। जिस प्रभु का यह जीव एक अंश है, जिसकी एकमात्र कृपा से ही इसे सांसारिक सब प्रकार के सुख और भोग—जिन्हें यह सुख और भोग समझ रहा है वे सब प्राप्त हैं, और जिसकी कृपाकटाक्ष से ही सांसारिक सब दुःखों के बन्धन से सर्वथा इसका मुक्त होना संभव है—उस परम दयामय प्रभु को भूलकर यदि यह सांसारिक विषयों में ही आसक्त हो जाय, और यों निरन्तर मोहपाश में बँधकर अपने अधःपात के ही साधन इकट्ठे करता जाय, तो फिर उसे उपालम्भ क्यों न दें ? उसे बुरा क्यों न कहें ? और उसे सन्मार्ग पर लाने के लिये आचार्यों के उपदेश क्यों न आवश्यक होवें ? यद्यपि जीव का मोहान्ध होना भी भगवान् की इच्छा का ही परिणाम है, उनकी ही अविद्याशक्ति के द्वारा यह मोहजनित बन्धनों में प्रवृत्त किया जाता है, किन्तु उस अपनी अविद्या शक्ति को उपसंहृत कर ज्ञान के प्रकाश में लाने और अपने चरणारविन्द का दृढ़ प्रेम प्रदान करने के लिये जीव को निरन्तर भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये इस उद्देश्य से ही प्रभु की सेवा करनी चाहिये। यही अपने जन्म सफल करने के लिये मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, यही शास्त्रों व आचार्यों का उपदेश है।

जो जीव मनुष्ययोनि पाकर भी पशु आदि की तरह भगवदिच्छा सेवा अपने पूर्वकर्मपरिपाक से अविद्या के इतने वशीभूत है कि अपने भगवदंश होने के ज्ञान का या अविद्या की निवृत्ति के लिये भगवान् से प्रार्थना करने की आवश्यकता का जिनके हृदय में अंकुर ही नहीं निकलता, मिथ्या आवेश के वश में पड़कर जो सत्य उपदेश से उलटी घृणा करते हैं, उनके लिये वस्तुतः शास्त्रों का वा आचार्यों का उपदेश नहीं

है। वे आचार्यों के दयापात्र होने पर भी उपदेश के पात्र नहीं। उनको भगवदिच्छा से प्रवाह में बहना ही होगा। अपने कर्मों का फल भोगना ही होगा। सब कार्यों के भगवदिच्छानुकूल होने पर भी हर एक का भला बुरा कहने की जिनकी आदत है, वे उन्हें बुरा भी कहेंगे और सत्पुरुष उनकी दशा पर दया करेंगे उनके उद्धार के लिये भगवान् से प्रार्थना करेंगे, किन्तु उनको उपदेश देना सर्वथा व्यर्थ मानेंगे। जब कभी सत्कर्म के परिपाक से उनपर भगवान् की कृपा हो और उनकी बुद्धि में सत्त्व का उदय हो—उस काल की प्रतीक्षा करनी ही होगी। किन्तु जो जीव दैवी संपत्ति प्राप्त किए हुए भी चित्त की चंचलता से या कुसंगति के प्रभाव से सन्मार्ग पर सुस्थिर नहीं होते, बार बार भटकते हैं, बहकते हैं उन्हें योग मार्ग पर दृढ़ करना, मिथ्या आवेश में न जाने देना शास्त्रों और आचार्यों के उपदेश से ही दृढ़ होता है। सब कुछ भगवान् की इच्छा से हो रहा है, उनकी ही कृपा पर दुःख से मुक्त होना और सच्चा सुख प्राप्त करना अवलम्बित है। हम जो चंचलतावश सन्मार्ग से विचलित होते हैं यह भी उनकी ही इच्छा है। हमें सर्वथा अविद्या के पंजे से निकलने के लिये भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये और उनकी ही सेवा करनी चाहिये। हमें आचार्यों का उपदेश प्राप्त होना भी भगवान् की कृपा का ही फल है यह उन भावुक जीवों के अन्तःकरा में दृढ़ हो जाता है।

आचार्य महानुभावों के व योग्य विद्वानों द्वारा शास्त्रों के अमूल्य उपदेश प्राप्त करके भी जिनके अन्तःकरण में ऐसे विपरीत विचार उठें कि भगवान् की इच्छा होगी, तब वे हमें मुक्त कर ही देंगे हमें सेवा आदि की आवश्यकता क्या ? तो उनके लिए उपदेश अनर्थक है। समझ लेना चाहिए कि ये अभी अविद्या देवी के कटाक्षों पर कुछ काल संसार-रंगभूमि में नृत्य करेंगे। किन्तु जिन भव्य जीवों के ऐसे विचार हों कि, भगवान् के अनुग्रह से ही हमें आचार्यों का उपदेश मिला है, भगवत्कृपा से हमारा उद्धार अवश्य होगा, हमें निरन्तर दृढ़ चित्त से भगवत्सेवा करनी चाहिये, बस, उन पर ही उपदेश सफल है, वे ही मनुष्य जीवन की सफलता प्राप्त करने में कुछ विलम्ब भी हुआ तो उपदेश पर दृढ़ श्रद्धा होने से वे यही समझेंगे, कि यह भगवान् की इच्छानुसार विलम्ब है, हमारा इसमें कोई दोष नहीं। यों अनुताप दुःख से भी वे सदा बचे रह सकेंगे। सिद्ध हुआ कि शास्त्रों व आचार्यों के उपदेश व्यर्थ कदापि नहीं, जीवों को भगवत्सेवा में दृढ़ता से प्रवृत्त करने के लिये उनकी अत्यन्त आवश्यकता है।

अवश्य ही भगवान् स्वतन्त्र हैं, किसी साधन के वशीभूत नहीं हो सकते कोई भी किसी भी साधन के द्वारा हठात् उनको प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु वे

करुणामय कृपामय एवं वात्सल्यमय हैं अतः अपनी सेवा करने वालों का वरण (स्वीकार) अवश्य करते हैं। उनकी सेवा व्यर्थ नहीं होती। इसकी वे स्वयं प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि—

**कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मद्भक्तः प्रणश्यति**

(श्रीभगवद्गीता)

‘अर्जुन ! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता, यह तुम निश्चय जानो। अथवा स्वयं तुम ही (मेरी ओर से) इस बात की प्रतिज्ञा कर दो कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।’

स्वतन्त्र होने पर भी अपना भक्ति के और भक्त के वश में होना वे स्वयं कहते हैं, जहां उन्होंने ‘नाहं वेदैर्न तपसा’ इत्यादि पूर्वोक्त वाक्य के द्वारा दूसरे साधनों से अपना प्राप्त न होना बतलाया है वहीं भक्ति के द्वारा अवश्य प्राप्त होना भी सिद्धान्त रूप से प्रकट किया है—

**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोर्जुन ! ।**

**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं न परन्तप ॥**

(श्रीभगवद्गीता)

तात्पर्य यह कि, अर्जुन ! और उपायों से तो मेरे इस विश्वरूप का दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु अनन्य भक्ति के द्वारा तो भक्त लोग मुझे तत्त्वतः जान भी सकते हैं, देख भी सकते हैं, और मेरे इस रूप में स्वयं प्रविष्ट भी हो सकते हैं। श्रीमद्भागवत में भी योग आदि अन्य उपायों द्वारा अपने वश में होने का प्रतिषेध करते हुए भक्ति के द्वारा वश में होना स्फुट कर दिया गया है—

**न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ! ।**

**न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥**

अर्थात् योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, वा त्याग मुझे सिद्ध अर्थात् वशीभूत नहीं करते, जैसे कि, प्रबल (दृढ़) भक्ति वश में कर लेती है। अन्यत्र भी श्री भागवत में स्पष्ट अपना भक्त के वश में होना भगवान् कहते हैं—

**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।**

**साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥**

**नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ।**

श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् ! येषां गतिरहं परा  
 ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् ॥  
 हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे  
 मयिनिर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः ।  
 वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्त्रयः सत्पतियथा ॥

( भक्तिहंस )

इनका क्रमशः तात्पर्य है कि, मैं विवश की तरह भक्तों के अधीन हूँ। भक्तजन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, इसलिये सत्पुरुष भक्तों के द्वारा मेरा हृदय मानों पकड़ा हुआ रहता है। 'जिन भक्तों ने मुझे ही परमगति मान रक्खा है—ऐसे सज्जनों के बिना रहना मैं कभी नहीं चाहता, और उत्कृष्ट लक्ष्मी को भी उन भक्तों के बिना नहीं चाहता।' 'जो अपने स्त्री, घर, पुत्र, बान्धव और प्राणों को एवं दुर्लभ धन को छोड़ कर मेरी शरण में चले आये हैं, उनको छोड़ने का साहस मैं कैसे कर सकता हूँ' 'जिन्होंने अपना हृदय सर्वथा मानो मेरे साथ बांध रक्खा है जो साधु एवं समदर्शी हैं, वे मुझे इस प्रकार वश में कर लेते हैं, जैसे श्रेष्ठ, पतिव्रता स्त्री अपने सदाचारी पति को वश में करती है। तात्पर्य यह, कि, या तो स्त्री में कोई दोष हो, तो उसका पति उससे रुष्ट रहेगा, और यदि स्त्री पूर्ण साध्वी पतिव्रता है, और पूर्ण प्रेम करती है, फिर भी उसका पति उससे विमुख है, तो मानना पड़ेगा कि वह पति ही दुराचारी है, वह अन्य मृततृष्णा में पड़कर अपनी साध्वी स्त्री के प्रेम की प्रतिष्ठा करना नहीं जानता। यदि दोनों बातें न हों, दोनों निर्दोष हों, तो पत्नी के प्रेम व गुणगण से आकृष्ट होकर पति को उसके वश में होना ही होगा, उसके विशुद्ध प्रेम के उच्च भाव की प्रतिष्ठा करनी ही होगी। यों ही यदि निर्दोषपूर्ण भक्तियुत भक्त की सर्वथा उपेक्षा की जाय, तो यह भगवान् का एक प्रबल दोष सिद्ध होगा, कि वे प्रेम की प्रतिष्ठा करना नहीं जानते। किन्तु भगवान् कहते हैं कि ऐसा नहीं है, उस प्रेम के वश में सत्पति के समान मैं अवश्य होता हूँ।

इस प्रकार के स्वयं भगवान् के व भगवदनुगृहीत महात्माओं के शतशः वचन हैं जो भगवान् का भक्तपराधीन होना बतलाते हैं और इस पराधीनता से समता में भी बाधा नहीं आती—यह भगवान् ही कह रहे हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योस्ति न प्रियः  
 ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

( भगवद्गीता )

अब यह बात रह जाती है कि मनुष्य का कर्तव्य तो फिर कुछ बाकी न रहा। जब भगवान् का अनुग्रह होगा, तब मनुष्य भक्ति में लगेगा। मनुष्य चाहे भी, तो बिना अनुग्रह भक्ति नहीं हो सकती। फिर मनुष्य को क्या वृथा उपदेश किया जाता है कि “भक्ति करो।” करे कहां से, वह बिचारा स्वतन्त्र हो तब न। उसके तो साधन व फल सबकुछ भगवान् के हाथ में है, उसको विधिवाक्य सुनाना निरा “अरण्यरोदन” है।

उत्तर है कि भाई हम तो बार बार कह चुके कि जीव कभी स्वतन्त्र हो ही नहीं सकता, वह तो सर्वथा प्रभु की इच्छा के अधीन है, प्रभु के अनुग्रह बिना उसका कोई उबारा नहीं। किन्तु याद रखो कि उपदेश मिलना, शास्त्र के विधि वाक्यों में विश्वास होना यह भी सब प्रभु का अनुग्रह ही है। उस रूप के साधनों में उसे प्रवृत्त कर देते हैं। किसी को विधिवाक्यों द्वारा उपदेश दिलाकर कर्म में ही लगा देते हैं, किसी को सद्भक्तों के संसर्ग से कथाश्रवणादि में प्रवृत्त करते हैं—और किसी को—विशेष अनुग्रह होने पर स्वतः अपनी ओर खींच लेते हैं। सारांश यह कि, चित्त में सद्वृत्ति का उदय होना, उपदेश प्राप्त होना, उपदेशों में श्रद्धा होना—यह सब अनुग्रह का ही फल है। उपदेश कदापि व्यर्थ नहीं, और ऐसे उपदेश प्राप्त कर मनुष्य को अपने ऊपर भगवदनुग्रह का अनुमान कर परम संतुष्ट हो भगवत्सेवा में लगना चाहिये, मैं परतन्त्र हूँ, मैं कुछ कर ही नहीं सकता, बिना अनुग्रह भगवत्सेवा कैसे करूँ, मुझे उपदेश देना व्यर्थ है” इत्यादि व्यर्थ आलस्यजनित कुतर्कों में कभी न पड़ना चाहिये।

श्री विट्ठिलेश जी “भक्तिहंस” में विधिवाक्यों की सार्थकता इस प्रकार सिद्ध करते हैं कि जब तक भगवान् में निरुपाधिक स्नेह उत्पन्न न हुआ हो, तब तक श्रवण-कीर्तन आदि नवधा भक्ति-साधनों में जीव की प्रवृत्ति विधिवाक्यों द्वारा ही होती है और स्नेह उत्पन्न हो जाने पर फिर विधिवाक्य अप्रयोजक हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रवण, कीर्तन, अर्चन आदि में मनुष्य की प्रवृत्ति होने का कोई कारण तो अवश्य होना चाहिए। बिना कारण के कार्य कभी हो नहीं सकता तो जिनके अन्तःकरण में भक्ति अर्थात् भगवत्प्रेम उत्पन्न हो चुका है—उनका तो प्रवर्तक वह प्रेम ही हो जायगा जिसके साथ प्रेम हो, उसकी सदा बात सुनना औरों से उसकी ही चर्चा करना, उसकी याद करना, उसका आदर पूजा करना अर्थात् मैं सबके लिये समान हूँ मेरा न कोई द्वेष्य है, न कोई प्रिय मित्र है, किन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, वे चूंकि मेरे आधार पर हैं—वे सदा मुझमें हैं—इसलिये मैं भी उनमें अवश्य हूँ। जो मुझसे प्रेम करें, उनका यदि मैं उनके प्रेम को ग्रहण करता हुआ उद्धार करूँ तो इससे समता में कोई बाधा प्राप्त नहीं हो सकती। इस सबसे सिद्ध हो जाता है कि भक्तिपूर्वक भगवत्सेवा ही भगवत्प्राप्ति के द्वारा सच्चा सुख प्राप्त करने का मुख्य साधन है।

कदाचित्त यह शंका हो कि, भक्तिपराधीनता बोधन करनेवाले वचनों का परमात्मा की स्वतन्त्रता बतलाने वाले वचनों से विरोध होगा, क्योंकि जब परमात्मा सर्वथा भक्ति के वश में हो गया, तो स्वतंत्र कहाँ रहा ? इसका उत्तर आचार्यगण यह देते हैं कि, वस्तुतः विरोध कुछ नहीं, क्योंकि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति ने भी अनुग्रहमात्र से भगवान् का प्राप्त होना बताया है—और भक्ति से प्राप्त होना कहनेवाले भी यही कह रहे हैं—भक्ति का अनुग्रह में ही पर्यावसान है। तात्पर्य यह है कि जब भगवान् का अनुग्रह होता है, वे जिसका वरण करते हैं वही भक्ति का पात्र भी होता है। बिना भगवदनुग्रह से प्रेम हो ही नहीं सकता इसलिये जिस पुरुष के भगवान् का अनुग्रह होता है, वे जिसका वरण करते हैं वही भक्ति का पात्र भी होता है। बिना भगवदनुग्रह के प्रेम हो ही नहीं सकता इसलिये जिस पुरुष का भगवान् में प्रेम हो, उसे अनुमान करना चाहिये कि मुझ पर अवश्य भगवान् का अनुग्रह है, उन्होंने कृपाकर मेरा स्वीकार किया है—इससे मैं अवश्य कृतकृत्य हो जाऊंगा। भक्ति जैसा सुलभ और सर्वोत्कृष्ट साधन संसार में रहने पर भी जो अनन्त जीव दुःखसागर में गोते लगा रहे हैं सीधा सा पार जाने का उपाय भी उनसे नहीं होता इससे स्पष्ट सिद्ध है, कि बिना भगवदनुग्रह के भगवद्भक्ति हो ही नहीं सकती। भगवान् जब कृपा करते हैं—तब ही उनकी भक्ति होती है—तब ही हृदय में स्वाभाविक प्रेम का उदय होता है।

तो यह तो फिर एक चक्कर पड़ा, घूम घुमाकर वहीं पहुँच गये। किसी घाट पर एक कुटी में रहने वाला मनुष्य एक दिन कुछ रात्रि रहते कार्यवश दूसरे गांव को चला था। रास्ता भूलकर यह इधर उधर भटकने लगा। यों कभी इधर और कभी उधर घूम घाम कर सबेरे होते होते फिर अपनी कुटी में ही उलटा आ पहुँचा। मनुष्य प्रवर्तक कौन ? बस, साधनों में प्रवृत्ति कराने के लिये शास्त्रीय विधिवाक्यों की व आचार्य एवं महात्माओं के उपदेशों की आवश्यकता हुआ करती है यद्यपि भगवान् की इच्छा के अनुसार ही जीवमात्र की प्रवृत्ति है, किन्तु भगवान् की इच्छा किसी उपाय विशेष के द्वारा ही प्रवर्तक होती है वे उपाय विशेष ही विधिवाक्य आदि हैं। यद्यपि भक्ति शब्द का मुख्य अर्थ स्नेह ही है, किन्तु उस स्नेह के साधन मर्यादा—भक्ति के अंग, श्रवण, कीर्तन आदि भी भक्तिपद से कहे जाते हैं। स्नेहपूर्वक श्रवण, कीर्तन और विधिवाक्यों की प्रेरणा से किये जानेवाले श्रवण, कीर्तन आदि का भेद भी पुष्टिमार्गीय भक्ति ग्रन्थों में बहुधा निरूपित हुआ है।

मनुष्य जन्म की सफलता संपादित करनेवाली प्रधानभूत भक्ति के साधन रूप से ही सब प्रकार के शुभ कर्म और ज्ञानादि का उपयोग पुष्टिमार्ग में माना गया है। श्रीविट्ठलेश जी ने भक्तिहंस में यह साधन उद्धृत किया है—



दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते

अर्थात् दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदपाठ, मनोनिग्रह एवं और और प्रकार के नाना शुभ कर्मों से श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् की भक्ति ही सिद्ध की जाती है और श्री वल्लभाचार्य 'निबन्ध' में साधनों का क्रम इस प्रकार वर्णन करते हैं कि—

तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यमविद्याविनिवृत्तितः

वैराग्यं सांख्ययोगौ च ततो भक्तिश्च केशवे ।

इसका तात्पर्य श्रीचरणों ने ही इस प्रकार प्रकट किया है कि ब्रह्म का ज्ञान होने पर अविद्या निवृत्त हो जाती है, तब विषयों की तृष्णा नहीं रहती अर्थात् वैराग्य होने पर नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक कर सब अनित्यों का त्याग कर दिया जाता है, और फिर एकान्त प्रदेश में अष्टांगयोग साधन में प्रवृत्ति होती है। फिर तप होता है। तप से यहां तात्पर्य विचारपूर्वक आलोचन अथवा एकाग्र स्थिति से है। इस तप से ही निरन्तर भावना होते होते परम प्रेमरूपा भक्ति सिद्ध हो जाती है।

आगे भी वैराग्यादि का अंगभाव बोधित करते हैं—

वैराग्यज्ञानयोगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा ।

एकेनापि दृढनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

इसकी व्याख्या में इसका आशय यों अभिव्यक्त किया है कि “वैराग्य अवश्य भजन का अंग है, क्योंकि जब तक वैराग्य न होगा, तब तक अन्तःकरण में विषयों का आवेश रहने के कारण भगवान् का आवेश ही नहीं हो सकेगा, फिर भजन कैसा? दूसरा सब पदार्थों का और भगवान् का यथार्थ ज्ञान भी अवश्य ही भजन का अंग है, क्योंकि निश्चयात्मक ज्ञान के बिना प्रवृत्ति कभी होती नहीं। प्रवृत्ति मात्र में इष्टसाधनता-ज्ञान कारण है, भगवद्भजन मेरा साधन है यह ज्ञान होने पर ही भजन में प्रवृत्ति होगी और इस ज्ञान के स्वरूप संगठन के लिये भगवान् का ज्ञान-इष्ट का ज्ञान, व तुच्छता जानने के लिये इतर पदार्थों का तात्त्विक ज्ञान अवश्य होना चाहिये।

योग भी भजन का अंग है, क्योंकि योग के बिना चित्त की चंचलता रहने पर भजन हो ही नहीं सकता। प्रेम तो भजन का मुख्य कारण है ही, क्योंकि बिना प्रेम के यथोचित भजन होगा ही नहीं, आनन्द प्राप्त होने पर ही सच्चा भजन होता है और आनन्द बिना प्रेम मिलता ही नहीं। तप भी भजन का अंग है, तप के द्वारा शरीर इन्द्रिय

आदि परिपक्व होते हैं। यदि सब साधन न भी हों तो श्री आचार्य महाप्रभु आज्ञा करते हैं कि, एक ही दृढ़ हो जाय, और उसके द्वारा भजन करता रहे, तो सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जायगा। तात्पर्य यह कि, भजन मुख्य है, अंग एक, दो चार जितने मिल जाय, अच्छा है।

### प्रपंच और संसार

यह धर्म अथवा पुरुषार्थ संसार पर ही आधारित है। अतः दार्शनिक दृष्टि से संसार और प्रपंच का भी विभिन्न मतों में क्या स्वरूप है यह प्रदर्शित कर दिया जाता है। श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवाद में एक मोटा भेद यह है कि श्री शंकराचार्य आकाश, वायु, पृथिवी आदि संपूर्ण प्रपंच को मायाकल्पित या दूसरे शब्द में मिथ्या कहते हैं और शुद्धाद्वैतवाद में प्रपंच को सत्य मानकर ही अद्वैतप्रक्रिया का निर्वाह किया जाता है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तानुसार जो कुछ जैसा हम समझ रहे हैं, वह सब ठीक ही है, हमारा समझना 'अविद्याकृत' है ही नहीं, या ज्ञान होने पर हमारी समझ में कोई अन्तर ही नहीं पड़ेगा। नहीं, शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में भी हमारे समझने में बहुत कुछ हिस्सा 'भूल' का है, जो कि 'अविद्या' की कृपा से हमें प्राप्त हुआ है। जिससे हम सरासर धोखे में पड़े हुए हैं, और ज्ञान के बिना उससे छुटकारा होना हमारा दुर्लभ है।

श्री वल्लभाचार्य अपने 'तत्त्वार्थदीप' निबन्ध के 'शस्त्रार्थ' प्रकरण में आज्ञा करते हैं कि—

**प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत् ।**

**तच्छक्त्या विद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते ॥२३॥**

श्रीमत्प्रभु की स्वकृत व्याख्यानानुसार ही इसका तात्पर्य विशद किया जाता है।

प्रपंच और संसार इन दोनों शब्दों का अर्थ वस्तुतः भिन्न भिन्न है। शास्त्रों में संसार को असत् या मिथ्या कहा गया है, प्रपंच को नहीं। आचार्य श्री के कथनानुसार इन दोनों का भेद न समझने के कारण ही सबको मिथ्या कहने की भ्रांति जगत् में फैली है। जिन जिन वस्तुओं को जिस जिस स्वरूप में भगवान् ने पैदा किया—वह सब प्रपंच कहलाता है। यह प्रपंच भगवद्रूप ही है, भगवान् ही अपनी इच्छानुसार रमणार्थ प्रपंच रूप से प्रकट हुए हैं, प्रकृति के परिणाम रूप उपादान से भगवान् ने जगत् को नहीं बनाया। वेद में तो सद्रूप भगवान् का ही प्रपंचरूप से प्रकट होना कहा गया है, किन्तु विष्णु पुराण आदि में माया के द्वारा भी प्रपञ्चोत्पत्ति बतलाई है। वहां माया को भगवान्

की शक्ति समझना चाहिए। एकरूप रहकर भी 'सर्वरूप' 'अनन्तरूप' हो जाने का जो भगवान् का सामर्थ्य है, वही सामर्थ्य या शक्ति 'माया' कही जाती है। तो माया के द्वारा जगत् की उत्पत्ति बतलाने वाले पुराणों का तात्पर्य यही है कि भगवान् ने अपनी शक्ति-- अपने सामर्थ्य से ही स्व-स्वरूप प्रपंच को प्रकट किया है, दूसरे किसी का थोड़ा भी सहारा नहीं लिया।

यह हुई प्रपंच की बात, अब संसार के संबन्ध में कहा जाता है कि परमात्मा की शक्ति रूप अविद्या के द्वारा जीव के लिये संसार उपस्थापित किया जाता है। यहां श्लोक में 'उच्यते' पद दिया है, 'उत्पद्यते' नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि संसार केवल वाचनिक है, अभिमानरूप है, व्यावहारिक है। न कि प्रपंच के समान ब्रह्म से प्रकट हुआ है। अतएव शास्त्रकारों ने इस संसार को असत् कहा है, प्रपंच को नहीं। संसार क्या वस्तु है, यह श्री आचार्यचरणों ने बताया है कि 'अहं' (मैं) 'मम' (मेरा) इत्यादि अभिमान संसार है। 'मैं यह कर्म करता हूं' 'इस कर्म का यह फल मुझे प्राप्त होता है' 'मैं इस फल का भोक्ता हूं' इत्यादि क्रिया और क्रियाफलों का आत्मा में अभिमान ही संसार है और वह वस्तुतः 'असत्' है। 'असत्' होने पर भी परमात्मा की शक्ति 'अविद्या' के द्वारा जीव के प्रति उपस्थित किया जाता है। परमात्मा को जो जगन्निर्माण में कारणीभूत क्रीड़ा (रमण) की इच्छा है, वह जीव के मोहित हुए बिना और नाना कर्म करने एवं फल भोगने में प्रवृत्त हुए बिना परिपूर्ण नहीं होती, बिना मोह के विषमता न होगी, और विषमता के बिना संसार का स्वरूप कुछ भी न होगा।

सारांश यह हुआ कि वस्तुस्वरूप तो सब प्रपंच के अन्तर्गत है, और वे परमात्मा के बनाये हुए परमात्मस्वरूप, अतएव सर्वथा सत् है। किन्तु जीव जो उसे 'मेरा' कहकर स्वसंबंधिता का अभिमान करता है, और उस अभिमान द्वारा उनमें नाना 'विकल्प' उत्पन्न करता है, किसी को 'सुन्दर' कहकर अपने सुख का साधन समझता हुआ उसमें अनुरक्त होता है--यह सब 'अविद्या का' पसारा है, इस प्रकार के अभिमान ही संसार हैं, और ये सर्वथा असत् हैं, एवं ये ही जीव के बन्धन हैं, इन बन्धनों से मुक्त होने के लिए--सब पदार्थों से 'अहं' 'मम' व्यवहार और तन्मूलक सुख-दुख साधनता हटाकर सबको यथार्थ भगवद्रूप से समझने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। अतएव शुद्धाद्वैत संसार में ज्ञानसंपादन मुख्य कर्तव्य माना गया है, और उसे भक्ति का मुख्य अंग कहा गया है।

यह 'प्रपंच' और 'संसार की प्रक्रिया दूसरे मतों में भी देखी जाती है। शांकरमत के दृढ़ अनुयायी विद्यारण्यस्वामी अपने 'पंचदशी' ग्रन्थ के द्वैतविवेक प्रकरण में ईशसृष्ट

और जीवसृष्टि दो प्रकार के द्वैत का विवेचन करते हुए उपनिषद् के 'सप्तान्नवाद' का आश्रयण कर लिखते हैं कि—

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ।  
 तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीद्विभिन्नताम् ॥१७॥  
 ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद् द्वाभ्यां समन्वितम् ।  
 पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्ट्यताम् ॥१८॥  
 मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ।  
 मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ॥१९॥  
 ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ।  
 भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद् भोगो बहुदृष्यते ॥२०॥  
 हृष्यत्येको मणिंलब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ।  
 पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥२१॥  
 प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।  
 सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥२२॥  
 भार्या स्नुषा ननान्दा च याता मातेत्यनेकधा ।  
 प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ॥२३॥

इनका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने यद्यपि स्वरूप से सब पदार्थों को बनाया है, किन्तु जीव ने अपने ज्ञान और कर्म के द्वारा इनको अपना भोग्य अपने आप बनाया है। सारांश यों है कि यह जगत् ईश्वर का तो कार्य है, और जीव का भोग्य है, अतः दोनों ही से इसका सम्बन्ध है, इसमें दृष्टान्त है कि जैसे एक स्त्री अपने पिता से तो उत्पन्न है, और पति की भोग्य है उसे दोनों ही की सम्बन्धिनी कहा जाता है जगत् की उत्पत्ति में माया की वृत्तिरूप ईश्वर का संकल्प कारण है और जगत् के अपने भाग का साधन बनाने में मन की वृत्तिरूप जीव का संकल्प साधन है। ईश्वर का संकल्प एक है, अतः मणि आदि वस्तु एकरूप ही उत्पन्न होती हैं, किन्तु भोक्ता पुरुष और उनकी मनोवृत्तियां अनेक हैं अतः भोग कई प्रकार से देखा जाता है। एक ही मणि है, उसे प्राप्त करके एक मनुष्य को हर्ष होता है—तो वह मणि उसके लिए हर्षरूप भोग का साधन हुई। दूसरा पुरुष उसे प्राप्त न कर सकने के कारण क्रोध करता है,

तो वही मणि उसके क्रोध का साधन हो गई। तीसरा विरक्त पुरुष मणि को केवल देखता ही है, उसे इसके सम्बन्ध में न हर्ष होता है, न क्रोध होता है। यों एक ही मणि में इन जीवों ने प्रिय अप्रिय और उपेक्ष्य (तटस्थता) ये तीन प्रकार के आकार बनाये। जीवों के बनाये आकार परस्पर नहीं मिलते, जैसा कि जिसको वह प्रिय है, उसे प्रिय ही है अप्रिय नहीं हाती, जिसे अप्रिय है, उसे प्रिय नहीं होती—किन्तु ईश्वर का बनाया मणिरूप तीनों के लिये साधारण और तीनों के ज्ञानों में मिला हुआ है। यों ही ईश्वर की बनाई हुई एक ही स्त्री किसी की भार्या, किसी की स्नुषा (पुत्रवधू) किसी की ननद, किसी की जिठानी और किसी की माता होती है। स्वरूपतः स्त्री एक ही है। किन्तु प्रतियोगी बुद्धि से कई प्रकार की भिन्न भिन्न हो रही है। अर्थात् भिन्न-भिन्न सम्बन्ध के अनुसार प्रत्येक पुरुष उसे (अपने अपने सम्बन्ध की अनुयोगीभूत) भिन्न भिन्न रूप से देखता है। बस, मणि किंवा स्त्री ईश्वरनिर्मित है किन्तु हर्ष साधनता, क्रोधसाधनता आदि के व स्वकीयता परकीयता आदि के भाव, किंवा भार्या, स्नुषा माता आदि ममतामूलक सम्बन्ध के भाव जीव की अविद्या द्वारा निर्मित केवल व्यावहारिक है।

इस ही तत्त्व को कुछ विवेकशील विद्वान् यों प्रकट करते हैं कि जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं—एक सत्तासिद्ध, दूसरे भातिसिद्ध। जो पदार्थ जगत् में है (अपनी सत्ता में रहते हैं) इसलिये उनका ज्ञान होता है—वे सत्तासिद्ध कहे जाते हैं और जिनका ज्ञान होता है, इसही लिये उनकी सत्ता प्रकल्पित है अर्थात् ज्ञान में प्रतीत होने पर भी जो अपनी वस्तुगत सत्ता कुछ नहीं रखने, वे भातिसिद्ध कहने योग्य है। उदाहरण के लिये जैसे पर्वत, उसका रूप, उसकी कठिनता आदि पदार्थ सत्ता सिद्ध हैं, क्योंकि वे हैं—इसलिये प्रतीत होते हैं। और पर्वत में दूरपन, (दूरता) या नजदीकपन (सन्निहितता) छोटापन (लघुता) या बड़ापन (विशालता) अच्छापन (रमणीयता) या डरावनापन (भीषणता) एक दो आदि संख्या, किसी दूसरे पर्वत की सदृशता वा विरोधिता, एक जातीयता या विभेद—इत्यादि—इत्यादि बहुत से धर्म केवल भातिसिद्ध हैं, पदार्थगत कोई विशेष सत्ता न होने पर भी बुद्धि में दूसरे पदार्थों की अपेक्षा से इन धर्मों की प्रतीति हो जाया करती है। अतएव ऐसे धर्म अपेक्षाविशेष से अनियत होते हैं, और सत्ता सिद्ध धर्म एकरूप नियत होते हैं। जैसे कोई भी पुरुष देखनेवाला हो, सब पर्वत को सदा पर्वत ही कहेंगे, और पर्वत कृष्ण वर्ण होगा, तो सब देखनेवाले सदा उसे कृष्ण वर्ण ही कहेंगे—यों सत्तासिद्ध धर्म नियत हैं। किन्तु उस ही पर्वत को एक पुरुष दूर और दूसरा नजदीक कह सकता है, एक उसे छोटा और दूसरा बड़ा बता सकता है। एक के लिये वह रमणीय और दूसरे के लिये भयानक प्रतीत हो सकता है। दूसरा क्यों?

एक ही पुरुष किसी समय में या किसी स्थान की अपेक्षा उसे दूर कह सकता है, दूसरे समय में या दूसरे स्थान पर बैठकर वही उसे नजदीक बता सकता है। अब देखना यह है कि किसी स्थान पर रह कर कोई पुरुष उसे दूर कहे, या दूसरे स्थान पर रह कर नजदीक कहे, इससे पर्वत के स्वरूप में कुछ भी विलक्षणता नहीं होती, पर्वत जैसा पहले था, वैसा ही अब भी है। सत्ता में कोई विलक्षणता नहीं, दूरता और सन्निहितता की प्रतीतिमात्र है प्रतीति से ही यह दूरता और सन्निहितता कल्पित है। यों ही किसी छोटे पर्वत की अपेक्षा छोटा बड़ा कह दें—इससे पर्वत के स्वरूप में कोई विशेषता नहीं होती, बड़ापन छोटापन प्रतीतिमात्र है। उसको यदि कोई रमणीय समझता है, या उसके विपरीत भयंकर समझने लगता है, तो यह समझनेवाले की समझ मात्र है, पदार्थ तो जैसा है वैसा एकसा ही है। कभी उसे दूसरों के साथ तुलना करते हुए सदृश या विरुद्ध कह दें, कभी दूसरे की अपेक्षा उसे विभिन्न बतलाने लगे, और कभी दूसरे से कुछ भी तुलना न करते हुए केवल पर्वतमात्र उसे समझें, तो इन बातों का वस्तु के स्वरूप की विचित्रता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, बस, ऐसे अपेक्षाकृत धर्म केवल भातिसिद्ध धर्म कहावेंगे। इनकी सत्ता प्रतीतिमात्र के ही आधार पर है। यों ही 'सामान्य' और 'विशेष' को बुद्ध्यपेक्ष-भातिसिद्ध-या प्रतीतिमात्र के आधार पर अवस्थित महर्षिकणाद ने स्पष्ट कहा है—'सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्' (वैशेषिक सूत्र)।

पर्वत के दृष्टान्त से ही सर्वत्र समझ लीजिए, किसी स्त्री में सम्बन्ध विशेष के अनुसार ममता—मूलक भार्यात्व, भगिनीत्व, मातृत्व, स्नुषात्व आदि की कल्पना प्रतीतिमात्र सापेक्ष है, अस्तु स्वरूप की इन प्रतीतियों में कुछ भी विलक्षणता नहीं होती। कोई मनुष्य एक स्त्री को सुन्दरी कहता है, दूसरा उसे कुरूपा समझता तो कहना होगा, कि यह समझ ही मात्र है। वस्तु तो जैसी थी वैसी ही है। ये सब धर्म उसमें काल्पनिक हैं। ये ऐसे प्रतीतिमात्र सापेक्ष या भ्रातिसिद्ध धर्म प्रातिभासिक कहलाते हैं और इन्हें ही प्रकृत सिद्धान्त में 'संसार' कहा जाता है। अब कहां कौन-कौन धर्म सत्ता सिद्ध हैं और कौन-कौन भातिसिद्ध है, इस बात की परीक्षा विवेक से करने की आवश्यकता है और संभव है, इस विचार में मतभेद भी बहुत कुछ हो, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के विवेक से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही धर्म की परिभाषा में ज्ञान कहलाता है और ऐसे प्रतीतिसिद्ध धर्मों के बन्धन में न पड़ने का सब ही दार्शनिक हमें आदेश करते हैं।

अब इससे आगे और कुछ सूक्ष्म विचार करते हुए विवेकशील विद्वान् हमें यह बतलाते हैं, कि ईश्वर ने जो पदार्थ जैसा पैदा किया, वह वैसा रहे, उससे हमें कुछ

प्रयोजन नहीं। उससे जीव का न बन्ध है, न मोक्ष। जीव तो अपने ज्ञान में आये हुए पदार्थों के द्वारा बद्ध होता है, और वे ज्ञान के विषयीभूत पदार्थ मनःकल्पित अतएव प्रातिभासिक हैं। ईश्वर की बनाई हुई एक स्त्री है, वह सबके लिये समान है, और इससे किसी जीव के बन्धन का कोई संबंध नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न पुरुष जो अपने मन के द्वारा उसे ग्रहण करते हैं वह उन पुरुषों की मानस स्त्री भिन्न-भिन्न है और उस भिन्न-भिन्न मानस स्त्री में ही भिन्न-भिन्न संबंधों की कल्पना उन-उन पुरुषों ने कर रखी है। यह मानस स्त्री और उसके साथ के (सम्बन्ध धर्म और धर्मों) दोनों जीवसृष्ट प्रातिभासिक, मिथ्या अतएव हेय हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये मानस स्त्रियां उस ईश्वरकृत स्त्री से ही निकली हैं, उस ही के आधार पर ये मन की कल्पनाएं हुई हैं और यही बौद्ध के विज्ञानवाद की अपेक्षा इस विवेक का बड़ा भारी अन्तर है। विज्ञानवादी बौद्ध लोग मानस स्त्रियों को ही प्रपंच मान बैठे हैं, ये बाह्य पदार्थ नहीं मानते, किन्तु हमलोग मन में आकर समर्पण करने के लिये बाह्य प्रपंच की सत्ता आवश्यक समझते हैं, हमारा विश्वास है कि बाह्य स्त्री न होती तो मन में आती कहां से ? अस्तु, यह एक दूसरा विवाद है, किन्तु इतना तो अवश्य ही है कि जीव का बन्धन इन मानस स्त्रियों से ही है। ईश्वर निर्मित प्रपंच की स्त्री मर भी जाय, और मन की स्त्री बनी रहे, तो वियोगजनित दुःख रूप से बन्धन बना रहता है और प्रपंच की स्त्री बनी रहे किन्तु मनोवासना दूर कर दी जाय तो जीव उससे मुक्त हो चुका। अतः जीव को केवल अपने मानस संसार के विलय का ही प्रयत्न करना चाहिये। यह सब विद्यारण्य स्वामी ने ही पंचदशी में उक्त श्लोक के आगे लिखा है—

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते  
 योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ।  
 मैवं मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी ।  
 मांसमय्या अभेदेपि भिद्यते ही मनोमयी ॥२५॥  
 सत्यं वै विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ ।  
 अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत्  
 सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥३२॥  
 अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।  
 अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः ॥४२॥

श्लोकों का अर्थ यह है कि पूर्वोक्त भार्या, स्नुषा, माता आदि रूप से जो भिन्न भिन्न पुरुषों के एक स्त्री में भिन्न भिन्न ज्ञान बतलाये गये हैं, वहां ज्ञानों का तो परस्पर भेद हुआ, वस्तु के आकार में तो कोई भिन्नता न आई, क्योंकि स्त्री के शरीर में जीव के ज्ञान द्वारा कोई विशेषता पैदा होती हुई नहीं देखी जाती, फिर जीवनिर्मित द्वैत—या 'संसार' क्या पदार्थ है? इसका उत्तर यों देते हैं कि ऐसी शंका मत करो, क्योंकि मांस की बनी हुई दूसरी है, मन की बनी हुई दूसरी है। मांस की बनी हुई यद्यपि एक है, किन्तु मन की बनी हुई भिन्न भिन्न हैं। इसके भाष्य और वार्तिककार के वचनों से मनोमय पदार्थ को सिद्ध कर आगे कहते हैं कि अब घट आदि विषय दो प्रकार के सिद्ध हो गये, एक मिट्टी का घड़ा, और एक बुद्धि का घड़ा। इनमें से बुद्धि का घड़ा ही जीव का बन्धन करनेवाला है—यह बात अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध हो जाती है। क्योंकि बुद्धि का घड़ा रहने पर (मिट्टी का न रहने पर भी) सुख दुःख होते हैं और मिट्टी का घड़ा रहने पर भी बुद्धि का घड़ा न रहने पर सुख दुःख नहीं होते। इसका कई लौकिक दृष्टान्तों द्वारा समर्थन कर आगे कहते हैं कि ईश्वर का बनाया द्वैत मुक्ति में बाधक नहीं प्रत्युत साधक है, और उसे हम हटाने में भी असमर्थ हैं, फिर उसके साथ द्वेष क्यों करें ? अर्थात् जीवसृष्ट द्वैत ही बन्धन का हेतु है—और वह ज्ञान वैराग्य द्वारा हटाया जा सकता है—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है, तब उसे ही हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

शुद्धाद्वैत के मान्य विद्वानों ने भी स्थान स्थान पर इन मनोमय पदार्थों का विवेचन किया है विद्वत्प्रवर श्रीबालकृष्णभट्ट जी अपने प्रमेयरत्नार्णव के 'प्रपंचविवेक' प्रकरण में लिखते हैं कि—“परन्तु व्यामोहिका माया जीवं व्यामोहयित्वा तदीयबुद्धौ प्रापंचिकसद्वस्तुसदृशं मायिकं पदार्थमुत्पाद्य पुरःस्थितविषये प्रतिपक्षि तदा पदार्थग्रहणम्। तस्यापि ग्रहणात् द्विशिष्टाज्ञानं भ्रमात्मकं भवति। तथा सति वस्तुग्रहे मायिकधर्माणामपि ग्रहणाद् 'यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्।' 'देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा' 'स्वबुद्ध्यावाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत्। स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्। इत्यादि वाक्यानि सावकाशानि भवन्ति। इमानि तादृक् प्रतीतिमूलकानि प्रमाणान्यवलम्ब्य विवर्तादिवादानां प्रवृत्तिः। पुराणादौ तादृशवादमूलमायिकत्वोक्तिवैराग्यार्थमुपयुज्यत—इति व्यवस्थापितं तत्त्वदीपे, अतः प्रतीतिरेव मुग्धानां मायिकी, न वस्तुनि कश्चिद्दोष, स्वाभाविकः' इत्यादि। इसका अर्थ है कि श्रुति, स्मृतिवचनानुसार यह सिद्ध है कि ब्रह्म ही प्रपंचरूप से सर्वत्र इन्द्रियग्राह्य है, किन्तु व्यामोहन करनेवाली माया जीव को भ्रम में डालकर जीव की बुद्धि में ईश्वर निर्मित प्रपंच के अन्तर्गत वस्तु के सदृश मायिक पदार्थ को उत्पन्न कर देती है। यही मन का



विषयाकार में परिणत होना हुआ—और यह मायाकृत है। और माया पदार्थ को सामने रखे हुए प्रपंच के पदार्थ के साथ मिला देती है, यही पदार्थ का ग्रहण (ज्ञान) कहलाता है। तो इस ज्ञान में मायारचित पदार्थ के भी अन्तर्गत होने से यह विशिष्टज्ञान भ्रमात्मक सिद्ध हो गया और प्रत्येक वस्तुज्ञान में मायारचित धर्म भी साथ अवश्य गृहीत होते हैं—इस ही आधार पर पुराण में लिखा है कि—‘जो कुछ मन से, वाणी से, आंख से या श्रोत्र आदि से गृहीत होता है, वह विनाशशील है, और मायाजनित मन का विकार है, ‘और इस ही आधार पर पदार्थों को स्वप्नसदृश, दुःखरूप आदि कहा गया है। इन प्रतीतिमूलक प्रमाणों के आधार पर ही विवर्तवाद आदि संसार में फैले हैं, और इन वादों को मूल मानकर पुराणों में भी जो कहीं जगत् को मायाजन्य कह दिया है—वह जगत् से वैराग्य कराने के लिये है—यह तत्त्वदीप-निबन्ध में निर्णीत हो गया है। सिद्ध यह हुआ कि भूले हुए लोगों की प्रतीति (ज्ञान) ही मायाजन्य है, वस्तु के स्वरूप में स्वाभाविक कोई दोष नहीं।

शुद्धाद्वैतमार्तण्ड के टीकाकार श्रीरामकृष्ण भट्टजी महाराज भी आरंभ के तृतीय श्लोक की व्याख्या में ही लिखते हैं कि ‘नामरूपभेदज्ञानमेवाविद्यकम्, न तु ते’ अर्थात् प्रत्येक नाम और रूप का जो भेदपूर्वक हमें ज्ञान होता है, वही अविद्याकृत है। नाम और रूप अविद्याकृत नहीं है। बाईसवें श्लोक की टीका में भी शांकर मत का निराकरण करते हुए ‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते’ श्रुति की संगति लगाने को आपने लिखा है कि ‘तत्र माया ज्ञानं प्रति करणम्, न तु ब्रह्मणो बहुस्वरूपत्वं’ अर्थात् उक्त श्रुति में ब्रह्म की बहुरूपता में माया को कारण नहीं बतलाया गया, अनेक रूप से जो ज्ञान होता है—उसमें माया को कारण कहा है। तात्पर्य यही है कि ज्ञान मायिक है, पदार्थ मायिक नहीं है। श्री हरिराय जी भी ब्रह्मवाद में लिखते हैं कि ‘इह सर्वरूपतया अद्वये ब्रह्मणि प्रपंचरूपेपि सच्चिदानन्दतयैकरूपे वस्तु नाना न, किन्त्वब्रह्म-दशायामविद्यया भासत एव, अतो वैलक्षण्यम्।’ तात्पर्य यह है कि अद्वितीय ब्रह्म यद्यपि क्रीडार्थ प्रपंचरूप हुआ है, किन्तु प्रपंच में भी उसकी सच्चिदानन्दतारूप एकता विराजमान है, प्रपंच की वस्तु भिन्न-भिन्न नहीं, जिनकी ब्रह्मदृष्टि नहीं है उन्हें अविद्या द्वारा भेद की प्रतीति होती है। अविद्याकृत ही विलक्षणता भासित हो रही है। आगे एक में अनेक भान का दृष्टान्तों से उपपादन कर आपने स्पष्ट ही कहा है कि ‘अत एव न ब्रह्मविदां तथा प्रतीतिः।’ ब्रह्मवेत्ता जनों की प्रतीति लौकिक पुरुषों की सी नहीं होती। वे ब्रह्म से अभिन्न, वस्तु का स्वरूपमात्र देखते हैं।

श्री आचार्य महाप्रभुचरण भी निबन्ध में शास्त्रार्थ प्रकरण (श्लोक ९१) में दो

प्रकार से वेदान्तों का बोधन प्रकार दिखाते हुए द्वितीय प्रकार में ये कहते हैं 'यदा अखंडाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् सत्त्वेनैव सर्वं गृह्णाति, तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिर्घटते इति, सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति बुद्धिर्भवति। न तु स्वरूपतोऽपि घटादिपदार्थोपि धर्मी बाध्यत इत्यर्थः।' तात्पर्य यह कि जब अखण्डाद्वैतभान पुरुष को होता है, और कटक कुण्डल आदि में सुवर्णदृष्टि की तरह सब विश्व में केवल ब्रह्मदृष्टि हो जाती है, तब भिन्न-भिन्न विषयों की 'घटः' 'पटः' आदि बुद्धियों का बोध नहीं होता—अर्थात् ये भिन्न-भिन्न बुद्धियां नहीं रहने पातीं, केवल ब्रह्मबुद्धि ही सर्वत्र हो जाती है। किन्तु बुद्धि का बाध होने पर भी घट आदि पदार्थ स्वरूपतः बाधित नहीं होते। पदार्थों का स्वरूप तो बना ही रहता है। किसी को ब्रह्मबुद्धि होने पर सब घड़े फूट जाय, या कपड़े फट जाय—यह असंभव है।

इस आगे के निरूपण से यह सिद्ध हुआ कि केवल पदार्थों के साथ जीव की अपनी संबन्ध-कल्पना ही अविद्याकृत है, किन्तु जिस प्रकार एक दूसरे से भिन्न पदार्थों का स्वरूप हम समझते हैं वह हमारा विशिष्ट ज्ञान भी अविद्या में ही प्रविष्ट है। सबको ब्रह्मरूप से देखना ही सद्बुद्धि है, वही ज्ञान है, और उसके उत्पन्न होने पर ये विकल्प-बुद्धियां विलीन हो जाती हैं। प्रपंच के सब पदार्थ ईश्वरनिर्मित सत्य हैं किन्तु उन पदार्थों के आधार पर मानस में जिन पदार्थों की कल्पना होती है वे अविद्या निर्मित हैं। सिद्ध यह हुआ कि पदार्थों को स्वरूपतः मिथ्या कहने में शांकर सिद्धान्त के साथ शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का विवाद है, किन्तु जिस रूप में हमने पदार्थों को परस्पर भिन्न स्वसंबन्धी अपने लिये दुःख सुख आदि के हेतु मान रक्खा है और इसके आधार पर अपने आप में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की कल्पना कर रक्खी है वह सब हमारा मानना अविद्याकृत मिथ्या है, यह शुद्धाद्वैत के आचार्यों को भी अभीष्ट है। सब पदार्थों को ईश्वर रूप और ईश्वर स्मरणार्थ आविर्भूत देखना, एवं अपने आपको उनसे निःसंग देखना ज्ञान है। यह ज्ञान भक्ति में परम उपयोगी है। पदार्थों की सत्यता असत्यता का विचार केवल दार्शनिक है, जीव की कृतकृत्यता इतने ही ज्ञान से हो जाती है, यह बात शांकरमत के अनुयायी विद्वान् भी मान चुके हैं।

---

## पैसठवाँ-पुष्प

सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

“हे कौन्तेय ! अपने कर्म का, चाहे वह दोषयुक्त प्रतीत होता हो, परित्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि समस्त कर्मों का प्रारम्भिक स्वरूप दोषों से उसी प्रकार ढँका रहता है जिस प्रकार अग्नि जलाते समय अग्नि का स्वरूप प्रारम्भ में धुएँ से ढँका रहता है” (४८)

कर्मों से आलस्यादि के कारण छुटकारा प्राप्त करने वाले यही युक्ति देते हैं कि इस कार्य में तो अमुक-अमुक दोष हैं। अतः हम यह कार्य नहीं करना चाहते। परन्तु ऐसा तो कोई कार्य नहीं है जिसके प्रारम्भ में दोष प्रतीत न हों। सात्विक सुख का लक्षण करते हुए पहिले ही यह बात लिख दी गई है कि उसके प्रारम्भ में विष के आस्वाद का सा कटु अनुभव होता है। धुआँ अग्नि के साथ ही उत्पन्न होता है, अतः वह अग्नि का सहज कहा जा सकता है। आरम्भ में अग्नि धूम से ढँका रहता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध ही है। अग्नि जलाने पर प्रारम्भ में धुआँ एक दोष ही है। अग्नि जलाने वाले का कोई कार्य धूम से सिद्ध नहीं होता। न तो वह किसी वस्तु को गरम कर सकता है और न वह अग्नि की तरह प्रकाश ही देता है। प्रत्युत आँखों के लिए वह कष्टप्रद ही हो जाता है। बहुधा धुएँ से भरे हुए स्थान पर खड़ा होना भी कठिन हो जाता है। अतः अनिष्टसम्पादक होने से उसकी दोषरूपता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। परन्तु अग्नि प्राप्त करने के लिए वह अनिवार्य है। अग्नि प्रज्वलित हो जाने के अनन्तर धुआँ निवृत्त हो जाता है। और अग्नि की गर्मी से अपने अभीष्ट कार्यों की पूर्ति कर ली जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक सात्विक कार्य के प्रारम्भ में शारीरिक कष्ट आदि दोष अवश्य आते हैं। परन्तु जब उस कार्य का उत्तम फल प्राप्त हो जाता है तब उसके सामने दोषों से उत्पन्न किया हुआ कष्ट नगण्य प्रतीत होने लगता है—

“क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।”

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार अग्नि के प्रारम्भ में धुआँ अवश्य होता है उससे हम बच नहीं सकते उसी प्रकार सभी कार्यों के प्रारम्भ में कायक्लेशादि दोष भी अनिवार्य हैं। उनसे बचना अशक्य है। यदि कोई मनुष्य अपने स्वभाव सिद्ध कर्मों को दोष युक्त समझकर और दूसरे के कर्म को दोषमुक्त समझकर अपने कर्म का

परित्याग कर दूसरे के कर्म में प्रवृत्त होता है तो यह उसकी भूल है। कर्ममात्र प्रारम्भ में दोषों से घिरे रहते हैं। जब सभी कर्मों के प्रारम्भ में दोषों से भेंट होना अनिवार्य है तब अपने कर्म का परित्याग क्यों किया जाय। यहाँ अर्जुन की प्रथमाध्याय की शंकाओं का भी उत्तर हो जाता है। अर्जुन ने युद्ध छोड़ कर भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह की इच्छा प्रकट की थी। क्या भिक्षावृत्ति निरापद है। उसमें भी तो अनेक दोष हैं। जब वहाँ भी दोष ही मिलेंगे तो युद्ध के दोषों को ही क्यों न स्वीकार किया जाय। क्योंकि युद्ध तो अर्जुन का स्वधर्म है। संसार का जो चक्र है, वह तो हमारे चलाये चलता नहीं और हमारे रोकने से रूकता नहीं। जो कार्य जिस रूप में होना है, होगा ही। हमें अपना काम करते जाना चाहिए।

श्रीशंकराचार्य ने यहाँ दार्शनिक दृष्टि पर आधारित यह विचार उपस्थित किया है कि यहाँ भगवान् ने अपने कर्म कभी न छोड़ने के लिये आग्रहपूर्वक आदेश दिया है। इससे यह अर्थ स्पष्ट ही निकाला जा सकता है कि कर्म छोड़े भी जा सकते हैं।

यहाँ उन्होंने कर्मों को न छोड़े जाने के उपदेश पर पूर्व पक्ष के रूप में दो शंकायें उपस्थित की हैं। कर्मों को न छोड़ना दो ही स्थितियों से सम्भव है। एक तो यदि कर्म को छोड़ना सम्भव ही न हो तब उनके त्याग की सम्भावना ही नहीं रहती। दूसरी अवस्था वह है अपने कर्म को न छोड़ने की, जब कर्म को छोड़ने में दोष माना जाय। यदि अपने कर्म को छोड़ देना दोषावह हो, तो बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह दोषों से बचने के लिये अपने कर्मों का त्याग न करे। इनका अनुष्ठान करता रहे।

इनमें पहिला पक्ष तो इसलिये सम्भव नहीं है कि उसका तो यह भी आशय निकाला जा सकता है कि कर्म छोड़ना जब अशक्य है तब जो व्यक्ति अशक्य कार्य कर दे वह जिस प्रकार प्रशंसनीय माना जाता है, उसी प्रकार कर्मों के असम्भव परित्याग को जो व्यवहार में उतार दे वह प्रशंसनीय माना जायेगा।

इस पर यह उत्तर दिया जाता है कि जब कर्मों का परित्याग सम्भव ही नहीं है तब उनको छोड़ देने पर प्रशंसनीय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कर्म तो कर्ता के धर्म हैं, उनसे शून्य तो कर्ता कभी रह नहीं सकता। इस पर पुनः प्रश्न होगा कि कर्ता का स्वरूप क्या है। क्या सांख्य के गुणों के समान कर्ता अत्यन्त चलन स्वभाव वाला है। ऐसा इसीलिए नहीं माना जा सकता कि इस मत के अनुसार कर्ता में और क्रिया में कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। सांख्य के गुण तो क्रिया रूप ही हैं। जब वैसा ही कर्ता भी मान लिया जाय तो कर्म और कर्ता के स्वरूप में भेद ही क्या रहा। इसी प्रकार यदि बौद्ध दर्शन के अनुसार क्रिया को ही कारक मान लिया जाय जैसा कि

उन्होंने रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच क्रिया रूपों की समष्टि को ही आत्मा माना है, तो इस मत को स्वीकार करने में भी उक्त दोष ही आता है कि क्रिया और कारक के स्वरूप में इसको मानने पर कोई भेद नहीं रह जाता। फिर उसको कारक ही क्यों कहा जाय। फिर क्रिया ही क्यों न कहा जाय। उसमें क्रियान्वयित्व अर्थात् क्रिया से सम्बन्धित होने का लक्षण जो कारक का है, वह घटित नहीं होता।

तीसरे वैशेषिक मत को भी श्रीशंकराचार्य ने यहाँ दिखाया है कि क्रिया के अतिरिक्त क्रिया के आधार के रूप में एक वस्तु और है। सभी क्रियाएं उसी को अपना आधार बनाती हैं। ऐसी वस्तु न मानने पर क्रियाओं का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं हो सकता। क्रियाओं का समूह ही आगे की क्रियाओं का आधार बन जायगा, ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं हो सकता। क्योंकि क्रिया तो तत्काल नष्ट होती है, एक क्रिया तब तक नष्ट हो जाती है जब तक दूसरी क्रिया उत्पन्न हो। इस क्रम में क्रियाओं का समूह ही कैसे बन पायेगा और वे क्रियाएं निराधार कैसे होंगी। इसलिए क्रिया के अतिरिक्त उसके आधार के रूप में एक कूटस्थ वस्तु भी माननी होगी। वह कूटस्थ वैशेषिक मत में आत्मा माना गया है। वही कर्ता है, उसका स्वरूप क्रिया से पृथक् है। जब वह क्रिया करता है तब सक्रिय होता है, और जब नहीं करता तो निष्क्रिय होता है। इस प्रकार मान लेने पर कर्मों का पूर्णरूप से परित्याग कर देना सम्भव हो जाता है। आत्मा जब क्रिया का परित्याग कर दे तब वह निष्क्रिय भी हो सकता है।

सांख्य और बौद्ध दर्शनों के उपर्युक्त मतों से इसमें यही विशेषता आती है कि न तो सांख्य दर्शन के समान नित्य प्रचलनशील वस्तु को कर्ता कहना होता है और न बौद्ध दर्शन के समान क्रिया को ही कारक मानना आवश्यक होता है। अपितु द्रव्य में जो क्रिया विद्यमान है उसका विनाश होता रहता है और जो क्रिया नहीं है उसकी उत्पत्ति होती रहती है। जो शुद्ध द्रव्य है वह अपनी शक्ति से युक्त अपने रूप में अवस्थित रहता है। उसी को कारक या कर्ता वैशेषिक दर्शन में माना जाता है। परन्तु वैशेषिक दर्शन के द्वारा उपस्थापित यह मत भगवान् को अभीष्ट नहीं। उन्होंने—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

इस द्वितीय अध्याय के पद्य में इस मत का खण्डन कर दिया है कि अविद्यमान क्रिया उत्पन्न होती है, और विद्यमान क्रिया नष्ट होती है। उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया है कि जो सत् वस्तु है अर्थात् जिसकी सत्ता है, वह कभी नष्ट नहीं होता और जिसकी सत्ता नहीं है अर्थात् जो विद्यमान नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इस

सिद्धान्त का उक्त वैशेषिक मत से विरोध है क्योंकि उस मत में वस्तु में अविद्यमान क्रिया की उत्पत्ति मानी गई है और विद्यमान क्रिया का नाश माना गया है। अतः गीता के प्रस्तुत सन्दर्भ में भी इस मत की उपादेयता समाप्त हो जाती है।

फिर प्रश्न होता है कि गीता को अभिमत न होने मात्र से कोई मत अनुपयुक्त नहीं हो सकता। यदि उस मत में तर्क और युक्तियाँ हैं जो कि सत्य पर आधारित हैं तो उसको स्वीकार किया जाना चाहिए। श्रीशंकराचार्य इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं कि तर्क और युक्तियों से भी उपर्युक्त मत प्रमाणित नहीं होता। वैशेषिकों के क्रम से उत्पत्ति की प्रक्रिया दिखलाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि वैशेषिक सृष्टि का कारण परमाणुओं को मानते हैं। दो परमाणुओं से संयुक्त होने पर द्व्यणुक बनता है। तीन द्व्यणुक मिलकर त्रसरेणु बनता है, तब वह इन्द्रिय द्वारा जाना जाता है। दो परमाणुओं के संयुक्त होने पर जब द्व्यणुक बना तो यह कहना होगा कि उससे पहिले द्व्यणुक नहीं था। उसका अभाव था और आगे त्रसरेणु बनने पर भी द्व्यणुक का अभाव हो जायगा। निष्कर्ष यह निकला कि द्व्यणुक आदि द्रव्यों का अपनी उत्पत्ति के पहिले अत्यन्त अभाव उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार खरगोश के सिर पर सींग का अभाव है। खरगोश के सिर पर कभी सींग नहीं देखे गए। यही अभाव का उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों में दिया जाता है। खरगोश पर जिस प्रकार सींग का अभाव है, उसी प्रकार द्व्यणुक आदि द्रव्यों का अपनी उत्पत्ति के पूर्व में अभाव है। इस समानता को दिखलाने का यहां यही प्रयोजन है कि जब अभाव अवस्था में द्व्यणुक आदि द्रव्य में और खरगोश के सींग में कोई अन्तर नहीं रह गया तो जिस प्रकार खरगोश के सिरपर सींग कभी मिल ही नहीं सकता उसी प्रकार द्व्यणुक आदि द्रव्यों की भी कभी उपलब्धि नहीं होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। शश शृङ्ग के समान द्व्यणुक आदि उत्पन्न ही नहीं होते ऐसा वैशेषिक सिद्धान्त में नहीं माना जाता। इसपर वैशेषिक मत की ओर से यह कहा जाता है कि अभाव अवस्था में संस्थित जिन द्रव्यों का अपने समवायिकारण के साथ समवाय सम्बन्ध हो जाता है वे उत्पन्न हो जाते हैं, वे भाव रूप हो जाते हैं, सत् बन जाते हैं। जिन अभाव अवस्था में संस्थित द्रव्यों का अपने समवायिकारण के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं होता वे अभाव रूप असत् ही बने रहते हैं। द्व्यणुक आदि द्रव्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व शशशृङ्ग के समान ही अभाव अवस्था में अथवा असत् अवस्था में रहते हैं। आगे चलकर समवायिकारण से समवाय सम्बन्ध होने पर उनकी अभाव अवस्था नष्ट हो जाती है और वे भावरूप या सद्रूप हो जाते हैं।

यहाँ यही बतलाना आवश्यक होगा कि जो पदार्थ असत् है, जिसका अभाव

है, उसका कारण भाव रूप या सद्रूप कैसे होगा। 'असत्' या अभाव अवस्था में स्थित उस पदार्थ का सम्बन्ध भी किसी के साथ कैसे सम्भव हो सकता है। शश शृङ्ग जो असत् है, जिसका कि अभाव है, उसके कारण की कल्पना कैसे की जा सकती है और उसका किसी भी पदार्थ से सम्बन्ध भी कैसे दिखाया जा सकता है।

यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि असत् का सम्बन्ध या उसका कारण हम नहीं कहते। अपितु जब द्व्यणुक आदि पदार्थ बन गए तब उनका अपने कारण से समवाय सम्बन्ध हमने स्वीकार किया तो यह बात भी नहीं बनती। क्योंकि घट आदि कार्यों के निर्माण की जो कारण सामग्री कुम्हार का दण्ड आदि है उनके व्यापार के पहिले वैशेषिक दर्शन में घट आदि पदार्थों की सत्ता स्वीकार ही नहीं की जाती। जिस कारण सामग्री का अपने पदार्थ के साथ सम्बन्ध होना कह रहे हैं उसकी सत्ता सम्बन्ध से पहिले अवश्य होनी चाहिए। जिन दो पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है उनके सम्बन्ध के पहिले उनकी सत्ता अवश्य होती है। जब आपने घट की या वस्त्र की उत्पत्ति के पहिले घट, वस्त्र आदि की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया तो सम्बन्ध के पहिले उनकी सत्ता का ही ग्रहण नहीं होगा। जब सम्बन्ध से पहिले कार्य की सत्ता का ग्रहण ही नहीं होता तब सम्बन्ध ही कैसे होगा। मृत्तिका ही घट बन जाती है। धागे ही वस्त्र बन जाते हैं। यह बात तो वैशेषिक दर्शन में मानी ही नहीं जाती क्योंकि अवयव और अवयवी का भेद वहाँ स्वीकार किया गया है। जब मिट्टी का घड़ा बन जाना स्वीकार नहीं, और धागों का वस्त्र बन जाना स्वीकार नहीं और फिर भी कारण सामग्री से कार्य रूप घट, वस्त्र आदि का सम्बन्ध अभीष्ट है तब अभाव रूप या असत् घट वस्त्र आदि से ही कारण सामग्री का सम्बन्ध कहना होगा। असत् पदार्थ के साथ सम्बन्ध कहना युक्ति और तर्क के विरुद्ध है।

इस पर यदि यह कहा जाय कि असत् पदार्थ के साथ संयोग आदि सम्बन्ध भले ही असम्भव हों, परन्तु समवाय सम्बन्ध तो असत् पदार्थ के साथ भी माना ही जा सकता है, तो ऐसा कथन भी असङ्गत है। क्योंकि यदि असत् पदार्थ का भी समवाय सम्बन्ध माना जाय तो शशशृङ्ग आदि जो असत् हैं, उसका भी समवाय सम्बन्ध मानना होगा। परन्तु शशशृङ्ग आदि का समवाय सम्बन्ध मानना आपको भी इष्ट नहीं। यदि शशशृङ्ग आदि का भी समवाय सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाय तब समवायिकारण के रहने पर शशशृङ्ग की भी उत्पत्ति होनी चाहिए, जैसे कि घट आदि के समवायिकारण मृत्तिका आदि से घट आदि पदार्थों की उत्पत्ति देखी जाती है। परन्तु घट आदि की उत्पत्ति की तरह शशशृङ्ग आदि की उत्पत्ति देखी सुनी नहीं जाती। अतः असत् पदार्थ के साथ भी समवाय सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

इसका उत्तर यह कह कर भी नहीं दिया जा सकता कि घट आदि का उनकी उत्पत्ति के पहिले जो अभाव है, जिसे कि वैशेषिक प्रागभाव कहते हैं, उन्हीं का उत्पत्तिक्षण में अपने कारणों से सम्बन्ध होता है, शशशृङ्ग आदि का नहीं होता। इस प्रकार यद्यपि अभाव दोनों का है, परन्तु घट आदि के अभाव में और अत्यन्त असत् शशशृङ्ग आदि के अभाव में एक रूपता नहीं अपितु विशेषता है। वही विशेषता घट आदि का अपने कारणों के साथ सम्बन्ध करा देती है, शशशृङ्ग आदि में उस विशेषता के न होने से उनका कारण सामग्री के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए उनकी उत्पत्ति भी नहीं देखी सुनी जाती। ऐसा कथन इसलिए समीचीन नहीं है कि प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव ये जो अभाव के चार भेद उन्होंने माने हैं, इनके लक्षणों में विभिन्न पदार्थों के साथ किसी प्रकार की भेदक विशेषता का समावेश नहीं किया गया है और ऐसा करना सम्भव भी नहीं है, क्योंकि ऐसी कोई विशेषता दिखाई भी नहीं जा सकती।

वैशेषिक मत का उत्तरीति से निराकरण करने के अनन्तर श्रीशंकराचार्य ने सांख्य के परिणाम-वाद का भी निराकरण कर दिया है। सांख्य में अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानी जाती अपितु अपने कारण में वस्तु पहिले से ही उपस्थित रहती है, सहायक सामग्री से कारणावस्था कार्यावस्था में परिणत हो जाती है। मृत्तिका ही दण्ड, चक्रादि कारण सामग्री के द्वारा घट बन जाती है। तन्तु ही आतान वितान के द्वारा पटरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। कारणावस्था से अभिव्यञ्जक सामग्री के द्वारा कार्यावस्था में पहुँचने के अनन्तर नाम, रूप, कार्य में कारणावस्था से कार्यावस्था में वैशिष्ट्य आ जाता है। कारणावस्था में उसका नाम मिट्टी होता है, कार्यावस्था में उसे घड़ा कहते हैं। कारणावस्था में उसका स्वरूप बिखरा हुआ, कण-कण अलग-अलग था, कार्यावस्था में उसका रूप एक ढाँचे में ढल कर संगठित बन जाता है। कारणवस्था में मिट्टी आदि के आकार में उससे जल लाना आदि कार्य नहीं हो सकते थे, कार्यावस्था में घड़ा बन जाने पर उससे जल का आहरण आदि कार्य होते हैं। यही कार्यावस्था और कारणावस्था में भेद है। इसी बात का खण्डन श्रीशंकराचार्य ने किया है कि यह जो कारणावस्था से कार्यावस्था में आपने अपूर्व धर्म की उत्पत्ति मानी है वह उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार वैशेषिक मत में अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति मानना असंगत बतलाया गया है। कार्यावस्था में अपूर्व धर्मों की नई उत्पत्ति हो जाती है और कारणावस्था के धर्मों का विनाश हो जाता है, यह कथन वैसा ही है कि अभाव अवस्था का विनाश होकर भाव अवस्था उत्पन्न हो जाती है, यह कहना। अतः उक्त पक्ष में जिन दोषों का उपन्यास किया गया था उनकी स्थिति यहाँ भी उसी प्रकार रहेगी। यद्यपि कार्य भूत पदार्थ की नवीन उत्पत्ति और विनाश न मानकर सांख्यमत में उनकी अभिव्यक्ति और तिरोभाव



माना गया है, परन्तु अभिव्यक्ति और तिरोभाव की उपस्थिति और अनुपस्थिति में कोई प्रमाण न होने से यह मत उपादेय नहीं रह जाता।

इस प्रकार उक्त मतों का निराकरण करते हुए अपनी ओर से वस्तु के स्वरूप की विवेचना में श्रीशंकराचार्य कहते हैं, वस्तु सर्वथा सत् और एक है, वह अविद्या के द्वारा उत्पत्ति और विनाश आदि धर्मों से उसी प्रकार विकल्पित होती है जिस प्रकार नाटक में नट एक रूप को बदलकर दूसरा रूप ग्रहण करता रहता है। नट कभी राम बनता है, कभी कृष्ण बनता है, कभी दुष्यन्त बनता है। वस्तुतः न वह राम है, न कृष्ण है, न दुष्यन्त है। वह उसमें अनिर्वचनीय बुद्धि है। उसी प्रकार अविद्या एक अनिर्वचनीया (नहीं कहने योग्य) शक्ति है, उसी के द्वारा ब्रह्म के उत्पत्ति विनाश आदि दिखाए जाते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि यदि आत्मा में क्रिया नहीं है और वे अविद्या के द्वारा आत्मा पर आरोपित हैं तो कर्मों का परित्याग क्यों नहीं होता। इसका उत्तर है कि जो अविद्वान् पुरुष आत्मा पर अविद्या के आरोप को नहीं समझते वे तो क्षणभर के लिए भी क्रिया का परित्याग नहीं कर सकतें। उन्हीं के लिए भगवान् ने पहिले भी कहा है—

“नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्”

अर्थात् अविद्या के वशीभूत कोई भी पुरुष क्षणमात्र के लिए भी क्रिया का परित्याग नहीं कर सकता। ऐसे पुरुषों को अपने स्वभाव सिद्ध सदोष कर्मों का भी परित्याग नहीं करना चाहिए यह प्रस्तुत श्लोक में भगवान् का आदेश है। परन्तु जो पुरुष विद्वान् हैं, जिन्हें अविद्या के द्वारा आत्मा पर आरोप का विस्पष्ट ज्ञान हो चुका है, वे पुरुष तो सर्वथा कर्मों का परित्याग ही कर देते हैं। वे इस श्लोक के विषय नहीं बनते। जैसे पीलिया रोग से ग्रस्त पुरुष को सभी पदार्थ पीले दिखाई देते हैं, परन्तु जब इसका रोग दूर हो जाता है तब उसे सभी पदार्थ अपने अपने रंग में ही यथा पूर्व दिखाई देने लगते हैं। रोग मिट जाने पर पीला दिखाई देना भी समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या रूपी रोग से आक्रान्त जीव अनेक प्रकार के कर्म करता है। ज्ञान के द्वारा अविद्या के दूर कर दिए जाने पर कर्मों से भी छुट्टी मिल जाती है।

इस सिद्धान्त के प्रकाश में आपाततः सर्व कर्मों का परित्याग बतलाने वाले—

“सर्वकर्माणि मनसा”

आदि वचन, और अपने-अपने कर्मों को अवश्य करणीय बतलाने वाले—

“स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः”

आदि वचन सुसङ्गत हो जाते हैं।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि सहज होने के कारण जो कर्म सुकर हैं, वे चाहे सदोष अर्थात् आरंभ में कुछ शारीरिक क्लेश पहुँचाने वाले भी हों तो भी उनका परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह कि जो ज्ञानयोग के योग्य भी हो गया है उसको भी कर्मयोग का पालन अवश्य ही करना चाहिए।

श्रीनीलकण्ठ ने अर्जुन, की स्थिति पर इस पद्य को संगठित करते हुए लिखा है कि अर्जुन का सहजात धर्म है क्षत्रियोचित युद्ध करना। उस अपने सहजात धर्म का पालन करने में अर्जुन को बहुत से दोष दिखाई दे रहे थे, जिनका विस्तार से विवरण उसने प्रथमाध्याय में कर दिया है। भगवान् ने उसके इस दोष दर्शन का समाधान यही उपदेश देकर किया कि तुम सर्वथा कर्म छोड़कर तो क्षणभर भी रह नहीं सकते और यदि अपना सहज धर्म छोड़कर किसी संन्यास आदि अन्य धर्म का आश्रय लेकर जीवन यापन करोगे तो दोषों से वहाँ भी छुटकारा तुम्हें नहीं मिल सकेगा। क्योंकि ऐसा तो कोई कर्म प्रारंभ ही नहीं किया जा सकता जिसमें कोई दोष हो ही नहीं। जिस प्रकार अग्नि जलाते समय पहिले धूम के ही दर्शन होते हैं, उस धूम से आवृत होता हुआ ही अग्नि दृष्टिपथ में आता है, उसी प्रकार किसी भी धर्म का प्रारंभ करते हुए अनेक दोषों का सामना पड़ेगा ही। उनसे छुटकारा मिलना कभी भी संभव नहीं है। जब सहजात धर्म पालन में भी दोष है और उसका परित्याग कर दूसरे धर्म का आचरण करने में भी दोष अवश्य है, तब अपना धर्म क्यों छोड़ा जाय।

लोकमान्य तिलक अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि संन्यास शास्त्र का और गीता का लक्ष्य एक ही है। परन्तु संन्यास शास्त्र में जहाँ मोक्ष प्राप्त करने के लिए समस्त कर्मों के परित्याग को आवश्यक बतलाया गया है, वहाँ गीता में मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म परित्याग को अनिवार्य नहीं माना। इतना ही नहीं, अपितु लोकसंग्रह को भी गीता में प्रमुख स्थान दिया गया है और उसके लिए अपने सहज कर्म को करना आवश्यक माना है। कर्म परित्याग नहीं अपितु फलासक्ति छोड़ कर स्वधर्म रूप कर्म का अनुष्ठान अवश्य करना ही चाहिए। यही भगवान् ने उपदेश के अन्ततक स्मरण कराया है।

---

## छासठवां-पुष्प

“असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति” ॥४९॥

“जिसकी बुद्धि असक्त हो गई है, जो सर्वत्र जितात्मा है, जिसकी स्पृहा शान्त हो गई है, ऐसा पुरुष संन्यास से नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करता है।” (४९)

विगत पद्यों में भगवान् ने कहा है कि अपने सहज कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। उन्हें दोषयुक्त होने पर भी करते रहना चाहिए। प्रश्न होता है कि इस प्रकार के कर्म करने से फल क्या मिलेगा। उसी का उत्तर इस पद्य में देते हैं कि कर्म करते समय बुद्धि में यदि आसक्ति न हो, फल की कोई आकांक्षा न हो, जिन पुत्र दारा आदि में सांसारिक व्यक्तियों को आसक्ति अर्थात् राग द्वेष होते हैं, उनमें से भी यदि मनुष्य अपनी आत्मबुद्धि हटाकर जितात्मा बन जाय, शरीर के भोगों की तृष्णा भी जिसकी शान्त हो गई हो, ऐसा पुरुष संन्यास के द्वारा परम सिद्धि प्राप्त कर लेता है। जितात्मा का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने अन्तःकरण या मन को जीतने वाला कहा है क्योंकि आत्मा को जीतने वाला कहने का तो कोई अर्थ ही नहीं है, आत्मा को कोई जीत ही नहीं सकता। “असक्त बुद्धिः” का अर्थ करते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि पामर मनुष्यों की यह भावना होती है कि अमुक वस्तु यदि विनष्ट हो गई, तो वह वस्तु क्या नष्ट हुई, मैं ही नष्ट हो गया, इसप्रकार की बुद्धि वाले पुरुष सक्त बुद्धि कहलाते हैं, ऐसी आसक्ति से रहित होने वाला ही असक्त बुद्धि कहलाता है। जब मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है तो उसमें कुछ नष्ट भी होता है, कुछ लाभ भी होता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि अधिक वस्तु नष्ट होती है, लाभ अल्प होता है। इसके भी आगे बढ़िये तो ऐसे भी सहस्रों उदाहरण मिल जाँयगे जहाँ अपनी ही वस्तुएं नष्ट ही नष्ट होती हैं, लाभ कुछ भी नहीं होता। अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तुओं को भी लोग गवां देते हैं, लौकिक दृष्टि से उसके बदले में उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इन परिस्थितियों में वस्तुओं के नष्ट होने पर उसका कोई प्रभाव अपने ऊपर न आने देने वाला पुरुष असक्त बुद्धि और जितात्मा कहलाने का अधिकारी है, यह श्रीरामानुजाचार्य का आशय है। केवल अपने सहज कर्म के निर्वाह मात्र से किसी को कृतकृत्यता प्राप्त नहीं हो सकती। यदि मनुष्य कदम-कदम पर लाभ या फल देखता हुआ, लाभ से अत्यधिक प्रसन्न होता हुआ, और हानि में अत्यन्त शोकाकुल होता हुआ, कार्यों में प्रवृत्ति रखता है, चाहे वे उसके सहज कार्य ही क्यों न हों, तो भी वह कृतकृत्य नहीं हो सकता,

उसे सिद्धि नहीं मिल सकती। अतः सिद्धि प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को असक्तबुद्धि रखते हुए और जितात्मा होकर अपने-अपने कर्मों में निरत रहना चाहिए। “विगतस्पृहः” की व्याख्या लिखते हुए श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि सिद्धि की अभिलाषी पुरुष सभी कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ भी यह दृढ़ता से समझता रहता है कि सभी कार्यों का कर्त्ता परमपुरुष सर्वनियन्ता जगदीश्वर है, अतः अमुक कार्य मैंने किया है, मैं अपने कार्यों को अन्य व्यक्तियों से अच्छे प्रकार से करता हूँ, इस प्रकार की स्पृहा उसमें नहीं रहती। उक्त युक्ति से कर्मों में प्रवृत्ति रखने वाला पुरुष संन्यास से परम सिद्धि को प्राप्त करता है, ऐसा ऊपर कहा है। इसकी व्याख्या में श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कर्म करनेवाला पुरुष सम्यक् दर्शन करता है, सम्यक् दर्शन का ही संन्यास कहा जाता है। उसी सम्यक् दर्शन से उसे परमासिद्धि मिलती है। साथ ही उन्होंने यह भी लिख दिया है कि सम्यक् दर्शन होने पर मनुष्य सभी कर्मों को छोड़ देते हैं, अतः संन्यास का अर्थ यहाँ सभी कर्मों का परित्याग भी किया जा सकता है। बात एक ही है, सम्यक् दर्शन होने पर उनके सिद्धान्तानुसार कर्म बन ही नहीं सकता। अतः संन्यास के द्वारा परमासिद्धि मिलना उनके सिद्धान्तानुसार युक्तियुक्त है। सांसारिक कर्मबन्धनों में जकड़ा हुआ मानव परमासिद्धि को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। अतः सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब सभी कर्मों का परित्याग कर दिया जाय। उसी का नाम संन्यास है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि संन्यास के विषय में अर्जुन इस प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ में ही प्रश्न कर चुका है कि—

“संन्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।

त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक् केशिनिषूदन ! ॥”

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा था—

“काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥”

इसप्रकार भगवान् ने त्याग और संन्यास का स्पष्ट निरूपण किया है। श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि यहाँ भी संन्यास का वही आशय है। जो सिद्धि प्राप्त करता है, उसे यहाँ नैष्कर्म्य सिद्धि कहा गया है। जहाँ कर्मों की समाप्ति हो जाती है उसे निष्कर्म कहते हैं। निष्कर्म का ही भाव नैष्कर्म्य कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जिस सिद्धि की बात यहाँ कही जा रही है उसमें परित्याग हो जाता है। कर्मों का अभाव होने से ही इसका नाम नैष्कर्म्य है। कर्म रहेंगे तो उनके शुभाशुभ कर्मों का भोग भी अवश्य बना रहेगा। कर्मों को छोड़ देने पर उसके फल भोग का प्रसङ्ग नहीं रहेगा।

वही सिद्धि की अवस्था है। एक व्याख्या में कहा गया है कि निष्कर्म शब्द से परब्रह्म का बोध होता है। ब्रह्म के स्वरूप में कर्म का नितान्त अभाव है अतः वह निष्कर्म है। उक्त युक्ति से कर्मानुष्ठान करने वाला ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अतः उस सिद्धि को भगवान् ने परमार्थिक बतलाया है। कर्मों के अनुष्ठान से जो सिद्धि मिलती है, वह परमासिद्धि नहीं होती, क्योंकि कर्मों का अनुष्ठान करते करते अनेक जन्मों के अनन्तर कहीं मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। परन्तु कर्मों का परित्याग कर देने से अथवा कर्मों के फल का परित्याग करते जाने से शीघ्र ही मुक्ति प्राप्ति हो जाती है। इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए शंकरानन्द लिखते हैं कि इस सिद्धि के अतिरिक्त भी अन्य अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व नाम की आठ सिद्धियाँ योग शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। योगानुष्ठान करने वाला व्यक्ति इन सिद्धियों को क्रमशः प्राप्त करता है। ये सिद्धियाँ देवयोनियों में स्वभावतः प्राप्त रहती हैं, मनुष्यों को इनकी प्राप्ति योगाभ्यास से होती है। इनके अतिरिक्त भी कुछ सालोक्य आदि सिद्धियाँ हैं, जिनका वर्णन योग शास्त्र और तन्त्र शास्त्र में प्राप्त होता है। परन्तु ये सभी सिद्धियाँ ईश्वर और जीव में परस्पर भेद ज्ञान को दृढ़ करती रहती हैं, ईश्वर या इष्ट देवता इन सिद्धियों का प्रदाता माना जाता है और साधक पुरुष इनकी अभिलाषा रखने वाला होता है। ये सिद्धियाँ स्वरूपतः पृथक्-पृथक् हैं, अतः इनको प्रदान करने वाले देवता भी पृथक्-पृथक् ही माने जाते हैं। इस प्रकार इन सिद्धियों के मार्ग में आरम्भ से अन्त तक भेद ही भेद बना रहता है। साथ ही ये सिद्धियाँ मनुष्यों को अनेक प्रकार के फलों से मोहित करती रहती हैं और मनुष्य इनके वशीभूत होकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाते हैं और संसार चक्र में घूमते ही रहते हैं। इसके विपरीत भगवान् ने प्रस्तुत पद्य में नैष्कर्म्य सिद्धि नाम से जो सिद्धि बतलाई है, उसका कारण सम्यक् दर्शन है। उसमें आत्मा, परमात्मा, जीव, ब्रह्म, अनेक प्रकार के देवता आदि में किसी प्रकार का कुछ भी भेद है ही नहीं। इस सिद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त होकर भेद या द्वैत रूपी अज्ञान समाप्त हो जाता है और ब्रह्म अथवा सम्पूर्ण जगत् के मूल कारण का ज्ञान हो जाने पर अनन्तज्ञान, अनन्तसत्ता और अनन्त सुख के साम्राज्य पर ब्रह्मवेत्ता आसीन हो जाता है। इसीलिए इसे परमासिद्धि यहाँ भगवान् ने कहा है।

अब अग्रिम पद्य में यह बतलाते हैं कि इस परमासिद्धि को प्राप्त करके ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार हो जाती है।

## सडसठवां-पुष्प

“सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।

समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा” ॥५०॥

“सिद्धि को प्राप्त करने के उपरान्त प्राणी ज्ञान की परम प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म को जिस प्रकार प्राप्त कर लेता है, वह मुझसे संक्षेप में सुनो।” (५०)

जिस सिद्धि का विवरण विगत पद्य में हो चुका है, यहाँ उसी सिद्धि से तात्पर्य है कि अपने स्वभाव सिद्ध कार्य को ईश्वरार्पण बुद्धि से करते हुए प्राणी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह सिद्धि शरीर और इन्द्रियों में अत्यन्त स्वच्छता प्रदान करती है, और स्वच्छन्द शरीर और इन्द्रियों से निर्मल और दोष रहित ज्ञान प्राप्त होने लगता है, वही आगे ब्रह्म प्राप्ति में हेतुभूत होता है। भगवान् ने ब्रह्म की प्राप्ति को ज्ञान की परम निष्ठा या स्थिति बतलाया है। श्रीशंकराचार्य के मत में निष्ठा का तात्पर्य यही है कि वहाँ ज्ञान की समाप्ति हो जाती है। ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाने के अनन्तर कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसीलिए इसे ज्ञान की पराकाष्ठा भगवान् ने बतलाया है। ज्ञान की वह निष्ठा आत्म ज्ञान के सदृश होती है, आत्म ज्ञान आत्मा के सदृश होता है, आत्मा उपनिषद् वाक्यों और भगवद्गुणों में वर्णित हुआ है। श्रीशंकराचार्य ने यहाँ प्रश्न उठाया है कि जो भी ज्ञान होता है वह ज्ञेय वस्तु के आकार का ही होता है। विषय का जो आकार है, वही ज्ञान का भी आकार होता है, यही दार्शनिक सिद्धान्त है। तब यह विरोध प्राप्त होगा कि आत्मा तो ज्ञान का विषय कभी बनता नहीं। वह तो विषय नहीं अपितु ज्ञाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में आत्मा ही ज्ञाता तथा संसार ही ज्ञेय है, तब यहाँ आत्मा का ज्ञान होना यह कैसे उपयुक्त होगा। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान आकार वाले पदार्थों का ही होता है। आत्मा का ज्ञान मान लेने पर तो आत्मा भी आकार वाला सिद्ध हो जायगा। परन्तु आत्मा तो निराकार है तब उसका ज्ञान कैसे होगा। इसके उत्तर में यदि यह कहें कि—

“आदित्यवर्णम्”

“भारूपः”

“स्वयं ज्योतिः”

आदि श्रुतियों के आधार पर आत्मा को भी आकारवान् मानना सिद्ध है तो उसका उत्तर है कि उक्त श्रुतियों का आत्मा को आकारवान् बतलाने का अभिप्राय नहीं

है। इन श्रुतियों का अभिप्राय वहाँ के प्रकरण का पूर्वापर अनुसंधान करने से यही स्पष्ट होता है कि ब्रह्म तम रूप नहीं है। पहले श्रुति में ब्रह्म का पदार्थ के रूप में निषेध किया गया है कि ब्रह्म द्रव्य, गुण, कर्म, आदि कुछ भी नहीं है। अन्त में यह संदेह न हो कि वह तमो रूप है, इसलिए श्रुति ने उसे आदित्य-वर्ण आदि बतलाकर यही अभिप्राय प्रकट किया है कि वह अन्धकार रूप नहीं है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म सूर्य के आकार के समान है, अथवा सूर्य जिस प्रकार अपना प्रकाश बाहर फैलाता है वैसे ही ब्रह्म भी अपना प्रकाश बाहर फैलाता है। अपितु वह अन्धकार के समान रूपवाला नहीं है, यही बतलाने में श्रीशंकराचार्य ने इन श्रुतियों का तात्पर्य माना है। जहाँ ब्रह्म को आदित्य के वर्ण बतलाने वाली श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं, वहीं—

“न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य

न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्”

(श्वे० उ० ४।२०।)

“अशब्दमस्पर्शम्”

(क० उ० १।१।१५।)

इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म में रूप आदि का निषेध भी दिखला रही हैं। अतः ब्रह्म को किसी आकार का श्रुतिप्रमाण से नहीं कहा जा सकता। अतः ज्ञान ब्रह्म के या आत्मा के आकार का नहीं हो सकता। ज्ञान आकारवान् पदार्थ का ही होता है, गुण धर्म जिसमें हों वही ज्ञान का विषय बनता है, आत्मा में गुण, धर्म या आकार है नहीं तब आत्मा का ज्ञान कैसे होगा। आत्मा का ज्ञान न होने पर वह ज्ञान की परानिष्ठा है, यह भगवान् का कथन कैसे संगत होगा ? इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा अत्यन्त निर्मल स्वच्छ और सूक्ष्म है उसके अत्यन्त समीपस्थ होने के कारण आत्मा की यह निर्मलता स्वच्छता और सूक्ष्मता बुद्धि में भी प्राप्त हो जाती है। बुद्धि का कार्य आकारवान् बना देना है। बुद्धि आकार रहित पदार्थों को भी आकारवान् सा दिखा देती है अतः आकार सत्ता का आभास बुद्धि के द्वारा आत्मा पर भी दिखा दिया जाता है। बुद्धि का आभास ही मन है, मन का आभास ही इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों का आभास ही शरीर है, अतः लौकिक पुरुष देहमात्र में आत्मदृष्टि रखते हैं। चार्वाकमतानुयायी चैतन्य विशिष्ट देह को ही पुरुष मानते हैं। अन्य लोग मन को ही चेतन मानते हैं। दूसरे कुछ लोग बुद्धि को ही चेतन मानते हैं।

बुद्धि के भी अन्तःस्थित अव्यक्त या प्रकृति है, उसी को अव्याकृत, अविद्या आदि शब्दों से कहा जाता है। कुछ लोग उसी को चेतन मानते हैं। सभी लोगों को बुद्धि से लेकर देह पर्यन्त जो आत्मा का आभास है, वही भ्रान्त बनाए हुए है। इसी आत्मा की आभासता के कारण बुद्धि मन आदि को आत्मा मान बैठते हैं। वस्तुतः आत्मा इनमें से एक भी नहीं है। आत्मा का वास्तव में कोई आकार भी नहीं है। इसलिए आत्मा ज्ञान का भी विषय नहीं बन सकता। अतः आत्मविषयक ज्ञान का विधान करना भी युक्ति संगत नहीं होता। तब आत्मा की प्राप्ति का क्या उपाय है, उसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा पर नाम रूपादि का जो आरोप है, उसकी निवृत्ति कर देनी चाहिए। यही आत्मा की प्राप्ति का साधन है। आत्मचैतन्य का ज्ञान प्राप्त करने का विधान तो किसी प्रकार बनता ही नहीं। आत्मा का ग्रहण हमें सर्वत्र अविद्या के द्वारा आरोपित पदार्थों के आकार में ही होता है। इसीलिए विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं ऐसा मानते हैं, वह ज्ञान स्वसंवेद्य है, अतः वह ज्ञान कैसा है, इसको जानने के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता वे नहीं मानते।

इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म पर से अविद्या के द्वारा किए गए आरोप को हटाने में ही शास्त्रों के उपदेश चरितार्थ होते हैं। आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने का विधान किसी भी शास्त्र में नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो उसका प्राप्त किया जाता है, जो ज्ञात न हो अथवा जो अप्रसिद्ध हो। आत्मा तो सर्व प्रसिद्ध है, अतः उसके ज्ञान का विधान सर्वथा निरर्थक है। यदि आत्मा अत्यन्त प्रसिद्ध है तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती। उसकी प्राप्ति के लिए इतना प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता ? उसका उत्तर है कि सबकी बुद्धि अविद्या के द्वारा आत्मा पर आरोपित नाम और रूपों से अपहृत हो जाती है। अतः अत्यन्त प्रसिद्ध, सुख से जानने योग्य, अत्यन्त निकटस्थित आत्मतत्त्व भी अप्रसिद्ध, अविज्ञेय और दूरस्थित हो जाता है और वह दूसरा सा अविद्या के पाश से आबद्ध अविवेकी पुरुषों को प्रतीत होता है। जो व्यक्ति बाह्याकारों से अपनी आत्मबुद्धि हटा लेते हैं, जिन्हें गुरु की कृपा से आत्मा का प्रसाद प्राप्त हो जाता है, उनके लिए तो आत्मा के अतिरिक्त सुखप्रद, सुप्रसिद्ध, सुविज्ञेय और समीपस्थ कुछ भी नहीं है। इसी को प्रस्तुत पद्य में ज्ञान की परानिष्ठा कहा गया है।

कुछ लोगों का यह कथन भी श्रीशंकराचार्य ने लिखा है कि निराकार होने से बुद्धि आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकती अतः इस पद्य में प्रतिपादित ज्ञान की परमनिष्ठा दुस्साध्य है। इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि यह बात उन्हीं व्यक्तियों



के साथ है, जो गुरु सम्प्रदाय से रहित हैं, जिन्होंने वेदान्त का श्रवण नहीं किया है, जिनकी बुद्धि अत्यन्त बाहरी विषयों से आबद्ध है, प्रमाणभूत ग्रन्थों में जिन्होंने श्रम नहीं किया है। उसके विपरीत जिन व्यक्तियों के साथ उपर्युक्त बातें नहीं हैं, जो गुरुसम्प्रदाय के अनुयायी हैं, जिन्होंने वेदान्त का श्रवण किया है, जिनकी बुद्धि अन्तर्मुखी है, जिन्होंने प्रमाणभूत ग्रन्थों में परिश्रम किया है, उनके लिए तो जो लौकिक ज्ञान ज्ञेय आदि द्वैत प्रपञ्च हैं, उसी का ग्रहण करना कठिन होता है, आत्मतत्त्व तो सदा उनको प्राप्त ही रहता है। आत्म चैतन्य के अभाव में किसी भी वस्तु की उपलब्धि न होने के कारण वे बाहरी वस्तुओं को ग्रहण ही नहीं करते। आत्मनिष्ठ पुरुष के सामान्य जनों से विलक्षण इस प्रकार को भगवान् ने स्वयं कहा है—

“या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥”

अतः बाह्य आकारों में प्रतीत होने वाली भेदबुद्धि की निवृत्ति कर देना ही आत्मा के स्वरूप का आश्रय लेने में कारण है।

उक्त व्याख्यान श्रीशंकराचार्य की व्याख्या के अनुसार लिखा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि प्रमाण पर्यन्त प्रतिदिन कर्मयोग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली ध्यानसिद्धि को प्राप्त करके जिस प्रक्रिया का अनुष्ठान करता हुआ ब्रह्म को प्राणी प्राप्त कर लेता है, उस प्रक्रिया को संक्षेप से मुझसे सुनो। वह ब्रह्म ही ध्यानात्मक ज्ञान की परनिष्ठा है, ध्यान के द्वारा वही परमप्राप्य है।

ब्रह्मानन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि ब्रह्म की प्राप्ति का यहाँ यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि ब्रह्म की ध्यान से नवीन प्राप्ति होती है। ब्रह्म तो प्राणी को सर्वदा ही प्राप्त है। एक क्षण के लिए भी वह ब्रह्म से पृथक् नहीं है। परन्तु अज्ञान के कारण उसे ब्रह्म की उपलब्धि नहीं हो रही है। जिस प्रकार अपने गले में स्वर्ण का आभूषण रहने पर भी कोई स्त्री उसे अपने गले में बिना देखे ही चारों ओर तलाश करती है, परन्तु वह उसे मिलता नहीं, जब कोई उसे यह कहता है कि मूर्ख ! जिस आभूषण को तू चारों तरफ तलाश कर रही है, वह तो तेरे गले में ही पड़ा है, तब उसे ज्ञान होता है, वह आभूषण को प्राप्त कर प्रसन्न हो जाती है, यह आभूषण की प्राप्ति कोई नवीन पदार्थ की प्राप्ति नहीं अपितु अज्ञानवश अपने ही पास की वस्तु को वह नहीं जान पाती, उसी प्रकार नित्यप्राप्त आत्मा को अज्ञानवश हम बाहर तलाश करते हैं, जब गुरुप्रसाद से हमें यह ज्ञान हो जाता है कि आत्मा या ब्रह्म तो मैं स्वयं

हूं, तब हमारे उल्लास का अन्त नहीं होता। यहाँ भी कोई नवीन प्राप्ति नहीं है, अपितु अपने अज्ञान की निवृत्तिमात्र होती है।

वल्लभाचार्य की व्याख्या में कहा गया है कि ज्ञान की जो परमसिद्धि है उसको प्राप्त करने पर जीवित अवस्था में ही जिस प्रक्रिया से प्राणी अक्षर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, उस प्रक्रिया को हे अर्जुन ! तुम मुझसे सुनो।

आगे तीन पद्यों में भगवान् ब्रह्म प्राप्ति की प्रक्रिया कहते हैं।

---

## अडसठवां-पुष्प

“बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

“विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, धैर्य से अपने को संयत करके, शब्द आदि विषयों को छोड़कर, राग और द्वेष को निरस्त करके।” (५१)

“एकान्त स्थान का सेवन करता हुआ, परमित आहार का ग्रहण करता हुआ वाणी, शरीर और मन को संयत रखता हुआ, प्रतिदिन ध्यान और योग परायण होता हुआ वैराग्य का आश्रय लेता हुआ।” (५२)

“अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, तथा बाह्य सामग्री को छोड़कर ममता से मुक्त होकर शान्त होता हुआ पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।” (५३)

ब्रह्मभाव को प्राप्त करने की उक्त प्रक्रिया कोई नवीन नहीं है। गीता में भी अनेक सन्दर्भों में इसका विवरण किया जा चुका है, तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में भी इन बातों पर प्रकाश डाला जा चुका है। उक्त प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार से अपने को ब्रह्म में मिला देना सांसारिक प्राणियों के लिए बड़ा ही दुष्कर कार्य है। जो व्यक्ति उक्त लक्षणों से दूर रहते हुए भी स्वयं को ब्रह्म का साक्षात् कर लेने वाला समझते हैं और संसार को त्याग करने की इच्छा करते हैं, वे स्वयं को बहुत बड़ा धोखा देते हैं जिसमें सर्वप्रथम विशुद्ध बुद्धि से युक्त होना ही बतलाया गया है। श्रीशंकराचार्य के अनुसार माया से रहित अध्यवसायात्मक बुद्धि ही विशुद्ध बुद्धि होती है। श्रीविद्यावाचस्पति जी गीता में बुद्धि का अर्थ आठ प्रकार की बुद्धि करते हैं जो सांख्य के वर्णन के अनुसार है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य ये चार बुद्धि के सात्विक रूप हैं और अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, ये चार तामस रूप हैं। इनमें से सात्विक रूप ही बुद्धि के विशुद्ध रूप कहे जा सकते हैं। तामस रूप अशुद्ध रूप हैं। बुद्धि के विशुद्ध रूपों का ग्रहण करने का भगवान् का अभिप्राय बुद्धि के सात्विक रूपों के परिग्रह और तामस रूपों के परित्याग से ही है।

विविक्त सेविता और अल्पाहार से निद्रा आदि दोषों का परिहार हो जाता है। आत्मा के धृति या धैर्य से नियमन करने का अर्थ विषयों से स्वयं को विमुख करता हुआ योग और समाधि के योग्य अपने मन को बनावे यही है। पैशाचभाष्य में विविक्त सेवी का अर्थ यह किया गया है कि ऐसा स्थान रहने के लिए चुनना चाहिए जहाँ योग से विरोध रखने वाली वस्तुएँ नहीं। ध्यान और योग का अर्थ करते हुए पौशाच भाष्य में लिखा गया है कि ध्यान का अर्थ है चित्त की एकाग्रता, और योग का अर्थ है उस एकाग्रचित्त को आत्मोन्मुख करके आत्मा में स्थापित करना। भगवान् ने अहंकार, बल, दर्प, काम आदि को छोड़ना भी ब्रह्म प्राप्ति का उपाय बतलाया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अहंकार आदि का परित्याग तो ठीक है, परन्तु बल का परित्याग करना तो उचित नहीं है। बल तो आत्म प्राप्ति का परम साधन है। बल का परित्याग करके आत्मा को कैसे प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषद् में कहा गया है—

**“नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः”**

अर्थात् यह आत्मा बल विहीन पुरुषों को प्राप्त नहीं हो सकता। जब आत्मा को प्राप्त करने के लिए बल की अत्यन्त आवश्यकता उपनिषद् में कही गई है, और आत्म-प्राप्ति के लिए बल का अभाव कथमपि युक्त नहीं कहा जा सकता, तब भगवान् ने अहंकार आदि के साथ बल को भी परित्याग करने योग्य पदार्थों में कैसे गिन दिया। इसका उत्तर यही है कि बल के दो रूप हैं। एक रक्षणीय और दूसरा उद्वेजक, जिसका वर्णन भर्तृहरि के पद्य में सुन्दर रूप से किया गया है कि—

**विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।**

**खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥**

इस पद्य में स्पष्ट है कि अन्य बातों की तरह शक्ति या बल के भी दो रूप हैं। एक खल या दुष्ट पुरुषों के द्वारा परिगृहीत उसका तामस रूप है जिसका प्रयोजन परपीड़ा या अपने से अतिरिक्त दूसरों को कष्ट पहुँचाना है और दूसरा शक्ति या बल का सात्विक रूप है जिसका प्रयोजन आत्मरक्षा है। यहाँ भगवान् ने जिस बल के परित्याग के लिए कहा है, वह बल का तामस रूप ही है। बल यदि है तो उससे किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहिए। आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति के लिए बल को दूर कथमपि किया ही नहीं जा सकता। श्रीपुरुषोत्तम जी ने परिग्रह को छोड़ने का अर्थ, गृह, स्त्री, सन्तति आदि को छोड़ना किया है। लोकमान्य तिलक ने परिग्रह का अर्थ बन्धन किया है। उनका तात्पर्य यही है कि गृह आदि का परित्याग कोई आवश्यक या अनिवार्य नहीं है। अपितु गृह आदि के प्रति अहंकार, ममत्व आदि का ही परित्याग

आवश्यक है। उसके अभाव में तो गृह आदि का परित्याग कर देने पर भी उनमें वासना बनी रहती है। घर छोड़कर अरण्य या गिरि गुहा में जाकर रहने पर भी यदि मन में उन वस्तुओं का बराबर ध्यान बना रहे तो उससे अच्छा यही है कि मनुष्य घर में रहकर ही उनके प्रति ममत्व बुद्धि हटाने का अभ्यास करे।

श्रीनीलकण्ठ ने राग-द्वेष का परित्याग करने का अर्थ संकल्प को छोड़ना किया है। संकल्प ही विषय की परिकल्पना करता हुआ अनुकूल विषय में राग और प्रतिकूल विषय में द्वेष उत्पन्न करता है। गौतम सूत्र इस विषय में श्री नीलकण्ठ ने उद्धृत किया है—

“दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः”

(४।२।२।)

दोषों के निमित्त जो रूप आदि विषय हैं, वे संकल्प के द्वारा होते हैं, भगवान् ने जो वाणी, शरीर, और मन को संयत करना कहा है उनका प्रत्येक का उपाय बतलाते हुए श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि शरीर का संयम दृढ़ता से आसनासीन होने से होता है। विषयों से इन्द्रियों को हटाने से वाणी में संयम आता है और सभी प्रकार के संकल्पों का परित्याग कर देने से मन में संयम आता है। आगे श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि वाणी, शरीर और मन का संयम करने पर योगी पुरुष को योगज सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् का उद्धरण उन्होंने दिया है कि—

पृथिव्यप्तेजोऽनिल खे समुत्थिते—

पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।

न तत्र रोगो न जरा न मृत्युः

प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

आगे मुण्डकोपनिषद् का भी उद्धरण उन्होंने दिया है—

“यं यं लोकं मनसा संविभाति

विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्

तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्

तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः”

(मु० उ० ३।२३।)

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमनसो वाऽपि प्रज्ञाने नैनमाप्नुयात् ॥

(कठो० उ० २।२३।)

योग की अवस्था में अहंकार का निग्रह आवश्यक है। यदि अहंकार का निग्रह नहीं हुआ तो योग मार्ग में प्रवृत्त पुरुष योग के अपने सामर्थ्य को देखता हुआ दर्प को प्रश्रय देता है और उसके मन में यह विचार आने लगता है कि मेरे समान संयम रखने वाला और कौन होगा। इस प्रकार अभिमान को धारण करने वाला योगी पुरुष दिव्य सिद्धियों की इच्छा करने लगता है। यदि किसी कारण कामनाओं की पूर्ति नहीं होती तो उसे क्रोध भी आने लगता है। क्रोध के वशीभूत होता हुआ वह क्रोध के निमित्त को समाप्त करने के लिए शिष्य आदि को तैयार करता है इस प्रकार क्रमशः इनमें प्रवृत्त होता हुआ अपना नाश कर लेता है। इसीलिए समस्त अनर्थों की जड़ जो अहंकार है उसको छोड़ देना भगवान् ने यहाँ आवश्यक बतलाया है। अहंकार के छोड़ देने पर ही अन्य सब राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि दोषों का छोड़ना संभव है। इस प्रकार इन सबको छोड़ता हुआ योगी पुरुष संसार के बन्धनों को तोड़कर ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है। लोकमान्य तिलक ने इन श्लोकों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि यह वर्णन कर्म-योगी पुरुष का ही है जो कर्म मार्ग में अग्रसर होता हुआ सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है। उन्होंने संन्यास की ओर इसके अर्थ को ले जाने का विरोध करके यह भी दिखाया है कि यहाँ के अनेक शब्द वे ही हैं जो विगत अध्यायों में भक्ति आदि के वर्णन में भी आ चुके हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये लक्षण सामान्य हैं, भक्त, ज्ञानी और कर्म करने वाले तीनों पुरुषों में घटित होते हैं। वस्तुतः फलाशा के परित्याग कर देने पर कर्म करते रहने से जो फल प्राप्त होता है वही कर्म संन्यास से भी होता है। अतः गीता में अपने वैशिष्ट्य के अनुसार कर्म करते हुए ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेने की प्रक्रिया यहाँ दिखलाई गई है।

## उनहत्तरवां-पुष्प

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

“उक्त प्रक्रिया से ब्रह्मभूत होकर प्रसन्नात्मा वाला न किसी का अनुशोचन करता है, न कुछ चाहता है। वह सभी भूतों में समान भाव रखता हुआ मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है।” (५४)

ब्रह्म को प्राप्त करने वाला पुरुष अध्यात्म का प्रसाद प्राप्त कर लेता है। उसको किसी भौतिक वस्तु के अभाव का कष्ट नहीं होता। अमुक वस्तु मेरे पास नहीं है, ऐसा अनुशोचन वह कभी नहीं करता क्योंकि वह किसी भौतिक वस्तु की अभिलाषा ही नहीं रखता। वह ब्रह्म वेत्ता हो जाने के कारण समस्त भूतों में उसी एक तत्त्व का ग्रहण करता हुआ सब में समान भाव रखता है। इस प्रकार वह मेरी परमा भक्ति को प्राप्त कर लेता है। यह श्रीशंकराचार्य का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्य ने “समस्त भूतों में वह समभाव रखता है” इसका तात्पर्य यह लगाया है कि वह परम ज्ञान को प्राप्त करने वाला पुरुष भगवान् के अतिरिक्त समस्त संसार को तुच्छ समझता है। उसे कहीं कोई प्रलोभन नहीं रह जाता। इस प्रकार वह भगवान् की भक्ति प्राप्त कर लेता है।

आनन्दगिरि व्याख्या में “न शोचति” और “न काङ्क्षति”, इन पदों से निग्रह और अनुग्रह से वह रहित हो जाता है यह आशय व्यक्त किया है। वल्लभाचार्य की व्याख्या में यहां श्री शुकदेव जी का उदाहरण दिया है, वे ब्रह्मज्ञानी होने के साथ ही भगवान् के परम भक्त थे। “मद्भक्तिं लभते पराम्” से वह भगवान् का भाग या अंश बन जाता है, यह लिख कर भगवान् के धाम रूप अक्षर पुरुष से भी आगे पुरुषोत्तम के स्वरूप में प्रवेश को ही सर्वोपरि लक्ष्य और सिद्धि कहा गया है।

श्रीनीलकण्ठ लिखते हैं कि समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला योगी ब्रह्मभूत ही हो जाता है और समाधि से उठने पर भी वह प्रसन्नात्मा रहता है।

तत्त्व प्रकाशिका में

“समः सर्वेषु भूतेषु”

का

“समलोष्टाश्मकाञ्चनः”

से साम्य दिखाया है।

श्री शंकरानन्द ने कहा है कि यह सन्देह नहीं करना चाहिए कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष को भी शरीर का ध्यान तो रखना ही होगा और तन्निमित्तक हर्ष, शोक भी उसे होंगे ही ? वस्तुतः उसकी शरीर से 'अहं' बुद्धि ही हट जाती है, तब शरीर के लिए वह हर्ष शोक नहीं करता। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने यहां—

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !**

**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च,**

इा श्लोक में कही गई चतुर्थ श्रेणी की भक्ति ही मानी है। यह ज्ञान के अनन्तर हाने वाली भक्ति आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी की भक्ति से भिन्न श्रेणी की होती है और यही चारों में सर्वश्रेष्ठ है।

---



## सत्तरवां-पुष्प

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

“भक्ति के द्वारा मैं जितना हूँ और मैं जो हूँ उसको (पूर्वोक्त मार्ग से चलता हुआ पुरुष) तत्त्वरूप में जान लेता है, उसके अनन्तर मेरा तात्त्विक स्वरूप जानकर उस स्वरूप के अन्दर वह प्रवेश करता है।” (५५)

श्रीशंकराचार्य ‘यावान्’ तथा ‘यः’ शब्दों का आशय बतलाते हैं कि उपाधि के द्वारा मेरा कितना अनन्त विस्तार कर दिया जाता है तथा मेरा उपाधि शून्य आकाश के समान सर्वाधार और असंग केवल चैतन्य मात्र जो स्वरूप है उन दोनों रूपों को वह जान लेता है। ‘यावान्’ शब्द से ईश्वर का सोपाधिक स्वरूप बतलाया गया है और ‘यः’ शब्द से उसके उपाधि शून्य शुद्ध चैतन्य स्वरूप का संकेत है।

उनका कथन है कि यहां ज्ञान के अनन्तर उससे भिन्न कोई प्रवेश नाम की क्रिया विवक्षित नहीं है। ज्ञान के अनन्तर और कोई फल अवशिष्ट रहता ही नहीं। अतः ज्ञान मात्र ही परम फल है, यह ध्यान रखना होगा।

“क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि”

(१३।२)

इत्यादि पद्य में भगवान् स्वयं को क्षेत्रज्ञ के रूप में अवस्थित कह चुके हैं।

श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि स्वरूपतः और स्वभावतः जैसा मैं हूँ और गुण तथा विभूति से मेरा जितना विस्तार हो जाता है ऐसे मुझे उपर्युक्त भक्ति से जान जाता है। इस तत्त्व ज्ञान के अनन्तर उसी भक्ति के द्वारा वह अपने में मेरे गुणों का आविर्भाव प्राप्त कर लेता है और मुझमें प्रवेश करता है। यहां उत्तरार्ध में प्रारंभ का जो ‘तत्’ पद है, उससे श्रीरामानुजाचार्य ने भक्ति का ही ग्रहण किया है क्योंकि वही भगवत्प्राप्ति का अनन्य साधन है।

आनन्दगिरि व्याख्या में यहां—

“ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति”

(मु० उ० ३।२।९)

( ४७२ )

“स एव तदभवत्”

(वृ० उ० १।४।१०)

“ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्नोति”

(वृ० उ० ४।४।६)

“स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधि गच्छति

(गी० ५।२४)

“मद्भक्त एतद्विज्ञायमद्भावायोपपद्यते”

(१३।१०)

इन वचनों का प्रस्तुत प्रसंग के उपोद्बलक के रूप में स्मरण कराया है। इसी प्रकार श्रीवाल्लभ व्याख्या में भी

“ब्रह्म विदाप्नोति परम्”

(तैत्ति० २।१।१)

“यो वेद निहितं गुहायाम्”

(तैत्ति० उ० २।१।१)

आदि उपनिषद् वचन उद्धृत किये गए हैं।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि इस ज्ञान लक्षण भक्ति का फल यह है कि वह भक्त मुझे पूर्ण रूप से जान लेता है। उसी पूर्ण रूप का स्पष्टीकरण ‘यावान्’ और ‘यः’ पदों से हुआ है। इन शब्दों का आशय अधिक स्पष्टता से समझाते हुए श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि ‘यावान्’ ‘मैं जितना हूँ’, इसका आशय यह है कि मैं अणु परिमाण वाला हूँ अथवा जैन दर्शन में स्वीकृत सिद्धान्त के समान मैं देह परिमाण वाला हूँ अथवा न्याय दर्शन में स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार आकाश की तरह समस्त मूर्तद्रव्यों में संयुक्त रूप से रहने वाला विभुपरिमाण मेरा है, अथवा वेदान्त दर्शन की एक शाखा के अनुसार संसार रूपी प्रपञ्च के साथ मेरा अंशांशि सम्बन्ध है अथवा मैं अखण्ड एक रस तत्त्व हूँ, इन सब विकल्प तथा अन्य भी मेरे विषय में उठने वाले अनेक विकल्पों में से मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, यह वह पुरुष तत्त्वतः जान जाता है। मेरी भक्ति प्राप्त कर लेने के अनन्तर भक्त पुरुष के उपर्युक्त सन्देह विगलित हो जाते हैं और मेरे स्वरूप का नियम उसे हो जाता है, यह ‘यावान्’ पद का तात्पर्य हुआ। इसी प्रकार

‘यः’ पद का आशय खोलते हुए वे कहते हैं कि क्या मैं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि के समान ही हूँ, कितने समय तक स्थित रहने वाला हूँ, अथवा बौद्धों की भांति क्षणिक विज्ञान रूप अथवा शून्य रूप हूँ, अथवा न्याय दर्शन में स्वीकृत सिद्धान्त के समान मैं समस्त जगत् का कर्ता हूँ, अथवा सांख्य के समान उपभोक्ता हूँ, जड़, जड़चेतना मिश्रित, शुद्ध चैतन्य, कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मों से अलग केवल आनन्द घन हूँ, इत्यादि विकल्पों में से मेरा भक्त मेरा अवधारण करने में समर्थ हो जाता है। मेरे भक्त को इन सभी मतों में सन्देह से छुट्टी मिल जाती है और वह समस्त संशयों को दूर करता हुआ मेरे अजर, अमर, अभय और अशोक स्वरूप को जान लेता है। इसी बात की श्रुति भी पुष्टि करती है—

“भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे”

(मु० उ० २।२।८)

इस प्रकार आत्मा का दर्शन हो जाने पर समस्त संशय उच्छिन्न हो जाते हैं। आगे उन्होंने इस पर भी विचार किया है कि पद्य के उत्तरार्ध में “मुझे तत्त्वतः जानकर उसके अनन्तर प्रवेश करता है” यह जो कहा गया है, इसमें “मां ज्ञात्वा तद्विशते” अर्थात् मुझे जानकर मेरे स्वरूप में प्रवेश करता है यह अर्थ प्राप्त हो ही जाता है, ज्ञान और प्रवेश क्रिया का पौर्वापर्य क्रम बन ही जाता है, तब ‘तदनन्तरम्’ कहने की बीच में क्या आवश्यकता थी। इसका अर्थ तो यही किया जा सकता है कि “ज्ञान प्राप्त होने पर उसके अनन्तर मेरे स्वरूप में वह प्रवेश करता है”। यहाँ “उसके अनन्तर” यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। क्योंकि ‘तदनन्तरम्’ का अर्थ “उसके उपरान्त” यही होता है। जब “ज्ञात्वा” कह ही दिया तब जानने के अनन्तर ही प्रवेश होगा यह बात स्वतः सिद्ध हो गई। अतः “तदनन्तरम्” इस पद का तात्पर्य उन्होंने यह प्रकाशित किया है कि वर्तमान शरीर के अनन्तर वह मुझ में प्रवेश करता है। ज्ञान हो जाने के तत्काल बाद मुक्ति या भगवान् के स्वरूप में प्रवेश नहीं हो जाता अपितु ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी शरीर के रहने तक उसे संसार में रहना ही पड़ता है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी जो आरब्ध कर्म हैं वे अभी विदेह कैवल्य प्राप्त करने में प्रतिबन्धक बने हुए हैं। यदि ऐसा न मानकर यही माना जाय कि ज्ञान प्राप्त होते ही विदेह कैवल्य भी प्राप्त हो जाता है तब तो यह भी मानना होगा कि तत्त्वज्ञान के अनन्तर शरीर भी नहीं रहता। परन्तु ऐसा नहीं है उन्होंने यहाँ न्यायशास्त्र की प्रक्रिया की समानता दिखलाते हुए कहा कि वस्त्र के समवायि कारण के विनष्ट हो जाने पर

भी वस्त्र एक क्षण तक बना रहता है, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाने पर तथा शरीर या संसार का जो मूलभूत कारण अविद्या है वह निवृत्त अवश्य हो गई, परन्तु शरीर की स्थिति तक मुक्ति नहीं होती, वह तो शरीर पात के अनन्तर ही होती है, यही 'तदनन्तरम्' का तात्पर्य है।" 'यत्' 'तत्' आदि पद बुद्धि में स्थित पदार्थों के लिए प्रयोग में आया करते हैं। इस विवेचन में शरीर भी विवेचनीय रूप से बुद्धि में स्थित है ही। अतः "तदनन्तरम्" का 'तत्' पद उसी शरीर का परामर्श यहां करता है।

---

## इकहत्तरवां-पुष्प

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

इस प्रकार पराभक्ति प्राप्त करके और अन्य प्रकार की अभिलाषाओं को छोड़ चुका हुआ मनुष्य सभी कर्मों के करने का भी पूर्ण अधिकार रखता है। इस बात को प्रस्तुत पद्य में कहते हैं कि—

“मेरा आश्रय लेने वाला उक्त पुरुष सभी कर्मों को करता हुआ भी मेरे प्रसाद से शाश्वत और अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है।” (५६)

इससे यह बात सिद्ध होती है कि भक्तिपूर्वक पूर्ण ज्ञान हो जाने पर भी कर्म करने का वह पूर्ण अधिकारी है, परन्तु विशेषता यह है कि जहाँ सामान्यलोग बन्धन में बँधकर कर्म करते हैं, और किए हुए कर्मों के फल से पुनः बँधते जाते हैं, वहाँ वह पुरुष जो ऊपर कही गई प्रक्रिया को अपनाता हुआ, ब्रह्मभाव तक जा पहुँचा है, बन्धनवश कर्म नहीं करता अपितु फलाशा छोड़कर कर्म करता है और इसीलिए उन कर्मों का नया कोई बन्धन भी उस पर नहीं आता क्योंकि वह किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कर्म नहीं करता अपितु कर्तव्य बुद्धि से ही कर्म में प्रवृत्त होता है, जैसा कि भगवान् पहिले अपने लिए तीसरे अध्याय से २२वें श्लोक में कह आए हैं। जब स्वयं आप्तकाम पूर्णकाम आत्माराम भगवान् भी कर्तव्य बुद्धि से कर्म को स्वीकार कर लेते हैं और कर्म करने की इच्छा से कर्मभूमि में अवतीर्ण होते हैं, तो उनकी पराभक्ति को प्राप्त हुआ पुरुष कर्तव्य बुद्धि के बड़ा से बड़ा कर्म भी अवश्य ही करेगा। वह कर्मानुष्ठान करता हुआ ही शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है। विष के प्रभाव को दूर करने का मंत्र जिनको सिद्ध हो जाता है वे लोग विष का पान करके भी उसके प्रभाव से अलग रहते हैं, वैसे ही परमेश्वर की अनुकम्पा से कर्म करने की वह प्रक्रिया उन पुरुषों के हाथ लग जाती है, जिससे निरन्तर कर्म करते रहने पर भी उसके किसी बन्धन या प्रभाव से पुरुष सर्वदा असंस्पृष्ट ही बना रहता है।

जब इस प्रकार भगवान् ने अपने भक्त के लिए अपने शाश्वत पद की व्यवस्था कर दी तो अब श्रोता या उस प्रक्रिया में प्रवृत्त पुरुषों का यही कर्तव्य रह जाता है

कि सर्वात्मना अपने आपको उसी प्रक्रिया में तल्लीन कर दें। अन्य सभी मार्गों का परित्याग कर दें और स्वयं को भगवदर्पण करते हुए और प्रत्येक कार्य को उनकी इच्छा और आज्ञा समझ कर करते हुए परम, शाश्वत, अविचल, अखण्ड आनन्दरूप पद को प्राप्त करें जो परमपुरुषार्थ जगत् रूपी महारोग के लिए रसायन है, मुमूर्षु के लिए अमृत है। इसीलिए अग्रिमपद्य में भगवान् अर्जुन को ऐसा ही करने का उपदेश दे रहे हैं कि—

“सभी कामों को अपने चित्त से मुझमें समर्पित करके मेरे आश्रित रहकर, बुद्धियोग का आश्रय लेकर अपने चित्त को सर्वथा मद्रूप बना दो।” (७५)

यहाँ अन्त में भगवान् ने बुद्धियोग का आश्रय लेना कहा है। इसी आधार पर विद्यावाचस्पति जी ने भी गीता का मुख्यप्रतिपाद्य बुद्धियोग ही माना है। बुद्धि के चार भेद हैं इत्यादि विवरण आरम्भ में ही किया जा चुका है।

---

## बहत्तरवां-पुष्प

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् रिष्यसि ।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

“अपने चित्त को मुझमें अर्पित करके मेरे प्रसाद से तुम समस्त दुर्गों का तरण कर जाओगे। अब यदि तुम अपने अहंकार के वशीभूत होकर मेरी बात को नहीं मानोगे तो विनाश को प्राप्त करोगे।” (५८)

भगवान् ने गीता में ऊपर जिस व्यवहार का उपदेश दिया है उसका फल भी पहिले के पद्यों में आ गया है। इस श्लोक के पूर्वार्ध में पुनः फल कह दिया कि यदि तुम मुझ में अपने चित्त का अर्पण कर देते हो, और मेरी समझाई हुई पद्धति से लोक व्यवहार में प्रवृत्त होते हो तो संसार में जितने दुर्ग हैं, उनका तरण कर जाओगे। दुर्ग का अर्थ किला प्रसिद्ध है। किला कष्ट से पार किया जाता है, विशेष कर लड़ाइयों में किले का विशेष उपयोग होता है। मैदान की लड़ाइयों में भी विभिन्न प्रकार की व्यूह रचना या सेना का सन्निवेश ही दुर्ग कहा जाता है। संसार को भी एक प्रकार का युद्ध-क्षेत्र ही माना जाता है। यहाँ भगवान् ने दुर्ग के तरण की बात कही है इसका तात्पर्य दोनों ओर लगाया जा सकता है। यदि भगवान् का बराबर स्मरण रखते हुए मनुष्य संसार के व्यवहारों में प्रवृत्त होता है तो सांसारिक व्यवहार में इस प्रकार के जो विकट अवसर उपस्थित हो जाते हैं, जिनसे पार पा जाना बहुत कठिन प्रतीत होता है, उनसे अनायास मनुष्य पार चला जाता है। उसका कारण भगवान् का प्रसाद ही है। श्रीनीलकण्ठ जी ने दुर्ग की व्याख्या में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कष्टों का ग्रहण किया है। जीवन में दैहिक, दैविक और भौतिक तापों का वर्णन आता ही है। वे ही दुर्ग हैं, उन्हीं के सन्तरण की फलश्रुति यहाँ है। दूसरा तात्पर्य यह भी लगाया जा सकता है कि भगवान् ने समझ लिया कि अब अर्जुन उनके उपदेश से पूर्णरूप से सन्तुष्ट होकर युद्ध में प्रवृत्त होने को उद्यत हो गया। अतः आगे युद्ध करते समय जो प्रक्रिया उसे अपनानी चाहिए उसका निर्देश यहाँ भगवान् देते हैं कि यह युद्ध बड़ा भयानक है। इसमें संसार के चुने हुए वीर एकत्रित हो चुके हैं। अतः इस युद्ध में बहुत बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। तुम यह समझने में गलती मत करना कि तुमने अनेक लड़ाइयों में विजय प्राप्त कर ली है, अतः इस युद्ध में भी तुम अनायास विजय श्री का वरण कर लोगे। ऐसी बात नहीं है। इस युद्ध में अनेक दुर्ग हैं। अर्थात् विपक्ष में एक ही नहीं अनेक ऐसे योद्धा हैं, जो अपने आप दुर्ग रूप हैं। उन्हें संसार में कोई पराजित नहीं कर सकता। मृत्यु का अधिपति यमराज भी जिनसे घबड़ाता है।

भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य आदि प्रत्येक ऐसे-ऐसे योद्धा हैं, जो अकेले ही सम्पूर्ण विश्व के वीरों को समाप्त करने को पर्याप्त हैं। ये ही इस युद्ध के विशाल दुर्ग हैं, ये जब सेनापति बनेंगे तो अपनी सेना की व्यूह रचना करेंगे। वह व्यूह रचना भी एक प्रकार का दुर्ग ही होगी। उन व्यूहों में घुसकर शत्रुपर विजय पा लेना हँसी खेल नहीं है। परन्तु यदि युद्ध काल में तुम्हारा चित्त बराबर मेरी ओर रहा और बराबर तुमने मेरे निर्देश का पालन किया तो तुम इन सभी दुर्गों से पार पा जाओगे। इसके विपरीत यदि तुमने इस अहंकार से कि—“युद्ध के विषय में कृष्ण मुझे अधिक क्या जानते होंगे मैं तो विख्यात धनुर्धर हूँ” मेरे उपदेशों की अवहेलना की तो तुम शत्रुओं के द्वारा विनष्ट कर दिए जाओगे। युद्ध के आगे की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान् कृष्ण ने ऐसे-ऐसे अवसरों पर अर्जुन तथा समस्त पाण्डव सेना को खतरे से बचाया जबकि वह विनाश के मार्ग में पहुँच चुकी थी। भीष्मपितामह को धराशायी कराने में श्रीकृष्ण की बतलाई हुई युक्ति ने ही काम दिया, अन्यथा भीष्म तो दस दिन में निष्पाण्डवा पृथ्वी कर देने की घोषणा कर चुके थे। भगवान् ने उनकी मृत्यु का रहस्य उन्हीं के मुख से निकलवा लिया। द्रोणाचार्य ने प्रारम्भिक दिन ही जैसा युद्ध किया था उससे पाण्डव सेना के छक्के छूट गए थे, महाभारत के आचार्य द्रोण के सेनापतित्व की पहिले ही दिन की लड़ाई में ऐसा सन्देह होने लगा था कि आज पाण्डवों के लिए रात होगी या नहीं। एक उक्ति के अनुसार पच्चासी वर्ष के द्रोणाचार्य उस दिन रणाङ्गण में १५ वर्ष की आयु वाले के समान वेग से भ्रमण कर रहे थे, उनके रथ की गति अप्रतिहत थी, जिधर उनका रथ मुड़ता उसी ओर शत्रु में भगदड़ मच जाती थी। श्रीकृष्ण ने ही उसका भी उपाय किया और द्रोणाचार्य का वध उनकी बतलाई हुई बात को मानने से ही हुआ। कर्ण का उन्होंने जिस कुशलता से अन्त करवाया वह तो प्रसिद्ध ही है। अर्जुन ने उनकी युद्ध काल में प्रत्येक आज्ञा का पालन किया। यदि वह उनकी आज्ञा का पालन न करता तो पाण्डवों के पराजित होने में क्या सन्देह था।

सांसारिक व्यवहार के पक्ष में भी उत्तरार्द्ध का भाव स्पष्ट ही है कि भगवान् ने कर्मों के अनुष्ठान की जो प्रक्रिया बतलाई है, जो मनुष्य अपने कर्मानुष्ठान में अहंकारवश उस प्रक्रिया का अनुसरण नहीं करते, स्वच्छन्द आचरण करते हैं, वे विनष्ट हो जाते हैं, उन्हें आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक उपद्रवों का शिकार होना पड़ता है, वे दुर्गों के संतरण में असमर्थ होकर विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए संसारमार्ग में सफलता प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले पुरुषों को निष्काम भाव से ईश्वर की अर्चना के रूप में अपने नियत कर्म का अनुष्ठान जो भगवान् ने बतलाया है वह करते रहना चाहिए। इसी से कल्याण होता है।



## तिहत्तरवां-पुष्प

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

“जिस अहंकार का आश्रय लेकर हे अर्जुन ! तुम “मैं नहीं लड़ूँगा” ऐसा समझ रहे हो, वह तुम्हारी समझ मिथ्या है, प्रकृति तुम्हें युद्ध करने के लिए बाध्य करेगी।” (५९)

इस पद्य में भगवान् ने विशिष्ट पुरुषों की प्रकृति का अच्छा परिचय दे दिया है। प्रत्येक विशिष्ट व्यक्ति में यह एक स्वाभाविक अहंकार होता है कि अमुक कार्य करने का मुझ पर कोई दबाव नहीं है। यदि मेरी इच्छा होगी तो वह काम करूँगा, नहीं इच्छा होगी तो नहीं करूँगा। कोई मुझे किसी काम को अवश्य करने को बाध्य नहीं कर सकता। यह अहंकारपूर्ण समझ अन्य कार्यों के विषय में भले ही सत्य हो, परन्तु अपने स्वभाव सिद्ध कार्य के लिए ऐसा समझ लेना नितान्त मिथ्या है। बहुत से व्यक्ति अपना महत्व दिखाने के लिए कि देखिए यदि हम इस कार्य से अपना हाथ खींच लें तो यह कार्य आगे बढ़ ही नहीं सकता, अपने निश्चित कार्य को छोड़ने की घोषणा कर देते हैं। बहुत से व्यक्ति अपने कार्यों में अनेक विघ्नों और बाधाओं तथा मानसिक असंतोष से अपने कार्य को छोड़ने के लिए आतुर हो जाते हैं। परन्तु यह सब मिथ्यादम्भ है। कोई भी व्यक्ति संसार में रहता हुआ अपने स्वभावसिद्ध कार्य को कभी नहीं छोड़ सकता। वर्तमान में हम अनेक राजनीति धुरन्धरों को पहिले राजनीति से संन्यास लेने की घोषणा करता हुआ देखते हैं, परन्तु वह वास्तव में उनका अपने क्षेत्र में कार्य करने से पूर्ण विराम नहीं अपितु विश्राममात्र होता है। वे या तो नया संगठन बनाकर पुनः अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, या और भी अधिक जोश के साथ पुनः अपने पहिले काम में लग जाते हैं। यही बात भगवान् ने यहां अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कही। अर्जुन ने भी गीता के प्रारम्भ में अपने अहंकार के वशीभूत होकर यह विचार प्रकट किया था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा भले ही मुझे भिक्षाटन करना पड़े। भगवान् यहाँ उसका दोटूक उत्तर देते हैं कि यह तुम्हारा निश्चय मिथ्या है। उसका कारण उन्होंने बतलाया कि—

“प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति”

अर्थात् तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हें युद्ध करने को बाध्य करेगी। प्रकृति का अर्थ यहाँ स्वभाव ही मानना होगा। प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव उसकी सबसे अन्तरंग वस्तु है। कोई भी मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार ही चलता है। स्वभाव का अतिक्रमण कोई नहीं करता। एक लोकोक्ति है—

**“स्वभावो दुरतिक्रमः”**

स्वभाव का अतिक्रमण करना बड़ा कठिन है। श्रीशंकराचार्य ने यहाँ सन्दर्भानुसार प्रकृति का अर्थ क्षत्रिय स्वभाव किया है। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार सम्बोध्य अर्जुन क्षत्रिय ही था। अतः क्षत्रिय के स्वभाव में अन्याय के विरुद्ध युद्ध करना भी सम्मिलित है, वही क्षत्रियोचित स्वभाव को तुमको युद्ध करने को विवश करेगा। यही यहाँ भगवान् का आशय स्फुट होता है।

श्रीरामानुचार्य अहंकार के आश्रय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि ईश्वर के विधान का अनादर करके, अपने द्वारा ही हित और अहित का निश्चय करके यदि अर्जुन युद्ध से उपरत होगा तो वह धोखा खायगा। क्योंकि अपने को हित और अहित के निर्णय में स्वतन्त्र मानना ही मिथ्या है। मेरे निर्देश से घबड़ा कर तुम प्रकृति के द्वारा युद्ध में लगा दिए जाओगे। यही बात होगी कि—

**“वृश्चिकभिया पलायमान आशीविषमुखे निपतितः”**

अर्थात् सामने बिच्छू को देखकर कोई पुरुष दूसरी ओर भागने लगा तो दूसरी ओर सर्प बैठा था, उसके मुख में जा गिरा। ईश्वर के निर्देश से बचने के लिए कर्म छोड़ा तो प्रकृति के भयंकर पाश में आबद्ध होकर फिर वही कर्म करना पड़ा। प्रश्न होता है कि जब प्रकृति कर्म करने में अवश्य लगा ही देगी ऐसा भगवान् मानते हैं, तो फिर अर्जुन को युद्ध करने की इतनी अधिक प्रेरणा ही क्यों देते हैं। वह यदि प्रारम्भ में युद्ध से उपरत हो ही गया तो भी अन्ततः तो अपनी प्रकृति से बाध्य होकर युद्ध उसे करना ही पड़ेगा। यही तो प्रकृति के द्वारा नियोग का अभिप्राय यहाँ पर है। फिर बार-बार उसे युद्ध के लिए प्रेरित करने की भगवान् को क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर यही है कि प्रकृति के द्वारा बाध्य किये जाने पर जो कार्य किया जाएगा उसमें बन्धकता होगी। उसमें कर्तव्य बुद्धि नहीं रहेगी। इसके विरुद्ध अपने कर्तव्यानुष्ठान से ईशार्चन की बुद्धि रखते हुए जो कर्म किया जायगा उसमें बन्धकता नहीं होगी। उस कर्म के कोई गुण दोष कर्त्ता पर प्रभाव नहीं दिखला सकेंगे। वह कर्म करता हुआ भी जल में कमल के पत्ते के समान उनके फलाफल से असम्बद्ध बना रहेगा। श्री वल्लभाचार्य ने यहां प्रकृति को बहिरङ्गा शक्ति बतलाया है।

पद्य में आए अहंकार शब्द के दो प्रकार के अर्थ व्याख्याओं में मिलते हैं। एक तो यह कि अर्जुन ने भीष्म, द्रोण आदि को मारने से पाप लगेगा ऐसा कहकर अपना शास्त्र ज्ञान जो दिखाया था, वह उसका अहंकार ही था। दूसरा यह कि भगवान् के स्वरूप को बिना समझे वह यह समझकर कि ये तो मेरे सारथी हैं, इनका पद मुझसे निम्न है। मैं इनकी बात मानने को विवश नहीं हूँ, ऐसा समझकर भी अर्जुन भगवान् के वचन की अवहेलना कर सकता है, यह भी उसका अहंकार ही है।

श्रीनीलकण्ठ ने प्रकृति की बाधकता को पुष्ट करने के लिए यहाँ—

“प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति”

(३।३३)

यह पहिले आया हुआ पद्य भी उद्धृत कर दिया है। इसी बात को अग्रिम पद्य के द्वारा पुष्ट करते हैं कि—

“हे कौन्तेय ! अपने स्वभाव से उत्पन्न कर्म से बद्ध होकर मोह वश जिस कार्य को तुम नहीं करना चाहते, विवश होकर वह तुम्हें करना ही पड़ेगा।”

भला कोई पुरुष यदि किसी काम को करना नहीं चाहता तो उसे उस काम को करने के लिए बाध्य कैसे किया जा सकता है, इसका उत्तर यही है कि जो प्रबल होता है वह कमजोर व्यक्ति से उसकी इच्छा के विपरीत कार्य भी करवा लेता है। मनुष्य के अहंकार से उसका स्वभाव अधिक शक्तिशाली है, अतः उसे स्वभाव के अनुसार ही काम करना पड़ता है। उसे करने या न करने में उसका कोई वश नहीं रहता। अपने कर्म के परित्याग का विचार विवेकपूर्ण नहीं अपितु मोह युक्त होता है। अतः वह क्षणिक होता है। इसके विपरीत स्वभाव क्षणिक नहीं होता। वह सर्वदा प्राणी के साथ रहता है। क्षणिक अहंकार के प्रभाव में आकर यदि मनुष्य अपने स्वभाव के विरुद्ध चलने का निश्चय कर लेता है तो आगे चलकर उसे अपना निश्चय बदलना पड़ता है। यही बात भगवान् ने उक्त श्लोक में प्रकट की है। स्वभाव इसी जन्म की वस्तु नहीं है, अपितु पूर्व जन्म के कर्मों से बने हुए इस जन्म के शौर्यादि स्वभाव शब्द की व्याख्या में आते हैं, जैसा कि पहिले स्पष्ट किया जा चुका है। यहां स्वभाव या प्रकृति के वश में होकर कर्म करना पड़ेगा, ऐसी उक्ति से कहीं यह भ्रम न हो जाय कि तब तो प्रकृति ही सबसे बड़ी चीज है। ईश्वर को जो सबसे बड़ा और प्रकृति का नियामक माना गया है, वह समीचीन नहीं है। इसी सन्देह के दूरीकरण के लिए भगवान् अगले पद्य में ईश्वर का निरूपण करते हैं।

## चौहत्तरवां-पुष्प

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।६१।

“हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त भूतों के हृदय में उन्हें अपनी माया में घुमाता हुआ उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार कोई मायावी पुरुष यन्त्र पर रखकर पदार्थों को घुमाता हुआ स्थित रहता है” (६१)

ईश्वर शब्द का अर्थ श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि व्याख्याकारों ने समस्त चराचर प्रपंच का ईशन करने वाला, उनका नियामक ही किया है। वही समस्त प्राणियों के हृदय प्रदेश में संस्थित बतलाया गया है। ईशन करने वाला यदि अत्यन्त समीप न हो तो वह सम्यक् प्रकार से ईशन नहीं कर सकता। जब वह सभी पदार्थों के जड़चेतनात्मक प्रपंच के हृदय देश में स्थित हो जाता है तो सभी जगत् उसके द्वारा अनायास चालित होता रहता है। इसी बात को—

“तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्”

आदि शतशः श्रुतियों में बतलाया गया है कि ईश्वर केवल उपादान कारण अथवा केवल निमित्त कारण ही संसार का नहीं है। यदि वह केवल उपादान कारण ही हो तब तो जैसे लकड़ी से मेज बना दी गई, मेज में जो लकड़ी लगी हुई है उसमें किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं है, वही स्थिति ईश्वर की भी मान लेनी होगी, तब तो वह केवल संसार के निर्माण के लिए उपयोगी मात्र रह जायेगा, निर्माण के अनन्तर उसका कोई स्वातन्त्र्य नहीं रह जायगा। परन्तु ऐसा ईश्वर को केवल उपादान इस दोष के कारण नहीं माना जाता कि जैसे उपादान रूप मृत्तिका से घड़ा बन गया, अथवा उपादान रूप लकड़ी से मेज बना ली गई, उस स्थिति में उपादान के अतिरिक्त कुम्भकार और बढ़ई उसके निर्माता के रूप में भी प्रत्यक्ष हैं, उन्हें निमित्त कारण कहा जाता है, वैसे ही ईश्वर यदि संसार का केवल उपादान कारण है तो निमित्त कारण या निर्माता कोई अन्य होगा। तब वह उपादान रूप ईश्वर से भी अधिक सामर्थ्य रखने वाला सिद्ध हो जायगा। परन्तु वास्तव में तो ऐसा नहीं है। ईश्वर से अधिक सामर्थ्य तो अन्य किसी में माना नहीं जाता। तब उसे उपादान कारण न मानकर निमित्त कारण ही क्यों न माना जाय, इसका उत्तर भी स्पष्ट है कि कुम्भकार और बढ़ई आदि जो तत्तत्पदार्थों का निर्माण करते हैं वे उन पदार्थों के निर्माण करने में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हैं। जब तक उपादान कारण मृत्तिका, लकड़ी आदि उनके पास न हो, वे घड़ा, मेज आदि नहीं बना

सकते। परन्तु ईश्वर सृष्टि के निर्माण में इस प्रकार की परतन्त्रता नहीं रखता। इसीलिए ईश्वर को संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण माना गया है। वह संसार का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। संसार के स्वरूप में भी वही अवस्थित है, और संसार के समस्त पदार्थों के हृदय देश में अवस्थित होकर वही संसार का संचालन भी कर रहा है। उसी विश्व के संचालन को यहां “भ्रामयन्” शब्द से कहा गया है। भ्रमण कराना, घुमाना ही विश्व का संचालन कहलाता है। यही संसार शब्द का भी अर्थ है कि जो संसरण करे, चलता रहे। चलना एक क्रिया है, क्रिया सर्वदा कर्ता की अपेक्षा रखती है। ईश्वर ही वह कर्ता है जो चलाता है।

श्रीशंकराचार्य ने “यन्त्रारूढ” शब्द के आगे इव शब्द का अध्याहार माना है। जिस प्रकार कोई पुरुष किसी पदार्थ को किसी यन्त्र पर रखकर घुमाता है, यन्त्र भी घूमता जाता है, उसके साथ ही वह पदार्थ भी घूमता जाता है। उसी प्रकार समस्त भूतों के स्वरूप में जो वस्तुएं हैं वे ही यन्त्र हैं, उस यन्त्र पर आरूढ़ होकर वह वस्तु हृद्देशस्थित ईश्वर के द्वारा घुमाई जाती है।

इस पद्य में जो अर्जुन ! यह सम्बोधन है उसका तात्पर्य खोलते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि अर्जुन विशुद्ध अन्तःकरण वाला है। अर्जुन शब्द का प्रयोग विशुद्धता के लिए भी वेदों में

### “अहरर्जुनं च”

आदि में प्राप्त होता है। वहां का तात्पर्य है कि कुछ दिवस तो ऐसे होते हैं जो मलिन होते हैं और कुछ दिवस विशुद्ध होते हैं। यहां अर्जुन इस सम्बोधन को अर्जुन की अन्वर्थ संज्ञा के रूप में व्यंजित करते हुए भाष्यकार लिखते हैं कि अर्जुन विशुद्ध अन्तःकरण वाला पुरुष है। इसलिए अन्तःकरण में जो हृदय देश है, वहां संस्थित ईश्वर का साक्षात्कार उसे अनायास हो सकता है। जिनका अन्तःकरण दूषित वासनाओं से मलिन हो जाता है, उन्हें अपने ही हृद्देश में संस्थित ईश्वर का साक्षात्कार कभी नहीं होता, वह मलिन अन्तःकरण वाला व्यक्ति ईश्वर के दर्शन की योग्यता को उसी प्रकार खो देता है जिस प्रकार मलिन दर्पण प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की शक्ति को खो बैठता है। अतः जिस प्रकार अपनी स्वच्छ सुन्दर आकृति को देखने के लिए स्वच्छ सुन्दर दर्पण आवश्यक है, उसी प्रकार हृदय स्थित ईश्वर का दर्शन करने के लिए विशुद्ध अन्तःकरण आवश्यक है। अर्जुन, इस सम्बोधन से श्रोता के अन्तःकरण को विशुद्ध कहने का भगवान् का आशय है। जिसने इतने धैर्य और जिज्ञासा से इतने गंभीर और दर्शनों तथा ज्ञान विज्ञान के सार भूत तत्त्वों का विवेचन सुना है, वह अवश्य ही शुद्ध

अन्तःकरण वाला पुरुष है। मलिन अन्तःकरण वाला पुरुष तो इन विषयों को सुनने का धैर्य ही नहीं रख सकता। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जिसका अन्तःकरण मलिन है, ईश्वर उसके हृदय देश में नहीं है, अथवा यदि है भी तो वह उसका संचालन नहीं कर रहा है, ऐसा नहीं है। सभी प्रकार के अन्तःकरण वाले पुरुषों के हृद्देश में ईश्वर अवस्थित है और वह उन सभी का संचालन भी करता है, परन्तु उसका ज्ञान या अनुभव विशुद्ध अन्तःकरण वालों को ही होता है। यही यहां व्याख्याकारों का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्यानुसार भगवान् कहते हैं कि समस्त भूत प्रपंच को अपने-अपने पूर्व कृत कर्मों के अनुसार प्रकृति का अनुवर्तन करने के लिए मैंने नियमित कर रक्खा है। क्योंकि मैं ही समस्त प्रपंच का ईशान करने वाला ईश्वर हूं। मैं किस प्रकार और कहां स्थित होकर सबका ईशान करता हूं, यह बतलाते हुए भगवान् हृदय देश में ईश्वर रूप या ईशान कर्तृत्व रूप में अपने को स्थित कर रहे हैं। 'हृद्देश' के द्वारा अभिव्यंजित होने वाले भाव को स्पष्ट करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि हृदय ही शरीर स्थित वह प्रदेश या स्थान है जहाँ से शरीर की समस्त प्रवृत्तियों और निवृत्तियों का संचालन हुआ करता है, वहीं पर ईश्वर की स्थिति बतलाई गई है। हमारी समस्त प्रवृत्तिमूलक चेष्टाओं की प्रेरणा और अवरोध हृदयस्थित ईश्वर के द्वारा ही हो रहा है। अनेक सत्पुरुष कार्य और अकार्य के निर्णय के लिए एकान्त प्रदेश में जाकर अपने हृदय स्थित ईश्वर की शरण लेते हैं, और फिर कार्य और अकार्य का निश्चय प्राप्त करके कार्य में प्रवृत्त और अकार्य से निवृत्त हो जाते हैं। दूसरे प्रकार के पुरुष वे हैं जिन्होंने अपनी विवेक शक्ति का पूर्व संस्कार पूर्णरूप से तो नहीं खोया है, परन्तु उस विवेक शक्ति को असत् कर्मों में प्रवृत्त होते हुए आवृत कर दिया है। उन्हें कथंचित् हृद्देशस्थ ईश्वर की प्रेरणा से कार्य अकार्य का ज्ञान तो हो जाता है, परन्तु वे शरीर, मन आदि के असामर्थ्य के कारण श्रेयोमार्ग का ग्रहण नहीं कर पाते और आसुरी प्रवृत्ति के घेरे में आ जाते हैं। वे मन, बुद्धि आदि को ही प्रधान मानने लगते हैं, और सर्वनियन्ता ईश्वर तक उनकी दृष्टि ही नहीं जाती, यद्यपि वे उसकी दृष्टि में सर्वदा रहते हैं। इसी प्रकार के पुरुषों की प्रकृति का निरूपण गीता प्रवचन माला के प्रथम भाग के प्रारंभिक प्रवचनों में हमने विस्तार से किया है। इस प्रकार ईश्वर द्वारा ही सभी प्रवृत्तियों के व्यक्ति अपने अपने कार्यों में नियमित होते हैं, यह बात उक्त व्याख्या के आशय में प्रकट है। यन्त्र का अर्थ श्रीरामानुजाचार्य ने प्रकृति किया है। भगवान् समस्त चराचर प्रपंच को अपने प्रकृतियन्त्र पर आरूढ़ करके अपनी माया शक्ति से उसे घुमाया करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने इस श्लोक के भावार्थ कथन के रूप में—

“सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो—  
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च”

(१५।१५)

मैं सभी के हृदय में सन्निविष्ट हूँ और मेरे द्वारा ही ज्ञान और उसका अपोहन होता है—

“मत्तः सर्वं प्रवर्तते”

(१।८)

मुझसे ही सब कुछ प्रवृत्त होता है—आदि श्लोकों को उद्धृत किया है। अपने पूर्वोपदिष्ट कथन की उपसंहार में भगवान् ने पुष्टि की है। उपसंहार के इन पद्यों में भगवान् ने अपने पूर्वोपदेशों को सूत्ररूप में पुनः कहा है। जिस प्रकार द्वितीयाध्याय विषयोपन्यास की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखता है, उसी प्रकार यह अठारहवां अध्याय विषयोपसंहार की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

ब्रह्मानन्द गिरि व्याख्या में इस पद्य की भूमिका में कहा गया है कि पहिले कर्म की श्रेष्ठता पर जो इतना बल दिया गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि कर्म ही प्रधान वस्तु है, वही सबका नियमन करने वाला है, उसके अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है, जैसा कि मीमांसा दर्शन ने माना है। अपितु प्रस्तुत पद्य के द्वारा भगवान् यह कह रहे हैं कि मैं ही समस्त भूतों को अपने अपने कर्मों में प्रेरित कर रहा हूँ। कर्म स्वयं जो जड़ हैं, किसी चेतन की प्रेरणा के अभाव में कर्म हो ही नहीं सकते। अतः ईश्वर स्वयं हृद्देश में प्रतिष्ठित होकर प्राणियों को अनेक अपने अपनी कर्मों में प्रवृत्त कर रहा है।

यहां श्रीशंकराचार्य ने ‘इव’ का अध्याहार करके जो यह कहा था कि जैसे कोई लौकिक पुरुष पदार्थों को यन्त्र पर रखकर घुमाता है वैसे ही ईश्वर समस्त भूतों को घुमा रहा है, इस पर यह पूर्वपक्ष उठाया गया है कि यह दृष्टान्त विषम प्रतीत होता है। क्योंकि जो भी लौकिक पुरुष पदार्थों को यन्त्र पर आरूढ़ करके घुमाता है, वहाँ यन्त्र के जड़ होने से उसका पुरुष के द्वारा घुमाया जाना संभव हो सकता है। परन्तु प्राणिवर्ग तो चेतन होता है। अपनी बुद्धि से समस्त प्राणी अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। उन्हें अपने कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए ईश्वर की प्रेरणा की क्या आवश्यकता है। इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हुए उक्त व्याख्या में कहा गया है कि पद्य में जो ईश्वर को हृद्देश में प्रतिष्ठित बतलाया गया है, वही इस प्रश्न का समाधान है। चेतन

प्राणियों की बुद्धि भी ईश्वर के ही वश में होती है। बिना ईश्वर की प्रेरणा के बुद्धि भी कुछ विचार नहीं कर सकती। अतः सभी कर्मों का परिचालकत्व अन्ततः ईश्वर पर ही जाता है। श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यद्यपि ईश्वर सर्वव्यापक है फिर भी हृदय में वह विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। जिस प्रकार राम समस्त जगत् के स्वामी होते हुए भी कोसलाधीश कहे जाते हैं, वहीं उनका आधिपत्य विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है, वैसे ही सर्वव्यापक होता हुआ भी ईश्वर हृदय देश में विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है। इसीलिए काव्य की भाषा में हृदय को मन्दिर भी कह दिया जाता है। जहां भगवान् प्रतिष्ठित हों उसे मन्दिर कहा जाता है। जब भगवान् स्वयं अपने को समस्त प्राणियों के हृदय देश में स्थित कह रहे हैं तो प्राणियों का हृदय अपने आप ही मन्दिर हो गया।

---



## पचहत्तरवां-पुष्प

### ईश्वर निरूपण परिशेष

श्री विद्यावाचस्पति जी ने ईश्वर के सम्बन्ध में अपने 'शारीरिक विमर्श और गीताभाष्य' के आचार्य काण्ड में बहुत कुछ लिखा है। उसका सबका अनुवाद करने पर तो कई ऐसे ग्रन्थ बन जाँयगे। किन्तु गीता के आचार्य काण्ड के आधार पर बहुत संक्षिप्त वर्णन हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं। सब जगत् का अभिन्न उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म है यह तो श्रुति से ही सिद्ध होता है। जैसा कि प्रश्नोत्तर रूप से श्रुति में कहा है कि—

**'किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।  
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥  
ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।  
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥**

कोई भी विचारशील विद्वान् इन मंत्रों को देखेगा तो वही यही कहेगा कि ये दोनों मंत्र प्रश्नोत्तर रूप हैं। किन्तु आश्चर्य है कि प्रश्न का मंत्र तो वेद संहिता में मिलता है और उसका उत्तर तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। जो मीमांसक पुरुष का सम्बन्ध ही वेद में नहीं मानते वे इस व्यतिक्रम का समाधान क्या करेंगे यह उन्हें सोचना चाहिए। अस्तु यह तो प्रसङ्गागत बात हुई अब अर्थों पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि इनमें पूर्व के अंशों से तो उपादान कारणता कही गई है और 'ब्रह्माद्यतिष्ठत्' इन पदों से निमित्त कारणता सिद्ध होती है। क्योंकि अधिष्ठान करना निमित्त कारण का ही काम हो सकता है। अस्तु वह ब्रह्म आगे चलकर ६ संस्थाओं में विभक्त हो जाता है—

१-परमेश्वर

२-विश्वेश्वर

३-आधिकारिकेश्वर

४-आधिकारिक जीव

५-सांसारिक जीव

६-अगतिक जीव

इनमें से परमेश्वर तो मन और वाणी का विषय हो नहीं सकता। वह अनन्त

रस और अनन्त शक्तिमान् है। हमारे जीवों के मन का स्वभाव है कि वह परिच्छिन्न का ही ज्ञान कर सकता है। अपरिच्छिन्न का स्पष्ट ज्ञान उसे नहीं हो सकता। और वाणी तो मन से भी छोटी शक्ति रखती है। अतएव वह मन और वाणी दोनों से परे है इसीलिए उसे अनिरुक्त प्रजापति कहते हैं। इसी के विषय में उपनिषद् में यह कहा गया है कि—

**‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’**

अर्थात् मन के साथ वाणी जिसे प्राप्त न कर बीच से ही लौट आती है उसे वेद भी नहीं जान सकते। और ब्रह्मा, विष्णु भी नहीं जान सकते। और भी उपनिषद् में कहा गया है कि—

**‘यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।’**

**अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥’**

अर्थात् जो यह कहता है कि मैं परमेश्वर को जान गया समझ लो कि वह बिल्कुल नहीं जाना और जो यह कहता है कि मैंने परमेश्वर को नहीं जाना वह उसे जानता है। क्योंकि जो वस्तु जैसी है उसका वैसा ही ज्ञान यथार्थ ज्ञान कहलावेगा तो वह परमेश्वर अविज्ञात स्वरूप ही है इसलिए अविज्ञात रूप में ही उसका ज्ञान यथार्थज्ञान होगा। इसे ही उत्तरार्द्ध में स्पष्ट कहा गया है कि उसे जानने वालों के लिए अविज्ञात और न जानने वालों के लिए विज्ञात समझना चाहिए। वही परमेश्वर ‘भूमा’ नाम से भी पुराणों में कहा गया है। वही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का उत्पादन और संहार किया करता है। उसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है, क्योंकि अधिक वाणी का प्रसर वहाँ सम्भव नहीं। इतना ही संकेतमात्र से वहाँ कह देना पर्याप्त होगा। वह परमेश्वर एक-एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न विश्वेश्वरों को बनाकर उसे एक-एक ब्रह्माण्ड का अधिपति बना देता है। वे विश्वेश्वर भी परमेश्वर से भिन्न नहीं होते अपितु कारण और कार्य के अभेद होने से उनके ही रूप समझे जा सकते हैं। वा यों कहो कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और एक-एक ब्रह्माण्ड के अधिष्ठातापन की विवक्षा से तो वे परमेश्वर और विश्वेश्वर भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु एक ही ब्रह्म के स्वरूप होने से अभिन्न ही हैं। इन विश्वेश्वरों को अश्वत्थ-वृक्षों के रूप में भी कहा गया है। जैसा कि श्रुति है कि—

**यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नान्यो न ज्यायोस्ति कश्चित्**

**वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः**

**तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्’**

अर्थात् जिससे पर और अपर कुछ भी नहीं है जिससे न कोई छोटा है न कोई बड़ा है, अर्थात् वह छोटे से भी छोटा और बड़े से भी बड़ा माना जा सकता है। वह वृक्ष की तरह व्यापी आकाश में स्तब्ध होकर खड़ा हुआ है। उसी पुरुष से यह सब पूर्ण है। भगवद्गीता में भी कहा है कि—

**ऊर्ध्वमूलो अधःशाखः एषोऽश्वत्थः सनातनः ।**

**छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥**

अर्थात् इसका मूल ऊपर की ओर है और शाखा नीचे को फैली हुई हैं और छन्द जिसके पते हैं उसको जानने वाला ही वेदवित् कहला सकता है। यह भगवद्गीता में कर्माश्वत्थ का वर्णन किया गया है। क्योंकि आगे चलकर इस वृक्ष को काटने की आवश्यकता दिखाई है और उपनिषदों में ब्रह्माश्वत्थ का भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। यहाँ यह अभिप्राय है कि इसका मूल जो ब्रह्म है वह तो ऊपर की ओर है और जो संसार रूप शाखाएं फैली हैं वे नीचे की ओर हैं। इस वृक्ष को अश्वत्थ बतलाया है। अश्वत्थ और ब्रह्म के कई सादृश्य विद्यावाचस्पति जी ने अपने ग्रन्थ में कहे हैं जिनका यहाँ वर्णन करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता।

अस्तु इन एक-एक ब्रह्माण्डों में पाँच-पाँच शाखाएं होती हैं जिनके नाम द्विजाति लोग संध्योपासन में प्रतिदिन व्याहृतियों के रूप में स्मरण किया करते हैं—

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्। इनमें सत्य लोक ही स्वयम्भू लोक भी कहा जाता है। वह स्वयम्भू जनः, स्वः और भूः ये चार तो ठोस मंडल अर्थात् पृथ्वी जैसे घनमंडल हैं और तीन इनके बीच में अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश रूप हैं। भूः, स्वः, जनः और सत्यम् ये चार मंडल हैं और इनके बीच में भुवः, महः, और तपः, ये तीन अन्तरिक्ष हैं। किन्तु दूसरा लोक जो भुवः है उनमें चन्द्रमा रहता है और उस चन्द्रमा का हमारी पृथ्वी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसी के कारण हमारी पृथ्वी में ऋतु आदि होती हैं और पृथ्वी में वृक्षलता आदि भी चन्द्रमा के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होते और फैलते हैं। इसलिए चन्द्रमा को भी एक मंडल मान लिया जाता है। इस प्रकार पाँच मंडल और दो अन्तरिक्ष ये सात लोक रह जाते हैं।

भूः पृथ्वी, भुवः चन्द्रमण्डल, स्वः सूर्यमण्डल, महः अन्तरिक्ष, जनः, इसका नाम परमेष्ठि लोक भी कहा जाता है। स्वः, तपः, फिर अन्तरिक्ष है और स्वयम्भू सबसे ऊपर सबका अधिष्ठाता होकर विराज रहा है। इन सात मंडलों में तीन त्रिलोकी हो जाती हैं। भूः, भुवः, स्वः यह एक त्रिलोकी हुई। इसका अधिष्ठाता सूर्य है और पृथ्वी और सूर्य इन दोनों का रोदसी इस द्विवचनान्त शब्द से व्यवहार वेद में होता है। आगे सूर्य

को पृथ्वी स्थान में समझो और परमेष्ठि मंडल को सूर्यस्थान में समझो। बीच का महः अन्तरिक्ष मिलाकर यह दूसरी त्रिलोकी हुई। इसको वेद में क्रन्दसी इस द्विवचनान्त शब्द से कहा गया है। आगे परमेष्ठि मंडल को पृथ्वी स्थान में समझकर और स्वयम्भू मंडल को सूर्य स्थान में मानकर यह तीसरी त्रिलोकी हो जाती है। बीच में तपः नाम का अन्तरिक्ष भी सम्मिलित कर दिया जाता है। इस परमेष्ठि मण्डल और स्वयम्भू मण्डल इन दोनों का संयति इस द्विवचनान्त शब्द से वेद में व्यवहार होता है। इस प्रकार सात लोक में एक-एक को दुबारा समझकर तीन त्रिलोकी सम्पन्न हो जाती हैं। इन्हीं तीन त्रिलोकियों का वर्णन नीचे लिखे हुए मंत्रों में प्राप्त होता है—

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेममवग्लापयन्ति।  
मंत्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥

ऋ० २।३।१५।

तिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाद् ।  
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु क उ तच्चिकेतत् ॥

ऋ० १।३।६

इनमें तीन पृथ्वी और तीन द्युलोकों का वर्णन स्पष्ट है। पृथ्वी को पहले मंत्र में माता पद से और द्युलोकों को पिता पद से कहा गया है। जैसा कि 'द्यौ पितः, पृथ्वी मातः' इत्यादि मंत्रों में भी पृथ्वी को माता कहना और द्युलोक को पिता कहना प्राप्त होता है। इन तीन माता और तीन पिताओं को एक ही सूर्य धारण करता है। सूर्य मंडल में भी वाक् व्याप्त है यह पहले मंत्र में कहा गया और दूसरे मन्त्र में द्यौ का नाम स्पष्ट दे दिया गया है। इसी प्रकार अन्यान्य मंत्रों में भी तीन भूमि और तीन द्यु लोक बतलाए गए हैं। इन सब मंडलों का आधार तो अव्यय पुरुष है ही। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मण्डल में एक-एक अक्षर पुरुष की प्रधानता रहती है जैसा कि स्वयम्भू मण्डल में ब्रह्मा, अक्षर पुरुष प्रधान है। दूसरे परमेष्ठि मंडल में विष्णु अक्षर पुरुष की प्रधानता है। जैसा कि अन्यत्र भी श्रुति में कहा गया है कि—

‘यथाग्निगर्भा पृथ्वी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी’

चन्द्रमंडल में सोम नाम के अक्षर पुरुष की प्रधानता है और हमारी पृथ्वी में अग्नि नाम का अक्षर पुरुष प्रधान है। बस अक्षर पुरुष की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम ये ही पांच कलायें हैं। चन्द्रमा यद्यपि हमने अन्तरिक्ष में कहा है तो भी वह

पृथ्वी के चारों ओर घूमा करता है। इसलिए पृथ्वी से नीचे भी जाता है और ऊपर भी। इसी कारण उसका अक्षर पुरुष के बाद में पृथ्वी से नीचे पांचवें स्थान में गिना गया है। यही अक्षर पुरुष हमारे मनुष्य लोकों के आराध्य होते हैं। इन्द्र, अग्नि और सोम तीनों को मिलाकर महेश्वर नाम का एक अक्षर पुरुष कहा जाता है। इन महेश्वर के वर्णन में 'वन्दे सूर्य, शशाङ्कवह्निनयनम्' यह स्तोत्र पाठ में आता है। वहाँ सूर्यपद से इन्द्र लिया जाता है। चन्द्रमा और अग्नि तो स्पष्ट कहे ही गए हैं। अन्य भी पुराणों में महेश्वर का इन्द्र रूप धारण करना कई स्थान पर वर्णित है।

अस्तु इस प्रकार अक्षर पुरुष की एक एक कला प्रत्येक मंडल में बतलाई गई। उसी प्रकार क्षर पुरुष की भी एक-एक कला सब मंडलों में प्रधान रहती है। क्षर पुरुष की भी पांच कलाएँ निम्नलिखित हैं—

प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न। इनमें स्वयम्भू मंडल में प्राणकला प्रधान है। परमेष्ठि मंडल में आप नाम की कला, सूर्य मंडल में वाक् नाम की कला पृथ्वी में अन्नाद् कला और चन्द्रमा में अन्न नाम की कला प्रधानता से रहती है। अन्नाद और अन्न में एक ही कला बच जाती है। अन्न अन्नाद के भीतर ही प्रविष्ट हो जाता है। इसी अभिप्राय से ब्रह्मा का एक सिर काट दिया गया यह आख्यायिका पुराणों में कही गई है।

अस्तु वह प्रसङ्गागत बात हुई। पांच अक्षर पुरुष की और पांच क्षर पुरुष की यों दस कलाएं बतलाई गई। सबकी आधार अव्यय पुरुष की ही पांच कलाएं हैं। इनके नाम आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् हैं। ये सब जगह व्याप्त समझने चाहिए। इनके साथ परात्पर पुरुष की एक कला मिलाकर एक षोडशी प्रजापति कहलाता है। वह ही हमने पहले परमेश्वर पद से लिखा है। भगवान् कृष्ण आधिकारिक जीव कहे गये हैं। आधिकारिक जीव का लक्षण यह होता है कि जिनमें ईश्वरत्व और जीवत्व ये दोनों लक्षण पाए जायं। इसीलिए भगवान् कृष्ण प्रायः जीव रूप में ही रहते थे और समय-समय पर अपना ईश्वर रूप भी प्रकट कर दिया करते थे। प्रकृत पद्य में परोक्ष रूप से अपना वर्णन भगवान् कृष्ण ने इसीलिए किया है। अन्यत्र भगवद्गीता में— 'मामेव शरणं ब्रज' 'अहंकर्ता च भोक्ता च' इत्यादि रूप से ही भगवान् ने अपना प्रत्यक्ष रूप से परिचय दिया है किन्तु यहाँ 'ईश्वरः सर्वभूतानां' 'तमेव शरणं गच्छ' इत्यादि परोक्ष रूप से ही परिचय दिया है। इसका भी यही आशय हो सकता है कि यहाँ आधिकारिक पुरुष के रूप में ही अपना दिग्दर्शन कराया। आधिकारिक पुरुष के सम्बन्ध में वेदान्त सूत्रों में यह कहा गया है कि

### ‘यदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्’

अर्थात् अधिकारिक पुरुष अपने अधिकार पर्यन्त अवस्थित रहते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् कृष्ण जब तक उनकी इच्छा थी तब तक अवस्थित रहे और भक्तों के हृदयदेश में तो सदा ही विराजमान रहते हैं।

अस्तु यह भगवान् कृष्ण के सम्बन्ध में प्रसङ्गागत चर्चा हुई। अब यह भी समझना चाहिए कि पांच मंडल जो पुण्डरीर नाम से कहे गए हैं उनमें प्रत्येक पुण्डरीर का अधिष्ठाता अक्षर पुरुष भी एक-एक मंडल का अधिष्ठातारूप से अवान्तर ईश्वर कहा जाता है यह भी जान लेना आवश्यक है कि ईश्वर के सृष्टि करने में पुरुष प्रकृति और शुक्र नाम के तान पदार्थों की आवश्यकता हुआ करती है और वे तीनों एक ही रूप हैं जैसा कि श्रुति में कहा गया है कि—

### ‘तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते’

अर्थात् शुक्र ब्रह्म और अमृत एक ही है। यहाँ ब्रह्मपद से प्रकृति कही जाती है और अमृत पद से पुरुष कहा गया है। शुक्र किस प्रकार उत्पन्न होता है और क्या उसका स्वरूप है इसका वर्णन ईशावास्योपनिषद् एवं अन्य उपनिषदों में भी प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार श्रीविद्यावाचस्पति जी के ग्रन्थों के आधार पर यह परमेश्वर विश्वेश्वर और अधिकारिकेश्वर आदि का अति संक्षिप्त वर्णन यहाँ कहा गया। सांसारिक जीव और अगतिक जीव ये तो सब जगह पुराण धर्मशास्त्र आदि में वर्णित हैं ही उनका प्रसङ्ग बताने की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ईश्वर के ये रूप पाठकों को हृदयंगम कर लेना आवश्यक समझकर यह संक्षिप्त वर्णन भी यहाँ कर दिया गया। अब यहाँ एक शंका यह उपस्थित होती है कि ईश्वर ही जब सबको यन्त्रारूढ़कर घुमाता है तो फिर मनुष्य को भला बुरा करने का उपालम्भ क्यों दिया जाय वह तो ईश्वर के परतन्त्र है जैसा वह नचाता है उसी प्रकार के कर्म करता है फिर जीव को भला-बुरा कहने की आवश्यकता ही क्या, वह तो एक प्रकार कठपुतली जैसा है। कठपुतली को हम भलाबुरा नहीं कह सकते। इसी प्रकार जीव को भी भलाबुरा कहना उचित प्रतीत नहीं होता और यही क्यों जीवधारी को अपने भले-बुरे कर्मों का फल भी क्यों दिया जाय, क्योंकि वह तो ईश्वर ने जैसी प्रेरणा की वैसा ही करता था, फिर इसमें उसका दायित्व ही क्या ? कदाचित् यह कहा जाय कि ईश्वर पूर्व कर्मों के अनुसार ही प्रेरणा देता है तो यह भी उचित नहीं होगा क्योंकि श्रुति में यह भी लिखा है कि जिसको ईश्वर उन्नत करना चाहता है उससे अच्छे कर्म करवाता है और जिसे नीचे

ढकेलना चाहता है उससे बुरे कर्म करवाता है, इस श्रुति के अनुसार तो जीव का दायित्व कुछ भी नहीं रह जाता फिर उसे भले-बुरे का परिणाम क्यों भुगताया जाय। दूसरी बात यह भी है कि पूर्व कर्म के अनुसार ही उत्तर कर्मों की प्रेरणा ईश्वर द्वारा मिलेगी तो एक बार जो असाधु कर्मकर गड्ढे में गिर चुका उसे तो फिर उठने का मौका नहीं मिल सकता और जो एक बार उन्नत हो चुका उसे गिरने का मौका नहीं मिल सकता। किन्तु हमारे पुराणादि में तो ऐसा नहीं मिलता। वहाँ तो अच्छे काम करने वालों से भी कुछ बुराई हो जाती है और बुरे कर्म करने वालों से भी कुछ अच्छे काम बन जाया करते हैं उनका फल भी उन्हें अच्छा या बुरा मिला करता है ऐसा वर्णन मिलता है। इसका समाधान लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता रहस्य' में यह किया है कि ईश्वर के आधीन रहने पर भी जीव को कुछ स्वतन्त्रता रहती है। उस स्वतन्त्रता की झलक जब आवे वही समय ऐसा होता है कि जीव अपने को उन्नत बनावे वा नीचे गड्ढे में गिरावे। इसलिए जीव को सावधान रहना चाहिए कि जब स्वतन्त्रता की झलक आवे तब वह अपने को उन्नति मार्ग में लगाए। इसीलिए जीव को अच्छे बुरे का उपालम्भ भी दिया जाता है और उसे अच्छे बुरे कर्मों का फल भी मिलता है। मानों ईश्वर ही कुछ ऐसी स्वतन्त्रता की झलक समय-समय पर देता है कि उस समय वह चाहे तो अपने को उन्नत कर ले और चाहे नीचे ढकेल ले ऐसी ईश्वर की ओर से ही परीक्षा की प्रेरणा मिला करती है।

वेदान्त दर्शन के 'पञ्चदशी' ग्रन्थकार ने तो कारण शरीर को ही ईश्वर कहा है और सूक्ष्म शरीर को जीव कहा है। कारण शरीर की प्रेरणा से ही सूक्ष्म शरीर सब प्रकार के भले-बुरे काम किया करता है और कारण शरीर पूर्व-पूर्व के संस्कारों के अनुसार ही प्रेरणा देता है ऐसा होने पर भी सूक्ष्म शरीर में भी इतनी स्वतन्त्रता है ही कि वह सुसंगति से सुमार्ग पर लग जाय या कुसंगति से गिरने के मार्ग पर लग जाय। इसी प्रकार के इस प्रश्न के समाधान शास्त्रों में मिलते हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य सब व्याख्या में प्रकट कर दिए गए अब उनकी संक्षिप्त आलोचना की जाती है। तत्त्व प्रकाशिका ने यह प्रश्न तो उठा दिया कि इस पद्य का पूर्व के पद्यों से विरोध प्रतीत होता है किन्तु उसका समाधान वे भली प्रकार न कर सके। अब भगवद्गीता में कर्म मार्ग, उपासना मार्ग और ज्ञान मार्ग तीनों का ही उपदेश है उनमें कर्मवाद के अनुसार तो यह प्रस्तुत पद्य का अर्थ होना चाहिए कि अध्याय के आरम्भ में जब अर्जुन ने संन्यास और त्याग का आशय पूछा था तो भगवान् ने यही उत्तर दिया था कि—

“काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥”

इसका आशय स्पष्ट है कि काम्य कर्मों के परित्याग का नाम संन्यास है और सब कर्मों का फल छोड़ देने का नाम त्याग है। प्रस्तुत पद्य में—‘सर्व धर्मान् परित्यज्य’ यहाँ परित्यज्य पद से त्याग भी कहा गया है। इसलिए यही आशय होगा कि सब कर्मों के फल का त्याग कर दो। इस पर श्री शंकरानन्द जी ने जो लक्षणा का दोष दिया है वह लागू नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान् ने जब स्वयं त्याग शब्द का अर्थ परित्याग बतलाया तब लक्षणा की आवश्यकता ही क्या। भगवद्गीता में जो उपदेश है उनका तो अर्थ भगवान् के कथनानुसार ही करना चाहिए अन्यथा ही लक्षणा का प्रसंग आवेगा। इसलिए कर्म मार्ग में यही अर्थ ठीक घटित होगा कि सब कर्मों का फल छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ।

उपासना मार्ग में ‘तत्त्व प्रकाशिका’ का कथन ही ठीक है कि सब धर्म कर्मों का फल इस ईश्वर की शरण में जाना ही है। जब ईश्वर शरण प्राप्त हो गयी तो फिर भी धर्माचरण करते रहने का तात्पर्य तो ऐसा ही होगा कि जैसे कोई मनुष्य रेलगाड़ी पर चढ़कर अपने अभीष्ट स्थान पर जाता है, वह अभीष्ट स्थान प्राप्त करके भी रेलगाड़ी के मोह से उसमें ही बैठा रहे तो फल यह होगा कि इधर-उधर भटकता रहेगा कभी गन्तव्य स्थान को प्राप्त ही नहीं कर सकेगा। इसलिए ईश्वर की शरणागति प्राप्त हो जाने पर सब धर्मों का फल मिल गया समझकर, अनन्तर सब धर्मों का परित्याग ही कर देना न्याय प्राप्त है।

ज्ञान काण्ड के अनुसार यह अर्थ होगा कि आत्मा में जो कर्तृत्व, भोतृत्व आदि धर्मों का तुमने अपने अज्ञानवश आरोप कर रक्खा है उन आरोपित धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ। यह आशय श्रीनीलकण्ठ ने प्रकट किया है। यही ठीक है। इस प्रकार इस पद्य की तीनों कर्मोपासना और ज्ञान में व्याख्या भी हो जाती है और कोई पूर्वापर विरोध भी नहीं प्राप्त होता।



## छिहत्तरवां-पुष्प

### “ भारतीय दर्शन शास्त्रों में परमतत्त्व ”

जड़ चेतन दो विभागों में विभक्त संसार में चेतना सम्पन्न प्राणिवर्ग की प्रधानता रहती है, यही सर्वानुभव सिद्ध है। जड़ जगत् चेतन प्राणिवर्ग का व्यवहार सम्पादित करने के लिए, उसका उपकरण स्वरूप बनता है। यह बात हम लोगों के प्रतिदिन के व्यवहार से सुस्पष्ट सिद्ध हो जाती है। चेतन वर्ग में भी मनुष्य सबसे प्रधानता रखता है क्योंकि जड़ जगत् की भांति अन्य प्राणियों से भी यह अपने व्यवहार में उपयोग लेता है। गो-महिषी आदि दुग्ध अन्न आदि विविध पदार्थों के उत्पादन द्वारा मानवीय उपयोग में आते हैं। घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि प्राणी इसके वाहन का काम देते हैं। शुक, कोकिल आदि पक्षी विनोद का साधन बनते हैं। यहाँ तक कि कुत्ता बिल्ली ही नहीं सिंह व्याघ्रादि को भी किसी न किसी प्रकार यह अपने उपयोग में ले ही लेता है। मनुष्य की इस प्रधानता का मूलकारण क्या है इस पर विचार करने से ज्ञान शक्ति ही इसका मूल दिखाई देगी। मनुष्य में ज्ञान शक्ति अन्य समस्त प्राणि जगत् की अपेक्षा बहुत अधिक है। यही शक्ति अपने प्रभाव से इसे सर्वोच्च बना रही है, ज्ञान के बल पर ही, यह जड़ चेतन वर्ग से अपना काम निकालता रहता है, इसीलिए इस शक्ति के परिवर्तन की इच्छा भी इसे निरन्तर बनी रहती है। उसी इच्छा को संस्कृत भाषा में जिज्ञासा कहा जाता है। इस जिज्ञासा वा ज्ञान को हमारे पूर्वचार्यों ने तीन भागों में विभक्त किया है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। अपने सम्बन्ध में भी बहुत लोगों को अनेक बार जिज्ञासा हो जाती है कि, हम क्या हैं ? कहाँ से आए ? इस हम के भीतर क्या क्या तत्त्व हैं इत्यादि। इस जिज्ञासा वा इसके निवर्तक ज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान कहा जाता है। बाह्य पृथ्वी जल वा अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में जो जिज्ञासा हो, उस जिज्ञासा वा उसके निवर्तक ज्ञान को आधिभौतिक कहते हैं। और आकाश के सूर्य, चन्द्र नक्षत्र आदि की जिज्ञासा वा ज्ञान को आधिदैविक पद प्राप्त है। इस स्थूल जगत् के अतिरिक्त इसके परिचालक सूक्ष्म जगत् के तत्त्व भी देवपद से ही कहे जाते हैं और उनका ज्ञान भी आधिदैविक में ही अन्तर्गत है। इनमें आध्यात्मिक ज्ञान को दर्शन पद से कहा जाता है। मनुष्य के हृदय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अपने सम्बन्ध में भी उसे अनेक बार जिज्ञासा हो उठती है। उसी का समाधान दर्शनों में किया जाता है कि हम क्या हैं, कहाँ से आए, वा इस हम के भीतर क्या क्या तत्त्व अन्तर्गत हैं इत्यादि। इस आध्यात्मिक ज्ञान ने भारतवर्ष में बहुत पुराने समय से बहुत बड़ी उन्नति की थी। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि, हमारी संस्कृति

का मूल आध्यात्मिक ज्ञान ही है। भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है और स्वर्गीय लोकमान्य तिलक महोदय ने अपने गीता रहस्य में इसका विस्तृत निरूपण किया है कि आधिभौतिक वा आधिदैविक आधार पर किया गया धर्म विचार अधूरा रहता है आध्यात्मिक विचार के आधार पर ही धर्म की पूर्णता होती है। अतः आध्यात्मिक विद्या के प्रदाता दर्शन शास्त्र हमारी संस्कृति के मूल आधार हैं इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। अच्छा तो अब हमें पहले दर्शन शब्द के अर्थ पर ही विचार करना चाहिए।

दर्शन शब्द का अर्थ है देखना वा देखने के साधन। इसका मूल 'दृश' धातु आरम्भ में चाक्षुष ज्ञान के लिए व्यवहार में आया था। किन्तु आगे चाक्षुष ज्ञान के समान जो विस्पष्ट ज्ञान हो, उस अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा, धीरे धीरे ज्ञान सामान्य के अर्थ में भी आ गया। इसलिए अब दर्शन शब्द से तीनों प्रकार के अर्थ लिए जा सकते हैं। चाक्षुष ज्ञान, उसके साधन, विस्पष्ट ज्ञान उसके साधन और सामान्यतः ज्ञान, उसके साधन। किसी गम्भीर वस्तु के ज्ञान से पूर्व एक प्रकार का मनन वा विचार आवश्यक होता है इसलिए विचार, मत वा मन की प्राथमिक प्रवृत्ति को भी दर्शन शब्द से कई जगह व्यक्त किया गया है। यों तो सब ही शास्त्र ज्ञान के साधन हैं। यदि किसी प्रकार का ज्ञान न दे, तो फिर वह शास्त्र ही क्या ? इस विचार से सभी शास्त्रों का सामान्य नाम 'दर्शन' होना चाहिए। किन्तु आत्मा, ईश्वर, आदि अति गूढ़ तत्त्वों के ज्ञान वा उसके साधन में ही 'दर्शन' शब्द निरूढ़ हो गया है। इसका कारण यह है कि वेदों में—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि रूप से आत्मा के दर्शन का विधान पाया जाता है। आत्मा का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष तो कभी हो ही नहीं सकता, तब यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ विस्पष्ट ज्ञान ही मानना पड़ता है। उस विस्पष्ट ज्ञान के साधन श्रुति में ही बतलाए गए हैं—श्रोतव्यः, मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। इस श्रुति का विवरण आचार्यों ने इस प्रकार किया है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।

मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥

अर्थात् पहले श्रुति के वाक्यों से वाक्यार्थ विचार कर आत्मा आदि तत्त्वों का श्रवण करना, फिर उन तत्त्वों का अपने मानसिक बल के अनुसार युक्ति पूर्वक मनन वा विचार करना और युक्तियों से जब वह सुनी हुई बात जम जावे तो उसका निरन्तर ध्यान करना, अर्थात् चित्तवृत्ति को निरन्तर उसी ओर लगाना। इन साधनों से 'दर्शन' अर्थात् विस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। फिर उस ज्ञान को कोई डिगा नहीं सकता। जैसे प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तु में किसी प्रकार का, संदेह वा भ्रम हमें कभी नहीं होता, इसी

तरह असंदिग्ध और अभ्रान्त ज्ञान जब आत्मा वा ईश्वर का हो जाय, तो उसे दर्शन के समान ही मानकर वहाँ प्रत्यक्ष वा दर्शन शब्द का ही व्यवहार करते हैं, और उसके साधनों को भी दर्शन की संज्ञा देते हैं।

दर्शन वा साक्षात्कार के उक्त तीनों साधनों में निदिध्यासन या समाधि तो केवल मन का व्यापार है। वह वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता। हाँ उसके साधनों का क्रम योग दर्शन में अवश्य बतलाया गया है। किन्तु वह सब क्रिया से सम्बन्ध रखता है—वाणी के व्यापार-मात्र से नहीं। श्रवण-मनन, इन दोनों में मनन अर्थात् युक्ति पूर्वक मूल विषयों को सोचना साक्षात्कार अर्थात् विस्पष्ट ज्ञान के लिए अधिक उपयोगी होता है। इस कारण आत्मा आदि तत्त्वों पर मनन अर्थात् उसपर युक्ति प्रधान विचार करने वाले शास्त्रों का ही नाम दर्शन पड़ा है।

दर्शन शास्त्रों ने क्रम से सूक्ष्म तत्व में प्रवेश कराया है वेदान्त में इसे 'अध्यारोपापवाद' नाम से भी कहा गया है। अर्थात् एक-एक जगह आरोप से पहले आत्मरूपता का ग्रहण कर, फिर वहाँ उसका निषेध करते जाना और अन्त में मुख्य तत्व पर पहुँच कर विश्राम लेना।

छः दर्शनों की गणना कई प्रकार से की जाती है। किन्तु इस क्रम में चार्वाक, बौद्ध, जैन, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्त इस प्रकार की गणना का विशेष उपयोग है। न्याय सब दर्शनों का पूर्वाङ्ग है। उसमें तर्क करने की पद्धति बताई जाती है और योग सब दर्शनों का उत्तराङ्ग। उसमें मनन के अनन्तर निदिध्यासन अर्थात् चित्त की समाधि का प्रकार बताया जाता है। इसलिए इन दोनों को क्रमिक श्रेणी में गिनना उचित नहीं होता। इसी प्रकार पूर्व मीमांसा वाक्यार्थ निश्चित करने की प्रक्रिया बतलाती है। उसका श्रवण में ही उपयोग है। मनन विषय उसमें प्रासङ्गिक बहुत अल्प आता है। इसलिए मनन प्रधान दर्शनों की श्रेणी में उसको भी स्थान देना उपयुक्त नहीं होता। हाँ, उत्तर मीमांसा में दोनों विषय प्रधान हैं, वह उपनिषदों के वाक्यार्थ की प्रक्रिया भी बताती, और आत्मा आदि तत्त्वों पर युक्ति पूर्वक मनन भी कराती है। इसलिए उसे वेदान्त नाम से दर्शनों की श्रेणी में अन्तिम स्थान दिया जाता है। वहाँ जाकर विचार की समाप्ति हो जाती है। उससे आगे विचार का कोई स्थान नहीं रहता इसलिए उसे वेदान्त कहते हैं—वेद अर्थात् ज्ञान का अन्त अर्थात् पर्यवसान जहाँ से आगे ज्ञान की सीमा न बढ़ सके।

अच्छा तो अब इसका क्रम देखिए ! पहले दर्शन चार्वाक को 'लोकायत' कहते हैं। लोक प्रचलित विचारों को ही यह दर्शन रूप देता है। सर्व साधारण लोग शरीर

को ही अपना स्वरूप मानते हैं। इसके अतिरिक्त कोई आत्मा उनके विचार में नहीं आता। इसलिए चार्वाक भी शरीरात्मक वादी है। हाँ, इतना अवश्य है कि, सर्वसाधारण लोग अपने व्यवहार में स्त्री-पुत्र बल्कि धन, सम्पत्ति आदि को भी अपने स्वरूप के अन्तर्गत मान लेते हैं। इसलिए इनकी विपत्ति वा इनका ह्रास होने पर अपनी ही विपत्ति वा ह्रास मानते हैं। उन सब पर से आत्म भाव को चार्वाक हटा देता है, इतना आत्म पदार्थ का संकोच वह भी करता है, सब प्रकार के व्यवहार के निर्वाहक और अहं (मैं) पद का वाच्यार्थ शरीर ही रहता है। यही शरीर को आत्मा मानने की युक्ति है। ज्ञान के साधन इन्द्रियों को आत्मा कहना या शरीर के परिचालक प्राण को आत्मा कहना, ये सब चार्वाक, दर्शन के ही अवान्तर भेद हैं। इससे आगे बौद्ध कुछ सूक्ष्मता की ओर बढ़ाते हैं। वे कहते हैं कि यदि शरीर ही आत्मा हो तो, जड़ चेतन का विभाग न संसार से उठ जाए। क्योंकि जिन पृथ्वी आदि तत्वों से बाहर के पदार्थ बनते हैं, उनसे ही शरीर भी बनता है, फिर बाहर के पत्थर मिट्टी आदि से हममें भेद ही क्या रहा। भेद इतना ही बताना होता है कि हमको ज्ञान है, मिट्टी पत्थर आदि को ज्ञान नहीं, इसलिए जड़ और चेतन के भेदक ज्ञान को ही आत्मा कहना चाहिए, शरीर मात्र को नहीं। ज्ञान क्षण-क्षण में बदलता रहता है। हमें कभी वृक्ष का ज्ञान होता है, कभी मनुष्य का, कभी कुत्ते का, कभी मिट्टी, पत्थर का। इसलिए आत्मा को भी क्षणिक ही मानना चाहिए स्थिर नहीं। क्षणिक होने पर भी उसकी एक धारा है, इसलिए चेतनता विलुप्त नहीं होती। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी के प्रवाह में हमारे सामने का जल प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस क्षण में जो जल हमारे सामने है, वह दूसरे क्षण में नहीं रहेगा। किन्तु कोई जल दूसरे क्षणों में भी हमारे सामने रहेगा। यों प्रतिक्षण बदलता हुआ भी, कोई जल हमारे सामने बना ही रहता है। इसी को 'प्रवाह नित्यता' कहते हैं। इस तरह आत्मा को भी प्रवाह नित्य समझना। यों इस दर्शन में आत्मा को शरीर से भिन्न बता दिया, किन्तु उसे भी अनित्य रखा।

इससे आगे जैन दर्शन की पारी आई वह कहता कि यों प्रतिक्षण ज्ञान बदलता जाए तो कल या परसों देखी हुई वस्तु का ज्ञान हमें कैसे हो। जिससे देखा वह तो रहा नहीं, अब याद कौन करे। इसलिए आत्मा को स्थिर भी मानना चाहिए, और बदलता हुआ भी वह नित्य भी है, और अनित्य भी है। द्रव्य रूप से नित्य है, और पर्याय वा अवस्था रूप से अनित्य भी है। इस प्रकार कुछ स्थिरता की ओर झुकाकर 'स्याद्वाद' जैन दर्शन ने स्थापित किया। यहाँ आत्मा शरीर से अतिरिक्त भी हुआ, और एक प्रकार से स्थिर या नित्य भी।

इसके आगे वैशेषिक दर्शन आता है। जिसके आचार्य 'कणाद' हैं। इसे न्याय भी कहते हैं। वह कहता है कि, एक ही वस्तु नित्य, और अनित्य, स्थिर और बदलने वाली दोनों प्रकार की हो—यह समझ में नहीं आता। यदि नित्य है तो अनित्य कैसे? और अनित्य है तो नित्य कैसे ? इसलिए स्थिर और बदलने वाली दोनों वस्तुओं को भिन्न-भिन्न मानना चाहिए। आत्मा स्थिर वा नित्य है, और बदलने वाले ज्ञान (इच्छा सुख दुःखादि) इसके गुण हैं। गुण बदलते रहते हैं, किन्तु आत्मा सदा स्थिर एक और नित्य है। गुणों के बदलने से उसकी नित्यता में कोई बाधा नहीं पड़ती। जैसे एक किसी कपड़े को कभी हमने पीला रंग दिया, कभी धोकर साफ कर लिया, फिर लाल रंग डाला फिर सफेद बना लिया। इस प्रकार पीत, रक्त, श्वेत आदिगुण उसके बदलते गए, किन्तु कपड़ा वही रहा। इस तरह ज्ञान, इच्छा, सुख आदि गुणों के बदलते रहने पर भी आत्मा एक है। वह सब गुणों का आश्रय है। धर्मों का परिवर्तन होता है। आश्रयभूत धर्मों का नहीं। यों इसने आत्मा की नित्यता को प्रतिष्ठित कर दिया और शरीर इन्द्रिय वा मन से भी आत्मा को पृथक् बता दिया। मन इन्द्रिय आदि को उसका कारण मान लिया, किन्तु इन कारणों के द्वारा कर्तृत्व आत्मा पर ही इसने भी माना।

अब आगे सांख्य दर्शन आता है, वह कहता है कि जिसमें गुण होगा वह क्रिया का आधार भी बनेगा। और जिस पर क्रिया होगी वा जिसमें गुण बदलते रहेंगे, वह कुछ काल तक भले ही स्थायी दिखाई देता रहे, किन्तु नित्य वह कभी नहीं हो सकता। परिवर्तनशील का विनाश अवश्यम्भावी है। चाहे एक दिन में हो, चाहे हजार वर्ष में। ऐसा ही संसार के सब पदार्थों में देखा जाता है कि, बदलने वाला कभी, नित्य नहीं होता। आत्मा का कभी भी विनाश मान लिया जाय, तो अनादि आवागमनचक्र की उत्पत्ति नहीं बैठती। इसलिए दो मूलतः पृथक्-पृथक् ही तत्त्व मानने चाहिए। एक बदलने वाला और एक स्थायी रहने वाला। पहले का नाम प्रकृति है, और दूसरे का पुरुष। जितना कुछ कर्तृत्व है। अथवा ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, आदि गुण हैं वे सब प्रकृति में हैं। पुरुष तो कमल के पते की तरह सदा बेलाग रहता है। किन्तु चेतन वही है, उसकी चेतना के प्रतिबिम्ब से ही प्रकृति सब करती रहती है, वह पुरुष के सन्निधान मात्र से ही प्रकृति का उपकारक है। उसे चैतन्य दे देता है। क्योंकि उसके स्वरूप में कभी भी कोई विकार नहीं होता। जैसे जल पर सूर्य का प्रतिबिम्ब गिरने से जल चमक उठा, उस चमक के कारण, वह भी बाह्य दृष्टि से चमकदार सा प्रतीत होता है और इधर उधर अपना प्रकाश भी दिखाने लगता है। जल के प्रकम्पित होने पर, जल का सूर्य भी प्रकम्पित होता हुआ दीख पड़ेगा, किन्तु बिम्ब भूत असली सूर्य पर इस प्रकम्पन का, कोई प्रभाव नहीं। इस प्रकार प्रकृति में प्रतिबिम्बित चैतन्य, ज्ञान

सुख आदि का, आश्रय प्रतीत होता है। किन्तु मुख्यचेतन पुरुष में इन धर्मों का, कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जब तक वह प्रकृति के साथ है, तब तक संसारी प्रतीत होता है। प्रकृति को छोड़ते ही वह, नित्य मुक्त है, आत्मा की सर्व रूप से नित्यता और निःसंगता सांख्य ने सिद्ध कर दी है। किन्तु प्रकृति को उसने पृथक् ही माना, और प्रकृति के धर्मों का, आरोप पुरुष पर किसी रूप में अनुभव से मानना ही पड़ा। अब अन्तिम दर्शन 'वेदान्त' उपस्थित होता है। आत्मा एक निर्धर्मक और निर्विशेष तत्त्व है। उन पर अनादि संस्कार-वश भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को हमने लाद रखा है, जैसे एक वस्तु सुवर्ण को लीजिए, वह कभी आपको एक ढेले के रूप में, कभी चिपटे रूपमें, कभी लम्बे कड़े के रूप में, कभी गोल कुण्डल के रूप में कभी प्रलम्ब हार के रूप में मिलेगा। ये सब सुवर्ण की अवस्थाएँ हैं। किन्तु जिसकी यह अवस्थाएँ हैं, वह सुवर्ण क्या है ? इसका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। सुवर्ण को जब कभी आप देखेंगे, तब किसी न किसी अवस्था में ही पायेंगे। सब अवस्थाओं से पृथक् कर सुवर्ण को आप कभी ध्यान में भी नहीं ला सकते, किन्तु यह मानना ही पड़ता है कि सुवर्ण कोई एक तत्त्व है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में मिलता है। एक धनी सद्गृहस्थ ने किसी बड़े चतुर सुनार से बड़ा सुन्दर सुवर्ण का हार बनवाया, जिसमें उसने 'सोने से उसकी गढ़ाई भारी' की कहावत को चरितार्थ कर दिया। सोने से भी अधिक द्रव्य गढ़ाई और जड़ाई में खर्च कर डाला। किन्तु दुर्दैव वश वह कभी निर्धन हो गया और उसने अपने उस भूषण को बेचने के लिए किसी सर्राफ की दुकान पर ले गया। वहाँ उसने कुल खर्च बतलाया जो आभूषण की तैयारी में लगा था। सर्राफ ने कहा ! बाबूजी गढ़ाई की बात तो जाने दीजिए, असली सोने का दाम ले लीजिए। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार में भी साधारण लोग असली वस्तु मूलतत्त्व को ही मानते हैं। ऊपर की अवस्थाओं को झूठा कल्पित समझते हैं। इसी प्रकार मनन करते जाओ तो इस परिणाम पर पहुँच सकोगे कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि सब ऊपर से लादी हुई अवस्थाएँ हैं। मूलतत्त्व एक ही है।

जो सब जगत् का मूलतत्त्व है, उसमें और हमारे शरीर इन्द्रिय आदि को चलाने वाले मूलतत्त्व में भी कोई अन्तर नहीं हो सकता। क्योंकि निर्धर्मक वस्तु में अन्तर वा भेद कहें ही किस आधार पर ? अन्तर तो अवस्थाओं में ही दिखाई देता है। सब अवस्थाओं से परे रहनेवाले मूलतत्त्व में भेद आया ही कहाँ से ? बस इसलिए सर्व खल्विदं ब्रह्म अयमात्माब्रह्म, यह सब कुछ ब्रह्म ही है। हम जिसे आत्मा कहते हैं, वही ब्रह्म है। कर्तृत्व वा गुण अनादि संस्कारवश आरोपित मात्र हैं। असली तत्त्व को समझकर इन आरोपित धर्मों को पूरी तरह निःसार वा मिथ्या समझ लेना ही कृतकृत्यता है। बस, यही ज्ञान की समाप्ति है।

अब विचारशील विद्वान् पाठक देखेंगे कि दर्शनों ने किस प्रकार स्थूलता से उठाकर अत्यन्त गहन सूक्ष्मतत्त्व में हमें पहुँचा दिया। इन दर्शनों ने केवल सीढ़ी का काम किया, परस्पर विरोध वा झगड़े की इसमें कोई बात नहीं। यों शनैः शनैः सूक्ष्मतत्त्व को बुद्धि में जमा देना ही भारतीय दर्शन शास्त्रों की विशेषता है। और ये क्रम से ज्ञान मार्ग में बढ़ाने वाले हैं, विरोध सिखाने वाले नहीं।

इस क्रमिक परम्परा से सिद्ध हुआ कि अद्वैतवाद एकात्मवाद ही भारतीय संस्कृति में परमतत्त्व माना जाता है। यह सम्पूर्ण विश्व भगवान् का ही रूप है, यह जानकर भारतीय संस्कृति की नींव डाली गई है। राग-द्वेष रहित होकर लोक हित कामना से कर्म करना यह कर्म योग—

**सियाराम मय सब जग जानी ।**

**करहुँ प्रणाम जोरि युग पानी ॥**

यह भक्ति योग की पराकाष्ठा, और “सर्वं खल्विदं ” यह ज्ञान योग का परतत्त्व सब एकात्मवाद पर ही अवलम्बित है। आधुनिक सभ्यता में पले हुए बहुत से विद्वान् समझते हैं, कि देश हित पर अपना बलिदान हमें पाश्चात्य सभ्यता ने ही सिखाया है। किन्तु यह भारी भूल है, इसका मूल स्रोत भारत ही है, क्योंकि इसका आधार एक आत्मवाद ही है। देश के वा देशवासी अन्य व्यक्तियों के हित के लिए हम अपने हित का त्याग क्यों करें, इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर पाश्चात्य संस्कृति के पास नहीं, वहाँ के विद्वान् इस प्रश्न का इतना ही उत्तर देते हैं कि, प्राणिमात्र में इस प्रकृति का प्रभाव देखा जाता है, यह एक ‘ह्यूमन नेचर’ ही नहीं प्राणिमात्र की नेचर है। अत्यन्त क्रूर प्रकृति के सिंह व्याघ्र आदि भी अपने बालकों के लिए, अपना भोज्य आदि छोड़ते देखे जाते हैं। किन्तु यह नेचर क्यों बनी इसका उत्तर वे कोई नहीं दे पाते, भारतीय दर्शन ही इसका मुख्य उत्तर देता है, कि सब में व्याप्त आत्मा एक है, इसलिए जिसे परोपकार कहा जाता है वह परोपकार नहीं स्वोपकार वा स्वार्थ ही है। इसलिए उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति होनी ही चाहिए। जिस प्रकार हम शरीर के अधिक भाग की प्रसन्नता के लिए अल्प भाग को कष्ट भी दे लेते हैं। सब शरीर में विष न फैल जाय इसलिए विषाक्रान्त सड़ी हुई अंगुली को कटा भी डालते हैं। इसी प्रकार जनता के अधिक भाग के सुख के लिए अपने एक तुच्छ शरीर का त्याग भी युक्ति युक्त हो सकता है। अन्य प्राणियों में और स्वयं में विशेषता न समझने के कारण ही शिवि महाराज का एक कपोत की रक्षा के लिए शरीर दान वा विश्वरक्षा के लिए महर्षि दधीचि का अस्थि दान ऐसे-ऐसे दृष्टान्त भारतीय संस्कृति में ही प्राप्त होते हैं और सिद्ध करते हैं कि भारतीय संस्कृति

दार्शनिक मूल तत्त्व पर ही अवलम्बित है और इसी कारण मोक्ष को ही भारतीय संस्कृति में परम पुरुषार्थ माना गया है उसके साधन रूप से त्रिवर्ग का अनुष्ठान है। मोक्ष की सिद्धि अहंकार के त्याग पर ही अवलम्बित है और अहंकार का त्याग ही पद-पद में धर्म भी सिखाता है। हमारे प्रत्येक धार्मिक संकल्प के अन्त में 'न मम' यह जो पद बोला जाता है, उसी से सिद्ध है कि ममता और उसकी मूलभूत अहंता का त्याग ही हमारे धर्म कार्य का लक्ष्य है। अर्थ और काम सेवन भी अहंकार रहित होकर ही भारतीय संस्कृति में सिखाया जाता है।

संक्षिप्त आशय यही है कि, धर्म-अर्थ प्राप्ति के लिये नहीं, मोक्ष साधन के लिए होना चाहिए, और अर्थ का उपयोग कामसिद्धि के लिए, धर्मानुष्ठान के लिए होना चाहिए। काम का सेवन भी इन्द्रियों की तृप्ति के लिए नहीं, किन्तु केवल जीवन रक्षा के उद्देश्य से होना उचित है और जीवन रक्षा केवल सांसारिक कार्यों के लिए नहीं तत्त्व जिज्ञासा के लिए होनी चाहिए। यहाँ तक हमने अपने आत्मा अर्थात् जीवात्मा के सम्बन्ध से दर्शनों की परम्परा का दिग्दर्शन किया। अब परमात्मा के सम्बन्ध से भी दर्शनों के क्रम पर विचार करना चाहिए। पूर्वोक्त परम्परा के अन्त में कहा जा चुका है कि, दर्शन शास्त्र अन्त में जहाँ पहुँचाते हैं, वह हमारे शरीर का मूल तत्त्व और सम्पूर्ण प्रपंच का मूल तत्त्व पृथक्-पृथक् नहीं, मूल तत्त्व सबका एक ही है। यह भी कहा जा चुका है कि निर्गुण निर्धर्मक, होने के कारण उसका कोई वर्णन नहीं हो सकता। किन्तु बिना निर्देश के उसके सम्बन्ध में कुछ कहा भी कैसे जाय, उसका निरूपण वा उपदेश कैसे किया जाय, इसलिए व्यापार चलाने को श्रुति और दर्शनों ने ब्रह्म नाम से उसका व्यवहार किया। वह ब्रह्म सीमा रहित है। दिशा-देश व काल के द्वारा उसकी कोई सीमा नहीं हो सकती। वह नित्य और अखण्ड है, उसमें किसी प्रकार का धर्म व गुण नहीं, धर्म व गुण तो पीछे पैदा होते हैं ? वे जगत् की वस्तु हैं, उनका मूल तत्त्व में कहाँ सम्भव, निस्सीम में कोई क्रिया वह हरकत भी नहीं हो सकती। अतः हलचल से शून्य एक आत्म तत्त्व है। परन्तु इस प्रकार के तत्त्व के बिना क्रिया व गुण वाले तत्त्व से प्रपंच कैसे बन गया, यह एक पहेली है। इसका समाधान यही हो सकता है कि उसमें इस प्रकार की अचिन्त्य शक्ति व अपरिमित बल है, जिसके कारण वह अनन्त प्रपंचों की रचना कर डालता है, शक्ति व बल पृथक् नहीं गिना जाता। अग्नि की शक्ति को अग्नि से पृथक् कोई नहीं गिनता। जिन वैज्ञानिक तत्त्वों का आजकल अविष्कार होता है उसमें भी किसी न किसी प्रकार की शक्ति अवश्य होती है, किन्तु उस शक्ति की पृथक् गिनती कभी नहीं की जाती इसलिए शक्ति सहित मूल तत्त्व एक ही माना जाता है, दो नहीं।



उस शक्तिमान और शक्ति को रस और बल, ज्ञान, तथा कर्म व ब्रह्म और माया कहा जाता है। वह सबके अनुकूल ही है, किसी के प्रतिकूल नहीं। अपने ही बनाए हुए तत्त्वों से वह प्रतिकूल कैसे हो ! और वह यदि प्रतिकूल हो तो उस तत्त्व व पदार्थ का जन्म ही कैसे हो। इस सबकी अनुकूलता के कारण उसे आनन्द रूप मानते हैं। उसी का परिचायक रस यह नाम है, वह स्वयं विचार पूर्वक सब प्रपञ्च की रचना करता है, किसी दूसरे चेतन की प्रेरणा से नहीं, यदि वह जड़ होता तो उसकी प्रेरणा के लिए कोई दूसरा चेतन अपेक्षित होता, क्योंकि कोई जड़ पदार्थ बिना चेतन की प्रेरणा के व्यवस्थित काम करता हुआ नहीं देखा जाता। किन्तु उसका कोई प्रेरक नहीं इस आधार पर उसे ज्ञान शब्द से कहा जाता है, और वही अपनी सत्ता सब पदार्थों में देता है या यों कहें कि सत्ता रूप से सबमें अनुप्रविष्ट होता है। स्वयं विनष्ट न होता हुआ भी इतने प्रपञ्च रच देता है, इसलिए 'बृंहण' व विकास शील होने के कारण उसे ब्रह्म शब्द से भी कहते हैं।

बल शक्ति और क्रिया एक ही वस्तु के रूपान्तर हैं जब वह प्रसुप्त दशा में रहे तो बल कहते हैं। जागरित होकर कर्म में उद्यत होने की दशा में शक्ति और कार्य रूप में परिणत हो जाने पर उसे ही क्रिया कहा जाता है। यह बल व शक्ति भी अनन्त है, यह तो मानना ही पड़ेगा। क्योंकि, अशक्त रस कभी भी हो तो उसके रहने का प्रमाण ही क्या मिले ? शक्ति से ही तो उसकी विज्ञापना होती है। किन्तु बल व शक्ति में निस्सीमता नहीं है। सीमाबद्ध खण्डों के रूप में संख्याकृत अनन्तता उसमें है, अर्थात् खंड-खंड रूप में वह सम्पूर्ण रस में व्याप्त रहती है, और स्वयं सखण्ड होने के कारण, वह अखण्ड रस को भी खण्ड रूप में दिखा देती है। जैसे अनन्त आकाश वृक्षों व दिवारों के घेरे में आकर पृथक् सा प्रतीत होने लगता है वा बहुत प्रदेश में व्यापक, समुद्र के जल को एक-एक लहर खण्ड-खण्ड रूप में दिखा देती है। इसी प्रकार निस्सीम अनन्त रस व ब्रह्म को यह शक्ति अपनी सीमाबद्धता के कारण, सीमा बद्ध सा बना देती है, इसी आधार पर इसे माया कहा जाता है।

संस्कृत भाषा में मा धातु का अर्थ माप-सीमा-हद बन्दी है। इसलिए जिसके द्वारा सीमा बांधी जाय, जो सीमा बन्धन का कारण हो, उसे माया कहना अर्थानुगत है। असीम की सीमा इसने कैसे कर डाली, व जब एक ही तत्त्व था तो, यह शक्ति कहाँ से निकल पड़ी, यह बात समझ में नहीं आती। इसी आधार पर समझ में न आने वाली, सभी अद्भुत क्रियाओं को माया कहने का प्रचार चल पड़ा। सब क्रियाओं का मूल होने के कारण, कर्म शब्द से भी इसे कहा जा सकता है। एक प्रकार से विचार करने से यह शक्ति व माया उस रस व ब्रह्म से विरुद्ध स्वभाव की प्रतीत होती है,

वह निस्सीम है, यह ससीम, वह एक है यह अनन्त, वह सदा एक रूप रहता है यह प्रतिक्षण बदलती है इसलिए इसे उसके स्वरूप में अन्तर्गत तो मान नहीं सकते, किन्तु है यह उसी की, इसलिए इसे उसका परिग्रह (स्वीकार की हुई वस्तु) कहते हैं यह रस का प्रथम परिग्रह हुआ। सीमाबद्ध होने पर, एक के अनेक रूप हो जाते हैं निरवयव सावयव बन जाता है। अवयव व कला से रहित निष्फल तत्व, कला सहित सकल हो जाता है। जिसे हम मूलतत्त्व कह रहे हैं उसमें वास्तव में अवयव व खण्ड नहीं होते किन्तु माया के कारण खण्ड प्रतीत होने लगते हैं। स्वरूप से तो वह सदा ही अखंड है। माया ही खण्ड दिखा देती है इसलिए वे अवयव व कला 'दूसरा' परिग्रह हुआ।

जहाँ खण्ड रूपता आई कि परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यह प्रकृति का सार्वजनिक नियम है कि जिसका अंश होता है, वह अपने अंशी में सदा ही मिलना चाहता है, पृथ्वी के अंश-एक ढेले को हम ऊपर-आकाश में उछालें तो वह वहाँ न रुककर अपने अंशी व घन पृथ्वी में आकर मिलेगा। बड़े प्रवाह में से जल को एक ओर पृथक् रोकना चाहो तो वह अपने वेग से अपने घन में ही मिलने की क्रिया करता रहेगा। वायु को किसी घेरे में लेकर रोको तो वह घेरा तोड़कर अपने अंशी के साथ ही मिलेगी। इसी नियम के आधार पर निस्सीम में से जो सीमाबद्ध खण्ड व अंश निकलेंगे, वे निस्सीम में ही जाना चाहेंगे, इसे ही वैज्ञानिक लोग आकर्षण नियम कहते हैं। यों आकर्षण-विकर्षण-प्रवृत्त होने पर सत्त्व-रजस्-तमस् नाम के तीनों गुण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। जहाँ शक्ति जन्य क्रिया की आल्पता रहे, वह लघुभूत प्रकाश प्रधान अंश सत्त्व नाम से, क्रिया की बहुलता पर 'रजस्' नाम से और दो क्रियाओं का परस्पर संघर्ष होकर समान बल वाले दो पुरुषों द्वारा विभिन्न दिशाओं में खींची जाने वाली रस्सी की तरह जहाँ क्रिया-शून्यता-स दिखाई देने लगती है वहाँ 'तमस्' नाम से कहा जाता है। क्रिया ही धारा वाहिक होकर जहाँ स्थिरता ग्रहण कर लेती है, उसी का नाम गुण पड़ जाता है। इसलिए वह निर्गुण तत्व अब सगुण हो गया। यह अवश्य ध्यान रहे कि परिवर्तित न होने वाले उस मूल तत्व में कभी सगुणता नहीं आ सकती। यह सगुणता दिखाना भी माया का एक खेल है। इसलिए यह 'गुण' नाम का 'तृतीय' परिग्रह हुआ।

गुण पैदा होने पर उनमें तारतम्य व विकृति भी अवश्य हो जाती है। जैसे जल में वायु का प्रवेश होने पर एक बुद्बुदा बना और वायु और जल के परस्पर संघर्ष से कुछ शुष्कता आई तो झट विकार रूप फेन पैदा हो गया। इसी प्रकार बीज और जल का मिश्रण होने पर सूर्य और पृथ्वी के आकर्षण विकर्षण से बीज

अङ्कुर रूप से परिणत हो जाता है, अर्थात् अंकुर नाम का विकार वहाँ पैदा हो जाता है। इन्हीं दृष्टान्तों से समझ में आएगा कि क्रिया की धारावाहिकता के परिणाम, भूत गुणों से विकार अवश्य पैदा हो जाया करते हैं, किन्तु ये विकार भी क्रिया की मूल-भूत उस शक्ति वा माया के ही खेल हैं, उनके भीतर रहता हुआ भी 'रस' व ब्रह्म सदा अविकृत है, उसपर तो विकार केवल लादे जाते हैं, इसलिए यह विकार नाम का चौथा 'परिग्रह' हुआ।

विकार उत्पन्न होते ही मूलतत्त्व को आवृत कर डालते हैं। समुद्र फेन के भीतर जल का स्वरूप दिखाई नहीं देता, अंकुर में बीज का स्वरूप दिखाई नहीं देता मूलकारण का स्वरूप विकारों से आवृत हो जाता है। यह आवरण भी उसी क्रिया या माया शक्ति की क्रीड़ा है। असल में तो मूलतत्त्व न रहे तो यह विकार टिके ही किस आधार पर, इसलिए इस आवरण को हम 'पांचवां' परिग्रह ही कहेंगे। आवरण हो जाने पर मूल कारण अपने स्वरूप में न दीखकर, आवरण करने वाले विकार के रूप में दिखाई देने लगते हैं इसे 'अंजन' कहते हैं, यह पूरा बन्धन है। विकार के साथ एक ऐसी गुत्थी पड़ गयी कि पृथक् होकर, मूलकारण का स्वरूप दीखना ही दुर्लभ हो गया। लाल, पीला या नीला रंग सफेद वस्त्र को अपने रूप में अंजित कर देते हैं, अपने रूप में दिखाते हैं इसलिए यह 'अंजन' 'छठा' परिग्रह है।

हमारा आत्मा भी इसी मूल तत्त्व का एक अंश है। यह पहले कहा जा चुका है। इसलिए अपने आत्मा के आधार पर, यह विषय अच्छी तरह समझ में आ जाएगा। हमारा आत्मा भी जब निस्सीम से माया शक्ति द्वारा समीम बनाया गया तो, वह अपने सीमा बन्धन को तोड़कर निस्सीम हो जाने की सदा अभिलाषा रखता है। यही कारण है कि, जीव मात्र में बढ़ने व उन्नत होने की स्वभाविक अभिलाषा है। इस अभिलाषा को महात्मा भर्तृहरि ने बड़े सुन्दर शब्दों में चित्रित किया है—जिसके पास कोई सम्पत्ति न हो, वह चाहता है कि किसी प्रकार सौ रुपये तो मेरे पास इकट्ठे हो जाएं, किन्तु सौभाग्य वश सौ रुपये मिल गए तो सहस्र की इच्छा हो जाती है। सहस्र हो जाने पर लक्ष की इच्छा जाग उठती है। प्रचुर धन हो जाने पर वही भूखण्ड का स्वामी होने की इच्छा करने लगता है। भूखण्ड के स्वामी मंडलाधिप चक्रवर्ती होने की अभिलाषा रखते हैं, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, व शिव बनना चाहता है इस प्रकार पूर्ण शिवत्व व निस्सीमता प्राप्त किए बिना अभिलाषा की पूर्ति होती ही नहीं।

तात्पर्य यह है कि अपनी स्थिति से और बढ़ना प्राणिमात्र की स्वाभाविक अभिलाषा है। इसी अभिलाषा के कारण परस्पर संघर्ष होता है, क्योंकि सभी अपनी-अपनी उन्नति

चाहते हैं। जहाँ-जहाँ हमारी उन्नति दूसरे की उन्नति से टकराएगी वहाँ-वहाँ परस्पर संघर्ष होगा और राग द्वेष आदि गुण आत्मा में हो जाएंगे। सीमाबद्ध और सखण्ड होने के कारण ही, इन गुणों की उत्पत्ति हुई है, अब राग द्वेष कई प्रकार के विकार पैदा करेंगे। और उदासीन स्वच्छ आत्मा का स्वरूप उन विकारों से ढँकता जाएगा। आगे चलकर उन विकारों के ही रूप में आत्मा को समझ लिया जाएगा। क्रोधी, लोभी, कामी आदि उनके ना पड़ जाएंगे। एक रूप तटस्थ आत्मा का कहीं पता भी नहीं रहेगा, किन्तु आत्मा का स्वरूप अब भी स्वच्छ है, शास्त्रोक्त अभ्यास से, इन विकार के आवरणों को हटाया कि 'महात्मा' पुरुषों में स्वच्छ आत्मा का रूप प्रस्फुट हो जाता है इसी दृष्टान्त से मूलतत्त्व की भी निर्विकारता का अनुभव किया जा सकता है।

छह परिग्रह हमने ऊपर बताए, इन्हीं के आधार पर हमारे छः दर्शनों की कल्पना है। प्रथमतः सब परिग्रह युक्त मूलतत्त्व व आत्मा को चार्वाक पकड़ता है, वह संसार को ही सब कुछ बताता है। संसार में प्रभावशाली राजा आदि समृद्धशाली व्यक्तियों को ईश्वर मानता है। एवं अपने रूप में आत्मा को रंग देने वाले शरीर को ही आत्मा कहता है। इससे आगे बौद्ध दर्शन एक अन्तिम परिग्रह अंजन को छोड़ देता है। इसलिए शरीर में उसका आत्मभाव नहीं रहता, किन्तु आवरण तक के पांच परिग्रह व साथ रखता है, आत्मा का आवरण करने वाला मुख्यतया अन्तःकरण है। उस अन्तःकरण की वृत्ति ज्ञान है, इसलिए वह दर्शन ज्ञान को ही आत्मा कहता है। और ज्ञान शक्ति की जिनमें प्रधानता है उन बुद्धों को ही ईश्वर कहता है। इस दर्शन के मानने वाले साधु भी 'मुक्त कच्छ' रहते हैं, वे अपने स्वरूप से भी सूचना देते हैं कि अंजनरूप बन्धन हमने खोल डाला, इससे आगे का जैन दर्शन आवरण को भी हटा देता है, इसलिए उस दर्शन के मानने वाले साधु दिगम्बर रहते हैं, वे अपने वेश से सूचना देते हैं कि हमने आवरण हटा दिया और आवरण हटा देने वालों, तीर्थंकरों को ही वे ईश्वर कहते हैं। केवल अन्तःकरण को वे आत्मा नहीं कहते आवरण में से आवृत आत्मा के स्वरूप को बाहर निकालते हैं, किन्तु विकार तक के परिग्रह साथ रखते हैं, इसलिए विकारों की अनित्यता और आत्मा की नित्यता दोनों की उलझन में वे रहते हैं। 'स्यादनित्यः—स्यान्नित्यः' उनके दर्शन में द्रव्य (मूल) और पर्याय (अवस्था व विकार) दोनों मिलकर एक ही रूप माने जाते हैं। चतुर्थ दर्शन वैशेषिक वा न्याय विकारों को भी अलग छाँट देता है। आत्मा के स्वरूप में विकारों को नहीं प्रवृष्ट करता। ईश्वर को भी महाभूत आदि सृष्टि के पदार्थों से पृथक् मान लेता है, किन्तु गुण तक के तीन परिग्रह वह साथ रखता है। इसलिए इस दर्शन में आत्मा और ईश्वर दोनों सगुण हैं।

अब पांचवां सांख्य दर्शन गुणों को भी पृथक् करता है। उसके सिद्धान्त में गुणमयी प्रकृति पृथक् है। वही जगत की रचना करती है। आत्मा में गुणों का संबंध नहीं है। इस प्रकार चार परिग्रह इसने आत्मा के स्वरूप से हटा लिए। किन्तु माया और कला को साथ रक्खा। इसलिए उसके सिद्धान्त में पुरुष एक नहीं, किन्तु अनन्त हैं। कला को साथ रखने के कारण भेद को वह न हटा सका। एकत्व की प्रतीति न ला सका। आगे सबके अन्तिम वेदान्त दर्शन ने कला को भी हटा दिया। माया शक्ति वाले एक रस रूप ब्रह्मत्व की झलक उसने दिखलाई। किन्तु माया रूप परिग्रह उसे भी रखना ही पड़ा। क्योंकि सब परिग्रहों को हटा देने पर शुद्ध मूलतत्त्व मन और वाणी का अविषय हो जाता है। उसे वाणी भी नहीं कह सकती। मन भी नहीं पकड़ सकता। इसलिए माया तत्त्व के साथ उस मूल रस तत्त्व का निरूपण करता हुआ भी वेदान्त माया को कल्पित कह कर शुद्ध ब्रह्म का आभास दिखा देता है।

इस प्रकार ये हमारे छहों दर्शन क्रम-क्रम से बुद्धि को मूलतत्त्व की ओर बढ़ाते हैं। श्रुति प्रतिपादित छहों परिग्रहों के साथ ६ दर्शनों का सम्बन्ध मिल जाता है, और सबके प्रतिपाद्य मूल तत्त्व का पता लग जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय दर्शन परस्पर विरुद्ध दर्शन नहीं हैं। वह मूल तत्त्व तक जाने के लिए सीढ़ी मात्र है और श्रुति प्रतिपादित मूल तत्त्व पर ब्रह्म तक पहुँचा देना ही उन सबका एकमात्र लक्ष्य है।

अब यह दूसरी बात है कि जिसने जिस दर्शन को पकड़ लिया वह उसी को मुख्य मानकर औरों का खण्डन-मण्डन करने लगता है। महामान्य ग्रन्थाकारों ने इस पद्धति को इसलिए अपनाया है कि एक-एक भूमिका दृढ़ होती जाय तब आगे बढ़ने का अवसर आवे, एक-एक भूमिकाओं को दृढ़ किए बिना फिसलने का डर रहता है, किन्तु एक भूमिका दृढ़ हो जाने पर आगे की भूमिका में प्रविष्ट होना अनिवार्य है। और विवेचक विद्वान् अन्त में सब भूमिकाओं का समन्वय कर लेते हैं।

---

## सतहत्तरवां-पुष्प

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।६२।

“हे भारत ! पूर्णरूप से उसी हृदयस्थित ईश्वर की शरण में जाओ, उसी के प्रसाद से तुम परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त करोगे।”

जो ईश्वर हृदय देश स्थित होकर समस्त जगत को घुमा रहा है, उसी की शरण में जाने को भगवान् कह रहे हैं। जो पुरुष दैवी सम्पत्ति से सम्पन्न होते हैं, उन्हें ही अपने हृदयस्थित ईश्वर की आज्ञा का अनुसरण करने का उपदेश दिया जाता है। भगवान् ने पहले ही अर्जुन को दैवी संपत्ति में समुत्पन्न कह दिया है, अतः उसे ऐसा उपदेश भगवान् ने दिया। जो लोग आसुरी सम्पत्ति के प्रभाव में रहते हैं, उनकी मन और बुद्धि कलुषित हो जाती है, अन्तःकरण के कलुषित हो जाने पर उसमें आत्मा का गिरने वाला प्रतिबिम्ब भी मलिन हो जाता है, उन्हें सन्मार्ग का दर्शन नहीं हो सकता। अतः उन पुरुषों के लिए यह कथन संगत नहीं हो सकता। उन्हें तो सन्मार्ग पर लाने की अन्य विधियाँ हैं।

पद्य में “सर्वभावेन” पद आया है। यह भी एक सामान्य प्रवृत्ति मानवों की होती है कि कोई आपत्ति आ जाने पर वे भगवान् की शरण लेते हैं और सम्पत्ति या प्रसन्नता के समय में भगवान् को भूले रहते हैं। जो नितान्त निरीश्वरवादी होते हैं, ऐसे पुरुष भी गंभीर संकट की स्थिति में किसी अदृश्य शक्ति पर विश्वास करके उससे संकट को हटाने की प्रार्थना कर लिया करते हैं। उन पर भगवान् का अनुग्रह भी होता है। परन्तु संकट के दूर हो जाने पर भी उन्हें परम शान्ति की उपलब्धि नहीं होती और बार-बार वे नानाविध संकटों से दबोचे जाते हैं। इसीलिए परम शान्ति की उपलब्धि के लिए भगवान् ने ‘सर्वभावेन’ ईश्वर की शरण में जाने को कहा है। भक्त ध्रुव ने बाल्यावस्था में ही वन में जाकर हृदयस्थित ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया था। वह सर्वभावेन भगवान् में इतना लीन हुआ कि जब भगवान् स्वयं उसके सामने उपस्थित हुए तब भी उसकी ध्यान मुद्रा भंग नहीं हुई। तब भगवान् ने उसके ध्यान में संस्थित अपने रूप को विचलित किया। जब इससे उसका ध्यान विचलित हुआ और उसने नेत्र खोले तो अपनी आंखों के आगे उसी रूप को प्रत्यक्ष पाया जिसका वह हृदय में ध्यान किये हुए था। भगवान् के उस त्रिभुवन रमणीय रूप को अपने सामने देखकर बालक ध्रुव परमानन्द में निमग्न हो गया, वह भगवान् की स्तुति करने को व्याकुल

हो उठा परन्तु वाणी की असमर्थता के कारण वह कुछ भी न कह सका। भगवान् ने अपने शंख का उसके मस्तक से स्पर्श जब कराया तो उसकी वाक्शक्ति जागरित हो गई। उसने स्तुति प्रारंभ करते हुए कहा—

“योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां  
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना  
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्  
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्”

(भागवत ४।९।६)

“हे भगवन् ! आप वही हैं जो मेरे भीतर प्रवेश करके मेरी इस प्रसुप्त वाक् शक्ति को जगाते हैं, यही नहीं अपितु मेरे हाथ, पैर, कान, त्वचा आदि को भी आप ही की शक्ति से जागरण मिलता है, आप समस्त शक्तियों को धारण करते हैं, परम पुरुष आपको मेरे प्रणाम हैं।” ध्रुव की इस स्तुति में हृदय स्थित ईश्वर का ही ध्यान वर्णित है। ध्रुव ने अपने हृदय स्थित ईश्वर का जो सर्वभाव से भजन किया उसी से उन्हें परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त हुआ जो आज भी स्थिर है।

श्रीमद्भागवत में गजेन्द्र मोक्ष के वर्णन में भी यही बात पुष्ट होती है कि जब गजेन्द्र अपनी समस्त शक्ति लगाकर भी अपने को ग्राह के चंगुल से निकालने में असमर्थ हो गया तो उसने भगवान् की शरण में अपने को दे दिया। किसी कवि ने गजेन्द्र की उक्ति लिखी है—

“मातङ्गाः कलभाः करेणुसहिता मामेव ये संश्रिता-  
स्तेऽमी क्षीणबलं विलोक्य युधि मां संन्यज्य दूरंगताः  
कर्तारं जगतामशेषविपदां हर्तारमेकं श्रियो  
भर्तारं तु विना न संकटसमुद्धर्तारमीक्षे परम्”

गजेन्द्र कहता है—अनेकों हाथी, हाथियों के बच्चे, हाथिनियां ये सब जो मेरे ही आश्रित हैं, ग्राह के साथ युद्ध में मुझे कमजोर समझ कर दूर चले गए हैं। अब जगत के रचयिता, समस्त आपत्तियों के एक मात्र हरण करने वाले लक्ष्मी पति भगवान् के अतिरिक्त मुझे और कोई इस संकट से बचाने वाला दिखाई नहीं देता। गजेन्द्र की इस आर्त पुकार पर भगवान् ने प्रादुर्भूत होकर उसके शत्रु ग्राह का अपने चक्र से वध कर दिया और उसे परम शान्ति और शाश्वत स्थान का भागी बनाया।

इसी प्रसंग में एक बात और स्मरण आ गई है। सनातन धर्म के प्राचीन उपदेशकों में एक रोचक बात प्रसिद्ध थी कि कौरव सभा में जब द्रौपदी को नग्न किया जाने लगा तो द्रौपदी ने भगवान् का स्मरण किया। उसने भगवान् को मन में याद करते हुए उन्हें—‘हे कृष्ण, द्वारका वासिन्, कह कर संबोधित किया और उनसे अपनी लज्जा बचाने की प्रार्थना की। परन्तु तब भी भगवान् की ओर से उसकी लज्जा बचाने का कोई उपक्रम नहीं हुआ। जब शरीर पर वस्त्र बिलकुल कम रह गया तब अपनी लज्जा जाती देखकर द्रौपदी ने अपने हृदय में संस्थित भगवान् को संबोधित कर उनसे अपनी लज्जा बचाने की प्रार्थना की। फलतः उसका वस्त्र बढ़ने लगा और—

**“दस हजार गजबल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर”**

वाली बात प्रकट हुई। द्रौपदी ने भगवान् की ओर देख कर कहा कि नाथ ! आपने बड़ा विलम्ब कर दिया। इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा कि द्रौपदी, इसमें तेरी ही गलती थी, तू हमें द्वारकावासिन् कह कर बुला रही थी, द्वारका से हम चल पड़े। परन्तु द्वारका तो यहां से दूर है, वहां से आने में समय तो लगता ही। जब तूने अपने हृदय में स्थित कह कर हमें बुलाया तो हम तत्काल आ पहुंचे। भगवान् ने यह बोधन किया कि मनुष्य को यह समझना चाहिए कि भगवान् तो उसके इतने निकट हैं जितना और कोई हो नहीं सकता। भगवान् को इतने निकट में स्थित समझ लेने पर ही हम अनायास उनकी शरण में पहुँच सकते हैं। हृदय में भगवान् की जो स्थिति कही गई है, उसमें मानसिक वृत्तियों और संस्कार वश अनेक रूपों और आकारों की कल्पना मनुष्य करता है। हृदय में भगवान् का कोई रूप प्रतिष्ठित हो जाता है। गोस्वामी श्री तुलसीदास जी के हृदय में भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित थे। एक बार कुछ लोग उन्हें वृन्दावन में भगवान् कृष्ण के मन्दिर में ले गए। उन्होंने भगवान् का दर्शन करके यह कहा कि—

**“कहा कहां छबि आज की भले बने हो नाथ ।**

**तुलसी मस्तक तक झुके धनुष बाण लो हाथ ॥”**

उनके हृदय में राम रूप ही प्रतिष्ठित था। ऐसी प्रसिद्धि है कि भगवान् ने उनको राम रूप में ही वहां दर्शन दिया।

श्री रामानुजाचार्य ने इस पद्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ईश्वर के सर्वत्र अवस्थित होने के कारण हे अर्जुन ! तुम को चाहिए कि तुम उसी ईश्वर की शरण लो जो कि तुम्हारे सारथी के रूप में अवस्थित है और जो तुम्हें ‘अमुक कार्य



करो' ऐसे आदेश दे रहा है। उसकी आज्ञा की यदि तुम अवहेलना भी करोगे तो भी तुम्हें उसकी माया के वशवर्ती होकर युद्ध आदि तो करने ही पड़ेंगे। परन्तु ईश्वर की आज्ञा न मान कर उसकी माया के वश में रहते हुए युद्ध आदि करने से सर्वथा विनाश की ही संभावना अधिक रहेगी। अतः ईश्वर जिस प्रकार युद्ध आदि करने की प्रेरणा दे रहा है, उसी का आश्रय लेना तुम्हारे लिए उपयुक्त है। ऐसा करते हुए ही तुम्हें ईश्वर के प्रसाद से परम शान्ति और शाश्वत स्थान की प्राप्ति हो सकेगी। इस बात को शतशः श्रुतियों में भी कहा गया है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

(ऋ० सं० १।२।६।५)

ते ह नाकं महिमानः सचन्ते ।

यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

(ऋ० सं० ८।४।१९।६)

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्।

(ऋ० सं० ८।७।१७।७)

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते।

(छा० उ० ३।१३।७)

सोऽध्वनः परमाप्नोति

तद्विष्णो परमं पदम्

(कठो० ३।९)

इत्यादि श्रुतियों में उस परम स्थान का स्पष्ट विवरण है।

एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये ।

तेषां तत्परमं स्थानं यद्वैपश्यन्ति सूरयः ॥”

(वि० पु० १।६।३९)

इत्यादि स्मृति पुराण आदि में भी उस परम स्थान का उल्लेख है।

पैशाच भाष्य में कहा गया है कि सर्वभाव से भजन का अभिप्राय यह है कि भगवान् को ही अपना स्वामी, आचार्य पोषक सब कुछ समझो। प्रार्थना में एक श्लोक इसी आशय का प्रसिद्ध है कि—

“त्वमेव माता च पिता त्वमेव  
 त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव  
 त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव  
 त्वमेव सर्वं मम देव देव

यहां भगवान् को सभी भावों में देखते हुए स्तुति की जाती है।

ब्रह्मानन्द गिरि व्याख्या में परा शान्ति का अर्थ अविद्या की निवृत्ति किया गया है।

श्री पुरुषोत्तम जी ने लिखा है कि इस पद्य में भगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि यदि तुम मेरे कथन के अनुसार चल कर युद्ध नहीं करना चाहते तो अपने हृदय स्थित ईश्वर की ही आज्ञा में चलो। अर्थात् तुम्हारी बुद्धि अनेक प्रकार के तर्क वितर्क करके भले ही तुम्हें अपने कर्तव्य से विचलित कर रही हो, परन्तु तुम्हारा हृदय कभी युद्ध से विमुख होने की सलाह नहीं दे सकता। क्योंकि सभी के हृदय में परमात्मा का निवास है। परमात्मा सभी को कर्तव्य कार्य में ही अग्रसर करता है। यदि मनुष्य अपनी बुद्धि को अपने हृदय की अनुगामिनी बना ले तो वह कभी दुविधा में नहीं पड़ेगा। हृदय का निर्णय उसके स्वभाव के अनुकूल ही होगा, परन्तु तर्क वितर्क करने वाली बुद्धि मनुष्य को कर्तव्य मार्ग से अलग भी हटा ले जाती है। इसीलिए भगवान् ने अर्जुन को युद्ध करने या न करने के विषय में अपने हृदय में स्थित परमात्मा की शरण में जाने को कहा। वस्तुतः भगवान् कृष्ण ही सबके हृदय में संस्थित हैं परन्तु उन्हें बाहर अपने मित्र के रूप में खड़ा देखकर यदि उनके ईश्वरत्व में आस्था न जमती हो तो भगवान् ने अर्जुन को अपनी हृदय की ही बात मानने की सलाह दी है। हृदय का और भगवान् का निर्णय एक ही है, क्योंकि वे ही भगवान् बाहर अर्जुन को जो बात समझा रहे हैं, उसके हृदय में प्रविष्ट होकर भी उसी बात को ध्वनित कर रहे हैं।

तत्त्वप्रकाशिका में यहाँ यह प्रश्न पूर्व पक्ष रूप में उपस्थित किया गया है कि ईश्वर की शक्ति माया और उसका प्रयोक्ता ईश्वर दोनों ही जब नित्य हैं तब संसार की निवृत्ति कैसे होगी। दोनों में से कोई एक यदि अनित्य या विनाश शील हो तब तो माया के विनष्ट हो जाने पर जीव का मोक्ष प्राप्त करना संभव भी हो सकता है। परन्तु माया भी ईश्वर के समान ही नित्य जब मान ली गई तो माया के हट जाने पर जो मोक्ष होता है उसकी कथा ही समाप्त हो जाती है क्योंकि माया भी नित्य ही है। इसी प्रश्न के

उत्तर के रूप में तत्त्व प्रकाशिका में इस पद्य को लगाया है कि भगवान् की माया का तरण भगवान् की शरण में जाने से ही संभव है। शाश्वत स्थान की व्याख्या में कहा गया है कि वह स्थान प्रकृति काल और कर्म के सम्बन्ध से शून्य, नित्य और एक रस है। शास्त्रों में विष्णु पद आदि शब्दों से उसी की ओर संकेत है।

श्रीमधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि पूर्वपद्य के अनुसार जब ईश्वर ही समस्त भूतों के हृद्देश में बैठकर प्रेरित कर रहा है तब तो जितने विधि निषेध शास्त्र हैं वे सब व्यर्थ हो जायेंगे। ईश्वर यदि विहित कार्यों की ओर प्रेरित करेगा तो मनुष्य विहित कर्मों का अनुष्ठान करेगा। यदि ईश्वर निषिद्ध कार्यों की ओर प्रेरित करेगा तो मनुष्य निषिद्ध कर्मों का ही अनुष्ठान करेगा। विधि शास्त्रों का लाख अध्ययन करने पर भी ईश्वर की प्रेरणा विहित कर्मों के अनुष्ठान के लिए नहीं होगी तो विधि शास्त्र रक्खे ही रह जायेंगे। इसी प्रकार शास्त्रीय निषेधों को भली भाँति जान लेने पर भी यदि ईश्वरीय प्रेरणा उनसे बचने की नहीं है तो उनसे कौन बच सकेगा। इसी का उत्तर श्रीमधुसूदनसरस्वती ने इस पद्य से माना है कि यद्यपि ईश्वर सबको प्रेरित करता है, परन्तु वह सर्वदा सत्कार्य और विहित कार्यों की ओर ही प्रेरित करता है। असत्कर्मों और निषिद्ध कार्यों की ओर ईश्वर प्रेरित नहीं करता अपितु उसके हम स्वयं दोषी हैं। हम ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना करते हैं और असत्कर्मों की ओर प्रवृत्त होकर अपना नाश स्वयं करते हैं। हमें सर्वदा कल्याण मार्ग का प्रदर्शन करने वाले ईश्वर की शरण लेनी चाहिए जिससे हम उन्मार्ग से बचते रहे और सन्मार्ग पर चलते हुए परम शान्ति और शाश्वत स्थान प्राप्त करें।

परमार्थ प्रपा में यह श्लोक उद्धृत किया गया है—

“स्थूलं वपुः परिधिरान्तरमस्य सूक्ष्मं  
देवालयं तदिह देवगतिः परात्मा  
तत्पूजनोपकरणान्यखिलेन्द्रियाणि  
कृत्वा तमेव शरणं ब्रज जीव नान्यम्”

यह स्थूल शरीर परिधि है, सूक्ष्म शरीर देवालय है, परमात्मा उसमें प्रतिष्ठित है, सारी इन्द्रियां उसकी पूजा के साधन के रूप में हैं, ऐसा समझकर हे जीव ! तू उसी ईश्वर की शरण में जा।

## अठहत्तरवां-पुष्प

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।६३।

“इस प्रकार यह गुप्त से भी गुप्ततर ज्ञान मैंने तुम्हें बतलाया है, इसका पूर्णतया मनन करने के अनन्तर जैसी इच्छा हो वैसा ही तुम करो” (६३)

क्या ईश्वर को सर्व हृदयस्थित बतलाकर उसकी शरण में जाने का जो भगवान् ने अर्जुन को अभी उपदेश दिया उसी को भगवान् ने अत्यन्त गुप्त बतलाया है। ऐसा नहीं, अपितु यह सम्पूर्ण गीता के उपसंहार का प्रकरण होने से सम्पूर्ण गीता में ज्ञान का जो प्रतिपादन किया गया है उसी को भगवान् ने महत्त्वपूर्ण बतलाया है। गीता के ज्ञान के महत्व का हम विगत प्रवचनों में अनेक बार विवेचन कर चुके हैं। गीता में वेद उपनिषद्, वेदान्त सूत्र तथा व्यावहारिक दृष्टि का मन्थन करके एक नवनीत उपस्थित किया गया है। परन्तु इतना सब होने पर भी भगवान् ने अर्जुन को कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी है कि वह जैसा चाहे वैसा करे। चाहे तो वह युद्ध करे, न चाहे तो न करे। परन्तु इतना निर्मल ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर वह भगवान् के उपदिष्ट कार्य को कैसे न करे। उसे युद्ध करने के लिए ही यह ज्ञानोपदेश हुआ है। ज्ञान में यदि पूर्णता है तो क्रिया में उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। पारमार्थिक दृष्टि से तो ज्ञान स्वयं में परिपूर्ण होता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से तो ज्ञान की चरितार्थता क्रिया में ही होता है—

“ज्ञानं भारः क्रियां विना”

ज्ञान क्रिया के बिना भार स्वरूप ही होता है। अर्जुन अभी व्यवहार दशा में ही विद्यमान है, अतः उसे क्रिया में अपना ज्ञान लाना ही है। अतः भगवान् ने उसे उसकी इच्छा पर छोड़ते हुए भी उसे अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए ही उद्बुद्ध किया है।

श्रीरामानुजाचार्य ने गुह्यतर का अर्थ करते हुए कहा है कि मुमुक्षु, पुरुष के द्वारा ही ज्ञातव्य होने के कारण यह गुह्यतर है। इस ज्ञान के विषय का स्पष्टीकरण करते हुए श्रीरामानुजाचार्य ने कहा है कि इसमें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का विवेचन शृंखलाबद्ध रूप में किया गया है और यह दिखाया गया है कि अधिकारि भेद से तीनों ही मार्ग परम अभीष्ट तक पहुंचाने वाले हैं। इच्छापूर्वक आचरण करने की जो छूट भगवान् ने अर्जुन को दी है उसका भी श्रीरामानुजाचार्य ने यही अर्थ किया है कि अपनी इच्छानुसार कर्म, ज्ञान या भक्ति किसी का भी आश्रय लेकर काम करो।

आनन्द गिरि व्याख्या में कहा गया है कि भगवान् का यहां यह आशय है कि मेरे द्वारा उपदिष्ट जो यह ज्ञान है, वह बिना किसी प्रतिबन्ध के परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कराने के लिए पर्याप्त है। परन्तु उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए प्रतिबन्धक पाप आदि को अपने धर्माचरण से दूर कर देना पहिले आवश्यक है। अतः समस्त शास्त्रों के पर्यालोचन के अनन्तर अभी तुम्हें अपने वर्णाश्रमोचित आचरण का ही पालन करना चाहिए।

श्रीपुरुषोत्तमजी ने लिखा है कि जिस प्रकार तन्त्रशास्त्रोक्त मन्त्र और बीज में समस्त शास्त्रों का सार भूत ज्ञान समाविष्ट रहता है, उसी प्रकार गीता में भी समस्त ज्ञान का सार समाविष्ट हुआ है। इसीलिए जिस प्रकार मन्त्र और बीज गुप्त रखने की प्रक्रिया शास्त्रों में बतलाई गई है, उसी प्रकार इस गीता शास्त्र या गीता ज्ञान को भी भगवान् ने गुह्यतर कह दिया है।

श्रीनीलकण्ठ इसी सन्दर्भ में कहते हैं कि मन्त्र-तन्त्र और रसायनादि तो गुप्त होते हैं, परन्तु यह ज्ञान उनसे भी अधिक सार भूत होने के कारण गुह्यतर है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि यह ज्ञान कर्म आदि का फलभूत होने के कारण गुह्यतर बतलाया गया है। इसका अशेष रूप से विमर्श करने का तात्पर्य बतलाते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि सभी शास्त्रों के साथ अथवा ज्ञान कर्म और भक्ति की परस्पर एकवाक्यता समझ कर ही अपनी इच्छानुसार कर्म का आचरण करो। इसका तात्पर्य यह है कि प्रायः लोग शास्त्रों में यह दोष लगाते हैं कि शास्त्रों में परस्पर विरुद्ध बातें लिखी रहती हैं, या कर्म, ज्ञान भक्ति को भी कुछ लोग परस्पर विपरीत मार्ग समझते हैं। परन्तु यह उनकी सर्वथा भ्रान्ति है। शास्त्रों में कहीं भी परस्पर में कोई विरोध नहीं है और न ही कर्म, भक्ति और ज्ञान में ही परस्पर कुछ भी विरोध है। हम अपने ही बुद्धि दोष से इस प्रकार समझ कर शास्त्रों और मार्गों के विरोध की मन मानी कल्पना करते रहते हैं। उसी बुद्धि दोष को मिटाने के लिए भगवान् ने अशेष रूप से विमर्श करने का आदेश दिया है। गंभीरता पूर्वक पूर्वापर आलोचना करने पर सभी शास्त्रों की और मार्गों की एकवाक्यता और एक गन्तव्य लक्ष्य अपने आप दृष्टि में आ जाता है।

श्रीधरी व्याख्या में कहा गया है कि इस ज्ञान का विमर्श करने के अनन्तर तुम्हारा मोह नष्ट हो जायगा। मोह रहित बुद्धि से तुम अपने लिए जो भी मार्ग चुनोगे वह कल्याणकारी ही होगा इसलिए इसका पूर्ण रूप से विचार करने के अनन्तर जैसा चाहो वैसा ही करो।

## उनियासीवां-पुष्प

सर्वगुह्यतमं भूयः श्रणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्"।६४।

“सबसे अधिक गुप्त मेरे परम वचन को फिर सुनो, तुम मेरे दृढ़ रूप से इष्ट हो इसलिए तुम्हारे हित की बात कहता हूँ।” (६४)

विगत पद्य में अपने अभीष्ट मार्ग के चुनाव करने का भगवान् ने अर्जुन को आदेश दे दिया था। परन्तु उन्होंने देखा कि अर्जुन अपने लिए मार्ग चुनने में समर्थ नहीं है और न यह ऐसा अवसर ही है कि वह उक्त समस्त उपदेश का पुनः विमर्श करके अपने मार्ग का निर्धारण करे। सामने युद्ध का दृश्य उपस्थित है। इस अवसर पर यदि पुनः बुद्धि दोष ने अर्जुन को दबा दिया और वह कहीं फिर कुछ अनुचित निर्णय कर बैठा तो कठिनाई उपस्थित हो जायगी। अतः परम करुणाशील भगवान् ने उसे एक बार फिर अन्ततः सम्बोधित करके कह दिया कि तुम में इतनी शक्ति नहीं है कि तुम शास्त्रों के सार भूत उपदेशों का फिर अशेषतः मनन करके अपने कर्तव्य मार्ग का निश्चय कर सको। अतः यह भार भी मैं अपने ऊपर ही ले लेता हूँ। मैं ही तुम्हें समस्त उपदेश का जो निगूढ़तम सार है वह बतला देता हूँ, तुम निश्चिन्त भाव से उसी का अनुसरण करो। यह जिज्ञासा होती है कि कठिनाइयों को समाप्त करने के लिए इतने उत्सुक क्यों हैं ? इसका उत्तर भगवान् ने दिया है कि हे अर्जुन ! यह सब कथन मैं इसीलिए स्वीकार कर रहा हूँ कि तुम मेरे दृढ़ इष्ट हो, अत्यन्त प्रिय हो, अतः तुम्हारे लिए मुझे यह उपदेश देने में कुछ आपत्ति नहीं है। अर्जुन यहां, जैसा कि हम अनेकधा स्पष्ट कर चुके हैं जीवमात्र का प्रतिनिध है। जीव ईश्वर का ही अंश या आभास होने के कारण ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है। जो ज्ञान, भक्ति और कर्म का उपदेश गीता में दिया है, उसमें से अपने उपयुक्त मार्ग चुनना जीव के लिए कठिन है, अतः भगवान् ने पुनः उसका सारोपदेश किया। यह जो सार है वही समस्त गीता और समस्त शास्त्रों में अनेक शब्दों और अनेक रूपों में कहा गया है। इसकी सारता या परम गुह्यता यही है कि यह एक ऐसी बात है कि जो समस्त शास्त्रों में अनुस्यूत है। सभी का तात्पर्य इसी में है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि आगे भगवान् दो पद्यों में सार रूप से भक्ति का उपदेश दे रहे हैं। भक्ति ही सार भूत है अतः उसे गुह्यतम कहा है। ऐसा केवल यहां ही नहीं है, अपितु विगत नवम अध्याय में जहां भक्ति का वर्णन आया है। वहां भगवान् ने उसे गुह्यतम ही बतलाया है—

“इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे”

भक्तियोग की श्रेष्ठता का अनेक उक्तियों से प्रतिपादन शास्त्रों में मिलता है। याज्ञवल्क्य स्मृति का एक पद्य व्याख्या में उद्धृत हुआ है—

“इज्याचारदमाहिंसायागस्वाध्यायकर्मणाम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्”

(या. स्मृ. १।१।९)

योग से आत्म दर्शन करना यज्ञादि सब में उत्कृष्ट कहा गया है। योग का अर्थ भक्त योग ही व्याख्याकार ने लिखा है।

यहां व्याख्याओं में यह विवाद का अवसर आता है कि भगवान् ने ज्ञान को अधिक महत्व दिया है या भक्ति को। गीता के व्याख्याकारों में श्रीशंकराचार्य आनन्द गिरि, श्रीनीलकण्ठ आदि ज्ञान को प्रधानता देने वाले व्याख्याकार हैं, तथा श्रीरामानुजाचार्य आदि भक्ति प्रधान व्याख्या करने वाले आचार्य हैं। श्री रामानुजाचार्य आदि व्याख्याकारों ने उपर्युक्त पद्यों का भाष्य लिखते हुए भक्ति को ही गीता का सार माना है और उपदेश का पर्यवसान भक्ति में ही दिखाया है। श्रीशंकराचार्य अपने सिद्धान्त के अनुसार भक्ति को साधन ही मानते हैं और ज्ञान को चरम लक्ष्य मानते हैं। इन स्थलों के अपने भाष्य में भी श्रीशंकराचार्य ने यही कहा है कि भगवान् का अभिप्राय यही है कि भक्ति मुझे प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। परन्तु भक्ति के द्वारा प्राप्य मैं ही होता हूँ। भगवान् स्वयं ज्ञानरूप ही हैं। अतः परमलक्ष्य उनके मत में ज्ञान ही होता है और भक्ति उसका सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसी दृष्टि से उपनिषदों में जो उपासनाएं बतलाई गई हैं, उनका भी श्री शंकराचार्य ने अपने वहां के भाष्य में समन्वय किया है। कर्म भी उनकी दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करने के साधन ही हैं, उनके द्वारा भी साध्य ज्ञान ही है। इसका विस्तृत विचार उन्होंने गीता के उपसंहार भाष्य में किया है जिसका सार वहीं लिखा जायगा।

श्रीमधुसूदनसरस्वती अपनी व्याख्या में श्रीशंकराचार्य का ही अनुसरण करते हैं, उन्होंने भक्ति पर भी बहुत विवेचन किया है और अपने ‘भक्ति रसायन’ में उन्होंने भक्ति को एक स्वतन्त्र रस का रूप देकर उसके विभाव, अनुभाव, संचारि भावों का विशद विवेचन किया है जिसका उल्लेख हम विगत पद्य में कर चुके हैं।

प्रस्तुत पद्य में ‘गुह्याद् गुह्यतमम्’ की व्याख्या में उन्होंने लिखा है कि गुह्य जो कर्म योग है उससे, ज्ञान योग गुह्यतर है, इन दोनों गुह्य और गुह्यतर कर्म योग और ज्ञान योग से भी जो गुह्यतम है उसे अब आगे के पद्यों में भगवान् बतला रहे हैं। इससे

भक्ति योग को ही उन्होंने अपनी व्याख्या में सर्वोच्च स्थान दिया ऐसा मान कर आनन्दगिरि व्याख्या में इसका खण्डन किया गया है। वहां कहा गया है कि श्रीमधुसूदनसरस्वती ने जो अर्थ लिखा है वह भाष्यकार श्रीशंकराचार्य के अर्थ के विपरीत है। श्रीशंकराचार्य ने “हितम्” शब्द से साधन रूप में भक्ति का ग्रहण माना है। ज्ञान तो साधन नहीं अपितु साध्य है। अतः वह भक्ति से अवर कक्षा में कैसे माना जा सकता है।

हम आगे पृथक् पुष्प में ज्ञान और भक्ति में गीता किसको प्रधान मानती है इसका विवेचन करेंगे। यहां यह शंका होगी कि पहले तो भगवान् ने

“समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः”

ऐसा कहा है, फिर यहां उसके विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है; इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। एक तो यह कि वह कथन परब्रह्म की दृष्टि से है और यह जो अपने अवतार में अर्जुन के साथ सम्बन्ध है उसके कारण आप उसके सारथी बने हुए हैं इस अभिप्राय से है और दूसरा उत्तर यह है कि उन्होंने यह भी कहा है—

“ये भजन्ति तु मां भक्त्या

मयि ते तेषु चाप्यहम्”

अर्थात् जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें रहते हैं, इसलिए मैं भी उनमें रहता हूं, इस अभिप्राय से यह कहा गया कि तुम मेरा भजन करते हो इसलिए मुझे दृढ़ प्रिय हो। अर्जुन पहिले भी भगवान् का अनुगत रहता था और विश्वरूप प्रदर्शन के अनन्तर तो वह परम भक्त हो गया था। यह गीता में भी स्पष्ट किया जा चुका है।

---



## अस्सीवां-पुष्प

“मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे” ।६५।

“अर्जुन ! तुम अपने मन को मुझमें अर्पित कर दो, मन में केवल मुझे ही रक्खो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा ही यजन करो, मुझे ही प्रणाम करो, मैं तुमसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मुझे प्रिय हो, तुम मुझे ही प्राप्त करोगे” (६६)

यहां गीता के उपदेश भगवान् श्री कृष्ण का परब्रह्म रूप बिलकुल विस्पष्ट हो गया है। इस प्रकार का अपने में लीन कर लेने का आश्वासन केवल ईश्वर ही दे सकता है। स्मरण रहे कि इससे पूर्व के पद्य में भगवान् ने अर्जुन से कहा था कि मैं जो अब अन्त में तुमसे कह रहा हूँ, वह अत्यन्त गुह्यतम और परम वचन है। इससे भी पूर्व के पद्य में भगवान् ने अर्जुन से यह कहा था कि गीता के उपदेश का पूर्ण रूप से मनन करके जैसी इच्छा हो वैसा करो। व्याख्याकारों ने वहाँ यह आशय स्पष्ट किया था कि कर्म, उपासना, और ज्ञान इन तीनों मार्गों का मनन करने के अनन्तर जैसी इच्छा हो वैसा करो। अर्जुन की स्थिति को समझते हुए भगवान् ने स्वयं ही गीता के उपदेश का सार बतला देने की इससे पूर्व के पद्य में प्रतिज्ञा की। इस आलोचन से यह निष्कर्ष निकला कि प्रस्तुत पद्य तथा इसके अग्रिम पद्य में भगवान् गीता के समग्र उपदेश का सार कथन कर रहे हैं। भगवान् को अपने मन में बिठा कर उनका भक्त बन कर, उन्हीं के लिए यज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान करता हुआ, सर्वत्र उन्हीं को अवस्थित देख कर उन्हें प्रणाम करता हुआ मनुष्य जब संसार के व्यवहारों में प्रवृत्त होता है तो भगवान् को ही अपने समस्त कार्यों का आश्रय और द्रष्टा समझता हुआ वह पुरुष अन्त में भगवान् को ही प्राप्त करता है। इस विषय में भगवान् ने “मैं यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ” ऐसा कहा है। ऐसी प्रतिज्ञा करने का कारण भी वही है जो पहिले के पद्य में भी उन्होंने कहा है कि हे अर्जुन तुम मुझे प्रिय हो, इसलिए तुम्हारे स्नेह के कारण मैं तुम्हें अपना स्वरूप स्पष्टतया दिखा रहा हूँ। इससे व्याख्याकारों ने यह भी आशय प्रकट किया है कि कहीं कोई ऐसा न समझ ले कि भगवान् को अर्जुन से अवश्य कोई स्वार्थ था, जिससे वे उस पर अपना जादू चलाकर अपना कोई काम निकालना चाहते थे। अथवा उन्हें अर्जुन से ऐसा कोई भय था जिससे प्रेरित होकर भगवान् बार बार उसे उद्बुद्ध करते थे। इसी का समाधान स्थान स्थान पर भगवान् ने यह कह कर किया है कि, मैं यह सब तुम्हें इसलिए बतला रहा हूँ कि तुम मुझे बहुत प्रिय हो। इससे यह बात भी भगवान् ने स्पष्ट कर दी कि जो मुझे प्रिय

होता है, उससे मैं कुछ छिपाता नहीं। मुझे उसके सामने अपने आपको प्रकट करना ही पड़ता है। इसके विपरीत जो भगवान् को प्रिय नहीं होता, भगवान् कभी उसे मिलते ही नहीं, वह उसका अदृश्य रूप से ही नाश कर देते हैं। वे साकार रूप से जब ऐसे व्यक्ति के सामने भी जाते हैं तब भी पहिले ही उसकी ऐसी दृष्टि बना देते हैं कि वह उन्हें भगवान् के रूप में पहिचान ही नहीं पाता। दुर्योधनादि के सामने भी भगवान् जाते थे तब भी दुर्योधनादि उन्हें भगवद्रूप में इसीलिए नहीं पहिचान पाते थे कि भगवान् उनकी उस प्रकार देखने की शक्ति का ही अपहरण कर लेते थे। क्योंकि वे उन्हें प्रिय नहीं थे। श्रीरामानुजाचार्य ने कहा है कि “मन्मना भव” का तात्पर्य है कि भगवान् की स्मृति निरन्तर रहनी चाहिए। भगवान् की स्मृति का नैरन्तर्य ही उपर्युक्त शब्दों से कहा गया है। भगवान् के इस प्रकार के निरन्तर चिन्तन का विधान उपनिषदों में भी विस्तार से कहा गया है।

**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।  
तमेव विद्वानमृतमिह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥**

(श्वे० उ० ३।८)

इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में भगवान् की स्मृति को ही परम कल्याण का मार्ग बतलाया है। इस प्रकार की स्मृति के अभ्यास से भगवान् के दर्शन का सा आनन्द मिलने लगता है। ‘मद्भक्त’ का अर्थ उन्होंने अत्यन्त प्रिय किया है और कहा है कि मेरे भक्त होने से अत्यन्त प्रिय लगने वाली मेरी निरन्तर स्मृति को प्राप्त कर सकोगे। यह कोई लालच देना नहीं अपितु भगवान् की सत्य प्रतिज्ञा है कि वह भगवान् के द्वारा अवश्य अनुगृहीत होगा। भगवान् ने पहिले अर्जुन क्यों मुझे इतना प्रिय है, इसका कारण भी बतलाया है कि—

**“प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः”**

(७।१७)

अर्थात् ज्ञानी पुरुष को भगवान् अत्यन्त प्रिय होते हैं और भगवान् को ज्ञानी अत्यन्त प्रिय होता है। ज्ञानवान् होने के कारण अर्जुन भगवान् को अत्यन्त प्रिय है, अपने अत्यन्त प्रिय पुरुष का वियोग भगवान् को सह्य नहीं होता, इसलिए भगवान् उसे भी अपने स्वरूप में ही निविष्ट कर लेते हैं। इसलिए यह भगवान् की प्रतिज्ञा कि तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, सर्वथा युक्तियुक्त है।

आनन्दगिरि व्याख्या में कहा गया है कि पद्य के तीसरे चरण—

**‘मामेवैष्यसि’**

में जो एव कार है, उसका अर्थ अवधारण या निश्चय है। मुझको ही प्राप्त करोगे, अन्य को नहीं। यह एव कार इसके पहिले के वाक्यों में भी लगाना चाहिए। 'मन्मना' का अर्थ होगा कि केवल मुझे ही मन में रखो अन्य किसी को नहीं। मेरे ही भक्त बनो अन्य के नहीं। मेरे ही निमित्त से यज्ञ आदि करो अन्य के निमित्त से नहीं। मुझे ही प्रणाम करो अन्य को नहीं। वस्तुतः मन को भगवन्मय बना लेने के अनन्तर भगवान् के अतिरिक्त और सबकी भावना ही हट जाती है। प्रश्न होता है कि भगवान् ने अन्य देवताओं के उद्देश्य से यज्ञ आदि का निषेध क्यों किया। इसका उत्तर भगवान् ने पहिले ही दे दिया है कि—

**“देवान् देवयजो यान्ति मदभक्ता यान्ति मामपि”**

(७।२३)

अर्थात् देवताओं का यजन करने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं और मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं। यहां उसी को पुनः कह कर दृढ़ किया है कि तुम मुझे ही प्राप्त करोगे, क्योंकि तुम मेरे भक्त हो।

श्लोक का अर्थ लिखते हुए आनन्द गिरि व्याख्या में कहा गया है कि तुम पूर्ण रूप से अपने मन को मुझे अर्पित कर दो। मन की अत्यन्त चंचलता और उसके निग्रह के दुष्कर होने से यदि तुम ऐसा करने में समर्थ न हो सको तो मन का इतस्ततः व्यापार होने पर भी तुम मेरे भक्त रहो, मुझमें अखण्ड प्रेम बनाए रखो ! प्रेम का आश्रय पुत्र दारा आदि भी होते हैं, उनसे प्रेम रखता हुआ मनुष्य भगवान् से प्रेम कैसे रखे, इस आशय को समझकर आगे कहा कि यदि पुत्र दारा आदि में अधिक प्रेम रहने के कारण तुम मुझ में निरतिशय प्रेम नहीं रख सकते तो बाहर से पुत्र दारा आदि से प्रेम रखते हुए भी भीतर से मेरा यजन, पूजन आदि किया करो, यदि असमर्थता के कारण अथवा आलस्य आदि से पूजा के उपकरणों को संगृहीत करने की असमर्थता से तुम यजन नहीं कर सकते तो अन्ततः सबसे सरल उपाय है कि मुझे नमस्कार करते रहो। मन, शरीर और कर्म से मेरे प्रति नम्रता धारण करो। इनमें से किसी उपाय का आश्रय लेने पर तुम्हें मेरे प्रसाद से तत्त्व ज्ञान हो जायगा और तुम मुझे प्राप्त कर लोगे। भगवान् मुझसे ऐसा कह कर कोई वंचना तो नहीं कर रहे हैं, इस संभावित शंका को निवारण के लिए भगवान् ने अर्जुन को कहा कि तुम मेरे प्रिय हो। प्रिय से कभी वंचना नहीं होती, वंचना होने पर प्रिय नहीं होता। अतः उक्त कथन में कोई वंचना की बात नहीं, यह सर्वथा सत्य प्रतिज्ञा है।

श्रीपुरुषोत्तम जी ने अपनी व्याख्या में “मां नमस्कुरु” का तात्पर्य लिखा है कि

नमस्कार अपने से श्रेष्ठ को ही किया जाता है, अतः इसका यह तात्पर्य है कि तुम सर्वदा मुझ में श्रेष्ठत्व बुद्धि रखो।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि 'मन्मना' में जो 'अहम्' शब्द है उसका अर्थ है परब्रह्म, तदाकार मन वाले पुरुष को 'मन्मना' कहा है। अपने मन को आत्मभूत आनन्द धन परब्रह्म में लगा दो ! इस पद्य के पूर्वार्ध के वाक्यों से श्रीनीलकण्ठ ने गीता के तीनों षट्कों का तात्पर्य प्रकट किया है। वेदान्त के 'तत्त्वमसि' इस महा वाक्य की गीता के तीनों षट्कों के साथ संगति दिखाते हुए हमने पहिले प्रसंगानुसार अनेक बार कहा है कि गीता का उत्तर षट्क जीव और ब्रह्म की एकता या दोनों के अभेद का निरूपण करता है। गीता के तीनों षट्क "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के तीनों पदों की पृथक्-पृथक् व्याख्या करते हैं। गीता रहस्यार्थ बतलाते हुए जो भगवान् तत्त्व-कथन कर रहे हैं, उनमें भी तीनों षट्कों का तात्पर्य एक-एक पद से प्रकट किया है। सर्व प्रथम 'मन्मना भव' इस पद से 'मत्' शब्द से सम्बोध्य परब्रह्म और जीव की अभिन्नता जो कि उत्तर षट्क और 'असि' इस वाक्यांश का तात्पर्य है उसे प्रकट किया है। इस प्रकार की ज्ञान निष्ठा अथवा इस प्रकार का जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान कैसे होगा, इसके उत्तर में श्रीनीलकण्ठ ने 'मद्भक्त' इस पद को लगाया है। इससे गीता के मध्यम षट्क का तात्पर्य जो भगवदुपासना रूप है उसे प्रकट किया है। अल्प पुण्य वाले पुरुष में भक्ति का उदय ही कैसे होगा और वह भक्त कैसे बनेगा। भक्ति तो पुण्य से प्राप्त होती है, इस शंका का उत्तर देने के लिए भगवान् ने कहा कि तुम मेरे उद्देश्य से यज्ञ आदि किया करो। उससे पुण्य की उत्पत्ति होकर मेरी भक्ति तुम्हें प्राप्त होगी। इस प्रकार तीनों षट्कों का समन्वय करने पर फिर भी यह शंका बनी रहती है कि यज्ञ आदि तो सम्पन्नता में ही संभव होते हैं। निर्धन पुरुष कैसे यज्ञ आदि करे और उसके अभाव में जब पुण्योत्पत्ति रुक गई तब भक्ति भी प्राप्त नहीं होगी और ब्रह्म के साथ अभेद का ज्ञान भी असंभव हो जायेगा। तो क्या यह उपाय केवल धन सम्पन्न पुरुषों के ही लिए हैं, धन पुरुषों के कल्याण का कोई उपाय ही नहीं है। इसका उत्तर दिया है कि मुझे नमस्कार करते रहो। यह नमस्कार पूजा आदि का निर्देशक है। यज्ञ यागादि में तो व्यय बहुत अधिक होता है, अतः वह दुस्साध्य है परन्तु भगवान् की प्रतिमा आदि का यथा लब्ध उपचारों से पूजन करके उन्हें प्रणाम करना तो शक्य हो सकता है अल्प धन या निर्धन के लिए भी। अन्ततः नमस्कार में तो धन के व्यय की भी कोई आशंका नहीं रहती। भगवान् की प्रतिमा आदि में भगवद् बुद्धि को स्थिर रखते हुए विनीत भाव से प्रणाम करना तो सभी के लिए संभव है, अतः वह भी उपाय भगवान् ने बतला दिया जिससे कोई भी पुरुष चाहे वह निर्धन हो या धनवान कल्याण मार्ग से वंचित न रह सके। इस प्रकार नमस्कार करने से भी वही पुण्य प्राप्त होगा

जो यज्ञ आदि से प्राप्त होता है, फिर भक्ति प्राप्त होकर ज्ञान अर्थात् परब्रह्म के साथ अपने अभेद का बोध होकर परम कल्याण रूप मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जायगा यह श्रीनीलकण्ठ की व्याख्या का सारांश है।

तत्त्व प्रकाशिका में पहिले ध्यान फिर भक्ति अर्थात् भगवान् के लिए पूजनादि क्रियाएं करना, उस भक्ति को सम्पादित करने के लिए ही यज्ञ आदि करना, और अन्त में अपने यज्ञ में जो दोष रह गए हों उनके परिहार के लिए नमस्कार करना, इनसे जो पुरुष सम्पन्न होता है वह भगवान् को ही प्राप्त करता है, यह तात्पर्य प्रकट किया गया है। भक्ति का अर्थ भगवत्सम्बन्धिनी क्रिया करते हुए उन्होंने स्मृति पद्य उद्धृत किया है कि—

**“सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिष्य या क्रिया  
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः पराभवेत्”**

यज्ञ से उन्होंने द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ आदि पांच यज्ञ और अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग का ग्रहण किया है। द्रव्य यज्ञ का अभिप्राय वैभव पूर्ण स्थिति में समस्त उपचारों से भगवान् का आराधन करना है। जो वैभव सम्पन्न नहीं हैं उनके लिए द्रव्य यज्ञ, पत्र, पुष्प, फल आदि से यथाशक्ति भगवान् का पूजन करना है। अपने धर्म का पालन करते हुए क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि का सहन करना ही तपोयज्ञ है। यम, नियम, आसन आदि के अभ्यास के द्वारा प्राणायाम पूर्वक अपने चित्त को जीतने का अभ्यास करना योग यज्ञ है। अपने अधिकारानुसार उपनिषदादि शास्त्रों का अध्ययन करना स्वाध्याय यज्ञ है। सुने हुए और अध्ययन किए हुए ज्ञान का मनन और प्रवचन करना ज्ञान यज्ञ है। इन्हीं यज्ञों का अनुष्ठान यज्ञ शब्द से तत्त्व प्रकाशिका में कहा गया है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने पद्योक्त अर्चन और वन्दन को भगवान् की नवधा भक्ति का उपलक्षण बतलाया है। भक्ति के नौ प्रकार भागवत में इस प्रकार कहे गए हैं—

**“श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्  
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्  
इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा  
क्रियते भगवत्यब्धा तन्मन्येऽधीत मुत्तमम्”**

भगवद्भक्ति को ही यहां उत्तम अध्ययन का फल बतलाया है।

## इक्यासीवाँ-पुष्प

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः । ६६ ।

“समस्त धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आ जाओ। शोक मत करो। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्ति दिलाऊंगा” (६६)

श्रीशंकराचार्य लिखते हैं कि कर्मयोग की परम सिद्धियां, उसका रहस्य ईश्वर की शरण में पहुंच जाना है। भगवान् ने विगत पद्य में उस कर्मयोग निष्ठा से ईश्वर की शरण में चला जाना ही उसकी चरितार्थता है यह दिखलाकर उसका उपसंहार कर दिया। अब प्रस्तुत पद्य के द्वारा यह प्रकट किया है कि अन्ततः ज्ञान मार्ग का ही आश्रय लेना चाहिए और समस्त कर्मों का, चाहे वह धर्म हों या अधर्म, परित्याग कर देना चाहिए। पद्य में जो “सर्वधर्मान्” पद है उसमें अधर्म का भी संग्रह श्रीशंकराचार्य ने माना है। उनका अभिप्राय कर्म मात्र का परित्याग कर देने से है। सब धर्मों को छोड़ने का आशय खोलते हुए उन्होंने लिखा है—

“सन्त्यज्य सर्वकर्माणि”

“सभी कर्मों से संन्यास लेकर” सब कर्मों को छोड़ देने के अनन्तर समस्त जगत का आत्मा जो समस्त भूतों में समभाव से अवस्थित है, जो गर्भ, जन्म, जरा मरण आदि से रहित है, उसकी शरण में जाओ। इसका तात्पर्य स्पष्ट करते हुए आचार्य ने लिखा है कि “अहम्” अर्थात् “मैं” शब्द से सम्बोध्य जो ब्रह्म है, जिसे हम शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार से हटाकर भी “मैं” कहते हैं, उसकी शरण में जाओ और यह निश्चय करो कि—“मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।” कर्मों को छोड़कर जब तुम इस प्रकार की बुद्धि कर लोगे तब धर्म और अधर्म के जितने बन्धन हैं उन सबसे मैं तुम्हें मुक्त कर दूंगा। इसका तात्पर्य है कि उक्त निश्चय कर लेने के अनन्तर जब—

“आत्मैवेदं सर्वम्”

यह बोध हो जायगा तो वह बोध ही धर्मों तथा अधर्मों के बन्धनों को विगलित कर देगा। भगवान् स्वयं ज्ञान रूप हैं, अतः “मैं तुम्हें पापों से छुड़ा दूंगा” ऐसा उन्होंने कहा है। ज्ञान का प्रकाश अज्ञान के अन्धकार को स्वतः निवृत्त कर देता है। पहिले भी भगवान् कह चुके हैं—

## “नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता”

जब भगवान इतना विश्वास दिला रहे हैं तब अपनी स्थिति के विषय में अर्जुन को शोक करने का अवसर ही नहीं रह जाता। इसीलिये भगवान् ने शोक को दूर करने का भी आदेश दिया है—

### “मा शुचः”

इसके अनन्तर गीता का तात्पर्यार्थ प्रकट करते हुए श्रीशंकराचार्य ने लम्बा भाष्य लिखा है, हम अग्रिम पुष्प में उसका संक्षिप्त विवरण करेंगे।

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं कि यहां समस्त धर्मों के परित्याग का जो कथन है उसका आशय यह है कि कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का अधिकारानुसार परिपालन करते हुए उनके फल की अभिलाषा का त्याग कर दो, उनमें से कर्म बुद्धि भी हटा लो और अपने भीतर से कर्तृत्व बुद्धि भी हटा लो, यही “सर्व-धर्म-परित्याग” शब्द से यहां अभीष्ट है। आगे—

### “मामेकं शरणं ब्रज”

का अभिप्राय यह है कि केवल भगवान् में कर्तृत्व आदि बुद्धियां रक्खो वे ही कर्ता हैं, वे ही कर्म हैं, ऐसी बुद्धि बना लेना ही एकमात्र उनकी शरण में जाना है। “परित्यज्य” में जो त्याग है उसका आशय स्पष्ट करते हुए श्रीरामानुजाचार्य लिखते हैं कि त्याग भगवान् ने तीन प्रकार का बतलाया है—

“निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम !

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः”

(१८।४)

आगे सात्विक त्याग का निरूपण है—

“सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः”

(१८।९)

स्पष्ट है कि सङ्ग और फलाशा को छोड़कर कर्म, भक्ति और ज्ञान मार्गों में से किसी भी मार्ग पर चलने का भगवान् का आदेश है। देहधारी पुरुष निश्शेष रूप से कर्मों को नहीं छोड़ सकता। यह बात प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ में ही—

“न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते” ॥

इस पद्य के द्वारा बतला दी गई है। इस प्रकार फलाशा का परित्याग करके हे अर्जुन ! तुम जब कर्म, भक्ति या ज्ञान में से किसी मार्ग का ग्रहण करोगे तब मेरी प्राप्ति में बाधक जो अनेक जन्मों के संचित पाप हैं, उनसे मैं तुमको विमुक्त कर दूंगा, यह सारांश भगवान् ने प्रकट कर दिया है।

प्रस्तुत पद्य की भक्ति परक दूसरे प्रकार की व्याख्या लिखते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि अर्जुन यह सोचने लगा कि भक्तियोग की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है। सभी पापों के विनष्ट हो जाने पर जब कोई पुरुष भगवान् को अत्यन्त प्रिय हो जाता है तब कहीं उसको भक्ति मिलती है। मैं तो अनेक पापों से आबद्ध हूँ, मुझे भक्तियोग की प्राप्ति कैसे होगी, यह विचार जब अर्जुन के मन में आने लगा और भगवान् की भक्ति से वंचित रहने का शोक उसके मुख पर दिखाई देने लगा तो उसे सान्त्वना देते हुए भगवान् ने उसे फलाशा छोड़कर कर्म करने का, और केवल भगवान् की शरण में चले जाने का आदेश दिया।

इस सन्दर्भ में ‘सर्वधर्मपरित्याग’ का तात्पर्य लिखते हुए श्रीरामानुजाचार्य ने कहा है कि भक्तियोग की प्राप्ति के लिए पाप क्षय आवश्यक है। पापों को नष्ट करने के लिए शास्त्रों में अनेक प्रकार के कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के विधान हैं। वे व्रत बहुत समय में सम्पन्न होते हैं। इन सब व्रतों का अनुष्ठान करके अपने समस्त पापों से मुक्त होकर भक्तियोग को प्राप्त करना अर्जुन के लिए अनेक जन्मों में जाकर कहीं संभव होगा। सर्व धर्म परित्याग कहने का भगवान् का यही आशय है कि तुम इन सभी व्रतों को छोड़ दो, और केवल मेरा आश्रय लो। भगवान् तो परम कारुणिक हैं, वे धन, धर्म आदि कुछ नहीं देखते, अपने आश्रितों की वे परम शरण हैं, ऐसा समझकर उनकी शरण में जाने से वे सभी पापों से मुक्ति दे देंगे।

श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि धर्म शास्त्रों में अनेक धर्म कहे गए हैं, कुछ आश्रम धर्म हैं, कुछ सामान्य धर्म ऐसे हैं जो सभी धर्मों और सभी आश्रमों में समान रूप से पालनीय होते हैं। इन समस्त धर्मों में से किसी का भी परिग्रह मत करो। “मैं अमुक धर्म का दृढ़ता से पालन करूँगा” इस प्रकार की भावना भी छोड़ दो। ईश्वर सभी धर्मों का आश्रय है, उसी की शरण में चले जाओ। धर्मों का पालन मनुष्य करे या न करे, परन्तु यह तो निश्चित है कि फल देने में धर्म स्वतन्त्र नहीं है। धर्मों के परिपालन से पाप का नाश और पुण्य का समुदय होने पर ईश्वर का अनुग्रह जब प्राप्त



होता है, तब परम लाभ या मोक्ष मिलता है। स्पष्ट है कि धर्मों का परिपालन स्वयं जीवन का पूर्ण लाभ देने में समर्थ नहीं होता अपितु उसकी एक शृङ्खला है। भगवान् की शरण ही समस्त जीवन का फल वितरित कर देती है। अतः अन्य किसी साधन की अपेक्षा न करने वाली भगवान् की शरण ही लेनी चाहिए। जो स्वयं परम फल देने में समर्थ नहीं हैं, ऐसे धर्म हों या न हों उनकी उपेक्षा ही कर देनी चाहिए। भगवान् की शरण में जाने का आकर्षण जीव को सदा ही बना रहता है। भगवान् परमानन्द घन हैं। जीवन में आनन्द की अल्प मात्रा ही है। वह दुःखों से सर्वदा आक्रान्त रहता है। दुःखों की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिए जीवमात्र ईश्वर की शरण लेता है। भगवान् की शरण से बढ़कर वस्तु कोई नहीं है ऐसा निश्चय करके भगवान् में अपने मन का अर्पण उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार दीपक के प्रकाश को निरन्तर परिचालित रखने के लिए तैल की धारा दीपक में चलती रहती है। आगे श्रीमधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि—

### “मामेकं शरणं ब्रज”

“केवल मेरी शरण में जाओ” इतना कह देने से यह प्रतिफलित हो जाता है कि अन्य सब को छोड़ दो, उसी से सर्व धर्म परित्याग भी प्राप्त हो ही जाता है, पुनरपि सर्व धर्म परित्याग की जो बात पद्य में पृथक् कही गई है उसका तात्पर्य यह है कि इसका यह आशय नहीं लगाना चाहिए कि स्वरूपतः समस्त धर्म हेय हैं, अतः उन्हें छोड़ देने को भगवान् कह रहे हैं, अपितु यहाँ का आशय यह है कि समस्त धर्मों का आचरण करने से जो फल होगा उसका प्रदाता तो मैं ही हूँ, मेरी शरण में आ जाने से समस्त धर्मों के आचरण का फल स्वतः मिल जायगा और मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी। श्रीशंकराचार्य ने यहाँ जो धर्म शब्द से अधर्म का भी ग्रहण मानकर व्याख्या की थी, उस पर विचार करते हुए श्रीमधुसूदन सरस्वती ने लिखा है कि अधर्म के ग्रहण करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। अधर्म का ग्रहण करना तो तब आवश्यक होता जब कर्म मात्र के स्वरूपतः परित्याग कर देने का भगवान् का अभिप्राय होता। परन्तु भगवान् का आशय यहाँ यही है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास इन सभी आश्रमों में स्थित पुरुषों के लिए सामान्यतः यह विधि है। धर्म का आचरण करते हुए भी उसके प्रति उपेक्षा बुद्धि ही होना चाहिए और भगवान् की शरण को ही सर्वाधिक समझना चाहिए। चाहे हम कर्म मार्ग में हों या संन्यास मार्ग में, दोनों ही स्थितियों में हम भगवान् की शरण ले सकते हैं। जिस प्रकार कर्मों का परित्याग कर देने वाला संन्यासी भगवान् की शरण लेता है, उसी प्रकार कर्मों में प्रवृत्त पुरुष कर्मों के फल

की आकांक्षा न रखता हुआ भगवान् की शरण लेता है। इस प्रकार उसका कर्म बन्धक नहीं अपितु बन्धन छुड़ाने वाला होता है। बन्धन छूटने पर प्राणी भगवान् की शरण में पहुँच ही जाता है। सभी व्यक्तियों का अपने धर्मों के प्रति आदर रहता है, परन्तु धर्म मोक्ष का प्रत्यक्ष कारण नहीं है, यही यहां भगवान् ने दिखाया है। परन्तु भगवान् की शरण प्राप्त करने की योग्यता धर्माचरण से ही प्राप्त होती है, अतः प्रारम्भ में धर्माचरण से अपनी पात्रता बनाना आवश्यक है। अधर्म के आचरण में सत्पुरुषों का आदर नहीं होता अतः उसके परित्याग का विधान मानने के लिए आवश्यक नहीं रह जाता। साथ ही अधर्माचरण का निषेध तो अन्य धर्म शास्त्र आदि में मिलता ही है, परन्तु धर्माचरण के प्रति उपेक्षा का भाव अन्यत्र से विहित नहीं है, अतः उस अभिनव कथन को ही मानना उपयुक्त है। अन्य शास्त्रों से प्राप्त अधर्म के परित्याग का यहां आशय नहीं है। कर्म मात्र का परित्याग तो संन्यास के प्रतिपादक वेदान्त शास्त्र का मुख्य विषय है। यदि कहा जाय कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय संन्यास ही है इसका निषेध करते हुए श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि यहाँ तो भगवान् ने एकमात्र अपनी शरण लेने का विधान किया है। ईश्वर की शरण में जाना ही समस्त शास्त्रीय विधानों का मुख्य लक्ष्य है। गीता शास्त्र का उपसंहार भी भगवान् की शरण ग्रहण का उपदेश देकर ही भगवान् ने किया है, उपसंहार वक्ता के तात्पर्य के निर्णय में परम सहायक होता है। भगवान् की शरण के बिना संन्यास भी अपना फल देने में समर्थ नहीं होता। गीता का परम तात्पर्य संन्यास को इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि गीता का उद्देश्य अर्जुन के मोह को नष्ट करके उसे युद्ध के लिए प्रेरित करना है। कर्म मार्ग में होने के कारण संन्यास का तो अर्जुन अधिकारी ही नहीं है, भगवान् उसे संन्यासी हो जाने का आदेश कैसे दे सकते थे। यदि यह कहा जाय कि अर्जुन जीव मात्र का प्रतिनिधि है, अर्जुन को निमित्त बनाकर जीवमात्र का कल्याण जिसमें है वह उपदेश भगवान् ने दिया है, जीवमात्र का परमकल्याण मोक्ष प्राप्ति में ही है, मोक्ष प्राप्ति ज्ञान से ही होता है, और परम ज्ञान कर्म के परित्याग के अनन्तर ही प्राप्त होता है तो इस पर भी यह विप्रतिपत्ति सामने आती है कि भगवान् ने अर्जुन के लिए ही—

“ततो वक्ष्यामि ते हितम्”

“अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः”

इत्यादि कहा है। अतः साक्षात् सम्बोध्य अर्जुन की स्थिति का भी तात्पर्य के पर्यालोचन में विचार करना आवश्यक है। अतः भगवान् ने जब सभी धर्मों के परित्याग करने का आदेश दिया तब संन्यास धर्म का भी अनादर करके भगवान् की ही शरण

ग्रहण करना चाहिए, यही उनका तात्पर्य है। सर्वधर्म परित्याग के अनन्तर जब भगवान् की शरण ग्रहण करोगे तो भगवान् की ही एक मात्र शरण ग्रहण करने के कारण भगवान् सभी पापों से तुम्हें मुक्ति दिला देंगे। आगे भगवान् की शरण में जाना तीन प्रकार से हो सकता है यह लिखते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—

**तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा ।**

**भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासमात्रतः**

अर्थात् “मैं उन्हीं का हूँ” “वे मेरे ही हैं” और “मैं वही हूँ” इस प्रकार की भावनाओं से युक्त भगवान् की शरण तीन प्रकार की होती है जो क्रमशः साधना और अभ्यास के परिपक्व होने पर प्राप्त होती जाती है। तीनों प्रकार की शरण के उदाहरण भी उन्होंने व्याख्या में दिए हैं। प्रथम प्रकार की शरण का उदाहरण है—

**“सामुद्रो हि तरङ्गः**

**क्वचन समुद्रो न तारङ्गः”**

अर्थात् समुद्र में उठने वाली तरङ्गें समुद्र की कही जाती हैं, समुद्र को तारङ्ग नहीं कहा जाता, समुद्र तरङ्गों से नहीं बना है। समुद्र में कहीं तरङ्गें भी होती हैं और कहीं बिलकुल शान्त अवस्था में भी रहता है, तरङ्गें समुद्र की शरण में जैसे हैं वैसे ही भगवान् समुद्र हैं और जीव उनकी शरण में तरङ्ग के समान हैं। यह प्रथम प्रकार की शरण का उदाहरण हुआ।

दूसरी शरण है कि “वे मेरे ही हैं”। शरण की इस भूमिका में भक्त भगवान् को इस प्रकार बिठाता है कि वे यहाँ से हट ही नहीं सकते। भगवान् श्रीकृष्ण अपनी बालक्रीड़ा में किसी से अपना हाथ छुड़ाकर चले गए। अपनी दृढ़ भक्ति को प्रकट करते हुए उसने कहा कि—

**“हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात् कृष्ण ! किमद्भुतम्**

**हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते”**

अर्थात् हे कृष्ण ! तुम मुझ से हाथ छुड़ाकर चले गए, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं, मैं तो तुम्हारी वीरता तब समझूँ जब तुम मेरे हृदय से चले जाओ।

तीसरी भूमिका का उदाहरण है कि—

**“सकलमिदमहं च वासुदेवः**

**परमपुमान् पुरुषोत्तमः स एकः”**

“यह समस्त जगत् और मैं परम पुरुष भगवान् पुरुषोत्तम ही हैं”, उनके अतिरिक्त न मैं कुछ हूँ न अन्य कुछ है। तीसरी शरण में वही स्थिति हो जाती है जो ज्ञान मार्ग की भी पराकाष्ठा है, उसमें भगवान् के अतिरिक्त भी अन्य कुछ है यह भावना ही मिट जाती है।

अन्त में श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि इस गीता शास्त्र में कर्मनिष्ठा, का प्रतिपादन हुआ है। कर्म विकर्म, अकर्म आदि कर्मों के भेद, संसार में कर्म करने की युक्ति, आदि का विवेचन करते हुए अन्ततः कर्मों के अनुष्ठान से अपने को पवित्र बनाकर सर्व कर्मसंन्यास में कर्म निष्ठा का उपसंहार हुआ है। इसी प्रकार संन्यास के साधन आदि का विवरण करके—

**“ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा  
विशते तदनन्तरम्”**

कहकर संन्यास या ज्ञाननिष्ठा का उपसंहार हुआ है। भक्ति निष्ठा कर्म और ज्ञान दोनों निष्ठाओं का साधन तथा फल है। इसका उपसंहार प्रस्तुत पद्य के द्वारा हुआ है भाष्यकार श्रीशंकराचार्य से अपना मतभेद दिखाते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि भाष्यकार ने—

**“सर्वधर्मान् परित्यज्य”**

इतने अंश से सर्व कर्म संन्यास का विधान माना है—

**“मामेकं शरणं ब्रज”**

इस कथन से ज्ञाननिष्ठा से उपसंहार माना है। सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय श्रीमधुसूदनसरस्वती श्रीशंकराचार्य का अनुगमन ही करते हैं और स्वयं को अद्वैत वीथी पथिकों का उपास्य कहते हैं। परन्तु गीता का अन्तिम तात्पर्य प्रकट करते हुए उन्होंने भक्ति को ही प्रधानता दी है। यहां उन्होंने भाष्यकार से अपना मतभेद भी बड़े विनम्र शब्दों में यह कहकर प्रकट किया कि—

**“भगवदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः”**

अर्थात् भगवान् का क्या अभिप्राय है, इसका विवरण करने में अत्यन्त अल्पज्ञ हम जैसे पुरुषों की क्या शक्ति है। श्रीमधुसूदनसरस्वती के कथन की ब्रह्मानन्द गिरि तथा श्रीधरी व्याख्याओं में आलोचना की गई है।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या में कहा गया है कि ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ यह

उद्देश्यांश है, और “मामेकं शरणं ब्रज” यह विधेयांश है। शरणमार्ग के अवरोधक धर्म ही यहां सर्वधर्म शब्द से गृहीत होते हैं। उनके परित्याग का तात्पर्य उन्हें छोड़कर शरण मार्ग या पुष्टि मार्ग के अनुकूल धर्मों को ग्रहण करने में है।

### “मन्मना भव”

आदि विगत पद्य से उसका सम्बन्ध भी बन जाता है। पहिले भगवान् ने शरण मार्ग के साधक कर्मों को कह दिया और अब उसके विरोधी धर्मों के परित्याग का उपदेश दे दिया। पहिले कहा गया था—

### “मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय”

वहां अन्य देवता आदि में मन लगाने का निषेध प्रति फलित होता है। अन्य देवता आदि का भजन रूपी जो धर्म है उसका निषेध यहां श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या में माना गया है। वाल्लभ सिद्धान्त के अनुसार अर्जुन अभी मर्यादा मार्ग में है, अन्य धर्म का परित्याग करने का उपदेश देकर भगवान् उसे पुष्टिमार्ग ग्रहण करने का आदेश दे रहे हैं। पापों से मुक्ति दिलाने की प्रतिज्ञा करते हुए भगवान् ने पुष्टि मार्ग के अनुसार अपना पुरुषोत्तम रूप प्रकट कर दिया है।

श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि—

### “ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति”

(१३।२५)

इत्यादि पद्य में भगवान् ने नमन, यजन, भजन, और मनन क्रम से सांख्य निष्ठा बतलाई थी। आगे—

“अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः” ॥

(१३।२६)

इस पद्य से केवल उपासना करने वालों की योगनिष्ठा बतलाई गई थी। उसी योगनिष्ठा का प्रस्तुत पद्य से उपसंहार किया गया है। पद्य का अर्थ लिखते हुए श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि वर्ण, आश्रम, देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि के जो अग्निहोत्र सुख, दुःख आदि धर्म हैं, उनका परित्याग कर दो, और सर्व शक्तिशाली उपाधि मुक्त या उपाधि रहित, अखण्ड, एकरस, आनन्दघन जो परब्रह्म है, उसकी शरण

लो। क्योंकि उसकी शरण अविद्या आदि के क्लेशों को समाप्त कर देती है। शरण शब्द का अर्थ है—“शृणाति क्लेशादीन्”, जो क्लेश आदि को शीर्ण कर दे। समस्त धर्मों का परित्याग कर देने पर और भगवान् की शरण ग्रहण कर लेने पर फल यह होगा कि वे ही समस्त जगत् के अन्तर्यामी रूप से अवस्थित हैं, वे पूर्व सञ्चित तथा इस जन्म में किये गए बन्धुवध आदि पापों से मुक्ति दे देंगे। अतः “मैं अपने पूज्य बन्धुओं को संग्राम में मारकर कभी न छूटने वाले महान् पाप का भागी बनूंगा और अनन्त काल के लिए नरक प्राप्त करूंगा” इस प्रकार का शोक हे अर्जुन ! तुम मत करो, तत्त्व ज्ञान या भगवान् की शरण ले लेने के अनन्तर प्राणी शोक से विमुक्त हो जाता है। यह बात श्रुतियों और स्मृतियों में सर्वत्र विख्यात है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि—

“स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित  
उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद”

(छां० १।६।७)

यहाँ सूर्य समस्त पापों का नाश करते हुए उदित होता है, उसकी आराधना करने वाला समस्त पापों से विनिर्मुक्त हो जाता है, यह स्पष्ट है।

“तरति शोकमात्मवित्”

(छां० ७।१।३)

“आत्मवेत्ता पुरुष शोक का तरण कर जाता है”।

“तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः”

(ई० ३।७)

एकत्व का दर्शन करने वाले के लिए मोह और शोक है ही कहाँ ? निष्कर्ष लिखते हुए श्रीनीलकण्ठ कहते हैं कि वर्णाश्रम धर्मों से संन्यास लेकर षष्ठ अध्याय में कहे गए योग के द्वारा शरीर आदि के धर्मों का भी परित्याग करके निर्विकल्प भाव से संस्थित तत्त्व का साक्षात्कार करने वाला पुरुष पुण्य पाप आदि कर्मों से लिप्त नहीं होता।

तत्त्व प्रकाशिका में कहा गया है कि—यहाँ भगवान् ने जो समस्त धर्मों के परित्याग की बात कही है, उसका गीता के वचनों से आपाततः विरोध प्रतीत होता है। पहिले कर्मों के परित्याग का भगवान् ने केवल निषेध ही नहीं किया अपितु कर्मों के परित्याग को असंभव भी कहा है—

“न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते”

“नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते

मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः”

“नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्”

इत्यादि पद्यों में धर्मानुष्ठान रूप कर्मों की अवश्य कर्तव्यता और उनके परित्याग को तामस कहा गया है, तब यहां वे ही भगवान् कैसे समस्त धर्मों के परित्याग की खुली छूट अर्जुन को दे रहे हैं। यह विरोध प्रतीत होता है। उसका समाधान करते हुए तत्त्व प्रकाशिकाकार कहते हैं कि जो लोग भगवद्भक्ति से विहीन हैं उनको भी भगवान् की भक्ति की योग्यता प्राप्त हो जाय, इसी उद्देश्य से उनके लिए कर्मों का आवश्यक विधान भगवान् ने किया है। कर्मानुष्ठान के अनन्तर भक्ति की योग्यता प्राप्त हो जाने पर तो कर्मों का परित्याग कर एक मात्र भगवान् की शरण में चला जाना चाहिए। भगवान् को प्राप्त कर लेना ही कर्मानुष्ठान का प्रमुख प्रयोजन है। जब भगवान् में चित्त लगाने का सामर्थ्य प्राप्त हो गया तब कर्मानुष्ठान निष्प्रयोजन हो जाता है—

“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति

यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन”

इत्यादि श्रुतियों में वेदाध्ययन, यज्ञ, दान आदि से भगवान् के स्वरूप को जानना ही मुख्य लक्ष्य बतलाया गया। भगवान् के स्वरूप की जिज्ञासा उत्पन्न कर देने के अनन्तर वेदाध्ययन, यज्ञ, दान आदि विधियों का कार्य पूर्ण हो जाता है। श्रीमद्भागवत में भी लिखा है कि—

“निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्

जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम्

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता

मत्कथाश्रवणादौ वा यावत् श्रद्धा न जायते”

यहां पर भगवत्कथा आदि के श्रवण आदि में जब तक प्रवृत्ति नहीं हो जाती तभी तक कर्मों के अनुष्ठान की बात कही गई है, उसके अनन्तर कर्मों को छोड़ देना चाहिए यह स्पष्ट कर दिया गया है। गीता में भी विश्वरूप दर्शन आदि के अवसरों पर भगवान् ने अध्ययन, यज्ञ, दान आदि साधनों के द्वारा विश्वरूप देखने की योग्यता प्राप्त नहीं होती अपितु यह योग्यता अनन्य भक्ति से ही आ सकती है, ऐसा कहा गया है—

“न वेद यज्ञाध्ययनैर्न दानैर्नच क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः  
 एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर”  
 “नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन नचेज्यया  
 शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा”  
 “भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !  
 ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप !”  
 “मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः  
 निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव”

इत्यादि पद्यों का यहां के पद्यों से पूर्ण साम्य प्रकट होता है। इन पद्यों में स्पष्ट कर दिया गया है कि परमेश्वर के दर्शन करने में यज्ञ, दान आदि साक्षात् रूप से सहायक नहीं, परन्तु भक्ति के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का दर्शन प्राप्त कर लेना भी संभव है।

“भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः  
 क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे”

इत्यादि पद्यों में समस्त दुःखों के विनाश का कारण परमात्मा के ज्ञान को ही कहा गया है और उस ज्ञान का अनन्य साधन भक्ति ही है। भगवान् की प्रसाद रूपा भक्ति से ही भगवान् का ज्ञान होना संभव है, यह बात अन्य श्रुतियों तथा स्मृतियों में भी इस प्रकार कही गई है—

“शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः”  
 “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो  
 न मेधया न बहुना श्रुतेन  
 यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-  
 स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्”  
 “न स शक्यः सुरैर्द्रष्टुं नचान्यैरपि सत्तम !  
 यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति”

इत्यादि श्रुति तथा स्मृति वाक्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्त पुरुष ही



भगवान् की वरणीयता को प्राप्त कर उनके स्वरूप दर्शन का निःस्सीम सौभाग्य प्राप्त करने का भी अधिकारी बनता है।

श्रीशंकरानन्द ने यहां यह प्रश्न उठाया है कि प्रस्तुत पद्य कर्म मार्ग में प्रवृत्त पुरुषों के लिए उपदेश है या कर्म मार्ग से निवृत्त पुरुषों के लिए। कर्मोपदेश के प्रकरण में उद्धृत होने के कारण इसे कर्ममार्ग में प्रवृत्त पुरुषों के लिए मानना उपयुक्त है। अर्जुन अभी कर्ममार्ग में ही विद्यमान है। अतः कर्म में निरत पुरुषों के लिए ही भगवान् ने समस्त धर्मों का त्याग करके अपनी शरण में आने का उपदेश दिया है। इस मत को उद्धृत करके आगे इसका खण्डन करते हुए श्रीशंकरानन्द ने लिखा है कि जो पुरुष कर्म मार्ग में हैं, जिन्हें अभी ज्ञानी होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है, उनको कभी कर्मानुष्ठान नहीं छोड़ना चाहिए, यह भगवान् ने गीता में अनेक बार कहा है। भगवान् का भजन भी एक कर्म है। भजन रूप कर्म का अनुष्ठान करते रहने के कारण अन्य धर्मों को छोड़ देने पर भी कर्म लोप नहीं होता इस विचार का भी श्रीशंकरानन्द ने खण्डन किया है कि जो धर्म वर्णाश्रमों के अनुसार बतलाए गए हैं यदि मनुष्य उन कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता तो वह दोष का भागी अवश्य बनता है। केवल भगवन्नाम का जप करना मात्र ही यथेष्ट नहीं है।”

जो व्याख्याकार पद्योक्त “सर्व धर्मान् परित्यज्य” का अर्थ समस्त धर्मों के फल का परित्याग करते हैं, वे वहां लक्षणा का आश्रय लेते हैं, अन्यथा समस्त धर्मों के त्याग के कथन से उनके फल के परित्याग का अर्थ कैसे लिया जा सकता है, अतः उक्त अर्थ करने में उन्हें लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु यहां लक्षणा का आश्रय लेने का कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता। लक्षणा का आश्रय लेने का मुख्य कारण यथाश्रुत शब्दों के वाच्यार्थ का प्रकृत अर्थ में संगत न होना है। परन्तु यहां तो वाच्यार्थ सुसंगत होता है। तब लक्षणा का आश्रय लेने की यहां क्या आवश्यकता। यथाश्रुत शब्दों के वाच्यार्थ की संगति दिखाते हुए श्री शंकरानन्द लिखते हैं कि भगवान् ने योगियों के लिए ज्ञान निष्ठा या सांख्य निष्ठा बतलाई है और कर्माधिकारियों के लिए कर्मयोग या कर्म निष्ठा बतलाई है। कर्म निष्ठा का उपसंहार पहिले हो चुका है यहां ज्ञान निष्ठा का उपसंहार है। इस प्रकार गीता के प्रकरणों के पर्यालोचन से यह प्रकरण ज्ञान निष्ठा के उपसंहार का ही सिद्ध होता है और इसमें उन समस्त धर्मों के स्वरूपतः परित्याग का अर्थ सुसंगत होता है। फिर उन्होंने प्रश्न उठाया है कि कर्म में लगे रहना तो भगवान् के प्रीति सम्पादन का ही उपाय है, उसके परित्याग का कथन भगवान् क्यों कर रहे हैं ? हां, कर्म फल त्याग का भगवान् ने पहिले भी विधान किया है, यहां भी

कर्मफल त्याग मानने पर भगवान् का आशय समझ में आ जाता है। इसका उत्तर देते हुए वे लिखते हैं कि कर्म करने से भी अधिक प्रीति ज्ञान से प्राप्त होती है। कर्म करते समय कर्ता को भेद ज्ञान बना रहता है, जो कि अयथार्थ है। कर्म मार्ग में प्रवृत्ति रखने वाला अर्जुन भी भगवान् से इतना महत्वपूर्ण उपदेश सुन लेने के उपरान्त भी भेद ज्ञान से विमुक्त नहीं हो सका और अन्त में उसने कहा कि—

“नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत  
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव”

यहां उसने भगवान् को अपने से पृथक् समझकर ही सम्बोधन किया है, वह भगवान् से अपने को अभिन्न नहीं समझ सका था। कारण कि वह कर्म मार्ग का ही पथिक था।

अब यह प्रश्न रह जाता है कि समस्त धर्मों का परित्याग करके कोई यदि इस वचन के आधार पर अधर्म का आचरण करने लगे तो क्या उसे भगवान् की शरण प्राप्त हो जायगी ? इसका समाधान श्रीशंकराचार्य के अनुसार ही श्रीशंकरानन्द ने किया है कि भगवान् ने पहिले—

“त्यज धर्ममधर्मं च”

कहकर धर्म और अधर्म का परित्याग कर देने का स्पष्ट विधान कर दिया है, ज्ञान मार्ग में जहां कहीं धर्म के त्याग की बात कही जायगी वहां अधर्म का त्याग करके जब प्राणी भगवान् की शरण में चला जाता है तब उसे अद्वितीय तत्त्व का ज्ञान हो जाने के कारण उसका शोक स्वतः ही निवृत्त हो जाता है। भगवान् ने उपक्रम में भी—

“अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्”

कहकर अशोच्य के शोक करने को निरर्थक बतलाया था। यहां उपसंहार भी शोक के अपनोदन के उपदेश से हुआ। शोक का अपनोदन अद्वितीय तत्त्व के साक्षात्कार होने पर ही होता है। इस प्रकार उपसंहार का यह पद्य ज्ञान मार्ग में ही अपना तात्पर्य प्रकट करता है यह उक्त व्याख्याकार का आशय है।

लोकमान्य तिलक भी उपसंहार के इस पद्य को भक्ति परक ही मानते हैं और धर्म शब्द से धर्म और अधर्म दोनों मानने के पक्ष का खंडन करते हुए धर्म पद से अहिंसा धर्म, सत्य धर्म, मातृ पितृ सेवा धर्म, गुरु सेवा धर्म, यज्ञ याग धर्म दान धर्म संन्यास धर्म आदि को त्याज्य कोटि में निविष्ट करते हुए सगुण भक्ति को ही श्रेष्ठ बतलाते हैं ज्ञानमार्ग के व्याख्याकार निर्गुणोपासना से ही प्रभावित होते हुए इसकी

व्याख्या करते हैं यह दिखाकर लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि यद्यपि निर्गुणोपासना गीता को अभीष्ट नहीं है ऐसी बात नहीं। गीता में अनेकत्र निर्गुणोपासना की चर्चा आती है, परन्तु उपसंहार में गीता में सगुणोपासना ही प्रधान है। भगवान् का यह अपने शरणागत के लिए दिया गया आश्वासन अर्जुन को निमित्त बनाकर जीव मात्र के लिए समझना चाहिए। सभी जीवों को उनका यह सन्देश है कि समस्त उपर्युक्त धर्मों को छोड़ कर मेरा आश्रय ले लेने से कोई डर नहीं रह जाता।

श्री विद्यावाचस्पतिजी राजविद्या, सिद्ध विद्या, आर्ष विद्या और राजर्षि विद्या इन चार विद्याओं को गीता में वर्णित मानते हैं। इनमें से प्रस्तुत प्रकरण राजर्षि विद्या का उपसंहार है। अव्यय पुरुष का एक भेद गूढ़ात्मा अव्यय है। यहां उसी एक निष्ठा रखने का आदेश दिया गया है।

---

## बयासीवां-पुष्प

### श्री शंकराचार्य का उपसंहार

श्री शंकराचार्य ने यहां अपना उपसंहार भाष्य विस्तार से लिखा है। उन्होंने इस प्रश्न पर विस्तार से, प्रमाण और युक्तियों से विचार किया है कि गीता का तात्पर्य, निष्कर्ष ज्ञान है या कर्म। गीता के तात्पर्य के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। भिन्न-भिन्न मतों के आचार्यों ने गीता का तात्पर्य अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार निश्चित किया है। स्वयं गीता के वचनों पर दृष्टिपात करने पर ही यह प्रकट होता है कि वहां कर्म मार्ग का भी पूर्ण समर्थन है, और ज्ञान मार्ग का भी। इसी बात को दिखाते हुए श्रीशंकराचार्य ने इस बात की आवश्यकता का अनुभव किया कि उनके सिद्धान्तानुसार गीता का तात्पर्य क्या है, इस पर विस्तार से विवेचन किया जाय।

“यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते” (१३।१३)

“ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्” (१८।५५)

इत्यादि वचनों के द्वारा ज्ञान को ही निःश्रेयस का परम साधन माना गया है, तथा—

“कर्मण्येवाधिकारस्ते” (२।४७)

“कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्” (४।१५)

इत्यादि वचनों के द्वारा कर्मों की अवश्य कर्तव्यता बतलाई गई है। ज्ञान और कर्म की श्रेष्ठता के इस प्रतिपादन से गीता को ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही परम तात्पर्य के रूप में अभीष्ट है अथवा केवल ज्ञान या केवल कर्म ही श्रेष्ठ है, इस प्रकार का सन्देह हो जाना स्वाभाविक है। इनमें केवल आत्मज्ञान मोक्ष प्राप्ति का हेतु होता है, क्योंकि आत्मा का ज्ञान हो जाने पर भेद बुद्धि निवृत्त हो जाती है और केवल आत्मा ही रह जाता है, यही कैवल्य या मोक्ष है। अब केवल कर्म भी मोक्ष के हेतु बन सकते हैं अथवा नहीं इसका विचार यहां प्रासङ्गिक है।

आत्मा जब असंग तथा एक और अद्वितीय है तो उसमें भेद बुद्धि आती कहां से है, इसका उत्तर यह है कि अनादि काल से आत्मा पर अविद्या के द्वारा भेद बुद्धि आरोपित है। कर्म में प्रवृत्त पुरुष सर्वदा इस भेद से आबद्ध रहता है कि—“यह मेरा कर्म है, मैं इसका कर्ता हूं, अमुक फल की प्राप्ति के लिए मैं अमुक कर्म करूंगा।”

इस अविद्या के द्वारा समुत्पादित भेद बुद्धि का विनाश आत्मज्ञान से ही होता है कि “मैं सर्वत्र व्याप्त एक आत्मा हूँ, मैं अकर्ता हूँ, मुझ में कोई क्रिया नहीं है, मैं किसी फल का भोक्ता भी नहीं हूँ, मुझ से अतिरिक्त और कोई है ही नहीं”, इस प्रकार का आत्म सम्बन्धी ज्ञान जब उत्पन्न हो जाता है तो वह भेद बुद्धि भी अपने आप ही निवृत्त हो जाती है, जिस भेद बुद्धि के कारण मनुष्य अनेक प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। निःश्रेयस या मोक्ष की सिद्धि केवल कर्म से, अथवा ज्ञान और कर्म के समुच्चय से नहीं होती, अपितु केवल ज्ञान से ही होती है। कर्म के द्वारा मोक्ष या निःश्रेयस की प्राप्ति क्यों नहीं होती, इसका कारण बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि कर्म से वही वस्तु प्राप्त की जा सकती है, जिसका पहिले अभाव हो और कर्म के द्वारा जिसकी उत्पत्ति होती हो। निःश्रेयस या मोक्ष में यह बात नहीं। आत्मा के साक्षात्कार का नाम ही मोक्ष है। कर्मों के द्वारा न तो आत्मा उत्पन्न किया जाता है, और न उसके साक्षात्कार का ही उत्पादन होता है। क्योंकि आत्मा स्वयं नित्य है, उसका उत्पादन कर्म से कैसे होगा। उसका साक्षात्कार भी सभी को है क्योंकि “मैं हूँ, या नहीं”, अथवा “मैं कौन हूँ” इस प्रकार की शंका किसी को नहीं होती। अतः कर्म के द्वारा उत्पाद्य वस्तु मोक्ष में कुछ नहीं है। अविद्या के द्वारा आत्मा पर जो धर्म आरोपित हैं, उनका ज्ञान हो जाना ही मोक्ष है। ज्ञान किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं करता अपितु वह अज्ञान को निवृत्त कर देता है और अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर आत्मा का प्रकाश फैल जाता है। ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, इस सिद्धान्त का खंडन करते हुए श्रीशंकाचार्य कहते हैं कि ज्ञान और कर्म में लगा हुआ पुरुष जैसे उससे भिन्न फल को देने वाले भिन्न कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति में लगा हुआ ज्ञाता पुरुष कर्म आदि में प्रवृत्त ही कैसे हो सकता है। जब तक ऐसी प्रवृत्ति रहती है, उस अवस्था को ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न से दूर ही समझना चाहिए। यदि कहो कि लकड़ी चीरना रूपी कर्म भोजन रूपी क्रिया में सहायक होता है। लकड़ी चीरने के अनन्तर भोजन आदि क्रियाएं होती हैं, अग्नि उत्पन्न करने के अनन्तर पाक आदि बनाना या अग्निहोत्र आदि करना रूपी क्रियाएं होती हैं, अतः जिस प्रकार एक क्रिया के उपरान्त दूसरी क्रिया देखी जाती है, उसी प्रकार पहिले ज्ञान फिर कर्म इत्यादि क्रम से मुक्ति प्राप्त होती है और मुक्ति के साधन के रूप में ज्ञान और कर्म का सहयोग बन जाता है, तो यह कथन उपयुक्त नहीं। क्योंकि कर्म स्वतः अल्प फल वाला होता है, अतः एक कर्म ने अपना अल्पफल जब दिया तो अल्पता की परिपूर्ति के लिए दूसरा कर्म करना होता है। परन्तु ज्ञान का फल तो परिपूर्ण है। अपने में परिपूर्ण फल रखने वाला ज्ञान किसी कर्म आदि अन्य साधन की अपेक्षा ही

नहीं रखता है। रस्सी में सर्प के अज्ञान को निवृत्त कर देना प्रकाश का काम है। इस कार्य में प्रकाश को अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं, उसी प्रकार ज्ञान ही अज्ञान को निवृत्त कर देता है, अज्ञान का निवृत्त हो जाना ही कैवल्य या मोक्ष है। अतः ज्ञान अपने में परिपूर्ण है, उसे अपने फल देने के लिए कर्म आदि की अपेक्षा नहीं होती। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान का फल मोक्ष बहुत बड़ा फल है, उसमें प्रवृत्त होने वाला पुरुष अल्प फल वाले कर्म में प्रवृत्त ही क्यों होगा। जिनका ध्येय समस्त भारत को विदेशी दासता से छुड़ाना था, वे किसी एक भाग में ही स्वतन्त्रता प्राप्त करके कैसे चुप हो सकते थे। इसी प्रकार मोक्ष रूपी परम स्वतन्त्रता की अभिलाषा रखने वाला पुरुष क्षणिक आनन्द प्रदान करने वाले कर्मों में कैसे लिप्त हो जायगा। अतः कर्म निःश्रेयस देने के साधन नहीं और मोक्ष रूपी फल देने में कर्म की सहायता की कोई अपेक्षा नहीं, यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

इस पर कर्मवादी यह कहते हैं कि नित्य कर्मों के न करने से प्रत्यवाय होता है। यदि हम नित्य कर्मों को छोड़कर ज्ञान मार्ग का आश्रय ले लेंगे तो शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार पाप के भागी बनेंगे। अतः नित्य कर्मों का परित्याग कथमपि उचित नहीं। नित्यकर्मों के अनुष्ठान से मोक्ष तो स्वतः सिद्ध हो जाता है क्योंकि मोक्ष नित्य ही है। नित्य कर्मों के अनुष्ठान से नित्य मोक्ष सिद्ध हो ही जायगा। इस प्रकार कर्ममार्ग का आश्रय लेने से शास्त्रों का विरोध भी नहीं होता और बिना किसी समाधि आदि के प्रयत्न के मोक्ष स्वतः प्राप्त हो जाता है। तब कर्म मार्ग का परित्याग कथमपि समुचित नहीं कहा जा सकता। कर्मों के अनुष्ठान से पाप की प्राप्ति नहीं होगी, नित्य कर्मों के अनुष्ठान के साथ-साथ जब हम निषिद्ध कर्मों का परित्याग कर देते हैं तो अनिष्ट शरीरों की उत्पत्ति रुक जाती है। साथ ही काम्य कर्म जो अनेक कामनाओं से किए जाते हैं उनका भी परित्याग कर देने से इष्ट शरीर की भी उत्पत्ति नहीं होती। वर्तमान शरीर को आरंभ करने वाले जो कर्म हैं वे सब इस शरीर के अन्त होने के साथ ही क्षीण हो जायंगे। उसके उपरान्त कैवल्य या मोक्ष की स्थिति प्राप्त हो जायगी। इस प्रकार बिना किसी अतिरिक्त प्रयत्न के मोक्ष जब स्वतः ही कर्मानुष्ठान करते हुए करगत हो रहा है तो कौन इस मार्ग को छोड़ कर अन्य मार्ग का अवलम्बन लेना चाहेगा। इस प्रकार के कर्म सिद्धान्त में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हमने निषिद्ध और काम्य कर्मों का परित्याग कर दिया, अतः उनके फल के उपभोग के लिए आगे हमें शरीर धारण नहीं करना पड़ेगा, परन्तु अनादि काल के जो कर्म संचित हैं वे तो अपना फल देने के लिए पुनः शरीर ग्रहण करवाएंगे। स्वभावतः वे कर्म इतने अधिक होते हैं कि एक शरीर में उन सभी का फल भोग लेना संभव नहीं है। तब उनके फलों के उपभोग के

लिए जब इस शरीर के उपरान्त भी शरीर ग्रहण करना अनिवार्य ही हो गया तब इस शरीर के बाद मोक्ष प्राप्त हो जायगा यह कथन कैसे संगत होगा। उसका उत्तर देते हुए कर्मवादी कहते हैं कि अवश्य ही यह प्रश्न उपस्थित होता है परन्तु उसका समाधान कोई दुष्कर नहीं। काम्य और निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान का परित्याग कर देने के अनन्तर जब केवल नित्यकर्मों का अनुष्ठान ही होगा तब नित्यकर्मों के अनुष्ठान में जो पीड़ा होती है, उस पीड़ा का कष्टकारी अनुभव ही पूर्व संचित कर्मों के फल का उपभोग करा देगा। नित्यकर्मों के अनुष्ठान में पर्याप्त क्लेश उठाना पड़ता है। शीतोष्ण का सहन करना आदि का दारुण कष्ट नित्य कृत्यों के अनुष्ठान में अनिवार्य होता है। उस कष्ट को उठाते हुए कर्म के कर्ता की किसी फल विशेष के लिए अभिलाषा भी नहीं होती, अतः उन कर्मों के अनुष्ठान काल में होने वाले कष्ट के स्वभाविक परिणाम स्वरूप पूर्व संचित कर्मों का क्षय हो जाता है और इस प्रकार कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त पुरुष इस शरीर के बाद स्वतः मोक्ष की स्थिति में पहुँच जाता है।

कर्मवादियों के इस मत को उद्धृत करके इसका उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि—

**“तमेव विदित्वातिमृत्युमेति  
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय”**

(१ श्वे० उ० ३।८)

इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध है कि विद्या या ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग है ही नहीं। कर्मवादियों की युक्तियों का उत्तर देते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं कि नित्यकर्मों का भी फल होता है यह बात श्रुति स्मृति सिद्ध है। नित्यकर्मों के अनुष्ठान में होने वाला क्लेश ही पूर्व कर्मों का फल भोग रूप है, इस कथन में कोई युक्ति और प्रमाण नहीं दिया जा सकता। साथ ही इस कथन में भी यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि पूर्वकृत अशुभ कर्मों का फल नित्य कर्मानुष्ठान में होने वाला क्लेश है, यह मान भी लिया जाय, तब भी पूर्वकृत शुभ कर्मों का फल भी तो भोगना अवशिष्ट रह ही जाता है। क्या शुभ कर्मों का भी फल नित्यकर्मों में होने वाले क्लेश से ही मिल गया समझ लिया जाय। शुभ कर्मों का तो क्लेश रूप फल कहीं सुना नहीं जाता। इसी प्रकार के अन्य अनेक तर्कों का उत्तर देते हुए श्रीशंकराचार्य ने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि मोक्ष की उपलब्धि में प्रधान प्रतिबन्ध अविद्या है, कर्म स्वयं अविद्या की अवस्था में ही किये जाते हैं, अतः उनसे अविद्या का नाश होना संभव नहीं, वह कार्य केवल विद्या से ही हो सकता है। गीता में भी इसी सिद्धान्त का

प्रतिपादन हुआ है कि कर्म के अधिकारी ब्रह्मविद्या से अनभिज्ञ हैं, और जो विज्ञाता पुरुष हैं वे तो सर्वकर्म संन्यास पूर्वक ज्ञान निष्ठा के ही अधिकारी हैं इस विषय में निम्नलिखित वचनों को उन्होंने प्रमाण रूप में उपस्थित किया है—

“उभौ तौ न विजानीतः”

“वेदाविनाशिनं नित्यम्”

“ज्ञानयोगेन सांख्यानां

कर्मयोगेन योगिनाम्”

“अज्ञानां कर्मसंज्ञिनाम्”

“गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सञ्जते”

“सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी”

“नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्”

इन उद्धरणों में ज्ञान निष्ठा ही मोक्ष का परम साधन है यह भगवान् का अभिप्राय है। श्रीशंकराचार्य का उपसंहार भाष्य यहां बहुत विस्तृत है और कर्मवाद की ओर से उपस्थापित अनेक युक्तियों का उन्होंने उत्तर दिया है, उसका संक्षिप्त परिचय हमने यहां झलका दिया है।

---



## तिरासीवां-पुष्प

### भक्ति और ज्ञान

अब अन्त में हम इस बात का विवेचन करना आवश्यक समझते हैं कि भगवद्गीता में ज्ञान को प्रधानता दी गई है या भक्ति को। यद्यपि दोनों ही का विवेचन गीता में विस्तार से आता है और लोकमान्य तिलक ने भी ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग को गीता का मुख्य प्रतिपाद्य माना है। तथापि किसको प्राप्य माना गया और किसको प्राप्त कराने वाला, इस बात का विवेचन आवश्यक है। यद्यपि दोनों ही की प्रधानता के वाक्य गीता में मिलते हैं। जैसा कि—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥

(अ० ३, श्लो० ३०)

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(अ० ६, श्लो० ३१)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(अ० ६, श्लो० ४७)

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

(अ० ८, श्लो० २२)

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(अ० ९, श्लो० ३०)

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

(अ० १२, श्लो० १५)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।  
स गुणान् समीतत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(अ० १४, श्लो० २६)

य इमं परमं गुह्यं मदभक्तेष्वभिधास्यति ।  
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

(अ० १८, श्लो० ६८)

इत्यादि पद्यों में भक्ति को ही प्रधान माना गया है। और—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।  
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुहति ज्ञानदीपिते ॥

(अ० ४, श्लो० २७)

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।  
सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

(अ० ४, श्लो० ३३)

इसके आगे भी चार, पांच श्लोक ज्ञान की प्रशंसा के हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ते यजन्तो मामुपासते ।  
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥

(अ० ९, श्लो० १५)

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

( ५४५ )

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।  
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥  
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।  
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरणाधिगच्छति ॥

(अ० ४, श्लो० ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९)

इत्यादि पद्यों में ज्ञान की ही प्रशंसा है। पद्यों का अर्थ अपने-अपने प्रकरण में लिखा जा चुका है। इसलिए यहाँ पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं है। तथापि—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।  
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

इस पद्य में यही क्रम बताया गया है कि भक्ति से पहले सामान्य और विशेष ज्ञान होता है। और ज्ञान के अनन्तर भगवान् में प्रवेश होता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि अपराभक्ति से ज्ञान होता है तो यह भी युक्त नहीं। क्योंकि इसके पहले पद्य में—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।  
समः सर्वेषुभूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

पहले पद्य में पराभक्ति शब्द स्पष्ट है। इससे यही सिद्ध होता है कि पराभक्ति के अनन्तर ही भगवान् ने ज्ञान होना कहा है। और ज्ञान के अनन्तर भगवान् में प्रवेश अर्थात् उनका सायुज्य ही प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त विश्वरूप प्रदर्शन के अनन्तर ११ अध्याय में भी भगवान् की उक्ति है—

भक्त्या त्वनन्ययाशक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।  
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

(अ० ११, ५४ श्लो०)

इस पद्य में भी यही क्रम बताया है कि भक्ति के द्वारा सामान्य और विशेष ज्ञान होता है और उसके अनन्तर भगवान् में प्रवेश अर्थात् भगवत् सायुज्य प्राप्ति हो जाती है। दोनों ही जगह—‘भक्त्या’ यह तृतीया विभक्ति है वह स्पष्ट ही भक्ति का अङ्गभाव प्रकाशित कर रही है। इससे भक्ति रसायन में जो श्रीमधुसूदनसरस्वती ने लिखा है कि

भक्ति के अनन्तर कुछ भी प्राप्य नहीं रहता, उसके अनन्तर भगवत् सायुज्य ही प्राप्त हो जाता है, और श्री भागवत् के आधार पर यह भी लिखा है कि, भक्त लोग तो भगवत् सायुज्य रूपा मुक्ति ही नहीं चाहते वे तो निरन्तर भक्ति का ही आस्वाद मिलने में प्रसन्न रहते हैं, वह प्रसन्न भगवद्गीता के अनुकूल नहीं पड़ता। क्योंकि यहां भक्ति से भगवान् का ज्ञान होना और अनन्तर उनकी सायुज्य प्राप्ति होना बताया गया है। यद्यपि—

**‘चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतोऽर्जुन ।**

**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥’**

(अ० ७, श्लो० १६)

इस पद्य में ज्ञानी को ही भक्ति का अधिकारी माना गया है। इससे ज्ञान की भक्ति के प्रति अङ्गता सिद्ध होती है। अर्थात् पहले ज्ञान और पीछे भक्ति का प्राप्त होना वहाँ बताया गया है। किन्तु उसके अनन्तर ही भगवान् ने—

‘ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्’ इन पदों से ज्ञानी को अपना आत्मा बताकर अपने में उसका प्रवेश ही सूचित कर दिया है। और—

**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम् ।**

**आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥**

उससे भी ज्ञानी ने मुझको ही अनुत्तम गति के रूप में प्राप्त किया है। इस कथन से ज्ञानी का भगवान् में प्रवेश ही सिद्ध होता है।

इससे वह पद्य भी उनके प्रतिकूल नहीं पड़ता।

**श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ।**

**सर्व कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥**

(अ० ४, श्लो० ३३)

इस पद्य में भी ज्ञान में सब कर्मों की समाप्ति करके भगवान् ने ज्ञान की उत्कृष्टता सिद्ध की है। इसी प्रकार—

**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।**

**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥**

(अ० ९, श्लो० १५)

इस पद्य में भी ज्ञान के अनन्तर उपासना की झलक प्रतीत होती है। किन्तु वहाँ भी एकत्व के द्वारा उपासना कहकर ज्ञानी का अपने साथ एक भाव ही प्रकट किया है।

**योमामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।**

**स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥**

(अ० ९५, श्लो० १९)

इस पद्य में भी मुझको पुरुषोत्तम जानकर जो भजन करता है इस कथन से भी ज्ञानी का भक्ति में अधिकार प्रतीत होता है किन्तु वहाँ भी भगवान् का कथन है कि ऐसा पुरुष सर्वभाव से मेरा भजन करता है। इसका तात्पर्य यही होगा कि सबको मेरा ही रूप समझकर मेरा भजन करता है। सबको भगवान् का रूप समझ लेना ज्ञान की पराकाष्ठा है। इससे ज्ञानी हो जाने के अनन्तर ज्ञान की काष्ठाएं प्राप्त होती रहती हैं। यही सिद्ध होता है। ज्ञानी का पुनः भक्ति में प्रवेश प्राप्त नहीं होता।

इन प्रकरणों की आलोचना करने से भगवद्गीता में भक्ति को साधन और ज्ञान को साध्य भगवान् ने बनाया है, यही सिद्ध होता है। अथवा यों कहो कि ज्ञान और भक्ति दोनों ही परस्पर साध्य और साधन रहते हैं। ज्ञान से भक्ति और पराभक्ति और परज्ञान एक रूप ही सिद्ध होता है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि जो स्वभावतः विरक्त है उसको ज्ञान के मार्ग से चलना चाहिए और जो किसी में भी अनुरक्त है, उसे भक्ति के मार्ग से चलना चाहिए। अन्त में पराभक्ति, परज्ञान, प्राप्त कर दोनों ही कृतकृत्य हो जाएंगे। यही सिद्धान्त शास्त्रों का प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत् में जो लिखा गया है कि—

**“हित्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-**

**भजन्नपक्वोऽथ पतेत् ततो यदि**

**यत्र क्व वा भद्रममुष्य किं ततो**

**कोवाऽथ आप्तो भजतां स्वधर्मतः”**

अर्थात् अपना धर्म छोड़कर भगवान् की भक्ति में जो लग गये हैं वे यदि पूरे परिपक्व न भी हो सकें और इधर-उधर उनका पतन भी हो तो उनका इसमें अकल्याण ही क्या हुआ। अर्थात् भगवान् की भक्ति में जो उन्हें आनन्द है वह तो बना ही रहेगा। फिर जिस किसी योनि में जाकर भी उनका अकल्याण नहीं हो सकता। और जो अपने

धर्म का पालन करते हुए भी भगवान् का भजन करने लगें उनको विशेषता क्या मिलेगी। इस प्रकार भक्ति को प्रधानता देकर स्वधर्माचरण की उपेक्षा बतायी गई है वह भी भगवद्गीता के अनुकूल नहीं पड़ती। क्योंकि यहाँ तो भगवान् ने—

### **‘मामनुस्मर युध्य च’**

इस प्रकार अपने स्मरण अर्थात् अपनी भक्ति करते हुए भी क्षत्रियोचित युद्ध का अर्जुन को बार-बार आदेश दिया है। इससे भगवद् भक्ति करता हुआ भी पुरुष अपने वर्णाश्रमोचित धर्म का पालन अवश्य करता रहे यही भगवान् का उपदेश सिद्ध होता है।

---

## चौरासीवां-पुष्प

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।  
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥  
य इदं परमं गुह्यं मदभक्तेष्वभिधास्यति ।  
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥  
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।  
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥  
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।  
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥  
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।  
सोऽपि मुक्तः शुभाल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥  
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।  
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

अर्जुनउवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ! ।  
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।  
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥  
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।  
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥  
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।  
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥  
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।  
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्धुवानीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इस उपदेश को तुम्हें ऐसे पुरुष को नहीं करना चाहिए जो तपस्या नहीं करता हो, जो भक्त न हो, जो सुनने की इच्छा न रखता हो, और जो मुझ से द्वेष रखता हो।” (६७)

यह शास्त्र सम्प्रदाय विधि है। गीता एक सम्पूर्ण शास्त्र है। कोई भी शास्त्र तभी सुरक्षित रहता है जब तक उसका विधि पूर्वक सम्प्रदाय चले। किसी उच्च कोटि की विद्या, या किसी नये आविष्कार का योग्य व्यक्तियों में प्रचार होना उस शास्त्र का सम्प्रदाय माना जाता है। गीता शास्त्र का सम्प्रदाय भगवान् कृष्ण से ही चला है। वर्तमान में सम्प्रदाय शब्द का प्रचलन फिरकापरस्ती के अर्थ में समाचार पत्रों के द्वारा किया जाने लगा है। परन्तु प्राचीन साहित्य में सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग उपर्युक्त सुन्दर अर्थ के अभिज्ञापन में ही सर्वदा हुआ करता था। उससे किसी भी प्रकार के द्वेष की गंध भी नहीं आती थी।

किसी उच्च कोटि की विद्या का प्रचार करने के पहले यह अच्छी प्रकार से देख लेना चाहिए कि उस विद्या का प्रसार उपयुक्त अधिकारी पुरुष में ही किया जाय। हम पहिले प्रसङ्गानुसार कह चुके हैं कि जो उस विषय के अधिकारी नहीं हैं, ऐसे पुरुषों में वितरित की गई विद्या तो निरर्थक हो जाती है, या अनर्थकारिणी हो जाती है। अतः ऐसे पुरुषों में विद्या का वितरण कभी नहीं करना चाहिए। इसीलिए किसी ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रत्येक ग्रन्थकार उस ग्रन्थ के अनुबन्ध चतुष्टय लिखता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय क्या है, उसका अधिकारी कौन है, उससे किस प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है और उस ग्रन्थ का अपने विषय तथा अधिकारी से किस प्रकार का सम्बन्ध है। उक्त अनुबन्ध चतुष्टय को प्रकट करने की संस्कृत ग्रन्थकारों की प्राचीन परिपाटी है। प्राचीन शैली के अध्यापक ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अनुबन्ध चतुष्टय को अपने छात्रों को पहिले अच्छी रीति से समझा देते हैं।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि जो संसार के दन्धन को काटने के लिए तपस्या नहीं करता, उसे यह उपदेश नहीं देना चाहिए। आगे कहा गया है कि जो अभक्त हो, अर्थात् जिसमें भक्ति की भावना न हो, भले ही वह तपस्या करता हो, उसे भी यह उपदेश नहीं देना चाहिए। भक्ति के आधार देवता, गुरु आदि होते हैं। उपदेश श्रवण का वही अधिकारी होता है जिसकी देवता, गुरु आदि में भक्ति हो। यदि तपस्या भी करता हो और भक्त भी हो परन्तु जिसको उपदेश सुनने की अभिलाषा न हो उसे भी यह उपदेश



नहीं सुनाना चाहिए। अन्त में भगवान् कहते हैं कि जो व्यक्ति मुझमें अर्थात् भगवान् कृष्ण में दोष देखता हो उसे भी यह उपदेश नहीं देना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि बहुत से लोग भगवान् को नहीं मानते। उनके जो गुण भक्त लोग बतलाते हैं, उन गुणों का ऐसे नास्तिक पुरुष उपहास करते हैं। अतः वे इस उपदेश के अधिकारी नहीं रहे। उपदेश के श्रवण का अधिकारी वही पुरुष हो सकता है जो ईश्वर में पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखता हो। दूसरा अभिप्राय यह भी है कि गीता के उपदेश भगवान् कृष्ण हैं। जो व्यक्ति कृष्ण भगवान् को ईश्वर न समझ कर मनुष्य ही समझेगा उसे गीता में अनेक दोष दिखलाई देने लगेंगे। वह यही समझेगा कि यह श्रीकृष्ण ने अपना आत्मविज्ञापन ही किया है। उन्होंने स्वयं को सबका कारण परब्रह्म आदि सभी कुछ कहा है। कृष्ण को सामान्य मानव समझने वाले पुरुष इसे उनका आत्मविद्यापन ही कहेंगे। अतः ऐसे पुरुष जो गीता के उपदेश के स्वरूप को ही नहीं जानते, उन्हें यह उपदेश नहीं सुनना चाहिए। उपदेश श्रवण से पहिले उपदेश में यह श्रद्धा और विश्वास होना आवश्यक है कि वह हमें जो कुछ कहेगा, वह सर्वथा सत्य और हमारे लिए हितकर ही होगा। यदि उपदेश के प्रति इस प्रकार की श्रद्धा और विश्वास श्रोता के मन में नहीं है, तो उसे दिया गया वह उपदेश नितान्त निरर्थक ही होगा अतः उपदेश भगवान् में असूया दोष प्रकट करने वाले पुरुष को यह उपदेश नहीं सुनाना चाहिए।

श्रीनीलकण्ठ ने तप का अर्थ किया है आलोचना, जो आलोचना शून्य है अर्थात् जो सुनी हुई उपदेश की बातों का मनन नहीं करता उसे भी उपदेश देना निरर्थक है।

उपनिषद् में विद्या के अधिकारी की चर्चा आई है कि—

**“विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि  
असूयकायानृजवेऽयताय न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्”**

अर्थात् विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरी सम्पत्ति हूँ। जो असूया रखता है, जो सरल स्वभाव का नहीं है, और जो आहार व्यवहार में असंयत है, ऐसे पुरुष को मुझे दान न देना, तभी मैं शक्तिशालिनी बन सकूंगी। और भी कहा गया है—

**“यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।**

**तस्यैते कथिताह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः ॥”**

अर्थात् जिस पुरुष की देवता और गुरु में परमभक्ति है, उसी पुरुष को ये आध्यात्मिक अर्थ कहने पर प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार अनधिकारी को उपदेश सुनने का निषेध करके अब किसको यह उपदेश सुनाना चाहिए, इसे बतलाते हैं—

“परमगुप्त इस उपदेश को जो मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझमें परमभक्ति को प्राप्त करता हुआ निस्सन्देह मुझे प्राप्त कर लेगा।” (६८)

इस उपदेश को मेरे भक्तों को सुनाना चाहिए यह भगवान् का आदेश है। सुनने वाले की भी भगवान् में पूर्ण भक्ति रहनी चाहिए। इस प्रकार सुनने का फल भगवान् की प्राप्ति ही बतलाया गया है।

श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है कि जो पुरुष स्वयं तो भक्ति हीन है, परन्तु सम्मान और अपनी पूजा कराने की अभिलाषा से श्रोताओं के बीच में बैठकर इस उपदेश को यदि सुनता है तो उसे भी भगवान् की प्राप्ति हो जाती है। जैसे अजामिल आदि नितान्त भक्तिहीन पुरुष भी अपने बालक नारायण का नाम लेने से ही मृत्यु काल में भगवान् के कृपाभाजन बन गए। इस उपदेश को श्रोताओं में सुनाने वाले पुरुष की प्रशंसा करते हुए तथा उसे अपना अनुग्रह भाजन बतलाते हुए भगवान् आगे कहते हैं—

“मनुष्यों में उस पुरुष से अधिक मेरा प्रिय कार्य करने वाला और कोई नहीं है, और आगे भी उससे अधिक मुझे प्रिय और कोई अन्य नहीं होगा।” (६९)

यह भी गीता की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले पुरुष की ही बात है। इस अमूल्य उपदेश को जनता में वितीर्ण करने वाला पुरुष भगवान् का साक्षात् प्रीति पात्र होता है।

“हमारे इस धर्ममय सम्वाद का जो पुरुष स्वयं अध्ययन करेगा, उस पुरुष के द्वारा ज्ञान यज्ञ में मैं पूजित होता रहूँगा।” (७०)

गीता का उपदेश करने वाला यदि अन्य पुरुष न भी मिले तो भी मनुष्य को स्वयं ही उसका अध्ययन करते रहना चाहिए। वह एक ज्ञान यज्ञ है, और उससे भगवान् की पूजा होती है।

आगे इस उपदेश के सुनने वालों को क्या फल मिलता है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं कि—

“श्रद्धायुक्त, असूया से रहित जो पुरुष इस उपदेश को सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म करने वाले पुरुष जिन लोकों को प्राप्त करते हैं, उन्हें प्राप्त कर लेगा।” (७१)

यहाँ मुक्त का अर्थ श्रीशंकराचार्य ने पाप से मुक्त होना किया है। इसका श्रवण करने वाला पुरुष पापों से मुक्त हो जायगा।

इस समस्त उपदेश का प्रयोजन अर्जुन के युद्ध काल में संभूत मानसिक क्षोभ को विनष्ट करना था। यदि वह प्रयोजन ही पूरा न हो तो इस सम्वाद को कहने, पढ़ने, सुनने आदि के जो फल बतलाए गए हैं, वे सब एक ओर रक्खे ही रह जायेंगे। इस उपदेश की सफलता की कसौटी तो यही है कि इससे अर्जुन का मोह दूर हुआ कि नहीं। इसी बात को प्रकट करने के लिए भगवान् अर्जुन से अग्रिम पद्य में प्रश्न करते हैं कि—

“हे अर्जुन ! मैंने जो उपदेश तुम्हें दिया है, उसे तुमने एकाग्रचित्त से सुना भी है या नहीं, और अज्ञान से उत्पन्न होने वाला तुम्हारा मोह इस उपदेश से सुनकर नष्ट हो गया अथवा नहीं।” (७३)

जब किसी रोगी की कोई वैद्य चिकित्सा करना प्रारम्भ करता है तब उस वैद्य की चिकित्सा से रोगी को कुछ लाभ हुआ या नहीं, इसका उत्तर रोगी ही अपने अनुभव से दे सकता है। वैद्य भी अपनी चिकित्सा की सफलता की परीक्षा करने के लिए रोगी से ही प्रश्न करता है कि कहो भाई मेरी चिकित्सा से तुम्हारा रोग शान्त हो गया या नहीं। जब रोगी कहता है कि हाँ, मुझे आपकी चिकित्सा से पूर्ण लाभ हुआ है, मेरा रोग नष्ट हो चुका है, तब चिकित्सक अपनी चिकित्सा को सफल मानता है। संसार रूपी महारोग के चिकित्सक भगवान् ने अर्जुन के मोह रूपी महारोग की चिकित्सा अमूल्य उपदेश रूपी महौषधि देकर की। अब अपना उपदेश सुनाने के अनन्तर उन्होंने अर्जुन से वही प्रश्न किया जो चिकित्सक चिकित्सा करने के अनन्तर अपने रोगी से करता है। उसका उत्तर देते हुए अर्जुन कहता है कि—

“हे अच्युत ! आपके प्रसाद से मेरा मोह नष्ट हो गया, मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, विगत संदेह होकर मैं अब स्थित हूँ, आपके वचनों को पूरा करूँगा।” (७३)

मोह समस्त अनर्थों का मूल है यह समुद्र के समान सुदुस्तर है। वह मोह यद्यपि मनुष्य पर सर्वदा ही छाया रहता है, परन्तु विशेष अवसरों पर वह अपने उग्र रूप से मनुष्य पर हावी होता है, और उसे अपने कर्तव्य कर्म से विमुख कर देता है। मोह का ऐसा ही आक्रमण युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन पर हुआ था, जिससे वह अपने कर्तव्य से विच्युत होकर युद्ध से विमुख हो जाने में अपना कल्याण समझने लगा था। वही मोह का उग्ररूप भगवान् का उपदेश सुनकर समाप्त हो गया, और वह कहता है कि मैंने स्मृति प्राप्त कर ली। यहाँ संसार रूपी मोह जो अर्थ किया जाता, वह संगत नहीं होता, क्योंकि संसाररूपी मोह के नष्ट हो जाने पर तो कुछ भी करणीय कर्म अवशिष्ट ही नहीं रह जाता। भगवान् अभी अर्जुन को इसका अधिकारी भी नहीं

मानते। अतः उन्होंने उसे अपने सहज कर्म युद्ध में ही प्रेरित किया और स्वकर्तव्य पालन रूप युद्ध में प्रवृत्त होने में जो मोह प्रतिबन्ध बन गया था, अपने उपदेश के द्वारा भगवान् ने उसी का शमन किया है। उसी मोह का नष्ट होना यहाँ अर्जुन ने स्वीकार भी किया है। यदि भगवान् के उपदेश से अर्जुन का संसार रूपी मोह दूर हो गया होता, तब तो वह आत्मज्ञानी हो जाता। परन्तु उसके उत्तर में उसका आत्मज्ञानी होना नहीं अपितु उसका कर्मधिकारी होना ही स्पष्ट है। ज्ञानी पुरुष के लिए आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता, परन्तु अर्जुन यहाँ भगवान् को अपने से अधिक सम्बोधित कर रहा है। इसी से उसका कर्मधिकारी होना सिद्ध है।

इसके आगे संजय जो कि धृतराष्ट्र के पास बैठ कर व्यास के प्रभाव से दिव्य दृष्टि सम्पन्न होता हुआ युद्ध का सभी समाचार सुन रहा था—

उसकी उक्ति है, “इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव के तथा महात्मा पार्थ के इस अद्भुत और रोमहर्षण सम्वाद को सुना।” (७४)

अवश्य ही यह सम्वाद अद्भुत है क्योंकि युद्धस्थल पर पक्ष-प्रति पक्ष के बीच इस प्रकार का विलक्षण उपदेश सम्भवतः कहीं भी देखा सुना नहीं गया। रोम हर्षण इसलिये है कि अनायास उन समस्त गम्भीरतम शास्त्रों का मथितार्थ समझ जाने पर जिस प्रसन्नता का अनुभव होता है वह अनिर्वचनीय है।

संजय को इतना सौभाग्य भगवान् वेद व्यास की कृपा, से ही प्राप्त हुआ। अतः वह भगवान् वेद व्यास के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करता हुआ कहता है कि—

“व्यास की कृपा से यह अत्यन्त रहस्य भूत योग मैंने साक्षात् योगेश्वर कृष्ण से स्वयं सुना।” (७५)

यह एक गुह्य योग है। गीता कर्म योग शास्त्र है उसी को यहाँ संजय ने योग कहा है भगवान् के लिये उसने योगेश्वर शब्द का साभिप्राय प्रयोग किया है। योग का विवरण जितनी पूर्णता तथा सुन्दरता से योगेश्वर कर सकते हैं उतनी पूर्णता तथा सुन्दरता से अन्य कोई नहीं कर सकता। इसको गुह्यतम कहने का अभिप्राय इसके निरतिशय महत्व को प्रकाशित करने में है।

इस सम्वाद को सुनकर जिस अपार हर्ष का अनुभव संजय को हुआ, उसे प्रकट करते हुए वह कहता है कि—

“हे राजन् धृतराष्ट्र ! केशव और अर्जुन के इस अद्भुत तथा पुण्य सम्वाद का बार-बार स्मरण करते हुए मुझे बार-बार अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।” (७६)

वस्तुतः जैसा कि भगवान् ने पहले कहा है यह भगवद्गीता रूपी सम्वाद श्रवण मात्र से पापों को नष्ट करने वाला और पुण्य दायक है। इसका यही प्रमाण है कि संजय से इस उपदेश का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु उसे इसके श्रवण मात्र से इतना अधिक आनन्द प्राप्त हुआ जिसे बार-बार प्रकाशित करते हुए भी वह तृप्त नहीं होता। फिर उसने तो भगवन् के मुख से ही इसे सुना। अतः उनकी कल्याण कारिणी और श्रवण मोहिनी वाणी भी सुनने को मिली।

आगे पुनः अपने हर्ष को ही प्रकट करता हुआ संजय कहता है कि—

‘उपदेश देते समय भगवन् का जो अत्यन्त अद्भुत रूप था, उसका स्मरण करके हे राजन् ! मुझे अत्यन्त आश्चर्य होता है और प्रसन्नता भी होती है।’ (७७)

अन्त में श्रीमद्भगवद्गीता का उपसंहार करते हुए समस्त उपदेश के सार के रूप में संजय कहता है कि—

“जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं और जहाँ धनुर्धर पार्थ हैं वहीं लक्ष्मी और विजय होती है यह मेरी निश्चित नीति वाली मति है।” (७८)

इस प्रकार इस परम ज्ञानमय श्रीमद्भगवद्गीता पर यथा शक्ति व्याख्यान मैंने प्रस्तुत किया। आशा है कि कृपालु पाठक अज्ञान वश जो दोष आ गये हैं उन्हें क्षमा करेंगे और सार ग्रहण करेंगे। इति—

---